कृष्णदास संस्कृत सीरीज

१

****

॥ श्रीः ॥

साहित्यदर्पणम्

संस्कृत-हिन्दीव्याख्योपेतम्

व्याख्याकारः

आचार्य शेषराजशर्मा रेग्मी

भूतपूर्व-प्राध्यापकः

काशीहिन्दूविश्वविद्यालयस्य, नेपालस्थत्रिभुवनविश्वविद्यालयस्य

वाल्मीकिसंस्कृतमहाविद्यालयस्य



कृष्णदास अकादमी, वाराणसी

प्रकाशक कृष्णदास अकादमी, वाराणसी
मुद्रक चौखम्बा प्रेस, वाराणसी
संस्करण दशम, वि० सं० २०५९, सन् २००२
मूल्य सम्पूर्ण : रू० ३२५.००

पुस्तक प्रकाशक एवं वितरक
पोस्ट बॉक्स नं० १११८
के. ३७/११८, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास, वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३५०२०
e-mail · cssoffice@satyam.net.in

अपरं च प्राप्तिस्थानम्
चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस
पोस्ट बॉक्स नं० १००८, के. ३७/९९, गोपाल मन्दिर लेन
गोलघर (मैदागिन) के पास
वाराणसी-२२१ ००१ (भारत)
फोन : ३३३४५८ (आफिस), ३३४०३२ एवं ३३५०२० (आवास)

KRISHNADAS SANSKRIT SERIES

1

****

SĀHITYADARPAṆA

OF

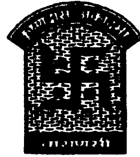
Sri Vishwanatha Kaviraja

Edited With

'Chandrakala' Sanskrit-Hindi Commentaries

By

Acharya Sheshraja Sharma Regmi



KRISHNADAS ACADEMY

VARANASI

Publisher : Krishnadas Academy, Varanasi.
Printer : Chowkhamba Press, Varanasi.

Oriental Publishers & Distributors
Post Box No. 1118
K. 37/118, Gopal Mandir Lane
Varanasi-221 001
Phone : 335020
e-mail . cssoffice@satyam.net.in

Also can be had from

CHOWKHAMBA SANSKRIT SERIES OFFICE
K. 37/99, Gopal Mandir Lane
Near Golghar (Maidagin)
Post Box No. 1008, Varanasi-221 001 (India)
Phone : Off. 333458, Resi. : 334032 & 335020

श्रीः

उदाहार

साहित्यदर्पणके विषयमें कुछ लिखनेके पहले हम "साहित्य" पदके विषयमें कुछ विचार करते हैं। "सहितस्य भावः कर्म वा साहित्यम्" इस व्युत्पत्तिसे सहित पदसे ष्यञ् प्रत्यय होकर "साहित्य" पद निष्पन्न होता है। इस प्रकार साहित्य पदका सामान्य अर्थ होता है सहितका भाव वा कर्म। यह हुआ इसका यौगिक अर्थ। परन्तु संस्कृत वाङ्मयमें "हितेन सहितौ शब्दाऽर्थौ सहितौ, तयोर्भावः कर्म वा साहित्यम्" ऐसी व्युत्पत्तिसे पूर्ववत् ष्यञ् प्रत्ययसे यह पद योगरूढ हो जाता है। इस प्रकार साहित्यका अर्थ हुआ काव्य। राजर्षि भर्तृहरिने अपने नीतिशतकमें—

"साहित्यसङ्गीतकलाविहीनः साक्षात्पशुः पुच्छविषाणहीनः।
तृणं न खादन्नपि जीवमानस्तद्भागधेयं परमं पशूनाम्॥"

ऐसा लिखकर काव्यके अर्थमें साहित्य शब्दका प्रयोग किया है। इसी प्रकार महाकवि बिल्हणने भी अपने विक्रमाङ्कदेवचरितकाव्यमें—

"साहित्यपाथोनिधिमन्थनोत्थं कर्णाऽमृतं रक्षत हे कवीन्द्राः!
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्याऽर्थचौराः प्रगुणीभवन्ति॥ १–११

ऐसा लिखकर साहित्यका अर्थ काव्य ही मान लिया है। साहित्यदर्पणके रचयिता विश्वनाथ कविराजने भी इसी अर्थमें साहित्य शब्दका व्यवहार किया है। जैसे दर्पणसे मुखमण्डलका पूर्ण रूपसे दर्शन होता है उसी प्रकार साहित्यदर्पणसे हमें काव्यका लक्षण, काव्यशरीर—शब्द और अर्थ, अर्थबोधक अभिधा आदि वृत्तियां, रसधर्म प्रसाद आदि गुण, काव्य लक्षणमें घटित रस, रसाभास, भाव, ध्वनि और काव्यके भेद दृश्य और श्रव्य आदि, काव्यमें परित्याज्य श्रुतिकटु आदि दोष, पदसंघटना वैदर्भी आदि रीतियां, काव्यसौन्दर्यके आधायक शब्दाऽलङ्कार और अर्थाऽलङ्कार आदि, तन्मूलक संसृष्टि और संकर इत्यादि समस्त आलङ्कारिक विषयोंका आमूलचूड दर्शन मिलता है। अतः साहित्यदर्पण साहित्यका लक्षणग्रन्थ अर्थात् अलङ्कारशास्त्र वा साहित्यविद्या है। इसे आधुनिक संकेतके अनुसार "काव्यशास्त्र" भी कह सकते हैं। काव्यमीमांसाकार राजशेखरने भी "शब्दाऽर्थयोर्यथावत्सहभावेन विद्या साहित्यविद्या" ऐसा लिखकर काव्यके अर्थमें साहित्यका सङ्केत कर "साहित्य-विद्या" पदसे अलङ्कारशास्त्रका निर्देश किया है। अंग्रेजीमें इसे रिटोरिक्स (Rhetorics) कहते हैं। अब "अलङ्कारशास्त्र" के विषयमें कुछ कहना आवश्यक

हो गया है। "अलङ्करणमलङ्कार." ऐसी व्युत्पत्तिसे "भावे" इस सूत्रसे भावमें घञ् प्रत्यय होकर "अलङ्कार" शब्द साहित्यविद्याका वाचक होता है।

अलङ्क्रियेते शब्दाऽर्थावनेनेत्यलङ्कारः।

इस व्युत्पत्तिसे करणमें घञ् प्रत्यय करनेसे "अलङ्कार" शब्द अनुप्रास और उपमा आदि शब्द और अर्थके अलङ्कारका वाचक होता है। इस प्रकार हम साहित्य और काव्यको समानाऽर्थक और अलङ्कार, अलङ्कारशास्त्र, साहित्यविद्या और काव्यशास्त्र इनको पर्यायवाचक पाते हैं।

अब काव्यपदकी व्युत्पत्ति करते हैं काव्यशब्दकी प्रकृति कविशब्द है। यह पद अदादिगणस्थ "कु शब्दे" इस धातुसे "कौति" इस व्युत्पत्तिसे "अच इः" इस सूत्रसे इ प्रत्यय कर निष्पन्न होता है। भ्वादिस्थ "कुङ् शब्दे" इस धातुसे भी यह पद निष्पन्न होता है, परन्तु भ्वादिस्थ कुङ् धातु अव्यक्त शब्दमें है अतः प्रकृतमें पूर्वोक्त अदादि गणस्थ धातुसे कविशब्द निष्पन्न होता है, अतः जो रमणीय अर्थके प्रतिपादक शब्दोंका उच्चारण करता है वह "कवि" कहा जाता है यह सिद्ध होता है। "कवेर्भावः कर्म वा काव्यम्" ऐसी व्युत्पत्ति कर कवि शब्दसे "गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः कर्म च" इस सूत्रसे ष्यञ् प्रत्यय होकर काव्यशब्द निष्पन्न होता है, अर्थात् कविके भाव वा कर्मको "काव्य" कहते हैं। यह हुआ व्युत्पत्तिलभ्य काव्य शब्दका अर्थ। काव्यके लक्षणके विषयमें विद्वानोंका बहुत मतभेद देखा जाता है।

१ व्यासमुनिने अग्निपुराणमें काव्यका लक्षण किया है—

"काव्यं स्फुटदलङ्कारं गुणवद्दोषवर्जितम्।" ३३७ अ०।

अर्थात् स्फुट अलङ्कार और गुणसे युक्त दोषरहित अभीष्ट अर्थसे युक्त पदावलीको "काव्य" कहते हैं।

२ काव्याऽलङ्कारकार भामहके मतमें—

"शब्दाऽर्थौ सहितौ काव्यम्"

अर्थात् सम्मिलित शब्द और अर्थ काव्य है।

३ काव्यादर्शकर्ता दण्डीका मत—

"शरीरं तावदिष्टाऽर्थव्यवच्छिन्ना पदावली। काव्यम्"

पूर्वोक्त अग्निपुराणके लक्षणके ही समान है।

४ काव्याऽलङ्कार सूत्रके रचयिता वामनके मतमें—

"काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्" १-१-१

इस सूत्रके अनुसार गुण और अलङ्कारसे संस्कृत शब्द और अर्थ ही काव्य है।

५ काव्याऽलङ्कारके उद्भट लेखक रुद्रटके मतमें—

"शब्दाऽर्थौ काव्यम्"

यह भामहके लक्षणके ही समान है।

६ ध्वनिकार आनन्दवर्द्धनके मतमें—

"काव्यस्यात्मा ध्वनिः" १–१

अर्थात् काव्यकी आत्मा ध्वनि है। वे ही अन्यत्र काव्यके सामान्य लक्षणके रूपमें लिखते हैं—

"सहृदयहृदयाह्लादिशब्दाऽर्थमयत्वमेव काव्यलक्षणम्"

अर्थात् सहृदयके हृदयको आह्लादित करनेवाले शब्द और अर्थ ही काव्य-स्वरूप हैं।

७ वक्रोक्तिजीवितकार कुन्तकके मतमें—

"शब्दाऽर्थौ सहितौ वक्रकविव्यापारशालिनि।
बन्धे व्यवस्थितौ काव्यं तद्विदाह्लादकारिणि॥" १–७

अर्थात् कविके वक्र व्यापारसे शोभित, काव्यके जाननेवालोंको आह्लाद करनेवाले बन्ध (गुम्फ) में व्यवस्थित सम्मिलित शब्द और अर्थ काव्य है।

८ व्यक्तिविवेककार राजानक महिमभट्टके मतमें—

"विभावादिसंयोजनात्मा रसाऽभिव्यक्त्यव्यभिचारी कविव्यापारः काव्यम्"

अर्थात् विभाव आदिके संयोजनस्वरूप, रसकी अभिव्यक्तिमें अव्यभिचारी कवि-व्यापार "काव्य" है।

९ सरस्वतीकण्ठाभरणमें भोजदेवके मतमें—

"निर्दोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम्।
रसाऽन्वितं कविः कुर्वन्कीर्तिं प्रीतिं च विन्दति॥"

अर्थात् दोषरहित, गुणसहित, अलङ्कारोंसे अलङ्कृत और रससे युक्त "काव्य"को बनानेवाला कवि कीर्ति और प्रीतिको प्राप्त करता है।

शृङ्गारप्रकाशमें वे ही "शब्दाऽर्थौ सहितौ काव्यम्" ऐसा लक्षण देते हैं।

१० औचित्यविचारचर्चाकार क्षेमेन्द्रके मतमें—

"औचित्यं काव्यजीवितम्"

इस उक्तिके अनुसार औचित्य ही काव्यका जीवन है।

वे ही अपने कविकण्ठाभरणमें लिखते हैं—

"काव्यं विशिष्टशब्दाऽर्थसाहित्यसदलङ्कृति।"

अर्थात् उत्तम अलङ्कारसे युक्त विशिष्ट शब्द और अर्थ "काव्य" है।

११ काव्यप्रकाशकार मम्मट भट्टके मतमें—

'तददोषौ शब्दाऽर्थौ सगुणावनलङ्कृती पुनः क्वाऽपि।'

अर्थात् दोषरहित, गुणसहित और अलङ्कारसे अलङ्कृत शब्द और अर्थको "काव्य" कहते हैं; हाँ, वह शब्दाऽर्थयुगल कहीं स्फुट अलङ्कारसे रहित हो तो भी कुछ हर्ज नहीं।

१२ प्रतापरुद्रीयकार विद्यानाथके मतमें—

"गुणाऽलङ्कारसहितौ शब्दाऽर्थौ दोषवर्जितौ।
.... काव्यं काव्यविदो विदुः॥"

अर्थात् गुण और अलङ्कारसे सहित, दोषसे वर्जित, शब्द और अर्थको काव्यके जानकार "काव्य" जानते हैं।

१३ काव्याऽनुशासनकार वाग्भटके मतमें—

"शब्दाऽर्थौ निर्दोषौ सगुणौ प्रायः साऽलङ्कारौ काव्यम्॥

अर्थात् दोषरहित, गुणसहित और प्रायः (अकसर) अलङ्कारसे अलङ्कृत शब्द और अर्थ "काव्य" माना गया है।

१४ कविकुलशेखर राजशेखर अपनी काव्यमीमांसामें लिखते हैं—

"गुणवदलङ्कृतं वाक्यमेव काव्यम्"।

अर्थात् गुणविशिष्ट और अलङ्कारसे अलङ्कृत वाक्य (पदसमूह) ही "काव्य है।

१५ वाग्भटाऽलङ्कारके कारक वाग्भटके मतमें—

"साधुशब्दाऽर्थसन्दर्भं गुणाऽलङ्कारभूषितम्।
स्फुटरीतिरसोपेतं काव्यं कुर्वीत कीर्तये॥" १-२

अर्थात् गुण और अलङ्कारसे भूषित, स्फुट रीति और रससे युक्त साधु शब्दाऽर्थ-गुम्फको "काव्य" कहते हैं, कवि अपनी कीर्तिके लिए उसकी रचना करे।

१६ "काव्याऽनुशासन" के कर्ता हेमचन्द्रके मतमें—

"अदोषौ सगुणौ साऽलङ्कारौ च शब्दार्थौ काव्यम्"।

अर्थात् दोषसे रहित गुण और अलङ्कारसे सहित शब्द और अर्थको "काव्य" कहते हैं।

१७ चन्द्रालोकके निर्माता जयदेवके मतमें—

"निर्दोषा लक्षणवती सरीतिर्गुणभूषणा।
साऽलङ्काररसाऽनेकवृत्तिर्वाक् काव्यनामभाक्॥" १-७

अर्थात् श्रुतिकटु आदि दोषसे रहित, अक्षरसंहति आदि लक्षणसे सहित, पाञ्चाली आदि रीतिसे युक्त, श्लेष, प्रसाद आदि गुणसे भूषित, अनुप्रास और उपमा आदि अलङ्कारसे सहित एवं शृङ्गार आदि रस तथा मधुरा आदि और उसी तरह अभिधा आदि वृत्तियोंसे युक्त शब्दको "काव्य" कहते हैं।

१८ शौद्धोदनिके मतमें—

"काव्यं रसादिमद्वाक्यं श्रुतं सुखविशेषकृत् ।"

अर्थात् रस आदिसे विशिष्ट, सुखविशेष उत्पन्न करनेवाला वाक्य "काव्य" सुना गया है।

१९ प्रकृत आलङ्कारिक विश्वनाथ कविराजके मतमें भी—

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम् ।"

अर्थात् रस रूप आत्मा (जीवनाधायक) वाला वाक्य "काव्य" है।

२०. अलङ्कारशेखरके कर्ता केशव मिश्रके मतमें—

"रसाऽलङ्कारयुक्तं सुखविशेषसाधनं काव्यम् ॥"

अर्थात् रस और अलङ्कारसे युक्त सुखविशेष (अनिर्वचनीय आनन्द) का साधन काव्य है।

२१ रसगङ्गाधरमें पण्डितराज जगन्नाथके शब्दोंमें—

"रमणीयाऽर्थप्रतिपादकः शब्दः काव्यम् ।"

अर्थात् रमणीय अर्थका प्रतिपादक शब्द काव्य है।

याद रखना चाहिए पण्डितराज शब्दको काव्य मानते हैं, मम्मट भट्ट शब्द और अर्थ दोनोंको काव्य मानते हैं।

म० म० गङ्गाधर शास्त्रीने शब्द मात्र काव्य होता तो शब्द मात्रमें विद्यमान दोष, गुण, अलङ्कार और ध्वनिका निरूपण होता अर्थगत दोष गुणादिकोंका निरूपण नहीं होता अतः काव्यत्व उभयनिष्ठ है ऐसा लिखकर मम्मटभट्टके मतका समर्थन किया है। म० म० नागेशभट्टने भी "काव्य पठितं, श्रुतं काव्यं, बुद्धं काव्यम्" इन प्रयोगों शब्द और अर्थ दोनोमें काव्य पदका व्यवहार देखनेसे काव्य पदका प्रवृत्तिनिमित्त व्यासज्यवृत्ति है ऐसा लिखकर प्राचीन आचार्यके मतका समर्थन किया है।

२२. एकावलीमें विद्याधर कहते हैं—

"शब्दाऽर्थवपुस्तावत् काव्यम्"

अर्थात् काव्य, शब्द और अर्थ रूप शरीरवाला है।

२३ प्रतापरुद्रीयमें विद्यानाथने लिखा है—

"गुणाऽलङ्कारसहितौ शब्दाऽर्थौ दोषवर्जितौ ।
गद्यपद्योभयमयं काव्यं काव्यविदो विदुः ॥"

अर्थात् गुण और अलङ्कारसे सहित, दोषसे वर्जित शब्द और अर्थ, गद्य और पद्य दोनोंको "काव्य" कहते हैं।

२४ साहित्यसारमें अच्युतराज कहते हैं—

"तत्र निर्दोषशब्दाऽर्थगुणवत्त्वे सति स्फुटम् ।
गद्यादिबन्धरूपत्वं काव्यसामान्यलक्षणम् ॥"

अर्थात् दोषरहित शब्द और अर्थ गुणसे युक्त होकर गद्य और पद्यसे निबद्ध जो सन्दर्भ है वह काव्यका सामान्य लक्षण है ।

२५ साहित्यरत्नाकरमें धर्मसूरि लिखते हैं—

"सगुणाऽलङ्कृती काव्यं पदाऽर्थौ दोषवर्जितौ ।"

अर्थात् गुण और अलङ्कारसे सहित, दोषसे रहित शब्द और अर्थको "काव्य" कहते हैं ।

२६ अलङ्कारचन्द्रिकामें न्यायवागीशके मतमें—

"गुणाऽलङ्कारसंयुक्तौ शब्दाऽर्थौ रसभावगौ ।
नित्यदोषविनिर्मुक्तौ काव्यमित्यभिधीयते ॥"

अर्थात् गुण और अलङ्कारसे संयुक्त, रस और भावके प्रतिपादक और नित्य दोषसे रहित शब्द और अर्थको "काव्य" कहते हैं ।

२७ काव्यप्रकाशकी "प्रदीपिका" टीकाके रचयिता चण्डीदास 'आस्वादजीवातुः पदसन्दर्भः काव्यम्' रसका जीवनौषध पदसन्दर्भ "काव्य" है, ऐसा उल्लेख करते हैं ।

इस प्रकार यहां २७ आचार्योंके मतानुसार काव्यका लक्षण लिखा गया हैं, इनमें मम्मटभट्ट, विश्वनाथ कविराज और पण्डितराज जगन्नाथके मत अधिक प्रसिद्ध और विद्वज्जनोंसे समादृत हैं । अब काव्यके प्रयोजनके विषयमें कुछ लिखते हैं ।

काव्यप्रकाशमें मम्मटभट्टका वक्तव्य है—

"काव्यं यशसेऽर्थकृते, व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥

अर्थात् काव्य यश, अर्थ (धन) और व्यवहारका परिज्ञान 'अकल्याणके परिहारके और तत्क्षण (सुनने वा देखनेके अनन्तर) ही कान्ताके समान उपदेश देनेके लिए कारण होता है ।

वाक्यके तीन भेद होते हैं प्रभुसम्मित, सुहृत्सम्मित और कान्तासम्मित इनमे पहला वेदवाक्य "अहरहः सन्ध्यामुपासीत" प्रतिदिन सन्ध्याकी उपासना करे ऐसा आदेशवाला वाक्य "प्रभुसम्मित" है । लोकमें भी प्रभु भृत्यको इष्ट और अनिष्ट समस्त कार्यमें प्रवृत्त करता है, अतः प्रभुसम्मित वाक्यमें इष्ट प्राप्तिका उपाय और मनोहरता नहीं है । दूसरा वाक्य सुहृत्सम्मित है, जैसे मित्र अपने मित्रको इष्टप्राप्तिमें प्रवर्तक वाक्य कहता है, इस कोटिमें इतिहास, पुराण और धर्मशास्त्रके वाक्य

आते हैं, परन्तु इसमें भी मनोहरता नहीं है। तीसरा वाक्य कान्तासम्मित है। जैसे कान्ता (स्त्री) अपने पतिको मनोहर पदावलीसे हितकार्यमें उपदेश देकर प्रवृत्त करती है, वह वाक्य कान्तासम्मित है, काव्य भी कान्तासम्मित वाक्य है, वह मनोहरतासे हितका आधान करनेवाला है।

साहित्यदर्पणमें विश्वनाथ कविराज लिखते हैं--

"चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि।
काव्यादेव"

अर्थात् अल्पबुद्धिवालोंको भी काव्यसे ही सुखपूर्वक चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) फलकी प्राप्ति होती है।

इसी प्रकार बहुतसे विद्वानोंने लक्षण करनेके अवसरमें काव्यको निरतिशय आनन्द, यश और अर्थ आदिकी प्राप्तिका कारण बतलाया है।

अब अलङ्कारशास्त्रके लक्ष्यभूत कुछ ग्रन्थोंकी चर्चा करते हैं।

पद्य-काव्य

१ वाल्मीकिरामायण (आदि काव्य) श्लोकसंख्या २४००० (प्राय. अनुष्टुप् छन्द) कर्ता—वाल्मीकि मुनि। समय—त्रेतायुग।

२ जाम्बवतीविजय वा पातालविजय काव्य, कर्ता—महावैयाकरण अष्टाध्यायीकार पाणिनिमुनि। पूर्वोक्त काव्य अभी उपलब्ध नहीं, पर बहुत ग्रन्थोंमें उसका उल्लेख है। समय-ख्रष्टपूर्व-३४३—३२१। डॉ० रामकृष्ण भाण्डारकर और गोल्डष्टूकरके मतानुसार पाणिनिका समय ईसासे ७०० वर्ष पूर्व है। युधिष्ठिर मीमांसकके मतमें वि० पू० २८०० वर्ष समय है।

३ स्वर्गारोहणकाव्य, कर्ता—अष्टाध्यायीपर वार्तिककार कात्यायन मुनि।

जैसे राजशेखरने लिखा है—

"नमः पाणिनये तस्मै, यस्मादाविरभूदिह।
आदौ व्याकरणं, काव्यमनुजाम्बवतीजयम्॥"

यह काव्य भी अभी उपलब्ध नहीं, पर बहुत ग्रन्थोंमें इसकी चर्चा की गई है। महाभाष्य—४-३—११० में इसका "वाररुच काव्य"के रूपमें उल्लेख है। महाराज समुद्रगुप्तके कृष्णचरित काव्यमें इस विषयपर ऐसा प्रकाश डाला गया है—

"न केवलं व्याकरणं पुपोष दाक्षीसुतस्येरितवार्तिकैर्यः।
काव्येऽपि भूयोऽनुचकार तं वै कात्यायनोऽसौ कविकर्मदक्षः॥"

इसी प्रकार महाभाष्यकार पतञ्जलि मुनिने भी "बलिबन्ध" और "कंसवध" आदि नाटकोंका उल्लेख किया है, "जघान कंस किल वासुदेवः" इत्यादि उदाहरण भी दिया है। परन्तु उक्त दो ग्रन्थ भी अभी उपलब्ध नहीं है। इसी तरह 'वाररुचं काव्यम्" लिखकर भाष्यकारने संभवतः "स्वर्गारोहण" काव्यका निर्देश किया है एवम् महाभाष्यमें "वासवदत्ता" "सुमनोत्तरा" और "भैमरथी" आदि आख्यायिकाओंके भी

नगरमें हुआ था। इनके पितामह सुप्रभदेव गुजरातके राजा वर्मलातके प्रधान मन्त्री थे। इनके पिताका नाम दत्तक था। माघकवि धनाढ्य और दानशील थे। इनका समय लगभग ६७५ ईसवी है। शिशुपालवधमें युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें चेदि देशके राजा शिशुपालके वधकी कथाका सविस्तर वर्णन पाया जाता है। इसमें कुल २० सर्ग और १६५० पद्य है। इसमें कविने बहुत स्थानोंपर भारविका अनुकरण किया है। इसमें राजनीतिके साथ-साथ पर्वत, समुद्र, ऋतु और जलक्रीडा आदि विषयोंका बड़ी प्रौढिसे अलङ्कारपूर्ण वर्णन किया गया है। चित्र काव्यमे भी कवि भारविसे आगे बढ़े है। माघ कवि वैयाकरण थे, अतः संस्कृत भाषामें उनका पूरा अधिकार था। 'माघे सन्ति त्रयो गुणाः" इस उक्तिके अनुसार माघमें उपमा, अर्थगौरव और पदलालित्य इन तीनों गुणोंकी समष्टिकी चर्चा पाई जाती है। इनका ग्रन्थ शिशुपाल वध मात्र उपलब्ध है। इनके नामसे फुटकर कुछ पद्य सुभाषितग्रन्थ आदिमें मिलते हैं। शिशुपालवधमें १७ टीकाओंकी प्रसिद्धि है। उनमें वल्लभदेवकी सन्देहविषौषधि, चारित्रवर्द्धनकी टीका और मल्लिनाथकी सर्वङ्कषा टीका बहुत प्रसिद्ध हैं।

९ नैषधीयचरित समय—ख० १२ शताब्दी, नैषधीयचरितके कर्ता श्रीहर्षमिश्र है। ये दर्शनशास्त्रके महान् विद्वान् और खण्डनखण्डखाद्य जैसे अप्रतिम ग्रन्थके रचयिता है। इनके पिताका नाम हीर और माताका नाम मामल्लदेवी वा अल्लदेवी था। इन्होंने चिन्तामणि मन्त्रका अनुष्ठान किया था जिसके फलस्वरूप यह कृति "नैषधीयचरित" है। ये काशीनरेश विजयचन्द्रके सभापण्डित थे। इनका समय ईसवी १२ शताब्दी है। नैषधीयचरितमें निषधनरेश नलके दमयन्तीसे पाणिग्रहणके विषयका अवलम्बन किया है। कथानकका उपजीव्य मूलतः महाभारत है। महाकविने अपनी कल्पना-कूचिकासे अतिशय मनोहर रचना की है। स्थान-स्थानपर वैदर्भी और गौडी रीतिका, प्रसाद और ओज गुणका मणिकाञ्चनसंयोगके समान संमिश्रण है। रस, ध्वनि, और भावका आधिक्य और उपमा, श्लेष आदि अलङ्कारोंका विलास और अनेक प्रकारके छन्दोंका इन्होंने स्वच्छन्दतापूर्वक चमत्कार दिखलाया है। संस्कृत भाषापर इनका पूर्ण अधिकार था, क्या लौकिक क्या शास्त्रीय सभी विषयपर इन्होंने आधिकारिक रूपमें प्रकाश डाला है और पूर्ववर्ती सब कवियोंको पीछे छोड़ दिया है। अत एव कहा जाता है—"उदिते नैषधे भानौ क्व माघः क्व च भारविः"। अत एव कहा जाता है "नैषधं विद्वदौषधम्"। प्रत्येक सर्गमें सौसे अधिक पद्य हैं। यह महा-काव्य २२ सर्गतक ही उपलब्ध है, परन्तु नलके दमयन्तीपरिणयतकके चरित्रके देखे जानेसे अन्य सर्गोंकी भी सत्ताकी कल्पना होती है, अस्तु। इस प्रकार अति-प्रसिद्ध लघुत्रयी और बृहत्त्रयी नामके काव्योंकी चर्चा की गई। इसी प्रकार संस्कृत-साहित्यमें पञ्च काव्योंकी पठनप्रणाली पहले रही उनमें पूर्वोक्त रघुवंश, कुमार-

संभव, किरातार्जुनीय, शिशुपालवध और नैषधीयचरित ही पञ्च काव्यकी प्रसिद्धि-वाले हैं इनका सामान्य परिचय दे चुके हैं।

१०. बुद्धचरित—समय-खृ० द्वितीय शताब्दी, बौद्ध दार्शनिक अश्वघोषने बुद्ध-चरितकी रचना की है। इसमें गौतम बुद्धके चरितका वर्णन है। यह चौदह सर्गोंतक ही उपलब्ध है। इसमें पहले २८ सर्ग थे, जो चीनी और तिब्बती अनुवादोंसे जाने जाते हैं। प्रसाद गुणसे अलङ्कृत यह काव्य है, इसके और अश्वघोषके ही सौन्दरनन्दके कतिपय पद्य कालिदासके कुमारसंभव और रघुवंशके पद्योंसे मिलते जुलते हैं, परन्तु कालनिर्णयसे कालिदासका अनुकरण अश्वघोषने किया है यह सावित होता है।

११ सौन्दरनन्द—यह महाकाव्य भी अश्वघोषकी रचना है। इसमें १९ सर्ग हैं इसमें गौतम बुद्धके सौतेले भाई नन्द, एवम् नन्दकी पत्नी सुन्दरीकी मनोहर कथाका चित्रण है। बुद्धके उपदेशसे नन्द बुद्धधर्ममें दीक्षित होता है, परन्तु अपनी पत्नी सुन्दरीमें आसक्ति भी छोड़नेमें असमर्थ होता है। वासना और त्यागका संघर्ष इसमें मनोहर रूपसे दर्शाया है, अन्तमें सत्सङ्गति और सदुपदेशके फलस्वरूप नन्द वासनाके उच्छेदमें समर्थ होता है।

१२ हरविजय महाकाव्य (कवि–रत्नाकर)–समय खृ० नवम शताब्दी। प्राचीन संस्कृत साहित्यमें यह सबसे बड़ा महाकाव्य है। इसमें ५० सर्ग हैं। इसमें महादेवजीके अन्धकाऽसुरके वधकी कथाका विस्तीर्ण और मनोहर शैलीमें वर्णन है। इसके कर्ता महाकवि रत्नाकर है। इसमें इन्होंने बाणभट्टकी शैलीका अनुकरण स्वीकार किया है। इसमें यमक तथा अन्य शब्दालङ्कार तथा चित्र काव्यकी रचना प्रचुर होनेपर भी अर्थालङ्कारोंको भी स्थान-स्थानपर अच्छी तरहसे दरसाया है। इसमें प्रचुर छन्दोंका भी प्रयोग किया गया है। इस महाकाव्यकी अलकविरचित "विषमपदोद्योत" नामक टीका प्रकाशित हुई है।

१२ विक्रमाङ्कदेवचरित, कवि–विह्लण—समय खृ० ११ शताब्दी। यह ऐतिहासिक महाकाव्य है। इसमें छठें विक्रमादित्यके जीवनचरित्रका वर्णन है। इसमें १८ सर्ग हैं। इसमें पहले सर्गसे तेरहवें सर्गतक विक्रमादित्यके पूर्वजोंका और पिछले चौदहवेंसे अठाहरवें अर्थात् ५ सर्गोंमें विक्रमादित्यका वर्णन है। यह उच्चकोटिका महा-काव्य है। इसमें महाकवि विह्लणने कालिदासका अनुकरण किया है। वैदर्भी रीति, प्रसाद गुण, ध्वनि, रस आदि और अलङ्कारोंका प्रयोग यहाँ स्थान-स्थानपर मिलता है।

१३ स्तुतिकुसुमाञ्जलि (कवि–जगद्धरभट्ट) (समय ई० १३०० करीब) काश्मीरके जगद्धरभट्टकी स्तुतिकुसुमाञ्जलि उत्कृष्ट काव्य है। शान्त रससे ओतप्रोत यह काव्य अतिशय मनोहर शैलीसे विरचित है। इसमें भगवान् शङ्करकी चित्ताकर्षक भक्तिसे परिपूर्ण कुल ३८ स्तोत्र है, अन्तमें सोलह पद्योंमें कविने अपने वंशका

वर्णन किया है। ग्रन्थमें समष्टि श्लोकसंख्या १४३९ है। इसमें प्रत्येक स्तोत्र भिन्न भिन्न छन्दोमे महाकाव्यके सर्गके ढङ्गपर लिखे गये हैं। इसमें प्रसाद और माधुर्य गुण परिपूर्ण है, इसका परिपाक भी बहुत आकर्षक है। इसमें १७०० ईस्वीमें राजानक रत्नकण्ठसे विरचित "लघुपञ्चिका" नामकी टीका उपलब्ध है।

गद्यकाव्य

१ दशकुमारचरित—कवि-दण्डी। (समय ६०० ईस्वी लगभग) यह ग्रन्थ कथारूप है। इसमें अभी ३ विभाग उपलब्ध है, पूर्वपीठिका, दशकुमारचरित और उत्तरपीठिका। पूर्वपीठिकामें पांच उच्छ्वास, दशकुमारचरितमें आठ उच्छ्वास हैं और उत्तरपीठिका संक्षिप्त है। दण्डीका यह ग्रन्थ अविकल रूपमें उपलब्ध नहीं हैं। इसका कुछ अश नष्ट हुआ और कुछ अंश पीछेसे जोड़ा हुआ प्रतीत होता है। जो हो, इसमें दशकुमारों जिनमें राजवाहन और शेष ९ मन्त्रिपुत्रोंके चरित्रका वर्णन है। पूर्वपीठिकामें दो कुमारोंका चरित्रवर्णन है, कुमारचरितके आठ उच्छ्वासोंमें ८ कुमारोंके चरित्र वर्णित हैं। उत्तरपीठिकामें कथासमाप्ति की गई है। इसकी शैली सुबन्धुकी वासवदत्ताकी-सी श्लेषबहुल और गौडीमें निबद्ध नहीं है, न बाण-भट्टका-सा वर्णनविस्तर है। कुछ अश्लीलता होकर भी इसकी कथाएं अद्‌भुत और चित्तको आकृष्ट करनेवाली है। स्थल-स्थलपर अनुप्रासकी प्रचुरता ग्रन्थको अलङ्कृत करनेवाली है।

२ वासवदत्ता—कवि-सुबन्धु। (समय ख़ु० सप्तमशतकका आरम्भ) संस्कृत साहित्यमें सबसे प्राचीन गद्य काव्य वासदत्ता है, इसके कर्ता कविवर सुबन्धु हैं, इनके विषयमें ऐसी प्रसिद्धि है—

सुबन्धुर्बाणभट्टश्च कविराज इति त्रयः।
वक्रोक्तिमार्गनिपुणश्चतुर्थो विद्यते न वा॥

इसकी कथा न इतनी प्रसिद्ध और न रोचक ही है, पर कविने इसमें अपने काव्यशिल्पकी हद कर दी है, इनका ग्रन्थ प्रत्यक्षरश्लेषमय है, इसको कविने स्वयम् स्वीकार किया है। बाणभट्ट कविने—

"कवीनामगलद्दर्पो नूनं वासवदत्तया" ऐसा लिखकर इनकी प्रशंसा की है। महापण्डित सुबन्धुने कवित्वसे अधिक अपने पाण्डित्यका ही प्रदर्शन किया है। वासवदत्तामें कादम्बरीके समान लम्बे-लम्बे पद और वाक्य नहीं हैं, पर श्लेषकी अतिप्रचुरतासे सोचते-सोचते पाठकका धैर्य टूटने लगता है। जो हो इसकी शैली पाण्डित्यपूर्ण है, इसमें सन्देह नहीं।

३ हर्षचरित—कवि-बाणभट्ट (समय-ख़ु० षष्ठ शताब्दी), थानेसरके महाराज

हर्षवर्द्धनके चरित्रके प्रकाशनमें प्रसिद्ध हर्षचरित ऐतिहासिक आख्यायिका ग्रन्थ है। इसमें ८ उच्छ्वास हैं। प्रथम और द्वितीय उच्छ्वासमें कविने अपने वंशका अनुकीर्तन किया है, अवशिष्ट छः उच्छ्वासोंमें हर्षवर्द्धनका अतिमनोरम शैलीमें वर्णन किया है। यद्यपि कादम्बरीके सदृश इसमें परिष्कृत प्रौढ़ि नहीं है, यह कविके गद्यकाव्यमें प्रारम्भिक कृति विदित होती है। तथाऽपि स्थल-स्थलमें इसमें करुणरससे ओत-प्रोत अत्यन्त हृदयद्रावक वर्णन मिलता है। बीच बीचमें वीररस और शान्तरसकी मनोरम झांकी भी मिलती है। पहलेके दो उच्छ्वासोंमें रौद्र और शृङ्गार रसका अतिमनोरम चित्रण किया गया है। आरम्भमें कई पद्योंमें पूर्ववर्ती कालिदास आदि कवियोंकी प्रशंसा अतिशय मनोहर है। श्रीहर्षका पूरा चरित वर्णित न होनेसे यह ग्रन्थ अधूरा-सा प्रतीत होता है। इसका कारण अज्ञात है।

४ कादम्बरी—कवि—बाणभट्ट। समय—ई० सातवीं शताब्दीका आरम्भ। कादम्बरी बाणभट्टकी लोकाऽतिशायिनी कृति है। यह कथाके रूपमें लिखी गई है, इसकी क्या कथा, क्या लेखनशैली क्या वर्णनकी मधुरता, देखते ही बनती है। स्थल-स्थलपर गौड़ी रीतिका आडम्बर होनेपर और उपमा और श्लेष आदि अलङ्कारोंकी प्रचुरता होनेके साथ-साथ कुछ दुरूहता होनेपर भी काव्यरसके आस्वादकी लोलुपतासे उत्सुकता निरन्तर बढ़ती रहती है—तबीयत ऊबती नहीं है। महाश्वेता और पुण्डरीकके प्रणयका, तथा कादम्बरी और चन्द्रापीडके अनुरागका, विन्ध्याऽटवीका तथा जाबालिके आश्रमका वर्णन किसे आकृष्ट नहीं करता है? विश्वके गद्यकाव्योंमें यह अप्रतिम और मनोहर है। बृहत्कथाके आधारपर इसका कथानक है। परन्तु दुःखकी बात है कि यह ग्रन्थ अधूरा ही है, पूर्वार्द्ध मात्र कविने लिखा है उत्तरार्द्ध उनके पुत्रने लिखकर ग्रन्थको पूर्ण किया है।

नाटक रूपक आदि

१ स्वप्नवासवदत्ता : नाटक, कर्ता—कविवर भास। समय—ईसा-पूर्व चतुर्थ शताब्दीका आरम्भ। स्वप्नवासवदत्ता आदि तेरह रूपक भासके नामसे पाये गये हैं। उनमें स्वप्नवासवदत्ता और चारुदत्त सबसे उत्तम हैं। भासके सभी रूपक प्राञ्जल शैली, वर्णनकी उदात्तता, सूक्ष्म मनोविज्ञान और शृङ्गार, वीर आदि रसोंकी मधुरतासे किस सहृदयके हृदयको आकृष्ट नहीं करते हैं? मृच्छकटिकका उपजीव्य ग्रन्थ "चारुदत्त" प्रतीत होता है। महाकवि कालिदासने भी अपने पूर्ववर्ती कवियोंमें सबसे प्रथम भासका उल्लेख किया है। भासके १३ रूपक उपलब्ध हैं, जैसे—प्रतिज्ञायौगन्धरायण, स्वप्नवासवदत्त, प्रतिमा नाटिका, पञ्चरात्र, अभिषेक, बालचरित, मध्यमव्यायोग, दूत-वाक्य, दूतघटोत्कच, कर्णभार, ऊरुभङ्ग, चारुदत्त और अविमारक।

२ अभिज्ञानशाकुन्तल : नाटक, कर्ता—महाकवि कालिदास। समय—ईसासे ५७ वर्ष पूर्व। अभिज्ञानशाकुन्तल कालिदासका सर्वश्रेष्ठ नाटक है। महाभारतके आधारपर इसका कथानक है। शकुन्तला और दुष्यन्तका प्रणय, उनका विप्रलम्भ शृङ्गार, इसमें देखते ही बनता है। कहा भी जाता है—

"काव्येषु नाटकं रम्यं, तत्राऽपि च शकुन्तला ।"

अन्तर्जगत् और बहिर्जगत्का चित्रण करनेमें कवि अपनी सानी नहीं रखते हैं। विश्वचर्चित यह नाटक है।

३ मालविकाऽग्निमित्र नाटक : कवि—कालिदास। मालविका और अग्निमित्रके प्रणय और परिणय इसमें अतिमनोरम शैलीसे प्रदर्शित हैं। कालिदासके रूपकोंमें यह प्रथम रचना जान पड़ती है।

४ विक्रमोर्वशी : इस त्रोटकके कर्ता भी महाकवि कालिदास हैं। श्रीमद्भागवत आदि पुराणोंमें वर्णित अप्सरा उर्वशी और चन्द्रवंशके महाराज पुरूरवाके प्रणय और विप्रलम्भ शृङ्गार इस ग्रन्थमें बहुत ही कुशलतासे प्रदर्शित हैं।

५ रत्नावली, प्रियदर्शिका, (नाटिका) नागानन्द (नाटक) : कवि—श्रीहर्ष। समय—६०६-६४८ ईसवी। थानेश्वरके महाराज श्रीहर्ष वा हर्षवर्द्धनके तीन रूपक प्रसिद्ध हैं, उनमें रत्नावली और प्रियदर्शिका उपरूपकके भेदमें नाटिका है। रत्नावली—इसमें राजा उदयन और रत्नावलीकी प्रणयकथा मनोरम रूपसे वर्णित है। इसमें नाट्यशास्त्रके प्रचुर नियमोंका परिपालन किया गया है। इसमें ४ अङ्क हैं।

प्रियदर्शिका : इसमें भी राजा उदयन और राजा दृढवर्माकी पुत्री प्रियदर्शिकाकी प्रणयकथा वर्णित है। इसमें भी ४ अङ्क हैं।

६ नागानन्द। यह पाँच अङ्कोंका नाटक है, इसमें विद्याधर-राजपुत्र जीमूतवाहन और मलयवतीकी प्रणयकथाका वर्णन है। इसमें जीमूतवाहन, गरुडभोज्य एक नागके बदले अपना शरीर सौंप कर उसकी रक्षा करते हैं, और नागोंको आनन्द देते हैं। बृहत्कथाके आधारपर इसका कथानक है।

७ महावीरचरित, उत्तररामचरित और मालतीमाधव ये तीनों कविवर भवभूतिकी कृतियाँ हैं। भवभूतिका समय—ईसाकी सातवीं शताब्दी है।

महावीरचरित और उत्तररामचरित नाटक हैं और मालतीमाधव प्रकरण है। महावीरचरितमें भगवान् रामचन्द्रके युद्धकाण्डतकका चरित्रचित्रण है, इसमें प्रधान वीर रस है—अन्य रस गौण हैं। यह समासकी अधिकतासे क्लिष्ट है, परन्तु कतिपय स्थल इसमें अत्यन्त मनोहर है। इसमें ७ अङ्क हैं।

८ उत्तररामचरित : भवभूतिका उत्कृष्ट संयोगान्त नाटक है। सीतानिर्वासनसे इसका आरम्भ होता है, करुण रसके परिपाकमें कविने अपनी कलाको पराकाष्ठामें पहुँचा दिया है। जैसे शृङ्गारमें कालिदास वैसे ही करुणरसमें भवभूति अपनी सानी नहीं रखते हैं। इसमें भी सात अङ्क हैं।

९ मालतीमाधव : यह प्रकरण ग्रन्थ है। इसमें दस अङ्क हैं। इसमें पद्मावतीके

राजाके मन्त्री भूरिवसुकी कन्या मालतीका विदर्भराजके मन्त्री देवरातके पुत्र माधवके साथ प्रणय और परिणयका मनोहर वर्णन है, इसमें अनेक सङ्कट और इनके परिहारका विशद और मनोरम चित्रण है। इसमें कई पद्य मेघदूतके टक्करके हैं, पर रूपकके लिए अनुपयुक्त पाण्डित्यपूर्ण शैलीमें यह रचना है।

१० अनर्घराघव नाटक : कवि—मुरारि, समय ८५० ईसा-पूर्व। श्रीराम-चरितमें आश्रित यह नाटक है। इसके कर्ता मुरारि कवि मीमांसाके महान् विद्वान् थे; जैसे मीमांसामें भट्ट और गुरुके सम्प्रदायोंसे इनका निराला मार्ग है वैसे ही इनका नाटकमें भी निराला मार्ग है, अतः यह प्रसिद्ध उक्ति है—"मुरारेस्तृतीयः पन्थाः"।

इस ग्रन्थसे इनका प्रौढ़ पाण्डित्य परिलक्षित होता है परन्तु काव्यमाधुर्यका आस्वाद कम ही मिलता है। समस्त और दुरूह पदोंके भरमारसे नाटक बहुत क्लिष्ट है। इसमें ७ अङ्क है।

११ मुद्राराक्षस : कवि–विशाखदत्त। समय–ई० ८५०, इसमें सात अङ्क हैं। इसमें चाणक्यकी सहायतासे अपने पिता नन्दके सिंहासनपर आरूढ चन्द्रगुप्तका वृतान्त वर्णित है। नन्दके पूर्व मन्त्री राक्षस और चाणक्यके राजनीतिक दावपेंचका इसमें पूर्णतया वर्णन है। नाटक प्रौढ पाण्डित्यपूर्ण और मनोहर है।

१२ प्रसन्नराघव : कवि–जयदेव। समय ई० १२०० और १३०० का मध्य भाग। यह नाटक भी भगवान् रामके चरित्रपर अवलम्बित है। इसमें रामके वनवाससे लेकर युद्धकाण्डतककी घटनाका मनोरम और कुतूहलवर्द्धक वर्णन है। कवित्वका परिपाक देखा जाता है। कवि जयदेव मिथिलाके प्रख्यात तार्किक और अलङ्कारशास्त्री भी थे, इनका अलङ्कार ग्रन्थ चन्द्रालोक सुप्रसिद्ध है।

१३ मृच्छकटिक प्रकरण : कवि–शूद्रक। समय–ईसाकी द्वितीय शताब्दी। यह दश अङ्कोंसे युक्त है। इसमें उज्जयिनीके सार्थवाह ब्राह्मण चारुदत्त और वसन्तसेना नामकी वारविलासिनीकी प्रणयघटनाका मनोरम वर्णन है। इसमें राजनीतिक क्रान्तिका भी सजीव चित्रण है। संस्कृत साहित्यमें यह बेजोड़ है। इसके पूर्व चार अङ्क भासके चारुदत्त नाटकसे मिलते-जुलते हैं। इसमें राजश्यालक शकारकी दुष्टता; चारुदत्तकी उदारता और वसन्तसेनाका अकृत्रिम प्रणय इत्यादि विषयोंका अतिशय आकर्षक वर्णन है। शृङ्गार और करुण रसका परिपाक इसमें देखते ही बनता है।

१४ वेणीसंहार नाटक : कवि–भट्टनारायण। समय–ई० ६७५। इसमें सात अङ्क हैं। महाभारतके पाण्डव-कौरवयुद्धका इसमें ओज गुणसे परिपूरित वर्णन है, बीच-बीचमें प्रसाद गुणका भी इसमें निर्वाह हुआ है। नाट्यशास्त्रके बहुतसे नियमोंका परिपालन इसमें किया गया है। इसमें मुख्य वीर रस है, स्थल-स्थलपर करुण और शृङ्गार रस भी वर्णित हैं। अन्तमें भीमसे अपनी प्रतिज्ञाके अनुसार दुःशासनके रुधिरसे

द्रौपदीकी वेणीका संहरण करनेकी घटनाका इसमें वर्णन है। यह उच्चकोटिका नाटक है।

चम्पूकाव्य

संस्कृत साहित्यमें चम्पूकाव्यकी भी विशेषता है। हम कुछ चम्पूकाव्योंका वर्णन करते है। गद्यपद्यमय काव्यको "चम्पू" कहते हैं।

१ नलचम्पू : कवि–त्रिविक्रम भट्ट। समय ई० ९१५। संस्कृत साहित्यके चम्पू-ग्रन्थोमें नलचम्पू वा दमयन्तीकथाका स्थान महत्त्वपूर्ण है। त्रिविक्रम भट्ट देवादित्यके पुत्र थे। कहते हैं कि ये पहले बहुत मूर्ख थे, पार्वतीके प्रसादसे पीछे बड़े विद्वान् हुए। नलचम्पूमे ७ उच्छ्वास हैं। इसमें दमयन्तीके स्वयंवरमात्रका वर्णन होनेसे यह अधूरी मालूम होती है। यह पाण्डित्यपूर्ण ग्रन्थ है, इसमें विशेष कर श्लेषका गुम्फन प्रचुर मात्रामें हैं, उसे सुलझानेके लिए मस्तिष्क चकरा जाता है परन्तु वासवदत्तासे यह सरल और सरस है। अर्थालङ्कारकी अपेक्षा शब्दाऽलंकारमें कवि का अधिक संरम्भ प्रतीत होता है। इसके गद्यभागमें ओजोगुणका तथा पद्यभागमें पाञ्चाली रीतिका अनुसरण पाया जाता है। इसकी टीकाओंमें चण्डपालकी विषमपदप्रकाश टीका प्राचीन प्रसिद्ध और उपलब्ध है। इसके कतिपय पद्य अति मनोहर और प्रसिद्ध हैं।

२ रामायणचम्पू : कवि–राजा भोज। समय–ई० १०५०। भोजकृत यह चम्पू पाँच काण्डोंतक ही उपलब्ध है। इसको पूर्ण करनेके लिए लक्ष्मण भट्टने षष्ठ काण्डकी और वेङ्कटराय दीक्षितने सप्तम काण्डकी रचना की है।

रामायणचम्पूमें रामायणकथाका मनोहर वर्णन है। यह चम्पू शब्दाऽलंकारोंसे सजी हुई है। इसमें कविका पाण्डित्य और शब्दाऽलंकारमें सविशेष अभिनिवेश होनेसे रचना क्लिष्ट है।

३ विश्वगुणादर्श चम्पू : कवि–वेङ्कटाऽध्वरी। समय-ई० १६४०। ये कवि श्रीसम्प्रदायके थे। इसमें भारतके प्रसिद्ध तीर्थ आचार्य, और नगर आदिके गुण और दोषोंका मनोहर रूपमें वर्णन है। इसमें कुल १३ प्रकरण है। अलंकारोंपर कविने खूब ध्यान दिया है, भाषा कुछ क्लिष्ट है। अपने विषयका यह अनूठा ग्रन्थ है।

४ भारतचम्पू : कवि–अनन्त। समय–कदाचित् ११ वीं शताब्दी। इन्होंने भागवतचम्पू और भारतचम्पू दोनों ग्रन्थोंकी रचना की है। भारतचम्पूमें महाभारत-की कथा दी गई है। इसमें १२ स्तबक हैं। इसमें शब्दालंकार और अर्थाऽलंकार प्रचुर परिमाणमें हैं, श्लेषकी भी न्यूनता नहीं है। कुछ क्लिष्ट होनेपर भी इसमें माधुर्य और प्रसाद गुण भी यथेष्ट हैं। वर्णनशैली बड़ी मनोरम है, यह समस्त चम्पू ग्रन्थोंमें श्रेष्ठ है। इसमें नारायण सूरिकी प्राचीन टीका उपलब्ध है।

५ **विद्वन्मोदतरङ्गिणी :** चम्पू कवि—वामदेव रामदेव वा चिरञ्जीवभट्टाचार्य, समय— ई० १७०३। वामदेव, रामदेव वा चिरञ्जीवभट्टाचार्य राघवेन्द्रके पुत्र थे। इनके दो ग्रन्थ उपलब्ध हैं, अलङ्कारशास्त्रमें काव्यविलास और चम्पूमें विद्वन्मोदतरङ्गिणी। विद्वन्मोदतरङ्गिणी छोटी सी चम्पू है, इसमें ८ तरङ्ग हैं। इसमें कविने अपना परिचय देकर शैव और वैष्णव आदि सम्प्रदायोंके आचार्योंके शास्त्रार्थका प्रदर्शन कर क्रमपूर्वक सभी दर्शनोंका परिचय दिया है, रचना प्रौढ है। इसमें न्यायशास्त्रकी विशेषता दिखलाई गई है। अन्तमें हरि और हरका अभेद प्रदर्शित है। इसमें कवित्वसे अधिक पाण्डित्यका अंश है। यह अलङ्कारशास्त्र अलङ्कारशास्त्रके लक्ष्यभूत कुल काव्योंकी संक्षिप्त चर्चा है। इसमें कालक्रमका अनुसरण न कर स्मृतिपथप्राप्त कुछ ग्रन्थोंका परिचय देनेका प्रयास किया है। अब अलङ्कारशास्त्र अलङ्कारग्रन्थोंका और उनके रचयिताओंका वर्णन करते हैं।

१ अग्निपुराण, कर्त्ता—व्यास, समय—द्वापरयुगका अन्तिम भाग। व्यासके १८ पुराणोंमें अन्यतम। संस्कृत वाङ्मयमें इतिहासमें महाभारत और पुराणमें अग्निपुराण विश्वकोषके रूपमें माने गये हैं। श्रीकाणे इसे भरत, भामह, दण्डी, आनन्दवर्द्धन और संभवत: भोजके भी अनन्तरवर्ती मानते है। अग्निपुराणमें क्रमबद्ध रूपसे अनेक विषयोंका सङ्कलन है। इसकी श्लोकसंख्या १२००० है। कलकत्तामें मुद्रित मोर—संस्करण के अनुसार ३३७ वें अध्यायसे ३४७ वें अध्याय तक कुल ११ अध्यायोमें साहित्य विषयोंका निरूपण किया गया है। जैसे—काव्यादिलक्षण, नाटकनिरूपण, शृङ्गारादिरसनिरूपण, रीतिनिरूपण, नृत्यादिरङ्गकर्मनिरूपण, अभिनयादिनिरूपण, शब्दालङ्कार, अर्थालङ्कार, शब्दाऽर्थाऽलङ्कार, काव्यगुणविवेक और काव्यदोषविवेक। इसमें काव्यके ३ भेद किये गये हैं—गद्य, पद्य और मिश्र। गद्यका लक्षण है—"अपद: पदसन्तान:" अर्थात् चरणरहित पदसमूहको "गद्य" कहते हैं। उसके भी ३ भेद हैं—चूर्णक, उत्कलिका और वृत्तगन्धि। गद्यकाव्यके ५ भेद होते हैं—आख्यायिका, कथा, खण्डकथा, परिकथा और कथानिका। इन सबके पृथक् पृथक् लक्षण हैं। चतुष्पदी अर्थात् जिसके ४ चरण होते हैं उसे "पद्य" कहते हैं। उसके २ भेद होते हैं—वृत्त और जाति। जहां वर्णोंका परिगणन होता है उसे "वृत्त" और जहाँ मात्राओंका परिगणन होता है उसे "जाति" कहते है। वृत्तके भी ३ भेद होते हैं—सम, अर्द्धसम और विषम। काव्यके फिर ७ भेद होते हैं—महाकाव्य, कलाप, पर्याबन्ध, विशेषक, कुलक, मुक्तक और कोष। इसी प्रकार इसमें दृश्य काव्य अर्थात् नाटक-आदिका भेद लक्षणपूर्वक किया गया है। इसी प्रकार शृङ्गार आदि ९ रस, स्थायी भाव और विभाव आदि भाव, नायकोंके भेद, नायकोंके सहचर, नायिकाभेद, नायकके ८ गुण, नायिकाके १२ विभाव, पाञ्चाली आदि ४ रीतियां, भारती आदि ४ वृत्तियाँ, नृत्तका निरूपण, सात्त्विक आदि ४ अभिनय, सलक्षण शब्दालङ्कार

अनुप्रासयमक के १० भेद, चित्र काव्यके ७ भेद, प्रहेलिकाके १६ भेद, गोमूत्रिका और सर्वतोभद्र आदि बन्ध, उपमा, रूपक, सहोक्ति आदि अर्थाऽलङ्कार, शब्दाऽर्थाऽलङ्कार, काव्यके गुण और दोष : इत्यादि बहुतसे विषयोंका वर्णन अग्निपुराणमें उपलब्ध होता है।

२ नाट्यशास्त्र, कर्ता—भरत मुनि, समय-त्रेतायुग, नवीन मतमें ई० पू० प्रथम शताब्दी। भरत मुनि इस सम्प्रदायके सबसे प्राचीन आचार्य हैं। नाट्यशास्त्रमें संगीत, नृत्य आदि विषयोंका विस्तृत निरूपण है। भरत मुनिने उपमा, रूपक, दीपक और यमक ४ अलंकारोंका विवेचन किया है। इसमें नाटकको लक्ष्य कर शृङ्गार आदि रसोंका (शान्तको छोड़कर) निरूपण किया गया है। नाट्यशास्त्रके नये संस्करणमें ३७ अध्याय और चौखम्बासंस्कृतसीरीजके संस्करणमें ३६ अध्याय उपलब्ध होते हैं, अभिनवगुप्ताचार्यने इसकी "अभिनवभारती" नामकी उत्कृष्ट टीकाकी रचना की है। उनके मताऽनुसार इसकी श्लोकसंख्या ६००० है। भवभूतिने उत्तररामचरितके चतुर्थ अङ्कमें भरतमुनिकी "तौर्यत्रिकसूत्रकार" लिखा है। नाट्यशास्त्रके प्रथम अध्यायमें नाटककी उत्पत्तिका वर्णन मिलता है। सत्ययुगमें नाटककी आवश्यकता नहीं थीं, पीछे मनुष्योंकी प्रीतिके लिए—

"जग्राह पाठ्यमृग्वेदात्सामभ्यो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि ॥"

अर्थात् ऋग्वेदसे पाठ्य, सामवेदसे गीत, यजुर्वेदसे अभिनय और अथर्ववेदसे रसोंको लेकर नाटकका प्रणयन हुआ है। इसीमें लिखा है कि शिवजीने ताण्डव, पार्वतीने लास्य नृत्य विष्णुने नाट्यरीतिका दान किया, तब भरतमुनिने नाट्यशास्त्रकी रचना कर मनुष्यलोकमें प्रचार किया। इस प्रकार प्रकृत नाट्यशास्त्र भारतीय साहित्य, संगीत और नृत्यकलाके महान् कोषके रूपमें है। इसमें नाट्यकी प्रधानता होनेपर भी उसके उपकारक छन्द, अलंकार और संगीतके मूल सिद्धान्तका भी प्रतिपादन किया गया है। इसमें कारिका, सूत्र और अनुवंश्य श्लोकके रूपमें ३ प्रकारकी रचनाएँ पाई जाती हैं! अभिनवगुप्तकी टीकाके अनुसार अनुवंश्य श्लोक प्राचीन आचार्योंसे निर्मित है ऐसा प्रतीत होता है। अभिनवगुप्तने नाट्यशास्त्रको "भरतसूत्र" और नान्यदेव नामके विद्वान्‌ने भरतको "सूत्रकृत्" शब्दसे उल्लेख किया है।

मेधावी

भामहने अपने ग्रन्थमें "मेधावी" नामके अलंकारशास्त्रीका दो वार उल्लेख किया है। संप्रति इनका कोई ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

३ विष्णुधर्मोत्तर पुराण, कर्ता—व्यासमुनि, समय द्वापरका अन्त्य भाग इसके

तृतीयखण्डमें १७ अलंकारोंकी चर्चा है और नाटयके महत्त्वपूर्ण विषयोंका उल्लेख हैं। इसमें प्राय: नाटयशास्त्रका अनुसरण है।

४ काव्याऽलङ्कार, लेखक-भामह। समय—ई. सप्तम शताब्दीका आदि भाग-बहुत विद्वान् भामहको आदिम अलंकारशास्त्री मानते हैं। इनके और दण्डीके पूर्वाऽपरभावमें बहुत मतभेद देखा जाता है। काव्यालंकारमें छ: परिच्छेद हैं और ४०० पद्य है। प्रथम परिच्छेदमें काव्यशरीरका निर्णय. द्वितीय और तृतीयमें अलंकारनिर्णय, चतुर्थमें ५० पद्योमें दोषनिर्णय, पञ्चममें न्यायनिर्णय अर्थात् न्याय और वैशेषिकके प्रमाण और पञ्चाऽवयव वाक्योंका विचार है। और षष्ठ परिच्छेदमें श· शुद्धिका विवेचन किया गया है। उद्भट भट्टने इसकी टीका की है और प्रतिहारेन्दुराजने लघुवृत्ति लिखी है। विद्यानाथ, रुय्यक, अभिनवगुप्त और [illegible] भट्ट आदि आचार्योंने भामहका संमानपूर्वक उल्लेख किया है। रस ही का [illegible] मूल है इस बातको भामहने स्वीकार नहीं किया है। दण्डीके ही समान उन्होंने गुण और अलंकारके विशेष भेदका उल्लेख नहीं किया है। भामह अलंकारसम्प्रदायके प्रवर्तकके रूपमें माने गये हैं। ग्रन्थके अन्तमें उन्होने अपनेको "रक्रिलगोमिसूनु" लिखा है, इसलिए उन्हें कुछलोग बौद्ध मानते हैं, परन्तु यह मत सर्वसम्मत नहीं है। क्योंकि भामहने अपने ग्रन्थमें कहीं भी बुद्धका उल्लेख नहीं किया है, संभवत: वे काश्मीरनिवासी ब्राह्मण थे। काव्याऽलंकारमें अधिकांश अनुष्टुप् छन्द हैं, बीच बीचमें अन्य छन्द भी हैं। काव्यकी आधारभूत भाषाओंमें उन्होंने संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश इन तीन भाषाओंको माना है। काव्यके गद्य और पद्य दो भेद दिये हैं। फिर विषयकी दृष्टिसे भामहने वृत्तदेवादिचरितशंसि, उत्पाद्यवस्तु, कलाश्रय और शास्त्राश्रय इस प्रकार काव्यका विभाजन किया है। उन्होंने काव्यके ५ भेदोंका भी परिगणन किया है, जैसे—सर्गबन्ध (महाकाव्य), अभिनेयाऽर्थ (दृश्यकाव्य), आख्यायिका, कथा और अनिबद्ध। इनमें भामहने अभिनेयार्थका केवल उद्देश लिखकर विशेष चर्चा नहीं की है। गौडी और वैदर्भीके भेदको भामहने निरर्थक कहा है।

काव्यादर्श, लेखक—दण्डी, समय—ई० सप्तम शताब्दीका उत्तरार्द्ध। कविराज दण्डीके काव्यादर्शमें तीन परिच्छेद हैं। कुछ लोगोंने तृतीय परिच्छेदके कुछ श्लोकोंको अलग कर चतुर्थ परिच्छेद बना डाला है। इसकी पद्यसंख्या ६६० है। इसमें अधिकतर अनुष्टुप् छन्द हैं, बीच बीचमें अन्य छन्दोंका भी प्रयोग किया गया है। काव्यादर्शमे प्रथम परिच्छेदमे काव्यका लक्षण और उसके भेद, महाकाव्यका लक्षण, गद्यके भेद, कथा और आख्यायिकामें अभेद, मिश्र काव्य, काव्यमें भाषाओंका भेद, वैदर्भी और गौडी मार्ग (रीति), वैदर्भीके १० गुण, कवित्वकी उत्पत्ति इतने विषय हैं। द्वितीयमें अलंकारका लक्षण अलंकारोंके नाम और ३५ अर्थालंकारोंके

लक्षण और उदाहरण हैं। तृतीयमें शब्दाऽलंकारका वर्णन है, जैसे—यमक गोमूत्रिका; अर्द्धभ्रम, सर्वतोभद्र, स्वरनियम, स्थाननियम, वर्णनियम, और प्रहेलिका, इतने विषयों-का निरूपण है।

काव्यादर्शके प्रारम्भमें—

"चतुर्मुखमुखाऽम्भोजवनहंसवधूर्मम ।
मानसे रमतां नित्यं सर्वशुक्ला सरस्वती ॥"

इस श्लोकसे मङ्गलाचरण किया है। वस्तुतः यह श्लोक सरस्वतीरहस्योपनिषत्का है, दण्डीने उसका उद्धरण किया है। काव्यादर्शमें काव्यके ३ भेदोंका उल्लेख किया है—गद्य, पद्य और मिश्र। मिश्रसे उसमें नाटक और चम्पूका निर्देश किया गया है। काव्यमें प्रयोज्य भाषाको दण्डीने संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र इस प्रकार ४ भेदोंमें विभक्त किया है। वे लिखते हैं—

"संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभिः।
तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृतक्रमः॥" १–३३
"महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।
सागरः सूक्तिरत्नानां सेतुबन्धादि यन्मयम्॥" १–३४

अर्थात् महर्षियोंने संस्कृतको "देववाणी" कहा है। प्राकृत भाषाके ३ भेद हैं—तद्भव, तत्सम और देशी। महाराष्ट्रमें व्यवहृत भाषा उत्कृष्ट प्राकृत है। सूक्तिरूप रत्नोंके समुद्रस्वरूप "सेतुबन्ध" आदि काव्य जिस महाराष्ट्र भाषामें रचित है। इसी प्रकार देशभेदसे प्राकृत भाषाके शौरसेनी, गौडी और लाटी आदि भेद हैं। आभीर आदिकी भाषा अपभ्रंश रूपमें मानी जाती है। सामान्यतः संस्कृतसे भिन्न भाषा अपभ्रंश भाषा मानी जाती है।

अलंकारशास्त्रियोंके दो प्रस्थान देखे जाते हैं, उनमें एक व्यास और भरत मुनिसे उपदिष्ट प्राचीन, जिसके राजा भोज आदि अनुयायी हैं, दूसरा अभिनवगुप्ताचार्य आदि विद्वानोंसे उद्भावित अभिनव, जिसके मम्मटभट्ट आदि विद्वान् अनुगामी हैं। काव्यादर्शमें भी प्राचीन प्रस्थानका अनुगमन किया गया है। काव्यादर्श रीतिमार्गका प्रतिष्ठापक और अलंकारमार्गका प्रतिपादक है। कहा जाता है कि भामहने मेधावीके मतका अनुसरण किया है और दण्डीने उसका खण्डन किया है।

दण्डीका निवास स्थान काञ्ची नगरी थीं। कुछ विद्वान् वैदर्भी रीतिके प्रशंसक होनेसे उन्हें विदर्भ (बरार) के निवासी कहते हैं।

दण्डीकी प्रशंसामें ऐसी उक्ति है—

"जाते जगति वाल्मीकौ कविरित्यभिधाऽभवत्।
कवी इति ततो व्यासे, कवयस्त्वयि दण्डिनि॥

इसी तरह दण्डीकी रचनाके विषयमें शार्ङ्गधरपद्धतिके—

त्रयोऽग्नयस्त्रयो वेदास्त्रयो देवास्त्रयो गुणाः ।
त्रयो दण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः ॥

इस पद्यके अनुसार उनके ३ प्रबन्धोंकी चर्चा मिलती है, उनमें पहला दशकुमार-चरित, दूसरा प्रकृत काव्यादर्श और तीसरा प्रबन्ध छन्दोविचिति जो अभी अनुपलब्ध है, कुछ विद्वान् उसके स्थानपर अवन्तिसुन्दरीकथाको रखते है ।

६ अलङ्कारसारसंग्रह, कर्ता—उद्भट, समय—ई० ८०० के लगभग। उद्भटभट्ट काश्मीरके निवासी थे। उनके अलङ्कारसारसंग्रहपर प्रतीहारेन्दुराजकी "लघुवृत्ति" नामकी टीका है। प्रतीहारेन्दुराजका समय ई० ९५० के करीब है। इनका नाम "इन्दुराज" भी है। उद्भटने भामहके "काव्याऽलङ्कार" पर "भामह-विवरण" नामकी टीका की थी ऐसा उल्लेख पाया जाता है, पर यह अभीतक उपलब्ध नहीं। अलङ्कारसारसंग्रहमें ६ वर्ग हैं, इसमें कारिकाओंकी संख्या ७९ है, जिनमें ४१ अलङ्कारोंका वर्णन है, उनके करीब १०० उदाहरण दिये गये हैं। प्रतीहारेन्दु-राजकी उक्तिके अनुसार यह ग्रन्थ भामहविवरणका संक्षेप है। इस ग्रन्थकी रचना-के अनन्तर भामहके काव्याऽलङ्कारका प्रचार रुक गया। यह ग्रन्थ अलङ्कारमार्गका प्रतिष्ठापक माना जाता है। इसमें उद्भटने भामहलिखित कुछ अलङ्कारोंको छोड़ भी दिया है। उद्भटने कुमारसंभव नामके काव्यकी रचना भी की थी ऐसी प्रसिद्धि है, पर अभी वह ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है। राजतरङ्गिणीके—

"विद्वान्दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः ।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः ॥

इस उक्तिसे उद्भट, राजा जयापीडकी पण्डितसभामें सभापति थे ऐसा विदित होता है।

७ काव्याऽलङ्कारसूत्र, कर्ता—वामन, समय—ई० ८ वीं शताब्दी लगभग। इस ग्रन्थमें ३ अंश हैं। सूत्र, उसकी वामनकृत वृत्ति और उदाहरण। इसमें ५ अधि-करण और १२ अध्याय हैं। प्रथम अधिकरणमें ३ अध्याय हैं जिनमें क्रमसे प्रयोजन-स्थापना, अधिकारिचिन्ता और रीतिनिश्चय तथा काव्यके अङ्ग और काव्यविशेषों-का निरूपण है। दोषदर्शन नामके द्वितीय अधिकरणमें क्रमसे पद-पदार्थ-दोषविभाग और वाक्याऽर्थदोषविभाग हैं। गुणविवेचन नामके तृतीय अधिकरणमें दो अध्याय हैं, जिनमें क्रमसे गुण और अलङ्कारका तथा शब्द और गुणका विवेक और अर्थगुणका विवेचन है। आलङ्कारिक नामक चतुर्थ अधिकरणमें ३ अध्याय हैं, जिनमें क्रमसे शब्दाऽलङ्कारविचार, उपमाविचार और उपमाप्रपञ्चाऽधिकार हैं। "प्रायोगिक" नामक पञ्चम अधिकरणमें २ अध्याय हैं, जिनमें क्रमसे काव्यसमय और शब्दशुद्धिका

निरूपण किया गया है। ध्वन्यालोकलोचन, काव्यप्रकाश, अलङ्कारसर्वस्व और साहित्यदर्पण आदि ग्रन्थोंमें वामनके मतका उल्लेख किया गया है। कल्हणकी राजतरङ्गिणीके—

"मनोरथः शङ्खदत्तश्चटकः सन्धिमांस्तथा।
बभूवुः कवयस्तस्य वामनाद्याश्च मन्त्रिणः॥

इस उक्तिसे वामन, जयापीडके मन्त्री और उद्भटके समकालिक थे ऐसा प्रतीत होता है। काशिकाकार वामन इनसे पूर्ववर्ती थे। "काव्यं ग्राह्यमलङ्कारात्" इस सूत्रके अनुसार वामनके मतमें गुण और अलङ्कारसे संस्कृत शब्द और अर्थ ही काव्य है। वामन रीतिमार्गके प्रवर्तक माने जाते है। "विशिष्टा पदरचना रीतिः" यह रीतिका लक्षण है। वामनने वृत्तिमें अमरुशतक, महावीरचरित, उत्तररामचरित, वेणी-संहार, शाकुन्तल, विक्रमोर्वशीय, कादम्बरी, हर्षचरित, किरातार्जुनीय, कुमारसंभव, मृच्छकटिक, मेघदूत, रघुवंश, शिशुपालवध आदि ग्रन्थोंका उदाहरण दिया है। काव्यालङ्कारसूत्रमें महेश्वरकी और गोपेन्द्र त्रिपुरहर भूपालकी "कामधेनु" नामकी व्याख्या उपलब्ध है।

८ काव्यालङ्कार, कर्ता—रुद्रट, समय—ई० ८५० के लगभग—रुद्रटका दूसरा नाम शतानन्द था। ये भट्टवामुकके पुत्र और सामवेदी थे। इनका निवास-स्थान काश्मीर था। इनके काव्याऽलङ्कारमें १६ अध्याय हैं। इस ग्रन्थमें काव्यशास्त्रके प्रायः सभी अङ्गोंका वर्णन है। इसकी रचना आर्या छन्दमें है परन्तु अध्यायके अन्तमें अन्य छन्दोंका भी प्रयोग है। पद्यसंख्या ७३४ है। इसमें समस्त उदाहरण कवि-निर्मित है। प्रथम अध्यायमें ५ शब्दाऽलङ्कार, ४ रीतियाँ, भाषाके प्राकृत, संस्कृत, मागध, पिशाचभाषा, सूरसेनी और अपभ्रंश इस प्रकार ६ भेद और अनुप्रासकी ५ वृत्तियाँ वर्णित है। तृतीयमें यमकका सविस्तर वर्णन है। चतुर्थमें श्लेष और उसके ८ भेद निरूपित है। पञ्चममें चित्रकाव्यका प्रतिपादन है। षष्ठमें पद और वाक्यके दोषों-का निरूपण है। सप्तममें शब्दके ४ भेद, प्रभेद और वास्तव, इनपर आधारित २३ अलङ्कारोंके लक्षण हैं। अष्टममें औपम्यके २१ अलङ्कार निरूपित है। नवममें अतिशय-के १२ अलङ्कारोंका वर्णन है। दशममें शुद्ध श्लेषके १० और सङ्करके २ भेदोंका प्रतिपादन है। एकादशमें नौ प्रकारके अर्थदोष और चार प्रकारके उपमादोष वर्णित हैं। द्वादशमें १० प्रकारके रस, शृङ्गारका लक्षण और भेद उसके संभोग और विप्रलम्भ २ भेद, नायकके गुण, उसके सहायकोंका वर्णन और नायक तथा नायिकाके भेदोंका वर्णन है। त्रयोदशमें संभोग-शृङ्गार और देश और कालके भेदोंसे नायिकाकी विभिन्न चेष्टाओं-का वर्णन है। चतुर्दशमें विप्रलम्भ शृङ्गार, उसकी १० अवस्थाएँ, खण्डिता नायिकाके अनुनयके छः उपाय वर्णित है। पञ्चदशमें वीररस और अन्यरसोंका प्रतिपादन है।

षोडशमें काव्यभेद, कथा और आख्यायिका आदि गद्यकाव्योंका और अन्य विशेषताओंका वर्णन है। मम्मट और विश्वनाथने स्थान-स्थानपर इसकी सामग्रीका उपयोग किया है। नमिसाधु नामके श्वेताम्बर जैनने काव्यालङ्कारकी टीका की है, यह प्राचीन और प्रौढ है। यह विक्रमसंवत् ११२५ में निर्मित है।

९ ध्वन्यालोक, कर्ता—आनन्दवर्द्धन, समय—ई० ८५०—ध्वनिमार्गके प्रवर्तक आनन्दवर्द्धन आचार्यने ध्वनिकारिका और उसकी वृत्ति आलोककी रचना की है, इस प्रकार यह ग्रन्थ "ध्वन्यालोक" नामसे विख्यात है। कुछ विद्वान् ध्वनिकारिका और उसकी आलोक वृत्तिके रचयिता भिन्न-भिन्न पुरुष हैं ऐसा कहते हैं, इनमें बहुत मतभेद है, जो हो अलङ्कारशास्त्रमें ध्वन्यालोक आकर ग्रन्थ माना जाता है। मम्मटभट्ट, विश्वनाथ कविराज और पण्डितराज जगन्नाथ सभी इनका सम्मान करते हैं। जगन्नाथने इनको "अलङ्कारसरणिव्यवस्थापक" ऐसा लिखा है। इनका निवास स्थान भी काश्मीर है। इनका "देवीशतक" नामका स्तोत्रग्रन्थ उपलब्ध है, उसके अन्तिम पद्यसे पता चलता है कि ये "नोण" नामके पण्डितके पुत्र थे। राजतरङ्गिणीके—

मुक्ताकणः शिवस्वामी कविरानन्दवर्द्धनः।
प्रथां रत्नाकरश्चाऽगात्साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः॥

इस श्लोकसे जाना जाता है कि ये ई० ८५५—८८३ में स्थित काश्मीरराज अवन्तिवर्माके सभापण्डित थे। इन्होंने अपने ग्रन्थमें उद्भटका उल्लेख किया है। राजशेखरने इनकी चर्चा की है। आनन्दवर्द्धनके ग्रन्थ ध्वनि, आलोक, अर्जुनचरित, विषमबाणलीला, धर्मकीर्तिके प्रमाणविनिश्चयकी टीका धर्मोत्तमा, देवीशतक और तत्त्वालोक माने गये हैं। इनमें अभी ध्वनि, आलोक और देवीशतक ये ३ ग्रन्थ उपलब्ध हैं। जल्हणने सूक्तिमुक्तावलीमें राजशेखरसे प्रदर्शित—

"ध्वनिनाऽतिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना।
आनन्दवर्द्धनः कस्य नासीदानन्दवर्द्धनः॥"

इस श्लोकसे आनन्दवर्द्धनकी प्रशंसा की है, अर्थात्—काव्यतत्त्वको स्थिर करनेवाली अत्यन्त गम्भीर ध्वनिसे आनन्दवर्द्धन किसके आनन्दका वर्द्धन करनेवाले नहीं थे। ध्वन्यालोक, अलङ्कारशास्त्रके सिद्धान्तोंका प्रतिष्ठापक माना जाता है।
ध्वनिग्रन्थमें ३ अंश हैं—कारिका, वृत्ति और उदाहरण। कारिकाओंकी संख्या १२९ है। वृत्तिमें कारिकाकी व्याख्या है। उदाहरण प्राचीन कवियोंके ग्रन्थोंसे लिये गये हैं। इसमें ४ उद्योत हैं। प्रथम उद्योतमें ध्वनिके विरोधियोंके मतका खण्डन है। द्वितीय और तृतीयमें ध्वनि भेदोंका सविस्तर विवेचन है। चतुर्थमें ध्वनिकी उपयोगिताका निरूपण किया गया है। ये मम्मट भट्टके समान केवल भावक विद्वान नहीं थे प्रत्युत कारक विद्वान् भी थे, देवीशतक स्तोत्रकाव्यसे इनकी कवित्व-

शक्तिका परिचय मिलता है। दुर्भाग्यसे इनके अन्य दो ग्रन्थ उपलब्ध नहीं। इन्होंने व्यञ्जनावृत्तिसे प्रतिपाद्य ध्वनिको ही काव्यकी आत्मा मानकर उसीके प्रतिपादन और भेद प्रभेदके वर्णनमें अपनी पूरी शक्तिका प्रयोग किया है। स्फोटवाद ही ध्वनिसंप्रदायकी मूलभित्ति है। ध्वन्यालोकमें वेणीसंहारका उल्लेख मिलता है।

अभिनवगुप्तपादाचार्य

ई० ११ शताब्दीके पूर्वभागस्थित अभिनवगुप्त आचार्यने ध्वन्यालोककी "लोचन" नामकी व्याख्या की है। इस लोचन ग्रन्थसे विदित होता है कि अभिनवगुप्तके किसी पूर्वज विद्वान्ने भी ध्वनि ग्रन्थकी टीका की थी। अभिनवगुप्त, प्रतीहारेन्दुराज और भट्ट-तोतके शिष्य एवम् शैवसंप्रदायके महान् विद्वान् और मम्मटभट्टके गुरु थे। ये आबाल ब्रह्मचारी थे। इनकी लोचन टीका मूलग्रन्थके समान साहित्यशास्त्रीय अनेक सिद्धान्तोंका आकर ग्रन्थ है। कह सकते हैं कि वाचस्पतिमिश्रकी भामती व्याख्यासे शङ्कराचार्यके ब्रह्मसूत्र-भाष्यकी तरह अभिनवगुप्तकी लोचन व्याख्यासे ध्वन्यालोककी श्रीवृद्धि हुई है। अतएव अभिनवगुप्तकी ही—

"किं लोचनं विनालोको भाति चन्द्रिकयाऽपि हि।
तेनाऽभिनवगुप्तेन लोचनोन्मीलनं व्यधात्॥"

यह उक्ति पूर्णरूपसे सत्य है। इन्होंने बीससे भी अधिक ग्रन्थोंकी रचना की है। उनमें तन्त्रालोक, प्रत्यभिज्ञाविमर्शिनी, भरतनाट्यशास्त्रकी अभिनवभारती टीका आदि ग्रन्थ हैं। रसके विषयमें अभिनवगुप्तका सिद्धान्त सर्वसम्मत और वैज्ञानिक है जिसे मम्मटभट्टने सिद्धान्तके रूपमें प्रस्तुत किया है।

१० काव्यमीमांसा, कर्ता—राजशेखर, समय—ई० दशमशताब्दीका पूर्वभाग। काव्यमीमांसा अन्य अलङ्कारशास्त्रके ग्रन्थोंसे भिन्नरूप है, इसमें रस, ध्वनि अलङ्कार आदिका विवेचन न होकर काव्यरचनाके लिए अनेकानेक महत्त्वपूर्ण विषयोंका वैज्ञानिक संकलन किया गया है। इसमें १८ अध्याय हैं। प्रथम अध्यायमें शास्त्रसंग्रह है, उसमें श्रीकण्ठसे ब्रह्मा और विष्णु आदि ६४ शिष्योंको दिये गये काव्यशास्त्रके उपदेशोंका वर्णन है और अनेक आचार्योंके अनेक छात्रोंको काव्यके तत्तद्विषयोंके अध्यापनका उल्लेख है। द्वितीयमें शास्त्रनिर्देश और काव्य आदिके भेदोंका सलक्षण वर्णन है। राजशेखर वेदार्थज्ञानके लिए उपकारक होनेसे अलङ्कारको सप्तम वेदाङ्ग मानते हैं। तृतीयमें ब्रह्माजीके वरदानसे सरस्वतीसे काव्यपुरुषका जन्म, साहित्यविद्यावधू और काव्यपुरुषके वेषभूषादिसे तत्तद्दिशाओंमें तत्तद्वृत्ति और रीतिकी उत्पत्ति आदि विषयोंका वर्णन है। चतुर्थमें शिष्योंके बुद्धिमान् और आहार्यबुद्धि आदि भेद, प्रतिभाका लक्षण और भेद, कविके सारस्वत आदि ३ भेद और लक्षण, भावकत्व और कवित्वका भेद, भावकके ४ भेद इत्यादि अनेक विषयोंका वर्णन है।

पञ्चममें व्युत्पत्ति और प्रतिभाकी व्याख्या, कवियोंके शास्त्रकवि आदि भेद और उपभेदोंकी चर्चा है। काव्यकविके रचनाकवि आदि ८ भेदोंका सलक्षण और सोदाहरण उल्लेख, कविकी दश अवस्थाएँ, पाकभेद, ९ प्रकारके काव्य इत्यादि अनेक विषय वर्णित हैं। षष्ठमे पदकी व्याख्या, उसकी सुब्वृत्ति आदि ५ वृत्तियाँ, अभिधाव्यापार, वाक्यके दश भेद इत्यादि प्रचुर विषय हैं। सप्तममें ब्रह्मा आदि कर्ताओंके भेदसे पुराण आदिके मतसे वाक्यके ३ भेद, वैदर्भी आदि ३ रीतियाँ, काकुभेद आदि अनेक विषय वर्णित हैं। अष्टममें श्रुति स्मृति आदि काव्यार्थोंके सोलह कारण और उनके उदाहरण वर्णित हैं। नवममें दिव्य आदि ९ अर्थ, उनके भेद प्रभेद आदि प्रचुर विषय हैं। दशममें कविचर्या और राजचर्या आदिसे सम्बद्ध अनेक विषय हैं। एकादशमें पूर्वकवियोंके शब्द और अर्थके अनुकरणके प्रकार आदि विषयोंका वर्णन है। द्वादशमें पूर्वकविके अर्थके अनुकरणके प्रकार, कवियोंके प्रभेद प्रतिबिम्बकल्प, विकल्पकी समीक्षा आदि अनेक विषयोंका वर्णन है। त्रयोदशमें दूसरेके अर्थके अनुकरणमें आलेख्यप्रख्यके अनेक भेद दिये गये है। चतुर्दशमें कविसमय, उसमें जाति, द्रव्य, क्रियाके समयकी स्थापनाका वर्णन है। पञ्चदशमें गुणके समयकी स्थापना है। षोडशमें स्वर्ग और पातालके कवियोके समय (संकेत) की स्थापना है। सप्तदश अध्यायमें देशके विभागोंका वर्णन है। अष्टादशमें कालके विभागोंका वर्णन है। राजशेखर काव्यमीमांसाको १८ भागोंमें लिखना चाहते थे, उनमें यह प्रथम भाग प्रतीत होता है। राजशेखर, पुराण न्याय आदि चौदह विद्याओंसे अतिरिक्त—

"सकलविद्यास्थानैकायतनं पञ्चदशं काव्यं विद्यास्थानम्"

"अर्थात् समस्त विद्याओंका एकमात्र आधारभूत काव्य पन्द्रहवीं विद्याके स्थानमें है" ऐसा लिखते हैं। यह ग्रन्थरत्न न केवल काव्यरचनाके इच्छुकोंको बल्कि शास्त्र-जिज्ञासु समस्त जनोंको पुरातन शास्त्र और इतिहास भूगोल आदि अगणित विषयोंका व्युत्पादक है—पूर्ण ग्रन्थके निरीक्षणसे ऐसा जाना जाता है।

राजशेखर यायावरवंशमें उत्पन्न महाराष्ट्र ब्राह्मण थे, इनके प्रपितामह अकाल-जलद नामके थे, पितामह दुर्दुम नामके राजाके मन्त्री थे और माता शीलवती नामकी थी। ये कान्यकुब्ज वा महोदयके नरेश निर्भय वा महेन्द्रपालके गुरु थे। चौहानवंशकी अवन्तिसुन्दरी नामकी विदुषीसे इनका विवाह हुआ था। राजशेखरने काव्यमीमांसामें अवन्तिसुन्दरीके मतोंका उद्धरण दिया है। कर्पूरमञ्जरी सट्टकमें इनकी "बालकवि" और "कविराज" उपाधि देखी जाती है। महेन्द्रपालके पुत्र नरेन्द्रदेवको राजशेखरने प्रचण्डपाण्डव वा बालभारतमें अपना संरक्षक लिखा है। यशस्तिलक और तिलक-मञ्जरी आदि ग्रन्थोंमें भी इनका उल्लेख पाया जाता है। राजशेखरके बनाये हुए

अन्य छः ग्रन्थोंका भी उल्लेख मिलता है जैसे—बालरामायण (नाटक), विद्धशालभञ्जिका (नाटिका), प्रचण्डपाण्डव वा बालभारत (नाटक), कर्पूरमञ्जरी (सट्टक), हरविलास (महाकाव्य) और भुवनकोष (भूगोलशास्त्र)।

९ अभिधावृत्तिमातृका, कर्ता-मुकुलभट्ट, समय-ई० दशमशताब्दीका प्रथम भाग—मुकुलभट्टके पिताका नाम कल्लटभट्ट है, वे काश्मीरनरेश अवन्तिवर्माके (ई० ८५५-८८३) सभापण्डित थे। माणिक्यचन्द्रके काव्यप्रकाश-टीका सङ्केतमें मुकुलभट्टका वार-वार उल्लेख पाया जाता है। प्रतीहारेन्दुराज मुकुलभट्टके शिष्य थे। अभिधावृत्तिमातृकामें कुल १५ कारिकाएँ हैं इसकी वृत्ति भी ग्रन्थकारने स्वयम् की है। इसमें अभिधा और लक्षणा वृत्तिका प्रतिपादन है, और लक्षणाके छः भेद प्रदर्शित हैं। इसकी वृत्तिमें उद्भट, कुमारिलभट्ट, ध्वन्यालोक, भर्तृमित्र, महाभाष्य, विज्जका, वाक्यपदीय और शबरस्वामीका उल्लेख पाया जाता है।

१० काव्यकौतुक, कर्ता—भट्टतौत वा भट्टतोत, समय—ई० ९६०-९९०। यह ग्रन्थ अभी प्राप्त नहीं है। भट्टतौत अभिनवगुप्तके गुरु थे। क्षेमेन्द्रने औचित्य-विचारचर्चामें और हेमचन्द्रने अपने काव्याऽनुशासनमें इनका उल्लेख किया है। हेमचन्द्रने अपने विवेकमें लिखा है कि भट्टतौतका मत श्रीशङ्कुकके "अनुकरणरूपो रसः" इस उक्तिके विरुद्ध है। इन्होंने शान्तरसको नवम माना है। ध्वन्यालोक-लोचनसे प्रतीत होता है कि अभिनवगुप्तने इसकी "विवरण" टीका की थी।

११ हृदयदर्पण, कर्ता—भट्टनायक, समय—ई० ९०० से १००० का मध्यभाग-भरतमुनिके रससूत्रके ४ व्याख्याताओंमें अन्यतम व्याख्याता भट्टनायक हैं। ये सांख्यशास्त्रके विद्वान् माने जाते हैं। इनका सिद्धान्त अभिनवभारती, व्यक्ति-विवेक, काव्यप्रकाश और माणिक्यचन्द्रकृत काव्यप्रकाशकी टीका संकेतमें उद्धृत है। इन्होंने साधारणीकरण सिद्धान्तको प्रदर्शित कर रसमें भुक्तिवादका प्रवर्तन किया है। इनका ग्रन्थ अभी उपलब्ध नहीं है।

१२ वक्रोक्तिजीवित, कर्ता—कुन्तक, समय—ई० १०५५। राजानक कुन्तक कश्मीरनिवासी थे। इनका जीवनचरित्र कुछ भी उपलब्ध नहीं है। अधिकतर ये "वक्रोक्तिजीवितकार" पदसे प्रसिद्ध हैं। वक्रोक्तिजीवितमें राजशेखरके पद्यका उल्लेख होनेसे ये राजशेखरके परवर्ती हैं। ई० ११ शताब्दीके द्वितीय भागमें उद्भूत महिमभट्टने कुन्तकके मतकी चर्चा की है, अतः ये कुन्तकके समकालिक और उनसे कुछ वृद्धतर थे। "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" कहकर उन्होंने वक्रोक्तिको काव्यका जीवित वा आत्मा मान लिया है। वक्रोक्तिजीवित अतिशय प्रौढ ग्रन्थ है। इसमें ४ उन्मेष हैं। इस ग्रन्थमें कारिका, वृत्ति और उदाहरण हैं। इसमें उदाहरणोंकी संख्या

लगभग ५०० है। प्रथम उन्मेषमें सरस्वतीकी स्तुति, काव्यका प्रयोजन, लक्षण; शब्दाऽलङ्कार और काव्याऽलङ्कारका निवेश, वक्रोक्तिका लक्षण और उसका महत्त्व, वैचित्र्य आदि ५ गुण और तीन प्रकारके मार्ग इत्यादि विषयोंका प्रतिपादन है। द्वितीयमें वर्णविन्यासवक्रत्वका विवरण, वृत्तियाँ, पदपूर्वार्द्धवक्रताके अनेक भेद, विशेषणवक्रता और संवृतिवक्रता, इनका सोदाहरण प्रतिपादन और वृत्तिवैचित्र्यवक्रता आदि अनेक विषय निर्दिष्ट हैं। तृतीयमें वाक्यवैचित्र्यवक्रताका उपपादन है, इसमें वस्तुवक्रताका भी समावेश है। रसवत्, प्रेयः और ऊर्जस्वी आदिके अलङ्कारत्वका खण्डन और अलङ्कार्यत्वका मण्डन और २० प्रधान शब्दालङ्कारोंका विवेचन है। चतुर्थमें प्रकरणवक्रता और प्रबन्धवक्रताका उपपादन है। प्राचीन ग्रन्थोंमें बहुचर्चित होकर भी यह ग्रन्थ अप्राप्त था, हाल ही में प्राप्त हुआ है। प्रचुर प्रसिद्धि होनेपर भी दुर्भाग्यवश इसकी कोई भी संस्कृतव्याख्या उपलब्ध नहीं है। डाक्टर "दे" से प्रकाशित संस्करणमें इसके ३ उन्मेष थे; पीछे आचार्य विश्वेश्वरकी हिन्दी टीका और डा० नगेन्द्रकी विस्तृत भूमिकावाले संस्करणमें ४ उन्मेष मिलते हैं, तथा दोनों संस्करणोंमें पर्याप्त पाठभेद भी है।

१३ दशरूपक, कर्ता—धनञ्जय, समय—ई० १००० के लगभग—दशरूपक नाट्यशास्त्रका ग्रन्थ है। इसके कर्ता धनञ्जय और अवलोक नामक टीकाके कर्ता धनिक थे। दोनों सहोदर भाई, विष्णुके पुत्र थे। ये दोनों विद्वान् राजा मुञ्ज-(ई० ९७४–९९४) की सभामें थे। धनञ्जय सभापण्डित थे और धनिक महासाध्यपालके अधिकारपर आरूढ थे। धनिकने दशरूपककी अवलोक टीका, राजा मुञ्जके उत्तराऽधिकारी सिन्धुराज (ई० ९९४–१०१०) के शासनकालमें लिखी थी। ई० चतुर्दश शताब्दीके विश्वनाथ कविराज और प्रतापरुद्रयशोभूषणकार विद्याधरने धनञ्जयकी कारिकाएँ धनिकके नामसे उद्धृत की हैं।

दशरूपकमें ४ प्रकाश और लगभग ३०० कारिकाएँ हैं। अवलोक टीकामें उदाहरणोंके पद्य ३०० से अधिक हैं, जिनमें २० से अधिक प्राकृत और संस्कृत पद्य धनिकके रचित ही हैं। धनञ्जयने "अवस्थाऽनुकृतिर्नाट्यम्" अवस्थाका अनुकरण (नकल) नाट्य है ऐसा लिखा है। उन्होंने रूपकके नाटक, प्रकरण, भाण, प्रहसन, डिम, व्यायोग, समवकार, वीथी, अङ्क, और ईहामृग इस प्रकार १० भेदोंका उल्लेख कर लक्षण और उदाहरण दिये हैं।

नाट्यविषयमें बड़ी रोचकता और विद्वत्तासे इसमें प्रकाश डाला गया है। परवर्ती ग्रन्थकारोंने दशरूपकको अतिशय प्रामाणिक माना है। इसमें प्रथम प्रकाशमें रूपकके १० भेद, पाँच सन्धियाँ, उनके अङ्ग, विष्कम्भ, चूलिका, अङ्कास्य, अङ्कावतार और प्रवेशकके लक्षण और उदाहरण हैं। द्वितीयमें नायक-नायिकाओंके भेद, उनके

स्वभाव, और सहचरोंका वर्णन, चार वृत्तियाँ और उनके अङ्ग वर्णित हैं। तृतीयमें नाटककी स्थापना और दश रूपकोंके लक्षण वर्णित हैं। चतुर्थ प्रकाशमें इसका सविस्तर निरूपण है। दशरूपककी प्राचीन ३ टीकाएँ हैं। अवलोकके अवलोकनसे मालूम होता है, कि धनिकने "काव्यनिर्णय" नामका ग्रन्थ भी लिखा था, जिसके कई श्लोक इसमें उद्धृत हैं। इसमें स्थित रसनिरूपणका आधार भट्टनायकका ग्रन्थ है।

१४ व्यक्तिविवेक, **कर्ता—महिमभट्ट, समय—ई० १०२५–१०६०**–राजानक महिमभट्ट काश्मीरनिवासी थे। इनके पिताका नाम श्रीधैर्य था, और महाकवि श्यामल इनके गुरु थे। क्षेमेन्द्रने सुवृत्ततिलक और औचित्य-विचारचर्चामें श्यामलके पद्योंका उद्धरण दिया है। महिमभट्ट महानैयायिक और आलङ्कारिक थे, इन्होंने ध्वनिकी पृथक्-सत्ताका खण्डन कर उसे अनुमानमें अन्तर्भूत किया है। राजानक रुय्यकने अपने अलङ्कारसर्वस्वमें व्यक्तिविवेकके सिद्धान्तोंका संग्रह किया है। काव्यप्रकाशके बहुतसे टीकाकारोंका मत है कि मम्मटने काव्यप्रकाशके पञ्चम उल्लासमें व्यक्तिविवेकका खण्डन किया है और सप्तम उल्लासमें दोषोंका उदाहरण व्यक्तिविवेक आधारपर दिया है। व्यक्तिविवेकमें बालरामायणके श्लोकोंका उद्धरण और वक्रोक्तिजीवित और लोचनका खण्डन उपलब्ध होता है। महिमभट्ट रसको काव्यात्मा मानते हैं। व्यक्ति-विवेकमें ३ विमर्श हैं। प्रथम विमर्शमें ध्वनिका लक्षण देकर उसका अनुमानमें अन्तर्भाव किया है। द्वितीयमें अनौचित्यका विचार, भेद, अन्तरङ्ग अनौचित्य और बहिरङ्ग अनौचित्य और उनके ५ दोष और उदाहरण है। तृतीयमें ध्वन्यालोकके ४० उदाहरणोंको अनुमानमें अन्तर्भूत किया है।

१५ सरस्वतीकण्ठाभरण, शृङ्गारप्रकाश, कर्ता—राजा भोज, समय–ई० ९९६–१०५१–धाराधराधीश महाराज भोजने पूर्वोक्त दो अलङ्कार ग्रन्थोंका प्रणयन किया है। ये सिन्धुराज वा सिन्धुलके पुत्र और महान् विद्वान् थे तथा विद्वानोंको पुरस्कृत करनेवालोंमें अप्रतिम सहृदय थे, "प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ" यह उक्ति इनकी गुणग्राहिता और दानशीलताको प्रसिद्ध करने वाली है। पूर्वोक्त दो अलङ्कारके ग्रन्थोंके अतिरिक्त अन्य विषयोंमें इनके निम्नलिखित ग्रन्थ अत्यधिक प्रख्यात हैं—

व्याकरणमें शब्दानुशासन, आयुर्वेदमें राजमृगाङ्क, योगमें भोजवृत्ति वा राज-मार्तण्ड, कोषमें नाममालिका, कलामें शालिहोत्र और समराङ्गणसूत्रधार, रत्नादि-परीक्षामें युक्तिकल्पतरु इत्यादि है। प्रकृत सरस्वतीकण्ठाभरण और शृङ्गारप्रकाश अलङ्कार ग्रन्थ हैं। सरस्वतीकण्ठाभरणमे ५ परिच्छेद हैं। प्रथम परिच्छेदमें १६ पददोष, उतने ही वाक्यदोष, उतने ही वाक्यार्थदोष, २४ शब्दगुण और उतने ही वाक्यार्थगुण वर्णित हैं। द्वितीयमें २४ शब्दालङ्कार सविस्तर निरूपित हैं। तृतीय-में २४ अर्थालङ्कार उसी तरह निरूपित हैं। चतुर्थमें २४ उभयालङ्कार

(शब्दाऽर्थाऽलङ्कार) निरूपित हैं। पञ्चममें रस, भाव, नायक, नायिका, उनके लक्षण, भेद, ५ सन्धियाँ, ४ वृत्तियाँ अन्य भी अनेक विषय निरूपित हैं। इसमें ६४३ कारिकाएँ हैं, इनमेंसे दण्डीके काव्यादर्शसे लगभग ५०० और ध्वन्यालोकसे भी कुछ कारिकाएँ ली गई हैं। प्राचीन कवियोंके करीब १५०० पद्य उदाहरणके तौरपर इसमें उद्धृत हैं। इसकी ३ टीकाएँ हैं, उनमें ई० १४ शताब्दीके तिरहुतके राजा रामसिंहदेवसे आज्ञप्त म० म० रत्नेश्वरमिश्रकी रत्नदर्पण टीका सर्वोत्तम है।

शृङ्गारप्रकाश, कर्ता—राजा भोज। समय—ई० ९९६-१०५१ इसमें नाट्य और काव्य दोनोंका विवेचन है। इसमें अभिमान और अहङ्कारका प्रतीक शृङ्गार ही मूल रस है ऐसा प्रतिपादन किया है। शृङ्गारप्रकाशमें ३६ अध्याय हैं। इन्होंने अलङ्कारके शब्दाऽलङ्कार, अर्थाऽलङ्कार और उभयाऽलङ्कार इस प्रकार ३ भेद मानकर फिर प्रत्येकके २४ भेद कर कुल अलङ्कारोंके ७२ भेदोंका निरूपण किया है।

१६ औचित्यविचारचर्चा, कविकण्ठाभरण, कर्ता—क्षेमेन्द्र, समय ई० १०२८-८० क्षेमेन्द्र काश्मीरनिवासी थे, इनके पिताका नाम प्रकाशेन्द्र था। क्षेमेन्द्र अपनेको "व्यासदास" लिखते थे। इनकी औचित्यविचारचर्चामें ३९ कारिकाएँ है। उनकी वृत्ति भी उन्हींकी रचना है। क्षेमेन्द्र औचित्यका लक्षण लिखते है—

"उचितं प्राहुराचार्याः सदृशं किल यस्य यत्।
उचितस्य च यो भावस्तदौचित्यं प्रचक्षते॥"

अर्थात् आचार्य, जिसका जो सदृश है उसे "उचित" कहते हैं, उचितका जो भाव है उसे "औचित्य" कहते हैं। इन्होंने अपने इस ग्रन्थमें पद, वाक्य, प्रबन्धार्थ, गुण, अलङ्कार, रस, क्रिया, कारक, लिङ्ग, वचन, विशेषण, उपसर्ग, निपात, काल, देश, कुल, व्रत, तत्त्व, सत्त्व अभिप्राय, स्वभाव, सारसंग्रह, प्रतिभा, अवस्था, विचार, नाम और आशीर्वाद इतने विषयोंमें औचित्यका प्रदर्शन कर वृत्तिग्रन्थमें उनके उदाहरणोंको सविस्तर प्रौढिपूर्वक प्रदर्शित किया है। उदाहरणोंमें बहुतसे कवियोंकी रचनाएँ हैं। क्षेमेन्द्रने अपनी रचनामें भी उदारतापूर्वक अनौचित्यका प्रदर्शन किया है।

औचित्यविचारचर्चापर मद्राससे "सहृदयतोषिणी" नामकी एक टीका प्रकाशित है।

कविकण्ठाभरण, कर्ता—क्षेमेन्द्र, समय—ई० १०२८-८० इस ग्रन्थमें क्षेमेन्द्रने काव्यरचनामे विधेयजनोंके लिए बहुत-से उपयोगी विषयोंकी अवतारणा की है। इसमें ५ सन्धियाँ हैं। "कवित्वप्राप्ति" नामकी प्रथम सन्धिमें २४ कारिकाएँ हैं। "शिक्षाकथन" नामकी द्वितीय सन्धिमें २३ कारिकाएँ हैं। "चमत्कारकथन" नामकी तृतीय सन्धिमें ३ कारिकाएँ है, और "गुणदोषविभाग" नामकी चतुर्थ सन्धिमें

२ कारिकाएं और "परिचयप्राप्ति" नामक पञ्चम सन्धिमें ३ कारिकाएँ हैं, इस प्रकार इस ग्रन्थमें कुल ५५ कारिकाएँ हैं और वृत्तिमें समस्त विषयोंको स्पष्ट किया है। इसमें शिष्योंके ३ और कविके ५ भेदोंका उल्लेख किया है, तथा काव्यके गुणदोषविचारमें नाट्य, व्याकरण और तर्कके विषयमें उपदेश दिया है। काश्मीरके राजा अनन्तदेवके राज्यमें इसकी रचनाका उल्लेख मिलता है। क्षेमेन्द्रके इन दो ग्रन्थोके अतिरिक्त बहुत-से ग्रन्थ हैं उनमें कुछ ग्रन्थोंकी सूची दी जाती है—रामायण-मञ्जरी, भारतमञ्जरी, बृहत्कथामञ्जरी, दशावतारचरित प्रभृति लगभग ५० ग्रन्थ क्षेमेन्द्रनिर्मित हैं। राजतरङ्गिणीमें इनकी नृपावली नामकी कृतिका उल्लेख है परन्तु इसकी अभीतक उपलब्धि नहीं हुई है।

१७ काव्यप्रकाश, कर्ता—मम्मटभट्ट, समय—ई० १०५० से ११०० तक। काश्मीरवासी राजानक मम्मटभट्ट काव्यजगत्में काव्यप्रकाशके प्रसिद्ध लेखक हैं। ये अभिनवगुप्तपादके शिष्य, शैवसम्प्रदायवाले महान् वैयाकरण थे। काव्यप्रकाश, अलङ्कारशास्त्रके ग्रन्थोंमें आकर माना जाता है। मम्मटभट्टने नाट्यशास्त्रसे आरम्भ कर ध्वन्यालोक आदि समस्त प्राचीन ग्रन्थोंका आकलन कर अपने ग्रन्थको पुष्पित और फलित किया है। काव्यप्रकाशमें दृश्यकाव्यको छोडकर श्रव्यकाव्यके सम्पूर्ण विषयोंका साङ्गोपाङ्ग वर्णन किया गया है। इसमें दश उल्लास और १४२ कारिकाएँ हैं। इनकी वृत्ति इनकी स्वरचित है और उदाहरण अनेक कवियोंके ग्रन्थोंसे दिये गये हैं। इसकी कारिकाएं भरतनिर्मित है और वृत्तिमात्र मम्मटभट्टकी हैं ऐसा कुछ बङ्गीय विद्वानोंका कथन निर्मूल है। हां, इसकी कुछ कारिकाएँ भरतके नाट्यशास्त्रसे उद्धृत की गई हैं, यह सत्य है। काव्यप्रकाशके प्रथम उल्लासमें काव्यका प्रयोजन, कारण, लक्षण और भेदोंका प्रतिपादन है। द्वितीयमें शब्दके वाचक, लाक्षणिक और व्यञ्जक ३ भेद और उनके वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीन प्रकारके अर्थोंका निरूपण है और तात्पर्यार्थका निरूपण कर अभिहितान्वयवादी और अन्विताऽभिधानवादीके सिद्धान्तोंका प्रदर्शन किया है। इसी तरह अभिधा, लक्षणा और व्यञ्जनाके भेदोंका निरूपण किया है। तृतीय उल्लासमें अर्थव्यञ्जकता और व्यञ्जनावृत्तिका विवेचन है। चतुर्थमें ध्वनिके अविवक्षितवाच्य और विवक्षितान्यपरवाच्य इनके भेद और उपभेदोंके प्रतिपादनके साथ रसका स्वरूप, स्थायी भाव, विभाव, व्यभिचारी भाव तथा रससम्बद्ध चार सिद्धान्तोंका विवेचन है। पांचवें उल्लासमें मध्यम काव्य गुणीभूतव्यङ्ग्यके भेदोंका सोदाहरण वर्णन है। संपूर्ण ध्वनियोंके भेदोंका दिग्दर्शन कर व्यञ्जनाके विरोधियोंके तर्कका खण्डन कर व्यञ्जनावृत्तिका स्थापन किया गया है। षष्ठ उल्लासमें काव्यके तीसरे भेद चित्र वा अधम काव्यके दो भेद—शब्दचित्र और अर्थचित्रका निरूपण किया है। सप्तम उल्लासमें दोषका लक्षण और पद, वाक्य, अर्थ और रसके दोषोंका निरूपण

कर दोषाङ्कुश अर्थात् कतिपय स्थलमें दोषमें भी दोषत्वका अभाव वर्णित है। अष्टममें गुण और अलङ्कारका भेद दिखलाकर माधुर्य, ओज, प्रसाद गुणोंके लक्षण और उदाहरण प्रदर्शित कर उनमें अन्यप्रतिपादित गुणोंका अन्तर्भाव वा उन्हें दोषाऽभाव-स्वरूप बतलाया गया है। साथ-साथ तत्तद्वर्णोंकी तत्तद्गुणव्यञ्जकता दिखाई गई हैं। नवममें दो प्रकारकी वक्रोक्ति, अनुप्रास, ३ वृत्तियां लाटाऽनुप्रास, यमकोंके भेद; श्लेष, चित्र (खड्गबन्ध आदि) और पुनरुक्तवदाभास इत्यादि विषय प्रतिपादित हैं। दशममें ६१ अलङ्कारोंका निरूपण और अलङ्कारदोषोंका सप्तम उल्लासमें प्रदर्शित दोषोंमें अन्तर्भावका प्रकार दिया गया है।

काव्यप्रकाशमें अन्य ग्रन्थोंसे लगभग ६२० पद्य उद्धृत है। इसमें ७० से अधिक टीकाएं है। इसकी रचनाके ५० वर्षोंके भीतर ही माणिक्यचन्द्रने सङ्केत नामकी टीका लिखी, उस समयसे लेकर अभीतक इसकी टीकाओंका निर्माण होता रहा है। स्थान-स्थानपर यह ग्रन्थ अत्यन्त दुरूह है, अतएव महेश्वर भट्टाचार्यने अपनी टीकामें लिखा है।

"काव्यप्रकाशस्य कृता गृहे गृहे टीका, तथाऽप्येष तथैव दुर्गमः।
सुखेन विज्ञातुमिमं य ईहते, धीरः स एनां निपुणं विलोकताम् ॥

प्राचीन टीकाओंसे विदित होता है कि मम्मटभट्टने काव्यप्रकाशके परिकर अलङ्कारतकका भाग लिखा, उसके अनन्तरवर्ती भागको अल्लट वा अलकसूरिने लिखा है। काव्यप्रकाशके कुछ प्रसिद्ध टीकाएं और उनके कर्ताओंके नाम लिखे जाते हैं—

१ गुर्जरदेशीय माणिक्यचन्द्रसूरिकी सङ्केतटीका, समय—ई० ११६०

२ आन्ध्रदेशीय सरस्वतीतीर्थकी बालचित्ताऽनुरञ्जनी, समय—ई० १२४२

३ गुर्जर जयन्तभट्टकी काव्यप्रकाशदीपिका, समय—ई० १२९३

४ कान्यकुब्जदेशीय सोमेश्वरभट्टकी सङ्केत टीका, समय—ई० १२५० से पूर्व।

५ भट्ट गोपालकी साहित्यचूडामणि, ये भावप्रकाशकार शारदातनयके पिता थे, समय—ई० १३००।

६ उत्कलदेशीय चण्डीदासकी दीपिका टीका, ये विश्वनाथ कविराजके पितामह नारायणदासके छोटे भाई थे, समय—ई० १४ शताब्दी।

७ विश्वनाथ कविराजकी काव्यप्रकाशदर्पण टीका, समय—१४ शताब्दी।

८ परमानन्द चक्रवर्तीकी विस्तारिका टीका, समय—ई० १५ शताब्दी।

९ म० म० नरसिंह ठक्कुरकी नरसिंहमनीषा, समय—ई० १७ शताब्दी।

१० श्रीवत्सलाञ्छन भट्टाचार्यकी सारबोधिनी, समय—ई० १५ शताब्दी। इन्होंने काव्यप्रकाशखण्डन ग्रन्थ भी लिखा है।

११ म० म० गोविन्द ठक्कुरकी प्रदीपटीका, समय—ई० १७ शताब्दी।

१२ म० म० नागेश भट्टकी प्रदीपटीका उद्योत, समय—१७ वीं शताब्दी।
१३ वैद्यनाथभट्टकी प्रदीपटीका प्रभा, समय—१७ वीं शताब्दी।
१४ महेश्वर भट्टाचार्यकी काव्यप्रकाशादर्श टीका, समय—ई० १६०० शताब्दी।
१५ भीमसेन दीक्षितकी सुधासागर टीका, समय—ई० १८३६।
१६ म० म० गोकुलनाथकी काव्यप्रकाशविवरणटीका, समय—ई० १८०० श०।
१७ म० म० वामनाचार्यकी बालबोधिनी, समय—ई० १८८२।

मम्मटभट्टने अपने ग्रन्थमें अभिनवगुप्त और नवसाहसाङ्कचरितका उल्लेख किया है। उन्होने उदात्तालङ्कारमें राजा भोजकी प्रशंसाका पद्य दिया है अतः ये भोजके समकालिक वा कुछ पीछे हुए है। अलङ्कारसर्वस्वमें रुय्यकने भी इनका निर्देश किया है।

१८ अलङ्कारसर्वस्व, कर्ता—रुय्यक, समय—ई० १२ शतक। रुय्यक काश्मीरनिवासी थे, इनका दूसरा नाम रुचक था। इन्होंने अपने पिता तिलकसे ही साहित्यका अध्ययन किया था। ये काश्मीरके राजा जयसिंहके सान्धिविग्रहिक मङ्ख वा मङ्खकके गुरु थे। इनके अन्य ग्रन्थ अलङ्कारानुसारणी, काव्यप्रकाशसङ्केत, नाटकमीमांसा, व्यक्तिविवेकविचार, श्रीकण्ठस्तव, सहृदयलीला, साहित्यमीमांसा, हर्षचरितवार्तिक, अलङ्कारमञ्जरी ओर अलङ्कारवार्तिक है। इनका प्रकृत ग्रन्थ अलङ्कारसर्वस्व, अलङ्कारशास्त्रका प्रख्यात ग्रन्थ और ध्वनिमार्गका अनुयायी है। इसमें सूत्र, वृत्ति और उदाहरण है। इसमें कुल ८८ सूत्र है, उदाहरण अन्य ग्रन्थोंसे लिए गये है। इसमें काव्यप्रकाशसे अधिक अलङ्कार हैं। इसमें शब्दाऽलङ्कार, अर्थाऽलङ्कार, एवम् रसवत्, प्रेयः, ऊर्जस्वी, समाहित, भावोदय, भावसन्धि, भावशबल, संसृष्टि और सङ्कर इतने अलङ्कारवर्ग सविस्तर और सोदाहरण वर्णित हैं। इस ग्रन्थमें तीन टीकाएं है, जिनमें काश्मीरवासी जयरथने रुय्यकके ५० वर्षोके अनन्तर "विमर्शिनी" नामकी टीका लिखी है। दूसरी टीका केरलके समुद्रबन्धसे विरचित है। यह लगभग ई० १६०० शताब्दीकी है। इनके सिवाय अन्य टीका उन्हीके शिष्य श्रीकण्ठचरित महाकाव्यके कर्ता मङ्खककी भी सुनी गई है। इसी तहर विद्याचक्रवर्तीकी "अलङ्कारसञ्जीविनी" नामकी तीसरी टीका है। विश्वनाथ कविराजने दशम परिच्छेदमें बहुत जगह इस ग्रन्थका आश्रय लिया है और कहीं-कहीं खण्डन भी किया है। एकावली और कुवलयानन्दमें भी अलङ्कारसर्वस्वका प्रभाव पड़ा है। रुय्यकने पुनरुक्तवदाभास, छेकाऽनुप्रास, वृत्यनुप्रास, यमक, लाटानुप्रास और चित्रका निरूपण किया है। इन्होंने अपने ग्रन्थमें उपमा आदि ७५ अर्थाऽलङ्कारोंका विवेचन किया है तथा जिनमें विकल्प और विचित्र दो नवीन अलङ्कारोका भी समावेश है।

१९ वाग्भटाऽलङ्कार, कर्ता—वाग्भट, समय—ई० ११४० वाग्भट नामके दो अलङ्कारशास्त्री प्रसिद्ध हैं, दोनों ही जैन हैं, उनमें ये प्रथम हैं। इनका प्राकृत नाम "वाहड" है, सिंहदेवके पुत्र भी "वाग्भट" नामवाले थे, जो आयुर्वेदके प्रख्यात ग्रन्थ-

कार थे। "सोम"के पुत्र प्रकृत वाग्भट चालुक्यवंशमें उत्पन्न जयसिद्धराज (ई० १०९४–११४३) के महामात्य थे, यह बात वाग्भटाऽलङ्कारके टीकाकार सिंहदेवगणिके कथनसे प्रतीत होती है। इनकी दूसरी कृति नेमिनिर्माण महाकाव्य है।

वाग्भटाऽलङ्कारमें ५ परिच्छेद हैं, उनमें कुल २६० कारिकाएँ हैं। प्रथम परिच्छेदमें काव्यलक्षण, प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यासका लक्षण तथा कविशिक्षाकी चर्चा है। द्वितीयमें काव्यका आधार—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भूतभाषित (पैशाची भाषा) ये चार भाषाएँ मानी गई हैं एवम् पद और वाक्यके ८ दोष वर्णित हैं। तृतीयमें दश गुणोंके लक्षण और उदाहरण दिये गये हैं। चतुर्थमें ४ शब्दाऽलङ्कार और उनके भेद, ३५ अर्थाऽलङ्कार; वैदर्भी और गौडी २ वृत्तियाँ वर्णित हैं। पञ्चममें ९ रसोंका निरूपण, नायक नायिकाओंके भेद और तत्सम्बद्ध विषय हैं। काव्याऽलङ्कारमें ८ टीकाए हैं, जिनमें जिनवर्द्धनसूरि (ई० १४१९) और सिंहदेवगणिकी टीका प्रसिद्ध और प्रकाशित हैं।

२० काव्याऽनुशासन, कर्ता—हेमचन्द्रसूरि, समय—ई० १०८८–११७२ श्वेताम्बर जैनाचार्य हेमचन्द्र महान् विद्वान् थे अत: "कलिकालसर्वज्ञ" इस उपाधिसे विभूषित थे। इनके अनेक ग्रन्थ हैं, जिनमे जैनन्यायमें प्रमाणमीमांसा (अपनी टीकाके साथ), योग और कोषके ग्रन्थ, सिद्धराज जयसिंहकी आज्ञासे निर्मित शब्दानुशासन (व्याकरण) इत्यादि। प्रकृत काव्याऽनुशासनमें ८ अध्याय है, इसमें सूत्र वृत्ति और उदाहरण हैं। उदाहरण अन्य ग्रन्थोंसे लिये गये हैं। वृत्तिका नाम "अलङ्कारचूडामणि" है इसके प्रथम परिच्छेदमें काव्यका प्रयोजन, हेतु और प्रतिभाके सहकारी काव्यलक्षण, शब्द और अर्थका स्वरूप, मुख्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य ३ प्रकारके अर्थोंका विचार है। द्वितीयमें रस, स्थायी भाव व्यभिचारी भाव, और सात्त्विक भाव वर्णित है। तृतीयमें शब्द, वाक्य और अर्थके दोषोंका निरूपण है। चतुर्थमें तीन गुण, और उनके द्योतक वर्णोंका निरूपण है। पञ्चममें शब्दाऽलङ्कारोंका निरूपण है। षष्ठमें २९ अर्थाऽलङ्कार जिनमें संसृष्टि, सङ्कर, पर्याय और परिवृत्ति आदि हैं, इनका विवेचन है। सप्तममें नायक और नायिकाके भेदोंका वर्णन है। अष्टममें काव्यके भेद और प्रभेदोंका निरूपण है। काव्याऽनुशासनमें १५०० उदाहरण भिन्न भिन्न ग्रन्थोंसे लिये गये हैं।

२१ चन्द्रालोक, कर्ता—जयदेव (पीयूषवर्ष), समय—ई० १३०० मिथिलानिवासी जयदेव, पीयूषवर्ष और पक्षधर नामसे भी विख्यात थे। ये महानैयायिक, कवि और अलङ्कारशास्त्री थे। ये यज्ञविद्याचतुर महादेवके पुत्र और सुमित्रा देवीके गर्भज थे। अलङ्कार ग्रन्थोंमें जयदेवका चन्द्रालोक; प्रौढ, बहुत प्रसिद्ध और उपादेय है। यह अनुष्टुप् छन्दमें रचित है। इसमें १० मयूख और २७५ कारिकाएँ हैं। चन्द्रालोकके प्रथम मयूखमें काव्यका लक्षण, हेतु और शब्दके ३ भेद वर्णित हैं।

द्वितीयमें शब्द, अर्थ और वाक्य आदिके दोष और तीन प्रकारके दोषाङ्कुश (दोषत्व-निवारक) वर्णित है। तृतीयमें काव्यमें शोभाका आधान करने वाले अक्षरसंहति आदि दश काव्यलक्षण निरूपित हैं। चतुर्थमें श्लेष आदि दश गुण दिये गये हैं। पञ्चममें शब्दाऽलङ्कार और १०० अर्थालङ्कार निरूपित हैं। इसमें जयदेवने अलङ्कारसर्वस्वका भी अवलम्बन किया है।

षष्ठमें विभाव आदि, शृङ्गार आदि ९ रस, भावकाव्य आदि, व्यभिचारी भाव, रसाभास, भावाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि, भावशबलता और पाञ्चालिकी आदि ५ रीतियाँ और मधुरा आदि ५ वृत्तियाँ निरूपित हैं। सप्तममें व्यञ्जनाव्यापार और ध्वनियोंके भेद वर्णित हैं। अष्टममे गुणीभूतव्यङ्ग्यके ८ भेद निरूपित हैं। नवममें लक्षणाके भेद दिये गये हैं। दशम मयूखमें अभिधाके छः भेदोंका वर्णन है। चन्द्रालोकमे छः टीकाएँ हैं, जैसे प्रद्योतन भट्टका शरदागम, गागाभट्ट वा विश्वेश्वरका राकागम, वैद्यनाथ पायगुण्डे (बालंभट्ट) की रमा आदि। चन्द्रालोकके पञ्चम मयूखके भागको विस्तृत कर अप्पय्य दीक्षितने "कुबलयानन्द" नामक अलङ्कार ग्रन्थकी रचना की है। जयदेवने चन्द्रालोकके सिवाय "प्रसन्नराघव" नामक अति मनोहर नाटककी भी रचना की है। केशवमिश्रकी रचना और बृहच्छार्ङ्गधरपद्धतिमे इसके पद्योंका उद्धरण दिया गया है।

२२ एकावली, कर्ता—विद्याधर, समय—ई० १२ शतकका आरम्भ। विद्याधर, कलिङ्गके केसरिनरसिंह और प्रतापनरसिंह नामक राजाओंके सभापण्डित थे। ये "महामहेश्वर" और 'वैद्य" उपाधिसे विभूषित थे। इनके अलङ्कार ग्रन्थ एकावलीमें कारिका, वृत्ति और उदाहरण ये ३ अंश हैं। उदाहरणके पद्य विद्याधर-रचित और नृसिंहदेवके प्रशंसापरक हैं। इसमें ८ उन्मेष हैं। प्रथममें काव्यके हेतु और लक्षण और भामह और महिमभट्ट आदिके सिद्धान्तोंका वर्णन है। द्वितीयमें ३ प्रकारके शब्द और ३ प्रकारकी वृत्तियां वर्णित हैं। तृतीयमे ध्वनिके भेद, चतुर्थमें गुणीभूत-व्यङ्ग्यका निरूपण है। पञ्चममें तीन गुण और तीन रीतियां वर्णित हैं। षष्ठमें दोषका निरूपण, सप्तममे शब्दाऽलङ्कार और अष्टममें अर्थालङ्कार वर्णित हैं। इसके प्रथम उन्मेषमें ध्वन्यालोकका, अलङ्कारप्रकरणमे अलङ्कारसर्वस्वका तथा अन्यत्र काव्यप्रकाशका अनुकरण किया गया है। सिंह भूपालके रसाऽर्णवसुधाकरमें एकावलीका उल्लेख मिलता है। विद्याधरने "केलिरहस्य" नामक कामशास्त्रविषयक ग्रन्थ भी लिखा है। एकावलीपर मल्लिनाथकी "तरला" नामकी टीका है।

२३ प्रतापरुद्रीय, कर्ता—विद्यानाथ, समय—ई० १४ शताब्दीका प्रथमपाद।

प्रतापरुद्रीय वा प्रतापरुद्रयशोभूषणके कर्ता विद्यानाथ, आन्ध्रके राजा प्रताप-रुद्रदेवके सभापण्डित थे। इन्होंने "प्रतापरुद्रकल्याण" नाटककी भी रचना की है।

प्रतापरुद्रीयकी दक्षिणमें बड़ी प्रसिद्धि है। इसमें भी कारिका, वृत्ति और उदाहरण हैं। उदाहरण प्रतापरुद्रके प्रशंसापरक हैं। इस ग्रन्थमें ५ प्रकरण हैं, जिनमें क्रमसे नायक, काव्य, नाटक, रस, दोष, गुण, शब्दाऽलङ्कार अर्थाऽलङ्कार और शब्दाऽर्थाऽलङ्कार वर्णित हैं। नाटक प्रकरणमें "प्रतापरुद्रकल्याण" नाटकके उदाहरण दिये गये हैं। इस ग्रन्थका उपजीव्य काव्यप्रकाश और अलङ्कारसर्वस्व है। इसपर मल्लिनाथके पुत्र कुमारस्वामीकी "रत्नापण" नामकी टीका है।

"रत्नशाण" नामकी एक अधूरी टीका भी उपलब्ध है, जिसमें "रत्नापण" का उल्लेख है।

२४ काव्यानुशासन, कर्ता—वाग्भट, समय—ई० १४ शताब्दी। काव्यानुशासनके कर्ता द्वितीय वाग्भट है। यह ग्रन्थ गद्यके रूपमें है, इसकी 'अलङ्कार तिलक" नामकी सविस्तर वृत्ति ग्रन्थकारने स्वयम् लिखी है। इसमें पांच अध्याय है, उदाहरण अन्य ग्रन्थोंसे लिये गये है। प्रथम अध्यायमें काव्यका प्रयोजन, हेतु (प्रतिभा उसका सहायक व्युत्पत्ति और अभ्यास) कविसमय, काव्यलक्षण, काव्यके भेद—गद्य, पद्य और मिश्र, महाकाव्य, आख्यायिका, कथा, चम्पू, मिश्र काव्य (दशरूपक और गेय) के लक्षण संनिविष्ट हैं। द्वितीयमें पद और वाक्यके १६ दोष, अर्थके १४ दोष, दण्डी और वामनसे निरूपित १० गुण आदि विषयोंका निरूपण है। वाग्भटके सिद्धान्तमें माधुर्य, ओज और प्रसाद ये ३ ही गुण हैं। इसमें वैदर्भी, गौडी और पाञ्चाली रीतियां भी वर्णन है। तृतीयमें ६३ अर्थाऽलङ्कार हैं। चतुर्थमें चित्र, श्लेष, शब्दाऽलङ्कार और इनके भेदोंका विवेचन है। पञ्चममें रस और विभाव आदि भाव, नायक-नायिकाभेद और रसदोषोंका निरूपण है। ये जैन थे। इन्होंने ऋषभदेवचरित महाकाव्य और छन्दोऽनुशासन नामके ग्रन्थोंकी रचना की थी ऐसा प्रतीत होता है।

२५ साहित्यदर्पण, कर्त्ता—विश्वनाथ कविराज, समय—ई० १४ शताब्दी। विश्वनाथ कविराज उत्कलदेशवासी वैष्णव ब्राह्मण थे। ये १८ भाषाओंके जानकार थे। इनके पिता चन्द्रशेखर भी १४ भाषाओके जानकार थे। पिता और पुत्र दोनों ही कलिङ्गनरेशसे 'सन्धिविग्रहिक महापात्र" उपाधिसे विभूषित थे। विश्वनाथ कविराजके प्रपितामहका नाम "नारायण" था, ये भी बड़े विद्वान् थे तथा उन्होंने भी अलङ्कारशास्त्रपर ग्रन्थ लिखा था। साहित्यदर्पणके अतिरिक्त इनके कुछ ग्रन्थोंके नाम नीचे दिये जाते हैं—

१ प्रभावतीपरिणय (नाटक)। २ चन्द्रकला (नाटिका) ३ राघवविलास (महाकाव्य) ४ नरसिंहविजय (खण्डकाव्य)। ५ कंसवध (काव्य)। ६ कुवलयाश्वचरित (प्राकृतकाव्य)। ७ प्रशस्तिरत्नावली (सोलह भाषाओंसे निर्मित करम्भक)। ८ काव्यप्रकाशदर्पण (काव्यप्रकाशटीका)।

इनके सिवाय साहित्यदर्पणमें इन्होंने अपने नामसे कितने ही पद्योंका उद्धरण दिया है, ये किन किन ग्रन्थोंके है, यह विदित नही है ।

यद्यपि अलङ्कारशास्त्रपर रचित ग्रन्थ अत्यधिक हैं, उनमें भी प्राचीनताकी दृष्टिसे भामहका काव्यालङ्कार, दण्डीका काव्यादर्श, आनन्दवर्धनका ध्वन्यालोक, मम्मटभट्टका काव्यप्रकाश एवं नवीन और प्रौढिकी दृष्टिसे रसगङ्गाधर और अलङ्कारकौस्तुभ आदि अनेक ग्रन्थ विद्वानोंसे बहुचर्चित है तथापि साहित्यके प्रमेय अंशकी प्रचुरतामें इससे टक्कर लेने वाला कोई भी ग्रन्थ नहीं है । यह सत्य है कि काव्यप्रकाश आदिके समान इसमें अतिशय पाण्डित्य और दुरूहता नहीं है, परन्तु ध्वनिस्थापन करनेमें और व्यञ्जनाके प्रतिस्पर्धी अनुमानके खण्डनमें इनका पाण्डित्य किस विद्वानको चमत्कृत नहीं करेगा ? साहित्यदर्पणमें दृश्य और श्रव्य काव्यपर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है, कि बहुना केवल रूपकका निरूपक दशरूपकसे भी अधिक इसमे प्रमेयोंका वर्णन है । इन सब कारणोंसे अलंकार ग्रन्थोंमें इसका अत्यधिक प्रचार है और बङ्गदेशमें तो इसीका बोलबाला है । साहित्यदर्पणपर विश्वनाथ कविराजके पुत्र अनन्तदासकी लोचन टीका बहुत प्रौढ है, इसमें विषमस्थलोंपर पर्याप्त प्रकाश डाला गया हैं । ई० १७०१ में निर्मित रामचरण तर्कवागीशकी विवृति, उसी तरह तर्कालकार महेश्वर भट्टाचार्यकी विज्ञप्रिया प्रचलित टीकाएं हैं । म० म० हरिदास सिद्धान्तवागीशकी कुसुमप्रतिभा टीका बहुत प्रौढ और सर्वाङ्गपूर्ण है, इसमें स्थान स्थानपर विवृति टीकाका खण्डन है । जीवानन्द विद्यासागरकी विमला टीका भी ग्रन्थ लगानेवाली है । नवीन टीकाओंमें आचार्य कृष्णमोहन ठक्कुरकी टीका विस्तृत और प्रचलित हैं । इसी तरह हिन्दीमें भी शालग्रामशास्त्रीकी टीका बहुत प्रसिद्ध और प्रचलित हैं ।

साहित्यदर्पणमें दश परिच्छेद हैं । प्रथम परिच्छेदमें मङ्गलाचरण, काव्यका प्रयोजन, मम्मटभट्टके काव्यलक्षणका खण्डन और स्वमतका स्थापन है । द्वितीयमें वाक्य और पद, अभिधा, आदि शब्दकी तीन वृत्तियोंका सविस्तर लक्षणपूर्वक निरूपण है । काव्यप्रकाशमें लक्षणाके छः भेद हैं, चन्द्रालोकमें बहुत ही सूक्ष्मतासे लक्षणाके प्रचुर भेद वर्णित हैं, परन्तु साहित्यदर्पणमें ८० भेदोंका चमत्कारपूर्ण निरूपण है । तृतीयमें रस, भाव और उनसे सम्बद्ध विषय, नायकके ४८ और नायिकाके ३८४ भेद, नायकके सहाय, दूतभेद, नायक और नायिकाके गुण और अलंकार आदि विषयोंका सविस्तर निरूपण है । चतुर्थमे काव्यके भेद, ध्वनियोंके ५१ भेद, और उनके संसृष्टि और सङ्करसे कुल ५३५५ भेदोंका निरूपण है । काव्यप्रकाशके अनुसार ध्वनिके कुल १०१४४ भेद हैं । इसी प्रकार इसमें गुणीभूत व्यङ्ग्यके ८ भेदोंका निरूपण कर मम्मटसम्मत चित्रकाव्यका खण्डन किया गया है । पञ्चममें व्यञ्जनाविरोधीके मतका खण्डन कर ५ कारिकाओंसे व्यञ्जनावृत्तिका स्थापन

किया है। षष्ठमें काव्यके दृश्य और श्रव्य भेद, दृश्यके २ भेद—रूपक और उपरूपक एवम् रूपकके नाटक आदि दश भेद, उपरूपकके नाटिका आदि १८ भेदोंके लक्षण और उदाहरण आदिका प्रदर्शन किया है, इसी तरह श्रव्यकाव्यके भेद, गद्य और पद्य, गद्य काव्यके कथा और आख्यायिका आदि तथा पद्यकाव्यके खण्डकाव्य और महाकाव्य आदि भेदोंका वर्णन है। सप्तममें दोषका लक्षण कर पद, पदांऽश, वाक्य, अर्थ और रसके दोषोंका सविस्तर वर्णन है। अष्टममें काव्यके प्रसाद माधुर्य और ओज ३ गुणोंका निरूपण है, अन्य आचार्योंसे सम्मत दश शब्दगुणों और दश अर्थगुणोंका पूर्वोक्त तीन गुणोंमें अन्तर्भाव और कहीं कहीं खण्डन किया गया है। नवममें वैदर्भी, गौडी, पाञ्चाली और लाटी ४ रीतियोंका सलक्षण और सोदाहरण विवेचन है। दशममें शब्दाऽलङ्कारों और अर्थाऽलङ्कारोंका तथा मिश्र—संसृष्टि और सङ्करके तीनों भेदोंका सविस्तर निरूपण किया गया है। स्थान-स्थानपर अन्य आचार्योंके मतोंका खण्डन भी किया है।

२६ रसतरङ्गिणी, रसमञ्जरी, कर्ता–भानुदत्त, समय—ई० १४ शताब्दीका आरम्भ—भानुदत्त मिथिलाके शैव ब्राह्मण थे। ये पण्डित गणेश्वरके पुत्र थे। रसतरङ्गिणी ८ तरङ्गोंमें विभक्त है। प्रथम तरङ्गमें भावका लक्षण और स्थायी भावके भेद है, द्वितीयमें विभावका लक्षण और भेद है। तृतीयमें अनुभावका वर्णन है। चतुर्थमें ८ सात्विक भावोंका निरूपण है। पञ्चममें व्यभिचारी भावका वर्णन है। षष्ठमें रसका लक्षण और शृङ्गार रसका विस्तृत वर्णन है। सप्तममें हास्य और अन्य रसोंका निरूपण है। अष्टममें स्थायी भावके ८ भेद, व्यभिचारी भावके २० भेद, रसके ८ भेद इन तीनोंसे उत्पन्न दृष्टियां और उनके कुछ उदाहरण वर्णित हैं। इस ग्रन्थकी १० टीकाएं हैं, उनमें वेणीदत्त तर्कवागीश (ई० १५५३) की रसिकरञ्जनी, जीवराजका सेतु टीका (ई० १६७५), गङ्गाराम जड़े (ई० १७३८) की नौका और नागेशभट्ट (ई० १८ शताब्दी) की टीका अधिक प्रसिद्ध हैं। भानुदत्तने अपने दोनों ही ग्रन्थोंमें उदाहरण प्राय. स्वरचित ही दिया है। "रसमञ्जरी" इनकी पूर्वकृति मालूम पड़ती है। इन दो ग्रन्थोंके अतिरिक्त भानुदत्तने गीतगौरीपति वा गीतगौरीश काव्य, कुमारभार्गवीय, अलंकारतिलक, शृङ्गारदीपिका इतने ग्रन्थोंका निर्माण किया है ऐसा कहा जाता है। रसमञ्जरीके तृतीय भागमें केवल नायिका-भेदका विस्तृत वर्णन है। शेष भागोंमें दूती, शृङ्गारनायक, उनके भेद, नायकमित्र, सात्त्विक ८ गुण, शृङ्गारके २ भेद और विप्रलम्भ शृङ्गारकी १० अवस्थाएं वर्णित हैं। इसकी ११ टीकाए हैं।

२७ उज्ज्वलनीलमणि, कर्ता—रूपगोस्वामी, समय—ई० १५२०, रूपगोस्वामी बंगालके वैष्णव सम्प्रदायके प्रवर्तक चैतन्य महाप्रभुके शिष्य थे। ये मुकुन्दके पौत्र और कुमारके पुत्र थे। इनके मूल पुरुष कर्नाटक ब्राह्मण थे। उज्ज्वलनीलमणिके

अतिरिक्त इनके विदग्धमाधव (नाटक), उत्कलिकावल्लरी, नाटकचन्द्रिका, वैष्णवतोषिणी (व्याकरण) और "पद्यावलि" नामक स्तोत्रों और सुभाषितोंका संग्रह ग्रन्थ भी हैं।

वैष्णवसंप्रदायके "उज्ज्वलनीलमणि" नामक अलङ्कारशास्त्रमें उज्वल रस अर्थात् राधा और कृष्णके शृङ्गाररसका विश्लेषण किया गया है। इसमें नायकके ९६ भेद दिखलाये गये हैं और नायकके चेट विट, विदूषक, पीठमर्द और प्रियनर्मसख आदि सहचर प्रदर्शित हैं। कृष्णकी स्वकीया नायिकाओंकी संख्या १६१०८ है, वे सब द्वारकानिवासिनी हैं। इसमें भक्तिरसका विस्तृत वर्णन है। सभी उदाहरण रूपगोस्वामीने अपने ग्रन्थोंसे दिये है। उज्ज्वलनीलमणिमें रूपगोस्वामीके भतीजे जीवगोस्वामीसे निर्मित लोचनरोचनी और विश्वनाथ चक्रवर्तीसे रचित आनन्दचन्द्रिका प्रसिद्ध टीकाग्रन्थ हैं।

नाटकचन्द्रिका नाट्यशास्त्रपरक ग्रन्थ है, इसमें ८ प्रकरण हैं। यह ग्रन्थ भरतमुनिका अनुयायी नहीं है।

४८ अलङ्कारशेखर, कर्ता—केशवमिश्र, समय—ई० १६ शताब्दीका उत्तरार्द्ध। केशवमिश्र मैथिल ब्राह्मण थे। इन्होंने अलङ्कारशेखरको राजा माणिक्यचन्द्रकी प्रेरणासे लिखा है। केशवमिश्रने अपने ७ अलङ्कार ग्रन्थोंका उल्लेख किया है, जिनमें अलङ्कारसर्वस्व और वाक्यरत्न वा काव्यरत्न, इनका नाम से निर्देश किया है। अलङ्कारशेखरमें कारिका, वृत्ति और उदाहरण हैं, इनके कथनके अनुसार कारिकाके रचयिता कोई "शौद्धोदनि" नामके विद्वान् थे। अलङ्कारशेखरमें ८ रत्न और २२ मरीचियाँ हैं। प्रथम मरीचिमें काव्यका लक्षण और हेतु, द्वितीयमें ३ रीतियां, उक्ति और मुद्राके प्रकार, तृतीयमें शब्दके ३ व्यापार, चतुर्थमे ८ पददोष, पञ्चममे १२ वाक्यदोष, षष्ठमें ८ अर्थदोष, सप्तममे ५ शब्दगुण, अष्टममे ४ अर्थगुण, और नवममें कतिपय दोषोंका गुणरूपसे निरूपण, दशममें ८ शब्दालङ्कार, एकादशमें १४ अर्थालङ्कार, द्वादशमे रूपकके भेद, त्रयोदशमे अन्य अलङ्कार, चतुर्दशमें नायकनिरूपण, पञ्चदशमे कविसमयका निरूपण और सादृश्यवाचक शब्द, षोडशमे विषयनिरूपण, सप्तदशमे प्रकृतिके अनेक पदार्थोंका वर्णन, अष्टादशमें संख्यावाचक शब्दोंका निरूपण, एकोनविंशमे समस्यापूरण, विंशमे ९ रस, नायक और नायिकाका भेद उपभेद तथा विभिन्न भाव और एकविंशमे रसदोष और द्वाविंशमें रसपोषक वर्ण निरूपित है।

वृत्तिवार्तिक आदि ३ ग्रन्थ, कर्ता—अप्पय्यदीक्षित, समय—ई० १५२०-१५९२ अप्पय्यदीक्षित रङ्गनाथ अध्वरीके पुत्र थे, इनका नाम कहीं-कहीं अप्पयदीक्षित और अप्पदीक्षित भी देखा जाता है। ये राजा वेङ्कटपतिके आश्रित महान् विद्वान् थे। मधुसूदन सरस्वतीने इनके लिए "सर्वतन्त्रस्वतन्त्र" ऐसे पदसे उल्लेख किया है। अप्पय्यदीक्षित महावैयाकरण भट्टोजिदीक्षितके गुरु थे। इनके रचित १०४ ग्रन्थ है ऐसी

किंवदन्ती है। उनमें अलङ्कारशास्त्रमें वृत्तिवार्तिक, चित्रमीमांसा और कुवलयानन्द हैं। इनके सिवाय प्रसिद्ध और इनके प्राप्यग्रन्थ इस प्रकारसे हैं—१ सिद्धान्तलेशसंग्रह, ब्रह्मसूत्रकी टीका न्यायाऽर्कमणि, विशिष्टाऽद्वैतमें नयमयूखमालिका, वेङ्कटदेशिकके यादवाऽभ्युदय महाकाव्यकी टीका, शैवविशिष्टाऽद्वैतमें शिवार्कमणिदीपिका वा श्रीकण्ठभाष्य, माध्ववेदान्तमें ब्रह्मसूत्रकी व्याख्या न्यायमुक्तावलि, मीमांसामें विधिरसायन और उसकी सुखबोधिनी टीका, व्याकरणमें वादनक्षत्रावलि, रामायणतात्पर्यनिर्णय और महाभारततात्पर्यनिर्णय, प्राकृतव्याकरणमें प्राकृतचन्द्रिका, वेदान्त आदि दर्शनोंका संग्रहग्रन्थ मतसारार्थसंग्रह, कोशमें नामसंग्रहमाला इत्यादि।

१ वृत्तिवार्तिक—इसके दो ही परिच्छेद उपलब्ध हैं, अतः यह ग्रन्थ अधूरा है। इसमें रूढि, योग और योगरूढि ३ प्रकारकी अभिधाएँ, लक्षणाके ४ और शब्दशक्तिके २ भेदोंका निरूपण है। लक्षणाके शुद्धा और गौणी २ भेद दिये गये हैं, और प्रत्येकके अनेक भेदोंका उल्लेख है।

२ चित्रमीमांसा। इसमें कारिकाएँ और उनकी वृत्ति है। इसमें पहले ध्वनि गुणीभूतव्यङ्ग्य और चित्र इस प्रकार काव्यके ३ भेदोंका प्रतिपादन किया गया है। अव्यङ्ग्य काव्यके शब्दचित्र और अर्थचित्र इन दो भेदोंमें अर्थचित्रका ही इसमें विशेष प्रतिपादन है। इसमें उपमाके आश्रित २२ अलङ्कार निरूपित हैं। अलङ्कारप्रकरण अतिशयोक्तिपर्यन्त है। इस प्रकार यह ग्रन्थ भी अधूरा है। जगन्नाथ पण्डितराजने "चित्रमीमांसाखण्डन" नामक खण्डनग्रन्थ लिखा है, वह भी अपह्नुति तक ही उपलब्ध होनेसे अधूरा ही प्रतीत होता है। चित्रमीमांसामें धरानन्दकी सुधा और बालकृष्ण पायगुण्डेकी गूढाऽर्थप्रकाशिका ये दो टीकाएं प्रसिद्ध हैं।

३ कुवलयानन्द। यह ग्रन्थ वेङ्कटपतिके आदेशसे निर्मित है, इसमें अलङ्कारोंका विशद वर्णन है। इसका आधार जयदेवनिर्मित चन्द्रालोकका पञ्चम मयूख है, जैसा कि इन्होंने लिखा है—

"येषां चन्द्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते॥"

अर्थात् इसमे जिन-जिन अलङ्कारोंके चन्द्रालोकमें लक्ष्य और लक्षणोंके श्लोक देखे जाते हैं प्रायः वे ही, और अन्य अलङ्कारोंके तो नये लक्ष्यलक्षण-श्लोक रचे जाते है। इस प्रकार चन्द्रालोककी कारिकाओंका कहीं कहीं परिवर्तन, और परिवर्द्धन कर अप्पय्यदीक्षितने प्रौढतापूर्वक व्याख्या की है, उदाहरण अन्य ग्रन्थोंसे दिये गये हैं। कुवलयानन्दमें चन्द्रालोकके उपमा आदि सौ अलङ्कार देकर १५ अन्य अलङ्कारोंका भी समावेश किया गया है। कुवलयानन्दकी ९ टीकाएँ है, उनमें आशाधरभट्टकी अलङ्कारदीपिका और द्रविडदेशके रामचन्द्रपुत्र वैद्यनाथ तत्सत्की अलङ्कारचन्द्रिका टीका प्रसिद्ध हैं। आशाधरभट्टने वृत्तिनिरूपणपर "कोविदानन्द" और "त्रिवेणिका"

नामक ग्रन्थकी, काव्यप्रकाशकी उदाहरणचन्द्रिका और काव्यप्रदीपकी "प्रभा" नामक टीकाकी भी रचना की है। आधुनिक विद्वान् जग्गू वेङ्कटाचार्यकी "कुवलयानन्द-चन्द्रिकाचकोर" नामकी टीका आलोचनात्मक और प्रौढ है।

३० रसगङ्गाधर, कर्ता—जगन्नाथ पण्डितराज, समय—ई० १६२०–१६६० व्याकरणमें महाभाष्य, नव्यन्यायमें तत्त्वचिन्तामणि और वेदान्तमें शाङ्करभाष्यकी जैसी प्रतिष्ठा है वैसे ही अलङ्कारशास्त्रमें जगन्नाथ पण्डितराजके रसगङ्गाधरकी भी है। ये पेरुभट्टके पुत्र और शिष्य तथा लक्ष्मीके गर्भज थे। इनके पिताने काशीमें ज्ञानेन्द्र-भिक्षुसे वेदान्तका महेन्द्रसे वैशेषिक और न्यायका और खण्डदेवसे मीमांसाका अध्ययन किया था रसगङ्गाधरमें ऐसा लिखा है। दिल्लीके मुगल बादशाह शाहजहांने इन्हें "पण्डितराज" पदवीसे विभूषित किया था, उसके पुत्र दाराशिकोहने इनसे अध्ययन किया था। इन्होने दिल्लीमे अपना यौवन बिता दिया था। अनेक शास्त्रोंके अध्ययनसे परिणतमस्तिष्क पण्डितराज जगन्नाथने नव्यन्यायकी शैलीसे रसगङ्गाधरकी रचना की है। इन्होंने अपने ग्रन्थमें कई स्थानोंमें प्राचीन विद्वानोंकी कड़ी आलोचना की है। उनमें भी अप्पय्यदीक्षितकी धज्जी उड़ाई है। इस प्रसङ्गमें कहीं-कहीं मर्यादा और युक्तिका व्यतिक्रम भी हुआ है। भट्टोजिदीक्षितकी प्रौढमनोरमाकी इन्होने 'मनोरमा-कुचमर्दिनी" नामक ग्रन्थसे खण्डन भी कर डाला है। ये यवनी स्त्रीके प्रणयी थे ऐसी किंवदन्ती प्रसिद्ध है, पर इसमे कुछ भी प्रमाण नहीं है। इनकी प्रतिष्ठा और पाण्डित्यसे अभिभूत होकर असूयापरवश पण्डितोंने यह मिथ्या प्रचार किया है। इन्होने मथुरापुरीमें देहत्याग किया था। रसगङ्गाधरमें ५ आनन होने चाहिएँ पर दुर्भाग्यसे दो ही आनन अधूरे रूपमें उपलब्ध हैं। यह ग्रन्थ पूरा होता तो अलङ्कारशास्त्रके कई मौलिक और महत्त्वपूर्ण विषय उपलब्ध होते। तो भी इसमें जितने अंश विद्यमान है, उतनेसे भी बहुतसे साहित्यिक तत्त्वोंके मानदण्ड इसमें उन्नत किये गये हैं। रसगङ्गाधरमें सूत्र, वृत्ति और उदाहरण हैं। उनमें तीनो अंश इनके अपने है। उदाहरणके विषयमें उन्होंने लिखा है—

"निर्माय नूतनमुदाहरणाऽनुरूपं काव्यं मयाऽत्र विहितं न परस्य किञ्चित्।
किं सेव्यते सुमनसां मनसाऽपि गन्धः कस्तूरिकाजननशक्तिभृता मृगेण ?" ॥

अर्थात् इस ग्रन्थमें उदाहरणके योग्य नये काव्यकी मैंने रचना कर रखी है, दूसरोंकी कुछ नहीं रखी है। कस्तूरी उत्पन्न करनेकी शक्तिवाला मृग फूलोंके गन्धका मनसे भी क्या सेवा करता है? इस प्रकार हम देख रहे हैं पण्डितराज जगन्नाथ आत्माऽ-भिमानी और महान् आलङ्कारिक होनेसे अपनी सानी नही रखते थे। रसगङ्गाधरके प्रथम आननमें मङ्गलाचरणके अनन्तर इन्होंने सबसे विलक्षण काव्यका लक्षण लिखा है। ये शब्द और अर्थको नहीं केवल शब्दको काव्य मानते हैं। इस प्रकार वे ग्रन्थके आरम्भमें ही मम्मट और विश्वनाथके मतोंका खण्डन करते हैं। पण्डितराजने प्रतिभाको

काव्यका कारण मानकर सलक्षण और सोदाहरण काव्यके ४ भेदोंको माना हैं। ये रस स्वरूप लिखकर उसमें ११ सिद्धान्तियोंके मत देते हैं। स्थायी भाव, विभावादिस्वरूप, ९ रस और उनके उदाहरण, रसमें अन्य ज्ञातव्य विषय, रसदोष, गुणनिरूपण, गुणमें वामन आदि आचार्योंके मत, शब्द और अर्थके गुणोंके लक्षण, उन सबका पूर्वोक्त ३ गुणोंमें अन्तर्भाव, गुणव्यञ्जिका रचना, रचनामें वर्जनीय, भावध्वनि, भावलक्षण, व्यभिचारी भाव, उनके लक्षण और उदाहरण, रसाभास, भावशान्ति, भावोदय, भावसन्धि और भावशबलता आदि विषयोंका वर्णन है।

द्वितीय आननमें सलक्ष्मक्रमध्वनि, नानार्थोंमें शक्तिनियामक संयोग आदि, शब्दशक्तिमूलक ध्वनिमें अलङ्कारध्वनि, वस्तुध्वनि, अर्थशक्तिमूलकध्वनि, लक्षणामूलध्वनि, अभिधाशक्तिनिरूपण, लक्षणाशक्तिनिरूपण, लाक्षणिक वाक्योंका शाब्दबोधनिरूपण, अलङ्कारनिरूपण, उसमें उपमासे लेकर उत्तर अलङ्कारतक कुल ७० अलङ्कारोंका निरूपण है। उत्तर अलङ्कारके उदाहरणमें—

"किं कुर्वते दरिद्राः ? कासारवती धरा मनोज्ञतरा। कोपावनमालोक्याम्" ॥

इतना ही अंश उपलब्ध है। यह रसगङ्गाधरस्थ विषयोंकी आपाततः की गई सूची है। इस ग्रन्थपर पण्डितराजके ५० वर्षों के अनन्तर महावैयाकरण नागेशभट्टने "गुरुमर्मप्रकाशिका" नामकी संक्षिप्त टीका लिखी है। कहीं-कहीं इसमे अप्पय्यदीक्षितके पक्षका अनुसरण कर मूलग्रन्थका खण्डन भी है।

पण्डित पुरुषोत्तम चतुर्वेदीने नागरीप्रचारिणी सभासे रसगङ्गाधरका हिन्दी अनुवाद भी प्रकाशित किया है। नवीन विद्वानोमे भट्ट मथुरानाथ शास्त्रीने "सरला" नामक संक्षिप्त टीका की है इसमें कहीं कही नागेश भट्टपर आक्षेप भी किया गया है। इसी तरह कविशेखर बदरीनाथझाजीने प्रथम आननपर पण्डित मदनमोहन झाजीने द्वितीय आननपर सविस्तर चन्द्रिका टीका हिन्दी अनुवाद सहित की है। एवम् आचार्य मधुसूदनशास्त्रीने नवीन टीका, हिन्दी अनुवाद और विस्तृत भूमिका आदि हिन्दू विश्वविद्यालयसे प्रकाशित किया है। इसी तरह पण्डितप्रवर श्रीकेदारनाथ ओझाजीने संस्कृतविश्वविद्यालयसे "रसचन्द्रिका" नामक प्रौढ टीका प्रकाशित की है।

पण्डितराज जगन्नाथके अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

१ चित्रमीमांसाखण्डन। २ मनोरमाकुचमर्दिनी। ३ गङ्गालहरी। ४ अमृतलहरी (यमुनास्तुति)। ५ करुणालहरी (कृष्णनुति)। ६ लक्ष्मीलहरी। ७ सुधालहरी (सूर्यस्तुति)। ८ भामिनीविलास, इसमें प्रास्ताविकविलास, शृङ्गारविलास, करुणविलास और शान्तविलास, कुल ४ विलास संकलित हैं। ९ आसफलहरी। १० प्राणाभरण (कामरूपनरेशका प्रशंसापरक) और ११ जगदाभरण (जयसिंह राणाका वर्णन)।

२१ अलङ्कारकौस्तुभ, कर्ता—कवि कर्णपूर, समय–ई० १५२४ के अनन्तर–
ये कवि कर्णपूर वा कर्णपूर गोस्वामी पहले "परमानन्दसेन" नामसे प्रसिद्ध थे। ये चैतन्य महाप्रभुके शिष्य शिवानन्द सेनके पुत्र और गुरु श्रीनाथके शिष्य थे।

अलङ्कारकौस्तुभमें किरणोंकी संख्या दश है। इसके प्रथम किरणमें काव्यका लक्षण, द्वितीयमें शब्द और अर्थ, तृतीयमें ध्वनि, चतुर्थमें गुणीभूतव्यङ्ग्य, पञ्चममें रस, भाव और उनके भेद, षष्ठमें गुण, सप्तममें शब्दाऽलङ्कार, अष्टममें अर्थाऽलङ्कार, नवममें रीति और दशम किरणमें दोषोंका निरूपण है। यह ग्रन्थ रूपगोस्वामीके उज्ज्वलमणिसे अधिक विस्तृत है। इसके उदाहरणमें राधा और कृष्णकी स्तुतियाँ अधिक हैं। अलङ्कारकौस्तुभमें उज्ज्वलनीलमणिका अनुकरण किया गया है। इस ग्रन्थपर चार टीकाएँ, उनमें प्रथम उन्हींकी किरण टीका है। द्वितीय विश्वनाथ चक्रवर्ती (ई० १८८५) की सारबोधिनी है। तृतीय वृन्दावनचन्द्र चक्रवर्तीकी दीधिति-प्रकाशिका और चतुर्थ लोकनाथ चक्रवर्तीकी टीका प्रख्यात है। अलकारकौस्तुभके सिवाय कवि कर्णपूरके अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

१ चैतन्यचन्द्रोदय (नाटक)। २ गौराङ्गगणोद्देशदीपिका। ३ आनन्दवृन्दावनचम्पू। ४ उक्त चम्पूकी टीका चमत्कारचन्द्रिका। ५ बृहत्कृष्णगणोद्देशदीपिका। ६ वर्णप्रकाश (कोषग्रन्थ)।

३२ अलङ्कारकौस्तुभ, कर्ता—विश्वेश्वर पर्वतीय, समय– ई० अठारहवीं शताब्दी। लक्ष्मीधरके पुत्र विश्वेश्वर पण्डित सर्वतन्त्रस्वतन्त्र विद्वान् थे। ये उत्तर प्रदेशके अलमोडा जिलेके निवासी थे; इन्होने भी नव्य न्यायकी शैलीपर अलंकार-शास्त्रका ग्रन्थ लिखा है। अलंकारकौस्तुभपर इन्होंने स्वयम् टीका लिखी है, जो रूपक अलकार पर्यन्त उपलब्ध है। काव्यप्रकाशमें वर्णित ६१ अलंकारोंका इन्होंने पाण्डित्य-पूर्वक विवेचना कर अन्य अलङ्कारोंका उन्हींमें अन्तर्भाव किया है। इन्होंने रुय्यक, शोभाकर मित्र विश्वनाथ कविराज, अप्पय्य दीक्षित, पण्डितराज जगन्नाथ, इनके मतोंका कई जगह खण्डन किया है। ग्रन्थके उदाहरणोंके लिए इन्होंने स्वरचित मनोहर पद्य दिये हैं, ये ग्रन्थके अन्तमें लिखते है —

"अन्यैरुदीरितमलंकरणान्तरं यत् काव्यप्रकाशकथितं तदनुप्रवेशात्।
सक्षेपतो बहुनिबन्धविभावनेनाऽलंकारजातमिह चारुतया न्यरूपि॥"

इनके अलकारमें अन्य ग्रन्थ इस प्रकार हैं—

अलंकारप्रदीप, अलंकारमुक्तावली, कवीन्द्रकर्णाऽऽभरण, यह चित्रकाव्य है तथा धर्मदासमूरिके विदग्धमुखमण्डनके अनुरूप ही नहीं उससे अधिक पाण्डित्यपूर्ण है। काव्यतिलक, रसचन्द्रिका और उसकी टीका व्यङ्ग्याऽर्थकौमुदी।' रसचन्द्रिकामें उनकी एक अन्य पुस्तक शृङ्गारमञ्जरीका भी उल्लेख है।

व्याकरणमें काशिकाके ढंगपर अष्टाध्यायीका व्याख्यान "व्याकरणसिद्धान्त-सुधानिधि" विशाल ग्रन्थ है। अद्वैतवादका खण्डनग्रन्थ तर्ककुतूहल और न्यायमे दीधितिप्रवेश।

३३ अलङ्काररत्नाकर, कर्ता—कवि शोभाकर मित्र, समय-सं० १२५० से १३५० के बीच। अलंकाररत्नाकरके कर्ता कवि श्रीशोभाकरमित्र त्रयीश्वरमित्रके पुत्र थे। इस ग्रन्थमें सूत्र, वृत्ति और उदाहरण हैं। मङ्गलाचरणके अनन्तर इसमें ११२ सूत्र हैं। यहां आरम्भके छः सूत्रोंमें शब्दालकारके अनन्तर १०४ अर्थाऽलकारोंकी बड़ी प्रौढिसे निरूपण किया गया है। इन्होंने कई नये अलंकारोंका उद्भावन भी किया है।

३४ काव्यविलास, कर्ता—चिरञ्जीव भट्टाचार्य, समय—ई० १७०३ चिरञ्जीव भट्टाचार्य विद्वद्वर राघवेन्द्रके पुत्र थे। इनका नाम वामदेव वा रामदेव भी था। इनके ग्रन्थ काव्यविलासमे दो भङ्गियाँ (परिच्छेद) हैं। प्रथमभङ्गिमें मङ्गला चरणके अनन्तर काव्यस्वरूपनिरूपण, काव्यप्रयोजन, काव्यकारण, शृङ्गार आदि रसोंके स्थायी भाव, इसके कारणभूत विभावके दो भेद, कार्यभूत अनुभाव, व्यभिचारी भाव, संयोगशृङ्गार और विप्रलम्भ शृङ्गारके दो भेद, हास्य, करुण, रौद्र और वीररस, उसके ३ भेद, भयानक, बीभत्स, अद्भुत और शान्तरस, इनके स्वरूप और देवताएं, मायाके रसत्वका खण्डन। विप्रलम्भ शृङ्गारका करुणरसमें अन्तर्भाव आदिका खण्डन, और भावकाव्य आदि सोदाहरण वर्णित हैं।

द्वितीय भङ्गिमें अलकारका लक्षण, अर्थालंकार और शब्दालंकारका उद्देश, उपमासे लेकर अत्युक्तिनक ८९ अर्थालकार और शब्दालंकारोंमें चित्र, ४ अनुप्रास, यमक, पुनरुक्तप्रतीकाश इस प्रकार ७ अलंकार सलक्षण और सोदाहरण निरूपित हैं।

चिरञ्जीव भट्टाचार्यके अन्य ग्रन्थ निम्नलिखित हैं—

१ माधवचम्पू (प्रकाशक—जीवानन्दविद्यासागर, कलकत्ता)।

२ विद्वन्मोदतरङ्गिणी चम्पू (प्रकाशक—वेङ्कटेश्वर प्रेस, बम्बई)।

३ शृङ्गारतटिनी।

४ वृत्तरत्नावली (छन्द शास्त्र)।

३५ वृत्तालङ्कार, कर्ता—छबिलाल सूरि, समय—वि० सं० १९३८–१९६७। वृत्तालङ्कारमें कतिपय छन्द और अलङ्कारों के लक्षण और स्वकृत मनोरम उदाहरण वर्णित है। इनके अन्य ग्रन्थ कुशलवोदय और सुन्दरचरित नाटक, और विरक्तितरङ्गिणी खण्डकाव्य आदि हैं। ये नेपालनरेश श्री ५ पृथ्वीवीरविक्रमशाहके शासन कालमें सरदार उपाधियुक्त होकर शासन कार्यमें नियुक्त थे और तपस्वीके समान जीवन बिताते थे। प्रो० मैक्समूलरने इनकी रचनाकी भूरिप्रशंसा और संस्कृत लिखनेमें अपनी असमर्थताका प्रकाश किया था।

उदाहारपरिशिष्ट कविकृतिपरिचय

१. कादम्बरीकथासार, कवि—अभिनन्द, समय ख्रु० दशमशताब्दी, इसमें उत्कृष्ट अनुष्टुप् छन्दोंमें निर्मित दश सर्गोंमें कादम्बरीकी कथाका अतिमधुर वर्णन है। कवि न्यायमञ्जरीके कर्ता सुप्रसिद्ध जरन्नैयायिक जयन्त भट्टके सुपुत्र थे। इन्होंने योगवाशिष्ठ-सार भी लिखा है।

२. यादवाऽभ्युदय महाकाव्य, कवि—वेङ्कटनाथ वा वेदान्तदेशिक समय—ख्रु० चतुर्दश शताब्दी। ये श्रीसम्प्रदायके महान् दार्शनिक आचार्य थे, इस सुन्दर काव्य-पर दार्शनिकप्रकाण्ड अप्पय दीक्षितने टीका लिखी है। महाकविने पादुकासहस्र और हंससन्देश आदि बहुत-से ग्रन्थ लिखे हैं।

३. भक्तविजय, पृथ्वीन्द्रवर्णनोदय, कवि—ललितावल्लभ, समय—वि० सं० १७७९–१८३२। भक्तविजय, उपेन्द्रवज्रा आदि छन्दोमें विरचित १०९ पद्योंका सालङ्कार मनोहर काव्य है। इसमे नेपालकी एकराष्ट्रियताके प्रतिष्ठायक श्री ५ पृथ्वीनारायण शाहके भक्तपुरविजयका उदात्त वर्णन है। पृथ्वीन्द्र वर्णनोदय, इसमें पूर्वोक्त महाराजके प्रताप और विजयका शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा आदि छन्दोंमें अलङ्कारगर्भित प्रौढ और मनोरम वर्णन है। इसमें ३ सर्ग हैं, उनमे एक ही सर्ग प्रकाशित है।

४. कवितानिकषोपल, कवि–लक्ष्मण, समय–१७७९–१८३२, यह काव्य पूर्वोक्त महाराज श्री ५ पृथ्वी नारायण शाहके सुपुत्र युवराज श्री ५ प्रतापसिंहने अपने पिताके नेपालविजयके अवसरपर बालाजू नामक स्थानमे एक बृहत् कविसम्मेलन किया था। उसमें भारतके मिथिला, पटना, द्राविड आदि बहुतसे राज्योंके और नेपालके भी अनेक कवि उपस्थित हुए थे। नेपालके लक्ष्मण कविने सबकी रचनाओंकी व्याकरणकी सूक्ष्म पद्धतिसे पाण्डित्यपूर्ण आलोचना की थी, इसमे उस विषयका मनोहर वर्णन है। इन्ही श्री ५ प्रतापसिंह शाहने वि० सं० १८३२–१८३४ मे "पुरश्चर्यार्णव" नाम बृहत् तन्त्रशास्त्रकी रचना की थी। इन्हीके पौत्र श्री ५ गीर्वाणयुद्ध विक्रम शाहने वि० स० १८५५–१८७३ मे जयसिंहकल्पद्रुमके समान धर्मशास्त्र और कर्मकाण्डका निबन्ध "गीर्वाणरत्नावली" वा 'सत्कर्मरत्नावली" नामक बृहत् ग्रन्थका प्रणयन किया था।

५. शिवराजविजय, गद्यकाव्य, कवि—साहित्याचार्य अम्बिकादत्त व्यास। "घटिकाशतक" "भारतरत्न" उपाधियोंसे विभूषित, समय ख्रु० १८५९–१९००। इनका अभिजन जयपुर और निवास वाराणसी है। ये पटनास्थ राजकीय संस्कृत महा-विद्यालयमें प्राध्यापक थे। प्रकृत ग्रन्थमें दक्षिणके छत्रपति शिवाजीके विजय और प्रताप आदिका मनोहर और अलङ्कृत वर्णन है। इसका कथानक बङ्गालके उपन्यास-कार आर० सी० दत्तके एक उपन्यासपर आधृत है। सस्कृत और हिन्दीमे इनके

ग्रन्थोंकी संख्या ७५ है। ये सनातन धर्मके प्रसिद्ध व्याख्याता थे। इन्होंने स्वामी दयानन्दके जीवनकालमें ही उनके ग्रन्थोमे व्याकरणकी त्रुटियोंका निदर्शन कर उन्हें निरुत्तर कर दिया था, और मूर्तिपूजा, अवतारवाद आदि शास्त्रीय विषयोंमें शास्त्रीय और तर्कपूर्ण ग्रन्थ लिखे थे।

६. भागवतमञ्जरी, कवि—साहित्याचार्य विद्याभूषण कुलचन्द्र गौतम, समय—वि० सं० १९६९–२०११, भागवतमञ्जरी, कवीन्द्र क्षेमेन्द्रकी भारतमञ्जरीकी सदृश रचना है। इसमें श्रीमद्भागवतस्थ कथाका लालित्यपूर्ण, अलङ्कृत और प्राञ्जल वर्णन है। इसके सिवाय कविजीने गङ्गागौरव, श्रीकृष्णकर्णामृत और हरिवरिवस्या आदि अनेक काव्य लिखे थे।

७, आदर्शराघव-पुष्पाञ्जलि, प्रकाशनसमय वि॰सं०२००५॰कवि—पण्डितराज-सोमनाथ सिग्याल, जन्म सं० १९४०। इस लघु कवितासंग्रहमें आध्यात्मिक काण्ड, आधिदैविक काण्ड और आधिभौतिक काण्ड ये ३ काण्ड हैं। प्रति काण्डमें तत्तद् स्तबकोंमें बहुत-से पद्य संगृहीत है। भक्तिरससे ओतप्रोत, सालङ्कार, सरस और प्रौढ ये पद्य अत्यन्त मनोहर और आकर्षक हैं। नेपालके प्रसिद्ध वेदान्ती अध्यापक प० जगन्नाथशर्माके ज्येष्ठपुत्र सोमनाथ शर्माजी अपने पिता, प्रसिद्ध वैयाकरण प० विष्णुहरि रिमाल॰म०म०कैलाश चन्द्रभट्टाचार्य और म०म०गङ्गाधरशास्त्रीके शिष्य, एवम् न्यायोपाध्याय और काव्यतीर्थ आदि उपाधियोंसे विभूषित थे। वे नेपालके राजकीय संस्कृत पाठशालाके प्रधानाध्यापक, राजकीय सस्कृत महाविद्यालयके प्राचार्य एवम् अशा प्रज्ञाप्रतिष्ठान (नेपाल राजकीय एकेडेमी) के सदस्य थे। लगभग आधी शताब्दी तक अध्यापनरत होकर आपने साहित्य, सांख्य, सर्वदर्शन, वेदान्त और धर्मशास्त्रमें कई छात्रोंको पढ़ाकर काशीमें शिवसायुज्य प्राप्त किया। आपके अन्यग्रन्थ—प्रतिसंस्कृता सिद्धान्तकौमुदी (व्याकरणमें), नेपाली भाषामें आदर्श-राघव महाकाव्य, मध्यचन्द्रिका और लघुचन्द्रिका (व्याकरणमें) साहित्यप्रदीप और अनुवादचन्द्रिका आदि अनके ग्रन्थ हैं। हालहीमें नेपालमें आपका शताब्दीसमारोह धूमधामके साथ मनायागया।

८. पारिजातहरण, कवि—उमापति द्विवेद कविपति, ग्रन्थ प्रकाशनकाल ख० सं० १९५८ हरिवंशके कथानकपर इस मनोरम महाकाव्यका निर्माण हुआ है।

९. रुक्मिणीहरण, कवि—श्रीकाशीनाथ द्विवेदी, ग्रन्थप्रकाशनकाल-ख० सं० १९६६, श्रीमद्भागवतके आधारपर यह मनोहर काव्य निर्मित है।

१०. भारतीवैभव, गणेशगौरव और ऊर्मिमाला (फुटकर कवितासंग्रह)। कवि—माधवप्रसाद देवकोटा स्मृतिशास्त्री, साङ्ख्ययोगाचार्य कविरत्न, पूर्वकाव्य-निर्माणकाल वि० सं० २०१० उक्त तीनों काव्य प्रौढ, अलङ्कारसंपन्न और मनोहर हैं।

११. सत्यहरिश्चन्द्र महाकाव्य, कवि—मीमांसाचार्य प०पूर्णप्रसाद ब्राह्मण,

जन्म वि० सं० १९७८ । इस महाकाव्यमें ब्राह्मणजीने पुराणकालके आदर्श राजर्षि हरिश्चन्द्रके चरित्रका प्राञ्जल और मनोरम शैलीमें साऽलङ्कार और सगुण रूपमें मधुर वर्णन किया है। महाकविने "विश्वे देवा:" नामक ग्रन्थमें अपने अपने विषयके आदर्श बहुतसे व्यक्तिओंका मनोहर वर्णन किया है। इनका नेपाली भाषामें भी "एक्काइस कथा" नामकी अनूठी कथाओंका संग्रह है।

१२ शाहवंशचरित महाकाव्य, कवि—व्याकरणाचार्य हरिप्रसाद आचार्य, समय वि० सं० २०११ है। इसमें शाहवंशके राजाओंका सिलसिलेवार प्राञ्जल वर्णन है।

१३ महेन्द्रोदय महाकाव्य, कवि—भरतराज घिमिरे शास्त्री; काव्यतीर्थ; काव्यरचनासमय वि० सं० २०१२, इसमें नेपालेन्द्र श्री ५ महेन्द्रवीरविक्रमशाहका साऽलङ्कार और मनोहर वर्णन है, कविकी संस्कृत और नेपाली भाषामें गिरिबाला और नेपालीमें देवयानी महाकाव्य आदि अन्य रचनाएँ भी हैं।

१४ श्रीकृष्णचरिताऽमृत महाकाव्य, कवि—कृष्णप्रसाद घिमिरे शास्त्री; काव्यतीर्थ, विद्यावारिधि, कविरत्न, ग्रन्थप्रकाशनकाल वि० सं० २०२८, श्रीमद्भागवतके आरम्भिक भागपर आश्रित ५८ सर्गोंमें निर्मित अलङ्कारपूर्ण प्राञ्जल और सरस इस महाकाव्यमें सर्गसंख्यामें और वर्णनमें अद्भुत चूडान्त कल्पनाकौशल दिखलाया है। महाकविके अन्य भी नाचिकेतस महाकाव्य, ययातिचरित, सम्पातिसन्देश और रामविलाप आदि काव्य और नेपाली भाषामें शाहवंशचरित महाकाव्य आदि अनेक काव्य और संस्कृतके अनूदित ग्रन्थ हैं।

१५ गुरुगोविन्दसिंहचरित महाकाव्य, कवि—डाक्टर सत्यव्रतशास्त्री, ग्रन्थ-निर्माण समय—ख्रृ० सं० १९४७ हैं, ऐतिहासिक यह काव्य वीररसप्रधान, मनोहर रचना है।

१६ विन्ध्यवासिनी महाकाव्य, शुम्भवधमहाकाव्य, कवि—वसन्त त्र्यम्बक शेवड़े, रचनाकाल—ख्रृ० सं० १९८२–१९८३। महाकाव्यकी रचनाएँ पौराणिक दुर्गा-चरितपर आश्रित अलङ्कारपूर्ण, सरस, प्राञ्जल और मनोहर हैं, इनके सिवाय इनकी वृत्तमञ्जरी, दुर्गास्तवमञ्जूषा और श्रीकृष्णचरित आदि अनेक रचनाएँ हैं।

अपाक्षिकत्वेन, गुणाग्रहेण, दृष्टेः श्रुतेश्चाऽपि समाश्रयेण।
संपूरितोऽयं लघुशेषभागस्त्रुटौ क्षमाऽर्हो द्विजशेषराजः॥ १॥

ब्रह्मघट्टः काशी — शेषराजशर्मा

वि० स० सं० २०४१

टीकाकारस्याऽन्यरचनाः

१ भट्टिकाव्यं, सम्पूर्णम्, सं० टीका, भूमिका, अनुवादश्च

२ उत्तररामचरितनाटकम् ,, ,, ,, ,, टिप्पणी च

३ मालतीमाधवप्रकरणम् ,, ,, ,, ,,

४ प्रसन्नराघवनाटकम् ,, ,, ,, ,, ,,

५ स्वप्नवासवदत्तनाटकम् ,, ,, ,, ,, ,,

६ रघुवंशम् प्रथमसर्गः ,, ,, ,, ,,

७ रघुवंशम् १३-१४ सर्गौ ,, ,, ,, ,,

८ किरातार्जुनीयमहाकाव्यम् ३-६ ,, ,,

९ तर्कसंग्रहः साऽनुवादः

१० तर्कसंग्रहपदकृत्यम्, सानुवादम् न्यायपारिभाषिकशब्दकोषः।

११ हितोपदेशः मित्रलाभः ,, ,, ,,

१२ शिशुपालवधम् चतुर्थसर्गः ,, ,,

१३ नैषधीयचरितम् १–९ ,, ,, ,,

१४ कादम्बरी पूर्वार्द्धम् ,, ,,

१५ साहित्यदर्पणः ,, ,, विस्तृतभूमिका च

१६ विक्रमाङ्कचरितकाव्यम् १ सर्गः ,, ,,

१७ विदग्धमुखमण्डनम् ,, ,,

१८ दशकुमारचरितंपूर्वपीठिका ,, ,,

१९ काव्यमीमांसा १–५ अनुवादोपेता

२० कुमारसंभवं साऽनुवादं सटिप्पणम् (मुद्र्यमाणम्)

२१ व्याकरणबोधः (नैपाल्याम्)

२२ नेपालीरचनाप्रकाशः (नैपाल्याम्) ।

॥ श्रीः ॥

ईषद्वक्तव्यम्

श्रीदेवचन्द्रबुध-हेमकुमारिदेवी-
जातः, सदैव गुरुवर्गविधेयचित्तः।
श्रीकृष्णचन्द्रविबुधाऽवरजस्तथैव
श्रीपूर्णचन्द्रबुधकाऽप्रियबन्धुरस्मि ॥ १ ॥

माता, पिता, तदनु हृद्यसहोदरौ मे
शेषा न, दुर्विधिवशादहमेव शेषः।
स्रोतस्विनीतटजभूरुहसन्निभोऽहं
हा! हन्त! हन्त! समयं ननु यापयामि ॥ २ ॥

विद्याविलासपरिभासककृष्णदास-
पुत्रेण गुप्तवरविट्ठलदासकेन।
अभ्यर्थितो विहितवान् विवृतिं नवीनां
साहित्यदर्पणकृतौ खलु सानुवादाम् ॥ ३ ॥

छात्त्रोपकारपर एष मम प्रयासः
संख्यावतां धुरि निजं पदमादधाति!
स्यादत्र संभ्रमजनिभ्रम आत्तरूपः
क्षम्यो हि मानुषकृतिः स्खलनस्वभावा ॥ ४ ॥

अस्यां कृतौ प्रथममेव कृतप्रयासा
ये कोविदा मम सहायकरा अभूवन्।
सर्वेषु तेषु महितेषु विचक्षणेषु
सैषा चकास्ति सततं कृतवेदिता मे ॥ ५ ॥

झोपाह्वयः सहृदयो बुधरामचन्द्रः
सूच्यादिभिः कृतिमिमां कृतवान् सनाथाम्।
दृष्ट्वा तदीयगुणमर्थनमन्तरेण
जातोऽस्म्यहं तदुपकारभराऽवनम्रः ॥ ६ ॥

श्रावणी पूर्णिमा

वि० सं० २०३९ —शेषराजशर्मा

ब्रह्मघट्टः, वाराणसी

विषयाऽनुक्रमणिका

(४) चतुर्थपरिच्छेदः

(८) अष्टमपरिच्छेदः

(९) नवमपरिच्छेदः

(१०) दशमपरिच्छेदः

मूलोक्तकारिकाऽनुक्रमणिका

उदाहृतश्लोकाऽनुक्रमणिका



॥ श्रीः ॥

साहित्यदर्पणः

'चन्द्रकला' संस्कृत-हिन्दी-व्याख्योपेतः

प्रथमः परिच्छेदः

(प्रारम्भ-मङ्गलम्)

ग्रन्थारम्भे निर्विघ्नेन प्रारिप्सितपरिसमाप्तिकामो वाङ्मयाधिकृततया

टीकाकारकृतं मङ्गलाचरणम्—

याऽस्ते प्रसादसहिता मृदुलस्वभावा जाड्यापनोदनपरा निजभक्तिभाजाम् ।
भक्तं समीहितवरेण कृतार्थयन्ती तां भारतीं सततमेव नमस्करोमि ॥ १ ॥

श्रीविश्वनाथकविराजकृतं तमेतं साहित्यदर्पणमहं प्रगुणीकरोमि ।
संप्रार्थये भगवतीं भवतीं प्रणत्या "मातर्मम श्रममिमं सफलीकुरुष्व" ॥ २ ॥

अथ तत्र भवानालङ्कारिकचूडामणिः काव्य-तच्छास्त्रप्रणयनतो विद्वत्समाजे लोकोत्तरप्रतिष्ठया विराजमानो विश्वनाथकविराजो गीर्देवीप्रार्थनारूपस्य स्वकीयमङ्गलाचरणस्यौचित्यं समर्थयितुमुपक्रमते— ग्रन्थारम्भ इति । ग्रन्थारम्भे=एकार्थको वाक्यसन्दर्भो ग्रन्थः, स च प्रकृते साहित्यदर्पणरूपोऽलङ्कारशास्त्रम्, तस्य आरम्भे=प्राक्काले, निर्विघ्नेन=समीहितकर्मप्रतिबन्धकः पापविशेषो विघ्नः, तस्याऽभावो निर्विघ्नं, तेन; अर्थाऽभावे "अव्ययं विभक्ति" त्यादिनाऽव्ययीभावः । "तृतीयासप्तम्योर्बहुलम्" इत्यनेन बाहुल्येन अम्भावात्पक्षान्तरे तदभावात्तृतीया । प्रारिप्सितपरिसमाप्तिकामः=प्रारब्धुमिष्टः साहित्यदर्पणरूपो ग्रन्थः, तस्य परिसमाप्तिः=सम्यक् चरमवर्णध्वंसः, तं कामयते=इच्छतीति, प्रारब्धुमिष्टस्य साहित्यदर्पणस्य सम्यक् समाप्तिः स्यादिति कामनासम्पन्नो ग्रन्थकार इति भावः । वाङ्मयाऽधिकृततया=वाचां समूहो वाङ्मयं=समस्तं शास्त्रम्, प्राचुर्यार्थे मयट्-

---

ग्रन्थके आरम्भमें निर्विघ्नपूर्वक प्रारिप्सित=प्रारम्भ करनेके लिए अभीष्ट (साहित्यदर्पण) की समाप्तिकी इच्छा करनेवाले ग्रन्थकार शास्त्रोंमें अधिकृत होनेसे वाग्देवता (सरस्वती) की अनुकूलताका आधान करते हैं ।

वाग्देवतायाः सांमुख्यमाधत्ते—

शरदिन्दुसुन्दररुचिश्चेतसि सा मे गिरां देवी ।
अपहृत्य तमः सन्ततमर्थानखिलान् प्रकाशयतु ॥ १ ॥

अस्य ग्रन्थस्य काव्याङ्गतया काव्यफलैरेव फलवत्त्वमिति काव्यफलान्याह—

प्रत्ययः । तस्मिन् अधिकृता, तस्या भावस्तत्ता, तया, अधिकारसम्पन्नत्वेन, 'सामान्ये नपुंसकम्" इति नपुंसकत्वम् । वाग्देवतायाः = सरस्वत्याः, सांमुख्य = संमुखत्वं, आह्वयहरणेनाऽऽनुकूल्यमिति भावः । आधत्ते = विदधातीति भावः । मूलवृत्तिकृतोरैक्यात्कथं प्रथमपुरुषप्रयोग इति नाशङ्कनीयम् । प्रायेण ग्रन्थकारा अहङ्कारपरिहरणार्थमुत्तमपुरुषप्रयोगं विहाय प्रथमपुरुषप्रयोगेण स्वस्य विनयवृत्ति प्रदर्शयन्ति । सन्ति चैतादृशाः प्रयोगाः-

"मनुमेकाऽग्रमासीनमभिगम्य महर्षयः ।
प्रतिपूज्य यथान्यायमिदं वचनमब्रुवन् ॥" (मनु० १-१) ।
"योगीश्वरं याज्ञवल्क्यं संपूज्य मुनयोऽब्रुवन् ।
वर्णाश्रमेतराणां नो ब्रूहि धर्मानशेषतः ॥"

याज्ञवल्क्यस्मृतिः १-१ इत्यादयः शरदिन्द्विति । शरदिन्दुसुन्दररुचिः सा गिरां देवी मे चेतसि सन्ततं तमः अपहृत्य अखिलान् अर्थान् प्रकाशयतु इत्यन्वयः ।

शरदिन्दुसुन्दररुचिः=शरदि (शरदृतौ) इन्दुः (चन्द्रः) । सुन्दरी (मनोहरा) रुचिः (प्रभा) यस्याः सा । शरदिन्दुरिव सुन्दररुचिः, "उपमानानि सामान्यवचनैः" इति समासः । सा = श्रुतिस्मृतिपुराणप्रसिद्धा, गिरां = वाचां, देवी=अधिष्ठात्री, सरस्वतीति भावः । मे = मम ग्रन्थकारस्य, विश्वनाथकविराजस्येति भावः । चेतसि = चित्ते; सन्ततं = विस्तृतं, तमः=तमस्तुल्यमज्ञानम्, अपहृत्य = विनाश्य, अखिलान् = समस्तान् अर्थान् = प्रमेयान्, प्रकाशयतु=प्रकटीकरोतु, शरदिन्दुर्यथाऽन्धकारं दूरीकृत्य घटपटादीनर्थान्प्रकाशयति तथैव सरस्वत्यपि मद्धृदये विद्यमानमन्धकारं विनाश्य समस्तानलङ्कारशास्त्रप्रमेयान्प्रकटीकरोत्विति भावः । सन्ततपदं क्रियाविशेषणत्वेन वा योजनीयम् । सन्ततं = निरन्तरं, प्रकाशयतु । उपमाऽलङ्कारः । आर्यावृत्तम् ॥ १ ॥

ननु "प्रयोजनमनुद्दिश्य न मन्दोऽपि प्रवर्तते ।" इति न्यायादस्य ग्रन्थस्य प्रयोजनं यावन्न प्रतिपाद्यते तावत्कथमत्र बुभुत्सूनां प्रवृत्तिरित्यत आह -अस्य ग्रन्थस्येति । अस्य=

शरत् ऋतुके चन्द्रकी समान सुन्दर कान्तिवाली श्रुति, स्मृति और पुराण आदिमें प्रसिद्ध वाणीकी अधिष्ठात्री (सरस्वती) देवी मेरे चित्तमें विस्तृत अज्ञानरूप अन्धकारका अपहरण करके समस्त प्रमेयरूप अर्थोंका प्रकाश करें ॥ १ ॥

यह ग्रन्थ काव्योंका अङ्ग है अतः काव्योंके फलोंसे ही इसकी फलवत्ता है, इसलिए काव्यफलोंको कहते हैं ।

चतुर्वर्गफलप्राप्तिः सुखादल्पधियामपि ।
काव्यादेव यतस्तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते ॥ २ ॥

चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हि काव्यतो 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादिकृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशद्वारेण सुप्रतीतैव ।

उपक्रम्यमाणस्य, ग्रन्थस्य = साहित्यदर्पणस्य, काव्याङ्गतया, काव्यस्य = रघुवंशादेः, अङ्गतया = अप्रधानकारणतया, काव्यफलैः एव = अङ्गिभूतस्य काव्यस्य, फलैः एव चतुर्वर्गादिरूपैः साध्यैः एव, फलवत्त्व = फलसहितत्वम्, इति = अस्माद्धेतोः, काव्यफलानि = अङ्गिभूतस्य काव्यस्य फलानि = कार्याणि, आह=प्रतिपादयति । अयं भावः, दर्शपौर्णमासादयो यागा अङ्गिभूताः, प्रयाजादयो यागा अङ्गभूताः, "फलवत्सन्निधौ अफलं तदङ्गम्" फलवताम् = अङ्गिनां दर्शपौर्णमासादीनां, सन्निधौ तदङ्गम् = प्रयाजादियागाः तदङ्गभूताः, ते च अफला भवन्ति, तेषां पृथक् फलं न भवति, प्रधानयागस्य दर्शपौर्णमासादेः फलेनैव तत्फलवत्ता भवति इति भावः, प्रकृते च अङ्गिभूताः रघुवंशादयः, तेषां यत्फलं चतुर्वर्गप्राप्तिरूप, तेनैव अङ्गभूतस्य = रघुवंशादेर्निरूपकारस्य अस्य अलङ्कारग्रन्थस्य साहित्यदर्पणस्य फलवत्त्वं = फलसहितत्वम्, न पृथक् फलम् । इति = अस्माद्धेतोः, काव्यफलानि = काव्यप्रयोजनानि आह—चतुर्वर्गेति । यतः अल्पधियाम् अपि सुखात् काव्यात् एव चतुर्वर्गफलप्राप्तिः, तेन तत्स्वरूपं निरूप्यते इत्यन्वयः । यतः=यस्मात्कारणात्, अल्पधियाम् अपि = अल्पबुद्धीनाम् अपि न केवलं महाधियामिति भावः, सुखात्=अनायासात्, काव्यात् एव=रघुवंशादेः कविकृतेरेव, चतुर्वर्गफलप्राप्तिः= धर्मार्थकाममोक्षरूपफलप्रापणं, भवतीति शेषः, तेन = कारणेन, तत्स्वरूपं = तल्लक्षणं, निरूप्यते प्रतिपाद्यते ॥ २ ॥

कारिकां विवृणोति—चतुर्वर्गफलेति । चतुर्वर्गफलप्राप्तिः=धर्मार्थकाममोक्षरूपफलासादनं, रामादिवत्=रामादिना तुल्यं, प्रवर्तितव्यं=चेष्टनीयं, गुरुजनाज्ञापालनसज्जनसंरक्षणदुष्टनिग्रहरूपा प्रवृत्तिः करणीयेति भावः । न रावणादिवत् प्रवर्तितव्यं=रावणादिना तुल्यं, परदारहरणसज्जनसंहरणादिरूपा प्रवृत्तिर्न करणीयेति भावः । इत्यादिना । कृत्येषु= कर्तव्येषु, प्रवृत्तिः = प्रवर्तनम्, अकृत्येषु = अकरणीयेषु, निवृत्तिः = निवर्तनं, तदुपदेशद्वारेण = तदुपदेशव्यापारेण, सुप्रतीता एव = सुविदिता एव । एतत्कथनेन काव्यस्य शास्त्रत्वं प्रदर्शितम्—

जिस कारणसे अल्प बुद्धिवालोंको भी काव्यसे ही अनायास चतुर्वर्ग (धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष) रूप फलकी प्राप्ति होती है उस कारणसे उसके स्वरूप—(लक्षण) का निरूपण किया जाता है ॥ २ ॥

काव्यसे चतुर्वर्ग फलकी प्राप्ति राम आदिके समान आचरण करना चाहिए रावण आदिके समान आचरण नहीं करना चाहिए इस तरह कर्तव्य विषयमें प्रवृत्ति और अकर्तव्य विषयमें निवृत्तिके उपदेशके द्वारा प्रख्यात ही है ।

उक्तं च (भामहेन)—

'धर्मार्थकाममोक्षेषु वैचक्षण्यं कलासु च।
करोति कीर्तिं प्रीतिं च साधुकाव्यनिषेवणम्॥ इति।

किञ्च काव्याद्धर्मप्राप्तिर्भगवन्नारायणचरणारविन्दस्तवादिना, 'एकः शब्दः सुप्रयुक्तः सम्यग्ज्ञातः स्वर्गे लोके कामधुग्भवति' इत्यादिवेदवाक्येभ्यश्च सुप्रसिद्धैव। अर्थप्राप्तिश्च प्रत्यक्षसिद्धा। कामप्राप्तिश्चार्थद्वारैव। मोक्षप्राप्तिश्चै-

यदाहुः—"प्रवृत्तिर्वा निवृत्तिर्वा नित्येन कृतकेन वा।
पुंसां येनोपदिश्येत तच्छास्त्रमिति कथ्यते॥" इति।

अत्र प्राचीनानां सम्मतिं प्रदर्शयति—उक्तं चेति। धर्मार्थेति। साधुकाव्यनिषेवणं धर्मार्थकाममोक्षेषु कलासु च वैचक्षण्यं कीर्तिं प्रीतिं च करोतीत्यन्वयः। साधुकाव्यनिषेवणं=साधुकाव्यस्य (सत्काव्यस्य) निषेवणम् (परिशीलनं करणं च)। चतुर्वर्गे, कलासु = नृत्यगीतादिचतुःषष्टिभेदासु च, वैचक्षण्यं = पाण्डित्यं, तथा कीर्तिं = यशः, सत्काव्यपरिशीलनकरणजनितमिति भावः, एवं च प्रीतिं च = अनुरागं च, करोति = विदधाति। पद्यमेतत्काव्याऽलङ्कारकर्तुराचार्यभामहस्य बोद्धव्यम्।

उक्तमर्थं विवृणोति—किं चेति। भगवन्नारायणस्य, चरणाऽरविन्दस्तवादिना= पादकमलस्तोत्रादिना। एकोऽपि शब्दः, सुप्रयुक्तः = शब्दशुद्धिपूर्वकं प्रयोगविषयीकृतः, सम्यग्ज्ञातः = प्रकृतिप्रत्ययविवेचनपूर्वकं ज्ञानविषयीकृतः सन्, स्वर्गे = परलोके, लोके = इह लोके च, कामधुक् = कामान्दोग्धीति, इच्छापूरक इत्यर्थः। इत्यादिवेदवाक्येभ्यश्च = भाष्यकाराद्युद्धृतश्रुतिवाक्येभ्यश्च सुप्रसिद्धा। अर्थप्राप्तिश्च=काव्याद्धनप्राप्तिरभीष्टप्राप्तिश्च, प्रत्यक्षसिद्धा, श्रीहर्षादेर्धावकबाणभट्टादीनामर्थप्राप्तिरिवेति भावः। अर्थप्राप्तिः=प्रयोजनसिद्धिः सूर्यशतकादिनिर्माणेन मयूरादीनां कुष्ठादिरोगनिवृत्त्या स्वास्थ्यलाभरूपप्रयोजनसिद्धिः। कामप्राप्तिः = विषयभोगप्राप्तिश्च, अर्थद्वारैव।

कहा भी गया है—

उत्तम काव्यकी सेवा धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष (चतुर्वर्ग) में तथा कलाओंमें विद्वत्ता और कीर्ति और प्रसन्नताको उत्पन्न करती है।

काव्यसे धर्मकी प्राप्ति भगवान् नारायणके चरणकमलोंके स्तोत्र आदिसे तथा अच्छी तरहसे जाना गया और प्रयोग किया गया एक भी शब्द इस लोकमें और स्वर्गलोकमें कामधुक् = इच्छाको पूर्ण करने वाला होता है इत्यादि वेदवाक्योंसे सुप्रसिद्ध ही है। काव्यसे अर्थ=धन वा अभीष्ट विषयकी प्राप्ति प्रत्यक्षसिद्ध है। काम-(विषय सुख) की प्राप्ति अर्थद्वारा होती है। काव्यसे उत्पन्न धर्मके फलकी अपेक्षा न करनेसे

तज्जन्यधर्मफलाननुसंधानात्, मोक्षोपयोगिवाक्ये व्युत्पत्त्याधायकत्वाच्च ।

चतुर्वर्गप्राप्तिर्हि वेदशास्त्रेभ्यो नीरसतया दुःखादेव परिणतबुद्धीनामेव जायते । परमानन्दसंदोहजनकतया सुखादेव सुकुमारबुद्धीनामपि पुनः काव्यादेव ।

मोक्षप्राप्तिश्च एतज्जन्यधर्मफलाऽननुसन्धानात्=एतज्जन्यः=सत्काव्यनिषेवणोत्पन्नः, यो धर्मः, तत्फलस्य अनुसन्धानात्=अनपेक्षणात्, निष्कामकर्माश्रयणादिति भावः । मोक्षोपयोगिवाक्ये=उपनिषदादिस्थपदसमूहे, व्युत्पत्त्याधायकत्वाच्च=विशिष्टज्ञानसाधकत्वाच्च । काव्यप्रकाशकारेण मम्मटभट्टेनाऽपि—

"काव्यं यशसेऽर्थकृते, व्यवहारविदे, शिवेतरक्षतये ।
सद्यः परनिर्वृतये, कान्तासम्मिततयोपदेशयुजे ॥" १२ ।

इति काव्यस्य षड्विधं प्रयोजनं प्रदर्शितम् । इत्थं संक्षेपतोऽत्र काव्यस्य अनुबन्धचतुष्टयं प्रदर्शितम् । तद्यथा—

"विना विषयसम्बन्धौ तथैवाऽर्थाऽधिकारिणौ ।
अव्याख्येयो भवेद् ग्रन्थस्तस्मादेतच्चतुष्टयम् ॥"

तथा चाऽत्र शब्दार्थकाव्यलक्षणरसध्वन्यलङ्कारगुणदोषादयो विषयाः तैः सहाऽस्य ग्रन्थस्य प्रतिपाद्यप्रतिपादकभावः सम्बन्धः, चतुर्वर्गफलप्राप्तिरूपोऽर्थः, प्रयोजनमिति भावः । अधीतकाव्यकोशादिरनधीताऽलङ्कारशास्त्रो जनोऽत्राऽधिकारीति एते अनुबन्धा आपाततो दर्शिता इत्यवधेयम् ।

ननु चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्वेदशास्त्रेभ्योऽपि जायते तर्हि किमिति काव्ये श्रमः कर्तव्य इत्याशङ्क्य समाधत्ते—**चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्हीति** । चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्वेदशास्त्रेभ्योपि भवति परं नीरसतया दुःखादेव तथा परिणतबुद्धीनाम् = परिपक्वमतीनाम् एव जायते; एतद्वैपरीत्येन परमानन्दसन्दोहजनकतया = लोकोत्तरहर्षसमूहोत्पादकतया, सुखादेव = अनायासादेव, सुकुमारबुद्धीनाम्=राजकुमारादीनाम् अपि कठोरशास्त्राऽध्ययनभीरूणामपीति भावः । काव्यादेव विनाऽऽयासं चतुर्वर्गफलप्राप्तिर्भवति, अतः काव्ये प्रवृत्तिः कर्तव्येति सिद्धम् ।

मोक्षकी प्राप्ति होती है । अथवा मोक्ष के उपयोगी वाक्य (उपनिषद् आदि) में व्युत्पत्ति करानेसे भी (काव्यसे मोक्षकी प्राप्ति हो जाती है) ।

वेद और शास्त्रोंसे चतुर्वर्गकी प्राप्ति नीरसता से और दुःखसे ही और परिपक्वबुद्धिवालोको ही होती है । उत्तम आनन्द समूहका जनक (उत्पादक) होनेसे सुखसे ही सुकुमार बुद्धिवालोंको भी काव्यसे ही चतुर्वर्गकी प्राप्ति हो जाती है ।

ननु तर्हि परिणतबुद्धिभिः सत्सु वेदशास्त्रेषु किमिति काव्ये यत्नः करणीय इत्यपि न वक्तव्यम्। कटुकौषधोपशमनीयस्य रोगस्य सितशर्करोपशमनीयत्वे कस्य वा रोगिणः सितशर्कराप्रवृत्तिः साधीयसी न स्यात्?

किञ्च। काव्यस्योपादेयत्वमग्निपुराणेऽप्युक्तम्—

'नरत्वं दुर्लभं लोके, विद्या तत्र सुदुर्लभा।
कवित्वं दुर्लभं तत्र, शक्तिस्तत्र सुदुर्लभा॥' इति।

पुनराशङ्क्य समाधत्ते—ननु तर्हीति। यद्येव तर्हि अधिकारिभेदेन कार्यभेदः, परिणतबुद्धिभिर्वेदशास्त्रेभ्यः, सुकुमारबुद्धिभिः काव्यत एव चतुर्वर्गफलप्राप्त्यर्थं यतनीयमिति मनसिकृत्य प्रतिपादयति—परिणतबुद्धिभिः = परिपक्वमतिभिः, वेदशास्त्रेषु, सत्सु = विद्यमानेषु, काव्ये=कविकर्मणि, किमिति = किमर्थं, यत्नः=प्रयासः, करणीयः = कर्तव्यः, इत्यमाशङ्क्य समाधत्ते—इत्यपि न वक्तव्यं=न कथनीयम्। यथा कटुकौषधोपशमनीयस्य = तिक्तभेषजनिवारणीयस्य, रोगस्य = रुजः, सितशर्करोपशमनीयत्वे = सितशर्करया (शुक्लसितया) उपशमनीयत्वे (निवारणीयत्वे), कस्य वा रोगिणः = आमयाविनः, सितशर्कराप्रवृत्तिः=स्वादुसिताग्रहणचेष्टा, साधीयसी=साधुतरा न स्यात्। इत्थमेव सुकुमारमतीनामिव परिणतबुद्धीनामपि सरसतया अनायासादेव चतुर्वर्गफलप्राप्तिसाधनभूते काव्ये प्रवृत्तिः कथमिव साधुतरा न स्यादिति भावः।

किं चेति। काव्यस्य उपादेयत्वं=ग्राह्यत्वम्।

नरत्वमिति। लोके=भुवने, नरत्वं=मनुष्यत्वं, दुर्लभं=दुष्प्राप्यम्। चतुरशीतिलक्षसंख्यकासु योनिषु नरयोनिर्दुर्लभेति भावः। तत्र=नरत्वेऽपि, विद्या = शास्त्रबोधः, सुदुर्लभा = अतिशयदुष्प्राप्या, नरत्वे लब्धेऽपि शास्त्रप्राप्तिः जन्मान्तरसुकृताऽतिशयादेव जायत इति भावः। तत्र = विद्याप्राप्तौ जातायामपि, कवित्वं = काव्यकर्तृत्वं, दुर्लभं, कवित्वप्राप्तिरपि जन्मान्तरसुकृतपुञ्जपरिपाकादेव भवतीति भावः। तत्र=कवित्वे येन केनाऽपि प्रकारेण लब्धेऽपि शक्तिः = कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः, सुदुर्लभा = अत्यन्तदुष्प्राप्या निरतिशयपुण्यपुञ्जपरिपाकादेव भवतीति भावः।

प्रश्न—तब तो परिपक्व बुद्धिवालोंको वेद और शास्त्र आदियोंके रहनेपर काव्यमें क्यों यत्न करना चाहिए!

उत्तर—ऐसा नहीं कहना चाहिए, कड़वी दवासे हटाये जानेवाला रोग यदि चीनी आदिसे दूर हो तो किस रोगीको चीनी आदिमें प्रवृत्ति बेहतर नहीं होगी? (इसी तरह परिपक्व बुद्धिवालोंको भी काव्यमें प्रवृत्ति क्यों नहीं होगी?)।

काव्यकी ग्रहणीयताको अग्निपुराणमें भी कहा है—

लोकमें मनुष्य होना दुर्लभ है, मनुष्य होनेपर भी विद्या अत्यन्त दुर्लभ है। विद्याके होनेपर भी कवि होना दुर्लभ है, कवि होनेपर भी शक्ति (प्रतिभा) अत्यन्त दुर्लभ है।

'त्रिवर्गसाधनं नाट्यम्' इति च। विष्णुपुराणेऽपि—

'काव्यालापाश्च ये केचिद् गीतकान्यखिलानि च।
शब्दमूर्तिधरस्यैते विष्णोरंशा महात्मनः॥' इति।

तेन हेतुना तस्य काव्यस्य स्वरूपं निरूप्यते।

एतेनाभिधेयं च प्रदर्शितम्।

तत्किंस्वरूपं तावत्काव्यमित्यपेक्षायां कश्चिदाह—'तददोषौ शब्दार्थौ सगुणावनलंकृती पुनः क्वापि' इति।

त्रिवर्गेति। नाट्यं = नटप्रयोज्यं काव्य, दृश्यकाव्य नाटकादिकमिति भावः। त्रिवर्गसाधनम्=धर्मार्थकामरूपस्य त्रिवर्गस्य, साधनं=जननकारणम्। विष्णुपुराणेऽपि—काव्यालापाश्चेति। ये केचित् काव्यालापाः, अखिलानि गीतकानि च एते शब्दमूर्तिधरस्य महात्मनो विष्णोः अंशाः। ये केचित् = दृश्यरूपाः श्रव्यरूपा वा, काव्यालापा रसाभिव्यञ्जकाः शब्दार्थाः। एवं च अखिलानि=समस्तानि, गीतकानि च = गीतानि च, एते = इमे, सर्वेऽपि, शब्दमूर्तिधरस्य = शब्दब्रह्मणः। महात्मनः = महत्त्वसंपन्नस्य, भगवतो विष्णोः = नारायणस्य, अंशाः = अवयवाः।

तेनेति। तेन = चतुर्वर्गफलप्राप्तिसाधनत्वेन, तस्य = पूर्वोक्तस्य, काव्यस्य = कविकर्मणः, स्वरूपं = स्वेन रूप्यते=इतरव्यावर्तकतया ज्ञाप्यत इति, स्वं=लक्ष्यपदार्थः रूप्यते = लक्ष्यते अनेन इति वा स्वरूपं = लक्षणं, निरूप्यते = प्रतिपाद्यते। एतेन = "चतुर्वर्गफलप्राप्तिः" इत्यादि श्लोकेन, अभिधेयम् = काव्यस्य विषयादिकम्, चशब्देन प्रयोजनसम्बन्धयोर्लाभः।

खण्डनार्थं मम्मटभट्टसम्मतं काव्यलक्षणं प्रदर्शयितुमुपक्रमते—**तदिति**। तत् = तस्मात्कारणात्, तावत् = आदौ, किंस्वरूपं = किंलक्षणं काव्यम्, इत्यपेक्षायाम् = आकाङ्क्षायाम्, कश्चित्=काव्यप्रकाशकार इति भावः। आह=प्रतिपादयति—**तदिति**। पूर्वपक्षरूपे काव्यप्रकाशकारसंमतं काव्यलक्षणमुपस्थापयति। अदोषौ = दुःश्रवादिदोषरहितौ, सगुणौ = प्रसादादिगुणोपेतौ, पुनः = भूयः, क्वाऽपि = कुत्रचित्, अन-

---

नाट्य अर्थात् दृश्य काव्य, त्रिवर्ग (धर्म, अर्थ और काम) का साधन (हेतु) है (अग्निपुराण)।

विष्णुपुराणमें भी है—काव्य और समस्त गीत, ये सब शब्दरूप मूर्तिको धारण करनेवाले महात्मा विष्णुके अंश हैं। इस कारणसे (चतुर्वर्गका साधन होनेसे) उस काव्यके स्वरूपका निरूपण किया जाता है। इस कारिकासे काव्यका अभिधेय (विषय) और "च" शब्दसे प्रयोजन और सम्बन्धका प्रदर्शन किया गया।

अब काव्यका क्या लक्षण है ? ऐसी आकाङ्क्षा होनेपर कोई (काव्य प्रकाशकार) कहते हैं—"दोषरहित, गुणयुक्त और अलङ्कारोंसे अलङ्कृत परन्तु कहींपर स्फुट अलङ्कारसे युक्त न हो तो भी ऐसे शब्द और अर्थको काव्य कहते हैं"।

एतच्चिन्त्यम् ।

तथाहि–यदि दोषरहितस्यैव काव्यत्वाङ्गीकारस्तदा––

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयस्तत्राऽप्यसौ तापसः,
सोऽप्यत्रैव निहन्ति राक्षसकुलं, जीवत्यहो रावणः ।

लङ्कृती = स्फुटाऽलङ्काररहितौ, शब्दाऽर्थौ = वाचकवाच्यौ, तद्=काव्यम्, इति । अत्र "शब्दार्थौ" इदं काव्यशरीरं, तस्य विशेषणानि—"अदोषौ" "सगुणौ" "साऽलङ्कारौ" इति । शेषं पश्चादभिधास्यते । अत्र काव्यत्वं व्यासस्य वृत्तितया शब्दाऽर्थोभयपर्याप्तम् । पूर्वोक्ते लक्षणे "अदोषौ" इति लक्षणस्यमंशं दूषयितुमुपक्रमते—**एतच्चिन्त्यमिति ।** एतत् = लक्षणं, चिन्त्यं = विचारणीयम् ।

तथाहि—दोषरहितस्य = दुःश्रवत्वादिदोषरहितस्य, शब्दाऽर्थयुगलस्येति शेषः; काव्यत्वाऽङ्गीकारो यदि=काव्यत्वस्वीकारश्चेत् । तदा=तर्हि । सदोषत्वेन शब्दार्थयुगलेऽव्याप्तिदोषं प्रदर्शयितुं लक्ष्यविशेषमुदाहरति–**न्यक्कार इति ।** हनूमन्नाटकस्थं पद्यमिदम् रामविक्रमेण लङ्कायां नितान्तमाक्रान्तायां निर्वेदाऽतिशयमापन्नस्य रावणस्य उक्तिरियं–**न्यक्कार इति ।** अयमेव न्यक्कारो हि । यत् मे अरयः । तत्राऽपि असौ तापसः, सोऽपि अत्रैव राक्षसकुलं निहन्ति; अहो ! रावणो जीवति । शक्रजितं धिक् धिक् । प्रबोधितवता कुम्भकर्णेन वा किम्? स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः; एभिः भुजैः किम् ? इत्यन्वयः ।

अयमेव न्यक्कारः = तिरस्कारः, हि=निश्चयेन, "हि हेताववधारणे" इत्यमरः । न्यक्कारं प्रदर्शयति–यत् = यस्मात् कारणात्, मे = रावणस्य, अरयः = शत्रवः, मम अरिः अनौचित्यप्रयोजकः, तत्राऽपि न अरिः, नैवाऽरी, प्रत्युत अरयः=प्रचुरसंख्यका अरय इति ध्वनिः । तत्राऽपि=अरिष्वपि, प्रधानरूपेण असौ = अरिः, राम इति भावः । तापसः=तपस्वी, न तु कोऽपि विक्रान्तः । सोऽपि=तापसरूपोऽपि अरिः, एक एव । अत्र एव = अस्मिन्नेव, मदधिष्ठिते लङ्काप्रदेशे एव, न तु दण्डकाऽरण्यादावेवेति शेषः । राक्षसकुलं = राक्षसवंशं, न राक्षसं नो राक्षसौ, नैव राक्षसान् अपि, प्रत्युत राक्षसानां कुलम् = वंशम् एव, निहन्ति=नो हन्त्येव, निःशेषेण व्यापादयतीति ध्वनिप्रकर्षः । अहो = आश्चर्यम्, तथाऽपि रावणो जीवति = प्राणान् धारयत्येव, तादृशे व्यतिकरेऽपि

यह मत विचारणीय है, दोषरहित शब्द और अर्थको ही काव्य मानेंगे तो—।

रावण कहता है—मेरे लिए शत्रुओंका होना ही तिरस्कार है, उस पर भी यह तपस्वी मेरा शत्रु है, उसपर भी यहींपर (लङ्का में ही) राक्षसोंके कुलका विनाश कर रहा है । रावण जी रहा है, आश्चर्य है । इन्द्रको जीतनेवाले मेघनादको धिक्कार है ।

धिग्धिक्छक्रजितं, प्रबोधितवता किं कुम्भकर्णेन वा
स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः' ।। इति ।

अस्य श्लोकस्य विधेयाविमर्शदोषदुष्टतया काव्यत्वं न स्यात् । प्रत्युत ध्वनि (स) त्वेनोत्तमकाव्यताऽस्याङ्गीकृता, तस्मादव्याप्तिर्लक्षणदोषः ।

उच्छ्वसित्येवेति भावः । शक्रजितं = मेघनादं धिक्, धिक्, येन पुरा इन्द्रोऽपि रणमुखे पराजितः तं धिक्, धिक्, शक्रजितो निन्दा इति भावः । प्रबोधितवता = मासषट्कं यावन्निद्रातिशयमनुभूतवता, सम्प्रति प्रयत्नाऽतिशयेनोत्थापितेनेति भावः । कुम्भकर्णेन वा = विक्रान्ताऽग्रसरेण मन्मध्यमाऽनुजेन वा, किम् = किं फलं संजातमिति शेषः । किं बहुना—स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः=स्वर्गरूपक्षुद्रग्रामविघूननव्यर्थस्फीतैः, एभिः = सन्निकृष्टस्थितैः, भुजैः = बाहुभिः, विंशतिसंख्यकैर्भारभूतैर्मम बाहुभिः, किं=किं फलं, न किमपीति भावः ।।

अस्य=पूर्वोक्तस्य, श्लोकस्य = पद्यस्य, विधेयाऽविमर्शदोषदुष्टतया = अविमृष्टविधेयांशदोषयुक्ततया, काव्यत्वं = काव्यलक्षणाक्रान्तत्वं, न स्यात्=न भवेत्, प्रत्युत = वैपरीत्ये, ध्वनित्वेन = व्यङ्ग्यस्य वाच्याऽतिशयित्वेन; अस्य = पूर्वोक्तस्य पद्यस्य; उत्तमकाव्यता = ध्वनिकाव्यता, अङ्गीकृता । तस्मात् = कारणात्, अव्याप्तिः=लक्ष्यैकदेशाऽवृतिस्वरूपा, लक्षणदोषः = लक्षणदूषणम् । अयं भावः । पद्यमिदं ध्वनिकाव्यत्वेनोत्तमं काव्यं, भवता च लक्षणघटकशब्दे "अदोषौ शब्दार्थौ" इति प्रतिपादितम् । परमत्र विधेयाऽविमर्शो नाम दोषः । तस्य लक्षणमुद्देश्यविधेयपदपौर्वापर्यविरहत्वम् । स च द्विविधः पदगतो वाक्यगतश्चेति, अत्रोभयगतो दोषः, यथा न्यक्कारः अयम् एव इत्यत्रेदमा उद्देश्यस्य 'न्यक्कार' पदेन विधेयस्याऽवगमो भवति, परमत्र तत्पौर्वापर्यविरहेण पदद्वयस्य क्रमविपर्ययेण स्थापितत्वाद् वाक्यगतो विधेयाऽविमर्शः । एवं च 'स्वर्गग्रामटिके"त्यत्र उच्छूनत्वमुद्दिश्य वृथात्वस्य विधेयत्वं समासे गुणीकृतमतोऽत्र पदगतो विधेयाऽविमर्शः । विधेयाऽविमर्शस्यैव नामान्तरम् अविमृष्टविधेयांश इति । पदाऽर्थस्तु विधेयस्य अविमर्शः= अनिर्देशः, औचित्यतः स्थापनाऽभावः इति भावः । लक्षणया पदस्याऽस्य दोषविशेष-

---

जगाये गये कुम्भकर्णसे भी क्या हुआ ? स्वर्गरूप छोटे गाँवको लूटनेसे व्यर्थ मूजे गये इन (मेरे) हाथोंसे भी क्या हुआ ?

यहाँपर "अयम् एव" यह उद्देश्यवाचक पद पीछे और "न्यक्कारः" यह विधेय पद पहले प्रयुक्त हुआ है अतः वाक्यगत "विधेयाऽविमर्श" दोष हुआ है, और "विलुण्ठनवृथोच्छूनैः" यहाँ पर "उद्देश्य" "उच्छून" पद पीछे और "वृथा" यह विधेय पद पहले होनेसे पदगत विधेयाविमर्श दोष हुआ है इसलिए यह श्लोक विधेयाऽविमर्श दोष रहनेसे निर्दोष नहीं है अतः यह काव्य नही होगा । किन्तु ध्वनिके रहनेसे यह उत्तम काव्य माना गया है, अतः इस लक्षणमें अव्याप्ति नामका लक्षण दोष है ।

ननु कश्चिदेवांशोऽत्र दुष्टो न पुनः सर्वोऽपीति चेत्, तर्हि यत्रांशे दोषः सोऽकाव्यत्वप्रयोजकः, यत्र ध्वनिः स उत्तमकाव्यत्वप्रयोजक इत्यंशाभ्यामुभयत आकृष्यमाणमिदं काव्यमकाव्यं वा किमपि न स्यात्। न च कां

वाचकत्वमथ वा विधेयस्य अविमर्शो यस्मिन सः (व्यधिकरणबहुव्रीहिः)। अविमृष्टविधेयांश इत्यस्यार्थस्तु अविमृष्टः=प्राधान्येन अनिर्दिष्टः (अप्रतिपादितः) विधेयांशो यस्मिन् सः। एवं च अस्य श्लोकस्य="न्यक्कारो ह्ययमेवे"त्यादिरूपस्य, विधेयाऽविमर्शदोषदुष्टतया काव्यत्वं = काव्यलक्षणाऽवच्छिन्नत्वं, न स्यात् प्रत्युत = एतद्वैपरीत्येन, ध्वनित्वेन = व्यङ्ग्यार्थप्रधानत्वेन, उत्तमकाव्यता, "वाच्याऽतिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम्॥" (४-१) इति लक्षणाऽनुसारेणेति भावः। अत्र ध्वनित्वं प्राचुर्येणाऽवभासते। तथाहि—"अरय" इति बहुवचनस्य, "तापस" इत्येकवचनस्य, "अत्रैव" इति सर्वनाम्नः, "निहन्ति" इति "जीवति" इति च तिङः, "अहो" इत्यव्ययस्य "ग्रामटिका" इति करूपतद्धितस्य "विलुण्ठन" इति व्युपसर्गस्य "भुजैः" इति बहुवचनस्य च व्यञ्जकत्वम्।

ग्रन्थकारेणैव चतुर्थपरिच्छेदे श्लोकस्याऽस्य ध्वनित्वप्रदर्शनेनोत्तमकाव्यताङ्गीकृता। तस्मात् = हेतोः, अव्याप्तिः = अव्याप्तिर्नाम, लक्षणदोषः = लक्षणत्वाप्रयोजनत्वरूपो दोषः। अयं भावः। अव्याप्त्यतिव्याप्त्यसम्भवदोषरहितत्वे सति असाधारणधर्मत्वं लक्षणम्। तत्र लक्ष्यैकदेशाऽवृत्तिरव्याप्तिर्नाम लक्षणदोषः। यथा गोः कपिलत्वमिति लक्षणे कृते लक्ष्या = गौः, तदेकदेशः शुक्ला गौः, तत्र अवृत्तित्वं कपिलस्य, अतः गोः कपिलत्वे अव्याप्तिर्नाम लक्षणदोषः। एवं च कपिलत्वं गोर्न लक्षणं प्रत्युत लक्षणाऽभासः। तथैव प्रकृतेऽपि लक्ष्यं = काव्यं, तदेकदेशः निर्दोषत्वावच्छिन्नशब्दाऽर्थयुगलं, तत्राऽवृत्तित्वं दोषत्वाऽवच्छिन्नशब्दाऽर्थयुगलस्य अतः अव्याप्तिर्नाम लक्षणदोषः।

विहितं दोषमुद्धर्तुमाशङ्कते—**नन्विति**। ननु अत्र=अस्मिन्काव्ये, कश्चित् एव=अल्प एव, अंशः=भागः दुष्टः = दोषयुक्तः, न पुनः सर्व एव = सकल एवांशो दोषयुक्त इति चेत्? दूषयति—तर्हि, यत्र = यस्मिन्, अंशे दोषः = न्यक्कारोह्ययमेव, इति स्वर्गग्रामटिकेत्यत्र च विधेयाऽविमर्शः, सः = अंशः, अकाव्यत्वप्रयोजकः = काव्यलक्षणविघातकः, यत्र=यस्मिन् अंशे, ध्वनिः = व्यङ्ग्यार्थप्राधान्यं, स उत्तमकाव्यत्वप्रयोजकः= काव्योत्कर्षनिर्वाहक इति, अंशाभ्यां=दुष्टाऽदुष्टभागाभ्याम्, उभयतः=उभयत्र, आकृष्यमाणं=

इस पद्यमे कुछ ही अंश दुष्ट (दोषयुक्त) है, संपूर्ण अंश नहीं, ऐसा कहें तो जिस अंशमें दोष है वह काव्यलक्षणका निवारक होगा और जिस अंशमें ध्वनि है वह काव्यके उत्कर्षका निर्वाहक होगा। इस प्रकार दो विरोधी अंशोंसे खींचा जाकर यह काव्य वा अकाव्य कुछ भी नही होगा। वास्तवमें श्रुतिदुष्ट आदि दोष काव्यके किसी अंशको ही दूषित करते हैं यह बात भी नहीं, वे संपूर्ण काव्यको ही दूषित करते हैं।

वांशं काव्यस्य दूषयन्तः श्रुतिदुष्टादयो दोषाः, किं तर्हि सर्वमेव काव्यम्। तथाहि काव्यात्मभूतस्य रसस्यानपकर्षकत्वे तेषां दोषत्वमपि नाङ्गीक्रियते। अन्यथा नित्यदोषानित्यदोषत्वव्यवस्थाऽपि न स्यात्! यदुक्तं ध्वनिकृता—

'श्रुतिदुष्टादयो दोषा अनित्या ये च दर्शिताः।
ध्वन्यात्मन्येव शृङ्गारे ते हेया इत्युदाहृताः'॥ इति।

व्यावर्त्यमानं सत्, इदं = न्यक्कारो ह्ययमेवेत्यकारकं पद्यं काव्यम् अकाव्यं वा, किमपि= एकतरदपि, न स्यात्। ननु एकदेशविकृतमनन्यवद्भवतीति न्यायेन स्वल्पांऽशेन न सर्वांशो दूषितो भवति इति समाधातुमुपक्रमते—**न चेति**। श्रुतिदुष्टादयः = दुःश्रवत्व-प्रभृतयः, दोषाः, काव्यस्य, कंचिदेव अंशं = स्वल्पमेव भागं, दूषयन्तः = दोषमा-पादयन्तः, भवन्ति, इति न, अपि तु सर्वम् एव = सकलम् एव अवयविभूतं काव्यं दूषयन्ति इति भावः। उक्तमर्थमुपपादयति—**तथा हीति**।

काव्यात्मभूतस्य = काव्यस्य आत्मभूतस्य (स्वरूपभूतस्य) रसस्य, अनपकर्ष-कत्वे = अपकर्षाऽकर्तृत्वे सति, तेषां = श्रुतिदुष्टादीनां, दोषत्वम् अपि = दूषणत्वमपि, न अङ्गीक्रियते = न अभ्युपगम्यते, "रसाऽपकर्षका दोषा" इति दोषलक्षणत्वादिति भावः। अन्यथा = सिद्धान्तस्याऽस्य अनङ्गीकारे, नित्यदोषाऽनित्यदोषत्वव्यवस्था अपि= अयं नित्यदोषः, अयम् अनित्यदोष इत्याकारिका व्यवस्था (मर्यादा), न स्यात्=नो भवेत्, अयं भावः श्रुतिकटुप्रभृतयो दोषा अनित्यदोषाः, रौद्रवीरादिरसेषु श्रुतिकटुत्वादिदोषाणां गुणत्वं स्वीकृतं, तथा च श्रुतिकटुत्वादीनां ध्वन्यात्मके शृङ्गारादावेव दोषहेतुत्वमभ्यु-पगतम्। अस्मिन्नर्थे आत्मसम्मतिं प्रदर्शयति— **यदुक्तमिति**। ध्वनिकृता=आनन्दवर्धना-चार्येण। श्रुतीति। श्रुतिदुष्टादयो ये अनित्या दोषा दर्शिताः, ते ध्वन्यात्मनि शृङ्गारे एव हेया इत्युदाहृता इत्यन्वयः।

श्रुतिदुष्टादयः = श्रुतिदुष्टाऽर्थदुष्टादयः ये अनित्या दोषा दर्शिताः। ते=दोषाः ध्वन्यात्मनि शृङ्गारे एव=ध्वनिस्वरूपे शृङ्गारे एव, हेया =परित्याज्या इति उदाहृताः= कथिता इत्यर्थः। उक्तलक्षणे दूषणान्तरमुद्भावयितुमुपक्रमते—**किंचेति**।

जैसेकि काव्यका आत्मभूत जो रस है उसका अपकर्ष न करें तो उन श्रुतिदुष्ट आदियोंको दोष नहीं माना जाता है। यह नहीं मानेंगे तो नित्य दोष और अनित्य दोष इनकी व्यवस्था भी नहीं होगी जैसाकि ध्वनिकार (आनन्दवर्धनाचार्य) ने कहा है—श्रुति-दुष्ट आदि जो अनित्य दोष दिखलाये गये हैं, वे ध्वन्यात्मक शृङ्गारमें ही त्याज्य बतलाये गये हैं।

लक्षणमें "अदोषौ" इस पदका निवेश करनेसे काव्यका विषय अत्यन्त विरल वा निर्विषय होगा सर्वथा निर्दोष तो असंभव ही है।

किञ्च एवं काव्यं प्रविरलविषयं निर्विषयं वा स्यात्, सर्वथा निर्दोषस्यैकान्तमसंभवात् ।

नन्वीषदर्थे नञः प्रयोग इति चेत्तर्हि 'ईषद्दोषौ शब्दार्थौ काव्यम्' इत्युक्ते निर्दोषयोः काव्यत्वं न स्यात् । सति संभवे 'ईषद्दोषौ' इति चेत्, एतदपि काव्यलक्षणे न वाच्यम्, रत्नादिलक्षणे कीटानुवेधादिपरिहारवत् । नहि कीटानुवेधादयो रत्नस्य रत्नत्वं व्याहन्तुमीशाः किन्तूपादेयतारतम्यमेव

किंच = लक्षणे "अदोषौ" इति पदस्य निवेशे सति, काव्यं = लक्ष्यं, प्रविरलविषयं=स्वल्पविषयं, पदाद्यधिकरणेषु दोषाणां बाहुल्यात्काव्यस्य विषयोऽपि स्वल्पः स्यात् वा निर्विषयं=कस्याऽपि दोषस्य सत्त्वसंभवात् काव्यं निर्लक्ष्यं स्यात्, अत्र युक्ति प्रदर्शयति—सर्वथा=सर्वैः प्रकारैः, निर्दोषस्य = दोषरहितस्य शब्दाऽर्थयुगलस्य, एकान्तम् = अत्यन्तम्; असंभवात्, तथा सति निरुक्तलक्षणे न केवलमव्याप्तिः प्रत्युत लक्ष्यमात्राऽवर्तनात् असंभवोऽपि लक्षणदोषः स्यादिति भावः ।

पुनः शङ्कते—नञः षडर्था भवन्ति । ते हि—

"तत्सादृश्यमभावश्च, तदन्यत्वं, तदल्पता ।
अप्राशस्त्यं, विरोधश्च नञर्थाः षट् प्रकीर्तिताः ॥"

ततश्च अनुदरा कन्या इतिवत् "अदोषौ" इत्यत्रापि ईषदर्थे नञः प्रयोग इति चेत्तर्हि "ईषद्दोषौ शब्दाऽर्थौ काव्यम्" इति लक्षणं स्यात्तदा निर्दोषयोः शब्दार्थयोः काव्यत्वं न स्यात् ।

पुनराशङ्कते—**सतीति** । सति संभवे दोषस्येति शेषः । "ईषद्दोषौ" इति चेत् । दूषयति—एतत् अपि = दोषस्य संभवे सति "ईषद्दोषौ शब्दाऽर्थौ काव्यम्" इति चेत्; एतत् = संशोधनम् अपि काव्यलक्षणे अवाच्य = न कथनीयम् । रत्नादिलक्षणे कीटाऽनुवेधादिपरिहारवत् । अयं भावः । कीटेन अनुविद्धेऽपि रत्ने रत्नत्वं यथा तिष्ठति तथैव दोषे सत्यपि शब्दाऽर्थयुगले काव्यत्वं तिष्ठत्येवेति भावः । परं कीटानुविद्धं रत्नं जना यथा परिहरन्ति तथैव सदोषं काव्यमपि जनाः परिहरेयुः इति भावः । उक्तमर्थं समर्थयते—**न हीति** । हि=अस्मात्कारणात्, कीटाऽनुवेधादयः = कीटदष्टत्वादयो दोषाः, रत्नस्य रत्नत्वं, व्याहन्तुं = निवारयितुं, न ईशाः = न समर्थाः, किंतु उपादेयतारतम्यं = उपादेयस्य (रत्नादेः) तारतम्य (न्यूनाधिक्यम्) एव, कर्तुं = विधातुम्, ईशाः =

"अदोषौ" यहाँपर अल्पाऽर्थक नञ्प्रयोग मानकर अल्प दोषवाले शब्द और अर्थ काव्य है" ऐसा कहें तो दोषरहित शब्द और अर्थमें काव्यका लक्षण घटित नहीं होगा । 'सति सम्भवे' इनका निवेश करके दोषोंकी संभावना होने पर कम दोषवाले शब्द और अर्थ काव्य है यह भी नहीं कहना चाहिए । रत्नके लक्षणमें जैसे कीटाऽनुवेध आदिका परिहार नहीं किया जाता है उसी तरह काव्यके लक्षणमें भी दोषका परिहार

कर्तुम् । तद्वदत्र श्रुतिदुष्टादयोऽपि काव्यस्य । उक्तं च—

'कीटानुविद्धरत्नादिसाधारण्येन काव्यता ।
दुष्टेष्वपि मता यत्र रसाद्यनुगमः स्फुटः' ॥ इति ।

किञ्च । शब्दार्थयोः सगुणत्वविशेषणमनुपपन्नम् । गुणानां-रसैकधर्मत्वस्य 'ये रसस्याङ्गिनो धर्माः शौर्यादय इवात्मनः' इत्यादिना तेनैव प्रतिपादि-

समर्थाः । तद्वत् = तेन तुल्यम्, अत्र = काव्ये दार्ष्टान्तिके, श्रुतिदुष्टादयोऽपि = दुःश्रवत्वादयो दोषा अपि, काव्यस्य काव्यत्वं व्याहन्तुं = निवारयितुं, न ईशाः=न समर्था इति भावः । उपादेयतारतम्यमेव कर्तुमीशाः । इति शेषः ।

अत्राऽर्थे प्राचीनमतं निदर्शयति—कीटाऽनुविद्धेति । दुष्टेषु अपि, यत्र स्फुटः रसाद्यनुगमः तत्र काव्यता कीटाऽनुविद्धरत्नादिसाधारण्येन मता इत्यन्वयः । दुष्टेषु अपि= श्रुतिकटुत्वादिदोषसहितेषु अपि रसाद्यविघातकेषु इति शेषः यत्र = शब्दाऽर्थयुगलेषु, स्फुटः = व्यक्तः, रसाद्यनुगमः = शृङ्गारादिरसाद्युपलम्भः, आदिपदेन ध्वन्यादेः परिग्रहः । तत्र, काव्यता = काव्यलक्षणोपेतो धर्मः, कीटाऽनुविद्धरत्नादिसाधारण्येन= कीटदष्टरत्नादिसामान्येन, मता = सम्मता । अयं भावः । यथा कीटदष्टेष्वपि रत्नेषु रत्नत्वमव्याहतं तिष्ठति, तथैव श्रुतिदुष्टादिदोषयुक्तेष्वपि शब्दार्थयुगलेषु रसध्वन्याद्युपलम्भश्चेत् काव्यता = काव्यत्वप्रयोजकधर्मः, मता = अभिमता, अव्याहतत्वेनेति शेषः ।

इत्थं च लक्षणकोटिप्रविष्टो "अदोषौ" इति पदं दूषयित्वा "सगुणौ" इति पदं दूषयितुमुपक्रमते—किं चेति । शब्दार्थयोः = काव्यस्य शरीरस्थानीययोरित्यर्थः । सगुणत्वविशेषणं = सगुणत्वरूपो भेदकधर्मः इत्यर्थः । अनुपपन्नम् = उपपत्तिशून्यम् । अत्र हेतुमाह-गुणानामिति । गुणानां = माधुर्यादीनां, रसैकधर्मत्वस्य = शृङ्गारादिरसमात्रधर्मत्वस्य आत्मनः शौर्यादय इव, अङ्गिनो रसस्य ये धर्माः = माधुर्यादयः ।

नहीं किया जा सकता है । कीड़ेसे दष्टत्व आदि दोष जैसे रत्नके रत्नत्वको नहीं हटा सकते हैं बल्कि ग्राह्यत्व में ही निकर्ष वा प्रकर्ष कर सकते हैं उसी तरह श्रुतिदुष्ट आदि दोष भी काव्यके काव्यत्वको नहीं हटा सकते हैं केवल निकर्ष वा प्रकर्ष ही कर सकते हैं । श्रुतिदुष्ट आदि दोष भी काव्यत्वको नहीं हटा सकते हैं केवल उत्कर्षको न्यून कर सकते हैं । कहा भी है—

कीड़ेसे अनुविद्ध (दूषित) रत्न आदिके समान दोषयुक्त शब्द और अर्थमें भी जहांपर रस आदिकी प्रतीति स्फुट होती है वहां काव्यत्व रहता है ।

इसी तरह शब्द और अर्थका "सगुणत्व" विशेषण भी उचित नहीं है, गुण रसके ही धर्म हैं यह बात गुणके लक्षणमें—"जैसे आत्माके गुण शूरता आदि है वैसे ही काव्यके आत्मरूप रसके धर्म माधुर्य आदि गुण हैं इत्यादि श्लोकसे उन्होंने (काव्य-

तत्त्वात्। 'रसाभिव्यञ्जकत्वेनोपचारत उपपद्यत इति चेत्? तथाऽप्ययुक्तम्। तथाहि–तयोः काव्यस्वरूपेणाभिमतयोः शब्दार्थयो रसोऽस्ति, न वा? नास्ति चेत्, गुणवत्त्वमपि नास्ति, गुणानां तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वात्। अस्ति चेत्? कथं नोक्तं रसवन्ताविति विशेषणम्। गुणवत्त्वान्यथानुपपत्त्यैतल्लभ्यत इति चेत्? तर्हि सरसावित्येव वक्तुं युक्तम्, न सगुणाविति। नहि प्राणिमन्तो

ते गुणाः" इति तेन एव = काव्यप्रकाशकारेण एव, प्रतिपादितत्वात् = साधितत्वात्। तथा च काव्यलक्षणकोटावङ्गिनो रसस्य सद्भाव आवश्यको न त्वङ्गभूतस्य गुणस्येति भावः। लक्षणे पुनः 'सगुण' पदसद्भावं समर्थयते–**रसाऽभिव्यञ्जकत्वेनेति**। रसानां= शृङ्गारादीनाम्, अभिव्यञ्जकत्वेन=अभिव्यञ्जनकर्तृत्वेन, उपचारतः=परम्परासम्बन्धेन, उपपद्यते = उपपन्नं भवति, शब्दार्थयोः सगुणत्वविशेषणमिति शेषः। इति चेत्, खण्डयितुमुपक्रमते—**तथाऽप्ययुक्तमिति**।

तथाऽपि=उपचारतोऽपि, अयुक्तम्=अनुपपन्नम्। काव्यस्वरूपत्वेन=काव्यलक्षणत्वेन, अभिमतयोः=सम्मतयोः, तयोः शब्दार्थयोः=वाचकवाच्ययोः, रसः = शृङ्गारादिः, अस्ति = वर्तते, न वा = नो वर्तते वा। आदौ द्वितीयदलं प्रदर्श्य निराकरोति–**नाऽस्ति चेत**=शब्दाऽर्थयोः रसो नाऽस्ति चेत् = नो वर्तते इति यदि, तर्हि = तदा, गुणवत्त्वमपि = गुणसहितत्वम् अपि, नाऽस्ति = नो वर्तते, गुणानां = माधुर्यादिगुणानां; तदन्वयव्यतिरेकाऽनुविधायित्वात् = रसाऽन्वयव्यतिरेकाऽनुसारित्वात्। तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् अन्वयव्याप्तिः, तदभावे तदभावो व्यतिरेकव्याप्तिः। एवं च रससत्त्वे गुणसत्त्वं, रसाऽभावे गुणाऽभाव इत्यन्वयव्यतिरेकव्याप्तिभ्यामिति भावः।

पूर्वदलं प्रदर्श्योपालभते—**अस्तीति**। **अस्तीति** चेत् = शब्दाऽर्थयो रसो वर्तते यदि? कथं शब्दार्थयोः "रसवन्तौ" इति विशेषणं, नोक्तं = नाऽभिहितम्।

काव्यप्रकाशकारमतं समर्थ्य पुनर्दूषयति—**गुणेति**। गुणवत्त्वाऽन्यथाऽनुपपत्त्या = गुणवत्त्वस्य (गुणसहितत्वस्य), अन्यथा (रूपान्तरेण = रसव्यतिरेकेणेति भावः)

प्रकाशकार ने) ही कहा है। अपने आश्रय रसके अभिव्यञ्जक होनेसे परम्परा सम्बन्धसे शब्द और अर्थ भी सगुण होते हैं ऐसा कहें तो, वह भी अनुचित है–जैसेकि काव्यके लक्षणके तौर पर अभिमत शब्द और अर्थमें रस रहता है कि नहीं? नहीं रहता है तो गुण भी नहीं रह सकते है, क्योंकि अन्वय व्यतिरेक सहचारसे रसमें गुण रहते हैं शब्द और अर्थमें रस है तो "रसवन्तौ" ऐसा विशेषण क्यों नहीं दिया? यदि कहें कि विना रसके गुणोंके नही रहनेसे "सरसौ" ऐसा अर्थ आ ही जाता है, तो भी "सरसौ" ही कहना चाहिए न कि "सगुणौ"। क्योंकि "प्राणिमान् देश है" ऐसा सूचित करनेके लिए "शौर्यादिमान् देश है" ऐसा कोई भी नहीं कहता है। यद्यपि शौर्य प्राणीमें रहता है तथाऽपि ऐसा प्रयोग कोई नहीं करता है।

देशा इति केनाऽप्युच्यते। ननु 'शब्दार्थौ सगुणौ' इत्यनेन गुणाभिव्यञ्जकौ शब्दार्थौ काव्ये प्रयोज्यावित्यभिप्राय इति चेत्? न, गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थवत्त्वस्य काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वम्, न तु स्वरूपाधायकत्वम्। उक्तं हि— 'काव्यस्य शब्दार्थौ शरीरम्, रसादिश्चात्मा, गुणाः शौर्यादिवत् 'दोषाः काणत्वादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्' इति।

अनुपपत्त्या (उपपत्त्यभावेन), एतत् = "रसवन्तौ" इति विशेषणं, लभ्यते = प्राप्यते इति चेत्। तर्हि=तदा, सरसौ शब्दाऽर्थौ इत्येव वक्तुं=प्रतिपादयितुं, युक्तम्=उपपन्नम्। न सगुणौ शब्दार्थौ इति।

सिद्धान्ती स्वोक्तिं समर्थयते—न हीति। प्राणिमन्तो देशा इति वक्तव्ये शौर्यादिमन्तो देशा इति नहि केनाऽपि उच्यते। अयं भावः। शौर्यादिधर्मो यद्यपि प्राणिषु धर्मिषु एव तिष्ठति यथा प्राणिमन्तो देशा इति अकथयित्वा शौर्यादिमन्तो देशा इति न केनाऽपि उच्यते तथैव गुणादयो धर्मा धर्मिषु रसेषु तिष्ठन्ति तथाऽपि गुणवन्ताविति पदेन रसवन्तौ शब्दार्थाविति मनसिकृत्य सचेतसा न केनाऽपि प्रयुज्यत इति भावः। पूर्वपक्षी सगुणाविति विशेषणस्याऽभिप्रायान्तरं दर्शयति—शब्दाऽर्थाविति। शब्दार्थौ सगुणावित्यनेन गुणाऽभिव्यञ्जकौ=गुणानाम् (माधुर्यादीनाम्) अभिव्यञ्जकौ (अभिव्यञ्जनकर्तारौ) शब्दाऽर्थौ, काव्ये प्रयोज्यौ = प्रयोक्तुमर्हौ इत्यभिप्रायः = इत्याशय इति चेत् दूषयति—न गुणाऽभिव्यञ्जकशब्दाऽर्थवत्त्वस्य अपि=माधुर्यादिगुणाभिव्यञ्जकशब्दाऽर्थसहितत्वस्य धर्मस्य अपि काव्ये = धर्मिस्वरूपे, उत्कर्षमात्राधायकत्वं = प्रकर्षमात्राधानकर्तृत्वं, न तु स्वरूपाधायकत्वं = लक्षणप्रयोजकत्वम्।

स्वोक्तिं प्राचीनमतनिदर्शनेनोपपादयति—उक्तं हीति। काव्यस्य = लक्ष्यस्य शब्दाऽर्थौ, शरीरं = देहम्, रसादिश्च आत्मा, आदिपदेन ध्वनिरसाभासादीनां ग्रहणम्। गुणाः=माधुर्यादयः, पुरुषस्य शौर्यादिवत् उत्कर्षाधायका इति भावः। दोषाः=श्रुतकटुत्वादयः, पुरुषस्य काणत्वादिवत्, अपकर्षका इति भावः। रीतयः=पदसंघटनाः, वैदर्भीगौडीपाञ्चालीलाट्य इति भावः, पुरुषस्य अवयवसंस्थानवत् वर्णपदबन्धाद्यवयवभूता इति भावः। अलङ्काराश्च=अनुप्रासोपमादयश्च, पुरुषस्य कटककुण्डलादिवत्, शब्दाऽर्थशोभाऽतिशायिनो धर्मा इति भावः।

"शब्दाऽर्थौ सगुणौ" ऐसा कहनेसे गुणोके अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थोका काव्यमें प्रयोग करना चाहिए यह कहना भी उचित नहीं है, क्योंकि गुणोंके अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ काव्यमें उत्कर्षका ही आधान करते हैं न कि लक्षणका आधान। कहा गया है—शब्द और अर्थ काव्यके शरीर हैं, रस आदि आत्मा है। गुण शौर्य आदि के समान हैं। दोष काणत्व आदिके सदृश हैं। वैदर्भी आदि रीतियाँ काव्य के अवयवसंस्थानविशेषकी तुल्य हैं। उपमा आदि अलङ्कार कटक और कुण्डल आदि के समान रहते हैं।

एतेन 'अनलङ्कृती पुनः क्वापि' इति यदुक्तम्, तदपि परास्तम्। अस्यार्थः—सर्वत्र सालङ्कारौ क्वचित्त्वस्फुटालङ्कारावपि शब्दार्थौ काव्यमिति। तत्र सालङ्कारशब्दार्थयोरपि काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वात्।

एतेन 'वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्' इति वक्रोक्तिजीवितकारोक्तमपि परास्तम्। वक्रोक्तेरलङ्काररूपत्वात्।

एतेन माधुर्यादीनां गुणानामुपमादीनामलङ्काराणां च काव्यस्य न स्वरूपाधायकत्वं, शौर्यादीनां कटककुण्डलादीनां च यथा मानवस्योत्कर्षाधायकत्वमेव न स्वरूपाधायकत्वं तथैवाऽत्रापि बोद्धव्यम्। "अनलङ्कृती" इत्यंशस्य दूषणार्थम् उपक्रमते **एतेनेति**। एतेन= अलङ्कारादीनां कटककुण्डलादिसामान्यताकथनेन "अनलङ्कृती पुनः क्वाऽपि" इति यदुक्तं तदपि पराऽस्तं=प्रत्याख्यातम्। उपपादयति—**अस्य इत्यर्थ** इति। सर्वत्र साऽलङ्कारौ= अलङ्कारसहितौ शब्दाऽर्थौ, क्वचित् अस्फुटाऽलङ्कारौ= अव्यक्ताऽलङ्कारौ अपि शब्दाऽर्थौ काव्यम्" इति काव्यप्रकाशस्य यदभिमतं तद् दूषयति—**तत्रेति**। तत्र = तस्मिन्विषये सालङ्कारशब्दार्थयोरपि= अलङ्कारोपेतशब्दार्थयोरपि काव्ये उत्कर्षमात्राधायकत्वात = प्रकर्षमात्राधानकारकत्वात्, हेतोः पूर्वप्रदर्शितदिशा न काव्यस्वरूपाधायकत्वमितिशेषः।

वक्रोक्तिजीवितकारस्य कुन्तकस्य मतं खण्डयति—**एतेनेति**। एतेन = अलङ्काराणामुत्कर्षमात्राधायकत्वेन, काव्यलक्षणेऽप्रवेश्यत्वेनेति भावः। "वक्रोक्तिः काव्यजीवितम्" वक्रा (विचित्रा) उक्तिः (भणितिः), सा इव काव्यजीवितं = काव्यस्वरूपाधायकत्वेन जीवनस्थानीयं, न तु रसादिरिति शेषः, इति वक्रोक्तिजीवितकारोक्तम् अपि=कुन्तकप्रतिपादितम् अपि, पराऽस्तं=निरस्तम्। अत्र हेतुं प्रतिपादयति—**वक्रोक्तेः अलङ्काररूपत्वात्**, वैचित्र्याधायकत्वेनेति शेषः, तथा च वक्रोक्तेरुत्कर्षमात्राधायकत्वं न तु स्वरूपाधायकत्वमिति भावः। इत्थं च काव्यप्रकाशकारेण प्रतिपादितकाव्यलक्षणं साकल्येन दूषयित्वा तत्सम्मतमस्फुटालङ्कारोदाहरणं दूषयितुमारभते-**यश्चेति**। क्वचित् = कुत्रचित्, काव्यप्रकाश इति भावः, अस्फुटाऽलङ्कारे उदाहृतं=निर्दशितम्।

ऐसे पूर्वोक्त वचनोंसे "अनलङ्कृती पुनः क्वाऽपि" अर्थात् कहींपर स्फुट अलङ्काररहित शब्द अर्थ भी काव्य हैं, यह कथन भी खण्डित हो गया। इसका अर्थ है—सर्वत्र अलङ्कारवाले कहींपर अस्फुट अलङ्कारवाले शब्द और अर्थ भी काव्य होते हैं। उसमें अलङ्कारयुक्त शब्द और अर्थ भी काव्यमें उत्कर्षमात्रका आधान करते हैं, अर्थात् लक्षणरूप नहीं हो सकते हैं।

इस कथनसे "वक्रोक्ति काव्यका जीवन है" ऐसा वक्रोक्तिजीवितकार (कुन्तक) का कथन भी खण्डित हो गया। क्योंकि वक्रोक्ति भी अलङ्कार है, उसका लक्षणमें निवेश नहीं हो सकता है। जो यह कहींपर (काव्य प्रकाशमें) अस्फुटाऽलङ्कारका उदाहरण दिया है—

यच्च क्वचिदस्फुटालङ्कारत्वे उदाहृतम्—

यः कौमारहरः स एव हि वरस्ता एव चैत्रक्षपा-
स्ते चोन्मीलितमालतीसुरभयः प्रौढाः कदम्बानिलाः।
सा चैवास्मि तथापि तत्र सुरतव्यापारलीलाविधौ
रेवारोधसि वेतसीतरुतले चेतः समुत्कण्ठते ॥ इति ।

एतच्चिन्त्यम् । अत्र हि विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य संदेहसङ्करालङ्कारस्य स्फुटत्वम् ।

यः कौमारहर इति । यः कौमारहरः स एव वरो हि । ता एव चैत्रक्षपा हि । उन्मीलितमालतीसुरभयः ते एव प्रौढाः कदम्बाऽनिलाः हि । सा च एव अस्मि हि । तथाऽपि तत्र रेवारोधसि वेतसीतरुतले सुरतव्यापारलीलाविधौ चेतः समुत्कण्ठते इत्यन्वयः।

स्वाऽधीनपतिकायाः कस्याश्चिन्नायिकाया वरोपकरणादिष्वसकृदुपभुक्तेष्वपि सखीं प्रति तत्र लालसासूचिकोक्तिरियम् । हे सखि ! यः कौमारहरः=कुमारीभावाऽपहारकः, स एव = उपभुक्त एव, न अन्य इति भावः, वरः = परिणेता, हि = निश्चयेन, वाक्यान्तरेष्वपि इद सम्बध्यते । एतेन उभयाऽनुरागो व्यज्यते । ता एव = पूर्वोपभुक्ता एव, चैत्रक्षपाः = मधुरात्रयः, हि । उन्मीलितमालतीसुरभयः = उन्मीलिता (विकसिता) या मालती (वासन्तिकलता), तया सुरभयः (मनोहरगन्धाः), अत्र मालतीपदेन जातिर्न ग्राह्या, तस्याश्चैत्रे असम्भवात् । ते एव = पूर्वोपभुक्ता एव, प्रौढाः = उद्दीपनप्रागल्भ्यशालिनः, कदम्बाऽनिलाः = धूलीकदम्बपुष्पवाताः, हि । सा च एव = तदवस्था एव, हि । अस्मि = अहम् अस्मि । तथाऽपि = उपभुक्तसकलसामग्रीसत्त्वेऽपि, तत्र = उपभुक्ते, रेवारोधसि = नर्मदातटे, वेतसीतरुतले = वेतसलताऽधोभागे, सुरतव्यापारलीलाविधौ = रतिक्रियाविलासविधाने, चेतः = चित्तं; समुत्कण्ठते = समुत्सुकं भवति । अत्र तावद्विभावनाविशेषोक्ती प्रतीतिपथमवतरत एव परं न स्फुटे । तद्यथा—

"विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।" इति हि विभावनालक्षणम्—

अस्मिन्पद्ये उत्कण्ठारूपस्य कार्यस्य वरसङ्गमाभावादिकारणाऽभावेऽपि उत्पत्तेः किं विभावनाऽस्ति, उताहो कारणे वरसङ्गमादौ सत्यपि उत्कण्ठाऽभावरूपस्य फलस्य अनुत्पत्तेः विशेषोक्तिरस्ति इति द्वयोरपि विभावनाविशेषोक्तिरूपयोरलङ्कारयोः अस्फुटत्वम् इति काव्यप्रकाशकारमतम् । एतच्चिन्त्यम् = दूष्यत्वेन विचारणीयमिति भावः । तत्प्रतिपादयति—**अत्र हीति** ।

"जिसने कुमारीभावका हरण किया है वही वर है, वे ही चैत्र मासकी रात्रियाँ हैं, और विकसित वासन्तीलतासे सुगन्धयुक्त प्रौढ (उद्दीपन करनेवाले) वही कदम्बवनका वायु है और मैं भी वही हूँ, इस प्रकार ये सब पहले अनुभव किये गये हैं; तोभी नर्मदाके तटमें बेतके पेड़ोंके नीचे रमण करनेके लिए चित्त उत्कण्ठित हो रहा है।"

अस्फुटालङ्कारके उदाहरणकी तौरपर दिया गया यह पद्य विचारणीय है।

एतेन—

'अदोषं गुणवत्काव्यमलङ्कारैरलङ्कृतम् ।
रसान्वितं कविः कुर्वन् कीर्ति प्रीतिं च विन्दति ॥'

इत्यादीनामपि काव्यलक्षणत्वमपास्तम् ।

यत्तु ध्वनिकारेणोक्तम्—'काव्यस्यात्मा ध्वनिः—' इति तत्किं वस्त्व-

---

अत्र=अस्मिन् पद्ये, विभावनाविशेषोक्तिमूलस्य=विभावनाविशेषोक्तिनिरूपितस्य, सन्देहसङ्कराऽलङ्कारस्य स्फुटत्वम् । अतः कथमिदमुदाहरणमस्फुटालङ्कारस्य संगच्छते । सरस्वतीकण्ठाभरणकारसम्मतं काव्यलक्षणं खण्डयति—एतेनेति । एतेन="तददोषा"-वित्यादिलक्षणस्य काव्यलक्षणत्वखण्डनेन । अदोषमिति । कविः अदोषं गुणवत् अलङ्कारैः अलङ्कृतं रसाऽन्वितं काव्यं कुर्वन् कीर्ति प्रीतिं च विन्दति इत्यन्वयः ।

कविः=कवयिता, अदोषं=दुःश्रवत्वादिदोषरहितं, गुणवत् = माधुर्यादिगुणोपेतम्, अलङ्कारैः=उपमाद्यलङ्कारैः, अलङ्कृतं = भूषितं, रसाऽन्वितं = शृङ्गारादिरससमन्वितं, काव्यं=कविता, कुर्वन्=विदधत्, कीर्तिम्=यशः, प्रीतिं च=हर्षं च, विन्दति=लभते ।

इत्यादीनामपि = एवंप्रभृतीनामपि, काव्यलक्षणत्वं=काव्यस्वरूपत्वम्, अपास्तं= निरस्तम् । दोषगुणाऽलङ्काराणां लक्षणेऽनपेक्षितत्वादिति भावः । सम्प्रति रसमात्रध्वनेः काव्यत्वं सिसाधयिषुर्वस्त्वलङ्कारयोस्तन्निरस्यन् ध्वनिकारमतं खण्डयितुं प्रवर्तते— यत्त्विति । ध्वनिकारेण = आनन्दवर्द्धनाचार्येण, यत्, उक्तम् = अभिहितम् । "काव्य-स्याऽऽत्मा ध्वनि" रिति । ध्वनिः = वाच्याऽतिशायी व्यङ्ग्यः, काव्यस्य आत्मा =

इसमे विभावना और विशेषोक्ति हेतुवाला सन्देहसङ्कर अलङ्कार स्फुट है इससे इसे अस्फुट अलङ्कार कहना उचित नहीं ।

कारणके विना जहाँ कार्यकी उत्पत्तिका वर्णन है वहाँ विभावना अलङ्कार होता है, जैसे कि यहाँपर वरसङ्गम आदिके अभाव आदि कारणके न होनेपर भी उत्कण्ठारूप कार्यकी उत्पत्ति होनेसे विभावना अलङ्कार हो सकता है, इसी तरह वर आदि कारणोंके होनेपर भी उत्कण्ठाके अभावरूप फलकी उत्पत्ति न होनेसे विशेषोक्ति अलङ्कार हो सकता है, इस प्रकार दोनों अलङ्कारोंकी अस्फुटता है। अत एव यह अस्फुट अलङ्कार है काव्यप्रकाशकारका यह कथन भी अनुचित है क्योंकि यहाँपर विभावना-विशेषोक्तिमूलक सन्देहसङ्कर अलङ्कार स्फुट है ।

इस कथनसे—अदोषम्० । दोषसे रहित, गुणवाला, अलङ्कारोंसे अलङ्कृत रससे युक्त काव्यकी रचना करनेवाला कवि कीर्ति और प्रीतिको प्राप्त करता है । इत्यादि काव्यलक्षण भी खण्डित हो गया, क्योंकि अदोषत्व, सगुणत्व, अलङ्कारसहितत्व इनका काव्यके लक्षणमें समावेश नही हो सकता है ।

ध्वनिकारने जो कहा है—"काव्यस्यात्मा ध्वनिः" अर्थात् काव्यकी आत्मा

लङ्काररसादिलक्षणस्त्रिरूपो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, उत रसादिरूपमात्रो वा ? नाद्यः,—प्रहेलिकादावतिव्याप्तेः । द्वितीयश्चेदोमिति ब्रूमः ।

ननु यदि रसादिरूपमात्रो ध्वनिः काव्यस्यात्मा, तदा—

अत्ता एत्थ णिमज्जइ, एत्थ अहं, दिअसअं पलोएहि ।
मा पहिअ रत्तिअन्धिअ ! सेज्जाए मह णिमज्जहिसि ॥

आत्मस्थानीय इति । तन्मतं खण्डयितुमनुयुङ्क्ते—**तर्हीति** । तत् = तर्हि, वस्त्वलङ्काररसादिलक्षणः = वस्तु (अनलङ्कारं वस्तुमात्रम्) अलङ्कारः (शब्दाऽर्थयोः शोभाऽतिशायी धर्मः), रसः (शृङ्गारादिः), आदिपदेन रसभावाभासादयः असंलक्ष्यक्रमभेदाः, लक्षणं यस्य सः इत्थं च त्रिरूपः=त्रिप्रकारः, ध्वनिः, काव्यस्याऽऽत्मा, उत=अथवा, रसादिरूपमात्रो वा । अत्र मात्रपदेन वस्त्वलङ्कारव्यावृत्तिः । न आद्यः = न प्रथमः त्रिरूपो ध्वनिर्न काव्यस्याऽऽत्मेति भावः । तत्र हेतुमुपन्यस्यति–प्रहेलिकादावतिव्याप्तेः । प्रहेलिकादौ=वस्तुरूपे ध्वनौ, अतिव्याप्तेः=अतिप्रसक्तेः । लक्ष्यवृत्तित्वे सति अलक्ष्यवृत्तित्वं हि अतिव्याप्तेः स्वरूपम् । यथा गोलक्षणे शृङ्गित्वस्य लक्ष्यभूते गवि वृत्तित्वेऽपि अलक्ष्ये महिषेऽपि वृत्तेः शृङ्गित्वस्य यथा अतिव्याप्तिस्तथा प्रकृतेऽपि त्रिरूपे ध्वनौ काव्यात्मनि मते, अलक्ष्ये प्रहेलिकादावपि अतिव्याप्तिः (अतिप्रसक्तिः) स्यात् । प्रहेलिका नाम व्यङ्ग्याऽर्थविशेषो नीरसो वाक्यविशेषः । यथा—

"तरुण्याऽऽलिङ्गितः कण्ठे नितम्बस्थलमाश्रितः । गुरूणा सन्निधानेऽपि कः कूजति मुहुर्मुहुः ? ॥" इत्यादावित्यर्थः । अत्र किञ्चिदूनजलघटरूपं वस्तु व्यङ्ग्यम् । अस्य रसपरिपन्थित्वान्नाऽलङ्कारत्वं किमुत काव्यत्वमिति भावः ।

द्वितीयं पक्षमुपस्थापयति—**द्वितीयश्चेत्** = रसादिरूपमात्रो वा यदि, काव्यस्यात्मेतिशेषः । स्वीकरोति–**ओमिति ब्रूमः** । ओमित्यङ्गीकाराऽर्थकमव्ययम् । "वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" इत्यस्मत्पक्षत्वात् । पुनराशङ्कते—**नन्विति** । द्वितीयपक्षाऽनुसारेण रसादिरूपमात्रः = वस्त्वलङ्काररहितः । ध्वनिः = व्यङ्ग्यविशेषः, काव्यस्य आत्मा = स्वरूपं, यदि = चेत्, तदा = तर्हि—**अत्तेति** । रात्र्यन्धत्वेन कथितात्मानं निजगृहे कृतावासं पान्थ प्रति स्वयं दूत्या उक्तिरियम् । अत्र अत्ता निमज्जति, अत्र अहं,

ध्वनि है । यहाँ हम पूछते हैं वस्तु अलङ्कार और रसादिक इन सबकी ध्वनियोंको आप काव्यकी आत्मा मानते है वा केवल रसादिकी ध्वनिको ? इनमें पहला पक्ष ठीक नहीं है, प्रहेलिका (पहेली) आदि वस्तुरूप ध्वनिमें अतिव्याप्ति हो जायगी । जहाँ अलक्ष्यमें लक्षण जाता है उसे अतिव्याप्ति कहते हैं । इनमें दूसरा पक्ष–केवल रसादिकी ध्वनिको काव्य मानते हैं तो हम मञ्जूर करते है ।

फिर प्रश्न करते हैं–केवल रसादि ध्वनिको काव्यकी आत्मा मानते हैं तो—
"श्वश्रूरत्र निमज्जति० ॥

[श्वश्रूरत्र निमज्जति, अत्राह, दिवसकं प्रलोकय।
मा पथिक ! राज्यन्धक ! शय्यायां मम निमङ्क्ष्यसि ॥]

इत्यादौ वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यत्वे कथं काव्यव्यवहार इति चेत् ? न,- अत्रापि रसाभासवत्तयैवेति ब्रूमः, अन्यथा 'देवदत्तो ग्रामं याति' इति वाक्ये तद्भृत्यस्य तदनुसरणरूपव्यङ्ग्यावगतेरपि काव्यत्वं स्यात्। अस्त्विति चेत् ? न, रसवत एव काव्यत्वाङ्गीकारात्।

काव्यस्य प्रयोजनं हि रसास्वादसुखपिण्डदानद्वारा वेदशास्त्रविमुखानां

दिवसकं प्रलोकय। राज्यन्धक हे पथिक ! आवयोः शय्यायां मा निमङ्क्ष्यसि इत्यन्वयः। अत्र = अस्मिन्स्थाने, अत्ता = श्वश्रूः, श्वश्रूवाचकोऽत्ताशब्दो देशीभाषायां प्रयुज्यते। निमज्जति=जलमग्ना इव तिष्ठति, मृतप्रायेव वर्तत इति भावः। अहं = नायिका, अत्र, तिष्ठामि, दिवसक = दिवसम् एव प्रलोकय = सम्यक् पश्य—हे राज्यन्ध पथिक ! आवयो = श्वश्रूस्नुषयोः, शय्यायां = शयनस्थाने, मा निमङ्क्ष्यसि = नो मज्जनं करिष्यसि, इत्यादौ = लक्ष्ये, वस्तुमात्रस्य = ममैव शय्यायां निर्भयं समागच्छेति वस्तुमात्रस्य, व्यङ्ग्यत्वे=व्यञ्जनावृत्या प्रतीयमानत्वे, कथं=केन प्रकारेण, काव्यव्यवहारः=काव्यव्यपदेशः, अत्र रसप्रतीतेरभावादिति शेषः, इति चेत् ? समाधत्ते-**नेति**। न=इत्थमाशङ्का न कर्तव्या, अत्राऽपि = अस्मिन्नपि, रसाभासवत्ता एव = रसाऽऽभासविशिष्टता एव, काव्यव्यवहारकारणमिति ब्रूमः। अयं भावः। अत्र स्वयं दूत्याः पुंश्चल्या नायिकाया उपनायकरूपपथिकसंस्थायां रतौ शृङ्गाराऽऽभासत्वमिति भावः। अन्यथा = वस्तुमात्रस्य व्यङ्ग्यत्वेऽपि काव्यत्वस्वीकारे, "देवदत्तो ग्रामं याति" इति वाक्ये, तद्भृत्यस्य = देवदत्ताऽनुचरस्य, तदनुसरणरूपव्यङ्ग्याऽवगतेरपि = देवदत्तानुगमनरूपव्यङ्ग्यज्ञानस्य अपि। काव्यत्वं स्यात्, अस्त्विति चेत् ? रसवत एव=रसविशिष्टवाक्यस्य एव काव्यत्वाङ्गीकारात्। नीरसस्य वाक्यस्य काव्यत्वाऽस्वीकारे हेतुमाह—**काव्यस्य प्रयोजनमिति**। काव्यस्य प्रयोजनम् = उद्देश्यं, रसास्वादसुखपिण्डदानद्वारा = रसा-

"इस स्थानपर मेरी सास निद्रामें निमग्न होती है और यहांपर मैं सो जाती हूं। हे रतौंधीवाले पान्थ ! यह दिनमें ही देख लो, कहीं मेरी शय्यापर नही आना।" यह स्वयं दूतीकी उक्ति है। इत्यादि स्थलमें जहाँ वस्तुमात्र व्यङ्ग्य होता है वहां कैसे काव्यका व्यवहार होगा ? उत्तर देते हैं, यहाँ भी रसाभास होनेसे ही हम काव्य मानते है। यहां स्वय दूतीकी उपनायकरूप पथिकमें रति होनेसे यह शृङ्गाराभास है यह तात्पर्य है। आस्वादका विषय होनेसे यह भी काव्यकोटिमें आ सकता है।

ऐसा न मानें तो "देवदत्त गाँवको जाता है" इस वाक्यमें देवदत्तके नौकरके उसका अनुसरणरूप व्यङ्ग्य अर्थमें भी काव्यका लक्षण जायगा। ऐसा ही हो, क्या हर्ज है ? ऐसा कहना नहीं चाहिए, क्योंकि हम रसयुक्त वाक्यको ही काव्य मानते हैं। काव्यका उद्देश्य शृङ्गार आदि रसका आस्वादनरूप हर्षसमूहके दानरूप उपायसे वेद

सुकुमारमतीनां राजपुत्रादीनां विनेयानां 'रामादिवत्प्रवर्तितव्यं न रावणादिवत्' इत्यादिकृत्याकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेश इति चिरन्तनैरप्युक्तत्वात्। तथा चाग्नेयपुराणेऽप्युक्तम्—'वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि रस एवात्र जीवितम्' इति।

व्यक्तिविवेककारेणाऽप्युक्तं–'काव्यस्यात्मनि संज्ञिनि, रसादिरूपे न कस्यचिद्विमतिः' इति। ध्वनिकारेणाऽप्युक्तम्—'नहि कवेरितिवृत्तमात्रनिर्वाहेणात्मपदलाभः, इतिहासादेरेव तत्सिद्धेः' इत्यादि।

स्वादः (शृङ्गारादिरसास्वादनम्) एव सुखपिण्ड (हर्षसमूहः), "मुखपिण्डम्" इति पाठान्तरे प्रधानकवल इत्यर्थः। तद्दानद्वारा = तद्वितरणोपायेन, वेदशास्त्रविमुखानां = श्रुतिशास्त्रपराङ्मुखानां, काठिन्याद्वेदशास्त्राऽध्ययनाऽसमर्थानामिति भावः। सुकुमारमतीनाम् = अतिकोमलबुद्धीनां, राजपुत्रादीना=राजकुमारप्रभृतीनां, विनेयानां = शिक्षणीयानां, रामादिवत्=राघवादिवत्, प्रवर्तितव्यं=चेष्टनीय, पित्राज्ञापरिपालनादाविति भावः। रावणादिवत्=दशाननवत्, न प्रवर्तितव्यं=न चेष्टनीयं, परदारहरणादाविति भावः। इत्यादिकृत्याऽकृत्यप्रवृत्तिनिवृत्त्युपदेशः=कृत्ये (कर्त्तव्ये) प्रवृत्तेः (प्रवर्तनस्य), अकृत्ये (अकर्तव्ये निषिद्धकार्य इति भावः) निवृत्तेः (निवर्तनस्य) च, उपदेशः (शिक्षणम्)। इति, चिरन्तनैरपि = प्राचीनैराचार्यैः अपि, उक्तत्वात् = अभिहितत्वात्। **तदुक्तं—**

"स्वादुकाव्यरसोन्मिश्रं वाक्याऽर्थमुपयुञ्जते।
प्रथमाऽऽलीढमधवः पिबन्ति कटु भेषजम्॥" इति।

काव्यस्य रसस्वरूपत्व आप्तसम्मतीः प्रदर्शयति—**तथा चेति**। "वाग्वैदग्ध्यप्रधानेऽपि = उक्तवैचित्र्यप्रमुखेऽपि, अत्र = अस्मिन् काव्ये, रस एव = शृङ्गारादिरेव, जीवित = जीवनं, नो गुणाऽलङ्कारादिति परिसंख्या (आग्नेयपुराणम्)। व्यक्तिविवेककारेण=आचार्यमहिमभट्टेन, अपि उक्तं—**काव्यस्येति**। रसाऽऽदिरूपे संज्ञिनि = रसादिनामधेये, काव्यस्य, आत्मनि=आत्मस्वरूपे, कस्यचित् = कस्याऽपि, सहृदयस्याचार्यस्येति शेषः, विमतिः = विरुद्धा मतिः, न = नो वर्तत इति भावः। "सञ्ज्ञिनि" इति अपपाठः, व्यक्तिविवेके तादृशपाठाऽनुपलम्भात्। ध्वनिकारेणाऽपि = आनन्दवर्द्धनाचार्येणाऽपि, उक्तम्—इतिवृत्तमात्रनिर्वाहेण=केवलयथार्थचरित्रनिर्वहणेन, आत्मलाभः = कविसंज्ञाप्राप्तिः, न, इतिहासादेरेव = इतिहासपुराणादेरेव, तत्सिद्धेः = इतिवृत्तलाभात्।

आदि शास्त्रों में विमुख, शिक्षाके योग्य, राजपुत्र आदि सुकुमार बुद्धिवालोंको राम आदिके समान आचरण करना चाहिए, रावण आदिके समान नहीं, इत्यादि कर्तव्यमें प्रवृत्ति और अकर्तव्यमें निवृत्तिका उपदेश देना है ऐसा प्राचीन आचार्योंने भी कहा है। उसी तरह अग्निपुराणमें भी कहा है—"काव्यमें उक्तिवैचित्र्यकी प्रधानता होनेपर भी रस ही जीवन है"। "व्यक्तिविवेककार (महिमभट्ट) ने भी कहा है—रस आदि नामवाले काव्यके स्वरूपमें किसीको विवाद नहीं है। ध्वनिकार (आनन्दवर्धनाचार्य) ने भी कहा है—इतिवृत्त (चरित्र) मात्र लिखनेसे कविको कविपदकी प्राप्ति नहीं होती है, क्योंकि चरित्रमात्रकी सिद्धि तो इतिहास पुराण आदिसे ही हो जाती है।

ननु तर्हि प्रबन्धान्तर्वर्तिनां केषांचिन्नीरसानां पद्यानां काव्यत्वं न स्यादिति चेत्? न, रसवत्पद्यान्तर्गतनीरसपदानामिव पद्यरसेन, प्रबन्धरसेनैव तेषां रसवत्ताङ्गीकारात्। यत्तु नीरसेष्वपि गुणाभिव्यञ्जकवर्णसद्भावाद्दोषाभावादलङ्कारसद्भावाच्च काव्यव्यवहारः स रसादिमत्काव्यबन्धसाम्याद् गौण एव।

यत्तु वामनेनोक्तम्—'रीतिरात्मा काव्यस्य' इति, तन्न, रीतेः संघटनाविशेषत्वात्। संघटनायाश्चावयवसंस्थानरूपत्वात्, आत्मनश्च तद्भिन्नत्वात्।

पुनराशङ्कते—**नन्विति**। ननु = रसवदेव काव्यं यदि, तर्हि = तदा, प्रबन्धाऽन्तर्वर्तिनां = काव्यमध्यस्थितानां, नीरसानां = रसरहितानां, पद्यानां=छन्दोबद्धपदानां, काव्यत्वं = काव्यलक्षणघटितत्वं, न स्यात् इति चेत्,

समाधत्ते—**नेति**। रसवत्पद्याऽन्तर्गतनीरसपदानां = रसयुक्तपद्यान्तःस्थितरसरहितशब्दानां, पद्यरसेन इव = पद्यस्थितशृङ्गारादिरसेन इव, तेषां = नीरसानां पद्यानां, प्रबन्धरसेनैव=काव्यस्थितशृङ्गारादिरसेनैव, रसवत्ताऽङ्गीकारात्=रसयुक्ततास्वीकारात्। पुनराशङ्क्य समाधत्ते—**यत्त्विति**। यत्तु नीरसेष्वपि = रसरहितेष्वपि, वाक्येष्विति शेषः। गुणाऽभिव्यञ्जकवर्णसद्भावात् = माधुर्यादिगुणाऽभिव्यञ्जनकारकाऽक्षरसत्त्वात्, दोषाऽभावात्=दुःश्रवत्वादिदोषाऽभावात्। अलङ्कारसद्भावाच्च=उपमाद्यलङ्कारसत्त्वाच्च। काव्यव्यवहारः = काव्यव्यपदेशः, सः = व्यपदेशः। रसाऽऽदिमत्काव्यप्रबन्धसाम्यात् = शृङ्गारादिरसविशिष्टकाव्यप्रबन्धसादृश्याद्धेतोः, गौण एव=अमुख्य एव इति भावः।

पुनः प्राचीन मतद्वय खण्डयितुमुपक्रमते। तत्राचार्यवामनमतं प्रथमं खण्डयति—**यत्तु** वामनेन = काव्याऽलङ्कारकर्त्रा आचार्यवामनेन। काव्यस्य आत्मा, रीतिः = वैदर्भ्यादिरिति भावः, सिद्धान्तो खण्डयति—**तन्न**=रीतेः काव्यस्य आत्मत्वं नेति भावः। स्वमतमुपपादयति रीतेः=वैदर्भ्यादेः, संघटनाविशेषत्वात् = पदसघटनाभेदत्वात्, गुणाऽभिव्यञ्जकशब्दविन्यासरूपत्वादिति भावः। संघटनायाश्च=सयोजनायाश्च। अवयवसंस्थानरूपत्वात् = तत्तदङ्गसंनिवेशस्वरूपत्वात्। आत्मनश्च = अङ्गिभूतस्य काव्यस्य,

प्रश्न करते है कि रसयुक्त वाक्य ही काव्य होते हैं तो प्रबन्ध (काव्य) के भीतर रहे हुए कुछ नीरस पद्य भी काव्य होंगे, इसका उत्तर देते है–पद्योंके भीतर रहे हुए कुछ नीरस पद जैसे उस पद्यके रससे रसवाले माने जाते हैं वैसे ही प्रबन्धके रससे वे नीरस पद्य भी सरस माने जाते हैं। जो नीरस वाक्योंमें भी गुणोंके अभिव्यञ्जक वर्णोंके होनेसे दोषोंके न होनेसे और अलङ्कारोंके होनेसे काव्यका व्यवहार होता है वह रस आदिसे युक्त काव्यकी रचनाकी तुल्यताके कारण गौण (लाक्षणिक) प्रयोग है।

वामन आचार्यने "काव्यकी आत्मा रीति है" ऐसा जो कहा है वह ठीक नही। रीति सघटना (पदरचना) स्वरूप है, संघटना अवयवसंस्थानस्वरूप है, आत्मा उससे भिन्न होती हैं। इसलिए वैदर्भी आदि रीति काव्यकी आत्मा नहीं हो सकती है।

यच्च ध्वनिकारेणोक्तम्—

'अर्थः सहृदयश्लाघ्यः काव्यात्मा यो व्यवस्थितः।
वाच्यप्रतीयमानाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ ॥' इति।

अत्र वाच्यात्मत्वं 'काव्यस्यात्मा ध्वनिः—' इति स्ववचनविरोधादेवापास्तम्।

तत्किं पुनः काव्यमित्युच्यते—

तद्भिन्नत्वात्=अवयवसंस्थानभिन्नत्वात्। इत्थं रीतेः काव्यात्मत्वं निरस्य पुनर्ध्वनिकारमतं निरसितुमारभते—**यच्चेति**।

ध्वनिकारेण = आनन्दवर्धनाचार्येण, उक्तम् = अभिहितम्।

अर्थ इति। सहृदयश्लाघ्यः योऽर्थः काव्यात्मा व्यवस्थितः। तस्य वाच्यप्रतीयमानाख्यौ उभौ भेदौ स्मृतावित्यन्वयः।

सहृदयश्लाघ्यः=हृदयालुभिः प्रशंसनीयः, यः, अर्थः = अभिधेयः, काव्यात्मा = काव्यस्य आत्मभूतः, व्यवस्थितः=प्रतिपादितः, तस्य = अर्थस्य, वाच्यप्रतीयमानाख्यौ= वाच्यप्रतीयमाननामधेयौ, उभौ=द्वौ, भेदौ = प्रकारौ, स्मृतौ = चिन्तितौ।

ध्वनिकारमतं खण्डयति—**अत्रेति**। अत्र=अस्यामुक्तौ, वाच्यस्य=अभिधावृत्तिप्रतिपाद्यस्य अर्थस्य, आत्मत्वम् = आत्मस्थानीयत्वम्, "काव्यस्यात्मा ध्वनिः" इति स्ववचनविरोधात्=पूर्वप्रतिपादितनिजवाक्यविरोधात् एव, अपास्त=खण्डितम्।

ननु भवता मम्मटभट्टस्य, आनन्दवर्धनाचार्यस्य, वामनस्य च मतानि खण्डितान्येव परं स्वमतं न प्रदर्शितम्।

किमियं वितण्डा ? इति पराक्षेपमाशङ्क्य स्वसिद्धान्ताऽनुसारेण काव्यलक्षणं प्रदर्शयितुमुपक्रमते—**तदिति**। तत्=तर्हि, किं पुनः काव्यं=निर्दुष्टं काव्यलक्षणं किम्? इति उच्यते = अभिधीयते।

वाक्यमिति। रसात्मकं वाक्यं काव्यम्। रसस्वरूपं = रसलक्षणं, निरूपयिष्यामः = प्रतिपादयिष्यामः। तृतीयपरिच्छेदे इति शेषः।

ध्वनिकारने जो कहा है—"सहृदयोंसे प्रशंसनीय जो अर्थ काव्यकी आत्माके रूपमें व्यवस्थित है, उसके वाच्य और प्रतीयमान दो भेद होते हैं" यहाँपर वाच्य अर्थको जो आत्मा मान लिया है वह उनके पूर्वकथित "काव्यकी आत्मा ध्वनि है" इस वचनसे विरुद्ध होनेसे खण्डित हो गया है।

तब फिर काव्यका लक्षण क्या है ? उस प्रश्नका उत्तर देते हैं—रसस्वरूप वाक्यको काव्य कहते हैं। रसके स्वरूपका निरूपण (तृतीयपरिच्छेदमें) करेंगे।

वाक्यं रसात्मकं काव्यम्—

रसस्वरूपं निरूपयिष्यामः। रस एवात्मा साररूपतया जीवनाधायको यस्य, तेन विना तस्य काव्यत्वाऽभावस्य प्रतिपादितत्वात्। 'रस्यते इति रसः' इति व्युत्पत्तियोगाद् भावतदाभासादयोऽपि गृह्यन्ते।

तत्र रसो यथा—

शून्यं वासगृहं विलोक्य शयनादुत्थाय किञ्चिच्छनै-
निद्राव्याजमुपागतस्य सुचिरं निर्वर्ण्य पत्युर्मुखम्।

"रसात्मकम्" इति पदं व्युत्पादयति। **रस एवेति**। अत्र रसपदेन असंलक्ष्यक्रमभेदानां सर्वेषां परिग्रहः। अत्र अन्ययोगव्यवच्छेदाऽर्थकेन एवपदेन गुणाऽलङ्कारादीनां व्यवच्छेदः। साररूपतया=स्थिरांऽशरूपत्वेन, जीवनाधायकः = काव्यलक्षणप्रयोजकः। तेन विना=रसेन विना तस्य=वाक्यस्य, काव्यत्वाऽभावस्य, प्रतिपादितत्वात् "देवदत्तो ग्रामं याती"त्यादि ग्रन्थेनेति भावः। रस्यते=आस्वाद्यत इति रसः—"रस आस्वादने" इति धातो कर्मकर्तरि घञ्, इति व्युत्पत्तियोगात् = प्रकृतिप्रत्ययविवेचनसम्बन्धात्। भावतदाभासादयोऽपि= भावाः, तदाभासाः=रसाभासा भावाभासाश्च। एवं च आदिपदेन भावशान्तिः, भावोदयः, भावसन्धिर्भावशबलता चैते सर्वेपि गृह्यन्ते। तेषां सर्वेषामास्वादविषयत्वादिति भावः।

तत्र रसो यथा—**शून्यमिति**। बाला वासगृहं शून्यं विलोक्य शनैः किञ्चित् उत्थाय निद्राव्याजम् उपागतस्य पत्युर्मुखं सुचिरं निर्वर्ण्य विश्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकां गण्डस्थलीम् आलोक्य लज्जानम्रमुखी (सती) हसता प्रियेण चिरं चुम्बिता इत्यन्वयः।

बाला = तरुणी, नवपरिणीता वधूरित्यर्थः। वासगृहं = गर्भाऽगारं, शून्यं = विविक्तं, सखीजनरहितमिति भावः। विलोक्य=दृष्ट्वा, शनैः=मन्दं, निःशब्दमिति भावः। किञ्चित्, उत्थाय=उत्थानं कृत्वा, निद्राव्याजं = स्वापच्छलम्, उपागतस्य = प्राप्तस्य, नायिकायाः कार्यदर्शनार्थमिति भावः। पत्युः = भर्तुः, प्रियस्येत्यर्थः। मुखम् = आननं, सुचिरं=दीर्घकालं, निर्वर्ण्य = दृष्ट्वा, अयं निद्राणोऽस्ति नोवेति परीक्षार्थमिति शेषः।

सारस्वरूप होनेसे रस ही जिसके जीवनका आधान करने वाला है ऐसे रसात्मक वाक्यको काव्य कहते हैं। रसके विना वाक्यमें काव्यता नहीं रहती है इस बातका प्रतिपादन कर चुके हैं। 'जिसका आस्वादन किया जाता है वह रस है" ऐसी व्युत्पत्ति करनेसे भाव और रसाभास आदियोंका भी ग्रहण होता है। उनमें रसका उदाहरण देते हैं—"नवोढा नायिकाने कमरेको (सखी आदियोंसे) शून्य देकर पलंगसे धीरे धीरे उठकर नींदके बहानेसे लेटे हुए पतिके मुखको बहुत समय तक देखकर विश्वास-

विस्रब्धं परिचुम्ब्य जातपुलकामालोक्य गण्डस्थलीं
लज्जानम्रमुखी प्रियेण हसता बाला चिरं चुम्बिता ॥
अत्र हि संभोगशृङ्गाराख्यो रसः ।
भावो यथा महापात्रराघवानन्दसान्धिविग्रहिकाणाम्—

विश्रब्ध = विश्वासपूर्वकं, निःशङ्कमिति भावः, यथा स्यात्तथा, परिचुम्ब्य = परिचुम्बनं कृत्वा, तदनु जातपुलकां = रोमाञ्चयुक्तां, गण्डस्थलीं = कपोलफलक, पत्युरिति शेषः। आलोक्य = दृष्ट्वा, लज्जानम्रमुखी = व्रीडाऽवनतवदना सती, सा बाला, हसता = हासं कुर्वता, प्रियेण = वल्लभेन, पत्या इत्यर्थः । चिर = बहुकालं यावत्, चुम्बिता = चुम्बन-विषयीकृता ।

अत्र बाला प्रियश्च आलम्बनविभावौ । शून्यवासगृहादिरुद्दीपनविभावः, बालाकृत-विलोकनादयः प्रियविहितव्याजनिद्रादयश्चाऽनुभावाः । लज्जाहासादयो व्यभिचारिभावाः, एतैर्व्यक्तः रत्याख्यः स्थायिभावो रसरूपतां प्राप्तः । स च रसः शृङ्गारः, स च द्विविधः संभोगो विप्रलम्भश्च । अत्र कतरो रस इत्याकाङ्क्षायामाह–अत्र हीति । अत्र = अस्मिन् पद्ये, संभोगशृङ्गाराख्यो रसः ।

भावो यथेति—"सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः ।
उद्‌बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते ॥"
इत्युक्तलक्षणं भावमुदाहरति—(३–२६०)

महापात्रेति । महापात्रः = ब्राह्मणविशेषः, महामन्त्री इति कश्चित् । सान्धि-विग्रहिक इति सन्धिविग्रहकार्यनियुक्तो राजकर्मचारिविशेषः । भावकाव्यमुदाहरति **यस्या-लीयतेति** । अत्र तावद्भगवतो दशावतारवर्णनम् । यस्य शल्कसीम्नि जलधिः अलीयत, पृष्ठे जगन्मण्डलम् (अलीयत) । दंष्ट्रायां धरणी (अलीयत । नखे दितिसुताऽधीशः (अलीयत), पदे रोदसी (अलीयेताम्), क्रोधे क्षत्रगणः (अलीयत), शरे दशमुखः (अलीयत), पाणौ प्रलम्बाऽसुरः (अलीयत), ध्याने विश्वम् (अलीयत), असौ अधार्मिककुलम् (अलीयत) कस्मैचित् अस्मै नम इत्यन्वयः ।

पूर्वक चुम्बन किया, परन्तु उसके कपोलको रोमाञ्चित जानकर वह लज्जासे अवनत-मुखवाली हो गई ।

तब हँसते हुए नायकने बहुत समयतक उसका चुम्बन किया । इस पद्यमें संभोग-शृङ्गार नामका रस है ।

महापात्र राघवानन्द सान्धिविग्रहिककृत भावका उदाहरण–इस पद्यमें विष्णुके दश अवतारोंका वर्णन है जिस (मत्स्य) के वल्कलके अवयवमें समुद्र लीन हुआ, जिस (कच्छप) की पीठपर भूमण्डल लीन हुआ । जिस (वराह) की दंष्ट्रा (दाढ़)-में पृथ्वी लीन हुई । जिस (नृसिंह) के नखमें दैत्योंका अधिपति (हिरण्यकशिपु)

यस्यालीयत शल्कसीम्नि जलधिः, पृष्ठे जगन्मण्डलं
दंष्ट्रायां धरणी, नखे दितिसुताधीशः, पदे रोदसी।
क्रोधे क्षत्रगणः, शरे दशमुखः, पाणौ प्रलम्बासुरो,
ध्याने विश्वमसावधार्मिककुलं, कस्मैचिदस्मै नमः॥

अत्र भगवद्विषया रतिर्भावः।

यस्य = नारायणस्य. शल्कसीम्नि = वल्कलैकदेशे. जलधिः = समुद्रः, अलीयत= लीनोऽभवत्, पदमिदं दशस्वपि वाक्येषु प्रयोज्यम्। अनेन मत्स्याऽवतारो वर्णितः। यस्य पृष्ठे = तनोश्चरमभागे, जगन्मण्डलं = लोकचक्रवालम्, अलीयत, अनेन कच्छपाऽवतारो वर्णितः। यस्य दंष्ट्रायां = दशनमण्डले, धरणी = पृथ्वी, अलीयत=लीनाऽभवत्, एतेन वराहावतारः। यस्य नखे = नखरे, दितिसुताऽधीशः = दैत्याऽधीश्वरः, हिरण्यकशिपुरिति भावः अलीयत। अनेन नृसिंहाऽवतारः। यस्य पदे = पादे, रोदसी = आकाशपृथिव्यौ, "अलीयेताम्" इति वचनविपरिणामः। लीने अभवतामित्यर्थः, अनेन वामनाऽवतारः। यस्य क्रोधे = कोपे, क्षत्रगणः = राजन्यसमूहः, अलीयत, अनेन परशुरामाऽवतारः। यस्य शरे = बाणे, दशमुखः = रावणः, अलीयत एतेन रामाऽवतारः। यस्य पाणौ = करे, प्रलम्बाऽसुरः = प्रलम्बदैत्यः, अलीयत, एतेन बलरामाऽवतारः। यस्य ध्याने = चिन्तने, विश्व = जगत्, अलीयत, एतेन बुद्धावतारः एव च यस्य असौ = खड्गे, अधार्मिककुलं = म्लेच्छादिनास्तिकसमूहः, अलीयत = लीनमभवत्। कस्मैचित्= अनिर्वचनीयमहिम्ने, अस्मै = भगवते नारायणाय नमः।

नन्वत्राऽष्टमावतारे भगवन्तं श्रीकृष्णं विहाय कथं बलरामस्योक्तिरिति चेत्? न "अन्ये चांऽशकलाः प्रोक्ताः कृष्णस्तु भगवान् स्वयम्" इति वचनेन भगवतः श्रीकृष्णस्य सर्वाऽवतारमूलभूतं भगवत्त्वं व्यपदिष्टम्। अत्र भक्तस्य नारायणविषयायाः रतेर्व्यज्यमानत्वात्, भावकाव्यस्योदाहरणं संगच्छते।

लीन हो गया। जिस (वामन) के चरणमें पृथ्वी और आकाश लीन हो गये। जिस (परशुराम) के क्रोधमें क्षत्रियसमूह लीन हो गया, जिस (राम) के बाणमें रावण लीन हुआ, जिस (बलराम) के हाथमें प्रलम्ब नामका दैत्य लीन हुआ, जिस (बुद्ध) के ध्यानमें विश्वका लय हुआ और जिस (कल्की) के तलवारमें अधर्मी-लोगोंका लय हुआ ऐसे अनिर्वचनीय महिमावाले भगवान् नारायणको मेरा नमस्कार है॥

इस पद्यमें भगवद्विषयक रतिके व्यङ्ग्य होनेसे भावकाव्यका उदाहरण प्रतिपादित है।

रसाभासो यथा—

मधु द्विरेफः कुसुमैकपात्रे पपौ प्रियां स्वामनुवर्तमानः।
शृङ्गेण च स्पर्शनिमीलिताक्षीं मृगीमकण्डूयत कृष्णसारः॥ ३-३६

अत्र सम्भोगशृङ्गारस्य तिर्यग्विषयत्वाद्रसाभासः। एवमन्यत्।

दोषाः पुनः काव्ये किंस्वरूपाः? इत्युच्यन्ते—

दोषास्तस्यापकर्षकाः।

श्रुतिदुष्टापुष्टार्थत्वादयः काणत्वखञ्जत्वादय इव, शब्दार्थद्वारेण

रसाऽऽभासमुदाहरति—**मधु द्विरेफ इति**। स्वां प्रियाम् अनुवर्तमानो द्विरेफः कुसुमैकपात्रे मधु पपौ। कृष्णसारश्च शृङ्गेण स्पर्शनिमीलिताक्षी मृगीम् अकण्डूयत इत्यन्वयः।

कुमारसंभवे मदनप्रादुर्भावाऽनन्तरं वसन्तवर्णनमिदम्। स्वां = स्वकीयां, प्रियां= वल्लभां, द्विरेफीमिति भावः, अनुवर्तमानः=अनुसरन्, द्विरेफः = भ्रमरः, लक्षितलक्षणया द्विरेफपदं भ्रमरवाचकम्। कुसुमैकपात्रे = पुष्परूपैकभाजने, मधु=पुष्परसं, पपौ = पीतवान्। एवं च कृष्णसारश्च=मृगविशेषश्च शृङ्गेण=विषाणेन, स्पर्शनिमीलिताक्षीम्= आमर्शनमुद्रितनयनां, मृगीं = हरिणीम्, अकण्डूयत=गात्रविघर्षणेन सेवितवानिति भावः। अत्र संभोगशृङ्गारस्य तिर्यग्विषयत्वात्= मानवेतरजन्तुविषयत्वात् रसाऽभासः। एव-मन्यत बोद्धव्यम्। विषयोऽयं तृतीयपरिच्छेदे सविशेषं निरूपयिष्यते। इत्थं रस्यमान-त्वयोगाद्रसं, भावं, रसाभासं च सामान्य-ो दर्शयित्वा दोषसामान्यस्वरूपं दर्शयितुमुप-क्रमते **दोषा इति**। दोषाः = च्युतसंस्कृत्यादयो दोषाः, तस्य=काव्यस्य, अपकर्षकाः= अपकर्षकारकाः, रसाऽपकर्षत इति शेषः।

कारिकांऽशं विवृणोति-**श्रुतीति**। काणत्वखञ्जत्वादयो दोषा देहद्वारेण देहिनम् इव श्रुतिदुष्टाऽपुष्टाऽर्थत्वादयो दोषाः शब्दाऽर्थद्वारेण काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षन्ति, एवं च

रसाभास जैसे—यह कुमारसम्भवमें वसन्त ऋतुको साथमें लेकर कामदेवका आविर्भाव होनेका वर्णन है। भौंरा अपनी प्रियाका अनुसरण करता हुआ पुष्परूप एक पात्रमें पुष्परस पीने लगा, उसी तरह कृष्णसार मृग स्पर्शसे नेत्रोंको मूंदने वाली मृगीको सींगसे खुजलाने लगा।

इस पद्यमें मनुष्यसे इतर तिर्यग्जातिमें संभोगशृङ्गारका वर्णन होनेसे रसा-भास हुआ है। इसी तरह अन्य रसों और भावोंके उदाहरण समझ लें।

काव्यमें दोषोंका क्या स्वरूप है? ऐसी आशङ्का होनेपर कहते हैं—दोष काव्यके अपकर्षक होते हैं।

जैसे काणत्व और खञ्जत्व आदि दोष शरीरद्वारा शरीरी (आत्मा) को अपकृष्ट करते हैं उसी तरह श्रुतिदुष्ट और अपुष्टार्थत्व आदि दोष शब्द और अर्थके

देहद्वारेणेव, व्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो मूर्खत्वादय इव साक्षात्काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षयन्तः काव्यस्यापकर्षका इत्युच्यन्ते। एषां विशेषोदाहरणानि वक्ष्यामः।

गुणादयः किंस्वरूपा इत्युच्यते—

उत्कर्षहेतवः प्रोक्ता गुणालङ्काररीतयः ॥ ३ ॥

गुणाः शौर्यादिवत्, अलङ्काराः कटककुण्डलादिवत्, रीतयोऽवयवसंस्थानविशेषवत्, देहद्वारेणेव शब्दार्थद्वारेण तस्यैव काव्यस्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्तः काव्यस्योत्कर्षका इत्युच्यन्ते। इह यद्यपि गुणानां रसधर्मत्वं तथापि

मूर्खत्वादयो यथा देहिनं साक्षात् अपकर्षन्ति तथैव—निर्वेदादिव्यभिचारिभावादेः स्वशब्दवाच्यत्वादयो दोषाः साक्षात्काव्यस्यात्मभूतं रसमपकर्षन्ति, अतस्ते दोषाः काव्यस्याऽपकर्षका उच्यन्ते इत्यन्वयाऽनुसारी विवरणांऽशः। एषां = दोषाणां विशेषोदाहरणानि, वक्ष्यामः=कथयिष्यामः, सप्तमे परिच्छेद इति भावः। एतेन काव्यस्याऽपकर्षहेतवो दोषा इति प्रतिपादितम्। अथ काव्यस्योत्कर्षहेतवः के इति जिज्ञासायामाह—**उत्कर्षहेतव इति।** गुणाऽलङ्काररीतय उत्कर्षहेतवः प्रोक्ताः ॥ ३ ॥ विवृणोति—**गुणा इति।** गुणाः = माधुर्यादयः, देहिनां शौर्यादिवत्, अलङ्काराः = उपमादयः, देहिना कटककुण्डलादिवत् = वलयकर्णवेष्टनादिवत्, रीतयः = वैदर्म्यादयः, देहिनाम् अवयवसंस्थानविशेषवत् = हस्तपादाद्यवयवस्थितिविशेषवत्, शौर्यादयो गुणा देहिनां देहद्वारेणेव माधुर्यादयो गुणाः शब्दार्थद्वारेण तमेव काव्यस्यात्मभूतं रसमुत्कर्षयन्तः, काव्यस्योत्कर्षकाः = उत्कर्षकारकाः, इत्युच्यन्ते।

द्वारा काव्यके आत्मभूत रसको दूषित करते हैं। इसी तरह मूर्खत्व आदि दोष जैसे साक्षात् आत्माको अपकृष्ट करते हैं उसी तरह निर्वेद आवेग आदि व्यभिचारी भाव स्वशब्दवाच्यत्व (अपने वाचक शब्दोंसे कहना) आदि दोषसे काव्यके आत्मभूत रसका साक्षात् अपकर्ष करते हैं; इसलिए दोषोंको काव्यका अपकर्षक कहते हैं। इनके विशेष उदाहरण (सप्तम परिच्छेदमें) कहेंगे।

काव्यमें गुणोंका क्या स्वरूप है? ऐसी आकाङ्क्षाका समाधान करते हैं—गुण, अलङ्कार और रीतियां काव्यमें उत्कर्षके कारण हैं ॥ ३ ॥

शूरता आदि गुण, कटक और कुण्डल आदि अलङ्कार और हस्तपाद आदि अवयवोंकी स्थिति जैसे देहद्वारा आत्मभूत देही (मनुष्य) को उत्कृष्ट करनेसे उनके उत्कर्षक होते हैं वैसे ही माधुर्य आदि गुण, यमक और उपमा आदि अलङ्कार और वैदर्भी आदि रीतियां ये सब शब्द और अर्थके द्वारा काव्यके आत्मभूत रसको उत्कृष्ट बनाते हुए उनके उत्कर्षक कहे जाते है। यद्यपि गुण रसके धर्म हैं तथाऽपि गुण शब्दकी यहाँ पर गुणके अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थमें लक्षणा होती है। इसी

गुणशब्दाऽत्र गुणाभिव्यञ्जकशब्दार्थयोरुपचर्यते। अतश्च 'गुणाभिव्यञ्जकाः शब्दा रसस्योत्कर्षकाः' इत्युक्तं भवतीति प्रागेवोक्तम्। एषामपि विशेषोदाहरणानि वक्ष्यामः।

इति श्रीमन्नारायणचरणारविन्दमधुव्रत-साहित्यार्णवकर्णधार-ध्वनिप्रस्थापन-परमाचार्य-कविसूक्तिरत्नाकराऽष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग-सान्धिविग्रहिक-महापात्र-श्रीविश्वनाथकविराजकृतौ साहित्यदर्पणे काव्यस्वरूपनिरूपणो नाम प्रथमः परिच्छेदः।

ननु रसमात्रधर्माणां गुणानां कथं शब्दाऽर्थोत्कर्षकत्वमित्याशङ्क्य समाधत्ते—**इहेति**। गुणशब्दः रसाऽभिव्यञ्जकशब्दार्थयोः, उपचर्यते = लक्ष्यते। एषामपि = गुणानामपि। विशेषोदाहरणानि वक्ष्यामः = कथयिष्यामः, अष्टमपरिच्छेदे इति शेषः।

इतीति। भगवन्नारायणस्य, चरणाऽरविन्दे = चरणौ अरविन्दे इव तयोः, मधुव्रतः = भ्रमरः, साहित्यम् एव अर्णवः = समुद्रः, तस्य कर्णधारः = नाविकः। ध्वनिप्रस्थापने = ध्वनिप्रतिष्ठाकरणे, परमाचार्यः श्रेष्ठदेशिकः, कविसूक्तय एव रत्नानि, तेषाम् आकरः=खनिः, उत्पत्तिस्थानम् इति भावः। अष्टादशभाषा एव, वारविलासिन्यः= गणिकाः, तासां भुजङ्गः=विटः, सान्धिविग्रहिकः = सन्धिविग्रहाऽधिकारी, महापात्रः = प्रधानमन्त्री विश्वनाथकविराजः = कवीनां राजा कविराजः, कविश्रेष्ठः। कविराजलक्षणं यथा काव्यमीमांसायां राजशेखरः—"यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे, तेषु तेषु प्रबन्धेषु, तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः" इति विश्वनाथश्चाऽसौ कविराजः, तत्कृतौ= तद्रचनायां साहित्यदर्पणे काव्यस्वरूपनिरूपण नाम प्रथमः परिच्छेदः।

इति श्रीशेषराजशर्मप्रणीतायां चन्द्रकलाऽभिख्यायां साहित्यदर्पण-टीकायां प्रथमः परिच्छेदः॥ इति।

कारणसे गुणके अभिव्यञ्जक शब्द और अर्थ रसके उत्कर्षक होते है यह तात्पर्य है, यह पहले ही कहा गया है। इनके भी विशेष उदाहरण (अष्टम परिच्छेदमें) कहेंगे॥३॥

यह श्रीमान् नारायणके चरणकमलोंके भ्रमर, साहित्यरूप समुद्रके कर्णधार (नाविक), ध्वनियोंके स्थापनमें परम आचार्य, कवियोंके सूक्तिरूप रत्नोंके रत्नाकर (समुद्र), अष्टादश भाषारूप वारविलासिनियोंके भुजङ्ग (विट), सन्धिविग्रह करनेवाले महापात्र श्रीविश्वनाथ कविराजकी कृतिरूप साहित्यदर्पणमें काव्यके स्वरूपका निरूपण करनेवाला प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ॥

साहित्यदर्पणके अनुवादमें प्रथम परिच्छेद समाप्त हुआ

द्वितीयः परिच्छेदः

वाक्यस्वरूपमाह—

वाक्यं स्याद्योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्तः पदोच्चयः ।

योग्यता=पदार्थानां परस्परसंबन्धे बाधाभावः । पदोच्चयस्यैतदभावेऽपि वाक्यत्वे 'वह्निना सिञ्चति' इत्याद्यपि वाक्यं स्यात् । आकाङ्क्षा=प्रतीतिपर्य-

---

"वाक्यं रसात्मकं काव्यम्" इति काव्यलक्षणं प्रतिपादितम् । तत्र किं नाम वाक्यं कश्च रस इति जिज्ञासायां काव्यलक्षणकुक्षिप्रविष्टं वाक्यं लक्षयितुमुपक्रमते—**वाक्यस्वरूपमिति** । स्वम् = असाधारण, रूप = स्वरूपं, लक्ष्यस्येतरव्यावर्तको धर्म, लक्षणमिति भाव: ।

वाक्यलक्षणमाह—**वाक्यमिति** । योग्यताऽऽकाङ्क्षाऽऽसत्तियुक्तः पदोच्चयो वाक्य स्यात् इत्यन्वय. । योग्यतया आकाङ्क्षया आसत्त्या च युक्तः पदोच्चयः = पदसमूहो वाक्यमिति भावः ।

कारिकां विवृणोति—**योग्यतेति** । पदार्थानां = पदजन्यप्रतीतिविषयाणां, गवादीनामिति भावः । परस्परसम्बन्धे = मिथःसंसर्गे, बाधाऽभावः = प्रतिबन्धाऽभावो योग्यता इत्यर्थः ।

योग्यतायाः सार्थकतां प्रदर्शयति—**पदोच्चयस्येति** । पदोच्चयस्य = पदसमूहस्य, एतदभावेऽपि = योग्यताऽभावेऽपि, वाक्यत्वे, अभ्युपगत इति शेषः "वह्निना सिञ्चति" इत्याद्यपि=पदयुग्ममिति शेषः, वाक्यं, स्यात् = भवेत् । अयं भावः—"वह्निना सिञ्चति" इत्यत्र सेकं प्रति वह्नेः करणतायां योग्यताऽभावान्न वाक्यत्वम् । सेकं प्रति जलादिद्रवद्रव्यस्यैव करणत्वाज्जलेन सिञ्चति इत्यादेरेव वाक्यत्वं न "वह्निना सिञ्चति" इत्यस्येति भावः ।

अथाऽवसरप्राप्तामाकाङ्क्षां लक्षयति—**आकाङ्क्षेति** । प्रतीतिपर्यवसानविरह आकाङ्क्षेति । प्रतीतिः = ज्ञानं, तत्पर्यवसानं = तत्समाप्तिः, तद्विरहः = तदभावः ।

वाक्यका लक्षण कहते हैं—

योग्यता, आकाङ्क्षा और आसत्तिसे युक्त पदसमूहको वाक्य कहते हैं । पदार्थोंके परस्पर सम्बन्धमें बाध न होनेको "योग्यता" कहते हैं । योग्यताके न होनेपर भी पदसमुदायको वाक्य मानें तो "वह्निना सिञ्चति" अर्थात् आगसे सेंचन करता है, इत्यादि प्रयोग भी वाक्य होगा । सेचन क्रियामें वह्निकी करणता न होने से (योग्यता न होनेसे) यह वाक्य नहीं है ।

वसानविरहः। स च श्रोतुर्जिज्ञासारूपः। निराकाङ्क्षस्य वाक्यत्वे, 'गौरश्वः पुरुषो हस्ती' इत्यादानामपि वाक्यत्वं स्यात्। आसत्तिर्बुद्ध्यविच्छेदः। बुद्धिविच्छेदेऽपि वाक्यत्वे इदानीमुच्चारितस्य देवदत्तशब्दस्य दिनान्तरोच्चारितेन गच्छतीति पदेन सङ्गतिः स्यात्। अत्राकाङ्क्षायोग्यतयोरात्मार्थधर्मत्वेऽपि पदोच्चयधर्मत्वमुपचारात्।

स च = प्रतीतिपर्यवसानविरहश्च, श्रोतुः = आकर्णयितुः, जिज्ञासारूपः, अयं भावः—पदसमूहश्रवणाऽनन्तरमपि यत्र श्रोतुर्जिज्ञासा विद्यते सा आकाङ्क्षा, यथा घटाऽभावाऽभावः घटो भावरूपो भवति तथैव साऽऽकाङ्क्षाऽपि भावरूपैव।

आकाङ्क्षायाः सार्थकतां प्रदर्शयति—**निराकाङ्क्षस्येति**। निराकाङ्क्षस्य = आकाङ्क्षारहितस्य, पदोच्चयस्येति शेषः, वाक्यत्वे अभ्युपगते "गौरश्वः पुरुषो हस्ती" इत्यादीनामपि = पदानां, वाक्यत्वं स्यात्। अयं भावः—गौरश्वः पुरुषो हस्तीत्यत्र आकाङ्क्षाया अभावेन न वाक्यत्वम्।

आसत्तिं लक्षयति—**आसत्तिरिति**। बुद्ध्यविच्छेदः = बुद्धेः=(पदार्थोपस्थितेः) अविच्छेदः=(अव्यवधानम्) आसत्तिः। पदार्थानां मिथो व्यवधानाऽभाव आसत्तिरिति भावः।

आसत्तेः सार्थकतां दर्शयति—**बुद्धिविच्छेदेऽपि** पदार्थोपस्थितिविच्छेदेऽपि वाक्यत्वेऽभ्युपगत इति शेषः। इदानीम् = अधुना, अस्मिन् समय इति भावः। उच्चरितस्य = प्रयुक्तस्य, देवदत्तशब्दस्य = देवदत्तपदस्य, दिनान्तरोच्चरितेन = दिनान्तरपदं कालान्तरोपलक्षकं, ततश्च कालान्तरप्रयुक्तेनेत्यर्थः। गच्छतीति पदेन, संगतिः = वाक्यव्यवहारोपयोगिसम्बन्धः स्यात्। अय भावः, आसत्तेरभावेऽपि पदोच्चयस्य वाक्यत्वेऽभ्युपगते इदानीमुच्चरितस्य "देवदत्त" इति पदस्य कालान्तरे उच्चरितेन "गच्छती"ति पदेन संगतिः स्यात्, परं तत्र बुद्धिविच्छेदेन वाक्यत्वं न भवति।

ननु आसत्तेर्विषयतासम्बन्धेन पदोच्चयधर्मत्वेऽपि, "इच्छाद्वेषप्रयत्नसुखदुःखज्ञानात्मनो लिङ्गम् (न्या० द० १–१–१०) इति न्यायदर्शनाऽनुसारेण आकाङ्क्षायाः (इच्छायाः) आत्मधर्मत्वात्कथं पदोच्चयधर्मत्वमितिचेन्न, उपचारात् = स्वजन्यजनकत्वरूपात् परम्परासम्बन्धात्, स्वपदेन आकाङ्क्षा गृह्यते, तज्जन्यो वाक्यार्थः, तज्जनकत्वं पदोच्चये ततश्च तादृशात् परम्परासम्बन्धात् आकाङ्क्षायाः पदोच्चयधर्मत्वम्।

ज्ञानकी समाप्तिके अभावको 'आकाङ्क्षा' कहते हैं। वह श्रोताकी जिज्ञासारूप है। आकाङ्क्षासे रहित पदसमूहको वाक्य मानें तो "गौरश्वः पुरुषो हस्ती" "गाय, घोड़ा, पुरुष, हाथी" इत्यादि पदसमूह भी वाक्य हो जायगा। आकाङ्क्षाके न रहनेसे यह वाक्य नहीं है। बुद्धिका विच्छेद अर्थात् व्यवधान न होनेको "आसत्ति" कहते हैं बुद्धिविच्छेद होनेपर भी पदसमूहको वाक्य मानें तो इस समयमें उच्चारण किये गये "देवदत्तः" शब्दका दूसरे दिनमें उच्चारण किये गये "गच्छति" जाता है इस पदके

वाक्योच्चयो महावाक्यम्—

योग्यताकाङ्क्षासत्तियुक्त इत्येव ।

इत्थं वाक्यं द्विधा मतम् ॥ १ ॥

इत्थमिति वाक्यत्वेन महावाक्यत्वेन च ।

उक्तं च तन्त्रवार्तिके—

'स्वार्थबोधसमाप्तानामङ्गाङ्गित्वव्यपेक्षया ।
वाक्यानामेकवाक्यत्वं पुनः संहृत्य जायते ॥' इति ।

एवमेव योग्यतायाः पदाऽर्थधर्मत्वेऽपि स्वाश्रयोपस्थापकत्वसम्बन्धरूपात् उपचारात्, स्वपदेन योग्यता गृह्यते, तदाश्रयः पदार्थः, तदुपस्थापकत्वसम्बन्धः पदोच्चये, ततश्च तादृशात्परम्परासम्बन्धायोग्यताया अपि पदोच्चयधर्मत्वं बोध्यम् । योग्यतयाऽऽकाङ्क्षयाऽऽसत्त्या च युक्तानि पदानि वाक्यमिति तल्लक्षणं पर्यवसन्नम् ।

महावाक्यं लक्षयति–"**वाक्योच्चयो महावाक्यम्**" इति । अवयवधर्मस्याऽवयविन्यपि गृह्यमाणत्वाद्योग्यताऽऽकाङ्क्षासत्तियुक्त एव वाक्योच्चयो महावाक्यम् ।

वाक्यं सकलयति— **इत्थमिति** । इत्थ=वाक्यत्वेन महावाक्यत्वेन च, वाक्यं, द्विधा = प्रकारद्वयेन, मतं=संमतम् । अत्र प्राचां संवादमाह—**स्वाऽर्थबोध इति** । कुमारिलभट्टस्य तन्त्रवार्तिकस्थं पद्यमेतत् । स्वाऽर्थबोधे समाप्ताना वाक्यानाम् अङ्गाऽऽङ्गित्वव्यपेक्षया पुनः संहृत्य एकवाक्यत्वं जायत इत्यन्वयः । स्वार्थबोधे=निजाऽभिधेयज्ञापने, समाप्तानां=निराकाङ्क्षाणां, वाक्यानां=पदोच्चयानाम्, अङ्गाऽङ्गित्वव्यपेक्षया=गौणमुख्यत्वपर्यालोचनया, पुनः = भूयः, संहृत्य=मिथः समेत्य, एकवाक्यत्व=विशिष्टैकार्थप्रतिपादकत्वं, जायते = उत्पद्यते ।

साथ सगति होगी, अतः बुद्धिविच्छेदके होनेसे यह वाक्य नहीं है । यहाँपर आकाङ्क्षा आत्माका धर्म है और योग्यता पदार्थका धर्म है तथाऽपि परम्परासम्बन्धसे ये पदसमूहके भी धर्म माने गये हैं ।

योग्यता, आकाङ्क्षा और आसत्तिसे युक्त वाक्यसमूहको "महावाक्य" कहते हैं । इस प्रकार वाक्यके दो भेद हैं—वाक्य और महावाक्य ॥ १ ॥

कहा भी है—अपने अपने अर्थका बोधन कर समाप्त हुए वाक्योंका अङ्गाऽङ्गिभाव सम्बन्धसे फिर मिलकर एक वाक्यता (महावाक्यता) हो जाती है ॥

तत्र वाक्यं यथा—'शून्यं वासगृहम्–' इत्यादि (२६ पृ०) । महावाक्य यथा–रामायण–महाभारत–रघुवंशादि ।

पदोच्चयो वाक्यमित्युक्तम् ।

तत्र किं पदलक्षणमित्यत आह—

वर्णाः पदं प्रयोगार्हानन्वितैकार्थबोधकाः ।

यथा—घटः । प्रयोगार्हेति प्रातिपदिकस्य व्यवच्छेदः । अनन्वितेति

उदाहरति–**तत्रेति** । तत्र=वाक्यमहावाक्ययोर्मध्ये, वाक्य यथा=“शून्य वासगृहम्” इत्यादि (२६पृ०) । अत्राऽनेकपदानां संघातेनैकवाक्याऽन्तःपातित्वं महावाक्यत्वम्, यथा–रामायणमहाभारतरघुवंशादि । अत्र तत्तत्काण्डेषु तत्तत्पर्वसु च स्थितानां वाक्यानां समवायेन ग्रन्थरूपमहावाक्याऽन्तःपातित्वं जायत इति भावः ।

पदं लक्षयति—**वर्णा इति** । प्रयोगार्हाऽनन्वितैकार्थबोधका वर्णाः पदमित्यन्वयः । प्रयोगार्हाः = प्रयोगयोग्याः, सुप्तिङ्विभक्तियुक्ता इति भावः, अनन्विताः = मिथोऽन्वयरहिताः, य एकोऽर्थः, तद्बोधकाः = तत्प्रतिपादकाः, वर्णाः = स्वरव्यञ्जनरूपा अक्षराः, पदम्, इति पदलक्षणम् । अत्र वर्णा इति बहुवचनमविवक्षितं, तेन क्वचिदेकस्य क्वचिद् द्वयोरपि वर्णयोः परिग्रहो भवति ।

उदाहरति—**यथा घट इति** । घट इत्यत्र घकारोत्तरवर्ती अकारस्तथा टकारोत्तरवर्ती अकारो विसर्जनीयश्चेत्थ वर्णसंघातेन अनन्वितः = पदान्तरेणाऽन्वयरहितः, कम्बुग्रीवादिमान् एकः पदार्थोऽवबुद्ध्यते । पदलक्षणे पदकृत्यं प्रदर्शयति—**प्रयोगार्हेति** । प्रयोगार्हः = प्रयोगयोग्यः, प्रयोगार्हत्वं च विभक्त्यन्तत्वं, तच्च सुब्विभक्तियुक्तत्वं तिङ्विभक्तियुक्तत्वं वा, तेन च प्रातिपदिकस्य = सुब्विभक्तिरहितस्य अर्थवच्छब्दस्य व्यवच्छेदः = व्यावृत्तिः । अत्र प्रातिपदिकशब्देन भूवाप्रभृतिधातोश्च ग्रहणं, तथा च “प्रयोगार्ह” पदेन तिङ्विभक्तिरहितस्य 'भूवा” प्रभृतिधातोश्च व्यवच्छेदो भवतीत्येषोऽर्थोऽपि समुच्चितो भवति । **अनन्वितेति** । अनन्वितपदेन वाक्यमहावाक्ययोः = व्यवच्छेदः इति शेषः । अयं भाव., वाक्यानि महावाक्यानि च अन्वितानि भवन्ति, अनन्वितकथनेन वाक्यमहावाक्ययोर्व्यावृत्तिर्भवति ।

उनमें वाक्य जैसे –“शून्यं वासगृहम्” इत्यादि, महावाक्य जैसे—रामायण, महाभारत और रघुवंश आदि हैं ।। १ ।।

पदसमूहको 'वाक्य” कहा है तो पदका लक्षण क्या है ?

यह कहते हैं–**वर्णा इति** । प्रयोगके योग्य, अनन्वित, एक अर्थके बोधक वर्णोंको “पद” कहते हैं । जैसे—'घटः” यह पदका उदाहरण है । 'प्रयोगार्ह” कहनेसे प्रातिपदिक और भू वा प्रभृति धातुओंकी व्यावृत्ति होती है, सुप् विभक्तिकी उत्पत्तिके विना प्रातिपदिक और तिङ् विभक्तिकी उत्पत्तिके विना धातु प्रयोगार्ह अर्थात् अपद होनेसे

वाक्यमहावाक्ययोः। एकेति साकाङ्क्षानेकपदवाक्यानाम्। अर्थबोधका इति कचटतपेत्यादीनाम्। वर्णा इति बहुवचनमविवक्षितम्।

अर्थो वाच्यश्च लक्ष्यश्च व्यङ्ग्यश्चेति त्रिधा मतः ॥ २ ॥

एषां स्वरूपमाह—

वाच्योऽर्थोऽभिधया बोध्यो लक्ष्यो लक्षणया मतः।

व्यङ्ग्यो व्यञ्जनया ताः स्युस्तिस्रः शब्दस्य शक्तयः ॥ ३ ॥

एकेति। 'एक' पदेन, साकाङ्क्षाऽनेकपदवाक्यानाम्=साकाङ्क्षाणाम्=आकाङ्क्षायुक्तानाम् अनेकपदानाम् अनेकवाक्याना च व्यवच्छेदः = व्यावृत्तिर्भवति। यथा "शून्यं वासगृहं विलोक्य" इत्यत्र साकाङ्क्षाणामनेकपदानां तथा "यस्याऽस्ति ज्ञ शलकसीम्नि जलधिः" इत्यत आरभ्य "असावधार्मिककुलम्" इत्यन्तं यावत् साकाङ्क्षाणामनेकवाक्यानां (महावाक्यानाम्) च व्यवच्छेदो भवति।

अर्थबोधका इति। "अर्थबोधका" इति विशेषणेन कचटतपेत्यादीनां वर्णानां व्यवच्छेदः। वर्णा इति बहुवचनमविवक्षितम्। अय भावः—क्वचित् "अः" इति कथनेन एकेनाऽपि वर्णेन—"अकारो वासुदेवः स्यात्" इति कोशप्रमाणतः वासुदेवरूपाऽर्थबोधनात्पदत्व भवति। एवमेव "गौ" रिति पदेन गकारोत्तरवर्त्यौकाररूपाद्वर्णद्वयात्सास्नालाङ्गूलादियुक्तस्य पशोर्बोधो भवत्यतः वर्णा इति बहुवचनम् अविवक्षितम्, वक्तुं न इष्टमित्यर्थः।

अथ पदपदार्थयोः सम्बन्धस्य नित्यत्वात्पदलक्षणाऽनन्तरं अर्थं निरूपयितुमुपक्रमते—**अर्थ इति**। वृत्या पदप्रतिपाद्यत्वम् अर्थत्वम्। स चाऽर्थस्त्रिविधः इति त्रैविध्यं प्रतिपादयति **अर्थ इति** ॥ २ ॥ एषां=वाच्यादीनामर्थानामेकैकशः स्वरूपम् (लक्षणम्) आह-**वाच्योर्थ इति**। अभिधया वाच्योऽर्थो बोध्यः, लक्षणया लक्ष्योऽर्थो मतः; व्यञ्जनया व्यङ्ग्योऽर्थो मतः। शब्दस्य ताः=अभिधाद्याः, तिस्रः शक्तयः=वृत्तय इति भावः।

वस्तुतस्तु अत्र ग्रन्थकारेण विश्वनाथकविराजेन शक्तिपदं वृत्यर्थं प्रयुक्तम्। शक्तिपदमभिधार्थमेव प्रयुञ्जन्ति विद्वांसः। वर्ततेऽर्थोऽनया इति वृत्तिः ॥ ३ ॥

प्रयोगयोग्य नहीं होते हैं। "अनन्वित" कहनेसे वाक्य और महावाक्यकी व्यावृत्ति होती है, क्योंकि ये अन्वित है 'एक' कहनेसे साकाङ्क्ष, अनेकपद और अनेक वाक्योंकी व्यावृत्ति होती है। "अर्थबोधक" कहनेसे "कचटतप" इत्यादि वर्णोंकी व्यावृत्ति होती है। "वर्णाः" यहाँ पर बहुवचन विवक्षित नहीं हैं, क्योंकि एक वर्णवाले और दो वर्णोंवाले भी पद होते हैं।

वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य इस प्रकार अर्थके तीन भेद होते है ॥ २ ॥

अर्थोंका लक्षण कहते हैं—अभिधासे वाच्यअर्थका, लक्षणासे लक्ष्यअर्थका और व्यञ्जनासे व्यङ्ग्यअर्थका बोध होता है, इसप्रकार शब्दकी तीन शक्तियाँ (वृत्तियाँ) होती हैं ॥ ३ ॥

ता अभिधाद्याः।

तत्र संकेतितार्थस्य बोधनादग्रिमाभिधा।

उत्तमवृद्धेन मध्यमवृद्धमुद्दिश्य 'गामानय' इत्युक्ते तं गवानयनप्रवृत्तमुपलभ्य बालोऽस्य वाक्यस्य 'सास्नादिमत्पिण्डानयनमर्थः' इति प्रथमं प्रति-

---

अभिधां निरूपयति—**तत्रेति**। तत्र=अभिधाऽऽदिषु मध्ये। सङ्केतितार्थस्य = मुख्यार्थस्य, बोधनात् = बोधजननात्, अग्रिमा = आदिमा, शक्तिः, अभिधा = अभिधाऽऽख्या।

अयं भावः। इदं पदममुमर्थं बोधयतु इति, अस्मात्पदादयमर्थो बोद्धव्य इति वा इच्छा सङ्केतः, स संजातः अस्य सङ्केतितः स चाऽसौ अर्थः मुख्योऽर्थः, तद्बोधयित्री अभिधेति भावः। अत्र मुख्यत्वं च लक्ष्यव्यङ्ग्यार्थापेक्षया प्रथमोपस्थितिविषयत्वं बोध्यम्। तत्र इदं पदमित्यत्र इदं पदमेतदर्थविषयकबोधजनकं भवतु इति। अस्मात् इत्यादेरर्थस्तु अयमर्थ एतत्पदजन्यबोधविषयतावान् भवतु इति। इत्थं च सङ्केतितार्थबोधजनकवृत्तित्वमभिधात्वमिति लक्षणं पर्यवसन्नम्।

पुरातनैर्विद्वद्भिः सङ्केतग्रहोपायाः प्रदर्शिताः, ते यथा—

"शक्तिग्रहं व्याकरणोपमानकोशाऽऽप्तवाक्याद् व्यवहारतश्च।
वाक्यस्य शेषाद्विवृतेर्वदन्ति सान्निध्यतः सिद्धपदस्य वृद्धाः॥"

व्याकरणात्, उपमानात्, कोशात्, आप्तवाक्यात्, व्यवहारात्, वाक्यशेषात्, विवृतेः सिद्धपदस्य सान्निध्याच्च इत्थं प्रकाराष्टकात् वृद्धाः शक्तिग्रहं वदन्ति। अत्र प्रकारत्रयं प्रदर्शितं विश्वनाथकविराजेन। तत्रादौ व्यवहाराच्छक्तिग्रहं प्रदर्शयति—**उत्तमवृद्धेनेति**। उत्तमवृद्धेन=संकेतग्रहवता प्रयोजकेन, मध्यमवृद्धं=प्रयोज्यम्, उद्दिश्य = अनूद्य, "गाम् आनय" इत्युक्ते, तं=प्रयोज्यवृद्धं, गवानयनप्रवृत्तं = धेन्वानयनतत्परम्, उपलभ्य=अनुमाय, गवानयनक्रिययेति शेषः। बालः = संकेतग्रहाऽभाववान् माणवकः, अस्य = पूर्वोक्तस्य, वाक्यस्य = पदसमूहस्य, "गाम् आनये"त्याकारकस्येति भावः। सास्नादिमत्पिण्डानयनं = गलकम्बललाङ्गूलादिमज्जन्त्वानयनम्, अर्थः = अभिधेयः,

---

उनमें सङ्केतित (मुख्य) अर्थका बोध करनेसे पहली वृत्तिको "अभिधा" कहते हैं।

उत्तम वृद्धके मध्यम वृद्धको उद्देश्य करके "गाय लाओ" ऐसा कहनेपर मध्यम वृद्धको गाय लानेके लिए तत्पर अनुमान कर बालक इस वाक्यका "सास्ना (गलकम्बल) आदिसे युक्त पिण्डको लाना अर्थ है ऐसा पहले समझ लेना है। पीछे "गायको बाँधो" "घोड़ेको लाओ" इत्यादि वाक्यमे अन्वय और व्यतिरेकसे गोशब्दका सास्ना (गलकम्बल) वाला पिण्ड अर्थ है और आनयन पदका लाना अर्थ है ऐसे सकेत (शक्ति) को निश्चय करता है। इसप्रकार व्यवहारसे शक्तिग्रहका यह उदाहरण है।

पद्यते, अनन्तरं च 'गां बधान' 'अश्वमानय' इत्यादावावापोद्वापाभ्यां गोशब्दस्य 'सास्नादिमानर्थः' आनयनपदस्य च 'आहरणमर्थः' इति संकेतमवधारयति। क्वचिच्च प्रसिद्धपदसमभिव्याहारात्, यथा—'इह प्रभिन्नकमलोदरे मधूनि मधुकरः पिबति' इत्यत्र। क्वचिदाप्तोपदेशात्, यथा—'अयमश्वशब्दवाच्यः' इत्यत्र। तं च सङ्केतितमर्थं बोधयन्ती शब्दस्य शक्त्यन्तरानन्तरिता शक्तिरभिधा नाम।

इति = एवं, प्रथमं = प्रतिपदशक्तिग्रहात्पूर्वं, प्रतिपद्यते = अनुमानेन बुध्यते। अनन्तरं च = अखण्डवाक्यज्ञानस्य पश्चादिति भावः। "गां बधान, अश्वमानय" इत्यादौ = उक्ते सति, आवापोद्वापाभ्याम् = अन्वयव्यतिरेकाभ्याम्। तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् अन्वयः, तदभावे तदभावो व्यतिरेकः। गोशब्दस्येति। गोशब्दसत्त्वे सास्नादिमत्पदार्थबोधसत्त्वम्, इत्यन्वयः। आनयशब्दाऽभावे आनयनपदार्थबोधाऽभावः इति व्यतिरेकः। गां बधान = गोशब्दसत्त्वे सास्नादिमत्पदार्थबोधसत्त्वम्, इति अन्वयः। बधानेति शब्दाऽभावे बन्धनपदार्थबोधाऽभावः इति व्यतिरेकः।

"अश्वम् आनय" इत्यत्र अश्वशब्दसत्त्वे पुच्छाऽऽदिमत्पदार्थबोधसत्त्वम्, इत्यन्वयः। "आनये"तिशब्दासत्त्वे आहरणपदार्थबोधाऽभाव इति व्यतिरेकः।

इति सङ्केतं = शक्तिम्, अवधारयति=निश्चिनोति।

सङ्केतग्रहस्य प्रकारान्तरं प्रदर्शयति— **क्वचिच्चेति**। क्वचिच्च = कुत्रचिच्च। प्रसिद्धपदसमभिव्याहारात् = प्रसिद्धस्य (गृहीतसङ्केतस्य), पदस्य (शब्दस्य) समभिव्याहारात् (समीपोच्चारणात्), यथा—इहेति। मधुकरपदशक्तिज्ञानरहितस्य पुरुषस्य इह = अस्मिन्, प्रभिन्नकमलोदरे = विकसितकमलमध्ये, मधुकरः, मधूनि = पुष्परसान् पिबति = धयति। अस्मिन् वाक्ये इहेत्यादीनां गृहीतशक्तिकानां पदानां समीपोच्चारणात् व्युत्पित्सुः पुरुषो मधुकरपदस्य भ्रमरे शक्तिम् अवधारयति।

सङ्केतग्रहस्य अन्यं प्रकारं निदर्शयति—**क्वचिदिति**। क्वचित् = कुत्रचित्, आप्तोपदेशात्=आप्तस्य (यथार्थवक्तुः) उपदेशात् (शिक्षणात्) शक्तिम् अवधारयति इति शेषः। रागादिवशादपि यो नाऽन्यथावादी स आप्त इति चरके पतञ्जलिः। उदाहरति—अयम् अश्वशब्दवाच्यः अयं भावः—अश्वशब्दस्य शक्तिग्रहाऽभाववान् पुरुषः, कस्मिंश्चिन्मांसपिण्डे—"अयमश्वशब्दवाच्य" इति आप्तोपदेशेन शक्तिमवधारयति।

ग्रन्थकारेणाऽनुक्ता अन्येऽपि शक्तिग्रहप्रकाराः पूर्वनिर्दर्शितपद्याऽनुसारेण प्रदर्श्यन्ते।

कहींपर प्रसिद्ध अर्थवाले पदके समीप उच्चारणसे शक्तिग्रह होता है। जैसे—"इस विकसित कमलके बीचमें बैठकर मधुकर शहद पी रहा है" यहाँ पर प्रसिद्धार्थ पद कमलके समीपोच्चारणसे मधुकर पदका भ्रमरमें शक्तिग्रह होता है। कहीं पर आप्त-(यथार्थ वक्ता) के उपदेशसे शक्तिग्रह होता है। जैसे यह अश्व शब्दसे कहा जाता है।

सङ्केतो गृह्यते जातौ गुणद्रव्यक्रियासु च ॥ ४ ॥

जातिर्गोपिण्डादिषु गोत्वादिका । गुणो विशेषाधानहेतुः सिद्धो वस्तु-

१. तत्र व्याकरणादपि शक्तिग्रहो भवति । यथा—दक्षस्याऽपत्यं पुमान् दाक्षिः इति "अत इञ्" इति सूत्रेण इञ्प्रत्ययेन सिद्धस्य दाक्षिपदस्य व्याकरणाऽनुसारेण दक्षाऽपत्यरूपेऽर्थे शक्तिग्रहो भवति ।

२. क्वचित् उपमानाच्छक्तिग्रहः । उपमानं नाम सादृश्यज्ञानं, तृतीयं प्रमाणं, तस्मादपि शक्तिग्रहो भवति । यथा—गवयपदार्थमजानन् पुरुषः "यथा गौस्तथा गवयः" इतिवाक्यादुपमानात् गोसदृशे मांसपिण्डे गवयपदस्य शक्तिमवधारयति ।

३. क्वचित्कोशाच्छक्तिग्रहः । मरुत्वत्पदार्थमजानन्पुरुषः "इन्द्रो मरुत्वान्मघवा बिडौजाः पाकशासन ।" इति कोशात् मरुत्वत्पदस्य इन्द्रे शक्तिग्रहमवधारयति ।

४ आप्तवाक्याच्छक्तिग्रहस्योदाहरणं ग्रन्थकारदिशा वर्णितम् ।

५. व्यवहाराच्छक्तिग्रहोऽपि तथैव पूर्वं प्रदर्शितः ।

६. क्वचिद्वाक्यशेषाच्छक्तिग्रहो भवति । यथा "यवमयश्चरुर्भवति" इत्यत्र आर्यप्रसिद्धया यवशब्दो दीर्घशूके प्रसिद्धः, म्लेच्छप्रसिद्धया कङ्गौ प्रसिद्धः, अतो यवपदस्य शक्तिग्रहे सन्दिग्धे सति "यत्राऽन्या ओषधयो म्लायन्ते अथैते मोदमाना इवोत्तिष्ठन्ति" इति वाक्यशेषात् यवशब्दस्य दीर्घशूके शक्तिग्रहः ।

७. क्वचित् विवृते (विवरणात्) शक्तिग्रहो भवति । यथा—"शक्तिः कवित्वबीजरूपः संस्कारविशेषः" इति । अस्या विवृतेः शक्तेः संस्कारविशेषे शक्तिग्रहः ।

८ क्वचित्सिद्धपदसान्निध्याच्छक्तिग्रहः स च ग्रन्थकारोक्तदिशा प्रदर्शित एव ।

उक्तमर्थं निगमयति—तं चेति । तं च = तादृशं च, सङ्केतितं = जातसङ्केतम्, अर्थं = पदाऽर्थं, बोधयन्ती=प्रतिपादयन्ती, शब्दस्य=पदस्य, शक्त्यन्तराऽनन्तरिता = शक्त्यन्तराभ्याम् (अन्यवृत्तिभ्याम्), लक्षणाव्यञ्जनाभ्याम् इति भावः, अनन्तरिता (अव्यवहिता) शक्तिः=वृत्तिः, अभिधा नाम लक्षणाव्यञ्जनाभ्यां प्रथममुपस्थिता मुख्या वृत्तिरभिधेति भावः । सङ्केतग्रहस्थानानि परिगणयति—**सङ्केत इति** । जातौ = सामान्ये, गुणद्रव्यक्रियासु च सङ्केतो गृह्यते इत्यन्वयः । ४ ॥

कारिकां विवृणोति—**जातिरिति** । नित्यत्वे सति अनेकसमवेतत्व जातित्वं

यहाँपर आप्तके उपदेशसे घोड़ेमें अश्व शब्दका शक्तिग्रह हुआ है । उस सङ्केतित (मुख्य) अर्थका बोध करानेवाली, शब्दका किसी दूसरी शक्ति (वृत्ति) से व्यवधानशून्य शक्ति (वृत्ति) को "अभिधा" कहते हैं । जाति, गुण, द्रव्य और क्रियामें सङ्केत (शक्ति) का ग्रहण किया जाता है ॥ ४ ॥

शब्द चार प्रकारके होते हैं—जातिवाचक, गुणवाचक, द्रव्यवाचक और क्रियावाचक ।

धर्मः। शुक्लादयो हि गवादिकं सजातीयेभ्यः कृष्णगवादिभ्यो व्यावर्तयन्ति। द्रव्यशब्दा एकव्यक्तिवाचिनो हरिहरडित्थडवित्थादयः। क्रियाः साध्यरूपा वस्तुधर्माः पाकादयः। एषु हि अधिश्रयणावश्रयणान्तादिपूर्वापरीभूतो

नित्या सती या अनेकासु गवादिव्यक्तिषु समवायसम्बन्धेन वर्तते सा जातिरिति भावः। जातिमुदाहरति-**जातिरिति**। गोपिण्डादिषु=व्यक्तिषु, विद्यमाना गोत्वादिका जातिः। **गुणं लक्षयति**—विशेषाधानहेतुत्वे सति सिद्ध वस्तुधर्मत्वं (द्रव्यधर्मत्वम्) गुणत्वम्। शुक्लत्वादिविशेषाधानहेतुः सिद्धः (निष्पन्नः, न तु साध्यः) क्रियारूपः वस्तुधर्मः = द्रव्यधर्मः गुण इति भाव। विशेषाधीनहेतुरित्यनेन जातेर्व्यावृत्तिः। गुणं विवृणोति — **शुक्लादयो हीति**। शुक्लादयः = गुणाः, गवादिकं = वस्तु, सजातीयेभ्यः = समानजातीयेभ्यः, कृष्णगवादिभ्यः, व्यावर्तयन्ति = व्यवच्छिन्दन्ति। सङ्केतग्रहस्थानं द्रव्यं विवृणोति—**द्रव्यशब्दा इति**। एकव्यक्तिवाचिनः = एकव्यक्तिवाचकाः, हरिहरडित्थडवित्थादयो द्रव्यशब्दा यदृच्छाशब्दा वा उच्यन्ते। क्रियां विवृणोति—वस्तुधर्माः = द्रव्यधर्माः, साध्यरूपाः = जन्यस्वभावाः, पाकादयः क्रियाः। एषु = साध्यरूपवस्तुधर्मेषु, पाकादिष्विति भावः। अधिश्रयणाऽवश्रयणान्तादिपूर्वाऽपरीभूतः=अधिश्रयणम् (चुल्ल्या स्थाल्या आरोपणम्) अवश्रयणम् (चुल्ल्याः स्थाल्या अवरोपणम्), अधिश्रयणाऽवश्रयणे (द्वन्द्वः)। आदिश्च अन्तश्च अन्तादी (द्वन्द्व), "राजदन्तादिषु परम्" इत्यनेन अन्तपदस्य पूर्वनिपातः। अधिश्रयणावश्रयणे अन्तादी यस्य सः, "अनेकमन्यपदार्थे" इति बहुव्रीहिः। पूर्वश्च अपरश्च पूर्वाऽपरौ (द्वन्द्वः)। अपूर्वाऽपरौ पूर्वाऽपरौ यथा सम्पद्यते तथाभूतः पूर्वाऽपरीभूतः। अधिश्रयणाऽवश्रयणान्तादिश्चाऽसौ पूर्वाऽपरीभूतः (कर्मधारय.)। अय भावः। अधिश्रयणम् आदिभूतः, अवश्रयणम् अन्तभूतः एतादृशो यो व्यापारकलापः= क्रियासमूहः स पाकादिशब्दवाच्य क्रियाशब्द इत्यर्थः। अत्र मुख्यो धात्वर्थस्तु फलं, यथाऽत्र पचेर्विक्लित्तिः। अत्र पूर्वः अधिश्रयणादिः, अपरः अवश्रयणादिः, तौ च पाकक्रियाऽवयवरूपौ, तत्र पूर्वस्य परं प्रति साधनत्वम्, अपरस्य पूर्वं प्रति साध्यत्वम् अस्ति।

'गो' आदि व्यक्तिमें रहनेवाले गोत्व आदि धर्मको "जाति" कहते हैं। विशेष अर्थके आधानके हेतुभूत सिद्ध वस्तुधर्मको "गुण" कहते हैं। जैसे कि शुक्ल आदि गुण गो आदि व्यक्तिको सजातीय कृष्ण गो आदिसे अलग करते हैं। अतः शुक्ल नील आदि, वस्तुके सिद्ध धर्म गुण है। एक व्यक्तिके वाचक हरि, हर, डित्थ और डवित्थ आदि द्रव्यशब्द हैं। इनसे एक ही व्यक्तिका बोध होता है। साध्यरूप पाक आदि वस्तुधर्मोंको "क्रिया" कहते हैं। इन साध्यरूप वस्तुधर्मोंमें चूल्हेपर चढ़ाना, पीछे उतारना इत्यादि पूर्व और अपर सम्पूर्ण क्रियासमूहको "पाक" आदि शब्दसे कहते हैं। व्यक्तिकी इन चार उपाधियोंमें संकेत (शक्ति) का ग्रहण होता है न कि व्यक्तिमें। यदि सकल व्यक्तियोंमें सङ्केतग्रह होगा तो व्यक्तियोंके आनन्त्यसे आनन्त्य

व्यापारकलापः पाकादिशब्दवाच्यः। एष्वेव हि व्यक्तेरुपाधिषु संकेतो गृह्यते, न व्यक्तौ; आनन्त्यव्यभिचारदोषापातात्।

अथ लक्षणा—

मुख्यार्थबाधे तद्युक्तो ययान्योऽर्थः प्रतीयते।
रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ लक्षणा शक्तिरर्पिता॥ ५॥

अतोऽवयवानां पूर्वाऽपरीभावो भवति। ततो बहवो व्यापारा मिलिता एका मुख्या क्रिया भवति। तदुक्तं वाक्यपदीये—

'यावत्सिद्धमसिद्धं वा साध्यत्वेनाऽभिधीयते।
आश्रितक्रमरूपत्वात्सा क्रियेत्यभिधीयते॥ इति।

इत्थं च सङ्केतग्रहस्थानानि चत्वारि जातिर्गुणो द्रव्यं क्रिया चेति।

भाष्यकारेणाऽप्युक्तं—"गौः शुक्लश्चलो डित्थ इति चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्ति"-रिति। उक्तमर्थमुपसंहरति—**एष्वेवेति**। एषु एव=जातिगुणद्रव्यक्रियारूपेषु, व्यक्तेः उपाधिषु=धर्मेषु, संकेतः = शक्तिः, गृह्यते = स्वीक्रियते। ननु अर्थक्रियाकारितया = अर्थाय (दुग्धादिरूपप्रयोजनाय) या क्रिया (गोरानयनादिक्रिया) तत्कारितया (तन्निर्वाहकत्वेन) प्रवृत्तिनिवृत्तियोग्या गवादिरूपा व्यक्तिरेव, अतः तत्रैव = गवादिव्यक्तावेव सङ्केतः = शक्तिः, अस्तु इति चेत्—

खण्डयति—**नेति**। व्यक्तौ सङ्केतो न गृह्यते। तत्र हेतुं प्रदर्शयति—**आनन्त्येति**। गवादिव्यक्तानामानन्त्येन सर्वत्र शक्तिग्रहे आनन्त्यदोषापातः। यदि च एकव्यक्तावेव संकेतग्रहस्तदा व्यभिचारदोषाऽऽपातः। अय भावः। सकलव्यक्तिषु शक्तिकल्पने नानाशक्तिकल्पनागौरवम्। कस्यांचिद्व्यक्तौ शक्तिकल्पने तदतिरिक्तव्यक्तिषु व्यभिचारः=अप्रसक्तिः। अतो व्यक्तेरुपाधिषु जात्यादिषु सङ्केतग्रहः।

अभिधाऽनन्तरं लक्षणं निरूपयति—**मुख्याऽर्थबाध इति**। मुख्याऽर्थबाधे रूढेः प्रयोजनात् वा यया तद्युक्तः अन्यः अर्थः प्रतीयते असौ लक्षणा शक्तिः, (सा च) अर्पिता इत्यन्वयः॥ ५॥

मुख्याऽर्थबाधे=मुख्याऽर्थस्य (शक्याऽर्थस्य "गङ्गायां घोषः" इत्यादौ गङ्गाऽऽदिशब्दस्य जलमयाद्यर्थस्य) बाधे (घोष इत्यादौ आधेये, प्राचीनमते अन्वयाऽनुपपत्तौ, नवीनमते तात्पर्यानुपपत्तौ), रूढेः = प्रसिद्धेः, अथवा प्रयोजनात् = लक्षणाफलात्,

---

दोष होगा। किसी व्यक्तिमें संकेतग्रह करें तो उससे इतर व्यक्तियोंमें अप्रसक्ति होनेसे व्यभिचार होगा। इस प्रकार व्यक्तिकी पूर्वोक्त चारे उपाधियोंमें संकेतका ग्रहण होता है॥ ४॥

अब लक्षणाका निरूपण करते हैं—

अभिधा शक्तिसे निरूपित मुख्य अर्थका बाध (प्राचीनोंके मतमें अन्वयकी

'कलिङ्गः साहसिकः' इत्यादौ कलिङ्गादिशब्दो देशविशेषादिरूपे स्वार्थेऽसंभवन् यया शब्दशक्त्या स्वसंयुक्तान् पुरुषादीन् प्रत्याययति, यया च

शैत्यपावनत्वादिरूपादिति भाव । अत्र—"ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" इति ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी अतो रूढिं प्रयोजनं वा उद्दिश्येत्यर्थः । यया = शक्त्या, वृत्त्येत्यर्थः । तद्युक्तः=मुख्यार्थेन येन केनचित्सम्बन्धेन सम्बद्धः, अन्यः अर्थः = मुख्यार्थभिन्नः अर्थः तटादिरिति भावः । प्रतीयते = बोध्यते, असौ = व्यापारः, लक्षणा शक्तिः, सा च अर्पिता = स्वाभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता वा । अत्र "मुख्यार्थबाधे" इत्यत्र बाधपदस्य प्राचीनमतानुसारेण "अन्वयानुपपत्तिरूपेऽर्थे सति "काकेभ्यो दधि रक्ष्यताम्" इत्यादौ उपादानलक्षणोदाहरणे काकपदस्य मुख्यार्थे अन्वयानुपपत्तेरभावात् लक्षणाया अप्रसक्तिः स्यात् अत. मुख्यार्थस्य बाधे=तात्पर्यानुपपत्तौ इत्यर्थः करणीय', ततः मुख्यार्थस्य तात्पर्यानुपपत्त्या दध्युपघातके लक्षणा । इत्थं चाऽत्र लक्षणाया हेतुत्रयं बोध्य—मुख्यार्थबाधः, मुख्यार्थसम्बन्धो रूढिप्रयोजनान्यतरश्चेति । तत्र च मुख्यार्थबाधमुख्यार्थसम्बन्धयोर्दण्डचक्रादिन्यायेन मिलितयोरेव कारण, रूढिप्रयोजनयोस्तु तृणारणिमणिन्यायेन कारणताप्रत्येकमेव कारणता । अयं भावः, यथा घटकार्योत्पत्त्यर्थं मिलितानामेव दण्डचक्रादीनां कारणता भवति तथैव लक्षणायामपि मुख्यार्थबाधमुख्यार्थसम्बन्धयो मिलितयोरेव कारणता, न पार्थक्येन। एवं च अग्नि प्रति तृणारणिमणीनां प्रत्येकमेव कारणता । तृ ।अव्यवहितोत्तरवर्तिनं अग्नि प्रति तृणस्य कारणता, अरणिमन्थनाऽव्यवहितोत्तरवर्तिनाग्नि प्रति अरणेः कारणता तथा सूर्यकान्तमण्यव्यवहितोत्तरवर्तिनमग्नि प्रति सूर्यकान्तमणेः कारणता, इत्थं च अग्नि प्रति तृणादीनां प्रत्येकस्य कारणता, तथैव कलिङ्गः साहसिक इति रूढिमत्यां लक्षणायां रूढेः कारणता, एव च "गङ्गाया घोषः" इति प्रयोजनवत्या लक्षणायां प्रयोजनस्य कारणता बोध्या ।

कारिकां विवृणोति कलिङ्ग इति । कलिङ्गः साहसिकः, कलिङ्ग ="जगन्नाथात्पूर्वभागे कृष्णातीरान्तरे शिवे । "कलिङ्गदेशः" इत्युक्तलक्षणलक्षितो देशविशेष', साहसिक.=साहसयुक्तः इत्यादौ, साहसस्य चेतनधर्मत्वात् कलिङ्गादिशब्दो देशविशेषादिरूपे अचेतने, स्वार्थे = वाच्यरूपे, असभवन्=अन्वयानुपपत्त्या अनुपपद्यमान, यया शब्दशक्त्या = पदवृत्त्या, स्वययुक्तान् = स्वेन (मुख्यार्थेन देशविशेषेण) संयुक्तान् =

अनुपपत्ति, नवीनोंके मतमें तात्पर्यकी अनुपपत्ति होनेपर रूढि (प्रसिद्धि) वा प्रयोजनका उद्देश्यकर जिस (वृत्ति) से अन्य अर्थकी प्रतीति होती है उसे "लक्षणा" कहते है । यह शक्ति अर्पित अर्थात् स्वाभाविकसे भिन्न है वा ईश्वरसे उद्भावित नहीं है ॥ ५ ॥

"कलिङ्गः साहसिकः" अर्थात् "कलिङ्गदेश साहसी है" इत्यादि वाक्यमें कलिङ्ग-आदि शब्द देशविशेष आदि रूप स्वार्थ (मुख्य अर्थ) में अनुपपन्न होकर जिस शब्द शक्तिसे स्व=मुख्य अर्थ देशविशेष, उसके साथ संयुक्त=संयोगसम्बन्धसे वर्तमान पुरुष-आदियोंकी प्रतीति करता है (रूढिमती लक्षणामें) ।

'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ गङ्गादि शब्दो जलमयादिरूपार्थवाचकत्वात्प्रकृतेऽसंभवन् स्वस्य सामीप्यादिसंबन्धसंबन्धिनं तटादिं बोधयति, सा शब्दस्यार्पिता स्वाभाविकेतरा ईश्वरानुद्भाविता वा शक्तिर्लक्षणा नाम। पूर्वत्र हेतू रूढिः प्रसिद्धिरेव। उत्तरत्र 'गङ्गातटे घोषः' इति प्रतिपादनालभ्यस्य शीतत्वपावनत्वातिशयस्य बोधनरूपं प्रयोजनम्। हेतु विनापि यस्य कस्यचित्संबन्धिनो लक्षणेऽतिप्रसङ्गः स्यात्, इत्युक्तम्—'रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ' इति।

सयोः सम्बन्धवद्भ्रान् चेतनान् पुरुषान्, प्रत्याययति = बोधयति, इत्थं रूढिमतीं लक्षणामुदाहृत्य प्रयोजनवतीमुदाहरति—यथा च शब्दशक्त्या 'गङ्गायां घोषः" गङ्गायां = गङ्गाप्रवाहे घोषः = आभीरपल्ली, इत्यादौ गङ्गाऽऽदिशब्दः अभिधाशक्त्यां जलमयाऽऽदिरूपाऽर्थवाचकत्वात्, प्रकृते = गङ्गायां घोष इति प्रस्तुते प्रसंगे, असंभवन्= घोषाधारत्वेन अन्वयः अलभमानः, स्वस्य = आत्मनः, जलमयाद्यर्थस्य, सामीप्यादि-सम्बन्धसम्बन्धिन — सामीप्यसम्बन्धसम्बद्ध, तट दि = तीरादिरूपमर्थं, बोधयति = प्रत्याययति, सा = तादृशी शब्दस्य = पदस्य, अर्पिता = स्वाभाविकेतरा ईश्वराऽनुद्भाविता वा शक्तिर्लक्षणा नाम। अय भावः, भाट्टमते स्वाभाविकः शब्दव्यापारः अभिधा तत इतरा लक्षणा, नैयायिकमते "अस्माच्छब्दादयमर्थो बोद्धव्य इतीश्वरसङ्केतः शक्तिः, सा च ईश्वरोद्भाविता तया अर्पिता, ईश्वराऽनुद्भाविता शक्तिर्लक्षणा नाम। पूर्वत्र= "कलिङ्गः साहसिक" इति पूर्वस्मिन्नुदाहरणे हेतुः = कारण, रूढिः = प्रसिद्धिरेव, उत्तरत्र = उत्तरस्मिन् "गङ्गायां घोषः" इति उदाहरणे, गङ्गातटे घोष इति प्रतिपादनात = लक्षणया केवलतटरूपाऽर्थप्रकाशनात, अलभ्यस्य = अप्राप्यस्य, शीतत्व-पावनत्वाऽऽतिशयस्य, बोधनरूपम्=अतिशीते अतिपावने तीरे घोषः इति व्यञ्जनारूप, प्रयोजन = लक्षणाफलम्। हेतुं विनाऽपि = रूढिप्रयोजनयोरन्यतरत्कारणमन्तरेणाऽपि, यस्य कस्यचित् सम्बन्धिनः = मुख्याऽर्थसम्बन्धयुक्तस्य, लक्षणे = लक्षणाकरणे, अतिप्रसङ्गः = अतिव्याप्तिः स्यात्। अयं भावः, रूढिं प्रयोजनं च हेतुं विना लक्षणाकरणे 'क्रमते चरणाऽऽघातं मुख मुमुक्षि तेऽकरोत्।" इत्यत्र निर्जितत्वं लक्ष्यं परमत्र

उसी तरह 'गङ्गायां घोषः" अर्थात् "गङ्गापर आभीरोंका ग्राम है" इत्यादि वाक्यमें गङ्गाआदि शब्द जलमयादि (प्रवाह रूप अर्थका वाचक होनेसे प्रकृत (प्रस्तुत) गङ्गा शब्दमें अन्वयमें अनुपपन्न होकर अपने जिस शब्दशक्तिसे गङ्गा शब्दके सामीप्य आदि सम्बन्धसे सम्बद्ध तट आदिका बोध कराती है, वह शब्दकी अर्पिता = अर्थात् स्वाभाविकसे भिन्न अथवा ईश्वरसे अनुद्भावित शक्तिको "लक्षणा" कहते हैं।

पहले "कलिङ्ग साहसिक" इस वाक्यमें हेतु रूढि अर्थात् प्रसिद्धि ही है। दूसरे "गङ्गायां घोषः" इस वाक्य में 'गङ्गातटमें घोष है" ऐसे प्रतिपादनसे अलभ्य

केचित्तु 'कर्मणि कुशलः' इति रूढावुदाहरन्ति। तेषामयमभिप्रायः—कुशांल्लातीति व्युत्पत्तिलभ्यः कुशग्राहिरूपो मुख्योऽर्थः प्रकृतेऽसंभवन् विवेचकत्वादिसाधर्म्यसम्बन्धसम्बन्धिनं दक्षरूपमर्थं बोधयति। तदन्ये न मन्यन्ते। कुशग्राहिरूपार्थस्य व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि दक्षरूपस्यैव मुख्यार्थत्वात्। अन्यद्धि

हेत्वभावात् नेयार्थाभिधानो दोषः, स च सप्तमे परिच्छेदे वक्ष्यते, अत उक्तं—"रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ" इति।

अथ काव्यप्रकाशकारस्य रूढिमत्या लक्षणाया उदाहरणं दूषयति—**केचित्त्विति।** केचित् = काव्यप्रकाशकारादयः। "कर्मणि कुशल" इति रूढौ उदाहरन्ति। तेषां = काव्यप्रकाशकाराणाम्, अयम्, अभिप्रायः = आशयः—"कुशल" इत्यत्र "कुशं लाति" (आदत्ते) इति "आतोऽनुपसर्गे कः" इति सूत्रेण कप्रत्ययेन निष्पन्नस्य कुशलशब्दस्य व्युत्पत्तिलभ्यः = अवयवार्थप्राप्यः, कुशग्राहिरूपः = कुशग्राहकरूपः, मुख्यः = शक्यः, अर्थः, प्रकृते = प्रस्तुतकर्मपदाऽन्वये, असंभवन् = योग्यतामलभमानः, विवेचकत्वादिसाधर्म्यसम्बन्धसम्बन्धिन = विवेचकत्वादि (दूर्वातृणादिपरिहारकत्वरूपं यद्विवेचनकर्तृत्वम्) यत् साधर्म्यं (समानधर्मवत्त्वम्) तद्रूपो यः सम्बन्धः तेन सम्बन्धिनं (सम्बद्धम्) दक्षरूप = निपुणरूपम्, अर्थं बोधयति लक्षणया प्रतिपादयति = अयं भावः, 'कर्मणि कुशल" इत्यत्र कुशलपदस्य कुशग्राहकत्वरूपो व्युत्पत्तिलभ्यो यो मुख्यार्थः सः "कर्मणि' इत्यत्र अन्वयम् अलभमानः लक्षणया कुशग्रहणे दूर्वातृणादिपरिहारकत्वरूपं यद्विवेचकत्वं तत्साधर्म्यसम्बन्धेन सम्बन्धिन कर्मणि दक्षरूपमर्थं प्रत्याययति।

पूर्वोक्तं काव्यप्रकाशकारमतं दूषयति—**तदन्य इति।** तत् = मतम्, अन्ये = आचार्याः, अत्र विश्वनाथकविराजस्याऽपि परिग्रहः। न मन्यन्ते = न स्वीकुर्वन्ति। तत्र हेतुमुपपादयति— **कुशेति।** कुशग्राहिरूपार्थस्य = कुशग्राहकरूपवाच्यस्य, व्युत्पत्तिलभ्यत्वेऽपि=प्रकृतिप्रत्ययबोधप्राप्यत्वेऽपि, दक्षरूपस्यैव, मुख्यार्थत्वात्=शक्यार्थत्वात्, अतो मुख्याऽर्थबाधाऽभावात् कथं लक्षणेति भावः। हेत्वन्तरमप्युपन्यस्यति—**अन्यद्धीति।** शब्दाना = पदानां, व्युत्पत्तिनिमित्त = व्युत्पत्तेः (अवयवार्थप्रतीतेः), निमित्तम् (कारणम्), व्युत्पत्तिलभ्याऽर्थप्रतीतौ प्रकारीभूतो धर्मो व्युत्पत्तिनिमित्त, यथा गोशब्दस्य

शीतलत्व और पावनत्वके आधिक्यका बोध करना प्रयोजन है। हेतुके विना जिस किसी भी सम्बन्धी=मुख्य अर्थके सम्बन्धसे युक्तकी लक्षणा करेंगे तो अतिप्रसङ्ग (अव्याप्ति) होगा इसलिए कहा है—"रूढेः प्रयोजनाद्वाऽसौ" कुछलोग (काव्यप्रकाशकार) 'कर्मणि कुशलः" इसको रूढिमती लक्षणाका उदाहरण बताते हैं। उनका यह अभिप्राय है, 'कुशान् लाति" अर्थात् कुशोंको लाता है, इसमे कुशल पदका व्युत्पत्तिसे लभ्य कुशग्राहकत्व रूप मुख्य अर्थ यहाँपर अनुपपन्न होता हुआ विवेचकत्व (दूर्वा तृण आदिका परिहारकत्वरूप) आदि साधर्म्य सम्बन्धसे सम्बद्ध दक्ष (निपुण) रूप अर्थका बोधन

शब्दानां व्युत्पत्तिनिमित्तमन्यच्च प्रवृत्तिनिमित्तम्। व्युत्पत्तिलभ्यस्य मुख्यार्थत्वे 'गौः शेते' इत्यत्रापि लक्षणा स्यात्। 'गमेर्डोः' (उणादि–२।६७) इति गमधातोर्डोप्रत्ययेन व्युत्पादितस्य गोशब्दस्य शयनकाले प्रयोगात्।

तद्भेदानाह—

मुख्यार्थस्येतराक्षेपो वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये।
स्यादात्मनोऽप्युपादानादेषोपादानलक्षणा ॥ ६ ॥

गमनकर्तृत्वम्। अन्यत् = अपरं, प्रवृत्तिनिमित्तं = प्रवृत्तेः (शब्दानामर्थबोधनशक्तेः) निमित्तं (कारणं, प्रयोजकमित्यर्थः), शक्यताऽवच्छेदकमिति भावः। संकेतग्रहे प्रकारीभूतो धर्मः प्रवृत्तिनिमित्तं यथा गोत्वम्।

दृष्टान्तोपादानेन काव्यप्रकाशकारमते अस्वसतां प्रदर्शयति–**व्युत्पत्तिलभ्यस्येति।** व्युत्पत्तिलभ्यस्य = अवयवार्थप्रतीतिप्राप्यस्यार्थस्य, मुख्यार्थत्वे = शक्यार्थत्वे, 'गौः शेते'' इत्यत्राऽपि लक्षणा स्यात्, अत्र हेतुमुपपादयति–**"गमेर्डोः" इति।** "गमेर्डोः इति उणादिसूत्रेण गम्लृधातोः व्युत्पादितस्य=कृतव्युत्पत्तेः, गोशब्दस्य शयनकालेऽपि प्रयोगात्।

अयं भावः। गोशब्दस्य व्युत्पत्तिरूपोऽर्थो गमनकर्तृत्वरूपः, प्रवृत्तिरूपोऽर्थो गोत्वजातिरूपः, तस्यैव मुख्यार्थत्वम्। व्युत्पत्तिलभ्यस्य = गमनकर्तृत्वरूपस्य, मुख्यार्थत्वे = शक्यार्थत्वे "गौः शेते" इत्यत्राऽपि लक्षणा स्यात्, गमनकर्तृत्वरूपस्य गोशब्दस्य "गौः शेते" इत्यत्राऽपि प्रयोगात् मुख्यार्थबाधात् लक्षणा स्वीकर्तव्या, पर गोशब्दस्य प्रवृत्तिनिमित्त गोत्वं शक्यतावच्छेदकमतः मुख्यार्थबाधाऽभावात् लक्षणाया अप्रसक्तिः। प्रकृते च व्युत्पत्तिनिमित्तस्य प्रवृत्तिनिमित्तस्य चार्थस्य भिन्नत्वात् "कर्मणि कुशल" इति प्रयोगे कुशलपदस्य दक्षरूपार्थस्यैव मुख्यार्थत्वात्, अतोऽत्र बाधाऽभावाल्लक्षणाया अप्रसक्तिः। तद्भेदान् = तयो. (रूढिप्रयोजनाभ्यां द्विधोक्तयोर्लक्षणयोः), भेदान् = विशेषान् आह। भिद्यतेऽनेनेति भेदः = विशेषः।

तत्रोपादानलक्षणां लक्षयति **मुख्यार्थस्येति।** (यया) मुख्यार्थस्य वाक्यार्थे अन्वयसिद्धये इतराऽऽक्षेपः, (तत्र) आत्मनः अपि उपादानात् एषा उपादानलक्षणा इत्यन्वयः। (यया = शक्त्या) मुख्यार्थस्य = शक्यार्थस्य, वाक्यार्थे = समीपो-

---

करता है। उनसे भिन्न और लोग इस बातको नहीं मानते है। व्युत्पत्तिसे कुशल पदका कुशग्राहक रूप अर्थकी प्राप्ति होनेपर भी इसका दक्षरूप ही मुख्य अर्थ है। क्योंकि शब्दोंकी व्युत्पत्तिका निमित्त और प्रवृत्तिका निमित्त भिन्न भिन्न होता है। व्युत्पत्तिलभ्य अर्थको मुख्य अर्थ मानेंगे तो "गौः शेते" गाय सोती है यहाँ भी लक्षणा होगी, क्योंकि "गमेर्डोः" इस सूत्रसे गमधातुसे डो प्रत्ययसे निष्पन्न गो शब्दका शयन कालमें प्रयोग होनेसे यहाँ भी लक्षणा करनी पड़ेगी।

लक्षणाके भेद बतलाते हैं—वाक्यार्थमें मुख्य अर्थके अन्वयकी सिद्धिके लिए

रूढावुपादानलक्षणा यथा—'श्वेतो धावति'। प्रयोजने यथा—'कुन्ताः प्रविशन्ति'। अनयोर्हि श्वेतादिभिः कुन्तादिभिश्चाचेतनतया केवलैर्धावनप्रवेशनक्रिययोः कर्तृतयाऽन्वयमलभमानैरेतत्सिद्धये आत्मसम्बन्धिनोऽश्वादयः पुरुषादयश्चाक्षिप्यन्ते। पूर्वत्र प्रयोजनाभावाद्रूढिः, उत्तरत्र तु कुन्तादीना-

चचारितपदसमूहे, अन्वयसिद्धये = संसर्गनिर्वाहाय, इतराऽऽक्षेपः = इतरस्य (मुख्यार्थभिन्नार्थस्य) आक्षेपः = प्रत्यायनम्, तत्र च आत्मनः अपि = मुख्यार्थस्य अपि, उपादानात् = ग्रहणात्, एषा = इयम् उपादानलक्षणा ॥ ६ ॥

उदाहरति—रूढाविति। अनयोः = "श्वेतो धावति" "कुन्ताः प्रविशन्ति" एतयोः। अचेतनतया = जडत्वेन, वस्तुतस्तु = गुणत्वेन अचेतनत्वेन, केवलैः = श्वेतत्वकुन्तत्वविशिष्टैः, धावनप्रवेशनक्रिययोः = शीघ्रगमनप्रवेशकरणकर्मणोः, कर्तृतया = व्यापाराश्रयत्वेन, अन्वयं = क्रियापदसंसर्गम्, अलभमानैः = अप्राप्नुवद्भिः, एतत्सिद्धये = धावनप्रवेशनकर्तृत्वाऽन्वयनिर्वाहाय, आत्मसम्बन्धिनः = श्वेतकुन्तसम्बन्धयुक्ताः, श्वेतगुणसमवायिनः कुन्तसंयोगिन इति यथायथं बोध्याः। अश्वादयः पुरुषादयश्च आक्षिप्यन्ते = प्रत्याय्यन्ते। अयं भावः, श्वेतो धावति इत्यत्र श्वेतपदस्य गुणवाचकत्वात्तस्य धावनक्रियायां कर्तृत्वेन अन्वयाऽनुपपत्तेः कर्तृत्वाऽन्वयनिर्वाहाय समवायसम्बन्धेन श्वेतगुणयुक्तोऽश्वः आक्षिप्यते। अत्र प्रयोजनाऽभावाद्रूढिः। वैयाकरणमते तु अत्र लक्षणा नाऽऽवश्यकी। श्वेतः (गुणः) अस्यास्तीति श्वेतः, श्वेतशब्दात् "रसादिभ्यश्चे"ति सूत्रेण मतुप्प्रत्ययः, तस्य च "गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः" इति वार्तिकेन लुकि सति श्वेत इत्यस्य श्वेतगुणयुक्त इत्यर्थो भवति, तच्च शक्तिग्रहस्य हेतुभूताद्व्याकरणात्, "गुणे शुक्लादयः पुंसि गुणिलिङ्गास्तु तद्वति" इति कोशाच्च "श्वेत" इत्यस्य श्वेतगुणयुक्त इति शक्यार्थः, तस्य धावतीत्यत्र अन्वयोपपत्तिः, ततश्चाऽत्र लक्षणा नेष्टा। परं नैयायिका आलङ्कारिकाश्च "श्वेतो धावति" इत्यत्र प्राथमिकोपस्थितिविषयता श्वेतगुणस्यैव प्रतिपत्तिः, तस्य च धावनक्रियायामन्वयाऽनुपपत्तेः, लक्षणाया गुणिनोऽश्वादेः प्रतीतिरिति वदन्ति।

जहाँ अन्य अर्थका आक्षेप होता है वहाँपर मुख्य अर्थका भी ग्रहण होनेसे उसे "उपादानलक्षणा" कहते है ॥ ६ ॥

रूढिमें उपादानलक्षणा जैसे—'श्वेतो धावति" (सफेद दौड़ रहा है)। प्रयोजनमें उपादान लक्षणा जैसे—कुन्ताः प्रविशन्ति (भाले प्रवेश कर रहे हैं।) इन दो उदाहरणोंमें "श्वेतो धावति" यहाँपर केवल श्वेत आदि और "कुन्ताः प्रविशन्ति" यहाँपर केवल कुन्त आदि अचेतन (जड़) होनेसे धावन और प्रवेशन क्रियामें कर्ता होकर अन्वित नहीं हो सकते हैं अतः अन्वयकी सिद्धिके लिए श्वेत वर्णवाले अश्व आदिका और कुन्तके धारण करनेवाले पुरुष आदिका आक्षेप करते हैं। "श्वेतो

मतिगहनत्व प्रयोजनम्। अत्र च मुख्यार्थस्यात्मनोऽप्युपादानम्। लक्षणलक्षणायां तु परस्यैवोपलक्षणमित्यनयोर्भेदः। इयमेवाजहत्स्वार्थेत्युच्यते।

अर्पणं स्वस्य वाक्यार्थे परस्यान्वयसिद्धये।
उपलक्षणहेतुत्वादेषा लक्षणलक्षणा॥ ७॥

रूढिप्रयोजनयोर्लक्षणलक्षणा यथा- 'कलिङ्गः साहसिकः' 'गङ्गायां घोषः' इति च। अनयोर्हि पुरुषतटयोर्वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये कलिङ्गगङ्गाशब्दावात्मानमर्पयतः।

एवं च 'कुन्ताः प्रविशन्ति" इत्यत्र कुन्तानामचेतनत्वेन प्रवेशनक्रियायां कर्तृत्वेन अन्वयाऽनुपपत्तेः कर्तृत्वाऽन्वयनिर्वाहाय कुन्तसंयोगयुक्ताः पुरुषा आक्षिप्यन्ते। अत्र कुन्तयुक्ताः पुरुषा प्रविशन्तीति अभिधानाऽदलभ्यं कुन्तादीनामतिगहनत्व प्रयोजनम् (लक्षणाफलम्)। अत्र च=उपादानलक्षणायां मुख्याऽर्थस्य आत्मनः (श्वेतस्य कुन्तस्य च) अपि उपादानं = ग्रहणम्, अत इयमुपादानलक्षणापदवाच्या। लक्षणलक्षणायां तु परस्य = लक्ष्याऽर्थस्य एव, उपलक्षण=मुख्याऽर्थं विहायोपस्थापनम्। इयम् एव = उपादानलक्षणा एव अजहत्स्वार्था=अजहत् (अत्यजत्) स्वार्थः (मुख्याऽर्थः) या सा, "अजहल्लक्षणे"त्यपि अस्या नामान्तरम्॥ ६॥

लक्षणलक्षणां लक्षयति—**अर्पणमिति।** (यत्र) वाक्यार्थे परस्य=अमुख्याऽर्थस्य, अन्वयसिद्धये = संसर्गनिर्वाहाय, यया (वृत्त्या), स्वस्य=मुख्याऽर्थस्य, गङ्गादेरिति भावः। अर्पणं = परित्यागः, उपलक्षणहेतुत्वात् = अमुख्याऽर्थमात्रबोधनकारणत्वात्, एषा = इयं, लक्षणलक्षणा॥ ७॥

लक्षणलक्षणामुदाहरति—**रूढिप्रयोजनयोरिति।** रूढिप्रयोजनयोर्लक्षणलक्षणा यथा 'कलिङ्गः साहसिकः" "गङ्गायां घोष" इति च। अनयोः = उदाहरणयोः, पुरुषतटयोः = "कलिङ्गः साहसिकः" इत्यत्र पुरुषस्य, "गङ्गाया घोष" इत्यत्र तटस्येति

धावति" यहाँपर प्रयोजन न होनेसे रूढिमती लक्षणा। "कुन्ताः प्रविशन्ति" यहाँ पर कुन्तोंकी अतिगहनता प्रयोजन है। उपादान लक्षणामें मुख्यार्थका भी ग्रहण होता है। लक्षणलक्षणामे तो लक्ष्य अर्थ का ही उपलक्षण होता है यह इन दोनोंका भेद है। इसे ही अजहत्स्वार्था' कहते हैं॥ ६॥

लक्षणलक्षणाका लक्षण करते हैं—वाक्यार्थमें पर = मुख्य अर्थसे भिन्न अर्थकी अन्वयसिद्धिके लिए जहाँ मुख्य अर्थका समर्पण होता है वहाँ लक्षणलक्षणा होती है। यह उपलक्षण (अमुख्य अर्थमात्रके बोधन) का कारण होती है॥ ७॥

रूढिमें लक्षणलक्षणा—"कलिङ्गः साहसिकः"। प्रयोजनमें लक्षणलक्षणा जैसे—

यथा वा—

'उपकृतं बहु तत्र किमुच्यते, सुजनता प्रथिता भवता परम् ।
विदधदीदृशमेव सदा सखे ! सुखितमास्स्व ततः शरदां शतम् ।।'

अत्रापकारादीनां वाक्यार्थेऽन्वयसिद्धये उपकृतादयः शब्दा आत्मानमर्पयन्ति। अपकारिणं प्रत्युपकारादिप्रतिपादनान्मुख्यार्थबाधो वैपरीत्यलक्षणः सम्बन्धः, फलमपकारातिशयः । इयमेव जहत्स्वार्थेत्युच्यते ।

भाव: । वाक्याऽर्थे, अन्वयसिद्धये = संसर्गनिर्वाहाय, कलिङ्गगङ्गादिशब्दौ = मुख्याऽर्थौ, आत्मानं = स्वस्वार्थमर्पयत: = समर्पयतः ।

उदाहरणान्तर प्रदर्शयति—**उपकृतमिति** । सखे ! भवता बहु उपकृतं सुजनता पर प्रथिता । तत्र किम् उच्यते ? ईदृशम् एव सदा विदधत् ततः शरदां शत सुखितम् आस्स्वेत्यन्वय: ।

कश्चिदपकारिणं प्रति कस्य चित्पीडितस्योक्तिरियम् । हे सखे ! = हे मित्र !, भवता=त्वया, बहु=अधिकम्, उपकृतम्=उपकार: कृत इति भाव:, एवं च सुजनता = सौजन्यं, परम् = अत्यन्तं, प्रथिता = प्रकाशिता । तत्र तयो: त्वदुपकारसौजन्ययोर्विषय इति भाव: । किम्, उच्यते = अभिधीयते, ईदृशम् एव = एतादृशम् एव उपकरण- सौजन्यप्रकाशनम् एव, सदा=सर्वदा, विदधत् = कुर्वन्, तत: = तदनन्तरं, शरदां=शतं= वर्षशतं यावत्, सुखित = सुखयुक्त यथा तथा, आस्स्व = तिष्ठ, इत्थं मुख्योऽर्थ: ।

अत्र = अस्मिन्पद्ये, अपकारादीनाम् = अपकारदुर्जनताशत्रुदु:खितानां पदानां, वाक्याऽर्थे अन्वयसिद्धये = ससर्गनिर्वाहाय, उपकृतादय: = उपकृतसुजनतासखिसुखित- रूपा: शब्दा: = पदानि, आत्मानं स्वम्, अर्पयन्ति = परित्यजन्ति, ततश्च उपकृतम् इत्यस्य लक्ष्याऽर्थ: "अपकृतम्" "सुजनता" इत्यस्य 'दुर्जनता", "सखे" इत्यस्य "शत्रो" "सुखितम्" इत्यस्य दु:खितम् इति यथास्वं लक्ष्याऽर्था बोद्धव्या: ।

अपकारिणं प्रति = अपकारकारिणं प्रति = उपकारादिप्रतिपादनात् = उप- कारादिशब्दप्रयोगात, मुख्याऽर्थबाध: = शक्याऽर्थबाध:, लक्षणाया हेतुविशेष:, वैपरीत्य- लक्षण: = वैपरीत्यस्वरूप:, सम्बन्ध:, फलम्, अपकाराऽतिशय: = अपकृत्यधिकता लक्षणाया: प्रयोजनमिति भाव: । इयम् एव = लक्षणलक्षणा एव, "जहत्स्वार्था" इत्युच्यते । अस्या नामान्तरं जहल्लक्षणाऽपि । जहत् = परित्यजन्, स्वाऽर्थ: = मुख्याऽर्थो याम् इति बहुव्रीहिसमास: ।

"गङ्गायां घोष:" । इन दोनोंमें क्रमसे वाक्यार्थमें पुरुष और तटके अन्वयकी सिद्धिके लिए "कलिङ्ग" और गङ्गा शब्द अपने मुख्यार्थका समर्पण करते है ।

अथवा—उपकृतम्० अपकारीको कोई कहता है—"हे मित्र ! आपने बहुत उपकार किया है, क्या कहना है आपने अत्यन्त सौजन्यका विस्तार किया है । आप ऐसे

आरोपाध्यवसानाभ्यां प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।

ताः पूर्वोक्ताश्चतुर्भेदलक्षणाः ।

विषयस्यानिगीर्णस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत् ॥ ८ ॥

सारोपा, स्यान्निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका ।

पुनरपि लक्षणाया द्वैविध्यं प्रतिपादयति—**आरोपेति ।** आरोपाऽध्यवसानाभ्यां ताः प्रत्येकमपि द्विधा इत्यन्वयः । आरोपाऽध्यवसानाभ्याम् = विषयविषयिणोर्भेदेन उपन्यास आरोपः, विषयिणा विषयस्य तिरोभावः अध्यवसानम्, ताभ्यां, ताः = लक्षणाः, प्रत्येकमपि, द्विधा = द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां, बोद्धव्या इति शेषः । ताः = पूर्वोक्ताः चतुर्भेदलक्षणाः = रूढौ प्रयोजने च—उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणा चानयोः भेदाभ्याम् इति शेषः ।

अथ साऽऽरोपां लक्षणां लक्षयति—**विषयस्येति ।** (विषयिणा) अनिगीर्णस्य विषयस्य अन्यतादात्म्यकृत् साऽऽरोपा स्यादित्यन्वयः ॥ ८ ॥

(विषयिणा = आरोप्यमाणेन, लक्ष्यार्थेन श्वेतगुणविशिष्टेन इति भावः), अनिगीर्णस्य=अतिरोहितस्य, विषयस्य = आरोपविषयस्य, अन्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्= अन्येन (विषयिणा = श्वेतगुणविशिष्टेन लक्ष्यार्थेन) तादात्म्यप्रतीतिकृत् (अभेद-प्रतीतिकृत्) या लक्षणा, सा सारोपा स्यात् । आरोपेण सहिता साऽऽरोपा ॥ ८ ॥

ही कर्मको करते हुए सौ साल तक सुखपूर्वक जीते रहे"। इस वाक्यार्थमें अपकार आदियोंके अन्वयकी सिद्धिके लिए अपकृत आदि शब्द अपने स्वरूपका समर्पण करते हैं। अपकारीके प्रति उपकार आदिका प्रतिपादन करनेसे मुख्याऽर्थका बाध (अन्वयाऽनुपपत्ति) है। वैपरीत्यरूप सम्बन्ध है। अपकारका आधिक्य फल (प्रयोजन) है। इसे ही जहत्स्वार्था (जहल्लक्षणा) कहते हैं ॥ ७ ॥

आरोप और अध्यवसायसे पूर्वोक्त चार भेदोंवाली लक्षणाके फिर दो भेद होते है। विषय (उपमेय) और विषयी (उपमान) के भेदसे स्थितिको "आरोप" और जहाँ पर विषयी (उपमान) से विषय (उपमेय) का तिरोभाव हो जाता है उसे "अध्यवसान" कहते हैं। इस प्रकार फिर दो भेद हो जाते हैं, यह अभिप्राय है। अनिगीर्ण = अनाच्छादित अर्थात् (शब्दसे प्रतिपादित) विषय (उपमेय) का अन्य- (विषयी अर्थात् उपमान) से तादात्म्य (अभेद) की प्रतीति करने वालीको "सारोपा" कहते है ॥ ८ ॥

निगीर्ण=आच्छादित अर्थात् (शब्दसे) अप्रतिपादित विषय (उपमेय) का अन्य- (विषयी अर्थात् उपमान) से तादात्म्य (अभेद) की प्रतीति करनेवालीको साध्यवसानिका कहते हैं।

विषयिणाऽनिगीर्णस्य विषयस्य तेनैव सह तादात्म्यप्रतीतिकृत्सारोपा। इयमेव रूपकालङ्कारस्य बीजम्।

रूढावुपादानलक्षणा सारोपा यथा—'अश्वः श्वेतो धावति'। अत्र हि श्वेतगुणवानश्वोऽनिगीर्णस्वरूपः स्वसमवेतगुणतादात्म्येन प्रतीयते।

प्रयोजने यथा—'एते कुन्ताः प्रविशन्ति'। अत्र सर्वनाम्ना कुन्तधारिपुरुषनिर्देशात् सारोपत्वम्।

साध्यवसानिकां लक्षयति—निगीर्णस्येति। (विषयिणा = आरोप्यमाणेन, श्वेतगुणविशिष्टेनेति भावः), निगीर्णस्य = तिरोहितस्य, विषयस्य = मुख्यार्थस्य अश्वादेरिति भावः। अन्यतादात्म्यप्रतीतिकृत् = अन्येन (लक्ष्यार्थेन; तादात्म्य प्रतीतिकृत् (अभेदप्रतीतिकृत्) साध्यवसानिका, मता = अभिमता।

तत्र इयम् एव = सारोपा लक्षणा एव, रूपकाऽलङ्कारस्य बीजं = निमित्तम्। रूढौ उपादानलक्षणा साऽऽरोपा यथा—अश्वः श्वेतो धावति अत्र हि श्वेतगुणवान् अश्व आरोपविषयः विषयिणा आरोप्यमाणेन श्वेतेन, अनिगीर्णस्वरूपः = अतिरोहितस्वरूपः, स्वसमवेतगुणतादात्म्येन=स्वस्मिन् (आरोपविषये अश्वे) समवेत (समवायसम्बन्धेन वर्तमानः) यः श्वेतगुणः, तस्य तादात्म्येन (अभेदेन) प्रतीयते = ज्ञायते। लक्ष्याऽर्थप्रतीतेः प्रागिति भावः। प्रयोजने उपा० सारोपा यथा—"एते कुन्ताः प्रविशन्ति"। अत्र विषयिणा=आरोप्यमाणेन कुन्तपदेन, अनिगीर्णस्य=शब्दप्रतिपादितस्य, विषयस्य=आरोपविषयस्य एतत्पदवाच्यस्य पुरुषस्य; अन्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्=अन्येन (विषयिणा आरोप्यमाणेन कुन्तपदेन) तादात्म्यप्रतीतिकृत् (अभेदप्रतीतिकृत्) सारोपा। अत्र = उदाहरणे, सर्वनाम्ना = एतत्पदेन, आरोपविषयेणेति भावः। कुन्तधारिपुरुषनिर्देशात् =

वृत्तिमे इनका स्पष्टीकरण करते है। विषयी (उपमान) से अनिगीर्ण अनाच्छादित अर्थात् शब्दसे प्रतिपादित विषय (उपमेय) का उसी (विषयी) के साथ तादात्म्य (अभेद) की प्रतीति करनेवालीको "सारोपा" कहते हैं। यही सारोपा लक्षणा रूपक अलङ्कारका बीज है।

रूढिमें उपादान लक्षणा सारोपा—"अश्वः श्वेतो धावति"। (सफेद घोड़ा दौड़ रहा है।) यहाँ श्वेत गुणवाला अश्व अपने विषयी (उपमान) से अनिगीर्णस्वरूप अर्थात् शब्दसे प्रतिपादित स्वरूप विषय (उपमेय) होकर स्वसमवेतगुणतादात्म्यसे अर्थात् 'स्व' हुआ आरोपित विषय अश्व, उसमें समवेत (समवाय सम्बन्धसे विद्यमान) गुण हुआ श्वेतगुण उसके तादात्म्य (अभेद) से प्रतीत होता है।

श्वेत शब्दकी श्वेतगुण विशिष्टमें प्रसिद्धिसे रूढि है। श्वेत गुण अपने वाच्यार्थके साथ लक्ष्यार्थ अश्वको भी प्रतिपादित करता है इसलिए उपादान लक्षणा हुई और विषयी श्वेतसे अनिगीर्ण स्वरूप अश्व (विषय) के साथ श्वेतका तादात्म्य (अभेद)

रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा यथा—'कलिङ्गः पुरुषो युध्यते'। अत्र कलिङ्गपुरुषयोराधाराधेयभावः सम्बन्धः।

प्रयोजने यथा—'आयुर्घृतम्'। अत्रायुष्कारणमपि घृतं कार्यकारणभावसम्बन्धसम्बन्ध्यायुस्तादात्म्येन प्रतीयते। अन्यवैलक्षण्येनाऽव्यभिचारेणायुष्करत्वं प्रयोजनम्।

सारोपात्वम्। कुन्तादीनामतिगहनत्वं प्रयोजनम्। काव्यप्रकाशकारमते तु अत्र विषयस्य सामान्यवाचिना सर्वनाम्ना निर्देशेऽपि विशेषरूपेण उपस्थितेरभावान्नेयं सारोपा अपि तु साध्यवसानैव, परं सन्निकृष्टादिकालेषु इदमादिशब्दानां वाचकपदवदुपस्थितिविषयादन्य अनिगीर्णरूपत्वात्सारोपात्वमिति विश्वनाथकविराजमतम्। रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा यथा—"कलिङ्गः पुरुषो युध्यते"। कलिङ्गपदस्य मुख्याऽर्थस्य देशविशेषस्य परित्यागाल्लक्षणलक्षणा, पुरुषपदेन लक्ष्याऽर्थोपादानादनिगीर्णत्वम्। अत्र कलिङ्गपुरुषयोराधाराऽऽधेयभावः सम्बन्धः। प्रयोजने लक्षण० सारोपा यथा—"आयुर्घृतम्"। अत्रायुःपदेन मुख्याऽर्थस्य परित्यागाल्लक्षणलक्षणा; अनिगीर्णस्वरूपे आरोपविषये घृते आयुष आरोपात् सारोपा, अत्र आयुष्कारणमपि घृतं कार्यकारणभावसम्बन्धेन सम्बन्धि (कार्यतासम्बन्धवत्) यत् आयुः तस्य तादात्म्येन (अभेदेन) प्रतीयते = ज्ञायते। अन्यवैलक्षण्येन = अन्नादिवैसादृश्येन, अव्यभिचारेण = व्यभिचाराऽभावेन च हेतुना, आयुष्करत्वं = जीवितकालवर्धकत्वं, प्रयोजनं = लक्षणाफलम्। अत्राऽर्थे—

"अन्नाद्विष्टगुणं पिष्टं, पिष्टादष्टगुणं पयः।
पयसोऽष्टगुणं मांसं, मांसादष्टगुणं घृतम्॥
घृतादष्टगुणं तैलं, मर्दयेन्न तु भक्षयेत्।

प्रतीत होता है यह आरोप हुआ। इस प्रकार रूढिमें सारोपा उपादानलक्षणाका यह उदाहरण हुआ।

प्रयोजनमें उपादानलक्षणा सारोपा—"एते कुन्ताः प्रविशन्ति"। (ये भाले प्रवेश करते है)। यहाँपर "एते" इस सर्वनामसे कुन्तधारी पुरुषोंका निर्देश होनेसे और कुन्तोंके साथ उनका तादात्म्य प्रतीत होता है अतः सारोपा हुई और लक्ष्याऽर्थके साथ कुन्तोंकी भी प्रतीति होती है इसलिए उपादान है। कुन्तोंका अतिगहनत्व प्रयोजन है।

रूढिमें लक्षणलक्षणा सारोपा—"कलिङ्गः पुरुषो युध्यते"।

(कलिङ्ग पुरुष युद्ध करता है)। कलिङ्गपद मुख्याऽर्थ देशविशेषका परित्याग करके कलिङ्गदेशवासी पुरुषका उपलक्षण है। पुरुषपदके साथ तादात्म्य (अभेद)-प्रतीतिसे सारोपा है। कलिङ्ग और पुरुषका आधाराऽऽधेयभाव सम्बन्ध है।

प्रयोजनमें लक्षणलक्षणा सारोपा—"आयुर्घृतम्"। (आयु घी है) घी आयुका कारण है, तो भी वह कार्यकारणभाव सम्बन्धसे सम्बन्धी आयुके साथ अभेदरूपसे प्रतीत

यथा वा—राजकीये पुरुषे गच्छति 'राजासौ गच्छति' इति। अत्र स्वस्वामिभावलक्षणः सम्बन्धः। यथा वा—अग्रमात्रेऽवयवभागे 'हस्तोऽयम्'। अत्रावयवावयविभावलक्षणसम्बन्धः। 'ब्राह्मणोऽपि तक्षाऽसौ'। अत्र

इत्यायुर्वेदशास्त्रोक्तिः प्रमाणम्। (एवमेव "आयुरेवेदम्" इति शुद्धायाः साध्यवसानाया लक्षणाया उदाहरणं प्रदर्शितम्। अत्र इदंशब्देन सर्वनाम्ना सन्निकृष्टत्वरूपेणैव घृतादेरुपस्थितिः न तु घृतत्वादिरूपेणेति आरोपविषयवाचकपदाऽभावेन न सारोपात्वमिति)।

अथ लक्षणाबीजं विविधं शक्यसम्बन्धं दर्शयन् सारोपाया एव बहून्युदाहरणानि दर्शयति—**यथा वा राजकीय इति**। राजकीये = राजसम्बन्धिनि, पुरुषे, गच्छति—"राजाऽसौ गच्छति" इति। इयमपि सारोपा प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा। अत्र "असौ" इति सर्वनामपदेन लक्ष्यार्थे पुरुषे निर्दिष्टे राज्ञोऽभेदारोपात् सारोपा। अत्र स्वस्वामिभावलक्षणः सम्बन्धः। पुरुषः स्वं, राजा च स्वामी; राजसदृशोज्ज्वलवेशत्वं राजसदृशाऽलङ्घ्यशासनत्वं वा प्रयोजनम्।

यथा वा अग्रमात्र इति। अग्रमात्रे अवयवभागे "हस्तोऽयम्" इति इयं रूढिमती सारोपा लक्षणलक्षणा। अत्र प्रयोजनाऽभावाद्रूढिरेव। एवं च अत्र अवयवाऽवयविभावलक्षणः सम्बन्धः। हस्तः अवयवी, तदग्रभागः अवयवः। हस्ताऽवयवे अग्रेऽपि हस्तशब्दप्रयोगः। पटैकदेशे दग्धेऽपि पटो दग्ध इति व्यवहारवत्।

ब्राह्मणोऽपि "तक्षाऽसौ"। इयं प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा। अत्र तात्कर्म्यलक्षणः सम्बन्धः। तात्कर्म्यमत्र तक्षसदृशकर्मकारित्वम्। ब्राह्मणोऽपीत्यत्र अपिपदेन तक्षेतरक्षत्रियादिपरिग्रहः। समस्ततक्षकर्मणि नैपुण्यं प्रयोजनम्।

होना है। अन्न आदिसे विलक्षणतासे और अव्यभिचारसे आयु बढ़ाना इसका प्रयोजन है। अथवा—राजाके किसी पुरुषके जानेके समयमें "राजा असौ गच्छति" "यह राजा जाता है" ऐसा प्रयोग होता है, यह साऽऽरोपा प्रयोजनवती लक्षलक्षणा है। यहाँ "असौ" इस सर्वनाम पदसे लक्ष्यार्थ पुरुषका निर्देश होनेसे उसका राजाके साथ अभेद आरोपसे "सारोपा" है, स्वस्वामिभावसम्बन्ध है, पुरुषमें "स्वत्व" है और राजामें 'स्वामित्व" है। राजाका सदृश उज्ज्वलवेश होना वा राजाके समान अलङ्घ्य शासन होना प्रयोजन है। अथवा हाथके अग्रमात्र अवयवभागमें "हस्तोऽयम्" यह हाथ है ऐसा प्रयोग होता है उसमें अवयवाऽवयविभावसम्बन्ध है। हाथ अवयवी है, उसका अग्र भाग अवयव है। यह रूढिमती सारोपा लक्षणलक्षणा है।

बढ़ईका काम करनेवाले ब्राह्मणको भी "तक्षाऽसौ" कहते हैं, यह प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा है। इसमें तात्कर्म्यलक्षण सम्बन्ध है। यहाँपर तक्षा (बढ़ई)के सदृश कर्म करना ही तात्कर्म्य सम्बन्ध है।

तादर्थ्यलक्षणः। इन्द्रार्थासु स्थूणासु 'अमी इन्द्राः'। अत्र तादर्थ्यलक्षणः सम्बन्धः। एवमन्यत्रापि। निगीर्णस्य पुनर्विषयस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिकृत्सा-ध्यवसाना। अस्याश्चतुर्षु भेदेषु पूर्वोदाहरणान्येव। तदेवमष्टप्रकारा लक्षणा।

इन्द्रार्थाऽसु = इन्द्रपूजाऽर्थं निर्मितासु, स्थूणासु = स्तम्भेषु "अमी इन्द्राः"। इयं प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा। अत्र तादर्थ्यलक्षणः सम्बन्धः। तादर्थ्यमत्र इन्द्रप्रयोजनकत्वम्। सर्वनाम्नः "अमी" इत्यस्य निर्देशेन अनिगीर्णत्वम्। अत्र इन्द्रवत्पूज्यमानत्वं प्रयोजनम्।

अथ साध्यवसानां लक्षयति—"निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका"। इति। (विषयिणा = आरोप्यमाणेन लक्ष्यार्थेन श्वेतादिनेतिभावः) निगीर्णस्य = तिरोहितस्य, विषयस्य = आरोपविषयस्य, अन्यतादात्म्यप्रतीतिकृत् = अन्येन (विषयिणा लक्ष्याऽर्थेन श्वेतगुणविशिष्टेन), तादात्म्यप्रतीतिकृत् = अभेदप्रतीतिकृत्, लक्षणा साध्यवसानिका, मता=अभिमता इति कारिकाशेषभागाऽर्थः। वृत्तावपि अयमेवाऽर्थः सूचितः। इयं साध्यवसाना अतिशयोक्त्यलङ्कारस्य बीजम्। अस्याः=साध्यवसानाया लक्षणायाः, चतुर्षु = चतुःसंख्यकेषु, भेदेषु = प्रकारेषु पूर्वोदाहरणान्येव। ता यथा—

१. रूढौ उपादानलक्षणा साऽध्यवसाना—"श्वेतो धावति" अत्रारोपविषयस्य अश्वस्य निगरणात् साऽध्यवसानात्वमेवमन्यत्राऽपि।

२. प्रयोजने उपादानलक्षणा साऽध्यवसाना—"कुन्ताः प्रविशन्ति"।

३. रूढौ लक्षणलक्षणा साऽध्यवसाना—"कलिङ्गः साहसिकः"।

४. प्रयोजने लक्षणलक्षणा साऽध्यवसाना—"गङ्गायां घोषः" इति। तदेवमष्टप्रकारा लक्षणा। शुद्धागौणीभेदतो लक्षणाद्वैविध्यं प्रतिपादयति—सादृश्येतर-

इन्द्रके लिए गाड़ीगई स्थूणाओं (खम्भों) में "अमी इन्द्राः" ऐसा प्रयोग होता है, यह प्रयोजनवती सारोपा लक्षणलक्षणा है। यहां पर तादर्थ्य सम्बन्ध है, इन्द्रके लिए होना यह तादर्थ्य है। अन्यत्र भी ऐसा ही जानना चाहिए ॥ ८ ॥

ये सब सारोपा लक्षणाके उदाहरण हैं। अब साध्यवसानाका लक्षण कहते हैं—"निगीर्णस्य मता साध्यवसानिका"। निगीर्ण अर्थात् शब्दसे अप्रतिपादित विषयका अन्य (विषयी) के साथ अभेद प्रतीति करानेवाली लक्षणा "साध्यवसानिका" कहलाती है। इसके चारों भेद पहले ही कहे गये हैं। जैसे—

१ रूढिमती उपादानलक्षणा साध्यवसाना "श्वेतो धावति"।

२ प्रयोजनवती उपादानलक्षणा साध्यवसाना—"कुन्ताः प्रविशन्ति"।

३ रूढिमती लक्षणलक्षणा साध्यवसाना—"कलिङ्गः साहसिकः"।

४ प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा साध्यवसाना—"गङ्गायां घोषः"।

इस प्रकार सारोपाके चार और साध्यवसानाके चार लक्षणाके आठ भेद हो गये।

सादृश्येतरसंबन्धाः शुद्धास्ताः सकला अपि ।
सादृश्यात्तु मता गौण्यस्तेन षोडश भेदिताः ॥ ९ ॥

ताः पूर्वोक्ता अष्टभेदा लक्षणाः। सादृश्येतरसंबन्धाः कार्यकारणभावादयः। अत्र शुद्धानां पूर्वोदाहरणान्येव। रूढावुपादानलक्षणा सारोपा गौणी यथा—'एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि'। अत्र तैलशब्दस्तिलभवस्नेहरूपं मुख्यार्थमुपादायेव सार्षपादिषु स्नेहेषु वर्तते। प्रयोजने यथा—

सम्बन्धा इति । सादृश्येतरसम्बन्धाः ताः सकला अपि शुद्धाः सादृश्यात्तु गौण्यो मताः, तेन षोडश भेदिता इत्यन्वयः।

सादृश्येतरसम्बन्धाः = सादृश्यात् इतरे (भिन्नाः), कार्यकारणभावादिरूपाः सम्बन्धा आसां, ताः = पूर्वोक्ता अष्टभेदा लक्षणाः, सकला अपि = संपूर्णा अपि, शुद्धाः परिभाषिताः ॥ ९ ॥

सादृश्यात्तु गौण्ये लक्षणाः, मताः = अभिमताः, तेन कारणेन, षोडशभेदिताः= षोडशसंख्यकत्वेन भेदयुक्ताः। शुद्धाः = कार्यकारणभावादिरूपाः, गौण्यः = गुणयोगादिति भावः। गुणात् आगता गौण्यः, "तत आगतः" इत्यण् 'टिड्ढाणञ्०" इत्यादिना ङीप्।

विवृणोति-सादृश्येतरसम्बन्धाः=कार्यकारणभावादयः। तत्र शुद्धानां लक्षणानां पूर्वोदाहरणान्येव "अश्वः श्वेतो धावती"त्यादीनि। गौण्यो लक्षणाः प्रदर्श्यन्ते।

तत्र रूढौ उपादानलक्षणा सारोपा गौणी यथा **"एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि"** तिलानां विकारास्तैलानि, "तस्य विकार" इत्यण्। अत्र=अस्मिन् उदाहरणे, तैलशब्दः, तिलभवस्नेहरूपं, मुख्यार्थं = शक्याऽर्थम्, उपादाय एव = गृहीत्वा एव, सार्षपाऽऽदिस्नेहेषु = सर्षपविकारादिस्नेहमात्रेषु लक्ष्याऽर्थेषु वर्तते। अत्र सर्षपादिस्नेहाना

अब लक्षणाके शुद्धा और गौणी इन दो भेदोंको दिखलाते है। सादृश्यसे भिन्न सम्बन्धोंवाली पहले बतलाई गई सब लक्षणाएँ "शुद्धा" कही जाती है ॥ ९ ॥

सादृश्यसे "गौणी" लक्षणाएं होती है, गुणके योगसे "गौणी" लक्षणा होती है। इस प्रकार शुद्धाके आठ और गौणीके आठ कुल सोलह भेद हो जाते हैं।

सादृश्यसे भिन्न सम्बन्ध कार्यकारणभाव आदि होते हैं।

शुद्धा लक्षणाओंके आठ भेद पहलेके उदाहरण ही है।

१. रूढिमती उपादानलक्षणा सारोपा गौणी—"एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि" यहाँपर तैल शब्दका मुख्य अर्थ तिलसे उत्पन्न स्नेह है उसीको लेकर सादृश्यसे सरसों आदिके स्नेहको भी "तैल' कहते है।

२. प्रयोजनवती उपादानलक्षणा सारोपा गौणी—राजकुमार और उनके सदृश

राजकुमारेषु तत्सदृशेषु च गच्छत्सु 'एते राजकुमारा गच्छन्ति'। रूढावुपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी यथा—'तैलानि हेमन्ते सुखानि'। प्रयोजने यथा-'राजकुमारा गच्छन्ति' रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी यथा— 'राजा गौडेन्द्रं कण्टकं शोधयति'। प्रयोजने यथा—'गौर्वाहीकः'। रूढौ

तिलभवत्वाऽभावान्मुख्यार्थबाधः। तैलसार्षपयोरुभयोरपि स्नेहरूपत्वात्सादृश्यलक्षणः सम्बन्धः। एतानीति सर्वनाम्ना सारोपात्वम्। एवमन्यत्रापि। प्रयोजने उपा० सा० गौणी यथा—राजकुमारेषु तत्सदृशेषु गच्छत्सु "एते राजकुमारा गच्छन्ति"। अत्र राजकुमारसदृशेषु राजकुमारशब्दप्रयोगात् मुख्यार्थबाधः शौर्यसौन्दर्यवेशभूषाऽऽदिभिः सादृश्यं सम्बन्धः, राजकुमारवदादरणीयत्वं प्रयोजनम्। एतानीति सर्वनाम्ना सारोपात्वम्। रूढौ उपा० साध्यव० गौणी यथा-"तैलानि हेमन्ते सुखानि"। अत्र एतानीति सर्वनाम्ना निर्देशाऽभावाद्विषयस्य निगीर्णत्वेन साध्यवसानात्वम्। प्रयोजने उपा० साध्यव०गौणी यथा-"राजकुमारा गच्छन्ति"। प्रयोजनं निर्दिष्टमेव। रूढौ लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी यथा—"राजा गौडेन्द्रं कण्टकं शोधयति।" अत्र गौडेन्द्रे कण्टकशब्दस्य प्रयोगे प्रयोजनाऽभावाद्रूढिः। क्षुद्रदुःखदायित्वं सादृश्यं सम्बन्धः। कण्टकशब्दस्य प्रकृते स्वार्थपरित्यागात् लक्षणलक्षणा। "क्षुद्रशत्रौ च कण्टकः" इत्यादिकोषोऽपि निरूढलक्षणाया एव ग्राहकः। गौडेन्द्रस्य आरोपविषयस्याऽनिगरणात् सारोपात्वम्।

प्रयोजने लक्षण० सारोपा गौणी यथा—गौर्वाहीकः। वाहीको हलवाहकः। अथवा वाहीको नाम देशविशेषः। यथा—

अन्य कुमारोंके जानेपर—"एते राजकुमारा गच्छन्ति" यहांपर राजकुमारोंके सदृश आदरणीय होना प्रयोजन है।

पूर्वोक्त दोनों उदाहरणोंमें विषयवाचक "एतत्" पदको हटानेसे 'साध्यवसाना' के उदाहरण हो जाते हैं। जैसे—

३. रूढिमती उपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी—"तैलानि हेमन्ते सुखानि" यहांपर सर्वनामसे निर्देश न होनेसे विषय निगीर्ण हो गया है अतः यह साध्यवसाना हुई।

४. प्रयोजनवती उपादानलक्षणा साध्यवसाना गौणी—राजकुमारा गच्छन्ति"। प्रयोजनका पहले ही निर्देश किया गया है।

५. रूढिमती लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी—"राजा गौडेन्द्रं कण्टकं शोधयति" राजा गौडेन्द्र कण्टकको निवारण करते हैं। यहांपर गौडेन्द्रमें कण्टक शब्दके प्रयोगमें प्रयोजन न होनेसे रूढि है, क्षुद्र दुःख देना सादृश्य सम्बन्ध है, कण्टकशब्दका प्रकृतमें अपने अर्थका परित्याग करनेसे लक्षणलक्षणा है। आरोपविषय गौडेन्द्रका निगरण न होनेसे सारोपा हुई है।

६. प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा सारोपा गौणी—"गौर्वाहिकः"। वाहीक देशका

लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी यथा—'राजा कण्टकं शोधयति'। प्रयोजने यथा—'गौर्जल्पति'।

"पञ्चानां सिन्धुषष्ठानां नदीनां येऽन्तरश्रिताः।
तान् धर्मबाह्यानशुचीन् वाहीकान्परिवर्जयेत्॥" महाभारत कर्णपर्व।

पञ्चानां शतद्रु-विपाशेरावतीचन्द्रभागावितस्तानां (भाषायां तु सतलज-व्यास-रावी-चनाब-झेलमपदवाच्यानाम्) सिन्धुषष्ठानां=सिन्ध्वा नद्या षष्ठानां नदीनां ये अन्तरश्रिताः=मध्यस्थिताः, पञ्चनदपद (पञ्जाब)—वाच्या देशाः, धर्मबाह्यान्=धर्मबहिर्भूतान्, अशुचीन्=अपवित्रान्, तान्=तादृशान्, वाहीकान्=तदाख्यान् देशान्, पञ्चनद (पञ्जाब) वाच्यान्, परिवर्जयेत्=परित्यजेत्, तत्र न वसेदिति भावः। वाहीकाः (देशाः) सन्ति यस्य स वाहीकः (वाहीकदेशवासिपुरुषः), "अर्श आदिभ्योऽच्" इति सूत्रेण अच् प्रत्ययः। केचित्तु आरट्टात्युत्पन्नं जनं "वाहीकम्" कथयन्ति। अपरे तु वर्योर्भेदाऽभावात् बहिर्भवो वाहीक इति "बहिस्" शब्दात् "बहिषष्टिलोपो यञ्च" "ईकक् च" इति वार्त्तिकाभ्याम् ईकक् प्रत्ययष्टिलोपश्च। आचाररहितो जनो वाहीक इत्याहुः। अत्र गोवाहीकयोरभेदेन अन्वयाऽनुपपत्तेः गोशब्दस्य मुख्यार्थबाधः। अतः गोशब्देन स्वार्थस्य समर्पणात् लक्षणलक्षणा। आरोपविषयस्य वाहीकशब्दस्याऽनिगरणात् साऽऽरोपा। जाड्यादिसादृश्यसम्बन्धाद् गौणी। वाहीकस्य जाड्याद्यतिशयबोधनं प्रयोजनम्।

रूढौ लक्षणलक्षणा साऽध्यवसाना गौणी यथा—राजा कण्टकं शोधयति। शोधयति=निवारयति।

अत्र कण्टकपदेन स्वार्थस्य समर्पणाल्लक्षणलक्षणा। आरोपविषयस्य शत्रुरूपस्य विषयिणा कण्टकेन निगरणात्साध्यवसाना, क्षुद्रदुःखदायित्वं सादृश्यं सम्बन्धः। कण्टकवद्दुःखदातृत्वेन गौणी।

प्रयोजने लक्षण० साध्यव० गौणी यथा—गौर्जल्पति। अत्र जल्पनस्य (व्यक्तवाक्योच्चारणस्य) गवि असंभवान्मुख्यार्थबाधः। गोपदेन स्वार्थस्य परित्यागाल्लक्षण-

निवासी पुरुष बैल है। यहां पर गो और वाहीकके अभदसे अन्वयमें अनुपपत्ति होनेसे गोशब्दके मुख्यार्थमें बाध हुआ है। अतः गो शब्दके स्वार्थका समर्पण करनेसे लक्षणलक्षणा। आरोपविषय वाहीक शब्दका निगरण न होनेसे सारोपा है। जाड्य आदिके सादृश्य सम्बन्धसे गौणी है। वाहीकके अतिशय जाड्यका बोधन प्रयोजन है।

७. रूढिमती लक्षणलक्षणा साऽध्यवसाना गौणी—"राजा कण्टकं शोधयति" यहां कण्टक पदसे स्वार्थका समर्पण करनेसे लक्षणलक्षणा और आरोपविषय शत्रुका विषय कण्टकसे निगरण करनेसे "साध्यवसाना"। क्षुद्र दुःख देना सादृश्य सम्बन्ध है। कण्टककी तरह दुःख देनेसे गौणी।

८. प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा साध्यवसाना गौणी—"गौर्जल्पति" बैल बोलता

अत्र केचिदाहुः—गोसहचारिणो गुणा जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यन्ते। ते च गोशब्दस्य बाहीकार्थाभिधाने निमित्तीभवन्ति। तदयुक्तम्—गोशब्दस्यागृहीतसङ्केतं बाहीकार्थमभिधातुमशक्यत्वाद् गोशब्दार्थमात्रबोधनाच्च।

लक्षणा। तथा च विषयिणा = आरोप्यमाणेन गोपदेन, आरोपविषयस्य = बाहीकस्य निगरणात् साध्यवसाना। जाड्यादिसादृश्यसम्बन्धाद्गौणी। जाड्याद्यतिशयबोधनं प्रयोजनम्।

अथ "गौर्वाहीक" इत्यत्र शाब्दबोधभेदान्दर्शयन्परमतं निरस्यति अत्रेति। अत्र केचित् = आचार्याः, आहुः=कथयन्ति। "गौर्वाहीक" इत्यत्र गोसहचारिणः=गोवृत्तयो (गोत्वसमानाऽधिकरणाः) गुणाः=जाड्यमान्द्यादयः, लक्ष्यन्ते=लक्षणया प्रतिपाद्यन्ते। तत्र जाड्यम् (अज्ञत्वम्) मान्द्यम् (निपुणकर्माऽसमर्थत्वम्), आदिपदेन दुःखसहिष्णुत्वादिपरिग्रहः, ते च लक्ष्यन्ते=लक्षणया बोध्यन्ते, ते च=जाड्यमान्द्यादयो गुणाः, गोशब्दस्य, बाहीकाऽर्थाऽभिधाने = बाहीकाऽर्थस्य अभिधया बोधने, निमित्तीभवन्ति = प्रवृत्तिनिमित्ततामुपयान्ति। तथा च जडत्वेन रूपेण शक्यैव, गौर्वाहीक इति प्रतीतिरिति जाड्यमान्द्यादयो लक्ष्यन्ते इति तत्सिद्धान्तः।

मतमेतत्खण्डयति—तदयुक्तमिति। तत = पूर्वोक्तं, मतम्, अयुक्तम् = अनुचितम्, तत्र हेतुं प्रदर्शयति—गोशब्दस्येति। गोशब्दस्य = गोवाचकस्य, अगृहीतसंकेत= संकेतग्रहणं विना, बाहीकाऽर्थं = बाहीकरूपाऽर्थम्, अभिधातुम् = अभिधावृत्त्या प्रतिपादयितुम्, असामर्थ्यात् = सामर्थ्याऽभावात्, गोशब्दार्थमात्रबोधनाच्च=सङ्केतेन गोपदाऽर्थमात्रप्रतिपादनाच्च। अयं भावः। यदुक्तं लक्षणया उपस्थिता गोसहचारिणो जाड्यमान्द्यादयो गुणा गोशब्दात् बाहीकार्थस्य अभिधया बोधने निमित्तीभवन्ति, तदयुक्तम्। गोशब्दस्य गोरूपार्थ एव सङ्केतः, न बाहीकाऽर्थे, अतस्तस्य बाहीकाऽर्थमभिधया बोधयितुं न सामर्थ्यम्। ननु पुनरभिधया गोशब्देन बाहीकार्थे संकेतः स्यादिति चेत् तत्राऽऽह—अभिधाया इति। अभिधाया विरतत्वात=गोशब्देन सङ्केतितं सास्नादिमन्तमर्थं प्रतिपाद्य,

---

है। यहाँपर बैलमें जल्पन (स्पष्ट वाक्यका उच्चारण) के असंभव होनेसे मुख्य अर्थमें बाध है। गोपदसे स्वार्थका परित्याग करनेसे लक्षणलक्षणा, विषयी (आरोप्यमाण) गोपदसे आरोपविषय (बाहीक) का निगरण करनेसे साध्यवसाना, जाड्यादिके सादृश्य सम्बन्धसे गौणी, जाड्यादिके आधिक्यका बोधन प्रयोजन है।

अब "गौर्वाहीकः" इस वाक्यमें शाब्दबोधके भेदोंको दिखलाते हैं—

१—"अत्र केचिदाहुः। "गौर्वाहीकः" अर्थात् वाहीक गो है, यहाँपर "गो" शब्दसे बैलकी और "बाहीक" शब्दसे "बाहीक देशवासी पुरुषकी प्रतीति अभिधा वृत्तिसे होती है परन्तु गो और बाहीकका सामानाऽधिकरण्य अनुपपन्न होनेसे गोशब्दसे बैलमें रहनेवाले जाड्य और मान्द्य आदि गुणोंका लक्षणासे बोध होता है, वे गुण गोशब्दके

अभिधाया विरतत्वाद् विरतायाश्च पुनरुत्थानाभावात्।

अन्ये च पुनर्गोशब्देन वाहीकार्थो नाभिधीयते, किन्तु स्वार्थसहचारि-गुणसाजात्येन वाहीकार्थगता गुणा एव लक्ष्यन्ते। तदप्यन्ये न मन्यन्ते। तथाहि—अत्र गोशब्दाद्वाहीकार्थः प्रतीयते, न वा? आद्ये गोशब्दादेव वा? लक्षिताद्वा गुणात्? अविनाभावाद्वा? तत्र, न प्रथमः, वाहीकार्थस्या-

अभिधायाः=शक्तेः, विरतत्वात्=विश्रान्तत्वात्, विरतायाश्च=विश्रान्तायाश्च अभिधायाः "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराऽभावः" इति न्यायेन पुनरुत्थानाऽभावात्=पुनरागम-नाऽभावादिति भावः। अतः अभिधाऽन्तरकल्पने गौरवमित्याशयः। श्लेषादौ तु युगपदने-कार्थाऽभिधानं स्वीक्रियते, अत्राऽपि तथाकरणे लक्षणाया निरर्थकत्वादिति भावः। मतान्तरमाह—अन्ये च पुनरिति। अन्ये च = अपरे च आचार्याः, पुनः गोशब्देन = गोपदेन, वाहीकाऽर्थः = वाहीकरूपाऽर्थः, न अभिधीयते = अभिधावृत्त्या न प्रतिपाद्यते, गोपदेन संकेतेन गोपदार्थ एव प्रतिपाद्यते। किन्तु स्वाऽर्थसहचारिगुणसाजात्येन=स्वाऽर्थो गोत्वं, तत्सहचारिगुणाः = गोसहचरणशीलगुणाः जाड्यमान्द्यादयः, तेषां साजात्येन = सजातीयतासम्बन्धेन, वाहीकार्थगता गुणा एव = जाड्यमान्द्यादय एव, अत्र एवकारेण गुणिनो व्यावृत्तिः। लक्ष्यन्ते=लक्षणया बोध्यन्ते। अस्मिन्मते गोशब्देन पूर्वमताऽनुसारेण वाहीकार्थोऽभिधया न प्रतिपाद्यते किन्तु गोसहचारिगुणसाजात्येन वाहीकार्थगता जाड्य-मान्द्यादयो गुणा एव लक्षणया बोध्यन्ते इति भावः।

तदपि = तन्मतमपि, अन्ये = आचार्याः, न मन्यन्ते = न स्वीकुर्वन्ति। तत्र हेतुमाह—यथेति। तथाहि अत्र = "गौर्वाहीक" इत्यत्र। गोशब्दात्, वाहीकार्थः = वाहीकरूपार्थः, प्रतीयते = ज्ञायते, न वा = न प्रतीयते वा, न ज्ञायते वा। आद्ये = प्रथमपक्षे प्रतीतिपक्षे, गोशब्दात् एव वा (१), लक्षितात्=लक्षणावृत्त्या प्रतिपादितात्, गुणात् = स्वनिष्ठजाड्यमान्द्याद्वा (२), अविनाभावाद्वा=व्याप्तेर्वा प्रतीयते वाहीकाऽर्थ

अभिधावृत्तिसे वाहीक अर्थका प्रतिपादन करनेमें प्रवृत्तिनिमित्त होते है यह कुछ विद्वानोंका कहना है।

इसका खण्डन करते है। यह अनुचित है। सङ्केतग्रहण किये बिना गोशब्द वाहीक अर्थका प्रतिपादन नहीं कर सकता है। केवल गो अर्थका प्रतिपादन करता है।

गोरूप अर्थमात्रका बोधन कर अभिधा विरत हो जाती है, "शब्दबुद्धि-कर्मणां विरम्य व्यापाराऽभावः" इस नियमके अनुसार विरत अभिधाका फिर उत्थान नहीं हो सकता है।

अन्ये चेति=अन्य विद्वान् ऐसा कहते हैं—गोशब्दसे वाहीक अर्थ अभिधासे प्रति-पादित नहीं होता है, किन्तु स्वाऽर्थ=गोत्व उसके सहचारिगुण=जाड्यमान्द्य आदिके साजात्य=सजातीयता सम्बन्धसे अर्थात् सादृश्यसे वाहीक अर्थमें रहने वाले जाड्य मान्द्य आदि गुणोंकी ही लक्षणा होती है। (जाड्य मांद्य आदि गुण ही लक्षित होते हैं)।

संकेतित्वात्। न द्वितीयः। गोगवयचन्द्रमुखादिशब्दद्वन्द्वानामवयवप्रसादादिसाम्येऽप्यन्योन्यस्याऽन्यतमशब्दार्थाऽनभिधायकत्वात्। न तृतीयः। अविनाभावलभ्यस्यार्थस्य शाब्देऽन्वये प्रवेशासंभवात् शाब्दी ह्याकाङ्क्षा

इति शेष:। (३) न प्रथमः = 'गोशब्दाद्वाहीकाऽर्थः प्रतीयते" इत्याकारकः प्रथमः पक्षो न। अत्र हेतुं प्रदर्शयति—वाहीकाऽर्थस्याऽसंकेतितत्वात्। गोशब्दे वाहीकाऽर्थस्यासंकेताऽभावात् गोशब्दाद्वाहीकार्थो न प्रतीयते इति भावः। न द्वितीयः, "गोशब्देन लक्षिताद् गुणाद् गोशब्दादेव" इत्याकारकः बाहीकार्थः प्रतीयत इति पक्षोऽपि न, अत्र हेतुमुपन्यस्यति—**गोगवयेत्यादिः०**। "गौर्गवयः" "मुखं चन्द्र" इत्यादिशब्दद्वन्द्वानां, लक्षणयाऽवयवप्रसादादिसाम्येऽपि = "गौर्गवय" इत्यादौ गोगवयोरवयवसाम्येऽपि, तथा "मुखं चन्द्रः" इत्यादौ प्रसादत्वस्य (आह्लादकत्वस्य) साम्येऽपि (सादृश्येऽपि) अन्योन्यस्य = परस्परस्य, अन्यतमशब्दाऽर्थाऽनभिधायकत्वात् = समभिव्याहृतपदाऽर्थाऽवाचकत्वात्, अयं भावः। 'गौर्गवय" इत्यत्र लक्षणयाऽवयवसादृश्यरूपस्याऽर्थस्य प्रतीतावपि तथा "मुखं चन्द्र" इत्यत्र लक्षणया प्रसादत्वस्य (आह्लादकत्वस्य) साम्येऽपि, गोगवयोर्मुखचन्द्रयोश्च यथैकस्याऽपरशब्दाऽर्थाऽवाचकत्वं तथैव प्रकृतेऽपि "गौर्वाहीक इत्यत्र लक्षणया गोपदाज् जाड्यमान्द्यादिरूपस्याऽर्थस्य लक्षितत्वेऽपि एकस्याऽपरशब्दाऽर्थावाचकत्वमतो लक्षिताद् गुणादपि गोशब्दाद् बाहीकाऽर्थप्रतीतिर्नेति भावः।

न तृतीयः। अविनाभावाद्वाहीकाऽर्थप्रतीतिरिति पक्षोऽपि नेति भावः। तत्र हेतुमाह—अविनाभावलभ्यस्य = व्याप्तिलभ्यस्य, अर्थस्य, शाब्दे = शब्दजन्ये, अन्वये = संसर्गे, प्रवेशाऽसंभवात् = निवेशाऽसंभवात्, यतः शाब्दी = शब्दसम्बन्धिन्याकाङ्क्षा, शब्देनैव = न तु अविनाभावलभ्याऽर्थेन पूर्यते।

मतमेतच्छब्दाऽध्याहारवादिनां नैयायिकानाम्। अर्थाऽध्याहारवादिनां मीमांसकानां मते तु अविनाभावलभ्यस्याऽप्यर्थस्य शाब्दबोधविषयत्वाऽङ्गीकारान्नैतद्दूषणम्।

द्वितीयं पक्षं खण्डयति—**न द्वितीय इति**। गोशब्दाद्वाहीकाऽर्थो न प्रतीयत इति पक्षः। यदि हि अत्र गोशब्दात् बाहीकार्थो न प्रतीयेत = न ज्ञायेत, तदा = तर्हि;

न कि गुणी बाहीक भी, खण्डन करते हैं—इसे भी अन्य विद्वान् नहीं मानते है। जैसे कि—"गौर्वाहीकः" यहाँपर गो शब्दसे बाहीक अर्थ प्रतीत होता है? वा प्रतीत नहीं होता है? पहले पक्षमें (गो शब्दसे बाहीक अर्थ प्रतीत होता है तो गो शब्दसे ही प्रतीत होता है (१) वा गो शब्दसे लक्षित जाड्य मान्द्य आदि गुणोंसे प्रतीत होता है (२) अथवा अविनाभाव (व्याप्ति) से प्रतीत होता है (३) इनमें पहला पक्ष—गो शब्दसे ही वाहीक अर्थ प्रतीत होता है, यह ठीक नहीं है, क्योंकि गो शब्दका बाहीक अर्थमें जब सङ्केत ही नहीं हैं तो कैसे उससे बाहीक अर्थकी प्रतीति होगी?। दूसरा पक्ष—गो शब्दसे लक्षित जाड्य आदि गुणोंसे वाहीक अर्थकी प्रतीति होती

शब्देनैव पूर्यते। न द्वितीयः,—यदि हि गोशब्दाद्वाहीकार्थो न प्रतीयते, तदाऽस्य वाहीकशब्दस्य च सामानाधिकरण्यमसंगतं स्यात्।

तस्मादत्र गोशब्दो मुख्यया वृत्त्या वाहीकशब्देन सहान्वयमलभमानोऽज्ञत्वादिसाधर्म्यसंबन्धाद्वाहीकार्थं लक्षयति। वाहीकस्याज्ञत्वाद्यतिशयबोधनं प्रयोजनम्।

अस्य = गोशब्दस्य, वाहीकशब्दस्य च, सामानाऽधिकरण्यम् = एकार्थप्रतिपादकत्वम् असंगतम् = अयुक्तं स्यात्, तस्मात् = कारणात्, अत्र = अस्मिन् स्थले "गौर्वाहीक इत्यत्रेति भावः। गोशब्दः = गोरूपार्थः, मुख्यया वृत्त्या = अभिधाशक्त्या, वाहीकशब्देन सह = वाहीकरूपार्थेन समम्, अन्वयम् = अभेदसम्बन्धेन ससर्गम्, अलभमानः = अप्राप्नुवन्, अज्ञत्वादिः, साधर्म्यसम्बन्धात् = तुल्यधर्मतासम्बन्धात्, वाहीकार्थं=वाहीक रूपार्थं, लक्षयति=लक्षणया प्रतिपादयति, गोसदृशत्वेन रूपेणेति शेषः वाहीकस्य "वाहीकोऽज्ञ" इति प्रतिपादनादलभ्यम् अज्ञत्वाद्यतिशयं, प्रयोजनं=लक्षणाफलम्। अत्राहार्याऽभेदप्रतीतिः प्रयोजनमिति काव्यप्रकाशकारः। इत्थं च एतस्या गौणीवृत्त्या मुख्यार्थबाधा·

है, यह मत भी ठीक नहीं है, क्योंकि गो गवय, चन्द्र मुख आदि युग्म शब्दोंमें जैसेकि गो और गवयमें अवयवमें समता और चन्द्र और मुखमें प्रसाद (आह्लादकत्व)की समता होनेपर भी गो गवय अर्थको और मुख चन्द्ररूप अर्थको अभिधा वृत्तिसे प्रतिपादन नहीं कर सकता है। वैसे ही गो शब्द जाड्याद्यतिशयकी लक्षणासे भी वाहीक अर्थको अभिधासे प्रतिपादन नहीं कर सकता है। तीसरा पक्ष—अविनाभाव (व्याप्ति) से गो शब्द वाहीक अर्थकी प्रतीति करता है, यह मत भी ठीक नहीं है, क्योंकि अविनाभाव (व्याप्ति) से लभ्य अर्थका शब्दजन्य अन्वयमें प्रवेश असंभव है, क्योंकि शब्दसम्बन्धिनी आकाङ्क्षा शब्दसे ही पूर्ण होती है अविनाभावसे लभ्य अर्थसे नहीं, (अर्थाऽध्याहारवादी मीमांसक आदिके मतमें तो अविनाभावलभ्य अर्थसे भी आकाङ्क्षा पूर्ण होती है)।

अब द्वितीय पक्ष—गो शब्दसे वाहीक अर्थ प्रतीत नहीं होता है, इस मतका खण्डन करते है। गो शब्दसे वाहीक अर्थ प्रतीत नहीं होता है तो उसका और वाहीक शब्दका सामानाधिकरण्य (एक आश्रयमें रहना) असगत होगा।

अब सिद्धान्त पक्ष दिखलाते हैं—इस कारणसे गो शब्द मुख्य (अभिधा) वृत्तिसे वाहीक शब्दके साथ अन्वय (अभेद सम्बन्धसे संसर्गको) न पाकर अज्ञत्व आदि साधर्म्य- (तुल्यधर्मता) के सम्बन्धसे वाहीक स्वरूप अर्थको लक्षणासे प्रतिपादन करता है। व्यञ्जनासे वाहीककी अत्यन्त अज्ञता आदिका प्रतिपादन करना प्रयोजन है। यह लक्षणा गुण (अज्ञत्व आदि साधारण धर्म) के योगसे "गौणी" कही जाती है। पहली (सादृश्यसे अतिरिक्त सम्बन्धसे युक्त) लक्षणा उपचारके मिश्रण न होनेसे "शुद्धा" कही जाती है।

इयं च गुणयोगाद् गौणीत्युच्यते। पूर्वा तूपचारामिश्रणाच्छुद्धा। उपचारो हि नामात्यन्तं विशकलितयोः शब्दयोः सादृश्यातिशयमहिम्ना भेदप्रतीतिस्थगनमात्रम्। यथा—'अग्निमाणवकयोः'। शुक्लपटयोस्तु नात्यन्तं भेदप्रतीतिः, तस्मादेवमादिषु शुद्धैव लक्षणा।

व्यङ्ग्यस्य गूढाऽगूढत्वाद् द्विधा स्युः फललक्षणाः ॥१०॥

प्रयोजने या अष्टभेदा लक्षणा दर्शितास्ताः प्रयोजनरूपव्यङ्ग्यस्य

दित्रितयहेतुकत्वाल्लक्षणायामन्तर्भावः स्फुट एव इत्याशयः। इयं च = लक्षणा, गुणयोगात् = सादृश्यधर्मयोगात्, "गौणी" त्युच्यते। पूर्वा तु = सादृश्यव्यतिरिक्तसम्बन्धयुक्ता तु, उपचाराऽमिश्रणात् = उपचारमिश्रणाऽभावात्, शुद्धा। उपचारं निरूपयति—**उपचार इति**। उपचारो नाम अत्यन्तं = साऽतिशयं, विशकलितयोः = भिन्नयोः, पदार्थयोः सादृश्याऽतिशयमहिम्ना = अतिशयतुल्यत्वसामर्थ्येन, भेदप्रतीतिस्थगनमात्रं = भेदज्ञानाच्छादनमात्रम्। न तु अभेदाऽऽरोप इत्यर्थः। यथा अग्निमाणवकयोः। शुक्लपटयोस्तु न अत्यन्तं भेदप्रतीतिः, तस्मात् एवमादिषु शुद्धैव लक्षणा।

प्रयोजनवत्या लक्षणाया द्वैविध्यं प्रतिपादयति—**व्यङ्ग्यस्येति**। व्यङ्ग्यस्य = व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्यस्य प्रयोजनस्य, गूढाऽगूढत्वात् = गूढत्वात् अगूढत्वाच्च। फललक्षणाः = प्रयोजनवत्यो लक्षणाः। द्विधा = द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां, स्युः = भवेयुः इति कारिकार्थः॥ १० ॥

कारिकां विवृणोति—**प्रयोजन इति**। प्रयोजने या अष्टभेदा लक्षणा दर्शिताः, ताः = लक्षणाः, प्रयोजनरूपव्यङ्ग्यस्य = लक्षणाफलरूपव्यञ्जनाप्रतिपाद्यार्थस्य, गूढाऽगूढतया =

अत्यन्त भिन्न दो पदार्थोंका अतिशय सादृश्य (समानता) की महिमासे भेदप्रतीतिके स्थगन करनेको "उपचार" कहते हैं।

जैसे अग्नि और माणवका, इनमें तेजस्वितारूप समानताकी महिमासे "अग्निर्माणवकः" इस प्रकार दोनोंका भेद आच्छादित हो गया है। यह गौणी लक्षणाका उदाहरण है। परन्तु "शुक्लः पटः" यहाँपर शुक्ल और पटमें शुक्ल गुण और पट द्रव्य, भिन्न होनेपर भी अग्नि और माणवककी तरह ये अत्यन्त भिन्न नहीं है अत एव ऐसे प्रयोगोंमें शुद्धा लक्षणा ही होती है।

इस रूढिमती लक्षणाके आठ भेद और प्रयोजनवती लक्षणाके आठ भेद हो गये हैं। इनमें प्रयोजनवती लक्षणाओंमें प्रयोजनरूप व्यङ्ग्यके गूढ और अगूढ होनेसे दो दो भेद होकर प्रयोजनवती लक्षणाके सोलह भेद होते हैं॥ १० ॥

उनमें "गूढ व्यङ्ग्य" काव्यार्थके परिशीलनमें परिपक्व बुद्धि-सम्पत्तिवालोंसे ही ज्ञात हो सकता है—"जैसे उपकृतं बहु तत्र, इत्यादि। अत्यन्त स्पष्ट होनेसे सब जनोंसे ज्ञेय व्यङ्ग्यको "अगूढ व्यङ्ग्य" कहते हैं। जैसे—"उपदिशति०"

गूढाऽगूढतया प्रत्येकं द्विधा भूत्वा षोडश भेदाः। तत्र गूढः, काव्यार्थभावना-परिपक्वबुद्धिविभवमात्रवेद्यः। यथा—'उपकृतं बहु तत्र—' इति। अगूढः= अतिस्फुटतया सर्वजनसंवेद्यः। यथा—

उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि॥'

अत्र 'उपदिशति' इत्यनेन 'आविष्करोति' इति लक्ष्यते। आविष्कारातिशयश्चाभिधेयवत्स्फुटं प्रतीयते।

धर्मिधर्मगतत्वेन फलस्यैता अपि द्विधा।

एता अनन्तरोक्ताः षोडशभेदा लक्षणाः फलस्य धर्मिगतत्वेन धर्मगतत्वेन च प्रत्येकं द्विधा भूत्वा द्वात्रिंशद्भेदाः।

गूढतया अगूढतया च, प्रत्येकं, द्विधा ८ × २ = षोडश भेदाः। तत्र गूढः काव्यार्थभावनापरिष्कृतबुद्धिविभवमात्रवेद्यः = काव्यार्थस्य भावनया=परिशीलनेन, परिष्कृतः= परिष्कारयुक्तो यो बुद्धिविभवः=धीसम्पत्तिः। तन्मात्रवेद्यः = तन्मात्रज्ञेयः, काव्यार्थपरिशीलनसूक्ष्मबुद्धिवेद्य इति भावः। गूढः = यथा—"उपकृतं बहु तत्रे"त्यादिः। अपकाराऽतिशयरूप प्रयोजनं काव्याऽर्थभावनापरिष्कृतबुद्धिविभवमात्रवेद्यम्। अगूढ =अतिस्फुटतया (अतिस्पष्टत्वेन) सर्वजनसंवेद्यः, यथा—

"उपदिशति कामिनीनां यौवनमद एव ललितानि।"

कामिनीनां = रमणीनां, यौवनमद एव=तारुण्यमद एव, ललितानि=शृङ्गारचेष्टितानि, उपदिशति=उपदेशं करोति, अत्र अचेतनत्वेन यौवनमदस्योपदेशे तात्पर्याऽनुपपत्तेः "उपदिशति" इत्यनेन "आविष्करोति" इति लक्ष्यते = लक्षणया ज्ञाप्यते। तत्र आविष्काराऽतिशयरूपं प्रयोजनं=व्यङ्ग्यं (व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्यम्) तदपि अभिधेयवत्=शक्याऽर्थवत्, स्फुट=व्यक्तं, प्रतीयते=व्यज्यते। अतोऽगूढव्यङ्ग्यस्योदाहरणम्। आभ्यामेव व्यङ्ग्यस्य गूढाऽगूढत्वाभ्यां ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यनामको काव्यभेदौ लक्ष्येते।

पुनरपि प्रयोजनवत्या लक्षणाया द्वैविध्यं प्रतिपादयति-**धर्मिधर्मगतत्वेनेति**। एताः फलस्य धर्मिधर्मगतत्वेन अपि (पुनः) द्विधा इत्यन्वयः। विवृणोति-**एता इति**। एताः= अनन्तरोक्ताः, षोडशभेदा लक्षणाः, फलस्य=प्रयोजनस्य, धर्मिधर्मगतत्वेन=धर्मी=लक्ष्यः, धर्म =लक्ष्यवृत्तिपदार्थः। धर्मिगतत्वेन धर्मगतत्वेन अपि, प्रत्येकं द्विधा भूत्वा द्वात्रिंशद्भेदाः।

रमणियोंके तारुण्यमदको ही शृङ्गारचेष्टाओंका उपदेश करते हैं। यहाँपर "उपदिशति" इस पदका "उपदेश करता है" यह वाच्यार्थ है, उपदेश करना चेतनका धर्म है यौवनमद अचेतन है अतः अनुपपत्ति होनेसे आविष्करोति=आविष्कार (प्रकट) करता है यह लक्ष्यार्थ हुआ। आविष्कारका आधिक्य वाच्यार्थके समान स्पष्ट रूपसे प्रतीत होता है। अब अन्य भेदोंको दिखलाते हैं। प्रयोजनके धर्मिगत और धर्मगत होनेसे प्रयोजनवती लक्षणाएँ फिर दो प्रकारकी होती हैं। इसप्रकार प्रयोजनवती लक्षणाएँ १६ + १६=३२

दिङ्मात्रं यथा—

'स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियतो वेल्लद्बलाका घना

वाताः शीकरिणः पयोदसुहृदामानन्दकेकाः कलाः ।

कामं सन्तु, दृढं कठोरहृदयो रामोऽस्मि सर्वं सहे

वैदेही तु कथं भविष्यति हहा ! हा देवि ! धीरा भव ॥'

दिङ्मात्रं = दिग्दर्शनमात्रं, यथा । धर्मिधर्मगतफलयोरेकैकमुदाहरणं प्रदर्श्यत इति भावः ।

तत्र धर्मिगतप्रयोजनवतीं लक्षणामुदाहरति—स्निग्धेति । स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियता वेल्लद्बलाका घनाः, शीकरिणो वाताः, पयोदसुहृदां कलाः आनन्दकेकाः । (एते) कामं सन्तु । दृढं कठोरहृदयः रामः अस्मि, सर्वं सहे । तु वैदेही कथं भविष्यति हहा हा देवि ! धीरा भव इत्यन्वयः ।

वर्षर्तावुपस्थिते सीताविप्रयुक्तस्य रामस्योक्तिरियम् । स्निग्धश्यामलकान्तिलिप्तवियत = स्निग्धा (सान्द्रा) श्यामला (नीला) या कान्तिः (शोभा) तया लिप्तं (लेपनविषयीकृतं, लक्षणया व्याप्तम्) वियत् (आकाशम्) यैस्ते । तथा वेल्लद्बलाका= वेल्लन्त्यः (चलन्त्यः) बलाकाः (बिसकण्ठिकाः) येषु, ते तादृशाः घनाः = मेघाः । शीकरिणः = जलकणयुक्ताः, शीतला इति भावः । तादृशा वाताः = वायवः, वान्तीति शेषः । पयोदसुहृदां=पयोदाः (मेघाः), तेषां सुहृदाम् (मयूराणाम्), कलाः=मधुराः आनन्दकेकाः = हर्षपरिपूरितानि कूजितानि । (एते=पूर्वोक्ताः पदार्थाः), मदनोद्दीपका इति भावः, कामं = पर्याप्तं यथा तथा, सन्तु = भवन्तु । दृढं= बाढं यथा तथा, कठोरहृदयः = कठिनचित्तः, रामः = राघवः, दुःखसहनशील इति भावः । अस्मि=भवामि, सर्वं = सकलं दुःखमिति शेषः । सहे = सहनं करोमि, । तु = परन्तु, वैदेही = सीता, कथं = केन प्रकारेण, भविष्यति=भविता, उद्दीपकपदार्थानां सन्निधाने कथं स्थास्यतीति शेषः । हहा हा = हन्त हन्त !, हे देवि = हे जानकि ! धीरा=धैर्यवती, भव । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

भेदोंवाली हो जाती है । दिग्दर्शन करते है—सीताके विरही रामचन्द्रजीकी उक्ति है । चिकनी और श्यामल कान्तिसे आकाशका लेपन करनेवाले और बगलियां जिनके आस पास उड़ रही है ऐसे मेघ है । जलके कणोंसे सम्बद्ध हवाएँ बह रही हैं । मेघके सुहृद् मयूरोके हर्षपरिपूरित मधुर कूजित सुने जा रहे है । भले ही ये सब हों, मैं अतिकठोर-हृदय राम हूँ, सब सहता हूँ, परन्तु सीता कैसे सहेगी ? हाय हाय ! हे देवि ! तुम धैर्य धारण करो ॥

अत्रात्यन्तःदुःखसहिष्णुरूपे रामे धर्मिणि लक्ष्ये तस्यैवातिशयः फलम्। 'गङ्गायां घोषः' इत्यत्र तटे शीतत्वपावनत्वरूपधर्मस्यातिशयः फलम्।

तदेवं लक्षणाभेदाश्चत्वारिंशन्मता बुधैः ॥ ११ ॥

रूढावष्टौ फले द्वात्रिंशदिति चत्वारिंशल्लक्षणाभेदाः।

किञ्च—

पदवाक्यगतत्वेन प्रत्येकं ता अपि द्विधा।

ता अनन्तरोक्ताश्चत्वारिंशद्भेदाः। तत्र पदगतत्वे यथा—'गङ्गायां घोषः'। वाक्यगतत्वे यथा—'उपकृतं बहु तत्र' इति। एवमशीतिप्रकारा लक्षणा।

धर्मिगतप्रयोजनवत्या लक्षणाया उदाहरणं विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र=उदाहरणे, अत्यन्तदुःखसहिष्णुरूपे रामे धर्मिणि लक्ष्ये=लक्षणावृत्तिप्रतिपाद्ये अर्थे, तस्यैव=दुःखसहिष्णुत्वस्य, अतिशयः = आधिक्यं, फलं = प्रयोजनम्। रामस्य सर्वसहत्वस्याऽप्रसिद्धेः मुख्याऽर्थबाधः।

धर्मगतप्रयोजनवतीं लक्षणामुदाहरति—**गङ्गायां घोष इति**। अत्र तटे=लक्ष्याऽर्थे, शीतत्वपावनत्वाऽऽदिरूपधर्मस्य अतिशयः, फलं=प्रयोजनम्। सामीप्यरूपः सम्बन्धः।

लक्षणाभेदान् सङ्कलयति—**तदेवमिति**। तत्=तस्मात्कारणात्, बुधैः=विद्वद्भिः, एवम्=इत्थं, चत्वारिंशत्=चत्वारिंशत्संख्यकाः, लक्षणाभेदाः, मताः=संमताः ॥११॥

विवृणोति—रूढौ अष्टौ, फले=प्रयोजने द्वात्रिंशदिति संहृत्य चत्वारिंशल्लक्षणाभेदाः ८ + ३२ = ४० ॥ ११ ॥

लक्षणायाः पुनर्द्वैविध्यं प्रतिपादयति—**पदवाक्यगतत्वेनेति**। ताः=लक्षणाः, पदवाक्यगतत्वेन = पदगतत्वेन वाक्यगतत्वेन अपि, द्विधा।

इस पद्यमें अत्यन्त दुःखके सहनशील रामरूप धर्मी लक्ष्य = लक्षणासे ज्ञापके विषयमें दुःखसहिष्णुत्वका अतिशय फल (प्रयोजन) है। अतः यह धर्मिगत-प्रयोजनवती लक्षणाका उदाहरण हुआ।

"गङ्गायां घोषः" यहाँपर तटमें शीतत्व-पावनत्वरूप धर्मका अतिशय फल (प्रयोजन) है, अतः यह धर्मगत-प्रयोजनवती लक्षणाका उदाहरण हुआ।

तदेवमिति। रूढिमें आठ और फल (प्रयोजन) में बत्तीस इसप्रकार लक्षणाके चालीस भेद पण्डितोंने माने हैं॥ ११ ॥

अनन्तरोक्त वे चालीस प्रकारकी लक्षणाएँ पदगत और वाक्यगत होनेसे फिर दो प्रकारोंकी हो जाती हैं। पदगत लक्षणा जैसे—'गङ्गायां घोषः"। वाक्यगत लक्षणा जैसे—"उपकृतं बहु० तत्र०" इत्यादि। पदगत चालीस और वाक्यगत चालीस इस प्रकार लक्षणाके अस्सी भेद होते हैं।

विवृणोति—ताः = अनन्तरोक्ताः चत्वारिंशद्भेदाः । तत्र पदगतत्वेन यथा—"गङ्गायां घोष" इति । वाक्यगतत्वेन यथा—"उपकृतं बहु तत्रे"ति । एवमशीतिप्रकारा लक्षणा । अशीतिप्रकाराया लक्षणायाः सोदाहरणं निदर्शनं यथाः—

१ शुद्धा रूढिमती उपादानलक्षणा सारोपा = अश्वः श्वेतो धावति ।

२ ,, रूढिमती उपादानलक्षणा साध्यवसाना = श्वेतो धावति ।

३ ,, रूढिमती लक्षणलक्षणा सारोपा = कलिङ्गः पुरुषो युध्यते ।

४ ,, रूढिमती लक्षणलक्षणा साध्यवसाना = कलिङ्गः साहसिकः ।

५ गौणी रूढिमती उपादानलक्षणा सारोपा = एतानि तैलानि हेमन्ते सुखानि ।

६ ,, रूढिमती उपादानलक्षणा साध्यवसाना=तैलानि हेमन्ते सुखानि ।

७ ,, रूढिमती लक्षणलक्षणा सारोपा = राजा गौडेन्द्रं कण्टक शोधयति ।

८ ,, रूढिमती लक्षणलक्षणा साध्यवसाना = राजा कण्टकं शोधयति ।

इमा अष्टौ रूढिमत्यो लक्षणाः

१ शुद्धा प्रयोजनवती उपादानलक्षणा सारोपा = एते कुन्ताः प्रविशन्ति ।

२ ,, प्रयोजनवती उपादानलक्षणा साध्यवसाना = कुन्ताः प्रविशन्ति ।

३ ,, प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा सारोपा = आयुर्घृतम् ।

४ ,, प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा साध्यवसाना = गङ्गायां घोषः ।

५ गौणी प्रयोजनवती उपादानलक्षणा सारोपा = एते राजकुमारा गच्छन्ति ।

६ ,, प्रयोजनवती उपादानलक्षणा साध्यवसाना = राजकुमारा गच्छन्ति ।

७ ,, प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा सारोपा = गौर्वाहीकः ।

८ ,, प्रयोजनवती लक्षणलक्षणा साध्यवसाना = गौर्जल्पति ।

इमा अष्टौ प्रयोजनवत्यो लक्षणाः ।

इमा गूढप्रयोजनाः ८,अगूढप्रयोजनाः ८,इत्थं संहृत्य १६,भेदाः पुनः धर्मिगतप्रयोजनवत्यः १६, धर्मगतप्रयोजनवत्यश्च १६,इत्थं संहृत्य प्रयोजनवत्यो लक्षणाः, द्वात्रिंशद्भेदाः।

रूढिमत्यो लक्षणाः अष्टौ, प्रयोजनवत्यो द्वात्रिंशत्, संहृत्य लक्षणाभेदाः चत्वारिंशत् ।

पुनश्च ता लक्षणाः पदगताः ४०, वाक्यगताश्च ४०, संहृत्य लक्षणा अशीतिसंख्यका ज्ञातव्याः । काव्यप्रकाशकारमते तु लक्षणा षड्विधा । तत्र पूर्वं शुद्धा गौणी चेति द्विविधा । शुद्धा—उपादानलक्षणा लक्षणलक्षणा चेति द्विविधा । ते द्विविधे अपि सारोपा साध्यवसाना चेति द्विविधे, इत्थं संहृत्य शुद्धा लक्षणाश्चतुर्विधाः । गौणी तु सारोपा साध्यवसाना चेति द्विविधा । इत्थं संहृत्य लक्षणाः षट्प्रकाराः ।

अथ व्यञ्जना—

विरतास्वभिधाद्यासु ययाऽर्थो बोध्यतेऽपरः ॥ १२ ॥

सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम शब्दस्यार्थादिकस्य च ।

'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इति नयेनाभिधालक्षणातात्पर्याख्यासु तिसृषु वृत्तिषु स्वं स्वमर्थं बोधयित्वोपक्षीणासु ययाऽन्योऽर्थो बोध्यते सा शब्दस्यार्थस्य प्रकृतिप्रत्ययादेश्च शक्तिर्व्यञ्जनध्वननगमनप्रत्यायनादिव्यपदेशविषया व्यञ्जना नाम ।

अथ क्रमप्राप्तां व्यञ्जनां नाम वृत्तिं निरूपयति **विरतास्विति** । अभिधाद्यासु विरतासु यया अपरः अर्थः बोध्यते ॥ १२ ॥

सा शब्दस्य अर्थादिकस्य च व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्यन्वयः ।

अभिधाद्यासु = अभिधालक्षणातात्पर्यासु तिसृषु वृत्तिषु, विरतासु = उपक्षीणासु सतीषु, यया = वृत्त्या, अपरः=अन्यः, वाच्य-लक्ष्यतात्पर्यार्थभिन्न इत्यर्थः । व्यङ्ग्यत्वेन निरूपयिष्यमाणः वस्त्वलङ्काररसलक्षणः अर्थः, बोध्यते = प्रतिपाद्यते, सा शब्दस्य अर्थादिकस्य च, आदिपदेन प्रकृतिप्रत्ययादेः परामर्शः । व्यञ्जना नाम वृत्तिः । व्यज्यते अर्थः अनया इति व्यञ्जना ।

इत्थं च व्यञ्जना वृत्तिस्तावद् द्विविधा-**शाब्दी आर्थी चेति** । तत्र शाब्द्या व्यञ्जनायाः पदधर्मत्वम्, आर्थ्यास्तु वाक्यधर्मत्वम् । विवृणोति-**शब्दबुद्धिकर्मणामिति**। शब्दबुद्धिकर्मणां = शब्दस्य (घटादेः) बुद्धेः (ज्ञानस्य प्रत्यक्षादेः) कर्मणश्च, तेषां विरम्य = स्वविषयमुपस्थाप्य विरामाऽनन्तरं, व्यापाराऽभावः=पुनः स्वविषयोपस्थापनाऽभाव इति नयेन = न्यायेन, अभिधालक्षणातात्पर्याख्यासु=शक्तिभक्तितात्पर्यानाम्नीषु, वृत्तिषु = शक्तिषु, स्वं स्वमर्थं=प्रातिस्विकं विषयं, बोधयित्वा=प्रतिपाद्य, उपक्षीणासु= विरतासु, यया = वृत्त्या, अन्यः = अपरः अर्थः, बोध्यते = प्रतिपाद्यते, सा = शब्दस्य अर्थस्य, प्रकृतिप्रत्ययादेश्च वृत्तिः=शक्तिः, व्यञ्जनध्वननगमनप्रत्यायनादिव्यपदेशविषया= व्यञ्जनादिव्यवहारविषया व्यञ्जना नाम ।

अथ व्यञ्जना

अभिधा आदि वृत्तियोंके विरत होनेपर जिस वृत्तिसे अन्य अर्थका बोधन होता है ॥ १२ ॥

वह शब्दमें तथा अर्थ आदिमें रहनेवाली वृत्ति "व्यञ्जना" कहलाती है । **शब्देति** । शब्द, बुद्धि (ज्ञान) और कर्म इनका अपने विषयको उपस्थापित कर विराम होनेके अनन्तर फिर अपने विषयका उपस्थापन नहीं होता है, इस नीतिसे अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामकी तीन वृत्तियोंका बोधन कर उपक्षीण होने पर जिस वृत्तिसे

तत्र—

अभिधालक्षणामूला शब्दस्य व्यञ्जना द्विधा ॥ १३ ॥

अभिधामूलामाह—

अनेकार्थस्य शब्दस्य संयोगाद्यैर्नियन्त्रिते ।
एकत्रार्थेऽन्यधीहेतुर्व्यञ्जना साऽभिधाश्रया ॥ १४ ॥

अयं भावः । अभिधा वाच्यार्थं, लक्षणा लक्ष्यार्थं तात्पर्यवृत्तिश्च तात्पर्यार्थं बोधयित्वा निवर्तंते ततश्च ता अर्थान्तरबोधनेऽसमर्था भवन्ति, तदनन्तरं या वाच्याद्यर्थातिरिक्तमर्थं बोधयति सा वृत्तिर्व्यञ्जना नाम । केचित "शब्दबुद्धिकर्मणाम्" इत्यत्र शब्दबुद्धिः (शब्दज्ञानम्) एव कर्म (व्यापारः) यासां, तासामभिधालक्षणातात्पर्यवृत्तीनां, विरम्य=स्वस्वार्थबोधनेन विरामानन्तरं' व्यापाराऽभावः=अर्थान्तरबोधनव्यापाराऽभाव एतादृशं व्याख्यानं कुर्वन्ति । सकृदुच्चरितः शब्दः सकृदेवाऽर्थं गमयतीति न्यायादिति भावः । अत्र अभिहिताऽन्वयवादिनां भाट्टमीमांसकानां मतेन तात्पर्यवृत्तिग्रहणम् । अन्विताऽभिधानवादिनां प्रभाकरमताऽनुयायिनां मते तु तात्पर्यवृत्तिर्नावश्यकी । व्यञ्जनं ध्वनन गमनं प्रत्यायनं चेति व्यञ्जनस्य पर्यायशब्दाः। तत्र व्यञ्जनं=व्यञ्जनाव्यापारः, ध्वननं=ध्वन्यर्थव्यञ्जनं, गमनम्=अवगतिव्यञ्जनं प्रत्यायनं=प्रतीतिकरणम् इत्यादयो व्यपदेशाः=व्यवहाराः, विषया यस्याः, स वृत्तिर्व्यञ्जना इति भावः ।

व्यञ्जनां विभजते—**अभिधालक्षणामूलेति** । शब्दस्य अभिधालक्षणामूला=अभिधामूला लक्षणामूला चेति व्यञ्जना द्विधा ॥ १३ ॥

अभिधमूलां लक्षयति—**अनेकाऽर्थस्येति** । अनेकाऽर्थस्य शब्दस्य एकत्र अर्थे संयोगाद्यैः नियन्त्रिते सति (या) अन्यधीहेतुः सा अभिधाऽऽश्रया व्यञ्जना इत्यन्वयः ।

अनेकाऽर्थस्य = बह्वर्थस्य, शब्दस्य = पदस्य, एकत्र = एकस्मिन्, अर्थे= अभिधेये, संयोगाद्यैः=संयोगप्रभृतिभिः, नियन्त्रिते = एकत्र नियमिते सति, (या) अन्यधीहेतुः=अपराऽर्थबोधकारणं, सा, अभिधाऽऽश्रया=अभिधामूला, व्यञ्जना ॥१४॥

अन्य अर्थ प्रतिपादित होता है वह शब्दमें, अर्थमें और प्रकृति प्रत्यय आदिमें रहने वाली शक्ति व्यञ्जना कहलाती है । वह व्यञ्जन, ध्वनन, गमन और प्रत्यायन आदि शब्दोंसे व्यवहृत होती है । उसमे शाब्दी व्यञ्जनाके दो भेद होते हैं, अभिधामूला और लक्षणामूला ॥ १३ ॥

अभिधामूला व्यञ्जनाका लक्षण कहते हैं—

संयोग आदियोंसे अनेकाऽर्थक शब्दके एक अर्थके नियन्त्रित होनेपर जिससे दूसरा अर्थ उपस्थित होता है उसे "अभिधामूला" व्यञ्जना कहते हैं ॥ १४ ॥

आदिशब्दाद्विप्रयोगादयः ।

उक्तं हि—

संयोगो विप्रयोगश्च साहचर्यं विरोधिता ।
अर्थः प्रकरणं लिङ्गं शब्दस्यान्यस्य संनिधिः ॥
सामर्थ्यमौचिती देशः कालो व्यक्तिः स्वरादयः ।
शब्दार्थस्यानवच्छेदे विशेषस्मृतिहेतवः ॥' इति ।

'सशङ्खचक्रो हरिः' इति शङ्खचक्रयोगेन हरिशब्दो विष्णुमेवाभिधत्ते ।

आदिशब्दात् विप्रयोगादयः = वियोगादयः ।

भर्तृहरिकारिकाऽनुसारेण संयोगादीनुद्दिशति—**संयोग इति** । संयोगः=सम्बन्धविशेषः, विप्रयोगः=वियोगः, साहचर्यं = सहचरत्वं, विरोधिता = वैरम्, एतच्चतुष्टयं समीपोच्चारितपदार्थान्तरेण बोध्यम्, अर्थः=तात्पर्यम्, प्रकरणं = प्रस्तावः । लिङ्गं = चिह्नम् । अन्यस्य = अपरस्य, शब्दस्य = पदस्य, सन्निधिः = सामीप्यं, सामर्थ्यं = तत्कारणनियमः, औचिती = औचित्यं, प्रकृतोपयोगित्वमित्यर्थः । देशः = समीपोच्चारितस्याऽऽश्रयस्थानम्, कालः = समीपोच्चारितस्य समयविशेषः । व्यज्यते स्त्रीत्वादिकमनयेति, लिङ्गमित्यर्थः । स्वरादयः = उदात्तादयः, आदिपदेन चेष्टादयो गृह्यन्ते । शब्दार्थस्य = पदाऽर्थस्य, अनवच्छेदे = संदेहे सति, एते = पूर्वोक्ताः संयोगादयः, विशेषस्मृतिहेतवः=विशेषस्मृतेः (प्रकृताऽर्थोपस्थितेः), हेतवः (कारणानि) ।

क्रमेण संयोगादीनां नियन्त्रणमुदाहरति—**सशङ्खचक्र इति** । "सशङ्खचक्रो हरिः" इत्यत्र हरिपदस्य "यमाऽनिलेन्द्रचन्द्राऽर्कविष्णुसिंहांऽशुवाजिषु । शुकाऽहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु" इति कोशतः यमाऽनिलाद्यनेकाऽर्थत्वेऽपि हरिपदं "सशङ्खचक्र" इति पदेन शङ्खचक्रसंयोगेन विष्णुमेव अभिधत्ते=प्रतिपादयति ।

"अशङ्खचक्रो हरिः" इत्यत्र "अशङ्खचक्र" इति पदेन शङ्खचक्रविप्रयोजेन हरिशब्दो विष्णुमेव अभिधत्ते ।

आदि शब्दसे विप्रयोग आदि लिये जाते हैं । कहा गया है—संयोग, विप्रयोग, साहचर्य विरोधिता (विरोध) अर्थ, प्रकरण, लिङ्ग (चिह्न), अन्य शब्दका सामीप्य सामर्थ्य, औचित्य, देश, काल व्यक्ति (लिङ्ग), स्वर आदि ये सब शब्दके अर्थका अनवच्छेद (सन्देह) होनेपर विशेष ज्ञानके कारण होते हैं ।

संयोग आदिका क्रमसे उदाहरण देते हैं ।

"सशङ्खचक्रो हरिः" यहाँपर "हरि" शब्दके यम, अनिल आदि अनेक अर्थ होनेपर भी शङ्ख और चक्रके संयोगसे "विष्णु"का ही बोध होता है ।

"अशङ्खचक्रो हरिः" यहाँपर शङ्ख और चक्रके विप्रयोग (वियोग) से हरि पदसे विष्णुका बोध होता है ।

'अशङ्खचक्रो हरिः' इति तद्वियोगेन तमेव। 'भीमार्जुनौ' इति अर्जुनः पार्थः। 'कर्णार्जुनौ' इति कर्णः सूतपुत्रः। 'स्थाणुं वन्दे' इति स्थाणुः शिवः। 'सर्वं जानाति देवः' इति देवो भवान्। 'कुपितो मकरध्वजः' इति मकरध्वजः कामः। 'देवः पुरारिः' इति पुरारिः शिवः। 'मधुना मत्त पिकः' इति मधु-

---

"भीमाऽर्जुनौ" इत्यत्र अर्जुनपदस्य "अर्जुनः ककुभे पार्थे कार्तवीर्यमयूरयोः। मातुरेकसुतेऽपि स्याद्धवले पुनरन्यवत्। नपुंसकं तृणे नेत्ररोगे" इति अनेकाऽर्थत्वेऽपि भीम-साहचर्येण अर्जुनः पार्थः, तृतीयपाण्डव इति भावः। "कर्णाऽर्जुनौ" इत्यत्र "कर्णः पृथासुते ज्येष्ठे सुवर्णालौ श्रुतावपि।" इति मेदिनीकोशतोऽनेकाऽर्थत्वेऽपि विरोधितया कर्णः सूतपुत्रः। "स्थाणुं वन्दे" इत्यत्र स्थाणुपदस्य "स्थाणुः कीले हरे पुमान् अस्त्री ध्रुवे" इति मेदिनीकोशतोऽनेकाऽर्थत्वेऽपि वन्दनरूपप्रयोजनात् स्थाणुः शिवः।

"सर्वं जानाति देवः" इत्यत्र देवशब्दस्य "देवः सुरे धने राज्ञि" इति विश्वकोश-तोऽनेकाऽर्थत्वेऽपि प्रकरणाद्देवो भवान्।

"कुपितो मकरध्वज" इत्यत्र मकरध्वजशब्दस्य कामदेव—समुद्रवाचकत्वेऽपि कोपरूपाल्लिङ्गात् (चिह्नात्), मकरध्वजः कामो न तु अचेतनः समुद्रः।

"देवः पुरारिः" इत्यत्र "पुरारि" पदस्य त्रिपुरारि (शिव) वाचकत्वमथवा शत्रुनगराऽरिवाचकत्वमिति सन्देहे "देव" इति अन्यशब्दस्य सान्निध्यात्, पुरारिः शिवः।

"मधुना मत्तः पिक" इत्यत्र "मधु" पदस्य "मधुमद्ये पुष्परसे क्षौद्रेऽपि" इति कोशादनेकाऽर्थत्वेऽपि पिकमादनसामर्थ्यात् मधुर्वसन्तः।

"भीमाऽर्जुनौ" यहाँपर अर्जुन पदके अर्थ वृक्षविशेष, शुक्लगुण आदि अनेक हैं परन्तु भीमके साहचर्य (सहचारित्व) से अर्जुनका अर्थ पार्थ (पृथापुत्र) ज्ञात होता है।

"कर्णाऽर्जुनौ" यहांपर अर्जुनसे विरोधके कारण 'कर्ण' पदसे सूतपुत्र कर्णका बोध होता है कानका नही।

"स्थाणुं वन्दे" यहांपर "वन्दे" इस क्रियापदके योगमें वन्दनरूप तात्पर्यसे "स्थाणु"से "शङ्कर" लिये जाते है खम्भा आदि नही।

"सर्वं जानाति देव." यहाँपर देव शब्दका देवता राजा आदि अनेक अर्थ होने-पर भी प्रकरणसे "आप" ऐसा अर्थ होता है, आप सब जानते है यह भाव है।

"कुपितो मकरध्वजः" यहाँपर कोपरूप लिङ्ग (चिह्न) से मकरध्वजका अर्थ समुद्र आदि नही होता है, समुद्र अचेतन है; उसका कोप संभव नहीं, अतः "कामदेव" ऐसा अर्थ लिया जाता है।

"देवः पुराऽरिः" यहाँपर पुर पदका अर्थ देह और नगर भी है परन्तु अन्य-पदसान्निध्य अर्थात् "देव" पदके सान्निध्यसे त्रिपुरके शत्रु शङ्कर ऐसा अर्थ होना है।

मधु पदके मद्य, पुष्परस और शहद आदि अनेक अर्थ होते है परन्तु "मधुना मत्तः पिकः" यहाँपर कोयलोंके मादनमें सामर्थ्यसे 'मधु' पदका अर्थ वसन्त होना है।

वसन्तः। 'पातु वो दयितामुखम्' इति मुखं सांमुख्यम्। 'विभाति गगने चन्द्रः' इति चन्द्रः शशी। 'निशि चित्रभानुः' इति चित्रभानुर्वह्निः। 'भाति रथाङ्गम्' इति नपुंसकव्यक्त्या रथाङ्गं चक्रम्। स्वरस्तु वेद एव विशेष-प्रतीतिकृन्न काव्य इति तस्य विषयो नोदाहृतः।

"पातु वो दयितामुखम्" इत्यत्र "मुख" पदस्य मुख-सांमुख्योभयार्थवाचकत्वेऽपि औचित्यान्मुख सांमुख्यम्।

"विभाति गगने चन्द्रः"। इत्यत्र "चन्द्र" पदस्य "चन्द्रोऽम्बुकाम्ययोः। स्वर्णे सुधांऽशौ कर्पूरे काम्पिल्ये मेचकेऽपि च" इति हैमकोशादनेकार्थत्वेऽपि गगनरूप-देशाच्चन्द्रः शशी।

"निशि चित्रभानुः" इत्यत्र "चित्रभानु" पदस्य "सूर्यवह्नी चित्रभानू" इति कोशादनेकार्थत्वेऽपि निशारूपकालाच्चित्रभानुर्वह्निः (अग्निः)। "भाति रथाऽङ्गम्" इत्यत्र "रथाऽङ्ग" पदस्य "रथाङ्गं न द्वयोश्चक्रे, ना चक्राङ्गविहङ्गमे।" इति मेदिनी-कोशात् अनेकार्थत्वेऽपि नपुंसकव्यक्त्या = क्लीबलिङ्गेन रथाङ्गं चक्रम्।

स्वरस्तु = उदात्तादिस्वरस्तु, वेद एव = श्रुतावेव, विशेषप्रतीतिकृत् = एकतर-ज्ञानकृत्, इति = अस्मात्कारणात्, तस्य = स्वरस्य, विषयः = प्रदेशः, न उदाहृतः = न प्रतिपादितः।

"मुख" पदका अर्थ मुख और सांमुख्य भी होता है परन्तु "पातु वो दयिता-मुखम्" यहाँपर औचित्यसे 'मुख'का अर्थ सांमुख्य होता है, दयिता (प्रिया) के मुखसे रक्षणमें कुछ औचित्य नहीं है।

'चन्द्र' पदके मेघ, सुवर्ण, और कर्पूर आदि अनेक अर्थ होते हैं परन्तु "विभाति गगने चन्द्रः" यहाँपर गगन (आकाश) रूप देशमें चन्द्रकी ही प्रतीति होती है, सुवर्ण आदिकी नहीं।

"चित्रभानु" पदके भी सूर्य, अग्नि आदि अनेक अर्थ हैं परन्तु "निशि चित्र-भानुः" यहाँपर निशा (रात्रि) रूप कालमें अग्निकी ही प्रतीति होती है सूर्यकी नही। "रथाऽङ्ग" पदका अर्थ चक्रवाक और रथका अङ्ग (पहिया) भी होता है परन्तु "भाति रथाऽङ्गम्" यहाँपर व्यक्ति (लिङ्ग) अर्थात् नपुसक लिङ्गसे चक्र ही अर्थ होता है चक्रवाक नही, क्योंकि चक्रवाकके लिए "रथाऽङ्गो भाति" ऐसा पुंलिङ्ग प्रयोग होता है।

स्वर (उदात्त) आदि वेदमें ही विशेष अर्थकी प्रतीति करनेवाला होता है काव्य में नहीं, इस कारण उसके भेदका उदाहरण नहीं दिया गया है।

इदं च केऽप्यसहमाना आहुः—स्वरोऽपि काक्वादिरूपः काव्ये विशेषप्रतीतिकृदेव। उदात्तादिरूपोऽपि मुनेः पाठोक्तदिशा शृङ्गारादिरसविशेषप्रतीतिकृदेव' इति एतद्विषये उदाहरणमुचितमेव इति, तन्न, तथाहि—स्वराः काक्वादयः उदात्तादयो वा व्यङ्ग्यरूपमेव विशेषं प्रत्यायन्ति, न खलु प्रकृतोक्तमनेकार्थशब्दस्यैकार्थनियन्त्रणरूपं विशेषम्। किञ्च यदि यत्र क्वचिदनेकार्थशब्दानां प्रकरणादिनियमाभावादनियन्त्रितयोरप्यर्थयोरनुरूप-

इदं च=मतं, केऽपि=आचार्याः, चण्डीदासराघवानन्दप्रभृतय इति भावः। असहमानाः=अमृष्यन्तः सन्तः, आहुः = कथयन्ति। काक्वादिरूपः = काकुप्रभृतिरूपः, स्वरः अपि, काव्ये=कविकर्मणि, विशेषप्रतीतिकृदेव = विशेषज्ञानकर एव। उदात्तादिरूपोऽपि=उदात्तप्रभृतिस्वरूपोऽपि, मुनेः=भरतमुनेः, पाठोक्तदिशा = पठनप्रतिपादितदिशाया, यथाह मुनिर्भरतः—"हास्यशृङ्गारयोः स्वरितोदात्तं, वीररौद्राऽद्भुतेषु उदात्तकम्पितं, करुणबीभत्सभयानकेषु अनुदात्तकम्पितम् उत्पादयेत्" इति। शृङ्गारादिरसविशेषप्रतीतिकृदेव = शृङ्गारादिरसभेदज्ञानकर एव। इति = अस्मात्कारणात्। एतद्विषये = स्वरविषये, उदाहरणं = दृष्टान्तप्रदर्शनम्, उचितम् एव = योग्यम् एव। मतमेतत् खण्डयति—तन्न इति। तेषां वचनमयुक्तम्। खण्डनप्रकारं प्रदर्शयति—तथाहीति। स्वराः = काक्वादिरूपाः, काकुर्नाम "काकुः स्त्रियां विकारो यः शोकभीत्यादिभिर्ध्वनेः।" इति कोशतः शोकभीत्यादिभिर्हेतुभिः ध्वनिविकारविशेषः। उदात्तादयो वा = उदात्तप्रभृतयो वा, व्यङ्ग्यरूपम् एव=व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्यरूपम् एव, विशेषं= भेदं, प्रत्याययन्ति=बोधयन्ति, प्रकृतोक्तम्। अस्मिन् प्रकरणे उक्तम्, "संयोगो विप्रयोगश्चे"त्यादिना भर्तृहरिणा उक्त = कथितम्।

अनेकाऽर्थशब्दस्य = बह्वर्थपदस्य, एकाऽर्थनियन्त्रणरूपम् = एकाऽभिधेयनियमनरूपं, विशेषं = भेदं, न खलु बोधयन्ति = न खलु प्रत्याययन्ति।

किञ्च = पुनर्दूषयितुमुपक्रमते। यत्र = यस्मिन्, क्वचित् = कुत्रचित् स्थले, अनेकाऽर्थशब्दानां = बह्वर्थपदानां, प्रकरणादिनियमाऽभावात् = प्रस्तावादिनियमनाऽभावात्, अनियन्त्रितयोरपि = अनियमितयोरपि, अर्थयोः = अभिधेययोः, अनुरूपस्वर-

इस मतको न सहनेवाले कुछ आचार्यलोग (चण्डीदास और राघवानन्द आदि) कहते हैं—"काकु आदि कण्ठस्वर भी काव्यमें विशेष अर्थकी प्रतीति करता ही है। उदात्त आदि स्वर भी भरतमुनिके पाठमें कही हुई रीति से हास्य और शृङ्गारमें स्वरितोदात्त, वीर, रौद्र और अद्भुतमें उदात्तकम्पित तथा करुण, बीभत्स और भयानकमें अनुदात्तकम्पित स्वर करना चाहिए इस प्रकारसे स्वर शृङ्गार आदि रसविशेषकी प्रतीति करता ही है। इस कारणसे स्वरके विषयमें उदाहरण देना उचित ही है। यह ठीक नहीं है, जैसे कि काकु आदि वा उदात्त आदि स्वर, व्यङ्ग्यरूप विशेष अर्थको ही बोधन करते हैं न कि प्रकृतमें कहे गये अनेकार्थक शब्दका एकार्थमें

स्वरवशेनैकत्र नियमनं वाच्यं, तदा तथाविधस्थले श्लेषानङ्गीकारप्रसङ्गः; न च तथा, अत एवाहुः श्लेषनिरूपणप्रस्तावे—'काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते' इति च नयः, इत्यलमुपजीव्यानां मान्यानां व्याख्यानेषु कटाक्षनिक्षेपेण। आदिशब्दात् 'एतावन्मात्रस्तनी' इत्यादौ हस्तादिचेष्टादिभिः स्तनादीनां कमलकोरकाद्याकारत्वम्।

वशेन = अनुकूलोदात्तादिस्वरवशेन, एकत्र = एकतस्मिन् अर्थे, नियमनं = नियन्त्रणं, वाच्यं = कथनीयं, यदि = चेत्, तदा = तर्हि, तथाविधस्थले = तादृशप्रदेशे, श्लेषाऽनङ्गीकारप्रसङ्गः = श्लेषाऽलङ्काराऽनभ्युपगमाऽवसरः, आपतेदिति शेषः, उदात्तादिस्वरादेव एकत्राऽर्थे नियमिते, श्लेषस्याऽनङ्गीकारः प्रसज्येत इति भावः। न च तथा = तच्च तेन प्रकारेण न भवति। अत एव = अस्मात्कारणादेव, श्लेषनिरूपणप्रस्तावे = श्लेषालङ्कारप्रतिपादनाऽवसरे, आहुः = कथयन्ति, विद्वांस इति शेषः। काव्यमार्गे = काव्यपद्धतौ, स्वरः = उदात्तादिः, न गण्यते = न स्वीक्रियते, इति। नयः = सिद्धान्तः, उदात्तादिस्वरमभ्युपगम्य काव्ये श्लेषस्याऽनङ्गीकारो न कर्तव्य इति भावः।

उपसंहरति—**इत्यलमिति**। इति=इत्थम्, उपजीव्याना = स्वसिद्धान्तानामवलम्बनभूतानां, मान्याना=पूज्याना विदुषा, व्याख्यानेषु=सिद्धान्तप्रतिपादनेषु, कटाक्षनिक्षेपेण=दोषन्यासेन, अलम्, मान्याना व्याख्यानेषु कटाक्षनिक्षेपेण साध्य नास्तीति भावः। स्वरादय इत्यत्र आदिशब्दात्, "ए 'तावन्मात्रस्तनी" इत्यादौ स्थले कमलकोर-

---

नियन्त्रणरूप विशेष अर्थको। यदि जहाँ कहीं पर अनेकाऽर्थक शब्दोंका प्रकरण आदि नियमोंके अभावसे अनियन्त्रित दो अर्थोंका अनुरूप स्वरके अनुसार एक अर्थमें नियमन स्वीकार करें तो वैसे स्थलमें श्लेषका अङ्गीकार न करनेका प्रसङ्ग होगा, परन्तु ऐसा नही होता है। अत एव श्लेषके निरूपणके अवसरमे कहते हैं—"काव्य मार्गमें स्वर नहीं माना जाता है" ऐसा सिद्धान्त है। स्वरभेद होनेपर भी श्लेषसे लभ्य अर्थकी प्रतीति मानी जाती है इसलिए उपजीव्य (आश्रयभूत) मान्यजनोंकी व्याख्यामें कटाक्षपात नहीं करना चाहिए।

"कालो व्यक्तिः स्वरादय." यहाँ पर "आदि" पदसे "एतावन्मात्रस्तनी"

१. "एतावन्मात्रस्तनिका एतावन्मात्रैरक्षिपत्रैः।
एतावन्मात्राऽवस्था एतावन्मात्रैर्दिवसैः"॥
अस्या आर्यायाः प्राकृतं मूलम्
"एद्दहमेत्तत्थिणिआ एद्दहमेत्तेहिं अच्छिवत्तेहिं।
एद्दहमेत्तावत्था एद्दहमेत्तेहिं दिअएहिं"॥ इति।

एवमेकस्मिन्नर्थेऽभिधया नियन्त्रिते या शब्दार्थस्यान्यार्थबुद्धिहेतुः शक्तिः साऽभिधामूला व्यञ्जना ।

यथा मम तातपादानां महापात्रचतुर्दशभाषाविलासिनीभुजङ्गमहाकवीश्वरश्रीचन्द्रशेखरसान्धिविग्रहिकाणाम्—

'दुर्गालङ्घितविग्रहो मनसिजं संमीलयंस्तेजसा

कार्याकारत्व=पद्मकुड्मलाद्याकृतित्वम् । एतावत्पदस्य नानाकारबोधकत्वेन अनेकार्थत्वम्। चेष्टाविशेषस्तु आकारविशेषस्मारकः ।

अभिधामूलां व्यञ्जनामुपसंहरति **एवमिति** । एवम् = इत्थम्, एकस्मिन् = एकत्र, अर्थे = वाच्ये, अभिधया = शक्त्या, नियन्त्रिते = नियमिते, या, शब्दार्थस्य = पदार्थस्य, अन्यार्थबुद्धिहेतुः = अपरार्थज्ञानकारणं, शक्तिः = वृत्तिः, सा, अभिधामूला व्यञ्जना । अयं भावः । यत्र अर्थद्वयस्य अभिधया तात्पर्यं स श्लेषः, यत्र तु एकार्थस्य अभिधया प्रतीतिः द्वितीयार्थस्य यया प्रतीतिः सा व्यञ्जना ।

यथेति । मम=विश्वनाथकविराजस्य, तातपादानां=पितृचरणानां "महापात्रे"ति राजसंमान्यपदयुक्तानां, चतुर्दश भाषा एव विलासिन्यः (विलसनशीला रमण्यः) तासां भुजङ्गानां (विटानाम्) महाकवीश्वराणां श्रीचन्द्रशेखरसान्धिविग्रहिकाणाम् । सन्धिविग्रहाभ्यां चरन्तीति सान्धिविग्रहिकाः, तेषां सान्धिविग्रहिकाणां=मन्त्रिणामित्यर्थः । "सन्धिविग्रह" शब्दात् "चरति" इति सूत्रेण ठञ् । ठस्येकः, आदिवृद्धिश्च ।

अभिधामूलां व्यञ्जनामुदाहरति—**दुर्गालङ्घितविग्रह इति ।**
दुर्गालङ्घितविग्रहः तेजसा मनसिजं सम्मीलयन् प्रोद्यद्राजकलः गृहीतगरिमा भोगिभिः विष्वक्वृतः नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन् गाम् आक्रम्य विभूतिभूषिततनुः उमावल्लभो राजति इत्यन्वयः । अत्र अभिधावृत्त्या प्रकृतमहादेव्या उमाया वल्लभो भानुदेवनामको नृपतिर्वर्ण्यते । स यथा—दुर्गालङ्घितविग्रहः = दुःखेन गम्यते अत्रेति दुर्गाणि गिरिदुर्गादीनि, "सुदुरोरधिकरणे" इति डप्रत्ययः । दुर्गभेदा यथा:—

"धन्वदुर्गं महीदुर्गमब्दुर्गं वार्क्षमेव वा ।

नृदुर्गं गिरिदुर्गं वा समाश्रित्य वसेत्पुरम् ॥ मनुः ७-७१ । दुर्गैः=धन्वदुर्गादिभिः, अलङ्घितः=प्रतिरोद्धुमशक्तित, विग्रहः=(युद्धम्) यस्य सः, दुर्गं भित्त्वाऽपि युद्धाऽनुष्ठान-

---

इत्यादिमें हाथ आदिसे की गई चेष्टा आदियोंसे स्तन आदियोंका कमलके कुड्मल आदिके समान आकार होना जाना जाता है ।

इस प्रकार अभिधासे एक अर्थ नियन्त्रित होनेपर जो शब्दार्थका भिन्न अर्थके ज्ञानका कारण शक्ति है वह "अभिधामूला व्यञ्जना" है । इसका उदाहरण मेरे पिता, महापात्र, चौदह भाषाओंके विज्ञाता महाकवीश्वर चन्द्रशेखर सान्धिविग्रहिकका है—**दुर्गेत्यादि** । शत्रुओंके किलोंको भेदन कर लडनेवाले वा किलोंमें न रहकर भी युद्ध करने-

प्रोद्यद्राजकलो गृहीतगरिमा विष्वग्वृतो भोगिभिः ।
नक्षत्रेशकृतेक्षणो गिरिगुरौ गाढां रुचिं धारयन्
गामाक्रम्य विभूतिभूषिततनू राजत्युमावल्लभः ॥'

शील इति भावः । अथवा दुर्गैः अलङ्घितः = अनतिक्रान्तः, विग्रहः यस्य सः, दुर्गव्यवधानं विनैव युद्धाऽनुष्ठानशील इति भावः । तेजसा = शरीरकान्त्या, मनसिजं = कामदेवं, संमीलयन् = पराभवन्, प्रोद्यद्राजकलः = प्रोद्यन्ती (समुदीयमाना) राजकला (भूपांऽशः) यस्य सः । गृहीतगरिमा = गृहीतः (प्राप्तः) गरिमा (गौरवम्) येन सः । भोगिभिः = सुखोपभोगसंपन्नैः जनैः, विष्वक् = सर्वतः, वृतः = परिवेष्टितः । नक्षत्रेशकृतेक्षणः=क्षत्रेशेषु (क्षत्रियश्रेष्ठसु राजसु) कृतेक्षणः (कृतनिरीक्षणः) न क्षत्रेशकृतेक्षणः = श्रेष्ठभूपालेषु अपि प्रतापातिशयेन तिरस्कर्ता इति भावः । गिरिगुरौ=गिरिः (हिमालयः) गुरुः (पूज्यः) श्वशुरत्वेनेति भावः=यस्य स गिरिगुरुः शिवः, तस्मिन् । गाढां = दृढां, रुचिम्=अभिलाषं, भक्तिमिति भावः । धारयन् = दधानः, गां = भूमिम्, आक्रम्य = अधिकृत्य, विभूतिभूषिततनुः = विभूत्या (ऐश्वर्येण) भूषिता (अलङ्कृता) तनुः (शरीरम्) यस्य सः, तादृशः उमावल्लभः = उमानाम्न्या महादेव्याः वल्लभः (प्रियः) भानुदेव इति भावः । राजति = शोभते । अत्र दुर्गाऽऽदिपदान्यनेकार्थकानि प्रकरणवशात्पूर्वप्रदर्शितार्थे नियन्त्रिते सति तत्तच्छब्दा व्यञ्जनयाऽर्थान्तरं बोधयन्ति । तथा हि—दुर्गालङ्घितविग्रहः = दुर्गया (पार्वत्या) लङ्घितः (आलिङ्गनेन आक्रान्तः) विग्रहः (शरीरम्) यस्य सः । तेजसा = नयनज्योतिषा, मनसिजं = कामदेवं, संमीलयन् = विनाशयन्, प्रोद्यद्राजकलः = प्रोद्यन्ती (प्रकाशमाना) राज्ञः (द्विजराजस्य चन्द्रमस इत्यर्थः) कला (अंशः) यस्य सः, शिरसि इति शेषः । गृहीतगरिमा = गृहीतः (स्वीकृतः) गरिमा (जगद्गुरुगौरवम्) येन सः । भोगिभिः=सर्पैः, विष्वक्=समन्ततः, वृतः = वेष्टितः, अलङ्कारत्वेनेति शेषः । नक्षत्रेशकृतेक्षणः=नक्षत्रेशेन (चन्द्रमसा) कृतम् (विहितम्) ईक्षणं (नेत्रम्) येन सः, शिवस्य सूर्यचन्द्रवह्निनेत्रत्वादिति भावः । गिरिगुरौ = कैलासपर्वते, गाढां=दृढां, रुचिम्=निवासाऽभिलाषं, धारयन् = दधानः, गां= वृषम्, आक्रम्य, स्थित इति शेषः । विभूतिभूषिततनुः = विभूत्या (भस्मना) भूषिता (अलङ्कृता) तनुः (शरीरम्) यस्य सः । तादृशः उमावल्लभः = पार्वतीप्रियः, शिव इति भावः । राजति = शोभते ।

वाले, अपने सौन्दर्यसे कामदेवको पराभूत करनेवाले, राजकलासे सम्पन्न, गौरव (महत्त्व) को प्राप्त करनेवाले, सुखका उपभोग करनेवाले जनोंसे घिरे हुए, श्रेष्ठ क्षत्रिय राजाओंपर अभिमानसे दृष्टिपात भी न करनेवाले, शिवजीमें दृढ प्रीति रखनेवाले पृथ्वीको अधिकारमें रखकर ऐश्वर्यसे अलङ्कृत शरीरवाले "उमा" नामकी महारानीके पति भानुदेव नामके

अत्र प्रकरणेनाभिधया उमावल्लभशब्दस्योमानाम्नीमहादेवीवल्लभभानुदेवनृपतिरूपेऽर्थे नियन्त्रिते व्यञ्जनयैव गौरीवल्लभरूपोऽर्थो बोध्यते। एवमन्यत्।

लक्षणामूलामाह—

लक्षणोपास्यते यस्य कृते तत्तु प्रयोजनम्।
यया प्रत्याय्यते सा स्याद्व्यञ्जना लक्षणाश्रया॥ १५॥

विवृणोति। अत्र=अस्मिन् पद्ये, प्रकरणेन = प्रस्तावेन, उमावल्लभशब्दस्य = उमावल्लभपदस्य, उमा नाम, महादेवी = कृताऽभिषेका महाराज्ञी, तद्वल्लभभानुदेवनृपतिरूपेऽर्थे अभिधया, नियन्त्रिते सति = नियमिते सति। व्यञ्जनया एव अप्रकृतो गौरीवल्लभरूपोऽर्थो बोध्यते। ततश्च महेश्वरभानुदेवयोरुपमानोपमेयभावः कल्प्यते, तेन उमावल्लभ इवेत्युपमाध्वनिर्व्यञ्जनयैव बोध्यते।

"व्यञ्जनया एव" इत्यत्र एवकारस्य अयमभिप्रायः। इह खलु उमावल्लभशब्दे येयं द्वितीयाऽर्थप्रतीतिः, तत्र अभिधायाः प्रकृताऽर्थमात्रबोधनेन विरामात्, लक्षणायाश्च मुख्याऽर्थबाधहेतुकत्वात्, तात्पर्यवृत्तेरपि पदार्थमिथःसंसर्गमात्रबोधननयत्यात् विरामात् व्यञ्जनावृत्त्या एव अप्रकृताऽर्थप्रतीत्या उपमाध्वनिरिति भावः।

एवमन्यत्। लक्षणामूलां व्यञ्जनां प्रतिपादयति—लक्षणेति। यस्य कृते लक्षणा उपास्यते, तत् प्रयोजन यया प्रत्याय्यते; सा तु लक्षणाऽऽश्रया व्यञ्जना इत्यन्वयः।

यस्य=प्रयोजनस्य, कृते = निमित्ते, लक्षणा = तदाख्या वृत्तिः, उपास्यते = आद्रियते, सत् प्रयोजनं, यया = वृत्त्या, प्रत्याय्यते = बोध्यते। सा तु लक्षणाऽऽश्रया = लक्षणामूला, व्यञ्जना इत्यर्थः॥ १५॥

राजा शोभित हो रहे हैं। यहाँपर प्रकरणसे उमावल्लभ शब्दका उमा नामकी महारानीके वल्लभ (प्रिय) भानुदेव नामके राजा ऐसा अर्थ नियन्त्रित होनेपर व्यञ्जनासे ही उमा अर्थात् गौरी (पार्वती) के वल्लभ (प्रिय) महादेव ऐसा अर्थ समझा जाता है। जैसे कि—उमा अर्थात् पार्वतीसे लङ्कित अर्थात् आलिङ्गनसे आक्रान्त शरीरवाले, तेजसे कामदेवको भस्म करनेवाले, शिरमें चन्द्रकलासे शोभित, गुरुत्व—(जगद्गुरुत्व) को ग्रहण करनेवाले, सर्पोंसे घिरे हुए, चन्द्रको नेत्र बनानेवाले, कैलास पर्वतमें दृढ प्रीति रखनेवाले, बैलपर आरूढ और भस्मसे भूषित शरीरवाले उमावल्लभ अर्थात् पार्वतीके प्रिय शङ्कर शोभित होते हैं इसी तरह और उदाहरण भी जानना चाहिए।

अभिधामूला व्यञ्जनाका वर्णन हुआ, अब लक्षणामूला व्यञ्जनाको कहते हैं। लक्षणोपास्यते इति। लक्षणा जिसके लिए की जाती है वह प्रयोजन जिस वृत्तिसे प्रतीत होता है उसे लक्षणामूला व्यञ्जना कहते हैं॥ १५॥

'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ जलमयाद्यर्थबोधनादभिधायां तटाद्यर्थबोधनाच्च लक्षणायां विरतायां यया शीतत्वपावनत्वाद्यतिशयादिर्बोध्यते सा लक्षणामूला व्यञ्जना।

एवं शाब्दीं व्यञ्जनामुक्त्वाऽऽर्थीमाह—

वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामन्यसंनिधिवाच्ययोः।
प्रस्तावदेशकालानां काकोश्चेष्टादिकस्य च॥ १६॥
वैशिष्ट्यादन्यमर्थं या बोधयेत्साऽर्थसंभवा।

व्यञ्जनेति सम्बध्यते।

तत्र वक्तृवाक्यप्रस्तावदेशकालवैशिष्ट्ये यथा मम—

'कालो मधुः, कुपित एष च पुष्पधन्वा,
धीरा वहन्ति रतिखेदहराः समीराः।

विवृणोति—**"गङ्गायां घोष" इति**। विरताया=निवृत्तायाम्। स्पष्टमन्यत्। आर्थीं व्यञ्जनां लक्षयति—**वक्तृबोद्धव्यवाक्यानामिति**।

वक्तृबोद्धव्यवाक्याना=वक्ता (प्रतिपादकः) बोद्धव्यः (प्रतिपाद्यः), वाक्यं (पदसमूहः), तेषा, वैशिष्ट्यात् इत्यत्र सम्बन्धः। एवमन्यत्रापि। अन्यसन्निधिवाच्ययोः = अन्यसन्निधिः (अपरसन्निधानं) वाच्यः (अर्थः), तयोः वैशिष्ट्यात्। प्रस्तावदेशकालाना = प्रस्ताव (प्रकरणं) देशः (स्थानम्) कालः (समयः), तेषां वैशिष्ट्यात्। काकोः=ध्वनिविकारस्य, चेष्टादिकस्य च, वैशिष्ट्यात्=वैलक्षण्यात्, या=वृत्तिः, अन्यम् = अपरं प्राचीनवाच्यादिविलक्षणम्, अर्थं, बोधयेत् = प्रतिपादयेत्, सा अर्थसम्भवा =आर्थी, व्यञ्जनेति सम्बद्ध्यते॥ १६॥

तत्र वक्तृ-वाक्य-प्रस्ताव-देश-कालवैशिष्ट्ये यथा **मम काल इति**। कालः=समयः, मधुः = वसन्तः, एषः = अनुभूयमानः, पुष्पधन्वा च = कामश्च कुपितः = क्रुद्धः। धीराः = मन्दाः, अतः रतिखेदहराः = रमणपरिश्रमहरणशीलाः, समीराः = वाताः,

"गङ्गाया घोषः" इत्यादि स्थलमे जलमय आदि अर्थका बोधन कर अभिधाके निवृत्त होनेपर और तट आदि अर्थका बोधन कर लक्षणाके निवृत्त होनेपर जिस वृत्तिसे शीतलत्व और पावनत्व आदिके आधिक्य आदिका बोध होना है उसे "लक्षणामूला" व्यञ्जना कहते है। इसप्रकार शाब्दी व्यञ्जनाका प्रतिपादन कर आर्थी व्यञ्जना कहते हैं—**वक्तृबोद्धव्येति**। वक्ता, बोद्धव्य, वाक्य, अन्यका सामीप्य, वाच्य (अर्थ) प्रस्ताव (प्रकरण) देश, काल, काकु (ध्वनिविकार), और चेष्टा आदि इनकी विशेषतासे जो शक्ति अन्य अर्थका बोधन करती है उसे "आर्थी व्यञ्जना" कहते है॥ १६॥

उनमें वक्ता, वाक्य, प्रस्ताव, देश, और काल इनकी विशेषतामें जैसे ग्रन्थाकारका पद्य—**"कालो मधुः"** कोई नायिका अपनी सखीको कहती है। वसन्त ऋतुका समय है। यह कामदेव कुपित है। रतिक्रीडाके परिश्रमको हटानेवाली गम्भीर हवा

केलीवनीयमपि वञ्जुलकुञ्जमञ्जु-
दूरे पतिः कथय किं करणीयमद्य ? ॥"

अत्रैतं देशं प्रति शीघ्रं प्रच्छन्नकामुकस्त्वया प्रेष्यतामिति सखीं प्रति कयाचिद् व्यज्यते ।

बोद्धव्यवैशिष्ट्ये यथा--

'निःशेषच्युतचन्दनं स्तनतटं, निर्मृष्टरागोऽधरो
नेत्रेदूरमनञ्जने, पुलकिता तन्वी तवेयं तनुः ।

वहन्ति=वान्ति, इयम्=एषा, केलीवनी अपि = क्रीडाऽल्पवनमपि, वञ्जुलकुञ्जमञ्जुः= अशोकलतागृहमनोहरा, पतिः = भर्ता, न तु प्रिय इति भावः, दूरे = विप्रकृष्टप्रदेशे, वर्तत इति शेषः । अद्य = एतादृशे अस्मिन् दिने, किं, करणीयं = कर्तव्यं, कथय = वद । वसन्ततिलका वृत्तम् । अयं भावः । अत्र वक्त्र्याः कामुकत्वस्य रमणेच्छाबोधकस्य वाक्यस्य, रतिखेदहरत्वेन समीरवहनस्य, पतिदूरस्थितिरूपस्य प्रस्तावस्य, वञ्जुलकुञ्ज-मञ्जो. केलीवनीरूपदेशस्य, वसन्तर्तुरूपस्य कालस्य च वैशिष्टयात् ।

अत्र एतं = केलीवनीरूपं, देशं = स्थानं प्रति, शीघ्रं प्रच्छन्नकामुकस्त्वया प्रेष्यताम् इति कयाचिद्वक्त्र्या नायिकया व्यज्यते ।

बोद्धव्यवैशिष्टये-**निःशेषच्युतचन्दनमिति** नायकमानेतुं प्रेषितां तं संभुज्यागतां स्नानव्याज प्रदर्शयन्तीं दूतीं प्रति नायिकाया उक्तिरियम् । मिथ्यावादिनि ! बान्धव-जनस्य अज्ञानपीडागमे ! हे दूति ! तव स्तनतट नि.शेषच्युतचन्दनम् । (तव) अधरः निर्मृष्टरागः । (तव) नेत्रे दूरम् अनञ्जने । (तव) तन्वी इयं तनुः पुलकिता । इतः

चल रही है । अशोकके कुञ्जोंसे मन्दर यह छोटा-सा क्रीडावन है । पति दूर देशमें हैं, हे सखि ! आज क्या करना चाहिए ? कहो । इस पद्यमें "इस स्थानमें शीघ्र प्रच्छन्न कामुकको तुम भेज दो" यह बात कोई नायिका अपनी सखीके प्रति व्यञ्जनासे वक्ता (वक्त्री-कहनेवाली अर्थात् स्वयम्) वाक्य, प्रस्ताव (प्रकरण) देश और कालकी विशेषतासे व्यक्त कर रही है ।

बोद्धव्य (कहे जानेवाले) की विशेषतामें--जैसे **निःशेषच्युतचन्दनमिति** । नायकको लानेके लिए भेजी गई परन्तु स्वयम् नायकका उपभोग कर स्नान करनेके छलका प्रदर्शन करनेवाली सखीको नायिका कहती है । हे सखि ! तुम्हारे स्तनतटसे चन्दन बिलकुल मिट गया है । अधरसे राग (लौहित्य) निःशेष हो गया है । नेत्र दूर तक अञ्जनसे रहित हैं और तुम्हारा पतला शरीर रोमाञ्चित हो रहा है । बन्धुजन-

मिथ्यावादिनि ! दूति ! बान्धवजनस्याज्ञातपीडागमे !
वापीं स्नातुमितो गतासि न पुनस्तस्याधमस्यान्तिकम् ॥'

अत्र तदन्तिकमेव रन्तुं गतासीति विपरीतलक्षणया लक्ष्यम् । तस्य च रन्तुमिति व्यङ्ग्यं प्रतिपाद्यं दूतीवैशिष्ट्याद् बोध्यते ।

अन्यसंनिधिवैशिष्ट्ये यथा—

'उअ णिच्चल ! णिप्पन्दा भिसिणीपत्तम्मि रेहइ बलाआ ।

वापीं स्नातुं गता असि, पुनः तस्य अधमस्य अन्तिकं न गता असि इत्यन्वयः ।

ममाऽनुनयेन अपि तव कान्तो नागत इति कथनेन हे मिथ्यावादिनि = हे मृषाभाषिणि !, बान्धवजनस्य = सखीजनस्य, अज्ञातपीडागमे = अन्तकलितदुःखोऽमे !, हे दूति = हे सन्देशहरे !, तव = भवत्याः, स्तनतटं = कुचतटं, निःशेषच्युतचन्दनं = समस्ताऽपगतश्रीखण्डम्, अधरः = निम्नोष्ठः, निर्मृष्टरागः = निःशेषाऽपगतलौहित्यः, नेत्रे = नयने, दूरम् = अतिशयं यथा तथा । अनञ्जने = कज्जलरहिते, तन्वी = कृशा, तनुश्च = शरीरं च, पुलकिता = संजातरोमाञ्चा, अस्तीति शेषः । अतः त्वम्, इतः = अस्मात्स्थानात्, स्नातुं = स्नानं कर्तुं, वापीं = दीर्घिकां, गता = प्राप्ता, असि पुनः = भूयः, तस्य, अधमस्य = निकृष्टस्य । मद्वल्लभस्येतिभावः । अन्तिकं = निकटं, न गता असि = न प्राप्ता वर्तसे ।

अत्र "स्तनतटम्" इत्यत्र तटं = समीपः, स च समप्रायो देशः तत्रैव आलिङ्गनवशाच्चन्दनं निःशेषच्युतं, स्तनाग्रादिषु च शेषम् । अधरः चुम्बनात् निर्मृष्टरागः, न तु उत्तरोष्ठः । नेत्रे चुम्बनात् दूरमनञ्जने, निकटे तु साञ्जने, अञ्जनस्य कुत्रचिदवशेषः सूचितः । तथा च इयं तनुः स्नानाद्बहुकालाऽनन्तरमपि इदानीं पुलकिता । अधमस्य = प्रागपि ज्ञातनिकृष्टत्वस्य, एषां च पदार्थानां वापीस्नानविरुद्धानामनुसन्धानादेव वापीस्नानाऽभावस्य उद्गमात् तदन्तिकं न गताऽसीत्यत्र विपरीतलक्षणाया "गताऽसी" ति गमनं लक्ष्यं, तस्य च रन्तुमिति रमणं व्यङ्ग्यं, प्रयोजनम् तच्च बोद्धव्यदूतीवैशिष्ट्याद्बोध्यते ।

अन्यसन्निधिवैशिष्ट्ये यथा—उअ इति ।

(सखी) की पीडाको न जाननेवाली हे मिथ्याभाषिणि दूति ! तू यहाँसे बावलीमें स्नान करने गई परन्तु उस अधम जन (मेरे प्रिय) के पास नहीं गई ।

इस पद्यमें विपरीतलक्षणासे उस (अधम) के समीप ही तू गई यह अर्थ लक्षित होता है । उसका "रन्तुम्" रमण करनेके लिए ऐसा व्यङ्ग्य अर्थ प्रतिपाद्य (बोद्धव्य) दूतीकी विशेषतासे बोधित होता है ।

अन्यसन्निधिकी विशेषताका उदाहरण जैसे—उअ० । रमण करनेके लिए

णिम्मलमरगअभाअणपरिट्ठिआ (दा) सङ्खसुत्ति व्व ॥'

[पश्य निश्चलनिस्पन्दा बिसिनीपत्रे राजते बलाका ।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ॥]

अत्र बलाकाया निःस्पन्दत्वेन विश्वस्तत्वम्, तेनास्य देशस्य विजनत्वम्, अतः संकेतस्थानमेतदिति कयापि संनिहितं प्रच्छन्नकामुक प्रत्युच्यते। अत्रैव स्थाननिर्जनत्वरूपं व्यङ्ग्यार्थवैशिष्ट्यं प्रयोजनम् ।

'भिन्नकण्ठध्वनिर्धीरैः काकुरित्यभिधीयते' इत्युक्तप्रकारायाः काकोर्भेदा आकरेभ्यो ज्ञातव्याः। एतद्वैशिष्ट्यं यथा--

---

"पश्य निश्चलनिःस्पन्दा, बिसिनीपत्रे राजते बलाका ।
निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव ॥"

हे निश्चल ! बिसिनीपत्रे निःस्पन्दा बलाका निर्मलमरकतभाजनपरिस्थिता शङ्खशुक्तिरिव राजत इत्यन्वयः ।

रमणार्थं कृतसकेताया नायिकाया जनागमनशङ्कया निश्चेष्टं विटं प्रत्युक्तिरियम् । हे निश्चल=हे निरुद्यम विट !, बिसिनीपत्रे = कमलिनीदले, निःस्पन्दा=निश्चला, बलाका = बिसकण्ठिका, बकजायेत्यर्थः । निर्मलकरकतभाजनपरिस्थिता = स्वच्छनीलमणिपात्रस्थिता, शङ्खशुक्तिः इव = शङ्खघटितं शुक्त्याकार पात्रम् इव, राजते = शोभते, उअ = पश्य । हालकविकृतायां गाथासप्तशत्यां पद्यमिदम् । अत्र "उअ" इति देशीभाषाशब्दः ।

अत्र = अस्मिन् पद्ये, बलाकायाः=बकजायायाः, निःस्पन्दत्वेन = निश्चलत्वेन, विश्वस्तत्व = विश्वासयुक्तत्वं, तेन अस्य देशस्य = स्थानस्य, विजनत्वं = विविक्तत्वम्, अतः सङ्केतस्थानमेतदिति कयाऽपि = नायिकया, सन्निहितं = निकटवर्तिनं, प्रच्छन्नकामुकं प्रति = गुप्तकामयितारं प्रति, उच्यते = सूच्यते व्यञ्जनयेतिभावः । अत एव= अस्मिन् उदाहरण एव, स्थाननिर्जनत्वरूपं = देशविजनरूप, व्यङ्ग्यार्थवैशिष्ट्यं = व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्यार्थविशिष्टत्व प्रयोजनम् = लक्षणाफलम् ।

काकोर्लक्षण प्रतिपादयति—**भिन्नकण्ठध्वनिरिति ।** धीरैः = विद्वद्भिः,

---

सङ्केत करनेवाली नायिकाकी निश्चेष्ट विटके प्रति उक्ति है-हे निश्चल ! कमलिनीके पत्तेपर अत्यन्त निश्चेष्ट होकर बैठी हुई बगुली निर्मल पन्नेके बर्तनमे रहे हुए शङ्खपात्रके समान शोभित हो रही है । इस पद्यमे बगुलीके निश्चल होनेसे विश्वस्तत्व, उससे उस स्थानकी निर्जनता, इस कारणसे यह संकेतस्थल है यह बात कोई नायिका निकटस्थित प्रच्छन्न कामुकको व्यञ्जनासे सूचित करती है । इस उदाहरणमें ही स्थाननिर्जनतारूप व्यङ्ग्य अर्थकी विशेषता प्रयोजन है ।

जिसमें कण्ठस्वर भिन्न होता है उसे "काकु" कहते है ऐसे लक्षणसे युक्त

'गुरुपरतन्त्रतया बत दूरतरं देशमुद्यतो गन्तुम् ।
अलिकुलकोकिलललिते नैष्यति सखि ! सुरभिसमयेऽसौ ? ॥'

अत्र नैष्यति ? अपि तर्हि एष्यत्येवेति काक्वा व्यज्यते--

चेष्टावैशिष्ट्ये यथा--

'सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।

भिन्नकण्ठध्वनिः = भिन्नः (स्वाभाविककण्ठध्वनितो भेदयुक्तः) यः कण्ठध्वनिः (कण्ठ-स्वरः) स "काकुः" इति अभिधीयते = कथ्यते, इति = इत्थम्, उक्तप्रकारायाः = कथितलक्षणायाः, काक्वाः भेदाः, आकरेभ्यः=उपजीव्यमूलग्रन्थेभ्यः, ज्ञातव्याः= बोद्धव्याः।

काकुवैशिष्ट्यमुदाहरति-**गुरुपरतन्त्रतयेति** । हे सखि ! बत ! गुरुपरतन्त्रतया दूरतरं देशम् गन्तुम् उद्यतः असौ अलिकुलकोकिलललिते सुरभिसमये न एष्यति ? इत्यन्वयः ।

प्रवासोद्यतभर्तृकाया नायिकायाः सखीं प्रत्युक्तिरियम् । हे सखि = हे वयस्ये, बतेति खेदद्योतकमव्ययम् । गुरुपरतन्त्रतया = गुरोः (पितुः) परतन्त्रतया (अधीनत्वेन), दूरतरं = विप्रकृष्टतरं, देशं = स्थानं, गन्तुं = यातुम्, उद्यतः = तत्परः, असौ = अयम्, अलिकुलकोकिलललिते = भ्रमरसमूहपिकमनोहरे, सुरभिसमये = वसन्तकाले, न एष्यति = न आगमिष्यति, अत्र = अस्मिन् उदाहरणे, न एष्यति = न आगमिष्यति; इति नायिका निषेधाऽभिप्रायेण कथयति, सख्याः "न एष्यति ?" इति काक्वा प्रश्नत "एष्यति एव" इति विधिरूपोऽर्थो व्यज्यते । चेष्टावैशिष्ट्ये यथा—**सङ्केतकालमनसमिति** । विदग्धया विटं सङ्केतकालमनसं ज्ञात्वा हसन्नेत्रार्पिताकूत लीलापद्मं निमीलितमित्यन्वयः । विदग्धया = निपुणया नायिकया, विटं = षिड्गम्, उपपतिमिति भावः सङ्केतकालमनसं = सङ्केतकाले मनो यस्य तं, सङ्केतकालजिज्ञासुमिति भावः ।

काकुके भेद आकरग्रन्थों (नाटचशास्त्र आदियों) से जानने चाहिए । काकुकी विशेषतामें जैसे—

गुरुपरतन्त्रतया इति । नायिका सखीसे कहती है । हे सखि ! गुरुजन (पिता-आदि) के अधीन होनेसे बहुत दूर देशमें जानेके लिए तत्पर मेरे प्रिय भ्रमरो और कोयलोंसे मनोहर वसन्त ऋतुमें नहीं आयेंगे ।

यहांपर नायिकाने "न एष्यति" नहीं आयेंगे ऐसा निषेधके अभिप्रायसे कहा, सखी 'न एष्यति" ? नहीं आयेंगे ? ऐसी काकुसे प्रश्नकर "आयेंगे" ऐसे विधिरूप अर्थको व्यक्त करती है ।

चेष्टावैशिष्ट्यका उदाहरण देते हैं-**सङ्केतेति** । चतुर नायिकाने विटको संकेत-ज्ञानका इच्छुक समझकर विकसित नेत्रोंसे अभिप्राय सूचित कर लीलाकमलको

हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥'

अत्र संध्या संकेतकाल इति पद्मनिमीलनादिचेष्टया कयाचिद्द्योत्यते।

एवं वक्त्रादीनां व्यस्तसमस्तानां वैशिष्ट्ये बोद्धव्यम्।

त्रैविध्यादियमर्थानां प्रत्येकं त्रिविधा मता ॥ १७ ॥

अर्थानां वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यत्वेन त्रिरूपतया सर्वा अप्यनन्तरोक्ता व्यञ्जनास्त्रिविधाः। तत्र वाच्यार्थस्य व्यञ्जना यथा—'कालो मधुः—' इत्यादि। लक्ष्यार्थस्य यथा—'निःशेषच्युतचन्दनम्'—इत्यादि। व्यङ्ग्यार्थस्य

ज्ञात्वा=अवबुध्य, हसन्नेत्रार्पिताऽऽकूत = हसती (विकसती) ये नेत्रे (नयने) ताभ्याम् अर्पितम् (सूचितम्) आकूतम् (अभिप्रायः) यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथेति क्रियाविशेषणम्। लीलापद्मं=लीलाकमलं, निमीलितं=सङ्कोचितम्। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, सन्ध्या=सायङ्कालः, सङ्केतकाल इति पद्मनिमीलनादिचेष्टया = कमलसङ्कोचनादिचेष्टया, कयाचित्=नायिकया, द्योत्यते = व्यज्यते। पद्यमिदं ध्वन्यालोके वर्तते। पूर्वोक्तानामेषामुदाहरणानां गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमग्रे स्फुटीभविष्यति। अत्र तु व्यञ्जनाया आर्षत्वमात्रेणोदाहरणम्। चेष्टादीत्यादिशब्देन वर्णनीयनायिकादिगतसात्त्विकादिपरिग्रहः। एवं वक्त्रादीनां व्यस्तसमस्तानां = व्यस्तानां (पृथङ्निर्दिष्टानाम्) समस्तानाम् (मिलितानाम्) च, वैशिष्ट्ये = विशिष्टत्वे, बोद्धव्यम्।

आर्थव्यञ्जनायास्त्रैविध्यं प्रतिपादयति **त्रैविध्यादिति**। अर्थानाम्=वाच्यादीनां त्रैविध्यात् = त्रिविधत्वात्, इयम्=आर्थी व्यञ्जना, प्रत्येकं, त्रिविधा = त्रिप्रकारा, मता = अभिमता ॥ १७ ॥

सोदाहरणं विवृणोति **अर्थानामिति**। अर्थानाम् = अभिधेयानां, वाच्यलक्ष्यव्यङ्ग्यत्वेन=अभिधालक्षणाव्यञ्जनाप्रतिपाद्यत्वेन, त्रिरूपतया = त्रिप्रकारत्वेन, अनन्तरोक्ताः = अधुनाऽभिहिताः, सर्वा अपि = सकला अपि, व्यञ्जनाः=व्यक्तयः, त्रिविधाः= त्रिप्रकाराः। तत्र=तासु, वाच्यार्थस्य=अभिधावृत्तिप्रतिपाद्यार्थस्य व्यञ्जना—'कालो मधुः' इत्यादि, लक्ष्यार्थस्य=लक्षणावृत्तिप्रतिपाद्यार्थस्य व्यञ्जना यथा—निःशेषच्युतचन्दनम्।"

सङ्कुचित कर दिया। इस पद्यमें कमलके सङ्कोचन आदि की चेष्टासे "सन्ध्या सङ्केत समय है। यह कोई नायिका सूचित करती है। इसी तरह वक्ता आदिके अलग-अलग और मिले हुए उदाहरणोंको जानना चाहिए।

त्रैविध्यादिति। अर्थोंके तीन भेद होनेसे यह आर्थी व्यञ्जना तीन प्रकारोंवाली होती है ॥ १७ ॥

वाच्य, लक्ष्य और व्यङ्ग्य तीन प्रकारके अर्थ होनेसे अभी कही गई सब व्यञ्जनाएँ भी तीन प्रकारकी होती हैं। उनमें वाच्य अर्थकी व्यञ्जना जैसे—"कालो मधुः" इत्यादि। लक्ष्य अर्थकी व्यञ्जना "निःशेषच्युतचन्दनम्" इत्यादि। व्यङ्ग्यार्थकी

यथा--'उअ णिच्चल-' इत्यादि। प्रकृतिप्रत्ययादिव्यञ्जकत्वं तु प्रपञ्चयिष्यते।

शब्दबोध्यो व्यनक्त्यर्थः शब्दोऽप्यर्थान्तराश्रयः।
एकस्य व्यञ्जकत्वे तदन्यस्य सहकारिता॥ १८॥

यतः शब्दो व्यञ्जकत्वेऽप्यर्थान्तरमपेक्षते, अर्थोऽपि शब्दम्, तदेकस्य व्यञ्जकत्वेऽन्यस्य सहकारितावश्यमङ्गीकर्तव्या।

इत्यादि, व्यङ्ग्यार्थस्य=व्यञ्जनाप्रतिपाद्यार्थस्य व्यञ्जना-उअ णिच्चल इत्यादि। प्रकृति-प्रत्ययादिव्यञ्जकत्वं=प्रकृतिः (यतः प्रत्ययोत्पत्तिः), धातुप्रातिपदिकादिरूपा इत्यर्थः। प्रत्ययः (सुप्तिङ्कृत्तद्धितादिरूपः), तदादिव्यञ्जकत्वं=तदादीनां व्यञ्जनया बोधकत्वं तु, प्रपञ्चयिष्यते=विस्तारयिष्यते, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वन्युदाहरण इति भावः।

व्यञ्जकत्वे शब्दार्थयोर्मिथः सहकारितां प्रतिपादयति **शब्दबोध्य इति।** अर्थः शब्दबोध्यः व्यनक्ति, शब्दोऽपि अर्थान्तराश्रयो व्यनक्ति। तत् एकस्य व्यञ्जकत्वे अन्यस्य सहकारिता इत्यन्वयः। अर्थः = वाच्यः, शब्दबोध्यः = शब्दप्रतिपाद्यः सन्, व्यनक्ति= व्यङ्ग्यार्थं प्रतिपादयति, तथैव शब्दोऽपि = वाचकोऽपि, अर्थान्तराश्रयः=अन्यार्थोप-स्थापकः सन्, व्यनक्ति=व्यङ्ग्यार्थं प्रतिपादयति, तत्=तस्मात्कारणात्, शब्दार्थयोः एकस्य=एकतरस्य, व्यञ्जकत्वे=व्यञ्जनोपाधिकत्वे सति, अन्यस्य=शब्दार्थयोरन्यतरस्य, सहकारिता=अप्रधानकारणता, भवतीतिशेषः॥ १८॥

विवृणोति—**यत इति।** यतः=यस्मात्कारणात्, शब्दः=वाचकः, व्यञ्जकत्वे= व्यञ्जनोपाधिकत्वे सति, अर्थान्तरम् = अन्यमर्थम् = अपेक्षते = सहकारित्वेन अपेक्षां करोति। तथैव अर्थोऽपि=वाच्योऽपि व्यञ्जकत्वे=सति, शब्दं = वाचकम्, अपेक्षते= सहकारित्वेन अपेक्षां करोति। तत् तस्मात्कारणात्, एकस्य = शब्दार्थयोरेकतरस्य, व्यञ्जकत्वे अन्यस्य=शब्दार्थयोरन्यतस्य, सहकारिता = अप्रधानकारणता अवश्यम् अङ्गीकार्या=स्वीकार्या, परन्तु यत्र शब्दार्थयोर्मध्ये यस्य शक्तिः प्रधानरूपा, तत्र तन्मूलो व्यञ्जकत्वव्यवहारः कर्तव्य इति भावः॥

व्यञ्जना—"उअ णिच्चल" इत्यादि। प्रकृति और प्रत्यय आदिकी व्यञ्जकताका पीछे विस्तार करेंगे।

अर्थ, शब्दसे बोध्य होकर व्यञ्जक होता है, उसी तरह शब्दभी दूसरे अर्थका आश्रय लेकर व्यञ्जक होता है, अतः जहाँ एक शब्द वा अर्थ व्यञ्जक होता है वहां दूसरा यथाक्रम अर्थ वा शब्द सहकारी होता है॥ १८॥

क्योंकि शब्द व्यञ्जक होनेपर अर्थकी अपेक्षा करता है उसी तरह अर्थ भी व्यञ्जक होनेपर शब्दकी अपेक्षा करता है, इस कारणसे एककी व्यञ्जकतामें दूसरेकी सहकारिताको अवश्य मानना चाहिए।

अभिधादित्रयोपाधिवैशिष्ट्यात्त्रिविधो मतः ।
शब्दोऽपि वाचकस्तद्वल्लक्षको व्यञ्जकस्तथा ॥ १९ ॥

अभिधोपाधिको वाचकः । लक्षणोपाधिको लक्षकः । व्यञ्जनोपाधिको व्यञ्जकः ।

किञ्च—

तात्पर्याख्यां वृत्तिमाहुः पदार्थान्वयबोधने ।
तात्पर्यार्थं तदर्थं च वाक्यं तद्बोधकं परे ॥ २० ॥

अभिधाया एकैकपदार्थबोधनविरमाद्वाक्यार्थरूपस्य पदार्थान्वयस्य

अभिधादिवृत्तत्रयं निरूप्य तत्प्रयुक्तं शब्दस्याऽपि त्रिविधत्वं प्रतिपादयति—**अभिधादीति** । अभिधाऽऽदित्रयोपाधिवैशिष्ट्यात् शब्दोऽपि वाचकः, तद्वत् लक्षको व्यञ्जकश्च मत इत्यन्वयः, अभिधादित्रयोपाधिवैशिष्ट्यात् = अभिधादित्रितयव्यापारविशिष्टत्वात्, शब्दोऽपि अभिधोपाधिको वाचकः, लक्षणोपाधिको लक्षको व्यञ्जनोपाधिको व्यञ्जको मतः । इत्थं शब्दानां त्रैविध्यं निरूपितम् ॥ १९ ॥

अभिधायाः पदार्थसंसर्गबोधने सामर्थ्याभावात्तात्पर्यवृत्तिं निरूपयति **तात्पर्याख्यामिति** । पदार्थाऽन्वयबोधने तात्पर्याख्यां वृत्तिम् आहुः । तदर्थं तात्पर्यार्थं, तद्बोधकं वाक्यम्, इति परे इत्यन्वयः । पदार्थानाम् (पदजन्यप्रतीतिविषयाणां, शब्दानामिति भावः) अन्वयबोधने=संसर्गप्रतिपादने, तात्पर्याख्यां=तात्पर्यनामिकां, वृत्तिं = शक्तिम्, आहुः = कथयन्ति । तदर्थं=तात्पर्यवृत्त्यर्थं तात्पर्यवृत्त्यर्थम् एवं च, तद्बोधकं=तात्पर्यार्थबोधकं च वाक्यमिति परे अभिहितान्वयवादिनः=भाट्टमीमांसकनैयायिका इति भावः ॥ २० ॥

विवृणोति—**अभिधाया इति** । अभिधायाः=शक्तेः, एकैकपदार्थबोधनविरमात् = एकैकशब्दार्थप्रतिपादनविश्रामात्, "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराऽभाव"

अभिधेति । अभिधा आदि तीन उपाधियोंकी विशेषतासे शब्द भी वाचक, लक्षक और व्यञ्जक तीन प्रकारका माना जाता है ॥ १९ ॥

जिसमें अभिधाका व्यापार है वह वाचक, लक्षणाका व्यापारवाला लक्षक और व्यञ्जनाका व्यापारवाला शब्द व्यञ्जक कहलाता है ।

तात्पर्याख्यामिति । कुछ आचार्यलोग (अभिहितान्वयवादी) पदार्थोंके परस्पर अन्वयका बोध करनेके लिए 'तात्पर्य' नामकी वृत्तिको मानते हैं, और तात्पर्यको उस वृत्तिका प्रतिपाद्य अर्थ मानते हैं वाक्यको तात्पर्य अर्थका बोधक मानते हैं ॥२०॥

अभिधा वृत्तिके एक एक पदार्थका बोधकर निवृत्त होनेपर वाक्याऽर्थस्वरूप पदाऽर्थान्वयका बोध करानेवाली तात्पर्यनामक वृत्ति है, उस वृत्तिका अर्थ है तात्पर्याऽर्थ

बोधिका तात्पर्यं नाम वृत्तिः । तदर्थश्च तात्पर्यार्थः । तद्बोधकं च वाक्यमित्य-मित्यभिहितान्वयवादिनां मतम् ।

इति श्रीमन्नारायणचरणारविन्दमधुव्रत-साहित्यार्णवकर्णधार-ध्वनिप्रस्थापन-परमाचार्य-कविसूक्तिरत्नाकराऽष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्ग-सान्धि-विग्रहिक-महापात्र-श्रीविश्वनाथकविराजकृतौ साहित्यदर्पणे काव्यस्वरूपनिरूपणो नाम द्वितीयः परिच्छेदः ।

इति नयेनेति भावः । वाक्यार्थरूपस्य = पदार्थान्वयस्य, बोधिका = प्रतिपादिका, तात्पर्यं नाम वृत्तिः = शक्तिः । तदर्थश्च = तात्पर्यवृत्त्यर्थश्च तात्पर्यार्थः । तद्बोधकं च = तात्पर्याऽर्थबोधकं च, वाक्यमिति अभिहिताऽन्वयवादिनां मतम् ।

अयं भावः । घटं करोति इत्यादिवाक्ये अभिधा घटपदेन कम्बुग्रीवादिमन्तं पदार्थम्, अम् विभक्त्या कर्मत्वमभिधाय विरमति वृत्तिता तु न कस्याऽपि इति अपदार्थोऽपि वृत्तिता तात्पर्यवृत्तिवशात् अनयोः संसर्गविधया भासते । इत्थं तात्पर्यवृत्त्यैव पदार्थानां मिथः अन्वयो भवतीति अभिहितान्वयवादिनः ।

अन्विताऽभिधानवादिनां प्रभाकरमीमांसकानां मते तु पदार्थसंसर्गस्य पदशक्यत्वाङ्गीकारेण तात्पर्यवृत्तिर्नावश्यकी ।

इति साहित्यदर्पणे चन्द्रकलाख्यायां व्याख्यायां द्वितीयः परिच्छेद इति ।

और उसका बोधक वाक्य होता है यह अभिहिताऽन्वयवादियोंका सिद्धान्त है । अभिहिताऽन्वयवादी भाट्टमीमांसक हैं उनका मत अलङ्कारशास्त्रमें स्वीकृत है ।

अन्विताऽभिधानवादी प्रभाकर मीमांसकके मतमें पदार्थोंका अन्वय स्वतः होता है उसके लिए तात्पर्य वृत्तिको मानना अनावश्यक है ।

साहित्यदर्पणके अनुवादमें द्वितीय परिच्छेद समाप्त हुआ ।

तृतीयः परिच्छेदः

अथ कोऽयं रस इत्युच्यते—

विभावेनानुभावेन व्यक्तः संचारिणा तथा ।
रसतामेति रत्यादिः स्थायी भावः सचेतसाम्॥ १ ॥

विभावादयो वक्ष्यन्ते। सात्त्विकाश्चानुभावरूपत्वात् न पृथगुक्ताः, व्यक्तो दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतो व्यक्तीकृत एव रसो न तु दीपेन घट इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते ।

"वाक्यं रसात्मकं काव्य" मित्युक्तत्वाद्रसस्य प्राप्ताऽवसरत्वं दर्शयति अथेति । अथ = वाक्यस्वरूपनिरूपणाऽनन्तरम्, कोऽयं रस इति = अपेक्षायाम्, उच्यते = रसस्वरूपं निरूप्यते । रसं लक्षयति **विभावेनेति ।** विभावेन अनुभावेन तथा संचारिणा व्यक्तः सचेतसां रत्यादिः स्थायी भावः रसताम् एति इत्यन्वयः । विभावेन = रत्यादेरालम्बनोद्दीपनाख्यकारणद्वयेन, अनुभावेन = तत्कार्येण, तथा = तेन प्रकारेण, संचारिणा = व्यभिचारिणा, निर्वेदादिरूपेणेत्यर्थः । व्यक्तः = अञ्जनावृत्त्या प्रतिपादितः; सचेतसां सहृदयानाम् । रत्यादिः = रतिहासप्रभृतिः स्थायी भावः, रसतां = रसस्वरूपताम्, एति = प्राप्नोति ।

विवृणोति—विभावादयः = विभावाऽनुभावव्यभिचारिरत्यादयः, वक्ष्यन्ते = कथयिष्यन्ते, अस्मिन्नेव परिच्छेद इति शेषः । सामान्यतस्तु—

"कारणानि च कार्याणि सहकारीणि यानि च ।
रत्यादेः स्थायिनो लोके तानि चेन्नाटयकाव्ययोः ॥
विभावा अनुभावाश्च कथ्यन्ते व्यभिचारिणः ।"

इत्युक्तप्रकाराः । सात्त्विकाश्च = स्तम्भस्वेदादयोऽष्टविधाः । अनुभावरूपत्वात् न पृथक् उक्ताः = अभिहिताः । व्यक्तः = दध्यादिन्यायेन—यथा दुग्धं दधिरूपेण परिणमति तथैव व्यक्तकृत इत्यर्थः । आदिपदेन प्रपाणकादिपरिग्रहः । तथा च विभावादिरेव दध्यादिन्यायेन रूपान्तरपरिणतः सन् रसपदेन व्यवह्रियत इति भावः । न तु दीपेन घट

अब रस क्या है ? ऐसा प्रश्न कर उसका निरूपण करते हैं ।

विभावेन । विभाव (आलम्बन और उद्दीपन) अनुभाव और सञ्चारीभावसे व्यञ्जना वृत्तिसे अभिव्यक्त सहृदयोंके हृदयमें विद्यमान रति आदि स्थायी भाव रसके स्वरूपमें परिणत होता है ॥ १ ॥

विभाव आदि पीछे कहे जायेंगे । स्तम्भ स्नेह आदि आठ सात्त्विक भाव अनुभावमें अन्तर्भूत होनेसे पृथक् नहीं कहे गये । "व्यक्त" कहनेसे जैसे दूध ही दूसरे रूपमें

तदुक्तं लोचनकारैः—'रसाः प्रतीयन्त इति त्वोदनं पचतीतिवद् व्यवहारः' इति। अत्र च रत्यादिपदोपादानादेव प्राप्ते स्थायित्वे पुनः स्थायिपदोपादानं रत्यादीनामपि रसान्तरेष्वस्थायित्वप्रतिपादनार्थम्। ततश्च हास-

इव पूर्वसिद्धो व्यज्यते। अय भावः। न खल्वोदनः पूर्वसिद्धो व्यज्यते किन्तु तण्डुलसमूहः पक्वः सन् ओदनो भवति तथैव विभावादिसमूहोऽपि स्थायिभावेन सह व्यञ्जनया प्रतिपादितः सन् रसो भवति। रूपान्तरपरिणामे प्राचीनसंवादमाह—**तदुक्तमिति**। लोचनकारैः=अभिनवगुप्तपादाचार्यैः, रसाः=शृङ्गारादयः, प्रतीयन्ते=ज्ञायन्ते इति तु, ओदनं पचतीतिवत् व्यवहारः। अय भावः। तण्डुला पाकानन्तरमेव यथा ओदनपदेन व्यवहारयोग्या भवन्ति, एवं सति ओदनं पचति इत्यय प्रयोगो यथा उपचारेण भवति तथैव रसास्तु ज्ञानरूपाः, विभावादीनां व्यञ्जनया रसरूपे परिणामाऽनन्तरमेव ते रसपदेन व्यवहार्या भवन्ति, प्रतीतेः पूर्वं न रसाना सत्ता। यथा ओदनं पचतीति व्यवहार उपचारेण तथैव ',रसाः प्रतीयन्ते" अयमपि उपचारेणैवेति तात्पर्यम्।

अत्र चेति। अत्र = "विभावेनानुभावेन" इत्याकारिकायां कारिकाया, रत्यादिपदोपादानात् = रत्यादिशब्दग्रहणात्। स्थायित्वे प्राप्तेऽपि ते रसाऽन्तरेषु=भिन्नरसेषु। व्यभिचारिण एव = व्यभिचारिभावा एव, न स्थायिभावाः। अय भावः। पूर्वोक्तकारिकाया रत्यादिपदग्रहणादेव रत्यादीनां स्थायिभावत्वे प्राप्तेऽपि पुन. स्थायिपदग्रहणं तेषां भिन्नरसेषु अस्थायित्वप्रतिपादनाऽर्थं बोध्यम्। यथा हासः हास्यरस एव स्थायिभावो भवति शृङ्गारे व्यभिचारिभाव एव—तथैव क्रोधोऽपि रौद्ररसे स्थायि-

परिणत होकर दही हो जाता है वैसे ही रति आदि स्थायी भाव ही दूसरे रूपमें परिणत होकर, अभिव्यक्त होकर ही "रस" हो जाता है। जैसे दीपसे पूर्वसिद्ध घट व्यक्त (प्रकाशित) होता है उस तरह पूर्वसिद्ध रूपमे रस व्यक्त नही होता है। इस बातको लोचनकार (अभिनव गुप्त आचार्य) ने कहा—"रस प्रतीत होते हैं" यह "भात पकाता है" ऐसे कथनके अनुसार व्यवहार है। जैसे पकनेके बाद ही चावलोंमें भातका व्यवहार होता है, पकनेके पहले नही उसी तरह विभाव आदि भावोसे व्यञ्जनावृत्तिके द्वारा रति आदि स्थायीभाव अभिव्यक्त होकर ही इसकी प्रतीति होती है प्रतीतिके पहले नही, यह अभिप्राय है। पूर्वसिद्ध ही घट जिस तरह दीपसे प्रकाशित होता है उस तरह प्रतीतिके पूर्व रस प्रकाशित नही होता है यह अभिप्राय है।

पूर्व कारिकामे रति आदि पदके ग्रहणसे ही स्थायित्वकी प्राप्ति होनेपर भी फिर स्थायि पदका ग्रहण, रति आदियोंका भिन्न रसोमे स्थायिता नही होती है यह जाननेके लिए है। जैसे कि हास्य रसमें हास स्थायी भाव है उसी तरह रौद्र रसमें क्रोध स्थायी

क्रोधादयः शृङ्गारवीरादौ व्यभिचारिण एव । तदुक्तम्—

'रसावस्थः परम्भावः स्थायितां प्रतिपद्यते' इति ।

अस्य स्वरूपकथनगर्भ आस्वादनप्रकारः कथ्यते—

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः ।
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः ॥ २ ॥
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित् प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ॥ ३ ॥

भावः, वीररसे तु व्यभिचारभाव एव वक्ष्यति चैनमर्थं पश्चात्—'शृङ्गारवीरयोर्हासो वीरे क्रोधस्तथा मतः ॥ ३–१७२ ॥ शान्ते जुगुप्सा कथिता व्यभिचारितया पुनः इति । अत्र प्राचां संवादमाह—**तदुक्तमिति ।**

रसाऽवस्थ इति । रस एव अवस्था (स्थितिः) यस्य सः, एतादृशः भावः = रत्यादिः, स्थायितां = स्थायिभावं, प्रतिपद्यते = प्राप्नोति । **अस्येति ।** अस्य=रसस्य, स्वरूपकथनगर्भः = स्वरूपकथनं (लक्षणप्रतिपादनम्) गर्भे (अभ्यन्तरे) यस्य सः, तादृशः, आस्वादनप्रकारः = आस्वादनभेदः, रसस्य आस्वादनाऽनतिरिक्तत्वादयमुपचार-प्रयोगः कथ्यते ।

सत्त्वोद्रेकादिति । सत्त्वोद्रेकात् = सत्त्वस्य (गुणस्य), उद्रेकात् (आधिक्यात्); अखण्डस्वप्रकाशाऽऽनन्दचिन्मयः = अखण्डः विभावादिसमूहालम्बनत्वात् एकः) स्वप्रकाशः (स्वतः प्रकाशमानः) आनन्दमयः (सुखमयः) चिन्मयः (ज्ञानस्वरूपः) । वेद्याऽन्तरस्पर्शशून्यः = ज्ञेयान्तरसंपर्करहितः । ब्रह्माऽऽस्वादसहोदरः = ब्रह्मसाक्षात्कार-सदृशः । लोकोत्तरचरचमत्कारप्राणः=अलौकिकाऽऽश्चर्यजीवनरूपः । कैश्चित्, प्रमातृभिः= प्रमापकैः, स्वाकारवत् = आत्माऽऽकृतिवत्, अभिन्नत्वेन = भेदरहितत्वेन, अयं = रसः, आस्वाद्यते = अनुभूयते इति कारिकाऽर्थः ।

भाव है, परन्तु ये दोनों शृङ्गार और वीर आदि रसमे स्थायी नहीं है व्यभिचारी भाव है । जैसे कि कहा है—रसाऽवस्थः० । रसकी अवस्थाको प्राप्त भाव ही स्थायीभाव होता है, अन्य नहीं । रसके स्वरूपका कथन और आस्वादनका प्रकार कहते है । **सत्त्वोद्रेकात् इति सत्त्व** गुणके आधिक्यसे अखण्ड, स्वतः प्रकाशवाला, आनन्दमय, चिन्मय (ज्ञान-स्वरूप) दूसरे वेद्य पदार्थके संपर्कसे रहित, ब्रह्मसाक्षात्कारके सदृश ॥ २ ॥ अलौकिक चमत्कारस्वरूप प्राणवाला रस कुछ विद्वानोंसे अपने आकारके समान अभिन्नरूपसे आस्वादन किया जाता है ॥ ३ ॥

'रजस्तमोभ्यामस्पृष्टं मनः सत्त्वमिहोच्यते' इत्युक्तप्रकारो बाह्यमेय-विमुखतापादकः कश्चनान्तरो धर्मः सत्त्वम्। तस्योद्रेको रजस्तमसी अभिभूय आविर्भावः। अत्र च हेतुस्तथाविधालौकिककाव्यार्थपरिशीलनम्।

अखण्ड इत्येक एवायं विभावादिरत्यादिप्रकाशसुखचमत्कारात्मकः। अत्र हेतुं वक्ष्यामः। स्वप्रकाशत्वाद्यपि वक्ष्यमाणरीत्या। चिन्मय इति स्वरूपार्थे मयट्।

चमत्कारश्चित्तविस्ताररूपो विस्मयापरपर्यायः। तत्प्राणत्वञ्चास्मद्वृद्ध-प्रपितामहसहृदयगोष्ठीगरिष्ठकविपण्डितमुख्यश्रीमन्नारायणपादैरुक्तम्। तदाह धर्मदत्तः स्वग्रन्थे—

विवृणोति— **रजस्तमोभ्यामिति**। रजस्तमोभ्यां = रजस्तमोगुणाभ्याम्, अस्पृष्टं=सम्पर्करहितं, मनः, सत्त्वम् उच्यते। अय भावः। "सत्त्वं सुखे रञ्जयति" इति भगवद्वचनात्, त्रिगुणात्मके मनसि यदा सत्त्वस्याऽऽधिक्यं भवति तदा सुखोत्पत्तिः। इत्युक्तप्रकारः = इत्यभिहितभेदः, बाह्यमेयविमुखताऽऽपादकः = घटपटादयो ये बाह्य-पदार्थाः, तेषु पराङ्मुखत्वप्रयोजकः, कश्चन आन्तरः = अन्तर्वर्ती, धर्मः = गुणः, सत्त्वम्। तस्य उद्रेकः = रजस्तमसी। अभिभूय = स्वकार्यासमर्थे कृत्वा, आविर्भावः=प्रादुर्भावः। तत्र च हेतुः=कारणं, तथाविधाऽलौकिककाव्याऽर्थपरिशीलन=तथाविधानि (तादृशानि) अलौकिकानि (लोकोत्तराणि) यानि (काव्यानि) तेषामर्थाः, (विभावादयः) तेषा परिशीलनम् (निरन्तरमभ्यसनम्)। अखण्ड इति विभावादिरत्यादिप्रकाश-सुखचमत्कारात्मकः = विभावादीनां (भावानाम्) रत्यादीनां (स्थायिभावानाम्) ये प्रकाशसुखचमत्काराः (ज्ञानानन्दविस्मयाः) तदात्मकः (तत्स्वरूप.)। वक्ष्यामः= कथयिष्यामः। चिन्मयः = चिदेव, "तत्प्रकृतवचने मयट्" इति स्वरूपाऽर्थे मयट्। चमत्कारः, चित्तविस्ताररूपः = चित्तप्रसारस्वरूपः, आनन्दोत्पत्तिः, विस्मयाऽपर-

---

ग्रन्थकार ही कारिकाओंका विवरण करते है। "**रजस्तमोभ्यामिति**"। रजोगुण और तमोगुणसे अस्पृष्ट मनको "सत्त्व' कहते है, ऐसी उक्तिके अनुसार घट पट आदि बाह्य पदार्थोंसे विमुख करनेवाला कोई अन्तःकरणका धर्म "सत्त्व" कहा जाता है। उसका उद्रेक=रजोगुण और तमोगुणको दबाकर प्रादुर्भाव होना है। उसका हेतु है वैसे अलौकिक काव्योके अर्थ विभाव आदिका परिशीलन। "अखण्ड" कहनेसे विभाव आदि भावोका और रति आदि स्थायी भावोंका प्रकाश, सुख और चमत्कारस्वरूप वह एक ही है। इसमे हेतुको पीछे कहेगे। स्वप्रकाशत्व आदि पीछे कही जाने वाली रीतिसे जानना। "चिन्मय" यहाँ पर स्वरूप अर्थमे मयट् प्रत्यय हुआ है। चित्तविस्तारको "चमत्कार" कहते हैं, इसका पर्याय (समानाऽर्थक शब्द) "विस्मय" है। रसमे चमत्कार ही प्राण है इस बातको हमारे वृद्ध प्रपितामहके सहृदय विद्वानोंकी सभाके श्रेष्ठ कवि और पण्डित श्रीनारायणजी ने कहा है। इस बातको धर्मदत्तने अपने ग्रन्थमे कहा

'रसे सारश्चमत्कारः सर्वत्राऽप्यनुभूयते।
तच्चमत्कारसारत्वे सर्वत्राऽप्यद्भुतो रसः।
तस्माद्द्भुतमेवाह कृती नारायणो रसम्' ॥ इति।

केश्चिदिति प्राक्तनपुण्यशालिभिः।

यदुक्तम्—

'पुण्यवन्तः प्रमिण्वन्ति योगिवद्रससन्ततिम्'। इति।

यद्यपि 'स्वादः काव्यार्थसम्भेदादात्मानन्दसमुद्भवः' इत्युक्तदिशा रसस्यास्वादानतिरिक्तत्वम्, तथापि 'रसः स्वाद्यते' इति काल्पनिकं

पर्यायः = विस्मयाऽन्यसमानार्थकः। तत्प्राणत्व = चमत्कारप्राणत्वम्। **रस इति।** तच्चमत्कारसारत्वे = तस्य (रसस्य) चमत्कारसारत्वे (चमत्कारस्थिराऽशत्वे) सर्वत्र अनुभूतो रसः। चमत्कार एव सर्वरसप्राणभूत इति भावः।

पुण्यवन्त इति। पुण्यवन्तः=सुकृतिनः, योगिवत् रससन्ततिं=शृङ्गारादिरसपरम्परां, प्रमिण्वन्ति=साक्षात्कुर्वन्ति। यथा योगिनः शुद्धं ब्रह्म स्वप्रकाशानन्दचिद्रूपतया साक्षात्कुर्वन्ति तथा पुण्यवन्तो रत्याद्यंशकबुरितमपि रसमास्वादयन्तीति भावः।

यद्यपीति। काव्यार्थसंभेदात् = काव्यार्थस्य (विभावादेः) संभेदात् (परिशीलनात्); "संभेदात्" इत्यत्र ल्यब्लोपे पञ्चमी। काव्यार्थसंभेदं कृत्वा, तेन विभावादिसंवलित इत्यर्थः, एतादृशः आत्माऽऽनन्दसमुद्भेदः = आत्मनि (स्वस्मिन्) आनन्दसमुद्भवः, स्वादः=आस्वादः। इत्युक्तदिशा, रसस्य आस्वादाऽनतिरिक्तत्वम् = आस्वादरूपत्वमिति भावः। तथाऽपि "रसः स्वाद्यते" इति काल्पनिकभेदम् = औपचारिकभेदम् "राहोः शिर" इतिवदिति भावः। उररीकृत्य = अङ्गीकृत्य, वा = अथवा, कर्मकर्तरि, "कर्मवत्कर्मणा तुल्यक्रियः" इति सूत्रेण "ओदनः पच्यते" इतिवत् "रसः स्वाद्यते" = स्वयमेव आस्वाद्यते एतादृशः प्रयोगः।

है—**रस इति।** रसमें सार चमत्कार है इस बातका सर्वत्र अनुभव किया जाता है। इसमें चमत्कार ही सार होता है इसलिए सर्वत्र ही अद्भुत रस होता है। उस कारणसे विद्वान् नारायणने रसको अद्भुत ही कहा है। "केश्चित्" इसका अर्थ है प्राचीन पुण्योंसे शोभित जनोंसे। जैसे कि कहा गया है—**पुण्यवन्त इति।** पुण्यात्मालोग योगियोंके समान शृङ्गार आदि रसोंकी परम्पराका साक्षात्कार करते हैं। जैसे योगी शुद्ध ब्रह्मको स्वप्रकाश आनन्द चैतन्यरूपतासे साक्षात्कार करते हैं उसी प्रकार पुण्यात्मा लोग रति आदिसे चित्रित रसका आस्वादन करते हैं यह भाव है।

यद्यपीति। यद्यपि काव्यार्थ (विभाव आदि) परिशीलनसे अपनेमें आनन्दकी उत्पत्तिको "स्वाद" कहते हैं ऐसी उक्तिके अनुसार रस आस्वादसे अतिरिक्त नहीं है अर्थात् आस्वादस्वरूप ही है तथाऽपि "रसः स्वाद्यते" अर्थात् रस आस्वादन किया जाता है ऐसा काल्पनिक भेदको स्वीकार कर वा कर्मकर्तामें रस. स्वाद्यते = स्वयमेव

भेदमुररीकृत्य कर्मकर्त्तरि वा प्रयोगः। तदुक्तम्—'रस्यमानतामात्रसारत्वात् प्रकाशशरीरादनन्य एव हि रसः' इति। एवमन्यत्राप्येवंविधस्थलेषूपचारेण प्रयोगो ज्ञेयः।

नन्वेतावता रसस्याज्ञेयत्वमुक्तं भवति। व्यञ्जनायाश्च ज्ञानविशेषत्वाद् द्वयोरैक्यमापतितम्। ततश्च—

स्वज्ञानेनान्यधीहेतुः सिद्धेऽर्थे व्यञ्जको मतः।

तदुक्तमिति। रस्यमानतामात्रसारत्वात्=आस्वाद्यमानतामात्रस्वरूपत्वात्। प्रकाशशरीरात्=ज्ञानस्वरूपात् अनन्यः=अभिन्नः एव रसः। ज्ञानस्वरूप एवेति भावः। अन्यामाशङ्का प्रदर्शयति **नन्विति।** एतावता = प्रबन्धेन, प्रकाशशरीरादनन्य एव रस इति कथनाऽनुसारमिति भावः। रसस्य = शृङ्गारादेः, अज्ञेयत्वम् = स्वभिन्नज्ञानाऽग्राह्यत्वमित्यर्थः। स्वेनैव स्वस्य ग्राह्यत्वेन घटादिवज्ज्ञेयत्वाऽसिद्धेरिति भावः। ततश्च रसस्य ज्ञानविशेषत्वमापतितम्। एव च व्यञ्जनायाश्च वृत्तेः ज्ञानविशेषत्वात् द्वयोः=व्यञ्जनारसयोः, ऐक्यम्=एकत्वं, ज्ञानविशेषत्वमिति भावः, आपतितं, ततश्च कथं रसस्य व्यङ्ग्यत्वम्। ततश्च = तस्माद्धेतोः।

व्यङ्ग्यव्यञ्जकभावयोर्भिन्नता प्रतिपादयति—**स्वज्ञानेनेति।** सिद्धे अर्थे स्वज्ञानेन अन्यधीहेतुः व्यञ्जको मतः, यथा दीपः। अन्यथाभावे अस्य कारकात् को विशेष इत्यन्वयः।

सिद्धे = निष्पन्ने, न तु साध्य इति भावः, अर्थे = पदार्थे, स्वज्ञानेन = स्वस्य (व्यञ्जकत्वेनाऽभिमतस्य आत्मनः) ज्ञानेन (बोधनेन) सह अन्यधीहेतुः = अन्यस्य (व्यङ्ग्यस्य पदार्थस्य) धीहेतुः (प्रत्यक्षादिज्ञानकारणम्)।

व्यञ्जकः=ज्ञापको हेतुः, मतः=अभिमतः। न खलु दीपो घटादिकं करोति किन्तु सिद्धमेव तं स्वप्रकाशेन प्रकाशयति ज्ञापकहेतुत्वादिति भावः यथा दीपः।

आस्वाद्यते अर्थात् रस स्वयम् ही आस्वादित होता है ऐसा प्रयोग होता है। तदुक्तमिति—**रस्यमानतेति।** रसमें रस्यमानता (आस्वाद्यमानता) मात्र सार होनेसे रस प्रकाश शरीर अर्थात् ज्ञानस्वरूपसे अन्य (भिन्न) नहीं है। अर्थात् ज्ञानस्वरूप है। इसी प्रकार अन्यत्र भी ऐसे स्थलोंमें उपचारसे प्रयोग जानना चाहिए।

दूसरी आशङ्का करते हैं। **नन्विति।** "प्रकाशशरीरादनन्य एव रसः" इस उक्तिके अनुसार रसको ज्ञानस्वरूप मानते हैं तो वह अज्ञेय होगा क्योंकि जैसे घटज्ञान अपने विषय (ज्ञेय) घटसे अलग होता है। इस प्रकार रस भी ज्ञानस्वरूप है। व्यञ्जना=जिससे रसकी प्रतीति होती है और रस ये दोनों ज्ञानविशेष हो गये तो दोनोंकी एकता हो जायगी तब तो—**स्वज्ञानेनेति।** जो अपना ज्ञान कराकर दूसरेका ज्ञान कराता है वह सिद्ध पदार्थमें (न कि साध्य पदार्थमें) व्यञ्जक (ज्ञापक) हेतु कहलाता

यथा दीपोऽन्यथाभावे को विशेषाऽस्य कारकात्' ? ॥

इत्युक्तदिशा घटप्रदीपवद् व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः पार्थक्यमेवेति कथं रसस्य व्यङ्ग्यतेति चेत्, सत्यमुक्तम्। अत एवाहुः-'विलक्षण एवायं कृतिज्ञप्तिभेदेभ्यः स्वादनाख्यः कश्चिद्व्यापारः। अत एव हि रसनास्वादनचमत्करणादयो विलक्षणा एव व्यपदेशाः' इति अभिधादिविलक्षणव्यापारमात्र-

---

अन्यथाभावे = असिद्धस्य साधने, अस्य = व्यञ्जकहेतोर्दीपस्य, कारकात् = उत्पादकहेतोः, दण्डचक्रादेरिति भावः ; कः, विशेषः = भेदः। अतो व्यञ्जकः कारकश्चेति द्वौ हेतू स्वीकरणीयाविति तात्पर्यम्।

इत्युक्तदिशा = ध्वनिकाराद्युक्तमार्गेण, व्यङ्ग्यव्यञ्जकयोः = रसव्यञ्जनयोः, पार्थक्यम् एव = पृथग्भाव एव, न खलु घटस्य दीपप्रकाशेनैक्यमिति भावः। अभिनवगुप्तपादाचार्योक्तदिशा समाधत्ते—**अत एवाहुरिति**। अत एव = यतो ज्ञानरूप एव रस इत्यर्थः। आहुः = कथयन्ति, प्राचीनाचार्या इति शेषः। अयं, स्वादनाख्यः = आस्वादननामक, कश्चित् = अलौकिकः, व्यापार = व्यापारविषयाद्रसादभिन्नः, कृतिज्ञप्तिभेदेभ्यः=करण कृतिः, ज्ञानं ज्ञप्तिः, तद्भेदेभ्यः, कारकज्ञापकव्यापारेभ्यः। विलक्षण एव = विसदृश एव। अत एव = विलक्षणव्यापारत्वादेव, रसनाऽऽस्वादनचमत्करणादयः = रस्यतेऽनेनेति रसनम्, आस्वाद्यतेऽनेनेति आस्वादनं, चमत्क्रियतेऽनेनेति चमत्करण, तदादयः (तत्प्रभृतयः), सर्वत्र करणे ल्युट् प्रत्ययः, विलक्षणा =विसदृशाः, व्यपदेशाः = सञ्ज्ञाः।

निगमयति—अभिधाऽऽदिविलक्षणव्यापारमात्रप्रसाधनग्रहिलैः = अभिधा आदिः तासां ता अभिधादयः, आदिपदेन लक्षणातात्पर्ययोः परिग्रहः। अभिधादिभ्यो विलक्षणः (भिन्न) यो व्यापारः (व्यञ्जना) तन्मात्रप्रसाधनग्रहिलैः (तन्मात्रससाधनप्रयत्नपरैः) अस्माभिः = आलङ्कारिकैः, रसादीनां=शृङ्गारादीनाम्, व्यङ्ग्यत्वं = व्यञ्जना-

---

है, जैसे दीप, अन्यथा=ऐसा नही मानेंगे तो व्यञ्जक (ज्ञापक) हेतुका कारक हेतुसे क्या भेद होगा। इसका भाव है, हेतु (कारण) के दो भेद होते है ज्ञापक और कारक। उनमें ज्ञापक दीप अपना ज्ञान कराकर पूर्वसिद्ध पदार्थ अर्थात् घट आदिके ज्ञानका हेतु होता है। और दूसरा कुम्भकार आदि है जो कि मृत्तिका, दण्ड चक्र और चीवरसे साध्य पदार्थ घटका कारक हेतु होता है। इस उक्तिके अनुसार घट और प्रदीपके समान व्यङ्ग्य (रस) और व्यञ्जक (व्यञ्जना) का पार्थक्य (भेद) ही है तो कैसे रस व्यङ्ग्य होगा ? अभिनवगुप्ताचार्यकी उक्तिसे समाधान करते हैं—**सत्यमुक्तम्** ठीक कहा। इसीलिए कहते हैं—कारक हेतुका व्यापार कृति, ज्ञापक हेतुका व्यापार ज्ञप्ति, इनसे स्वादन नामका कोई व्यापार भिन्न ही होता है जो (स्वादन व्यापार) रसकी प्रतीति कराता है। इसी कारणसे रसन, आस्वादन और चमत्करण आदि इसके विभिन्न

प्रसाधनग्रहिलैरस्माभी रसादीनां व्यङ्ग्यत्वमुक्तं भवतीति ।

ननु तर्हि करुणादीनां रसानां दुःखमयत्वाद्रसत्वं (तदुन्मुखत्वं) न स्यादित्युच्यते—

करुणादावपि रसे जायते यत्परं सुखम् ।
सचेतसामनुभवः प्रमाणं तत्र केवलम् ॥ ४ ॥

आदिशब्दाद् बीभत्सभयानकादयः ।

तथाऽप्यसहृदयानां मुखमुद्रणाय पक्षान्तरमुच्यते—

किञ्च तेषु यदा दुःखं न कोऽपि स्यात्तदुन्मुखः ।

वृत्तिबोध्यविषयत्वम्, उक्तं भवति । पञ्चमे परिच्छेदे वक्ष्यति च—"वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाऽऽख्यानाम् । अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ।" इति ॥ २ ॥

रसस्यानन्दमयत्वे आशङ्कते—**नन्विति** । उच्यते = समाधानं प्रतिपाद्यते । **करुणादावपीति** । करुणादौ अपि=रसे, आदिशब्दाद् बीभत्सभयानकादयो गृह्यन्ते । यत् परम् = अत्यन्तं, सुखं जायते, तत्र = तस्मिन्विषये, सचेतसां = सहृदयानां, रसाऽभिज्ञानामिति भावः । अनुभवः = अनुभूतिः, केवलं प्रमाणम् ॥ ३ ॥

तथाऽपि = सचेतसां सुखानुभवे सत्यपि । असहृदयानाम् = अमनस्विनां, मुखमुद्रणाय = वदनव्यापारसंकोचनाय, सिद्धान्तखण्डनायेति भावः पक्षान्तरम् = अन्यः पक्षः, सिद्धान्तः इत्यर्थः ।

उच्यते । किञ्च = अपि च, तेषु = करुणाऽऽदिषु, यदा दुःखं, तर्हि कोऽपि = सहृदयः, तदुन्मुखः = तत्परः, करुणादिरसास्वादनोत्कण्ठितः, न स्यात् ॥ ४ ॥

नामोंसे व्यवहार होते हैं । इस प्रकारसे अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य इनके व्यापारोंसे भिन्न व्यञ्जनाव्यापार मात्रकी सिद्धके लिए प्रयत्न करने वाले हम आलङ्कारिकोंसे रस आदिकी व्यङ्ग्यता कही जाती है ।

रसके आनन्दमयत्वमें आशङ्का करते हैं—**नन्विति** । रसको आनन्दमय ही मानेंगे तो करुण आदि रसोंका आनन्दसे भिन्न दुःखमय होनेमे रसत्व नहीं होगा, इस आक्षेपका उत्तर देते है । **करुणादौ इति** । करुणा आदि रसमें जो परम सुख होता है सहृदयोका अनुभव ही प्रमाण है ॥ ४ ॥

आदि शब्दसे बीभत्स और भयानक आदि रस लिये जाते हैं । तथाऽपि-तो भी जो सहृदय नही है उनका मुखमुद्रण करनेके लिए दूसरा पक्ष दिखाते हैं—

कि चेति । करुण आदि रसोंमें दुःख होता हो तो उनका आस्वादन करनेके

नहि कश्चित् सचेतन आत्मनो दुःखाय प्रवर्त्तते। करुणादिषु च सकलस्यापि साभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनात् सुखमयत्वमेव।

अनुपपत्त्यन्तरमाह—

तथा रामायणादीनां भविता दुःखहेतुता ॥ ५ ॥

करुणरसस्य दुःखहेतुत्वे करुणरसप्रधानरामायणादिप्रबन्धानामपि दुःखहेतुताप्रसङ्गः स्यात्।

ननु कथं दुःखकारणेभ्यः सुखोत्पत्तिरित्याह—

हेतुत्वं शोकहर्षादेर्गतेभ्यो लोकसंश्रयात्।
शोकहर्षादयो लोके जायन्तां नाम लौकिकाः ॥ ६ ॥

विवृणोति— **न हीति**। सचेतनः = सहृदयः। सकलस्याऽपि = जनस्य। करुणाऽऽदिषु = करुणबीभत्सभयानकादिषु, साऽभिनिवेशप्रवृत्तिदर्शनात् = साऽभिनिवेशा (आग्रहसहिता) या प्रवृत्तिः (चेष्टा) तद्दर्शनात् (तद्विलोकनात्)।

अनुपपत्यन्तरम् = अन्याम् अनुपपत्तिं, करुणादीनां दुःखमयत्व इतिशेषः। **तथेति**। तथा = तेनैव प्रकारेण, रामायणादीनां प्रबन्धानां, दुःखहेतुता = दुःखजनकता, भविता = भविष्यति ॥ ५ ॥

विवृणोति—दुःखहेतुताप्रसङ्गः = दुःखजनकताऽवसरः। स्यात् = भवेत्।

करुणादौ सुखजनकतामाशङ्कते—**नन्विति**। दुःखकारणेभ्यः = रामायणादौ दुःखहेतुभ्यः = दुःखकारणेभ्यो रामादिविभावेभ्य इति भावः। कथं सुखोत्पत्तिः = आनन्दाऽऽविर्भावः। इति = आशङ्कायाम्, आह = कथयति।

कारिकया समाधत्ते—**हेतुत्वमिति**। लोकसंश्रयात् = ल्यब्लोपे पञ्चमी, लोकाऽऽश्रयं प्राप्य, शोकहर्षादेः=मन्युप्रमोदादेः, हेतुत्वं=कारणत्व, गतेभ्यः=प्राप्तेभ्यः, तेभ्यः = रामवनवासादिभ्यः, लोके = जगति, न तु काव्ये इति शेषः। लौकिकाः = लोकोत्पन्नाः न तु अलौकिकाः, शोकहर्षादयो जायन्तां नाम = उत्पद्यन्तां नाम। नामेति प्रसिद्धौ ॥ ६ ॥

लिए कोई तत्पर नहीं होता। **न हीति**। कोई भी सहृदय अपने दुःखके लिए प्रवृत्त नहीं होता है, परन्तु करुण आदि रसोंमें सभीकी आग्रहपूर्वक प्रवृत्ति देखनेसे वे भी सुखमय ही हैं। दूसरी अनुपपत्ति देते हैं—**तथेति**। करुण रसको दुःखमय मानेंगे तो करुणरस प्रधान रामायण आदि प्रबन्ध भी दुःखके हेतु होंगे ॥ ५ ॥

फिर प्रश्न करते हैं - **नन्विति**। तब तो दुःखके कारणोंसे कैसे सुखकी उत्पत्ति होगी? इसपर कहते हैं—**हेतुत्वमिति**। लोकके आश्रयसे शोक और हर्ष आदिके हेतुभूत राम आदिके वनवास आदिसे लौकिक शोक और हर्ष आदि भले ही हो जायँ ॥ ६ ॥

अलौकिकविभावत्वं प्राप्तेभ्यः काव्यसंश्रयात् ।
सुखं सञ्जायते तेभ्यः सर्वेभ्योऽपीति का क्षतिः ॥ ७ ॥

'ये खलु रामवनवासादयो लोके दुःखकारणानि' इत्युच्यन्ते त एव हि काव्यनाट्यसमर्पिता अलौकिकविभावनव्यापारवत्तया कारणशब्द-वाच्यतां विहाय अलौकिकविभावशब्दवाच्यत्वं भजन्ते। तेभ्यश्च सुरते दन्तघातादिभ्य इव सुखमेव जायते। अतश्च 'लौकिकशोकहर्षादि-कारणेभ्यो लौकिकशोकहर्षादयो जायन्ते' इति लोक एव प्रतिनियमः।

परं काव्यसंश्रयात्=पूर्ववल्ल्यब्लोपे पञ्चमी । काव्यसंश्रयं प्राप्य, अलौकिकविभा-वत्वं = लोकोत्तररामादिविभावत्वं प्राप्तेभ्यः, तेभ्य = पूर्वोक्तेभ्य, सर्वेभ्यः=सकलेभ्यः, रामवनवासादिभ्य इति भावः । सुखम् = आनन्द एव, संजायते = समुत्पद्यते, इति = अस्मिन् विषये, का, क्षतिः = आपत्तिः ॥ ७ ॥

विवृणोति— **ये खल्विति ।** लोके = जगति, ते एव = रामवनवासादयः, काव्यनाट्यसमर्पिताः = श्रव्यरूपकगुम्फिताः सन्तः, अलौकिकविभावनव्यापारवत्तया = अलौकिका ये विभावनादिव्यापाराः तद्वत्तया=लौकिकविभावनव्यापारविलक्षणतया । अत्र 'विभावनपदमनुभावनसञ्चारणयोरप्युपलक्षकं बोध्यम् । विभावनादिस्वरूपाणि वक्ष्यन्ते । कारणशब्दवाच्यतां = लौकिकहेतुपदप्रतिपाद्यताम् अत्राऽपि कारणपदं कार्यसहकारि-णोरप्युपलक्षकं बोध्यम् । विहाय = त्यक्त्वा, कारणकार्यसहकारिकारणपदवाच्यतां त्यक्त्वेति भाव, अलौकिकविभावशब्दवाच्यत्वं = लोकोत्तरविभावादिपदप्रतिपाद्यताम् । तेभ्यः = रामवनवासादिभ्यः, सुरते = रतिक्रीडायां, दन्तघातादिभ्य इव = दशनक्षता-दिभ्य इव, अत्रादिपदेन केशग्रहणादिर्गृह्यते । सुखमेव जायते । अनेन देशकालादिविशेषेण

परन्तु काव्यके आश्रयमे अलौकिक विभावत्वको प्राप्त राम आदिके वनवास आदि समस्त क्रियाकलापोंमे सुख उत्पन्न हो जाता है, इस बातके स्वीकार करनेमे क्या नुकसान है ? ॥ ७ ॥

विवरण करते है—लोकमें वनवास आदि जो कुछ दुःखके कारण कहे जाते हैं वे ही काव्य (श्रव्य) और नाट्य (दृश्य) में विन्यस्त होकर अलौकिक विभावन व्यापार युक्त होनेसे कारण शब्दसे व्यवहृत न होकर अलौकिक विभाव शब्दसे कहे जाते हैं ।

सुरतमें जैसे दन्तघात नखक्षत आदिसे सुख होता है वैसे ही वनवास आदि विषय काव्यमे समर्पित होनेसे उनसे सुख ही होता है । इस कारणसे लौकिक शोक हर्ष आदि कारणोंसे लौकिक शोक हर्ष आदि उत्पन्न होते हैं यह लोकमें ही नियम है ।

काव्ये पुनः 'सर्वेभ्योऽपि विभावादिभ्यः सुखमेव जायते' इति नियमान्न कश्चिद्दोषः ।

कथं तर्हि हरिश्चन्द्रादिचरितस्य काव्यनाट्ययोरपि दर्शनश्रवणाभ्यामश्रुपातादयो जायन्त इत्युच्यते—

अश्रुपातादयस्तद्वद् द्रुतत्वाच्चेतसा मताः ।

तर्हि कथं काव्यतः सर्वेषामीदृशी रसाभिव्यक्तिर्न जायत इत्यत आह—

न जायते तदास्वादो विना रत्यादिवासनाम् ॥ ८ ॥

वासना चेदानीन्तनी प्राक्तनी च रसास्वादहेतुः, तत्र यद्याद्या न

सुखमयस्याऽपि दुःखमयत्व, दुःखमयस्याऽपि सुखमयत्व भवतीति सिद्धम् । काव्ये = अलौकिकाऽर्थे । विभावादिभ्यः = विभावाऽनुभावसञ्चारिभावादिभ्यः ।

पुनराशङ्कते—**कथं तर्हीति** । करुणादिरसेभ्योऽपि सुखं जायते चेत्, हरिश्चन्द्रादिचरितस्य = आदिपदेन युधिष्ठिरादीनां परिग्रहः । उच्यते = समाधीयते ।

समाधत्ते—**अश्रुपातादय इति** । चेतसः = मनसः, द्रुतत्वात् = द्रवीभावात् रसोद्बोधे सतीति शेषः ।

आशङ्कान्तर प्रदर्शयति—**नन्विति** । तर्हि = तदा, करुणादिरसादेरपि सुखजनकत्वे सति सर्वेषा = जनानाम्, ईदृशी = एतादृशी, रसाऽभिव्यक्तिः = रसास्वादः कथं, न जायते = नोत्पद्यते ? इति, अत्र, आह = समाधत्ते । समाधत्ते—**न जायत इति** । तदास्वादः = रसास्वादः, रत्यादिवासनां विना = रत्यादितादात्म्येन ज्ञायमानां वासनां (संस्कारविशेषम्) विना, न जायते ।

विभागपूर्वकं वासनां निरूपयति—**वासना चेति** । रसास्वादहेतुः सा वासना द्विविधा—इदानीन्तनी = अधुनातनी, प्राक्तनी = पुरातनी चेति । तत्र यदि आद्या =

काव्यमें समर्पित समस्त विभावादियोंसे सुख ही उत्पन्न होता है ऐसा नियम होनेसे कुछ भी दोष नहीं है ।

फिर प्रश्न करते हैं—**कथमिति** । काव्यमें समर्पित विभाव आदिसे सुख ही होता है तो हरिश्चन्द्र आदिके चरित्रका काव्य (श्रव्य) और नाटच (दृश्य) में भी दर्शन और श्रवणसे कैसे अश्रुपात आदि होते है ? इस प्रश्नका समाधान करते है—**अश्रुपातादय इति** । चित्तके पिघलनेसे अश्रुपात आदि होते है न कि दुःखसे तब काव्यसे सब लोगोंको ऐसी रसकी अभिव्यक्ति क्यों नहीं होती हैं ? इस आक्षेपका समाधान करते हैं—**न जायत इत्यादि** । रति आदिकी वासना (संस्कारविशेष) के बिना रसका आस्वाद नही होता है ॥ ८ ॥

वह वासना इस जन्मकी और पूर्व जन्मकी दो प्रकारकी होनी चाहिए । पहली (इस जन्मकी) वासनाको नहीं लेंगे तो वैदिक और प्राचीन मीमांसकों को भी रसका

स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनामपि स स्यात्। यदि द्वितीया न स्यात्तदा यद्रागिणामपि केषाञ्चिद्रसोद्बोधो न दृश्यते तन्न स्यात्।

उक्तञ्च धर्म्मदत्तेन—

'सवासनानां सभ्यानां रसस्यास्वादनं भवेत्।
निर्वासनास्तु रङ्गान्तः काष्ठकुड्याश्मसन्निभाः'॥ इति।

ननु कथं रामादिरत्याद्युद्बोधकारणैः सीतादिभिः सामाजिकरत्याद्युद्बोध इत्युच्यते—

प्रथमा, तदानीन्तनी, न स्यात्तदा श्रोत्रियजरन्मीमांसकादीनाम्=वैदिकप्राचीनमीमांसकादीनामपि, सा = रसाऽनुभूतिः, स्यात् = भवेत्, परम्भिदानीन्तनवासनाऽभावेन श्रोत्रियादीनां रसाऽनुभूतिर्न भवति। द्वितीया = प्राक्तनी वासना, न स्यात्तदा रागिणां = काव्यरसबोधाऽनुभववताम् अपि, रसोद्बोधः = रसाऽनुभूतिः, न दृश्यते, परं प्राक्तनवासनाऽभावेन तेषां रसाऽनुभूतिर्न भवति।

उक्ताऽर्थे आप्तसंवादं प्रदर्शयति। उक्तं च धर्मदत्तेन—**सवासनानामिति**। सवासनानां = वासनासहितानां, सभ्यानां = सामाजिकानां, रसस्य = शृङ्गारादेः, आस्वादनं भवेत्। निर्वासनाः = वासनारहितास्तु, रङ्गाऽन्तः = नृत्यशालामध्ये, काष्ठकुड्याऽश्मसंनिभाः=काष्ठं (दारु) कुड्यम् (भित्तिः) अश्मा (पाषाणः) तैः सदृशाः (तुल्याः), रसास्वादनाऽभावादिति भावः। साधारणीकरणव्यापारतः सामाजिकानां रत्याद्युद्बोधं प्रतिपादयितुमाशङ्कामुत्थापयति—**नन्विति**। ननु कथं रामादिरत्याद्युद्बोधकारणैः=रामादीनां (नायकानाम्) यो रत्यादिः, (स्थायिभावः) तस्य उद्बोधकारणैः (अनुभूतिहेतुभिः) सीतादिभिः (नायिकाभिः दृश्यश्रव्यकाव्यप्रतिपादिताभिरिति शेषः) सामाजिकरत्याद्युद्बोधः = सामाजिकानां (सभ्यानाम्) यो रत्यादिः, तदुद्बोधः (तदनुभूतिः)। तद्देशस्वतात्कालिकरामादिरत्याद्युद्बोधकारणैः अत्रत्येदानीन्तनानां सामाजिकानां कथं रत्याद्युद्बोध इत्याशङ्काबीजमिति भावः।

आस्वाद होता। दूसरी (पूर्वजन्मकी) वासनाको नहीं लेंगे तो कुछ रागियोंको भी रसका आस्वाद नहीं देखा जाता है, वह नहीं होना चाहिए। धर्मदत्तने कहा भी है—

सवासनानामिति। वासना (संस्कारविशेष) वाले सभ्योंको रसका आस्वादन होगा। जिनको वासना नहीं है वे तो रङ्गभूमिके काष्ठ, दीवार और पत्थरोंके समान अनुभवसे रहित ही रहते हैं।

आशङ्का करते हैं—**नन्विति**। काव्य और नाटकमें राम आदि नायककी रति आदिके उद्बोध कारणोंसे अर्थात् सीता आदिसे सामाजिक अर्थात् सभ्य द्रष्टा और श्रोताओंको कैसे रति आदिका उद्बोध होता है? समाधान करते हैं—

व्यापारोऽस्ति विभावादेर्नाम्ना साधारणीकृतिः ।
तत्प्रभावेण यस्यासन् पाथोधिप्लवनादयः ॥ ९ ॥
प्रमाता तदभेदेन स्वात्मानं प्रतिपद्यते ।

ननु कथं मनुष्यमात्रस्य समुद्रलङ्घनादावुत्साहोद्बोध इत्युच्यते—

उत्साहादिसमुद्बोधः साधारण्याभिमानतः ॥ १० ॥
नृणामपि समुद्रादिलङ्घनादौ न दुष्यति ।

समाधत्ते—**व्यापारोऽस्तीति** । विभावादेः = आदिपदेन अनुभावसञ्चारिभावयोः परिग्रहः, तेन विभावाऽनुभावसञ्चारिभावानां, नाम्ना = अभिधानेन, साधारणीकृतिः = साधारणीकरणं, व्यापारः अस्ति, तत्प्रभावेण = साधारणीकरणव्यापारसामर्थ्येन, यस्य = रामादेः, पाथोधिप्लवनादयः = समुद्रलङ्घनादयः, आसन् = अभवन्, प्रमाता = सामाजिकः, दृश्यकाव्यस्य द्रष्टा, श्रव्यकाव्यस्य बोद्धेति शेषः । तदभेदेन = रामाद्यभेदेन, समुद्रलङ्घनादिकर्त्रेति शेषः । स्वात्मानं = स्वं, प्रतिपद्यते = जानाति । साधारणीकरणव्यापारेण सामाजिको रामादावभेदबुद्ध्या तद्गतां रतिमनुभवतीति भावः ।

पुनराशङ्कते—**नन्विति** । ननु कथं=केन प्रकारेण, मनुष्यमात्रस्य = मानवमात्रस्य सामाजिकस्य, समुद्रलङ्घनादौ=पाथोधिप्लवनादौ, उत्साहोद्बोधः=उत्साहाऽनुभूतिः । इति = अत्र विषये, उच्यते = कथ्यते, समाधीयत इति भावः ।

समाधत्ते—**उत्साहादिसमुद्बोध इति** । उत्साहादिसमुद्बोधः=उत्साहाद्यनुभूतिरपि । साधारण्याऽभिमानतः=साधारणीकरणाऽभिमानतः । अतः नृणामपि = मनुष्याणाम् अपि, सामाजिकानां, समुद्रादिलङ्घनादौ=पाथोधिप्लवनादौ, न दुष्यति ।

व्यापार इति । विभाव आदि = अर्थात् अनुभाव और सञ्चारी भावोंका साधारणीकरण नामका व्यापार होता है । उसके प्रभावसे जिन राम आदियोंका समुद्रलङ्घन आदि कार्य हुए थे ॥ ९ ॥

प्रमाता = सभ्य, राम आदिके अभेदसे मैंने ही समुद्रलङ्घन आदि कार्य किया है ऐसा समझने लगता है । मनुष्यमात्रका समुद्रलङ्घन आदिमें कैसे उत्साहका अनुभव होता है इस शङ्काका परिहार करते हैं—**उत्साहादीति** । साधारणीकरण व्यापारसे समुद्र लङ्घनके कर्ता राम आदिमें अभेद भावनासे समुद्रलङ्घन आदिमें उत्साह होनेमें दोष नहीं है ॥ १० ॥

रत्यादयोऽपि साधारण्येनैव प्रतीयन्त इत्याह—

साधारण्येन रत्यादिरपि तद्वत्प्रतीयते ॥ ११ ॥

रत्यादेरपि स्वात्मगतत्वेन प्रतीतौ सभ्यानां व्रीडातङ्कादिर्भवेत्। परगतत्वेन त्वरस्यतापातः।

विभावादयोऽपि प्रथमतः साधारण्येन प्रतीयन्त इत्याह—

परस्य न परस्येति ममेति न ममेति च।
तदास्वादे विभावादेः परिच्छेदो न विद्यते ॥ १२ ॥

रत्यादीनामपि साधारणीकरणव्यापारेण प्रतीतिरिति प्रतिपादयति—**साधारण्येनेति**। तद्वद्=विभावादिवत्। रत्यादिरपि=तत्तद्रसस्थायिभावोऽपि, साधारण्येन=साधारणीकरणव्यापारेण, प्रतीयते = ज्ञायते ॥ ११ ॥

साधारणीकरणस्य सार्थक्यं प्रतिपादयति—**रत्यादेरपीति**। रत्यादेरपि = स्थायिभावस्य, आत्मगतत्वेन=आत्ममात्रगतत्वेन, प्रतीतौ = ज्ञान, सभ्यानां = सामाजिकाना, व्रीडातङ्कादिः = व्रीडा (लज्जा) आतङ्कादिः (भयादिः)। सामाजिकसामग्र्यो स्वरतिप्रकाशने लज्जा आतङ्कादिश्च भवेदिति भावः। परगतत्वेन = अन्यगतत्वेन, रत्यादिप्रतीतावित्ति शेषः। अरस्यापातः = अनास्वाद्यतापातः, परगतत्वेन रत्यादिप्रतीतौ स्वस्य आस्वादकर्तृत्वं न स्यादिति भावः। अतः साधारणीकरणं सार्थकमिति तात्पर्यम्।

विभावादीनामपि प्रथमतः साधारणीकरणेन प्रतीतिं प्रतिपादयितुमुपक्रमते— विभावादयोऽपि=भावाः, प्रथमतः = रसबोधात्प्राक्। साधारण्येन = साधारणीकरणव्यापारेण। प्रतीयन्ते = ज्ञायन्ते, इति आह = कथयति। **परस्येति**। तदास्वादे = रसास्वादे विषये, परस्य=अन्यस्य, रामादेर्नायकस्य, न परस्य = न रामादेर्नायकस्य। मम=सामाजिकस्य, न मम, इति विभावादेः, परिच्छेदः = निर्धारणं, सम्बन्धविशेषस्य स्वीकारः परिहारो वेति भावः, न विद्यते ॥ १२ ॥

साधारणीकरण व्यापारसे रति आदियोंकी भी प्रतीति होती है ऐसा प्रतिपादन करते है— **साधारण्येन०**। साधारणीकरण व्यापारसे उसी तरह रति आदिकी भी प्रतीति होती है ॥ ११ ॥

सभ्योंको स्वगत रूपसे रति आदिकी प्रतीति होगी, तो लज्जा और भय आदि उत्पन्न होंगे, परगत रूपसे प्रतीति होगी तो उनको आस्वादकी अनुभूति नहीं होगी अतः साधारणीकरण व्यापारसे ही सभ्योंको रति आदिकी प्रतीति होती है। इसी तरह विभाव आदि भी पहले साधारणीकरणसे प्रतीत होते है यह कहते हैं—**परस्येति**। रसके आस्वादके समयमें विभाव आदिका यह दूसरेका है अथवा दूसरेका नहीं है, मेरा है अथवा मेरा नहीं है, इसप्रकार सम्बन्ध विशेषका स्वीकार वा परिहार नहीं होता है ॥१२॥

ननु तथापि कथमलौकिकत्वमेतेषां विभावादीनामित्युच्यते—

विभावनादिव्यापारमलौकिकमुपेयुषाम् ।
अलौकिकत्वमेतेषां भूषणं न तु दूषणम् ॥ १३ ॥

आदिशब्दादनुभावसञ्चारणे । तत्र विभावनं = रत्यादेर्विशेषेणास्वादाङ्कुरणयोग्यतानयनम । अनुभावनमेवम्भूतस्य रत्यादेः समनन्तरमेव रसादिरूपतया भावनम् । सञ्चारणं=तथाभूतस्यैव तस्य सम्यक् चारणम् ।

विभावादीनां यथासङ्ख्यं कारणकार्य्यसहकारित्वे कथं त्रयाणामपि रसोद्बोधे कारणत्वमित्युच्यते—

विभावादीनामलौकिकत्वं प्रतिपादयितुमुपक्रमते—**नन्विति** । तथाऽपि=साधारणीकरणव्यापारस्वीकरणेऽपि, विभावादीनां कथमलौकिकत्वमिति ।

समाधत्ते—**विभावनादीति** । अलौकिकं = लोके पूर्वमविद्यमानं, विभावनादिव्यापारं = विभावनाऽनुभावनसञ्चारणव्यापारम्, उपेयुषां = प्राप्तवताम्, एषां = विभावाऽनुभावसञ्चारिभावानाम्, अलौकिकत्वं, भूषणम् = अलङ्काररूपम् गुण एव, न तु दूषण = दोषः ॥ १३ ॥

विवृणोति—विभावनादीत्यत्र आदिशब्दात् अनुभावनसचारणे ज्ञातव्ये । तत्र विभावनं=रत्यादेः भावस्य विशेषेण आस्वादाऽङ्कुरणयोग्यताया आनयनम् (प्रापणम्) । एवंभूतस्य = रसत्वेन अङ्कुरणयोग्यताऽऽनीतस्य रत्यादेः, समनतरमेव = अनन्तरसमय एव, रसादिरूपतया = शृङ्गारादिस्वरूपतया, भावन = प्रतिपादनम्, सञ्चारणं=तथाभूतस्य एव = तादृशस्य एव, रसादिरूपतया भावितस्य एवेति भावः । एतस्य=रत्यादेः, सम्यक् चारणं=परिपोषणम् । विभावादीना कारणकार्यसहकारित्वेऽपि रसोद्बोधे समष्टि-

---

तथाऽपि विभाव आदियोकी अलौकिकता कैसे होती है ? इसे प्रतिपादित करते है—**विभावनादीति** । विभावन, अनुभावन और सञ्चारण ऐसे अलौकिक व्यापारको प्राप्त करनेवाले विभावादिकोंका अलौकिकत्व भूषण है दूषण नहीं ॥ १३ ॥

विभावनाऽऽदि० यहाँपर आदि पदसे अनुभावन और सञ्चारणको लेना चाहिए । रति आदि भावोंका आस्वादके अङ्कुरण = सूक्ष्म रूपसे उत्पत्तिके योग्य बनानेको "विभाव" कहते है । तदनन्तर ऐसे रत्यादिको रस आदिके रूपसे प्रतिपादन करनेको "अनुभावन" कहते हैं । तब वैसे रसादिका अच्छी तरहसे चारण अर्थात् परिपोषण करनेको "सञ्चारण" कहते हैं । विभाव, अनुभाव और सञ्चारी भावके यथा क्रम ये तीन व्यापार हैं । क्रमसे विभावकी कारणता, अनुभावकी कार्यता और सञ्चारी भावकी सहकारिता होनेपर भी रसकी अनुभूतिमें इन तीनोंकी कैसे कारणता होती है

कार्य-कारणसञ्चारिरूपा अपि हि लोकतः ।
रसोद्बोधे विभावाद्याः कारणान्येव ते मताः ॥१४॥

ननु तर्हि कथं रसास्वादे तेषामेकः प्रतिभास इत्युच्यते–

प्रतीयमानः प्रथमं प्रत्येकं हेतुरुच्यते ।
ततः संमिलितः सर्वो विभावादिः सचेतसाम् ॥ १५ ॥
प्रपाणकरसन्यायाच्चर्व्यमाणो रसो भवेत् ।

रूपेण कथं कारणत्वमिति समाधत्ते–**कार्यकारणसंचारिरूपा** इति । ते = पूर्वोक्ताः, विभावाद्याः = विभावाऽनुभावसञ्चारिभावाः, लोकतः = लोकव्यवहारात् कार्यकारण-सञ्चारिरूपा अपि, रसोद्बोधे = शृङ्गारादिरसाऽऽविर्भावे, कारणानि एव । अयं भावः, लोकव्यवहारात् यद्यपि विभावा रत्यादेः कारणरूपाः, अनुभावाः कार्यरूपाः; सञ्चारि-भावाः सहकारिरूपा वर्तन्ते तथाऽपि शृङ्गारादिरसाविर्भावे ते सर्वेऽपि विभावाऽनुभाव-सञ्चारिभावाः समष्टिरूपेण कारणरूपा अभिमताः । रसास्वादे विभावादीनां कथमेकत्वेन प्रतीतिरित्युपपादयति **प्रतीयमान इति** । प्रथमं = प्राक्, प्रतीयमानः = ज्ञायमानः, विभावादिः, प्रत्येकं, रत्यादि प्रतिहेतुः = कारणम्, उच्यते = अभिधीयते । ततः = प्रत्येकप्रत्ययाऽनन्तरं, संमिलितः = संवलितः, सर्वः = विभावादिः, प्रपाणकरसन्यायात् = प्रपाणकद्रवसादृश्यात्, चर्व्यमाणः = आस्वाद्यमानः, रसः = शृङ्गारादिः, भवेत् । रसस्य चर्वणास्वरूपत्वेऽपि काल्पनिकभेदमाश्रित्य चर्व्यमाणत्वम् इति ॥ १५ ॥

कारिकां विवृणोति **यथेति** । यथा खण्डमरिचादीनां, खण्डं = शर्कराखण्डं, मरिचादयः = कोलकादयः, प्रपाणकरससाधनपदार्थाः, तेषां सम्मेलनात् = संमिश्रणात्, अपूर्वं इव = उपकरणद्रव्येभ्यो विलक्षण इव, कश्चित् = अनिर्वाच्यः; आस्वादः = आस्वादनं, प्रपाणकरसे = प्रपाणकद्रवे, संजायते = समुत्पद्यते, विभावादिसंमेलनात् = विभावादिसंमिश्रणात्, इह अपि = अत्र अपि, तथा = रसप्रतीतिः ।

अयं भावः । यथा प्रपाणकरसे उपकरणद्रव्याणां खण्डमरिचकर्पूरादीनां संमि-श्रणात्प्राग्विभिन्ना आस्वादाः परं संमिश्रणाऽनन्तरं तेषां समष्ट्या कश्चिदपूर्वं आस्वादः

इस आशङ्काका समाधान करते हैं—**कार्येति** । रसकी अनुभूतिमें अनुभाव, विभाव और सञ्चारी भाव ये तीन लोकमें क्रमके अनुसार कार्य, कारण और सहकारी माने गये हैं तो भी वस्तुतः ये समष्टिरूपमें कारण ही माने गये हैं ॥ १४ ॥

तब कैसे रसके आस्वादमें उन तीनोंका एक रसके रूपमें परिणाम होता है इसका समाधान करते हैं—**प्रतीयमान इति** ।

पहले प्रतीत होनेवाले विभाव आदि प्रत्येक हेतु कहे जाते हैं तब वे सब विभाव

यथा खण्डमरिचादीनां सम्मेलनादपूर्व इव कश्चिदास्वादः प्रपाणकरसे सञ्जायते, विभावादिसम्मेलनादिहापि तथेत्यर्थः।

ननु यदि विभावानुभावव्यभिचारिभिर्मिलितैरेव रसस्तत् कथं तेषामेकस्य द्वयोर्वा सद्भावेऽपि स स्यादित्युच्यते—

सद्भावश्चेद्विभावादेर्द्वयोरेकस्य वा भवेत् ॥ १६ ॥
झटित्यन्यसमाक्षेपे तदा दोषो न विद्यते ।

अन्यसमाक्षेपश्च प्रकरणादिवशात्। यथा—

'दीर्घाक्षं शरदिन्दुकान्तिवदनं बाहू नतावंसयोः

प्रतीयते, तथैव विभावादीनामपि सम्मेलनात्प्राक् तेषां प्रातिस्विकी भिन्ना प्रतीतिः, परं तेषां सम्मेलनाऽनन्तरं रसस्वरूपेणाऽपूर्वः प्रतिभासो भवति ॥ १५ ॥

विभावादीनां द्वयोरेकस्य वा सद्भावे कथं रसप्रतीतिरिति आशङ्क्य समाधत्ते—**सद्भाव इति**। विभावादेः = विभावाऽनुभावव्यभिचारिणां मध्ये, द्वयोः = भावयोः; एकस्य वा = भावस्य, सद्भावः = सत्ता, भवेच्चेत् = स्याद्यदि, तर्हि झटिति=शीघ्रम्, अन्यसमाक्षेपे = अन्यस्य (अप्रतिपादितस्य एकस्य भावस्य) अन्ययोः (अप्रतिपादितयोः द्वयोर्वा भावयोः) समाक्षेपे सति = व्यञ्जनया बोधे सति, तदा = तर्हि, दोषो = दूषणं, न विद्यते = नो वर्तते ॥ १६ ॥

अन्येषां = भावानाम्, आक्षेपश्च = व्यञ्जनया बोधश्च, प्रकरणादिवशात्। अनुभावसञ्चारिभावाक्षेपोदाहरणं प्रतिपादयति—**दीर्घाक्षमिति**।

आदि संमिलित होकर प्रपाणक रसके समान सहृदयोंको आस्वाद्यमान होकर रस हो जाते हैं ॥ १५ ॥

यथेति। जैसे मिश्री, मरीच आदि पदार्थोंको मिलानेसे शर्बतमें उन सम्मिलित पदार्थोंसे भिन्न कोई अपूर्व आस्वाद पैदा होता है उसी तरह विभाव आदियोंके सम्मेलनसे यहां भी विभाव आदिसे विलक्षण रसकी प्रतीति होती है।

आशङ्का करते हैं-**नन्विति**। जब कि संमिलित विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भावसे ही रसकी प्रतीति होती है तो उन विभाव आदिमें एक अथवा दो ही भावोंके रहनेपर भी कैसे रसकी प्रतीति होगी ? इसका समाधान करते हैं—**सद्भाव इति**। विभाव आदिमें एक वा दोके रहनेपर भी झटसे अनुक्त अन्यका आक्षेप करनेमें कोई दोष नहीं होता है ॥ १६ ॥

अनुक्त अन्यका आक्षेप प्रकरण आदिसे होता है।

जैसे कि - मालविकाऽग्निमित्र नाटकमें नृत्यके आरम्भमें राजा अग्निमित्रका किया हुआ मालविकाका रूपवर्णन है। मालविकाका मुखमण्डल दीर्घ नेत्रोंवाला और शरत् ऋतुके चन्द्रकी समान कान्तिसे युक्त है। दोनों बाहु कन्धोंमें झुके हुए है।

सङ्क्षिप्तं निविडोन्नतस्तनमुरः, पार्श्वे प्रमृष्टे इव ।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं, पादावुदग्राऽङ्गुली
छन्दो नर्त्तयितुर्यथैव मनसः सृष्टं तथास्या वपुः ।'

अत्र मालविकामभिलषतोऽग्निमित्रस्य मालविकारूपविभावमात्रवर्णनेऽपि सञ्चारिणामौत्सुक्यादीनामनुभावानाञ्च नयनविस्फारादीनामौचित्यादेवाक्षेपः एवमन्याक्षेपेऽप्यूह्यम् ।

मालविकाग्निमित्रे नृत्यारम्भे अग्निमित्रकृतं मालविकारूपवर्णनम् ।

अस्याः=मालविकायाः, वदनं=मुखमण्डलं, दीर्घाक्ष=दीर्घे अक्षिणी यस्मिस्तत् आयतनयनयुक्तम् । "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्" इति समासान्तः षच् प्रत्ययः, शरदिन्दुकान्ति = शरदिन्दोरिव कान्तिर्यस्य तत्, व्यधिकरणबहुव्रीहिः । शरच्चन्द्रसुन्दरमित्यर्थः । बाहू = भुजौ, असयोः = स्कन्धयोः, नतौ = अवनतौ, उरः = वक्षःस्थलं, संक्षिप्तं=विस्ताररहितं, स्त्रीणामुरसः अविस्तीर्णस्यैव प्रशस्तत्वादिति भावः । निबिडोन्नतस्तन = निबिडौ (घनौ) उन्नतौ (उच्चौ) स्तनौ (पयोधरौ) यस्मिस्तत्, पार्श्वे = बाहुमूलाधोभागौ, प्रसृष्टे इव = परिमार्जिते इव । मध्यः = अवलग्नं, पाणिमितः = करेण परिमातुं शक्यः, कृश इति भावः । जघन = कटिपुरोभागः, नितम्बि= विपुलनितम्बयुक्तं, पादौ = चरणौ, उदग्राऽङ्गुली = उन्नताऽङ्गुलियुक्तौ, नर्तयितुः= नृत्यशिक्षकस्य, गणदासनामकस्येति भावः । मनस. = चित्तस्य, छन्दः = अभिप्रायः, यथा=येन प्रकारेण एव, तथा = तेन प्रकारेण, अस्याः=मालविकायाः, वपुः = शरीरं, सृष्टं=रचितं, विधात्रा इति शेषः । अत्रोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ।

उदाहरणश्लोकं विवृणोति । अत्र = अस्मिन् पद्ये, मालविकां = तदाख्यां कुमारीम्, अभिलषतः = इच्छतः, अग्निमित्रस्य = तन्नामकस्य राज्ञः, मालविकारूपविभावमात्रवर्णनेऽपि = मालविकारूपः (मालविकास्वरूपः) यो विभावः (आलम्बनविभावः) तन्मात्रवर्णनेऽपि, औचित्यात् = वाच्यस्य आलम्बनविभावस्य वैशिष्ट्यात्, सञ्चारिणां = व्यभिचारिभावानाम्, औत्सुक्यादीनाम् = उत्कण्ठाप्रभृतीनाम्, अनुभावानां च, नयनविस्फारादीनां = नेत्रप्रसारादीनां च, आक्षेपः = व्यञ्जनया बोधः । एवम् = अनेनैव प्रकारेण, अन्याक्षेपेऽपि = अन्येषाम् (विभावादीनाम्) आक्षेपेऽपि (व्यञ्जनया

छाती संक्षिप्त, घन और उन्नत स्तनोंसे युक्त है । पार्श्व (बाहुमूलके अधोभाग) परिमार्जितके समान हैं । कमर पतली है जघनस्थल विपुल नितम्बसे युक्त है । चरण ऊँची अङ्गुलियोंसे सुन्दर हैं । नृत्यशिक्षक गणदासके मनकी इच्छाके अनुसार इस (मालविका) के शरीरकी रचना हुई है । इस पद्यमें मालविकामें अभिलाष करनेवाले राजा अग्निमित्रने केवल (आलम्बन) विभाव मालविकाका वर्णन किया है, तथाऽपि औत्सुक्य आदि संचारी भाव और नयनविस्फार आदि अनुभाव इनके औचित्यसे आक्षेप करनेसे रसकी प्रतीति होती है इसीप्रकार अन्य विभाव आदिके आक्षेपमें भी रसकी प्रतीति करनी चाहिए ।

'अनुकार्य्यगतो रसः' इति वदतः प्रत्याह—

पारिमित्याल्लौकिकत्वात्सान्तरायतया तथा ॥ १७ ॥

अनुकार्य्यस्य रत्यादेरुद्बोधो न रसो भवेत् ।

सीतादिदर्शनादिजो रामादिरत्याद्युद्बोधो हि परिमितो लौकिको नाट्यकाव्यदर्शनादेः सान्तरायश्च, तस्मात् कथं रसरूपतामियात् ।

बोधेऽपि) ऊह्यं = कल्पनीयम् । रसस्याऽनुकार्यगतत्वं खण्डयितुमुपक्रमते **अनुकार्यगत इति** । अनुकार्यगत. = अनुकर्तुं योग्यः अनुकार्यः, अनुकरणक्रियायाः कर्मभूतो रामादिनामकः, तद्गतो रसः इति वदतः = प्रतिपादयतः, भट्टलोल्लटादीन्, प्रत्याह = प्रति वदति, दूषयतीति भावः ।

निराकरोति—**पारिमित्यादिति** । पारिमित्यात्=परिमितत्वात्, नायकमात्रगतत्वेनेति शेषः । लौकिकत्वात् = साधारणलोकभवत्वात्, तथा = तेनैव प्रकारेण, साऽन्तरायतया = विघ्नसहितत्वेन चेत्येतद्धेतुत्रयेण ॥ १७ ॥

अनुकार्यस्य=रामादेर्नायकस्य, रत्यादेः = सीताऽऽदिविषयकरत्यादेः, उद्बोधः= आविर्भावस्वरूपः, रसो न भवेत् ।

कारिकार्थं वृत्तौ विवृणोति—**सीतादिदर्शनादिज इति** । अनुकार्यगतो रस इति स्वीकारे सीतादिदर्शनादिजः = सीतादेः (नायिकादेः) दर्शनादिजः (विलोकनाद्युत्पन्नः), रामादिरत्याद्युद्बोधः = रामादेः (नायकादेः) रत्यादेः (रतिप्रभृतेः) उद्बोधः (आविर्भावः), परिमितः (अल्पपरिमाणः) अल्पव्यक्तिनियतत्वादिति भावः । लौकिकः = निर्दिष्टलोकमात्रभवः, एवं च नाट्यकाव्यदर्शनादेः= नाट्ये (नटकर्मणि) काव्ये (श्रव्यकाव्ये) दर्शनादेः (विलोकनश्रवणादेः) साऽन्त-

रस अनुकार्य (अनुकरणीय) राम आदिमे प्रतीत होता है ऐसा माननेवाले भट्टलोल्लट आदिके मतका खण्डन करते है—पारिमित्यात् । परिमित (सीमित) होनेसे वास्तविक लोकमें रहनेसे और विघ्न युक्त होनेसे भी ॥ १७ ॥

अनुकार्य राम आदिमे रति आदिका आविर्भावरूप रस नही हो सकता है ।

सीतादीति । सीता आदिके दर्शन आदिसे उत्पन्न राम आदिको रति आदिका आविर्भाव, परिमित (सीमित) लौकिक होनेसे और नाट्य (दृश्यकाव्य) तथा काव्य (श्रव्य काव्य) में दर्शन और श्रवण आदिसे विघ्नयुक्त भी होता है उस कारणसे कैसे रसरूपको प्राप्त करेगा ? रस तो इन तीन धर्मों (परिमितत्व, लौकिकत्व और साऽन्तरायत्व) से भिन्न धर्मवाला है । अर्थात् रस तो अपरिमित है, केवल राम आदि अनुकार्यमें रहनेवाला नहीं है । रस अलौकिक है अर्थात् निर्दिष्ट लोकमात्रमें रहनेवाला नहीं है । रस निरन्तराय है अर्थात् दृश्यकाव्य (नाटक) और श्रव्य काव्यमें दर्शन और

रसस्यैतद्धर्म्मत्रितयविलक्षणधर्म्मकत्वात् ।

अनुकर्त्तृगतत्वञ्चास्य निरस्यति—

शिक्षाभ्यासादिमात्रेण राघवादेः स्वरूपताम् ॥ १८ ॥

दर्शयन्नर्त्तको नैव रसस्यास्वादको भवेत् ।

किञ्च—

काव्यार्थभावनेनायमपि सभ्यपदास्पदम् ॥ १९ ॥

रायश्च = विघ्नसहितश्च, प्रतिबन्धयुक्तश्चेति भावः । तस्मात् = हेतोः, कथं = केन प्रकारेण, रसरूपतां = रसस्वरूपताम्, इयात् = प्राप्नुयात् । रसस्य = शृङ्गारादेः, एतद्धर्मत्रितयविलक्षणत्वात् = एतत् (पूर्वप्रतिपादितम्) यत् धर्मत्रितयं (धर्मत्रयम्); पारिमित्यं, लौकिकत्वं सान्तरायत्वं चेति भावः, तस्मात् विलक्षणत्वात् (विसदृशत्वात्) । रसः अपरिमितः, अलौकिको निरन्तरायश्चेति न अनुकार्यगत इति भावः ।

रसस्याऽनुकर्तृगतत्वं निरसितुं प्रक्रमते—**अनुकर्तृगतत्वमिति** । अस्य = रसस्य, अनुकर्तृगतत्वम् = अनुकरोतीति अनुकर्ता, नट इत्यर्थः, तद्गतत्व = तन्निष्ठत्व, निरस्यति = निराकरोति । रसो नटगतः, रसस्यास्वादं नटः करोतीति श्रीशङ्कुकादीनां मतम् । रसस्य नटनिष्ठत्वं खण्डयति—**शिक्षाऽभ्यासाऽऽदिमात्रेणेति** । शिक्षाऽभ्यासादिमात्रेण = गुरुत उपदेशग्रहणं शिक्षा, तत्परिशीलनम् = अभ्यासः, तदादिमात्रेण, राघवाऽऽदेः = श्रीरामादेः, सरूपताम्=अनुकरणेन समानरूपतां, दर्शयन्= प्रदर्शयन्, नर्तकः = नटः, अनुकर्तेति भावः, रसस्य = शृङ्गारादेः, आस्वादकः = अनुभविता, नैव भवेत् ॥ १८ ॥

कुत्रचिदनुकर्तुरपि रसास्वादकत्वं प्रतिपादयति—**काव्याऽर्थभावनेनेति** । अयमपि=नटोऽपि, काव्याऽर्थभावनेन = काव्यस्य (दृश्यकाव्यस्य) अर्थभावनेन (अर्थपर्यालोचनेन), सभ्यपदाऽऽस्पद = सामाजिकस्थानापन्नः, रसास्वादकः इति भावः । भवेदिति शेषः । एतावता प्रायेण सभ्यनिष्ठ एव रस इति प्रतिपादितं भवति ॥ १९ ॥

श्रवणमात्रसे साऽन्तराय (विघ्नवाला) नहीं है । इस कारणसे रस राम आदि अनुकार्यमें स्थित नहीं हैं वह सभ्यगत होता है यह भाव है ।

अब रस अनुकर्ता (नट) में रहता है श्रीशङ्कु आदिसे अभिमत इस बातका खण्डन करते हैं—**शिक्षेति** । शिक्षा और अभ्यास आदिमात्रसे रामचन्द्र आदिके रूपका अभिनय करनेवाला नर्तक (नट) रसका आस्वादक नहीं होता है ॥ १८ ॥

काव्याऽर्थेति । काव्यके अर्थकी भावनासे यह (नट) भी सभ्यपदको प्राप्त कर सकता है, (रसका आस्वादक हो सकता है) ॥ १९ ॥

यदि पुनर्नटोऽपि काव्यार्थभावनया रामादिस्वरूपतामात्मनो दर्शयेत् तदा सोऽपि सभ्यमध्य एव गण्यते।

नायं ज्ञाप्यः स्वसत्तायां प्रतीत्यव्यभिचारतः।

यो हि ज्ञाप्यो घटादिः स सन्नपि कदाचिदज्ञातो भवति, न ह्ययं तथा; प्रतीतिमन्तरेणाभावात्।

यस्मादेष विभावादिसमूहालम्बनात्मकः॥ २०॥

रसस्य स्वप्रकाशत्वं ज्ञापयितुं ज्ञानान्तरग्राह्यत्वं निराकरोति—**नाऽयमिति**। अयं=रसः न ज्ञाप्यः=न स्वभिन्नप्रत्यक्षविषयः, स्वसत्तायाम्=आत्मसद्भावे, प्रतीत्यव्यभिचारतः=प्रतीतौ (सभ्यानां ज्ञाने) अव्यभिचारतः (व्यभिचाराऽभावात्), साक्षात्कारं विना असत्त्वात्, रसस्तु साक्षात्कारदशायामेव आविर्भवति। अन्यदा तु रत्यादिरेव, घटादिस्त्वसाक्षात्कारदशायामपि घटादिस्ततस्तद्वैलक्षण्यम्। अतोऽयं ज्ञाप्यो नेति भावः॥ २०॥

वृत्तौ विवृणोति—**योऽयमिति**। योऽयं ज्ञाप्यो घटादिः सः सन्नपि=भवन्नपि, कदाचित् अज्ञातो भवति, प्रकाशाऽभावे इति भावः। घटादेर्ज्ञाप्यत्वात् (ज्ञानविषयत्वात्), अन्धकारादिना तस्य ज्ञानाऽभावेऽपि तस्य सत्तायां न व्यभिचारः। रसस्तु न तथा, प्रतीतिं=ज्ञानम्, अन्तरेण=विना, अभावात् साक्षात्कारे एव तस्य रसत्वं, तदभावे तु स रत्यादिरूपत्वेन अवतिष्ठते, अतस्तस्य स्वप्रकाशत्वं सिध्यति इति भावः।

रसस्य कार्यत्वं निराकरोति—**यस्मादेष इति**। यस्मात्=कारणात्, एषः=रसः, विभावाऽऽदिसमूहाऽऽलम्बनात्मकः=विभावाऽनुभावसञ्चारिभावसमूहाऽऽलम्बनज्ञानस्वरूपः॥ २०॥

नट भी काव्याऽर्थकी भावनासे राम आदिकी स्वरूपताको दिखालाएगा तो वह भी सभ्यके मध्यमें परिगणित होता है। रसकी स्वप्रकाशता ज्ञापित करनेके लिए अन्य ज्ञानसे उसकी ग्राह्यताका खण्डन करते हैं-**नाऽयमिति**। यह रस ज्ञाप्य नहीं है, क्योंकि अपनी सत्ता (अस्तित्व) में सामाजिकोंकी प्रतीतिमें व्यभिचारवाला नहीं होता है।

विवरण करते हैं—**यो हीति**। जो घट आदि ज्ञाप्य (दीप आदिसे प्रकाशनीय) होता है, वह कभी कभी विद्यमान होकर भी (अन्धकार आदिके कारण) प्रतीत (ज्ञात) नही होता है। यह रस ऐसा नहीं है क्योंकि प्रतीतिके विना इसकी सत्ता ही नहीं रहती है। रसके कार्यत्वका खण्डन करने हैं—**यस्मादिति**। जिस कारणसे यह रस विभाव, अनुभाव, सञ्चारी भाव और रत्यादि स्थायी भाव इन सबका समूहालम्बनात्मक है अतः वह कार्य नही है॥ २०॥

तस्मान्न कार्यः—

यदि रसः कार्यः स्यात्तदा विभावादिज्ञानकारणक एव स्यात्। ततश्च रसप्रतीतिकाले विभावादयो न प्रतीयेरन्, कारणज्ञानतत्कार्य्यज्ञानादीनां युगपददर्शनात्। नहि चन्दनस्पर्शज्ञानं तज्जन्यसुखज्ञानञ्चैकदा सम्भवति। रसस्य च विभावादिसमूहालम्बनात्मकतयैव प्रतीतेर्न विभावादिज्ञानकारणकत्वमित्यभिप्रायः।

तस्मात् कार्यो न = कार्यस्वरूपो न, विभावादिज्ञानजन्यो नेति भावः। ध्वंसे सत्यपि प्रागभावो यथा जन्यो न तथैव रसोऽपि, स जन्यो नेति भावः।

वृत्तौ विवृणोति **यदीति**। यदि रसः कार्यः = जन्यः स्यात्, तदा = तर्हि, विभावादिज्ञानकारणकः = विभावादिज्ञान कारणं (जनकम्) यस्य सः, एतादृशः स्यात्। विभावादिज्ञानानन्तरमेव रस उत्पद्येतेति भावः। ततश्च=कारणात्, रसप्रतीतिकाले=रसज्ञानसमये, विभावादयः=विभावाऽनुभावसचारिणः, न प्रतीयेरन् = प्रतीतिविषया न स्युः। अत्र हेतुमुपपादयति—**कारणज्ञानेति**। कारणज्ञान-तत्कार्यज्ञानादीना, युगपददर्शनात् = समकालोत्पत्त्यदर्शनात्। अत्र दृष्टान्त प्रदर्शयति—**न हीति**। चन्दनस्पर्शज्ञान=सुखकारणभूतश्रीखण्डामर्शनज्ञान, तज्जन्य (कार्यं) सुखज्ञान च = चन्दनस्पर्शजन्यसुखज्ञान च, एकदा = एककालाऽवच्छेदेन, न सम्भवति।

अयं भावः—सुखकारणचन्दनस्पर्शज्ञान तज्जन्यसुखज्ञानं च यौगपद्येन न सम्भवति। कार्यनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम्, प्रागभावप्रतियोगित्वं कार्यत्वमिति नियमेन कार्यकारणयोरेककालाऽवच्छेदेन प्रतीतिर्न भवति।

फलितमाह—प्रकृते रसस्य = शृङ्गारादेः, विभावादिसमूहालम्बनात्मकतया एव=विभावाऽनुभावसञ्चारिभावसमूहालम्बनात्मकतया एव, प्रतीतेः = ज्ञानात्, अत्र एवकारात् समूहालम्बनजन्यत्वव्यवच्छेदः। अतो रसस्य न विभावादिज्ञानकारणकत्व = विभावादिज्ञान कारणं यस्य, तस्य भावः। ततश्च अप्राप्यकारणान्तरस्य रसस्य न कार्यत्वमिति भावः।

विवरण करते है-**यदीति**। रस कार्य होता तो उसका कारण विभाव आदिका ज्ञान होता। तब तो रस (कार्य) की प्रतीतिके कालमें कारण विभाव आदि प्रतीत न होते क्योंकि कारणका ज्ञान और उसके कार्यका ज्ञान एक ही समयमें नहीं देखे जाते है। जैसे कि चन्दनस्पर्श (कारण) का ज्ञान और तज्जन्य (कार्य) सुखका ज्ञान एक ही समयमे संभव नहीं है। विभाव आदि समूहालम्बनात्मक होकर ही रसकी प्रतीति होनेसे, विभावादि ज्ञान रसका कारण नही है। अतः रस कार्य नही है यह अभिप्राय है। रसकी

—नो नित्यः पूर्वसंवेदनोज्झितः ।
असंवेदनकाले हि न भावोऽप्यस्य विद्यते ॥ २१ ॥
न खलु नित्यवस्तुनोऽसंवेदनकालेऽसम्भवः ।
नापि भविष्यन् साक्षादानन्दमयप्रकाशरूपत्वात् ।
कार्यज्ञाप्यविलक्षणभावान्नो वर्त्तमानोऽपि ॥ २२ ॥

रसस्य कार्यत्वाऽभावं ससाध्य नित्यत्वभावं प्रतिपादयति—**नो नित्य इति ।** एष इति पदमनुवर्तते । एषः = रस, पूर्वसंवेदनोज्झितः = पूर्वसंवेदनात् (विभावादि- ज्ञानाद्यत्पूर्वज्ञान, तस्मात्) उज्झितः (त्यक्तः), नो नित्यः = न प्रागभावाप्रतियोगी । यदि रसो नित्यः स्यात्तर्हि विभावादिज्ञानात्प्रागपि ज्ञायेतेति भाव. । हेत्वन्तरमुप- पादयति—**असंवेदनकाल इति ।** अस्य = रसस्य, असंवेदनकालेऽपि = अप्रतीति- समयेऽपि, भावः = अस्तित्व, न विद्यते = नो वर्तते । तस्मान्नो नित्य. ॥ २१ ॥

वृत्तौ विवृणोति—**न खल्विति ।** नित्यस्य, वस्तुनः = पदार्थस्य, असंवेदन- काले = अप्रतीतिसमये, न असभवः = सभवः एव, अस्तित्वमेवेति भावः । रसस्य तु न तथात्वमतोऽनित्यत्वमिति भावः ॥ २१ ॥

रसस्य भविष्यत्त्व निरस्यति—**नाऽपीति ।** साक्षात्=प्रत्यक्षत: नाट्यकाव्या- स्वादकाल एव, आनन्दमयप्रकाशरूपत्वात् = सुखमयप्रकाशस्वरूपत्वात्. भविष्यन् अपि= भावी अपि, न । साक्षादनुभूयमानस्य रसस्य कथं भविष्यत्त्वमिति भाव. ।

रसस्य वर्त्तमानत्व प्रतिषेधति -**कार्येति ।** अयं रसः, कार्यज्ञाप्यविलक्षण- भावात् = कार्य, (जन्यम्) ज्ञाप्य (ज्ञानविषयीभूतं) वस्तु ताभ्या विलक्षणभावात् (वैसादृश्यात), नो वर्तमानोऽपि = नो वर्तमानकालविषयोऽपि । अयं भावः । कश्चित, पदार्थो घटादि. कार्य· = जन्य·, ज्ञाप्यश्च कश्चिच्च आकाशादिरूपो ज्ञाप्यः, ज्ञानविषयी-

नित्यताका खण्डन करते है--**नो नित्य इति ।** रस नित्य भी नहीं है क्योंकि विभाव आदि ज्ञानसे पूर्व उसका संवेदन (ज्ञान) नहीं होता है । अर्थात् रस यदि नित्य होता तो विभावादि ज्ञानसे पहले भी उसका ज्ञान होता अत: वह नित्य नहीं है । अज्ञान काल- मे उसकी सत्ता नहीं रहती है ॥ २१ ॥

नित्य वस्तु आकाश आदिका अज्ञान कालमें असंभव नहीं संभव ही है, रस ज्ञानकालमें ही रहता है, अज्ञान कालमें नहीं; अतः वह नित्य नहीं है । प्रत्यक्षतः आनन्दमय और प्रकाशस्वरूप होनेसे रस भविष्यत् कालमें होनेवाला भी नहीं है । संसारमें पदार्थके दो भेद होते हैं, कार्य और ज्ञाप्य, जन्य पदार्थको कार्य कहते हैं, जैसे घट आदि । ज्ञाप्य अर्थात ज्ञानका विषयीभूत अर्थात् आकाश आदि, उनको ज्ञाप्य कहते हैं । परन्तु रस न कार्य है न ज्ञाप्य ही है इसलिए वह वर्तमान पदार्थ भी नहीं है । पहले ही

विभावादिपरामर्शविषयत्वात् सचेतसाम् ।
परानन्दमयत्वेन संवेद्यत्वादपि स्फुट ॥ २३ ॥
न निर्विकल्पकं ज्ञान तस्य ग्राहकमिष्यते ।
तथाऽभिलाषसंसर्गयोग्यत्वविरहान्न सः ॥ २४ ॥

भूतः एव न जन्योऽपि, ताभ्यां विलक्षणत्वात् अयं रसो वर्तमानोऽपि न । रसस्य कार्यत्वं ज्ञाप्यत्वं च प्रथममेव प्रत्याख्यातम् । कालप्रसङ्गतोऽत्राऽपि प्रतिपादितम् ॥ २२ ॥

रसस्य निर्विकल्पकज्ञानविषयत्वं निराकरोति—**विभावादीति** । सचेतसां = सहृदयानां, विभावादिपरामर्शविषयत्वात् = विभावादीनां (विभावाऽनुभावसञ्चारिभावानाम्) परामर्शविषयत्वात् (विवेचनविषयत्वात्) । परानन्दमयत्वेन=परमानन्दस्वरूपत्वेन, संवेद्यत्वात् अपि = ज्ञानविषयत्वात् अपि हेतोः, स्फुटं=व्यक्तम् ॥ २३ ॥

निर्विकल्पकं ज्ञानं = निष्प्रकारकं ज्ञानं, तस्य = रसस्य, ग्राहकं=ज्ञापकं, न इष्यते = न अभिलष्यते, निर्विकल्पकज्ञानेन रसो नाऽनुभूयत इति भावः । अयं भावः, ज्ञानं द्विविधं निर्विकल्पकं सविकल्पकं च । तत्र निष्प्रकारकं ज्ञानं निर्विकल्पकम् । तदुक्तं भाषापरिच्छेदे—"प्रकारताऽऽदिशून्यं हि सम्बन्धाऽनवगाहि तत् ।" इति । प्रकारताविशेष्यतासंसर्गतेतित्रिविधविषयतारहितं सम्बन्धाऽनवगाहि ज्ञानं निर्विकल्पकमिति भावः । रसे विभावादय आनन्दमयत्वं च प्रकारतया भासन्ते, अतः स न निर्विकल्पकज्ञानविषय इति तात्पर्यम् ।

सप्रकारकं ज्ञानं सविकल्पकम् । रसो निर्विकल्पकज्ञानसंवेद्यो न स्यात्तर्हि सविकल्पकज्ञानसंवेद्यः स्यादित्यत्राह—**तथेति** । तथा = तेन प्रकारेण अभिलाषसंसर्गयोग्यत्वविरहात् = अभिलाषः (शब्दः), तस्य संसर्गः (सम्बन्धः) तद्योग्यताविरहात्

इस बातको प्रतिपादित कर चुके हैं । कालके प्रसङ्गसे यहां भी प्रतिपादन किया गया है ॥ २२ ॥

रस निर्विकल्पक ज्ञानका विषय नहीं है इसको सिद्ध करते हैं—**विभावादिति ।** निष्प्रकारक (विशेषणताशून्य) ज्ञानको 'निर्विकल्पक" कहते हैं, परन्तु सहृदयोंको विभाव आदिका परामर्श (विशिष्टवैशिष्ट्यावगाही ज्ञान) विषय होनेसे और परम आनन्दमय होकर ज्ञानका विषय होनेसे भी निर्विकल्पक ज्ञानसे भी रसकी प्रतीति नहीं होती है ॥ २३ ॥

रस सविकल्पक ज्ञानका भी विषय नहीं है इसे प्रमाणित करते हैं—**तथेति ।** उसी तरह शब्दप्रयोगकी योग्यता न होनेसे घट पट आदि पदार्थोंके समान रस सविकल्पक ज्ञानसे भी नहीं जाना जा सकता ॥ २४ ॥

सविकल्पकसंवेद्यः—

सविकल्पकज्ञानसंवेद्यानां हि वचनप्रयोगयोग्यता, न तु रसस्य तथा।

—साक्षात्कारतया न च।

परोक्षस्तत्प्रकाशो नापरोक्षः शब्दसंभवात्॥ २५॥

तत्कथय कीदृगस्य तत्त्वमश्रुताऽदृष्टपूर्वनिरूपणप्रकारस्येत्याह—

तस्मादलौकिकः सत्यं वेद्यः सहृदयैरयम्।

(शब्दसम्बन्धयोग्यताभावात्) न सविकल्पकसंवेद्यः = रसो न सविकल्पज्ञानज्ञेयः। व्यङ्ग्यत्वेन शब्दसम्बन्धयोग्यताया अभावेन रसो न सविकल्पकज्ञानेन बोध्यो भवतीति भावः॥ २४॥

वृत्तौ विवृणोति—**सविकल्पकेति**। सविकल्पकज्ञानसंवेद्यानां = सविकल्पकज्ञानज्ञेयानां विषयाणां, वचनप्रयोगयोग्यता=शब्दप्रयोगयोग्यता, न तु रसस्य=शृङ्गारादेः, तथा = शब्दप्रयोगयोग्यता, व्यङ्ग्यत्वादिति भावः।

रसस्य परोक्षत्वं निषेधति—**साक्षात्कारतयेति**। साक्षात्कारतया = प्रत्यक्षात्मकतया, रसः, न च परोक्षः = न च प्रत्यक्षभिन्नः, अतीन्द्रिय इतिभावः, अनुभवविषयत्वेन रसो न परोक्ष इति भावः।

रसस्य प्रत्यक्षत्वं प्रतिषेधति—**तत्प्रकाश इति**। शब्दसंभवात् = काव्यनिष्ठशब्दोत्पत्तेः, न अपरोक्षः = न प्रत्यक्षात्मक इति भावः॥ २५॥

रसतत्त्वं प्रतिपादयितुमुपक्रमते—**तत्कथयेति**। तत् = तस्मात्कारणात्, रसे ज्ञाप्यत्वादिधर्माणां प्रतिषेधात्, अश्रुताऽदृष्टपूर्वनिरूपणप्रकारस्य=अनाकर्णिताऽनवलोकितपूर्वप्रतिपादनधर्मस्य, अस्य = रसस्य, तत्त्वं = स्वरूपं, कीदृक् = कीदृशं, कथय=ब्रूहि, इति = जिज्ञासायाम्, आह = प्रतिपादयति। **तस्मादिति**। तस्मात् = कारणात्; सहृदयैः = दयालुभिः, अयं = रसः, सत्यम्, अलौकिकः = लौकिकेतरः, वेद्यः=ज्ञेयः।

सविकल्पक ज्ञानसे ज्ञेय पदार्थमें वचनप्रयोगकी योग्यता होती है परन्तु रस वैसा (वचनप्रयोगका योग्य) नहीं।

साक्षात्कार होनेसे रस परोक्ष भी नहीं है। शब्दसे उत्पन्न होनेसे रस अपरोक्ष (प्रत्यक्ष) भी नहीं है॥ २५॥

रसका निरूपण प्रकार न सुना गया न देखा गया है तब फिर इसका तत्त्व कैसा है?

इस कारणसे रस अलौकिक है और सहृदय जनोंसे ही जाना जा सकता है।

तत्किं पुनः प्रमाणं तस्य सद्भाव इत्याह—

प्रमाणं चर्वणैवात्र स्वाभिन्ने विदुषां मतम् ॥ २६ ॥

चर्वणा आस्वादनम्। तच्च 'स्वादः काव्यार्थसंभेदादात्मानन्दसमुद्भवः' इत्युक्तप्रकारम्।

ननु यदि रसो न कार्यस्तत्कथं महर्षिणा 'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति लक्षणं कृतमित्युच्यते—

निष्पत्त्या चर्वणस्यास्य निष्पत्तिरुपचारतः।

तत्र प्रमाणं प्रतिपादयितुमुपक्रमते—**तदिति।** तत् = तस्मात्कारणात्, तस्य = रसस्य, सद्भावे = अस्तित्वे, किं, प्रमाणं = प्रमाजनकम्, इति = जिज्ञासायाम्, आह = ब्रूते—**प्रमाणमिति।** स्वाऽभिन्ने = चर्वणाऽभिन्ने, चर्वणस्वरूपे, अत्र = रसे, चर्वणा एव = आस्वादनम् एव, प्रमाणं = प्रमाकरणं, मतम् = अभिमतम् ॥ २६ ॥

वृत्तौ विवृणोति—**चर्वणेति।** चर्वणा = आस्वादनं, तच्च = आस्वादनं च, काव्याऽर्थसंभेदात् = काव्याऽभिधेयज्ञानात्, आत्माऽऽनन्दसमुद्भवः = रसाऽऽनन्दसमुद्भूतः, स्वादः = आस्वादनम्, इत्युक्तप्रकारम् = इत्युक्तलक्षणम्।

रसस्य कार्यत्वाऽभाव आशङ्कते—**नन्विति।** कथं = केन प्रकारेण, महर्षिणा = भरतेन। विभावाऽनुभावव्यभिचारिसंयोगात् = विभावादीनां सम्मेलनात्, रसस्य, निष्पत्तिः = उत्पत्तिः। निष्पत्तिपदेन रसस्य जन्यत्वं सूच्यते तत्कथं तस्य कार्यत्वाऽभाव इति प्रश्नस्याकूतम्।

समाधत्ते—**निष्पत्त्येति।** चर्वणस्य = काव्याऽर्थभावनेन आस्वादनस्य, निष्पत्त्या = उत्पत्त्या, उपचारात् = रसचर्वणयोरभेदारोपात्, अस्य = रसस्य, निष्पत्तिः = उत्पत्तिः। अतो रसस्य कार्यत्वं नेति भावः।

तत्किमिति—रसके अस्तित्वमें क्या प्रमाण है ? सो कहते हैं—

प्रमाणमिति। चर्वणासे अभिन्न इस (रसमें) प्रमाण चर्वणा ही विद्वानोंसे माना गया है ॥ २६ ॥

आस्वादनको "चर्वणा" कहते है। वह "काव्यार्थके ज्ञानसे रसके आनन्दसे उत्पन्न स्वादको "आस्वादन (चर्वणा)" कहते हैं ऐसा लक्षण जानना चाहिए।

ननु यदीति। रस कार्य नहीं है तो महर्षि भरतने 'विभाव अनुभाव और व्यभिचारी भावोंके संयोगसे रसकी उत्पत्ति होती है" ऐसा लक्षण कैसे किया ? ऐसी आशङ्काका उत्तर देते है—**निष्पत्त्या इति।** रसके आस्वादकी उत्पत्तिसे रसकी उत्पत्ति

यद्यपि रसाभिन्नतया चर्वणस्यापि न कार्यत्वं, तथापि तस्य कादाचित्कतया उपचरितेन कार्यत्वेन कार्यत्वमुपचर्यते ।

अवाच्यत्वादिकं तस्य वक्ष्ये व्यञ्जनरूपणे ॥ २७ ॥

तस्य रसस्य । आदिशब्दादलक्ष्यत्वादि ।

ननु यदि मिलिता रत्यादयो रसास्तत्कथमस्य स्वप्रकाशत्वं कथं वाऽखण्डत्वमित्याह—

रत्यादिज्ञानतादात्म्यादेव यस्माद्रसो भवेत् ।

रसचर्वणयोरभिन्नत्वेन कथ चर्वणस्य निष्पत्तिरित्याशङ्क्य परिहरति—**यद्यपीति** । यद्यपि रसाभिन्नतया, चर्वणस्य, अपि = आस्वादनस्य अपि, कार्यत्व न = जन्यत्व न, तथाऽपि=चर्वणस्य कार्यत्वाऽभावेऽपि, तस्य = चर्वणस्य, कादाचित्कतया = आविर्भावतिरोभाववशेन कदाचिद्भावत्वेन, उपचरितेन = लक्षणया प्रतीतेन, कार्यत्वेन= जन्यत्वेन । कार्यत्वं=जन्यत्वम्, उपचर्यते=आरोप्यते ।

रसस्य अवाच्यत्वादिकं प्रतिजानीते-**अवाच्यत्वादिकमिति** । तस्य=रसस्य, अवाच्यत्वादिकम्=अवचनीयत्वादिकम्, आदिशब्दादलक्ष्यत्वादि, व्यञ्जनरूपणे=व्यञ्जनानिरूपणे, पञ्चमपरिच्छेद इति भावः । वक्ष्ये=कथयिष्यामि ॥ २७ ॥

रसस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च आशङ्कते—**नन्विति** । ननु मिलिताः = विभावाऽनुभावसञ्चारिभावैः संमिलिताः, रत्यादयः = स्थायिभावाः, रसा यदि = शृङ्गारादयश्चेत्, तत् = तर्हि, अस्य = रसस्य, कथं = केन प्रकारेण, स्वप्रकाशत्वं "सत्त्वोद्रेकादखण्डस्य प्रकाशानन्दचिन्मयः" इत्युक्तप्रकारेण स्वप्रकाशत्वमखण्डत्व च ? इत्याशङ्क्य समाधत्ते—**रत्यादिज्ञानेति** । यस्मात्=कारणात्, रत्यादिज्ञानतादात्म्यात् एव=रत्यादिज्ञानस्य तादात्म्यात् (ऐक्यात्) ज्ञानरूपतया परिणामादेवेत्यर्थः । रसः

उपचारसे कही गई है । **यद्यपीति** । यद्यपि रससे भिन्न न होनेसे चर्वण (आस्वादन) भी कार्य नहीं है, तो भी वह आस्वादन कभी होता है और कभी नहीं भी होता है इसलिए उसके उपचरित कार्यत्वसे उसके कार्यत्वका उपचार किया जाता है । गौणवृत्तिसे रसमें कार्यत्व माना जाता है यह तात्पर्य है ।

अवाच्यत्वादिकमिति । रसका अवाच्यत्व और अलक्ष्यत्व आदि व्यञ्जनाके निरूपण (पञ्चम परिच्छेद) में कहूँगा ॥ २७ ॥

नन्विति । आशङ्का करते हैं—मिले हुए रति (स्थायिभाव) और विभाव आदि यदि रस होते है तो रसका स्वप्रकाशत्व और अखण्डत्व कैसे होगा ?

समाधान कहते हैं-**रत्यादीति** । रति आदि ज्ञानिके तादात्म्य (ऐक्य)से रस

ततोऽस्य स्वप्रकाशत्वमखण्डत्वं च सिध्यति ।। २८ ।।

यदि रत्यादिकं प्रकाशशरीरादतिरिक्तं स्यात्तदैवास्य स्वप्रकाशत्वं न सिध्येत्, न च तथा, तादात्म्याङ्गीकारात्। यदुक्तम्—'यद्यपि रसानन्यतया चर्वणापि न कार्या, तथापि कादाचित्कतया कार्यत्वमुपकल्प्य तदेकात्मन्यनादिवासनापरिणतिरूपे रत्यादिभावेऽपि व्यवहार इति भावः'' इति। 'सुखादितादात्म्याङ्गीकारे चास्माकीं सिद्धान्तशय्यामधिशय्य दिव्यं वर्षसहस्रं

भवेत्। अतः=अस्मात् कारणात्, अस्य=रसस्य स्वप्रकाशत्वम् अखण्डत्वं च सिद्ध्यति पूर्वाऽभिहितरीत्येति भावः ।। २८ ।।

वृत्तौ विवृणोति। रत्यादिकं=रतिविभावादिभावसमूहः, प्रकाशशरीरात्=ज्ञानस्वरूपात्, अतिरिक्तं=भिन्नं, स्यात् यदि=भवेच्चेत्, तदा एव = तर्हि एव, अस्य=रसस्य, स्वप्रकाशत्वं=स्वतः प्रकाशमानत्वम्, न सिद्ध्येत्=नो निष्पद्येत, न च तथा = रत्यादिकं प्रकाशशरीरात् अतिरिक्तं न, तादात्म्याऽङ्गीकारात्=रत्यादितज्ज्ञानयोरैक्याऽभ्युपगमात्।

अत्राऽर्थे अभियुक्ताऽभिमतमाह—यद्यपि रसाऽनन्यतया = रसात् अभिन्नत्वेन, चर्वणा = आस्वादनं, न कार्या = न कार्यरूपा, न जन्येति भावः, तथाऽपि, कादाचित्कतया= कदाचिद्भवत्वेन, कार्यत्वं = कार्यरूपत्वम्, उपकल्प्य = आरोप्य, चर्वणामिति शेषः, तदेकात्मनि = चर्वणैकस्वरूपे, अनादिवासनायाः = चिरन्तनसंस्कारविशेषस्य; परिणतिरूपे = परिणामस्वरूपे, रत्यादिभावेऽपि = रत्यादिस्थायिभावेऽपि, व्यवहारः=लक्षणया विभावादिकार्यत्वेन चर्वणाया व्यवहार इति भावः। सुखादितादात्म्याङ्गीकारे=रसस्य सुखचैतन्यचमत्काराऽभेदस्वीकारे, आस्माकिनीम्=अस्मदीयाम्, अलङ्कारशास्त्रसम्बन्धिनीमिति भावः। सिद्धान्तशय्यां = रस आनन्दमयः चिन्मयश्चमत्कारमयश्च इत्याकारकः, सिद्धान्तः = राद्धान्त एव, शय्या = विश्रामस्थानं, तत् अधिशय्य = आश्रित्य; दिव्यं = दिविभवं, वर्षसहस्रं = हायनसहस्रं, "मासेन स्याद-

होता है अतः रसका स्वप्रकाशत्व और अखण्डत्व सिद्ध होता है ।। २८ ।।

यदीति। रति आदि प्रकाश (ज्ञान) स्वरूपसे अतिरिक्त होगा तो उसका स्वप्रकाशत्व अखण्डत्व सिद्ध नहीं होगा। परन्तु ऐसा नहीं, रत्यादि ज्ञानका तादात्म्य स्वीकार किया गया है। जो कि कहा गया है—"यद्यपि रससे भिन्न न होनेसे उसकी चर्वणा (आस्वादन) भी कार्य नहीं है, तथापि वह चर्वणा (आस्वादन) कभी होती है कभी नहीं होती है इसलिए उसके कार्यत्वकी कल्पना करके उस चर्वणासे एकात्मा (एकरूप) और अनादि वासनाके परिणामस्वरूप रत्यादि भावमें भी कार्यका औपचारिक व्यवहार किया गया है। यह भाव है। **सुखादीति**। रसके सुख, चैतन्य और चमत्कारके साथ तादात्म्य (अभेद) के अङ्गीकारमें हमारी सिद्धान्त शय्यामें सोकर देवताओंके एक हजार वर्षों तक आप सुखनिद्राको प्राप्त करें।

प्रमोदनिद्रामुपेयाः' इति च। 'अभिन्नोऽपि स प्रमात्रा वासनोपनीतरत्यादि-तादात्म्येन गोचरीकृतः' इति च। ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमनङ्गीकुर्वतामुपरि वेदान्तिभिरेव पातनीयो दण्डः। तादात्म्यादेवास्याखण्डत्वम्।

रत्यादयो हि प्रथममेकैकशः प्रतीयमानाः सर्वेऽप्येकीभूताः स्फुरन्त एव रसतामापद्यन्ते।

तदुक्तम्--

'विभावा अनुभावाश्च सात्त्विका व्यभिचारिणः।

होऽगात्रः पंत्रो वर्षेण दैवतः।" इत्युक्तसमयपरिच्छिन्नं, प्रमोदनिद्राम्, हर्षनिद्राम्, उपेयाः= प्राप्नुहि। अभिन्नोऽपि = भेदरहितोऽपि, स्वस्मादिति शेषः = सः = रसः, प्रमात्रा = सामाजिकेन, वासनोपनीतरत्यादितादात्म्येन = वासनया (संस्कारविशेषेण), उपनीतः (काव्यानुभवसमये उपस्थापितः), यो रत्यादिः, तस्य, तादात्म्येन (अभेदेन) गोचरीकृतः = विषयीकृतः।

ननु ज्ञानस्याऽनुव्यवसायेनैव ग्रहो भवति, कथं ज्ञानरूपस्य रसस्य स्वप्रकाशत्वमिति वदतो नैयायिकानाक्षिपति—**ज्ञानस्येति**। ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वम्, अनङ्गीकुर्वताम् = अस्वीकुर्वताम्, उपरि, वेदान्तिभिरेव = अद्वैतवादिभिरेव, दण्डः पातनीयः। नैयायिकानां मते अनुव्यवसायेनैव ज्ञानं भवति, तथाहि अयं घट इति प्रत्यक्षानन्तरं, घटमहं जानामीत्यनुव्यवसायेनैव घटज्ञानं भवति अतः कथं ज्ञानस्य स्वप्रकाशत्वमिति। वेदान्तिनस्तन्मतं नो मन्यन्ते। ज्ञानस्य अनुव्यवसायेन ज्ञानं भवति चेत् अनुव्यवसायस्याऽपि तृतीयेन ज्ञानेन, एवं तस्याऽप्यपरेणैवेति अप्रामाणिकाऽनन्तरूपा कल्पना अनवस्थाऽपरपर्याया आपतेदतः ज्ञानस्य स्वतः प्रकाशत्वमङ्गीकर्तव्यमिति भावः।

तादात्म्यात्, ज्ञानस्य=अभेदात् एव, अस्य = रसस्य, अखण्डत्वम्। रत्यादयः= भावाः प्रथमं=प्राक्, एकैकशः = एकैकत्वेन, प्रतीयमानाः = ज्ञायमानाः, सर्वेऽपि = सकला अपि, एकीभूताः = एकरूपतामापन्नाः, स्फुरन्त एव = चिद्भावं प्राप्नुवन्त एव, रसतां = रसभावम्, आपद्यन्ते = प्राप्नुवन्ति। तदुक्तम्। तत्र शिष्टसम्मतिं प्रदर्शयति— **विभावा इति**। विभावा अनुभावाः सात्त्विकाः व्यभिचारिणश्च भावाः, प्रथमं = प्राक्,

---

वह रस आत्मस्वरूपसे अभिन्न होकर भी सामाजिकसे वासना (संस्कारविशेष)-से उपस्थापित रत्यादिके तादात्म्य (अभेद) से गृहीत होता है।

ज्ञानके स्वप्रकाशत्वको स्वीकार न करनेवाले नैयायिकोंपर वेदान्तियोंको ही दण्ड देना चाहिए। ज्ञानके साथ तादात्म्य होनेसे ही रसकी अखण्डता है।

रति आदि भाव पहले एक एक करके प्रतीत होकर सब एकरूप होकर चिद्भावको प्राप्त करते हुए ही रसरूपको प्राप्त करते हैं।

कहा भी है—विभावा इति। विभाव, अनुभाव, सात्त्विकभाव और व्यभिचारी

प्रतीयमानाः प्रथमं खण्डशो यान्त्यखण्डताम् ॥' इति ।

'परमार्थतस्त्वखण्ड एवायं वेदान्तप्रसिद्धब्रह्मतत्त्ववद्वेदितव्यः' इति च ।

अथ के ते विभावानुभावव्यभिचारिण इत्यपेक्षायां विभावमाह—

रत्याद्युद्बोधका लोके विभावाः काव्यनाटययोः ।

ये हि लोके रामादिगतरतिहासादीनामुद्बोधकारणानि सीतादयस्त एव काव्ये नाट्ये च निवेशिताः सन्तः 'विभाव्यन्ते आस्वादाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते सामाजिकरत्यादिभावा एभिः' इति विभावा उच्यन्ते ।

खण्डशः = भिन्नरूपेण, प्रतीयमानाः = ज्ञायमानाः सन्तः, अखण्डता = व्यञ्जनया एकरूपता, यान्ति—प्राप्नुवन्ति । अत्र सात्त्विकभावानामनुभावान्तर्गतत्वेऽपि गोबलीवर्दन्यायेन पार्थक्येन ग्रहणम् ।

अय = रसः, परमार्थतस्तु = वस्तुतस्तु, वेदान्तप्रसिद्धब्रह्मतत्त्ववत् = वेदान्तप्रसिद्ध (ब्रह्मविद्याविख्यातम्) यद् ब्रह्मतत्त्व; तद्वत् (तत्तुल्यम्) अखण्ड एव, वेदितव्यः= ज्ञातव्यः यथा व्यवहारदशायां धटपटादिभेदेन पदार्थाना भिन्नरूपेण प्रतीतावपि ब्रह्मरूपेण ऐक्यप्रतीतिस्तथैव रसस्य विभावादिरूपेण भिन्नत्वेऽपि व्यञ्जनया एकरूपेण प्रतीतिरिति भावः ।

अथ विभावादीना जिज्ञासायां प्रथमं विभाव प्रतिपादयति **रत्याद्युद्बोधका इति** । लोके = ससारे, रत्याद्युद्बोधकाः = रत्यादेः (भावस्य) उद्बोधकाः (उद्बोधकारकाः) काव्यनाटययोः (श्रव्यदृश्यकाव्ययोः) विभावाः ।

विवृणोति—**ये हीति** । ये हि, लोके = जगति, रामादिगतरतिहासादीनां = रामादिगतानां (रामादिनायकस्थितानाम्) रतिहासादीनाम् (तत्तत्स्थायिभावानाम्) उद्बोधकारणानि = प्रादुर्भावहेतवः, सीतादयः, ते एव, काव्ये = श्रव्यकाव्ये, नाटये च = दृश्यकाव्ये च, निवेशिताः = स्थापिताः सन्तः, विभाव्यन्ते = विभावनाविषयीक्रियन्ते, विशेषेण आस्वादाङ्कुरप्रादुर्भावयोग्याः क्रियन्ते, सामाजिकरत्यादभावाः = प्राश्निकरत्यादिभावा एभिरिति विभावा इत्युच्यन्ते ।

भाव ये पहले खण्डशः प्रतीत होते है पीछे अखण्ड स्वरूपको प्राप्त करते हैं । वास्तवमें यह वेदान्त प्रसिद्ध ब्रह्मतत्त्वके समान अखण्ड ही है यह जानना चाहिए ।

अब वे विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव क्या है ? ऐसी अपेक्षामें विभावको कहते है—रत्यादीति ।

लोकमे जो रति आदिके उद्बोधक है, वे काव्य (श्रव्य) और नाटय (दृश्यकाव्य) मे "विभाव" कहे जाते हैं ।

ये हीति । लोकमें जो राम आदिमें प्राप्त रति और हास आदिके उद्बोधके कारण सीता आदि हैं, वे ही सब श्रव्य काव्य और दृश्यकाव्यमें निवेशित होते हुए

तदुक्तं भर्तृहरिणा—

'शब्दोपहितरूपांस्तान् बुद्धेर्विषयतां गतान्।
प्रत्यक्षानिव कंसादीन् साधनत्वेन मन्यते' ॥ इति।

तद्भेदावाह—

आलम्बनोद्दीपनाख्यौ तस्य भेदावुभौ स्मृतौ।

स्पष्टम्। तत्र—

आलम्बनं नायकादिस्तमालम्ब्य रसोद्गमात् ॥ २९ ॥

आदिशब्दान्नायिकाप्रतिनायिकादयः। अत्र यस्य रसस्य यो विभावः स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते।

तत्र नायकः—

अत्र भर्तृहरिसंवादं प्रकाशयति—**शब्दोपहितरूपानिति**। शब्दोपहितरूपान्= शब्दैः (काव्यनाटयस्थितशब्दैः) उपहितानि (स्थापितानि) रूपाणि (स्वरूपाणि) येषा तान्, बुद्धेः = ज्ञानस्य, विषयतां = विषयभावं, गतान् = प्राप्तान्, तान्=प्रसिद्धान्, कंसादीन् = कंस प्रभृतीन्, प्रत्यक्षान इव = चाक्षुषज्ञानगोचरान् इव, साधनत्वेन = वीररसोपकरणत्वेन, मन्यते = जानाति, सामाजिक इतिशेषः। इति।

विभावभेदावाह—**आलम्बनोद्दीपनाख्याविति**। तस्य = विभावस्य, आलम्बनोद्दीपनाख्यौ = आलम्बनोद्दीपननामकौ, उभौ = द्वौ, भेदै = प्रकारौ, स्मृतौ = स्मृतिविषयीकृतौ।

आलम्बनं प्रतिपादयति—**आलम्बनमिति**। नायकादिः = नायकप्रभृतिः; आदिशब्दात् नायिकाप्रतिनायिकादय.। आलम्ब्यते अनेनेति आलम्बनं करणे ल्युट् प्रत्ययः, त = नायकादिम् आलम्ब्य = अवलम्ब्य रसोदयात् = रसप्रादुर्भावात् ॥ २९ ॥

विभावित होत हैं = आस्वादके प्रादुर्भावके योग्य किये जाते हैं सामाजिकोंके रतिभाव जिनसे ऐसी व्युत्पत्ति द्वारा "विभाव" कहे जाते हैं भर्तृहरिने कहा है—काव्य और नाट्यसे स्थापित स्वरूपवाले और ज्ञानके विषयको प्राप्त कंस आदिको प्रत्यक्षके समान सहृदय पुरुष वीररसका उपकरण जानता है।

विभावके भेदोंको कहते है—आलम्बन और उद्दीपन विभावके दो भेद माने गये हैं। आलम्बन, नायक आदि होता है उसीका आलम्बन कर रसकी उत्पत्ति होती है ॥ २९ ॥

आदिशब्दसे नायिका और प्रतिनायिका आदिको लेना चाहिए। यहां जिस रसका जो विभाव है वह उसके स्वरूपवर्णनमें कहा जायगा। नायकका लक्षण देते हैं—

त्यागी कृती कुलीनः सुश्रीको रूपयौवनोत्साही ।
दक्षोऽनुरक्तलोकस्तेजोवैदग्ध्यशीलवान्नेता ॥ ३१ ॥

दक्षः क्षिप्रकारी । शीलं सद्वृत्तम् । एवमादिगुणसम्पन्नो नेता नायको भवति ।

तद्भेदानाह—

धीरोदात्तो धीरोद्धतस्तथा धीरललितश्च ।
धीरप्रशान्त इत्ययमुक्तः प्रथमश्चतुर्भेदः ॥ ३१ ॥

स्पष्टम् ।

तत्र धीरोदात्तः—

अविकत्थनः क्षमावानतिगम्भीरो महासत्त्वः ।

तत्र = आलम्बनोद्दीपनयोर्मध्ये नायकं लक्षयति **त्यागी इति** । त्यागी = दानशीलः, कृती = कुशलः, = कुलीनः = उच्चकुलप्रसूतः, सुश्रीकः = सम्पत्तिसम्पन्न,, रूपयौवनोत्साही = सौन्दर्यतारुण्योत्साहसम्पन्नः, दक्षः = क्षिप्रकारी, अनुरक्तलोकः = अनुरक्ताः (अनुरागयुक्ताः) लोकाः (जनाः) यस्मिन् सः । तेजोवैदग्ध्यशीलवान् = तेजः (अन्यकृतानिन्दाद्यसहिष्णुता), वैदग्ध्यं (नैपुण्यं) शीलं (सद्वृत्तम्), तानि सन्ति यस्मिन् सः । एतादृग्विशेषणसम्पन्नो जनः, नेता=नायको भवति ॥ ३० ॥

नायकभेदानाह **धीरोदात्त इति** । धीरः (धैर्ययुक्तः) सन् उदात्त; श्रेष्ठः) धीरोद्धतः = धीरः सन् उद्धत (अविनीतः), तथा धीरललितः = धीरः सन् ललितः (कोमलस्वभावः) । धीरप्रशान्तः = धीरश्चाऽसौ प्रशान्तः (शान्तियुक्तः) । इति चतुर्भेदः = भेदचतुष्टययुक्तो नायकः ॥ ३१ ॥

धीरोदात्तं लक्षयति—**अविकत्थन इति** । अविकत्थनः = आत्मश्लाघारहितः, क्षमावान् = क्षमाशीलः । अतिगम्भीरः = अतिगाम्भीर्ययुक्तः, महासत्त्वः = हर्षशोकादो अनभिभूतः (अविकृतः) । स्थेयान् = स्थिरतरः, निगूढमानः = निगूढः (विनयेन

त्यागी इति । दानी, कुशल, कुलीन, सम्पत्तिवाला, सौन्दर्य, जवानी और उत्साहसे युक्त, शीघ्र कर्म करनेवाला, लोकको अनुरक्त करनेवाला, प्रताप, निपुणता और सच्चरित्र; इनसे युक्त पुरुष नायक होता है ॥ ३० ॥

नायकके भेदोंको कहते हैं—धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरललित और धीरप्रशान्त इस प्रकारसे पहले नायकके चार भेद होते हैं ॥ ३१ ॥

धीरोदात्तका लक्षण करते हैं–अपनी प्रशंसा न करनेवाला, सहनशील, अत्यन्त गम्भीर, महासत्त्व अर्थात् हर्ष शोक आदिमें भी जिसका स्वभाव स्थित रहता है, स्थिर-

स्थेयान्निगूढमानो धीरोदात्तो दृढव्रतः कथितः ॥ ३२ ॥

अविकत्थनोऽनात्मश्लाघाकरः। महासत्त्वो हर्षशोकाद्यनभिभूतस्व-भावः। निगूढमानो विनयच्छन्नगर्वः। दृढव्रतोऽङ्गीकृतनिर्वाहकः। यथा—रामयुधिष्ठिरादिः।

अथ धीरोद्धत.—

मायापरः प्रचण्डश्चपलोऽहङ्कारदर्पभूयिष्ठः।
आत्मश्लाघानिरतो धीरैर्धीरोद्धतः कथितः ॥ ३३ ॥

यथा भीमसेनादिः।

अथ धीरललितः—

निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्।

कला नृत्यादिका। यथा—रत्नावल्यादौ वत्सराजादिः।

आच्छादितः) मानः (गर्वः) यस्य सः। दृढव्रतः=अङ्गीकृतस्य (स्वीकृतस्य विषयस्य) निर्वाहकः (निर्वहणशीलः)। यथा—रामयुधिष्ठिरादि ॥ ३२ ॥

धीरोद्धतं लक्षयति—मायापरः = छलपरः, प्रचण्डः = अत्यन्तकोपनः, चपलः= चञ्चलः, अहङ्कारदर्पभूयिष्ठः = अभिमानशौर्यवीर्याद्यतिशययुक्तः। आत्मश्लाघानिरतः= स्वप्रशंसनतत्परः, नायकः, धीरैः = विद्वद्भिः, धीरोद्धतः, कथितः=अभिहितः ॥ ३३ ॥

यथा —भीमसेनादिः।

धीरललितं लक्षयति—निश्चिन्त इति। निश्चिन्तः = राज्यचिन्तारहितः। मन्त्रिषु निक्षिप्तभार इति भावः। मृदुः = कोमलस्वभावः, अनिशं = निरन्तरं, कला-परः = नृत्यगीताद्यासक्तः, तादृशो नायकः धीरललितः स्यात्। यथा रत्नावल्यादौ वत्सराजादिः। वत्सराज उदयनः।

तर, नम्रतासे गर्वको छिपानेवाला, दृढव्रत अर्थात् अङ्गीकृत विषयका निर्वाह करनेवाले ऐसे नायकको "धीरोदात्त" कहते हैं। जैसे—राम और युधिष्ठिर आदि।

धीरोद्धत—छलमें तत्पर, अत्यन्त क्रोधी, चञ्चल, अहङ्कार और दर्पसे युक्त; अपनी प्रशंसा करनेमें तत्पर ऐसे नायकको विद्वान् "धीरोद्धत" कहते हैं ॥ ३३ ॥

जैसे भीमसेन आदि।

धीरललित—निश्चिन्त, कोमल स्वभाववाला, निरन्तर नृत्य आदि कलामें तत्पर ऐसा नायक "धीरललित" कहा जाता है। जैसे रत्नावली आदिमें वत्सराज (उदयन) आदि।

अथ धीरप्रशान्तः—

सामान्यगुणैर्भूयान् द्विजादिको धीरशान्तः स्यात् ॥ ३४ ॥

यथा—मालतीमाधवादौ माधवादिः।

एषां च शृङ्गारादिरूपत्वे भेदानाह—

एभिर्दक्षिणधृष्टानुकूलशठरूपिभिस्तु षोडशधा।

तत्र तेषां धीरोदात्तादीनां प्रत्येकं दक्षिणधृष्टानुकूलशठत्वेन षोडशप्रकारो नायकः।

एषु त्वनेकमहिलासमरागो दक्षिणः कथितः ॥ ३५ ॥

द्वयोस्त्रिचतुःप्रभृतिषु नायिकासु तुल्यानुरागो दक्षिणनायकः।

यथा—स्नाता तिष्ठति कुन्तलेश्वरसुता, वारोऽङ्गराजस्वसु-

धीरप्रशान्तं लक्षयति—**सामान्यगुणैरिति**। सामान्यगुणैः = त्यागित्वप्रभृतिभिर्नायकसाधारणगुणैः, भूयान् = प्रचुरः, द्विजादिकः = ब्राह्मणादिः, एतादृशो नायको धीरप्रशान्तः स्यात्। यथा मालतीमाधवादौ माधवादिः ॥ ३४ ॥

एषां च शृङ्गारादिरूपत्वे पुनश्चतुरो भेदानाह—**एभिरिति**। एभिः = धीरोदात्तादिभिः। षोडशधा = षोडशप्रकारो नायकः। दक्षिणनायकं लक्षयति—**एष्विति**। एषु = दक्षिणादिषु मध्ये। अनेकमहिलासमरागः = अनेकमहिलासु (द्वित्रिचतुःप्रभृतिषु नायिकासु) समरागः (तुल्याऽनुरागः) नायकः, दक्षिणः कथितः ॥ ३५ ॥

दक्षिणमुदाहरति—**स्नातेति**। अन्तःपुरस्थितासु सकलनायिकासु कस्यचिद्राज्ञो दाक्षिण्यं प्रतिपादयति कश्चिदन्तःपुरचरः। कुन्तलेश्वरसुता = कुन्तलेश्वरस्य (कुन्तलदेशाऽधिपतेः) सुता (राजकुमारी), स्नाता = ऋतुस्नाता, तिष्ठति = भवत्सङ्गमं प्रतीक्षत इति भावः। अङ्गराजस्वसुः = अङ्गराजस्य (अङ्गदेशपतेः) स्वसुः (भगिन्या.)

धीरप्रशान्त—त्यागी कृती इत्यादि सामान्य गुणोंसे युक्त ब्राह्मण आदि "धीरशान्त" नायक होता है। जैसे मालतीमाधव आदिमें माधव आदि ॥ ३४ ॥

इन नायकोंके शृङ्गार आदि रूपमें अन्य भेदोंको कहते हैं दक्षिण, धृष्ट अनुकूल और शठ इन भेदोंसे धीरोदात्त आदि नायकोंके भेद सोलह होते हैं।

उन धीरोदात्त आदि नायकोंके प्रत्येकमें दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ इस प्रकार "नायक" सोलह भेद होते हैं, यह भाव है।

दक्षिण—इनमें अनेक नायिकाओंमें तुल्यरूपसे अनुराग करनेवाले नायकको "दक्षिण" कहते हैं ॥ ३५ ॥

दो, तीन, चार इत्यादि नायिकाओंमें तुल्य प्रेम रखनेवाला "दक्षिण" नायक होता है। जैसे कि—राजाके अन्तःपुरमें अधिकृत कोई पुरुष कहता है। कुन्तल देशके राजाकी पुत्री ऋतुस्नान करके स्थित हैं, महाराजके पास रहनेकी पारी अङ्ग देशके राजाकी

द्यूते रात्रिरियं जिता कमलया, देवी प्रसाद्याद्य च ।
इत्यन्तःपुरसुन्दरीः प्रति मया विज्ञाय विज्ञापिते
देवेनाप्रतिपत्तिमूढमनसा द्वित्राः स्थितं नाडिकाः ॥

कृतागा अपि निःशङ्कस्तर्जितोऽपि न लज्जितः ।
दृष्टदोषोऽपि मिथ्यावाक्कथितो धृष्टनायकः ॥ ३६ ॥

यथा मम—

शोणं वीक्ष्य मुखं विचुम्बितुमहं यातः समीपं ततः

वार:=भवत्समागमे पर्यायः । कमलया = कमलाऽभिधानया कयाचिद्राजपत्न्या द्यूतैः= अक्षक्रीडाभिः इयं = वर्तमाना, रात्रिः=रजनी, समागमार्थम् । जिता=स्वायत्तीकृता । अद्य = अस्यां रात्रौ, देवी = महिषी, प्रसाद्या = प्रसादनीया, केनाऽपि कारणेन कुपिता सतीति शेषः । इति = इत्थं, पूर्वोक्तप्रकारेण, अन्तःपुरसुन्दरीः प्रति = शुद्धान्तरमणीः प्रति, मया विज्ञाय=विशेषेण ज्ञात्वा, विज्ञापिते=आवेदिते सति, अप्रतिपत्तिमूढमनसा= अप्रतिपत्त्या (अनिश्चयेन) मूढमनसा (आकुलचित्तेन), देवेन = राज्ञा, द्वित्राः = द्वे वा तिस्रो वा, नाडिकाः = घटीः, "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति द्वितीया । स्थितं= अवस्थानं कृतम् । अत्र च तसृष्वपि नायिकासु नायकस्य तुल्याऽनुरागवर्णनाद्दाक्षिण्य-मवसेयम् ।

धृष्टनायकं लक्षयति—**कृतागा अपि** । कृताऽऽगा अपि=विहिताऽपराधोऽपि, निःशङ्कः = शङ्कारहितः । तर्जितः अपि = भर्त्सितः अपि, न लज्जितः न सव्रीडः, दृष्ट-दोषोऽपि = अवलोकितदूषणोऽपि, मिथ्यावाक् = असत्यवचनः, एतादृशो जनः धृष्ट-नायकः, कथितः ॥ ३६ ॥

धृष्टनायकमुदाहरति—स्वमित्रसमीपे कस्यचिद् धृष्टनायकस्य उक्तिरियम् । अहं, शोणं = रक्तवर्णं मुखम् = आननं, प्रियाया इति शेषः । विचुम्बितुं = चुम्बनं कर्तुं, समीपं = निकटं, यातः = प्राप्तः । अत्र नायकस्य नायिकान्तरसमागमज्ञानान्नायिकाया मुखस्य शोणत्वं बोध्यम् । नायकस्य कृताऽपराधस्याऽपि चुम्बनार्थं गमनान्निःशङ्कत्वं प्रथम-

---

भगिनीकी है, कमला देवीने आजकी रात जुए जीत ली है तथा रुष्ट महारानीको आज मनाना है; इसप्रकार समझ बूझकर अन्तःपुरकी सुन्दरियोंका वृत्तान्त मेरे निवेदन करनेपर अनिश्चयसे मोहयुक्त बुद्धिवाले महाराज दो तीन घड़ी तक वैसे ही बैठे रहे ॥

धृष्टनायक—अपराध करनेपर भी निःशङ्क, भर्त्सना करनेपर भी निर्लज्ज अपने दोषके देखे जानेपर भी झूठ बोलनेवाले नायकको "धृष्ट" कहते हैं । उदाहरण—धृष्ट नायक किसीसे कह रहा है—कोपशील नायिकाका लाल मुँह देखकर मैं चुम्बन करनेके

पादेन प्रहृतं तया, सपदि तं धृत्वा सहासे मयि।
किञ्चित्तत्र विधातुमक्षमतया बाष्पं सृजन्त्याः सखे !
ध्यातश्चेतसि कौतुकं वितनुते कोपोऽपि वामभ्रुवः ॥

अनुकूल एकनिरतः—

एकस्यामेव नायिकायामासक्तोऽनुकूलनायकः।

यथा—

अस्माकं सखि ! वाससी न रुचिरे, ग्रैवेयकं नोज्ज्वलं,
नो वक्रा गतिरुद्धतं न हसितं, नैवास्ति कश्चिन्मदः।

मुदाहरणं ज्ञातव्यम्। ततस्तया = प्रियया, पादेन = चरणेन करणभूतेन, प्रहृतं=प्रहारः कृतः। तं = पाद, धृत्वा = गृहीत्वा, मयि = नायके; सहासे = हासयुक्ते सति. तत्र = अवसरे, किञ्चित् = किमपि, विधातुं = प्रतिविधानं कर्तुम्, अक्षमतया = असमर्थतया कारणेन, बाष्पम् = अश्रु, स्यजन्त्याः = मुञ्चन्त्याः, वामभ्रुवः = सुन्दर्याः, कोपोऽपि = क्रोधोऽपि, चेतसि = चित्ते, ध्यातः = स्मृतः सन्, कौतुकं = कौतूहलं, वितनुते = करोति. एवं च पादप्रहारेऽपि अलज्जितत्वं धृष्टनायकस्य द्वितीयमुदाहरणं बोद्धव्यम्। दृष्टदोषेऽपि मिथ्यावाक्त्वस्योदाहरणं मृग्यम्। ३६॥

अनुकूलनायकं लक्षयति—**अनुकूल इति**। एकनिरतः = एकस्याम् (नायिकायाम् एव) निरतः (आसक्तः) अनुकूलनायकः। "एकस्याम्" अत्र "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः" इति पुंवद्भावः।

अनुकूलनायकमुदाहरति—**अस्माकमिति**। काचिन्नायिका सखीं प्रति नायकस्य आनुकूल्यं वर्णयति। हे सखि = हे वयस्ये !, अस्माकं = मम, "अस्मदो द्वयोश्च" इति एकत्वे विवक्षिते अस्मदो बहुवचनम्। वाससी=वसने, उत्तरीयाऽधरीयरूपे इति भावः। रुचिरे = मनोहरे, न, ग्रैवेयकं = कण्ठभूषणम्, उज्ज्वलम् = अतिविशदं, न = नो वर्तते। गतिः = गमन, नो वक्रा = न शृङ्गारव्यञ्जिका कुटिला, हसितं = हास्यं, न उद्धतं = न औद्धत्ययुक्तं. कान्तचिन्तावर्जकमित्यर्थः। कश्चिन् = कोऽपि, मदः=यौवनादि-

---

लिए उसके समीप गया, उसने लात मारी। झटपट उस (लात) को पकड़कर मेरे हँसनेपर कुछ भी करनेके लिए असमर्थ होनेसे आँसू गिरानेवाली कुटिल भौंहोंवाली उस नायिकाका कोप भी चिन्तन करनेपर कुतूहल प्रकट करता है।

अनुकूल नायक—एक ही नायिकामें अनुरक्त रखनेवालेको "अनुकूल" कहते हैं। उदाहरण—नायिका सखीसे कहती है—हे सखि ! मेरे वस्त्र भी सुन्दर नहीं हैं, न तो कण्ठभूषण उज्ज्वल है। चाल भी वक्र नहीं है, हास्य उद्धत नहीं है और न कुछ मद

किन्त्वन्येऽपि जना वदन्ति सुभगोऽप्यस्याः प्रियो नान्यतो
दृष्टिं निक्षिपतीति विश्वनियता मन्यामहे दुःस्थितम् ॥

—शठोऽयमेकत्र बद्धभावो यः ।
दर्शितबहिरनुरागो विप्रियमन्यत्र गूढमाचरति ॥ ३७ ॥

यः पुनरेकस्यामेव नायिकायां बद्धभावो द्वयोरपि नायिकयोर्बहिर्दर्शितानुरागोऽन्यस्यां नायिकायां गूढं विप्रियमाचरति स शठः ।

यथा—

'शठान्यस्याः काञ्चीमणिरणितमाकर्ण्य सहसा
यदाश्लिष्यन्नेव प्रशिथिलभुजग्रन्थिरभवः ।

जनितः अहङ्कारः, नैवाऽस्ति = नैव वर्तते । किन्तु = परन्तु, अन्ये = अपरे, जनाः = युवतिजना इति भावः, वदन्ति = कथयन्ति । सुभगः = सुन्दरः, अस्याः = ममेति भावः, प्रियः = वल्लभः, पतिरिति भावः । अन्यतः = अन्यस्यां, ललनायां, मदतिरिक्तायामित्यर्थः । दृष्टिं = नेत्रं, न निक्षिपति = नो विन्यस्यति, इति, इयता = एतावता, भाषणेन, विश्वं = विश्ववर्ति ललनावृन्दं, दुःस्थितं = दुःखेन स्थितं, मन्यामहे = जानीमहे, मदपेक्षयाऽल्पसौभाग्यादिति भावः । अत्र नायकस्यैकस्यामेव नायिकायां निरतत्वादनुकूलनायकत्वम् ।

शठनायकं लक्षयति—**शठोऽयमिति** । यः = नायकः, एकत्र = एकस्यां नायिकायां, बद्धभावः = कृतानुरागः, दर्शितबहिरनुरागः = दर्शितः (प्रदर्शितः) बहिरनुरागः = (बाह्यप्रीतिः) येन सः, उभयत्रेति शेषः । अन्यत्र = अन्यस्यां, गूढं=गुप्तं, विप्रियम् = अप्रियम् । आचरति = विदधाति ॥ ३७ ॥

शठनायकोदाहरणं यथा—**शठेति** । हे शठ = हे धूर्त !, आश्लिष्यन् एव = आलिङ्गन्नेव, मत्सखीमिति भावः । सहसा = अतर्कित एव, काञ्चीरणितं = रशनाझङ्कारम्, आकर्ण्य = श्रुत्वा, अन्यस्याः नायिकाया इति शेषः । प्रशिथिलभुजग्रन्थिः = प्रशिथिलः (प्रकर्षेण श्लथः) भुजग्रन्थिः (बाहुवेष्टनम्) यस्य सः, अभवः = बभूः ।

ही है । किन्तु और लोग कहते हैं कि "इसका प्रिय दूसरी स्त्रीमें दृष्टिपात नहीं करता है" ऐसे कथनसे मैं विश्वकी अन्य स्त्रीको दुःखमें स्थित समझती हूँ ।

शठका लक्षण करते हैं—जो एक ही नायिकामें अनुराग कर दोनों नायिकाओंमें बाहरी अनुराग दिखलाकर अन्य नायिकामें गुप्तरूपसे अप्रिय आचरण करता है उसे "**शठ**" नायक कहते हैं ॥ ३७ ॥

उदाहरण—नायिकाकी सखी शठ नायकसे कहती है–हे शठ ! दूसरी नायिकाकी काञ्चीके रत्नोंका शब्द अकस्मात् सुनकर अपनी नायिकाको आलिङ्गन करनेके समयमें ही तुमने बाहुबन्धनको शिथिल कर डाला । इस बातको मैं कहाँ कहूँ ?

तदेतत्क्वाचक्षे घृतमधुमयत्वद्बहुवचो-
विषेणाघूर्णन्ती किमपि न सखी मे गणयति ॥'

एषां च त्रैविध्यादुत्तममध्याधमत्वेन ।
उक्ता नायकभेदाश्चत्वारिंशत्तथाऽष्टौ च ॥ ३८ ॥

एषामुक्तषोडशभेदानाम् ।

अथ प्रसङ्गादेतेषां सहायानाह—

दूरानुवर्तिनि स्यात्तस्य प्रासङ्गिकेतिवृत्ते तु ।
किञ्चित्तद्गुणहीनः सहाय एवास्य पीठमर्दाख्यः ॥ ३९ ॥

तत् = तादृशम्, एतत् = इदं, त्वदीय चरितमिति भावः । क्व = कुत्र, आचक्षे = कथयामि, यतः घृतमधुमयत्वद्बहुवचोविषेण = घृतमधुमयम् (समभागमिश्रघृतक्षौद्रस्वरूपम्) यत् त्वद्बहुवचः=(भवत्प्रचुरवचनं), तदेव विषं (गरलम्), तेन, समभागसंश्लिष्टं घृतमधु विषतुल्यं भवतीति भावः । आघूर्णन्ती = विमुह्यन्ती सती, मे = मम, सखी = वयस्या, किमपि = मदुक्त, त्वद्रहस्यमिति भावः, न गणयति = नो विचारयति घृतमधुमयत्वद्वचोविषेण मत्तत्वाद्विचारयितुं न शक्नोतीति भावः । अत्र एकत्र नायिकाया बहुभावत्वेन अन्यस्याम् आलिङ्गनमात्रेण बहिरनुरागप्रदर्शनपूर्वकं विप्रियाचरणान्नायकस्य शठत्वं द्योतितं भवतीति बोध्यम् ।

उत्तमादिभेदैर्नायकभेदान्सङ्कलयति—**एषामिति** । एषाम् = एतेषां सर्वेषां = सकलानां नायकानां षोडशभेदानाम्, पुनः उत्तममध्याऽधमत्वेन = उत्तमत्वेन, मध्यमत्वेन अधमत्वेन च, त्रैविध्यात् = त्रिविधत्वात्, नायकभेदाश्चत्वारिंशत्तथाऽष्टौ च = अष्टाचत्वारिंशत्संख्यकाः, उक्ताः = अभिहिताः । १६ × ३=४८ ॥ ३८ ॥

अथ नायकसहायप्रसङ्गे पीठमर्दं लक्षयति—**दूराऽनुवर्तिनीति** । तस्य = नायकस्य, दूराऽनुवर्तिनि = बहुव्यापिनि, प्रासङ्गिकेतिवृत्ते = प्रसङ्गागतचरित्रे, किञ्चित्तद्गुणहीनः = स्तोकनायकगुणरहितः, पीठमर्दाख्यः = पीठमर्दनामकः, सहाय एव = शृङ्गाररसेतरः सहायक एव ॥ ३९ ॥

घी और शहदसे सने हुए तुम्हारे बहुतसे खुशामदवाले वचनरूप विषसे मोहित होकर मेरी सखी कुछ भी विचार नहीं कर सकती है ।

सोलह प्रकारके पूर्वोक्त नायकोंके फिर उत्तम, मध्यम और अधम इस प्रकार तीन भेदोंसे कुल अड़तालीस भेद होते हैं ॥ ३८ ॥

प्रसङ्गसे नायकोंके सहायकोंका निरूपण करते हैं—दूर तक व्याप्त होने वाले नायकके प्रसङ्गगत चरित्रमें नायकके पूर्वोक्त सामान्य कुछ गुणोंसे न्यून सहायकको

तस्य नायकस्य बहुव्यापिनि प्रसङ्गसगते इतिवृत्तेऽनन्तरोक्तैर्नायक-सामान्यगुणैः किञ्चिदूनः पीठमर्दनामा सहायो भवति। यथा—रामचन्द्रादीनां सुग्रीवादयः।

अथ शृङ्गारसहायाः—

शृङ्गारेऽस्य सहाया विटचेटविदूषकाद्याः स्युः।
भक्ता नर्मसु निपुणाः कुपितवधूमानभञ्जनाः शुद्धाः॥४०॥

आदिशब्दान्मालाकाररजकताम्बूलिकगान्धिकादयः।

तत्र विटः—

संभोगहीनसंपद्विटस्तु धूर्तः कलैकदेशज्ञः।
वेशोपचारकुशलो वाग्मी मधुरोऽथ बहुमतो गोष्ठ्याम्॥ ४१ ॥

तस्येति—यथा रामचन्द्रादीना सुग्रीवादयः।

नायकस्य शृङ्गारसहायान् परिगणयति **शृङ्गार इति**। अस्य = नायकस्य, भक्ताः = अनुरक्ताः, नर्मसु = परिहासादिषु, निपुणाः = प्रवीणाः। कुपितवधूमान-भञ्जनाः = कुपितवधूना (मानिनीनाम्) मानभञ्जनाः (मानभङ्गे समर्थाः), शुद्धाः= सच्चरित्राः, विटचेटविदूषकाद्याः = विटप्रभृतयः, एतेषां लक्षणानि सम्प्रत्येव अभिधा-स्यन्ते, आद्यशब्दान्मालाकारताम्बुलिकगान्धिकादयः। मालाकारः=मालिकः, ताम्बुलिकः= ताम्बूलविक्रेता, गान्धिकः = गन्धद्रव्यविक्रेता॥ ४०॥

विटं लक्षयति—**सम्भोगहीनसम्पदिति**। संभोगहीनसम्पत् = संभोगेन (भोगाऽतिशयेन) हीना (विनाशिता) सम्पत् (सम्पत्तिः) येन सः। धूर्तः=द्यूतकृत्, कलैकदेशज्ञः = कलानाम् (नृत्यगीतादीनाम्) एकदेशः (एकाऽवयवः) तज्ज्ञः (तदभिज्ञः)। वेशोपचारकुशलः = वेशे (वेश्यालये) ये उपचाराः (व्यवहाराः); तेषु कुशलः (प्रवीणः) वाग्मी = वाचोयुक्तिपटुः, प्रशस्ता वाक् अस्ति यस्य सः "वाचो ग्मिनिः" इति वाचो ग्मिनिप्रत्ययः। मधुरः = मनोहरः, गोष्ठ्यां = सभायां, बहुमतः = अधिक-सम्मतः। पूर्वोक्तगुणसंपन्नो विटः। अस्योदाहरणं मृच्छकटिकादौ द्रष्टव्यम्॥ ४१॥

"पीठमर्द" कहते हैं। जैसे रामचन्द्र आदि नायकोंसे सुग्रीव आदि॥ ३९॥

नायकके शृङ्गारके सहायक—नायकके भक्त, परिहास आदिमें निपुण, क्रुद्ध बधूके मानको हटानेवाले, सच्चरित्रविट, चेट और विदूषक आदि शृङ्गारमें सहायक होते है ४०।

आदि शब्दसे माली, धोबी, तमोली और गन्धी आदिका ग्रहण होता है। विटका लक्षण करते हैं—भोगसे सम्पत्तिको नष्ट करनेवाला, धूर्त, नृत्य गीत आदि कलाओंके एक भागको जाननेवाला, वेश्यालयके व्यवहारमें निपुण, बोलनेमें पटु, सुन्दर और सभामें सम्मानित पुरुषको "विट" कहते हैं॥ ४१॥

चेटः प्रसिद्ध एव ।

कुसुमवसन्ताद्यभिधः कर्मवपुर्वेषभाषाद्यैः ।
हास्यकरः कलहरतिर्विदूषकः स्यात् स्वकमज्ञः ॥ ४२ ॥

स्वकर्म = हास्यादि ।
अर्थचिन्तने=सहायमाह—

मन्त्री स्यादर्थानां चिन्तायाम्—

अर्थास्तन्त्रावापादयः ।
यत्त्वत्र सहायकथनप्रस्तावे—'मन्त्री स्वं वोभयं वापि सखा तस्यार्थ-

---

चेटः = भृत्यः ।

विदूषकं लक्षयति—**कुसुमेति** । कुसुमवसन्ताद्यभिधः=कुसुमवसन्तादिः अभिधा (नाम) यस्य सः । अत्र कुसुमनामधेयो विदूषको रसालकादिः, वसन्तनामधेयः = वसन्तकः, माधवादिश्च । कर्मवपुर्वेशभाषाद्यैः = कर्मणा (कार्येण) वपुषा (शरीरेण) वेषेण (नेपथ्येन) भाषाद्यैः (भाषणप्रभृतिभिः), हास्यकरः (हास्योत्पादकः) कलहरतिः = कलहे (विवादे) रतिः (प्रीतिः) यस्य सः विवादप्रिय इति भावः । स्वकर्मज्ञः = स्वकर्म (हास्यादि) तज्ज्ञः (तदभिज्ञः), कुत्रचित् "भोजनादि" इति पाठः, तज्ज्ञः = औदरिक इति भावः । एतादृग्गुणसम्पन्नो विदूषको भवति ॥ ४२ ॥

अर्थचिन्तने सहायमाह—**मन्त्रीति** । अर्थानां = तन्त्रावापादीनां, चिन्तायां = विचारे, मन्त्री = धीसचिवः । तत्र स्वराष्टे क्रियमाणं कर्मतन्त्रं परराष्ट्रे क्रियमाणं कर्म आवापः । आदिपदेन शत्रुनिग्रहादयो बोद्धव्याः ।

दशरूपककारधनञ्जयमतं खण्डयितुमुपक्रमते—**यत्त्वत्रेति** । तस्य = राज्ञः, अर्थचिन्तने = कार्यविचारे, मन्त्री = एकाकी धीसचिवः, स्वं च = स्वयं च, उभयं च =

चेट = भृत्य यह प्रसिद्ध ही है ।

बिदूषकका लक्षण करते है—किसी फूल और वसन्त आदिके नामवाला, कार्य, शरीर, वेष, और भाषा आदिसे हँसानेवाला, दूसरोंके कलह करानेमें प्रीति करनेवाला और अपना कर्म हास्य आदि उसका जानकार ऐसे पुरुषको "विदूषक" कहते है ॥४२॥

नायक राजाके अर्थ चिन्तनमें सहायकको कहते हैं । अपने राष्ट्रमें किया जाना वाला कर्म "तन्त्र" और परराष्ट्रमें किया जानेवाला कर्म "अवाप" कहा जाता है, इनकी चिन्तामें सहायकको "मन्त्री" कहते हैं ।

दशरूपककार धनञ्जयके मतका खण्डन करते हैं । जो कि यहाँ सहायकोंके कथन-के अवसरमें "नायकके अर्थचिन्तनमें किसी (दशरूपककार धनञ्जय) ने लक्षण किया-मन्त्री और स्वयम् राजा ये दोनों राजाके अर्थ चिन्तनमें सहायक होते है" । वह राजाके

चिन्तने' इति केनचिल्लक्षणं कृतम्, तदपि राज्ञोऽर्थचिन्तनोपायलक्षणप्रकरणे लक्षयितव्यम् न तु सहायकथनप्रकरणे।

'नायकस्यार्थचिन्तने मन्त्री सहायः' इत्युक्तेऽपि नायकस्यार्थत एव सिद्धत्वात्।

यदप्युक्तम्—'मन्त्रिणा ललिताः, शेषा मन्त्रिस्वायत्तसिद्धयः' इति, तदपि स्वलक्षणकथनेनैव लक्षितस्य धीरललितस्य मन्त्रिमात्रायत्तार्थचिन्तनोपपत्तेर्गतार्थम्। न चार्थचिन्तने तस्य मन्त्री सहायः, किं तु स्वयमेव संपादकः; तस्यार्थचिन्तनाद्यभावात्।

अथान्तः पुरसहायाः—

—तद्वदवरोधे।

द्वयं च, इति केनचित् = जनञ्जयेन, लक्षणं कृतम्। तदपि अर्थचिन्तनोपायलक्षण-प्रकरणे = अर्थचिन्तनस्य (कार्यविचारस्य) ये उपायाः (साधनानि), तेषां लक्षणानां प्रकरणे (प्रस्तावे) लक्षितव्यम् (लक्षणं कर्तव्यम्) न तु सहायकथनप्रकरणे, नायकस्य= राज्ञः। अर्थत एव सिद्धत्वात। आत्मानं प्रति आत्मनः सहायत्वकथनमनावश्यकमिति भावः। दूषणान्तरं प्रतिपादयति— यदप्युक्तमिति। ललिताः = धीरललिताख्यो नायकः, मन्त्रिणा = धीसचिवेन आत्मसिद्धिरिति शेषः। शेषाः = अवशिष्टा धीरोदात्तादयो नायकाः मन्त्रिणः, स्वेनोभयेन वा, आयत्तसिद्धयः=अधीनसिद्धयः। स्वलक्षण-कथनेन="निश्चिन्तो मृदुरनिशं कलापरो धीरललितः स्यात्" इत्याकारकलक्षणाऽभि-धानेन एव मन्त्रिमात्रायत्तार्थचिन्तनोपपत्तेः=केवलमन्त्र्यधीनाऽर्थचिन्तनोपपत्तेः, गताऽर्थं= चरितार्थम्। तस्य = धीरललितस्य।

अन्तःपुरसहायानुल्लिखति— तद्वदवरोधे इति। अवरोधे = अन्तःपुरे।

अर्थचिन्तनके उपायलक्षणके प्रकरणमें कहना उचित था न कि सहायक कथनके प्रकरण-में। "नायकके अर्थचिन्तनमें मन्त्री सहायक होता है" ऐसा कहनेपर भी नायककी अर्थसे ही सिद्धि है। इसलिए "स्वं च" ऐसा लिखना अनावश्यक है। यह भी जो कहा है–धीरललित नायक मन्त्रीसे सिद्धिवाला है, शेष=अवशिष्ट धीरोदात्त, धीरोद्धत और धीप्रशान्त ये तीन नायक मन्त्रियोंके साथ स्वयम् कार्यका विचार करते हैं। "वह भी लक्षण करनेसे ही जान गये धीरललितका मन्त्रीमे ही अधीन अर्थ चिन्तन है यह बात गताऽर्थ है ; अर्थचिन्तनमें धीरललितका मन्त्री सहाय नहीं है, किंतु स्वयम् ही सम्पादक है, उसका अर्थ (तन्त्र और अवाप आदि) का अभाव है, (मन्त्री ही सब कुछ करता) है।

राजाके अन्तःपुर—सहायोंको कहते हैं—उसी तरह अन्तःपुरमें बौने, नपुंसक

वामनशण्ढकिरातम्लेच्छाभीराः शकारकुब्जाद्याः ॥ ४३ ॥

मदमूर्खताभिमानी दुष्कुलतैश्वर्यसंयुक्तः ।

सोऽयमनूढाभ्राता राज्ञः श्यालः शकार इत्युक्तः ॥ ४४ ॥

आद्यशब्दान्मूकादयः । तत्र शण्ढवामनकिरातकुब्जादयो यथा रत्नावल्याम्—

नष्टं वर्षवरैर्मनुष्यगणनाभावादपास्य त्रपा-

मन्तः कञ्चुकिकञ्चुकस्य विशति त्रासादयं वामनः ।

वामनादयः=वामनः = (खर्वः,) शण्ढः=(नपुंसकः,) (किरातः हीनजातिविशेषः) म्लेच्छः=(अनार्यविशेषः) । आभीराः=(गोपालाः) शकारः=(अनन्तरमेव वक्ष्यमाणः) कुब्जः = (गडुलः) । आद्यपदेन मूकादयो गृह्यन्ते ॥ ४३ ॥

शकारं लक्षयति—मदमूर्खताऽभिमानीति । मदः = (मद्यादिविकारः), मूर्खता= (बालिशता) अभिमानः=अहङ्कारः तद्वान् = तद्युक्तः । दुष्कुलतैश्वर्यसंपन्नः = दुष्कुलता (दुष्टवंशोत्पन्नता) ऐश्वर्यम् (प्रभुता) ताभ्यां संयुक्तः । राज्ञः = भूपतेः, अनूढाभ्राता=अनूढायाः (अपरिणीतायाः जायायाः) भ्राता, राज्ञः श्यालः "शकारः" इति नामधेयेन, उक्तः ॥ ४४ ॥

तत्र शण्ढादीनुल्लिखति—**नष्टमिति** । रत्नावलीनाटिकायां वानराद्भीतेऽन्तः-पुरस्थ भीतेर्वर्णनमिदम् । वर्षवरैः = शण्ढैः, कर्तृभिः मनुष्यगणनाऽभावात् = मनुष्येषु स्त्रीपुंसात्मकेषु (मानवेषु) गणनाऽभावात् (सङ्ख्यानाऽभावात्), त्रपाः=लज्जाम् अपास्य= त्यक्त्वा, नष्टम्=अन्तर्हितम् । अयम्=एष , वामनः=खर्वो जनः त्रासात् = भयाद्धेतोः, कञ्चुकिकञ्चुकस्य=कञ्चुकिनः (अन्तःपुरचरवृद्धब्राह्मणस्य) कञ्चुकस्य (सर्वाङ्ग-

---

किरात म्लेच्छ (अनार्य विशेष), आभीर (अहीर), शकार और कुब्ज आदि राजाके अन्तःपुरमें सहायक होते है ॥ ४३ ॥

शकारका लक्षण—मदवाला, मूर्ख, अभिमानी, दुष्टवंशमें उत्पन्न, ऐश्वर्ययुक्त, राजाकी अविवाहित स्त्री (रखैल) का भाई "शकार" कहा जाता है ॥ ४४ ॥

"**शकारकुब्जाद्याः**" यहाँपर "**आद्य**" शब्दसे मूक आदि लिये जाते हैं । उनमें नपुंसक, वामन, किरात कुब्ज आदिका उदाहरण रत्नावलीमें—वानरके कारण राजाके अन्तःपुरमें भयका वर्णन है । पुरुषोंमें गिनती न होनेसे लज्जा छोड़कर नपुंसक लापता हो गये । यह बिना पुरुष त्रासके कारण कञ्चुकीके कञ्चुक (जामे) के भीतर

पर्यन्ताश्रयिभिर्निजस्य सदृशं नाम्नः किरातैः कृतं
कुब्जा नीचतयैव यान्ति शनकैरात्मेक्षणाशङ्किनः ॥
शकारो मृच्छकटिकादिषु प्रसिद्धः । अन्येऽपि यथादर्शनं ज्ञातव्याः ।
अथ दण्डसहायाः—

दण्डे सुहृत्कुमाराटविकाः सामन्तसैनिकाद्याश्च ।

दुष्टनिग्रहो दण्डः । स्पष्टम् ।

ऋत्विक्पुरोधसः स्युर्ब्रह्मविदस्तापसास्तथा धर्मे ॥ ४५ ॥

व्यापकवस्त्रस्य), अन्तः = अभ्यन्तरं, विशति = प्रविशति । पर्यन्ताश्रयिभिः=पर्यन्तम् आश्रयन्ते तच्छीलाः पर्यन्ताश्रयिण , तैः पर्यन्तदेशाश्रयशीलैः, किरातैः=हीनजातिविशेषैः, नाम्नः = स्वसञ्ज्ञायाः, सदृशं = तुल्यम्, कृतं=विहितम् । किरम् (पर्यन्तदेशम्) अतन्ति (सातत्येन गच्छन्ति) इति व्युत्पत्त्यनुसारेण किरतैः पर्यन्तदेशा प्राप्ता इति भावः । आत्मेक्षणाशङ्कितः = आत्मनः (स्वस्य) यत् ईक्षणम् (अवलोकनम्) तत् शङ्कन्ते तच्छीलाः, कुब्जाः = गडुलाः शनकैः = शनैरेव "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः" इति सूत्रेण स्वार्थे अकच्प्रत्ययः । मन्दं मन्दमित्यर्थः । नीचतया एव=खर्वत्वेन एव, यान्ति= गच्छन्ति । अन्ये = म्लेच्छाभीरादयः ।

दण्डसहायान्निर्दिशति—**दण्डे इति** । दण्डे=दुष्टनिग्रहे, सुहृत्कुमाराऽऽटविकाः= सुहृदः (मित्राणि) कुमाराः (पुत्राः) आटविकाः (वनचारिणः), सामन्तसैनिकाद्याश्च = सामन्ताः (मण्डलेश्वराः) सैनिकाद्याश्च (सैन्यप्रभृतयश्च) विज्ञेया इति शेषः ।

धर्मसहायान्निर्दिशति—**ऋत्विगिति** । ऋत्विक्पुरोधसः=ऋत्विजः (याजकाः) पुरोधसः (पुरोहिताः), ब्रह्मविदः =वेदविद आत्मविदो वा, तथा तापसाः=तपस्विनः, धर्मे= विषये, नायकस्य सहाया इति शेषः ।

घुस गया । किरातोंने अपने नामके अनुसार "किरं = पर्यन्तदेशम् अतन्ति = सातत्येन गच्छन्ति" इस व्युत्पत्तिके अनुसार पर्यन्त देश (कोनों) में आश्रय लिया । कुबड़े अपने देखे जानेकी शङ्कासे बहुत ही झुककर जा रहे हैं ।

"शकार" मृच्छकटिक आदिमें प्रसिद्ध है । अन्य म्लेच्छ, आभीर आदि ग्रन्थान्तरमें दर्शनके अनुसार जानने चाहिए ।

दण्डके सहायक—दण्डमें मित्र, राजपुत्र, आटविक (वनमें घूमनेवाला), सामन्त (मण्डलेश्वर) और सैनिक आदि राजाके सहायक होते हैं । दुष्टको सजा देनेको "दण्ड" कहते हैं ।

धर्मके सहायक—ऋत्विक् (यज्ञ करानेवाले) पुरोहित, ब्रह्मवेत्ता और तपस्वी राजाके धर्मके सहायक होते हैं ॥ ४५ ॥

ब्रह्मविदो वेदविदः, आत्मविदो वा।

अत्र च—

उत्तमाः पीठमर्दाद्याः—

आद्यशब्दान्मन्त्रिपुरोहितादयः।

—मध्यौ विटविदूषकौ।

तथा शकारचेटाद्या अधमाः परिकीर्तिताः ॥ ४६ ॥

आद्यशब्दात्ताम्बूलिकगान्धिकादयः।

अथ प्रसङ्गाद्दूतानां विभागगर्भलक्षणमाह—

निसृष्टार्थो मितार्थश्च तथा संदेशहारकः।

कार्यप्रेष्यास्त्रिधा दूतो दूत्यश्चापि तथाविधाः ॥ ४७ ॥

तत्र कार्यप्रेष्यो दूत इति लक्षणम्।

सहायान्विभजते—**उत्तमा इति**। पीठमर्दाद्याः = पीठमर्दप्रभृतयः। पीठमर्दलक्षणं प्राक्प्रतिपादितम्। आद्यशब्दान्मन्त्रिपुरोहितादयः। **मध्याविति**। विटविदूषकौ= विटः "संभोगहीनसम्पदि"त्यादिलक्षणप्रतिपादितः, विदूषकः "कुसुमवसन्ताद्यभिध" इत्यादिलक्षणप्रतिपादितः। एतौ मध्यौ = मध्यमौ ज्ञेयौ। तथा शकारचेटाद्याः=शकारः "मदमूर्खताऽभिमानी"त्यादिलक्षणलक्षितः, चेटः = भृत्यः, आद्यशब्दात् ताम्बूलिकगान्धिकादयः अधमाः परिकीर्तिताः ॥ ४६ ॥

दूतानां विभागगर्भं लक्षणं प्रतिपादयति—**निसृष्टार्थ इति**। कार्यप्रेष्यत्वं दूतत्वमिति दूतलक्षणम्। ते च दूताः—निसृष्टार्थो मितार्थः सन्देशहारकश्चेति त्रिधा= त्रिप्रकाराः। दूत्यश्चाऽपि तथाविधाः = तादृश्यः, निसृष्टार्थाः मितार्थाः, सन्देशहारिकाश्चेति त्रिप्रकाराः ॥ ४७ ॥

"**ब्रह्मविदः**" इस पदका अर्थ वेद अथवा आत्माको जाननेवाले ऐसा है। यहांपर पीठमर्द, मन्त्री और पुरोहित आदि उत्तम सहायक माने जाते हैं। विट और विदूषक मध्यम सहायक हैं तथा शकार और चेट तमोली और गन्धी आदि अधम सहायक माने जाते हैं ॥ ४६ ॥

अब प्रसङ्गसे विभागपूर्वक दूतोंका लक्षण करते हैं—कार्यप्रेष्य (कार्यमें भेजे-जानेवाले) को "दूत" कहते हैं। उसके तीन भेद होते हैं, **निसृष्टार्थ, मितार्थ और सन्देशहारक**। दूतियाँ भी वैसी ही होती हैं ॥ ४७ ॥

तत्र—

उभयोर्भावमुन्नीय स्वयं वदति चोत्तरम् ।
सुश्लिष्टं कुरुते कार्यं निसृष्टार्थस्तु स स्मृतः ॥ ४८ ॥

उभयोरिति येन प्रेषितो यदन्तिके प्रेषितश्च ।

मितार्थभाषी कार्यस्य सिद्धिकारी मितार्थकः ।
यावद्भाषितसंदेशहारः सदेशहारकः ॥ ४९ ॥

अथ सात्त्विकनायकगुणाः—

शोभा विलासो माधुर्यं गाम्भीर्यं धैर्यतेजसी ।
ललितौदार्यमित्यष्टौ सत्त्वजाः पौरुषा गुणाः ॥ ५० ॥

निसृष्टाऽर्थं लक्षयति—**उभयोरिति** । उभयोः = येन प्रेषितः (प्रहितः), यदन्तिके (यत्समीपे) प्रेषितश्च तयोः, भावम् = अभिप्रायम्, उन्नाय = ऊहित्वा; स्वयम् = आत्मना, उत्तरं = प्रतिवाक्यं, वदति = कथयति । कार्यं च = कृत्यं च, सुश्लिष्टं=सुशोभनं, कुरुते=विदधाति, स निसृष्टाऽर्थः स्मृतः । अयमुत्तमो दूतः ॥४८॥

मिताऽर्थं लक्षयति—**मिताऽर्थभाषीति** । मितः (परिमितः) यः अर्थः, (अभिधेयः), तं भाषते तच्छीलः अल्पभाषीत्यर्थः । कार्यस्य, सिद्धिकारी = सिद्धिं (सफलताम्) करोतीति तच्छीलः, कार्यसाफल्यप्रयोजक इत्यर्थः । एतादृशो दूतो मिताऽर्थको विज्ञेयः ।

सन्देशहारकं लक्षयति **यावदिति** । यावद्भाषितसन्देशहारकः=प्रेरकेण यावत् (यत्परिमाणं यथा तथा) भाषितः (अभिहितः) यः सन्देशः (वाचिकं) तं हरति = प्रापयति इति यावद्भाषितसन्देशहारकः । स "सन्देशहारकः ।" अयं दूतेष्वधमः परिकीर्तितः ॥ ४९ ॥

सात्त्विकनायकगुणानुद्दिशति—**शोभेति** । शोभात औदार्यपर्यन्तमष्टौ सत्त्वजाः= सत्त्वगुणोत्पन्नाः, पौरुषाः = पुरुष (नायक) निष्ठा गुणा बोध्याः । यद्यपि अनुभावविशेषाः=स्तम्भादयोऽपि सत्त्वजाः, परं ते स्त्रीपुंसोभयनिष्ठा गुणाः, एते तु पुरुषनिष्ठा एवेति विवेकः ॥ ५० ॥

निसृष्टाऽर्थ–जिससे और जिसके समीप भेजा गया है, दोनोंका अभिप्राय समझ कर जो स्वयम् उत्तर कहता है और कार्यको सम्पन्न करता है वह "निसृष्टाऽर्थ" है ॥४८॥

मिताऽर्थ–परिमित भाषण कर कार्यकी सिद्धि करनेवालेको "मिताऽर्थ" कहते हैं ।

सन्देशहारक—भेजनेवालेके कहे वाक्यके अनुसार सन्देश देनेवालेको "सन्देशहारक" कहते है ॥ ४९ ॥

नायकोंका सात्त्विकगुण –शोभा, विलास, माधुर्य, गाम्भीर्य, धैर्य, तेज, ललित और औदार्य ये आठ नायकोंके सात्त्विक गुण है ॥ ५० ॥

तत्र--

शूरता दक्षता सत्यं महोत्साहोऽनुरागिता ।
नीचे घृणाधिके स्पर्धा यतः शोभेति तां विदुः ॥ ५१ ॥

तत्रानुरागिता यथा—

अहमेव मतो महीपतेरिति सर्वः प्रकृतिष्वचिन्तयत् ।
उदधेरिव निम्नगाशतेष्वभवन्नास्य विमानना क्वचित् ॥

एवमन्यदपि ।

अथ विलासः--

धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः ।

शोभां लक्षयति **शूरतेति** । शूरता = शौर्यं, दक्षता = क्षिप्रकारता, सत्यं = तथ्य, महोत्साहः = महान् (गुरुतरः) य उत्साहः (अध्यवसायः) । अनुरागिता = स्नेहभावः, नीचे = अधमे, घृणा = जुगुप्सा, अधिके = स्वाऽपेक्षया अधिकतरे, स्पर्धा = संघर्षधीः, यतः = यस्याः, तां "शोभा" इति विदुः = जानन्ति ॥ ५१ ॥

तत्र अनुरागितामुदाहरति– **अहमेवेति** रघुवंशस्थमजवर्णनमिदम् । प्रकृतिषु = प्रजासु मध्ये, सर्वः = सकलो जनः, अहम् एव = अन्यो नेति भावः, महीपतेः = राज्ञः, मतः = अभिमतः, अनुरागभाजनत्वेनेति शेषः । इति = इत्थम्, अचिन्तयत् = चिन्तितवान् ।

अत्र दृष्टान्तं प्रदर्शयति—**उदधेरिति** । उदधेः = समुद्रस्य नायकस्य, निम्नगाशतेषु इव = नदीशतेषु इव, अस्य = अजस्य, क्वचित् = कुत्राऽपि जने, विमानना = तिरस्कारः, न अभवत् = न आसीत्, उपमाऽलङ्कारः । अत्र अजस्य अनुरागिताऽऽख्यशोभागुणः प्रदर्शितः । एवम् = इत्थम्, अन्यत्राऽपि = शूरतादिरूपगुणेऽपि उदाहरणं मृग्यम् ।

विलासगुणं लक्षयति--**धीरेति** । विलासे = तन्नामके गुणे, नायकस्य दृष्टिः = नयनं, धीरा = चाञ्चल्यरहिता, गतिः = गमनक्रिया, चित्रा = वैचित्र्यपूर्णा, तथा वचश्च = वचनं च, सस्मितं = मन्दहास्ययुक्तं च भवतीति शेषः ।

शोभा--शौर्य, दक्षता (शीघ्र काम करना), सत्य, महान् उत्साह, अनुराग करना, नीचमे घृणा और अधिकमें स्पर्धा इनके हेतुको "शोभा" कहते है ॥ ५१ ॥

उनमे अनुरागिता जैसे--राजा अजका वर्णन कहते हैं । प्रजाओंमें सब कोई, राजाका मैं ही अनुरागपात्र हूँ ऐसा समझता था । जैसे समुद्रका सैकड़ो नदियोंमे किसीपर तिरस्कार नही होता था उसी तरह अजका किसीपर भी तिरस्कार नहीं था । इसी तरह शूरता आदि गुणोंका उदाहरण जानना चाहिए ।

विलास—विलासमें दृष्टि गम्भीर होती है, गति विचित्र होती है और मन्दहास्यपूर्वक वचन होता है ।

यथा—

दृष्टिस्तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा
धीरोद्धता नमयतीव गतिर्धरित्रीम्।
कौमारकेऽपि गिरिवद् गुरुतां दधानो
वीरो रसः किमयमेत्युत दर्प एव॥

संक्षोभेष्वप्यनुद्वेगो माधुर्यं परिकीर्तितम् ॥ ५२ ॥

ऊह्यमुदाहरणम्।

भीशोकक्रोधहर्षाद्यैर्गाम्भीर्यं निर्विकारता।

विलासोदाहरणं यथा- **दृष्टिरिति**। उत्तररामचरिते कुशदर्शनाऽनन्तरं रामस्योक्तिरियम्। दृष्टिः = नयनं, तृणीकृतजगत्त्रयसत्त्वसारा=तृणीकृतौ (तुच्छीकृतौ) जगत्त्रयस्य (लोकत्रितयस्य) सत्त्वसारौ (उत्साहबले) यया सा, धीरोद्धता=धीरा (धैर्ययुक्ता) उद्धता (दर्पसहिता) च, एतादृशी गतिः=गमनव्यापारः, धरित्रीं= भूमिं, नमयति इव = नतां करोति इव। कौमारके अपि=कुमारभावे अपि, गिरिवत्= पर्वतवत्, गुरुतां = गौरवं, भारवत्त्वमित्यर्थः। दधानः = धारयन्, अयं=सन्निकृष्टस्थः वीरो रसः, उत = अथवा दर्पः = अहङ्कारः, एति=आगच्छति। अत्रोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः। वसन्ततिलका वृत्तम्। धीरदृष्टया चित्रगत्या च कुशस्य विलासवत्त्व प्रतीयते।

माधुर्यं लक्षयति— **संक्षोभेष्विति**। संक्षोभेषु अपि = उद्वेगकारणेषु सत्स्वपि, अनुद्वेगः = उद्वेगाऽभावः, अचाञ्चल्यमित्यर्थः। माधुर्यं, परिकीर्तितम्। ऊह्यं = वितर्क्यम्॥ ५२॥

गाम्भीर्यं लक्षयति—**भीशोकक्रोधहर्षाद्यैरिति**। भीशोकक्रोधहर्षाद्यैः = भयमन्युक्रोपप्रमोदादिभिः, निर्विकारता = विकारराहित्यं, गाम्भीर्यम्।

उदाहरण - उत्तररामचरितमें कुशको देखकर श्रीरामचन्द्रजी कहते हैं! इसकी दृष्टि त्रैलोक्यके उत्साह और बलको तृणके समान समझनेवाली है, गम्भीर और उद्धत गति मानों धरतीको झुका रही है। बाल्याऽवस्थामें भी पर्वतके समान गुरुत्वको धारण करनेवाला यह बालक वीररस अथवा दर्प ही आ रहा है क्या?

माधुर्य—विकारकारणके उपस्थित होनेपर भी उद्वेग न होनेको "माधुर्य" कहते हैं॥ ५२॥

इसके उदाहरणका ऊह करना चाहिए।

गाम्भीर्य—भय, शोक, क्रोध और हर्ष आदिसे भी विकार न होनेको "गाम्भीर्य" कहते हैं।

यथा—

आहूतस्याभिषेकाय विसृष्टस्य वनाय च।
न मया लक्षितस्तस्य स्वल्पोऽप्याकारविभ्रमः ॥

व्यवसायादचलनं धैर्यं विघ्ने महत्यपि ॥ ५३ ॥

यथा—

श्रुताप्सरोगीतिरपि क्षणेऽस्मिन् हरः प्रसंख्यानपरो बभूव।
आत्मेश्वराणां न हि जातु विघ्नाः समाधिभेदप्रभवो भवन्ति ॥

अधिक्षेपापमानादेः प्रयुक्तस्य परेण यत्।

गाम्भीर्योदाहरणं यथा - **आहूतस्येति**। अभिषेकाय = यौवराज्याऽभिषेकाय, आहूतस्य=आकारितस्य, परं वनाय=वनं गन्तुं. विसृष्टस्य=परित्यक्तस्य तस्य=रामस्य, मया स्वल्पोऽपि=स्तोकोऽपि, आकारविभ्रमः = आकृतिचाञ्चल्यं, न लक्षितः = नाऽवलोकितः। अत्र शोकहर्षयोः प्रसक्तेऽपि विकाराऽभावाद्रामचन्द्रस्य गाम्भीर्यं लक्ष्यते।

धैर्यं लक्षयति—**व्यवसायादिति**। महति, विघ्ने = अन्तराये, उपस्थिते अपि; व्यवसायात् = उद्योगात्, अचलनं = स्खलनाऽभावः, धैर्यम्।

धैर्यमुदाहरति—**श्रुताप्सरोगीतिरिति**। कुमारसंभवस्य तृतीयसर्गस्थं पद्यमिदम्। अस्मिन् क्षणे = वसन्ताविर्भावाऽवसरे, हरः = महादेवः, श्रुताऽप्सरोगीतिरपि= श्रुता (आकर्णिता) अप्सरोगीतिः (अप्सरोगानम्) येन सः, तथाऽपि प्रसंख्यानपरः= समाधितत्परः, बभूव। हरो मन्मथोद्दीपकमप्सरोगानं श्रुत्वाऽपि समाधिप्रवणो बभूवेति भावः। उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेनाऽलङ्कारेण द्रढयति—हि = यस्मात्कारणात्, आत्मेश्वराणां = जितेन्द्रियाणां, विघ्नाः = अन्तरायाः, जातु = कदाचिदपि, समाधिभेदप्रभवः = समाधिभङ्गसमर्थाः, न भवन्ति। उपजातिवृत्तम्। अत्र अप्सरोगानश्रवणरूपे महाविघ्नेऽपि हरस्य समाधेरविरामरूपं धैर्यं प्रदर्शितम् ॥ ५३ ॥

तेजो लक्षयति—**अधिक्षेपाऽपमानादेरिति**। परेण = अन्येन, प्रयुक्तस्य =

उदाहरण—यौवराज्याऽभिषेकके लिए बुलानेपर और वनवासके लिए रुखसत करनेपर भी मैंने (दशरथ) में और रामचन्द्रमें थोड़ा भी फर्क नहीं देखा।

धैर्य—बड़े विघ्नके आ पड़नेपर भी उद्योगसे विचलित न होनेको "धैर्य" कहते हैं ॥ ५३ ॥

उदाहरण—कुमारसंभवमें महादेवजीकी तपस्याका वर्णन है। अप्सराओंका गाना सुनकर भी महादेवजी उस समय (तपोवनमें वसन्तऋतुका आविर्भाव होनेपर) समाधिमें तत्पर हुए, क्योंकि इन्द्रियोंको जीतनेवाले पुरुषोंकी समाधिको भङ्ग करनेके लिए विघ्न कभी भी समर्थ नहीं होते हैं।

तेज—दूसरेसे किये गये आक्षेप और अपमानको प्राण जानेके प्रसङ्गमें भी सहन

प्राणात्ययेऽप्यसहनं तत्तेजः समुदाहृतम् ॥ ५४ ॥
वाग्वेषयोर्मधुरता, तद्वच्छृङ्गारचेष्टितं ललितम् ।
दानं सप्रियभाषणमौदार्य्यं शत्रुमित्रयोः समता ॥ ५५ ॥

एषामुदाहरणान्यूह्यानि ।

अथ नायिका त्रिभेदा स्वाऽन्या साधारणा स्त्रीति ।
नायकसामान्यगुणैर्भवति यथासंभवैर्युक्ता ॥ ५६ ॥

नायिका पुनर्नायकसामान्यगुणैस्त्यागादिभिर्यथासम्भवैर्युक्ता भवति । सा च स्वस्त्री अन्यस्त्री साधारणस्त्रीति त्रिविधा ।

कृतस्य, अधिक्षेपाऽपमानादेः = अधिक्षेपस्य (निन्दावचनस्य) अपमानादेः (अवमानादेश्च) यत् प्राणाऽत्ययेऽपि = जीवननाशसंभावनायामपि, असहनम् = अमर्षणं, तत् तेजः समुदाहृतं = अभिहितम् ॥ ५४ ॥

ललितं लक्षयति—**वाग्वेषयोरिति** । वाग्वेषयोः=वाणीनेपथ्ययोः, मधुरता= सौन्दर्यं, तद्वत् शृङ्गारचेष्टितं=शृङ्गारचेष्टा, "ललितम्" । औदार्यं लक्षयति—**दानमिति** । सप्रियभाषणं=प्रियवाक्ययुक्तं दानं = वितरणं, शत्रुमित्रयोः = रिपुसुहृदोः, समता= तुल्यभावः "औदार्यम्" अभिहितम् ॥ ५५ ॥

एषां=तेजोललितौदार्याणाम्, उदाहरणानि, ऊह्यानि=वितर्क्याणि ॥ ५५ ॥

अथ नायिकां विभजति—**अथ नायिकेति** । नायिका स्वा = स्वकीया; अन्या=परकीया साधारणा = सामान्या स्त्री इति, त्रिभेदा = भेदत्रययुक्ता भवति । सा च यथासंभवैः = संभवानुसारिभिः, नायकसामान्यगुणैः = नेतृसाधारणगुणैः "त्यागी कृती कुलीन" इत्यादिभिः पूर्वकथितैः, युक्ता=सहिता भवति ॥ ५६ ॥

न करनेको "तेज" कहते हैं ॥ ५४ ॥

ललित—वचन और वेषकी मनोहरता और शृङ्गारकी चेष्टाको "ललित" कहते हैं ।

औदार्य—प्रियवचनके साथ दान, तथा शत्रु और मित्रमें समान भावको "औदार्य" कहते हैं ॥ ५५ ॥

इनके उदाहरणोंका ऊह करना चाहिए ।

नायिकाभेद—नायकके पूर्वोक्त त्याग आदि यथासंभव सामान्य गुणोंसे युक्त नायिका होती है । उसके तीन भेद होते हैं, स्वकीया (अपनी), परकीया (दूसरेकी) और साधारणा (वेश्या) ॥ ५६ ॥

तत्र स्वकीया—

विनयार्जवादियुक्ता गृहकर्मपरा पतिव्रता स्वीया ।

यथा—

'लज्जापज्जत्तपसाहणाइँ परभत्तिणिप्पिवासाइँ ।
अविणअदुम्मेधाइँ धण्णाण घरे कलत्ताइँ ॥
(लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परभर्तृनिष्पिपासानि ।
अबिनयदुर्मेधानि धन्यानां गृहे कलत्राणि ॥)

साऽपि कथिता त्रिभेदा मुग्धा मध्या प्रगल्भेति ॥ ५७ ॥

तत्र—

प्रथमावतीर्णयौवनमदनविकारा रतौ वामा ।

स्वकीयां लक्षयति—**विनयार्जवादियुक्तेति ।** विनयाऽऽर्जवादियुक्ता=विनयेन (नम्रतया आर्जवेन (ऋजुभावेन) सरलतयेत्यर्थः, तदादिगुणैः, युक्ता एवं च गृह-कर्मपरा=गेहव्यापारकरणतत्परा, स्वीया=स्वस्त्री, भवति ।

स्वीयामुदाहरति—**लज्जेति ।** लज्जापर्याप्तप्रसाधनानि परभर्तृनिष्पिपासानि । अबिनयदुर्मेधानि धन्यानां गृहे कलत्राणि "(संस्कृतच्छाया) । लज्जापर्याप्तप्रसाध-नानि=लज्जा एव (व्रीडा एव) पर्याप्तं (यथेष्टम्) प्रसाधनम् (अलङ्कारः) येषां तानि, परभर्तृनिष्पिपासानि=परभर्तृषु (परपुरुषेषु) निष्पिपासानि (अभिलाषरहितानि), अबिनयदुर्मेधानि=अबिनये (अनम्रतायाम्) दुर्मेधानि=(अज्ञानि) एतादृशानि कलत्राणि= भार्याः, "कलत्रं श्रोणिभार्ययोः" इत्यमरः । धन्यानां=पुण्यवतां, गृहे=भवने, भवन्तीति शेषः ॥ गाथा वृत्तम् ।

स्वीयां विभजति—**साऽपीति ।** साऽपि = स्वीया नायिकाऽपि, मुग्धादिभेदैः त्रिभेदा = भेदत्रयवती, कथिता ॥ ५७ ॥

तत्र मुग्धाया विभागानाह—**प्रथमेति ।** प्रथमाऽवतीर्णयौवनमदनविकारा = प्रथमाऽवतीर्णयौवना (प्रथम=प्राक्, अवतीर्णम्=उत्पन्न, यौवनं = तारुण्य यस्याः सा)

स्वकीया—नम्रता, सरलता आदि गुणोसे युक्त, गृहकर्ममें तत्पर पतिव्रता स्त्रीको स्वीया (स्वकीया) कहते हैं ।

उदाहरण—लज्जारूप पर्याप्त भूषणवाली, परपुरुषकी तृष्णासे रहित, अविनयकी बुद्धिसे हीन अर्थात् विनीत ऐसी पत्नी भाग्यवान् पुरुषके घरमें होती है ।

स्वकीया के भेद—मुग्धा, मध्या और प्रगल्भा इस प्रकार स्वकीयाके तीन भेद होते है ॥ ५७ ॥

मुग्धाके भेद—प्रथमाऽवतीर्णयौवना (पहले आविर्भूत तारुण्यवाली) १, प्रथमाऽवतीर्णमदनविकारा (पहले आविर्भूत कामविकारसे युक्त) २, रमणमें कुटिल

कथिता मृदुश्च माने समधिकलज्जावती मुग्धा ॥ ५८ ॥

तत्र प्रथमावतीर्णयौवना यथा मम तातपादानाम्—

मध्यस्य प्रथिमानमेति जघनं, वक्षोजयोर्मन्दता
दूरं यात्युदरं च, रोमलतिका नेत्रार्जवं धावति।
कन्दर्पं परिवीक्ष्य नूतनमनोराज्याभिषिक्तं क्षणा-
दङ्गानीव परस्परं विदधते निर्लुण्ठनं सुभ्रुवः ॥

१. प्रथमाऽवतीर्णमदनविकारा = प्रथमाऽवतीर्णः (प्रागुत्पन्नः), मदनविकारः (मन्मथविकृतिः) यस्याः सा २. रतौ = रमणे, वामा = कुटिला, प्रतिकूलेत्यर्थः ३. माने = प्रणयकोपे, मृदुः=कोमला. ४ समधिकलज्जावती=प्रचुरव्रीडोपेता ५. मुग्धाया इति भेदाः भवन्ति ॥ ५८ ॥

इत्थं च मुग्धायाः पञ्चभेदाः प्रकीर्तिताः। तत्र प्रथमाऽवतीर्णयौवनामुदाहरति मध्यस्येति।

जघनं = कटिपुरोभागः, सुभ्रुव इति भावः, एवं परत्राऽपि। मध्यस्य = अवलग्नस्य, प्रथिमानं = पृथुत्व, स्थूलत्वमिति भावः। एति = प्राप्नोति। सुभ्रुवो मध्यस्य या पृथुता सा जघनं प्राप्नोति, अतः मध्यं कृशं, जघनं सुन्दर्याः स्थूलं वर्तत इति भावः। वक्षोजयोः = सुभ्रुवः पयोधरयोः, मन्दता = अल्पता, दूरम् = अत्यन्तम्, उदरं=जठरं, याति = प्राप्नोति, उदरस्य स्थूलता पयोधरौ प्राप्नोतीति भावः। रोमलतिका = लोमराजिः, नेत्राऽऽर्जवं = नयनसरलतां, धावति = शीघ्रं गच्छति, नेत्रे च रोमलतिकायाः कौटिल्यं प्राप्नुत इति भावः। अतः सुभ्रुवः=सुन्दर्याः, अङ्गानि = जघनादयो देहावयवाः, कन्दर्पं = कामदेवं, नूतनमनोराज्याऽभिषिक्तं = प्रत्यग्रचेतोराज्ये गृहीताऽभिषेकं, परिवीक्ष्य = दृष्ट्वा, परस्परम् = अन्योन्यं, निर्लुण्ठनं=परिमोषणव्यापारम्, अन्योन्यवस्त्वपहरणं, विदधते इव = कुर्वन्ति इव। उत्सवे जना यथा मिथः पदार्थाऽपहरणं कुर्वन्ति तथैव सुन्दर्या अङ्गान्यपि मिथो गुणाऽपहरणं कुर्वन्तीति भावः। ग्रन्थकारस्य तातपादानां पद्यमिदम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। अत्रोत्प्रेक्षाऽलङ्कारः।

(प्रतिबन्धडालनेवाली) ३. अभिमान करनेमें कोमल स्वभाववाली ४. और अधिक लज्जासे युक्त ५ ये पाँच भेद होते हैं। प्रथमाऽवतीर्णयौवना मुग्धाका उदाहरण ग्रन्थकारके पिताका है कमरकी स्थूलताको सुन्दरीके कटिका पूर्वभाग ले रहा है, स्तनोंकी मन्दता दूर उदरको प्राप्त कर रही है। रोमपङ्क्ति नेत्रोंकी सरलताको प्राप्त करती है। कामदेवको नूतन मनके राज्यमें अभिषिक्त देखकर सुन्दरीके अङ्ग मानों परस्पर वस्तुकी लूटखसोट कर रहें हैं।

प्रथमावतीर्णमदनविकारा यथा मम प्रभावतीपरिणये—

दत्ते सालसमन्थरं भुवि पदं, निर्याति नान्तःपुरात्,
नोद्दामं हसति, क्षणात्कलयते ह्रीयन्त्रणां कामपि।
किंचिद्भावगभीरवक्रिमलवस्पृष्टं मनाग्भाषते,
सभ्रूभङ्गमुदीक्षते प्रियकथामुल्लापयन्तीं सखीम्॥

रतौ वामा यथा—

'दृष्टा दृष्टिमधो ददाति, कुरुते नालापमाभाषिता,
शय्यायां परिवृत्य तिष्ठति, बलादालिङ्गिता वेपते।

प्रथमाऽवतीर्णमदनविकारामुदाहरति—**दत्ते** इति।

विश्वनाथकविराजस्य प्रभावतीपरिणयनाटकस्थं पद्यमिदम्।

सा = प्रभावती, भुवि = भूमौ, अलसमन्थरम् = अलसम् (आलस्यपूर्णम्) अत एव मन्थरम् (मन्दं यथा तथा), पदं = चरणं, दत्ते = स्थापयति। अन्तःपुरात्= अवरोधात्, न निर्याति = नो निर्गच्छति। उद्दामम् = उद्धतं, न हसति = हास्यं न करोति। क्षणात् = अल्पकालादेव, कामपि = अनिर्वचनीयां, ह्रीयन्त्रणां = लज्जाजनित-पीडां, कलयते = अनुभवति। किञ्चिद्भावगभीरवक्रिमलवस्पृष्टं = (किञ्चित् यथा स्या-त्तथा, यो भावः = अभिप्रायः, तेन गभीरः = गम्भीरः, दुर्बोध इति भावः, एतादृशो यो वक्रिमा = कुटिलत्वं तस्य लवः = लेशः, तेन स्पृष्टं=संसर्गयुक्तम्) मनाक् = ईषत्; भाषते = वदति। प्रियकथां = वल्लभचर्चाम्, उल्लासयन्तीं = प्रकाशयन्तीं, सखीं = स्ववयस्यां, सभ्रूभङ्गं=भ्रूभङ्गव्यापारसहितं यथा तथा, उद्वीक्षते = उत्पश्यति। शार्दूल-विक्रीडितं वृत्तम्। रतौ वामामुदाहरति—**दृष्टेति**। नवोढा = नूतनपरिणीता, प्रिया= वल्लभा, दृष्टा = विलोकिता सती, मयेति शेषः, एवमन्यत्राऽपि। दृष्टिं=नेत्रम्, अधः= अधोभागे, ददाति, आभाषिता = आलपिता सती, आलापम् = आभाषणं, न कुरुते = नो विदधाति, न प्रतिभाषत इति भावः। शय्यायां = शयने, परिवृत्य=परिवर्तनं कृत्वा, पराङ्मुख्यं कृत्वेति भावः। तिष्ठति = स्थितिं भजति। बलात् = हठात्, आलिङ्गिता =

प्रथमाऽवतीर्णमदनविकारा—(पहले आविर्भूत कामविकारवाली स्वकीया) का उदाहरण ग्रन्थकाररचित प्रभावतीपरिणयमें स्थित—

वह (प्रभावती) जमीनपर आलस्यपूर्वक धीरे धीरे पैर रखती है, अन्तःपुरसे बाहर नहीं निकलती है, उद्धत भावसे नहीं हँसती है, थोड़े ही समयमें लज्जासे अनिर्वचनीय पीडाका अनुभव करती है, कुछ अभिप्रायसे गम्भीर कुछ कुटिलतासे युक्त होकर थोड़ा ही भाषण करती है; अपने प्रियकी चर्चा करती हुई सखीको भौंहोंको कुटिल कर देखती है।

रमणक्रियामें कुटिल स्वकीया—कोई नायक नवपरिणीता पत्नीका चरित्र अपने मित्रसे कहता है। नवपरिणयवाली मेरी प्रिया मेरे देखनेपर नजर नीची करती

निर्यान्तीषु सखीषु वासभवनान्निर्गन्तुमेवेहते,
जाता वामतयेव संप्रति मम प्रीत्यै नवोढा प्रिया ॥'

मानें मृदुर्यथा—

'सा पत्युः प्रथमापराधसमये सख्योपदेशं विना
नो जानाति सविभ्रमाङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनम् ।
स्वच्छैरच्छकपोलमूलगलितैः पर्यस्तनेत्रोत्पला
बाला केवलमेव रोदिति लुठल्लोलालकैरश्रुभिः ॥

आश्लिष्टा सती, वेपते = कम्पते । सखीषु = वयस्यासु, वासभवनात् = गर्भाऽगारात्, निर्यान्तीषु = निर्गच्छन्तीषु सतीषु, निर्गन्तुं = निर्गतुम् एव, ईहते=चेष्टते । इत्थं च नवोढा = प्रिया, सम्प्रति = अधुना, वामतया एव = रतौ प्रतिकूलतया एव, मम = नायकस्य, प्रीत्यै = हर्षाय, जाता = संवृत्ता । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

माने मृदुमुदाहरति—**सा पत्युरिति** । सा = बाला, पत्युः = वल्लभस्य, प्रथमाऽपराधसमये = प्राथमिकनायिकान्तरसहवासज्ञानकाले, सख्योपदेशं (सख्येन सुहृद्भावेन) य उपदेशः (शिक्षाप्रदानम्), तं विना, सविभ्रमाऽङ्गवलनावक्रोक्तिसंसूचनं = सविभ्रमा (सविलासा) या अङ्गवलना (देहाऽवयवपरावर्तनम्, असंमुखत्वमितिभावः), सा च वक्रोक्तिश्च (कुटिलोक्तिश्च) तयोः संसूचनम् (प्रकाशम्) नो जानाति = नो वेत्ति । तर्हि किं कुरुत इत्याह—**स्वच्छैरिति** । स्वच्छैः = अतिनिर्मलैः, अच्छकपोलमूलगलितैः = अच्छयोः (निर्मलयोः) कपोलयोः (गण्डफलकयोः) मूलात् (प्रान्तात्) गलितैः (अवस्रस्तैः), लुठल्लोलाऽलकैः = लुठन्तः (परिवर्तमानाः) लोलाः (चञ्चलाः) अलकाः (चूर्णकुन्तलाः) येषु तानि, तैः, तादृशैः अश्रुभिः = बाष्पैः, पर्यस्तनेत्रोत्पला = पर्यस्ते (आकुले) नेत्रोत्पले (नयकमले) यस्याः सा तादृशी सती, केवलं रोदिति एव = अश्रूणि मुञ्चति एव, न कञ्चिदुपायं जानातीति भावः । एतेन माने मृदुत्वं प्रतीयते । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

है, मेरे बोलनेपर भी बात नहीं करती है, बिछौनेपर मुँह फेरकर बैठती है, जबर्दस्तीसे आलिङ्गन करनेपर काँपती है, कमरेसे सखियोंके निकलनेपर वह भी वहाँसे निकलना ही चाहती है । नवपरिणयवाली मेरी प्रिया इस समय रमणमें कुटिलतासे ही मेरी प्रीतिके लिए हो रही है ।

मानमें मृदु—वह (युवति) अपने पतिके पहले अपराध (दूसरी नायिकासे-सम्पर्क) के समयमें सखीके उपदेशके विना विलासपूर्वक शरीरको सम्मुख न करना और कुटिल वचन कहना कुछ भी नहीं जानती हैं । निर्मल कपोलोंके प्रान्तभागसे गिरे हुए, चञ्चल अलकोंसे सम्बद्ध निर्मल आँसुओंसे आकुल नेत्रकमलोंसे युक्त होकर केवल रोती है ।

समधिकलज्जावती यथा—

'दत्ते सालसमन्थरम्--' इत्यत्र (१३४ पृ०) श्लोके।

अत्र समधिकलज्जावतीत्वेनापि लब्धाया रतिवामताया विच्छित्ति-विशेषवत्तया पुनः कथनम्।

अथ मध्या—

मध्या विचित्रसुरता प्ररूढस्मरयौवना।
ईषत्प्रगल्भवचना मध्यमव्रीडिता मता॥ ५९॥

विचित्रसुरता यथा—

'कान्ते तथा कथमपि प्रथितं मृगाक्ष्या चातुर्यमुद्धतमनोभवया रतेषु।

समधिकलज्जावती यथा—"दत्ते सालसमन्थरम्०" इत्यत्र (पृ० १३४) श्लोके विच्छित्तिविशेषवत्तया चमत्काराधिक्यवत्त्वेन।

मध्याभेदान्निर्दिशति—**मध्येति**। विचित्रसुरता=अद्भुतनिधुवना १. प्ररूढस्मर-यौवना = प्ररूढस्मरा (सञ्जातमदनाविर्भावा) २. प्ररूढयौवना (आविर्भूततारुण्या) ३. ईषत्प्रगल्भवचना = स्तोकधृष्टभाषिणी, ४. मध्यमव्रीडिता = मध्यमं व्रीडितं (लज्जा) यस्याः सा, एतादृशी नायिका, ५. मध्या मता = अभिमता, इत्थं च मध्यायाः पञ्च भेदाः। व्रीडितमित्यत्र व्रीडनं व्रीडितं, "नपुंसके भावे क्त" इति क्त-प्रत्ययः॥ ५९॥

तत्र विचित्रसुरतां मध्यामुदाहरति। **कान्ते तथेति**। उद्धतमनोभवया = उद्धतः (अतिशयितः) मनोभवः (मदनः) यस्याः सा, तया मृगाक्ष्या = हरिणनयनया, सुन्दर्या इत्यर्थः। रतेषु = निधुवनव्यापारेषु, कान्ते = वल्लभे, तथा = तेन प्रकारेण, कथमपि = केनाऽपि प्रकारेण, चातुर्यं = नैपुण्यं, भणितस्येति शेषः। प्रथितं = प्रका-

समधिकलज्जावती—"दत्ते साऽलसमन्थरम्" (पृष्ठ १३४)। यहाँपर अत्यन्त लज्जावाली होनेसे रतिमें वामताकी होनेपर भी अधिक चमत्कार होनेमें रतिवामताका पृथक् उदाहरण दिया गया है।

मध्याभेद—विचित्रसुरता, प्ररूढस्मरा, प्ररूढयौवना, ईषत्प्रगल्भवचना और मध्यमव्रीडिता इसप्रकार मध्याके पाँच भेद होते हैं॥ ५९॥

विचित्रसुरता—जिसका अनूठा सुरत (रमण) होता है उसे "विचित्र-सुरता" कहते हैं। जैसे—कोई स्त्री अपनी सखीको कहती है—उत्कट स्मरविकारवाली सुन्दरीने रतिक्रीडाओंमें प्रियमें वैसी चतुरता किसी प्रकारसे दरसाई जैसे कि उसके

तत्कूजितान्यनुवदद्भिरनेकवारं शिष्यायितं गृहकपोतशतैर्यथाऽस्याः ॥'

प्ररूढस्मरा यथात्रैवोदाहरणे ।

प्ररूढयौवना यथा मम—

'नेत्रे खञ्जनगञ्जने, सरसिजप्रत्यर्थि पाणिद्वयं,
वक्षोजौ करिकुम्भविभ्रमकरीमत्युन्नतिं गच्छतः ।
कान्तिः काञ्चनचम्पकप्रतिनिधिर्वाणी सुधास्यन्दिनी,
स्मेरेन्दीवरदामसोदरवपुस्तस्याः कटाक्षच्छटा ॥'

एवमन्यत्रापि ।

शितम् तत्कूजितानि = तस्याः (मृगाक्ष्याः) कूजितानि (भणितरूपाणीति भावः) । अनेकवारं = बहुवारम्, अनुवदद्भिः = अनुवाद कुर्वद्भिः, अनुकुर्वद्भिरिति भावः । गृहकपोतशतैः = गृहे (भवने) ये कपोताः (पारावताः) तेषां शतैः (वर्गैः), अस्याः = मृगाक्ष्याः, शिष्यायित = शिष्यवदाचरितम् । वसन्ततिलका वृत्तम् । प्ररूढस्मरेति । अत्रैव = "कान्ते तथा" इत्यादिपद्ये "उद्धतमनोभवया" इति कथनेन ।

प्ररूढयौवनामुदाहरति—नेत्रे इति । तस्याः = मध्याऽऽख्याया नायिकायाः, नेत्रे = नयने, खञ्जनगञ्जने = खञ्जरीटपराभवकारिणी, तस्या नेत्रे खञ्जननेत्राभ्यामपि मनोहरतरे इति भावः । पाणिद्वयं = करद्वय, सरसिजप्रत्यर्थि = कमलप्रतिस्पर्धीति भावः । वक्षोजौ = पयोधरौ, करिकुम्भविभ्रमकरी = हस्तिमस्तकपिण्डविलासकारिणीम्, अत्युन्नतिम् = अत्युच्चता, गच्छतः = प्राप्नुतः, कान्तिः = शरीरशोभा, काञ्चनचम्पकप्रतिनिधिः = सुवर्णचम्पकसदृशी, वाणी = वाक्, सुधास्यन्दिनी = अमृतवर्षिणी, एवं च तस्याः कटाक्षच्छटा = अपाङ्गदर्शनधारा, स्मेरेन्दीवरदामसोदरवपुः = स्मेरं (विकसितम्) यत् इन्दीवरदाम (नीलकमलमाला) तस्याः सोदर (सदृशम्) वपुः (स्वरूपम्) यस्याः सा, तादृशी, वर्तत इति शेषः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । इत्थं यौवनस्य प्ररूढत्वेन नायिकायाः प्ररूढयौवनात्वं सम्पद्यत इति भावः । एवम् = इत्थमेव, अन्यत्राऽपि = ईषत्प्रगल्भवचनामध्यमव्रीडितयोरपि, उदाहरणे संग्राह्ये ।

रतिकूजितका नकल करते हुए घरके सैकड़ो कबूतरोंने उसके शिष्योंके समान आचरण किया ।

प्ररूढस्मरा—इसी उदाहरणमें स्पष्ट है ।

प्ररूढयौवना—जैसे ग्रन्थकारका है—उस नायिकाके नेत्र खञ्जन पक्षीको मात करनेवाले है, दोनों हाथ कमलोंका मुकाबला करनेवाले हैं, पयोधर हाथीके कुम्भस्थलोंके विलासको पैदा करनेवाली अत्यन्त ऊँचाईको प्राप्त करते हैं । इसकी कान्ति सुवर्ण और चम्पक पुष्पके समान है, वाणी अमृतकी वृष्टि करनेवाली है और कटाक्षोंकी परम्परा विकसित नीलकमलोंकी मालाके समान सुन्दर है ।

इसी प्रकार अन्य उदाहरणोंका भी ऊह करना चाहिए ।

अथ प्रगल्भा—

स्मरान्धा गाढतारुण्या समस्तरतकोविदा ।
भावोन्नता दरव्रीडा प्रगल्भाक्रान्तनायका ।। ९० ।।

स्मरान्धा यथा—

'धन्यासि या कथयसि प्रियसंगमेऽपि
विश्रब्धचाटुकशतानि रतान्तरेषु ।
नीवीं प्रति प्रणिहिते तु करे प्रियेण
सख्यः ! शपामि यदि किंचिदपि स्मरामि ।।

अथ प्रगल्भां लक्षयति—**स्मरान्धेति ।** प्रकर्षेण गल्भतः = स्मराऽतिशयेन धाष्टर्यं प्रकर्शयतीति प्रगल्भेति यौगिकोऽर्थः । प्रगल्भा षड्विधा, यथा स्मराऽन्धा, गाढतारुण्या, समस्तरतकोविदा भावोन्नता, दरव्रीडा आक्रान्तनायका चेति ।

तत्र स्मरान्धा यथा—**धन्याऽसीति ।** सखीषु रमणसमये आलापकारिणीं काञ्चिदुपहसन्त्याः कस्याश्चिन्नायिकाया उक्तिरियम् । या = त्वं, प्रियसङ्गमे = प्रियसमागमकाले, रताऽन्तरेषु अपि = रतं (रमणम्), तस्य अन्तरेषु अपि (मध्यकालेषु अपि, न आदौ न अन्ते प्रत्युत मध्यकालेषु अनिर्वचनीयानन्दानुभूतिसमयेष्वपि) विश्रब्धचाटुकशतानि = विस्रब्धेन (विश्वासेन) चाटुकशतानि (बहूनि प्रियवचनानि), कथयसि=वदसि, तादृशी त्वं धन्याऽसि=भाग्यवती वर्तसे, वस्तुतस्तु तादृशाऽनिर्वचनीयसुखाऽनुभूतिसमयेऽपि भाषणशीलत्वात् अधन्याऽसीति तात्पर्यम् । तत्प्रसङ्गात् स्वाऽनुभूतिं सखीषु प्रतिपादयति—हे सख्यः = हे वयस्याः । तु = परन्तु, प्रियेण = कान्तेन; नीवीं प्रति = मम वसनग्रन्थिं प्रति, करे = हस्ते, प्रणिहिते = नीवीमोक्षाय स्थापित एव, किञ्चित्, स्मरामि यदि = स्मरणं करोमि चेत्, अहमिति शेषः । तर्हि शपामि = शपथं करोमि । अत्र कान्तेन स्वनीवीं प्रति करप्रणिधानानन्तरभववृत्तस्य स्मरणाऽभावान्नायिकायाः स्मराऽन्धत्वं प्रतीयते । अत्र शपामीत्यत्र "शप आक्रोशे" इति धातुरुभयपदी वर्तते, परं "शप उपालम्भे" इति वार्तिकेन शपधातुरुपालम्भ आत्मनेपदी, परन्तु उपलम्भनमित्यस्य प्रकाशनमर्थः, अतः शपथप्रकाशने आत्मनेपदी, अत्र तु शपथमात्रस्य विवक्षितत्वात्परस्मैपदीति बोध्यम् । अत्र कथयित्री स्मरान्धा बोध्या । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

प्रगल्भाभेद—स्मरान्धा (कामविकारसे अन्धप्राया), गाढतारुण्या (प्रगाढ जवानीवाली) समस्तरतकोविदा = संपूर्ण रतिक्रीडाओंकी जानकार, भावोन्नता दरव्रीडा (थोड़ी लज्जावाली) और आक्रान्तनायका (नायकको आज्ञा देनेसे अतिक्रमण करनेवाली प्रगल्भाके ये छः भेद होते हैं ।। ९० ।।

स्मरान्धा—कोई स्त्री अपनी सखीको कह रही है । सखि ! तुम धन्य हो, जो कि प्रियके संगममें रतिके मध्यकालोंमें भी विश्वासपूर्वक सैकड़ों प्रियवचन कहती हो । मैं तो वस्त्रग्रन्थिमें प्रियके हाथ रखनेपर कुछ भी याद रखती हो तो कसम खाती हूँ ।

गाढतारुण्या यथा—

'अत्युन्नतस्तनमुरो नयने सुदीर्घे, वक्रे भ्रुवावतितरां, वचनं ततोऽपि।
मध्योऽधिकं तनुरनूनगुरुर्नितम्बो मन्दा गतिः किमपि चाद्भुतयौवनायाः॥'

समस्तरतकोविदा यथा—

'क्वचित्ताम्बूलाक्तः, क्वचिदगुरुपङ्काङ्कमलिनः,
क्वचिच्चूर्णोद्गारी, क्वचिदपि च सालक्तकपदः।
वलीभङ्गाभोगैरलकपतितैः शीर्णकुसुमैः
स्त्रियाः सर्वावस्थं कथयति रतं प्रच्छदपटः॥'

गाढतारुण्यामुदाहरति। अद्भुतयौवनायाः=विचित्रतारुण्यायाः, अस्या नायिकायाः, उरः = वक्षःस्थलम्, अत्युन्नतस्तनम्=अत्युन्नतौ (अत्युच्चौ) स्तनौ (कुचौ) यस्मिंस्तत्। नयने=नेत्रे, सुदीर्घे=अत्यायते, भ्रुवौ = अक्षिलोमनी, वक्रे = मध्यमम्, वचनं=वाक्यं, ततोऽपि=भ्रुयुगादपि, अतितरां वक्रतरमिति भावः। मध्यः = मध्यमम्, अधिकं यथा तथा, तनुः = कृशः, नितम्बः = कटिपश्चाद्भागः, अनूनगुरुः = अधिकविशालः, गतिश्च=गमनं च, किमपि = यथा स्यात्तथा, मन्दा = मन्थरा। अत्र प्रगल्भाया उरसोऽत्युन्नतस्तनत्वेन, नितम्बस्य च अनूनगुरुत्वेन गाढतारुण्यं प्रतीयते। वसन्ततिलका वृत्तम्।

समस्तरतकोविदामुदाहरति— **क्वचिदिति।** क्वचित् = कुत्रचित् स्थाने, ताम्बूलाक्तः = नागवल्लीदलरागयुक्तः, क्वचित् अगुरुपङ्काऽङ्कमलिनः = अगुरुपङ्कस्य (कृष्णाऽगुरुद्रवस्य) यः अङ्कः (चिह्नम्) तेन मलिनः (मलीमसः)। क्वचित् चूर्णोद्गारी=चूर्णम् (पिष्टाताऽऽदिक गन्धद्रव्यम्) उद्गिरतीति (निःसारयतीति)। क्वचित् अपि च साऽलक्तकपदः=अलक्तकपदेन (लाक्षारसचिह्नेन) सहितः। वलीभङ्गाभोगैः = चन्दनचर्चितैः, उदररेखात्रयविस्तारैः, उपलक्षितः, अलकपतितैः = अलकेभ्य. (चूर्णकुन्तलेभ्यः) पतितैः (स्रस्तैः)। शीर्णकुसुमैः = उपमर्दितपुष्पैः, उपलक्षितः, "इत्थंभूतलक्षणे" इति तृतीया। एतादृशः प्रच्छदपटः = शय्याऽऽस्तरणवस्त्र, स्त्रियाः=रमण्याः, सर्वाऽवस्थं = सकलप्रकारं, रतं = रमणं, कथयति = प्रका-

---

गाढतारुण्या—अद्भुत तारुण्यसे युक्त उस सुन्दरीका वक्षःस्थल अतिशय उन्नत कुचोसे शोभित है, नेत्र विशाल हैं, भौंहें अत्यन्त कुटिल (टेढ़ी) है, वचन उनसे भी कुटिल है, कमर बहुत ही पतली है, नितम्ब (कटिका पिछला भाग) ज्यादा भारी और गति अतिशय मन्द है।

समस्तरतकोविदा-शय्यापर बिछानेकी चद्दर, कहींपर पानसे लिप्त, कहींपर अगुरुके पङ्कसे मलिन, कहींपर पिष्टात आदि सुगन्धित पदार्थोंके चूर्णोंवाली कहींपर महावरसे रगे पैरोंके चिह्नसे युक्त, कहींपर चन्दनचर्चित तीन उदररेखाओंके

भावोन्नता यथा—

'मधुरवचनैः सभ्रूभङ्गैः कृताङ्गुलितर्जनै-
रभसरचितैरङ्गन्यासैर्महोत्सवबन्धुभिः ।
असकृदसकृत्स्फारस्फारैरपाङ्गविलोकितै-
स्त्रिभुवनजये सा पञ्चेषोः करोति सहायताम् ॥'

स्वल्पव्रीडा यथा—

'धन्यासि या कथयसि—' इत्यत्रैव (१३८ पृ०)

आक्रान्तनायका यथा—

'स्वामिन् ! भङ्गुरयालकं, सतिलकं भालं विलासिन् ! कुरु ,
प्राणेश ! त्रुटितं पयोधरतटे हारं पुनर्योजय ।
इत्युक्त्वा सुरतावसानसमये सम्पूर्णचन्द्रानना

शयति एतेन नायिकाया बहुविधरतचौननेन समस्तरतकोविदात्वं प्रतीयते । अत्र समस्तपदं बह्वर्थकम् । शिखरिणीवृत्तम् ।

भावोन्नतामुदाहरति—**मधुरवचनैरिति** । सा = नायिका, सभ्रूभङ्गैः = भ्रूविलासोपेतैः, मधुरवचनैः = मनोहरवाक्यैः, कृताऽङ्गुलितर्जनैः = कृतानि (विहितानि) अङ्गुल्या (करशाखया) तर्जनानि (भर्त्सनसूचनानि) येषु तैः, रभसरचितैः=हर्षकृतैः, महोत्सवबन्धुभिः = महोत्सवसहायैः, अङ्गन्यासैः = देहाऽवयवविक्षेपैः, असकृत् असकृत्=वारं वार, स्फारस्फारैः = अतिदीर्घैः, अपाङ्गविलोकितैः = कटाक्षविलोकनैः, त्रिभुवनजये = लोकत्रयविजये, पञ्चेषोः = पञ्चबाणस्य, कामदेवस्येत्यर्थः । सहायतां = साहाय्यं, करोति = विदधाति । हरिणी छन्दः । भ्रूभङ्गादिभिः भावैः (अनुभावैः) इयमुन्नता । हरिणी वृत्तम् ।

स्वल्पव्रीडा यथा—**धन्याऽसि या०** इति । सखीसमक्षं प्रियसङ्गमवृत्तान्तसूचनादियं स्वल्पव्रीडा ।

आक्रान्तनायकामुदाहरति **स्वामिन्निति** । संपूर्णचन्द्रानना = संपूर्णचन्द्रः (षोडशकलोपेतश्चन्द्रः) इव आननं (मुखम्) यस्याः सा । तादृशी नायिका, सुरताऽवसानसमये = रतिसमाप्तिकाले, स्वामिन् = हे प्रभो ! अलकं = मदीयं चूर्ण-

---

विस्तारोंसे उपलक्षित, और कहींपर अलकोंसे गिरे हुए फूलोंसे उपलक्षित होकर स्त्रीके अनेक प्रकारकी रतिक्रीडाको सूचित करती है ।

भावोन्नता—वह (नायिका) मधुर वचनोंसे, भ्रूभङ्गपूर्वक उंगली उठाकर तर्जनोंसे, हर्षसे किये गये, महोत्सवके सहायक अङ्गन्यासोंसे बारंबार अतिदीर्घ कटाक्षपूर्वक निरीक्षणोंसे कामदेवके त्रैलोक्यविजयमें सहायता करती है ।

वरव्रीडा (स्वल्पव्रीडा)—"धन्याऽसि यां कथयसि०" (पृ० १३८) ।

आक्रान्तनायका—सोलह कलाओंसे युक्त चन्द्रके समान मुखसे शोभित

स्पृष्टा तेन तथैव जातपुलका प्राप्ता पुनर्मोहनम् ॥'

मध्याप्रगल्भयोर्भेदान्तराण्याह—

ते धीरा चाप्यधीरा च धीराधीरेति षड्विधे ।

ते मध्याप्रगल्भे ।

तत्र—

प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या मध्या धीरा दहेद्रुषा ॥ ६१ ॥

धीराधीरा तु रुदितैरधीरा परुषोक्तिभिः ।

कुन्तलं भङ्गुरय = भङ्गीयुक्तं कुरु, हे विलासिन् = हे विलसनशील ! भालं = मम ललाटं, सतिलकं = तिलकयुक्तं, कुरु = विधेहि, हे प्राणेश = हे प्राणनाथ !, त्रुटित=छिन्नं हार, पयोधरतटे = मम स्तनतटे, पुनः = भूयः, योजय = संयोजय, इति = इत्थम्, उक्त्वा = अभिधाय, तेन = स्वामिना, तथा एव = तेन प्रकारेण एव, उक्तानुसारम् एवेति भावः, स्पृष्टा = तत्तत्स्थानेषु आमृष्टा, जातपुलका = सञ्जातरोमाञ्चा सती, पुनः = भूयः, मोहनं = पुनरपि रतिलीलया वैचित्र्य, प्राप्ता = आसादितवती । अत्र स्वामिन्नित्याज्ञाकरणात् इयमाक्रान्तनायका ॥ ६० ॥

ते धीरा इति । ते = मध्याप्रगल्भे, धीरा, अधीरा धीराऽधीरा चेति षड्विधे = षट्प्रकारे ।

मध्याधीरां लक्षयति—**प्रियमिति ।** मध्याधीरा नायिका, रुषा = क्रोधेन नायिकान्तरसम्पर्कज्ञानजनितेनेति शेषः । सोत्प्रासवक्रोक्त्या = सोत्प्रासया (ईषद्धास्यसहितया) वक्रोक्त्या (कुटिलोक्त्या), प्रियं = कान्तं, दहेत् = तापयेत् ॥ ६१ ॥

मध्या धीराऽधीरां लक्षयति—मध्या धीराऽधीरा तु रुदितैः = अश्रुमोचनैः, प्रिय दहेत् ।

सुन्दरीने रतिक्रीडाके अन्तमें पतिको "हे स्वामिन् ! मेरे अलकोंको फिर सजाइए, हे विलासशील ! मेरे ललाटमें तिलक लगा दीजिए, हे प्राणेश्वर ! मेरे स्तनतटमें टूटे हुए हारको फिर जोड़ दीजिए", ऐसा कहा तब पतिके इसी तरह स्पर्श करनेसे रोमाञ्चयुक्त होकर वह फिर मोहको प्राप्त हुई ।

मध्या और **प्रगल्भा** नायिकाके अन्य भेदोंको कहते हैं—**मध्या और प्रगल्भाके धीरा, अधीरा** और **धीराऽधीरा** इस प्रकार छः भेद होते हैं ।

उनमें—मध्याधीरा क्रोधसे मन्दहास्यके साथ कुटिल उक्तिसे प्रियको सन्तप्त करेगी ॥ ६१ ॥

धीराऽधीरा रोदनोंसे और अधीरा नायिका कठोर वचनोंसे प्रियको सन्तप्त करेगी।

तत्र मध्या धीरा यथा—

'तदवितथमवादीर्यन्मम त्वं प्रियेति
प्रियजनपरिभुक्तं यद् दुकूलं दधानः ।
मदधिवसतिमागाः कामिनां मण्डनश्री-
र्व्रजति हि सफलत्वं वल्लभालोकनेन ॥'

मध्यैव धीराधीरा यथा—

'बाले ! नाथ ! विमुञ्च मानिनि ! रुषं, रोषान्मया किं कृतं ?
खेदोऽस्मासु, न मेऽपराध्यति भवान् सर्वेऽपराधा मयि ।

मध्याऽधीरां लक्षयति—अधीरेति । मध्याऽधीरा; परुषोक्तिभिः=कठोरवचनैः, प्रियं दहेत् ।

मध्यां धीरामुदाहरति । तदवितथमिति । अन्यस्या ललनायाः समागमोत्तरं तस्या दुकूलं परिधाय आगतं नायकं प्रति नायिकाया वचनम् । पद्यमिदं शिशुपालवधस्यम्। हे नाथ ! त्वं मम प्रिया = वल्लभा, इति यत् अवादीः = त्वमुक्तवान्, तद् = वचनम्; अवितथं = सत्यम् । यत् = यस्मात्कारणात्, प्रियजनपरिभुक्तं = वल्लभाजनपरिहितं, दुकूलं = वस्त्रं, दधानः=धारयन् सन्, मदधिवसतिं=मद्वासस्थानम्, आगाः=आगतवान् । हि = यस्माकारणात्, कामिनां = विलासिनां जनानां, मण्डनश्रीः = अलङ्कारशोभा, वल्लभाऽऽलोकनेन = प्रियाऽवलोकनेन, सफलत्वं = साफल्यं, व्रजति = प्राप्नोति । अत्र सस्मितकुटिलोक्त्या नायकसन्तापजननादियं मध्या धीरा "मालिनी वृत्तम्" ।

मध्यामेव धीराऽधीरामुदाहरति—बाले इति । ललनान्तरासक्तनायकस्य नायिकायाश्चोक्तिप्रत्युक्तिरूपं पद्यमिदम् ।

नायकः सम्बोधयति—बाले इति । नायिका उत्तरयति नाथ इति । नायकः अनुरुणद्धि-हे मानिनि = हे मानवति !, रुष = कोपं विमुञ्च = परित्यज । नायिका प्रत्युत्तरयति । मया, रोषात्=कोपात्, किं, कृत=विहितम् । नायकः कथयति-अस्मासु= मयि, खेदः = विषादः, जनित इति शेषः, तव रोषान्मयि विषादो जनित इति भावः । नायिका प्रत्युत्तरयति—भवान्, मे = मह्यम्, "क्रुधद्रुहेर्ष्यासूयाऽर्थानां यं प्रतिकोप" इति सम्प्रदानत्वाच्चतुर्थी न अपराध्यति=अपराधं न करोति, प्रत्युत सर्वे = सकलाः

उनमें मध्याधीरा—(हे नाथ !) "तुम मेरी प्रिया हो" ऐसा जो आपने कहा, वह सच है, जिस कारणसे कि अपनी प्रणयिनी (मेरी सौत) से उपभुक्त वस्त्र पहनकर आप मेरे पास आये हैं । कामुक जनोंकी अलंकारशोभा प्रियाके देखने पर हो जाती है ।

धीराऽधीरा मध्या—यह पद्य नायक और नायिकाके प्रश्न और उत्तरके रूपमें हैं । नायक—बाले !, नायिका—नाथ !, नायक—हे मान करनेवाली ! क्रोध छोड़ दो । नायिका—मैंने क्रोधसे क्या किया ? नायक—तुमने मुझमें खेद उत्पन्न कर

तत्किं रोदिषि गद्गदेन वचसा, कस्याग्रतो रुद्यते,
नन्वेतन्मम, का तवास्मि ? दयिता, नास्मीत्यतो रुद्यते ॥'

इयमेवाधीरा यथा—

'साधं मनोरथशतैस्तव धूर्त ! कान्ता
सैव स्थिता मनसि कृत्रिमहावरम्या ।
अस्माकमस्ति नहि कश्चिदिहावकाश-
स्तस्मात्कृतं चरणपातविडम्बनाभिः ॥'

अपराधाः, मयि = वर्तन्त इति शेषः । नायकः पृच्छति—तत् = तर्हि, गद्गदेन = अव्यक्तेन, वचसा = वाक्येन, किं = किमर्थं रोदिषि = रोदनं करोषि, नायिका—उत्तरयति—कस्य, अग्रतः = पुरतः रुद्यते = रोदनं क्रियते । नायकः कथयति—मम अग्रतः, एतत् = रोदनं, तवेति शेषः, तव = भवतः का अस्मि, इति पत्युर्ललनान्तरविलसनखिन्नाया नायिकायाः प्रश्नः । नायक उत्तरयति—दयिता = प्रिया, त्वं ममेति शेषः । नायिका कथयति—न अस्मि, तव प्रियेति शेषः, इत्यतः, = हेतोः, रुद्यते=रोदनं क्रियते । अत्र उत्तरप्रदानान्नायिकाया धीरात्वं रोदनाच्च अधीरात्वं तत्र तत्र प्रतीयते शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

इयम् एव = मध्या एव, अधीरा ।

मध्यामधीरामुदाहरति । पादपतितं नायकं प्रति मध्याया अधीराया उक्तिरियम् हे धूर्त = हे प्रतारणपर ! कृत्रिमहावरम्या=कृत्रिमः (क्रियानिर्वृत्तः अस्वाभाविक इति भावः यो हावः (भावविशेषः) तेन रम्या (मनोहरा) सा एव=त्वदीया प्रिया एव, मनोरथशतैः = बहुभिरभिलाषैः, सार्धं = समं, तव = भवतः, मनसि = चित्ते, स्थिता= वर्तमाना, अस्तीति शेषः । इह = अस्मिन् तव मनसीति भावः । कश्चित् अवकाशः = निवासस्थानम्, न अस्ति, तस्मात् = कारणात् चरणपातविडम्बनाभिः = पादपतनप्रतारणाभिः, कृतं = पर्याप्तं, चरणापातविडम्बनाभिः साध्यं नाऽस्तीति भावः । अत्र वसन्ततिलका वृत्तम् । अत्र परुषोक्तिभिर्नायकसन्तापनात् इयमधीरा मध्या ।

किया । नायिका—आपने मेरा अपराध नहीं किया । सब अपराध मेरे ही हैं । नायक—तब क्यों गद्‌गद स्वरसे रो रही हो ? नायिका मैं किसके सामने रो रही हूं ? नायक—यह मेरे सामने ही तो रो रही हो । नायिका—मैं आपकी कौन हूं ? नायक—तुम प्रिया हो । नायिका— मैं आपकी प्रिया नहीं हूं, इसी कारणसे रो रही हूं ।

अधीरा मध्या—हे धूर्त ! सैकड़ों मनोरथोंके साथ बनावटी भावविशेषसे सुन्दरी वही प्रिया तुम्हारे मनमें रह रही है । यहां हमारा कुछ भी स्थान नहीं है, इसलिए पैरोंपर पड़नेकी विडम्बनाओंकी कुछ जरूरत नहीं है ।

प्रगल्भा यदि धीरा स्याच्छन्नकोपाकृतिस्तदा ॥ ६२ ॥
उदास्ते सुरते तत्र दर्शयन्त्यादरान् बहिः ।

तत्र प्रिये ।

यथा—'एकत्रासनसंस्थितिः परिहृता प्रत्युद्गमाद् दूरत-
स्ताम्बूलानयनच्छलेन रभसाश्लेषोऽपि संविघ्नितः ।
आलापोऽपि न मिश्रितः परिजनं व्यापारयन्त्यान्तिके
कान्तं प्रत्युपचारतश्चतुरया कोपः कृतार्थीकृतः ॥'

धीराधीरा तु सोल्लुण्ठभाषितैः खेदयत्यमुम् ॥ ६३ ॥

प्रगल्भां धीरा लक्षयति **प्रगल्भेति** । प्रगल्भा नायिका यदि धीरा स्यात् तदा छन्नकोपाकृतिः=छन्ना (प्रच्छन्ना) कोपाकृतिः (क्रोधाकारः) यस्याः सा, तत्र=नायके, बहिः आदरं दर्शयन्ती, सुरते = रतिक्रीडायाम्, उदास्ते = उदासीना भवति ॥ ६२ ॥

प्रगल्भां धीरामुदाहरति—**एकत्रेति** । प्रगल्भा धीरा आयान्तं कान्तं दृष्ट्वा दूरतः = विप्रकृष्टप्रदेशात्, प्रत्युद्गमात्=प्रत्युद्गमं विधाय, ल्यब्लोपे पञ्चमी । एकत्र= एकस्मिन् स्थाने, आसनसंस्थितिः = उपवेशनसम्बन्धः, परिहृता = परित्यक्ता । ताम्बूलाऽऽनयनच्छलेन = ताम्बूलस्य (नागवल्लीदलस्य) आनयनम् (आहरणम्) तस्य छलेन (कैतवेन), रभसाऽऽश्लेषोऽपि = हर्षाऽऽलिङ्गनम् अपि, संविघ्नितः = सम्यक् प्रतिबद्धः । अन्तिके = समीपे, कान्तस्येति शेषः । परिजनं = सखीजनं, व्यापारयन्त्या= नियोजयन्त्या, कार्यविशेष इति शेषः । आलापोऽपि = आभाषणम् अपि, न मिश्रितः = उत्तरेण युक्तो न कृतः । इत्थं च चतुरया = चातुर्ययुक्तया नायिकया, कान्तं प्रति = नायकं प्रति, प्रमदाऽन्तरासक्तमिति शेषः । उपचारतः = कृत्रिमप्रीतिहेतुव्यापारेभ्यः । कोपः = क्रोधः, कृतार्थीकृतः = सफलीकृतः संभोगप्रतिरोधः कोपफलम् । तेनैव कान्तो वशीकृत इति भावः । तथा चेयं धीरा प्रगल्भा । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

धीराऽधीरां लक्षयति—**धीराऽधीरेति** । प्रगल्भा धीराऽधीरा तु, सोल्लुण्ठभाषितैः = आपातमधुरैः कटुभाषणैः, अमुं = नायकं, खेदयेत्=खेदयुक्तं कुर्यात् ।

धीरा प्रगल्भा—हो तो क्रोधके आकारको छिपाती हुई ॥ ६२ ॥

बाहरसे प्रियमें आदर दिखाकर रतिक्रीडामें उदासीन होती है ।

जैसे—चतुरा (नायिका) ने प्रियको आते हुए देखकर दूरसे ही अगवानी कर उनके साथ एक ही आसनमें स्थितिका परिहार किया, पान लानेके छलसे हर्षपूर्वक आलिङ्गनमें भी विघ्न डाला । पास ही सखीजनको काममें लगाती हुई उसने परस्पर बात भी नहीं मिलाई, प्रियके प्रति सत्कारके बहानेसे अपने क्रोधको सफल बना डाला ।

धीराऽधीरा प्रगल्भा—धीराऽधीरा प्रगल्भा मधुर उपालम्भों (उलाहनों) से नायकको खिन्न बनाती है ॥ ६३ ॥

अमुं नायकम् ।

यथा मम—

'अनलङ्कृतोऽपि सुन्दर ! हरसि मनो मे यतः प्रसभम् ।
किं पुनरलङ्कृतस्त्वं सम्प्रति नखरक्षतैस्तस्याः ॥'

तर्जयेत्ताडयेदन्या—

अन्या अधीरा । यथा-'शोणं वीक्ष्य मुखम्' इत्यत्र (७२ पृ०) । अत्र च सर्वत्र 'रुषा' इत्यनुवर्तते ।

—प्रत्येकं ता अपि द्विधा ।
कनिष्ठज्येष्ठरूपत्वान्नायकप्रणयं प्रति ॥ ६४ ॥

ता अनन्तरोक्ताः षड्भेदा नायिकाः ।

धीराऽधीरा प्रगल्भामुदाहरति—**अनलङ्कृत** इति । हे सुन्दर = हे मनोरम !, अनलङ्कृतोऽपि = अलङ्काररहितोऽपि, यतः = यस्मात्कारणात्, मे = मम, मनः = चित्तं, प्रसभं = हठात्, हरसि = आकर्षसि, अतः सम्प्रति = अधुना, तस्याः = उपनायिकायाः, नखरक्षतैः = नखक्षतचिह्नैः, रमणसमयकृतैरिति शेषः, अलङ्कृतः = भूषितः सन, किं पुनः = किं वक्तव्यम् । आर्या वृत्तम् ॥ ६३ ॥

अधीरां प्रगल्भां लक्षयति—**तर्जयेदिति** । अन्या = अधीरा प्रगल्भा, तर्जयेत् = भर्त्सयेत्, ताडयेत् = प्रहरेत्, नायकमिति शेषः ।

अधीरां प्रगल्भामुदाहरति-'शोणं वीक्ष्य मुखम्'' इत्यत्र । (पृ०७२) । अत्र नायकं प्रतिपादप्रहारादियं नायिका अधीराप्रगल्भा । अत्र=एषु, सर्वत्र=सर्वेषु स्थलेषु, धीराऽधीरादीनां कार्येषु लक्षणेषु च "रुषा" (कोपेन) इत्यनुवर्तते ।

पुनः षड्भेदां नायिकां द्विधा विभजते—**प्रत्येकमिति** । ताः = पूर्वोक्ता धीरा, अधीरा धीराऽधीरा चेति त्रैविध्यात् मध्यप्रगल्भयोः षड्विधा नायिका, अपि नायकप्रणयं प्रति = नायकाऽनुरागं प्रति, कनिष्ठज्येष्ठरूपत्वात् = अल्पाऽधिकत्वरूपत्वात् पुनर्द्विधा ॥ ६४ ॥

जैसे कि—हे सुन्दर ! जो आप अलङ्कारके बिना भी मेरे मनको आकृष्ट करते हैं, उस (नायिका अर्थात् मेरी सौत) के नखक्षतोंसे अलङ्कृत हैं तो फिर क्या कहना है ?

अधीरा प्रगल्भा = यह तर्जन और ताडन करती है । जैसे—"शोणं वीक्ष्य मुखम्" (पृ. ७२) सर्वत्र "प्रियं सोत्प्रासवक्रोक्त्या०" इत्यादि कारिकासे "रुषा" (क्रोधसे) इस पदकी अनुवृत्ति होती है ।

अभी कही गई ये छहों नायिकाएँ नायकके प्रेममें न्यून और अधिक होनेसे दो दो भेदोंवाली होती हैं ॥ ६४ ॥

यथा—

'दृष्ट्वैकासनसंस्थिते प्रियतमे पश्चादुपेत्यादरा-
देकस्या नयने पिधाय विहितक्रीडानुबन्धच्छलः ।
ईषद्वक्रितकन्धरः सपुलकः प्रेमोल्लसन्मानसा-
मन्तर्हासलसत्कपोलफलकां धूर्तोऽपरां चुम्बति ॥'

मध्याप्रगल्भयोर्भेदास्तस्माद् द्वादश कीर्तिताः ।
मुग्धा त्वेकैव, तेन स्युः स्वीयाभेदास्त्रयोदश ॥ ६५ ॥

ज्येष्ठां कनिष्ठां च नायिकामुदाहरति—**दृष्ट्वेति** । धूर्तः = नायकः, एकाऽऽसनसंस्थिते = एकासनोपविष्टे, प्रियतमे = वल्लभतमे, पत्न्यौ, इत्यर्थः, दृष्ट्वा = अवलोक्य, आदरात् = संमानात्, उभयत्र दाक्षिण्यवशात् आदरं विधाय, ल्यब्लोपे पञ्चमी । पश्चात् = पृष्ठतः, उपेत्य = आगत्य, विहितक्रीडाऽनुबन्धच्छलः = विहितं (कृतम्) क्रीडायाम् (खेलायाम्) अनुबन्धः (आरम्भः) एव छलम् (कपटम्) येन सः । एकस्याः = पत्न्या, नयने = नेत्रे, पिधाय = अपिधाय, पाणिभ्यामाच्छाद्येति भावः । ईषद्वक्रितकन्धरः = ईषत् (स्तोकं यथा स्यात्तथा) वक्रिता (वक्रीकृता) कन्धरा (ग्रीवा) येन सः । सपुलकः (सरोमाञ्चः) सन्, प्रेमोल्लसन्मानसां = प्रेम्णा (प्रणयेन हेतुना) उल्लसत् (हृष्यत्) मानसं (चित्तम्) यस्याः, ताम् । तथा च अन्तर्हासलसत्कपोलफलकाम् = अन्तः (अभ्यन्तरे) हासेन (हास्येन) लसती (दीप्यमाने) कपोलफलके (गण्डस्थले) यस्याः, ताम्, अपराम् = अन्यां प्रियतरां, पत्नीं, चुम्बति = वक्त्रसंयोगं करोति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

अत्र धूर्तेन कान्तेन यस्या नयने अपिहिते, सा कनिष्ठा, चुम्बनस्याऽप्राप्तेः । या चुम्बिता सा ज्येष्ठा, अधिकसम्मानादिति स्पष्टम् ॥ ६४ ॥

स्वीयाभेदान्सङ्कलयति— **मध्याप्रगल्भयोरिति** । तस्मात् = कारणात्, मध्याप्रगल्भयोः द्वादश भेदाः प्रकीर्तिताः । धीरा, अधीरा धीराऽधीरेति भेदैः मध्या प्रगल्भा च षड्भेदाः । तत्रापि ज्येष्ठा कनिष्ठेति भेदद्वयात् ६ × २=द्वादशभेदाः, मुग्धा नायिका तु एकैव, इत्थं समष्ट्या स्वीयायास्त्रयोदश भेदा बोद्धव्याः ॥ ६५ ॥

जैसे कि—धूर्त नायक एक आसनपर बैठी हुई दोनों प्रियाओंको देखकर आकर आदरसे क्रीडाके छलसे एक प्रियाकी आँखोंको मूँदकर गर्दनको कुछ टेढ़ो कर रोमाञ्चयुक्त होकर प्रेमसे प्रसन्न चित्तवाली तथा अन्तःकरणमें हँसनेसे स्थूल कपोलोंसे युक्त दूसरी नायिकाको चूम लेता है ।

इसप्रकार मध्या और प्रगल्भाके बारह भेद कहे गये हैं, और मुग्धाका एक भेद, इस तरह स्वीया नायिकाके तेरह भेद हो गये हैं ॥ ६५ ॥

परकीया द्विधा प्रोक्ता परोढा कन्यका तथा।

तत्र—

यात्रादिनिरताऽन्योढा कुलटा गलितत्रपा ॥ ६६ ॥

यथा—

'स्वामी निःश्वसितेऽप्यसूयति, मनोजिघ्रः सपत्नीजनः,
श्वश्रूरिङ्गितदैवतं, नयनयोरीहालिहो यातरः।
तद्दूरादयमञ्जलिः, किमधुना दृग्भङ्गिभावेन ते,
वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिक! व्यर्थोऽयमत्र श्रमः॥'

परकीया विभजति—**परकीयेति।** परोढा = परेण ऊढा (विवाहिता) कन्यका चेति परकीया नायिका द्विविधा।

परोढां लक्षयति—**यात्रादिनिरतेति।** यात्रादिनिरता = उत्सवादिविलोकनतत्परा, कुलटा = परभर्तृगामिनि, गलितत्रपा = निर्लज्जा, सा अन्योढा = अन्येन ऊढा-परोढा भवतीति भावः ॥ ६६ ॥

परकीयामुदाहरति—**स्वामीति।** उपनायकं प्रति परोढाया उक्तिरियम् स्वामी=भर्ता, परिणेतेति भावः। निःश्वसिते अपि = निःश्वासकरणे अपि। असूयति= दोषानाविष्करोति, मानसव्यभिचारमाशङ्कत इति भावः। सपत्नीजनः = एकभर्तृकाजनः, मनोजिघ्रः = चित्ताघ्राता, मम परपुरुषविषये मानसमनुमिनोतीति भावः। "मनोजिघ्र" इत्यत्र मनो जिघ्रति इति "पाघ्राध्माधेड्दृशः शः" इति शप्रत्ययः। श्वश्रूः= भर्तृजननी, इङ्गितदैवतम् = इङ्गितस्य (हस्तादिचेष्टादेः) दैवतम् (देवता, इङ्गिताऽभिज्ञेति भावः)। यातरः = पतिभ्रातृपत्न्यः, नयनयोः=नेत्रयोः, ईहालिहः = चेष्टाऽनुमापिकाः, तत्=तस्मात्कारणात्, दूरात्=विप्रकृष्टप्रदेशात् एव, अयमञ्जलिः=सम्पुटितकरद्वयं, मया समर्प्यत इति शेषः। अधुना=सम्प्रति, ते=तव, दृग्भङ्गिभावेन = नेत्रविच्छित्त्यभिप्रायेण, नेत्रसङ्केतव्यापारेणेति भावः किं=किं फलम्? अतः हे वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिक = वैदग्ध्या (रसिकत्वेन) यः मधुर (मनोहरः) प्रबन्धः (व्यापार) तत्र रसिकः (अनुरागी), तत्सम्बुद्धौ, अत्र = अस्मिन्स्थाने, श्रमः = परिश्रमः,

परकीयाके दो भेद होते हैं—परोढा (विवाहिता) और कन्या।

यात्रा आदिमें तत्पर और लज्जासे हीन कुलटाको अन्योढा या परोढा कहते हैं ॥ ६६ ॥

परोढाका उदाहरण—स्वामी सांस लेनेमें भी ईर्ष्या करते हैं, सपत्नी (सौत) मनको सूंघती है अर्थात् अभिप्रायको भांपनेके लिए कोशिश करती है। सास अभिप्राय जाननेके लिए देवता है जेठनियां और देवरानियां चेष्टाको चाटती हैं अर्थात् मेरी चेष्टाका अनुमान करती रहती हैं, इसलिए मैं दूरसे ही अञ्जलि जोड़ती हूं, रसिकतासे

अत्र हि मम परिणेताऽन्नाच्छादनादिदातृतया स्वाम्येव न तु वल्लभः। त्वं तु वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिकतया मम वल्लभोऽसीत्यादिव्यङ्ग्यार्थवशादस्याः परनायकविषया रतिः प्रतीयते।

कन्या त्वजातोपयमा सलज्जा नवयौवना।

अस्याश्च पित्राद्यायत्तत्वात्परकीयात्वम्। यथा मालतीमाधवादौ मालत्यादिः।

धीरा कलाप्रगल्भा स्याद्वेश्या सामान्यनायिका॥ ६७॥

समागमसंकेतात्मक इति भावः, व्यत्वदीय इति शेषः। व्यर्थः = निष्फलः, त्वदीयमभिलाषं पूरयितुमसमर्थाऽस्मीति भावः।

स्तोकं विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = इह, स्थाने, परिणेता = विवाहकर्ता, अन्नाच्छादनादिदातृतया = भाजनवस्त्रादिवितरकत्वेन, स्वामी एव = भर्ता एव, न तु वल्लभः = प्रियः, एतद्वैपरीत्येन त्वं तु वैदग्धीमधुरप्रबन्धरसिकतया = रसिकतामनोहरव्यापाराऽनुरागितया, वल्लभोऽसि इत्यादि व्यङ्ग्यार्थवशात् = व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्यार्थवशात्, अस्याः = वक्त्र्याः, परनायकविषया = परपुरुषविषया, रतिः = अनुरागः, प्रतीयते = ज्ञायते॥ ६६॥

कन्यां लक्षयति—**कन्येति**। अजातोपयमा = अनिर्वृत्तविवाहा, सलज्जा = व्रीडायुक्ता, नवयौवना=प्रत्यग्रतारुण्या, एतादृशी कन्यारूपा परकीया नायिका भवति।

अस्याश्च = कन्यायाश्च, पित्राद्यायत्तत्वात्, जनकाद्यधीनत्वात्, आदिपदेन मातृभ्रात्रादीनां परिग्रहः, परकीयात्वम्।

साधारणां नायिकां लक्षयति—**धीरेति**। धीरा = विदुषी, सुरतपण्डितेति भावः। कलाप्रगल्भा = कलासु (नृत्यगीतवादित्रादिषु) प्रगल्भा (प्रतिभाऽन्विता), वेश्या = वारस्त्री, सामान्यनायिका = साधारणा नायिका भवति॥ ६७॥

मधुर क्रियामें हे अनुरागवाले आपके नेत्रोंके सकेतसे क्या होता है? यहाँपर आपका यह परिश्रम **व्यर्थ** (बेकार) है।

यहाँपर मुझसे विवाह करनेवाले अन्न और वस्त्र आदिको देनेसे केवल स्वामी हैं प्रिय नहीं हैं, तुम तो रसिकतासे मधुर क्रियामें अनुरागी होनेसे मेरे प्रिय हो इत्यादि व्यङ्ग्य अर्थके कारण इस वक्त्रीकी परपुरुषमें रतिकी प्रतीति होती है।

कन्या—जिसका विवाह नहीं हुआ है, लज्जा और नूतन तारुण्यसे युक्त ऐसी नायिकाको **"कन्या"** कहते है। यह पिता आदिकी अधीन होनेसे **"परकीया"** है। जैसे मालतीमाधव आदिमें मालती आदि।

साधारणा (वेश्या)—धैर्यवाली नृत्यगीत आदि कलाओंमें प्रवीण वेश्याको **"साधारणा"** नायिका कहते है॥ ६७॥

निर्गुणानपि न द्वेष्टि न रज्यति गुणिष्वपि ।
वित्तमात्रं समालोक्य सा रागं दर्शयेद्बहिः ॥ ६८ ॥

काममङ्गीकृतमपि परिक्षीणधनं नरम् ।
मात्रा निःसारयेदेषा पुनःसंधानकाङ्क्षया ॥ ६९ ॥

तस्कराः पण्डका मूर्खाः सुखप्राप्तधनास्तथा ।
लिङ्गिनश्छन्नकामाद्या अस्याः प्रायेण वल्लभाः ॥ ७० ॥

सामान्यनायिकां (वेश्याम्) विशेषतः परिचाययति **निर्गुणानिति** । सा च= सामान्यनायिका (वेश्या), निर्गुणानपि पुरुषान्, न द्वेष्टि=तत्र द्वेषं न करोति, गुणिषु अपि=सगुणेषु अपि पुरुषेषु, न रज्यति=अनुरक्ता न भवति । सा, वित्तमात्रं=धनमात्रं, कामुकपुरुषस्येति शेषः । समालोक्य=दृष्ट्वा, बहिः=कृत्रिमरूपम् इति भावः; रागम्=अनुरागं, दर्शयेत्, न तु अन्तःस्थित इति शेषः ॥ ६८ ॥

एषा = सामान्यनायिका, कामम् = अत्यर्थम्, अङ्गीकृतम् अपि = प्रियत्वेन स्वीकृतम् अपि, परिक्षीणधनं = नष्टद्रव्यं, नरं = कामुकजनं, पुनः = भूयः, सन्धानकाङ्क्षया=समागमेच्छया, धनार्जनार्थमिति शेषः । मात्रा=जनन्या शम्भल्या, निष्कासयेत्=निराकुर्याद्, पुनर्धनसंयोगे सति मातरं दूषयित्वा परिग्राहयितुमिति भाव. ॥६९॥

सामान्यनायिकाया वल्लभानुद्दिशति—**तस्करा** इति । तस्कराः = चौराः, पण्डकाः = वातपाण्ड्वादयः, वस्तुतः—पण्डका इत्यत्र पण्डा एव पण्डकाः, स्वार्थे कन् । "तृतीयाप्रकृतिः षण्ढः क्लीबः पण्डो नपुंसके" इत्यमरः । पण्डकाः = नपुंसकाः, वातपण्डकाः=वातेन (रोगविशेषेण) पण्डकाः (नपुंसकाः) । "पण्ड्रकाः" इति पाठान्तरस्वीकारे तस्य प्रयोगो नोपलभ्यते । मूर्खाः=अज्ञाः, सुखप्राप्तधनाः=सुखेन (अनायासेन) प्राप्तं (लब्धम्) धनं (द्रव्यम्) यैस्ते, पित्रार्जितधनसपन्नाः, दुःखार्जितधनस्य व्ययितुमशक्यत्वादिति भावः । लिङ्गिनः = लिङ्गम् (चिह्नम्) अस्ति येषां ते; तापसब्रह्मचार्यादिवेशधारिणः । छन्नकामाद्याः=छन्नः (प्रच्छन्नः) कामः (मदनावेशः) येषां ते, अथवा छन्नं कामयन्ते इति, कर्मण्यण् । ते आद्या येषां ते । प्रच्छन्नकामा जनाः

वह निर्गुणोंसे भी द्वेष नहीं करती है गुणियोंमें भी अनुरक्त नहीं होती है केवल धनको देखकर बाहर अनुराग दिखाती है ॥ ६८ ॥

अच्छी तरहसे अङ्गीकृत पुरुषकोभी धनसे क्षीण होनेपर फिर समागमकी इच्छासे अपनी माताके द्वारा निकलवाती है ॥ ६९ ॥

चोर, पण्डक (वातपाण्डुरोगवाले वा नपुंसक), मूर्ख, जिनसे अनायास ही धन प्राप्त हो सके वैसे पुरुष, तपस्वी और ब्रह्मचारी आदिके वेष लेनेवाले, जिनका कामावेश

एषापि मदनायत्ता क्वापि सत्यानुरागिणी ।
रक्तायां वा विरक्तायां रतमस्यां सुदुर्लभम् ॥ ७१ ॥

पण्डको वातपाण्डवादिः । छन्नं प्रच्छन्नं ये कामयन्ते ते छन्नकामाः । तत्र रागहीना यथा लटकमेलकादौ मदनमञ्जर्यादिः । रक्ता यथा मृच्छकटिकादौ वसन्तसेनादिः ।

पुनश्च—

अवस्थाभिर्भवन्त्यष्टावेताः षोडशभेदिताः ।
स्वाधीनभर्तृका तद्वत्खण्डिताऽथाभिसारिका ॥ ७२ ॥

स्वकामावेशगोपनार्थं बहु चिन्तयन्ति, एते जना अस्याः = वेश्यायाः, प्रायेण = प्रायशः, वल्लभाः = प्रियाः ॥ ७० ॥

एषा अपि = वेश्या अपि, क्वाऽपि=कुत्रचित्पुरुषे, सत्याऽनुरागिणी = यथार्थरूपेण प्रणयशीला भवति । रक्तायाम् = अनुरक्तायां, विरक्तायाम् = अपरक्तायां वा, अस्यां = वेश्यायां, रतं = रमणं, सुदुर्लभम् = अतिशयदुष्प्राप्यं, भवति । विवृणोति· रागहीना = विरक्ता, यथा लटकमेलकादौ मदनमञ्जर्यादिः । रक्ता = अनुरक्ता, यथा मृच्छकटिकादौ वसन्तसेनाऽऽदिः ॥ ७१ ॥

पुनर्भेदाऽष्टकमुद्दिशति—**अवस्थाभिरिति** । षोडशभेदिताः=स्वीयाः त्रयोदश, परकीये द्वे, साधारणा एका इति षोडशभेदयुक्ताः, एताः = नायिकाः, अवस्थाभिः = दशाभिः पुनरष्टौ भवन्ति ।

परिगणयति— **स्वाधीनभर्तृकेति** । स्वाधीनो भर्ता यस्याः सा, "नद्यृतश्च" इति कप् । खण्डिता, अभिसारिका—॥ ७२ ॥

प्रच्छन्न है अथवा गुप्तरूपसे चाहनेवाले इत्यादि पुरुष प्रायः (अकसर) इसके प्यारे होते हैं ॥ ७० ॥

यह (साधारण स्त्री) भी किसी पुरुषमें सच्चे अनुरागवाली होती है यह (साधारणा) अनुरक्त हो वा विरक्त हो इसमें रति अत्यन्त दुर्लभ है ॥ ७१ ॥

रागहीन साधारणा जैसे—लटकमेलक आदिमे मदनमञ्जरी आदि । अनुरक्त साधारणा जैसे—मृच्छकटिक आदिमे वसन्तसेना आदि ।

अन्य भेद कहते हैं—सोलह भेदोंवाली ये नायिकाएँ अवस्थाओंसे फिर आठ प्रकारकी होती हैं । जैसे कि—स्वाधीनभर्तृका, खण्डिता, अभिसारिका । ॥ ७२ ॥

कलहान्तरिता विप्रलब्धा प्रोषितभर्तृका ।
अन्या वासकसज्जा स्याद्विरहोत्कण्ठिता तथा ॥ ७३ ॥

तत्र—

कान्तो रतिगुणाकृष्टो न जहाति यदन्तिकम् ।
विचित्रविभ्रमासक्ता सा स्यात्स्वाधीनभर्तृका ॥ ७४ ॥

यथा—'अस्माकं सखि वाससी—' (७२ पृ०) । इत्यादि ।

पार्श्वमेति प्रियो यस्या अन्यसंयोगचिह्नितः ।
सा खण्डितेति कथिता धीरैरीर्ष्याकषायिता ॥ ७५ ॥

कलहान्तरिता कलहेन अन्तरिता (व्यवहिता) कान्तेनेति शेषः, विप्रलब्धा = वञ्चिता, कान्तेनेति शेषः । प्रोषितभर्तृका = प्रोषितः (प्रवास उषितः) भर्ता (प्रियः) यस्याः सा, समासान्तः कप् । वासकसज्जा = वासकं (वस्त्रम्) तेन सज्जा (संनद्धा) । विरहोत्कण्ठिता = विरहेण (प्रियवियोगेन) उत्कण्ठिता (उत्सुका) ॥ ७३ ॥

स्वाऽधीनभर्तृकां लक्षयति— **कान्त इति** । रतिगुणाऽऽकृष्टः = रतिगुणेन (अनुरागगुणेन) आकृष्टः (जाताकर्षणः), कान्तः = वल्लभः, यदन्तिकं = यस्याः (नायिकायाः) अन्तिक (समीपम्), न जहाति = न त्यजति । विचित्रविभ्रमाऽऽसक्ता = अनेकविलासासक्तियुक्ता, सा = तादृशी नायिका, स्वाऽधीनभर्तृका स्यात् । उदाहरति— "अस्माकं सखि वाससी" (पृ० ७२) ॥ ७४ ॥

खण्डितां लक्षयति—**पार्श्वमिति** । अन्यसंयोगचिह्नितः = अन्यस्याः (नायिकायाः) संयोगः (संयोजनम्), तेन चिह्नितः (नखदशनक्षतादिचिह्नयुक्तः) कान्तः = प्रियः, यस्याः = नायिकायाः, पार्श्वं = निकटम् एति = आगच्छति, ईर्ष्याकषायिता = ईर्ष्यया (असूयया) कषायिता (कलुषितचित्ता), सा = नायिका, धीरैः = विद्वद्भिः, खण्डितेति कथिता = अभिहिता ॥ ७५ ॥

कलहाऽन्तरिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका, वासकसज्जा और विरहोत्कण्ठिता ॥ ७३ ॥

स्वाऽधीनभर्तृका अनुरागके गुणसे आकृष्ट प्रिय जिसका सामीप्य नहीं छोड़ता है, विचित्र विलासवाली उसको **"स्वाधीनभर्तृका"** कहते हैं ॥ ७४ ॥

जैसे—"अस्माकं सखि ! वाससी" पृ० ७२ ।

खण्डिता—दूसरी स्त्रीके संयोगसे चिह्नित प्रिय जिसके पास आता है। ईर्ष्यासे कलुषित चित्तवाली उसको विद्वान् "खण्डिता" कहते हैं ॥ ७५ ॥

यथा—'तदवितथमवादीः-' (८५ पृ०)। इत्यादि।

अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा।
स्वयं वाभिसरत्येषा धीरैरुक्ताभिसारिका॥ ७६॥

क्रमाद्यथा—

न च मेऽवगच्छति यथा लघुतां, करुणां यथा च कुरुते स मयि।
निपुणं तथैनमभिगम्य वदेरभिदूति काचिदिति संदिदिशे॥

'उत्क्षिप्तं करकङ्कणद्वयमिदं, बद्धा दृढं मेखला,
यत्नेन प्रतिपादिता मुखरयोर्मञ्जीरयोर्मूकता।

खण्डिताया उदाहरणं—"**तदवितथमवादीः**" इत्यादि (पृ० ८५)॥७५॥

अभिसारिकां लक्षयति-**अभिसारयत** इति। मन्मथवशंवदा=मन्मथस्य (कामस्य) वशंवदा (वश्या) सती, या=नायिका, कान्तं=प्रियम्, अभिसारयते=दूत्यादिमुखात्कुत्रचित्स्थाने प्रापयति, वा=अथवा, स्वयम्=आत्मना, अभिसरति = कान्तसमीपं गच्छति, एषा = इयं नायिका, धीरैः = विद्वद्भिः, अभिसारिका, उक्ता = कथिता॥ ७६॥

कान्तमभिसारयन्त्या नायिकाया उदाहरणं—**न चेति**। (हे दूति = हे सन्देशहरे !) सः = मत्प्रियः, यथा = येन प्रकारेण, मे = मम, लघुतां = लाघवं, न अवगच्छति = न जानाति, एवं च यथा, मयि = विषये, करुणाम् = अनुकम्पां, कुरुते = विदधाति। एनं = तं कान्तम्, अभिगम्य = सम्मुखं गत्वा, निपुणं = कुशलं, तथा = तेन प्रकारेण, वदेः = ब्रूहि, इति काचित् = अभिसारिका, अभिदूति = दूतीं लक्ष्यीकृत्य, संदिदिशे = सन्दिष्टवती, कान्तमभिसारयन्तीयं प्रथमाऽभिसारिका।

स्वयमभिसरन्त्या उदाहरणमाह—**उत्क्षिप्तमिति**। अभिसारिका स्वसखीं कथयति—हे प्रियसखि ! इदं करकङ्कणद्वयं=पाणिवलयद्वितयम्, उत्क्षिप्तं= मणिबन्धादूर्ध्वं न्यस्तम्, शब्दनिवारणार्थमिति भावः। एवं परत्राऽपि। मेखला च = नानाविधरत्नखचिता काञ्ची च, दृढं = गाढं, बद्धा = नद्धा। मुखरयोः = शब्दायमानयोः, मञ्जीरयोः=नूपुरयोः, मूकता = निःशब्दता, यत्नेन=प्रयासेन, प्रतिपादिता=सम्पादिता।

जैसे—"तदवितथमवादीः (पृ. ८५)। इत्यादि।

अभिसारिका—कामके वशमें रहनेवाली जो प्रियको संकेत स्थलमें बुलाती है वा स्वयम् उसके पास जाती है, उसे विद्वान् "**अभिसारिका**" कहते हैं॥ ७६॥

प्रियको बुलानेवाली अभिसारिका—"जिस तरहसे वे मेरी लघुताको न समझें और मेरे ऊपर दया करें, उसके पास जाकर अच्छी तरहसे कहो" इस प्रकार किसी नायिकाने दूतीको सन्देश दिया।

प्रियके पास स्वयम् जानेवाली अभिसारिका—इन दोनों करकङ्कणोंको मैंने मणिबन्धोंके ऊपर रक्खा, मेखला (करधनी) को मजबूतीके साथ बाँधा, शब्द

आरब्धे रभसान्मया प्रियसखि ! क्रीडाभिसारोत्सवे,
चण्डालस्तिमिरावगुण्ठनपटक्षेपं विधत्ते विधुः।'

संलीना स्वेषु गात्रेषु मूकीकृतविभूषणा।
अवगुण्ठनसंवीता कुलजाऽभिसरेद्यदि ॥ ७७ ॥
विचित्रोज्ज्वलवेषा तु रणन्नूपुरकङ्कणा।
प्रमोदस्मेरवदना स्याद्वेश्याऽभिसरेद्यदि ॥ ७८ ॥
मदस्खलितसंलापा विभ्रमोत्फुल्ललोचना।

अनन्तरं च कान्तसमागमसमये इति शेषः, मया, क्रीडाऽभिसारोत्सवे = क्रीडार्थम्, (विहाराऽर्थम्) अभिसारोत्सवे (अभिसरणरूपक्षणे), रभसात्=वेगाद्धर्षाद्वा, आरब्धे= प्रक्रान्ते सति, चण्डालः = चण्डालसमः, क्रूर इति भावः। विधुः = चन्द्रः, तिमिराऽवगुण्ठनपटक्षेपं = तिमिरम् (अन्धकारः) एव अवगुण्ठनपटः (आवरणवस्त्रम्), तस्य क्षेपम् (अपसारणम्), विधत्ते=कुरुते, चन्द्रोदयेन अभिसारस्य नैष्फल्यं जातमिति भावः। स्वयमभिसरणात् इयं द्वितीयाऽभिसारिका। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ७६ ॥

कुलजाया अभिसारिकाया अभिसरणप्रकारमाह संलीनेति। कुलजा=कुलीना अभिसारिका, अभिसरेत यदि=अभिसरणं कुर्याच्चेत्, स्वेषु=आत्मीयेषु, गात्रेषु=अङ्गेषु, लक्षणया एषोऽर्थः। संलीना=संश्लिष्टा, अतीवसङ्कुचितेति भावः। मूकीकृतविभूषणा=निःशब्दीकृताऽलङ्कारा, एवं च अवगुण्ठनसंवीता=आवरणवस्त्रपरिवेष्टिता, भवतीति भावः॥७७॥

वेश्याया अभिसारिकाया अभिसरणप्रकारमाह—विचित्रोज्ज्वलवेशेति। वेश्या=वारस्त्री अभिसारिका, अभिसरेत् यदि, तदा विचित्रोज्ज्वलवेशा=विचित्रः (अनेकवर्णः) उज्ज्वलः (स्वच्छः) वेशः (नेपथ्यम्) यस्याः सा, तथा च प्रमोदस्मेरवदना=प्रमोदेन (हर्षेण) स्मेरं (विकसितम्) वदनं (मुखम्) यस्याः सा, एतादृशी स्यात्, जनमनोमोहनाऽर्थमिति शेषः ॥ ७८ ॥

प्रेष्यायाः (भृत्यायाः) अभिसारिकाया अभिसरणप्रकारमाह मदेति। प्रेष्या= भृत्या अभिसारिका अभिसरेत् यदि तदा मदस्खलितसंलापा=मदेन (मदनमदेन) स्खलितः=

करनेवाले नूपुरों को यत्नपूर्वक शब्दहीन बनाया, इसप्रकार वेगसे क्रीडाके लिए अभिसारके उत्सवका प्रारंभ करनेपर चण्डाल चन्द्र अन्धकाररूप आवरणवस्त्रको हटा रहा है ।७६।

कुलीन स्त्री अभिसार करेगी तो अपने शरीरके अवयवोंमें सिकुड़कर भूषणोंको शब्दहीन बनाकर घूँघट काढ़ेगी ॥ ७७ ॥

वेश्या अभिसार करेगी तो विचित्र और उज्ज्वल वेषको धारण कर नूपुर और कङ्कणोंको बजाती हुई हर्षसे विकसित मुखवाली होगी ॥ ७८ ॥

भृत्या (नौकरानी) अभिसार करेगी तो मदसे विकृत बातचीत करती हुई

आविद्धगतिसंचारा स्यात्प्रेष्याऽभिसरेद्यदि ॥ ७९ ॥

तत्राद्ये 'उत्क्षिप्तम्' इत्यादि (९१ पृ०)। अन्ययोः ऊह्यमुदाहरणम्।
प्रसङ्गादभिसारस्थानानि कथ्यन्ते—

क्षेत्रं वाटी भग्नदेवालयो दूतीगृहं वनम्।
मालापञ्चः श्मशानं च नद्यादीनां तटी तथा ॥ ८० ॥
एवं कृताभिसाराणां पुंश्चलीनां विनोदने।
स्थानान्यष्टौ तथा ध्वान्तच्छन्ने कुत्रचिदाश्रये ॥ ८१ ॥

(विकृतः) सलापः (मिथ्याभाषणम्) यस्याः सा। विभ्रमोत्फुल्ललोचना = विभ्रमेण (विलासेन) उत्फुल्ले (विकसिते) लोचने (नयने) यस्याः सा। तथा च आविद्ध-गतिसञ्चारा = आविद्धः (स्खलितः) गतिसञ्चारः (गमनव्यापारः) यस्याः सा, तादृशी स्यात् ॥ ७९ ॥

तत्र=तेषु, अभिसरणभेदेष्वित्यर्थः। आद्ये=कुलजाऽभिसरणे, उत्क्षिप्तम् इत्यादि (९१ पृ०)। अन्ययोः=अनन्तरवर्तिन्योः वेश्याप्रेष्ययोरिति भावः उदाहरणम्, ऊह्यम्= तर्कनीयम्।

अभिसारस्थानानि यथा— क्षेत्रमिति। क्षेत्रं = केदारः, वाटी = गृहोद्यानम्। भग्नदेवाऽऽलयः = जीर्णदेवमन्दिरम्, दूतीगृहं = शम्भलीगेहम्। वनम् = अरण्यम्, मालापञ्चः=पुष्पोद्यान मालाना (पुष्पमालानाम्) पञ्चः (व्यक्तीकरणम्) यस्मिन् इति व्यधिकरणबहुव्रीहिः। अथ वा मालाप च। मा (न) आलापः (आभाषणम्) यस्मिन् तत् माऽऽलापं = निर्जनस्थानमिति भावः। श्मशान = पितृवनम्, नद्यादीनां तटीं = तटम् ॥ ८० ॥

एवं कृताऽभिसाराणां = विहिताऽभिसाराणां, पुंश्चलीनां=कुलटानां, विनोदने= मनोमोदने, अष्टौ स्थानानि, "स्थान न्यष्टौ प्रवदति मुनिः पुंश्चलीना विनोद" इत्युक्तेरनु- साराज्ज्ञातव्यानि। एवं च ध्वान्तच्छन्ने = अन्धकारावृते, कुत्रचिद् आश्रमे स्थानेऽपि पुंश्चलीनां विनोदन भवतीति भावः ॥ ८१ ॥

विलाससे विकसित नेत्रोंवाली होकर रुक रुक कर चलेगी ॥ ७९ ॥

कुलीन अभिसारिकाका उदाहरण—"उत्क्षिप्तम्०" (पृ० ९१)। वेश्या और भृत्या अभिसारिकाओंका उदाहरणोंका ऊह करें।

प्रसङ्गसे अभिसार के स्थानों को कहते हैं—खेत, घरका बगीचा, जीर्ण देवमन्दिर, दूतीका घर, वन, निर्जनस्थान, श्मशान, नदी आदिका किनारा ॥ ८० ॥ इसप्रकार अभिसार करनेवाली कुलटाओंके ये आठ स्थान, अन्धकारसे आवृत कोई अन्य स्थान भी होते हैं ॥ ८१ ॥

चाटुकारमपि प्राणनाथं रोषादपास्य या ।
पश्चात्तापमवाप्नोति कलहान्तरिता तु सा ।। ८२ ।।

यथा मम तातपादानाम्—

'नो चाटुश्रवणं कृतं, न च दृशा हारोऽन्तिके वीक्षितः,
कान्तस्य प्रियहेतवो निजसखीवाचोऽपि दूरीकृताः ।
पादान्ते विनिपत्य तत्क्षणमसौ गच्छन्मया मूढया
पाणिभ्यामवरुध्य हन्त ! सहसा कण्ठे कथं नार्पितः ।।'

अथ प्रसङ्गागतां कलहाऽन्तरितां लक्षयति—**चाटुकारमिति** । या=नायिका, **चाटुकारमपि** = प्रियवाक्येन अनुनयशीलमपि । प्राणनाथ=प्रिय, रोषात् = क्रोधाद्धेतोः **अपास्य** = बहिष्कृत्य, अनन्तरं पश्चात्तापम् = अनुतापम् अवाप्नोति, सा कलहान्तरिता बोध्या ।। ८२ ।।

कलहाऽन्तरितामुदाहरति—**नो चाटुश्रवणमिति** । अनुनयन्तं प्रियं प्रत्याख्याय पश्चादनुतप्तायाः कलहान्तरिताया नायिकाया उक्तिरियम् । चाटुश्रवणं = कान्तस्य प्रियवचनाकर्णनं, नो कृत = न विहितम् । अन्तिके = निकटे हारः = प्रियेणाऽनुनयार्थं समर्प्यमाणा मुक्तावली, दृशा = दृष्ट्या, न वीक्षितः=नाऽवलोकितः । तथा च कान्तस्य= प्रियस्य, प्रियहेतवः - अभीष्टकारणभूताः, निजसखीवाचोऽपि - स्वसहचरीवचनान्यपि, दूरीकृताः - परित्यक्ताः किं बहुना—असौ कान्तः पादाऽन्ते = चरणप्रान्ते, अनुनयार्थमिति शेषः । विनिपत्य सम्प्राप्य, तत्क्षणं = तत्कालमेव, गच्छन् = नैराश्येन दूरं व्रजन्नपि मूढया प्राप्तमोहया, क्रोधवशादिति शेषः । मया, पाणिभ्यां = कराभ्याम्, अवरुध्य - निरुध्य, सहसा - अतर्कित एव कण्ठे = तस्य गले, कथं - केन प्रकारेण, न अर्पितः- न समर्पितः, प्रत्यनुनयार्थं कान्तस्य कण्ठे मया पाणिः कथं न निहित इति भावः । अनुनयन्त कान्तं बहिष्कृत्य अनुतप्तेय नायिका कलहाऽन्तरिता ।। ८२ ।

कलहाऽन्तरिता—जो खुशामद करनेवाले प्राणनाथको भी क्रोधसे पहले ठुकराकर पीछे पछताती है उसे "कलहाऽन्तरिता" कहते हैं ।। ८२ ।।

इसके उदाहरणमे अपने पिताजीका पद्य देते हैं—

मैंने अपने प्रियके प्रियवचनको भी नहीं सुना, निकट स्थित हारको भी नहीं देखा, प्रियके प्रीतिसम्पादनकी हेतुभूत प्रियसखीके वचनोंको भी ठुकरा दिया । मेरे पैरोंपर गिरकर उसी क्षण निराश होकर जाते हुए उनको मोहवाली मैंने रोककर सहसा उनके गलेमें आलिङ्गन क्यों नहीं किया ? हाय !

प्रियः कृत्वापि संकेतं यस्या नायाति सन्निधिम् ।
विप्रलब्धा तु सा ज्ञेया नितान्तमवमानिता ॥ ८३ ॥

यथा—

'उत्तिष्ठ दूति ! यामो यामो यातस्तथापि नायातः ।
याऽतः परमपि जीवेज्जीवितनाथो भवेत्तस्याः ॥'

नानाकार्यवशाद्यस्या दूरदेशं गतः पतिः ।
सा मनोभवदुःखार्ता भवेत्प्रोषितभर्तृका ॥ ८४ ॥

यथा—

'तां जानीयाः परिमितकथां जीवितं मे द्वितीयं

विप्रलब्धां लक्षयति **प्रिय इति** । प्रियः = कान्तः, संकेतं = समागमस्थाननिर्देशं, कृत्वाऽपि = विधायाऽपि, नायिकायाः, सन्निधिं = समीपं, न आयाति = ना गच्छति, सा तु, नितान्तम् = एकान्तम्, अवमानिता = तिरस्कृता, विप्रलब्धा, ज्ञेया = बोध्या ॥ ८३ ॥

विप्रलब्धामुदाहरति—**उत्तिष्ठेति** । सङ्केतस्थानमागत्य चिरप्रतीक्षाऽनन्तरमपि कान्तस्याऽनागमेन खिन्नाया विप्रलब्धाया दूतीं प्रति कथनमिदम् । हे दूति ! = हे सन्देशहरे !, उत्तिष्ठ = उत्थानं कुरु, यामः = गच्छामः, वयमिति शेषः । यामः = प्रहरः, अत्रायतयोरावयोरिति शेषः । यातः = अतीतः, तथाऽपि, न आयातः = न आगतः, कान्त इति शेषः । अतः = अस्मात्कालात्, अपि, या जीवेत् = प्राणान् धारयेत, तस्या एव, जीवितनाथः = प्राणनाथः भवेत्, न तु अधीरायाः ममेति भावः । सङ्केतं विधायाऽपि कान्तस्याऽनागमेन इयं विप्रलब्धा नायिका ॥ ८३ ॥

प्रोषितभर्तृकां लक्षयति —**नानाकार्यवशादिति** । यस्याः=नायिकायाः, पतिः= वल्लभः, नानाकार्यवशात् = अनेककर्माऽधीनत्वाद्धेतोः, दूरदेशं=विप्रकृष्टप्रदेशं, गतः = प्राप्तः, मनोभवदुःखिता=मदनवेदनापीडिता, सा=नायिका, प्रोषितभर्तृका भवेत् ॥८४॥

प्रोषितभर्तृकामुदाहरति - **तां जानीया इति** । कुबेरशापेन पत्नीविप्रयुक्तस्य

विप्रलब्धा—प्रिय संकेत करके भी जिसके समीप नहीं आता है, अत्यन्त अपमानित उसे **"विप्रलब्धा"** कहते हैं ॥ ८३ ॥

उदाहरण—दूति ! उठो । हम लोग चलें, एक प्रहर बीत चुका फिर भी वे नहीं आए । इसके अनन्तर भी जो जीयेगी उसके प्राणनाथ होंगे ।

प्रोषितभर्तृका—जिसका पति अनेक कामोंमें व्यस्त होकर दूर देशमें गया है, कामदेवसे पीडित उस नायिकाको **"प्रोषितभर्तृका"** कहते हैं ॥ ८४ ॥

उदाहरण—मेघदूतमें यक्ष मेघसे कह रहा है—"हे मेघ ! मुझ सहचरके दूर-

दूरीभूते मयि सहचरे चक्रवाकीमिवैकाम् ।
गाढोत्कण्ठां गुरुषु दिवसेष्वेषु गच्छत्सु बालां
जातां मन्ये शिशिरमथितां पद्मिनीं वान्यरूपाम् ॥'

कुरुते मण्डनं यस्याः सज्जिते वासवेश्मनि ।
सा तु वासकसज्जा स्याद्विदितप्रियसङ्गमा ॥ ८५ ॥

यथा राघवानन्दानां नाटके—

'विदूरे केयूरे कुरु, करयुगे रत्नवलयै-
रलं, गुर्वी ग्रीवाभरणलतिकेयं किमनया ।

कस्यचिद्यक्षस्य मेघं प्रति उक्तिरियम् । सहचरे = सहचारिणि, मयि = कान्ते, दूरीभूते= दूरदेशं प्राप्ते सति, एकाम् = एकाकिनी, चक्रवाकीम् इव = चक्रवाकजायाम् इव, स्थिताम्, परिमितकथाम् = अल्पभाषिणीं ता = पूर्वोद्दिष्टां नायिकां, मे = मम, द्वितीय जीवितं=जीवनं, जानीयाः=विद्धि । गुरुषु = दुर्वहेषु, विरहेणेति शेषः । एषु, दिवसेषु= वासरेषु, गच्छत्सु सत्सु, गाढोत्कण्ठां = मदर्थं भृशोत्कण्ठितां, तां = पूर्वोक्तां, बालां = तरुणीं, शिशिरमथितां = हिमक्लिष्टां, पद्मिनीं = कमलिनी, वा = इव, अन्यरूपां = रूपान्तरं प्राप्तां, मन्ये=उत्प्रेक्षे । यक्षवर्णितेयं नायिका प्रोषितभर्तृका ज्ञेया ॥ ८४ ॥

वासकसज्जां लक्षयति—**कुरुत इति** । सज्जिते = परिष्कृते, शय्याप्रदीपादिभिरुपकरणैरिति शेषः । वासवेश्मनि = निवासभवने, यस्याः = नायिकायाः, मण्डनम्= अलङ्करणं, कुरुते = विदधाति, सखीति शेषः । विदितप्रियसङ्गमा=ज्ञातकान्तसमागमा, सा = नायिका तु, वासकसज्जा स्यात् ॥ ७५ ॥

वासकसज्जामुदाहरति—**विदूरे इति** । अलङ्कुर्वती सखीं प्रति वासकसज्जाया उक्तिरियम् । हे सखि ! केयूरे = अङ्गदे, विदूरे = दूरवर्तिनी, कुरु = विधेहि, केयूरे अपनयेति भावः । करयुगे = पाणियुग्मे, रत्नवलयैः = मणिकङ्कणैः, अलं=पर्याप्तं, रत्नवलयानां प्रयोजनं नेति भावः । इयम् = एषा, ग्रीवाऽऽभरणलतिका=कण्ठभूषालता, गुर्वी = महती, भारयुक्तेति भावः । अतः अनया = ग्रीवाऽऽभरणलतिकया, अलं =

वर्ती होनेपर चक्रवाकी (चकवी) की तरह अल्पभाषिणी और अकेली उसको तुम मेरा दूसरा जीवन जान लो, गाढ उत्कण्ठावाली वह युवति विरहके कारण दीर्घ इन दिनोंके बीतनेपर पालेसे पीडित कमलिनीके समान दूसरे ही रूपको प्राप्त हो गई होगी मैं ऐसी तर्कना करता हूं ।

वासकसज्जा—जिसके सजाएहुए वासभवनमें सखी अलङ्कार पहनाती है प्रियसङ्गमको जाननेवाली उस (नायिका) को "**वासकसज्जा**" कहते हैं ॥ ८५ ॥

जैसे राघवानन्दके नाटकमें हे सखि ! बाजूबन्दोंको दूर करो, रत्नकङ्कणोंकी हाथोंमें जरूरत नहीं, यह ग्रीवाका भूषण भारी है, इसकी अपेक्षा नहीं । अरी सखि !

नवामेकामेकावलिमयि ! मयि त्वं विरचये-
र्न नेपथ्यं पथ्यं बहुतरमनङ्गोत्सवविधौ ॥'

आगन्तुं कृतचित्तोऽपि दैवान्नायाति यत्प्रियः ।
तदनागमदुःखार्ता विरहोत्कण्ठिता तु सा ॥ ८६ ॥

यथा—

किं रुद्धः प्रियया कयाचिदथवा सख्या ममोद्वेजितः,
किं वा कारणगौरवं किमपि, यन्नाद्यागतो वल्लभः ।
इत्यालोच्य मृगीदृशा करतले विन्यस्य वक्त्राम्बुजं
दीर्घं निःश्वसितं, चिरं च रुदितं, क्षिप्ताश्च पुष्पस्रजः ॥'

पर्याप्तम् । "गम्यमानाऽपि क्रिया कारकविभक्तौ प्रयोजिका" । अनया साध्यं नाऽस्तीति भावः अयि = हे सखि ! त्वं, मयि = विषये, एकाम् = एकका, नवां = नूतनगुम्फिताम् । एकावलिम् = एकयष्टिकहारं, विरचय = सज्जीकुरु, यतः अनङ्गोत्सवविधौ = कामकेलिविधाने, बहुतरम् = अधिकतर, नेपथ्य = वेशरचन, पथ्य = हित, न = नो वर्तते । "शिखरिणी वृत्तम्" इयं वक्त्री वासकसज्जा नायिका ॥ ८५ ॥

विरहोत्कण्ठिता लक्षयति—**आगन्तुमिति ।** यत्प्रिय = यस्या (नायिकायाः) प्रियः (वल्लभः), आगन्तुम् = आयातुं, नायिकासमीपमिति शेषः । कृतचित्तोऽपि = व्यवसितोऽपि, दैवात् = भाग्यवशात् । न आयाति—न आगच्छति, तदनागमदुःखाऽऽर्ता= प्रियाऽनागमनपीडाऽऽक्रान्ता तु नायिका विरहोत्कण्ठिता, ज्ञेयेति शेषः ॥ ८६ ॥

विरहोत्कण्ठितामुदाहरति—**किं रुद्ध इति ।** कान्तस्याऽनागमनेन पीडिताया नायिकाया उक्तिरियम् । कयाचित् प्रियया = वल्लभया, रुद्धः किं—प्रतिरुद्धः किं, कान्त इति शेषः । अथवा, मम सख्या = वयस्यया, उद्वेजितः किम् = उद्वेगं प्रापितः किम् । किं वा = अथवा, किमपि = अज्ञातं, कारणगौरवं—प्रयोजनगुरुता, यत् =यस्मात्कारणात् वल्लभः = प्रियः, न आगतः = न आयातः । इति = इत्थम्, आलोच्य = विचिन्त्य, मृगीदृशा = हरिणीनयनया सुन्दर्या इत्यर्थः करतले = पाणितले, वक्त्राऽम्बुज=मुखकमल, विन्यस्य = निधाय, दीर्घम् = आयतं, निःश्वसितं = निःश्वासः कृतः, चिरं च = बहु

नई एकावली (एक लड़ीवाला हार) मुझे पहना दो । कामोत्सवके विधानमें बहुत भूषण हितकारक नही होते हैं ।

विरहोत्कण्ठिता—आनेके लिए मन होनेपर भी जिस नायिकाका प्रिय दैवयोगसे नहीं आता है, उसके न आनेके दुःखसे ग्रस्त उस नायिकाको **"विरहोत्कण्ठिता"** कहते हैं ॥ ८६ ॥

जैसे—क्या दूसरी प्रियाने रोक दिया ? अथवा उन्हें मेरी सखीने उद्विग्न कर दिया । कारणकी कैसी गुरुता आ पड़ी जो कि आज मेरे प्रिय नहीं आये हैं । मृगनयनाने

इति साष्टाविंशतिशतमुत्तममध्याधमस्वरूपेण ।
चतुरधिकाशीतियुतं शतत्रयं नायिकाभेदाः ॥ ८७ ॥

इह च 'परस्त्रियौ कन्यकान्योढे संकेतात्पूर्वं विरहोत्कण्ठिते, पश्चाद्विदूषकादिना सहाभिसरन्त्यावभिसारिके, कुतोऽपि संकेतस्थानमप्राप्ते नायके विप्रलब्धे, इत्यवस्थैवानयोरस्वाधीनप्रिययोरवस्थान्तरायोगात् ।' इति कश्चित् ।

काल यावत्, रुदितं = रोदन कृत, पुष्पस्रजश्च = कुसुममालाश्च, क्षिप्ताः=कण्ठाम्निष्कासिताश्च । एषा कान्ताऽनागमनाद्विरहोत्कण्ठिता । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ ८६ ॥

नायिकाभेदान्समष्टया परिगणयति—**इतीति** । इति = उक्तप्रकारेण, साऽष्टाविंशतिशतम्=अष्टाविंशत्यधिकं शतम् अष्टाविंशतिशतम्, तत्सहितम् । मध्यमपदलोपि समास. । षोडशसंख्यकानां पूर्वोक्तानां नायिकानामवस्थाविशेषत: स्वाऽधीनभर्तृकादिभिः अष्टभेदाभिर्गुणनेन अष्टाविंशतं भवति १६ + ८ = अष्टाविंशतिशतेन सहितम् साऽष्टाविंशतिशतं नायिकाऽभिदाः, उत्तममध्यमाऽधमस्वरूपतः = उत्तमा, मध्यमा अधमा चेति तासां स्वरूपैः । गुणनेन समष्टया नायिकाभेदानां चतुरधिकाऽशीतियुतं = चतुरधिका या अशीतिः, तद्युतं शतत्रयं स्यात् । १२८ + ३ = ३८४ ।

अत्र मतान्तरं प्रदर्शयति—**इह चेति** । इह च = नायिकाभेदप्रकरणे । परस्त्रियौ = कन्यकाऽन्योढे । कुमारी परोढे अस्वाधीने इति भावः । अभिसरन्त्यौ = अभिसरणं कुर्वत्यौ । अनयोः=कन्यकाऽन्योढयोः, अस्वाऽधीनप्रिययोः=अनायत्तकान्तयोः । अवस्थाऽन्तराऽयोगात्=अवस्थान्तरस्य (दशान्तरस्य) अयोगात् (असम्बन्धात्) इति कश्चित्= आचार्यधनिकः । अत्र "कश्चित्" इति लेखनेन ग्रन्थकारस्याऽस्मिन्मते अरुचिः प्रतीयते । यतो जयदेवकृते गीतगोविन्दे विश्वनाथस्य कंसवधे च परोढाया राधिकाया अष्टावप्यवस्था व्यक्तरूपेण प्रकाशिताः कन्यकाविषयेऽपि, इत्थमेव अवस्थाऽष्टकं संभवति ।

ऐसा विचार कर हाथपर मुख कमलको रखकर लम्बा श्वास लिया और वह बहुत समय तक रोई तथा उसने फूलोंकी मालाएँ फेंक दीं ॥

इसप्रकार नायिकाओंके अर्थात् सोलह भेदोंमे आठ भेदोंसे गुणन करनेपर नायिकाओंके एक सौ अट्ठाईस भेद होते हैं, फिर उनमें उत्तम, मध्यम और अधम इस प्रकार तीन भेदोंसे गुणन करनेपर कुल तीन सौ चौरासी भेद हो जाते हैं ॥ ८७ ॥

आचार्य धनिकका मत दिखाते हैं—यहाँपर परकीया अर्थात् कन्या और अन्योढा (परोढा) सङ्केतसे पहले विरहोत्कण्ठिता होती हैं । पीछे विदूषक आदिके साथ अभिसार करनेपर "**अभिसारिका**" होती हैं । किसी कारणसे संकेतस्थानमें नायकके न पहुँचनेपर वे "**विप्रलब्धा**" होती हैं, दोनोंकी ऐसी तीन अवस्थाएँ होती हैं ।

क्वचिदन्योन्यसाङ्कर्यमासां लक्ष्येषु दृश्यते ।

यथा—

'न खलु वयममुष्य दानयोग्याः पिबति च पाति च यासकौ रहस्त्वाम्
विट ! विटपममुं ददस्व तस्यै भवति यतः सदृशोश्चिराय योगः ॥'
तव कितव ! किमाहितैर्वृथा नः क्षितिरुहपल्लवपुष्पकर्णपूरैः ।
ननु जनविदितैर्भवद्व्यलीकैश्चिरपरिपूरितमेव कर्णयुग्मम् ॥'

क्वचिन्नायिकानामन्योन्यसाङ्कर्यं प्रदर्शयति—क्वचिदिति । आसाम् = उ दर्शितनायिकानां, क्वचित् = कुत्रचित्, अन्योन्यसाङ्कर्यं = मिथः समिश्रणं, लक्ष्येषु महाकविप्रबन्धेषु । दृश्यते = अवलोक्यते ।

अन्योन्यसाङ्कर्यमुदाहरति—न खलिवति । पुष्पपल्लवसहिता वृक्षशाखां दद नायकं प्रति नायिकाया उक्तिरियम् । हे विट = हे भुजङ्ग !, वयम्, अमुष्य = विटपस्य दानयोग्या = वितरणार्हा न, असकौ = असौ एव, "अव्ययसर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः इति सूत्रेण अकच् प्रत्ययः । या = तव प्रिया, रहः = विजने, त्वां = भवन्त, पिबति = चुम्बतीति भावः, पाति च = नायिकान्तरात् रक्षति च, तस्यै = नायिकायै, अ विटपं = शाखां, विटं पाति इति विटपः, नायिकायामपि विटरक्षणात् विटपत्वमि भावः । ददस्व = वितर । यतः = यस्मात्कारणात्, चिराय = बहुकालपर्यन्तं, सदृशोः तुल्ययोः पदार्थयोः, योगः = सम्बन्धः भवतीति शेषः ॥ तवेति । हे कितव = हे धूर्त ! वृथा = व्यर्थमेव, आहितैः = निहितैः, मत्कर्णयोरिति शेषः । क्षितिरुहपल्लवपुष्पकर्ण पूरैः = क्षितिरुहाणां (वृक्षाणाम्) पल्लवपुष्पाणि (किसलयकुसुमानि) एव कर्णपूर (कर्णभूषणानि) तैः, नः = अस्माकं, ममेति भावः । किं = किं प्रयोजनमिति भावः ननु = भोः, जनविदितैः = लोकज्ञातैः, भवद्व्यलीकैः = तव कामजापराधैः, कर्णयुग्मं श्रोत्रयुगलं, चिरपरिपूरितम् एव=चिरकालात् परिपूर्णम् एव, आधानस्थानाभावात्पल्लव पुष्पकर्णपूराणां न कश्चिदवकाशः ॥

प्रियके स्वाधीन न होनेपर अन्य पाँच अवस्थाएँ नही हो सकती हैं । ऐसा को कहते हैं ।

कुछ लक्ष्योंमें इनका परस्पर संमिश्रण भी देखा जाता है ।

जैसे— पुष्पों और पल्लवोंके साथ वृक्षशाखाको देनेवाले नायकको नायिका क रही है—"हे विट ! हम इस वृक्षशाखाको पानेके लिए योग्य नहीं है, जो तुम्हार प्रिया तुम्हें चुम्बन करती है और रक्षा भी करती है इसे उसीको दे दो क्योंकि दो समा पदार्थोका ही बहुत समयतक सम्बन्ध बना रहता है" ।

'मुहुरुपहसितामिवालिनादैर्वितरसि नः कलिकां किमर्थमेनाम् ।
वसतिमुपगतेन धाम्नि तस्याः शठ ! कलिरेष महांस्त्वयाद्य दत्तः ॥'
'इति गदितवती रुषा जघान स्फुरितमनोरमपक्ष्मकेसरेण ।
श्रवणनियमितेन कान्तमन्या सममसिताम्बुरुहेण चक्षुषा च ॥'

इयं हि वक्रोक्त्या परुषवचनेन कर्णोत्पलताडनेन च धीरमध्यताऽधीरमध्यताऽधीरप्रगल्भताभिः संकीर्णा ।

मुहुरिति । अलिनादैः=कलिकास्थभ्रमरझङ्कारैः, मुहुः = वारंवारम्, उपहसिताम् इव = कृतोपहासाम् इव, एनां, कलिकां = कुसुमकोरकं, नः = अस्मभ्यं, किमर्थं = कस्मै प्रयोजनाय, वितरसि = ददासि, यतः, हे शठ = हे धूर्त !, तस्याः = अन्यस्या वल्लभायाः, धाम्नि = भवने, वसतिं = निवासम्, उपगतेन = प्राप्तेन त्वया= भवता, महान् = दुःसहः, कलिः = कलहः, अद्य = अस्मिन्दिने, दत्तः = वितीर्णः । अतो महति कलौ सति किमर्थं कल्यन्तरवितरणमिति भावः ॥

इतीति । इति=इत्थं, गदितवती = उक्तवती, अन्या = अपरा नायिकेति भावः, रुषा = रोषेण, स्फुरितमनोरमपक्ष्मकेसरेण = स्फुरितानि (दीप्तानि), मनोरमाणि (सुन्दराणि) पक्ष्माणि (लोमानि) इव केसराणि (किञ्जल्काः) यस्य, तेन, श्रवणनियमितेन=कर्णनिहितेन, असिताऽम्बुरुहेण = नीलकमलेन, एवं च स्फुरितमनोरमपक्ष्मकेसरेण = स्फुरितानि (चलितानि) मनोरमाणि (मनोहराणि) पक्ष्माणि (नेत्ररोमाणि) एव केसराणि (किञ्जल्काः) यस्य, तेन, एवं च श्रवणनियमितेन = कर्णपर्यन्तं विस्तृतेन असिताऽम्बुरुहेण = नीलकमलेन, जातावेकवचनम् । समं = युगपत, कान्तं = प्रियं, जघान = ताडितवती, सारं विवृणोति —इय हीति । इयं = पूर्वोक्तस्य पद्यत्रयस्य अभिधात्री नायिका, प्रथमपद्ये वक्रोक्त्या धीरमध्यतया, द्वितीयपद्ये परुषवचनेन

"हे धूर्त" ! मेरे कानोंमें तुमसे व्यर्थ ही रक्खे गये इन वृक्षोंके पल्लव, और पुष्परूप कर्णभूषणोंसे क्या प्रयोजन ? क्योंकि लोगोंसे जाने गये तुम्हारे कामजन्य अपराधोंसे मेरे दोनों कान बहुत समयसे पूर्ण ही किये गये हैं ॥

भौरोंके झङ्कारोंसे उपहास करनेवालीके समान फूलोंकी इस कलीको हमें क्यों दे रहे हो ? हे शठ ! उस (मेरी सौत) के गृहको प्राप्त तुमने महान् कलि (कलह), को आज दे दिया है । ऐसा कहनेवाली दूसरी नायिकाने क्रोधसे सुन्दर रोमके समान केसरवाले कानमें पहनाये गये नीलकमलसे और सुन्दर किञ्जल्कके समान नेत्ररोमवाले कान तक विस्तीर्ण नेत्रोंसे क्रोधपूर्वक एक ही बार प्रियको ताडन किया । ये शिशुपालवध महाकाव्यके पद्य हैं ।

यह नायिका वक्र उक्तिसे धीरमध्यता, कठोरवचनसे अधीरमध्यता और कर्णोत्पलके ताडनसे अधीर प्रगल्भतासे सङ्कीर्ण हैं । अर्थात् पूर्वोक्त पद्योंके अनुसार यह नायिका

एवमन्यत्राऽप्यूह्यम् ।

इतरा अप्यसंख्यास्ता नोक्ता विस्तरशङ्कया ॥ ८८ ॥

ता नायिकाः ।

अथासामलङ्काराः—

यौवने सत्त्वजास्तासामष्टाविंशतिसंख्यकाः ।
अलङ्कारास्तत्र भावहावहेलास्त्रयोऽङ्गजाः ॥ ८९ ॥

शोभा कान्तिश्च दीप्तिश्च माधुर्यं च प्रगल्भता ।
औदार्यं धैर्यमित्येते सप्तैव स्युरयत्नजाः ॥ ९० ॥

(कठोरवचनेन) अधीरमध्यतया, तृतीयपद्ये कर्णोत्पलताडनेन अधीरप्रगल्भतया सकीर्णा = सङ्करयुक्ता ।

एतत्पद्यचतुष्टयं शिशुपालवधमहाकाव्यस्य सप्तमसर्गस्थं बोद्धव्यम् । 'पुष्पिताग्रा वृत्तं त्रिष्वपि पद्येषु' ।

नायिकाभेदमुपसंहरति—**इतरा इति** । ताः = नायिकाः, इतरा अपि = अन्या अपि, असंख्याः=अपरिमिताः, दिव्याऽऽदिभिः पद्मिन्यादिभिश्च भेदैरिति भावः । विस्तर-शङ्कया = ग्रन्थबाहुल्यशङ्कया, न उक्ताः = न कथिताः ॥ ८८ ॥

नायिकानामलङ्कारान् उद्दिशति—**यौवन इति** । तासां=नायिकानां, यौवने= तारुण्ये, अष्टाविंशतिसंख्यकाः, सत्त्वजाः = सत्त्वगुणजाताः,=अलङ्काराः = अलङ्क्रियते । (भूष्यते) एभिरिति भूषणानि भवन्ति, तत्र=तेषु अलङ्कारेषु, भावहावहेलाः, त्रयः = त्रिसंख्यकाः, अङ्गजाः = अङ्गजन्याः. अलङ्काराः ॥ ८९ ॥

शोभेति । शोभातो धैर्यपर्यन्ताः सप्त अयत्नजाः = शरीरमनःस्वभावजन्या अप्रयासजा अलङ्काराः ॥ ९० ॥

धीरामध्या, अधीरामध्या और अधीराप्रगल्भा नायिकाओंके लक्षणोंसे युक्त है । इसी तरह अन्यत्र भी ऊह करना चाहिए । और भी असंख्य नायिकाएँ कही गई हैं ग्रन्थके विस्तरकी शङ्कासे वे यहाँपर उल्लिखित नहीं हैं ॥ ८८ ॥

नायिकाओं के अलङ्कार—यौवनमें नायिकाओंके सत्त्वजन्य (सात्त्विक) अठाईस अलङ्कार होते हैं, । उनमें भाव, हाव, और हेला ये तीन 'अङ्गज' 'अलङ्कार कहलाते हैं ॥ ८९ ॥

शोभा, कान्ति, दीप्ति, माधुर्य, प्रगल्भता, औदार्य और धैर्य ये सात अयत्नज अर्थात् बिना यत्नके उत्पन्न होते हैं ॥ ९० ॥

लीला विलासो विच्छित्तिर्विब्वोकः किलकिञ्चितम् ।
मोट्टायितं कुट्टमितं विभ्रमो ललितं मदः ॥ ९१ ॥
विहृतं तपनं मौग्ध्यं विक्षेपश्च कुतूहलम् ।
हसितं चकितं केलिरित्यष्टादशसंख्यकाः ॥ ९२ ॥
स्वभावजाश्च भावाद्या दश पुंसां भवन्त्यपि ।

पूर्वे भावादयो धैर्यान्ता दश नायकानामपि संभवन्ति । किंतु सर्वेऽप्यमी नायिकाश्रिता एव विच्छित्तिविशेषं पुष्णन्ति ।

तत्र भावः—

निर्विकारात्मके चित्ते भावः प्रथमविक्रिया ॥ ९३ ॥

जन्मतः प्रभृति निर्विकारे मनसि उद्बुद्धमात्रो विकारो भावः ।

यथा—

'स एव सुरभिः कालः, स एव मलयानिलः ।
सैवेयमबला, किंतु मनोऽन्यदिव दृश्यते ॥'

लीलेति । लीलात आरभ्य केलिपर्यन्ता अष्टादशाऽलङ्काराः ॥ ९१–९२ ॥

स्वभावजाश्च । एते, स्वभावजाः=रत्यादिस्वभावजन्याः, चकारात् कृत्रिमाश्च भावाद्या दश=भावात् आरभ्य धैर्यं यावत्, पुंसां=नायकानामपि भवन्ति किन्तु सर्वेऽप्यमी अलङ्कारा नायिकाश्रिता एव विच्छित्तिविशेषं = वैचित्र्यविशेषं, पुष्णन्ति=पुष्टं कुर्वन्ति ।

तत्र भावं लक्षयति—**निर्विकारात्मक इति** । निर्विकारात्मके = विकाररहिते, चित्ते = मनसि, प्रथमविक्रिया = आद्यो मदनविकारः, भावः । उद्बुद्धमात्रः = आविर्भूतमात्रः ।। ९३ ॥

भावमुदाहरति—**स एवेति** । स एव = पूर्वाऽनुभूत एव, सुरभिः काल = वसन्तऋतुः, स एव, मलयाऽनिलः = दाक्षिणात्यो वातः । सैवेयम् अबला = नायिका,

लीला, विलास, विच्छित्ति, विब्वोक, किलकिञ्चित, मोट्टायित, कुट्टमित, विभ्रम, ललित, मद ॥ ९१ ॥

विहृत, तपन, मौग्ध्य, विक्षेप, कुतूहल, हसित, चकित और केलि ये अठारह-स्वभावसिद्ध और कृत्रिम भी होते हैं ॥ ९२ ॥

स्वभावज (स्वाभाविक) और चकार पाठसे कृत्रिम भी होते हैं । इनमें भावसे धैर्यतक नायकोंके भी हो सकते हैं; परन्तु ये सब नायिकामें आश्रित रहनेपर ही विशेष वैचित्र्यकी पुष्टि करते है ।

भाव-जन्मसे विकाररहित चित्तमें प्रथम उद्बुद्ध विकारको "भाव" कहते हैं ।९३।

उ०—वही वसन्तका समय है वही मलयका वायु है यह स्त्री भी वही है किन्तु

अथ हावः—

भ्रूनेत्रादिविकारैस्तु संभोगेच्छाप्रकाशकः ।
भाव एवाल्पसंलक्ष्यविकारो हाव उच्यते ॥ ९४ ॥

यथा—

'विवृण्वती शैलसुतापि भावमङ्गैः स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः ।
साचीकृता चारुतरेण तस्थौ मुखेन पर्यस्तविलोचनेन ॥'

अथ हेला—

हेलात्यन्तसमालक्ष्यविकारः स्यात् स एव तु ।

स एव भाव एव ।

किन्तु मनः = अस्याश्चित्तम्, अन्यत् इव=अपरम् इव, दृश्यते । अत्र मदनविकारस्याऽऽभासात् भावः प्रतीयते ॥ ९३ ॥

हावं लक्षयति—**भ्रूनेत्रादिविकारैरिति** । भ्रूनेत्रादिविकारैः = भ्रूनेत्रादीनां (भ्रूनयनादीनाम्) विकारैः (चपलतादिविकृतिभिः), संभोगेच्छाप्रकाशकः = रमणकामनाव्यञ्जकः, अल्पसंलक्ष्यविकारः = स्तोकज्ञेयविकृतिः, भाव एव हावः । हावमुदाहरति—**विवृण्वतीति** । शिवतपोवने मदनप्रादुर्भावाऽनन्तरं पार्वत्या वर्णनमिदम् । कुमारसम्भवस्थं पद्यमेतत् । शैलसुताऽपि = पार्वत्यपि, स्फुरद्बालकदम्बकल्पैः = विकसन्नूतनकदम्बकुसुमसदृशैः, रोमाञ्चयुक्तैरिति भावः, अङ्गैः = देहाऽवयवैः, भावं = शिवदर्शनात् प्रथममनोविकारं, विवृण्वती = प्रकटयन्ती, चारुतरेण = सुन्दरतरेण, पर्यस्तविलोचनेन= शिवे परिक्षिप्तनेत्रेण, मुखेन = वदनेन, साचीकृता = वक्रीकृता सती, तस्थौ = स्थिता । उपजातिवृत्तम् । अत्र बालकदम्बेत्यनेन पुलकस्याऽल्पत्वं तेन च भावस्याऽल्पलक्ष्यत्वप्रकाशनाद् हावो ज्ञेयः ॥ ९४ ॥

हेलां लक्षयति—**हेलेति** । अत्यन्तसमालक्ष्यविकारः = भृशसंदर्शनीयविकृतिः । स एव = भाव एव, हेला स्यात् । तत्र च अल्पसंलक्ष्यविकारो भावो हावः, अधिकसमालक्ष्यविकारो भावो हेलेति विवेकः । हेलामुदाहरति—**तथेति** ।

इसका मन कुछ अन्यके समान ही देखा जाता है ।

हाव—भौंहें और नेत्र आदिके विकारोंसे संभोगकी इच्छाका प्रकाशक कुछ विकारवाला भाव ही "हाव" कहा जाता है ॥ ९४ ॥

उ०—शिवजीके तपोवनमें कामदेवका प्रादुर्भाव होनेपर पार्वतीकी अवस्थाका वर्णन है । पार्वती भी खिले हुए कदम्बके पुष्पोंके समान अपने अङ्गोंसे मनके विकारको प्रकट करती हुई शिवजीमें नेत्रोंको लगाकर मुखको कुछ तिरछा कर खड़ी हो रहीं । यह कुमारसंभवका पद्य है ।

हेला—अत्यन्त विकारसे युक्त उसी भावको "हेला" कहते हैं ।

यथा-

'तह से झत्ति पउत्ता बहुए सव्यङ्गविब्भमा सअला ।
संसइअमुद्धभावा होइ चिरं जइ सहीणं पि ॥'
(तथा तस्या झटिति प्रवृत्ता वध्वाः सर्वाङ्गविभ्रमाः सकलाः ।
संशयितमुग्धभावा भवन्ति चिरं यथा सखीनामपि ॥)

अथ शोभा—

रूपयौवनलालित्यभोगाद्यैरङ्गभूषणम् ॥ ९५ ॥

शोभा प्रोक्ता—

तत्र यौवनशोभा यथा—

'असंभृतं मण्डनमङ्गयष्टेरनासवाख्यं करणं मदस्य ।
कामस्य पुष्पव्यतिरिक्तमस्त्रं बाल्यात्परं साऽथ वयः प्रपेदे ॥'

तस्या वध्वाः = नवपरिणीतायाः, झटिति = द्राक्, सकलाः = संपूर्णाः, सर्वाङ्गविभ्रमाः = सकलाऽवयवविलासाः, तथा = तेन प्रकारेण, प्रवृत्ताः = प्रादुर्भूताः, यथा = येन प्रकारेण, सखीनाम् अपि = वयस्यानाम् अपि, चिरं = बहुकालपर्यन्तं, संशयितमुग्धभावाः = संशयितः (संशयास्पदीभूतः) मुग्धभावः (शैशवम्) येषां ते, तादृशा भवन्ति । अत्र वध्वाः सर्वाङ्गेषु भावस्य अत्यन्तसमालक्ष्यत्वात् हेला ज्ञेया ।

शोभां लक्षयति—रूपेति । रूपयौवनलालित्यभोगाद्यैः = रूपं (सौन्दर्यम्), यौवनं (तारुण्यम्), लालित्यं (कोमलता) भोगः । (स्रक्चन्दनाद्युपयोगः) तदाद्यैः, अङ्गभूषणम् = देहाऽवयवमण्डनं शोभा प्रोक्ता ॥ ९५ ॥

यौवनशोभामुदाहरति—असंभृतमिति । कुमारसंभवस्थं पार्वतीयौवनवर्णनमिदम् । अथ = अनन्तरं, सा = पार्वती, अङ्गयष्टेः = शरीरलतायाः, असंभृतम् = अयत्नसिद्धं, स्वाभाविकमिति भावः । मण्डनम् = अलङ्करणं, मदस्य = मत्ततायाः, अनासवाख्यम् = आसवनामरहितं करणं = साधनं, कामस्य = मदनस्य, पुष्पव्यतिरिक्तं = कुसुमाऽधिकम्, अस्त्रम्=आयुधस्वरूपं, बाल्यात्=शैशवात्, परम्=अनन्तरवर्ति,

---

उ०—उस नव वधूके समस्त अङ्गोंके विलास झटपट उस तरह प्रादुर्भूत हुए जिससे उसके सखियोंको भी उसकी मुग्धतामें बहुत समयतक शङ्का होने लगी ।

शोभा—सौन्दर्य, तारुण्य, कोमलता और उपभोग आदिसे होनेवाले अङ्गके भूषणको "शोभा" कहते हैं ॥ ९५ ॥

यौवनशोभा जैसे—पार्वतीने अयत्नसिद्ध शरीरका अलङ्कारस्वरूप, आसव-(मदिरा) से भिन्न मद पैदा करनेवाला, पुष्पसे भिन्न कामदेवका अस्त्रभूत, बाल्याऽ-

एवमन्यत्रापि ।

अथ कान्तिः—

सैव कान्तिर्मन्मथाप्यायितद्युतिः ।

मन्मथोन्मेषेणाति विस्तीर्णा शोभैव कान्तिरुच्यते ।

यथा—

'नेत्रे खञ्जनगञ्जने—' इत्यत्र (पृ० ८२) ।

अथ दीप्तिः—

कान्तिरेवातिविस्तीर्णा दीप्तिरित्यभिधीयते ॥ ९६ ॥

यथा मम चन्द्रकलानामनाटिकायां चन्द्रकलावर्णनम्—

'तारुण्यस्य विलासः समधिकलावण्यसंपदो हासः ।
धरणितलस्याभरणं युवजनमनसो वशीकरणम् ॥'

वयः = अवस्थां, यौवनमिति भावः । प्रपेदे = प्राप्तवती । अत्र पार्वत्या यौवनेन अङ्गानां भूषणाच्छोभा ॥ ९५ ॥

कान्ति लक्षयति—**सैवेति** । मन्मथाप्यायितद्युतिः = मन्मथेन (मदनेन) आप्यायिता (संवर्द्धिता) द्युतिः (कान्तिः) यस्याः सा, सा एव = शोभा एव, कान्तिः ।

कान्तिमुदाहरति—**"नेत्रे खञ्जनगञ्जने"** इत्यादि (पृ० ८२) ।

दीप्ति लक्षयति— **कान्तिरिति** । अतिविस्तीर्णा = अतिविस्तारं प्राप्ता, कान्तिरेव, दीप्तिरिति, अभिधीयते = कथ्यते ॥ ९६ ।

दीप्तिमुदाहरति — **तारुण्यस्येति** । तारुण्यस्य यौवनस्य, विलासः = विलसनम् । तारुण्यस्य विलासस्थानमिति भावः, समधिकलावण्यसम्पदः = अतिरिक्तसौन्दर्यसम्पत्तेः, हासः हास्यस्थानम् । धरणितलस्य = भूतलस्य, आभरणम् = अलङ्कारास्पदं, तथैव युवजनमनसः = तरुणजनचित्तस्य, वशीकरणं = वशक्रियासाधनं, सा चन्द्रकलाऽस्तीति भावः । शुद्धसारोपा इयं लक्षणा । तारुण्यविलासादीनामतिशयो लक्षणाप्रयोजनम् । अत्र कान्तेरतिविस्तीर्णत्वाद्दीप्तिर्नामाऽलङ्कारः । ग्रन्थकारस्य पद्यमेतत् ॥

वस्थाके अनन्तर उसप्रकारके वय (अवस्था) को प्राप्त किया । यह कुमारसंभवका पद्य है । इसी प्रकार औरोंको भी जानना चाहिए ।

कान्ति—कामदेवसे बढ़ी हुई कान्तिवाली शोभाको ही 'कान्ति" कहते हैं । जैसे—"नेत्रे खञ्जनगञ्जने" (पृ० ८२) इत्यादि ।

दीप्ति—अत्यन्त विस्तीर्ण कान्तिको ही "दीप्ति" कहते है ॥ ९६ ॥

उ०—ग्रन्थकारकी चन्द्रकला नाटिकामें चन्द्रकलाका वर्णन—चन्द्रकला तारुण्य (जवानी) का विलास है, प्रचुर लावण्यसंपत्तिका हास है, भूतलका भूषण है और युवकोंके मनको वशमें करनेका साधन है ।

अथ माधुर्यम्—

सर्वावस्थाविशेषेषु माधुर्यं रमणीयता ।

यथा--

'सरसिजमनुविद्धं शैवलेनापि रम्यं,
मलिनमपि हिमांशोर्लक्ष्म लक्ष्मीं तनोति ।
इयमधिकमनोज्ञा वल्कलेनापि तन्वी,
किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतीनाम् ॥'

अथ प्रगल्भता—

निःसाध्वसत्वं प्रागल्भ्यम्—

माधुर्यं लक्षयति—**सर्वाऽवस्थाविशेषेष्विति** । सर्वाऽवस्थाविशेषेषु = सकलदशाभेदेष्वपि, रमणीयता = मनोहरता, माधुर्यम् ।

माधुर्यमुदाहरति—**सरसिजमिति** । वल्कलेनाऽपि मनोहररूपा शकुन्तलां पश्यतो राज्ञो दुष्यन्तस्योक्तिरियम् । पद्यमिदमभिज्ञानशाकुन्तलस्थम् ।

शैवलेन जलनील्या, अनुविद्धं = व्याप्तमपि, सरसिजं = कमलं, रम्यं = मनोहरम्, मलिनम् अपि = मलीमसम् अपि, कृष्णवर्णम् अपि । हिमांऽशोः = चन्द्रमसः, लक्ष्म = कलङ्कः, लक्ष्मी = शोभां, तनोति = विस्तारयति । तथैव इयं = सन्निकृष्टस्था, तन्वी = कृशोदरी, शकुन्तलेति भावः । वल्कलेन अपि=तरुत्वचा अपि, अधिकमनोज्ञा= भृशं मनोहरा । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यासेन द्रढयति—**किमिवेति** । हि=यतः, मधुराणां = मनोहराणाम, आकृतीनाम् = आकाराणां, किमिव = किं वस्तु, मण्डनम् = प्रसाधनसाधनं, न, प्रत्युत मनोहराणामाकृतीनां सकलमपि वस्तु भूषणसाधन भवतीति भावः । अत्र वल्कलपरिधानायाः शकुन्तलाया अनलङ्काराऽवस्थायामपि रमणीयताप्रतिपादनान्माधुर्यं नामाऽलङ्कारः ।

प्रगल्भतां लक्षयति—**निःसाध्वसत्वमिति** । निःसाध्वसत्व = भीतिरहितत्वं, प्रागल्भ्यं = प्रगल्भता ।

माधुर्य—सब अवस्थाओंमें मनोहरताको "माधुर्य" कहते हैं ।

उ०—दुष्यन्त शकुन्तलाको देखकर कहते है । कमल सेवारोंसे सम्बद्ध होकर भी मनोहर है । चन्द्रमाका कलङ्क मलिन होनेपर भी शोभाका विस्तार करता है । यह कृशोदरी (शकुन्तला) वल्कलको धारण करनेपर भी अधिक सुन्दरी है, मनोहर आकारोंको कौन सा पदार्थ भूषणका साधन नहीं होता है ?

प्रगल्भता—भय न होनेको "प्रगल्भता" कहते हैं ।

यथा—'समाश्लिष्टाः समाश्लेषैश्चुम्बिताश्चुम्बनैरपि ।
दष्टाश्च दंशनैः कान्तं दासीकुर्वन्ति योषितः ॥'

अथौदार्यम्—

—औदार्यं विनयः सदा ॥ ९७ ॥

यथा—

'न ब्रूते परुषां गिरं वितनुते न भ्रूयुगं भङ्गुरं,
नोत्तंसं क्षिपति क्षितौ श्रवणतः सा मे स्फुटेऽप्यागसि ।
कान्ता गर्भगृहे गवाक्षविवरव्यापारिताक्ष्या बहिः
सख्या वक्त्रमभि प्रयच्छति परं पर्यश्रुणी लोचने ॥'

प्रगल्भतामुदाहरति—**समाश्लिष्टा इति** । योषितः ललना समाश्लिष्टाः= आलिङ्गिताः, कान्तेनेति शेषः । समाश्लेषैः आलिङ्गनैः, चुम्बिताः = कृतचुम्बनाः सत्यः, चुम्बनैः = वक्त्रसंयोगैः, दष्टाश्च कान्तेन कृताधरदशनाः सत्यं दशनैः= दन्तक्षतैश्च कान्तं = प्रियं, दासीकुर्वन्ति दासवद्विदधति । अत्र कान्तकृताऽऽलिङ्गनादीनां प्रत्यालिङ्गनादिभिर्निर्भयत्वप्रदर्शनात् प्रगल्भता नामाऽलङ्कारः ॥

औदार्यं लक्षयति—**औदार्यमिति** । सदा = सर्वस्मिन्काले, विनयः = नम्रता, औदार्यम् ॥ ९७ ॥

औदार्यमुदाहरति—**न ब्रूत इति** । प्रियायाश्चरितं मित्राय कथयतो नायकस्योक्तिरियम् ; कान्ता = मम प्रिया, मे = मम, आगसि = अपराधे, स्फुटे अपि = व्यक्ते अपि; परुषां = कठोरां, गिरं = वाणीं, न ब्रूते = नो भाषते । भ्रूयुगं = नयनलोमयुग्म, भङ्गुरं = भङ्गशील, कुटिलमिति भाव । न वितनुते = न करोति । उत्तंसं = कर्णभूषण, श्रवणतः = कर्णात्, क्षितौ = भूमौ, न क्षिपति = न निरस्यति । परं = केवलं, गर्भगृहे = स्वकीयवासगृहे, बहिः=बहिः प्रदेशात्, गवाक्षविवरव्यापारिताक्ष्या = गवाक्षविवरेण (वातायनच्छिद्रेण) व्यापारिते (सञ्चारिते) अक्षिणी (नेत्रे) यया, तस्याः, सख्याः = वयस्यायाः, वक्त्रं = वदनम् अभि = लक्ष्यीकृत्य, पर्यश्रुणी = अश्रुव्याप्ते, लोचने = नयने, प्रयच्छति = प्रददाति । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् । अत्र कान्तकृताऽपराधस्य स्फुटत्वेऽपि विनयस्य प्रदर्शनात्, औदार्यं नामाऽलङ्कारः ॥ ९७ ॥

उ०—स्त्रियाँ आलिङ्गित होनेपर आलिङ्गनोंसे, चुम्बित होकर चुम्बनोंसे और प्रियके अधरक्षत करनेसे स्वयं भी अधरक्षत करके अपने प्रियको दासके समान बनाती है ।

औदार्य—सर्वदा नम्रता दिखानेको "औदार्य" कहते हैं ॥ ९७ ॥

उ०—कोई नायक अपनी नायिकाका चरित्र मित्रसे कहता है । मेरे अपराधके प्रकाशित होनेपर भी मेरी प्रिया कठोर वचन नहीं बोलती है, भौंहोंको टेढ़ी नहीं करती है, न तो कर्णभूषणोंको कानोंसे उतारकर जमीनपर फेंकती है, किन्तु कोठरीमें बाहर झरोखेके छेदसे नेत्रोंको देनेवाली सखीके मुँहके सम्मुख आंसुओंसे भरे हुए नेत्रोंको लगाती है ।

अथ धैर्यम्—

मुक्तात्मश्लाघना धैर्यं मनोवृत्तिरचञ्चला ।

यथा—

'ज्वलतु गगने रात्रौ रात्रावखण्डकलः शशी,
दहतु मदनः, किंवा मृत्योः परेण विधास्यति ।
मम तु दयितः श्लाघ्यस्तातो जनन्यमलान्वया,
कुलममलिनं, न त्वेवायं जनो न च जीवितम् ॥'

अथ लीला—

अङ्गैर्वेषैरलङ्कारैः प्रेमभिर्वचनैरपि ॥ ९८ ॥

धैर्यं लक्षयति—**मुक्तात्मश्लाघनेति** । मुक्तात्मश्लाघना = त्यक्तात्मविकत्थना । अचञ्चला = अचपला, या मनोवृत्तिः = चित्तवृत्तिः, तद् धैर्यम् ।

धैर्यमुदाहरति—**ज्वलत्विति** । मालतीमाधवे लवङ्गिकां प्रति मालत्या उक्तिः । रात्रौ रात्रौ = प्रतिरात्रि, गगने = आकाशे, अखण्डकलः = पूर्णकलः, षोडशकलासहित इत्यर्थः । शशी = चन्द्रमाः, ज्वलतु = मां वह्निरिव दहतु । एवं च मदनः = मन्मथः, दहतु = भस्मीकरोतु, मृत्योः परेण = मृत्युं विहायेति भावः, किं वा = किम्, विधास्यति = करिष्यति । मम तु दयितः = प्रियः, तातः = पिता च । श्लाघ्यः = प्रशंसनीयः, जननी = माता, अमलाऽन्वया = निर्मलवंशोत्पन्ना, ततः कुलं च = वंशश्च, अमलिनं = निर्दोषम्, अयम् = एषः, जनः = मद्रूपः, जीवितं च = जीवनं च, न=नो भविष्यतः । अत्र आत्मश्लाघारहितायाः मनोवृत्तेश्चाञ्चल्याऽभावेन धैर्यं नाम नायिकाऽलङ्कारः । विषमाऽलङ्कारः । हरिणी वृत्तम् ॥

लीलां लक्षयति—**अङ्गैरिति** । प्रीतिप्रयोजितैः = हर्षसंपादितैः, अङ्गैः = देहावयवैः, वेषैः = नेपथ्यैः, अलङ्कारैः = भूषणैः, एवं च प्रेमभिः = प्रणयपूर्णैः, वचनैरपि= वाक्यैरपि ।

धैर्य—आत्मश्लाघा (स्वप्रशंसा) से रहित स्थिर मनोवृत्तिको "धैर्य" कहते हैं ।

उ०—मालतीमाधवमें लवङ्गिका सखीके प्रति मालतीकी उक्ति—प्रत्येक रात्रिमें आकाशमें संपूर्ण कलाओंसे युक्त होकर चन्द्रमा प्रज्वलित हों और कामदेव दाह करे । ये लोग मृत्युसे अधिक क्या करेंगे ? मेरे तो प्रिय और पिताजी प्रशंसनीय हैं और मेरी माताजी निर्मल वंशमें उत्पन्न हैं, तथा कुल निर्मल हैं, परन्तु मैं न रहूंगी और न मेरा जीवन ही रहेगा ।

लीला—हर्षसे सम्पादित अङ्ग, वेष, अलङ्कार, प्रेमपूर्ण वचनोंसे भी प्रियके अनुकरणको "लीला" कहते हैं ॥ ९८ ॥

प्रीतिप्रयोजितैर्लीलां प्रियस्यानुकृतिं विदुः ।

यथा—

मृणालव्यालवलया वेणीबन्धकपर्दिनी ।
हरानुकारिणी पातु लीलया पार्वती जगत् ॥

अथ विलासः—

यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम् ॥ ९९ ॥
विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसन्दर्शनादिना ।

यथा—

'अत्रान्तरे किमपि वाग्विभवातिवृत्तवैचित्र्यमुल्लसितविभ्रममायताक्ष्याः ।
तद्भूरिसात्त्विकविकारमपास्तधैर्यमाचार्यकं विजयि मान्मथमाविरासीत् ॥'

प्रियस्य = कान्तस्य, अनुकृतिम् = अनुकरण, लीला, विदुः = जानन्ति, आलङ्कारिका इति भावः ।

लीलामुदाहरति—**मृणालव्यालवलयेति** । मृणालव्यालवलया = मृणालम् (बिसम्) एव व्यालवलयं (सर्पकाकङ्कणम्) यस्या. सा । वेणीबन्धकपर्दिनी = वेणीबन्धेन (केशवेशेन) कपर्दिनी (जटाजूटयुक्ता), इत्यत्र हराऽनुकारिणी=शिवाऽनुकरणशीला, पार्वती = उमा, लीलया = विलासेन, प्रियाऽनुकरणरूपेणेति भाव, जगत् = लोकं, पातु=रक्षतु । अत्र मृणालवलयादिवेषादिभिः प्रियानुकृतेर्लीला नामाऽलङ्कारः ।

विलास लक्ष्यति—**यानेति** । इष्टसंदर्शनादिना = इष्टस्य (प्रियस्य) सन्दर्शनादिना (साक्षात्करणादिना), यानस्थानासनादीना = गमनस्थित्युपवेशनादीनाम्, एव च मुखनेत्रादिकर्मणा=वदननयनादिक्रियाणां, विशेषः=वैलक्षण्यं, विलासः स्यात् ।

विलासमुदाहरति—**अत्राऽन्तर इति** । मालतीमाधवे माधवस्य स्वसखं मकरन्दं प्रत्युक्तिरियम् । अत्र = अस्मिन, अन्तरे = अवसरे, आयताक्ष्याः = विशाललोचनायाः, मालत्या इत्यर्थः किमपि = अनिर्वाच्य, वाग्विभवाऽतिवृत्त = वचनसम्पत्यतीतवैचित्र्यम्, उल्लसितविभ्रम = प्रकाशितविलासं, भूरिसात्त्विकविकार = प्रभूतस्तम्भादिविकृति,

---

उ०—कमलनालरूप सर्पकङ्कणके धारण करनेवाली, वेणीबन्धको जटाजूट बनानेवाली लीलासे शिवजीका अनुकरण(नकल)करनेवाली पार्वती जगत्की रक्षा करें ।

विलास—प्रियके दर्शन आदिसे गमन, स्थिति और उपवेशन आदिके तथा मुख और नेत्रादिके कर्मोंकी विलक्षणताको "विलास" कहते हैं ॥ ९९ ॥

उ०—मालतीमाधवमें माधव अपने मित्र मकरन्दको कहते है । इस अवसरमें उस सुन्दरी (मालती) का अनिर्वचनीय वचन सम्पत्तिको लङ्घन करनेवाले वैचित्र्यसे सम्पन्न, शृङ्गारकी चेष्टासे उद्भासित, स्तम्भ और स्वेद आदि प्रचुर सात्त्विक विकारोंसे

अथ विच्छित्तिः—

स्तोकाऽप्याकल्परचना विच्छित्तिः कान्तिपोषकृत् ।

यथा—

'स्वच्छाम्भःस्नपनविधौतमङ्गमोष्ठस्ताम्बूलद्युतिविशदो विलासिनीनाम् ।
वासस्तु प्रतनु विविक्तमस्त्वितीयानाकल्पो यदि कुसुमेषुणा न शून्यः ॥'

अथ विब्वोकः—

विब्वोकस्त्वतिगर्वेण वस्तुनीष्टेऽप्यनादरः ॥ १०० ॥

अपास्तधैर्यं निरस्तधीरत्वम्, अतः विजयि = विजयशील, मान्मथ मदनसम्बन्धि, **आचार्यकम्** आचार्यभावः, आविरासीत् प्रादुरासीत् ॥

अत्र माधवदर्शनेन मालत्या यानस्थानादीनां वैशिष्ट्यवर्णनाद्विलासो नाम नायिकालङ्कारः, वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ ९९ ॥

विच्छित्तिं लक्षयति—**स्तोकेति ।** कान्तिपोषकृत् सौन्दर्यपुष्टिकरी, स्तोकाऽपि अल्पाऽपि, आकल्परचना = वेशनिर्माणं, विच्छित्तिः ।

विच्छित्तिमुदाहरति — **स्वच्छाऽम्भ इति ।** शिशुपालवधस्थ पद्यमिदम् । विलासिनीनां = विलसनशीलानां, रमणीनामित्यर्थः । अङ्गं = शरीरं, स्वच्छाऽम्भःस्नपनविधौतं=स्वच्छाऽम्भसा (निर्मलजलेन) यत् स्नपने (मज्जनम्), तेन विधौतम् (प्रक्षालितम्), ओष्ठः = अधरः, ताम्बूलद्युतिविशदः =नागवल्लीरागोज्ज्वलः, वासः वस्त्रं, प्रतनु = सूक्ष्मं, विविक्तं च = निर्मलं च, आकल्पः = वेशः, कुसुमेषुणा = कामदेवेन, शून्यो न यदि रहितो न चेत्, इति इयान् एतावान्, आकल्पः, अस्तु = भवतु, अधिकस्य प्रयोजनं नाऽस्तीति भावः । अत्र अल्पाकल्परचनया सौन्दर्यपोषस्य वर्णनात् विच्छित्तिर्नामाऽलङ्कारः । प्रहर्षिणी वृत्तम् ॥

विब्वोकं लक्षयति —**विब्वोक इति ।** अतिगर्वेण=अत्यभिमानेन, इष्टे=अभीष्टे, वस्तुनि अपि = पदार्थे अपि, अनादरः = उपेक्षा, विब्वोकः ॥ १०० ॥

युक्त, धैर्यको दूर करनेवाला और विजयशील प्रसिद्ध कामदेवका आचार्यभाव आविर्भूत हो गया ।

विच्छित्ति—कान्तिकी पुष्टि करनेवाली थोड़ी भी वेष रचनाको "विच्छित्ति" कहते हैं ।

उ०—विलासिनी स्त्रियोंका शरीर निर्मल जलमें स्नान करनेसे प्रक्षालित, ओष्ठ ताम्बूलके वर्णसे उज्ज्वल, वस्त्र महीन और स्वच्छ, कामविकारसे रहित न हो तो इतना ही वेष पर्याप्त है ।

विब्वोकः—अत्यन्त गर्वसे अभीष्ट वस्तुमें भी आदर न करनेको "विब्वोक" कहते हैं ॥ १०० ॥

यथा—

'यासां सत्यपि सद्गुणानुसरणे दोषानुवृत्तिः परा,
याः प्राणान् वरमर्पयन्ति, न पुनः सम्पूर्णदृष्टिं प्रिये।
अत्यन्ताभिमतेऽपि वस्तुनि विधिर्यासां निषेधात्मक-
स्तास्त्रैलोक्यविलक्षणप्रकृतयो वामाः प्रसीदन्तु ते ॥'

अथ किलकिञ्चितम्—

**स्मितशुष्करुदितहसितत्रासक्रोधश्रमादीनाम्।
साङ्कर्यं किलकिञ्चितमभीष्टतमसङ्गमादिजाद्धर्षात् ॥ १०१ ॥**

बिव्वोकमुदाहरति—**यासामिति**। कञ्चित्कामिनं प्रति मित्रस्याशीर्वचनमिदम्। यासां = वामानां, सद्गुणाऽनुसरणे अपि = उत्तमगुणाऽनुरोधनसामर्थ्ये, सत्यपि = विद्यमानेऽपि, परा अधिका, दोषाऽनुवृत्तिः = दूषणाऽनुसरणम्। याः = वामाः, वरं प्राणान् = असून्, अर्पयन्ति = समर्पयन्ति, पुनः = परं, प्रिये = कान्ते विषये, संपूर्णदृष्टिं = प्रणयपूरिताऽवलोकनं, न अर्पयन्ति, गर्वात्कटाक्षमात्रं समर्पयन्तीति भावः। यासां = वामानाम्, अत्यन्ताऽभिमते = अतिशयसम्मते, वसनभूषणादिरूप इति भावः, वस्तुनि अपि = पदार्थे अपि, निषेधात्मकः = प्रतिषेधस्वरूपः, विधिः = विधानं, प्रत्याख्यानरूपमिति भावः। त्रैलोक्यविलक्षणप्रकृतयः = त्रिभुवनाऽसाधारणस्वभावाः, ताः = पूर्वप्रतिपादिताः वामाः = ललनाः, ते = तव विषये, प्रसीदन्तु = अनुगृह्णन्तु अत्राऽभीष्टे वस्तुन्यपि अनादराद्बिव्वोको नामाऽलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १०० ॥

किलकिञ्चितं लक्षयति - **स्मितेति**। अभीष्टतमसंगमादिजात् प्रियतमसमागमादिजनितात्, हर्षात् = प्रमोदात्, स्मितशुष्करुदितहसितत्रासक्रोधश्रमादीनां स्मितं (मन्दहास्यम्) शुष्करुदितं (कृत्रिमरोदनम्), हसितं (हास्यम्) त्रासः (भीतिः) क्रोधः (कोपः) श्रमः (परिश्रमः), इत्येतेषां, साङ्कर्यं = सम्मिश्रणं, किलकिञ्चितं नामाऽलङ्कारः ॥ १०१ ॥

उ०—जिन स्त्रियोंके उत्तम गुणोंका अनुसरण होनेपर भी ज्यादा ही दोषका अनुवर्तन है। जो प्राणोंको भले ही अर्पण कर दें पर प्रियके प्रति पूरी दृष्टि नहीं देती है। अत्यन्त अभीष्ट वस्तुमें भी जिनकी निषेधरूप प्रवृत्ति है, त्रैलोक्यमें असाधारण स्वभावसे युक्त वैसी सुन्दरियाँ तुमपर प्रसन्न हों।

किलकिञ्चित्—अत्यन्त प्रिय पुरुषके संगम आदिसे उत्पन्न हर्षसे मन्द हास्य, शुष्क रोदन, हास्य, भय क्रोध और परिश्रम आदिके संमिश्रणको "किलकिञ्चित" कहते हैं ॥ १०१ ॥

यथा—

'पाणिरोधमविरोधितवाञ्छं भर्त्सनाश्च मधुरस्मितगर्भाः ।
कामिनः स्म कुरुते करभोरूर्हारि शुष्करुदितं च सुखेऽपि ॥'

अथ मोट्टायितम्—

तद्भावभाविते चित्ते वल्लभस्य कथादिषु ।
मोट्टायितमिति प्राहुः कर्णकण्डूयनादिकम् ॥ १०२ ॥

यथा—

'सुभग ! त्वत्कथारम्भे कर्णकण्डूतिलालसा ।
उज्जृम्भवदनाम्भोजा भिनत्त्यङ्गानि साऽङ्गना ॥'

किलकिञ्चितमुदाहरति—**पाणिरोधमिति** । करभोरूः=सुन्दरी, अविरोधितवाञ्छम् = अप्रतिबद्धप्रियमनोरथं यथा तथा, कामिनः=प्रियस्य, पाणिरोधं=नीवीमोक्षप्रवृत्तकरनिवारणं, मधुरस्मितगर्भाः = मधुरं (मनोहरम्) स्मितं (मन्दहास्यम्) गर्भे (अभ्यन्तरे) यासां, ताः, भर्त्सनाः = तर्जनवचनानि, एवं च सुखेऽपि = हर्षसमयेऽपि, हारि = मनोहर, शुष्करुदितं च = कृत्रिमरोदनं च, कुरुते स्म = विदधाति स्म ।

अत्र नायिकायाः स्मितशुष्करुदितयोः साङ्कर्यात्किलकिञ्चितम् । स्वागता वृत्तम् ।। १०१ ।।

मोट्टायितं लक्षयति—**तद्भावभावित इति** । वल्लभस्य = प्रियस्य, कथाऽऽदिषु = सख्या सह कथाप्रसङ्गादिषु, चित्ते = मनसि, नायिकाया इति शेषः । तद्भावभाविते सति = प्रियाऽनुरागनिषेविते सति । कर्णकण्डूयनादिकं = श्रोत्रविघर्षणादिकं, मोट्टायितम् इति । प्राहुः = कथयन्ति, अलङ्कारशास्त्रिण इति शेषः ।। १०२ ।।

मोट्टायितमुदाहरति—**सुभगेति** । नायिकासखी नायकं प्रति नायिकाया नायकप्रणयं प्रतिपादयति । हे सुभग = हे सौभाग्यशालिन् !, त्वत्कथाऽऽरम्भे = भवत्कथनोपक्रमे सति, कर्णकण्डूतिलालसा=श्रोत्रविघर्षणभृशोत्सुका, तथा उज्जृम्भवदनाऽम्भोजा= उज्जृम्भम् (उद्गतजृम्भणम्) वदनाऽम्भोजं (मुखकमलम्) यस्याः सा, तादृशी, सा = भवदुपभुक्ता, अङ्गना = नायिका, अङ्गानि = देहाऽवयवान्, भिनत्ति=मर्दयति । अत्र कर्णकण्डूतिवदनजृम्भणाऽङ्गभेदनकरणान्मोट्टायितं नामाऽलङ्कारः ।। १०२ ।।

हि०—सुन्दरी प्रियकी इच्छाका विरोध न होनेके तौरपर हाथकी रुकावट, मन्दहास्यपूर्वक तर्जन, और सुखमें भी मनोहर शुष्करोदन करती है ।

मोट्टायित—प्रियकी चर्चा आदिके प्रसङ्गोंमें, उसके अनुरागसे व्याप्त चित्त होनेपर कानको खुजलाना आदि कर्मको "मोट्टायित" कहते हैं ।। १०२ ।।

हि०—हे सौभाग्यशालिन् ! तुम्हारे कथनके आरम्भमें वह सुन्दरी कान खुजलानेमें लालसा करती है, जंभाई लेती है और अंगड़ाई लेती है ।

अथ कुट्टमितम्—

केशस्तनाधरादीनां ग्रहे हर्षेऽपि सम्भ्रमात् ।
आहुः कुट्टमितं नाम शिरःकरविधूननम् ।। १०३ ।।

यथा—

'पल्लवोपमितिसाम्यसपक्षं दष्टवत्यधरबिम्बमभीष्टे ।
पर्यकूजि सरुजेव तरुण्यास्तारलोलवलयेन करेण ।।'

अथ विभ्रमः—

त्वरया हर्षरागादेर्दयितागमनादिषु ।
अस्थाने भूषणादीनां विन्यासो विभ्रमो मतः ।। १०४ ।।

कुट्टमितं लक्षयति—**केशस्तनाऽधरादीनामिति ।** केशस्तनाऽधरादीनां = कचपयोधरोष्ठादीनां, ग्रहे = ग्रहणे, नायकेनेति शेष, हर्षेऽपि = प्रमोदेऽपि, सम्भ्रमात् = त्वरायाः, शिरःकरविधूननं = मस्तकहस्तकम्पन, कुट्टमित नाम, प्राहु = कथयन्ति, आलङ्कारिका इति शेष ।। १०२ ।।

कुट्टमितमुदाहरति—**पल्लवोपमितिसाम्यसपक्षमिति ।** अभीष्टे प्रिये, पल्लवोपमितिसाम्यसपक्ष = किसलयोपमानसमतासदृशम्, अधरबिम्बम् = ओष्ठबिम्ब, दष्टवति = क्षतयुक्तं कुर्वति सति, सरुजा इव = पीडायुक्तेन इव, तारलोलवलयेन = उच्चस्वरचञ्चलकङ्कणेन, तरुण्या = युवत्या, करेण = हस्तेन, पर्यकूजि परिकूजितम्, निषेधाऽर्थमिति भाव । अत्र नायिकाया शिरःकरकम्पनात् कुट्टमित नामाऽलङ्कारः । उत्प्रेक्षा नामाऽर्थालङ्कारः । स्वागता वृत्तम् ।। १०३ ।।

विभ्रमं लक्षयति—**त्वरयेति ।** दयिताऽऽगमनादिषु = दयितस्य (प्रियस्य) आगमनादिषु (आगमनप्रभृतिषु), अत्रादिपदेन उत्सवादिषु इत्यर्थो बोध्यः । हर्षरागादे = प्रमोदाऽनुरागादेः, आदिपदेन दयिताऽभिसरणादेश्च, त्वरया = सम्भ्रमेण, भूषणादीनाम् = अलङ्कारादीनां, विन्यासः = स्थापनं, विभ्रमः, मतः = संमतः ।। १०४ ।।

कुट्टमित—केश, स्तन और अधर आदि अङ्गोंमें नायकके ग्रहण करनेसे हर्ष होनेपर भी घबराहटके साथ शिर और हाथोंको कम्पित करनेको "कुट्टमित" कहते हैं १०३

उ०—प्रियसे पल्लवके समान अधरके दष्ट होनेपर तरुणीके उच्चस्वरयुक्त चञ्चल कङ्कणसे विभूषित हाथने पीडितके समान होकर आवाज की ।

विभ्रम—प्रियके आगमन आदिमें हर्ष और अनुराग आदिके हेतुसे जल्दबाजीके कारण अस्थानमें (बेठिकाने) अलङ्कार आदि पहननेको "विभ्रम" कहते है ।।१०४।।

यथा—

'श्रुत्वायान्तं बहिः कान्तमसमाप्तविभूषया।
भालेऽञ्जनं दृशोर्लाक्षा कपोले तिलकः कृतः ॥'

अथ ललितम्—

सुकुमारतयाङ्गानां विन्यासो ललितं भवेत्।

यथा—

'गुरुतरकलनूपुरानुनादं सललितनर्तितवामपादपद्मा।
इतरदनतिलोलमादधाना पदमथ मन्मथमन्थरं जगाम ॥'

विभ्रममुदाहरति—श्रुत्वेति। बहिः = बाह्यप्रदेशे, आयातम्=आगतं, कान्तं= प्रियं, श्रुत्वा = आकर्ण्य, असमाप्तविभूषया = असमाप्तप्रसाधनया कयाचित् कान्तयेति शेषः। भाले = ललाटे, दृशोः स्थाने इति शेषः। अञ्जनं=कज्जलं, दृशोः = नयनयोः, लाक्षा = पादरागः, एवं च कपोले = गण्डफलके, तिलकः = विशेषकः, ललाटस्थान इति शेषः, कृतः=विहितः। अत्र दयिताऽऽगमनहर्षेण कान्तया अञ्जनलाक्षातिलकानामस्थानेषु विन्यासाद्विभ्रमः। अनुष्टुब्वृत्तम् ॥ १०४ ॥

ललितं लक्षयति—सुकुमारतयेति। अङ्गानां = शरीराऽवयवानां, सुकुमारतया = कोमलत्वेन, विन्यासः = स्थापनं, ललितं भवेत्।

ललितमुदाहरति—गुरुतरेति। अथ = अनन्तरं, सललितनर्तितवामपादपद्मा= सललितं (कोमलतापूर्वकम्) नर्तितं (नृत्यविषयीकृतम्) वामं (दक्षिणेतरत्) पादपद्मं (चरणकमलम्) यया सा; तादृशी नायिका, अनतिलोलम् = अनतिचञ्चलम्, इतरत् = वामेतरत्, दक्षिणमित्यर्थः। पद (चरणम्) आदधानां = भूमौ विन्यस्यन्ती सती, गुरुतरकलनूपुराऽनुवादं = गुरुतरः (अतिमहान्), कलः (मधुरः) नूपुराऽनुवादः (पादाऽङ्गदध्वनिः) यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा। मन्मथमन्थरं = मन्मथेन (मदनाऽऽवेशेन) मन्थरं (मन्दम्) यथा तथा, जगाम = गता। अत्र ललितभावेन पदविन्यासोल्ललित नामाऽलङ्कारः।

उ०—नायिकाने प्रियको बाहर आये हुए सुनकर (जल्दबाजीसे) अलङ्कार धारणको अधूरा रखकर ललाटमें अञ्जन (काजल), नेत्रोंमें महावर और कपोलमें तिलक लगा लिया।

ललित—सुकुमारतापूर्वक अङ्गोंको स्थितिको "ललित" कहते हैं।

उ०—नूपुरकी गम्भीर और मनोहर आवाज करती हुई सुकुमारतापूर्वक बाएं चरण कमलको नचाती हुई और दूसरे (दाहिने) चरणको भी ज्यादा चञ्चल न कर रखती हुई सुन्दरी कामविकारसे मन्दगति पूर्वक चली।

अथ मदः—

मदो विकारः सौभाग्ययौवनाद्यवलेपजः ॥ १०५ ॥

यथा—

'मा गर्वमुद्वह कपोलतले चकास्ति
कान्तस्वहस्तलिखिता मम मञ्जरीति ।
अन्यापि किं न खलु भाजनमीदृशीनां
वैरी न चेद्भवति वेपथुरन्तरायः ॥

अथ विहृतम्—

वक्तव्यकालेऽप्यवचो व्रीडया विहृतं मतम् ।

मदं लक्षयति—**मद इति** । सौभाग्ययौवनाद्यवलेपजः = कान्तवाल्लभ्यतारुण्याद्यभिमानजन्यः, विकारः = विकृतिः, मदः = तन्नामकोऽलङ्कारः ॥ १०५ ॥

मदमुदाहरति—**मा गर्वमिति** । आत्मनः सौभाग्याद्यभिमानजन्यं मदं प्रकाशयन्ती सखीं प्रति तत्सख्या उक्तिरियम् । (हे सखि !) मम, कपोलतले = गण्डफलके, कान्तस्वहस्तलिखिता = प्रियतमकरचित्रिता, मञ्जरी = मञ्जरीप्रकृतिः, इति, गर्वम् = अवलेपं मा उद्वह = नो धारय । यतः वैरी = शत्रुतुल्यः, वेपथुः = कम्पः, प्रियस्पर्शजन्य इति शेषः । अन्तरायः = विघ्नस्वरूपः, न भवति चेत् = न विद्यते यदि, तदा अपराऽपि = त्वदितराऽपि, ईदृशीनां = मञ्जरीणां, भाजनं = पात्रं, न खलु = न भवेत्, निश्चयेन भवेदेवेति भावः । अत्रोभयोरपि सख्योः सौभाग्याद्यभिमानजन्यविकारान्मदो नामाऽलङ्कारः ॥ १०५ ॥

विहृतं लक्षयति—**वक्तव्यकाल इति** । वक्तव्यकालेऽपि = भाषणीयसमयेऽपि व्रीडया = लज्जया हेतुना, अवचः = अभाषणं, विहृतं = तन्नामाऽलङ्कारः, मतम् = सम्मतम् क्वचित् "विकृतम्" इति पाठान्तरम् ।

मद—सौभाग्य और तारुण्य आदिके गर्वसे उत्पन्न विकारको "मद" कहते हैं ॥ १०५ ॥

उ०—कोई सखी किसी नायिकासे कहती है—मेरे कपोलतलमें प्रियतमके हाथसे लिखी गई मञ्जरी शोभित हो रही है ऐसा सोचकर तुम घमण्ड मत करो, शत्रुस्वरूप कम्प विघ्न नहीं करता तो अन्य नायिका भी ऐसी मञ्जरियोंका पात्र न होती ?

विहृत—लज्जाके कारण बोलनेके लिए उचित समयमें भी न बोलनेको "विहृत" कहते हैं ।

यथा—

'दूरागतेन कुशलं पृष्टा नोवाच सा मया किञ्चित्।
पर्यश्रुणी तु नयने तस्याः कथयाम्बभूवतुः सर्वम् ॥'

अथ तपनम्—

तपनं प्रियविच्छेदे स्मरावेगोत्थचेष्टितम् ॥ १०६ ॥

यथा मम—

श्वासान्मुञ्चति, भूतले विलुठति, त्वन्मार्गमालोकते,
दीर्घं रोदिति, विक्षिपत्यत इतः क्षामां भुजावल्लरीम्।
किञ्च, प्राणसमान ! काङ्क्षितवती स्वप्नेऽपि ते सङ्गमं,

विहृतमुदाहरति—**दूरागतेनेति**। मित्रं प्रति कस्यचिन्मित्रस्योक्तिरियम्। दूरागतेन = दूरात् (विप्रकृष्टात्प्रदेशात्) आगतेन (आयातेन), मया, कुशलं = क्षेमं, पृष्टा = अनुयुक्ता, सा = प्रिया, किञ्चित् = किमपि, न उवाच = न जगाद। तु = परन्तु, पर्यश्रुणी = अश्रुपरिव्याप्ते, तस्याः = प्रियायाः, नयने = नेत्रे, सर्वं = सकल प्रवासदुःख, मदागमने हर्षाऽतिशयं च, कथयाम्बभूवतुः = सूचितवती। अत्र प्रियेण कुशलप्रश्ने कृतेऽपि व्रीडया अभाषणात् विहृत नामाऽलङ्कारः। आर्यावृत्तम् ॥

तपनं लक्षयति—**तपनमिति**। प्रियविच्छेदे = कान्तविप्रयोगे, स्मराऽऽवेगोत्थचेष्टितं=स्मरावेगोत्थं (मदनजनितचाञ्चल्यजन्यम्) चेष्टितम् चेष्टा), तपनं=तपनं नामाऽलङ्कारः। "आवेग" स्थाने कुत्रचित् "आवेश" इति पाठान्तरम् ॥ १०६ ॥

तपनमुदाहरति—**श्वासानिति**। प्रवासिनं प्रियं प्रति नायिकासख्या उक्तिरियम्। हे प्राणसमान = मत्सख्याः प्राणसदृश !, श्वासान् = निश्वासान्, मुञ्चति = त्यजति, त्वद्विरहेण मत्सखीति शेषः, एवं परत्राऽपि। भूतले = भूमितले, विलुठति = विलुण्ठनं करोति, त्वन्मार्गं = भवत्पथम्, आलोकते = पश्यति। दीर्घं=दीर्घसमयपर्यन्तं, रोदिति = अश्रूणि विमुञ्चति। अत इतः=यत्र तत्र, क्षामां = कृशां, विरहेणेति शेषः। भुजावल्लरीं = बाहुलतां, विक्षिपति = प्रेरयति। किञ्च, स्वप्नेऽपि=स्वापेऽपि, ते=तव,

उ०— कोई नायक अपने मित्रसे कहता है—दूरसे आये हुए मैंने उससे कुशल पूछा, पर उस (प्रिया) ने कुछ भी नहीं कहा, पर आँसूसे भरे हुए उसके नेत्रोंने सब कुछ बता दिया।

तपन—प्रियके वियोगमें कामचाञ्चल्यसे उत्पन्न चेष्टाको "तपन" कहते हैं १०६

उ०—ग्रन्थकार अपना पद्य प्रस्तुत करते हैं। नायिकाकी सखी अपनी सखीकी अवस्था उसके प्रियसे कहती है—हे मेरी सखीके प्राणतुल्य ! (वह मेरी सखी) लम्बे श्वासोंको छोड़ती है, जमीनपर लोटती है, तुम्हारा मार्ग देखती है, बहुत समय तक रोती है। पतली बाहुलता को इधर उधर पटकती है, स्वप्नमें भी तुम्हारा समागम चाहती

निद्रां वाञ्छति, न प्रयच्छति पुनर्दग्धो विधिस्तामपि ॥'

अथ मौग्ध्यम्—

अज्ञानादिव या पृच्छा प्रतीतस्यापि वस्तुनः ।
वल्लभस्य पुरः प्रोक्तं मौग्ध्यं तत्तत्त्ववेदिभिः ॥ १०७ ॥

यथा—

'के द्रुमास्ते ? क्व वा ग्रामे ? सन्ति केन प्ररोपिताः ? ।
नाथ ! मत्कङ्कणन्यस्तं येषां मुक्ताफलं फलम् ॥'

अथ विक्षेपः—

भूषाणामर्धरचना मिथ्या विष्वगवेक्षणम् ।
रहस्याख्यानमीषच्च विक्षेपो दयितान्तिके ॥ १०८ ॥

कान्तस्य, संगमं = समागमं, काङ्क्षितवती=दृष्टवती, सती, निद्रा=सुप्ति, वाञ्छति= इच्छति, पर=किन्तु, दग्धः = हतकः, विधिः = भाग्यं, ताम् अपि = निद्राम् अपि, न प्रयच्छति = नो ददाति । अत्र स्मरावेगेन नायिकाया निःश्वसनादिचेष्टितवर्णनात् तपनं नामाऽलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १०६ ॥

मौग्ध्यं लक्षयति—**अज्ञानादिवेति ।** वल्लभस्य = कान्तस्य, पुरः = अग्रे, प्रतीतस्य अपि = ज्ञातस्य अपि, वस्तुनः = पदार्थस्य, अज्ञानात् इव = अबोधात् इव, या पृच्छा = प्रश्नः, तत्त्ववेदिभिः = नायिकाऽलङ्कारस्वरूपज्ञातृभिः, तत् मौग्ध्यं प्रोक्तम्=अभिहितम् ॥ १०७ ॥

मौग्ध्यमुदाहरति-**क इति ।** नायिका मुक्ताफलमनूद्य नायकं पृच्छति । हे नाथ= हे स्वामिन्, मत्कङ्कणन्यस्त = मद्वलयखचित, मुक्ताफल = मौक्तिकं, येषां = वृक्षाणां, फलं = सस्यं, ते, के द्रुमाः = के वृक्षाः, किंनामका द्रुमा इत्यर्थः । वा = अथवा, क्व = कस्मिन्, ग्रामे = ग्रवसथे, केन = जनेन, प्ररोपिताः = उप्ताः, सन्तीति शेषः । अत्र पूर्वं ज्ञातस्याऽपि मौक्तिकस्य नायिकया अज्ञानादिव प्रश्नतः मौग्ध्यं नामाऽलङ्कारः।१०७।

विक्षेपं लक्षयति—**भूषाणामिति ।** दयिताऽन्तिके = कान्तसमीपे, भूषाणाम्= अलङ्काराणाम्, अर्धरचना = अपूर्णरचनं, नायिकाया इति शेषः, एवं परत्राऽपि । मिथ्या = व्यर्थं, विष्वक् = सर्वतः, अवेक्षणम् = अवलोकनम्, ईषत् = अल्प, रहस्या-

---

हुई निद्राकी इच्छा करती है, परंतु उसका जला हुआ भाग्य उसे निद्रा भी नहीं देता है।

मौग्ध्य—जाने हुए पदार्थको प्रियके पास अनजान-सी होकर पूछनेको साहित्यके तत्त्ववेत्ता "मौग्ध्य" कहते हैं ॥ १०७ ॥

उ०—नायिका मोतीके बारेमें अपने प्रियसे पूछती है—हे नाथ ! मेरे कङ्कणमें स्थित मुक्ताफल जिनका फल है वैसे पेड़ किस गांवमें हैं और किनसे बोये गये हैं ?

विक्षेप—प्रियके समीपमें भूषणोंकी आधी रचना और विना कारणके ही

यथा—

'धम्मिल्लमर्धमुक्तं कलयति तिलकं तथाऽसकलम्।
किञ्चिद्वदति रहस्यं चकितं विष्वग्विलोकते तन्वी॥'

अथ कुतूहलम्—

रम्यवस्तुसमालोके लोलता स्यात्कुतूहलम्।

यथा—

'प्रसाधिकालम्बितमग्रपादमक्षिप्य काचिद् द्रवरागमेव।
उत्सृष्टलीलागतिरागवाक्षादलक्तकाङ्कां पदवीं ततान॥'

ख्यान च = गुह्यभाषणं च, विक्षेपो नामाऽलङ्कारः॥ १०८॥

विक्षेपमुदाहरति—**धम्मिल्लमिति**। तन्वी = कृशोदरी, धम्मिलं = बद्धकेशसमूहम्, अर्धमुक्तम् = अर्धत्यक्त, कलयति = करोति, तथा तिलकं = विशेषकम्, असकलं = अपूर्णम्, "शकलम्" इति पाठान्तरोपि खण्डमात्रं, न अखण्डं = पूर्णं, स एव अर्थः। कलयति = करोति। रहस्यं = गोप्यवृत्तान्तं, किञ्चित् = ईषत्, वदति = कथयति, चकितं = चकितं यथा स्यात्तथा, विष्वक् = सर्वतः, विलोकते = पश्यति। अत्र दयिताऽन्तिके नायिका भूषाणामर्धरचनादिना विक्षेपो नामाऽलङ्कारः॥ १०८॥

कुतूहलं लक्षयति—**रम्यवस्तुसमालोक इति**। रम्यवस्तुसमालोके = मनोहरपदार्थदर्शने, लोलता—चञ्चलता, नायिकाया इति शेषः। कुतूहलं=कुतूहल नामाऽलङ्कारः।

कुतूहलमुदाहरति—**प्रसाधिकाऽऽलम्बितमिति**। इन्दुमतीस्वयंवृतस्याऽजस्य नगरप्रवेशे दर्शनेच्छोः कस्याश्चित्कामिन्या वर्णनमिदम्। काचित् = पुरस्त्री, प्रसाधिकाऽऽलम्बितं = प्रसाधिकया (मण्डनकर्त्र्या) आलम्बिम् (गृहीतम्), अग्रपाद = चरणाग्रं, द्रवरागम् एव = आर्द्रलाक्षारागयुक्तम् एव, आक्षिप्य = आकृष्य, उत्सृष्टलीलागतिः = उत्सृष्टा (त्यक्ता), लीलागतिः (विलासगमनम्) यया या, शीघ्रगमनयुक्ता सतीति भावः। आ गवाक्षात् = वातायनपर्यन्तम् अलक्तकाऽङ्कां = लाक्षारसरागयुक्ता, पदवीं = मार्गं, ततान = विस्तारितवती॥ पद्यमिदं रघुवंशे कुमारसंभवे

चारों ओर देखना और एकान्तमें कुछ रहस्य कहनेको "विक्षेप" कहते हैं॥ १०८॥

उ०—सुन्दरी केशोंकी आधी रचना करती है उसी तरह तिलक भी अधूरा ही लगाती है, कुछ रहस्य कहती है और आश्चर्य पूर्वक चारों ओर देखती रहती है।

कुतूहल—सुन्दर पदार्थ देखनेमें चञ्चल होनेको "कुतूहल" कहते हैं।

उ०—इन्दुमतीके स्वयंवरमें अजके नगरप्रवेशके अवसरपर उनको देखनेकी इच्छा करनेवाली किसी स्त्रीका वर्णन है। किसी स्त्रीने प्रसाधन करनेवाली स्त्रीसे गृहीत महावरवाले गीले पैरको ही खीचकर विलासपूर्वक गतिको छोड़कर जाती हुई

अथ हसितम्—

हसितं तु वृथाहासो यौवनोद्भेदसम्भवः ॥ १०९ ॥

यथा—

'अकस्मादेव तन्वङ्गी जहास यदियं पुनः ।
नूनं प्रसूनबाणोऽस्यां स्वाराज्यमधितिष्ठति ॥'

अथ चकितम्—

कुतोऽपि दयितस्याग्रे चकितं भयसम्भ्रमः ।

यथा—

'त्रस्यन्ती चलशफरीविघट्टितोरूर्वामोरूरतिशयमाप विभ्रमस्य ।

च वर्तत । रघुवंशे अजदर्शनाऽर्थं, कुमारसंभवे हरदर्शनाऽर्थं स्त्रिया लालतया कुतूहल-वर्णनात् कुतूहलं नामाऽलङ्कारः ॥ उपजातिवृत्तम् ।

हसितं लक्षयति **हसितमिति** । यौवनोद्भेदसम्भवः = यौवनस्य (तारुण्यस्य) य उद्भेदः (उत्पत्तिः), तत्सम्भवः (तज्जनित), वृथाहासः=व्यर्थहास्यं ललनाया इति शेष. । हसितं नामाऽलङ्कारः ॥ १०९ ॥

हसितमुदाहरति—**अकस्मादिति** । अकस्माद्धसन्तीं ललनां विलोक्य कस्यचिदुक्तिरियम् । इय, तन्वङ्गी = कृशोदरी, यत्=यस्मात्कारणात्, पुनः = भूयः, जहास= हसितवती, (तत् = तस्मात्कारणात्) प्रसूनबाण.=पुष्पबाणः, काम इत्यर्थः, । अस्यां= तन्वङ्ग्यां, स्वाराज्यं=स्वर्गराजत्वम्, अधितिष्ठति = आश्रयति, नूनम् इति उत्प्रेक्षायाम् । इयं स्वर्गो नु इति भावः, । अत्र नायिकायास्तारुण्योत्पन्नस्य वृथाहासस्य वर्णनाद्धसितं नामाऽलङ्कारः ॥ १०९ ॥

चकितं लक्षयति—**कुतोऽपीति** । दयितस्य = प्रियस्य, अग्रे=पुरतः, कुतोऽपि= कस्मादपि कारणात्, भयसंभ्रमः = भीतिजनिता त्वरा, चकितं नामाऽलङ्कारः ।

चकितमुदाहरति—**त्रस्यन्तीति** । कोऽपि नायकः स्वमित्रं प्रति दयिताया जलक्रीडां वर्णयति । चलशफरीविघट्टितोरूः = चला (चञ्चला) या शफरी (प्रोष्ठी) तया विघट्टितः (ताडितः) ऊरुः (सक्थिः) यस्याः सा, तादृशी, वामोरूः = सुन्दर-सक्थिः, प्रिया । विभ्रमस्य = विलासस्य, अतिशयम् = उत्कर्षम्, आप=प्राप । अहो=

झरोखें तक मार्गको महावरके चिह्नवाला बना डाला ।

हसित—तारुण्यके आविर्भावसे उत्पन्न वृथा हास्यको "हसित" कहते हैं। १०९।

उ.— जो कि यह कृशोदरी अकस्मात् हँसी, इसी कारणसे निश्चय कामदेव इसमे स्वर्गके राज्यका अधिकार कर लेता है ।

चकित—प्रियके सम्मुख किसी भी कारणसे भयसे होनेवाली घबराहटको "चकित" कहते हैं ।

उ०—जलक्रीडाके समयमें कोई सुन्दरी चञ्चल छोटी-सी मछलीसे अपने

क्षुभ्यन्ति ! प्रसभमहो ! विनापि हेतोर्लीलाभिः किमु सति कारणे तरुण्यः ॥'

अथ केलिः—

विहारे सह कान्तेन क्रीडितं केलिरुच्यते ॥ ११० ॥

यथा—

'व्यपोहितुं लोचनतो मुखानिलैरपारयन्तं किल पुष्पजं रजः ।
पयोधरेणोरसि काचिदुन्मनाः प्रियं जघानोन्नतपीवरस्तनी ॥'

अथ मुग्धाकन्ययोरनुरागेङ्गितानि—

दृष्ट्वा दर्शयति व्रीडां सम्मुखं नैव पश्यति ।

आश्चर्यम् । तथा हि तरुण्यः=युवतयः, हेतोर्विनाऽपि=कारणं विनाऽपि, लीलाभिः=शृङ्गार-चेष्टाभिः, प्रसभ=हठात्, "प्रततम्" इति पाठान्तरे अतिशयं यथा तथेत्यर्थः । क्षुभ्यन्ति=संचलन्ति, कारणो सति=हेतौ विद्यमाने, किमु=किं वक्तव्यम् । अत्र दयितस्य अग्रे नायिकाया भयसंभ्रमाच्चकितं नामाऽलङ्कारः प्रहर्षिणी वृत्तम् । शिशुपालवधस्थ पद्यमिदम् ।

केलिं लक्षयति—**विहार इति** । कान्तेन = प्रियेण सह, विहारे = रमणे, क्रीडितं = क्रीडनं, नायिकाया इति शेष । केलिरुच्यते ॥ ११० ॥

केलिमुदाहरति—**व्यपोहितुमिति** । किरातार्जुनीयस्थं पद्यमिदम् । उन्नतपीवर-स्तनी = उन्नतौ (उच्चौ) पीवरौ (पुष्टौ) स्तनौ (कुचौ) यस्याः सा एतादृशी, काचित् = अनिर्दिष्टनामधेया नायिका, उन्मनाः = उत्कण्ठिता सती, रमणार्थमिति शेषः । मुखाऽनिलैः = वदनवातैः, लोचनतः = स्वनेत्रात्, पुष्पजं=कुसुमजनितं, रजः= परागं, व्यपोहितुं = निरसितुम्, अपारयन्तम् = अशक्नुवन्तं, प्रियं = वल्लभम्, उरसि= वक्षःस्थले, पयोधरेण=कुचेन, जघान=ताडितवती । अत्र कान्तेन सह विहारे नायिका-क्रीडावर्णनात् केलिर्नामाऽलङ्कारः । वंशस्थं वृत्तम् ॥ ११० ॥

मुग्धाकन्यकयोर्नायिकयोः सामान्यान्यनुरागेङ्गितानि उद्दिशति **दृष्ट्वेति** । प्रिये= वल्लभे, अनुरागिणी = अनुरागयुक्ता, बाला = तरुणी, मुग्धा कन्यका चेति भावः । दृष्ट्वा=विलोक्य, प्रियमिति शेषः, "दृष्टे"ति पाठान्तरे कान्तेनाऽवलोकिता सतीत्यर्थः । व्रीडां = लज्जां, दर्शयति, सम्मुखम् = अभिमुखं, प्रियस्येति शेषः । नैव पश्यति, लज्ज-

---

ऊरुमें ठोकर लगनेसे अतिशय भयको प्राप्त हुईं युवती स्त्रियाँ विना कारणके भी विलास-पूर्वक अत्यन्त चञ्चल हो जाती हैं, कारणके रहनेपर फिर क्या कहना है ?

केलि—वनविहारमें प्रियके साथ क्रीडाको "केलि" कहते हैं ॥ ११० ॥

उ० – उन्नत और पुष्ट स्तनोंसे युक्त रमणीने उत्कण्ठित होकर अपने नेत्रमें पड़े हुए फूलके परागको मुखकी हवासे नहीं हटा सकनेवाले प्रियको उसकी छातीमें स्तनसे ताडन किया ।

मुग्धा और कन्याओंकी अनुरागचेष्टाएँ—मुग्धा और कन्या प्रियको

प्रच्छन्नं वा भ्रमन्तं वातिक्रान्तं पश्यति प्रियम् ॥ १११ ॥
बहुधा पृच्छ्यमानापि मन्दमन्दमधोमुखी ।
सगद्गदस्वरं किञ्चित्प्रियं प्रायेण भाषते ॥ ११२ ॥
अन्यैः प्रवर्तितां शश्वत्सावधाना च तत्कथाम् ।
शृणोत्यन्यत्र दत्ताक्षी प्रिये बालानुरागिणी ॥ ११३ ॥

अथ सकलानामपि नायिकानामनुरागेङ्गितानि—

चिराय सविधे स्थानं प्रियस्य बहु मन्यते ।
विलोचनपथं चास्य न गच्छत्यनलङ्कृता ॥ ११४ ॥

येति भावः । प्रच्छन्नं = भित्त्यादिव्यवहितं, भ्रमन्तं = भ्रमणं कुर्वन्तम्, अतिक्रान्तं वा = दूरे गतं वा, प्रियं = वल्लभं, पश्यति = अवलोकयति ॥ १११ ॥

बहुधा = बहुप्रकारैः, पृच्छ्यमानाऽपि = अनुयुज्यमानाऽपि, बालेति शेषः । मन्दमन्दं = शनैः शनैः, सगद्गदस्वरं = गद्गदस्वरसहितं यथा तथा, प्रायेण = अनेकशः, प्रियं = वल्लभं, किञ्चित् = स्तोकं, भाषते = ब्रूते ॥ ११२ ॥

साऽवधाना = एकाऽग्रमानसा, अन्यत्र = स्थानान्तरे, दत्ताक्षी = दत्तनयना सती, अन्यैः = अपरैर्जनैः, प्रवर्तितां = प्रचालितां तत्कथां = प्रियकथां, शश्वत् = सर्वदा, शृणोति = आकर्णयति ॥ ११३ ॥

सकलानामपि = समस्तानामपि, नायिकानां सामान्यतोऽनुरागेङ्गितानि सूचयति—**चिरायेति** । अनुरक्ता = अनुरागयुक्ता, नितम्बिनी = सुन्दरी, प्रियस्य = वल्लभस्य, सविधे = समीपे, स्थानं = स्थितिं, बहु = अधिकं यथा तथा, मन्यते = अवबुध्यति । अनलङ्कृता = अभूषिता सती, अस्य = प्रियस्य, विलोचनपथं = दृष्टिमार्गं, न गच्छति ॥ ११४ ॥

देखकर लज्जा दिखाती है, संमुख होकर नहीं देखती है, दीवार आदिसे व्यवहित, घूमते हुए, प्रियको देखती रहती है ॥ १११ ॥

अकसर प्रियके बारबार पूछनेपर भी अधोमुख होकर गद्गदस्वरके साथ थोड़ा बोलती है ॥ ११२ ॥

अनुराग करनेवाली वह, प्रियके विषयमें दूसरोंसे की गई वार्ताको दूसरी ओर नेत्रोंको लगाकर सुनती रहती है ॥ ११३ ॥

अब सब नायिकाओंकी अनुराग-चेष्टाओंको बतलाते हैं—बहुत समयतक प्रियके पास रहना पसन्द करती है । अलङ्कार किये बिना प्रियके पास नहीं जाती है ॥११४॥

कुत्रापि कुन्तलसव्यानसंयमव्यपदेशतः ।
बाहुमूलं स्तनौ नाभिपङ्कजं दर्शयेत् स्फुटम् ॥ ११५ ॥
आच्छादयति वागाद्यैः प्रियस्य परिचारकान् ॥
विश्वसित्यस्य मित्रेषु बहुमानं करोति च ॥ ११६ ॥
सखीमध्ये गुणान् ब्रूते स्वधनं प्रददाति च ।
सुप्ते स्वपिति दुःखेऽस्य दुःखं धत्ते सुखे सुखम् ॥ ११७ ॥
स्थिता दृष्टिपथे शश्वत्प्रिये पश्यति दूरतः ।
आभाषते परिजनं सम्मुखं स्मरविक्रियम् ॥ ११८ ॥

क्वाऽपि = कुत्राऽपि स्थाने, कुन्तलसंव्यानसंयमव्यपदेशतः = कुन्तलानां (चूर्णकुन्तलानाम्), संव्यानस्य च (उत्तरीयवस्त्रस्य) संयमस्य (बन्धनस्य परिधानस्य च), व्यपदेशतः (छलतः) । बाहुमूलं, भुजमूलं, स्तनौ = कुचौ, नाभिपङ्कजं च = नाभिकमलं च । स्फुटं = व्यक्तं, दर्शयेत् - प्रदर्शयेत् ॥ ११५ ॥

प्रियस्य वल्लभस्य, परिचारकान् - सेवकान्, वागाद्यैः = वचनभूषणप्रदानप्रभृतिभिः, आच्छादयति = वशीकरोतीति भावः । अस्य = प्रियस्य, मित्रेषु = सुहृत्सु, विश्वसिति = विश्वास करोति, मान = सम्मान. बहु = अधिक यथा तथा. करोति = विदधाति ॥११६॥

सखीमध्ये = वयस्यामध्ये, गुणान् = दयादाक्षिण्यादीन्. कान्तस्येति शेषः । ब्रूते = अभिधत्ते, स्वधन = निजद्रव्यं, प्रददाति च = वितरति च. प्रियायेति शेषः । सुप्ते = निद्राणे, प्रिय इति शेषः, स्वपिति = स्वयमपि शेते । अस्य = प्रियस्य, दुःखे दुःखं, सुखे सुखं, धत्ते = अनुभवतीति शेषः ॥ ११७ ॥

प्रिये = कान्ते, पश्यति = विलोकयति सति, दूरत = विप्रकृष्टप्रदेशात्, दृष्टिपथे = नेत्रमार्गे, स्थिता = अवस्थिता सती, परिजनम् = शुश्रुषुजनम्, अभिमुखं सम्मुखम् = स्वरविक्रियं = स्मरस्य (मदनस्य) विक्रिया (विकारः) यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथा, "स्वरविक्रियम्" इति पाठान्तरे स्वरविकारपूर्वकमित्यर्थः । आभाषते = आलपति ॥११८॥

कहींपर केशोंको बाँधना और वस्त्र पहननेके बहानेसे अपने बाहुमूल स्तनों और नाभिकमलको स्पष्टरूपसे दिखलाती है ॥ ११५ ॥

प्रियके नौकरोंको प्रियवचन आदिसे वशमें करती है प्रियके मित्रोंमें विश्वास रखती है और बहुत समान करती है ॥ ११६ ॥

सखियोंके बीचमे प्रियके गुणोंको कहती है और अपना धन दे देती है । प्रियके सोनेपर सोती है, उसके दुःखमें दुःख, और सुखमें सुख मानती है ॥ ११७ ॥

प्रियके दूरसे देखनेपर उनके दृष्टिमार्गमें रहती हुई अपने परिजन (सखी) के संमुख कामविकारको प्रकट कर बातचीत करती है ॥ ११८ ॥

यत्किञ्चिदपि संवीक्ष्य कुरुते हसितं मुधा ।
कर्णकण्डूयनं तद्वत्कबरीमोक्षसंयमौ ॥ ११९ ॥
जृम्भते स्फोटयत्यङ्गं बालमाश्लिष्य चुम्बति ।
भाले तथा वयस्याया रचयेत्तिलकक्रियाम् ॥ १२० ॥
अङ्गुष्ठाग्रेण लिखति सकटाक्षं निरीक्षते ।
दशति स्वाधरं चापि ब्रूते प्रियमधोमुखी ॥ १२१ ॥
न मुञ्चति च तं देशं नायको यत्र दृश्यते ।
आगच्छति गृहं तस्य कार्यव्याजेन केनचित् ॥ १२२ ॥

यत्किञ्चित् अपि — वस्तु, संवीक्ष्य — अवलोक्य, मुधा — मृषा, व्यर्थमिति भावः । हसितं = हास्यं, कुरुते = विदधाति । एवं कर्णकण्डूयनं — श्रोत्रकण्डूतिं, तद्वत् कबरीमोक्षसंयमौ = कबरीमोक्षं (केशवेशमोचनम्), कबरीसंयमं च (केशवेशबन्धनं च) कुरुते = विदधाति । ११९ ॥

जृम्भते=जृम्भणं करोति । अङ्गं देहावयवम् अङ्गुल्यादिकमिति भावः । स्फोटयति=शब्दयति । बालं=शिशुम्, आश्लिष्य — आलिङ्ग्य, चुम्बति चुम्बनं करोति । तथा वयस्यायाः =सख्याः, भाले=ललाटे, तिलकक्रियां विशेषकरणं, रचयेत् कुर्यात् ॥१२०॥

अङ्गुष्ठाग्रेण = चरणस्येति शेषः, लिखति भूमिं विदारयतीति भावः । सकटाक्षं=कटाक्षसहितं, निरीक्षते=विलोकयति, प्रियमिति, प्रियमिति शेषः । स्वाधरं=निजोष्ठं, दशति = स्वदशनैर्दष्टं करोति । अधोमुखी = अवनतवदना सती, प्रियं = कान्तं, ब्रूते = भाषते ॥ १२१ ॥

यत्र = यस्मिन्देशे, नायकः=प्रियः, दृश्यते = अवलोक्यते, तं देशं, न मुञ्चति= न त्यजति । केनचित् कार्यव्याजेन = कर्मच्छलेन, तस्य = नायकस्य, गृहं = भवनम्, आगच्छति = आयाति ॥ १२२ ॥

कुछ भी वस्तुको देखकर व्यर्थ ही हंसती है, कानका खुजलाती है, चोटी खोलती है और बांधती है ॥ ११९ ॥

जमुहाई लेती है, शरीरके अवयवको बजाती है, (चुटकी आदि लेती है)। बालकको आलिङ्गन करती है और चूमती हैं । सखीके ललाट (लिलार)में तिलक लगती है ।१२०।

पैरके अंगूठेकी नोकसे जमीनको कुरेदती है, कटाक्षके साथ देखती है । अपने होंठको चबाती है अधोमुख होकर प्रियसे बोलती है ॥ १२१ ॥

जहाँपर नायक देखा जाता है उस जगहको नहीं छोड़ती है । प्रियके घरमें किसी कामके बहानेसे आती है ॥ १२२ ॥

दत्तं किमपि कान्तेन धृत्वाङ्के मुहुरीक्षते ।
नित्यं हृष्यति तद्योगे वियोगे मलिना कृशा ॥ १२३ ॥
मन्यते बहु तच्छीलं तत्प्रियं मन्यते प्रियम् ।
प्रार्थयत्यल्पमूल्यानि सुप्ता न परिवर्तते ॥ १२४ ॥
विकारान् सात्त्विकानस्य सम्मुखी चाऽधिगच्छति ।
भाषते सूनृतं स्निग्धामनुरक्ता नितम्बिनी ॥ १२५ ॥
एतेष्वधिकलज्जानि चेष्टितानि नवस्त्रियाः ।

कान्तेन = प्रियेण, दत्त=वितीर्णं, किमपि=तुच्छमपि वस्तु, इति भावः । अङ्के= शरीरावयवे, धृत्वा=निधाय, मुहुः=वारं वारम्, ईक्षते=पश्यति । तद्योगे = प्रियसंयोगे; नित्य=निरन्तरं, हृष्यति=हृष्टा भवति, वियोगे=विप्रयोगे, प्रियस्येति शेषः । मलिना= मलीमसा, देहसंस्काररहितेति भावः, कृशा = दुर्बला च, भवतीति शेषः ॥ १२३ ॥

तच्छीलं = प्रियस्वभावं, बहु = अधिकं, मन्यते = आद्रियते । तत्प्रियं=प्रियस्य अभीष्टं, प्रिय = प्रीतिपात्रं, मन्यते=जानाति । अल्पमूल्यानि=न्यूनद्रव्यलभ्यानि वस्तूनि, प्रार्थयति = याचते, प्रियमिति शेषः । सुप्ता = शयनस्थिता सती, न परिवर्तते = परिवर्तनं न करोति, कान्तस्य पुरतः पृष्ठदेशं न विदधातीति भावः ॥ १२४ ॥

अस्य = प्रियस्य, संमुखी = संमुखस्या सती, सात्त्विकान् = सत्त्वसंभूतान्, विकारान्=विकृतीः, स्तम्भस्वेदादिका इति भावः । अधिगच्छति=प्राप्नोति, प्रकाशयति इति भावः । तथा च अनुरक्ता = अनुरागयुक्ता, नितम्बिनी = सुन्दरी, नायिका । स्निग्धां = स्नेहयुक्तां, सखीमिति भावः । सूनृतं=सत्यं प्रिय च यथा स्यात्तथा, भाषते= अभिधत्ते । "स्निग्धम्" इति पाठान्तरे, प्रियं स्निग्धं = स्नेहपूर्णं यथा यथा सूनृतं भाषते इत्यर्थः ॥ १२५ ॥

एतेषु = नायकसन्निधाऽवस्थानादिषु इङ्गितेषु, नवस्त्रियाः = मुग्धायाः कन्यायाश्च, चेष्टितानि = चेष्टा, अधिकलज्जानि = अधिकव्रीडायुक्तानि मध्यायाः = नायिकायाः,

---

प्रियसे दिये गये किसी भी पदार्थको अङ्कमें रखकर बारबार देखती रहती है । उसके संयोगमें निरन्तर प्रसन्न रहती है और वियोगमें मलिन और दुर्बल हो जाती है ॥१२३॥

प्रियके स्वभावको पसन्द करती है उसके अभीष्टको प्रिय मानती है । कम दाम- वाले पदार्थोंको माँगती है, शय्यामें पतिसे पराङ्मुख होकर नहीं सोती है ॥ १२४ ॥

प्रियके सम्मुख स्तम्भ और स्वेद आदि सात्त्विक विकारोंको प्राप्त करती है; अनुरक्त होकर नायिका सत्य और प्रियवचन सखीसे कहती है ॥ १२५ ॥

इन नायिकाओंमें मुग्धा और कन्याकी चेष्टाएँ अधिक लज्जासे युक्त होती हैं

मध्यव्रीडानि मध्यायाः स्रंसमानत्रपाणि तु ॥ १२६ ॥
अन्यस्त्रियाः प्रगल्भायास्तथा स्युर्वारयोषितः ।

दिङ्मात्रं यथा—

'अन्तिकगतमपि मामियमवलोकयन्तीव हन्त ! दृष्ट्वाऽपि ।
सरसनखक्षतलक्षितमाविष्कुरुते भुजामूलम् ॥'

तथा—

लेख्यप्रस्थापनैः स्निग्धैर्वीक्षितैर्मृदुभाषितैः ॥ १२७ ॥

चेष्टितानि, मध्यव्रीडानि = मध्यमलज्जायुक्तानि भवन्ति । अन्यस्त्रियाः = अपरललनायाः, प्रगल्भायाः=नायिकायाः, तथा वारयोषितश्च=वेश्यायाश्च, चेष्टितानि=चेष्टाः, स्रंसमानत्रपाणि = स्रंसमाना (अवस्रंसमाना) त्रपा (लज्जा) येषु तानि, लज्जारहितानीति भावः । स्युः = भवेयुः ॥ १२६ ॥

दिग्दर्शनं यथा-**अन्तिकगतमिति** । नायकस्य मित्रं प्रति उक्तिरियम् । हन्तेति हर्षद्योतकमव्ययम् । इय = मदीया प्रिया, अन्तिकगतम् अपि = निकटप्राप्तम् अपि, मां = नायक, दृष्ट्वा अपि = विलोक्य अपि, अलोकयन्ती व=अपश्यन्ती इव, अभिनीयेति शेषः । सरसनखक्षतलक्षित = सरसम् (आर्द्रम्) यत नखक्षत (नखरक्षतम्) तेन लक्षितं (चिह्नितम्) भुजामूलं = बाहुमूलम्, भुजतीति भुजा, "भुजो कौटिल्ये" इति धातोः "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कप्रत्यये टाप्, "अथो भुजा । द्वयोर्बाहौ करे" इति मेदिनी । आविष्कुरुते प्रकाशयति, कुन्तलसंयमव्यपदेशेनेति भावः । नायकं लक्ष्यीकृत्य बाहुमूलप्रदर्शन नायिकाया अनुरागेङ्गितं द्योतयति । आर्या वृत्तम् ।

नार्या भावाऽभिव्यक्तिसाधनानि प्रदर्शयति—**लेख्यप्रस्थापनैरिति** । लेख्यप्रस्थापनैः = पत्त्रप्रेषणैः, स्निग्धैः = स्नेहपूर्णैः, वीक्षितैः = अवलोकनैः, मृदुभाषितैः= कोमलभाषणैः, दूतीसंप्रेषणैः = सन्देशहराप्रस्थापनैश्च, नार्याः = नायिकायाः, भावाऽभिव्यक्तिः = अभिप्रायप्रकाशनम्, इष्यते = इष्टा भवति । तत्र लेख्यप्रस्थापनस्योदाहरणं श्रीमद्भागवते रुक्मिण्याः कृष्णस्य समीपे ब्राह्मणद्वारा स्फुटम् । अन्यन्मृग्यम् ॥ १२७ ॥

और मध्या नायिकाकी कम लज्जासे युक्त होती है एवम् ॥ १२६ ॥

अन्य नायिका जैसे प्रगल्भा और वेश्या उनकी चेष्टाएँ लज्जासे रहित होती है ।

नायिकाकी चेष्टाओंका दिग्दर्शन, जैसे ग्रन्थकार अपना पद्य देते है—कोई नायक मित्रको कहता है—यह (नायिका) मेरे निकटवर्ती होनेपर भी नहीं देखा-सा भाव दिखाकर ताजे नखक्षतसे चिह्नित अपने बाहुमूलको प्रकाशित करती हैं ।

तथा— पत्रप्रेषणोंसे, स्नेहपूर्ण अवलोकनोंसे, कोमल भाषणोंसे ॥ १२७ ॥

दूतीसम्प्रेषणैर्नार्या भावाभिव्यक्तिरुच्यते ।

दूत्यश्च—

दूत्यः सखी नटी दासी धात्रेयी प्रतिवेशिनी ॥ १२८

बाला प्रव्रजिता कारूः शिल्पिन्याद्याः स्वयं तथा ।

कारू रजकीप्रभृतिः । शिल्पिनी चित्रकरादिस्त्री । आदिशब्दात्ताम्बूलिकगान्धिकस्त्रीप्रभृतयः । तत्र सखी यथा—'श्वासान्मुञ्चति—' इत्यादि ।

स्वयंदूती यथा मम—

पन्थिअ ! पिआसिओ विअ लच्छीअसि जासि ता किमण्णत्तो ।
ण मणं वि वारओ इध अत्थि घरे घणरसं पिअन्ताण ॥'

दूतीभेदान्प्रदर्शयति-- **दूत्य इति ।** सखी = वयस्या, नटी = अभिनेत्री, दासी= परिचारिका, धात्रेयी=धात्रीपुत्री, धात्र्या अपत्यं स्त्री "स्त्रीभ्यो ढक्" इति ढक् प्रत्ययः । प्रतिवेशिनी=स्वनिकटगृहनिवासिनी, बाला = बालिका, प्रव्रजिता = संन्यस्ता, कारू = रजकीप्रभृतिः । शिल्पिनी = चित्रकरादिस्त्री । क्रियाकौशलं शिल्पं, तदस्ति यस्याः सा, "अत इनिठनौ" इति इनिप्रत्ययः, स्त्रीत्वविवक्षायाम् ऋन्नेभ्यो ङीप्" इति ङीप् । 'शिल्पिन्याद्या' इत्यत्र आद्यपदेन ताम्बूलिकगान्धिकस्त्रीप्रभृतयो बोध्याः । तथा स्वयं = स्वयं दूती । एता नायिकानां दूत्यः ।

तत्र सखी यथा—**"श्वासान्मुञ्चति०"** इत्यादि (१०४ पृष्ठे) ।

स्वयं दूती यथा—**पन्थिअ इति ।**

"पथिक ! पिपासित इव लक्ष्यसे यासि तत्किमन्यत्र ।
न मनागपि वारक इहाऽस्ति गृहे घनरसं पिबताम् ॥" (संस्कृतच्छाया),

पथिकेति : कञ्चित् पान्थं प्रति कुलटाया उक्तिरियम् । हे पथिक = हे पान्थ ! त्वं पिपासित इव = पिपासुरिव, कामुक इवेति भावः । लक्ष्यसे=प्रतीयसे, तत्=तर्हि । अन्यत्र = अन्यस्मिन् स्थाने, किं = किमर्थं, यासि = गच्छसि । इह = अस्मिन्, गृहे =

और दूतियोंको भेजनेसे भी नायिकाके अनुरागकी अभिव्यक्ति होती है ॥१२८॥

दूतियाँ—सखी (सहेली), नटी, दासी, धाईकी पुत्री, पड़ोसिन, बालिका, संन्यासिनी (बौद्धसंन्यासिनी), कारू (शिल्पकारस्त्री, धोबिनी आदि), शिल्पिनी (चित्रकार आदिकी स्त्री) । "आद्य" शब्दसे तमोलिन, गन्धिनी (रंगरेजिन) आदि, एवम् स्वयम् (खुद) भी नायिका दूती हो सकती है । उनमें सखी, जैसे— (श्वासान्मुञ्चति०) (१०४ पृष्टे) ।

स्वयं दूती, जैसे ग्रन्थकारका पद्य—"हे पान्थ ! तुम प्याससे मालूम हो

एताश्च नायिकाविषये नायकानामपि दूत्यो भवन्ति।

दूतीगुणानाह—

कलाकौशलमुत्साहो भक्तिश्चित्तज्ञता स्मृतिः ॥ १२९ ॥

माधुर्यं नर्मविज्ञानं वाग्मिता चेति तद्गुणाः।

एता अपि यथौचित्यादुत्तमाधममध्यमाः ॥ १३० ॥

एता दूत्यः।

अथ प्रतिनायकः—

धीरोद्धतः पापकारी व्यसनी प्रतिनायकः।

यथा रामस्य रावणः।

भवने, ममेति शेषः। घनरस = जल, पक्षान्तरे सभोगमुखं, पिबताम् = अनुभवताम्, मनाक् अपि = ईषत् अपि, वारकः = निवारकः, प्रतिबन्धक इति भावः। न अस्ति, मया सह यथेच्छ विहरेति भावः। अत्र स्वयमेव दूत्यकरणादियं नायिका स्वयंदूती बोध्या आर्यावृत्तम् ॥

दूतीगुणान्निर्दिशति—**कलाकौशलमिति**। कलाकौशल=कलासु (नृत्यगीतवादित्रादिषु चतुःषष्टिसंख्यकासु) कौशलम् (कुशलता), उत्साहः = अध्यवसायः, भक्तिः=प्रभुं प्रति पूज्यबुद्धिः, चित्तज्ञता=प्रेषकस्य अभिप्रायाऽभिज्ञता, स्मृतिः=स्मरणशक्तिः ॥१२९॥

माधुर्यं = मनोहरत्वं, नर्मविज्ञानं = क्रीडाभिज्ञता, वाग्मिता = वाचोयुक्तिपटुत्वं, चेति तद्गुणाः = दूतीगुणाः। एताः = दूत्यः, अपि यथौचित्यात् = औचित्याऽनुसारात्, उत्तमाऽधममध्यमाः ज्ञेया ॥ १३० ॥

प्रतिनायक लक्षयति—**धीरोद्धत इति**। धीरोद्धतः=पूर्वलक्षितो नायकविशेषः। पापकारी=पापाचरणशीलः, व्यसनी=कामजक्रोधजव्यसनयुक्तः, एतादृशः प्रतिनायको भवति। प्रतिकूलो नायकः प्रतिनायकः, "कुगतिप्रादयः" इति समासः। कामजानि कोपजानि च अष्टादशप्रकाराणि व्यसनानि। कामजानि दशविधानि, यथाऽऽह भगवान्मनुः—

रहे हो इसलिए अन्यत्र क्यों जा रहे हो ?। इस घरमे घन-रस (जल वा सभोगसुख) का अनुभव करनेवालोंको कुछ भी रोकनेवाला कोई नहीं है।

पूर्वोक्त सखी आदि नायकोंकी भी दूतियाँ होती है।

दूतीके गुण—कलाओंमें निपुणता, उत्साह, स्वामिशक्ति, अभिप्रायको जानना; स्मरणशक्ति ॥ १२९ ॥

मनोहरता, क्रीडाओंकी जानकारी, बोलनेमें अति पटुता, ये दूतीके गुण हैं। ये दूतियां भी औचित्यके अनुसार उत्तम; मध्यम और अधम होती हैं ॥ १३० ॥

प्रतिनायक—धीरोद्धत (पूर्वोक्त नायकविशेष), पापी, व्यसनवाला "प्रतिनायक होता है। जैसे रामचन्द्रजीका रावण।

अथोद्दीपनविभावाः—

उद्दीपनविभावास्ते रसमुद्दीपयन्ति ये ॥ १३१ ॥

ते च—

आलम्बनस्य चेष्टाद्या देशकालादयस्तथा ।

चेष्टाद्या इत्याद्यशब्दाद्रूपभाषणादयः । कालादीत्यादिशब्दाच्चन्द्रचन्दनकोकिलालापभ्रमरझङ्कारादयः ।

तत्र चन्द्रोदयो यथा मम—

'करमुदयमहीधरस्तनाग्रे गलिततमःपटलांशुके निवेश्य ।
विकसितकुमुदेक्षणं विचुम्बत्ययममरेशदिशो मुखं सुधांशुः ॥'

"मृगयाऽक्षो दिवास्वप्नः परिवादः स्त्रियो मदः ।
तौर्यत्रिकं वृथाऽटचा च कामजो दशको गणः ॥" (७-४७) ।

कोपजानि अष्टविधानि, तानि यथा—

"पैशुन्यं साहसं द्रोह ईर्ष्याऽसूयाऽर्थ दूषणम् ।
वाग्दण्डजं च पारुष्य क्रोधजोऽपि गणोऽष्टकः ॥" (म. स्मृ. ७.४८)

उद्दीपनविभावान् लक्षयति—**उद्दीपनविभावा इति** । ये = विभावाः, रसं = शृङ्गारादिकम्, उद्दीपयन्ति = उद्दीप्तं कुर्वन्ति, ते उद्दीपनविभावाः ॥ १३१ ॥

उद्दीपनविभावान्निर्दिशति—**आलम्बनस्येति** । आलम्बनस्य = नायकादेः, चेष्टादयः = नेत्रविक्षेपादयः, तथा देशकालादयः = स्थानसमयादयः । चेष्टाद्या इत्यत्र आद्यशब्दाद्रूपभूषणादयः, देशकालादय इत्यत्राऽऽदिशब्दात् चन्द्रचन्दनकोकिलालापभ्रमरझङ्कारादयो यथायथं ग्राह्याः ॥ १३१ ॥

चन्द्रोदयो यथा करमिति । अयम् = एषः, सुधांऽशुः = चन्द्रः, नायकः । गलिततमःपटलांऽशुके = गलितम् (अपगतम्, निजकिरणेनेति शेषः) तमःपटलम् (अन्धकारसमूहः) एव अंशुकम् (वस्त्रम्) यस्मात्, तस्मिन् । उदयमहीधरस्तनाऽग्रे= उदयमहीधरः (उदयपर्वतः) एव स्तनः (कुचः) तस्य अग्रे (ऊर्ध्वभागे चूचुके); करं=किरणं, हस्तं च, निवेश्य = निधाय, विकसितकुमुदेक्षणं = विकसितं (प्रफुल्लम्)

उद्दीपन विभाव—जों रसको उद्दीप्त करते है उन्हें "उद्दीपन विभाव" कहते है ॥ ३१ ॥

वे—आलम्बन (नायक आदि) की चेष्टा आदि, आदि शब्दसे रूप भाषण आदि लिये जाने चाहिएँ, और देश काल आदि, यहाँ भी आदि शब्दसे चन्द्र, चन्दन, कोकिलका आलाप और भ्रमरझङ्कार आदिको लेना चाहिए ।

चन्द्रोदय जैसे अन्धकारका—ये चन्द्र अन्धकारसमूहरूप वस्त्रसे रहित उदयपर्वतरूप स्तनके अग्र भागमें कर (किरण अथवा हाथ) को रखकर विकसित

यो यस्य रसस्योद्दीपनविभावः स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते ।

अथानुभावाः—

उद्बुद्धं कारणैः स्वैः स्वैर्बहिर्भावं प्रकाशयन् ॥ १३२ ॥
लोके यः कार्यरूपः सोऽनुभावः काव्यनाट्ययोः ।

यः खलु लोके सीतादिचन्द्रादिभिः स्वैः स्वैरालम्बनोद्दीपनकारणैः रामादेरन्तरुद्बुद्धं रत्यादिकं बहिः प्रकाशयन् कार्यमित्युच्यते, स काव्यनाट्ययोः पुनरनुभावः ।

कुमुदम् (कैरवम्) एव ईक्षणम् (नेत्रम्) यस्य तत् तादृशम्, अमरेशदिशः = इन्द्रदिशायाः प्राच्याः, नायिकायाश्च । मुखम् = अग्रभाग, वदनं च । विचुम्बति = पिबति, स्पृशति च । अत्र चन्द्रदिशोः समासोक्त्यलङ्कारेण नायकनायिकयोश्चरित्रदर्शनात् उद्दीप्तस्य वक्तृशृङ्गारस्य चन्द्र उद्दीपनविभावः ।

अनुभावं लक्षयति—**उद्बुद्धमिति** । स्वैः स्वैः = निजैर्निजैः, कारणैः=हेतुभि, उद्बुद्धं = जनितं, भावं = रत्यादिकं, बहिः, प्रकाशयन् = प्रकाशितं कुर्वन्, लोके = जने, यः, कार्यरूपः, सः, काव्यनाट्ययोः = श्रव्यदृश्यकाव्ययोः, अनुभावः = अनुभावरूपेण वर्ण्यते ॥ १३२ ॥

विवृणोति । लोके=बाह्यजने, सीताऽऽदिचन्द्रादिभिः, यथासंख्येनालम्बनोद्दीपनकारणैः, रामादेः = नायकस्य, अन्तः=अन्तःकरणे, उद्बुद्धं = जनितं, रत्यादिकं, बहिः= बाह्यजने, प्रकाशयन्, कार्यमित्युच्यते स काव्यनाट्ययोः = श्रव्यदृश्यकाव्ययोः पुनरनुभावः ॥

कुमुदरूप नेत्रोंसे युक्त इन्द्रदिशा (पूर्वदिशा) रूप नायिकाके मुख (मुख का अग्रभाग) का चुम्बन करता है । यहाँपर चन्द्रमा और दिशामे समासोक्ति अलङ्कारसे नायक और नायिकाके व्यवहारका आरोप होनेसे उद्दीप्त शृङ्गारका चन्द्रमा उद्दीपन विभाव है । जो जिस रसका उद्दीपन विभाव है, वह उसके लक्षणवर्णनमें कहा जायगा ।

अनुभाव—अपने अपने कारणोंसे उत्पन्न रति आदि भावको बाहर जनमें प्रकाशित करता हुआ लोकमें जो कार्यरूप है वह श्रव्यकाव्य और दृश्यकाव्य (नाट्य) में 'अनुभाव'' कहा जाता है ॥ १३२ ॥

जो लोकमें सीता आदि तथा चन्द्रमा आदि अपने अपने आलम्बन और उद्दीपन कारणोंसे राम आदिके अन्तःकरणमें उत्पन्न रति आदि भावको बाहरके जनमें प्रकाशित करता हुआ "कार्य" कहा जाता है वह काव्य और रूपकमें "अनुभाव" कहा जाता है ।

कः पुनरसावित्याह—

उक्ताः स्त्रीणामलङ्कारा अङ्गजाश्च स्वभावजाः ॥ १३३ ॥
तद्रूपाः सात्त्विका भावास्तथा चेष्टाः परा अपि ।

तद्रूपा अनुभावस्वरूपाः । तत्र यो यस्य रसस्यानुभावः स तत्स्वरूपवर्णने वक्ष्यते ।

तत्र सात्त्विकाः—

विकाराः सत्त्वसंभूताः सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ॥ १३४ ॥
सत्त्वं नाम स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी कश्चनान्तरो धर्मः ।
सत्त्वमात्रोद्भवत्वात्ते भिन्ना अप्यनुभावतः ।

अनुभावभेदान्निर्दिशति—**उक्ता इति** । स्त्रीणां = योषिताम्, उपलक्षणमेतत् पुरुषाणामपि निर्देशः । अङ्गजाः = भावहावहेलाः, स्वभावजाः = लीलात आरभ्य केलयन्ता अष्टादश अलङ्काराः, स्वभावजाः = लीलादयः, तद्रूपाः = अनुभावस्वरूपाः, सात्त्विका भावाः = स्तम्भस्वेदादयो वक्ष्यमाणाः, तथा परा अपि = अन्या अपि, याश्चेष्टाः = कटाक्षादयः, ते सर्वेऽपि, तद्रूपाः=अनुभावस्वरूपा ज्ञेयाः, शोभाकान्त्यादीनां सप्तानां रत्यादिप्रकाशकत्वाऽभावान्नाऽनुभावरूपता ।

सात्त्विकभावान् लक्षयति—**विकाराः** । सत्त्वसभूताः = सत्त्वाख्याऽन्तःकरणधर्मनिष्पन्ना, विकाराः = विकृतयः, सात्त्विकाः परिकीर्तिताः ।

विवृणोति—**सत्त्वमिति** । सत्त्व नाम, स्वात्मविश्रामप्रकाशकारी = स्वस्य (सामाजिकस्य) आत्मनि (अन्तःकरणे) यो विश्रामः (स्थितिः), तत्प्रकाशकारी (तत्प्रकाशकरणशीलः), कश्चन, आन्तरः (अन्तःकरणस्य) धर्मः (गुणः) ॥ १३४ ॥

सात्त्विकभावानामनुभावात्किञ्चिद्वैलक्षण्यं प्रदर्शयति—**सत्त्वमात्रोद्भवत्वादिति** । ते = सात्त्विका भावाः, सत्त्वमात्रोद्भवत्वात् = केवलसत्त्वगुणजन्यत्वात् । अनुभावतः = "उद्बुद्धं कारणैः" इत्यादिकारिकालक्षितात् अनुभावात्, भिन्ना अपि=

अनुभावको कहते हैं—पहले कहे गये स्त्रियोंके अङ्गज और स्वभावज अलङ्कार ॥ १३३ ॥

अनुभाव स्वरूप स्तम्भ स्वेद आदि सात्त्विक भाव तथा अन्य कटाक्ष आदि चेष्टाएं ये सब "अनुभाव" स्वरूप हैं । इनमें जो जिस रसका अनुभाव है वह उसके स्वरूप वर्णनमें कहा जायगा ।

सात्त्विक भाव—सत्त्वगुणसे उत्पन्न, अर्थात् सामाजिकोंके अन्तःकरणमें स्थिति और प्रकाश करनेवाला अन्तःकरणका धर्म सत्त्व है उससे उत्पन्न विकारोंको "सात्त्विक" कहते हैं ॥ १३४ ॥

'गोबलीवर्दन्यायेन' इति शेषः ।

के त इत्याह—

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चः स्वरभङ्गोऽथ वेपथुः ॥ १३५ ॥
वैवर्ण्यमश्रु प्रलय इत्यष्टौ सात्त्विकाः स्मृताः ।

तत्र—

स्तम्भश्चेष्टाप्रतीघातो भयहर्षामयादिभिः ॥ १३६ ॥
वपुर्जलोद्गमः स्वेदो रतिधर्मश्रमादिभिः ।
हर्षाद्भुतभयादिभ्यो रोमाञ्चो रोमविक्रिया ॥ १३७ ॥

भेदयुक्ता अपि, अपोतिपदेन अनुभावतोऽभिन्ना अपि गोबलीवर्दन्यायेन भिन्ना अपि सन्तीति भावः । गोपदेन सुरभेर्बलीवर्दस्याऽपि बोधो भवति । बलीवर्दे सुरभिरूपाया गोर्भेदः बलीवर्दरूपस्य च गोरभेदः तथा सात्त्विकभावे स्तम्भस्वेदादौ भावह्वावादिरूपानुभावस्य भेदः स्तम्भस्वेदाऽऽदिरूपानुभावस्य च अभेद इति तात्पर्यम् । सात्त्विकभावान्नामतो निर्दिशति स्तम्भ इति । तस्म्भः=स्तब्धत्वं, स्वेदः = श्रमजल, रोमाञ्चः=रोमविक्रिया, स्वरभङ्गः = वैस्वर्य, वपथु, वेपथुः = कम्पः ॥ १३५ ॥

वैवर्ण्यं = विवर्णता, अश्रु = नयनजलम्, प्रलयः=नष्टचेष्टता इत्यष्टौ सात्त्विका भावाः स्मृताः ।

अथ क्रमेण सात्त्विकभावान्विवृणोति—**स्तम्भ इति** । भयहर्षाऽऽमयादिभिः = भीत्यानन्दरोगादिभिर्हेतुभिः, चेष्टाप्रतीघातः=शारीरकर्मप्रतिबन्धः स्तम्भः ॥ १३६ ॥

रतिधर्मश्रमादिभिः = रमणग्रीष्मायासादिभिः, वपुर्जलोद्गमः = देहसलिल-निस्सरणं स्वेदः । हर्षाद्भुतभयादिभ्यः = आनन्दाऽऽश्चर्यभीत्यादिभ्यः, रोमविक्रिया = लोमविकारः रोमाञ्चः ॥ १३७ ॥

केवल सत्त्वगुणसे उत्पन्न होनेसे गोबलीवर्द न्यायसे अनुभावसे भिन्न भी है ।

सात्त्विक भावका परिगणन करते हैं—स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, स्वरभङ्ग, वेपथु (कम्प) ॥ १३५ ॥

वैवर्ण्य, अश्रु और प्रलय ये आठ "सात्त्विक' भाव कहे जाते है ।

स्तम्भ—भय, हर्ष और रोग आदिसे चेष्टा न होनेको "स्तम्भ" कहते है ।१३६।

स्वेद—रतिक्रीडा; घाम और परिश्रम आदिसे शरीरसे निकलनेवाले जलको "स्वेद" (पसीना) कहते हैं ।

रोमाञ्च—हर्ष, आश्चर्य और भय आदिसे रोमविकारको "रोमाञ्च कहते हैं ॥ १३७ ॥

मदसंमदपीडाद्यैर्वैस्वर्यं गद्गदं विदुः ।
रागद्वेषश्रमादिभ्यः कम्पो गात्रस्य वेपथुः ॥ १३८ ॥
विषादमदरोषाद्यैर्वर्णान्यत्वं विवर्णता ।
अश्रु नेत्रोद्भवं वारि क्रोधदुःखप्रहर्षजम् ॥ १३९ ॥
प्रलयः सुखदुःखाभ्यां चेष्टाज्ञाननिराकृतिः ।

यथा मम—'तनुस्पर्शादस्या दरमुकुलिते हन्त ! नयने,
उदञ्चद्रोमाञ्चं व्रजति जडतामङ्गमखिलम् ।

मदसम्मदपीडाद्यैः = मत्तताहर्षव्यथाप्रभृतिभिः हेतुभिः, गद्गद = गद्गदभावं, वैस्वर्यं = विस्वरता, स्वरभङ्गमिति भावः विदुः = जानन्ति, विद्वांस इति शेषः । रागद्वेषश्रमादिभ्यः = अनुरागाऽप्रीतिपरिश्रमप्रभृतिभ्यो हेतुभ्यः, गात्रस्य = शरीरस्य, कम्पः = कम्पन, 'वेपथुः' ॥ १३८ ॥

विषादमदरोषाद्यैः = खेदमत्तताक्रोधादिभिः हेतुभिः, वर्णाऽन्यत्व=वर्णभिन्नत्वं, "विवर्णता" वैवर्ण्यमित्यर्थः । क्रोधदुःखप्रहर्षज = कोपपीडानन्दजन्य, नेत्रोद्भवं = नयनोत्पन्न, वारि = जलम्, "अश्रु" ॥ १३९ ॥

सुखदुःखाभ्या = प्रमोदबाधाभ्या हेतुभ्या, चेष्टाज्ञाननिराकृतिः = शारीरकर्म-चैतन्याऽभावः, "प्रलयः" ।

सात्त्विकभावानुदाहरति—**तनुस्पर्शादिति ।** नायिकाया उपभोक्तुर्नायकस्य स्वकीयावस्थावर्णनपर पद्यम् । हन्तेति हर्षद्योतकमव्ययम्, अस्याः = प्रियायाः, तनु-स्पर्शात्=शरीरस्पर्शात्, नयने = नेत्रे, दरमुकुलिते = ईषन्मुद्रिते । "नयने" इत्यत्र 'ईदूदेद्द्विवचन प्रगृह्यम्" इति सूत्रेण प्रगृह्यसंज्ञायां "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" इति सूत्रेण प्रकृतिभावात् "उदञ्चत्" इति पदैकदेशे परवर्तिनि सति सन्ध्यभावः । उदञ्च-द्रोमाञ्चम् = उदञ्चन्तः (प्रादुर्भवन्तः) रोमाञ्चाः (रोमविकाराः) यस्मिस्तादृशम्,

स्वरभङ्ग (वैस्वर्य)—मद, हर्ष और पीडा आदिसे होनेवाले गद्गदभावको 'वैस्वर्य (स्वरभङ्ग)" कहते है ।

वेपथु—अनुराग, द्वेष, श्रम आदिसे शरीरके कम्पको "वेपथु" कहते हैं ।१३८।

विवर्णता (वैवर्ण्य)—विषाद, मद और रोष आदिसे भिन्न वर्ण होनेको "विवर्णता (वैवर्ण्य)" कहते है ।

अश्रु—क्रोध, दुःख और अधिक हर्षसे होनेवाले नेत्रजलको "अश्रु" कहते हैं।१३९।

प्रलय—सुख वा दुःखसे चेष्टा और चैतन्यके अभावको "प्रलय" कहते हैं ।

उदाहरण, (ग्रन्थकारका ही)-नायिकाके उपभोगसे नायककी अवस्थाका वर्णन है । इस (नायिका) के शरीरस्पर्शसे नेत्र कुछ मुद्रित हो गये हैं । संपूर्ण अङ्ग

कपोलौ धर्मार्द्रौ, ध्रुवमुपरताशेषविषयं
मनः सान्द्रानन्दं स्पृशति झटिति ब्रह्म परमम् ॥

एवमन्यत् ।

अथ व्यभिचारिणः—

विशेषादाभिमुख्येन चरणाद्व्यभिचारिणः ।
स्थायिन्युन्मग्ननिर्मग्नास्त्रयस्त्रिंशच्च तद्भिदाः ॥ १४०

अखिलं = समस्तम्, अङ्गं = देहाऽवयवः, जडता = स्तम्भं, व्रजति = प्राप्नोति । कपोलौ = गण्डौ, धर्मार्द्रौ=धर्मेण (स्वेदेन) आर्द्रौ (क्लिन्नौ), सञ्जाताविति शेषः । उपरताऽशेषविषयम्=उपरताः (निवृत्ताः), अशेषाः(समस्ताः)विषयाः (ज्ञेयाः) यस्मात्तत्, तादृशं मनः = चित्तम्, ध्रुवं = निश्चितं, सान्द्रानन्दं = सान्द्रः (घनः) आनन्दः (सुखम्) यस्मिंस्तत्, तथाविधं, परमम् = अनिर्वचनीयं, ब्रह्म = शुद्धचैतन्यं, झटिति= सत्वरं, स्पृशति = आमृशति, साक्षात्करोतीति भावः । मनो ब्रह्मानन्दे प्रलीनमिति तात्पर्यम् । ब्रह्मनिविष्टमानसस्य यथा चेष्टाबाह्यज्ञानोपरमो भवति तथैव नायिकानिविष्ट-चेतसो जनस्याऽपीति निष्कृष्टोऽर्थः । अत्र रोमाञ्चस्तम्भस्वेदप्रलयरूपाः सात्त्विका भावाः प्रतिपादिताः । शिखरिणी वृत्तम् ।

एवमन्यत् । ऊह्यं, तद्यथा—"बाले ! नाथ ! विमुञ्च मानिनि ! रुषम्" (पृ.१४२) इत्यत्र स्वरभङ्गः, "मा गर्वमुद्वह" (पृ. १७६) इत्यत्र वेपथुः । "शोणं वीक्ष्य" (पृ. ११७) इत्यत्र वैवर्ण्यमश्रु चेति रामचरणतर्कवागीशः ।

व्यभिचारिभावं लक्षयति—**विशेषादिति** । विशेषात्=अतिरेकात्, विभावाऽनुभावाऽपेक्षयेति शेषः । आभिमुख्येन=साम्मुख्येन रसप्रकाशनार्थमिति शेषः । चरणात्= सञ्चरणात्, तथा स्थायिनि = रत्यादौ स्थायिभावे, उन्मग्ननिर्मग्नाः = उन्मग्नाः (प्रादुर्भूताः, जले बुद्बुदवदिति शेषः), निर्मग्नाः (तिरोभूताः, विलम्बप्रतीतिकत्वेनेति शेषः), तादृशा व्यभिचारिणः कथ्यन्ते । तद्भिदाः=तद्भेदाः, त्रयस्त्रिंशत् =त्रयस्त्रिंशत्संख्यकाः, सन्तीति शेषः ॥ १४० ॥

रोमाञ्चयुक्त होकर स्तब्ध भावको प्राप्त हो रहा है । कपोल पसीनेसे आर्द्र हो रहे हैं । समस्त विषयोंके निवृत्त हो जानेसे गाढ आनन्दवाला मन झटपट परम ब्रह्मका साक्षात्कार कर रहा है । इस पद्यमें रोमाञ्च, स्तम्भ, स्वेद और प्रलय इतने सात्त्विक भावोंका प्रतिपादन है । औरोंको भी इसी तरह जानना चाहिए ।

व्यभिचारी भाव--विशेष रूपसे सांमुख्यसे संचरणके कारण तथा रति आदि स्थायिभावमें कभी प्रकट और कभी तिरोभूत होनेसे "व्यभिचारिभाव" कहे जाते हैं । उनके भेद तेंतिस होते हैं ॥ १४० ॥

स्थिरतया वर्तमाने हि रत्यादौ निर्वेदादयः प्रादुर्भावतिरोभावाभ्यामाभिमुख्येन चरणाद् व्यभिचारिणः कथ्यन्ते।

के त इत्याह—

निर्वेदावेगदैन्यश्रममदजडता औग्र्यमोहौ विबोधः
स्वप्नापस्मारगर्वा मरणमलसतामर्षनिद्रावहित्थाः।
औत्सुक्योन्मादशङ्काः स्मृतिमतिसहिता व्याधिसंत्रासलज्जा
हर्षासूयाविषादाः सधृतिचपलता ग्लानिचिन्तावितर्काः ॥१४१॥

विवृणोति—**स्थिरतयेति**। स्थिरतया=स्थैर्येण, वर्तमाने=विद्यमाने, रत्यादौ=स्थायिभाव इति भावः। निर्वेदादयः = अभिधास्यमानाः, प्रादुर्भावतिरोभावाभ्यां = प्रकाशाऽप्रकाशाभ्याम्, आभिमुख्येन = सांमुख्येन, रसव्यञ्जनार्थमिति शेषः। चरणात् = प्रवर्तनात्, व्यभिचारिणः = व्यभिचारिभावाः। कथ्यन्ते = प्रतिपाद्यन्ते ॥ १४० ॥

व्यभिचारिभावानुद्दिशति—**निर्वेदावेगेति**। निर्वेदः = वैराग्यम्, आवेगः = संभ्रमः, दैन्य = दीनता, श्रमः = परिश्रमः, मदः = मत्तता, जडता = स्तब्धत्वम्। औग्र्यं = क्रूरता, मोहः = मूढता। विबोधः = प्रबोधः। स्वप्नः = स्वापः, अपस्मारः= मनाक्षेपः, गर्वः = अहङ्कारः, मरणं = मृत्युः। अलसता = आलस्यम्। अमर्षः = असहनं, निद्रा = चित्तसंमीलनम्। अवहित्था = आकारगुप्तिः। औत्सुक्यम्=उत्सुकता, उन्मादः = चित्तविभ्रमः। शङ्का = अनर्थतर्कः, स्मृतिः = स्मरणम्, मतिः = अर्थनिश्चयबुद्धिः। व्याधिः = रोगः, संत्रासः = भीतिः। लज्जा = व्रीडा। हर्षः = आनन्दः, असूया = गुणेषु दोषाविष्करणम्। विषादः = खेदः। धृतिः = सन्तोषः। चपलता = चाञ्चल्यम्। ग्लानिः = हर्षक्षयः, चिन्ता = आध्यानं, वितर्कः = विचारः। उद्देशक्रमेण व्यभिचारिभावानामेकैकशः पर्यायाः प्रदर्शिताः। अनुपदमेव सर्वेषां लक्षणानि प्रतिपादयिष्यन्ते। स्रग्धरावृत्तम् ॥ १४१ ॥

स्थिरतासे वर्तमान रति आदिमें निर्वेद आदि प्रादुर्भाव और तिरोभावसे रसव्यञ्जनके लिए संमुख होकर संचरण करनेसे "व्यभिचारिभाव" कहे जाते हैं।

व्यभिचारी भावका परिगणन—निर्वेद, आवेग, दैन्य, श्रम, मद, जडता, औग्र्य, मोह, विबोध, स्वप्न, अपस्मार, गर्व, मरण, अलसता, अमर्ष, निद्रा, अवहित्था, औत्सुक्य, उन्माद, शङ्का, स्मृति, मति, व्याधि, संत्रास, लज्जा, हर्ष, असूया, विषाद, धृति, चपलता, ग्लानि, चिन्ता, और वितर्क ये तेंतिस व्यभिचारी भाव हैं ॥ १४१ ॥

तत्र निर्वेदः—

तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेर्निर्वेदः स्वावमाननम् ।
दैन्यचिन्ताश्रु निःश्वासवैवर्ण्योच्छ्वसितादिकृत् ॥ १४२ ॥

तत्त्वज्ञानान्निर्वेदो यथा—

'मृत्कुम्भवालुकारन्ध्रपिधानरचनार्थिना ।
दक्षिणावर्तशङ्खोऽयं हन्त ! चूर्णीकृतो मया ॥'

अथावेगः—

आवेगः संभ्रमस्तत्र वर्षजे पिण्डिताङ्गता ।

निर्वेदं लक्षयति—**तत्त्वेति ।** तत्त्वज्ञानाऽऽपदीर्ष्यादेः=तत्त्वज्ञानम् (यथार्थवस्तुबोधः), आपत् (विपत्तिः) ईर्ष्यादिः (अक्षान्त्यादिः), आदिपदेन पुराणश्रवणादेः परिग्रहः, तथा च तत्त्वज्ञानादेर्विभावात् दैन्यचिन्ताऽऽदिकृद् = दैन्यम् (दीनता), चिन्ता (आध्यानम्) अश्रु (नयनजलम्) निश्वासः (निःश्वसनम्), वैवर्ण्य (विवर्णता), उच्छ्वसितादि (ऊर्ध्वश्वासादि) आदिपदेन स्वकुकर्मोद्भावनादि, तत् करोतीति, दैन्याद्यनुभावकारक, तादृश स्वाऽवमानन = निजाऽवमानकरण, निर्वेदः, इति निर्वेदलक्षणम् ॥ १४२ ॥

तत्र तत्त्वज्ञानान्निर्वेदोदाहरण—**मृत्कुम्भेति ।** तत्त्वज्ञानाज्जातनिर्वेदः कश्चित्कथयति । मृत्कुम्भेत्यादि = मृत्कुम्भः (मृत्तिकाकलशः), तस्य वालुकासदृश यत् रन्ध्र (छिद्रम्) तस्य पिधानरचनम् (आच्छादननिर्माणम्) तत् अर्थयते तच्छीलः, तेन, तादृशेन मया (मूर्खेण), अयं = सन्निकृष्टस्थः, दक्षिणावर्तशङ्खः=दुष्प्राप्यः शङ्खविशेषः, चूर्णीकृतः = चूर्णनामकद्रव्यविशेषीकृतः । तथा मृत्कलशच्छिद्रस्यावरणार्थं दक्षिणावर्तशङ्खस्य चूर्णीकरणं तथैवमयाऽनित्यतुच्छविषयसुखोपभोगाऽर्थं मोक्षसाधनभूतं जीवन दुरुपयोगेन विनाशितं, हन्तेति खेदद्योतनमियं कस्यचिन्निर्विण्णस्योक्तिः तया निर्वेदः प्रतीयते । निदर्शनाऽलङ्कारः ॥

आवेग लक्षयति—**आवेग इति ।** संभ्रमः = त्वरा "आवेगः" इति आवेगलक्षणम् । तस्य कार्यभेदा निदर्श्यन्ते—तत्र वर्षजे = वृष्टिजन्ये आवेगे पिण्डिताऽङ्गता=

निर्वेद—तत्त्वज्ञान, आपत्ति और ईर्ष्या आदिसे अपना अपमान करना "निर्वेद" कहा जाता है । उसमें, दीनता, चिन्ता, अश्रुपात, निःश्वास, विवर्णता, और उच्छ्वास आदि होता है ॥ १४२ ॥

तत्त्व ज्ञानसे निर्वेद—उदा० कोई तत्त्वज्ञानसे विरक्त पुरुष कहता है । मिट्टीके घड़में बालूके सदृश छेदको बन्द करनेके लिए मैने इस दक्षिणावर्त शङ्खको फोड़ डाला, हाय ! ॥

आवेग—घबड़ाहटके "आवेग" कहते हैं, वृष्टिमे उत्पन्न आवेगमें अवयव

उत्पातजे स्रस्तताऽङ्गे, धूमाद्याकुलताऽग्निजे ॥ १४३ ॥
राजविद्रवजादेस्तु शस्त्रनागादियोजनम् ।
गजादेः स्तम्भकम्पादि, पांस्वाद्याकुलताऽनिलात् ॥ १४४ ॥
इष्टाद्धर्षाः, शुचोऽनिष्टाज्ज्ञेयाश्चान्ये यथायथम् ।

तत्र शत्रुजो यथा—
'अर्घ्यमर्घ्यमिति वादिनं नृपं सोऽनवेक्ष्य भरताग्रजो यतः ।

सङ्कुचिताऽवयवत्व भवति । उत्पातजे=उपसर्गजन्ये आवेगे-अङ्गे=देहावयवे, स्रस्तता=शिथिलता, अग्निजे=अनलजन्ये आवेगे-धूमाद्याकुलता=धूमतापादिव्याकुलता ॥ १४३ ॥

राजविद्रवजादेस्तु = राजपलायनजन्यप्रभृतेः आवेगात् तु, अत्राऽऽदिपदेन शत्रुज आवेगो गृह्यते, ततश्च शस्त्रनागादियोजनम्=आयुधगजादिसंग्रहणं भवति, अत्रादिनदादश्वादीनां परिग्रहो भवति । गजादे =हस्त्यादेः आवेगात्, अत्र पुनः गजपदेन आरण्यकगजस्य परिग्रहः, एवं च आदिपदेन अन्यारण्यकपशूना परिग्रहो बोद्धव्यः, ततश्च, स्तम्भकम्पादि=स्तब्धता-वेपथुप्रभृतिः, अत्राऽऽदिपदेन मूर्च्छादेः परिग्रहः, तादृशं कार्यं भवति । अनिलात्=वायोः, जायमानाऽऽवेगादिति शेषः । पांस्वाद्याकुलता = धूल्यादिव्याकुलता, अत्राऽऽदिपदेन, तृणपर्णादीनां परिग्रहः ॥ १४४ ॥

इष्टात् =अभीष्टादावेगात् हर्षाः = आनन्दाः, अनिष्टात् = अप्रियादावेगात् शुचः =शोकाः, इत्थं च अन्ये =अपरेऽपि आवेगाः, अनयैव दिशा, यथायथं = यथास्वं, परिकल्पनीया इति शेषः ।

तत्र शत्रुजमावेगमुदाहरति—**अर्घ्यमर्घ्यमिति** । रघुवंशे रामादीनां परिणयाऽनन्तरमयोध्यागमनकाले परशुरामस्य वर्णनमिदम् । सः =परशुरामः, अर्घ्यम् अर्घ्यम्=अर्घार्थमुदकम् अर्घार्थमुदकम्, आनीयतामिति शेषः । इति = इत्थं, वादिनं = कथयन्तं, नृपं = राजानं, दशरथमिति भावः अनवेक्ष्य = अदृष्ट्वा, उपेक्ष्येति भावः । यतः = यस्मिन् स्थाने सार्वविभक्तिकस्तसिः । भरताऽग्रजः = दाशरथी रामः, ततः = तस्मिन्

सङ्कुचित होता है उत्पातजन्य आवेगमें शरीरमें शिथिलता होती है और अग्निजन्य आवेगमें धूम और ताप आदिसे व्याकुलता होती है ॥ १४३ ॥

राजाके भागने आदि आवेगमें हथियार और हाथी आदिकी योजना, हाथी आदिसे होनेवाले आवेगमें स्तम्भ और कम्प आदि, वायुसे होनेवाले आवेगमें धूलि आदिसे आकुलता होती है ॥ १४४ ॥

अभीष्ट आवेगसे हर्ष, अनिष्ट आवेगसे शोक होता है, और भी यथायोग्य जानने चाहिए ।

शत्रुजन्म आवेग - उ० । परशुरामजीने "अर्घ्य लाओ अर्घ्य लाओ" ऐसा कहनेवाले राजा दशरथकी अपेक्षा (परवाह) न कर जिस ओर रामचन्द्रजी थे उसी

क्षत्त्रकोपदहनाचिष ततः सन्दधे दृशमुदग्रतारकाम् ॥'

एवमन्यदूह्यम् ।

अथ दैन्यम्—

दौर्गत्याद्यैरनौजस्यं दैन्यं मलिनतादिकृत् ॥ १४५ ॥

यथा—

'वृद्धोऽन्धः पतिरेष मञ्चकगतः, स्थूणावशेषं गृहं,
कालोऽभ्यर्णजलागमः, कुशलिनी वत्सस्य वार्तापि नो ।
यत्नात्सञ्चिततैलबिन्दुघटिका भग्नेति पर्याकुला
दृष्ट्वा गर्भभरालसां निजवधूं श्वश्रूश्चिरं रोदिति ॥'

स्थाने, क्षत्त्रकोपदहनाचिष=क्षत्त्रेषु (क्षत्रियेषु) कोपः (क्रोधः) एव दहनः (अग्निः), तस्य अर्चिषम् (ज्वालारूपाम्), उदग्रतारकाम्=उन्नतकनीनिकां, दृशं=दृष्टि, सन्दधे= संहितवान् । अत्र दशरथस्य शत्रुरूपस्य भार्गवस्य दर्शने आवेगः । रथोद्धता वृत्तम् ॥

दैन्यं लक्षयति—**दौर्गत्याद्यैरिति** दौर्गत्याद्यैः = दारिद्र्यादिभिः, आद्यपदेन, इष्टाऽलाभेन चिन्तया च, मलिनताऽऽदिकृत = मालिन्यादिकारकम्, अनौजस्यं = तेजोहानिः, "दैन्यम्" ॥ १५१ ॥

दैन्यमुदाहरति—**वृद्ध इति** । वृद्धः = जरठः, अन्धश्च = नयनविकलश्च, एष = अतिसन्निहितः, पतिः = मम भर्ता, मञ्चकगतः = खट्वास्थितः, चलितुमसमर्थ इति भावः । गृहं = मदीयं गेह, स्थूणाऽवशेषं=स्तम्भमात्राऽवशेषम्, उपरिपटलपतनेनेति शेषः । कालः = समयः, अभ्यर्णजलागमः = निकटवर्षर्तुः, अतो गृहभङ्गभय संभाव्यमिति शेषः । वत्सस्य = पुत्रस्य, देशान्तरगतस्येति शेषः; वार्ता = प्रवृत्तिः, कुशलिनी = कुशल-सूचिका, नो = न आप्यते । यत्नात् = प्रयासात्, सञ्चिततैलबिन्दुघटिका = अचितस्नेह-पृषतक्षुद्रपात्रम्, भग्ना=प्राप्तभङ्गा, इति = कारणात्, पर्याकुला--अतिशयखिन्ना, श्वश्रूः । निजवधूं = स्वस्नुषां, गर्भभराऽलसां=भ्रूणभारेणालस्यमन्थरां, दृष्ट्वा--विलोक्य, चिरं= बहुसमयं यावत्, रोदिति = अश्रूणि विमुञ्चति ।। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥ १४५ ॥

और क्षत्रियोंके प्रति कोपाऽग्निकी ज्वालास्वरूप ऊँची पुतलीवाली दृष्टिका सन्धान किया । यह रघुवंशका पद्य है ।

दैन्य—दारिद्र्य आदिसे उत्पन्न तेजके अभावको दैन्य (दीनता) कहते हैं, उससे मालिन्य आदि होता है ।। १४५ ॥

उ०—बुड्ढे और अन्धे ये पति खटियापर पड़े हैं, घरमें खाली स्तम्भ बाकी रहा है । प्रचुर वृष्टि होनेका समय है । पुत्रकी कुशलवार्ता भी नहीं मिल रही है । यत्नसे सञ्चित तैलबिन्दुका छोटा-सा पात्र भी फूट गया है इस कारणसे अत्यन्त आकुल सास गर्भके भारसे अलसाई हुई अपनी पुत्रवधू (बहू) को देखकर बहुत समयतक रोती रहती है ।

अथ श्रमः—

खेदो रत्यध्वगत्यादेः श्वासनिद्रादिकृच्छ्रमः ।

यथा—

'सद्यः पुरीपरिसरेऽपि शिरीषमृद्वी
सीता जवात्त्रिचतुराणि पदानि गत्वा ।
गन्तव्यमस्ति कियदित्यसकृद्ब्रुवाणा
रामाश्रुणः कृतवती प्रथमावतारम् ॥'

अथ मदः—

संमोहानन्दसंभेदो मदो मद्योपयोगजः ॥ १४६ ॥

अमुना चोत्तमः शेते, मध्यो हसति गायति ।

श्रमं लक्षयति—**खेद इति** । रत्यध्वगत्यादेः = रतिः (निधुवनम्), अध्वगत्यादेः = मार्गगमनादेः, आदिपदाद्भारवहनादिपरिग्रहः । श्वासनिद्रादिकृत्=उच्छ्वासस्वापादिकारकः, खेदः = आयासः, "श्रमः"

श्रममुदाहरति—**सद्य इति** । वनवासकाले सीताया अवस्थावर्णनम् । शिरीषमृद्वी = शिरीषकुसुमकोमला, सीता=जानकी, पुरीपरिसरे=अयोध्यानगरीपर्यन्तभुवि, सद्यः = सपदि एव, जवात् = वेगात्, त्रिचतुराणि=त्रिचतुःसंख्यकानि, पदानि गत्वा=पादन्यासान् विधायेति भावः । कियत्=किंपरिमाणं, गन्तव्यं=गमनीयम्, वन इति शेषः । अस्ति = वर्तते, इति = इत्थम्, असकृत्=वार वारं, ब्रुवाणा=भाषमाणा सती, रामाऽश्रुणः = रामनयनसलिलस्य, प्रथमाऽवतारं = प्राथमिकोद्गम, कृतवती = अकार्षीत् । अत्र सीतायाः श्रमो वर्णितः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १५२ ॥

मदं लक्षयति—**सम्मं हेति** । मद्योपयोगजः = आसवपानतः, सम्मोहानन्दसंभेदः = वैचित्यहर्षमिश्रण, "मदः" । मदस्य कार्यविशेषान्प्रदर्शयति **अमुनेति** । अमुना = मदेन, उत्तमः = धीरस्वभावो जनः, शेते = स्वपिति, मध्यः = मध्यमस्वभावो

श्रम—रतिक्रीडा और मार्गमें चलने आदिसे उत्पन्न खेदको "श्रम" कहते हैं । उससे श्वासकी अधिकता और निद्रा आदि होती है ।

उ०—शिरीष पुष्पके समान कोमल सीताजीने अयोध्यापुरीके पास भी वेगसे तीन चार पग तक चलकर "कहाँ तक चलना है" ऐसा वारं वार पूछकर रामके आँसूका पहला आविर्भाव कर डाला ॥

मद—मद्यके उपयोगसे उत्पन्न बेहोशी और आनन्दके मिश्रणको "मद" कहते हैं ॥ १४६ ॥

इस मदसे उत्तम पुरुष सोता है, मध्यम पुरुष हँसता है और गाता है और

अधमप्रकृतिश्चापि परुषं वक्ति रोदिति ।। १४७ ।।

यथा—

'प्रातिभं त्रिसरकेण गतानां वक्रवाक्यरचनारमणीयः ।
गूढसूचितरहस्यसहासः सुभ्रुवां प्रववृते परिहासः ॥'

अथ जडता—

अप्रतिपत्तिर्जडता स्यादिष्टानिष्टदर्शनश्रुतिभिः ।
अनिमिषनयननिरीक्षणतूष्णींभावादयस्तत्र ।। १४८ ।।

जनः, हसति = हास्यं करोति, गायति = गानं च करोति । अधमप्रकृतिः = अधीर-स्वभावो जनः, परुषं = कठोरं यथा तथा, वक्ति = परिभाषते, रोदिति च = अश्रूणि विमुञ्चति च ।। १४७ ।।

तदमुदाहरति—**प्रातिभमिति ।** त्रिसरकेण = त्रिवारमद्यपानेन, "सरकं शीधुपात्रे स्याच्छीधुपाने च शीधुनि ।" इति विश्वः । प्रातिभं = प्रतिभाविशेष, प्रतिभाया आगतः प्रातिभस्तं, "तत आगत" इत्यण् । गतानां = प्राप्तानां, सुभ्रुवां= सुन्दरीणां, वक्रवाक्यरचनारमणीयः = वक्रवाक्यस्य (कुटिलवचनस्य, व्यङ्ग्योक्तेरिति भावः), रचना (निर्माणम्, प्रयोग इति भावः) तया रमणीयः (मनोहरः) । गूढ-सूचितरहस्यसहासः = गूढानि (संवृतानि, पुरा लज्जयेति शेषः) सूचितानि (प्रकाशि-तानि, अधुना मदेनेति शेषः), तादृशानि यानि रहस्यानि (रमणादिगोप्यव्यवहारः) यस्मिन्, स चाऽसौ सहासः (हास्यसहितः) एतादृशः परिहासः = क्रीडा, "द्रवकेलि-परीहासाः क्रीडा खेला च नर्म च ।" इत्यमरः । प्रववृते = प्रवृत्त. । पद्यमिदं शिशुपाल-वधमहाकाव्यस्य सप्तदशसर्गस्थम् । स्वागता वृत्तम् ।। १४७ ।।

जडतां लक्षयति—**अप्रतिपत्तिरिति ।** इष्टाऽनिष्टदर्शनश्रुतिभिः=इष्टाऽनिष्टयोः (अभीष्टाऽनभीष्टयोः) दर्शनश्रुतिभिः (विलोकनश्रवणव्यापारैः), अप्रतिपत्तिः = बोधाऽभाव., कर्तव्यस्याऽनिश्चय इत्यर्थः । सा "जडता", तत्र=तस्याम्, अनिमिषेत्यादिः—अनिमिषे (निमेषव्यापाररहिते) ये नयने (नेत्रे) ताभ्यां निरीक्षणम् (अवलोकनम्) तूष्णींभावः (तूष्णीकत्वम्) तदादयः (तत्प्रभृतिव्यापाराः) भवन्तीति शेषः ।

अधम प्रकृतिवाला पुरुष कठोर वाक्य बोलता है और रोता है ।। १४७ ।।

उ०—तीन वार मद्य पीनेसे प्रातिभाविशेषको प्राप्त सुन्दरियोंका कुटिल-(व्यङ्ग्य) वाक्योंकी रचनासे मनोहर गुप्त रहस्यों की सूचना करनेवाला हास्ययुक्त क्रीडा प्रवृत्त हो गई ।

जडता—इष्ट और अनिष्टको देखनेसे और सुननेसे उत्पन्न कर्तव्यके अनिश्चय-को "जडता" कहते है । उसमें पलक न मारकर देखना और चुपचाप रहना आदि कार्य होते हैं ।। १४८ ।।

यथा मम कुवलयाश्वचरिते प्राकृतकाव्ये—

'णवरिअ तं जुअजुअलं अण्णोण्णं णिहिदसजलमन्थरदिट्ठि ।
आलेक्खओपिअं विअ खणमेत्तं तत्थ संट्ठिअं मुअसण्णं ॥'

अथोग्रता—

शौर्यापराधादिभवं भवेच्चण्डत्वमुग्रता ।
तत्र स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः ॥ १४९ ॥

यथा—

'प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतै-

जडतामुदाहरति—**णवरिअ इति ।**

"केवलं तद्युवयुगलमन्योन्यनिहितसजलमन्थरदृष्टि ।
आलेख्यार्पितमिव क्षणमात्रं तत्र संस्थितं मुक्तसङ्गम् ॥" (संस्कृतच्छाया) ।

णवरिअशब्दः केवलार्थे देशीयभाषा । तत्र=तस्मिन् स्थाने, अन्योन्यं निहितसजलमन्थरदृष्टि = अन्योन्यस्मिन् (मिथः) निहिता (स्थापिता) सजला (अश्रुसहिता) मन्थरा (निश्चला) दृष्टिः (दर्शनक्रिया) यस्मिंस्तत्, तादृशं, तत्=पूर्वोक्तं, युवयुगलम् = युवतियुवयुग्मम् केवलम् = एव, आलेख्यार्पितम् इव = चित्रसमर्पितम् इव, क्षणमात्रं = कञ्चित्काल, मुक्तसङ्गं = त्यक्तसंसर्गं, स्थितम् = अतिष्ठत् । अत्रेष्टदर्शनाज्जडता । अत्र स्कन्धकनामकं प्राकृतच्छन्दः ॥ १४८ ॥

उग्रतां लक्षयति—**शौर्यापराधादिभवमिति ।** शौर्यापराधादिभवं=शूरताऽपराधप्रभृतिजन्यं, चण्डत्वम् = अत्यन्तकोपनत्वम्, "उग्रता" भवेत् । तत्र=तस्यां, स्वेदशिरःकम्पतर्जनाताडनादयः = स्वेदः (घर्मसलिलम्), शिरःकम्पः (मस्तकवेपथुः), तर्जनं (भर्त्सनम्) ताडनादयः (प्रहारादयः), भवन्तीति शेषः ॥ १४९ ॥

उग्रतामुदाहरति—**प्रणयीत्यादिः ।** मालतीमाधवे प्रकरणे मालतीं हन्तुं तत्परमघोरघण्टं कापालिकमुद्दिश्य माधवस्य कथनमिदम् । यत् = वपुः, प्रणयिसखीसलीलपरिहासरसाधिगतैः=प्रणयिनीनां (प्रेमयुक्तानाम्) सखीनां (वयस्यानाम्) सलीलः (सविलासः) यः परिहासरसः (क्रीडारागः), तेन अधिगतैः (प्राप्तैः),

उ० - ग्रन्थकार स्वग्रन्थ प्राकृतकाव्य कुवलयाश्वचरितका उदाहरण देते हैं—उस स्थानमें परस्परमें आँसू भरी दृष्टियोंको रखनेवाली वह तरुणी और तरुणकी जोड़ी मात्र चित्रमें समर्पितके समान होकर कुछ समय तक संसर्ग छोड़कर खड़ी रही ।

उग्रता—शूरता और अपराध आदिसे उत्पन्न कोपशीलताको "उग्रता" कहते हैं, उसमें स्वेद, शिरका कम्प तर्जन और ताडन आदि होते हैं ॥ १४९ ॥

उ०—मालतीमाधवमें मालतीको मारनेमें उद्यत कापालिक अघोरघण्टको उद्देश्य करके माधवकी उक्ति है— प्रणययुक्त सखीओंके परिहासमें रागसे प्राप्त कोमल

ललितशिरीषपुष्पहननैरपि ताम्यति यत्।
वपुषि वधाय तत्र तव शस्त्रमुपक्षिपतः
पततु शिरस्यकाण्डयमदण्ड इवैष भुजः ॥'

अथ मोहः—

मोहो विचित्तता भीतिदुःखावेगानुचिन्तनैः।
मूर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत् ॥ १५० ॥

यथा—

'तीव्राभिषङ्गप्रभवेण वृत्तिं मोहेन संस्तम्भयतेन्द्रियाणाम्।
अज्ञातभर्तृव्यसना मुहूर्तं कृतोपकारेव रतिर्बभूव ॥'

ललितशिरीषपुष्पहननैः अपि = ललितानि (कोमलानि) यानि शिरीषपुष्पाणि (शिरीषकुसुमानि), तैः हननैरपि (प्रहारैरपि), ताम्यति=ग्लायति। तत्र=तस्मिन्, वपुषि = मालत्याः शरीरे, शस्त्रम् = आयुध, खड्गरूपम्, उपक्षिपतः = प्रेरयतः, तव = अघोरघण्टस्य, शिरसि = मस्तके, अकाण्डयमदण्ड इव = अकाण्डे (अनवसरे) यमदण्ड इव (कृतान्तदण्ड इव), एषः = समीपतरवर्ती, भुजः = बाहुः, ममेति शेषः, पततु = पातं करोतु। अत्राऽघोरघण्टाऽपराधेन माधवस्योग्रता। अत्रोपमाऽलङ्कारः। नर्कुटकं वृत्तम् ॥ १४९ ॥

मोहं लक्षयति—**मोह इति**। भीतिदुःखाऽऽवेगाऽनुचिन्तनैः=भीतिः (भयम्), दुःखम् (व्यथा), आवेगः (संभ्रमः), अनुचिन्तम् (अत्यन्तचिन्ता), तैर्भीत्यादिभिः, हेतुभिः, मूर्च्छनाज्ञानपतनभ्रमणादर्शनादिकृत् = मूर्च्छनम् (मूर्च्छाकरणम्) अज्ञानम् (अल्पज्ञानम्) पतनं (स्खलनम्), भ्रमणम् (अनवस्थानम्) अदर्शनम् (दर्शनाऽऽभावः) इत्यादिविकारकृत्, विचित्तता = ज्ञानलोपः "मोहः" ॥ १५० ॥

मोहमुदाहरति—**तीव्राऽभिषङ्गप्रभवेणेति**। कुमारसंभवे चतुर्थसर्गे मदनदहनाऽनन्तरं रतेरवस्थावर्णनमिदम्। रतिः = मदनपत्नी, तीव्राऽभिषङ्गप्रभवेण=तीव्रः (तीक्ष्णः, दुःसह इतिभावः) यः अभिषङ्गः (शोकः, पतिदाहजन्य इति भावः), तत्प्रभवेण (तज्जन्येन), इन्द्रियाणां = श्रोत्रादीनां हृषीकाणाम्, वृत्तिं = शब्दादिविषयग्रहणव्यापारं, संस्तम्भयता = प्रतिबध्नता, मोहेन = मूर्च्छया हेतुना, अज्ञातभर्तृ-

शिरीष पुष्पोंके प्रहारसे भी जो (मालतीका) शरीर म्लान हो जाता है। वैसे शरीरमें मारनेके लिए शस्त्र उठाते हुए तेरे शिरपर अचानक पड़नेवाले यमराजके दण्डके समान यह मेरा बाहु पड़े ॥

मोह—भय, दुःख, घबड़ाहट और अधिकचिन्तासे उत्पन्न चेतनाशून्यताको "मोह" कहते है। उसमें मूर्च्छा, अज्ञान, पतन, भ्रमण और अदर्शन आदि होते हैं।१५०।

उ०—यह कुमारसभवमें महादेवके नेत्राग्निसे कामदेवके दाहके अनन्तर रति-

अथ विबोधः—

निंद्रापगमहेतुभ्यो विबोधश्चेतनागमः ।
जृम्भाङ्गभङ्गनयनमीलनाङ्गावलोककृत् ॥ १५१ ॥

यथा—

'चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखानां
चरममपि शयित्वा पूर्वमेव प्रबुद्धाः ।
अपरिचलितगात्राः कुर्वते न प्रियाणा-
मशिथिलभुजचक्राश्लेषभेदं तरुण्यः ॥'

व्यसना = अविदितपतिविपत्तिः सती, मुहूर्तं = कंचित्काल, कृतोपकारा इव = विहितोपकृतिः इव, बभूव = सवृत्ता । अत्र पतिनिधनेन रतेर्मोहः । उपजातिर्वृत्तम् ॥१५०॥

विबोधं लक्षयति—**निद्राऽपगमहेतुभ्य इति** । निद्राऽपगमहेतुभ्यः = स्वापाऽभावकारणेभ्यः, जृम्भाऽऽदिकृत् = जृम्भा (जृम्भणम्), अङ्गभङ्गः (शरीराऽवयवभङ्गः) नयनमीलनम् (नेत्रोन्मीलनम्) अङ्गाऽवलोकः (शरीराऽवयवविलोकनम्) इत्यादिव्यापारकृत्, चेतनाऽऽगमः = चैतन्यप्राप्तिः, "विबोध." ॥ १५१ ॥

विबोधमुदाहरति—**चिरेति** । चरम = पश्चिम, प्रियस्वापाऽनन्तरम् इति भावः, शयित्वा अपि = शयन कृत्वाऽपि, पूर्वम् एव = प्रियात्प्रथमम् एव, प्रबुद्धाः = जागरिताः, तरुण्यः = युवतयः, अपरिचलितगात्राः = अचलितदेहाऽवयवाः, सत्यः, प्रियनिद्राभङ्गभीतेरिति शेषः, चिररतिपरिखेदप्राप्तनिद्रासुखाना = चिरं (बहुकालं यावत्), या रतिः (सुरतम्), तेन यः परिखेदः (परिश्रमः), तेन प्राप्तम् (आसादितम्) निद्रासुखं (स्वापानन्दः) यैः, तेषाम् । प्रियाणाः=कान्तानाम्, अशिथिलभुजचक्राऽऽश्लेषभेदम्=गाढबाहुमण्डलाऽऽलिङ्गनभङ्ग, न कुर्वते = न विदधति । अत्र युवतीनां विबोधः । मालिनी वृत्तम् ॥ १५१ ॥

की अवस्था का वर्णन है । रति देवी दुःसह शोकसे उत्पन्न और इन्द्रियोंकी वृत्ति रोकने वाली मूर्च्छासे पतिविपत्तिके अनुभवसे रहित होकर कुछ समय तक उपकृत-सी हो गई ॥

विबोध—निद्रा हटनेके कारणोंसे चैतन्यके आगमनको "विबोध" कहते हैं । इसमें जमुहाई, अंगड़ाई नेत्रोंको खोलना, और अङ्गोंको देखना इत्यादि कार्य होता है ॥ १५१ ॥

उ०—प्रियके पीछे सोकर भी पहले ही जगी हुई तरुणियां प्रियके जागनेके भयसे शरीरको न हिलाती हुई बहुत समय तक रतिक्रीडाके परिश्रमसे निद्रासुखको प्राप्त पतिके गाढ बाहुमण्डलके आलिङ्गनका भङ्ग नहीं करती हैं ॥

अथ स्वप्नः—

स्वप्नो निद्रामुपेतस्य विषयानुभवस्तु यः ।
कोपावेगभयग्लानिसुखदुःखादिकारकः ॥ १५२ ॥

यथा—

'मामाकाशप्रणिहितभुजं निर्दयाश्लेषहेतो-
र्लब्धायास्ते कथमपि मया स्वप्नसन्दर्शनेन ।
पश्यन्तीनां न खलु बहुशो न स्थलीदेवतानां
मुक्तास्थूलास्तरुकिसलयेष्वश्रुलेशाः पतन्ति ॥'

स्वप्नं लक्षयति—**स्वप्न इति** । कोपावेगादिकारकः = कोपः (क्रोधः), आवेगः (संभ्रमः), भयं (भीतिः), ग्लानिः (ग्लानता), सुखं (हर्षः), दुःखं (कष्टम्) तदादिकारकः, निद्राम् = स्वापम्, उपेतस्य = प्राप्तस्य, यः विषयाऽनुभवः= पदार्थाऽनुभूतिः, स "स्वप्न" ॥ १५२ ॥

स्वप्नमुदाहरति—**मामिति** । मेघदूते यक्षस्य मेघद्वारा पत्नी प्रत्युक्तिरियम् । मया = यक्षेण, स्वप्नसन्दर्शनेन = स्वापविलोकनेन, कथमपि= महता कष्टेन, लब्धायाः= प्राप्तायाः, ते = तव, प्रियाया इत्यर्थः । निर्दयाऽऽश्लेषहेतोः = गाढालिङ्गनकारणस्य, आकाशप्रणिहितभुजम् = अम्बरोत्तोलितबाहुं, शून्याऽर्पितबाहुमिति भावः । मां = यक्षं, पश्यन्तीनां = विलोकयन्तीनां, स्थलीदेवतानां = वनदेवतानां, मुक्तास्थूलाः = मौक्तिकतुल्यस्थूलाकाराः, अश्रुलेशाः = नयनजलबिन्दवः, तरुकिसलयेषु = वृक्षपल्लवेषु, बहुशः= अनेकवारं, न पतन्ति न = न स्खलन्ति इति न अपि तु पतन्त्येव । तादृशं विप्रयुक्त मां दृष्ट्वा वनदेवता अपि अश्रूणि मुञ्चन्तीति भावः ॥

अत्र यक्षस्य प्रियतमालिङ्गनार्थमाकाशे भुजप्रणिधानकारकः स्वप्नः । उपमाऽलङ्कारः । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ १५२ ॥

स्वप्न—निद्रित पुरुषके विषयके अनुभवको "स्वप्न" कहते है । उसमें क्रोध, घबड़ाहट, भय, ग्लानि, सुख और दुःख आदि होते हैं ॥ १५२ ॥

उ०—यक्ष मेघसे, पत्नीका सन्देश कह रहा है—"हे प्रिये ! स्वप्न देखनेके अवसरमें मुझसे जब तुम किसी प्रकार पाई जाती हो तब तुम्हारे गाढ आलिङ्गनके लिए आकाशमें हाथोंको फैलाये हुए मुझको देखती हुई वनदेवताओंकी मोतियोंके समान बड़ी आँसुओंकी बूंदें वृक्षोंके पल्लवोंमें कई वार नहीं गिरती है क्या ? अर्थात् गिरती ही रहती हैं ॥

अथापस्मारः—

मनःक्षेपस्त्वपस्मारो ग्रहाद्यावेशनादिजः ।
भूपातकम्पप्रस्वेदफेनलालादिकारकः ॥ १५४ ॥

'आश्लिष्टभूमिं रसितारमुच्चैर्लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गम् ।
फेनायमानं पतिमापगानामसावपस्मारिणमाशशङ्के ॥

अथ गर्वः—

गर्वो मदः प्रभावश्रीविद्यासत्कुलतादिजः ।
अवज्ञासविलासाङ्गदर्शनाविनयादिकृत् ॥ १५४ ॥

अपस्मारं लक्षयति—**मनःक्षेप इति ।** ग्रहाद्यावेशनादिजः = सूर्याद्यधिष्ठानादिजन्यः, आदिपदेन वातादिधातुवैषम्यपरिग्रहः । भूपातकारकः = भूपातः (भूमिनिपतनम) कम्पः (वेपथुः,), प्रस्वेदः (धर्मसलिलम्), फेनः (मुखे कफविकार) लाला (सृणिका), आदिपदेन चैतन्याऽभावपरिग्रहः इत्यादिकारकः, मनःक्षेपः = चित्तप्रेरणं, विषयग्रहणाऽसामर्थ्यमिति भावः । सोऽयमपस्मारः ॥ १५३ ॥

अपस्मारमुदाहरति—**आश्लिष्टभूमिमिति ।** शिशुपालवधमहाकाव्ये समुद्रवर्णनमिदम् । असौ = श्रीकृष्णः, आश्लिष्टभूमिम् = आलिङ्गितधरणीकम्, उच्चैः = तारस्वरेण, रसितारं शब्दं कुर्वन्तं, लोलद्भुजाकारबृहत्तरङ्गं = लोलन्तः (चलन्तः) भुजाकाराः (बाहुसदृशाः) बृहन्तः (महान्तः) तरङ्गाः (भङ्गाः) यस्य सः, तम्, फेनायमानं = फेनमुद्वमन्तम्, आपगानां = नदीनां, पतिं = स्वामिनं, समुद्रमित्यर्थः, अपस्मारिणम्=अपस्माररोगयुक्तम्, आशशङ्के=आशङ्कितवान् । अत्र समुद्रे आरोप्यमाणः पुरुषे स्मर्यमाणो भूपातफेनकारकोऽपस्मारः उपजातिर्वृत्तम् ॥ १५३ ॥

गर्वं लक्षयति—**गर्व इति ।** प्रभावादिजः = प्रभावः (प्रतापः, राज्ञः कोशदण्डादिजन्य इति भावः) श्रीः (सम्पत्तिः), विद्या (शास्त्रादिः) सत्कुलता (महावंशोत्पत्तिः), तदादिजः, अवज्ञादिकृत्० = अवज्ञा (शत्रुषु अनादरः) सविलासम्

अपस्मार—ग्रह आदिके आवेश आदिसे उत्पन्न मनके विक्षेपको "अपस्मार" कहते हैं । उसमें भूमिपतन, कम्प, प्रस्वेद, फेन और लार आदि होने हैं ॥ १५३ ॥

उ०—शिशुपालवध महाकाव्यमें समुद्रका वर्णन है । भगवान् श्रीकृष्णने पृथ्वीको आलिङ्गन करनेवाले, ऊँचा शब्द करते हुए भुजाओंकी सदृश बड़ी बड़ी तरङ्गों से युक्त और फेनको निकालते हुए समुद्रको अपस्मारी (मिरगी रोगवाला) समझ लिया ।

गर्व—प्रभाव, सम्पत्ति, विद्या और विशाल कुलमें उत्पत्ति, इत्यादि गुणोंसे

तत्र शौर्यगर्वो यथा—

'धृतायुधो यावदहं तावदन्यैः किमायुधैः ? ।
यद्वा न सिद्धमस्त्रेण मम तत्केन साध्यताम् ? ॥'

अथ मरणम्—

शराद्यैर्मरणं जीवत्यागोऽङ्गपतनादिकृत् ।

यथा—

'राममन्मथशरेण ताडिता दुःसहेन हृदये निशाचरी ।
गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता जीवितेशवसतिं जगाम सा ॥'

(विलासपूर्वकम्) अङ्गदर्शनम् (आत्मदेहप्रदर्शनम्) अविनयः (नम्रताऽभावः) तदादिकृत्, मदः = मतता, "गर्वः" ॥ १६० ॥

शौर्यगर्वमुदाहरति—**धृतायुध इति** । वेणीसंहारे कर्णस्य वचनमिदम् । यावत् = यत्कालपर्यन्तम्, अहं = कर्ण, धृतायुधः = अस्त्रधारी, अस्मीति शेषः । तावत् = तत्कालपर्यन्तम्, आयुधैः = अस्त्रैः, अन्येषामिति शेषः । किं = किं प्रयोजनम् । वा = अथवा, यत् = कार्यं, मम = कर्णस्य, अस्त्रेण = आयुधेन, न सिद्धं = नो निष्पन्नं, तत् = कार्यं, केन = जनेन, साध्यतां = निष्पाद्यतां, न केनाऽपि इति भावः । अत्र कर्णस्य स्वप्रभावादिजनितो गर्वः । अनुष्टुब् वृत्तम् ॥ १५४ ॥

मरणं लक्षयति—**शराद्यैरिति** । शराद्यैः = बाणाद्यैः, आद्यपदेन खड्गादिपरामर्शः । अङ्गपतनादिकृत्=देहपातादिकारकः, जीवत्यागः = जीवनत्यागः "मरणम्" ।

मरणमुदाहरति—**राममन्मथशरेणेति** । रघुवंशस्थताडकावधवर्णनमिदम् । सा = पूर्वोक्ता, निशाचरी = रात्रिञ्चरी, राक्षसी ताडकेति भावः । रात्रौ अभिसारिका= नायिका च । दुःसहेन = दुर्मर्षणेन, राममन्मथशरेण = रामः (दाशरथिः) एव मन्मथः (कामदेवः), तस्य शरेण (बाणेन), हृदये = वक्षःस्थले, ताडिता = अभिहृता सती, गन्धवद्रुधिरचन्दनोक्षिता = राक्षसीपक्षे = गन्धवत् (दुर्गन्धम्) रुधिरम् (रक्तम्) एव चन्दनं (श्रीखण्डः), तेन उक्षिता (सिक्ता) सती नायिकापक्षे— गन्धवत् (सुगन्धि) रुधिरचन्दनं (रक्तचन्दनम्) तेन उक्षिता (सिक्ता) सती

उत्पन्न घमण्डको "गर्व" कहते हैं, इसमें अवज्ञा (तिरस्कार करना), विलासपूर्वक अङ्ग दिखाना और अविनय आदि होता है ॥ १५४ ॥

शौर्यगर्व—जबतक मैं अस्त्रधारी हूँ तबतक औरोंके अस्त्रोंका क्या प्रयोजन है ? अथवा मेरे अस्त्रसे काम नहीं हुआ तो किससे सिद्ध किया जायगा ? ।

मरण—बाण आदिके प्रहारसे प्राणत्याग करनेको "मरण" कहते हैं । इसमें अङ्गपतन आदि होता है ।

उ०—रघुवंशमें ताडकावधका वर्णन है । असह्य रामरूप कामदेवसे हृदयमें

अथालस्यम्—

आलस्यं श्रमगर्भाद्यैर्जाड्यं जृम्भाऽऽसितादिकृत् ॥ १५५ ॥

यथा—

'न तथा भूषयत्यङ्गं न तथा भाषते सखीम् ।
जृम्भते मुहुरासीना बाला गर्भभरालसा ॥'

अथामर्षः—

निन्दाक्षेपापमानादेरमर्षोऽभिनिविष्टता ।
नेत्ररागशिरःकम्पभ्रूभङ्गोत्तर्जनादिकृत् ॥ १५६ ॥

जीवितेशवसतिं=राक्षसीपक्षे—यमालयम् । नायिकापक्षे—प्राणेश्वरभवनम् । जगाम = गता । अत्र शरेण ताडकामरणम् । अत्र समासोक्तिरलङ्कारः । रथोद्धता वृत्तम् ।

आलस्यं लक्षयति—**आलस्यमिति ।** श्रमगर्भाद्यैः = श्रमः (परिश्रमः) गर्भः (गर्भधारणम्) तदाद्यैः = तत्प्रभृतिभिः भावैः, जृम्भाऽऽसिताऽऽदिकृत् = जृम्भः (जृम्भणं) आसितम् (उपवेशनम्) तदादिकृत् "जृम्भाऽस्मितम्" इति पाठे जृम्भणयुक्तमन्दहासः असमर्थः । जाड्यं=जडता, स्तम्भ इति भावः । तत् "आलस्यम्"।१५५।

आलस्यमुदाहरति—**न तथेति ।** गर्भभराऽलसा = भ्रूणभारेण आलस्ययुक्ता, बाला = युवतिः, तथा = तेन प्रकारेण, पूर्ववदिति भावः । अङ्गं=शरीरं, न भूषयति= न मण्डयति, तथा = पूर्ववत्, सखीं = वयस्यां, न भाषते = न आलपति, आसीना = उपविष्टा (सती), मुहुः—वारं वारं. जृम्भते = जृम्भणं करोति । अत्र गर्भधारणाद्बालाया जृम्भासिताभ्यामालस्यम् ॥ १५५ ॥

अमर्षं लक्षयति—**निन्देति ।** निन्दाऽऽक्षेपाऽपमानादेः = निन्दा (अन्यस्य दोषोद्भावनम्) आक्षेपः (उपालम्भः) अपमानः (अनादरः) तदादेः, नेत्ररागादिकृत्० = नेत्ररागः (नयनलौहित्यम्) शिरःकम्पः (मस्तकवेपथुः), भ्रूभङ्गः (नेत्रलोमकौटिल्यम्), उत्तर्जनम् (उच्चैर्भर्त्सनम्) तदादिकृत् अभिनिविष्टता = अभिनिवेशयुक्तता, आग्रहप्रवणतेति भावः । "अमर्षः" ॥ १५६ ॥

ताडित वह राक्षसी ताडका गन्धयुक्त रक्तरूप चन्दनसे लिप्त होकर जीवनके ईश्वर-(यमराज) के स्थानपर प्राप्त हो गई ।

आलस्य—परिश्रम और गर्भभार आदिसे होनेवाली जडता (स्तब्धता) को "आलस्य" कहते हैं । इसमें जमुहाई और बैठे ही रहना इत्यादि होता है ॥ १५५ ॥

उ० —गर्भके भारसे आलस्यपूर्ण युवति न पहलेके समान शरीरको भूषित करती है और न सखीसे ही भाषण करती है, बैठी हुई वार वार जमुहाई लेती रहती है।

अमर्ष—निन्दा, आक्षेप और अपमान आदिसे अभिनिवेश (जिद) करनेको "अमर्ष" कहते हैं । उसमें आँखोमें लाली, शिरमें कम्प, भौहोंकी कुटिलता और तर्जन आदि होता है ॥ १५६ ॥

यथा—

प्रायश्चित्तं चरिष्यामि पूज्यानां वो व्यतिक्रमात् ।
न त्वेव दूषयिष्यामि शस्त्रग्रहमहाव्रतम् ॥'

अथ निद्रा—

चेतःसंमीलनं निद्रा श्रमक्लममदादिजम् ।
जृम्भाक्षिमीलनोच्छ्वासगात्रभङ्गादिकारणम् ॥ १५७ ॥

यथा—

"सार्थकानर्थकपदं ब्रुवती मन्थराक्षरम् ।

अमर्षमुदाहरति=**प्रायश्चित्तमिति ।** महावीरचरिते वशिष्ठादीनुद्दिश्य परशुरामस्य वचनमिदम । पूज्यानां=प्रतीक्ष्याणा, वः=युष्माकं, व्यतिक्रमात् = शस्त्रत्यागरूपोपदेशोल्लङ्घनात्, प्रायश्चित्त = पापविशोधनरूप कम, चरिष्यामि=करिष्यामि, तु=परन्तु, एव = भवदुक्तोपदेशेन, शस्त्रग्रहमहाव्रनम् = आयुधग्रहणरूप महत् कर्म, न दूषयिष्यामि=न दूषित करिष्यामि, शस्त्रग्रहणपरित्यागेनेति भावः । अत्र रामेण हरधनुषि भग्ने सति स्वगुरोरपमानेन परशुरामस्य अमर्षः ॥ १५६ ॥

निद्रा लक्षयति—**चेतःसंमीलनमिति ।** श्रमक्लममदादिज = श्रमः (परिश्रमः), क्लमः (ग्लानिः) मद. (मत्तता) तदादिज (तदाद्युत्पन्नम्) । जृम्भाऽक्षि० कारणम् = जृम्भ (जृम्भणम्), अक्षिमीलनम् (नेत्रमुद्रणम्) उच्छ्वास. (दीर्घश्वास) गात्रभङ्गः (शरीरप्रसारणम्), तदादेः, कारण = हेतुभूत, चेत सम्मीलन = चेतसः (चित्तस्य) सम्मीलनम् (मेध्यानाडीप्रवेशेन निश्चलत्वम्) "निद्रा" ॥१५७॥

निद्रामुदाहरति— **साऽर्थकाऽनर्थकपदमिति ।** निद्राणा प्रिया स्मरतः कस्यचित्पुरुषस्योक्तिरियम् । निद्रार्धमीलिताक्षी = निद्रया अर्धमीलिते (अर्धमुद्रिते) अक्षिणी (नेत्रे) यस्याः सा । एव च साऽर्थकानर्थकपद=साऽर्थकानि (अर्थयुक्तानि) अनर्थकानि (अर्थरहितानि) पदानि (शब्दाः) यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथेति क्रियाविशेषणम् । मन्थराऽक्षर = मन्दवर्णं यथा तथा, अस्फुटाक्षरं यथा तथेति भावः । ब्रुवती =

उ०—महावीर चरितमे वशिष्ठ आदिमे परशुरामकी उक्ति है । पूजनीय आपलोगोके वचनके उल्लङ्घनका प्रायश्चित करूगा, परन्तु शस्त्रग्रहणके महाव्रतको दूषित नही करूंगा ।

निद्रा—परिश्रम ग्लानि और मद आदिसे उत्पन्न चित्तकी निश्चलताको "निद्रा" कहते हैं, उसमें जमुहाई, आंखोंको मूदना, दीर्घश्वास, और शरीर फैलना आदि कार्य होते हैं ॥ १५७ ॥

उ०—मंद भावसे साऽर्थक और अनर्थक पदको कहती हुई निद्राके कारण

निद्रार्धमीलिताक्षी सा लिखितेवास्ति मे हृदि ॥'

अथावहित्था—

भयगौरवलज्जादेर्हर्षाद्याकारगुप्तिरवहित्था ।
व्यापारान्तरसक्त्यन्यथावभाषणविलोकनादिकरी ॥ १५८ ॥

यथा—

'एवंवादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्त्राणि गणयामास पार्वती ॥'

उच्चारयन्ती सा = प्रिया, मे = मम, हृदि = मानसे, लिखिता इव = चित्रिता इव, अस्ति = वर्तते । अत्र श्रमजन्याऽक्षिमीलनकारिणी कस्याश्चिन्निद्रा । अत्र भाविकाऽलङ्कारः ॥ १५७ ॥

अवहित्थां लक्षयति—**भयगौरवलज्जादेरिति** । भयगौरवलज्जादेः = भय (भीतिः) गौरवं (गुरुता) लज्जा (व्रीडा) तदादेः हेतोः व्यापाराऽन्तर० करी = व्यापाराऽन्तरे (कार्यान्तरे) सक्तिः (आसक्तिः) अन्यथाऽवभाषणम् (अनारब्धकथनम्) अन्यथाविलोकनम् (विषयान्तरदर्शनम्), तदादिकरी (तदादिकारिणी) हर्षाद्याकारगुप्तिः=आनन्दाद्याकृतिनिगूहनम्, "अवहित्था", अत्र आदिपदेन सामान्यक्रियायाः परिग्रह । "अवहित्थाऽऽकारगुप्तिः" इत्यमरकोशे सामान्येनोक्तिः ॥ १५८ ॥

अवहित्थामुदाहरति—**एवं वादिनीति** । देवर्षिणाऽङ्गिरसा हिमालयसन्निधौ शिवेन सह पार्वत्या विवाहस्य प्रसङ्गे उत्थापिते पार्वत्या वर्णनमिदम् । देवर्षौ = सुरर्षौ अङ्गिरसि, पितुः = जनकस्य हिमालयस्य, पार्श्वे = समीपे, एवंवादिनि = इत्थंभाषिणि सति, पार्वती = हैमवती, लीलाकमलपत्त्राणि=विलासपद्मदलानि, गणयामास=गणितवती अत्र स्वविवाहवर्णनश्रवणाज्जातस्य पार्वतीहर्षस्य लीलाकमलदलगणनेन गोपनात् अवहित्था । अस्मिन् श्लोके "देवर्षौ" इत्यत्र नारदे इति लिखन्तः सर्वेऽपि प्राचीना नवीनाश्च टीकाकारा भ्रान्ताः । सप्तर्षीणामन्यतमोऽङ्गिरा एवाऽत्र अभिमतः ॥१५८॥

अर्धमुद्रित नेत्रोंवाली वह (मेरी प्रिया) मेरे हृदयमें चित्रित सी रह रही है ।

अवहित्था—भय, गौरव और लज्जा आदिके कारण हर्ष आदिके आकारको छिपाना "अवहित्था" कही जाती है । उसमें दूसरे कार्यमें आसक्ति, अन्यथा भाषण (अनारब्ध भाषण), अन्यथा विलोकन (दूसरे विषयको देखना) इत्यादि कार्य होते हैं ॥ १५८ ॥

उ०—हिमालय पर्वतके समीप शिवजीके साथ पार्वतीके विवाहप्रसङ्गको देवर्षि अङ्गिराके उठानेपर पार्वतीका वर्णन है । देवर्षि अङ्गिराके ऐसा कहनेपर पिता (हिमालय) के समीप अधोमुखी होकर पार्वती लीला-कमलके पत्तोंको गिनने लगीं ।

अथौत्सुक्यम्—

इष्टानवाप्तेरौत्सुक्यं कालक्षेपासहिष्णुता ।
चित्ततापत्वरास्वेददीर्घनिःश्वसितादिकृत् ॥ १५९ ॥

यथा—

'यः कौमारहरः स एव हि वरः—' इत्यादौ (१७ पृ०)

अत्र यत् काव्यप्रकाशकारेण रसस्य प्राधान्यमित्युक्तम्, तद्रसनधर्मयोगित्वाद्व्यभिचारिभावस्यापि रसशब्दवाच्यत्वेन गतार्थं मन्तव्यम् ।

औत्सुक्यं लक्षयति-**इष्टाऽनवाप्तेरिति** । इष्टाऽनवाप्तेः=इष्टस्य (अभीष्टस्य पदार्थस्य) अनवाप्तेः (अप्राप्तेर्हेतोः), चित्तताप० अदिकृत्=चित्ततापः (मनस्तापः) त्वरा (संभ्रमः), स्वेदः (घर्मसलिलम्) दीर्घनिश्वसितम् (ऊर्ध्वनिःश्वासः), तदादिकृत् (तदादिकारिणी), कालक्षेपाऽसहिष्णुता = कालक्षेपस्य (समययापनस्य) असहिष्णुता (असामर्थ्यम्) "औत्सुक्यम्" । उत्सुकस्य भावः कर्म वा औत्सुक्यम्, इति तस्य पदस्य व्युत्पत्तिः, ष्यञ् प्रत्ययः ॥ १५९ ॥

औत्सुक्यमुदाहरति—"यः कौमारहरः स एव हि वरः" पद्यमिदं प्रथमपरिच्छेदे व्याख्यातपूर्वम् ।

अत्रेति । अत्रेदं पद्यमौत्सुक्यरूपस्य व्यभिचारभावस्योदाहरणत्वेनोपन्यस्तं परं काव्यप्रकाशकारेण शृङ्गाररसोदाहरणत्वेन विवृतं कथमेतदिति वैमत्यं परिहरति **अत्रेति।** अत्र = अस्मिन् पद्ये, यत् काव्यप्रकाशकारेण=मम्मटभट्टेन, रसस्य=संभोगशृङ्गारस्य, प्राधान्यं = मुख्यत्वम् इति, उक्तम् = अभिहितम् । तत् = कथनम्, रसनधर्मयोगित्वात्= आस्वादनधर्मयुक्तत्वात्, व्यभिचारिभावस्य अपि = औत्सुक्यरूपसञ्चारिभावस्य अपि, रसशब्दवाच्यत्वेन = रसपदाऽभिधेयत्वेन, गतार्थं = चरिताऽर्थं, मन्तव्यं = बोद्धव्यम् । रसे व्यभिचारिभावे चोभयत्राऽपि आस्वादनधर्मसत्वादिति भावः ॥ १५९ ॥

औत्सुक्य—अभीष्ट पदार्थको न पानेसे समय बितानेके लिए असमर्थताको "औत्सुक्य" कहते हैं, उसमें मनमें ताप, शीघ्रता, पसीना, दीर्घनिःश्वास आदि होता है ॥ १५९ ॥

उ०—जैसे—"यः कौमारहरः स एव हि वरः० (पृ० १७) यहाँपर जो काव्यप्रकाशकारने रसकी प्रधानता कही है वह रसन (आस्वादन) धर्मसे युक्त होनेसे व्यभिचारिभाव (प्रकृत—औत्सुक्य) को भी रसशब्दसे कहे जानेसे गतार्थ समझना चाहिए (कुछ विरोध नहीं) ।

अथोन्मादः—

चित्तसंमोह उन्मादः कामशोकभयादिभिः ।
अस्थानहासरुदितगीतप्रलपनादिकृत् ॥ १६० ॥

यथा मम—

'भ्रातर्द्विरेफ ! भवता भ्रमता समन्तात्
प्राणाधिका प्रियतमा मम वीक्षिता किम् ?
(झंकारमनुभूय सानन्दम् ।)
ब्रूषे किमोमिति सखे ! कथयाशु तन्मे
किं किं व्यवस्यति कुतोऽस्ति च कीदृशीयम् ? ॥'

उन्मादं लक्षयति—**चित्तसंमोह इति** । कामशोकभयादिभिः = मदनावेश-मन्युभीत्यादिभिः हेतुभिः, अस्थानहासादिकृत् = अस्थानहास. = अस्थाने (अनवसरे) हासः (हास्यम्), रुदितं (रोदनम्) गीतं (गानम्) प्रलपनम् (अनर्थक-वचोभाषणम्) तदादिकृत् (तदादिकारकः) चित्तसंमोहः=चित्तस्य (मनसः) संमोहः (वैचित्यं, विवेकाऽभाव इत्यर्थः) । "उन्मादः" ॥ १६० ॥

उन्मादमुदाहरति—**भ्रातरिति** । हे भ्रातः, द्विरेफः = भ्रमर !, समन्तात् = समन्ततः, भ्रमता = पर्यटता, भवता = त्वया, प्राणाऽधिका = प्राणाऽतिरिक्ता, मम, प्रियतमा = वल्लभतमा, वीक्षिता किं = दृष्टा किम्, (झङ्कारम् = झङ्कारशब्दम्, अनुभूय = उपलभ्य, सानन्द = हर्षपूर्वकम्) । नायको भूयः कथयति—**ब्रूष इति** । ओम् इति "ओम्" इदं स्वीकारार्थकमव्ययम् ओम् = एवं, दृष्टेत्यर्थः, इति, ब्रूषे किं = कथयसि किं, तत् = तर्हि, मे = मह्यम्, क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी । आशु = शीघ्रं, कथय = ब्रूहि, किं किं, व्यवस्यति = कर्तुं चेष्टते, कुतः = कुत्र, अस्ति = वर्तते, इयम् = एषा, मदीया प्रिया, कीदृशी = किंविधा, अस्ति ? ।

अत्र भ्रमरस्योत्तरणाऽसामर्थ्यस्य ज्ञानाऽभावान्नायकस्य प्रलापकारी उन्मादः । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥ १६० ॥

उन्माद—काम, शोक और भय आदिसे होनेवाले चित्तके संमोहको "उन्माद" कहते है, उसमें अनवसरमें—हास्य, रोदन, गाना और प्रलाप (अनर्थक वचन) आदि होते है ॥ १६० ॥

उ०—ग्रन्थकारका है । कोई वियोगी पुरुष कह रहा है—हे भैया 'भ्रमर ! चारों ओर घूमनेवाले तुमने प्राणोंसे भी अधिक मेरी प्रियतमाको देखा है क्या ? झङ्कार ध्वनि सुनकर आनन्दपूर्वक—हे मित्र ! हाँ (देखा है) कहते हो क्या ? तो फिर मुझे शीघ्र बताओ, वह क्या क्या करनेकी चेष्टा कर रही है ? कहाँ है ? और कैसी ? है ।

अथ शङ्का—

परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः शङ्काऽनर्थस्य तर्कणम् ।
वैवर्ण्यकम्पवैस्वर्यपार्श्वालोकास्यशोषकृत् ॥ १६१

यथा मम—

'प्राणेशेन प्रहितनखरेष्वङ्गकेषु क्षपान्ते
जातातङ्का रचयति चिरं चन्दनालेपनानि ।
धत्ते लाक्षामसकृदधरे दत्तदन्तावघाते
क्षामाङ्गीयं चकितमभितश्चक्षुषी विक्षिपन्ती ॥'

शङ्कां लक्षयति—**परेत्यादि** । परक्रौर्यात्मदोषाद्यैः = परस्य (अन्यस्य) क्रौर्यम् (क्रूरता) आत्मदोषः (स्वदोषः) तदाद्यैः (तदादिभिः हेतुभिः) वैवर्ण्य० कृत् = वैवर्ण्यं (विवर्णता), कम्पः (वेपथुः), वैस्वर्यं (विकृतस्वरता), पार्श्वाऽलोकः (पार्श्वयोः = बाहुमूलाऽधोभागयोः, आलोकः = अवलोकनम्) आस्यशोषः (मुखशोषः), तत्कृत् (तत्कारकम्), अनर्थस्य = अनिष्टस्य, तर्कणं = सभावन, "शङ्का" ॥ १६१ ॥

शङ्कामुदाहरति—**प्राणेशेनेति** । इयम् = एषा, क्षामाऽङ्गी = कृशाङ्गी, क्षपान्ते = प्रातःकाले, जाताऽऽतङ्का=उत्पन्नाशङ्का = सती, सखीनामिति शेषः, चकितं यथा तथा, अभितः = परितः, चक्षुषी = नेत्रे, विक्षिपन्ती = प्रेरयन्ती सती, प्राणेशेन = प्राणेश्वरेण, प्रहितनखरेषु = प्रेहितनखरेषु, कृतनखक्षतेषु इति भाव. । अङ्गकेषु = अनुकम्पितदेहाऽवयवेषु, पयोधरादिषु इति भावः । चन्दनालेपनानि = श्रीखण्डद्रवलेपनानि, रचयति = विदधाति । तथा प्राणेशेन, दत्तदन्ताऽवघाते = विहितदशनक्षते, अधरे = अधरोष्ठे च, लाक्षाम् = अलक्तद्रवम्, असकृत् = वार-वारं, धत्ते = धारयति । अत्र नायिकया अन्योपहासरूपाऽनर्थस्य तर्कणाच्छङ्का । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ॥ १६१ ॥

शङ्का—दूसरेकी क्रूरता और अपने दोष आदिसे अनिष्टकी सभावना करनेको "शङ्का" कहते हैं । उसमें विवर्णता, कम्प, स्वरभङ्ग, अगल बगल झाँकना और मुख सूखना इत्यादि होता है ॥ १६१ ॥

उ०—ग्रन्थकारका है । यह कृशोदरी (नायिका) रातके बीतनेपर चकित होकर चारों ओर दृष्टिपात करती हुई प्राणेश्वरसे नखक्षत किये गये अङ्गोंमें चन्दनका लेप करती है और प्राणेश्वरके दशनसे क्षत अपने अधरोष्ठको वारवार लाक्षारागसे रञ्जित करती है ।

अथ स्मृतिः—

सदृशज्ञानचिन्ताद्यैर्भ्रूसमुन्नयनादिकृत् ।
स्मृतिः पूर्वानुभूतार्थविषयज्ञानमुच्यते ॥ १६२ ॥

यथा मम—

'मयि सकपटं किंचित्क्वापि प्रणीतविलोचने
किमपि नयनं प्राप्ते तिर्यग्विजृम्भिततारकम् ।
स्मितमुपगतामालीं दृष्ट्वा सलज्जमवाञ्चितं
कुवलयदृशः स्मेरं स्मेरं स्मरामि तदाननम् ॥'

स्मृतिं लक्षयति—**सदृशज्ञानचिन्ताद्यैरिति** । सदृशज्ञानचिन्ताऽऽद्यैः=सदृशस्य (समानस्य पदार्थस्य) ज्ञानचिन्ता (ज्ञानं=साक्षात्कारः, चिन्ता = भावनाऽऽख्यः संस्कारः) तदाद्यैः (तत्प्रभृतिभिः) । भ्रूसमुन्नमनादिकृत्=भ्रुवोः (अक्षिलोम्नोः) समुन्नमनम् (ऊर्ध्वीकरणम्) तदादिकृत्, (तदादिकारि) पूर्वाऽनुभूर्वाऽनुभूतार्थविषयज्ञानम्=(पूर्वं=पुरा, अनुभूतः = उपलब्धः, यः अर्थः = पदार्थः, तद्विषयज्ञानं = तद्विषयबोधः) "स्मृतिः" । "संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं स्मृतिः" इत्यपरं तल्लक्षणम् ॥ १६२ ॥

स्मृतिमुदाहरति—**मयीति** । मित्रसमीपे कस्यचिन्नायकस्य वचनमिदम्, क्वाऽपि = कस्मिन्नपि पदार्थे, सकपटं = सव्याज यथा तथा, प्रणीतविलोचने = प्रणीते (निक्षिप्ते) विलोचने (नेत्रे) येन, तस्मिन्, तथाविधे मयि, किमपि = केनाऽपि प्रकारेण, नयनं = नेत्रपथ, प्राप्ते = आसादिते सति, तिर्यक् = कुटिलं यथा तथा, विजम्भिततारकं = विजृम्भिते (प्रेरिते) तारके (कनीनिके) यस्य तत्, स्मितं = मन्दहास्यम्, उपगतां = प्राप्तां, मन्दहास्यं कुर्वतीमित्यर्थः । तादृशीम् आलीं सखीं, दृष्ट्वा = विलोक्य, सलज्जं=सव्रीडम्, अतः अवाञ्चितं = नमितं, स्मेरं भूयोभूयः स्मितयुक्तं, कुवलयदृशः = उत्पलनयनायाः, तत् = असकृद्दृष्टम्, आननं = मुखं, स्मरामि = स्मृतिविषयीकरोमि । अत्र नायकस्य संस्कारवशेन पूर्वावलोकितनायिका-मुखस्य स्मृतिः । हरिणी वृत्तम् ॥ १६२ ।

स्मृति—सदृश पदार्थके ज्ञानकी भावना आदिसे पहले अनुभव किये गये पदार्थ-विषयक ज्ञानको "स्मृति" कहते है । उसमें भौंहोंको ऊपर चढ़ाना आदि क्रिया होती है ॥ १६२ ॥

उ०—कोई नायक अपने मित्रसे कहता है कहींपर कपटपूर्वक दृष्टि लगाने-वाले मेरे उस सुन्दरीसे किसी प्रकार दृष्टिमार्गको प्राप्त होनेपर आँखोंकी पुतलियोंको वक्र कर मुसकरानेवाली सखीको देखकर लज्जासे झुकाये गये मन्दहास्ययुक्त सुन्दरीके उस मुखको मैं स्मरण कर रहा हूँ ।

अथ मतिः—

नीतिमार्गानुसृत्यादेरर्थनिर्धारणं मतिः ।
स्मेरता धृतिसंतोषौ बहुमानश्च तद्भवाः ॥ १६३ ॥

यथा—

'असंशयं क्षत्रपरिग्रहक्षमा, यदार्यमस्यामभिलाषि मे मनः ।
सतां हि संदेहपदेषु वस्तुषु प्रमाणमन्तःकरणप्रवृत्तयः ॥'

अथ व्याधिः—

व्याधिर्ज्वरादिर्वाताद्यैर्भूमीच्छोत्कम्पनादिकृत् ।

मतिं लक्षयति—**नीतीत्यादिः** । नीतिमार्गाऽनुसृत्यादेः = नीतिमार्गः (नयशास्त्रम्) तस्य अनुसृतिः (अनुसरणं) तदादेः, आदिपदेन अनुमानादेः हेतोः परिग्रहः । अर्थनिर्द्धारणं = तत्त्वनिर्णयः "मतिः" । स्मेरता = मन्दहास्यता, धृति-सन्तोषौ=धैर्यपरितोषौ, बहुमानश्च अधिकसत्कारश्च एते विषयाः, तद्भवाः=मतेरुत्पन्ना भवन्तीति भावः ॥ १६३ ॥

मतिमुदाहरति—**असंशयमिति** । अभिज्ञानशाकुन्तले कण्वतपोवने शकुन्तलां दृष्ट्वा दुष्यन्तस्योक्तिरियम् । इयं = शकुन्तला, क्षत्रपरिग्रहक्षमा = क्षत्रस्य (क्षत्रियस्य) परिग्रहक्षमा (विवाहयोग्या) अत्र विषये, संशयः = संशयस्य अभावः, अर्थाऽभावे अव्ययीभाव. । यत् = यस्मात्कारणात्, आर्यं = श्रेष्ठं, मे = मम, मनः = चित्तम्, अस्यां = शकुन्तलायाम्, अभिलाषि = अभिलाषुकम्, अस्तीति शेषः । पूर्वोक्तं विषय-मर्थान्तरन्यासाऽलङ्कारेण द्रढयति—**सतामिति** । हि = यस्मात्कारणात्, सन्देहपदेषु = शङ्काऽऽस्पदेषु, वस्तुषु=पदार्थेषु, सतां = शिष्टानाम्, अन्तःकरणवृत्तयः=चेतोव्यापाराः, प्रमाणं = यथार्थज्ञानबीजभूता भवन्तीति शेषः । अत्र दुष्यन्तस्य नीतिमार्गाऽनुसृतेन आत्मसन्तोषेण शकुन्तलायाः स्वपरिणययोग्यतानिर्धारणान्मतिः । वंशस्थं वृत्तम् ॥१६३॥

व्याधिं लक्षयति—**व्याधिरिति** । वाताद्यैः वायुप्रभृतिभिः, हेतुभिः आद्य-पदेन पित्तकफयोः परिग्रहः । भूमीच्छोत्कम्पनादिकृत् = भूमीच्छा (भूपतनस्पृहा), उत्कम्पनम् (वेपथुः), तदादिकृत् (तदादिकारकः) ज्वरादिः = ज्वरप्रभृतिः,

---

मति—नीतिमार्गके अनुसरण आदिसे तत्त्वनिश्चय करनेको "मति" कहते है, इसमें मन्दहास्य, धैर्य, सन्तोष और अधिक संमान होता है ॥ १६३ ॥

उ०—कण्वके आश्रममें शकुन्तलाको देखकर दुष्यन्त कहते हैं—यह शकुन्तला क्षत्रियके विवाहके योग्य है इससे सन्देह नहीं है, क्योंकि मेरा श्रेष्ठ मन इसकी इच्छा करने वाला है । जैसे कि शिष्टोंके सन्दिग्ध पदार्थोंमें उनके अन्तःकरणकी प्रवृत्ति प्रमाण होती है ।

व्याधि—वात, पित्त, और कफ आदिसे होनेवाले ज्वर आदिको 'व्याधि"

तत्र दाहमयत्वे भूमीच्छादयः। शैत्यमयत्वे उत्कम्पनादयः। स्पष्टमुदाहरणम्।

अथ त्रासः—

निर्घातविद्युदुल्काद्यैस्त्रासः कम्पादिकारकः ॥ १६४ ॥

यथा—

'परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरवः सुराङ्गनास्त्रासविलोलदृष्टयः।
उपाययुः कम्पितपाणिपल्लवाः सखीजनस्यापि विलोकनीयताम्॥'

"व्याधि."। तस्य तत्तद्धेतुक-कायभेदान्प्रदर्शयति—**तत्रेति**। तत्र=ज्वरव्याधौ, दाहमयत्वे = तापस्वरूपत्वे, भूमीच्छादयः = भूपतनेच्छादयः, शैत्यमयत्वे=शीतरूपत्वे, उत्कम्पादयः = वेपथुप्रभृतयः क्रियाः, भवन्तीति शेषः। स्पष्टमुदाहरणम्—

"भूमौ पतति तापार्ता विप्रयुक्ता वधूरिव।
कदलीवाऽनिलोद्धूता ज्वरार्ता कम्पते प्रिया॥" महेश्वरतर्कालङ्कारः।

त्रासं लक्षयति—**निर्घातेत्यादि**। निर्घातविद्युदुल्काद्यैः=निर्घातः (पवनाहतपवनजन्यः शब्दविशेषः अथवा भूमिचलनम्)। विद्युत् (तडित्) उल्का (गगनपतितो रेखाऽऽकारस्तेजःपुञ्जः), तदाद्यैः (हेतुभिः, कम्पादिकारकः=वेपथुप्रभृतिकर्ता, "त्रासः"।

त्रासमुदाहरति—**परिस्फुरदिति**। किरातार्जुनीयस्थ जलक्रीडावर्णनमिदम्। परिस्फुरन्मीनविघट्टितोरवः = परिस्फुरन्तः (परितः सचलन्तः) ये मीनाः (मत्स्याः) तैः विघट्टिताः (सन्ताडिताः) ऊरवः (सक्थीनि) यासां ताः अतः त्रासविलोलदृष्टयः = त्रासेन (भयेन हेतुना) विलोला (विशेषेण चञ्चलाः) दृश्यः (नयनानि) यासां ताः, तथा च कम्पितपाणिपल्लवाः=कम्पयुक्तकरकिसलयाः, तादृश्यः सुराऽङ्गनाः=अप्सरसः, सखीजनस्य अपि = वयस्यागणस्य अपि, नायकानां किं वक्तव्यमिति भावः। विलोकनीयतां=दर्शनीयताम्, उपाययुः=सम्प्राप्ताः॥ वंशस्थं वृत्तम्। अत्र सुराऽङ्गनानां मीनविघट्टितोरुत्वात् कम्पकारकस्त्रासः॥ १६४॥

कहते हैं, उसमें जमीनपर लोटनेकी इच्छा और कम्प आदि होता है। उसमें तापमय व्याधिमें भूमिकी इच्छा आदि और शीतमय व्याधिमें कम्प आदि होते हैं। उदाहरण स्पष्ट है।

त्रास—वायुसे ताडित वायुजन्य शब्द वा भूकम्प, बिजली और उल्का (आकाशसे गिरा हुआ रेखाऽऽकार तेजः पुञ्ज) इत्यादिसे होनेवाले कम्प आदिके हेतुको "त्रास" कहते हैं। १६४॥

उ०—किरातार्जुनीय-स्थित जल-क्रीडाका वर्णन है। तैरती हुई मछलियोंसे ऊरुमें ठोकर लगनेसे भयसे चञ्चल नेत्रोंवाली पल्लवके समान हाथोंको कम्पित करनेवाली सुन्दरियाँ सखियोंसे भी दर्शनीय भावको प्राप्त हुईं॥

अथ व्रीडा—

धार्ष्ट्याभावो व्रीडा वदनानमनादिकृद् दुराचारात् ।

यथा—

'मयि सकपटम्—' इत्यादि ।

अथ हर्षः—

हर्षस्त्विष्टावाप्तेर्मनःप्रसादोऽश्रुगद्गदादिकरः ॥ १६५ ॥

यथा—

'समीक्ष्य पुत्रस्य चिरात्पिता मुखं निधानकुम्भस्य यथैव दुर्गतः ।
मुदा शरीरे प्रबभूव नात्मनः पयोधिरिन्दूदयमूर्च्छितो यथा ॥'

व्रीडां लक्षयति—**धार्ष्ट्याऽभाव इति**। दुराचारात् = दुष्टक्रियाया हेतो, वदनाऽऽनमनादिकृत् = वदनस्य (मुखस्य) आनमनम् (आनतिः) तदादिकृत् धार्ष्ट्याऽभावः = धृष्टताराहित्य, "व्रीडा"।

व्रीडामुदाहरति—"मयि सकपटम्" इत्यादि (२१३ पृष्ठे)। पूर्वं स्मृता-वुदाहरणम्। अत्र तु नायकदर्शनात् नायिकाया वदनानमनकारिण्या व्रीडायाम्।

हर्षं लक्षयति—इष्टाऽवाप्तेः = इष्टस्य (अभीष्टस्य पदार्थस्य) अवाप्तेः (प्राप्तेर्हेतोः) अश्रुगद्गदादिकरः = अश्रु (नयनजलपात) गद्गदः (अस्फुटशब्दः) तदादिकरः, मनःप्रसादः = मनसः (चित्तस्य) प्रसादः (प्रसन्नता) 'हर्ष"।

हर्षमुदाहरति—**समीक्ष्येति**। रघुवंशे रघुजन्मानन्तर दिलीपस्य हर्षवर्णन-मिदम्, पिता = जनकः, दिलीपः। चिरात = बहुकालाऽनन्तर, पुत्रस्य = तनयस्य रघोः, मुखम् = आनन, समीक्ष्य = दृष्ट्वा, यथा = येन प्रकारेण, दुर्गतः = दरिद्रः, निधानकुम्भस्य = निधिकलशस्य, मुखम् = अग्रभाग, दृष्ट्वा इव = अवलोक्य इव, इन्दूदयमूर्च्छितः = इन्दोः (चन्द्रस्य) उदयेन (उद्गमेन) मूर्च्छितः (समृद्धः, समृद्धजल इति भावः), पयोधिः = समुद्रः; यथा = इव, मुदा = हर्षेण हेतुना, आत्मनः = स्वस्य, शरीरे = देहे, देहचेष्टायामिति भावः। न प्रबभूव = न समर्थो

व्रीडा—दुराचारके कारण धृष्टताके अभावको "व्रीडा" कहते है, इसमें मुखको अवनत करना आदि कार्य होता है।

उ०—"मयि सकपटम्" इत्यादि (पृ० २१३)।

हर्ष—अभीष्ट पदार्थकी प्राप्तिसे चित्तकी प्रसन्नताको "हर्ष" कहते हैं। उसमें अश्रुपात और गद्गदस्वर आदि होते हैं ॥ १६५ ॥

उ०—रघुवंशमें रघुके उत्पन्न होनेपर यह दिलीपके हर्षका वर्णन है। बहुत समयके अनन्तर पुत्र रघुका मुख देखकर पिता दिलीप जैसे कोई दरिद्र निधि कलशके

अथाऽसूया—

असूयान्यगुणर्द्धीनामौद्धत्यादसहिष्णुता ।
दोषोद्घोषभ्रूविभेदावज्ञाक्रोधेङ्गितादिकृत् ॥ १६६ ॥

यथा—

'अथ तत्र पाण्डुतनयेन सदसि विहितं मधुद्विषः ।
मानमसहत न चेदिपतिः परवृद्धिमत्सरि मनो हि मानिनाम् ॥'

बभूव । उपमाऽलङ्कारः वंशस्थं वृत्तम् । अत्र अभीष्टस्य पुत्रस्य प्राप्तेर्दिलीपस्य हर्षः ॥ १६ ॥

असूयां लक्षयति—असूयेति । दोषोद्घोष० कृत् = दोषोद्घोषः (अन्यस्य दूषणघोषणम्) भ्रूविभेदः (अक्षिरोमकौटिल्यम्) अवज्ञा (अन्यस्य अनादरः) क्रोधेङ्गितम् (कोपचिह्नं मुखरागादि) इत्यादिकृत् (इत्यादिकारिका), औद्धत्यात् = उद्धतभावात्, अहङ्कारादिति भावः । अन्यगुणर्द्धीनाम्=अन्यस्य (अपरस्य) गुणर्द्धीनाम् (विद्यादिगुणसमृद्धीनाम्) असहिष्णुता = असहनशीलता । "असूया" ॥ १६६ ।

असूयामुदाहरति—अथेति । अथ=युधिष्ठिरस्य राजसूये श्रीकृष्णस्य अग्रपूजायां जातायां, चेदिपतिः = शिशुपालः, तत्र = तस्मिन् सदसि = सभायां, पाण्डुतनयेन = पाण्डवेन, युधिष्ठिरेणेति भावः । मधुद्विषः = श्रीकृष्णस्य, विहितं = कृतं, मानम् = अग्रपूजारूपं सम्मानं, न असहत = न सोढवान् । उक्तमर्थमर्थान्तरन्यायेन द्रढयति—परेति । हि = यस्मात्कारणात्, मानिनाम् = अभिमानिनां, मनः = चित्तं, परवृद्धिमत्सरि = परवृद्धौ (अन्यस्य उत्कर्षे), मत्सरि (द्वेषकारकम्) भवतीति शेषः । अत्र श्रीकृष्णस्य मानरूपायां समृद्धौ शिशुपालस्य "असूया" । अत्राऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारः । उद्गता वृत्तम् ॥ १६६ ॥

मुखको देखकर प्रसन्न होता है, चन्द्रोदयसे वैसे ही प्रसन्न हुए समृद्ध जलवाले समुद्रके समान हर्षसे अपने शरीरमें न समा सके ।

असूया—उद्धत भावके कारण दूसरेके गुणोंकी समृद्धिका सहन न करना "असूया" कही जाती है, उसमें दोषोंका उद्घोषण, भौंहोंकी कुटिलता, अनादर और क्रोधके चिह्न आदि होते हैं ॥ १६६ ॥

उ०—शिशुपालवधमें युधिष्ठिरके राजसूय यज्ञमें श्रीकृष्णकी अग्रपूजा होनेपर शिशुपालकी असूयाका वर्णन है ।

उस सभामें युधिष्ठिरसे की गई श्रीकृष्णकी अग्रपूजाका चेदिपति (शिशुपाल)-ने सहन नहीं किया, क्योंकि अभिमानी पुरुषोंका मन दूसरेकी समृद्धिमें द्वेष करनेवाला होता है ॥

अथ विषादः—

उपायाभावजन्मा तु विषादः सत्त्वसंक्षयः ।
निःश्वासोच्छ्वासहृत्तापसहायान्वेषणादिकृत् ।। १६७ ।।

यथा मम—

एषा कुडिलघणेन चिउरकडप्पेण तुह णिबद्धा वेणी ।
मह सहि ! दारइ डंसइ आअसजट्ठिव्व कालउरइव्व हिअअं ।।

अथ धृतिः—

ज्ञानाभीष्टागमाद्यैस्तु संपूर्णस्पृहता धृतिः ।

विषाद लक्षयति—**उपायाऽभावजन्मेति** । उपायाऽभावजन्मा = उपायः (अनर्थप्रतिकारहेतुः) तस्य योऽभावः (शून्यता) ततः जन्म (उत्पत्तिः) यस्य सः । एव च निःश्वास० कृत् = निःश्वासः (मुखनासानिर्गतश्वासः) उच्छ्वासः (अन्तर्मुखश्वासः), हृत्तापः (चित्तसन्तापः), सहायान्वेषणं (सहायकगवेषणम्) इत्यादिकृत् सत्त्वसक्षयः = बलहानिः, "विषादः" ।। १६७ ।।

विषादमुदाहरति— **एषा इति** ।

"एषा कुटिलघनेन चिकुरकलापेन तव निबद्धा वेणी ।

मम सखि ! दारयति दशत्यायसयष्टिरिव कालोरगीव हृदयम् ।।" बद्धवेणिकां प्रोषितभर्तृकां सखीं दृष्ट्वा कस्याश्चित्सख्या विषादोक्तिरियम् । हे सखि ! =हे वयस्ये !, कुटिलघनेन = वक्रनिबिडेन, चिकुरकलापेन = केशपाशेन, निबद्धा = संनद्धा, तव = भवत्याः, वेणी = असंस्कृतकेशश्रेणी, आयसयष्टिः इव = लौहयष्टिः इव, मम = सख्याः, हृदयं = वक्षःस्थलं, दारयति = भिन्ते, कालोरगी इव = कृष्णसर्पी इव, मम हृदयं, दशति च = दंशयति च । उपमा अलङ्कारः । आर्यागीतिश्छन्दः । अत्र वियोगनिवारणस्य उपायाऽभावेन हृत्तापकृद्विषादः ।। १६७ ।।

धृतिं लक्षयति—**ज्ञानाऽभीष्टागमाद्यैरिति** । ज्ञानाऽभीष्टागमाद्यैः = ज्ञानम् तत्त्वबोधः) अभीष्टाऽऽगमः (अभिलषितवस्तुप्राप्तिः), तदाद्यैः विषयैः, सौहित्य०-

विषाद—उपायके अभावसे उत्पन्न बलहीनताको "विषाद" कहते है, उसमें निःश्वास (मुख और नाकसे निकला हुआ श्वास) उच्छ्वास (भीतरका श्वास) हृदयका ताप और सहाय ढूँढ़ना आदि होते हैं ।। १६७ ।।

उ०—प्रोषितभर्तृका नायिकाको देखकर कोई सखी कहती है—हे सखि ! कुटिल और घने केशकलापसे बाँधी हुई तुम्हारी चोटी लोहेकी यष्टिकी तरह मेरे हृदयको विदीर्ण करती है और कृष्ण सर्पिणीकी तरह डसती है ।

धृति—तत्त्वबोध और अभीष्ट वस्तुकी प्राप्ति आदिसे अभिलाषकी पूर्णताको

सौहित्यवचनोल्लाससहासप्रतिभादिकृत् ॥ १६८ ॥

यथा मम—

'कृत्वा दीननिपीडनां, निजजने बद्ध्वा वचोविग्रहं,
नैवालोच्य गरीयसीरपि चिरादामुष्मिकीर्यातनाः।
द्रव्यौघाः परिसंचिताः खलु मया यस्याः कृते सांप्रतं
नीवाराञ्जलिनापि केवलमहो! सेयं कृतार्था तनुः॥'

अथ चपलता—

मात्सर्यद्वेषरागादेश्चापल्यं त्वनवस्थितिः।

कृत् = सौहित्यवचनम् (तृप्तिकथनम्), उल्लासः (हर्षः), सहासप्रतिभा (हासः = हास्यं) प्रतिभा (प्रत्युत्पन्नबुद्धिः), (तत्सहिता) तदादिकृत् (तदादिकारिणी), तादृशी संपूर्णस्पृहा = संपूर्तिताऽभिलाषता "धृतिः" ॥ १६८ ॥

धृतिमुदाहरति—**कृत्वेति।** पूर्वोऽनुष्ठितकृत्ये पश्चात्तापं कुर्वतः कस्यचिद्विरक्तस्योक्तिरियम्। दीननिपीडना=दीनानां (दरिद्राणाम्) निपीडनां (परिपीडनम्), कृत्वा = विधाय, निजजने, = आत्मीयजने, वचोविग्रहं = वाग्विवादं, बद्ध्वा=कृत्वेति भावः। चिरात् = चिरसमयस्थायिनीः गरीयसीः = गुरुतराः, आमुष्मिकीः = पारलौकिकीः, यातना अपि = तीव्रवेदना अपि, नारकीरिति शेषः। नैव आलोच्य = न पर्यालोच्य एव, मया यस्याः = तन्वाः, कृते = निमित्ते। द्रव्यौघाः = धनसमूहाः, परिसञ्चिताः = परितः एकत्रीकृताः, सा प्राक्परिपोषिता, इयं=सन्निकृष्टस्था, तनूः= मदीयं शरीरं, साम्प्रतम्=इदानीं, तत्त्वज्ञानसमय इति भावः। नीवाराञ्जलिना अपि= अञ्जलिपरिमिततृणधान्येन अपि, कृतार्था = कृतकृत्या, केवलम् = एव, तदर्थं न बहुपदार्थाऽपेक्षेति भावः। अहो = आश्चर्यम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। अत्र विरक्तस्य वक्तुस्तत्त्वबोधेन नीवाराञ्जलिनाऽपि स्पृहायाः संपूर्णत्वात् धृतिः॥ १६८॥

चापल्यं लक्षयति—मात्सर्यद्वेषरागादेः = मात्सर्यम् (अन्यशुभद्वेषः), द्वेषः (अप्रीतिः) रागः (विषयाभिलाषः) इत्यादेः, अनवस्थितिः = अस्थिरत्वं,

---

"धृति" कहते हैं, उसमे तृप्तिका कथन, हर्ष, हास्य और प्रतिभा आदि होते हैं॥१६८॥

उ०—अपना पद्य प्रस्तुत करते हैं। दीनोंको पीडित कर अपने बान्धवोंमें वचनसे कलह कर दुःसह परलोककी यातनाओंका भी विचार न कर जिस (शरीर) के लिए मैंने द्रव्योंका सञ्चय किया वह शरीर केवल मुट्ठी भर मुन्यन्नसे भी कृतकृत्य है; आश्चर्य है!

चपलता—दूसरोंकी भलाईमें द्वेष, विरोध और राग आदिसे होनेवाली

तत्र भर्त्सनपारुष्यस्वच्छन्दाचरणादयः ॥ १६९ ॥

यथा—

'अन्यासु तावदुपमर्दसहासु भृङ्ग !
लोलं विनोदय मनः सुमनोलतासु ।
मुग्धामजातरजसं कलिकामकाले
व्यर्थं कदर्थयसि किं नवमालिकायाः ॥'

अथ ग्लानिः—

रत्यायासमनस्तापक्षुत्पिपासादिसंभवा

"चापल्यम्" चपलता । तत्र = चापल्ये, भर्त्सनादयः = भर्त्सनं (तर्जनम्) पारुष्य (कठोरता) स्वच्छन्दाचरणम् (स्वेच्छाचारः) इत्यादयो विषया भवन्ति ॥ १६९ ॥

चापल्यमुदाहरति—**अन्यास्विति** । अप्राप्तोपभोगसमयाया बालिकाया उपभोक्तारं कञ्चित्कामयितारं प्राप्तिकस्य चिट्पुरुषस्योक्तिरियम् । हे भृङ्ग = हे भ्रमर, पक्षान्तरे हे कामुक !, तावत् = तत्कालपर्यन्तम्, अन्यासु = अपरासु, उपमर्दसहासु = त्वच्चरणभारसहनसमर्थासु पुष्परसपाने इति शेषः, कलिकापक्षे अयमर्थः । बालिकापक्षे तु, उपमर्दसहासु = रमणकालिकचुम्बनादिसहनसमर्थासु, लोलं = चञ्चलं, मनः = चित्तं, विनोदय = पुष्परसपानेन समागमेन च आनन्दय, मुग्धा = विकासरहिताम, अजातरजसम् = अनुत्पन्नपरागाम् (कलिकापक्षे), अनुत्पन्नार्तवाम (बालिकापक्षे), नवमालिकायाः = सप्तपलायाः, पक्षान्तरे कस्याश्चित् स्त्रियाः, कलिका = कोरकं, पक्षान्तरे—बालिकां, व्यर्थं = निष्फल, किं = किमर्थं, कदर्थयसि = दूषयसि । अत्र समासोक्तिरलङ्कारः, वसन्ततिलका वृत्तम् । अस्मिन् पद्ये भृङ्गस्य हठकामुकस्य च रागात्स्वच्छन्दाचरणस्य कारणभूतं चापल्यम् ॥ १६९ ॥

ग्लानिं लक्षयति—**रत्यायासेति** । रत्यायास० संभवा = रत्यायास (संभोगपरिश्रमः), मनस्ताप (चित्ततापः), क्षुत् (बुभुक्षा) पिपासा (जलपानेच्छा),

अस्थिरताको 'चपलता' कहते हैं, इसमें तर्जन (दूसरोंको घुड़कना), कठोरता और स्वच्छन्द आचरण (मनमाना कर्म) आदि होते हैं ॥ १६९ ॥

उ०—उपभोगके लिए अनुपयुक्त बालिकापर आसक्त कामुकके प्रति किसीकी उक्ति है—हे भ्रमर ! उपमर्दनको सहने वाली अन्य ही पुष्पलताओंमें तुम अपने चञ्चल मनका विनोद करो । मुग्धा और परागरहित नवमालिकाको अनवसरमें ही क्यों दूषित कर रहे हो ?

ग्लानि— सुरतका परिश्रम, मनका ताप, भूख और प्यास आदिसे

ग्लानिर्निष्प्राणता कम्पकार्श्यानुत्साहतादिकृत् ॥ १७० ॥

यथा—

'किसलयमिव मुग्धं बन्धनाद्विप्रलूनं
हृदयकुसुमशोषी दारुणो दीर्घशोकः।
ग्लपयति परिपाण्डु क्षाममस्याः शरीरं
शरदिज इव घर्मः केतकीगर्भपत्त्रम् ॥'

अथ चिन्ता—

ध्यानं चिन्ता हितानाप्तेः शून्यताश्वासतापकृत् ।

तदादिसंभवा (तत्प्रभृत्युत्पन्ना) । एव च कम्पादिकृत् = कम्प- (वेपथुः), कार्श्यम् (दुर्बलता) अनुत्साहता (उत्साहाऽभावता), तदादिकृत् (तदादिकारिका) या निष्प्राणता = असमर्थता, सा ग्लानिः ॥ १७० ॥

ग्लानिमुदाहरति—**किसलयमिति**। उत्तररामचरिते गोदावरीह्रदान्नि-र्गच्छन्तीं सीतां दृष्ट्वा मुरलाया नद्या उक्तिरियम् । हृदयकमलशोषी=हृदयम एवं कमलं, तच्छोषयति तच्छील:—हृत्पद्मशोषकः । दारुणः = कठोरः, दीर्घशोकः=चिरस्थायिमन्यु, बन्धनात् = वृन्तात्, विप्रलून = छिन्नं, मुग्धं = सुन्दर, किसलयम् इव = पल्लवम् इव, परिपाण्डु = अतिशयश्वेतं, रामवियोगेनेति शेषः । तथा च क्षाम = कृशम्, अस्याः = सीतायाः, शरीरं = देह, शरदिजः = शरदृतूत्पन्नः, घर्मः = आतपः, केतकीगर्भपत्रम् इव=केतकीकुसुमाऽभ्यन्तरदलम् इव, ग्लपयति=ग्लानं करोति । अत्र रूपकस्योपमाद्वयेन सङ्करः । मालिनी वृत्तम् । अत्र मनस्तापसंभवा कार्श्यकृत् सीताया ग्लानिः ॥ १७० ॥

चिन्तां लक्षयति—**ध्यानमिति**। हिताऽनाप्तेः = हिताऽप्राप्तेः, शून्यताश्वा-सतापकृत् = शून्यता (मनसः शून्यभावः) श्वासः (निःश्वासः), तापः (सन्तापः) तान् करोतीति, तादृशं ध्यानं = चिन्तनं, "चिन्ता" ।

असामर्थ्यको "ग्लानि" कहते हैं उसमें कम्प, कृशता और काम करनेमें अनुत्साह आदि होते हैं ॥ १७० ॥

उ०—उत्तररामचरितमें गोदवरीके ह्रदसे निकलती हुई सीताको देखकर मुरला-नदीकी उक्ति है । जैसे शरद् ऋतुकी धूप केतकीके फूलके भीतरी पत्तेको मलिन कर देती है; उसी तरह हृदयकमलको सुखानेवाला, कठोर, बहुत बड़ा शोक वृन्त (डंठल) से टूटे हुए सुन्दर पल्लवकी तरह पीली और दुर्बल सीताके शरीरको मलिन करता है ।

चिन्ता—हितको न पानेसे ध्यान करनेको "चिन्ता" करते हैं, इसमें शून्यता श्वास और ताप होते हैं ।

यथा मम—

'कमलेण विअसिएण, संजोएन्ती विरोहिणं ससिबिम्बं।
करअलपल्लत्थमुही किं चिन्तसि सुमुहि! अन्तराहिअहिअआ?॥'

अथ तर्कः—

तर्को विचारः संदेहाद् भ्रूशिरोऽङ्गुलिनर्तकः॥ १७१॥

'किं रुद्धः प्रियया—'इत्यादि (१५८ पृ०)।

चिन्तामुदाहरति—**कमलेण** इति। संस्कृतच्छाया—

"कमलेन विकसितेन सयोजयन्ती विरोधिनं शशिबिम्बम्।
करतलपर्यस्तमुखी किं चिन्तयसि सुमुखि! अन्तराहितहृदया॥"

नायकं चिन्तयन्तीं विप्रयुक्तां नायिकां प्रति कस्याश्चित्सख्या उक्तिरियम्। हे सुमुखि = हे सुन्दरि! अन्तराहितहृदया = अन्तः (अभ्यन्तरे) आहितं (निहितम्) हृदयं (चित्तम्) यया सा तादृशी, एवं च करतलपर्यस्तमुखी = करतले (हस्ततले) पर्यस्तं (पतितम्) मुखम् (आननम्) यस्याः सा, तादृशी त्वम्, विकसितेन=प्रफुल्लेन, कमलेन = पद्मेन, विरोधिन = विद्वेषिणम्, कमलनिमीलनकारित्वादिति भावः। शशिबिम्बं = चन्द्रमण्डलं, संयोजयन्ती = सयुक्तं कुर्वती सती, किं चिन्तयसि = किं ध्यायसि? अत्र करतलं विकसितकमलं, मुखं च शशिबिम्ब, ततस्तादृशे करतले मुख-संयोजनात् कमले तद्विरोधी शशिबिम्बः सयोजित इति भावः। आर्यागीतिश्छन्दः। अत्र नायिकाया हितस्य नायकस्य अनाप्तेः "चिन्ता"।

वितर्कं लक्षयति—**तर्क इति**। सन्देहात् = आशङ्काया हेतोः, भ्रूशिरोऽङ्गुलि-नर्तकः = भ्रवौ (नेत्रलोमनी) शिरः (मस्तकः) अङ्गुलयः (करशाखाः), तासां नर्तकः (चालकः) विचारः = विमर्शः, तर्कः = वितर्कः॥ १७१॥

वितर्कमुदाहरति— **"किं रुद्धः प्रियया"** इत्यादि (विरहोत्कण्ठितोदाहरणे) तत्र च नायिकाया नायकाऽनागमने अनेकविचाररूपो वितर्कः॥ १७१॥

उ०—ग्रन्थकार अपना पद्य देते है–प्रियकी चिन्ता करती हुई विरहिणी नायिकाको सखी कह रही है। हे सुन्दरि! अन्तःकरणके भीतर अभिप्राय रखती हुई (अर्थात् प्रकाश न करती हुई) तुम विकसित कमल (करकमल) से चन्द्रमण्डल (चन्द्रके समान अपने मुख) को संयुक्त करती हुई किस बातकी चिन्ता कर रही हो?

वितर्क—सन्देहके कारण किसी बातका विचार करना "तर्क" कहा जाता है, इसमें भौहोंका, शिरका और उंगलियोंका चालन होता है॥ १७१॥

उ०—"किं रुद्ध प्रियया०" इत्यादि. (पृ० १५८)।

'एते च त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारिभेदा' इति यदुक्तं तदुपलक्षणमित्याह—

रत्यादयोऽप्यनियते रसे स्युर्व्यभिचारिणः ।

तथाहि—

शृङ्गारेऽनुच्छिद्यमानतयावस्थानाद् रतिरेव स्थायिशब्दवाच्या, हासः पुनरुत्पद्यमानो व्यभिचार्येव, व्यभिचारिलक्षणयोगात् ।

तदुक्तम्—

'रसावस्थः परं भावः स्थायितां प्रतिपद्यते ।' इति ।

तत्कस्य स्थायिनः कस्मिन् रसे सञ्चारित्वमित्याह—

शृङ्गारवीरयोर्हासो वीरे क्रोधस्तथा मतः ॥ १७२ ॥

एते चेति । त्रयस्त्रिंशद्व्यभिचारभेदा इति यदुक्त तदुपलक्षणम् । रत्यादीनामपि स्थलान्तरे व्यभिचारिभावत्वादिति भावः । तन्निदर्शयति—**रत्यादयोऽपीति ।** रत्यादयोऽपि =सामान्यतः स्थायिभावत्वेन प्रसिद्धा रतिहासादयोऽपि, **अनियते रसे=स्वनिर्दिष्टरस-**भिन्ने रसे, यथा रतेः स्वनिर्दिष्टरसः शृङ्गारः तद्भिन्नहासादौ रसे रत्यादयो **व्यभि-चारिणः** = व्यभिचारिभावा भवन्ति न स्थायिभावा इति भावः ।

वृत्ताविममर्थं विवृणोति—**तथाहीति ।** शृङ्गारे रसे, **अनुच्छिद्यमानतया**— अनभिभवनीयत्वेन, अवश्यं स्थायित्वेनेति भावः । **अवस्थानात्** = स्थितेः, **रतिरेव**— न हासादिरिति भावः । स्थायिशब्दवाच्या = स्थायिपदेन अभिधेया । एतद्विपरीत्येन हासः पुनरुत्पद्यमानः = जन्यमानः, व्यभिचारी एव = सञ्चारी एव, व्यभिचारिलक्षण-योगात् = "विशेषादाभिमुख्येने" त्यादिकारिका (पृ० १९४) प्रतिपादितलक्षण-सम्बन्धात् । हासः स्वनियतहास्यरसे एव स्थायिशब्दवाच्य इति तात्पर्यम् । तदुक्त— "रसावस्थः परं भावः०" कारिकार्द्धमिति व्याख्यानपूर्वम् (पृ० ८५) ।

कस्य स्थायिनः कस्मिन्रसे सञ्चारित्वमिति विविनक्ति—**शृङ्गारवीरयोरिति ।** शृङ्गारवीरयोः = रसयो, हासः, व्यभिचारितया = सञ्चारितया, मतः = **अभिमतः ।** तथा पुनः वीरे = रसे, क्रोधः, सञ्चारी मतः ॥ १७२ ॥

ये तेंतिस व्यभिचारी भावके भेद है ऐसा जो कहा गया है वह उपलक्षण है ऐसा बतलाते है—सामान्यतः प्रसिद्ध रति आदि भाव भी अनियत अर्थात् स्वनिर्दिष्ट रससे भिन्न रसमें अर्थात् रतिका निर्दिष्ट रस शृङ्गारसे भिन्न हास आदिमें वह (रति) व्यभिचारिभाव हो जाती है; इसी तरह अन्यत्र भी जानना चाहिए । जैसे शृङ्गारमें अविच्छिन्न रूपसे स्थित रहनेमें रति ही स्थायिभाव हो जाती है, हास बीचमें उत्पन्न होनेसे व्यभिचार भाव हो जाता है, व्यभिचारिभावका लक्षण घटित होनेसे उस समय हास स्थायिभाव नहीं होता है । जैसे कि रसकी अवस्थाको प्राप्त रति आदि भाव ही स्थायित्वको प्राप्त करता है तब कौन सा स्थायिभाव किस रसमें संचारी होता है यह कहते है । शृङ्गार और वीरमें हास, और वीरमें क्रोध ॥ १७२ ॥

शान्ते जुगुप्सा कथिता व्यभिचारितया पुनः
इत्याद्यन्यत्समुन्नेयं तथा भावितबुद्धिभिः ॥ १७३ ॥

अथ स्थायिभावः—

अविरुद्धा विरुद्धा वा यं तिरोधातुमक्षमाः ।
आस्वादाङ्कुरकन्दोऽसौ भावः स्थायीति संमतः ॥ १७४ ॥

यदुक्तम्—

'स्रक्सूत्रवृत्त्या भावानामन्येषामनुगामकः ।
न तिरोधीयते स्थायी तैरसौ पुष्यते परम् ॥' इति ।

शान्ते = रसे जुगुप्सा व्यभिचारितया कथिता । भावितबुद्धिभिः = परिष्कृतमतिभिः, अलङ्कारशास्त्रालोचनेनेति शेषः । इत्यादि, अन्यत् = अपरमपि, स्वयम् = आत्मना एव, समुन्नेयम् = ऊह्यम् ॥ १७३ ॥

स्थायिभावं लक्षयति—**अविरुद्धा इति ।** अविरुद्धाः=विरोधरहिताः, अनुकूला इति भावः । विरुद्धा वा = विरोधयुक्ताः, प्रतिकूला वा भावाः, यं=भावं, तिरोधातुं= तिरोहितं कर्तुम्, अक्षमाः=असमर्थाः, प्राधान्याऽभावादिति शेषः । आस्वादाऽङ्कुरकन्दः= रसाऽनुभवाऽङ्कुरमूलरूपः, असौ = अयं, भावः, "स्थायि" इति सम्मतः = अभिमतः । अयंभावः: उद्दीपनादयोऽनुभावादयो व्यभिचारिणश्च भावाः यं तिरोधातुं न क्षमन्ते, प्रत्युत रसाविर्भावे यस्यानुकूल्येन साहाय्यमाचरन्ति असौ स्थायिभावः ॥ १७४ ॥

अत्रार्थे वृद्धसम्मतिमुपस्थापयति—**स्रक्सूत्रवृत्त्येति ।** स्रक्सूत्रवृत्त्या = पुष्पमाल्यतन्तुन्यायेन, अन्येषाम् = अपरेषामनुभावादीनां भावादीनाम्, अनुगामुकः = अनुगमनशीलः, असौ, स्थायीभावः = रत्यादिः, तैः = भावैः, न तिरोधीयते = नो बुद्ध्यविषयीक्रियते, प्रत्युत परम् = अत्यर्थं, पुष्यते = पुष्टः क्रियते, रसरूपतां नीत्वेति शेषः ॥ १७४ ॥

और शान्तमें जुगुप्सा ये सब व्यभिचारी भाव हो जाते हैं। परिपक्व बुद्धिवालोंको इत्यादि विषय स्वयम् समझ लेना चाहिए ॥ १७३ ॥

स्थायिभाव—अविरुद्ध (अनुकूल) वा विरुद्ध (प्रतिकूल) भाव जिसे तिरोहित करनेमें असमर्थ हो जाते हैं रसके अनुभवका मूलरूप वह "स्थायी भाव" माना गया है ॥ १७४ ॥

जैसे कि कहा गया है—फूलोंकी मालामें जैसे एक ही सूत्र अनुगत होता है उसी तरह अन्य भावोंमें अनुगमन करनेवाला स्थायी भाव किसीसे तिरोहित नहीं होता है बल्कि वह अन्य भावोंसे पुष्ट होता है ।

तद्भेदानाह—

रतिर्हासश्च शोकश्च क्रोधोत्साहौ भयं तथा ।
जुगुप्सा विस्मयश्चेत्थमष्टौ प्रोक्ताः शमोऽपि च ॥ १७५ ॥

तत्र—

रतिर्मनोऽनुकूलेऽर्थे मनसः प्रवणायितम् ।
वागादिवैकृतैश्चेतोविकासो हास इष्यते ॥ १७६ ॥
इष्टनाशादिभिश्चेतोवैक्लव्यं शोकशब्दभाक् ।
प्रतिकूलेषु तैक्ष्ण्यस्यावबोधः क्रोध इष्यते ॥ १७७ ॥

स्थायिभावभेदानाह—**रतिरिति** रतिमारभ्य विस्मय यावत् केषांचिन्मते अष्टौ प्रोक्ताः, भरतमुनिमतानुसारं शमोऽपि, चकारपाठसामर्थ्याद् वत्सलता च ॥१७५॥

स्थायिभावानानुपूर्व्येण लक्षयति, तत्र प्राग् रतिं लक्षयति **रतिरिति** । मनोऽनुकूले-चित्ताऽनुगुणे, प्रिय इति भावः, अर्थे = वस्तुनि, मनसः = चित्तस्य, प्रवणायितं = तत्परवदाचरितं, "रतिः" शृङ्गारस्य स्थायिभावः ।

हासं लक्षयति—**वागादिवैकृतैरिति** । वागादिवैकृतैः, = वचनादिविकारैः हेतुभिः आदिपदाद्वेशपरिग्रहः । चेतोविकासः = मानसप्रफुल्लता "हासः" हास्य-स्थायिभावः ॥ १७६ ॥

शोकं लक्षयति—**इष्टनाशादिभिरिति** । इष्टनाशादिभिः = अभीष्टविनाश-प्रभृतिभिर्हेतुभिः, चेतोवैक्लव्य = चित्तविह्वलता, शोकशब्दभाक् शोकशब्दं भजतीति, "भजो ण्विः" । "शोकः" करुणस्य स्थायिभावः ।

क्रोधं लक्षयति—**प्रतिकूलेष्विति** । प्रतिकूलेषु = विरोधिषु, तैक्ष्ण्यस्य = तीक्ष्णतायाः, प्रतीकारेच्छाया इति भावः, अवबोधः = ज्ञानम् "क्रोधः" इष्यते । रौद्रस्य स्थायिभावः ॥ १७७ ॥

स्थायिभावोंको कहते हैं—रति, हास, शोक, क्रोध, उत्साह, भय, जुगुप्सा, विस्मय इस तरह आठ और शमको संयुक्त कर ये नौ स्थायिभाव है ॥ १७५ ॥

उनमें, रति—मनके अनुकूल पदार्थमें मनकी तत्परताको "रति" कहते हैं ।

हास—वचन आदिके विकारोसे चित्तके विकासको "हास" कहते हैं ॥१७६॥

शोक—इष्टनाश आदिसे चित्तकी विह्वलताको "शोक" कहते हैं ।

क्रोध—शत्रु आदि प्रतिकूलोमे प्रतिकारकी इच्छा होनेको "क्रोध" कहते है ॥ १७७ ॥

कार्यारम्भेषु संरम्भः स्थेयानुत्साह उच्यते ।
रौद्रशक्त्या तु जनितं चित्तवैक्लव्यजं भयम् ॥ १७८ ॥
दोषेक्षणादिभिर्गर्हा जुगुप्सा विषयोद्भवा ।
विविधेषु पदार्थेषु लोकसीमातिवर्तिषु ॥ १७९ ॥
विस्फारश्चेतसो यस्तु स विस्मय उदाहृतः ।
शमो निरीहावस्थायां स्वात्मविश्रामजं सुखम् ॥ १८० ॥

उत्साहं लक्षयति—**कार्यारम्भेष्विति** । कार्यारम्भेषु = कर्मारम्भेषु, स्थेयान् = स्थिरतरः, संरम्भः = उत्कट आवेशः, "उत्साहः" उच्यते । "उत्साहः" वीररसस्य स्थायिभावः ॥

भयं लक्षयति **रौद्रशक्त्येति** । रौद्रशक्त्या = उग्रसामर्थ्येन, जनितम् = उत्पादितं, चित्तवैक्लव्यजं = मनसि विह्वलतायाः उत्पादकं "भयम्" । "भयं" रौद्रस्य स्थायिभावः । "वैकल्यम्" इति पाठान्तरे विकलता इत्यर्थः ॥ १७८ ॥

जुगुप्सां लक्षयति—**दोषेक्षणादिभिरिति** । दोषेक्षणादिभिः = दूषणदर्शनप्रभृतिभिः, आदिपदेन स्पर्शनघ्राणनादीनां परिग्रहः, विषयोद्भवा = विषयोत्पन्ना, गर्हा = घृणा, "जुगुप्सा" । बीभत्सरसस्य स्थायिभावः "जुगुप्सा ॥

विस्मयं लक्षयति—**विविधेष्विति** । विविधेषु = अनेकप्रकारेषु, लोकसीमाऽतिवर्तिषु = जगद्व्यवहारायिक्रान्तेषु इति भावः । पदार्थेषु = वस्तुषु ॥ १७९ ॥

चेतसः = मनसः, यः विस्तारः, विस्फारः, स "विस्मयः" । अद्भुतरसस्य स्थायीभावो "विस्मयः" ॥

शमं लक्षयति—**शम इति** । निरीहाऽवस्थायां = निःस्पृहाऽवस्थायां, स्वात्मविश्रामजं = स्वस्य (जीवस्य) आत्मनि (परमात्मनि विषये) विश्रामः (अवस्थानम्)

तज्ज (तज्जातम्) यत् सुखम् (आनन्दः) स "शमः" । शान्तरसस्य स्थायिभावः "शमः" । काव्यप्रकाशकारस्य मम्मटाचार्यस्य मते तु शान्तरसस्य स्थायी भावो निर्वेदः ॥ १८० ॥

उत्साह—कार्यके आरम्भोंमें अत्यन्त स्थिर आवेशको "उत्साह" कहते है ।

भय—रौद्रकी शक्तिसे उत्पन्न चित्तकी विह्वलतासे उत्पन्न भावको भय' कहते हैं १७८

जुगुप्सा—दोषके दर्शन आदिसे विषयमें होनेवाली घृणाको "जुगुप्सा" कहते है ।

विस्मय—लोककी सीमाको अतिक्रान्त अनेकों पदार्थोंमें चित्तके बिस्तारको "विस्मय" कहते है ॥ १७९ ॥

शम—निःस्पृह अवस्थामें जीवके परमात्मामें होनेवाले विश्रामसे उत्पन्न सुखको "शम" कहते है ॥ १८० ॥

यथा मालतीमाधवे रतिः। लटकमेलके हासः। रामायणे शोकः। महाभारते शमः। एवमन्यत्रापि। एते ह्येष्वन्तरा उत्पद्यमानैस्तैस्तैर्विरुद्धैर-विरुद्धैश्च भावैरनुच्छिन्नाः प्रत्युत परिपुष्टा एव सहृदयानुभवसिद्धाः।

किं च—

नानाभिनयसंबन्धान् भावयन्ति रसान् यतः।
तस्माद्भावा अमी प्रोक्ताः स्थायिसंचारिसात्त्विकाः ॥१८१॥

यदुक्तम्—

'सुखदुःखादिभिर्भावैर्भावस्तद्भावभावनम्।'

विवृणोति—**मालतीमाधवे प्रकरणे स्थायी भावो रतिः**। लटकमेलके प्रहसने हासः, रामायणे महाकाव्ये शोकः। महाभारतइतिहासे स्थायी भावः शोकः। एवम् अन्यत्राऽपि = अपरत्राऽपि स्थले यथायथ स्थायिभावा ऊह्या इति भावः। एते = रत्यादयः, एतेषु = रसेषु, अन्तरा = मध्ये, अनुच्छिन्नाः = उच्छेदमनापन्नाः ॥१८०॥

भावानां सामान्यलक्षणमाह—**नानाऽभिनयसम्बन्धानिति**। यतः = यस्मात् कारणात्, नानाऽभिनयसम्बन्धान् = नानाऽभिनयानाम् (अनेकविधानामवस्थानु-करणानाम्) सम्बन्धः (सम्श्लेषः) येषां, तान्, रसान् = शृङ्गारादीन्, भावयन्ति = ज्ञापयन्ति, तस्मात् कारणात्, अमी = एते स्थायिसञ्चारिसात्त्विकाः, भावाः = भावपद-वाच्याः, प्रोक्ताः = अभिहिताः। सात्त्विकपदमनुभावमात्रोपलक्षणम्। बहुवचनाद्वि-भावपरिग्रहः ॥ १८१ ॥

अत्र प्राचां संवादमाह—**सुखदुःखादिभिरिति**। सुखदुःखादिभिः = सुखदुःख-प्रभृतिभिः, भावैः = धर्मैः, तद्भावभावनं = तद्भावस्य (रत्यादिसत्तायाः) भावनम् (उद्बोधनम्), अतो रत्यादिको भावः इत्यर्थः ॥ १८१ ॥

उदाहरण—मालतीमाधवमें रति, लटकमेलकमें हास, रामायणमें शोक, महाभारतमें शम स्थायिभाव है। इसी तरह अन्यत्र भी जानना। ये रति आदि भाव इन शृङ्गार आदि रसोंमे बीचमें उत्पन्न होनेवाले उन उन विरुद्ध और अविरुद्ध भावोंसे विच्छिन्न नहीं होते हैं बल्कि परिपुष्ट होकर सहृदयोंके अनुभवमें सिद्ध हैं।

भावपदकी निरुक्ति—जिससे कि ये अनेक अभिनयोंके सम्बन्धवाले शृङ्गार आदि रसोंको भावित (ज्ञापित) करते हैं इसकारणसे ये स्थायी, सञ्चारी और सात्त्विक "भाव" कहलाते हैं ॥ १८१ ॥

जो कहा है—सुख, दुःख आदि धर्मोंसे रति आदि भावोंका उद्भावन करनेसे "भाव" कहते हैं।

अथ रसस्य भेदानाह—

शृङ्गारहास्यकरुणरौद्रवीरभयानकाः ।
बीभत्सोऽद्भुत इत्यष्टौ रसाः, शान्तस्तथा मतः ॥ १८२ ॥

तत्र शृङ्गारः—

शृङ्गं हि मन्मथोद्भेदस्तदागमनहेतुकः ।
उत्तमप्रकृतिप्रायो रसः शृङ्गार इष्यते ॥ १८३ ॥
परोढां वर्जयित्वा तु वेश्यां चाननुरागिणीम् ।
आलम्बनं नायिकाः स्युर्दक्षिणाद्याश्च नायकाः ॥ १८४ ॥

रसस्य भेदानाह—**शृङ्गारेत्यादिः**। शृङ्गारादारभ्य अद्भुतं यावत् अष्टौ रसाः सर्वेषां मते। दशरूपककारो धनिकस्तु "पुष्टिर्नाट्येषु नैतस्ये"ति वदन् शान्तस्य रसरूपत्वं प्रत्याचख्यौ। नाट्यशास्त्रकृतो मुनेर्भरतस्य मते शान्तो रसः, 'तथा' इति कथनेन वत्सलस्यापि रसत्वेन परिगणनं बोद्धव्यम्। अत्रैव तस्यापि विवरणमग्रे भविष्यति ॥ १८२ ॥

शृङ्गारं लक्षयति—**शृङ्गमिति**। शृङ्गं = मन्मथोद्भेदः। मन्मथस्य (मदनस्य) उद्रेकः (आविर्भावः), तदागमनहेतुकः = मदनप्राप्तिकारणभूतः, उत्तमप्रकृतिप्रायः = उत्तमप्रकृतिः (श्रेष्ठस्वभावो नायकः) प्रायः (प्रचुर) यस्मिन्, स रसः शृङ्गार इष्यते। रसेषु मध्ये शृङ्गम् (प्राधान्यम्) इयतीति शृङ्गारः, शृङ्गोपपदपूर्वकात् "ऋ गतौ" इति धातोः "कर्मण्यण्" इति सूत्रेण अणि प्रत्यये कृते शृङ्गारपदनिष्पत्तिः ॥ १८३ ॥

अत्र शृङ्गारे—**आलम्बनं वर्णयति**। परोढाम्=अन्यपरिणीतां स्त्रियं, तथा अननुरागिणीम् = अनुरागरहितां, वेश्यां च=वारस्त्रियं च, वर्जयित्वा=त्यक्त्वा, अन्याः सर्वा नायिकाः, दक्षिणाद्याश्च = दक्षिणादयश्च सर्वे नायकाः, आलम्बनम् = आलम्बनविभावकाः, स्युः। "अननुरागिणीम्" इति वेश्याया विशेषणत्वेन अनुरागिणी वेश्या आलम्बनत्वेन परिगृहीता भवतीति बोध्यम्। ततश्च मृच्छकटिकस्य वसन्तसेनाया वेश्याया अनुरागिणीत्वेन आलम्बनत्वं सुरक्षितं भवतीति भावः ॥ १८४ ॥

रसों के भेद—शृङ्गार हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक बीभत्स और अद्भुत ये आठ रस हैं, उसी तरह शान्त भी रस माना गया है ॥ १८२ ॥

शृङ्गार—कामदेवके आविर्भावको 'शृङ्ग' कहते हैं, उसका आगमनकारण, इसमें प्रायः उत्तमस्वभाववाला नायक होता है, ऐसे रसको 'शृङ्गार' कहते हैं ॥१८३॥

परोढा और अनुरागरहित वेश्या (साधारणी स्त्री) को छोड़कर अन्य नायिकाएँ और दक्षिण आदि नायक इसके "आलम्बन विभाव" है ॥ १८४ ॥

चन्द्रचन्दनरोलम्बरुताद्युद्दीपनं मतम्
भ्रूविक्षेपकटाक्षादिरनुभावः प्रकीर्तितः ॥ १८५ ॥
त्यक्त्वौग्र्यमरणालस्यजुगुप्सा व्यभिचारिणः ।
स्थायिभावो रतिः, श्यामवर्णोऽयं विष्णुदैवतः ॥

यथा—

'शून्यं वासगृहम्—' इत्यादि (पृ० २४)। तत्रोक्तस्वरूपः पतिः, उक्तस्वरूपा च बाला आलम्बनविभावौ । शून्यं वासगृहम्-उद्दीपनविभावः । चुम्बनम्—अनुभावः । लज्जाहासौ—व्यभिचारिणौ । एतैरभिव्यक्तः

शृङ्गारे उद्दीपन निरूपयति—चन्द्रेत्यादि । चन्द्रचन्दनरोलम्बरुतादि = इन्दु-श्रीखण्डभ्रमरझङ्कारादिकम्; अत्रादिपदेन कोकिलकूजितादिपरिग्रहः । उद्दीपनं मतम् = उद्दीपनविभावत्वेनाऽभिमतम् ॥

शृङ्गारेऽनुभावं निरूपयति-भ्रूविक्षेपादिः । भ्रूविक्षेपकटाक्षादिः= भ्रूविक्षेपः (भ्रूप्रेरणम्) कटाक्षादि (अपाङ्गदर्शनादिः), आदिपदेन सङ्केतादेः परिग्रहः । "अनुभावः" सम्मतः ॥ १८५ ॥

शृङ्गारे व्यभिचारिभावान्निदिशति—त्यक्त्वेति । औग्र्यमरणालस्यजुगुप्साः= औग्र्यम् (उग्रता), मरणम् (मृत्युः), आलस्यम् (अलसता), जुगुप्सा (घृणा), सर्वा एतास्त्यक्त्वा = विहाय अन्ये निर्वेदादयः, व्यभिचारिणः = व्यभिचारिभावाः ॥

शृङ्गारस्य स्थायिभाव-वर्ण-दैवतानि प्रदर्शयति—स्थायिभाव इति । शृङ्गारस्य स्थायिभावो रतिः, वर्णः = श्यामवर्णः, अयं विष्णुदैवतः, विष्णुर्दैवतं यस्य सः, शृङ्गारस्य देवता विष्णुरित्यर्थः । सत्त्वगुणस्याऽधिष्ठाता देवो विष्णुः । सत्त्वगुणस्य सुखरूपत्वात्, शृङ्गारेऽपि नायिकानायकानां सुखाऽनुभूतिः । विप्रलम्भशृङ्गारस्य दुःखमयत्वेऽपि वर्णनाभिनयरूपादिव्यापारैः पार्यन्तिकं सुखमेव जन्यत इत्यपि बोद्धव्यम् ॥ १८५ ॥

उदाहरति—शून्यं वासगृहमिति । एतैः = भावैः, अभिव्यक्तः = अभिव्यक्ति

चन्द्र, चन्दन, भ्रमरझङ्कार आदि इसमें "उद्दीपन विभाव" होते हैं । भौंहोंको चलाना और कटाक्ष आदि इसमें "अनुभाव" माने जाते हैं ॥ १८५ ॥

उग्रता, मृत्यु, आलस्य और जुगुप्साको छोडकर अन्य निर्वेद आदि इसमें "व्यभिचारिभाव" होते हैं । शृङ्गारका स्थायिभाव "रति" है और इसका वर्ण श्याम है तथा इसके देवता भगवान् विष्णु हैं ॥ १८६ ॥

उ०—जैसे "शून्यं वासगृहम्" इत्यादि (पृ० २४) यहाँपर उक्तस्वरूप पति और पत्नी आलम्बनविभाव, शून्य वासगृह उद्दीपनविभाव, चुम्बन अनुभाव है और

सहृदयविषयो रतिभावः शृङ्गाररसरूपतां भजते ।

तद्भेदावाह—

विप्रलम्भोऽथ संभोग इत्येष द्विविधो मतः ॥ १८६ ॥

तत्र—

यत्र तु रतिः प्रकृष्टा नाभीष्टमुपैति विप्रलम्भोऽसौ ।

अभीष्टं नायकम्, नायिकां वा

स च पूर्वरागमानप्रवासकरुणात्मकश्चतुर्धा स्यात् ॥ १८७ ॥

तत्र—

श्रवणाद्दर्शनाद्वापि मिथः संरूढरागयोः ।
दशाविशेषो योऽप्राप्तौ पूर्वरागः स उच्यते ॥ १८८ ॥

नीतः सहृदयविषय = हृदयालुविषयकः, रतिभावः = अनुरागाविर्भावः ॥

शृङ्गारभेदावाह—**विप्रलम्भ इति** । एषः = शृङ्गारः, विप्रलम्भः संभोगश्चेति द्विविधः = द्विप्रकारः, मतः ॥ १८६ ॥

विप्रलम्भशृङ्गारं लक्षयति—**यत्रेति** । यत्र = यस्मिन् शृङ्गारे रतिः = अनुरागः, प्रकृष्टा - उत्कृष्टा सती, अभीष्ट स्वेप्सितं, नायिका नायकं, नायको नायिकां वा इति भावः, न उपैति न प्राप्नोति, अन्तरायापातादिति शेषः । **असौ** = एषः, विप्रलम्भः = विप्रलम्भशृङ्गारः ।

विप्रलम्भस्य भेदचतुष्टयमुद्दिशति—**स चेति** । स च = विप्रलम्भशृङ्गारश्च, पूर्वराग मान प्रवास-करुणात्मकः = पूर्वरागो मानः प्रवासः करुणः आत्मा (स्वरूपम्) यस्य सः, इत्थ चतुर्द्धा = चतुर्भिः प्रकारैः, परिगणितः स्यादितिः भावः ॥ १८७ ॥

पूर्वरागं लक्षयति—**श्रवणादिति** । अभीष्टसौन्दर्यादेः श्रवणात् = दूतादिमुखादाकर्णनात्, दर्शनात् = इन्द्रजालस्वप्नाभ्यां चक्षुर्भ्यां वा विलोकनात्, वाऽपि, मिथ= परस्पर, संरूढरागयोः = जाताऽनुरागयोः नायिकानायकयोः, अप्राप्तौ = अनासादने, यो

लज्जा और हास्य व्यभिचारिभाव है । इनसे अभिव्यक्त, सहृदयोंको होनेवाला रतिभाव शृङ्गाररसके स्वरूपको प्राप्त करता है ।

शृङ्गारके भेद—विप्रलम्भ और संभोग इसप्रकार शृङ्गारके दो भेद हैं ।१८६।

विप्रलम्भ—जिस शृङ्गारमें रति (अनुराग) उत्कृष्ट होकर भी परन्तु अभीष्ट नायक वा नायिकाको प्राप्त नहीं करती है उसे "विप्रलम्भ" कहते हैं ।

विप्रलम्भके भेद—विप्रलम्भ शृङ्गारके चार भेद हैं- पूर्वराग, मान, प्रवास और करुण ॥ १८७ ॥

पूर्वराग—अभीष्ट (नायक वा नायिका) के सौन्दर्य आदिको सुननसे वा देखनेसे

श्रवणं तु भवेत्तत्र दूतवन्दिसखीमुखात् ।
इन्द्रजाले च चित्रे च साक्षात्स्वप्ने च दर्शनम् ॥ १८९ ॥
अभिलाषश्चिन्तास्मृतिगुणकथनोद्वेगसंप्रलापाश्च ।
उन्मादोऽथ व्याधिर्जडता मृतिरिति दशात्र कामदशाः ॥१९०॥
अभिलाषः स्पृहा, चिन्ता प्राप्त्युपायादिचिन्तनम् ।
उन्मादश्चापरिच्छेदश्चेतनाचेतनेष्वपि ॥ १९१ ॥

दशाविशेषः = अवस्थाविशेषः, स पूर्वराग उच्यते । पूर्वरागो नाम अभीष्टप्राप्तेः पूर्वो राग. ॥ १८८ ॥

श्रवणं निरूपयति—**श्रवणमिति** । तत्र = पूर्वरागे, दूतबन्दिसखीमुखात् = दूतः (सन्देशहरः), बन्दी (स्तुतिपाठक.), सखी (वयस्या), तन्मुखात् = (तदाननात) तु "श्रवणं" भवेत् । तत्र बन्दिमुखाच्छ्रवण नैषधीयचरिते महाकाव्ये । सखीमुखात् = बुद्धरक्षितामुखात् श्रवण मालतीमाधवे । इन्द्रजालं नाम इन्द्रेण (कौशलाद्यैश्वर्येण) जालम् (द्रष्टुर्नेत्रावरणम्) । तादृशे इन्द्रजाले, चित्रे = आलेख्ये, मालविकाऽग्निमित्रे नाटके अग्निमित्रेण राजा मालविकायाश्चित्रे दर्शनम् । साक्षात् = साक्षाद्दर्शनम्, यथा अभिज्ञानशाकुन्तले दुष्यन्तशकुन्तलाभ्यामन्योन्यम् । स्वप्ने दर्शनं = यथा श्रीमद्भागवते महापुराणे उषया अनिरुद्धस्य ॥ १८९ ॥

दश कामदशा उद्दिशति—**अभिलाष इति** । अभिलाषः = कामः, चिन्ता = आध्यानं, स्मृतिः = स्मरणम्, गुणकथन = सौन्दर्यादिगुणप्रतिपादनम्, उद्वेगः = विरह जन्यो दुःखोद्गमः, सप्रलापः = अनर्थकं वचः, उन्मादः = चित्तविभ्रमः, व्याधिः = रोगः, जडता=निश्चेष्टत्वम्, मृतिः = मरणम्, इत्थ च अत्र=पूर्वरागे, दश, कामदशाः= कामकृता अवस्था ॥ १९० ॥

तत्र काश्चिद्दशा विवृणोति—**अभिलाष इति** । अभिलाषः = स्पृहा । चिन्ता= नायिकाया नायकस्य वा प्राप्त्युपायादिचिन्तनम् । उन्मादः = चेतनाऽचेतनेषु अपि =

परस्परमें अनुरागवाले नायिका वा नायककी अप्राप्तिमे जो अवस्थाविशेष है उसे "पूर्व· राग" कहते है ॥ १८८ ॥

उसमे दूत बन्दी (स्तुतिपाठक) और सखीके मुखसे "श्रवण" होता है । इन्द्रजालमे, चित्रमें, स्वप्नमें अथवा प्रत्यक्ष "दर्शन" होता है ॥ १८९ ॥

कामदशाएं--अभिलाष, चिन्ता, स्मरण, गुणकथन, उद्वेग, प्रलाप, उन्माद (पागलपन), व्याधि, जडता (चेष्टाहीनता), और मरण विप्रलम्भ शृङ्गारमें ये दश कामदशाएं होती हैं ॥ १९० ॥

स्पृहाको "अभिलाष" नायक अथवा नायिकाको पानेके लिए उपाय आदिके

अलक्ष्यवाक्प्रलापः स्याच्चेतसा भ्रमणाद् भृशम् ।
व्याधिस्तु दीर्घनिःश्वासपाण्डुताकृशतादयः ॥ १९२ ॥
जडता हीनचेष्टत्वमङ्गानां मनसस्तथा ।

शेषं स्पष्टम् ।

क्रमेणोदाहरणानि—

'प्रेमार्द्राः प्रणयस्पृशः परिचयादुद्गाढरागोदया-
स्तास्ता मुग्धदृशो निसर्गमधुराश्चेष्टा भवेयुर्मयि ।

चेतनजडेषु अपि पदार्थेषु, अपरिच्छेदः = विशेषनिश्चयाऽभावः । उन्मादो यथा विक्रमोर्वशीत्रोटके पुरूरवसः ॥ १९१ ॥

संप्रलापः = चेतसः (चित्तस्य), भृशम् = अत्यर्थं, भ्रमणात् – अनवस्थानात् हेतोः, अलक्ष्यवाक्=निर्विषयं वचः "प्रलापः" कथ्यते । व्याधिः । दीर्घनि श्वासपाण्डुताकृशतादयः, दीर्घनिःश्वासः (आयतः श्वासः), पाण्डुता (पाण्डुरता) कृशता (दुर्बलता), तदादयः ॥ १९२ ॥

जडता—अङ्गानाम् = अवयवानाम्, तथा मनसः = चित्तस्य, हीनचेष्टत्वम् = चेष्टाऽभावः ॥

शेषम् = उक्तेभ्योऽन्यत् = गुणकथनोद्वेगमृतिरूपं त्रितय, स्पष्ट = व्यक्त, निगदव्याख्यातमिति भावः ।

अभिलाषमुदाहरति—**प्रेमाऽऽर्द्रा इति** । मालतीमाधवे प्रकरणे मालतीमुद्दिश्य माधवस्योक्तिरियम् । प्रेमार्द्रा = प्रेम्णा (अनुरागेण हेतुना) आर्द्राः (सरसाः) । प्रणयस्पृशः = प्रणयम् (उपचारैः प्रकृष्टं प्रेमविशेषम्) स्पृशन्तीति प्रकृष्टप्रेमाश्रयित्य इत्यर्थः । एवं परिचयात = संस्तवात् । उद्गाढरागोदयाः = उद्गाढः (प्रौढः) यो रागः (अनुरागः) तस्योदयः (आविर्भावः) यासु ताः । निसर्गमधुरा = प्रकृतिमनोहरा, मुग्धदृशः – सुन्दरनयनायाः, मालत्या इति भावः । तास्ताः असकृत्पूर्वाऽ

चिन्तनको 'चिन्ता' चेतन और अचेतनमें निश्चयके अभावको "उन्माद" कहते है १९१

चित्तकी अत्यन्त अस्थिरतासे विषयरहित वचनको "प्रलाप" और दीर्घनिःश्वास पाण्डुता और दुर्बलता आदिको "व्याधि" कहते हैं ॥ १९२ ॥

अङ्गोंकी और मनकी चेष्टाशून्यताको 'जडता" कहते है । अवशिष्ट स्पष्ट है । क्रमसे उदाहरण पहले अभिलापका मालतीमाधवमे मालतीको उद्देश्य करके माधवका कथन है– अनुरागसे सरस, प्रकृष्ट प्रेमको आश्रम करनेवाली, परिचयसे प्रौढ अनुरागके आविर्भाव वाली, स्वभावसे मनोहर सुन्दरी (मालती) के वार वार पूर्वाऽनुभूत कटाक्ष आदि चेष्टाएँ मेरे ऊपर होंगी ? आशासे रचित होनेपर भी जिनमे तत्काल ही नेत्र आदि बाह्य

यास्वन्तःकरणस्य बाह्यकरणव्यापाररोधी क्षणा-
दाशंसापरिकल्पितास्वपि भवत्यानन्दसान्द्रो लयः ॥'

अत्र मालतीसाक्षाद्दर्शनप्ररूढरागस्य माधवस्याभिलाषः ।

'कथमीक्षे कुरङ्गाक्षीं साक्षाल्लक्ष्मीं मनोभुवः ।
इति चिन्ताकुलः कान्तो निद्रां नैति निशीथिनीम् ॥

अत्र कस्याश्चिन्नायिकाया इन्द्रजालदर्शनप्ररूढरागस्य नायकस्य चिन्ता । इदं मम ।

'मयि सकपटम्'—इत्यादौ नायकस्य स्मृतिः । ?
'नेत्रे खञ्जन गञ्जने' (पृ० १३७) इत्यादौ गुणकथनम् ।
'श्वासान्मुञ्चति'—इत्यादौ (पृ० १७७) उद्वेगः ।

नुभूताः, चेष्टाः = कटाक्षादयः, मयि = प्रणयिनि, माधवे । भवेयुः = स्युः, आशंसायां लिङ् । आशंसापरिकल्पितासु = आशसया (आशया) परिकल्पितासु (रचितासु) अपि यासु = पूर्वोक्तासु चेष्टासु, क्षणात् = तत्कालात्, बाह्यकरणव्यापाररोधी = बहिरिन्द्रियक्रियानिवारणशीलः, आनन्दसान्द्रः = प्रमोदनिरन्तरः, अन्तःकरणस्य = चित्तस्य, लयः = विलीनता, भवति = वर्तते । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

चिन्तामुदाहरति—**कथमिति ।** मनोभुवः = कामदेवस्य साक्षात् = प्रत्यक्षरूपां लक्ष्मीं = कमलां, कुरङ्गाक्षीं = मृगनयनां सुन्दरीं, कथं = केन प्रकारेण, ईक्षे = पश्यामि, इति = एवं, चिन्ताकुलः = आध्यानव्याकुलः, कान्तः = नायकः निशीथिनीं = समग्रां रात्रिं, "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति कालाऽत्यन्तसंयोगे द्वितीया । निद्रां = स्वापं, न एति = न प्राप्नोति ॥

अत्रेति । इन्द्रजालदर्शनप्ररूढरागस्य = इन्द्रजालदर्शनेन (इन्द्रजालविलोकनेन) प्ररूढः (उत्पन्नः) रागः (अनुरागः), यस्य तस्य, नायकस्य ।

इन्द्रियोंके दर्शन आदि क्रियाओंको रोकनेवाली और आनन्दसे गाढ चित्तकी विलीनता (तन्मयता) हो जाती है । इसमें मालतीके साक्षात् दर्शनसे उत्पन्न अनुरागवाले माधवका अभिलाष है ।

"कामदेवकी प्रत्यक्ष लक्ष्मीरूप उस मृगनयनाको मैंने कैसे देखूंगा ?"ऐसी चिन्तासे आकुल प्रियतमको रात भर नींद नहीं आती है ।

इस पद्यमें किसी नायिकाको इन्द्रजालमें देखनेसे उत्पन्न अनुरागवाले नायककी चिन्ताका वर्णन है । "मयि सकपटम्" (पृ० २१३) इत्यादि पद्यमें नायककी स्मृति है । "नेत्रे खञ्जनगञ्जने" (पृ० १३७) इत्यादिमें गुणकथन है । "श्वासान्मुञ्चति" (पृ० १७७) इत्यादिमें उद्वेग है ।

'त्रिभागशेषासु निशासु च क्षणं निमील्य नेत्रे सहसा व्यबुध्यत।
क्व नीलकण्ठ! व्रजसीत्यलक्ष्यवागसत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना॥'

अत्र प्रलापः।

'भ्रातर्द्विरेफ'—इत्यादौ (पृ० २११) उन्मादः।

'पाण्डु क्षामं वदनं, हृदयं सरसं, तवालसं च वपुः।
आवेदयति नितान्तं क्षेत्रियरोगं सखि! हृदन्तः॥'

प्रलापमुदाहरति—**त्रिभागशेषास्विति।** कुमारसंभवे वर्णिवेशधारिणं शिवं प्रति सखीकृतं पार्वत्याः शिवानुरागवर्णनमिदम् (५,५७)। त्रिभागशेषासु = तृतीयभागाऽवशिष्टासु, निशासु = रात्रिषु, क्षणं=कञ्चित्कालं यावत्, अत्यन्तसंयोगे द्वितीया। नेत्रे = नयने, निमील्य = मुद्रयित्वा, हे नीलकण्ठ = हे शिव!, क्व = कुत्र, व्रजसि = गच्छसि, इति = एवम्, अलक्ष्यवाक् = अलक्ष्या (अविषया) वाक् (वाणी) यस्याः सा, तादृशी पार्वती, असत्यकण्ठार्पितबाहुबन्धना = असत्यः (मिथ्याभूतः) यः कण्ठः (गलः), शिवस्येति शेषः। तस्मिन् अर्पितं (न्यस्तम्) बाहुबन्धनं (भुजबन्धनम्, आलिङ्गनमिति भावः) यया सा, तादृशी सती। सहसा = अतर्कितरूपेण, व्यबुध्यत = जागरिता। अत्र प्रलापो जागरश्च। वंशस्थं वृत्तम्॥

व्याधिमुदाहरति—**पाण्ड्विति।** हे सखि=हे वयस्ये!, पाण्डु=पाण्डुरं, क्षामं= कृशं च, तव = भवत्याः, वदनं = मुखं, सरसं = साऽनुरागं, तव हृदयम्, तथा अलस= कार्याऽसमर्थं च, तव वपुः = शरीरं, हृदन्तः = हृदयमध्ये, क्षेत्रियरोगं = शरीराऽन्तरचिकित्स्यरुजाम्, आवेदयति = ज्ञापयति क्षेत्रिय इत्यत्र "क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्य" इति निपातः।

त्रिभागशेषासु०। कुमारसंभवमें ब्रह्मचारीका वेष लिए हुए शिवजीको पार्वतीकी सखी पार्वतीका शिवजीमें स्थित अनुरागका वर्णन करती है-रात्रिके अन्तिम प्रहरमें कुछ काल आखोंको मूंदकर "हे नीलकण्ठ! आप कहाँ जाते हैं?" ऐसा प्रलाप करती हुई पार्वती शिवजीके कल्पित कण्ठमें बाहुबन्धनको अर्पित करती हुई (आलिङ्गन करती हुई) अकस्मात् जाग जाती हैं। "भ्रातर्द्विरेफ०" (पृ० २११) इत्यादिमें उन्माद है।

व्याधिका उ० - हे सखि! पाण्डुवर्ण और कृश तुम्हारा मुख, सरस हृदय, आलस्यपूर्ण ऐसा तुम्हारा शरीर हृदयके भीतर रहे हुए क्षेत्रिय (असाध्य अर्थात् दूसरे शरीरमें चिकित्साके योग्य) रोगकी सूचना कर रहा है। इसमें व्याधि हैं।

अत्र व्याधिः ।

'भिसिणीअलसअणीए निहिअं सव्वं सुणिच्चलं अङ्गं ।
दीहो णीसासहरो एसो साहेइ जीअइत्ति परं ॥'

अत्र जडता । इदं मम ।

रसविच्छेदहेतुत्वान्मरणं नैव वर्ण्यते ॥ १९३ ॥
जातप्रायं तु तद्वाच्यं चेतसाकाङ्क्षितं तथा ।
वर्ण्यतेऽपि यदि प्रत्युज्जीवनं स्याददूरतः ॥ १९४ ॥

जडतामुदाहरति—**भिसिणीति ।**

"बिसिनीदलशयनीये निहितं सर्वं सुनिश्चलमङ्गम् ।
दीर्घो निःश्वासभर एष साधयति जीवतीति परम् ॥" इति संस्कृतच्छाया ।

काचित्स्वसखी प्रति मदनपीडितायाः कस्याश्चिज्जडता वर्णयति । बिसिनीदलशयनीये — कमलिनीपत्रशय्यायां, निहित — न्यस्त, सर्वं=सकलम्, अङ्गं=देहाऽवयवः । सुनिश्चलम् = अतिशयाऽचलम् । एतन्मृतिसूचकं, परं=किन्तु दीर्घ =आयतः, एषः=अयं, निःश्वासभरः — उच्छ्वासाऽतिशयः, जीवति प्राणान् धारयतीति, साधयति = सूचयतीति भावः । गाथा वृत्तम् ।

दशमीं कामदशा वर्णयति—**रसविच्छेदहेतुत्वादिति** । रसविच्छेदहेतुत्वात् = शृङ्गाररसविनाशकारणत्वात्, मरणं = मृतिः, नैव वर्ण्यते=नैव प्रतिपाद्यते, मरणवर्णने सति तु करुणरसस्याऽऽपतन स्यादिति भावः ॥ १९३ ॥

यद्येवं तर्हि कामदशासु तस्याऽन्यतमत्वप्रतिपादनं किमर्थमित्यत आह—**जातप्रायमिति** । तु=किन्तु, तत् — मरण, जातप्रायम् = उत्पन्नप्रायं, तथा चेतसा=चित्तेन, आकाङ्क्षितम् — अभीष्टम्, एव च—अदूरत —मरणस्य कियत्कालात्, प्रत्युज्जीवनम्= आलम्बनस्य पुनर्जीवनं, स्यात् यदि - भवेच्चेत्, तर्हि तादृग्रूपेण मरण वर्ण्यते ॥१९४॥

जडताका उ०—कमलके पत्तोंकी शय्यापर रक्खा गया पूरा शरीर निश्चल और यह लम्बा निःश्वास "यह प्राणोंका धारण कर रही है" इस बातको सिद्ध कर रहा है । यहाँ जडता है । यह पद्य ग्रन्थकारका है ।

रसविच्छेदका कारण होनेसे मरणका वर्णन नहीं किया जाता है ॥ १९३ ॥

उत्पन्नप्राय रूपसे, चित्तके अभीष्टरूपसे और कुछ कालके अनन्तर आलम्बनका फिर जीवन हो तो मरणका भी वर्णन किया जाता है ॥ १९४ ॥

तत्राद्यं यथा—

'शेफालिकां विदलितामवलोक्य तन्वी
प्राणान् कथंचिदपि धारयितुं प्रभूता।
आकर्ण्य संप्रति रुतं चरणायुधानां
किं वा भविष्यति न वेद्मि तपस्विनी सा ॥'

द्वितीयं यथा—

'रोलम्बाः परिपूरयन्तु हरितो झङ्कारकोलाहलै-
र्मन्दं मन्दमुपैतु चन्दनवनीजातो नभस्वानपि।
माद्यन्तः कलयन्तु चूतशिखरे केलीपिकाः पञ्चमं,
प्राणाः सत्वरमश्मसारकठिना गच्छन्तु गच्छन्त्वमी ॥'

तत्र (मरणभेदेषु) आद्यं - प्रथमं, जातप्रायं मरणमुदाहरति शेफालिकामिति। प्रभातप्रायायां रजन्यां नायिकासख्या नायकं प्रत्युक्तिरियम्। तन्वी = कृशोदरी, तपस्विनी = शोचनीया, सा=सखी, शेफालिकां=निर्गुण्डीपुष्पं, विदलितां=विकसिताम्' अवलोक्य=दृष्ट्वा, शेफालिकाविदलनकालो निशीथः (अर्धरात्र.) बोध्यः। कथंचिदपि= केनाऽपि प्रकारेण महता कष्टेनेतिभावः। प्राणान् = असून्, धारयितु = धर्तुं, प्रभूता= समर्था आसीत। परं, सम्प्रति=इदानीं, रात्रिशेषयामार्धे इति भावः। चरणायुधानां = कुक्कुटानां, रुतं=वाशितम्, आकर्ण्य=श्रुत्वा, किं वा भविष्यति=किं वा भाविनी, इति। न वेद्मि=नो जानामि। भवतोऽनागमनात्सा नैराश्यात् मृतप्राया इति संभाव्यत इति भावः।

द्वितीय = चेतसाऽऽकाङ्क्षित मरणं यथा - **रोलम्बा इति**। रोलम्बाः = भ्रमराः, झङ्कारकोलाहलैः = झङ्कृतिकलकलैः, हरितः = दिशः, परिपूरयन्तु = परिपूर्णाः कुर्वन्तु। चन्दनवनीजातः = श्रीखण्डवनोत्पन्नः, नभस्वान् अपि = वातः अपि, मन्दं मन्दं - शनैः शनैः, उपैतु = प्राप्नोतु। केलीपिकाः - क्रीडाकोकिलाः, गृहपालिता इति शेष.। माद्यन्तः=मत्ता भवन्तः, वसन्तागमनेनेति भाव.। चूतशिखरे= आम्रवृक्षोर्ध्वभागे, पञ्चमं = स्वरं, कलयन्तु = उच्चारयन्तु। एतादृश्यां दशायामपि स्थायिनः अत एव अश्मसारकठिनाः = पाषाणस्थिरांशकठोराः, अमी = एते, प्राणाः = असवः, मदीया इति शेष। सत्वरं - शीघ्रं, गच्छन्तु गच्छन्तु=व्रजन्तु व्रजन्तु, पीडाया द्विरुक्तिः। अत्र मदनवेदनां सोढुमसमर्थया नायिकया स्वचेतसा मरणमाकाङ्क्षितम्।

---

१ उत्पन्नप्राय मरणका उ०—कृशाङ्गी निर्गुण्डी पुष्पको विकसित देखकर किसी तरह प्राणोंको धारण करनेमें समर्थ हुई थी, इस समय मुरगोंका बांग सुनकर वह शोचनीया कैसी होगी ? मैं नहीं जानती हूँ।

२ चित्तसे अभीष्ट मरणका उ०—भौंरे झङ्कारके कोलाहलोंसे दिशाओंको परिपूर्ण करें। चन्दनवनमें उत्पन्न हवा भी मन्दमन्द बहती रहे। मत्त होते हुए क्रीडाके कोकिल पञ्चम स्वरका आलाप करें। पत्थरके सारके समान कठोर ये मेरे प्राण शीघ्र चले जायँ, चले जायँ। ये दोनों पद्य ग्रन्थकारके है।

ममैतौ ।

तृतीयं यथा—

कादम्बर्यां महाश्वेतापुण्डरीकवृत्तान्ते । एष च प्रकारः करुणविप्रलम्भविषय इति वक्ष्यामः ।

केचित्तु—

'नयनप्रीतिः प्रथमं, चित्तासङ्गस्ततोऽथ संकल्पः ।
निद्राच्छेदस्तनुता, विषयनिवृत्तिस्त्रपानाशः ॥
उन्मादो मूर्च्छास्मृतिरित्येताः स्मरदशा दशैव स्युः ।' इत्याहुः ।

तत्र च—

आदौ वाच्यः स्त्रिया रागः पुंसः पश्चात्तदिङ्गितैः ।

इङ्गितान्युक्तानि । यथा रत्नावल्यां सागरिकावत्सराजयोः । आदौ पुरुषानुरागे संभवत्यप्येवमधिकं हृदयङ्गमं भवति ।

तृतीयम् = अदूरतः प्रत्युज्जीवनपर्यवसायि मरणम् । वक्ष्यामः = कथयिष्यामः ।

केचित्तु = वात्स्यायनादयस्तु—

मतान्तरेण स्मरदशा वर्णयति—**नयनप्रीतिरिति** । चित्तासङ्गः = चित्तस्य आसङ्गः (आसक्तिः), सङ्कल्पः = मानसं कर्म, प्राप्त्युपायादिचिन्तेति भावः । तनुता=कार्श्यम् । विषयनिवृत्तिः=विषये (विषयभोगे) निवृत्तिः (निरभिलाषता) । त्रपानाशः = लज्जानाशः । मृतिः = मरणम् ।

रागे विवेकं प्रतिपादयति—**आदाविति** । आदौ = प्रथमे, स्त्रियाः = नार्याः, पश्चात् = अनन्तरं, तदिङ्गितैः=तस्याः (स्त्रियाः) इङ्गितैः (चेष्टाविशेषैः), पुंसः= पुरुषस्य, रागः = अनुरागः, वाच्यः = वक्तव्यः । एवं सति हृदयङ्गमं भवतीति भावः ।

---

३. आलम्बनके पुनर्जीवनका उ०—कादम्बरीमें महाश्वेता और पुण्डरीकके वृत्तान्तमें । यह भेद करुणविप्रलम्भविषयक है, यह पीछे कहेंगे । कुछ विद्वान् (वात्स्यायन आदि) तो—पहले नेत्रप्रीति, फिर चित्तकी आसक्ति, तब सङ्कल्प (प्राप्तिके उपाय आदिकी चिन्ता), अनन्तर निद्रानाश, फिर कृशता, विषयोंमें अप्रवृत्ति, लज्जानाश, उन्माद, मूर्च्छा और मरण ये ही कामदेवकी दश दशाएं हैं ।

पहले स्त्रीके पीछे उसकी चेष्टाओंसे पुरुषके अनुरागको कहना चाहिए । इङ्गितोंको पहले कह चुके हैं । जैसे कि रत्नावलीमें सागरिका और वत्सराज (उदयन) का अनुराग । पहले पुरुषके अनुरागका संभव होनेपर भी पहले स्त्रीका अनुराग होनेसे अधिक हृदयङ्गम (मनोहर) होता है ।

नीली कुसुम्भं मञ्जिष्ठा पूर्वरागोऽपि च त्रिधा ॥ १९५ ॥

तत्र—

न चातिशोभते यन्नापैति प्रेम मनोगतम् ।
तन्नीलीरागमाख्यातं यथा श्रीरामसीतयोः ॥ १९६ ॥
कुसुम्भरागं तत्प्राहुर्यदपैति च शोभते ।
मञ्जिष्ठारागमाहुस्तद् यन्नापैत्यतिशोभते ॥ १९७ ॥

पूर्वरागस्य त्रैविध्यमुद्दिशति—**नीलीति ।** नीली = नीलीरागः, कुसुम्भं = कुसुम्भरागः । मञ्जिष्ठा = मञ्जिष्ठारागः । इत्थं पूर्वरागः, त्रिधा = त्रिभि. प्रकारैः सम्भवतीति भावः ।

नीलीरागं लक्षयति—**न चेति ।** मनोगत = चित्तगत, नायिकानायकयोरिति शेषः, यत् प्रेम = अनुरागः, न च अतिशोभते=न च अत्यर्थं शोभां प्राप्नोति, अविस्पष्टत्वात्, न अपैति = न अपगच्छति, श्रीरामसीतयोः, यथा = इव, तत् (प्रेम) नीलीरागम् आख्यातम्, तत्र च नीलीरागनामकः पूर्वराग इत्यर्थः । नील्या इव रागो यस्य तत् । नीलीरागरक्ते वस्त्रे स रागः नाऽत्यर्थं शोभते, जलेन न चापगच्छति तथैव नीलीरागः पूर्वरागः । श्रीरामस्य धीरोदात्तनायकत्वात् सीतायाश्च विनयार्जवादियुक्तत्वात् पुरूरवस उर्वश्या नाऽत्यन्तप्रलापादिकं भवतीति तात्पर्यम् ॥ १९६ ॥

कुसुम्भरागं लक्षयति—**कुसुम्भरागमिति ।** तत् = प्रेम, कुसुम्भराग = कुसुम्भस्य (महारजनस्य पुष्पविशेषस्य) इव रागो यस्य तत् । यत् = प्रेम, अपैत = अपगच्छति, शोभते च । तत्र कुसुम्भरागनामकः पूर्वरागः । कुसुम्भेन रक्ते वस्त्रे क्षालने कृते सति स रागः 'अपैति, तदनन्तरं शोभते, तथैव कुसुम्भरागनामकः पूर्वराग इति भाव.।

मञ्जिष्ठारागं लक्षयति—**मञ्जिष्ठारागमिति ।** यत् = प्रेम, न अपैति=न अपगच्छति, अतिशोभते च, तत् प्रेम मञ्जिष्ठारागम् = मञ्जिष्ठायाः (विकसायाः, पुष्पविशेषस्य) इव रागः (रञ्जनम्) यस्य तत (प्रेम), आहुः, तत्र मञ्जिष्ठाराग-

पूर्वराग भी तीन प्रकारका होता है-नीलीराग, कुसुम्भराग और मञ्जिष्ठाराग ॥ १९५ ॥

नीलीराग—मनोगत जो प्रेम अतिशय शोभाको प्राप्त नहीं करता है, परन्तु जाता भी नहीं, जैसे श्रीसीता और श्रीरामका प्रेम नीलीराग नामक है, वैसा राग जिसमें हो उस पूर्वरागको "नीलीराग" कहते हैं, जैसे श्रीसीता और श्रीरामका ॥ १९६ ॥

कुसुम्भराग—जो जाता है और शोभित भी होता है वह कुसुम्भराग (प्रेम) है, वैसा प्रेम जहाँ है उस पूर्वरागको "कुसुम्भराग" कहते है ।

मञ्जिष्ठाराग—जो नहीं जाता है और अत्यन्त शोभित होता है वह प्रेम

अथ मानः—

मानः कोपः, स तु द्वेधा प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः ।
द्वयोः प्रणयमानः स्यात् प्रमोदे सुमहत्यपि ॥ १९८ ॥
प्रेम्णः कुटिलगामित्वात् कोपो यः कारणं विना ।

द्वयोरिति नायकस्य नायिकायाश्च उभयोश्च प्रणयमानो वर्णनीयः । उदाहरणम् । अत्र नायकस्य यथा—

'अलिअपसुत्तअ ! णिमिलिअच्छ ! देसु सुहअ ! मज्झ ओआसं ।
गण्डपरिउम्बणपुलइअङ्ग ! ण पुणो चिराइस्सं ॥'

नामकः पूर्वरागः । मञ्जिष्ठारागेण रक्ते वस्त्रे प्रक्षालनादिनाऽपि यथा रागो न अपगच्छति अतिशोभते च तथा एव कुसुम्भरागनामकः पूर्वराग इति भावः । यथा मालती-माधवयोः ॥ १९७ ॥

विप्रलम्भशृङ्गारस्य द्वितीय भेदं मानं सविभागं = लक्षयति मान इति । कोपो मान इति मानस्य सामान्यलक्षणम् । प्रणयेर्ष्यासमुद्भवः = प्रेमाऽसूयोत्पन्नः स तु = मानस्तु, द्वेधा = द्विविध इत्यर्थ. । प्रणयमान ईर्ष्यामानश्चेति मानो द्विप्रकार इति भावः ।

प्रणयमानं लक्षयति—द्वयोरिति । कारण विशिष्टं = हेतुं, विनाऽपि = अन्तरेणाऽपि, प्रेम्णः = प्रणयस्य, कुटिलगामित्वात् = वक्रगतेः हेतोः, सुमहति अपि = अतिप्रचुरेऽपि, प्रमोदे = हर्षे, सुमहति अपि = अतिप्रचुरे अपि द्वयोः = उभयोः, नायिकाया नायकस्य, उभयोर्वा, य , कोपः = क्रोधः, स प्रणयमानः ॥ १९८ ॥

नायकस्य मानमुदाहरति—अलिअ इति ।

अलीकप्रसुप्तक ! निमीलिताक्ष । देहि सुभग ! मह्यमवकाशम् ।
गण्डपरिचुम्बनपुलकिताऽङ्ग ! न पुनश्चिरयिष्यामि ॥ संस्कृतच्छाया ।

स्वस्या विलम्बनेन कोपेनाऽलीकसुप्त नायक प्रति नायिकाया उक्तिरियम् । हे अलीकप्रसुप्तक = हे मिथ्याशयित !, हे विनिमीलिताक्ष = हे मुद्रितनयन !, हे सुभग = हे सौभाग्यशालिन्, मह्य = नायिकायै, अवकाश = स्थान, शयनायेति शेषः । देहि = प्रयच्छ । हे गण्डपरिचुम्बनपुलकिताऽङ्ग = कपोलचुम्बनरोमाञ्चिताऽवयव !, पुनः =

मञ्जिष्ठाराग है, मञ्जिष्ठाराग वाले पूर्वरागको "मञ्जिष्ठाराग" कहते हैं ॥ १९७ ॥

मान—कोपको "मान" कहते है, वह दो प्रकारका होता है, १ प्रणयसे उत्पन्न और २ ईर्ष्यासे उत्पन्न । अति प्रचुर हर्ष होनेपर भी नायिका और नायक दोनोंका प्रणयमान होता है । १९८ ॥

प्रेमकी गति कुटिल (टेढ़ी) होती है इसलिए कारणके विना भी कोप होता है ।

नायकके प्रणयमानका उ०—नायिका कहती है—झूठमूठ सोनेका बहाना

नायिकाया यथा कुमारसंभवे संध्यावर्णनावसरे।

उभयोर्यथा—

'पणअकुविआणँ दोण्ह वि अलिअसुत्ताणँ माणइल्लाणं।
णिच्चलणिरुद्धणीसासदिण्णअण्णाणँ को मल्लो॥'

अनुनयपर्यन्तासहत्वे त्वस्य न विप्रलम्भभेदता, किन्तु संभोगसञ्चार्याख्यभावत्वम्।

भूयः, न चिरयिष्यामि = न चिरं करिष्यामि, आगमनविलम्बं नो विधास्यामीति भावः। गाथा वृत्तम्। अत्र नायकस्य प्रणयमानः। नायिकायाः प्रणयमानः कुमारसंभवे अष्टमसर्गे।

उभयोः प्रणयमानमुदाहरति—**पणअ इति**।

प्रणयकुपितयोर्द्वयोरप्यलीकसुप्तयोर्मानविज्ञयोः।
निश्चलनिरुद्धनिःश्वासदत्तकर्णयोः को मल्लः?॥ संस्कृतछाया।

प्रणयकुपितयोः = प्रेममानक्रुद्धयोः, अतः अलीकसुप्तयोः = मिथ्यानिद्राणयोः, निद्राया अभिनयं कुर्वतोरिति भावः। मानविज्ञयोः = अभिमानाऽभिज्ञयोः, निश्चलनिरुद्धनिःश्वासदत्तकर्णयोः = निश्चलं यथा तथा निरुद्धाः (संरुद्धाः) ये निःश्वासाः (परस्परयोः उच्छ्वासाः), तेषु दत्तकर्णयोः = श्रवणव्यापारयुक्तयोः, द्वयोरपि = नायिकानायकयोरपि मध्ये, कः = कतरः, मल्लः = प्रबलः, स्वमानरक्षणसमर्थः? गाथा वृत्तम्। अत्र उभयोरपि प्रणयमानः।

मानस्य विवेकमाह—**अनुनयपर्यन्ताऽसहत्व इति**। अनुनयपर्यन्ताऽसहत्वे = मानभङ्गाऽर्थं प्रियवचनादिकमनुनयः, तत्पर्यन्तमस्थिरत्वे तु, अस्य = मानस्य, न विप्रलम्भभेदता = नो विप्रलम्भशृङ्गारविशेषता, किन्तु संभोगसञ्चार्याख्यभावत्वं = संभोगे (संभोगशृङ्गारे), सञ्चार्याख्यभावत्वम् (व्यभिचारीत्याख्यनामकभावत्वम्)।

करके आँखोंको मूँदनेवाले! हे प्रिय! मुझे भी जगह दे दो। कपोलपर चुम्बन करनेसे रोमाञ्चित अङ्गवाले? मैं फिर विलम्ब नहीं करूँगी।

नायिकाका प्रणयमान जैसे कुमारसंभवमें सन्ध्यावर्णनके अवसरपर (अष्टम सर्गमें)।

नायिका और नायक दोनोंका प्रणयमान—प्रणयसे कुपित, झूठमूठ सोये हुए, प्रणयमान करनेमें जानकार, निश्चलरूपसे रोके गये निःश्वासोंपर कान लगानेवाले नायिका और नायकरूप दो मल्लोंमें कौन जबर्दस्त है?

मनाने तक स्थिर न होनेपर यह प्रणयमान विप्रलम्भ शृङ्गारका भेद नहीं होता है किन्तु संभोगसञ्चारी नामका भाव होता है। जैसे—

यथा—

'भ्रूभङ्गे रचितेऽपि दृष्टिरधिकं सोत्कण्ठमुद्वीक्षते,
रुद्धायामपि वाचि सस्मितमिदं दग्धाननं जायते।
कार्कश्यं गमितेऽपि चेतसि तनू, रोमाञ्चमालम्बते,
दृष्टे निर्वहणं भविष्यति कथं मानस्य तस्मिञ्जने ? ॥'

यथा वा—

'एकस्मिञ्शयने पराङ्मुखतया वीतोत्तरं ताम्यतो-
रन्योन्यस्य हृदि स्थितेऽप्यनुनये संरक्षतोर्गौरवम्।

तदेवोदाहरति- भ्रूभङ्ग इति। मानस्योपदेष्ट्रीं सखीं प्रति कस्याश्चिन्नायिकाया उक्तिरियम्। भ्रूभङ्गे = भ्रूकोटिल्ये, रचितेऽपि = कृतेऽपि मानप्रदर्शनार्थमिति शेषः। दृष्टिः = मदीयं नेत्रम्, अधिकम् = अत्यर्थं, सोत्कण्ठम् = उत्कण्ठापूर्वकं यथा तथा, उद्वीक्षते = विलोकयति, प्रियमिति शेषः। वाचि = वचने, रुद्धायाम्, अपि = निवारितायाम् अपि, इदम् = एतत्, दग्धाननं = कोपेन दग्धप्रायं मदीयं मुखं, सस्मितं = मन्दहास्यसहित, जायते = वर्तते। एवं च चेतसि = चित्ते, कार्कश्यं = कठोरतां, गमितेऽपि = प्रापितेऽपि, तनुः = मदीयं शरीरं, रोमाञ्चं = रोमकण्टकम्, आलम्बते = आश्रयति। अतः तस्मिन् = असकृत् उपभुक्ते, जने = मदीये प्रिये, दृष्टे = अवलोकिते सति, मानस्य = प्रणयकोपस्य। निर्वहणं = निर्वाहः, कथं = केन प्रकारेण, भविष्यति = भविता, न कथमपीति भावः। अत्र वक्त्र्या नायिकाया नायकस्याऽनुनयात्प्रागेव मानस्य भङ्गादस्य मानो न विप्रलम्भशृङ्गारमानभेदः किन्तु संभोगशृङ्गारमानत्वमिति भावः। नायिकानायकयोर्द्वयोरप्यनुनयात्प्रागेव मानभङ्गस्योदाहरणं प्रदर्शयति- एकस्मिन्निति। एकस्मिन्, शयने = शय्यायां, पराङ्मुखतया = विमुखत्वेन, स्थितयोरिति शेषः। एवं च वीतोत्तरं = त्यक्तोत्तरव्यापार यथा तथा, तूष्णीमित्यर्थः, ताम्यतोः = काङ्क्षतोः, समागममिति शेषः। अतः अन्योन्यस्य = परस्परस्य, हृदि = चित्ते, अनुनये = प्रीतिवचने, मानभङ्गाऽर्थमिति शेषः। स्थितेऽपि = विद्यमानेऽपि, गौरवं = गुरुत्वं, प्राति-

नायिकः मानभङ्गका० उ०—भौंहोंको टेढ़ी करनेपर भी नेत्र अत्यन्त उत्कण्ठाके साथ देखता ही रहता है। वचनको रोकनेपर भी यह जला हुआ मुँह मन्दहास्यवाला हो जाता है। चित्तको कठोर करनेपर भी शरीर रोमाञ्चका अवलम्बन करता है। उनके देखे जानेपर मान (प्रणयकोप) का निर्वाह कैसे होगा ? ॥

नायिका और नायक दोनोंके मानभङ्गका उ०—एक ही शय्यापर विमुख और चुपचाप होकर रहे हुए समागमकी इच्छा करनेवाले परस्पर चित्तमें अनुनयकी इच्छाके रहनेपर भी गौरवकी रक्षा करते हुए, धीरे धीरे नेत्रप्रान्तोंके सञ्चालन

दम्पत्योः शनकैरपाङ्गवलनान्मिश्रीभवच्चक्षुषो-
भग्नो मानकलिः सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहः ॥'

पत्युरन्यप्रियासङ्गे दृष्टेऽथानुमिते श्रुते ॥ १९९ ॥
ईर्ष्यामानो भवेत्स्त्रीणां, तत्र त्वनुमितिस्त्रिधा ।
उत्स्वप्नायितभोगाङ्कगोत्रस्खलनसम्भवा ॥ २०० ॥

तत्र दृष्टे यथा —

'विनयति सुदृशो दृशोः परागं प्रणयिनि कौसुमनाननानिलेन ।

स्विकमिति शेषः । सरक्षणोः = वारयतोः । तथा शनकैः = मन्दं मन्दम्, अपाङ्ग-वलनात् = नयनान्तसञ्चालनात्, मिश्रीभवच्चक्षुषोः = मिलन्नयनयोः, दम्पत्योः = नायिकानायकयोः, सहासरभसव्यासक्तकण्ठग्रहः = सहास (हास्यपूर्वकं यथा तथा) रभसेन (वेगेन) व्यासक्तः (सम्बद्धः) कण्ठग्रहः (आलिङ्गनम्) यस्मिन् सः; तादृशः मानकलिः=प्रणयकोपकलहः, भग्नः = नष्टः । अत्र नायिकानायकयोरुभयोरपि अनुनयाद्युपायं विनैव मानस्य भङ्गः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

सविभागमीर्ष्यामान विप्रलम्भं लक्षयति—**पत्युरिति ।** पत्युः = नायकस्य, अन्यप्रियाऽऽसङ्गे = अपरवल्लभाऽऽसक्तौ, दृष्टे=अवलोकिते, अनुमिते = लक्षणेन विदिते, अथ = अनन्तरं, श्रुते = आकर्णिते सति, स्त्रीणां यः प्रणयकोपः स ईर्ष्यामानो भवेत् । प्रणयमानवन्नायकस्याऽहं न भवति । तत्र=दृष्टादिषु, उत्स्वप्नायित–भोगाऽङ्क-गोत्रस्खलन-संभवा=उत्स्वप्नायितसंभवा, भोगाऽङ्कसंभवा गोत्रस्खलनसंभवा च अनुमितिस्त्रिधा॥१९९॥

तत्र च उत्स्वप्नवदाचरितम् उत्स्वप्नायितम्, तच्च स्वप्ने पत्युरन्यप्रियासङ्ग-दर्शनात्तत्प्रकाशनम् । भोगाङ्कसंभवम् = उपभोगचिह्नोत्पन्नम् । गोत्रस्खलनसंभवं = नामविपर्यासोत्पन्नं, तच्च पत्या स्वनाम्नि उच्चारणीये, अन्यस्या नाम्न उच्चारणम् । इत्थं च पत्युरन्यप्रियासङ्गस्य अनुमितिस्त्रिधा ॥ २०० ॥

दृष्टे ईर्ष्यामानमुदाहरति—**विनयतीति ।** प्रणयिनि=कान्ते, आननाऽनिलेन= मुखमारुतेन, सुदृशः = सुनयनायाः सपत्न्याः, कौसुमं = कुसुमसम्बन्धिनं, परागं =

से परस्पर नेत्रोंके सम्मेलन होनेसे नायिका और नायकका हास्यपूर्वक वेगसे आलिङ्गन होनेसे प्रणयकोपका कलह भग्न हो गया ॥

ईर्ष्यामान—पतिकी दूसरी प्रियामें आसक्तिको देखनेपर, अनुमान करनेपर वा किसीसे सुनने पर ॥ १९९ ॥

स्त्रियोंको "ईर्ष्यामान" होता है । उसमें स्वप्नमें दूसरी प्रियाके उत्कीर्तनसे; उपभोगके चिह्नसे और अपने नामके बदले दूसरी प्रियाका नाम लेनेपर इसप्रकार तीन प्रकारका अनुमान होता है ॥ २०० ॥

पतिकी दूसरी प्रियामें आसक्तिके दर्शनका उ०—नायकको अन्य प्रियाके

तदहितयुवतेरभीक्ष्णमक्ष्णोर्द्वयमपि रोषरजोभिरापुपूरे ॥' संभोगचिह्ने नानुमिते यथा—

'नवनखपदमङ्गं गोपयस्यंशुकेन
स्थगयसि पुनरोष्ठं पाणिना दन्तदष्टम् ।
प्रतिदिशमपरस्त्रीसङ्गशंसी विसर्प-
न्नवपरिमलगन्धः केन शक्यो वरीतुम् ॥'

एवमन्यदपि ।

साम, भेदोऽथ दानं च नत्युपेक्षे, रसान्तरम् ।
तद्भङ्गाय पतिः कुर्यात् षडुपायानिति क्रमात् ॥ २०१ ॥

रजः, विनयति = निरस्यति सति । तदहितयुवतेः = तस्याः (सुदृशः) अहितयुवतेः (अहितायाः = सपत्न्या, युवतेः = तरुण्याः) अक्ष्णोः=नेत्रयोः, द्वयमपि=द्वितयमपि, रोषरजोभिः = कोपपरागैः, आपुपूरे = आपूर्णम् । अत्र पत्युः अन्यप्रियाऽऽसङ्गे दृष्टे नायिकाया ईर्ष्यामानः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ॥

संभोगचिह्नेनाऽनुमितं ईर्ष्यारागमुदाहरति—**नवनखपदमिति** । नायकं प्रति मानिन्या उक्तिरियम् । (हे कान्त !) नवनखपदं=नवं (नूतनम्), नखपदं (सपत्न्याः नखक्षतचिह्नम्) यस्मिंस्तत्, तादृशम् अङ्गं = देहाऽवयवम्, अंशुकेन = वसनेन, गोपयसि = निगूहसि । पुनः = भूयः, दन्तदष्टं = दशनदष्टम्, अन्यस्या नायिकाया इति शेषः । ओष्ठम् = अधरं, पाणिना = स्वस्य करेण, स्थगयसि = आच्छादयसि । परं प्रतिदिशं = दिशं दिशं प्रति, विसर्पन् = प्रसरन्, वायुनेति शेषः । अपरस्त्रीसङ्गशंसी = अन्यललनासंसर्गसूचकः, नवपरिमलगन्धः = नूतनविमर्दोत्थकुसुमादिसौरभं, केन = उपायेन, वरीतुं = गोपयितुं, शक्यः = शक्तिविषयः, न केनाऽपीति भावः । पद्यमिदं शिशुपालवधमहाकाव्यस्य । अत्र संभोगचिह्नेन अन्यप्रियासङ्गे अनुमिते नायिकाया ईर्ष्यामानः । एवमन्यदपि । मालिनी वृत्तम् ॥

मानभङ्गस्य षडुपायान्निर्दिशति—**सामेति** । पतिः = प्रियः, मानभङ्गाय = मानिन्या मानाऽपनयनाय, साम = सान्त्वं, भेदः = भेदनम्, उपजापः ।

नेत्रोंमें पड़े हुए फूलके परागको मुखकी हवासे हटानेपर सपत्नी नायिकाके दोनों नेत्र क्रोधके रजोंसे पूर्ण हो गये । यह पद्य शिशुपालवध-महाकाव्यके सप्तम सर्गमें है ।

संभोग चिह्नसे अनुमित ईर्ष्यामान—नायिका दूसरी स्त्रीमें आसक्त नायकको कहती है—"नये नखक्षतके चिह्नवाले अङ्गको वस्त्रसे छिपाते हो, दशन-क्षत ओष्ठको हाथसे ढँकते हो लेकिन दूसरी स्त्रीके समागमकी सूचना करनेवाले प्रत्येक दिशाओंमें फैलते हुए इस नवीन परिमल गन्धको किस उपायसे छिपा सकोगे ?" इसी तरह और भी जानना चाहिए ।

मानभङ्गके कारण—पति मानभङ्ग करनेके लिए साम, भेद, दान, नति

तत्र प्रियवचः साम, भेदस्तत्सख्युपार्जनम् ।
दानं व्याजेन भूषादेः, पादयोः पतनं नतिः ॥ २०२ ॥
सामादौ तु परिक्षीणे स्यादुपेक्षावधीरणम् ।
रभसत्रासहर्षादेः कोपभ्रंशो रसान्तरम् ॥ २०३ ॥

'नो चाटुश्रवणं कृतम्—' (पृ० १५५) इत्यादि । अत्र सामादयः पञ्च सूचिताः । रसान्तरमूह्यम् ।

दानं = वितरणं, नतिः = नमनम् । उपेक्षणं, रसान्तरं = रभसादेः कोपभ्रंश इति क्रमात् = क्रमतः, षड् उपायान्, कुर्यात् = विदधीत ॥ २०१ ॥

मानभङ्गोपायान् विवृणोति—तत्रेति । तत्र = षड्विधेषु मानभङ्गोपायेषु, प्रियवचः = प्रीतिपूर्णं वचनं, मानिनीं प्रतीतिशेषः "साम" । तत्सख्युपार्जनं = तस्याः (मानिन्याः) सखीनाम् (वयस्यानाम्) उपार्जनं (स्वपक्षस्थापनम्) "भेद" । व्याजेन = केनाऽपि च्छलेन, भूषादेः=भूषणादेः, आदिपदेन वसनादीनां संग्रहः । "दानं" =वितरणं, मानिन्यै इति शेषः ।

पादयोः = चरणयोः, मानिन्या इति शेषः, पतनं = प्रणमनं, "नतिः" ॥२०२॥

सामादौ=सामाद्युपायचतुष्टये, परिक्षीणे=असमर्थे, मानभङ्गायेति शेषः, अवधीरणम् = अवज्ञा, "उपेक्षा" । रभसत्रासहर्षादेः = संभ्रमभीत्यानन्दादेर्हेतोः, कोपभ्रंशः= क्रोधनाशः "रसान्तरम्" अन्यो रसः, विप्रलम्भशृङ्गाराऽपगमेन संभोगशृङ्गाराऽऽपतनमिति भावः ॥ २०३ ॥

मानभङ्गार्थमुपायपञ्चकमुदाहरति—"नो चाटुश्रवणं" कृतमिति (पृ. १५५) । अत्र = श्लोके; "नो चाटुश्रवणं कृतम्" इत्यत्र "साम", "न च दृशा हारोऽन्तिके वीक्षितः" इत्यत्र "दानम्", "कान्तस्य प्रियहेतवे निजसखीवाचोऽपि दूरीकृताः "इत्यत्र

(नमस्कार), उपेक्षा और रसान्तर इन छः उपायोंको क्रमसे करे ॥ २०१ ॥

साम—प्रियवचनको "साम" कहते हैं ।

भेद—प्रियाकी सखीको अपनी ओर करनेको "भेद" कहते हैं ।

दान—बहानेसे भूषण आदि देनेको "दान" कहते हैं ।

नति—पैरोंपर गिरनेको "नति" कहते हैं ॥ २०२ ॥

उपेक्षा—साम आदि उपायोंके निष्फल होनेपर अवज्ञा करना "उपेक्षा" है ।

रसान्तर—घबड़ाहट, भय और हर्ष आदिसे क्रोध हटनेको "रसान्तर" कहते हैं ॥ २०३ ॥

जैसे—"नो चाटुश्रवणं कृतम्" (पृ० १५५) इत्यादि । यहाँ पर साम आदि

अथ प्रवासः—

प्रवासो भिन्नदेशित्वं कार्याच्छापाच्च संभ्रमात् ।
तत्राङ्गचेलमालिन्यमेकवेणीधरं शिरः ॥ २०४ ॥
निःश्वासोच्छ्वासरुदितभूमिपातादि जायते ।
अङ्गेष्वसौष्ठवं तापः पाण्डुता कृशतारुचिः ॥ २०५ ॥
अधृतिः स्यादनालम्बस्तन्मयोन्मादमूर्च्छनाः ।

भेदः, "पादान्ते विनिपत्य" इत्यत्र "नतिः" तथा च "गच्छन्" इत्यत्र "उपेक्षा" सूचिता । इत्थं च अत्र श्लोके नायकेन मानिन्या मानभङ्गायाचरिताः सामादयः पञ्चोपायाः सूचिताः ।

रसान्तरमूह्यम् । ऊह्यं = वितर्क्यम् । यथा मालविकाऽग्निमित्रे चतुर्थाङ्कान्ते वसुलक्ष्म्याकृतया वानरविहितत्रासवृत्तान्तेनैव इरावत्या मानभङ्गः ।

प्रवासरूपं विप्रलम्भशृङ्गारं लक्षयति–प्रवास इति । कार्यात्=कर्मणः, शापात्= आक्रोशात्, संभ्रमात्=त्वरायाश्च हेतोः, भिन्नदेशित्वं=नायिकानायकयोर्देशान्तरवासित्वम्।

प्रवासे स्थितिभेदान्निर्दिशति—तत्रेति । तत्र = प्रवासे, अङ्गचेलमालिन्यम्= अङ्गानां (हस्तपादादीनां देहाऽवयवानाम्), चेलस्य (वस्त्रस्य) च मालिन्यम् (मलिनता), शिरः = शीर्षम्, एकवेणीधरम् = एकप्रवेणीधरं, केशसंस्काररहितमिति भावः ॥ १४० ॥ निःश्वासोच्छ्वासरुदितभूमिपातादि=निःश्वासः (मुखनासिकानिर्गतः श्वासः), उच्छ्वासः (अन्तर्मुखच्छ्वासः), रुदितं (रोदनम्) भूमिपातः (भूमिः पतनम्), तदादि जायते = संभवति, आदिपदेन विह्वलतादेः संग्रहः ।

प्रवासे मतान्तरेण दश स्मरदशा निर्दिशति—अङ्गेष्विति । अङ्गेषु = देहाऽवयवेषु, असौष्ठवं = संस्काराऽभावः । तापः = सन्तापः । ततश्च पाण्डुता = पाण्डुरता, विवर्णतेति भावः । कृशता = दुर्बलता । अरुचिः = रुच्यभावः ।

अधृतिः = धैर्याऽभावः । अनालम्बः=आधारराहित्यम् । तन्मयोन्मादमूर्च्छनाः = तन्मयेन (तन्मयभावेन) उन्मादाः (उन्मत्तताः) मूर्च्छना (मूर्च्छाः), च

पाँच उपाय दिखाये गये हैं । "रसान्तर" के उदाहरणका अन्यत्र ऊह करना चाहिए ।

प्रवास—कार्य, शाप और त्वराके कारण भिन्न देशमें रहनेको "प्रवास" कहते हैं । उसमें अङ्गों और वस्त्रोंमें मलिनता, शिरमें एक ही वेणीको बनाना ॥२०४॥

निःश्वास, उच्छ्वास, रोना, जमीनपर गिरना इत्यादि कार्य होते हैं । अङ्गोंमें संस्कारका अभाव, ताप, पाण्डुता, दुर्बलता, अरुचि ॥ २०५ ॥

अधृति, अनालम्बनता, तन्मयभावसे उन्माद और मूर्च्छा तथा मरण इसप्रकार

मृतिश्चेति क्रमाज्ज्ञेया दश स्मरदशा इह ॥ २०६ ॥
असौष्ठवं मलापत्तिस्तापस्तु विरहज्वरः ।
अरुचिर्वस्तुवैराग्यं, सर्वत्राऽरागिताऽधृतिः ॥ २०७ ॥
अनालम्बनता चापि शून्यता मनसः स्मृता ।
तन्मयं तत्प्रकाशो हि बाह्याभ्यन्तरतस्तथा ।

शेषं स्पष्टम् ।

एकदेशतो यथा मम तातपादानाम्—

'चिन्ताभिः स्तिमितं मनः, करतले लीना कपोलस्थली,

तन्मयभावेनाऽसकृदुन्मादमूर्च्छनाप्रादुर्भावाद् बहुवचनं संगच्छते । मृतिः=मरणम्, इति= इत्थं, स्मरदशाः = कामाऽवस्थाः, दश = दशसङ्ख्यकाः क्रमाज्ज्ञेयाः ॥ २०६ ॥

ता एव किंचिद्विवृणोति—असौष्ठवमिति । असौष्ठवं = मलापत्तिः, अङ्ग-संस्काराऽभावादिति भावः । अनायत्तिरिति पाठे अस्वाधीनतेत्यर्थः । तापः=विरहज्वरः, विरहसन्तापः । अरुचिः = वस्तुनि (पदार्थे) वैराग्यम् (विरक्तिः) । अधृतिः = सर्वत्र = सर्वेषु विषयेषु, अरागिता = अभिलाषाऽभावः ॥ २०७ ॥

अनालम्बनता = मनसः (चित्तस्य) शून्यता (विषयाऽग्राहकत्वम्) । तन्मयं= बाह्याऽभ्यन्तरतः (बहिर्देशाऽभ्यन्तरदेशात्) तत्प्रकाशः (तस्य = नायकस्य, तस्याः= नायिकाया वा) प्रकाशः (दर्शनम्) । शेषं स्पष्टम् । उन्मादो मूर्च्छना मृतिश्चेति पदत्रयं निगदव्याख्यातमिति भावः ॥

एकदेशत उदाहरति—चिन्ताभिरिति । काचित्सखी कंचित्प्रति विरहिण्याः स्वसख्या अवस्थां वर्णयति । अस्याः = सख्याः, मनः = चित्तं, चिन्ताभिः = चिन्ताऽतिशयैः, स्तिमितं = निश्चलम् । एतेनाऽनालम्बनता सूचिता । कपोलस्थली=गण्डस्थली,

---

यहाँपर क्रमसे दश काम दशाओंको जानना चाहिए ॥ २०६ ॥

कुछ पदोंका विवरण करते हैं । मलिनताको "असौष्ठव" विरहज्वरको "ताप" वस्तुओंमें वैराग्यको "अरुचि" सभी विषयोंमें अभिलाष न होनेको "अधृति" ॥२०७॥

मनकी शून्यताको अनालम्बता, नायिका वा नायकके निरन्तर भावनासे बाहर और भीतर प्रकाश होनेको तन्मय कहते हैं, उससे उन्माद और मूर्च्छना होती है । बाकी स्पष्ट हैं ।

इनमेंसे कुछके उदाहरण अपने पिताके पद्यसे ग्रन्थकार प्रस्तुत करते हैं । कोई स्त्री नायकसे अपनी सखी नायिकाकी अवस्थाका वर्णन कर रही है । इसका मन चिन्ताओंसे निश्चल है; कपोल करतलमें स्थित है, मुख प्रातः कालके चन्द्रके समान

प्रत्यूषक्षणदेशपाण्डु वदनं, श्वासैकखिन्नोऽधरः।
अम्भःशीकरपद्मिनीकिसलयैर्नोपैति तापः शमं,
कोऽस्याः प्रार्थितदुर्लभोऽस्ति ? सहते दीनां दशामीदृशीम् ॥'

भावी भवन्भूत इति त्रिधा स्यात्तत्र कार्यजः ॥ २०८ ॥

कार्यस्य बुद्धिपूर्वकत्वात्त्रैविध्यम् ।

तत्र भावी यथा मम—

'यामः सुन्दरि, याहि पान्थ, दयिते ! शोकं वृथा मा कृथाः;

करतले = हस्ततले, लीना = अवस्थिता । वदन = मुखं, प्रत्यूषक्षणदेशपाण्डु = प्रत्यूषे (प्रातःकाले) क्षणदायाः (रात्रेः) ईशः (स्वामी, यश्चन्द्रः), स इव पाण्डु (पाण्डुरं; कान्तिहीनमिति भावः) । एतेन तापाऽनुभावो वर्णितः । अधरः = ओष्ठः, श्वासैक-खिन्नः = श्वासमात्रपरिहृतः, न तु कान्तदशनक्षतचिह्नित इति भावः । तापः = देह-सन्तापः, अम्भःशीकरपद्मिनीकिसलयैः = अम्भःशीकरैः (जलबिन्दुभिः), पद्मिनी-किसलयैश्च (कमलिनीपल्लवैश्च) उपायैः, शमं = शान्ति, न उपैति = नो लभते, एतेन तापः प्रकाशितः । अस्याः = सख्याः, कः प्रार्थितदुर्लभः = प्रार्थितश्चाऽसौ दुर्लभः (दुष्प्राप्यः) अस्ति, येन कारणेन, ईदृशीम् = एतादृशीं, दीनां = दयनीयां, दशाम् = अवस्थां, सहते = मृष्यति । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

पुनः कार्यजं प्रवासं विभजति—**भावीति** । तत्र = तेषु, त्रिविधप्रवासेषु; कार्यजः = कार्यजन्यः प्रवासः । भावी = भविष्यन्, भवन् = वर्तमानः, भूतः = अतीत इति, त्रिधा = त्रिभिः प्रकारैः, स्यात् = भवेत् ॥ २०८ ॥

कार्यस्य=कर्मणः, बुद्धिपूर्वकत्वात् = मतिपूर्वकत्वात्, त्रैविध्यं = त्रिप्रकारत्वम् ।

भाविप्रवासमुदाहरति—**याम इति** । प्रवासार्थमुद्यतस्य नायकस्य नायिकया सहोक्तिप्रत्युक्तरूपं पद्यमिदम् । **याम इति** । नायको ब्रूते—हे सुन्दरि ! यामः = गच्छामः, अहं गच्छामीति भावः । "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इति सूत्रेण वर्तमान-समीपे भविष्यति वर्तमानता । नायिका उत्तरयति-हे पान्थ = हे पथिक !, याहि =

पाण्डुवर्ण वाला है । अधर श्वाससे परिम्लान है, इसका ताप जलबिन्दुओंसे और कमलके पल्लवोंसे भी दूर नहीं होता है । इसका दुष्प्राप प्रार्थित पुरुष कौन है ? जो कि इसकी ऐसी शोचनीय अवस्थाकी भी उपेक्षा कर रहा है ? ॥

कार्यज प्रवास—कार्यज प्रवास, भावी (पीछे होनेवाला, भवन् (वर्तमान) और भूत (अतीत) इसप्रकार तीनभेदोंसे युक्त है ॥ २०८ ॥

कार्यके बुद्धिपूर्वक होनेसे तीन भेद होते हैं ॥ २०८ ॥

भावि-प्रवास—(उ०), ग्रन्थकारका पद्य है । इसमें प्रवासके लिए तत्पर नायककी नायिकाके साथ उक्ति और प्रत्युक्ति है । नायक-"सुन्दरि ! हम जा रहे हैं" ।

शोकस्ते गमने कुतो मम, ततो बाष्पं कथं मुञ्चसि ? ।
शीघ्रं न व्रजसीति, मां गमयितुं कस्मादियं ते त्वरा ?
भूयानस्य सह त्वया जिगमिषोर्जीवस्य मे संभ्रमः ॥'

भवन् यथा—

'प्रस्थानं वलयैः कृतं, प्रियसखैरस्रैरजस्रं गतम् ,
धृत्या न क्षणमासितम् , व्यवसितं चित्तेन गन्तुं पुरः ।

गच्छ, भवत्कृते प्रवास एवाऽभीष्टो नाऽहमिति आक्षेपाः गम्यते । नायकः सान्त्वयति—दयिते=हे प्रिये ! वृथा = व्यर्थप्रायं, शोकं = मन्युं, मा कृथाः = नो विधेहि । नायिका वचनतस्ताटस्थ्यं दर्शयति—(हे कान्त !), ते = तव, गमने प्रयाणे, मम, शोकः कुतः = कस्माद्धेतोः, भवेदिति शेषः । नायको ब्रूते-ततः = तर्हि, बाष्पम् = अश्रु, कुतः = कारणात्, मुञ्चसि = त्यजसि, शोकाऽभावश्चेत् बाष्पमोचनं कुत इति भावः । नायिका ब्रूते-शीघ्रं = सत्वरं, न व्रजसि = नो गच्छसि, इति = हेतोः, बाष्पं मुञ्चामीति शेषः । नायकः पृच्छति—मां = कान्तं, गमयितुं = गमनं कारयितुमिति भावः, कस्मात् = कारणात्, ते = तव, इयं वर्तमाना, त्वरा = शीघ्रता । नायिका प्रत्युत्तरयति—त्वया सह = भवतासमं, जिगमिषोः=गन्तुमिच्छोः, मे = मम, जीवस्य= जीवनस्य, भूयान्=प्रचुरः, संभ्रमः=त्वरा, त्वत्प्रस्थाने मम प्राणौ अपि शरीरं त्यक्ष्यन्तीति भावः । अत्र "यामः सुन्दरी" त्यनेन सन्दर्भेण नायकस्य भावी प्रवासः सूचितः ।

भवन्तं (वर्तमानं) प्रवासमुदाहरति—प्रस्थानमिति । प्रयाणोद्यतं कान्तं दृष्ट्वा नायिकायाः स्वजीवित प्रत्युक्तिरियम् । प्रियतमे = दयिततमे, यातुं = गन्तुं, निश्चितचेतसि = निर्णीतचित्ते सति, वलयैः = कङ्कणैः, प्रस्थानं = प्रयाणं, कृतं = विहितम्, कार्श्येन वलयभ्रंश इत्यवधेयम् । प्रियसखैः = अभीष्टमित्रैः, अस्रैः=अश्रुभिः, अजस्रं = निरन्तरं, गतं = प्रयाणं कृतम्, अश्रुधारा प्रवृत्तेति भावः । धृत्या = धैर्येण, क्षणम् = अल्पकालमपि, "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति द्वितीया । न आसितं=न अवस्थितम् । एतेन विरहाशङ्कया नायिकाया अधीरता द्योत्यते । चित्तेन = चेतसा,

नायिका—"पथिक ! जाओ" । नायक—"प्रिये ! व्यर्थ शोक मत करो" । नायिका—"तुम्हारे गमनमें मुझे शोक क्यों होगा" ? नायक—"तब तुम आँसू क्यों गिरा रही हो ?" नायिका—'तुम शीघ्र नहीं जाते हो (इसलिए आँसु गिरा रही हूँ)" । नायक—"मेरी यात्रा करानेके लिए क्यों तुम ऐसी शीघ्रता चाहती हो ?" नायिका—"तुम्हारे साथ जानेकी इच्छा करनेवाले मेरे जीवनकी बहुत ही जल्दबाजी है" ।

वर्तमान प्रवास—नायिका नायकको प्रस्थानमें तत्पर देखकर अपने जीवनसे कहती है । प्रियतमके जानेके लिए निश्चितचित्त होनेपर सबके सब एक ही वार चल पड़े, जैसे कि—कङ्कणोंने प्रस्थान किया, तुम्हारे प्रिय मित्र आँसूओंने भी निरन्तर

यातुं निश्चितचेतसि प्रियतमे सर्वे समं प्रस्थिता
गन्तव्ये सति जीवित ! प्रियसुहृत्सार्थः किमुत्यज्यते ? ॥'

भूतो यथा—'चिन्ताभिः स्तिमितम्-' (पृ० २४६) इत्यादि।

शापाद्यथा—'तां जानीयाः-' (पृ० १५६) इत्यादि।

संभ्रमो दिव्यमानुषनिर्घातोत्पातादिजः।

यथा—

विक्रमोर्वश्यामुर्वशीपुरूरवसोः।

अत्र पूर्वरागोक्तानामभिलाषादीनामत्रोक्तानां चाङ्गासौष्ठवादीनामपि दशानामुभयेषामप्युभयत्र सम्भवेऽपि चिरन्तनप्रसिद्ध्या विविच्य प्रतिपादनम्।

पुरतः=अग्रत, एव, प्रियतमस्य यात्रायाः प्रागेवेति भावः। गन्तुं = यातुं, व्यवसितं= व्यवसायः कृतः। एवं च सर्वे = सकलाः, मदीयाः परिकरा इति भावः। समं=युगपत्, प्रस्थिताः = कृतप्रस्थानाः, अतएव हे जीवित=हे जीवन!, गन्तव्ये सति=गमनीये सति, प्रियसुहृत्सार्थः=अभीष्टमित्रसङ्घः, किमु =कथं, त्यज्यते=मुच्यते, यात्रायां प्रियसुहृत्सार्थोऽनुगन्तव्य इति भावः। अत्र भवन् प्रवासः सूचितः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

भूतः प्रवासो यथा—"चिन्ताभिः स्तिमितम्" इत्यादिः (२४६ तमे पृष्ठे)।

शापमूलकः प्रवासो यथा—"तां जानीयाः" इत्यादिः (१५६ तमे पृष्ठे)।

संभ्रमः = दिव्यमानुषनिर्घातोत्पातादिजः, दिव्योत्पातजः = देवविद्युदुल्कादिजः' मानुषोत्पातजः = राजाद्युत्पातजः, निर्घातोत्पातजः = पवनजन्यपवनजः, यथा विक्रमोर्वश्यामुर्वशीपुरूरवसोः। कामदशां विविनक्ति-अत्रेति। उभयेषाम्=द्विविधानाम्, उभयत्र= द्वयोः, पूर्वरागे प्रवासे च। चिरन्तनप्रसिद्ध्या=पुरातनालङ्कारिकप्रसिद्ध्या, विविच्य= विवेकं कृत्वा।

गमन किया, धैर्य क्षणभर भी नहीं टिका और चित्तने पहले ही जानेके लिए व्यवसाय किया है। हे जीवन ! जाना ही है तो प्रिय मित्रोंका साथ तुम क्यों छोड़ रहे हो ?

भूत प्रवास—"चिन्ताभिः स्तिमितम्" इत्यादि (२४६ पृष्ठमें)।

शापज प्रवास—"तां जानीयाः" इत्यादि (१५६ पृष्ठमें)।

संभ्रमज प्रवास—सामान्यतः इसके तीन भेद होते हैं—१ दिव्योत्पातज अर्थात् देवता, विजली और उल्का आदिसे उत्पन्न, २ मानुषोत्पातज=अर्थात् राजा आदिके उत्पातसे उत्पन्न, ३ निर्घातोत्पातज=अर्थात् वायुसे ताडित वायुसे उत्पन्न उत्पातसे जैसे विक्रमोर्वशीयमें उर्वशी और पुरूरवाका प्रवास। यहाँपर पूर्वरागमें कही गई अभिलाष आदि और यहाँपर कही गई अङ्गासौष्ठव आदि कामदशाएँ दोनों स्थानोंमें (पूर्वराग और प्रवासमें) हो सकती हैं तो भी प्राचीन आलङ्कारिकोंकी प्रसिद्धिके अनुसार पृथक् रूपसे लिखी गई हैं।

अथ करुणविप्रलम्भः—

यूनोरेकतरस्मिन्गतवति लोकान्तरं पुनर्लभ्ये ।
विमनायते यदैकस्तदा भवेत् करुणविप्रलम्भाख्यः ॥ २०९ ॥

यथा—

कादम्बर्यां पुण्डरीकमहाश्वेतावृत्तान्ते ।

पुनरलभ्ये शरीरान्तरेण वा लभ्ये तु करुणाख्य एव रसः ।

किञ्चात्राकाशसरस्वतीभाषानन्तरमेव शृङ्गारः, संगमप्रत्याशया रतेरुद्भवात् । प्रथमं तु करुण एव, इत्यभियुक्ता मन्यन्ते ।

करुणविप्रलम्भं लक्षयति—**यूनोरिति** । यूनोः = युवतिश्च युवा च युवानौ, तयोः, "पुमान् स्त्रिया" इत्येकशेषः । तरुणीतरुणयोः नायिकानायकयोरित्यर्थः । लोकान्तरं = परलोकं, गतवति = प्राप्तवति, एकतरस्मिन् = अन्यतरस्मिन्, नायिकाजने नायके वा इति भावः, पुनः = भूयः लभ्ये = प्राप्ये सति, जीवता जनेनेति शेषः । एकः = एकतरः, नायिकानायकयोरिति शेषः । यदा = यस्मिन्समये, विमनायते = विमना भवति, तदा = तस्मिन्समये, करुणविप्रलम्भाख्यो रसो भवेत् ॥ २०९ ॥

करुणविप्रलम्भमुदाहरति—**यथा कादम्बर्यामिति** । प्रथमं पुण्डरीको नायक उपरतः, तदा नायिका महाश्वेता विमनायते, कालान्तरे सा तं प्राप्तवती । इत्थं चात्र न करुणो रसः, प्रत्युत करुणविप्रलम्भो रसः ।

एतद्वैपरीत्येन पुनः = भूयः, अलभ्ये = अप्राप्ये, शरीरान्तरेण = देहान्तरेण वा लभ्ये सति एकतरस्मिंस्तु करुण एव रसः ।

अत्र विशेषमाह—**किं चेति** । अत्र = कादम्बर्याम् । आकाशसरस्वतीभाषाऽनन्तरम् एव = अशरीरिवाण्यनन्तरम् एव, शृङ्गारः, सङ्गमप्रत्याशया = समागमप्रत्याशया, रतेः = शृङ्गारस्थायिभावस्य उद्भवात् = आविर्भावात् महाश्वेताया इति शेषः । प्रथमस्तु = आकाशसरस्वतीभाषायाः प्रागिति भावः । करुण एव = शोकस्थायिको रस एव,

---

करुणविप्रलम्भ—नायिका और नायक इनमे एकके मर जानेपर दूसरा जो दुःखित होता है, और फिर वह मृत व्यक्ति लभ्य हो जाता है उसे "करुणविप्रलम्भ" कहते हैं ॥ २०९ ॥

जैसे कादम्बरीमें पुण्डरीक और महाश्वेताके वृत्तान्तमें है । एकके फिर अलभ्य या दूसरे शरीरमें लभ्य होनेपर तो "करुणरस" ही होता है ।

इसमें विशेष विषय कहते हैं—यहांपर पुण्डरीकके मरनेपर आकाशवाणी होनेके बाद ही फिर समागम की आशासे रतिके आविर्भाव होनेसे महाश्वेताका शृङ्गार रस है । आकाशवाणीसे पहले तो करुणरस ही है ऐसा प्रामाणिक लोग मानते हैं ।

यच्चात्र 'सङ्गमप्रत्याशानन्तरमपि भवतो विप्रलम्भशृङ्गारस्य प्रवासाख्यो भेद एव' इति केचिदाहुः, तदन्ये 'मरणरूपविशेषसंभवात्तद्भिन्नमेव' इति मन्यन्ते।

अथ संभोगः—

दर्शनस्पर्शनादीनि निषेवेते विलासिनौ।
यत्रानुरक्तावन्योन्यं संभोगोऽयमुदाहृतः॥ २१०॥

आदिशब्दादन्योन्याधरपानचुम्बनादयः। यथा—'शून्यं वासगृहम्—' (पृ० २४ तमे) इत्यादि।

अभियुक्ताः = प्रामाणिकाः। यच्च अत्र = कादम्बर्याम्। संगमप्रत्याशानन्तरम् = समागमप्रत्याशायाः पश्चात्, आकाशवाणीत इति शेषः। भवतः = विद्यमानस्य, विप्रलम्भशृङ्गारस्य, प्रवासाख्यः = प्रवासनामकः, भेदः = प्रकारः इति केचित्। कादम्बर्यां प्रथमं करुणः, आकाशसरस्वतीभाषानन्तरं = प्रवासशृङ्गार इति धनिकादयः। तदन्ये = तेभ्यो भिन्नाः। मरणरूपविशेषसम्भवात् = मरणरूपः (मृतिस्वरूपः) यो विशेषः (भेदः) तत्संभवात् (तदुत्पत्तेः) तद्भिन्नम् अपि = प्रवासभिन्नम् अपि। पूर्वोक्तमतद्वयेऽपि विश्वनाथकविराजस्याऽरुचिः सूचिता, यतः पुण्डरीकस्य, तदात्वे मरणेऽपि आकाशवाण्यनुसार पश्चाज्जीवनात् न करुणो रसः एवं च तदात्वे मरणान्न प्रवासात्मको विप्रलम्भः शृङ्गार, अपि तु करुणविप्रलम्भ एवेति भावः॥ २०९॥

संभोगशृङ्गारं लक्षयति—दर्शनस्पर्शनादीनीति। यत्र = यस्मिन् स्थले, अन्योन्यं = मिथः, अनुरक्तौ = अनुरागयुक्तौ, विलासिनौ = विलासिनी विलासी च, "पुमान् स्त्रिया" इत्येकशेषः। दर्शनस्पर्शनादीनि = विलोकनामर्शनप्रभृतीति, कर्माणि निषेवेते = कुरुतः, अय संभोगः = सभोगशृङ्गारः, उदाहृतः। "मिथः" पदेन केवलमेकस्य अनुरागप्रकाशने नाऽतिप्रसक्तिः॥ २१०॥

संभोगशृङ्गारमुदाहरति—'शून्य वासगृहम्" इत्यादि (पृ० २४ तमे)॥२१०॥

जो कि यहांपर आकाशवाणीसे समागमकी आशाके अनन्तर भी होनेवाले विप्रलम्भ शृङ्गारका 'प्रवास' नामका ही भेद होता है ऐसा कुछ लोग (आचार्य धनिक आदि) कहते हैं। उनसे भिन्न आचार्यलोग मरणरूप विशेष भेद होनेसे प्रवाससे भिन्न ही मानते हैं।

संभोग—एक दूसरेमें अनुराग करनेवाले विलासी नायिका और नायक जहांपर परस्पर दर्शन और स्पर्श आदि करते हैं उसे "संभोग शृङ्गार" कहते हैं॥ २१०॥

आदि शब्दसे परस्पर अधरपान और चुम्बन आदि लिये जाते हैं। जैसे—"शून्यं वासगृहम्" (पृ० २४) इत्यादिमें।

संख्यातुमशक्यतया चुम्बनपरिरम्भणादिबहुभेदात् ।
अयमेक एव धीरैः कथितः संभोगशृङ्गारः ॥ २११ ॥
तत्र स्यादृतुषट्कं चन्द्रादित्यौ तथोदयास्तमयः ।
जलकेलिवनविहारप्रभातमधुपानयामिनीप्रभृतिः ॥ २१२ ॥
अनुलेपनभूषाद्या वाच्यं शुचि मेध्यमन्यच्च ।

तथा च भरतः—'यत्किञ्चिल्लोके शुचि मेध्यमुज्ज्वलं दर्शनीयं वा तत्सर्वं शृङ्गारेणोपमीयते (उपयुज्यते च)' इति ।

सम्भोगशृङ्गारे विशेषमाह—संख्यातुमिति । चुम्बनपरिरम्भणादिबहुभेदात् = चुम्बन-परिरम्भणादिः (वक्त्रसंयोगालिङ्गनादिः) यो बहुभेदः (अधिकप्रकारः) तस्मात् हेतोः, सङ्ख्यातुं = परिगणयितुम्, अशक्यतया = अशक्तिविषयत्वेन, अयं संभोगशृङ्गारः धीरैः = विद्वद्भिः, एक एव, कथितः = अभिहितः ॥ २११ ॥

तत्रेति । तत्र = संभोगशृङ्गारे, ऋतुषट्कम् = ऋतूनां (वसन्तादीनाम्) षट्कम् (षट्समूहः), चन्द्रादित्यौ = इन्दुसूर्यौ, उदयास्तमयः = उदयास्तमनकालौ, जलकेलीत्यादिः = जलकेलिः (सलिलक्रीडा) वनविहारः (उपवनक्रीडा), प्रभातम् (प्रातःकालः), मधुपानं (मद्यपानम्) यामिनी (रात्रिः), तत्प्रभृतिः (तदादिः) वाच्य इति शेषः ॥ २१२ ॥

एवं च अनुलेपनभूषाद्याः = अनुलेपन (चन्दनाद्यनुलेपनम्) भूषा (भूषणं, भूषणपरिधानम् इत्यर्थः) तदाद्याः (तत्प्रभृतयः), वाच्या इति शेषः । तथा च शुचि= शुक्लं वस्त्रादीत्यर्थः मेध्यं = पवित्रम्, अन्यच्च = अपरं च वाच्यं = कथनीयम् ।

अत्रार्थे भरतोक्तिं प्रदर्शयति—तथा चेति । शुचि = शुक्लं, मेध्यं = पवित्रम् उज्ज्वलं = निर्मलम्, दर्शनीयं = द्रष्टव्यम्, शय्यागृहादीति भावः । तत्, सर्वं = सकलं, शृङ्गारेण = आदिरसेन, उपनीयते = उपमितिविषयीक्रियते, उपयुज्यते च = उपयोग-विषयीक्रियते, उद्दीपकत्वेनेति शेषः ।

चुम्बन और आलिङ्गन आदि अनेक भेद होनेसे परिगणन नहीं किये जा सकनेसे विद्वानोंने इस संभोग शृङ्गारका एक ही भेद मान लिया है ॥ २११ ॥

शृङ्गाररसमें छः ऋतु सूर्य, चन्द्र, उनका उदय और अस्त होना जल क्रीडा, वनविहार, प्रातःकाल, मदिरापान, रात्रि इत्यादि विषयोंका वर्णन होता है ॥ २१२ ॥

चन्दन आदिका लेपन, अलङ्कारधारण आदि और अन्य भी सफेद और पवित्र पदार्थ जो हैं उनका भी वर्णन होता है ।

जैसे कि भरत मुनिने कहा है-लोकमें जो कुछ सफेद, पवित्र और उज्ज्वल और दर्शनीय पदार्थ हैं वे सब शृङ्गारसे उपमित होते हैं उपयोगविषय किये जाते हैं ।

कथितश्चतुर्विधोऽसावानन्तर्यात्तु पूर्वरागादेः ॥ २१३ ॥

यदुक्तम्—

'न विना विप्रलम्भेन संभोगः पुष्टिमश्नुते ।
कषायिते हि वस्त्रादौ भूयान् रागो विवर्धते ॥' इति ।

तत्र पूर्वरागानन्तरं संभोगो यथा कुमारसम्भवे पार्वतीपरमेश्वरयोः ।

प्रवासानन्तरं सम्भोगो यथा मम तातपादानाम्—

'क्षेमं ते ननु पक्ष्मलाक्षि ! किसअं खेमं मदङ्गं दिढं,

पूर्वरागाद्यानन्तर्येण संभोगशृङ्गारस्य चातुर्विध्य वर्णयति **कथित इति**। असौ=संभोगशृङ्गारः पूर्वरागादेः = आदिपदेन मानादीनां परिग्रहः । आनन्तर्यात् = अनन्तरभावित्वात्, तु चतुर्विधः = चतुष्प्रकारः, कथितः ।

अत्रार्थे प्राचीनमतसंवादं प्रदर्शयति—**न विनेति** । विप्रलम्भेन विना=विप्रलम्भशृङ्गारमन्तरेण, संभोगः=संभोगशृङ्गारः, पुष्टिं=पोषं, न अश्नुते = न प्राप्नोति । हि = यतः. वस्त्रादौ = वसनादौ, कषायिते = कषायेण रक्ते, भूयान्=प्रचुरः, रागः = लौहित्यं विवर्द्धते = विवृद्धिं प्राप्नोतीति भावः ॥ २१३ ॥

पूर्वरागाऽनन्तरं संभोगशृङ्गारः, कुमारसंभवेऽष्टमसर्गे ।

प्रवासाऽनन्तर संभोगशृङ्गारमुदाहरति—**क्षेममिति** । प्रवासाऽनन्तरभोगस्य नायको नायिकां पृच्छति—हे पक्ष्मलाक्षि = प्रचुरपक्ष्मयुक्तनयने सुन्दरि ! ते = तव, क्षेमं = कुशलं, ननु = किम् ? नायिकोत्तरयति प्राकृते—**किसअं इति** । "कृशकं क्षेमं मदङ्गं दृढम्" इति संस्कृतच्छाया । मदङ्गं = मदीयो देहाऽवयवः यत् दृढं = गाढं, अत्यन्तमित्यर्थः । कृशकं = दुर्बलं जातं, तदेव क्षेमं = कुशलम् । नायकः पुनः पृच्छति—

यह (संभोग शृङ्गार) पूर्वराग आदिके अनन्तर होनेसे चार प्रकारका कहा गया है अर्थात् पूर्वरागके बाद होने वाला १ मानके बाद होने वाला २ प्रवासके बाद होनेवाला ३ और करुणविप्रलम्भके बाद होने वाला ४ जो कि कहा गया है—विप्रलम्भ शृङ्गारके बिना संभोग शृङ्गार पुष्ट नहीं होता है । कषायसे रंगे वस्त्रमें प्रचुर लौहित्य (लालिमा) बढ़ता है । उनमें पूर्वरागके अनन्तर संभोग जैसे कुमारसंभवमें पार्वती और परमेश्वरका है ।

प्रवासके अनन्तर संभोगका उदाहरण जैसे ग्रन्थकारके पिताका है ।

प्रवाससे आनेपर नायक—"हे सुन्दरि ! तुम्हारा कुशल है क्या ? नायिका—"यह मेरा शरीर अत्यन्त दुर्बल है" यही कुशल है । नायक—"ऐसी दुर्बलता कैसे

एतादृक्कृशता कुतः ? तुह पुणो पुट्ठं सरीरं जदो ।
केनाहं पृथुलः प्रिये !-पणइणोदेहस्स सम्मेलणात्,
त्वत्तः सुभ्रु ! न कापि मे, जइ इदं खेमं कुदो पुच्छसि ? ॥'

एवमन्यत्राप्यूह्यम् ।

अथ हास्यः—

विकृताकारवाग्वेषचेष्टादेः कुहकाद्भवेत् ।

एतादृगिति । एतादृक् = एतादृशी, कृशता = दुर्बलता, त्वद्देहस्येति शेषः । कुतः = कस्मात्कारणात्, जातेति शेषः । नायिकोत्तरयति— **तुह इति** । "तव पुनः पुष्टं शरीरं यत" इति संस्कृतच्छाया । यतः = यस्मात्कारणात्, तव = भवतः, शरीरं = देहः; पुष्टं = स्थूलम् । अत एव मदीया कृशतेति भावः । नायकः पुनः पृच्छति—**केनेति** । हे प्रिये = हे दयिते ! अहं केन = कारणेन, पृथुलः = पुष्टः, जात इति शेषः ।

नायिकोत्तरयति—**पणइणोति** । "प्रणयिनी देहस्य सम्मीलनात्" इति संस्कृतच्छाया । प्रणयिनीदेहस्य = प्रियाशरीरस्य, संमीलनात् = संयोगात्, त्वं पुष्टः; प्रवासकाल इति शेषः । नायको ब्रूते—**त्वत्त इति** । हे सुभ्रु = हे शोभनभ्रूयुक्ते सुन्दरि !, त्वत्तः = त्वद्, विनेति शेषः, मे = मम, काऽपि=प्रणयिनीति भावः ।

न = नो वर्तते । नायिका प्रत्युत्तरयति—**जइ इति** । "यदि इदं क्षेमं कुतः पृच्छसि ? "इति । इद=यदि मदन्या काऽपि तव प्रणयिनी नाऽस्ति चेत्, तदेति शेषः । क्षेमं = कुशलं, मदीयमिति शेषः । कुतः = कस्मात्कारणात्, पृच्छसि = अनुयुनक्षि । प्रणयिवियोगे प्रणयिन्याः क्षेमं कथं पृच्छसीति भावः शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

उपसहरति—**एवमन्यत्राऽपि** । ऊह्यं = कल्पनीयम् ।

हास्यरसं वर्णयति—**विकृताकारेत्यादिः** । विकृताऽऽकारवाग्वेषचेष्टाऽऽदेः = विकृतः (विकारयुक्तः, स्वाभाविकभिन्न इत्यर्थः) आकारः (आकृतिः), विकृता वाक् (वाणी), विकृतो वेशः (नेपथ्यम्) विकृता चेष्टा (हस्तपादादिसंचालनम्) यस्य सः, तदादेः, कुहकात् = चतुरात् जनात्, हास्यरसो भवति । स च हासस्थायि-

हुई ?" नायिका—तुम्हारा शरीर पुष्ट है इसलिए मेरी दुर्बलता हुई । नायक—"प्रिये ! मैं किस कारणसे पुष्ट हूँ" । नायिका—प्रियाके शरीरके सम्मेलनसे । नायक—हे सुन्दरि ! तुम्हारे सिवाय मेरी कोई भी प्रिया नहीं है । नायिका—जब ऐसा है तो मेरा कुशल क्यों पूछते हो ? ॥

इसी तरह अन्यत्र (ईर्ष्या आदिमें) भी समझना चाहिए ।

हास्य—चतुरजनसे विकारयुक्त—वाणी, वेष और चेष्टा आदिसे हास्य रस

हास्यो हासस्थायिभावः श्वेतः प्रमथदैवतः ॥ २१४ ॥
विकृताकारवाक्चेष्टं यमालोक्य हसेज्जनः ।
तमत्रालम्बनं प्राहुस्तच्चेष्टोद्दीपनं मतम् ॥ २१५ ॥
अनुभावोऽक्षिसङ्कोचवदनस्मेरतादयः ।
निद्रालस्यावहित्थाद्या अत्र स्युर्व्यभिचारिणः ॥ २१६ ॥
ज्येष्ठानां स्मितहसिते, मध्यानां विहसितावहसिते च ।
नीचानामपहसितं तथातिहसितं तदेष षड्भेदः ॥ २१७ ॥

भावः = हासः (हास्यम्) स्थायी भावो यस्य सः, श्वेतः = श्वेतवर्णयुक्तः । प्रमथदैवतः = प्रमथः (शिवपारिषदः) दैवत (देवः) यस्य सः, तादृशो भवति ॥ २१४ ॥

विकृताकारवागिति । विकृताऽऽकारवाक्चेष्टं = विकृताः (विकारयुक्ताः) आकारवाक्चेष्टाः (आकृतिवाणीचेष्टनानि) यस्य सः, तम् । तादृश यं = पदार्थम्; आलोक्य = दृष्ट्वा, जनः, हसेत् = हास्य कुर्यात्, अत्र = अस्मिन् हास्यरसे, तं = जनम् आलम्बनम् = आलम्बनविभाव, प्राहुः = कथयन्ति, तच्चेष्टा=आलम्बनचेष्टा, उद्दीपनम्= उद्दीपनविभावः, मत = सम्मतम् ॥ २१५ ॥

अनुभाव इति । अत्र = हास्यरसे । अक्षिसङ्कोचवदनस्मेरतादयः अक्षिसङ्कोचः (नयनसंकोचनम्) वदनस्मेरता (मुखविकासः), तदादयः (तत्प्रभृतयः) अनुभावः । निद्राऽऽलस्याऽवहित्थाद्या = निद्रा (स्वापः) आलस्यम् (अलसता) अवहित्था (आकारगोपनम्) तदाद्याः, व्यभिचारिणः = व्यभिचारिभावाः ॥ २१६ ॥

हास्यभेदानाह–ज्येष्ठानां = श्रेष्ठानाम्, उत्तमप्रकृतीनामिति भावः, स्मितहसिते; भवत इति शेषः । मध्यानां = मध्यमानां जनानां, विहसिताऽवहसिते, भवतः । नीचानाम् = अधमप्रकृतीना जनानाम्, अपहसित, तथा अतिहसितं, भवत इति शेषः । तत् = तस्मात्कारणात्, हासः = हास्यः, षड्भेदः = षट् भेदा यस्य सः, तादृशो भवतीति भावः । अनुपदमेषा लक्षणानि प्रतिपाद्यन्ते ॥ २१७ ॥

प्रकट होता है, इसका स्थायी भाव 'हास' है वर्ण शुक्ल और देवता 'प्रमथ' माने गये हैं ॥ २१४ ॥

विकारयुक्त—आकार, वाणी और चेष्टासे युक्त जिसको देखकर लोग हँसें वह आलम्बन होता है और उसकी चेष्टा उद्दीपन होती है ॥ २१५ ॥

नेत्रसङ्कोच और मुखविकास आदि अनुभाव होते हैं निद्रा, आलस्य और अवहित्था (आकारको छिपाना) आदि इसमें व्यभिचारिभाव होते हैं ॥ २१६ ॥

उत्तमजनोंका स्मित और हसित, मध्यम जनोंका विहसित और अवहसित तथा नीच जनोंका अपहसित और अतिहसित इसप्रकार इसमें हासके छः भेद होते हैं ।२१७।

ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात् स्पन्दिताधरम् ।
किञ्चिल्लक्ष्यद्विजं तत्र हसितं कथितं बुधैः ॥ २१८ ॥
मधुरस्वरं विहसितं, सांसशिरःकम्पमवहसितम् ।
अपहसितं सास्राक्षं, विक्षिप्ताङ्गं च भवत्यतिहसितम् ॥ २१९ ॥

स्मितं लक्षयति—**ईषदिति** । ईषद्विकासिनयनं = ईषत् = अल्पं यथा तथा **विकासिनी** (विकसनशीले) नयने (नेत्रे) यस्मिंस्तत् । तथा स्पन्दिताऽधरं = स्पन्दितः (किञ्चिच्चलितः) अधरः (ओष्ठः) यस्मिंस्तत्, तादृशं हास्यं "स्मितं" स्यात् = भवेत् ॥

हसितं लक्षयति—**किंचिदिति** । तत्र = हास्ये, किंचिल्लक्ष्यद्विज = किंचित् (ईषत् यथा तथा) लक्ष्याः (दृश्याः) द्विजाः (दन्ताः) यस्मिंस्तत्, तत् हसितमिति बुधैः = विद्वद्भिः, कथितम्=प्रतिपादितम् ॥ २१८ ॥

विहसितं लक्षयति—**मधुरस्वरमिति** । मधुरस्वरं = मधुरः (मनोहरः) स्वरः (शब्दः) यस्य तत् तादृशं हास्यं "विहसितम्" कथ्यते ।

अवहसितं लक्षयति—सांऽसशिरःकम्पं = अंसश्च शिरश्च अंशशिरः, "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाऽङ्गानाम्" इति प्राण्यङ्गत्वात्समाहारद्वन्द्वः । अंसशिरसः कम्पः, अंसशिरः कम्पेन सहितम्, स्कन्धमस्तककम्पसहितं हास्यम् "अवहसितम्" कथ्यते ।

अपहसितं लक्षयति—सास्राक्षं = अस्रेण (अश्रुणा) सहिते सास्रे, तादृशे अक्षिणी यस्मिंस्तत, तादृशं हास्यम् "अपहसितम्" । अतिहसितं लक्षयति—विक्षिप्ताऽङ्गं= विक्षिप्तानि (इतस्ततः प्रेरितानि) अङ्गानि (देहाऽवयवाः) यस्मिंस्तत्, तादृशं हास्यम्, "अतिहसितम्" ॥ २१९ ॥

स्मित—जिस हास्यमें नेत्र कुछ विकसित हों और ओष्ठ कुछ हिले उसे "स्मित" कहते हैं ।

हसित—जिस हास्यमें दाँत कुछ देखे जायँ उसे पण्डित लोग "हसित" कहते हैं ॥ २१८ ॥

विहसित—मधुर स्वरवाले हास्यको "विहसित" कहते हैं ।

अवहसित—कन्धे और शिरमें कम्पके साथ होनेवाले हास्यको "अवहसित" कहते हैं ।

अपहसित—जिस हास्यमें आँखोंसे आँसू आ जाय उसे "अपहसित" कहते हैं ।

अतिहसित—जिस हास्यमें हाथ पैर आदि अङ्ग पटके जायँ उसे "अतिहसित" कहते हैं ॥ २१९ ॥

यथा—

गुरोर्गिरः पञ्चदिनान्यधीत्य, वेदान्तशास्त्राणि दिनत्रयं च।
अमी समाघ्राय च तर्कवादान्समागताः कुक्कुटमिश्रपादाः ॥'

अस्य लटकमेलकप्रभृतिषु परिपोषो द्रष्टव्यः ।

अत्र च—

यस्य हासः, स चेत् क्वापि साक्षान्नैव निबध्यते ।
तथाप्येष विभावादिसामर्थ्यादुपलभ्यते ॥ २२० ॥
अभेदेन विभावादिसाधारण्यात्प्रतीयते ।
सामाजिकैस्ततो हास्यरसोऽयमनुभूयते ॥ २२१ ॥

हास्यरसमुदाहरति—**गुरोरिति** । अमी = एते, कुक्कुटमिश्रपादाः = कुक्कुट मिश्रचरणाः, गुरोः=प्रभाकरभट्टस्य, गिरः=मीमांसाशास्त्रविशेषरूपाः, पञ्च दिनानि = पञ्च दिवसान्, वेदान्तशास्त्राणि = उत्तरमीमांसादर्शनग्रन्थान्, दिनत्रयं = दिवसत्रितयम्, "उभयत्र" कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे । इति द्वितीया । अधीत्य = पठित्वा, तर्कवादांश्च= न्यायदर्शनवादांश्च, समाघ्राय=सम्यक् घ्राणगोचरीकृत्य समागताः = सम्प्राप्ताः । अत्र कुक्कुटमिश्रपादा आलम्बनम् । तेषां पञ्चत्रिदिनाऽध्ययनादय उद्दीपनानि । शरीरच्छुवा- सननेत्रसङ्कोचादयोऽनुभावाः, हर्षाऽवहित्थादयो व्यभिचारिभावाश्च अनुक्ता अपि "क्वचित्स्य- न्यसमाक्षेपे तथा दोषो न विद्यते" इति वचनानुसारात् सामर्थ्याद्‌ग्राह्याः, हासः स्थायि- भावः एवमन्यत्राऽपि ।

अस्येति । अस्य = हास्यरसस्य, लटकमेलकप्रभृतिषु = लटकमेलकादिषु, प्रभृतिपदेन हास्यार्णवादीनां परिग्रहः । परिपोषः=परिपोषणम् ॥ २१९ ॥

हास्यरसे विशेषमाह—**यस्येति** । यस्य हासः = यत्सम्बन्धी, यदालम्बन इति भाव । स = आलम्बनविभावः, क्वाऽपि = कुत्रचित्स्थले, साक्षात् = वचनत , नैव निबध्यते चेत्=नैव प्रतिपाद्यते यदि, तथाऽपि, एषः = आलम्बनविभावरूपः, विभावा- दिसामर्थ्यात् = यथास्थितविभावाऽनुभावादिसामर्थ्यात्; उपलभ्यते=कल्प्यते, सामाजि- कैरिति शेषः । ततः = अनन्तरं, सामाजिकैः = सभ्यैः, विभावादिसाधारण्यात् = विभावादीनां साधारण्यात् = साधारणीकरणव्यापारात्, अभेदेन = स्वपरसाधारणत्वेन,

उ०—ये कुक्कुटमिश्रजी प्रभाकर मीमांसकके ग्रन्थोंको पाँच दिनोंतक और वेदान्तशास्त्रोंको तीन दिनोंतक पढ़कर और न्यायदर्शनोंके वाक्योंको सूँघकर आ गये हैं । हास्य रसका परिपोष लटकमेलक आदि प्रहसनोंमें देखना चाहिए । जिसका हास किसी ग्रन्थमें साक्षात् निबद्ध नहीं किया गया है तो भी यह विभाग आदि सामर्थ्यसे उपलब्ध होता है ॥ २२० ॥

एवमन्येष्वपि रसेषु बोद्धव्यम् ।

अथ करुणः—

इष्टनाशादनिष्टाप्तेः करुणाख्यो रसो भवेत् ।
धीरैः कपोतवर्णोऽयं कथितो यमदैवतः ॥ २२२ ॥
शोकोऽत्र स्थायिभावः स्याच्छोच्यमालम्बनं मतम् ।
तस्य दाहादिकावस्था भवेदुद्दीपनं पुनः ॥ २२३ ॥
अनुभावा दैवनिन्दाभूपातक्रन्दितादयः ।
वैवर्ण्योच्छ्वासनिःश्वासस्तम्भप्रलपनानि च ॥ २२४ ॥

प्रतीयते = ज्ञायते, अनुक्ता विभावादिभिरिति शेषः । ततश्च अयं हास्यरसः = द्वितीयो रसः, अनुभूयते=अनुभूतिविषयीक्रियते । पूर्वोक्तोऽनुवाद एष. ॥ २२० ॥

एवमिति । एवम् = इत्थमेव, अन्येषु अपि = अपरेषु अपि, रसेषु, बोद्धव्यं = बोध्यम् ॥ २२१ ॥

करुणरसं वर्णयति—**इष्टनाशादिति** । इष्टनाशात्=प्रियनाशात्, अनिष्टाप्तेः= अनभीष्टविषयप्राप्तेः, करुणाऽऽख्यः = करुणनामकः, रसो भवेत् । धीरैः = विद्वद्भिः, अयं = करुणरसः, कपोतवर्णः = पारावतवर्णः, यमदैवतः = यमः (यमराजः) दैवतं (देवता) यस्य सः कथितः ॥ २२२ ॥

शोक इति । अत्र = करुणरसे, शोकः स्थायिभावः स्यात् । शोच्यं=शोचनीयं, शोकविषयीभूतं वस्तु, आलम्बनम् = आलम्बनविभावः, मतम् । पुनः = भूयः, तस्य = शोच्यस्य, दाहाऽऽदिकाऽवस्था = दहनप्रभृतिदशा, उद्दीपनम् = उद्दीपनविभावो भवेत् ॥ २२३ ॥

अनुभावा इति । दैवनिन्दाभूपातक्रन्दितादयः = दैवनिन्दा (भाग्यकुत्सा), भूपातः (भूमिनिपतनम्), क्रन्दितं (रोदनम्) तदादयः (तत्प्रभृतयः), तथा वैवर्ण्योच्छ्वास-निःश्वासस्तम्भप्रलपनानि च=वैवर्ण्यम् (विवर्णता), उच्छ्वासः (अन्तर्मुखश्वासः),

---

फिर विभाव आदिके साधारणीकरण व्यापारसे अनुक्त होनेपर भी विभाव आदि प्रतीत होता है, तब सामाजिकोंको हास्य रसका अनुभव होता है ॥ २२१ ॥

इसी तरह अन्य रसोंमें भी समझना चाहिए ।

करुण—इष्टके नाश और अनिष्टकी प्राप्तिसे करुण रस होता है विद्वानोंने इसका कपोत-सावर्ण और यमराजको देवता बताया है ॥ २२२ ॥

इसमें स्थायी भाव शोक है और शोचनीय वस्तु विनष्टबधु आदि आलम्बन माना गया है शोचनीयकी दाह आदि अवस्था "उद्दीपन" होता है ॥ २२३ ॥

भाग्यकी निन्दा, जमीनपर गिरना, रोना आदि, विवर्णता, उच्छ्वास, निःश्वास,

निर्वेदमोहापस्मारव्याधिग्लानिस्मृतिश्रमाः ।
विषादजडतोन्मादचिन्ताद्या व्यभिचारिणः ॥ २२५ ॥

शोच्यं विनष्टबन्धुप्रभृति ।

यथा मम राघवविलासे—

'विपिने क्व जटानिबन्धनं ? तव चेदं क्व मनोहरं वपुः ? ।
अनयोर्घटनाविधेः स्फुटं ननु खड्गेन शिरीषकर्त्तनम् ॥'

निःश्वासः (मुखनासाभ्यां निर्गतो वायुः), स्तम्भः (जडभावः, चेष्टाराहित्यमिति भावः, प्रलपनम् (अनर्थकवचनकथनम्), एतानि चाऽनुभावाः ॥ २२४ ॥

करुणरसे व्यभिचारिभावानाह—**निर्वेदेत्यादिः** । निर्वेदः (विरक्तिः), मोहः (मूर्च्छा), अपस्मारः (रोगविशेषः) व्याधिः (सामान्यरोगः) ग्लानिः (म्लानिः), स्मृतिः (स्मरणम्), श्रमः (परिश्रमः) । एवं च विषादादिः = विषादः (खेदः), जडता (स्तब्धता), उन्मादः (चित्तविभ्रमः) चिन्ता (आध्यानम्), इत्याद्याः व्यभिचारिणः ॥ २२५ ॥

शोच्यं = शोचनीयं, विनष्टबन्धुप्रभृति ।

करुणरसमुदाहरति—**विपिन इति** । वनगमनतत्परं रामं दृष्ट्वा दशरथस्योक्तिरियम् । विपिने = घने, तव, जटानिबन्धनं = जटाधारण, क्व = कुत्र, इदं=दृश्यमान, मनोहरं = सुन्दर, वपुश्च = शरीरं च, क्व = कुत्र; उभयोर्महदन्तरमिति भावः । अत एव पूर्वार्द्धे विषमाऽलङ्कारः । विधेः = ब्रह्मणः, अनयोः = जटानिबन्धनमनोहरवपुषोश्च, घटनाविधेः = एकत्र सघटनाविधानात्, खड्गेन = असिना, शिरीषकर्तनं = शिरीषपुष्पाच्छेदनं, स्फुटं = व्यक्तं, ननु = निश्चयेन । उत्तरार्द्धे निदर्शनाऽलङ्कारः, तथा चैतयोर्द्वयोरलङ्कारयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करः । अत्र राम आलम्बनविभावः, तस्य वनगमनोद्यम उद्दीपनविभावः, शोकः स्थायिभावः, दैवनिन्दा अनुभावः, ग्लान्याद्या व्यभिचारिभावाः आक्षेपलभ्याः । वियोगिनी वृत्तम् ।

जडभाव, प्रलाप (निरर्थक वचन) ये सब करुण रसमें अनुभाव होते है ॥ २२४ ॥

निर्वेद (विरक्ति), मोह, अपस्मार (मिरगी रोग), व्याधि (सामान्यरोग), ग्लानि, स्मरण, परिश्रम, विषाद, जडता, उन्माद, और चिन्ता आदि इसमें व्यभिचारी भाव हैं ॥ २२५ ॥

उ० —ग्रन्थकारके "राघवविलास" नामके ग्रन्थका पद्य है—वनमें जानेके लिए तत्पर रामको देखकर महाराज दशरथ कहते हैं—जङ्गलमें जटाओंको बाँधना कहाँ और तुम्हारा यह सुन्दर शरीर कहाँ, दैवसे की गई इन दो विषयोंकी योजना खड्गसे शिरीष पुष्पका काटनेके समान है ।

अत्र हि रामवनवासजनितशोकार्त्तस्य दशरथस्य दैवनिन्दा। एवं बन्धुवियोगविभवनाशादावप्युदाहार्यम्। परिपोषस्तु महाभारते स्त्रीपर्वणि द्रष्टव्यः।

अस्य करुणविप्रलम्भाद् भेदमाह—

शोकस्थायितया भिन्नो विप्रलम्भादयं रसः।
विप्रलम्भे रतिः स्थायी पुनः संभोगहेतुकः॥ २२६॥

अथ रौद्रः—

रौद्रः क्रोधस्थायिभावो रक्तो रुद्राधिदैवतः।
आलम्बनमरिस्तत्र तच्चेष्टोद्दीपनं मतम्॥ २२७॥

अत्रेति। रामेत्यादि—रामस्य (राघवस्य) यो वनवासः (अरण्यनिवासः), तेन जनितः (उत्पादितः) यः शोकः (मन्युः) तेन आर्तस्य (पीडितस्य)। बन्धुवियोगेत्यादिः = बन्धुवियोगे (बान्धवविरहे) विभवनाशादौ (सम्पत्तिनाशादौ) अपि उदाहार्यम् = उदाहरणीयम्॥ २२६॥

अस्येति। अस्य = करुणस्य, करुणविप्रलम्भात्, भेदं = व्यावृत्तिम्। आह—**शोकस्थायितयेति**। अयं, करुणो रसः, शोकस्थायितया=शोकस्य स्थायिभावत्वेनेत्यर्थः। विप्रलम्भात् = करुणविप्रलम्भात्, भिन्नः = भेदप्राप्तः। विप्रलम्भे = करुणविप्रलम्भे, पुनः = भूयः, संभोगहेतुकः = संभोगकारणः, स्थायी = स्थायी भावो, रतिः, शोकस्तु अप्रधानत्वेन प्राग्वर्तीति भावः।

रौद्ररसं वर्णयति—**रौद्र इति**। रौद्रः=रौद्ररसः, क्रोधस्थायिभावः=क्रोधः स्थायी भावो यस्य सः। रक्तः=रक्तवर्णः, रुद्राऽधिदैवतः=रुद्रः (हरः) अधिदैवतम् (अधिष्ठाता देवः) यस्य सः। तत्र = रौद्ररसे, आलम्बनम् = आलम्बनविभावः, अरिः = शत्रुः, तच्चेष्टा = अरिचेष्टा, उद्दीपनं मतम् = उद्दीपनविभावः सम्मतः॥ २२७॥

इस पद्यमें रामके वनवाससे उत्पन्न शोकसे पीडित दशरथसे की गई दैवनिन्दा है। इसी प्रकार बन्धुवियोग और धननाश आदिमें भी उदाहरण देना चाहिए। करुण-रसका परिपोष महाभारतमें स्त्रीपर्वमें देखना चाहिए।

करुण-रसका करुण-विप्रलम्भसे भेद बताते हैं—

करुणरस, शोक स्थायी होनेसे करुणविप्रलम्भसे भिन्न है। करुण-विप्रलम्भमें फिर संभोगका हेतु स्थायी भाव रति है॥ २२६॥

रौद्र—रौद्ररसका स्थायी भाव क्रोध है, इसका वर्ण लाल है और देवता रुद्र हैं। उसमें आलम्बन विभाव शत्रु होता है और उसकी चेष्टा उद्दीपन है॥ २२७॥

मुष्टिप्रहारपातनविकृतच्छेदावदारणैश्चैव ।
संग्रामसंभ्रमाद्यैरस्योद्दीप्तिर्भवेत् प्रौढा ॥ २२८ ॥
भ्रूविभङ्गौष्ठनिर्दंशबाहुस्फोटनतर्जनाः ।
आत्मावदानकथनमायुधोत्क्षेपणानि च ॥ २२९ ॥
अनुभावास्तथाक्षेपक्रूरसंदर्शनादयः ।
उग्रतावेगरोमाञ्चस्वेदवेपथवो मदः ॥ २३० ॥
मोहामर्षादयस्तत्र भावा स्युर्व्यभिचारिणः ।

मुष्टिपदम्। मुष्टीत्यादि:=मुष्टिप्रहारः (मुष्टिताडनम्) मुष्टिपदम् अङ्गान्तरोपलक्षकम्। पातनम् (अरेर्भूमिपातनम्), विकृत (विरुद्धाचरणम्), छेदः (द्वैधीकरणं, खड्गादिना अरेश्छेदनम्) अवदाहरणम् (शूलादिना अरेर्विदारणम्), एवं च संग्रामसंभ्रमाद्यैः = युद्धत्वरादिभिः, अस्य=रौद्ररसस्य, प्रौढा = महती, उद्दीप्तिः= उद्दीपनं भवेत्॥ २२८॥

भ्रूविभङ्गौष्ठेत्यादिः। रौद्ररसस्याऽनुभावान्निर्दिशति—**भ्रूविभङ्गः**। (भ्रुकुटिदर्शनम्) ओष्ठनिर्दंशः (दशनेन अधरदंशनम्), बाहुस्फोटनं (भुजताडनम्), तर्जना (भर्त्सनगिरः)। आत्माऽवदानकथनम्=आत्मनः (स्वस्य) अवदानं (कृतं शौर्यकर्म)। तस्य कथनं (कीर्तनम्) आयुधोत्क्षेपणानि=अस्त्रोत्प्रेरणानि॥ २२९॥

अनुभावा इति। तथा=तेनैव प्रकारेण, आक्षेपः = अपवादः, क्रूरसन्दर्शनं = कठोरदृष्टिः, तदादयः, अनुभावाः = रौद्ररसस्येति शेषः।

रौद्ररसस्य व्यभिचारिभावान्निर्दिशति—**उग्रतेत्यादिः**। उग्रता (रौद्रता) वेगः (जवः) रोमाञ्चः (रोमकण्टकः), स्वेदः (घर्मजलम्), वेपथुः (कम्पः), मदः = अहङ्कारः॥ २३०॥

व्यभिचारिभावान्निर्दिशति—**मोहाऽमर्षादय इति**। मोहः (वैचित्त्यम्) अमर्षः (कोपः) इत्यादयः, तत्र=रौद्ररसे व्यभिचारिणो भावाः॥

मुष्टिसे प्रहार, गिराना, विरुद्ध आचरण, काटना, फाड़ना, संग्राममें सत्वरता इत्यादि कर्मोंसे इसका अधिक उद्दीपन होता है॥ २२८॥

भ्रुकुटिको टेढ़ी करना ओष्ठको चबाना, ताल ठोंकना, भर्त्सन करना, अपनी शूरताका कीर्तन, शस्त्रोंको उठाना॥ २२९॥

आक्षेप और कठोर दृष्टि ये सब रौद्रके अनुभाव हैं।

उग्रता, आवेग, रोमाञ्च, स्वेद, कम्प और मद॥ २३०॥

मोह तथा क्रोध आदि उसमें व्यभिचारिभाव होते हैं।

यथा—

'कृतमनुमतं दृष्टं वा यैरिदं गुरुपातकं
मनुजपशुभिर्निर्मर्यादैर्भवद्भिरुदायुधैः ।
नरकरिपुणा सार्धं तेषां सभीमकिरीटिना-
मयमहमसृङ्मेदोमांसैः करोमि दिशां बलिम् ॥'

अस्य युद्धवीराद्भेदमाह—

रक्तास्यनेत्रता चात्र भेदिनी युद्धवीरतः ॥ २३१ ॥

रौद्रंसमुदाहरति—**कृतमिति**। वेणीसंहारनाटकस्थं पद्यम्। स्वपितुर्द्रोणस्य वधेन क्रुद्धस्याऽश्वत्थाम्न उक्तिरियम्। मनुजपशुभिः = नरपशुभिः, धर्माऽधर्मज्ञान-राहित्येन पशुसदृशैरिति भावः। निर्मर्यादैः = मर्यादारहितैः, गुरुत्वमर्यादाज्ञानशून्यै-रिति भावः, उदायुधैः = उत्तोलितशस्त्रैः, यैः भवद्भिः=युष्माभिः, इदं = सद्योऽनुष्ठितं गुरु = महत्, पातकं = पातित्यावहं पापं, गुरुहत्यारूपमिति भावः। कृतं = विहित, धृष्टद्युम्नेनेति शेषः, अनुमतम्=अनुमोदनं कृतम्, दृष्टं वा=अवलोकितं वा, नरकरिपुणा सार्धं=श्रीकृष्णेन समं, सभीमकिरीटिनां = भीमसेनाऽर्जुनसहितानां, तेषां = सर्वेषाम् एवं, अयं = तेषां सन्निकृष्टस्थः, अहम् = अश्वत्थामा, असृङ्मेदोमांसैः = रुधिरवसा-पललैः, दिशां = दिगवस्थितशृगालादीनाम्, बलिम् = उपचारद्रव्यं, करोमि = विदधामि ॥ अस्मिन्पद्ये धृष्टद्युम्नादय आलम्बनविभावाः, तत्कृतद्रोणहत्यादय उद्दीपन-विभावाः, रिपूणां हननप्रतिज्ञा अनुभावः, आक्षेपलभ्या गर्वादयो व्यभिचारिभावाः। क्रोधः स्थायीभावः।

अस्य युद्धवीराद्भेदमाह—**रक्ताऽऽस्यनेत्रतेति**। अत्र = रौद्ररसे, रक्ताऽऽस्य-नेत्रता = रक्ते (लोहितवर्णे) आस्यनेत्रे (मुखनयने) यस्य सः, तस्य पुरुषस्य भावः, रौद्ररसस्य स्थायीभावः क्रोध इति भावः। युद्धवीरतः = युद्धवीरात्, भेदिनी = भेद-कारिणी, रौद्ररसे वीररसे चोभयत्र अरेरालम्बनत्वेऽपि क्रोधाविर्भावे रौद्रः, उत्साहा-विर्भावे वीर इत्यनयोर्भेद इति भावः ॥ २३१ ॥

रौद्र उ०—वेणी संहारमें अपने पिता द्रोणाचार्यके वधसे क्रुद्ध अश्वत्थामाकी उक्ति है। नरपशु, मर्यादाशून्य और शस्त्रोंको धारण करनेवाले जो तुम लोगोंने यह महापातक किया है, अनुमोदन किया है वा देख लिया है, श्रीकृष्ण, भीमसेन और अर्जुन इन सबका रुधिर, चर्बी और मांससे मैं दिशाओंको बलि देता हूँ।

रौद्र रसका युद्धवीरसे भेद कहते हैं—रौद्र रसमें मुख और नेत्र लाल वर्णके होते हैं, यही वीररसके युद्धवीरसे भेद करनेवाला है। दोनों रसोंमें शत्रु आलम्बन होता है परन्तु रौद्र रसमें स्थायी भाव क्रोध और वीररसमें उत्साह स्थायी भाव होता है ॥ २३१ ॥

अथ वीरः—

उत्तमप्रकृतिर्वीर उत्साहस्थायिभावकः ।
महेन्द्रदैवतो हेमवर्णोऽयं समुदाहृतः ॥ २३२ ॥
आलम्बनविभावास्तु विजेतव्यादयो मताः ।
विजेतव्यादिचेष्टाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ।
अनुभावास्तु तत्र स्युः सहायान्वेषणादयः ॥ २३३ ॥
सञ्चारिणस्तु धृतिमतिगर्वस्मृतितर्करोमाञ्चाः ।
स च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितश्चतुर्धा स्यात् ॥ २३४ ॥

वीररसं वर्णयति—**उत्तमप्रकृतिरिति** । उत्तमा (श्रेष्ठा, धीरोदात्तरूपेति भावः) प्रकृतिः (नायकः स्वभावो वा) यस्य स. । उत्साहस्थायिभावकः = उत्साह स्थायिभाव यस्य सः । एतादृशो वीररसः । महेन्द्रदैवतः = महेन्द्रः दैवत (देवता) यस्य सः, अयं = वीररसः, हेमवर्णः = हेम्नः (सुवर्णस्य) इव वर्णो यस्य सः । अयं = वीररसः, समुदाहृतः = उक्तः ॥ २३२ ॥

विजेतव्यादयः = विजेयत्वप्रभृतयः, आलम्बनविभावा मताः ।

अत्र आद्यशब्देन दानवीरे सम्प्रदानभूतपात्रादिः, धर्मवीरे धर्मादिः, युद्धवीरे शत्रुरूपविजेतव्यादिः दयावीरे च दीनादिश्चालम्बनविभावो यथायथं बोद्धव्यः । तस्य = वीररसस्य, विजेतव्यादिचेष्टाद्याः=युद्धवीरे विजेतव्यानां (शत्रुप्रभृतीनाम्) चेष्टाद्याः (अनिष्टाचरणाद्याः), उद्दीपनरूपिणः=उद्दीपनविभावाः । तत्र=वीररसे, सहायान्वेषणादयः=सहकारिगवेषणादयः, आदिपदेन दानवीरे दानार्थसंग्रहादयः, धर्मवीरे यज्ञाचरणादयः, युद्धवीरे सन्धिविग्रहादिप्रयोगाः, दयावीरे च सान्त्वनवाक्यादयोऽनुभावाः ॥२३३॥

वीररसस्य सञ्चारिभावान्प्रतिपादयति—**सञ्चारिणस्तु** । धृत्यादयः सञ्चारिभावाः । धृतिः = धैर्यं सन्तोषो वा । मतिः = अर्थनिर्द्धारणम् । गर्वः = अभिमानः । स्मृतिः = स्मरणम्, तर्कः = ऊहः । रोमाञ्चः=रोमाञ्चजनको हर्षः, रोमाञ्चस्य सञ्चारिभावत्वाऽभावाल्लक्षणयाऽयमर्थो बोद्धव्य । स च = वीररसश्च दानधर्मयुद्धैर्दयया च समन्वितः = युक्तः, चतुर्धा स्यात् ॥ २३४ ॥

वीर—वीर रसमें प्रकृति (नायक) उत्तम होता है, इसमें स्थायी भाव उत्साह और इसके देवता महेन्द्र और इसका वर्ण सुवर्णके समान कहा गया है ॥२३२॥ जीतनेके योग्य शत्रु आदि इसमें आलम्बन विभाव माने गये हैं, उनकी चेष्टा आदि उद्दीपन विभाव होते है, इसमें सहायका अन्वेषण आदि अनुभाव होते हैं ॥ २३३ ॥

धैर्य (सन्तोष) मति, गर्व, स्मरण, तर्क और रोमाञ्च इसमें सञ्चारिभाव होते हैं । वीरके चार भेद होते हैं—दानवीर, धर्मवीर, युद्धवीर और दयावीर ॥ २३४ ॥

स च वीरो दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीरो दयावीरश्चेति चतुर्विधः। तत्र दानवीरो यथा परशुरामः—

'त्यागः सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः' इति।

अत्र परशुरामस्य त्यागे उत्साहः स्थायिभावः, संप्रदानभूतब्राह्मणैरालम्बनविभावैः सत्त्वाध्यवसायादिभिश्चोद्दीपनविभावैर्विभावितः, सर्वस्वत्यागादिभिरनुभावैरनुभावितो हर्षधृत्यादिभिः संचारिभिः पुष्टिं नीतो दानवीरतां भजते।

धर्मवीरो यथा युधिष्ठिरः—

'राज्यं च वसु देहश्च भार्या भ्रातृसुताश्च ये।
यच्च लोके ममायत्तं तद् धर्माय सदोद्यतम्॥'

दानवीरो धर्मवीरो युद्धवीरो दयावीरश्चेति वीररसश्चतुर्विधः॥ २३४॥

दानवीरः परशुरामो यथा—**त्याग इति**। सप्तसमुद्रमुद्रितमहीनिर्व्याजदानावधिः= सप्तभिः (सप्तसंख्यकैः) समुद्रैः (सागरैः) मुद्रिता (वेष्टिता) या मही (पृथिवी) तस्या निर्व्याजं (निश्छलम्) यत् दानं (वितरणम्) तदेव अवधिः (सीमा) यस्य सः तादृशः; त्यागः = वितरणं, परशुरामस्येति भावः। अत्र = अस्मिन् उदाहरणे, ब्राह्मणैः = विप्रैः, कश्यपादिभिरिति भावः। सत्त्वाऽध्यवसायादिभिः = सत्त्वम् (सत्त्वगुणः), अध्यवसायः (उत्साहः) तदादिभिः (तत्प्रभृतिभिः), उद्दीपनविभावैः, विभावितः = सञ्जातविभावः। अनुभावितः = सञ्जाताऽनुभावः। पुष्टिः = पोषण, नीतः = प्रापितः, दानवीरता = दानवीररसभावं, भजते = आश्रयति।

धर्मवीरमुदाहरति—**राज्यमिति**। युधिष्ठिरो ब्रूते—राज्यं = राष्ट्रं, वसु = धनं, देहः = शरीरं, भार्या = पत्नी, ये च अन्ये = अपरे, भ्रातृसुताः = भ्रातरः सुताश्च एवं च लोके = भुवने, यच्च मम, आयत्तम् = अधीनम् अस्ति, तत् = सकलं, धर्माय = धर्माऽर्थम्, सदा = सर्वदा, उद्यतं = प्रस्तुतमस्तीति शेषः।

अत्र युधिष्ठिरस्य धर्मे उत्साहः स्थायी भावः। धर्म आलम्बनविभावः, धर्मस्येष्टसाधनताज्ञानमुद्दीपनविभावः। एतादृशी उक्तिरनुभावः। धृतिहर्षादयः सञ्चारिभावाः। एतेषां संयोगाद् धर्मवीररसस्य निष्पत्तिः।

दानवीर जैसे परशुराम—सात समुद्रोंसे वेष्टित पृथ्वीको निश्छल भावसे दान करना देना जिन (परशुराम) के त्यागकी सीमा है। इस पद्यमें परशुरामके त्यागमें उत्साह स्थायी भाव है, सम्प्रदानरूप ब्राह्मण—आलम्बन विभावोंसे, सत्त्वगुण और उत्साह आदि उद्दीपन विभावोंसे विभावित होकर सर्वस्वत्याग आदि अनुभावोंसे अनुभावित होकर और हर्ष और धैर्य आदि सञ्चारिभावोंसे पुष्ट होकर दानवीरके रूपको प्राप्त करता है। धर्मवीर जैसे युधिष्ठिर। युधिष्ठिर कहते हैं। राज्य, धन, शरीर, पत्नी, भाई और पुत्र आदि लोकमें जो मेरे अधीन है, वे सब धर्मके लिये सदा तैयार हैं॥

युद्धवीरो यथा श्रीरामचन्द्रः—

'भो लङ्केश्वर ! दीयतां जनकजा, रामः स्वयं याचते,
कोऽयं ते मतिविभ्रमः ? स्मर नयं, नाद्यापि किंचिद्गतम् ।
नेवं चेत् खरदूषणत्रिशिरसां कण्ठासृजा पङ्किलः
पत्त्री नैष सहिष्यते मम धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः ॥'

दयावीरो यथा जीमूतवाहनः—

'शिरामुखैः स्यन्दत एव रक्तमद्यापि देहे मम मांसमस्ति ।

युद्धवीररसमुदाहरति—**भो लङ्केश्वर इति**। बालरामायणस्थं पद्यमिदम् । भगवतः श्रीरामस्य रावणं प्रत्युक्तिरियम् । भो लङ्केश्वर = हे रावण !, जनकजा = जानकी, सीतेत्यर्थः । दीयतां = प्रतिपाद्यतां, मह्यमिति शेषः । रामः=राघवः, स्वयम्= आत्मना एव, याचते = याचनां कुरुते, न तु दूतादिनेति भावः । तव = रावणस्य, अयं; कः = कीदृशः, मतिविभ्रमः = बुद्धिभ्रान्तिः । नयं = नीतिं, स्मर = चिन्तय, परदार-परस्वाहरणमनिष्टफलमिति चिन्तयेति भाव । अद्याऽपि=एतत्कालपर्यन्तमपि, किंचित्= किमपि न गत = न जातं, परं दुष्कर्मणः परिणाम आसन्न इति भावः । एवम् = इत्थं, मद्याचनस्वीकरणमिति भावः, न चेत्=न करोषि यदि, तर्हि खरदूषणत्रिशिरसां=खरदूषण-त्रिमूर्धानां मद्धतानां रक्षसां, कण्ठाऽसृजा=गलरक्तेन, पङ्किलः=पङ्कयुक्तः, कण्ठरुधिररक्त इति भावः । धनुर्ज्याबन्धबन्धूकृतः=धनुषः (कार्मुकस्य) या ज्या (मौर्वी), तस्यां बन्धेन (सम्बन्धेन) बन्धूकृत (बान्धवीकृतः), एषः = समीपतरवर्ती, मम=रामस्य, पत्त्री= बाणः, न सहिष्यते=नो मर्षयिष्यति, त्वां हनिष्यतीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

अत्रोत्साहः स्थायी भावः । रावण आलम्बनविभावः । रावणकृतसीताहरण-मुद्दीपनविभावः । रामस्य शौर्यपूर्णोक्तिरनुभावः । गर्वादयोः व्यभिचारिभावाः । एषां संयोगेन सामाजिकेषु युद्धवीररसस्यास्वादनम् ।

दयावीरसमुदाहरति- **शिरामुखैरिति**। श्रीहर्षकृतनागानन्दनाटकस्थं पद्य-मिदम् । स्वमांसं किञ्चिद्भक्षयित्वा विरतं गरुडं प्रति जीमूतवाहनस्योक्तिरियम् । हे गरुत्मन् = हे गरुड !, शिरामुखैः = मम नाडीमुखैः, रक्तं = रुधिरं, स्यन्दत एव = स्रवति एव, अद्याऽपि = अधुनाऽपि, मम देहे = शरीरे, मांसं = पललम्, अस्ति =

युद्धवीर जैसे श्रीरामचन्द्र है । बालरामायणमें श्रीरामचन्द्र रावणको उत्तर देते हैं । "हे लङ्कापते ! जनककन्या (सीता) को दे दो राम स्वयम् याचना कर रहा है । यह क्या तुम्हारी बुद्धि-भ्रान्ति है ? नीतिका स्मरण करो, अभी तक कुछ नहीं हुआ है । हमारे कथनके अनुसार नहीं करोगे तो खर, दूषण और त्रिशिराके कण्ठके रक्तसे पङ्क-युक्त धनुषकी प्रत्यञ्चामें चढ़ाया गया यह मेरा बाण सहन नहीं करेगा ।

दयावीर जैसे जीमूतवाहन अपने मासको कुछ खाकर निवृत्त होनेवाले गरुडको कहते हैं । हे गरुडजी ! मेरी नाडीके मुखोंसे रुधिर बह ही रहा है, अभी तक मेरे

तृप्तिं न पश्यामि तवापि तावत् किं भक्षणात्त्वं विरता गरुत्मन् ! ॥'

एष्वपि विभावादयः पूर्वोदाहरणवदूह्याः ।

अथ भयानकः—

भयानको भयस्थायिभावः कालाऽधिदैवतः ।
स्त्रीनीचप्रकृतिः कृष्णो मतस्तत्त्वविशारदैः ॥ २३५ ॥
यस्मादुत्पद्यते भीतिस्तदत्रालम्बनं मतम् ।
चेष्टा घोरतरास्तस्य भवेदुद्दीपनं पुनः ॥ २३६ ॥
अनुभावोऽत्र वैवर्ण्यगद्गदस्वरभाषणम् ।

वर्तते । तव अपि = भवतः अपि, तावत्, तृप्तिं = सौहित्यं, न पश्यामि = नो विलोकयामि न जानामीति भावः । भक्षणात् = प्रत्यवसानात्, किं = किमर्थं, विरत = निवृत्तः, असीति शेषः । उपजातिर्वृत्तम् । अत्र शङ्खचूडनाग आलम्बनविभावः तस्य कातरोक्तिः उद्दीपनविभावः । जीमूतवाहनस्य परोपकारजन्यमान आनन्दोऽनुभावः । धृत्यादयः सञ्चारिभावाः । जीमूतवाहनस्य दयागामुत्साहः स्थायिभावः । एषां संयोगात्सामाजिकेषु दयावीररसः प्रादुर्भवति ॥ २३४ ॥

भयानकरसं वर्णयति—**भयानक इति ।** भयानको रस, भयस्थायिभावः = भयं स्थायिभावो यस्य सः । कालाऽधिदैवतः = कालः (यमराजः) अधिदैवतम् । यस्य सः, "कालो दण्डधरः श्राद्धदेवो वैवस्वतोऽन्तकः ।" इत्यमरः । क्वचित् "भूताऽधिदैवत" इति पाठः । स्त्रीनीचप्रकृतिः = स्त्रियो नीचाश्च प्रकृतयः (आश्रयाः) यस्य सः । तत्त्वविशारदैः = साहित्यप्रमेयनिपुणैः, कृष्णः = कृष्णवर्णः, मतः = सम्मतः ॥२३५॥

यस्मात् = वस्तुतः, भीतिः = भयम्, उत्पद्यते = संजायते, तत् = वस्तु, अत्र = भयानकरसे, आलम्बनं = विभावालम्बनं, मतम् । तस्य = वस्तुनः, घोरतराः = भयङ्करतराः, चेष्टाः = चेष्टनानि, उद्दीपनम् = उद्दीपनविभावः भवेत् ॥ २३६ ॥

अनुभाव इति । अत्र भयानकरसे वैवर्ण्यगद्गदस्वरभाषणं = वैवर्ण्यं (मुख-

शरीरमें मांस है । तुम्हारी तृप्ति भी मैं नहीं देख रहा हूँ । तुम खानेसे क्यों निवृत्त हो गये हो ? इन उदाहरणोंमें भी विभाव आदिको पहलेके उदाहरणके समान जानना चाहिए ।

भयानक—भयानक रसमें स्थायी भाव भय है, इसके देवता काल (यमराज) हैं, स्त्री और नीच जन इसके आश्रय होते हैं और तत्त्वके जानकारोंने इसका वर्ण कृष्ण माना है ॥ २३५ ॥

जिससे भय उत्पन्न होता है वह इसमें आलम्बन विभाव और उसकी भयङ्कर चेष्टाएं उद्दीपन विभाव है ॥ २३६ ॥

विवर्णता, गद्गद स्वरसे भाषण, मूर्च्छा, स्वेद, रोमाञ्च, कम्प, दिशाओंको

प्रलयस्वेदरोमाञ्चकम्पदिक्प्रेक्षणादयः ॥ २३७ ॥
जुगुप्सावेगसंमोहसंत्रासग्लानिदीनताः ।
शङ्कापस्मारसम्भ्रान्तिमृत्य्वाद्या व्यभिचारिणः ॥ २३८ ॥

यथा—

'नष्टं वर्षवरैः--' (पृ० १२४) इत्यादि ।

अथ बीभत्सः—

जुगुप्सास्थायिभावस्तु बीभत्सः कथ्यते रसः ।
नीलवर्णो महाकालदैवतोऽयमुदाहृतः ॥ २३९ ॥
दुर्गन्धमांसरुधिरमेदांस्यालम्बनं मतम् ।

विवर्णता) गद्गदस्वरेण (अव्यक्तशब्देन भाषणम् (वदनम्), प्रलयेत्यादिः = प्रलयः (नष्टचेष्टता) स्वेदः (घर्मजलम्) रोमाञ्चः (रोमकण्टकः) कम्पः (वेपथुः) दिक्प्रेक्षणादयः (दिशानिरीक्षणादयश्च) एते अनुभावाः ॥ २३७ ॥

भयानकस्य व्यभिचारिभावान्निर्दिशति—**जुगुप्सेत्यादि** । जुगुप्सा (घृणा) आवेगः (मचलनम्) संमोहः (वैचित्य) सम्भ्रान्तिः । संत्रासः ग्लानिः, दीनता, शङ्का, अपस्मारः मृत्युः = मरणम्, इत्याद्या व्यभिचारिभावाः ॥ १३८ ॥

भयानकमुदाहरति—**नष्टमिति** । (१२४ तमे पृष्ठे) अत्र वर्षवरादीनां भयं स्थायीभावः । सहसाऽऽगतो वानर आलम्बनविभावः । तत्कृतं भीत्युत्पादनमुद्दीपन-विभावः । वर्षवरादीनामदृश्यतादयोऽनुभावाः । शङ्कादयश्च व्यभिचारिभावाः । एषां संयोगात्सामाजिकानां भयानकरसाविर्भावः ॥ २३८ ॥

बीभत्सरसं निर्दिशति—**जुगुप्सेत्यादिः** । जुगुप्सा स्थायिभावः = जुगुप्सा (घृणा) स्थायी भावो यस्य सः । तादृशो बीभत्सो रसः कथ्यते । अयं = बीभत्सः; नीलवर्णः, महाकालदैवतः = महाकालः दैवतम् (अधिष्ठाता देवः) यस्य सः ॥ २३९ ॥

बीभत्सस्यालम्बनविभावं निर्दिशति—दुर्गन्धमांसरुधिरमेदांसि = दुर्गन्धानि (दुर्गन्धीनि, दुर्गन्धयुक्तानीति भावः) मांसरुधिरमेदांसि = (पललरक्तवसाः) आलम्बनं मतम् = आलम्बनविभावाः सम्मताः ।

देखना इत्यादि इसके अनुभाव होते हैं ॥ २३७ ॥

जुगुप्सा, आवेग, समोह, सन्त्रास, ग्लानि, दीनता, शङ्का, अपस्मार, संभ्रम, मृत्यु इत्यादि भयानक रसके व्यभिचारि भाव हैं ॥ २३८ ॥

उ०—"नष्ट वर्षवरैः" इत्यादि (१२४ पृष्ठ) ।

बीभत्स—बीभत्स रसमें स्थायी भाव जुगुप्सा है, इसका वर्ण नील और देवता महाकाल हैं ॥ २३९ ॥

दुर्गन्धयुक्त मांस, लोहू और चर्बी आदि इसके आलम्बन विभाव हैं । उन्हीं

तत्रैव क्रिमिपाताद्यमुद्दीपनमुदाहृतम् ॥ २४० ॥
निष्ठीवनास्यवलननेत्रसङ्कोचनादयः ।
अनुभावास्तत्र मतास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः ॥ २४१ ॥
मोहोऽपस्मार आवेगो व्याधिश्च मरणादयः ॥ ।

यथा—

'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिं प्रथममथ पृथूच्छोथभूयांसि मांसा-
न्यंसस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभान्युग्रपूतीनि जग्ध्वा ।
आर्तः पर्यस्तनेत्रः प्रकटितदशनः प्रेतरङ्कः करङ्का-

बीभत्सस्योद्दीपनं निर्दिशति—तत्रैवेति । तत्रैव=दुर्गन्धमांसादिषु, क्रिमिपाताद्य=क्रिमिपतनप्रभृति, उद्दीपनम् = उद्दीपनविभावः, उदाहृतम्=उदाहरणीकृतम् ॥ २४० ॥

बीभत्सेऽनुभावान्निर्दिशति—निष्ठीवनाऽऽस्यवलननेत्रसङ्कोचनादयः = निष्ठीवनम् (थुत्करणम्) आस्यवलन (मुखसंवरणम्) नेत्रसङ्कोचनं (नयनकूणनम्) तदादयः, तत्र = बीभत्सरसे, अनुभावाः मताः ।

बीभत्से व्यभिचारिभावान्निर्दिशति—तथा स्युर्व्यभिचारिणः ॥ २४१ ॥

मोहः = वैचित्यम्, अपस्मारः = कादाचित्कत्वेन स्मृतिनाशको रोगविशेषः, व्याधिः = सामान्यरोगः, मरणादयश्च व्यभिचारिणो भावाः ॥

बीभत्सरसमुदाहरति—उत्कृत्येति । मालतीमाधवे श्मशाने शवं भक्षयन्तं पिशाचं दृष्ट्वा माधवस्योक्तिरियम् । पर्यस्तनेत्रः = पर्यस्ते (अन्तर्निक्षिप्ते, दुर्बलत्वादिति भावः) नेत्रे (नयने) यस्य सः । प्रकटितदशनः = प्रकटिताः (प्रकाशिताः) दशनाः (दन्ताः) येन सः, मांसचर्वणलोलुपत्वेनेति भावः । आर्तः = व्याकुलः, सत्वरमांसभक्षणार्थमिति शेषः प्रेतरङ्कः = प्रेतेषु रङ्कः (दरिद्रः), प्रथमम् = आदौ कृत्ति= चर्म, उत्कृत्य उत्कृत्य = पुनः पुनश्छित्त्वा, नखैर्दन्तैश्चेति शेषः अथ = चर्मच्छेदनाऽनन्तरं पृथूच्छोथभूयांसि = पृथुः (महान्) य उच्छोथः (उत्पन्नशोथरोगः) तेन भूयांसि (प्रचुराणि)। उग्रपूतीनि = उग्रा (उत्कटा, दुःसहेति भावः) पूतिः (दुर्गन्धः) येषां तानि । असस्फिक्पृष्ठपिण्डाद्यवयवसुलभानि = अंसौ (स्कन्धौ)

(मांस आदि) में कीड़े पड़ना आदि उद्दीपन विभाव है ॥ २४० ॥

थूकना, मुंह मोड़ना, नेत्रोंको सङ्कुचित करना आदि अनुभाव हैं ।

मोह, अपस्मार, आवेग, व्याधि और मरण आदि बीभत्स रसमें व्यभिचारिभाव हैं ।

उ०—मालतीमाधवमें श्मशान (मरघट) में शव (मुर्दे) को खाते हुवे पिशाचको देखकर माधवकी उक्ति है । गड़े हुए नेत्रों वाला दाँतोंको दिखाता हुआ

दङ्कस्थादस्थिसंस्थं स्थपुटगतमपि क्रव्यमव्यग्रमत्ति ॥'

अथाद्‌भुतः—

अद्‌भुतो विस्मयस्थायिभावो गन्धर्वदैवतः ॥ २४२ ॥
पीतवर्णो वस्तु लोकातिगमालम्बनं मतम् ।
गुणानां तस्य महिमा भवेदुद्दीपनं पुनः ॥ २४३ ॥

स्फिचौ (कटिस्थमांसपिण्डौ) पृष्ठपिण्ड च प्राण्यङ्गत्वात्समाहारद्वन्द्वः, तत् आदिः (प्रकारः) येषां ते, ते च ते अवयवाः (अङ्गानि), तेषु सुलभानि (सुप्राप्याणि, स्थूलत्वात्सौलभ्येन अनायासप्राप्तव्यानीति भावः । तादृशानि मांसानि = क्रव्याणि, जग्ध्वा = भक्षयित्वा, अङ्कस्थात् = उत्सङ्गस्थितात्, करङ्कात् = शिरसः, शवस्येति शेषः । "करङ्को मस्तकेऽपि स्यात्" इति धरणिः । अस्थिसंस्थं=कीकसंस्थितं, तथा स्थपुटगतम् अपि = निम्नोन्नतविषमस्थानस्थितम् अपि, क्रव्यं = मांसं, "पिशितं तरसं मांसं पललं क्रव्यमामिषम् ।" इत्यमरः । अव्यग्रम् = आकुलतारहितं यथा तथेति क्रियाविशेषणं, धैर्यपूर्वकमिति भावः । अत्ति = भक्षयति । स्रग्धरा वृत्तम् । अत्र शवमांसम् आलम्बनं, तत्कर्तनं मांसादनं चोद्दीपनं, माधवस्य निष्ठीवनादयोऽनुभावाः । तद्दर्शनान्मोहादयो व्यभिचारिभावाः । जुगुप्सा च स्थायिभावः । इत्थं च सामाजिकेषु बीभत्सरसप्रकाशः ॥

अद्‌भुतरसं वर्णयति—**अद्‌भुत इति** । अद्‌भुतो रसः, विस्मयस्थायिभावः = विस्मयः स्थायी भावो यस्य सः । गन्धर्वदैवतः = गन्धर्वः (देवयोनिविशेषः) दैवतम् (अधिदेवः) यस्य सः नाट्यशास्त्रे तु "अद्‌भुतो ब्रह्मदैवतः" इति दृश्यते ॥ २४२ ॥

पीतवर्णः = पीतः (हरिद्राऽऽभः) वर्णो यस्य सः । लोकाऽतिगं = लोकाऽतिवर्ति, वस्तु = पदार्थः, आलम्बनं मतम् = आलम्बनविभावः संमतः । तस्य = लोकाऽतिगवस्तुनः, महिमा = महत्त्वम्, उद्दीपनम् = उद्दीपनविभावः, उदाहृतं = प्रकीर्तितम् ॥ २४३ ॥

व्याकुल यह दरिद्र प्रेत चमड़ेको नोच नोच कर, बड़े सूजवाले अत्यन्त दुर्गन्ध कन्धे और कटिमें स्थित मांसपिण्ड तथा पीठ आदि अवयवोंमें सुलभ मांसोंको खाकर अपनी गोदमें स्थित शवके शिरसे हड्डीमें स्थित और निम्न उन्नत तथा विषय स्थानमें पड़े हुए मांसको भी धैर्यपूर्वक खा रहा है ॥

अद्‌भुत— इस रसमें स्थायी भाव विस्मय और देवता गन्धर्व हैं ॥ २४२ ॥

इसका वर्ण पीला है और अलौकिक वस्तु आलम्बन विभाव है, उसके गुणोंकी महिमा उद्दीपन विभाव है ॥ २४३ ॥

स्तम्भः स्वेदोऽथ रोमाञ्चगद्‌गदस्वरसंभ्रमाः ।
तथा नेत्रविकासाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ॥ २४४ ॥
वितर्कावेगसंभ्रान्तिहर्षाद्या व्यभिचारिणः ।

यथा—

'दोर्दण्डाञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यत-
टंकारध्वनिरार्यबालचरितप्रस्तावनाडिण्डिमः ।
द्राक्पर्यस्तकपालसंपुटमिलद्‌ब्रह्माण्डभाण्डोदर-

अद्‌भुतरसस्याऽनुभावान्निर्दिशति—**स्तम्भ इति** । स्तम्भः=गत्यभावः, स्वेदः= घर्मजल, रोमाञ्चगद्‌गदस्वरसंभ्रमाः = रोमाञ्च (रोमकण्टकः), गद्‌गदस्वरः (अस्पष्ट-स्वरः) सम्भ्रमः (त्वरा), तथा च नेत्रविकासाद्याः=नयनविकाशप्रभृतयः, "अनुभावाः" प्रकीर्तिताः = वर्णिताः ॥ २४४ ॥

अद्‌भुतरसस्य व्यभिचारिभावान्निर्दिशति—वितर्काऽऽवेगसम्भ्रान्तिहर्षाद्याः = 'वितर्कः (विविधस्तर्कः) कल्पना, आवेगः (जवाऽतिशयः) सम्भ्रान्तिः (भ्रमः), हर्षः (आनन्दः) इत्यादयो व्यभिचारिणः = व्यभिचारिभावाः ॥

अद्‌भुतरसमुदाहरति—**दोर्दण्डाऽञ्चितेत्यादिः** । महावीरचरिते रामकृतहर-धनुर्भङ्गध्वनिं श्रुत्वा लक्ष्मणस्योक्तिरियम् । दोर्दण्डाऽञ्चितचन्द्रशेखरधनुर्दण्डावभङ्गोद्यतः= दोर्दण्डाभ्याम् (भुजदण्डाभ्याम्) अञ्चितम् (उत्क्षिप्तम्) यत् चन्द्रशेखरधनुः (हर-चापम्) तस्य अवभङ्गेन (आमर्दनेन) उद्यतः (उद्‌गतः)। आर्यबालचरित-प्रस्तावनाडिण्डिमः = आर्यस्य (पूज्यस्य, श्रीरामस्य) यत् बालचरितं (शिशुचरित्रम्) तस्य या प्रस्तावना (आरम्भः), तत्र डिण्डिमः (वाद्यविशेषः, प्रकाशक इति शेषः)। तादृशो यष्टङ्कारध्वनिः (टङ्कृतिशब्दः)। द्राक्पर्यस्तेत्यादिः = द्राक् (शीघ्रम्) पर्यस्ते (विक्षिप्ते) ये कपालसंपुटे (कपालेऽर्ध्वाऽधोभागौ) ताभ्यां मिलत् (संगच्छत्) यत् ब्रह्माऽण्डरूपं भाण्डं (पात्रम्) तस्योदरे (अभ्यन्तरभागे) भ्राम्यन् (भ्रमन्)

स्तम्भ, स्वेद, रोमाञ्च, अस्पष्ट स्वर, घबड़ाहट, तथा नेत्र विकास आदि इसके अनुभाव है ॥ २४४ ॥

वितर्क, आवेग, भ्रान्ति और हर्ष आदि व्यभिचारिभाव हैं ।

उ०—महावीर चरितमें श्रीरामके शिवधनुको तोड़ने पर उत्पन्न शब्दको सुनकर लक्ष्मणजीकी उक्ति है । बाहुदण्डोंसे उठाये गये शिवधनुके भङ्गसे उत्पन्न, पूज्य-(रामचन्द्रजी) के बाल्य चरित्रके प्रारम्भके डिण्डिम वाद्य (ढिंढोरा) के समान टङ्कार शब्द, शीघ्र विक्षिप्त कपालके ऊँचे और नीचे दो भाग उनसे मिले हुए ब्रह्माण्ड-

भ्राम्यत्पिण्डितचण्डिमा कथमहो ! नाद्यापि विश्राम्यति ॥'

अथ शान्तः—

शान्तः शमस्थायिभाव उत्तमप्रकृतिर्मतः ॥ २४५ ॥
कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः श्रीनारायणदैवतः ।
अनित्यत्वादिनाऽशेषवस्तुनिःसारता तु या ॥ २४६ ॥
परमात्मस्वरूपं वा तस्यालम्बनमिष्यते ।

पिण्डितः (बहुलीकृतः) चण्डिमा (तीक्ष्णत्वम्) यस्य, तादृशः सन् कथं = केन प्रकारेण, अद्याऽपि = इदानीमपि, न विश्राम्यति = नो विरमति, प्रतिछत्रनिरूपेण परिस्फुरत्येवेति अहो=आश्चर्यम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । अत्र धनुष्टङ्कार आलम्बनविभावः, तस्य विस्तीर्णतोद्दीपनविभावः । तस्य वर्णनमनुभावः, हर्षादयश्च व्यभिचारिभावाः । लक्ष्मणस्य विस्मयः स्थायिभावः, एतेषां समवायेन सामाजिकानामद्भुतरसप्रतीतिः ॥

शान्तरस वर्णयति—**शान्त इति** । "शान्तः" शमस्थायिभावः = शमः (शान्तिः) स्थायी भावो यस्य सः । अत उत्तमप्रकृतिः = उत्तमा प्रकृतिः (प्रधानपुरुषः, नायकः) यस्य सः, तादृशो मतः = अभिमतः ॥ २४५ ॥

कुन्देन्दुसुन्दरच्छायः = सुन्दरी (मनोहरा) छाया (कान्तिः), यस्य सः । कुन्देन्दू (माध्यपुष्पचन्द्रौ) इव सुन्दरच्छायः । श्रीनारायणदैवतः = श्रीनारायणः दैवतं यस्य सः ।

शान्तरसस्यालम्बनं निर्दिशति—**अनित्यत्वादिनेति** । अनित्यत्वादिना = नश्वरत्वादिना, या अशेषवस्तुनिःसारता=समस्तपदार्थानां सारशून्यता ॥ २४६ ॥

वा = अथवा, परमात्मस्वरूप = परमेश्वरस्वरूपं, तस्य = शान्तरसस्य, आलम्बनम्=आलम्बनविभावः, इष्यते = अभिलष्यते ।

शान्तरसस्योद्दीपनविभावान्निर्दिशति—पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः =

रूप भाण्डके भीतरी भागमें घूमती हुई फैलाई गई तीक्ष्णतासे युक्त होकर कैसे अभी तक विश्रान्त नहीं हो रहा है ।

शान्त—शान्तरसमें स्थायी भाव शम है, उत्तम जन इसका आश्रय होता है ॥ २४५ ॥

कुन्दपुष्प और चन्द्रमाके समान इसकी कान्ति सुन्दर होती है, इसके देवता श्रीनारायण है । अनित्यत्व आदिसे समस्त वस्तुओंकी निःसारता ॥ २४६ ॥

अथवा परमात्माका स्वरूप शान्तरसका आलम्बन विभाव है । पवित्र आश्रम,

पुण्याश्रमहरिक्षेत्रतीर्थरम्यवनादयः ॥ २४७ ॥
महापुरुषसङ्गाद्यास्तस्योद्दीपनरूपिणः ।
रोमाञ्चाद्याश्चाऽनुभावास्तथा स्युर्व्यभिचारिणः ॥ २४८ ॥
निर्वेदहर्षस्मरणमतिभूतदयादयः ।

तथा—

'रथ्यान्तश्चरतस्तथा धृतजरत्कन्थालवस्याध्वगैः
सत्रासं च सकौतुकं च सदयं दृष्टस्य तैर्नागरैः ।
निर्व्याजीकृतचित्सुधारसमुदा निद्रायमाणस्य मे

पुण्याश्रमः (पारत्राश्रमः), हरिक्षेत्रं (विष्णुक्षेत्रम्), तीर्थं (प्रयागादिकम्) रम्यवनम् (सुन्दरकाननं, नैमिषारण्यादिकम्), तदादयः ॥ २४७ ॥

एवमेव महापुरुषसङ्गाद्याः = लोकोत्तरजनसंसर्गाद्याः, तस्य = शान्तरसस्य उद्दीपनरूपिणः = उद्दीपनविभावरूपाः ॥

शान्तरसस्याऽनुभावान्निर्दिशति—**रोमाञ्चाद्या इति** । रोमाञ्चाद्याः = रोमकण्टकाद्याः, आद्यशब्दात् संन्यासादयश्च, "अनुभावाः" ॥ २४८ ॥

शान्तरसस्य व्यभिचारिभावान्निर्दिशति—**तथा स्युरिति** । तथा निर्वेदहर्ष-स्मरणमतिभूतदयादयः=निर्वेदः (वैराग्यम्), हर्षः (आनन्दः) स्मरणम् (स्मृतिः) मतिः, भूतदया (भूतेषु = प्राणिषु, दया = अनुकम्पा), इत्यादयो व्यभिचारिणः = व्यभिचारिभावाः ।

शान्तरसमुदाहरति-**रथ्याऽन्त इति** । कस्यचिद्विरक्तस्योक्तिरियम् । रथ्याऽन्तः= प्रतोलीमध्ये, "रथ्या प्रतोली विशिखा' इत्यमरः । चरतः = भिक्षार्थं भ्रमतः, तथा धृतजरत्कन्थालवस्य = धृतः (परिहितः) जरन् (जीर्णः) कन्थालवः (जीर्णवस्त्र-खण्डम्) येन, तस्य । अध्वगैः=पथिकैः, नागरैः=नगरनिवासिभिर्जनैः, सत्रासं = सभयं, विकृताकारत्वादिति शेषः । सकौतुकं=सकुतूहलं च, अदृष्टपूर्वत्वादिति शेषः । सदयं च= सकृपं च, दृष्टस्य=अवलोकितस्य, निर्व्याजीकृतचित्सुधाररसमुदा=निर्व्याजीकृतः (छलेन

भगवान् विष्णुका क्षेत्र, तीर्थ नैमिषाऽरण्य आदि सुन्दरवन, आदि ॥ २४७ ॥

महात्माओंका सत्संग आदि शान्तरसके उद्दीपन विभाव हैं । रोमाञ्च आदि इसमें अनुभाव होते हैं ॥ २४८ ॥

निर्वेद, हर्ष, स्मरण, मति और प्राणियोंमें दया आदि शान्तरसमें व्यभिचारि-भाव होते है ।

उदा०—किसी विरक्त पुरुषकी उक्ति है । रास्तेमें चलते हुए और जीर्ण कन्थाके टुकड़ेको पहने हुए, त्रास, कौतुक और दयाके साथ नगरवासियोसे देखे गये तथा निश्छलसे किये गये ज्ञानामृतके आस्वादके हर्षसे निद्राको प्राप्त मेरे हाथमें रक्खे

निःशङ्कः करटः कदा करपुटीभिक्षां विलुण्ठिष्यति ॥'

पुष्टिस्तु महाभारतादौ द्रष्टव्या ।

अस्य दयावीरादेः सकाशाद् भेदमाह—

निरहङ्काररूपत्वात् दयावीरादिरेष नो ॥ २४९ ॥

दयावीरादौ हि नागानन्दादौ जीमूतवाहनादेरन्तरा मलयवत्याद्यनुरागादेरन्ते च विद्याधरचक्रवर्तित्वाद्व्याप्तेर्दर्शनादहङ्कारोपशमो न दृश्यते ।

अविहितः) यः चित्सुधारसः (ज्ञानाऽमृताऽऽस्वादः), तस्य मुदा (आनन्देन), निद्रायमाणस्य=निद्रामाचरतः, मुद्रितनयनस्येति भावः । तादृशस्य मे = मम, करपुटीभिक्षा = हस्ततलस्थभिक्षान्नं, निःशङ्कः=शङ्कारहितः, निर्भय इति भावः । करटः = काकः, कदा = कस्मिन्काले, विलुण्ठिष्यति = आच्छिद्य नेष्यति ? "शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

अत्र शमः स्थायी भावः । समस्तवस्तुनिःसारता आलम्बनविभावः । हरिक्षेत्रादिदर्शनम् (आक्षेपलभ्यम्) उद्दीपनविभावः । आक्षेपलभ्या रोमाञ्चादयोऽनुभावाः । निर्वेदहर्षादयो व्यभिचारिभावाः । एषां संघटनेन सहृदयेषु शान्तरसप्रतीतिः ॥

ननु दयावीरादौ आदिपदेन धर्मवीरदेवताविषयरत्यादिषु च कथं न शान्तरसस्याऽन्तर्भाव इति आक्षेपे कृते समाधत्ते—**निरहङ्काररूपत्वादिति** । निरहङ्काररूपत्वात्= अहङ्काररहितस्वरूपत्वाद्धेतोः, एषः = शान्तरसः, नो दयावीरादिः = न दयावीराद्यन्तर्भूत इति भावः । दयावीरादिषु अहङ्कारस्य सत्त्वादत्र च शान्तरसे तदभावादस्य स्वातन्त्र्येणाऽस्तित्वमिति तत्त्वम् ॥ २४९ ॥

उक्तमर्थं विवृणोति । दयावीरादौ = दयावीरधर्मवीरादौ, जीमूतवाहनादौ= जीमूतवाहनयुधिष्ठिरादौ, अन्तरा=मध्ये, स्वजीवनमिति शेषः । मलयवत्याद्यनुरागादेः= दयावीरस्य जीमूतवाहनस्य मलयवत्यनुरागात्, धर्मवीरस्य युधिष्ठिरस्य धर्माऽनुरागादित्यर्थः । अन्ते च विद्याधरचक्रवर्तित्वाद्व्याप्तेः=दयावीरस्य जीमूतवाहनस्य विद्याधरचक्रवर्तित्वप्राप्तेः, धर्मवीरस्य युधिष्ठिरस्य भारतसाम्राज्यप्राप्तेरिति भावः । दर्शनात्

गये भिक्षाके अन्नको निःशङ्क होकर कौआ कब छीन लेगा ? 'इस रसकी पुष्टि महाभारत आदिमें देखनी चाहिए ।

अहङ्काररहित होनेसे यह शान्त रस दयावीर आदिमें अन्तर्भूत नहीं होता है ॥ २४९ ॥

नागानन्द आदिमें दयावीर जीमूतवाहन आदिको पहले मलयवती आदिका अनुराग और अन्तमें विद्याधरोंके चक्रवर्तित्व आदिकी प्राप्ति देखनेसे अहङ्कारकी निवृत्ति नहीं देखी जाती है । सब प्रकारसे अहङ्कारका निवृत्तिरूप होनेसे शान्तरस दयावीर

शान्तस्तु सर्वाकारेणाहङ्कारप्रशमैकरूपत्वान्न तत्रान्तर्भावमर्हति। ततश्च नागानन्दादेः शान्तरसप्रधानत्वमपास्तम्। ननु—

'न यत्र दुःखं न सुखं न चिन्ता न द्वेषरागौ न च काचिदिच्छा।
रसः स शान्तः कथितो मुनीन्द्रैः सर्वेषु भावेषु समप्रमाणः॥'

इत्येवंरूपस्य शान्तस्य मोक्षावस्थायामेवात्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां प्रादुर्भावात्तत्र सञ्चार्यादीनामभावात् कथं रसत्वमित्युच्यते—

अहङ्कारोपशमः = दर्पनिवृत्तिः, न दृश्यते। एतद्वैपरीत्येन शान्तस्तु = शान्तरसस्तु, सर्वाकारेण = सर्वप्रकारेण, अहङ्कारप्रशमैकरूपत्वात्=अहङ्कारनिवृत्तिप्रधानस्वरूपत्वात्, तत्र = दयावीररसे धर्मवीररसे च, न अन्तर्भावम् अर्हति = न अन्तर्भवतीति भावः। अतश्च=अस्मात्कारणाच्च, नागानन्दे शान्तरसप्रधानत्वम् अपास्तं=निराकृतम्।

केषांचिन्मतेन शान्तस्य रसत्वेऽनुपपत्तिं प्रदर्शयति—**न तत्रेति**। यत्र = शान्ते, दुःखं न, सुखं न, द्वेषरागौ (द्वेषः=अप्रीतिः, रागः, अनुरागः) न, काचित् इच्छा न। ततश्च सर्वेषु=सकलेषु; भावेषु=पदार्थेषु, लोष्ठकाञ्चनादिविभावेष्विति भावः। समप्रमाणः (समं = तुल्यं, प्रमाणं = प्रतीतिः यस्य सः), समदर्शित्वमिति भावः। मुनीन्द्रैः = भरतादिभिः, सः शान्तो रसः कथितः॥

अत्र "शमः प्रधान" एतादृशः पाठो न मनोरमः, "क्लीबे प्रधानं प्रमुखप्रवेकाऽनुतमोत्तमाः"। इतिकोशाऽनुशासनता प्रधानशब्दस्य नपुंसकलिङ्गत्वात्। "समप्रधान" इति पाठेऽपि शमसत्त्वे क्षत्यभावः। अतः इत्येवंरूपस्य शान्तस्य = वादिना रसत्वेनाऽभिमतस्य, आत्मस्वरूपापत्तिलक्षणायां = स्वस्वरूपाऽवाप्तिस्वरूपायां, मोक्षाऽवस्थायां = मुक्तिदशायां, प्रादुर्भावात्=आविर्भावात्, तत्र = शास्त्रे, सञ्चार्यादीनां = व्यभिचारिभावादीनाम्, अत्रादिपदेन आलम्बोद्दीपनानुभावानामपि परामर्शः, अभावात्=राहित्यात्, कथं रसत्वम् ? इत्याशङ्क्य च समाधत्ते—

आदिमें अन्तर्भूत होनेके लिए योग्य नहीं है। इस कारणसे नागानन्द आदि शान्तरसप्रधान है यह कथन खण्डित हो जाता है।

शान्तको रस न माननेवाले आचार्यके मतको उपस्थित करते हैं—

जिसमें न दुःख, न सुख, न चिन्ता, न द्वेष, न राग और न किसी प्रकारकी इच्छा ही रहती है अतः समस्त पदार्थोंमें तुल्य प्रतीतिवाले उसको भरत आदि मुनीन्द्रोंने 'शान्तरस' कहा है। ऐसे स्वरूपवाले शान्तरसकी स्वस्वरूपापत्तिरूप मोक्षावस्थामें प्रादुर्भाव होनेसे, वैसे शान्तमें सञ्चारी आदि भावोंके न होनेसे कैसे रसत्वका उपपादन होगा ?

युक्तवियुक्तदशायामवस्थिता यः शमः स एव यतः ।
रसतामेति तदस्मिन् सञ्चार्यादेः स्थितिश्च न विरुद्धा ॥२५०॥

यश्चास्मिन्सुखाभावोऽप्युक्तस्तस्य वैषयिकसुखपरत्वान्न विरोधः । उक्तं हि—

'यच्च कामसुखं लोके यच्च दिव्यं महत्सुखम् ।

युक्तवियुक्तदशायामिति । युक्तवियुक्तदशायां = युक्तः, समाधिमान् योगीति भावः, तद्दशायाम् । वियुक्तः = योगरहितः, संसारीति भावस्तद्दशायाम् । एवं च युक्तवियुक्तदशायां = युक्तश्चाऽसौ वियुक्तः । युक्तोऽपि (योगयुक्तोऽपि) वियुक्तः कर्मशीलः), "कर्मणैव हि ससिद्धिमास्थिता जनकादयः । लोकसंग्रहमेवाऽपि संपश्यन्कर्तुमर्हसि । (गीता० ३-२०), इति भगवदुक्तेः । युक्तवियुक्तस्य दशा, तस्याम् । यः शमः अवस्थितः, स एव शमो यतः रसतां=शान्तरसभावम्, एति = प्राप्नोति, तत्= तस्मात्कारणात, अस्मिन् = शान्तरसे, सञ्चार्यादेः = व्यभिचार्यादिभावस्य, आदिपदेन आलम्बनोद्दीपनविभावानुभावाना परामर्शः, स्थितिः = अवस्थानं, न विरुद्धा = नो विरोधयुक्ता, निर्वेदरूपसञ्चारिभावस्थितिरस्मिन्नस्त्येति भावः ॥ २५० ॥

यच्चेति । अस्मिन् = शान्तरसे । तस्य = सुखाऽभावस्य, वैषयिकसुखपरत्वात्= इन्द्रियजन्यसुखपरत्वात्, न विरोधः ।

यच्चेति । लोके = अस्मिन् लोके, यच्च काममुख = प्रमदासहवासादिजन्यं विषयसुखम्, ऐहलौकिकमिति भावः । यच्च दिव्यं = स्वर्गवासादिजं, महत सुखम् ।

इस आशङ्काका उत्तर देते हैं—युक्त = योग (समाधि) युक्त अर्थात् योगी, उसकी अवस्थामें, वियुक्त = योगरहित अर्थात् संसारी उसकी अवस्थामें, एवम् युक्तवियुक्त = युक्त (योगी) होकर भी वियुक्त (कर्मशील) "कर्मणैव हि संसिद्धिमास्थिता जनकादयः । लोकसंग्रहमेवाऽपि संपश्यन्कर्तुमर्हसि" (गीता ३-२०) ऐसी भगवान् श्रीकृष्णकी उक्तिसे युक्त (योगी) होकर भी लोकसंग्रहके लिए फलाशाकी अपेक्षा न कर शास्त्रोक्त कर्मके अनुष्ठानमें तत्पर राजर्षि जनक आदि उनकी अवस्थामें भी जो शम (स्थायिभाव) है वह शान्तरसके भावको प्राप्त करता है, अतः शान्तरसमें सचारी आदि, आदि पदसे आलम्बन उद्दीपन विभाव और अनुभाव इनकी स्थितिमें कुछ भी विरोध नही है ॥ २५० ॥

शान्तरसमें जो सुखका अभाव कहा है वह सुख विषयजन्य सुख है उसीका अभाव होता है अत विरोध नहीं है ।

यहा भी है लोकमे जो विषयजन्य सुख है और जो दिव्य (स्वर्गवास आदिसे

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हतः षोडशीं कलाम् ॥'
'सर्वाकारमहङ्काररहितत्वं व्रजन्ति चेत् ।
अत्रान्तर्भावमर्हन्ति दयावीरादयस्तथा ॥'

आदिशब्दाद्धर्मवीरदानवीरदेवताविषयकरतिप्रभृतयः ।

तत्र देवताविषया रतिर्यथा—

कदा वाराणस्यामिह सुरधुनीरोधसि वसन्
वसानः कौपीनं शिरसि निदधानोऽञ्जलिपुटम् ।
अये गौरीनाथ ! त्रिपुरहर ! शंभो ! त्रिनयन !

पारलौकिकमिति भावः । एते = द्विविधे अपि सुखे, तृष्णाक्षयसुखस्य = तृष्णाऽभाव-जनितब्रह्मानन्दस्य षोडशी कलाम् = षोडशभागैकभागम् अपि, न अर्हतः = न प्राप्नुतः ।

सर्वाकारमिति । दयावीरादयः = दयावीरधर्मवीरादिरसाः, सर्वाकारं = सकलप्रकारम्, अहङ्काररहितत्वम् = अहङ्काराऽभाव, व्रजन्ति चेत् = प्राप्नुवन्ति यदि, तथा = तर्हि, अत्र = शान्तरसे, अन्तर्भावम् अर्हन्ति = अन्तर्निवेशार्थं योग्या भवन्ति, इत्थं च शान्तरसे तेषामन्तर्भावो न तु दयावीरादिषु शान्तरसस्याऽन्तर्भाव इति भावः । अतः शान्तरसोऽङ्गीकार्य इति भावः ।

आदिशब्दात् धर्मवीर-दानवीर देवताविषयरतिप्रभृतयः । अत्र प्रभृतिशब्दात् मुनिराजादिविषयाणां रतिभावानां परामर्शः ।

देवताविषयां रतिमुदाहरति **कदेति** । कश्चिच्छैवः भगवच्छिवविषया रतिं प्रकाशयति । कदा = कस्मिन् समये, इह = अत्र, वाराणस्या = काश्यां, सुरधुनीरोधसि= गङ्गातटे, वसन् = निवसन्, कौपीन = गुह्येन्द्रियाच्छादक वस्त्र, दधानः = धारयन्, शिरसि = मूर्ध्नि, अञ्जलिपुटं = सम्पिण्डितपाणिद्वितयपुटं, निदधानः = स्थापयन्, हे गौरीनाथ = हे पार्वतीपते, हे त्रिपुरहर = त्रिपुरनाशक, हे शम्भो ! हे त्रिनयन = हे

अन्य) महासुख हैं ये दोनों सुख तृष्णाक्षय सुखके सोलहवें भागको पानेके लिए भी योग्य नहीं है ॥

दयावीर आदि रस सब प्रकारसे अहङ्कार-रहित होंगे तो इसी (शान्त रस) में अन्तर्भूत होनेके लिए योग्य होंगे ॥

आदि शब्दसे धर्मवीर, दानवीर और देवताविषयक रति आदिका ग्रहण होता है । उसमें देवता विषय रति जैसे—कोई भक्त शिवविषयक रतिको प्रकाशित करता है—मैं किस समयमें इस वाराणसीमें गङ्गाजीके किनारे निवास करता हुआ और कौपीनको पहना हुआ शिरमें अञ्जलिको रखकर हे गौरीनाथ ! हे त्रिपुरहर ! हे शम्भो !

प्रसीदेति क्रोशन् निमिषमिव नेष्यामि दिवसान् ॥'

अथ मुनीन्द्रसंमतो वत्सलः—

स्फुटं चमत्कारितया वत्सलं च रसं विदुः ।
स्थायी वत्सलतास्नेहः, पुत्राद्यालम्बनं मतम् ॥ २५१ ॥
उद्दीपनानि तच्चेष्टा विद्याशौर्यदयादयः ।
आलिङ्गनाङ्गसंस्पर्शशिरश्चुम्बनमीक्षणम् ॥ २५२ ॥

त्रिलोचन !, प्रसीद = प्रसादं कुरु, इति = एवं, क्रोशन् = आह्वयन्, दिवसान् = बहूनि दिनानि, निमिषम् इव = निमेषपातपरिमितमल्प क्षणम् इव, "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति कालाऽत्यन्तसंयोगे द्वितीया । नेष्यामि = यापयिष्यामि । शिखरिणी वृत्तम् । अत्राऽहङ्काररहितत्वेन नो धर्मवीरो रसः सञ्चार्यादिभिः परिपुष्टेरभावान्न च शान्तरसः, शिवविषयं रतिभावमात्रं प्रतीयते ।

अथ भरतमुनिसम्मत वत्सलरसमुदाहरति—**स्फुटमिति** । स्फुटं = व्यक्तं यथा तथा, चमत्कारितया = चमत्कारजनकत्वेन, वत्सल च रसं = वत्सलनामक, रसं, विदुः = जानन्ति, विद्वांस इति शेषः । वत्सलतास्नेहः = वत्सलतारूपः स्नेहः, स्थायी= स्थायी भावः । पुत्रादि = तनयादि, आदिपदेन तनयाभ्रात्रादीनां परिग्रहः । आलम्बनं मतम् = आलम्बनविभावः संमतः ॥ २५१ ॥

वत्सलस्योद्दीपनविभावान्निर्दिशति—**उद्दीपनानीति** । तच्चेष्टा=पुत्रादिचेष्टा, विद्याशौर्यदयादयः = विद्या (वेदादिशास्त्रज्ञानम्) शौर्यं (शूरता) दयादयः (करुणादयः) उद्दीपनानि = उद्दीपनविभावाः ।

वत्सलरसस्यानुभावान्निर्दिशति—**आलिङ्गनाऽङ्गसंस्पर्शशिरश्चुम्बनम्** । आलिङ्गनम् (आश्लेषः), अङ्गसंस्पर्शः (देहाऽवयवाऽऽमर्शनम्), शिरश्चुम्बनम् (मस्तकचुम्बनम् , ईक्षणम् अवलोकनम् ॥ २५२ ॥'

हे त्रिनयन ! "आप प्रसन्न हों" ऐसा कहता हुआ कई दिनोंको भी एक निमेषके समान बिताऊंगा ॥

मुनीन्द्र (भरत) सम्मत वत्सलरस—स्पष्ट रूपसे चमत्कारी होनेसे वत्सलको भी रस मानते हैं, इसमें वात्सल्य स्नेह स्थायी भाव और पुत्र आदि आलम्बन विभाव माने गये हैं ॥ २५१ ॥

पुत्र आदिकी चेष्टा, विद्या, शूरता और दया आदि उद्दीपन विभाव है । आलिङ्गन, अङ्गस्पर्श, शिरका चुम्बन, देखना ॥ २५२ ॥

पुलकानन्दबाष्पाद्या अनुभावाः प्रकीर्तिताः ।
सञ्चारिणोऽनिष्टशङ्काहर्षगर्वादयो मताः ॥ २५३ ॥
पद्मगर्भच्छविर्वर्णो दैवतं लोकमातरः ।

यथा—

'यदाह धात्र्या प्रथमोदितं वचो ययौ तदीयामवलम्ब्य चाङ्गुलीम् ।
अभूच्च नम्रः प्रणिपातशिक्षया पितुर्मुदं तेन ततान सोऽर्भकः ॥'

पुलकाऽऽनन्दबाष्पाद्याः = पुलकः (रोमाञ्चः) आनन्दबाष्पम् (हर्षाऽश्रुपातः), तदाद्याः अनुभावाः, प्रकीर्तिताः = व्याख्याताः ।

वत्सलरसस्य सञ्चारिभावान्निर्दिशति—**संचारिण इति** । अनिष्टशङ्काहर्षगर्वादयः = अनिष्टशङ्का (पुत्रादीनामरिष्टाशङ्का) हर्षः (आनन्दः), गर्वः (अभिमानः), तदादयः, सञ्चारिणः = व्यभिचारिभावाः, मताः = अभिमताः ॥ २५३ ॥

वत्सलरसस्य वर्णदैवते वर्णयति—**पद्मवर्णच्छविः** = कमलकोशकान्तिः, वर्णः, दैवतम् = अधिदेवः, लोकमातरः = ब्राह्म्याद्यः सप्त मातरः ।

वत्सलरसमुदाहरति—**यदाहेति** । रघुवंशस्थ रघुशैशववर्णनमिदम् । सः, अर्भकः = बाल, रघुरिति भावः, धात्र्या उपमात्रा, प्रथमोदितं = प्रथमम् (प्राक्) उदितम् (उक्तम्), वचः = वचनं, यत्, अाह = अवदत् । तदीयां = धात्रीसम्बन्धिनीम्, अङ्गुलीं च = करशाखां च, अवलम्ब्य = आलम्ब्य, यत्, ययौ = जगाम । प्रणिपातशिक्षया = प्रणामोपदेशेन, नम्रश्च, = नमनशीलश्च, अभूत् = अभवत्, तेन = कर्मसमूहेन, सः = पूर्वोक्तः, अर्भकः = बालः, रघुरिति भावः । पितुः = जनकस्य, दिलीपस्येत्यर्थः । मुदं = हर्षं, ततान = विस्तारितवान् ।

अत्र दिलीपवत्सलता स्थायी भावः, रघुरालम्बनविभावः, तथाविधभाषणादिकमुद्दीपनविभावः, आलिङ्गनादिकमनुभावः, हर्षादयः सञ्चारिभावः । एतेषां समवायेन सामाजिकानां वत्सलरस आविर्भवति । वंशस्थं वृत्तम् ॥

रोमाञ्च, हर्षाश्रुका पतन आदि अनुभाव कहे गये है । अनिष्टकी शङ्का, हर्ष और गर्व आदि संचारिभाव माने गये है ॥ २५३ ॥

कमलके कोशके समान इसका वर्ण होता है, ब्राह्मी आदि सात माताए इसकी देवताएं मानी गई हैं ।

उ०—रघुवंशमें रघुकी शैशव-अवस्थाका वर्णन है । वह बालक (रघु) धायसे पहले कहे गये वचनको कहता था और उसकी उंगलीको पकडकर चलता था, प्रणाम करनेकी शिक्षाके अनुसार नम्र भी होता था, ऐसे कर्मसे उसने पिताके हर्षको बढ़ाया ।

एतेषां च रसानां परस्परविरोधमाह—

आद्यः करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः ॥ २५४ ॥
भयानकेन करुणेनापि हास्यो विरोधभाक् ।
करुणो हास्यशृङ्गाररसाभ्यामपि तादृशः ॥ २५५ ॥
रौद्रस्तु हास्यशृङ्गारभयानकरसैरपि ।
भयानकेन शान्तेन तथा वीररसः स्मृतः ॥ २५६ ॥
शृङ्गारवीररौद्राख्यहास्यशान्तैर्भयानकः ।
शान्तस्तु वीरशृङ्गाररौद्रहास्यभयानकैः ॥ २५७ ॥
शृङ्गारेण तु बीभत्स इत्याख्याता विरोधिता ।

रसानां मिथोविरोधं प्रदर्शयति—**आद्य इति ।** आद्यः = प्रथमः, शृङ्गाररस इत्यर्थः, करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः रसैः, "विरोधभाक्" इति परस्थितेन पदेन सम्बन्धः । विरोधं भजतीति विरोधभाक् । शृङ्गारस्य करुणेन, बीभत्सेन रौद्रेण, वीरेण भयानकेन च रसेन विरोध इति भावः ॥ २५४ ॥

भयानकेनेति । हास्यः=हास्यरसः, भयानकेन करुणेन अपि रसेन विरोधभाक् । तथैव करुणः = करुणरसः, हास्यशृङ्गाररसाभ्याम् अपि, तादृशः=विरोधभाक् ॥२५५॥

रौद्र इति । रौद्रस्तु = रौद्ररसस्तु, हास्यशृङ्गारभयानकरसैः अपि, विरोधभाक् । तथा वीररसः भयानकेन शान्तेन च रसेन, तथा=विरोधभाक् स्मृतः ॥ २५६ ॥

भयानकः शृङ्गारवीररौद्राख्यहास्यशान्तैः, विरोधभाक् । एवं शान्तस्तु वीरशृङ्गाररौद्रहास्यभयानकै रसैः विरोधभाक् ॥ २५७ ॥

बीभत्सः शृङ्गारेण, विरोधभाक् इति शेषः । इति = इत्थं, विरोधिता=रसानां मिथो विरोधभावः, आख्याता = आख्यायि ॥

इन रसोंका परस्परमें विरोध कहते हैं—आद्य (शृङ्गार) रसका करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानक रससे विरोध है ॥ २५४ ॥

हास्य रसका भयानक और करुणसे भी विरोध है । करुण रसका हास्य और शृङ्गाररससे विरोध है ॥ २५५ ॥

रौद्र रसका हास्य, शृङ्गार और भयानक रससे विरोध है । वीर रसका भयानक और शान्तसे विरोध है ॥ २५६ ॥

भयानक रसका शृङ्गार, वीर, रौद्र, हास्य और शान्तसे विरोध है । शान्त रसका वीर, शृङ्गार, रौद्र, हास्य और भयानकसे विरोध है ॥ २५७ ॥

बीभत्स रसका शृङ्गारके साथ विरोध कहा गया है ।

आद्यः शृङ्गारः। एषां च समावेशप्रकारा वक्ष्यन्ते।

कुतोऽपि कारणात्क्वापि स्थिरतामुपयन्नपि ॥ २५८ ॥
उन्मादादिर्न तु स्थायी, न पात्रे स्थैर्यमेति यत्।

यथा विक्रमोर्वश्यां चतुर्थेऽङ्के पुरूरवस उन्मादः।

रसभावौ तदाभासौ भावस्य प्रशमोदयौ ॥ २५९ ॥
सन्धिः शबलता चेति सर्वेऽपि रसनाद्रसाः।

एषा = विरोधिना रसाना, समावेशप्रकाराः = स्थापनप्रकाराः, वक्ष्यन्ते = अभिधास्यन्ते, सप्तमपरिच्छेदे इति भावः।

ननु उन्मादादीनां स्थायित्व शृङ्गारादौ कथं नोक्तमिति आशङ्क्य समाधत्ते—**कुतोऽपीति**। कुतोऽपि कारणात्=कस्माच्चिदपि हेतोः, स्थिरतां=स्थायितां, कंचित्काल यावदिति शेषः। उपपन्नपि = प्राप्नुवन्नपि ॥ २५८ ॥

उन्मादादिः = उन्मादप्रभृतिः भावः, आदिपदेन निर्वेदादीनां परामर्शः। न तु स्थायी = स्थायिभावपदवाच्यस्तु न भवति, अत्राऽर्थे हेतुमाह—**न पात्रे इति**। यत् = यस्मात्कारणात्, सः = उन्मादादिः, पात्रे = नायकादौ, स्थैर्यं=स्थिरत्व, स्थायिभावत्व, न एति = न प्राप्नोति, उन्मादादिः रत्यादिवद् बहुकाल यावत्स्थैर्यं न प्राप्नोति अतः स न स्थायी भाव इति भावः।

उदाहरति—यथा विक्रमोर्वश्यां = त्रोटके, चतुर्थेऽङ्के, पुरूरवसः = नायकस्य उन्मादः, चतुर्थाऽङ्कं यावदेव तस्य स्थितेः स न स्थायिभावत्व प्राप्नोतीति भावः।

रसनधर्मसम्बद्धत्वाद् भावादीनामपि रसत्व परिगणयति—**रसभावाविति**। रसभावौ = रसः (शृङ्गारादिः) भावः (सञ्चार्यादिः), तदाभासौ = रसाभासभावाभासौ, भावस्य प्रशमोदयौ = भावप्रशमो भावोदयश्च ॥ २५९ ॥

सन्धिः=भावसन्धिः, शबलता=भावशबलता च, सर्वेऽपि=पूर्वोक्ताः सकला अपि, रसनात्=रसनधर्मयोजित्वात, दृश्यश्रव्यकाव्ययोरास्वादजननात्, रसाः=रसपदव्यपदश्याः।

इन विरोधी रसोंके समावेशके प्रकार (सप्तम परिच्छेद में) कहे जायेंगे। किसी कारणसे किसी पात्रमें कुछ समय तक स्थिर होता हुआ भी ॥ २५८ ॥

उन्माद आदि (व्यभिचारिभाव) स्थायिभाव नहीं होता है क्योंकि वह (उन्माद आदि) पात्रमें आदिसे अन्ततक स्थिर नहीं रहता है। जैसे विक्रमोर्वशीमें पुरूरवाका उन्माद (कुछ समय तक रहनेपर भी स्थिर नही है, अतः स्थायिभाव नहीं है)।

रसन (आस्वादन) किये जाने वालोंके भेद बतलाते हैं—रस, भाव, रसाभास, भावाभास, भावप्रशम भावोदय ॥ २५९ ॥

भावसन्धि, भावशबलता ये सब दृश्य और श्रव्य काव्यमें रसन (आस्वादन) को उत्पन्न करनेसे "रस" पदसे व्यवहार किये जाते है।

रसनधर्मयोगित्वाद्भावादिष्वपि रसत्वमुपचारादित्यभिप्रायः।

भावादय उच्यन्ते—

सञ्चारिणः प्रधानानि देवादिविषया रतिः ॥ २६० ॥

उद्बुद्धमात्रः स्थायी च भाव इत्यभिधीयते।

'न भावहीनोऽस्ति रसो न भावो रसवर्जितः।
परस्परकृता सिद्धिरनयो रसभावयोः ॥'

इत्युक्तदिशा परमालोचनया परमविश्रान्तिस्थानेन रसेन सहैव

रसं विहाय भावा अपि रसनाद्धेतोः लक्षणया एव रसपदवाच्याः, न तु मुख्यवृत्त्या रत्यादिस्थायिभावानामभावेनेति भावः ॥

भावादीनुद्दिशति—**सञ्चारिण इति**। प्रधानानि सचारिणः = रसान्मुख्यतराः व्यभिचारिभावाः, देवादिविषयाः = सुरादिविषयाः, आदिपदेन मुनिगुरुनृपपुत्रादीनां परामर्शः, रतिः = अनुरागः ॥ २६० ॥

उद्बुद्धमात्र=प्रादुर्भूतमात्रः, न पुनर्विभावादिभिः परिपुष्टिमानीत इति भाव। स्थायी = रत्यादिश्च, "भाव" इति, अभिधीयते = कथ्यते।

सञ्चारिभावाना प्रधानत्वं प्राचीनोक्त्या चोपपादयति—**न भावहीन इति**। रसः = शृङ्गारादिः, भावहीनः=निर्वेदादिव्यभिचारिभावरहितः, न अस्ति। निर्वेदादिव्यभिचारिभावैरेव रसस्य परिपोष इति भावः। तथा भावः=निर्वेदादिर्व्यभिचारिभावः, रसवर्जितः=शृङ्गारादिरसरहितः, न अस्ति, रससाहित्येनैव व्यभिचारिभावानामपि परिपोषो भवतीति भाव। अतः अनयोः=पूर्वोक्तयोः, रसभावयोः=शृङ्गारादिरसनिर्वेदादिव्यभिचारिभावयोः, परस्परकृता=अन्योन्यविहिता, सिद्धिः=निष्पत्तिः ॥

इत्युक्तदिशा=इति प्रतिपादितदिशया, परमालोचनया = सूक्ष्मविचारेण, परमविश्रान्तिस्थानेन=उत्कृष्टविश्रमाऽवस्थानेन, रसेन = शृङ्गारादिना, सह एव = समम्

रसन (आस्वादन) धर्मके साथ सम्बन्ध होनेसे भाव आदिमें भी गौणी लक्षणासे "रस" शब्दसे प्रयोग किया जाता है, यह अभिप्राय है।

भाव आदिका स्वरूप—रससे मुख्यतर सञ्चारिभाव, देवता आदिमें रहनेवाली रति (अनुराग) ॥ २६० ॥

और उद्बुद्धमात्र (केवल प्रादुर्भूत, विभाव आदिसे अपरिपुष्ट) रति आदि स्थायीभावको भी "भाव" कहते हैं ॥

इसी विषयको प्राचीन उक्तिसे पुष्ट करते हैं—निर्वेद आदि भावके विना शृङ्गार आदि रस नहीं और शृङ्गार आदि रसके विना निर्वेद आदि भाव नहीं, अतः इन रस और भावोंकी सिद्धि परस्परमें एकसे दूसरेकी होती है। ऐसा कहनेके अनुसार अच्छी तरहसे विचार करनेसे परम विश्रामस्थान रसके साथ ही रहते हुए भी राजासे

वर्तमाना अपि राजानुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यावदापाततो यत्र प्राधान्येनाभिव्यक्ता व्यभिचारिणो देवमुनिगुरुनृपादिविषया च रतिरुद्बुद्धमात्रा विभावादिभिरपरिपुष्टतया रसरूपतामनापद्यमानाश्च स्थायिनो भावा भावशब्दवाच्याः ।

तत्र व्यभिचारी यथा—

'एवंवादिनि देवर्षौ—' (पृ० २०९) इत्यादि । अत्रावहित्था ।

देवविषया रतिर्यथा मुकुन्दमालायाम्—

एव, वर्तमाना अपि=विद्यमाना अपि, राजाऽनुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवत = राजाऽनुगतः (भूपालाऽनुसृतः) विवाहप्रवृत्तः (परिणयतत्परः) यो भृत्यः (राजाऽनुचरः) तद्वत् यत्र=यस्मिन् स्थले, प्राधान्येन=प्रधानतया, अभिव्यक्ताः=व्यञ्जनावृत्या प्रतिपादिताः, व्यभिचारिणः = सञ्चारिभावा निर्वेदादयः, एवं च देवमुनिगुरुनृपादिविषया = सुरऋष्याचार्यराजादिविषया, रतिः = स्थायिभावः, उद्बुद्धमात्रा = प्रादुर्भूतमात्रा, विभावादिभिः = भावैः, अपरिपुष्टतया = पुष्टिमप्राप्तत्वेन, रसरूपतां = रसस्वरूपताम्, अनापद्यमानाश्च=अप्राप्नुवन्तश्च, स्थायिनो भावाः = रत्यादिस्थायिभावाः, भावशब्दवाच्याः=भावशब्देन प्रतिपाद्याः, भवन्तीति शेषः । अय भावः । राज्ञः कस्यचिद् भृत्यस्य विवाहे राजा समागतोऽपि तत्र परिणेतुर्भृत्यस्यैव प्राधान्यं, प्रभुत्वेऽपि राज्ञस्तत्र न प्राधान्यं तथैव रसेन सह वर्तमानस्य व्यभिचारिभावस्य प्राधान्यं, विभावादिभिरपरिपुष्टत्वाद्रसस्य न प्राधान्यमिति भावः ।

तत्र प्रधानव्यभिचारिभावमुदाहरति–**एवं भावादिनेति** । कुमारसंभवस्यं षष्ठमेतत् । पार्वतीयाचनार्थं हिमालयसकाशे शङ्करदूतत्वेनागतस्याङ्गिरसो वचनाऽनन्तरं पार्वत्या अवहित्थाया वर्णनमिदम् । अस्य प्रसङ्गस्य पूर्णश्लोकोऽयम्—(पृ० २०९)

"एववादिनि देवर्षौ पार्श्वे पितुरधोमुखी ।
लीलाकमलपत्राणि गणयामास पार्वती ॥" (कु. सं. ६.८४) ।

अत्र शिवप्रसङ्गजातहर्षसूचकस्य मुखरागादेर्लज्जया गोपनमवहित्था सा चाऽधोमुखव्यङ्ग्यलज्जया हेतुना लीलाकमलपत्रगणनरूपव्यापाराऽऽसक्त्या च झटिति प्रतीयते इति तस्याः एव प्रधानत्वं, विभावादीनामपरिस्फुटतया शृङ्गाररसस्याऽप्रधानत्वम् ।

अनुगत और विवाहमें तत्पर भृत्यके समान सरसरी निगाहसे प्रधानके समान प्रतीत होनेवाले व्यभिचारिभाव १ और देवता, मुनि, गुरु और राजा आदिमें रहनेवाली रति २ प्रकटमात्र होकर विभाव आदिसे परिपुष्ट न होनेसे रसरूपको प्राप्त न होनेवाले रति आदि स्थायिभाव ३ ये सब भाव शब्दसे कहे जाते हैं । उनमें १ प्रधानके समान प्रतीत होनेवाला व्यभिचारी भाव जैसे—"एव वादिनि देवर्षौ" (पृ० २०९) इसमें रस प्रधान नहीं है अवहित्थारूप व्यभिचारी भाव प्रधान है ।

२—देवता विषयक रति जैसे मुकुन्दमालामें भक्त हरिसे प्रार्थना करता है—

'दिवि वा भुवि ममास्तु वासो नरके वा नरकान्तक ! प्रकामम् ।
अवधीरितशारदारविन्दौ चरणौ ते मरणेऽपि चिन्तयामि ॥'

मुनिविषया रतिर्यथा—

'विलोकनेनैव तवामुना मुने ! कृतः कृतार्थोऽस्मि निबर्हितांहसा ।
तथापि शुश्रूषुरहं गरीयसीर्गिरोऽथवा श्रेयसि केन तृप्यते ? ॥'
(शिशु० १-२९)

राजविषया रतिर्यथा मम—
'त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलीपटलपङ्किलाम ।

देवविषयां रतिमुदाहरति—**दिवीति** । भक्तो हरिं प्रार्थयते । हे नरकान्तक= हे नरकनाशक ! वा नरकासुरनाशक ! दिवि = स्वर्गे, भुवि=पृथ्व्यां वा, वा नरके= निरये, मम, प्रकामं = पर्याप्तं यथा तथा, वासोऽस्तु, मम न किञ्चिद्वक्तव्यमिति भावः । तथाऽपि मरणेऽपि = प्राणत्यागाऽवस्थायामपि, अवधीरितशारदाऽरविन्दौ = अवधीरितं (तिरस्कृतं, सौन्दर्यपराकाष्ठयेति शेषः) शारदम् (शरदृतुभवम्) अरविन्दं (कमलम्) याभ्यां तौ, तादृशौ ते=तव, चरणौ=पादौ, चिन्तयामि=ध्यायामि । अत्र भक्तस्य कृष्ण-विषयकरतेरुदयाद्भावकाव्यमिदं.कान्ताविषयकरतेरभाव.न्न शृङ्गाररसत्वमिति बोद्धव्यम्॥

मुनिविषयां रतिमुदाहरति—**विलोकनेनेति** । शिशुपालवधमहाकाव्यस्य प्रथम-सर्गस्थं पद्यमिदम् । नारदाऽऽगमनाऽनन्तरं भगवतः श्रीकृष्णस्योक्तिः । हे मुने = हे ऋषे !, निबर्हिताऽहसा = निवारितपापेन, अमुना = एतेन, तव = भवतः, विलोकनेन एव = संदर्शनेन एव, कृताऽर्थ = कृतकृत्यः, कृतः = विहितः, अस्मि, तथाऽपि = मम कृताऽर्थत्वे सत्यपि, अहं = कृष्णः, गरीयसीः = गुरुतरार्थयुक्ताः, तव, गिरः=वचनानि, शुश्रूषुः = श्रोतुमिच्छुः, अस्मीति शेषः । अथवा, श्रेयसि = कल्याणप्राप्तिविषये, केन = जनेन, तृप्यते=तृप्तेन भूयते, न केनाऽपीति भावः । अत्र कृष्णस्य नारदमुनिविषयकरते-र्भावकाव्यत्वम् ।

राजविषयां रतिमुदाहरति—**त्वद्वाजीत्यादिः** । कश्चिद्राजानं प्रति कस्यचि-दुक्तिरियम् । (हे राजन् !) हरः = शिवः, त्वद्वाजिराजीत्यादिः = तव वाजिराज्या (हयसमूहेन) निर्धूतम् (उत्थापितम्) यत् धूलीपटलं (रजोराशिः) तेन पङ्किला=

हे नरकान्तक ! मेरा भले ही स्वर्गमें वा भूमिमें अथवा नरकमें वास हो शरद् ऋतुके कमलको मात करनेवाले आपके चरणोंका मरणसमयमें भी चिन्तन करता हूँ ।

२. **मुनिविषयक रति**—शिशुपालवधमें आये हुए नारद मुनिको भगवान् श्रीकृष्ण कहते हैं । हे मुने ! पापको हटानेवाले आपके दर्शनमात्रसे मैं कृतार्थ किया गया हूँ, तथापि आपकी गौरवपूर्ण वाणीको सुननेकी इच्छा करता हूँ अथवा कल्याण प्राप्तिके विषयमें कौन तृप्त होता है ? ।

२ राजविषयक रति—जैसे ग्रन्थकारका ही पद्य है । कोई कवि किसी राजाको

न धत्ते शिरसा गङ्गां भूरिभारभिया हरः ॥'

एवमन्यत् ।

उद्बुद्धमात्रस्थायिभावो यथा—

'हरस्तु किंचित्परिवृत्तधैर्यश्चन्द्रोदयारम्भ इवाम्बुराशिः ।
उमामुखे बिम्बफलाधरोष्ठे व्यापारयामास विलोचनानि ॥' (कु० सं० ३ ६७)

अत्र पार्वतीविषया भगवतो रतिः ।

ननूक्तं प्रपाणकरसवद्विभावादीनामेकोऽव भासो रस इति (३.५८)। तत्र सञ्चारिणः पार्थक्याभावात्कथं प्राधान्येनाभिव्यक्तिरित्युच्यते—

(सञ्जातकर्दमाम्), तादृशीं गङ्गां = भागीरथी, भूरिभारभिया = प्रचुरभरभीत्या, शिरसा = मस्तकेन, न धत्ते = नो धारयति । अत्र वक्तृ राजविषयकरतिभावः । एवम् = इत्थम्, अन्यत् = अपरं, गुर्वादिविषयकरतिभावोदाहरण, मृग्यम् ॥

उद्बुद्धमात्रस्थायिभावस्योदाहरण यथा—**हरस्त्विति ।** आकालिके वसन्तप्रादुर्भावे कामदेवेन धनुषि आरोपिते हरस्य धैर्यपरावृत्तेरुदाहरणम् । पद्यमिदं कुमारसंभवस्थम् । हरस्तु = हरोऽपि, चन्द्रोदयाऽऽरम्भे = इन्दूदयप्रारम्भे, अम्बुराशिरिव = समुद्र इव; किञ्चित्परिवृत्तधैर्यः=स्तोकपरिवर्तितधृतिः, बिम्बफलाऽधरोष्ठे=बिम्बफलम् इव (बिम्बफलसदृशः) अधरोष्ठो यस्मिन्, तस्मिन्, उमामुखे = पार्वतीवदने, विलोचनानि = त्रीण्यपि नेत्राणि, व्यापारयामास = योजयामास । अत्र भगवतः पार्वतीविषयाया रतेरुद्बुद्धमात्रत्वेन विभावादिभिरपरिपुष्टत्वेन न रसत्वम् ।

सञ्चारिणः प्राधान्यमाशङ्कते—**नन्विति ।** प्रपाणकरसवत विभावादीनाम् = विभावाऽनुभावसञ्चारिणाम्, एकः = अद्वितीयः समष्टिरूपेण समिलित इति भावः । एतादृशः योऽवभासः = प्रतीतिः, स रसः, इति प्रोक्तम्, तत्र = उक्तौ, सञ्चारिणः = व्यभिचारिभावस्य, पार्थक्याऽभावात् = पृथक्प्राधान्याऽभावात्, कथ, प्राधान्येन = प्रधानभावेन, अभिव्यक्तिः = अभिव्यञ्जनम् इति, उच्यते = कथ्यते—

कहता है । हे राजन् ! आपके घोडोंकी पङ्क्तिमे उठी हुई धूलिसे कीचड़वाली गङ्गाको शिवजी ज्यादा भार ढोनेके भयमें शिरसे धारण नहीं करते हैं ।

३ – उदबुद्ध (प्रकट) मात्र स्थायिभाव—कुमारसंभवमें वसन्तप्रादुर्भाव होकर कामदेवके शरसन्धान करनेपर शिवजीके धैर्यविचलनका वर्णन है । शिवजीने भी चन्द्रोदयके आरम्भमें समुद्रके समान कुछ परिवृत्त धैर्यवाले होकर बिम्बफलके समान ओष्ठवाले पार्वतीके मुखमें नेत्रोंको लगाया । इसमें पार्वतीमें भगवान्की रति (अनुराग) प्रकटमात्र है, परिस्फुट नहीं । व्यभिचारिभावकी प्रधानतामे शङ्का उठाते हैं । पहले प्रपाणक (शर्बत) रसकी तरह विभाव आदि जुटकर एक आस्वाद होता है, कहा है तो उसमें सञ्चारी भावकी पृथक्ता न रहनेसे कैसे उसकी प्रधानतासे अभिव्यक्ति होगी ? इसका समाधान करते है—

यथा मरिचखण्डादेरेकीभावे प्रपाणके ॥ २६१ ॥
उद्रेकः कस्यचित्क्वापि तथा सञ्चारिणो रसे ।

अथ रसाभासभावाभासौ—

अनौचित्यप्रवृत्तत्व आभासो रसभावयोः ॥ २६२ ॥

अनौचित्यं चात्र रसानां भरतादिप्रणीतलक्षणानां सामग्रीरहितत्वे एकदेशयोगित्वोपलक्षणपरं बोध्यम् ।

तच्च बालव्युत्पत्तये एकदेशतो दर्श्यते—

उपनायकसंस्थायां मुनिगुरुपत्नीगतायां च ।

यथेति । यथा प्रपाणके = रसे, खण्डमरीचादेः - सिताखण्डमरिचादेः, आदिपदेन शुण्ठ्यादेः परामर्शः । एकीभावे = सम्मिश्रणे ॥ २६१ ॥

क्वापि = कुत्रचित्स्थले, कस्यचित् = सिताखण्डस्य, मरीचस्य सूक्ष्मैलादेर्वा, उद्रेकः = प्रचुरत्वम्, आस्वादे तीव्रतरत्वमिति भावः । तथा = तेनैव प्रकारेण, सञ्चारिणः = प्राधान्येन अनुभूयमानस्य व्यभिचारिभावस्य, उद्रेकः = प्रचुरत्वम्, प्राधान्यनाऽभिव्यक्तिरिति भावः । रसे आस्वादे प्रतायते इति शेषः ।

रसाभासभावाभासौ प्रतिपादयति—**अनौचित्यप्रवृत्तत्व इति** । रसभावयोः = शृङ्गारादिरसव्यभिचारिभावयोः, अनौचित्यप्रवृत्तत्वे अनौचित्येन (औचित्याऽभावेन) प्रवृत्तत्वे (वर्तमानत्वे) सति, आभासः रसाभासो भावाभासश्च भवतीति भावः ॥२६२॥

वृत्तावनौचित्यं व्युत्पादयति—**अनौचित्यं च अत्र** । भरतादिप्रणीतलक्षणानां = भरतमुनिव्यासादिविहितलक्षणानां, रसानां, सामग्रीरहितत्वे = विभावादिरूपसमग्रकारणाऽसत्त्वे सति, एकदेशयोगित्वोपलक्षणपरम् = एकदेशयोगित्वस्य (यत्किञ्चिल्लक्षणसम्बन्धस्य) उपलक्षणपरम् (बोधनात्पर्यकम्) । बोध्य = ज्ञेयम् ।

तत्र तावच्छृङ्गारेऽनौचित्यं प्रदर्शयति—**उपनायकसंस्थायामिति** ।

उपनायकसंस्थायां रतौ = परिणीताया नायिकाया नायकं विहाय उपनायक-

जैसे मरिच और मिश्री आदिके संमिश्रणस्वरूप प्रपाणक (शर्बत) में ॥ २६१ ॥

जैसे कहींपर किसी मरिच आदिका आधिक्य होता है उसी तरह आस्वादनमें संचारीका भी आधिक्य हो जाता है ।

रसाभास और भावाभास—रस और भाव अनुचित भावसे प्रवृत्त हो तो उन्हें क्रमके अनुसार "रसाभास" और "भावाभास" कहते है ॥ २६२ ॥

यहांपर रसोंका अनौचित्य कहनेसे भरत आदि आचार्यप्रणीत लक्षणोंकी पूर्णता न होकर एक भागमें मात्र सम्बन्ध होना उपलक्षण है ऐसा समझना चाहिए । बालकोंकी व्युत्पत्तिके लिए उसका कुछ अंश दिखाया जाता है ।

शृङ्गारमें अनौचित्य—रति (अनुराग) के उपनायक (नायकसे भिन्न

बहुनायकविषयायां रतौ तथानुभयनिष्ठायाम् ।। २६३ ।।
प्रतिनायकनिष्ठत्वे तद्वदधमपात्रतिर्यगादिगते ।
शृङ्गारेऽनौचित्यं, रौद्रे गुर्वादिगतकोपे ।। २६४ ।।
शान्ते च हीननिष्ठे, गुर्वाद्यालम्बने हास्ये ।
ब्रह्मवधाद्युत्साहेऽधमपात्रगते तथा वीरे ।। २६५ ।।

स्थितायां रतौ (अनुरागे). शृङ्गाररसाभासत्वम् । मुनिगुरुपत्नीगतायां रतौ=पुरुषस्य मुनिपत्नीगतायां गुरुपत्नीगतायां च रतौ (अनुरागे) शृङ्गारेऽनौचित्यम् । वेश्यायाः कन्याया वा बहुनायकविषयायां रतौ (अनुरागे) शृङ्गाराभासत्वम् ३ । एवं च अनुभयनिष्ठायां रतौ=उभयत्र अस्थिते अनुरागे, यत्र नायिकाया एवाऽनुरागो नायकस्य न, तथा नायकस्यैवाऽनुरागो नायिकाया न, तादृशे अनुरागे शृङ्गाराभासत्वम् ४। ।। २६३ ।।

नायिकाया रतेः प्रतिनायकनिष्ठत्वे = नायकविरोधिस्थितत्वे शृङ्गाराभासत्वम् ५ तद्वत् अधमपात्रतिर्यगादिगते = अधमपात्रगते (नीचकुलोत्पन्नपात्रगते) तिर्यगादिगते च (पशुपक्ष्यादिप्राप्ते) च शृङ्गारे अनौचित्यम् ६ ।।

रौद्ररसेऽनौचित्य प्रतिपादयति—**रौद्र इति** । गुर्वादिगतकोपे = पूज्यजनस्थितक्रोधे, रौद्रे = रसे, अनौचित्यं भवति ।। २६४ ।।

शान्तेऽनौचित्यं प्रतिपादयति—**शान्ते चेति** । हीननिष्ठे = जघन्यजनस्थिते, राग इति शेषः, शान्ते अनौचित्यम् ।

हास्येऽनौचित्यं प्रतिपादयति—गुर्वाद्यालम्बने=पूज्यजनालम्बनभावे, हास्येऽनौचित्यम् ।

वीरेऽनौचित्यं प्रतिपादयति—ब्रह्मवधाद्युत्साहे=ब्राह्मणहत्याद्युत्साहे, अधमपात्रगते = निकृष्टपात्रस्थिते उत्साहे वीरे अनौचित्यम् ।। २६५ ।।

दूसरे ही पुरुष) मे रहनेसे १, मुनि वा गुरुकी पत्नीमे रहनेसे २, बहुतसे नायकोंमें रहनेसे ३, नायक और नायिका दोनोंमें न रहनेसे (एकमें ही रहनेसे) ।। २६३ ।।

४, **प्रतिनायक** (नायकके विरोधी) में रहनेसे ५, अधम पात्रमें रहनेसे ६, तिर्यक् (मनुष्यसे इतर आदि) में रहनेसे ७, शृङ्गारमें अनौचित्य होता है ।

रौद्रमें अनौचित्य—गुरु आदिमें क्रोध रहनेपर रौद्रमें अनौचित्य होता है २६४

शान्तमें अनौचित्य-नीच पुरुषमें शमके रहनेपर शान्तमे अनौचित्य होता है ।

हास्यमें अनौचित्य--गुरुजन आदि आलम्बन हों तो हास्यमे अनौचित्य होता है ।

वीररसमें अनौचित्य-ब्राह्मणवध आदिमें उत्साह होनेपर अथवा नीच पात्रमें उत्साहके रहनेपर वीररसमें अनौचित्य होता है ।। २६५ ।।

उत्तमपात्रगतत्वे भयानके ज्ञेयमेवमन्यत्र ।

तत्र रतेरुपनायकनिष्ठत्वे यथा मम—

'स्वामी मुग्धतरो वनं घनमिदं, बालाऽहमेकाकिनी
क्षोणीमावृणुते तमालमलिनच्छाया तमःसन्ततिः ।
तन्मे सुन्दर ! मुञ्च कृष्ण ! सहसा वर्त्मेति गोप्या गिरः
श्रुत्वा तां परिरभ्य मन्मथकलासक्तो हरिः पातु वः ॥'

भयानकेऽनौचित्यं प्रतिपादयति—उत्तमपात्रगतत्वे—श्रेष्ठपात्रगतत्वे सति, भयस्येति शेषः, भयानकेऽनौचित्यं भवति । एवम् = इत्थम्, अन्यत्र = स्थानान्तरे, प्रकृतिव्यवहारादीनामनौचित्यमूह्यमिति भावः ॥

तत्रोपनायकसंस्थायां रतौ शृङ्गाराभासमुदाहरति—**स्वामीति** ।

सन्ध्यासमये मार्गरोधकं श्रीकृष्णं प्रति कस्याश्चिद् गोप्या उक्तिरियम्, हे कृष्ण !, स्वामी=मम परिणेता, मुग्धतरः=अतिमूढः, अतो मम कामतुष्टिजननेऽयोग्य इति भावः । इदम् = एतत्, वनम् = अरण्यं, घनं = लतागुल्मादिना निबिडम् । अहम् एकाकिनी = एकका, बाला = प्रौढिरहिता, कोऽप्यन्यो जनो नाऽस्ति, इत्यतो विलम्बो न कार्य इति भावः । तमालमलिनच्छाया = तापिच्छमलीमसकान्तिः, तमःसहतिः = तिमिरपङ्क्तिः, क्षोणीं = भुवम्, आवृणोति = आच्छादयति । तत् = तस्मात् कारणात्, हे सुन्दर=हे मनोहर, कृष्ण = गोपाल !, सहसा= अतर्कित एव, वर्त्म = मार्गं, मुञ्च = त्यज, इति= एवं, गोप्याः=आभीरनार्याः, गिरः = वाचः, श्रुत्वा = आकर्ण्य, तां = गोपीं, परिरभ्य = आलिङ्ग्य, मन्मथकलाऽऽसक्तः = कामकलाऽऽसक्तियुक्तः, समागमतत्पर इति भावः । हरिः = श्रीकृष्णः, वः = युष्मान् पातु = रक्षतु । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । अत्र "स्वामी मुग्धतर" इत्यनेन परोढाया नायिकाया उपनायकरूपकृष्णसंस्थायाः रतेः प्रतिपादनात् शृङ्गाररसाभासत्वम् ।

भयानकमें अनौचित्य—उत्तम पात्रमें भयके रहनेपर भयानक रसमें अनौचित्य होता है । इसी तरह अन्यत्र भी जानना चाहिए ।

अनौचित्य होनेपर रसाभास होता है ।

उपनायकमें रतिके रहनेपर शृङ्गाराभास—सन्ध्याकालमें श्रीकृष्णके मार्गको रोकनेपर कोई गोपी कहती है । मेरा पति ज्यादा अल्हड है, यह वन घना है, मैं युवती हूँ तथा अकेली हूँ । तमालके समान मलिन कान्तिवाली अन्धकारकी पङ्क्ति पृथ्वीको आच्छादित कर रही है । इस कारणसे हे सुन्दर ! हे कृष्ण ! मेरे मार्गको शीघ्र छोड़ो, गोपीकी ऐसी बात सुनकर उसको आलिङ्गन कर काममकलामें आसक्त भगवान् श्रीकृष्ण तुम्हारी रक्षा करें ॥

बहुनायकनिष्ठत्वे यथा

'कान्तास्त एव भुवनत्रितयेऽपि मन्ये
येषां कृते सुतनु ! पाण्डुरयं कपोलः।'

अनुभयनिष्ठत्वे यथा—मालतीमाधवे नन्दनस्य मालत्याम् ।

'पश्चादुभयनिष्ठत्वेऽपि प्रथममेकनिष्ठत्वे रतेराभासत्वम्' इति श्रीमल्लोचनकाराः ।

तत्रोदाहरणं यथा—रत्नावल्यां सागरिकाया अन्योन्यसंदर्शनात्प्राग्वत्सराजे रतिः ।

प्रतिनायकनिष्ठत्वे यथा—हयग्रीववधे हयग्रीवस्य जलक्रीडावर्णने ।

रतेर्बहुनायकनिष्ठत्वमुदाहरति—**कान्ता इति** । कश्चित्पुरुषो बहुनायकासक्तां नायिकां ब्रूते । हे सुतनु = हे सुन्दरि !, येषां = जनानां, कृते = निमित्ते, अयं=संनिकृष्टस्थः, कपोलः = गण्डफलकः, विरहेण, पाण्डुः = पाण्डुरवर्णः, जात इति शेषः । भुवनत्रितयेऽपि=लोकत्रयेऽपि, ते एव=नायकाः कान्ताः=सुन्दराः इति मन्ये=विचारयामि, अत्र "कान्ता" इति बहुवचनात् नायिकाया बहुनायकविषया रतिः प्रतीयते ।

रतेरनुभयनिष्ठत्वमुदाहरति—मालतीमाधवे = तदाख्ये प्रकरणे, नन्दनस्य = तन्नामकस्य राज्ञो नमसुहृदः एव मालत्यां रतिः, न तु मालत्या नन्दने, अतो रतेरनुभयनिष्ठत्वम् ।

अत्र लोचनकारमतं प्रदर्शयति—पश्चात्=अनन्तरम्, उभयनिष्ठत्वेऽपि=नायिकानायकस्थितत्वेऽपि, प्रथमं = प्राक्, एकनिष्ठत्वे = नायिकानायकान्यतरस्थितत्वे रतेः, आभासत्वम् = शृङ्गाररसाभासत्वमिति, श्रीमल्लोचनकाराः = अभिनवगुप्तपादाः । तत्रोदाहरणं **यथेति** । अन्योन्यदर्शनात्प्राक्=मिथोऽवलोकनात् प्राक् । वत्सराजे=उदयने ।

रतेः प्रतिनायकनिष्ठत्वं प्रदर्शयति—हयग्रीववधे=तदाख्यमहाकाव्ये, हयग्रीवस्य= तदाख्यदैत्यस्य ।

रतिके बहुत नायकोंमें रहनेसे शृङ्गाराभासका उ०—कोई पुरुष बहुतेरे नायकोंमें आसक्त नायिकासे कहता है—हे सुन्दरि ! मैं तीनों लोकोंमें उन्हें ही सुन्दर समझता हूँ, जिनके लिए तुम्हारे कपोल पाण्डुवर्णवाले हो गये हैं ।

रतिके उभयनिष्ठ न होनेसे (नायिका और नायक दोनोंमें न रहनेसे) शृङ्गाराभास जैसे मालतीमाधवमें नन्दनकी मालतीमे रति (अनुराग) । पीछे रतिके दोनोंमें रहनेपर भी पहले एक हीमें रहनेसे शृङ्गाराभास होता है ऐसा श्रीमल्लोचनकार— (अभिनवगुप्ताचार्य) का मत है । उसमें उदाहरण रत्नावलीमें सागरिकाकी परस्पर दर्शनके पहले ही वत्सराज (उदयन) में रति ।

रतिके प्रतिनायकमें रहनेपर शृङ्गाराभास जैसे—हयग्रीववधमें हयग्रीवकी जलक्रीडाके वर्णनमें ।

अधमपात्रगतत्वे यथा—

'जघनस्थलनद्धपत्त्रवल्ली गिरिमल्लीकुसुमानि कापि भिल्ली ।
अवचित्य गिरौ पुरो निषण्णा स्वकचानुत्कचयाञ्चकार भर्त्रा ॥'

तिर्यगादिगतत्वे यथा—

'मल्लीमतल्लीषु वनान्तरेषु वल्ल्यन्तरे वल्लभमाह्वयन्ती ।
चञ्चद्विपञ्चीकलनादभङ्गीसंगीतमङ्गीकुरुते स्म भृङ्गी ॥'

आदिशब्दात्तापसादयः ।

रौद्राभासो यथा—

'रक्तोत्फुल्लविशाललोलनयनः कम्पोत्तराङ्गो मुहु-

रतेरधमपात्रगतत्वमुदाहरति—जघनस्थलनद्धपत्त्रवल्ली = जघनस्थले (कटिपुरोभागाऽवकाशे) नद्धा (बद्धा) पत्त्रवल्ली (पत्रलता) यया सा, तादृशी काऽपि = काचित, भिल्ली = भिल्लजातीया स्त्री, गिरौ = पर्वते, गिरिमल्लीकुसुमानि = कुटजपुष्पाणि, अवचित्य = संगृह्य, पुरः = अग्रे, भर्तुरिति शेषः । निषण्णां = उपविष्टां सतीं, भर्त्रा = स्वपतिना, स्वकचान् = आत्मकेशान्, उत्कचयाञ्चकार = बन्धयामास । मालभारिणी वृतम् । अत्र रतेर्भिल्लीरूपाऽधमपात्रगतत्वेन शृङ्गाराभासः ।

रतेस्तिर्यगादिगतत्वमुदाहरति—**मल्लीमतल्लीष्विति**। भृङ्गी = भ्रमरी, मल्लीमतल्लीषु = प्रशस्तमल्लीषु, वनान्तरेषु = विपिनाऽभ्यन्तरेषु वल्ल्यन्तरे = भिन्नलतायां, स्थितमिति शेषः । वल्लभं = प्रियं, भ्रमरमिति भावः । आह्वयन्ती = आकारयन्ती, रमणाऽर्थमिति शेषः । चञ्चद्विपञ्चीकलनादभङ्गीसंगीतं = चञ्चन्ती (क्वणन्ती) या विपञ्ची (वीणा) तस्याः कलनादभङ्गीसंगीतं (मधुरस्फुटध्वनिविच्छित्तिगानम्), अङ्गीकुरुते स्म = स्वीचकार । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

अत्र रतेस्तिर्यग्जातिगतत्वेन शृङ्गाराभासः । अत्र आदिशब्दात् तापसादयः । रौद्राभासमुदाहरति—कर्णवधाऽभावेन गाण्डीवं निन्दन्तं कर्णपीडितं युधिष्ठिरं हन्तुमुद्यते अर्जुने कस्यचिदुक्तिरियम् । रक्तोत्फुल्लविशाललोलनयनः = रक्ते (अरुणवर्णे

रतिके अधमपात्रमें रहनेपर शृङ्गाराभास जैसे—जघनस्थलमें पत्रलताको बांधनेवाली किसी भिल्ल स्त्रीने कुटजपुष्पोंको इकट्ठा कर पर्वतमें पतिके पास बैठकर उससे अपने केशोंको अलङ्कृत कराया ॥

रतिके तिर्यक् आदिमें रहनेपर शृङ्गाराभास जैसे—भ्रमरीने वनके भीतर बढ़िया चमेलीके फूलोंमें लताके बीचमें प्रिय (भ्रमर) को बुलाकर बीनके समान मनोहर स्वरसे गुञ्जन शुरू किया । "तिर्यगादि" में आदि पदसे तपस्वी आदिमें रहनेवाली रतिको ग्रहण करना चाहिए ।

रौद्राभास जैसे—कर्णसे पीडित युधिष्ठिरके कर्णकी हत्या न करनेसे गाण्डीवकी

मुक्त्वा कर्णमपेतभीर्धृतधनुर्बाणो हरेः पश्यतः ।
आध्मातः कटुकोक्तिभिः स्वमसकृद्दोर्विक्रमं कीर्तय-
न्नंसास्फोटपटुर्युधिष्ठिरमसौ हन्तुं प्रविष्टोऽर्जुनः ॥'

भयानकाभासो यथा—

'अशक्नुवन् सोढुमधीरलोचनः सहस्ररश्मेरिव यस्य दर्शनम् ।
प्रविश्य हेमाद्रिगुहागृहान्तरं निनाय बिभ्यद्दिवसानि कौशिकः ॥'

क्रोधेनेति शेषः) उन्फुल्ले (विकसिते) विशाले (आयते) लोले (चञ्चले) नयने (नेत्रे) यस्य सः । मुहुः = वारं वारम् । कम्पोत्तराऽङ्गः = कम्पः (वेपथुः) उत्तरः (प्रचुरः) येषां, तादृशानि अङ्गानि (हस्तपादाद्यवयवाः) यस्य सः । कर्णं = सूतपुत्रं, मुक्त्वा = त्यक्त्वा, अपेतभीः = अपगतभयः, धृतधनुर्बाणः = (धृताः = गृहीताः धनुर्बाणाः = कार्मुकशराः येन सः), कटुकोक्तिभिः = तीक्ष्णवचनैः, युधिष्ठिरस्येति शेषः । आध्मातः = दग्धः, अंसास्फोटपटुः = असयोः (स्कन्धयोः) आस्फोटे (करेणाऽघाते) पटुः (तत्परः) । असौ अर्जुनः, असकृत्=मुहुर्मुहुः, स्वकीयम्=आत्मीय, दोर्विक्रमं= बाहुपराक्रमं, कीर्तयन्=वर्णयन्, पश्यतो हरेः=पश्यन्तं हरिम्, अनादृत्येति भाव, "षष्ठी चाऽनादरे" इति षष्ठी । युधिष्ठिरं=स्वकीयाऽग्रजं, हन्तुं=व्यापादयितुं, प्रविष्टः=प्राविशत्। अत्राऽर्जुनक्रोधस्य ज्येष्ठभ्रातृरूपगुरुगतत्वाद्रौद्ररसाभासः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

भयानकाभासमुदाहरति—अशक्नुवन्निति । शिशुपालवधे महाकाव्ये नारदस्य कृष्णं प्रति कौशिकभयप्रतिपादकं वचनम् । कौशिकः = इन्द्र उलूकश्च । सहस्ररश्मेः इव = सूर्यस्य इव, यस्य = रावणस्य, दर्शनं = विलोकनं, सोढुं = मर्षितुम्, अशक्नुवन्= असहमानः, अत एव अधीरलोचनः = कातरनयनः, बिभ्यत् = त्रस्यन्, हेमाऽद्रिगुहा-गृहाऽन्तरं = हेमाद्रेः (सुमेरोः), गुहा (दरी) इव गृहं (भवनम्) तस्य अन्तरं (मध्यम्), प्रविश्य = प्रवेशं कृत्वा, दिवसानि = दिनानि, निनाय = यापितवान् । वंशस्थं वृत्तम् । अत्र भयस्य देवराजरूपोत्तमपात्रगतत्वेन भयानकरसाभासत्वम् ।

निन्दा करनेपर जब अर्जुन उनको मारनेके लिए तत्पर हुए थे उस समय किसीकी उक्ति है । लाल और विकसित बड़े और चञ्चल नेत्रोंसे युक्त, प्रचर कम्प वाले हस्तपाद आदि अवयवोंसे युक्त, कर्णको छोड़कर निर्भय होकर धनुष और बाणोंको लेकर युधिष्ठिरके तीक्ष्ण वचनोंसे जलकर कन्धोंको ताडन करने में तत्पर होकर अर्जुनने वार वार अपने बाहु पराक्रमका बखान करके श्रीकृष्णके देखते देखते अपने बड़े भाई युधिष्ठिरको मारनेके लिए प्रवेश किया ॥

भयानकाऽऽभास जैसे—शिशुपालवध महाकाव्यमें नारद श्रीकृष्णजीसे इन्द्रका भय बतलाते हैं—उ०—जैसे उल्लू सूर्यको देखनेमें समर्थ नहीं होता है वैसे ही इन्द्र सूर्यके समान तेजस्वी रावणको देखनेमें असमर्थ होकर डरते हुए सुमेरु पर्वतके गुफारूप घरके भीतर प्रवेश कर दिन बिताते थे ।

स्त्रीनीचविषयमेव हि भयं रसप्रकृतिः। एवमन्यत्र।

भावाभासो लज्जादिके तु वेश्यादिविषये स्यात् ॥ २६६ ॥

स्पष्टम्।

भावस्य शान्तावुदये संधिमिश्रितयोः क्रमात्।
भावस्य शान्तिरुदयः संधिः शबलता मता ॥ २६७ ॥

क्रमेण यथा—

'सुतनु ! जहिहि कोपं, पश्य पादानतं मां
न खलु तव कदाचित्कोप एवंविधोऽभूत्।

भयस्य उचिताधारं दर्शयति। हि = यतः, स्त्रीनीचविषयं = स्त्री (योषित्) नीचः (अधमजनः), विषयः (आधारः) यस्य तत्, एतादृशं भयमेव, रसप्रकृतिः= भयानकरसस्थायिभावः।

एवम् = इत्थमेव, अन्यत्र = शमादावपि हीनपात्रगतत्वे उदाहर्तव्यम्। भावाभासं प्रतिपादयति —**भावाभास इति**। वेश्याऽऽदिविषये=गणिकाद्याधारे, लज्जादिके सति=व्रीडादिके सति, "भावाभासः" स्यात्। अत्राऽऽदिपदेन निर्वेदादिकं बोध्यम्।

भावशान्त्यादिकं प्रतिपादयति—**भावस्येति**। भावस्य = कस्यचिद्व्यभिचारिभावस्य, शान्तौ=प्रशमे, आस्वाद्ये सति इति शेषः, भावशान्तिः। भावस्य उदयं भावोदयः, भावस्य सन्धौ भावसन्धिः। भावेषु मिश्रितेषु भावशबलता, मता=अभिमता, आलङ्कारिकैरिति शेषः॥ २६७ ॥

भावशान्तिमुदाहरति—**सुतन्विति**। कृताऽपराधस्य कस्यचिन्नायकस्य मानिनीं नायिकां प्रति अनुनयवचनमिदम्। हे सुतनु = सुन्दरि !, कोपं = क्रोधं, जहिहि=त्यज। पादानतं = चरणाऽवनतं, मां=प्रियं, पश्य = विलोकय। तव = भवत्याः, कदाचित् = जातुचिदपि, एवंविधः = एतादृशः, कोपः = क्रोधः, न अभूत् = नो जातः।

भयके आश्रय स्त्री और नीच पुरुष ही होते हैं, यहाँ उत्तमपात्र इन्द्र भयके आश्रय हुए हैं इस कारण यहाँ भयानकाभास है। ऐसे ही अन्यत्र भी जानना चाहिए।

भावाभास—वेश्या आदिमें लज्जा आदि हो तो भावाभास होता है ॥२६६॥

भावशान्ति आदि—किसी भावकी शान्तिमें भावशान्ति, किसी भावके उदयमें भावोदय, किसी भावकी सन्धिमें भावसन्धि और भावोंके संमिश्रणमें भावशबलता होती है ॥ २६७ ॥

भावशान्ति उ०—कोई नायक अपनी मानिनी नायिकासे अनुनय करता है। हे सुन्दरि ! कोप छोड़ो, तुम्हारे पैरोंपर झुके हुए मुझे देखो। तुम्हारा कभी भी ऐसा

इति निगदति नाथे तिर्यगामीलिताक्ष्या
नयनजलमनल्पं मुक्तमुक्तं न किञ्चित् ॥'

अत्र बाष्पमोचनेनेर्ष्याख्यसञ्चारिभावस्य शमः ।

'चरणपतनप्रत्याख्यानात्प्रसादपराङ्मुखे
निभृतकितवाचारेत्युक्त्वा रुषा परुषीकृते ।
व्रजति रमणे निःश्वस्योच्चैः स्तनस्थितहस्तया
नयनसलिलच्छन्ना दृष्टिः सखीषु निवेशिता ॥'

अत्र विषादस्योदयः ।

नाथे – पत्यौ, इति – इत्थं, निगदति = वदति सति, तिर्यगामीलिताक्ष्या = तिर्यक् (वक्रभाव यथा तथा) आमीलिताक्ष्या (मुद्रितनयनया), अनल्पं = प्रचुरं, नयनजलं = बाष्पसलिलं, मुक्तं = त्यक्तं, किन्तु किञ्चित् = किमपि, न उक्तं = न अभिहितम् । मालिनी वृत्तम् । अत्र बाष्पमोचनेन = अश्रुविसर्जनेन, ईर्ष्याऽऽख्यसञ्चारिभावस्य शमः – शान्तिः । विरुद्धसामग्रीप्राबल्येन भावशान्तिरितिभावः ।

भावोदयमुदाहरति—चरणेत्यादि । कृताऽपराधं कान्तं प्रति मानिन्या नायिकाया व्यवहारं प्रतिपादयति । चरणपतनप्रत्याख्यानात् = चरणयोः (स्वपादयोः) पतनेऽपि (कान्तस्य निपतनेऽपि) प्रत्याख्यानात् (कान्तस्य निराकरणात्, कोपेनेति शेषः) ततः प्रसादपराङ्मुखे (प्रसन्नतारहिते) कान्त इति शेषः । हे निभृतकितवाचार–हे प्रच्छन्नधूर्तव्यवहार !, इति = एवम्, उक्त्वा – अभिधाय, रुषा = कोपेन हेतुना, परुषीकृते=निष्ठुरीकृते, रमणे=कान्ते, व्रजति=नैराश्येन गच्छति सति । उच्चैः= ऊर्ध्वं, निश्वस्य=निःश्वासं कृत्वा, स्तनस्थितहस्तया=पयोधरनिहितकरया, नायिकयेति शेषः । नयनसलिलच्छन्ना=बाष्पजलावृता, दृष्टिः=नेत्रं, सखीषु=वयस्यासु, निवेशिता= अर्पिता ॥ हरिणी वृत्तम् । अत्र विषादस्य = तन्नामकव्यभिचारिभावस्योदयः ।

स्वसामग्रीमाहात्म्येन व्यभिचारिभावस्योद्गमावस्था भावोदयः ।

अत्र नायकप्रत्याख्यानरूपसामग्र्या विषादाख्यो व्यभिचारिभाव आस्वाद्यते ॥

कोप नहीं हुआ था । पतिके ऐसा कहनेपर नेत्रोंको तिरछा करनेवाली सुन्दरीने आँसू तो बहुत गिराया पर कुछ भी नहीं बोली ।

इसमें आँसू गिरानेसे ईर्ष्या नामक संचारी भावकी शान्ति होनेसे यह भावशान्ति है ।

भावोदय उ०—अपराध किये हुए प्रियके प्रति मानिनी नायिकाका व्यवहार दिखलाते हैं । पैरोंमें पड़नेपर भी क्रोधसे हटाये जानेसे प्रियके अप्रसन्न होनेपर 'हे प्रच्छन्न धूर्तके व्यवहारको करनेवाले !" ऐसा कहकर निष्ठुर होकर उसके जानेपर भी लम्बा श्वास लेकर स्तनोंमें हाथोंको रखने वाली नायिकाने आँसूसे भरी दृष्टि सखियोंके ऊपर डाली ॥ इस पद्यमें विषाद रूप भावका उदय होनेसे यह भावोदय है ।

'नयनयुगासेचनकं मानसवृत्त्यापि दुष्प्रापम् ।
रूपमिदं मदिराक्ष्या मदयति हृदयं दुनोति च मे ॥'

अत्र हर्षविषादयोः संधिः ।

क्वाकार्यं ?, शशलक्ष्मणः क्व च कुलं ?, भूयोऽपि दृश्येत सा ?,
दोषाणां प्रशमाय मे श्रुतमहो !, कोपेऽपि कान्तं मुखम् ।

भावसन्धिमुदाहरति–**नयनयुगासेचनकमिति** । नयनयुगासेचनकं–नयनयुगलस्य (नेत्रद्वयस्य) आसेचनकम् (अतितृप्तिजनकम्) । एवं च मानसवृत्त्या अपि–मनोव्यापारेण अपि, दुष्प्रापं = दुर्लभं, मदिराक्ष्याः = मदिरस्य (खञ्जनस्य) इव अक्षिणी (नेत्रे) यस्याः सा मदिराक्षी, तस्याः, खञ्जननयनाया इत्यर्थः । इदम् – एतत्, रूपं – सौन्दर्यं, मे – मम, हृदयं = चित्तं, मदयति = आह्लादयति, नयनयुगासेचनकत्वादिति भावः । एवं च दुनोति च = उपतापयति च, मनोवृत्त्याऽपि दुष्प्रापत्वादिति भावः । आर्या वृत्तम् । अत्र नायकस्य हर्षविषादयोः सन्धिः । उभयसामग्रीयोगेन परस्परविरुद्धौ भावसन्धिः ।

भावशबलतामुदाहरति—**क्वाऽकार्यमिति** । विक्रमोर्वशीत्रोटके उर्वशीविरहेण पीड्यमानस्य पुरूरवस उक्तिरियम् । अकार्यं = कुकार्यं, स्त्रीविरहेण आत्मघातरूपमिति भावः, क्व = कुत्र, शशलक्ष्मणः = चन्द्रस्य, कुलं च – वंशश्च, क्व – कुत्र, उभयत्र महदन्तरमिति भावः । अतो विषमाऽलङ्कारः, एवं परत्राऽपि, एतेन वाक्यद्वयेन वितर्कः । भूयोऽपि = पुनरपि, सा = उर्वशी, दृश्येत = अवलोक्येत, इति काकुगम्यः प्रश्नः, इत्यौत्सुक्यम् । दोषाणा = दुष्टकार्याणां, प्रशमाय = निवारणाय, मे – मम, श्रुतम् – अध्ययनम्, अतो मयाऽऽत्मघातरूपं निषिद्धकार्यं न कर्तव्यमिति भावः, एतेन मतिरूपो व्यभिचारभावः । "नीतिमार्गाऽनुसृत्यादेरर्थनिर्द्धारणं मतिः ।" इति मतिलक्षणं पूर्वं प्रतिपादितम् (२१४ पृष्ठे) । अहो = आश्चर्यम् । कोपेऽपि – क्रोधे सत्यपि, मुखं = वदनम्, उर्वश्या इति शेषः । कान्तं = सुन्दरम् । एतेन स्मृतिरूपो व्यभिचारि

भावसन्धि उ०—कोई नायक अपनी प्रियाकी बात अपने मित्रसे कहता है । दोनों नेत्रोंको अत्यन्त तृप्त करनेवाला और मनके व्यापारसे भी दुष्प्राप्य, खञ्जनोंके समान नेत्रोंवालीका यह सौन्दर्य मेरे हृदयको आनन्दित करता है और दुष्प्राप्य होनेसे पीडित भी करता है । यहाँ हर्ष और विषाद नामके व्यभिचारि भावोंकी सन्धि है ।

भावशबलता उ०—विक्रमोर्वशी त्रोटकमें उर्वशीके विरहसे पीडित राजा पुरूरवाकी उक्ति है कुकार्य कहाँ और चन्द्रवंश कहाँ ? २ क्या वह फिर भी देखी जायगी ? । ३ दोषोंको हटानेके लिए मेरा शास्त्र का अध्ययन है, आश्चर्य है ४ क्रोधमें भी उसका सुन्दर मुख है ५ निष्पाप विद्वान्लोग मुझको क्या कहेंगे ? ६ स्वप्नमें भी

किं वक्ष्यन्त्यपकल्मषाः कृतधियः ?, स्वप्नेऽपि सा दुर्लभा,
चेतः स्वास्थ्यमुपैहि, कः खलु युवा धन्योऽधरं धास्यति ? ॥'

अत्र वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणशङ्कादैन्यधृतिचिन्तानां शबलता ।

इति श्रीमन्नारायणचरणारविन्दमधुव्रत-साहित्यार्णवकर्णधार-ध्वनिप्रस्थापन-परमाचार्य-कविसूक्तिरत्नाकराऽष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्गसान्धिविग्रहिक-महापात्र-श्रीविश्वनाथकविराजकृतौ साहित्यदर्पणे रसादिनिरूपणो नाम तृतीयः परिच्छेदः ।

भावः । अपकल्मषाः = पापरहिताः, कृतधियः = विद्वांसः, किं, वक्ष्यन्ति=कथयिष्यन्ति, दुष्कृतिनं मामिति शेषः । एतेन शङ्कारूपो व्यभिचारिभावः । सा=उर्वशी, स्वप्नेऽपि= स्वापेऽपि, दुर्लभा = दुष्प्राप्या, एतेन दैन्यरूपो व्यभिचारिभावः । हे चेतः = हे चित्त !, स्वास्थ्यं = सुस्थितिम्, उपैहि = प्राप्नुहि, एतेन धृतिरूपो व्यभिचारिभावः । कः = कतमः, युवा = तरुणः, धन्यः = सुकृती सन्, अधरम् = ओष्ठम्, उर्वश्या इति शेषः । धास्यति = पास्यति, एतेन चिन्ताऽऽख्यो व्यभिचारिभावः । शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ।

अत्र = अस्मिन्पद्ये वितर्कौत्सुक्यमतिस्मरणदैन्यधृतिचिन्तानां = तदाख्यानां व्यभिचारिभावानां शबलता= विच्छिन्नता, पूर्वपूर्वोपमर्देन उत्तरोत्तरोत्पत्तिः शबलतेति भावः।

इति श्रीशेषराजशर्मप्रणीतायां चन्द्रकलाऽभिख्यायां साहित्यदर्पण-टीकायां तृतीयः परिच्छेदः ॥

वह दुर्लभ हो गई ७ हे चित्त ! तू सुस्थितिको प्राप्त कर ८ कौन सा भाग्यवान् युवक उसका अधरपान करेगा ? इस पद्यमें क्रमके अनुसार १ वितर्क २ औत्सुक्य ३ मति ४ स्मरण ५ शङ्का ६ दीनता ७ धृति और ८ चिन्ता इन व्यभिचारि भावोंके मिश्रणसे यह भावशबलताका उदाहरण है ।

साहित्यदर्पणके अनुवादमें तृतीय परिच्छेद समाप्त हुआ ।

चतुर्थः परिच्छेदः

अथ काव्यभेदमाह—

काव्यं ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति द्विधा मतम् ।

तत्र—

वाच्यातिशयिनि व्यङ्ग्ये ध्वनिस्तत्काव्यमुत्तमम् ॥ १ ॥

वाच्यादधिकचमत्कारिणि व्यङ्ग्यार्थे ध्वन्यतेऽस्मिन्निति व्युत्पत्त्या ध्वनिर्नामोत्तमं काव्यम् ।

भेदौ ध्वनेरपि द्वावुदीरितौ लक्षणाभिधामूलौ ।
अविवक्षितवाच्योऽन्यो विवक्षितान्यपरवाच्यश्च ॥ २ ॥

काव्यलक्षण—वाक्य-पदार्थस्वरूपरसाऽऽदिनिरूपणाऽनन्तरं काव्यस्य भेदानुद्दिशति—**काव्यमिति** । ध्वनिर्गुणीभूतव्यङ्ग्यं चेति भेदाभ्यां, काव्यं द्विधा = प्रकारद्वयेन, मतं= सम्मतम् । तत्र ध्वन्यते (व्यज्यते) व्यङ्ग्यार्थः (व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्योऽर्थः) शब्दादिना यस्मिन् (काव्ये) इति ध्वनिः । तथैव गुणीभूतः (अप्रधानीभूतः) व्यङ्ग्यः (व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्योऽर्थः) अस्मिन्निति गुणीभूतव्यं ङ्ग्य इति व्युत्पत्तिः ।

तत्र = तस्मिन् काव्यद्वये, ध्वनि लक्षयति—**वाच्याऽतिशयिनीति** ।

व्यङ्ग्ये = व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्येऽर्थे, वाच्याऽतिशयिनि = वाच्यात् (अभिधावृत्तिप्रतिपाद्यादर्थात्) अतिशयिनि (अधिकचमत्कारिणि) सति ध्वन्यते (व्यञ्जनावृत्त्या प्रतिपाद्यते) अर्थः यस्मिन्निति ध्वनिर्नामोत्तमं काव्यम् ।। १ ॥

ध्वनिभेदौ प्रतिपादयति—**भेदाविति** । अविवक्षितवाच्यः=लक्षणामूलः, अन्यः= अपरः, विवक्षिताऽन्यपरवाच्यश्च = अभिधामूलश्च इति = एवम्, ध्वनेरपि = उत्तमकाव्यस्याऽपि, लक्षणाऽभिधामूलौ, द्वौ=द्विसंख्यकौ, भेदौ=प्रकारौ, उदीरितौ=कथितौ॥२॥

अब काव्यभेद कहते हैं—काव्यके दो भेद होते हैं, ध्वनि और गुणीभूतव्यङ्ग्य । ध्वन्यते (व्यज्यते) व्यङ्ग्यार्थः अस्मिन् ऐसी व्युत्पत्ति कर "ध्वन शब्दे" इस धातुसे अधिकरण अर्थमें इ प्रत्यय होकर "ध्वनि" शब्द निष्पन्न होता है । वाच्य (अभिधावृत्तिसे प्रतिपाद्य) अर्थसे जहाँपर व्यङ्ग्य (व्यञ्जना वृत्तिसे प्रतिपाद्य) अर्थ अधिक चमत्कारी होता है उसे "ध्वनि" कहते है, वह उत्तमकाव्य है ॥ १ ॥

ध्वनिके भी दो भेद होते है **लक्षणामूल और अभिधामूल** । लक्षणामूल होनेसे ही जहाँपर वाच्य अर्थ अविवक्षित (बाधितस्वरूप) होता है, ऐसे प्रथमको अविवक्षितवाच्य कहते हैं । विवक्षित है अन्यपर (व्यङ्ग्यनिष्ठ) वाच्य अर्थ जिसमें वैसे द्वितीयको विवक्षिताऽन्यपरवाच्य अर्थात् "अभिधामूल ध्वनि" कहते हैं ॥ २ ॥

तत्राविवक्षितवाच्यो नाम लक्षणामूलो ध्वनिः। लक्षणामूलत्वादेवात्र वाच्यमविवक्षितं बाधितस्वरूपम्।

विवक्षितान्यपरवाच्यस्त्वभिधामूलः, अत एवात्र वाच्यं विवक्षितम्। अन्यपरं व्यङ्ग्यनिष्ठम्। अत्र हि वाच्योऽर्थः स्वरूपं प्रकाशयन्नेव व्यङ्ग्यार्थस्य प्रकाशकः। यथा—प्रदीपो घटस्य। अभिधामूलस्य बहुविषयतया पश्चान्निर्देशः।

अविवक्षितवाच्यस्य भेदावाह—

अर्थान्तरं संक्रमिते वाच्येऽत्यन्तं तिरस्कृते।
अविवक्षितवाच्योऽपि ध्वनिर्द्वैविध्यमृच्छति॥ ३॥

तत्रेति। अविवक्षितवाच्यः = अविवक्षितं (न वक्तुमिष्टं=बाधितस्वरूपमिति भावः) वाच्यम् यस्मिन्सः तादृशो लक्षणामूलो ध्वनिः। विवक्षितान्यपरवाच्यः = विवक्षितम् (वक्तुम् इष्टम्) अन्यपरम् (व्यङ्ग्यनिष्ठम्) वाच्यं यस्य सः अभिधामूलो ध्वनिः।

अत्रेति। अत्र = अविवक्षितवाच्ये, वाच्योऽर्थः = अभिधावृत्तिप्रतिपाद्योऽर्थः, स्वरूपं=निजार्थं, प्रकाशयन्नेव=प्रतिपादयन्नेव, व्यङ्ग्यार्थस्य=व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्यार्थस्य, प्रकाशकः=प्रतिपादकः। अभिधामूलस्य = विवक्षितान्यपरवाच्यस्य ध्वनेः, बहुविषयतया = विषयाऽऽधिक्येन, पश्चात् निर्देशः = पश्चात्प्रतिपादनम्। अल्पवक्तव्यत्वेन सूचीकटाहन्यायेन लक्षणामूलध्वनेः प्राङ्निर्देश इति भावः॥ २॥

अविवक्षितवाच्यस्य = लक्षणामूलध्वनेः, भेदौ = प्रकारौ, आह—अर्थान्तर इति। वाच्ये = अभिधावृत्तिप्रतिपाद्ये अर्थे, अर्थान्तरम् = वाच्यभिन्नमन्यम् अर्थम्, सक्रमिते = प्रापिते, तथा च अत्यन्तं = सातिशयम्, तिरस्कृते = लक्षणलक्षणया ज्ञानाऽविषयं प्रापिते सति। अविवक्षितवाच्यः = लक्षणामूलः ध्वनिरपि, द्वैविध्यं =

इसमें वाच्य अर्थ अपने स्वरूपको प्रकाशित करता हुआ ही व्यङ्ग्य अर्थका प्रकाश करता है। जैसे प्रदीप घटको प्रकाशित करता हुआ अपने स्वरूपका प्रकाशित करता है। अभिधामूल ध्वनिका विषय बहुत होनेसे उसका पीछे निर्देश किया है और लक्षणामूलक ध्वनिका विषय थोडा है इसलिए सूचीकटाहन्यायसे उसका पहले निर्देश किया गया है।

अविवक्षित वाच्यके दो भेद कहते हैं—वाच्यके दूसरे अर्थमें संक्रान्त होनेसे अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य, और वाच्यके अत्यन्त तिरस्कृत होनेपर अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य, इसप्रकार अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) ध्वनिके दो भेद होते हैं। जिस स्थलमें स्वयम् प्रकृत अन्वयमें बाधित होकर वाच्य अर्थ दूसरे अर्थमें

अविवक्षितवाच्यो नाम ध्वनिरर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्चेति द्विविधः।

यत्र स्वयमनुपयुज्यमानो मुख्योऽर्थः स्वविशेषरूपेऽर्थान्तरे परिणमति, तत्र मुख्यार्थस्य स्वविशेषरूपार्थान्तरसंक्रमितत्वादर्थान्तरसङ्क्रमितवाच्यत्वम्।

यथा—

'कदली कदली, करभः करभः, करिराजकरः करिराजकरः।
भुवनत्रितयेऽपि बिभर्ति तुलामिदमूरुयुगं न चमूरुदृशः॥'

द्विप्रकारताम्, ऋच्छति = गच्छति। अविवक्षितवाच्यस्य ध्वनेः अर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्चेति द्वौ भेदौ भवत इति भावः।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यं विवृणोति—**यत्रेति**। यत्र = यस्मिन् स्थले, स्वयं = स्वरूपेण, अनुपयुज्यमानः = प्रकृतान्वये बाध्यमान इति भावः, मुख्यः = वाच्यः, अर्थः स्वविशेषरूपे = निजभेदरूपे, अर्थान्तरे = अन्यस्मिन्नर्थे, वाच्यलक्ष्यसाधारणेऽर्थे इति भावः। परिणमति = परिणामं प्राप्नोति, उपादानलक्षणयाऽर्थान्तरं प्राप्नोतीति भावः। तत्र = तस्मिन्स्थले, मुख्यार्थस्य = वाच्यार्थस्य, स्वविशेषरूपार्थान्तरसंक्रमितत्वात् = निजभेदरूपवाच्यान्तरसंक्रमयुक्तत्वात्, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वम्।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यमुदाहरति—**कदलीति**। प्रसन्नराघवे प्रथमेऽङ्के पद्यमिदं वर्तते। छद्मवेशी रावणः सीतायाः सौन्दर्यं वर्णयति। कदली=रम्भा, कदली=शैत्याऽतिशययुक्ता कदली एव, करभः = मणिबन्धादाकनिष्ठं करस्य प्रदेशः, करभः=साऽतिशयखर्वः करभः एव, करिराजकरः = करिराजस्य (गजेन्द्रस्य) करः (शुण्डादण्डः), करिराजकरः = अतिशयपरुषः करिराजकर एव, अतः चमूरुदृशः = चमूरोः (मृगविशेषस्य) इव दृशौ (नयने) यस्याः सा, मृगनयनायाः सीताया इति भावः। इदं = दृश्यमानम्, ऊरुयुगं = सक्थियुग्मं, भुवनत्रितये अपि = लोकत्रये अपि, तुलां = सादृश्यं,

परिणत होता है, वहाँपर मुख्य (वाच्य) अर्थ दूसरे अर्थमें संक्रान्त होनेसे अर्थान्तरसंक्रमित वाच्य होता है॥ ३॥

जैसे—प्रसन्नराघवमें छद्मवंशी रावण सीताके सौन्दर्यका वर्णन करता है। कदली (रम्भा) कदली ही है। करभ (ऊरूके आकारका हाथका पार्श्वभाग) करभ ही है, गजेन्द्रकी सूंड़ भी गजेन्द्र सूंड़ ही है। मृगनयना (सीता) के ये दोनों ऊरू तीनों लोकोंमें अपनी सानी नहीं रखते है (१–३७) यहांपर दूसरा कदली शब्द पुनरुक्तिके भयसे सामान्यकदली रूप मुख्य अर्थमें बाधित होकर शैत्य आदि गुण विशिष्ट कदलीरूप

अत्र द्वितीयकदल्यादिशब्दाः पौनरुक्त्यभिया सामान्यकदल्यादिरूपे मुख्यार्थे बाधिता जाड्यादिगुणविशिष्टकदल्यादिरूपमर्थं बोधयन्ति। जाड्याद्यतिशयश्च व्यङ्ग्यः।

यत्र पुनः स्वार्थं सर्वथा परित्यजन्नर्थान्तरे परिणमति, तत्र मुख्यार्थस्यात्यन्ततिरस्कृतत्वादत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वम्।

कस्याऽपीति शेषः। न बिभर्ति=नो धारयति। मृगीदृश ऊरुयुगं कदलीकरभशुण्डादण्डाद्युपमानाऽपेक्षया विशिष्टत्वाल्लोकत्रयेऽपि सादृश्य न बिभर्तीति भावः।

लक्ष्य उदाहरणं विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र=अस्मिन्नुदाहरणे, द्वितीयकदल्यादिशब्दाः = द्वितीयकदली-करभ-करशब्दाः, पौनरुक्त्यभिया=पुनरुक्तिदोषभीत्या, सामान्यकदल्यादिरूपे = साधारणकदलीकरभकरिराजकरस्वरूपे, मुख्याऽर्थे, बाधिताः = अन्वयमप्राप्नुवन्तः, जाड्यादिगुणविशिष्टकदल्यादिरूपं=जाड्यखर्वत्वपरुषत्वगुणयुक्तकदलीकरभकरिराजकररूपम्, अर्थं बोधयन्ति = उपादानलक्षणया प्रतिपादयन्तीत्यर्थः। लक्षणायाः प्रयोजनं प्रतिपादयति—जाड्याद्यतिशयश्च=जाड्यखर्वत्वपरुषत्वाऽतिशयश्च, व्यङ्ग्यः= लक्षणामूलव्यञ्जनया प्रतिपाद्यः। द्वितीयकदलीकरभकरिराजकरेष्विति शेषः।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यमुपपादयति—**यत्रेति**। यत्र = यस्मिन् ध्वनौ, स्वाऽर्थं= मुख्याऽर्थं सर्वथा = सर्वैः प्रकारैः, विशेष्यत्वेन विशेषणत्वेन च। परित्यजत् = अस्वीकुर्वत्, अर्थान्तरे=मुख्याऽर्थभिन्ने, परिणमति=परिणाम प्राप्नोति, लक्षणलक्षणयेति शेषः। तत्र = तस्मिन्स्थले, मुख्याऽर्थस्य = वाच्याऽर्थस्य, अत्यन्ततिरस्कृतत्वात् = सर्वथा बाध्यत्वात्, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यत्वम्।

अर्थको उपादान लक्षणासे बोधित करता है शैत्यका अतिशय व्यङ्ग्य है, यही लक्षणाका प्रयोजन है।

इसी तरह दूसरा करभ शब्द पूर्ववत् सामान्य करभरूप मुख्य अर्थमें बाधित होकर खर्वत्वगुणविशिष्ट करभरूप अर्थको लक्षणासे बोधित करता है। खर्वत्वका अतिशय व्यङ्ग्य है। इसी प्रकार दूसरा करिराजकर (गजेन्द्रकी सूंड) शब्द भी पुनरुक्तिके भयसे सामान्य करिराजकर-रूप मुख्य अर्थमे बाधित होकर परुषत्वरूप अर्थको लक्षणासे बोधित करता है। परुषत्वका अतिशयरूप व्यङ्ग्य अर्थ लक्षणामूल—व्यञ्जनासे प्रतिपाद्य है।

अत्यन्त तिरस्कृत वाच्य—जहाँ शब्द अपने मुख्य अर्थको सर्वथा छोड़कर दूसरे अर्थमें परिणत होता है, वहां मुख्य अर्थके अत्यन्त तिरस्कृत होनेसे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि होती है।

यथा—

निःश्वासान्ध इवादर्शश्चन्द्रमा न प्रकाशते ।

अत्रान्धशब्दो मुख्यार्थे बाधितेऽप्रकाशरूपमर्थं बोधयति, अप्रकाशातिशयश्च व्यङ्ग्यः। अन्धत्वाप्रकाशत्वयोः सामान्यविशेषभावाभावान्नार्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वम्—

यथा—

भम धम्मिअ ! वीसत्थो, सो सुणओ अज्ज मारिओ देण ।
गोलाणइकच्छकुडङ्गवासिणा दरिअसीहेण ॥

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यमुदाहरति—**निःश्वासान्ध इति**। निःश्वासान्धः = निःश्वासेन (निःश्वासवातेन) अन्धः (अप्रकाशः) आदर्श इव = दर्पण इव, चन्द्रमाः = इन्दुः, न प्रकाशते=नो दीप्यते । पञ्चवट्यां हेमन्तवर्णनप्रसङ्गे रामस्योक्तिरियम् । एतत्पूर्वार्द्धं तु—"रविसंक्रान्तसौभाग्यस्तुषाराऽऽवृतमण्डलः ।" इति ।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र अन्धशब्दो मुख्यार्थे = दर्शनशक्तिरहितरूपे वाच्यार्थे, बाधिते = प्रतिबद्धे सति, अप्रकाशरूपमर्थम् अस्वच्छरूप वाच्यं, बोधयति= अवगमयति, लक्षणलक्षणयेति शेषः। अप्रकाशातिशयश्च = अस्वच्छताऽतिशयश्च, व्यङ्ग्यः=व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्यः। अन्धत्वाऽप्रकाशत्वयोः=शक्यत्वलक्ष्यत्वयोः, सामान्यविशेषभावाऽभावात् = सामान्यविशेषभावराहित्यात्, न अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वम् । शक्यत्वलक्ष्यत्वयोः सामान्यविशेषभाव एव अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यत्वमिति भावः। यथा कदली कदलीत्यादौ । "भम धम्मिअ" इत्यत्र केषांचिद्विपरीतलक्षणाभ्रमं निरसितुमाह—**भमेति**।

"भ्रम धार्मिक ! विश्वस्तः स श्वाऽद्य मारितस्तेन ।
गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना दृप्तसिंहेन ।।" इति संस्कृतच्छाया।

कुत्रचिदुद्याने परपुरुषसमागमकाले पुष्पाऽवचार्यार्थं भ्रमन्तं धार्मिकं प्रति स्वैरिण्या उक्तिरियम् । हे धार्मिक=धर्माचरणशील !, विश्वस्तः, श्वदंशनभयाऽभावेन, विश्वस्तः= आश्वस्तः सन्, भ्रम = भ्रमण कुरु ।

उ०—निःश्वासको हवासे अंधे दर्पणके समान चन्द्रमा प्रकाशित नहीं होता है। यहाँपर "अन्ध" शब्द अपने 'नेत्रहीन' अर्थको सर्वथा छोड़कर लक्षणलक्षणासे अप्रकाशरूप दूसरे अर्थका प्रतिपादन करता है। अत्यन्त अप्रकाशरूप अर्थ व्यङ्ग्य है। यहाँपर (अत्यन्त तिरस्कृत वाच्यमें) अन्धत्व और अप्रकाशत्वका सामान्य विशेषभाव न होनेसे अर्थान्तर संक्रमित वाच्य ध्वनि नहीं है।

"भम धम्मिअ" इस पद्यमें कुछ विद्वानोंके विपरीतलक्षणाके भ्रमको निवारण करनेके लिए उक्त पद्यको उपस्थित करते हैं। कोई कुलटा स्त्री संकेत स्थान किसी

अत्र 'भ्रम धार्मिक—' इत्यतो भ्रमणस्य विधिः प्रकतेऽनुयुज्यमानतया भ्रमणनिषेधे पर्यवस्यतीति विपरीतलक्षणाशङ्का न कार्या। यत्र खलु

अत्राऽर्थे हेतुं प्रदर्शयति—**गोलाणइ इति । स इवेति ।** अद्य=अस्मिन् दिने; गोदानदीकच्छकुञ्जवासिना=गोदानद्याः (गोदावरीसरितः) यः कच्छः (जलप्रायदेशः), तस्मिन् (तन्निकटे) यः कुञ्जः (लताऽऽदिपिहितस्थानम्), तद्वासिना (तन्निवसनशीलेन), तेन=प्रसिद्धेन, दृप्तसिंहेन = दर्पयुक्तकेसरिणा· सः = प्रसिद्धः, श्वा=सारमेयः, मारितः=हतः । पुरा सारमेयदंशनाशङ्काऽऽसीदद्य तु साक्षाद्दृप्तः सिंहः समागतः; अतो भ्रमणं मा कार्षीरित्यभिप्रायः ।

अत्र विपरीतलक्षणाऽऽशङ्कां परिहरति—**अत्रेति ।** अत्र=पद्ये, "भ्रम धार्मिक" इत्यतः = इत्यस्माद्वाक्यात्, भ्रमणस्य = भ्रमिक्रियायाः, विधिः = विधानं, प्रकृते = स्वैरिण्या अभीष्टे अनुपयुज्यमानतया = अप्राप्तोपयोगतया, भ्रमणनिषेधे = भ्रमिक्रियाप्रतिषेधे, पर्यवस्यति = पर्यवसितो भवति, इति विपरीतलक्षणाशङ्का, न कार्या = न कर्तव्या । विपरीतलक्षणायाः प्रसङ्गं दर्शयति—**यत्रेति ।** यत्र = यस्मिन् स्थाने, विधिनिषेधौ = विधानप्रतिषेधौ, उत्पद्यमानौ एव, वाक्याऽर्थज्ञानोत्पत्तिदशायाम् एव; निषेधविध्योः = प्रतिषेधविधानयोः, पर्यवस्यतः=पर्यवसितौ भविष्यतः, तत्रैव = स्थाने, तदवसरः = विपरीतलक्षणाप्रसङ्गः । यथा च विधेर्निषेधे पर्यवसानम्—

"औन्निद्र्यं दौर्बल्यं चिन्ताऽऽलसत्वं सनिःश्वसितम् ।
मम मन्दभागिन्याः कृते सखि ! त्वामपि परिभवति ।"

हे सखि = हे वयस्ये !, औन्निद्र्यम् = उन्निद्रता, दौर्बल्यं = दुर्बलता, सनिःश्वसितं = निःश्वाससहितं, चिन्ताऽलसत्वम् = आध्यानालस्यं, मन्दभागिन्याः = अल्पभाग्यायाः, मम = सख्याः, कृते = निमित्ते, त्वाम् अपि = भवतीम् अपि, परिभवति=अभिभवति । रुष्ट कान्तमनुनेतुं प्रहितायां सख्या स्वय कान्तेन संसृष्टायां नायिका तामुपालभते । अत्र "मम कृते" इति विधिरुत्पद्यमान एव "न मम कृते" इति लक्षणया निषेधे पर्यवस्यति, अत एतादृशस्थल एव विपरीतलक्षणा ।

उद्यानमें फूल तोड़नेके लिए घूमते हुए किसी धार्मिक पुरुषको कहती है । हे महात्मा ! विश्वस्त होकर भ्रमण करो । आज गोदावरीके जलप्राय देशके निकटवर्ती लतागृहमें रहने वाले दर्पयुक्त सिंहने उस कुत्तेको मार डाला । इस पद्यमें "भ्रम धार्मिक" इन पदोंसे भ्रमणकी विधि प्रकृतमें उपयुक्त न होनेसे भ्रमणके निषेधमें पर्यवसित होती है इस कारणसे विपरीतलक्षणाकी शङ्का नहीं करनी चाहिए, क्योंकि जहाँपर विधि और निषेध उत्पन्न होनेके साथ ही विधि निषेधमें और निषेध विधिमें पर्यवसित हो जाते हैं वहीं पर विपरीतलक्षणाका प्रसङ्ग है, इसके विपरीत जहाँपर प्रकरण आदिकी पर्या-

पिधिनिषेधावुत्पत्स्यमानावेव निषेधविध्योः पर्यवस्यतस्तत्रैव तदवसरः। यत्र पुनः प्रकरणादिपर्यालोचनेन विधिनिषेधयोर्निपेधविधी अवगम्येते तत्र ध्वनित्वमेव।

तदुक्तम्—

'क्वचिद् बाध्यतया ख्यातिः, क्वचित् ख्यातस्य बाधनम्।
पूर्वत्र लक्षणव स्यादुत्तरत्राभिधैव तु ॥'

निषेधस्य विधौ पर्यवसानं यथा—

मा पथिक ! रांध्यन्धक ! शय्यायां मम निमङ्क्ष्यसि। (पृ० २०)।

अत्र स्वयं दूतिकाया उक्तौ "मम शय्यायां मा निमङ्क्ष्वसि॥"

इति निषेध उत्पद्यमान एव "मम शय्यायां निमङ्क्ष्व" इति विधौ पर्यवस्यति इत्थं च यत्र विधिनिषेधावुत्पद्यमानौ एव यत्र निषेधविध्योः पर्यवस्यतस्तत्रैव विपरीतलक्षणाऽभिधाना लक्षणलक्षणा भवतीति तात्पर्यम्।

ध्वनिप्रसङ्गं प्रदर्शयति—यत्रेति। एतद्वैपरीत्येन यत्र = स्थाने, प्रकरणादिपर्यालोचनेन = प्रकरणादीनां (प्रकरणप्रभृतीनाम्) पर्यालोचनेन (विमर्शनेन), विधिनिषेधयोः = विधानप्रतिषेधयोः, निषेधविधी=प्रतिषेधविधाने, अवगम्येते=ज्ञायेते, तत्र= तस्मिन् स्थले, ध्वनित्वम् एव = व्यङ्ग्यत्वम् एव, अभिधामूलध्वनित्वम् एवेति भावः।

अत्रार्थे प्राचीनोक्तिं प्रदर्शयति—तदुक्तमिति। क्वचिदिति। क्वचित् = कुत्रचित्स्थले, बाध्यतया = शब्दस्याऽन्वये अनुपपद्यमानतया, ख्यातिः = प्रतीतिः। क्वचित् = कुत्रचित्स्थले, ख्यातस्य = अबाध्यत्वेन प्रथमं प्रतीतस्य शब्दस्य, बाधनं = प्रकरणादिपर्यालोचनया विपरीतार्थपर्यवसानम्। तयोः पूर्वत्र = बाध्यतया ख्यातौ; लक्षणा एव स्यात् = लक्षणामूलध्वनिरेव स्यात्, उत्तरत्र तु = ख्यातस्य बाधने तु; अभिधा एव=अभिधामूलध्वनिरेव। तथा चाऽत्र "भ्रम धम्मिअ" इत्यत्र बाधज्ञानाऽभावान्न लक्षणा, परं प्रकरणपर्यालोचनतः "भ्रम" इत्यस्य विधेः "न भ्रम" इति निषेधरूपव्यङ्ग्यार्थपरतया अभिधामूलध्वनित्वमिति भावः।

लोचनासे विधि निषेध अर्थमें और निषेध विधि अर्थमें प्रतीत हो जाते हैं वहाँ ध्वनि ही हो जाती है लक्षणा नहीं।

इस विषयके समर्थनके लिए प्राचीन उक्तिका प्रदर्शन करते है। १ कहीं बाध्यता- (शब्दके अन्वयमें अनुपपत्ति) से प्रतीति और कहीपर बाध्य न होनेसे प्रतीत शब्दका प्रकरण आदिके विचारसे विपरीत अर्थमे पर्यवसान होता है, उनमें प्रथममें लक्षणामूल ध्वनि होती है और द्वितीयमे अभिधामूल ध्वनि होती है।

अत्राद्ये मुख्यार्थस्यार्थान्तरे संक्रमणं प्रवेशः, न तु तिरोभावः। अत एवात्राजहत्स्वार्था लक्षणा। द्वितीये तु स्वार्थस्यात्यन्तं तिरस्कृतत्वाज्जहत्स्वार्था।

विवक्षिताभिधेयोऽपि द्विभेदः प्रथमं मतः।
असंलक्ष्यक्रमो यत्र व्यङ्ग्यो लक्ष्यक्रमस्तथा॥ ४॥

विवक्षितान्यपरवाच्योऽपि ध्वनिरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यश्चेति द्विविधः।

लक्षणामूलध्वनौ लक्षणाविवेकं प्रतिपादयति—**अत्रेति**। अत्र = लक्षणामूलध्वनौ, आद्ये = प्रथमे, अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य इति भावः। मुख्यार्थस्य=वाच्यार्थस्य "कदली कदली" त्यादौ द्वितीयकदल्यादिशब्दस्य, अर्थान्तरे = शैत्यादिगुणयुक्तकदल्यादिरूपे, संक्रमणं = प्रवेशः, न तु तिरोभावः, अत एवाऽत्र जहत्स्वार्था लक्षणा। द्वितीये तु= अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य तु "निःश्वासाऽन्ध" इत्यादौ, स्वार्थस्य = अन्धशब्दवाच्यार्थस्य दृष्टिशक्तिरहितस्य, अप्रकाशरूपार्थस्य अत्यन्तं तिरस्कृतत्वात् जहत्स्वार्था लक्षणा॥३॥

विवक्षिताऽन्यपरवाच्यस्य अभिधामूलध्वनेर्भेदौ दर्शयति—**विवक्षिताऽभिधेयोऽपीति**। विवक्षिताऽभिधेयः=विवक्षितः (वक्तुमिष्टः) अभिधेयः (वाच्यार्थः) यस्मिन् सः विवक्षिताऽन्यपरवाच्य इत्यर्थः। अभिधामूलध्वनिरिति भावः। प्रथमं=प्राक्, द्विभेदः = द्वौ भेदौ (प्रकारौ) यस्य सः, मतः, यत्र = ध्वनौ, असंलक्ष्यक्रमः = असंलक्ष्यः (अज्ञेयः) क्रमः (पौर्वापर्यम्) यस्य सः। संलक्ष्यक्रमः—संलक्ष्यः (ज्ञेयः) क्रमः (पौर्वापर्यम्) यस्य सः। विवक्षिताऽन्यपरवाच्यस्य (अभिधामूलस्य) ध्वनेः असंलक्ष्यक्रमः संलक्ष्यक्रमश्चेति द्वौ भेदाविति भावः॥ ४॥

यहाँ (लक्षणामूल ध्वनिमें) प्रथम (अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि) में दूसरे अर्थमें संक्रमण (प्रवेश) होता है, न कि तिरोभाव, इसीलिये यहांपर अजहत्स्वार्था लक्षणा है।

द्वितीय (अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य ध्वनि) में स्वार्थ अत्यन्ततिरस्कृत होता है इसलिए जहत्स्वार्था लक्षणा है।

अभिधामूल ध्वनिके दो भेद—विवक्षिताऽन्यपर वाच्य ध्वनिके दो भेद होते हैं—पहला असंलक्ष्य क्रमव्यङ्ग्य अर्थात् जिसमें व्यङ्ग्य अर्थका क्रम लक्षित नहीं है और दूसरा संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य अर्थात् जिसमें व्यङ्ग्य अर्थका क्रम लक्षित है॥ ४॥

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य—उनमें प्रथम असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके उदाहरण रस और भाव आदि हैं, आदि पदसे रसाभास, भावाभास सन्धिशबलता आदिका ग्रहण होता है।

तत्राद्यो रसभावादिरेक एवात्र गण्यते।
एकोऽपि भेदोऽनन्तत्वात् संख्येयस्तस्य नैव यत् ॥ ५ ॥

उक्तस्वरूपो भावादिरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः। अत्र व्यङ्ग्यप्रतीतेर्विभावादिप्रतीतिकारणत्वात् क्रमोऽवश्यमस्ति किन्तूत्पलपत्त्रशतव्यतिभेदवल्लाघवान्न संलक्ष्यते। एषु रसादिषु एकस्यापि च भेदस्यानन्तत्वात्संख्यातुम-

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिं निरूपयति—तत्रेति। तत्र = असंलक्ष्यक्रमसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ययोर्मध्ये, अत्र = अलङ्कारशास्त्रे, आद्यः=प्रथमः, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः रसभावादि, आदिपदेन रसाभासभावाभाससन्धिशबलतानां ग्रहणम्। एक एव = एकप्रकार एव, गण्यते = संख्यायते। रसभावादीनामेकमात्रग्रहणे हेतुमाह—यत् = यस्मात्कारणात्, तस्य = रसभावादेः, एकोऽपि भेदः = शृङ्गाररसस्य संभोगशृङ्गाररूपः एकोऽपि प्रकारः, अनन्तत्वात् = चुम्बनाद्यनुभावभेदानामसंख्यत्वात् संख्येयः = परिगणनीयः, नैव ॥ ५ ॥

विवृणोति—उक्तस्वरूप इति। अलक्ष्यक्रमत्वमुपपादयति—अत्रेति। अत्र= असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये, व्यङ्ग्यप्रतीतेः = व्यङ्ग्यानां (रसाभावादीनाम्) प्रतीतेः (ज्ञानस्य), विभावादिप्रतीतिकारणत्वात् = विभावादीनां (विभावाऽनुभावव्यभिचारिभावानाम्) प्रतीतिः (ज्ञानम्) एव कारण (हेतुः) यस्याः सा, तस्या भावः तस्मात्। क्रमः=पौर्वापर्यम्, कारणस्य (विभावस्य) पूर्ववर्तिता, कार्यस्य (अनुभावस्य) परवर्तिता इति भावः, अवश्यमस्ति, किन्तु—उत्पलपत्त्रशतव्यतिभेदवत् = उत्पलानां (कमलानाम्) पत्त्राणां (दलानाम्) यत् शतं (बहुसंख्या), तस्य व्यतिभेदवत् = युगपद्विदारणवत्, लाघवात् = अतिशीघ्रत्वात्, न संलक्ष्यते = नो ज्ञायते। यथा सूच्या उत्पलबहुपत्त्राणां भेदके क्रमोऽवश्यमस्ति पर क्षिप्रताऽतिशयात् यथा तेषां पौर्वापर्यं न ज्ञायते तथैव असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्येऽपि क्षिप्रताऽतिशयात् क्रमो न ज्ञायत इति भावः।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनेरेकत्वं प्रतिपादयति। एष्विति। एषु च रसादिषु—

इसप्रकार असंलक्ष्य क्रम व्यङ्ग्यका एक ही भेद है क्योंकि एकका भेद भी अनन्त होनेसे वे सब नहीं गिने जा सकते हैं ॥ ५ ॥

पूर्वोक्त स्वरूपवाला भाव आदि असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य है। यहाँपर व्यङ्ग्य प्रतीतिरूप कार्यका बिभाव आदिका प्रतीतिरूपकारण होनेसे क्रम अवश्य है किन्तु कमलके सैकड़ों पत्तोंको सुईसे छेद करें तो उनमें क्रमके रहनेपर भी शीघ्रताके कारण जैसे क्रम (पौर्वापर्य) नहीं जाना जाता है वैसे ही यहांपर शीघ्रताके कारण क्रमका ज्ञान नहीं होता है। इन रस आदियोंमें एक भेदका भी अन्त न होनेसे नहीं गिने जा सकनेसे असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनि नामके काव्यका एक ही भेद माना गया

शक्यत्वादसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिर्नाम काव्यमेकभेदमेवोक्तम्। तथाहि—एकस्यैव 'शृङ्गारस्यैकोऽपि संभोगरूपो भेदः परस्परालिङ्गनाधरपानचुम्बनादिभेदात् प्रत्येकं च विभावादिवैचित्र्यात्संख्यातुमशक्यः, का गणना सर्वेषाम्?।

शब्दार्थोभयशक्त्युत्थे व्यङ्ग्येऽनुस्वानसन्निभे।
ध्वनिर्लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्त्रिविधः कथितो बुधैः ॥ ९ ॥

क्रमलक्ष्यत्वादेवानुरणनरूपो यो व्यङ्ग्यस्तस्य शब्दशक्त्युद्भवत्वेन, अर्थशक्त्युद्भवत्वेन, शब्दार्थशक्त्युद्भवत्वेन च त्रैविध्यात्संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यनाम्नो ध्वनेः काव्यस्यापि त्रैविध्यम्।

शृङ्गारादिषु, एकस्य अपि = शृङ्गारस्य संभोगरूपस्य अपि, भेदस्य = प्रकारस्य, अनन्तत्वम् = असंख्यत्वम्, असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिर्नाम काव्यम्, एकभेदम् एव = एकप्रकारम् एव उक्तम्, पूर्वोक्तमर्थमुपपादयति—**तथाहीति**। एकस्यैव शृङ्गारस्य रसस्य, एकोऽपि संभोगरूपः = संभोगशृङ्गाररूपः; भेदः = प्रकारः, परस्परालिङ्गनाऽधरपानचुम्बनादिभेदात् = अन्योन्याश्लेषाऽधरधयनवक्त्रसंयोगादिप्रकारात्, एवं च प्रत्येकं विभावादिवैचित्र्यात् = विभावादीनां वैचित्र्यात् (विविधत्वात्), संख्यातुम्=परिगणयितुम् अशक्यः = न शक्तिविषयः, सर्वेषां = सकलानां रसानाम्। का गणना = का संख्या ॥ ९ ॥

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिं निरूप्य संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य त्रैविध्यं प्रदर्शयति—**शब्दाऽर्थोभयशक्त्युत्थ इति**। व्यङ्ग्ये अर्थे अनुरणनसन्निभे = अनुरणनसदृशे, शब्दाऽर्थोभयशक्त्युत्थे सति = शब्दशक्त्युत्थे सति, अर्थशक्त्युत्थे सति, (उभय) शक्त्युत्थे सति (शब्दार्थशक्त्युत्थे च सति) लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः, बुधैः=विद्वद्भिः, त्रिविधः = त्रिप्रकारः, कथितः = उक्तः। अयं भावः, यत्र क्रमलक्ष्यत्वेन प्रतिध्वनिरूपो

है। जैसे कि एक ही शृङ्गाररसका एक ही संभोगरूप भेद भी परस्पर आलिङ्गन, अधरपान और चुम्बन आदि भेदोंसे और प्रत्येकमें विभाव आदिकी विचित्रता होनेसे नहीं गिना जा सकता है तो सब रसोंके भेदोंके गिननेकी क्या बात हो सकती है?

संलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य ध्वनिके तीन भेद—अनुरणन (प्रतिध्वनि) के सदृश व्यङ्ग्य अर्थके शब्दशक्तिमूलक, अर्थशक्तिमूलक और उभय (शब्दाऽर्थ)-शक्तिमूलक होनेसे विद्वानोंने लक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिको तीन प्रकारका माना है ॥ ९ ॥

जैसे किसी बाजाको ताडन करनेपर उसकी ध्वनिकी उत्पत्तिके अनन्तर उससे भी मनोहर उसकी प्रतिध्वनि उत्पन्न होती है उसी तरह जहांपर प्रतिध्वनिके सदृश व्यङ्ग्य अर्थ शब्दशक्तिसे उत्पन्न होता तो उसे शब्दशक्तिमूलक ध्वनि, अर्थशक्तिसे

वस्त्वलङ्काररूपत्वाच्छब्दशक्त्युद्भवो द्विधा ।

अलङ्कारशब्दस्य पृथगुपादानादनलङ्कारं वस्तुमात्रं गृह्यते । तत्र वस्तुरूपः शब्दशक्त्युद्भवो व्यङ्ग्यो यथा—

'पन्थिअ ! ण एत्थ सत्थरमत्थि मणं पत्थरत्थले गामे ।
उण्णअपओहरं पेक्खिऊण जइ वससि ता वससु ॥'

व्यङ्ग्योऽर्थः प्रतीयते स संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः, स च त्रिविधः । शब्दशक्तिमूलाऽनुरणनव्यङ्ग्यः, अर्थशक्तिमूलाऽनुरणनव्यङ्ग्य उभय (शब्दार्थ) शक्तिमूलाऽनुरणनव्यङ्ग्यश्च ॥ ६ ॥

विवृणोति—**क्रमलक्ष्यत्वादिति** । अनुरणनरूपः = प्रतिध्वनिरूपः ॥ ६ ॥

शब्दशक्तिमूलाऽनुरणनव्यङ्ग्यस्य द्वैविध्यं प्रतिपादयति—**वस्त्वलङ्काररूपत्वादिति** । व्यङ्ग्यस्य वस्त्वलङ्काररूपत्वात्=वस्तुरूपत्वात् अलङ्काररूपत्वाच्च, शब्दशक्त्युद्भवः=शब्दशक्तिमूलाऽनुरणनव्यङ्ग्यः, द्विधा=द्विप्रकारो भवतीति भावः ।

विवृणोति—**अलङ्कारशब्दस्येति** । अलङ्कारशब्दस्य पृथक् उपादानात् = ग्रहणात् वस्तुपदेन अनलङ्कारम्=अलङ्काररहित, वस्तुमात्रं गृह्यते । तत्र = द्वयोर्मध्ये, वस्तुरूपशब्दशक्त्युद्भवं व्यङ्ग्यमुदाहरति—**पन्थिअ इति** ।

"पथिक ! नात्र स्रस्तरमस्ति मनाक्प्रस्तरस्थले ग्रामे ।
उन्नतपयोधरं प्रेक्ष्य यदि वससि तद्वस ॥" इति संस्कृतच्छाया

उत्पन्न होगा तो अर्थशक्तिमूलक ध्वनि और उभय (शब्दार्थ) शक्तिसे उत्पन्न होगा तो उभयशक्तिमूलक ध्वनि होती है, यह भाव है ।

व्यङ्ग्य अर्थके क्रमके लक्ष्य होनेसे ही अनुरणन (प्रतिध्वनि) स्वरूप जो व्यङ्ग्य अर्थ है वह शब्दशक्तिसे उत्पन्न होनेसे, अर्थ शक्तिसे उत्पन्न होनेसे और शब्द और अर्थ दोनोंकी शक्तिसे उत्पन्न होनेसे भी इस प्रकार तीन भेदोंसे युक्त होनेसे संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य नामके ध्वनिकाव्यके भी शब्दशक्तिमूल अनुरणनव्यङ्ग्य, अर्थशक्तिमूल अनुरणनव्यङ्ग्य और शब्दाऽर्थ (उभय) शक्तिमूल अनुरणनव्यङ्ग्य इस प्रकार तीन भेद होते हैं । उनमें—

शब्दशक्तिमूल अनुरणन व्यङ्ग्यके दो भेद—वस्तुरूप और अलङ्काररूप होनेसे शब्दशक्तिमूल व्यङ्ग्यके दो भेद होते हैं ।

अलङ्कार शब्दका पृथक् ग्रहण करनेसे वस्तुपदसे अलङ्काररहित वस्तुमात्र लिया जाता है ।

शब्दशक्तिमूल वस्तुस्वरूपव्यङ्ग्य उ०—रातमें वास चाहनेवाले पथिकको स्वयंदूतीकी उक्ति है । पाषाणपूर्ण स्थलवाले इस गाँवमें कुछ भी स्रस्तर तृण

अत्र सत्थरादिशब्दशक्त्या यद्युपभोगक्षमोऽसि तदास्स्वेति वस्तु व्यज्यते अलङ्काररूपो यथा—'दुर्गालङ्घितविग्रहः' इत्यादौ। (७१ तमे)

अत्र प्राकरणिकस्य उमानाममहादेवी-वल्लभस्य-भानुदेवनाम-नृपते-वर्णने द्वितीयार्थसूचितमप्राकरणिकस्य पार्वतीवल्लभस्य वर्णनमसम्बद्धं मा

रात्रौ निवासाऽर्थिनं पथिकं प्रति स्वयं दूत्या उक्तिरियम्। हे पथिक=हे पान्थ !, प्रस्तरस्थले = पाषाणपूर्णस्थले, अत्र = अस्मिन्, ग्रामे = संवसथे, मनाक् = अल्पमपि, स्रस्तरं=शयनायाऽऽस्तरणं, न अस्ति=नो वर्तते, उन्नतपयोधरम् = उद्भूतमेघं, प्रेक्ष्य = दृष्ट्वा, वससि यदि = शयनीयास्तरणाऽभावेऽपि अवस्थानं करोषि चेत्, वस = निवासं कुरु। गाथा वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन् पद्ये, सत्थरादिशब्दशक्त्या = सत्थर-पत्थरपओहरादिशब्दसामर्थ्येन, उपभोगक्षमोऽसि यदि=उपभोगसमर्थोऽसि चेत्, तदा = तर्हि, वस = उपविश इति, वस्तु=व्यज्यते=व्यञ्जनावृत्त्या प्रत्याय्यते।

अयं भावः। पूर्वोक्ताऽर्थस्य प्रतिध्वनिरूपेण—हे पान्थ ! अत्र प्रस्तरस्थले ग्रामे= कामशास्त्रज्ञानाऽभावेन प्रस्तरप्रायजडजनयुक्ते ग्रामे, स्रस्तरं = शास्त्रं, कामशास्त्रं नास्ति, कामशास्त्रज्ञाता विदग्धो नास्ति, मम उन्नतपयोधरं=यौवनवशात्कुचवस्तनं, वीक्ष्य उपभोग-क्षमोऽसि चेद्वसेति स्रस्तरपयोधरशब्दयोः परिवृत्त्यसहत्वाच्छब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिः।

शब्दशक्तिमूलमलङ्कारध्वनिमुदाहरति—**दुर्गालङ्घितविग्रह इति**। (पृ. ७१) व्याख्यातपूर्वमिदं पद्यम्। अत्र=अस्मिन् पद्ये, प्राकरणिकस्य = प्रकरणागतस्य, उमा-नाममहादेवीवल्लभ—भानुदेवनृपतेर्वर्णने द्वितीयाऽर्थसूचितमप्राकरणिकस्य = अप्रकरणा-गतस्य, पार्वतीवल्लभस्य=शङ्करस्य, वर्णनम्, असम्बद्धं=सम्बन्धरहितं, मा प्रसाङ्क्षीत्=

आदिकी शय्या नहीं है ऊँचे पयोधर (स्तन वा मेघ) को देखकर रहते हो तो रह जाओ। इस पद्यमें "सत्थर" (स्रस्तर) और "पओहर" (पयोधर) आदि शब्दोंकी शक्तिसे सत्थर (स्रस्तर) अर्थात् शास्त्र (रतिशास्त्र) का जानकार कोई विदग्ध पुरुष नहीं है उन्नत 'पओहर' (पयोधर) मेरे उन्नत स्तनोंको देखकर उपभोगमें समर्थ हो तो रह जाओ, इसप्रकार "स्रस्तर" और "पयोधर" शब्दका परिवर्तन नहीं किया जा सकनेसे ऐसा वस्तु (अलङ्काररहित) मात्र व्यङ्ग्य होता है।

शब्दशक्तिमूल अलङ्कारव्यङ्ग्य उ०—"दुर्गालङ्घित विग्रहः" इत्यादि (पृ० ७१)। इस पद्यमें प्राकरणिक उमा नामकी महारानीके पति भानुदेव नामके महाराजके वर्णनमें द्वितीय अर्थमें सूचित अप्राकरणिक पार्वतीके पति महादेवका वर्णन असम्बद्ध प्रसक्त न हो इसलिए ईश्वर (महादेव) और भानुदेवका उपमानोपमेयभाव अर्थात् ईश्वरका उपमानभाव और भानुदेवका उपमेयभाव कल्पित होता है। इस

प्रसाक्षीदिति ईश्वरभानुदेवयोरुपमानोपमेयभावः कल्प्यते । तदत्र उमावल्लभ उमावल्लभ इवेत्युपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः । यथा वा—

'अमितः समितः प्राप्तैरुत्कर्षैर्हर्षद ! प्रभो ! ।
अहितः सहितः साधुयशोभिरसतामसि ॥'

अत्रामित इत्यादावपि शब्दाभावाद्विरोधाभासो व्यङ्ग्यः । व्यङ्ग्य-

---

प्रसक्तं मा भूदित्यर्थः, इति ईश्वरभानुदेवयोः = शङ्करभूपालविशेषयोः उपमानोपमेयभावः कल्प्यते । तत् = तस्मात्कारणात्, अत्र = अस्मिन्पद्ये, उमावल्लभ इवेति शब्दशक्तिमूल उपमाऽलङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

शब्दशक्त्या व्यङ्ग्यं विरोधाभासाऽलङ्कारमाह—**अमित इति** । अविद्यमानं मितं प्रमाणं यस्य सः अमितः (नञ्बहुव्रीहिः); मितेन (परिमाणेन) सहित इति समितः इत्युभयोर्विरोधः । एवं च अविद्यमानं हितं यस्य सः (नञ्बहु०) अहितः । हितेन सहितः सहित इत्युभयोर्विरोधः । विरोधपरिहारस्तु—हे हर्षद ! = आनन्दप्रद ! हे प्रभो = हे राजन्, त्वं, समितः = युद्धात्, प्राप्तैः = आसादितैः, उत्कर्षैः = प्रकर्षैः, अमितः = अपरिमितः । एवं च असतां = दुर्जनानाम्, अहितः = शत्रुः, साधुयशोभिः = उत्तमकीर्तिभिः, सहितः = युक्तः, असि = वर्तसे ॥

विवृणोति-**अत्रेति** । अत्र=अस्मिन् श्लोके, अमित इत्यादौ आदिपदेन "अहित" इत्यस्याऽपि परिग्रहः । अपिशब्दाऽभावात्, विरोधाऽऽभासो व्यङ्ग्यः=व्यञ्जनाप्रतिपाद्यः । अपिशब्दाऽभावादित्युपलक्षणम्, अन्येषामपि चकारादीनामभावे विरोधाभासस्य व्यङ्ग्यत्वं बोध्यम् ।

नन्वत्र ध्वनित्वेन कथं विरोधाभासस्याऽलङ्कारत्वमित्याशङ्कां परिहरति—**व्यङ्ग्यस्येति** । व्यङ्ग्यस्य = व्यञ्जनावृत्त्या प्रतिपाद्यस्य विरोधाऽऽभासस्य, अलङ्कार्य-

---

कारणसे यहाँपर उमावल्लभ अर्थात् रानी उमाके पति भानुदेव उमावल्लभ अर्थात् देवी उमाके पति महादेवके समान हैं यह उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है ।

अथवा (दूसरा उदाहरण)—कोई कवि किसी राजाका वर्णन करता है । हे हर्षको देनेवाले राजन् ! आप समित् (युद्ध) से प्राप्त उत्कर्षोंसे अपरिमित, दुर्जनोंके अहित (शत्रुरूप) और उत्तम कीर्तियोंसे सहित हैं । इस पद्यमें विरोधाभासके द्योतक "अपि" शब्दके न होनेसे "अमितः" "समितः" "अहितः" "सहितः" इत्यादि पदोंमें विरोधाभास अलङ्कार व्यङ्ग्य है । ध्वनि होनेसे यहाँपर विरोधाभास कैसे अलङ्कार हुआ ?

इस आशङ्काका परिहार करते हैं—यहाँपर विरोधाभासके अलङ्कार्य होनेपर भी ब्राह्मण श्रमण न्यायसे अलङ्कारत्वका उपचार किया जाता है । कोई ब्राह्मण श्रमण (संन्यासी) हो जाता है तो भी उसके भूतपूर्व ब्राह्मणत्वका आश्रय करके जैसे

स्यादलङ्कार्यत्वेऽपि ब्राह्मणश्रमणन्यायादलङ्कारत्वमुपचर्यते ।

वस्तु वालङ्कृतिर्वापि द्विधार्थः सम्भवी स्वतः ॥ ७ ॥
कवेः प्रौढोक्तिसिद्धो वा तन्निबद्धस्य वेति षट् ।
षड्भिस्तैर्व्यज्यमानस्तु वस्त्वलङ्काररूपकः ॥ ८ ॥
अर्थशक्त्युद्भवो व्यङ्ग्यो याति द्वादशभेदताम् ।

त्वेऽपि, ब्राह्मणश्रमणन्यायात = ब्राह्मणः (विप्रः) स चाऽसौ श्रमणः (संन्यासी) ब्राह्मणश्रमणः, तन्न्यायात्, श्रमणत्वस्वीकारेण ब्राह्मणत्वाऽभावेऽपि यथा भूतपूर्वं ब्राह्मणत्वमाश्रित्य "ब्राह्मणश्रमण" इति प्रयुज्यते तथैवाऽत्राऽपि अप्यादिशब्दसहकृतमलङ्कारत्वमाश्रित्य अलङ्कार्याऽवस्थायामपि अलङ्कारशब्दः प्रयुज्यत इति भावः ।

इत्थं चाऽत्र शब्दशक्तिमूल ध्वनिं निरूप्याऽर्थशक्तिमूलं ध्वनिं विभजते—वस्त्विति । अर्थशक्तिमूलो ध्वनिः प्राग् वस्तुरूपोऽलङ्काररूपश्चेति द्विविधः । तयोर्द्वयोरपि पुनः स्वतःसंभवी अर्थः = औचित्याद्बहिरपि संभाव्यमानः, कवेः प्रौढोक्तिसिद्धः; कविनिबद्ध (वक्तृ) प्रौढोक्तिसिद्धश्चेति त्रिभिः गुणने अर्थशक्तिमूलध्वनेः षड् भेदाः षड्भिः तैः व्यज्यमानः, वस्त्वलङ्काररूपकः=वस्तुरूपः अलङ्काररूपश्चेति अर्थशक्त्युद्भवो व्यङ्ग्यो द्वादशप्रकारतां प्राप्नोति ॥ ७-८ ॥

अर्थशक्तिमूलध्वनेर्द्वादश भेदा यथा—

(१) स्वतःसंभविना वस्तुना वस्तुध्वनिः ।
(२) स्वतःसंभवविना वस्तुना अलङ्कारध्वनिः ।
(३) स्वतःसंभविना अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ।
(४) स्वतःसंभविना अलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः ।
(५) कवि प्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना अलङ्कारध्वनिः ।
(६) कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना अलङ्कारध्वनिः ।

ब्राह्मण कहते है वैसे ही यहाँपर भी अपि आदि शब्दसे सहकृत अलकारत्वका आश्रय करके अलंकार्य अवस्थामे भी अलङ्कार शब्दसे व्यवहार किया जाता है यह तात्पर्य है ।

अर्थशक्तिमूल ध्वनि—वस्तु (अलङ्कारभिन्न) और अलङ्कार इस प्रकारसे पदार्थके दो भेद होते हैं । ये दोनों ही फिर १ स्वतःसंभवी अर्थात् औचित्यसे बाहर भी हो सकता है ॥ ७ ॥

२ कविकी प्रौढ उक्तिसे सिद्ध, जिसकी औचित्यसे सिद्धि नहीं हो सकती है । और, ३ कविसे वर्णित जनकी प्रौढ उक्तिसे सिद्ध इन तीन भेदोंसे कुल छः भेद होते हैं ।

उन छः भेदोंसे व्यङ्ग्य कोई वस्तु और कोई अलङ्कार रूप होते हैं ॥ ८ ॥

इस प्रकारसे अर्थशक्तिमूल व्यङ्ग्य (ध्वनि) के बारह भेद होते है ।

स्वतःसम्भवी = औचित्याद् बहिरपि सम्भाव्यमानः प्रौढोक्त्या सिद्धः, न त्वौचित्येन ।

तत्र क्रमेण यथा—

'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि ! क्षणमिहाप्यस्मद्गृहे दास्यसि
प्रायेणास्य शिशोः पिता न विरसाः कौपीरपः पास्यति ।
एकाकिन्यपि यामि सत्वरमितः स्रोतस्तमालाकुलं
नीरन्ध्रास्तनुमालिखन्तु जरठच्छेदा नलग्रन्थयः ॥'

(७) कविप्रौढोक्तिसिद्धेन अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ।
(८) कविप्रौढोक्तिसिद्धेन अलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः ।
(९) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना वस्तुध्वनिः ।
(१०) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना अलङ्कारध्वनिः ।
(११) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन अलङ्कारेण वस्तुध्वनिः ।
(१२) कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन अलङ्कारेण अलङ्कारध्वनिः ।

कारिकास्थं "स्वतसंभवी" तिपदं विवृणोति—औचित्यात् = उचितत्वात् याथार्थ्यादितिभावः, बहिरपि = तादृशशब्दातिरिक्तस्थानेऽपि, संभाव्यमानः=संभावनाविषयीक्रियमाणः । न तु औचित्येन = याथार्थ्येन ।

स्वतःसंभविवस्तुना वस्तुध्वनिमुदाहरति—दृष्टिमिति । काचित्स्वैरिणी निकटगृहवासिनीं प्रति कथयति । हे प्रतिवेशिनि = हे निकटगृहवासिनि !, इह = अत्र, अस्मद्गृहेऽपि = मद्भवनेऽपि, क्षण = कंचित्कालं, दृष्टि नेत्रं, दास्यसि = वितरिष्यसि, दृष्टिदानस्य प्रयोजनं प्रतिपादयति—प्रायेणेति । अस्य = निकटस्थितस्य, शिशोः बालकस्य, मत्पुत्रस्येति भावः । पिता = जनकः, मत्पतिरिति भावः । प्रायेण=बहुधा; विरसाः = नीरसाः, कौपीः = कूपभवाः, अपः = जलं, न पास्यति = नो धास्यति । इतः = अस्मात्कारणात्, एकाकिनी अपि = एकाऽपि, सहायरहिताऽपीति भावः; सत्वरं = शीघ्रं, तमालाऽऽकुलं = तापिच्छवृक्षावृतं, स्रोतः = जलाशयं, स्वतोऽम्बुसरणस्थानमिति भावः । यामि = गच्छामि । ततश्च नीरन्ध्राः = निरन्तराः, घना इति भावः । जरठच्छेदाः = कठोरच्छिन्नभागाः, नलग्रन्थयः = नलतृणपर्वाणि, तनु —

१ स्वतःसंभवि वस्तुसे वस्तुध्वनि उ०—कोई कुलटा स्त्री अपनी पड़ोसिनसे कहती है—हे पड़ोसिन ! यहाँ हमारे घरमें भी कुछ समय दृष्टि दे दो । इस बच्चेके बाबूजी (हमारे पति) बहुत ही अस्वादु कुएके जलको नहीं पीयेंगे । इसलिए अकेली ही मैं जल्दी ही तापिच्छोंसे ढँके हुए सोतपर जा रही हूँ, घनी पुरानी नलोंकी गांठें भले ही शरीरको विदीर्ण करें । यहांपर स्वतःसंभवी वस्तुसे इसको कहनेवालीके

अत्र स्वतःसम्भविना वस्तुना तत्प्रतिपादिकाया भाविपरपुरुषोपभोगजनखक्षतादिगोपनरूपं वस्तुमात्रं व्यज्यते।

'दिशि मन्दायते तेजो दक्षिणस्यां रवेरपि।
तस्यामेव रघोः पाण्ड्याः प्रतापं न विषेहिरे॥'

अत्र स्वतःसम्भविना वस्तुना रवितेजसो रघुप्रतापोऽधिक इति व्यतिरेकालङ्कारो व्यज्यते।

यच्छरीरम्, आलिखन्तु=विदारयन्तु। पतिपरायणया मया सर्वं कष्टं सोढव्यमिति भावः। अत्र शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥

वृत्तौ पूर्वोक्तं वस्तुध्वनिं विशदयति—**अत्रेति**। अत्र = इह, स्वतःसंभविना = औचित्याद्बहिरपि संभवता, वस्तुना, तत्प्रतिपादिकायाः = तस्य (वाक्यार्थस्य) प्रतिपादिकायाः (प्रतिपादनकर्त्र्याः), भाविपरपुरुषोपभोगजनखक्षतादिगोपनरूपं = भावि (भविष्यत्) यत् परपुरुषस्य (जारस्य) उपभोगजं (समागमजन्यं) नखक्षतादि (नखक्षताऽधरदंशनादि) तद्गोपनरूपम् (तद्रक्षणरूपम्) वस्तुमात्रं, मलग्रन्थिलेखनप्रकाशनव्यापारेणेति भावः। व्यज्यते = व्यञ्जनावृत्त्या प्रत्याय्यते॥

२—स्वतःसंभविवस्तुनाऽलङ्कारध्वनिमुदाहरति—**दिशीति**। रघुवंशस्थं रघोर्दिग्विजयवर्णनमिदम्। दक्षिणस्याम् = अवाच्यां, दिशि = काष्ठायां, रवेरपि = सूर्यस्यापि, तेजः = तापः, मन्दायते = मन्दवदाचरति, मन्दं भवतीति भावः। दक्षिणायननियमादिति तात्पर्यम्। परं तस्याम् एव दिशि = दक्षिणस्याम्। पाण्ड्याः= पाण्डुदेशीयाः राजानः, रघोः = दिलीपपुत्रस्य, प्रताप = तेजः, न विषेहिरे = न सोढवन्तः, सोढुमसमर्था जाता इति भावः। सूर्याऽभिभाविनामपि पाण्ड्याना विजेता रघुरिति भावः॥

वृत्तौ ध्वनिं प्रदर्शयति—**अत्रेति**। अत्र=इह, स्वतःसंभविना=औचित्याद्बहिः-संभाव्यमानेन, वस्तुना = वस्तुमात्रेण, रवितेजसो मन्दत्वरूपेण, रवितेजसः = उपमान-भूतसूर्यप्रतापात्, रघुप्रतापः = उपमेयभूतरघुतेजः, अधिकः = महत्तर इति व्यतिरेकाऽलङ्कारो व्यज्यते = व्यञ्जनया प्रत्याय्यते॥

शरीरमें परपुरुषके समागमसे होनेवाले नखक्षत आदिके गोपनरूप वस्तुमात्र व्यङ्ग्य होता है।

स्वतःसंभवि वस्तुसे अलङ्कारध्वनि उ०—रघुवंशमें रघुके दिग्विजयका वर्णन है। दक्षिणदिशामे (जानेसे) सूर्यका भी तेज मन्द हो जाता है, किन्तु उसी दक्षिण दिशामें पाण्डुदेशके राजा (पाण्ड्य) लोग रघुके प्रतापको सहनेके लिए असमर्थ हो गये। यहांपर स्वतःसंभवी वस्तुसे सूर्यके तेजसे भी रघुका प्रताप अधिक है इसप्रकार व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य होता है।

'आपतन्तममुं दूरादूरीकृतपराक्रमः ।
बलोऽवलोकयामास मातङ्गमिव केसरी ॥'

अत्रोपमालङ्कारेण स्वतःसम्भविना व्यञ्जकार्थेन बलदेवः क्षणेनैव वेणुदारिणः क्षयं करिष्यतीति वस्तु व्यज्यते ।

'गाढकान्तदशनक्षतव्यथासङ्कटादरिवधूजनस्य यः ।
ओष्ठविद्रुमदलान्यमोचयन्निर्दशन् युधि रुषा निजाधरम् ॥'

३—स्वतःसंभविना अलङ्कारेण वस्तुध्वनिमाह **आपतन्तमिति** । शिशुपालवध-महाकाव्ये युद्धवर्णनमिदम् । ऊरीकृतपराक्रमः = अङ्गीकृतविक्रमः, बलः = बलरामः; नामैकदेशे नामग्रहणमिति न्यायात् । केशरी = सिंहः, मातङ्गम् इव = हस्तिनम् इव, दूरात् = विप्रकृष्टप्रदेशात् आपतन्तं = सम्मुखमागच्छन्तम्, अमुं = वेणुदारिनामकं बाणाऽसुरपुत्रम्, अवलोकयामास = ददर्श ॥

वृत्तौ ध्वनिं प्रदर्शयति— **अत्रेति** । अत्र = अस्मिन् श्लोके, स्वतःसंभविना, उपमाऽलङ्काररूपेण, व्यञ्जकाऽर्थेन=व्यङ्ग्यप्रतिपादकाऽर्थेन, बलदेवः केशरी मातङ्गमिव, क्षणेनैव = अल्पकालेनैव, "अपवर्गे तृतीया" इति सूत्रेणात्र तृतीया । वेणुदारिणः= बाणाऽसुरपुत्रस्य, क्षयं=नाश, करिष्यतीति वस्तु, व्यज्यते=व्यञ्जनया प्रत्याय्यते ॥

४—स्वतःसंभविना अलङ्कारेणाऽलङ्कारध्वनिमुदाहरति— **गाढेति** । अत्र कश्चित्पराक्रमी राजा वर्ण्यते । यः = वीरः, युधि = संग्रामे, रुषा= क्रोधेन, निजाऽधरं= स्वीयमोष्ठं, निर्दशन् = दशनेन दष्टं कुर्वन्, गाढकान्तदशनक्षतव्यथासङ्कटात् = गाढं (दृढम्) यत् कान्तस्य (प्रियस्य) दशनक्षतं (दन्तक्षतम्) तस्मात् या व्यथा (दुःखम्) एव सङ्कटं, (आपत्), तस्मात् । अरिवधूजनस्य = शत्रुप्रमदालोकस्य, ओष्ठविद्रुमदलानि= अधरप्रवालपत्राणि, अमोचयत्= मोचितवान् । अरीणां वधात्पुनस्तद्दशनाऽसंभवादिति भावः । रथोद्धता वृत्तम् ॥

स्वतःसंभवी अलङ्कारसे वस्तुध्वनि उ०—शिशुपालवधमहाकाव्यमें युद्धका वर्णन है । पराक्रम करनेवाले बलरामने जैसे सिंह हाथीको देखता है उसी तरह दूसरे संमुख आते हुए उस (वेणुदारी दैत्य) को देखा । यहाँ स्वतःसम्भवी उपमा अलङ्काररूप व्यञ्जक अर्थसे सिंहके समान बलदेव हाथीके समान वेणुदारीको अल्पकालमें ही मार डालेंगे ऐसी वस्तु व्यङ्ग्य होती है ।

स्वतःसंभवी अलङ्कारसे अलङ्कारध्वनि उ०—इसमें किसी पराक्रमी राजाका वर्णन है । जिस वीरने युद्धमें क्रोधसे अपने ओष्ठको दाँतसे काटकर शत्रुकी स्त्रीके पल्लवपत्रोंके समान ओष्ठको उसके पतिके गाढ दन्तक्षतकी वेदनासे छुड़ा दिया ।

अत्र स्वतःसम्भविना विरोधालङ्कारेणाधरो निर्दष्टः शत्रवो व्यापादिताश्चेति समुच्चयालङ्कारो व्यङ्ग्यः।

'सज्जेहि सुरहिमासो ण दाव अप्पेइ जुअइजणलक्खमुहे।
अहिणवसहआरमुहे णवपल्लवपत्तले अणङ्गस्स सरे॥'

अत्र वसन्तः शरकारः, कामो धन्वी, युवतयो लक्ष्यम्, पुष्पाणि शरा

वस्तुध्वानमुपपादयति—अत्रेति। अत्र = अस्मिन् पद्ये, स्वतःसंभविना = औचित्यात्संभाव्यमानेन, विरोधाऽलङ्कारेण=राजा निजाऽधरनिर्दशनेन अरिवधूजनस्याऽधरदंशनं मोचितवान् इति प्रतीयमानविरोधाऽलङ्कारेणेति भावः। राज्ञाऽधरो निर्दष्टः तत्क्षणमेव शत्रवश्च व्यापादिताः=हता इति समुच्चयाऽलङ्कारो व्यङ्ग्यः, कार्यकारणकालविपर्ययरूपाऽतिशयोक्तिमूलक्रियायौगपद्यरूपसमुच्चयाऽलङ्कारध्वनिरिति भावः॥

कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना वस्तुध्वनिमुदाहरति—सज्जेइ इति।

"सज्जयति सुरभिमासो न तावदर्पयति युवतिजनलक्ष्यमुखान्।
अभिनवसहकारमुखान्नवपल्लवपत्त्रलाननङ्गस्य शरान्॥" इति संस्कृतच्छाया।

सुरभिमासः = वसन्तसमयः, युवतिजनलक्ष्यमुखान् = युवतिजनाः (तरुणीजनाः) एव लक्ष्याणि (शरव्याणि) तानि मुखानि (आदयः) येषां, तान्, "सहे" पाठान्तरे तानि सहन्ते = भेत्तुं शक्नुवन्तीति, तान् इत्यर्थः। अभिनवसहकारमुखान् = अभिनवानि (नूतनानि) यानि सहकाराणि (अतिसौरभाम्रपुष्पाणि) तानि मुखानि (आदयः) येषां, तान्। नवपल्लवपत्त्रलान् = नवानि (नूतनानि) पल्लवानि (किसलयानि) पत्त्राणि (दलानि), च तानि लान्ति (गृह्णन्ति) इति, तान्। "आतोऽनुपसर्गे कः" इति कप्रत्ययः। तादृशान् अनङ्गस्य = कामदेवस्य, शरान् = बाणान्, न तावत् सज्जयति = सज्जान् करोति। निर्मिमीत इति भावः। अर्पयति च = कामाय समर्पयति चेति भावः। गाथा वृत्तम्।

ध्वनिं विवृणोति—अत्रेति। अत्र=अस्यां गाथायाम्! वसन्तः = तदाख्यः ऋतुः, शरकारः = बाणकर्ता, शरसज्जनादिति भावः। कामः = मदनः, धन्वी = धनुर्धारी, "अनङ्गस्य शरान्" इति निर्देशादिति भावः। युवतयः = तरुण्यः, लक्ष्यं =

इस पद्यमें स्वतःसंभवी विरोध अर्थात् राजाने क्रोधसे दाँतसे अपना ओष्ठ काटकर शत्रुस्त्रीके अधर-दंशनके कष्टको छुड़ा दिया ऐसे प्रतीत होनेवाले विरोध अलङ्कारसे क्रोधसे अपने ओष्ठको दाँतसे काट डाला उसी क्षण शत्रुओंको भी मार डाला यह समुच्चय अलङ्कार व्यङ्ग्य है।

कविप्रौढोक्तिसिद्ध-वस्तुसे वस्तुध्वनि उ०—वसन्तसमय, युवति समूहरूप लक्ष्य (निशाने) अग्रभागोंसे युक्त, होकर नये सहकार आदि नये पल्लवों और पत्तोंको लाने वाले बाणोंको बना ही नहीं रहा है कामदेवको अर्पण भी कर रहा है॥

इस पद्यमें वसन्त ऋतु शरकार (शर बनानेवाले), कामदेव धनुर्धारी;

इति कविप्रौढोक्तिसिद्धं वस्तु प्रकाशीभवद् मदनविजृम्भणरूपं वस्तु व्यनक्ति ।

'रजनीषु विमलभानोः करजालेन प्रकाशितं वीर ! ।
धवलयति भुवनमण्डलमखिलं तव कीर्तिसंततिः सततम् ॥'

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना कीर्तिसन्ततेश्चन्द्रकरजालादधिककाल-प्रकाशकत्वेन व्यतिरेकालङ्कारो व्यङ्ग्यः ।

शरव्यं, पुष्पाणि = सहकारकुसुमानि, शराः = बाणा इति कविप्रौढोक्तिसिद्धं = कवि-प्रौढोक्त्या (कवयितृकाल्पनिकवचनेन, न तु लोकसिद्धेन) उक्त्या (वचनेन) सिद्धं (निष्पन्नम्) वस्तु = अनलङ्कारः पदार्थः, प्रकाशीभवत्=व्यक्तीभवत्, मदनविजृम्भण-रूपं = कामदेवसंवर्द्धनस्वरूपं, वस्तु = पदार्थं, व्यनक्ति=व्यञ्जनया प्रतिपादयति । अत्र वसन्तादीनां शरकारत्वादिक वस्तु अलीकत्वान्न लोकसिद्धमतः कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुना वस्तुध्वनेरुदाहरणमिदं संगच्छते ।

कविप्रौढोक्तिसिद्धवस्तुनाऽलङ्कारध्वनिमुदाहरति—रजनीष्विति । कस्य-चिद्राज्ञः स्तुतिरियम् । हे वीर = हे शूर, तव = भवतः, कीर्तिसन्ततिः = यशःपङ्क्तिः; विमलभानोः = निर्मलकिरणस्य, चन्द्रस्येत्यर्थः । करजालेन = किरणसमूहेन, रजनीषु= रात्रिषु, प्रकाशितं=दीपितम्, अखिलं समस्तं, भुवनमण्डलं=लोकसमूह, सततं=निरन्तरं, रात्रिन्दिवमिति भावः । धवलयति=धवलं करोति, "तत्करोति तदाचष्ट" इति णिजन्ताल्लट् । अत्र आर्या वृत्तम् ।

अत्र = अस्मिन्पद्ये, कविप्रौढोक्तिसिद्धेन=कवेः (काव्यकर्तुः) प्रौढोक्तिसिद्धेन (न तु लोकसिद्धेन) वस्तुना, कीर्तिसन्ततेः = यशःपरम्परायाः, चन्द्रकरजालात् = इन्दुकिरणसमूहात्, अधिककालप्रकाशकत्वेन = बहुसमय यावत् प्रकाशकारित्वेन, व्यति-रेकाऽलङ्कारः, व्यङ्ग्यः=व्यञ्जनया प्रतिपाद्यः । चन्द्रकरजालं रात्रावेव प्रकाशक न तु दिवा पर राजकीर्तिसन्ततिस्तु अहर्दिव प्रकाशिका अत उपमानाच्चन्द्रकरजालादुपमेयायाः कीर्तिसन्ततेराधिक्याद्व्यतिरेकालङ्कारो व्यङ्ग्य इति भावः ।

युवतियाँ लक्ष्य, और पुष्प शर हैं इस प्रकारसे कविकी प्रौढ उक्तिसे सिद्ध वस्तु (न कि बाह्य जगत्में सिद्ध प्रकाशित होकर कामदेवके संवर्द्धनस्वरूप वस्तुको व्यञ्जनासे प्रतिपादित करता है ।

कविप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुसे अलङ्कार ध्वनि उ०—कोई कवि किसी राजाकी स्तुति करता हैं । हे वीर ! आपकी कीर्तिपरम्परा निर्मल किरणवाले चन्द्रमाके किरण-समूहसे रात्रियोंमें प्रकाशित समस्त लोक मण्डलको निरन्तर (दिन रात) सफेद कर रही है।।

इस पद्यमे कविकी प्रौढ उक्तिसे सिद्ध वस्तुसे कीर्तिकी परम्पराका चन्द्रमाके किरणसमूहसे भी अधिक समयतक प्रकाशन होनेसे व्यतिरेक अलङ्कार व्यङ्ग्य है ।

'दशाननकिरीटेभ्यस्तत्क्षणं राक्षसश्रियः।
मणिव्याजेन पर्यस्ताः पृथिव्यामश्रुबिन्दवः॥'

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेनापह्नुत्यलङ्कारेण भविष्यद्राक्षसश्रीविनाशरूपं वस्तु व्यज्यते।

'धम्मिल्ले नवमल्लिकासमुदयो हस्ते सिताम्भोरुहं,
हारः कण्ठतटे, पयोधरयुगे श्रीखण्डलेपो घनः।
एकोऽपि त्रिकलिङ्गभूमितिलक! त्वत्कीर्तिराशिर्यथौ
नानामण्डनतां पुरन्दरपुरीवामभ्रुवां विग्रहे॥'

कविप्रौढोक्तिसिद्धेनाऽलङ्कारेण वस्तुध्वनिमुदाहरति—**दशाननकिरीटेभ्य इति।** रघुदशमहाकाव्ये दशमसर्गे रामजन्मवर्णनमिदम्। तत्क्षणं = तस्मिन् क्षणे, रामजन्मकाले, "अत्यन्तसंयोगे चे"ति समासः। राक्षसश्रियः = रक्षोलक्ष्म्याः, अश्रुबिन्दवः = नयनजलपृषताः, दशाऽऽननकिरीटेभ्यः = रावणमुकुटेभ्यः, मणिव्याजेन = रत्नपतनच्छलेन, पृथिव्यां = भुवि, पर्यस्ताः = पतिताः॥ अनुष्टुब् वृत्तम्।

ध्वनिं विवृणोति—अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेन अपह्नुत्यलङ्कारेण (प्रकृतं = मणिपतनं प्रतिषिध्य, अप्रकृतस्य = अश्रुबिन्दुपतनस्य स्थापनरूपेणेति भावः) भविष्यद्राक्षसश्रीविनाशरूपं = भविष्यतः (भावी) राक्षसश्रीविनाशः (रक्षोलक्ष्मीनाशः) तद्रूपं वस्तु व्यज्यते = व्यञ्जनया प्रतिपाद्यते॥

कविप्रौढोक्तिसिद्धेनाऽलङ्कारेणालङ्कारध्वनिमुदाहरति—**धम्मिल्ल इति।** त्रिकलिङ्गदेशाऽधिपतेर्वर्णनमिदम्। हे त्रिकलिङ्गभूमितिलक = त्रिकलिङ्गदेशाऽधीश्वर!, एकोऽपि = एकाक्यपि, त्वत्कीर्तिराशिः = भवद्यशःसमूहः, पुरन्दरपुरीवामभ्रुवाम् = अमरावतीसुन्दरीणां, विग्रहे=शरीरे, धम्मिल्ले = संयतकचेषु, नवमल्लिकासमुदायः=नूतनभूपदीपुष्पसमूहः, अस्तीति शेषः, त्वत्कीर्तिराशिर्धम्मिल्ले नवमल्लिकापुष्पसदृशः शुभ्रोऽस्तीति भावः। एवमन्यत्राऽपि। हस्ते = करे, सिताऽम्भोरुहं = श्वेतकमलं, कण्ठतटे = गलभागे, हारः = मौक्तिकमाला। पयोधरयुगे = स्तनयुगले, घनः=

कविप्रौढोक्तिसिद्धअलङ्कारसे वस्तुध्वनि उ०—यह रघुवंश महाकाव्यके दशम सर्गमें श्रीरामके जन्मका वर्णन है। श्रीरामके जन्मकालमें राक्षसोंकी लक्ष्मीके अश्रुओंकी बूंदे रावणके मुकुटोंसे रत्नोंके छलसे जमीनपर गिर पड़ीं। इस पद्यमें कविकी प्रौढ उक्तिसे सिद्ध अपह्नुति अलङ्कारसे राक्षस लक्ष्मीके भावी बिनाशरूप वस्तु व्यङ्ग्य है।

कवि प्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे अलङ्कारध्वनि उ०—कोई कवि त्रिकलिङ्ग (तैलङ्ग) देशके राजाका वर्णन करता है। हे त्रिकलिङ्ग देशके अधीश्वर! एकमात्र होती हुई भी आपकी कीर्तिराशि अमरावतीकी सुन्दरियोंके शरीरमें जैसे कि

अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धेन रूपकालङ्कारेण भूमिष्ठोऽपि स्वर्गस्थानामुपकारं करोषीति विभावनालङ्कारो व्यज्यते ।

'शिखरिणि क नु नाम कियच्चिरं किमभिधानमसावकरोत्तपः ।
सुमुखि ! येन तवाधरपाटलं दशति बिम्बफलं शुकशावकः ॥'

निबिडः, श्रीखण्डलेपः = चन्दनद्रवलेपः, इत्थं च नानामण्डनतां = बहुविधाऽलङ्कारतां, ययौ = जगाम ! शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ॥

ध्वनिं विवृणोति । अत्र = अस्मिन्पद्ये, कविप्रौढोक्तिसिद्धेन, रूपकाऽलङ्कारेण=राजकीर्तिराशौ नवमल्लिकासमुदायादीनामारोपरूपेण, भूमिष्ठोऽपि=पृथिवीस्थोऽपि, स्वर्गस्थानां = सुरलोकस्थितानां पुरन्दरपुरीवामभ्रुवाम्, उपकारम् = उपकृतिं, करोषीति विभावनाऽलङ्कारः, स्वर्गाऽवस्थानमेव स्वर्गस्थानामुपकारकारण, तदभावेऽपि स्वर्गस्थोपकारकरणरूपकार्योत्पत्तिरूपा विभावनेति भावः । सा च वाचकशब्दाऽभावात् व्यङ्ग्या । वस्तुतो नाऽत्र विभावना कार्यकारणयोर्भिन्नदेशाऽवस्थिते रसङ्गतिरलङ्कारः ॥

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना वस्तुध्वनिमुदाहरति—**शिखरिणीति** । बिम्बफल दशन्तं शुकशावकं दृष्ट्वा कविनिबद्धः कश्चित्प्रौढो जनः काचिन् सुन्दरीं प्रति कथयति— **शिखरिणीति** । हे सुमुखि=हे सुन्दरि ।, असौ = अयं, शुकशावकः = कीरशिशुः, क्व शिखरिणि = कस्मिन्पर्वते, कियच्चिरं = कचिद्दीर्घसमयं यावत्, किमभिधानं= किमाख्यं, तपः = तपस्याम्, अकरोत् = कृतवान् । येन = कारणेन, तव = भवत्याः, अधरपाटलम् = ओष्ठमिव रक्त, बिम्बफल, दशति = दंष्ट्रया खण्डयति । अधरसमवस्तुदंशनमपि तपःफलमिति भावः । द्रुतविलम्बित वृत्तम् ।

बांधे गये केशोमे मल्लिका पुष्पोंका समूह, हाथमें श्वेत कमल, गलेमें मोतियोंकी माला, स्तनयुगमें सान्द्र चन्दनका लेप इसप्रकार अनेक अलङ्कारोंके भावको प्राप्त हुई है ॥

यहांपर कविको प्रौढ उक्तिसे सिद्ध (राजाकी कीर्तिराशि में नवमल्लिकासमुदाय आदिके आरोपसे) रूपक अलङ्कारसे आप भूमिमे रहते हुए भी स्वर्गमें रहनेवाली सुन्दरियोंका उपकार करते हैं इसप्रकार विभावना अलङ्कार व्यङ्ग्य है । वस्तुतः यहांपर विभावना नहीं है कार्य और कारणकी भिन्न देशमें अवस्थितिसे असंगति अलङ्कार है ।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धि वस्तुसे वस्तुध्वनि उ०—बिम्बफलको खाते हुए तोतेके बच्चेको देखकर कविनिबद्ध कोई प्रौढ पुरुष किसी सुन्दरीको कहता है । हे सुन्दरि ! इस तोतेके बच्चेने किस पर्वतमें कितने समय तक कौन सी तपस्या की है जिससे तुम्हारे ओष्ठके समान लाल बिम्बफल (कुन्दरू) को खा रहा है । यहांपर कविनिबद्ध किसी कामी पुरुषकी इस प्रौढ उक्तिसे सिद्ध वस्तुसे तुम्हारा अधर अतिशय पुण्यसे लभ्य है ऐसी वस्तु व्यङ्ग्य होती है ।

अत्रानेन कविनिबद्धस्य कस्यचित्कामिनः प्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुना तवाधरः पुण्यातिशयलभ्य इति वस्तु प्रतीयते।

'सुभगे! कोटिसंख्यत्वमुपेत्य मदनाशुगैः।
वसन्ते पञ्चता त्यक्ता पञ्चतासीद्वियोगिनाम् ॥'

अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन कामशराणां कोटिसंख्यत्वप्राप्त्या निखिलवियोगिमरणेन वस्तुना शराणां पञ्चता शरान् विमुच्य वियोगिनः

ध्वनिं विवृणोति—अत्रेति। अत्र कविनिबद्धस्य = कविना निबद्धस्य—(निबन्धप्रतिपादितस्य) कस्यचित् कामिनः = कामुकस्य, प्रौढोक्तिसिद्धेन = न तु वास्तविकेन, वस्तुना = अनलङ्कारपदार्थेन, "तव अधरः पुण्याऽतिशयलभ्यः" इति वस्तु; प्रतीयते = व्यञ्जनया प्रतिपाद्यते।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन वस्तुनाऽलङ्कारध्वनिमुदाहरति—सुभग इति। कविनिबद्धवक्ता कश्चिज्जनः नायिकां प्रति वसन्ततौ पान्थदशां प्रतिपादयति। हे सुभगे—हे सुन्दरि!, वसन्ते = वसन्ततौ, मदनाशुगैः = कामबाणैः, कोटिसंख्यत्वं = कोटिपरिमितसंख्यायुक्तत्वम्, उपेत्य = प्राप्य, पञ्चता = पञ्चसंख्यता, त्यक्ता = मुक्ता; ततश्च, वियोगिनां = विरहिणां, पञ्चता = पञ्चत्वप्राप्तिः मरणमिति भावः। आसीत् = अभवत्। अनुष्टुब् वृत्तम् ॥

ध्वनिं विवृणोति - अत्रेति। अत्र, कविनिबद्धवक्तुः या प्रौढोक्तिः (न तु वास्तविकी उक्तिः), तत्सिद्धेन, कामशराणां = मदनबाणानां कोटिसंख्यत्वप्राप्त्या, निखिलवियोगिमरणेन = समस्तविरहिमृत्युरूपेण वस्तुना, शराणां पञ्चता = पञ्चसंख्यता; शरान् विमुच्य = त्यक्त्वा, वियोगिनः = विरहिणः, श्रिता = पञ्चत्वरूपेण

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध वस्तुसे अलङ्कारध्वनि उ०—कविनिबद्ध कोई वक्ता नायिकासे वसन्त ऋतुमें पान्थकी दशाका प्रतिपादन करता है। हे सुन्दरि! वसन्त ऋतुमें कामदेवके बाणोंने करोड़ोंकी संख्याको प्राप्त कर पञ्चता (पांच-संख्याके भाव) का त्याग किया, उससे वियोगियोंकी पञ्चता (पञ्चत्वप्राप्ति) अर्थात् मृत्यु हो गई। इस पद्यमें कविनिबद्ध वक्ताकी प्रौढ उक्तिसे सिद्ध कामदेवके बाणोंकी कोटि संख्याकी प्राप्तिसे संपूर्ण वियोगियोंके मरण रूप वस्तुसे शरोंकी पञ्चता (पञ्चसंख्यता) ने शरोंको छोड़कर वियोगियोंको प्राप्त किया है क्या? इस प्रकार उत्प्रेक्षा अलङ्कार व्यङ्ग्य है?

कविनिबद्ध—वक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे वस्तुध्वनि उ०—मानिनी नायिकाके मान (प्रणय कोप) हटानेके लिए कविनिबद्ध वक्ता मानिनीसे कहता है। हे चण्डि (हे कोपने!) चमेलीके मुकुलमें गुञ्जन करता हुआ भौरा कामदेवकी विजययात्रामें मानों शङ्ख ध्वनि कर शोभित हो रहा है॥

इस पद्यमें कविनिबद्ध वक्ताकी प्रौढ उक्तिसे सिद्ध उत्प्रेक्षा अलङ्कारसे

श्रितेवेत्युत्प्रेक्षालङ्कारो व्यज्यते।

'मल्लिकामुकुले चण्डि ! भाति गुञ्जन् मधुव्रतः।
प्रयाणे पञ्चबाणस्य शङ्खमापूरयन्निव ॥'

अत्र कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेनोत्प्रेक्षालङ्कारेण कामस्यायमुन्मादकः कालः प्राप्तस्तत्कथं मानिनि ! मानं न मुञ्चसीति वस्तु व्यज्यते।

'महिलासहस्सभरिए तुह हिअए सुहअ ! सा अमाअन्ती।
अणुदिणमणण्णकम्मा अङ्गं तणुअं पि तणुएइ ॥'

आश्रिता इवेति उत्प्रेक्षाऽलङ्कारो व्यज्यते। कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेनाऽलङ्कारेण वस्तुध्वनिमुदाहरति **मल्लिकामुकुल इति**। मानिन्या मानप्रशमाय कश्चित्कविनिबद्धवक्ता मानिनीं कथयति। हे चण्डि = हे अत्यन्तकोपने !, मल्लिकामुकुले=भूपदीपुष्पकुड्मले, गुञ्जन्=गुञ्जन कुर्वन्, मधुव्रतः = भ्रमरः, पञ्चबाणस्य=कामदेवस्य प्रयाणे = विजययात्रायां, शङ्खं = कम्बुम्, आपूरयन् इवं = आधमन् इव, भाति = शोभते।

ध्वनिं विवृणोति-**अत्रेति**। अत्र, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन = कविनिबद्धवक्तुः प्रौढोक्तिसिद्धेन = प्रौढोक्त्या बहिर्जगति असंभाव्यमानकथनेन, सिद्धेन निष्पन्नेन, उत्प्रेक्षाऽलङ्कारेण, कामस्य = मदनस्य, अयम्, उन्मादकः = उन्मादकारकः, कालः= समयः, वसन्तऋतुरिति भावः। तत् = तस्मात्कारणात्, हे मानिनि = हे मानशीले !' कथं, मानं, न मुञ्चसि = न त्यजसि, इति वस्तु = अनलङ्कारः पदार्थः व्यज्यते = व्यञ्जनया प्रतिपाद्यते। अनुष्टुब् वृत्तम्।

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेनाऽलङ्कारेणाऽलङ्कारध्वनिमुदाहरति-**महिलेति**। बहुपत्नीकं नायकं प्रति कस्याश्चिन्नायिकासख्या उक्तिरियम्।

"महिलासहस्रभरिते तव हृदये सुभग ! सा अमान्ती।
अनुदिनमनन्यकर्मा अङ्गं तन्वपि तनयति ॥" इति संस्कृतच्छाया।

हे सुभग = हे सौभाग्यशालिन् !, महिलासहस्रभरिते=महिलाना (प्रमदानाम्) सहस्रेण (दशशत्या) भरिते (पूरिते), तव = भवतः. हृदये = हृदि, अमान्ती =

कामदेवका यह उन्मादक काल प्राप्त है। हे मानिनि ! तुम कैसे मानका त्याग नहीं करती हो ऐसी वस्तु व्यङ्ग्य होती है ॥

कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे अलङ्कारध्वनि उ०— बहुत पत्नीवाले किसी नायकसे किसी नायिकाकी सखी कहती है। हे सुन्दर। हजारों स्त्रियोंसे भरे हुए तुम्हारे हृदयमें न समाती हुई वह कामिनी प्रतिदिन और कुछ कर्म न होनेसे अपने कृश शरीरको भी कृश बना रही है। इस पद्यमें "अमाअन्ती" (अमान्ती) इस कविनिबद्धवक्त्रीकी प्रौढ उक्तिसे सिद्ध काव्यलिङ्ग अलङ्कारसे शरीरको पतला करनेपर भी आपके हृदयमें नहीं समाती हैं यह विशेषोक्ति अलङ्कार

अत्रामाअन्तीति कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिसिद्धेन काव्यलिङ्गालङ्कारेण तनोस्तनूकरणेऽपि तव हृदये न वर्तत इति विशेषोक्त्यलङ्कारो व्यज्यते ।

न खलु कवेः कविनिबद्धस्येव रागाद्याविष्टता, अतः कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिः कविप्रौढोक्तेरधिकं सहृदयचमत्कारकारिणीति पृथक्प्रतिपादिता ।

एषु चालङ्कृतिव्यञ्जनस्थले रूपणोत्प्रेक्षणव्यतिरेचनादिमात्रस्य

मानम् (अवकाशम्) अलभमाना, सा = नायिका, भवत्पत्नी, अनुदिनं = प्रतिदिनम्, अनन्यकर्मा = कर्मान्तररहिता सती, भवद्हृदयेऽवकाशलाभार्थमिति शेषः । तनु अपि = कृशम् अपि, अङ्गं = शरीरं, तनयति = तनूकरोति । "तत्करोति तदाचष्ट" इति णिजन्तात् तनुशब्दाल्लट् ।

ध्वनिं विवृणोति । 'अत्र अमाअन्तीति कविनिबद्धवक्तुः (सखीजनस्य); प्रौढोक्तिसिद्धेन = मनसोऽणुत्वान्मानासंभवेन बाह्यजगति असंभाव्यमानेनेति भावः । काव्यलिङ्गाऽलङ्कारेण = अवकाशप्राप्त्यर्थं तनोस्तनूकरणस्य हेतुत्वात् इति भावः । तनोः = शरीरस्य, तनूकरणेऽपि = कृशीकरणेऽपि, तव = भवतः, हृदये = मनसि, न वर्तते = नो विद्यते, इति विशेषोक्त्यलङ्कारः; तनूकरणरूपहेतौ सत्यपि अवकाशप्राप्तिरूपफलाऽभावादिति शेषः । व्यज्यते = वाचकशब्दाऽभावाद्व्यञ्जनया प्रतिपाद्यते ।

कविप्रौढोक्तेः कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तेश्च भेदं विशदयति—**न खलिवति** । कवेः=कवयितुः, कविनिबद्धस्य इव=कविना स्वनिबन्धे प्रतिपादितस्य वक्तुरिव, न खलु रागाद्याविष्टता=रागोत्साहावेशयुक्तता, अतः=अस्मात्कारणात्, कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिः कविप्रौढोक्तेः अधिकं, सहृदयचमत्कारिणी = सहृदयानां (हृदयालूनाम्) चमत्कारिणी (चमत्कारकारिका), अस्मात्कारणात्, पृथक्=पृथग्रूपेण, प्रतिपादिता । जगन्नाथपण्डितराजस्तु कविनिबद्धवक्तृप्रौढोक्तिरपि वस्तुतः कविप्रौढोक्तिरेवातः अलं पृथक्चर्चया इत्याहुः ।

एषु च=प्रागुक्तेषु द्वादशविधेषु अर्थशक्तिमूलाऽनुरणनरूपव्यङ्ग्येषु, अलङ्कृतिव्यञ्जनस्थले = अलङ्कारव्यञ्जनस्थले, रूपणोत्प्रेक्षणव्यतिरेचनादिमात्रस्य = उपमेय उपमानारोपण रूपणं यथा—"धम्मिल्ले नवमल्लिकासमुदय" इत्यादौ, कीर्तिराशौ नवमल्लिकासमुदयादीनामारोपणम्, उत्प्रेक्षण=उपमेयस्योपमानात्मना संभावनं, यथा—"मल्लिकामुकुले चण्डि" इत्यादौ मधुव्रतगुञ्जने शङ्खनादत्वसंभावनं, व्यतिरेचनम् = उपमेयस्योपमानादाधिक्यस्य न्यूनत्वस्य वा प्रतिपादनम् आदिशब्दादुपमानिर्गहृकागा-

---

व्यङ्ग्य होता है । कविनिबद्ध वक्ताके समान कविहृदयमें अनुराग आदिका आवेश नहीं होता है इस कारण कविनिबद्ध वक्ताकी प्रौढ उक्ति कविकी प्रौढ उक्तिसे भी अधिक सहृदयोंको चमत्कार करनेवाली होती है इसलिए उसका पृथक् प्रतिपादन किया गया है ।

इन उदाहरणोंमें अलङ्कारके व्यञ्जना वृत्तिसे प्रतिपादनके स्थलमें रूपण (उपमेयमें उपमानका आरोपण), उत्प्रेक्षण (उपमेयकी उपमानरूपसे संभावना) और व्यतिरेचन (उपमेयके उपमानसे आधिक्य वा न्यूनताका प्रतिपादन) इत्यादि मात्रकी

प्राधान्यं सहृदयसंवेद्यम्, न तु रूप्यादीनामित्यलङ्कृतेरेव मुख्यत्वम्।

एकः शब्दार्थशक्त्युत्थे—

उभयशक्त्युद्भवे व्यङ्ग्य एको ध्वनेर्भेदः।

यथा—

'हिममुक्तचन्द्ररुचिरः सपद्मको मदयन् द्विजाञ्जनितमीनकेतनः।
अभवत्प्रसादितसुरो महोत्सवः प्रमदाजनस्य स चिराय माधवः॥'

मुपमानोपमेयसमीकरणादीनां ग्रहणम्। इत्यादिमात्रस्य प्राधान्य = प्रधानत्वं, सहृदयसंवेद्यं=सहृदयसंवेदनीयं, न तु रूप्यादीनाम् = आरोप्याणां मुखादीनाम्, इति = अस्मात्कारणात्, अलङ्कृतेः एव = अलङ्कारस्य एव, मुख्यत्वं=प्राधान्यम्।

उभयशक्तिमूलध्वनेर्भेदमाह—**एक इति**। शब्दार्थशक्त्युत्थे = शब्दार्थयोः शक्त्या उत्तिष्ठतीति, तस्मिन् = उभयशक्त्युद्भवे व्यङ्ग्ये एको ध्वनेर्भेदः।

उभयशक्तिमूलं ध्वनिमुदाहरति—**हिममुक्तचन्द्ररुचिर इति**। शिशुपालवधमहाकाव्ये भगवतः श्रीकृष्णस्येन्द्रप्रस्थे वर्णनमिदम्। हिममुक्तचन्द्ररुचिरः = हिममुक्तश्चासौ चन्द्रः, स इव रुचिरः (सुन्दरः) कृष्णपक्षेऽयमर्थः। हिममुक्तचन्द्रेण रुचिरः वसन्तपक्षेऽयमर्थः। सपद्मकः = पद्मा (लक्ष्मीः), तया सहितः, कृष्णपक्षेऽयमर्थः। पद्मैः (कमलैः) सहितः, वसन्तपक्षेऽयमर्थः। द्विजान् = ब्राह्मणान्, मदयन्=हर्षयन्, श्रीकृष्णपक्षे। द्विजान् = पिकादीन् पक्षिणः, मदयन्। जनितमीनकेतनः = जनितः (उत्पादितः) मीनकेतनः (प्रद्युम्नः) येन सः, श्रीकृष्णपक्षे जनितो मीनकेतनः (कामः) येन सः, वसन्तपक्षे। प्रसादितसुरः = प्रसादिताः (हर्षिताः) सुराः (देवाः) दैत्यवधादिनेति भावः (श्रीकृष्णपक्षे)। प्रसादिता (विमलीकृता) सुरा

प्रधानता सहृदयोंसे सवेद्य है रूप्य (आरोप्य मुख) आदि वस्तुका नहीं इस कारणसे अलङ्कारकी ही प्रधानता है।

उभयशक्तिमूल ध्वनि—शब्द और अर्थ उभयशक्तिमूलक व्यङ्ग्यमें एक ही भेद होता है।

उभयशक्तिमूल ध्वनि उ०—शिशुपालवध महाकाव्यमें इन्द्रप्रस्थमें भगवान् श्रीकृष्णका यह वर्णन हैं। इसमें वसन्तका भी वर्णन व्यङ्ग्य है। हिम (तुषार) से मुक्त चन्द्रमाके समान सुन्दर (श्रीकृष्ण)। हिमसे मुक्त चन्द्रसे सुन्दर (वसन्त)। सपद्मक, पद्मा = लक्ष्मीरूपिणी रुक्मिणीसे युक्त (श्रीकृष्ण), पद्मों (कमलों) से युक्त (वसन्त)। द्विजों (ब्राह्मणों) को प्रसन्न करते हुए (श्रीकृष्ण), द्विजों (कोकिल आदि पक्षियों) को प्रसन्न करता हुआ (वसन्त), जनितमीनकेतनः= मीनकेतन (प्रद्युम्न) को उत्पन्न करनेवाले (श्रीकृष्ण), मीनकेतन (कामदेवको) उत्पन्न करनेवाला (वसन्त)। प्रसादितसुर = सुरों (देवताओं) को प्रसन्न करने-

अत्र माधवः कृष्णो माधवो वसन्त इवेत्युपमालङ्कारो व्यङ्ग्यः।

एवं च व्यङ्ग्यभेदादेव व्यञ्जकानां काव्यानां भेदः।

तदष्टादशधा ध्वनिः ॥ ९ ॥

अविवक्षितवाच्योऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्योऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्चेति द्विविधः। विवक्षितान्यपरवाच्यस्तु असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेनैकः। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वेन च शब्दार्थोभयशक्तिमूलतया पञ्चदशेत्यष्टादशभेदो ध्वनिः।

(मदिरा) येन सः (वसन्तपक्षे)। सः = श्रुतिस्मृतिपुराणप्रसिद्धः, माधवः = श्रीकृष्णः, वसन्तश्च। प्रमदाजनस्य=रमणीगणस्य, चिराय=चिररात्राय। महोत्सवः=महोत्सवस्वरूपः, अभवत्। मञ्जुभाषिणी वृत्तम्।

ध्वनिं प्रदर्शयति—**अत्रेति**। अत्र = पद्ये, माधवः=कृष्णः, माधवः=वसन्तः, इवेति वाचकपदाऽभावादुपमाऽलङ्कारो व्यङ्ग्यः अत्र "प्रसादितसुरः" "द्विजान्" इत्यादिशब्दानां परिवृत्त्यसहत्वात् शब्दशक्तिमूलत्वं तथा "हिममुक्त" "मीनकेतना"दिशब्दानां परिवृत्तिसहत्वादर्थशक्तिमूलत्वमेवं चोभयशक्तिमूलत्वं ज्ञेयम्।

निगमयति—एवं चेति व्यङ्ग्यभेदात् एव = व्यङ्ग्यवस्त्वलङ्कारभेदात् एव, व्यञ्जकानां काव्यानां भेदः।

ध्वनीन् परिगणयति तदष्टादशधा ध्वनिः ॥ ९ ॥

तत्- तस्मात्कारणात्, ध्वनिः, अष्टादशधा=अष्टादशप्रकारो भवति ॥ ९ ॥

भेदान् सङ्कलयति—**अविवक्षितवाच्य इति**। अविवक्षितवाच्यः = लक्षणामूलध्वनिः—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः, अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्चेति द्विविधः- **द्विप्रकारः।**

विवक्षिताऽन्यपरवाच्यः = अभिधामूलध्वनिस्तु—असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यश्चेति द्विविधः। तत्र असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य एक एव। संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनिस्तु— **शब्दशक्तिमूलः, अर्थशक्तिमूलः, उभयशक्तिमूलश्चेति** त्रिविधः। तत्र शब्दशक्तिमूलो द्विविधः।

वाले (श्रीकृष्ण)। सुरा (मदिरा) को विमल करनेवाला (वसन्त), ऐसे माधव = श्रीकृष्ण वा वसन्त ऋतु स्त्री जनोंके बहुत काल तक उत्सव स्वरूप हुए।

इस पद्यमें माधव—कृष्ण, माधव – वसन्तके समान इसप्रकार उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य है। यहाँपर "प्रसादितसुरः" "द्विजान्" इन शब्दोंका परिवर्तन न किया जा सकनेसे शब्दशक्तिमूल और "हिममुक्त" "मीनकेतन" आदि शब्दोंका परिवर्तन किया जा सकनेसे अर्थशक्तिमूल इसप्रकार उभयशक्तिमूल ध्वनि है। इसप्रकार व्यङ्ग्य (वस्तु और अलङ्कार आदि) भेदसे ही व्यञ्जक काव्योंका भेद होता है। ध्वनियोंका परिगणन करते है— इस प्रकार अठारह प्रकारकी ध्वनि होती है ॥ ९ ॥

अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल ध्वनि) के अर्थान्तर संक्रमित वाच्य और अत्यन्ततिरस्कृत वाच्य इस प्रकार दो भेद होते हैं।

एषु च

वाक्ये शब्दार्थशक्त्युत्थस्तदन्ये पदवाक्ययोः ।

तत्रार्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः पदगतो यथा—

'धन्यः स एव तरुणो नयने तस्यैव, नयने च ।
युवजनमोहनविद्या भवितेयं यस्य संमुखे सुमुखी ॥'

अत्र द्वितीयनयनशब्दो भाग्यवत्त्वादिगुणविशिष्टनयनपरः ।

अर्थशक्तिमूलो द्वादशविधः ।

उभयशक्तिमूल एकविधः ।

इत्थं च संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः = समष्ट्या पञ्चदशविधः । असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य एकविधः । इत्थमभिधामूलध्वनिः षोडशविधः । लक्षणामूलध्वनिर्द्विविधः । इत्थं च संहत्य अष्टादशधा ध्वनिः ॥

भेदान्तरं प्रदर्शयितुमुपक्रमते— **एषु चेति** । एषु = अष्टादशप्रकारेषु ध्वनिषु । **वाक्य इति** । शब्दार्थशक्त्युत्थः = उभयशक्तिमूलध्वनिः, वाक्ये=पदसमूहे एव भवति, न पद इति भावः । तस्योदाहरणं "हिममुक्तचन्द्ररुचिर" इति पूर्वोदाहृतपद्यम् । तदन्ये=तद्भिन्नाः सप्तदशप्रकारा ध्वनयस्तु पदवाक्ययोः= पदे वाक्ये च, भवन्तीति शेषः ।

तत्राऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिं पदगतमुदाहरति— **धन्यः स एवेति** । परमरमणीयां रमणीं दृष्ट्वा कस्य चिदुक्तिरियम् । स एव, तरुणः= युवा, धन्यः = पुण्यवान्, तस्य एव = तरुणस्य एव, नयने = नेत्रे, नयने च = सफले नेत्रे । इयम् = एषा, युवजनमोहनविद्या = तरुणजनवशीकरण-विद्यारूपा, सुमुखी = सुन्दरी, यस्य = तरुणस्य, संमुखे = अभिमुखे, भविता = भविष्यति । आर्या वृत्तम् ॥

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र=अस्मिन् पद्ये, आदिपदेन सफलत्वादेरुपस्थितिः । अत्र ध्वनेरेकमात्रनयनपदगतत्वात्पदगतत्वम् । नेत्ररूपस्य वाच्याऽर्थस्य भाग्यवत्तादिगुणविशिष्टनेत्ररूपाऽर्थे संक्रमणादस्य अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनित्वम् ।

विवक्षितान्यपरवाच्यके असंलक्ष्यक्रम व्यङ्ग्य और संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य इसप्रकार दो भेद होते हैं । असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य (रस भाव आदि) का एक भेद होता है । संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके शब्दशक्तिमूल, अर्थशक्तिमूल, और उभयशक्तिमूल इसप्रकार पन्द्रह भेद होते हैं, इसप्रकार ध्वनिके अठारह भेद हो जाते हैं । इनमें उभयशक्तिमूल (शब्दाऽर्थशक्तिमूल) ध्वनि केवल वाक्यमें होता है और उससे भिन्न ध्वनि पद तथा वाक्य दोनोंमें होते हैं । उनमें पदगत अर्थान्तरसंक्रमित ध्वनि—वही युवा पुरुष धन्य है उसीके नेत्र नेत्र हैं, जिसके संमुख युवकोंकी वशीकरण-विद्यारूपा यह सुन्दरी होगी । इसमें दूसरा "नयन" शब्द भाग्यवत्त्व आदि गुणोंसे युक्त नयनरूप अर्थमें संक्रान्त होनेसे पदगत अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि है ।

वाक्यगतो यथा—

'त्वामस्मि वच्मि विदुषां समवायोऽत्र तिष्ठति।
आत्मीयां मतिमास्थाय स्थितिमत्र विधेहि तत्॥'

अत्र प्रतिपाद्यस्य संमुखीनत्वादेव लब्वे प्रतिपाद्यत्वे त्वामिति पुनर्वचनमन्यव्यावृत्तिविशिष्टं त्वदर्थं लक्षयति। एवं वच्मीत्यनेनैव कर्तरि लब्धेऽस्मीति पुनर्वचनम्। तथा विदुषां समवाय इत्यनेनैव वक्तुः प्रतिपादने सिद्धे पुनर्वच्मीति वचनमुपदिशामीति वचनविशेषरूपमर्थं लक्षयति। एतानि च

वाक्यगतमुदाहरति—त्वामस्मीति—विद्वत्परिषदं गच्छन्तं प्रति कस्यचिदुक्तिरियम्। हे महाशय! अस्मि = पदमिदमहमर्थे अव्ययम्। अहं, त्वां = भवन्तं, वच्मि = वदामि, अत्र = अस्यां परिषदि, विदुषां = पण्डितानां, समुदायः = समूहः, तिष्ठति = विद्यते, तत् = तस्मात्कारणात्, आत्मीयां = स्वकीयां, मतिं = बुद्धिम्, आस्थाय = अवलम्ब्य, अत्र = परिषदि, स्थितिम् = अवस्थानं, विधेहि = कुरु। अनुष्टुब् वृत्तम्।

ध्वनिं प्रदर्शयति—अत्रेति। अत्र = पद्ये, प्रतिपाद्यस्य = बोद्धव्यस्य, संमुखीनत्वात् एव = संमुखे स्थितत्वात् एव, प्रतिपाद्यत्वे लब्धे = प्राप्ते "त्वाम्" इति पुनर्वचनं— पुनः कथनम्, अन्यव्यावृत्तिविशिष्टम् = अपरव्यावर्तनयुक्तं, त्वदर्थं = त्वाम् एव वच्मि न अन्यं जनम् इति, लक्षयति = लक्षणया प्रतिपादयति। एवं वच्मि इत्यनेनैव कर्तरि = कर्तृरूपे अहम् इतिपदे, लब्धे = प्राप्ते "अस्मद्युत्तम" इति सूत्रबलादिति शेषः। अस्मीति अहमर्थकस्याऽव्ययस्य पुनर्वचनम्, अन्यव्यावृत्तिविशिष्टं मदर्थं लक्षयतीति शेषः। ततश्च अहंपदवाच्यस्य स्वस्य आप्तत्वं व्यज्यते एतानि—"त्वाम्, अस्मि, वच्मि" इति त्रीणि पदानि। लक्षितानि = लक्षणया निरूपितानि सन्ति, स्वाऽतिशयं =

वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि उ०—विद्वानोंकी सभामें जाते हुए किसी पुरुषको कोई विद्वान् कहता है—हे महाशय! मैं तुम्हें कहता हूँ यहाँ विद्वानोंका समुदाय है, इस कारणसे अपनी बुद्धिका अवलम्बन कर यहाँपर स्थित रहो। इस पद्यमें जिसे कहना है उसके सम्मुख ही रहनेपर भी फिर "त्वाम्" कहनेसे दूसरेसे भिन्न तुम्हें ही कहता हूँ ऐसा अर्थ लक्षित होता है। उसी तरह "वच्मि" कहनेसे ही कर्तृरूप "अहम्" अर्थात् "मैं" ऐसे अर्थके रहनेपर भी फिर "अस्मि" कहनेसे दूसरेसे भिन्न मैं ही कह रहा हूँ ऐसा अर्थ लक्षित होता है। उससे वक्तामें "आप्तत्व" व्यङ्ग्य होता है। इसी तरह "विदुषां समवायः" इन पदोंसे ही वक्ताका प्रतिपादन सिद्ध है फिर भी "वच्मि" कहनेसे उसका "उपदिशामि" अर्थात् उपदेश करता हूँ इसप्रकार वचनका विशेषरूप अर्थ लक्षित होता है। इसप्रकार "त्वाम्" "अस्मि" और "वच्मि" ये तीन पद लक्षित होकर अपने अर्थकी अधिकताका व्यञ्जन करते हैं। उससे मेरा

स्वातिशयं व्यञ्जयन्ति। एतेन मम वचनं तवात्यन्तं हितं तदवश्यमेव कर्तव्यमित्यभिप्रायः। तदेवमयं वाक्यगतोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः।

अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यः पदगतो यथा—'निःश्वासान्ध-' (पृ० २९९) इत्यादि। वाक्यगतो यथा—'उपकृतं बहु तत्र-' (४६ पृ०) इत्यादि। अन्येषां वाक्यगतत्वे उदाहृतम्। पदगतत्वं यथा—

'लावण्यं तदसौ कान्तिस्तद्रूपं स वचःक्रमः।
तदा सुधास्पदमभूदधुना तु ज्वरो महान्॥'

स्वेषाम् (स्वार्थानाम्) अतिशयम् (अधिकार्थम्)। व्यञ्जयन्ति = व्यञ्जनावृत्त्या प्रतिपादयन्ति। एतेन = उक्तवाक्येन। एतेन मम वचनं तवाऽत्यन्तं हितं तदवश्यं कर्तव्यमित्यभिप्रायः = आशयः। व्यज्यत इति शेषः। तत् = तस्मात्, एवम् - इत्थं वाक्यगतोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः। पदगतोऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो ध्वनिर्यथा निःश्वासान्ध इवेत्यादि (२९९)। वाक्यगतः (अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो ध्वनिः) यथा उपकृतं बहु तत्रेत्यादिः।

अन्येषाम् (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यभेदानाम्) वाक्यगतत्वे, "शून्यं वासगृहम्" (पृ० २४) इत्यादिकमसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य, "पन्थिअ ण एत्थ" (पृ० १८७) इत्यादिकं संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य, उदाहृतम्।

पदगतत्वे (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य पदप्रकाश्यत्वे) लावण्यमिति। कस्यचिद्विप्रलम्भवर्णनमिदम्। तत् - असाधारणं, लावण्यं - सौन्दर्यातिशयः, सर्वावयवगतः प्रियाया इति शेषः। लावण्यलक्षणं यथा रसमञ्जर्याम्—

"मुक्ताफलस्य छायायां तरलत्वमिवान्तरा।
प्रतिभाति यदङ्गेषु तल्लावण्यमिहोच्यते॥" इति।

असौ = अनिर्वाच्या, कान्तिः = शोभा, तद् = असकृदनुभूतं, रूपं-सौन्दर्यम्। सः = असकृदनुभूतः, वचःक्रमः=वचनविन्यासः, तदा = तस्मिन् समये, प्रियासंनिधानसमय इति भावः। सुधास्पदं - पीयूषाधारसमम्, अभूत्। तु = परन्तु, अधुना =

वचन तुम्हारा अत्यन्त हितकारक है, उसे अवश्य करना चाहिए यह अभिप्राय व्यङ्ग्य होता है। इसप्रकार यह वाक्यगत अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि है।

पदगत अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि उ०—"निःश्वासान्ध इव" इत्यादि (पृ० २९९)।

वाक्यगत अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य ध्वनि उ०—"उपकृतं बहु तत्र" इत्यादि (पृ० ४६)। औरोंके वाक्यगत उदाहरण दे चुके हैं।

पदगत असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि उ०—कोई वियोगी कहता है—वह लावण्य, वह कान्ति और वह वचनक्रम उस समय (संयोगकालमें) अमृतके आधार थे

अत्र लावण्यादीनां तादृगनुभवैकगोचरताव्यञ्जकानां तदादिशब्दानामेव प्राधान्यम्, अन्येषां तु तदुपकारित्वमेवेति तन्मूलक एव ध्वनिव्यपदेशः।

तदुक्तं ध्वनिकृता—

'एकावयवसंस्थेन भूषणेनेव कामिनी।
पदद्योत्येन सुकवेर्ध्वनिना भाति भारती॥'

एवं भावादिष्वप्यूह्यम्।

अस्मिन् समये, प्रियाया असन्निधानसमय इति भावः. महान् = दुर्वहः ज्वरः=सन्तापकः अस्तीति शेषः। अनुष्टुब् वृत्तम्।

अस्मिन् श्लोके ध्वनेर्वाक्यगतत्वं निरस्य पदगतत्वं स्थापयति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन् श्लोके, लावण्यादीनां = लावण्यप्रभृतीनां पदानां, तादृगनुभवैकगोचरताव्यञ्जकानां = तादृक् (तादृशः) यः अनुभवः (असाधारणत्वरूपेण ज्ञानम्) तस्य एकगोचरता (एकमात्रग्राह्यता) तद्व्यञ्जकानां (तद्व्यक्तिकारकाणाम्) तदादिशब्दानाम् एव प्राधान्यं = प्रधानता, अन्येषां = लावण्यादिशब्दानां, तदुपकारित्वम् एव = तेषाम् (तदादिशब्दानाम्) उपकारित्वम् एव (व्यञ्जने सहकारित्वम् एव), इति = अस्मात्कारणात्, तन्मूल एव = तदादिपदमूल एव, ध्वनिव्यपदेशः = ध्वनिव्यवहारः, न तु वाक्यमूलः, "प्रधाने हि व्यपदेशा भवन्ती"ति न्यायादिति भावः।

अत्रार्थे ध्वनिकारपद्यं प्रमाणत्वेनोपन्यस्यति—**एकावयवसंस्थेनेति**। एकाऽवयवसंस्थेन = कण्ठाद्येकाङ्गस्थितेन, भूषणेन = ग्रैवेयकाद्यलङ्कारेण, कामिनी इव = ललना इव, पदद्योत्येन = पदमात्रप्रकाश्येन, ध्वनिना, सुकवेः = सत्कवेः, भारती = वाक्यं, भाति = शोभते।

एवम् = इत्थमेव, भावादिषु = भावरसाभासादिषु, ऊह्यं = कल्पनीयम्।

अभी (वियोगकालमें) तो अत्यन्त संतापकारक हो गये हैं। यहाँ लावण्य आदिके अनुभवके एकमात्र ग्राह्यताके व्यञ्जक 'तद्' आदि शब्दोंकी ही प्रधानता है, अन्य शब्द उनके उपकारकमात्र हैं। तद् आदि पद ही ध्वनिके कारण हैं न कि वाक्य। जैसे कि ध्वनिकार (आनन्दवर्द्धनाचार्य) ने कहा है—जैसे एक अवयवमें पहने गये भूषणसे सुन्दरी शोभित होती है वैसे ही सुकविके एक पदसे प्रकाश्य ध्वनिसे वाक्य शोभित होता है। इसी तरह भाव आदिमें भी पदगत ध्वनिका उदाहरण समझें।

पदगत शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि उ०—उपपतिको देखकर कोई कामिनी कहती है।

'भुक्तिमुक्तिकृदेकान्तसमादेशनतत्परः ।
कस्य नानन्दनिस्यन्दं विदधाति सदागमः ॥'

अत्र सदागमशब्दः सन्निहितमुपनायकं प्रति सच्छास्त्रार्थमभिधाय सतः पुरुषस्यागम इति वस्तु व्यनक्ति। ननु सदागमः सदागम इवेति न कथमुपमाध्वनिः? सदागमशब्दयोरुपमानोपमेयभावाविवक्षणात्। रहस्यस्य

शब्दशक्तिमूलं पदगतं वस्तुध्वनिमुदाहरति—भुक्तीति। उपपतिं दृष्ट्वा कस्याश्चित्कामिन्या उक्तिरियम्, वाच्यपक्षे = अत्र विशेष्यपदं सदागमः, तथा च सदागमः = सन्चासौ आगमः सच्छास्त्रमित्यर्थः, एकान्तसमादेशनतत्परः = एकान्तं (नितान्तम्) यत् समादेशनं (तत्त्वज्ञानोपदेशः) तस्मिन् तत्परः (प्रसृतः) तादृशः सन्, भुक्तिमुक्तिकृत्= यागाद्यनुष्ठानकारित्वेन, भुक्तिकृत् (स्वर्गभोगकारी) एवं च श्रवणमनननिदिध्यासनादिभिः, ब्रह्मज्ञानोत्पादनेन मुक्तिकृत् (मोक्षकारी) भूत्वा, कस्य=जनस्य, आनन्दनिस्यन्दं= हर्षप्रवाहं, न विदधाति=न करोति, अपि तु सर्वस्यानन्दनिस्यन्दं विदधातीति भावः।

व्यङ्ग्यपक्षे—सदागमः = सतः (सज्जनपुरुषस्य, भवादृशस्येति भावः) आगमः (आगमनम् , भुक्तिमुक्तिकृत्=भुक्तिकृत् (रतिक्रीडया भोगकृत्) मुक्तिकृत् (साधारणगृहकर्मत्यागकृत्) तथा च समादेशनतत्परः = एकान्ते समादेशनं (रहस्योपदेशः), तस्मिन् तत्परः (प्रसितः) तादृशः, कस्य = सहृदयस्य, मद्विधजनस्येति भावः। आनन्दनिस्यन्दं = हर्षप्रवाहं, न विदधाति = न करोति, सर्वस्यैवानन्दनिस्यन्दं विदधातीति भावः। अनुष्टुब् वृत्तम्।

ध्वनिं प्रदर्शयति—अत्रेति। अत्र = अस्मिन् श्लोके, सदागमशब्दः सन्निहितं= निकटवर्तिनम्, उपनायकम्=उपपतिं प्रति, सच्छास्त्रार्थं = सन्चासौ आगम इति कर्मधारयसमासेन तादृशम् अर्थं = वाच्यम्, अभिधाय=अभिधावृत्त्या प्रतिपाद्य, सतः (सज्जनस्य) पुरुषस्य आगमः (आगमनम्) इति वस्तु, व्यनक्ति = व्यञ्जनया प्रतिपादयति।

अत्राऽर्थे आशङ्कते—नन्विति। सदागमः (सन्चासौ आगमः) समागमः (सतः आगमः)

वाच्य पक्षमें—सदागमः=सन् आगमः अर्थात् उत्तम शास्त्र, तत्त्वज्ञानके उपदेशमें अत्यन्त तत्पर होकर याग आदिके अनुष्ठानसे भुक्ति और ब्रह्मज्ञानको उत्पन्न करनेसे मुक्ति करनेवाला होकर किसके हर्षप्रवाहको उत्पन्न नहीं करता है।

व्यङ्ग्य पक्षमें—सदागमः=सतः आगम अर्थात् आप सरीखे सज्जन पुरुषका आगमन, भोग करता हुआ और अन्य गृहकार्यसे मुक्त (छुटकारा) दिलाता हुआ एकान्तमें रहस्यके उपदेशमें तत्पर होकर मेरे सरीखे किसकी सौख्यपरम्पराको उत्पन्न नहीं करता है? यहाँ "सदागम" शब्द निकट स्थित उपनायकको उत्तम शास्त्र ऐसा अर्थ अभिधासे कहकर सज्जन पुरुषका आगमन ऐसी वस्तुको व्यञ्जनासे प्रतिपादन करता है।

सङ्गोपनार्थमेव हि द्व्यर्थपदप्रतिपादनम्। प्रकरणादिपर्यालोचनेन च सच्छास्त्राभिधानस्यासम्बन्धत्वात्।

'अनन्यसाधारणधीर्धृताखिलवसुन्धरः ।
राजते कोऽपि जगति स राजा पुरुषोत्तमः ॥'

अत्र पुरुषोत्तमः पुरुषोत्तम इवेत्युपमाध्वनिः। अनयोः शब्दशक्तिमूलौ संलक्ष्यक्रमभेदौ।

इवेति न कथमुपमाध्वनिरिति चेन्न। अत्र सदागमशब्दार्थयोः उपमानोपमेयभावाऽविवक्षणात्=उपमानोपमेयभावस्य (उपमानोपमेयत्वस्य) अविवक्षणात् (विवक्षाराहित्यात्)।

अविवक्षणे हेतुं प्रदर्शयति—**रहस्यसंगोपनार्थमिति**। रहस्यस्य (उपपतेरनुरागस्य) संगोपनाऽर्थम् एव, न तूपमानोपमेयभावबोधनाऽर्थं हि द्व्यर्थपदप्रतिपादनं= द्व्यर्थानां पदानां प्रतिपादनम्। प्रकरणादिपर्यालोचनेन = प्रकरणादीनाम्, आदिपदेन तात्पर्यादीनाम पर्यालोचनेन (अनुसन्धानेन) सच्छास्त्राऽभिधानस्य = सदागमपदेन सच्छास्त्रकथनस्य, असम्बन्धत्वात् = प्रकृते उपयोगराहित्यादित्यर्थः। शब्दशक्तिमूलं संलक्ष्यक्रममूल पदप्रकाश्यमलङ्कारध्वनिमाह-**अनन्येति**। कश्चित् कविर्राजानं प्रशंसति। अनन्यसाधारणधीः = अनितरसामान्यबुद्धिः, असाधारणबुद्धिसम्पन्न इत्यर्थः। धृताऽखिलवसुन्धरः = धृता (कच्छपरूपेण धारिता राजरूपेण पालिता च) अखिला (समस्ता) वसुन्धरा (पृथ्वी) येन सः। पुरुषोत्तमः = पुरुषेषु (नरेषु) उत्तमः (श्रेष्ठः) जगति = लोके, कोऽपि = अनिर्वाच्यः, सः = प्रसिद्धः, राजा = भूपतिः, पुरुषोत्तमः। राजते = शोभते। अनुष्टुब् वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र=अस्मिन्पद्ये, पुरुषोत्तम इत्यस्य पुरुषश्रेष्ठः (राजपक्षे), पुरुषोत्तमः (विष्णुः) इव इति उपमाध्वनिः। अनयोः = द्वयोरुदाहरणयोः शब्दशक्तिमूलौ संलक्ष्यक्रमभेदौ=वस्त्वलङ्काररूपाविति भावः।

आशङ्का करते हैं—यहाँपर "सदागमः" कहनेसे "सदागमः सदागम इव" अर्थात् उत्तमशास्त्र, सज्जन पुरुषके समान "हिममुक्तचन्द्ररुचिरः" इस पद्यके समान कैसे उपमा ध्वनि नहीं है ?

समाधान करते हैं—सदागम शब्दके दोनों अर्थोंमें उपमानोपमेयभावकी विवक्षा नहीं है। रहस्यको छिपानेके लिए दो अर्थोंवाले पदका प्रयोग किया जाता है। यहाँपर प्रकरण आदिके अनुसन्धानसे सदागम शब्दका सच्छास्त्ररूप रूप अर्थ कहनेमें सम्बन्ध नहीं रह जाता है। इस कारणसे यहाँ उपमाध्वनि नहीं है।

पदगत शब्दशक्तिमूल अलङ्कारध्वनि उ०— कोई कवि किसी राजाकी प्रशंसा करता है। असाधारण बुद्धिसे सम्पन्न संपूर्ण पृथ्वीको धारण करनेवाले जगत्में वे कोई पुरुषोत्तम राजा शोभित होते हैं॥

'सायं स्नानमुपासितं, मलयजेनाङ्गं समालेपितं,
यातोऽस्ताचलमौलिमम्बरमणिर्विस्रब्धमत्रागतिः ।
आश्चर्यं तव सौकुमार्यमभितः क्लान्तासि येनाधुना
नेत्रद्वन्द्वममीलनव्यतिकरं शक्नोति ते नासितुम् ॥'

अत्र स्वतःसंभविना वस्तुना कृतपरपुरुषपरिचया स्नातासीति वस्तु

---

१ अर्थशक्तिरूपेण स्वतःसंभविवस्तुना, पदगतवस्तुध्वनिमुदाहरति **सायमिति** । उपपतिनोपभुक्तां सखीं प्रति कस्याश्चित्सख्या उक्तिरियम् । हे सखि ! सायं = सन्ध्याकाले, स्नानं = मज्जनम्, उपासितम् = विहितम् । मलयजेन = चन्दनेन, अङ्गम् = देहावयवः, समालेपितं = संलिप्त विहितम् । अम्बरमणिः = सूर्यः, अस्ताचलमौलिम्= अस्तपर्वतशिखरं, यातः = प्राप्तः । तस्मादातपतापो नास्तीति भावः । अत्र= अस्मिन्, मत्समीपस्थाने, विस्रब्धं = स्वच्छन्दं यथा तथा, आगतिः आगमनम् । ततश्चागमनत्वराऽपि न संभाव्यत इति भावः । परम् आश्चर्यं = आश्चर्यजनकम्, अपूर्वमिति भावः । तव = भवत्याः, सौकुमार्यं = कोमलता, अस्तीति शेषः । येन = कारणेन अभितः = सर्वतः, बहिरन्तश्चेति भावः क्लान्ता = परिश्रान्ता, असि = विद्यसे अतः, ते = तव, नेत्रद्वन्द्व = नयनद्वितयम्, अमीलनव्यतिकरं = निमीलनसम्बन्धरहितं सत्, आसितुं = स्थातुं, न शक्नोति = न प्रभवति । श्रमाधिक्याऽनुभूतेस्तव नयनद्वितयं मुद्रितमतस्तव सौकुमार्यमसाधारणतयाऽऽश्चर्यजनकमिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । उदाहरणं विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र अस्मिन्पद्ये, स्वतःसंभविना = बाह्यजगति संभाव्यमानेन, वस्तुना, कृतपरपुरुषपरिचया = विहितोपपतिसमागमा, स्नाताऽसि = कृत-

---

यहाँपर पुरुषोत्तम नामके राजा पुरुषोत्तम (विष्णु) के समान है ऐसी उपमाध्वनि है ।

इन दोनों पद्योंमें शब्दशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिके वस्तुरूप और अलङ्काररूप दो भेद दिये गये हैं ।

१ **पदगत अर्थशक्तिमूल स्वतःसंभविवस्तुसे वस्तुध्वनि उ०**—उपपतिसे उपभुक्त सखीको कोई सखी कहती है । हे सखि ! तुमने साय कालमें स्नान किया, चन्दनसे अङ्गमें लेप किया, सूर्य अस्तपर्वतकी चोटीमें चले गये हैं, स्वच्छन्दतासे यहाँ आई हुई हो, पर तुम्हारी कोमलता आश्चर्यको उत्पन्न कर रही है, जिससे कि तुम सब तरहसे परिश्रान्त हो रही हो इस कारणसे तुम्हारे दोनों नेत्र मुद्रित न होकर नहीं रह सकते हैं ॥

इस पद्यमें स्वतःसंभविवस्तुसे परपुरुषसे समागम करनेसे तुम थकी हुई हो ऐसी वस्तु व्यङ्ग्य होती है । इस समय थकी हुई हो, पहले कभी भी तुम्हारी ऐसी

व्यज्यते। तच्चाधुना क्लान्तासि, न तु पूर्वं कदाचिदपि तवैवंविधः क्लमो दृष्ट इति बोधयतोऽधुनापदस्यैवेतरपदार्थोत्कर्षादधुनापदस्यैव पदान्तरापेक्षया वैशिष्ट्यम्

'तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाशेषपातका ।
तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया तथा ॥
चिन्तयन्ती जगत्सूतिं परं ब्रह्मस्वरूपिणम् । विष्णुपुराण ५-१३/२१-

निमज्जना, असि, इति वस्तु=अनलङ्कारं वस्तुमात्रं व्यज्यते=व्यञ्जनया प्रत्याय्यते, तच्च= तादृशव्यङ्ग्यं च, अधुना = इदानीं क्लान्ताऽसि = परिश्रान्ताऽसि न तु, पूर्वं = प्रथमं कदाचिदपि = जातुचिदपि, तव = भवत्याः, एवंविधः = एतादृशः, क्लमः = परिश्रमः दृष्टः = ज्ञातः, इति = एवं, बोधयतः = व्यञ्जनया प्रतिपादयतः, अधुनापदस्यैव, इतरपदार्थोत्कर्षात् = पदार्थान्तराणामुत्कर्षाधानात्, अधुना पदस्यैव पदार्थान्तराऽपेक्षया = इतरपदार्थापेक्षया, वैशिष्ट्यं = प्राधान्यम् ।

२ स्वतःसंभविवस्तुना पदगतमलङ्कारध्वनिमुदाहरति—तदप्राप्तीति । श्री विष्णुपुराणे श्रीकृष्णस्य रासक्रीडायां पत्यादिप्रतिषेधेन गन्तुमशक्नुवत्याः कस्याश्चिद्गोप्या मोक्षवर्णनमिदम् । तदप्राप्तिमहादुःखविलीनाऽशेषपातका = तस्य (श्रीकृष्णस्य) अप्राप्त्या (वियोगेन) यत् महादुःखं (कष्टाऽतिशयः), तेन हेतुना विलीनानि (नष्टानि) अशेषाणि (समस्तानि, अनेकजन्मार्जितानीति भावः) पातकानि (पापानि) यस्याः सा । तथा तच्चिन्ताविपुलाह्लादक्षीणपुण्यचया = तस्य (श्रीकृष्णस्य) या चिन्ता (भावना) तया हेतुना यो विपुलः (महान्) आह्लादः (आनन्दः), तेन हेतुना क्षीणः (नष्टः) पुण्यचयः (सुकृतसमूहः) यस्याः सा, पापं पुण्यं द्वयमपि भोगजनकत्वेन मुक्तिप्रतिबन्धकमतः भगवतोऽप्राप्त्या अनुभूतेन महादुःखेन समस्तपापक्षयं, भगवच्चिन्तनाऽनुभूतेनानन्दप्रकर्षेण समस्तसुकृतध्वंसं च कृत्वा कषायनिरसनोत्तर— जगत्सूतिं = संसारोत्पत्तिकारणं, परं = सर्वोत्कृष्टं, ब्रह्मस्वरूपिणं = भगवन्तं श्रीकृष्णं, चिन्तयन्ती = भावनया साक्षात्कुर्वंती, अन्या = अपरा, गुरुजनोपरुद्धेति भावः ।

थकावट देखी नहीं गई थी इस बातको व्यञ्जनासे प्रतिपादन करनेवाले "अधुना" पदका ही अन्य पदार्थसे उत्कर्ष होनेसे उसीकी अन्य पदोंसे प्रधानता है ।

२ स्वतःसंभविवस्तुसे पदगत अलङ्कारध्वनि उ०-श्री विष्णुपुराण में श्रीकृष्णकी रासक्रीडामें पति आदिके निषेधसे जानेमें असमर्थ किसी गोपीका मोक्षवर्णन है । श्रीकृष्णकी अप्राप्तिसे उत्पन्न अत्यन्त दुःखसे जिसके अशेष (समस्त) पातक विलीन हो गये हैं, श्रीकृष्णके चिन्तनसे उत्पन्न प्रचुर आनन्दसे जिसके पुण्योंका चय (समूह) क्षीण हो गया है । जगत्की उत्पत्तिके कारण सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मस्वरूप

निरुच्छ्वासतया मुक्तिं गताऽन्या गोपकन्यका ॥' (युग्मकम्)

अत्राशेषचयपदप्रभावादनेकजन्मसहस्रभोग्यदुष्कृतसुकृतफलराशि तादात्म्याध्यवसिततया भगवद्विरहदुःखचिन्ताह्लादयोः प्रत्यायनमित्यतिशयोक्तिद्वयप्रतीतिरशेषचयपदद्वयद्योत्या। अत्र च व्यञ्जकस्य कविप्रौढोक्तिमन्तरेणापि संभवात्स्वतःसंभविता।

'पश्यन्त्यसंख्यपथगां त्वद्दानजलवाहिनीम्।

गोपकन्यका = गोपकुमारी, निरुच्छ्वासतया=निरुद्धप्राणतया। मुक्तिम्=अपवर्गं, गता= प्राप्ता। अनुष्टुब् वृत्तम्।

पद्यद्वयं विवृणोति—**अत्रेति।** अत्र=अस्मिन् पद्यद्वये, 'अशेष-चय' पदप्रभावात्= प्रथमश्लोकपूर्वार्द्धोत्तरार्द्धस्थितपदद्वयसामर्थ्यात्, अनेकजन्मसहस्रभोग्यदुष्कृतसुकृतफल-राशितादात्म्याऽध्यवसिततया = अनेकानि (बहूनि) यानि जन्मसहस्राणि (जनन-सहस्राणि) तेषु भोग्यः (भोक्तुं योग्यः) यो दुष्कृतसुकृतफलराशिः (पापपुण्यफल-समूहः), तस्य तादात्म्येन (अभेदेन) अध्यवसिततया (आरोपितप्रकारेण) भगवद्विरहदुःख-चिन्ताह्लादयोः = भगवद्विरहेण (श्रीकृष्णवियोगेन) दुःखस्य (कष्टस्य) भगवच्चिन्तया (श्रीकृष्णभावनया) आह्लादस्य (आनन्दस्य), प्रत्यायन = प्रकरण-वैशिष्ट्येन प्रतीतिकरणम्, इति अतिशयोक्तिद्वयप्रतीतिः अशेषचयपदव्यङ्ग्या।

अयं भावः। अनेकजन्मसहस्रभोग्यदुःखस्य तात्कालिककृष्णाऽप्राप्तिदुःखस्य च भेदेऽपि "विलीनाऽशेषपातका" अत्रस्थाऽशेषपदेनाऽभेदाऽध्यवसायापेता अतिशयोक्तिस्तथा अनेकजन्मसहस्रभोग्यसुखस्य तात्कालिककृष्णचिन्ताजन्यसुखस्य च भेदेऽपि 'क्षीणपुण्यचया' अत्रस्थचयपदेन अभेदाऽध्यवसायादन्याऽतिशयोक्तिरिति अतिशयोक्तिद्वयमित्यर्थः। अत्र = अस्मिन्पद्ये, व्यञ्जकस्य = अशेष-चय-रूपपदद्वयरूपस्य वस्तुनः कविप्रौढोक्तिम्; अन्तरेण = विनाऽपि संभवात् स्वतःसंभविता।

कविप्रौढोक्तिसिद्धालङ्कारेण पदगतमलङ्कारध्वनिमुदाहरति **पश्यन्तीति।** कश्चित्कविः कंचिद्राजानं वर्णयति। हे देव = हे महाराज !, त्रिपथगा=गङ्गा, पथित्रय-मात्रगामिनी, त्वद्दानजलवाहिनीं = भवद्वितरणसलिलोत्पन्ननदीम् असंख्यपथगाम् =

भगवान् श्रीकृष्णका चिन्तन करती हुई दूसरी गोपकन्या प्राणोंका निरोध होनेसे मुक्तिको प्राप्त हुई ॥

इन दो पद्योंमें "अशेष" और "चय" इन दो पदोंके प्रभावसे अनेक हजार जन्मोंमें भोगी जानेवाली पापों और पुण्योंकी फलराशिके अभेदसे आरोपित होनेसे भगवान्के विरहसे दुःख और उनके चिन्तनसे आनन्दकी प्रतीति "अशेष" और "चय" पदसे व्यङ्ग्य है। यहाँपर व्यञ्जक "अशेष" और "चय" ये दो पदरूप वस्तुओंकी कविकी प्रौढ उक्तिके विना भी हो सकनेसे स्वतःसम्भविता है।

कविप्रौढोक्तिसिद्ध अलङ्कारसे पदगत अलङ्कारध्वनि उ०—कोई कवि किसी राजाका वर्णन करता है। हे राजन् ! तीन पथों (मार्गों) से चलने वाली

देव ! त्रिपथगाऽऽत्मानं गोपयत्युग्रमूर्धनि ॥'

इदं मम। अत्र पश्यन्तीति कविप्रौढोक्तिसिद्धेन काव्यलिङ्गालङ्कारेण न केऽप्यन्ये दातारस्तव सदृशा इति व्यतिरेकालङ्कारोऽसंख्यपदद्योत्यः एवमन्येष्वप्यर्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमभेदेषूदाहार्यम्।

तदेवं ध्वनेः पूर्वोक्तेष्वष्टादशसु भेदेषु मध्ये शब्दार्थशक्त्युत्थो व्यङ्ग्यो वाक्यमात्रे भवन्नेकः। अन्ये पुनः सप्तदश वाक्ये पदे चेति चतुस्त्रिंशदिति पञ्चत्रिंशद्भेदाः।

अपरिमितमार्गगामिनीं पश्यन्ती सती, आत्मानं = स्वाम्, उग्रमूर्धनि = हरशिरसि, गोपयति = रक्षति, असंख्यपथगाया भवद्वितरणसलिलजाया नद्या दर्शनेन त्रिपथगा गङ्गाऽऽत्मानं शिवशिरसि लज्जया गोपयतीति भावः। अनुष्टुब् वृत्तम्।

विवृणोति—अत्र = अस्मिन्पद्ये, "पश्यन्ती" तिपदनिष्ठेन कविप्रौढोक्तिसिद्धेन = बहिर्जगति असंभाव्येन काव्यलिङ्गालङ्कारेण = गोपयतीति पदार्थहेतुककाव्यलिङ्गाऽलङ्कारेणेति भावः, न केऽपि, अन्ये = अपरे, दातास्तव सदृशा इति व्यतिरेकाऽलङ्कारः, असंख्यपदद्योत्यः = असंख्यशब्दव्यङ्ग्यः, अतोऽस्य ध्वनेः पदगतत्वमिति भाव.।

एवमिति। अन्येषु=उदाहृतेभ्योऽपरेषु, अर्थशक्तिमूलसंलक्ष्यक्रमभेदेषु, उदाहार्यम्=उदाहर्तुं योग्यम्। अत्र दिग्दर्शनमात्र कृतमिति भावः।

सङ्कलयति—तदेवमिति। शब्दाऽर्थशक्त्युत्थः = उभयशक्तिमूलो व्यङ्ग्यः।

गङ्गाजी असंख्य पथों (मार्गों) से जानेवाली आपके दानजलसे बहनेवाली नदीको देखकर अपनेको शिवजीके शिरमें छिपाती है।

यह ग्रन्थकारका पद्य है।

इस पद्यमें कविकी प्रौढ उक्तिसे सिद्ध काव्यलिङ्ग अलङ्कारसे और कोई भी दाता आपके समान नहीं हैं यह व्यतिरेक अलङ्कार 'असंख्य' पदसे व्यङ्ग्य है। इसी तरह अन्य भी अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिके भेदोंमें भी उदाहरणोंको जानना चाहिए। इस प्रकार ध्वनिके अठारह भेदोंके बीचमें शब्दाऽर्थशक्तिमूल वाक्य मात्रमें होनेसे एकप्रकारका है। लक्षणामूल ध्वनिमें अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य इस प्रकार दो भेद, अभिधामूल ध्वनिमें असंलक्ष्मक्रमव्यङ्ग्यका एक भेद, संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यमें शब्दमूलके दो भेद, अर्थमूलके बारहभेद और पूर्वोक्त उभयशक्तिमूल व्यङ्ग्य एक भेद मिलाकर सबके भेद अठारह हुए। इनमें उभयशक्तिमूल ध्वनिको छोड़कर अन्य सत्रह ध्वनियोंके पद और वाक्य दोनोंमें होनेसे चौंतीस भेद हुए, कुल भेद पैंतीस हो गये :

प्रबन्धेऽपि मतो धीरैरर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः ॥ १० ॥

प्रबन्धे = महावाक्ये। अनन्तरोक्तद्वादशभेदोऽर्थशक्त्युत्थः। यथा महाभारते गृध्रगोमायुसंवादे—

'अलं स्थित्वा श्मशानेऽस्मिन् गृध्रगोमायुसंकुले।
कङ्कालबहुले घोरे सर्वप्राणिभयङ्करे॥
न चेह जीवितः कश्चित्कालधर्ममुपागतः।
प्रियो वा यदि वा द्वेष्यः प्राणिनां गतिरीदृशी॥'

इति दिवा प्रभवतो गृध्रस्य श्मशाने मृतं बालमुपादाय तिष्ठतां तं-परित्यज्य गमनमिष्टम्।

प्रबन्धेऽपि। अर्थशक्त्युद्भवो ध्वनिः = अनन्तरोक्तद्वादशभेदः, प्रबन्धेऽपि=महावाक्येऽपि, धीरैः = विद्वद्भिः, मतः = संमतः ॥ १० ॥

उदाहरति—अलं स्थित्वेति। महाभारते शान्तिपर्वस्थं श्लोकद्वयम्। श्मशाने मृतबालकमत्यजतस्तद्बन्धुन्प्रति गृध्रवाक्यम्। गृध्रगोमायुसङ्कुले = गृध्रैः (दाक्षाय्यैः) गोमायुभिः (शृगालैः) च सङ्कुले (व्याप्ते), कङ्कालबहुले = कङ्कालैः (शरीराऽस्थिभिः) बहुले (प्रचुरे), सर्वप्राणिभयङ्करे = सकलजन्तुभीत्युत्पादके, अत एव घोरे = भयङ्करे, अस्मिन् श्मशाने = पितृवने स्थित्वा = अवस्थाय, अलं = पर्याप्तम्, अत्राऽवस्थितिर्न कार्या इति भावः ॥

कालधर्मम् = मृत्युधर्मम्, उपागतः = संप्राप्तः, प्रियो वा = अभीष्टो वा, द्वेष्यो वा = शत्रुर्वा, कश्चित् = कोऽपि, इह = अस्मिन् श्मशाने, न जीवितः = जीवनं न प्राप्तः प्राणिनां = जन्तूनाम्, ईदृशी=एतादृशी, गतिः=स्थितिः। बालकजीवनाशयाऽत्राऽवस्थानं व्यर्थमिति भावः। व्यङ्ग्यार्थं विवृणोति—इतीति। श्मशाने=पितृवने, मृतम्=उपरतं, बालं = शिशुम्, उपादाय = गृहीत्वा, तिष्ठतां = स्थितिं कुर्वतां जनानां, दिवसे = दिन एव, तं = बालं, परित्यज्य = विहाय, गमनं = गतिः, इष्टम् = उचितम्, इति = एवं, दिवा = दिने, शक्तस्य = समर्थस्य, गृध्रस्य = दाक्षाय्यस्य, वचनम्। वक्तुर्गृध्रस्य मृतं बालं त्यक्त्वा तद्बन्धूनां गमनमिष्टमिति प्रयोजनमिति भावः।

अर्थशक्तिमूलक ध्वनि प्रबन्ध अर्थात् महावाक्यमें भी होता है ॥ १० ॥

जैसे महाभारतमें गृध्र (गीध) और स्यारके संवादमें मरे हुए बालकको लेकर श्मशानमें रहे हुए उसके बान्धवोंको कोई गीध कहता है।

गृध्रों और स्यारोंसे व्याप्त, अस्थिपञ्जरोंसे भरे हुए, सब प्राणियोंको भयङ्कर ऐसे श्मशान (मरघट) में रहना नहीं चाहिए। कालधर्मको प्राप्त प्रिय हो वा अप्रिय यहांपर कोई भी नहीं बचा, प्राणियोंकी गति ऐसी ही होती है ॥

दिनमें शव खानेमें समर्थ गृध्रका मत बालकके बन्धुओंके प्रति यह वचन है।

'आदित्योऽयं स्थितो मूढाः ! स्नेहं कुरुत साम्प्रतम् ।
बहुविघ्नो मुहूर्तोऽयं जीवेदपि कदाचन ॥
अमुं कनकवर्णाभं बालमप्राप्तयौवनम् ।
गृध्रवाक्यात्कथं मूढास्त्यजध्वमविशङ्किताः ॥'

इति निशि समर्थस्य गोमायोर्दिवसे परित्यागोऽनभिलषित इति वाक्यसमूहेन द्योत्यते। अत्र स्वतःसंभवी व्यञ्जकः। एवमन्येष्वेकादशभेदेषूदाहार्यम्। एवं वाच्यार्थव्यञ्जकत्वे उदाहृतम्। लक्ष्यार्थस्य यथा— 'निःशेषच्युतचन्दनम्—' (पृ० ७५) इत्यादि ।

आदित्योऽयमिति । गृध्रवाक्यमनुसृत्य बालकशवं परित्यज्य गमनतत्परांस्तद्बन्धून्प्रति गोमायोर्वचनमिदम् । हे मूढा: = हे मूर्खाः ! अयम् = एषः, आदित्यः = सूर्यः, स्थितः = अवस्थितः, साम्प्रतम्=अधुना, स्नेहं=वात्सल्यं, कुरुत=विदधत, अयम्= एषः, मुहूर्तः=समयः, बहुविघ्नः=भूताद्यावेशविविधप्रत्यूहः, कदाचन = जातुचित्, जीवेत् अपि = प्रत्युज्जीवनं प्राप्नुयात् अपि, कनकवर्णाभं = सुवर्णकान्तिसदृशम्, अप्राप्तयौवनम् = अनासादिततारुण्यम्, अमुम् = अमुत्र गतमिति संभावितं, बालं = शिशुं; गृध्रवाक्यात् = दाक्षाय्यवचनमात्रात्, अविशङ्किताः = संशयरहिताः सन्तः, कथं=केन प्रकारेण, त्यजध्वं = जहत ॥

व्यङ्ग्यार्थं विवृणोति—**इतीति** । इति = एवं, निशि = रात्रौ, समर्थस्य = मृतबालकमांसभक्षणसमर्थस्य । गोमायोः = शृगालस्य, दिवसे = दिने, परित्यागः = मृतबालपरिहानम्, अनभिलषितः = अनभीष्टः, इति वाक्यसमूहेन = वाक्यकदम्बकेन, द्योत्यते = व्यज्यते । अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, स्वतःसंभवी = स्वतःसंभाव्यमाना; प्रबन्धद्वयार्थो व्यञ्जकः । एवं वाच्यार्थव्यञ्जकत्वे उदाहृतम् । "दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि" इत्यादिकमिति भावः । लक्ष्यार्थस्य व्यञ्जकत्वं यथा—"निःशेषच्युतचन्दनम्" इत्यादि । अत्र स्नातुं गताऽसीत्यत्र न स्नातुं गताऽसीति विपरीतलक्षणया लक्ष्यार्थस्वरूपेण स्वतःसंभविवस्तुना तदन्तिकमेव रन्तुं गताऽसीति वस्तुध्वनिरधमपदव्यङ्ग्यः ।

गृध्रके वाक्यका अनुसरण कर बालकके शवको छोड़कर जानेके लिए तत्पर मृत बालकके बन्धुओंके प्रति स्यारका यह वचन है । हे मूर्खो ! अभी सूर्य विद्यमान है; अभी कुछ स्नेह तो करो । अनेक विघ्नोंवाला यह समय है, यह बालक कदाचित् जी भी जाय । सोनेके समान वर्णवाला और यौवनको अप्राप्त इस बालकको मूर्ख होकर तुमलोग गृध्रके वचनसे कुछ भी शङ्का नहीं मानकर कैसे छोड़ोगे ? ॥

रातमें शव खानेमें समर्थ शृगालको दिनमें बालकका परित्याग अभीष्ट नहीं है यह बात पूर्वोक्त वाक्यसमूहसे व्यङ्ग्य है । यहाँपर दोनों उक्तियोंमें व्यञ्जक वाक्यार्थ स्वतःसंभवी है । इसीप्रकार अन्य ग्यारह भेदोंमें भी उदाहरण देने चाहिए ।

व्यङ्ग्यार्थस्य यथा 'उअ णिच्चल–' (पृ०७६) इत्यादि। अनयोः स्वतः-संभविनोर्लक्ष्यव्यङ्ग्यार्थौ व्यञ्जकौ। एवमन्येष्वेकादशभेदेषूदाहार्यम्।

पदांशवर्णरचनाप्रबन्धेष्वस्फुटक्रमः।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिस्तत्र पदांशप्रकृतिप्रत्ययोपसर्गनिपातादि-भेदादनेकविधः। यथा—

'चलापाङ्गां दृष्टिं स्पृशसि बहुशो वेपथुमतीं
रहस्याख्यायीव स्वनसि मृदु कर्णान्तिकचरः।

व्यङ्ग्याऽर्थस्य व्यञ्जकत्वं यथा—"उअ णिच्चल०" इत्यादि। अत्र बलाकाया निष्पन्दतया तद्देशस्य विजनत्वरूपेण स्वतःसंभवविना व्यङ्ग्याऽर्थवस्तुना सङ्केतस्थान-मेतदिति वस्तुध्वनिर्निष्पन्दपदव्यङ्ग्या। स्वतःसंभविनौ=स्वतःसंभाव्यमानयोः, अनयोः= "निःशेषच्युतचन्दनम्" "उअ णिच्चल णिप्पदा" इत्याद्योरुदाहरणयोः।

अलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनेर्भेदानाह—**पदांऽशेति**। अस्फुटक्रमः = अलक्ष्यक्रम-व्यङ्ग्यो ध्वनिः, पदांऽशवर्णरचनाप्रबन्धेषु = पदांऽशे, वर्णे, रचनायां, प्रबन्धे, पदे, वाक्ये चेति षड्विधो बोध्यः।

पदांऽशध्वनिभेदान्प्रदर्शयति—**प्रकृतीति**। पदांऽशध्वनिः, प्रकृतिप्रत्ययोपसर्ग-निपातादिभेदात् = प्रकृतिः (यतः प्रत्ययोत्पत्तिः सा), प्रत्ययः (प्रकृतिमवधीकृत्य विधीयमानः स्वाऽर्थबोधकः शब्दविशेषः), उपसर्गः (प्रादिः), निपातः (चादिशब्द-समूहः), इत्यादिभेदात्, आदिपदेन वचनादिपरिग्रहः। अनेकविधः=नैकप्रकारः।

प्रकृतिरूपपदांशध्वनिमुदाहरति—**चलाऽपाङ्गामिति**। अभिज्ञानशाकुन्तले शकुन्तलां पीडयन्तं भ्रमरं प्रति राज्ञो दुष्यन्तस्योक्तिरियम्। हे मधुकर=हे भ्रमर! त्वं चलाऽपाङ्गां=चलः (चञ्चलः) अपाङ्गः (नयनप्रान्तभागः) यस्याः सा, ताम्, भ्रमरदंशनभियेति शेषः। अतः वेपथुमतीं = कम्पयुक्तां, दृष्टिं = नयनं, स्पृशसि = आमृशसि। रहस्याऽऽख्यायी इव=गोप्यवार्ताभाषी इव, कर्णाऽन्तिकचरः = श्रोत्रनिकट-चारी सन्, मृदु=कोमलम्, अस्फुटं यथा तथेति भावः। स्वनसि = रवीषि। करं =

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिके भेद—पदांऽश, वर्ण, रचना, प्रबन्ध आदिमें असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनि होती है।

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके पदांऽश अर्थात् प्रकृति, प्रत्यय, उपसर्ग और निपात एवम् प्रबन्ध तथा आदि पदसे, पद, वाक्य, और वचन आदि भेद होते हैं। जैसे—प्रकृतिरूप पदांऽशके ध्वनिका उदाहरण अभिज्ञानशाकुन्तल नाटकमें शकुन्तलाको पीडित करनेवाले भ्रमरके प्रति राजा दुष्यन्तकी उक्ति है। हे भ्रमर! तू चञ्चल अपाङ्गोंवाली और कम्पसे युक्त दृष्टिको वारवार स्पर्श कर रहा है गोप्य वार्ता कहनेवालेके समान होकर कानके समीप जा

कर व्याधुन्वत्याः पिबसि रतिसर्वस्वमधरं
वयं तत्त्वान्वेषान्मधुकर ! हतास्त्वं खलु कृती ॥' ((शाकु० १-२०)।
अत्र 'हताः' इति न पुनः 'दुःखं प्राप्तवन्ता' इति हन्प्रकृतेः ।
'मुहुरङ्गुलिसंवृताधरोष्ठं प्रतिषेधाक्षरविक्लवाभिरामम् ।
मुखमंसविवर्ति पक्ष्मलाक्ष्याः कथमप्युन्नमितं न चुम्बितं तु ॥'(शाकु.३-२२)।

हस्तं, व्याधुन्वन्त्याः = कम्पयन्त्याः, त्वन्निवारणाय इतस्ततश्चालयन्त्या इति भावः। शकुन्तलाया इति शेषः। रतिसर्वस्वं = रतौ (रमणे) सर्वस्वम् (सर्वस्वमिवादरणीयम्), अधरम् = अधरोष्ठं, पिबसि = धयसि । तत्त्वाऽन्वेषात्=सत्याऽन्वेषणात्, इय कुमारी क्षत्रस्य मम परिणेया नो वेति तथ्यगवेषणादिति भावः । हताः= वञ्चिता इति भावः, त्वं=मधुकरः, कृती=नैपुण्यवान्, असीति शेषः । शिखरिणी वृत्तम् ।

व्यङ्ग्यं निरूपयति—अत्रेति । अत्र=अस्मिन् पद्ये, "हताः" इति हतप्रायाः न पुनर्दुःखं प्राप्तवन्त इति हन्प्रकृतेः = "हन् हिंसागत्योः" इति हन्धातुरूपप्रकृतेः, दुःखाऽतिशयव्यञ्जकत्वमिति शेषः ।

निपातरूपपदांशध्वनिमुदाहरति—मुहुरिति । अभिज्ञानशाकुन्तले गौतम्या शकुन्तलायां नीतायामनुतापयुक्तस्य दुष्यन्तस्योक्तिरियम् । मुहुः=वारं वारम्, अङ्गुलिसंवृताऽधरोष्ठम्=अङ्गुल्या (करशाखया) संवृतः (आवृतः) अधरोष्ठः (निम्नोष्ठः) यस्य तत् । प्रतिषेधाऽक्षरविक्लवाऽभिरामं = प्रतिषेधाऽक्षरे (निषेधद्योतकवर्णसमूहे) विक्लवः (विह्वलभावः), तेन अभिरामम् (सुन्दरम्), एवं च अंसविवर्ति=अंसे (स्कन्धे) विवर्तते (परावर्तते) तच्छीलं, तादृशं पक्ष्मलाक्ष्याः = लोमप्रचुरनयनशालिन्याः, शकुन्तलाया इति भावः । मुखं = वदनं, कथमपि = केनाऽपि प्रकारेण, उन्नमितम् = ऊर्ध्वीकृतं, नयनपतितपरागनिरसनव्याजेनेति भावः । न चुम्बितं तु = वक्त्रसंयुक्तं न कृतं तु । औपच्छन्दसिकं वृत्तम् ।

कर अस्फुट झङ्कारशब्द कर रहा है । हाथको कम्पित करती हुई रमणीके रतिसर्वस्व अधरका पान कर रहा है, हम तत्त्वके अन्वेषणसे अर्थात् यह क्षत्रियसे विवाहके लिए योग्य है कि नहीं इस बातको पता लगानेसे ही मारे गये अतः तू ही कृताऽर्थ बन गया है ॥

इस पद्यमें "हताः" कहनेसे "दुःखं प्राप्तवन्तः" "दुःखको प्राप्त हुए" ऐसा नहीं कहनेसे 'हन्' धातुरूप प्रकृतिका दुःखाऽतिशयत्वरूप व्यङ्ग्यका व्यञ्जकत्व है ।

निपातरूप पदांऽशकी ध्वनिका उदाहरण—अभिज्ञानशाकुन्तलमें गौतमीके साथ शकुन्तलाके जानेपर पश्चात्तापसे युक्त दुष्यन्तकी उक्ति है । वारं वार उंगलीसे ढँके गये ओष्ठसे युक्त, निषेधद्योतक वर्णोंमें विह्वल भावसे मनोहर, कन्धेमें घूमनेवाले सुन्दरीके मुखको मैंने किसी प्रकारसे उठाया ही पर चुम्बन नहीं किया ।

अत्र "तु" इति निपातस्यानुतापव्यञ्जकत्वम्।

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः-' (पृ० ८)। इत्यादौ 'अरयः' इति बहुवचनस्य, 'तापसः' इत्येकवचनस्य, 'अत्रैव' इति सर्वनाम्नः, 'निहन्ति' इति 'जीवति' इति च तिङः, 'अहो' इत्यव्ययस्य 'ग्रामटिका' इति कप्रत्ययतद्धितस्य, 'विलुण्ठन' इति व्युपसर्गस्य, 'भुजैः' इति बहुवचनस्य च व्यञ्जकत्वम्।

'आहारे विरतिः, समस्तविषयग्रामे निवृत्तिः परा,

व्यङ्ग्यं निरूपयति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन् पद्ये, तु इति निपातस्य "चुम्बितम्" इति पदांऽशत्वेन, अनुतापव्यञ्जकत्वं = पश्चात्तापव्यञ्जकत्वम्। प्रत्ययापसर्गप्रभृतीनां व्यङ्ग्यानि दर्शयति—**न्यक्कारो ह्ययमेवेति**। पद्यमिदं प्रथमपरिच्छेद एव व्याख्यातपूर्वं, तथा वृत्तिदिशा किञ्चिद्व्याख्यायते 'अरय' इति बहुवचनस्य मच्छत्रुसत्ताऽनुचितेति सम्बन्धानौचित्यरूपव्यङ्ग्यस्य व्यञ्जकत्वम्। "तापस" इत्येकवचनस्य पौरुषकथाहीनत्वरूपस्य व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जकत्वम्, "अत्रैव" इति सर्वनाम्नः स्वाधिष्ठितदेशाऽधिकरणत्वरूपव्यङ्ग्यस्य व्यञ्जकत्वम्। "निहन्ती"ति तिङः निःशेषेण राक्षसबलहननरूपव्यङ्ग्यस्य व्यञ्जकत्वम्। "जीवती"ति तिङः कुत्सितजीवनधारणरूपस्य व्यङ्ग्यस्य व्यञ्जकत्वम्, 'अहो' इत्यव्ययस्य परमाश्चर्यरूपस्य व्यङ्ग्यस्य।

प्रत्ययादिध्वनिमुदाहरति—**आहार इति**। प्रियतमवियुक्तां काञ्चिन्नायिकां प्रति सख्या उपहासोक्तिरियम्। भोः सखि = हे वयस्ये!, ते=तव, आहारे = भोजनव्यापारे, विरतिः=रागाऽभावः, न केवलमाहार एव विरतिः प्रत्युत समस्तविषयग्रामे = समस्ते (सकले) विषयग्रामे (शब्दस्पर्शादिविषयसमूहे), परा = अत्यधिका.

इस पद्यमें "तु" इस निपातका अनुतापरूप व्यङ्ग्य अर्थका व्यञ्जकत्व है।

वचनादि ध्वनिका उ०—"न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः" (पृ० ८)। इस पूर्वोदाहृत पद्यमें "अरयः" यह बहुवचन मेरा शत्रु होना ही अनुचित है इसप्रकार सम्बन्धके अनौचित्यरूप व्यङ्ग्यका व्यञ्जक है। "तापसः यह एक वचन पौरुषकी चर्चासे हीन ऐसे व्यङ्ग्यका व्यञ्जक है। "अत्र" यह सर्वनाम मेरे आश्रयरूप देशमें ही ऐसे व्यङ्ग्यका व्यञ्जक है। "निहन्ति" यह तिङ् प्रत्यय निःशेष रूपसे राक्षसमूहके हननरूप व्यङ्ग्यका व्यञ्जक है। "जीवति" यह तिङ् प्रत्यय कुत्सित जीवनके धारणस्वरूप व्यङ्ग्यका व्यञ्जक है। "अहो" यह अव्यय परम आश्चर्यरूप व्यङ्ग्यका व्यञ्जक है। "ग्रामटिका" यह कप्रत्ययरूप तद्धितप्रत्यय सम्मानके अयोग्यरूप व्यङ्ग्यका व्यञ्जक है। "विलुण्ठन" इस पदमें वि-उपसर्ग निर्दयतापूर्वक अपहरणरूप व्यङ्ग्य अर्थका व्यञ्जक है और "भुजैः" यह बहुवचन भारमात्ररूप व्यङ्ग्य अर्थका व्यञ्जक है। पद्यका पूरा अर्थ पहले ही दिया गया है॥

प्रत्यय आदि ध्वनिका उ०—वियोगिनी किसी नायिकाको उसकी सखी कहती है। हे सखि! तुम्हें खानेमें रुचि नहीं है, सब विषयोंमें अतिशय निवृत्ति है।

नासाग्रे नयनं, तदेतदपरं यच्चैकतानं मनः।
मौनं चेदमिदं च शून्यमधुना यद्विश्वमाभाति ते,
तद्ब्रूयाः सखि! योगिनी किमसि, भोः! किं वा वियोगिन्यसि ॥'

अत्र तु 'आहारे' इति विषयसप्तम्याः, 'समस्त' इति 'परा' इति च विशेषणद्वयस्य, 'मौनं' 'चेदम्' इति प्रत्यक्षपरामर्शिनः सर्वनाम्नः, 'आभाति' इत्युपसर्गस्य 'सखि' इति प्रणयस्मारणस्य 'असि भोः' इति सोत्प्रासस्य

निवृत्तः = निवर्तनम्। नासाग्रे = नासिकाऽग्रभागे, नयनं=लोचनम्, अस्तीति शेषः। तदेतद् अपरम्=अन्यत्, यच्च एकतानम् = एकाग्रं, कस्मिंश्चिद्ध्यातव्यम् इति शेषः। मनः = चित्तम्। इदं च = विद्यमानं च, मौनं = तूष्णीकत्वम् इद च विश्व = जगत्, अधुना = इदानीं, ते = तव, शून्य = शून्यप्रायम्, आभाति = आभात वर्तते, तत् = तस्मात्कारणात् त्वं किं योगिनी = योगाऽभ्यासशालिनी, असि = विद्यसे, किं वा = अथवा, वियोगिनी = वियोगयुक्ता, असि, आहारविरत्यादिधर्माणां योगे वियोगे चेत्युभयत्र संभवादियं पृच्छेति भावः। पृथ्वी वृत्तम् ॥

व्यङ्ग्यानि विवृणोति— अत्र त्विति। "आहार" इति विषयसप्तम्या आहारमात्रे न तु योगिन्या इव कट्वम्लाद्याहारविशेष एवेति भावः। व्यञ्जकत्वमिति शेषः एव सर्वत्र। "समस्त" इति "परा" इति च विशेषणद्वयस्य, योगिन्या उपभोगविषयेषु एव निवृत्तिः परं शरीरपरिग्रहसाधनभिक्षान्नादिविषये न निवृत्तिः तव तु परा = आत्यन्तिकी निवृत्तिः, अत एव विशेषणद्वितयस्य सार्थकत्वम्। "मौन चेदम्" इति वर्तमानज्ञानपरामर्शिनः सर्वनाम्नः, योगिन्या ध्यानसमय एवेदमिति प्रतीयते। "आभाति" इति "आङ्" रूपस्य उपसर्गस्य प्रयोगेण मिथ्यात्वरूपं सम्यक् प्रतिभाति। "सखी"ति प्रणयस्मरणस्य, योगिन्या न कुत्राऽपि प्रणयस्तव तु मयि सख्यां प्रणयोऽस्तीति। 'असि भोः'

नासिकाके अग्रभागमें नेत्रको लगा रही हो। यह दूसरी बात है कि तुम्हारा मन एकाग्र हो रहा है यह तुम्हारा मौन प्रतीत हो रहा है। इस समय तुम्हें विश्व ही शून्यके समान लग रहा है। इसलिए हे सखि! बताओ तो सही, तुम योगिनी हो वा वियोगिनी हो? ॥

इस पद्यमें-"आहारे" यह विषयमें सप्तमीविभक्ति आहारमात्र रूप व्यङ्ग्य अर्थका न कि योगिनीकी तरह कटु, अम्ल आदि राजस पदार्थ मात्रमें ऐसे व्यङ्ग्य अर्थका व्यञ्जक है। "समस्त" यह विशेषण पद न केवल निषिद्ध विषयमें प्रत्युत विधिविहित धर्मानुष्ठान आदि विषयोंमे भी ऐसे व्यङ्ग्य अर्थका व्यञ्जक है। उसी तरह "परा" यह विशेषण थोड़ी-सी नहीं पूरी निवृत्ति है ऐसे व्यङ्ग्य अर्थका व्यञ्जक है। "मौनं चेदम्" इस वर्तमान ज्ञानका परामर्श करनेवाले सर्वनामका, "आभाति" यहांपर "आङ्" उपसर्गका प्रयोग होनेसे मिथ्यात्वस्वरूपकी सम्यक् प्रतीति होती है। "सखि" ऐसे सम्बोधनसे योगिनीको किसीमें भी प्रणय नहीं होता है पर तुम्हारा मुझपर प्रणय है इस तरह प्रणयका स्मरण करानेका "असि भोः" यहांपर उपहासपूर्वक मन्दहास्यका,

'किं वा' इत्युत्तरपक्षदाढर्यसूचकस्य वाशब्दस्य, 'असि' इति वर्त्तमानोपदेशस्य च तत्तद्विषयव्यञ्जकत्वं सहृदयसंवेद्यम्।

वर्णरचनयोरुदाहरिष्यते। प्रबन्धे यथा—महाभारते शान्तः। रामायणे करुणः। मालतीमाधव-रत्नावल्यादौ शृङ्गारः। एवमन्यत्र।

तदेवमेकपञ्चाशद्भेदास्तस्य ध्वनेर्मताः ॥ ११ ॥

इति सोपहासस्मितप्रासस्य = उपहाससहितस्य मन्दहासस्य, "किं वा" इति उत्तर-पक्षदाढर्यसूचकस्य = उत्तरपक्षवियोगिनित्वदृढतासूचकस्य वाशब्दस्य, "असि" इति वर्तमानोपदेशस्य = वर्तमानकालद्योतकस्य लटः सिप्रत्ययस्य, तत्तद्विषयव्यञ्जकत्वं = तत्तद्विषयाणां व्यञ्जनया बोधकत्वं, सहृदयसंवेद्यं = सहृदयैः (हृदयालुभिः, काव्यार्थ-भावनया परिपक्वान्तःकरणैरिति भावः।

वर्णरचनयोरिति। वर्णः = माधुर्यादिगुणव्यञ्जकः, रचना = पदविन्यास-विशेषः, साऽपि माधुर्यादिव्यञ्जिका, तथा च तयोर्व्यञ्जकत्वम्, उदाहरिष्यते अष्टम-परिच्छेदे नवमपरिच्छेदे च उदाहरण दास्यते।

प्रबन्धे=महावाक्ये यथा—**महाभारते** शान्तः = शान्तरसः, रामायणे करुणः= करुणरसः, मालतीमाधवरत्नावल्यादौ शृङ्गारः = शृङ्गाररसः व्यङ्ग्यः। एवम् = इत्थम्, अन्यत्र = प्रबन्धे, तत्तद्रसा व्यङ्ग्या ज्ञेया इति भावः।

ध्वनीन् सङ्कलयति—**तदेवमिति**। तत् = तस्मात्कारणात्, एवम् = उक्त-प्रकारेण, तस्य = पूर्वोक्तस्य, ध्वनेः एकपञ्चाशत् = एकाधिका पञ्चाशत्, भेदाः= प्रकाराः, मताः = अभिमताः ॥ ११ ॥

तेषामत्र पौनरुक्त्ये सत्यपि छात्राणां बोधवैशद्यार्थम्, दिग्दर्शनं क्रियते। ध्वनि-र्द्विविधो लक्षणामूलोऽभिधामूलश्चेति।

तत्र लक्षणामूलः (अविवक्षितवाच्यः) पुनर्द्विविधः—

१—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यः।

२—अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यश्चेति।

"किं वा" यहांपर "तुम योगिनी ही हो" ऐसा उत्तरपक्षकी दृढताका सूचक वा शब्दका और "असि" इस क्रियापदसे वर्तमान कालके उपदेशका तत्तद् विषयरूप व्यङ्ग्य अर्थका व्यञ्जकत्व सहृदयजनोंके ज्ञानका विषय है।

वर्ण और रचनाका व्यञ्जकत्व अष्टम और नवम परिच्छेदमें दिखाया जायगा। प्रबन्धमें जैसे महाभारतमें शान्तरस, रामायणमें करुण रस और मालतीमाधव और रत्नावली आदिमें शृङ्गार रस व्यङ्ग्य होकर सहृदयजनोंके ज्ञानका विषय है। इसी तरह अन्य प्रबन्धमें तत्तद्रस व्यङ्ग्य होते हैं।

इस प्रकार उस ध्वनिके इक्कावन भेद माने गये हैं ॥ ११ ॥

द्वावप्येतौ पदगतत्वेन वाक्यगतत्वेन च पुनश्चतुर्भेदौ ।

१—लक्षणामूलध्वनिः सहत्य चतुर्विधः ।

२—अभिधामूलध्वनिः (विवक्षितान्यपरवाच्यः); द्विविधः—

१—असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः (रसभावादिरूपः) ।

२—संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यश्चेति ।

१—असलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः षड्विधः—

१. पदगतः, २. पदांऽशगतः, ३. वाक्यगतः, ४. महावाक्यगतः, ५. वर्णगतः, ६. रचनागतश्चेति ।

२—संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः त्रिविधः—

१. शब्दशक्तिमूलः, २. अर्थशक्तिमूलः, ३. उभयशक्तिमूलश्च ।

१—शब्दशक्तिमूलो द्विविधः—वस्तुरूपः, अलङ्काररूपश्च । स च पदवाक्यगतत्वेन चतुर्विधः ।

२—अर्थशक्तिमूलः द्वादशविधः, स च पदवाक्यप्रबन्धगतत्वेन त्रिविधः ३६ प्रकाराः ।

३—उभयशक्तिमूलः एकविधः (वाक्यगतः)

अभिधामूलध्वनौ संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यस्य १५ भेदाः

इत्थं च संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्ये अर्थशक्तिमूलाऽनुरणनव्यङ्ग्यस्य ३६ भेदाः ।

उभयशक्तिमूलः एकविधः, शब्दशक्तिमूलस्य चत्वारो भेदाः ।

इत्थं च संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यध्वनेः ४१ भेदाः ।

ध्वनिभेदका सामान्य दिग्दर्शन किया जाता है । सामान्यतः ध्वनिके दो भेद होते हैं अविवक्षितवाच्य (लक्षणामूल) और विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) । लक्षणामूल ध्वनिके दो भेद होते हैं—अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य और अत्यन्ततिरस्कृतवाच्य । पदगत और वाक्यगत होनेसे लक्षणामूल ध्वनिके कुल चार भेद होते हैं ।

विवक्षितान्यपरवाच्य (अभिधामूल) ध्वनिके दो भेद होते हैं संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य और असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य । रस, भाव आदि असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यमें अन्तर्भूत होते हैं । पद, पदांश, वाक्य, वर्ण, रचना और प्रबन्ध इनसे असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके छः भेद होते हैं ।

संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिके तीन भेद हैं । शब्दशक्तिमूल, अर्थशक्तिमूल और अलङ्काररूप । पदगत और वाक्यगत होनेसे शब्दशक्तिमूलके चार भेद होते हैं ।

अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके बारह भेद हैं । पदगत, वाक्यगत और प्रबन्धगत होनेसे अर्थशक्तिमूल संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिके छत्तीस भेद होते हैं । इसप्रकार शब्दशक्तिमूलके चार भेद, अर्थशक्तिमूलके छत्तीस भेद और केवल वाक्यमें रहनेवाले

सङ्करेण त्रिरूपेण संसृष्ट्या चैकरूपया ।
वेदखाग्निशराः (५३०४) शुद्धैरिषुबाणाग्निसायकाः (५३५५) ॥१२॥

असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यो ध्वनिः (रसभावादिः) षड्विधः ।
१—पद-पदांश-वाक्य-महावाक्य-वर्ण-रचनागतः ।
इत्थं च अभिधामूलध्वनेः ४७ भेदाः ।
तत्र लक्षणामूलध्वनेर्भेदचतुष्टयस्य योजनात् ।
ध्वनेरेकपञ्चाशद्भेदाः ।

पुनर्भेदान्तराणि परिगणयति—सङ्करेणेति । त्रिरूपेण=त्रिविधेन, अङ्गाङ्गिस्वरूपेण, एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूपेण । सन्दिग्धत्वरूपेण चेति त्रिरूपेणेति भावः । तादृशेन सङ्करेण, एकरूपया=मिथोऽनपेक्षास्थितिरूपया संसृष्ट्या च योजनेन, वेदखाऽग्निशराः= अङ्कानां वामतो गतिरिति न्यायेन वेदाश्चत्वारः, ख=शून्यम्, अग्नयस्त्रयः, शराश्च पञ्चेति ५३०४ चतुरुत्तरशतत्रयाऽधिकपञ्चसहस्रसंख्यका ध्वनयः, तत्र च शुद्धैः=एकपञ्चाशत्प्रकारैर्योजनेन, इषुबाणाऽग्निसायकाः = इषवः ५, बाणाः ५, अग्नयः ३ सायकाः ५; इत्थं च समष्टौ पञ्चपञ्चाशदुत्तरशतत्रययुतपञ्चसहस्रसंख्यकाः ५३५५ ध्वनेर्भेदाः ।

ननु एकपञ्चाशत्संख्यकेषु ध्वनिषु त्रिरूपेण सङ्करेण एकरूपया संसृष्ट्या समष्ट्या चतुर्भिर्गुणनेन ध्वनेर्भेदैश्चतुरधिकद्विशतसंख्यकैर्भाव्यम् इति चेन्न ।

५१ संख्यकेषु ध्वनिषु सजातीय एकः,			विजातीयाः ५० संख्यकाः,		संहृत्य	५१ ।
एकैकह्रासक्रमेण	”	१	”	४९,	संहृत्य	५०
	”	१		४८	”	४९
	”	१		४७	”	४८
	”	१		४६	”	४७

एवमेकैकह्रासेन ५१ तमे स्थाने सजातीयः १, विजातीयः शून्यम् एवं च संहृत्य ध्वनेर्भेदाः सामान्यतः षड्विंशत्यधिका त्रयोदशशती १३२६ ।

उभय शक्तिमूलका एक भेद सब मिलाकर संलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्य ध्वनिके इकतालिस भेद होते हैं । असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यके छः भेद ४१ + ६ = ४७ और लक्षणामूलध्वनिके चार भेद कुल मिलाकर ध्वनिके इक्यावन भेद हो जाते हैं ।

इनमें प्रथमभेद सजातीय एकसे और विजातीय ५० से संसृष्ट होकर ५१
द्वितीय भेद सजातीय एकसे और विजातीय ४९ से संसृष्ट होकर ५०
तृतीय, भेद सजातीय एकसे और विजातीय ४८ से संसृष्ट होकर ४९
चतुर्थ, भेद सजातीय एकसे और विजातीय ४७ से संसृष्ट होकर ४८

इसी तरह पञ्चम आदिमें भी संसृष्टि होकर एक एक न्यून होकर अन्तिम ५१ वाँ भेद सजातीय एकसे संसृष्ट विजातीय शून्य हो जाता है ।

इस प्रकार कुल १३२६ (तेरह सौ छब्बीस) भेद हो जाते हैं । उनमें

शुद्धैः = शुद्धभेदैरेकपञ्चाशता योजनेनेत्यर्थः ।

दिङ्मात्रं तूदाह्रियते—

अत्युन्नतस्तनयुगा तरलायताक्षी द्वारि स्थिता तदुपयानमहोत्सवाय ।
सा पूर्णकुम्भनवनीरजतोरणस्रक्संभारमङ्गलमयत्नकृतं विधत्ते ॥'

तत्र च त्रिविधैः संकरैरेकविधया संसृष्ट्या च चतुर्भिर्गुणने ५३०४ तत्र च शुद्धभेदानाम् एकपञ्चाशत्संख्यकानां संकलनेन ५३०४ + ५१ = ५३५५ एवं च पञ्चपञ्चाशदुत्तरशतत्रयाऽधिकपञ्चसहस्रसंख्यका ध्वनेर्भेदाः । ध्वनिसङ्करस्य दिग्दर्शनं विदधाति अत्युन्नतस्तनयुगेति । प्रवासादागतं नायकं श्रुत्वा वासगृहद्वारि स्थितताया नायिकाया वर्णनमिदम् । अत्युन्नतस्तनयुगा = अत्युन्नतम् (अत्युच्चम्) स्तनयुगं (पयोधरयुग्मम्) यस्याः सा । तरलाऽऽयताक्षी = तरले (चञ्चले) आयते (दीर्घे) अक्षिणी (नेत्रे) यस्याः सा, "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्" इति समासाऽन्तः षच् प्रत्ययः । षित्त्वात् "षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीष् । सा = नायिका, द्वारि = द्वारे, स्थिता = विद्यमाना सती, तदुपयानमहोत्सवाय = तस्य (नायकस्य) यत् उपयानम् (उपगमः, स्वगृहप्रवेश इति भावः); स एव महोत्सवः (महान् क्षणः), तस्मै । अयत्नकृतम् (अनायासविहितम्), पूर्णकुम्भनवनीरजतोरणस्रक्संभारमङ्गलं = पूर्णकुम्भौ (पूर्णकलशौ, महोत्सवे द्वारोभयपार्श्वयोः स्थापनीयौ इति भावः कुचद्वयेनेति शेषः), नवनीरजानां (नूतनकमलानाम्) तोरणस्रजः (तोरणे = बहिर्द्वारे, स्रजः = पुष्पमालाः), स्थापनीयाः तासां सम्भारः (संघटनम्) एव मङ्गलं (मङ्गलाचारम्) विधत्ते = विदधाति । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

अङ्गाङ्गिभावरूप एकाश्रयाऽनुप्रवेश रूप और सन्दिग्धरूप इसप्रकार तीन प्रकारके सङ्करोंसे और एक प्रकारकी संसृष्टिसे कुल चार संख्यासे गुणन करनेसे वेदखाऽग्निशराः— अर्थात् "अङ्कानां वामतो गतिः" अङ्कोंकी बाईं ओरसे गति होती है कहनेसे वेद = ४; ख = शून्य, अग्नि = ३, और शर = ५ अर्थात् ५३०४ (पाँच हज़ार, तीन सौ चार) इतने भेद होते हैं, फिर ५३०४ (पाँच हजार तीन सौ चार), इनमें शुद्ध ५१ (इक्यावन) भेदोंको जोड़नेसे ध्वनिकी इषुबाणाऽग्निसायकाः = अर्थात् इषु ५, बाण ५, अग्नि ३, और सायक ५ अर्थात् ध्वनिकी सामष्टि संख्या ५३५५ (पांच हजार तीन सौ पचपन) हो जाती है ॥ १२ ॥

संक्षेपसे उदाहरण दिया जाता है—प्रवाससे लौटे हुए नायकके आगमनका वृत्तान्त सुनकर स्वागत करनेके लिए घरके द्वारपर खड़ी हुई नायिकाका वर्णन है । अति उन्नत स्तनोंवाली, चञ्चल और दीर्घ नेत्रोंसे युक्त नायिका उसके आगमनके उत्सवके लिए द्वारपर खड़ी थी । वह पूर्ण कलश, नये कमलोंकी बन्दनवारकी सामग्रीके मङ्गलको अयत्नसे सिद्धरूप कर रही है ॥

अत्र स्तनावेव पूर्णकुम्भौ, दृष्टय एव नवनीरजस्रज इति रूपकध्वनि-रसध्वन्योरेकाश्रयानुप्रवेशः सङ्करः।

'धिन्वन्त्यमूनि मदमूर्च्छदलिध्वनीनि धूताध्वनीनहृदयानि मधोर्दिनानि।
निस्तन्द्रचन्द्रवदनावदनारविन्दसौरभ्यसौहृदसगर्वसमीरणानि ॥'

अत्र निस्तन्द्रेत्यादिलक्षणामूलध्वनीनां संसृष्टिः।

सङ्करं विवृणोति—अत्रेति। अत्र—अस्मिन् पद्ये, स्तनौ एव पूर्णकुम्भौ, दृष्टय एव नवतोरणस्रज इति रूपकध्वनिरसध्वन्योः एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूपः सङ्करः। अयं भावः। स्तनद्वये पूर्णकुम्भद्वितयस्य, तथा दृष्टिषु नवतोरणस्रजः साक्षादारोपस्याऽभावेन रूपकस्य व्यङ्ग्यत्वाद्रूपकध्वनिः। पूर्वोक्ताभिः स्तनयुगदृष्टिभिर्नायकरतेरुद्दीपनात्तयोर्द्वयोः एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूपः सङ्करः।

ध्वन्योः संसृष्टिमुदाहरति—धिन्वन्त्यमूनीति। वसन्तर्तोर्वर्णनमिदम्। मदमूर्च्छदलिध्वनीनि – मदेन (हर्षेण हेतुना) मूर्च्छन्तः (वर्धमानाः) अलीनां (भ्रमराणाम्) ध्वनयः (गुञ्जनानि) येषु तानि। धूताऽध्वनीनहृदयानि – धूतानि (कम्पितानि), मदावेशादिति शेषः। अध्वनीनानां (पान्थानाम्) हृदयानि (चित्तानि) यैस्तानि। निस्तन्द्रचन्द्रवदनादिः – निस्तन्द्रः (निर्गता तन्द्रा – निमीलनं यस्य सः, अभ्युदितः) यः चन्द्रः (इन्दुः) स इव वदनं (मुखम्) यासां, तासां वदनाऽरविन्दं (मुखकमलम्) तस्य सौरभ्यं (सुरभित्वम्) तस्य सौहृदं (सौहार्दम्) सम्बन्ध इति भावः, तेन सगर्वः (साऽभिमानः) समीरणः (वायुः) येषु तानि, तादृशानि, मधोः— वसन्तर्तोः, अमूनि, दिनानि—दिवसाः, धिन्वन्ति—प्रीणयन्ति। वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

ध्वनिसंसृष्टिं विवृणोति—अत्रेति। अत्र निस्तन्द्रपदेन तन्द्रारहित उच्यते तन्द्रा मीला, चन्द्रे निस्तन्द्रत्वस्य बाध्यमानत्वाज्जहल्लक्षणया प्रकाशरूपोऽर्थो लक्ष्यते, प्रकाशाऽतिशयबोधः प्रयोजनम्। तच्च व्यञ्जनया प्रतीयते इत्येकोऽत्यन्ततिरस्कृतवाच्यो ध्वनिः। एवं सौहृदगर्वावपि चेतनधर्मौ तयोरचेतने वायौ बाधात् सम्बन्धे उत्कृष्टत्वरूपेऽर्थे च जहल्लक्षणा। तयोरतिशयबोधश्च प्रयोजनं, तच्च व्यंजनया प्रतीयते। इत्थं च अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यरूपाणां त्रयाणां पदगतलक्षणामूलध्वनीनां मिथोऽनपेक्षया स्थितेः संसृष्टिरेव ॥१२॥

इस पद्यमें स्तन ही पूर्ण कलश और नेत्र ही नये कमलोंकी मालाएँ इसप्रकार रूपक ध्वनि और रसध्वनिका एक एक पदरूप एक एक आश्रयमें अनुप्रवेश होनेसे सङ्कर है ॥

दो ध्वनियोंकी संसृष्टिका उदाहरण देते हैं। यह वसन्त ऋतुका वर्णन है।

हर्षसे फैलनेवाले भ्रमरोंके गुञ्जनसे युक्त, पथिकोंके हृदयको कम्पित करनेवाले उगे हुए चन्द्रके समान मुखसे युक्त सुन्दरियोंके मुख कमलके सौरभके सम्बन्धसे गर्वयुक्त वायुवाले ऐसे वसन्तके दिन आनन्दित कर रहे हैं ॥

इस पद्यमें निस्तन्द्र, सौहृद और गर्व शब्द यथाक्रम प्रकाशमान, सादृश्य और उत्कृष्ट इन अर्थोंमें पर्यवसित होनेसे अत्यन्ततिरस्कृतवाच्यलक्षणामूलक ध्वनियोंकी संसृष्टि है।

अथ गुणीभूतव्यङ्ग्यम्—

अपरं तु गुणीभूतव्यङ्ग्यं वाच्यादनुत्तमे व्यङ्ग्ये ।

अपरं काव्यम् । अनुत्तमत्वं न्यूनतया साम्येन च संभवति ।

तत्र स्यादितराङ्गं काक्वाक्षिप्तं च वाच्यसिद्ध्यङ्गम् ॥ १३ ॥

संदिग्धप्राधान्यं तुल्यप्राधान्यमस्फुटमगूढम् ।

व्यङ्ग्यमसुन्दरमेवं भेदास्तस्योदिता अष्टौ ॥ १४ ॥

ध्वनिं निरूप्य गुणीभूतव्यङ्ग्य निरूपयति—**अपरं त्विति** । व्यङ्ग्ये=व्यञ्जनया प्रतिपाद्ये अर्थे, वाच्यात्=अभिधाप्रतिपाद्यात् अर्थात्, अनुत्तमे = अनुत्कृष्टे सति, गुणीभूतव्यङ्ग्यं = गुणीभूतः (अप्रधानीभूतः) व्यङ्ग्यः (व्यञ्जनाप्रतिपाद्यः अर्थः) यस्मिंस्तत्, तन्नामधेयम्, अपरम् = अन्यत्, ध्वनिभिन्नं वा काव्यं भवतीत्यर्थः ।

कारिकां विवृणोति—**अपरमिति** । व्यङ्ग्याऽर्थस्य अनुत्तमत्वं च, न्यूनतया= वाच्याऽपेक्षया हीनतया, साम्येन च = तुल्यत्वेन च संभवति ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य भेदान्नामग्राहं निर्दिशति— **तत्र स्यादिति** ।

तत्र = गुणीभूतव्यङ्ग्ये, इतराऽङ्गम् = इतरस्य (रसस्य, भावादेः वा) अङ्गम् (अवयवः, परिपोषकम्) इतराङ्ग नाम व्यङ्ग्यम् एकम् । काक्वाक्षिप्तं = काक्वा (भिन्नकण्ठध्वनिना) आक्षिप्तम् (कृताक्षेपम्) व्यङ्ग्यं द्वितीयम् । वाच्यसिद्ध्यङ्गं = वाच्यसिद्धेः = वाच्याऽर्थस्य सिद्धेः (निष्पत्तेः) अङ्गम् (प्रयोजकम्) नाम व्यङ्ग्य तृतीयम् ॥ १३ ॥

सन्दिग्धप्राधान्य = सन्दिग्धं (संशयितम्) प्राधान्यम् (प्रधानभावः) यस्य तत्, तादृशं व्यङ्ग्यं तच्चतुर्थम् । तुल्यप्राधान्य=तुल्यं (समानम्) प्राधान्यं (प्रधानभावः) यस्य तत् व्यङ्ग्यं पञ्चमम् । अस्फुटम् = अव्यक्तं, सहृदयैरपि झटिति अप्रतीयमानमिति भावः, व्यङ्ग्यं षष्ठम् । अगूढम् = अतिस्फुटं वाच्याऽर्थसदृशं व्यङ्ग्यं, सप्तमम्, इति = एवं, तस्य = गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य, अष्टौ = अष्टसंख्यकाः, भेदः = प्रकारा, उदिताः = कथिताः ॥ १४ ॥

गुणीभूत व्यङ्ग्य—जहाँपर वाच्य अर्थसे व्यङ्ग्य अर्थ उत्तम नहीं होता है, वहाँ गुणीभूतव्यङ्ग्य नामक द्वितीय श्रेणीका काव्य होता है । वाच्य अर्थसे न्यून होनेसे या वाच्य अर्थके तुल्य भावसे रहनेसे व्यङ्ग्य अर्थ अनुत्तम होता है ।

गुणीभूत व्यङ्ग्यके भेद—इतराऽङ्ग व्यङ्ग्य, काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य, वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यङ्ग्य ॥ १३ ॥

सन्दिग्ध प्राधान्य व्यङ्ग्य; तुल्यप्राधान्य व्यङ्ग्य, अस्फुटव्यङ्ग्य, अगूढव्यङ्ग्य, और असुन्दर व्यङ्ग्य इसप्रकार गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यके आठ भेद होते हैं ॥ १४ ॥

इतरस्य रसादेरङ्गं रसादिव्यङ्ग्यम्।

'अयं स रसनोत्कर्षी पीनस्तनविमर्दनः।
नाभ्यूरुजघनस्पर्शी नीवीविस्रंसनः करः॥'

अत्र शृङ्गारः करुणस्याङ्गम्।

'मानोन्नतां प्रणयिनीमनुनेतुकामस्त्वत्सैन्यसागररवोद्गतकर्णतापः।
हा! हा! कथं नु भवतो रिपुराजधानीप्रासादसंततिषु तिष्ठति कामिलोकः॥'

इतरस्येति। इतरस्य=रसादेर्भावादेर्वा, अङ्गं = रसादिरूपं व्यङ्ग्यं, रसादिव्यङ्ग्यम्।

इतराऽङ्गमुदाहरति—**अयमिति**। महाभारते भूरिश्रवसः समरपतितं हस्तमवलोक्य तत्पत्न्या उक्तिरियम्। अयं=दृश्यमानः, सः = प्रागनुभूतः, रसनोत्कर्षी = रज्जुमेखलोत्कर्षणशीलः पीनस्तनविमर्दनः=पुष्टकुचविमर्दकः, नाभ्यूरुजघनस्पर्शी=नाभिसक्थिकटिपुरोभागस्पर्शी, नीवीविस्रंसनः = वसनग्रन्थ्यपसारकः, करः = हस्तः अस्तीति शेषः। अनुष्टुप्। अत्र शृङ्गाररसालम्बनस्य भूरिश्रवसो विच्छेदेन रतेरसाश्रयतया स्मर्यमाणानां शृङ्गाररसाऽङ्गानां शोकोद्दीपकतया करुणाऽनुकूलताऽतः खण्डरसः शृङ्गारः करुणाऽङ्गम्। करुणविरुद्धोऽपि शृङ्गारः शोकोद्दीपकत्वेनाऽङ्गं भवतीति सप्तमपरिच्छेदे वक्ष्यते। अनुष्टुब् वृत्तम्।

रसस्य भावाऽङ्गतयाऽपरमितराङ्गव्यङ्ग्यमुदाहरति—**मानोन्नतामिति**। कस्यचिद्राज्ञः स्तुतिरियम्। (हे राजन्!) भवतः = तव, रिपुराजधानीप्रसादसन्ततिषु = रिपुराजधान्याः (शत्रुराजधान्याः), प्रासादसन्ततिषु (सौधपरम्परासु)। मानोन्नताम् = उन्नतमानां, प्रणयिनीं = प्रियाम्, अनुनेतुकामः = अनुनेतुमिच्छुः। कामिलोकः = कामुकसमूहः, त्वत्सैन्यसागररवोद्गतकर्णतापः = तव (भवतः) सैन्यसागरः (सैनिकसमुद्रः), तस्य रवेण (शब्देन, कोलाहलेनेति भावः), उद्गतः

---

१ उनमें जहाँपर व्यङ्ग्य अर्थ इतर (अन्य) रस आदिका अङ्ग होता है उसे इतराऽङ्ग व्यङ्ग्य कहते हैं। जैसे—महाभारतमें समरमें भूरिश्रवाके कटे हुए हाथको देखकर उसकी पत्नीकी उक्ति है। मेखलाको खींचने वाला, पुष्ट स्तनोंका विमर्दन करनेवाला और नाभि, उरु और जघन (कटिके पूर्वभाग) का स्पर्श करनेवाला यह हाथ हे। आलम्बन (नायक) का विच्छेद होनेसे शृङ्गार रस यहाँपर इतर (अन्य) रस करुणका अङ्ग हुआ है, अतः यह इतराऽङ्गव्यङ्ग्य नामक गुणीभूत व्यङ्ग्यका उदाहरण है।

दूसरे इतराऽङ्गव्यङ्ग्यका उदाहरण देते हैं। कोई कवि किसी राजाका वर्णन करता है। हे राजन्! आपके शत्रु राजाकी राजधानीके प्रासादोंमें प्रणयकोप करने-

अत्रौत्सुक्यत्राससन्धिसंस्कृतस्य करुणस्य राजविषयरतावङ्गभावः।

'जनस्थाने भ्रान्तं कनकमृगतृष्णान्धितधिया
वचो वैदेहीति प्रतिपदमुदश्रु प्रलपितम्।

(उत्पन्नः) कर्णतापः (श्रोत्रेन्द्रियपीडा) यस्य सः, तादृशः सन्, कथं = केन प्रकारेण, तिष्ठति नु = विद्यते नु। हा हा = कामिलोकस्य शोच्यत इति भावः। वसन्ततिलका वृत्तम्।

विवृणोति—अत्रेति। अत्र = अस्मिन् पद्ये। औत्सुक्यत्राससन्धिसंस्कृतस्य = प्रथमपादेन औत्सुक्यं, द्वितीयपादेन च त्रासो व्यज्यते, अतः औत्सुक्यत्रासयोः यः सन्धिः (सङ्गमः), तेन संस्कृतस्य (परिपोषितस्य) करुणस्य, राजविषयरतौ = वर्ण्यमानराजविषयकाऽनुरागे, अङ्गभावः = अङ्गत्वम्। अत्र करुणस्यौत्सुक्यादीनां भावानामङ्गत्वमेव। तेषामपि व्यङ्ग्यार्थानां वाच्यार्थाऽतिशायित्वाऽभावेन गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वम्। वसन्ततिलका वृत्तम्।

शब्दशक्तिमूलकध्वनेरवाच्यार्थाऽङ्गतामुदाहरति—जनस्थान इति। धनार्थं प्रयतमानस्य निराशस्य कस्यचिद्दरिद्रस्योक्तिरियम्। कनकमृगतृष्णाऽन्धितधिया = कनके (धने) या मृगतृष्णा (प्राप्तीच्छा), तया अन्धिता (तत्त्वज्ञानाऽसमर्थीकृता) धीः (बुद्धिः) यस्य, तेन तादृशेन, मया, जनस्थाने = जनानाम् (आढ्यजनानाम्) स्थाने, भ्रान्तं = भ्रमणं कृतम्। प्रतिपदं = प्रत्याढ्यस्थानं, देहि = वितर, इति, वचः— वचनम्, उदश्रु—उद्गतम् अश्रु (नयनसलिलम्) यस्मिन् कर्मणि तद्यथा तथेति क्रियाविशेषणम्। प्रतिपदं = प्रतिचरणन्यासं, प्रलपितं—प्रलापः कृतः। निरर्थकत्वेन उच्चरितम्

वाली अपनी नायिकाको मनानेकी इच्छा करनेवाला कामुकसमूह उसी समय आपके सेनारूप समुद्रके कोलाहलसे कानमें सन्ताप उत्पन्न होनेसे किस-प्रकार रहता है हाय! हाय!॥

इस पद्यमें प्रथम चरणमें औत्सुक्य और द्वितीय चरणमें त्रास व्यङ्ग्य होता है इसप्रकार औत्सुक्य और त्रासकी सन्धिसे परिपोषित करुणरसका राजविषयक रति- (अनुराग में अङ्गभाव है। शब्दशक्तिमूलक ध्वनिकी इतर (वाच्यार्थ) की अङ्गताका उदाहरण देते हैं। धनके लिए प्रयत्न करनेवाले किसी निराश दरिद्रकी उक्ति है। इस पद्यमें वक्ता और राममें सादृश्य दिखलाया है। वक्ताके पक्षमें—सुवर्ण पानेकी मृगतृष्णासे अन्धी बुद्धि होनेसे जनोंके स्थान (अनेक देश) में भ्रमण किया। रामके पक्षमें—सोनेके मृग (मारीच) को पानेकी तृष्णासे अन्धी बुद्धि होनेसे जनस्थान अर्थात् दण्डकारण्यके एक भागमें भ्रमण किया। वक्ताके पक्षमें—देहि = दो ऐसा वचन पग पगमें आँखोंमें आँसू भर कर कहा। रामके पक्षमें—हे वैदेहि = हे सीते! ऐसा वचन पग पगमें आँसू भरकर कहा। वक्ताके पक्षमें—भर्ता अर्थात् धनसम्पन्न स्वामीकी मुख-

कृता लङ्काभर्तुर्वदनपरिपाटीषु घटना
मयाप्तं रामत्वं कुशलवसुता न त्वधिगता ॥'

अत्र रामत्वं प्राप्तमित्यवचनेऽपि शब्दशक्तेरेव रामत्वमवगम्यते। वचनेन तु सादृश्यहेतुकतादात्म्यारोपणमाविष्कुर्वता तद्गोपनमपाकृतम्।

भर्तुः = धनसम्पन्नस्य, जातावेकवचनम् वदनपरिपाटीषु = मुखाद्यवयवाऽनुक्रमेषु, का — कीदृशी, घटना = संघटनक्रिया, अलं = पर्याप्तं यथा तथा, कृता = विहिता। मया रामत्व प्राप्तं, परं कुशलवसुता ता = कुशलं (निपुणं, दारिद्र्याऽपनोदकमिति भावः) वसु (धनम्) यस्य सः, तस्य भावस्तत्ता धनसमृद्धिरिति भावः। न अधिगता — न प्राप्ता।

रामपक्षे—कनकमृगतृष्णाऽन्धितधिया = कनकमृगः (सुवर्णहरिणः; मारीच इति भावः) तस्मिन् या तृष्णा (लालसा) जनकसुताऽभिलषितपूरणार्थिकेति भावः। तया अन्धिता (विवेकदृष्टिरहिता) धीः (बुद्धिः), तया। जनस्थाने = दण्डकारण्यस्थ देशे, भ्रान्तं = भ्रमणं कृतम्। प्रतिपदं = प्रतिपादन्यासं, हे वैदेहि = हे सीते!; उदश्रु = उद्गतनयनजलं यथा तथा, प्रलपितं = प्रलापः कृतः। एवं च लङ्काभर्तुः — लङ्काऽधिपतेः, रावणस्येत्यर्थः वदनपरिपाटीषुघटना = वदनानां (मुखानाम्) परिपाट्याम् (पङ्क्तौ) इषुघटना (बाणसंघटना), कृता = विहिता। इत्थं च मया रामत्वं=दाशरथित्वम्, आप्तं, = प्राप्तम्, तु=परन्तु, कुशलवसुता=कुशलवौ (तदाख्यौ) सुतौ (पुत्रौ) यस्याः सा, तादृशी सीता, न अधिगता=न प्राप्ता। शिखरिणी वृत्तम्।

गुणीभूतत्वं विशदयति—अत्रेति। अत्र = अस्मिन् पद्ये, "रामत्वं प्राप्तम्" इति अवचनेऽपि = अप्रतिपादनेऽपि। शब्दशक्तेरेव = सरूपशब्दसामर्थ्यादेव, रामत्वं = रामसादृश्यम्, अवगम्यते = व्यञ्जनया ज्ञायते। वचनेन तु = "मयाऽऽप्तं रामत्वम्" इति वाक्येन तु, सादृश्यहेतुकतादात्म्यारोपणं = साम्यकारणकरामाऽभेदारोपम्, आवि-

परम्परामें दैन्यपूर्ण चेष्टा पर्याप्य की। रामके पक्षमें—लङ्काभर्ता (रावण) के वदन-परिपाटी (मुखपङ्क्ति) में इषुघटना अर्थात् बाणका प्रहार किया। वक्ताके पक्षमें—इसप्रकार मैंने रामत्व अर्थात् रामभाव तो प्राप्त कर लिया पर कुशलवसुता अर्थात् धनाढ्यता नहीं पाई, रामपक्षमें—कुशलवसुता अर्थात् जिसके कुश और लव सुत (पुत्र) हैं ऐसी सीताको नहीं पाया॥

इस पद्यमें वक्ताके "रामत्वं प्राप्तम्" अर्थात् मैंने रामभाव तो प्राप्त कर लिया ऐसा न कहनेपर भी तुल्यरूप शब्दोंके सादृश्यसे ही उसमें रामत्वका बोध हो जाता। परन्तु पूर्वोक्त वाक्यसे तो शब्द सादृश्यसे होनेवाला रामके साथ उसका तादात्म्य शब्दसे ही प्रकाशित हो गया, व्यञ्जनासे होनेवाला उसका गोपन खण्डित हुआ। इस कारण वक्ताका रामके सादृश्य वाच्य होकर रामके सादृश्यके प्राप्तिरूप वाक्यार्थके

तेन वाच्यं सादृश्यं वाक्यार्थान्वयोपपादकतयाङ्गतां नीतम् ।

काक्वाक्षिप्तं यथा—

'मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपाद् दुःशासनस्य रुधिरं न पिबाम्युरस्तः ।
संचूर्णयामि गदया न सुयोधनोरू सन्धिं करोतु भवतां नृपतिः पणेन ॥'

अत्र मथ्नाम्येवेत्यादिव्यङ्ग्यं वाच्यस्य निषेधस्य सहभावेनैव स्थितम् ।

कुर्वता = प्रकाशयता, तद्गोपनं = रामसादृश्यगूहनम्, अपाकृतं = खण्डितम् । तेन = कारणेन, वाच्यं = वाच्यवज्झटिति प्रतीयमानं, सादृश्यं = वक्तरि रामसदृशत्वं, वाक्यार्थाऽन्वयोपपादकतया=वाक्यार्थस्य (रामसादृश्यप्राप्तिरूपस्य) अन्वयोपपादकतया (सम्बन्धसाधकतया), अङ्गतां = गुणीभूततां, नीत = प्रापितम् । अतो व्यङ्ग्यार्थरूपस्य वक्तरि रामसादृश्यस्य वाच्यार्थाऽतिशायित्वाऽभावेन गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं प्रतीयत इति भावः ।

काक्वाक्षिप्तं गुणीभूतव्यङ्ग्यमुदाहरति—**मथ्नामीति** । वेणीसंहारनाटके दुर्योधनेन समं युधिष्ठिरस्य सन्धिप्रवृत्तिं श्रुत्वा कुपितस्य भीमसेनस्य सहदेवं प्रत्युक्तिरियम् । समरे = युद्धे, कोपात् = क्रोधाद्धेतोः, कौरवशतं = कौरवाणां (दुर्योधनादीनां) शतं, न मथ्नामि = पूर्वप्रतिज्ञामनुसृत्य न मथिष्यामि, मथिष्याम्येव, एवं परत्राऽपि । "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इति भविष्यदर्थे लट् । दुःशासनस्य=दुर्योधनमध्यमाऽनुजस्य, उरस्तः=वक्षःस्थलात्, रुधिरं = रक्तं, न पिबामि=न पास्यामि ? पास्याम्येव । एवं च गदया = कौमुदीनामकाऽऽयुधविशेषेण, सुयोधनोरू = दुर्योधनसक्थिनी, न संचूर्णयामि = न संचूर्णयिष्यामि ? संचूर्णयिष्याम्येव । भवतां = युष्माकं, नृपतिः = राजा युधिष्ठिरः, पणेन = इन्द्रप्रस्थादिग्रामपञ्चकग्रहणरूपेण सन्धिं = पणबन्धं, करोतु = विदधातु । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

काकुव्यङ्ग्यं विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र=अस्मिन् पद्ये मथ्नामि एव इत्यादिव्यङ्ग्यं = व्यञ्जनाप्रतिपाद्यं वस्तु, वाच्यस्य = अभिधावृत्तिप्रतिपाद्यस्य, निषेधस्य = न मथ्नामीति वाक्यरूपस्य, सहभावेन = साहित्येन, स्थितं = विद्यमानम्, अस्तीति

अन्वयमें उपपादक होनेसे वाच्यार्थका अङ्ग हो गया है । अतः गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्य हुआ । काक्वाक्षिप्त व्यङ्ग्य जैसे—मथ्नामि० । वेणीसंहार नाटकमें दुर्योधनके साथ युधिष्ठिरकी सन्धिका वृत्तान्त सुनकर सहदेवके प्रति भीमसेनकी उक्ति है । युद्धमें क्रोधसे सैकड़ों कौरवोंका मथन नहीं करूंगा ? दुःशासनकी छातीसे रुधिर नहीं पियूँगा ? गदासे दुर्योधनके ऊरुओंको चूर चूर नहीं करूंगा ? आपके राजा (युधिष्ठिर) इन्द्रप्रस्थ आदि पाँच ग्रामोंको लेनेकी शर्तपर सन्धि कर लें ॥

इस पद्यमें "मथ्नामि एव" इत्यादि व्यङ्ग्य (व्यञ्जनासे प्रतिपाद्य) वस्तु

'दीपयन् रोदसीरन्ध्रमेष ज्वलति सर्वतः।
प्रतापस्तव राजेन्द्र! वैरिवंशदवानलः॥'

अत्रान्वयस्य वेणुत्वारोपणरूपो व्यङ्ग्यः प्रतापस्य दावानलत्वारोपसिद्ध्यङ्गम्।

'हरस्तु किंचित्परिवृत्तधैर्यः—' (पृ० २८४) इत्यादौ विलोचनव्यापारचुम्बनाभिलाषयोः प्राधान्ये सन्देहः।

शेषः। अतो ध्वनित्वं निरस्तमिति भावः। अस्य काक्वाक्षिप्तगुणीभूतव्यङ्ग्यस्य गूढव्यङ्ग्यस्यान्तःपातित्वेऽपि काकुरूपवैचित्र्यस्य विशेषत्वात्पार्थक्येन ग्रहणम्।

वाच्यसिद्ध्यङ्गं गुणीभूतव्यङ्ग्यमुदाहरति—दीपयन्निति। कश्चित्कविः कंचिद्राजान प्रशंसति। हे राजेन्द्र = हे नृपश्रेष्ठ!, वैरिवंशदवाऽनलः = वैरिणः (शत्रोः) वंशः (कुलम्) एव वंशः (वेणुः), तत्र दावाऽनलः (वनाऽग्निस्वरूपः)। एषः=अयं, तव=भवतः प्रतापः = तेजः, रोदसीरन्ध्र = रोदस्योः (द्यावापृथिव्योः (रन्ध्रम् (छिद्रम्, अवकाशमित्यर्थः), दीपयन् = प्रकाशयन्, सर्वतः = समन्तात्, ज्वलति = दीप्यते। अनुष्टुब् वृत्तम्॥

वाच्यसिद्ध्यङ्गमुपपादयति—अत्रेति। अत्र = अस्मिन् श्लोके, अन्वयस्य = "सन्ततिर्गोत्रजननकुलान्यभिजनान्वयौ। वंशोऽन्ववायः सन्तानः" इत्यमरात् वंशशब्दवाच्यस्य कुलस्य वेणुत्वाऽऽरोपणरूपः = वंशत्वारोपस्वरूपः, व्यङ्ग्यः = व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्यः अर्थः, प्रतापस्य = राजतेजसः, दावाऽनलत्वाऽऽरोपसिद्ध्यङ्गम् = दावाऽनलत्वाऽऽरोपसिद्धेः (वनाऽग्नित्वारोपणसिद्धेः), वाच्यार्थस्य अङ्गम् (प्रयोजकः), अतः व्यङ्ग्याऽर्थस्य वाच्यसिद्धेरङ्गत्वेन चमत्काराऽतिशयित्वाऽभावेन वाच्यसिद्ध्यङ्गं नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यमुदाहृतम्।

सन्दिग्धप्राधान्य नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यमुदाहरणनिर्देशेन उपपादयति—हरस्त्विति। उद्बुद्धमात्रस्थायिभावस्योदाहरणे कुमारसंभवस्थं पद्यमिदं तृतीयपरिच्छेदे (२८४ पृष्ठे) प्रदर्शितम्। आकालिकवसन्तप्रवृत्तौ पार्वतीं पश्यतो हरस्य धैर्य-

---

वाच्य (अभिधावृत्तिसे प्रतिपाद्य) वस्तु "न मथ्नामि" इसके सहभावसे स्थित होनेसे यह गुणीभूतव्यङ्ग्य हुआ।

वाच्यसिद्ध्यङ्ग व्यङ्ग्य—दीपयन्०। कोई कवि किसी राजाकी प्रशंसा करता है। हे राजेन्द्र! शत्रुके वंश (कुल) ही जो वंश (बाँस) उसको जलानेमें बनके अग्निस्वरूप आपका प्रताप आकाश और पृथिवीके मध्यभागको प्रकाशित करता हुआ चारों ओरसे प्रदीप्त हो रहा है॥

यहाँपर वंश (कुल) में वंश (बाँस) का आरोप व्यङ्ग्य है वह प्रतापमें दावानलत्वके आरोपरूप वाच्यार्थकी सिद्धिका अङ्ग है अतः गुणीभूतव्यङ्ग्य हुआ है।

सन्दिग्धप्राधान्य व्यङ्ग्य—"हरस्तु किञ्चित्परिवृत्त०" (पृ० २८४)।

'ब्राह्मणातिक्रमत्यागो भवतामेव भूतये ।
जामदग्न्यश्च वो मित्रमन्यथा दुर्मनायते ॥'

अत्र परशुरामो रक्षःकुलक्षयं करिष्यतीति व्यङ्ग्यस्य वाच्यस्य च समं प्राधान्यम् ।

'सन्धौ सर्वस्वहरणं विग्रहे प्राणनिग्रहः ।

विपर्ययवर्णनमिदम्, अत्र हरस्य उमामुखे विलोचनव्यापारो वाच्यः (अभिधाप्रतिपाद्यः), मुखमात्रे विलोचनव्यापारात् चुम्बनाऽभिलाषः व्यङ्ग्यः (व्यञ्जनाप्रतिपाद्यः), तथा च विलोचनव्यापारचुम्बनाऽभिलाषयोः (वाच्यव्यङ्ग्यार्थयोः) प्राधान्ये – प्रधानभावे, सन्देहः, अत इदं सन्दिग्धप्राधान्यं नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यमित्युपपद्यते ।

तुल्यप्राधान्यं नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यमुदाहरति—ब्राह्मणाऽतिक्रम इति । महावीरचरितनाटके रावणं प्रति परशुरामस्य सन्देशोक्तिरियम् । ब्राह्मणाऽतिक्रमत्यागः ब्राह्मणानाम् (विप्राणाम्) अतिक्रमः (उल्लङ्घनं, पराभव इति भावः), तस्य त्यागः (हानम्), भवताम् एव = युष्माकं राक्षसानाम् एव, भूतये – ऐश्वर्याय, कल्याणायेति भावः । भविष्यति । अन्यथा = अन्येन प्रकारेण, ब्राह्मणाऽतिक्रमे सतीति भावः । वः = युष्माकं, मित्रं=सखा, परशुरामस्य रावणस्य चेत्युभयोरपि शिवोपालकत्वेन मित्रत्वमिति । जामदग्न्यः—जमदग्नेरपत्यं पुमान्, "गर्गादिभ्यो यञ्" इति यञ् । परशुराम इति भावः । दुर्मनायते = दुर्मना इव आचरति, "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इति क्यङ्प्रत्ययः सलोपः, लट् च । विमना भविष्यतीति भावः । अनुष्टुब् वृत्तम् ।

तुल्यप्राधान्यमुपपादयति—अत्रेति । अत्र = अस्मिन्श्लोके परशुरामः रक्षः-कुलक्षयं – राक्षसवंशनाशं, करिष्यतीति "दुर्मनायत" इति पदप्रतिपाद्यस्य व्यङ्ग्यस्य मित्रमित्यनेन मित्रब्राह्मणाऽतिक्रमत्यागजन्यस्य विभूतिप्राप्तिरूपस्य वाच्यस्य च तुल्य-प्राधान्यात्तुल्यप्राधान्यरूपं गुणीभूतव्यङ्ग्यमुदाहृतम् ।

अस्फुटव्यङ्ग्यरूपं गुणीभूतव्यङ्ग्यमुदाहरति—सन्धाविति । सन्धौ = पणबन्धे, अल्लावदीनाख्येन खिलजीवंशोद्भवेन यवनाऽधिपतिना सहेति शेषः, सर्वस्व-

---

इत्यादि पद्यमें पार्वती के मुखमें महादेवका विलोचनव्यापार वाच्य है और चुम्बनाऽभिलाष व्यङ्ग्य है इस प्रकार वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थके प्राधान्यमें सन्देह होनेसे गुणीभूत व्यङ्ग्य हुआ है ।

तुल्यप्राधान्य व्यङ्ग्य—"ब्राह्मणाऽतिक्रम०" । महावीरचरित नाटकमें रावणके प्रति परशुरामके सन्देशका वर्णन है । ब्राह्मणोंके उल्लङ्घनका त्याग तुम्हारे ही ऐश्वर्यके लिए है, नहीं तो मित्र परशुराम विरक्त हो जायेंगे ॥

इस पद्यमें "परशुराम राक्षस वंशका क्षय कर देंगे" इस व्यङ्ग्यका और यथा-श्रुत वाच्य अर्थ का भी तुल्य प्राधान्य होनेसे गुणीभूतव्यङ्ग्य हुआ है ।

अस्फुटव्यङ्ग्य—"सन्धौ०" । सन्धि करनेपर सर्वस्वहरण और विग्रह

अल्लावदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः ॥'

अत्राल्लावदीनाख्ये नृपतौ दानसामादिमन्तरेण नान्यः प्रशमोपाय इति व्यङ्ग्यं व्युत्पन्नानामपि झटित्यस्फुटम् ।

'अनेन लोकगुरुणा सतां धर्मोपदेशिना ।
अहं व्रतवती स्वैरमुक्तेन किमतः परम् ? ॥'

अत्र प्रतीयमानोऽपि शाक्यमुनेस्तिर्यग्योषिति बलात्कारोपभोगः-

हरणं = सकलसम्पत्तिग्रहणं, विग्रहे = तेनैव सह युद्धाचरणे, प्राणनिग्रहः = प्राणदण्डः, अतः अल्लाउदीननृपतौ = तदाख्ये राजनि, न सन्धिः न विग्रहः, कर्तव्य इति शेषः । अनुष्टुब् वृत्तम् ।

अस्फुटव्यङ्ग्यमुपपादयति—अत्रेति । अत्र=अस्मिन् पद्ये । अल्लावदीनाख्ये= तन्नामके, नृपतौ = राज्ञि, दानसामादिम् अन्तरेण = वितरणसान्त्वप्रयोगं विना, न अन्यः = अपरः, प्रशमोपायः = शान्त्युपायः, इति व्युत्पन्नानाम् अपि = विदग्धानाम् अपि, झटिति = शीघ्रम्, अस्फुटम् = अव्यक्तम् अतः अस्य वाच्यात् = अर्थात् अनुत्तमत्वमतः अस्फुटव्यङ्ग्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यस्योदाहरणमिदम् ।

अगूढव्यङ्ग्यं नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यमुदाहरति—अनेनेति । शाक्यमुनिना बलादुपभुक्तायास्तिर्यग्योषित उक्तिरियम् ।

सतां = शिष्टानां, धर्मोपदेशिना = धर्मोपदेशकेन, लोकगुरुणा=जनाऽऽचार्येण, अनेन = शाक्यमुनिना, व्रतवती = पातिव्रत्यनियमयुक्ता, अहम्, अतः परम् = अस्मात् अधिकं, स्वैरं = स्वच्छन्दं यथा तथा, उक्तेन = कथितेन, वृत्तान्तेनेति शेषः, किं = किं प्रयोजनमिति भावः । पतिव्रतया स्वदूषणं स्फुटं न वक्तव्यमिति भावः । अनुष्टुब् वृत्तम् ।

अगूढव्यङ्ग्यं विवृणोति—अत्रेति । अत्र = अस्मिन् पद्ये । प्रतीयमानोऽपि= व्यञ्जनावृत्त्या ज्ञायमानोऽपि । शाक्यमुनेः = शाक्यसिंहस्य, तिर्यग्योषिति = तिर्यग्जाति-

(युद्ध) करनेपर प्राणदण्ड राजा (अल्लावदीन खिलजी) में न सन्धि और न तो विग्रह ही उचित है ॥

इस पद्यमें अल्लावदीन नामके राजामें दान और साम आदिके विना और उपाय शान्तिके लिए नहीं है यह व्यङ्ग्य अर्थ चतुर जनोंको भी शीघ्र स्फुट (व्यक्त) नहीं है अतः यह अस्फुटव्यङ्ग्य है ॥

अगूढ व्यङ्ग्य—"अनेन" । शाक्यमुनिसे बलात्कारपूर्वक उपभुक्त किसी नीच जातिकी स्त्रीकी उक्ति है । लोकके गुरु सज्जनोंको धर्मका उपदेश करनेवाले इन्होंने पातिव्रत्यसे युक्त मुझे जबर्दस्तीसे इसके बाद कहनेसे क्या ? इस पद्यमें शाक्यमुनिका नीच जातिकी स्त्रीमें बल पूर्वक उपभोग व्यङ्ग्य होकर भी स्पष्ट होनेसे वाच्यके

स्फुटतया वाच्यायमान इत्यगूढम् ।

'वाणीरकुडङ्गुड्डीणसउणिकोलाहलं सुणन्तीए ।
घरकम्मवावडाए बहुए सीअन्ति अङ्गाइं ॥'

अत्र दत्तसंकेतः कश्चिल्लतागृहं प्रविष्ट इति व्यङ्ग्यात् 'सीदन्त्यङ्गानि' इति वाच्यस्य चमत्कारः सहृदयसंवेद्य इत्यसुन्दरम् ।

स्त्रियां, बलात्कारोपभोगः = हठपूर्वक घर्षण, व्यङ्ग्य स्फुटतया = व्यक्ततया, वा आक्षेपाऽलङ्कारमहिम्ना, वाच्यायमानः = वाच्यवत् आचरन्, प्रतीयते इति अगूढं नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यमुदाहृतं भवति ।

असुन्दरं व्यङ्ग्यं नाम गुणीभूतव्यङ्ग्यमुदाहरति—**वाणीरेति** ।

"वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहलं शृण्वन्त्याः ।
गृहकर्मव्यापृतायाः वध्वाः सीदन्त्यङ्गानि ॥" इति संस्कृतच्छाया ।

वानीरकुञ्ज उपनायके कृतसङ्केतायाः परं गृहकार्यव्यग्रतया गन्तुमशक्ताया नायिकाया अवस्थावर्णनमिदम् । वानीरकुञ्जोड्डीनशकुनिकोलाहल = वानीरकुञ्जात् (वेतसलतागृहात्) उड्डीनाः (उत्पतिताः) नायकागमनव्यापारेणेति शेषः । ये शकुनयः (पक्षिणः) तेषां कोलाहलम् (कलकलम्) । शृण्वन्त्याः = आकर्णयन्त्याः, गृहकर्मव्यापृतायाः = गृहकर्मणि (गेहकृत्ये) व्यापृतायाः (व्यग्रायाः), वध्वाः—नायिकायाः, अङ्गानि = देहाऽवयवाः, सीदन्ति = अवसादं प्राप्नुवन्ति । गाथा वृत्तम् ।

असुन्दरं गुणीभूतव्यङ्ग्यं विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्यां गाथायां, दत्तसङ्केतः = दत्तः सङ्केतो यस्मै सः, गृहीतसंकेतः, कश्चित् = पुरुषः लतागृहं = वानीरकुञ्जं, प्रविष्टः = कृतप्रवेशोऽस्ति इति व्यङ्ग्यात्=व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्यादर्थात्, सीदन्ति अङ्गानि इति सर्वाङ्गाऽवसादप्रसरणरूपस्य वाच्याऽर्थस्यैव उत्कण्ठाऽतिशय-

---

समान अगूढ हो गया है इसलिए यह गुणीभूत व्यङ्ग्य हुआ है ।

असुन्दर व्यङ्ग्य—बेंतके लतागृहमें उड़े हुए पक्षियोंका कोलाहल सुननेवाली घरमें काममें व्यग्र वधूके अङ्ग शिथिल होते हैं । इस पद्यमें आनेके लिए सङ्केतको पाया हुआ कोई पुरुष लतागृहमें पहुंच गया इस व्यङ्ग्य अर्थसे "सीदन्त्यङ्गानि" अर्थात् सुकुमारताके कारण चिड़ियोंके कोलाहलसे उसके अङ्ग शिथिल हो जाते हैं ऐसे वाच्य अर्थका चमत्कार सहृदय जनोंसे संवेदनीय है इसलिए यह गुणीभूतव्यङ्ग्य हुआ है ।

किञ्च यो दीपकतुल्ययोगितादिषूपमाद्यलङ्कारो व्यङ्ग्यः स गुणीभूतव्यङ्ग्य एव। काव्यस्य दीपकादिमुखेनैव चमत्कारविधायित्वात्।

तदुक्तं ध्वनिकृता—

'अलङ्कारान्तरस्यापि प्रतीतौ यत्र भासते।
तत्परत्वं न काव्यस्य नासौ मार्गो ध्वनेर्मतः॥'

यत्र च शब्दान्तरादिना गोपनकृतचारुत्वस्य विपर्यासः।

पर्यवसन्नत्वात्सौन्दर्यमिति वाच्यस्य चमत्कारः, सहृदयसंवेद्यः = सहृदयैः (हृदयालुभिः) संवेद्यः (संवेदनीयः) इति असुन्दरं गुणीभूतव्यङ्ग्यम्।

असुन्दरगुणीभूतव्यङ्ग्यस्य उदाहरणान्तराणि दर्शयति–**किञ्चेति**। दीपकतुल्ययोगिताऽऽदिषु=अलङ्कारेषु, य उपमाद्यलङ्कारो व्यङ्ग्यः = व्यञ्जनया प्रतिपाद्यः, स गुणीभूतव्यङ्ग्य एव। अत्र हेतुं प्रदर्शयति—वाच्यस्य – अभिधावृत्तिप्रतिपाद्यस्य अर्थस्य; क्वचित् "काव्यस्य" इति पाठान्तरम्। दीपकादिमुखेन एव – दीपकतुल्ययोगिताऽऽदिद्वारेण एव। अत्र एवपदेन व्यङ्ग्योपमादिव्यावृत्तिः। चमत्कारविधायित्वात्=चमत्कारप्रतिपादकत्वात्। अत्राऽर्थे ध्वनिकृत्संवादं प्रदर्शयति—**अलङ्कारान्तरस्येति**।

यत्र=यस्मिन् स्थले, अलङ्कारान्तरस्य = प्रदर्शितेऽलङ्कारे अन्यस्य अलङ्कारस्य, प्रतीतौ अपि = व्यञ्जनया ज्ञाने सत्यपि, काव्यस्य, तत्परत्वं = व्यङ्ग्याऽलङ्कारपरत्वं, न भासते = न प्रतीतं भवति, ध्वनेः = ध्वनिकाव्यस्य, मार्गः=विषयः; न मतः – न अभिमतः, प्रत्युत गुणीभूतव्यङ्ग्यविषय इति भावः।

गुणीभूतव्यङ्ग्यप्रकारान्तरं दर्शयितुमुपक्रमते—**यत्र चेति**। यत्र – यस्मिन् स्थले, शब्दान्तरादिना = अन्यशब्दादिना, गोपनकृतचारुत्वस्य = गोपनेन (व्यञ्जनावृत्त्या जनितेन गूहनेन) यत् चारुत्वं (चमत्कारजनकत्वम्), तस्य, विपर्यासः – विपर्ययः, सोऽपि गुणीभूतव्यङ्ग्य एव इति पूर्वेणाऽन्वयः।

कि चेति। दीपक और तुल्ययोगिता आदि अलङ्कारोंमें जो उपमा अलङ्कार व्यङ्ग्य है वह गुणीभूतव्यङ्ग्य ही है, व्यङ्ग्य (मुख्य ध्वनि) नहीं, क्योंकि दीपक आदि अलङ्कारोंके द्वारा चमत्कारकी प्रतीति होती है। जैसे कि ध्वनिकार (आनन्दवर्द्धनाचार्य) ने कहा है—जहाँ पर प्रदर्शित अलङ्कारमें व्यञ्जनासे दूसरे अलङ्कारकी प्रतीति होनेपर भी काव्यमें उसमें चारुत्वका तात्पर्य नहीं भासित है वह ध्वनिका मार्ग नहीं है। अर्थात् वह गुणीभूत व्यङ्ग्यका ही विषय है।

यथा—

'दृष्ट्या केशव ! गोपरागहृतया किंचिन्न दृष्टं मया
तेनात्र स्खलितास्मि नाथ ! पतितां किं नाम नालम्बसे
एकस्त्वं विषमेषु खिन्नमनसां सर्वाबलानां गति-

उदाहरति—**दृष्ट्येति** । केशवं प्रति कस्याश्चिद्गोप्या उक्तिरियम् । हे केशव= हे कृष्ण !, मया गोपरागहृतया = गवां (धेनूनाम्) परागाः (पादोत्थितधूलयः), तैः हृतया (दर्शनशक्तिरहितया दृष्टया=नेत्रेण, किञ्चित्=मार्गादिकं, न दृष्टं=न अवलोकितम् । तेन=दर्शनाऽभावेन, अत्र = अस्मिन् स्थले, तव अग्रे इति भावः । स्खलिता = पतिताऽस्मि पतितां मामिति शेषः । किं = किमर्थं, न आलम्बसे = नो धारयसि ? विषमेषु = वातवर्षाऽदिसङ्कटेषु, खिन्नमनसां = विषण्णचित्तानां, सर्वाऽबलानां = सर्वेषाम् (समेषाम्) अबलानां (बलरहितानाम्), त्वं = भवान्, एकः = एकमात्रम् एव, गतिः = रक्षकः ।

श्लिष्टाऽर्थो यथा—गोपरागहृतया = गोपे (गोपाले, भवति) यो रागः (अनुरागः), तेन हेतुना हृतया (आकृष्ट्या) तादृश्या दृष्ट्या = ज्ञानेन, मया किञ्चित् = पतिकुलादिकं किमपि न दृष्टं = नो विमृष्टम् । तेन = कारणेन, अत्र = आसु गोपीषु मध्ये, स्खलिता = पतिता अस्मि, मर्यादामार्गादिति शेषः । हे नाथ !, पतितां = भवच्चरणपतितां मां = गोपीं, किं = किमर्थं, न आलम्बसे = अनुगृह्णासि ।

परस्त्रियां मदनुग्रहो नोचित इति चेत्तत्राह-**एक इति** । विषयेषु–खिन्नमनसां= विषमाः (पञ्चसंख्यकाः) इषवः (बाणाः) यस्य स विषमेषुः (कामः), तेन खिन्नं (पीडितम्) मनः (चित्तम्) यासां, तासाम् । सर्वाऽबलानां = सर्वासाम् (सकलानाम्) अबलानाम् (स्त्रीणाम्), एकः = एकमात्रं, त्वम् एव गतिः = गन्तव्यस्थानं,

गुणीभूत व्यङ्ग्यका दूसरा प्रकार दिखलाते हैं । **दृष्ट्येति** । श्रीकृष्णजीके प्रति किसी गोपीकी उक्ति है । हे केशव ! गायोंके खुरोंकी धूलिसे देखनेकी शक्तिसे रहित नेत्रसे मैंने कुछ भी नहीं देखा इसलिए मैं यहाँ पर गिर पड़ी हूँ । गिरी हुई मुझे आप क्यों सहारा नहीं देते हैं ? सङ्कटोंमें पड़कर खिन्न चित्तवाले सब निर्बल जनोंके आप एक मात्र गति (रक्षक) हैं । इस प्रकार गोपीसे गोष्ठमें लेह (श्लेष) से कहे गये श्रीकृष्ण तुम लोगोंकी चिरकाल तक रक्षा करें ।

श्लिष्ट दूसरा अर्थ जैसे—स्वयं दूती गोपी कृष्णजीसे कहती है—हे केशव ! गोपरूप आपके अनुरागसे आकृष्ट होनेसे मैंने पति, कुल आदि कुछ भी नहीं देखा । इस कारणसे मैं मर्यादाके मार्गसे फिसल गई हूँ, हे नाथ ! आपके चरणमें पड़ीहुई मुझको आप क्यों नहीं सहारा दे रहे हैं ? विषम बाणवाले कामदेवसे खिन्न मनसे युक्त

गोप्यैवं गदित सलेशमवताद् गोष्ठे हरिर्वश्चिरम् ॥'

अत्र गोपरागादिशब्दानां गोपे राग इत्यादिव्यङ्ग्यार्थानां सलेशमिति पदेन स्फुटतयावभासः। सलेशमिति पदस्य परित्यागे ध्वनिरेव।

किञ्च। यत्र वस्त्वलङ्काररसादिरूपव्यङ्ग्यानां रसाभ्यन्तरे गुणीभावस्तत्र प्रधानकृत एव काव्यव्यवहारः।

तदुक्तं तेनैव—

'प्रकारोऽयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि ध्वनिरूपताम्।

मदनपीडाऽपहारकत्वादिति भावः इत्थं च गोष्ठे=व्रजे, गोप्या = गोपवध्वा' एवम्= उक्तप्रकारेण, सलेशं = सश्लेषं, गदितः = अभिहितः, हरिः = कृष्णः, वः = युष्मान्, चिरं = बहुकालपर्यन्तम्, अवतात् = रक्षतात् ।शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

अस्य पद्यस्य गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वं स्फुटयति—अत्रेति। अत्र = अस्मिन् पद्ये, गोपरागादिशब्दानां = पूर्वं प्रतिपादितानाम्। गोपे राग इत्यादिव्यङ्ग्यार्थानाम्। "सलेशम्" इति पदेन, स्फुटतया = स्पष्टत्वेन, अवभासः = प्रतीतिः। "सलेशम्" इति पदस्य परित्यागे, ध्वनिरेव। तथा च कामिनीकुचकलशवद् गूढं चमत्करोति, अगूढं तु स्फुटतया वाच्यायमानमिति गुणीभूतमेवेति भावः।

क्वचित्तु व्यङ्ग्ये गुणीभूतेऽपि ध्वनिकाव्यव्यवहार इति उपपादयति-किञ्चेति। यत्र = यस्मिन् स्थले, वस्त्वलङ्काररसादिरूपव्यङ्ग्यानां = वस्त्वलङ्काररसाऽऽदिरूपाणां, व्यङ्ग्यानाम् (व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्यानाम्), अत्र आदिपदेन भावादीनां ग्रहणम्। रसाऽभ्यन्तरे = अन्यरसमध्ये, गुणीभावः, = उपसर्जनीभावः, अप्रधानरूपेणोपस्थितिरिति भावः। तत्र = तस्मिन् स्थले, प्रधानकृत एव = प्रधानरसकृत एव, काव्यव्यवहारः, "प्राधान्येन व्यपदेशा भवन्ती" ति न्यायादिति भावः।

अत्राऽर्थे ध्वनिकृन्मतमुपन्यस्यति। तदुक्तं तेनैव, तेन एव = ध्वनिकृता एव, तद्; उक्तम्। किं तदित्याह—प्रकारोऽयमिति। अयं गुणीभूतव्यङ्ग्योऽपि, प्रकारः =

सब अबलाओंके आप एकमात्र रक्षक हैं, इसप्रकार गोष्ठमें गोपीसे श्लेष पूर्वक कहे गये श्रीकृष्ण तुम लोगोंकी चिरकाल पर्यन्त रक्षा करें॥

इस पद्य में गोपराग आदि शब्दोंके गोपे राग इत्यादि व्यङ्ग्य अर्थोंकी "सलेशम्" इस पदसे स्पष्ट रूपसे प्रतीति हुई है। अतः गुणीभूतव्यङ्ग्य हुआ है। "सलेशम्" इस पदका परित्याग करनेपर ध्वनि ही हो जाती है।

किञ्च—जहाँपर वस्तुरूप, अलङ्काररूप और रसादिरूप व्यङ्ग्योंका अन्य रसमें गुणीभाव हो जाता है वहाँपर प्रधान रसके कारण ही काव्यव्यवहार होता है।

यह बात उन्होंने (ध्वनिकारने) ही कही है—यह गुणीभूतव्यङ्ग्य काव्यभेद भी रस आदिमें तात्पर्यकी पर्यालोचनासे फिर ध्वनिके स्वरूपको प्राप्त करता

धत्ते रसादितात्पर्यपर्यालोचनया पुनः ॥' इति ।

यत्र तु—

'यत्रोन्मदानां प्रमदाजनानामभ्रंलिहः शोणमणीमयूखः ।
संध्याभ्रमं प्राप्नुवतामकाण्डेऽप्यनङ्गनेपथ्यविधिं विधत्ते ॥'

इत्यादौ रसादीनां नगरीवृत्तान्तादिवस्तुमात्रेऽङ्गत्वम्, तत्र तेषाम-तात्पर्यविषयत्वेऽपि तैरेव गुणीभूतैः काव्यव्यवहारः ।

काव्यभेदः, रसादितात्पर्यपर्यालोचनया = रसादौ (रसभावादौ) यत् तात्पर्यं (कवेरभिप्रायः), तत्पर्यालोचनया (तदनुसन्धानेन), पुनः ध्वनिरूपतां = ध्वनिस्वरूपतां, धत्ते=प्राप्नोति । यथा "अयं स रसनोत्कर्षी"त्यादौ शृङ्गारस्य गुणीभावेऽपि तं भावमवलम्ब्य मध्यमकाव्यव्यवहारो न कर्तव्यः, किन्तु अङ्गिनं = तत्र प्रधानरसं करुणमाश्रित्य उत्तमकाव्यव्यवहार एव कर्तव्य इति भावः ।

एतत्सिद्धान्तस्याऽनवकाशस्थलं निर्दिशति—**यत्र त्विति** । यत्र = स्थले तु **यत्रेति** । कश्चित्कविः कांचिन्नगरीं वर्णयति । यत्र = नगर्याम्, अभ्रंलिहः = अभ्रं लेढीति, "वहाऽभ्रे लिहः" इति खश् । मेघस्पर्शी, शोणमणीमयूखः = शोणमणीनां (पद्मरागाणाम्) मयूखः (किरणः) । अकाण्डे = अनवसरे, सन्ध्याभ्रमं = सायङ्कालभ्रान्तिं, प्राप्नुवतां=लभमानानां, पद्मरागकिरणप्रसरणादिति भावः । उन्मदानाम्= उद्गतमदानां, प्रमदाजनानां = ललनाजनानाम्, अनङ्गनेपथ्यविधिं = कामसंभोगवेषविधानं, विधत्ते = सम्पादयति । अत्र भ्रान्तिमदलङ्कारः । उपजातिवृत्तम् ।

तथ्यं विवृणोति—**इत्यादाविति** । इत्यादौ = स्थले, रसादीनां = शृङ्गारादीनाम् । नगरीवृत्तान्तादिवस्तुमात्रे=केवलनगर्युदन्तरूपवस्तुविषये । अङ्गत्वं=पोषकत्वम्, तत्र=नगरीवृत्तान्तादिवस्तुमात्रे, तेषां=रसादीनाम्, अतात्पर्यविषयत्वेऽपि=तात्पर्यविषयाऽभावत्वेऽपि, गुणीभूतैः=अप्रधानैः, तैरेव=रसादिभिरेव, काव्यव्यवहारः=काव्यव्यपदेशः ।

है । जैसे कि "अयं स रसनोत्कर्षी" इत्यादि स्थलमें शृङ्गारका गौणभावसे मध्यमकाव्यका व्यवहार न कर अङ्गी करुण रसको लेकर उत्तम काव्यका ही व्यवहार करना चाहिए यह भाव है ।

गुणीभूतव्यङ्ग्यका स्थल दिखलाते हैं-**यत्र तु** जहाँपर तो—जिस नगरीमें आकाशको स्पर्श करनेवाली पद्मरागमणिकी किरण अपने प्रकाशके कारण अनवसरमें ही सन्ध्याकाल हो गया ऐसी भ्रान्तिको प्राप्त करनेवाली सुन्दरियोंका कामभोग करनेके लिए वेशविधानका सम्पादन कर देती है ॥

इत्यादि स्थलमें व्यङ्ग्य होनेवाले शृङ्गार आदि रस नगरीवर्णनरूप वस्तुमात्रमें अङ्ग होते हैं, वे रस आदि तात्पर्य विषय नहीं होते हैं । तथाऽपि उन्हीं (रसों) से गुणीभूत काव्यव्यवहार, है, अर्थात् यहाँ शृङ्गाररस नगरीवर्णनका अङ्ग हुआ है

'तदुक्तमस्मत्सगोत्रकविपण्डितमुख्यश्रीचण्डीदासपादैः-वाक्या (काव्या)-र्थस्याखण्डबुद्धिवेद्यतया तन्मयीभावेनास्वाददशायां गुणप्रधानभावावभासस्तावन्नानुभूयते, कालान्तरे तु प्रकरणादिपर्यालोचनया भवन्नप्यसौ न काव्यव्यपदेशं व्याहन्तुमीशः, तस्यास्वादमात्रायत्तत्वात्' इति ।

केचिच्चित्राख्यं तृतीयं काव्यभेदमिच्छन्ति ।

अयं भावः । अत्र प्रकरणात् पुरीप्रकर्षवर्णने कवेस्तात्पर्यात् अनङ्गनेपथ्यविधिव्यङ्ग्यस्य शृङ्गारस्य तात्पर्यविषयत्वाऽभावेऽपि, आपाततश्चमत्कारविधायकत्वेन शृङ्गारकाव्यरूप एव व्यवहारः कर्तव्यः ।

अस्मिन्नर्थेऽभियुक्ततमानां चण्डीदासपादानां संवादं प्रदर्शयति—**तदुक्तमिति ।** अस्मत्सगोत्रकविपण्डितमुख्यश्रीचण्डीदासपादैः = अस्माकं सगोत्राः (समानगोत्राः), कविपण्डितमुख्याः ये श्रीचण्डीदासपादाः, तैः उक्तम्—**वाक्यार्थस्येति ।** वाक्याऽर्थस्य—पदार्थसमूहरूपस्य, अखण्डबुद्धिवेद्यतया = एकाग्रबुद्धिज्ञेयतया, तन्मयीभावेन = अखण्डबुद्धिस्वरूपभावेन, आस्वाददशायाम् = अनुभवाऽवस्थायां, गुणप्रधानभावाऽवभासः = अङ्गाङ्गिभावप्रतीतिः, तावत् = तत्कालं, न अनुभूयते = नो ज्ञायते, काव्याऽर्थभावकैरिति शेषः । कालाऽन्तरे तु = आस्वादाऽनन्तरकाले तु, प्रकरणादिपर्यालोचनया—प्रकरणादीनां (प्रसङ्गप्रभृतीनां विषयाणाम्), पर्यालोचनया भवन्नपि=उत्पद्यमानोऽपि, असौ=गुणप्रधानभावप्रतीतिः, काव्यव्यपदेशं = रसादिकाव्यव्यवहारं, व्याहन्तु—निवारयितु, न ईशः=न समर्थः, अत्र हेतुमुपन्यस्यति—**तस्येति ।** तस्य = काव्यव्यपदेशस्य, आस्वादमात्राऽऽयत्तत्वात् = रसाद्यनुभवमात्राऽधीनत्वात् । काव्यप्रकाशकारस्य चित्राख्यं तृतीय काव्यभेदं खण्डयितुमुपक्रमते—**केचिदिति ।** केचित् = काव्यप्रकाशकाराः, चित्राऽऽख्यं = चित्रकाव्यनामकं, तृतीयं, काव्यभेदं=काव्यप्रकारम्, इच्छन्ति । तदाहुः—**शब्दचित्रमिति ।**

अतः अपराङ्गव्यङ्ग्यनामकगुणीभूतव्यङ्ग्यके एक भेदका उदाहरण समझना चाहिए । इस बातको ग्रन्थकार अपने सगोत्र कवि पण्डित श्रीचण्डीदासकी उक्तिसे समर्थन करते है—काव्यका विभाव आदि अर्थ एकाग्रबुद्धिसे ज्ञेय होता है, तन्मयीभावसे उसके अनुभवकी अवस्थामें यह अङ्ग है और अङ्गी है ऐसी प्रतीति नहीं होती है, आस्वादके अनन्तर समयमें प्रकरण आदिकी पर्यालोचनासे अङ्ग और अङ्गीकी प्रतीति होनेपर भी वह (प्रतीति) रसादि काव्यव्यवहारका निवारण नहीं कर सकती है क्योंकि वह काव्यव्यवहार आस्वादमात्रके अधीन होता है । काव्यप्रकाशकारसंमत चित्रकाव्यका खण्डन करते हे ।

कोई विद्वान् (काव्यप्रकाशकार) चित्रनामक तीसरा काव्य है ऐसा वर्णन करते है । जैसा कि—व्यङ्ग्य रहित काव्य अधम (तृतीय श्रेणीका) होता है, उसके

तदाहुः—

'शब्दचित्रं वाच्यचित्रमव्यङ्ग्यं त्ववरं स्मृतम् ।' इति ।

तन्न, यदि हि अव्यङ्ग्यत्वेन व्यङ्ग्याभावस्तदा तस्य काव्यत्वमपि नास्तीति प्रागेवोक्तम् । ईषद्व्यङ्ग्यत्वमिति चेत्, किं नामेषद्व्यङ्ग्यत्वम् ? आस्वाद्यव्यङ्ग्यत्वम्, अनास्वाद्यव्यङ्ग्यत्वं वा ? आद्ये प्राचीनभेदयोरेवान्तःपातः । द्वितीये त्वकाव्यत्वम् । यदि चास्वाद्यत्वं तदाऽक्षुद्रत्वमेव क्षुद्रतायामनास्वाद्यत्वात् ।

काव्यं त्रिविधम्—उत्तमं, मध्यमम्, अधमं चेति । तत्र व्यङ्ग्यं काव्यमुत्तमम्, गुणीभूतव्यङ्ग्यं मध्यमम्, अव्यङ्ग्यम्, अवरम् = अधम, तस्य भेदद्वयं—**शब्दचित्रं वाच्यचित्रं चेति** । तन्मतं दूषयति—**तन्नेति** । अव्यङ्ग्यत्वेन = व्यङ्ग्यार्थरहितत्वेन, व्यङ्ग्याऽभावो यदि = रसादिव्यङ्ग्यार्थाऽभावश्चेत्, तदा = तर्हि, तस्य = अव्यङ्ग्यस्य, काव्यत्वम् अपि = काव्यव्यपदेशविषयत्वम् अपि, नाऽस्तीति, प्रागेव = प्रथमपरिच्छेद एव उक्तम् ।

पुनराशङ्क्य खण्डयति—अव्यङ्ग्यमित्यत्र नञ् ईषदर्थे वर्तते । ततः, अव्यङ्ग्यम्, इत्यस्य अर्थ ईषद्व्यङ्ग्यम् इति चेत् तत्र पुनः प्रश्नः-किं नामेषद्व्यङ्ग्यत्वम्? आस्वाद्यव्यङ्ग्यत्वं = यत्र व्यङ्ग्यस्याऽऽस्वादो भवति, अथवा अनास्वाद्यव्यङ्ग्यत्वम् = यत्र व्यङ्ग्यस्य आस्वादो न भवति । आद्ये = आस्वाद्यव्यङ्ग्यत्वे, प्राचीनभेदयोः = व्यङ्ग्ये गुणीभूतव्यङ्ग्ये चेति द्वयोः पूर्वोक्तभेदयोरेव, अन्तःपातः = अन्तर्भावः । द्वितीये = अनास्वाद्यव्यङ्ग्यत्वे, तु अकाव्यत्वं = काव्यत्वाऽभावः । यदि च आस्वाद्यत्वम् = आस्वाद्यव्यङ्ग्यत्वम्, तदा अक्षुद्रत्वम् एव = अनवरत्वम् एव, क्षुद्रतायाम् = व्यङ्ग्यार्थरहितत्वेन अवरतायाम्, अनास्वाद्यत्वात् = आस्वादविषयराहित्यात् ।

दो भेद होते हैं—**शब्दचित्र और अर्थचित्र** ।

ग्रन्थकार इस मतका खण्डन करते हैं—यह ठीक नहीं । अव्यङ्ग्य कहनेसे आप व्यङ्ग्यका अभाव कहते है तो वह काव्य ही नहीं है यह बात पहले ही कह चुके हैं ।

यदि कहे कि 'अव्यङ्ग्य' पदमें नञ्का अर्थ ईषत् (थोड़ा) है तो उसका अर्थ हुआ ईषद्व्यङ्ग्य अर्थात् थोड़ा व्यङ्ग्य । फिर प्रश्न करते हैं—ईषद्व्यङ्ग्य क्या है ? आस्वाद्यव्यङ्ग्य (व्यङ्ग्य अर्थका आस्वाद किया जानेवाला) वा अनास्वाद्यव्यङ्ग्य (व्यङ्ग्य अर्थका आस्वाद नही किया जानेवाला) । यदि पहला भेद आस्वाद्य व्यङ्ग्य माने तो पहलेके दो भेदो (व्यङ्ग्य और गुणीभूतव्यङ्ग्य) मे ही अन्तर्भाव हो जाता है । दूसरा भेद अनास्वाद्य व्यङ्ग्य मानें तो वह काव्य ही नहीं हो सकता है । आस्वाद्य माने तो वह अक्षुद्र (क्षुद्र = अधमसे भिन्न) ही हुआ । क्षुद्र

तदुक्तं ध्वनिकृता—

'प्रधानगुणभावाभ्यां व्यङ्ग्यस्यैवं व्यवस्थिते।
उभे काव्ये, ततोऽन्यद्यत्तच्चित्रमभिधीयते॥' इति।

इति श्रीमन्नारायणचरणारविन्दमधुव्रत-साहित्यार्णवकर्णधार-ध्वनिप्रस्थापन-
परमाचार्य-कविसूक्तिरत्नाकराऽष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्गसान्धि-
विग्रहिक-महापात्र-श्रीविश्वनाथकविराजकृतौ साहित्यदर्पणे
ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याख्यकाव्यभेदनिरूपणो
नाम चतुर्थः परिच्छेदः।

उक्तार्थे ध्वनिकृत्संवादं प्रदर्शयति—तदुक्तमिति। प्रधानगुणभावाभ्यामिति। व्यङ्ग्यस्य = अर्थस्य, प्रधानगुणभावाभ्यां = प्रधानभावेन गुणभावेन चेति भावः, एवम् उभे = द्वे, काव्ये, व्यवस्थिते = निरूपिते। व्यङ्ग्याऽर्थस्य यत्र प्रधानभावस्तत्र ध्वनित्वं; यत्र च गुणभावस्तत्र गुणीभूतव्यङ्ग्यत्वमिति काव्ये द्विप्रकारे निरूपिते इति भावः; ततः = ताभ्यां भेदाभ्यां, यत् अन्यत् = अपरं, तत् चित्रं=चित्रनामकं काव्याऽऽभास-रूपम्, अभिधीयते = प्रतिपाद्यते॥

इति श्रीशेषराजशर्मप्रणीतायां चन्द्रकलाऽभिख्यायां साहित्यदर्पण-
टीकायां चतुर्थः परिच्छेदः॥

(अधम) मानें तो वह आस्वादका विषय नहीं होता है। इस बातको ध्वनिकारने कहा है—इस प्रकार व्यङ्ग्य अर्थका प्रधान और गुण (अप्रधान) भावसे व्यवस्था होनेपर प्रधान = ध्वनि और गुण (अप्रधान) गुणीभूतव्यङ्ग्य दो प्रकारके काव्य हो गये, इनसे जो भिन्न है उसे "चित्र" कहते हैं।

साहित्यदर्पणके अनुवादमें चतुर्थ परिच्छेद समाप्त हुआ।

पञ्चमः परिच्छेदः

अथ केयमभिनवा व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते—

वृत्तीनां विश्रान्तेरभिधातात्पर्यलक्षणाख्यानाम् ।
अङ्गीकार्या तुर्या वृत्तिर्बोधे रसादीनाम् ॥ १ ॥

अभिधायाः संकेतितार्थमात्रबोधनविरतायाः न वस्त्वलङ्काररसादि-

ध्वनेर्गुणीभूतव्यङ्ग्यस्य च द्वयोरपि काव्यभेदयोर्व्यञ्जनाजन्यत्वात् नैयायिकैस्तस्याः खण्डनाद् व्यञ्जनायाः समर्थनस्य चाऽऽवश्यकत्वात्तदर्थं पञ्चमः परिच्छेद आरभ्यते ।

तत्र च प्रथमं व्यञ्जनानिरूपणमुपक्रमते- **अथेति** । अथ=काव्यभेदनिरूपणाऽनन्तरम्, इयं = व्यङ्ग्यबोधिका, अभिनवा = नूतना, आलङ्कारिकमात्रैः स्वीकृता, नैयायिकै-रनङ्गीकृतेतीति भावः, वृत्ति = अर्थबोधिका, इति=इत्याशङ्कय, उच्यते, अभिधीयते ।

व्यञ्जनायाः स्वीकार उपपत्ति प्रदर्शयति- **वृत्तीनामिति** । अभिधातात्पर्य-लक्षणाऽऽख्यानाम् = पूर्वोक्तानामभिधा-तात्पर्य-लक्षणानामिकानां, वृत्तीनां = शक्तीनां, विश्रान्तेः = विश्रामात्, स्वं स्वमर्थं बोधयित्वा निवर्तनादिति भावः । रसादीनां = रसवस्त्वलङ्कारादीनाम्, रसपदेनाऽऽस्वाद्यमात्रग्रहणम् । रसस्य प्राधान्यात्प्रथम निर्देशः । आस्वाद्यविषयत्वादादिपदेन रसाभास-भाव-भावाऽऽभासभावोदयभावसन्धिभावशबलतानां च ग्रहणम् । तुर्या = चतुर्थी वृत्तिः, अङ्गीकार्या=स्वीकरणीया । यद्यपि द्वितीयपरिच्छेदे "विरतास्वभिधाऽऽद्यासु०" अस्यां कारिकायां व्यञ्जनाया लक्षणस्य सत्त्वेपि तत्प्रामाण्यो-पन्यासाय पुनरारम्भः । अतः पौनरुक्त्यं न शङ्कनीयम ॥ १ ॥

कारिकां विवृणोति— **अभिधाया इति** । सङ्केतिताऽर्थमात्रबोधनविरतायाः= सङ्केतितः (कृतसङ्केतः) य अर्थः (पदार्थः), तन्मात्रबोधनविरतायाः (तन्मात्र-प्रतिपादननिवृत्तायाः), विरतायाश्च पुनरुत्थानाऽभावात् अभिधायाः = मुख्यवृत्तेः, वस्त्वलङ्काररसादिव्यङ्ग्यबोधने=वस्त्वलङ्काररसादिरूपा ये व्यङ्ग्याः (व्यञ्जनावृत्ति-

---

यह नई व्यञ्जना नामकी वृत्ति क्या है ऐसी शङ्काका समाधान करते हैं— **वृत्तीनाम् इत्यादि ।** अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य नामकी वृत्तियोंके अपने अपने अर्थका बोधन कर "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराऽभावः" इस नियमसे विश्रान्त होनेसे वस्तु, अलङ्कार और रसरूप व्यङ्ग्य अर्थका बोध करनेके लिए व्यञ्जना नामकी चौथी वृत्तिको अङ्गीकार करना चाहिये ॥ १ ॥

सङ्केतित अर्थमात्रका बोधन करके विरत होनेवाली अभिधाका वस्तु अलङ्कार

व्यङ्ग्यबोधने क्षमत्वम् । न च संकेतितो रसादिः । नहि विभावाद्यभिधानमेव तदभिधानम्, तस्य तदैकरूप्यानङ्गीकारात् । यत्र च स्वशब्देनाभिधानं तत्र प्रत्युत दोष एवेति वक्ष्यामः । क्वचिच्च 'शृङ्गाररसोऽयम्' इत्यादौ स्वशब्दे-नाभिधानेऽपि न तत्प्रतीतिः, तस्य स्वप्रकाशानन्दरूपत्वात् ।

अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता तात्पर्याख्या वृत्तिरपि संसर्गमात्रे

प्रतिपाद्याः अर्थाः) तेषां बोधने (प्रतिपादने) न क्षमत्वं = न सामर्थ्यम् । रसादिः कथं न सङ्केतित इत्याशङ्क्याह— न चेति । रसादिश्च = व्यङ्ग्यार्थः, न सङ्केतितः = न सङ्केतविषयः, वाच्यार्थः ।

ननु विभावादिभिरेव रसभावादिः सङ्केतित इत्यत्राह— न हीति । न हि विभावाद्यभिधानम् एव = विभावादीनाम् अभिधानम् (अभिधया प्रतिपादनम्) एव, तदभिधानम = तेषाम् (रसानाम्) अभिधानम् (अभिधया प्रतिपादनम्), तस्य = विभावादेः, तदैकरूप्याऽनङ्गीकारात्=तेषाम् (रसानाम्) ऐकरूप्यस्य (अभिन्नत्वस्य) अनङ्गीकारात् (अस्वीकारात) । विभावादयो ज्ञेयविशेषा रसादयश्च ज्ञानविशेषा इति भावः । अतो रसस्याऽभिधाबोध्यत्वं नेति भावः । रसस्याऽभिधाबोध्यत्वे बाधकान्तरमाह— यत्र चेति । यत्र च = यस्मिन् स्थले च, रसस्य स्वशब्देन = रसशब्देन शृङ्गारादि-शब्देन च, अभिधानं = अभिधया प्रतिपादनं तत्र प्रत्युत = वैपरीत्येन दोष एवेति वक्ष्यामः = कथयिष्यामः, "रसस्योक्तिः स्वशब्देन" इत्यादिरूपेण सप्तमपरिच्छेद इति भावः । क्वचिच्च = लौकिकवाक्ये "शृङ्गाररसोऽयम्" इत्यादौ = स्थले, स्वशब्देन = शृङ्गारशब्देन, अभिधानेऽपि=अभिधावृत्त्या प्रतिपादनेऽपि, न तत्प्रतीतिः=न रसप्रतीतिः; तत्र हेतुमुपन्यस्यति— तस्येति । तस्य=रसस्य स्वप्रकाशाऽऽनन्दरूपत्वात्=पूर्वोक्तरीत्या स्वप्रकाशानन्दस्वरूपत्वात् ।

दशरूपककारधनिकमतानुसारेण तात्पर्यवृत्त्या रसादिबोधः स्यादिति मतं खण्डयति—अभिहिताऽन्वयवादिभिरिति ।

और रस आदि व्यङ्ग्य अर्थका बोधन करनेमें क्षमता (सामर्थ्य) नहीं है । वस्तु, अलङ्कार और रस आदि सङ्केतके विषय नहीं है । विभाव आदिका अभिधासे प्रतिपादन करना ही रस आदिका प्रतिपादन नहीं है, विभाव आदिका रस आदिसे अभेदका स्वीकार नहीं किया गया है जहाँपर रसका स्वशब्दसे अर्थात रस शब्दसे वा शृङ्गार आदि शब्दसे प्रतिपादन किया जाता वहाँपर दोष हो जाता है इस बातको आगे सप्तम परिच्छेदमें वर्णन किया जायगा । कहीं कहीं लौकिक वाक्यमें "शृङ्गाररसोऽयम्" यह शृङ्गार रस है इस तरह स्वशब्दसे कहनेपर भी शृङ्गार रसकी प्रतीति नहीं होती है, है, क्योंकि रस स्वतःप्रकाश और आनन्दस्वरूप है । अतः अभिधावृत्तिसे रसकी प्रतीति नहीं हो सकती है ।

अभिहिताऽन्वयवादी (भाट्टमीमांसक) से स्वीकृत तात्पर्य नामकी वृत्ति भी

परिक्षीणा न व्यङ्ग्यबोधिनी ।

यच्च केचिदाहुः—'सोऽयमिषोरिव दीर्घदीर्घतरोऽभिधाव्यापारः' इति । यच्च धनिकेनोक्तम्—

तात्पर्याव्यतिरेकाच्च व्यञ्जकत्वस्य न ध्वनिः ।

अभिहितान्वयवादिभिः = भाट्टमीमांसकैः, अङ्गीकृता = स्वीकृता, तात्पर्याख्या = तात्पर्यनामिका, वृत्तिरपि = शक्तिरपि, संसर्गमात्रे = पदानां परस्परान्वयबोधमात्रे; परिक्षीणा = विरता सती, व्यङ्ग्यबोधिनी = व्यङ्ग्यार्थरसादिप्रतिपादिका न, "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराऽभावः" इति नयेनेति शेषः ।

अभिधावृत्त्यैव रसादिबोधो भवतीति भट्टलोल्लटमतमुपन्यस्यति—**यच्चेति ।** यच्च केचित् = भट्टलोल्लटादयः, आहुः = कथयन्ति, किं तदित्याह—**सोऽयमिति ।** सः = तादृशः, अयम् = एषः, इषोः इव = बाणस्य इव, दीर्घदीर्घतरः = उत्तरोत्तरदीर्घः अभिधाव्यापारः = अभिधावृत्तिकार्यम् इति । अय भावः । यथा धानुष्केण मुक्तो बाण एकेनैव वेगरूपव्यापारेण शत्रोर्वक्षःस्थलं भित्त्वा प्राणांश्च हरति तथैव एक एव अभिधाव्यापारः सङ्केतितमर्थं प्रतिपाद्य रसादिरूपं व्यङ्ग्यार्थं च बोधयति ।

तात्पर्यवृत्तिरेव पदानामन्वयं बोधयित्वा रसादिरूपं व्यङ्ग्यं बोधयतीति धनिकमतमुपस्थापयति—**यच्चेति ।** व्यञ्जकत्वस्य = व्यञ्जनाया, तात्पर्याऽव्यतिरेकात् = तात्पर्यस्य (तात्पर्यवृत्तेः) अव्यतिरेकात् (अनतिरिक्तत्वात्), ध्वनिः न = ध्वनिः न व्यञ्जनाप्रतिपाद्यः, प्रत्युत ध्वनिः तात्पर्यवृत्त्यैव प्रतिपाद्यो भवतीति भावः । ननु तात्पर्यवृत्तिस्तु पदानामन्वयमात्रे जनयित्वा निवर्तते इत्याशङ्कां परिहरति—

संसर्गमात्र अर्थात् पदार्थोंका परस्पर अन्वयमात्रका बोध कर परिक्षीण होती है, वह व्यङ्ग्य (रस आदि) का बोधन करनेमें असमर्थ है ।

अभिधा वृत्तिसे ही रस आदिका बोध होता है ऐसा कहने वाले भट्टलोल्लटका मत उपस्थित करते हैं **यच्च० इति** बाणके समान अभिधाका व्यापार भी दीर्घ और दीर्घतर होता है अर्थात् धनुर्धारीसे छोड़ा गया बाण एकमात्र वेगरूप व्यापारसे शत्रुके वक्षःस्थलका छेदन कर उसके प्राणोंको भी हर लेता है उसी तरह अभिधाका व्यापार भी सङ्केतित अर्थका बोधन कर रस आदि व्यङ्ग्य अर्थका भी प्रतिपादन करता है ।

तात्पर्य वृत्ति ही पदोंका अन्वयबोध कर रस आदि व्यङ्ग्यका भी प्रतिपादन करती है ऐसा माननेवाले धनिक आचार्य मतको उपस्थित करते हैं—धनिक ने जो कहा है—**तात्पर्याव्यतिरेकाच्च०** तात्पर्य ही व्यञ्जक है, अर्थात् व्यङ्ग्य अर्थका तात्पर्यसे ही बोध होता है, तात्पर्य वृत्तिसे अतिरिक्त व्यञ्जना नामकी कोई वृत्ति नहीं है । अर्थात् व्यञ्जनासे प्रतिपाद्य ध्वनि नहीं है । तात्पर्यवृत्ति तो पदार्थोंका अन्वय बोधन कर निवृत्त हो जाती है अतः कैसे उससे ध्वनिका प्रतिपादन होता है ऐसी आशङ्काका समाधान करते

यावत्कार्यप्रसारित्वात्तात्पर्यं न तुलाधृतम् ॥' इति ।

तयोरुपरि 'शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इति वादिभिरेव पातनीयो दण्डः ।

एवं च किमिति लक्षणाऽप्युपास्या ? दीर्घदीर्घतराभिधाव्यापारेणापि तदर्थबोधसिद्धेः । किमिति च "ब्राह्मण ! पुत्रस्ते जातः, कन्या ते गर्भिणी"

यावत्कार्येति । यावत्कार्यप्रसारित्वात् = यावत्कार्यं (यावद्व्यापारम्) तावत् प्रसरणशीलत्वात् । तात्पर्यं = तात्पर्यवृत्तिः, तुलाधृतं=तुलया (तुलायन्त्रेण) धृत (मापितम्) न = न वर्तते । अयं भावः । तात्पर्यवृत्तिःपदार्थसंसर्गं बोधयित्वा व्यङ्ग्याऽर्थं च बोधयति, अतः सा न तुलाधृता, संसर्गमात्रबोधनेन न नियन्त्रिता, अतो रसादीनां बोधे कृतं व्यञ्जनयेति मतद्वयं खण्डयितुमुपक्रमते—**तयोरुपरीति** । तयोः = दीर्घदीर्घतराऽभिधाव्यापारेण व्यङ्ग्यार्थबोध इति वादिनो भट्टलोल्लटस्य, तात्पर्यवृत्त्यैव व्यङ्ग्याऽर्थबोध इति वादिनो धनिकस्येति भावः, उपरि, "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराऽभाव." इति वादिभिः एव दण्डः पातनीयः । अयं भावः । अभिधा सङ्केतिताऽर्थं बोधयित्वा विरता सती कथ व्यङ्ग्याऽर्थं बोधयेत् । तथैव तात्पर्यवृत्तिश्च वाक्ये पदानामन्वयं बोधयित्वा विरता सती कथं व्यङ्ग्याऽर्थं बोधयेदिति ।

भट्टलोल्लटमते दूषणान्तरमुद्भावयति—**एवं चेति** । एवं च = अभिधयैव व्यङ्ग्याऽर्थबोधस्वीकारे च । किमिति = किमर्थं, लक्षणाऽपि = लक्षणावृत्तिरपि, उपास्या = स्वीकरणीया, दीर्घदीर्घतराऽभिधाव्यापारेण = पूर्वोक्तेनैव, तदर्थबोधसिद्धेः—लक्ष्याऽर्थज्ञानोत्पत्तेः ।

एवं चाऽत्र दोषान्तरमाह—**किमिति चेति** । किमिति च = किमर्थं च, प्रवासिनं ब्राह्मणं प्रति—"ब्राह्मण ! पुत्रस्ते जातः" इत्यत्र प्रसादेन हर्षस्य न वाच्यत्वं = अभिधया प्रतिपाद्यत्वम् । एवं "कन्या ते गर्भिणी" इत्यत्र शोकस्य न

हैं—यावत्कार्यप्रसारित्वात् । जितने कार्य हों उतना तात्पर्यका प्रसार (फैलाव) होनेसे तात्पर्य तराजूसे नहीं नापा गया है अर्थात् तात्पर्य वृत्ति ही पदार्थोंके अन्वयका बोध कराकर व्यङ्ग्य अर्थ (ध्वनि) का भी बोध कराती है अतः व्यञ्जनाकी कोई आवश्यकता नहीं है यह भाव है ।

ग्रन्थकार भट्टलोल्लट और धनिक दोनोंके मतका खण्डन करते हैं—इन दोनोंके ऊपर "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराऽभावः" इस न्यायको माननेवालोंको ही दण्ड देना चाहिए । अर्थात् सकेतित अर्थका बोध कराकर जैसे अभिधा निवृत्त होती है उसी तरह पदार्थोंका अन्वय बोध कराकर तात्पर्य वृत्ति भी निवृत्त होती है उनसे रस आदि व्यङ्ग्य अर्थका प्रतिपादन नहीं हो सकता है ।

भट्ट लोल्लटके मतमें दूसरा दोष दिखलाते हैं—जब कि अभिधाका व्यापार दीर्घ और दीर्घतर होता है लक्षणाको क्यों मानते हो ? अर्थात् लक्षणासे होने-

इत्यादावपि हर्षशोकादीनामपि न वाच्यत्वम् ।

यत्पुनरुक्तं 'पौरुषेयमपौरुषेयं च वाक्यं सर्वमेव कार्यपरम्, अतत्परत्वेऽनुपादेयत्वादुन्मत्तवाक्यवत्। ततश्च काव्यशब्दानां निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः प्रवृत्त्यौपयिकप्रयोजनानुपलब्धेर्निरतिशयसुखास्वाद एव कार्यत्वेनाऽवधार्यते। 'यत्परः शब्दः स शब्दार्थः' इति

वाच्यत्वम् । अयं भावः । "ब्राह्मण ! पुत्रस्ते जातः" इत्यत्र मुखप्रसादरूपेण लिङ्गेन अनुमितस्य हर्षस्य यथा अनुमेयत्वं तथैव "कन्या ते गर्भिणी" इत्यत्र व्यभिचाराशङ्कया मुखमालिन्येनाऽनुमितस्य शोकस्याऽपि न वाच्यत्वम् । अतो हर्षादयो यथा न वाच्यास्तथैव व्यङ्ग्याऽर्था अपि अभिधाव्यापारेण न वाच्याः ।

प्रभाकरमीमांसकमतं खण्डयति— **यत्पुनरुक्तमिति** । पौरुषेयं = पुरुषकर्तृकं लौकिकवाक्यं "गामानये" त्यादिरूपम् । अपौरुषेयं = पुरुषकर्तृकभिन्नं वैदिकवाक्यं "ज्योतिष्टोमेन स्वर्गकामो यजेत" इत्यादिरूपम् । इत्थं च सर्वमपि वाक्यं=पदसमूहरूपं, कार्यपरम्, अतत्परत्वे = कार्यपरत्वाऽभावे, अनुपादेयत्वात् = अग्राह्यत्वात्, उन्मत्तवाक्यवत् = उन्मत्तप्रयुक्तपदसमूहवत्, ततः प्रकृते किमायातमित्यत्राह—**ततश्चेति** । ततश्च = तस्माद्धेतोः । काव्यशब्दानां = काव्यप्रयुक्तपदसमूहाना, निरतिशयसुखास्वादव्यतिरेकेण = निरतिशयः (साऽतिशयः) यः सुखास्वादः (हर्षाऽनुभूतिः), रसादिरूपोऽर्थ इति भावः । तद्व्यतिरेकेण = तं विना, प्रतिपाद्यप्रतिपादकयोः = प्रतिपाद्यः (बोद्धव्यः, श्रोता इति भावः) प्रतिपादकश्च (बोधकः, वक्ता इति भावः), तयोः, प्रवृत्त्यौपयिकप्रयोजनाऽन्तराऽनुपलब्धेः=प्रवृत्तेः (काव्यश्रवणादौ चेष्टायाः) औपयिकम् (उपायरूपं, प्रयोजकमिति भावः), यत् प्रयोजनान्तरम् (अन्यत् प्रयोजनम् उद्देश्यविषयीभूतम्), तस्य अनुपलब्धेः (अप्राप्तेर्हेतोः) निरतिशयसुखास्वाद एव=रसाद्यनुभव एव

वाला लक्ष्य अर्थका भी बोध अभिधासे हो जायगा । इसी तरह—"ब्राह्मण ! तुम्हारा पुत्र उत्पन्न हुआ कहने पर चेहरेमे प्रसन्नता झलकनेसे हर्ष और "ब्राह्मण ! तुम्हारी कन्या गर्भिणी" हुई कहने पर चेहरेमे झलकने वाली मलिनतासे शोक भी क्यों नहीं वाच्य मानते हो ? अतः जैसे यहा हर्ष और शोक वाच्य नही उसी तरह रस आदि व्यङ्ग्य अर्थ भी वाच्य नही हो सकते है इस कारण दीर्घदीर्घतर अभिधा व्यापारको माननेवाले भट्टलोल्लटकी बात कट गई ।

अन्विताऽभिधानवादी प्रभाकर मीमांसकके मतका खण्डन करते है । जो कि कहते हैं चाहे पौरुषेय (पुरुषकर्तृक अर्थात् लौकिक) वा अपौरुषेय (वैदिक) वाक्य हो सभी वाक्य कार्यपरक होते है, कार्यपरक नहीं मानेगे तो उन्मत्त पुरुषके वाक्यके समान वे अग्राह्य होंगे इस कारणसे काव्यशब्दोंका भी निरतिशय (बेहद) हर्षके आस्वादके बिना श्रोता और वक्ताको काव्यश्रवणकी चेष्टामे उपायरूप दूसरे प्रयोजनकी प्राप्ति न होनेसे निरतिशय (बेहद) हर्षका आस्वाद ही कार्यके रूपमें निश्चित होता है, क्योंकि

न्यायात्' इति । तत्र प्रष्टव्यम्—किमिदं तत्परत्वं नाम, तदर्थत्वं वा, तात्पर्यवृत्त्या तद्बोधकत्वं वा ? आद्ये न विवादः । व्यङ्ग्यत्वेऽपि तदर्थतानपायात । द्वितीये तु—केयं तात्पर्याख्या वृत्तिः ? अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता, तदन्या वा ? आद्ये दत्तमेवोत्तरम् ।

अर्थः, कार्यत्वेन = कृतिविषयत्वेन, अवधार्यते = तात्पर्यत्वेन प्रतिपाद्यते, "यत्परः शब्दः स शब्दार्थः" इति न्यायात् इति । यस्मिन् (अर्थे) परः (प्रतिपादनपरः) शब्दः, सः = अर्थः, तस्य शब्दार्थः । यथा यस्मिन् (कम्बुग्रीवादिमति) अर्थे = पदार्थे, परः = प्रतिपादनपरः) शब्दः (घटशब्दः) सः = कम्बुग्रीवादिमान् अर्थः तस्य घटशब्दार्थः = घटशब्दार्थ इति भावः । तथा च काव्यशब्दाना रसाद्यनुभवं विना वक्तृबोध्ययोः चेष्टोपायरूपप्रयोजनाऽप्राप्तेः रसाद्यनुभव एव कृतिविषयत्वेन निश्चीयत इति भावः ।

उक्तमतं दूषयितुमुपक्रमते—**तत्रेति** । तत्र=तस्मिन्मते, प्रष्टव्य=प्रष्टुं योग्यम् । किमिदं तत्परत्वं नाम ? पूर्वम् "अतत्परत्वे अनुपादेयत्वात्" इति लेखनेन "तत्परत्वे उपादेयत्वम्" इति प्रतीयते, तत्र "तत्परत्व" किम् ? तदर्थत्वं वा तात्पर्यवृत्या तद्बोधकत्व वा ? । इत्थं कोटिद्वयं समुपस्थाप्य आद्यकोटिं दूषयति = आद्ये प्रथमे, तदर्थत्व इति भावः । न विवादः = न विरुद्धो वादः, व्यङ्ग्यत्वेऽपि = अस्मदङ्गीकृतव्यञ्जनावृत्या तदर्थप्रतिपाद्यत्वेऽपि, तदर्थताऽनपायात् = तत्प्रतीतिप्रयोजनकत्वाऽविनाशात् ।

जिस अर्थमें जिस शब्दका तात्पर्य है वही शब्दार्थ है ऐसा सिद्धान्त है । इसप्रकार अभिधासे ही रसाऽऽदिरूप व्यङ्ग्य अर्थका बोध होता है यह एकदेशी मीमासकका मत हे । इस मतका खण्डन करते है । इस मतमे हमे पूछना है कि यह "तत्परत्व" क्या है ? । तदर्थत्व है वा तात्पर्य वृत्तिसे उसका बोधकत्व है । पहला पक्ष तदर्थत्व अर्थात् उस शब्दको अर्थत्व मानें तो उसमें विवाद नहीं है क्योंकि व्यङ्ग्यमें भी तदर्थत्वका अपाय (नाश) नही होता है । दूसरा पक्ष अर्थात् तात्पर्य वृत्तिसे उसका बोधकत्व मानें तो यह तात्पर्य नामको वृत्ति कौन-सी है ? अभिहिताऽन्वयवादियों (भाट्टमीमांसको) से स्वीकृत है वा उससे भिन्न ही कोई है तो पहला पक्ष अर्थात् अभिहितान्वयवादियोंसे स्वीकृत ही है मानें तो उसका उत्तर "तयोरुपरि पातनीयो दण्डः" इन पङ्क्तियोंसे दे ही चुके है । दूसरा पक्ष अर्थात् अभिहिताऽन्वयवादियोंकी स्वीकृत्तिसे भिन्न मानें तो नाममात्रमें विवाद रहा क्योकि आप व्यङ्ग्य अर्थका बोध स्वीकृत तात्पर्य वृत्तिसे अतिरिक्त तात्पर्य वृत्तिसे होता है कहते है । चौथी वृत्ति अर्थात अभिधा, लक्षणा, अभिहिताऽन्वयवादियोंमे स्वीकृत तात्पर्य वृत्ति और उससे भिन्न चौथी तात्पर्य वृत्तिकी सिद्धि हो गई । अर्थात् हम चौथी वृत्तिको व्यञ्जना कहते है आप अतिरिक्त तात्पर्यवृत्ति कहते हैं ।

द्वितीये तु—नाममात्रे विवादः, तन्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धेः। नन्वस्तु युगपदेव तात्पर्यशक्त्या विभावादिसंसर्गस्य रसादेश्च प्रकाशनम्—इति चेत्? न, तयोर्हेतुफलभावाङ्गीकारात्। यदाह मुनिः—'विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः' इति। सहभावे च कुतः सव्येतरविषाणयोरिव कार्यकारणभावः? पौर्वापर्यविपर्ययात्।

तात्पर्यवृत्त्या बोधकत्वमिति द्वितीयपक्षं दूषयति **द्वितीये त्विति**। द्वितीये तु = तात्पर्यवृत्त्या बोधकत्वमिति पक्षे तु, अनुयुङ्क्ते—केयं तात्पर्याख्या वृत्तिः? अभिहितान्वयवादिभिः = भाट्टमीमांसकैः, अङ्गीकृता, = स्वीकृता, तदन्या वा = तद्भिन्ना वा?। आद्ये = प्रथमे, अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृता इति पक्षे, उत्तरं = समाधानं, दत्तम् एव = वितीर्णम् एव, पदानामन्वयबोधनेन परिक्षीणत्वात्तात्पर्यवृत्तेः व्यङ्ग्यार्थबोधनाऽसामर्थ्यमिति उत्तरं उक्तम् एवेति भावः। द्वितीये तु=तदन्या वा इति पक्षे तु, अभिहितान्वयवादिभिरङ्गीकृतायास्तात्पर्यवृत्तेर्भिन्ना वा इति पक्षे तु इति भावः। नाममात्रे=संज्ञामात्रे, विवादः=विरुद्धो वादः, तन्मतेऽपि = "तदन्या" इति स्वीकर्तुर्मतेऽपि तुरीयवृत्तिसिद्धेः। तेऽपि व्यङ्ग्यार्थबोधने तुरीयां=चतुर्थीं वृत्तिं, तात्पर्यनामिकां स्वीकुर्वन्ति, वयं व्यञ्जनाख्यां वृत्तिं स्वीकुर्मः, उभयत्र तुरीयवृत्तिसिद्धेर्नाममात्रे विवाद इति भावः।

अथ तात्पर्यवृत्त्या यौगपद्येन विभावादिसंसर्गस्य रसादेश्च प्रकाशनं खण्डयति—**नन्विति**। ननु युगपत् = समकालम् एव, तात्पर्यशक्त्या = तात्पर्यवृत्त्या, विभावादिसंसर्गस्य = विभावादिसम्बन्धस्य रसादेश्च = व्यञ्जनाप्रतिपाद्यवस्त्वलङ्काररसादेश्च; प्रकाशनं = प्रतिपादनम्, इति चेत्? न, तयोः = विभावादिसंसर्गरसाद्योः, हेतुफलभावाङ्गीकारात् = कारणकार्यत्वाऽभ्युपगमात्। विभावादिसंसर्गस्य कारणत्वं रसादेश्च कार्यत्वम् इति स्वीकारादिति भावः। अत्राऽर्थे भरतमुनिवचनं प्रदर्शयति—**यदाहेति**। मुनिः=भरतमुनिः, यत् आह (स्म) = अकथयत् "विभावाऽनुभावव्यभिचारिसंयोगात् रसनिष्पत्तिः", इति। सहभावे च = विभावादिसंसर्गरसाद्योः युगपदुत्पत्तिस्वीकारे = यौगपद्येन उत्पत्तिस्वीकारे, सव्येतरविषाणयोरिव=गोर्वामदक्षिणशृङ्गयोरिव, कुतः कार्यकारणभावः=फलहेतुत्वम्। पौर्वापर्यविपर्ययात्=पूर्वाऽपरभावव्यत्ययात्। यथा गवादेर्वामदक्षिणशृङ्गयोः उत्पत्तौ सहभावेन कारणकार्यभावो नाऽस्ति, तथैव विभावादिसंसर्ग-

अब तात्पर्य वृत्तिसे व्यङ्ग्य रस आदिके प्रतिपादनका खण्डन करते हैं—
यदि कहें कि तात्पर्य वृत्तिसे विभाव आदिके सम्बन्धका और रस आदिका प्रकाशन एक ही बार होता है ऐसा मानें तो यह ठीक नहीं है क्योंकि विभाव आदिका संसर्ग रस आदिका हेतु है और रस आदिका प्रकाशन फल माना गया है। जैसे कि भरतमुनिने कहा है—"विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभाव इनके संयोगसे रसकी सिद्धि होती है"। कारण पहले होता है और कार्य पीछे होता है, अतः विभाव आदिका संयोगरूप कारण पहले होता है, उससे रस निष्पत्तिरूप कार्य पीछे होता है। इन दोनोंका सहभाव अर्थात् एक

'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ तटाद्यर्थमात्रबोधविरताया लक्षणायाश्च कुतः शीतत्वपावनत्वादिव्यङ्ग्यबोधकता। तेन तुरीया वृत्तिरुपास्यवेति निर्विवादमेतत्।

किंच—

बोद्धृस्वरूपसंख्यानिमित्तकार्यप्रतीतिकालानाम्।
आश्रयविषयादीनां भेदाद्भिन्नोऽभिधेयतो व्यङ्ग्यः॥ २॥

रसाद्योः सहभावे कारणकार्यभावो न भविष्यति। "अन्यथासिद्धिशून्यत्वे सति कार्यनियतपूर्ववृत्तित्वं कारणत्वम्" इति कारणलक्षणाऽनुसारेण विभावादिसंसर्गः पूर्ववृत्तित्वात्कारणरूपः, "प्रागभावप्रतियोगित्वं कार्यत्वम्" इति लक्षणाऽनुसारेण रसादेश्च कार्यत्वं, तयोः सहभावे सव्येतरविषाणयोरिव कथं कार्यकारणभाव इति भावः।

अथ लक्षणाया रसादिबोधे असामर्थ्यं प्रतिपादयति—गङ्गायामिति। "गङ्गायां घोषः" इत्यादौ तटाद्यर्थबोधनविरतायाः=तटाद्यर्थबोधनेनविरतायाः (उपक्षीणायाः) लक्षणायाः, कुतः—कस्मात्, शीतत्वपावनत्वादिव्यङ्ग्यबोधकता? "शब्दबुद्धिकर्मणां विरम्य व्यापाराऽभाव" इति पूर्वोक्तनियमेनेति भावः। तेन=हेतुना, तुरीया—चतुर्थी, वृत्तिः—व्यञ्जनाऽऽख्या, उपास्या=सेवनीया एव, अङ्गीकार्या एवेति भावः, इत्येतत् निर्विवादं = विवादरहितम् व्यङ्ग्यार्थस्य वाच्याऽर्थाद्भिन्नत्वमुपपादयति—बोद्धृस्वरूपेति। बोद्धा=प्रतिपाद्यः, ज्ञाता इत्यर्थः। स्वरूपं=प्रकृतिः, संख्या = एकत्वादिः, निमित्तं = कारणं, कार्यं=फलं, प्रतीतिः=ज्ञानं, कालः=समयः, तेषाम्। "भेदात्" इत्यत्र सम्बन्धः। पूर्वोक्तानामेतेषां भेदात्तथा आश्रयविषयादीनाम् आश्रयः=आधारः विषयः—

ही समयमें होना मानेंगे तो गायके बायें और दाहिने सींगके समान कैसे कार्यकारण भाव होगा? कारण और कार्यमें यथाक्रम पूर्वभाव और परभाव होता ही है परन्तु गायके बाएँ और दाहिनें सींग एक ही बार होते हैं यह अभिप्राय है।

इसप्रकार अभिधा और तात्पर्य इन दोनों वृत्तियोंसे रस आदि व्यङ्ग्य अर्थका बोध नहीं हो सकता है, यह सिद्ध हुआ। अब तीसरी वृत्ति लक्षणासे भी रस आदिका बोध नहीं हो सकता है इस विषयको दिखलाते हैं। "गङ्गायां घोषः" इत्यादि स्थलमें लक्षणा तट आदिरूप अर्थमात्रका बोधन करके विरत हो जाती है अतः वह कैसे शीतत्व और पावनत्व आदि व्यङ्ग्य अर्थका बोधन कर सकती है? इस कारणसे रस आदि व्यङ्ग्य अर्थका बोध करनेके लिये चौथी वृत्ति (व्यञ्जना)को अङ्गीकार ही करना चाहिए इसमें कुछ भी विवाद नहीं है॥

अब वाच्य अर्थसे व्यङ्ग्य अर्थका भेद दिखलाते हैं, बोद्धृस्वरूपेति। बोद्धा, स्वरूप, संख्या, निमित्त (कारण), कार्य, प्रतीति (ज्ञान), काल, आश्रय और विषय

वाच्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोर्हि पदतदर्थमात्रज्ञाननिपुणैरपि वैयाकरणैरपि सहृदयैरेव च संवेद्यतया बोद्धृभेदः ।

'भम धम्मिअ इत्यादौ—' (पृ० २९९) क्वचिद्वाच्ये विधिरूपे निषेधरूपतया, क्वचित् 'निःशेषच्युतचन्दनम्—' (पृ० ७५) इत्यादौ निषेधरूपे विधिरूपतया च स्वरूपभेदः ।

उद्देश्यम्, तदादीनां भेदात् = प्रकारात्, व्यङ्ग्यः = व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्यः अर्थः, अभिधेयतः = अभिधाप्रतिपाद्यात् वाच्यार्थात्, भिन्नः = भेदयुक्तः ॥ २ ॥

कारिकां विवृणोति—वाच्यार्थेति । तत्र तावत्प्रथमं बोद्धृभेदं प्रदर्शयति-वाच्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोः = वाच्यार्थस्य (अभिधाप्रतिपाद्यार्थस्य), व्यङ्ग्यार्थस्य (व्यञ्जनाप्रतिपाद्यार्थस्य) च यथासंख्येन—वाच्यार्थस्य, पदतदर्थज्ञानमात्रनिपुणैः = शब्द—शब्दार्थबोधमात्रप्रवीणैः, वैयाकरणैः = व्याकरणाऽभिज्ञैः, अत्र मात्रपदेन व्यङ्ग्यार्थनिरासः । व्यङ्ग्यार्थस्य, सहृदयैः एव = हृदयालुभिः एव संवेद्यतया = ज्ञेयत्वेन, बोद्धृभेदः=प्रतिपाद्यभेदः । शब्दं शब्दार्थं च वैयाकरणाः सहृदयाश्च जानन्ति परं व्यङ्ग्यार्थं काव्यार्थवेत्तारः सहृदया एव जानन्तीति आश्रयभेद इति भावः ।

स्वरूपभेदं प्रदर्शयति—ममेति । "भम धम्मिअ" इत्यादौ "भम" "भ्रम" इति विधिरूपे वाच्ये = अभिधाप्रतिपाद्येऽर्थे, निषेधरूपतया = "न भ्रम" इति प्रतिषेधरूपतया । एतद्वैपरीत्येन क्वचित् = कुत्रचित् "निःशेषच्युतचन्दनम्" इत्यादौ "तस्याऽधमस्याऽन्तिकं न गताऽसि" इति निषेधरूपे वाच्ये "तस्य एव अन्तिकं गताऽसि" इति व्यङ्ग्यस्य विधिरूपतया च स्वरूपभेदः, इति वाच्यार्थव्यङ्ग्यार्थयोः स्वरूपभेदः ।

आदिके भेदसे व्यङ्ग्य (व्यञ्जना वृत्तिसे प्रतिपाद्य) अर्थ अभिधेय (अभिधावृत्तिसे प्रतिपाद्य) अर्थ अर्थात् वाच्यार्थसे भिन्न होता है ॥ २ ॥

क्रमपूर्वक भेदका उपपादन करते हैं । वाच्य अर्थ पद और पदार्थ मात्रके जाननेमें निपुण वैयाकरण जानते हैं परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ केवल सहृदय जानते हैं, इस-प्रकार वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थमें बोद्धाओंका भेद हुआ ।

"भ्रम धम्मिअ" ("भ्रम धार्मिक") (पृ० २९९) इत्यादि स्थलमें "भम" ("भ्रम") इत्यादि स्थलमें कहीं भ्रमण करो ऐसे विधिरूप वाच्य अर्थमें "मा भ्रम" "अर्थात् भ्रमण मत करो" इसप्रकार निषेधरूप होनेसे तथा "निःशेषच्युतचन्दनम्" (पृ०७५) इत्यादिमें "तस्याऽधमस्याऽन्तिकं न गताऽसि" "अर्थात् उस समय के पास तुम नहीं गई हो" इसप्रकार वाच्यार्थ निषेधरूप है परन्तु "तस्याऽधमस्यैव अन्तिकं गताऽसि अर्थात् "उस अधमके ही समीपमें तुम गई हो" इस प्रकार व्यङ्ग्यार्थ विधिरूप है इस प्रकार वाच्यार्थ और व्यङ्ग्यार्थके स्वरूपमें भेद है ।

'गतोऽस्तमर्कः' इत्यादौ च वाच्योऽर्थ एक एव प्रतीयते। व्यङ्ग्यस्तु तद्बोद्ध्रादिभेदात् क्वचित् 'कान्तमभिसर' इति, 'गावो निरुध्यन्ताम्' इति, 'नायकस्यायमागमनावसरः' इति, 'संतापोऽधुना नास्ति' इत्यादिरूपेणानेक इति संख्याभेदः।

वाच्यार्थः शब्दोच्चारणमात्रेण वेद्यः, एष तु तथाविधप्रतिभानैर्मल्यादिनेति निमित्तभेदः।

प्रतीतिमात्रकरणाच्चमत्कारकरणाच्च कार्यभेदः।

संख्याभेदं प्रदर्शयति—"गत" इति। "गतोऽस्तमर्कः" इत्यादौ "अर्कोऽस्तं गतः" इति अर्ककर्तृकमस्तपर्वतगमनम्" इति वाच्योऽर्थः, एक एव प्रतीयते = ज्ञायते। व्यङ्ग्यस्तु, तद्बोद्ध्रादिभेदात्=तस्य (वाक्यस्य) बोद्ध्रादिभेदात् इति (प्रतिपाद्यादिभेदात्), क्वचित् कान्तं = प्रियम्, अभिसरं इति अभिसारिकायां बोद्ध्र्याम्, "गावो निरुध्यन्ताम्" सञ्चरणार्थं वियुक्ता गावो निरुध्यन्ताम् = निवार्यताम् इति गोपाले बोद्धरि, "नायकस्याऽयमागमनाऽवसर" इति प्रोषितभर्तृकायां बोद्ध्र्याम् "सन्तापोऽधुना नाऽस्ति" इति निदाघपीडिते बोद्धरि।

निमित्तभेद दर्शयति—**"वाच्याऽर्थ" इति।** वाच्याऽर्थः शब्दोच्चारणमात्रेण; वेद्यः = ज्ञेयः। एषं तु = व्यङ्ग्यार्थस्तु, तथाविधप्रतिभानैर्मल्यादिना—तादृशबुद्धिनिर्मलत्वादिना, इति निमित्तभेदः=कारणभेदः। कार्यभेदं दर्शयति—**प्रतीतिमात्रेति।** वाच्येऽर्थे प्रतीतिमात्रकरणात् = ज्ञानमात्रविधानात्, मात्रपदेन चमत्कारव्यवच्छेदः। व्यङ्ग्येऽर्थे ज्ञानविधानेन समं चमत्कारकरणाच्च, कार्यभेदः = फलभेदः। प्रतीतिभेदं

"गतोऽस्तमर्क" अर्थात् सूर्य अस्त पर्वतको चले गये हैं इत्यादिमें वाच्य अर्थ तो एकमात्र प्रतीत होता है परन्तु व्यङ्ग्य अर्थ तो उस वाक्यको सुननेवालोंके भेदसे कहीं पर (अभिसारिकामें) "कान्तके पास अभिसार करो" कहींपर (चरवाहेमें) "चरती हुई गायोंको रोको" कहींपर (प्रोषितभर्तृकामें) "नायकका यह आनेका अवसर है" (दिनकी गरमीसे पीडितजनमें) अब सन्ताप नहीं है इत्यादि रूपसे व्यङ्ग्य अर्थ अनेक प्रतीत होते हैं अतः संख्याभेदसे वाच्य अर्थसे व्यङ्ग्य अर्थ भिन्न होता है।

वाच्य अर्थ शब्दोंके उच्चारणमात्रसे जाना जाता है, व्यङ्ग्य अर्थ तो वैसी प्रतिभाकी निर्मलता आदि कारणसे जाना जाता है इसप्रकार निमित्तभेदके कारण व्यङ्ग्य वाच्यसे भिन्न होता है।

वाच्य अर्थमें केवल पदार्थकी प्रतीति कार्य होता है परन्तु व्यङ्ग्य अर्थमें चमत्कारकी प्रतीतिरूप कार्य होता है अतः वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ कार्यभेदके कारण भिन्न भिन्न होते हैं।

केवलरूपतया चमत्कारितया च प्रतीतिभेदः ।
पूर्वपश्चाद्भावेन च कालभेदः ।
शब्दाश्रयत्वेन शब्दतदेकदेशतदर्थवर्णसंघटनाश्रयत्वेन चाश्रयभेदः ।
'कस्स व ण होइ रोसो दठ्ठूण पिआएँ सव्वणं अहरं ।
सब्भमरपद्मग्घाइणि ! वारिअवामे ! सहसु एहिं ॥

दर्शयति— केवलेति । वाच्येऽर्थे केवलरूपतया=शब्दाऽर्थमात्रबोधनरूपतया, व्यङ्ग्येऽर्थे चमत्कारितया च = चमत्कारप्रतीतिकारितया चेति प्रतीतिभेदः ।

कालभेदं दर्शयति— पूर्वेति । वाच्येऽर्थे पूर्वकालता, व्यङ्ग्येऽर्थे उत्तरकालतेति कालभेदः ।

आश्रयविषयाऽऽदीनाम् = आश्रयस्य, विषयस्य च, इत्यादीनां भेदात् । आश्रयभेदं दर्शयति- शब्दाऽऽश्रयत्वेनेति । वाच्येऽर्थे शब्दाश्रयत्वेन = शब्दमात्राऽऽधारत्वेन, व्यङ्ग्येऽर्थे शब्दतदेकदेशतदर्थवर्णसंघटनाऽऽश्रयत्वेन च = शब्दः = पदं, तदेकदेशः = प्रकृतिप्रत्ययादिरूपः, तदर्थः = वाच्यलक्ष्यात्मकः, वर्णः=गुणाऽभिव्यञ्जकः अक्षरसमूहः, संघटना = रचना च, तदाश्रयत्वेन = तदाधारत्वेन आश्रयभेदो भवति ।

विषयभेदमुदाहरति— कस्य इति ।

"कस्य वा न भवति रोषो दृष्ट्वा प्रियायाः सव्रणमधरम् ।
सभ्रमरपद्माघ्रायिणि ! वारितवामे ! सहस्वेदानीम् ॥" (इति संस्कृतच्छाया) ।

उपनायकदष्टाधरां नायिकां प्रति तत्पतिप्रबोधनाऽर्थं कस्याश्चित्सख्या उक्तिरियम् । प्रियायाः = कान्तायाः, अधरम् = ओष्ठं, सव्रणं = दशनक्षतिचिह्नयुक्तं, दृष्ट्वा = विलोक्य, कस्य वा = पत्युः, रोषः = क्रोधः न भवति ? सर्वस्यैव भवतीति भावः ।

वाच्य अर्थमें शब्दाऽर्थ मात्रकी प्रतीति होती है, परन्तु व्यङ्ग्य अर्थमें चमत्कार की भी प्रतीति होती है अतः प्रतीतिभेदसे भी वाच्याऽर्थ और व्यङ्ग्याऽर्थकी भिन्नता होती है ।

वाच्य अर्थकी पहले प्रतीति होती है व्यङ्ग्य अर्थकी पीछे प्रतीति होती है अतः कालभेदसे वाच्य और व्यङ्ग्य अर्थ भिन्न भिन्न है ।

वाच्य अर्थका आश्रय शब्द है परन्तु व्यङ्ग्य अर्थका शब्द, शब्दका एकदेश (प्रकृति प्रत्यय आदि), शब्दाऽर्थ (वाच्याऽर्थ लक्ष्याऽर्थ), वर्ण (गुणोंका अभिव्यञ्जक वर्णसमूह) संघटना (रचना), ये सब आश्रय होते हैं अतः आश्रयभेदसे भी वाच्याऽर्थ और व्यङ्ग्याऽर्थकी भिन्नता स्पष्ट रूपसे प्रतीति होती है ।

विषयभेदका उदाहरण देते हैं ।

कस्स वेति । (कस्य वा न भवति०) प्रियाके अधरको व्रणयुक्त देखकर किसे

इति सखीतत्कान्तविषयत्वेन विषयभेदः । तस्मान्नाभिधेय एव व्यङ्ग्यः ।
तथा—

प्रागसत्त्वाद्रसादेर्नो बोधिके लक्षणाभिधे ।
किञ्च मुख्यार्थबाधस्य विरहादपि लक्षणा ॥ ३ ॥

हे सभ्रमरपद्माघ्रायिणि = हे समधुपकमलाघ्राणशीले !, सभ्रमर (भ्रमरसहितम्) यत् पद्म (कमलम्) तत् आजिघ्रतीति तत्सम्बुद्धौ । हे वारितवामे = निषिद्धे विषयेऽपि हे प्रतिकूलशीले ! वारिते वामा तत्सम्बुद्धौ । सभ्रमरं कमलं मा जिघ्रेति मया निवारिताऽपि त्वं तादृश कमलमाघ्रातवतीति भावः, अतस्त्वत्पतिस्त्वच्चरित्रे सन्दिहानोऽस्ति, तत् इदानीं, सहस्व = पतिकृतं कोपं मर्षयेति भावः । गाथा वृत्तम् ।

अत्र विषयभेदं विवृणोति—**इतीति** । इति = अस्मिन् पद्ये, सखीतत्कान्तविषयत्वेन = सखीविषयत्वेन तत्कान्तविषयत्वेन च विषयभेदः । अत्र वाच्यार्थबोधे विषयभूता सखी, भ्रमरेण अस्या अधरो दष्टो न पुनः पुरुषान्तरेणेति व्यङ्ग्यार्थबोधे विषयभूतो नायक इति विषयभेदः । अत्रोभाभ्यामेव नायिकानायकाभ्यां व्यङ्ग्यार्थो बुद्ध इति नाऽत्र बोद्धृभेद इत्यवधेयम् । निगमयति—**तस्मादिति** । तस्मात् = पूर्वोक्ताद् बोद्ध्रादिभेदात्, अभिधेयः=वाच्यार्थः, नैव व्यङ्ग्यः, इत्थमुभयोर्भेदसत्त्वादिति भावः॥२॥

लक्षणाऽभिधयो रसादेर्बोधनाऽक्षमत्वं प्रतिपादयति— **प्रागसत्त्वादिति** । रसादेः = रसभावादेर्व्यङ्ग्यस्य, प्राक् = प्रथमम्, बोधात्पूर्वमिति भावः । असत्त्वात् = अविद्यमानत्वात्, लक्षणाऽभिधे = लक्षणा अभिधा च, नो बोधिके = न प्रतिपादिके । त्रयाणामपि व्यङ्ग्यानां मुख्यार्थबोधविरहादपि न लक्षणा बोधिका । प्रमाणान्तरसिद्धमेव वस्तु लक्षणाऽभिधे बोधयत इति भावः ।

लक्षणाया रसादेर्बोधनाऽक्षमत्वे हेत्वन्तरमुपन्यस्यति—**किं चेति** । मुख्यार्थबाधस्य = वाच्यार्थप्रतिबन्धस्य, विरहात् अपि = अभावात् अपि, लक्षणा = भक्तिः, नो बोधिकेति शेषः । मुख्यार्थबाध एव लक्षणा प्रवर्तते मुख्यार्थबाधाभावात् लक्षणा रसादि नो बोधयतीति भावः ॥

क्रोध न होगा ? भ्रमरयुक्त कमलको सूँघनेवाली ! निषिद्ध विषयमें भी प्रतिकूल आचरण करनेवाली ! अब तुम पति जो करें सहन कर लो । यहाँपर यथाश्रुत वाच्य अर्थमें विषयभूत सखी है और "भौंरेने इसके अधरको काटा न कि परपुरुषने" इस व्यङ्ग्य अर्थके बोधमें विषय नायक है, इस प्रकार वाच्य अर्थमें और व्यङ्ग्य अर्थमें विषयोंका भेद होता है, अतः अभिधेय (वाच्य अर्थ) ही व्यङ्ग्य अर्थ नहीं होता है ।
अभिधा और लक्षणाकी रस आदिके प्रतिपादनमें असामर्थ्य दिखाते हैं—रस भाव आदि व्यङ्ग्यके पहले न होनेसे लक्षणा और अभिधा उनका बोध करनेवाली नहीं हो सकती हैं । इसी तरह मुख्य अर्थका बाध न होनेसे लक्षणा भी रस आदि व्यङ्ग्य अर्थका बोध नहीं करा सकती है ॥ ३ ॥

'न बोधिका' इति शेषः। नहि कोऽपि रसनात्मकव्यापाराद्भिन्नो रसादिपदप्रतिपाद्यः पदार्थः प्रमाणसिद्धोऽस्ति, यमिमे लक्षणाभिधे बोधयेताम्। 'किञ्च, यत्र 'गङ्गायां घोषः' इत्यादावुपात्तशब्दार्थानां बुभूषन्नेवान्वयोऽनुपपत्त्या बाध्यते तत्रैव हि लक्षणायाः प्रवेशः।

यदुक्तं न्यायकुसुमाञ्जलावुदयनाचार्यैः—

'श्रुतान्वयादनाकाङ्क्षं न वाक्यं ह्यन्यदिच्छति।
पदार्थान्वयवैधुर्यात्तदाक्षिप्तेन सङ्गतिः॥'

रसादेर्बोधात्मार्गासिद्धत्वं दर्शयति—न हीति। रसनात्मकव्यापाराद्भिन्नः = व्यञ्जनाऽऽत्मकव्यापाराद्भिन्नः, रसादिपदप्रतिपाद्यः, कोऽपि पदार्थः नहि प्रमाणसिद्धोऽस्ति, यम् इमे लक्षणाऽभिधे, बोधयेताम् = प्रतिपादयेताम्।

मुख्यार्थबाधाऽभावाल्लक्षणाया अप्रसक्तिं दर्शयति—किञ्चेति। यत्र "गङ्गायां घोषः" इत्यादौ = स्थले उपात्तशब्दार्थानाम् = उच्चारितपदाऽर्थानां, गङ्गाप्रवाहे घोषः (आभीरपल्ली) इति वाच्याऽर्थानाम्, अन्वयः = मिथः सम्बन्धः, बुभूषन् एव = भवितुम् इच्छन् एव, अनुपपत्त्या = असङ्गतिबोधेन, बाध्यते=प्रतिबध्यते, तत्रैव हि = तस्मिन् एव हि स्थले, लक्षणायाः, प्रवेशः = निवेशः।

उक्ताऽर्थे उदयनाचार्यसंवादं प्रदर्शयति—श्रुताऽन्वयादिति। श्रुताऽन्वयात् = श्रुतानाम् (आकर्णितानाम्) पदानाम् (शब्दानाम्) अन्वयात् = मिथःसम्बन्धात्, अनाकाङ्क्षम् = अर्थान्तरस्य आकाङ्क्षारहितं, वाक्यं=पदसमूहः, अन्यत्=पदाऽर्थान्तरं, न इच्छति = न वाञ्छति। पदाऽर्थाऽन्वयवैधुर्यात् = पदार्थाऽन्वयस्य (मुख्याऽर्थाऽन्वयस्य) वैधुर्यात् (अनुपपत्तिग्रहात्) हेतोः, "गङ्गायां घोषः" इत्यादाविति भावः। तदाक्षिप्तेन = तेन (मुख्याऽर्थेन) आक्षिप्तेन (सम्बद्धेन) तटादिनेति भावः। सङ्गतिः = अन्वय इत्यर्थः। एतेनोदयनाचार्यमतेऽपि मुख्याऽर्थबाध एव लक्षणेति निरूपितम्।

रसन (आस्वादन) व्यापारसे भिन्न रस आदि पदका प्रतिपाद्य कोई भी पदार्थ प्रमाणसे सिद्ध नहीं है, जिसका ये लक्षणा और अभिधा बोधन करें। और फिर "गङ्गायां घोषः" इत्यादि स्थलमें उच्चारित पदार्थोंका अन्वय होनेमें अनुपपत्तिसे (गङ्गामें आभीर पल्लीके न हो सकनेसे) बाधित हो जाता है, वहीं पर लक्षणाका प्रवेश होता है, जिसे न्यायकुसुमाञ्जलिमें उदयनाचार्यने कहा है—श्रुतपदोंके अन्वयसे आकाङ्क्षासे रहित वाक्य अन्य—वाच्याऽर्थसे भिन्न पदार्थोंकी अपेक्षा नहीं करता है। परन्तु जहाँपर "गङ्गायां घोषः" इत्यादि स्थलमें पदार्थोंके अन्वयमें अनुपपत्ति होती है वहांपर आक्षिप्त तटादिरूप लक्षणीय अर्थसे सङ्गति हो जाती है॥

न पुनः 'शून्यं वासगृहम्—' इत्यादौ (२४ पृ०) मुख्यार्थबाधः।

यदि च 'गङ्गायां घोषः' इत्यादौ प्रयोजनं लक्ष्यं स्यात्, तीरस्य मुख्यार्थत्वं बाधितत्वं च स्यात्। तस्यापि च लक्ष्यतया प्रयोजनान्तरं तस्यापि प्रयोजनान्तरमित्यनवस्थापातः। न चापि प्रयोजनविशिष्ट एव

प्रकृते मुख्यार्थबाधाऽभावं दर्शयति—न पुनरिति। "शून्यं वासगृहम्" इत्यादौ न मुख्यार्थबाधः = मुख्यार्थ (वाच्यार्थ), बाधः (प्रतिबन्धः) येन लक्षणया रसप्रतीतिः स्यात्।

व्यङ्ग्यस्य लक्षणाबोध्यत्वाऽङ्गीकारेऽनवस्थादोषमाह—यदि चेति। यदि च 'गङ्गायां घोषः" इत्यादौ प्रयोजनं=शैत्यपावनत्वादिकं, लक्ष्यं = लक्षणाप्रतिपाद्यं स्यात् तीरस्य गङ्गापदमुख्यार्थत्वं, तस्य बाधितत्वं च स्यात् यतो मुख्यार्थबाध एव लक्षणा भवति, तस्याऽपि=लक्ष्यमाणप्रयोजनस्याऽपि, लक्ष्यतया=लक्षणाप्रतिपाद्यतया, प्रयोजनान्तरम्=अन्यत् प्रयोजनं, तस्याऽपि=द्वितीयप्रयोजनस्याऽपि, लक्ष्यतया=लक्षणाप्रतिपाद्यतया, प्रयोजनान्तरम् = अन्यत् प्रयोजनम्, इति=इत्थम्, अनवस्थापातः=अनवस्थाप्रसक्तिः। अप्रामाणिकाऽनन्तकल्पनाऽनवस्था। "एवमप्यनवस्था स्याद्या मूलक्षतिकारिणी।" (का.प्र.)

विशिष्टलक्षणावादिनो मतं दूषयति—न चाऽपीति। प्रयोजनविशिष्ट एव = शैत्यपावनत्वरूपप्रयोजनविशिष्टं एव, तीरे = तटे, लक्षणाऽपि न, विषयप्रयोजनयोः = विषयः (कारणीभूतज्ञानविषयः, तीरादिः) प्रयोजनं (फलीभूतज्ञानविषयः, शैत्यपावनत्वादिकम्) तयोः, युगपत्प्रतीत्यनभ्युपगमात् = एककालाऽवच्छेदेन ज्ञानाऽनङ्गीकारात्। कारणभूतं तीरं प्राग् ज्ञायते, फलभूतं शैत्यपावनत्वादिकं पश्चाज्ज्ञायते, इत्थं च तयोर्यौगपद्येन ज्ञानाऽसंभव इति भावः।

"शून्यं वासगृहम्" इत्यादि स्थलमें मुख्य अर्थका बाध नहीं है, इसलिए वहाँपर लक्षणाकी आवश्यकता नहीं है। यदि "गङ्गायां घोषः" इत्यादि स्थलमें शैत्य पावनत्व लक्ष्य (लक्षणा-प्रतिपाद्य) होगा और तीरको मुख्यार्थ मानकर अन्वयमें बाधितत्व भी होगा, क्योंकि जहाँपर मुख्य अर्थमें बाध होता है वहींपर लक्षणा होती है। शैत्य पावनत्वको लक्ष्य माननेसे दूसरा प्रयोजन मानना होगा। उस प्रयोजनका भी लक्ष्य मानेंगे तो फिर दूसरा प्रयोजन मानना होगा इसप्रकार अनवस्थादोष होगा।

प्रयोजनविशिष्ट पदार्थमें लक्षणा होती है ऐसे मतका खण्डन करते हैं—प्रयोजन-(शैत्य पावनत्व आदि) युक्त तीरमें ही लक्षणा होती है यह कहना भी ठीक नहीं है। क्योंकि विषय (कारणीभूत ज्ञानविषय तीर आदि) और प्रयोजन (फलीभूत ज्ञानविषय शैत्य पावनत्व आदि) इनका एक ही साथ ज्ञान नहीं हो सकता है। कारणभूत तीरकी पहले प्रतीति होती है और फलभूत शैत्य और पावनत्व आदिकी पीछे प्रतीति होती है। कारण और कार्यका एक ही बार ज्ञान नहीं हो सकता है। क्रमसे उनकी प्रतीति होती है यह भाव है।

तीरे लक्षणा । विषयप्रयोजनयोर्युगपत्प्रतीत्यनभ्युपगमात् । नीलादिसंवेदनानन्तरमेव हि ज्ञातताया अनुव्यवसायस्य वा सम्भवः ।

नानुमानं रसादीनां व्यङ्ग्यानां बोधनक्षमम् ।
आभासत्वेन हेतूनां स्मृतिर्न च रसादिधीः ॥ ४ ॥

फलफलिनोर्न्यायमतेन मीमांसकमतेन च पूर्वाऽपरभाव दर्शयति—**नीलादीति ।** नीलमहमज्ञासिषमिति नीलादिसंवेदनाऽनन्तरमेव = नीलादिज्ञानाऽनन्तरमेव, ज्ञातता = प्रत्यक्षज्ञानस्य फलरूपा उत्पद्यते, मीमांसकमतमेतत् । नैयायिकमते तु नीलादिज्ञानं व्यवसायः, तदनन्तरमेव नीलो ज्ञात इति फलरूपः अनुव्यवसाय उत्पद्यते । अतश्च कारणीभूतलक्ष्याऽर्थज्ञानं फलरूपं व्यङ्ग्याऽर्थज्ञानमेककालाऽवच्छेदेन न सम्भवतीति सिद्धम् ।

काव्यं रसादिमत् विभावादिमत्वादि'त्यनुमानेन व्यञ्जनां निरस्यतो महिमभट्टस्य मतमुपस्थाप्य खण्डयितुमुपक्रमते ।

अनुमानेन रसादिव्यङ्ग्यानां प्रतीतिरिति वादिनां महिमभट्टानां मतं खण्डयति—**नाऽनुमानमिति ।** अनुमानं=व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान, हेतूनां=साधनानाम्, आभासत्वेन=व्यभिचारादिदोषग्रस्तत्वेन, व्यङ्ग्यानाम्=आलङ्कारिकसम्मतव्यञ्जनाप्रतिपाद्यानां, रसादीनां=वस्त्वलङ्काररसादिरूपाणां, बोधनक्षमं=बोधने (प्रतिपादने क्षमं (समर्थम्) न ।

रसादिज्ञानस्य स्मृतित्वं खण्डयति—**स्मृतिरिति ।** हेतुनाम् आभासत्वेन रसादिधीः = रसादिज्ञानं च, स्मृतिः = संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानं न ॥ ४ ॥

इसी बातको मीमांसा और न्यायके मतसे दिखलाते हैं—

"नीलको मैंने जाना" इस प्रकार नील आदिके प्रत्यक्षज्ञानके अनन्तर उसका फलरूप ज्ञातता वा प्रकटता उत्पन्न होती है यह मीमांसाका मत है । न्यायमतमें "यह नील है" इसप्रकार नील आदिके प्रत्यक्ष ज्ञानके अनन्तर 'नीलको मैंने जाना" ऐसा फलस्वरूप अनुव्यवसाय उत्पन्न होता है । इन दोनोंके मतके अनुसार लक्ष्यपदार्थका ज्ञान कारणस्वरूप है और व्यङ्ग्य अर्थका ज्ञान फलरूप है फलतः एक ही समय कारण और कार्यका ज्ञान नहीं हो सकता है । इसी बातको काव्यप्रकाशकारने—

'प्रयोजनेन सहितं लक्षणीयं न युज्यते ।
ज्ञानस्य विषयो ह्यन्यः फलमन्यदुदाहृतम् ॥" का० प्र०

इस कारिकामें कहा है ।

अनुमानसे रस आदि पदार्थोंका बोध होता है ऐसा मत माननेवाले महिमभट्टके मतका उपन्यास कर खण्डन करते हैं--

हेतुओंका व्यभिचार आदि दोषसे युक्त होनेसे अनुमान (व्याप्तियुक्त पक्षधर्मताका ज्ञान, रस आदि व्यङ्ग्य पदार्थोंका प्रतिपादक नहीं हो सकता है । इसी तरह स्मृति (संस्कारमात्रजन्यज्ञान) भी हेत्वाभास होनेसे रसादि व्यङ्ग्य पदार्थोंका बोधन नहीं कर सकती है ॥ ४ ॥

व्यक्तिविवेककारेण हि—'यापि विभावादिभ्यो रसादीनां प्रतीतिः सानुमान एवान्तर्भवितुमर्हति। 'विभावानुभावव्यभिचारिप्रतीतिर्हि रसादिप्रतीतेः साधनमिष्यते'। ते हि रत्यादीनां भावानां कारणकार्यसहकारिभूतास्ताननुमापन्त एव रसादीन्निष्पादयन्ति। त एव प्रतीयमाना आस्वादपदवीं गताः सन्तो रसा उच्यन्ते, तत्यवश्यंभावी तत्प्रतीतिक्रमः केवलमाशुभावितयाऽसौ न लक्ष्यते, यतोऽयमद्याप्यभिव्यक्तिक्रमः' इति यदुक्तम्। तत्र

कारिकां विवृणोति—**व्यक्तिविवेककारेणेति**। व्यक्तिविवेककारेण=व्यक्तिविवेकनामकग्रन्थकारेण महिमभट्टेन, अस्य पदस्य "यदुक्तम्" इति पदद्वयेन सम्बन्धः। विभावादिभ्यः = विभावाऽनुभावव्यभिचारिभ्यः, याऽपि; रसादीनां = वस्त्वलङ्कारः रसादीनां, प्रतीतिः=ज्ञानम्, सा=प्रतीतिः अनुमान एव=व्याप्तिविशिष्टपक्षधर्मताज्ञान एव, अन्तर्भवितुम् = अन्तःस्थातुम्, अर्हति = योग्या भवति। हि = यस्मात्कारणात्; विभावाऽनुभावव्यभिचारिप्रतीतिः = विभावाऽनुभावव्यभिचारिज्ञानं, रसादिप्रतीतेः= रसादिज्ञानस्य, साधनं = हेतुः, इष्यते = अभिलष्यते। हि = यस्मात्कारणात्, ते = विभावानुभावाव्यभिचार्यादयः, रत्यादीनां = रतिप्रभृतीनां, भावानां = पदार्थानां, यथाक्रमं कारणकार्यसहकारिभूताः सन्तः, तान्=रसादीन्, अनुमापयन्त एव = अनुमानेन बोधयन्त एव, रसादीन् = रसप्रभृतीन्, निष्पादयन्ति = बोधयन्ति। त एव हि = विभावादय एव हि, प्रतीयमानाः = श्रव्यदृश्यकाव्ययोर्ज्ञायमानाः, आस्वादपदवीं = चर्वणापदं, गताः = प्राप्ताः, सन्तः रसाः, उच्यन्ते=कथ्यन्ते। ननु एतादृशकार्यकारणभावस्वीकारे रसादेरसंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यत्वं कथमुपपद्यते? इत्याशङ्क्याह—**अवश्यंभावीति**। तत्प्रतीतिक्रमः = रसज्ञानपौर्वापर्यम्। अवश्यम्भावी=अवश्यम्भवनशीलः, आशुभावितया = शीघ्रभावित्वेन, केवलम्=एव, न लक्ष्यते = नो ज्ञायते, यतः = यस्मात् कारणात्, अयं = रसादिः, अद्याऽपि, अभिव्यक्तिक्रमः = अभिव्यक्तौ (स्फुटतायाम्) क्रमः (पौर्वापर्यम्) यस्य सः। तत्प्रतीतिक्रमप्रकार एषः—आदौ विभावादिलिङ्गज्ञानं, ततो रत्यनुमितिः, ततः पुनःपुनरनुशीलनं, तत आस्वादः। एतादृश-

व्यक्तिविवेककारने विभाव आदिसे जो रस आदिकी प्रतीति (ज्ञान) है वह अनुमानमें ही अन्तर्भूत हो जाती है। क्योंकि विभाव, अनुभाव और व्यभिचार भावकी प्रतीति रस आदिकी प्रतीतिका साधन मानी जाती है ये विभाव अनुभाव, और सञ्चारी भाव रति आदि भावोंके यथाक्रम कारण, कार्य और सहकारी होकर उन रस आदिको अनुमानसे प्रतिपादन करते हुए ही रस आदिका प्रतिपादन करते हैं। विभाव आदि ही श्रव्य और दृश्यकाव्यमें जाने जाते हुए आस्वाद पदवीको प्राप्तकर "रस" कहे जाते हैं इसप्रकार उनका प्रतीतिक्रम (पूर्वाऽपरभाव) अवश्य है परन्तु शीघ्रताके कारण नहीं जाना जाता है जिससे कि यह अभी भी क्रमको अभिव्यक्तिवाला है अर्थात् पहले विभाव

प्रष्टव्यम्—किं शब्दाभिनयसमर्पितविभावादिप्रत्ययानुमितरामादिगतरागादिज्ञानमेव रसत्वेनाभिमतं भवत, तद्भावनया भावकैर्भाव्यमानः स्वप्रकाशानन्दो वा। आद्ये न विवादः, किन्तु 'रामादिगतरागादिज्ञानं रससंज्ञया नोच्यतेऽस्माभिः' इत्येव विशेषः।

क्रमत्वेऽपि सूक्ष्मकालतया शतपत्रव्यतिभेदवत् न लक्ष्यत इति भावः। इति यदुक्तम् "एतदन्तो भागो माहिमभट्टपक्षोपन्यासरूपेण उद्धृतः॥

पूर्वोक्तं माहिमभट्टमतमनुमानगम्यं रसादिज्ञानमिति खण्डयितुमुपक्रमते तत्र प्रष्टव्यमिति। प्रश्ने कोटिद्वयं समुपस्थापयति। तत्र प्रथमा कोटिरियं—किमिति। शब्दाऽभिनयेत्यादिः = शब्दः (श्रव्यकाव्यम्), अभिनयः (दृश्यकाव्यम्), तयोः समर्पितः (जनितः) यः विभावाऽऽदिप्रत्ययः (विभावादीनां, प्रत्ययः=ज्ञानम्), तेन अनुमितः (अनुमितिविषयीकृतः) यः रामादिगतः (रामचन्द्रादिगतः) रागादिः (सीतादिविषयानुरागादिः), तज्ज्ञानमेव (तद्बोध एव) भवतः = तव, रसत्वेन = रसरूपेण, अभिमतं = स्वीकृतम्। वा = अथ वा, तद्भावनया – रामादिगतरागादिचिन्तया, भावकैः = सामाजिकैः, भाव्यमानः = आस्वाद्यमानः, स्वप्रकाशाऽऽनन्दः – स्वेन (आत्मना) प्रकाशः (भासनम्) यस्य सः, आनन्दः=आनन्दस्वरूपश्च, भवतो रसत्वेन आभमत इति लिङ्गव्यत्ययेन पूर्वपदपरामर्शः। आद्यपक्षं विविनक्ति—आद्य इति। आद्ये – प्रथमे पक्षे, रामादिगतसीताऽऽदिविषयकाऽनुरागादे रसत्वे, न विवादः, आवयोर्न विप्रतिपत्तिः। रत्यादेरनुमानं व्यञ्जना चेति विवादो नाऽऽपतत इति भावः। रामः सीताविषयकरतिमान् सीताविषयककटाक्षादिमत्वात्, अस्याऽनुमानस्य हेत्वाभासत्वादिति भावः। किन्तु रामादिगतरागादिज्ञानं – रामादिगतसीताऽऽदिविषयकाऽनुरागादिज्ञानमनुमानसंभवं, रससंज्ञया=रसनाम्ना, नोच्यते=नाऽभिधीयते, अस्माभिः—आलङ्कारिकैः। तत्र रसाऽभावादिति भावः।

आदिका ज्ञान, तब रतिकी अनुमिति अनन्तर बारंबार अनुशीलन, तब रसकी निष्पत्ति होती है, शीघ्रताके कारण ही सैकड़ों उत्पलपत्रोंके एक ही बार वेधे जानेसे जैसे क्रमका ज्ञान नहीं जाना जाता है, उसी तरह इसका भी क्रम नहीं जाना जाता है। ऐसा जो कहा है। उसमें पूछना चाहिए शब्द वा अभिनयमें समर्पित विभाव आदिके ज्ञानसे अनुमित राम आदिमें स्थित राग आदि ज्ञानको ही आप रस मानते हैं अथवा राम आदिमें स्थित राग आदिकी भावनासे सामाजिकोंसे आस्वादन किया जानेवाला स्वतःप्रकाशित आनन्दस्वरूप चमत्कारको? पहले पक्षमें कोई विवाद नहीं है परन्तु राम आदिमें स्थित राग आदिके ज्ञानको हमलोग रस नहीं मानते हैं, यही भेद है।

द्वितीयस्तु व्याप्तिग्रहणाभावाद्धेतोराभासतयाऽसिद्ध एव।

यच्चोक्तं तेनैव—

'यत्र यत्रैवंविधानां विभावानुभावसात्त्विकसञ्चारिणामभिधानमभिनयो वा तत्र तत्र शृङ्गारादिरसाविर्भावः' इति सुग्रहैव व्याप्तिः पक्षधर्मता च।

तथा—

'याऽर्थान्तराभिव्यक्तौ वः सामग्रीष्टा निबन्धनम्।

द्वितीयपक्षेऽनुमेयत्वाऽसंभवं प्रदर्शयति—**द्वितीयस्त्विति**। सामाजिकगतः स्वप्रकाशानन्दरूपः। तत्र व्याप्तिग्रहणाऽभावात् = साध्यसाधनयोरेकाधिकरणवृत्तित्वज्ञानाऽभावात्। हेतोः = साधनस्य, आभासतया = व्यभिचारदुष्टतया, असिद्ध एव = असिद्धनामको हेत्वाभास एव। सीतारूपविभावस्य रामभात्रवृत्तेर्न सामाजिके, अतः स्वरूपाऽसिद्धरूपो हेत्वाभासः।

इदानीं विभावनादिव्यापारभागित्वेन हेतुं विशेष्य व्यभिचारं वारयित्वा व्याप्तिग्रहमुपपादयतो महिमभट्टस्य मतं दूषयितुमुपक्रमते—**यच्चोक्तमिति**। तेनैव = महिमभट्टेनैव। यच्च, उक्तम् यत्र यत्र = स्थले, एवंविधानाम् = एतादृशानां, विभावादिव्यापारभागिनामिति भावः। विभावाऽनुभावसात्त्विकसञ्चारिणां = तत्तद्भावानाम्, अभिधानं = स्वस्वशब्देनोपस्थापनम्, अभिनयो वा = नटचेष्टादिभिरुपस्थापनं वा, तत्र तत्र = स्थले, शृङ्गारादिरसाविर्भावः, इति व्याप्तिः = यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति साध्यसाधनयोः साहचर्यनियमः। पक्षधर्मता च = व्याप्यस्य (धूमादेः) पर्वतादिपक्षवृत्तित्वम्। सुग्रहा एव = सुखेन ग्रहीतुं शक्या एव। तथा च व्याप्त्या सामान्यसिद्धिः, पक्षधर्मतया च विशेषसिद्धिः। यथा वह्निमान् धूमादित्यत्र व्याप्त्या सामान्यसिद्धिः, पक्षधर्मतया च पर्वते वह्निमत्त्वादिविशेषसिद्धिः। **तथेति**।

स्वमतेनाऽनुमानसामग्रीं प्रदर्शयति—**येति**। अर्थान्तराऽभिव्यक्तौ = अर्थान्तरस्य (रसस्य) अभिव्यक्तौ (आस्वादने) निबन्धनं = कारण, वः = युष्माकं, व्यञ्जनावृत्तिं स्वीकुर्वतामिति भावः। या, सामग्री = शब्दबोधादिरूपः कारणसमूहः,

---

दूसरे पक्षमें व्याप्तिग्रहणके अभावसे हेतुका आभास होनेसे असिद्ध नामका हेत्वाभास ही हो जाता है।

जो कि उन्होंने (महिमभट्टने) ही कहा है—"जहां जहां ऐसे (विभावन आदि व्यापारवाले) विभाव, अनुभाव, सात्त्विक और संचारी इन भावोंका अपने अपने शब्दसे उपस्थापन वा अभिनय है वहां वहां शृङ्गार आदि रसोंका आविर्भाव होता इस प्रकारसे व्याप्ति (साध्य और साधनका साहचर्यनियम) और पक्षधर्मता (व्याप्यका पर्वत आदि पक्षमें रहना) सुग्रह ही है। वे यह भी कहते हैं—

दूसरा अर्थ (रस आदि) की अभिव्यक्तिमें तुम (व्यञ्जनाको माननेवाले) जिस

सैवानुमितिपक्षे नो गमकत्वेन संमता ॥' इति ।

इदमपि नो न विरुद्धम् । न ह्येवंविधा प्रतीतिरास्वाद्यत्वेनास्माकमभिमता, किन्तु—स्वप्रकाशमात्रविश्रान्तः सान्द्रानन्दानिर्भरः । तेनात्र सिषाधयिषितादर्थादर्थान्तरस्य साधनाद्धेतोराभासता ।

यच्च 'भम धम्मिअ—' इत्यादौ (पृ० २५९) प्रतीयमानं वस्तु ।

'जलकेलितरलकरतलमुक्तपुनःपिहितराधिकावदनः ।

इष्टी = अभिमता, सा एव=सामग्री एव, विभावादिरूपा इति भावः, नः = अस्माकम्, अनुमितिवादिनामिति भावः । गमकत्वेन=रसानुमापकत्वेन, समता=समभिमता । इति ।

इदमपि = एतत्कथनमपि, नः = व्यञ्जनावादिनां, न विरुद्धं = न सविरोधम् ।

तर्हि अभ्युपगम्येतेति चेत्तत्राह—न हीति । एवंविधा = एतादृशी, प्रतीतिः = ज्ञानम्, अनुमानजनितमिति भावः । आस्वाद्यत्वेन = आस्वादविषयत्वेन, अस्माकं = व्यञ्जनावादिनां, न अभिमता = न स्वीकृता ।

भेदं प्रदर्शयति—किन्त्विति । स्वप्रकाशमात्रविश्रान्तः=स्वस्वरूपमात्रविषयीकृतः, सान्द्रानन्दनिर्भरः = निरन्तरसुखाऽतिशयः । तेन = तादृशाऽनुमितेरास्वादत्वस्वीकारेण, सिसाधयिषितात् साधयितुमिष्टात् अर्थात् = स्वप्रकाशानन्दरूपात्, अर्थान्तरस्य = भिन्नपदार्थस्य रामाऽऽदिनिष्ठसीतादिविषयकरतिज्ञानस्य, साधनात् = अनुमापनात्, आभासता = दुष्टता ।

इत्थं रसादेरनुमानाऽगोचरत्वं व्यवस्थाप्य वस्त्वलङ्काररूपयोर्व्यङ्ग्ययोरपि अनुमानाऽऽगोचरत्वं दर्शयति—यच्चेति । यच्च = "भम धम्मिअ" इत्यादौ, प्रतीयमानं वस्तु= "भ्रम" इत्यनेन विधिना "न भ्रम" इति व्यज्यमानं वस्तु ।

जलकेलीति । जलकेलीत्यादिः । जलकेलौ (जलक्रीडायाम्) राधिकया सहेति भावः । तरले (चञ्चले, जलप्रेरणया इति भावः) ये करतले (हस्ततले) ताभ्यां

सामग्रीको कारणस्वरूप मानते हो, उसीको हम अनुमितिपक्षमें रसके अनुमापकके रूपमें स्वीकार कर लेते है । ऐसा कहना भी हम व्यञ्जनावादियोंको विरुद्ध नहीं है ।

अनुमानसे उत्पन्न ऐसे ज्ञानको हम लोग आस्वादविषय नहीं मानते हैं, किन्तु स्वप्रकाशमात्रमें विश्रान्त सान्द्र आनन्दके अतिशयको आस्वादविषय मानते हैं । इस कारणसे यहाँपर सिद्ध करनेके लिए अभीष्ट अर्थसे भिन्न अर्थको सिद्ध करनेसे हेतुकी दुष्टता (हेत्वाभासता) । अर्थात् रसका अनुमान नहीं हुआ रामगत सीताविषयक अनुराग अनुमित हुआ इसलिए हेत्वाभास हो गया यह अभिप्राय है ।

अब वस्तु और अलङ्काररूप व्यङ्ग्य अर्थ भी अनुमानसे ग्राह्य नहीं हैं इस विषयका प्रतिपादन करते हैं—जो "भम धम्मिअ" (भ्रम धार्मिक) इत्यादिमें "भ्रम" इस विधिसे प्रतीयमान (व्यङ्ग्य) "न भ्रम" ऐसी वस्तु तथा "जलक्रीडाके समयमें

जगदवतु कोकयूनोर्विघटनसंघटनकौतुकी कृष्णः ॥'

इत्यादौ च रूपकालङ्कारादयोऽनुमेया एव। तथाहि—'अनुमानं नाम पक्षसत्त्वसपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वविशिष्टाल्लिङ्गाल्लिङ्गिनो ज्ञानम्। ततश्च वाच्यादसंबद्धोऽर्थस्तावन्न प्रतीयते। अन्यथाऽतिप्रसङ्गः स्यात्, इति बोध्य-

(प्राक् मुक्तं = त्यक्तं, पश्चात् पुन विहितम् (आच्छादितम्) राधिकावदनम् (राधिका-मुखम्) येन सः. अतः कोकयूनोः (चक्रवाकदम्पत्योः) विघटनसंघटनकौतुकी (वियोजन-संयोजनकौतुकशाली), कृष्ण = वासुदेव, जगत = लोकम्, अवतु = रक्षतु।

अयंभावः। रात्रौ चक्रवाकदम्पत्योर्वियोगः पुनर्दिवसे संयोगो भवतीति कवि-प्रसिद्धिः। राधिकामुख च चन्द्रसदृशम्। कृष्णेन करतलाभ्यां राधिकावदने मुक्ते सति तत्र तत्र चन्द्रबुद्धया रात्रिज्ञानेन कोकदम्पत्योर्विघटन, पुनः विहिते सति चन्द्राऽभावेन रात्र्यभावज्ञानेन तयोः संघटनम्। अत्र राधिकावदने चन्द्रत्वारोपणे वाच्यत्वाऽभावात् रूपकालङ्कारादयः, अनुमेया एव = अनुमितिज्ञेया एव।

अनुमान निरूपयति तथाहीति। पक्षसत्त्वविशिष्टात्सपक्षसत्त्वविशिष्टाद्विपक्ष-व्यावृत्तत्वविशिष्टात्, लिङ्गात् (हेतोः, धूमादेः) लिङ्गिनः (साध्यस्य वह्न्यादेः) ज्ञान-मनुमानम्। सिषाधयिषाविरहविशिष्टसिद्धयभाववान् पक्षः पर्वतादिः। निश्चितसाध्यवान् सपक्षः महानसादिः। साध्याऽभाववान् विपक्षो जलह्रदादिः। तथा च पक्षसत्त्वेन सपक्ष-सत्त्वेन विपक्षव्यावृत्तत्वेन च विशिष्टात् लिङ्गात् = साधनात्, धूमादेः। लिङ्गिनः = साध्यस्य वह्न्यादेः ज्ञानम् अनुमानम्। तथा च "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इत्यत्र पर्वतः पक्षः, महानसादिः सपक्षः, जलह्रदादिर्विपक्षः, तत्र धूमो न वर्तते, धूमदर्शनेन पक्षे साध्यरूपो वह्निरनुमीयते।

ततश्च = अनुमानात्, वाच्यात् = मुख्याऽर्थात्, असम्बद्धः = सम्बन्धरहितः, अर्थः = पदार्थः, न प्रतीयते = नो ज्ञायते। अन्यथा = असम्बद्धप्रतीतिस्वीकारे, अति-

चञ्चल करतलसे राधिकाके मुखको कभी छोड़नेवाले और कभी ढाँकनेवाले इसप्रकार चक्रवाकदम्पतिको कभी विघटन (वियोजन) और कभी संघटन (संयोजन)के कौतुक करनेवाले श्रीकृष्ण जगत्की रक्षा करें" ।

इत्यादिमें रात्रिमें चक्रवाक-दम्पतिका वियोग और दिनमें फिर संयोग होता है। राधिकाका मुख चन्द्रके सदृश है। इसप्रकार यहां रूपक अलङ्कार व्यङ्ग्य है। कृष्णके करतलसे राधिकाके मुखको आच्छादित न करनेपर उसमें चक्रवाकोंको चन्द्रबुद्धिसे रात्रिका ज्ञान होनेसे उनका विघटन होता है आच्छादित करनेपर चन्द्रके अभावसे रात्रिके अभावज्ञानसे (अर्थात् दिनका ज्ञान होनेसे) फिर उनका संघटन होता है। इस पद्यमें राधिकाके मुखमें चन्द्रत्वके आरोपणमें वाच्यत्वके अभावसे रूपक अलङ्कार अनुमेय ही है। अनुमानका निरूपण करते हैं। पर्वत आदि पक्षमें रहनेवाले सपक्ष अर्थात्

बोधकयोरर्थयोः कश्चित्संबन्धोऽस्त्येव । ततश्च बोधकोऽर्थो लिङ्गम्, बोध्यश्च लिङ्गी, बोधकस्य चार्थस्य पक्षसत्त्वं निबद्धमेव । सपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वे अनिबद्धे अपि सामर्थ्यादवसेये ।

तस्मादत्र यद्वाच्यार्थाल्लिङ्गरूपाल्लिङ्गिनो व्यङ्ग्यार्थस्यावगमस्तद- नुमान एव पर्यवस्यति' इति । तन्न, तथा ह्यत्र 'भम धम्मिअ—' इत्यादौ गृहे श्वनिवृत्त्या विहितं भ्रमणं 'गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेरभ्रमणमनुमापयति' इति यद्वक्तव्यं, तत्रानैकान्तिको हेतुः । भीरोरपि गुरोः प्रभोर्वा निदेशेन

प्रसङ्गः, स्यात् = अतिव्याप्तिः स्यात्, इति = अस्मात्कारणात्, बोध्यबोधकयोः=साध्य- साधनयोः, अर्थयोः=पदार्थयोः, कश्चित् सम्बन्धः=वैपरीत्यरूपः अस्त्येव । ततश्च बोधकः अर्थः=लिङ्गं, बोध्यश्च=लिङ्गी । बोधकस्य च = गोदावरीतीरे सिंहसत्त्वरूपस्य अर्थस्य, पक्षसत्त्वं = गोदावरीतीररूपपक्षसत्त्वं, निबद्धमेव । निबद्धम् एव = वक्त्र्या नायिकया प्रतिपादितमेव । सपक्षसत्त्वविपक्षव्यावृत्तत्वे = अरण्यसत्त्वगृहव्यावृत्तत्वे, अनिबद्धे अपि= अकथिते अपि, सामर्थ्यात्=अव्यभिचारिसहचारात्, अवसेये=ज्ञातव्ये । तस्मादत्र यद्वाच्याऽ- र्थात् लिङ्गरूपात् = भ्रमणविधिरूपात्, लिङ्गिनः = व्यङ्ग्याऽर्थस्य भ्रमणनिषेधरूपस्य, अवगमः = ज्ञानम्, तद् अनुमाने एव = अनुमानप्रमाणे एव, पर्यवस्यति = पर्यवसितो भवति ।" इति ।

महिमभट्टमतं खण्डयति—तन्न । तथाहि अत्र = "भम धम्मिअ" इत्यादौ गृहे श्वनिवृत्त्या विहितं भ्रमणं गोदावरीतीरे सिंहोपलब्धेः = सिंहप्राप्तेः, अभ्रमणम् अनुमापयति = सहृदयेष्विति शेषः, अनुमानं यथा—गोदावरीतीरं, भीरुभ्रमणाऽयोग्यं, सिंहसत्त्वात्, यन्नैवं तन्नैवं यथा गृहम् इति यद्वक्तव्यं तत्र अनेकान्तिकः = साध्य- व्यभिचारी हेतुः, यतः भीरोरपि० गमनस्य संभवात् ।

महानस आदिमें रहनेवाले तथा विपक्ष अर्थात् जलह्रद आदिमें न रहनेवाले लिङ्ग (हेतु)- से लिङ्गी (साध्य)के ज्ञानको अर्थात् "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" पर्वत वह्निवाला है धूम होनेसे, ऐसे ज्ञानको अनुमान कहते हैं । अनुमानसे वाच्यसे असम्बद्ध अर्थकी प्रतीति नहीं होती है, असम्बद्ध अर्थकी प्रतीति मानेंगे तो अतिप्रसङ्ग (अतिव्याप्ति) होगा इस कारणसे बोध्य (साध्य) और बोधक (साधन) पदार्थोंका कोई सम्बन्ध है ही । प्रकृतमें ' भ्रम धार्मिक०" यहाँ पर वैपरीत्यसम्बन्ध है । तब बोधक अर्थ लिङ्ग (हेतु) और बोध्य अर्थ लिङ्गी (साध्य) है । "गोदावरीतीरे भीरुणा धार्मिकेण न भ्रमणीयं, तत्र सिंहसत्त्वात्" अर्थात् गोदावरीके तीरमे डरपोक धार्मिकोंको भ्रमण नहीं करना चाहिए वहां सिंहके होनेसे ऐसे अनुमानमें बोधक (हेतु) अर्थ सिंहका रहना है उसका धार्मिक रूप पक्षमे वृत्तित्वका नायिकाने प्रतिपादन ही किया है, सपक्षसत्त्व (सपक्ष अर्थात् अरण्य आदिमें रहना) और पक्ष गृहादिमें व्यावृत्तत्वको नही कहा है तो भी उन्हें

प्रियानुरागेण वा गमनस्य संभवात्, पुंश्चल्या वचनं प्रामाणिकं न वेति संदिग्धासिद्धश्च।

'जलकेलि—' इत्यत्र 'य आत्मदर्शनादर्शनाभ्यां चक्रवाकविघटनसंघटनकारी स चन्द्र एव' इत्यनुमितिरेवार्थभितिं न वाच्यम्, उत्त्रासकादाव-

---

हेतोर्दोषान्तरमाह—**पुंश्चल्या इति**। पुंश्चल्याः=कुलटायाः। प्रामाणिकं = प्रमाजनकं, न वेति सान्दिग्धाऽसिद्धश्च। पक्षे=गोदावरीतीरे, हेतोः=सिंहसत्त्वस्य सन्देहात् सन्दिग्धाऽसिरित्यर्थः।

अलङ्काराऽनुमानं दूषयति—जलकेलीत्यत्र। जलकेलीत्यादिपद्ये "राधिकावदनं, चन्द्रः, आत्मदर्शनाऽदर्शनाभ्यां कोकमिथुनविघटनसंघटनकारित्वात्" इत्यनुमानेन राधिकावदने चन्द्रत्वारोपेण रूपकाऽलङ्कारप्रतीतिः इति अनुमितिरेव न व्यञ्जना, इत्यपि न वाच्यं = नो वक्तव्यम्, उत्त्रासकादौ = भयदादौ, यस्य करतालदानादिनोत्त्रासेन पक्षिणो विघटन्ते तदभावे संघटन्ते। स उत्त्रासकः, तदादौ। अनैकान्तिकत्वात् = सव्यभिचारत्वात्। उत्त्रासकादिनाऽपि चक्रवाकमिथुनस्य विघटनं भवति तदभावे च संघटनं च भवति अतो व्यभिचार इति भावः।

सामर्थ्यसे समझाना चाहिए। इस कारणसे यहाँपर भ्रमणविधिरूप वाच्यार्थ लिङ्गसे भ्रमणनिषेधरूप व्यङ्ग्याऽर्थ लिङ्गी (साध्य) का ज्ञान अनुमानमें ही पर्यवसित होता है, जैसे "पर्वतो वह्निमान् धूमात्" इस अनुमानमें धूमरूप लिङ्ग (हेतु) से पर्वतमें वह्निरूप साध्यका ज्ञान होता है वैसे ही "गोदावरीतीरं भीरुभ्रमणाऽयोग्यं, सिंहसत्त्वात्" अर्थात् गोदावरीका तीर, भीरुओंके भ्रमणके योग्य नहीं है, सिंहके रहनेसे इस अनुमानसे लिङ्गरूप वाच्यार्थ सिंहसत्त्व (सिंहके रहने) से लिङ्गी भीरुभ्रमणके निषेधरूप अर्थका ज्ञान होता है, वह अनुमानमें ही पर्यवसित होता है, इतना अंश महिमभट्टके मतका प्रदर्शक है। अब ग्रन्थकार उसका खण्डन करते हैं। यह ठीक नहीं। क्योंकि "भ्रम धम्मिअ" इस पद्यमें घरमें कुत्तेसे दूर होनेसे विहित भ्रमण, गोदावरीके तीरमें सिंहकी उपलब्धिसे अभ्रमण (भ्रमणनिषेध) का अनुमान करता है, ऐसा जो वक्तव्य है उसमें हेतु अनैकान्तिक (व्यभिचारयुक्त) है, क्योंकि भीरु पुरुषका भी गुरु वा प्रभुकी आज्ञासे अथवा प्रियाके अनुरागसे भ्रमण हो सकता है। इसी तरह कुलटाका वचन प्रामाणिक है या नहीं ऐसा सन्देह होनेसे असिद्ध नामका हेत्वाभास भी है।

इसी तरह "जलकेलि०" इत्यादि पद्यमें "जो (राधिकाका मुख) अपने दर्शनसे चक्रवाकोंका वियोग और अदर्शनसे उनका संयोग करानेवाला है वह चन्द्र ही है; यहाँपर अनुमानका स्वरूप—राधिकावदनं (पक्ष), चन्द्रः (साध्यम्) आत्मदर्शनाऽदर्शनाभ्यां कोकमिथुनविघटनसंघटनकारित्वात् (हेतु) ऐसा होना चाहिए। यह अनुमान ही है ऐसा जो महिमभट्टका कथन है, वह भी उचित नहीं है। त्रास करानेवाले किसी

नेकान्तिकत्वात् ।• 'एवंविधोऽर्थ एवंविधार्थबोधक एवंविधार्थत्वात्, यन्नेवं तन्नैवम्' इत्यनुमानेऽप्याभाससमानयोगक्षेमो हेतुः । 'एवं विधार्थत्वात्' इति हेतुनां एवंविधानिष्ठसाधनस्याऽप्युपपत्तेः । तथा 'दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि ! क्षणमिहाऽप्यस्मद्गृहे–' इत्यादौ (२०९ पृ०) नलग्रन्थीनां तनूल्लेखनम्, एकाकितया च स्रोतोगमनम, तस्याः परकामुकोपभोगस्य लिङ्गिनो लिङ्गमित्युच्यते;

व्यभिचारभयेन पक्षमात्रहेतुकवस्त्वलङ्काराऽनुमानमाह—एवमिति । एवंविधोऽर्थः= "भम धम्मिअ" इत्यादौ गोदावरीकुञ्जसमीपे भ्रमणविधिरूपोऽर्थः (पक्षः), एवं विधाऽर्थबोधकः=तत्र भ्रमणाऽभावरूपनिषेधाऽर्थबोधकः (साध्यः). एवंविधाऽर्थत्वात्—गोदावरीकुञ्जसमीपे सिंहागमनरूपाऽर्थत्वात् (हेतुः), यन्नैवं, तन्नैवम् अर्थात् देवदत्तो भवतीति वाक्यार्थत्वात् (दृष्टान्तः) । इत्यनुमानेऽपि = पक्षमात्रहेतुकवस्त्वलङ्काराऽनुमानेऽपि, आभाससमानयोगक्षेमः = आभाससमाने (हेत्वाभाससमाने) योगक्षेमे अलब्धलाभ-लब्धपरिपालने) यस्य सः, तादृशो हेतुः (साधनम्) हेत्वाभास, इति भावः । यतः "एवंविधाऽर्थत्वात" इति हेतुना, एवंविधाऽनिष्ठार्थसाधनस्य अपि = एतादृशाऽनिष्ठार्थहेतोरपि, उपपत्तेः = संभवात्, अनिष्टः = वक्तुरनभीष्टः ।

उदाहरणान्तरे व्यभिचारं दर्शयति—तथेति । तथा = तेनैव प्रकारेण यव दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि ! ० इत्यादौ नलग्रन्थीनां = नलतृणपर्वणां, तनूलेखनं = शरीरविदारणम्, "तनूल्लिखनम्" इति लेखनं व्याकरणविरुद्धं, "तन्नूलेखनम्" इति प्रयोगेण भाव्यम् । एकादितया = एककत्वेन, स्रोतोगमनं = जलाशयगमनम्, एतच्च

पुरुषके होनेपर भी ऐसा हो सकता है, अर्थात् त्रास करनेवाला अपने कृत्यसे चक्रवाकोंका विघटन और न करनेसे संयोजन करता है इसप्रकार यह हेतु अनैकान्तिक (सव्यभिचार) है ।

अब दूसरा अनुमान दिखलाते हैं—इस प्रकारका अर्थ, अर्थात् "भम धम्मिअ०" इस पद्यमें गोदावरीके कुञ्जके समीपमें भ्रमणविधिरूप अर्थ (पक्ष), ऐसे अर्थका बोधक है अर्थात् वहाँपर भ्रमणके अभावरूप निषेध अर्थका बोधक है (साध्य) ऐसा अर्थ होनेसे अर्थात् गोदावरीके कुञ्जके समीपमे सिंहका आगमनरूप अर्थ होनेसे (हेतु), जो ऐसा नहीं है वह एसा नहीं है अर्थात् देवदत्त होता है ऐसे वाक्यार्थके समान (दृष्टान्त) ऐसे अनुमानमें भी हेत्वाभासके समान कार्य होता है, क्योंकि "एवंविधाऽर्थत्वात्" ऐसा अर्थ होनेसे ऐसा कहनेसे ऐसे अनिष्टार्थ रूप साधनको भी ले सकते हैं, अतः यहाँ भी हेत्वाभास ही है । वैसे ही "दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि ! क्षणमिहाऽप्यस्मद्गृहे०" इत्यादिमें नलोंकी गाँठोंसे शरीरका विदारण, अकेली होकर जलाशयमें जाना, उस नायिकाका परपुरुषका उपभोगरूप साध्यका साधन कहा है इसमें अनुमानका ऐसा स्वरूप होगा—"दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि" इत्यादि पदस्य वक्त्री नायिका (पक्ष), परपुरुषसंगता (साध्य); एकाकित्वेन स्रोतोगमनात् तन्वालेखनवत्त्वाच्च

तथात्रैवाभिहितेन स्वकान्तस्नेहेनाऽपि संभवतीत्यनेकान्तिको हेतुः।

यच्च 'निशेषच्युतचन्दनम्—' इत्यादौ (७५ पृ०) दूत्यास्तत्कामुकोपभोगोऽनुमीयते तत्किं प्रतिपाद्यतया दूत्या, तत्कालसंनिहितैर्वान्यैः, तत्काव्यार्थभावनया वा सहृदयैः।

आद्ययोर्न विवादः। तृतीये तु तथाविधाभिप्रायविरहस्थले व्यभिचारः।

तस्या = वक्तृनायकायाः, परकामुकोपभोगस्य = पतीतरकामिसमागमस्य, लिङ्गिनः= साध्यस्य, लिङ्गं = हेतुः, इति उच्यते।

तथा चाऽत्राऽनुमानं—"दृष्टिं हे प्रतिवेशिनि" त्यादिपद्यस्य वक्त्री नायिका (पक्षः), परपुरुषसगता (साध्यम्) एकाकिकत्वेन स्रोतोगमनात्तन्वालेखनवत्वाच्च (हेतुः) इति। तच्च = तादृशं लिङ्गं च। अत्रैव = अस्मिन् पद्य एव, अभिहितेन = "प्रायेणाऽशिशोः०" इत्यादिना कथितेन, स्वकान्तस्नेहेन अपि = स्वीयपतिप्रेम्णा अपि, संभवति, इति = अ(न) कारणेन, अनैकान्तिकः = सव्यभिचारः, हेतुः=साधनम्।

अन्यस्मिन्नुदाहरणेऽपि व्यभिचारं दर्शयति— **यच्चेति**। यच्च "निःशेषच्युतचन्दनम् इत्यादौ, दूत्याः=सन्देशहरायाः, तत्कामुकोपभोगः=नायिकाकामिसमागमः, अनुमीयते = अनुमितिविषयीक्रियते। तत् अनुमानं, प्रतिपाद्यतया=बोद्धव्यतया, दूत्या = सन्देशहरया, अनुमीयते, अथवा तत्कालसंनिहितैः = पूर्वोक्तपद्यकथनसमसमयवर्तिभिः, अन्यैः = अपरंजनैः, अथवा तत्काव्याऽर्थभावनया=तत्पद्याऽर्थविचारणया, सहृदयैः = हृदयालुभिः अनुमीयते। अनुमानस्वरूप च—दूती (पक्षः), नायिकाकामुकोपभोगवती (साध्यम्), चन्दनच्यवनादिः (हेतुः), इति। आद्ययोः=पूर्वस्थितयोः द्वयोः पक्षयोः दूत्या, तत्कालसन्निहितेषु अन्येषु च, न विवादः = नो विप्रतिपत्तिः, चन्दनच्यवनादीनां स्नानादिनाऽपि संभवात्। तृतीये तु = सहृदयपक्षे तु, तथाविधाऽभिप्राय-

---

(हेतु)। ऐसा कहना उचित नहीं, नलकी गाँठोंसे शरीरका विदारण और अकेली जलाशयमें जाना यह हेतु इसी पद्यमें कहे गये अपने पतिके स्नेहसे भी संभव है अतः यहाँपर यह हेतु अनैकान्तिक अर्थात् सव्यभिचार है।

जो कि "निःशेषच्युतचन्दनम्" इत्यादिमें दूतीका नायिकाके कामुकका उपभोग अनुमित होता है, चन्दनच्युति आदि इसमें हेतु है, अनुमानका स्वरूप है—प्रतिपाद्या दूती (पक्ष), नायिकाके कामुकके साथ उपभोग करनेवाली है (साध्य), स्नान आदिसे विलक्षण चन्दनकी च्युतिसे (हेतु)। वह अनुमान बोद्धव्य होनेसे दूतीसे, उस समय समीपस्थ अन्य जनोंसे वा उस काव्यके अर्थकी भावनासे सहृदयोंसे किया जाता है ? पूर्वस्थित दोनों पक्षोमें अर्थात् दूतीमें वा उस समय निकटस्थित अन्यजनोंमें कोई विवाद नहीं, क्योंकि चन्दनका मिट जाना आदि विषय स्नान आदिसे भी हो सकते हैं। तीसरे अर्थात् सहृदयोंके पक्षमें तो वैसा अभिप्राय अर्थात् दूतीकी वैसी स्थिति

ननु वक्त्राद्यवस्थासहकृतत्वेन विशेष्यो हेतुरिति न वाच्यम्। एवंविध-व्याप्त्यनुसंधानस्याभावात्।

किञ्चैवंविधानां काव्यानां कविप्रतिभामात्रजन्मनां प्रामाण्यानावश्यकत्वेन सन्दिग्धासिद्धत्वं हेतोः।

विरहस्थले = विशेषादिपदानां संभोगजन्यत्वबोधाऽभिप्रायाऽभावस्थले, व्यभिचारः = अनैकान्तिकः।

हेतुविशेषणेन व्यभिचाराऽभाव इत्याशङ्क्य दूषयति—नन्विति। वक्त्राद्यवस्था-सहकृतत्वेन = वक्त्रादेः (प्रतिपादकजनादेः) अवस्थासहकृतत्वेन (दशासहकृतत्वेन) हेतुः = साधकः, चन्दनच्यवनादिरिति भावः, विशेष्यः = विशेषणीयः, वक्त्री यादृशी-मवस्थां प्राप्य तथोक्तवती सा अवस्था हेतोर्विशेषणीकर्तव्येति भावः, इति, न वाच्यं = न कथनीयम्।

तत्र हेतुमुपन्यस्यति—एवंविधेति। एवंविधव्याप्त्यनुसन्धानस्य = एतादृश-विशेषणघटितव्याप्त्यनुसन्धानस्य, अभावात् = विरहात् न हि पद्ये तादृशं विशेषण-मस्तीति, अतोऽत्र अनुमानेन व्यङ्ग्यार्थबोधेन व्यभिचारः।

तादृशाऽनुमाने हेतोः सन्दिग्धत्वमपि प्रदर्शयति—किञ्चेति। किञ्च = अपरं च, एवंविधानाम् = एतादृशानां, कविप्रतिभामात्रजन्मनां = कविकल्पनामात्रप्रसूतानां, काव्यानां = रचनानां, प्रामाण्याऽनावश्यकत्वेन = प्रामाण्यस्य (प्रमाणभावस्य) अना-वश्यकत्वेन (आवश्यकत्वाऽभावेन), हेतोः = साधनस्य, सन्दिग्धाऽसिद्धत्वम्। हेतोः सन्दिग्धत्वमिति भावः।

संभोगके कारण हुई है ऐसा ज्ञान न होनेके स्थलमें व्यभिचार (अनैकान्तिक) दोष हो जाता है। यदि कहें कि वक्त्री (नायिका) ने जैसी अवस्थाको प्राप्त कर वैसा कहा उस अवस्थाको हेतु (चन्दन च्युति आदि) का विशेषण बनायेंगे ऐसा भी नहीं कहना चाहिए क्योंकि व्याप्तिका ऐसा अनुसन्धान (शब्दसे उपस्थित न होनेसे) नहीं हो सकता है।

केवल कविप्रतिभासे उत्पन्न ऐसे काव्योंका प्रामाण्य आवश्यक नहीं होनेसे हेतु भी सन्दिग्धाऽसिद्ध होता है। व्यक्ति (व्यञ्जना) माननेवालेने "अधम" पदसे युक्त ही चन्दनच्यवन आदि इन पदार्थोंको व्यञ्जक अर्थका प्रतिपादक बतलाया है। अधम पदसे उसके नायकका अधमत्व-प्रामाणिक है कि नहीं ऐसे सन्देहके बने रहनेसे कैसे अनुमान होगा?

व्यक्तिवादिना चाधमपदसहायानामेवैषां पदार्थानां व्यञ्जकत्व-मुक्तम्, तेन च तत्कान्तस्याधमत्वं प्रामाणिकं न वेति कथमनुमानम्? एतेनार्थापत्तिवेद्यत्वमपि व्यङ्ग्यानामपास्तम्। अर्थापत्तेरपि पूर्वसिद्धव्याप्तीच्छामुपजीव्यैव प्रवृत्तेः। यथा—'यो जीवति स कुत्राऽप्यवतिष्ठते, जीवति चात्र गोष्ठ्यामविद्यमानश्चैत्रः' इत्यादि।

निर्दोषत्वेन व्यञ्जनावादिमतमुपस्थापयति—**व्यक्तिवादिना चेति।**

व्यज्यतेऽर्थोऽनयेति व्यक्तिर्व्यञ्जना। व्यक्तिवादिना=व्यञ्जनावादिना, अधमपद-सहायानाम् एव = अधमशब्दसहचारिणाम् एव, एषां = पूर्वोक्ताना, पदाऽर्थानां = चन्दनच्यवनादीनां, व्यञ्जकत्वं = व्यङ्ग्याऽर्थप्रतिपादकत्वम्, उक्तम्। तेन च = अधम-पदेन च, तत्कान्तस्य = तस्या नायकस्य, अधमत्वं = नीचत्वं, प्रामाणिकत्वं = प्रमाण-विषयत्वं, न वेति, कथ = केन प्रकारेण, अनुमानम्। इत्थं च हेतोः सन्दिग्धत्वात् कथमनुमानम् इति भावः।

व्यङ्ग्यानामर्थापत्तिवेद्यत्वं निरस्यति—**एतेनेति।** एतेन = हेतोराभासत्वेन, व्यङ्ग्याना = व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्यानाम् अर्थानाम्, अर्थापत्तिवेद्यत्वम् = अर्थापत्ति-ज्ञेयत्वम्, अपास्तं = निरस्तम्। अयं भावः। मीमांसकाः अर्थापत्तिनामकं पञ्चमं प्रमाणं मन्यन्ते। उपपाद्यज्ञानेन उपपादककल्पनम् अर्थापत्तिः। "पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते" इत्यत्र दिवाऽभुञ्जानस्य रात्रिभोजनं विनाऽनुपपन्नम् उपपाद्यं पीनत्वम्। रात्रिभोजनं च उपपादकम्। तथाच उपपाद्यज्ञान करणम्। उपपादकज्ञानं च फलम्। नैयायिकमते व्यतिरेकव्याप्त्या अनुमाने अन्तर्भावात् अर्थापत्तिः न प्रमाणान्तरम्। तथा च अर्थापत्तेरपि पूर्वसिद्धव्याप्तीच्छां=पूर्वसिद्धा (प्रथमनिष्पन्ना) याव्याप्तीच्छा (व्याप्तिग्रहः), ताम् उपजीव्य एव = आश्रित्य एव, प्रवृत्तेः = सम्भवात्।

अर्थापत्तिमुदाहरति—**'य इति।** यो जीवति स कुत्राऽप्यवतिष्ठते, जीवति चात्र गोष्ठ्यामविद्यमानश्चैत्रः।

अस्या गोष्ठ्यामविद्यमानो जीवी चैत्रः कुत्राऽपि विद्यते, नो चेत् जीवनाऽसत्त्वात् इत्यस्या अर्थापत्तेरनुमानरूपत्वात् व्याप्तीच्छां= व्याप्तिग्रहम्, उपजीव्य एव=आश्रित्य

व्यङ्ग्य अर्थ अर्थापत्तिसे जाना जाता है यह कथन भी हेत्वाभास होनेसे खण्डित हो गया। मीमांसासम्मत अर्थापत्ति प्रमाणका न्यायके अनुसार अनुमानकी व्यतिरेक-व्याप्तिमें अन्तर्भाव होता है। अर्थापत्तिका पूर्वसिद्ध व्याप्तिग्रहका आश्रय करके प्रवृत्ति होती है जैसे कि—"जो जीता है, वह कहीं रहता है इस सभामें न रहते हुए भी चैत्र जीता है" इत्यादि। देवदत्तके जीते रहनेपर भी इस सभामें न रहनेसे उसकी अन्यत्र सत्ता मीमांसाके अर्थापत्ति प्रमाणसे वेद्य है, यह अर्थापत्ति—"इस सभामें अविद्यमान जीवित चैत्र (पक्ष), कहीं भी रहता है (साध्य), नहीं तो उसका जीवन नहीं होने से

किञ्च वस्त्रविक्रयादौ तर्जनीतोलनेन दशसंख्यादिवत्सूचनबुद्धिवेद्योऽप्ययं न भवति, सूचनबुद्धेरपि सङ्केतादिलौकिकप्रमाणसापेक्षत्वेनानुमानप्रकारताङ्गीकारात् ।

यच्च 'संस्कारजन्यत्वाद्रसादिबुद्धिः स्मृतिः' इति केचित् । तत्रापि प्रत्यभिज्ञायामनैकान्तिकतया हेतोराभासता ।

एव, प्रवृत्तेः = सम्भवात्, इत्थं च अर्थापत्तिरनुमानप्रमाणरूपा, व्यङ्ग्यानां पूर्वयुक्त्या अनुमानाविषयत्वेन हेतुना नाऽर्थापत्तिविषयत्वमिति सिद्धम् इति भावः ।

व्यङ्ग्यानां सूचनावेद्यत्वं निरस्यति—**किञ्चेति** । वस्त्रविक्रयादौ = वसनविक्रयादौ, तर्जनीतोलनेन = देशिन्युत्क्षेपदर्शनेन, दशसंख्यादिवत्, सूचनाबुद्धिवेद्योऽपि = सूच्यतेऽनेन इति सूचना (हस्तचेष्टाऽऽदिरूपः संकेतः) तद्बुद्धिवेद्यः (सूचनाव्यापारज्ञानविषयोऽपि) व्यङ्ग्यार्थः इति शेषः, न भवति सूचनवेद्योपि (.तद्बुद्धिजन्यबोधविषयः) अपि, अयं = व्यङ्ग्यार्थः, न भवति । तादृश्याः सूचनबुद्धेरपि, संकेतादिलौकिकप्रमाणसाऽपेक्षत्वेन = सङ्केतादि (सङ्केतप्रभृति) यत् लौकिकप्रमाणं (लोकसिद्धप्रमितिकरणम्) तत्साऽपेक्षत्वेन (.तदपेक्षित्वेन), अनुमानप्रकारताऽङ्गीकारात् = अनुमानभेदत्वाऽभ्युपगमात्, यत्रोर्ध्वंतर्जनी तत्र दशसंख्येति व्याप्तेरि.उ शेषः । व्यङ्ग्यस्याऽनुमानाऽगम्यत्वात् अनुमानप्रकारसूचनाबुद्धिवेद्यत्वमपि निरस्त भवतीति भावः ।

रसादिव्यङ्ग्यस्यार्थस्य स्मृतिरूपत्वाऽभावं प्रतिपादयति । **यच्चेति** । केचित् = केऽपि विद्वांसः, रसादिबुद्धिः = रसादिज्ञान (पक्षः), स्मृतिः (साध्यम्), संस्कारजन्यत्वात्=भावनाख्यं संस्कारजन्यज्ञानत्वात्, (हेतुः), इत्यनुमानेन रसादिव्यङ्ग्यार्थज्ञानस्य स्मृतिरूपत्वं प्रतिपादयन्ति, तत्राऽपि=तन्मतेऽपि, प्रत्यभिज्ञायां—"सोऽयं देवदत्त" इत्यादिज्ञानरूपायाम्, अनैकान्तिकतया = साध्यं बिना विद्यमानतया, हेतोः = संस्कारजन्यज्ञानत्वस्य, आभासता ।

(हेतु) न्यायके व्यतिरेक व्याप्तिवाले अनुमानमें अन्तर्भूत है । इस प्रकार व्यंग्य अर्थ अनुमानसे वेद्य नहीं हो सकता है, यह पहले ही कह चुके हैं ।

किञ्चेति । वस्त्रविक्रय आदिमें तर्जनी उठानेसे दश संख्या आदिकी सूचना होती है वह सूचनाबुद्धि भी सङ्केत आदि लौकिक प्रमाणमें अपेक्षा रखनेसे अनुमानका ही भेद माना गया है, तब तो व्यंग्य अर्थका बोध पूर्वोक्त युक्तिसे उससे भी नहीं हो सकता है ।

यच्चेति । कुछ विद्वान् वासना संस्कारसे उत्पन्न होनेसे रस आदिके ज्ञानको स्मृति मानते हैं । उसमें अनुमानका ऐसा आकार होता है—रसादिज्ञानम् (पक्षः) स्मृतिः (साध्य), भावनाऽऽख्यसंस्कारजन्यज्ञानत्वात् (हेतु) । इसमें भी "सोऽयं देवदत्तः" इत्यादि प्रत्यभिज्ञामें अनैकान्तिक (सव्यभिचार) होनेसे हेत्वाभास है ।

'दुर्गालङ्घित—' इत्यादौ (७१ पृ०) च द्वितीयार्थो नास्त्येव—इति यदुक्तं महिमभट्टेन तदनुभवसिद्धमपलपतो गजनिमीलिकैव।

तदेवमनुभवसिद्धस्य तत्तद्रसादिलक्षणार्थस्याशक्यापलापतया तत्तच्छब्दाद्यन्वयव्यतिरेकानुविधायितया चानुमानादिप्रमाणावेद्यतया चाभिधादिवृत्तित्रयाबोध्यतया च तुरीया वृत्तिरुपास्यैवेति सिद्धम्। इयं च व्याप्त्याद्यनुसन्धानं विनाऽपि भवतीत्यखिलं निर्मलम्।

अयं भावः। "सोऽयं देवदत्तः" इत्याकारिकायां प्रत्यभिज्ञायां—"सः" इत्यत्रांऽशे स्मृतिः, "अयम्" इत्यत्रांऽशे प्रत्यक्षं, तथा चेयं प्रत्यभिज्ञाऽपि संस्कारजन्या, परं संस्कारमात्रजन्यत्वाऽभावेन नेयं स्मृतिः, अतोऽत्र हेत्वाभासत्वमिति भावः।

अभिधामूलव्यञ्जनामनङ्गीकुर्वतो महिमभट्टस्य मतं दूषयति—"दुर्गालङ्घित०" इत्यादौ=स्थले, द्वितीयाऽर्थः = अप्राकरणिकाऽर्थः, उमावल्लभ (महेश) रूपव्यङ्ग्याऽर्थ इति भावः, नाऽस्त्येव इति यदुक्तं महिमभट्टेन तत् अनुभवसिद्धम्, अपलपतः = निह्नुवानस्य, अनङ्गीकुर्वत इति भावः तस्येति शेषः। गजनिमीलिका एव = उपेक्षा एव, पर्यालोचनं विनेति शेषः।

व्यञ्जनायाः समर्थनमुपसंहरति—**तदेवमिति**। तत् = तस्मात्कारणात्, एवं = पूर्वोक्तप्रकारेण, अनुभवसिद्धस्य = अनुभूतिनिष्पन्नस्य, तत्तद्रसादिलक्षणार्थस्य=तत्तद्रसभावादिस्वरूपार्थस्य, अशक्याऽपलापतया=अपलापं कर्तुमशक्यतया, तत्तच्छब्दाद्यन्वयव्यतिरेकाऽनुविधायितया = तत्तच्छब्दादीनां ("शून्यं वासगृहम्" इत्यादि काव्यशब्दानाम् अर्थप्रस्तावादीनां च) अन्वयव्यतिरेकाऽनुविधायितया (अन्वयव्यतिरेकव्याप्त्यनुसारितया), तादृशशब्दसत्त्वे रसादिव्यङ्ग्याऽर्थसत्त्वं, तादृशशब्दाऽभावे रसादिव्यङ्ग्याऽर्थाऽभावः इति नियमेन, अभिधाऽऽदिवृत्तित्रयाऽबोध्यतया = अभिधादिकं यत् वृत्तित्रयम् (अभिधालक्षणातात्पर्यरूपम्) तेन अबोध्यतया (अज्ञेयत्वेन), इत्यादिकारणकलापेन, तुरीया = चतुर्थी, व्यञ्जनारूपेति भावः। उपास्या एव = सेवनीया एव, अङ्गीकरणीया एवेति, सिद्धम् = निष्पन्नम्। इयं = व्यञ्जना, व्याप्या-

"दुर्गालङ्घित०" इत्यादि पद्यमें महिमभट्टने दूसरा (अप्राकरणिक) उमावल्लभ (महेश) रूप अर्थ प्रतीत ही नहीं होता है ऐसा जो कहा है वह गजनिमीलिका (उपेक्षा) ही है।

व्यञ्जनाके समर्थनका उपसंहार करते हैं—इसप्रकार अनुभवसे सिद्ध उन उन रस, भाव, आदि स्वरूपवाले पदार्थका अपलाप नहीं कर सकनेसे उन उन शब्द आदिका अन्वय और व्यतिरेक व्याप्तिका अनुसरण करनेसे, अनुमान आदि प्रमाणसे अज्ञेय होनेसे और अभिधा, लक्षणा और तात्पर्य वृत्तिसे अबोध्य होनेसे भी चौथी (व्यञ्जना)

प्रसिक्नामिकेयं वृत्तिरित्युच्यते—

सा चेयं व्यञ्जना नाम वृत्तिरित्युच्यते बुधैः ।
रसव्यक्तौ पुनर्वृत्तिं रसनाख्यां परे विदुः ॥ ५ ॥

एतच्च विविच्योक्तं रसनिरूपणप्रस्ताव इति सर्वमवदातम् ।

इति श्रीमन्नारायणचरणारविन्दमधुव्रतसाहित्यार्णवकर्णधार-ध्वनिप्रस्थापन-परमाचार्य-कविसूक्तिरत्नाकराऽष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्गसान्धि-विग्रहिक-महापात्र-श्रीविश्वनाथकविराजकृतौ साहित्यदर्पणे व्यञ्जनाव्यापारनिरूपणो नाम पञ्चमः परिच्छेदः ।

अनुसन्धानं विनाऽपि = व्याप्त्यादेः (साध्यसाधनयोः साहचर्यनियमादेः) अनुसन्धान (ज्ञानं) विनाऽपि भवतीति अखिलं निर्मलम् ।

किंनामिकेयं वृत्तिरिति आकाङ्क्षां समाधत्ते—सा चेति । सा च = तादृशी च, इयं = सम्प्रत्येव प्रतिपादिता वृत्तिः = शक्तिः, व्यञ्जना नाम = नाम्ना व्यञ्जना इति, बुधैः = आलङ्कारिकैर्विद्वद्भिः । उच्यते = अभिधीयते ।

रसव्यक्तावस्या नामान्तरं प्रतिपादयति—रसव्यक्ताविति । रसव्यक्तौ रसभावादिप्रतिपादने, रसनाऽऽख्यां = रसनाऽभिधेयां, वृत्तिं = व्यापारं, परे = अन्ये, अभिनवगुप्ताचार्याऽवलम्बिनः, विदुः=जानन्ति । एतच्च=सिद्धान्तकदम्बकम्, विविच्य= विवेचनं कृत्वा, रसनिरूपणप्रस्तावे = रसप्रतिपादनाऽवसरे, तृतीयपरिच्छेदे, उक्तम् = अभिहितम्, इति सर्वं = सकलम्, अवदातम् = उज्ज्वलम् अनवद्यमिति भावः ॥

इति श्रीशेषराजशर्मप्रणीतायां चन्द्रकलाऽभिख्यायां साहित्यदर्पण-टीकायां पञ्चमः परिच्छेदः ॥

वृत्ति माननी ही पड़ती है यह बात सिद्ध हो गई । यह (व्यञ्जना) व्याप्ति आदिके अनुसन्धानके बिना भी हो जाती है यह सब विषय स्पष्ट हो गया ।

"तब इस वृत्तिका नाम है" ? इस प्रश्नका उत्तर देते हैं—विद्वज्जन इस वृत्तिको व्यञ्जना कहते हैं । अन्य विद्वान् (अभिनवगुप्त आचार्यके अनुयायी) रसके प्रतिपादनमें रसन नामकी वृत्तिको जानते हैं ॥ ५ ॥

इन सब बातोंकी विवेचना करके रसनिरूपणके प्रस्तावमें कहा हैं, इसप्रकार सब कुछ स्पष्ट है ।

साहित्यदर्पणके अनुवादमें पञ्चम परिच्छेद समाप्त हुआ ।

षष्ठः परिच्छेदः

एवं ध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यत्वेन काव्यस्य भेदद्वयमुक्त्वा पुनर्दृश्यश्रव्य-भेदद्वयमाह—

दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम् ।
दृश्यं तत्राभिनेयम्—

तस्य रूपकसंज्ञाहेतुमाह—

—तद्रूपारोपात्तु रूपकम् ॥ १ ॥

तद् = दृश्यं काव्यं नटे रामादिस्वरूपारोपाद्रूपकमित्युच्यते ।

कोऽसावभिनय इत्याह—

भवेदभिनयोऽवस्थानुकारः, स चतुर्विधः ।
आङ्गिको वाचिकश्चैवमाहार्यः सात्त्विकस्तथा ॥ २ ॥

यो विश्वरङ्गभुवि जीवगणं च पात्रं कृत्वा ततोऽभिनयकाऽभिनयान्प्रदर्श्य ।
ख्यातोऽस्ति कोऽपि कुतुकी चिरसूत्रधारापायात्स शिष्टनिवहं निखिलापपायात् ॥१॥

अथ दृश्यकाव्यं निरूपयितुमुपक्रमते एवमिति । दृश्येति । अभिनेयम्—अभिनेतुं योग्यं तद् रूपकम् ॥ १ ॥

नटे = अनुकर्तरि । भेदप्रदर्शनपूर्वकमभिनयं लक्षयति—भवेदिति । अवस्थाऽनुकारः=अवस्थाऽनुकरणम् अभिनयः ।

तस्य भेदं प्रदर्शयति—आङ्गिक इति । अङ्गेन निर्वृत्त आङ्गिकः, अङ्गकृत इति भावः । "तेन निर्वृत्तम्" इति ठक् । वचसा निर्वृत्तः वाचिकः । आहार्यः =

इस प्रकार ध्वनि और गुणीभूत व्यंग्यके रूपसे काव्यके दो भेदोंको बतलाकर फिर दृश्य और श्रव्यके रूपमें दो भेदोंको कहते हैं—

दृश्य और श्रव्यके रूपमें काव्य फिर दो प्रकारका माना गया है । उसमें अभिनयके योग्य काव्यको "दृश्य" कहते हैं ।

उसके 'रूपक' नाम होनेमें कारण बतलाते हैं—

नटमें राम आदिके स्वरूपका आरोप होनेसे उस दृश्य काव्यको "रूपक" भी कहते हैं ॥ १ ॥

"अभिनय" किसे कहते हैं ? यह बतलाते हैं—

नटोंसे राम और युधिष्ठिर आदिकी अवस्थाके अनुकरणको "अभिनय" कहते हैं, यह चार प्रकारका होता है—आङ्गिक (अङ्गसे होनेवाला), वाचिक (वचनसे

नटैरङ्गादिभी रामयुधिष्ठिरादीनामवस्थानुकरणमभिनयः ।

रूपकस्य भेदानाह—

नाटकमथ प्रकरणं भाणव्यायोगसमवकारडिमाः ।
ईहामृगाङ्कवीथ्यः प्रहसनमिति रूपकाणि दश ॥ ३ ॥

किञ्च—

नाटिका त्रोटकं गोष्ठी सट्टकं नाट्यरासकम् ।
प्रस्थानोल्लाप्यकाव्यानि प्रेङ्खणं रासकं तथा ॥ ४ ॥
संलापकं श्रीगदितं शिल्पकं च विलासिका ।
दुर्मल्लिका प्रकरणी हल्लीशो भाणिकेति च ॥ ५ ॥
अष्टादश प्राहुरुपरूपकाणि मनीषिणः ।
विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम् ॥ ६ ॥

आहर्तुं योग्यः, वेषरचनादिनिष्पाद्य इत्यर्थः । सात्त्विकः=सत्त्वं स्वेदस्तम्भादि, तेन निवृत्तः, स्तम्भस्वेदादिनिष्पाद्य इत्यर्थः ॥ ३ ॥

नटैरिति । अवस्थानुकरणम् = अवस्थायाः (रामयुधिष्ठिरादीनां दशायाः) अनुकरणम् (ताद्रूप्येण प्रत्यायनम्) ।

रूपकभेदाः—नाटकमिति ॥ ३ ॥

उपरूपकभेदाः—नाटिकेति । मनीषिणः=विद्वांसः । लक्ष्म=लक्षणम् ॥ ४-६ ॥

होनेवाला), आहार्य (वेष रचना आदिसे होनेवाला) और सात्त्विक (स्तम्भ और स्वेद आदि स्वरूपवाला ॥ २ ॥

रूपकके भेदोंको कहते हैं—

नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, समवकार, डिम, ईहामृग, अङ्क, वीथी और प्रहसन इसप्रकार रूपकके दश भेद होते हैं ॥ ३ ॥

उपरूपकके भेदोंको कहते हैं—नाटिका, त्रोटक, गोष्ठी, सट्टक, नाट्यरासक, प्रस्थान, उल्लाप्य, काव्य, प्रेङ्खण और रासक ॥ ४ ॥

संलापक, श्रीगदित, शिल्पक, विलासिका, दुर्मल्लिका, प्रकरणी, हल्लीश और भाणिका ॥ ५ ॥

इसप्रकार उपरूपकके अठारह भेद बतलाते हैं, विशेष लक्षणके इन सब प्रकरण आदि रूपकोंका और नाटिका आदि उपरूपकोंका सामान्य लक्षण नाटकके समान माना गया है ॥ ६ ॥

सर्वेषां=प्रकरणादिरूपकाणां नाटिकाद्युपरूपकाणां च ।

तत्र—

> नाटकं ख्यातवृत्तं स्यात् पञ्चसंधिसमन्वितम् ।
> विलासर्द्ध्यादिगुणवद्युक्तं नानाविभूतिभिः ॥ ७ ॥
> ति - नानारसनिरन्तरम् ।
> पञ्चादिका दशपरास्तत्राङ्काः परिकीर्त्तिताः ॥ ८ ॥
> प्रख्यातवंशो राजर्षिर्धीरोदात्तः प्रतापवान् ।
> दिव्योऽथ दिव्यादिव्यो वा गुणवान्नायको मतः ॥ ९ ॥

नाटकं लक्षयति—**नाटकमिति** । ख्यातवृत्तं = ख्यातम् प्रसिद्धम्, इतिहासपुराणादिष्विति शेषः) वृत्तं (चरित्रम्) यस्य तत् । पञ्चसन्धिसमन्वितं = पञ्चभिः सन्धिभिः (मुखप्रतिमुखादिभिः) समन्वितम् (युतम्) । विलासर्द्ध्यादिगुणवत् = "धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः" इत्युक्तलक्षणो नायकगुणविशेषो विलासः । ऋद्धिः (अभ्युदयः) इत्यादिगुणवत् । नानाविभूतिभिः = बहुविधैश्वर्यैः । युक्तम् = उपेतम्, महासहायमिति भावः ॥ ७ ॥

सुखदुःखसमुद्भूतिः=सुखदुःखयोः समुद्भूतिः (समुद्भवः) यस्मिंस्तत्, सुखदुःखसमुद्भवश्च रामयुधिष्ठिरादिचरित्रेषु अभिव्यक्तः । नानारसनिरन्तरं=नानारसैः (शृङ्गारादिभिः) निरन्तरम् (अव्यवहितम्) । सर्वं नाटकविशेषणम् । तत्र=नाटके, पञ्चादिकाः= पञ्च आदयो येषां ते । दशपराः=दशसु पराः (तत्पराः) ॥ ८ ॥

नाटके नायकसामान्यस्वरूपमाह—**प्रख्यातवंश इति** । राजर्षिः = राजा ऋषिरिव, जनकादिरिति भावः । धीरोदात्तः = "अविकत्थन०" (३-३२) इत्यादिलक्षणलक्षितः । प्रतापवान् = प्रतापसम्पन्नः । गुणवान् = दयादाक्षिण्यादिगुणयुक्तः । कश्चिन्नायकः, दिव्यः=श्रीकृष्णादिः, कश्चित् अदिव्यः=मनुष्यः, कश्चिच्च दिव्याऽदिव्यः= दिव्यश्चाऽसौ अदिव्यः, दिव्योऽप्यात्मनि नराऽभिमानी यथा श्रीरामचन्द्रः ॥ ९ ॥

उनमें—नाटकका चरित्र इतिहास और पुराण आदिमें प्रसिद्ध होवा चाहिए । वह मुख आदि पांच सन्धियोंसे और अनेक विभूतियोंसे युक्त (महासहायसंपन्न) ॥ ७ ॥

सुख और दुःखकी उत्पत्तिवाला, जैसे कि राम और युधिष्ठिर आदिके वृत्तान्तोंमें स्पष्ट है । शृङ्गार आदि अनेक रसोंसे अव्यवहित होता है । उसमें पाँचसे लेकर दश अङ्क तक कहे गये हैं ॥ ८ ॥

नायक-प्रख्यात वंशका राजर्षि जैसे दुष्यन्त आदि धीरोदात्त और प्रतापी, दिव्य जैसे श्रीकृष्ण आदि और दिव्याऽदिव्य अर्थात् जो दिव्य होकर भी अपनेमें नरत्वका अभिमान करनेवाले जैसे राम आदि और गुणवान् होना चाहिए ॥ ९ ॥

एक एव भवेदङ्गी शृङ्गारो वीर एव वा ।
अङ्गमन्ये रसाः सर्वे, कार्यो निर्वहणेऽद्भुतः ॥ १० ॥
चत्वारः पञ्च वा मुख्याः कार्यव्यापृतपूरुषाः ।
गोपुच्छाग्रसमाग्रं तु बन्धनं तस्य कीर्तितम् ॥ ११ ॥

ख्यातं=रामायणादिप्रसिद्धं वृत्तम् । यथा—रामचरितादि । सन्धयो वक्ष्यन्ते । नानाविभूतिभिर्युक्तमिति महासहायम् । सुखदुःखसमुद्भूतत्वं रामयुधिष्ठिरादिवृत्तान्तेष्वभिव्यक्तम् । राजर्षयो दुष्यन्तादयः । दिव्याः=श्रीकृष्णादयः । दिव्यादिव्यः–यो दिव्योऽप्यात्मनि नराभिमानी । यथा श्रीरामचन्द्रः ।

गोपुच्छाग्रसमाग्रमिति 'क्रमेणाङ्काः सूक्ष्माः कर्तव्याः' इति केचित् । अन्ये त्वाहुः—'यथा गोपुच्छे केचिद्वाला ह्रस्वाः केचिद्दीर्घास्तथेह कानिचित्कार्याणि मुखसन्धौ समाप्तानि कानिचित्प्रतिमुखे । एवमन्येष्वपि कानिचित्कानिचित् इति ।

प्रत्यक्षनेतृचरितो रससभावसमुज्ज्वलः ।

नाटके अङ्गी=प्रधान, रस एक एव, स च शृङ्गारो वीर एव वा भवेत् । अन्ये=अपरे, रसाः – हास्यादयः । अङ्गम् = अप्रधानम् । निर्वहणे – निर्वहणसन्धौ, अद्भुतरसः कार्यः = कर्तव्यः ॥ १० ॥

चत्वारः पञ्च वा जनाः, मुख्याः=प्रधानानि, कार्यव्यापृतपूरुषाः=कर्मतत्परजनाः भवेयुः । तस्य = नाटकस्य, गोपुच्छाऽग्रसमाग्रं = गोपुच्छाऽग्रतुल्यपूर्वभागं, बन्धनं = बन्धः, कीर्तितं=कथितम् । क्रमेणाऽङ्काः, सूक्ष्माः = लघवः । अन्ये त्वाहुः । बालाः = रोमाणि । समाप्तानि – अवसितानि ॥ ११ ॥

अङ्कलक्षणमाह—प्रत्यक्षेति । प्रत्यक्षनेतृचरितः = प्रत्यक्षम् (अपरोक्षम्) नेतुः (नायकस्य) चरितं (चरित्रम्) यस्मिन् सः । रसभावसमुज्ज्वलः = रसैः (शृङ्गारादिभिः) भावैः (नायिकानायकाऽऽकूतैः) समुज्ज्वलः (सुप्रकाशः) ।

अङ्गी (प्रधान रस) एक ही होना चाहिए शृङ्गार या वीर । अन्य सब रस अङ्ग (अप्रधान) होते हैं । निर्वहण सन्धिमें अद्भुत रस होना चाहिए ॥१०॥

नाटकमें चार वा पाँच मुख्य पुरुष कार्यमें लगे रहते हैं । गोपुच्छके अग्रभागके समान अङ्कोंको क्रमसे सूक्ष्म करना चाहिए या जैसे गोपुच्छमें कुछ बाल छोटे और कुछ लम्बे होते हैं वैसे ही इसमें कुछ कार्योंको मुखसन्धिमें और कुछ कार्य प्रतिमुखसन्धिमें समाप्त करना चाहिए ऐसी भी व्याख्या की जाती है ॥ ११ ॥

नायकका चरित्र प्रत्यक्ष होना चाहिए, रस और भाव उज्ज्वल अपेक्षित हैं,

भवेदगूढशब्दार्थः क्षुद्रचूर्णकसंयुतः ॥ १२ ॥
विच्छिन्नावान्तरैकार्थः किञ्चित्संलग्नबिन्दुकः ।
युक्तो न बहुभिः कार्यैर्बीजसंहृतिमान्न च ॥ १३ ॥
नानाविधानसंयुक्तो नातिप्रचुरपद्यवान् ।
आवश्यकानां कार्याणामविरोधाद्विनिर्मितः ॥ १४ ॥
नानेकदिननिर्वर्त्यकथया संप्रयोजितः ।
आसन्ननायकः पात्रैर्युतस्त्रिचतुरैस्तथा ॥ १५ ॥

अगूढशब्दार्थः=अगूढः (अतिरोहितः) शब्दार्थः (पदार्थः) यस्मिन् सः । क्षुद्रचूर्णकसंयुतः—क्षुद्राणि (अल्पानि) यानि चूर्णकानि (अल्पसमासगद्यानि) तैः संयुतो भवेत् ॥१२॥

विच्छिन्नाऽवान्तरैकार्थः = विच्छिन्नः (समाप्तः) अवान्तरैकार्थः (एकदेशरूपार्थः) यस्मिन् सः । किञ्चित्संलग्नबिन्दुकः = किञ्चित्संलग्नाः (किञ्चित्सम्बद्धाः) बिन्दवः (अवान्तरार्थविच्छेदे अविच्छेदकारणभूताः अर्थप्रकृतिविशेषाः) यस्मिन् सः । "शेषाद्विभाषा" इति समासान्तः कप् । बहुभिः कार्यैर्युक्तो न, तथा बीजसंहृतिमान् न—बीजस्य (फलप्रथमहेतोः) संहृतिः (समाप्तिः), तद्वान् न स्यात् । बीजसमाप्तियुक्तोऽङ्को न कार्य इति भावः ॥ १३ ॥

नानाविधानसंयुक्तः = नानाविधानैः (अनेककर्मभिः) संयुक्तः । अतिप्रचुरपद्यवान् — अत्यधिकपद्ययुक्त 'न नैरन्तर्येण अधिकपद्यान्यङ्के नो भवेयुरिति भावः । आवश्यकानां कार्याणां — सन्ध्यावन्दनादीनाम् ।

अविरोधात् विनिर्मितः = रचितः, अङ्को भवेत् ॥ १४ ॥

अनेकदिननिर्वर्त्यकथया — बहुदिवससमापनीयकथया, संप्रयोजितः = संयोजितः न स्यात् । आसन्ननायकः = आसन्नः (निकटस्थः) नायकः (नेता, धीरोदात्तादिः) यस्मिन् सः । तथा त्रिचतुरैः = त्रीणि चत्वारि वा त्रिचतुराणि, तैः,, त्रिचतुःसंख्यकैः । पात्रैः — सहायैः युतः स्यात् । त्रिचतुरैरित्यत्र "संख्ययाऽव्ययासन्नादूराऽधिकसंख्याः संख्येये" इति समासः, "बहुव्रीहौ संख्येये डजबहुगणात्" इति समासान्तो डच् ॥ १५ ॥

गूढ अर्थ नहीं होना चाहिए, छोटे छोटे समासवाले गद्य चाहिए ॥ १२ ॥

अवान्तर अर्थ समाप्त होना चाहिए और कुछ बिन्दु लगा रहना चाहिए । बहुत कार्योंसे युक्त नहीं होना चाहिए और बीजका उपसंहार न हो ॥ १३ ॥

अनेक विधानोंसे युक्त न हो, पद्य भी ज्यादा न हो आवश्यक कार्योंकी विरोधके बिना रचना होनी चाहिए ॥ १४ ॥

अनेक दिनोंमें समाप्त होनेवाली कथाका प्रयोग नहीं हो नायक निकट हो और तीन चार पात्रोंसे युक्त हो ॥ १५ ॥

दूराह्वानं वधो युद्धं राज्यदेशादिविप्लवः ।
विवाहो भोजनं शापोत्सर्गौ मृत्यू रतं तथा ॥ १६ ॥
दन्तच्छेद्यं नखच्छेद्यमन्यद् व्रीडाकरं च यत् ।
शयनाधरपानादि नगराद्यवरोधनम् ॥ १७ ॥
स्नानानुलेपने चैभिर्वर्जितो नातिविस्तरः ।
देवीपरिजनादीनाममात्यवणिजामपि ॥ १८ ॥

अथ नाटके वर्जनीयविषयानाह—दूराह्वानमिति । दूराह्वानं = दूरात् (विप्रकृष्टप्रदेशात्), आह्वानम् (आकारणम्) । वधः = व्यापादनं, युद्धं = संग्रामः । राज्यदेशादिविप्लवः – राज्यदेशादेः (राष्ट्रजनपदादेः), आदिपदेन ग्रामखर्वटादीनां परिग्रहः, विप्लवः (उपद्रवः) । विवाहः = परिणयः । भोजनं – भक्षणम् । शापोत्सर्गः = शापः (आक्रोशः) उत्सर्गः (मलमूत्रत्यागः) मृत्युः = मरणम् । रतं = रतिक्रिया, 'एभिर्वर्जित'' इति अष्टादशश्लोकस्थपदाभ्यां सम्बन्धः । पूर्वोक्तानां विषयाणां रूपके प्रदर्शनं न कर्तव्यमिति भावः । एवं परत्राऽपि ॥ १६ ॥

दन्तच्छेद्यं–दशनच्छेदनीयं, वस्तु । नखच्छेद्यं=नखरच्छेदनीयं वस्तु । अन्यत् = अपरम् । यत् व्रीडाकरं=लज्जोत्पादकम् । शयनाऽधरपानादि=शयनं (स्वापक्रिया), अधरपानादि (चुम्बनादि) । नगराद्यवरोधनं = पुरादिप्रतिरोधनम्, एभिः – पूर्वोक्तैः विषयैः, वर्जितः=रहितः, अङ्को भवेदिति भावः । १७ ॥

स्नानाऽनुलेपने = स्नानं (मज्जनम्) अनुलेपन – चन्दनाद्यनुलेपः, एभिः = पूर्वोक्तैः, विषयैर्वर्जितोऽङ्कः स्यादिति भावः । नाऽतिविस्तरः–नाऽतिदैर्घ्यसम्पन्नः, अङ्कः स्यादिति भावः । देवीपरिजनादीनां=देवी (कृताऽभिषेका राजपत्नी) परिजनादीनाम् (अनुगतजनादीनाम्), अमात्यवणिजाम् अपि–मन्त्रिवाणिजकादीनाम् अपि ॥ १८ ॥

अङ्कमें प्रत्यक्ष दिखलानेके लिए अयोग्य विषयोंका निरूपण करते हैं—

दूराह्वानम्। दूरसे बुलाना, वध, युद्ध, राज्यविप्लव और देश आदिका विप्लव, विवाह भोजन, शाप, मलत्याग, मरण और रतिक्रीडा ॥ १६ ॥

दन्तक्षत, नखच्छेद और भी लज्जाका उत्पादक विषय, शयन और अधरपान आदि, नगर आदिका विराव ॥ १७ ॥

स्नान और चन्दन आदिका अनुलेपन, इनसे वर्जित हो और ज्यादा फैलाव न हो। देवी (रानी) और उनके परिजन (भृत्य) आदिका मन्त्री और व्यापारियोंके ॥ १८ ॥

प्रत्यक्षचित्रचरितैर्युक्तो भावरसोद्भवैः ।
अन्तर्निष्क्रान्तनिखिलपात्रोऽङ्क इति कीर्त्तितः ॥ १९ ॥

बिन्द्वादयो वक्ष्यन्ते । आवश्यकं संध्यावन्दनादि ।
अङ्कप्रस्तावाद् गर्भाङ्कमाह--

अङ्कोदरप्रविष्टो यो रङ्गद्वारामुखादिमान् ।
अङ्कोऽपरः स गर्भाङ्कः सबीजः फलवानपि ॥ २० ॥

यथा बालरामायणे रावणं प्रति कोहलः—

'श्रवणैः पेयमनेकैर्दृश्यं दीर्घैश्च लोचनैर्बहुभिः ।
भवदर्थमिव निबद्धं नाट्यं सीतास्वयंवरणम् ॥'

भावरसोद्भवैः—भावरसनिष्पत्तियुक्तैः । प्रत्यक्षचित्रचरितैः = अपरोक्षाद्भुतचरित्रैः; युक्तः = संवलितः । अङ्कः स्यादितिभावः । अङ्कस्य तटस्थलक्षणं निर्दिश्य स्वरूपलक्षणं प्रदर्शयति—अन्तेति । अन्तर्निष्क्रान्तनिखिलपात्रः = अन्ते (अवसाने) निष्क्रान्तानि (निर्गतानि) निखिलानि (समस्तानि) पात्राणि (नायकादिसहायाः) यस्मिन् सः, "अङ्क" इति कीर्तितः=कथितः ॥ १९ ॥

गर्भाऽङ्कं लक्षयति—अङ्कोदरप्रविष्ट इति । यः, अङ्कोदरप्रविष्टः = अङ्कमध्यनिविष्टः, रङ्गद्वाराऽऽमुखादिमान् = रङ्गद्वारम् (सूत्रधारक्रियमाणं मङ्गलम्) आमुखं (प्रस्तावना) तदादिमान् (तदादिसंयुक्तः) । सबीजः = वक्ष्यमाणबीजसहितः, फलवान् अपि=प्रधानप्रयोजनयुक्तः अपि । अपरः=अन्यः, अङ्कः, स गर्भाङ्कः ।

उदाहरति यथेति । कोहलः=नाट्यशास्त्रप्रवक्ता, "कोहलो वाद्यभेदे स्यान्नाट्यशास्त्रप्रवक्तरि ।" इति मेदिनी । श्रवणैरिति । अनेकैः = बहुभिः, श्रवणैः = श्रोत्रैः, पेयं = पातव्यम्, आदरेण श्रवणीयम् । बहुभिः = प्रचुरैः, दीर्घैः = विशालैः, लोचनैः=नयनैः, दृश्यं = दर्शनीयम् । भवदर्थम् इव = त्वदर्थम् इव, सीतास्वयंवरणं, नाट्यं = नटकर्म, निबद्धं = निर्मितम् ।

भाव और रससे युक्त प्रत्यक्ष विचित्र चरित्रोंसे युक्त हो, जहाँपर अन्तमें सब पात्र निकल जाते हैं उसे "अङ्क" कहते हैं ॥ १९ ॥

बिन्दु आदिको पीछे कहेंगे । आवश्यक कार्य सन्ध्यावन्दन आदि । गर्भाऽङ्क—जो अङ्कके मध्यमें प्रविष्ट हो और रङ्गद्वार और आमुख आदिसे युक्त हो और जिसमें बीज और फल हो उस अङ्कको "गर्भाऽङ्क" कहते हैं ॥ २० ॥

जैसे बालरामायणमें रावणको कोहल कहता है—

अनेक कानोंसे पेय (श्रोतव्य), बहुतेरे दीर्घ लोचनोंसे दर्शनीय सीतास्वयंवरण नाट्य मानों आपके लिए रचा गया है ।

इत्यादिना विरचितः सीतास्वयंवरो नाम गर्भाङ्कः ।

तत्र पूर्वं पूर्वरङ्गः, सभापूजा ततः परम् ।
कथनं कविसंज्ञादेर्नाटकस्याऽप्यथामुखम् ॥ २१ ॥

तत्रेति नाटके ।

यन्नाट्यवस्तुनः पूर्वं रङ्गविघ्नोपशान्तये ।
कुशीलवाः प्रकुर्वन्ति पूर्वरङ्गः स उच्यते ॥ २२ ॥
प्रत्याहारादिकान्यङ्गान्यस्य भूयांसि यद्यपि ।
तथाऽप्यवश्यं कर्तव्या नान्दी विघ्नोपशान्तये ॥ २३ ॥

तस्याः स्वरूपमाह—

आशीर्वचनसंयुक्ता स्तुतिर्यस्मात्प्रयुज्यते ।

अभिनये नाटके पूर्वकृत्यमाह—**तत्रेति** । तत्र=नाटके, पूर्वं=प्रथम, पूर्वरङ्गः= वक्ष्यमाण कुशीलवकृत्यं, ततः परं = तदनन्तरं, कविसंज्ञादेः = कविनामादेः, नाटकस्य अपि = रूपकविशेषस्य अपि, कथनम् = अभिधानं, अथ = अनन्तरम्, आमुखं = प्रस्तावना, भवेदिति शेषः ॥ २१ ॥

पूर्वरङ्गलक्षणमाह—**यदिति** । नाट्यवस्तुनः = अभिनेतव्यनाटकादेः, पूर्वं = प्रथमं, रङ्गविघ्नोपशान्तये = नृत्यशालाऽन्तरायनिवारणाय, कुशीलवाः = नटाः, यत्, प्रकुर्वन्ति = विदधति, स पूर्वरङ्ग उच्यते ॥ २२ ॥

यद्यपि, अस्य=पूर्वरङ्गस्य, प्रत्याहारादिकानि=प्रत्याहारप्रभृतीनि, भूयांसि=बहूनि, अङ्गानि=अवयवाः, सन्ति, तथापि, विघ्नोपशान्तये=विघ्ननिवारणाय, नान्दी=आशीर्वचन- सयुक्ता देवद्विजनृपादिस्तुतिः, अवश्यम्=अनिवार्यं यथा तथा, कर्तव्या=विधेया ॥२३॥

नान्दीं लक्षयति—**आशीरित्यादि** । यस्मात् =हेतोः, देवद्विजनृपादीनां = सुरब्राह्मणराजादीनाम्, आशीर्वचनसंयुक्ता=आशीर्वादवाक्यसहिता, स्तुतिः = गुणकीर्तनं,

---

इत्यादि विरचित सीतास्वयम्बर नामक गर्भाङ्क है ।

तत्रेति । नाटकमें पहले पूर्वरङ्ग, उसके बाद सभापूजा तब कवि और नाटकके नाम आदि और तदनन्तर आमुख हो ॥ २१ ॥

नाट्यवस्तुके पहले रङ्ग (नाट्यशाला) के विघ्नोंको हटानेके लिए नटलोग जो अभिनय करते हैं उसे "पूर्वरङ्ग" कहते हैं ॥ २२ ॥

यद्यपि इसके प्रत्याहार आदि बहुत-से अङ्ग होते हैं तो भी विघ्नोंकी उपशान्तिके लिए नान्दी अवश्य करनी चाहिए ॥ २३ ॥

नान्दीका स्वरूप—देवता, ब्राह्मण और राजा आदिकी आशीर्वादयुक्त

देवद्विजनृपादीनां तस्मान्नान्दीति संज्ञिता ॥ २४ ॥
मङ्गल्यशङ्खचन्द्राब्जकोककैरवशंसिनी ।
पदैर्युक्ता द्वादशभिरष्टाभिर्वा पदैरुत ॥ २५ ॥

अष्टपदा यथा अनर्घराघवे—'निष्प्रत्यूहम्' इत्यादि । द्वादशपदा यथा मम तातपादानां पुष्पमालायाम्—

शिरसि धृतसुरापगे स्मरारावरुणमुखेन्दुरुचिर्गिरीन्द्रपुत्री ।
अथ चरणयुगानते स्वकान्ते स्मितसरसा भवतोऽस्तु भूतिहेतुः ॥

एवमन्यत्र ।

प्रयुज्यते = अनुष्ठीयते, तस्मात् = हेतोः, नान्दी इति संज्ञिता = जातसंज्ञा, अस्तीति शेषः ॥ २४ ॥

नान्द्याः प्रकारानाह—**मङ्गल्येत्यादिः** । मङ्गल्यशङ्खचन्द्राऽब्जकोककैरवशंसिनी=मङ्गलप्रयोजनकम्बुविधुकमलचक्रवाककुमुदसूचिका, नान्दीति शेषः, द्वादशभिः=द्वादशसङ्ख्यकैः, उत वा=अथवा, अष्टाभिः=अष्टसङ्ख्यकैः, पदैः = शब्दैः । युक्ता=सहिता, भवेदिति शेषः ॥ २५ ।

तातपादानां = पितृचरणानाम्—**शिरसीति** । शिरसि=मूर्ध्नि, धृतसुरापगे=धृता (धारिता) सुराऽऽपगा (गङ्गा) येन, तस्मिन्, गङ्गाधारक इति भावः, तादृशे, स्मराऽरौ = कामशत्रौ, शङ्करे इति भावः । अरुणमुखेन्दुः = रक्तमुखचन्द्रा, पतिशिरसि सपत्न्याः स्थितत्वादिति भावः । अथ = अनन्तरं, स्वकोपदर्शनाऽनन्तरमिति भावः, स्वकान्ते = निजभर्तरि, चरणयुगानते = पादयुग्मप्रणते सति, स्मितसरसा = स्मितेन (मन्दहास्येन) सरसा (साऽनुरागा), गिरीन्द्रपुत्री = गिरीन्द्रस्य (पर्वतराजस्य हिमालयस्य) पुत्री (दुहिता, पार्वतीति भावः) । भवतः=तव, भूतिहेतुः=ऐश्वर्यकारणम्, अस्तु = भवतु ॥ पुष्पिताग्रा वृत्तम् ।

स्तुति की जाती है, अतः इसे 'नान्दी" कहते हैं ॥ २४ ॥

इसमें माङ्गलिक पदार्थ, शङ्ख, चन्द्र, कमल, चक्रवाक (चकवा) और कुमुदका वर्णन होता है । इसमें बारह या आठ पद होते हैं ॥ २५ ॥

अष्टपदा नान्दी जैसे अनर्घराघवमें "निष्प्रत्यूहम्" इत्यादि । द्वादशपदा नान्दी जैसे चन्द्रशेखर महापात्रकी पुष्पमालामें **शिरसीति** । शिवजीके शिरमें गङ्गाजीको धारण करनेपर कोपसे पार्वतीका मुख लाल हो गया, अनन्तर शिवजीके अपने चरणोंपर झुकनेपर मन्दहास्यसे अनुरागवाली पार्वती आपके ऐश्वर्यकी हेतु हों ॥

ऐसे ही अन्यत्र जानना चाहिए ।

एतन्नान्दीति कस्यचिन्मतानुसारेणोक्तम्। वस्तुतस्तु 'पूर्वरङ्गस्य रङ्गद्वाराभिधानमङ्गम्' इत्यन्ये।

यदुक्तम्—

'यस्मादभिनयो ह्यत्र प्राथम्यादवतार्यते।
रङ्गद्वारमतो ज्ञेयं वागङ्गाभिनयात्मकम्॥' इति।

उक्तप्रकारायाश्च नान्द्या रङ्गद्वारात्प्रथमं नटैरेव कर्तव्यतया न महर्षिणा निर्देशः कृतः।

कालिदासादिमहाकविप्रबन्धेषु च—

वेदान्तेषु यमाहुरेकपुरुषं व्याप्य स्थितं रोदसी
यस्मिन्नीश्वर इत्यनन्यविषयः शब्दो यथार्थाक्षरः।

इयं द्वादशपदा नान्दी। एतत् = पूर्वोक्तं पद्यद्वयम्। "कस्यचित्" इतिपदेन ग्रन्थकारस्याऽसम्मतिर्ज्ञायते।

स्वकीयं मतं द्योतयति—**वस्तुतस्त्विति**। रङ्गस्य पूर्वरङ्गद्वाराऽभिधानं = रङ्गद्वारनामकम्, अङ्गम् = अवयवः। "अन्ये" इत्यत्र बहुवचनेन ग्रन्थकारस्याऽप्यत्राऽन्तर्भावो द्योत्यते।

अत्राऽर्थे मुनिसम्मतिं प्रदर्शयति—**यस्मादिति**। अत्र = इह, यस्मात् = कारणात्, प्राथम्यात् = प्रथमत्वात्, अभिनयः = अवस्थाऽनुकारः, अवतार्यते = नटैरवतरणं क्रियते; अतः = अस्मात्कारणात्, वागङ्गाऽभिनयात्मकं = वचनदेहाऽवयवाऽभिनयस्वरूपं, रङ्गद्वारं, ज्ञेयं = ज्ञातव्यम्॥

उक्तप्रकारायाः = अभिहितस्वरूपायाः, नान्द्याः, द्वादशपदाऽष्टपदस्वरूपाया इति भावः। कर्तव्यतया = विधेयत्वेन। महर्षिणा = भरतेन। निर्देशः = कर्तव्यत्वेन आदेशः, कृतः।

वेदान्तेष्विति। रोदसी = द्यावापृथिव्यौ, व्याप्य = व्याप्तिविषये कृत्वा, स्थितं = विद्यमानं, यं = परमात्मानं, वेदान्तेषु = उपनिषदादिवेदभागेषु, एकपुरुषम् = अद्वितीयं पुरुषम्, आहुः = कथयन्ति, वैदान्तिका इति शेषः। यस्मिन् = परमात्मनि, अनन्यविषयः = अनपरविषयः, तन्मात्रप्रतिपादक इति भावः। ईश्वर इति शब्दः = ईश्वर इति पदं, यथार्थाऽक्षरः = अनुगताऽर्थपदः "ईष्टे इति ईश्वरः" इति व्युत्पत्त्याऽ-

---

इन पद्योंको किसीके मतसे "नान्दी" कहा है. वास्तवमें पूर्वरङ्गका रङ्गद्वार नामका अङ्ग है ऐसा अन्यलोग कहते हैं। जो कि कहा है—

यस्मादिति। जिस कारणसे यहाँपर पहले अभिनयका अवतरण होता है अतः यह वचन और अङ्गके अभिनयसे युक्त "रङ्गद्वार" है। पूर्वलक्षित नान्दीका रङ्गद्वारसे पहले नटोंसे ही किये जानेसे महर्षिने निर्देश नहीं किया है।

कालिदास आदि महाकवियोंके प्रबन्धोंमें—

वेदान्तेष्विति। वेदान्तोंमें जिन्हें आकाश और पृथिवीको व्याप्त कर रहनेवाला "अद्वितीय" पुरुष कहते हैं। जिसमें औरोंमें प्रयुक्त न होनेवाला "ईश्वर" पद यथार्थ

अन्तर्यश्च मुमुक्षुभिर्नियमितप्राणादिभिर्मृग्यते
स स्थाणुः स्थिरभक्तियोगसुलभो निःश्रेयसायास्तु वः ॥

एवमादिषु नान्दीलक्षणायोगात्। उक्तं च—'रङ्गद्वारमारभ्य कविः कुर्यात्-' इत्यादि। अत एव प्राक्तनपुस्तकेषु 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' इत्यनन्तरमेव 'वेदान्तेषु-' इत्यादि श्लोकले (लि) खनं दृश्यते। यच्च पश्चात् 'नान्द्यन्ते सूत्रधारः' इति ले (लि) खनं तस्यायमभिप्रायः-'नान्द्यन्ते सूत्रधार इदं प्रयोजितवान्, इतः प्रभृति मया नाटकमुपादीयत इति कवेरभिप्रायः सूचित' इति।

पूर्वरङ्गं विधायैव सूत्रधारो निवर्तते।
प्रविश्य स्थापकस्तद्वत्काव्यमास्थापयेत्ततः ॥ २६ ॥
दिव्यमर्त्ये स तद्रूपो मिश्रमन्यतरस्तयोः।

न्वर्यशब्द इति भावः। यश्च = स्थाणुः, शङ्करः। नियमितप्राणादिभिः = वशीकृतवाय्वादिभिः मुमुक्षुभिः = मोक्षेच्छुभिर्जनैः, अन्तः = अन्तःकरणे, मृग्यते = अन्विष्यते, स्थिरभक्तियोगसुलभः = अचलाऽनुरक्तिसमाधिसुलभः, सः=श्रुत्यादिप्रसिद्धः' स्थाणुः= शङ्करः, वः = युष्माकं, निःश्रेयसाय = मोक्षाय, अस्तु = भवतु, शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। एवमादिषु=इत्यादिषु नाटकेषु, नान्दीलक्षणाऽयोगात्=द्वादशपदत्वाऽष्टपदत्वरूपलक्षणाऽसम्बन्धात्। प्राक्तनपुस्तकेषु=प्राचीनग्रन्थेषु। उपादीयते=आरभ्यते।

पूर्वरङ्गमिति। पूर्वरङ्गं विधाय=कृत्वा, सूत्रधारः = प्रधाननटः, निवर्तते = निर्गच्छति। ततः = अनन्तरं, स्थापकः = काव्याऽर्थस्थितिकारकः, प्रविश्य, तद्वत् = सूत्रधारवत्, काव्यं=दृश्यकाव्यम्, आस्थापयेत्=सभापूजादिपूर्वकं सूचयेत् ॥ २६ ॥

आस्थापनप्रकारमाह—**दिव्यमर्त्ये इति**। दिव्यमर्त्ये = स्वर्गमर्त्यलोकभववस्तुनी, तद्रूपः = स्वर्गलोकभववस्तुनि स्वर्गलोकभववस्तुरूपः, मर्त्यलोकभववस्तुनि मर्त्यलोकभववस्तुरूप इत्यर्थः। तयोः = स्वर्गमर्त्यलोकभववस्तुनोः, मिश्रम् = दिव्याऽ-

है। प्राण आदिका निग्रह करनेवाले मुमुक्षुओंसे जो हृदयके भीतर ढूंढा जाता है, स्थिर भक्तियोगसे सुलभ वे महादेव आपके मोक्षके लिए हों ॥

इत्यादि पद्योंमें नान्दीका लक्षण नहीं मिलता है। कहा भी है—"रङ्गद्वारको आरम्भ करके कवि नाटककी रचना करें"। अत एव प्राचीन पुस्तकोंमें "नान्द्यन्ते सूत्रधारः" इसके बाद ही "वेदान्तेषु" इत्यादि श्लोकोंका लेख देखा जाता है। जो पीछे "नान्द्यन्ते सूत्रधारः" ऐसा लेख है उसका यह आशय है-"नान्दीके अन्तमें सूत्रधारने ऐसा प्रयोग किया है, यहाँसे मैं नाटकको उपस्थित करता हूँ यह कविका अभिप्राय सूचित है।

पूर्वरङ्गका विधान कर सूत्रधार जाता है, तब सूत्रधारके समान स्थापक काव्यका आस्थापन करे ॥ २६ ॥

वर्णनीय वस्तु दिव्य हो तो देवरूप और मर्त्यलोककी वस्तु हो तो मनुष्यरूप

सूचयेद्वस्तु बीजं वा मुखं पात्रमथापि वा ॥ २७ ॥

काव्यार्थस्य स्थापनात्स्थापकः। तद्वदिति सूत्रधारसदृशगुणाकारः। इदानीं पूर्वरङ्गस्य सम्यक्प्रयोगाभावादेक एव सूत्रधारः सर्वं प्रयोजयतीति व्यवहारः। स स्थापको दिव्यं वस्तु दिव्यो भूत्वा, मर्त्यं मर्त्यो भूत्वा, मिश्रं च दिव्यमर्त्ययोरन्यतरो भूत्वा सूचयेत्।

वस्तु=इतिवृत्तम्, यथोदात्तराघवे—

रामो मूर्ध्नि निधाय काननमगान्मालामिवाज्ञां गुरो-
स्तद्भक्त्या भरतेन राज्यमखिलं मात्रा सहैवोज्झितम्।
तौ सुग्रीवविभीषणावनुगतौ नीतौ परामुन्नतिं
प्रोत्सिक्ता दशकन्धरप्रभृतयो ध्वस्ताः समस्ता द्विषः ॥

दिव्यरूपसङ्करम्, अन्यतरः = उभयोरेकतररूपः सन् दिव्यमर्त्ययोरन्यतरो भूत्वेति भावः। वस्तु=इतिवृत्त, दृश्यकाव्यचरित्रमित्यर्थः। बीजं = कारणं, मुखं = वक्ष्यमाणं, वाग्विशेष, पात्रम्=नायकसहायादिक, सूचयेत्=ज्ञापयेत् ॥ २७ ॥

यथोदात्तराघवे नाटके—राम इति। रामः = रामचन्द्रः, गुरोः = पितुः, दशरथस्य, आज्ञाम् = आदेशं, मालाम् इव = स्रजम् इव, मूर्ध्नि = शिरसि, निधाय = स्थापयित्वा, काननं = वनम्, अगमत् = गतः। भरतेन = कैकेयीसुतेन, तद्भक्त्या = तस्मिन् (रामे) भक्त्या (पूज्यबुद्ध्या), मात्रा = जनन्या, कैकेय्या, सह एव = समम् एव, अखिलं=समस्तं, राज्यं = राष्ट्रम्, उज्झितं = त्यक्तम्। अनुगतौ = राममनुसृतवन्तौ, तौ = प्रसिद्धौ, सुग्रीवविभीषणौ, पराम् = उत्कृष्टां, सम्पदं = सम्पत्तिं, राज्यप्राप्तिरूपामिति भावः। नीतौ=प्रापितौ, वालिरावणहननाऽनन्तरं रामेणेति शेषः। एवं च प्रोत्सिक्ताः = अतिशयदर्पयुक्ताः, दशकन्धरप्रभृतयः = रावणादयः, समस्ताः = निखिलाः, द्विषः = शत्रवः, ध्वस्ताः = विनाशिताः, रामेणेति शेषः।

तथा मिश्र वस्तु हो तो देवता वा मनुष्यमें एकरूप धारण कर वस्तु, बीज, मुख वा पात्रकी सूचना करे ॥ २७ ॥

काव्याऽर्थस्येति। काव्याऽर्थकी स्थापना करनेसे "स्थापक" कहते हैं। तद्वत्= सूत्रधारके सदृश गुण वा आकारसे युक्त पुरुष स्थापक हो। इस समय पूर्वरङ्गका उचित प्रयोग न होनेसे एक सूत्रधार ही सब कुछ करता है ऐसा व्यवहार है। वह स्थापक दिव्य वस्तुको देवरूप होकर मनुष्य लोककी वस्तुको मनुष्य होकर मिश्र वस्तु हो तो दोनोंमें एकका रूप लेकर वस्तु, बीज, मुख वा पात्रकी सूचना करे। स्थापकसे वस्तु (इतिवृत्त) की सूचना जैसे उदात्तराघवमें—

रामचन्द्रजी गुरु (पिता) की आज्ञाको मालाके समान शिरमें रखकर वनको चले गये। उनकी भक्तिसे भरतने माताके साथ ही सब राज्यका त्याग कर दिया। रामका साथ देनेवाले सुग्रीव और विभीषण उत्तम उन्नतिको प्राप्त हुए। घमंडसे उद्धत रावण आदि समस्त शत्रुलोग ध्वस्त किये गये ॥

बीजं यथा रत्नावल्याम्—

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरभिमतमभिमुखीभूतः॥

अत्र हि समुद्रे प्रवहणभङ्गमग्नोत्थिताया रत्नावल्या अनुकूलदैवलालितो वत्सराजगृहप्रवेशो यौगन्धरायणव्यापारमारभ्य रत्नावलीप्राप्तौ बीजम्। मुखं=श्लेषादिना प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादको वाग्विशेषः।

यथा—

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तिः।

अत्र संपूर्णमुदात्तराघवनाटकेतिवृत्तं स्थापकेन समासतः सूचितम्।

बीजं यथा रत्नावल्यां नाटिकायाम्—**द्वीपादिति**। अभिमुखीभूतः = संमुखीभूतः, अनुकूल इति भावः। विधिः = भाग्यम्, अन्यस्मात् अपि = अपरस्मात् अपि, द्वीपात् = अन्तरीपात्, जलनिधेः = समुद्रस्य, मध्यात् अपि = अन्तरात् अपि, दिशः= काष्ठायाः, अन्तात् अपि = अन्त्यात् अपि, अभिमतम्=अभीष्टं वस्तु, झटिति=शीघ्रम्, आनीय = प्रापय्य, घटयति = संयोजयति। आर्या वृत्तम्॥

अत्रेति। प्रवहणभङ्गमग्नोत्थितायाः = प्रवहणस्य (नौकायाः) भङ्गः (भेदः), तेन प्राक् मग्ना (ब्रुडिता) पश्चात् उत्थिता (उत्तीर्णा), तस्याः, रत्नावल्याः = तन्नामकनाटिकानायिकायाः, अनुकूलदैवलालितः = अनुगुणभाग्यप्रसाधितः; वत्सराजगृहप्रवेशः = उदयनभूपभवनप्रवेशः, यौगन्धरायणव्यापारम्=उदयनमन्त्रिकर्म, आरभ्य=उपक्रम्य, रत्नावलीप्राप्तौ = उदयनकर्तृकरत्नावल्यासादने, बीजं = हेतुः।

मुखं लक्षयति—श्लेषादिना = श्लेषप्रभृतिनाऽलङ्कारेण, आदिपदेन समासोक्त्य प्रस्तुतप्रशंसाऽऽदेर्ग्रहणम्, प्रस्तुतवृत्तान्तप्रतिपादकः = प्रकृतोदन्तसूचकः, वाग्विशेषः। उदाहरति—**आसादितेति**। आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः विशुद्धकान्तिः संभृतबन्धुजीवः एष शरत्समयः, गाढतमसम् उग्रं घनकालम् उत्खाय आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः विशुद्धकान्तिः संभृतबन्धुजीवः रामः गाढतमसम् उग्रं घनकालं दशाऽऽस्यम् उत्खाय इव प्राप्तः इत्यन्वयः।

आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः = आसादितः (प्राप्तः) प्रकटः (व्यक्तः)

बीज जैसे रत्नावलीमें—अनुकूल भाग्य दूसरे द्वीपसे, समुद्रके मध्यसे दिशाके अन्तसे भी अभीष्ट पदार्थको झटपट लाकर मिला देता है। **अत्रेति**। यहाँपर जहाज टूटनेसे समुद्रमें डूबकर भी उतरी हुई रत्नावलीका अनुकूल भाग्यसे लालित वत्सराज (उदयन) के प्रासादमें प्रवेश यौगन्धरायणके उद्योगको आरम्भ कर रत्नावलीकी प्राप्तिमें बीज (सन्धि) है।

श्लेष आदिसे प्रस्तुत वृत्तान्तका प्रतिपादन करनेवाले वचनविशेषको "मुख" कहते हैं। जैसे—दृढ तमोगुणवाले, भयङ्कर और मेघके समान कृष्णवर्ण रावणको

उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं रामो दशास्यमिव संभृतबन्धुजीवः ।

पात्रं यथा शाकुन्तले—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः ।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा ॥ (१-५)

निर्मलः (स्वच्छः) चन्द्रस्य (इन्दोः) हासः (विकासः) येन सः । विशुद्धकान्तिः = विशुद्धा (स्वच्छा, मेघाऽभावेनेति शेषः) कान्तिः (शोभा) यस्य सः । संभृतबन्धुजीवः = संभृतानि (सञ्चितानि) बन्धुजीवानि (बन्धूकपुष्पाणि) येन सः; एषः = समीपतरवर्ती, शरत्समयः = शरत्कालः, गाढतमसं = गाढान्धकारं, मेघाच्छादनादिति शेषः । उग्रं = भयङ्करं, घनकालं = मेघसमयं, वर्षर्तुमिति भावः । उत्खाय = उन्मूल्य, आसादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः आसादितः (धृतः) प्रकटः (व्यक्तः) निर्मलः (मलरहितः, शोणनादिति शेषः) चन्द्रहासः (खड्गः) येन सः । विशुद्धकान्तिः = स्वच्छशोभः, संभृतबन्धुजीवः = संभृताः (रक्षिताः रावणादिवधेनेति शेषः), बन्धूनां (बान्धवानां, सुग्रीवविभीषणादीनाम्) जीवाः (जीवनानि) येन सः । रामः = दाशरथिः, गाढतमसं = गाढ (प्रबलम्) तमः (तमोगुणः) यस्य सः तम् । उग्रं = भयङ्करं, घनकालं = घनः (मेघः) इव कालः (कृष्णवर्णः), तम्, दशाऽऽस्यं = रावणम्, उत्खाय = व्यापाद्य, इव, प्राप्तः = आयातः । उपमाऽलङ्कारः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

अत्र श्लेषेण प्रस्तुतो रामवृत्तान्तः सूचितः ।

पात्रं शाकुन्तले—तवाऽस्मीति । सूत्रधारो नटीं प्रति प्रतिपादयति । (हे प्रिये !) हारिणा = मनोहरेण, सारङ्गपक्षे—दूरमपहारकेण । तव = भवत्याः, गीतरागेण = गानाऽनुरागेण, अतिरंहसा = अतिवेगयुक्तेन, सारङ्गेण = मृगेण, एषः = अयं, राजा = भूपतिः, दुष्यन्तः, इव, प्रसभं = बलात्, हृतः = आकृष्टः, अस्मि=भवामि । अनेन दुष्यन्तरूपपात्रप्रवेशः सूचितः ।

मारकर बन्धु (सुग्रीव और विभीषण) जनोंके जीवनको संरक्षित करनेवाले तथा प्रकाशरूप निर्मल खड्गको प्राप्त करनेवाले विशुद्ध कान्तिवाले रामके समान गाढ अन्धकारवाले भयङ्कर मेघसमय (वर्षा ऋतु) को ध्वस्त कर बन्धुजीव (दोपहरिया) आदि पुष्पोंको बढानेवाला और प्रकाशरूप और निर्मल चन्द्ररूप हास्यको प्राप्त करनेवाला तथा विशुद्ध कान्तिवाला इस शरत् ऋतुका समय प्राप्त हुआ है ॥

पात्र जैसे शाकुन्तलमें—जैसे ये राजा दुष्यन्त वेगवाले मृगसे खींचे गये थे वैसे ही तुम्हारे मनोहर गीतके रागसे मैं हठात् खींचा गया हूँ ।

यह सूत्रधार नटीसे कहता है ॥

रङ्गं प्रसाद्य मधुरैः श्लोकैः काव्यार्थसूचकैः ।
रूपकस्य कवेराख्यां गोत्राद्यपि स कीर्तयेत् ॥ २८ ॥
ऋतुं च कञ्चित्प्रायेण भारतीं वृत्तिमाश्रितः ।

स स्थापकः। प्रायेणेति क्वचिदृतोरकीर्तनमपि । यथा—रत्नावल्याम्
भारतीवृत्तिस्तु—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः ॥ २९ ॥

संस्कृतबहुलो वाक्यप्रधानो व्यापारो भारती।

तस्याः प्ररोचना वीथी तथा प्रहसनामुखे ।
अङ्गान्यत्रोन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना ॥ ३० ॥

रङ्गमिति । सः = स्थापकः, मधुरैः = मनोहरैः, काव्याऽर्थसूचकैः = रूपक-वृत्तान्तप्रतिपादकैः, श्लोकैः = पद्यैः, बहुवचनमविवक्षितम्, रङ्गं = रङ्गस्थसभ्यसमूहं, प्रसाद्य = प्रसन्नं विधाय, रूपकस्य = प्रस्तुतदृश्यकाव्यस्य, कवेः = कवयितुः, आख्या = नाम, गोत्रादि अपि = वंशादिकम् अपि, आदिपदेन वासस्थानादिकम् अपि, कीर्तयेत् = प्रकाशयेत् ॥ २८ ॥

प्रायेण = बाहुल्येन, कंचित्, ऋतुं = वसन्तादिकं च, प्रायेणेति कथनात् क्वचित् ऋतोरकीर्तनमपि । यथा रत्नावल्याम् । भारतीं = तदाख्यां, वृत्तिं = व्यापारम्, आश्रितः = कृताश्रयः सन् कीर्तयेत् ।

भारतीं वृत्तिं लक्षयति—भारतीति । संस्कृतप्रायः = संस्कृतप्रचुरः । नटाश्रयः = कुशीलवप्रयोज्यः, "नराश्रय" इति पाठान्तरम्, वाग्व्यापारः = वाक्यप्रधानः व्यापारः = वृत्तिः, भारती ॥ २९ ॥

भारत्या अङ्गान्याह—तस्या इति । तस्याः = भारत्याः, प्ररोचना, वीथी, प्रहसनम् आमुखं चाऽङ्गानि । तत्र प्ररोचनां लक्षयति—अत्रेति । अत्र = एषु अङ्गेषु; प्रशंसातः = गुणकीर्तनात्, उन्मुखीकारः = प्रवृत्त्युत्पादनं प्ररोचना ॥ ३० ॥

वह स्थापक मधुर और काव्यार्थकी सूचना करनेवाले श्लोकोंसे रङ्गभूमि (सभा) को प्रसन्नकर रूपक और कविके नाम और गोत्र आदिका कीर्तन करे ॥२८॥

भारती वृत्तिका आश्रय कर प्रायः किसी ऋतुका भी वर्णन करे । "प्रायः" कहने से कहींपर ऋतुका कीर्तन नहीं होता है । जैसे रत्नावलीमें ।

नटसे की जानेवाली संस्कृत प्रचुर वचनव्यापारको "भारती" कहते हैं ॥२९॥

प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख "भारती" के अङ्ग हैं ।

इनमें प्रस्तुत अभिनयोंमें प्रशंसा (तारीफ) से श्रोताओंकी प्रवृत्तिको आकृष्ट करना ही "प्ररोचना" है ॥ ३० ॥

प्रस्तुताभिनयेषु प्रशंसातः श्रोतॄणां प्रवृत्त्युन्मुखीकरणं प्ररोचना। यथा रत्नावल्याम्।

'श्रीहर्षो निपुणः कविः, परिषदप्येषा गुणग्राहिणी,
लोके हारि च वत्सराजचरितं, नाट्ये च दक्षा वयम्।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं, किं पुन-
र्मद्भाग्योपचयादयं समुदितः सर्वो गुणानां गणः ॥'

वीथीप्रहसने वक्ष्येते।

नटी विदूषको वापि पारिपार्श्विक एव वा।
सूत्रधारेण सहिताः संलापं यत्र कुर्वते ॥ ३१ ॥

वृत्तो प्ररोचना विशदयति—**प्रस्तुताऽभिनयेष्विति**। प्रस्तुताऽभिनयेषु=प्रकृताऽवस्थाऽनुकरणेषु, प्रशंसातः, श्रोतॄणाम् = आकर्णयितॄणां सभ्यानां, प्रवृत्त्युन्मुखीकरण = प्रवृत्तेः (प्रवर्तनस्य) उन्मुखीकरण प्ररोचना। यथा रत्नावल्यां—**श्री हर्ष इति**। श्रीहर्षः = तदाख्यः, निपुणः = प्रवीणः नाटकनिर्माण इति शेषः। कविः = कवयिता। एषा, परिषत् = सभा, अपि, गुणग्राहिणी = गुणग्रहणशीला। वत्सराजचरित च = उदयनचरित्र च, लोके = भुवने, हारि = मनोहरम्। वयं च = नटाश्च, नाट्ये = नटकर्मणि, दक्षाः = निपुणाः। इह = अत्र, अभिनयविषये, एकैकम् अपि = कविनिपुणत्वप्रभृत्यपि। वस्तु = पदार्थः, वाञ्छितफलप्राप्तेः = अभीष्टफललाभस्य, पदं = स्थानम्। मद्भाग्योपचयात् = मम (सूत्रधारस्य) भाग्यं (भागधेयम्) तस्य उपचयः (वृद्धिः), तस्मात्, अयं = सन्निकृष्टस्थः, सर्वः = सकलः, गुणानां = निपुणकवित्वादीनां, गणः = समूहः, समुदितः = समुत्पन्नः, पुनः = भूयः, किं = किं वक्तव्यमिति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। प्रशंसातः श्रोतप्रवृत्तेरुन्मुखीकरणादियं प्ररोचना। वीथीप्रहसने = तन्नामके भारत्या अङ्गे, पश्चात् = अनन्तरं, वक्ष्येते = कथयिष्येते।

आमुख लक्षयति—**नटीति**। नटी = सूत्रधारभार्या, विदूषकः = पूर्वोक्तलक्षणः पात्रविशेषः, वा = अथवा, पारिपार्श्विक एव = सूत्रधारपार्श्वचारो नट एव। सूत्रधारेण = प्रधाननटेन, सहिताः = सम्मिलिताः सन्तः, यत्र = यस्मिन् रङ्गे,

जैसे रत्नावलीमें—श्रीहर्ष निपुण कवि हैं, यह सभा भी गुणग्राहिणी है। लोकमें वत्सराज (उदयन) का चरित्र भी मनोहर है और हम लोग नाट्य (अभिनय)-में प्रवीण हैं। यहाँपर एक एक वस्तु भी अभीष्ट फलकी प्राप्तिमें कारण होती है तो मेरे भाग्यकी प्रचुरता है कि यह सब गुणोंका गण (समूह) जुट गया है तो फिर क्या कहना है?॥

वीथी और प्रहसनको पीछे कहेंगे।

आमुख—नटी, विदूषक अथवा पारिपार्श्विक सूत्रधारके साथ जहाँपर अपने

चित्रैर्वाक्यैः स्वकार्योत्थैः प्रस्तुताक्षेपिभिर्मिथः ।
आमुखं तत्तु विज्ञेयं नाम्ना प्रस्तावनापि सा ॥ ३२ ॥

सूत्रधारसदृशत्वात् स्थापकोऽपि सूत्रधार उच्यते । तस्यानुचरः पारिपार्श्विकः, तस्मात्किञ्चिदूनो नटः ।

उद्घात्य (त) कः कथोद्घातः प्रयोगातिशयस्तथा ।
प्रवर्तकावलगिते पञ्च प्रस्तावनाभिदा ॥ ३३ ॥

तत्र—

पदानि त्वगतार्थानि तदर्थगतये नराः ।
योजयन्ति पदैरन्यैः स उद्घात्य (त) क उच्यते ॥ ३४ ॥

स्वकार्योत्थैः = स्वकर्तव्यविषयोत्पन्नैः, प्रस्तुताऽऽक्षेपिभिः = प्रस्तुतं (प्रकृतं रूपकम्) आक्षिपन्ति (सूचयन्ति) इति प्रस्तुताक्षेपीणि, तैः, चित्रैः = अनेकप्रकारैः, वाक्यैः = वचनैः, मिथः=अन्योन्यं, संलापं=मिथोभाषणं, कुर्वते=विदधति । तत्, आमुख, विज्ञेयं=बोध्यं, रूपकस्यारम्भे प्रयोज्यत्वादिति भावः । नाम्ना=अभिधानेन, सा, प्रस्तावना, विज्ञेया=ज्ञातव्या ॥ ३१–३२ ॥

प्रस्तावनाभेदानुद्दिशति—**उद्घात्यक इति** । पञ्च प्रस्तावनाभिदाः=प्रस्तावनाभेदाः ॥ ३३ ॥

उद्घात्यकं लक्षयति—**पदानीति** । यत्र नराः = नटाः, अगताऽर्थानि = अगताः (अज्ञाताः) अर्थाः (वाच्याः) येषां तानि, तादृशानि पदानि = शब्दान्, तदर्थगतये=तदभिप्रेताऽर्थज्ञानाय, अन्यैः = अपरैः, पदैः = शब्दैः, योजयन्ति = सङ्क्रमयन्ति, अभिप्रेताऽर्थं इति शेषः । सः=प्रस्तावनाविशेषः । उद्घात्यकः=तन्नामकः; उच्यते=अभिधीयते ॥ ३४ ॥

कार्यके उपयुक्त और प्रस्तुत विषयके सूचक विचित्र वाक्योंसे परस्पर वार्तालाप (बातचीत) करते हैं उसको "आमुख" या "प्रस्तावना" जानें ॥ ३१–३२ ॥

सूत्रधारके समान होनेसे स्थापक भी "सूत्रधार" कहा जाता है ।

उसका अनुचर पारिपार्श्वक है । उससे कुछ कम नट होता है ।

उद्घात्यक कथोद्घात, प्रयोगाऽतिशय प्रवर्तक और अवलगित प्रस्तावनाके ये पांच भेद होते हैं ॥ ३३ ॥

जहांपर मनुष्य अज्ञात अर्थवाले पदोंको उनका अर्थ जाननेके लिए अन्य पदोंसे योजना करते हैं उसे "उद्घात्यक" कहते हैं ॥ ३४ ॥

यथा मुद्राराक्षसे सूत्रधारः—

'क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसम्पूर्णमण्डलमिदानीम् ।
अभिभवितुमिच्छति बलात्—'

इत्यनन्तरम्—'(नेपथ्ये ।)

आः, क एष मयि जीवति चन्द्रगुप्तमभिभवितुमिच्छति ।' इति ।

अत्रान्यार्थवन्त्यपि पदानि हृदयस्थार्थगत्या अर्थान्तरे संक्रमय्य पात्रप्रवेशः ।

सूत्रधारस्य वाक्यं वा समादायार्थमस्य वा ।
भवेत्पात्रप्रवेशश्चेत्कथोद्घातः स उच्यते ॥ ३५ ॥

यथा मुद्राराक्षसे = तन्नामके नाटके, सूत्रधारः—**क्रूरग्रह इति** । क्रूरग्रहः = कठोरग्रहः, अनिष्टफलप्रद इति भावः । सः = प्रसिद्धः, केतुः = एकशरीरत्वेन भेदाऽभावात् राहुरिति भावः । पूर्णमण्डलं = षोडशकलोपेतं चन्द्र = चन्द्रमसम्, इदानीम्=अधुना, बलात्=बलमाश्रित्य, ल्यब्लोपे पञ्चमी, अभिभवितुम्=ग्रसितुम्, इच्छति = कामयते । श्लिष्टाऽर्थस्तु—क्रूरग्रहः = क्रूरः (कठोरः) ग्रहः (आग्रहः चन्द्रगुप्ताऽभिभवरूपः) यस्य सः । सः, केतुः = 'नामैकदेशे नामग्रहणम्'' इति नयेन मलयकेतुरित्यर्थः । असंपूर्णमण्डलम्=अस्याधीनराज्यमण्डलम्, अचिरप्राप्ताऽधिकारत्वेनेति भावः । चन्द्रं=चन्द्रगुप्तम्, इदानीम्=अधुना, बलात्, अभिभवितुं=पराभवितुम्,इच्छति ।

अनन्तरमिति—जीवति = प्राणान् धारयति सति । अत्र = सूत्रधारोक्तौ, अन्याऽर्थवन्ति अपि=अर्थान्तरवन्ति अपि, पदानि=राहुचन्द्रादीनि इति भावः । हृदयस्थाऽर्थगत्या = हृदयस्थानां (चित्तस्थितानाम = मलयकेतुचन्द्रगुप्तादिरूपाणाम्, अर्थानां = पदार्थानाम्) अगत्या (अबोधेन), अर्थान्तरे = भिन्नाऽर्थे, वक्तुरभिप्रेतादिति शेषः । संक्रमय्य=सञ्चार्य, पात्रप्रवेशः=चाणक्यप्रवेशः ।

कथोद्घातं लक्षयति—**सूत्रधारस्येति** । सूत्रधारस्य, वाक्यं = पदसमूहम्, अस्य = सूत्रधारस्य, अर्थम् = अभिधेयं वा, समादाय = गृहीत्वा, पात्रप्रवेशो भवेच्चेत्, स कथोद्घातः, उच्यते = अभिधीयते ॥ ३५ ॥

जैसे मुद्राराक्षसमें सूत्रधार—

क्रूर ग्रह वह केतु इस समय पूर्ण मण्डलवाले चन्द्रको जबर्दस्तीसे अभिभूत करनेकी इच्छा करता है ।

इसके बाद—(नेपथ्यमें) ओह ! यह कौन मेरे जीते रहनेपर चन्द्रगुप्तको अभिभूत करनेकी इच्छा करता है ?

यहांपर अन्य अर्थवाले पदोंको हृदयस्थ अर्थगतिसे दूसरे अर्थमें संक्रमण कराकर पात्रका प्रवेश है । जैसे–केतु=मलयकेतु,असंपूर्णमण्डलं चन्द्रम्=असंपूर्णमण्डल चन्द्रगुप्तको ।

सूत्रधारके वाक्य वा उसके अर्थको लेकर पात्रका प्रवेश हो तो उसे "कथोद्घात" कहते हैं ॥ ३५ ॥

वाक्यं यथा रत्नावल्याम्—'द्वीपादन्यस्मादपि-' (पृ. ३९८) इत्यादि सूत्रधारेण पठिते—'(नेपथ्ये) एवमेतत् । कः सन्देहः ? द्वीपादन्यस्मादपि-' इत्यादि पठित्वा यौगन्धरायणस्य प्रवेशः ।

वाक्यार्थो यथा वेण्याम्—

'निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पाण्डुतनयाः सह माधवेन ।
रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च
स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥'

वाक्यमिति । द्वीपादित्यादि वाक्यं सूत्रधारपठितं गृहीत्वा पात्रप्रवेशः=यौगन्धरायणरूपपात्रप्रवेशः । अयमेकप्रकारः ।

वाक्यार्थो यथा वेण्याम्—**निर्वाणेति** । अरीणां = शत्रूणां, दुर्योधनादीनाम् । प्रशमात् = शान्तेः, सन्धिकरणादिति शेषः । निर्वाणवैरदहनाः=निर्वाणः (अपगतः) वैरदहनः (शत्रुतारूपोऽग्निः) येषां ते । तादृशाः, पाण्डुतनयाः = पाण्डवाः, युधिष्ठिरादय इति भावः । माधवेन = श्रीकृष्णेन, सह = समं, नन्दन्तु = समृद्धा भवन्तु । रक्तप्रसाधितभुवः = रक्ता (अनुरञ्जिता) प्रसाधिता (अलङ्कृता) भूः (भूमिः) यैस्ते । एवं च क्षतविग्रहाः = क्षतः (भग्नः) विग्रहः (कलहः) येषां ते, तादृशाः, सभृत्याः=साऽनुचराः, कुरुराजसुताः=धृतराष्ट्रपुत्रा इति भावः । स्वस्थाः = कुशलिनः, भवन्तु=विद्यन्ताम् सन्धिफलं पक्षद्वयमनुभवत्विति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

द्वितीयोऽर्थस्तु—**अरीणां** प्रशमात् = विनाशात्, निर्वाणवैरदहनाः, पाण्डुतनयाः । रक्तप्रसाधितभुवः=रक्तैः (रुधिरैः) प्रसाधिता (भूषिता) भूः (भूमिः) यैः । क्षतविग्रहाः = क्षतः (नष्टः) विग्रहः (शरीरम्) येषां ते । सभृत्याः = साऽनुचराः, कुरुराजसुताः = धृतराष्ट्रपुत्राः, स्वस्थाः (स्वः = स्वर्गे तिष्ठन्ति इति) "खर्परे शरि वा विसर्गलोपो वक्तव्यः" इति विसर्गलोपः, परलोकवासिनो भवन्तु ।

वाक्य जैसे रत्नावलीमें–"द्वीपादन्यस्मादपि" ऐसा सूत्रधारके पढ़नेपर–(नेपथ्यमें) यह ऐसा ही है । क्या सन्देह है ? "द्वीपादन्यस्मादपि" इत्यादि पढ़कर यौगन्धरायण प्रविष्ट होता है ।

वाक्यार्थ जैसे वेणीसंहारमें—

शत्रुओंके नाशसे विरोधरूप अग्निके बुझ जानेसे पाण्डवलोग माधव (श्रीकृष्णजी) के साथ आनन्दित हों । रुधिरसे भूमिको अलङ्कृत करनेवाले और नष्ट शरीरवाले धृतराष्ट्रपुत्र (दुर्योधन आदि) अपने भृत्योंके साथ स्वर्गस्थ हों ।

इति सूत्रधारेण पठितस्य वाक्यस्यार्थं गृहीत्वा —'(नेपथ्ये) आः दुरात्मन्! वृथा मङ्गलपाठक! कथं स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ?' ततः सूत्रधारनिष्क्रान्तौ भीमसेनस्य प्रवेशः।

यदि प्रयोग एकस्मिन् प्रयोगोऽन्यः प्रयुज्यते।
तेन पात्रप्रवेशश्चेत्प्रयोगातिशयस्तदा ॥ ३६ ॥

यथा कुन्दमालायाम्—'(नेपथ्ये) इत इत इतोऽवतरत्वार्या।
सूत्रधारः—कोऽयं खल्वार्याह्वानेन साहायकमपि मे सम्पादयति।
(विलोक्य) कष्टमतिकरुणं वर्तते।
लङ्केश्वरस्य भवने सुचिरं स्थितेति
रामेण लोकपरिवादभयाकुलेन।

इतीति। अर्थं = वाच्यं, गृहीत्वा = आदाय, कुरुराजसुस्थीभवनरूपमर्थमिति भावः। मयि = भीमसेने, जीवति = प्राणान्धारयति सति। स्वस्थाः = सुस्थाः।

प्रयोगाऽतिशयं लक्षयति—**यदीति**। एकस्मिन् प्रयोगे, अन्य=प्रयोगः, प्रयुज्यते यदि=अनुष्ठीयते चेत् ॥ ३६ ॥

उदाहरति—**यथेति**। आर्या = पूज्या, अत्र आर्या=सीता, इति नेपथ्ये नटीरूपस्तु सूत्रधारेणाऽवगत इति बोध्यः। संहायकं = साहाय्यम्। अतिकरुणम् = अतिशयशोकावहम्।

लङ्केश्वरस्येति। सीता लङ्केश्वरस्य भवने सुचिरं स्थिता इति लोकपरिवादभयाऽऽकुलेन रामेण गर्भगुर्वीम् अपि जनपदात् निर्वासितां सीतां वनाय अयं लक्ष्मणः परिकर्षति इत्यन्वयः।

सीता = जानकी, लङ्केश्वरस्य = रावणस्य, भवने = मन्दिरे, सुचिरं=बहुकालं, दशमाससंमितमिति भावः। स्थिता = अवस्थिता इति = इत्थं, लोकपरिवादभयाऽऽकुलेन = लोकानां (जनानाम्) यः परिवादः (अपवादः) तस्मात् भयं (भीतिः),

सूत्रधारसे पठित ऐसे वाक्यका अर्थ लेकर—(नेपथ्यमें) ओह! दुष्टस्वभाव! व्यर्थमङ्गलपाठक! कैसे 'स्वस्था भवन्तु मयि जीवति धार्तराष्ट्राः' अर्थात् "मेरे जीते रहनेपर कैसे धार्तराष्ट्र (दुर्योधन आदि) स्वस्थ (सुस्थित) हों" ऐसा वाक्याऽर्थ लेकर सूत्रधारके जानेके बाद भीमसेन का प्रवेश होता है।

यदि एक प्रयोगसे दूसरा प्रयोग प्रयुक्त हो और उससे पात्रका प्रवेश हो तो उसे "प्रयोगाऽतिशय" कहते हैं ॥ ३६ ॥

जैसे कुन्दमालामें—(नेपथ्यमें) आर्या यहाँसे उतरें यहाँसे उतरें।

सूत्रधार—यह कौन मेरी पत्नीके आह्वाहनसे मानों मेरी सहायता कर रहा है। (देखकर) कष्ट है अत्यन्त शोकजनक विषय है। रावणके भवनमें बहुत समय तक

निर्वासितां जनपदादपि गर्भगुर्वीं
सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम् ॥'

अत्र नृत्यप्रयोगार्थं स्वभार्याह्वानमिच्छता सूत्रधारेण 'सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम्' इति सीतालक्ष्मणयोः प्रवेशं सूचयित्वा निष्क्रान्तेन स्वप्रयोगमतिशयान एव प्रयोगः प्रयोजितः ।

कालं प्रवृत्तमाश्रित्य सूत्रधृग्यत्र वर्णयेत् ।
तदाश्रयश्च पात्रस्य प्रवेशस्तत्प्रवर्तकम् ॥ ३७ ॥

यथा—

'आसादितप्रकट–' (पृ. ३९९) इत्यादि । 'ततः प्रविशति यथानिर्दिष्टो रामः'

न आकुलेन = व्याकुलेन, रामेण = राघवेण, गर्भगुर्वीम् = गर्भेण (भ्रूणेन)-गुर्वीम् (भारयुक्ताम्) अपि, जनपदात् = देशात्, निर्वासितां = बहिष्कृतां, सीतां = जानकी, वनाय=अरण्याय, अयं, लक्ष्मणः, परिकर्षति=आकर्षति । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

प्रयोगातिशयं व्युत्पादयति—अत्रेति । नृत्यप्रयोगार्थं=नाट्यप्रयोगानुष्ठानार्थं; स्वभार्याऽऽह्वानं = स्वस्य (आत्मनः) भार्या (सधर्मिणी, नटीति शेषः) तस्याः आह्वानम् (आकारणम्) । स्वप्रयोगम्=आत्मप्रयोगं, नृत्यरूपमिति भावः । अतिशयानः= अतिक्रामन् एव, प्रयोगः=सीताया वनपरिकर्षणरूप इति भावः ।

प्रवर्तकं लक्षयति—कालमिति । सूत्रधृक्=सूत्रधारः, यत्र=यस्मिन्, प्रवृत्तं= तदा वर्तमानं कालं = समयं, शरदादिरूपमिति भावः । वर्णयेत् = वर्णनं कुर्यात्, तदाश्रयः = प्रवृत्तकालवर्णनाधारः । पात्रस्य = अभिनेतुः, प्रवेशः = प्रवेशनं, तत् प्रवर्तकम् । अभिनये पात्रं प्रवर्तयतीति प्रवर्तकमिति व्युत्पत्तिः ॥ ३७ ॥

रही हुई है ऐसे लोगोंके अपवादके भयसे आकुल रामसे देशसे भी निर्वासित गर्भिणी सीताको लक्ष्मणजी बन जानेके लिए आकृष्ट कर रहे हैं ।

यहाँपर नृत्यके प्रयोगके लिए अपनी पत्नीको बुलानेकी इच्छा करनेवाले सूत्रधारने "ये लक्ष्मण वन जानेके लिए सीताको आकृष्ट कर रहे हैं" कहकर सीता और लक्ष्मणके प्रवेशको सूचित कर निकलकर अपने प्रयोग (नृत्य) को उत्कृष्ट करके प्रयोग दिखलाया है ।

जहाँपर सूत्रधार प्रस्तुत समयका आश्रय कर वर्णन करे और उसीका आश्रय कर पात्रका प्रवेश हो वह "प्रवर्तक" है ॥ ३७ ॥

जैसे "आसादित प्रकट०" इत्यादि (तब तथा निर्दिष्ट राम प्रवेश करते हैं) ।

यत्रैकत्र समावेशात्कार्यमन्यत्प्रसाध्यते ।
प्रयोगे खलु तज्ज्ञेयं नाम्नावलगितं बुधैः ॥ ३८ ॥

यथा शाकुन्तले—

सूत्रधारो नटीं प्रति । 'तवाऽस्मि गीतरागेण—' (पृ. ४००) इत्यादि । ततो राज्ञः प्रवेशः ।

योज्यान्यत्र यथालाभं वीथ्यङ्गानीतराण्यपि ।

अत्र आमुखे । उद्घात्य (त) कावलगितयोरितराणि वीथ्यङ्गानि वक्ष्यमाणानि ।

नखकुट्टस्तु—

नेपथ्योक्तं श्रुतं यत्र त्वाकाशवचनं तथा ॥ ३९ ॥

अवलगितं लक्षयति—**यत्रैकत्रेति** । यत्र = यस्मिन् प्रयोगे, एकत्र = एकस्मिन् विषये, समावेशात्=सादृश्योद्भावनात् हेतोः, अन्यत्=अपर, कार्यं=कृत्यं, प्रसाध्यते = निर्वर्त्यते, सूत्रधारेणेति शेषः । बुधैः = विद्वद्भिः, तत्=आमुखं, नाम्ना=अभिधानेन, "प्रकृत्यादिभ्य उपसङ्ख्यानम्" इति तृतीया । ज्ञेयं=बोद्धव्यम्, अवलगनम् अवसञ्जनम् इति अवलगितम् ॥ ३८ ॥

योज्यानीति । अत्र = आमुखे, प्रस्तावनायाम् । यथालाभ=यथाप्राप्ति, यथा-सम्भवमिति भावः । इतराणि अपि=अन्यानि अपि, उद्घात्मकावलगितभिन्नान्यपीति भावः । वीथ्यङ्गानि = वीथ्याः (वक्ष्यमाणरूपकविशेषस्य) अङ्गानि (अवयवाः), योज्यानि=संयोजनीयानि, कविनेति शेषः ।

आमुखस्यैते पञ्च भेदाः प्रविष्टपात्रसूचितपात्रान्तरप्रवेशयुक्ताः उक्ताः । अथाऽ-प्रविष्टसूचितपात्रयुक्तोऽपि नखकुट्टाख्यः षष्ठो भेदः प्रदर्श्यते—**नखकुट्टस्त्विति** । यत्र= यस्मिन् कस्मिन्नपि नाटके, नेपथ्योक्तं = नेपथ्ये (वेशरचनास्थले) उक्तं=वाक्यं, तथा

जहाँपर एक प्रयोगमे सादृश्यका समावेश करके दूसरा कार्य सिद्ध किया जाता है उसे विद्वान् "अवलगित" कहते हैं ॥ ३८ ।

जैसे शाकुन्तलमें सूत्रधार नटीके प्रति—"तवाऽस्मि गीतरागेण इत्यादि । तब राजाका प्रवेश होता है ।

आमुख (उद्घात्मक और अवलगित) में यथालाभ और भी वीथीके अङ्गोंकी योजना करनी चाहिए ।

वीथीके अङ्ग पीछे कहे जायेगे ।

नखकुट्ट—नेपथ्यका वचन अथवा आकाशवचन सुनकर उनका आश्रय कर नाटक आदियोंमें आमुख करना चाहिए ।

समाश्रित्यापि कर्तव्यमामुखं नाटकादिषु ।
एषामामुखभेदानामेकं कञ्चित्प्रयोजयेत् ॥ ४० ॥
तेनार्थमथ पात्रं वा समाक्षिप्यैव सूत्रधृक् ।
प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रयोजयेत् ॥ ४१ ॥

वस्त्वितिवृत्तम् ।

इदं पुनर्वस्तु बुधैर्द्विविधं परिकल्प्यते ।
आधिकारिकमेकं स्यात्प्रासङ्गिकमथापरम् ॥ ४२ ॥
अधिकारः फले स्वाम्यमधिकारी च तत्प्रभुः ।
तस्येतिवृत्तं कविभिराधिकारिकमुच्यते ॥ ४३ ॥

आकाशवचनम् = आकाशभाषितं, श्रुतम् = आकर्णितं, समाश्रित्य=विधाय, नाटकादिषु, आमुखं = प्रस्तावना । कर्तव्यं = विधेयम्, सूत्रधृक् = सूत्रधारः, एषां = पूर्वोक्तानाम्, आमुखभेदानां = प्रस्तावनाविशेषाणाम्, एकं, प्रयोजयेत् = कुर्यात् । तेन = आमुखप्रयोगेण, अर्थं = वस्तु, अथ=अथवा, पात्रं, समाक्षिप्य=समाश्रित्य, एव, प्रस्तावनाऽन्ते= आमुखाऽवसाने, निर्गच्छेत्, ततः = अनन्तरं, वस्तु = इतिवृत्त, प्रयोजयेत् = विदधीत; अभिनयाऽर्थमिति शेषः ।

वस्तुद्वैविध्यं प्रदर्शयति—**इदमिति** । बुधैः=विद्वद्भिः, इदं, वस्तु=इतिवृत्तं, द्विविधं= द्विप्रकार, परिकल्प्यते=विरच्यते, तयोरेकम्, आधिकारिकम्=अधिकारिण (फलस्वामिनः) इतिवृत्तम् (वस्तु) । अपरम् = अन्यच्च, प्रासङ्गिकं = प्रसङ्गेन निर्वृत्तम् ॥ ४२ ॥

कारिकायामेव तद्द्वयं विवृणोति—**अधिकार इति** । फले = प्रधानफले, स्वाम्यं = स्वामित्व, मुख्यफलभोक्तृत्वम्, अधिकारः । तत्प्रभुश्च=तस्य (मुख्यफलस्य) प्रभुः (भोक्ता) अधिकारी । कविभिः, तस्य = अधिकारिणः, इतिवृत्तं = वृत्तान्तः, आधिकारिकमुच्यते ॥ ४३ ॥

सूत्रधार इन उद्घात्मक आदि भेदोंमें किसी एक भेदका प्रयोग करें ॥ ४० ॥

उससे वृत्तान्त अथवा पात्रका आक्षेप कर प्रस्तावनाके अन्तमें बाहर निकल जाय, तब इतिवृत्तका प्रयोग करें ॥ ४१ ॥

वस्तुको विद्वान् लोग दो प्रकारकी मानते हैं आधिकारिक और प्रासङ्गिक ॥४२॥

मुख्य फलमें स्वामित्व अधिकार है उसका स्वामी अधिकारी है उस अधिकारीके इतिवृत्तको विद्वान् "आधिकारिक" कहते है ॥ ४३ ॥

फले प्रधानफले। यथा बालरामायणे रामचरितम्।

अस्योपकरणार्थं तु प्रासङ्गिकमितीष्यते।

अस्याधिकारिकेतिवृत्तस्य उपकरणनिमित्तं यच्चरितं तत्प्रासङ्गिकम्। यथा सुग्रीवादिचरितम्।

पताकास्थानकं योज्यं सुविचार्येह वस्तुनि ॥ ४४ ॥

इह नाट्ये—

यत्रार्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते।
आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत् ॥ ४५ ॥

तद्भेदानाह—

सहसैवार्थसंपत्तिर्गुणवत्युपचारतः।
पताकास्थानकमिदं प्रथमं परिकीर्तितम् ॥ ४६ ॥

प्रासङ्गिक वस्तु निरूपयति—**अस्येति**। अस्य = आधिकारिकेतिवृत्तस्य, **उपकरणार्थं** = पोषणार्थं तु, प्रासङ्गिक = प्रसङ्गेन निर्वृत्त चरितं, कविभिः इष्यते= अभिलष्यते।

पताकेति। इह = नाट्ये वस्तुनि, सुविचार्य = सम्यग्विमृश्य, पताकास्थानकं वक्ष्यमाणप्रकारं, योज्य = योजनीयम् ॥ ४४ ॥

पताकास्थानकं लक्षयति—**यत्रेति**। यत्र = यस्मिन् स्थाने, अन्यस्मिन्, **अर्थे**= **विषये**, चिन्तिते=विचारिते, आगन्तुकेन=प्रस्तुतादितरेण, भावेन = प्रकारेण, तल्लिङ्गः= तत्सदृशः, अन्यः = अपरः, अर्थः। प्रयुज्यते = क्रियते, तत् पताकास्थानकम् ॥ ४५ ॥

तद्भेदानाह—**सहसेति**। यत्र, सहसा एव=अतर्कितकारणेन एव, उपचारतः= प्रीत्यनुकूलव्यापारात्, गुणवती = उत्कृष्टगुणसंपन्ना, अर्थसम्पत्तिः = फलसमृद्धिः भवति, इदं प्रथमं पताकास्थानं, परिकीर्तितं = व्याख्यातम् ॥ ४६ ॥

जैसे बालरामायणमें रामचरित "आधिकारिक" है।

आधिकारिक इतिवृत्तके पोषणके लिए जो चरित्र है उसे "प्रासङ्गिक" कहते हैं, जैसे सुग्रीव आदिका चरित्र।

नाटकमें पताकास्थानकी योजना अच्छी तरह विचार कर करनी चाहिए।।४४।।

जहाँपर एक विषयकी चिन्ता करनेपर आगन्तुक प्रकारसे उसी प्रकारका दूसरा विषय उपस्थित होता है उसे "पताकास्थान" कहते हैं ॥ ४५ ॥

पताकास्थानके भेदोंको कहते हैं—

जहाँपर सहसा उपचार (प्रीतिके अनुकूल व्यापार) से उत्कृष्ट फलप्राप्ति हो उसे पहला "पताकास्थान" कहा गया है ॥ ४६ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'बासवदत्तेयम्' इति राजा यदा तत्कण्ठपाशं मोचयति तदा तदुक्त्या 'सागरिकेयम्' इति प्रत्यभिज्ञाय 'कथं प्रिया मे सागरिका ?

अलमलमतिमात्रं साहसेनामुना ते,
त्वरितमयि ! विमुञ्च त्वं लतापाशमेतम् ।
चलितमपि निरोद्धुं जीवितं जीवितेशे !
क्षणमिह मम कण्ठे बाहुपाशं विधेहि ॥'

अत्र फलरूपार्थसंपत्तिः पूर्वापेक्षयोपचारातिशयाद् गुणवत्युत्कृष्टा ।

वचः सातिशयं श्लिष्टं नानाबन्धसमाश्रयम् ।

उदाहरति—**यथेति** । राजा = उदयनः, मोचयति = बन्धनापाशं त्याजयति, तदुक्त्या = सागरिकावचनेन, प्रत्यभिज्ञाय = प्रतिबुध्य, । वासवदत्तेयमिति । भ्रमाऽपगमेति शेषः । **अलमिति** । अयीति कोमलामन्त्रणे, प्रिये सागरिके इति भावः । अमुना= एतेन, ते=तव, साहसेन=प्राणपरित्यागरूपेण बलात्कारकर्मणा. अतिमात्रम्=अत्यर्थम्, अलम् अलम् = पर्याप्तमिति भावः । सम्भ्रमे द्विरुक्तिः । त्वम्, एतम्, = इमं, लतापाश = बल्लीबन्धनं, त्वरित = शीघ्रं, विमुञ्च = त्यज । जीवितेशे = हे प्राणेश्वरि ! चलित=गन्तुं, प्रवृत्तम् अपि, जीवितं = जीवनं, निरोद्धुं = निवारयितुम्, इह = अस्मिन्, मम = प्रणयिनः, कण्ठे = गले, बाहुपाशं = भुजबन्धनं, क्षणं = कञ्चित्कालं, निधेहि=स्थापय । मालिनीवृत्तम् ।

इति = एवं, फलरूपा = सागरिकारूपोद्दिष्टफलस्वरूपा, अर्थसम्पत्तिः = फलसंप्राप्तिः, पूर्वाऽपेक्षया=वासवदत्ताज्ञानाऽपेक्षया, उपचाराऽतिशयात् = प्रीत्याधिक्योत्पादनादिति भावः, गुणवती = विशिष्टगुणसम्पन्ना, उत्कृष्टा = उत्तमा ।

द्वितीय पताकास्थानकं निर्दिशति—**वच इति** । यत्र, साऽतिशयश्लिष्टम् = अतिशयश्लेषसहितं, नानाबन्धसमाश्रय=नानाबन्धः (अनेकविशेषणसम्बन्धः) तत्समा-

जैसे रत्नावलीमे सागरिकाका राजा 'यह वासवदत्ता है" ऐसा समझकर उसके कण्ठपाशको छुड़ाते है तब उसकी उक्तिसे "यह सागरिका है ऐसा पहचानकर" यह कैसे मेरी प्रिया सागरिका है ।

"तुम इस साहसको मत करो मत करो । हे प्रिये ! तुम इस लतापाशको जल्दी छोड़ो । जानेके लिए प्रवृत्त भी प्राणको रोकनेके लिए कुछ समय तक मेरे गलेमें बाहुपाशको रक्खो ॥

इस प्रकारसे फलरूप अर्थसंपत्ति पहलेसे भी उपचारकी अधिकतासे उत्कृष्ट है !

जहां अनेक बन्धोमें आश्रित अत्यन्त श्लेषयुक्त वचन हो यह दूसरा "पताका-

पताकास्थानकमिदं द्वितीयं परिकीर्त्तितम् ॥ ४७ ॥

यथा वेण्याम्—

रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः ।'

अत्र रक्तादीनां रुधिरशरीरार्थहेतुकश्लेषवशेन बीजार्थप्रतिपादनान्नेतृमङ्गलप्रतिपत्तौ सत्यां द्वितीयं पताकास्थानकम् ।

अर्थोपक्षेपकं यत्तु लीनं सविनयं भवेत् ।
श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेतं तृतीयमिदमुच्यते ॥ ४८ ॥

अय (तद्विषयकम्), वचः = वाक्यं, भवतीति शेषः । तत् द्वितीयं पताकास्थानकं, परिकीर्तितम् ॥ ४७ ॥

उदाहरति—**यथा वेण्यां**—"रक्तप्रसाधितभुवः०" । व्याख्यातपूर्वमिदं पद्यम् । सूत्रकारवचनमिदं क्रोधाद्भीमसेनेनाऽनूक्तम् ।

अत्रेति । अत्र = अस्मिन्पद्ये, रक्तादीनां = रक्तादिशब्दानां, रुधिरशरीरार्थहेतुकश्लेषवशेन = रक्त दस्य रुधिरार्थे, एवं च विग्रहपदस्य शरीरार्थे श्लेषाऽलङ्कारवशेनेति भावः । एवं च "स्वस्था" इति पदस्य "स्वर्गस्था" इति श्लेषेणेति शेषः, बीजार्थप्रतिपादनात् = भीमक्रोधोपचितयुधिष्ठिरोत्साहसूचनात, नेतृमङ्गलप्रतिपत्तौ = सत्यां नेतुः (नायकस्य युधिष्ठिरस्य) मङ्गलप्रतिपत्तौ (शत्रुनाशतो राज्यलाभरूपशुभबोधे सति) द्वितीयं पताकास्थानम् ॥

तृतीयं पताकास्थानं निर्दिशति—**अर्थोपक्षेपकमिति** । यत्तु वचः **अर्थोपक्षेपकम्** = अर्थस्य (प्रस्तुतवस्तुनः) उपक्षेपकं (सूचकम्), लीनम् = अव्यक्तार्थम् । **सविनयं** = विशेषनिश्चयप्राप्त्या सहितम् । श्लिष्टप्रत्युत्तरोपेत = श्लिष्टं (श्लेषयुक्तं; सम्बन्धयोग्यमभिप्रायाऽन्तरप्रयुक्तमिति भावः) यत् प्रत्युत्तरं, तेन उपेतं (युक्तम्) **भवेत्**, इदं तृतीयं पताकास्थानम्, उच्यते ॥ ४८ ॥

स्थान" कहा गया है ॥ ४७ ॥

जैसे वेणीसंहारमें—"रक्तप्रसाधितभुव." । जिन्होंने पृथ्वीको अनुरागसे अधीन कर लिया है, वा रक्त (रुधिर) से अलङ्कृत कर दिया है । 'क्षतविग्रहाः" कलहको नष्ट करनेवाले वा नष्ट शरीरवाले कौरवलोग "स्वस्थाः" सुस्थितिसे युक्त वा मारे जानेसे स्वर्गमे स्थित, इसप्रकार रक्त आदि पदोंका रुधिर और शरीररूप अर्थके हेतु श्लेष अलङ्कारसे बीज अर्थ (कौरवोका नाश) के प्रतिपादनसे नायकके मङ्गलका ज्ञान होनेसे दूसरा पताकास्थान हो गया है ।

जो अर्थोपक्षेपक (दूसरे अर्थका सूचक) लीन (अस्पष्ट अर्थसे युक्त) श्लिष्ट (सम्बन्धयोग्य दूसरे अभिप्रायसे प्रयुक्त) प्रत्युत्तरोंसे युक्त और सविनय (विशेष निश्चयकी प्राप्तिसे युक्त) हो उसे "तीसरा पताकास्थान कहते हैं ॥ ४८ ॥

लीनमव्यक्तार्थम् , श्लिष्टेन = सम्बन्धयोग्येनाभिप्रायान्तरप्रयुक्तेन प्रत्युत्तरेणोपेतम् , सविनयं = विशेषनिश्चयप्राप्त्या सहितं संपाद्यते यत्तत्तृतीयं पताकास्थानम् ।

यथा वेण्यां द्वितीयेऽङ्के —

'कञ्चुकी—देव ! भग्नं भग्नम् ।

राजा—केन ?

कञ्चुकी—भीमेन ।

राजा—कस्य ?

कञ्चुकी—भवतः ।

राजा—आः ! किं प्रलपसि ?

कञ्चुकी—(सभयम्) देव ! ननु ब्रवीमि । भग्नं भीमेन भवतः ।

राजा—धिग् वृद्धापसद ! कोऽयमद्य ते व्यामोहः ?

कञ्चुकी—देव ! न व्यामोहः ।

सत्यमेव—भग्नं भीमेन भवतो मरुता रथकेतनम् ।
पतितं किङ्किणीकाणबद्धाक्रन्दमिव क्षितौ ॥'

विवृणोति । लीनम्=अव्यक्तार्थम् । अव्यक्तः (अस्पष्टः) अर्थः (वक्त्रभिप्रायः) यस्मिंस्तत् । सम्बन्धयोग्येन = प्रस्तुतार्थान्वयोचितेन ।

उदाहरति—यथा वेण्यां तृतीयेऽङ्क इति । भीमेन = भयङ्करेण, भीमसेनेन च । प्रलपसि = अनर्थं ब्रवीषि । ननिति निश्चये । वृद्धापसद=वृद्धाधम । व्यामोहः= विशिष्टमज्ञानम् । भग्नमिति । भीमेन मरुता भग्नं भवतो रथकेतनं किङ्किणीजालबद्धाक्रन्दम् इव क्षितौ पातितमित्यन्वयः ।

कञ्चुकी दुर्योधनं प्रति वायुकृतं रथपताकापातनं सूचयति । हे महाराज !, भीमेन= भयानकेन, मरुता = वायुना, भग्नम्=आमर्दितं, भवतः = तव, रथकेतनं = ध्वजः, किङ्किणीजालबद्धाक्रन्दम् इव=किङ्किणीजालेन (क्षुद्रघण्टिकासमूहेन) बद्धः (कृतः) आक्रन्दः (रोदनध्वनिः) येन तत्, तादृशं सत् । क्षितौ=भूमौ, पातितं=निपातितम् । अनुष्टुब् वृत्तम् । उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ।

जैसे वेणीसंहारमें दूसरे अङ्कमें—कञ्चुकी—"महाराज ! भग्न हुआ" । राजा किससे ? । कञ्चुकी—भीमसे । राजा—किसका ? कञ्चुकी—आपका । राजा—ओह ! क्या प्रलाप करते हो ? कञ्चुकी (भयके साथ) महाराज ! मैं कह रहा हूँ । भीमने आपका भङ्ग किया । राजा—धिक्, अधम वृद्ध ! यह तुम्हारा कैसा मोह है ? कचुकी—महाराज ! मेरा मोह नहीं । सचमुच ही ।

भीम (भयङ्कर) वायुसे भग्न आपके रथका ध्वज किङ्किणीसमूहके शब्दसे रोते हुएके समान होकर जमीनपर गिर पड़ा ॥

अत्र दुर्योधनोरुभङ्गरूपप्रस्तुतसंक्रान्तमर्थोपक्षेपणम् ।

द्व्यर्थो वचनविन्यासः सुश्लिष्टः काव्ययोजितः ।
प्रधानार्थान्तरक्षेपी पताकास्थानकं परम् ॥ ४९ ॥

यथा—रत्नावल्याम्—

'उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भां क्षणा-
दायासं श्वासनोद्गमैरविरलैरातन्वतीमात्मनः ।

अत्रेति । अत्र = अस्मिन्पद्ये, दुर्योधनोरुभङ्गरूपप्रस्तुतसंक्रान्तं = दुर्योधनस्य (सुयोधनस्य) ऊरुभङ्गरूपं (सक्थिभङ्गस्वरूपम्) यत् प्रस्तुत (प्रकृतं वृत्तम्), तस्मिन् संक्रान्तम् (पर्यवसन्नम्) । अर्थोपक्षेपणम् = अर्थस्य (रथकेतनभङ्गरूपस्य वाच्यस्य) उपक्षेपणम् (सूचनम्) ।

चतुर्थं पताकास्थानं निर्दिशति—द्व्यर्थ इति । (यत्र) द्व्यर्थः सुश्लिष्टः काव्य-योजितः प्रधानार्थान्तराऽऽक्षेपी वचनविन्यासः, सः, परं=पताकास्थानमित्यन्वयः ।

यत्र, द्व्यर्थः = द्वौ (उभौ) अर्थौ (वाच्यौ) यस्य सः, सुश्लिष्टः=सुसम्बद्धः, अर्थद्वयेऽपीति शेषः । काव्ययोजितः = काव्ये (पद्ये) योजितः (निवेशितः) । प्रधानाऽ-र्थाऽन्तराक्षेपी = प्रधानं (मुख्यम्) यत् अर्थान्तरम् (फलान्तरम्) तत् आक्षिपति (सूचयति) इति प्रधानाऽर्थाऽन्तराऽऽक्षेपी, तादृशो वचनविन्यासः = वाक्यविन्यासः, सः, परम् = अपरं, पताकास्थानकम् ॥ ४९ ॥

उदाहरति—यथा रत्नावल्यामिति । उद्दामेति । अहम् अद्य उद्दामोत्कलिकां विपाण्डुररुचं प्रारब्धजृम्भाम् अविरलैः श्वसनोद्गमैः क्षणात् आत्मन आयासम् आतन्वतीम् अन्या समदना नारीम् इव इमाम् उद्यानलतां पश्यन् देव्या मुखं ध्रुवं कोपविपाटलद्युति करिष्यामीत्यन्वयः ।

उद्यानलतायां नार्यां च श्लिष्टोऽर्थः । अहम् = उदयनः, अद्य = अस्मिन्दिने, उद्दामोत्कलिकाम् = उद्यानलतापक्षे—उद्दामाः (समधिकाः) उद्गताः (उत्पन्नाः) कलिकाः (कोरकाः) यस्याः, ताम् । नारीपक्षे—उद्दामा (समधिका) उत्कलिका (उत्कण्ठा) यस्याः ताम् । विपाण्डुररुचम्=उद्यानलतापक्षे—विपाण्डुरा (अधिकपाण्डुः, पुष्पविकासादिति शेषः) रुक् (कान्तिः) यस्याः, ताम् । नारीपक्षे—विरहादिति शेषः । प्रारब्धजृम्भाम्=उद्यानलतापक्षे—प्रारब्धा (प्रकर्षेण आरब्धा) जृम्भा (विकासः)

यहाँ दुर्योधनके उरुभङ्गरूप प्रस्तुत विषयमें दूसरे अर्थका सूचक हुआ है ।

जहाँ दो अर्थोंवाला, सुसम्बद्ध, काव्यमें निवेशित और दूसरे प्रधान अर्थका सूचक वचनका विन्यास है, वह तीसरा पताका स्थान है ॥ ४९ ॥

जैसे रत्नावलीमें है—से बढ़ी हुई कलियोंसे युक्त, दूसरे पक्षमें—अतिशय उत्कण्ठासे युक्त, पुष्पविकाससे सफेद कान्तिसे युक्त, दूसरे पक्षमें—सफेद वर्णसे युक्त,

अद्योद्यानलतामिमां समदनां नारीमिवान्यां ध्रुवं
पश्यन् कोपविपाटलद्युति मुखं देव्याः करिष्याम्यहम् ॥'

अत्र भाव्यर्थः सूचितः।

एतानि चत्वारि पताकास्थानानि क्वचिन्मङ्गलार्थं क्वचिदमङ्गलार्थं सर्वसन्धिषु भवन्ति। काव्यकर्तुरिच्छावशाद् भूयो भूयोऽपि भवन्ति।

यत्पुनः केनचिदुक्तम्—'मुखसन्धिमारभ्य सन्धिचतुष्टये क्रमेण भवन्ति' इति। तदन्ये न मन्यन्ते, एषामत्यन्तमुपादेयानामनियमेन सर्वत्रापि सर्वेषामपि भवितुं युक्तत्वात्।

यस्याः, ताम्। नारीपक्षे—प्रारब्धा जृम्भा (मुखविकासः) यया, ताम्। तथाच, उद्यानलतापक्षे—अविरलैः = निरन्तरैः, श्वसनोद्गमैः = वातोद्गमनैः, नारीपक्षे—श्वसनोद्गमैः=निःश्वासोद्गमनैः, क्षणात्=अल्पकालादेव, आत्मनः=स्वस्याः, आयासम्। उद्यानलतापक्षे—इतस्ततो विक्षेप, नारीपक्षे—मदनखेदम् आतन्वतीं = कुर्वतीम्, अन्याम् = अपरां, समदनाम् = उद्यानलतापक्षे—मरुवकापरपर्यायमदनवृक्षसहिताम्। नारीपक्षे—कामावेशोपेता, नारीम् इव = रमणीम् इव, इमां = सन्निकृष्टस्थिताम्, उद्यानलताम् = आक्रीडवल्ली, पश्यन् = विलोकयन्, देव्याः = कृताऽभिषेकाया राज्याः, वासवदत्ताया इति भावः। मुखं = वदनं, ध्रुवं = निश्चितं, कोपविपाटलद्युति = कोपेन (क्रोधेन) मद्विलम्बोत्पन्नेनेति शेषः। विपाटला (विशेषेण रक्तवर्णा) द्युतिः (कान्तिः) यस्याः, तत्, तादृशं, करिष्यामि=विधास्यामि। श्लेषाऽलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्॥

अत्रेति। अत्र = इह, अस्मिन् पद्ये। भावी=भविष्यन्, विरहत्विन्नसागरिका-संगमरूपः, वासवदत्ताकोपरूपो वा मुख्यः अर्थः = वस्तु, सूचितः = संकेतितः।

एतानीति। क्वचित्=कुत्रचित्। अत्र तु चत्वार्येव पताकास्थानानि मङ्गलार्थान्येवेति बोद्धव्यम्, भूयोऽपि = चतुर्भ्योऽधिकमपीति भावः। सर्वत्राऽपि = सर्वेष्वपि, पञ्चसन्धिष्वपीति भावः।

विकासवाली, दूसरे पक्षमें जमुहाई लेनेवाली, लगातार हवा चलनेसे कम्पित होनेवाली, दूसरे पक्षमें निरन्तर निःश्वासोंसे कामवेदनाको प्राप्त करनेवाली, दूसरी कामवासनासे युक्त नारीकी समान मदन वृक्षसे युक्त इस उद्यानलताको देखता हुआ महारानी वासवदत्ताके मुखको निश्चय ही क्रोधसे लाल वर्णवाला करूँगा॥

इसमें भावी अर्थकी सूचना की गई है।

ये चार पताकास्थान कहीं मङ्गलके लिए और कहीं अमङ्गलके लिए सब सन्धियोंमें होते हैं। काव्यकर्ताकी इच्छासे बार बार भी होते हैं। किसीने कहा है कि—"मुखसन्धिको आरम्भ कर चार सन्धियोंमें क्रमसे होते हैं।" इसे और लोग नहीं मानते हैं। अत्यन्त उपादेय होनेसे विना नियमके ही ये सब सन्धियोंमें हो सकते हैं।

यत्स्यादनुचितं वस्तु नायकस्य रसस्य वा ।
विरुद्धं तत्परित्याज्यमन्यथा वा प्रकल्पयेत् ॥ ५० ॥

अनुचितमितिवृत्तं यथा—रामस्य छद्मना बालिवधः । तच्चोदात्तराघवे नोक्तमेव । वीरचरिते तु वाली रामवधार्थमागतो रामेण हत इत्यन्यथा कृतः ।

अङ्केष्वदर्शनीया या वक्तव्यैव च संमता ।
या च स्याद्वर्षपर्यन्तं कथा दिनद्वयादिजा ॥ ५१ ॥
अन्या च विस्तरा सूच्या सार्थोपक्षेपकैर्बुधैः ।

यदिति । यत् वस्तु नायकस्य रसस्य वा अनुचित विरुद्ध वा, तत् परित्याज्यम्, वा अन्यथा प्रकल्पयेदित्यन्वयः ।

यत् वस्तु = इतिवृत्त, नायकस्य = नेतुः, रसस्य वा = शृङ्गारादिरसस्य वा, अनुचितम्=अयोग्यं, विरुद्ध वा = पुराणादिविरोधयुक्त वा, तत् = तादृशमितिवृत्तं, परित्याज्यं=परिवर्जनीयं, वा=अथवा, अन्यथा=प्रकारान्तरेण, प्रकल्पयेत्=रचयेत् ॥ ५० ॥

विवृणोति—**अनुचितमिति** । अनुचितम् = इतिवृत्त वस्तु, यथा रामस्य = राघवस्य, मर्यादापुरुषोत्तमस्येति भावः, छद्मना = छलेन, असम्मुखयुद्धरूपेणेति भावः । बालिवधः=बालिनिषूदनम् । तच्च = बालिवधरूपमनुचितवस्तु, उदात्तराघवे=मायुराजकृते नाटकविशेषे । न उक्तं = न प्रतिपादितम् । वीरचरिते=भवभूतिकृते महावीरचरिते नाटके । अन्यथा = रूपान्तरेण, कृतः = विहितः ।

अङ्केष्विति । या = युद्धादिकथा, अङ्केषु, अदर्शनीया = "दूराह्वानं वधो युद्धम्" इत्यादिना निषिद्धरूपेण दर्शनाऽनर्हा, कथा, पर वक्तव्या = सूचनीया एव, सम्मता = अभिमता, या च कथा दिनद्वयादिजा = दिवसाद्वितयजाता, वर्षपर्यन्तं = संवत्सरान्त, व्याप्ता ॥ ५१ ॥

अन्या = अपरा च, विस्तरा = अतिविस्तृता च, सा = कथा, बुधैः=कविभिः, अर्थोपक्षेपकैः = कथासंसूचकैः, वक्ष्यमाणविष्कम्भकादिभिरिति भावः, सूच्या=सूचनीया ।

जो वस्तु नायक वा रसके अनुचित हो अथवा विरुद्ध हो उसे छोड़ना चाहिए अथवा बदलना चाहिए ॥ ५० ॥

अनुचित इतिवृत्त जैसे—रामका छलसे बालीको मारना, उसे उदात्तराघवमें नहीं कहा है । वीरचरितमें तो रामको मारनेके लिए आये हुए बालीको रामने मार डाला इस तरह उसे बदल दिया है ।

जो कथा युद्ध आदिकी कथा अङ्कोंमें दिखाने योग्य नहीं है किन्तु बतानेके योग्य है, अथवा दो दिनोसे लेकर वर्ष पर्यन्तमें होने वाली है ॥ ५१ ॥

और विस्तृत कथा हो उन्हें अर्थोपक्षेपकोंसे सूचित करना चाहिए ।

अङ्केषु अदर्शनीया कथा युद्धादिकथा।

वर्षादूर्ध्वं तु यद्वस्तु तत्स्याद्वर्षादधोभवम् ॥ ५२ ॥

उक्तं हि मुनिना—

'अङ्कच्छेदे कार्यं मासकृतं वर्षसञ्चितं वापि।
तत्सर्वं कर्तव्यं वर्षादूर्ध्वं न तु कदाचित् ॥'

एवं च चतुर्दशवर्षव्यापिन्यपि रामवनवासे ये ये विराधवधादयः कथांशास्ते ते वर्षवर्षावयवदिनयुग्मादीनामेकतमेन सूचनीया न विरुद्धाः।

दिनावसाने कार्यं यद्दिने नैवोपपद्यते।
अर्थोपक्षेपकैर्वाच्यमङ्कच्छेदं विधाय तत् ॥ ५३ ॥

वर्षाऽधिकालव्यापिन्यां कथायां नियमं प्रतिपादयति—**वर्षादूर्ध्वमिति**। यत् वस्तु = वृत्तान्तः, वर्षात् = हायनात्, ऊर्ध्वम् = अधिककालव्यापि, तत्=वस्तु, वर्षात्, अधोभवं = न्यूनकालव्याप्यं, वर्षाऽभ्यन्तरनिर्वर्त्यमिति भावः, स्यात्=भवेत् ॥ ५२ ॥

अत्राऽर्थे मुनिसम्मतिमाह—**अङ्कच्छेद इति**। मासकृतम् = एकमासनिर्वर्त्यम्, वा = अथवा, वर्षसञ्चितम् = संवत्सरनिवर्त्यं, सर्वं, कार्यम् = इतिवृत्तम्, अङ्कच्छेदे = अङ्कसमाप्तौ, कर्तव्यं = विधातव्यं, तु=परन्तु, कदाचित्=जातुचित्, वर्षात्=सवत्सरात, ऊर्ध्वम् = अधिकम्, न कर्तव्यं, वर्षाऽधिककालनिर्वर्त्यं, न कार्यमिति भावः।

विवृणोति—**एवं चेति। वर्षेति।** वर्षं = सवत्सरः, वर्षाऽवयवः = मासः, दिनयुग्मं=दिवसयुगलं, तदादीनाम्, आदिशब्देन एकदिनं ग्राह्यम्। एकतमेन=अन्यतमेन, सूचनीयाः = सूच्याः, न विरुद्धाः = नो विरोधयुक्ता।

दिनावसान इति। यत् = कार्यं, दिनेन एव=सम्पूर्णदिवसेन एव, उपपद्यते= निष्पद्यते, तत् = कार्यम्, अङ्कच्छेदम् = अङ्कस्य छेदं (समाप्तिम्) विधाय, दिनाऽवसाने = दिनस्य अवसाने (अन्त्यभागे), अर्थोपक्षेपकैः = विष्कम्भकादिभिः, वाच्यं= वक्तव्यं, नाटककारेणेति शेषः ॥ ५३ ॥

जो कथा वर्षसे अधिक कालकी हो उस वर्षसे कम समय की करना चाहिए।५२।

मुनि ने भी कहा है—जो कथा मास पर्यन्तकी वा वर्षपर्यन्तकी है उसे अङ्कच्छेद (निष्कम्भक आदि) में सूचित करे कथाको वर्षसे अधिक समयवाली मत करे ॥

एवं चेति। चौदह वर्षों तकके रामके वनवासमें जो जो विराधवध आदि कथांऽश हैं उन उनको वर्ष, वर्षाऽवयव (मास); दो दिन और एक दिनमें सूचित करना, विरोध नहीं है। जो कार्य पूरे दिनसे होता हो उसे भी अङ्कको समाप्ति कर दिन के शेष भागमें अर्थोपक्षेपकोंसे सूचित करें ॥ ५३ ॥

अथ के तेऽर्थोपक्षेपका इत्याह—

अर्थोपक्षेपकाः पञ्च विष्कम्भकप्रवेशकौ ।
चूलिकाङ्काऽवतारोऽथ स्यादङ्कमुखमित्यपि ॥ ५४ ॥
वृत्तवर्तिष्यमाणानां कथांशानां निदर्शकः ।
संक्षिप्तार्थस्तु विष्कम्भ आदावङ्कस्य दर्शितः ॥ ५५ ॥
मध्येन मध्यमाभ्यां वा पात्राभ्यां संप्रयोजितः ।
शुद्धः स्यात्स तु संकीर्णो नीचमध्यमकल्पितः ॥ ५६ ॥

तत्र शुद्धो यथा—मालतीमाधवे श्मशाने कपालकुण्डला । सङ्कीर्णो यथा—रामाभिनन्दे क्षपणककापालिकौ ।

अर्थोपक्षेपकानुद्दिशति- **अर्थोपक्षेपका इति** । अर्थान् = कथावस्तूनि, उपक्षिपन्ति = उपस्थापयन्तीति अर्थोपक्षेपकाः, ते च पञ्च = पञ्चविधा यथा—विष्कम्भकः, प्रवेशकः, चूलिका, अङ्काऽवतारोऽङ्कमुखं चेति ॥ ५४ ॥

विष्कम्भकं लक्षयति- **वृत्तेति** । वृत्तवर्तिष्यमाणानां = वृत्ताः (अतीताः) वर्तिष्यमाणाः (आगामिनः) ये कथांशाः (कथाभागाः) तेषां निदर्शकः = ज्ञापकः, संक्षिप्तार्थः = स्वल्प कथावस्तु, अङ्कस्य, आदौ = पूर्वभागे, दर्शितः = प्रकाशितः, स विष्कम्भः ॥ ५५ ॥

विष्कम्भस्य भेदौ प्रतिपादयति तत्र शुद्धं लक्षयति—**मध्येनेति** । मध्येन = मध्यमेन, नोच्चेन नो वा नीचेनैकपात्रेण, वा = अथवा, मध्यमाभ्यां द्वाभ्यां पात्राभ्यां, संप्रयोजितः = संविहितः, "शुद्धः" स्यात् ।

सङ्कीर्णं लक्षयति— **स त्विति** । सः, नीचमध्यमकल्पितस्तु = नीचम् (अधमम्) मध्यमं (मध्यम्) यत् पात्रं, ताभ्यां कल्पितस्तु (प्रयोजितस्तु) सङ्कीर्णः = मिश्रः, स्यात् ॥ ५६ ॥

द्वावप्युदाहरति—**तत्रेति** । मालतीमाधवे - तन्नामके प्रकरणे (रूपकविशेषे) । तत्र च विष्कम्भके शुद्धपात्राणां संस्कृतभाषित्वं मध्यमपात्राणां प्राकृतभाषित्वं लक्ष्यम्

अर्थोपक्षेपकों को बतलाते हैं—

अर्थके उपक्षेपक (प्रस्तुत करनेवाले) पांच हैं—विष्कम्भक, प्रवेश, चूलिका, अङ्काऽवतार और अङ्कमुख ॥ ५४ ॥

बीते (भूत) और आनेवाले (भविष्यत्) कथांशोका सूचक संक्षिप्त अर्थवाला 'विष्कम्भक" कहा जाता है । वह अङ्कके आदिमें होता है ॥ ५५ ॥

मध्यम वा दो मध्यम पात्रोंसे किये गये विष्कम्भकको "शुद्ध विष्कम्भक" कहते हैं । नीच और मध्यम पात्रोंसे प्रयुक्त विष्कम्भकको "संकीर्ण विष्कम्भक" कहते है। ५६॥

शुद्ध विष्कम्भक जैसे— मालतीमाधव (प्रकरण) मे श्मशानमे कपाल

अथ प्रवेशकः—

प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या नीचपात्रप्रयोजितः ।
अङ्कद्वयान्तर्विज्ञेयः शेषं विष्कम्भके यथा ॥ ५७ ॥

अङ्कद्वयस्यान्तरिति प्रथमाङ्केऽस्य प्रतिषेधः । यथा—वेण्यामश्वत्थामाङ्के राक्षसमिथुनम् ।

अथ चूलिका—

अन्तर्जवनिकासंस्थैः सूचनार्थस्य चूलिका ।

यथा वीरचरिते चतुर्थाङ्कस्यादौ—'(नेपथ्ये) भो भो वैमानिकाः, प्रवर्तन्तां रङ्गमङ्गलानि' इत्यादि । 'रामेण परशुरामो जितः' इति नेपथ्ये पात्रैः सूचितम् ।

दृष्टान्त । प्राकृतभाषाया भेदो यथा भाषाऽर्णवे—

"भाषा मध्यमपात्राणां नाटकादौ विशेषतः ।
महाराष्ट्री सौरसेनीत्युक्ता भाषा द्विधा बुधैः ॥" इति ।

प्रवेशकं लक्षयति—**प्रवेशक इति** । अङ्कद्वयस्य = अङ्कद्वितयस्य, अन्तः = मध्ये, अनुदात्तोक्त्या = प्राकृतभाषया, नीचपात्रप्रयोजितः = अधमपात्रविहितः, नीचपात्रेण=नीचपात्राभ्यां नीचपात्रैर्वा प्रयोजितः अर्थोपक्षेपकः, प्रवेशकः, विज्ञेयः=वेदनीयः, शेषम् = अवशिष्टं लक्षण, विष्कम्भके, यथा = इव, ज्ञेयम् । "वृत्तवर्तिष्यमाणाना" मित्यादि पूर्वोल्लिखितं लक्षणं ज्ञातव्यमिति भावः ॥ ५७ ॥

प्रथमाऽङ्के प्रवेशकस्य प्रतिषेधः । उदाहरति—**वेण्यामिति** । वेण्यां = वेणीसंहारनाटके ।

अथ चूलिकां लक्षयति—**अन्तरिति** । अन्तर्जवनिकासंस्थैः=तिरस्करिण्यन्तःस्थितैः पात्रैः अर्थस्य = वस्तुविशेषस्य, सूचना = विज्ञापना, चूलिका ।

चूलिकामुदाहरति—**यथावीरचरित इति** । वैमानिकाः = विमानचारिणः,

कुण्डला । सङ्कीर्ण विष्कम्भक जैसे—रामाऽभिनन्दमें क्षपणक और कापालिक ।

नीच युक्तिसे नीच पात्रसे प्रयोजित अर्थोपक्षेपकको "प्रवेशक" कहते हैं, वह दो अङ्कोंके बीचमें होता है, अवशिष्ट विषय विष्कम्भकके समान होते हैं ॥ ५७ ॥

"अङ्कद्वयस्य अन्तः" ऐसा कहनेसे प्रथम अङ्कमें इसका निषेध है ।

जैसे वेणीसंहारमें अश्वत्थामाङ्कमें राक्षसोंकी जोड़ी ।

जहाँ पर्देके भीतर रहे हुए पात्रोंसे वस्तुकी सूचना होती है वह "चूलिका" है ।

जैसे वीरचरितमें चौथे अङ्कके आदिमें—(नेपथ्यमें) हे वैमानिको ! रङ्गभूमिमें

अथाङ्कावतारः—

अङ्कान्ते सूचितः पात्रैस्तदङ्कस्याविभागतः ॥ ५८ ॥
यत्राङ्कोऽवतरत्येषोऽङ्कावतार इति स्मृतः ।

यथा—

अभिज्ञाने पञ्चमाङ्के पात्रैः सूचितः षष्ठाङ्कस्तदङ्कस्याङ्गविशेष इवावतीर्णः ।

अथाङ्कमुखम्—

यत्र स्यादङ्क एकस्मिन्नङ्कानां सूचनाऽखिला ॥ ५९ ॥
तदङ्कमुखमित्याहुर्बीजार्थख्यापकं च तत् ।

रङ्गमङ्गलानि = रङ्गस्थलोत्सवाः । प्रवर्तन्ताम् = कुर्वन्तु । "प्रवर्त्यन्ताम्" इति पाठान्तरे क्रियन्तामित्यर्थः ।

अङ्कावतारं लक्षयति—**अङ्कान्त इति** । अङ्कान्ते = अङ्कस्य (यस्य कस्यचिदङ्कस्य) अवसाने (विरामे), पात्रैः = नाटकस्य पात्रैः, यत्र अङ्कः सूचितः= प्रयोजितः, तदङ्कस्य = तस्य अङ्कस्य, अविभागतः = अविभागात् ॥ ५८ ॥

अङ्कः = अन्योऽङ्कः, अवतरति = प्रादुर्भवति, एषः = अयम्, अङ्कावतारः, स्मृतः = स्मृतिविषयीकृतः । **यथेति** । अभिज्ञाने = अभिज्ञानशाकुन्तलनाटके । पञ्चमाङ्के = पञ्चमाङ्कान्ते । तदङ्कस्य = अङ्कावतारस्य ।

अङ्कमुखं लक्षयति—**यत्रेति** । यत्र, एकस्मिन्नङ्के, अङ्कानाम्, अङ्कस्य, वस्तूनाम्, अखिला = समस्ता, सूचना = विज्ञप्तिः ॥ ५९ ॥

अखिलानामङ्कानां सूचना स्यादित्यर्थः । तत् "अङ्कमुखम्" इति आलङ्कारिकाः कथयन्ति । तच्च बीजार्थख्यापक = बीजार्थस्य (वक्ष्यमाणस्यार्थप्रकृतिविशेषस्य) ख्यापकं (सूचकम्) भवतीति भावः । अङ्कावतारे तदङ्कमात्रसूचना; अङ्कमुखे तु समस्ताङ्कसूचनेति विशेषः ।

मङ्गलोंको प्रवृत्त करें । इत्यादि । "रामने परशुरामको जीत लिया" इसप्रकार नेपथ्यमें पात्रोंने सूचना की ।

पूर्व अङ्कके अन्तमें पात्रोंसे सूचित जो दूसरा अङ्क अवतीर्ण होता है उसे "अङ्कावतार" कहते हैं, वह अङ्क पहलेके अङ्कमे अविभक्त होता है ॥ ५८ ॥

जैसे अभिज्ञानशाकुन्तलमें पाँचवें अङ्कसे पात्रोंसे सूचित छठवाँ अङ्क है वह उस अङ्क (अङ्कावतार) का अङ्ग विशेषके समान अवतीर्ण है ।

जहाँ एक अङ्कमें सब अङ्कोंकी समग्र सूचना होती है और जो बीजभूत अर्थको प्रतिपादन करता है उसे "अङ्कमुख" कहते हैं ॥ ५९ ॥

यथा—

मालतीमाधवे प्रथमाङ्कादौ कामन्दकयवलोकिते भूरिवसुप्रभृतीनां भाविभूमिकानां परिक्षिप्तकथाप्रबन्धस्य च प्रसङ्गात्सन्निवेशं सूचितवत्यौ।

अङ्कान्तपात्रैर्वाङ्कास्यं छिन्नाङ्कस्यार्थसूचनात् ॥ ६० ॥

अङ्कान्तपात्रैरङ्कान्ते प्रविष्टैः पात्रैः। यथा वीरचरिते द्वितीयाऽङ्कान्ते—(प्रविश्य)

सुमन्त्रः—भगवन्तौ वशिष्ठविश्वामित्रौ भवतः सभार्गवानाह्वयतः।

इतरे—क्व भगवन्तौ ?

सुमन्त्रः—महाराजदशरथस्यान्तिके।

इतरे—'तत्तत्रैव गच्छामः' इत्यङ्कपरिसमाप्तौ।—'(ततः प्रविशन्त्युपविष्टा वशिष्ठविश्वामित्रपरशुरामाः)' इत्यत्र पूर्वाङ्कान्त एव प्रविष्टेन सुमन्तपात्रेण शतानन्दजनककथाविच्छेदे उत्तराङ्कमुखसूचनादङ्कास्यम्' इति।

उदाहरति—**यथेति**। प्रथमाऽङ्कादौ = प्रथमाऽङ्कस्य आदौ (पूर्वभागे)। भाविभूमिकानां = भाविनी (भविष्यन्ती) भूमिका (तत्तद्वेषरचना) येषां, तेषाम्। "भूरिवसुप्रभृतीनाम्" इत्यस्य विशेषणम्। परिक्षिप्तकथाप्रबन्धस्य = उपन्यस्तसकलवृत्तान्तस्य, सन्निवेशं = स्थितिम्। मालतीमाधवप्रकरणे तु "अङ्कमुखस्य" स्थाने "विष्कम्भक" इत्युल्लेखो दृश्यते।

दशरूपककारधनञ्जयमतमनुसृत्याऽङ्कमुखं लक्षयति—**अङ्काऽन्तपात्रैरिति**। अङ्काऽन्तपात्रैः = अङ्कान्ते (अङ्काऽवसाने) प्रविष्टैः, पात्रैः (पात्रविशेषैः)। छिन्नस्य = विच्छिन्नस्य, अतीताऽङ्कस्येति भाव.। अर्थसूचनात् = वृत्तान्तज्ञापनाद्वा, अङ्कास्यम् = अङ्कमुखं, भवेदिति शेषः ॥ ६० ॥

विवृणोति—**अङ्काऽन्तपात्रैरिति**। वीरचरिते=महावीरचरिते। सभार्गवान=परशुरामसहितान्।

जैसे मालतीमाधवमें प्रथम अङ्कके आदिमें कामन्दकी और अवलोकिताने पीछे तत्तद्वेष लेनेवाले भूरिवसु आदियोंके और उपक्षिप्त कथाप्रबन्धकी भी स्थितिको भी प्रसङ्गसे सूचित किया। अङ्कके अन्तमें प्रविष्ट पात्रोंसे परवर्ती अङ्कके अर्थ की सूचना करनेसे भी "अङ्कास्य" होता है ॥ ६० ॥

जैसे वीरचरितमें दूसरे अङ्कके अन्तमें—(प्रवेश कर) सुमन्त्र–भगवान् वशिष्ठ और विश्वामित्र आपलोगोंको परशुरामके साथ बुला रहे हैं। और लोग—भगवान् वशिष्ठ और विश्वामित्र कहाँ है ? सुमन्त्र–महाराज दशरथके समीपमें। और लोग–तब वहीं जायँ। इसप्रकार अङ्ककी समाप्तिमें। (तब बैठे हुए वशिष्ठ विश्वामित्र और परशुराम प्रवेश करते हैं)। यहाँ पूर्व अङ्कमें ही प्रविष्ट सुमन्त्र पात्रसे शतानन्द और जनकके वार्तालापके अन्तमे उत्तरवर्ती अङ्कमुखकी सूचनासे "अङ्कास्य" है।

एतच्च धनिकमतानुसारेणोक्तम्। अन्ये तु—'अङ्कावतरणेनैवेदं गतार्थम्' इत्याहुः।

अपेक्षितं परित्याज्य नीरसं वस्तु विस्तरम्।
यदा संदर्शयेच्छेषमामुखानन्तरं तदा ॥ ६१ ॥
कार्यो विष्कम्भको नाट्य आमुखाक्षिप्तपात्रकः।

यथा—रत्नावल्यां यौगन्धरायणप्रयोजितः।

यदा तु सरसं वस्तु मूलादेव प्रवर्तते ॥ ६२ ॥
आदावेव तदाऽङ्कः स्यादामुखाक्षेपसंश्रयः।

ध्वनिकमताऽनुसारेण=ध्वनिकस्य (धनञ्जयस्य) मताऽनुसारेण, **अन्ये त्विति**। अङ्काऽवतारेणैव=अङ्काऽवतारलक्षणेनैव, इदम् = उपन्यस्तवीरचरितस्थानम्। गतार्थं=विगतप्रयोजनम्। अस्य प्रयोजनं नाऽस्तीति भावः। विश्वनाथकविराजमतेन तु इदमङ्कमुखस्य प्रकारान्तरमेव ॥ ६१ ॥

अपेक्षितमिति। यदा, अपेक्षितम् = आकाङ्क्षितं, नीरस=रसरहितं, विस्तरं=दीर्घं, वस्तु = इतिवृत्तं, परित्यज्य = विहाय, शेषं = सरसं वस्तु, यदा, संदर्शयेत् = प्रदर्शयेद्, तदा, आमुखाऽनन्तरं = प्रस्तावनाऽनन्तरं, आमुखाऽऽक्षिप्तपात्रकः = आमुखेन (प्रस्तावनया) आक्षिप्तम् (आनीतम्) पात्रम् (अभिनेता) यस्य सः। तादृशः विष्कम्भकः, नाट्ये=रूपकोपनाटके, कार्यः=कर्तव्यः। विष्कम्भकादिं प्रवेशकादेरुपलक्षकम्।

उदाहरति—**यथेति**।

यदेति। यदा तु, मूलात् एव=आरम्भात् एव, सरस, वस्तु = वृत्तान्तः, प्रवर्तते = अवतिष्ठते ॥ ६२ ॥

तदा, आमुखाऽऽक्षेपसंश्रयः = आमुखेन (प्रस्तावनया) पात्रस्य य आक्षेपः (प्रवेशसूचनम्) तत्संश्रयः = तदाश्रयः, अङ्कः, आदावेव स्यात्।

यह धनिकके मतके अनुसार कहा है। अन्यलोग—"अङ्काऽवतारसे ही यह गतार्थ है" ऐसा कहते है।

जो वस्तु आकाङ्क्षित होनेपर भी नीरस है उसे और विस्तर (दीर्घ) को छोड़कर शेष सरसको दिखलाता है तो प्रस्तावनाके अनन्तर उसीमें पात्रों की सूचना कर विष्कम्भक करना चाहिए ॥ ६१ ॥

जैसे रत्नावलीमें यौगन्धरायणसे कराया गया है।

आरम्भसे ही सरस वस्तु प्रवृत्त हो तो प्रस्तावनासे पात्रप्रवेशकी सूचना वाला अङ्क प्रारम्भमें ही हो ॥ ६२ ॥

यथा—शाकुन्तले ।

विष्कम्भकाद्यैरपि नो वधो वाच्योऽधिकारिणः ॥ ६३ ॥

अन्योऽन्येन तिरोधानं न कुर्याद्रसवस्तुनोः ।

रस शृङ्गारादिः । यदुक्तं धनिकेन—

'न चातिरसतो वस्तु दूरं विच्छिन्नतां नयेत् ।

रसं वा न तिरोदध्याद्वस्त्वलङ्कारलक्षणैः ॥' इति ।

बीजं बिन्दुः पताका च प्रकरी कार्यमेव च ॥ ६४ ॥

अथप्रकृतयः पञ्च ज्ञात्वा योज्या यथाविधि ।

उदाहरति । **यथा शाकुन्तल इति ।**

विष्कम्भकाद्यैरिति । विष्कम्भकाद्यैरपि, अधिकारिणः = प्रधानफलप्रभोः, नायकादेरिति भावः । वधः=व्यापादनं, नो वाच्यः=न वक्तव्यः, कविनेति शेषः ॥६३॥

अपि शब्दादङ्कैरपि नो वाच्य इति सूचितम्, रसविच्छेदादिति भावः । तथा अन्योन्येन = मिथः, रसवस्तुनोः = अभीष्टरसवृत्तान्तयोः, तिरोधान = व्यवधानं, न कुर्यात् – नो विदधीत कविरिति शेषः ।

उक्तार्थं धनिकमतेन समर्थयते–**न चेति ।** अतिरसतः = अतिशयरससम्पर्कात्, वस्तु = वृत्तान्तं दूर = विप्रकृष्टं । विच्छिन्नतां = विच्छेदं, न नयेत् = न प्रापयेत्, एव च वस्त्वलङ्कारलक्षणैः = वृत्तान्ताऽलङ्कारस्वरूपैः वा, रसं = शृङ्गारादिरस, न तिरोदध्यात् = न तिरोहितं कुर्यात्कविरिति शेषः ।

अर्थप्रकृतीरुद्दिशति—**बीजमिति ।** बीजं, बिन्दुः पताका प्रकरी कार्यं चेति ॥ ६४ ॥

पञ्च प्रकृतयः = अर्थसिद्धिहेतवः, ज्ञात्वा = विदित्वा, यथाविधि = विधिपूर्वकं, योज्या = योजनीयाः, कविनेति शेषः । एता एवाऽर्थप्रकृतयः प्रथमं नाटकलक्षण-प्रकरणे—"नाटक ख्यातवृत्तं स्यात्पञ्चसन्धिसमन्वितम् ।" इति सन्धिपदेन व्यपदिष्टा इति बोध्यम् ।

जैसे शाकुन्तलमें ।

विष्कम्भक आदिमें भी अधिकारीका वध नहीं करना चाहिए ॥ ६३ ॥

शृङ्गार आदि रस और वस्तुका परस्परमें व्यवधान न करे ।

धनिकने जो कहा है—वस्तुको रससे दूर तक व्यवहित न करे और वस्तु और अलङ्कारके सन्निवेशसे रसको भी व्यवहित न करे ।

बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य ॥ ६४ ॥

ये पाँच अर्थ—प्रकृतियाँ (प्रयोजनकी सिद्धिके कारण) हैं इनकी विधिपूर्वक योजना करनी चाहिए ।

अर्थप्रकृतयः प्रयोजनसिद्धिहेतवः । तत्र बीजम्—

अल्पमात्रं समुद्दिष्टं बहुधा यद्विसर्पति ॥ ६५ ॥

फलस्य प्रथमो हेतुर्बीजं तदभिधीयते ।

यथा—रत्नावल्यां वत्सराजस्य रत्नावलीप्राप्तिहेतुर्दैवानुकूल्यलालितो यौगन्धरायणव्यापारः । यथा वा—वेण्यां द्रौपदीकेशसंयमनहेतुर्भीमसेनक्रोधोपचितो युधिष्ठिरोत्साहः ।

अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् ॥ ६६ ॥

बीजं लक्षयति—**अल्पमात्रमिति** । यत् पुरा, अल्पमात्रं=स्तोकमात्रं, समुद्दिष्टं=विनिर्दिष्ट, पश्चात्, बहुधा = बहुभिः प्रकारैः, विसर्पति = विस्तार प्राप्नोति ॥ ६५ ॥

फलस्य = प्रधानफलस्य, प्रथमो हेतुः=मुख्यं कारण, तत्, बीजम्, अभिधीयते=निगद्यते ।

बीजमुदाहरति—**रत्नावल्यामिति** । वत्सराजस्य = उदयनस्य । रत्नावलीप्राप्तिः = फलं, तद्धेतुः (तत्कारणम्) । देवाऽऽनुकूल्यलालितः = दैवस्य (भाग्यस्य) यद् आनुकूल्यम् (अनुकूलता), तल्लालितः (तत्सम्पादित.) यौगन्धरायणव्यापारः यौगन्धरायणस्य (वत्सराजमन्त्रिणः), व्यापारः (क्रियाकलापः), बीजम् । उदाहरणान्तरमाह **यथेति** । वेण्या=“नामैकदेशे नामग्रहणम्” इति न्यायेन वेणीसंहारे, द्रौपदीकेशमयमनहेतुः = द्रौपद्याः (पाञ्चाल्याः) यत्केशसंयमन (कचसंहरणम्) तद्धेतुः (तत्कारणम्); भीमसेनक्रोधोपचितः = भीमसेनस्य (द्वितीयपाण्डवस्य) यः क्रोधः (कोपः) तेन उचितः (उत्पादितः) युधिष्ठिरोत्साहः, बीजम् ।

बिन्दुं लक्षयति—**अवान्तरेति** । अवान्तरार्थविच्छेदे=अवान्तरार्थस्य (वृत्तान्तैकदेशस्य) विच्छेदे (समाप्तिप्रसङ्गे प्राप्ते सति) अच्छेदकारणम् = असमाप्तिहेतुः, बिन्दुः ॥ ६६ ॥

जो शुरूमे अल्पमात्र अङ्कुरित होकर अनेक प्रकारसे विस्तारको प्राप्त करता है ॥ ६५ ॥

फलका प्रथम हेतुभूत उसको “बीज” कहते हैं । जैसे—रत्नावलीमें भाग्यकी अनुकूलतासे युक्त यौगन्धरायणका व्यापार वत्सराज (उदयन) का रत्नावलीकी प्राप्तिमें कारण है । जैसे—वेणी संहारमे द्रौपदीके केशसंयमनमे कारणभूत भीमसेनके क्रोधसे बढा हुआ युधिष्ठिरका उत्साह है । अवान्तर कथाके विच्छेदमें अविच्छेदके कारणको “बिन्दु” कहते है ॥ ६६ ॥

यथा—रत्नावल्यामनङ्गपूजापरिसमाप्तौ कथार्थविच्छेदे सति 'उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते' इति सागरिका श्रुत्वा '(सहर्षम्) कधं एसो सो उदअणणरिन्दो' इत्यादिरवान्तरार्थहेतुः ।

व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते ।

यथा—रामचरिते सुग्रीवादेः, वेण्यां भीमादेः, शाकुन्तले विदुषकस्य चरितम् ।

पताकानायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम् ॥ ६७ ॥

गर्भे सन्धौ विमर्शे वा निर्वाहस्तस्य जायते ।

यथा—सुग्रीवादेः, राज्यप्राप्त्यादि । यत्तु मुनिनोक्तम्—

'आ गर्भाद्वा विमर्शाद्वा पताका विनिवर्त्तते ॥' इति ।

उदाहरति—**रत्नावल्यामिति** । कथार्थविच्छेदे = कथार्थस्य (वृत्तान्तैकदेशस्य) विच्छेदे (अवसाने प्राप्ते) सति ।

पताकां लक्षयति—**व्यापीति** । व्यापि = व्यापकम्, उपसंहार यावत्स्थायीति । तादृशं प्रासङ्गिकं=प्रसङ्गवशादुपस्थित, वृत्तं=वृत्तान्तः, "पताका" इति अभिधीयते ।

उदाहरति—**रामचरित इति** । रामचरिते सुग्रीवादेर्वेणीसंहारे भीमसेनादेः शाकुन्तले विदूषकस्य चरितं "पताका" इति ।

पताकायां विशेषमाह—**पताकानायकस्येति** । पताकानायकस्य=सुग्रीवादेः स्वकीयम्=आत्मीयं, स्वमात्रोपकारीति भावः । फलान्तरम्=अन्यत् फलं, न स्यात् ॥६७॥

गर्भे विमर्शे वा सन्धौ, तस्य=पताकानायकस्वकीयफलस्य, निर्वाह =निर्वरणं, समाप्तिरिति भावः । जायते=निष्पद्यते । उदाहरति यथा सुग्रीवादेः राज्यप्राप्त्यादि ।

मुनिवाक्यं विविनक्ति—**यत्त्विति** । यत्तु, मुनिना=भरतमुनिना । आ गर्भात्=गर्भसन्धिपर्यन्तम्, आ विमर्शात्=विमर्शसन्धिपर्यन्तं वा पताका विनिवर्तते = समाप्ति

जैसे रत्नावलीमें कामदेवकी पूजाकी समाप्तिमें कथार्थक विच्छेद होनेपर "उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्षते" इत्यादि पद्य सुनकर सागरिका (हर्षके साथ) "कैसे ये वे उदयन राजा है" सागरिका का यह कथन अवान्तर कथाके अविच्छेदका कारण है ।

व्यापक और प्रासङ्गिक चरित्रको "पताका" कहते हैं ।

जैसे रामचरितमे सुग्रीव आदिका, वेणीसंहारमें भीम आदिका और शाकुन्तलमें विदूषकका चरित्र "पताका" है ।

पताकाके नायकका अपना भिन्न फल नहीं होता है ॥ ६७ ॥

गर्भ वा विमर्श सन्धिमें उसका निर्वाह होता है ।

जैसे सुग्रीव आदिकी राज्यप्राप्ति आदि । मुनिने जो कहा है—गर्भसन्धिके पूर्व विमर्श सन्धिके पूर्व पताका समाप्त होती है ।

तत्र पताकेति। पताका नायकफलं निर्वहणपर्यन्तमपि पताकायाः प्रवृत्तिदर्शनात्' इति व्याख्यातमभिनवगुप्तपादैः।

प्रासङ्गिकं प्रदेशस्थं चरितं प्रकरी मता ॥ ६८ ॥

यथा—कुलपत्यङ्के रावणजटायुसंवादः।

प्रकरी नायकस्य स्यान्न स्वकीयं फलान्तरम्।

यथा—जटायोः मोक्षप्राप्तिः।

अपेक्षितं तु यत्साध्यमारम्भो यन्निबन्धनः ॥ ६९ ॥

समापनं तु यत्सिद्ध्यै तत्कार्यमिति संमतम्।

यथा—रामचरिते रावणवधः।

अवस्था पञ्च कार्यस्य प्रारब्धस्य फलार्थिभिः ॥ ७० ॥

प्राप्नोति। तत्र पताकापदस्यार्थः पताकानायकफलत्वेन विवक्षितः, निर्वहणपर्यन्तमपि पताकायाः प्रवृत्तिदर्शनादिति अभिनवगुप्तपादाचार्यैः व्याख्यानम्।

प्रकरीं लक्षयति—**प्रासङ्गिकमिति।** प्रासङ्गिकं=प्रसङ्गात् उपस्थितं प्रदेशस्थम्=**एकदेशमात्रस्थितं,** चरितं=चरित्रं, प्रकरी मता=प्रकरीत्वेनाऽभिमता ॥ ६८ ॥

उदाहरति—**कुलपत्यङ्क इति।**

प्रकरीनायकस्येति। प्रकरीनायकस्य=जटायुप्रभृतेः, स्वकीयं=नैजं, फला**न्तरम्**=अन्यत् फलं (प्रयोजनम्), न स्यात्, आनुषङ्गिकत्वेनेति भावः। तत्=अपेक्षितं=**कर्तुमिष्टं,** यत् साध्यं=साधनीयं, यन्निबन्धनः=यदुद्देश्यकः, आरम्भः=**प्रथमप्रवृत्तिः** ।६९।

यत्सिद्ध्यै=यस्य सिद्ध्यै (निष्पत्त्यै), समापनं=सामग्रीसंग्रहः, तत् "कार्यम्" **इति** संमतम्=विदुषामभिमतम्।

उदाहरति—**यथा रामचरित इति।**

कार्यस्य पञ्चाऽवस्था निर्दिशति—**अवस्था इति।** फलार्थिभिः=प्रयोजना**काङ्क्षिभिः, पुरुषैः, प्रारब्धस्य=कृताऽऽरम्भस्य, कार्यस्य पञ्च=पञ्चसंख्यकाः, अवस्थाः=अङ्गानि,** भवन्तीति शेषः ॥ ७० ॥

उसमें 'पताका' शब्दसे पताकाके नायक का फल लिया जाता है, निर्वहण सन्धि पर्यन्त भी पताकाकी प्रवृत्ति देखनेसे ऐसी अभिनवगुप्तपादाचार्यने व्याख्या की है।

प्रसङ्गसे आये हुए एक देशस्थित चरित्रको "प्रकरी" कहते है ॥ ६८ ॥

जैसे कुलपत्यङ्कमें रावण और जटायुका संवाद "प्रकरी" है।

प्रकरीके नायकका अपना भिन्न फल नहीं होता है। जो साध्य अपेक्षित है, जिसके लिए आरम्भ है ॥ ६९ ॥

जिसकी सिद्धिके लिए उपायसंग्रह है, वह "कार्य" माना गया है।

जैसे रामचरितमें 'रावणवध' कार्य है।

फलकी इच्छा करनेवालोंसे प्रारब्ध कार्यको पाँच अवस्थाएँ होती हैं ॥७०॥

आरम्भयत्नप्राप्त्याशानियताप्तिफलागमाः

तत्र—

भवेदारम्भ औत्सुक्यं यन्मुख्यफलसिद्धये ॥ ७१ ॥

यथा—रत्नावल्यां रत्नावल्यन्तःपुरनिवेशार्थं यौगन्धरायणस्यौत्सुक्यम्। एवं नायकनायिकादीनामप्यौत्सुक्यमाकरेषु बोद्धव्यम्।

प्रयत्नस्तु फलावाप्तौ व्यापारोऽतित्वरान्वितः ।

यथा रत्नावल्याम्—'तहवि ण अत्थि अण्णो दंसण उवाओ त्ति जधा तधा आलिहिअ जधासमीहिदं करइस्सम।' इत्यादिना प्रतिपादितो रत्नावल्याश्चित्रलेखनादिर्वत्सराजसङ्गमोपायः। यथा च—रामचरिते समुद्रबन्धनादिः।

नामतस्ता निर्दिशति—**आरम्भेति**। आरम्भो यत्नः, प्राप्त्याशा, नियताप्तिः फलागमश्चेति।

आरम्भं लक्षयति—**भवेदिति**। मुख्यफलसिद्धये = मुख्यफलस्य (नायकप्रधानप्रयोजनस्य) सिद्धये (निष्पत्तये) यत् औत्सुक्यं = नायकादेरौत्कण्ठ्यं, स आरम्भो भवेत् ॥ ७१ ॥

आरम्भमुदाहरति—**यथा रत्नावल्यामिति**। आकरेषु = उपजीव्यग्रन्थेषु।

प्रयत्नं लक्षयति—**प्रयत्नस्त्विति**। फलाऽवाप्तौ = नायकस्य नायिकाया वा मुख्यप्रयोजनप्राप्तौ विषये, अतित्वराऽन्वितः = अतिशयशीघ्रतायुक्तः, व्यापारः = क्रिया, प्रयत्नो भवेत्।

प्रयत्नमुदाहरति—**यथा रत्नावल्यामिति**। "तथाऽपि नाऽस्ति अन्यो दर्शनोपाय इति यथा तथा आलिख्य यथासमीहितं करिष्यामि" इति संस्कृतच्छाया। आलिख्य = चित्रयित्वा, वत्सराजमूर्तिमिति शेषः। यथासमीहितम् = अभीष्टाऽनुसारम्।

जैसे—आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम।

मुख्य फलकी सिद्धिके लिए जो उत्कण्ठा है वह "आरम्भ" है ॥ ७१ ॥

जैसे रत्नावलीमें रत्नावलीको अन्तःपुरमें रखनेके लिए यौगन्धरायणकी उत्कण्ठा है। इसी प्रकार नायक और नायिका आदिकी भी उत्कण्ठाका आकर (मूल) ग्रन्थोंमें जानना चाहिए। फलकी प्राप्तिके विषयमें अत्यन्त शीघ्रतासे युक्त व्यापार 'प्रयत्न' है जैसे रत्नावलीमें—"तो भी दर्शनके लिए दूसरा उपाय नहीं है इस लिए किसी भी प्रकारसे लिखकर इच्छाके अनुसार करूँगी।" इत्यादि वाक्यसे प्रतिपादित रत्नावलीका चित्रलेखन आदि वत्सराजके समागमका उपाय "प्रयत्न" है। जैसे रामचरितमें समुद्रबन्धन आदि।

उपायापायशङ्काभ्यां प्राप्त्याशा प्राप्तिसम्भवः ॥ ७२ ॥

यथा—रत्नावल्यां तृतीयेऽङ्के वेषपरिवर्तनाभिसरणादेः सङ्गमोपायाद्वासवदत्तालक्षणाऽपायशङ्कया चानिर्धारितैकान्तसङ्गमरूपफलप्राप्तिः प्राप्त्याशा।

एवमन्यत्र।

अपायाभावतः प्राप्तिर्नियताप्तिस्तु निश्चिता।

अपायाभावान्निर्धारितैकान्तफलप्राप्तिः। यथा रत्नावल्याम्—'राजा—देवीप्रसादनं त्यक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि।' इति देवीलक्षणापायस्य प्रसादनेन निवारणान्नियतफलप्राप्तिः सूचिता।

प्राप्त्याशां लक्षयति—**उपायाऽपायेति**। उपायाऽपायशङ्काभ्याम् = उपायः (फलसिद्धिसाधनम्) अपायः (फलसिद्धौ प्रतिबन्धः) तच्छङ्काभ्यां (तत्सन्देहाभ्याम्) प्राप्तिसंभवः = फलप्राप्तिसंभावना, प्राप्त्याशा ॥ ७२ ॥

प्राप्त्याशामुदाहरति- **यथा रत्नावल्यामिति**। वासवदत्तालक्षणाऽपायशङ्कया= वासवदत्तास्वरूपप्रतिबन्धकसन्देहेन। अनिर्द्धारिता=अनिश्चिता, या एकान्ते=(रहसि), संगमरूपकफलप्राप्तिप्रत्याशा संगमरूपस्य (उदयनसमागमरूपस्य) फलस्य (प्रयोजनस्य) प्राप्तेः (लाभस्य) प्रत्याशा।

नियताऽऽप्तिं लक्षयति—**अपायाऽभावत इति**। अपायाऽभावतः = प्रतिबन्धाऽभावात। निश्चिता=निर्द्धारिता, प्राप्तिः=फललाभः। नियताऽऽप्तिः।

विवृणोति—**अपायाऽभावात्** = प्रतिबन्धाऽभावात्।

उदाहरति—**यथेति**। देवीप्रसादनं=वासवदत्तासन्तोषणम्। इति = अनया उक्त्या, देवीलक्षणाऽपायस्य = वासवदत्तारूपप्रतिबन्धस्य।

उपाय (कारण) और अपाय (विघ्न) की शङ्काओंसे प्राप्तिकी संभावना को 'प्राप्त्याशा' कहते हैं ॥ ७२ ॥

जैसे रत्नावलीमें तीसरे अङ्कमें वेष बदलना और अभिसरण आदि संगम के उपायसे वासवदत्तारूप विघ्नकी शङ्कासे अनिश्चित अवश्य संगमरूप फलकी प्राप्तिकी आशा "प्राप्त्याशा" है।

इसी तरह अन्यत्र भी जानें।

विघ्नके अभावसे निश्चित एकान्तफल प्राप्तिको "नियताप्ति" कहते है।

जैसे रत्नावलीमें राजा—"देवी (वासवदत्ता) का प्रसादन (प्रसन्न कराना) छोड़कर यहां पर अन्य उपाय नहीं देखता हूँ।" इस प्रकार देवीरूप विघ्नका प्रसादन (प्रसन्न कराने) से निवारण होनेसे निश्चित फलप्राप्तिकी सूचना है।

साऽवस्था फलयोगः स्याद्यः समग्रफलोदयः ॥ ७३ ॥

यथा—रत्नावल्यां रत्नावलीलाभश्चक्रवर्तित्वलक्षणफलान्तरलाभसहितः । एवमन्यत्र ।

यथासंख्यमवस्थाभिराभिर्योगात्तु पञ्चभिः ।
पञ्चधैवेतिवृत्तस्य भागाः स्युः पञ्च सन्धयः ॥ ७४ ॥

तल्लक्षणमाह—

अन्तरैकार्थसम्बन्धः सन्धिरेकान्वये सति ।

एकेन प्रयोजनेनान्वितानां कथांशानामवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः सन्धिः । तद्भेदानाह—

फलाऽऽगम (फलभोगम्) लक्षयति—**साऽवस्थेति ।** यः, समग्रफलोदयः = समग्राणां (सपूर्णानाम्) फलाना (प्रयोजनानाम्) उदय (उद्भवः) सः, फलयोगः= फलागमः, सा अवस्था, स्यात् = भवेत् ॥ ७३ ॥

फलाऽऽगममुदाहरति—**यथेति ।** चक्रवर्तिलक्षणेत्यादिः = चक्रवर्तित्वलक्षण (साम्राज्यस्वरूपम्) यत् फलान्तरम् (अन्यत् फल = प्रयोजनम्) तल्लाभसहितः (तत्प्राप्तिसहकृतः) ।

सन्धीन्निर्देष्टुमुपक्रमते—**यथासंख्यमिति ।** आभिः = पूर्वोक्ताभिः । पञ्चभिः, अवस्थाभिः, आरम्भादिभिः । यथासख्यं = सक्रमं, योगात् = सम्बन्धात्, इतिवृत्तस्य= रूपकवृत्तान्तस्य, पञ्चधा एव = प्रकारपञ्चकेन एव, भागाः = अंगाः, पञ्च सन्धयः स्युः ॥ ७४ ॥

सन्धिलक्षणमाह—**अन्तरैकेति ।** एकाऽन्वये = एकस्य (मुख्यप्रयोजनस्य) अन्वये (सम्बन्धे) सति, अन्तरैकाऽर्थसम्बन्धः (अवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः, "सन्धिः" ।

विवृणोति—**एकेनेति ।** एकेन, प्रयोजनेन = मुख्यफलेन, अन्वितानाम्=अन्वय-सम्बद्धानां, कथांऽशानां = वृत्तान्तभागानाम्, अवान्तरैकप्रयोजनसम्बन्धः = रूपकैक-देशप्रयोजनयोगः, सन्धिः ।

जो समस्त फलका उदय है उस अवस्थाको "फलागम" कहते हैं ॥ ७३ ॥

जैसे रत्नावलीमे रत्नावलीका लाभ और चक्रवर्तित्व प्राप्तिरूप दूसरे फलसे सहित है । इसी तरह अन्यत्र भी समझें ।

इन पाँच अवस्थाओंके सम्बन्धसे इतिवृत्तके पाँच भाग ही यथासंख्य (क्रम) से पाँच सन्धियाँ होती है ॥ ७४ ॥

उनका लक्षण कहते हैं—एक प्रयोजनसे अन्वित कथांशोंके अवान्तर एक प्रयोजनसे सम्बन्धको "सन्धि" कहते हैं । सन्धिके भेदोंको कहते हैं—

मुखं प्रतिमुखं गर्भो विमर्श उपसंहृतिः ॥ ७५ ॥
इति पञ्चाऽस्य भेदाः स्युः क्रमाल्लक्षणमुच्यते ।

यथोद्देशं लक्षणमाह—

यत्र बीजसमुत्पत्तिर्नानार्थरससम्भवा ॥ ७६ ॥
प्रारम्भेण समायुक्ता तन्मुखं परिकीर्त्तितम् ।

यथा—रत्नावल्यां प्रथमेऽङ्के ।

फलप्रधानोपायस्य मुखसन्धिनिवेशिनः ॥ ७७ ॥
लक्ष्यालक्ष्य इवोद्भेदो यत्र प्रतिमुखं च तत् ।

यथा—रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के वत्सराजसागरिकासमागमहेतोरनु-

सन्धिभेदानुद्दिशति— **मुखमिति** । अस्य=सन्धेः । भेदाः = प्रकाराः । क्रमात्= उद्देशक्रमात् । यथोद्देशम् = उद्देशाऽनुसारम् । नाममात्रेण वस्तुसंकीर्तनमुद्देशः ॥ ७५ ॥

मुखं लक्षयति—**यत्रेति** । यत्र = यस्मिन्, सन्धौ । नानाऽर्थरससंभवा = अनेकवृत्तान्तरसोत्पन्ना ॥ ७६ ॥

प्रारम्भेण = पूर्वोक्ताऽवस्थाविशेषेण, समायुक्ता = सम्बद्धा, बीजसमुत्पत्तिः = बीजस्य (पूर्वोक्तस्याऽर्थप्रकृतिविशेषस्य) समुत्पत्तिः (प्रादुर्भावः), तत्, मुखं = मुखसन्धिः, परिकीर्तितम् । उदाहरति— **यथेति** ।

प्रतिमुखं लक्षयति—**फलप्रधानोपायस्येति** । यत्र = यस्मिन् सन्धौ, मुखसन्धि-निवेशिनः=मुखसन्धौ निविशते तच्छीलस्तस्य, मुखसन्धिप्रवेशिनः । फलप्रधानोपायस्य= फलस्य (प्रयोजनस्य) यः प्रधानोपायः (मुख्यकारणम्), तस्य । लक्ष्यालक्ष्यः=किञ्चिज्ज्ञेय , इव । उद्भेदः = प्रकाशः, भवति । तत् प्रतिमुखं = प्रतिमुखसन्धिः ॥ ७७ ॥

प्रतिमुखमुदाहरति—**यथा रत्नावल्यामिति** । वत्सराजसागरिकासमागम-हेतोः = वत्सराजसागरिकयोः (उदयनसागरिकयोः), समागमः (सङ्गमः), तद्धेतोः

मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और उपसंहार ॥ ७५ ॥

सन्धिके ये पाँच भेद होते हैं । उनका लक्षण क्रमसे कहते है ।

जहाँ अनेक अर्थ और अनेक रसोंका सूचक बीजकी उत्पत्ति प्रारम्भ नामक अवस्थासे युक्त हो उसे "मुख" कहते हैं ॥ ७६ ॥

जैसे रत्नावलीके प्रथम अङ्कमें ।

जहां मुखसन्धिमें निवेशित फलप्रधान उपायका विकास कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य हो उसे 'प्रतिमुख" कहते है ॥ ७७ ॥

जैसे रत्नावलीमें दूसरे अङ्कमें वत्सराज और सागरिकाके समागमका हेतु—

रागबीजस्य प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य सुसंगता--विदूषकाभ्यां ज्ञायमानतया किंचिल्लक्ष्यस्य वासवदत्तया चित्रफलकवृत्तान्तेन किञ्चिदुन्नीयमानस्योद्देशरूप उद्भेदः।

फलप्रधानोपायस्य प्रागुद्भिन्नस्य किञ्चन ॥ ७८ ॥
गर्भो यत्र समुद्भेदो ह्रासान्वेषणवान्मुहुः ।

फलस्य गर्भीकरणाद्गर्भः। यथा रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के--'सुसंगता--सहि, अदक्खिणा दाणिं सि तुमं जा एवं भट्टिणा हत्थेण गहिदा वि कोवं ण मुञ्चसि' इत्यादौ समुद्भेदः। पुनर्वासवदत्ताप्रवेशे ह्रासः। तृतीयेऽङ्के--'तद्वार्तान्वेषणाय गतः कथं चिरयति वसन्तकः' इत्यन्वेषणम्। विदूषकः--ही ही भोः, कोसम्बीरज्जलम्भेणावि ण तादिसो पिअवअस्सस्स परितोसो जादिसो मम

(वत्सराजस्य), प्रथमाङ्कोपक्षिप्तस्य = प्रथमाङ्के कृतोपक्षेपस्य। अनुरागबीजस्य--अनुरागकारणीभूतस्य उन्नीयमानस्य अनुमीयमानस्य। उद्देशरूप = प्रकाशस्वरूपः।

गर्भं लक्षयति--**फलप्रधानोपायस्येति**। प्राक् = पूर्वसन्धिद्वये, **किञ्चन** उद्भिन्नस्य = किञ्चित् प्रकाशं प्राप्तस्य, फलप्रधानोपायस्य = फलस्य (प्रयोजनस्य) यः प्रधानोपायः (मुख्यकारणम्), तस्य। यत्र = सन्धौ, मुहुः = वारं वार, ह्रासान्वेषणवान् = ह्रासः (तिरोभावः) अन्वेषणम् (अनुसन्धानम्) तद्वान् (तद्युक्तः); समुद्भेदः = प्राकट्यं भवति, स गर्भः = गर्भसन्धिः। स्मृत = चिन्तितः ॥ ७८ ॥

विवृणोति--**फलस्येति**। फलस्य = प्रयोजनस्य, गर्भीकरणात् = अभ्यन्तरीकरणात् गर्भः। उदाहरति--**यथेति**। "सखि! अदक्षिणा इदानीम् असि त्वं या एवं भर्त्रा हस्तेन गृहीता अपि कोपं न मुञ्चसि।" इति संस्कृतच्छाया। समुद्भेदः = प्राकट्यम्; अनुरागस्येति शेषः। ह्रासः = तिरोभावः।

अनुरागबीजका पहले अङ्कमें उपक्षेप है उसे सुसंगता और विदूषकने जाना अतः वह कुछ लक्ष्य हुआ एवम् वासवदत्ताने चित्रके वृत्तान्तसे कुछ कल्पना करली अतः अलक्ष्य भी हुआ।

पूर्वसन्धिमें कुछ प्रकाशित हुए फलप्रधान उपायका जहाँ ह्रास और अन्वेषणसे युक्त होकर बारंबार विकास हो उसे "गर्भसन्धि' करते हैं ॥ ७८ ॥

फलको भीतर रखनेसे "गर्भ" सन्धि कहते हैं। जैसे रत्नावलीके दूसरे अङ्कमें; सुसंगता--सखि! तुम अनुदार हो जो इस प्रकार स्वामीसे हाथसे गृहीत होकर भी क्रोध नहीं छोड़ती हो। इत्यादिमें समुद्भेद है। फिर वासवदत्ताके प्रवेशमें ह्रास है। तीसरे अङ्कमें 'उनके वृत्तान्तके अन्वेषणके लिए गये हुए वसन्तक कैसे विलम्ब कर रहे हैं' यह अन्वेषण है। विदूषक--'वाह वाह! कौशाम्बी राज्यके लाभसे भी प्रिय

युक्तिः प्राप्तिः समाधानं विधानं परिभावना ।
उद्भेदः करणं भेद एतान्यङ्गानि वै मुखे ॥ ८२ ॥

यथोद्देशं लक्षणमाह—

काव्यार्थस्य समुत्पत्तिरुपक्षेप इति स्मृतः ।

काव्यार्थः = इतिवृत्तलक्षणप्रस्तुताभिधेयः । यथा वेण्याम्—'भीमः—

लाक्षागृहानलविषान्नसभाप्रवेशैः
प्राणेषु वित्तनिचयेषु च नः प्रहृत्य ।
आकृष्य पाण्डववधूपरिधानकेशान्
स्वस्था भवन्ति मयि जीवति धार्तराष्ट्राः ॥

युक्तिरिति । युक्तिमारभ्य भेद यावदष्टौ संहृत्य द्वादशसङ्ख्यकानि एतानि अङ्गानि मुखे भवन्तीति शेषः ॥ ८२ ॥

तत्रोऽपक्षेपं लक्षयति—काव्यार्थस्येति । काव्याऽर्थस्य=दृश्यकाव्यप्रदर्शनीय वृत्तान्तस्य । समुत्पत्तिः=संक्षेपेणोपक्षेपणम् उपक्षेप इति, स्मृतः=चिन्तितः ।

विवृणोति—काव्यार्थ इति । काव्याऽर्थः = इतिवृत्तलक्षणप्रस्तुताऽभिधेयः = इतिवृत्तं लक्षण (स्वरूपम्) यस्य सः तादृशः प्रस्तुताऽभिधेयः (प्रस्तुतः = प्रकृत, अभिधेयः = कथनीयः) स काव्यार्थः ।

उपक्षेपमुदाहरति—यथा वेण्यां भीम इति । लाक्षाऽनलेति । 'स्वस्था भवन्तु कुरुराजसुताः सभृत्याः'' इति सूत्रधारस्योक्ति श्रुत्वा प्रविष्टस्य भीमस्योक्तिरियम् । धार्तराष्ट्राः=धृतराष्ट्रपुत्रा दुर्योधनादयः । लाक्षेत्यादिः० लाक्षागृहाऽनलः (लाक्षागृहे= जतुभवने, अनलः=अग्निसंयोजनम्) । विषाऽन्नं (विषमयभक्ष्यप्रदानम्), सभाप्रवेशः (छलद्यूतविधानार्थं गोष्ठीप्रवेशनम्) । इत्येतैः कार्यैः नः = अस्माकं पाण्डवानां, प्राणेषु=असुषु, जीवनविषयेष्विति भावः । वित्तनिचयेषु च=धनसमूहेषु च, प्रहृत्य= प्रहारं कृत्वा, तनश्च पाण्डववधूपरिधानकेशान् = पाण्डववध्वाः (द्रौपद्याः) परिधान (वस्त्रं, शाटिकारूपम्) केशान् = शिरोरुहान्, आकृष्य = आकर्षणं कृत्वा, एतानि कुकर्माणि कृत्वे त भावः, मयि=भीमसेनेन, जीवति=प्राणान्धारयति सति । स्वस्थाः= स्वास्थ्ययुक्ताः, भवन्ति=भविष्यन्ति, "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वे"ति भविष्यत्सामीप्ये लट् । काकुप्रश्नेन न स्वस्था भविष्यन्तीति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

युक्तिसे लेकर भेद तक आठ, इस प्रकार मुखसन्धिमे बारह भेद होते है ।.८२॥
काव्यार्थ अर्थात् इतिवृत्तकी उत्पत्तिको "उपक्षेप" कहते हैं ।
जैसे वेणीसंहारमे भीमसेन कहते है—

लाक्षागृहमें अग्नि लगाना,विषयुक्त अन्न खिलानेसे और द्यूतसभामें प्रवेश करानेसे हमारे प्राणोमें और धनराशियोमें प्रहार कर पाण्डवोंकी वधू (द्रौपदी) के वस्त्र और केशोंको खीचकर धृतराष्ट्के पुत्र (दुर्योधन आदि) मेरे जीते जी स्वस्थ होगे ?

समुत्पन्नार्थबाहुल्यं ज्ञेयः परिकरः पुनः ॥ ८३ ॥

यथा तत्रैव—

प्रवृद्धं यद्वैरं मम खलु शिशोरेव कुरुभि-
र्न तत्रार्यो हेतुर्न भवति किरीटी न च युवाम्।
जरासन्धस्योरःस्थलमिव विरूढं पुनरपि
क्रुधा भीमः सन्धिं विघटयति, यूयं घटयत ॥

तन्निष्पत्तिः परिन्यासः—

अत्र नाटके युद्धरूपेतिवृत्तसमुत्पत्तेरुपक्षेपरूपं सन्ध्यङ्गम्।

परिकरं नाम सन्ध्यङ्गं लक्षयति—**समुत्पन्नेति**। समुत्पन्नस्य (सञ्जातस्य) अर्थस्य (वृत्तान्तस्य) यत् बाहुल्यम् (साऽतिशयसूचनम्) पुनः "परिकरः" ज्ञेयः = ज्ञातव्यः ॥ ८३ ॥

परिकरमुदाहरति—**तत्रैवेति**। **प्रवृद्धमिति**। वेणीसंहारे भीमसेनस्य सहदेवं प्रत्युक्तिरियम्। १–१०॥ शिशोः एव = बालकस्य एव, मम = भीमसेनस्य, कुरुभिः = कौरवैः, दुर्योधनादिभिरिति भावः। सह, यत् खलु, वैरं = विरोधः, प्रवृद्धं = प्रवृद्धिमुपगतम्, तत्र = तस्मिन्वैरे, आर्यः = पूज्यः, युधिष्ठिर इति भावः। हेतुः = कारणं, न = नो वर्तते, किरीटी च = अर्जुनश्च, न हेतुः, युवां = नकुलसहदेवौ अपि, न हेतू। अतः, भीमः, क्रुधा = कोपेन, जरासन्धस्य = मगधाऽधिपस्य, उरःस्थलम् इव = वक्षःस्थलम् इव, विरूढं = जातं, कृष्णदौत्येनेति शेषः। सन्धिं = पणबन्धं, पुनरपि = भूयोऽपि, विघटयति = वियोजयति, यूयं = युधिष्ठिरादयः घटयत = योजयत च, जरासन्धस्य जन्मादिवृत्तान्तो महाभारते सभापर्वणि द्रष्टव्यः। शिखरिणी वृत्तम्। अत्र समुत्पन्नस्य वैररूपाऽर्थस्याऽतिशयसूचनात्परिकरो नाम सन्ध्यङ्गम्।

परिन्यासं लक्षयति—**तन्निष्पत्तिरिति**। तन्निष्पत्तिः = तस्य (काव्येतिवृत्तस्य) निष्पत्तिः (उत्पत्तिः) "परिन्यासः"।

उत्पन्न अर्थकी प्रचुरताको "परिकर" कहते हैं ॥ ८३ ॥

उ०—मेरा बचपनसे ही जो कौरवोंसे विरोध बढ़ा, उसमें पूज्य (युधिष्ठिर) अर्जुन और तुम दोनों (नकुल और सहदेव) इनमें कोई भी कारण नहीं है। अत एव भीमसेन क्रोधसे जरा राक्षसीसे विरूढ (जोड़े गये) जरासन्धके वक्षःस्थलके समान कृष्ण आदिकी चेष्टासे विरूढ (उत्पन्न) सन्धि (सुलह) का फिर भी विघटित करता है तुम लोग सुघटित कर दो।

उत्पन्न अर्थकी सिद्धिको "परिन्यास" कहते हैं।

यथा तत्रैव—

चञ्चद्भुजभ्रमितचण्डगदाभिघातसंचूर्णितोरुयुगलस्य सुयोधनस्य।
स्त्यानावनद्धघनशोणितशोणपाणिरुत्तंसयिष्यति कचांस्तव देवि! भीमः॥

अत्रोपक्षेपो नामेतिवृत्तलक्षणस्य काव्याभिधेयस्य संक्षेपेणोपक्षेपणमात्रम्। परिकरस्तस्यैव बहुलीकरणम्। परिन्यासस्ततोऽपि निश्चयापत्तिरूपतया परितो हृदये न्यसनम्, इत्येषां भेदः। एतानि चाङ्गानि उक्तेनैव पौर्वापर्येण भवन्ति, अङ्गान्तराणि त्वन्यथापि।

—गुणाख्यानं विलोभनम्।

परिन्यासमुदाहरति—**यथा तत्रैवेति।** चञ्चद्भुजेत्यादि०। द्रौपदी प्रति भीमसेनस्योक्तिरियम्। हे देवि = हे राजभट्टारि! द्रौपदि!, चञ्चद्भुजेत्यादिः०=चञ्चन् (सञ्चरन्) यो भुजः (बाहुः), तेन भ्रमन्ती (घूर्णन्ती) चण्डी (कठोरा) या गदा (कासूः, आयुधविशेषः) तस्या यः अभिघातः (आघातः), तेन सञ्चूर्णितम् (चूर्णीकृतम्) ऊरुयुगलं (सक्थियुग्मम्) यस्य, तस्य, स्त्यानाऽवनद्धेत्यादिः०=स्त्यानम् (घनम्) अवलग्नं (सलग्नं) घनं (गाढम्) यत् शोणितं (रक्तम्) तेन शोणः (रक्तवर्णः) पाणिः (करः) यस्य सः, तादृशः, सः, भीमः=भीमसेनः, तव=भवत्याः, कचान्=कुन्तलान्, दुःशासनाकर्षणेन शिथिलितानिति भावः। उत्तंसयिष्यति = भूषयिष्यति। वसन्ततिलका वृत्तम्। अत्र दुर्योधनोरुभङ्गरूपस्य भाविकार्यस्य निश्चयाते परिन्यासो नाम सन्ध्यङ्गम्।

विवृणोति—**अत्रेत्यति।** इतिवृत्तलक्षणस्य=वृत्तान्तरूपस्य, काव्याऽभिधेयस्य=दृश्यकाव्यप्रतिपादनीयस्य, संक्षेपेण = समासेन, उपक्षेपणमात्रम् = उपस्थापनमात्रम्। भेदः = विशेषः। एतानि = उपक्षेपादीनि त्रीणि। पौर्वापर्येण = अनुक्रमेण।

अङ्गान्तराणि = अन्यानि अङ्गानि, विलोभनादीनि इति भावः। अन्यथाऽपि = अक्रमेणाऽपीति भावः।

विलोभनं लक्षयति—**गुणाख्यानमिति।** गुणाऽऽख्यानं = गुणानाम् (पात्रस्थितशौर्यादीनाम्) आख्यानं (प्रकथनम्) "विलोभनम्"। विलुभ्यतेऽनेनेति व्युत्पत्तिः।

वह भी वेणीसंहारमें ही है—हे देवि! चलती हुई बाहुसे घुमाई गई प्रचण्ड गदाके ताडनसे चूर चूर ऊरुयुगलवाले दुर्योधनके बढ़े हुए संलग्न गाढ रुधिरसे लाल हाथसे युक्त भीमसेन तुम्हारे केशोंको भूषित करेगा।

इसमें इतिवृत्तरूप काव्यके अर्थका संक्षेपसे उपस्थापनमात्र है। उसीको फैलाना "परिकर" है। इससे भी अधिक निश्चय कर हृदयमें चारों ओरसे रखना "परिन्यास" है। यह इनका भेद है ये अङ्ग इसी क्रमसे होते हैं; और अङ्ग भिन्न क्रमसे भी होते हैं।

गुणको "विलोभन" कहते हैं।

यथा तत्रैव, द्रौपदी—'णाध ! किं दुक्करं तुए परिकुविदेण'। यथा वा मम चन्द्रकलायां चन्द्रकलावर्णने–सेयम्, तारुण्यस्य विलासः—' (१६६ पृ०) इत्यादि। यत्तु शाकुन्तलादिषु 'ग्रीवाभङ्गाभिरामम्—' इत्यादि मृगादिगण-वर्णनं तद्बीजार्थसम्बन्धाभावान्न संध्यङ्गम्। एवमङ्गान्तराणामप्यूह्यम्।

संप्रधारणमर्थानां युक्तिः—

यथा—वेण्यां सहदेवो भीमं प्रति "आर्य ! किं महाराजसन्देशोऽयमव्युत्पन्न एवार्येण गृहीतः" ? इत्यतः प्रभृति यावद्भीमवचनम्।

विलोभनमुदाहरति— **यथा तत्रैवेति।** द्रौपदी—नाथ ! किं दुष्करं त्वया परिकुपितेन" इति संस्कृतच्छाया। अत्र भीमसेनस्य शौर्याख्यानेन दुर्योधनादिवधे लोभजननाद्विलोभनम्।

उदाहरणान्तरमुपस्थापयति—**चन्द्रकलायामिति।** 'सेयं, तारुण्यस्य विलासः" अत्र नायिकाया रूपादिगुणाख्यानात्स्वस्य लोभजननाद्विलोभनम्।

विलोभनाऽभावस्थलं निर्दिशति—**ग्रीवाभङ्गाऽभिराममिति।**

'ग्रीवाभङ्गाऽभिरामं मुहुरनुपतति स्यन्दने बद्धदृष्टिः
पश्चार्द्धेन प्रविष्टः शरपतनभयाद् भूयसा पूर्वकायम्।
दर्भैरर्द्धाऽवलीढैः श्रमविवृतमुखभ्रंशिभिः कीर्णवर्त्मा
पश्योदग्रप्लुतत्वाद्वियति बहुतरं स्तोकमुर्व्यां प्रयाति ॥'

इति समस्तः श्लोकः' (अभिज्ञान० १-७)। बीजाऽर्थसम्बन्धाऽभावात् = शकुन्तलां प्रति दुष्यन्ताऽनुरागबीजार्थसम्बन्धाऽभावात् न सन्ध्यङ्गम्।

युक्तिं लक्षयति— **सम्प्रधारणमिति।** अर्थानां=कर्तव्यविषयाणां, संप्रधारण= निश्चयः, "युक्तिः" सन्ध्यङ्गम्

युक्तिमुदाहरति—**यथा वेण्यामिति।** अव्युत्पन्नः = तात्पर्याऽविषयः।

जैसा वहीं (वेणीसंहार) पर—द्रौपदी—नाथ ! आपके क्रुद्ध होनेपर क्या दुष्कर है ? अथवा—चन्द्रकलाके वर्णनमें "तारुण्यस्य विलासः०" जो शाकुन्तल आदिमें "ग्रीवाभङ्गाऽभिरामम् (१-७)" इत्यादि जो मृगका गुणवर्णन है बीज अर्थसे सम्बन्ध न होनेसे वह सन्धिका अङ्ग नहीं है इसी प्रकार अन्य अङ्गोंमें भी ऊह करना चाहिए।

अर्थोंके निश्चय करनेको "युक्ति" कहते हैं।

जैसे वेणीसंहारमें सहदेव भीमसेनको कहते है—पूजनीय ! क्या आपने महाराजका सन्देश अविचारित रूपके समान ग्रहण किया है ? यहाँसे शुरू कर भीमसेनके वचनपर्यन्त।

'युष्मान् ह्रेपयति क्रोधाल्लोके शत्रुकुलक्षयः ।
न लज्जयति दाराणां सभायां केशकर्षणम्' ॥ इति ॥

—प्राप्तिः सुखागमः ॥ ८४ ॥

यथा तत्रैव–'मथ्नामि कौरवशतं समरे न कोपात्–'(३ ६पृ०)इत्यादि ।
'द्रौपदी–(श्रुत्वा सहर्षम्) णाध ! अस्सुदपुव्वं क्खु एदं वअणम्, ता पुणो पुणो भण ।'

बीजस्यागमनं यत्तु तत्समाधानमुच्यते ।

यथा तत्रैव—'(नेपथ्ये) भो भो विराटद्रुपदप्रभृतयः ! श्रूयताम् ।

युष्मानिति । क्रोधाद् = कोपाद्धेतोः, शत्रुकुलक्षयः=रिपुवंशविनाशः, लोके= जनसमूहे, युष्मान् = भवतः, ह्रेपयति = लज्जयति, "ह्री लज्जायाम्" इति धातोः "अर्तिह्रीव्लीरीक्नूयीक्ष्माय्यातां पुङ्णौ" इति णिचि लटि पुमागमः । किन्तु सभायां = गोष्ठयां, दाराणां=पत्न्याः, द्रौपद्या इति भावः । केशकर्षणं=शिरोरुहाकर्षः, युष्मान्= भवतः, न लज्जयति=नो ह्रेपयति । (१–१७) । अनुष्टुब् वृत्तम् । अत्र शत्रुकुलक्षय-रूपाऽर्थस्य सम्प्रधारणाद्युक्तिर्नाम सन्ध्यङ्गम् ।

प्राप्ति लक्षयति–**प्राप्तिरिति** । सुखाऽऽगमः=आनन्दप्राप्तिः, पात्रस्येति शेषः । "प्राप्तिः" = प्राप्तिर्नाम सन्ध्यङ्गम् ॥ ८४ ॥

प्राप्तिमुदाहरति–**यथा तत्रैवेति** । "मथ्नामी"त्यादि द्रौपदी सहर्षम्–"नाथ ! अश्रुतपूर्वं खलु इदं वचनम् । तत्पुनः पुनर्भण ।" इति संस्कृतच्छाया । अत्र "मथ्नामी"त्यादिभीमवाक्यश्रवणेन द्रौपद्याः सुखप्राप्तेः प्राप्तिर्नाम सन्ध्यङ्गम् ।

समाधानं सन्ध्यङ्गं लक्षयति—**बीजस्येति** । बीजस्य='अल्पमात्रं समुद्दिष्टम्" इत्यादिलक्षणलक्षितस्य फलप्रथमहेतोः यत् आगमनं = प्रधाननायकसम्मतत्वेन कथन, तत् समाधानं=समाधाननामक सन्ध्यङ्गम् ।

क्रोधसे शत्रुकुल का क्षय लोकमे तुमलोगोंको लज्जित करता है, परन्तु सभामें पत्नीके केशका आकर्षण लज्जित नहीं करता है ।

सुखके आगमनको "प्राप्ति" कहते है ॥ ८४ ॥

जैसे वहींपर—"मथ्नामि कौरवशत समरे न कोपात्" इत्यादि । द्रौपदी—(सुनकर हर्षपूर्वक) "यह वचन पहले नहीं सुना था, उसे बारंबार कहिए ।"

बीजके आगमनको "समाधान" कहते है ।

जैसे वहीं (बेणीसंहार) पर—(नेपथ्यमे) हे विराट् और द्रुपद आदि सज्जनो ! सुनिए—

यत्सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा यत्नेन मन्दीकृत
यद्विस्मर्तुमपीहितं शमवता शान्तिं कुलस्येच्छता।
तद्द्यूतारणिसंभृतं नृपसुताकेशाम्बराकर्षणैः
क्रोधज्योतिरिदं महत्कुरुवने यौधिष्ठिरं जृम्भते'॥

अत्र 'स्वस्था भवन्तु मयि जीवति—' (३४६ पृ०) इत्यादि बीजस्य प्रधाननायकाभिमतत्वेन सम्यगाहितत्वात्समाधानम्।

सुखदुःखकृतो योऽर्थस्तद्विधानमिति स्मृतम् ॥ ८५ ॥

समाधानमुदाहरति—**यथा तत्रैवेति। यदिति।** युधिष्ठिरस्य स्वपक्षस्थितान्विराटद्रुपदप्रभृतीन्प्रत्युक्तिरियम्। सत्यव्रतभङ्गभीरुमनसा = सत्यव्रतस्य (सत्यपालनरूपाचरणस्य) भङ्गात् (विच्छेदात्) भीरु (कातरम्) मनः (चित्तम्) यस्य, तेन। मयेति शेषः। यत्नेन = प्रयासेन, यत् = क्रोधज्योतिः, मन्दीकृतम्=अल्पीकृतम्। तथा च कुलस्य = वंशस्य, शान्तिं = शमम्, इच्छता = वाञ्छता, शमवता=अन्तरिन्द्रियनिग्रहसंपन्नेन, मया, यत् = क्रोधज्योतिः, विस्मर्तुं = विस्मरणं कर्तुम् अपि, ईहितं = चेष्टितम्। द्यूतारणिसंभृतं=द्यूतम् (अक्षक्रीडा) एव अरणिः (अग्निमन्थनकाष्ठम्) तेन संभृतं (जनितम्), नृपसुताकेशाऽम्बराकर्षणैः=नृपसुतायाः (राजकुमार्याः, द्रौपद्याः) केशानाम् (कचानाम्) अम्बरस्य (वस्त्रस्य) च आकर्षणैः (आक्षेपैः) सन्दीपितमिति शेषः। तत् = तादृशम्, इदम् = एतत्, महत् = समृद्धं, यौधिष्ठिरं = युधिष्ठिरसम्बन्धि, क्रोधज्योतिः = कोपाऽनलः, कुरुवने = कौरवरूपाऽरण्ये, जृम्भते = वर्द्धते। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। (१–२४)।

विवृणोति—**अत्रेति।** बीजस्य, प्रधाननायकाऽभिमतत्वेन=प्रधाननायकस्य (भीमसेनस्य) अभिमतत्वेन (संमतत्वेन) समाहितत्वात् (सम्यगाहितत्वात्) समाधानम्।

विधानं लक्षयति—**सुखदुःखकृत इति।** सुखेन दुःखेन च कृतः (विहितः) यः अर्थः (विषयः) तत् "विधानम्" इति स्मृतं = चिन्तितम् ॥ ८५ ॥

सत्यव्रतके भङ्गमें भयशील मनवाले मुझसे जिसको यत्नसे मन्द किया था। कुलकी शान्तिको चाहनेवाले शान्तिवाले मैंने जिसे भूलनेके लिए भी कोशिश की।

द्यूतरूप अरणि (काष्ठ) से उत्पादित और राजकुमारी (द्रौपदी) के केश और वस्त्रके आकर्षणसे प्रदीप्त वह युधिष्ठिरका महान् क्रोधाऽग्नि कुरुवंशरूप वनमें बढ़ रहा है॥

यहाँ "स्वस्था भवन्तु मयि जीवति०" इत्यादि बीजका प्रधान नायक युधिष्ठिरसे अभिमत होकर अच्छी तरह आहित (स्थापित) होनेसे "समाधान" हुआ है।

सुख और दुःखसे किये गये विषयको "विधान" कहते हैं॥ ८५॥

यथा बालचरिते—

'उत्साहातिशयं वत्स ! तव बाल्यं च पश्यतः ।
मम हर्षविषादाभ्यामाक्रान्तं युगपन्मनः ॥'

यथा वा मम प्रभावत्याम्-नयनयुगासेचनकम्-' (२९३ पृ०) इत्यादि ।

कुतूहलोत्तरा वाचः प्रोक्ता तु परिभावना ।

यथा-वेण्यां द्रौपदी युद्धं स्यान्न वेति संशयाना तूर्यशब्दानन्तरम् 'णाध ! किं दाणिं एसो पलअजलहरत्थणि दमत्थरो खणे खणे समरदुन्दुभी ताडीअदि।'

बीजार्थस्य प्ररोहः स्यादुद्भेदः—

विधानमुदाहरति—**यथा बालचरित इति** श्रीरामं प्रति परशुरामस्योक्तिरियम् । हे वत्स = हे वात्सल्यभाजन !, तव = भवतः, उत्साहाऽतिशयम् = अध्यवसायाधिक्यं, बाल्य = शैशवं, च पश्यतः = विलोकयतः, मम । मनः = चित्तं, युगपत् = एकपद एव, हर्षविषादाभ्याम् = आनन्दखेदाभ्याम्, आक्रान्तम् = अधिकृतम् । उत्साहाऽतिशयेनाऽऽनन्दः शैशवे हन्तव्यत्वेन विषाद इति भावः । अनुष्टुब् वृत्तम् ।

विधानस्योदाहरणान्तरं प्रदर्शयति—**नयनयुगासेचनकम्** । अत्र प्रभावतीरूपस्य सुखदुःखोत्पादकत्वाद्विधानम् ॥ ८५ ॥

परिभावनं नाम सन्ध्यङ्गं लक्षयति—**कुतूहलोत्तरा इति** । कुतूहलोत्तराः = कौतुकप्रधानाः, वाचः = वाक्यानि, तु, "परिभावना" प्रोक्ता = कथिता ।

परिभावनामुदाहरति—**यथा वेण्यामिति** । संशयाना = सन्दिहाना । तूर्यशब्दाऽनन्तरं = वाद्यध्वन्यनुपदम् । "नाथ ! किमिदानीमेव प्रलयजलधरस्तनितमन्थरः क्षणे क्षणे समरदुन्दुभिस्ताड्यते" इति संस्कृतच्छाया । प्रलय० = प्रलयजलधरस्य (कल्पान्तमेघस्य) यत् स्तनितं (गर्जितम्) तदिव मन्थरः (गम्भीरः) । अत्र द्रौपद्या वाचः कुतूहलोत्तरत्वात्परिभावना नाम सन्ध्यङ्गम् ।

उद्भेद नाम सन्ध्यङ्गं लक्षयति—**बीजाऽर्थस्येति** । बीजाऽर्थस्य = "अल्पमात्रं समुद्दिष्टम्" इत्यादिलक्षणलक्षितस्य आदिकारणस्य, प्ररोहः = अङ्कुरणम्, "उद्भेदः" स्यात् ।

जैसे बालचरितमें—"हे वत्स ! तुम्हारे उत्साहकी अधिकता और बचपनको देखते हुए मेरा मन हर्ष और विषादसे एक ही बार आक्रान्त हो गया है । अथवा ग्रन्थकारकी प्रभावती (नाटिका) में "नयनयुगासेचनकम्" इत्यादि ।

कौतुकयुक्त वचनोंको "परिभावना" कहते हैं ।

जैसे वेणी० में द्रौपदी युद्ध होगा वा नहीं ऐसा संशय करती हुई वाद्योंके शब्द होनेके अनन्तर "नाथ ! क्यों इस समय प्रलय समयके मेघके गर्जनके समान गम्भीर युद्धकी दुन्दुभि (वाद्यविशेष) क्षण क्षणमें बजाई जा रही है ? ।"

बीजभूत अर्थकी उत्पत्तिको "उद्भेद" कहते हैं ।

यथा तत्रैव—'द्रौपदी—णाध !, पुणोवि तए समास्सासइदव्वा ।

भीमः—

भूयः परिभवक्लान्तिलज्जाविधुरिताननम् ।
अनिःशेषितकौरव्यं न पश्यसि वृकोदरम् ॥'

—करणं पुनः ॥ ८६ ॥

प्रकृतार्थसमारम्भः—

यथा तत्रैव—'देवि ! गच्छामो वयमिदानीं कुरुकुलक्षयाय' इति ।

—भेदः संहतभेदनम् ।

उद्भेदमुदाहरति—**यथा तत्रैवेति** । द्रौपदी—'नाथ ! पुनरपि त्वया समाश्वासयितव्या" । समाश्वासयितुमर्हा इत्यर्थः । **भूय इति** । द्रौपदीवाक्यमाकर्ण्य भीमः कथयति । परिभवेत्यादिः = परिभवेन (शत्रुकृततिरस्कारेण) क्लान्तिः (ग्लानिः) लज्जा (व्रीडा) च ताभ्यां विधुरितम् (विह्वलीकृतम्) आननं (मुखम्) यस्य, तथा अनिःशेषितकौरव्यम्=अनिःशेषिताः (समूलम् अहृताः) कौरव्याः (दुर्योधनादयः) येन, तं तादृशं वृकोदरं = भीमसेनं, मां, भूयः=पुनः, न पश्यसि=नो द्रक्ष्यसि, "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इति भविष्यत्सामीप्ये लट् । अत्र शत्रुक्षयरूपस्य बीजार्थस्य प्ररोहादुद्भेदः ।

करणं लक्षयति—**करणमिति** प्रकृतार्थसमारम्भः = प्रकृतार्थस्य (प्रस्तुतविषयस्य) समारम्भः (सम्यगनुष्ठानम्) "करणम्" ॥ ८६ ॥

करणं नाम सन्ध्यङ्गमुदाहरति—**यथा तत्रैवेति** । अत्र प्रकृतार्थस्य = युद्धस्य समारम्भात्करणं नाम सन्ध्यङ्गम् ।

भेदं नाम सन्ध्यङ्गं लक्षयति—**भेद इति** । संहतभेदनं = संहतानां (सङ्घयुक्तानां, मिलितानामिति भावः) यद् भेदनं (सङ्घात्पृथक्करणम्) "भेदः" भेदो नाम सन्ध्यङ्गम् ।

जैसे वहीं पर—द्रौपदी—फिर भी आपको मुझे आश्वासन देना चाहिए ।

भीमसेन—(हे देवि !) तिरस्कार, ग्लानि और लज्जासे विह्वल मुखवाले भीमसेनको कौरवोंको निःशेष किये विना फिर नहीं देखोगी ।

प्रस्तुत विषयके आरम्भको "करण" कहते हैं ॥ ८६ ॥

जैसे वहीं (वेणी०) पर—"देवि ! हम लोग इससमय कुरुवंशके विनाशके लिए जा रहे हैं" ।

मिले हुओंको अलग करनेको "भेद" कहते हैं ।

यथा तत्रैव—'अत एवाद्यप्रभृति भिन्नोऽहं भवद्भ्यः।'

केचित्तु—'भेदः प्रोत्साहना' इति वदन्ति।

अथ प्रतिमुखाङ्गानि—

विलासः परिसर्पश्च विधुतं तापनं तथा ॥ ८७ ॥
नर्म नर्मद्युतिश्चैव तथा प्रगमनं पुनः।
विरोधश्च प्रतिमुखे तथा स्यात्पर्युपासनम् ॥ ८८ ॥
पुष्पं वज्रमुपन्यासो वर्णसंहार इत्यपि।

तत्र—

समीहा रतिभोगार्था विलास इति कथ्यते ॥ ८९ ॥

भेदमुदाहरति—**यथा तत्रैवेति**। अत्र भीमसेनेन स्वस्य भ्रातृसङ्घात् पृथक्करणाद्भेदः।

दशरूपककारमतं प्रदर्शयति—**केचिदिति**। केचित् = दशरूपककारादयः, प्रोत्साहना "भेदः" इति वदन्ति।

तन्मतेनोदाहरणं यथा—

"अन्योन्यास्फालभिन्नद्विपरुधिरवसासान्द्रमस्तिष्कपङ्के
मग्नानां स्यन्दनानामुपरिकृतपदन्यासविक्रान्तपत्तौ।
स्फीतासृक्पानगोष्ठीरसदशिवशिवातूर्यनृत्यत्कबन्धे
सङ्ग्रामैकार्णवान्तःपयसि विचरितुं पण्डिताः पाण्डुपुत्राः॥"(वेणी०)

इत्यनेन विषण्णाया द्रौपद्याः क्रोधोत्साहबीजानुगुण्येनैव प्रोत्साहनाद्भेदः।

प्रतिमुखाङ्गानि निर्दिशति-**विलास इति**। विलासात्तापनं यावत् चत्वारि॥८७॥

ततो नर्मतः पर्युपासनं यावत् पञ्च ॥ ८८ ।

ततः पुष्पाद्वर्णसंहारं यावत् चत्वारि। सहत्य त्रयोदशविधानि प्रतिमुखाऽङ्गानि ज्ञेयानि।

प्रतिमुखसन्ध्यङ्गं विलासं लक्षयति—**समीहेति**। रतिभोगार्था = रतेः रतिलक्षणस्य भावस्य) यो भोगः (अनुभूतिः) तदर्थं (तत्प्रयोजना) समीहा (इच्छा) स "विलासः" प्रतिमुखाङ्गम् ॥ ८९ ॥

जैसे वहीं (**वेणी०**) **पर** —'अत एव आजसे मैं आप लोगोंसे भिन्न हो गया हूं।" कुछ लोग उत्साह करनेको "भेद" कहते है।

प्रतिमुखके अङ्ग—विलाससे तापन तक चार ॥ ८० ॥

नर्मसे पर्युपासन तक पाँच ॥ ८८ ॥

पुष्पसे वर्णसंहार तक चार, इस प्रकार प्रतिमुख सन्धिमें तेरह अङ्ग है।

रतिरूप भावका कारणभूत भोग विषय, अर्थात् स्त्री वा पुरुष, उसके लिए होने वाली इच्छाको "विलास" कहते है ॥ ८९ ॥

रतिलक्षणस्य भावस्य यो हेतुभूतो भोगो विषयः प्रमदा पुरुषो वा तदर्था समीहा विलासः ।

यथा शाकुन्तले—

'कामं प्रिया न सुलभा मनस्तु तद्भावदर्शनायासि ।
अकृतार्थेऽपि मनसिजे रतिमुभयप्रार्थना कुरुते ॥' (२-१)

इष्टनष्टानुसरणं परिसर्पश्च कथ्यते ।

यथा शाकुन्तले—

'राजा—भवितव्यमत्र तया । तथा हि—
अभ्युन्नता पुरस्तादवगाढा जघनगौरवात्पश्चात् ।

ग्रन्थकारः प्रकारान्तरेण स्वीयां कारिकां विवृणोति—**रतिलक्षणस्येति ।** रतिलक्षणस्य = रागस्वरूपस्य, भावस्य = क्रियायाः, यो हेतुभूतो विषयः = पात्र, प्रमदा=स्त्री, पुरुषो वा, तदर्था = तयोरेकतरविषया, समीहा=इच्छा "विलास." इति ।

विलासमुदाहरति—**यथा शाकुन्तले । काममिति ।** दुष्यन्तस्यात्मगतोक्तिरियम् । प्रिया = वल्लभा, शकुन्तलेत्यर्थः, कामं = यथेष्ट, सुलभा = सुप्राप्या, न । तु = परन्तु, मनः = मदीय चित्त, तद्भावदर्शनायासि तस्या (शकुन्तलायाः) भावदर्शनेन (कटाक्षादिचेष्टाविलोकनेन) आयासि (अतिप्रयत्नशील, तत्प्राप्त्यर्थमिति शेषः) । "आश्वासी"ति पाठान्तरे आश्वस्तमित्यर्थः । मनसिजे=कामे, अकृतार्थेऽपि= अकृतकार्येऽपि, संभोगाऽभावेनेति शेष. । उभयप्रार्थना – उभयो (नायिकानायकयोर्द्वयोरपि) प्रार्थना (मिथःप्राप्तीच्छा), रतिम्=अनुराग, कुरुते=विदधाति । अत्र आर्यावृत्तम् । अत्र दुष्यन्तस्य शकुन्तलाप्राप्तीच्छारूपो विलास. ।

परिसर्पं नाम प्रतिमुखाऽङ्गं लक्षयति—**इष्टनष्टाऽनुसरणमिति । इष्टनष्टाऽनुसरणम् =** इष्टस्य (अभीष्टस्य) नष्टस्य (अदृष्टस्य) सतः पदार्थस्य, **अनुसरणम्** (**अन्वेषणम्**), परिसर्पः "परिसर्पनामकम्" प्रतिमुखाङ्गम् ।

परिसर्पमुदाहरति—**यथा शाकुन्तल इति ।** अत्र = लतामण्डपे, तया = शकुन्तलया, भवितव्यं = भाव्यम् । **अभ्युन्नतेति ।** (३-५) । पाण्डुसिकते = **पाण्डुः** (**पाण्डुरवर्णा**) सिकता (बालुका) यस्मिंस्तस्मिन्, एतेन तत्प्रतिबिम्बयोग्यत्वं ध्वनितम् । अस्य=लतामण्डपस्य, द्वारे = प्रतिहारे । पुरस्तात् = अग्रतः, अभ्युन्नता = उच्चा, जघनगौरवात्=नितम्बगुरुत्वात् । पश्चात=पश्चाद्भागे, पार्ष्णिदेश इति भावः ।

जैसे शाकुन्तलमें–प्रिया शकुन्तला अत्यन्त ही सुलभ नही है । मन तो उसकी चेष्टाके दर्शनसे अत्यन्त उत्कण्ठित है । कामदेवके कृतार्थ न होनेपर भी नायक और नायिकाकी परस्पर प्राप्तिकी इच्छा अनुराग करती है ।

अभीष्ट पदार्थके अदृष्ट होनेपर उसके अन्वेषणको "परिसर्प" कहते हैं ।

जैसे शाकुन्तलमें—राजा—यहां शकुन्तला होनी चाहिए । क्योंकि सफेद

द्वारेऽस्य पाण्डुसिकते पदपङ्क्तिर्दृश्यतेऽभिनवा ॥' (३-५)

कृतस्यानुनयस्यादौ विधुतं त्वपरिग्रहः ॥ ९० ॥

यथा तत्रैव–'अलं वो अन्तेउरविरहपज्जुस्सुएण राएसिणा उवरुद्धेण ।'

केचित्तु—'विधुतं स्यादरतिः' इति वदन्ति ।

उपायादर्शनं यत्तु तापनं नाम तद्भवेत् ।

अवगाढा=ईषद्गभीरा, अभिनवा=नूतना, अचिरभवेति भावः। पदपङ्क्तिः=चरणन्यासरेखा, दृश्यते = अवलोक्यते । अतोऽत्र लतामण्डपे तया भाव्यमिति भावः । आर्या वृत्तम् । अत्र दुष्यन्तेन दर्शनमप्राप्ताया अभीष्टशकुन्तलाया अनुसरणात् परिसर्पः ।

विधुतं लक्षयति—**कृतस्येति** । आदौ = प्रथमं, कृतस्य = विहितस्य, अनुनयस्य=प्रसादनस्य अपरिग्रहः = अस्वीकारः । विधुतम् = विधुतं नाम प्रतिमुखाऽङ्गम् । दशरूपककारेण "विधूतम्" इति लिखितम्, क्वचित् "विधृत"मित्यपि दृश्यते ॥ ९० ॥

विधुतमुदाहरति–**यथा तत्रैवेति** । "अलं वः अन्तःपुरविरहपर्युत्सुकेन राजर्षिणा उपरुद्धेन" इति संस्कृतच्छाया । अन्तःपुरविरहपर्युत्सुकेन=अन्तःपुराणां (लक्षणयाऽन्तःपुरःस्थितललनानाम्) विरहेण (वियोगेन) पर्युत्सुकेन (उत्कण्ठितेन) । राजर्षिणा=दुष्यन्तेन, वः=युष्माकं, युष्माभिरिति भावः, उपरुद्धेन=अनुरुद्धेन, मदर्थमनुनीतेनेति भावः । अलं = कृतम्, अन्तःपुरसुन्दरीसमुत्कण्ठिते दुष्यन्ते मदर्थमनुनयो न कर्तव्य इति भावः । अत्र शकुन्तलया प्रथमं कृतस्याऽनुनयस्य सखीभ्यां कारयितुमस्वीकरणाद्विधुतं नाम प्रतिमुखाऽङ्गम् ।

विधुतविषये मतान्तरं दर्शयति—**केचित्त्विति** । केचित् = दशरूपककारादयः, अरतिः=अप्रीतिः, "विधूतम्" इति कथयन्ति ।

तापनं लक्षयति—**उपायाऽदर्शनमिति** । यत्तु उपायाऽदर्शनम् = उपायस्य (कारणस्य, अभीष्टप्राप्तिकारणस्येति भावः), अदर्शनम् (अविलोकनम्), तत् "तापनं नाम" प्रतिमुखाङ्गविशेषो भवेत् ।

वालुओंसे युक्त इस लतामण्डपके द्वारमें चरणके अग्रभागमें ऊँची और नितम्ब के भारसे पिछले भागमें कुछ गम्भीर नई चरणन्यासकी पङ्क्ति देखी जा रही है ।

पहले किये गये अनुनयको स्वीकार न करनेको "विधुत" कहते हैं ॥ ९० ॥

"विधुत" ऐसा पाठान्तर है ।

जैसे वहींपर—अन्तःपुरके वियोगसे उत्कण्ठित राजर्षिको रोकना नहीं चाहिए ।" यह शकुन्तलाकी उक्ति है । कुछलोग तो (दशरूपककार आदि) अप्रीतिको "विधुत" कहते हैं ।

उपायके अदर्शनको "तापन" कहते हैं ।

यथा रत्नावल्याम्—'सागरिका—

दुल्लहजणाणुराओ लज्जा गुरुई परव्वसो अप्पा ।
पियसहि! विसमं पेम्मं मरणं सरणं णवरि एक्कम् ॥'

परिहासवचो नर्म—

यथा रत्नावल्याम्—

'सुसंगता—सहि ! जस्स किदे तुमं आअदा सो अअं दे पुरदो चिट्ठदि ।
सागरिका—(साभ्यसूयम्) "कस्स किदे अहं आअदा ?
'सुसंगता—अलं अण्णसंकिदेण । णं चित्तफलअस्स ।'

—द्युतिस्तु परिहासजा ॥ ९१ ॥

नर्मद्युतिः—

तापनमुदाहरति—यथा रत्नावल्यां, सागरिका—**दुल्लहेति ।**

"दुर्लभजनाऽनुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा ।
प्रियसखि ! विषमं प्रेम, मरणं शरणं केवलमेकम्॥" इति संस्कृतच्छाया ।

हे प्रियसखि = अभीष्टवयस्ये !, दुर्लभजनाऽनुरागः = दुर्लभजने (दुष्प्राप्यजने, उदयनरूपे, मादृश्या इति शेषः) अनुरागः (प्रणयः), लज्जा = त्रपा, गुर्वी = महती, दुर्वहेति भावः । आत्मा = मदीयो देहः, परवशः = पराऽधीनः । अतः विषमम् = अतिमहत्, प्रेम = प्रणयः, अतः एकं केवलम् = एकमात्र, मरणं = प्राणत्यागः, शरणं = रक्षकं, दुःखनिवारणाऽर्थमिति भावः । णवरिशब्दः केवलाऽर्थो देशी । गाथा वृत्तम् । अत्र सागरिकयोदयनप्राप्तेरुपायाऽदर्शनात्तापनं नाम प्रतिमुखाऽङ्गम् ।

नर्म लक्षयति-**परिहासवच इति ।** परिहासवचः=उपहासवचन, "नर्म" । यथा रत्नावल्यां, सुसंगता—"सखि ! यस्य कृते त्वमागता, सोऽयं ते पुरतस्तिष्ठति । सागरिका- "कस्य कृते अहमागता ? ।" सुसंगता—"अलमन्यशङ्कितेन ननु चित्रफलकस्य ।" इति संस्कृतच्छाया ।

नर्मद्युतिं लक्षयति—**द्युतिस्त्विति ।** परिहासजा = उपहासजन्या, द्युतिः = कान्तिः, "नर्मद्युतिः" । "धृति"रिति पाठान्तरे धैर्यमित्यर्थः ॥ ९१ ॥

जैसे रत्नावलीमें—सागरिका—दुर्लभ जनमें प्रेम, लज्जा दुर्वह, शरीर दूसरेके अधीन है, प्रेम विषम है । अत एव हे सखि ! एकमात्र मरण ही मेरा शरण है ।

उपहासके वचनको "नर्म" कहते हैं ।

जैसे रत्नावलीमें—सुसंगता—सखि ! सखि ! जिसके लिए तुम आई हो वह आज तुम्हारे सामने मौजूद है ।

सारिका—(ईर्ष्याके साथ) "मैं किसके लिए आई ?" ।

सुसंगता—और शङ्का मत करो । इसी चित्रके लिए (तुम आई हो) । परिहाससे होनेवाली कान्तिको "नर्मद्युति कहते हैं ॥ ९१ ॥

यथा तत्रैव—

'सुसंगता—सहि ! अदक्खिणा दाणिं सि तुमं जा एव्वं भट्टिणा हत्थावलम्बिदावि कोवं ण मुञ्चसि ।

सागरिका—(सभ्रूभङ्गमीषद्विहस्य) सुसंगदे ! दाणिं वि कीलिदुं न विरमसि ।'

केचित्तु—'दोषस्याच्छादनं हास्यं नर्मद्युतिः' इति वदन्ति ।

—प्रगमनं वाक्यं स्यादुत्तरोत्तरम् ।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

'उर्वशी—जअदु जअदु महाराओ ।

राजा—

मया नाम जितं, यस्य त्वया जय उदीर्यते ।' इत्यादि ।

नर्मद्युतिमुदाहरति—**यथा तत्रैवेति** । सुसंगता—"सखि ! अदक्षिणेदानीमसि त्वं या एवं भर्त्रा हस्तावलम्बिताऽपि कोपं न मुञ्चसि" इति संस्कृतच्छाया । सागरिका—"सुसंगते ! इदानीमपि क्रीडितुं न विरमसि ।" इति संस्कृतच्छाया । अदक्षिणा = अनुदारा ।

नर्मद्युतौ मतान्तरमाह—**केचित्त्विति** । दोषस्य, आच्छादनम् = आवरणकरं हास्यं "नर्मद्युतिः" इति । भरतमुनिरप्याह—"दोषप्रच्छादनार्थं तु नर्मद्युतिरिति स्मृतम् ।" इति । काव्येन्दुप्रकाशकार आह—"नर्मद्युतिः कोपगुप्ति"रिति ।

प्रगमनं लक्षयति—**प्रगमनमिति** । उत्तरोत्तरम् = उत्तरम् (उत्कृष्टतरम्) उत्तरं (प्रतिवाक्यम्) यस्मिंस्तत्, तादृशं वाक्यं "प्रगमनं" स्यात् । क्वचित् "प्रशंसनम्" इति नामान्तरम् ।

प्रगमनमुदाहरति—**यथा विक्रमोर्वश्याम्** । उर्वशी—जयतु जयतु महाराज." इति संस्कृतच्छाया ।

जैसे वहींपर है—सुसंगता—"सखि ! तुम इस समय अनुदार हो गई हो जो इस प्रकार स्वामीके हाथसे अवलम्बन करनेपर भी क्रोध नहीं छोड़ रही हो" । सागरिका—(भ्रूभङ्गके साथ कुछ हंसकर) "सुसंगते ! अभी भी क्रीडा करनेसे बाज नहीं आती हो" । कुछ लोग तो दोषको छिपाने वाले हास्यको "नर्मद्युति" कहते हैं ।

उत्कृष्ट उत्तर स्वरूप वाक्यको "प्रगमन" कहते हैं ।

जैसे विक्रमोर्वशीमें—उर्वशी—"महाराजकी जय हो जय हो" ।

राजा 'मैंने जीत लिया, तुम जिसकी जय कह रही हो" इत्यादि ।

विरोधो व्यसनप्राप्तिः—

यथा चण्डकौशिके—

'राजा—नूनमसमीक्ष्यकारिणा मया अन्धेनेव स्फुरच्छिखाकलापो ज्वलनः पद्भ्यां समाक्रान्तः ।'

—कृतस्यानुनयः पुनः ॥ ९२ ॥

स्यात्पर्युपासनं—

यथा रत्नावल्याम्—

'विदूषकः—भो, मा कुप्य । एसा हि कदलीघरन्तरं गदा' इत्यादि ।

—पुष्पं विशेषवचनं मतम् ।

यथा तत्रैव—'(राजा हस्ते गृहीत्वा स्पर्शं नाटयति)'

विरोधं लक्षयति—**विरोध इति ।** व्यसनप्राप्तिः = व्यसनस्य (विपदः) प्राप्तिः (आसादनम्) "विरोधः" ।

विरोधमुदाहरति—**यथा चण्डकौशिके ।** राजा = हरिश्चन्द्रः ।

नूनमिति । स्फुरच्छिखाकलापः = स्फुरन् (दीप्यमानः) शिखाकलापः (ज्वालासमूहः) यस्य सः, तादृशो ज्वलनः = वह्निः । अत्र हरिश्चन्द्रस्य कौशिकाद्व्यसनप्राप्तेर्विरोधः ।

पर्युपासनं लक्षयति—**कृतस्येति ।** कृतस्य = विहितस्य दोषस्य निवारणाय, पुनरनुनयः = प्रसादनं, "पर्युपासन" स्यात् ॥ ९२ ॥

पर्युपासनमुदाहरति—**यथा रत्नावल्याम् ।** विदूषक —भो , मा कुप्य । एषा हि कदलीगृहान्तर गता ।" इति संस्कृतच्छाया इत्यादि । एषा = सागरिका ।

पुष्पं लक्षयति—**पुष्पमिति ।** विशेषवचनम्=उत्कर्षबोधकवचः "पुष्पं" मतम् ।

पुष्पमुदाहरति—**यथा तत्रैव ।** राजा = उदयनः, हस्ते गृहीत्वा, सागरिकाया इति शेषः ।

विपत्तिकी प्राप्तिको "विरोध" कहते है ।

जैसे चण्डकौशिकमें—राजा (हरिश्चन्द्र)—बिना विचारके कार्य करनेवाले मैंने अन्धेके समान चमकनेवाली ज्वालासे युक्त अग्निको पैरोंसे आक्रमण किया" । किये हुए दोषके निवारणके लिए अनुनयको 'पर्युपासन" कहते हैं ॥ ९२ ॥

जैसे रत्नावलीमें विदूषक—"महाराज ! कोप मत करें । यह कदलीगृहके भीतर चली गई है" । इत्यादि ।

विशेष वचनको "पुष्प" कहते है ।

जैसे वहींपर—(राजा हाथमे लेकर स्पर्शका अनुभव करते है) ।

विदूषकः—भो वअस्स ! एसा अपुव्वा सिरी तए समासादिदा ।

राजा—वयस्य ! सत्यम्—

श्रीरेषा, पाणिरप्यस्याः पारिजातस्य पल्लवः ।
कुतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वेदच्छद्मामृतद्रवः ॥'

प्रत्यक्षनिष्ठुरं वज्रम्—

यथा तत्रैव—

राजा—कथमिहस्थोऽहं त्वया ज्ञातः ?

सुसंगता ण केवल तुमं समं चित्तफलएण । ता जाव गदुअ देवीए णिवेदइस्सम् ।'

विदूषकः—"भो वयस्य ! एषा अपूर्वा श्रीस्त्वया समासादिता ।" इति संस्कृतच्छाया । एषा = सागरिका । राजा—**श्रीरिति** । एषा = अतिसमीपस्थिता, सागरिकेति भावः । श्रीः=साक्षाल्लक्ष्मीः, अस्याः, पाणिरपि=हस्तोऽपि, पारिजातस्य= देवतरुविशेषस्य, पल्लवः=किसलयम्, अन्यथा—अन्येन प्रकारेण, नोचेदिदमिति भावः, कुतः = कस्माद्धेतोः, स्वेच्छद्मा = स्वेदः (घर्मजल, सात्त्विकभावरूपमिति शेषः) छद्म (छलम्) यस्य सः, एतादृशः अमृतद्रवः = पीयूषरसः, स्रवति = विगलति पाणे रिति शेषः । अत्र कैतवाऽपह्नुतिरलङ्कारः । अनुष्टुब् वृत्तम् । अत्र सागरिकायाः सौन्दर्यो-देरुत्कर्षवर्णनात्पुष्पम् ।

वज्रं लक्षयति—**प्रत्यक्षनिष्ठुरमिति** । प्रत्यक्षनिष्ठुरं = साक्षात्कठोरवचनं, "वज्रम्" । वज्रसमदुःसहत्वाद्वज्रम् ।

वज्रमुदाहरति—**यथा तत्रैवेति** । राजा = उदयनः, सुसंगता—"न केवलं त्वं समं चित्रफलकेन । तद्यावद् गत्वा देव्यै निवेदयिष्यामि" । इति संस्कृतच्छाया । देव्यै= वासवदत्तायै, अत्र क्रियाग्रहणाच्चतुर्थी । अस्य वाक्यस्य प्रत्यक्षनिष्ठुरत्वाद्वज्रत्वम् ।

विदूषक—"हे मित्र ! आपने इस अपूर्व लक्ष्मीको प्राप्त किया" ।

राजा—"मित्र ! सचमुच" ।

'यह लक्ष्मी है इसका हाथ पारिजातका पल्लव है । नहीं तो यह पसीनेके छलसे अमृतके द्रवको कैसे विगलित करता" ?

प्रत्यक्ष कठोर वाक्यको "वज्र" कहते है ।

जैसे वहीं (रत्नावलीमें)—राजा—"मैं यहाँ हूँ, यह तुमने कैसे जाना ?" सुसंगता—"आपको ही नहीं चित्रको भी" । इस कारण जाकर महारानीको निवेदन करूंगी" ।

—उपन्यासः प्रसादनम् ॥ ९३ ॥

यथा तत्रैव—

'सुसंगता—भट्टुण ! अलं सङ्काए। मए वि भट्टिणीए पसादेण कीलिदं उजेव एदिहिं। ता किं कण्णाभरणेण। अदो वि मे गरुअरो पसादो एसो, जं तुए अहं एत्थ आलिहिदत्ति कुविदा मे पिअसही साअरिआ। एसा ज्जेव पसादीअदु।'

केचित्तु--'उपपत्तिकृतो ह्यर्थ उपन्यासः स कीर्तितः।' इति वदन्ति।

उदाहरन्ति च, तत्रैव--'अदिमुहरा क्खु सा गब्भदासी' इति।

चातुर्वर्ण्योपगमनं वर्णसंहार इष्यते।

उपन्यासं लक्षयति—उपन्यास इति। प्रसादनं=प्रसादोत्पादनम् "उपन्यासः" ॥ ९३ ॥

उपन्यासमुदाहरति—यथा तत्रैवेति। सुसंगता—"भर्तः ! अलं शङ्कया। मयाऽपि भर्त्र्याः प्रसादेन क्रीडितमेव एतैः। तत्किं कर्णाऽऽभरणेन ? अतोऽपि मे गुरुतरः प्रसाद एषः, यत्त्वया अहमत्र आलिखितेति कुपिता मे प्रियसखी सागरिका। एषैव प्रसाद्यताम्।" इति संस्कृतच्छाया। अत्र राज्ञः प्रसादजननादुपन्यासः।

उपन्यासे मतान्तरमुपन्यस्यति—केचित्त्विति। केचित्=नाट्यशास्त्रकारः—'उपपत्तिकृतो ह्यर्थः उपन्यासः स कीर्तितः।'' इति वदन्ति। योऽर्थः = पदार्थः, उपपत्तिकृतः = युक्तिविहितः, स उपन्यासः। उदाहरन्ति च तत्रैव – रत्नावल्यामेव, "अतिमुखरा खलु सा गर्भदासी" इति। यत इयं दासीगर्भाज्जाता गर्भदासी अतः अतिमुखरा इति उपपत्त्या अतिमुखरत्वस्य साधनादुपन्यासः।

वर्णसंहारं लक्षयति—चातुर्वर्ण्योपगमनमिति। चातुर्वर्ण्योपगमन = चत्वारो वर्णाश्चातुर्वर्ण्यम्। ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्राः "चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसङ्ख्यानम्" इति स्वार्थे (प्रकृत्यर्थे) ष्यञ्। चातुर्वर्ण्यस्य उपगमनं = मेलनं, "वर्णसंहारो" नाम प्रतिमुखस्याऽङ्गविशेषः।

प्रसन्न करनेको "उपन्यास" कहते हैं।

जैसे वहींपर —सुसंगता—"स्वामिन् ! शङ्का मत कीजिए। मैंने भी महारानीके अनुग्रहसे इन (भूषणों) से क्रीडा की है। इस कारण कर्णके भूषणसे क्या करना है? इससे भी अधिक मेरे ऊपर यह अनुग्रह है कि आपने यहां मुझे लिख दिया है इसलिए मेरी प्रिय सखी सागरिका कुपित हो गई है। इसे ही मना लें"। कुछलोग "उपपत्ति-(युक्ति) से किये गये अर्थको "उपन्यास" कहते हैं। "ऐसा कहते हैं और वहीं" पर उदाहरण भी देते है—"यह गर्भदासी अत्यन्त वाचाल है"।

चारों वर्णोंकी उपस्थितिको "उपसंहार" कहते हैं।

यथा महावीरचरिते तृतीयेऽङ्के—

'परिषदियमृषीणामेष वीरो युधाजित् सह नृपतिरमात्यैर्लोमपादश्च वृद्धः।
अयमविरतयज्ञो ब्रह्मवादी पुराणः प्रभुरपि जनकानामद्रुहो याचकास्ते ॥'

इत्यत्र ऋषिक्षत्त्रादीनां वर्णानां मेलनम्।

अभिनवगुप्तपादास्तु—'वर्णशब्देन पात्राण्युपलक्ष्यन्ते। संहारो मेलनम्' इति व्याचक्षते।

उदाहरन्ति च रत्नावल्यां द्वितीयेऽङ्के—'अदो वि मे अअं गुरुअरो पसादो—'

इत्यादेरारभ्य 'णं हत्थे गेण्हिअ पसादेहि णम्।'

वर्णसंहारमुदाहरति—**परिषदिति**। अङ्ग = भोः हे जामदग्न्य !, इयम्, ऋषीणां=मन्त्रद्रष्टॄणां, परिषत् = सभा, एष, वीरः = विक्रान्तः, युधाजित् = केकय देशाऽधिपतिः। अमात्यैः=मन्त्रिभिः, सह = समम्, एषः, वृद्धः = प्रवयाः, लोमपादो नाम, नृपतिः=राजा, अङ्गदेशनरेश इति भावः। अविरतयज्ञः=अनवरतयागाऽनुष्ठाता, पुराणः = प्राचीनः, ब्रह्मवादी = ब्रह्मव्याख्याता, अयमपि, जनकानां = जनकवंशोत्पन्नानां राज्ञां, प्रभुः = श्रेष्ठः, सीरध्वज इति भावः। एते सर्वेऽपि, ते = तव, समीप इति शेषः। याचकाः=शमप्रार्थकाः, सन्तीति शेषः। अत्र "अङ्ग भोः" इत्यत्र 'अद्रुह' इति पाठान्तरम्। अद्रुहः=द्रोहरहिता इत्यर्थः। मालिनी वृत्तम्।

इत्यत्रेति। अस्मिन् पद्ये, ऋषिक्षत्त्रादीनां=वर्णानां, मेलनम्।

अभिनवगुप्तमतं दर्शयति—**अभिनवेति**। अभिनवगुप्तपादाः = भरतनाट्यशास्त्रव्याख्यातारः वर्णशब्दः पात्रोपलक्षकः, संहारो मेलनम्, इति व्याचक्षते = व्याख्यानं कुर्वन्ति।

तन्मतेनोदाहरण—रत्नावल्याम्। **अदो वि इति**। "अतोऽपि मे अयं गुरुतरः प्रसादः" इत्यादेरारभ्य—"ननु हस्ते गृहीत्वा प्रसादय एनाम्" इति संस्कृतच्छाया। अत्र राजविदूषकसागरिकासुसङ्गताऽऽख्यानां पात्राणां मेलनम्।

जैसे महावीरचरितमें तीसरे अङ्कमें—

'यह ऋषियोंकी सभा है। ये वीर युधाजित् (केकयनरेश) है। वृद्ध राजा लोमपाद (अङ्गनरेश) मन्त्रियोंके साथ है। निरन्तर यज्ञ करनेवाले ब्रह्मवादी प्राचीन जनकवंशके राजाओंमें श्रेष्ठ (सीरध्वज) भी आपके शान्तियाचक हैं'। यहाँपर ऋषि और क्षत्रिय आदि वर्णोंका समेलन है।

अभिनवगुप्तपाद तो वर्णशब्दसे पात्र उपलक्षित होते हैं उनका संहार=मेलन है ऐसी व्याख्या करते हैं और उदाहरण भी देते हैं—

रत्नावलीके दूसरे अङ्कमें—"इससे भी मुझपर यह अधिक अनुग्रह है" इत्यादिसे आरम्भ कर "हाथमें लेकर इसे प्रसन्न करें।

राजा—'क्वाऽसौ' ? क्वाऽसौ ? इत्यादि ।

अथ गर्भाङ्गानि—

अभूताहरणं मार्गो रूपोदाहरणे क्रमः ॥ ९४ ॥
संग्रहश्चानुमानं च प्रार्थना क्षिप्तिरेव च ।
त्रो (तो)टकाधिबलोद्वेगा गर्भे स्युर्विद्रवस्तथा ॥ ९५ ॥

तत्र व्याजाश्रयं वाक्यमभूताहरणं मतम् ।

यथा अश्वत्थामाङ्के—

'अश्वत्थामा हत इति पृथासूनुना स्पष्टमुक्त्वा
स्वैरं शेषे गज इति पुनर्व्याहृतं सत्यवाचा ।
तच्छ्रुत्वाऽसौ दयिततनयः प्रत्ययात्तस्य राज्ञः

गर्भाऽङ्गान्युद्दिशति—**अभूताहरणमिति** । अभूताहरणात्क्रमपर्यन्तं पञ्च ॥९४॥ संग्रहाद्विद्रवपर्यन्तम् अष्टौ । इत्थं संहृत्य त्रयोदशविधानि गर्भाऽङ्गानि ॥ ९५ ॥

अभूताहरणं लक्षयति—**तत्रेति** । तत्र = तस्मिन्, गर्भे = गर्भसन्ध्यङ्गे, व्याजाश्रयं = छलसम्बद्धं, वाक्यं = पदसमूहः, "अभूताहरणं" मतम् ।

अभूताहरणमुदाहरति—**अश्वत्थामेति** । द्रोणाचार्येण प्राणत्यागे कृते अश्वत्थामानं प्रति सूतस्योक्तिरियम् । सत्यवाचा = तथ्यवचनेन, पृथासूनुना=युधिष्ठिरेण, अश्वत्थामा = द्रोणपुत्रः, हतः = व्यापादितः, इति = एवं, स्पष्टं = व्यक्तं, श्रोत्रेन्द्रियग्राह्यत्वेन, उक्त्वा = अभिधाय, शेषे = वाक्यसमाप्तिसमये, गजः = हस्ती, एवम् = इत्थं, स्वैरं=मन्दं, श्रोत्रेन्द्रियाऽग्राह्यत्वेनेति भावः । व्याहृतम्=उक्तं, किल = निश्चयेन, तत्=अश्वत्थामा हत इति वाक्यं, श्रुत्वा=आकर्ण्य, तस्य = सत्यवाचः, राज्ञः=भूपतेर्युधिष्ठिरस्येति भावः । प्रत्ययात् = विश्वासात्, दयिततनयः = दयितः (प्रियः) तनयः (पुत्रः) यस्य सः । असौ=विप्रकृष्टस्थः, प्राणत्यागेनेति शेषः, द्रोणाचार्य इति

राजा - "वह कहाँ है ? वह कहाँ है ?" इत्यादि ।

गर्भ सन्धिके अङ्ग—अभूताहरणसे लेकर क्रमतक पाँच ॥ ९४ ॥

संग्रहसे लेकर विद्रव तक आठ ॥ ९५ ॥

इस प्रकार गर्भसन्धिके तेरह अङ्ग होते हैं ॥

छलयुक्त वाक्यको 'अभूताहरण" कहते हैं ।

जैसे (वेणीके) अश्वत्थामाऽङ्कमें—

"अश्वत्थामा मारे गये" इसप्रकार सत्य बोलनेवाले युधिष्ठिरने स्पष्ट कहकर अन्तमें मन्द स्वरसे "हाथी" ऐसा फिर कहा । ऐसा सुनकर पुत्रमें प्रीति करनेवाले

शस्त्राण्याजौ नयनसलिलं चापि तुल्यं मुमोच ॥'

तत्त्वार्थकथन मार्गः--

यथा चण्डकौशिके—

'राजा—भगवन् !

गृह्यतामर्जितमिदं भार्यातनयविक्रयात् ।
शेषस्यार्थे करिष्यामि चण्डालेऽप्यात्मविक्रयम् ॥

—रूपं वाक्यं वितर्कवत् ॥ ९६ ॥

यथा रत्नावल्याम्

'राजा—

मनः प्रकृत्यैव चलं दुर्लक्ष्यं च तथापि मे ।

भावः । आजौ = युद्धे, शस्त्राणि = आयुधानि, नयनसलिलं = नेत्रजलम्, अश्रु, च, तुल्यं = सम, युगपदिति भावः । मुमोच=तत्याज । मन्दाक्रान्ता वृत्तम् ।

अत्र युधिष्ठिरस्य कपटाश्रयवाक्यादभूताहरणम् ।

मार्गं लक्षयति—**तत्त्वाऽर्थकथनमिति** । तत्त्वाऽर्थकथनं = यथार्थविषयप्रतिपादनं, "मार्गः" मार्गो नाम गर्भसन्ध्यङ्गम् ।

मार्गमुदाहरति–चण्डकौशिके–राजा–**गृह्यतामिति** । राजा हरिश्चन्द्रो विश्वामित्रं कथयति—हे भगवन् !, भार्यातनयविक्रयात् = पत्नीपुत्रविनिमयात्, अर्जितम् = उपार्जितम्, इदं=द्रव्यं, गृह्यतां=स्वीक्रियतां, शेषस्य = अवशिष्टस्य प्रदेयस्य द्रव्यस्य, अर्थे = निमित्ते, चण्डालेऽपि = मातङ्गेऽपि असच्छूद्रेऽपि, आत्मविक्रयं = स्वविक्रयं, करिष्यामि = विधास्यामि । अनुष्टुब् वृत्तम् । अत्र हरिश्चन्द्रस्य तत्त्वाऽर्थकथनान्मार्गो नाम गर्भसन्ध्यङ्गम् ।

रूपं लक्षयति—**रूपमिति** । वितर्कवत् = ऊहयुक्तं वाक्यं "रूपम्" ९६ ।

रूपमुदाहरति—**मन इति** । राजा = वत्सराजः स्वगतं कथयति—मनः = अन्तःकरणं, प्रकृत्या एव = स्वभावेन एव, चलं = चञ्चलम्, अतो दुर्लक्ष्यं च = दुःखेन

द्रोणाचार्यने युधिष्ठिरके विश्वाससे युद्धभूमिमें शस्त्रोंको और आँसूको भी एक ही बार छोड़ दिया ।

यथार्थ विषय कहनेको 'मार्ग' कहते हैं ।

जैसे चण्डकौशिकमें—राजा (हरिश्चन्द)—भगवन् !

पत्नी और पुत्रके विक्रयसे उपार्जित इस द्रव्यको ले लें ।

शेष द्रव्यके लिए चण्डालमें भी अपनेको वेचूँगा ॥

वितर्कसे युक्त वाक्यको "रूप" कहते हैं ॥ ९६ ॥

जैसे रत्नावलीमें—राजा (वत्सराज)—मन स्वभावसे ही चञ्चल और

कामेनैतत्कथं विद्धं समं सर्वैः शिलीमुखैः ॥'

उदाहरणमुत्कर्षयुक्तं वचनमुच्यते ।

यथा अश्वत्थामाङ्के—

'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनां,
यो यः पाञ्चालगोत्रे शिशुरधिकवया गर्भशय्यां गतो वा ।
यो यस्तत्कर्मसाक्षी, चरति मयि रणे यश्च यश्च प्रतीपः
क्रोधान्धस्तस्य तस्य स्वयमिह जगतामन्तकस्यान्तकोऽहम् ॥'

लक्षयितुं शक्यं च, तथाऽपि, कामेन = मदनेन, मे = मम, एतत्=मनः, सर्वैः=सकलैः, शिलीमुखैः = बाणैः, कथं, समं = युगपदेव, विद्धं = ताडितम् । अनुष्टुब् वृत्तम् । अत्र वाक्यस्य वितर्कयुक्तत्वाद्रूपम् ।

उदाहरणं लक्षयति— **उदाहरणमिति** । उत्कर्षयुक्तं = स्वस्य प्रकर्षसहितं, वचनं = वचः, "उदाहरणम्" उच्यते ।

उदाहरणमुदाहरति— अश्वत्थामाऽङ्के । **यो य इति** । वेणीसंहारे कर्णं प्रत्यश्वत्थाम्न उक्तिरियम् । पाण्डवीनां = पाण्डवसम्बन्धिनीनां, चमूनां = सेनानां, मध्ये = अन्तरे, स्वभुजगुरुमदः=स्वभुजयोः (आत्मबाह्वोः) गुरुः (दुर्वहः) मदः (अभिमानः) यस्य सः । तादृशो यो यः=यः कोऽपीति भावः । शस्त्रम् = आयुधं; बिभर्ति = धारयति । पाञ्चालगोत्रे=द्रुपदराजवंशे, यो यः=यः कोऽपि, शिशुः=बालः, अधिकवयाः= अधिकाऽवस्थः, युवा वृद्धो वेति भावः । किं बहुना—गर्भशय्यां = भ्रूणशयनं, गतो वा= प्राप्तो वा, गर्भस्थो वेति भावः । यो यः = यः, कोऽपि जनः, तत्कर्मसाक्षी = तत्कर्मणः (मज्जनकवधस्य) साक्षी (साक्षाद्द्रष्टा), रणे = युद्धे, मयि=अश्वत्थाम्नि, चरति= संचरति सति, यश्च यश्च, प्रतीपः = प्रतीकूलः, मदुद्योगनिवारक इति भावः । जगतां = लोकानाम्, अन्तकस्य = यमराजस्य, अपि सतः, तस्य तस्य = पूर्वोक्तस्य समस्तस्य जनस्य, क्रोधाऽन्धः = कोपाऽन्धः, अहम् = अश्वत्थामा, स्वयम् = अन्तकः=संहारकः, अस्मीति शेषः । स्रग्धरा वृत्तम् । अत्राऽश्वत्थाम्न उत्कर्षयुक्तवचनादुदाहरणं नाम गर्भसन्धेरङ्गम् ।

दुर्लक्ष्य भी है, तो भी कामदेवने मेरे मनको समस्त बाणोंसे कैसे एक ही बार ताडित किया ॥

उत्कर्षयुक्त वचनको "उदाहरण" कहते हैं ।

जैसे अश्वत्थामाङ्कमें है—पाण्डवोंकी सेनाओंके मध्यमें अपनी बाहुओंमें अधिक घमण्ड करनेवाला जो कोई भी शस्त्र लेता है, द्रुपदके वंशमें जो कोई भी बालक और अधिक उम्रवाला जवान वा वृद्ध अथवा गर्भस्थित बालक जो कोई भी उस कर्म-(मेरे पिताकी हत्या) का साक्षी है और जो कोई भी युद्धमें मेरे चलनेपर प्रतिकूल है, क्रोधसे अन्धा होकर लोकके यमराजका भी मैं अन्त करनेवाला हूँगा ॥

भावतत्त्वोपलब्धिस्तु क्रमः स्यात्—

यथा शाकुन्तले—

'राजा—

स्थाने खलु विस्मृतनिमेषेण चक्षुषा प्रियामवलोकयामि ।

तथाहि—

उन्नमितैकभ्रूलतमाननमस्याः पदानि रचयन्त्याः ।
पुलकाञ्चितेन कथयति मय्यनुरागं कपोलेन ॥'

संग्रहः पुनः ॥ ९७ ॥

सामदानार्थसंपन्नः—

क्रम लक्षयति—**भावेति** । भावतत्त्वोपलब्धिः = भावस्य (अभिप्रायस्य, अनुरागस्वरूपस्येति भावः) यत् तत्त्वं (याथार्थ्यम्) तस्य उपलब्धिः (अनुभवः), "क्रमः" स्यात् ।

क्रममुदाहरति—**यथा शाकुन्तल इति** । राजा = दुष्यन्तः । विस्मृतनिमेषेण = निमेषव्यापाररहितेनेति भावः । तादृशेन चक्षुषा, प्रियां = वल्लभां, शकुन्तलामिति भावः । अवलोकयामि, स्थाने = युक्तम् ।

उन्नमितेति । पदानि = सुप्तिङन्तानि, रचयन्त्याः = निर्मात्र्याः, अस्याः = शकुन्तलायाः, उन्नमितैकभ्रूलतम् = उन्नमिता (ऊर्ध्वीकृता) एका भ्रूलता (अक्षिलोमवल्ली) यस्मिस्तत् । मुखं = वदनं, कर्तृ, पुलकाञ्चितेन = रोमाञ्चितेन कपोलेन = गण्डफलकेन, मयि, अनुरागं = प्रणयं, कथयति = सूचयति । आर्या वृत्तम् । अत्र पदरचनेन शकुन्तलाया अनुरागस्योपलब्धेः "क्रमः" ।

संग्रहं लक्षयति—**संग्रह इति** । सामदानार्थसम्पन्नः = साम (सान्त्वं, प्रियवचनमिति भावः), तेन दानेन च (वितरणेन च) अर्थसम्पन्नः (धनाद्यर्थसम्पत्तिः), पुनः = तु, "संग्रहः" अङ्गम् ॥ ९७ ॥

संग्रहमुदाहरति—**यथेति** । राजा = उदयनः । अत्र साम्ना दानेन च अर्थसम्पत्तेः संग्रहो नाम गर्भसन्धिः ॥

अभिप्राय तत्त्वके अनुभवको 'क्रम" कहते हैं ।

जैसे शाकुन्तलमें—राजा—निमेषव्यापारसे रहित नेत्रसे मैं प्रिया—(शकुन्तला) को देख रहा हूं, यह उचित है । जैसे कि पदोंकी रचना करनेवाली शकुन्तलाका जिसकी एक भ्रूलता कुछ ऊपर उठी है ऐसा मुख रोमाञ्चित कपोलसे मुझमें अनुरागको सूचित कर रहा है ।

साम और दानसे धन आदि अर्थकी सम्पत्तिको "क्रम" कहते हैं ॥ ९७ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'राजा—साधु वयस्य ! इदं ते पारितोषिकम् ।' (इति कटकं ददाति) ।

—लिङ्गादूहोऽनुमानता ।

यथा जानकीराघवे नाटके—

'रामः—

लीलागतैरपि तरङ्गयतो धरित्रीमालोकनैर्नमयतो जगतां शिरांसि ।
तस्यानुमापयति काञ्चनकान्तिगौरकायस्य सूर्यतनयत्वमधृष्यतां च ॥'

रतिहर्षोत्सवानां तु प्रार्थना भवेत् ॥ ९८ ॥

अनुमानं लक्षयति—लिङ्गात्=व्याप्तिबलेन यद्यस्य गमकं तत्तस्य लिङ्गं (हेतुः), तस्मात्, ऊहः=साध्यज्ञानम्, अनुमानता = अनुमानं नाम गर्भसन्धिः ।

अनुमानमुदाहरति—**लीलागतैरिति** । लीलागतैः = लीलया (विलासेन) गतैः (गमनैः), अपि, धरित्री = भूमिं, तरङ्गयतः = कम्पयतः, आलोकनैः = नेत्र निक्षेपैः, अपि, जगतां = लोकानां, शिरांसि = मस्तकानि, नमयतः = अवनतानि कुर्वतः, काञ्चनकान्तिगौरकायस्य = काञ्चनकान्तिः (सुवर्णद्युतिः) इव गौरः (पीतवर्णः) (शरीरम्) यस्य । तस्य = लक्ष्मणस्य, सूर्यतनयत्वं = सूर्यवंशोद्भवत्वम्, अधृष्यताम्= अधर्षणीयताम्, अन्यैरिति शेषः । अनुमापयति = अनुमितिविषयीकरोति । वसन्त-तिलका वृत्तम् ।

अत्र लीलागमन-जगच्छिरोनामरूपाल्लिङ्गात् (हेतोः) लक्ष्मणे सूर्यतनयत्वाऽधृष्यरूपस्य साध्यस्य ज्ञानादनुमानं नाम गर्भसन्धेरङ्गम् ।

प्रार्थनां लक्षयति—**रतीत्यादि** । रतिहर्षोत्सवादीनां=रतिः (सुरतम्) हर्षः (आनन्दः) उत्सवः (क्षणः) तदादीनां, प्रार्थनं = याचनं, "प्रार्थना" गर्भ-सन्धेरङ्गम् ॥ ९८ ॥

जैसे रत्नावलीमें-राजा—वाह ! मित्र ! यह तुम्हें पारितोषिक (पुरस्कार) देता हूँ । (ऐसा कहकर कङ्कण देते हैं) ।

साधन (हेतु) से साध्यके ज्ञानको "अनुमान" कहते हैं ।

जैसे जानकीराघव नाटकमें—राम कहते हैं—विलासपूर्ण गमनोंसे भी धरतीको कम्पित करनेवाले, देखनेसे ही सबके शिरको झुकानेवाले, सुवर्णकी कान्तिके समान गौर शरीरवाले उसकी सूर्यके वंशमें उत्पत्ति और अधर्षणीयता औरोंसे अनुमानका विषय होता है ।

रतिक्रीडा, हर्ष और उत्सव आदिकी याचनाको "प्रार्थना" कहते हैं ॥ ९८ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'प्रिये सागरिके !

शीतांशुर्मुखमुत्पले तव दृशौ, पद्मानुकारौ करौ,

रम्भास्तम्भनिभं तयोरुयुगलं, बाहू मृणालोपमौ ।

इत्याह्लादकराखिलाङ्गि ! रभसान्निःशङ्कमालिङ्ग्य मा-

मङ्गानि त्वमनङ्गतापविधुराण्येह्येहि निर्वापय ॥'

इदं च प्रार्थनाख्यमङ्गम् । यन्मते निर्वहणे भूतावसरत्वात्प्रशस्तिनामाङ्गं नास्ति तन्मतानुसारेणोक्तम्, अन्यथा पञ्चषष्टिसंख्यत्वप्रसङ्गात् ।

रहस्यार्थस्य तूद्भेदः क्षिप्तिः स्यात्—

प्रार्थनामुदाहरति—**शीतांऽशुरिति** । वत्सराजस्य सागरिका प्रत्युक्तिरियम् । हे प्रिये !, तव = भवत्याः, मुखं = वदनं, शीतांऽशुः = चन्द्रः, दृशौ = नेत्रे, उत्पले= कुवलये, करौ = हस्तौ, पद्माऽनुकरौ = कमलसदृशौ, पद्ममनुकुरुत इति, "कर्मण्यण्" इत्यण्, तथा = तेनैव प्रकारेण, ऊरुयुगलं = सक्थियुग्मं, रम्भास्तम्भनिभ = कदली-स्तम्भसदृशं, बाहू = भुजौ, = मृणालोपमौ = बिससदृशौ, इति = एवम्, हे आह्लादकराऽ-खिलाऽङ्गि = आह्लादकराणि (सुखोत्पादकानि) अखिलानि (समस्तानि) अङ्गानि (देहाऽवयवाः) यस्याः सा, तत्सम्बुद्धौ । त्वं, रभसात् = वेगात्, एहि = आगच्छ, निःशङ्कं=शङ्कारहितं यथा तथा, मा = वत्सराजम्, आलिङ्ग्य = आश्लिष्य, अनङ्ग-तापविधुराणि=अनङ्गस्य (कामस्य) यः तापः (सन्तापः), तेन विधुराणि (विकल-वानि)'अङ्गानि=देहाऽवयवान्, ममेति शेषः । निर्वापय = शीतलानि कुरु । शार्दूल-विक्रीडितं वृत्तम् । अत्र रतेः प्रार्थनात्प्रार्थना नाम गर्भसन्धेरङ्गम् ।

विविनक्ति—**इदञ्चेति** । निर्वहणे = उपसंहारनामकान्तिमसन्धौ, भूताऽव-सरत्वात्=प्राप्तविषयत्वात्; अन्यथा=अत्र प्रार्थनाया अङ्गान्तरत्वस्वीकारे, पञ्चषष्टि-संख्यत्वप्रसङ्गात्, महर्षिणा चतुःषष्टिसंख्यकान्यवाऽङ्गान्युक्तानीति भावः ।

क्षिप्तिं लक्षयति—**रहस्याऽर्थस्येति** । रहस्याऽर्थस्य = गोपनीयविषयस्य, उद्भेदः = प्रकाशनं, तु "क्षिप्ति" स्यात् ।

जैसे रत्नावलीमें—(राजा) प्रिये सागरिके ! तुम्हारा मुख चन्द्र है, नेत्र नीलकमल हैं, हाथ कमलके सदृश है, वैसे ही तुम्हारे ऊरु कदलीस्तम्भोंके समान है । बाहू मृणालके समान हैं । हे आह्लादकर अङ्गोंवाली । तुम वेगसे आओ और मुझे आलिङ्गन कर कामसन्तापसे विह्वल मेरे अङ्गोंको ठण्डा करो ॥

यह प्रार्थना नामका अङ्ग है । जिनके मतमें निर्वहण (उपसंहार) सन्धिमे गताऽर्थ होनेसे प्रशस्ति नामका अङ्ग नहीं है, उनके मतके अनुसार यह कहा गया है; अन्यथा सन्धिके पैंसठ अङ्ग हो जायँगे

गोपनीय अर्थका प्रकाश करनेसे "क्षिप्ति" अङ्ग होता है ।

यथाश्वत्थामाङ्के—

'एकस्यैव विपाकोऽयं दारुणो भुवि वर्तते ।
केशग्रहे द्वितीयेऽस्मिन्नूनं निःशेषिताः प्रजाः ॥'

—त्रो (तो) टकं पुनः ।

संरब्धवाक्—

यथा चण्डकौशिके—

'कौशिकः—आः, पुनः कथमद्यापि न सम्भूताः स्वर्णदक्षिणाः ।'

—अधिबलमभिसंधिश्छलेन यः ॥ ९९ ॥

यथा रत्नावल्याम्—

'काञ्चनमाला—भट्टिणि, इयं सा चित्तसालिआ । वसन्तअस्स सण्णं करोमि' इत्यादि ।

क्षिप्तिमुदाहरति—**एकस्येति** । वेणीसंहारे कृपाचार्यस्योक्तिरियम् । एकस्य= द्रौपदीकेशाकर्षणस्य, एव, अय = सन्निकृष्टस्थ: युद्धरूप:, दारुण: = भयङ्कर:, पाक: = फलं, तावत्, भुवि=भूमौ, वर्तते = विद्यते, द्वितीये = द्वयो: पूरणे, अस्मिन् = साम्प्रतिके, केशग्रहे=द्रोणाचार्यकेशग्रहणे, प्रजा:=जना:, नि:शेषिता:=विनाशिता:, "नूनं=निश्चयेन, नूनं तर्केऽर्थनिश्चये" इत्यमर: । अत्र प्रजानाशरूपस्य रहस्याऽर्थस्योद्भेदात्क्षिप्तिर्नाम गर्भसन्धेरङ्गम् ।

त्रोटकं लक्षयति—**त्रोटकमिति** । संरब्धवाक्=संरब्धस्य (कुपितस्य) वाक् (वाणी) "त्रोटकम्" ।

त्रोटकमुदाहरति—**यथेति** । कौशिक: = विश्वामित्र: । संभूता: = सम्पन्ना: । अत्र कौशिकस्य कोपपूर्णवाच: 'त्रोटकम्" ।

अधिबलं लक्षयति—**अधिबलमिति** । छलेन = कैतवेन, य:, अभिसन्धि: = अभिप्रायज्ञानं, तत् "अधिबल" नाम गर्भाऽङ्गम् ॥ ९९ ॥

अधिबलमुदाहरति—**यथेति** । काञ्चनमाला—"भर्त्रि ! इयं सा चित्रशालिका ।

जैसे अश्वत्थामाङ्कमें—एक ही (द्रौपदीके केशग्रहण) का यह भयङ्कर परिणाम पृथिवीमें हो रहा है । इस दूसरे (द्रोणाचार्यके) केशग्रहणमें निश्चय सबलोग समाप्त हो जायेंगे ।

क्रोधयुक्तके वचनको त्रो (तो) टक कहते हैं । जैसे चण्डकौशिकमें—कौशिक (विश्वामित्र)—"अभीतक क्यों सुवर्ण दक्षिणाएँ नहीं दी गई है ?"

छलसे अभिप्राय ज्ञानको "अधिबल" कहते हैं ॥ ९९ ॥

जैसे रत्नावलीमें—काञ्चनमाला—"स्वामिनि ! यह चित्रशालिका है ।

नृपादिजनिता भीतिरुद्वेगः परिकीर्तितः ।

यथा वेण्याम्—

'प्राप्तावेकरथारूढौ पृच्छन्तौ त्वामितस्ततः ।
स कर्णारिः स च क्रूरो वृककर्मा वृकोदरः ॥'

शङ्काभयत्रासकृतः सम्भ्रमो विद्रवो मतः ॥ १०० ॥

'कालान्तककरालास्यं क्रोधोद्धूतं दशाननम् ।
विलोक्य वानरानीके सम्भ्रमः कोऽप्यजायत ॥'

वसन्तकस्य सञ्ज्ञां करोमि" इति संस्कृतच्छाया । सङ्केतम्=सञ्ज्ञाम् । अत्र काञ्चनमालया वासवदत्तया च छलेन राजविदूषकयोरभिप्रायज्ञानात् "अधिबलं" नाम गर्भसन्धेरङ्गम् ।

उद्वेगं लक्षयति—**नृपादिजनितेति** । नृपादिजनिता=राजाद्युत्पन्ना, आदिपदेन सपत्नादीनां परामर्शः । भीतिः=भयम्, "उद्वेगः" परिकीर्तितः ।

उद्वेगमुदाहरति-**प्राप्ताविति** । धृतराष्ट्रादीनां समीपे सूतस्योक्तिरियम् । सः=प्रसिद्धः, कर्णारिः = कर्णशत्रुः, अर्जुन इति भावः । स च क्रूरः = निर्दयः, "क्रूरो कठिननिर्दयौ" इत्यमरः । वृककर्मा=वृकस्य (ईहामृगस्य) इव कर्म (बहुभोजनरूपा अधिकहिंसनरूपा वा क्रिया) यस्य सः, वृकोदरः = भीमसेनश्च, एतौ, इतस्ततः = यत्र तत्र, त्वां=भवन्तं, दुर्योधनमित्यर्थः, पृच्छन्तौ = प्रश्नविषयं कुर्वन्तौ, एकरथाऽऽरूढौ = एकस्यन्दनाऽवस्थितौ सन्तौ, प्राप्तौ = उपस्थितौ । अनुष्टुब् वृत्तम् । अत्र दुर्योधनस्य शत्रुरूपाऽर्जुनभीमजनितायाः भीतेरुद्वेगो नाम गर्भसन्धेरङ्गम् ।

विद्रवं लक्षयति—**शङ्केति** । शङ्काभयत्रासकृतः=शङ्का (अनिष्टसंभावना) भयं (भीतिः) त्रासः (उद्वेगः) तत्कृतः (तद्विहितः) यः सम्भ्रमः=त्वरा, स "विद्रवो" मतः ॥ १०० ॥

विद्रवमुदाहरति—**कालाऽन्तकेत्यादि** । कालाऽन्तककरालाऽऽस्यं=काले (प्रलयसमये) यः अन्तकः (यमराजः) तस्येव करालानि (भयङ्कराणि) आस्यानि (मुखानि) यस्य, तम् । तथा क्रोधोद्धूतं = क्रोधेन (कोपेन हेतुना), उद्धूतम् (उत्कम्पितशरीरम्), तादृशं दशाननं = रावणं, विलोक्य=दृष्ट्वा, वानराऽनीके=वानराणाम्=(कपीनाम्) अनीके (सैन्ये) कोऽपि = अनिर्वचनीयः, संभ्रमः = त्वरा, पलायनार्थमिति शेषः । अजायत=आविर्भूतः । अनुष्टुब् वृत्तम् । अत्र वानराऽनीकस्य शङ्कादिकृतात्संभ्रमाद्विद्रवः ।

वसन्तको सङ्केत (इशारा) करती हूँ । इत्यादि राजा आदिसे उत्पन्न भयको 'उद्वेग" कहते हैं । जैसे **वेणीमें**—कर्णशत्रु (अर्जुन) और क्रूर वृक (भेड़िया) के समान कर्म करनेवाले भीमसेन एक ही रथमें चढ़े हुए आपको सर्वत्र पूछ रहे हैं ।

शङ्का, भय और उद्वेगसे उत्पन्न घबड़ाहटको "विद्रव" कहते है ॥ १०० ॥

जैसे—प्रलयकालके यमराजके समान भयङ्कर मुखवाले और क्रोधसे कम्पित शरीरवाले रावणको देखकर वानरोंकी सेनामें अनिर्वचनीय घबड़ाहट हो गई ।

अथ विमर्शाङ्गानि—

अपवादोऽथ संफेटो व्यवसायो द्रवो द्युतिः ।
शक्तिः प्रसङ्गः खेदश्च प्रतिषेधो विरोधनम् ॥ १०१ ॥
प्ररोचना विमर्शे स्यादादानं छादनं तथा ।
दोषप्रख्यापवादः स्यात्—

यथा वेण्याम्—

'युधिष्ठिरः—पाञ्चालक ! कच्चिदासादिता तस्य दुरात्मनः कौरव्यापसदस्य पदवी ।

पाञ्चालकः—न केवलं पदवी, स एव दुरात्मा देवीकेशपाशस्पर्शपातकप्रधानहेतुरुपलब्धः ।'

संफेटो रोषभाषणम् ॥ १०२ ॥

विमर्शाऽङ्गान्युद्दिशति—**अपवाद इति** । अपवादाद्विरोधनपर्यन्त दश ॥१०१॥ ततश्च प्ररोचनायाश्छादनपर्यन्त त्रीणि संहृत्य विमर्शे त्रयोदशाऽऽङ्गानि ।

अपवाद लक्षयति—**दोषप्रख्येति** । दोषप्रख्या = दोषस्य (दूषणस्य) प्रख्या (प्रख्यापनम्) "अपवाद." स्यात् ।

अपवादमुदाहरति—**यथेति** । कौरव्याऽपसदस्य=कुरोरपत्यानि पुमांसः कौरव्याः; "कुर्वादिभ्यो ण्य" इति ण्यप्रत्ययः । कौरव्येषु (कुरुवंशोत्पन्नेषु क्षत्रियेषु) अपसदस्य (अधमस्य) । तस्य = दुर्योधनस्य, पदवी = मार्गः । देवीत्यादिः = देव्याः (कृताऽभिषेकायाः, द्रौपद्या इत्यर्थः) केशपाशस्य (कुन्तलकलापस्य) स्पर्शः (आकर्षणरूपमामर्शनम्) स एव पातक (पापम्) तस्य प्रधानहेतुः (मुख्यकारणम्), उपलब्धः= प्राप्तः । अत्र दुर्योधनस्य दोषप्रख्यापनात् "अपवादः" विमर्शसन्धेरङ्गम् ।

संफेटं लक्षयति—**संफेट इति** । रोषभाषणं = रोषेण (क्रोधेन) भाषणम् (वचनम्) संफेटो नाम विमर्शाङ्गम् ॥ १०२ ॥

विमर्शसन्धिके अङ्ग—अपवादसे विरोधनतक दश ॥ १०१ ॥

प्ररोचनासे छादनतक तीन, विमर्शमें कुल तेरह अङ्ग होते हैं ।

दोष फैलानेको 'अपवाद" कहते है । जैसे वेणीसंहारमे—"पाञ्चालक ! दुरात्मा उस अधम कौरव (दुर्योधन) के मार्गका कहीं पता लगाया ?"

पाञ्चालक—उसका मार्ग ही नहीं पाया, रानी (द्रौपदी) के केशपाशके स्पर्शरूप पापका प्रधान कारण उस दुरात्माको ही पा लिया ।

क्रोधपूर्वक भाषण करनेको "सफेट" कहते है ॥ १०२ ॥

यथा तत्रैव—

'दुर्योधनः—अरे रे मरुत्तनय ! वृद्धस्य राज्ञः पुरतो निन्दितमप्यात्मकर्म श्लाघसे । शृणु रे !

कृष्टा केशेषु भार्या तव तव च पशोस्तस्य राज्ञस्तयोर्वा
प्रत्यक्षं भूपतीनां मम भुवनपतेराज्ञया द्यूतदासी ।
तस्मिन् वैरानुबन्धे वद किमपकृतं तैर्हता ये नरेन्द्रा
बाह्वोर्वीर्यातिभारद्रविणगुरुमदं मामजित्वैव दर्पः ॥

भीमः—(सक्रोधम्) आः पाप ।

दुर्योधनः—आः पाप !' इत्यादि ।

संफेटमुदाहरति—**यथेति** । राजा = भूपः, दुर्योधन इति भावः । मरुत्तनय = वायुपुत्र, भीमसेन इति भावः । वायुपुत्रत्वाद्वायुतुल्यत्वं सूच्यते । वृद्धस्य राज्ञः=धृतराष्ट्रस्येत्यर्थः । आत्मकर्म = स्वक्रियां, गोत्रहत्यादिरूपामिति भावः । श्लाघसे=प्रशंससि ।

कृष्टेति । दुर्योधनस्य भीमसेनार्जुनौ प्रत्युक्तिरियम् । भुवनपतेः = लोकाधीश्वरस्य, मम = दुर्योधनस्य, आज्ञया = आदेशेन, द्यूतदासी=द्यूते (अक्षक्रीडायाम्) दासी (निर्जितत्वाद्दासीतुल्या), पशोः = पशुसदृशस्य, तव = भीमस्य, तव=अर्जुनस्य च, तस्य राज्ञः = युधिष्ठिरस्य, तयोर्वा=नकुलसहदेवयोश्च, भार्या = पत्नी द्रौपदी, भूपतीनां = सभास्थितानां राज्ञां च, प्रत्यक्षं = समक्षम् एव, केशेषु=कुन्तलेषु, कृष्टा= आकृष्टा. अस्मिन्, वैरानुबन्धे=विरोधकारणे जाते सति, ये नरेन्द्राः=राजानः, हताः= व्यापादिताः, तैः = हतैर्नरेन्द्रैः, किम्, अपकृतं=युष्माकमपकारः कृतः ? वद = कथय, पराऽपराधेन निर्दोषाणां दण्डप्रदत्वेन यूयं पशुसमा इति भावः । बाह्वोः = स्वभुजयोः, वीर्याऽतिभारद्रविणगुरुमदं = वीर्याऽतिभारः (बलाऽतिशयः) एव द्रविणं (धनम्) तेन गुरुः (दुर्वहः) मदः (अहङ्कारः) यस्य, तं, तादृशं, मा = दुर्योधनम्, अजित्वा एव = अपराजित्य एव, दर्पः = अहङ्कारः, युष्माकमिति शेषः । स्रग्धरा वृत्तम् ॥

भीम इति । पाप = पापयुक्त । "त्रिषु द्रव्ये पापं पुण्यं सुखादि च"त्यमरः । अत्र रोषेण भाषणात् "संफेटः" ।

जैसे वहींपर—राजा (दुर्योधन)—अरे वायुपुत्र ! वृद्ध राजाके सामने निषिद्ध अपने कर्मकी भी तारीफ करता है ? सुन रे ! लोकस्वामी मेरी आज्ञासे जुएमें जीती गई दासी पशुसदृश तेरी (भीमसेनकी) तेरे (अर्जुनकी) राजा (युधिष्ठिर) की और नकुल और सहदेवकी पत्नी द्रौपदी राजाओंके सम्मुख ही केशोंमें खींची गई, ऐसा विरोधका कारण होनेपर जो राजा मारे गये उन्होंने तुम्हारा क्या अपराध (कसूर) किया था ? कहो । अपनी बाहुओंके पराक्रमरूप धनसे महान दर्पसे युक्त मुझे जीते बिना ही तुम लोगोंका दर्प है ।

भीमसेन—(क्रोधपूर्वक) "ओह पापिन् !" राजा (दुर्योधन)—"ओह पापिन् !" इत्यादि ।

व्यवसायश्च विज्ञेयः प्रतिज्ञाहेतुसंभवः ।

यथा तत्रैव—

'भीमः—

निहताशेषकौरव्यः क्षीबो दुःशासनशासृजाः ।
भङ्क्ता दुर्योधनस्योर्वोर्भीमोऽयं शिरसा नतः ॥'

द्रवो गुरुव्यतिक्रान्तिः शोकावेगादिसम्भवा ॥ १०३ ॥

यथा तत्रैव—

'युधिष्ठिरः—भगवन् ! कृष्णाग्रज ! सुभद्राभ्रातः ।

व्यवसायं लक्षयति—व्यवसायश्चेति । प्रतिज्ञाहेतुसंभवः = प्रतिज्ञा (कार्यनिर्देशः), हेतुः (साधननिर्देशः) ताभ्यां संभवः (निष्पत्तिः, कार्यस्येति शेषः) । "व्यवसायः" विज्ञेयः = बोद्धव्यः ।

व्यवसायमुदाहरति—निहतेत्यादिः । भीमसेनस्य दुर्योधनस्योरुभङ्गोत्तरं युधिष्ठिरं प्रत्युक्तिरियम् । निहताऽशेषकौरव्यः = निहताः (व्यापादिताः) अशेषाः (समस्ताः) कौरव्याः (कुरुवंशोत्पन्ना दुर्योधनादय इति भावः) येन सः । दुःशासनाऽसृजा=दुःशासनस्य (मध्यमधार्तराष्ट्रस्य) असृजा (रुधिरेण), क्षीबः = मत्तः "मत्ते शौण्डोत्कटक्षीबाः" इत्यमरः । भीमे क्षीबत्वारोपेणाऽसृजो मधुत्वारोपणं व्यङ्ग्यम् । एवं च—दुर्योधनस्य=सुयोधनस्य, ऊर्वोः=सक्थ्नोः, "कर्तृकर्मणोः कृति" इति कर्मणि, षष्ठी "सक्थि क्लीबे पुमानूरु"रित्यमरः । भङ्क्ता=भञ्जकः, अयं = सन्निकृष्टवर्ती, भीमः=भीमसेनः, शिरसा=मस्तकेन, नतः = प्रणतः, भवतीति शेषः । अनुष्टुब् वृत्तम् । अत्र द्रौपदीकेशाकर्षणाद्धेतोः = ऊरुभञ्जनरूपायाः प्रतिज्ञायाश्च निष्पत्तेः "व्यवसायः" ।

द्रवं लक्षयति—द्रव इति । शोकावेगादिसंभवा = शोकः (मन्युः) आवेगः (संभ्रमः) तदादिसंभवा (तदाद्युत्पन्ना), गुरुव्यतिक्रान्तिः = गुरोः (पूज्यजनस्य) व्यतिक्रान्तिः (मर्यादालङ्घनम्) "द्रवः" ॥ १०३ ॥

प्रतिज्ञा और हेतुसे कार्यकी निष्पत्तिको "व्यवसाय" कहते हैं ।

जैसे वहींपर—भीमसेन—समस्त कौरवोंका संहार करनेवाला, दुःशासनके रुधिर (लोहु) से मत्त और दुर्योधनके ऊरुओंको भग्न करनेवाला यह भीम शिरसे अवनत होता है ।

शोक और संभ्रमसे उत्पन्न पूज्यजनके मर्यादालङ्घनको "द्रव" कहते हैं ॥१०३॥

जैसे वहींपर—युधिष्ठिर—भगवन् ! श्रीकृष्णके अग्रज ! सुभद्राके भाई !

ज्ञातिप्रीतिर्मनसि न कृता, क्षत्रियाणां न धर्मो
रूढं सख्यं तदपि गणितं नानुजस्यार्जुनेन।
तुल्यः कामं भवतु भवतः शिष्ययोः स्नेहबन्धः
कोऽयं पन्था यदसि विमुखो मन्दभाग्ये मयि त्वम्॥'

तर्जनोद्वेजने प्रोक्ता द्युतिः—

यथा तत्रैव दुर्योधनं प्रति भीमेनोक्तम्—
'जन्मेन्दोर्विमले कुले व्यपदिशस्यद्यापि धत्से गदां,
मां दुःशासनकोष्णशोणितमधुक्षीबं रिपुं मन्यसे।

द्रवमुदाहरति—**ज्ञातिप्रीतिरिति**। भीमदुर्योधनयोर्गदायुद्धे मर्यादालङ्घिन भीम प्रति कुपितं बलदेवं प्रति युधिष्ठिरस्योक्तिरियम्। ज्ञातिप्रीतिः=वंशस्नेहः, बलदेवभीमसेनयोरुभयोरपि चन्द्रवंशोत्पन्नत्वादिति भावः। मनसि=चित्ते, न कृता=नो विहिता। क्षत्रियाणां = बाहुजानां, धर्मः = उचिताचारोऽपि, न कृत इति लिङ्गविपर्ययः। अयुध्यमानवधवैमुख्यं क्षत्रियाणां धर्म इति भावः। अनुजस्य=अवरजस्य, श्रीकृष्णस्येति भावः, अर्जुनेन=गाण्डीविना, यत्, रूढ=प्रसिद्ध, सख्यं=मैत्री, तदपि, न गणित=नो विचारितम्। भवतेति शेषः। शिष्ययोः=विनेययोः भीमदुर्योधनयोरुभयोरेव विषये, भवतः=तव, स्नेहबन्धः=वात्सल्यबन्धनं, कामं=पर्याप्तं यथा तथा, तुल्यः=समानः, भवतु=अस्तु, किन्तु मन्दभाग्ये=अल्पभागधेये, मयि, त्वं, यत्, विमुखः = पराङ्मुखः, भीमं प्रति कुपितत्वादिति भावः। असि = वर्तसे, अयम् = एषः, कः, पन्थाः=आचारपद्धतिः। अत्र युधिष्ठिरस्य शोकावेगादिजन्यात् पूज्यबलदेवमर्यादालङ्घनाद् द्रवो नाम विमर्शसन्धेरङ्गम्।

द्युतिं लक्षयति—**तर्जनोद्वेजने इति**। तर्जनोद्वेजने=तर्जनं (भर्त्सनम्) उद्वेजनं (भयोत्पादनम्) ते यत्र तत्र 'द्युतिः' प्रोक्ता=अभिहिता।

द्युतिमुदाहरति-**जन्मेन्दोरिति**। भीमसेनस्य दुर्योधनं प्रत्युक्तिरियम्। इन्दोः=चन्द्रस्य, विमले=निर्मले, कुले=वंशे, जन्म=उत्पत्तिं, व्यपदिशसि = कथयसि, अद्य अपि = अधुना अपि, गदां=कासूम् आयुधविशेषं, धत्से = धारयसि। मां = भीमसेनं, दुःशासनेत्यादिः = दुःशासनस्य (स्वाऽनुजस्य) कोष्णम् (ईषदुष्णं, मन्दोष्णमित्यर्थः) यत् शोणितं (रुधिरम्) एव मधु (मद्यम्) तेन, तत्पानेनेति भावः। क्षीबं = मत्तं,

आपने ज्ञातिमें प्रीतिका भी विचार नहीं किया, क्षत्रियका उचित आचार भी नहीं किया। अर्जुनके साथ अपने भाईकी प्रसिद्ध मैत्रीकी भी गणना नहीं की। अपने दो शिष्यों (भीम और दुर्योधन) के विषयमें आपका स्नेहबन्धन तुल्य हो, किन्तु मन्दभाग्य मेरे विषयमें जो आप विमुख है, यह आपका कौन-सा मार्ग (आचारपद्धति) है?

जिसमें भर्त्सना (घुड़कना) और भयका उत्पादन होता है उसे "द्युति" कहते हैं। जैसे वहीं दुर्योधनको भीमने कहा है—चन्द्रके निर्मल वंशमें अपना जन्म कहते हो। आज भी गदाको धारण कर रहे हो। तुम आज भी मुझे दुःशासनके मन्दोष्ण

दर्पान्धो मधुकैटभद्विषि हरावप्युद्धतं चेष्टसे,
त्रासान्मे नृपशो ! विहाय समरं पङ्केऽधुना लीयसे ॥'

—शक्तिः पुनर्भवेत् ।

विरोधस्य प्रशमनम्—

यथा तत्रैव—

'कुर्वन्त्वाप्ता हतानां रणशिरसि जना भस्मसाद् देहभारा-
नश्रून्मिश्रं कथञ्चिद्ददतु जलममी बान्धवा बान्धवेभ्यः ।
मार्गन्तां ज्ञातिदेहान् हतनरगहने खण्डितान् गृध्रकङ्कै-
रस्तं भास्वान् प्रयातः सह रिपुभिरयं संह्रियन्तां बलानि ॥'

मन्यसे = अवबुध्यसे, दर्पान्धः = गर्वाऽन्धः सन्, मधुकैटभद्विषि = मधुकैटभदैत्यशत्रौ, हरौ = श्रीकृष्णे, अपि, उद्धत = निर्मर्यादं चेष्टसे=व्यवहरसि, हे नृपशो=हे नरपशो !, मत्त्रासात्=मद्भयात्, समर=रणाऽङ्गणं, विहाय=त्यक्त्वा, अधुना = इदानीं, पङ्के = कर्दमे, लीयसे प्रच्छन्नो भवसि । अत्र विषमाऽलङ्कारो व्यङ्ग्यः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । अत्र दुर्योधनस्य तर्जनोद्वेजनोत्पादनेन द्युतिर्नाम विमर्शसन्धेरङ्गम् ।

शक्ति लक्षयति--शक्तिरिति । विरोधस्य = वैरस्य, प्रशमन = निवारणं, पुनः=तु "शक्तिः" भवेत् ।

शक्तिमुदाहरति–कुर्वन्त्विति । कौरवपराजयाऽनन्तरं नेपथ्यतः संप्राप्तोक्तिरियम् । आप्ता.=बान्धवाः, जनाः=लोकाः, रणशिरसि=युद्धक्षेत्रोपरि, हतानां=व्यापादितानां बन्धूना, देहभारान्=शरीरसमूहान्, वह्निसात् कुर्वन्तु=अग्न्यधीनान् विदधतु "विभाषा साति कार्त्स्न्ये" इति सातिप्रत्ययः । अमी=एते, बान्धवाः=बन्धवः, बान्धवेभ्यः=स्वजनेभ्यः, अश्रून्मिश्र=नयनसलिलमिश्रित, जल=सलिल, ददतु=वितरन्तु "अदभ्यस्तात्" इति झस्याऽत् । हतनरगहने=व्यापादितमानवसमूहे, गृध्रकङ्कैः=दाक्षाय्यलोहपृष्ठैः, खण्डितान्=दलितान्, ज्ञातिदेहान्=बान्धवशरीराणि, मार्गन्ताम्=अन्विष्यन्तु, दग्धुमिति शेषः । अयम्=एषः, भास्वान=सूर्य, रिपुभिः=शत्रुभिः, सह=समम्, अस्तम्=अस्तपर्वतं, प्रयातः=प्रगतः, रिपवश्च नाशं प्रयाता इत्यर्थः । अतः बलानि=आत्मसैन्यानि, संह्रियन्ताम्=एकत्रीक्रियन्ता-

---

रुधिररूप मद्यसे मत्त शत्रु मान रहे हो । घमण्डसे अन्धा होकर मधु और कैटभके शत्रु श्रीकृष्णमें भी उद्धत व्यवहार करते हो । हे नरपशो ! मेरे भयसे रणभूमिको छोड़कर अभी तालाबके कीचड़में छिप रहे हो ।

विरोधके निवारणको "शक्ति" कहते हैं । जैसे वहीं—बान्धवलोग युद्धमें मारे गये बन्धुओंके शरीरोंका दाहसंस्कार करें । ये बान्धव अपने बान्धवोंको आँसूसे मिले हुए जलाञ्जलि दें । मारे गये मनुष्योंके समूहमें गृध्र (गीध) और कङ्कपक्षियोंसे

—प्रसङ्गो गुरुकीर्त्तनम् ॥ १०४ ॥

यथा मृच्छकटिकायाम्—

'चाण्डालकः—एसो क्खु सागलदत्तस्स सुओ अज्जविस्सदत्तस्स णत्तिओ चालुदत्तो वावादिदुं वज्झट्ठाणं णिज्जइ। एदेण क्खिल गणिआ वसन्तसेणा सुअण्णलोहेण वावादिदेत्ति।

चारुदत्तः—

मखशतपरिपूतं गोत्रमुद्भासितं यत्
सदसि निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः पुरस्तात्।
मम निधनदशायां वर्त्तमानस्य पापै-
स्तदसदृशमनुष्यैर्घुष्यते घोषणायाम् ॥'

मित्यर्थः। अत्र सहोक्तिरलङ्कारः। स्रग्धरा वृत्तम्। अत्र बलसंहरणकथनेन विरोधस्य प्रशमनाच्छक्तिः।

प्रसङ्गं लक्षयति—**प्रसङ्ग इति**। गुरुकीर्तनं = गुरोः (पित्रादेः) कीर्तनम् (उच्चारणम्) "प्रसङ्गः" विमर्शसन्धेरङ्गम् ॥ १०४ ॥

प्रसङ्गमुदाहरति—**यथेति**। चाण्डालः—"एष खलु सागरदत्तस्य सुत आर्यविश्वदत्तस्य नप्ता चारुदत्तो व्यापादयितुं वध्यस्थानं नीयते। एतेन किल गणिका वसन्तसेना सुवर्णलोभेन व्यापादिते"ति संस्कृतच्छाया। नप्ता=पौत्रः।

मखेत्यादिः। मखशतपरिभूतं = मखशतैः (बहुयज्ञाऽनुष्ठानैः) परिभूतं (पवित्रम्) यत् गोत्रं = वंशः, निबिडचैत्यब्रह्मघोषैः = निबिड (श्रोत्रियजनव्याप्ते) चैत्ये (आयतने) ब्रह्मघोषैः (वेदध्वनिभिः), "वेदस्तत्त्वं तपो ब्रह्म ब्रह्मा विप्रः प्रजापतिः।" इत्यमरः। पुरस्तात्=पूर्वम्, उद्भासितं=यशसा प्रकाशितमासीत्। निधनदशायां=मरणाऽवस्थायां, वर्तमानस्य=विद्यमानस्य, मम = चारुदत्तस्य, तद् = गोत्रम्, असदृशमनुष्यैः=अयोग्यमानवैः, चाण्डालैरिति भावः। पापैः=पापवृत्तान्तैः, "सुवर्णलोभेन वसन्तसेना व्यापादित"ति स्वरूपैरिति भावः। घोषणायाम्=अपवादवाक्यध्वनौ घुष्यते=उच्चैः शब्द्यते। मालिनी वृत्तम्।

खण्डित कुटुम्बशरीरोंको ढूँढें। ये सूर्य शत्रुओंके साथ अस्तपर्वतको चले गये, इसलिए अपनी सेनाओंको इकट्ठा करो।

पूज्य जनका उच्चारण करनेको "प्रसङ्ग" कहते हैं ॥ १०४ ॥

जैसे मृच्छकटिकमें—चाण्डाल—ये सागरदत्तके पुत्र, आर्य विश्वदत्तके नाती (पौत्र) चारुदत्त, वधके लिए वध्यस्थानमें पहुँचाये जाते हैं। इन्होंने वेश्या वसन्तसेनाको सोनेके लोभसे मार डाला है।

चारुदत्त—सैकड़ों यज्ञोंसे पवित्र जो वंश सभामें जनप्रचुर भवनमें वेदध्वनियोंसे पहले प्रकाशित था। मरनेकी दशामें विद्यमान मेरा वही वंश अयोग्य मानवोंसे पापपूर्ण वृत्तान्तोंसे घोषणामें घोषित कर रहे हैं।

इत्यनेन चारुदत्तवधाभ्युदयानुकूलप्रसङ्गाद् गुरुकीर्त्तनमिति प्रसङ्गः।

मनश्चेष्टासमुत्पन्नः श्रमः खेद इति स्मृतः।

मनःसमुत्पन्नो यथा मालतीमाधवे—

'दलति हृदयं गाढोद्वेगो द्विधा न तु भिद्यते
वहति विकलः कायो मोहं, न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः, करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी, न कृन्तति जीवितम् ॥'

एवं चेष्टासमुत्पन्नोऽपि।

लक्ष्ये लक्षणं संगमयति—इत्यनेनेति। इति = एवम्, अनेन = गद्यपद्यात्मक-वाक्यसमूहेन, चारुदत्तेत्यादिः = चारुदत्तस्य वधाऽभ्युदययोः (व्यापादनोन्नत्योः) अनु-कूलप्रसङ्गात् (अनुगुणाऽवसरात्) गुरुकीर्तनमिति "प्रसङ्गः।"

खेदं लक्षयति - मनश्चेष्टासमुत्पन्न इति। मनश्चेष्टासमुत्पन्नः = मनसा (चित्तेन) चेष्टया (शरीरव्यापारेण) च समुत्पन्नः (संजातः) श्रमः "खेदो" नाम विमर्शसन्धेरङ्गम्।

मनःसमुत्पन्नं खेदमुदाहरति—दलतीति। मालतीशोकान्माधवस्योक्तिरियम्। गाढोद्वेगः = प्रियाविरहाद्दृढदुःखावेगः, हृदयं = हृत्, दलति = खण्डयति, तु = परन्तु, द्विधा = प्रकारद्वयेन, न भिद्यते = नो विदीर्यते। विकलः = विह्वलः, कायः = शरीरं, मोहं = मूर्च्छां, वहति = प्राप्नोति, परं चेतनां = चैतन्यं, न मुञ्चति = न त्यजति। अन्तर्दाहः = अन्तःकरणसन्तापः, तनूं = शरीरं ज्वलयति = सन्तापयति, किन्तु भस्मसात् = भस्माऽधीनं, न करोति = नो विदधाति। मर्मच्छेदी = मर्मस्थलविदारकः, विधिः = नियतिः, प्रहरति = ताडयति, परं जीवितं = जीवनं, न कृन्तति = न छिनत्ति, हारिणी वृत्तम्। अत्र माधवस्य मालतीशोकेनोत्पन्नस्य श्रमस्य मनःसमुत्पन्नत्वात्खेदो नाम विमर्शसन्धेरङ्गम्।

इस पद्यसे चारुदत्तका वध और अभ्युदयके अनुकूल प्रसङ्गसे 'गुरुकीर्तन" होनेसे "प्रसङ्ग" हुआ है। मन और शरीरकी चेष्टासे उत्पन्न परिश्रमको "खेद" कहते हैं। मनसे उत्पन्न परिश्रम "खेद" जैसे मालतीमाधवमें—विरहसे दृढ उद्वेग हृदयका खण्डित कर रहा है, परन्तु हृदय विदीर्ण नहीं होता है। विह्वल शरीर मूर्च्छाको प्राप्त कर रहा है, परन्तु चैतन्यको नहीं छोड़ता है। अन्तःकरणका सन्ताप शरीरको सन्तप्त कर रहा है किन्तु भस्म नहीं करता है। मर्मस्थलमें भेदन करनेवाला भाग्य प्रहार कर रहा है पर जीवनको नष्ट नहीं करता है॥ इसी तरह शरीरकी चेष्टासे उत्पन्न खेदका भी उदाहरण है।

ईप्सितार्थप्रतीघातः प्रतिषेध इतीर्यते ॥

यथा मम प्रभावत्यां विदूषकं प्रति—

प्रद्युम्नः—सखे ! कथमिह त्वमेकाकी वर्त्तसे ? क्व नु पुनः प्रियसखीजनानुगम्यमाना प्रियतमा मे प्रभावती ?

विदूषकः—असुरवइणा आआरिअ कहिं वि णीदा ।

प्रद्युम्नः—(दीर्घं निःश्वस्य)

हा पूर्णचन्द्रमुखि ! मत्तचकोरनेत्रे !
मामानताङ्गि ! परिहाय कुतो गतासि ?
गच्छ त्वमद्य ननु जीवित ! तूर्णमेव
दैवं कदर्थनपरं कृतकृत्यमस्तु ॥'

कार्यात्ययोपगमनं विरोधनमिति स्मृतम् ।

प्रतिषेधं लक्षयति—**ईप्सितार्थप्रतिघात इति** । ईप्सितार्थस्य (अभीष्टार्थस्य) प्रतीघातः (प्रतिबन्धः, प्राप्ताविति शेषः) "प्रतिषेधः" इति ईर्यते = कथ्यते ॥ १०५ ॥

प्रतिषेधमुदाहरति— **यथेति** । विदूषकः—"असुरपतिना आकार्य कुत्रापि नीता ।" इति संस्कृतच्छाया ।

हा पूर्णचन्द्रमुखीति । हा पूर्णचन्द्रमुखि = पूर्णेन्दुवदने !, मत्तचकोरनेत्रे = क्षीबचकोरनयने !, हे आनताङ्गि = हे अवनतदेहे !, मां = प्रियं, परिहाय = संत्यज्य, कुतः = कुत्र, गता = याता, असि । ननु जीवित = हे जीवन !, त्वम्, अद्य = अधुना, तूर्णम् एव = शीघ्रम् एव, गच्छ = याहि, कदर्थनपरं = पीडनतत्परं, दैवं = भाग्य, कृतकृत्यं = कृतार्थम्, अस्तु = भवतु । वसन्ततिलका वृत्तम् । अत्र ईप्सितार्थस्य प्रभावतीरूपपदार्थस्य प्राप्तौ प्रतीघातात्प्रतिषेधः ।

विरोधनं लक्षयति—**कार्यात्ययोपगमनमिति** । कार्ये (कर्तव्ये) अत्ययस्य (विघ्नस्य) उपगमनं (प्राप्तिः) "विरोधनम्" इति स्मृतम् ।

अभीष्ट अर्थकी प्राप्तिमें प्रतिबन्ध (रुकावट) को "प्रतिषेध" कहते हैं ॥१०५॥ ग्रन्थकारकी प्रभावती (नाटिका) में विदूषकको प्रद्युम्न-"मित्र ! यहाँ तुम क्यों अकेले रह रहे हो ? प्रिय सखीजनोंसे अनुसृत मेरी प्रियतमा प्रभावती कहाँ हैं ?

विदूषक—दैत्यपति उन्हें बुलाकर कहीं ले गये हैं ।

प्रद्युम्न—(लम्बा श्वास लेकर) हा ! पूर्णचन्द्रके समान मुखवाली ! मत्त चकोरके समान नेत्रोंवाली ! हे अवनत अङ्गोंवाली ! तुम मुझे छोड़कर कहाँ गई हो ? हे मेरा जीवन ! तू आज शीघ्र ही चला जा । पीडा करनेमें तत्पर मेरा भाग्य कृतार्थ हो ।

कार्यमें विघ्नके आ पड़नेको "विरोधन" कहते हैं ।

यथा वेण्याम् —

'युधिष्ठिरः—

तीर्णे भीष्ममहोदधौ, कथमपि द्रोणानले निर्वृते
कर्णाशीविषभोगिनि प्रशमिते, शल्ये च याते दिवम् ।
भीमेन प्रियसाहसेन रभसादल्पावशेषे जये
सर्वे जीवितसंशयं वयममी वाचा समारोपिताः ॥'

प्ररोचना तु विज्ञेया संहारार्थप्रदर्शिनी ॥ १०६ ॥

यथा वेण्याम्—

'पाञ्चालकः अहं देवेन चक्रपाणिना सहितः(इत्युपक्रम्य) कृतं सन्देहेन

विरोधनमुदाहरति—**तीर्ण** इति । भीष्ममहोदधौ = भीष्मः (पितामहः) एव महोदधौ (महासागरे), तीर्णे = तरणविषयीकृते, निहत इति भावः । द्रोणानले- द्रोणः (द्रोणाचार्यः) एव अनलः (अग्निः), तस्मिन् । कथमपि = केनाऽपि प्रकारेण, शिखण्डिनं पुरस्कृत्येति भावः । निर्वृते = निर्वाणतां गमिते, मृत इति भावः । कर्णाशी- विषभोगिनि = कर्णः (राधेयः) एव आशीविषः (आशिषि = दंष्ट्रायां, विषं = गरलं यस्य सः । दंष्ट्राविष इत्यर्थः) स एव भोगी (सर्पः) तस्मिन्, प्रशमिते = प्रशमं गमिते, व्यापादित इति भावः । शल्ये च = तदाख्ये मद्रदेशाऽधीशे च । दिवं = स्वर्गं, याते = प्राप्ते सति, तथा च जये = विजये, अल्पाऽवशेषे = स्तोकाऽवशिष्टे सति, प्रियसाहसेन = अभीष्टसाहसकर्मणा, भीमेन = भीमसेनेन, रभसात् = वेगात् वाचा = वाण्या "अस्मासु येन केनाऽपि समं युध्यताम्" इत्याकारिकया । अमी=एते, सर्वे=सकलाः, वय=पाण्डवाः, जीवितसंशयं=जीवनसंदेहम्, समारोपिताः=संप्रापिताः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

अत्र युद्धे विजयरूपे कार्ये भीमवाचा विघ्नप्राप्तेर्विरोधन नामाऽङ्गम्,

प्ररोचनां लक्षयति—**प्ररोचनेति** । संहाराऽर्थप्रदर्शिनी तु=उपसंहाररूपविषय सूचिका तु, वाणीति भावः । "प्ररोचना" अङ्गम् ॥ १०६ ॥

जैसे वेणीमें—युधिष्ठिर—

भीष्मरूप महासागरके तीर्ण होनेपर,द्रोणरूप अग्निके किसी प्रकार बुझ जानेपर कर्णरूप दंष्ट्रा (दाढ) में विषवाले सर्पके शान्त किये जानेपर और शल्यके भी स्वर्गको प्राप्त करानेपर, विजय थोड़ी ही बाकी रहनेपर प्रिय साहसवाले भीमसेनसे वेगसे अपने वचनसे ये हम सब (पाण्डव) जीवनमें संशयारूढ बनाये गये हैं ।

उपसंहारकी सूचना करनेवाली वाणीको "प्ररोचना" कहते हैं ॥ १०६ ॥

जैसे वेणीमें—पाञ्चालक—मैं भगवान् कृष्णके साथ हूँ । (ऐसा कहकर कुछ दूर चलकर)—सन्देह नहीं करें ।

पूर्यन्तां सलिलेन रत्नकलशा राज्याभिषेकाय ते
कृष्णात्यन्तचिरोज्झिते तु कबरीबन्धे करोतु क्षणम् ।
रामे शातकुठारभास्वरकरे क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि,
क्रोधान्धे च वृकोदरे परिपतत्याजौ कुतः संशयः ? ॥'

कार्यसंग्रह आदानम्—

यथा वेण्याम्—'भो भोः समन्तपञ्चकचारिणः !

प्ररोचनामुदाहरति—**पूर्यन्तामिति** । पाञ्चालकस्य युधिष्ठिरं प्रत्युक्तिरियम् । हे राजन् ! **ते** = तव, राज्याऽभिषेकाय = राज्ये (राष्ट्रे) अभिषेकाय (अभिषेचन-संस्काराय), सलिलेन = तत्तत्तीर्थजलेन, रत्नकलशाः = मणिखचितकुम्भाः, पूर्यन्तां = भ्रियन्ताम् । कृष्णा = द्रौपदी, तु, अत्यन्तचिरोज्झिते = अतिचिरकालपरित्यक्ते, कबरीबन्धे = केशवेशबन्धने, क्षणम् = उत्सवं, "क्षण उद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः" इत्यमरः । करोतु=विदधातु । शातकुठारभास्वरकरे=शातः (शाणादिना तीक्ष्णीकृतः) यः कुठारः (परशुः) तेन भास्वरः (दीप्तिसम्पन्नः) करः (हस्तः) यस्य सः, तस्मिन् । तथा च क्षत्रद्रुमोच्छेदिनि=क्षत्राः (क्षत्रियाः) एव द्रुमाः (वृक्षाः) ताम् उच्छिनत्तीति, तस्मिन् । क्षत्रियरूपवृक्षोच्छेदक इति भावः । तादृशे रामे = जामदग्न्ये, क्रोधाऽन्धे = कोपाऽन्धे, वृकोदरे = भीमसेने, च, आजौ = युद्धे, परिपतति = प्रविशति सति, सर्वत्र "यस्य च भावेन भावलक्षणम्" इति सप्तमी । कुतः=कस्माद्धेतोः संशयः= सन्देहः, युद्धजय इति शेषः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

अत्र पूर्वार्द्धस्थवाक्यद्वयेन युद्धोपसंहारप्रदर्शनात्प्ररोचना ।

आदानं लक्षयति—**कार्यसंग्रह इति** । कार्यसंग्रहः = कार्याणां (कर्मणाम्) संग्रहः (सङ्कलनम्) "आदानम्" नामाऽङ्गम् ।

आदानमुदाहरति—**यथेति** । समन्तपञ्चकसंचारिणः = समन्तपञ्चकाख्यस्थान-सञ्चरणशीलाः !, समन्तात (समन्ततः) पञ्चकं (नदपञ्चकम्) यस्मिस्तत्,तीर्थभेदः । कुरुक्षेत्रं वा तन्निकटस्थप्रदेशः !

(हे राजन् !) आपके राज्याऽभिषेकके लिए रत्नकलश तीर्थजलसे पूर्ण किये जायें । द्रौपदी बहुत समयसे छोड़े गये केशवेशके संस्कारके लिए उत्सव करें । तीक्ष्ण फरसेसे चमकते हुए हाथवाले क्षत्रियरूप वृक्षोंको काटनेवाले ऐसे परशुरामके और क्रोधसे अन्धे भीमसेनके संग्राम भूमिमें आ पड़नेपर युद्ध-जयमें कैसे सन्देह होगा ?

कार्योंका संग्रह करनेको "आदान" कहते हैं ।

जैसे वेणीमें—हे समन्तपञ्चकमें सञ्चरण करनेवाले !

नाहं रक्षो, न भूतो, रिपुरुधिरजलाह्लादिताङ्गः प्रकामं
निस्तीर्णोरुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनः क्रोधनः क्षत्रियोऽस्मि ।
भो भो राजन्यवीराः ! समरशिखिशिखाभुक्तशेषाः ! कृतं व-
स्त्रासेनानेन लीनैर्हतकरितुरगान्तर्हितैरास्यते यत् ॥'

अत्र समस्तरिपुवधकार्यस्य संगृहीतत्वादादानम् ।

—तदाहुश्छादनं पुनः

कार्यार्थमपमानादेः सहनं खलु यद्भवेत् ॥ १०७ ॥

नाऽहमिति । युद्धे विजयलाभाऽनन्तर भीमसेनस्योक्तिरियम् । अहं, रक्षो न= राक्षसो न, भूतो न — देवयोनिविशेषो न । किन्तु रिपुरुधिरजलाह्लादिताऽङ्गः=रिपूणां (शत्रूणाम्) रुधिराणि (रक्तानि) एव जलानि (द्रवद्रव्याणि) तैः आह्लादितानि (आमोदितानि) अङ्गानि (देहाऽवयवाः) यस्य सः । तथा प्रकामं=यथेष्टं, निस्तीर्णो-रुप्रतिज्ञाजलनिधिगहनः = निस्तीर्णः (उत्तीर्णः) उरुः (महान्) प्रतिज्ञाजलनिधिः (प्रतिज्ञा = सन्धा, एव जलनिधिः — समुद्रः येन सः, अत एव गहनः = दुरवगाहः) क्रोधनः = कोपशीलः, क्षत्रियः = मूर्द्धाऽभिषिक्तः, अस्मि । अतो भो भोः समरशिखि-शिखाभुक्तशेषाः = समरः (युद्धम्) एव शिखी (अग्निः) तस्य शिखा (ज्वाला) तया, भुक्तशेषाः (भुक्तेभ्यः=भक्षितेभ्यः, व्यापादितेभ्य इति भावः, शेषाः=अवशिष्टाः), हे राजन्यवीराः=हे क्षत्रियविक्रान्ताः !, हतकरितुरगाऽन्तर्हितैः=हताः (व्यापादिताः) ये करिणः (हस्तिनः) तुरगाः (अश्वाः), तेषु अन्तर्हितैः (अभ्यन्तरस्थितैः); अत एव लीनैः (प्राप्तलयैरिव स्थितैः युष्माभिः), यत् = यस्मात्कारणात्, आस्यते = अवस्थीयते, अनेन = एतेन, वः = युष्माकं, त्रासेन = भयेन, कृतं = पर्याप्तम् । त्रासेन साध्यं नाऽस्तीति भावः । स्रग्धरा वृत्तम् ।

लक्ष्ये लक्षणं संगमयति—**अत्रेति** ।

छादनं लक्षयति—**तदाहुरिति** । कार्याऽर्थं=कृत्यसंपादनाऽर्थं, यद् अपमानादेः= अवमानादेः, सहनं = मर्षणं, भवेत्, तत् "छादनम्" आहुः ॥ १०७ ॥

(भीमसेन)—मैं राक्षस नहीं हूँ और न भूत ही हूँ किन्तु शत्रुओंके रुधिर जलसे आनन्दित अङ्गोंवाला और पर्याप्त रूपसे महान् प्रतिज्ञास्वरूप समुद्रको पार किया हुआ अत एव गहन (दुरवगाह) क्रोधी क्षत्रिय हूँ । युद्धरूप अग्निकी ज्वालासे जलनेसे अवशिष्ट (बचे खुचे) हे क्षत्रिय वीरो ! मारे गये हाथी और घोड़ोंके शरीरके भीतर छिपकर तुम लोग रह रहे हो, ऐसा त्रास तुमलोगोंको नहीं करना चाहिए ।

यहाँ समस्त-शत्रुवधरूप कार्य संगृहीत होनेसे "आदान" है ।

कार्य सम्पादनके लिए अपमान आदि सहनेको "छादन" कहते हैं ॥ १०७ ॥

यथा तत्रैव—

'अर्जुनः—आर्य ! प्रसीद ।

अप्रियाणि करोत्वेष वाचा शक्तो न कर्मणा ।
हतभ्रातृशतो दुःखी प्रलापैरस्य का व्यथा ?॥'

अथ निर्वहणाङ्गानि ।

सन्धिर्विबोधो ग्रथनं निर्णयः परिभाषणम् ।
कृतिः प्रसाद आनन्दः समयोऽप्युपगूहनम् ॥ १०८ ॥
भाषणं पूर्ववाक्यश्च काव्यसंहार एव च ।
प्रशस्तिरिति संहारे ज्ञेयान्यङ्गानि नामतः ॥ १०९ ॥

तत्र—

बीजोपगमनं सन्धिः—

छादनमुदाहरति—**अप्रियाणीति** । हतभ्रातृशतः = हत (व्यापादितम्) भ्रातृशतं (सोदरशतम्) यस्य सः । अतो दुःखी, एषः = दुर्योधनः, वाचा = वचनेन, अप्रियाणि = अनीप्सितानि, कटुवचनरूपाणीति भावः, करोतु=विदधातु, परं कर्मणा= कार्येण, अप्रियाणि कर्तुं न शक्तः = न समर्थः, अतः अस्य = दुर्योधनस्य, प्रलापैः = अनर्थकवचोभिः, का व्यथा = किं दुःख, न किमपीति भावः ।

निर्वहणाऽङ्गान्युद्दिशति—सन्धेरुपगूहनपर्यन्तं दश ॥ १०८ ॥

भाषणात्प्रशस्तिपर्यन्तं चत्वारि, सहृत्य संहारे (निर्वहणे) चतुर्दशाऽङ्गानि ज्ञेयानि ॥ १०९ ॥

सन्धि लक्षयति—**बीजोपगमनमिति** । बीजस्य (मुखसन्धौ निहितस्य बीजाऽर्थस्य) उपगमनम् (उपस्थापनम्) 'सन्धिः' ।

जैसे वहीं (वेणीसंहारमें) अर्जुन—आर्य !

सौ भाइयोंके मारे जानेसे दुःखी यह (दुर्योधन) वचनसे कटुवचन कहे परन्तु कर्मसे अप्रिय करनेको समर्थ नहीं है; इसलिए इसके प्रलापोंसे क्या दुःख है ?

निर्वहण (उपसंहार) के अङ्ग—

सन्धिसे उपगूहन तक दश ॥ १०८ ॥

भाषणसे प्रशस्तितक चार इस प्रकार संहारमें चौदह अङ्गोंको जानें ॥ १०९ ॥

"बीज" सन्धिके उपस्थापनको "सन्धि" कहते हैं ।

यथा तत्रैव (वेण्याम्)—

'भीमः—भवति ! यज्ञवेदिसम्भवे ! स्मरति भवती यन्मयोक्तम्—'चञ्चद्भुजे'त्यादि ।' (पृ० ४३६)

अनेन मुखे क्षिप्तबीजस्य पुनरुपगमनमिति सन्धिः ।

—विबोधः कार्यमार्गणम् ।

यथा तत्रैव—

'भीमः—मुञ्चतु नामार्यः क्षणमेकम् ।

युधिष्ठिरः—किमपरमवशिष्टम् ?

भीमः—सुमहदवशिष्टम् । समापयामि तावदनेन सुयोधनशोणितोक्षितेन पाणिना पाञ्चाल्या दुःशासनावकृष्टं केशहस्तम् ।

युधिष्ठिरः—गच्छतु भवान्, अनुभवतु तपस्विनी वेणीसंहारम् ।' इति । अनेन केशसंयमनकार्यस्यान्वेषणाद्विबोधः ।

उपन्यासस्तु कार्याणां ग्रथनम्—

सन्धिमुदाहरति—**भीम इति** । यज्ञवेदिसंभवे=हे द्रौपदि ! मुखे=मुखसन्धौ ।

विबोधं लक्षयति—**विबोध इति** । कार्यमार्गणं = कार्यस्य (कर्तव्यस्य) मार्गणम् (अन्वेषणम्) "विबोधः" ।

विबोधमुदाहरति—**भीम इति** । केशहस्त = कचकलापम् । समापयामि = बध्नामि, तपस्विनी=शोचनीया, द्रौपदीति भावः । वेणीसंहार=कबरीबन्धनम् ।

ग्रन्थनं लक्षयति—**उपन्यास इति** । कार्याणां=करणीयविषयाणाम्, उपन्यासः=उपस्थापनं "ग्रथनम्" ।

जैसे वेणीमें—भीम—"देवि" द्रौपदि ! आपको याद है जो मैंने कहा था—"चञ्चद्भुज०" इत्यादि (६–८४) । इससे मुखसन्धिमें रखे गये बीज अर्थ का फिर उपस्थापन होनेसे "सन्धि" है ।

कार्यके अन्वेषणको "विबोध" कहते हैं । जैसे वहीं—भीम—आर्य मुझे एक क्षण छोड़ दें । युधिष्ठिर—और क्या बाकी है ? । भीम—बहुत कुछ बाकी है । दुर्योधनके रक्तसे सिक्त इस हाथसे पाञ्चाली (द्रौपदी) के दुःशासनसे खींचे गये केशकलापको बाँधता हूँ । युधिष्ठिर—आप जायँ । शोचनीया (द्रौपदी) केशबन्धनका अनुभव करें । इस वाक्यसे केशबन्धन कार्यका अन्वेषण होनेसे 'विबोध" हुआ है । कार्योंके उपन्यास-(उपस्थापन) को "ग्रन्थन" कहते हैं ।

यथा तत्रैव—

'भीमः—पाञ्चालि ! न खलु मयि जीवति संहर्त्तव्या दुःशासनविलुलिता वेणिरात्मपाणिभ्याम् । तिष्ठ स्वयमेवाहं संहरामि ।' इति ।

अनेन कार्यस्योपक्षेपाद् ग्रथनम् ।

—निर्णयः पुनः ॥ ११० ॥

अनुभूतार्थकथनं—

यथा तत्रैव—

'भीमः—देव अजातशत्रो ! अद्यापि दुर्योधनहतकः ? । मया हि तस्य दुरात्मनः—

भूमौ क्षिप्तं शरीरं, निहितमिदमसृक्चन्दनाभं निजाङ्के,
लक्ष्मीरार्ये निषिक्ता चतुरुदधिपयःसीमया सार्द्धमुर्व्या ।
भृत्या मित्राणि योधाः कुरुकुलमनुजा दग्धमेतद्रणाग्नौ

ग्रथनमुदाहरति—**यथेति** । दुःशासनविलुलिता = दुःशासनेन, विलुलिता (विश्लेषिता) । संहर्तव्या = संहरणीया, बन्धनीया । संहरामि = बध्नामि ।

निर्णयं लक्षयति—**निर्णय इति** । अनुभूताऽर्थकथनम् = अनुभूतार्थस्य (उपलब्धार्थस्य), कथन (प्रतिपादनम्) "निर्णयः" ।

निर्णयमुदाहरति—**भूमाविति** । दुरात्मनः = दुष्टबुद्धेः, **तस्य** = दुर्योधनस्य, शरीरं=देहः, भूमौ = भुवि, क्षिप्त = पातितम्, चन्दनाभ = रक्तमलयजसदृशं, इदम्, असृक्=रक्तं, निजाऽङ्के = स्वशरीरे, निहितम् = अर्पितम् । चतुरुदधिपय सीमया = चतुर्णाम् (चतुःसङ्ख्यकानाम्) उदधीनां (समुद्राणाम्) पयांसि (जलानि) एव सीमानः (अवधयः) यस्याः, तया । उर्व्या = पृथिव्या, सार्धं = सह । लक्ष्मीः = राजश्रीः, आर्ये=पूज्ये, भवति, निषिक्ता = स्थापिता । तथा भृत्याः = भर्तव्या अमात्यादयः, मित्राणि=सुहृदः, योधाः = भटाः, कुरुकुलमनुजाः = कुरुवंशमानवाः, दुःशासनादय इति भावः । एतत् = इदं, सकल, रणाऽग्नौ = युद्धाऽनले, दग्धं = भस्मीकृत,

---

जैसे वहीं--**भीम**--पाञ्चाली (द्रौपदी) ! मेरे जीते जो दुःशासनसे विलुलित (विश्लेषित) केशवेशको अपने हाथोंसे नहीं बाँधना । ठहरो मैं स्वयम् इसे बाँधता हूँ । इससे कार्यका उपस्थापन होनेसे "ग्रन्थन" नामका उपसंहार सन्धिका अङ्ग है । अनुभव किये गये विषय कहनेको 'निर्णय" कहते हैं ॥ ११० ॥

जैसे वहीं (वेणीसंहारमें)—भीम—महाराज अजातशत्रो ! आज भी दुर्योधन हतक है ? । मैंने उस दुरात्माके—

शरीरको जमीनपर फेंक दिया, रक्तचन्दनके सदृश इस रुधिर (खून) को अपने अङ्गमें लेपन किया । चार समुद्रोंके जलरूप सीमाओंवाली पृथिवीके साथ राज्यलक्ष्मीको आर्यमें स्थापित किया । भृत्य (अमात्य आदि) मित्र, योद्धा और कुरुकुलके मानव

नामैकं यद् ब्रवीषि क्षितिप ! तदधुना धार्त्तराष्ट्रस्य शेषम् ॥'

—वदन्ति परिभाषणम् ।

परिवादकृतं वाक्यम्—

यथा शाकुन्तले—

'राजा—आर्ये ! अथ सा तत्रभवती किमाख्यस्य राजर्षेः पत्नी ?

तापसी—को तस्स धम्मदारपरिच्चाइणो णामं गेण्हिस्सदि' ।

—लब्धार्थशमनं कृतिः ॥ १११ ॥

यथा वेण्याम्—

'कृष्णः—एते भगवन्तो व्यास-वाल्मीकिप्रभृतयोऽभिषेकं धारयन्तस्तिष्ठन्ति इति ।'

विनाशितमिति भावः । हे क्षितिप=हे राजन् !, एकम् = एकक, यत्, नाम = दुर्योधन इति अभिधानं, ब्रवीषि – कथयसि, धार्तराष्ट्रस्य – दुर्योधनस्य, अधुना—इदानीं, तत्—नाममात्रं, शेषम् = अवशिष्टम्, अस्तीति शेषः । स्रग्धरा वृत्तम् ।

अत्राऽनुभूताऽर्थकथनात् निर्णयो नाम निर्वहणसन्धेरङ्गम् ॥

परिभाषणं लक्षयति—वदन्तीति । परिवादकृतम् = अपवादविहितं, वाक्यं = पदसमूहं, "परिभाषण" वदन्ति ।

परिभाषणमुदाहरति—यथेति । "कस्तस्य धर्मदारपरित्यागिनो नाम ग्रहीष्यति ?" इति संस्कृतच्छाया ।

अत्र दुष्यन्तपरिवादसूचनात्परिभाषणम् ।

कृतिं लक्षयति—लब्धाऽर्थशमनमिति । लब्धाऽर्थेन (प्राप्तविषयेण) शमनं (शोकादिनिवारणम्) "कृतिः" ॥ १११ ॥

कृतिमुदाहरति—यथेति । अभिषेकम्=अभिषेकपदार्थम् । धारयन्तः=गृह्णन्तः ।

यह सब युद्धरूप अग्निमें जला डाला, हे राजन् ! एक "दुर्योधन" यह जो आप कहते हैं, धृतराष्ट्रपुत्रका इस समय वह नाममात्र अवशिष्ट (बचा) है ॥

अपवाद (बदनामी) से किये गये वाक्यको "परिभाषण" कहते हैं ।

जैसे शाकुन्तलमें—राजा (दुष्यन्त)—आर्ये ! माननीया वे किस नामके राजर्षिकी पत्नी है ? तपस्विनी—धर्मपत्नीका परित्याग करनेवाले उसका नाम कौन लेगा ? । प्राप्त विषयमें शोक आदिके निवारणको "कृति" कहते हैं ॥ १११ ॥

जैसे वेणीमें—कृष्ण—ये भगवान् व्यास और वाल्मीकि आदि अभिषेक जलको लेते हुए खड़े हैं ।

अनेन प्राप्तराज्याभिषेकमङ्गलैः स्थिरीकरणं कृतिः ।

शुश्रूषादिः प्रसादः स्यात्—

यथा तत्रैव भीमेन द्रौपद्याः केशसंयमनम् ।

—आनन्दो वाञ्छितागमः ॥

यथा तत्रैव—

'द्रौपदी–विसुमरिदं एदं वावारं णाधस्स पसादेण पुणो वि सिक्खिस्सं ।'

समयो दुःखनिर्याणं—

यथा रत्नावल्याम्—

वासवदत्ता–(रत्नावलीमालिङ्ग्य) समस्सस बहिणिए ! समस्सस'

—तद्भवेदुपगूहनम् ॥ ११२ ॥

यत् स्याददद्भुतसम्प्राप्तिः—

लक्ष्ये लक्षणं सगमयति—**अनेनेति** । स्थिरीकरणं = स्थैर्यसम्पादनम् ।

प्रसादं लक्षयति—**शुश्रूषादिरिति** । शुश्रूषादिः = परिचर्यादिः ।

आनन्दं लक्षयति—**आनन्द इति** । वाञ्छितागमः=वाञ्छितस्य (अभीष्टस्य) आगमः (आगमनं, प्राप्तिरिति भावः) "आनन्दः" ।

आनन्दमुदाहरति—**यथेति** । विस्मृतमेनं व्यापारं नाथस्य प्रसादेन पुनरपि शिक्षिष्ये" इति संस्कृतच्छाया । व्यापार = केशसंयमनरूपं कर्म ।

समयं लक्षयति—**समय इति** । दुःखनिर्याणं = दुःखस्य निर्याणम् (अपगमः), "समयः" ।

समयमुदाहरति—**यथेति** । "समाश्वसितु भगिनी समाश्वसितु ।"

अत्र रत्नावल्या विरहदुःखनिर्याणात् "समयः" ।

उपगूहनं लक्षयति—**तदिति** । यत् अद्भुतसंप्राप्तिः = अद्भुतस्य संप्राप्तिः (उपलब्धिः) स्यात् तत् 'उपगूहनं" स्यात् ।

इस वाक्यसे प्राप्त राज्यका अभिषेकके मङ्गलोंसे स्थिर करना ही "कृति" है । शुश्रूषा आदिको "प्रसाद" कहते हैं । जैसे वहीं भीमसेनके द्रौपदीका केशोंको बाँधना ।

अभीष्ट विषयकी प्राप्तिको "आनन्द" कहते है । जैसे वहीं—

द्रौपदी—भूले गये इस कर्मको स्वामीके अनुग्रहसे फिर भी सीखूँगी । दुःखके अपगमको "समय" कहते हैं । जैसे रत्नावलीमें—

वासवदत्ता—(रत्नावलीको आलिङ्गन कर) समाश्वस्त हो बहिन ! तुम समाश्वस्त हो ।

अद्भुत वस्तुकी प्राप्तिको 'उपगूहन" कहते है । ११२ ॥

यथा मम प्रभावत्यां नारददर्शनात् प्रद्युम्न ऊर्ध्वमवलोक्य—

'दधद्विद्युल्लेखामिव कुसुममालां परिमल-
भ्रमद्भृङ्गश्रेणीध्वनिभिरुपगीतां तत इतः ।
दिगन्तं ज्योतिर्भिस्तुहिनकरगौरैर्धवलय-
न्नितः कैलासाद्रिः पतति वियतः किं पुनरिदम् ? ॥'

सामदानादि भाषणम् ।

यथा चण्डकौशिके—

'धर्मः—तदेहि धर्मलोकमधितिष्ठ ।'

पूर्ववाक्यं तु विज्ञेयं यथोक्तार्थोपदर्शनम् ॥ ११३ ॥

उपगूहनमुदाहरति— **दधदिति** । परिमलभ्रमद्भृङ्गश्रेणीध्वनिभिः = परिमलेन (सुगन्धेन) भ्रमन्ती (भ्रमणं कुर्वती) या भृङ्गश्रेणी (भ्रमरपङ्क्तिः) तस्या ध्वनिभिः (गुञ्जनैः), उपगीताम्=उपशब्दिताम् । तथा विद्युल्लेखां=तडित्पङ्क्तिम्, इव; कुसुममालां = पुष्पमाल्य, दधत् = धारयन्, एवं च तुहिनकरगौरैः – चन्द्रसदृशशुक्लवर्णैः, ज्योतिर्भिः=देहकान्तिभिः, तत इतः = तस्मात् अस्मात्, सर्वत इति भावः । दिगन्तं = काष्ठाऽन्तं, धवलयन् = शुक्लीकुर्वन्, कैलासाऽद्रिः=कैलासपर्वतः, वियतः= आकाशात्, इतः=अत्र प्रदेशे, पतति = निपतति, इदं पुनः, किं = किं नाम आश्चर्यम् । शिखरिणी वृत्तम् । अत्र प्रद्युम्नस्य अद्भुतसंप्राप्तेरुपगूहनं नाम निर्वहणसन्धेरङ्गम् ।

भाषणं लक्षयति—**सामदानादीति** । साम (सान्त्वरूपम्) दानं (वितरणरूपम्) तदादि "भाषणं" भवेत् ।

भाष मुदाहरति—**यथेति** । अत्र धर्मस्य सामरूपवाक्याद्भाषणम् ।

पूर्ववाक्यं लक्षयति—**पूर्ववाक्यमिति** । यथोक्ताऽर्थोपदर्शनं = यथोक्तस्य (उक्ताऽनुरूपस्य) अर्थस्य (विषयस्य) उपदर्शनं (प्रदर्शनम्) "पूर्ववाक्यं" नाम उपसंहारसन्धेरङ्गम् ।

जैसे ग्रन्थकारकी प्रभावती (नाटिका) में नारदको देखकर प्रद्युम्न ऊपर देखकर—सुगन्धसे भ्रमण करने वाली भ्रमरपङ्क्तिके गुञ्जनोंसे गाई गई, बिजलीकी कतारकी समान फूलोंकी मालाको धारण करता हुआ चन्द्रके सदृश शुक्लवर्णोवाली देहकी कान्तियोसे सर्वत्र दिशाओंके अन्त भागको सफेद बनाता हुआ कैलासपर्वत आकाशसे इस प्रदेशमें आ रहा है । यह क्या है ?

साम और दान आदिको "भाषण" कहते हैं ।

जैसे चण्डकौशिकमें धर्म—"इसलिए आओ धर्म लोक में रहो ।"

उक्तके अनुरूप विषयका प्रदर्शन करनेको "पूर्ववाक्य" कहते हैं ॥ ११३ ॥

यथा वेण्याम्--

'भीमः--बुद्धिमतिके ! क्व सा भानुमती । परिभवतु सम्प्रति पाण्डव-दारान् ।'

वरप्रदानसंप्राप्तिः काव्यसंहार इष्यते ।

यथा सर्वत्र "किं ते भूयः प्रियमुपकरोमि ।" इति ।

नृपदेशादिशान्तिस्तु प्रशस्तिरभिधीयते ॥ ११४ ॥

यथा प्रभावत्याम्--

'राजानः सुतनिर्विशेषमधुना पश्यन्तु नित्यं प्रजा
जीयासुः सदसद्विवेकपटवः सन्तो गुणग्राहिणः ।
सस्यस्वर्णसमृद्धयः समधिकाः सन्तु क्ष्मामण्डले

पूर्ववाक्यमुदाहरति-**यथेति** । भानुमती=दुर्योधनपत्नी । पाण्डवदारान्=पाण्डव-पत्नीं, द्रौपदीमिति भावः ।

काव्यसंहारं लक्षयति— **वरप्रदानसंप्राप्तिरिति** । वरप्रदानस्य (अभीष्टवर-वितरणस्य) संप्राप्तिः (उपलब्धिः) "काव्यसंहार" इष्यते । काव्यसंहारमुदाहरति— **यथेति** ।

प्रशस्तिं लक्षयति-**नृपदेशादिशान्तिरिति** । नृपदेशादीनां (भूपराष्ट्रादीनाम्) शान्तिः (शमाशसा) "प्रशस्तिः" अभिधीयते ।

प्रशस्तिमुदाहरति—**राजान इति** । अधुना=इदानीं, राजानः = भूपाः, प्रजाः = जनान्, सुतनिर्विशेषं = पुत्रनिर्भेदं, पुत्रसदृशमिति भावः । नित्यं = सततं, पश्यन्तु = अवलोकयन्तु । सदसद्विवेकपटवः इदं सत् (प्रशस्तम्) इदम् असत् (अप्रशस्तम्) इति यो विवेकः (विवेचनम्), तस्मिन् पटवः (कुशलाः, समर्था इति भावः), एतादृशो गुणग्राहिणः=गुणग्राहकाः, सन्तः=सज्जनाः, जीयासुः=सर्वोत्कर्षेण वर्तन्ताम् । क्ष्मामण्डले = भूचक्रवाले, समधिकाः = अतिप्रचुराः, सस्यस्वर्णसमृद्धयः = धान्यकनकसंवृद्धयः, सन्तु=भवन्तु । त्रिजगतः=लोकत्रयनिवासिनो जनस्य नारायणे=

जैसे वेणीमें - भीम—बुद्धिमतिके ! वह भानुमती कहा है ? इस समय वह पाण्डवोंकी पत्नीको तिरस्कृत करे ।

वरदानकी प्राप्तिको "काव्यसंहार" कहते हैं ।

जैसे वहीं—'फिर तुम्हारा कौन सा अभीष्ट उपकार करूँ ?" राजा और देश आदिकी शान्तिको "प्रशस्ति" कहते हैं ॥ ११४ ॥

जैसे प्रभावतीमें—"इस समय राजालोग प्रजाओंको पुत्रोंके समान नित्य देखें । यह सत् है यह असत् है ऐसे विवेकमें निपुण गुणग्राहक सज्जनलोग उत्कर्षपूर्वक

भूयादव्यभिचारिणी त्रिजगतो भक्तिश्च नारायणे ॥'

अत्र चोपसंहारप्रशस्त्योरन्त एकेन क्रमेणैव स्थितिः।

'इह च मुखसंधौ उपक्षेपपरिकरपरिन्यासयुक्त्युद्भेदसमाधानानां, प्रतिमुखे च परिसर्पणप्रगमनवज्रोपन्यासपुष्पाणां गर्भेऽभूताहरणमार्गत्रो- (तो) टकाधिबलक्षेपाणां विमर्शेऽपवादशक्तिव्यवसायप्ररोचनादानानां प्राधान्यम्। अन्येषां च यथा सम्भवं स्थितिः' इति केचित्।

चतुःषष्टिविधं ह्येतदङ्गं प्रोक्तं मनीषिभिः।
कुर्यादनियते तस्य संधावपि निवेशनम् ॥ ११५ ॥
रसानुगुणतां वीक्ष्य रसस्यैव हि मुख्यता।

भगवति श्रीविष्णौ, अव्यभिचारिणी=व्यभिचाररहिता, ऐकान्तिकीति भावः। भक्तिश्च= अनुरक्तिश्च, भूयात् = भवतात्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

अत्र राजदेशादीनां शान्तेराशसया प्रशस्तिर्नामोपसंहारसन्धेरङ्गम्, तत्तत्सन्धिषु तत्तदङ्गाना प्राधान्य प्रदर्शयति—इहेति। अन्यषा = विलोमनादीनामङ्गानाम्।

स्वीयं मत दर्शयति—चतुःषष्टिविधमिति। मुखाऽङ्गानि द्वादश, प्रतिमुखाऽङ्गानि त्रयोदश, गर्भाङ्गानि, विमर्शाङ्गानि निर्वहणाऽङ्गानि च तावन्त्येव समष्टया चतुःषष्टिरिति निर्वहणाङ्गप्रशस्तिनिराकरणकारिणः। येषां मते प्रशस्तिस्वीकृतिस्तत्र गर्भाङ्गभूतायाः प्रार्थनाया अस्वीकृतेः। इत्थं च पक्षद्वयेऽपि चतुःषष्टिविधान्यङ्गानि। रसाऽनुगुणतां= रसस्य (शृङ्गारादेः) अनुगुणताम् (अनुकूलताम्), वीक्ष्य=दृष्ट्वा, अनियते =अनिर्दिष्टे, सन्धावपि, तस्य=अङ्गस्य, निवेशनं = प्रवेशन, कुर्यात्। हि= यस्माद्धेतोः रसस्यैव मुख्यता ॥ ११५ ॥

उदाहरति—यथेति। संप्रधारण=कर्तव्ये युक्तिरूप मुखसन्धेरङ्गम्। नियमः= तत्सन्ध्यङ्गस्य तत्सन्धावेव निवेश इत्येवंरूपः लक्ष्यविरुद्ध=महाकविप्रयोगविरुद्धम्।

रह रहें। भूमण्डलमें अतिप्रचुर धान्य और सुवर्णोंकी समृद्धियाँ हों। तीन लोकोंके जनोंकी श्रीनारायणमें अव्यभिचारिणी (ऐकान्तिकी) भक्ति हो ॥

यहाँ अन्तमें उपसंहार और प्रशस्तिकी इसी क्रमसे स्थिति होती है। इन अङ्गोंमें मुखसन्धिमें उपक्षेप, परिकर, परिन्यास युक्ति, उद्भेद और समाधानकी प्रधानता होती है इसी तरह प्रतिमुखमें परिसर्पण, प्रगमन, वज्र, उपन्यास और पुष्पकी, गर्भमें अभूताहरण, मार्ग, त्रो (तो) टक, अधिबल और क्षेपकी, तथा विमर्श सन्धिमें अपवाद, शक्ति, व्यवसाय, प्ररोचना और आदानकी प्रधानता होती है। अवशिष्ट अङ्गोंकी यथा संभव स्थिति रहती है। ऐसा कुछलोग कहते हैं।

विद्वानोंने इस प्रकारसे चौसठ प्रकारके अङ्गोंको माना है। रसकी अनुकूलताको देखकर अनिदिष्ट सन्धिमें भी अङ्गका निवेशन करें क्योंकि रसकी ही मुख्यता है।११५॥

यथा वेणीसंहारे तृतीयाङ्के दुर्योधनकर्णयोर्महत्संप्रधारणम् । एवमन्यत्रापि । यत्तु रुद्रटादिभिः 'नियम एव' इत्युक्तं तल्लक्ष्यविरुद्धम् ।

इष्टार्थरचनाश्चर्यलाभो वृत्तान्तविस्तरः ।। ११६ ।।
रागप्राप्तिः प्रयोगस्य गोप्यानां गोपनं तथा ।
प्रकाशनं प्रकाश्यानामङ्गानां षड्विधं फलम् ।। ११७ ।।
अङ्गहीनो नरो यद्वन्नैवारम्भक्षमो भवेत् ।
अङ्गहीनं तथा काव्यं न प्रयोगाय युज्यते ।। ११८ ।।
संपादयेतां संध्यङ्गं नायकप्रतिनायकौ ।

अङ्गानां फलान्युद्दिशति—**इष्टार्थरचनेति** । इष्टार्थस्य (अभीष्टविषयस्य) रचना (निर्माणम्) । आश्चर्यलाभः = विस्मयप्राप्तिः, द्रष्टुरिति शेषः । वृत्तान्तविस्तरः = वृत्तान्तस्य (उदन्तस्य) विस्तरः (बाहुल्यम्) । प्रयोगस्य = अभिनयस्य, रागप्राप्तिः = अभिलाषलाभः । गोप्यानां = गोपनीयानां विषयाणां, गोपनं = रक्षणम् । तथा प्रकाश्यानां = प्रकाशयोग्यानां विषयाणां, प्रकाशनम्, इत्थं च षड्विधं फलं = प्रयोजनम् ।। ११७ ।।

फलदर्शनप्रयोजनमाह— **अङ्गहीन इति** । यद्वत्; अङ्गहीनः=हस्तपादाद्यङ्गरहितः, नरः=मानवः, आरम्भक्षमः=कार्यानुष्ठानसमर्थः, न भवेत्, तथा काव्यम्, अङ्गहीनम्=मुखाद्यङ्गरहितं सत्, प्रयोगाय=अभिनयाय, न युज्यते=न प्रयुज्यते ।। ११८ ।।

सन्ध्यङ्गसम्पादनहेतुता विविनक्ति—**सम्पादयेतामिति** : नायकप्रतिनायकौ, सन्ध्यङ्ग, संपादयेतां = वचनेन विदधीयाताम् । तदभावे = सन्ध्यङ्गसम्पादनाऽभावे,

---

जैसे वेणीसंहारमें तीसरे अङ्कमें दुर्योधन और कर्णका महत् सम्प्रधारण अर्थात् कर्तव्यमें युक्तिरूप मुखसन्धिका अङ्ग है । इसी तरह अन्यत्र भी जानना चाहिए । जो कि रुद्रट आदि विद्वानोंने "नियम ही है" अर्थात् इन सभीको यथास्थान नियत होना चाहिए ऐसा कहा है वह लक्ष्यके विरुद्ध है ।

अङ्गोंका फल कहते हैं—अभीष्ट वस्तुकी रचना, आश्चर्यकी प्राप्ति, वृत्तान्तकी अधिकता ।। ११६ ।।

अनुरागकी प्राप्ति, गोपनीय विषयोंका गोपन और प्रकाश योग्य अंशोंका प्रकाशन इस प्रकार अङ्गोंके छः फल होते हैं ।। ११७ ।।

जैसे अङ्गहीन मनुष्य कार्यके आरम्भमें समर्थ नहीं होता है, वैसे ही अङ्गहीन काव्य प्रयोगके लिए उपयुक्त नहीं होता है ।। ११८ ।।

सन्धिके अङ्गको नायक और प्रतिनायक संपादित करें उनके अभावमें पताका-

तदभावे पताकाद्यास्तदभावे तथेतरत् ॥ ११९ ॥

प्रायेण प्रधानपुरुषप्रयोज्यानि सन्ध्यङ्गानि भवन्ति। किन्तूपक्षेपादित्रयं बीजस्याल्पमात्रसमुद्दिष्टत्वादप्रधानपुरुषप्रयोजितमेव साधु।

रसव्यक्तिमपेक्ष्यैषामङ्गानां संनिवेशनम्।
न तु केवलया शास्त्रस्थितिसंपादनेच्छया ॥ १२० ॥

तथा च वेण्यां दुर्योधनस्य भानुमत्या सह विप्रलम्भो दर्शितः, तत्तादृशेऽवसरेऽत्यन्तमनुचितम्।

अविरुद्धं तु यद् वृत्तं रसादिव्यक्तयेऽधिकम्।
तदप्यन्यथयेद्धीमान्न वदेद्वा कदाचन ॥ १२१ ॥

पताकाद्याः=पता। "व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते।" इत्युक्तलक्षणलक्षिता पताका, आद्यपदेन कार्यप्रकृतीरर्थप्रकृतीः सम्पादयेताम्, तदभावे = तस्याऽप्यभावे तथा इतरत् = नाट्यलक्षणादिकं, सम्पादयेताम् ॥ ११९ ॥

विवृणोति—प्रायेणेति। प्रायेण = बहुधा।

अङ्गसंनिवेशनविवेकमाह—रसव्यक्तिमिति। रसव्यक्तिं = शृङ्गारादिरसप्रकाशम्, अपेक्ष्य = उद्दिश्य, एषां = पूर्वोक्तानाम्, अङ्गानां, सन्निवेशनं = स्थापनं, किन्तु केवलया, शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छया = नाट्यशास्त्रवचनपालनाऽभिलाषेण तु न = अङ्गानां संनिवेशनं न कुर्यादिति भावः ॥ १२० ॥

विवृणोति—विप्रलम्भः = विप्रलम्भशृङ्गारः।

नाट्ये इतिवृत्तस्थितिं विविनक्ति—अविरुद्धमिति। यत् वृत्तं = वृत्तान्तः तु, रसादिव्यक्तये = रसभावादिस्फुटीकरणाय, अविरुद्धं = विरोधरहितम् अथ च अधिकम्= अतिरिक्तम्, अनावश्यकं प्रतीयते, धीमान्=बुद्धिसम्पन्नः, कविः = नाट्यलेखकः, तदपि=

नायक आदि तथा उनके भी अभावमें अन्य जन सम्पादित करे ॥ ११९ ॥

सन्धिके अङ्ग अधिकतर प्रधान पुरुषोंके प्रयोगके योग्य होते हैं, परन्तु उपक्षेप, परिकर और परिन्यास इन तीनोंमें बीजका थोड़ा ही समुद्दिष्ट होनेसे प्रधान पुरुषोंसे ही प्रयोग होना उचित है।

इन अङ्गोंकी स्थिति रसव्यक्तिके अपेक्षा करके होनी चाहिए केवल शास्त्र-स्थितिसम्पादनकी इच्छासे नहीं होनी चाहिए ॥ १२० ॥

जैसे—वेणीसंहारमें दुर्योधनका भानुमतीके साथ जो विप्रलम्भशृङ्गार दिखाया है वह वैसे अवसरमें अत्यन्त अनुचित है। जो चरित्र इतिहास आदिसे विरुद्ध नहीं है तो

अनयोरुदाहरणं सत्प्रबन्धेष्वभिव्यक्तमेव ।

अथ वृत्तयः—

शृङ्गारे कैशिकी, वीरे सात्त्वत्यारभटी पुनः ।
रसे रौद्रे च बीभत्से वृत्तिः, सर्वत्र भारती ॥ १२२ ॥
चतस्रो वृत्तयो ह्येताः सर्वनाट्यस्य मातृकाः ।
स्युर्नायिकादिव्यापारविशेषा नाटकादिषु ॥ १२३ ॥

तत्र कैशिकी—

या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा स्त्रीसंकुला पुष्कलनृत्यगीता ।

तादृश वृत्तान्तमपि, अन्यथयेत् = अन्यथा कुर्यात्, कदाचन = जात्वचिदपि, न वदेत् = न प्रतिपादयेत्, रसोपयोगि वृत्त प्रदर्शयेदिति भावः ॥ १२१ ॥

विवृणोति—**अनयोरिति ।** रसाऽनुपयोगिवृत्तस्य अन्यथाकरणाऽवदनयोः, सत्प्रबन्धेषु = अभिज्ञानशाकुन्तलादिषु ।

नाट्यवृत्तीः प्रतिपादयति—**शृङ्गार इति ।** शृङ्गारे रसे कैशिकी वृत्तिः, पुस्तकान्तरे "कौशिकी"ति पाठः, परं भारतीयनाट्यशास्त्रे दशरूपके च "कैशिकी"ति पाठः । वीरे रसे सात्त्वती, रौद्रे बीभत्से च रसे वृत्तिरारभटी, सर्वत्र = अन्येषु सर्वेषु रसेषु भारती नाम वृत्तिः ॥ १२२ ॥

एताः नाटकादिषु नायकादिव्यापारविशेषाः=नायकादीनाम् (आदिपदेन नायिका-प्रतिनायकादीनाम्) व्यापारविशेषाः (चेष्टाविशेषाः) सर्वनाट्यस्य (सकलाऽभिनयस्य) मातृकाः = मातृवदुपजीव्याः ॥ १२३ ॥

कैशिकीलक्षणं—**येति ।** या श्लक्ष्णनेपथ्यविशेषचित्रा = श्लक्ष्णः (सूक्ष्मः) यो नेपथ्यविशेषः (नायिकादिभूषणविशेषः) तेन चित्रा (अद्भुता), स्त्रीसङ्कुला = नारीबहुला, पुष्कलनृत्यगीता=पुष्कलानि (प्रचुराणि) नृत्यगीतानि (नर्तनगानानि)

भी रस आदिको व्यञ्जनाके लिए अधिक है । विद्वान् जन उसे भी बदल दें उसे कभी न कहे ॥ १२१ ।

इन दोनों उदाहरण महावीरचरित आदि उत्तम प्रबन्धमे स्पष्ट ही है ।

वृत्तियाँ शृङ्गारमें कैशिकी वीर, रौद्र और बीभत्समे सात्वती और आरभटी वृत्ति उपयुक्त है, परन्तु भारती वृत्ति सभी रसोंमें उपयुक्त है ॥ १२२ ॥

ये चार वृत्तियां संपूर्ण नाट्यकी मातृका (आधारभूत) है । नाटक आदिमें नायक और नायिका आदिके व्यापार विशेषको वृत्ति कहते हैं ॥ १२३ ॥

कैशिकी—जो सूक्ष्म नेपथ्य (वेशरचना) विशेषसे विचित्र, प्रचुर स्त्रियोंसे

कामोपभोगप्रभवोपचारा सा कैशिकी चारुविलासयुक्ता ॥१२४॥
नर्म च नर्मस्फूर्जो नर्मस्फोटोऽथ नर्मगर्भश्च ।
चत्वार्यङ्गान्यस्याः—

तत्र—

—वैदग्ध्यक्रीडितं नर्म ॥१२५॥
इष्टजनावर्जनकृत्तच्चापि त्रिविधं मतम् ।
विहितं शुद्धहास्येन सशृङ्गारभयेन च ॥१२६॥

तत्र केवलहास्येन विहितं यथा रत्नावल्याम्—

यस्या सा । कामोपभोगप्रभावोपचारा = कामोपभोगः (शृङ्गारः) तस्य प्रभवः (कारणभूतः) उपचारः (व्यवहारः) यस्यां सा । तथा चारुविलासयुक्ता = चारवः (मनोहराः) ये विलासाः (शृङ्गारचेष्टाः), तैर्युक्ता (सहिता) । सा = तादृशी वृत्तिः, कैशिकी नाम ॥ १२४ ॥

कैशिक्या अङ्गानि निर्दिशति—**नर्मेति** । नर्म, नर्मस्फूर्जो नर्मस्फोटः, अथ च नर्मगर्भश्च, अस्याः = कैशिक्याः, चत्वार्यङ्गानि ।

नर्म लक्षयति—**वैदग्ध्यक्रीडितमिति** । इष्टजनावर्जनकृत् = इष्टजनस्य (अभीष्टलोकस्य) आवर्जनकृत् (प्रीतिकारकम्) वैदग्ध्यक्रीडितं = नैपुण्यक्रीडनं नर्मेति लक्षणम् ॥ १२५ ॥

नर्मणस्त्रैविध्यं निर्दिशति—**तच्चाऽपीति** । तच्च = नर्म च । त्रिविधं त्रिप्रकारं, मतम् = अभिमतम् । शुद्धहास्येन विहितम् १ सशृङ्गारभयेन — शृङ्गारहास्येन २, समयहास्येन च ३ विहितम् ॥ १२३ ॥

विवृतावुदाहरति— **तत्रेति । केवलहास्येनेति ?** । एषाऽपि अपरा तव समीपे यथा लिखिता, इदं किमार्यवसन्तकस्य विज्ञानम् ।" इति संस्कृतच्छाया । एषाऽपि = अतिनिकटस्थिताऽपि, सागरिकाऽपीति भावः । विज्ञानं = क्रियाकौशलम् ।

युक्त उत्तम नृत्य और गीतसे सम्पन्न, कामोपभोगका कारणभूत उपचारसे युक्त तथा मनोहर विलाससे युक्त है वह कैशिकी वृत्ति है ॥ १२४ ॥

कैशिकीके अङ्ग—नर्म, नर्मस्फूर्ज, नर्मस्फोट और नर्मगर्भ इस प्रकार कैशिकी वृत्तिके चार अङ्ग हैं ।

नर्म—निपुणतासे युक्त क्रीडाको "नर्म" कहते हैं ॥ १२५ ॥

अभीष्ट जनके मनको वशमें करनेवाली । उसके भी तीन भेद होते हैं—हास्यविहित, शृङ्गारहास्यविहित और भयहास्यविहित ॥ १२६ ॥

केवलहास्यविहित नर्म जैसे रत्नावली में--

'वासवदत्ता—(फलकमुद्दिश्य सहासम्) एसा वि अवरा तव समीवे जधालिहिदा एदं किं अज्जवसन्तस्स विण्णाणम्' ।

सश्रृङ्गारहास्येन यथा शाकुन्तले-राजानं प्रति—

'शकुन्तला—असंतुटठो उण किं करिस्सदि ।

राजा—इदम् । (इति व्यवसितः । शकुन्तला वक्त्रं ढौकते)

सभयहास्येन यथा रत्नावल्याम्-आलेख्यदर्शनावसरे ।

'सुसंगता—जाणिदो मए एसो वुत्तान्तो समं चित्ताफलएण । ता देवीए गदुअ निवेदइस्सम्' ।

एतद्वाक्यसम्बन्धि नर्मोदाहृतम् । एवं वेषचेष्टासम्बन्ध्यपि ।

नर्मस्फूर्जः सुखारम्भो भयान्तो नवसंगमः ।

सश्रृङ्गारहास्येन २ राजानं भूपं, दुष्यन्तमित्यर्थः । "असन्तुष्टः पुनः किं करिष्यति ?" इति संस्कृतच्छाया । करिष्यति = विधास्यति, भवानिति शेषः । इदम्= एतत्, चुम्बनमिति भावः । व्यवसितः = चुम्बितुं प्रवृत्तः; आदिकर्मणि क्तप्रत्ययः । ढौकते = परावर्तयति, ढौकृधातुर्यद्यपि धातुपाठे दर्शनार्थकस्तथापि "धातूपसर्गाणामनेकार्था" इति नदनाऽत्र परावर्तनाऽर्थकः ।

सभयहास्येन ३ सुसङ्गता—"ज्ञातो मया एष वृत्तान्तः समं चित्रफलकेन । तद्देव्यै गत्वा निवेदयिष्यामी"ति संस्कृतच्छाया । देव्यै=वासवदत्तायै, निवेदनक्रियाग्रहणाच्चतुर्थी । वेषचेष्टासम्बन्ध्यपि = नेपथ्यप्रवृत्तिसम्बद्धमपि, नर्मेति भावः । उदाहर्तव्यमिति शेषः ।

नर्मस्फूर्जं लक्षयति—**नर्मस्फूर्ज इति** । सुखारम्भः = सुखः (आनन्दजनकः) आरम्भः (उपक्रमः) यस्य सः । भयाऽन्तः = भयम् (भीतिः) अन्ते (अवसाने) यस्य सः, तादृशो नवसंगमः = नूतनसमागमः, 'नर्मस्फूर्जः" भवतीति शेषः ।

वासवदत्ता—(चित्र फलकको उद्देश्य कर हास्यपूर्वक) "आपके समीप लिखी गई यह दूसरी भी क्या यह आर्य वसन्तककी शिल्परचना है ?" ।

शृङ्गारहास्यविहित जैसे शाकुन्तलमें—राजाके प्रति शकुन्तला—"असन्तुष्ट होकर फिर आप क्या करेंगे ?"

राजा—यह (ऐसा कहकर चुम्बन करनेका उद्योग करते हैं) (शकुन्तला मुँह छिपाती है) ।

भयहास्यविहित जैसे—रत्नावलीमें—चित्रदर्शनके अवसरमें, "सुसंगता—" चित्रफलकके साथ इस वृत्तान्तको मैंने जान लिया है, इसलिए जाकर महारानीको निवेदन करूंगी" ।

यह वाक्यसम्बद्ध नर्मका उदाहरण है । इसी प्रकार वेष—चेष्टासम्बद्ध नर्मको भी जानना चाहिए ।

नर्मस्फूर्ज—आरम्भमें सुखकारक और अन्तमें भयकारक नवीन समागमको "नर्मस्फूर्ज" कहते हैं ।

यथा मालविकायां सङ्केतनायकमभिसृतायाम्

'नायकः—

विसृज सुन्दरि ! सङ्गमसाध्वसं ननु चिरात्प्रभृति प्रणयोन्मुखे ।
परिगृहाण गते सहकारतां त्वमतिमुक्तलताचरितं मयि ॥

मालविका—भट्टा ! देवीए भएण अप्पणो वि पिअं कउं ण पारेमि इत्यादि ।

अथ नर्मस्फोटः—

नर्मस्फोटो भावलेशैः सूचितोऽल्परसो मतः ॥ १२७ ॥

नर्मस्फूर्जमुदाहरति—**यथेति** । सङ्केतनायक=सङ्केतस्थानगत नायकम्, उदयनमिति भावः । मालविकायां = मालविकायाम् । अभिसृतायां = कृताऽभिसारायाम् नायकः=उदयनः ।

विसृजेति । उदयनो मालविकामनुनयति । ननु हे सुन्दरि ! सङ्गमसाध्वसं= सङ्गमविषये (समागमे) साध्वसं (भयम्) विसृज=त्यज । चिरात् प्रभृति=बहुसमयादारभ्य, प्रणयोन्मुखे=प्रेमाऽभिलाषुके, सहकारताम् = अतिसौरभाम्रभावं गते = प्राप्ते मयि = विषये, त्वम्, अतिमुक्तलताऽऽचरितम् = अतिमुक्तलतायाः (माधवीलतायाः) आचरितम् (आचरणम्), प्रतिगृहाण स्वीकुरु, अतिमुक्तलता सहकारमिव त्वं मामालिङ्गेति भावः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ।

मालविकेति । "भर्तः ! देव्या भयेन आत्मनोऽपि प्रियं कर्तुं न पारयामी' ति संस्कृतच्छाया । इत्यादि । न पारयामि = न शक्नोमि "पार (तीर) कर्मसमाप्तौ" इति धातोर्लट् ।

नर्मस्फोटं लक्षयति—**नर्मस्फोट इति** । भावलेशैः = ईषत्प्रकाशितैर्भावैः सूचितः = प्रकाशितः, अल्परसः = स्तोकश्रृङ्गारः "नर्मस्फोटः" मतः ॥ १२७ ॥

जैसे मालविकाके—सङ्केतनायक (उदयन) के पास अभिसार करनेपर—

नायक (राजा उदयन)—हे सुन्दरि ! समागममें भयको छोड़ो । बहुत कालसे प्रेम करनेमें तत्पर मेरे सहकार (कलमी आम)के भावको प्राप्त होनेपर तुम अतिमुक्तलताके आचरण को प्राप्त करो ॥

मालविका—"स्वामिन् ! महारानीके भयसे मैं अपने प्रिय कार्यको भी नहीं कर सकती हूँ" । इत्यादि ।

नर्मस्फोट—थोड़ेसे भावोंसे सूचित अल्परसवाले नर्मको नर्मस्फोट कहते है ॥ १२७ ॥

यथा मालतीमाधवे—

'गमनमलसं शून्या दृष्टिः, शरीरमसौष्ठवं,
श्वसितमधिकं, किन्वेतत् स्यात् किमन्यदितोऽथवा।
भ्रमति भुवने कन्दर्पाज्ञा, विकारि च यौवनं
ललितमधुरास्ते ते भावाः क्षिपन्ति च धीरताम् ॥'

अत्र अलसगमनादिभिर्भावलेशैर्माधवस्य मालत्यामनुरागः स्तोकः प्रकाशितः।

नर्मगर्भो व्यवहृतिर्नेतुः प्रच्छन्नवर्तिनः ।

यथा—तत्रैव सखीरूपधारिणा माधवेन मालत्या मरणव्यवसायवारणम्।

नर्मस्फोटमुदाहरति—**गमनमिति**। माधवं प्रति मकरन्दस्योक्तिरियम्। माधवस्य गमनं = गतिः, अलसम् = आलस्ययुक्तं, मन्दमित्यर्थः।

दृष्टिः = दृक्, शून्या = निर्विषया, शरीरं = देहः, असौष्ठवं = सौष्ठवरहितं, सौन्दर्यरहितमिति भावः। श्वसितं = निःश्वासः, अधिकम्=अतिरिक्तम् अस्वाभाविकमिति भावः। एतत्, किं नु, स्यात् = भवेत्, अथवा = यद्वा, इतः = अस्मात्, अपरम् = अन्यत्, किं, स्यात्? यतो भुवने-लोके, कन्दर्पाज्ञा = कन्दर्पस्य (कामदेवस्य) आज्ञा (अनुज्ञा), भ्रमति=भ्रमणं करोति, यौवनं च=तारुण्यं च, विकारि = मनोविकारकारि, अस्तीति शेषः। एवं च ललितमधुराः = मृदुलमनोहराः, ते ते = प्रसिद्धा अनुभूतपूर्वा वा, भावाः—चन्द्रचन्दनादिपदार्थाः, धीरतां = धैर्यं, क्षिपन्ति = निवारयन्ति। हरिणी वृत्तम्।

उदाहरणं विशदयति—**अलसगमनादिभिरिति**। तादृशैर्भावलेशैः। स्तोकः=अल्पः।

नर्मगर्भं लक्षयति—**नर्मगर्भ इति**। प्रच्छन्नवर्तिनः = अदृश्यभावेन स्थितस्य, नेतुः = नायकस्य, व्यवहृतिः=व्यवहारः, "नर्मगर्भः"।

नर्मगर्भमुदाहरति—**यथेति**। तत्रैव=मालतीमाधव एव। सखीरूपधारिणा = वयस्यावेशधारकेण, लवङ्गिकाकालरूपधारकेणेति भावः। मरणव्यवसायवारणं = मरणव्यवसायस्य (आत्ममहत्योद्योगस्य) वारणम् (निवारणम्)।

जैसे मालतीमाधवमें—गति आलस्यपूर्ण, दृष्टिशून्य, शरीर संस्काररहित, श्वास अधिक, यह इससे भिन्न क्या होगा?

लोकमें कामदेवकी आज्ञा भ्रमण कर रही है, यौवन विकारयुक्त है, कोमल और मनोहर वे भाव (रतिचेष्टाएँ) धैर्यको हटा रहे हैं ॥

इसमें आलस्यपूर्ण गमन आदि अल्प अभिप्रायोंसे मालतीमें माधवका कुछ अनुराग प्रकाशित हुआ है।

नर्मगर्भ—प्रच्छन्न रूपसे विद्यमान नायकके व्यवहारको "नर्मगर्भ" कहते हैं। जैसे वहींपर सखीके रूपको लेनेवाले माधवका मालतीके मरणके उद्योगको हटाना।

अथ सात्त्वती—

सात्त्वती बहुला सत्त्वशौर्यत्यागदयार्जवैः ॥ १२८ ॥
सहर्षा क्षुद्रशृङ्गारा विशोका साद्भुता तथा ।
उत्थापकोऽथ सांघात्यः संलापः परिवर्त्तकः ॥ १२९ ॥
विशेषा इति चत्वारः सात्त्वत्याः परिकीर्त्तिताः ।
उत्तेजनकरी शत्रोर्वागुत्थापक उच्यते ॥ १३० ॥

यथा महावीरचरिते—

'आनन्दाय च विस्मयाय च मया दृष्टोऽसि दुःखाय वा
वैतृष्ण्यन्तु ममापि सम्प्रति कुतस्त्वद्दर्शने चक्षुषः ।

सात्त्वतीं लक्षयति—**सात्त्वतीति** । सात्त्वशौर्यत्यागदयाऽऽर्जवैः=सत्त्वम् (अध्यवसायः) शौर्यं (शूरता) त्यागः (दानम्) दया (कृपा) आर्जवम् (ऋजुता, सरलतेति भावः) तथा च एतैर्गुणैः, बहुला = प्रचुरा ॥ १२८ ॥

सहर्षा = हर्षसहिता, क्षुद्रशृङ्गारा=अल्पशृङ्गारयुक्ता । विशोका=शोकरहिता तथा साद्भुता = अद्भुतरससहिता, या वृत्तिः सा "सात्त्वती" ।

सात्त्वत्या भेदान्निर्दिशति—**उत्थापक इति** । उत्थापकः, साङ्घात्यः, संलापः परिवर्तकश्च ॥ १२९ ॥

इति=एवं, सात्त्वत्या वृत्तेश्चत्वारो विशेषाः=भेदाः, परिकीर्तिताः ।

उत्थापकं लक्षयति—**उत्तेजनकरीति** । शत्रोः = वैरिणः, उत्तेजनकरी=क्रोधवृद्धिकारिणी, वाक् = वाणी, "उत्थापकः" उच्यते ॥ १३० ॥

उत्थापकमुदाहरति—**आनन्दायेति** । श्रीराम प्रति रावणप्रेरितस्य वालिन उक्तिरियम् । मया त्वम् आनन्दाय=हर्षोत्पादनाय, प्रियदर्शनत्वादिति शेषः । विस्मयाय=आश्चर्योत्पादनाय, रूपाऽतिशयादिति शेषः । दुःखाय वा = व्यथोत्पादनाय वा, हन्तव्यत्वादिति शेषः । दृष्टः = अवलोकितः, असि = विद्यसे, तु = परन्तु, सम्प्रति = अधुना, त्वद्दर्शने=भवद्विलोकने, मम, चक्षुषः = नेत्रस्य, वैतृष्ण्यं=तृष्णाऽभावः, कुतः=

सात्त्वती–सत्त्व (बल), शूरता, दान, दया तथा सरलता और हर्षसे युक्त कुछ शृङ्गारसे सहित, शोकरहित और अद्भुत रससे युक्त वृत्तिको "सात्त्वती" कहते हैं, उसके उत्थापक, साङ्घात्य, सलाप और परिवर्तक ये चार भेद कहे गये हैं ॥ १२८–१२९ ॥

उत्थापक—शत्रुको उत्तेजना करनेवाली वाणी "उत्थापक" है ॥ १३० ॥

जैसे महावीरचरितमें—आनन्द, आश्चर्य और दुःखके लिए तुम मुझसे देखे गये हो । आज इस समय तुम्हारा दर्शन होनेपर मुझे वितृष्णता कहाँ है ? जो कि

त्वत्साङ्गत्यसुखस्य नाऽस्मि विषयस्तत् किं वृथा व्याहृतैः ?
अस्मिन् विश्रुतजामदग्न्यदमने पाणौ धनुर्जृम्भताम् ॥'

मन्त्रार्थदैवशक्त्यादेः सांघात्यः सङ्घभेदनम् ।

मन्त्रशक्त्या यथा—मुद्राराक्षसे राक्षससहायानां चाणक्येन स्वबुद्ध्या भेदनम् । अर्थशक्त्यापि तत्रैव ।

दैवशक्त्या यथा—रामायणे रावणाद्विभीषणस्य भेदः ।

संलापः स्याद् गभीरोक्तिर्नानाभावसमाश्रयः ॥ १३१ ॥

कस्माद्धेतोः, स्यात्, न कुतोऽपीति भाव । त्वत्साङ्गत्यसुखस्य=त्वत्साङ्गत्वेन (त्वत्सङ्गतिभावेन) यत् सुखम् (आनन्दः), तस्येत्यर्थः । "यत्माङ्गल्यसुखस्ये"ति पाठान्तरे माङ्गल्यसुखस्य = मङ्गलप्रयोजनकानन्दस्येत्यर्थः । विषयः = पात्रं, यत् न अस्मि, विरोधित्वादिति शेषः । अतो बहुव्याहृतैः=अधिकजल्पितैः, किम् ? । विश्रुतजामदग्न्यदमने=विश्रुतं प्रख्यातम् "विस्मृते"ति पाठान्तरं, तत्र विस्मृतः (विस्मरणविषयीकृतः) जामदग्न्यस्य (परशुरामस्य) दमन (पराजयः) (यस्य) तस्मिन् । "विजये"ति पाठान्तरे विजयः (पराजयः) यस्य तस्मिन् । अस्मिन्=एतस्मिन्, पाणौ=करे, धनुः= कार्मुकं, जृम्भतां = वर्द्धताम् । धनुर्गृह्णामीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । अत्र रामस्योत्तेजनकरवाक्यत्वादुत्थापकः सात्वतीभेदः ।

साङ्घात्यं लक्षयति—**मन्त्राऽर्थदैवशक्त्यादेरिति** । मन्त्रशक्तेः (मन्त्रणाशक्तेः), अर्थशक्तेः (धनशक्तेः) दैवशक्त्यादेश्च (भाग्यशक्त्यादेश्च), सङ्घभेदन = सङ्घस्य (जनसमूहस्य) भेदनं (भेदकरणम्), 'साङ्घात्यः" सात्वतीभेदः । '।संहृत्य" इति पाठान्तरम् ।

साङ्घात्यमुदाहरति—**मन्त्रशक्त्येति** ।

संलाप लक्षयति—**संलाप इति** । नानाभावसमाश्रयः=नानाभावानाम् (अनेकप्रकाराणामभिप्रायाणाम्) समाश्रयः (सम्यगाधारः) गभीरोक्तिः=गभीरा (प्रवीणजनमात्रवेद्या) या उक्तिः (कथनम्) स "संलापः" ॥ १३१ ॥

आपकी सगतिसे सुखका विषय नहीं हूँ । बहुत वचनोंसे क्या ? परशुरामकी जयसे प्रख्यात इस बाहुमें धनुषका सवर्द्धन हो ॥

साङ्घात्य—मन्त्रशक्ति, अर्थशक्ति और दैवशक्ति आदिसे समुदायके भेद करनेको "साङ्घात्य" कहते है ।

मन्त्रशक्तिसे—जैसे मुद्राराक्षसमें चाणक्यने राक्षसके सहायकोंका भेद कर दिया है । अर्थशक्तिसे भी वहीपर । दैवशक्तिसे जैसे रामायणमे रावणसे विभीषणका भेद हुआ है ।

संलाप—अनेक भावोंके आश्रयवाली गम्भीर उक्तिको 'संलाप' कहते हैं ॥१३१॥

यथा वीरचरिते—

'रामः—अयं सः, यः किल सपरिवारकार्त्तिकेयविजयावर्जितेन भगवता नीललोहितेन परिवत्सरसहस्रान्तेवासिने तुभ्यं प्रसादीकृतः परशुः।

परशुरामः—राम दाशरथे! स एवायमार्यपादानां प्रियः परशुः। इत्यादिः।

प्रारब्धादन्यकार्याणां कारणं परिवर्तकः।

यथा वेण्याम्—

'भीमः—सहदेव! गच्छ त्वं गुरुमनुवर्तस्व। अहमप्यस्त्रागारं प्रविश्यायुधसहायो भवामीति यावत्। अथवा आमन्त्रयितव्यैव मया पाञ्चाली।' इति।

संलापमुदाहरति—**यथेति**। सपरिवारेत्यादि = सपरिवारः (बान्धवसहितः) यः कार्त्तिकेयः (स्कन्दः) तस्य विजयेन (पराजयेन) आवर्जितेन (**वशीभूतेन**), नीललोहितेन = शङ्करेण, कण्ठे नीलो जटायां लोहितो नीललोहितः = धूर्जटिः। परिवत्सरसहस्रान्तेवासिने = परिवत्सराणां (सवत्सराणाम्) यत्सहस्रं = तत्कालपर्यन्तम् अन्तेवासिने (छात्राय) प्रसादीकृतः = अनुग्रहविषयीकृतः। परशुः = परश्वधः, आर्यपादानां = पूज्यचरणानां, भगवतः शङ्करस्येति भावः। अत्र सपरिवारकार्त्तिकेयविजयेन वीर्यातिशयः, परिवत्सरसहस्रमन्तेवासित्वेन महाध्यवसायत्वं चेति गभीरभावोक्तेः संलापो नाम सात्वत्या भेदः।

परिवर्तकं लक्षयति—**प्रारब्धादिति**। प्रारब्धात् = उपक्रान्तकार्यात्, अन्यकार्याणाम् = अन्यानि (अपराणि) यानि कार्याणि (कृत्यानि), तेषां कार्यान्तराणामित्यर्थः, कारणं = हेतुः, "करणम्" इति पाठान्तरे अनुष्ठानमित्यर्थः।

परिवर्तकमुदाहरति—**यथेति**। गुरुं = पूज्यनीयं, युधिष्ठिरमिति भावः। अनुवर्तस्व = अनुसर, पाञ्चाली = द्रौपदी।

जैसे वीरचरितमें—राम—'परिवारके साथ कार्तिकेयको जीतनेसे वशीभूत भगवान् शङ्करसे हजारों वर्षके छात्र आपको अनुग्रहसे दिया गया यह परशु (फरसा) है" परशुराम—राम! दशरथनन्दन! आर्यचरण (शङ्कर) का प्यारा यह वही परशु है।

परिवर्तक—प्रारब्ध कार्यसे अन्य कामोंको करनेको "परिवर्तक" कहते हैं।

जैसे वेणीसंहारमें भीमसेन—सहदेव! तुम जाओ गुरु (युधिष्ठिर) का अनुसरण करो। मैं भी अस्त्रगृहमें प्रवेश कर अस्त्र लेता हूँ। अथवा मुझे तब तक द्रौपदीको संबोधन करना चाहिए।

अथारभटी—

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ॥ १३२ ॥
संयुक्ता वधबन्धाद्यैरुद्धतारभटी मता ।
वस्तूत्थापनसंफेटौ संक्षिप्तिरवपातनम् ॥ १३३ ॥
इति भेदास्तु चत्वार आरभट्याः प्रकीर्तिताः ।
मायाद्युत्थापितं वस्तु वस्तूत्थापनमुच्यते ॥ १३४ ॥

यथोदात्तराघवे—

'जीयन्ते जयिनोऽपि सान्द्रतिमिरव्रातैर्वियद्व्यापिभि-
र्भास्वन्तः सकला रवेरपि कराः कस्मादकस्मादमी ।

आरभटीं लक्षयति—**मायेत्यादिः** । माया (विद्याविशेषः), इन्द्रजालं (मन्त्रौषधादिना चमत्कारसाधनम्), संग्रामः (युद्धम्) क्रोधः (कोपः) तेन उद्भ्रान्तं (स्वपरज्ञानराहित्यम्) तदादिचेष्टितैः (तदादिचेष्टाभिः) ॥ १३२ ॥

वधबन्धाद्यैः = हननबन्धनप्रभृतिभिर्व्यापारैः, संयुक्ता = सहिता, उद्धता = औद्धत्योपेता, वृत्तिः आरभटी, मता ।

आरभटीभेदान्निर्दिशति—**वस्त्वित्यादिः** । वस्तूत्थापनं, सम्फेटः, संक्षिप्तिः अवपातनम् ॥ १३३ ॥

इति आरभटया वृत्तेः, चत्वारो भेदाः प्रकीर्तिताः ।

वस्तूत्थापनं लक्षयति—**मायेत्यादिः** । मायाद्युत्थापितं = मायया (विद्याविशेषेण) आदिपदेन इन्द्रजालेन च, उत्थापितम् (उत्पादित) च वस्तु = पदार्थः "वस्तूत्थापनम्" उच्यते ॥ १३४ ॥

वस्तूत्थापनमुदाहरति—**जीयन्त इति** । अकस्मात् = अतर्कित एव, कस्मात् = कुतो हेतोः, वियद्व्यापिभिः = आकाशव्यापनशीलैः, सान्द्रतिमिरव्रातैः = निबिडितमस्तोमैः, जयिनोऽपि = जयशीला अपि, भास्वन्तः = प्रचुरप्रकाशाः, सकलाः=समस्ताः, अमी = एते, रवेः = सूर्यस्य, कराः = किरणाः अपि, जीयन्ते = परिभूयन्ते । उग्र-

---

आरभटी—माया, इन्द्रजाल, युद्ध, युद्भ्रान्त आदि चेष्टाएँ ॥ १३२ ॥
वध और बन्धन आदिसे संयुक्त उद्धत वृत्ति "आरभटी" मानी गई है ।

आरभटी के भेद—वस्तूत्थापन, सम्फेट, संक्षिप्ति और अवपातन ॥१३३॥
आरभटीके चार भेद कहे गये है ।

वस्तूत्थापन-माया आदि से उत्पादित वस्तु "वस्तूत्थापन" होता है ॥१३४॥

जैसे उदात्तराघवमें—जयशील चमकदार सूर्यकी समस्त ये किरणें भी आकाशको व्याप्त करने वाले गाढ़ अन्धकारसमूहोंसे कैसे अकस्मात् जीती जा रही हैं ?

एते चोग्रकबन्धकण्ठरुधिरैराध्मायमानोदरा
मुञ्चन्त्याननकन्दरानलमुचस्तीव्रान् रवान् फेरवाः ॥' इत्यादि ।

सम्फेटस्तु समाघातः क्रुद्धसत्वरयोर्द्वयोः ।

यथा मालत्यां माधवाघोरघण्टयोः ।

संक्षिप्तिवस्तुरचना शिल्पैरितरथापि वा ॥ १३५ ॥

संक्षिप्तिः स्यान्निवृत्तौ च नेतुर्नेत्रन्तरग्रहः ।

यथोदयनचरिते कलिञ्जहस्तिप्रयोगः । द्वितीयं यथा वालिनिवृत्त्या

कबन्धकण्ठरुधिरैः = उग्राः (भयङ्कराः) ये कबन्धाः (मस्तकहीनकलेवराणि) तेषां कण्ठरुधिरैः (गलरक्तैः) आध्मायमानोदराः=आध्मायमानानि (पूर्यमाणानि) उदराणि (जठराणि) येषां, तैः । तथा आननकन्दराऽनलमुचः = आननानि (मुखानि) एव कन्दराः (दर्यः), ताभ्यः अनलान् (अग्नीन्) मुञ्चन्ति (त्यजन्ति) इति, तादृशाः फेरवाः = शृगालाः, तीव्रान् = कठोरान्, रवान्=शब्दान्, मुञ्चन्ति=त्यजन्ति, कुर्वन्तीति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

सम्फेटं लक्षयति— **सम्फेटस्त्विति** । क्रुद्धसत्वरयोः = क्रुद्धौ (कुपितौ) च तौ सत्वरौ (त्वरायुक्तौ) तयोः समाघातः = सम्प्रहारः "सम्फेटः" ।

सम्फेटमुदाहरति— **यथेति** । मालत्यां = मालतीमाधवे ।

संक्षिप्तिं लक्षयति—**संक्षिप्तिरिति** । शिल्पैः =क्रियाकौशलैः, इतरथा=इतरप्रकारेण, शिल्पेतरेणेति भावः, वस्तुरचना=पदार्थनिर्माणं, "संक्षिप्तिः" इति । इतरथा= शिल्पेतरेण लक्षणान्तरं—नेतुः = एकस्य पात्रस्य, निवृत्तौ = अपगमे सति, नेत्रन्तरग्रहः = अन्यो नेता नेत्रन्तरम् (अन्यत् पात्रम्), तस्य ग्रहः (ग्रहणम्), "संक्षिप्तिः" ॥ १३५ ॥

संक्षिप्तिमुदाहरति— **यथेति** । शिल्पेन वस्तुरचना यथा—उदयनचरिते कलिञ्जहस्तिप्रयोगः = कलिञ्जः (काष्ठघटितहस्ती), तस्य प्रयोगः (योजना) । शिल्प-

---

भयङ्कर कबन्धके कण्ठरुधिरोंसे फूले हुए पेटवाले और मुखरूप गुहासे आग उगलते हुए ये स्यार तीक्ष्ण शब्दोंको कर रहे हैं इत्यादि ॥

सम्फेट—कुपित और त्वरायुक्त दो पुरुषोंके युद्धको "सम्फेट" कहते हैं ।

जैसे—मालतीमाधवमें माधव और अघोरघण्टका युद्ध ।

संक्षिप्ति—शिल्पसे अथवा शिल्पभिन्न उपायसे वस्तुकी रचनाको "संक्षिप्ति" कहते हैं ॥ १३५ ॥

अथवा एक नायककी निवृत्तिमें दूसरे नायकके ग्रहणको "संक्षिप्ति" कहते हैं ।

जैसे— । शिल्पसे वस्तुरचना—उदयन चरितमें कलञ्ज (काष्ठनिर्मित) हाथीका प्रयोग ।

सुग्रीवः। यथा वा परशुरामस्यौद्धत्यनिवृत्त्या शान्तत्वापादनम्—'पुण्या ब्राह्मणजातिः—' (म० च० ४-२२) इति।

प्रवेशत्रासनिष्क्रान्तिहर्षविद्रवसंभवम् ॥ १३६ ॥

अवपातनमित्युक्तम्—

यथा कृत्यरावणे षष्ठेऽङ्के—' (प्रविश्य खड्गहस्तः पुरुषः)' इत्यतः प्रभृति निष्क्रमणपर्यन्तम।

—पूर्वमुक्तैव भारती

अथ नाट्योक्तयः—

अश्राव्यं खलु यद्वस्तु तदिह "स्वगतं" मतम् ॥ १३७ ॥

तरेण वस्तुरचनाया व्यक्तिभेदमूलको धर्मभेदमूलकश्चेति द्वौ भेदौ। आद्यस्योदाहरणं—बालिनिवृत्या सुग्रीवग्रहः। द्वितीयस्योदाहरणं—परशुरामस्यौद्धत्यनिवृत्या शान्तत्वापादनम् "पुण्या ब्राह्मणजातिः०" इत्यादि।

अवपातन लक्षयति—**प्रवेशेत्यादिः**। प्रवेशः (प्रवेशनम्) त्रासः (भयम्) निष्क्रान्तिः (निष्क्रमणम्) हर्षः (आनन्दः) विद्रवः (पलायनम्) तत्संभवम् (तदुत्पन्नम्) वस्तु "अवपातनम्" इत्युक्तम् ॥ १३६ ॥

अवपातनमुदाहरति—**यथेति**।

भारतीवृत्तिं निर्दिशति—**पूर्वमिति**। भारती=वृत्तिः, पूर्वं=प्रथमम्, उक्ता—"भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रय" इति कारिकयेति शेषः (पृ० ४०१) ॥१३६॥

नाट्योक्तीनां मध्ये स्वगतं लक्षयति—**अश्राव्यमिति**। यत्, वस्तु=त्र क्यरूपः पदार्थः, अश्राव्यं = श्रवणस्य अनर्हं, तत्, इह = अस्मिन् नाट्यशास्त्रे, "स्वगतं" मतम ॥१३७॥

दूसरा—बालीकी निवृत्तिसे सुग्रीवका ग्रहण। धर्मनिवृत्तिसे—परशुराम उद्धत धर्मकी निवृत्तिसे शान्तत्व धर्मका आपादन—"पुण्या ब्राह्मणजातिः" इत्यादि।

अवपातन—प्रवेश, त्रास, निष्क्रमण, हर्ष, और विद्रवकी उत्पत्तिको "अवपातन" कहते हैं।

जैसे कृत्यरावणमें षष्ठ अङ्कमें—"प्रवेश कर हाथमें खड्गको लेनेवाला पुरुष) यहांसे निष्क्रमणपर्यन्त।

भारती—भारतीको पहले ही कह चुके हैं।

नाट्यकी उक्तियाँ—

स्वगत—दूसरोंको सुनानेमें अयोग्य जो बात आत्मगत होती है वह 'स्वगत" है ॥ १३७ ॥

सर्वश्राव्यं "प्रकाशं" स्यात्तद्भवेदपवारितम् ।
रहस्यं तु यदन्यस्य परावृत्य प्रकाश्यते ॥ १३८ ॥
त्रिपताककरेणान्यानपवार्यान्तरा कथाम् ।
अन्योन्यामन्त्रणं यत्स्यात्तज्जनान्ते "जनान्तिकम्" ॥ १३९ ॥
किं ब्रवीषीति यन्नाट्ये विना पात्रं प्रयुज्यते ।
श्रुत्वेवानुक्तमप्यर्थं तत्स्यादाकाशभाषितम् ॥ १४० ॥
यः कश्चिदर्थो यस्माद् गोपनीयस्तस्यान्तरत ऊर्ध्वं सर्वाङ्गुलिनामिता-

प्रकाशं लक्षयति—**सर्वश्राव्य**मिति । सर्वश्राव्य = सर्वैः (सकलैः) श्राव्यं (श्रोतुमर्हम्) वाक्यं "प्रकाश" स्यात् ।

अपवारितं लक्षयति—**त**दिति । परावृत्य = परावर्तनं कृत्वा, स्थानान्तरं गत्वेति भावः । अन्यस्य = अपरस्य जनस्य, समीपे, यत्, रहस्यं = गोपनीयं वस्तु, प्रकाश्यते = प्रदर्श्यते, तत् "अपवारित" भवेत् ॥ १३८ ॥

जनान्तिकं लक्षयति—**त्रिपताककरेणे**ति । त्रिपताककरेण = तिस्रः (त्रिसंख्यकाः) पताकाः = पताका इव, लक्षणया (प्रसारिता अङ्गुल्यः यस्मिन् सः) स चाऽसौ करः (हस्तः), येन । अन्यान् = अपरान्, अभीष्टजनभिन्नानिति भावः । अपवार्य = आच्छाद्य, कथाम् अन्तरा=कथामध्ये । जनाऽन्ते = पात्रलोकसमीपे, एवं यत् अन्योन्यामन्त्रणं = मिथोभाषणं, तत् "जनाऽन्तिकम्" ॥ १३९ ॥

आकाशभाषितं लक्षयति—**किमि**ति । नाट्ये=अभिनये, पात्रं विना=पात्रजनमन्तरेण, अनुक्तम्=अकथितम्, अपि, अर्थं=विषयम्, श्रुत्वा=इव, आकर्ण्य इव, श्रवणाऽभिनयं कृत्वेति भावः । किं, ब्रवीषि=कथयसि, इति = एवं यत् प्रयुज्यते = अभिधीयते, तत्, "आकाशभाषितं" स्यात् ॥ १४० ॥

विवृणोति—**य इ**ति । अर्थः = विषयः । यस्मात् = जनात्, अन्तरतः = व्यवधाने । सर्वाऽङ्गुलिनामिताऽनामिकं=सर्वासाम् (सकलानाम्) अङ्गुलीनां (कर-

प्रकाश—सबको सुनानेके योग्य "प्रकाश" होता है ।

अपवारित—दूसरेसे छिपाकर दूसरे पात्रको जो रहस्य प्रकाशित करते है उसे "अपवारित" कहते हैं ॥ १३८ ॥

जनान्तिक—तीन उंगलियोंको फैलाए हुए हाथसे दूसरोंसे छिपाकर कथाके बीचमें परस्पर जो बातचीत होती है उसे "जनान्तिक" कहते हैं ॥ १३९ ॥

आकाशभाषित—नाट्यमें पात्रके विना अनुक्त अर्थको भी सुना-सा करके "क्या कहते हो ?" जो ऐसा कहा जाता है उसे "आकाशभाषित" कहते हैं ॥ १४० ॥

जो कुछ भी विषय जिससे गोपनीय है उसके बीचमें ऊँची सब उंगलियोंसे

नामिकं त्रिपताकलक्षणं करं कृत्वान्येन सह यन्मन्त्रयते तज्जनान्तिकम्। परावृत्यान्यस्य रहस्यकथनमपवारितम्। शेषं स्पष्टम्।

दत्तां सिद्धां च सेनां च वेश्यानां नाम दर्शयेत्।
दत्तप्रायाणि वणिजां चेटचेटयोस्तथा पुनः॥ १४१॥
वसन्तादिषु वर्ण्यस्य वस्तुनो नाम यद्भवेत्।

वेश्या यथा वसन्तसेनादिः। वणिग्विष्णुदत्तादिः। चेटः कलहंसादिः। चेटी मन्दारिकादिः।

नाम कार्यं नाटकस्य गर्भितार्थप्रकाशकम्॥ १४२॥

शाखानाम्) मध्ये नामिता (प्रह्वीकृता) अनामिका (अनामा) यस्य तत्, अतस्त्रिपताकलक्षणं = प्रसारिताऽङ्गुलित्रयस्वरूपं, करं=हस्तं, कृत्वा, मन्त्र्यते=गुप्तरूपेणाऽऽलप्यते। शेषम् = अवशिष्टम्, स्वगतादिकमिति भावः, स्पष्टं = व्यक्तम्, निगदसूचितमिति भावः।

पात्राणां नामान्याह—**दत्तामिति**। वेश्यानां = गणिकानां, नाम, दत्तां=दत्तापदाऽन्तं, सिद्धां = सिद्धापदाऽन्तं तथा सेनां च = सेनापदान्तं च दर्शयेत, वणिजां = वाणिजकानां, नामानि, दत्तप्रायाणि = प्राचुर्येण दत्तपदाऽन्तानि, पुनस्तथा चेटचेटयोः— प्रेष्यप्रेष्यस्त्रियोः॥ १४१॥

वसन्तादिषु=वसन्तप्रभृतिषु ऋतुषु; वर्ण्यस्य=वर्णनीयस्य, वस्तुनः = पदार्थस्य, यत् नाम = कलहंसादीति भावः। भवेत् तत् दर्शयेत्।

विवृणोति—**वेश्येति**।

नाटकनामकरणे नियममाह—**नामेति**। नाटकस्य नाम, गर्भिताऽर्थप्रकाशक= गर्भितः (नाटके सूचितः), योऽर्थः (विषयः) तस्य, प्रकाशकं (प्रकाशकारकम्), कार्यं = कर्तव्यम्॥ १४२॥

अनामिकाको झुकाकर "त्रिपताक" हाथ कर दूसरेसे जो आमन्त्रण किया जाता है उसे "जनान्तिक" कहते है। दूसरेसे छिपाकर रहस्य कहनेको "अपवारित" कहते है। शेष स्पष्ट है॥

वेश्याओंके नामके अन्तमें "दत्ता" "सिद्धा" और "सेना" ऐसा दिखलावे। बनियोंके नामके अन्तमें प्रायः "दत्त" ऐसा पद दिखलावे, चेट (दास) और चेटी (दासी) इनका नाम वसन्त आदि ऋतुमें वर्णनीय वस्तुका सा हो॥ १४१॥

वेश्या जैसे—वसन्तसेना आदि। वणिक् (बनिया)—विष्णुदत्त आदि।

चेट—कलहंस आदि। चेटी—मन्दारिका आदि।

नाटकका नाम गर्भित (प्रतिपाद्य) अर्थका प्रकाशक रक्खे॥ १४२॥

यथा रामाभ्युदयादिः ।

नायिकानायकाख्यानात्संज्ञा प्रकरणादिषु ।

यथा मालतीमाधवादिः ।

नाटिकासट्टकादीनां नायिकाभिर्विशेषणम् ॥ १४३ ॥

यथा रत्नावली-कर्पूरमञ्जर्यादिः ।

प्रायेण ण्यन्तकः साधिर्गमेः स्थाने प्रयुज्यते ।

यथा शाकुन्तले—ऋषी, 'गच्छावः' इत्यर्थं 'साधयावस्तावत्' ।

राजा स्वामीति देवेति भृत्यैर्भट्टेति चाधमैः ॥ १४४ ॥
राजर्षिभिर्वयस्येति तथा विदूषकेण च ।
राजन्नित्यृषिभिर्वाच्यः सोऽपत्यप्रत्ययेन च ॥ १४५ ॥

प्रकरणादिषु नियममाह—**नायिकानायकाख्यानामिति** । प्रकरणादिषु—रूपकविशेषेषु, नायिकानायकाख्यानां—नायिकानायकसमुचितनाम्नां, संज्ञा=नाम ।

नाटिकासट्टकादीनां नामनियममाह—**नाटिकेति** । नाटिकासट्टकादीनाम्=उपरूपकविशेषप्रभृतीनां, नायिकाभिः=मुख्यस्त्रीपात्रैः, विशेषणं=नाम, कर्तव्यमिति शेषः ॥१४३॥

प्रायेणेति—प्रायेण = बाहुल्येन, ण्यन्तकः = णिच्प्रत्ययान्तः, साधिः = "(राध) साध संसिद्धौ" इति साधधातुः, "इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे" इति इक् प्रत्ययान्तः साधिः, गमेः = "गम्लृ गतौ इति धातोः, स्थाने प्रयुज्यते = व्यवह्रियते ।

पात्राणां सम्बोधननियमानाह—**राजेति** । भृत्यैः=मन्त्र्यादिभिः, राजा=नृपः, स्वामीति देवेति वा, वाच्यः = वक्तव्यः, अधमैः = नीचपात्रैः, भट्टेति वाच्यः ॥१४४॥

राजर्षिभिः=अन्यैः राजर्षिभिः, विदूषकेण=राज्ञो हास्यपात्रेण च राजा "वयस्य"

जैसे—रामाऽभ्युदय आदि ।

प्रकरण आदिमें नायिका और नायकके नाममे नाम रक्खे ।

जैसे—मालतीमाधव आदि ।

नाटिका सट्टक आदिका नायिकाके नामसे नामकरण हो ॥ १४३ ॥

जैसे—रत्नावली और कर्पूरमञ्जरी आदि ।

णिच् प्रत्ययाऽन्त 'साध' धातु "गम्" धातुके स्थानमे प्रयुक्त होता है ।

जैसे शाकुन्तलमें—दो ऋषि-"गच्छावः" इसके अर्थमें "साधयावस्तावत्" ।

नाटकमें सम्बोधनकी उक्तियाँ—राजाको भृत्य "स्वामी" वा "देव" शब्दसे सम्बोधन करें, निकृष्ट पात्र "भट्टा" कहें ॥ १४४ ॥

राजाको राजर्षि और विदूषक "वयस्य" कहें । राजाको ऋषि "राजन्" वा

स्वेच्छया नामभिर्विप्रैर्विप्र आर्येति चेतरैः ।
वयस्येत्यथवा नाम्ना वाच्यो राज्ञा विदूषकः ॥ १४६ ॥
वाच्यौ नटीसूत्रधारावार्यनाम्ना परस्परम् ।
सूत्रधारं वदेद्भाव इति वै पारिपार्श्विकः ॥ १४७ ॥
सूत्रधारो मारिषेति, हण्डे इत्यधमैः समाः ।
वयस्येत्युत्तमैर्हंहो मध्यैरार्येति चाग्रजः ॥ १४८ ॥
भगवन्निति वक्तव्याः सर्वैर्देवर्षिलिङ्गिनः ।

इति वाच्यः, ऋषिभिः, सः = राजा, "राजन्" इति, अपत्यप्रत्ययेन च = इञाद्यपत्यप्रत्ययान्तेन पदेन च वाच्यः, "दाशरथे ! पाण्डव" इति ॥ १४५ ॥

विप्रैः = ब्राह्मणैः, विप्रः = ब्राह्मणः, स्वेच्छया=आत्मवाञ्छया, अपत्यप्रत्ययेन, नामभिर्वा वाच्यः । इतरैः = विप्रभिन्नैः, क्षत्रियादिभिरिति भावः, विप्रः, 'आर्ये"ति वाच्यः । राज्ञा विदूषकः, वयस्य, इति अथवा नाम्ना=वसन्तकादिना, वाच्यः ॥१४६॥

नटीसूत्रधारौ, परस्परं = मिथः, आर्यनाम्ना, वाच्यौ । नटी सूत्रधारम् "आर्य" इति, सूत्रधारश्च नटीम् 'आर्ये" इति सम्बोधयेदिति भावः । पारिपार्श्विकः=सूत्रधारसहायको नटः, सूत्रधार = प्रधाननट "भाव" इति वदेत् ॥ १४७ ॥

सूत्रधारः पारिपार्श्विकं "मारिषे"ति वदेत् । अधमैः = निकृष्टपात्रैः, स्वसमाः= आत्मतुल्या जना "हण्डे" इति वक्तव्याः । उत्तमैः=उत्कृष्टपात्रै, स्वसमाः । "वयस्ये"ति वक्तव्याः । मध्यमैः = मध्यमपात्रैः, स्वसमाः, "हंहो" इति वक्तव्याः । अग्रजः=ज्येष्ठभ्राता, कनिष्ठैर्भ्रातृभिः, "आर्ये"ति वक्तव्यः ॥ १४८ ।

सर्वैः = सकलैर्जनैः, देवर्षिलिङ्गिनः = देवाः (सुराः) ऋषयः (सत्यवचसः,

अपत्यप्रत्ययसे जैसे—"राघव" 'पौरव" ऐसे शब्दसे पुकारें ॥ १४५ ॥

ब्राह्मणको ब्राह्मण अपनी इच्छासे नामसे और अन्य (क्षत्रिय आदि) "आर्य" कहकर पुकारें । राजा विदूषकको 'वयस्य" इस शब्दसे वा नामसे पुकारे ॥ १४६ ॥

नटी और सूत्रधार परस्पर "आर्य" और "आर्या" शब्दका प्रयोग करें । पारिपार्श्विक (सूत्रधारका सहायक) सूत्रधारको "भाव" कहकर पुकारे ॥ १४७ ॥

सूत्रधार पारिपार्श्विकको "मारिष" इस शब्दसे सम्बोधन करे । निम्नवर्ग परस्पर में "हण्डे" शब्दका प्रयोग करें । उत्तमलोग परस्परमें "वयस्य" कहें । मध्यमवर्ग परस्परमें "हंहो" इस शब्दसे सम्बोधन करें । बड़े भाईको छोटा भाई "आर्य" शब्दसे पुकारें ॥ १४८ ॥

देवता, ऋषि और संन्यासी आदिको अन्य सब लोग "भगवन्"

वदेद्राज्ञीं च चेटीं च भवतीति विदूषकः ॥ १४९ ॥
आयुष्मन् रथिनं सूतो वृद्धं तातेति चेतरः ।
वत्सपुत्रकतातेति नाम्ना गोत्रेण वा सुतः ॥ १५० ॥
शिष्याऽनुजश्च वक्तव्योऽमात्य आर्येति चाधमैः ।
विप्रैरयममात्येति सचिवेति च भण्यते ॥ १५१ ॥
साधो ! इति तपस्वी च प्रशान्तश्चोच्यते बुधैः ।
स्वगृहीताभिधः पूज्यः शिष्याद्यैर्विनिगद्यते ॥ १५२ ॥

वेदमन्त्रद्रष्टारः), लिङ्गिनश्च (ब्रह्मचारितापसादिचिह्नधारिणो जनाः), "भगवन्" इति वक्तव्याः । विदूषकः, राज्ञीं=राजमहिषीं, चेटीं च=दासी च, "भवती"ति वदेत् ॥१४९॥

सूतः=सारथिः, रथिनं=रथारूढं जनम् "आयुष्मन्" इति वदेत् । इतरः =अन्यः, युवा बालकश्चेति भावः । वृद्धं=जनं, तातेति वदेत् । सुतः=पुत्रः, पित्रेति शेषः ॥१५०॥

शिष्यः=अन्तेवासी, गुरुणेति शेषः; अनुजः=अवरजः; ज्येष्ठेनेति शेषः ।

"वत्स" "पुत्रक" "तात" इति, नाम्ना = राम इत्याकारकेण, गोत्रेण=अपत्यप्रत्ययेन "राघव ! दाशरथे !" इत्याकारकेण वा वक्तव्यः ॥ १५० ॥

अधमैः = निकृष्टजनैः, अमात्यः = मन्त्री, "आर्य" इति वक्तव्यः । विप्रैः = ब्राह्मणैस्तु, अयम् = अमात्यः, "अमात्य" "सचिव" इति भण्यते = कथ्यते ॥ १५१ ॥

बुधैः=विद्वद्भिः, तपस्वी=तापसः, प्रशान्तश्च = अन्तरिन्द्रियनिग्रहसम्पन्नो जनः, "साधो" इत्युच्यते । शिष्याद्यैः=अन्तेवासिप्रभृतिभिः, आद्यपदेन पुत्रादीनां परामर्शः । पूज्यः = पूजनीयो जनः, गुरुपित्रादिरिति भावः । अगृहीताऽभिधः=अगृहीता (अनुच्चारिता) अभिधा (नाम) यस्य सः, नामग्रहणाभावेनेति भावः, "आर्य पूज्य" इत्यादिशब्देनेति शेषः । विनिगद्यते=अभिधीयते ॥ १५२ ॥

इस शब्दसे सम्बोधन करें । विदूषक रानी और चेटीको भी "भवती" शब्दका प्रयोग करे ॥ १४९ ।

रथारूढको सारथि "आयुष्मन्" इस पदसे सम्बोधन करे । अन्य (बालक और युवा) वृद्धको "तात" ऐसे शब्दका प्रयोग करे । पुत्र, शिष्य, और छोटे भाईको पिता, गुरु और बड़ा भाई "वत्स" "पुत्रक" और "तात" इन शब्दोंसे वा नामसे अथवा गोत्रप्रत्ययान्त शब्दसे सम्बोधन करे ॥ १५० ॥

निकृष्ट पात्र अमात्य (मन्त्री) को "आर्य" पदसे सम्बोधन करे । ब्राह्मण मन्त्रीको "अमात्य" और "सचिव" इन शब्दोंसे व्यवहार करें ॥ १५० ॥

विद्वान् तपस्वी और प्रशान्त (ब्रह्मवेत्ता) को "साधो" इस शब्दसे सम्बोधन करें । शिष्य आदि पूज्य (गुरुजन) को नाम न लेकर (आर्य वा सुगृहीतनामधेय इत्यादि शब्दोंसे) सम्बोधन करें ॥ १५२ ॥

उपाध्यायेति चाचार्यो महाराजेति भूपतिः ।
स्वामीति, युवराजस्तु कुमारो भर्तृदारकः ॥ १५३ ॥
भद्रसौम्यमुखेत्येवमधमैस्तु कुमारकः ।
वाच्या प्रकृतिभी राज्ञः कुमारी भर्तृदारिका ॥ १५४ ॥
पतिर्यथा तथा वाच्या ज्येष्ठमध्याधमैः स्त्रियः ।
हलेति सदृशी, प्रेष्या हञ्जे वेश्याज्जुका तथा ॥ १५५ ॥
कुट्टिन्यम्बेत्यनुगतैः पूज्या च जरती जनैः ।
आमन्त्रणैश्च पाषण्डा वाच्याः स्वसमयागतैः ॥ १५६ ॥

आचार्यः, "उपाध्याय" इति छात्रेणेति शेषः । भूपतिः = राजा, "महाराज !" "स्वामीति" कथ्यते, प्रजाभिरिति शेषः । युवराजस्तु "कुमारो" "भर्तृदारकश्च" उच्यते ॥ १५३ ॥

अधमैः=निकृष्टैः, कुमारकः = युवराजः; "भद्र !" सौम्यमुख ! इति, एवम् = इत्थं, सम्बोधनीयः । प्रकृतिभिः = प्रजाजनैः, राज्ञः = भूपस्य, कुमारी=कन्या, "भर्तृदारिका" एवं वाच्या ॥ १५४ ॥

ज्येष्ठमध्याऽधमैः = श्रेष्ठमध्यमनिकृष्टैः पात्रैः, स्त्रियः = नार्यः, तासां पतिः = स्वामी, यथा = येन प्रकारेण, वाच्यः = सम्बोधनीयः, तथैव वाच्यः = सम्बोधनीयः । सदृशी = स्वसमाना, सखीति भावः । "हला" इति "हला" शब्देन वाच्या । प्रेष्या = दासी, "हञ्जे" "हञ्जे" शब्देन वाच्या । तथा वेश्या "अज्जुका" इति वाच्या । १५५॥

कुट्टिनी = शम्भली, "अम्बा" इति = अम्बापदेन वाच्या । अनुगतैः = सेवकैः जनैः, पूज्या=मान्या, जरती = वृद्धा स्त्री, "अम्बा" इति वाच्या ।

पाषण्डाः=वेदाचारविरोधिनः, स्वसमयागतैः = निजाचारप्राप्तैः, आमन्त्रणैः = सम्बोधनैः, वाच्याः = वक्तव्याः, "हे चार्वाक" इत्याद्यामन्त्रणैरिति भावः ॥१५६॥

आचार्यको "उपाध्याय" शब्दसे राजाको "महाराज" और "स्वामी" शब्दसे युवराजको "कुमार" और "भर्तृदारक" शब्दसे पुकारे ॥ १५३ ॥

अधमवर्ग राजकुमारको "भद्र" और "सौम्यमुख" शब्दसे पुकारें । प्रजावर्ग राजकुमारको "भर्तृदारिक" शब्दका प्रयोग करे ॥ १५४ ॥

ज्येष्ठ, मध्यम और निकृष्ट पुरुष स्त्रियोंको उनके पति को जैसे सम्बोधन करते हैं, वैसे ही सम्बोधन करें । स्त्री सखीको "हला" शब्दसे, दासीको "हञ्जे" शब्दसे वेश्याको "अज्जुका" शब्दसे व्यवहार करे ॥ १५५ ॥

कुटनीको "अम्बा" शब्दसे अनुगतलोग पूज्या वृद्धा स्त्रीको "अम्बा" शब्दसे व्यवहार करे । पाखण्डीलोगोंको उनके आचारके अनुसार सम्बोधन करना चाहिए ।१५६।

शका(शाक्या)दयश्च संभाष्या भद्रदत्तादिनामभिः ।
यस्य यत्कर्म शिल्पं वा विद्या वा जातिरेव वा ॥१५७॥
तेनैव नाम्ना वाच्योऽसौ ज्ञेयाश्चान्ये यथोचितम् ।

अथ भाषाविभागः—

पुरुषाणामनीचानां संस्कृतं स्यात्कृतात्मनाम् ॥१५८॥
सौरसेनी प्रयोक्तव्या तादृशीनां च योषिताम् ।
आसामेव तु गाथासु महाराष्ट्रीं प्रयोजयेत् ॥१५९॥

शकादयश्च = शकयवनादिजातयश्च, भद्रदत्तादिनामभिः = भद्रदत्तादिसंज्ञाभिः, संभाष्याः = संभाषणीयाः । क्वचित् "शकादयश्चे"त्यादिस्थाने "शाक्यादयश्च संभाष्या भदन्तेत्यादिनामभिः ।" इति पाठान्तरम् । तत्र शाक्यादयः = बौद्धादयः, "भदन्ते"-त्यादिनामभिः, संभाष्याः = सम्बोधनीया इत्यर्थः । यस्य = जनस्य, यत् कर्म = क्रिया, मालाकरणादिः, शिल्प = विशिष्टं क्रियाकौशल, विद्या=मीमांसादिः, जातिः = ब्राह्मण-त्वादिर्वा, असौ = सः, तेनैव = तत्कर्मादिप्रकाशकेन, नाम्ना, यथोचितम् – औचित्याऽ-नुसारं, वाच्यः = कथनीयः, ताम्बूलिक ! चित्रकर ! मीमांसक ! ब्राह्मण इत्यादिना सम्बोधनीय इति भावः ॥ १५७ ॥

भाषाविभागः—अनीचानां = नीचभिन्नानाम्, उत्तममध्यमानामिति भावः । कृतात्मनां = पण्डितानां, भाषा "संस्कृतं" स्यात् । "संस्कृतं नाम दैवीवागन्वाख्याता महर्षिभिः ।" इति दण्डिसिद्धान्ताऽनुसारं देवभाषेति भावः ॥ १५८ ॥

तादृशीनाम् – अनीचानां, कृतात्मनां – विदुषीणां, योषितां – स्त्रीणां, "सौर-सेनी" भाषा प्रयोक्तव्या = प्रयोजनीया । "शौरसेनी"ति पाठान्तरमुभयत्र प्राकृतभाषा-भेदो बोद्धव्यः । शूरसेनो मथुराया निकटवर्ती देशस्तत्र भवा शौरसेनीति व्युत्पत्तिः । आसाम् एव=उक्तप्रकाराणां योषिताम् एव, गाथासु=गीतप्रबन्धेषु, महाराष्ट्रीं=भाषां, प्रयोजयेत=कुर्यात्।महाराष्ट्री नाम=महाराष्ट्रभाषा,प्रधानप्राकृतभाषा । "महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः ।" इति काव्यदर्शे दण्डी (१-३४) ॥ १५९ ॥

शक आदिसे भद्रदत्त आदि नामोंसे संभाषण करना चाहिए । जिसका जो कर्म, शिल्प, विद्या वा जाति है ॥ १५७ ॥

उसी नामसे उसे कहना चाहिए । और विषय औचित्यके अनुसार जानना चाहिए।

भाषाविभाग —उत्तम, मध्यम और शिक्षित पुरुषोंकी संस्कृतभाषा हो । वैसी ही (उत्तमा, मध्यमा और शिक्षित स्त्रियोंकी सौरसेनी भाषाका प्रयोग होना चाहिए । वैसी ही स्त्रियोंके गानप्रबन्धोंमें महाराष्ट्री भाषाका प्रयोग हो ॥ १५९ ॥

अत्रोक्ता मागधी भाषा राजान्तःपुरचारिणाम् ।
चेटानां राजपुत्राणां श्रेष्ठानां चार्धमागधी ॥१६०॥
प्राच्या विदूषकादीनां, धूर्तानां स्यादवन्तिजा ।
योधनागरिकादीनां दाक्षिणात्या हि दीव्यताम् ॥१६१॥
शबराणां शकादीनां शाबरीं संप्रयोजयेत् ।
बाह्लीकभाषोदीच्यानां द्राविडी द्रविडादिषु ॥१६२॥
आभीरेषु तथाभीरी चाण्डाली पुक्कसादिषु ।

अत्र – नाटयशास्त्रे, राजाऽन्तःपुरचारिणां = राज्ञः (भूपस्य) यत् अन्तःपुरं (शुद्धान्तः) तच्चारिणां (वामनषण्डादीनाम्), मागधी=मगधदेशोद्भवा भाषा, (चतसृणां मुख्यप्राकृतभाषाणामन्यतमा), उक्ता = अभिहिता । चेटानां = भृत्यानां, राजपुत्राणां, श्रेष्ठानां=वणिजां; च अर्द्धमागधी=भाषा, प्रयोक्तव्या ॥ १६० ॥

विदूषकादीनां,प्राच्या=भाषा । गौडीयेति भावः । धूर्तानाम्=अक्षक्रीडाशीलानाम्, अवन्तिजा = आवन्ती भाषा । दीव्यतां = क्रीडापराणां, योधनागरिकाणां = योधानां (भटानाम्) नागरिकाणाम् (पौराणाम्) च, दाक्षिणात्या=दक्षिणदेशोद्भवा, वैदर्भी भाषेति भावः । हि=निश्चयेन ॥ १६१ ॥

शबराणां=म्लेच्छविशेषाणां, शकादीनां=पर्वतीयम्लेच्छविशेषाणां च, शाबरी= शबरभाषां, सप्रयोजयेत् = विदध्यात् । उदीच्यानाम् = उत्तरदिग्वासिनां, नागप्रभृति-जातीनामिति भावः, बाह्लीकभाषा, द्रविडादिषु – द्रविडादिदेशनिवासिषु, द्राविडी = द्राविडी भाषा ॥ १६२ ॥

आभीरेषु – जातिविशेषेषु, महाशूद्रेष्विति भावः । आभीरी = आभीरभाषा ।

राजाके अन्तःपुर (रनिवासा) में चलनेवालोंकी मागधी भाषा कही गई है । दासोंका राजपुत्रोंका और सेठ लोगोंकी अर्धमागधी हो ॥ १६० ॥

विदूषक आदिकी प्राच्या (गौडी) भाषा हो । जुआ खेलनेवालोंकी आवन्ती भाषा हो । योद्धा, नागरिक और क्रीडामें आसक्त पुरुषोंकी दक्षिणात्या (वैदर्भी) भाषा हो ॥ १६१ ॥

शबर और शक आदियोंकी शाबरी भाषाका प्रयोग होना चाहिए । उदीच्य = उत्तर दिशामें रहनेवालोंकी बाह्लीक भाषा और द्रविड आदियोंमें, द्रविड भाषा हो ॥ १६२ ॥

आभीरोंमें आभीरी भाषा और पुक्कस (चाण्डालविशेष) आदिमें चाण्डाली

आभीरी शाबरी चापि काष्ठपात्रोपजीविषु ॥१६३॥
तथैवाङ्गारकारादौ पैशाची स्यात्पिशाचवाक् ।
चेटानामप्यनीचानामपि स्यात्सौरसेनिका ॥१६४॥
बालानां पण्डकानां च नीचग्रहविचारिणाम् ।
उन्मत्तानामातुराणां सैव स्यात्संस्कृतं क्वचित् ॥१६५॥
ऐश्वर्येण प्रमत्तस्य दारिद्र्योपद्रुतस्य च ।
भिक्षुवल्कधरादीनां प्राकृतं सम्प्रयोजयेत् ॥१६६॥

पुक्कसादिषु = चाण्डालविशेषेषु, चाण्डाली भाषा । काष्ठपात्रोपजीविषु = काष्ठपात्रैः (दारुभाजनैः) उपजीविषु (उपजीवनशीलेषु) आभीरी शाबरी च भाषा प्रयोक्तव्या ॥ १६३ ॥

अङ्गारकारादौ = लोहादिधातुजीविनि, पिशाचवाक् = पैशाची भाषा, प्राकृत भाषाया निम्नतमभाषा । अनीचानां = नीचभिन्नानाम्, उत्तममध्यमानामिति भावः । चेटीनां—दासीनाम् अपि, सौरसेनिका भाषा, स्यात् ॥ १६४ ॥

बालानां = शिशूनां, षण्डकानां = नपुंसकानां, नीचग्रहविचारिणां = नीचानां (निम्नवर्गजनानाम्) ग्रहविचारिणां = ग्रहविचारशीलानां, दैवज्ञानामिति भावः । उन्मत्तानाम् = उन्मादयुक्तानाम्, आतुराणां = रोगादिना आकुलानां च, सा एव = सौरसेनिका एव, क्वचित्=कुत्रचित्, एतेषां संस्कृतं च स्यात् ॥ १६५ ॥

ऐश्वर्येण = प्रभुत्वेन, प्रमत्तस्य, दारिद्र्योपद्रुतस्य = दारिद्र्येण (दौर्गत्येन) उपद्रुतस्य (पीडितस्य), भिक्षुवल्कधरादीनां = भिक्षूणां (संन्यासिनाम्) वल्कधरादीनां (वल्कलधारकप्रभृतीनाम्), प्राकृतं=प्राकृतभाषां,संप्रयोजयेत्=विदध्यात ॥१६६॥

भाषा हो । काष्ठपात्रोंसे जीविका करने वालोंमें आभीरी और शाबरी भाषा होना चाहिए ॥ १६३ ॥

अङ्गारकार आदिमें पैशाची भाषा हो । अनीच (उत्तम और मध्यम) दासियोंमें सौरसेनिका भाषा हो ॥ १६४ ॥

बालक, नपुंसक और निम्नवर्गके लोगोंके ग्रहोंका विचार करनेवाले ज्योतिषियों-का, पागल और रोग आदिसे आकुलजनोंका सौरसेनिका ही वा कहींपर संस्कृत भाषा हो ॥ १६५ ॥

ऐश्वर्यसे प्रमत्त दारिद्र्यसे पीडित, भिक्षुक और वल्कलधारियोंकी प्राकृत भाषा हो ॥ १६६ ॥

संस्कृतं संप्रयोक्तव्यं लिङ्गिनीषूत्तमासु च ।
देवीमन्त्रिसुतावेश्यास्वपि कैश्चित्तथोदितम् ॥१६७॥
यद्देश्यं नीचपात्रं तु तद्देश्यं तस्य भाषितम् ।
कार्यतश्चोत्तमादीनां कार्यो भाषाविपर्ययः ॥१६८॥
योषित्सखीबालवेश्याकितवाप्सरसां तथा ।
वैदग्ध्यार्थं प्रदातव्यं संस्कृतं चान्तरान्तरा ॥१६९॥

एषामुदाहरणान्याकरेषु बोद्धव्यानि । भाषालक्षणानि मम तातपादानां भाषार्णवे ।

लिङ्गिनीषु= संन्यासादिचिह्नधारिणीषु, उत्तमासु=उत्कृष्टजातिभवासु नारीषु, संस्कृतं, संप्रयोक्तव्यम् = संप्रयोजनीयम् । कैश्चित् = आलङ्कारिकैः, देवीमन्त्रिसुता-वेश्यासु = देवी (महिषी) मन्त्रिसुता (सचिवकुमारी) वेश्या (गणिका), आसु अपि, तथा=संस्कृतम्, उदितम्=उक्तम् ॥ १६७ ॥

नीचपात्रं=हीनपात्रं, यद्देश्य=यद्देशभवं, तस्य=नीचपात्रस्य, तद्देश्यं=तद्देशभवं, भाषितं = भाषणं कार्यम् । कार्यतः = कर्माऽनुरोधात्, उत्तमादीनां = नायिकाऽऽदीनां, भाषाविपर्ययः=भाषापरिवर्तनं, कार्यः=कर्तव्यः ॥ १६८ ॥

वैदग्ध्याऽर्थं = नैपुण्यज्ञापनाऽर्थं, योषिदित्यादि = योषित् (स्त्री, नायिकेति-भावः), सखी (तस्या वयस्या) बालः (शिशुः) वेश्या (गणिका) कितवः (धूर्तः) अप्सरसः (स्वर्वेश्याः), एतासाम्, अन्तराऽन्तरा = मध्ये मध्ये । संस्कृतं, प्रदातव्यं= प्रदेयं, कविनेति शेषः ॥ १६९ ॥

एषामुदाहरणानि, आकरेषु= मालतीमाधवाऽभिज्ञानशाकुन्तलादिषु मूलग्रन्थेषु, बोद्धव्यानि=बोध्यानि । भाषालक्षणानीति, भाषाभेदा यथा नाट्यशास्त्रे—

"मागध्यवन्तिजा प्राच्या सूरसेन्यर्द्धमागधी ।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषाः प्रकीर्तिताः ॥" इति

संन्यास आदि चिह्नोंको धारण करनेवालियोंमें, उत्कृष्ट जातिमें उत्पन्न स्त्रियोंमें, रानी, मन्त्रि-कुमारी और वेश्या इनका कुछलोगोंने संस्कृत भाषाका प्रयोग कहा है।१६७।

जिस देशमें उत्पन्न नीच पात्र है उसी देशकी भाषा उसकी होनी चाहिए। कार्यके अनुरोधसे उत्तम नायिका आदियोंका भाषाका परिवर्तन करना चाहिए ।।१६८।।

नैपुण्य दिखलानेके लिए स्त्री, सखी, बालक, वेश्या, धूर्त और अप्सराओंका बीच बीचमें संस्कृत भाषाका प्रयोग होना चाहिए ॥ १६९ ॥

इनके उदाहरण आकर ग्रन्थोमें जानने चाहिए। भाषा-लक्षण ग्रन्थकारके

षट्त्रिंशल्लक्षणान्यत्र, नाट्यालंकृतयस्तथा ।
त्रयस्त्रिंशत्प्रयोज्यानि, वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ॥ १७० ॥
लास्याङ्गानि दश यथालाभं रसव्यपेक्षया ।

यथालाभं प्रयोज्यानीति सम्बन्धः। अत्रेति नाटके ।

तत्र लक्षणानि—

भूषणाक्षरसंघातौ शोभोदाहरणं तथा ॥ १७१ ॥
हेतुसंशयदृष्टान्तास्तुल्यतर्कः पदोच्चयः ।
निदर्शनाभिप्रायौ च प्राप्तिर्विचार एव च ॥ १७२ ॥
दिष्टोपदिष्टे च गुणातिपातातिशयौ तथा ।
विशेषणनिरुक्ती च सिद्धिभ्रंशविपर्ययौ ॥ १७३ ॥

रुद्रटीये काव्याऽलङ्कारे—

"प्राकृतसंस्कृतमागधपिशाचभाषाश्च सूरसेनी च ।
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः ॥" इति ।

नाट्ये प्रयोज्यानि प्रतिपादयति—**षट्त्रिंशल्लक्षणानीति** । अत्र = नाटके षट्त्रिंशल्लक्षणानि, तथा नाट्यालङ्कृतयस्त्रयस्त्रिंशत्; वीथ्यङ्गानि त्रयोदश ॥ १७० ॥

लास्याङ्गानि दश, एतानि, रसव्यपेक्षया = रसानां (शृङ्गारादीनाम्) व्यपेक्षया (विशेषाऽनुरोधेन), यथालाभं = यथासंभवं, प्रयोज्यानि = प्रयोजनीयानि ।

लक्षणान्युद्दिशति— **भूषणाऽक्षरसंघाताविति** । भूषणादारभ्योदाहरणं यावत् चत्वारि ॥ १७१ ॥

हेतुमारभ्य विचारं यावत् नव ॥ १७२ ॥

दिष्टमारभ्य विपर्ययं यावत् नव ॥ १७३ ॥

पिता (चन्द्रशेखर) के भाषार्णवमें है ।

नाटकमें छत्तीस लक्षण, तेंतीस नाट्याऽलङ्कार, वीथीके अङ्ग तेरह और लास्यके अङ्ग दश, इनको रसका विशेष अपेक्षा रख लाभके अनुसार प्रयोग करना चाहिए ।

लक्षण—भूषणसे उदाहरण तक चार ॥ १७१ ॥

हेतुसे विचार तक नौ ॥ १७२ ॥

दिष्टसे विपर्यय तक नौ ॥ १७३ ॥

दाक्षिण्यानुनयौ मालार्थापत्तिर्गर्हणं तथा ।
पृच्छा प्रसिद्धिः सारूप्यं संक्षेपो गुणकीर्तनम् ॥ १७४ ॥
लेशो मनोरथोऽनुक्तसिद्धिः प्रियवचस्तथा ।

तत्र—

लक्षणानि—गुणैः सालंकारैर्योगस्तु भूषणम् ॥ १७५ ॥

यथा—'आक्षिपन्त्यरविन्दानि मुग्धे ! तव मुखश्रियम् ।
कोषदण्डसमग्राणां किमेषामस्ति दुष्करम् ॥'

वर्णनाऽक्षरसंघातश्चित्रार्थैरक्षरैर्मितैः ।

दाक्षिण्यादारभ्य गुणकीर्तनं यावत् दश ॥ १७४ ॥

लेशमारभ्य प्रियवचो यावत् चत्वारि समष्टया षट्त्रिंशत्संख्यकानि लक्षणा-न्युद्दिष्टानि ॥

भूषणं लक्षयति—**गुणैरिति** । साऽलङ्कारैः = उपमाद्यलङ्कारसहितैः, गुणैः = माधुर्यादिभिः, योगः = सम्बन्धः, "भूषणम्" ॥ १७५ ॥

भूषणमुदाहरति—**आक्षिपन्तीति** । कश्चिन्नायकः काञ्चिन्नायिकां कथयति—हे मुग्धे = हे सुन्दरि !, अरविन्दानि = कमलानि, तव = भवत्याः, मुखश्रियं = वदन-शोभाम्, आक्षिपन्ति = निन्दन्ति । अर्थान्तरन्यासेन समर्थयते—कोषेत्यादिः । कोषदण्ड-समग्राणां = कोषः (बीजकोष एव कोषः = धनाऽगारम्) दण्डः (नालम् एव दण्डः= चतुर्थोपायः) ताभ्यां समग्राणाम् (सम्पूर्णानाम्), एषाम् = अरविन्दानां, किं = कार्यं, दुष्करं = दुर्विधेयमस्ति । अत्राऽर्थश्लेषमूलोऽर्थान्तरन्यासोऽलङ्कारो माधुर्यं च गुणः । अनुष्टुब्वृत्तम् ॥

अक्षरसंघातं लक्षयति—**वर्णनेति** । चित्रार्थैः = विचित्रार्थैः, मितैः = अल्पैरिति भावः, अक्षरैः = वर्णैः, वर्णना = वर्णनम् "अक्षरसंघातः" ।

दाक्षिण्यसे गुण कीर्तन तक दश ॥ १७४ ॥

लेशसे प्रियवचन तक ४, इस प्रकार समष्टि रूपसे लक्षणके छत्तीस भेद होते हैं ॥

भूषण—अलङ्कार और गुणोंके योगको "भूषण" कहते हैं ॥ १७५ ॥

जैसे कोई नायक नायिकासे कहता है—कमल तुम्हारी मुखकी शोभाका हरण करते हैं । जैसे कोश (खजाना) और दण्ड (सेना) से युक्त राजा लोग दूसरोंकी सम्पत्ति हर लेते हैं उसी तरह कोश (बीजकोष) और दण्ड (मृणाल) से पूर्ण इन (कमलों) के लिए क्या दुष्कर है ? ॥

अक्षरसंघात—विचित्र अर्थोंवाले परिमित अक्षरोंसे वर्णन करनेको "अक्षर-संघात" कहते हैं ।

यथा शाकुन्तले—

'राजा—कच्चित्सखीं वो नातिबाधते शरीरसंतापः ?।

प्रियंवदा—सम्पदं लधोसड़ो उअसमं गमिस्सदि' ।

सिद्धैरर्थैः समं यत्राप्रसिद्धोऽर्थः प्रकाशते ॥ १७६ ॥

श्लिष्टश्लक्षणचित्रार्था सा शोभेत्यभिधीयते ।

यथा—'सद्वंशसम्भवः शुद्धः कोटिदोऽपि गुणान्वितः ।

कामं धनुरिव क्रूरो वर्जनीयः सतां प्रभुः ॥

अक्षरसंघातमुदाहरति - **कच्चिदिति** । वः=युष्माकं, सखी=वयस्या, शकुन्तलामिति भावः । प्रियंवदा—"साम्प्रतं लब्धौषध उपशम गमिष्यति ।" इति संस्कृतच्छाया । लब्धौषधः = लब्धम् (प्राप्तम्) औषधं (भेषजम्), भवद्रूपमिति भावः । येन सः, तादृशः सन् । अत्रेदृशैरक्षरैर्मिताऽक्षरै"र्भवानस्याः शरीरसन्तापमुपशमयतु" इति विचित्राऽर्थबोधनादक्षरसंघातः ।

शोभां लक्षयति-**सिद्धैरिति** । यत्र=यस्मिन् स्थले, सिद्धैः=प्रसिद्धैः, अर्थैः=पदार्थैः, अप्रसिद्धः=अविख्यातः, गुप्तरूप इति भावः, अर्थः, प्रकाशते=प्रकाशितो भवति ॥१७६॥

श्लिष्टलक्षणचित्राऽर्था=श्लिष्टलक्षणः (श्लेषयुक्तस्वरूपः) चित्रः (विचित्रः) अर्थः (अभिधेयः) यस्याः सा, सा "शोभे' ति अभिधीयते ॥

शोभामुदाहरति—**सद्वंशसंभव इति** । सद्वंशसंभवः = सतः (उत्तमात्) वंशात् (कुलात्, वेणोश्च) सभवः (उत्पत्तिः) यस्य सः । शुद्धः (निष्पापः, कीटाऽविद्धश्च), कोटिदः = कोटिं (तत्संख्यकद्रव्यम्) ददातीति, कोटिसंख्यकं शत्रुं च द्यति= खण्डयतीति च । गुणाऽन्वितः = गुणैः (दयादाक्षिण्यादिगुणैः, गुणेन=मौर्व्या च) अन्वितः (युक्तः) अपि, क्रूरः = निष्ठुरः, वक्रश्च, प्रभुः=स्वामी; धनुरिव—कार्मुकमिव, सतां= सज्जनानां, "वर्जनीय" इति कृत्यप्रत्ययाऽन्तपदयोगे "कृत्यानां कर्तरि वा" इति विकल्पेन कर्तरि षष्ठी, पक्षे सद्भिरिति तृतीया । वर्जनीयः=त्याज्यः । अत्र सिद्धैर्वंशजातादिभिः अप्रसिद्धवेणुजातादिरर्थो भासत इति श्लिष्टविचित्राऽर्थत्वाच्छोभा नाम नाट्यलक्षणम् ।

जैसे शाकुन्तलमें—राजा—तुम्हारी सखीको शरीरसन्ताप ज्यादा बाधा तो नहीं कर रहा है ? प्रियवदा—"इस समय औषध प्राप्त होनेसे शान्तिको प्राप्त होगा" ।

शोभा—जहाँपर प्रसिद्ध अर्थोंके साथ अप्रसिद्ध अर्थ प्रकाशित होता है ।१७६।

श्लेषयुक्तस्वरूप विचित्र अर्थवाली उसे "शोभा" कहते हैं ॥

जैसे—उत्तम कुलमें उत्पन्न, शुद्ध (निष्पाप), करोड़ों रुपयोंको देनेवाला और गुणोंसे युक्त प्रभु भी क्रूर हो तो उत्तम वंश (बांस) में उत्पन्न, शुद्ध (कीड़ोंसे अविद्ध) कोटिद (करोड़ों शत्रुओंको खण्डन करनेवाला, और गुण (प्रत्यञ्चा) से युक्त कुटिल धनुके समान सज्जनोंसे छोड़नेके लिए योग्य हो जाता है ॥

यत्र तुल्यार्थयुक्तेन वाक्येनाभिप्रदर्शनात् ।। १७७ ।।
साध्यतेऽभिमतश्चार्थस्तदुदाहरणं मतम् ।

यथा—

'अनुयान्त्या जनातीतं कान्तं साधु त्वया कृतम् ।
का दिनश्रीर्विनार्केण ? का निशा शशिना विना ? ।।'

हेतुर्वाक्यं समासोक्तमिष्टकृद्धेतुदर्शनात् ।। १७८ ।।

यथा वेण्यां भीमं प्रति—

चेटी—एवं मए भणिदं—'भाणुमदि ! तुह्माणं अमुक्केसु केसेसु कह देवीए केसा संजमिअन्तित्ति' ।

उदाहरण लक्षयति—**यत्रेति** । यत्र, तुल्याऽर्थयुक्तेन = समानविषयसहितेन, वाक्येन, अभिप्रदर्शनात् = अभिप्रायप्रकाशनात् ।। १७७ ।।

अभिमतः = अभीष्टः, अर्थः, साध्यते = प्रतिपाद्यते, तत्, "उदाहरण" नाम लक्षणं मतम् ।

उदाहरणमुदाहरति—**अनुयान्त्येति** । पतिमनुयान्तीं कांचिन्नायिकां प्रति तत्सख्या उक्तिरियम् । जनाऽतीतं = गुणगणाऽतिशयेनाऽतिक्रान्तलोकं, कान्तं = पतिम्, अनुयान्त्या = अनुसरन्त्या, त्वया = भवत्या, साधु = समीचीनं, कृतं = विहितम् । तथा च अर्केण विना = सूर्यमन्तरेण, दिनश्रीः = दिवसशोभा, का ? तथैव, शशिना विना = चन्द्रमन्तरेण, का, निशा = रात्रिः ? । अत्राऽर्कं विना दिनश्रीरिव शशिनं विना निशाश्रीरिव कान्तं विना कान्ताऽपि शोभारहितेति साध्यते, अत उदाहरणमिति भावः ।

हेतुं लक्षयति—**हेतुरिति** । हेतुदर्शनात् = कारणप्रदर्शनात्, समासोक्त = संक्षेपेण प्रतिपादितम्, इष्टकृत् = अभीष्टाऽर्थबोधक, वाक्यं, 'हेतुः" ।। १७८ ।।

हेतुमुदाहरति—**यथेति** । एवं मया भणितं "भानुमति ! युष्माकममुक्तेषु केशेषु कथं देव्याः केशाः संयम्यन्ते" । इति संस्कृतच्छाया । अत्र द्रौपदीकेशाऽसंयमनस्य हेतुर्भानुमतीकेशाऽमोक्षणं, तच्च दुर्योधने हत एव देव्याः केशसंयमो भविष्यतीत्यभिमताऽर्थबोधः ।

उदाहरण–जहां समान विषयसे युक्त वाक्यसे अभिप्रायके प्रकाशनसे ।१७७।– अभीष्ट अर्थकी सिद्धि की जाती है उसे "उदाहरण" कहते हैं ।।

जैसे—लोकोत्तर गुणोंसे सम्पन्न पतिको अनुसरण करनेवाली तुमने उचित किया 'सूर्यके विना दिनकी शोभा क्या ? और चन्द्रके विना रात्रिकी शोभा ही क्या ?

हेतु कारणके प्रदर्शनसे जहाँपर संक्षेपसे प्रतिपादित अभीष्टका बोधक वाक्य हो उसे "हेतु" कहत हैं ।। १७८ ।।

जैसे वेणीसंहारमें भीमके प्रति चेटी—मने ऐसा कहा—"भानुमति ! आपके केशोंके मुक्त न होनेपर कैसे द्रौपदीके केश बाँधे जाते हैं" ।

संशयोऽज्ञाततत्त्वस्य वाक्ये स्याद्यदनिश्चयः ।

यथा ययातिविजये—

'इयं स्वर्गाधिनाथस्य लक्ष्मीः किं यक्षकन्यका ? ।
किं चास्य विषयस्यैव देवता ?, किमु पार्वती ॥'

दृष्टान्तो यस्तु पक्षेऽर्थसाधनाय निदर्शनम् ॥ १७९ ॥

यथा वेण्याम्—

'सहदेवः—आर्य! उचितमेवैतत्तस्या यतो दुर्योधनकलत्रं हि सा' इत्यादि ।

तुल्यतर्को यदर्थेन तर्कः प्रकृतगामिना ।

संशयं लक्षयति - **संशय इति** । अज्ञाततत्त्वस्य=अविदितविशेषस्य, जनस्य । वाक्ये, यत् अनिश्चयः, स्यात्; "संशयः" ।

संशयमुदाहरति—**यथेति** । शर्मिष्ठां दृष्ट्वा राज्ञो ययातेरुक्तिरियम् । इयं=सन्निकृष्टस्था ललना, स्वर्गाऽधिनाथस्य=स्वर्पतेरिन्द्रस्य, लक्ष्मीः=राजश्रीः, किम् ?, यक्षकन्यका=यक्षस्य (देवयोनिविशेषस्य) कुमारी किं, किं च, अस्य=एतस्य, विषयस्य=देशस्य, देवता=देवी, पार्वती एव=हैमवती एव, किमु ? अनुष्टुब्वृत्तम् । अत्राऽज्ञाततत्त्वस्य ययातेर्निश्चयाऽभावात् संशयो नाम लक्षणभेदः ।

दृष्टान्तं लक्षयति—**दृष्टान्त इति** । पक्षे, अर्थसाधनाय=साध्यसाधनार्थं, निदर्शनं=हेतुप्रदर्शनं "दृष्टान्तः" ॥ १७९ ॥

दृष्टान्तमुदाहरति—**यथेति** । अत्र भानुमतीरूपपक्षे व्यङ्ग्य शाक्यरूपसाध्यस्य दुर्योधनकलत्ररूपहेतुप्रदर्शनात् दृष्टान्तः ।

तुल्यतर्कं लक्षयति—प्रकृतिगामिना=प्रस्तुताऽर्थगामुकेन, अर्थेन=विषयेण, यत् तर्कः=भाव्यर्थसूचनं स "तुल्यतर्कः" ॥

संशय—वाक्यमे अज्ञात तत्त्वके अनिश्चयको "संशय" कहते हैं ।

जैसे ययाति विजयमें—शर्मिष्ठाको देखकर ययाति कहते हैं—"यह इन्द्रकी राजलक्ष्मी है वा यक्षकन्या है ? अथवा इसी देशकी देवता पार्वती है ?

दृष्टान्त—पक्षमें साध्यके साधनके लिए हेतु दिखलानेको "दृष्टाऽन्त" कहते हैं ॥ १७९ ॥

जैसे वेणीसंहारमें--"सहदेव—आर्य ! यह उसके लिए उचित ही है, जिससे कि वह दुर्योधनकी पत्नी है ।" इत्यादि ।

तुल्यतर्क—प्रस्तुत अर्थमें जानेवाले विषयसे जो भावी अर्थकी सूचना करनी है वह "तुल्यतर्क" है ।

यथा तत्रैव—

'प्रायेणैव हि दृश्यन्ते कामं स्वप्नाः शुभाशुभाः ।
शतसंख्यया पुनरियं सानुजं स्पृशतीव माम् ॥'

संचयोऽर्थानुरूपो यः पदानां स पदोच्चयः ॥ १८० ॥

यथा शाकुन्तले—

'अधरः किसलयरागः, कोमलविटपानुकारिणौ बाहू ।
कुसुममिव लोभनीयं यौवनमङ्गेषु संनद्धम् ॥'

अत्र पदपदार्थयोः सौकुमार्यं सदृशमेव ।

यथा तत्रैवेति—प्रायेणेति । भानुमत्याः स्वप्ने दुर्योधनस्य तर्कोऽयम् । प्रायेणैव = बाहुल्येनैव, शुभाऽशुभाः, स्वप्नाः कामं = पर्याप्तं, दृश्यन्ते = विलोक्यन्ते, इयम्=एषा, शतसंख्या, साऽनुज = सावरजं, मां, स्पृशति इव=आमृशति इव ॥

पदोच्चयं लक्षयति—**संचय इति** । अर्थाऽनुरूपः=वाच्यसदृशः, यः पदानां = शब्दानां, सञ्चयः=समूहः, स "पदोच्चयः" ॥ १८० ॥

पदोच्चयमुदाहरति-**अधर इति** । शकुन्तलां दृष्टवा राज्ञो दुष्यन्तस्य स्वगतोक्तिरियम् । अधरः=अस्या अधरोष्ठः, किसलयरागः = किसलयस्य (पल्लवस्य) इव रागः (लौहित्यम्) यस्य सः । बाहुः=भुजो, कोमलविटपाऽनुकारिणौ = मृदुलशाखातुल्यौ, अङ्गेषु = तत्तदवयवेषु, कुसुमम् इव=पुष्पम् इव, लोभनीयं = लोभयोग्यं, यौवनं = तारुण्यं, संनद्ध=सम्बद्धम् ॥

विवृणोति । **अत्रेति** ।

जैसे—वहीं (वेणीसंहार) पर—यह भानुमतीके स्वप्नमें दुर्योधनका तर्क है । अकसर ही शुभ और अशुभ स्वप्न पर्याप्त रूपसे देखे जाते हैं । यह सौ संख्या भाइयोंके साथ मानों मुझे स्पर्श करती हैं ॥

पदोच्चय—अर्थके समान जो पदोंका समूह है वह "पदोच्चय" है ॥१८०॥

जैसे शाकुन्तलमें—शकुन्तलाके अधर पल्लवके समान राग (लाली) वाला है, बाहु कोमल पल्लवोंके समान हैं । इनके अङ्गोंमें फूलके समान लोभके योग्य तारुण्य सम्बद्ध है । इसमें पद और पदार्थोंकी सुकुमारता तुल्य ही है ।

यत्रार्थानां प्रसिद्धानां क्रियते परिकीर्तनम् ।
परपक्षव्युदासार्थं तन्निदर्शनमुच्यते ॥ १८१ ॥

यथा—

'क्षात्रधर्मोचितैर्धर्मैरलं शत्रुवधे नृपाः ।
किं तु वालिनि रामेण मुक्तो बाणः पराङ्मुखे॥'

अभिप्रायस्तु सादृश्यादभूतार्थस्य कल्पना ।

यथा शाकुन्तले—

'इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्षमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्रधारया शमीलतां छेत्तुमृषिर्व्यवस्यति ॥'

निदर्शनं लक्षयति—**यत्रेति ।** यत्र, परपक्षव्युदासार्थ =परपक्षस्य (पक्षान्तरस्य) व्युदासार्थं (निवारणार्थम्), प्रसिद्धानां = प्रख्यातानाम्, अर्थानां = विषयाणां, परिकीर्तनं = परिवर्णनं, क्रियते = विधीयते, तत् "निदर्शनम्" उच्यते ॥ १८१ ॥

निदर्शनमुदाहरति—**क्षात्रधर्मोचितैरिति ।** अत्र रामं कश्चिद्दूषयति । नृपाः= राजानः; क्षात्रधर्मोचितैः = क्षत्रियसम्बन्धिधर्मयोग्यैः, धर्मैः = सम्मुखवर्तिशत्रुवधयोग्यैर्युद्धैः, शत्रुवधे = वैरिव्यापादने, अलं = समर्थाः, किन्तु=परन्तु, रामेण=राघवेण, पराङ्मुखे = स्वस्मिन् विमुखे, सुग्रीवेण समं युद्धोद्यत इति भावः । वालिनि = सूर्यपुत्र,. बाणः = शरः, मुक्त = त्यक्तः, प्रहृत इति भावः ।

अत्र परपक्षनिरासार्थं प्रसिद्धानां परिकीर्तनान्निदर्शनं नाम लक्षणम् ॥ १८२ ॥

अभिप्रायं लक्षयति—**अभिप्राय इति ।** सादृश्यात् = तुल्यत्वाद्धेतोः, अभूतार्थस्य = असम्भविनो वस्तुनः, कल्पना = आपादनम् "अभिप्राय." ।

अभिप्रायमुदाहरति—**इदमिति ।** यः = जनः, महर्षिः = कण्व इति भावः । अव्याजमनोहरं = निश्छलसुन्दरम्, इदं = पुरःस्थितं, वपुः = शरीरं, शकुन्तलादेहमित्यर्थः । तपःक्षमं = तपस्याक्लेशं, साधयितुं = कारयितुम्, इच्छति = वाञ्छति, स = महर्षिः, नीलोत्पलपत्रधारया = नीलोत्पलस्य (नीलकमलस्य) पत्रधारया (दलाग्रभागेन), शमिलतां = दारुवल्लीं, छेत्तुं =द्विधा कर्तुम्, व्यवस्यति=इच्छति ।

निदर्शन—जहाँपर परपक्षका प्रत्याख्यान करनेके लिए प्रसिद्ध विषयोंका परिकीर्तन किया जाता है उसे "निदर्शन" कहते हैं ॥ १८१ ॥

जैसे—राजालोग क्षत्रिय धर्मके उचित नियमोंसे शत्रुओंके वधमें समर्थ होते हैं, परन्तु अपने साथ युद्धमें पराङ्मुख वालीपर रामने बाण छोड़ा ॥

अभिप्राय—सादृश्यसे असंभव विषयकी कल्पनाको "अभिप्राय" कहते हैं ।

जैसे शाकुन्तलमें—शकुन्तलाको देखकर राजा कहते हैं—जो इस स्वभाव-

प्राप्तिः केनचिदंशेन किञ्चिद्यत्रानुमीयते ॥ १ २ ॥

यथा मम प्रभावत्याम्—

'अनेन खलु सर्वतश्चरता चञ्चरीकेणावश्यं विदिता भविष्यति प्रियतमा मे प्रभावती।'

विचारो युक्तिवाक्यैर्यदप्रत्यक्षार्थसाधनम् ।

यथा मम चन्द्रकलायाम्—

'राजा—नूनमियमन्तःपिहितमदनविकारो वर्तते ।

यतः—

हसति परितोषरहितं, निरीक्ष्यमाणापि नेक्षते किञ्चित् ।

निदर्शनाऽलङ्कारः, वंशस्थं वृत्तम् । नीलोत्पलपत्त्रधारया समिल्लताच्छेदनमिव शकुन्तला-शरीरेण तपः साधनमसम्भवमिति अभिप्रायो नाम लक्षणम् ॥

प्राप्तिं लक्षयति—**प्राप्तिरिति ।** यत्र=यस्मिन् स्थले, केनचित् अंशेन=वाक्य-भागेन, किञ्चित्, अनुमीयते=अनुमितिविषयीक्रियते, सा "प्राप्तिः" क्वचित् "**प्राप्ति**"-रिति पाठान्तरम् ॥ १८२ ॥

प्राप्तिमुदाहरति—**यथेति ।** चञ्चरीकेण = भ्रमरेण । अत्र सर्वतश्चरणेन भ्रमर-कर्तृकं प्रभावतीज्ञानमनुमीयते ।

विचारं लक्षयति—**विचार इति ।** युक्तिवाक्यैः = उपपत्तियुक्तवचनैः, यत् अप्रत्यक्षाऽर्थसाधनम् = अप्रत्यक्षाऽर्थस्य (परोक्षविषयस्य) साधनम् (ज्ञापनम्) स "विचारः" ।

विचारमुदाहरति—**यथेति ।** अन्तःपिहितमदनविकारा = अन्तराच्छादित-कामविकृतिः । **हसतीति ।** इयं, परितोषरहितं=सन्तोषरहितं तथा यथा, हसति=हास्यं करोति । निरीक्ष्यमाणा अपि = अवलोक्यमाना अपि, किञ्चित् = किमपि, न ईक्षते=

सुन्दर शरीरसे तपस्याका क्लेश करना चाहते हैं, वे ऋषि (कण्व) निश्चय ही नील कमलके पत्तेकी धारसे समिधाको काटना चाहते है ।

प्राप्ति—जहाँपर किसी अंशसे किसी विषयका अनुमान किया जाता है उसे "प्राप्ति" कहते हैं ॥ १८२ ॥

जैसे ग्रन्थकारकी प्रभावती (नाटिका) में—"सर्वत्र घूमनेवाले इस भौंरेने अवश्य ही मेरी प्रियतमा प्रभावतीको जान लिया होगा ।"

विचार—युक्तिसंगत वाक्योंसे अप्रत्यक्ष विषयके निरूपणको "विचार" कहते हैं ।

जैसे ग्रन्थकारकी चन्द्रकला (नाटिका) में—राजा—निश्चय ही इस (चन्द्रकला) के अन्तःकरणको कामविकारने आच्छादित कर दिया है । क्योंकि—

सख्यामुदाहरन्त्यामसमञ्जसमुत्तरं दत्ते ॥'

देशकालस्वरूपेण वर्णना दिष्टमुच्यते ॥ १८३

यथा वेण्याम्—

सहदेवः—

यद्वैद्युतमिव ज्योतिरार्ये क्रुद्धेऽद्य संभृतम् ।
तत्प्रावृडिव कृष्णेयं नूनं संवर्द्धयिष्यति ॥'

उपदिष्टं मनोहारि वाक्यं शास्त्रानुसारतः ।

यथा शाकु

'शुश्रूषस्व गुरून्, कुरु प्रियसखीवृत्तिं सपत्नीजने

वो विलोकयति । सख्यां = वयस्यायाम्, उदाहरन्त्याम् = भाषमाणायाम् अपि, असमञ्जसम् = असम्बद्धम्, उत्तरं=प्रतिवाक्यं, दत्ते=ददाति । अत्र नूनमित्याद्युपपत्तिवाक्यैः अप्रत्यक्षस्य प्रभावतीमदनविकारस्य साधनाद्विचारो नाम लक्षणम् ।

दिष्टं लक्षयति—देशकालस्वरूपेण = देशकालयोः (स्थानसमयोः) स्वरूपेण (तुल्यधर्मत्वेन), वर्णना = वर्णनं, "दिष्टम्" उच्यते ॥ १८३ ॥

दिष्टमुदाहरति—**यथेति । यद्वैद्युतमिति** । अद्य = अस्मिन्दिने, क्रुद्धे=कुपिते, आर्ये = पूज्ये, भीमसेन इति भावः, यत्, ज्योतिः = तेजः, सभृत = संभृतम्, इयम् = एषा, कृष्णा = द्रौपदी, प्रावृट् इव = वर्षर्तुः इव, नूनं = निश्चित, तत्=ज्योतिः, संवर्द्धयिष्यति = संवर्द्धित करिष्यति । अनुष्टुब् वृत्तम् । अद्य कालस्य तुल्यधर्मत्वेन वर्णनाद्दिष्टं नाम लक्षणमुदाहृतम् ।

उपदिष्ट लक्षयति—**उपदिष्टमिति** । शास्त्राऽनुसारतः = शास्त्राऽनुसारात्; मनोहारि = मनोहरणशीलं, वाक्यं = पदसमूहः "उपदिष्टम्" ॥

उपदिष्टमुदाहरति—**शुश्रूषस्वेति** । कण्वः शकुन्तलामुपदिशति—**शुश्रूषस्वेति** । गुरून् = पूज्यजनान्, श्वश्रूप्रभृतीनिति भावः । शुश्रूषस्व = सेवस्व, सपत्नीजने = एक-

---

(यह) सन्तापरहित होकर हंसती है, दूसरेके देखनेपर भी कुछ भी नहीं देखती है और सखीके बोलनेपर असम्बद्ध उत्तर देती है ।

दिष्ट—देश और कालके स्वरूपसे वर्णनको "दिष्ट" कहते हैं ॥ १८३ ॥

जैसे वेणी (संहार) में—सहदेव—

पूज्य (भीमसेन) के क्रुद्ध होनेपर जो बिजलीकी-सी ज्योति उत्पन्न हुई है; उसको वर्षाकी समान यह द्रौपदी निश्चय ही बढ़ा देगी ।

उपदिष्ट—शास्त्रके अनुसार मनोहर वाक्यको "उपदिष्ट" कहते हैं । जैसे शाकुन्तलमें (कण्व ऋषि शकुन्तलाको उपदेश देते हैं)—(हे शकुन्तले ! तुम) सास

भर्तुर्विप्रकृताऽपि रोषणतया मा स्म प्रतीपं गमः ।
भूयिष्ठं भव दक्षिणा परिजने, भाग्येष्वनुत्सेकिनी,
यान्त्येवं गृहिणीपदं युवतयो वामाः कुलस्याधयः ॥'

गुणातिपातः कार्यं यद्विपरीतं गुणान्प्रति ॥ १८४ ॥

यथा मम चन्द्रकलायां चन्द्रं प्रति—

'जइ संहरिज्जइ तमो घेप्पइ सअलेहिं ते पाओ ।
वससि सिरे पसुवइणो त हवि हु इत्थीअ जीअणं हरसि ॥'

पत्नीजने; प्रियसखीवृत्ति = प्रियसख्याः (अभीष्टवयस्यायाः) वृत्तिं (व्यवहारम्), कुरु = विधेहि । विप्रकृता अपि=अपकृता अपि, रोषणतया=कोपनत्वेन, भर्तुः=पत्युः, प्रतीपं = प्रतीकूलतां, मा स्म गमः = नो गच्छ, "स्मोत्तरे लङ् चे"ति स्मोत्तरे माङि लुङ् । परिजने = सेवकजने, भूयिष्ठम् = अतिशयं, दक्षिणा = उदाराशया, भव=एधि, तथा भोगेषु = विषयोपभोगेषु, अनुत्सेकिनी = गर्वरहिता, भव । एवम् = इत्थं, कृते सतीति शेषः । युवतयः = तरुण्यः, गृहिणीपदं = सद्गेहिनीस्थानं, यान्ति = प्राप्नुवन्ति; वामाः = प्रतिकूलाः, एतद्विपरीतकारिण्यः स्त्रिय इति भावः । कुलस्य = वंशस्य, आधयः=मनोव्यथाकारिण्यः, भवन्तीति शेषः । अत्र धर्मशास्त्राऽनुसारं मनोहरवाक्यत्वादुपदिष्टम् । (४–१७) शार्दूलविक्रीडित वृत्तम् ।

गुणाऽतिपातं लक्षयति—**गुणाऽतिपात इति** । गुणान् प्रति, यत् विपरीतं = प्रतिकूलं, कार्यं = कृत्यं, स "गुणाऽतिपातः" ॥ १८४ ॥

गुणाऽतिपातमुदाहरति—**यथेति** । 'यदि संह्रियते तमो गृह्यते सकलैस्ते पादः । वससि शिरसि पशुपतेस्तथाऽपि हा ! स्त्रिया जीवनं हरसि" इति संस्कृतच्छाया । विरहिणी चन्द्रमुपालभते–तमः=अन्धकारं, संह्रियते यदि=निराक्रियते चेत्, त्वयेति शेषः, सकलैः = समस्तैर्जनैः, ते = तव, पादः = किरणश्चरणश्च, "पादा रश्म्यङ्घ्रितुर्यांशाः" इत्यमरः । गृह्यते = स्वीक्रियते, शिरसा धार्यत इति भावः । पशुपतेः = शङ्करस्य, शिरसि = मस्तके, वससि = वासं करोषि, तथाऽपि, स्त्रियाः = नार्याः, वियोगिन्या इति भावः । जीवनं=जीवितं, हरसि = नाशयसि, कामोद्दीपनेनेति शेषः । अत्र चन्द्रस्य

आदिपूज्यजनोंकी शुश्रूषा करो, सौतमें प्रिय सखीके समान व्यवहार करो, पतिसे अपकृत होनेपर भी प्रतिकूल मत बनो । परिजन (सेवक) में अतिशय उदार होओ और भाग्योंमें गर्व मत करो । युवतियाँ इस प्रकार गृहिणीके पदको प्राप्त करती है, इसके विपरीत आचरण करनेवाली कुलकी मनोव्यथाको उत्पन्न करती हैं ।

गुणाऽतिपात–गुणोंके प्रति विपरीत कार्यको "गुणाऽतिपात" कहते हैं ॥१८४॥

जैसे ग्रन्थकारकी चन्द्रकला (नाटिका) में विरहिणी स्त्री चन्द्रको कहती है–
(हे चन्द्र!) तुम अन्धकारको हटाते हो तो सब लोग तुम्हारे पाद (किरण वा चरण)-

यः सामान्यगुणोद्रेकः स गुणातिशयो मतः ।

यथा तत्रैव—

'राजा—(चन्द्रकलाया मुखं निर्दिश्य)

असावन्तश्चञ्चद्विकचनवनीलाब्जयुगल-
स्तलस्फूर्जत्कम्बुर्विलसदलिसंघात उपरि ।
विना दोषासङ्गं सततपरिपूर्णाखिलकलः
कुतः प्राप्तश्चन्द्रो विगलितकलङ्कः सुमुखि ! ते ॥'

तमोहरणरूपं गुण प्रति स्त्रीजीवनहरणरूपविपरीतकार्याद् गुणाऽतिपातो नाम नाट्याऽलङ्कारः । गाथा वृत्तम् ।

गुणाऽतिशय लक्षयति—य इति । यः सामान्यगुणोद्रेकः = सामान्यगुणात् (उपमानोपमेयनिष्ठसाधारणधर्मात्) उद्रेकः (आधिक्यम्) उपमेयस्येति शेषः । स "गुणाऽतिशयः', मतः = अभिमतः ।

गुणाऽतिशयमुदाहरति—यथेति । तत्रैव = चन्द्रकलायामेव । असाविति । हे सुमुखि=हे रुचिरवदने !, अन्तः = मध्ये, चञ्चद्विकचनवनीलाऽब्जयुगलः = चञ्चत् (चलत्) विकचं (प्रफुल्लम्) नवं (नूतनम्) नीलम् (श्यामम्) अब्जयुगलं (कमलयुग्मम्, नयनद्वितयरूपमिति भावः), यस्य सः । तथा तलस्फूर्जत्कम्बुः = तलं (अधोदेशे) स्फूर्जन् (दीप्यमानः) कम्बुः (शङ्खः, ग्रीवारूप इति भावः) यस्य सः उपरि (ऊर्ध्वभागे) विलसदलिसङ्घातः=विलसन् (विचरन) अलिसङ्घातः (भ्रमरसमूहः, केशसमूहस्वरूप इति भावः) यस्य सः । एवं च सततपरिपूर्णाऽखिलकलः = सततं (निरन्तरं यथा तथा) परिपूर्णाः (अन्यूनाः) अखिलाः (समस्ताः) कलाः (भागाः) यस्यः सः । तथा विगलितकलङ्कः = कलङ्करहितः, असौ = अयं, चन्द्रः (इन्दुः, मुखरूप इति भावः) दोषासङ्ग विना = रात्रिसम्बन्धं विनाऽपि, अथवा दूषणसम्पर्कं विनाऽपि । ते=तव, समीप इति शेषः । कुतः=कस्मात् स्थानात्, प्राप्तः = उपस्थितः । अत्राऽऽह्लादकत्वादिसामान्यधर्मेभ्यो मुखस्य विगलितकलङ्कत्वादिधर्माधिक्याद् गुणाऽतिशयो नाम नाट्यालङ्कारः, शिखरिणी वृत्तम् ।

को शिरसे धारण कर लेते हैं । तुम शिवजीके शिरमें रहते हो, हाय ! तो भी स्त्रीके जीवनको हर लेते हो ।

गुणाऽतिशय-साधारण धर्मसे उपमेयके आधिक्यको "गुणाऽतिशय" कहते हैं । जैसे वहीं (चन्द्रकला) पर राजा—(चन्द्रकलाके मुखका निर्देश कर) हे सुमुखि ! जिसके मध्यमें खिले हुए दो नील कमल (नेत्र) हैं । नीचे शङ्ख (ग्रीवा) शोभित है । ऊपर भ्रमरसमूह (केशकलाप) शोभित हो रहा है । दोषासङ्ग (दोषा=रात्रिके वा दोषके आसङ्ग=सम्पर्कके) विना निरन्तर परिपूर्ण सम्पूर्ण कलाओंसे युक्त, कलङ्कसे रहित ऐसे चन्द्र (मुख) को तुमने कैसे पा लिया है ?

सिद्धानर्थान् बहूनुक्त्वा विशेषोक्तिर्विशेषणम् ॥ १८५ ॥

यथा—

'तृष्णापहारी विमलो द्विजावासो जनप्रियः।
ह्रदः पद्माकरः किन्तु बुधस्त्वं स जलाशयः ॥'

पूर्वसिद्धार्थकथनं निरुक्तिरिति कीर्त्यते ।

विशेषणं लक्षयति—**सिद्धानिति** । सिद्धान् = प्रसिद्धान्, बहून् = अनेकान् अर्थान् = सामान्यधर्मान्, उक्त्वा = अभिधाय, विशेषोक्तिः = भेदकथनं, "विशेषण" नाम लक्षणम् ॥ १८५ ॥

विशेषणमुदाहरति—**तृष्णाऽपहारीति** । कंचिद्बुधं प्रति कस्यचिद्विशेषोक्तिः । ह्रदः = अगाधजलस्तडाग । बुधः = विद्वान्, तयोर्भेदं प्रतिपादयति—तृष्णाऽपहारी = तृष्णाम् (ह्रदपक्षे—जलपिपासां, बुधपक्षे—ज्ञानपिपासा) अपहरतीति तच्छीलः । विमलः = ह्रदपक्षे-निर्मलः, बुधपक्षे-पापशून्यः । द्विजावासः=ह्रदपक्षे—पक्षिमत्स्याण्डजनिवासः, बुधपक्षे—ब्राह्मणाऽऽधारः । जनप्रियः = लोकप्रियः ह्रदपक्षे शीतलत्वात् बुधपक्षे—मधुरभाषित्वादिति भावः । तथा पद्माऽऽकरः = ह्रदपक्षे—पद्मानाम् (कमलानाम्) बुधपक्षे—पद्मायाः=लक्ष्म्याः, आकरः (आधारस्थानम्) एतत् सर्वं सामान्यतः समानम्, किन्तुः त्वं, बुधः=विद्वान्, सः = ह्रदस्तु, जलाशयः = जलानाम्, आशयः । लडयोरभेदाद् जडः (मूढः) आशयः (अभिप्रायः) यस्य सः । अत्र तृष्णाऽपहारित्वादिप्रसिद्धधर्मानुक्त्वा बुधजलाशयत्वेन विशेषोक्तेर्विशेषण नाम लक्षणम् ।

निरुक्तिं लक्षयति— **पूर्वसिद्धाऽर्थकथनमिति** । पूर्व (प्रथमम्) सिद्धानाम् (निष्पन्नानाम्) अर्थानां (विषयाणां) कथनम् (प्रतिपादनम्) "निरुक्तिः" इति कीर्त्यते = उच्यते ।

विशेषण—प्रसिद्ध बहुतेरे सामान्य धर्मोंको कहकर विशेषोक्ति (भेदकथन)-को "विशेषण" कहते हैं ॥ १८५ ॥

जैसे—तृष्णा (ह्रदके पक्षमें जलकी तृष्णा, बुधके पक्षमें ज्ञानतृष्णा) का अपहरण करनेवाला, विमल (ह्रदपक्षमें निर्मल, बुधपक्षमें—पापशून्य), द्विजावास= ह्रदपक्षमें—द्विजों=मत्स्यादियोंका आवास=बुधपक्षमें—द्विजों=ब्राह्मणोंका आधार), लोकप्रियः = ह्रदपक्षमें शीतल होनेसे और बुधपक्षमें मधुरभाषी होनेसे) फिर पद्माकर (ह्रदपक्षमें पद्मों अर्थात् कमलोंका आकर, बुधपक्षमें पद्मा अर्थात् लक्ष्मीका आकर) किन्तु आप बुध अर्थात् विद्वान् हैं- वह ह्रद (तालाब) तो जलाशय (जलका आधार वा ड के और ल के अभेद से जडाशय अर्थात् अचेतन) है ।

निरुक्ति—पूर्वसिद्ध विषयोंके कथनको "निरुक्ति" कहते हैं ।

यथा वेण्याम्—'निहताशेषकौरव्यः—'इत्यादि ६-१०२।

बहूनां कीर्तनं सिद्धिरभिप्रेतार्थसिद्धये ॥ १८६ ॥

यथा—

'यद्वीर्यं कूर्मराजस्य यश्च शेषस्य विक्रमः।
पृथिव्या रक्षणे राजन्नेकत्र त्वयि तत्स्थितम्॥'

दृप्तादीनां भवेद् भ्रंशो वाच्यादन्यतरद्वचः ।

यथा वेण्याम्—कञ्चुकिनं प्रति।

निरुक्तिमुदाहरति—**निहताऽशेषकौरव्य इत्यादि**।

अत्र पूर्वसिद्धानामशेषकौरव्यघातरूपाऽर्थानां कथनान्निरुक्तिः। सिद्धिं लक्षयति—**बहूनामिति**। अभिप्रेताऽर्थसिद्धये – अभिप्रेतस्य (अभीष्टस्य) अर्थस्य (विषयस्य) सिद्धये (निष्पादनाय), बहूनां (बहुलानाम्) कीर्तनं (कथनम्), "सिद्धि"र्नाम लक्षणम्।

सिद्धिमुदाहरति—**यद्विति**। कश्चित्कविः कंचिद्राजानं प्रशंसति। हे राजन्! = हे नृप!, कूर्मराजस्य – कमठपतेः, पृथ्वीधारकशेषभारवाहकस्येति भावः। यत्, वीर्यं= बलम्!, शेषस्य – अनन्तस्य, यः – प्रसिद्धः, विक्रमः = पराक्रमः। पृथिव्याः—अवनेः यत्, रक्षणे – पालने, च एकस्मिन् = एकमात्रे, त्वयि – भवति, तत् – कूर्मराजवीर्य-शेषविक्रमरूपमुभयमपि, स्थितं=विद्यमानम्, आस्त इति शेषः। अत्र राजकर्तृकपृथिवी-रक्षणरूपाऽभीष्टाऽर्थसिद्धये कूर्मराजवीर्यशेषविक्रमरूपाऽनेकविषयकीर्तनात्सिद्धिर्नाम लक्षणम्। १८६॥

भ्रंशं लक्षयति—**दृप्तादीनामिति**। दृप्तादीनां = दर्पयुक्तादीनाम्, अत्राऽऽदि-पदेन हृष्टदुःखितादीनां ग्रहणम्। वाच्यात्—वक्तुं योग्यात्, अन्यतरत्—भिन्नं, विपरीत-मिति भावः। वचः – वचनं, "भ्रंशो" नाम लक्षणं भवेत्।

जैसे वेणी (संहार) में—'निहताऽशेषकौरव्यः" इत्यादि।

सिद्धि—अभीष्ट विषयकी सिद्धिके लिए बहुतेरे धर्मियोंके कीर्तनको "सिद्धि" कहते हैं॥ १८६॥

जैसे—हे राजन्! कूर्मराज (शेषनागको धारण करनेवाले) का जो बल है और जो शेषनाग (पृथ्वीके धारण करनेवाले) का पराक्रम है। पृथिवीके रक्षणमें एकमात्र आपमें वही बल और पराक्रम रहा हुआ है॥ १८६॥

भ्रंश—दर्पयुक्त आदि जनोंके कहनेके योग्य विषयसे भिन्न वचनको "भ्रंश" कहते हैं।

जैसे वेणी (संहार) में दुर्योधन कञ्चुकी से कहता है—

'दुर्योधनः—

सहभृत्यगणं सबान्धवं सहमित्रं ससुतं सहानुजम् ।
स्वबलेन निहन्ति संयुगे नचिरात्पाण्डुसुतः सुयोधनम् ॥'

विचारस्यान्यथाभावः संदेहात्तु विपर्ययः ॥ १८७ ॥

यथा—

'मत्वा लोकमदातारं संतोषे यैः कृता मतिः ।
त्वयि राजनि ते राजन्न तथा व्यवसायिनः ॥'

दाक्षिण्यं चेष्टया वाचा परचित्तानुवर्तनम् ।

भ्रंशमुदाहरति—सहभृत्यगणमिति । पाण्डुसुतः = युधिष्ठिरः, स्वबले = आत्मपराक्रमेण, सहभृत्यगणं = भृत्यसमूहसहितं, सबान्धवं = बन्धुजनसहितं, सहमित्रं= सुहृज्जनसहितं, सहानुजं = दुःशासनाऽवरजसहितं, तादृशं सुयोधनं = दुर्योधनं, माम् । नचिरात् = शीघ्रमेव, संयुगे = युद्धे, निहन्ति = व्यापादयति । अत्र दुर्योधनस्य "पाण्डुसुतं सुयोधन" इति वक्तव्येऽर्थे दृप्तत्वात् "पाण्डुसुतः सुयोधनम्" इति कथनात् भ्रंशो नाम लक्षणम् ।

विपर्ययं लक्षयति—विचारस्येति । सन्देहात् = संशयात्, विचारस्य = तत्त्वनिश्चयस्य, अन्यथाभावः = वैपरीत्यं, तु "विपर्ययः" ॥ १८७ ॥

विपर्ययमुदाहरति—मत्वेति । कश्चित्कवी राजानं स्तौति । यैः = जनैः, लोकं = जनम्, अदातारं = दातृत्वगुणरहितं, मत्वा = अवबुध्य, सन्तोषे = परितोषे, दातृस्तुतिरूपकर्मानाचरणेनेति शेषः, मतिः=बुद्धिः, कृता: विहिता, हे राजन् !=हे नृप !, त्वयि = भवति, राजनि = नृपे सति, ते = जनाः, तथा=तेन प्रकारेण, प्रार्थनां विना, न दातृत्वाऽभावरूपात्सन्देहाज्जातस्य सन्तोषधारणरूपस्य विचारस्याऽन्यथाभावाद्विपर्ययः ।

दाक्षिण्यं लक्षयति—दाक्षिण्यमिति । चेष्टया = देहव्यापारेण, वाचा=वचनेन वा, परचित्ताऽनुवर्तनं = परचित्तस्य (अन्यमानसस्य) अनुवर्तनम् (अनुसरणम्) "दाक्षिण्यं" लक्षणम् ।

युधिष्ठिर भृत्यगण, बान्धवजन, मित्रजन, पुत्रों और भाइयोंके साथ दुर्योधनको शीघ्र ही युद्धमें मार डालेंगे । यहांपर "पाण्डुसुतं सुयोधनः" ऐसा कहना चाहिए वक्ताके दर्पयुक्त होनेसे उलटा हुआ है ।

विपर्यय—सन्देहके कारण विचारकी विपरीतताको "विपर्यय" कहते हैं ।१८७।

जैसे—लोकको दान नहीं करनेवाला समझकर जिन्होंने सन्तोषमें बुद्धि की थी; हे राजन् ! आप ऐसे राजाके होनेपर वे वैसा व्यवसाय (सन्तोष) नहीं करते हैं ।

दाक्षिण्य—चेष्टा और वचनसे दूसरेके मनका अनुसरण करनेको "दाक्षिण्य" कहते हैं ।

वाचा यथा—

'प्रसाधय पुरीं लङ्कां राजा त्वं हि विभीषण !
आर्येणानुगृहीतस्य न विघ्नः सिद्धिमन्तरा ॥'

एवं चेष्टयाऽपि ।

वाक्यैः स्निग्धैरनुनयो भवेदर्थस्य साधनम् ॥ १८८ ॥

यथा वेण्याम्—अश्वत्थामानं प्रति—

'कृपः—दिव्यास्त्रग्रामकोविदे भारद्वाजतुल्यपराक्रमे किं न संभाव्यते त्वयि ।'

माला स्याद्यदभीष्टार्थं नैकार्थप्रतिपादनम् ।

दाक्षिण्यमुदाहरति—वाचा—**प्रसाधयेति** । लक्ष्मणः सुग्रीवो वा विभीषणमनुशास्ति । हे विभीषण !, लङ्कां, पुरीं = नगरीं, प्रसाधय = शासनेन भूषय, हि—यस्मात्कारणात् त्वं, राजा—भूपः, तस्या इति शेषः । आर्येण = पूज्येन, रामचन्द्रेणेति भावः, अनुगृहीतस्य = कृताऽनुग्रहस्य जनस्य, सिद्धिम् अन्तरा = कार्यसाफल्यमध्ये, सिद्धिमित्यत्र "अन्तराऽन्तरेण युक्ते" इति द्वितीया । विघ्नः = अन्तरायः, न = नो भवति । अत्र वाचा विभीषणचित्ताऽनुवर्तनाद्दाक्षिण्यम् ।

चेष्टया दाक्षिण्यं—शाकुन्तले राजा—"तदहमेनामनृणां करोमी"त्यङ्गुलीयकं ददाति" । अत्राऽङ्गुलीयकदानरूपचेष्टया शकुन्तलाचित्ताऽनुवर्तनेन दाक्षिण्यम् ।

अनुनयं लक्षयति—**वाक्यैरिति** । स्निग्धैः = स्नेहयुक्तैः, वाक्यैः = पदसमूहैः, अर्थस्य = प्रयोजनस्य, साधनं—सम्पादनम्, "अनुनयो" भवेत् ॥ १८८ ॥

अनुनयमुदाहरति—**यथेति** । दिव्याऽस्त्रग्रामकोविदे—लोकोत्तरायुधसमूहज्ञातरि, भारद्वाजतुल्यपराक्रमे—भारद्वाजतुल्यः (द्रोणाचार्यसदृशः) पराक्रमः (विक्रमः) यस्य, तस्मिन् । अत्र स्निग्धवाक्यैर्युद्धोत्तेजरूपस्य प्रयोजनस्य साधनादनुनयो नाम "लक्षणम्" ।

माला लक्षयति—**मालेति** । अभीष्टाऽर्थम् — अभीप्सितसम्पादनाऽर्थं यत् नैकाऽर्थप्रतिपादनम् अनेकविषयज्ञापनं, सा "माला" नाम लक्षणं स्यात् ।

वचनसे जैसे—'हे विभीषण ! आप लङ्कापुरीको शासनसे अलङ्कृत करें, क्योंकि आप उसके राजा हैं । पूज्य (रामचन्द्र) से अनुगृहीत जनको कार्यसाफल्यके मध्य में विघ्न नहीं होता है ।"

इसी तरहसे चेष्टासे भी दाक्षिण्य का उदाहरण समझें ।

अनुनय—स्नेहयुक्त वाक्योंसे प्रयोजन सम्पादन को "अनुनय" कहते हैं ।।१८८

जैसे वेणी (संहार) में अश्वत्थामाको कृपाचार्य कहते हैं—"दिव्य अस्त्रोंको जाननेवाले और भारद्वाज (द्रोणाचार्य) के समान पराक्रमवाले तुममें किस बातकी आशा नहीं की जाती है ?"

माला—अभीष्ट सिद्धिके लिए अनेक विषयोंके प्रतिपादनको "माला" कहते हैं ।

यथा शाकुन्तले—

'राजा—

किं शीकरैः क्लमविमर्दिभिरार्द्रवातं सञ्चारयामि नलिनीदलतालवृन्तम्।
अङ्के निवेश्य चरणावुत पद्मताम्रौ संवाहयामि करभोरु ! यथासुखं ते ॥'

अर्थापत्तिर्यदन्यार्थोऽर्थान्तरोक्तेः प्रतीयते ॥ १८९ ॥

यथा वेण्याम्—द्रोणोऽश्वत्थामानं राज्येऽभिषेक्तुमिच्छतीति कथयन्तं कर्णं प्रति—

'राजा—साधु अङ्गराज ! साधु, कथमन्यथा—
दत्त्वाभयं सोऽतिरथो वध्यमानं किरीटिना।

मालामुदाहरति—**किमिति**। दुष्यन्तस्य शकुन्तलां प्रत्युक्तिरियम् (३—१८)। हे शकुन्तले !, क्लमविमर्दिभिः=ग्लानिनिवारिभिः, शीकरैः = जलकणैः, आर्द्रवातम् = आर्द्रः (क्लिन्नः, शीत इति भावः) वातः (वायुः) यस्य तत्, नलिनीदलतालवृन्तं= नलिनीदलं (कमलिनीपत्त्रम्) एव तालवृन्तं (व्यजनम्), सञ्चारयामि किं=सञ्चालयामि किम् ? हे करभोरु = करभौ (मणिबन्धात्कनिष्ठापर्यन्तकरबहिर्भागौ) इव, पूर्वाऽनुवृत्ताविति भावः, ऊरू (सक्थिनी) यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ, करभोरुशब्दस्य मनुष्यजातिवाचकत्वाऽभावादूङोऽप्रवृत्तेः सम्बुद्धौ "करभोरु" इति प्रयोगश्चिन्त्यः। उत— अथवा, पद्मताम्रौ = रक्तकमलसमरक्तवर्णौ, ते = तव, चरणौ, अङ्के = उत्सङ्गे, निधाय = स्थापयित्वा, यथासुखं = सुखाऽनतिक्रमपूर्वकं, संवाहयामि = मर्दयामि। वसन्ततिलकावृत्तम्। अत्र दुष्यन्तस्य सुरतरूपाऽभीष्टाऽर्थं तालवृन्तसंचारणचरणसंवाहनरूपाद्यनेकार्थप्रतिपादनात् माला नाम लक्षणम्।

अर्थापत्तिं लक्षयति—**अर्थापत्तिरिति**। अर्थान्तरोक्तेः = अन्याऽर्थकथनात्, यत्, अन्यार्थः=अपराऽर्थः, प्रतीयते=ज्ञायते, सा, "अर्थापत्तिः" ॥ १८९ ॥

अर्थापत्तिमुदाहरति—**यथेति**। दत्त्वेति। दुर्योधनस्याऽङ्गराजं कर्णं प्रत्युक्तिरियम्। एवं= त्वदुक्तं सत्यं, न चेत्=नो यदि, तदा, अतिरथः = अपरिमितैर्भटैर्युध्य-

---

जैसे शाकुन्तलमें राजा (दुष्यन्त) शकुन्तलाको—"ग्लानि हटानेवाले जल कणोंसे ठण्डी हवासे युक्त कमलके पत्तोंकी पंखाको झलूं क्या ? अथवा लाल कमलके समान (लाल) तुम्हारे चरणोंको गोदमें रखकर सुखपूर्वक मर्दन करूं (दाब लूं)"।

अर्थापत्ति—भिन्न अर्थको कहनेसे जहाँ दूसरा ही अर्थ जाना जाता है उसे "अर्थापत्ति" कहते हैं ॥

जैसे वेणी (संहार) में "द्रोणाचार्य अश्वत्थामाको राज्यमें अभिषिक्त करना चाहते हैं" ऐसा कहते हुए कर्णको राजा (दुर्योधन)—वाह अङ्गराज (कर्ण) ! वाह। ऐसा नहीं तो (आपका वचन सत्य नहीं होता तो) कैसे अतिरथ (अपरिमित भटोंसे युद्ध

सिन्धुराजमुपेक्षेत नैवं चेत्कथमन्यथा ॥'

दूषणोद्घोषणायां तु भर्त्सना गर्हणं तु तत् ।

यथा तत्रैव—कर्णं प्रति—

'अश्वत्थामा—

निर्वीर्यं गुरुशापभाषितवशात्किं मे तवेवायुधं ?
सम्प्रत्येव भयाद्विहाय समरं प्राप्तोऽस्मि किं त्वं यथा ?
जातोऽहं स्तुतिवंशकीर्तनविदां किं सारथीनां कुले ?
क्षुद्रारातिकृताप्रियं प्रतिकरोम्यस्रेण नास्त्रेण यत् ?'

मानः, सः = द्रोणः, अभयं = भयाऽभावम्, अर्जुनादिति शेषः । दत्त्वा = वितीर्य, किरीटिना = अर्जुनेन, वध्यमानं = व्यापाद्यमानं, सिन्धुराजं-जयद्रथं, कथं = केन प्रकारेण, उपेक्षेत = उपेक्षां कुर्यात् । अत्र सिन्धुराजोपेक्षारूपस्याऽर्थान्तरस्योक्त्या द्रोणस्य पुत्राऽभिषेकाऽभिप्रायस्य प्रतीतेरर्थापत्तिर्नाम लक्षणम् ॥ १८९ ॥

गर्हणं लक्षयति—**दूषणोद्घोषणायामिति** । यत् दूषणोद्घोषणायां—दूषणस्य (दोषस्य) उद्घोषणायाम् (उत्कीर्तने) भर्त्सना = तर्जनं, तत् "गर्हणं" नाम लक्षणम् ।

गर्हणमुदाहरति—**निर्वीर्यमिति** । अश्वत्थामा कर्णं भर्त्सयते—हे कर्ण !, तव इव, मे = मम, आयुधम् अपि=अस्त्रम् अपि, गुरुशापभाषितवशात्=गुरोः (आचार्यस्य, परशुरामस्येति भावः) शापभाषितवशात् (दुरेषणावचनवशात्), निर्वीर्यं किं=निर्बलं किम् ?, त्वं यथा = त्वम् इव, सम्प्रति एव = इदानीम् एव, भयात् = भीतेर्हेतोः, समरं = युद्धं, विहाय = त्यक्त्वा, प्राप्तोऽस्मि=उपागतोऽस्मि, किं ? शिबिर इति शेषः । अहं, स्तुतिवंशकीर्तनविदां = स्तुतिं (राजनुतिम्), वंशकीर्तनं (राजकुलवर्णनम्) विदन्ति (जानन्ति) इति, तेषां, तादृशानां, सारथीनां = सूतानां, कुले = वंशे, जातः= उत्पन्नः, किम् ? क्षुद्राऽरातिकृताऽप्रियं = क्षुद्राऽरातिभिः (तुच्छशत्रुभिः) कृतम् (विहितम्) अप्रियम् (अपकारम्), अस्रेण = नयनसलिलेन, प्रतिकरोमि किं = प्रतिकारं विदधामि किं ?, अस्त्रेण = आयुधेन, न प्रतिकरोमि किं ? = प्रतिकारं न

करनेवाले) वे द्रोणाचार्य अभय देकर भी अर्जुनसे मारे जाते हुए सिन्धुराज (जयद्रथ) की उपेक्षा करते ? ।

गर्हण—दोषके उत्कीर्तनमें भर्त्सना करनेको "गर्हण" कहते हैं । जैसे वहीं (वेणीसंहार) पर कर्णको अश्वत्थामा—हे कर्ण ! तुम्हारे अस्त्र के समान मेरा अस्त्र भी गुरुके शाप वाक्यसे निर्बल है क्या ? तुम्हारे समान मैं भी अभी भयसे युद्धको छोड़कर शिबिर (छावनी) में आया हूं क्या ? राजाओंकी स्तुति और वंशकीर्तन करनेवाले

अभ्यर्थनापरैर्वाक्यैः पृच्छार्थान्वेषणं मता ॥ १९० ॥

यथा तत्रैव—

'सुन्दरकः-अज्जा ! अवि णाम सारधिदुदिओ दिट्टो तुझेहिं महाराओ दुर्योधणो ण वेत्ति ।'

प्रसिद्धिर्लोकसिद्धार्थैरुत्कृष्टैरर्थसाधनम् ।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—

'राजा—सूर्याचन्द्रमसौ यस्य मातामहपितामहौ ।
स्वयं कृतः पतिर्द्वाभ्यामुर्वश्या च भुवा च यः ॥'

विदधामि किम् ? शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । अत्राऽऽयुधनिर्वीर्यत्वादिघोषणायां भर्त्सनातो "गर्हणं" नाम लक्षणम् ।

पृच्छां लक्षयति—अभ्यर्थनापरैरिति । अभ्यर्थनापरैः=प्रार्थनापरैः, वाक्यैः=पदसमूहैः, अर्थाऽन्वेषणं = विषयगवेषण, "पृच्छा" मता ॥ १९० ॥

पृच्छामुदाहरति—अज्जा इति । "आर्याः ! अपि नाम सारथिद्वितीयो दृष्टो युष्माभिर्महाराजो दुर्योधनो न वे"ति । संस्कृतच्छाया । सारथिद्वितीयः = सारथिना (सूतेन) द्वितीयः ।

अत्राऽभ्यर्थनपरवाक्येन दुर्योधनाऽन्वेषणात्पृच्छा नाम लक्षणम् ।

प्रसिद्धिं लक्षयति—प्रसिद्धिरिति । उत्कृष्टैः = उत्कर्षयुक्तैः, लोकसिद्धाऽर्थैः=भुवनप्रसिद्धविषयैः, अर्थसाधनं = विषयप्रतिपादनं "प्रसिद्धिः" ।

प्रसिद्धिमुदाहरति—सूर्याचन्द्रमसाविति । यस्य=राज्ञः=पुरूरवसः, सूर्याचन्द्रमसौ = रविचन्द्रौ, सूर्यश्च चन्द्रमाश्चेति द्वन्द्वः । "देवताद्वन्द्वे च" इत्यानङ् । मातामहपितामहौ = मातृपिता पितृपिता इत्यर्थः । "पितृव्यमातुलमातामहपितामहाः" इति निपातः । "मातृपितृभ्यां पितरि डामहच्" इति मातापितृशब्दाभ्यां डामहच् प्रत्ययेन मातामहपितामहौ । एवं च यः=पुरूरवाः, उर्वश्या = अप्सरोविशेषेण, भुवा च = पृथिव्या च, द्वाभ्याम् = उभाभ्यामेव, स्वयम् = आत्मना, पतिः = स्वामी, कृतः = विहितः । अत्र सूर्यादिभिः प्रसिद्धाऽर्थैः पुरूरवसोऽर्थसाधनात् प्रसिद्धिः ।

सारथियोंके वंशमें मैं पैदा हुआ हूँ क्या ? जो कि मैं क्षुद्र शत्रुसे किये गये अपकारको अस्त्रसे न कर आँसूसे प्रतीकार करूंगा क्या ?

पृच्छा—प्रार्थनावाले वाक्योंसे विषयके अन्वेषणको "पृच्छा" कहते हैं ।१९०।

जैसे वहीं (वेणीसंहार) पर-सारथि—"आर्यो ! सारथिके साथ महाराज दुर्योधनको आपलोगोंने देख लिया है कि नहीं ?

प्रसिद्धि—उत्कर्षयुक्त लोकप्रसिद्ध विषयोंसे विषयके प्रतिपादनको "प्रसिद्धि" कहते हैं । जैसे विक्रमोर्वशीमें राजा (पुरूरवा)-जिनके मातामह सूर्य, पितामह चन्द्र हैं, जो कि उर्वशी और भूमिसे स्वयम् वरण किये गये पति हैं ॥

सारूप्यमनुरूपस्य सारूप्यात्क्षोभवर्धनम् ॥ १९१ ॥

यथा वेण्याम्—दुर्योधनभ्रान्त्या भीमं प्रति—

'युधिष्ठिरः—दुरात्मन् ! दुर्योधनहतक !–' इत्यादि ।

संक्षेपो यत्तु संक्षेपादात्मान्यार्थे प्रयुज्यते ।

यथा मम चन्द्रकलायाम्—

'राजा—प्रिये !

अङ्गानि खेदयसि किं शिरीषकुसुमपरिपेलवानि मुधा ।

(आत्मानं निर्दिश्य—)

अयमीहितकुसुमानां सम्पादयिता तवास्ति दासजनः ॥'

सारूप्यं लक्षयति— **सारूप्यमिति** । अनुरूपस्य = सदृशस्य, "अभिभूतस्ये"ति पाठान्तरं तस्य पराभवं प्राप्तस्येत्यर्थः । "अनुभूतस्ये"ति पाठान्तरे तस्य कृताऽनुभवस्येत्यर्थः। सारूप्यात्=समानरूपत्वात्; सादृश्यादिति भावः । क्षोभवर्धनं=चाञ्चल्यवृद्धिः । "क्षोभवर्तन"मिति पाठान्तरे, तस्य चाञ्चल्याचरणमित्यर्थः, "सारूप्यं" नाम लक्षणम्॥१९१॥

सारूप्यमुदाहरति— **यथा वेण्यामिति** । अत्र दुर्योधनस्य सारूप्याद् भ्रमेण युधिष्ठिरस्य भीमदर्शने क्षोभवर्द्धनात् "सारूप्यं" नाम लक्षणम् ।

संक्षेपं लक्षयति— **संक्षेप इति** । सक्षेपात् = संक्षेपं कृत्वा, "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" इति ल्यब्लोपे कर्मणि पञ्चमी । आत्मा = स्वः, अन्याऽर्थे = अपरजनविषये, प्रयुज्यते = निर्दिश्यते, स. "संक्षेपः" ।

संक्षेपमुदाहरति— **अङ्गानीति** । राज्ञश्चन्द्रकलां प्रत्युक्तिरियम् । हे प्रिये = हे दयिते !' शिरीषकुसुमपरिपेलवानि = शिरीषकुसुमानि (शिरीषपुष्पाणि) इव परिपेलवानि (अतिसुकुमाराणि), अङ्गानि=शरीराऽवयवान्, हस्तपादादीनिति भावः । मुधा=वृथा, किं=किमर्थं, खेदयति = खेदयुक्तानि करोषि, पुष्पाऽवचयेन किं पीडयसीति भावः । अयं = त्वन्निकटवर्ती, दासजनः = सेवकः, तव=भवत्याः, ईहितकुसुमानाम् = अभीष्टपुष्पाणां, सम्पादयिता = सम्पादकः, चयनकारक इति भावः । अस्ति = विद्यते । आर्या वृत्तम् ।

अत्र संक्षेपादन्यार्थमात्मनः प्रयोगात् "संक्षेपः" ।

सारूप्य—अनुरूपके सादृश्यसे चाञ्चल्यकी वृद्धिको "सारूप्य" कहते हैं ॥१९१॥

जैसे वेणी (संहार) में दुर्योधनकी भ्रान्तिसे भीमके प्रति युधिष्ठिर-दुरात्मन् ! दुर्योधनहतक ! इत्यादि ।

संक्षेप—संक्षेप करके अपनेको दूसरेके लिए निर्देश करनेको "सक्षेप" कहते हैं।

जैसे ग्रन्थकारकी चन्द्रकला (नाटिका) में राजा—"प्रिये ! शिरीषके फूलोंके समान कोमल अङ्गोंको व्यर्थ क्यों खिन्न बनाती हो ? (अपनेको दिखलाकर) यह दासजन तुम्हारे अभीष्ट फूलोंका सम्पादन करता है ।

गुणानां कीर्तनं यत्तु तदेव गुणकीर्तनम् ॥ १२९ ॥

यथा तत्रैव—

'नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिजप्रत्यर्थि—' इत्यादि । (१३७ पृ०) ।

स लेशो भण्यते वाक्यं यत्सादृश्यपुरःसरम् ।

यथा वेण्याम्—

राजा—

'हते जरति गाङ्गेये पुरस्कृत्य शिखण्डिनम् ।
या श्लाघा पाण्डुपुत्राणां सैवाऽस्माकं भविष्यति ॥'

मनोरथस्त्वभिप्रायस्योक्तिर्भङ्ग्यन्तरेण यत् ॥ १९३ ॥

गुणकीर्तनं लक्षयति—गुणानामिति । निगदव्याख्यातं लक्षणम् ॥ १९२ ॥

गुणकीर्तनमुदाहरति—"नेत्रे खञ्जनगञ्जने" इत्यादि ।

अत्र नेत्रादीनां खञ्जनगञ्जनत्वादीनां गुणानां कीर्तनाद् गुणकीर्तनम् ।

लेशं लक्षयति—स इति । सादृश्यपुरःसरं = तुल्यधर्मताप्रदर्शनपूर्वकं, यत्, वाक्यं = वचनं, भण्यते = अभिधीयते, स "लेशो" नाम लक्षणम् ।

लेशमुदाहरति—हत इति । राज्ञो दुर्योधनस्य कञ्चुकिनं प्रत्युक्तिरियम् २·४ शिखण्डिनं = द्रुपदपुत्रं, पुरस्कृत्य = अग्रे विधाय, जरति = वृद्धे, गाङ्गेये = भीष्मे, गङ्गाया अपत्यं पुमान् गाङ्गेयस्तस्मिन् "स्त्रीभ्यो ढक्" इति ढक् (आयन्) प्रत्ययः । हते=व्यापादिते सति, पाण्डुपुत्राणां=युधिष्ठिरादीनां या, श्लाघा = प्रशंसा, सा एव = तादृशी एव, अस्माकं = धार्तराष्ट्राणां, श्लाघा = प्रशंसा, भविष्यति = भविता । अत्र भीष्मवधस्येव अभिमन्युवधस्य वाक्यस्य सादृश्यपुरःसरमुक्तेर्लेशः ।

मनोरथं लक्षयति—"मनोरथ" इति । भङ्ग्यन्तरेण = विच्छित्तिविशेषेण, अभिप्रायस्य=आशयस्य, यत् उक्तिः = कथनं, स "मनोरथः" ॥ १९३ ॥

गुणकीर्तन—गुणोंके कीर्तनको "गुणकीर्तन" कहते हैं ॥ १९२ ॥

जैसे वहीं (चन्द्रकला नाटिका) पर—'नेत्रे खञ्जनगञ्जने सरसिज-प्रत्यर्थि" इत्यादि ।

लेश—सादृश्यके प्रदर्शनसे युक्त वाक्यको "लेश" कहते हैं । जैसे वेणी (संहार) पर राजा (दुर्योधन)-शिखण्डीको आगे रखकर भीष्मके मारे जाने पर पाण्डवोंकी जो प्रशंसा हुई हम धृतराष्ट्रपुत्रोंकी वैसी ही प्रशंसा होगी ।

मनोरथ-दूसरी ही भङ्गिसे अभिप्रायकी उक्तिको "मनोरथ" कहते हैं ॥१९३॥

यथा—

'रतिकेलिकलः किंचिदेष मन्मथमन्थरः।
पश्य सुभ्रु ! समालम्भात्कादम्बश्चुम्बति प्रियाम् ॥'

विशेषार्थोहविस्तारोऽनुक्तसिद्धिरुदीयते ।

यथा—

गृहवृक्षवाटिकायाम्—

दृश्येते तन्वि ! यावेतौ चारुचन्द्रमसं प्रति ।
प्राज्ञे कल्याणनामानावुभौ तिष्यपुनर्वसू ॥'

मनोरथमुदाहरति—**रतिकेलिकल इति**। कस्यचिन्नायकस्य दयितां प्रत्युक्तिरियम्। हे सुभ्रु - शोभनभ्रूयुक्ते सुन्दरि !, शोभने (मनोहरे) भ्रुवौ (नयनलोमनी) यस्याः सा, तत्सम्बुद्धौ। अत्र "नेयङुवङ्स्थानावस्त्री" इति सूत्रेण नदीसंज्ञाऽभावात् रूपमिदमसाधु। ततश्च "हे सुभ्रूः" इदमेव साधु। रतिकेलिकलः - रतौ (रमणे) केलिकला (क्रीडाविलासः) यस्य सः। मन्मथमन्थरः = मन्मथेन (कामसञ्चारेण) मन्थरः (मन्दगतिः), एषः = समीपतरवर्ती, कादम्बः = कलहंसः, समालम्भात् — सम्यगालम्भं कृत्वा, ल्यबलोपे पञ्चमी। सम्यक्स्पर्शं कृत्वेति भावः। "समाश्वस्ताम्" इति पाठान्तरे प्रियप्राप्त्या प्रसन्नामित्यर्थः। प्रियां = दयितां, कलहंसीमिति भावः। चुम्बति—वक्त्रसंयुक्तां करोति, पश्य = विलोकय, वाक्यार्थः कर्म। अत्र भङ्ग्यन्तरेण स्वचुम्बनाऽभिप्रायस्योक्तेर्मनोरथो नाम लक्षणम्।

अनुक्तसिद्धिं लक्षयति—**विशेषार्थोहविस्तार इति**। विशेषस्य (रूपलावण्याऽतिशयज्ञापनस्य) अर्थः (प्रयोजनम्), तस्मिन् ऊहविस्तारः (तर्काऽतिशयः), "विशेषाऽर्थोऽतिविस्तारः" इति पाठान्तरम्। "अनुक्तसिद्धिः" लक्षणम्, उदीर्यते=कथ्यते।

अनुक्तसिद्धिमुदाहरति—**दृश्येते इति**। गृहवृक्षवाटिकायां विश्वामित्रसमीपे रामलक्ष्मणौ दृष्ट्वा सीतां प्रति तत्सख्या उक्तिरियम्। हे तन्वि=हे कृशाङ्गि !, चारुचन्द्रमसं प्रति - सुन्दरचन्द्रं प्रति, यौ एतौ, दृश्येते- अवलोक्येते, हे प्राज्ञे=हे बुद्धिमति !, उभौ= द्वौ एव, कल्याणनामानौ=भद्राऽभिधानौ, तिष्यपुनर्वसू=तिष्यपुनर्वसुनक्षत्रे, स्त इति शेषः।

जैसे—"हे सुन्दरि ! रमणमें क्रीडाके विलाससे युक्त, काम सञ्चारसे मन्दगतिवाला यह हंस स्पर्शपूर्वक अपनी प्रिया (हंसी) को चूम रहा है। देखो !"

अनुक्तसिद्धि—विशेष (रूप और लावण्यके आधिक्यका ज्ञापन) के प्रयोजनके लिए तर्कके विस्तारको "अनुक्तसिद्धि" कहते हैं।

जैसे गृहवृक्षवाटिकामें—सीताको उनकी सखी कहती है हे कृशाङ्गि ! सुन्दर चन्द्रमा (विश्वामित्र) के पास जो ये दो देखे जाते हैं, हे बुद्धिसम्पन्ने ! ये दो (राम और लक्ष्मण) कल्याण नामवाले पुष्य और पुनर्वसु नक्षत्र हैं।

स्यात्प्रमाणयितुं पूज्यं प्रियोक्तिर्हर्षभाषणम् ॥ १९४ ॥

यथा शाकुन्तले—

'उदेति पूर्वं कुसुमं ततः फलं, घनोदयः प्राक्तदनन्तरं पयः।
निमित्तनैमित्तिकयोरयं विधिस्तव प्रसादस्य पुरस्तु सम्पदः ॥'

अथ नाट्यालङ्काराः—

आशीराक्रन्दकपटाक्षमागर्वोद्यमाश्रयाः ।
उत्प्रासनस्पृहाक्षोभपश्चात्तापोपपत्तयः ॥ १९५ ॥

अत्र विश्वामित्ररामलक्ष्मणानां रूपलावण्याऽतिशयज्ञापनार्थं तेषु चन्द्रपुष्यपुनर्वसूनामभेदोक्तेरनुक्तसिद्धिर्नाम लक्षणम्।

प्रियोक्ति (प्रियवचः) लक्षयति—**स्यादिति**। पूज्यं = प्रतीक्ष्यजनं, प्रमाणयितुं = प्रमाण कर्तुं, हर्षभाषणं=हर्षेण (आनन्देन) भाषणम् (आलपनम्) "प्रियोक्ति"र्नाम लक्षणम् ॥ १९४ ॥

प्रियोक्तिमुदाहरति—**उदेतीति**। शकुन्तलाभरतलाभेन प्रसन्नस्य दुष्यन्तस्य भगवन्तं मारीचं (कश्यपम्) प्रत्युक्तिरियम्। (७-३०) हे भगवन् !, पूर्वं = प्रथमं, कुसुमं=पुष्पम्, उदेति = विकसति। ततः = तदनन्तरं, पुष्पोदयाऽनन्तरमिति भावः। फलं = सस्यम्, उदेति = उत्पद्यते। तथैव प्राक् = पूर्वं, घनोदयः = मेघाविर्भावः। तदनन्तरं = तदनु, पयः = जलम्, उदेति। अयमेव निमित्तनैमित्तिकयोः = कारणकार्ययोः, विधिः = पौर्वापर्यनियमः। तु = परन्तु, तव = भवतः प्रसादस्य = अनुग्रहस्य, पुरः = प्रथमम् एव, सम्पदः = सम्पत्तयः अभीष्टविषयप्राप्तिरूपा इति भावः।

अत्र पूज्यं मारीचं प्रमाणयितुं राज्ञो दुष्यन्तस्य हर्षभाषणात् "प्रियोक्ति"र्नाम लक्षणम्।

अथ नाट्याऽलङ्काराः—**आशीरिति**। आशीः, आक्रन्दः, कपटम्, अक्षमा, गर्वः, उद्यमः, आश्रयः, उत्प्रासनं, स्पृहा, क्षोभः, पश्चात्तापः, उपपत्तिः ॥ १९५ ॥

प्रियोक्ति (प्रियवचः)—पूज्य जनको प्रमाण करनेके लिए हर्षसे भाषणको "प्रियोक्ति" कहते हैं ॥ १९४ ॥

जैसे शाकुन्तलमें (राजा दुष्यन्त मारीचको कहते हैं)—हे भगवन् ! पहले फूल विकसित होता है तब फल उत्पन्न होता है। पहले मेघका उदय होता है तब जलवृष्टि होती है। कारण और कार्यमें यह विधान (पूर्वाऽपरभाव) है, परन्तु आपके प्रसाद (प्रसन्नता) रूप कारणसे पहले ही कार्यरूप सम्पत्तियां (पत्नी, पुत्र और उनकी प्रत्यासत्ति) हुईं ॥

नाट्याऽलङ्कार—आशीः, आक्रन्द, कपट, अक्षमा, गर्व, उद्यम, आश्रय, उत्प्रासन, स्पृहा, क्षोभ, पश्चात्ताप और उपपत्ति ॥ १९५ ॥

आशंसाऽध्यवसायौ च विसर्पोल्लेखसंज्ञितौ ।
उत्तेजनं परीवादो नीतिरर्थविशेषणम् ॥ १९६ ॥
प्रोत्साहनं च साहाय्यमभिमानोऽनुवर्तनम् ।
उत्कीर्त्तनं तथा याच्ञा परिहारो निवेदनम् ॥ १९७ ॥
प्रवर्तनाख्यानयुक्तिप्रहर्षाश्चोपदेशनम् ।
इति नाट्यालङ्कृतयो नाट्यभूषणहेतवः ॥ १९८ ॥
आशीरिष्टजनाशंसा—

यथा शाकुन्तले—
'ययातेरिव शर्मिष्ठा पत्युर्बहुमता भव ।

आशंसा, अध्यवसायः, विसर्पं उल्लेखः, उत्तेजनं, परीवादः नीतिः अर्थविशेषणम् ॥१९६॥

प्रोत्साहनं, साहाय्यम्, अभिमानः, अनुवर्तनम्, उत्कीर्तनं, याच्ञा, परिहारः, निवेदनम् ॥ १९७ ॥

प्रवर्तनम्, आख्यानं युक्तिः, प्रहर्षः, उपदेशनञ्च । इत्येतानि त्रयस्त्रिंशत् नाट्यभूषण-हेतवः=रूपकसौन्दर्यकारणभूताः, नाट्याऽलङ्कृतयः=नाट्यालङ्काराः, प्रकीर्तिताः॥१९८॥

आशिषं लक्षयति—आशीरिति । इष्टजनाऽऽशंसा = इष्टजने (अभीष्टजने), आशंसा (आशीर्वाद इति भावः) "आशीः" ।

आशिषमुदाहरति—ययातेरिवेति । कण्वस्य महर्षेः शकुन्तलां प्रत्याशीरियम् । हे शकुन्तले !, ययातेः = नहुषपुत्रस्य, चन्द्रवंशोत्पन्नस्य राज्ञः, शर्मिष्ठा इव = वृष-

आशंसा, अध्यवसाय, विसर्प, उल्लेख, उत्तेजन, परीवाद, नीति और अर्थ-विशेषण ॥ १९६ ॥

प्रोत्साहन, साहाय्य, अभिमान, अनुवर्तन, उत्कीर्तन, याच्ञा, परिहार और निवेदन ॥ १९७ ॥

प्रवर्तन, आख्यान, युक्ति, प्रहर्ष और उपदेशन इस प्रकार नाट्यके भूषणके कारणभूत ये (छत्तीस) नाट्याऽलङ्कार हैं ॥ १९८ ॥

आशीः—अभीष्टजनमें आशीर्वाद देनेको "आशीः" कहते हैं ।

जैसे शाकुन्तलमें- (कण्व शकुन्तलाको कहते हैं) ययातिकी शर्मिष्ठाके

पुत्रं त्वमपि सम्राजं सेव पूरुमवाप्नुहि ॥'

आक्रन्दः प्रलपितं शुचा ।

यथा वेण्याम्—

'कञ्चुकी—हा देवि ! कुन्ति ! राजभवनपताके !–' इत्यादि ।

कपटं मायया यत्र रूपमन्यद्विभाव्यते ॥ १९९ ॥

यथा कुलपत्यङ्के—

'मृगरूपं परित्यज्य विधाय कपटं वपुः ।
नीयते रक्षसा तेन लक्ष्मणो युधि संशयम् ॥'

पर्वसुता इव, पत्युः=स्वामिनः, दुष्यन्तस्य, 'बहुमता' इत्यस्य योगे 'क्तस्य च वर्तमाने' इति षष्ठी बहुसम्मता = अतिशयादृता, भव = एधि । सा = शर्मिष्ठा, पूरुम् इव = पूरुनामकं पुत्रम् इव, त्वम् अपि, सम्राजं = राजसूयाऽनुष्ठानपूर्वकं राजमण्डलेश्वरं, पुत्रं= तनयम्, आप्नुहि = लभस्व ।

अत्र सम्राट्पुत्रप्राप्तिरूपाशीर्वादाशंसनादाशीरलङ्कारः ।

आक्रन्दं लक्षयति—**आक्रन्द इति** । शुचा = शोकेन हेतुना, प्रलपितं = प्रलापः "आक्रन्दः" ॥

आक्रन्दमुदाहरति—**यथेति** । राजभवनपताके = प्रासादध्वजसदृशि !, इत्यादि । अत्र शोकेन प्रलापादाक्रन्दो नामाऽलङ्कारः ।

कपटं लक्षयति—**कपटमिति** । यत्र = यस्मिन् स्थले, मायया = कैतवेन, अन्यत् = अपरं, रूपम् = आकारः, विभाव्यते = प्रकाश्यते, तत् "कपटम्" ॥ १९९ ॥

कपटमुदाहरति—**मृगरूपमिति** । तेन, रक्षसा = राक्षसेन, मारीचेनेति भावः । मृगरूपं = हरिणाऽऽकृतिं, परित्यज्य = विहाय, कपटं = व्याजयुक्तं, वपुः = शरीरं, विधाय = निर्माय, युधि = युद्धे, लक्ष्मणः, संशयं = जीवनसन्देहं, नीयते = प्राप्यते । अत्र मारीचस्य मृगरूपत्यागपूर्वं कपटवपुर्विधानात् "कपटं" नाम नाट्याऽलङ्कारः ।

समान तुम भी पतिको अधिक सम्मानित हो । शर्मिष्ठाने जैसे पूरुको पाया था वैसे ही तुम भी सम्राट् पुत्रको प्राप्त करो ।

आक्रन्द—शोकसे प्रलाप करनेको "आक्रन्द" कहते हैं ।

जैसे वेणी (संहार) में–कञ्चुकी–"हा देवि कुन्ति । राजभवनकी पताकाकी समान" इत्यादि ।

कपट—मायासे दूसरा रूप प्रकाशित करनेको "कपट" कहते हैं ॥ १९९ ॥

जैसे कुलपत्यङ्क में—उस राक्षस (मारीच) ने मृगरूपको छोड़कर कपटयुक्त शरीर बनाकर युद्धमें लक्ष्मणके जीवनको संशययुक्त बनाया है ।

अक्षमा सा परिभवः स्वल्पोऽपि न विषह्यते ।

यथा शाकुन्तले—

'राजा—भोः सत्यवादिन् ! अभ्युपगतं तावदस्माभिः । किं पुनरिमामतिसन्धाय लभ्यते ।

शार्ङ्गरवः—विनिपातः—' इत्यादि ।

गर्वोऽवलेपजं वाक्यम्—

यथा तत्रैव—

'राजा—ममापि नाम सत्त्वैरभिभूयन्ते गृहाः ? ।'

—कार्यस्यारम्भ उद्यमः ॥ २०० ॥

अक्षमां लक्षयति—अक्षमेति । यत्र, स्वल्पोऽपि = स्तोकोऽपि, परिभवः = तिरस्कारः, न विषह्यते = नो मृष्यते, सा "अक्षमा" ।

अक्षमामुदाहरति—यथेति । सत्यवादिन् = सत्यभाषिन् !' अभ्युपगतं = स्वीकृतम् । इमां = शकुन्तलाम्, अतिसन्धाय = वञ्चयित्वा, विनिपातः = अवनतिः । अत्र "सत्यवादि"न्निति सोल्लुण्ठनोक्त्या जातस्य परिभवस्य शार्ङ्गरवेणाऽसहनात् "अक्षमा" नाम नाट्याऽलङ्कारः ।

गर्वं लक्षयति—गर्व इति । अवलेपजम् = अहङ्कारजनितं, वाक्यं = पदसमूहः, "गर्वः" नाट्याऽलङ्कृतिः ।

गर्वमुदाहरति—यथेति । तत्रैव = शाकुन्तल एव । सत्त्वैः = दुष्टजन्तुभिः । अभिभूयन्ते = पराभाव्यन्ते । अत्र "ममाऽपी"त्यनेन अवलेपसूचकवाक्येन गर्वो नाम नाट्याऽलङ्कारः ।

उद्यमं लक्षयति—कार्यस्येति । कार्यस्य = कस्याऽपि कर्मणः, आरम्भः = उपक्रमः "उद्यमः" ॥ २०० ॥

अक्षमा—थोड़े भी तिरस्कारको न सहना "अक्षमा" है ।

जैसे शाकुन्तलमें—राजा—हे सत्यवादिन् ! हमने मञ्जूर कर लिया, इनको प्रतारण कर मैं क्या पाउगा ? शार्ङ्गरव—"अवनति" इत्यादि ।

गर्व—अभिमानसे उत्पन्न वाक्यको "गर्व" कहते हैं ।

जैसे वहीं (शाकुन्तल) पर—राजा—मेरे भवन भी दुष्ट जन्तुओंसे अभिभूत होंगे ? ।

उद्यम—कार्यके आरम्भको "उद्यम" कहते हैं ।

यथा कुम्भाङ्के—

'रावणः—पश्यामि शोकविवशोऽन्तकमेव तावत् ।'

ग्रहणं गुणवत्कार्यहेतोराश्रय उच्यते ।

यथा विभीषणनिर्भर्त्सनाङ्के—

'विभीषणः—राममेवाश्रयामि' इति ।

उत्प्रासनं तूपहासो योऽसाधौ साधुमानिनि ॥ २०१ ॥

यथा शाकुन्तले—

'शार्ङ्गरवः–राजन्! अथ पुनः पूर्ववृत्तान्तमन्यसङ्गाद्विस्मृतो भवान् । तत्कथमधर्मभीरोर्दारपरित्यागः—' इत्यादि ।

उद्यममुदाहरति—**पश्यामीति** । शोकविवशः–मन्युपराधीनः, तावत् अन्तकम् एव = यमम् एव, पश्यामि । अत्र युद्धरूपकार्यस्य आरम्भसूचनात् "उद्यमः" ।

आश्रयं लक्षयति—**ग्रहणमिति** । कार्यहेतोः=कर्मकारणात्, गुणवत्–उत्कर्षयुक्तं; ग्रहणम् = आश्रयणम् "आश्रय" उच्यते ।

आश्रयमुदाहरति–**यथेति** । अत्र विभीषणस्य राज्यप्राप्तिरूपकार्यहेतोः श्रीरामस्याश्रयणात् आश्रयो नाम नाट्याऽलङ्कारः ।

उत्प्रासनं लक्षयति—**उत्प्रासनमिति** । साधुमानिनि = य आत्मानं साधुं मन्यते तस्मिन्, वस्तुतः असाधौ = असज्जने । उपहासस्तु = परिहासस्तु "उत्प्रासनं" नाम नाट्याऽलङ्कारः ॥ २०१ ॥

उत्प्रासनमुदाहरति—**यथेति** । पूर्ववृत्तं = प्रथममाचरणं, शकुन्तलापरिणयरूपमिति भावः । अन्यसङ्गात्=अन्यस्याः (अपरस्याः) स्त्रियाः, सङ्गात् (संसर्गात्) । अत्र "सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः" इति नियमेन पुंवद्भावः । अधर्मभीरोः=पापकातरस्य, भवत इति शेषः । अत्राऽसाधुं परं साधुमानिनं दुष्यन्तं प्रति शार्ङ्गरवस्योपहासात् "उत्प्रासनम्" ।

जैसे कुम्भाङ्कमें—रावण—शोकसे विवश होकर यमराजका ही दर्शन करता हूँ ।

आश्रय—कार्यके लिए उत्कर्षयुक्त ग्रहणको "आश्रय" कहते हैं ।

जैसे विभीषणनिर्भर्त्सनाङ्कमें—विभीषण—मैं श्रीरामका ही आश्रय लेता हूँ ।

उत्प्रासन—अपनेको सज्जन माननेवाले दुर्जनके उपहास करनेको "उत्प्रासन" कहते हैं ॥ २०१ ॥

जैसे शाकुन्तलमें—शार्ङ्गरव—"राजन्! दूसरी स्त्रीके सम्पर्कसे आप पूर्व वृत्तान्तको भूल गये हैं । पापभीरु आपसे कैसे पत्नीका परित्याग होगा ?" इत्यादि ।

आकाङ्क्षा रमणीयत्वाद्वस्तुनो या स्पृहा तु सा ।

यथा तत्रैव—

'राजा—

चारुणा स्फुरितेनायमपरिक्षतकोमलः ।
पिपासतो ममानुज्ञां ददातीव प्रियाधरः ॥'

अधिक्षेपवचःकारी क्षोभः प्रोक्तः स एव तु ॥ २०२ ॥

यथा—

'त्वया तपस्विचाण्डाल! प्रच्छन्नवधवर्तिना ।
न केवलं हतो वाली स्वात्मा च परलोकतः ॥'

स्पृहां लक्षयति—**आकाङ्क्षेति** । वस्तुनः=कस्याऽपि पदार्थस्य, रमणीयत्वात्= मनोहरत्वात्, या आकाङ्क्षा = इच्छा, सा तु "स्पृहा" ।

स्पृहामुदाहरति—**चारुणेति** । शकुन्तलादर्शनाऽन्तरं राज्ञो दुष्यन्तस्य स्वगतोक्तिरियम् । अपरिक्षतकोमलः = अपरिक्षतः (केनाऽप्यदष्टः) अत एव कोमलः (मृदुलः), अयं = निकटस्थः, प्रियाऽधरः = प्रियायाः (दयितायाः शकुन्तलायाः) अधरः (ओष्ठः) । चारुणा = रुचिरेण, स्फुरितेन=सञ्चलनेन, पिपासतः=पानेच्छुकस्य, मम = दुष्यन्तस्य, चतुर्थ्यर्थे षष्ठी, अनुज्ञाम् = आज्ञाम्, ददाति इव = वितरति इव, उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः । अत्र शकुन्तलाऽधरस्य रमणीयत्वाद्दुष्यन्तस्य पानाकाङ्क्षातः "स्पृहा" नाम नाट्याऽलङ्कारः ।

क्षोभं लक्षयति—**अधिक्षेपेति** । अधिक्षेपवचःकारी = तिरस्कारयुक्तवचनोत्पादकः, क्षोभः = चाञ्चल्य, सः एव "क्षोभः" प्रोक्तः = अभिहितः ॥ २०२ ॥

क्षोभमुदाहरति—**त्वयेति** । रामं प्रति वालिन उक्तिरियम् । हे तपस्विचाण्डाल = हे तापसमातङ्ग !; प्रच्छन्नवधवर्तिना = अलक्षितरूपेण हिंसाकारकेण; त्वया = रामेण, वाली = अहं, केवलम् = एव, न हतः = नो व्यापादितः; अपि तु स्वात्मा च = निजात्माऽपि, परलोकतः = लोकान्तरात्, हतः = व्यापादितः । अत्र वालिन ईदृशाधिक्षेपोक्तिकारकक्षोभात् "क्षोभः" नाट्यालङ्कारः ।

स्पृहा—सौन्दर्यके कारण वस्तुकी इच्छाको "स्पृहा" कहते हैं ।

जैसे वहीं (शाकुन्तल) पर राजा—किसीसे दष्ट न होनेसे कोमल यह प्रियाका अधर मनोहर स्फुरणसे पान करनेकी इच्छा रखनेवाले मुझको मानों आज्ञा दे रहा है ।

क्षोभ—तिरस्कारयुक्त वचनको प्रकट करनेवाले क्षोभको "क्षोभ" कहते हैं।२०२।

जैसे—हे तपस्विचाण्डाल ! प्रच्छन्न होकर वध करनेवाले तुमने वालीको ही नहीं अपनेको भी परलोकसे नष्ट कर डाला ।

मोहावधीरितार्थस्य पश्चात्तापः स एव तु ।

यथानुतापाङ्के—

'रामः—

किं देव्या न विचुम्बितोऽस्मि बहुशो मिथ्याभिशप्तस्तदा ।' इति ।

उपपत्तिर्मता हेतोरुपन्यासोऽर्थसिद्धये ॥ २०३ ॥

यथा वध्यशिलायाम्—

'म्रियते म्रियमाणे या त्वयि जीवति जीवति ।
तां यदीच्छसि जीवन्तीं रक्षात्मानं ममासुभिः ॥'

पश्चात्तापं लक्षयति—**मोहेति** । मोहाऽवधीरिताऽर्थस्य = मोहेन (अज्ञानेन) अवधीरितस्य (तिरस्कृतस्य) अर्थस्य (विषयस्य), पश्चात्तापः = अनुतापः, स एव = "पश्चात्ताप" एव नाट्याऽलङ्कारः ।

पश्चात्तापमुदाहरति—**किमिति** । मिथ्याऽभिशापेन पश्चात्तापयुक्तस्य रामस्योक्तिरियम् । तदा = तस्मिन्काले । मिथ्याऽभिशप्तः = प्राप्ताऽलीकाऽभिशापः, अहं = रामः, देव्या = सीतया, किं, बहुशः = अनेकवारं, विचुम्बितः = न चुम्बनविषयीकृतः अस्मि । अत्र मोहेन सीतयाऽवधीरिते चुम्बने रामस्य पश्चात्तापात् 'पश्चात्तापः" ।

उपपत्तिं लक्षयति—**उपपत्तिरिति** । अर्थसिद्धये = कार्यनिष्पादनाय, हेतोः = कारणस्य, उपन्यासः = उपस्थापनम् "उपपत्तिः" ॥ २०३ ॥

उपपत्तिमुदाहरति—**म्रियत इति** । नागानन्दे गरुडाऽर्थं वध्यशिलायां प्रेरितं शङ्खचूडनामकं नागं प्रति जीमूतवाहनस्योक्तिरियम् । हे शङ्खचूड !, या = त्वदीया जननी, त्वयि = भवति, म्रियमाणे = प्राणांस्त्यजति म्रियते = प्राणांस्त्यजति, त्वयि, जीवति = प्राणान् धारयति सति, जीवति = प्राणान्धारयति । तां = स्वजननीं, जीवन्तीं = प्राणान्धारयन्तीम्, इच्छसि यदि = वाञ्छसि चेत्, मम = जीमूतवाहनस्य, असुभिः = प्राणैः, आत्मानं = स्वं, रक्ष = त्रायस्व । अत्र तस्याः (जनन्याः) जीवनार्थं स्वप्राणरक्षणरूपहेतोरुपन्यासात् उपपत्तिर्नाम नाट्याऽलङ्कारः ।

पश्चात्ताप—मोहसे तिरस्कृत विषयके पश्चात्ताप (पछतावा) को "पश्चात्ताप" ही कहते हैं ।

जैसे अनुतापाङ्कमें राम—उस समय झूठमूठ ही दूषित बने हुए मुझको महारानी सीताने क्यों बार बार चुम्बन नहीं किया ?

उपपत्ति—प्रयोजनकी सिद्धिके लिए हेतुके स्थापनको "उपपत्ति" कहते हैं २०३

जैसे वध्यशिलामें—(जीमूतवाहन शङ्खचूडको कहते हैं)—तुम्हारे मरनेपर जो मरती है, और तुम्हारे जीनेपर जो जीती रहती हैं उस (माता) को जीती हुई रखना चाहते हो तो मेरे प्राणोंसे अपनी रक्षा करो ।

आशंसनं स्यादाशंसा—

यथा श्मशाने—

'माधवः—

तत्पश्येयमनङ्गमङ्गलगृहं भूयोऽपि तस्या मुखम् ।' इति ॥

प्रतिज्ञाऽध्यवसायकः ।

यथा मम प्रभावत्याम्—

'वज्रनाभः—

अस्य वक्षः क्षणेनैव निर्मथ्य गदयानया ।
लीलयोन्मूलयाम्येष भुवनद्वयमद्य वः ॥'

आशसां लक्षयति—आशंसनमिति । आशंसनम् = अभीष्टविषयसूचनम्, "आशंसा" नाम काव्यालङ्कारः स्यात् ॥

आशंसामुदाहरति—तदिति । अनङ्गमङ्गलगृहम् = अनङ्गस्य (कामदेवस्य) मङ्गलगृह (कल्याणावासस्थानम्), तस्याः = मालत्याः, तत् = असकृद्दृष्टं, मुखं = वदनं, भूयोऽपि = पुनरपि, पश्यामि = विलोकयामि ।

अत्राऽभीष्टस्य मालतीमुखदर्शनरूपविषयस्याशंसनात् "आशंसा" ।

अध्यवसायकं लक्षयति—प्रतिज्ञेति । प्रतिज्ञा=कर्तव्यनिश्चयः "अध्यवसायकः" अध्यवसाय एव अध्यवसायकः । अत्र स्वार्थे कः । क्वचित् "व्यवसायकः" इति पाठान्तरं, तत्राऽपि कः ।

अध्यवसायमुदाहरति—अस्येति । एषः = अयम्, अहमिति शेषः । अनया = समीपवर्तिन्या, गदया = कास्यपरपर्यायेणाऽऽयुधेन अस्य = प्रद्युम्नस्य, वक्षः = उरःस्थलं, क्षणेनैव=अल्पकालेनैव, "अपवर्गे तृतीये"ति तृतीया । निर्मथ्य = संचूर्ण्य, वः = युष्माकं, समीप इति शेषः । लीलया=अनायासेनैव, भुवनद्वयं = लोकद्वितयं स्वर्गमर्त्यद्वयमिति भावः । उन्मूलयामि = उन्मूलितं करोमि । अत्र भवनद्वयोन्मूलनरूपप्रतिज्ञातः "अध्यवसायः" काव्याऽलङ्कारः ।

आशंसा—किसीके अभीष्ट विषयकी सूचना करनेको "आशंसा" कहते हैं ।

जैसे श्मशान (मरघट) में माधव—"कामदेवके मङ्गलभवन-स्वरूप उस मालतीके मुखको फिर भी देख लेता हूँ" ।

अध्यवसाय—प्रतिज्ञाको "अध्यवसाय" कहते हैं ।

जैसे ग्रन्थकारकी प्रभावती (नाटिका) में—वज्रनाभ—यह मैं इस प्रद्युम्नके वक्षःस्थल (छाती) को थोड़े ही समयमें चूर चूरकर अनायास ही दोनों (स्वर्ग और मर्त्य) लोकोंको उन्मीलित कर देता हूँ ॥

विसर्पो यत्समारब्धं कर्मानिष्टफलप्रदम् ॥ २०४ ॥

यथा वेण्याम्—

'एकस्यैव विपाकोऽयम्—' (६-९९ पृ०) इत्यादि ।

१ १

यथा शाकुन्तले—राजानं प्रति—

'तापसौ—समिदाहरणाय प्रस्थितावावाम् । इह चास्मद्गुरोः कुलपतेः साधिदैवत इव शकुन्तलयानुमालिनीतीरमाश्रमो दृश्यते । न चेदन्य (था) कार्यातिपातः, प्रविश्य गृह्यतामतिथिसत्कारः' इति ।

विसर्पं लक्षयति— **विसर्प इति** । अनिष्टफलप्रदद् = अनभीष्टपरिणामकारक; यत्, कर्म = क्रिया, समारब्धम् = अनुष्ठितं, स "विसर्पः" ॥ २०४ ॥

विसर्पमुदाहरति— **एकस्येति** । "एकस्यैव विपाकोऽयम्" इत्यादि ।

एकस्य=द्रौपदीकेशग्रहस्य, विपाकः=परिणामः, राजसमूहक्षयरूप इति भावः । द्वितीये=धृष्टद्युम्नकृतद्रोणकेशग्रहे जाते । अत्र द्रोणकेशग्रहरूपस्य अनिष्टफलप्रदकर्मणः समारम्भात् "विसर्पः" ।

उल्लेखं लक्षयति— **कार्यदर्शनमिति** । कार्यदर्शनं=कर्मविलोकनम्, "उल्लेखः"। क्वचित् "कार्यग्रहणम्" इति पाठान्तरम् ।

उल्लेखमुदाहरति— **यथेति** । अस्मद्गुरोः=अस्मदाचार्यस्य, कुलपतेर्महर्षिकण्वस्येति भावः । साधिदैवतः=अधिदैवतेन (अधिष्ठात्र्या = देव्या) सह । अनुमालिनीतीरं=मालिनीतीरस्य समीपे, "अनुर्यत्समया" इत्यव्ययीभावः । अन्यकार्याऽतिपातः = अन्यकार्यस्य (कार्यान्तरस्य) अतिपातः (अतिक्रमः) । अत्र राज्ञः शकुन्तलायुक्ताऽऽश्रमप्रवेशरूपकार्यस्य दर्शनात् उल्लेखो नाम नाट्याऽलङ्कारः ।

विसर्प—अनिष्ट फल देनेवाले कर्मका अनुष्ठान करनेको "विसर्प" कहते हैं ॥ २०४ ॥

जैसे—"एकस्यैव विपाकोऽयम्" इत्यादि ।

उल्लेख—कार्यदर्शनको "उल्लेख" कहते हैं ।

जैसे शाकुन्तलमें—राजा (दुष्यन्त) को दो तपस्वी कहते हैं—"समिधा लानेके लिए हम दोनोंने प्रस्थान किया है । यहाँपर मालिनी नदीके तीरके समीप शकुन्तलासे अधिदेवतासे युक्तके समान हमारे गुरुजीका आश्रम देखा जाता है । और कार्यका अतिक्रम न हो तो (वहाँपर) प्रवेश कर आप अतिथिसत्कारका ग्रहण करें ॥

—उत्तेजनमितीष्यते ।
स्वकार्यसिद्धयेऽन्यस्य प्रेरणाय कठोरवाक् ॥ २०५ ॥

यथा—'इन्द्रजिच्चण्डवीर्योऽसि नाम्नैव बलवानसि ।
धिग्धिक्प्रच्छन्नरूपेण युध्यसेऽस्मद्भयाकुलः ॥'

भर्त्सना तु परीवादः—

यथा सुन्दराङ्के—
'दुर्योधनः—धिग धिक सूत ! किं कृतवानसि ।
वत्सस्य मे प्रकृतिदुर्ललितस्य पापः पापं विधास्यति-' (वे० सं० ४-५) इत्यादि ।

उत्तेजनं लक्षयति—**उत्तेजनमिति** । स्वकार्यसिद्धये = निजकर्मसिद्ध्यर्थम्, अन्यस्य = अपरजनस्य, प्रेरणाय = प्रवृत्तये, कठोरवाक् = परुषवचनम्, "उत्तेजनम्" इति नाट्यालङ्कारः, इष्यते = अभिलष्यते ॥ २०५ ॥

उत्तेजनमुदाहरति—**इन्द्रजिदिति** । इन्द्रजितं प्रति लक्ष्मणस्योक्तिरियम् । हे इन्द्रजित् = हे मेघनाद !, त्वं, चण्डवीर्यः = चण्डं (प्रचण्डम्) वीर्यं (पराक्रमः) यस्य सः, तादृश = असि, किन्तु नाम्ना एव = इन्द्रजित् इति समाख्यया एव, न तु कर्मणेति भावः । बलवान् = शक्तिसम्पन्न , असि, तथाऽपि, अस्मद्भयाकुल - अस्मत् मत् भय (भीतिः), तेन आकुलः (व्याकुलः) सन्, प्रच्छन्नरूपेण = अलक्षितभावेन, युध्यसे = समरहरसि, अतः धिक् धिक् = त्वामिति शेषः । त्वां सातिशयं निन्दामीति भावः । अत्र लक्ष्मणस्य इन्द्रजिद्वधरूपस्वकार्यसिद्धये इन्द्रजितः प्रकाशयुद्धे प्रेरणाऽर्थं कठोरवचनात् "उत्तेजनं" नाम काव्यालङ्कारः ।

परीवादं लक्षयति—**भर्त्सनेति** । भर्त्सना = तर्जनं, "परीवादः" ।

परीवादमुदाहरति—**यथेति** । वत्सस्येति । पापः = पापी, भीमसेन इति भावः, प्रकृतिदुर्ललितस्य = दुःखेन कृतलालनस्य मे = मम, वत्सस्य = वात्सल्यभाजनस्य, दुःशासनस्य पापम् = अनिष्ट, विधास्यति = करिष्यति । इत्यादि ।

अत्र दुर्योधनकर्तृकसूतभर्त्सनया परीवादो नाम नाट्यालङ्कारः ।

उत्तेजन—अपने कार्यकी सिद्धिके निमित्त दूसरेको प्रेरणा करनेके लिए कठोर वचनको "उत्तेजन" कहते है ॥ २०५ ॥

इन्द्रजित्को लक्ष्मण कहते हैं-"हे इन्द्रजित् ! तू प्रचण्ड बलवाला है, किन्तु नामसे ही इन्द्रजित् है । जो कि हमारे भयसे आकुल होकर अदृश्य रूपसे तू युद्ध कर रहा है । तुझे धिक्कार है धिक्कार है ।

परीवाद—भर्त्सना (घुड़कने) को "परीवाद" कहते हैं ।

जैसे सुन्दराङ्कमें—दुर्योधन—सूत ! तुझे धिक्कार है धिक्कार है । तुमने क्या किया ? "पापी (भीमसेन) स्वभावसे बहुत ही लाड़प्यार किये गये मेरे वात्सल्य-भाजन दुःशासनका पाप (अनिष्ट) करेगा, इत्यादि ।

—नीतिः शास्त्रेण वर्तनम् ।

यथा शाकुन्तले—

दुष्यन्तः—विनीतवेषप्रवेश्यानि तपोवनानि ।' इति ।

उक्तस्यार्थस्य यत्तु स्यादुत्कीर्तनमनेकधा ॥ २०६ ॥

उपालम्भविशेषेण तत् स्यादर्थविशेषणम् ।

यथा शाकुन्तले राजानं प्रति—

'शार्ङ्गरवः—आः कथमिदं नाम, किमुपन्यस्तमिति ? ननु भवानेव नितरां लोकवृत्तान्तनिष्णातः ।

सतीमपि ज्ञातिकुलैकसंश्रयां जनोऽन्यथा भर्तृमतीं विशङ्कते ।

अतः समीपे परिणेतुरिष्यते प्रियाप्रिया वा प्रमदा स्वबन्धुभिः ॥'

(अ० शा० ५-१७)

नीतिं लक्षयति—**नीतिरिति** । शास्त्रेण = शास्त्राऽनुसारेण, वर्तनं = वृत्तिः नीतिर्नाम काव्याऽलङ्कारः ।

नीतिमुदाहरति—**यथेति** । विनीतवेषप्रवेश्यानि = विनीतवेषेण (अनुद्धत-नेपथ्येन) प्रवेश्यानि (प्रवेशयोग्यानि) । अत्र "हीनाऽन्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरु-सन्निधौ ।" (मनुः २–१९४) इति धर्मशास्त्राऽनुसारेण वर्तनात् "नीतिः" ।

अर्थविशेषणं लक्षयति—**उक्तस्येति** । उक्तस्य=अभिहितस्य, अर्थस्य=विषयस्य, उपालम्भविशेषेण = निन्दाविशेषेण, क्वचित् "उपालम्भस्वरूपेणे"ति पाठान्तरम् । यत्तु अनेकधा=बहुवारम्, उत्कीर्तनं = संसूचनं, तत् "अर्थविशेषणं" नाम नाट्याऽलङ्कारः ।

अर्थविशेषणमुदाहरति—**यथेति** । नितरां=सातिशयम् । लोकवृत्तान्तनिष्णातः= लोकचरित्राऽभिज्ञः ।

सतीमिति । शार्ङ्गरवस्य दुष्यन्तं प्रत्युक्तिरियम् । जनः = लोकः, भर्तृमती = सभर्तृकां स्त्रियं, सतीम् अपि = पतिव्रताम् अपि, ज्ञातिकुलैकसंश्रयां = ज्ञातिकुलं (पित्रादिबन्धुवंशः) एव एकः (मुख्यः) संश्रयः (आश्रयः) यस्यास्ताम्, अन्यथा = अन्यप्रकारेण, भावान्तरेण असतीमिति भावः । विशङ्कते = संशेते, अतः —

नीति—शास्त्रके अनुसार आचरण करनेको "नीति" कहते हैं ।

जैसे शाकुन्तलमें-दुष्यन्त—"तपोवनोंमें विनीत वेषसे प्रवेश करना चाहिए" ।

अर्थ विशेषण—कहे गये विषयका विशेष उलहनेसे जो अनेक प्रकारसे उत्कीर्तन है उसे "**अर्थविशेषण**" कहते हैं ॥ २०६ ॥

जैसे शाकुन्तलमें राजाको शार्ङ्गरव कहते हैं—ओह ! यह कैसे ? क्या रक्खा गया ? आप ही लोक चरित्रके अच्छी तरहसे जानकार हैं । "लोक सधवा स्त्रीको पतिव्रता होनेपर भी वह पितृकुलमें ही मुख्य आश्रय लेती है तो "यह पतिव्रता नहीं है"

प्रोत्साहनं स्यादुत्साहगिरा कस्यापि योजनम् ॥ २०७ ॥

यथा बालरामायणे—

'कालरात्रिकरालेयं स्त्रीति किं विचिकित्ससि ।
तज्जगत्त्रितयं त्रातुं तात ! ताडय ताडकाम् ॥'

साहाय्यं सङ्कटे यत्स्यात् सानुकूल्यं परस्य च ।

अस्मात्कारणात्, प्रिया=वल्लभा, अप्रिया=अवल्लभा वा, प्रमदा – नारी, स्वबन्धुभिः= आत्मबान्धवैः, पित्रादिभिरिति भावः । परिणेतुः = पत्युः, समीपे – निकटे, इष्यते = अभिलष्यते । वंशस्थं वृत्तम् ।

अत्र "किमिदमुपन्यस्तम्" इति राजवचनस्योपालम्भविशेषेणाऽनेकधोत्कीर्तनात् "अर्थविशेषणम्" ।

प्रोत्साहनं लक्षयति—**प्रोत्साहनमिति** । उत्साहगिरा = उत्साहोत्पादक-वाक्येन, कस्याऽपि = जनस्य, योजनं = प्रवर्तनं "प्रोत्साहनं" स्यात् ॥ २०७ ॥

प्रोत्साहनमुदाहरति—**कालरात्रिकरालेति** । यज्ञरक्षोद्यतं श्रीरामं प्रति विश्वामित्रस्योक्तिरियम् । हे तात=हे वत्स, राम ! कालरात्रिकराला = कालरात्रिः (प्रलय-समयरजनी) सा इव कराला (भीषणा), "उपमानानि सामान्यवचनैः" इति समासः । इयं = ताडका राक्षसी, स्त्री = अबला, इति = एवं, किं = किमर्थं, विचिकित्ससि = संशेषे, स्त्रीत्वेनेयम् अहन्तव्या न, प्रत्युत करालत्वेन राक्षसीत्वेन च हन्तव्यैवेति भावः । तत् – तस्मात्कारणात् । जगत्त्रितयं = लोकत्रय, त्रातु = रक्षितुं, ताडकां – सुन्दस्त्रियं राक्षसीं, ताडय = प्रहर । अत्र विश्वामित्रेणोत्साहगिरा ताडकावधे रामस्य योजनात् "प्रोत्साहनं" नाम नाट्यालङ्कारः ।

साहाय्यं लक्षयति—**साहाय्यमिति** । सङ्कटे=विपदि, परस्य = अन्यस्य, यत्, सानुकूल्यम्=अनुकूलतासाहित्यम् । अनुकूलाचरणमिति भावः । तत् "साहाय्यम्" ।

ऐसा सन्देह करता है, इस कारणसे स्त्री पतिको प्रिया हो वा अप्रिया हो उसे पिता आदि बन्धु पतिके समीप रहना ही पसन्द करते हैं ।

प्रोत्साहन—उत्साहजनक वाक्यसे किसीको किसी काममें नियुक्त करनेको 'प्रोत्साहन" कहते हैं ॥ २०७ ॥

जैसे बालरामायणमें—(विश्वामित्र रामको कहते हैं) हे वत्स ! यह (ताडका) कालरात्रिके सदृश भयङ्कर है, यह स्त्री है (अतः वध्य नहीं है) ऐसी शङ्काको आप क्यों करते हैं, इस कारणसे तीन लोकोंकी रक्षा करनेके लिए इस ताडका को मार डालिए ॥

साहाय्य—सङ्कटमें दूसरेके अनुकूल आचरण करनेको "साहाय्य" कहते हैं ।

यथा वेण्याम्—कृपं प्रति—

'अश्वत्थामा—त्वमपि तावद्राज्ञः पार्श्ववर्ती भव ।'

कृपः—'वाञ्छाम्यहमद्य प्रतिकर्तुम्–' इत्यादि ।

अभिमानः स एव स्यात्—

यथा तत्रैव—

'दुर्योधनः—मातः किमप्यसदृशं कृपणं वचस्ते—' इत्यादि ।

—प्रश्रयादनुवर्तनम् ॥ २०८ ॥

अनुवृत्तिः—

यथा शाकुन्तले—

'राजा—(शकुन्तलां प्रति) अयि ! तपो वर्धते ?

साहाय्यमुदाहरति—**यथेति** । राज्ञः = भूपस्य, दुर्योधनस्येत्यर्थः । पार्श्ववर्ती = निकटवर्ती । प्रतिकर्तुं = प्रतिकारं कर्तुम् ।

अत्र युद्धसङ्कटे कृतस्य दुर्योधनस्याऽनुकूलाचरणात् "साहाय्य" नाम नाट्यालङ्कारः ।

अभिमानं लक्षयति—**अभिमान इति** । अभिमानः = अहङ्कार, स एव "अभिमानः" ।

अभिमानमुदाहरति-**मातरिति**। दुर्योधनस्य स्वमातरं गान्धारीं प्रत्युक्तिरियम् । असदृशम्=अयोग्यं, कृपणं = क्षुद्रम् । पाण्डवेभ्यो राज्यं दातुं गान्धार्या उक्ते दुर्योधनस्याऽभिमानादभिमानो नाम नाट्याऽलङ्कार ।

अनुवर्तनं लक्षयति—**प्रश्रयादिति** । प्रश्रयात् = विनयात्, अनुवृत्तिः = अनुसरणम्, "अनुवर्तनं" नाम नाट्याऽलङ्कारः ॥ २०८ ॥

अनुवर्तनमुदाहरति—**यथेति** । "इदानीमतिथिविशेषलाभेने"ति संस्कृतच्छाया । अत्र राज्ञोऽनुसूयाप्रियंवदयोरपि विनयाऽनुवृत्तेरनुवर्तनम् ।

जैसे वेणी (संहार) में—कृपाचार्यको अश्वत्थामा कहते हैं—"आप भी राजा (दुर्योधन) के पासमे रहें" । कृपाचार्य–मैं आज प्रतिकार करनेकी (बदला लेनेकी) इच्छा करता हूँ ।

अभिमान—अभिमान करने को "अभिमान" ही कहते हैं ।

जैसे वहीं (वेणीसंहार) पर दुर्योधन—

"माताजी ! आपके अयोग्य यह कैसा क्षुद्र वचन है ?

अनुवर्तन—विनयसे अनुसरण करनेको "अनुवर्तन" कहते हैं ॥ २०८ ॥

जैसे शाकुन्तलमें–राजा—(शकुन्तलाको कहते हैं) "आपकी तपस्या तो बढ़ रही है ?"

अनुसूया--'दाणिं अदिधिविसेसलाहेण' इत्यादि।

—भूतकार्याख्यानमुत्कीर्तनं मतम्।

यथा बालरामायणे--

'अत्रासीत्फणिपाशबन्धनविधिः शक्त्या भवद्देवरे।
गाढं वक्षसि ताडिते हनुमता द्रोणाद्रिरत्राहृतः॥' इत्यादि।

याच्ञा तु क्वापि याच्ञा या स्वयं दूतमुखेन वा॥ २०९॥

यथा—

'अद्यापि देहि वैदेहीं दयालुस्त्वयि राघवः।
शिरोभिः कन्दुकक्रीडां किं कारयसि वानरान्?॥'

उत्कीर्तनं लक्षयति—भूतेति। भूतकार्याख्यान = भूतकार्यस्य (पूर्ववृत्तस्य) आख्यानम् (कथनम्) "उत्कीर्तनम्"।

उत्कीर्तनमुदाहरति—अत्रेति। पुष्पकविमानात् रणस्थलं दर्शयतो रामस्य सीतां प्रत्युक्तिरियम्। 'हे मृगाक्षि=हे मृगनयने सीते!' अत्र=अस्मिन् स्थाने, फणिपाशबन्धनविधिः=इन्द्रजित्कृतः नागपाशबन्धनविधानम्, आवयोरिति शेषः। रावणेन, अत्र भवद्देवरे=भवत्या देवरि लक्ष्मणे, शक्त्या= आयुधविशेषेण, वक्षसि = उरसि, ताडिते = प्रहृते सति, हनुमता=आञ्जनेयेन, द्रोणाऽद्रिः = द्रोणपर्वतः, आहृतः = आनीतः। अत्र श्रीरामेण भूतकार्याख्यानात् "उत्कीर्तन" नाम नाट्याऽलङ्कारः।

याच्ञां लक्षयति—याच्ञेति। क्वाऽपि = कुत्राऽपि जने, स्वयम् = आत्मना, दूतमुखेन = सन्देशहरद्वारा वा, या याच्ञा = प्रार्थना, सा "याच्ञा" नाम नाट्याऽलङ्कारः॥ २०९॥

याच्ञामुदाहरति—अद्याऽपीति। अङ्गददूतमुखेन श्रीरामो रावणं याचते। हे रावण!, त्वम्, अद्याऽपि, वैदेहीं=जानकीं, देहि = मह्यमिति शेषः। त्वयि = विषये, राघवः, दयालुः = कारुणिकः। याच्ञाऽनङ्गीकारे परिणाममाह—वानरान् = कपीन्, वानरैर्वा, "हृक्रोरन्यतरस्याम्" इति सूत्रेण इति विकल्पेन कर्मसंज्ञायां द्वितीया। शिरोभिः=

अनुसूया—"इस समय अतिथिविशेषके लाभसे (तपस्या बढ़ रही है) इत्यादि।

उत्कीर्तन—बीते हुए कार्यके कथनको "उत्कीर्तन" कहते हैं।

जैसे बालरामायणमें—(राम सीतासे कहते हैं)—"हे सीते! इस स्थानमें इन्द्रजित्ने नागपाशमें फाँस लिया था। यहाँपर रावणके तुम्हारे देवर (लक्ष्मण) को शक्तिसे छातीमें ताडन करनेपर हनूमान्जी द्रोणपर्वत लाये थे"। इत्यादि।

याच्ञा—जो कहीं स्वयम् वा दूतके मुखसे याचना की जाय उसे "याच्ञा" कहते हैं॥ २०९॥

जैसे—(अङ्गदके मुखसे श्रीराम रावणसे याचना करते हैं) हे रावण! अभी

परिहार इति प्रोक्तः कृतानुचितमार्जनम् ।

यथा—

'प्राणप्रयाणदुःखार्त उक्तवानस्म्यनक्षरम् ।
तत्क्षमस्व विभो! किं च सुग्रीवस्ते समर्पितः ॥'

अवधीरितकर्तव्यकथनं तु निवेदनम् ॥ २१० ॥

यथा राघवाभ्युदये--

'लक्ष्मणः—आर्य ! समुद्राभ्यर्थनया गन्तुमुद्यतोऽसि । तत्किमेतत् ?'

दशसङ्ख्यकैः, स्वमस्तकैः, क्रीडां=खेलां, किं कारयसि । अत्र दूतमुखेन रामकृतयाच्ञाया "याच्ञा" ॥

परिहारं लक्षयति—**परिहार इति** । कृताऽनुचितमार्जनं=कृतस्य (विहितस्य) अनुचितस्य (अयुक्तस्य) कर्मणो मार्जनं=परिहारः, परिहारो नाम नाट्याऽलङ्कारः ।

परिहारमुदाहरति—**प्राणेति** । रामशराहतस्य म्रियमाणस्य वालिनः श्रीराम प्रत्युक्तिरियम्, हे राम !, प्राणप्रयाणदुःखार्तः=प्राणप्रयाणे (असुमोक्षणसमये) यत् दुःख (वेदना) तेन आर्तः (पीडितः) सन्, यत् अनक्षरम् = अवाच्यं, "त्वया तपस्विचाण्डाले"त्यादिवाक्यरूपम्, उक्तवान् = अभिहितवान्, अस्मि, तद् = अनक्षर, क्षमस्व=मर्षय, किं च, हे विभो = हे प्रभो ! सुग्रीवः = मदनुजः, ते=तुभ्यं, समर्पितः= दत्तः । अत्र वालिनाऽऽत्मकृतस्याऽनुचितस्य मार्जनात् "परिमार्जनम्" ।

निवेदनं लक्षयति— **अवधीरितेति** । अवधीरितकर्तव्यकथनम् = अवधीरितम् (अवज्ञातम्) यत् कर्तव्यं (कृत्यम्) तस्य कथन (प्रतिपादनम्) तत् 'निवेदन" नाम नाट्याऽलङ्कारः ॥ २१० ॥

निवेदनमुदाहरति—**यथेति** । अत्र पुराऽवज्ञातस्य समुद्रसमीपगमनस्य कर्तव्यत्व-कथनात् "निवेदनम्" ।

भी सीताजीको दे दो । तुमपर रामचन्द्रजी दयालु हैं । बानरोंसे अपने मस्तकोंकी क्यों गेंदकी क्रीडा कराते हो ।

परिहार—किये गये अनुचित कार्यके मार्जनको "परिहार" कहते हैं । जैसे—(अन्तकालमें वाली रामको कहता है) हे प्रभो ! प्राण जानेके समयमें वेदनासे पीडित होकर मैंने जो अवाच्य वचन कहा है उसे आप क्षमा करें । (भाई) सुग्रीवको मैंने आपको सौंप दिया है ।"

निवेदन—तिरस्कृत कर्तव्यके कथनको "निवेदन" कहते है ॥ २१० ॥

जैसे राघवाऽभ्युदयमें—लक्ष्मण (रामको कहते) आर्य ! आप समुद्रकी प्रार्थनासे जानेके लिए उद्यत हो रहे हैं "यह क्या है" ? ।

प्रवर्तनं तु कार्यस्य यत्स्यात्साधुप्रवर्तनम् ।

यथा वेण्याम्—

'राजा- कञ्चुकिन् ! देवस्य देवकीनन्दनस्य बहुमानाद्वत्सस्य भीमसेनस्य विजयमङ्गलाय प्रवर्तन्तां तत्रोचिताः समारम्भाः ।

आख्यानं पूर्ववृत्तोक्तिः—

यथा तत्रैव—

'देशः सोऽयमरातिशोणितजलैर्यस्मिन् ह्रदाः पूरिताः-'

(वे० सं० ३-३३) । इत्यादि ।

—युक्तिरर्थावधारणम् ॥ २११ ॥

प्रवर्तनं लक्षयति—**प्रवर्तनमिति** । कार्यस्य = कस्यचित्कर्मणः, यत् साधुप्रवर्तनं = समीचीनाऽऽरम्भः, तत् "प्रवर्तनं" नाट्याऽलङ्कारः ।

प्रवर्तनमुदाहरति—**यथेति** । बहुमानात्=अधिकसत्कारात्, उचिताः=संयोग्याः समारम्भाः = समीचीनकर्माणि । अत्र माङ्गलिककार्यस्य साधुप्रवर्तनात् "प्रवर्तनम्" ।

आख्यानं लक्षयति—**आख्यानमिति** । पूर्ववृत्तोक्तिः = पूर्ववृत्तस्य (अतीतवृत्तान्तस्य) उक्तिः (कथनम्) "आख्यानं" नाम नाट्याऽलङ्कारः ।

आख्यानमुदाहरति—**यथेति** । अरातिशोणितजलैः = अरातीनां (शत्रूणाम्) शोणितानि (रुधिराणि) एव जलानि (सलिलानि) । तैः । अत्राश्वत्थाम्नः परशुरामकृतपूर्ववृत्तोक्तेराख्यानम् ।

युक्तिं लक्षयति—**युक्तिरिति** । अर्थाऽवधारणम् = अर्थस्य (विषयस्य) अवधारणं (कर्तव्यत्वनिश्चयः) 'युक्ति" नाम नाट्याऽलङ्कारः ॥ २११ ॥

प्रवर्तन--किसी भी कार्यको अच्छी तरहसे आरम्भ करनेको प्रवर्तन" कहते हैं ।

जैसे वेणी (संहार)में--राजा (युधिष्ठिर) "कञ्चुकिन् ! भगवान् देवकीनन्दन (कृष्णजी) के अधिक सम्मान करके वत्स भीमसेनके विजयमङ्गलके लिए उसमें उचित कार्य किये जायं" ।

आख्यान—अतीत वृत्तान्तके कथनको "आख्यान" कहते हैं ।

जैसे वहींपर—"यह वही देश है, जिसमें शत्रुओंके रुधिर जलोंसे तालाब भरे गये हैं ।" इत्यादि ।

युक्ति—विषयकी कर्तव्यताके निश्चयको "युक्ति" कहते हैं ।

जैसे वहीं (वेणी संहार में)—

यथा तत्रैव--

'यदि समरमपास्य नास्ति मृत्योर्भयमिति युक्तमितोऽन्यतः प्रयातुम्।
अथ मरणमवश्यमेव जन्तोः किमिति मुधा मलिनं यशः कुरुध्वम्॥' (३६)।

प्रहर्षः प्रमदाधिक्यं—

यथा शाकुन्तले--

'राजा--तत्किमिदानीमात्मानं पूर्णमनोरथं नाभिनन्दामि।'

—शिक्षा स्यादुपदेशनम्।

यथा तत्रैव--

'सहि! ण जुत्तं अस्समवासिणो जणस्स अकिदसक्कारं अदिधिविसेसं उज्झिअ सच्छन्ददो गमनम्'!

युक्तिमुदाहरति—यदीति। कुरुक्षेत्रे समरभूमौ पलायनपरान्नरपतीनुद्दिश्याऽश्वत्थाम्न उक्तिरियम्। समरं = युद्धम्, अपास्य = त्यक्त्वा, मृत्योः = मरणात्, भय-भीतिः, नाऽस्ति यदि = नाऽस्ति चेत्, तर्हि इतः = अस्मात्, समरादित्यर्थः। अन्यतः अन्यस्मिन् स्थले, प्रयातुं = गन्तुं, युक्तम् = उचितम्। अथ = पक्षान्तरे, जन्तोः = जननशीलस्य प्राणिनः, मरणं = मृत्युः, अवश्यम् एव = ध्रुवम् एव, तर्हि, किमिति = केन कारणेन, यशः = कीर्ति, मुधा = व्यर्थं, मलिनं = मलीमसं, कुरुध्वं = सम्पादयध्वम्। पुष्पिताग्रा वृत्तम्। अत्र युद्धं कर्तव्यमेवेत्यर्थाऽवधारणात् युक्तिः।

प्रहर्षं लक्षयति—प्रहर्ष इति। प्रमदाऽऽधिक्यं=प्रमदस्य (हर्षस्य) आधिक्यम् (अधिकता) "प्रहर्षः" इति।

प्रहर्षमुदाहरति—यथेति। अत्र राज्ञः पत्नीपुत्रलाभेन हर्षाधिक्यात् प्रहर्षो नाम नाट्याऽलङ्कारः।

उपदेशनं लक्षयति—शिक्षेति। शिक्षा = उपदेशकरणम् "उपदेशनम्"।

उपदेशनमुदाहरति—यथेति। "सखि! न युक्तमाश्रमवासिनो जनस्याऽकृत-सत्कारमतिथिविशेषमुज्झित्वा स्वच्छन्दतो गमनम्" इति संस्कृतच्छाया। स्वच्छन्दता= आत्माऽभिप्रायाऽनुसारेण, स्वातन्त्र्येणेति भावः। अत्र शकुन्तलां प्रत्यनसूयाया उपदेशाना-दुपदेशनं नाम नाट्याऽलङ्कारः।

"युद्धको छोड़कर मृत्युका भय नहीं तो अन्यत्र जाना उचित है, परन्तु जन्तुका अवश्य ही मरण है तो क्यों अपने यशको मलिन करते हो?"

प्रहर्ष--हर्षकी अधिकताको "प्रहर्ष" कहते हैं।

जैसे शाकुन्तलमें राजा (दुष्यन्त)--"तब क्यों इस समय पूर्ण मनोरथवाले अपनेको अभिनन्दन न करूँ?"!

उपदेशन--शिक्षा करनेको "उपदेशन" कहते हैं।

जैसे वहीं (शाकुन्तल) पर--"सखि! आश्रममें रहनेवालेको अतिथिका सत्कार किये विना स्वच्छन्द होकर जाना उचित नहीं है"।

एषां च लक्षणनाट्यालङ्काराणां सामान्यत एकरूपत्वेऽपि भेदेन व्यपदेशो गड्डालिकाप्रवाहेण ।

एषु च केषांचिद्गुणालङ्कारभावसन्ध्यङ्गविशेषान्तर्भावेऽपि नाटके प्रयत्नतः कर्त्तव्यत्वात्तद्विशेषोक्तिः ।

एतानि च--

पञ्चसन्धि चतुर्वृत्ति चतुःषष्ट्यङ्गसंयुतम् ।
षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतमलङ्कारोपशोभितम् ॥

भूषणनाट्यालङ्काराऽऽदिविषये विशेषमाह--एषामिति ।

एषां = पूर्वोक्तानां, लक्षण-नाट्यालङ्काराणां=भूषणादिलक्षणानाम्, आशीरादिनाट्यालङ्काराणां च, सामान्यतः=नाट्यभूषणहेतुत्वरूपसाधारणधर्मात्, एकरूपत्वेऽपि= समानस्वरूपत्वेऽपि भेदेन व्यपदेशः = इदं लक्षणमयमलङ्कार इति पार्थक्येन व्यवहारः; गड्डलिकाप्रवाहेण = गड्डलिका (मेषी) तत्प्रवाहेण=(तत्प्रचलनेन) यथा गड्डलिका एका अपरां, तां च अन्याम अनुगच्छति, तासां गताऽनुगतन्यायेन भेदः ।

ननु भूषणस्य यथायथ गुणेऽलङ्कारे च, शोभाया श्लेषे, विशेषणस्य विशेषोक्त्यलङ्कारे च, एवमाशीरादिनाट्यालङ्काराणामाशीराद्यलङ्कारेषु, एवं च युक्त्यादीनां युक्त्यादिसन्ध्यङ्गेषु चाऽन्तर्भावे सिद्धे पुनरुपादानं किमर्थमिति । संशयं समाधत्ते--एषु चेति । एषु लक्षण-नाट्यालङ्कारेषु, केषांचित् = भूषणाद्याशीरादीनां, गुणाऽलङ्कार-भाव-सन्ध्यङ्गविशेषाऽन्तर्भावेऽपि = तेषु तेषु गुणेषु अलङ्कारेषु, भावेषु सन्ध्यङ्गविशेषेषु अन्तःपातित्वेऽपि, नाटके च = रूपके, प्रयत्नतः = प्रयासतः, कर्तव्यत्वात्=करणीयत्वात्, विशेषोक्तिः = भेदेनोक्तिः ।

एतानि च । एतानि=पञ्चसन्ध्यादीनि । अवश्यं कर्तव्यानीति पदद्वयेन सम्बन्धः । अत्रार्थे भरतमुनिवाक्यं प्रमाणयति--**पञ्चसन्धीति** । पञ्चसन्धि = पञ्च (पञ्चसंख्यकाः) सन्धयः (मुखसन्ध्यादयः) यस्मिंस्तत्, तादृशं "नाटकं कुर्यात्" इत्यत्र सम्बन्धः, एवं परत्राऽपि । चतुर्वृत्ति=चतस्रः (चतुःसंख्यकाः) वृत्तयः (कैशिक्यादयः) यस्मिंस्तत् । चतुःषष्ट्यङ्गसंयुतं = चतुःषष्ट्यङ्गैः (मुखादिपञ्चसन्ध्यङ्गैः) संयुतम् (सहितम्) । षट्त्रिंशल्लक्षणोपेतं = षट्त्रिंशल्लक्षणैः (भूषणादिभिः) उपेतम् (संयुक्तम्) । अलङ्कारोपशोभितम्=अलङ्कारैः (आशीरादिभिः) उपशोभितम्

ये लक्षण और नाट्यालङ्कार नाट्यके भूषण रूप हैं अतः सामान्यतः एकरूप ही हैं तो भी इनका भेदसे व्यवहार भेड़िया-धसान न्यायसे हैं । इनमें कई गुण, अलङ्कार, भाव और सन्धिके अङ्गोंमें अन्तर्भूत हो सकते हैं, तो भी नाटकमें प्रयत्न पूर्वक कर्तव्य होनेसे इनकी विशेष रूपसे उक्ति हुई है । ये--पाँच सन्धियोंसे, चार वृत्तियोंसे चौसठ अङ्गोंसे

महारसं महाभोगमुदात्तरचनान्वितम् ।
महापुरुषसत्कारं साध्वाचारं जनप्रियम् ।।
सुश्लिष्टसन्धियोगं च सुप्रयोगं सुखाश्रयम् ।
मृदुशब्दाभिधानं च कविः कुर्यात्तु नाटकम् ।।

इति मुनिनोक्तत्वान्नाटकेऽवश्यं कर्तव्यान्येव ।

वीथ्यङ्गानि वक्ष्यन्ते ।

लास्याङ्गान्याह--

गेयपदं स्थितपाठ्यमासीनं पुष्पगण्डिका ।। २१२ ।।

(सञ्जातशोभम्) । महारस=महान् (शृङ्गारो वीरो वा) रसः (असंलक्ष्यक्रमव्यङ्ग्यः) यस्मिंस्तत् । महाभोगं = महान् (विपुलः) भोगः (विलासः) यस्मिंस्तत् । उदात्तरचनाऽन्वितम् = उदात्ता (उत्कृष्टा) या रचना (निर्मितिः) तया अन्वितम् । युक्तम् । महापुरुषसत्कारं=महापुरुषस्य (धीरोदात्तनायकस्य) सत्कारः (आदरः, गुणवर्णनरूप इति भावः) यस्मिंस्तत् । साध्वाचारं=साधुः (शास्त्रसम्मतः) आचारः (व्यवहारः) यस्मिंस्तत् । जनप्रियं = लोकाऽभीप्सितम्, सुश्लिष्टसन्धियोगं = सुश्लिष्टः (सुबद्धः) सन्धियोगः (मुखादिसन्धिसम्बन्धः) यस्मिंस्तत् । सुप्रयोगं = शोभनः प्रयोगः (अभिनयः) यस्मिंस्तत्, सुखाश्रयं = हर्षाऽधिकरणभूतम् । मृदुशब्दाऽभिधानं = मृदुशब्दानां (कोमलपदानाम्) अभिधानं (कथनम्) यस्मिंस्तत् "मृदुशब्दाऽतिपातम्" इति पाठान्तरे मृदुशब्दानाम्, अतिपातः (विस्तारः) यस्मिंस्तदित्यर्थः । एतादृश नाटकं = रूपकं, कविः, कुर्यात् = विदधीत ।।

मुनिना=भरतमहर्षिणा । अवश्यं कर्तव्यान्येवेति । मुनिना सन्ध्यङ्गनाट्यलक्षण-नाट्यालङ्काराणां पृथगभिधानात्सन्ध्यङ्गविशेषाश्च नावश्यका इति प्रागेवोक्तत्वान्नाट्य-लक्षण-नाट्यालङ्काराश्चाऽवश्यं कर्तव्या इति भावः ।

वीथ्यङ्गानीति । वक्ष्यन्ते = अभिधास्यन्ते "अस्यास्त्रयोदशाऽङ्गानि" इत्यादि-नेति शेषः ।

लास्याऽङ्गान्याह--**गेयपदमिति** । गेयपदं, स्थितपाठ्यम्, आसीनं, पुष्प-गण्डिका ।। २१२ ।।

छत्तीस लक्षणोंसे युक्त, अलङ्कारोंसे उपशोभित, शृङ्गार आदि रससे युक्त, विपुल विलाससे सम्पन्न, उत्कृष्ट रचनासे युक्त, महापुरुषके गुणोंके वर्णनस्वरूप, शास्त्रसम्मत आचार-सहित, लोकप्रिय, सुबद्ध मुख आदि सन्धियोंसे युक्त, सुन्दर अभिनयवाला और कोमल शब्दोंके प्रयोगसे सम्पन्न नाटककी रचना कविको करनी चाहिए मुनिके ऐसे कथनसे इनको नाटकमें अवश्य करना ही चाहिए । वीथीके अङ्गोंको पीछे कहेंगे ।

लास्यके अङ्गोंको कहते हैं-गेयपद, स्थितपाठ्य, आसीन, पुष्पगण्डिका ।।२१२।।

प्रच्छेदकस्त्रिगूढं च सैन्धवाख्यं द्विगूढकम् ।
उत्तमोत्तमकं चान्यदुक्तप्रत्युक्तमेव च ॥ २१३ ॥
लास्ये दशविधं ह्येतदङ्गमुक्तं मनीषिभिः ।

तत्र—

तन्त्रीभाण्डं पुरस्कृत्योपविष्टस्यासने पुरः ॥ २१४ ॥
शुद्धं गानं गेयपदम्—

यथा—

गौरीगृहे वीणां वादयन्ती मलयवती—

'उत्फुल्लकमलकेसरपरागगौरद्युते ! मम हि गौरि !
अभिवाञ्छितं प्रसिध्यतु भगवति ! युष्मत्प्रसादेन ॥'

प्रच्छेदकः, त्रिगूढं, सैन्धवं, द्विगूढम्, उत्तमोत्तमकम्, उक्त-प्रयुक्तम् ॥ २१३ ॥

लास्ये=सामान्यनृत्ये, "स्त्रीनृत्यं लास्यमुच्यते" इत्युक्तेः स्त्रीनृत्ये वा, एतत्= पूर्वोक्तं, दशविध=दशप्रकारम्, अङ्गम्=अवयवः, मनीषिभिः = विद्वद्भिः, उक्तं = प्रतिपादितम् ।

गेयपद लक्षयति—**गेयपदमिति** । तन्त्रीभाण्ड=वीणायन्त्र, पुरस्कृत्य=अग्ने निधाय, पुरः = देवाद्यग्रे, आसने=उपवेशनस्थाने, उपविष्टस्य = निषण्णस्य, जनस्य, शुष्क = नृत्यरहितं, शुष्कम्=अनुकरणीयमित्यनन्तदासाः । "शुद्धम्" इति पुस्तकान्तर-पाठस्तत्र निर्दोषमित्यर्थः । गानं = गीतं, "गेयपदं" नाम लास्याङ्गम् ।

गेयपदमुदाहरति—**उत्फुल्लेति** । नागानन्दनाटकस्थं पद्यमिदम् । नायिका मलयवती गायति—उत्फुल्लेत्यादिः = उत्फुल्लकमलस्य (विकसितपद्मस्य) यः केसर-परागः (किञ्जल्करजः) स इव गौरी (गौरवर्णा) द्युतिः (कान्तिः) यस्याः सा, तत्सम्बुद्धौ । हे गौरि=हे पार्वति ! युष्मत्प्रसादेन=भवदनुग्रहेण, मम, अभिवाञ्छितम्= अभीष्ट, प्रसिध्यतु = सम्पद्यताम् । गाथा वृत्तम् ।

प्रच्छेदक, त्रिगूढ, सैन्धव, द्विगूढक, उत्तमोत्तमक, उक्तप्रयुक्त ॥ २१३ ॥

लास्यमें विद्वानोंने इन दश अङ्गोंको कहा है । उनमें—

गेयपद—वीणायन्त्रको आगे रखकर आसनमें बैठे हुए व्यक्तिके नृत्यरहित गानको "गेयपद" कहते है ॥ २१४ ॥

जैसे गौरीमन्दिरमें बीन बजाती हुई मलयवती—(नागानन्दमें) विकसित कमलके केसरके परागके सदृश गौर कान्तिवाली हे गौरि ! आपके अनुग्रहसे मेरा अभीष्ट सिद्ध हो ।

—स्थितपाठ्यं तदुच्यते ।
मदनोत्तापिता यत्र पठति प्राकृतं स्थिता ॥ २१५ ॥

अभिनवगुप्तपादास्त्वाहुः—

उपलक्षणं चैतत् । क्रोधोद्भ्रान्तस्यापि प्राकृतपाठनं स्थितपाठ्यम् । इति ।

निखिलातोद्यरहितं शोकचिन्तान्विताऽबला ।
अप्रसाधितगात्रं यदासीनासीनमेव तत् ॥ २१६ ॥
आतोद्यमिश्रितं गेयं छन्दांसि विविधानि च ।

स्थितपाठ्यं लक्षयति—**स्थितपाठ्यमिति** । यत्र=यस्मिन्, मदनोत्तापिता—कामसन्तापिता नारी, स्थिता = उत्थिता सती, प्राकृत = प्राकृतभाषां पठति, तत् "स्थितपाठ्य" नाम लास्याङ्गम् ॥ २१५ ॥

उदाहरति—"**तुज्झ ण आणे हिअअम**" इत्यादि (अभिज्ञा० ३-१३) अभिनवगुप्तपादमते—"उपलक्षणं चैतत्" । स्वप्रतिपादकत्वे सति स्वेतरप्रतिपादकत्वम् उपलक्षणत्वम्, तेन हि न केवलं मदनोत्तापितायाः, क्रोधोद्भ्रान्ताया अपि नार्याः प्राकृतपठनं स्थितपाठ्यमिति भावः ।

आसीनं लक्षयति—**निखिलेति** । शोकचिन्ताऽन्विता = शोकेन (मन्युना) चिन्तया (आध्यानेन) च अन्विता (युक्ता) । अबला=नारी, आसीना=उपविष्टा सती, निखिलाऽऽतोद्यरहितं = निखिल (समस्तम्) यत् आतोद्यं (वादित्रम्) तेन रहित (शून्यं) यथा तथा, अप्रसाधितगात्रम्=अप्रसाधितम् (अभूषितम्) गात्र (शरीरम्) यस्मिन् कर्मणि, तद्यथा तथा । गायतीति शेषः । तत् एव 'आसीनं' नाम लास्याङ्गम् उदाहरण मृग्यम् ॥ २१६ ॥

पुष्पगण्डिकां लक्षयति—**आतोद्यमिश्रितमिति** । यत्र, आतोद्यमिश्रित=वादित्रसहितं, गेयं = गान, विविधानि = अनेकप्रकाराणि, छन्दांसि = गायत्र्यादीनि पद्यानि,

---

स्थितपाठ्य—जहाँपर कामसन्तप्त कोई स्त्री खड़ी होकर प्राकृतका पाठ करती है उसे "स्थितपाठ्य" कहते हैं ॥ २१५ ॥

अभिनवगुप्त आचार्यने कहा है—"यह उपलक्षण है । क्रोधसे उद्भ्रान्त स्त्रीके प्राकृतपाठ भी स्थितपाठ्य हो सकता है" ।

आसीन—शोक और चिन्तासे युक्त स्त्री बैठकर शरीरको भूषित किये बिना और बाजा न बजाकर जो गाती है उसे "आसीन" कहते हैं ॥ २१६ ॥

पुष्पगण्डिका—जहाँपर बाजाके साथ गाना, और अनेक छन्द और स्त्री

स्त्रीपुंसयोर्विपर्यासचेष्टितं पुष्पगण्डिका ॥ २१७ ॥
अन्यासक्तं पतिं मत्वा प्रेमविच्छेदमन्युना ।
वीणापुरःसरं गानं स्त्रियाः प्रच्छेदको मतः ॥ २१८ ॥
स्त्रीवेषधारिणां पुंसां नाट्यं श्लक्ष्णं त्रिगूढकम् ।

यथा मालत्याम्—
'मकरन्दः—एषोऽस्मि मालती संवृत्तः ।'

कश्चन भ्रष्टसंकेतः सुव्यक्तकरणान्वितः ॥ २१९ ॥

स्त्रीपुंसयोः=योषापुरुषयोः, विपर्यासचेष्टितं = विपर्यासेन (वैपरीत्येन) चेष्टितं भवति स्त्रीकृतं पुरुषस्य, पुरुषकृतं च स्त्रियाश्चेष्टितमिति भावः, सा "पुष्पगण्डिका" नाम लास्याऽङ्गम् । उदाहरणमन्वेषणीयम् ॥ २१७ ॥

प्रच्छेदकं लक्षयति—**अन्यासक्तमिति** । पतिं = स्वामिनम्, अन्यासक्तम् = अन्यस्याम् (स्वभिन्नायाम्) आसक्तम् (तत्परम्), मत्वा = ज्ञात्वा, प्रेमविच्छेद-मन्युना = प्रणयभङ्गशोकेन, वीणापुरःसरं = वीणावादनपूर्वकं, स्त्रियाः = नार्या, यद् गानं = गीतं, तत् "प्रच्छेदकं" नाम लास्याऽङ्गम् । उदाहरणं भर्तृहरिनिर्वेदे नाटके भानुमत्या गानम् ॥ २१८ ॥

त्रिगूढकं लक्षयति—**स्त्रीवेषेति** । स्त्रीवेषधारिणां = नारीनेपथ्यधारकाणां, पुंसां = पुरुषाणां, श्लक्ष्णं = मनोहरं, नाट्यं = स्त्रीरूपेणाऽभिनयः, "त्रिगूढकं" नाम लास्याऽङ्गम् । त्रयो वाग्वेषव्यवहाराः गूढा यस्मिंस्तत् त्रिगूढकमिति व्युत्पत्तिः । "शेषा-द्विभाषा" इति समासान्तः कप् ।

त्रिगूढकमुदाहरति—**यथेति** । मालत्यां = मालतीमाधवे ।

सैन्धवं लक्षयति—**कश्चनेति** । भ्रष्टसङ्केतः=च्युतसङ्केतः, सुव्यक्तकरणाऽन्वितः= सुव्यक्तं (सुस्पष्टम्) यत् करणं (वीणादिवादनक्रिया) तेन अन्वितः ॥ २१९ ॥—

और पुरुषकी विपरीत चेष्टा होती है उसे "पुष्पगण्डिका" कहते हैं ॥ २१७ ॥

प्रच्छेदक—जहाँपर पतिको दूसरी स्त्रीमें आसक्त समझकर प्रणयके भङ्गके शोकसे स्त्री वीन बजाकर गाना गाती है, उसे "प्रच्छेदक" कहते हैं ॥ २१८ ॥

त्रिगूढ—स्त्रीके वेषको धारण करनेवाले पुरुषोंके मनोहर नाट्य-(स्त्रीरूपसे अभिनय) को "त्रिगूढक" कहते हैं ।

जैसे मालती (माधव)में—मकरन्द—"यह मैं मालती हुआ हूँ" ।

सैन्धव—भ्रष्ट सङ्केतवाला कोई पुरुष स्पष्ट वीन आदि बाजा बजानेके कर्मसे युक्त होकर ॥ २१९ ॥—

प्राकृतं वचनं वक्ति यत्र तत्सैन्धवं मतम् ।

करणं वीणादिक्रिया ।

चतुरस्रपदं गीतं मुखप्रतिमुखान्वितम् ॥ २२० ॥
द्विगूढं रसावभाढ्यम्—

—उत्तमोत्तमकं पुनः ।
कोपप्रसादजमधिक्षेपयुक्तं रसोत्तरम् ॥ २२१ ॥
हावहेलान्वितं चित्रश्लोमबन्धमनोहरम् ।

तादृशः कश्चन = जनः, यत्र = यस्मिन्, प्राकृतं = प्राकृतभाषात्मक, वचन = वाक्यं, वक्ति – परिभाषते, तत् "सैन्धवं" नाम लास्याऽङ्गं, मतम् = अभिमतम् । उदाहरणं गवेषणीयम् ।

द्विगूढ लक्षयति—**चतुरस्रपदमिति** । चतुरस्राणि (विदग्धमनोहराणि) पदानि (शब्दाः) यस्मिंस्तत् । यद्वा चतुरस्रपदं = पूर्णसप्तस्वरम्, अथवा पादचतुष्टयान्वितम्, किं वा नामाख्यातोपसर्गनिपातात्मकपदयुक्तम् । मुखप्रतिमुखाऽन्वितं=मुखप्रतिमुखसन्धिद्वययुक्तम् ॥ २२० ॥

रसभावाढ्यं-रसेन (.शृङ्गारादिना) भावेन (रत्यादिना च) आढ्यं (सम्पन्नम्) गीत "द्विगूढ" नाम लास्याऽङ्गम् । द्वौ रसभावौ गूढौ यस्मिंस्तदिति व्युत्पत्तिः ॥

उत्तमोत्तमक लक्षयति—**उत्तमोत्तमकमिति** । कोपप्रसादजं=कोपात् (क्रोधात्) प्रसादात् (प्रसन्नतायाः) वा जातम् (उत्पन्नम्), अधिक्षेपयुक्तम् = अधिक्षेपेण (तिरस्कारेण) युक्तम् (उपेतम्), अस्य विशेषणस्य कोपजत्व एव अन्वितत्वम् । तथा रसोत्तरं = रसः (शृङ्गारादिः) उत्तरः (श्रेष्ठः) यस्मिंस्तत् । तादृशम् उत्तमोत्तमकं नाम लास्याङ्गम् ॥ २२१ ॥

उक्तप्रत्युक्त लक्षयति--**हावहेलाऽन्वितमिति** । हावहेलाऽन्वितं = हावहेलाभ्यां=तृतीयपरिच्छेदोक्ताभ्यां नायिकाया अङ्गजालङ्काराभ्याम् अन्वितम् (युक्तम्), चित्रश्लोकबन्धमनोहरं – चित्रः (विचित्रः) यः श्लोकबन्धः (पद्यप्रबन्ध.) तेन

जहाँ प्राकृत भाषाका वाक्य बोलता है उसे "सैन्धव" कहते हैं ।

द्विगूढ--विदग्धोंको मनोहर पदोंसे युक्त, मुख और प्रतिमुख सन्धिसे सहित और भावसे सम्पन्न गीतको "द्विगूढ" कहते हैं ।

उत्तमोत्तमक--कोपसे वा प्रसन्नतासे युक्त, तिरस्कारसे सहित, श्रेष्ठ रससे युक्त लास्याऽङ्गको "उत्तमोत्तमक" कहते हैं ॥ २२१ ॥

उक्तप्रयुक्त—हाव और हेला नामक स्त्रीके अङ्गज अलङ्कारोंसे युक्त, विचित्र

उक्तिप्रत्युक्तिसंयुक्तं सोपालम्भमलीकवत् ॥ २२२ ॥
विलासान्वितगीतार्थमुक्तप्रत्युक्तमुच्यते ।

स्पष्टान्युदाहरणानि ।

एतदेव यदा सर्वैः पताकास्थानकैर्युतम् ॥ २२३ ॥
अङ्कैश्च दशभिर्धीरा महानाटकमूचिरे ।

एतदेव नाटकम् ।

यथा—

बालरामायणम् ।

अथ प्रकरणम्—

भवेत्प्रकरणे वृत्तं लौकिकं कविकल्पितम् ॥ २२४

मनोहरम् (सुन्दरम्), उक्तिप्रत्युक्तिसंयुक्तम् = वचनप्रतिवचनसहितं, सोपालम्भं = सोपालम्भ = सोत्कमर्त्सनसहितम्, अलीकवत् = अनृतवत्, एवं च विलासाऽन्वितगीताऽर्थं = विलासेन (स्त्रीणामलङ्कारविशेषेण) अन्वितः (युक्तः) गीताऽर्थः (गानाऽर्थः) यस्मिंस्तत्, तादृशं लास्याऽङ्गम्, उक्तप्रत्युक्तम् उच्यते ।

महानाटक लक्षयति—एतदेवेति । यदा, एतत् एव = नाटकम् एव, सर्वैः = सकलैः, चतुर्भिरिति भावः । पताकास्थानकैः="यत्राऽर्थे चिन्तितेऽन्यस्मिंस्तल्लिङ्गोऽन्यः प्रयुज्यते । आगन्तुकेन भावेन पताकास्थानकं तु तत्" ॥ ६–४५ ॥–

इत्युक्तलक्षणलक्षितैः रूपकाऽङ्गैः, दशभिः, अङ्कैः=नाटकपरिच्छेदैः, युतं=सहितं भवेत् तदा धीराः=विद्वांसः, तत् 'महानाटकम्" ऊचिरे = उक्तवन्तः ।

प्रकरणं लक्षयति—भवेदिति । प्रकरणे = प्रकरणनामके रूपकविशेषे, वृत्तं = वर्णनीयं नायकादिचरित्रं, लौकिकं=लोकमात्रस्थितं, न पुराणेतिहासप्रसिद्धमिति भावः । अत एव कविकल्पितं = कविनिर्मितं, भवेत् ॥ २२४ ॥

श्लोकबन्धसे मनोहर, उक्ति और प्रत्युक्तिके सहित उलहनावाले अप्रिय वा मिथ्या वचनसे युक्त गीतार्थवाले लास्याङ्गको "उक्तप्रत्युक्त" कहते हैं ॥ २२२ ॥

उदाहरण स्पष्ट हैं ।

महानाटक—सब पताकास्थानोंसे युक्त ॥ २२३ ॥

और दश अङ्कोंवाले इसी नाटकको विद्वान् लोग "महानाटक" कहते हैं ।

जैसे—बालरामायण ।

प्रकरण—प्रकरणमें चरित्र लौकिक (पौराणिक और ऐतिहासिक नहीं) कविकल्पित होता है ॥ २२४ ॥

शृङ्गारोऽङ्गी, नायकस्तु विप्रोऽमात्योऽथवा वणिक् ।
सापायधर्मकामार्थपरो धीरप्रशान्तकः ॥ २२५ ॥

विप्रनायकं यथा मृच्छकटिकम् । अमात्यनायकं मालतीमाधवम् । वणिक्नायकं पुष्पभूषितम् ।

नायिका कुलजा क्वापि, वेश्या क्वापि, द्वयं क्वचित् ।
तेन भेदास्त्रयस्तस्य, तत्र भेदस्तृतीयकः ॥ २२६ ॥
कितवद्यूतकारादिविटचेटकसंकुलः ।

शृङ्गारः = आदिरसः, अङ्गी=प्रधानम् । नायकस्तु=नेता तु, विप्रः= ब्राह्मणः; अमात्यः=ब्राह्मणेतरोऽपि राजसचिवः, अथवा = यद्वा, वणिक् = वाणिजकः, साऽपाय-धर्मकामाऽर्थपरः = साऽपायाः (अपायसहिताः = प्रतिबन्धयुक्ताः) ये धर्मकामाऽर्थाः (त्रिवर्गः), तत्परः (तदासक्तः) धीरप्रशान्तकः = "सामान्यगुणैर्भूयान्द्विजादिको धीरशान्तः स्यात्" (११६ पृ०) इत्युक्तलक्षणलक्षितो नायकविशेषः स्यात् । तत्तन्नाय-कानामाधारस्थलानि दर्शयति—"विप्रनायकम्" इत्यादिभिः ॥ २२५ ॥

नायिकायाः प्रकारांस्तृतीयप्रकारे प्रकरणस्वरूपं च दर्शयति—नायिकेति । नायिका; क्वाऽपि = कुत्राऽपि प्रकरणे । कुलजा = सत्कुलप्रसूता, क्वाऽपि = कुत्राऽपि, वेश्या = साधारणी स्त्री, क्वाऽपि, द्वयं = द्वितयं, कुलजा वेश्या चेति भावः । तेन=हेतुना; तस्य= प्रकरणस्य त्रयो भेदाः = प्रकाराः, तत्र तृतीयको भेदः = कुलजा-वेश्यात्मकः ॥ २२६ ॥

कितवद्यूतकाराऽऽदिविटचेटकसङ्कुलः=कितवः (धूर्तः) द्यूतकारः (अक्षधूर्तः) आदिपदेन सभिकादयश्च । विटः (सम्भोगिहीनसंपत्०" (१२१ पृ०) इत्यादि लक्षण-लक्षितः, चेटकः (भृत्यः), तैः सङ्कुलः (व्याप्तः) ।

प्रधान रस शृङ्गार होता है । नायक ब्राह्मण, मन्त्री अथवा वैश्य होता है । वह प्रतिबन्धवाले धर्म, अर्थ और काममें आसक्त रहता है और 'धीरप्रशान्त' होता है ॥ २२५ ॥

ब्राह्मण नायक जैसे मृच्छकटिकमें, मन्त्री नायक जैसे मालतीमाधवमें और वैश्य नायक पुष्पभूषितमें ।

नायिका कहीं कुलीन, और कहीं वेश्या और कहीं दोनों (कुलीन और वेश्या) होती हैं, अतः प्रकरणके तीन भेद होते हैं, उनमें तीसरा भेद ॥ २२६ ॥—

धूर्त, द्यूतकारक और विट, चेटक इनसे युक्त होता है ।

कुलस्त्री पुष्पभूषिते। वेश्या तु रङ्गवृत्ते। द्वे अपि मृच्छकटिके। अस्य नाटकप्रकृतित्वाच्छेषं नाटकवत्।

अथ भाणः—

भाणः स्याद्धूर्तचरितो नानावस्थान्तरात्मकः॥ २२७॥
एकाङ्क एक एवात्र निपुणः पण्डितो विटः।
रङ्गे प्रकाशयेत्स्वेनानुभूतमितरेण वा॥ २२८॥
संबोधनोक्तिप्रत्युक्ती कुर्यादाकाशभाषितैः।

तत्तन्नायिकानामाधारस्थलं प्रदर्शयति—कुलस्त्रीत्यादिना। अस्य=प्रकरणस्य, नाटकप्रकृतित्वात् = नाटकम् एव प्रकृतिः (अतिदेशकारणम्) यस्य तत्, तस्य भावस्तत्त्वं, तस्मात्, 'विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्।" (३८८ पृ०) इत्युक्तेरिति भावः। शेषम् = उक्तादन्यत् लक्षणं नाटक इव बोध्यमिति शेषः, "तत्र तस्येव" इति वतिप्रत्ययः।

भाणं लक्षयति—भाण इति। धूर्तचरितः = धूर्तस्य (नायकस्य) चरितं (चरित्रम्) यस्मिन् सः, व्यधिकरणबहुव्रीहिः। नानावस्थाऽन्तरात्मकः—अन्या अवस्था अवस्थान्तरम्। नाना (बहुविधम्) अवस्थान्तरं (दशाऽन्तरम्) यस्य सः। तादृशः "भाणः" रूपकविशेषः। स्यात्॥ २२७॥

अयं च एकाऽङ्कः एव = एकाऽङ्कयुक्त एव, स्यात्। अत्र — भाणे, निपुणः — प्रवीणः, पण्डितः—विद्वान्, विटः—विड्गः, "सम्भोगहीनसंपद्" (१२१ पृ०) इत्यादि-लक्षणलक्षितः। स्वेन = आत्मना, वा = अथवा, इतरेण=अन्येन वा जनेन, अनुभूतम्—अनुभवविषयीकृतं वृत्तान्तं, रङ्गे = नाट्यभवने, प्रकाशयेत् = सूचयेत्॥ २२८॥

आकाशभाषितैः—"किं ब्रवीषीति (४९१ पृ०) यन्नाट्ये" इत्युक्तलक्षणलक्षितैः, सम्बोधनोक्तिप्रत्युक्ती — सम्बोधने, उक्तिप्रत्युक्ती (वचनप्रतिवचने), स्वयमेव कुर्यात्—

कुलीन नायिका जैसे पुष्प भूषितमें, वेश्या नायिका रङ्गवृत्तमें, दोनों नायिकाएं (कुलीना और वेश्या) मृच्छकटिकमें हैं। प्रकरणकी प्रकृति नाटक है इसलिए इसमें उक्तसे अधिक अंश नाटकके समान जानना चाहिए।

भाण—भाणमें धूर्तका चरित्र वर्णित होता है, इसमें अनेक प्रकारकी अवस्थाएं होती हैं॥ २२७॥

इसमें एक ही अङ्क होता है। निपुण पण्डित विट रङ्गस्थलमें स्वानुभूत वा दूसरे से अनुभूत विषयको प्रकाशित करता है॥ २२८॥

वह आकाशभाषितोंसे सम्बोधनमें उक्ति और प्रत्युक्ति करता है तथा शौर्य और

सूचयेद्वीरशृङ्गारौ शौर्यसौभाग्यवर्णनैः ॥ २२९ ॥
तत्रेतिवृत्तमुत्पाद्यं, वृत्तिः प्रायेण भारती ।
मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च ॥ २३० ॥

अत्राकाशभाषितरूपपरवचनमपि स्वयमेवानुवदन्नुत्तरप्रत्युत्तरे कुर्यात्। शृङ्गारवीररसौ च सौभाग्यशौर्यवर्णनया सूचयेत्। प्रायेण भारती, क्वापि कैशिक्यपि वृत्तिर्भवति। लास्याङ्गानि गेयपदादीनि। उदाहरणं—लीलामधुकरः।

अथ व्यायोगः—

ख्यातेतिवृत्तो व्यायोगः स्वल्पस्त्रीजनसंयुतः ।
हीनो गर्भविमर्शाभ्यां नरैर्बहुभिराश्रितः ॥ २३१ ॥

विदधीत। शौर्यसौभाग्यवर्णनैः, वीरशृङ्गारौ सूचयेत्=शौर्यवर्णनेन वीरं, सौभाग्यवर्णनेन शृङ्गारं ज्ञापयेदिति भावः ॥ २२९ ॥

तत्र = भाणे, इतिवृत्तं = वर्णनीयं वस्तु उत्पाद्यं = कविना कल्पनीयं, प्रकरणवदिति भावः। वृत्तिः=नायिकाऽऽदिव्यापारविशेषः, सा च वृत्तिरत्र प्रायेण=बाहुल्येन, भारती = "भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः।" (४०१ पृ०) इत्युक्तलक्षणलक्षिता वृत्तिः।

मुखनिर्वहणे सन्धी = स्याताम्। लास्याऽङ्गानि = गेयपदादीनि दशाऽपि च, योजनीयानीति शेषः ॥ २३० ॥

विवृणोति—'प्रायेण भारती' ति कथनात्कुत्र किंचित् कैशिक्यपि वृत्तिर्भवति।

व्यायोगं लक्षयति—ख्यातेतिवृत्त इति। ख्यातेतिवृत्तः=ख्यातम् (पुराणादिप्रसिद्धम्) इतिवृत्तं (वर्णनीयं वस्तु) यस्मिन् सः। स्वल्पस्त्रीजनसंयुतः – स्तोकयोषिज्जनसहितः, गर्भविमर्शाभ्यां = तदाख्यसन्धिभ्यां, हीनः = रहित, बहुभिः, नरैः, आश्रितः ॥ २३१ ॥

सौभाग्यके वर्णनोंसे वीर और शृङ्गार रसकी सूचना करता है ॥ २२९ ॥

भाणमें वर्णनीय वस्तु कविकल्पित होना चाहिए, इसमें वृत्ति प्रायः भारती होती है, कहीं कहीं कैशिकी भी होती है। एवम् मुख और निर्वहण सन्धियाँ तथा लास्यके गेयपद आदि दशों अङ्ग होते हैं।

उदाहरण—लीलामधुकर ॥ २३० ॥

व्यायोग—व्यायोगमें पुराण आदिमें प्रसिद्ध वर्णनीय वस्तु होती है, इसमें स्त्रियाँ अल्प होती हैं। व्यायोगमें गर्भ और विमर्श सन्धि नहीं होती हैं और बहुतसे पुरुष होते हैं ॥ २३१ ॥

एकाङ्कश्च भवेदस्त्रीनिमित्तसमरोदयः ।
कैशिकीवृत्तिरहितः, प्रख्यातस्तत्र नायकः ॥ २३२ ॥
राजर्षिरथ दिव्यो वा भवेद्धीरोद्धतश्च सः ।
हास्यशृङ्गारशान्तेभ्य इतरेऽत्राङ्गिनो रसाः ॥ २३३ ॥

यथा सौगन्धिकाहरणम् ।

अथ समवकारः—

वृत्तं समवकारे तु ख्यातं देवासुराश्रयम् ।
सन्धयो निर्विमर्शास्तु, त्रयोऽङ्कास्तत्र चादिमे ॥ २३४ ॥
सन्धी द्वावन्त्ययोस्तद्वदेक एको भवेत्पुनः ।

एकाङ्कः = एकोऽङ्को यस्मिन् सः । अस्त्रीनिमित्तसमरोदयः = अस्त्रीनिमित्तः (हेतुभूतनारीरहितः) समरोदयः (युद्धारम्भः) यस्मिन् सः, कैशिकीवृत्तिरहितः, एतादृशो रूपकभेदो व्यायोगः । व्यायुज्यन्तेऽस्मिन्बहवो नरा इति व्यायोगः, अधिकरणे घञ् । तत्र = व्यायोगे, नायकः, प्रख्यातः = प्रसिद्धो भवेत् ॥ २३२ ॥

स च नायको राजर्षिरथ वा दिव्यः = देवताविशेषो धीरोद्धतश्च "मायापरः प्रचण्डः, (११५ पृ०)" इत्युक्तलक्षणलक्षितो भवेत् । हास्यशृङ्गारशान्तेभ्यः, इतरे = अन्ये रसाः, अत्र = व्यायोगे, अङ्गिनः = मुख्या भवेयुः ॥ २३३ ॥

समवकारं लक्षयति—**वृत्तमिति** । समवकारे = रूपकविशेषे तु, ख्यातं = प्रसिद्धं, देवासुराऽऽश्रयं = सुरदैत्याधारं, वृत्तं = चरित्रं, भवेत् । तत्र = समवकारे, निर्विमर्शाः = विमर्शसन्धिरहिताः, सन्धयः = मुखप्रतिमुख–गर्भोपसंहृतिनामकाश्चत्वारः सन्धयः, त्रयोऽङ्काः, रचनीया इति शेषः । तत्र = अङ्केषु, आदिमे–अग्रिमेऽङ्के ॥२३४॥ द्वौ = मुखप्रतिमुखनामकौ उभौ, सन्धी, कर्तव्याविति शेषः । अन्त्ययोः = चरमयोः, द्वितीयतृतीययोरिति भावः । तद्वत् एक एको भवेत्=द्वितीयाऽङ्के गर्भसन्धिः, तृतीयाऽङ्के

इसमें एक अङ्क होता है और स्त्रीके लिए युद्धका आरम्भ नहीं होता है । व्यायोगमें कैशिकी वृत्ति नहीं रहती है और उसमें नायक प्रसिद्ध होता है ॥ २३२ ॥

वह राजर्षि, देवता वा धीरोद्धत होता है । इसमें हास्य, शृङ्गार और शान्तसे भिन्न अन्य रस अङ्गी प्रधान होते हैं ॥

जैसे—सौगन्धिकाहरण ॥ २३३ ॥

समवकार—समवकारमें देव और असुरोंसे आश्रित, पुराण आदिमें प्रसिद्ध चरित्र वर्णित होता है । इसमें विमर्शको छोड़कर अन्य चार सन्धियाँ होती हैं, और तीन अङ्क होते हैं, उनमें प्रथम अङ्कमें ॥ २३४ ॥–

दो सन्धियां होती हैं, पिछले दो अङ्कों अर्थात् दूसरे और तीसरे अङ्कमें एक

नायका द्वादशोदात्ताः प्रख्याता देवमानवाः ॥ २३५ ॥
फलं पृथक्पृथक्तेषां, वीरमुख्योऽखिलो रसः ।
वृत्तयो मन्दकैशिक्यो नात्र बिन्दुप्रवेशकौ ॥ २३६ ॥
वीथ्यङ्गानि च तत्र स्युर्यथालाभं त्रयोदश ।
गायत्र्युष्णिङ् मुखान्यत्र च्छन्दांसि विविधानि च ॥ २३७ ॥
त्रिशृङ्गारस्त्रिकपटः कार्यश्चायं त्रिविद्रवः ।

उपसंहारसन्धिर्भवेदिति भावः । उदात्ताः = धीरोदात्तलक्षणोपेताः "अविकत्थनः क्षमावान्" इत्यादिलक्षणोपेताः (११४ पृ०). प्रख्याताः = प्रसिद्धाः, देवमानवाः = सुरमानुषाः, नायकाः स्युः ॥ २३५ ॥

तेषां = नायकानां, फलं = परिणामः, पृथक् पृथक् = भिन्नं भिन्नं, भवेत् । यथा पयोधिमथने विष्णुप्रभृतीनां लक्ष्म्यादिलाभफलं पृथगस्ति । वीरमुख्यः = वीरः (वीररसः) मुख्यः (प्रधानम्) यस्य सः, तादृशः, अखिलः = समस्तः, रसः = शृङ्गारादिः, भवेत् । तत्र मन्दकैशिक्यः = मन्दा (अल्पा) कैशिकी (वृत्तिः) यासां तास्तादृश्यो वृत्तयः=भारत्यादयो भवेयुः । अत्र=समवकारे, बिन्दुप्रवेशकौ="अवान्तरार्थविच्छेदे बिन्दुरच्छेदकारणम् (४२४ पृ०)" इत्युक्तलक्षणो बिन्दुः, "प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या०" (४१९पृ०) इत्यादिलक्षणलक्षितः प्रवेशकः, तौ द्वौ, न=नो भवेताम् ॥२३६॥

तत्र = समवकारे, यथालाभं = लाभाऽनुसारं, त्रयोदश वीथ्यङ्गानि = वक्ष्यमाणानि उद्घात्यकादीनि, स्युः । अत्र गायत्र्युष्णिङ्मुखानि=षडक्षरा गायत्री, सप्ताऽक्षरा उष्णिक्, ते मुखे (आदौ) येषां तानि, तादृशानि, विविधानि, छन्दांसि स्युः ॥२३७॥

अयं = समवकारः, त्रिशृङ्गारः = धर्मार्थकामभेदैस्त्रिविधः शृङ्गारः, अनुपदं वक्ष्यमाणः, त्रिकपटः = स्वाभाविकादिभेदैस्त्रिविधः कपटः, त्रिविद्रवः=अचेतनादिकृतभेदैस्त्रिविधो विद्रवः, "शङ्काभयत्रासकृतः संभ्रमो विद्रवो मतः" (४५८ पृ०) इत्युक्तलक्षणलक्षितं गर्भसन्ध्यङ्गमिति भावः । कार्यः = कर्तव्यः, कविनेति शेषः ।

एक सन्धि होती है । समवकारमें धीरोदात्त और पुराण आदिमें प्रसिद्ध देवता और मनुष्य बारह नायक होते हैं ॥ २३५ ॥

उनका फल पृथक् पृथक् होता है, उसमें सम्पूर्ण रस होते हैं उनमें मुख्य वीररस होता है, वृत्तियोंमें कैशिकी वृत्ति अल्प होती है, उसमें बिन्दु और प्रवेशक नहीं होते हैं ॥ २३९ ॥

उसमें यथासंभव वीथीके तेरह अङ्ग होते हैं, और गायत्री तथा उष्णिक् आदि अनेक छन्द होते हैं ॥ २३७ ॥

उसमें तीन प्रकारका शृङ्गार, तीन प्रकारका कपट और तीन प्रकारका विद्रव

वस्तु द्वादशनालीभिर्निष्पाद्यं प्रथमाङ्कगम् ॥ २३८ ॥
द्वितीयेऽङ्के चतसृभिर्द्वाभ्यामङ्के तृतीयके ।

नालिका घटिकाद्वयमुच्यते । बिन्दुप्रवेशकौ च नाटकोक्तावपि नेह विधातव्यौ । तत्र—

धर्मार्थकामैस्त्रिविधः शृङ्गारः, कपटः पुनः ॥ २३९ ॥
स्वाभाविकः कृत्रिमश्च दैवजो विद्रवः पुनः ।
अचेतनैश्चेतनैश्च चेतनाचेतनैः कृतः ॥ २४० ॥

प्रथमाऽङ्कगम् = आदिमाङ्कस्थित, वस्तु = इतिवृत्तं, द्वादशनालीभिः = द्वादशमुहूर्तैः, निष्पाद्यं = संपादनीयम् ॥ २३८ ॥

द्वितीये अङ्के, वस्तु, चतसृभिः, "तिसृभिः" इति पाठान्तरम् । नालीभिः, निष्पाद्यम् । तृतीयकेऽङ्के, वस्तु द्वाभ्यां = नालीभ्यां, निष्पाद्यम् ।

विवृणोति—**नालिकेति** । **बिन्दुप्रवेशकाविति** । "विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम्; (३८८ पृ०) । इत्युक्त्या समवकारस्याऽपि नाटकप्रकृतित्वात्प्राप्तयोः बिन्दुप्रवेशकयोर्निषेधः ।

शृङ्गार-कपट-विद्रवान्विभज्य प्रदर्शयति—**धर्मार्थकामैरिति** । शृङ्गारः धर्मार्थकामैस्त्रिविधः = त्रिप्रकारः । तत्र शास्त्राऽविरोधेन = "ऋतौ भार्यामुपेयात्" इत्यादिशास्त्रवचनस्य, अविरोधेन = आनुकूल्येन कृतः शृङ्गारो धर्मशृङ्गारः । अर्थलाभार्थंकल्पितः शृङ्गारः अर्थशृङ्गारः, वेश्यादिभिरिति शेषः । प्रहसनशृङ्गारः = कामशृङ्गारः, यथा लटकमेलकादौ । तत्र कामशृङ्गारः समवकारे प्रथमाऽङ्क एव, अन्ययोस्तु=द्वितीयतृतीयाऽङ्कयोस्तु न नियम इत्याहुः । पुनः कपटः ॥ २३९ ॥

स्वाभाविकः = सांसिद्धिकः, कृत्रिमः = क्रियया निर्वृत्तः, दैवजश्च = नियतिजन्यश्चेति कपटोऽपि त्रिविधः । पुनः विद्रवः = शङ्काभयत्रासकृतः संभ्रमः, सोऽपि त्रिविधः—अचेतनैः काष्ठपुत्तलिकादिभिः कृतः एकः, चेतनैः कृतः द्वितीयः, चेतनाऽचेतनैः= गजादिभिः कृतस्तृतीयः ।

ये सब होने चाहिऐ, इसमें प्रथम अङ्कके इतिवृत्तिको बारह मुहूर्तोंसे सम्पादन करना चाहिए ॥ २३८ ॥

इसमें द्वितीय अङ्कके इतिवृत्तको चार मुहूर्तोंसे और तृतीय अङ्कके इतिवृत्तको दो मुहूर्तोंसे सम्पादन करना चाहिए । दो घटिकाओंके कालको नालिका कहते हैं । नाटकमें उक्त होनेपर भी बिन्दु और प्रवेशकको इसमें नहीं रखना चाहिए । इसमें धर्म शृङ्गार, अर्थशृङ्गार, कामशृङ्गार इस प्रकार शृङ्गारके तीनों भेद, स्वाभाविक, कृत्रिम (बनावटी) और दैवज, तीन प्रकारका कपट और विद्रव भी अचेतनकृत, चेतनकृत और चेतनाऽचेतनकृत तीन प्रकारका होता है ॥ २४० ॥

तत्र शास्त्राविरोधेन कृतो धर्मशृङ्गारः। अर्थलाभार्थकल्पितोऽर्थशृङ्गारः। प्रहसनशृङ्गारः कामशृङ्गारः,। तत्र कामशृङ्गारः प्रथमाङ्क एव। अन्ययोस्तु न नियम इत्याहुः। चेतनाचेतना गजादयः। समवकीर्यन्ते बहवोऽर्था अस्मिन्निति समवकारः।

यथा—समुद्रमथनम्।

अथ डिमः—

मायेन्द्रजालसंग्रामक्रोधोद्भ्रान्तादिचेष्टितैः ।
उपरागैश्च भूयिष्ठो डिमः ख्यातेतिवृत्तकः ॥ २४१ ॥
अङ्गी रौद्ररसस्तत्र सर्वेऽङ्गानि रसाः पुनः ।
चत्वारोऽङ्का मता नेह विष्कम्भकप्रवेशकौ ॥ २४२ ॥

बहिर्व्यापाररहितानामन्तःसंज्ञानां वृक्षादिस्थावराणामपेक्षयाऽधिकचेतनावत्त्वाद् गजादीनां चेतनत्वं, परं मनुष्याऽपेक्षायाऽल्पचेतनावत्त्वादचेतनत्वमतो गजादयः पशवश्चेतनाऽचेतना इति भावः। समवकीर्यन्ते = संनिबध्यन्ते बहवोऽर्था अस्मिन्निति समवकारः। यथा समुद्रमथनम्।

डिमं लक्षयति—मायेन्द्रजालेति। मायेन्द्रजालेत्यादिः – मायया (शाम्बर्या) इन्द्रजालेन (कुहकेन) संग्रामेण (युद्धेन) क्रोधेन (कोपेन) उद्भ्रान्तादीनां चेष्टितैः (चेष्टाभिः), उपरागैः = चन्द्रसूर्यग्रहणैश्च। भूयिष्ठः = प्राचुर्ययुक्तः, ख्यातेतिवृत्तकः= ख्यातम् (पुराणादिप्रसिद्धम्) इतिवृत्तं (वर्णनीयवृत्तान्तः) यस्मिन् सः। तादृशो डिमः = तदाख्यरूपकविशेषो भवति ॥ २४१ ॥

तत्र = तस्मिन् डिमे अङ्गी=मुख्यः रौद्ररसः इतरे सर्वे रसाः=शृङ्गारादयः

शास्त्रके अविरोधसे किये गये शृङ्गारको धर्मशृङ्गार, अर्थलाभके लिये किये गये शृङ्गारको अर्थशृङ्गार, और प्रहसनशृङ्गारको कामशृङ्गार कहते हैं। उनमें कामशृङ्गार प्रथम अङ्कमें ही होता है। धर्मशृङ्गार और प्रहसनशृङ्गारमें नियम नहीं है ऐसा कहते हैं। चेतना चेतन जैसे हाथी आदि हैं, ये स्थावर वृक्ष आदिसे अधिक संवेदन-शील होनेसे चेतन हैं, और मनुष्यकी अपेक्षा अल्प विवेकवाले होनेसे अचेतन भी हैं। बहुतसे विषय इसमें निबद्ध होते हैं, इसलिए इसको समवकार कहते है।

जैसे—समुद्रमथन।

डिम—माया, इन्द्रजाल, युद्ध और उद्भ्रान्त आदिकी चेष्टाओंसे, चन्द्र और सूर्यके ग्रहणोंसे युक्त तथा पुराण आदिमें प्रसिद्ध इतिवृत्त जिसमें रहता है उसे "डिम" कहते हैं ॥ २४१ ॥

उसमें रौद्र रस प्रधान होता है अन्य समस्त रस अङ्ग (अप्रधान) होते हैं।

नायका देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः ।
भूतप्रेतपिशाचाद्याः षोडशात्यन्तमुद्धताः ॥ २४३ ॥
वृत्तयः कैशिकीहीना निर्विमर्शाश्च सन्धयः ।
दीप्ताः स्युः षड्रसाः शान्तहास्यशृङ्गारवर्जिताः ॥ २४४ ॥

अत्रोदाहरणं च 'त्रिपुरदाहः' इति महर्षिः ।

अथेहामृगः—

ईहामृगो मिश्रवृत्तश्चतुरङ्कः प्रकीर्तितः ।
मुखप्रतिमुखे सन्धी तत्र निर्वहणं तथा ॥ २४५ ॥

अङ्गानि = अवयवाः, इह = अस्मिन् डिमे, चत्वारोऽङ्का मताः, विष्कम्भकप्रवेशकौ न भवतः ॥ २४२ ॥

देवगन्धर्वयक्षरक्षोमहोरगाः भूतप्रेतपिशाचाद्याः अत्यन्तम् उद्धताः = अविनीताः षोडश नायका भवन्ति । २४३ ॥

कैशिकीहीनाः=कैशिकीरहिताः, वृत्तयः = भारत्याद्याः भवन्ति । निर्विमर्शाः= विमर्शरहिताः, सन्धयः=मुखप्रतिमुखगर्भोपसंहृतयः, सन्धयो भवन्ति । शान्तशृङ्गारहास्य-वर्जिताः, षड् रसाः= करुणरौद्रवीरभयानकबीभत्साऽद्भुतसंज्ञकाः, दीप्ताः=स्फुटस्वरूपाः, भवन्ति ॥ २४४ ॥

डिमस्योदाहरणं त्रिपुरदाह इति महर्षिः = भरतः ।

ईहामृगं लक्षयति—**ईहामृग इति** । मिश्रवृत्तः=ख्याताऽख्यातेतिवृत्तः, चतुरङ्कः— चत्वारः अङ्काः यस्मिन् सः । तादृशो रूपकविशेष ईहामृगः, प्रकीर्तितः = प्रवर्णितः । तत्र = तस्मिन् ईहामृगे, मुखप्रतिमुखे सन्धी, तथा निर्वहणं च सन्धिर्भवति ॥ २४५ ॥

इसमें चार अङ्क होते हैं, और विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं रहते हैं ॥ २४२ ॥

इसमें देवता, गन्धर्व यक्ष, राक्षस, महोरग (विशाल सर्प), भूत, प्रेत और पिशाच आदि अत्यन्त उद्धत (दुर्विनीत) सोलह नायक होते हैं ॥ २४३ ॥

इसमें कैशिकीको छोड़कर और सब भारती आदि वृत्तियाँ विमर्श छोड़कर मुख आदि चार सन्धियाँ होती हैं, तथा शान्त, हास्य और शृङ्गार रसको छोड़कर करुण आदि छः रस स्फुट रूपसे रहते हैं ॥ २४४ ॥

इसमें उदाहरण है "त्रिपुरदाह" यह महर्षि (भरत) का कथन है ।

ईहामृग—पुराण आदिमें प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध चरित्रसे युक्त और चार अङ्कोंवाले रूपकको "ईहामृग" कहते हैं । इसमें मुख, प्रतिमुख और निर्वहण सन्धियाँ होती हैं ॥ २४५ ॥

नरदिव्यावनियमौ नायकप्रतिनायकौ ।
ख्यातौ धीरोद्धतावन्यो गूढभावादयुक्तकृत् ॥ २४६ ॥
दिव्यस्त्रियमनिच्छन्तीमपहारादिनेच्छतः ।
शृङ्गाराभासमप्यस्य किञ्चित्किञ्चित्प्रदर्शयेत् ॥ २४७ ॥
पताकानायका दिव्या मर्त्या वापि दशोद्धताः ।
युद्धमानीय संरम्भं परं व्याजान्निवर्तते ॥ २४८ ॥

नायकप्रतिनायकौ, नरदिव्यौ = मनुष्यदेवौ, अनियमौ = नियमरहितौ, यथासंख्यानियमरहिताविति भावः, नरो नायकः, दिव्यः (देवः) प्रतिनायकः, अथवा दिव्यः (देवः) नायकः, नरः प्रतिनायको भवतामिति शेषः । तादृशौ तौ धीरोद्धतौ, ख्यातौ= प्रकथितौ । अन्यः = अपरः, प्रतिनायक इति भावः । गूढभावात् = अप्रकाशभावात्; अयुक्तकृत् = अनुचितकार्यकारकः ॥ २४६ ॥

अनिच्छन्तीं=अवाञ्छन्तीं, रमणमिति शेषः । दिव्यस्त्रियं = देवीम्, अपहारादिना = अपहरणादिना, आदिपदाच्छलेन च, इच्छतः = वाञ्छतः, रमणमिति शेषः । अस्य=प्रतिनायकस्य, किञ्चित्किञ्चित्, शृङ्गाराभासम् अपि, प्रदर्शयेत्=प्रदर्शितं कुर्यात्; रूपककार इति शेषः ॥ २४७ ॥

दिव्याः=देवाः, मर्त्या वाऽपि = मनुष्या वाऽपि, उद्धताः = अविनीताः, दश, पताकानायकाः="व्यापि प्रासङ्गिकं वृत्तं पताकेत्यभिधीयते ।" (४२५ पृ०) इत्युक्तलक्षणलक्षिताया अर्थप्रकृतिभेदरूपायाः पताकाया नायकाः, नायकप्रतिनायकयोर्मिलिता इति शेषाः स्युः । परं = शत्रुरूप प्रतिनायकं, संरम्भं = क्रोधम्, आनीय = प्रापय्य; स्थितस्य नायकस्य, व्याजात्=छलात् अन्यकार्यस्येति शेषः, युद्धं निवर्तते ॥ २४८ ॥

इसमें नायक और प्रतिनायक मनुष्य और देवता यथासख्य नियमसे रहित होते हैं अर्थात् कहीं नायक मनुष्य और प्रतिनायक देवता तथा कहीं नायक देवता और प्रतिनायक मनुष्य होते हैं । वैसे वे नायक और प्रतिनायक धीरोद्धतके रूपमें कहे गये हैं, प्रतिनायक गुप्तरूपसे अनुचित कार्य करता है ॥ २४६ ॥

वे (नायक और प्रतिनायक) रमणकी इच्छा न करनेवाली दिव्य स्त्रीकी अपहार आदिसे इच्छा करते हैं, प्रतिनायकको कुछ कुछ शृङ्गाराभासका भी प्रदर्शन करना चाहिए ॥ २४७ ॥

इसमें देवता और मनुष्य उद्धत नायक और प्रतिनायकको मिलाकर दश पताकानायक होते हैं । शत्रुरूप प्रतिनायकको क्रुद्ध बनाकर रहे हुए नायकके छलसे युद्ध टल जाता है ॥ २४८ ॥

महात्मानो वधप्राप्ता अपि वध्याः स्युरत्र नो।
एकाङ्को देव एवात्र नेतेत्याहुः, परे पुनः॥ २४९ ॥
दिव्यस्त्रीहेतुकं युद्धं, नायकाः षडितीतरे।

मिश्रं ख्याताख्यातम्। अन्यः प्रतिनायकः। पताकानायकास्तु नायकप्रतिनायकयोर्मिलिता दश। नायको मृगवदलभ्यां नायिकामत्र ईहते वाञ्छतीतीहामृगः।

यथा—कुसुमशेखरविजयादिः।

अथाङ्कः—

उत्सृष्टिकाङ्क एकाङ्को नेतारः प्राकृता नराः॥ २५० ॥

अत्र = ईहामृगे, महात्मानः = महानुभावाः, वधप्राप्ता अपि=वधयोग्या अपि, नो वध्याः स्युः = वधयोग्या न स्युरिति भावः। परमतं प्रदर्शयति—पुनः, परे = अन्ये आचार्याः, अयम् ईहामृगः, एकाऽङ्कः = एकोऽङ्को यस्मिन् सः, अत्र = अस्मिन्नीहामृगे, देवः = सुरः, एव नेता = नायकः, इति = एवम्, आहुः = कथयन्ति॥ २४९॥

इतरे = अन्ये च, दिव्यस्त्रीहेतुकं = दिव्यस्त्री (देवी) हेतुः (कारणम्) यस्मिंस्तत्; तादृशं युद्धं = संग्राम इति, तथा नायकः = नेतारः, षट् इति, आहुः।

विवृणोति—मिश्रमिति। नायकः = नेता, मृगवत् = हरिणवत्, अलभ्यां = दुष्प्राप्यां, नायिकामत्र ईहते=वाञ्छतीति ईहामृग इति निर्वचनम्। तादृशो नायकोऽस्य (रूपकविशेषस्य) अस्तीति ईहामृगः, "अर्शआदिभ्योऽच्" इत्यच्प्रत्ययः।

अङ्कं लक्षयति—उत्सृष्टिकाऽङ्क इति। अङ्कस्यैव केषांचिन्मते नामान्तरमुत्सृष्टिकाऽङ्कः, स एकाङ्कः, एकोऽङ्को यस्मिन् सः। अत्र=अङ्के, प्राकृताः=साधारणाः, नराः = बहवो मनुष्याः, नेतारः = नायका भवन्ति॥ २५०॥

इसमें महात्मा लोग वधके योग्य होनेपर भी वध्य नहीं होते हैं। कुछ विद्वान्लोग इसमें एक ही अङ्क तथा देवता ही नायक होता है ऐसा कहते हैं॥ २४९॥

अन्य विद्वान्लोग इसमें दिव्य स्त्रीके लिए युद्ध होता है और नायक छः होते हैं ऐसा मानते हैं॥

नायक मृगके समान अलभ्य (दुष्प्राप्य) नायिकाकी ईहा (इच्छा) करता है अतः इसे "ईहामृग" कहते हैं। जैसे कुसुमशेखरविजय आदि।

अङ्क—"उत्सृष्टिकाऽङ्क" वा "अङ्क" में एक ही अङ्क रहता है। उसमें साधारण बहुतसे मनुष्य नायक होते हैं॥ २५०॥

रसोऽत्र करुणः स्थायी, बहुस्त्रीपरिदेवितम् ।
प्रख्यातमितिवृत्तं च कविर्बुद्ध्या प्रपञ्चयेत् ॥ २५१ ॥
भाणवत्सन्धिवृत्त्यङ्गान्यस्मिञ्जयपराजयौ ।
युद्धं च वाचा कर्त्तव्यं निर्वेदवचनं बहु ॥ २५२ ॥

इमं च केचित् नाटकाद्यन्तःपात्यङ्कपरिच्छेदार्थमुत्सृष्टिकाङ्कनामानम् आहुः ।

अन्ये तु—"उत्क्रान्ता—विलोमरूपा सृष्टिर्यत्रेत्युत्सृष्टिकाङ्कः"। यथा—शर्मिष्ठायथातिः ।

अत्र = अस्मिन्नङ्के, स्थायी = स्थैर्यशीलः, करुणो रसः, बहुस्त्रीपरिदेवितम् = बहूनां (बहुलानाम्) स्त्रीणां (योषिताम्) परिदेवितं (विलापः) भवेत् । कविः = कवयिता, प्रख्यात=प्रसिद्धम्, नाट्यशास्त्रसिद्धान्तानुसारं क्वचिदप्रख्यातमपि, इतिवृत्तं= वर्णनीयं वस्तु, बुद्ध्या = स्वमत्या, प्रपञ्चयेत् = विस्तारयेत् ॥ २५१ ॥

अस्मिन् = अङ्के, भाणवत् = भाणे यथा, सन्धिवृत्यङ्गानि = सन्धी (मुख-प्रतिमुखे) वृत्ती (भारतीकैशिक्यौ), अङ्गानि (दशाऽपि लास्याऽङ्गानि) भवेयुः । जयपराजयौ = नायकप्रतिनायकयोर्दर्शनीयाविति शेषः । वाचा = वचनेन, युद्धं= संग्रामश्च, कर्तव्यं = विधेयं, न तु शस्त्रेणेति भावः । बहु = अधिकं, निर्वेदवचनं = स्वाऽवमाननसूचकं वाक्यं च, कविना कर्तव्यमिति शेषः ॥ २५२ ॥

विवृणोति—**इममिति** । इमम् = अङ्कनामकं रूपकविशेषं, केचित्=कतिपय-विद्वांसः, नाटकाद्यन्तःपात्यङ्कपरिच्छेदाऽर्थं = नाटकादीनाम् (रूपकविशेषादीनाम्) अन्तःपातिनः (अन्तःपतनशीलाः) ये अङ्काः, तेषां परिच्छेदाऽर्थम् (व्यावृत्यर्थम्) उत्सृष्टिकाङ्कनामानम् = उद्गता (उत्क्रान्ता) नाटकाद्यङ्कात् भिन्नरूपा, सृष्टिः (निर्मितिः) यस्य स उत्सृष्टिकः, स चाऽसावङ्कः इति नामान्तरमिति भावः ।

अन्ये तु = अपरे तु, उत्क्रान्ता = विलोमरूपा, प्राकृतनायकत्वाद्विपरीतरूपेति भावः, सृष्टिः = रचना यस्य, स चाऽसौ अङ्क इति उत्सृष्टिकाङ्कः ।

इसमें स्थायी करुणरस होता है, और बहुतसी स्त्रियोंका विलाप रहता है। इसमें प्रसिद्ध इतिवृत्तको कवि अपनी बुद्धिसे विस्तृत करता है ॥ २५१ ॥

इसमें भाणके समान मुख आदि सन्धियाँ, भारती आदि वृत्तियाँ और लास्यके दश अङ्ग होते हैं। इसमें नायक, और प्रतिनायकके जय और पराजयको दिखाना चाहिए। वचनसे ही युद्ध करना चाहिए और अपनी अवमाननाके सूचक अधिक वाक्यको दिखलाना चाहिए ॥ २५२ ॥

अथ वीथी—

वीथ्यामेको भवेदङ्कः, कश्चिदेकोऽत्र कल्प्यते ।
आकाशभाषितैरुक्तैश्चित्रां प्रत्युक्तिमाश्रितः ॥ २५३ ॥
सूचयेद्भूरि शृङ्गारं किञ्चिदन्यान्रसान् प्रति ।
मुखनिर्वहणे सन्धी अर्थप्रकृतयोऽखिलाः ॥ २५४ ॥

कश्चिदुत्तमो मध्यमोऽधमो वा । शृङ्गारबहुलत्वाच्चास्याः कैशिकीवृत्तिबहुलत्वम् ।

अस्यास्त्रयोदशाङ्गानि निर्दिशन्ति मनीषिणः ।
उद्घात्य(त)कावलगिते प्रपञ्चस्त्रिगतं छलम् ॥ २५५ ॥

वीथी लक्षयति—**वीथ्यामिति** । वीथ्यामेकोऽङ्को भवेत् । अत्र = वीथ्याम् । कश्चित् = कोऽपि, उत्तमो मध्यमोऽधमो वा, एकः = नायकः, कल्प्यते = कल्पयित्वा वर्ण्यते । स च उक्तैः = अभिहितप्रकारैः, आकाशभाषितैः = "किं ब्रवीषित्या"कारक-(४९१ पृ०) लक्षणलक्षितैर्नाटयोक्तिविशेषैः, चित्राम् = अद्भुतस्वरूपां, प्रत्युक्तिं = प्रतिवचनम्, आश्रितः = कृताश्रयः सन् ॥ २५३ ॥–

शृङ्गारम् – आदिरसं, भूरि = अधिकं यथा तथा, अन्यान् – अपरान्, रसान् अपि, किंचित्, सूचयेत् = सूचनां कुर्यात् । मुखनिर्वहणे सन्धी, स्यातां = भवेतां, तथा अखिलाः = समस्ताः, अर्थप्रकृतयः = प्रयोजनसिद्धिहेतवः, बीज–बिन्दु–पताका–प्रकरी–कार्यरूपाः, स्युः ॥ २५४ ॥

विवृणोति—**कश्चिदिति** । अस्याः = वीथ्याः ।

वीथ्यङ्गान्युद्दिशति—**अस्या इति** । मनीषिणः = विद्वांसः, अस्याः = वीथ्याः त्रयोदशाऽङ्गानि, निर्दिशन्ति । तानि यथा—उद्घात्यकम्, अवलगितं, प्रपञ्चः, त्रिगतं, छलम् ॥ २५५ ॥–

वीथी—वीथीमें एक अङ्क होता है इसमें किसी उत्तम, मध्यम वा अधम नायककी कल्पना होती है । वह पूर्वोक्त प्रकारवाले आकाशभाषितोंसे विचित्र प्रत्युक्तिका आश्रय कर ॥ २५३ ॥–

शृङ्गारको अधिक भावसे और अन्य रसोंको भी सूचित करे । इसमें मुख और निर्वहण सन्धियां और बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य ये सब अर्थप्रकृतियां होती हैं ॥ २५४ ॥–

शृङ्गारकी अधिकता होनेसे इसमें कैशिकी वृत्तिकी प्रचुरता होती है । विद्वान् लोग इसके तेरह अङ्गोंका निर्देश करते हैं—

उद्घात्यक, अवलगित, प्रपञ्च, त्रिगत छल ॥ २५५ ॥

वाक्केल्यधिबले गण्डमवस्यन्दितनालिके ।
असत्प्रलापव्याहारमृद(मार्द)वानि च तानि तु ॥ २५६ ॥

तत्रोद्घात्य(त)कावलगिते प्रस्तावनाप्रस्तावे सोदाहरणं लक्षिते ।

मिथो वाक्यमसद्भूतं प्रपञ्चो हास्यकृन्मतः ।

यथा विक्रमोर्वश्याम्—
वलभीस्थविदूषकचेटयोरन्योन्यवचनम् ।

त्रिगतं स्यादनेकार्थयोजनं श्रुतिसाम्यतः ॥ २५७ ॥

यथा तत्रैव—
'राजा—
सर्वक्षितिभृतां नाथ! दृष्टा सर्वाङ्गसुन्दरी ।

वाक्केलिः, अधिबल, गण्डम्, अवस्यन्दितं, नालिका, असत्प्रलापः, व्याहारः, मृदवं चेति ॥ २५६ ॥

तत्रोद्घात्यकावलगितयोः (४०३, ४०८ पृ०) प्रस्तावनाऽवसरे सोदाहरणं लक्षितत्वादवसरप्राप्तं प्रपञ्चं लक्षयति—**मिथ इति** । मिथः=परस्परम्, असतभूतं=मिथ्यास्वरूप, हास्यकृत्=हास्यकारकं; वाक्यं=पदसमूहः, प्रपञ्चः = तन्नामको वीथ्यङ्गभूतः, मतः ।

प्रपञ्चमुदाहरति—**यथेति** । वलभी = चन्द्रशाला, ऊर्ध्वस्थितप्रकोष्ठविशेषः ।

त्रिगतं लक्षयति—**त्रिगतमिति** । श्रुतिसाम्यतः=शब्दश्रवणसाम्यात्, अनेकार्थयोजनम् = अनेकार्थप्रत्यायनं, 'त्रिगत' नाम वीथ्यङ्गम् ॥ २५७ ॥

त्रिगतमुदाहरति—**सर्वेति** । प्रश्नपक्षे—हे सर्वक्षितिभृतां नाथ ! = हे सकलपर्वतानां स्वामिन् ! अस्मिन्, रम्ये=रमणीये, वनान्ते=काननैकभागे, मया, विरहिता= सञ्जातविरहा, सर्वाऽङ्गसुन्दरी = सकलाऽवयवमनोहरा, रामा = काऽपि स्त्री, त्वया=

वाक्केलि, अधिबल, गण्ड, अवस्यन्दित, नालिका, असत्प्रलाप, व्याहार, मृदव ॥ २५६ ॥

इनमें उद्घात्यक और अवलगित प्रस्तावनाके वर्णनके अवसरमें उदाहरणके साथ लक्षित हुए हैं ।

प्रपञ्च—परस्परमें मिथ्याभूत हास्यकारक वाक्यको "प्रपञ्च" कहते हैं ।

जैसे विक्रमोर्वशीमें चन्द्रशालामें रहे हुए विदूषक और चेटीका परस्पर वाक्य (प्रपञ्च) माना गया है ।

त्रिगत—शब्दश्रवणकी तुल्यतासे जहाँपर अनेक अर्थोंकी योजना होती है, उसे 'त्रिगत'' कहते हैं ॥ २५७ ॥

जैसे वहीं (विक्रमोर्वशी) पर राजा—हे संपूर्ण पर्वतोंके स्वामिन् ! इस

रामा रम्ये वनान्तेऽस्मिन् मया विरहिता त्वया ॥

(नेपथ्ये तथैव प्रतिशब्दः)

राजा—कथं दृष्टेत्याह।' अत्र प्रश्नवाक्यमेवोत्तरत्वेन योजितम्। नटादित्रितयविषयमेवेदमिति कश्चित्।

प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्य च्छलना च्छलम् ।

यथा वेण्याम्—

'भीमार्जुनौ—

कर्ता द्यूतच्छलानां, जतुमयशरणोद्दीपनः, सोऽभिमानी

भवता, दृष्टा = विलोकिता ? इति काकुः । उत्तरपक्षे तु—हे सर्वक्षितिभृतां नाथ—समस्त भूपतिपते !, अस्मिन्, रम्ये=मनोहरे, वनान्ते=अरण्यप्रान्ते, त्वया=भवता, विरहिता= संजातविरहा, सर्वाङ्गसुन्दरी रामा मया दृष्टा ।

नेपथ्य इति । तत्र एव = पर्वत एव, प्रतिशब्दः = "सर्वक्षितिभृतां नाथ" इत्याद्याकारकः प्रतिध्वनिः भवतीति शेषः । राजा = पुरूरवाः ।

त्रिगतपदव्युत्पत्तिमाह—नटादीति । इद = त्रिगतं, नटादित्रितयविषयं = नटः (सूत्रधारः) आदिपदेन नटीप्रतिनट्योर्ग्रहणं, तत्त्रितयविषयम् = तत्त्रयविषयम् । कश्चित् = दशरूपककारः ।

छलं लक्षयति—प्रियाभैरिति । प्रियाभैः = प्रियस्वरूपैः, आपाततः इति शेषः । अप्रियैः=अप्रियस्वरूपैः वाक्यैः=पदसमूहैः, विलोभ्य=लोभं जनयित्वा, छलना=प्रतारणं, "छल" नाम वीथ्यङ्गम् ।

छलमुदाहरति कर्तेति । सुयोधनाऽनुजीविनः प्रति भीमार्जुनयोरुक्तिरिति । द्यूतच्छलानाम् = अक्षक्रीडावञ्चनानां, कर्ता = कारकः, जतुमयशरणोद्दीपनः = जतुमयं

वनके प्रान्तमें मेरे विरहसे युक्त सर्वाङ्गसुन्दरीस्त्रीको तुमने देखा है ? यहाँपर प्रश्नके पक्षमें "सर्वक्षितिभृतां नाथ" इन पदोंसे पर्वत लिया जाता है ।

उत्तर पक्षमें हे संपूर्ण राजाओंके स्वामिन् ! इस वनके प्रान्तमें तुमसे विरहिणी सर्वाङ्ग सुन्दरी स्त्रीको मैंने देखा। इस प्रकार यहाँपर "सर्वक्षितिभृतां नाथ" इन पदोंसे संपूर्ण राजाओंमें श्रेष्ठ ऐसा अर्थ लिया जाता है। (नेपथ्यमें उसी तरह प्रतिध्वनि गुंजती है)। राजा—कैसे "देखा" ऐसा कहा ? इस पक्षमें प्रश्न वाक्यको ही उत्तर वाक्यके रूपमें योजित किया है। नट (सूत्रधार) नटी और प्रतिनट (पारिपार्श्विक) इन तीनोंके विषयमें यह होता है ऐसा कोई (दशरूपककार) कहते हैं।

छल—प्रियके सदृश अप्रियवाक्योंसे लुभाकर छलनेको "छल" कहते हैं।

जैसे वेणी (संहार) में भीमसेन और अर्जुन—(दुर्योधनके अनुचरोंको

राजा दुःशासनादेर्गुरुरनुजशतस्याङ्गराजस्य मित्रम् ।
कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः, पाण्डवा यस्य दासाः
क्वाऽऽस्ते दुर्योधनोऽसौ कथयत, न रुषा द्रष्टुमभ्यागतौ स्वः ॥'

अन्ये त्वाहुश्छलं किञ्चित्कार्यमुद्दिश्य कस्यचित् ॥ २५८ ॥
उदीर्यते यद्वचनं वञ्चनाहास्यरोषकृत् ।
वाक्केलिर्हास्यसम्बन्धो द्वित्रिप्रत्युक्तितो भवेत् ॥ २५९ ॥

(लाक्षानिर्मितम्) यत् शरणं (गृहम्) तस्य उद्दीपनः (दाहकः) । कृष्णाकेशोत्तरीयव्यपनयनपटुः = कृष्णायाः (द्रौपद्याः) केशाः (कचाः) उत्तरीयम् (अवोंऽशुकम्) तेषां व्यपनयनम् (आकर्षणम्) तस्मिन् पटुः (कुशलः), अभिमानी=अभिमानशाली, पाण्डवाः = पाण्डुपुत्रा युधिष्ठिरादयः, यस्य = दुर्योधनस्य, दासाः = भृत्या इव, अधीना इति भावः । दुःशासनादेः=दुःशासनप्रभृतेः, अनुजशतस्य = अवरजशतस्य, गुरुः = श्रेष्ठः, अङ्गराजस्य = अङ्गदेशाऽधिपतेः, कर्णस्येति भावः, मित्रं = सखा । राजा = भूपः, असौ = विप्रकृष्टस्थः, सः = प्रसिद्धः दुर्योधनः, क्व = कुत्र, आस्ते= अवतिष्ठते, कथयत = ब्रूत, यूयमिति शेषः । रुषा = कोपेन, द्रष्टुं = विलोकयितुं; न अभ्यागतौ – न सम्मुखमायातौ, स्वः – भवावः, ज्ञातिप्रणयेनैवाऽऽगतौ स्व इति भावः । स्रग्धरा वृत्तम् । अत्र द्रष्टुमेव न रुषेति प्रियसदृशेन वाक्येन विलोभ्य प्रतारणात् "छलम्"।

छले मतान्तरमाह-**अन्ये त्विति** । कस्यचित्=जनस्य, किञ्चित्=किमपि, कार्य= कृत्यम्, उद्दिश्य – अनूद्य वञ्चनाहास्यकृत – प्रतारणाहासकारकं यत्, वचनं – वाक्यम्; उदीर्यते – उच्यते, तत् "छलं" तद् वीथ्यङ्गम् इति, अन्ये = अपरे आचार्या आहुः ।

वाक्केलिं लक्षयति-**वाक्केलिरिति** । द्वित्रिप्रत्युक्तितः = वारद्वयं – वारत्रयप्रत्युक्तितः । "द्वित्रीत्युपलक्षणं, तेन बहुवारप्रत्युत्तरतः इति भावः । हास्यसम्बन्धः = हाससम्पर्कः, "वाक्केलि"र्नाम वीथ्यङ्गम् । वाचा (वचनेन) केलिः (क्रीडा) इति व्युत्पत्तिः ॥ १५९ ॥

कहते हैं) जुएके छलको करनेवाला, लाखके घरको जलाने वाला, द्रौपदीके केशों और वस्त्रके आकर्षणमें कुशल, अभिमानी, और पाण्डव जिसके दास हैं दुःशासन आदि सौ भाइयोंका बड़ा भाई अङ्गराज (कर्ण) का मित्र वह राजा दुर्योधन कहाँ है ? कहो । हमलोग क्रोधसे नहीं (प्रेमसे) देखनेके लिए आये हैं ।।

मतान्तर—कुछलोग कहते हैं—किसीके कुछ कार्यका उद्देश्य कर प्रतारणा और हास्य करनेवाले वचनको "छल" कहते हैं ।

वाक्केलि—दो बार वा तीन बार (अधिकबार) उक्ति और प्रत्युक्तिसे जो हास्यका सम्बन्ध है उसे "वाक्केलि" कहते हैं ।। २५९ ।।

द्वित्रीत्युपलक्षणम् ।

यथा—

'भिक्षो ! मांसनिषेवणं प्रकुरुषे, किं तेन मद्यं विना ?
मद्यं चापि तव ? प्रियं प्रियमहो। वाराङ्गनाभिः सह ।
वेश्याऽप्यर्थरुचिः कुतस्तव धनं ? द्यूतेन चौर्येण वा,
चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि भवतो नष्टस्य कान्या गतिः ? ॥'

केचित्-'प्रक्रान्तवाक्यस्य साकाङ्क्षस्यैव निवृत्तिर्वाक्केलिः' इत्याहुः ।

वाक्केलिमुदाहरति—"भिक्षो" इति । मांसं भक्षयन्तं भिक्षुं प्रति कस्यचिद् गृहिणः प्रश्ना भिक्षुकृतान्युत्तराणि । भिक्षो = भिक्षाजीविन् ! मांसनिषेवणं = पललभक्षणं, प्रकुरुषे=विधत्से ?, भिक्षुरुत्तरयति—मद्यं विना = सुरां विना, तेन = मांसनिषेवणेन, किं ?, गृहिण उक्तिः— मद्यं=सुरा च, तव = भवतः, प्रियम् = अभीष्टं ? भिक्षुरुत्तरयति—अहो ! आश्चर्यं, न तावदेवेति भावः । वाराङ्गनाभिः = वारस्त्रीभिः, सह = सम, मद्य मे प्रियमिति भावः ।

गृही पृच्छति—वेश्या = वारस्त्री, अर्थरुचिः = अर्थे (धने) रुचिः (स्पृहा) यस्याः सा, धनाऽनुरागिणीति भावः । 'अभिष्वङ्गे स्पृहायां च गभस्तौ च रुचिः स्त्रियाम्" इत्यमरः । तव, धनं = द्रव्यं, कुतः कस्मात्स्थानात्, सम्पद्यत इति शेषः । भिक्षुरुत्तरयति—द्यूतेन=अक्षक्रीडया, चौर्येण वा = स्तेनकर्मणा वा, धनं सम्पद्यत इति शेषः । गृही पृच्छति—भवतः = तव, चौर्यद्यूतपरिग्रहोऽपि= स्तेयाऽक्षक्रीडास्वीकारोऽपि, अस्तीति शेषः । भिक्षुः समादधाति—नष्टस्य=भ्रष्टस्य जनस्य अन्या = अपरा, का, गतिः=उपायः । अत्र बहुविधोक्तिप्रत्युक्तितो हास्यसम्बन्धाद्वाक्केलिः । मतान्तरमाह—**केचिदिति ।** केचित् = केऽपि विद्वांसः, साकाङ्क्षस्य एव = अभिधानाऽपर्यवसानसहितस्य एव, प्रक्रान्तवाक्यस्य, आरब्धवचनस्य, निवृत्तिः=समाप्तिः "वाक्केलिः" । अन्ये च=

दो और तीन उपलक्षण है । जैसे—

भिक्षुसे किसीकी उक्ति और प्रत्युक्ति होती है । उक्ति—"भिक्षुक ! तुम मांसका सेवन करते हो ?" प्रत्युक्ति—"मद्यके विना उस (मांस) से क्या होता है ?" उक्ति—"मद्य भी तुम्हे प्रिय है ?" प्रत्युक्ति—"अहो ! वेश्याओंके साथ मद्य प्रिय है । उक्ति—"वेश्या तो धनमें (मात्र) अनुराग रखनेवाली होती है, तुम्हारे पास धन कैसे आया ?" ।

प्रत्युक्ति—जूएसे वा चोरीसे (धन आता है) ।

उक्ति—तब फिर चोरी और जुएकी भी तुम सेवा करते हो ?" ।

प्रत्युक्ति-"भ्रष्ट पुरुषका और क्या उपाय है" ।

मतान्तर—कुछ विद्वान् आकाङ्क्षायुक्त आरब्ध वाक्यकी निवृत्तिको

अन्ये च अनेकस्य प्रश्नस्यैकमुत्तरम् ।'

अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः स्पर्धयाधिबलं मतम् ।

यथा मम प्रभावत्याम्—

वज्रनाभः—

(अस्य वक्षः क्षणेनैव निर्मथ्य गदयानया ।
लीलयोन्मूलयाम्येष भुवनद्वयमद्य वः ।।)

प्रद्युम्नः—अरे रे असुरापसद ! अलममुना बहुप्रलापेन ।

मम खलु—

अद्य प्रचण्डभुजदण्डसमर्पितोरुकोदण्डनिर्गलितकाण्डसमूहपातैः ।
आस्तां समस्तदितिजक्षतजोक्षितेयं क्षोणिः क्षणेन पिशिताशनलोभनीया ।।'

अपरे च, अनेकस्य = बहुविधस्य, प्रश्नस्य = अनुयोगस्य, एकम्, उत्तरं = प्रतिवाक्यं "वाक्केलिः", इति वदन्तीति शेषः ।

अधिबलं लक्षयति—**अन्योन्येति** । स्पर्धया = पराऽभिभवेच्छया, अन्योन्यवाक्याधिक्योक्तिः=अन्योन्यवाक्यैः (परस्परवचनैः) आधिक्योक्तिः (मिथः प्रधानताप्रतिपादनम्) "अधिबलं" नाम वीथ्यङ्गम् ।

अधिबलमुदाहरति—**अस्येति** । अध्यवसायकनामकस्य नाट्याऽलङ्कारस्योदाहरणे व्याख्यातपूर्वं पद्यमिदम् (५२९ पृ०) ।

प्रद्युम्न इति । असुराऽपसद=हे असुराऽधम ! वज्रनाभेति भावः ।

अद्येति । अद्य = अस्मिन् दिने, प्रचण्डेत्यादिः० प्रचण्डः अतिकठोरः) यः भुजदण्ड. (बाहुदण्डः) तस्मिन्, समर्पितम् (संस्थापितम्) उरु (महत्) यत् कोदण्डं (धनुः) तस्मात् निर्गलितः (निःसृतः) यः काण्डसमूहः (बाणवृन्दम्), तस्य पातैः (पतनैः) इयं = सन्निकृष्टस्था, क्षोणी=भूमिः, क्षणेन = अल्पकालेनैव समस्तदितिजक्षतजोक्षिता = समस्ताः = (निखिलाः) ये दितिजाः (दैत्याः) तेषां

"वाक्केलि" कहते हैं । और विद्वान् अनेक प्रश्नोंके एक उत्तरको "वाक्केलि" कहते हैं ।

अधिबल—स्पर्धा (संघर्ष) से परस्परमें आधिक्यकी उक्तिको "अधिबल" कहते हैं ।

जैसे ग्रन्थकारकी प्रभावती (नाटिका) में वज्रनाभ—

"इस प्रद्युम्नके वक्षस्थल (छाती) को इस गदासे लीला (खिलवाड़) से ही मथन कर तुम्हारे दोनों लोकों (पृथिवी और पाताल) को यह मैं उन्मूलित कर देता हूँ ।

प्रद्युम्न—अरे दैत्याऽधम ! इस अधिक बकवासको बन्द करो ।

मेरे—आज प्रचण्ड बाहुदण्डोंमें रखे गये बड़े धनुषसे निकले हुए बाणोंके प्रहारोंसे

गण्डं प्रस्तुतसंबन्धि भिन्नार्थं सत्वरं वचः ॥ २६० ॥

यथा वेण्याम्—

'राजा—

अध्यासितुं तव चिराज्जघनस्थलस्य पर्याप्तमेव करभोरु! ममोरुयुग्मम् ॥

अनन्तरम् (प्रविश्य)

कञ्चुकी। देव! भग्न भग्नम्—इत्यादि।'

अत्र रथकेतनभङ्गार्थं वचनमूरुभङ्गार्थे सम्बन्धे सम्बद्धम्।

क्षतजैः (रुधिरैः) उक्षिता (सिक्ता , सती,) आशिताऽशनलोभनीया = विशिताऽशनानां (मांसभक्षकाणां, शृगालादीनामिति भावः) लोभनीया (लोभोत्पादिका), आस्तां=भवतु। वसन्ततिलका वृत्तम्। अत्र स्वधया मिथ आधिक्यस्योक्तेरधिबलम्।

गण्डं लक्षयति—**गण्डमिति**। प्रस्तुतसम्बन्धि=प्रकृतार्थसम्बद्धं, भिन्नार्थम्=अन्यार्थबोधकं, सत्वरं=त्वरासहितं, वचः = वचनं, "गण्डम्" भवति ॥ २६० ॥

गण्डमुदाहरति—**अध्यासितुमिति**। राज्ञो दुर्योधनस्य स्वप्रियां भानुमतीं प्रत्युक्तिरियम्। अस्य पद्यस्य पूर्वार्द्ध—

"लोलांऽशुकस्य पवनाऽऽकुलिताऽशुकान्तं त्वद्दृष्टिहारि मम लोचनबान्धवस्य।"

हे करभोरु! मम, ऊरुयुग्मं=सक्थियुगलं, तव जघनस्थलस्य = कटिपूर्वभागस्य, चिरात्=बहुकालं यावत्, अध्यासितुम्=आश्रयितुं रमणार्थमिति शेषः। पर्याप्तम् एव=समर्थम् एव (वेणी० २–२३)। वसन्ततिलका वृत्तम्।

लक्ष्ये लक्षणं संगमयितुमुत्तरवाक्यमाह—**अनन्तरमिति**। "देव! भग्न भग्नम्" इति वाक्यम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र=अस्मिन् वाक्ये। रथकेतनभङ्गार्थं = रथकेतनस्य भङ्गार्थम् (आमर्दनार्थम्) वचनं=वाक्यम् उक्तं सदिति शेषः) ऊरुभङ्गार्थे=दुर्योधनसक्थिभङ्गरूपेऽर्थे सम्बद्धं = सम्बन्धयुक्तम्।

यह धरती कुछ ही क्षणमें सम्पूर्ण दैत्योंके रुधिरसे सिक्त होकर मांसभक्षी स्यार आदि पशुओंको लोभविषय हो जावे ॥

गण्ड—प्रस्तुतसे सम्बद्ध भिन्नार्थबोधक त्वरायुक्त वचनको "गण्ड" कहते है २६०

जैसे वेणी (संहार) में राजा (दुर्योधन)—

'हे सुन्दरि (भानुमति!) यह मेरा ऊरुयुग्म तुम्हारे जघन स्थलके बैठनेके लिए पर्याप्त (समर्थ) है।" इसके अनन्तर (प्रवेश कर) कञ्चुकी—महाराज! टूट गया टूट गया इत्यादि। यहाँपर रथका ध्वज भङ्ग हो गया इस तात्पर्यका वचन ऊरुभङ्ग रूप अर्थके सम्बन्धमें सम्बद्ध है।

व्याख्यानं स्वरसोक्तस्यान्यथाऽवस्यन्दितं भवेत् ।

यथा छलितरामे—

'सीता—जाद ! काल्लं क्खु उ अज्झाएण गन्तव्वम्, तहिं सो राजा विणएण पणयिदव्वो ।

लवः—अथ किमावाभ्यां राजोपजीविभ्यां भवितव्यम् ? ।

सीता—जाद ! सो क्खु तुम्हाणं पिदा ।

लवः—किमावयो रघुपतिः पिता ?

सीता—(साशङ्कम्) मा अण्णधा सङ्कद्धम्, ण क्खु तुम्हाणं, सअलाए ज्जेव पुहवीए त्ति' ।

अवस्यन्दितं लक्षयति—**व्याख्यानमिति** । स्वरसोक्तस्य = स्वरसेन (निजाभिप्रायेण) उक्तस्य (कथितस्य) वाक्यस्येति शेषः । अन्यथा=प्रकारान्तरेण, व्याख्यानं=प्रतिपादनम् "अवस्यन्दितं" भवेत् ॥ १६१ ॥

अवस्यन्दितमुदाहरति—**यथेति** । सीता—"जात ! कल्यं खलु उपाध्यायेन गन्तव्य तर्हि स राजा विनयेन पणायितव्यः ।" सीता—"जात ! स खलु युष्माकं पिता" । सीता—"मा अन्यथा शङ्कध्वम्। न खलु युष्माकं, सकलाया एव पृथिव्या इति"इति संस्कृतच्छाया । जात=पुत्र !, कल्यं=प्रभातं, यथा तथा । "प्रत्यूषोऽहर्मुखं कल्यमुषःप्रत्युषसी अपि" इत्यमरः । उपाध्यायेन=गुरुणा सह, युवाभ्यामिति शेष. । "अओज्झाए" इति पाठान्तरे "अयोध्यायाम्" इति संस्कृतच्छाया । सः=प्रसिद्धः, राजा=भूपालः, राम इत्यर्थः । विनयेन=नम्रतया, पणायितव्यः=स्तोतव्यः, अत्र बहुभिर्व्याख्यातृभिः, "पणायितव्य" इत्यस्य व्यवहर्तव्य इति व्याख्यातं, परं तदपव्याख्यान, यतः "पण व्यवहारे स्तुतौ चे"ति पणधातोर्व्यवहारस्तुत्यर्थकत्वेऽपि स्तुत्यर्थकादेव पणधातोः "गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आय" इति सूत्रेण आयप्रत्ययो भवति । अत एव "पनिसाहचर्यात्पणेरपि स्तुतावेवाऽऽयप्रत्यय" इति दीक्षितचरणाः । रजोपजीविभ्यां=राजोपजीवनशीलाभ्याम् । शङ्कध्व=शङ्कां कुरुध्वम् ।

अवस्यन्दित—अपने अभिप्रायसे कहे गये वचनका अन्यथा (दूसरे ही अर्थ में) व्याख्यान करनेको "अवस्यन्दित" कहते है ।

जैसे छलितराम (रूपक)में—सीता (लवको कहती हैं)— पुत्र ! प्रातःकालमें तुम्हें उपाध्यायके साथ जाना चाहिए । उस समय राजा (राम) की विनयसे स्तुति करनी चाहिए । लव—"अब क्या हम दोनों (भाइयों) को राजाका सेवक होना पड़ेगा ?" । सीता—"पुत्र ! वे (राजा राम) तुम्हारे पिता हैं" । लव—"क्या हम दोनोंके रघुपति (रामचन्द्रजी) पिता हैं ?" ।

सीता—(आशङ्काके साथ) दूसरी शङ्का मत करो । (वे राम) तुम्हारी ही

प्रहेलिकैव हास्येन युक्ता भवति नालिका ॥ २६१ ॥

संवरणकार्युत्तरं प्रहेलिका।

यथा रत्नावल्याम्—

'सुसङ्गता—सहि ! जस्स किदे तुमं आअदा सो इद ज्जेव चिट्ठदि।

सागरिका—कस्स किदे अहं आअदा ?

सुसङ्गता—णं क्खु चित्तफलअस्स'।

अत्र त्वं राज्ञः कृते आगतेत्यर्थः संवृतः।

असत्प्रलापो यद्वाक्यमसंबद्धं तथोत्तरम्।
अगृह्णतोऽपि मूर्खस्य पुरो यच्च हितं वचः ॥ २६२ ॥

अत्र "स खलु युष्माकं पितेति कथनात् लवो रामं पितरं ज्ञास्यतीत्याशङ्कया "सकलाया एव पृथिव्याः" पालकत्वेन पिता इत्यन्यथा व्याख्यानादवस्यन्दितं नाम वीथ्यङ्गम्।

नालिका लक्षयति—**प्रहेलिकैवेति**। हास्येन युक्ता प्रहेलिका = संवरणकारि (अर्थगोपनकारि) उत्तरम्, एवं "नालिका" भवति ॥ २६१ ॥

नालिकामुदाहरति—**यथेति**। सुसंगता—"सखि ! यस्य कृते त्वमागता स इह एव तिष्ठति"। सागरिका—"कस्य कृते अहमागता ?" सुसंगता—"ननु खलु चित्रफलकस्य।" इति संस्कृतच्छाया।

लक्ष्ये लक्षणं संगमयति—**अत्रेति**। अत्र = इह "राज्ञः कृते आगते" त्यर्थस्य संवरणार्थं "ननु खलु चित्रफलकस्य" इति वाक्येन संवरणकार्युत्तराद् "नालिका" नाम वीथ्यङ्गम्।

असत्प्रलापं लक्षयति—**असत्प्रलाप इति**। असत्प्रलापस्त्रिविधः, तत्राद्य—यद्वाक्य = पदसमूहः, असम्बद्धं = पूर्वाऽपरसम्बन्धरहितं, द्वितीयं—यत् उत्तरम् असम्बद्धं, तथा तृतीयं—अगृह्णतः अपि = न स्वीकुर्वतः अपि, हितं वच इति शेषः, मूर्खस्य =

नहीं समस्त पृथिवीके पिता (पालक) हैं।

नालिका—हास्यसे युक्त प्रहेलिका (पहेली) ही "नालिका" होती है ॥२६१॥
गोपन करनेवाला उत्तर "प्रहेलिका" (पहेली) होती है।

उदा०—जैसे रत्नावलीमें—सुसंगता (सागरिकाको)—"हे सखि ! जिसके लिए तुम आई हो वह यहींपर रहता है।

सागरिका—"मैं किसके लिए आई हूँ ?"। सुसंगता—इसी चित्रके लिए। यहाँपर "तुम राजाके लिए आई हो" यह बात संवृत (गोपित) है।

असत्प्रलाप—असत्प्रलापके तीन भेद होते हैं। १ जो वाक्य असम्बद्ध है। २ इसी तरह जो उत्तर असम्बद्ध है। ३ ग्रहण न करनेवाले मूर्खको जो हित वचन कहा

तत्राद्यं यथा मम प्रभावत्याम्—

'प्रद्युम्नः—(सहकारवल्लीमवलोक्य सानन्दम्) अहो कथमिहैव—

अलिकुलमञ्जुलकेशी परिमलबहला रसावहा तन्वी ।
किसलयपेशलपाणिः कोकिलकलभाषिणी प्रियतमा मे ॥'

एवमसंबद्धोत्तरेऽपि ।

तृतीयं यथा—वेण्यां दुर्योधनं प्रति गान्धारीवाक्यम् ।

बालिशस्य, पुरः = अग्रे, यच्च हितं = हितकारकं, वचः = वचन, तदपि "असत्प्रलापो नाम" वीथ्यङ्गम् ॥ २६२ ॥

तत्राद्यमुदाहरति—यथेति । सहकारवल्लीम् = अतिसौरभाश्रवताम् । अलिकुलेति । प्रद्युम्नस्य सहकारवल्लीमवलोक्य प्रभावतीभ्रमादुक्तिरियम् । अलिकुलमञ्जुलकेशी = अलिकुल (भ्रमरसमूहः) इव मञ्जुलाः (मनोहराः) केशाः (कुन्तलाः) यस्याः सा, "स्वाऽङ्गच्चोपसर्जनादसयोगोपधात्" इति ङीष् (वैकल्पिकः) । परिमलबहला = परिमलः (जनमनोहरो गन्धः) बहलः (प्रचुरः) यस्याः सा । रसावहा = रसम् (अनुरागम्) आवहति (धारयति) इति । तन्वी = कृशाऽङ्गी । किसलयपेशलपाणिः = किसलयम् (पल्लवम्) इव पेशलः (सुन्दरः) पाणिः (करः) यस्याः सा, "चारौ दक्षे च पेशलः" इत्यमरः । कोकिलकलभाषिणी = कोकिलवत् (पिकवत्) कलम् (अव्यक्तमधुरम्) भाषते तच्छीला । णिनिप्रत्ययः । मे = मम, प्रियतमा = दयिततमा, प्रभावतीति शेषः । अत्र सहकारवल्ल्यां प्रद्युम्नस्य स्वप्रियारोपकं वाक्यमसम्बद्धमतोऽसत्प्रलापस्येदमेकमुदाहरणम् ।

एवमसम्बद्धोत्तरे द्वितीयमुदाहरणम् । तृतीयं यथा वेण्यां (वेणीसंहारे) दुर्योधनं प्रति गान्धारीवाक्यम् ।

जाता है वह भी असत्प्रलाप है ॥ २६२ ॥

उनमें पहला (असत्प्रलाप) जैसे—ग्रन्थकारकी प्रभावतीमें प्रद्युम्न—(कलमी आमकी लताको देखकर आनन्दके साथ, अहो ! कैसे यहींपर ।

भ्रमरसमूहके समान सुन्दर केशोंवाली वा (सहकारवल्ली—पक्षमें) भ्रमर समूहरूप सुन्दर केशोंवाली, प्रचुर सुगन्धवाली, अनुरागवाली (सहकारवल्ली–पक्षमें) रससे परिपूर्ण, पतली, पल्लवके समान सुन्दर करवाली, कोकिलके समान मधुरभाषिणी, (सहकारवल्लीपक्षमें) जिसकी कोयल ही मधुरभाषिणी है वैसी मेरी प्रियतमा है । (१)

वैसे ही असम्बद्ध उत्तरमें भी असत्प्रलापको जानना चाहिए (२) ।

तीसरा जैसा–वेणी (संहार) में दुर्योधनको गान्धारीका वाक्य (असत्प्रलाप) है ।

व्याहारो यत्परस्यार्थे हास्यक्षोभकरं वचः ।

यथा मालविकाग्निमित्रे—'(लास्यप्रयोगावसाने मालविका निर्गन्तुमिच्छति) ।

विदूषकः—मा दाव उवदेससुद्धा गमिस्ससि ।

(इत्युपक्रमेण)

गणदासः—(विदूषकं प्रति) आर्य ! उच्यतां यस्त्वया क्रमभेदो लक्षितः ।

विदूषकः—पढमं बम्भणपूआ भोदि, सा इमाए लङ्घिदा (मालविका स्मयते)' इत्यादिना नायकस्य विशुद्धनायिकादर्शनप्रयुक्तेन हासक्षोभकारिणा वचसा व्याहारः ।

व्याहारं लक्षयति—**व्याहार इति** । परस्य = अन्यस्य, अर्थे = निमित्ते, यत्, हास्यक्षोभकरं = हास चाञ्चल्योत्पादक, वच = वचनम्, क्वचित् 'हास्यलोभकरम्" इति पाठान्तरम् । तत् व्याहारो नाम वीथ्यङ्गम् ।

व्याहारमुदाहरति—**यथेति** । लास्यप्रयोगाऽवसाने = स्त्रीकर्तृकनृत्याऽनुष्ठानसमाप्तौ, मालविकाया निर्गन्तुमिच्छायां, विदूषकः—"मा तावदुपदेशशुद्धा गमिष्यसि" इति संस्कृतच्छाया । उपदेशशुद्धा - उपदेशेन (आचार्यशिक्षया) शुद्धा (निर्दोषा) सती । क्रमभेदः = कार्यपौर्वापर्यव्यतिक्रमः । विदूषकः—"प्रथमं ब्राह्मणपूजा भवति । सा अनया लङ्घिता ।" इति संस्कृतच्छाया । स्मयते = ईषद्धसति । "ष्मिङ् ईषद्धसने" इति धातोर्लट् । नायकस्य = राज्ञोऽग्निमित्रस्य । वचसा = वचनेन विदूषकस्येति शेषः । अत्र विदूषकस्य परस्य अग्निमित्रस्य कृते मालविकाया हास्यदर्शनाऽर्थं प्रयुक्ताद्वाक्यात् "व्याहारः" ।

व्याहार—दूसरेके प्रयोजनके लिए हास्य और क्षोभ करनेवाले वचनको "व्याहार" कहते हैं ।

जैसे मालविकाग्निमित्रमें—(नृत्यके प्रयोगकी आखिरीमें मालविका बाहर निकलना चाहती है) विदूषक—आप अभी मत जायें । आचार्यके उपदेशसे शुद्ध होकर जायगी" । (ऐसे आरम्भमें) दास (गणदास, नृत्याचार्य)—(विदूषकसे)—"आर्य जो आपने क्रमका भेद देखा, उसे कहिए" ।

विदूषक—"पहले ब्राह्मणकी पूजा होती है, उसका इन्होंने उलङ्घन किया (नहीं किया) । (मालविका मुसकुराती) है । इत्यादिसे नायकको विशुद्ध नायिकाके दर्शनके लिए प्रयुक्त हास्य और चित्तका क्षोभ करनेवाले वचनसे जो प्रतिपादन करना है वह 'व्याहार" हैं ।

दोषा गुणा गुणा दोषा यत्र स्युर्मृदवं (मार्दवं) हि तत् ॥२६३॥

क्रमेण यथा—

प्रिय ! जीवितताक्रौर्यं निःस्नेहत्वं कृतघ्नता ।
भूयस्त्वद्दर्शनादेव ममैते गुणतां गताः ॥
तस्यास्तद्रूपसौन्दर्यं भूषितं यौवनश्रिया ।
सुखैकायतनं जातं दुःखायैव ममाधुना ॥

मृदवं लक्षयति—**दोषा इति** । यत्र = यस्मिन् वाक्ये, दोषा गुणाः, गुणाश्च दोषाः, स्युः = भवेयुः तत् "मृदवं" नाम वीथ्यङ्गम् ॥ २६३ ॥

मृदवमुदाहरति—**यथेति** । तत्र च यत्र दोषा गुणा भवन्ति तत् प्रथममुदाहरणं प्रदर्शयति—**प्रियेति** । कस्यश्चिन्नायिकाया नायक प्रत्युक्तिरियम् । हे प्रिय=हे वल्लभ । जीवितता = जीवन, भवद्विरहेऽपि मम जीवनधारणमिति भावः । क्रौर्यं = काठिन्यम् । क्रौर्याभावे सति मम जीवन गच्छेदिति भावः । निःस्नेहत्व = प्रेमाऽभावः, विरहेऽपि जीवनधारणात् निःस्नेहत्वं प्रतीतं भवेदिति भावः । कृतघ्नता = कृतवेदित्वाऽभाव ; भवद्विरहेऽपि जीवनधारणात् मम कृतघ्नता प्रतीता भवेदिति भावः । भवद्विरहेऽपि मम जीवनात् क्रौर्यादयः प्रतीयन्त इति तात्पर्यम् । भूयः = पुनरपि, त्वद्दर्शनात् = त्वद्दर्शन प्राप्य एवं, "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे च" इति ल्यबलोपे कर्मणि पञ्चमी । मम = प्रणयिन्याः, एते = क्रौर्यादयः, गुणता = गुणभावं, गताः=प्राप्ताः एवं च तादृशक्रौर्यनिःस्नेहत्वकृतघ्नतानां सत्तायामेव मज्जीवनधारणात् भवद्दर्शनलाभेन समागमजनितहर्षोत्कर्ष इति भावः अत्र दोषाणामपि गुणत्वप्रतीतेः प्रथम मृदवम् ।

एवं च यत्र गुणा दोषा भवन्ति तद्द्वितीयमुदाहरणं प्रदर्शयति= **तस्या इति** । विरही नायको नायिकामुद्दिश्य स्वकीयमभिप्राय प्रकाशयति । यौवनश्रिया = तारुण्यशोभया, भूषितम् = अलङ्कृतं तस्याः = नायिकायाः, तत् = तादृशम्, असकृत्पूर्वाऽनुभूतं, रूपसौन्दर्यम् = आकारलावण्य, तदा = तस्मिन्समये, संयोगकाल इति भाव. । मम, सुखैकायतनं = सुखस्य (आनन्दलाभस्य) एकाऽऽयतनम् (एकमात्रस्थानम्)

मृदव—जहांपर दोष गुण और गुण दोष हो जाते हैं वह 'मृदव" है ॥२६३॥

क्रमसे जैसे—आपके विरहमे भी जीना जो क्रूरता है, आपके विरहमें भी मेरा जीना जो अनुरागहीनता है, आपके विरहमे मेरा जीना जो कृतघ्नता है ये सब दोष फिर आपके दर्शनसे ही गुणके भावको प्राप्त हो गये हैं ॥ यहांपर दोष भी गुण हो गये है ? तारुण्यकी शोभासे अलङ्कृत उस नायिकाका वह आकार और सौन्दर्य उस समय (संयोग कालमें) मुझे सुखमात्रका एक कारण हुआ अभी (विरहकालमें) दुःखके लिए ही हो गया ।

एतानि चाङ्गानि नाटकादिषु सम्भवन्त्यपि वीथ्यामवश्यं विधेयानि, स्पष्टतया नाटकादिषु विनिविष्टान्यपीहोदाहृतानि। वीथीव नानारसानां चात्र मालारूपतया स्थितत्वाद्वीथीयम्। यथा—मालविका।

अथ प्रहसनम्—

भाणवत्सन्धिसन्ध्यङ्गलास्याङ्गाङ्कैर्विनिर्मितम्।
भवेत्प्रहसनं वृत्तं निन्द्यानां कविकल्पितम् ॥ २६४ ॥

जातं=सम्पन्नम्, अधुना=अस्मिन्समये, वियोगकाल इति भाव। दुःखाय एव=कष्टाऽनुभवाय एव, जातं=सम्पन्नम्। अत्र गुणानामपि दोषत्वप्रतीतेर्द्वितीयं मृदवोदाहृणं ज्ञेयम्।

वीथ्यङ्गेषु विवेकमाह—**एतानीति**। एतानि = पूर्वोक्तानि उद्घात्यकादीनि वीथ्यङ्गानि, नाटकादिषु = वीथीभिन्नरूपकान्तरेषु, संभवन्त्यपि = संभवं प्राप्नुवन्त्यपि, वीथ्याम् = रूपकस्य नवमभेदे, अवश्यं = नूनं, विधेयानि = कर्तव्यानि, इति = एव, विनिविष्टानि अपि = विनिदेशयितुं निर्दिष्टानि अपि, इह=अस्यां, वीथ्यामिति भावः। उदाहृतानि = निदर्शितानि।

वीथीपदं निर्वक्ति—**वीथीवेति**। वीथी इव=नानाविशेषकरणानामाधारभूता यथा वीथी (पण्यवीथिका) तथैव नानारसानां=शृङ्गारादीनां, मालारूपतया = स्रक्स्वरूपत्वेन स्थितत्वात्, इयं = रूपकविशेषो वीथी।

प्रहसनं लक्षयति—**भाणवदिति**। भाणवत् = भाणाख्ये रूपकविशेषे इव, सन्धिसन्ध्यङ्गलास्याऽङ्गाऽङ्कैः = सन्धिभ्यां (मुखनिर्वहणसन्धिभ्याम्) सन्ध्यङ्गैः = (अनेकसन्ध्यङ्गैः) लास्याऽङ्गैः (उत्थापकमत्र गेयपदादिभिः) अङ्केन (एकेन अङ्केन), विनिर्मितं = रचितम्। कविकल्पितं = कविना (रूपककारेण) कल्पित (कल्पनाविषयीकृतम्) निन्द्यानां = निन्दार्हाणां जनानाम्, वृत्तं = चरित्रं, भवेत् ॥ २६४ ॥

यहाँपर गुण दोष हो गये है, अतः यह "मृदव" हुआ।

वीथीके ये अङ्ग नाटक आदि अन्य रूपकोंमें भी हो सकते हैं, परन्तु वीथीमें इनको अवश्य रखना चाहिए, अतः स्पष्ट रूपसे नाटक आदिमें इनके रहनेपर भी यहाँ इनके उदाहरण दिये गये है। वीथी (वृक्ष आदिकी श्रेणी) के समान इस (वीथी नामक रूपक) में अनेक रसोंकी मालाके समान अवस्थितिसे इसको "वीथी" कहते हैं। जैसे—मालविका।

प्रहसन—भाणके समान सन्धि और सन्धिके अङ्ग और लास्याङ्गों तथा एक अङ्कसे रचित कविकल्पित निन्दनीय जनोंका चरित्र जहाँ दिखाया जाता है उसे "प्रहसन" कहते हैं ॥ २६४ ॥

अत्र नारभटी, नापि विष्कम्भकप्रवेशकौ ।
अङ्गी हास्यरसस्तत्र वीथ्यङ्गानां स्थितिर्न वा ॥ २६५ ॥

तत्र—

तपस्विभगवद्विप्रप्रभृतिष्वत्र नायकः ।
एको यत्र भवेद्धृष्टो हास्यं तच्छुद्धमुच्यते ॥

यथा कन्दर्पकेलिः ।

आश्रित्य कञ्चन जनं संकीर्णमिति तद्विदुः ॥ २६६ ॥

यथा—धूर्तचरितम् ।

अत्र = प्रहसने, आरभटी = "मायेन्द्रजाले' त्यादिलक्षणलक्षिता (८८८ पृ०)" वृत्तिः, न, न स्यात्, विष्कम्भकप्रवेशकौ अपि = "वृत्तवर्तिष्यमाणानाम्०" 'प्रवेशकोऽनुदात्तोक्त्या०" (४१८, ४१९ पृ०) इत्यादिलक्षणलक्षितावर्थोपक्षेपकौ अपि, न, नो भवतः । तत्र = तस्मिन् हास्यरसे । हास्यरसः, अङ्गी = प्रधानम् । वीथ्यङ्गानां—रूपकविशेषाङ्गानाम्, उद्घात्यकादीनामिति भावः । स्थितिः=अवस्थानं, न स्यात्।२६५।

तपस्वीति । अत्र = अस्मिन् प्रहसने, तपस्वीत्यादिः०=तपस्विनः (तापसाः, कृच्छ्रादिव्रताचरणपरायणा इति भावः) भगवन्तः (ब्रह्मज्ञाः, संन्यासिनः) विप्राः (ब्राह्मणाः), तत्प्रभृतिषु (तदादिषु), एकः = अन्यतमः, नायकः = नेता, भवेत् । अस्य च भेदत्रयं भवति, शुद्ध, सङ्कीर्णं विकृत च । यत्र धृष्टः = "कृतागा अपि० (११७ पृ०)" इत्युक्तलक्षणलक्षितो नायको भवेत्, तत्=हास्य प्रहसनं, शुद्धम् उच्यते ।

शुद्ध प्रहसनमुदाहरति—**यथेति** । यथा कन्दर्पकेलिः ।

संकीर्णप्रहसन लक्षयति—**आश्रित्येति** । कञ्चन=धृष्टभिन्नं, नायकम्, आश्रित्य यत् प्रहसनं भवति, तत् संकीर्णं=सङ्कीर्णप्रहसनम्, इति, विदुः = जानन्ति, विद्वांस इति शेषः ॥ २६६ ॥

सङ्कीर्णं प्रहसनमुदाहरति—**यथेति** । यथा धूर्तचरितम् ।

इसमें आरभटी वृत्ति तथा विष्कम्भक और प्रवेशक नहीं रहते हैं । इसमें हास्य रस प्रधान होता है और वीथीके अङ्गोंकी स्थिति नहीं रहती है ॥ २६५ ॥

तपस्वी, ब्रह्मवादी (संन्यासी आदि), ब्राह्मण इनमें कोई एक नायक होता है । इसके शुद्ध, सङ्कीर्ण और विकृत तीन शुद्ध प्रहसन—भेद होते हैं । जहाँपर धृष्ट नायक होता है उसे "शुद्ध हास्य" कहते हैं ॥ जैसे कन्दर्पकेलि ।

सङ्कीर्ण प्रहसन—धृष्टसे भिन्न किसी पुरुषको आश्रय कर जो प्रहसन होता है उसे "सङ्कीर्ण" कहते है । जैसे धूर्तचरित्र ॥ २६६ ॥

वृत्तं बहूनां धृष्टानां सङ्कीर्णं केचिदूचिरे ।
तत्पुनर्भवति द्व्यङ्कमथवैकाङ्कनिर्मितम् ॥ २६७ ॥

यथा—लटकमेलकादिः ।

मुनिस्त्वाह—

'वेश्याचेटनपुंसकविटधूर्ता बन्धकी च यत्र स्युः ।
अविकृतवेषपरिच्छदचेष्टितकरणं तु सङ्कीर्णम् ॥' इति ।

विकृतं तु विदुर्यत्र पण्ढकञ्चुकितापसाः ।
भुजङ्गचारणभटप्रभृतेर्वेषवाग्युताः ॥ २६८ ॥

मतान्तरेण संकीर्णं प्रहसनं लक्षयति—**वृत्तमिति** । केचित्=कतिपये विद्वांसः, बहूनां=प्रभूतानां, धृष्टानां=नायकानां, वृत्तं=चरित्रं, यत्र भवति, तत्=प्रहसनं, सङ्कीर्णं=तद्विशेषणं, प्रहसनं=रूपकविशेषम्, प्रोचिरे=जगदुः । पुनः, तत्=प्रहसनं, द्व्यङ्कम्=अङ्कद्वयोपेतम्, अथवा, एकाङ्कनिर्मितम्=एकाङ्केन निर्मितम् (रचितम्) भवति ॥२६७॥

पूर्वोक्तं प्रहसनमुदाहरति—**यथेति** । यथा लटकमेलकादिः ।

मुनिमतं प्रदर्शयति—**वेश्येत्यादि** । यत्र = यस्मिन्प्रहसने, वेश्याचेटनपुंसकविटधूर्ताः = वेश्या (वारस्त्री), चेटः (दासः), नपुंसकः (क्लीबः), विटः = षिङ्गः, "संभोगहीनसम्पद्०" (१२१ पृ०) इत्यादिलक्षणलक्षितो नायकस्य शृङ्गारसहायः, धूर्तः (अक्षधूर्तः), बन्धकी=कुलटा, च, एतादृशानि पात्राणि स्युः = भवेयुः । तत्र—अविकृतेत्यादिः०=अविकृतानां (विकाररहितानां, स्वाभाविकानामिति भावः) वेषाणां (नेपथ्यानाम्) परिच्छदानाम् (उपकरणानाम्), चेष्टितानां (चेष्टनाम्) च करणम् (अनुकरणम्) भवति, तत्तु=प्रहसनं तु, सङ्कीर्णम् ।

विकृतं प्रहसनं लक्षयति—**विकृतं त्विति** । यत्र=यस्मिन् प्रहसने, षण्ढकञ्चुकितापसाः = षण्ढः (नपुंसकः) कञ्चुकी (वारवाणधारी) तापसः (तपस्वी) च एते, भुजङ्गचारणभटप्रभृते=भुजङ्गः (विटः), चारणः (नटः) भटः (योद्धा), तत्प्रभृतेः = तदादेः, प्रभृतिपदेन राजपुरुषादयो गृह्यन्ते । तथा चैषां वेषवाग्युताः

मतान्तरसे सङ्कीर्ण प्रहसन—कुछ आचार्य बहुतसे धृष्ट नायकोंके चरित्रको "सङ्कीर्ण प्रहसन" कहते हैं, वह दो अङ्कोंसे वा एक ही अङ्कसे निर्मित होता है ॥२६७॥

जैसे लटकमलेक आदि ।

मुनि (भरत) ने कहा है—जहाँपर वेश्या, दास, नपुंसक विट, धूर्त और व्यभिचारिणी इनका समावेश होता है और अविकृत (स्वाभाविक) वेष, परिच्छेद और चेष्टाका अनुकरण होता है वह "सङ्कीर्ण प्रहसन" है ।

विकृत प्रहसन—जहाँपर नपुंसक, कञ्चुकी (जामा पहननेवाला) और

इदं तु सङ्कीर्णेनैव गतार्थमिति मुनिना पृथङ्नोक्तम् ।

अथोपरूपकाणि । तत्र—

नाटिका क्लृप्तवृत्ता स्यात् स्त्रीप्राया चतुरङ्किका ।
प्रख्यातो धीरललितस्तत्र स्यान्नायको नृपः ॥ २६९ ॥
स्यादन्तःपुरसम्बद्धा सङ्गीतव्यापृताथवा ।
नवानुरागा कन्यात्र नायिका नृपवंशजा ॥ २७० ॥
सम्प्रवर्तेत नेतास्यां देव्यास्त्रासेन शङ्कितः ।

वेषवाग्भिः (नेपथ्यभाषाभिः) युताः (सहिताः) भवन्ति, तत् = प्रहसनं, विकृतं = विकृतनामक, विदुः = जानन्ति, विद्वांस इति शेषः ॥ २६८ ॥

अत्र मुनिमतं निर्दिशति—**इदं त्विति** । इदं=विकृत प्रहसनं, तु सङ्कीर्णेन= सङ्कीर्णप्रहसनेन एवागतार्थम् = गतप्रयोजनं, तत्रैवाऽन्तर्भूतमिति भावः । इति = कारणेन, मुनिना = भरतेन, पृथग्नोक्तम् ।

उपरूपकाणि तत्र चादौ नाटिकां लक्षयति—**नाटिकेति** । क्लृप्तवृत्ता = क्लृप्त (कविकल्पितम्) वृत्त (नायकादिचरितम्) यस्याः सा । स्त्रीप्राया = नारीप्रचुरा, चतुरङ्किका=चत्वारः अङ्काः यस्या सा । एतादृशी नाटिका, स्यात् = भवेत् । तत्र=तस्यां, नाटिकायां, प्रख्यातः=प्रसिद्धः, धीरललितः = 'निश्चिन्तः" (११५ पृ०) इत्यादिर्लक्षणोपेतः, नृपः=राजा, नायकः, स्यात् ॥ २६९ ॥

अत्र=अस्यां नाटिकायाम्, अन्त.पुरसम्बद्धा = शुद्धान्तसम्बन्धयुक्ता, अथवा, सङ्गीतव्यापृता = नृत्यगीतवाद्यासक्ता, नवाऽनुरागा = नूतनप्रणयपरा, नृपवंशजा = राजकुलोत्पन्ना, कन्या = कुमारी, नायका स्यात् ॥ २७० ॥

नेता=नायकः, देव्याः = कृताऽभिषेकाया राज्ञ्याः, त्रासेन = भयेन, शङ्कितः= शङ्कायुक्तः सन्, अस्यां = नवाऽनुरागायां नायिकायां, संप्रवर्तेत = आचरेत्, प्रणय-

---

तपस्वी ये लोग गुण्डा, नट, योद्धा इनके वेष और भाषाको लेकर अभिनय करते हैं, उसे "विकृत प्रहसन" कहते हैं ॥ २६८ ॥

यह (विकृत प्रहसन) सङ्कीर्ण प्रहसनसे ही गतार्थ है इसलिए मुनि (भरत) ने इसे पृथक् नहीं कहा है ।

उपरूपक—उनमें **नाटिका**—कविकल्पित चरित्रसे युक्त प्रचुर स्त्रियोंवाली और चार अङ्कोंसे युक्त उपरूपकको "नाटिका" कहते हैं । उसमें प्रख्यात और धीरललित राजा नायक होता है ॥ २६९ ॥

अन्तःपुरमें सम्बद्ध वा संगीत (नृत्य; गीत और वाद्य) में आसक्त नूतन अनुरागवाली राजवंशमें उत्पन्न कन्या इसमें नायिका होती है ॥ २७० ॥

नायक इस (कन्या) में रानी के त्राससे शङ्कित होकर आसक्त रहता है ।

देवी भवेत्पुनर्ज्येष्ठा प्रगल्भा नृपवंशजा ॥ २७१ ॥
पदे पदे मानवती, तद्वशः सङ्गमो द्वयोः।
वृत्तिः स्यात्कैशिकी, स्वल्पविमर्शाः सन्धयः पुनः ॥ २७२ ॥

द्वयोर्नायिकानायकयोः।

यथा—रत्नावली-विद्धशालभञ्जिकादिः।

अथ त्रोटकम्—

सप्ताष्टनवपञ्चाङ्कं दिव्यमानुषसंश्रयम्।
त्रोटकं नाम तत्प्राहुः प्रत्यङ्कं सविदूषकम् ॥ २७३ ॥

प्रत्यङ्कसविदूषकत्वादत्र शृङ्गारोऽङ्गी। सप्तताङ्कं यथा—स्तम्भितरम्भम्। पञ्चाङ्कं यथा—विक्रमोर्वशी।

परायणत्वेनेति शेषः। देवी=कृताऽभिषेका राज्ञी, प्रगल्भा="स्मराऽन्धा०" (१३८ पृ०) इत्यादिलक्षणलक्षिता, नृपवंशजा=राजकुलोत्पन्ना, ज्येष्ठा=नवप्रणयोपेताया नायिकाया ज्यायसी, भवेत् ॥ २७१ ॥

सा च ज्येष्ठा नायिका, पदेपदे = प्रतिपदं, मानवती = अभिमानसंपन्ना, भवेत्, द्वयोः=उभयोः, नवनायिकानायकयोरिति भावः, सङ्गमः = समागमः, भवेत्। वृत्तिश्च कैशिकी = "या श्लक्ष्णेत्यादि (४८० पृ०)" लक्षणलक्षिता, स्वल्पविमर्शाः = स्तोकविमर्शसन्धियुक्ताः, सन्धयः=मुखप्रतिमुखगर्भोपसहृतिसन्धयः, भवन्तीति शेषः ॥२७२॥

नाटिकामुदाहरति—यथा रत्नावली-विद्धशालभञ्जिकाऽऽदिः।

त्रोटकं लक्षयति-**सप्ताष्टेति**। सप्ताऽष्टनवपञ्चाऽङ्कं=सप्त, अष्टौ, नव पञ्च वा अङ्काः यस्मिस्तत्। दिव्यमानुषसंश्रयं=देवमनुष्योभयवृत्ताश्रितं, तथा प्रत्यङ्कं=सर्वेष्वपि अङ्केषु, सविदूषकं=विदूषकसहित, तत्=तादृशमुपरूपकं त्रोटक नाम, प्राहुः ॥२७३॥

विवृणोति—**प्रत्यङ्केति**। अत्र= त्रोटके, अङ्गी=प्रधानरसः।

राजकुलमें उत्पन्न रानी जेठा और प्रगल्भा होती है ॥ २७१ ॥

वह (रानी) पद पदमें मान (अभिमान) करती है राजा और नई राजकुमारी इनका सगम रानीके ही वशमे रहता है। इसमें कैशिकी वृत्ति होती है, और अल्प विमर्शवाली अन्य सन्धियाँ होती है ॥ २७२ ॥

जैसे रत्नावली और विद्धशाल भञ्जिका आदि।

त्रोटक - सात, आठ, नौ वा पांच अङ्कोंसे युक्त देवता और मनुष्यसे युक्त तथा प्रत्येक अङ्कमें जहाँ विदूषक रहता है उसे "त्रोटक" कहते हैं ॥ २७३ ॥

प्रत्येक अङ्कमें विदूषकके रहनेसे इसमें शृङ्गार रस प्रधान होता है। सात अङ्क जैसे स्तम्भितरम्भमें, पाँच अङ्क जैसे विक्रमोर्वशीमें।

अथ गोष्ठी—

प्राकृतैर्नवभिः पुंभिर्दशभिर्वाप्यलंकृता ।
नोदात्तवचना गोष्ठी कैशिकीवृत्तिशालिनी ॥ २७४ ॥
हीना गर्भविमर्शाभ्यां पञ्चषड्योषिदन्विता ।
कामश्रृङ्गारसंयुक्ता स्यादेकाङ्कविनिर्मिता ॥ २७५ ॥

यथा—रैवतमदनिका ।

अथ सट्टकम्—

सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्यं स्यादप्रवेशकम् ।
न च विष्कम्भकोऽप्यत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः ॥ २७६ ॥

गोष्ठी लक्षयति—**प्राकृतैरिति** । प्राकृतैः=साधारणैः, नवभिः, वा = अथवा, दशभिः, पुंभिः = पुरुषैः, अलङ्कृता = भूषिता । नोदात्तवचना = न विद्यते उदात्तम् (उत्कृष्टं; संस्कृतमिति भावः) वचनं यस्यां सा । कैशिकीवृत्तिशालिनी, गोष्ठी = उपरूपकभेदः ॥ २७४ ॥

गर्भविमर्शाभ्यां = गर्भविमर्शसन्धिभ्यां, हीना = रहिता, मुखप्रतिमुखोपसंहृतयः सन्धयो गोष्ठ्यां भवन्तीति भावः । पञ्चषड्योषिदन्विता = पञ्चभिः षड्भिर्वा योषिद्भिः (स्त्रीभिः) अन्विता (युता), तथा कामशृङ्गारसंयुत्ता = कामशृङ्गारेण (प्रहसनश्रृङ्गारेण) संयुक्ता, तथा, एकाऽङ्कविनिर्मिता = एकेनाऽङ्केन विनिर्मिता (रचिता) गोष्ठी स्यात् ॥ २७५ ॥

सट्टक यक्षयति - **सट्टकमिति** । प्राकृताऽशेषपाठ्यं=प्राकृतं (प्राकृतभाषायाम्) अशेषं (समस्तम्) पाठ्यं (पठनीयं, गद्यपद्यात्मकं वाक्यमिति भावः) यस्मिंस्तत् तथा च अप्रवेशकम्=अविद्यमानः प्रवेशको यस्मिंस्तत, प्रवेशकरहितमिति भावः । तादृशमुपरूपकं सट्टकं, स्यात् । अत्र=सट्टके, प्रवेशको न, अद्भुतो रसश्च प्रचुरो भवति ॥ २७६ ॥

गोष्ठी—साधारण नौ वा दश पुरुषोंसे अलङ्कृत, इसमें संस्कृतकी उक्ति नहीं रहती है, और कैशिकी वृत्ति होती है ॥ २७४ ॥

यह गोष्ठी गर्भ और विमर्श सन्धिसे रहित होती है, पाँच छः स्त्रियाँ रहती है । कामश्रृङ्गार (प्रहसनश्रृङ्गार)से युक्त यह एक अङ्कसे रचित होती है ॥ २७५ ॥

जैसे रैवतमदनिका आदि ।

सट्टक—जिसमें समस्त पाठ्य अंश प्राकृत भाषामें रहता है और प्रवेशक और विष्कम्भक नहीं रहते हैं । अद्भुत रस प्रचुर होता है ॥ २७६ ॥

अङ्का जवनिकाख्याः स्युः स्यादन्यन्नाटिकासमम् ।

यथा कर्पूरमञ्जरी ।

अथ नाट्यरासकम्—

नाट्यरासकमेकाङ्कं बहुताललयस्थिति ॥ २७७ ॥
उदात्तनायकं तद्वत्पीठमर्दोपनायकम् ।
हास्योऽङ्ग्यत्र सशृङ्गारो नारी वासकसज्जिका ॥ २७८ ॥
मुखनिर्वहणे सन्धी लास्याङ्गानि दशापि च ।
केचित्प्रतिमुखं सन्धिमिह नेच्छन्ति केवलम् ॥ २७९ ॥

अत्राऽङ्काः, जवनिकाऽऽख्याः = जवनिकानामकाः, स्युः, अन्यत् = उक्तार्दाधिकं, क्लृप्तवृत्तत्वादिकमिति भावः। नाटिकासमं=नाटिकासदृशं स्यात् । यथा-कर्पूरमञ्जरी ।

नाट्यरासकं लक्षयति—**नाट्यरासकमिति** । एकाऽङ्कम् = एकः अङ्कः यस्मिंस्तत् । बहुताललयस्थिति = बहूनां (प्रचुराणाम्) ताललयानां ("तालः कालक्रियामानम्" इति लक्षणलक्षितानां तालानां, "लयः साम्यम्" इत्येतल्लक्षणलक्षितानां लयानां च) स्थितिः (अवस्थानम्) यस्मिंस्तत् ॥ २७७ ॥

एवं च उदात्तनायकम् = उदात्तः (धीरोदात्तः) नायकः (नेता) यस्मिंस्तत् । तद्वत् पीठमर्दोपनायकं = पीठमर्दः ("दूराऽनुवर्तिनी० (१२० पृ०") त्यादिलक्षणलक्षितो नायकसहायः) उपनायको यस्मिंस्तत् । तादृशमुपरूपकं नाट्यरासकं स्यात् ।

अत्र = नाट्यरासके, सशृङ्गारः = शृङ्गारसहितः हास्यो रसः, अङ्गी = प्रधानम्, वासकसज्जिका="कुरुते मण्डनं यस्याः (१५७ पृ०)" इत्युक्तलक्षणलक्षिता, नारी = स्त्री, नायिका भवति ॥ २७८ ॥

मुखनिर्वहणे सन्धी, दशाऽपि च लास्याऽङ्गानि=उद्घात्यकादीनि स्युः । केचित्= कतिपय आचार्याः, इह = अस्मिन् नाट्यरासके, प्रतिमुखं सन्धि, केवलम् = एव, न इच्छन्ति = नो वाञ्छन्ति, अन्यान् मुख-गर्भ-विमर्शोपसंहृत्याख्यांश्चतुरः सन्धींस्तु इच्छन्तीति भावः ॥ २७९ ॥

जवनिका नामवाले अङ्क होते है और सब इसमें नाटिकाके समान रहते हैं । जैसे कर्पूरमञ्जरी ।

नाट्यरासक—एक अङ्कवाला और जिसमें अनेक ताल और लयकी स्थिति रहती है । धीरोदात्त नायक होता है वैसे ही पीठमर्द उपनायक होता है । इसमें शृङ्गारके साथ हास्य रस प्रधान होता है, वासकसज्जिका नायिका होती है ॥ २७८ ॥

इसमें मुख और निर्वहण सन्धियाँ होती है, लास्यके दशों अङ्ग रहते हैं । कुछ विद्वान् यहाँपर केवल प्रतिमुख सन्धिकी इच्छा नहीं करते हैं ॥ २७९ ॥

तत्र सन्धिद्वयवती यथा–नर्मवती । सन्धिचतुष्टयवती यथा–विलासवती ।

अथ प्रस्थानकम्—

प्रस्थाने नायको दासो हीनः स्यादुपनायकः ।
दासी च नायिका, वृत्तिः कैशिकी भारती तथा ॥ २८० ॥
सुरापानसमायोगादुद्दिष्टार्थस्य संहृतिः ।
अङ्कौ द्वौ लयतालादिर्विलासो बहुलस्तथा ॥ २८१ ॥

यथा—शृङ्गारतिलकम् ।

अथोल्लाप्यम्—

उदात्तनायकं दिव्यवृत्तमेकाङ्कभूषितम् ।
शिल्पकाङ्गैर्युतं हास्यशृङ्गारकरुणै रसैः ॥ २८२ ॥

उदाहरति—तत्रेति ।

प्रस्थानकं लक्षयति—**प्रस्थान इति** । प्रस्थाने, दासः = किङ्करः, नायकः, हीनः=दासादपि निकृष्टः, उपनायकः; नायिका दासी, वृत्तिः–कैशिकी भारती च ।२८०।

सुरापानसमायोगात् = मदिरापानसम्बन्धात्, उद्दिष्टार्थस्य=आरब्धविषयस्य, संहृतिः = उपसंहारः, कर्तव्य इति भावः । द्वौ अङ्कौ, लयतालादिः="लयः" साम्यम्, "तालः" कालक्रियामानम्, तदादिः, कर्तव्य इति शेषः । तथा बहुलः=प्रचुरः, विलासः= शृङ्गारचेष्टाविशेषः । भवेत् ॥ २८१ ॥

उल्लाप्यं लक्षयति—**उदात्तनायकमिति** । उदात्तनायकम् = उदात्तः (धीरोदात्तः) नायकः (नेता) यस्मिंस्तत् । दिव्यवृत्तं = दिव्य (देवविषयकम्) वृत्तं (चरित्रम्) यस्मिंस्तत् । एकाऽङ्कभूषितम् = एकाऽङ्केन भूषितम् (अलङ्कृतम्) । शिल्पकाऽङ्गैः = शिल्पकस्य (वक्ष्यमाणस्य उपरूपकविशेषस्य) अङ्गैः (आशंसाऽऽदिभिः), युतं = सहितं, तथा हास्यशृङ्गारकरुणै रसैः, युतम् ॥ २८२ ॥

दो सन्धियोंसे युक्त जैसे—नर्मवती । चार सन्धियोंसे युक्त जैसे –विलासवती ।

प्रस्थानक—प्रस्थानकमें नायक दास होता है और उपनायक हीन होता है । नायिका भी दासी होती है, कैशिकी और भारती दो वृत्तियां रहती है ॥ २८० ॥

सुरापानके संयोगसे उद्दिष्ट अर्थका उपसंहार होता है । इसमे दो अङ्क रहते हैं, लय और ताल आदि होते हैं और प्रचुर विलास रहता है ॥२८१॥ जैसे शृङ्गारतिलक ।

उल्लाप्य—उल्लाप्यमें नायक धीरोदात्त होता है, इसमें दिव्य चरित्र रहता है और वह एक अङ्कसे भूषित रहता है ।

शिल्पकके आशंसा आदि अङ्गोंसे और हास्य, शृङ्गार और करुण रससे युक्त होता है ॥ २८२ ॥

उल्लाप्यं बहुसंग्राममस्रगीतमनोहरम् ।
चतस्रो नायिकास्तत्र त्रयोऽङ्का इति केचन ॥ २८३ ॥

शिल्पकाङ्गानि वक्ष्यमाणानि । यथा—देवीमहादेवम् ।

अथ काव्यम्—

काव्यमारभटीहीनमेकाङ्कं हास्यसङ्कुलम् ।
खण्डमात्राद्विपदिकाभग्नतालैरलंकृतम् ॥ २८४ ॥
वर्णमात्राछड्डलिकायुतं शृङ्गारभाषितम् ।
नेता स्त्री चाप्युदात्ताऽत्र सन्धी आद्यौ तथान्तिमः॥ २८५ ॥

बहुसंग्रामं = बहवः (प्रचुराः) संग्रामाः (युद्धानि) यस्मिंस्तत् । अस्रगीतमनोहरम् = अस्रगीतेन ("उत्तरोत्तररूपं यत्प्रस्तुतार्थपरिष्कृतम् । अन्तर्जवनिकं गीतमस्रगीतं तदुच्यते" "इत्युक्तलक्षणलक्षितेन गानविशेषेण") मनोहरम् (रुचिरम्), तादृशमुपरूपकम् "उल्लाप्यं" बोध्यमिति शेषः । तत्र = तस्मिन्, उल्लाप्ये, चतस्रो नायिका भवन्ति । केचन = कतिपये विद्वांसस्तु त्रयोऽङ्का इति वदन्ति ॥ २८३ ॥

काव्यं लक्षयति—**काव्यमिति** । आरभटीहीनम् = आरभटया ("मायेन्द्रजालेत्या"दिलक्षणलक्षितया, (४८८ पृ०) वृत्त्या हीनम् (रहितम्) । काऽङ्कम् = एकोऽङ्को यस्मिंस्तत् । हास्यसङ्कुलं=हास्येन (हास्यरसेन), सङ्कुलम् (व्याप्तम्) । खण्डमात्रेत्यादिः० = खण्डमात्रा द्विपदिका भग्नतालानि = भरतोक्ता गीतविशेषाः, तैः; अलङ्कृतं = भूषितम् ॥ २८४ ॥

वर्णमात्रेति । वर्णमात्राछड्डलिकायुतं = वर्णमात्राछड्डलिके (छन्दोविशेषौ); ताभ्यां युतम् (सहितम्) । शृङ्गारभाषितं=शृङ्गारेण (शृङ्गाररसेन) भाषितं (भाषणम्) यस्मिंस्तत् । तादृशमुपरूपकं काव्यं भवेत् । अत्र नेता = नायकः, उदात्तः = धीरोदात्तः; स्त्री=योषित्, च उदात्ता धीरोदात्तनायिका । तथा च आद्यौ—प्रथमद्वितीयौ, मुखप्रतिमुखे इति भावः, सन्धी । तथा, अन्तिमः—चरमः, निर्वहणम् इति भावः, सन्धिर्भवेत् ॥२८५॥

उल्लाप्यमें अनेक युद्धोंका प्रसङ्ग रहता है । यह अस्रगीतसे मनोहर होता है । चार नायिकाएँ होती हैं और कुछ विद्वान् इसमें तीन अङ्क होते हैं ऐसा मानते हैं॥२८३॥

शिल्पकके अङ्ग पीछे कहे जायंगे । शिल्पकका उदाहरण—देवीमहादेव ।

काव्य—काव्यमें आरभटी वृत्ति नहीं होती है, एक अङ्क होता है । यह हास्य रससे व्याप्त होता है । खण्डमात्रा, द्विपदिका और भग्नताल इन गीत विशेषोंसे अलङ्कृत होता है ॥ २८५ ॥

इसमें वर्णमात्रा और छड्डलिका ये छन्द रहते हैं, शृङ्गार रससे पूर्ण भाषण होता है, नायक धीरोदात्त और नायिका भी धीरोदात्ता होती है; मुख, प्रतिमुख और अन्तिम निर्वहण ये सन्धियाँ रहती हैं ॥ २८५ ॥

यथा—यादवोदयम् ।

अथ प्रेङ्खणम्—

गर्भविमर्शरहितं प्रेङ्खणं हीननायकम् ।
असूत्रधारमेकाङ्कमविष्कम्भप्रवेशकम् ॥ २८६ ॥
नियुद्धसम्फेटयुतं सर्ववृत्तिसमाश्रितम् ।
नेपथ्ये गीयते नान्दी तथा तत्र प्ररोचना ॥ २८७ ॥

यथा—वालिवधम् ।

अथ रासकम्—

रासकं पञ्चपात्रं स्यान्मुखनिर्वहणान्वितम् ।

यथा—यादवोदयम् ।

प्रेङ्खणं लक्षयति—गर्भविमर्शेति । गर्भविमर्शरहितं = गर्भविमर्शाभ्यां (तृतीयचतुर्थसन्धिभ्याम्) रहितम् (शून्यम्), मुखप्रतिमुखनिर्वहणसंधियुतमिति भावः । हीननायकम् = हीनः (अधमः) नायकः (नेता) यस्मिंस्तत् । असूत्रधारं=सूत्रधार-रहितम् । एकाऽङ्कम् = एक एव अङ्कः यस्मिंस्तत् । अविष्कम्भप्रवेशकं = विष्कम्भक-प्रवेशकाख्याभ्यामर्थोपक्षेपकाभ्यां रहितम् ॥ २८६ ॥

नियुद्धेति । नियुद्धसम्फेटयुतं = नियुद्धेन (बाहुयुद्धेन), सम्फेटेन (रोष-भाषणेन) च युतम् (सहितम्) । सर्ववृत्तिसमाश्रितं = सर्वाभिः (सकलाभिः) वृत्तिभिः (कैशिक्यादिभिश्चतुःसंख्यकाभिः) समाश्रितम् (संयुक्तम्) तादृशमुप-रूपकं प्रेङ्खणं स्यात् । नान्दी = "आशीर्वचनसंयुक्ता" (३९४ पृ०) इत्यादि लक्षण-लक्षिता स्तुतिविशेषरूपा । प्ररोचना = "अत्रोन्मुखीकारः" (४०१ पृ०) इत्युक्त-लक्षणलक्षिता उन्मुखीकाररूपा । नेपथ्ये = वेषपरिवर्तनस्थाने, गीयते = गानविषयी-क्रियते, केनचिन्नटेनेति शेषः ॥ २८७ ॥

रासकं लक्षयति—रासकमिति । पञ्चपात्रं = पञ्च पात्राणि (अभिनेतृजनाः) यस्मिंस्तत् । मुखनिर्वहणाऽन्वितं=मुखनिर्वहणाभ्याम् (प्रथमपञ्चमसन्धिभ्याम्) अन्वितम्

जैसे यादवोदय । प्रेङ्खण—प्रेङ्खणमें गर्भ और विमर्श सन्धि नहीं होती हैं, हीन नायक होता है । इसमें सूत्रधार नहीं रहता है, एक अङ्क होता है तथा विष्कम्भ और प्रवेशक नहीं होते हैं ॥ २८६ ॥

इसमें नियुद्ध (कुश्ती) और क्रोधपूर्ण भाषण होता है; सब कैशिकी आदि वृत्तियां रहती हैं, नान्दी और प्ररोचना नेपथ्यमें कोई नट गाता है ॥ २८७ ॥

जैसे—वालिवध ।

रासक—रासकमें पांच पात्र रहते हैं, मुख और निर्वहण सन्धियां रहती हैं।

भाषाविभाषाभूयिष्ठं भारतीकैशिकीयुतम् ॥ २८८ ॥
असूत्रधारमेकाङ्कं सवीथ्यङ्गं कलान्वितम् ।
श्लिष्टनान्दीयुतं ख्यातनायिकं मूर्खनायकम् ॥ २८९ ॥
उदात्तभावविन्याससंश्रितं चोत्तरोत्तरम् ।
इह प्रतिमुखं सन्धिमपि केचित्प्रचक्षते ॥ २९० ॥

यथा—मेनकाहितम् ।

(युक्तम्) । भाषाविभाषाभूयिष्ठं = भाषाविभाषाभ्यां (संस्कृतप्राकृतभाषाभ्याम्) भूयिष्ठम् (प्रचुरम्) । भाषाविभागो यथा भाषार्णवे—

"भाषा मध्यमपात्राणां नाटकादौ विशेषतः ।
महाराष्ट्री शौरसेनीत्युक्ता भाषा द्विधा बुधैः ॥
हीनैर्भाष्या विभाषा स्यात्सा च सप्तविधा स्मृता ।
प्राच्याऽऽवन्ती मागधी च शाकारी च तथाऽपरा ।
चाण्डाली शाबरी चैव तथाऽऽभीरीति भेदतः ॥"

भारतीकैशिकीयुतं=भारतीकैशिकीभ्यां (वृत्तिभ्याम्), युतम् ॥ २८८ ॥

असूत्रधार=सूत्रधाररहितम्, एकाङ्कम् – एकोऽङ्को यस्मिंस्तत् । सवीथ्यङ्गं=वीथ्यङ्गैः (उद्घात्यकादिभिः) सहितम् । कलाऽन्वितं = कलाभिः (नृत्यगीतादिभिः) अन्वितम् (युक्तम्) । श्लिष्टनान्दीयुतं=श्लिष्टा (श्लेषयुक्ता) या नान्दी (स्तुतिविशेषरूपा), तया युतम् । ख्यातनायिकं=ख्याता (प्रसिद्धा) नायिका यस्मिंस्तत् । मूर्खनायकं=मूर्खः (बालिशः) नायको यस्मिंस्तत् ॥ २८९ ॥

उत्तरोत्तरम्=उत्तरस्मात् उत्तरम्, उदात्तेत्यादिः० = उदात्तभावस्य (नायिकामहत्त्वस्य) यो विन्यासः (संस्थितिः), तत्संश्रितम् (तत्समन्वितम्) । तादृशमुपरूपकं रासकं स्यात् । इह=अस्मिन् रासके, केचित् = आचार्याः, प्रतिमुखं सन्धिमपि, प्रचक्षते=वदन्ति ॥ २९० ॥ यथा— मेनकाहितम् ।

यह संस्कृत और प्राकृत भाषासे परिपूर्ण होता है । इसमें भारती और कैशिकी वृत्ति रहती है ॥ २८८ ॥

इसमें सूत्रधार नहीं होता है, एक अङ्क होता है, वीथीके उद्घात्यक आदि अङ्ग रहते हैं । नृत्य गीत आदि कलाएँ होती हैं । इसमें श्लेषयुक्त नान्दी होती है । नायिका प्रसिद्ध होती है, नायक मूर्ख होता है ॥ २८९ ॥

उत्तरोत्तर नायिकाके महत्त्वकी स्थिति इसमें दरसाई जाती है । इसमें कुछ विद्वान् प्रतिमुख सन्धिको भी प्रतिपादित करते हैं ॥ २९० ॥ जैसे—मेनकाहित ।

अथ संलापकम् ।

संलापकेऽङ्काश्चत्वारस्त्रयो वा नायकः पुनः ।
पाषण्डः स्याद्रसस्तत्र शृङ्गारकरुणेतरः ॥ २९१ ॥
भवेयुः पुरसंरोधच्छलसंग्रामविद्रवाः ।
न तत्र वृत्तिर्भवति भारती न च कैशिकी ॥ २९२ ॥

यथा—मायाकापालिकम् ।

अथ—श्रीगदितम्—

प्रख्यातवृत्तमेकाङ्कं प्रख्यातोदात्तनायकम् ।
प्रसिद्धनायिकं गर्भविमर्शाभ्यां विवर्जितम् ॥ २९३ ॥

संलापकं लक्षयति—**संलापक इति** । संलापके (उपरूपकविशेषे) चत्वारस्त्रयो वा अङ्काः स्युः । नायकः पुनः पाषण्डः=आचारत्यागी, स्यात् । तत्र = तस्मिन्, संलापके, शृङ्गारकरुणेतरः=शृङ्गारकरुणाभ्याम् इतरः (अन्यः) रसः स्यात् ॥२९१॥

पुरसंरोधेत्यादिः० = पुरसंरोधः (नगराऽवरोधः), छलम् ("प्रियाभैरप्रियैर्वाक्यैर्विलोभ्यच्छलनाच्छलम्" इत्युक्तलक्षणलक्षितः वीथ्यङ्गविशेषः) । संग्रामः (युद्धम्) विद्रवः ("शङ्काभयत्रासकृतः संभ्रमो विद्रवो मतः" इत्युक्तलक्षणलक्षितः गर्भसन्धिविशेषः) एते भवेयुः । तत्र—संलापके, भारती वृत्तिः न भवति कैशिकी वृत्तिश्च नो भवति ॥ २९२ ॥

यथा मायाकापालिकम् ।

श्रीगदितं लक्षयति—**प्रख्यातवृत्तमिति** । प्रख्यातवृत्तं=प्रख्यातं (प्रसिद्धम्) वृत्तं (चरितम्) यस्मिंस्तत् । एकाऽङ्कं, प्रख्यातोदात्तनायकं = प्रख्यातः (प्रसिद्धः) उदात्तः (धीरोदात्तः) नायकः (नेता) यस्मिंस्तत् । प्रसिद्धनायिकं = प्रसिद्धा (प्रख्याता) नायिका यस्मिंस्तत् । गर्भविमर्शाभ्यां = तृतीयचतुर्थाभ्यां सन्धिभ्यां, विवर्जितम् (रहितम्) ॥ २९३ ॥

संलापक—संलापकमें चार वा तीन अङ्क होते हैं । नायक पाखण्डी (अधर्मी) होता है, और शृङ्गार और करुणसे भिन्न रस रहते हैं ॥ २९१ ॥

इसमें शहरको घेरना, छल (वीथीका अङ्ग), युद्ध, विद्रव (गर्भसन्धिविशेष) ये सब होते हैं, भारती और कैशिकी वृत्ति नहीं रहती है ॥ २९२ ॥

जैसे—मायाकापालिका ।

श्रीगदित—इसमें प्रख्यात चरित्र होता है । एक अङ्क रहता है । नायक प्रख्यात और धीरोदात्त होता है और नायिका भी प्रसिद्ध होती हैं, इसमें गर्भसन्धि और विमर्श सन्धि नहीं रहती है ॥ २९३ ॥

भारतीवृत्तिबहुलं श्रीतिशब्देन संकुलम् ।
मतं श्रीगदितं नाम विद्वद्भिरुपरूपकम् ॥ २९४ ॥

यथा—क्रीडारसातलम् ।

श्रीरासीना श्रीगदिते गायेत्किंचित्पठेदपि ।
एकाङ्को भारतीप्राय इति केचित्प्रचक्षते ॥ २९५ ॥

ऊह्यमुदाहरणम् ।

अथ शिल्पकम्—

चत्वारः शिल्पकेऽङ्काः स्युश्चतस्रो वृत्तयस्तथा ।
अशान्तहास्याश्च रसा नायको ब्राह्मणो मतः ॥ २९६ ॥

भारतीवृत्तिबहुलं – भारतीवृत्त्या बहुलम् (प्रचुरम्) । श्रीतिशब्देन—श्रीपदेन, क्वचित् "श्रीतिपदेने"ति पाठान्तरम् । सङ्कुलम् (व्याप्तम्) । एतादृशमुपरूपकं विद्वद्भिः = विपश्चिद्भिः, श्रीगदितं नाम, मतम् = अभिमतम् ॥ २९४ ॥ यथा—क्रीडारसातलम् ।

श्रीगदिते मतान्तरेण लक्षणं प्रदर्शयति—श्रीरिति । श्रीगदिते – उपरूपकविशेषे; आसीना – उपविष्टा, श्रीः – लक्ष्मीवेषधारिणी नटी, किञ्चिद्गायेत्, किञ्चित्पठेदपि । तथा श्रीगदिते, भारतीप्रायः = भारतीवृत्तिप्रचुरः, एकाऽङ्को भवति इति, केचित् – विद्वांसः, प्रचक्षते = प्रवदन्ति ॥ २९५ ॥

शिल्पकं लक्षयति—चत्वार इति । शिल्पके = उपरूपकविशेषे, चत्वारोऽङ्काः; तथा चतस्रो वृत्तयः = कैशिक्याद्याः, अशान्तहास्याः = शान्तहास्यरहिताः; रसाः = शृङ्गारादयः, स्युः · भवेयुः । ब्राह्मणो नायकः मतः ॥ २९६ ॥

इसमें भारती वृत्ति प्रचुर होती है इसमें 'श्री' शब्द प्रचुर रूपसे रहता है। "श्री" शब्दसे व्याप्त इस उपरूपकको विद्वानोंने श्रीगदित माना है ॥ २९४ ॥

जैसे—क्रीडारसातल ।

मतान्तर—श्रीगदितमें बैठी हुई, श्रीवेष धारण करनेवाली नटी कुछ गाती है और कुछ पढ़ती भी है। इसमें भारती वृत्ति प्रचुर होती है और एक अङ्क होता है। ऐसा कुछ विद्वान् कहते हैं ॥ २९५ ॥

उदाहरण ढूँढना चाहिए ।

शिल्पक–शिल्पकमें चार अङ्क होते हैं और भारती आदि चार वृत्तियां होती हैं, शान्त और हास्यको छोड़कर शृङ्गार आदि अन्य रस होते हैं, ब्राह्मण नायक होता है ॥ २९६ ॥

वर्णनात्र श्मशानादेर्हीनः स्यादुपनायकः ।
सप्तविंशतिरङ्गानि भवन्त्येतस्य तानि तु ॥ २९७ ॥
आशंसातर्कसंदेहतापोद्वेगप्रसक्तयः ।
प्रयत्नग्रथनोत्कण्ठावहित्थाप्रतिपत्तयः ॥ २९८ ॥
विलासालस्यबाष्पाणि प्रहर्षाश्वासमूढताः ।
साधनानुगमोच्छ्वासविस्मयप्राप्तयस्तथा ॥ २९९ ॥
लाभविस्मृतिसंफेटा वैशारद्यं प्रबोधनम् ।
चमत्कृतिश्चेत्यमीषां स्पष्टत्वाल्लक्ष्म नोच्यते ॥ ३०० ॥

अत्र – अस्मिन् शिल्पके, श्मशानादेः–पितृवनादेः, अत्रादिपदेन शवादेर्ग्रहणम् । वर्णना = कीर्तनम् । हीनः = अधमः, उपनायकः स्यात् । एतस्य = शिल्पकस्य, सप्तविंशतिरङ्गानि भवन्ति । तानि तु ॥ २९७ ॥—

१ आशंसा, २ तर्कः, ३ सन्देहः, ४ तापः, ५ उद्वेगः, ६ प्रसक्तिः = आसक्तिः । ७ प्रयत्नः, ८ ग्रथनम्, "उपन्यासस्तु कार्याणां ग्रथनम्" इत्येतल्लक्षणलक्षितः(४७१ पृ०)" निर्वहणाऽङ्गविशेषः ९ उत्कण्ठा, १० अवहित्था, ११ प्रतिपत्तिः = ज्ञानम् ॥ २९८ ॥

१२ विलासः, १३ आलस्यं, १४ बाष्पं, १५ प्रहर्षः, १६ आश्वासः, १७ मूढता, १८ साधनानुगमः = अभीष्टसाधनज्ञानम्, १९ उच्छ्वासः, २० विस्मयः, २१ प्राप्तिः= सुखासादनम् ॥ २९९ ॥

२२ लाभः = अन्यपदार्थप्राप्तिः, २३ विस्मृतिः, २४ संफेटः = रोषभाषणम् (४५९ पृ०) । २५ वैशारद्यं = विद्वत्त्वं, "विद्वत्सुप्रगल्भो विशारदो" इत्यमरः । २६ प्रबोधनम्, २७ चमत्कृतिश्च, अमीषाम् = एतेषामङ्गानां, स्पष्टत्वात् = स्फुटत्वात्, लक्ष्म – लक्षणं, न उच्यते ॥ ३०० ॥

इसमें श्मशान (मरघट) आदिका वर्णन रहता है, निकृष्ट पुरुष उपनायक होता है; इसके सत्ताईस अङ्ग होते हैं, वे ये हैं—॥ २९७ ॥

१ आशंसा, २ तर्क, ३ सन्देह, ४ ताप, ५ उद्वेग, ६ प्रसक्ति (आसक्ति), ७ प्रयत्न, ८ ग्रथन, ९ उत्कण्ठा, १० अवहित्था (आकार छिपाना), ११ प्रतिपत्ति (ज्ञान), ॥ २९८ ॥–

१२ विलास, १३ आलस्य, १४ बाष्प, १५ प्रहर्ष, १६ आश्वास, १७ मूढता, १८ साधनाऽनुगम (अभीष्ट साधनका ज्ञान); १९ उच्छ्वास, २० विस्मय (आश्चर्य); २१ प्राप्ति (सुखप्राप्ति), २२ लाभ (अन्य पदार्थकी प्राप्ति) ॥ २९९ ॥

२३ विस्मृति, २४ संफेट (क्रोधसे भाषण), २५ वैशारद्य (विद्वत्ता), २६ प्रबोधन; २७, चमत्कृति । स्पष्ट होनेसे इनका लक्षण नहीं कहते हैं ॥ ३०० ॥

संफेटग्रन्थनयोः पूर्वमुक्तत्वादेव लक्ष्म सिद्धम् ।
यथा—कनकावतीमाधवः ।
अथ विलासिका—

शृङ्गारबहुलैकाङ्का दशलास्याङ्गसंयुता ।
विदूषकविटाभ्यां च पीठमर्देन भूषिता ॥ ३०१ ॥
हीना गर्भविमर्शाभ्यां संधिभ्यां हीननायका ।
स्वल्पवृत्ता सुनेपथ्या विख्याता सा विलासिका ॥ ३०२ ॥

केचित्तु तत्र विलासिकास्थाने विनायिकेति पठन्ति । तस्यास्तु 'दुर्मल्लिकायामन्तर्भावः'' इत्यन्ये ।
अथ दुर्मल्लिका—

दुर्मल्ली चतुरङ्का स्यात् कैशिकीभारतीयुता ।

यथा कनकावतीमाधवः ।

विलासिकां लक्षयति—**शृङ्गारबहुलेति** । शृङ्गारबहुला = शृङ्गाररस-प्रचुरा । एकाऽङ्का, दशलास्याङ्गसंयुता = दश लास्याङ्गानि (उद्घात्यकादीनि) तैः संयुता । भूषिता = अलङ्कृता ॥ ३०१ ॥

गर्भविमर्शाभ्यां सन्धिभ्यां हीना = मुखप्रतिमुखनिर्वहणसन्धियुक्तेति भावः । स्वल्पवृत्ता = स्वल्पं (स्तोकम्) वृत्तं (चरित्रं पद्यं वा) यस्यां सा "वृत्तं पद्ये चरित्रे च" त्यमरः, सुनेपथ्या = शोभनं नेपथ्यं (वेषः) यस्यां सा । सा "विलासिके"ति विख्याता ॥ ३०२ ॥

मतान्तरं प्रदर्शयति—**केचिदिति** ।

दुर्मल्लिकां लक्षयति—**दुर्मल्लीति** । चतुरङ्का = चत्वारोऽङ्का यस्यां सा ।

संफेट और ग्रन्थनके पहले ही कहे जानेसे लक्षण सिद्ध है । जैसे कनकावतीमाधव ।

विलासिका—शृङ्गार रससे प्रचुर, एक अङ्कवाली, लास्यके उद्घात्यक आदि दश अङ्गोंसे युक्त, विदूषक, विट और पीठमर्दसे अलङ्कृत ॥ ३०१ ॥

गर्भ और विमर्श सन्धिसे रहित जिसमें नायक निकृष्ट हैं थोड़े चरित्र वा पद्यसे युक्त, सुन्दर वेषसे युक्त, वैसे उपरूपकको 'विलासिका'' कहते हैं ॥ ३०२ ॥

कुछ विद्वान् "विलासिका" के स्थानमें "विनायिका" पढ़ते हैं । और विद्वान्-लोग उसका "दुर्मल्लिका" में अन्तर्भाव है ऐसा कहते हैं ।

दुर्मल्लिका—चार अङ्कोंसे युक्त, कैशिकी और भारतीवृत्ति सहित;

अगर्भा नागरनरा न्यूननायकभूषिता ॥ ३०३ ॥
त्रिनालिः प्रथमोऽङ्कोऽस्यां विटक्रीडामयो भवेत् ।
पञ्चनालिर्द्वितीयोऽङ्को विदूषकविलासवान् ॥ ३०४ ॥
षण्णालिकस्तृतीयस्तु पीठमर्दविलासवान् ।
चतुर्थो दशनालिः स्यादङ्कः क्रीडितनागरः ॥ ३०५ ॥

यथा—बिन्दुमती ।

कैशिकीभारतीयुता – सात्वत्यारभटीरहितेति भावः । अगर्भा – गर्भसन्धिरहिता, मुखप्रतिमुखविमर्शनिर्वहणसन्धिसहितेति भावः । नागरनराः—नागराः (नगरभवा विदग्धा इति भावः) नराः (जनाः) यस्यां सा । "नागरं मुस्तके शुराठ्यां विदग्धे नगरोद्भवे ।" इति मेदिनी । न्यूननायकभूषिता – न्यूनः (जात्याऽपकृष्टः) यो नायकस्तेन भूषिता । केचित् "नागरनरा" इत्यत्र अकारं प्रश्लिष्य "अन्यूननायकभूषिता" एतादृशं पाठं कुर्वन्ति तत्र अन्यूनः (अनिकृष्टः, उत्तम इति भावः) यो नायकस्तेन भूषिता इत्थं व्युत्पत्तिं प्रदर्शयन्ति । उत्तरत्र "भूषिते"ति पदस्थितिदर्शनात् व्याख्यानमिदं चारुतरं प्रतीयते ॥ ३०३ ॥

अस्यां – दुर्मल्लिकायां, प्रथमोऽङ्कः त्रिनालिः – तिस्रः नाडयः यस्मिन् सः, "नालिका घटिकाद्वयम्" इति प्रागेवोक्तमतो घटिकाषट्कनिष्पाद्य इत्यर्थः । स च विटक्रीडामयः = विटकेलिप्रचुरः, भवेत् । द्वितीयोऽङ्कः, पञ्चनालिः = पञ्च नालयो यस्मिन, सः, घटिकादशकनिष्पाद्य इति भावः । स च विदूषकविलासवान् = विदूषकस्य, विलासवान् (व्यवहारसम्पन्नः) इत्यर्थः ॥ ३०४ ॥

तृतीयस्तु अङ्कः, षण्णालिकः – षट् नालयो यस्मिन्सः द्वादशघटिकानिष्पाद्य इति भावः । स च पीठमर्दविलासवान् भवेत् । चतुर्थोऽङ्कः, दशनालिः – दश नालयो यस्मिन् सः, विंशतिघटिकानिष्पाद्य इति भावः । स च क्रीडितनागरः = क्रीडिताः (क्रीडायुक्ताः) नागराः (नगरजनाः) यस्मिन् सः तादृशो भवेत् । क्वचिन्नागरस्थाने "नायक" पदं दृश्यते ॥ ३०४ ॥ यथा—बिन्दुमती ।

गर्भसन्धिसे रहित, नगरके विदग्ध, (रसिक) जनोंसे युक्त, निकृष्ट नायकसे युक्त उपरूपक "दुर्मल्लिका" है ॥ ३०३ ॥

इसमें तीन मुहूर्तोंवाला प्रथम अङ्क प्रचुर विटक्रीडासे युक्त होता है । पाँच मुहूर्तों वाले द्वितीय अङ्कमें विदूषकका प्रचुर विलास रहता है ॥ ३०४ ॥

छः मुहूर्तों वाले तृतीय अङ्कमें पीठमर्दका प्रचुर विलास रहता है । दस मुहूर्तों वाले चतुर्थ अङ्कमें नगरके रसिक जनोंके क्रीडनका वर्णन रहता है ॥ ३०५ ॥

जैसे—बिन्दुमती ।

अथ प्रकरणिका—

नाटिकैव प्रकरणी सार्थवाहादिनायका ।
समानवंशजा नेतुर्भवेद्यत्र च नायिका ॥ ३०६ ॥

मृग्यमुदाहरणम् ।

अथ हल्लीशः—

हल्लीश एक एवाङ्कः, सप्ताष्टौ दश वा स्त्रियः ।
वागुदात्तैकपुरुषः कैशिकीवृत्तिरुज्ज्वला ।
मुखान्तिमौ तथा सन्धी बहुताललयस्थितिः ॥ ३०७ ॥

यथा—केलिरैवतकम् ।

अथ भाणिका—

भाणिका श्लक्ष्णनेपथ्या मुखनिर्वहणान्विता ।

प्रकरणिकां लक्षयति—**नाटिकवेति** । सार्थवाहादिनायका — सार्थवाहः (वणिक्) आदिः नायकः यस्यां सा । आदिशब्देन प्रवापिप्रभृतयो गृह्यन्ते । "पर्वदेहकः सार्थवाहो नैगमो वाणिजो वणिक् ।" इत्यमरः । तादृशी नाटिका एव प्रकरणी भवेत् । यत्र=प्रकरण्यां, नायिका, नेतुः=नायकस्य, समानवशजा=सदृशकुलोत्पन्ना भवेत् ॥ ३०६ ॥

हल्लीशं लक्षयति—**हल्लीश इति** । हल्लीशे = तदाख्ये उपरूपके, एक एव अङ्कः, सप्त अष्टौ अथवा दश स्त्रियो भवेयुः । उदात्ता=उत्कृष्टा, संस्कृतं शौरसेनी वा, वाक्=भाषा, भवेत् । एकपुरुषः = एक एव पुरुषः (नटः) यस्मिन् सः । उज्ज्वला — सुव्यक्ता, कैशिकी वृत्तिः । तथा मुखाऽन्तिमौ = मुखनिर्वहणाख्यौ, सन्धी, भवेतामिति शेषः । बहुताललयस्थितिः = बहूनाम् (अनेकप्रकाराणाम्) ताललयानां, स्थितिः = अवस्थानं, भवतीति शेषः ॥ ३०७ ॥ यथा—केलिरैवतकम् ।

भाणिकां लक्षयति—**भाणिकेति** । श्लक्ष्णनेपथ्या=श्लक्ष्णं (सूक्ष्मम्) नेपथ्यं (वेषः) यस्यां सा । मुखनिर्वहणाऽन्विता=मुखनिर्वहणसन्धिभ्याम् अन्विता (युक्ता) ।

प्रकरणिका—जिसमें बनिया आदि नायक होते हैं वैसी नाटिका ही प्रकरणिका होती है । उसमें नायकके समान कुलमें उत्पन्न नायिका होती है ॥ ३०६ ॥

उदाहरण ढूंढ़ना चाहिए ।

हल्लीश—हल्लीशमें एक ही अङ्क होता है । उसमें सात, आठ वा दश स्त्रियाँ होती हैं । उत्कृष्ट संस्कृत वा शौरसेनी भाषा होती है, उसमें एक ही नट होता है, उज्ज्वल कैशिकी वृत्ति रहती है । मुखसन्धि और निर्वहण सन्धि रहती है और बहुत से तालों और लयोंकी स्थिति होती है ॥ ३०७ ॥ जैसे केलिरैवतक ।

भाणिका—भाणिका सूक्ष्म नेपथ्यवाली और मुखसन्धि और निर्वहण सन्धिसे

कैशिकीभारतीवृत्तियुक्तैकाङ्कविनिर्मिता ॥ ३०८ ॥
उदात्तनायिका मन्दपुरुषात्राङ्गसप्तकम् ।
उपन्यासोऽथ विन्यासो विबोधः साध्वसं तथा ॥ ३०९ ॥
समर्पणं निवृत्तिश्च संहार इति सप्तमः ।
उपन्यासः प्रसङ्गेन भवेत्कार्यस्य कीर्तनम् ॥ ३१० ॥
निर्वेदवाक्यव्युत्पत्तिर्विन्यास इति स स्मृतः ।
भ्रान्तिनाशो विबोधः स्यान्मिथ्याख्यानं तु साध्वसम् ॥ ३११ ॥
सोपालम्भवचः कोपपीडयेह समर्पणम् ।

कैशिकीभारतीवृत्तियुक्ता=कैशिकीभारतीवृत्तिभ्यां युक्ता । एकाङ्कविनिर्मिता=एकाङ्केन विनिर्मिता (विरचिता) ॥ ३०७ ॥—

उदात्तनायिका=उदात्ता (उत्तमा) नायिका यस्यां सा । मन्दपुरुषा = मन्दः (हीनः) पुरुषः (नायकः) यस्यां सा, तादृशी भाणिका भवति । अत्र = भाणिकायाम्, अङ्गसप्तकं भवेत् । तान्यङ्गानि यथा—१ उपन्यासः, २ विन्यासः, ३ विबोधः, ४ साध्वसम् ॥ ३०९ ॥

५ समर्पणं, ६ निवृत्तिः, ७ संहारः, अयं सप्तमः ।

यथाक्रमं तान्यङ्गानि लक्षयति—**उपन्यास इति** । प्रसङ्गेन = उचितावसरेण, कार्यस्य कीर्तनम् "उपन्यासः" भवेत् ॥ ३१० ॥

निर्वेदवाक्यव्युत्पत्तिः = निर्वेदवाक्यस्य ("तत्त्वज्ञानापदीर्ष्यादेः" (१९६ पृ०) इत्यादिलक्षणलक्षितनिर्वेदवचनस्य) व्युत्पत्तिः (प्रपञ्चनम्), स विन्यासो नाम स्मृतः । भ्रान्तिनाशः=भ्रमनिवृत्तिः, "विबोधः" स्यात् । मिथ्याख्यानं=अनृतकथनं तु "साध्वसं" नामाऽङ्गं भवेत् ॥ ३११ ॥

इह=अस्यां भाणिकायां, कोपपीडया=अमर्षबाधया, सोपालम्भवचः = आक्षेप-

युक्त होती है । वह कैशिकी और भारती वृत्तिसे युक्त होती है और एक अङ्कसे निर्मित होती है ॥ ३०८ ॥

उसमें उत्तम नायिका होती है और हीन पुरुष नायक होता है । इसमें सात अङ्ग रहते हैं । जैसे—उपन्यास, विन्यास, विबोध तथा साध्वस ॥ ३०९ ॥

समर्पण, निवृत्ति और सातवाँ संहार (अङ्ग) होता है ।

प्रसङ्गसे कार्यके कीर्तनको "उपन्यास" कहते है ॥ ३१० ॥

निर्वेद वचनके प्रपञ्च करनेको "विन्यास" कहते हैं, भ्रान्ति हटानेको "विबोध" और झूठ कहनेको 'साध्वस' कहते हैं ॥ ३११ ॥

इस (भाणिका)मे क्रोधकी बाधासे उलहनावाले वचनको "समर्पण" कहते हैं ।

निदर्शनस्योपन्यासो निवृत्तिरिति कथ्यते ॥ ३१२ ॥
संहार इति च प्राहुर्यत्कार्यस्य समापनम् ।

स्पष्टान्युदाहरणानि । यथा—कामदत्ता ।

एतेषां सर्वेषां नाटकप्रकृतित्वेऽपि यथौचित्यं यथालाभं नाटकोक्तविशेषपरिग्रहः । यत्र च नाटकोक्तस्यापि पुनरुपादानं तत्र तत्सद्भावस्य नियमः ।

अथ श्रव्यकाव्यानि—

श्रव्यं श्रोतव्यमात्रं तत्पद्यगद्यमयं द्विधा ॥ ३१३ ॥

तत्र पद्यमयान्याह—

युक्तवचनं "समर्पणं" नामाऽङ्गम् । निदर्शनस्य = दृष्टान्तस्य, उपन्यासः = उपस्थापनं, "निवृत्तिः" इति कथ्यते ॥ ३१२ ॥

यत् कार्यस्य = आरब्धकृत्यस्य, समापनं = समाप्तिकरणं तत् "संहार" इति च प्राहुः । यथा—कामदत्ता ॥ ३१३ ॥

एतेषामिति । एतेषां सर्वेषां = प्रकरणादीनां रूपकविशेषाणां, नाटिकादीनाम् उपरूपकविशेषाणां समस्तानां, नाटकप्रकृतित्वेऽपि = "विना विशेषं सर्वेषां लक्ष्म नाटकवन्मतम् (३८८ पृ०)" इत्युक्त्या नाटकमूलत्वेऽपीति भावः, यथौचित्यम् = औचित्यमनतिक्रम्य, यथालाभ = लाभमनतिक्रम्य, नाटकोक्तविशेषपरिग्रहः = नाटकप्रतिपादितविशेषस्वीकारः । पुनरुपादानं = पुनर्ग्रहणं, तत्र तत्सद्भावस्य = तत्सत्तायाः, नियमः = नियमनं, यथा—वीथ्यां वीथ्यङ्गानाम् ।

सलक्षणं श्रव्यकाव्यभेदौ निर्दिशति—**श्रव्यमिति** । श्रोतव्यमात्रं = श्रवणीयमात्र, श्रव्यं = श्रव्यकाव्यम् । तत् = श्रव्यकाव्यं, पद्यगद्यमय = पद्यमयं गद्यमयं च । द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां, बोद्धव्यमिति शेषः ।

और दृष्टान्त स्थापित करनेका "निवृत्ति" कहते हैं ॥ ३१२ ॥

कार्य समाप्त करनेको "संहार" कहते हैं ॥

उदाहरण स्पष्ट हैं । जैसे—कामदत्ता ।

प्रकरण आदि और नाटिका आदि इन सभोंका नाटक प्रकृति होनेसे औचित्य और लाभके अनुसार नाटकमे कही गई विशेष वस्तुका परिग्रह होता है । जहाँ जहाँपर नाटकमें कहे गये विषयका भी फिर ग्रहण होता है वहां उसको ग्रहण करनेका नियम होता है ।

श्रव्य काव्य—जो केवल श्रोतव्य (सुननेके योग्य, अभिनेय नहीं) होता है उसे "श्रव्यकाव्य" कहते हैं, वह दो प्रकारका होता है—गद्यमय और पद्यमय ॥३१३॥

छन्दोबद्धपदं पद्यं तेन मुक्तेन मुक्तकम् ।
द्वाभ्यां तु युग्मकं सन्दानितकं त्रिभिरिष्यते ॥ ३१४ ॥
कलापकं चतुर्भिश्च पञ्चभिः कुलकं मतम् ।

तत्र मुक्तकं यथा मम—

'सान्द्रानन्दमनन्तमव्ययमजं यद्योगिनोऽपि क्षणं
साक्षात्कर्तुमुपासते प्रतिमुहुर्ध्यानैकतानाः परम् ।

सलक्षणं पद्यभेदान्निर्दिशति—**छन्दोबद्धपदमिति** । छन्दोबद्धानि (गायत्र्यादि-वृत्तबद्धानि) पदानि (शब्दाः) यस्मिंस्तत्, तादृशं पद्यम् । मुक्तेन = पद्यान्तराऽपेक्षारहितेन, एकेन, तेन = पद्येन, "मुक्तकम्" । ज्ञेयमिति शेषः । "मुक्तेन" इत्यस्य स्थाने "एकेने"ति पाठान्तरम् । तत्र एकेन = पद्यान्तरनिरपेक्षेण एकमात्रेण, तेन = पद्येन, इत्यर्थः । द्वाभ्यां = द्विसंख्यकाभ्यां, मिथः साऽपेक्षाभ्यामिति शेषः । पद्याभ्यां तु "युग्मकं" ज्ञेयम् । त्रिभिः=त्रिसंख्यकैः, मिथः सापेक्षैरितिशेषः, पद्यैः, "सन्दानितकम्" इष्यते = अभिलष्यते । सन्दानितकमेव केचिद्विशेषकं, केचिदाचार्यास्तिलकमपि कथयन्ति ॥ ३१४ ॥

चतुर्भिः = चतुः संख्यकैः, मिथः सापेक्षैरितिशेषः; पद्यैः "कलापकं" विज्ञेयम् । पञ्चभिः=पञ्चसंख्यकैः, मिथः सापेक्षैरिति शेषः, "पञ्च" पदं पञ्चप्रभृतिसंख्यानामुपलक्षणम् । पद्यैः "कुलकम्" मतम् = अभिमतम् ।

तत्र स्वकीयपद्येन मुक्तकमुदाहरति—**सान्द्रानन्दमिति** । प्रतिमुहुः = वारं वारं, ध्यानैकतानाः = ध्याने (चिन्तने) एकतानाः (एकाऽग्रवृत्तयः) योगिनोऽपि = योगाऽभ्यसनशीला अपि, क्षणं = कञ्चित्कालम्, अपि, साक्षात्कर्तुं = प्रत्यक्षीकर्तुं, यत्, सान्द्रानन्दं = घनानन्दस्वरूपम्, अनन्तं = सीमारहितम्, अव्ययं=विकाररहितम्, अजं=

पद्यमय—जिसमें छन्दोबद्ध पद होते हैं उसे "पद्य" कहते हैं । जिसमें और पद्यकी अपेक्षा नहीं रहती है उस एक पद्यको "मुक्तक" कहते हैं । दो पद्योंकी परस्पर अपेक्षा रहे तो उनको "युग्मक" और तीन पद्योंकी परस्पर अपेक्षा रहे तो उनको "सन्दानितक" कहते हैं ॥ ३१४ ॥

चार पद्योंकी परस्पर अपेक्षा रहे तो उनको "कलापक" और पांच वा उनसे अधिक पद्योंकी परस्पर अपेक्षा रहे तो उनको "कुलक" कहते हैं ।

ग्रन्थकारकृत मुक्तकका उदाहरण—वारं वार ध्यानमें एकाग्रवृत्तिवाले योगी भी कुछ काल तक साक्षात्कार करनेके लिए गाढ आनन्दस्वरूप, अनन्त, विकाररहित,

धन्यास्ता मथुरापुरीयुवतयस्तद्ब्रह्म याः कौतुका-
दालिङ्गन्ति समालपन्ति शतधाऽऽकर्षन्ति चुम्बन्ति च ॥'

युग्मकं यथा मम—

'किं करोषि करोपान्ते कान्ते ! गण्डस्थलीमिमाम् ।
प्रणयप्रवणे कान्तेऽनेकान्ते नोचिताः क्रुधः ॥
इति यावत्कुरङ्गाक्षीं वक्तुमीहामहे वयम् ।
तावदाविरभूच्चूते मधुरो मधुपध्वनिः ॥'

जन्मरहितम्, उपासते = उपासनां कुर्वन्ति । याः = मथुरापुरीयुवतयः = मथुरानगरी-तरुण्यः, 'मथुरा, स्थाने 'मधुरे'ति पाठान्तरम् । कौतुकात् = कुतूहलात्, तत् = प्रसिद्धं, परं = निरुपाधिकं, ब्रह्म = शुद्धचैतन्यस्वरूपं, शतधा = अनेकप्रकारैः, आलिङ्गन्ति = आश्लिष्यन्ति, समालपन्ति = संभाषन्ते, आकर्षन्ति=आहरन्ति, विहाराऽर्थमिति शेषः । चुम्बन्ति च = गण्डसंयोगं कुर्वन्ति च, ताः = मथुरापुरीयुवतयः, धन्याः = पुण्यवत्यः, सन्तीति शेषः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् । अत्र पद्यान्तरनैरपेक्ष्येण एकेनैव पद्येन वाक्य-समापनान्मुक्तकस्येदमुदाहरणं बोद्धव्यम् ॥

युग्मकस्योदाहरणं ग्रन्थकारस्यैव यथा—किं करोषीति । सखायं प्रति मानिन्या मानभङ्गप्रकारं सूचयतः कस्यचिन्नायकस्योक्तिरियम् । हे कान्ते=हे सुन्दरि !, करोपान्ते= हस्तप्रान्ते, इमां, गण्डस्थलीं = कपोलस्थलीं, किं = किमर्थं, करोषि = विदधासि; प्रणयप्रवणे = प्रेमासक्ते, अनेकान्ते = न एकया (अन्यया, त्वद्भिन्नयेति भावः) अन्तः (अवसानं, रमणक्रियाया इति शेषः) यस्य स नैकान्तः (त्वद्भिन्नरमण्यासक्त इति भावः), न नैकान्तः अनेकान्तस्तस्मिन् = त्वन्मात्रपरायण इति भावः, तादृशे कान्ते, क्रुधः = कोपाः, न उचिताः = नो योग्याः ॥ अत्र श्लोके वाक्यसमाप्तावपि पद्यान्तर-स्थितेनेति पदेन पूर्ववाक्येन सममुत्तरवाक्यस्य संयोजनाद्युग्मकं नाम पद्यं बोद्धव्यम् ।

उत्तरपद्यमपि व्याख्यायते—इति । इति यावत्=एतत्पर्यन्तं, कुरङ्गाक्षीं=मृगनयनां, वयं, वक्तुं = भाषितुम्, ईहामहे = चेष्टामहे, तावत् = तत्कालमेव, चूते=रसालतरौ,

जन्मरहित जिस ब्रह्मकी उपासना करते हैं । मथुरापुरीकी जो युवतियां कौतुकसे उस निरुपाधिक ब्रह्मको सैकड़ों बार आलिङ्गन करती हैं, संभाषण करती हैं, खींचती है और चुम्बन करती हैं, वे धन्य हैं ।

दूसरे पद्यकी अपेक्षा न रहनेसे यह मुक्तकका उदाहरण है ।

युग्मक—"हे सुन्दरि ! अपने कपोलको हाथमें क्यों रखती हो? प्रणयमें तत्पर और तुम्हारे सिवाय अन्य स्त्रीमें आसक्ति न रखनेवाले प्रियजनमें क्रोध करना उचित नहीं है ।" मृगनयनाको हम ऐसा वचन कहना चाहते थे उसी समय आमके पेड़में मधुर भ्रमरझङ्कार आविर्भूत हो गया ॥

एवमन्यान्यपि ।

सर्गबन्धो महाकाव्यं तत्रैको नायकः सुरः ॥ ३१५ ॥
सद्वंशः क्षत्रियो वापि धीरोदात्तगुणान्वितः ।
एकवंशभवा भूपाः कुलजा बहवोऽपि वा ॥ ३१६ ॥
शृङ्गारवीरशान्तानामेकोऽङ्गी रस इष्यते ।
अङ्गानि सर्वेऽपि रसाः, सर्वे नाटकसन्धयः ॥ ३१७ ॥

मधुरः = माधुर्यपूर्णः; मधुपध्वनिः = भ्रमरझङ्कारः, आविरभूत् = प्रादुर्भूतः ।

एवमिति । अन्यान्यपि = सन्दानितक-कलापक कुलान्यपि, उदाहरणानि शिशुपालवधादिषु द्रष्टव्यानि ।

महाकाव्यं लक्षयति—**सर्गबन्ध इति ।** सर्गबन्धः = परिच्छेदरूपाणां सर्गाणां बन्धः (निबन्धनम्) महाकाव्यम् । तत्र = तस्मिन् महाकाव्ये, धीरोदात्तगुणाऽन्वितः = धीरोदात्तस्य नायकस्य गुणैः (अविकत्थनत्वादिभिः) अन्वितः (युक्तः) सुरः = देवः ॥ ३१५ ॥

एकः = एकमात्रं, नायकः = नेता, यथा हरचरितमहाकाव्ये सद्वंश = उत्तमकुलप्रसूतः, क्षत्रियः = बाहुजः, नायकः । यथा नैषधीयचरिते नलः । नायकविषये मतान्तरं प्रदर्शयति—वा = अथवा एकवंशभवाः = एककुलोत्पन्नाः, कुलजाः=कुलीनाः, बहवोऽपि = धीरोदात्तगुणाऽन्विता नायकाः स्युर्यथा रघुवंशे दिलीपादयः ॥ ३१६ ॥

शृङ्गारवीरशान्तानां = रसानां मध्ये, एकः = अन्यतमः, रसः, अङ्गी=प्रधानम्, इष्यते=अभिलष्यते । यथा नैषधीयचरिते—शृङ्गारः, शिशुपालवधे वीरः, प्रबोधचन्द्रोदये शान्तः अङ्गीरसः । इतरे सर्वेऽपि रसाः = हास्यादयः, अङ्गानि = अप्रधानानि । सर्वे= सकलाः, नाटकसन्धयः = मुखप्रतिमुखादयो भवन्तीति शेषः ॥ ३१७ ॥

दो श्लोकोंका परस्पर सम्बन्ध रहनेसे यह युग्मका उदाहरण है ।

इसी तरह सन्दानितक आदिका भी उदाहरण जानना चाहिए ।

महाकाव्य—परिच्छेदरूप सर्गोंका निबन्धन जिसमें रहता है उसे "महाकाव्य" कहते हैं । उसमें धीरोदात्तके गुणोंसे युक्त देवता ॥ ३१५ ॥

नायक होते हैं, अथवा उत्तम कुलमें उत्पन्न क्षत्रिय नायक होता है । अथवा एक वंशमें उत्पन्न कुलीन बहुतसे राजा नायक होते हैं ॥ ३१६ ॥

महाकाव्यमें शृङ्गार; वीर और शान्त इनमें एक रस प्रधान होता है, अन्य सभी रस अङ्ग (अप्रधान) होते हैं; नाटककी सभी मुख आदि सन्धियां रहती हैं ॥ ३१७ ॥

इतिहासोद्भवं वृत्तमन्यदा सज्जनाश्रयम् ।
चत्वारस्तस्य वर्गाः स्युस्तेष्वेकं च फलं भवेत् ॥ ३१८ ॥
आदौ नमस्क्रियाशीर्वा वस्तुनिर्देश एव वा ।
क्वचिन्निन्दा खलादीनां सतां च गुणकीर्तनम् ॥ ३१९ ॥
एकवृत्तमयैः पद्यैरवसानेऽन्यवृत्तकैः ।
नातिस्वल्पा नातिदीर्घाः सर्गा अष्टाधिका इह ॥ ३२० ॥
नानावृत्तमयः क्वापि सर्गः कश्चन दृश्यते ।

महाकाव्ये वृत्तं = चरित्रम्, इतिहासोद्भवं = रामायणमहाभारतादिमूलकं, वा अन्यत् = अपरम्, इतिहासोद्भवभिन्नं, सज्जनाश्रयं = शिष्टजनाधारं, भवतीति शेषः। तस्य = महाकाव्यस्य, चत्वारः वर्गाः = धर्मार्थकाममोक्षरूपाः, स्युः, तेषु = चतुर्वर्गेषु, एकं = धर्मादिषु अन्यतमं, फलं = प्रधानप्रयोजनं भवेत् ॥ ३१८ ॥

महाकाव्ये आदौ = प्रारम्भे, नमस्क्रिया = प्रणतिः, यथा रघुवंशे "वागर्थावि-वे"त्यादिः, । क्वचित् आशीः = शुभाशंसा, वस्तुनिर्देशः = देववाचकशब्दरूपपदार्थप्रदर्शनं भद्रवाचकशब्दरूपपदार्थप्रदर्शनं वा, यथा किरातार्जुनीय-कुमारसम्भवादिषु। क्वचित् = कुत्रचिन्महाव्ये, खलादीनां = दुर्जनादीनां, निन्दा = विगानं, सतां च = सज्जनानां च, गुणकीर्तनं = दयादाक्षिण्यादिगुणवर्णनं, क्वचिदितिपदेन सर्वत्र खलादि-निन्दा-सद्गुणकीर्तने नावश्यके इति प्रतीयते ॥ ३१९ ॥

तथा च महाकाव्ये सर्गेषु एकवृत्तमयैः=एकच्छन्दोमयैः, पद्यैः=वृत्तैः, अवसाने= सर्गसमाप्तौ, अन्यवृत्तकैः = छन्दोऽन्तरैः, भाव्यमिति शेषः। इह = महाकाव्ये, नाऽति-स्वल्पाः = नाऽतिन्यूनाः, नाऽतिदीर्घाः = नाऽतिप्रचुराः, अष्टाऽधिकाः=अष्टाऽतिरिक्ताः। सर्गाः, भवेयुरिति शेषः ॥ ३२० ॥

क्वाऽपि = कुत्राऽपि, महाकाव्ये, नानावृत्तमयः = अनेकच्छन्दःप्रचुरः, कश्चन =

इसमें इतिहास स्थित चरित्र वा किसी सज्जनमें स्थित चरित्र रहता है। महा-काव्यमें धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष चार वर्ग होते हैं, उनमें एक फल (प्रधान प्रयोजन) होता है ॥ ३१८ ॥

महाकाव्यमें आरम्भमें नमस्कार, आशीर्वाद वा वस्तुनिर्देश रहता है; कहींपर दुर्जन आदियोंकी निन्दा और सज्जनोंका गुणकीर्तन रहता है ॥ ३१९ ॥

महाकाव्यमें सर्गोमें एक ही छन्दमें निबद्ध पद्य रहते हैं पर सर्गसमाप्तिमें भिन्न छन्दका पद्य होता है। इसमें सर्ग भी न बहुत छोटे और न बहुत लम्बे होते हैं। आठसे अधिक सर्ग होते हैं ॥ ३२० ॥

किसी महाकाव्यमें किसी एक सर्गमें अनेक छन्दोंसे निबद्ध पद्य देखे जाते हैं।]

सर्गान्ते भाविसर्गस्य कथायाः सूचनं भवेत् ॥ ३२१ ॥
संध्यासूर्येन्दुरजनीप्रदोषध्वान्तवासराः ।
प्रातर्मध्याह्नमृगयाशैलर्तुवनसागराः ॥ ३२२ ॥
संभोगविप्रलम्भौ च मुनिस्वर्गपुराध्वराः ।
रणप्रयाणोपयममन्त्रपुत्रोदयादयः ॥ ३२३ ॥
वर्णनीया यथायोगं साङ्गोपाङ्गा अमी इह ।
कवेर्वृत्तस्य वा नाम्ना नायकस्येतरस्य वा ॥ ३२४ ॥

कोऽपि, सर्गः, दृश्यते । यथा किरातार्जुनीये पञ्चमः, शिशुपालवधे-चतुर्थः सर्गः । सर्गान्ते= सर्गाऽवसाने, भाविसर्गस्य = आगामिसर्गस्य, कथायाः = चरित्रभागस्य, सूचनं—सङ्केतः, भवेत् ॥ ३२१ ॥

महाकाव्ये वर्णनीयान्विषयानुद्दिशति—**सन्ध्येति** । सन्ध्या=सायंकालः, सूर्यः, इन्दुः (चन्द्रः), रजनी (रात्रिः), प्रदोषः (रजनीमुखम्), ध्वान्तम् (अन्धकारः) वासरश्च (दिवसश्च) । प्रातः (प्रभातम्), मध्याह्नम् (अह्नो मध्यभागः), मृगया (आखेटक्रीडा), शैलः (पर्वतः) ऋतु (हेमन्तादिः), वनम्, सागरश्च ॥३२२॥

संभोगविप्रलम्भौ = संभोगशृङ्गारो विप्रलम्भशृङ्गारश्च । मुनिस्वर्गेत्यादिः = मुनिः, स्वर्गः, पुरम् (नगरम्) अध्वरश्च (यज्ञश्च) । रणेत्यादिः०=रणः, (युद्धम्) प्रयाणम् (यात्रा) उपयमः (विवाहः), मन्त्रः (सामादिविषये कर्तव्यमन्त्रणम्); पुत्रोदयादिश्च ॥ ३२३ ॥

वर्णनीया इति । इह = अस्मिन् महाकाव्ये, अमी = पूर्वोक्ताः सन्ध्यादयो विषयाः, साङ्गोपाङ्गाः=अङ्गोपाङ्गसहिताः,यथायोग=यथासंभवं, वर्णनीयाः=कीर्तनीयाः। दिग्दर्शनं यथा—सन्ध्याङ्गं-चक्रवाकविरहः, वासराऽङ्गं = जलक्रीडादिः । रजन्यङ्गं—मधुपानादि । उपाङ्गं—तत्रैव परिहासादयः, मुनिः—नारदादिः । महाकाव्यस्य नामनिर्माणप्रकारं निर्दिशति-**कवेरिति** । कवेः = कवयितुः, नाम्ना = आख्यया, अस्य =

सर्गके अन्तमें पीछे आनेवाले सर्गकी कथाकी सूचना होनी चाहिए ॥ ३२१ ॥

महाकाव्यमें वर्णनीय विषय—सन्ध्या (सायंकाल), सूर्य, चन्द्र, रात; प्रदोष (रात्रिका पूर्वभाग), अन्धकार, दिन, प्रातःकाल; मध्याह्न, मृगया (शिकार), पर्वत, ऋतु, वन और समुद्र ॥ ३२२ ॥

संभोग शृङ्गार और विप्रलम्भ शृङ्गार, मुनि, स्वर्ग, नगर, यज्ञ, युद्ध, यात्रा, विवाह; मन्त्र (सामदान आदि करनेके लिए मन्त्रणा), पुत्रोदय आदि ॥ ३२३ ॥

महाकाव्यमें इन सब विषयोंका साङ्गोपाङ्ग वर्णन करना चाहिए । कविके

नामास्य सर्गोपादेयकथया सर्गनाम तु।

सन्ध्यङ्गानि यथालाभमत्र विधेयानि 'अवसानेऽन्यवृत्तकैः' इति बहुवचनमविवक्षितम्। साङ्गोपाङ्गा इति जलकेलिमधुपानादयः।

यथा–रघुवंश–शिशुपालवध–नैषधादि। यथा वा मम–राघवविलासादि।

अस्मिन्नार्षे पुनः सर्गा भवन्त्याख्यानसंज्ञकाः॥ ३२५॥

अस्मिन्महाकाव्ये। यथा—महाभारतम्।

प्राकृतैर्निर्मिते तस्मिन्सर्गा आश्वाससंज्ञकाः।

महाकाव्यस्य, नाम, कर्तव्यमिति शेषः, यथा माघकाव्यम्। वृत्तस्य=चरित्रस्य, नाम यथा–कुमारसंभवं, रघुवंशम् इत्यादि। नायकस्य नाम–यथा नैषधीयचरितं विक्रमाङ्कदेवचरितम् इत्यादि। वा–इतरस्य = नायकादितरस्य प्रतिनायकस्य, नाम यथा–रावणवध शिशुपालवधम् इत्यादि।

महाकाव्ये सर्गनामनिर्माणप्रकारं निदिशति—**अस्येति**। अस्य=महाकाव्यस्य, सर्गनाम तु, सर्गोपादेयकथया=सर्गस्य (तत्तत्सर्गस्य) या उपादेयकथा (ग्रहणीयवृत्तान्तभागः), तया भवतीति शेषः। यथा रघुवंशे प्रथमसर्गस्य नाम "वशिष्ठाश्रमगमन" इति।

सन्ध्यङ्गानीति। सन्ध्यङ्गानि=मुखादिसन्ध्यङ्गानि, यथालाभं=यथासंभवम्, अत्र=महाकाव्ये, विधेयानि=कर्तव्यानि। "अवसानेऽन्यवतकैः" इति बहुवचनम्, अविवक्षितम्। बहूनि एव वृत्तानि भवेयुरिति न विवक्षितम्, तेनैकद्विमात्रपद्यसत्त्वेऽपि नो दोष इति भावः।

आर्षमहाकाव्ये सर्गनाम प्रतिपादयति—**अस्मिन्निति**। आर्षे = ऋषेरिदम् आर्षं, तस्मिन् ऋषिकर्तृके इति भावः, अस्मिन् = महाकाव्ये, सर्गा आख्यानसंज्ञका भवन्ति। आर्षं महाकाव्यं यथा—महाभारतम्॥ ३२५॥

प्राकृतकाव्ये सर्गनाम प्रतिपादयति—**प्राकृतैरिति**। प्राकृतैः=प्राकृतभाषापद्यैः;

नामसे, चरित्रके नामसे, नायकके नामसे वा प्रतिनायकके नामसे महाकाव्यका नाम रखना चाहिए॥ ३२४॥

सर्गके ग्रहणीय वृत्तान्तके अनुसार उसका नाम रखना चाहिए। महाकाव्यमें सन्धिके अङ्गोंको यथासंभव रखना चाहिए। "अवसानेऽन्यवृत्तकैः" अर्थात् सर्गकी समाप्तिमें अन्य छन्दोंको रखना चाहिए। यहाँपर बहुवचन विवक्षित नहीं है, अतः एक वा दो छन्द भी हो सकते हैं। "साङ्गोपाङ्ग" कहनेसे जलक्रीडा और मदिरापान इत्यादि लिये जाते है। महाकाव्य जैसे = रघुवंश शिशुपालवध और नैषध आदि। अथवा ग्रन्थकारका राघवविलास आदि।

आख्यान—ऋषिप्रणीत महाकाव्यमें सर्गका "आख्यान" नाम होता है।३२५।

जैसे—महाभारत।

आश्वास—प्राकृत भाषाके पद्योंसे निर्मित महाकाव्यमें सर्गको "आश्वास"

छन्दसा स्कन्धकेनैतत्क्वचिद् गलितकैरपि ॥ ३२६ ॥

यथा—सेतुबन्धः। यथा वा मम-कुवलयाश्वचरितम्।

अपभ्रंशनिबद्धेऽस्मिन् सर्गाः कुडवकाभिधाः।

तथापभ्रंशयोग्यानि च्छन्दांसि विविधान्यपि ॥ ३२७ ॥

यथा—कर्णपराक्रमः।

भाषाविभाषानियकात्काव्यं सर्गसमुज्झितम्।

एकार्थप्रवणैः पद्यैः सन्धिसामग्र्यवर्जितम् ॥ ३२८ ॥

निर्मिते, तस्मिन्=महाकाव्ये, सर्गा आश्वाससंज्ञका भवन्ति। एतत् = प्राकृतभाषामयं महाकाव्यं, क्वचित् स्कन्धकेन च्छन्दसा, क्वचिच्च गलितकैश्छन्दोभिर्निबद्ध्यते ॥३२६॥

प्राकृतमहाकाव्यमुदाहरति—सेतुबन्धः कुवलयाश्वचरितम्।

अपभ्रंशभाषानिबद्धे महाकाव्ये विशेषं प्रतिपादयति—**अपभ्रंशेति**। अपभ्रंशनिबद्धे = अपभ्रंशेन (अपभ्रंशभाषया) निबद्धे (रचिते), अस्मिन् = महाकाव्ये। सर्गाः; कुडवकाऽभिधाः = कुडवकनामानः, तथाऽपभ्रंशयोगानि विविधानि = अनेकप्रकाराणि, छन्दांसि भवन्ति ॥ ३२७ ॥

अपभ्रंशमयं महाकाव्यमुदाहरति—यथा—कर्णपराक्रमः।

भाषाविभाषामयं काव्यविशेषं लक्षयति—**भाषाविभाषेति**। भाषाविभाषानियमात्=भाषा (संस्कृतम्), विभाषा (शौरसेन्यादिप्राकृतभाषा), तयोर्नियमात्, "भाषाविशेषाऽनियमात्" इति पाठान्तरं-तत्र संस्कृतेनैव कर्तव्यं, प्राकृतेनैव कर्तव्यमिति एकतरभाषाया अनियमात्, भाषाद्वयमाश्रित्येति भावः, संस्कृतेनारब्धे संस्कृतेनैव, विभाषयाऽऽरब्धे, तयैव कर्तव्यमिति नियमात्, कृतमिति शेषः। सर्गसमुज्झितं = सर्गरहितम्। एकार्थप्रवणैः = एकविषयतत्परैः, एकवाक्यताऽऽपन्नैरिति भावः। तादृशैः पद्यैः रचितमिति शेषः। सन्धिसामग्र्यवर्जितं = सन्धिसाकल्यरहितं, "काव्यं" भवति ॥ ३२८ ॥

कहते हैं। इसमें स्कन्धक वा कहींपर गलितक छन्द होते है ॥ ३२६ ॥

जैसे—सेतुबन्ध, जैसे ग्रन्थकारका कुवलयाश्वचरित।

कुडवक—अपभ्रंश भाषासे निबद्ध महाकाव्यमें सर्गको "कुडवक" कहते हैं। उसमें अपभ्रंश भाषाके योग्य अनेक छन्द होते हैं ॥ ३२७ ॥ जैसे—कर्णपराक्रम।

काव्य—भाषा (संस्कृतभाषा) और विभाषा (शौरसेनी आदि प्राकृत भाषा)-के नियम रचित एक विषयमें तत्पर पद्योंसे रचित, सर्गसे रहित और जिसमें सब सन्धियाँ न हों ऐसे प्रबन्धको "काव्य" कहते हैं ॥ ३२८ ॥

यथा— भिक्षाटनम्, आर्याविलासश्च।

खण्डकाव्यं भवेत्काव्यस्यैकदेशानुसारि च।

यथा—मेघदूतादि।

कोषः श्लोकसमूहस्तु स्यादन्योन्यानपेक्षकः॥ ३२९॥

व्रज्याक्रमेण रचितः स एवातिमनोरमः।

सजातीयानामेकत्र सन्निवेशो व्रज्या। यथा मुक्तावल्यादिः।

अथ गद्यकाव्यानि। तत्र गद्यम्—

वृत्तगन्धोज्झितं गद्यं, मुक्तकं वृत्तगन्धि च॥ ३३०॥

काव्यमुदाहरति—भिक्षाटनम्, आर्याविलासश्च।

खण्डकाव्यं लक्षयति- **खण्डकाव्यमिति**। काव्यस्य=पूर्वलक्षितस्य महाकाव्यस्य, एकदेशाऽनुसारि = एकदेशम् (एकभागं, न तु सर्वांशमिति भावः) अनुसरतीति तच्छीलम्, अनुसरणशीलं, पद्यकदम्बकमिति शेषः। खण्डकाव्यं भवेत्।

खण्डकाव्यमुदाहरति—यथा मेघदूतादि। आदिपदेन ऋतुसंहारनलोदयभर्तृहरिशतकत्रयचौरपञ्चाशिकादीनां परिग्रहः।

कोषं लक्षयति—**कोष इति**। अन्योन्याऽनपेक्षकः = मिथोऽपेक्षारहितः, श्लोकसमूहः = पद्यकदम्बकं, "कोषः"॥ ३२९॥

व्रज्याक्रमेण = "सजातीयानामेकत्र सन्निवेशो व्रज्या"। सजातीयानां = समानप्रकाराणाम्, पद्यानाम् एकत्र = एकस्मिन् काव्ये, सन्निवेशः = अवस्थानं, व्रज्या, तत्क्रमेण तत्परिपाट्या = रचितः, स एव = कोष एव, अतिमनोरमः=अतिशयमनोहरः' भवतीति शेषः। कोषमुदाहरति—यथा मुक्तावल्यादिः। आदिपदेन अमरुशतकाऽऽर्यासप्तशतीप्रभृतीनां परिग्रहः।

गद्यकाव्यानि निरूपयति। तत्राऽऽदौ गद्यं लक्षयति— **वृत्तेति**। वृत्तबन्धोज्झितं गद्यम्"। वृत्तबन्धः (छन्दोगुम्फनम्), तेन उज्झितं (रहितम्) पदकदम्बकं गद्यम्।

जैसे—भिक्षाटन और आर्याविलास।

खण्डकाव्य—महाकाव्यके एक भागका अनुसरण करनेवाले पद्यसमूहको "खण्डकाव्य" कहते हैं। जैसे मेघदूत आदि।

कोष—परस्परमें अपेक्षासे रहित श्लोकसमूहको "कोष" कहते हैं॥ ३२९॥

तुल्य प्रकारवाले पद्योंको क्रमसे एकत्र कर रचित वह कोष अतिशय मनोहर होता है। जैसे—मुक्तावली आदि।

गद्यकाव्य। गद्य—छन्दके बन्धसे रहित पदसमूहको "गद्य" कहते हैं। वह गद्य—मुक्तक वृत्तगन्धि॥ ३३०॥–

भवेदुत्कलिकाप्रायं, चूर्णकं च चतुर्विधम् ।
आद्यं समासरहितं, वृत्तभागयुतं परम् ॥ ३३१
अन्यद्दीर्घसमासाढ्यं, तुर्यं चाल्पसमासकम् ।

मुक्तकं यथा—'गुरुर्वचसि पृथुरुरसि—' इत्यादि ।

वृत्तगन्धि यथा मम—

'समरकण्डूलनिविडभुजदण्डकुण्डलीकृतकोदण्डशिञ्जिनीटंकारोज्जागरितवैरिनगर' इत्यादि । अत्र 'कुण्डलीकृतकोदण्ड'—इत्यनुष्टुब्वृत्तस्य पादः,

---

"बन्ध" स्थाने "गन्धे"ति पाठान्तरं तत्र वृत्तस्य (छन्दस.) यो गन्धः (लेशः) पादादिः, तदुज्झितम् (तद्रहितमित्यर्थः) । "गद्यम्" "गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः ।" इति विश्वः । गद्यस्य भेदचतुष्टयमुद्दिशति—**मुक्तकमिति** । मुक्तक वृत्तगन्धि ॥३३०॥ उत्कलिकाप्राय चूर्णकं चेति गद्यं चतुर्विधं = चतुष्प्रकार, भवतीत्यर्थः ।

मुक्तकं लक्षयति—**आद्यमिति** । आद्यं = प्रथम, भेदचतुष्टयम् आदियमित्यर्थः, मुक्तकमिति भावः । समासरहितम् = अनेकपदबन्धवर्जितं, व्यस्तपदोपेतमिति भावः ।

वृत्तगन्धि लक्षयति—परम् = अन्यत्, वृत्तगन्धि, वृत्तभागयुतं = पद्यांऽशसहितं, भवतीति भावः ॥ ३३१ ॥

उत्कलिकाप्रायं लक्षयति—**अन्यदिति** । दीर्घसमासाढ्यं = दीर्घः (आयत), बहुपदसहितः यः समासः (वृत्तिविशेषः) तेन आढ्यम् (सम्पन्नम्), अन्यत् = अपरम्, उत्कलिकाप्रायम् ।

चूर्णकं लक्षयति—**तुर्यमिति** । अल्पसमासकं = स्तोकसमासकं, द्वित्रसमस्तपदोपेतमितिभावः, तादृशे गद्यं, तुर्यं = चतुर्थं, चूर्णकमिति भावः ।

तत्राऽऽदौ मुक्तकमुदाहरति—**गुरुरिति** । "गुरुर्वचसि, पृथुरुरसि" इत्यादि । समासराहित्यात् = समस्तपदाऽभावात् मुक्तकमिदम् ।

वृत्तगन्धि उदाहरति—"समरकण्डूलेत्यादिः०" कंचिद्वीरमुद्दिश्य सम्बोधनोक्तिरियम् । समरे (युद्धकरणे) कण्डूलौ (कण्डूयुक्तौ) "कण्डूयने"ति पाठे कण्डूयनेन (कण्डूकरणेन) इत्यर्थः, निबिडौ (घनौ) यौ भुजदण्डौ (बाहुदण्डौ) ताभ्या कुण्डलीकृतं (कुण्डलाकारीकृतं, प्रसारितमितिभावः) तादृशं यत् कोदण्ड (धनुः)

उत्कलिकाप्राय और चूर्णक इस प्रकार चार भेदोंसे युक्त है ।

मुक्तक –समाससे रहित गद्यको "मुक्तक" कहते हैं ।

वृत्तगन्धि –पद्यके अंशसे युक्त गद्यको "वृत्तगन्धि" कहते हैं ॥ ३३१ ॥

उत्कलिकाप्राय–दीर्घ समाससे युक्त गद्यको "उत्कलिकाप्राय" कहते है ।

चूर्णक—थोड़े (दो या तीन पदोंके) समासवाले गद्यको "चूर्णक" कहते हैं ।

मुक्तकका उदाहरण—"गुरुर्वचसि पृथुरुरसि" इत्यादि ।

वृत्तगन्धिका उदाहरण–"समरकण्डूल" इत्यादि । युद्ध करनेके लिए खुजली

'समरकण्डूल' इति च प्रथमाक्षरद्वयरहितस्तस्यैव पादः ।

उत्कलिकाप्रायं यथा ममैव—'अणिसविसुमरणिसिदसरविसरविदलिदसमरपरिगदपवरपरबल—' इत्यादि ।

चूर्णकं यथा मम-'गुणरत्नसागर ! जगदेकनागर ! कामिनीमदन ! जनरञ्जन !' इत्यादि ।

कथायां सरसं वस्तु गद्यैरेव विनिर्मितम् ॥ ३३२ ॥

तस्य या शिञ्जिनी (मौर्वी), तस्याः टङ्कारः (टमिति ध्वनिः) तेन उज्जागरितं (विबोधितम्) वैरिनगरं (शत्रुपुरम्) येन, तत्सम्बुद्धौ । नगरपदेन नगरस्थजना लक्ष्यन्ते । "नागरे"ति पाठे उज्जागरिताः शत्रुनागराः (शत्रुपुरवासिनः) अयमर्थः ।

प्रकृत उदाहरणे वृत्तगन्धित्वं साधयति—**प्रत्रेति** । तस्यैव = अनुष्टुब्वृत्तस्यैवेति ।

उत्कलिकाप्रायमुदाहरति—**अणिसेति** । 'अनिशविसृमरनिशितशरविसरविदलितसमरपरिगतप्रवरपरबल—" इति संस्कृतच्छाया । कश्चित्कविः कञ्चिद्वीरवरं संबोधयति—अनिशम् (अविरतं यथा तथा) विसृमरः (विसृत्वरः) यः निशितशराणां (तीक्ष्णबाणानाम्) विसरः (समूहः) तेन विदलितानि (विमर्दितानि) समरपरिगतानि (युद्धप्राप्तानि) प्रवराणि (श्रेष्ठानि) परबलानि (शत्रुसैन्यानि) येन तत्सम्बुद्धौ । अत्र दीर्घसमासादुत्कलिकाप्रायत्वम् ।

चूर्णकमुदाहरति—**गुणरत्नसागरेति** । कश्चित्कश्चित्प्रवरनरं सम्बोधयति—हे गुणरत्नसागर = गुणाः (दयादाक्षिण्यादिधर्माः) एव रत्नानि (मणयः) तेषां सागरः (रत्नाकरः, उत्पत्तिस्थानत्वात्), तत्सम्बुद्धौ । हे जगदेकनागर = जगति (लोके) एकनागरः (मुख्यपौरः) तत्सम्बुद्धौ । हे कामिनीमदन = कामिन्याः (रमण्याः) मदनः (मदोत्पादकः) तत्सम्बुद्धौ । हे जनरञ्जन = जनानां (लोकानाम्) रञ्जनः (अनुरागहेतुः) तत्सम्बुद्धौ ।

अत्राऽल्पसमासानां पदानां सत्त्वाच्चूर्णकत्वम् ।

गद्यकाव्ये कथां लक्षयति—**कथायामिति** । कथायां = गद्यकाव्यविशेषे, सरसं = शृङ्गारादिरसोपेतं, वस्तु = इतिवृत्तं, गद्यैरेव = वृत्तबन्धोज्झितैः पदसमूहैरेव । विनिर्मितं = विरचितं भवेत् ॥ ३३२ ॥

वाले निविड बाहुदण्डोंसे फैलाये गये धनुकी प्रत्यञ्चाके टङ्कारसे शत्रुनगरको जगाने वाले (हे वीर !)

उत्कलिकाप्रायका-उदाहरण—"अणिसा" इत्यादि । निरन्तर फैलनेवाले तीक्ष्ण बाणसमूहसे युद्धभूमिस्थित श्रेष्ठ शत्रुसैन्यको विमर्दित करनेवाले (हे वीर !) ।

चूर्णक—हे गुणरूप रत्नोंके सागर जगत्के एकमात्र नागरिक ! हे कामिनियोंको मत्त करनेवाले ! हे मनुष्योंके अनुरागके कारण ।

कथा—कथामें शृङ्गार आदि रससे युक्त इतिवृत्त गद्योंमें ही रचित होता है।३३२।

क्वचिदत्र भवेदार्या क्वापि वक्त्रापवक्त्रके ।
आदौ पद्यैर्नमस्कारः खलादेर्वृत्तकीर्तनम् ॥ ३३३ ॥

यथा—कादम्बर्यादिः ।

आख्यायिका कथावत्स्यात्कवेर्वंशानुकीर्तनम् ।
अस्यामन्यकवीनां च वृत्तं पद्यं क्वचित्क्वचित् ॥ ३३४ ॥
कथांशानां व्यवच्छेद आश्वास इति बध्यते ।
आर्यावक्त्रापवक्त्राणां छन्दसा येन केनचित् ॥ ३३५ ॥

अत्र = अस्यां कथायां, क्वचित् = कुत्रचिदंशे. आर्या = मात्रात्मकच्छन्दोबद्धं पद्यं, भवेत् । क्वचित्, वक्त्रापवक्त्रके = तदाख्यच्छन्दोविशेषबद्धे पद्ये, भवेताम् । तथा च आदौ = ग्रन्थारम्भे, पद्यैः = छन्दोबद्धपदैः, नमस्कारः = नतिः, देवादीनामिति शेषः, खलादेः = दुर्जनादेः, अत्राऽऽदिपदेन सज्जनपरिग्रहः । वृत्तकीर्तनं = चरित्रवर्णनं, भवेदिति शेषः ॥ ३३३ ॥

अत्राख्यायिकालक्षणस्थयोः कवेर्वंशाऽनुकीर्तनमिति पदयोरपकर्षः । कथामुदाहरति—यथा कादम्बर्यादिः ।

आख्यायिकां लक्षयति—आख्यायिकेति । 'आख्यायिका = तदाख्यं गद्यकाव्यं, कथावत् = कथया तुल्यं, स्यात् = भवेत् । अनेन सर्वं कथास्थं लक्षणमिहाप्यनुवर्तते । विशेषमाह— कवेः = कवयितुः, वंशाऽनुकीर्तनं = कुलाऽनुवर्णनं स्यात् । अस्याम् = आख्यायिकायाम्, अन्यकवीनां च = अपरकवितॄणां च, वृत्तं = चरित्रं, वर्णितं स्यात् । क्वचित् क्वचित्, पद्यं च भवेत् ॥ ३३४ ॥

कथांऽशानाम् = आख्यानभागानां, व्यवच्छेदः = परिच्छेदः, आश्वास इति = आश्वास इति नाम्ना, बध्यते = निबध्यते । आमी—वक्त्राऽपवक्त्राणाम् = आर्याद्याख्यच्छन्दसां मध्ये, येन केनचित् छन्दसा । ३३५ ॥—

इसमे कही आर्या और कही वक्त्र और अपवक्त्रक छन्द होते है । शुरूमें पद्योंसे देवता आदिको नमस्कार किया जाता है और दुर्जन आदिके चरित्रका वर्णन होता है। ३३३।

जैसे—कादम्बरी आदि ।

आख्यायिका—आख्यायिका कथाके समान होती है, इसमें कविके वंशका कीर्तन होता है, और अन्य कवियोंका चरित्र भी रहता है, कहीं कहीं पद्य भी रहता है ॥३३४॥

आख्यानके भागोंका परिच्छेद "आश्वास" नामसे निबद्ध होता है । आर्या वक्त्र, अपवक्त्र इन छन्दोंके मध्यमें जिस किसी भी छन्दसे ॥ ३३५ ॥—

अन्यापदेशेनाश्वासमुखे भाव्यर्थसूचनम् ।

यथा - हर्षचरितादिः । 'अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राप्यन्यैरुदीरणात् ।' इति दण्डयाचार्यवचनात् केचित् आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्या' इत्याहुः, तद्युक्तम् । आख्यानादयश्च कथाख्यायिकयोरेवान्तर्भावान्न पृथगुक्ताः ।

यदुक्तं दण्डिनैव -

अत्रैवान्तर्भविष्यन्ति शेषाश्चाख्यानजातयः ।' इति ।

एषामुदाहरणम्—पञ्चतन्त्रादि ।

अथ गद्यपद्यमयानि—

गद्यपद्यमयं काव्यं चम्पूरित्यभिधीयते ॥ ३३६ ॥

अन्याऽपदेशेन = विषयान्तरवर्णनच्छलेन, आश्वासमुखे = आश्वासादिभागे, भाव्यर्थसूचनं=भाविनः (भविष्यतः) अर्थस्य (विषयस्य) सूचनं (ज्ञापनम्) भवेत् । आख्यायिकामुदाहरति—यथा हर्षचरितादिः, आदिपदेन दशकुमारचरितादीनां परिग्रहः ।

मतान्तरं दूषयितुमुपक्रमते—**अपीति** । केचित्=आचार्या आख्यायिका नायकेनैव निबद्धव्या (वाच्या) इति यत् आहुः, तदयुक्तम् । "अपी"ति काव्यादर्शकृद्दण्डयाचार्यवचनात् । अपि तु = किन्तु, तत्र = आख्यायिकारूपेण प्रसिद्धे गद्यकाव्ये, अन्यैरपि= अपरैरपि नायकभिन्नवक्तृभिरपि उदीरणात् = कथनात्, अनियमोऽपि = आख्यायिका नायकेनैव वाच्या" इति नियमाऽभावोऽपि इति दण्डयाचार्यमनाकूतम् ।

आख्यानादयः कथं न लक्षिता इत्याशङ्क्य समाधत्ते—**आख्यानादयश्चेति** । अत्रैव = आख्यायायिकायामेव । एषाम् = आख्यायिकादीनाम् उदाहरणं—पञ्चतन्त्रादि ।

अथ गद्यपद्यमयानि काव्यानि । तत्र चम्पूकाव्यं लक्षयति **गद्येति** । गद्यपद्यमयं = गद्यपद्यात्मकं, काव्यं, "चम्पूः" इति अभिधीयते ॥ ३३६ ॥

भिन्न विषयके वर्णनके छलसे आश्वासके आदि भागमें आनेवाले विषयकी सूचना होती है, जैसे हर्षचरित आदि ।

कुछ आचार्य "आख्यायिका नायकसे कही जानी चाहिए" ऐसा कहते हैं वह अनुचित है, "अपि त्वनियमो दृष्टस्तत्राऽप्यन्यैरुदीरणात्' ऐसा दण्डी आचार्यने कहा है । अर्थात् आख्यायिका नायकसे भिन्नजनोंसे भी कही गई है । अतः आख्यायिका नायकसे ही कही जानी चाहिए ऐसा कोई नियम नहीं देखा गया है ।

आख्यान आदि कथा और आख्यायिकामें ही अन्तर्भूत हो गये हैं अतः वे पृथक् नहीं कहे गये हैं । दण्डीने जो कहा है—"अत्रैवेति॰" अर्थात् शेष आख्यानजातियाँ आख्यायिकामें ही अन्तर्भूत हो जाती हैं ।

आख्यायिका आदिका उदाहरण है—पञ्चतन्त्रादि ।

गद्यपद्यमयकाव्य । चम्पूकाव्य-गद्यपद्यमय "काव्यको चम्पू" कहते हैं ॥३३६॥

यथा—देशराजचरितम् ।

गद्यपद्यमयी राजस्तुतिर्विरुदमुच्यते ।

यथा—विरुदमणिमाला ।

करम्भकं तु भाषाभिर्विविधाभिर्विनिर्मितम् ॥ ३३७ ॥

यथा मम—षोडशभाषामयी प्रशस्तिरत्नावली ।

एवमन्येऽपि भेदा उद्देशमात्रप्रसिद्धत्वादुक्तभेदानतिक्रमाच्च न पृथग्लक्षिताः ।

इति श्रीमन्नारायणचरणारविन्दमधुव्रतसाहित्यार्णवकर्णधार-ध्वनिप्रस्थापन-परमाचार्य-कविसूक्तिरत्नाकराऽष्टादशभाषावारविलासिनीभुजङ्गसान्धि-विग्रहिक-महापात्र-श्रीविश्वनाथकविराजकृतौ साहित्यदर्पणे दृश्यश्रव्यकाव्यनिरूपणो नाम षष्ठः परिच्छेदः ।

विरुदं लक्षयति—**गद्यपद्यमयीति** । गद्यपद्यमयी=गद्यपद्यात्मका, राजस्तुतिः=भूपालगुणकीर्तनं, "विरुदम्" उच्यते ।

विविधभाषामयं करम्भककाव्यं लक्षयति— **करम्भकं त्विति** । विविधाभिः=अनेकप्रकाराभिः, भाषाभिः, विनिर्मितं काव्य "करम्भकम्" इत्यभिधीयते ।

काव्यभेदानुपसंहरति—**एवमिति** । अन्येऽपि = अपरेऽपि, भेदाः काव्य-विशेषाः । उद्देशमात्रप्रसिद्धत्वात् = उद्देशमात्रेण (नाममात्रकीर्तनेन) प्रसिद्धत्वात् (प्रख्यातत्वात्), उक्तभेदाऽनतिक्रमाच्च = उक्तभेदेषु (निरुक्तकाव्यभेदेषु) प्रसिद्धत्वात् (अनतिरिक्तत्वात् यथातथं तत्रैवाऽन्तर्भावाच्चेति भावः) न पृथक् लक्षिताः=पार्थक्येन नो लक्षणाऽङ्किताः, मुख्यभेदाऽन्तःपातित्वादिति भावः ।

इति श्रीशेषराजशर्मप्रणीतायां चन्द्रकलाऽभिख्यायां साहित्यदर्पण-व्याख्यायां षष्ठः परिच्छेदः ॥

जैसे—देशराजचरित ।

विरुद—गद्यपद्यमयी राजस्तुतिको "विरुद" कहते है । जैसे—विरुदमणिमाला ।

करम्भक—अनेक भाषाओंसे रचित काव्यको "करम्भक" कहते हैं । जैसे ग्रन्थकारकी रची हुई सोलह भाषावाली—प्रशस्तिरत्नावली ।

इस प्रकार और भी भेद हैं, उद्देश मात्रसे प्रसिद्ध होनेमे पूर्वोक्त भेदसे अतिरिक्त न होनेसे भी उनका पृथक् लक्षण नहीं किया गया ।

साहित्यदर्पणके अनुवादमे षष्ठ परिच्छेद समाप्त हुआ ।

साहित्यदर्पणः

सप्तमः परिच्छेदः

इह हि प्रथमतः काव्ये दोषगुणरीत्यलङ्काराणामवस्थितिक्रमो दर्शितः संप्रति के त इत्यपेक्षायामुद्देशक्रमप्राप्तानां दोषाणां स्वरूपमाह—

रसापकर्षका दोषाः,—

दोषज्ञता यदि जने पदमादधीत, दोषास्तदैव स्वकृतौ परिहर्तुमर्हाः।
इत्थं विमृश्य विविधान्किल काव्यदोषान्साहित्यदर्पणकृतः परिवर्णयन्ति ॥ १ ॥

काव्यस्वरूपं निरूप्य दर्पणकारः स्वरूपकथनपूर्वकं दोषान्सभेदान्निरूपयितुमुपक्रमते—**इहेति।** इह = अस्मिल्लक्षणग्रन्थे, प्रथमतः = पुरा, दोषगुणरीत्यलङ्काराणाम्, अवस्थितिक्रमः = अवस्थानपरिपाटी, दर्शितः, 'दोषास्तस्याऽपकर्षकाः" इत्यादिवाक्यकदम्बकैरिति भावः। सम्प्रति = अधुना, ते = दोषाः, के = किंस्वरूपाः, कतिविधाश्चेति, अपेक्षायाम् = आकाङ्क्षायाम्, उद्देशक्रमप्राप्तानां = नाममात्रेण वस्तुसङ्कीर्तनमुद्देशः, तस्य क्रमः = परिपाटी तया प्राप्तानाम् (आसादितानाम्), तादृशानां दोषाणां = दुःश्रवत्वादीनां, स्वरूपं = लक्षणम्, आह = ब्रवीति, ग्रन्थकार इति शेषः।

दोषलक्षणमाह—**रसाऽपकर्षका इति।** रस्यन्त आस्वाद्यन्त इति रसाः। रसानां (रस-रसाभासादीनामास्वादविषयाणाम्,) अपकर्षकाः (तदनुभूतौ विघ्नस्वरूपाः) दोषाः, इति दोषलक्षणम्। प्रथमपरिच्छेदे "दोषास्तस्याऽपकर्षकाः" वाक्येनाऽनेन लक्षिता एव दोषास्तथाऽप्यत्राऽपि तेषां पुनरुपादानेन पौनरुक्त्यं नाशङ्कनीयम्। दोषनिरूपणाऽवसरे पुनस्तदवतारणं स्थूणानिखननन्यायेन दृढीकरणार्थमिति ज्ञातव्यम्। सामान्यतो दोषस्त्रिविधः—शब्ददोषोऽर्थदोषो रसदोषश्चेति। शब्दोऽपि त्रिविधः—पदं, पदांऽशो वाक्यं चेति। इत्थं च शब्ददोषस्याऽपि त्रैविध्यमवसेयम्। एवं दोषाः पञ्चप्रकाराः। अग्रे मूलकार एव स्फुटीकरिष्यति।

साहित्यदर्पणमें प्रथम परिच्छेदमें काव्यमें दोष, गुण, रीति और अलङ्कारोंके स्थितिका क्रम दिखाया गया है। अभी उनका लक्षण क्या है ऐसी अपेक्षा होनेपर उद्देशके क्रमसे प्राप्त दोषोंका लक्षण करते हैं—"रसाऽपकर्षका दोषाः"। आर्थात् रसके आस्वादमें प्रतिबन्ध करने वालेको "दोष" कहते हैं।

अस्यार्थः प्रागेव स्फुटीकृतः । तद्विशेषानाह—

—ते पुनः पञ्चधा मताः ।

पदे तदंशे वाक्येऽर्थे संभवन्ति रसेऽपि यत् ॥ १ ॥

स्पष्टम् । तत्र—

दुःश्रवत्रिविधाश्लीलानुचितार्थाप्रयुक्तताः ।
ग्राम्याप्रतीतसन्दिग्धनेयार्थनिहतार्थताः ॥ २ ॥
अवाचकत्वं क्लिष्टत्वं विरुद्धमतिकारिता ।
अविमृष्टविधेयांशभावश्च पदवाक्ययोः ॥ ३ ॥
दोषाः केचिद्भवन्त्येषु पदांशेऽपि पदे परे ।
निरर्थकासमर्थत्वे च्युतसंस्कारता तथा ॥ ४ ॥

अस्याऽर्थ इति । प्रागेव = प्रथमपरिच्छेद एव । "दोषास्तस्याऽपकर्षकाः" अस्य व्याख्यायामिति भावः ।

तद्विशेषान् = तस्य (दोषस्य) विशेषान् (भेदान्) आह—**ते पुनरिति** । ते = दोषाः । दोषाऽधिकरणान्याह—**पद इति** । तत्र = दोषेषु—

दोषानुद्दिशति—**दुःश्रवेति** । "द्वन्द्वाऽन्ते पदं प्रत्येकं सम्बद्ध्यते" इति नयेन "ता" इति तल्प्रत्ययादेशे (पदभागे) दुःश्रवादीनां सम्बन्धः । दुःश्रवता, त्रिविधाऽश्लीलता, अनुचिताऽर्थता, अप्रयुक्तता, ग्राम्यता, अप्रतीतता, सन्दिग्धता, नेयाऽर्थता, निहताऽर्थता ॥ २ ॥ अवाचकत्वं, क्लिष्टत्वं, विरुद्धमतिकारिता, अविमृष्टविधेयांऽशभावः पदे वाक्ये च । एते त्रयोदश दोषाः पदे वाक्ये च भवन्ति ॥ ३ ॥ एषु=दोषेषु, केचिद्दोषाः पदांशेऽपि भवन्ति । एवं च परे = अन्ये—निरर्थकत्वम्, असमर्थत्वं तथा च्युतसंस्कारता'चैते दोषाः, पदे = केवलं शब्दे, भवन्तीति शेषः ॥ ४ ॥

रसके भेदोंको कहते हैं—**ते पुनः०** । पद, पदांऽश, वाक्य, अर्थ और रसमें रहनेसे दोषके पांच भेद होते हैं ।

दुःश्रवेति । दुःश्रव, तीन प्रकारकी अश्लीलता, अनुचितार्थता, अप्रयुक्तता, ग्राम्यता, अप्रतीतता, सन्दिग्धता, नेयाऽर्थता, निहताऽर्थता, अवाचकत्व, क्लिष्टत्व, विरुद्धमतिकारिता, पदगत और वाक्यगत अविमृष्ट विधेयांऽशत्व । इन दोषोंमें से कुछ दोष पदांशमें भी रहते हैं, परन्तु निरर्थकत्व, असमर्थत्व और च्युतसंस्कारत्व ये तीन दोष केवल पदमें रहते हैं ।

परुषवर्णतया श्रुतिदुःखावहत्वं दुःश्रवत्वम् ।

यथा—

'कार्तार्थ्यं यातु तन्वङ्गी कदाऽनङ्गवशंवदा ।'

अश्लीलत्वं व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जकत्वात्त्रिविधम् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'दृप्तारिविजये राजन् ! साधनं सुमहत्तव ।'

दुःश्रवत्वं लक्षयति—**परुषेति ।** परुषवर्णतया = कठोराऽक्षरत्वेन, श्रुति-दुःखाऽवहत्वं = कर्णाधारत्वेनात्मनि दुःखाधायकत्वं दुःश्रवत्वम् एतच्च वीरबीभत्स-रौद्ररसाऽतिरिक्तस्थले बोध्यं, तत्र त्वेतस्यानुकूलत्वमेव । अतोऽयमनित्यो दोषः । एकदेशनिष्ठत्व एवाऽयं दोषः, समस्तपदव्यापकत्वे तु प्रतिकूलवर्णत्वदोष एव ।

दुःश्रवत्वमुदाहरति—**कार्तार्थ्यमिति ।** अनङ्गवशंवदा = मदनाऽधीना, तन्वङ्गी = कृशाऽङ्गी, कदा = कस्मिन्समये, कार्तार्थ्यं = कृताऽर्थतां, यातु = गच्छतु । अत्र कार्तार्थ्यशब्दस्य परुषवर्णतया प्रकृतशृङ्गाररसव्यञ्जकत्वाऽभावाच्छ्रुतिदुःखाव-हत्वाद्दुःश्रवत्वम् ।

विभागगर्भमश्लीलत्वं यथा—व्रीडाजुगुप्साऽमङ्गलाऽन्यतमव्यञ्जकत्वम-श्लीलत्वम् । अश्लीलत्वं त्रिविधं—व्रीडाव्यञ्जकत्वं, जुगुप्साव्यञ्जकत्वम्, अमङ्गल-व्यञ्जकत्वं चेति । अश्लीलपदस्य व्युत्पतिर्यथा—श्रियं = काव्यसम्पत्तिं, लाति = आदत्त इति श्रीलः, श्रीपदपूर्वकात् "ला आदान" इति धातोः "आतोऽनुपसर्गे क" इति सूत्रेण कप्रत्ययः । "कपिलकादीनां संज्ञाच्छन्दसोर्वेति वाच्यम्" इति गणपाठे कपिलकादीनामाकृतिगणत्वेन लत्वाच्छ्लीलः, न श्लीलः अश्लीलः, तस्य भावोऽश्लीलत्वम् ।

असभ्यस्मृतिहेतुत्वमश्लीलत्वम् । तत्र व्रीडाव्यञ्जकमश्लीलत्वमुदाहरति—**दृप्तारीति ।** व्रीडा = लज्जा । हे राजन् = हे भूप !, दृप्ताऽरिविजये = दृप्ताः

कठोर वर्ण होनेसे कर्णोंमें दुःख उत्पन्न करने वालेको "दुःश्रव" कहते हैं । जैसे—कार्तार्थ्यम् इति । कामदेवकी अधीन होकर कृशाङ्गी कब कृतार्थभाव-को प्राप्त होगी ।

अश्लीलत्वमिति । लज्जा, घृणा और अमङ्गलको व्यञ्जन करने वालेको "अश्लील" कहते हैं । इस प्रकार उसके तीन भेद होते हैं । क्रमसे उदाहरण देते देते हैं—**दृप्तारीति ।** हे राजन् ! दर्पयुक्त शत्रुओंकी विजयमें आपका साधन (सैन्य)

'प्रससार शनैर्वायुर्विनाशे तन्वि ! ते तदा ।'

अत्र साधन-वायु-विनाश-शब्दा अश्लीलाः ।

'शूरा अमरतां यान्ति पशुभूता रणाध्वरे ।'

(दर्पयुक्ताः) ये अरयः (शत्रवः) तेषां विजये (पराजये), तव = भवतः, सुमहत् = अतिविशालं, साधनं = सेनाद्युपकरणम्, अस्तीति शेषः । अत्र साध्यते रतिक्रिया अनेनेति व्युत्पत्त्या साधनपदस्य मेढ्रव्यञ्जकत्वेनाऽश्लीलत्वम् ।

जुगुप्साऽमङ्गलव्यञ्जके अश्लीलत्वे उदाहरति—**प्रससारेति** । कश्चिन्नायकः नायिकां कथयति—हे तन्वि = हे कृशाङ्गि, तदा = तस्मिन्काले, ते = तव, विनाशे= अदर्शने सति, वायुः = वातः, शनैः = मन्दं, प्रससार = प्रसृतो बभूव । अत्र प्रथम-चरणे प्रयुक्तस्य "वायु" शब्दस्याऽपानवायुव्यञ्जकत्वेन जुगुप्साव्यञ्जकमश्लीलत्वम् । एवं च द्वितीय-चरणे प्रयुक्ताद्विनाशशब्दान्मरणरूपस्याऽमङ्गलाऽर्थस्य प्रतीतेर-मङ्गलव्यञ्जकमश्लीलत्वम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** ।

अनुचितार्थत्वमुदाहरति—**शूरा इति** । अयोग्यार्थव्यञ्जकत्वमनुचितार्थत्वम्, तद्यथा—शूराः = वीराः, रणाऽध्वरे = युद्धयज्ञे, पशुभूताः = चतुष्पदीभूता, छागादिपशुभूता इति भावः । अमरतां = देवभावं, यान्ति = गच्छन्ति । अत्र यथा धर्मयुद्धे हताः शूराः "य आहवेषु वध्यन्ते भूम्यर्थमपराङ्मुखाः ।

अकूटैरायुधैर्यान्ति ते स्वर्गं योगिनो यथा ।। (याज्ञ० १-३२४)

इति याज्ञवल्क्यवचनेन यथा स्वर्गं यान्ति तथैव यज्ञे हताः (संस्कृताः) पशवोऽपि—

"ओषध्यः पशवो वृक्षास्तिर्यञ्चः पक्षिणस्तथा ।
यज्ञार्थं निधनं प्राप्ताः प्राप्नुवन्त्युत्सृतीः पुनः ।। (मनु० ५-४०)

बहुत बड़ा है । यहाँ पर साधन शब्द पुरुषके गोप्य अङ्गका बोधक होनेसे लज्जा-व्यञ्जक अश्लील है ।

हे सुन्दरि ! तुम्हारे विनाश (अदर्शन) होनेपर वायु धीरे-धीरे बहने लगी । यहाँपर विनाश पदसे मरणरूप अर्थकी प्रतीति होनेसे अमङ्गल-व्यञ्जक अश्लील है, और "वायु" शब्दसे अपान वायुकी प्रतीति होने से जुगुप्साव्यञ्जक अश्लील है ।

शूरा इति । शूरलोग युद्ध-रूप यज्ञमें पशुभूत होकर अमर भावको प्राप्त करते हैं ।

अत्र पशुपदं कातर्यमभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थत्वम् ।

अप्रयुक्तत्वं तथा प्रसिद्धावपि कविभिरनादृतत्वम् ।

यथा—

'भाति पद्मः सरोवरे ॥'

अत्र पद्मशब्दः पुंल्लिङ्गः ।

ग्राम्यत्वं यथा—

'कटिस्ते हरते मनः ॥'

अत्र कटिशब्दो ग्राम्यः ।

इति मनुवचनानुसारेण उत्सृतीः=जात्युत्कर्षान् प्राप्नुवन्ति । परमत्र शूराणामुपमानभूतानां पशूनां कातरत्वेन शूराणां कातर्यमभिव्यनक्तीत्यनुचितार्थत्वम् ।

अप्रयुक्तं लक्षयति—**तथेति** । तथा = तेन प्रकारेण, तद्रूपेणेति भावः । प्रसिद्धौ = ख्यातौ, सत्यामपि, कविभिः = कवयितृभिः, अनादृतत्वं = तिरस्कृतत्वम् । अस्वीकृतत्वमिति भावः ।

अप्रयुक्तमुदाहरति— **भातीति** । पद्मः = कमलं, सरोवरे = कासारे, भाति= शोभते । लक्ष्ये लक्षणं संगमयति – **अत्रेति** । अत्र=अस्मिन्वाक्ये, पद्मशब्दः पुंलिङ्गः । अयं भावः । "वा पुंसि पद्मं नलिनम्" इति कोशाऽनुशासनतः पद्मशब्दस्य वैकल्पिकपुंलिङ्गत्वेऽपि कवयः पद्मशब्दं पुंलिङ्ग एव प्रयुञ्जते, अतोस्य पुंलिङ्गप्रयोगस्य कविभिरनादृतत्वादप्रयुक्तत्वम् । अयं चाऽनित्यदोषः "स्यातामदोषौ श्लेषादौ निहतार्थाऽप्रयुक्तते" (७-१७) इति वक्ष्यमाणत्वात् ।

ग्राम्यत्वमुदाहरति— **कटिरिति** । तल्लक्षणं यथा ग्रामीणप्रयोज्यत्वं ग्राम्यत्वम् । यथा कश्चिद्ग्रामीणः (अविदग्धः) कथयति (हे सुन्दरि !) ते = तव, कटिः = श्रोणिः, मनः = चित्तं, ममेति शेषः । हरते = आकर्षति । अत्र विदग्धा नितम्बशब्दं प्रयुञ्जते न तु कटिशब्दमतोऽत्र ग्रामीणप्रयोज्यत्वाद्ग्राम्यत्वम् । अयमप्यनित्यो दोषः, "ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु० १-२१" इति वक्ष्यमाणत्वात् ।

यहांपर पशु शब्द कातरताका अभिव्यञ्जन करता है, अतः अनुचितार्थ दोष है । व्याकरण और कोषके अनुसार प्रसिद्धि होनेपर भी कवियोंसे आहृत नहीं हो तो उसे "अप्रयुक्त" दोष कहते हैं, जैसे "भाति पद्मः सरोवरे" कमल तालाबमें शोभित होता है । यहाँ पद्म शब्द "वा पुंसि पद्मम्" कोषमें विकल्पसे पुँलिङ्गमें होनेपर भी कवियोंसे अनाहृत है ।

ग्राम्यका उदाहरण देते हैं—"कटिस्ते हरते मनः" हे सुन्दरि ! तुम्हारी कटि (नितम्ब) मनको हर लेती है । यहाँ पर कटि शब्द ग्राम्य है ।

अप्रतीतत्वमेकदेशमात्रप्रसिद्धत्वम् ।

यथा—

'योगेन दलिताशयः ॥'

अत्र योगशास्त्र एव वासनार्थ आशयशब्दः ।

'आशीःपरम्परां वन्द्यां कर्णे कृत्वा कृपां कुरु ।'

अत्र वन्द्यामिति किं वन्दीभूतायामुत वन्दनीयामिति संदेहः ।

अप्रतीतत्वं लक्षयति—**एकदेशेति** । एकदेशमात्रप्रसिद्धत्वमप्रतीतत्वम् । एकदेशमात्रे = (एकशास्त्रमात्रे), प्रसिद्धत्वम् (प्रख्याततत्वम्) ।

अप्रतीतत्वमुदाहरति—**योगेनेति** । योगेन = चित्तवृत्तिनिरोधेन, दलिताऽऽशयः = दलितः (निवारितः) आशयः (वासना) यस्य सः ।

लक्ष्ये लक्षणं संगमयति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्प्रयोगे, आशयशब्दः, वासनार्थः = वासनाऽभिधेयः । योगशास्त्रेतरलक्ष्ये विद्वांसः "अभिप्रायश्छन्द आशय" इति कोशाऽनुशासनात् आशयशब्दमभिप्रायरूपेऽर्थे प्रयुञ्जते, अतोऽत्राऽप्रतीतत्वं दोषः । अयमप्यनित्यो दोषः "गुणः स्यादप्रतीतत्वं ज्ञत्वं चेद्वक्तृवाच्ययोः ७–१८" इति वक्ष्यमाणत्वात् ।

सन्दिग्धत्वमुदाहरति—**आशीरिति** । सन्देहजनकाऽर्थशब्दत्वं सन्दिग्धत्वम् । यथा—"**आशीःपरम्परामिति** । कस्यचित्पुरुषस्य कंचित्प्रभुं प्रत्युक्तिरियम्। हे प्रभो ! वन्द्यां=वन्दनीयाम्, आशीःपरम्पराम्=आशीर्वादपङ्क्तिं, कर्णे कृत्वा=श्रुत्वेति भावः । कृपां = दयां, कुरु = विधेहि । अत्र बवयोरभेदबुद्धिमूलकात्सन्देहात् बन्द्यां =हठहृतमहिलायाम्, इति सप्तम्यन्तपदस्याऽपि उपस्थितेः सन्दिग्धत्वम् । सन्दिग्धत्वमप्यनित्यो दोषः "सन्दिग्धत्वं तथा व्याजस्तुतिपर्यवसायि चेत्" इति (७–२०) वक्ष्यमाणत्वात् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = उदाहरणे, वन्द्यामिति बवयोरभेदबुद्धेः किं वन्दीभूतायाम्, इति सप्तम्यन्तपदस्य उत (अथवा) वन्दनीयामिति द्वितीयाऽन्तपदस्य इति सन्देहः ।

शास्त्रके एक देशमात्रमे प्रसिद्धको "अप्रतीत" दोष कहते हैं । जैसे—"योगेन दलिताशयः" । योग (समाधि) से आशय (वासना) को दलित करने वाला । यहांपर योग शास्त्रमें ही आशयका वासना अर्थ है ।

"**सन्दिग्ध**" दोष का उदाहरण देते हैं—"आशीःपरम्परां बन्द्याम्" कान में वन्दनीय आशीर्वादकी परम्पराको रखकर दया करो । यहाँ "वन्द्याम्" इस पद का अर्थ बन्दीभूत (कैद की गई) स्त्री है वा वन्दन के योग्य अर्थ है ऐसा संन्देह होनेसे सन्दिग्ध है ।

नेयार्थत्वं रूढिप्रयोजनाभावादशक्तिकृतं लक्ष्यार्थप्रकाशनम्।

यथा—

'कमले चरणाघातं मुखं सुमुखि ! तेऽकरोत्।'

अत्र चरणाघातेन निर्जितत्वं लक्ष्यम्।

निहतार्थत्वमुभयार्थस्य शब्दस्याप्रसिद्धेऽर्थे प्रयोगः।

नेयाऽर्थत्वं लक्षयति—**रूढीति**। यत्र रूढिप्रयोजनाऽभावात् = रूढिप्रयोजनयोः (लक्षणाहेतुभूतयोः) अभावात्, अशक्तिकृतम् = कवेरसामर्थ्यप्रयुक्तम्, लक्ष्याऽर्थप्रकाशनम् = लक्ष्याऽर्थस्य (लक्षणाप्रतिपाद्याऽर्थस्य) प्रकाशनं भवति, तत् नेयाऽर्थत्वं नाम दोषः। नेयः (स्वेच्छया प्राप्यः, न तु लक्षणाहेतुतः, इति भावः) अर्थः (लक्ष्याऽर्थः) यस्य स नेयाऽर्थ इति व्युत्पत्तिः।

नेयाऽर्थत्वमुदाहरति—**कमले इति**।

कस्यचिन्नायकस्य नायिकां प्रति चाटूक्तिरियम्। हे सुमुखि = हे सुवदने !, ते = भवत्याः, मुखं = वदनं, कमले = पद्मे, चरणाघातं = पादप्रहारम्, अकरोत् = व्यदधात्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = इह पद्याऽर्धे, चरणाघातेन = पादप्रहारेण, निर्जितत्वं = कमलस्य सुन्दरीमुखकर्तृकं पराजितत्वं, लक्ष्यं = लक्ष्याऽर्थः। अत्र मुखस्य चरणाऽभावात्, तदाघाताऽसंभवेन मुख्यार्थबाधः। ततश्च लक्षणायां रूढिप्रयोजनयोरभावान्नेयाऽर्थत्वम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, चरणाघातेन = पादप्रहारेण, निर्जितत्वं = कमलस्य पराजितत्वं, लक्ष्यं = लक्षणीयाऽर्थः। नेयाऽर्थत्वं नित्यो दोषः, प्रतिप्रसवाऽभावादिति भावः।

निहताऽर्थत्वं लक्षयति—**निहताऽर्थत्वमिति**। उभयाऽर्थस्य = प्रसिद्धाऽप्रसिद्धोभयाऽर्थवाचकस्य, शब्दस्य = पदस्य, अप्रसिद्धे = प्रसिद्धिरहिते, अर्थे = वाच्ये, प्रयोगे निहताऽर्थत्वम्।

"नेयार्थत्व"—जहाँपर रूढि और प्रयोजन न होकर भी कविके असामर्थ्यसे लक्ष्य अर्थका प्रकाशन होता है उसे "नेयार्थ" कहते हैं। जैसे—कमले०। हे सुन्दरि ! तुम्हारे मुखने कमलमें चरणसे प्रहार किया। इसमें चरणके आघातसे जीतना यह लक्ष्य अर्थ है।

"निहतार्थत्व"—उभयाऽर्थक शब्दका अप्रसिद्ध अर्थमें प्रयोग करनेसे "निहताऽर्थ" दोष होता है।

यथा—

'स्वर्गग्रामटिकाविलुण्ठनवृथोच्छूनैः किमेभिर्भुजैः ।

अत्र वृथात्वं विधेयम्, तच्च समासे गुणीभावादनुवाद्यत्वप्रतीतिकृत् ।

यथा वा—

'रक्षांस्यपि पुरः स्थातुमलं रामानुजस्य मे ।'

अत्र रामस्येति वाच्यम् ।

अविमृष्टविधेयांशत्वमुदाहरति—**स्वर्गेति** । विधेयस्य विधेयत्वप्रतीत्यजनकत्वमविमृष्टविधेयांशत्वम् । तद्व्युत्पत्तिस्तु—अविमृष्टः (प्राधान्येनाऽनिर्दिष्टः) विधेयांऽशो यस्मिन् अविमृष्टविधेयांऽशः, तस्य भावस्तत्त्वम् । अस्यैव विधेयाऽविमर्श इति नामान्तरम् । अयं नित्यो दोषः, बाधकाऽभावात् । वाक्ये यत्र उद्देश्यविधेययोः पौर्वापर्यव्यतिक्रमस्तत्र **वाक्यगतं** समासे यत्र तादृशो व्यतिक्रमस्तत्र पदगतमविमृष्टविधेयांऽशत्वम् । पदगताऽविमृष्टविधेयांऽशस्योदाहरणम्—रामकर्तृकराक्षसविनाशेन निर्विण्णस्य रावणस्योक्तिरियम् । स्वर्गग्रामटिकेति । स्वर्गः (देवलोकः) एव ग्रामटिका (क्षुद्रग्रामः), तस्याः विलुण्ठनं (विधूननम्) तेन वृथोच्छूनैः (व्यर्थस्फीतैः) एभिः = समीपतरवर्तिभिः, भुजैः = बाहुभिः, विंशतिसंख्यकैर्भारभूतैरिति शेषः । किं = किं फलमिति भावः ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र =अस्मिन्नुदाहरणे वृथात्वं विधेयं, तच्च समासे= तत्पुरुषसमासे, गुणीभावात् = अप्रधानत्वात्, अनुवाद्यत्वप्रतीतिकृत् = अनुवाद्यत्वस्य (उद्देश्यत्वस्य) प्रतीतिकृत् = प्रत्यायकम् । अविमृष्टविधेयांऽशस्य प्रकारान्तरमुदाहरति—**यथा वेति** ।

लक्ष्मणस्योक्तिरियं—**रक्षांस्यपीति** । रामाऽनुजस्य = रामचन्द्राऽवरजस्य, मे = सौमित्रेः, पुरः = अग्रे, स्थातुम् = अवस्थानं कर्तुं, रक्षांसि अपि = राक्षसा अपि, अलं = समर्थाः, काकुस्वरात् न समर्था इति भावः । अत्र "रामाऽनुजस्ये" त्यत्र "रामस्ये"ति वाच्यम् । अयं भावः । अत्र दुष्प्रसहराक्षसानां विनाशे रामः प्रसिद्धः, परं रामस्याऽनुजस्याऽपि मेऽग्रतः स्थातुं राक्षसाः समर्था भवेयुः ? इति रामसम्बन्धित्वाल्लक्ष्मणस्य दर्पः, न खलु केवलस्य लक्ष्मणस्य मुख्यता किन्तु रामसम्बन्धिन इति भावः । समासेन अयमर्थो न संगच्छतेऽतो रामस्येति वाच्यम् ।

जैसे—स्वर्गग्रामटिका० । स्वर्गरूप ग्रामटिका (छोटे ग्राम) को लूटनेसे व्यर्थ सूजे हुए, इन हाथोंसे क्या फल है ? यहाँ वृथात्व विधेय है, वह तत्पुरुष समासमें गौण हो गया है इसलिए उद्देश्यत्वकी प्रतीति कराता है, अतः दोष है । अथवा—रक्षांस्यपि० । रामानुज मेरे सामने राक्षस भी रहनेमें समर्थ होंगे क्या ? यहाँपर "रामस्य अनुजस्य" ऐसा कहना चाहिए ।

यथा वा—

'आसमुद्रक्षितीशानाम् ।'

अत्रासमुद्रमिति वाच्यम् ।

यथा वा—

'यत्र ते पतति सुभ्रु ! कटाक्षः षष्ठबाण इव पञ्चशरस्य ।'

अत्र षष्ठ इवेत्युत्प्रेक्ष्यम् ।

यथा वा—

'अमुक्ता भवता नाथ ! मुहूर्त्तमपि सा पुरा ।'

अत्रामुक्तेत्यत्र 'नञः प्रसज्यप्रतिषेधत्व'मिति विधेयत्वमेवोचितम् ।

उदाहरणान्तरं प्रदर्शयति—आसमुद्रेति ।

"सोऽहमाजन्मशुद्धानामाफलोदयकर्मणाम् ।
आसमुद्रक्षितीशानामानाकरथवर्त्मनाम् ॥" इति पूर्णश्लोकः ।

अत्र "आसमुद्रं क्षितीशानाम्" इति व्यस्ते एव पदे वाच्ये । रघुवंशोत्पन्नानां राज्ञां समुद्रेष्वपि स्वामित्वमासीदिति कवेरभिप्रायः । अत्र समासकरणे तदर्थाऽनवगतेर्दोष इति भावः ।

अन्यदुदाहरणं प्रदर्शयति—यत्रेति । हे सुभ्रु = हे शोभनभ्रूसम्पन्ने ! यत्र पञ्चबाणस्य = कामस्य, षष्ठबाणः = षष्ठशरः, इव, ते = तव, कटाक्षः=नेत्राऽन्तः; पतति, अत्र षष्ठत्वमुत्प्रेक्ष्यं विधेयं च, समासेन तत्प्राधान्याऽनवगमाद्दोष इति भावः । एवं चाऽत्र "सुभ्रु" इत्यत्र "नेयङुवङ्स्थानावस्त्री"ति नदीसंज्ञाया निषेधात् "अम्बार्थनद्योर्ह्रस्व" इत्यनेन ह्रस्वत्वाऽप्रसक्तेश्च्युतसंस्कृत्याख्यो दोषश्चेत्यवगन्तव्यः ।

नञ्समासे अविमृष्टविधेयांऽशत्वमुदाहरति—अमुक्तेति ।

नायिकासखी नायकं प्रति नायिकाऽवस्थां प्रतिपादयति—हे नाथ ! सा = नायिका, पुरा = पूर्वं, भवता = श्रीमता मुहूर्तम् अपि = अल्पकालपर्यन्तमपि,

---

अथवा—"आसमुद्रक्षितीशानाम्" । समुद्र तकके राजाओंके, यहांपर "आसमुद्रम् क्षितीशानाम्" एसा कहना चाहिए ।

अथवा—यत्र ते पतति०" हे सुन्दरि ! कामदेवके षष्ठबाणके सदृश तुम्हारा कटाक्ष गिरता है । यहांपर षष्ठः इव कहकर षष्ठको विधेय करना चाहिए था सो न होनेसे यहांपर दोष हुआ है ।

अथवा—"अमुक्ता०" हे नाथ ! वह (नायिका) पहले आपसे एक मुहूर्तमात्र भी अमुक्ता (नहीं छोड़ी गई) थी । यहां "अमुक्ता" इसमें नञ् प्रसज्यप्रतिषेध है, अतः उसे "मुक्ता न" कहकर विधेय न करनेसे दोष हुआ है ।

यदाहुः—

'अप्राधान्यं विधेर्यत्र प्रतिषेधे प्रधानता।
प्रसज्यप्रतिषेधोऽसौ क्रियया सह यत्र नञ्॥'

यथा—

'नवजलधरः संनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः।'

उक्तोदाहरणे तु तत्पुरुषसमासे गुणीभावे नञः पर्युदासतया निषेधस्य विधेयतयानवगमः।

यदाहुः—

'प्रधानत्वं विधेर्यत्र, प्रतिषेधेऽप्रधानता।
पर्युदासः स विज्ञेयो यत्रोत्तरपदेन नञ्॥'

"कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति द्वितीया। अमुक्ता = अत्यक्ता। अत्र "अमुक्ता" इत्यत्र नञः प्रसज्यप्रतिषेधत्वमतः निषेधस्य विधेयत्वमुचितं परमत्र समासात् तस्य प्रधानतायाः प्रतीतेरभावाद्विधेयाऽविमर्शः।

प्रसज्यप्रतिषेधं लक्षयति—**अप्राधान्यमिति**। यत्र=स्थाने, विधेः=विध्यर्थस्य, अप्राधान्यम् = अप्रधानता, निषेधाऽपेक्षयेति शेषः। अतः प्रतिषेधे = नञर्थे, प्रधानता = प्राधान्यम्। असौ—**अयं प्रसज्यप्रतिषेधः**। यत्र = यस्मिन्स्थाने, क्रियया = क्रियापदेन सह, नञ्, असौ = अयं, प्रसज्यप्रतिषेधः। अस्य व्युत्पत्तिस्तु प्रसज्य = विधाय विहितस्य, प्रतिषेधः = निषेधः। इति।

प्रसज्यप्रतिषेधमुदाहरति—**"नवजलधर इति**। अयं = दृश्यमानः, नवजलधरः = नूतनमेघः, संनद्धः = वायुना पुञ्जीकृतः, दृप्तनिशाचरः = कश्चिद्दर्पयुक्तराक्षसो, न = न अस्ति। अत्रेदंपदार्थस्योद्देश्यत्वं, नञर्थस्याऽभावस्य विधेयत्वम्। अतः क्रियया सह नञः सम्बन्धादिदं प्रसज्यप्रतिषेधस्योदाहरणम्। उक्तोदाहरणे = अभिहितदृष्टान्ते अमुक्तेत्यादौ तु, तत्पुरुषसमासे = नञ्तत्पुरुषसमासे, नञः=निषेधस्य। गुणीभावे = उपसर्जनत्वे, पर्युदासतया = पर्युदासवज्ज्ञायमानत्वेन, निषेधस्य = प्रतिषेधस्य, विधेयतया = विधेयभावेन, अनवगमः = अप्रतीतिः।

पर्युदासं लक्षयति—**यदाहुरिति**। यत्र = यस्मिन्वाक्ये, विधेः = विध्यर्थस्य,

---

जैसे कहते हैं—"अप्राधान्यम्" अर्थात् जहाँ विधिकी प्रधानता नहीं है और निषेधमें प्रधानता होती है और जहाँपर क्रिया-पदके साथ नञ्का प्रयोग होता है उसे "प्रसज्यप्रतिषेध" कहते हैं। जैसे—"नवजलधरः०" यह वायुसे पुञ्जीकृत नया मेघ है, दर्प-युक्त राक्षस नहीं। यहाँपर "दृप्तनिशाचरो न अस्ति" इस प्रकार नञ्को क्रिया'-पदके साथ प्रयोग करनेसे यह प्रसज्यप्रतिषेध है। "अमुक्ता" इस उदाहरणमें तो तत्पुरुष समासमें नञ्को गौण करनेसे पर्युदास होनेसे निषेधका विधेय रूपसे ज्ञान नहीं हुआ है। पर्युदासका लक्षण

तेन—

'जुगोपात्मानमत्रस्तो भेजे धर्ममनातुरः।
अगृध्नुराददे सोऽर्थानसक्तः सुखमन्वभूत्॥'

अत्रात्रस्ततााद्यनूद्यात्मगोपनाद्येव विधेयमिति नञः पर्युदासतया गुणीभावो युक्तः।

ननु "अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः" 'असूर्यंपश्या राजदारा' इत्यादिवत् 'अमुक्ता' इत्यत्रापि प्रसज्यप्रतिषेधो भवतीति चेद्? न, अत्रापि यदि भोजनादिरूप-क्रियांशेन नञः सम्बन्धः स्यात्तदैव तत्र प्रसज्यप्रतिषेधत्वं वक्तुं शक्यम्, न च तथा; विशेष्यतया प्रधानेन तद्भोज्यार्थेन कर्त्रंशेनैव नञः सम्बन्धात्।

प्रधानत्वं = मुख्यत्वं, प्रतिषेधे = निषेधे, अप्रधानता = अमुख्यता, यत्र=यस्मिन्स्थले, उत्तरपदेन = उत्तरपदार्थेन सह, नञ् = निषेधार्थः, सम्बद्ध्यत इति शेषः, स पर्युदासः, विज्ञेयः = ज्ञातव्यः।

पर्युदासमुदाहरति—**जुगोपेति**। रघुवंशस्य प्रथमसर्गे दिलीपवर्णनमिदम्। सः = दिलीपः, अत्रस्तः = अभीतः सन्, आत्मानं = स्वं, जुगोप = रक्षितवान्। न पुनस्त्रासेनेति भावः। अनातुरः = अरुग्णः सन्, धर्मं = सुकृताचरणं, भेजे=सिषेवे, अगृध्नुः = अगर्धनः = अलोलुपः सन्निति भावः, अर्थं = धनम्, आददे = जग्राह, एवं च असक्तः = आसक्तिरहितः सन्नेव, सुखं = तत्तद्विषयानन्दम्, अन्वभूत् = अनुभूतवान्। न पुनरासक्त्यतिशयेन विषयानन्दमनुभूतवानिति भावः। अनुष्टुब् वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन् पद्ये, अत्रस्तादि, अनूद्य = उद्दिश्य, आत्मगोपनादिकमेव = स्वरक्षणादिकमेव, विधेयं = विधातुं योग्यम्। आदिपदेन—अनातुरत्वम् उद्दिश्य धर्मभजनम्, अगृध्नुत्वमुद्दिश्य अर्थादानं तथा चाऽसक्तत्वमुद्दिश्य सुखाऽनुभवकरणं विधेयमिति नञः = निषेधाऽर्थस्य, पर्युदासतया = उत्तरपदसम्बन्धेन, गुणीभावः = उपसर्जनत्वम्। युक्तः = उचितः। नञः उत्तरपदेन समस्तत्वेऽपि प्रसज्यप्रतिषेधत्वमाशङ्कते—**नन्विति**। श्राद्धं (श्राद्धसम्बन्धि अन्नम्)

करते हैं—जहाँपर विधिकी प्रधानता है और निषेधमें अप्रधानता है और जहाँपर उत्तर पदके साथ नञ्का सम्बन्ध होता है उसे "पर्युदास" कहते हैं।

पर्युदासका उदाहरण देते है—जुगोपात्मानम्। वे (दिलीप) अत्रस्त (निडर) होकर अपनी रक्षा करते थे, अनातुर (आतुर न होकर) धर्मकी सेवा करते थे; अगृध्नु (लालची न होकर) धनका सञ्चय करते थे और असक्त (आसक्तिरहित) होकर सुखका अनुभव करते थे।

इस पद्यमें अत्रस्तत्व आदिको उद्देश्य करके आत्मगोपन आदि ही विधेय है इस कारणसे पर्युदास होनेसे नञ्को उपसर्जन करना उचित है।

आशङ्का करते है—जैसे—"अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः (श्राद्ध भोजन न करने-

यदाहुः—

'श्राद्धभोजनशीलो हि यतः कर्ता प्रतीयते ।
न तद्भोजनमात्रं तु कर्तरीनेर्विधानतः ॥' इति ।

न भुङ्क्त इति अश्राद्धभोजी ब्राह्मणः, सूर्यं न पश्यन्तीति असूर्यम्पश्याः, राजदाराः (भूपपत्न्यः), इत्यादिवत् "अमुक्ता" इत्यत्राऽपि प्रसज्यप्रतिषेधो भवतीति चेत्, निषेधति—**नेति** । अत्राऽपि = पूर्वोक्तस्थलद्वयेऽपि, भोजनादिरूपक्रियांशेन = आदिपदेन दर्शनग्रहणमपि, तथा च भोजनरूपक्रियांऽशेन दर्शनरूपक्रियांऽशेन च, नञः= नञ्पदाऽर्थस्य, सम्बन्धः, स्यात् यदि = भवेच्चेत्, तदैव = तह्यॅव, तत्र = तस्मिन्नुदाहरणद्वितये प्रसज्यप्रतिषेधः वक्तुं शक्यः, न च तथा = न च तेन प्रकारेण, वक्तुं शक्यः । भोजनक्रियया दर्शनक्रियया च सह नञः सम्बन्धाऽभावादिति भावः । **विशेष्यतयेति** । कर्तरि विहिताभ्यां णिनिखश्-रूपाभ्यां कृत्प्रत्ययाभ्यामुपस्थापितेन विशेष्यतया प्रधानेन मुख्येन, तद्भोज्यर्थेन = तद्भोजिदर्शकरूपाऽर्थेन कर्त्रंशेनैव नञः सम्बन्धात् । "प्रकृतिप्रत्ययौ सहाऽर्थं ब्रूतस्तयोः प्रत्ययाऽर्थः (कर्ता) प्रधानम्" इति नयेनेति भावः ।

अत्राऽर्थं आचार्यसम्मतिमाह—**यदाहुरिति** । "अश्राद्धभोजी" असूर्यंपश्या राजदाराः" इत्यत्र श्राद्धभोजनशीलः = श्राद्धाऽन्नभोजनस्वभावः, उपलक्षणं चैतत् सूर्यदर्शनशीलाः, इति कर्ता = व्यापाराश्रयः, प्रतीयते=ज्ञायते "अश्राद्धभोजी"त्यत्र "व्रत" इति सूत्रेण कर्तरि णिनेः "असूर्यम्पश्या" इत्यत्र "असूर्यललाटयोर्दृशितपोः" इति सूत्रेण, कर्तरि खश्विधानतः, तद्भोजनमात्रं = श्राद्धभोजनमात्रं च तथा च सूर्यदर्शनरूपं क्रिया (धात्वर्थः), न प्रतीयते ।

वाला ब्राह्मण)" "असूर्यम्पश्या राजदाराः (सूर्य दर्शन न करने वाली राजपत्नी) इत्यादिकों में प्रसज्यप्रतिषेध (नञ्) होता है । वैसे ही "अमुक्ता" यहाँपर भी प्रसज्यप्रतिषेध होता है । खण्डन करते हैं—यहाँ भी यदि भोजनादि रूप क्रियाके अंशके साथ नञ्का सम्बन्ध होता हो तो प्रसज्य प्रतिषेध कह सकते हैं । परन्तु वैसा नहीं है । विशेष्यतासे प्रधान श्राद्धभोजी स्वरूप अर्थवाले कर्ताके अंशके साथ ही नञ्का सम्बन्ध है । जैसे कहते हैं—"अश्राद्धभोजी" पद से श्राद्धभोजनशील कर्ताकी प्रतीति होती है, श्राद्ध-भोजनमात्रकी प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि यहाँपर "सुप्यजातौ णिनिस्ताच्छील्ये" इस सूत्रसे इनि (णिनि) प्रत्यय कर्ताके अर्थमें होता है । इसी तरह "असूर्यम्पश्या राजदाराः" यहाँ भी "**असूर्यललाटयोर्दृशितपोः**" इस सूत्रसे कर्ताके अर्थमें खश् प्रत्यय होता है ।

'अमुक्ता' इत्यत्र तु क्रिययैव सह संबन्ध इति दोष एव।

एते च क्लिष्टत्वादयः समासगता एव पददोषाः।

वाक्ये दुःश्रवत्वं यथा—

'स्मरार्त्यन्धः कदा लप्स्ये कार्तार्थ्यं विरहे तव ॥'

निगमयति—**अमुक्तेति**। "अमुक्ते"त्यत्र तु क्रियया = मोचनरूपक्रियया एव नञः सम्बन्धः, अतः दोष एव = प्रसज्यप्रतिषेधस्थाने पर्युदासस्य सम्बन्धात् अविमृष्टविधेयांशत्वमेव। अत्राऽपि रसादिप्रतीतिबिलम्बनं दूषकताकारणं बोध्यम्।

एते चेति। एते च = पूर्वोक्ताश्च क्लिष्टत्वादयः = क्लिष्टत्वं, विरुद्धमतिकृत्त्वमविमृष्टविधेयांशत्वं च, समासगता एव, पददोषाः, समासगतत्वाऽभावे, वाक्ये वाक्यदोषा बोद्धव्याः। इति पददोषाः।

(अथ वाक्यदोषाः)

वाक्ये दुःश्रवत्वमुदाहरति—**स्मरार्त्यन्ध इति**। कश्चिन्नायको नायिकां कथयति—हे प्रिये ! तव = भवत्याः, विरहे = वियोगे, स्मरार्त्यन्धः=स्मरस्य (कामस्य) या अर्तिः (पीडा) तया अन्धः (कार्यदर्शनाऽक्षमः) अहं, कदा = कस्मिन्काले, कार्तार्थ्यं = कृताऽर्थतां, "कृताऽर्थस्य भावः कार्तार्थ्यं, तत्। ष्यञ् प्रत्ययः। लप्स्ये= प्राप्स्यामि, अत्र "स्मराऽर्त्यन्धः" "कार्तार्थ्यम्" लप्स्मि इत्यनेकपदे परुषवर्णत्वं तया श्रुतिदुःखावहत्वाद्वाक्यनिष्ठ दुःश्रवत्वम्।

परन्तु "अमुक्ता" इस पद्यमें तो क्रियाके ही साथ नञ्का सम्बन्ध है, इसलिए दोष ही है।

एते चेति। ये क्लिष्टत्व, विरुद्धमतिकारिता और अविमृष्टविधेयांशभाव समासमें ही पददोष होते हैं।

वाक्ये इति। वाक्यमें दुःश्रवत्व—स्मरार्त्यन्धः हे प्रिये ! तुम्हारे विरहमें कामवेदनासे अन्धा हुआ मैं कब कार्तार्थ्य (कृतार्थभाव)—को प्राप्त करूंगा। यहाँपर "स्मरार्त्यन्धः" और "कार्तार्थ्यम्" और "लप्स्ये" अनेक पदोंमें कठोर वर्ण होनेसे कानोंमें दुःख उत्पन्न करनेसे वाक्यगत दुःश्रवत्व दोष है।

कृतप्रवृत्तिरन्यार्थे कविर्वान्तं समश्नुते ॥

अत्र जुगुप्साव्यञ्जिकाश्लीलता।

'उद्यत्कमललौहित्यैर्वक्राभिर्भूषिता तनुः॥'

अत्र कमललौहित्यं पद्मरागः, वक्राभिर्वामाभिः, इति नेयार्थता।

'धम्मिल्लस्य न कस्य प्रेक्ष्य निकामं कुरङ्गशावाक्ष्याः।
रज्यत्यपूर्वबन्धव्युत्पत्तेर्मानसं शोभाम् ॥'

अत्र धम्मिल्लस्य शोभां प्रेक्ष्य कस्य मानसं न रज्यतीति संबन्धः क्लिष्टः।

जुगुप्साव्यञ्जिकामश्लीलतामुदाहरति—**कृतप्रवृत्तिरिति**। अन्यार्थे = अन्यकविनिबद्धाऽर्थे, कृतप्रवृत्तिः = विहितप्रयत्नः, कविः = कवयिता, वान्तं = भक्षितोद्गीर्णं, समश्नुते = संभक्षयति। अत्र "वान्तं" "समश्नुते" इत्येकैकशः पदस्याऽश्लीलत्वाऽभावेऽपि "वान्तं समश्नुते" इति पदद्वयसम्बन्धाद्वान्तद्रव्यभक्षण-रूपाऽर्थाऽवगमात् जुगुप्साव्यञ्जिका अश्लीलता।

वाक्यगतां नेयाऽर्थतामुदाहरति—**उद्यदिति**। अत्र वक्रापदेन पर्यायवाचकत्वेन "वामाभिः" एवं "कमललौहित्यपदेन पद्मरागो लक्ष्यते तथा च वक्राभिः = वामाभिः, उद्यत्कमललौहित्यैः = प्रकाशमानपद्मरागैः (करणैः) तनुः= शरीरं, भूषिता = अलङ्कृतेत्यर्थः। परमत्रोभयत्र रूढि = प्रसिद्धिम्, प्रयोजनं च विना लक्ष्याऽर्थप्रकाशनाद्वाक्यगता नेयार्थता बोद्धव्या।

वाक्यगतं क्लिष्टत्वमुदाहरति—**धम्मिल्लस्येति**। कुरङ्गशावाक्ष्याः = हरिणशिशुनयनायाः, अपूर्वा (विचित्रा) बन्धव्युत्पत्तिः (बन्धनरीतिः) यस्य, तादृशस्य

कृतेति। दूसरेके अर्थमे (संग्रहकी) प्रवृत्ति (चेष्टा) करने वाला कवि वान्त (वमन किया गया पदार्थ) खाता है। यहांपर घृणाको व्यङ्ग्य करने वाली वाक्यगत अश्लीलता है।

उद्यदिति। वक्राओं (वामाओं अर्थात् सुन्दरियों) ने उद्यत् (चमकते हुए) कमललौहित्यों (पद्मरागरत्नों) से शरीरको अलङ्कृत किया। यहांपर लक्षणा करके कमललौहित्यका पद्मराग और वक्राका वामा अर्थ किया है। परन्तु रूढि वा प्रयोजनके विना लक्षणाके न होनेसे वाक्यगत नेयार्थ दोष है।

धम्मिल्लस्येति। मृगशावकके समान नेत्रोंवाली सुन्दरीकी अपूर्व बन्धन-रीति वाली चोटियोंकी शोभाको देखकर किसका चित्त अनुरक्त नहीं होता है? यहांपर पदार्थोंका सम्बन्ध क्लिष्ट (व्यवहित) होनेसे वाक्यगत क्लिष्टत्व दोष है।

'न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः' इति ॥ (पृ० ८)

अत्र चायमेव न्यक्कार इति न्यक्कारस्य विधेयत्वं विवक्षितम्। तच्च शब्द-रचनावैपरीत्येन गुणीभूतम्। रचना च पदद्वयस्य विपरीतेति वाक्यदोषः।

'आनन्दयति ते नेत्रे योऽसौ सुभ्रु ! समागतः।'

इत्यादिषु 'यत्तदोर्नित्यः संबन्धः' इति न्यायादुपक्रान्तस्य यच्छब्दस्य निराकाङ्क्षत्वप्रतिपत्तये तच्छब्दसमानार्थतया प्रतिपाद्यमाना इदमेतददःशब्दा

धम्मिल्लस्य = केशपाशस्य, "धम्मिल्लःसंयताः कचा" इत्यमरः। शोभं = कान्ति, प्रेक्ष्य = वीक्ष्य, कस्य = जनस्य, मानसं = चित्तं, न रज्यते = अनुरक्तं न भवति। आर्या वृत्तम्। अत्र, सम्बन्धः = अन्वयः, क्लिष्टः = क्लेशयुक्तः, अत्राऽर्थस्य विलम्बेन प्रतीतेः क्लिष्टत्वम्।

वाक्यगतमविमृष्टविधेयांशत्वमुदाहरति—"न्यक्कारो ह्ययमेव मे यदरयः (पृ० ८) इत्यादि। पद्यमिदं प्राक् पदगताऽविमृष्टविधेयांऽशत्वे उदाहृतं, साम्प्रतं वाक्यगताऽविमृष्टविधेयांशत्वे विवृणोति—**अत्र चेति**। अत्र = अस्मिन् पद्ये, "अनुवाद्यमनुक्त्वैव न विधेयमुदाहरेत्" इति नयेन "अयमेव न्यक्कार" इति इदंपदमुद्देश्यत्वेन निर्दिश्य न्यक्कारस्य विधेयत्वं विवक्षितं = वक्तुमिष्टम्। तच्च = न्यक्कारस्य विधेयत्वं, शब्दरचनावैपरीत्येन = पदविन्यासविपर्यासेन, गुणीभूतम् = अप्रधानीभूतम्। अत्र वाक्यदोषत्वं साधयति—**रचनेति**। पदद्वयस्य, रचना विन्यासः विपरीता=विपर्यस्ता, इति वाक्यदोषः, पद्यस्याऽत्रांशे वाक्यगतमविमृष्टविधेयांशत्वमिति भावः। वाक्यगताऽविमृष्टविधेयांशस्यापरमुदाहरणं निर्दिशति—"**आनन्दयती"ति**। हे सुभ्रु = हे सुन्दरभ्रूसम्पन्ने, हे सुन्दरीति भावः, यः = पुरुषः, ते = तव, नेत्रे = नयने, आनन्दयति = आनन्दयुक्ते करोति, असौ = सः, समागतः = संप्राप्तः। इत्यादिषु = स्थलेषु, यत्तदोः = यत्तत्पदयोः, नित्यः = शाश्वतिकः, परस्परसापेक्षत्वेनेति शेषः। सम्बन्धः = उद्देश्यभूतयत्पदार्थस्य विधेयभूततत्पदार्थे सम्पर्कः, इति = एतादृशात्, न्यायात् = नियमात्, उपक्रान्तस्य = आरब्धस्य, उद्देश्यरूपेणेति शेषः। यच्छब्दस्य=यत्पदस्य, निराकाङ्क्षत्वप्रतिपत्तये = आकाङ्क्षाराहित्यज्ञानाय, तच्छब्द-

"**न्यक्कारो ह्ययमेव" इति**। यहाँपर "अयमेव न्यक्कारः" यही तिरस्कार है "इस प्रकार "न्यक्कार" शब्दको विधेय बनाना चाहिए। वह यहाँपर शब्द-रचनाकी-विपरीतताके कारण गौण हुआ है। दो पदोंकी रचना विपरीत (उलटी) है, इस कारण वाक्यदोष है।

"आनन्दयति०" हे सुन्दरि ! यः (जो) आया हुआ है असौ (वह) तुम्हारे नेत्रोंको आनन्दित करता है। इत्यादि स्थलोंमें "यत्तदोर्नित्यः सम्बन्धः" यद् और तद् शब्दका नित्य सम्बन्ध है, इस न्यायसे आरम्भ किये गये यद् शब्दकी आकाङ्क्षा पूरी करनेके लिए तद् शब्दका समानाऽर्थक होनेसे प्रयोग किये जाने-

विधेया एव भवितुं युक्ताः। अत्र तु यच्छब्दनिकटस्थतया अनुवाद्यत्वप्रतीतिकृत्।
तच्छब्दस्यापि यच्छब्दनिकटस्थितस्य प्रसिद्धपरामर्शित्वमात्रम्।

यथा—

'यः स ते नयनानन्दकरः सुभ्रु! स आगतः।'

यच्छब्दव्यवधानेन स्थितास्तु निराकाङ्क्षत्वमवगमयन्ति।

समानाऽर्थतया = तत्पदतुल्यार्थत्वेन, प्रतिपाद्यमानाः = प्रयुज्यमानाः, इदमेतददः-शब्दाः, विधेया एव = विधेयरूपा एव, भवितुं युक्ताः।

प्रयुक्तस्थले दोषमुपपादयति—**अत्र त्विति।** अत्र = अस्मिन् स्थले तु, यच्छब्दनिकटस्थतया = यत्पदसमीपस्थत्वेन, "योऽसौ" इत्येतद्रूपेणेति भावः। अनुवाद्यत्वप्रतीतिकृत् = उद्देश्यत्वबोधकारकः, तथा चोद्देश्यवाचकयत्पदाऽनन्तरं विधेयवाचकतत्पदाऽभावेन साकाङ्क्षत्वेन विधेयाऽविमर्शत्वम्।

विधेयाऽविमर्शदोषाऽभावस्थलं प्रदर्शयितुमुपक्रमते—**तच्छब्दस्याऽपि।** यच्छब्दनिकटस्थितस्य तच्छब्दस्य अपि = न केवलमदःशब्दस्येति शेषः। प्रसिद्ध-परामर्शित्वमात्रं = प्रसिद्धबोधकत्वम् एव।

तादृशं स्थलं प्रदर्शयति—**यः स त इति।** (हे सुन्दरि!) यः सः=प्रसिद्धो जनः, ते = तव, नयनानन्दकरः = नेत्रप्रमोदकारकः, सः = जनः, आगतः=आयातः। अत्र "यः सः" इत्यत्र "सः" इति पदस्य प्रसिद्धिपरामर्शित्वमात्रान्न यच्छब्दाऽपेक्षेति भावः। द्वितीयस्य तच्छब्दस्य यच्छब्दस्य विधेयबोधकत्वमतो न विधेयाऽविमर्शदोषसद्भावः।

यच्छब्दव्यवधानेन स्थितस्यादःशब्दस्य निराकाङ्क्षत्वं प्रदर्शयति—**यच्छब्देति।** यच्छब्दस्य व्यवधानेन स्थितास्तुः = इदमेतददःशब्दा इति शेषः।

वाले इदम्, एतद् और अदस् शब्द विधेय ही होने चाहिएँ। परन्तु यहाँ यद् शब्द के निकट (अदस् शब्द) होनेसे वह उद्देश्यत्व प्रतीति करता है, अतः वाक्यगत अविमृष्टविधेयांश दोष है। इसी तरह यद् शब्दके निकटमें स्थित तद् शब्द भी केवल प्रसिद्धका परामर्श करता है विधेय नहीं होता है।

जैसे—"यः स ते०" हे सुन्दरि! जो वह तुम्हारे नेत्रोंका आनन्द-कारक है, वह आ गया है। इसमें यद् शब्दका निकटवर्ती तद् शब्द केवल प्रसिद्धका परामर्शक है।

यच्छब्देति। यद् शब्दके व्यवधानसे रहे हुए इदम्, एतद् और अदस् शब्द निराकाङ्क्षताको जताते हैं—

यथा—

'आनन्दयति ते नेत्रे योऽधुनाऽसौ समागतः।'

एवमिदमादिशब्दोपादानेऽपि। यत्र च यत्तदोरेकस्यार्थत्वं संभवति, तत्रैकस्योपादानेऽपि निराकाङ्क्षत्वप्रतीतिरिति न क्षतिः। तथाहि यच्छब्दस्योत्तरवाक्यगतत्वेनोपादाने सामर्थ्यात् पूर्ववाक्ये तच्छब्दस्यार्थत्वम्।

यथा—

'आत्मा जानाति यत्पापम्।'

आनन्दयति। यः, ते = तव, नेत्रे = नयने, आनन्दयति=आनन्दिते करोति अधुना = सम्प्रति, असौ = सः, समागतः = संप्राप्तः। अत्र "यः" इत्यस्मात् "असौ" इति पदस्य "अधुना" पदेन व्यवधानात् यच्छब्दस्य निराकाङ्क्षत्वमवगमयति।

निगमयति—**एवमिति।** एवम्=इत्थम्, इदमादिशब्दोपादानेऽपि = इदमादिपदग्रहणेऽपि, बोध्यमिति शेषः।

यत्तदोर्द्वयोः पदयोरुपादान एव एष विचारः, एकस्यैवोपादाने तु नाऽयं विचार इत्याह—**यत्र चेति।** यत्र = यस्मिन् स्थले, यत्तदोः = पदयोः, एकस्य = एकतरस्य, आर्थत्वम् = अर्थवशाल्लभ्यत्वं, न शाब्दत्वमिति भावः। संभवति, तत्र = तस्मिन् स्थले, एकस्य = एकतरस्य, उपादानेपि = शब्दतो ग्रहणेऽपि, निराकाङ्क्षत्वप्रतीतिः, इति, न क्षतिः = नो हानिः, नाऽविमृष्टविधेयांऽशत्वमिति भावः।

उक्तमर्थमुपपादयति—**तथाहीति।** "आत्मा जानाति यत्पापम्" इत्यत्र, यच्छब्दस्य = यत्पदस्य, उत्तरवाक्यगतत्वेन = अनन्तरवाक्यप्राप्तत्वेन, उपादाने = ग्रहणे, सामर्थ्यात् = यत्तदोर्नित्यसम्बन्धरूपात्, पूर्ववाक्ये तच्छब्दस्य = तत्पदस्य, आर्थत्वम् = अर्थवशाल्लभ्यत्वम्। तदात्मा जानाति यत्पापमस्तीत्यर्थः। अत्र पूर्ववाक्ये तच्छब्दस्यार्थत्वेन लभ्यत्वान्निराकाङ्क्षत्वम्। यच्छब्दस्योत्तरवाक्यगतत्वेन

जैसे—**आनन्दयति०** (हे सुन्दरि!) जो तुम्हारे नेत्रोंको आनन्दित करता है, वह इस समय आया हुआ है। यहांपर "यः" यद् शब्दके अनन्तर "अधुना" पदसे व्यवधान होनेसे "असौ" अदस् शब्दसे तद् पदार्थका बोध होकर आकाङ्क्षा शान्त हो जाती है, अतः दोष नहीं। इसी प्रकार "इदम्" आदि शब्दोंके ग्रहणमें भी जानना चाहिए। **यत्र चेति।** जहाँ यद् और तद् शब्दोंमें कोई एक अर्थवश लभ्य होता है वहाँ एकमात्रका ग्रहण करने पर भी आकाङ्क्षा शान्त हो जाती है वहां क्षति नहीं है अर्थात् अविमृष्ट विधेयांश दोष नहीं होता है। **तथा हीति।** जहाँ यद् शब्द उत्तर वाक्यमें लिया जाता है वहां अर्थ-वश तद् शब्द लभ्य होता है। जैसे "आत्मा जानाति यत्पापम्" हृदय जानता है जो पाप है। यहाँ पूर्व वाक्यमें "आत्मा उसको जानता है जो पाप है, यहांपर तद् पद अर्थ-वश लब्ध हो गया है अतः केवल यद् शब्दके रहने पर भी आकाङ्क्षा शान्त होनेसे दोष नहीं है।

एवम्—

'यं सर्वशैलाः परिकल्प्य वत्सं मेरौ स्थिते दोग्धरि दोहदक्षे ।
भास्वन्ति रत्नानि महौषधीश्च—'

इत्यादावपि ।

तच्छब्दस्य प्रकान्तप्रसिद्धानुभूतार्थत्वे यच्छब्दस्यार्थत्वम् ।

क्रमेण यथा—

'स हत्वा वालिनं वीरस्तत्पदे चिरकाङ्क्षिते ।
धातोः स्थान इवादेशं सुग्रीवं संन्यवेशयत् ॥'

ग्रहणेऽपि पद्यान्तरे तच्छब्दस्याऽर्थत्वं प्रतिपादयितुमुपक्रमते—**एवमिति । यं सर्वशैला इति ।** कुमारसम्भवस्थं हिमवद्वर्णनपरकं पद्यमिदम् । "पृथूपदिष्टां दुदुहुर्धरित्रीम्" इति चरमचरणः । **सर्वशैलाः** = विन्ध्यादयः सकलपर्वताः, **दोहदक्षे** = दोहनप्रवीणे, **मेरौ** = सुमेरुपर्वते, **दोग्धरि** = दोहनकर्तरि, **स्थिते** = विद्यमाने सति, **भास्वन्ति** = दीप्यन्ति, भास्वत्यश्च भास्वन्ति च भास्वन्ति, तानि देहलीदीपन्यायेन **भास्वन्ति** = दीप्यन्ति, **रत्नानि** = मणीन्, भास्वतीः = दीप्यमानाः, **महौषधीश्च** = आमलक्यादि-महौषधानि च, "नपुंसकमनपुंसकेनैकवच्चाऽस्याऽन्यतरस्याम्" इति क्लीबशेषत्वैकवद्भावश्च । **दुदुहुः** = दुग्धवन्तः । "यमि"त्यत्राऽकथितं चेति कर्मसंज्ञत्वाद् द्वितीया । उपजातिर्वृत्तम् । अस्मात्पद्यात्पूर्वं स्थिते "अस्त्युत्तरस्यां दिशि देवतात्मा" इत्यादौ "स हिमालयोऽस्तीति पूर्ववाक्ये तच्छब्दस्याऽर्थत्वमतो निराकाङ्क्षत्वान्न विधेयाऽविमर्शदोषत्वम् ।

यच्छब्दस्यार्थत्वस्थलानि निर्देष्टुमुपक्रमते **तच्छब्दस्येति ।** तच्छब्दस्य = तत्पदस्य, प्रकान्त-प्रसिद्धाऽनुभूताऽर्थत्वे = प्रक्रान्ताऽर्थत्वे (पूर्वप्रतीतिविषयाऽर्थत्वे), प्रसिद्धाऽर्थत्वे (लोकविख्याताऽर्थत्वे) अनुभूताऽर्थत्वे (अनुभवविषयाऽर्थत्वे) च यच्छब्दस्य आर्थत्वम् = अर्थलभ्यत्वम् ।

स्थलत्रयं निर्देष्टुमुपक्रमते **क्रमेण यथेति ।**

तच्छब्दस्य प्रक्रान्ताऽर्थकत्वं निदर्शयति—**स हत्वेति ।** रघुवंशस्य द्वादश-

इसी तरह—"यं सर्वशैला०" अर्थात् समस्त पर्वतोंने जिस (हिमालय-पर्वत) को बछड़ा बनाकर दूहनेमें निपुण सुमेरु पर्वतके दोहक होनेपर पृथुसे प्रदर्शित पृथिवीसे चमकदार रत्नों और औषधोंको दूह लिया । "यहां उत्तर वाक्य में यद् शब्द (यम्) के होनेपर "अस्त्युत्तरस्याम्" इस पहले वाक्य में तद् शब्दके न होनेपर भी अर्थसे लभ्य हो गया है—अतः दोष नहीं है ।

जहांपर तद् शब्द प्रारब्धाऽर्थक, प्रसिद्धाऽर्थक वा अनुभूताऽर्थक होता है वहां यद् शब्द अर्थवश लभ्य होता है; अतः ऐसे स्थलोंमें दोष नहीं होता है ।

जैसे कि—"स हत्वा०" उन वीर (रामचन्द्र) ने वालीको मारकर बहुत

'स वः शशिकलामौलिस्तादात्म्यायोपकल्पताम् ।'

'तामिन्दुसुन्दरमुखीं हृदि चिन्तयामि ।'

यत्र च यच्छब्दनिकटस्थितानामपीदमादिशब्दानां भिन्नलिङ्गविभक्तित्वं तत्रापि निराकाङ्क्षत्वमेव ।

सर्गस्थं पद्यमिदम् । वीरः = शूरः, सः = प्रक्रान्तः, प्रकरणागतो रामः, वालिनं = सूर्यपुत्रं वानरराजं, हत्वा = व्यापाद्य, चिरकाङ्क्षिते = बहुकालादभीष्टे तत्पदे = तस्य (वालिनः) पदे (स्थाने) वानराऽधिपतित्वस्थान इति भावः, धातोः=भू वादि-धातोः, स्थाने = स्थले, आदेशं = वच्याद्यादेशम्, इव, सुग्रीवं = देवेन्द्रपुत्रं, संन्य-वेशयत्=स्थापितवान् । अनुष्टुब्वृत्तम् । अत्र स इति तत्पदं प्रक्रान्त (प्रकरणागत)-रामरूपाऽर्थवाचकत्वाद्यत्पदं नाऽपेक्षते ।

तच्छब्दस्य प्रसिद्धाऽर्थकत्वं निदर्शयति—स व इति । सः = श्रुतिस्मृति-पुराणप्रसिद्धः, शशिकलामौलिः = शशिकला (चन्द्रकला) मौलौ (शिरसि) यस्य सः, चन्द्रशेखर इति भावः । वः = युष्माकं, तादात्म्याय = तदात्मभावाय, सायुज्यमोक्षाऽर्थमिति भावः । उपकल्पतां = सम्पद्यताम् । अत्र "स" इति शब्दः प्रसिद्धाऽर्थबोधकत्वाद्यच्छब्दं नाऽपेक्षते ।

तच्छब्दस्याऽनुभूताऽर्थत्वं निर्दिशति—तामिति । इन्दुसुन्दरमुखीम् = इन्दुः (चन्द्रः) इव सुन्दरं (मनोहरम्) मुखं (वदनम्) यस्यास्तां, तां = मयाऽसकृदा लिङ्गनादिनाऽनुभूतां, ललनामौलिभूतां प्रियां, हृदि = चित्ते, चिन्तयामि=ध्यायामि । अत्र "ताम्" इति तत्पदस्य अनुभूताऽर्थप्रियावाचकत्वाद्यत्पदस्य नाऽपेक्षा वर्तत इति भावः । यच्छब्दनिकट-स्थितानामपीदमादिशब्दानां निराकाङ्क्षत्वस्थलानि प्रदर्श-यितुमुपक्रमते—यत्र चेति । यत्र च=येषु च स्थलेषु, यच्छब्दनिकटस्थितानां = यत्पद-समीपवर्तिनाम्, अपि, इदमादिशब्दानां, भिन्नलिङ्गविभक्तित्वं = भिन्नलिङ्गत्वं,

---

कालसे अभीष्ट उसके राज्यमें सुग्रीवको धातुके स्थानमें आदेशकी तरह प्रतिष्ठित किया ।

यहाँपर "सः" यह तद् पद प्रक्रान्त (प्रकरणागत) रामरूप अर्थका वाचक होनेसे "यद्" पद अर्थसे लभ्य होता है । स व इति । सः (वे) चन्द्र-कलाको शिरमें रखनेवाले (शिवजी) तुम्हारे सायुज्य (मोक्ष) के लिए हों, यहाँ-पर "सः" यह तद् पद प्रसिद्ध शिवजीके अर्थका वाचक होनेसे यद् शब्द आर्थ है ।

तामिति । ताम् (उस) चन्द्रके समान सुन्दर मुखवाली (प्रिया) को हृदयमें चिन्तन करता हूं । यहाँपर तद् पद अनुभूतार्थ प्रियाका वाचक होने से यद् पद आर्थ (अर्थलभ्य) होता है अतः दोष नहीं ।

यत्र चेति । जहाँपर यद् शब्दके समीपमें रहनेपर भी इदम् आदि शब्दोंके

क्रमेण यथा—

'विभाति मृगशावाक्षी येदं भुवनभूषणम् ।'

'इन्दुर्विभाति यस्तेन दग्धाः पथिकयोषितः ।'

क्वचिदनुपात्तयोर्द्वयोरपि सामर्थ्यादवगमः ।

यथा—

'न मे शमयिता कोऽपि भारस्येत्युर्वि ! मा शुचः ।
नन्दस्य भवने कोऽपि बालोऽस्त्यद्भुतपौरुषः ॥'

भिन्नविभक्तित्वं च तत्राऽपि=तेषु स्थलेष्वपि, निराकाङ्क्षत्वम्=आकाङ्क्षारहितत्वमेव, अतो न विधेयाऽविमर्शः । **क्रमेण यथेति** । यत्पदनिकटस्थ इदम्पदस्य भिन्नलिङ्गत्वेन निराकाङ्क्षत्वस्थलं प्रदर्शयति—**विभातीति** । या, मृगशावाक्षी = हरिणशिशुनयना, विभाति = शोभते, इदं, भुवनभूषणं = लोकाऽलङ्कारः । अत्र भूषणस्य सर्वनामत्वादिदमित्यत्र नपुंसकलिङ्गत्वं, तथा चाऽत्र यच्छब्दनिकटस्थितस्येदम्पदस्य भिन्नलिङ्गत्वान्निराकाङ्क्षत्वमतो न दोषः । यच्छब्दनिकटस्थितस्य तत्पदस्य भिन्नविभक्तित्वाद्दोषाऽभावं प्रदर्शयति—**इन्दुरिति** । य इन्दुः = चन्द्रः, विभाति = शोभते, तेन = इन्दुना, पथिकयोषितः = पान्थललनाः, दग्धाः = संतापिताः । अत्र यच्छब्दनिकटस्थितस्य तच्छब्दस्य "तेने"ति भिन्नविभक्तित्वान्निराकाङ्क्षत्वमतो दोषाभावः । क्वचिच्चाऽगृहीतयोर्यत्तच्छब्दयोः सामर्थ्यादवगमस्थानं प्रदर्शयितुमुपक्रमते—**क्वचिदिति** । क्वचित् = कुत्रचित्, अनुपात्तयोः = अप्रयुक्तयोः, द्वयोः = यत्तच्छब्दयोः, अपि, सामर्थ्यात् = आकाङ्क्षावशात्, अवगमः= ज्ञानम् । उदाहरति—**यथेति** । अत्र कश्चिज्जनः दुष्टभारपीडितामुर्वीं सान्त्वयति—**न म इति** । हे उर्वि = हे पृथिवि !, मे = मम, उर्व्याः । भारस्य = भरस्य, कोऽपि = जनः, शमयिता =

लिङ्ग और विभक्ति भिन्न हों वहां भी आकाङ्क्षा शान्त होती है, अतः दोष नहीं होता है । क्रम से जैसे—

विभातीति या = जो, मृगशावकके समान नेत्रोंवाली सुन्दरी शोभित हो रही है **इदम्** (वह) लोकका भूषण है । यहाँ "या" के साथ ही विधेय "इदम्" पद है तो भी उसका लिङ्ग भिन्न है अतः उससे उद्देश्यताकी प्रतीति नहीं होती है । **इन्दुर्विभाति** । यः (जो) चन्द्र शोभित हो रहा है उससे पथिकोंकी स्त्रियाँ (प्रोषितभर्तृकाएं) दग्ध हुई हैं । यहाँ "या" के साथ भिन्न विभक्तिवाला "तेन" पद है अतः उद्देश्यताकी प्रतीति नहीं होती है इस लिए दोष नहीं है । **क्वचिदिति** । कहींपर "यद्" और "तद्" दोनों का प्रयोग न होने पर भी सामर्थ्य (आकाङ्क्षावश) से दोनोंका ज्ञान होता हैं । जैसे—**"न मे" इति** (हे पृथिवि!) मेरे भारका शमन करनेवाला कोई नहीं है ऐसा सोच कर शोक मत करो, नन्दके भवनमें अद्भुत पुरुषार्थ-

अत्र योऽस्ति, स ते भारस्य शमयितेति बुध्यते ।

'यद्यद्विरहदुःखम्मे तत्को वाऽपहरिष्यति' ?

इत्यत्रैको यच्छब्दः साकाङ्क्ष इति न वाच्यम्, तथाहि—यद्यदित्यनेन केनचिद्रूपेण स्थितं सर्वात्मकं वस्तु विवक्षितम् । तथाभूतस्य तस्य तच्छब्देन परामर्शः । एवमन्येषामपि वाक्यगतत्वेनोदाहरणं बोध्यम् ।

पदांशे दुःश्रवत्वं यथा—

'तद्गच्छ सिद्ध्यै कुरु देवकार्यम् ।'

शमनकारकः, दुष्टहनननेति शेषः । न = नाऽस्ति, इति = इत्थं, मा शुचः = शोकं मा कार्षीः । नन्दस्य = गोपाऽधिपतेः, भवने = सदने, कोऽपि = अनिर्वचनीयः, अद्‌भुतपौरुषः = विचित्रपुरुषाऽर्थसम्पन्नः, बालः = बालकः, अस्ति = विद्यते ।

उपपादयति—अत्रेति । अत्र = अस्मिन्पद्ये । योऽस्ति, स ते भारस्य शमयितेति बुध्यते = ज्ञायते, सामर्थ्यादिति शेषः ।

आशङ्काविशेषं परिहर्तुमुपक्रमते—यद्यदिति । यद् यत्, मे = मम, विरहदुःखं = वियोगक्लेशः, तद् = विरहदुःखं, को वा = जनः, अपहरिष्यति = निवारयिष्यति । इत्यत्र = अस्मिन् पद्ये, एको यच्छब्दः, साकाङ्क्षः = आकाङ्क्षासहितः, इति = इत्थं, न वाच्यं = नो वक्तव्यम् । परिहरति—तथाहीति । यद्यदित्यनेन = पदद्वयेन, केन चिद्रूपेण, स्थितं = विद्यमानं, सर्वात्मकं = सकलप्रकारं, वस्तु = दुःखात्मकः पदार्थः, विवक्षितं = वक्तुमिष्टं, वक्त्रेति शेषः । तथाभूतस्य = तादृशस्य, तस्य = दुःखात्मकवस्तुनः, तच्छब्देन = तत्पदेन, परामर्शः = ग्रहणम्, अतो निराकाङ्क्षत्वेन दोषाऽभावः ।

एवमिति । एवम् = इत्थम्, अन्येषाम्=अनुचिताऽर्थत्वादीनाम्, अपि वाक्यगतत्वेन, उदाहरणं बोध्यम् ।

पदांशे दुःश्रवत्वमुदाहरति—तदिति । कुमारसंभवस्थं पद्यमिदम् । इन्द्रस्य कामं प्रत्युक्तिरियम् । तत् = तस्मात्कारणात्, सिद्ध्यै = कार्यसफलतायै, पार्वती

वाला कोई बालक है । यहांपर यः (जो) बालक है सः (वह) तुम्हारे भारका शमन करने वाला है आकाङ्क्षावश ऐसी प्रतीति होती है ।

यद्यदिति । यत् यत् (जो जो) मेरा विरहदुःख है उसे कौन दूर करेगा । यहांपर विधेयबोधक तद् शब्द एक मात्र होनेसे (एक यद् शब्द साकाङ्क्ष है (अतः दोष है) ऐसा नहीं कहना चाहिए, क्योंकि प्रथमचरणमें यद् यद् "दो पदोंसे प्रतिपादित समस्त दुःखका "यद्" शब्दसे परामर्श है । अतः निराकाङ्क्ष होनेसे दोष नहीं । इसी तरह अन्य दोषोंका भी वाक्यगत उदाहरण समझना चाहिए । पदांशमें श्रुतिकटु, जैसे—तद्गच्छेति="इस कारणसे सिद्धिके लिए जाओ, देवकर्म करलो ।

'धातुमत्तां गिरिर्धत्ते ।'

अत्र मत्ताशब्दः क्षीबार्थे निहतः ।

'वर्ण्यते किं महासेनो विजेयो यस्य तारकः ।'

अत्र विजेय इति कृत्यप्रत्ययः क्तप्रत्ययार्थेऽवाचकः ।

'पाणिः पल्लवपेलवः'

पेलवशब्दस्याद्याक्षरे अश्लीले ।

प्रति हरस्याकर्षणसिद्ध्यर्थमिति भावः । गच्छ = याहि, देवकार्यं = सुरकृत्यं, कुरु = विधेहि । अत्र "सिद्ध्यर्थं" इति पदस्य "ध्यं" इत्यंशस्य परुषवर्णत्वेन श्रुतिदुःश्राव-हत्वात्पदांशे श्रुतिकटुत्वम् ।

पदांशे निहतार्थत्वमुदाहरति—"धातुमत्तां गिरिर्धत्ते" इति । गिरिः = पर्वतः, धातुमत्तां = गैरिकादिधातुयुक्ततां, धत्ते = धारयति । अत्र प्रशस्ता धातवः सन्ति यस्मिन् स धातुमान्, "तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्" इति मतुप् प्रत्ययः, धातुमतो भावो धातुमत्ता, ताम् "तस्य भावस्त्वतलौ" इति तल्प्रत्ययः, "तलन्तं स्त्रियाम्" इति लिङ्गानुशासनसूत्रात्तदन्तस्य स्त्रीत्वम् ।

प्रकृते दोषमुपपादयति—अत्रेति । अत्र = अस्मिन् उदाहरणे "मत्ता" शब्दः, क्षीबार्थे = मत्तारूपार्थे, प्रसिद्धत्वादयम् निहतः = धातुमत्तारूपे अप्रसिद्धः । अतः पदांशगतं निहतार्थत्वम् ।

पदांशेऽवाचकमुदाहरति—वर्ण्यते इति । महासेनः = कार्त्तिकेयः, किं = कथं, वर्ण्यते = प्रशस्यते, यस्य = महासेनस्य, तारकः = तारकासुरः, विजेयः = विजेतुं योग्यः । "विजेय" इत्यत्र व्युपसर्गपूर्वकात् "जि जय" इति धातोः "अर्हे कृत्यतृचश्चे"ति सूत्रेणार्हार्थे "अचो यत्"इति सूत्रेण विहितः कृत् (यत्) प्रत्ययः, भूतार्थरूपे क्तप्रत्ययार्थे अवाचकः ।

पदांशजातमश्लीलत्वमुदाहरति—"पाणिः पल्लवपेलवः" इति । पाणिः = करः, सुन्दर्या इति शेषः । पल्लवपेलवः = पल्लवम् (किसलयम्)

"इसमे" ध्यं यह पदांश श्रुतिकटु है । धातुमत्तामिति । पर्वत धातुमत्ता (धातुयुक्तता)-ताको धारण करता है यहाँ 'धातुमत्ताम्' इसमें मत्ताशब्द मत्त स्त्रीके अर्थमें प्रसिद्ध है । 'धातुमत्ता' इसका धातुयुक्तता अर्थ अप्रसिद्ध होनेसे "निहतार्थता" है । "वर्ण्यते०" इति । कार्त्तिकेयका क्या वर्णन किया जाता है—तारकासुर जिनका विजेय (जेतव्य) है यहां विजेय इसमें कृत्यप्रत्यय (यत्प्रत्यय) क्तप्रत्ययके अर्थमें "अवाचक" है ।

"पाणिः०" । हाथ पल्लवके समान कोमल है, इसमें "पेलव" शब्दके पहलेके दो अक्षरोंमें लज्जा व्यञ्जक अश्लीलता प्रकट होती है ।

'संग्रामे निहताः शूरा वचोबाणत्वमागताः'

अत्र वचःशब्दस्य गीःशब्दवाचकत्वे नेयार्थत्वम्। तथा तत्रैव बाणस्थाने शरेति पाठे। अत्र पदद्वयमपि न परिवृत्तिसहम्। जलध्यादौ तूत्तरपदम्, बाडवानलादौ पूर्वपदम्।

एवमन्येऽपि यथासंभवं पदांशदोषा ज्ञेयाः। निरर्थकत्वादीनां त्रयाणां च पदमात्रगतत्वेनैव लक्ष्ये संभवः।

इव पेलवः (कोमलः), अत्र पेलवशब्दस्य आद्याऽक्षरे = आदिमवौ पेलरूपौ वर्णौ, अश्लीले, अयं भावः। उत्कलभाषायां पेलरूपावाद्याक्षरौ पुंव्यञ्जकस्मारकावतः पदांऽशगतमश्लीलत्वम्। एवं 'पूयत' इत्यत्र पूयशब्दस्य रक्तविकारबोधकत्वात्पदांशगतं जुगुप्साव्यञ्जकमश्लीलत्वम्। तथैव "अभिप्रेत" इत्यत्र प्रेतशब्दस्य परेतबोधकत्वात्पदांशगतमङ्गलकमश्लीलं बोध्यम्।

पदांशगतं नेयाऽर्थत्वमुदाहरति—**संग्राम इति**। संग्रामे = युद्धे, निहताः = व्यापादिताः, शूराः = वीराः, "शूरो वीरश्च विक्रान्त" इत्यमरः। वचोबाणत्वं = गीर्बाणत्वं, देवभावम्, आगताः = आयाता, संप्राप्ता इति भावः।

दोषं विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, वचोबाणत्वमित्यत्रेति भावः। वचःशब्दस्य लक्षणया गीःशब्दवाचकत्वे, रूढिप्रयोजनाऽभावात्पदांशगतं नेयार्थत्वम्। अयं भावः, अत्र वचोबाणशब्देन गीर्बाणो विवक्षितः।

तथा चाऽत्र पदद्वयस्यैव पदिवृत्यसहत्वं प्रतिपादयति—**तथेति**। तथा = तेनैव प्रकारेण तत्रैव = तस्मिन्नेवोदाहरणे, "बाण" स्थाने "शरे"ति पाठे-पदांऽशगतं नेयाऽर्थत्वम्, इति भावः। अत्र = "गीर्बाण" पदे, पदद्वयमपि न परिवृत्तिसहम्।

जलध्यादाविति। जलध्यादिशब्दे, उत्तरपदं = "धी"त्यन्तिमपदं, न परिवृत्तिसहम्। अतः—सलिलधिः, वारिधिः, वार्धिः, इत्यादयः संगच्छन्त इति भावः। "बाडवाऽनला"दौ पूर्वपदं = "बाडव" रूपमाद्यपदं, न परिवृत्तिसहम्। अतः बाडवाग्निः, बाडववह्निः, बाडवज्वलन इत्यादयः शब्दाः संगच्छन्त इति भावः।

एवमिति। निरर्थकत्वादीनां त्रयाणां = निरर्थकत्वमसमर्थत्वं च्युतसंस्कारत्वं चेति त्रयाणां दोषाणामित्यर्थः। पदमात्रगतत्वेनैव = न पदांशगतत्वेनेति भावः।

"संग्रामे०" "युद्धमें मारे गये वीर वचोबाणत्व (गीर्बाणत्व) को प्राप्त हुए हैं"। यहाँ वचः शब्दका गीःशब्दके वाचकत्वमें रूढि वा प्रयोजन न होनेसे नेयार्थता दोष है। वैसे ही वहींपर बाणके स्थानमें "शर" ऐसे पाठमें भी वही दोष होता है। "गीर्बाण" पदमें "गीः" और "बाण" ये दोनों पद परिवर्तन नहीं सह सकते हैं। "जलधि" आदिमें पिछला "धि" पद परिवृत्तिसह नहीं है। "वाडवनल" आदिमें पूर्वपद "वाडव" परिवृत्ति सह नहीं है। इसी प्रकार अन्य पदांश दोष भी जानें। "निरर्थकत्व" "असमर्थत्व" और "च्युतसंस्कारता" ये तीनों दोषों पदमात्रमें रहकर ही लक्ष्य (उदाहरण) में संभव हैं।

क्रमतो यथा—

'मुञ्च मानं हि मानिनि ! ॥'

अत्र हिशब्दो वृत्तपूरणमात्रप्रयोजनः ।

'कुञ्जं हन्ति कृशोदरी ।'

अत्र हन्तीति गमनार्थे पठितमपि न तत्र समर्थम् ।

'गाण्डीवी कनकशिलानिभं भुजाभ्यामाजघ्ने विषमविलोचनस्य वक्षः ।'

पदमात्रगतं निरर्थकत्वमुदाहरति—"मुञ्च मानं हि मानिनि !" हे मानिनि= हे सौन्दर्याऽभिमानिनि !, मानं = सौन्दर्याऽभिमानं, मुञ्च = त्यज, हि ।

विवृणोति—अत्रेति । अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, हि-शब्दो वृत्तपूरणमात्र-प्रयोजनः, वृत्तपूरणमात्रं (छन्दःपूरणमात्रम्) प्रयोजनं (फलम्) यस्य सः ।

पदमात्रगतमसमर्थत्वमुदाहरति—"कुञ्जं हन्ति कृशोदरी"ति । कृशोदरी= तनूदरी, कुञ्जं = लतागृहं, हन्ति = गच्छति ।

विवृणोति—अत्रेति । अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, हन्तीति पदं, गमनार्थे = "हन हिंसागत्योः" इति धातुपाठाऽनुसारेण, हिंसाऽर्थेन समं गमनार्थे पठितमपि, तत्र = गमनाऽर्थे, न समर्थं = निरुपपदत्वेन न समर्थमिति भावः ।

पदगतं च्युतसंस्कारत्वमुदाहरति—गाण्डीवीति । किराताऽर्जुनीयस्थं पद्यार्धमिदम् । अस्य पूर्वार्द्धं तु—

उन्मज्जन्मकर इवाऽमराऽऽपगाया वेगेन प्रतिमुखमेत्य बाणनद्याः" इति । व्याकरणलक्षणहीनत्वं च्युतसंस्कारत्वम् । यथा—गाण्डीवी = अर्जुनः, भुजाभ्यां = बाहुभ्यां, कनकशिलानिभं = कनकशिलया (सुवर्णपाषाणेन) निभं (सदृशम्) विषमविलोचनस्य = त्रिलोचनस्य, शङ्करस्येत्यर्थः । वक्षः = उरःस्थलम् आजघ्ने = आहतवान् ।

क्रमसे जैसे—"मुञ्च०" "हे अभिमानवति ! अभिमानको छोड़ो" यहाँ "हि" शब्द छन्दको पूर्ण करना ही प्रयोजनवाला है, अतः निरर्थक है ।

"कुञ्जं हन्ति कृशोदरी" । कृशोदरी कुञ्जमें, हन्ति = गमन करती है । यहाँ हन धातु "हन हिंसागत्योः" इस धातु पाठके अनुसार गत्यर्थक होनेपर भी प्रसिद्धिवशात् हिंसाऽर्थमें ही प्रसिद्ध है अतः गमन अर्थमें "असमर्थत्व" दोष हो जाता है ।

"गाण्डीवी०" । अर्जुनने किरातके वेषवाले शिवजीके सुवर्णशिलाके समान वक्षःस्थलको दोनों हाथोंसे "आजघ्ने" = आहत किया ।

'आङो यमहनः', 'स्वाङ्गकर्मकाच्च' इत्यनुशासनबलादाङ्पूर्वस्य हनः स्वाङ्गकर्मकस्यैवात्मनेपदं नियमितम्। इह तु तल्लङ्घितमिति व्याकरणलक्षण-हीनत्वात् च्युतसंस्कारत्वम्।

'नन्वत्र 'आजघ्ने' इति पदस्य स्वतो न दुष्टता, अपि तु पदान्तरापेक्षयैव, इत्यस्य वाक्यदोषता। मैवम्, तथाहि गुणदोषालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थितेस्तदन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वं हेतुः। इह तु दोषस्य 'आजघ्ने' इति

च्युतसंस्कारत्वं विवृणोति—**आङ इति।** "आङो यमहनः" "स्वाऽङ्ग-कर्मकाच्चे"त्यनुशासनबलात् = व्याकरणाऽनुशासनशक्तेः, आङ्पूर्वकस्य स्वाऽङ्ग-कर्मकस्यैव = स्वाङ्गं कर्म यस्य, तस्यैव, हनः = "हन हिंसागत्योः" इति धातोः, आत्मनेपदं, नियमितम्, इह अस्मिन्नुदाहरणे, तु, तत् = नियमनं, लङ्घितम् = अतिक्रान्तं, पराऽङ्गकर्मकत्वादिति भावः। इति = अतः। व्याकरणलक्षणहीनत्वा-च्च्युतसंस्कारत्वम्।

अत्र वाक्यदोषत्वमाशङ्कते—**नन्वत्रेति।** ननु अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे' "आजघ्न" इति पदस्य, स्वतः = पदमात्रतः, न दुष्टता, व्याकरणेन सिद्धत्वादिति भावः। अपि तु पदान्तराऽपेक्षया = अन्यपदाऽपेक्षया, एव "विषमविलोचनस्य वक्षः इति पदद्वयसम्बन्धादेव दुष्टता, अतोऽस्य वाक्यदोषता।

उक्तामाशङ्कां परिहरति—**मैवमिति। तथा हीति।** गुणदोषाऽलङ्काराणां, शब्दाऽर्थगतत्वेन = शब्दगतत्वेन अर्थगतत्वेन च, व्यवस्थितेः = व्यवस्थायाः, तदन्वय-व्यतिरेकाऽनुविधायित्वं = तयोः (शब्दाऽर्थयोः) अन्वयव्यतिरेकाऽनुविधायित्वम् = अन्वयव्यतिरेकाऽनुसारित्वं, हेतुः = कारणम्। तत्सत्त्वे तत्सत्त्वम् = अन्वयः, तदभावे तदभावः = व्यतिरेकः। तथा च यत्र तच्छब्दसत्त्वे तेषां गुणादीनां सत्ता तत्राऽन्वयः, यत्र च तच्छब्दाऽभावे तेषां गुणादीनामभावस्तत्र व्यतिरेकः, इत्थं च गुणादीनां शाब्दत्वम्। एवमार्थत्वमपि। "आजघ्न" इत्यत्र पददोषत्वं साधयति—**इह त्विति।** इह तु = अस्मिन् स्थले तु, दोषस्य = च्युतसंस्कृतिदोषस्य, "आजघ्न" इति पदमात्रस्यैव, अन्वयव्यतिरेकाऽनुविधायित्वम्। "आजघ्न" इति पदसत्त्वे

"आङो यमहनः", "स्वाङ्गकर्मकाच्च" इन पाणिनि सूत्रके अनुशासनके बलसे आङ्पूर्वक हन् धातुका कर्म स्वाङ्ग (अपना अङ्ग) होनेपर ही आत्मनेपद नियमित है। यहाँ तो पराऽङ्ग (दूसरेका अङ्ग) कर्म होनेसे उस अनुशासनको लङ्घित कर दिया अतः व्याकरणके लक्षणसे हीन होनेसे च्युतसंस्कारता" दोष है।

आशङ्का करते हैं—"आजघ्ने" यह पद स्वतः दुष्ट नहीं है, "विषम-विलोचनस्य वक्षः" इन पदोंकी अपेक्षासे ही दुष्ट हो गया है इसलिए "च्युत-संस्कारत्व" को वाक्यगत दोष मानना चाहिए।

पदमात्रस्यैवान्वयव्यतिरेकानुविधायित्वम् । पदान्तराणां परिवर्त्तनेऽपि तस्य तादवस्थ्यादिति पददोषत्वमेव। तथा यथेहात्मनेपदस्य परिवृत्तावपि न पददोषः, तथा हन्प्रकृतेरपीति न पदांशदोषः ।

एवं 'पद्मः' इत्यत्राप्रयुक्तस्य पदगतत्वं बोध्यम् । एवं प्राकृतादिव्याकरणलक्षणहानावपि च्युतसंस्कारत्वमूह्यम् ।

दोषत्वं, तत्पदाभावे दोषत्वाभावः, इत्थं च अत्र पदगतदोषत्वमेव न वाक्यदोषत्वमिति भावः । पदान्तराणाम् = अन्येषां पदानाम् । परिवर्तनेऽपि=विनिमयेऽपि, "गाण्डीवी विषमविलोचनस्य वक्ष" इत्यत्र "अर्जुनस्त्रिलोचनस्योर" इति पदान्तराणां परिवर्तनेऽपीति भावः । तस्य = च्युतसंस्कृतिदोषस्य, तादवस्थ्यात् = तदवस्थया विद्यमानत्वात् । इति पददोषत्वमेव = "आजघ्न" इति पदनिष्ठदोषत्वमेव, न वाक्यदोषत्वमिति भावः ।

"आजघ्ने" इत्यत्र पदांऽशदोषत्वं निरस्यति—**तथेति** । तथा यथेह आत्मनेपदस्य परिवृत्तौ अपि = परिवर्तनेऽपि, "आजघान" इति परस्मैपदेन आत्मदेपदस्य परिवर्तनेऽपि न पददोषः, तथा हन्प्रकृतेरपि = "हन हिंसागत्योः" इति प्रकृतिरूपस्य धातोरपि परिवर्तने = विनिमये, अपि । "आजघ्ने" इत्यत्र हन् प्रकृतेः अपि "प्रजह्रे" इति पाठेन परिवृत्तावपि न पददोषः । अयं भावः, यथेह "आजघान" इति हन् प्रकृत्यंशमवस्थाप्य आत्मनेपदप्रत्ययांऽशपरित्यागे दोषाऽभावः, तथा "प्रजह्रे" इति आत्मनेपदप्रत्ययांऽशमवस्थाप्य हन्प्रकृत्यंशपरित्यागेऽपीत्युभयाऽन्वयव्यतिरेकाऽनुसारित्वात्पददोषताऽङ्गीकारो न पदांशदोषत्वम् ।

एवमिति । एवम् = अनया रीत्या, "पद्म" इत्यत्र = पुंलिङ्गत्वेन प्रयुक्ते पद्मपदे, अप्रयुक्तस्य = अप्रयुक्तदोषस्य, पदगतत्वं = पदनिष्ठत्वं बोध्यम् । "पद्म"

परिहार करते हैं—यह बात नहीं है। अलङ्कार शास्त्रमें शब्द अथवा अर्थमें गुण, दोष और अलङ्कारकी स्थितिका निर्णय अन्वय व्यतिरेकके अनुसार होता है। अर्थात् जो गुण, दोष और अलङ्कार जिस शब्द के होने पर हों, और जिस शब्दके न होनेपर नहीं वे शब्दगत, और जिस अर्थके रहनेपर हो और न रहनेपर न हों वे अर्थगत माने जाते हैं।

यहाँ तो दोष "आजघ्ने" इस पद मात्रमें अन्वयव्यतिरेकभावसे सम्बद्ध है अर्थात् "आजघ्ने" पदके रहनेपर दोषकी सत्ता (अन्वयसे), उस पदके अभावमें दोषका अभाव (व्यतिरेकसे) है और अन्य पदोंके परिवर्तनमें भी दोष रहता ही है इसलिए यह पददोष ही है (वाक्य-दोष नहीं) । वैसे ही जैसे यहाँ आत्मनेपदके परिवर्तनमें भी दोष नहीं है उसी तरह हन् प्रकृति (धातु) के परिवर्तनमें भी दोष दोष नहीं है अतः पदांऽशदोष भी नहीं । इसी तरह "पद्मः" इसमें अप्रयुक्त

इह तु शब्दानां सर्वथा प्रयोगाभावेऽसमर्थत्वम्। विरलप्रयोगे निहतार्थत्वम्। निहतार्थत्वमनेकार्थशब्दविषयम्। अप्रतीतत्वं त्वेकार्थस्यापि शब्दस्य सार्वत्रिकप्रयोगविरहः। अप्रयुक्तत्वमेकार्थशब्दविषयम्। असमर्थत्वमनेकार्थशब्दविषयम्। असमर्थत्वे हन्त्यादयो गमनार्थे पठिताः। अवाचकत्वे दिनादयः प्रकाशमयाद्यर्थे, न तथेति परस्परभेदः।

इत्यत्र 'पुंलिङ्गपद्मपदसत्त्वेऽप्रयुक्तदोषसत्त्वात्, पुंलिङ्गपद्मपदाऽभावेऽप्रयुक्तदोषाऽभाव इत्यन्वयव्यतिरेकाऽनुविधायित्वेनेति भावः।

एवमिति। एवम् = अनया रीत्या। प्राकृतादिव्याकरणलक्षणहानावपि च्युतसंस्कारत्वम्, ऊह्यं = तर्क्यम्।

दोषाणां परस्परभेदं प्रदर्शयति—**इह त्विति।** शब्दानां = पदानां, सर्वथा प्रयोगाऽभावे—असमर्थत्वं, यथा—"कुञ्जं हन्ति कृशोदरी"ति। निरुपपदस्य हनधातोर्गमनाऽर्थे सर्वथा प्रयोगाऽभावः। "पद्धति"रित्यादौ हनधातोः = सोपपदस्य गमनाऽर्थेऽपि प्रयोग इति भावः।

शब्दानां विरलप्रयोगे=अल्पप्रयोगे, **निहताऽर्थत्वम्।** "धातुमत्ता गिरिर्धत्ते" इत्यादौ। पश्चात्कथयिष्यति—

"स्यात्[illegible]षो श्लेषादौ निहताऽर्थाऽप्रयुक्तते।" ७–१७।,

निहताऽर्थत्वमनेकाऽर्थशब्दविषयम्।

अप्रतीतत्वं त्वेकाऽर्थस्याऽपि शब्दस्य सार्वत्रिकप्रयोगविरहः। यथा "योगेन दलिताशय" इति।

अप्रयुक्तत्वमेकाऽर्थशब्दविषयम्। यथा "भाति पद्मः सरोवर" इति। **असमर्थत्वमनेका**ऽर्थशब्दविषयम्। असमर्थत्वे हन्त्यादयो गमनाऽर्थे पठिताः। **अवाचकत्वे**-

---

दोष पदगत दोष है। इसी तरह प्राकृत आदि भाषाके व्याकरणविरुद्ध पदमें भी च्युतसंस्कार दोष समझना चाहिए।

इह तु इति। यहाँ शब्दोंका सर्वथा प्रयोग न होनेपर असमर्थत्व (जैसे कुञ्जं **हन्ति** कृशोदरी)। विरल (अल्प) प्रयोगमें निहताऽर्थत्व (जैसे—**धातुमत्तां** गिरिर्धत्ते), निहताऽर्थ दोष अनेकाऽर्थक शब्दमें रहता है। अप्रतीतत्व (जैसे—"योगेन दलिताशयः) एकाऽर्थक शब्दका भी सर्वत्र प्रयोग न होता हो तो रहता है। अप्रयुक्तत्व एकाऽर्थक शब्दमें रहता है।

(जैसे—भाति **पद्मः** सरोवरे)। असमर्थत्व अनेकाऽर्थक शब्दमें रहता है,

(जैसे—कुञ्ज **हन्ति**०)। हन्ति आदि प्रयोग गमन अर्थमें पढ़ें जावें तो असमर्थत्व दिन आदि पद प्रकाशमय आदि अर्थमें अवाचकत्व (जैसे—"दिनंमे त्वयि संप्राप्ते) वह कोशमें नहीं होता है, इसप्रकार दोषोंका परस्परमें भेद है।

एवं पददोषसजातीया वाक्यदोषा उक्ताः, सम्प्रति तद्विजातीया उच्यन्ते—

'वर्णानां प्रतिकूलत्वं, लुप्ताऽऽहतविसर्गते ।
अधिकन्यूनकथितपदता हतवृत्तता ॥ ५ ॥
पतत्प्रकर्षता, सन्धौ विश्लेषाश्लीलकष्टताः ।
अर्धान्तरैकपदता समाप्तपुनरात्तता ॥ ६ ॥
अभवन्मतसम्बन्धाक्रमामतपरार्थताः ।
वाच्यस्यानभिधानं च भग्नप्रक्रमता तथा ॥ ७ ॥
त्यागः प्रसिद्धेरस्थाने न्यासः पदसमासयोः ।
संकीर्णता गर्भितता दोषाः स्युर्वाक्यमात्रगाः ॥ ८ ॥

"दिनं मे त्वयि संप्राप्ते ध्वान्तच्छन्नाऽपि यामिनी । "इत्यादौ दिमादयः प्रकाशमयाद्यर्थे, न तथा = न तेन प्रकारेण, कोशादिरिति भावः । इति परस्परभेदः = मिथो भेदः ।

एवमिति । एवम्=इत्थं, पददोषसजातीयाः = पददोषतुल्यजातीयाः, वाक्यदोषाः, उक्ताः, सम्प्रति=अधुना, तद्विजातीयाः=पददोषभिन्नजातीया दोषाः, उच्यन्ते ।

पददोषविजातीयान्वाक्यदोषानुद्दिशति—**वर्णानामिति** । वर्णानां प्रतिकूलत्वं= प्रतिकूलवर्णत्वं, लुप्ताऽऽहतविसर्गते = लुप्तविसर्गता, आहत-(ओत्वप्राप्त) विसर्गता अधिकपदता, न्यूनपदता, कथितपदता, हतवृत्तता ॥ ५ ॥

पतत्प्रकर्षता, सन्धिविश्लेषता, सन्ध्यश्लीलता, सन्धिकष्टता च । अर्द्धान्तरैकपदता, समाप्तपुनरात्तता ॥ ६ ॥

अभवन्मतसम्बन्धता, अक्रमता, अमतपराऽर्थता, च । वाच्यस्य अनभिधानं, भग्नप्रक्रमता ॥ ७ ॥

प्रसिद्धेस्त्यागः, पदसमासयोः अस्थाने न्यासः (अस्थानस्थपदता अस्थानस्थसमासता च) सङ्कीर्णता, गर्भितता च, (एते) वाक्यमात्रगा दोषाः स्युः ॥ ८ ॥

पद दोषके सजातीय वाक्य दोष कहे गये, अब पददोषके विजातीय वाक्यदोष कहे जाते हैं—

वर्णनामिति । वर्णोंका प्रतिकूलत्व, लुप्तविसर्गत्व, आहतविसर्गत्व, "अधिकपदत्व, न्यूनपदत्व, कथितपदत्व, हतवृत्तत्व ॥ ५ ॥ पतत्प्रकर्षत्व, सन्धिविश्लेषत्व, सन्ध्यश्लीलत्व सन्धिकष्टत्व, अर्द्धान्तरैकपदत्व, समाप्तपुनरात्तत्व ॥ ६ ॥ अभवन्मतसम्बन्धत्व, अक्रमत्व, अमतपराऽर्थत्व, वाच्याऽनभिधान, भग्नप्रक्रमत्व ॥७॥ प्रसिद्धित्याग, अस्थानपदत्व, अस्थानसमासत्व, संकीर्णत्व, गर्भितत्व" ये दोष केवल वाक्यमें रहते हैं (पदादिकोंमें नहीं) ॥ ८ ॥

वर्णानां रसानुगुण्यविपरीतत्वं प्रतिकूलत्वम् ।

यथा मम—

'ओवट्टइ उल्लट्टइ सअणे कहिंपि मोट्टाअइ णो परिहट्टइ ।
हिअएण फिट्टइ लज्जाइ खुट्टइ दिहीए सा ।।'

अत्र टकाराः शृङ्गाररसपरिपन्थिनः केवलं शक्तिप्रदर्शनाय निबद्धाः । एषां चैकद्वित्रिचतुःप्रयोगे न तादृग्रसभङ्ग इति न दोषः ।

वर्णानां प्रतिकूलत्वं लक्षयति—**वर्णानामिति** । वर्णानाम् = अक्षराणाम्, रसानुगुण्यविपरीतत्वं = रसाऽनुकूल्यवैपरीत्यं, प्रकृतरसविपरीतत्वमिति **'वर्णानां प्रतिकूलत्वम्'** ।

उदाहरति—**ओवट्टइ इति** ।

"उद्वर्तयति उल्लोटयति शयने कस्मिन्नपि मोट्टायति, नो परिघट्टयति । हृदयेन स्फिटयति लज्जया कुट्टयति धृतेः सा" इति संस्कृतच्छाया ।।" विप्रलम्भशृङ्गारवर्णनमिदम्, सा = विप्रयुक्ता कामिनी, कस्मिन्नपि = कुत्राऽपि, शयने = शय्यायाम् । उद्वर्तयति=उद्वर्तनं करोति, देहमुत्तानीकरोतीति भावः । उल्लोटयति=पार्श्वपरिवर्तनं करोति, मोट्टायति = मोट्टायितं करोति । मोट्टायितलक्षणं यथा—

"तद्भावभाविते चित्ते वल्लभस्य कथाऽऽदिषु ।
मोट्टायितमिति प्राहुः कर्णकण्डूयनादिकम् ।।" (सा० द० पृ० १७३)

नो परिघट्टयति=देहं न सञ्चालयतीति भावः । हृदयेन=मनसा, स्फिटयति= भ्रश्यति । लज्जया=व्रीडया हेतुना, धृतेः=धैर्यात्, खुट्टयति=कुण्ठिता भवति ।

दोषं प्रकाशयति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्पद्ये, शृङ्गाररसपरिपन्थिनः = आदिरसविरोधिनः, टकाराः, केवलं शक्तिप्रदर्शनाय = **वृत्त्यनुप्रासप्रयोगसामर्थ्य**प्रदर्शनाय, निबद्धाः = गुम्फिताः, कविनेति शेषः । एषां = रसप्रतिकूलटवर्णानाम्, एकद्वित्रिचतुःप्रयोगेण, न तादृक्, रसभङ्गः = शृङ्गाररसविच्छेदः । अतस्तत्र न दोषत्वमिति भावः ।

वर्ण, प्रकृत रसके अनुकूल न होकर प्रतिकूल (विपरीत) हों तो प्रतिकूल वर्णत्व दोष होता है, जैसे—ग्रन्थकारके ही—**ओवट्टइ** । नायकके प्रति नायिकाकी दूतीकी उक्ति है । वह (नायिका) किसी चित होकर लेटती हैं, बिछौनेपर करवट लेती रहती है, आपके विषयमें बातचीत होनेपर कान खुजलाना आदि कार्य करती है शरीरको सञ्चालित नहीं करती है, उसका हृदय टूट रहा है, लज्जाके कारण धैर्यसे कुण्ठित हो रही है ।

यहाँ टकार शृङ्गार रसके विरोधी हैं, कविने केवल अपनी शक्तिके प्रदर्शनके लिए इनको रख दिया है । इनका एक, दो, तीन वा चार वार प्रयोगोंसे वैसा रसभङ्ग नहीं होता है, अतः दोष भी नही होता है ।

'गता निशा इमा बाले !'

अत्र लुप्तविसर्गाः ।

आहता ओत्वं प्राप्ता विसर्गा यत्र ।

यथा—'धीरो वरो नरो याति।

पल्लवाकृतिरक्ता

अत्राकृतिपदमधिकम् ।

एवम्—

'सदाशिवं नौमि पिनाकपाणिम् ।'

इति विशेषणमधिकम् ।

लुप्तविसर्गतामुदाहरति—**गता इति** । यत्र विसर्गा असकृल्लुप्ता भवन्ति सा लुप्तविसर्गता । हे बाले = हे तरुणि ! इमाः-निशाः = रात्रयः, गताः = अतीताः । अत्र त्रिषु स्थानेषु विसर्गस्य लोपाद्दोषत्वम् । एकद्वस्थाने विसर्गलोपे न दोषत्वम् । तथैव विसर्गाधिक्ये दुःश्रवत्वं दोषः । इयं लुप्तविसर्गता नित्यो दोषः ।

आहतविसर्गतां लक्षयति—**आहता इति** । आहता (ओत्वं प्राप्ताः) विसर्गा यत्र साऽऽहतविसर्गता । आहतविसर्गतामुदाहरति—**धीर इति** । अत्राऽपि स्थानत्रये विसर्गस्य ओत्वप्राप्त्या दोषत्वम् ।

अधिकपदतामुदाहरति—**पल्लवाकृतिरक्तोष्ठीति** । अत्र पल्लवाकृतिः (किसलयाकारः) इव रक्तः (अरुणवर्णः) ओष्ठः (अधरः) अस्याः अस्तीति । अत्राऽऽकृतियदमधिकं, "पल्लवरक्तोष्ठी"त्ययेनैव गताऽर्थत्वादिति भावः ।

उदाहरणान्तरं प्रदर्शयति—**एवमिति** । "सदाशिवं नौमि पिनाकपाणिम्" इत्यत्र "पिनाकपाणि"मिति विशेषणमधिकम् । नमनक्रियायां पिनाकपाणित्वेन विशेषप्रतिपत्तेरभावादिति भावः ।

गता इति । हे बाले ! ये रातें बीत गईं । "गताः, निशाः, इमाः" यहाँ पर तीनों जगह विसर्ग लुप्त हो गये हैं, अतः लुप्तविसर्गता दोष है ।

आहता इति । जहाँपर विसर्गोंका ओकार रूपमें परिणत होता है, उसे "आहतविसर्गत्व" कहते हैं । जैसे—"धीरो वरो नरो याति" । श्रेष्ठ धीर मनुष्य जाता है । यहाँ "धीरः, वरः, नरः," इन तीनों पदों में विसर्ग ओकारके रूपमें परिणत हैं ।

"**पल्लवाकृतीति** । पल्लवके आकारके समान लाल ओष्ठों वाली, यहाँपर "आकृति" पद अधिक होनेसे "अधिकपदत्वं" दोष है ।

इसी तरह—"**सदाशिवम्०**" यहाँपर "विनाकपाणिम्" यह विशेषण अधिक है अतः अधिकपदत्व है ।

'कुर्यां हरस्यापि पिनाकपाणेः' इति।

अत्र तु पिनाकपाणिपदं विशेषप्रतिपत्त्यर्थमुपात्तमिति युक्तमेव।

यथा वा—'वाचमुवाच कौत्सः।'

अत्र वाचमित्यधिकम्। उवाचेत्यनेनैव गतार्थत्वाद्।

क्वचित्तु विशेषणदानार्थं तत्प्रयोगो युज्यते।

यथा—'उवाच मधुरां वाचम्' इति।

विशेषणस्य सार्थक्येनाऽधिकपदत्वाऽभावस्थलं प्रदर्शयति—**कुर्यामिति**। कुमारसंभवस्थः पद्यपादोऽयम्। पूर्णं पद्यं तु—

"तव प्रसादात्कुसुमायुधोऽपि सहायमेकं मधुमेव लब्ध्वा।
कुर्यां हरस्याऽपि पिनाकपाणेर्धैर्यच्युतिं के मम धन्विनोऽन्ये ?।।" ३-१०।

अत्र तु = अस्मिन्नुदाहरणे तु, पिनाकपाणिपदं विशेषप्रतिपत्त्यर्थं=पिनाकपाणित्वेन निग्रहसमर्थस्य हरस्याऽपीति विशेषज्ञानाऽर्थम्, उपात्तं = गृहीतम्, इति युक्तमेव = उचितमेव, अतो दोषाऽभावः।

अधिकपदत्वस्योदाहरणाऽन्तरं प्रदर्शयति—**यथा वेति**। "वाचमुवाच कौत्सः।" रघुवंशस्यः पद्यांऽश एषः। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, "वाचम्" इति पदम्, अधिकम्, "उवाचे"त्यनेनैव गताऽर्थत्वात्। "ब्रूञ् व्यक्तायां वाचि" इति धातुनैव वागुच्चारणस्य प्रतिपादनादिति भावः।

कथितपदत्वस्य प्रतिप्रसवस्थलमाह—**क्वचित्त्विति**। क्वचित् = कुत्रचित् स्थले तु, विशेषणदानाऽर्थं=कर्मविशेषणदानार्थं, तत्प्रयोगः=वागादेः प्रयोगः, युज्यते। **यथेति**। "उवाच मधुरां वाचम्" इति। मधुरां = माधुर्योपेतां, वाचं = वाणीम्, उवाच = जगाद, अत्र न दोषः। मतमिदं वामनाचार्यस्य बोद्धव्यम्।

नमनक्रियामें विनाकपाणित्व उपयुक्त न होनेसे दोष है। इसके विपरीत—"कुर्यां हरस्यापि०"। अर्थात् कामदेव इन्द्रसे कहते हैं "हाथमें पिनाक धनुको लिये हुए महादेवके भी धैर्यको भग्न करूंगा।" इसमें 'पिनाकपाणि' पद विशेष ज्ञानके लिए गृहीत है यह उचित ही है।

यथा वा—वाचमिति। जैसे—कौत्सने वाचम् (वचनको) उवाच=कहा। यहाँ "उवाच" कहनेसे ही गताऽर्थ होनेसे "वाचम्" यह पद अधिक है, अतः अधिकपदत्व दोष है। **क्वचित्तु**। कहींपर विशेषण देनेके लिए "वच् धातुके कर्मके तौरपर वाक् आदिका प्रयोग उचित होता है; अतः दोष नहीं। जैसे—"उवाच०" विद्वान्‌ने मीठी वाणी कही।

केचित्त्वाहुः—यत्र विशेषणस्यापि क्रियाविशेषणत्वं सम्भवति, तत्रापि तत्प्रयोगो न घटते।

यथा—'उवाच मधुरं धीमान्' इति।

'यदि मय्यर्पिता दृष्टिः किं ममेन्द्रतया तदा ?'

अत्र प्रथमे त्वयेति पदं न्यूनम्।

'रतिलीलाश्रमं भिन्ते सलीलमनिलो वहन्।'

अत्र लीलाशब्दः पुनरुक्तः।

मतान्तरं प्रदर्शयति—**केचित्त्वाहुरिति**। यत्र=यस्मिन्स्थले, विशेषणस्याऽपि= कर्मविशेषणास्याऽपि पदस्य, क्रियाविशेषणत्वं, संभवति, तत्राऽपि = तादृशस्थलेऽपि, तत्प्रयोगः = कर्मपदप्रयोगः, न घटते = न संभवति।

उदाहरति—**उवाचेति**। धीमान्=बुद्धिसम्पन्नः, मधुरं = माधुर्यसहितं यथा तथा, उवाच = जगाद। अत्र मधुरं वाचं जगाद इति प्रयोगो न युज्यत इति भावः। काव्यप्रकाशकारस्य मतमिदम्।

उपयुक्ताऽर्थपदरहितत्वं न्यूनपदत्वम्।

न्यूनपदत्वमुदाहरति—**यदीति**। कश्चिन्नायको नायिकामुद्दिश्य कथयति—हे प्रिये !, मयि, दृष्टिः = दृष्टिपातः, अर्पिता यदि = समर्पिता चेत्, तदा = तस्मिन्काले, मम, इन्द्रतया = इन्द्रत्वेन, किम् ? अत्र त्वयेति पदस्य न्यूनत्वान्न्यूनपदत्वम्। अयमनित्यो दोषः, "उक्तावानन्दमग्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः।" इति वक्ष्यमाणत्वात्।

पुनरुक्त्यभावेऽपि द्विःप्रयुक्तपदत्वं कथितपदत्वम्। कथितपदत्वमुदाहरति—**रतिलीलाश्रममिति**। सलीलं = सविलासं, वहन् = वान्, अनिलः = समीरः, रतिलीलाश्रमं = रतिलीलायाः (निधुवनक्रीडायाः) श्रमं (परिश्रमम्) भिन्ते = निवारयति। अत्र लीलाशब्दः, पुनरुक्तः = पुनः कथितः। पुनरुक्त्यभावेऽपि लीलापदस्य वारद्वयं प्रयुक्तत्वात्कथितपदत्वमिति भावः। अयमप्यनित्यो दोषः, "कथितं च पदं पुनः" ७–१८। इति प्रतिप्रसवस्य वक्ष्यमाणत्वात्।

कुछ विद्वान् तो कहते हैं—जहाँ विशेषण भी क्रियाविशेषण हो सकता है, वहाँ भी कर्मपदका प्रयोग उचित नहीं होता है। जैसे—"उवाच मधुरं धीमान्" अर्थात् विद्वान्‌ने माधुर्यके साथ कहा। यहाँ "वाचम्" आवश्यक नहीं।

यदीति। "मुझपर दृष्टिपात किया तो, उस समय मुझे इन्द्रपदसे भी क्या प्रयोजन है ?" यहाँ प्रथम चरणमें "त्वया" यह पद न्यून है, इसलिए न्यूनपदता दोष है।

रतिलीलाश्रममिति। वायु लीलापूर्वक बहता हुआ रतिलीलाके परिश्रमको दूर कर देता है। यहां "लीला" शब्द पुनरुक्त है।

एवम्—'जक्षुर्बिसं धृतविकासिबिसप्रसूनाः।'

अत्र बिसशब्दस्य "धृतपरिस्फुटतत्प्रसूना" इति सर्वनाम्नैव परामर्शो युक्तः।

हतवृत्तम्—लक्षणानुसरणेऽप्यश्रव्यम्, रसाननुगुणम्, अप्राप्तगुरुभावान्तलघु च। क्रमेण यथा—

'हन्त ! सततमेतस्या हृदयं भिन्ते मनोभवः कुपितः।'

कथितपदस्य उदाहरणान्तरं प्रस्तौति—जक्षुरिति। शिशुपालवधमहाकाव्यस्य पञ्चमसर्गस्थः पद्यपादोऽयम्। शिशुपालवधाऽर्थं प्रस्थास्यमानस्य श्रीकृष्णस्य पथि सैन्यानां नगनद्या उपभोगवर्णनमिदम्। धृतानि (गृहीतानि) विकासीनि (विकासयुक्तानि) बिसप्रसूनानि (कमलानि) यैस्ते, तादृशाः। सैन्याः=सैनिकाः, बिसं = मृणालं, जक्षुः = भक्षयाञ्चक्रुः। वसन्ततिलका वृत्तम्। अत्र बिसपदस्य द्विःप्रयुक्तत्वात्कथितपदत्वम्।

अत्रोदाहरणे कथितपदत्वस्य परिहारप्रकारं दर्शयति—अत्रेति। अत्र = अस्मिन् स्थले बिसशब्दस्य, "धृतपरिस्फुटतत्प्रसूनाः" धृतानि (गृहीतानि) परिस्फुटानि (विकसितानि) तत्प्रसूनानि (बिसकुसुमानि, कमलानीति भावः) यैस्ते, जक्षुः। इति = इत्थं, सर्वनाम्ना = तत्पदेन, एव, परामर्शः = उपस्थितिः। अतोऽत्र न कथितपदत्वम्। छन्दोनिष्ठदोषत्वं हतवृत्तत्वम्। हतवृत्तस्य त्रैविध्यं प्रदर्शयति—हतवृत्तमिति। लक्षणाऽनुसरणेऽपि = छन्दोलक्षणाऽनुसृतावपि, अश्रव्यम् = अश्रवणीयम्, श्रुतावमनोहरमिति भावः। तदुदाहरति हन्तेति। काचित्सखी स्वसख्या दशां प्रतिपादयति। कुपितः = क्रुद्धः, मनोभवः = मनसिजः, कामदेव इत्यर्थः। एतस्याः = मत्सख्याः, हृदयं = चित्तं, सततं = निरन्तरं, भिन्ते = विदारयति, हन्त इति खेदे। इदमार्यावृत्तम्। अत्र "यस्याः पादे प्रथमे, द्वादशमात्रास्तथा तृतीयेऽपि। अष्टादश द्वितीये, चतुर्थके पञ्चदश साऽऽर्या" इत्यार्यालक्षणस्याऽनुसरणेऽपि प्रथमचरणे शैथिल्यश्रुतेरश्रव्यत्वम्।

इसी प्रकार—जक्षुर्बिसम्०। =विकसित बिस (मृणाल) पुष्पों (कमलों)-को लिये हुए यादवसैनिकोंने बिस (मृणाल) का भक्षण किया। यहांपर बिसपदका दो वार प्रयोग करनेसे कथितपदत्व दोष हुआ है। यहां बिस शब्दका "धृतपरिस्फुटतत्प्रसूनाः" ऐसा पाठ कर सर्वनामसे ही परामर्श उचित है।

"हतवृत्त" के तीन भेद होते हैं, १ लक्षणके अनुसरण करनेपर भी अश्रव्य; २ जो वृत्त (छन्द) रसके अनुकूल न हो। ३ जहांपर अन्त्यलघु गुरुभावको प्राप्त नहीं करता है।

जैसे—१ हन्त० = हन्त (हाय) ! कुपित कामदेव इस (स्त्री) के हृदयको निरन्तर भेदन कर रहा है। यहांपर आर्या छन्द लक्षणके अनुसार होकर भी अश्रव्य है।

'अयि ! मयि मानिनि ! मा कुरु मानम् ।'

इदं वृत्तं हास्यरसस्यैवाऽनुकूलम् ।

'विकसित-सहकार-भार-हारि-परिमल एष समागतो वसन्तः ।

यत्पादान्ते लघोरपि गुरुभावः उक्तः, तत्सर्वत्र द्वितीयचतुर्थपादविषयम् । प्रथमतृतीयपादविषयन्तु वसन्ततिलकादेरेव ।

रसाऽननुगुणं हतवृत्तमुदाहरति—अयीति । कश्चिन्नायकः कांचिन्नायिकामनुनयति । अयीति कोमलामन्त्रणे । मानिनि = मानवति !, मयि = विषये, मानम् = अभिमानं, मा कुरु = नो विधेहि । अत्र पज्झटिका वृत्तं, तल्लक्षणं यथा छन्दोमञ्जर्याम्—

"प्रतिपदयमकितषोडशमात्रा, नवमगुरुत्वविभूषितगात्रा ।
पज्झटिका पुनरेष विवेकः, क्वाऽपि न मध्यगुरुर्गण एकः ॥" इति ।

इदं वृत्तं = पज्झटिकाख्यं, हास्यरसस्यैवाऽनुकूलं न पुनः प्रकृतशृङ्गाररसस्येति रसाऽननुगुणाख्यं हतवृत्तं नाम छन्दोदोषः ।

अप्राप्तगुरुभावाऽन्तलघु हतवृत्तमुदाहरति—**विकसितेति** । अप्राप्तो गुरुभावो येन सः, तादृशोऽन्तलघुर्यस्मिन् तत् । कश्चिद्वसन्ततुं वर्णयति—विकसितः (प्रफुल्लः) यः सहकारभारः (अतिसौरभ आम्रसमूहः) तेन हेतुना हारी (मनोहरः,) एषः = समीपतरवर्ती, वसन्तः = सुरभिः, समागतः = संप्राप्तः । अत्र पुष्पिताग्रा नामाऽर्धसमवृत्तं, तल्लक्षणं यथा—

"अयुजि नयुगरेफतो यकारो युजि तु नजौ जरगाश्च पुष्पिताग्रा ।" इति ।

प्रकृतोदाहरणे दोषं प्रतिपादयति—**यदिति** । यत् पादान्ते = चरणाऽन्ते, लघोरपि = ह्रस्वस्याऽपि, गुरुभावः = गुरुत्वम्, उक्तः = कथितः "पादान्तस्थं विकल्पेन" इति नियमेनेति शेषः । तत्, सर्वत्र = सर्वेषु छन्दःसु, द्वितीयचतुर्थपादविषयं = द्वितीयचतुर्थपादौ विषयौ यस्य तत् । द्वितीयचतुर्थपादयोरेव पादान्तस्थलघुवर्णयोर्गुरुभावः, न तृतीयचतुर्थपादयोः पादाऽन्तस्थलघुवर्णयोर्गुरुभाव इति भावः । अत्र तु प्रथमचरणे हारीत्यस्य चरमलघुवर्णस्य न गुरुत्वमतोऽप्राप्तगुरुभावान्तलघु हतवृत्तं नाम दोषः ।

तर्हि प्रथमतृतीयपादयोः कुत्र लघोर्गुरुत्वमित्याह—**प्रथमतृतीयावाविति** ।

---

२ "अयि०" हे अभिमानवाली ! मुझपर अभिमान मत करो, यह वृत्त (पज्झटिका) हास्यरसके ही अनुकूल है (न कि शृङ्गार रसके) ।

३ "विकसित०" = खिले हुए सुगन्धित आम्रपुष्पोंके समूहसे मनोहर सुगन्धवाला यह वसन्त ऋतु आया हुआ है । "पादाऽन्तस्थं विकल्पेन" अर्थात् चरणके अन्तमें लघुवर्णका जो विकल्पसे गुरुभाव है, वह सर्वत्र द्वितीय और चतुर्थ चरणमें ही होता है, प्रथम और तृतीय चरणमे गुरुभाव वसन्ततिलका आदिमें ही होता है, पुष्पिताग्रा आदि वृत्तमें नहीं । इसलिए यहांपर प्रथमचरणके अन्तस्थित

अत्र 'प्रमुदितसौरभ आगतो वसन्तः' इति पाठो युक्तः।

यथा वा—

'अन्यास्ता गुणरत्नरोहणभुवो धन्या मृदन्यैव सा,
सम्भाराः खलु तेऽन्य एव विधिना यैरेष सृष्टो युवा।
श्रीमत्कान्तिजुषां द्विषां करतलात् स्त्रीणां नितम्बस्थला-
द्दृष्टे यत्र पतन्ति मूढमनसामस्त्राणि वस्त्राणि च' ॥

प्रथमतृतीयपादविषयं = प्रथमतृतीयपादौ विषयौ यस्य तत्, तादृशं लघोर्गुरुत्वं तु वसन्ततिलकादेरेव वृत्तस्य, न पुष्पिताग्रादेरिति भावः।

अत्रोदाहरणे दोषं परिहर्तुं पाठान्तरं कल्पयति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, "प्रमुदितसौरभ आगतो वसन्त" इति पाठो युक्तः = उचितः। विकसितसहकारभारेण हारि (मनोहारि) प्रमुदितं (प्रमोदविषयीभूतम्), सौरभं (सौगन्ध्यम्), यस्य सः प्रमुदितसौरभ" इत्यत्रस्थ-प्रपदेन योगाद्धारीत्यस्य रिवर्णस्य संयोगाद्यत्वेन गुरुत्वाद्दोषाऽभाव इति भावः।

उदाहरणान्तरं प्रदर्शयति—**अन्यास्ता इति**। ताः = प्रसिद्धाः, गुणरत्नरोहणभुवः = गुणाः (शौर्यधैर्यसौन्दर्यादयः) एव रत्नानि (मणयः) तेषां रोहणभुवः (उत्पत्तिभूमयः), अन्याः = सामान्यभूमिभिन्ना, असामान्या इति भावः। धन्या= पुण्यवती, सा = प्रसिद्धा, मृत् = एतच्छरीरहेतुभूता मृत्तिका, अन्या एव = अपरा एव। ते = तादृशाः प्रसिद्धाः, सम्माराः = जलाद्युपकरणानि, अन्ये एव = अपरे एव, असाधारणा इति भावः। विधिना = ब्रह्मदेवेन, यैः = सम्भारैः उपकरणैः, एषः = समीपतरवर्ती, युवा = तरुणः, सृष्टः = निर्मितः। यत्र=यस्मिन् यूनि, दृष्टे = अवलोकिते सति, मूढमनसां=ज्ञानरहितचित्तानां, श्रीमत्कान्तिजुषां=श्रीमतः (ऐश्वर्यसम्पन्नस्य, अस्य यूनः) कान्तिं (शोभाम्) जुषन्ते (सेवन्ते, अनुभवन्ति) इति तेषां, तादृशानां, द्विषां = शत्रूणां, करतलात् = हस्ततलात्। अस्त्राणि = आयुधानि, तथा श्रीमत्कान्तिजुषां, मूढमनसाम्=आकृष्टचित्तानां, स्त्रीणां-रमणीनाम्, नितम्बस्थलात्= कटिपश्चाद्भागस्थानात्, वस्त्राणि = वसनानि, पतन्ति = स्रंसन्ति। परमविक्रान्तः सुन्दरश्चैष युवेति भावः। अत्र शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। अत्र तुल्ययोगिताऽलङ्कारः।

लघुका गुरुत्व करनेके लिए द्वितीय चरणमें—प्रमुदित० ऐसा पाठ करना उचित है। 'प्र' इस संयुक्त वर्णके परे रहने 'रि' का गुरुत्व होता है।

जैसे—"अन्यास्ताः० वे गुण रत्नोंकी उत्पत्ति क्षेत्र अन्य ही हैं, धन्य वह मिट्टी अन्य ही है। वे जल आदि उपकरण अन्य ही हैं, जिनसे इस युवकको उत्पत्ति हुई। जिस युवकके देखे जानेपर ऐश्वर्यसम्पन्न इस युवककी कान्तिका अनुभव करनेवाले शत्रुओंके हाथसे अस्त्र और वैसी ही मोहपूर्ण चित्तवाली स्त्रियोंके नितम्बस्थलसे वस्त्र गिर पड़ते हैं।

अत्र 'वस्त्राणि च' इति बन्धस्य श्लथत्वश्रुतिः। 'वस्त्राण्यपि' इति पाठे तु बन्धदार्ढ्यमिति न दोषः। 'इदमप्राप्तगुरुभावान्तलघु' इति काव्यप्रकाशकारः। वस्तुतस्तु 'लक्षणाऽनुसरणेऽप्यश्रव्यम्' इत्यन्ये।

'प्रोज्ज्वलज्ज्वलनज्वालाविकटोरुसटाच्छटः।
श्वासक्षिप्तकुलक्ष्माभृत् पातु वो नरकेशरी॥'

दोषमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, "वस्त्राणि च" इति। बन्धस्य = गुम्फस्य, श्लथत्वश्रुतिः = शैथिल्यश्रवणम्। चकारस्य तीव्रप्रयत्नेनोच्चार्यताभावाद्बन्धशैथिल्यमिति भावः।

दोषं परिहर्तुं पाठान्तरं कल्पयति—**वस्त्राण्यपीति**। अत्र तु वस्त्राणि + अपि इत्यत्र सन्धिना दार्ढ्यं = दृढता, अतो न दोषः।

अत्र काव्यप्रकाशकारमतं प्रदर्शयति—**इदमिति**। इदम् = उदाहरणम्, अप्राप्तगुरुभावाऽन्तलघु; अन्तलघोर्गुरुभावप्राप्तेरभावाद्दोष इति भावः।

मतान्तरं प्रदर्शयति—**वस्तुतस्त्विति**।

वस्तुतस्तु = वस्तुगत्या तु, लक्षणाऽनुसरणेऽपि, अश्रव्यम् = अश्रवणीयम्, अश्रुतिमनोहरमिति भावः।

क्रमिकप्रकर्षतिरोहितत्वं पतत्प्रकर्षत्वम्।

पतत्प्रकर्षमुदाहरति—**प्रोज्ज्वलदिति**। कश्चिन्नृसिंहोपासको भगवन्तं नृसिंहं स्तौति। प्रोज्ज्वलन् (प्रदीप्यमानः) यो ज्वलनः (अग्निः) तस्य ज्वाला (अर्चिः) इव विकटा (भयङ्करी) उर्वी (महती) सटाच्छटा (जटासमूहः) यस्य सः। एवं च श्वासक्षिप्तकुलक्ष्माभृत् = श्वासेन (निःश्वसनवातेन) क्षिप्ताः (दूरं प्रापिताः) कुलक्ष्माभृतः (महेन्द्रादयः कुलपर्वताः) येन सः। तादृशः, नरकेसरी = भगवान् नृसिंहः, वः = युष्मान्, पातु = रक्षतु। वृत्त्यनुप्रासः। अनुष्टुब्वृत्तम्।

इस पद्यमें "वस्त्राणि च" इसमें शिथिलताका श्रवण होता है। "वस्त्राण्यपि" ऐसे पाठमें दृढता होती है इसलिए दोष नहीं होता है।

यह अन्त्यस्थित लघु वर्णके गुरुभाव प्राप्त न करनेसे हतवृत्त है ऐसा काव्यप्रकाशकारका मत है।

वस्तुतः लक्षणके अनुसरण करनेपर भी अश्रव्य है (श्रुतिमनोहर नहीं है) अन्य विद्वान् ऐसा कहते हैं।

प्रोज्ज्वलत्०। जलते हुए अग्निकी ज्वालाके समान भयङ्कर महान् जटासमूहवाले और निःश्वाससे कुलपर्वतको दूर फेंक देनेवाले भगवान् नृसिंह तुम लोगोंकी रक्षा करें।

अत्र क्रमेणानुप्रासप्रकर्षः पतितः ।

'दलिते उत्पले एते अक्षिणी अमलाङ्गि ! ते' ।

एवंविधसन्धिविश्लेषस्य असकृत् प्रयोग एव दोषः । अनुशासनमुल्लङ्घ्य वृत्तभङ्गभयमात्रेण सन्धिविश्लेषस्य तु सकृदपि ।

विवृणोति—अत्रेति । प्रथमचरणे संयुक्तवर्णत्रयेणाऽनुप्रासप्रकर्षः, परं द्वितीयचरणेऽसंयुक्तटकारत्रयेण इति तदपेक्षयाऽपकृष्टस्तृतीयचरणे क्षकारद्वयेनेति तदपेक्षयाऽपकृष्टः, परं चतुर्थचरणे तु रेफरूपवर्णद्वयेनाऽनुप्रासः, अतः क्रमेणाऽनुप्रासप्रकर्षस्य पतितत्वात्पतत्प्रकर्षो नाम दोषः । अयमनित्यो दोषः, "पतत्प्रकर्षता तथा (७–२८) इति दोषाऽभावस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

सन्धिरहितत्वं सन्धिविश्लेषत्वम् ।

सन्धिविश्लेषमुदाहरति—दलिते इति । अत्र नायको नायिकाया अक्षिणी वर्णयति । हे अमलाङ्गि = हे निर्मलशरीराऽवयवे !, एते = अतिसंनिहिते, ते = तव, अक्षिणी = नेत्रे, दलिते = विकसिते, उत्पले = कुवलये । त्वन्नेत्रे उत्पलसदृशे इति भावः । अत्र दलिते + उत्पले, उत्पले + एते, एते + अक्षिणी, अक्षिणी + अमलाऽङ्गि इति चतुर्ष्वपि स्थानेषु "एचोऽयवायाव" "इको यणचि" इति सूत्रद्वयेन प्राप्तस्य सन्धेः "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" इति सूत्रेणाऽसकृत्प्रगृह्यसंज्ञत्वेन "प्लुतप्रगृह्या अचि नित्यम्" इत्यनेन प्रकृतिभावेन सन्ध्यभावात्सन्धिविश्लेषः ।

दोषस्थानं विविनक्ति—एवंविधसन्धिविश्लेषस्य=एतादृशविसन्धेः, पूर्वप्रतिपादितस्य, असत्कृत्प्रयोगे=वारंवारप्रयोगे, एव दोषः । नैकद्वप्रयोगे दोष इति भावः ।

सकृत्सन्धिविश्लेषेऽपि दोषस्थानं प्रतिपादयति—अनुशासनमिति । अनुशासनं = व्याकरणाऽनुशासनम्, उल्लङ्घ्य = अतिक्रम्य, वृत्तभङ्गमात्रेण = छन्दोभङ्गभयेन, सन्धिविश्लेषस्य=विसन्धेः, तु सकृदपि=एकवारप्रयोगेऽपि, दोष इति शेषः ।

उदाहरति—वासवाशा मुख इति । वासवस्य (इन्द्रस्य) आशा (दिक् प्राचीति भावः) तस्या मुखे (ऊर्ध्वभागे), इन्दुः = चन्द्रः, चन्दनबिन्दुवत्=चन्दनबिन्दुना (मलयजरसपृषतेन) तुल्यं, "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" इत्यनेन वतिप्रत्ययः । भाति = शोभते ।

इस पद्यमें क्रमसे अनुप्रासका प्रकर्ष गिरा हुआ है । अतः पतत्प्रकर्षता दोष है।

दलिते इति । हे निर्मल अङ्गोंवाली ! ये तुम्हारे नेत्र विकसित कमल हैं । यहांपर दलिते + उत्पले, उत्पले + एते, एते + अक्षिणी, अक्षिणी + अमलाऽङ्गी इन स्थानोंपर "ईदूदेद्द्विवचनं प्रगृह्यम्" इस सूत्रसे प्रगृह्य संज्ञा होकर सन्धि न होनेसे सन्धिविश्लेष दोष हुआ है । ऐसा सन्धिविश्लेष वारं वार होनेपर ही दोष होता है । व्याकरणके अनुशासनका उल्लङ्घन कर छन्दोभङ्ग दूर करनेसे सन्धिविश्लेष एक बार होनेपर भी दोष होता है ।

यथा—

'वासवाशामुखे भाति इन्दुश्चन्दनबिन्दुवत् ।'

'चलण्डामरचेष्टितः' इति ।

अत्र सन्धौ जुगुप्साव्यञ्जकमश्लीलत्वम् ।

'उर्व्यसावत्र तर्वाली मर्वन्ते चार्ववस्थितिः' ।

अत्र "भाति + इन्दुः" इत्यत्र "अकः सवर्णे दीर्घः" इति सूत्रेण प्राप्तस्याऽपि सवर्णदीर्घस्य च्छन्दोभङ्गभयादकरणेन सन्धिविश्लेषः । नन्वत्र प्राप्तस्य सन्धेरकरणाच्च्युतसंस्कृतिदोष इति चेन्न ।

"संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः ।
नित्या समासे, वाक्ये तु सा विवक्षामपेक्षते ॥"

इति नयेनात्र वाक्ये संहितायां विवक्षाभावात्सन्ध्यभावः' अतो न च्युतसंस्कृतिदोषः ।

सन्धिजाताऽश्लीलत्वं सन्ध्यश्लीलत्वम् ।

सन्ध्यश्लीलत्वमुदाहरति—"चलण्डामरचेष्टितः" इति । काव्यप्रकाशकारेणोद्धृतं पद्यमिदम् । पूर्णं पद्यं तु—

"वेगादुड्डीय गगने चलण्डामरचेष्टितः ।
अयमुत्पतते पत्त्री, ततोऽत्रैव रुचिं कुरु ॥" इति ।

डामरचेष्टितः = डामरम् (उद्धतम्) चेष्टितं (चेष्टा) यस्य सः ।

दोषं विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्, सन्धौ = "चलन् डामरः = चलण्डामर" इत्याकारके सन्धौ, चवर्णं विहाय वर्णद्वयेन भाषायां पुरुषोपस्थरूपस्यार्थस्य बोधनाज्जुगुप्साव्यञ्जकमश्लीलत्वम् । सन्धिघटितकष्टत्वं सन्धिकष्टत्वम् ।

सन्धिकष्टत्वमुदाहरति—**उर्व्यसावत्रेति** । अत्र = अस्मिन्, मर्वन्ते = मरोः (मरुभूमेः) अन्ते (प्रान्तभागे), चार्ववस्थितिः = चारुः (रुचिरा) अवस्थितिः (अवस्थानम्) यस्याः सा । उर्वी = महती, तर्वाली = तरूणाम् (वृक्षाणाम्) आली (पङ्क्तिः), अस्तीति शेषः । अत्र उर्वी + असौ उर्व्यसौ, तरु + आली =

जैसे—"**वासवाशामुखे०**" । चन्द्रमा इन्द्रकी दिशा (पूर्व) के ऊर्ध्वभागमें चन्दनबिन्दुके समान शोभित हो रहे हैं । यहाँ भाति + इन्दुः = इस स्थानमें दीर्घ होकर भातीन्दुः होनेपर छन्दोभङ्गके भयसे एकवार मात्र सन्धि न होनेपर भी "सन्धिविश्लेष दोष हो गया है ।

चलण्डामरचेष्टितः" इति । यहाँ चलन् + डामर०" यहाँपर ष्टुत्वसन्धि करनेसे 'च' वर्णके अनन्तरवर्ती दो वर्णोंसे जुगुप्साव्यञ्जक अश्लीलत्व होता है ।

उर्व्यसावत्रेति । मरुस्थल (रेगिस्तान) के प्रान्तमें मनोहर स्थितिवाली

अत्र सन्धौ कष्टत्वम्।

'इन्दुर्विभाति कर्पूरगौरैर्धवलयन् करैः।
जगन्मा कुरु तन्वङ्गि! मानं पादानते प्रिये॥'

अत्र जगदिति प्रथमार्द्धे पठितुमुचितम्।

'नाशयन्तो घनध्वान्तं तापयन्तो वियोगिनः।
पतन्ति शशिनः पादा भासयन्तः क्ष्मातलम्॥'

तर्वाली, चारु + अवस्थितिः=चार्ववस्थितिः, इति तत्र तत्र सन्धौ कष्टत्वम्। अयमप्यनित्यो दोषः, "वैयाकरणमुख्ये तु० ७–२१ इत्यादिना प्रतिप्रसवस्य प्रतिपादनात्। पद्यार्द्धान्तराधिकरणैकपदत्वमर्द्धान्तरैकपदत्वम्। अयं नित्यो दोषः।

अर्द्धान्तरैकपदत्वमुदाहरति—**इन्दुरिति**। हे तन्वङ्गि = हे कृशाङ्गि। इन्दुः = चन्द्रः, कर्पूरगौरैः = कर्पूराः (घनसाराः) इव गौराः (शुभ्राः), तैः। करैः = किरणैः, जगत् = लोकं, धवलयन् = धवलीकुर्वन् सन्, विभाति = शोभते, अतः पादानते = चरणाऽवनते, प्रिये = दयिते, मयि। मानम् = अभिमानं, मा कुरु = नो विधेहि।

दोषं प्रदर्शयति—**अत्रेति**। जगदिति = "जगत्" पदं प्रथमार्द्धे = प्रकृतश्लोकस्य पूर्वार्द्धे, पठितुम् उचितं = पठनीयम्।

अन्वयबोधजननाद्वाक्ये समाप्तेऽपि पदान्तरोपादानं समाप्तपुनरात्तत्वम्।

समाप्तपुनरात्तत्वमुदाहरति—**नाशयन्त इति**। शशिनः=चन्द्रमसः, पादाः= किरणाः घनध्वान्तं = सान्द्राऽन्धकारं, नाशयन्तः = दूरीकुर्वन्तः, वियोगिनः=विरहिजनान्, तापयन्तः = सन्तप्तान् कुर्वन्तः। पतन्ति, **अत्रेति**। अत्र = अस्मिन् वाक्ये अन्वयबोधजननात् वाक्ये समाप्तेऽपि, क्ष्मातलं = भूतलं, भासयन्तः = प्रकाशयन्तः इति चतुर्थः पादः पुनः = भूयः, आत्तः = गृहीतः, अतः समाप्तपुनरात्तं नाम दोषः। अनुष्टुब्वृत्तम्। अयमनित्यो दोषः, "समाप्तपुनरात्तत्वं न दोषो न गुणः क्वचित्। (७–२८)" इत्यनेन प्रतिप्रसवस्य वक्ष्यमाणत्वात्।

बड़ी सी यह तर्वाली (वृक्षपङ्क्ति) है। इस पद्यार्धमें उर्वी + असौ, तरु + आली, मरु + अन्ते, चारु + अवस्थितिः' इन स्थलोंपर सन्धि करनेसे "सन्धिकष्टत्व" है।

इन्दुरिति। हे कृशाऽङ्गि! चन्द्रमा कर्पूरके समान सफेद किरणोंसे जगत्को सफेद करते हुए शोभित हो रहे हैं, प्रियके चरणोंपर अवनत होनेपर (झुकनेपर) अभिमान मत करो इस पद्यमें उत्तरार्द्धमें पठित "जगत्" पद पूर्वार्द्धमें पढ़ना उचित है, सो न होनेसे "अर्द्धान्तरैकपदत्व" हो गया है।

नाशयन्त इति। मेघके अन्धकारको नष्ट करते हुए, वियोगियोंको सन्तप्त करते हुए और भूतलको चमकाते हुए चन्द्रमाके किरण भूतलपर गिर रहे हैं। यहाँपर "पतन्ति शशिनः पादाः' इन पदोंसे वाक्यसमाप्ति होनेपर भी "भासयन्तः क्ष्मातलम्"।

अत्र चतुर्थपादो वाक्यसमाप्तावपि पुनरुपात्तः।

अभवन्मतसम्बन्धो यथा—

'या जयश्रीर्मनोजस्य, यया जगदलङ्कृतम्।
यामेणाक्षीं विना प्राणा विफला मे कुतोऽद्य सा ?॥'

अत्र यच्छब्दनिर्दिष्टानां वाक्यानां परस्परनिरपेक्षत्वात् तदेकान्तःपातिना एणाक्षीशब्देन अन्येषां सम्बन्धः कवेरभिमतो नोपपद्यत एव।

'यां विनामी वृथा प्राणा एणाक्षी सा कुतोऽद्य मे'।

अभिमतसम्बन्धरहितवाक्यत्वमभवन्मतसम्बन्धत्वम्। स चाऽभवन्मतसम्बन्धः क्वचिदाकाङ्क्षाभावेन क्वचिच्च प्रयुक्तपदयोग्यताऽभावेन भवतीत्यस्य द्वैविध्यम्।

अभवन्मतसम्बन्धमुदाहरति—**या जयश्रीरिति**। या=मत्प्रिया, मनोजस्य= कामदेवस्य, जयश्रीः = विजयलक्ष्मीः, यया = मत्प्रियया, जगत्=लोकः, अलङ्कृतं= भूषितम्। याम्, एणाऽक्षीं विना = मृगनयनां विहाय, मे = मम प्राणाः = असवः, विफलाः = निष्फलाः, अद्य = अस्मिन्दिने, सा = मत्प्रिया, कुतः = कुत्र, वर्तते = विद्यते। अनुष्टुब्वृतम्।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, यच्छब्दनिर्दिष्टानां = यच्छब्देन (यत्पदेन) निर्दिष्टानां (कृतनिर्देशानाम्) वाक्यानां = पदकदम्बकानां, परस्परनिरपेक्षत्वात्=अन्योन्याकाङ्क्षाऽभावात्, तदेकाऽन्तःपातिना=तेषु (वाक्येषु) एकस्य (वाक्यस्य) अन्तःपातिना (अन्तःस्थितेन) एणाक्षीशब्देन = एणाक्षी- पदेन, अन्येषां = वाक्यानां, सम्बन्धः, कवेः = कवयितुः, अभिमतः अभीष्टः, अपि, न उपपद्यते एव = नोपपन्नो भवत्येव।

दोषं परिहर्तुं पाठान्तरं कल्पयति—**यां विनेति**। यां विना = यां मत्प्रियाम् विहाय, अमी = एते, मे = मम, प्राणाः = असवः, वृथा = व्यर्थ- प्रायाः, सा = पूर्वाऽभिहिता मे = मम, एणाक्षी = मृगनयना, अद्य = अस्मिन्दिने, कुतः = कुत्र, अस्तीति शेषः।

इस चतुर्थचरणके फिर उपादान (ग्रहण) करनेसे "समाप्तपुनरात्तता" दोष है।

या जयश्रीरिति। जो कामदेवकी जयलक्ष्मी है, जिससे लोक अलङ्कृत है, जिस मृगनयनाके विना मेरे प्राण निष्फल हो जाते हैं ? आज वह कहाँ है ?

इस पद्यमें यद् शब्दसे निर्दिष्ट वाक्योंके परस्पर निरपेक्ष होनेसे उन वाक्योंमें एक वाक्यके अन्तःस्थित एणाक्षीशब्दके साथ अन्य वाक्योंका सम्बन्ध कविको अभीष्ट होनेपर उपपन्न नहीं ही होता है, इस कारणसे—"यां विनाऽमी०" जिसके विना मेरे ये प्राण व्यर्थ हैं वह मेरी मृगनयना आज कहाँ है"।

इति तच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यान्तःपातित्वे तु सर्वैरपि यच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यैः सम्बन्धो घटते ।

यथा वा— 'ईक्षसे यत्कटाक्षेण तदा धन्वी मनोभवः ।'

अत्र यदित्यस्य तदेत्यनेन सम्बन्धो न घटते ।

'ईक्षसे चेत्' इति तु युक्तः पाठः ।

यथा वा— 'ज्योत्स्नाचयः पयःपूरस्तारकाः कैरवाणि च ।
राजति व्योमकासारराजहंसः सुधाकरः ॥'

इति = एवं, तच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यान्तःपातित्वे तु=एणाक्षीशब्दस्य तच्छब्देन (तत्पदेन) निर्दिष्टवाक्यानाम् (कृतनिर्देशपदकदम्बकानाम्) अन्तःपातित्वे तु (अभ्यन्तर्गतत्वे तु), सर्वैरपि = सकलैरपि, यच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यैः, सम्बन्धो, घटते= संभवति, "यत्तदोर्नित्यः सम्बन्ध" इति नयेनान्योन्याकाङ्क्षासत्त्वादिति भावः । प्रयुक्तपदयोग्यताऽभावजनितं द्वितीयमभवन्मतसम्बन्धमुदाहरति—

यथा वा । ईक्षस इति । कश्चिन्नायकः स्वकीयां नायिकामनुनयति । (हे प्रिये !) यत्, कटाक्षेण = अपाङ्गदर्शनेन, ईक्षसे = पश्यसि, तदा = तस्मिन्समये, मनोभवः = कामदेवः, धन्वी = धनुर्धारी, भवतीति शेषः ।

दोषं निर्दिशति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन् उदाहरणे, यत् इत्यस्य पदस्य, "तदा" इत्यनेन = कालवाचकसमर्थकपदेन सह, सम्बन्धः, न घटते=न संभवति । अतः द्वितीयोऽयमभवन्मतसम्बन्धः ।

दोषपरिहारं प्रदर्शयति—**ईक्षसे चेदिति** । "चेत्" इति प्रयोगे "तदा" इत्यनेन समं सम्बन्धो घटते, अतो दोषाऽभाव इति भावः ।

अभवन्मतसम्बन्धस्योदाहरणान्तरं दर्शयति—**ज्योत्स्नाचय इति** । ज्योत्स्नाचयः = ज्योत्स्नानां (चन्द्रिकाणाम्) चयः (समूहः) एव, पयःपूरः=जलसमूहः, तारकाः = नक्षत्राणि, एव, कैरवाणि = कुमुदानि । तथा सुधाकरः = चन्द्रः, एव, व्योमकासारराजहंसः = व्योम (आकाशम्) एव कासारः (सरः) तस्य राजहंसः = मरालः । अत्र समस्तवस्तुविषयं साङ्गरूपकमलङ्कारः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

इसप्रकार तद् शब्दसे निर्दिष्ट वाक्यके अन्तःस्थित करनेपर तो सभी यद् शब्दसे निर्दिष्ट वाक्योंके साथ सम्बन्ध उचित होता है ।

जैसे कि—"ईक्षसे०" । (हे सुन्दरि !) जो कटाक्षसे देख लेती हो तब तो कामदेव धनुर्धारी (अन्वर्थ रूपसे) हो जाता है । यहाँपर यद्शब्दका कालवाचक "तदा" शब्दके साथ सम्बन्ध उचित नहीं । "ईक्षसे चेत्" ऐसा करें तो उचित पाठ हो जाता है ।

और भी—**ज्योत्स्नाचय इति** । चाँदनीका समूह (ही) जलका समूह है, नक्षत्र (ही) कुमुद हैं । चन्द्रमा ही आकाशरूप कासार (तालाब) में राजहंस है ।

अत्र व्योमकासारशब्दस्य समासे गुणीभावात्तदर्थस्य न सर्वैः संयोगः। विधेयाविमर्शे यदेवाविमृष्टं तदेव दुष्टम्। इह तु प्रधानस्य कासारपदार्थस्य प्राधान्येनाऽप्रतीतेः सर्वोऽपि पयःपूरादिपदार्थस्तदङ्गतया न प्रतीयत इति सर्व-वाक्यार्थविरोधाऽवभास इत्युभयोर्भेदः।

'अनेन च्छिन्दता मातुः कण्ठं परशुना तव।
बद्धस्पर्द्धः कृपाणोऽयं लज्जते मम भार्गव!'॥

दोषमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, व्योमकासारशब्दस्य, समासे, गुणीभावात् = राजहंसशब्दस्य विशेषणीभूतत्वात्, तदर्थस्य = व्योम-कासारशब्दस्य, सर्वैः = सकलैः, पयःपूरादिभिः सह, संयोगः = सम्बन्धः, न = न उपपद्यत इति भावः। तथा च आकाशरूपे सरसि चन्द्रिकासमूहरूपो जलराशिः, नक्षत्ररूपाणि कुमुदानि, चन्द्ररूपो राजहंस इति कवेरभिमतोऽर्थः परं व्योमकासार-पदस्य राजहंसपदेन समासे व्योमकासारराजहंसस्य न सर्वैः संयोग उपपद्यते। "व्योमकासार" इति सप्तम्यन्तपदसत्त्वे तु न दोषः।

अत्रोदाहरणे विधेयाऽविमर्शदोषत्वमाशङ्क्य परिहरति—**विधेयाविमर्श इति**। विधेयाऽविमर्शे = अविमृष्टविधेयांशे, यदेव = पदम्, अविमृष्टम् = अप्राधान्येन निर्दिष्टं, तदेव = पदं, दुष्टं = दोषयुक्तम्। इह तु = अभवन्मतसम्बन्ध तु, प्रधानस्य = मुख्यस्य, कासारपदाऽर्थस्य, प्राधान्येन अप्रतीतेः = समासेन गुणीभावादिति शेषः। सर्वोऽपि = सकलोऽपि, पयःपूरादिपदाऽर्थः, तदङ्गतया = कासाराऽङ्गतया, न प्रतीयते = नो ज्ञायते, इति सर्ववाक्याऽर्थविरोधाऽवभासः, इति उभयोः = द्वयोः, विधेयाऽविमर्शाऽभवन्मतसम्बन्धयोः, भेदः = पार्थक्यम्।

अभवन्मतसम्बन्धस्योदाहरणान्तरं प्रदर्शयति—**अनेनेति**। महावीर-चरितस्थं पद्यमिदम्। श्रीरामस्य परशुरामं प्रत्युक्तिरियम्। हे भार्गव=हे परशुराम!,

इस पद्यमें व्योमकासार शब्दका समासमें राजहंस मात्रके विशेषण होनेसे उसका सम्पूर्ण पदोंसे (पयः पूर आदि शब्दोंसे) सम्बन्ध उपपन्न नहीं है। "व्योम-कासारे" ऐसा सप्तम्यन्त पद रखें तो कोई दोष नहीं। विधेयाऽविमर्शमें जो पद प्रधानतासे निर्दिष्ट नहीं है वही पद दुष्ट (दोषयुक्त) होता है। इस (अभवन्मत-सम्बन्ध) मे तु प्रधान कासार पदकी प्रधानतासे प्रतीति न होनेसे संपूर्ण पयःपूर आदि पदार्थ उसके अङ्गरूपमें प्रतीत नहीं होते हैं इस प्रकार संपूर्ण वाक्यार्थमे विरोधका अवभास होता है इसप्रकार अभवन्मतसम्बन्ध और विधेयाऽविमर्शमें भेद समझना चाहिए।

अभवन्मतसम्बन्धताका दूसरा उदाहरण देते हैं—**अनेनेति**। यह परशुराम-के प्रति श्रीरामचन्द्रजीकी उक्ति है। हे भार्गव! (हे परशुराम!) माता (रेणुका)-

अत्र 'भार्गवनिन्दायां प्रयुक्तस्य मातृकण्ठच्छेदनस्य परशुना सह सम्बन्धो न युक्तः' इति प्राच्याः। 'परशुनिन्दामुखेन भार्गवनिन्दाधिक्यमेव वैदग्ध्यं द्योतयति' इत्याधुनिकाः।

अक्रमता यथा—

'समय एव करोति बलाबलं प्रणिगदन्त इतीव शरीरिणाम्।
शरदि हंसरवाः परुषीकृतस्वरमयूरमयू रमणीयताम्॥'

भृगोरपत्यं पुमान्भार्गवस्तत्सम्बुद्धौ। मातुः = जनन्याः, रेणुकाया इति भावः। कण्ठं = गलं, छिन्दता = खण्डयता, अनेन = संनिकृष्टस्थेन, तव = भवतः, परशुना= कुठारेण, सह, बद्धस्पर्द्धः = कृतसंघर्षः, अयं, मम = रामस्य, कृपाणः = खड्गः, लज्जते = जिह्रेति। अनुष्टुब्वृत्तम्।

दोषमुपपादयति—अत्र =पद्ये, भार्गवनिन्दायां=परशुरामकुत्सायां, प्रयुक्तस्य= विहितस्य, मातृकण्ठच्छेदनस्य = जननीगलखण्डनस्य, परशुना = कुठारेण, सह = समं, सम्बन्धः, न युक्तः = नोचितः इति प्राच्याः = प्राचीना आचार्याः, अचेतनस्य परशोः करणत्वेनैव सम्बन्धो युक्तो न कर्तृत्वेनेति भावः।

नवीनमतेनाऽत्र पद्ये वैदग्ध्यमुपपादयति—परशिवति। परशुनिन्दामुखेन = कुठारकुत्साद्वारा, भार्गवनिन्दाऽऽधिक्यम् एव = परशुरामकुत्साऽधिकताम् एव, वैदग्ध्यं = नैपुण्यं, द्योतयति = प्रकाशयति, इति आधुनिकाः=इदानीन्तनाः, विद्वांसः, तथा चाऽत्र नो दोष इति भावः।

भग्नक्रमत्वम् अक्रमत्वम्, अयं नित्यो दोषः। अक्रमतामुदाहरति—समय इति। शिशुपालवधमहाकाव्ये षष्ठसर्गे शरद्वर्णने प्रयुक्तं पद्यमिदम्। समयः = कालः, एव, शरीरिणां = देहिनां, बलाऽबलं = प्रबलत्वं दुर्बलत्वं च, करोति = विदधाति, इति = एवं, प्रणिगदन्त इव = वदन्त इव, शरदि = शरदृतौ, हंसरवाः = हंसानां (श्वेतगरुताम्) रवाः (नादाः), परुषीकृतस्वरमयूरं=परुषीकृताः (कर्कशीकृताः)

के कण्ठका छेदन करनेवाले आपके इस परशु (फर्सा) से स्पर्धा (संघर्ष) करनेवाली मेरी यह तलवार लज्जित हो रही है।

इस पद्यमें परशुरामकी निन्दामें प्रयुक्त माता (रेणुका) के कण्ठच्छेदनका परशुके साथ सम्बन्ध उचित नहीं है, यह प्राचीन आचार्योंका मत है।

परशुकी निन्दाके द्वारा परशुरामकी निन्दाकी अधिकता ही निपुणताका द्योतन करती है, यह नवीन आचार्योंका मत है।

अक्रमता—समय इति। "समय ही सबको प्रबल वा दुर्बल बनाता है" मानों ऐसा कहते हुए शरद् ऋतुने हंसोंके शब्द, मयूरोंके शब्दोंको कर्कश बनाकर मनोहरताको प्राप्त हुए।

अत्र परामृश्यमानवाक्यानन्तरमेवेतिशब्दोपयोगो युज्यते, न तु 'प्रणिगदन्त' इत्यनन्तरम् ।

एवम्—

'द्वयं गतं संप्रति शोचनीयतां समागमप्रार्थनया कपालिनः ।
कला च सा कान्तिमती कलावतस्त्वमस्य लोकस्य च नेत्रकौमुदी ॥'

अत्र त्वमित्यनन्तरमेव चकारो युक्तः ।

स्वराः (नादाः) येषां ते, तादृशा मयूराः (बर्हिणः) यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथा । रमणोयतां = मनोहरतां, चित्ताकर्षकतामिति भावः, अयुः = प्रापाः । द्रुत-विलम्बितं वृत्तम् ॥ ६-४४ ॥

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र = पद्ये, परामृश्यमानं (परामर्शीक्रियमाणम्) वाक्यं ("समय एव करोति बलाऽबलम्" इत्याकारकम्), तदनन्तरमेव इतिशब्दोपयोगोः = इतिपदप्रयोगः; युज्यते = उपपद्यते, न तु "प्रणिगदन्त" इत्यनन्तरम् । तथा च—"समय एव करोति बलाऽबलम्" इति प्रणिगदन्त इव० । इति पाठे नो दोष इति भावः ।

पदान्तरेणाऽक्रमताया उदाहरणं दर्शयति—**एवम् । द्वयमिति ।** कुमार-संभवस्य पञ्चमसर्गस्थं पद्यमिदम् । वर्णिवेषधारी शङ्करस्तपस्यन्तीं पार्वतीमभिधत्ते—**द्वयमिति** । कपालिनः = नरकर्परधारिणः, हरस्येति भावः । सोल्लुण्ठनोक्तिरियम् । समागमप्रार्थनया = प्राप्तिकामनया, सम्प्रति = अधुना, कलावतः = चन्द्रमसः, सा= प्रसिद्धा, अत्र तच्छब्दस्य प्रसिद्धार्थत्वान्न यच्छब्दाऽपेक्षा । कला=षोडशो भागः, अस्य= दृश्यमानस्य, लोकस्य=भुवनस्य, नेत्रकौमुदी=नयनचन्द्रिका, लोचनानन्दिनीति भावः, त्वं च=भवती च, इत्थं, द्वयं=द्वितयं, शोचनीयतां = शोच्यतां, गतं= प्राप्तम् । वंशस्थं वृत्तम् । अत्र प्रस्तुतयोर्द्वयोरपि शोच्यत्वरूपैकधर्मसम्बन्धात्तुल्ययोगिताऽलङ्कारः ।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन् उदाहरणे । "त्वम्" इत्यनन्तर-मेव, चकारः = 'च' पदपाठः, युक्तः = उचितः । अत्र तु लोकस्येत्यनन्तरं "च" पदपाठाद्दोष इति भावः ।

यहाँ परामर्श किया जानेवाला वाक्य "समय एव करोति बलाबलम्" के अनन्तर ही "इति" शब्दका प्रयोग उचित है न कि "प्रणिगदन्तः" इसके अनन्तर, अतः अक्रमता दोष है ।

इसी तरह—**द्वयमिति** । ब्रह्मचारीके वेष बनाये हुए शिवजी तपस्या करने-वाली पार्वतीसे कहते हैं—कपाली (शिवजी) के समागमका अभिलाष रखने-वाले—चन्द्रमाकी कान्तिमती प्रसिद्ध कला और इस लोककी नेत्रचन्द्रिका तुम, ये दो पदार्थ शोचनीय हैं ।

यहां "त्वम्" के अनन्तर "च" पद देना उचित है ।

अमतपरार्थता यथा—

'राममन्मथशरेण ताडिता—' इत्यादि ।

अत्र शृङ्गाररसस्य व्यञ्जको द्वितीयोऽर्थः प्रकृतरसविरोधित्वादनिष्टः ।

वाच्यस्यानभिधानं यथा—

'व्यतिक्रमलवं कं मे वीक्ष्य वामाक्षि ! कुप्यसि ।'

अत्र व्यतिक्रमलवमपीत्यपिरवश्यं वक्तव्यो नोक्तः ।

न्यूनपदत्वे वाचकपदस्यैव न्यूनता विवक्षिता' अपेस्तु न तथात्वमित्यनयोर्भेदः । एवमन्यत्रापि ।

अनभिमतपरार्थत्वममतपरार्थत्वम् । अमतपरार्थत्वमुदाहरति—**रामेति** ।

"राममन्मथशरेण ताडिता" (पृ० २०६) ।

दोषमुपपादयति—अत्र = अस्मिन् पद्ये । शृङ्गाररसस्य = आदिरसस्य, व्यञ्जकः = व्यञ्जनावृत्या प्रत्यायकः, द्वितीयः = अपरः, अर्थः = वाच्यः, प्रकृतरसविरोधित्वात् = प्रकृतः (प्रकरणोपात्तः) यो रसः (बीभत्सः) तद्विरोधित्वात् (तद्विरोधकत्वात् ।; "आद्यः करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः (पृ० २७९)" इति नयेनेति भावः, अनिष्टः=अनभिमतः । अतोऽत्राऽनभिमतपदार्थत्वमिति भावः ।

वाच्याऽभिधानरहितं वाच्यस्याऽनभिधानम् । वाच्यस्याऽनभिधानमुदाहरति—**व्यतिक्रमलवमिति** ।

नायकस्य नायिकां प्रत्युक्तिरियम् । हे वामाक्षि = वामे (सुन्दरे, कुटिले वा) अक्षिणी (नेत्रे) यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ, हे कुटिलनयने ! सुन्दरनयने वा । "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्" इति समासान्तः षच्प्रत्ययः । "षिद्गौरादिभ्यश्चे"ति स्त्रीत्वविवक्षायां ङीष्, मे = मम, कं = कंचिन, व्यतिक्रमलवं=प्रणयाऽतिक्रमलेशम् अपि, वीक्ष्य = दृष्ट्वा, कुप्यसि = क्रुध्यसि । अनुष्टुब्वृत्ताऽर्द्धम् ।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र=अस्मिन् उदाहरणे, व्यतिक्रमलवम् अपि, इति, अपिः = "अपि" पदम्, अवश्यं, वक्तव्यः = वाच्यः, अपि, न उक्तः = न प्रतिपादितः, अतो वाच्यस्याऽनभिधानं नाम दोषः ।

न्यूनपदत्वेन सहाऽस्य भेदमुपपादयति-**न्यूनपदत्व इति** । न्यूनपदत्वे वाचक-

---

अमतपरार्थता जैसे—**"राममन्मथशरेण ताडिता" इति** यह पद्य प्रथम भाग पृष्ठ २०६ में आ चुका है । यहां शृङ्गाररसका व्यञ्जक दूसरा अर्थ, प्रस्तुत बीभत्स रसका विरोधी होनेसे अनिष्ट है ।

वाच्याऽनभिधान जैसे—**व्यतिक्रमलवमिति** । हे सुन्दरनयने ! मेरे किस त्रुटिके लेशको देखकर कुपित हो रही हो । यहां "व्यतिक्रमलवम्" इसके अनन्तर "अपि" पदको अवश्य कहना चाहिए था वह नहीं कहा गया है । न्यूनपदत्वमें

यथा वा—

'चरणानतकान्तायास्तन्वि ! कोपस्तथापि ते ॥'

अत्र चरणानतकान्तासीति वाच्यम् ।

भग्नप्रक्रमता यथा—

'एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यै रावणः प्रत्यभाषत ।'

पदस्य = स्व तन्त्र्येणाऽर्थबोधकपदस्य, एव, न्यूनता, विवक्षिता=वक्तुमिष्टा, अपेस्तु= अपिपदस्य तु, न तथात्वं = न वाचकत्वमुपसर्गत्वेन द्योतकत्वमेवेति भावः । इति = अस्मात्कारणात्, अनयोः = पूर्वोक्तदोषयोर्भेदः ।

वाच्यस्याऽनभिधानं नाम दोषो द्विविधः—वाच्यार्थस्याऽर्थस्य (अप्यादेः) अनभिधानं, वाच्यस्य वाक्याऽन्तरस्य अनभिधानं च । तत्र द्वितीयदोषस्य उदाहरणं प्रस्तौति—**चरणानतकान्ताया इति** । सख्या नायिकां प्रत्युक्तिरियम् । हे तन्वि = हे कृशाङ्गि !, चरणाऽऽनतकान्तायाः = चरणे (पादे) आनतः (अवनतः) कान्तः (प्रियः) यस्याः, ते = तव, तथाऽपि = एतादृशस्थितौ सत्यामपि, कोपः = क्रोधः, कान्ते चरणानते सति कोपः परिहर्तव्य इति भावः । अत्र "तथाऽपि" इत्यनेन वाच्यस्य वाक्यान्तरस्याऽनभिधानाद्दोषः ।

वाच्यस्य वाक्यान्तरस्य स्थापनेन दोषं परिहरति—**चरणानतेति** । "चरणानतकान्ताऽसीति" वाक्यं वाच्यम् । चरणे आनतः कान्तः यस्याः सा तादृशी, असि = विद्यसे, तथाऽपि ते कोपः । न्यूनपदत्वे न्यूनपदसद्भावमात्रेण दोषाऽभावः, अत्र तु ङसन्तं पदं विहायाऽसीति पदस्थापनेन दोषाऽभावः । प्रक्रान्तक्रमभिन्नपदवत्त्वं भग्नप्रक्रमत्वम् । भग्नः (विच्छिन्नः) प्रक्रमः । (नियतपूर्वाऽपरभावः) यस्य, तस्य भावस्तत्त्वम् ।

भग्नप्रक्रमतामुदाहरति—**एवमिति** ।

"रघुनाथाय सीतेयं रक्षोनाथ ! समर्प्यताम् ।"

इति मत्पूरितः पूर्वार्द्धभागः । मन्त्रिमुख्यैः = अमात्यप्रधानैः, एवं = पूर्वप्रकारेण, उक्तः = अभिहितः, रावणः = दशाननः, प्रत्यभाषत = प्रत्यब्रवीत् ।

वाचक पदकी ही न्यूनता विवक्षित है, अपिका वैसा नहीं, अर्थात् वह स्वतन्त्ररूपसे अर्थबोधक नहीं है यही इनका भेद है । इसी तरह अन्यत्र भी जानना चाहिए ।

अन्य उदाहरण—**"चरणानतकान्तायाः"** हे कृशाङ्गि ! जिसके चरणमे प्रिय अवनत हो रहे है वैसी होकर भी तुम्हारा कोप है । यहां "चरणानतकान्ताऽसि" अर्थात् तुम चरणमें झुकनेवाले प्रियवाली हो ऐसा कहना चाहिए ।

भग्नप्रक्रमता जैसे—**एवमुक्तः इति** । "मुख्य मन्त्रियोंसे ऐसा कहे गये रावणने उत्तर दिया" ।

अत्र वचधातुना प्रक्रान्तं प्रतिवचनमपि तेनैव वक्तुमुचितम्। तेन 'रावणः प्रत्यवोचत' इति पाठो युक्तः। एवं च सति न कथितपदत्वदोषः, तस्योद्देश्यप्रतिनिर्देश्यव्यतिरिक्तविषयकत्वात्। इह हि वचनप्रतिवचनयोरुद्देश्यप्रतिनिर्देश्यत्वम्। यथा—

'उदेति सविता ताम्रस्ताम्र एवास्तमेति च।'

दोषमुपपादयति—अत्र = अस्मिन् उदाहरणे, वचधातुना = "ब्रुवो वचिः" इति ब्रूञ्धातोरादेशभूतेनेति भावः। प्रक्रान्तं = कृतक्रमं, प्रतिवचनम् अपि = प्रतिवचनबोधकं पदम् अपि। तेनैव = पदेन, वचधातुनैव, वक्तुं = प्रतिपादयितुम्, उचितं = योग्यम्।

दोषं परिहर्तुं पाठान्तरं कल्पयति—**रावण इति**। रावणः प्रत्यवोचत, इति पाठो युक्तः = उचितः। प्रत्यवोचत = प्रत्युक्तवानिति भावः।

अत्र कथितपदत्वदोषाऽभावं प्रतिपादयति—**एवं चेति**। इत्थं कृते सति, न कथितपदत्वं दोषः। तस्य = कथितपदत्वस्य।

उद्देश्येति। उद्देश्यं = प्रागुद्देष्टुं योग्यं, प्रतिनिर्देश्यं = पश्चात्प्रतिनिर्देष्टुं योग्यम् यस्मिन् सः, तस्मात् व्यतिरिक्तविषयत्वात् = व्यतिरिक्तः (भिन्नः) विषयः (आश्रयः) यस्य, तस्य भावस्तत्त्वं, तस्मात्। येन शब्देन योऽर्थः प्राग् ज्ञापितः, तेनैव शब्देन स पश्चाज्ज्ञापनीय इति भावः।

निगमयति—**इहेति**। हि = यतः, इह = अस्मिन्स्थले, "एवमुक्त" इत्यादिस्थले, वचनप्रतिवचनयोः = उक्तिप्रत्युक्त्योः, उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यत्वम्, अभेदबोधनादिति शेषः।

स्वोक्तिं द्रढयितुं काव्यप्रकाशकारधृतं पद्यं प्रदर्शयति—**उदेतीति**। अस्योत्तरार्द्धं—"सम्पत्तौ च विपत्तौ च महतामेकरूपता।" इति। सविता = सूर्यः, ताम्रः, एव, = रक्तः, एव, उदेति = उदयं प्राप्नोति। ताम्र एव = रक्त एव, अस्तम् = अस्ताऽचलम्, एति = गच्छति। अत्रोदयकालभवताम्रत्वविधायुद्दिष्टस्य सवितुरस्ताऽचलगमनकालभवताम्रत्वविधावुद्देश्यतया प्रतिनिर्देशः।

यहां "वच" धातुसे प्रारम्भ किया गया प्रतिवचन भी उसी धातुसे कहना उचित है, इस कारणसे "रावणः" प्रत्यवोचत" ऐसा पाठ उचित है। ऐसा होनेपर कथितपदत्व दोष नहीं होता है। कथितपदत्व दोष उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यसे भिन्न विषयमें रहता है। यहां (भग्नप्रक्रमतामें) वचन और प्रतिवचनका उद्देश्यप्रतिनिर्देश्यभाव है।

जैसे—**उदेति इति**। अर्थात् सूर्य ताम्र (लालवर्ण वाला) होकर उदित होता हैं और ताम्र ही होकर, अस्तमित होता हैं।

इत्यत्र हि यदि पदान्तरेण स एवार्थः प्रतिपाद्यते तदान्योऽर्थ इव प्रतिभासमानः प्रतीतिं स्थगयति।

यथा वा—

'ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।
सिद्धं चास्मै निवेद्यार्थं तद्विसृष्टाः खमुद्ययुः ॥'

अत्र 'अस्मै' इतीदमा प्रक्रान्तस्य तेनैव तत्समानाभ्यामेतददःशब्दाभ्यां वा परामर्शो युक्तो न तच्छब्देन।

अत्र कथितपदत्वाऽभावमुपपादयति—**इत्यत्र हीति**। इत्यत्र = इत्यादिस्थाने, पदान्तरेण=शब्दान्तरेण, अपरवाक्ये "ताम्र" स्थाने "रक्त" रूपशब्दान्तरेण, स एव अर्थः = ताम्र एव अर्थः, प्रतिपाद्यते यदि = प्रतिबोध्यते चेत्, कथितपदत्वापातशङ्कयेति शेषः, तदा = तर्हि, अन्यः = अपरः, अर्थः = पदार्थः, इव, प्रतिभासमानः = प्रकाशमानः, प्रतीतिम् = उभयोरभेदज्ञानं, स्थगयति = आच्छादयति, निरुणद्धीति भावः। तथा च सति रसाऽनुभवविघ्न इति तात्पर्यम्। अत ईदृशस्थले यदेवोद्दिष्टं तदेव प्रतिनिर्देष्टुमिष्टं, तथा च नाऽत्र कथितपदत्वमिति सिद्धान्तः।

सर्वनामरूपप्रकृतिभेदे भग्नप्रक्रमतामुदाहरति—**त इति**। कुमारसंभवस्य षष्ठसर्गस्थः श्लोकोऽयम्। ते = सप्तर्षयः, हिमालयं = पर्वताऽधिराजं हिमवन्तम्, आमन्त्र्य = "साधु यामे" त्यापृच्छ्य, पुनः = भूयः, शूलिनं = शङ्करं, सङ्केतस्थानस्थमिति भावः, प्रेक्ष्य = दृष्ट्वा सिद्धं = निष्पन्नम्, अर्थं = प्रयोजनम्, अस्मै = शङ्कराय, निवेद्य च = ज्ञापयित्वा च, तद्विसृष्टाः = तेन (शूलिना = शङ्करेण) विसृष्टाः = दत्ताऽवकाशाः सन्त इति भावः। खम्=आकाशम्, उद्ययुः = उत्पतिताः। अत्र संक्षिप्ताऽर्थाऽभिधानात्संक्षेपो नाम गुणः। तदुक्तं—

"संक्षिप्ताऽर्थाऽभिधानं यत्संक्षेपः परिकीर्तितः।" इति। अनुष्टुब्वृत्तम्।

अत्र दोषमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र = इह श्लोके, "अस्मै" इति, इदमा= इदंशब्देन, चतुर्थ्यन्तेनेति शेषः। प्रक्रान्तस्य = कृतोपक्रमस्य, पदार्थस्य। तेनैव =

यहां ताम्रसे भिन्न दूसरे पदसे उसी पदार्थका प्रतिपादन करें तो भिन्न पदार्थके समान प्रकाशमान होकर दोनोंके अभेदज्ञानको स्थगित कर देता है।

भग्नप्रक्रमका दूसरा उदाहरण देते हैं—**ते हिमालयमिति**। उन्हों (सप्तर्षिगण) ने हिमालयको आमन्त्रित कर (जानेके लिए सूचना कर) फिर शिवजीका साक्षात्कार कर और उन्हें प्रयोजनसिद्धिका निवेदन कर उनसे रुखसत पाकर आकाशमें उद्गमन किया।

इस पद्यमें "अस्मै" इस 'इदम्' शब्दसे आरब्ध पदार्थ का उसी (इदम् शब्द)-से वा उसके समान एतद् और अदस् शब्दोंसे परामर्श उचित है न कि तद् शब्दसे, इस कारणसे यहाँ भग्नप्रक्रम दोष हुआ।

यथा वा—

'उदन्वच्छिन्ना भूः, स च पतिरपां योजनशतम् ।'

अत्र 'मिता भूः पत्यापां, स च पतिरपाम्' इति युक्तः पाठः ।

एवम्—

'यशोऽधिगन्तुं, सुखलिप्सया वा, मनुष्यसंख्यामतिवर्तितुं वा ।
निरुत्सुकानामभियोगभाजां समुत्सुकेवाङ्कमुपैति सिद्धिः ॥'

इदंशब्देनैव, तत्समानाभ्यां = तत्सदृशाभ्याम्, एतददःशब्दाभ्यां वा, परामर्शः= सम्बन्धः, युक्तः = उचितः, न तच्छब्देन, अतो भग्नप्रक्रमतादोष इति भावः ।

एकपर्यायत्वेऽपि प्रकृतिभेदेन भग्नप्रक्रमतामुदाहरति—**यथा वेति ।**

उदन्वदिति । भूः = पृथिवी, उदन्वच्छिन्ना = उदन्वता (समुद्रेण) छिन्ना (परिच्छिन्ना) । स च = प्रसिद्धश्च, अपां पतिः = उदन्वान्, योजनशतं = क्रोशचतुःशतीव्यापक इति भावः । अत्र "उदन्वत्" इत्यनेन प्रक्रम्य पश्चात् "अपांपति"-रिति पर्यायस्य प्रकृत्यन्तरस्य प्रयोगाद्भग्नप्रक्रमत्वमिति भावः ।

अत्र दोषं परिहर्तुं पाठान्तरं कल्पयति—**अत्रेति** । अत्र = इह, "मिता भूः पत्यापां स च पतिरपाम्" इति युक्तः पाठः । भूः = पृथिवी, अपां पत्या = समुद्रेण, मिता=परिमिता, स च अपां पतिः=समुद्रः, योजनशतं=योजनशतव्यापीति भावः ।

प्रत्ययभेदेन भग्नप्रक्रमतामुदाहर्तुमुपक्रमते—**एवमिति ।**

यश इति । किरातार्जुनीयस्य तृतीयसर्गे द्रौपद्या अर्जुनं प्रत्युक्तिरियम् । यशः = कीर्तिम्, अधिगन्तुं = संप्राप्तुं, सुखलिप्सया वा = सुखं लब्धुमिच्छया वा, मनुष्यसंख्यां = मानवगणनाम्, अतिवर्तितुम् = अतिक्रमितुं वा, अमानुषं कर्म कर्तुं वेति भावः । अभियोगभाजाम् = अभिनिवेशशालिनां, निरुत्सुकानाम् = अनुत्सुकानाम्, अदुर्मनायमानानामिति भावः । सिद्धिः = पूर्वोक्तं यशः सुखाद्यर्थसिद्धिश्च, समुत्सुका इव = उत्कण्ठित-कान्ता इव, अङ्कम् = उत्सङ्गम् , उपैति=प्राप्नोति । उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

अथवा—"**उदन्वच्छिन्ना**" **इति** । पृथिवी, उदन्वच्छिन्ना = उदन्वान्-(समुद्र) से परिच्छिन्न (परिमित) है । वह समुद्र चार सौ कोसों तक व्याप्त है ।

इस चरणमें "उदन्वत्" इस शब्दसे आरम्भ कर पीछे "अपां पतिः" इस पर्यायवाचक शब्दसे प्रयोग करनेसे भग्नप्रक्रम दोष हुआ है ।

यहाँपर "मिता भूः०" यह उचित पाठ है (इसमें भग्नप्रक्रम दोष नहीं), अर्थात् पृथिवी अपां पति (जलपति अर्थात् समुद्र) से परिमित है । वह अपां पति (समुद्र) चार सौ कोसों तक व्याप्त हैं ।

इसी तरह—'**यशोऽधिगन्तुम्**" **इति** । यश पानेके लिए, सुखकी लिप्सा-

अत्र 'सुखमीहितुम्' इत्युचितम् ।

अत्राद्ययोः प्रकृतिविषयः प्रक्रमभेदः । तृतीये पर्यायविषयः । चतुर्थे प्रत्ययविषयः । एवमन्यत्रापि ।

प्रसिद्धित्यागो यथा—

'घोरो वारिमुचां रवः ।

अत्र मेघानां गर्जितमेव प्रसिद्धम् । यदाहुः—

अत्र "यशोऽधिगन्तुम्" इति तुमुन्प्रत्ययेनारम्य पुनः "सुखलिप्सये"ति अप्रत्ययस्य प्रयोगात्प्रत्ययभेदेन भग्नप्रक्रमतादोषः ।

दोषं परिहर्तुं पाठान्तरं कल्पयति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्स्थले, "सुखमीहितुम्" इत्युचितम् ।

उदाहृतस्थलेषु प्रक्रमभेदप्रकारान्निर्दिशति—**अत्रेति** । अत्र = एषूदाहरणेषु, आद्ययोः = प्राक्प्रतिपादितयोः, "एवमुक्तो मन्त्रिमुख्यैः" "ते हिमालयमामन्त्र्ये"-त्येतयोः, प्रकृतिविषयः प्रक्रमभेदः । अर्थाऽवबोधहेतुः प्रत्ययविधानाऽवधिभूतः शब्दविशेषः प्रकृतिः । तृतीये = "उदन्वच्छिन्ना भूः" इत्यत्र, पर्यायविषयः । समानाऽर्थबोधकं शब्दान्तरं पर्यायः । चतुर्थे = तुर्ये, "यशोऽधिगन्तुम्" इत्यादौ प्रत्ययविषयः ।

प्रसिद्धित्यागमुदाहरति—**घोर इति** । प्रसिद्धेः=ख्यातेः । त्यागः=हानम् । वारिमुचां = मेघानां, घोरः = भयङ्करः, रवः = ध्वनिः ।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र = इह, मेघानां, गर्जितम् एव प्रसिद्धं = प्रख्यातं, न तु रव इति भावः ।

(पाने की इच्छा) से अथवा मनुष्यसंख्याका अतिक्रमण करनेके लिए आग्रह करने वाले अनुत्सुक पुरुषोंको सफलता, उत्कण्ठित प्रियाकी तरह समीप प्राप्त होती है ।

यहाँपर आरम्भमें "अधिगन्तुम्" ऐसा तुमुन् प्रत्यय वाला पद है और अन्तमें भी "अतिवर्तितुम्" ऐसा तुमुन् प्रत्ययवाला ही पद है, परन्तु मध्यमें "सुखलिप्सया" ऐसा पद है, अतः क्रमका भङ्ग होनेसे 'भग्नप्रक्रम' दोष हुआ है । उसका परिहार करनेके लिए "सुखमीहितुम्" ऐसा लिखकर तुमुन्-प्रत्ययाऽन्त पद देना चाहिए ।

यहाँ पहलेके दो उदाहरणोंमें अर्थात् "एवमुक्तः", और "ते हिमालयम्" इनमें प्रकृतिके विषयमें, तीसरेमें, उदन्वच्छिन्ना" इसमें पर्यायके विषयमें, चौथेमें "यशोधिगन्तुम्" इसमें प्रत्ययमें क्रमभेद हुआ है । इसी तरह और स्थानमें भी जानें ।

प्रसिद्धित्याग—जैसे "घोरो वारिमुचां रवः" अर्थात् मेघोंका भयङ्कर रव (शब्द) । यहां मेघोंका "गर्जित" ही प्रसिद्ध है । जैसे कि कहते हैं–

'मञ्जीरादिषु रणितप्रायं, पक्षिषु च कूजितप्रभृति ।
स्तनितमणितादि सुरते, मेघादिषु गर्जितप्रमुखम् ॥' इत्यादि ।

अस्थानस्थपदता यथा—

'तीर्थे तदीये गजसेतुबन्धात्प्रतीपगामुत्तरतोऽस्य गङ्गाम् ।
अयत्नवालव्यजनीबभूवुर्हंसा नभोलङ्घनलोलपक्षाः ॥'

अत्राऽर्थे प्राचीनोक्तिं प्रदर्शयति—**मञ्जीरादिष्विति** । मञ्जीरः = नूपुरः, आदिपदात्कङ्कणादयो गृह्यन्ते, तेषु, रणितप्रायं = रणितक्वणितादिकमिति भावः । पक्षिषु च = पतत्रिषु च, कूजितप्रभृति = कूजितं प्रभृति यस्मिंस्तत् । प्रभृतिपदेन "वाशितं" "रुतम्" इत्यादेः परामर्शस्तथा हि—"तिरश्चां वाशितं रुतम्" इत्यमरः । सुरते = निधुवने, स्तनितमणितादि=स्तनितं मणितम् आदिर्यस्मिंस्तत् । तत्राऽऽदिपदेन "मणित" पदस्य परामर्शस्तथा हि—"मणितं रतिकूजितम्" इत्यमरः । मेघादिषु = बलाहकादिषु, आदिपदात् सिंहादौ च, गर्जितप्रमुखं = गर्जितं प्रमुखं यस्मिंस्तत्, प्रयुज्यते । इत्थं च अश्वशब्दे "ह्रेषितं" "हेषितं" च करिनादे "बृंहितम्" इत्यादिशब्दाः प्रयुज्यन्त इति भावः ।

अनुपयुक्तस्थानप्रयुक्तपदता अस्थानस्थपदता । अस्थानस्थपदतामुदाहरति—**तीर्थ इति** । रघुवंशस्य षोडशसर्गस्थं पद्यमिदं श्रीरामपुत्रकुशवर्णनपरम् । तदीये = गङ्गासम्बन्धिनि, तीर्थे = जलावतारस्थाने, गजसेतुबन्धात् = गजाः (हस्तिनः) एव सेतुः (आलिः) तस्य बन्धात् (प्रबन्धात्) हेतोः, प्रतीपगां = पश्चिमवाहिनीं, गङ्गां = भागीरथीम्, उत्तरतः = उत्तरणं कुर्वतः, उत्तीर्णं गच्छत इति भावः । अस्य = कुशस्य, नभोलङ्घनलोलपक्षाः = नभोलङ्घनेन (आकाशाऽतिक्रमणेन) लोलौ (चञ्चलौ) पक्षौ (पत्त्रे) येषां ते । तादृशा हंसाः = मरालाः, अयत्न वालव्यजनीबभूवुः=अयत्नेन (अनायासेन) एव, वालव्यजनीबभूवुः=(चामरीभूताः), "कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्तरि च्विः" इति च्विप्रत्ययः । अत्रेन्द्रवज्रोपेन्द्रवज्रयोः संमिश्रणादुपजातिः ।

मञ्जीरादिषु इति । मञ्जीर (नूपुर) आदियोंमे रणित आदि शब्द, पक्षियोंपें कूजित आदि शब्द, सुरतमें स्तनित और मणित आदि शब्द और मेघ आदियोंमें "गर्जित आदि शब्द लिये जाते हैं ।

अस्थानस्थपदता जैसे-**तीर्थे तदीय इति** । गङ्गातीर्थमें हाथियोंको ही पुलके समान प्रबन्ध करनेसे पश्चिमवाहिनी गङ्गाजीको पार करते हुए महाराज कुशके आकाशके लङ्घनसे चञ्चल पक्षोंवाले हंस यत्नके विना ही चामरके समान हो गये ।

अत्र तदीयपदात्पूर्वं गङ्गामित्यस्य पाठो युक्तः। एवम्—

'हिताम्न यः संश्रृणुते स किंप्रभुः ॥'

अत्र संश्रृणुत इत्यतः पूर्वं नञः स्थितिरुचिता।

अत्र च पदमात्रस्यास्थाने निवेशेऽपि सर्वमेव वाक्यं विवक्षितार्थप्रत्यायने मन्थरमिति वाक्यदोषता। एवमन्यत्रापि। इह केऽप्याहुः—'पदशब्देन वाचक-

---

दोषमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, तदीयपदात् = तदीय-शब्दात्, पूर्वं=प्राक्, "गङ्गाम्" इत्यस्य=पदस्य पाठो युक्तः = उचितः। तच्छब्दस्य पूर्वपदपरामर्शित्वाद्गङ्गापदं प्रयुज्य "तदीये" इति पदं प्रयोक्तुं योग्यमिति भावः।

उदाहरणान्तर दर्शयति—**हितान्निति**। किरातार्जुनीयस्य प्रथमसर्गस्य पादोऽयम्। पूर्णं पद्यं त्वेतादृश—

स किंसखा साधु न शास्ति योऽधिपं, हिताम्न यः संश्रृणुते स किंप्रभुः।
सदाऽनुकूलेषु हि कुर्वते रतिं नृपेष्वमात्येषु च सर्वसम्पदः ॥" १–५

दुर्योधनवृत्तान्तं ज्ञातुं प्रेरितस्य वर्णिवेषधारिणो वनेचरस्य युधिष्ठिरं प्रत्युक्ति-रियम्। यः = प्रभुः, हितात् = हितोपदेशकादाप्तजनात्, "आख्यातोपयोगे" इत्य-पादानत्वात्पञ्चमी। न संश्रृणुते=न श्रृणोति, हितमिति शेषः। "समो गम्यृच्छिभ्याम्" इत्यनेन संपूर्वाच्छ्रुधातोरकर्मकादात्मनेपदम्। सः = हितवचनमश्रोता, किंप्रभुः= कुत्सितस्वामी, "किमःक्षेपे" इति समासाऽन्तटच्प्रतिषेधः।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र = इहोदाहरणे, "संश्रृणुते" इत्यतः = इत्यस्मात्, पूर्वं = प्राक्, नञः स्थितिरुचिता। क्रियाऽन्वयिनो नञः क्रियासन्निहित-पाठस्यैवौचित्यात्।

अस्य वाक्यदोषतां साधयति—**अत्र चेति**। अत्र = अस्मिन् स्थाने, पद-मात्रस्य = केवलपदस्य, अस्थाने, निवेशेऽपि, सर्वमेव वाक्यं विवक्षिताऽर्थप्रत्यायने= विवक्षितस्य (वक्तुमिष्टस्य) अर्थस्य (पदार्थस्य) प्रत्यायने (प्रतीतिकरणे) मन्थरं=मन्दं, विलम्बजनकमिति भावः। इति=अतः, वाक्यदोषता, एवमन्यत्राऽपि।

इस पद्यमे "तदीय" पदके पहले "गङ्गाम्" इसका पाठ उचित है। यह न होनेसे अस्थानस्थपदता हुई है। इसी तरह "हिताम्न यः संश्रृणुते स किं प्रभुः" अर्थात् जो प्रभु हितका उपदेश करनेवाले मन्त्रीसे हितवचन नहीं सुनता है वह निन्दित प्रभु (स्वामी) है। यहाँपर "संश्रृणुते" इस क्रियापदके पहले "नञ्" की स्थिति उचित है।

इन उदाहरणोंमे पदमात्रको अस्थानमें रखनेपर भी सभी वाक्य विवक्षित अर्थका बोधन करनेमें विलम्ब करनेवाला हो जाता है इस कारणसे वाक्यगत दोष है। इसी तरह अन्यत्र भी समझना चाहिए।

मेव प्रायशो निगद्यते, न च नञो वाचकता निर्विवादात्स्वातन्त्र्येणार्थबोधनविरहात्' इति। यथा—'द्वयं गतम्-' इत्यादौ त्वमित्यनन्तरं चकारानुपादानादक्रमता तथात्रापीति।

अस्थानस्थसमासता यथा—

'अद्यापि स्तनशैलदुर्गविषमे सीमन्तिनीनां हृदि
स्थातुं वाञ्छति मान एष धिगिति क्रोधादिवालोहितः।
प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः कर्षत्यसौ तत्क्षणा-
त्फुल्लत्कैरवकोषनिःसरदलिश्रेणीकृपाणं शशी॥'

अत्रोदाहरणेऽक्रमतादोषं साधयति—**इहेति**। इह = अस्मिन्नुदाहरणे केऽपि = आचार्याः, आहुः = कथयन्ति। पदशब्देन वाचकमेव, प्रायः = बाहुल्येन, निगद्यते = अभिधीयते, न द्योतकमिति भावः, न च नञो वाचकता निर्विवादात्, स्वातन्त्र्येण = पदान्तरसमभिव्याहारविरहेण, अर्थबोधनविरहात् = अर्थप्रत्यायनाऽभावात्। इति। यथा-"द्वयं गतम्" (पृ० २६) इत्यादौ "त्वम्" इत्यनन्तरं चकाराऽनुपादानादक्रमता, तथाऽत्राऽपीति। अनुचितस्थानप्रयुक्तसमासताऽस्थानस्थसमासता।

अस्थानस्थसमासतामुदाहरति—**अद्याऽपीति**। हनुमन्नाटकस्थं पद्यमिदमिति केचित्। केनचित्कान्तावियोगिना कृतं चन्द्रोदयवर्णनमिदम्। एषः = अयं, मानः = अभिमानः, स्तनशैलदुर्गविषमे = स्तनौ (कुचौ) एव शैलौ (पर्वतौ, उच्चत्वात्काठिन्याच्चेति भावः) एव दुर्गौ (कोट्टे) ताभ्यां विषमे (दुर्गमे), तादृशे सीमन्तिनीनां = प्रमदानां, हृदि = हृदये, अद्याऽपि = अधुनाऽपि, मदुदयसमयेऽपीति भावः। स्थातुम् = स्थितिं कर्तुं, वाञ्छति = इच्छति। अत एव धिक् = मामिति शेषः। इति, क्रोधात् इव = कोपात् इव। आलोहितः = आरक्तः, असौ = ऊर्ध्वस्थः, शशी = चन्द्रः, प्रोद्यद्दूरतरप्रसारितकरः = प्रोद्यन्तः (प्रकर्षेणोदयमानाः) दूरतरं (विप्रकृष्टतरं यथा तथा) प्रसारिताः (विस्तारिताः) कराः (किरणाः, हस्ताश्च, यस्य स, तादृशः सन्, तत्क्षणात् = तत्समयात्, फुल्लत्कैरवेत्यादिः =

यहाँ कोई कहते हैं—पद शब्दसे वाचक पद ही प्रायः कहा जाता है। नञ्की वाचकता नहीं है, उसका निर्विवाद रूपसे स्वतन्त्रतापूर्वक अर्थबोधनका अभाव होनेसे। जैसे "द्वयं गतम्०" इत्यादिमे "त्वम्" इसके अनन्तर "च" कार न देनेसे अक्रमता है वैसे ही यहां भी समझना चाहिए, अतः इसमें अस्थानस्थपदता नहीं।

अस्थानस्थसमासता जैसे—**अद्याऽपीति**। कोई वियोगी जन चन्द्रोदयका वर्णन कर रहा है—यह अभिमान, स्तनरूप पर्वत ही किले उनके कारण दुर्गम स्त्रियोंके हृदयमें अभी भी रहनेकी इच्छा कर रहा है, इसलिए धिक्कार है। इस प्रकार मानों कोपसे लाल होकर ये चन्द्रमा, उत्कर्षसे उगते हुए और दूर तक फैलाये

अत्र कोपिन उक्तौ समासो न कृतः, कवेरुक्तौ कृतः।

वाक्यान्तरपदानां वाक्यान्तरेऽनुप्रवेशः सङ्कीर्णत्वम्। यथा—

'चन्द्रं मुञ्च कुरङ्गाक्षि! पश्य मानं नभोऽङ्गने।'

फुल्लन्ति (विकसन्ति) यानि (कैरवाणि) (कुमुदानि) तेषां कोषाः (कुड्मलाः एव कोषाः, खड्गपिधानानि) तेभ्यः निःसरन्ती (बहिर्निर्गच्छन्ती) अलिश्रेणी (भ्रमरपङ्क्तिः) एव कृपाणः (खड्ग) तं, कर्षति = आकृष्य गृह्णाति, पूर्वोक्तं मानं निहन्तुमिति भावः। रूपकाऽलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। अत्र शशिनो नायकत्वं, मानस्य प्रतिनायकत्वं विवक्षितम्। तथा च कान्तो यथा जारवधाऽर्थं खड्गमाकर्षति तथैव शशी मानवधार्थं खड्गमाकर्षतीति भावः। मानमनूद्य क्रोधिनश्चन्द्रस्य, उक्तौ = "अद्यापी"त्यत आरम्य "धिक्" शब्दपर्यन्तं समासो न कृतः, कवेरुक्तौ="फुल्लदि"त्यादौ कविवाक्ये समासः कृतः।

अयं भावः। पूर्वार्द्धे कोपिनः कविनिबद्धवक्तुः शशिन उक्तिस्तत्र दीर्घसमास ओजोगुणव्यञ्जकः ओजोगुणश्चाऽपेक्षितः। कविवाक्ये तु दीर्घसमासादिर्नाऽपेक्षितः, अतोऽत्राऽस्थानस्थसमासत्वं दोषः।

सङ्कीर्णत्वं लक्षयति—**वाक्याऽन्तरपदानामिति**। वाक्याऽन्तरपदानाम् = अन्यवाक्यस्थशब्दानां, वाक्यान्तरे = अन्यवाक्ये, अनुप्रवेशः सङ्कीर्णत्वम्। अयं नित्यो दोषः प्रतिप्रसवाऽभावात्।

सङ्कीर्णत्वमुदाहरति—**मुञ्चेति**। नायकस्य कुपितनायिकाया अनुनयार्थमुक्तिरियम्। हे कुरङ्गाक्षि = हे हरिणनयने, नभोऽङ्गने=आकाशाऽजिरे, उदितमिति शेषः, चन्द्रं = चन्द्रमसं, पश्य=विलोकया। मानम् = अभिमानं, मुञ्च = त्यज। अत्र वाक्यान्तरपदानां वाक्यान्तरेऽनुप्रवेशात् सङ्कीर्णत्वम्।

गये किरणों वाले होकर, उसी समय विकसित होते हुए कुमुदोंके कोष (कोपल)-ही जो कोष (मियान) उससे बाहर निकलती हुई भ्रमर पङ्क्तिरूप तलवार को खींच रहे हैं।

यहां पूर्वार्द्धमें क्रोधी (चन्द्रमा) की उक्तिमें समास उचित था उसे नहीं किया, कविकी उक्तिमें उत्तरार्धमें (अनावश्यक) समास है अतः अस्थानस्थ-समासता दोष है।

दूसरे वाक्यके पद दूसरे वाक्यमें प्रविष्ट हों तो उसे सङ्कीर्णत्व कहते हैं। जैसे—**चन्द्रं मुञ्चेत्यादि**। अर्थात् हे मृगनयने! आकाशरूप आंगनमें चन्द्रमाको देख लो, और मानको छोड़ दो।

अत्र नभोऽङ्गने चन्द्रं पश्य मानं मुञ्चेति युक्तम् ।
'क्लिष्टत्वमेकवाक्यविषयम्' इत्यस्माद्भिन्नम् ।
वाक्यान्तरे वाक्यान्तरानुप्रवेशो गर्भितता ।

यथा—

'रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽधुना ।
वदामि सखि ! ते तत्त्वं कदाचिन्नोचिताः क्रुधः ॥'

अर्थदोषानाह—

दोषं परिहर्तुं यथोचितमन्वयं प्रदर्शयति—**अत्रेति** । युक्तम् = उचितम् । सङ्कीर्णत्वे क्लिष्टत्वाशङ्कां परिहरति—**क्लिष्टत्वमिति** । सङ्कीर्णत्वमनेकवाक्यविषयम्, अतोऽत्र क्लिष्टत्वाशङ्का नेति भावः ।

गर्भिततां लक्षयति—**वाक्यन्तर इति** । वाक्यान्तरे = अन्यस्मिन् वाक्ये, वाक्यान्तरस्य (अन्यस्य वाक्यस्य) अनुप्रवेशो गर्भितता ।

गर्भितताामुदाहरति—**रमण इति** । काचित्सखी प्रणयकुपितां नायिकां रमणं प्रत्यनुकूलयितुमनुनयति । रमणे = कान्ते, चरणप्रान्ते = तव चरणयोः (पादयोः) प्रान्ते (समीपे), प्रणतिप्रवणे = प्रणामपरायणे सति, अधुना = अस्मात्कालादारम्य, कदाचित्=जातुचिदपि, क्रुधः=कोपाः, तवेति शेषः । न उचिताः नो योग्याः । हे सखि = हे वयस्ये, ते = तव विषये, तत्त्वं = यथार्थविषयं, वदामि= प्रतिपादयामि । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

अत्र दोषमुपपादयति । अत्र "वदामि सखि ! ते तत्त्वम्" इति वाक्यस्य "रमणे चरणप्रान्ते प्रणतिप्रवणेऽधुना कदाचित् क्रुधो नोचिताः" इति वाक्यमध्येऽनुप्रवेशाद्गर्भिततादोषः । अयमनित्यो दोषः "गर्भितत्वं गुणः क्वाऽपि ७-२८" इति वक्ष्यमाणत्वात् । वाक्यदोषानभिधाय सम्प्रत्युद्देशक्रमप्राप्तानर्थदोषानुद्दिशति—

यहाँपर "नभोऽङ्गने चन्द्रं पश्य, मानं मुञ्च ।" ऐसा वाक्य उचित है । क्लिष्टत्व एक वाक्यमें होता है, यह अनेक वाक्यमें होता है, अतः वह इससे भिन्न है ।

दूसरे वाक्यमें दूसरे वाक्यके अनुप्रवेशको "गर्भितता" दोष कहते हैं ।

जैसे—**रमण इति** । प्रियके तुम्हारे चरणोंमें प्रणाम करनेमें तत्पर होनेपर अबसे कभी भी तुम्हें क्रोध करना उचित नहीं है । हे सखि ! तुम्हारे विषयमें मैं तत्त्व कहती हूँ ।

यहाँ "वदामि सखि ! ते तत्त्वं" इस वाक्यका "रमणे०" इस वाक्यके मध्यमें अनुप्रवेश होनेसे गर्भितता दोष है ।

अर्थ दोषोंको कहते हैं—**अपुष्टेत्यादिः०** ।

अपुष्टदुष्क्रमग्राम्यव्याहताश्लीलकष्टताः ।
अनवीकृतनिर्हेतुप्रकाशितविरुद्धताः ॥ ९ ॥
सन्दिग्धपुनरुक्तत्वे, ख्यातिविद्याविरुद्धते ।
साकाङ्क्षता, सहचरभिन्नताऽस्थानयुक्तता ॥ १० ॥
अविशेषे विशेषश्चानियमे नियमस्तथा ।
तयोर्विपर्ययौ, विध्यनुवादायुक्तते तथा ॥ ११ ॥
निर्मुक्तपुनरुक्तत्वमर्थदोषाः प्रकीर्तिताः ।

तद्विपर्ययो विशेषेऽविशेषो नियमेऽनियमः ।

अत्रापुष्टत्वं मुख्यानुपकारित्वम् । यथा—

अपुष्टेति । तल्प्रत्ययः सर्वत्र सम्बद्ध्यते । अदुष्टता, दुष्क्रमता, ग्राम्यता, व्याहतता, अश्लीलता, कष्टता । अनवीकृतता, निर्हेतुता, प्रकाशितविरुद्धता ॥ ९ ॥

सन्दिग्धत्व, पुनरुक्तत्व, ख्यातिविरुद्धता, विद्याविरुद्धता, साकाङ्क्षता, सहचरभिन्नता अस्थानयुक्तता ॥ १० ॥

अविशेषे विशेषः, तथा अनियमे नियमः । तयोः = अविशेषविशेषाऽनियम नियमयोः च विपर्ययः = वैपरीत्यं, तथा च-विशेषे अविशेषः, नियमे अनियमः, विध्ययुक्तता, अनुवादाऽयुक्तता ॥ ११ ॥

निर्मुक्तपुनरुक्तत्वम् (एते) त्रयोविंशतिसंख्यका अर्थदोषाः = अर्थनिष्ठा दोषाः, प्रकीर्तिताः = नामतो निर्दिष्टाः ॥

तयोर्विपर्यय इत्यंशं विवृणोति— **विशेषेऽविशेषो नियमेऽनियम इति** ।

अपुष्टत्वं लक्षयति—**अपुष्टत्वमिति** । मुख्याऽनुपकारित्वं = मुख्ये (प्रकृत-प्रतिपाद्येऽर्थे) अनुपकारित्वम् (अनुपकारकत्वम्) अपुष्टत्वम् ।

अष्टपुत्व, दुष्क्रमत्व, ग्राम्यत्व, व्याहतत्व, अश्लीलत्व, कष्टत्व, अनवीकृतत्व, निर्हेतुत्व, प्रकाशितविरुद्धत्व ॥ ९ ॥

सन्दिग्धत्व, पुनरुक्तत्व, ख्यातिविरुद्धत्व, विद्याविरुद्धत्व, साकाङ्क्षता सहचरभिन्नता, अस्थानयुक्तता ॥ १० ॥

अविशेषमें विशेष, आनेयममें नियम, विशेषमें अविशेष, नियममें अनियम, विध्ययुक्तत्व अनुवादाऽयुक्तत्व ॥ ११ ॥

निर्मुक्तत्व और पुनरुक्तत्व, ये सब अर्थदोष कहे जाते हैं ।

मुख्य अर्थमें अनुपकारी अर्थात् जो उपकार न करे उसे "अपुष्टत्व" कहते हैं । जैसे—

'विलोक्य वितते व्योम्नि विधुं मुञ्च रुषं प्रिये !'

अत्र विततशब्दो मानत्यागं प्रति न किञ्चिदुपकुरुते ।

अधिकपदत्वे पदार्थान्वयप्रतीतेः समकालमेव बाधप्रतिभासः, इह तु पश्चादिति विशेषः ।

दुष्क्रमता यथा—

'देहि मे वाजिनं राजन् ! गजेन्द्रं वा मदालसम् ।'

अत्र गजेन्द्रस्य प्रथमं याचनमुचितम् ।

अपुष्टत्वमुदाहरति—**विलोक्येति** । मानिनीं नायिकामनुनयतो नायकस्योक्तिरियम् । हे प्रिये = हे दयिते !, वितते = विस्तृते, व्योम्नि = आकाशे, विधुं = चन्द्रमसं, विलोक्य = दृष्ट्वा, रुषं = क्रोध, मुञ्च = त्यज ।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र = इह, विततशब्दः, मानत्यागं प्रति न किञ्चिद्दुपकुरुते ।

अत्राऽधिकपदत्वाशङ्कां परिहरति—**अधिकपदत्वे** । तदाख्ये दोषे, पदाऽर्थाऽन्वयप्रतीतेः = पदार्थानाम् अन्वयः (सम्बन्ध.) तस्य प्रतीतेः (ज्ञानस्य) समकालम् एव = तुल्यसमयम् एव, बाधप्रतिभासः=मुख्यार्थोपकाराऽभावज्ञानम्, इह तु = अपुष्टतायां तु पश्चात् = पदाऽर्थाऽन्वयप्रतीतेः परम्, इति विशेषः = भेदः, अधिकपदत्वादिति शेषः ।

अनुचितक्रमवत्त्वं दुष्क्रमत्वम् ।

दुष्क्रमतामुदाहरति—**देहीति** । कस्यचिद्याचकस्य राजानं प्रत्युक्तिरियम् । हे राजन् = हे देव, मे = मह्यं सम्प्रदायभूताय, वाजिनम् = अश्वं, मदालसं = मदेन (मत्तत्वेन) अलसं (मन्थरम्) गजेन्द्रं वा = करीन्द्रं वा, देहि = वितर ।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र = इह, गजेन्द्रस्य = करीन्द्रस्य, प्रथमं = प्राक्, वाजिन इति शेषः । याचनं = प्रार्थनम्, उचितं = योग्यम् । अल्पमूल्यस्य वाजिनोऽपेक्षया गजेन्द्रस्य बहुमूल्यत्वादिति भावः ।

विलोक्येति । हे प्रिये ! वितत (विस्तृत) आकाशमें चन्द्रमाको देखकर तुम क्रोध छोड़ो ।

यहां "वितत" शब्द मानत्यागके प्रति कुछ भी उपकार नहीं करता है । अधिकपदत्वमें पदार्थोंके अन्वयज्ञानके साथ ही बाधका ज्ञान होता है यहां पीछे होता है, यह विशेष है ।

दुष्क्रमता जैसे—**देहीति** । हे राजन् ! मुझे घोड़ा या मदसे आलस्यपूर्ण हाथी दीजिए । यहां पहले हाथीको मांगना उचित है ।

'स्वपिहि त्वं समीपे मे स्वपिम्येवाधुना प्रिये ! ।'

अत्रार्थो ग्राम्यः ।

कस्यचित्प्रागुत्कर्षमपकर्षं वाभिधाय पश्चात्तदन्यप्रतिपादनं व्याहतत्वम् ।

यथा—

'हरन्ति हृदयं यूनां न नवेन्दुकलादयः ।
वीक्ष्यते यैरियं तन्वी लोकलोचनचन्द्रिका ॥'

अत्र येषामिन्दुकला नानन्दहेतुस्तेषामेवानन्दाय तन्व्याश्चन्द्रिकात्वारोपः ।

अविदग्धार्थप्रतिपादकत्वं ग्राम्यत्वम् । ग्राम्यत्वमुदाहरति—**स्वपिहीति** । कस्य चिद्ग्रामीणस्य प्रियां प्रत्युक्तिरियम् । हे प्रिये = हे वल्लभे !, त्वं, मे = मम, समीपे = निकटे, स्वपिहि = शेष्व, अधुना = इदानीं, स्वपिमि एव = शय एव, क्रियासंगत एवकारोऽत्यन्ताऽयोगव्यवच्छेदकः ।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र = इह, अर्थः = वाच्यः, ग्राम्यः, वैदग्धी-राहित्येनेति शेषः । अयमनित्यो दोषः, "ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु ७—२१" इति प्रति-प्रसवस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

व्याहतत्वं लक्षयति—**कस्यचिदिति** । कस्यचित्=पदार्थस्य, प्राक् = पूर्वम्, उत्कर्षम् = उत्कृष्टत्वम्, अभिधाय = उक्त्वा, पश्चात् = अनन्तरम्, तदन्यप्रति-पादनं = तदन्यस्य (उत्कर्षभिन्नस्य, अनुत्कर्षस्येति भावः) प्रतिपादनम् = उपपादनं व्याहतत्वम् । अयं तु नित्यो दोषः प्रतिप्रसवाऽभावात् ।

व्याहतत्वमुदाहरति—**हरन्तीति** । नन्वेन्दुकलादयः = नवीनोदितचन्द्र-कलादयः । यूनां = तरुणानां, हृदयं = चित्तं, न हरन्ति = नाऽऽकर्षन्ति, यैः=युवभिः, लोकलोचनचन्द्रिका = लोकलोचनयोः (जननयनयोः) चन्द्रिका (कौमुदीरूपा), इयं, तन्वी = कृशाङ्गी, वीक्ष्यते = अवलोक्यते । रूपकाऽलङ्कारः, अनुष्टुब्वृत्तम् ।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन् उदाहरणे, येषां = यूनाम्, इन्दुकला = चन्द्रकला, न आनन्दहेतुः=नो हर्षकारणं, हृदयहरणाऽभावादिति भावः । अनेन इन्दुकलायाः प्रागपकर्षोऽभिहितः, अनन्तरं च—तेषाम् एव = यूनाम् । आनन्दाय=हर्षोत्पादनाय, तन्व्याः=कृशाऽङ्ग्याः, चन्द्रिकात्वारोपः=ज्योत्स्नात्वारोपः,

---

स्वपिहीति । हे प्रिये ! तुम मेरे पास सोओ, मैं अभी सोऊँगा ही । यहां अर्थ ग्राम्य है ।

किसीका पहले उत्कर्ष वा अपकर्ष कहकर पीछे उसके विपरीत अर्थ कहनेसे व्याहतत्व दोष होता है । नयी चन्द्रकला आदि भी उन जवान पुरुषोंके हृदयको आकृष्ट नहीं करती हैं, जिन्होंने लोगोंके नेत्रोंकी चन्द्रिका-रूप इस कृशाङ्गीका अवलोकन किया है । यहां जिनको चन्द्रकला आनन्दके कारणरूप नहीं है उन्हींके आनन्दके लिए कृशाङ्गीमें चन्द्रिकात्वका आरोप किया है ।

'हन्तुमेव प्रवृत्तस्य स्तब्धस्य विवरैषिणः ।
यथाशु जायते पातो न तथा पुनरुन्नतिः ॥'

अत्रार्थोऽश्लीलः ।

'वर्षत्येतदहर्पतिर्न तु घनो धामस्थमच्छं पयः
सत्यं सा सवितुः सुता सुरसरित्पूरो यया प्लावितः ।

उत्कर्षाऽभिधानाऽर्थमिति शेषः । अतः पूर्वाऽपरव्याघाताद्व्याहतत्वं दोषः । व्रीडा-जुगुप्साऽमङ्गलाऽन्यतमाऽर्थव्यञ्जकत्वमश्लीलत्वम् ।

अयमनित्यो दोषः, "सुरताऽऽरम्भगोष्ठ्यादावश्लीलत्वं तथा पुनः ७-१७" इति वक्ष्यमाणप्रतिप्रसवात् ।

अश्लीलत्वमुदाहरति—**हन्तुमिति** । हन्तुम् एव = व्यापादयितुम् एव, शत्रूनिति शेषः, प्रवृत्तस्य=तत्परस्य, स्तब्धस्य = स्तम्भयुक्तस्य, आयुधप्रहारकुण्ठस्य विवेकरहितस्य वा । विवरैषिणः = परच्छिद्राऽभिलाषिणः, जनस्य । यथा, आशु = शीघ्रं, पातः = पराजयः, जायते = उत्पद्यते, तथा, पुनः=भूयः, उन्नतिः = विजयः, न जायते । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

अत्राऽश्लीलाऽर्थव्यञ्जको यथा—हन्तुं = योनौ प्रहर्तुम्, एव, प्रवृत्तस्य = तत्परस्य, स्तब्धस्य = स्तम्भयुक्तस्य, अनम्रस्येति भावः, अत एव विवरैषिणः=विवरम् (योनिच्छिद्रम्) प्रवेष्टुम् इच्छतीति, तस्य । तादृशस्य पुरुषगुप्तेन्द्रियस्य, यथा = येन प्रकारेण, आशु = शीघ्रं, पातः=पतनं, रत्युत्तरं शैथिल्यमिति भावः । तथा=तेन प्रकारेण, पुनः=भूयः उन्नतिः=उद्गमः, दार्ढ्यमिति भावः । न जायते = नोत्पद्यते ।

दोषमुपपादयति—अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, द्वितीयः अर्थः, अश्लीलः = व्रीडाव्यञ्जकः अश्लीलः ।

आसत्त्यादिसत्त्वेऽपि विलम्बबोध्याऽर्थता कष्टता ।

कष्टतामुदाहरति—**वर्षतीति** । अयमनित्यो दोषः, वैयाकरणमुख्ये तु० (७-२१) इत्यादिना प्रतिप्रसवस्य वक्ष्यमाणत्वात् ।

कष्टतामुदाहरति—**वर्षतीति** । कस्याश्चित्कामिन्याः कान्तदूतीं प्रति सोल्लुण्ठन-वचनमिदम् । हे सखि ! अहर्पतिः = सूर्यः, अह्नः पतिः "अहरादिषु पत्यादीनां वा रेफः" पक्षे विसर्गोपध्मानीयौ । धामस्थं = स्वकिरणस्थितम्, अच्छं = निर्मलम्,

---

हन्तुमिति । जो आघात करनेके लिए ही प्रवृत्त है, स्तब्ध है और छिद्रको प्राप्त करनेकी इच्छा करता है उसका जितनी जल्दी पतन होता है उतनी जल्दी फिर उन्नति नहीं होती है ।

यहाँपर दूसरा अर्थ अश्लील है ।

वर्षतीति । सूर्य अपने किरणोंमें स्थित निर्मल जलकी वर्षा करता है, न कि मेघ । वह सूर्यकी पुत्री यमुना जो गङ्गाके जलको आप्लावित करती है, यह

व्यासस्योक्तिषु विश्वसित्यपि न कः, श्रद्धा न कस्य श्रुतौ ?
न प्रत्येति तथापि मुग्धहरिणी भास्वन्मरीचिष्वपः ॥'

अत्र यस्मात्सूर्याद्वृष्टेर्यमुनायाश्च प्रभवस्तस्मात्तयोर्जलमपि सूर्यप्रभवम् । ततश्च सूर्यमरीचीनां जलप्रत्ययहेतुत्वमुचितम्, तथापि मृगी भ्रान्तत्वात्तत्र जलप्रत्ययं न करोति । अयं प्रस्तुतोऽप्यर्थो दुर्बोधः, दूरे चास्मात्प्रस्तुतार्थबोध इति कष्टार्थत्वम् ।

एतत्, पयः = जलं, वर्षति, न तु, घनः = मेघः, वर्षति । घनस्य जलाधारत्वमात्रत्वं न तु वृष्टिकर्तृत्वमिति भावः । "आदित्याज्जायते वृष्टि"रिति स्मृतेः । सा = यमुना, सवितुः = सूर्यस्य, सुता = दुहिता इति, सत्यं = तथ्यम् । यया = यमुनया, सुरसरितपूरः = सुरसरितः (गङ्गायाः) पूरः (प्रवाहः) प्लावितः = वर्द्धितः । व्यासस्य = कृष्णद्वैपायनस्य, उक्तिषु = वचनेषु, पुराणादिषु, कः = जनः, न विश्वसिति = न प्रत्येति । अपि = अपि तु, सर्वोऽपि विश्वसितीति भावः । कस्य=जनस्य, श्रुतौ = श्रुति-तन्मूलस्मृत्यादिवाक्ये, श्रद्धा=विश्वासः, न, तथाऽपि = एवं सत्यपि, मुग्धहरिणी = मूढमृगी, भास्वन्मरीचिषु = सूर्यकिरणेषु, अपः=जलम्, अस्तीति, न प्रत्येति = नो विश्वसिति । अप्रस्तुतप्रशंसा । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

अत्र प्रकृतोऽयमर्थः । स नागरः सत्यवानिति प्रामाणिकमिदम् । तस्य दूतीनां भवतीनामपि वाचि सत्यप्रत्ययो युज्यते, किन्त्वहमेव मुग्धा नो विश्वसिमि, मृगीणां मरुमरीचिकासु जलप्रत्ययो यथा ममाऽपि भवतीषु संप्रत्ययस्तथैव ।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । यस्मात्, सूर्यात् = भास्करात्, वृष्टेः = वर्षस्य, यमुनायाश्च = कालिन्द्याश्च, प्रभवः = उत्पत्तिः, तस्मात् = सूर्याद्धेतोः, तयोः = वृष्टियमुनयोः, जलम् अपि = सलिलम् अपि, सूर्यप्रभवं = भास्करादुत्पन्नम् । ततश्च= तस्मात्कारणात्, सूर्यमरीचीनां = भास्करकिरणानां, जलप्रत्ययहेतुत्वं = सलिलविश्वासकारणत्वम् । उचितं = योग्यम् । तथाऽपि = एवं स्थितेऽपि, मृगी = हरिणी, भ्रान्तत्वात् = भ्रान्तियुक्तत्वात्, तत्र = भास्वन्मरीचिषु, जलप्रत्ययं = जलमिदमिति विश्वासं, न करोति = नो विदधाति ।

फलिताऽर्थकथनं सूचयति—**अयमिति** । अयम् = एषः, प्रस्तुतोऽपि = प्रकरणवशात्प्राप्तोऽपि, अर्थः, दुर्ज्ञेयः, अस्मात् = वाक्येनोक्तात्, अपि, प्रस्तुताऽर्थ-

सत्य है । व्यासके वचनोंमे कौन-विश्वास नहीं करता है और श्रुतिमें किसकी श्रद्धा नहीं ? तो भी मूढ़ हरिणी सूर्यकी किरणोंमें जलका विश्वास नहीं करती है ।

यहाँ जिस सूर्यसे वृष्टि और यमुनाकी उत्पत्ति हुई है । इस कारणसे उनका जल भी सूर्यसे ही उत्पन्न हुआ है । इसलिए सूर्यकिरणोंमें जलका विश्वास होना उचित है; तो भी मृगी भ्रान्त होनेसे उसमें जलका विश्वास नहीं करती । यह अर्थ प्रस्तुत होने पर भी दुर्बोध है । इससे प्रस्तुन अर्थ दूर है इस कारणसे कष्टत्व दोष है ।

'सदा चरति खे भानुः, सदा वहति मारुतः।
सदा धत्ते भुवं शेषः, सदा धीरोऽविकत्थनः॥'

अत्र सदेत्यनवीकृतत्वम्।

अत्रास्य पदस्य पर्यायान्तरेणोपादानेऽपि यदि नान्यद्विच्छित्त्यन्तरं तदास्य दोषस्य सद्भाव इति कथितपदत्वाद्भेदः।

बोधः = प्रकृतार्थज्ञानं, दूरे = विप्रकृष्टे, प्रचुरशास्त्रयुक्त्यादिसम्पादितत्वादिति भावः। इति = अस्माद्धेतोः, कष्टार्थत्वं नाम दोषः।

अनवीकृतार्थबोधकताऽनवीकृतता। अयं नित्यो दोषः, प्रतिप्रसवाऽभावात्। अनवीकृतत्वमुदाहरति—**सदेति**। भानुः = सूर्यः, खे = आकाशे, सदा = सर्वदा, चरति = गच्छति, मारुतः = वातः, सदा, वहति = वाति। शेषः = अनन्तः, भुवं = पृथिवीं, सदा, धत्ते = धारयति। धीरः = धैर्यशाली जनः, सदा = सर्वदा, अविकत्थनः = आत्मश्लाघारहितः, भवतीति शेषः। अनुष्टुब्वृत्तम्।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र=इह, सदा, इति, अनवीकृतम्। "सदे"ति पदस्याऽसकृत्प्रयोगादनवीकृतत्वमिति भावः।

कथितपदत्वादस्य भेदं प्रतिपादयति—**अत्राऽस्येति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, अस्य, पदस्य = "सदा" शब्दस्य, पर्यायाऽन्तरेण = समानाऽर्थकशब्दान्तरेण, सततसर्वदादिरूपेणेति भावः, उपादानेऽपि = ग्रहणेऽपि, अन्यत् = अपरं, विच्छित्यन्तरं = चमत्कारित्वविशेषः, न यदि = नो चेत्, तदा = तर्हि, अस्य = अनवीकृतत्वस्य, दोषस्य = दूषणस्य, सद्भावः = अस्तित्वम्, इति = एवं, कथितपदत्वात् = तदाख्यदोषात्, भेदः = पार्थक्यम्। अयं भावः। अत्र—

"सदा चरति खे भानुर्नित्यं वहति मारुतः।
चिरं धत्ते भुवं शेषोऽजस्रं धीरोऽविकत्थनः॥"

इति पाठान्तरे न कथितपदत्वं, परं विच्छित्यन्तराऽभावादनवीकृतत्वं तु स्यादेव।

सदेति। सूर्य आकाशमें सदा चल रहा है। हवा सदा बह रही है। शेष नाग पृथ्वीको सदा धारण करते रहे हैं और विद्वान् पुरुष हमेशा अपनी तारीफ नहीं करते हैं।

यहाँ "सदा" पद वार वार दुहरानेसे अनवीकृत्व दोष है, यहां इस पदका दूसरे पर्याय (समानाऽर्थक पद) से ग्रहण करनेपर भी दूसरा चमत्कार विशेष न हो तो यह दोष बना ही रहता है, इसीसे इसका कथितपदत्वसे भेद है।

नवीकृतत्वं यथा—

भानुः सकृद्युक्ततुरङ्ग एव, रात्रिन्दिवं गन्धवहः प्रयाति ।
बिभर्त्ति शेषः सततं धरित्रीं, षष्ठांशवृत्तेरपि धर्म एषः ॥' इति ।
'गृहीतं येनासीः परिभवभयान्नोचितमपि
प्रभावाद्यस्याभून्न खलु तव कश्चिन्न विषयः ।

अनवीकृतत्वे दोषत्वान्नवीकृतत्वे दोषाऽभाव इति प्रतीयते । **नवीकृतत्वं यथा—भानुरिति ।** अभिज्ञानशाकुन्तले पञ्चमाऽङ्कस्थं पद्यमिदम् । कञ्चुकिनः स्वगतोक्तिरियम् । भानुः = सूर्यः, सकृद्युक्ततुरङ्गः = सकृत् (एकवारमेव) युक्ताः (योजिताः) तुरङ्गाः (अश्वाः) येन सः, तादृशः भ्रमतीति शेषः । न कदाऽपि विश्राम्यतीति भावः । गन्धवहः = वायुः, रात्रिन्दिवं = रात्रौ च दिवा च, "अचतुरे"त्यादिनाऽच्प्रत्ययाऽन्तो निपातः । रात्रौ मान्तत्वं च निपात्यते । प्रयाति = वहति, न तु जातुचिद्विश्राम्यतीति, भावः । एवं शेषः = अनन्तः, सदैव = सर्वदैव, धरित्रीं = भूमिं, बिभर्ति = धारयति । न तु कदाऽपि मस्तकाद्भूभारमपसारयतीति भावः । षष्ठांऽशवृत्तेः = राज्ञः अपि, षष्ठांऽशेन (करत्वेन प्रजाभ्योधान्यादीनां षष्ठांऽशग्रहणेनेति भावः) वृत्तिः (जीविका) यस्य तस्य, प्रकृतत्वाद् दुष्यन्तस्येति भावः । एषः = अयं, धर्मः = प्रजापालनरूपं पुण्यम् । अप्रस्तुतप्रशंसा । इन्द्रवज्रा वृत्तम् । अत्र भङ्गयन्तरेण प्रतिपादनान्नूतनवद्भासमानत्वान्नवीकृतत्वम् ।

हेतुप्रतिपादकाऽर्थरहितत्वं निर्हेतुत्वम् । अयमनित्यो दोषः, "निर्हेतुता तु ख्यातेऽर्थे दोषतां नैव गच्छति । (७–२२) इति वक्ष्यमाणप्रतिप्रसवत्वात् ।

निर्हेतुतामुदाहरति—**गृहीतमिति ।** वेणीसंहारनाटके पितृमरणमाकर्ण्याऽश्वत्थाम्नः शस्त्रं प्रत्युक्तिरियम् । हे शस्त्र = हे आयुध !, येन = मज्जनकेन, द्रोणाचार्येणेति भावः । परिभवभयात् = अन्यकर्तृकतिरस्कारभीतेः, न उचितम् अपि = अनुचितम् अपि, ब्राह्मणकर्तृकशस्त्रधारणस्याऽनौचित्यादपीति भावः गृहीतं = धृतम्, आसीः = अभवः, त्वमिति शेषः । यस्य = मत्पितुः, प्रभावात् = सामर्थ्यात्, कश्चित् = सुराऽसुरनरादिः, तव = शस्त्रस्य, विषयः = लक्ष्यं, न

नवीकृतत्व जैसे—भानुरिति । सूर्य एक वार घोड़ोंको रथमें सलग्न कर भ्रमण करते रहते हैं । हवा रात दिन चलती रहती है । शेष नाग निरन्तर पृथ्वीको धारण करते ही रहते हैं, इसी तरह पैदावारका छठवाँ हिस्सा लेने वाले (राजा)-का भी यह (प्रजापालन) धर्म है । यहाँ तीनों चरणोंमें एक ही बात चमत्कार-विशेषसे प्रतिपादित होनेसे नवीकृतत्व (दोषाऽभाव) हुआ है ।

गृहीतमिति । अपने पिता द्रोणाचार्यके मरनेका समाचार सुनकर अश्वत्थामा शस्त्रको कहते हैं—हे शस्त्र ! मेरे पिताने ब्राह्मणके योग्य न होने पर दूसरेसे तिरस्कार होनेके भयसे तुम्हारा ग्रहण किया था, जिन (मेरे पिता) के सामर्थ्यसे कोई भी पुरुष पुरुष तुम्हारा विषय (लक्ष्य) नहीं था यह बात नहीं । उन्होंने

परित्यक्तं तेन त्वमपि सुतशोकान्न तु भया-
द्विमोक्ष्ये शस्त्र ! त्वामहमपि यतः स्वस्ति भवते ॥'
अत्र द्वितीयशस्त्रमोचने हेतुर्नोक्त इति निर्हेतुत्वम् ।
'कुमारस्ते नराधीश ! श्रियं समधिगच्छतु ।'
अत्र 'त्वं म्रियस्व' इति विरुद्धार्थप्रकाशनात्प्रकाशितविरुद्धत्वम् ।
'अचला अबला वा स्युः सेव्या ब्रूत मनीषिणः ? ।'

अभूत् इति न = अपितु अभूदेवेति भावः । तेन अपि = तादृशेन मज्जनकेन अपि । सुतशोकात् = मिथ्याप्रतिपादितपुत्रहत्यामन्योर्हेतोः, त्वं = शस्त्रम् अपि, परित्यक्तं= परिमुक्तं, भयात्तु = भीतेस्तु, न = नं परित्यक्तम् । यतः = यस्मात्कारणात्, अहमपि, त्वां = शस्त्रं, विमोक्ष्ये = परित्यक्ष्यामि, भवते = तुभ्यं, स्वस्ति = कल्याणम्, अस्त्विति शेषः । शिखरिणी वृत्तम् ।

दोषमुपपादयति—अत्रेति । अत्र = अस्मिन्पद्ये, द्वितीयशस्त्रमोचने = अश्वत्थाम्नः शस्त्रत्यागे, हेतुः = कारणं, "पितृशोकादि"त्याकारकम् इति भावः । नोक्तः = नाऽभिहितः, इति निर्हेतुत्वम् ।

विरुद्धाऽर्थव्यञ्जकत्वं प्रकाशितविरुद्धत्वम् । अस्य नित्यदोषत्वं प्रतिप्रसवाऽभावात् । प्रकाशितविरुद्धत्वमुदाहरति—

कुमार इति । कंचिद्राजानं प्रति कस्यचिदुक्तिरियम् । हे नराऽधीश = हे राजन् ! ते = भवतः, कुमारः = पुत्रः, श्रियं = लक्ष्मीं, समधिगच्छतु=संप्राप्नोतु । अत्र पितृमरणाऽनन्तरमेव प्रायः पुत्रस्य श्रीलाभात् "त्वं म्रियस्वे"ति विरुद्धाऽर्थस्य प्रकाशनात् = व्यञ्जनात्, प्रकाशितविरुद्धत्वमिति भावः ।

सन्देहविषयीभूताऽर्थज्ञापकत्वं सन्दिग्धत्वम् । अयमनित्यो दोषः,
"सन्दिग्धत्वं तथा व्याजस्तुतिपर्यवसायि चेत् । (७–२०)"
इति प्रतिप्रसवस्य वक्ष्यमाणत्वात् । सन्दिग्धत्वमुदाहरति—

अचला इति । विदुष उद्दिश्य कस्यचिदुक्तिरियम् । हे मनीषिणः = हे विद्वांसः !, अचलाः = पर्वताः, तपश्चरणाऽर्थमिति शेषः । अबला वा = प्रमदा वा, उपभोगाऽर्थमिति शेषः, सेव्याः = सेवनीयाः, ब्रूत = कथयत ।

पुत्रशोकसे तुम्हारा परित्याग किया न कि भयसे । इस कारणसे हे शस्त्र ! अब मैं भी तुम्हें छोडूंगा, तुम्हारा कल्याण हो ।

यहाँ (अश्वत्थामाके) द्वितीय शस्त्रमोचनमें कुछ हेतु नहीं कहा गया, अतः निर्हेतुत्व दोष है ।

कुमार इति । हे राजन् ! आपके कुमार राज्यलक्ष्मीको प्राप्त करें । यहाँ "आप मर जायँ" ऐसे विरुद्ध अर्थका प्रकाश होनेसे प्रकाशितविरुद्धत्व दोष है ।

अचला इति । हे पण्डित लोगो ! पर्वत सेवनीय हैं वा नारियां ? आपलोग बतावें ।

अत्र प्रकरणाभावाच्छान्तशृङ्गारिणोः को वक्तेति निश्चयाभावात्सन्दिग्धत्वम् ।

'सहसा विदधीत न क्रियामविवेकः परमापदां पदम् ।
वृणते हि विमृश्यकारिणं गुणलुब्धाः स्वयमेव सम्पदः ॥'

अत्र द्वितीयार्धे व्यतिरेकेण द्वितीयपादस्यैवार्थ इति पुनरुक्तता ।

प्रसिद्धिविरुद्धता यथा—

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, प्रकरणाऽभावात् = प्रसङ्गाभावात्, शान्तशृङ्गारिणोः = शान्तशृङ्गारवक्त्रोः । कः = कतरः, वक्ता = प्रतिपादकः, इति, निश्चयाऽभावात्=निर्णयाऽभावात् सन्दिग्धत्वम् ।

पुनरुक्ताऽर्थप्रतिपादकत्वं पुनरुक्तता । अयमप्यनित्यो दोषः, "धनुर्ज्यादिषु शब्देषु०" ॥ ७–२६ ॥ इत्यादिना प्रतिप्रसवात् ।

पुनरुक्ततामुदाहरति—**सहसेति** । किरातार्जुनीयस्य द्वितीयसर्गस्थं पद्यमिदम् । शत्रुं प्रति कुपितं भीमसेनं प्रति राज्ञो युधिष्ठिरस्योक्तिरियम् । क्रियां=कार्यं, सहसा= अतर्कितरूपेण, अविमृश्येति भावः । न विदधीत = न कुर्वीत । यतः—अविवेकः = अविचार्यकारित्वं, परम् = अत्यन्तम्, आपदां = विपत्तीनां, पदं = स्थानं, कारणमित्यर्थः । व्यतिरेकेणोक्तमर्थं समर्थयते—**वृणत इति** । हि = यतः, गुणलुब्धाः = दयादाक्षिण्यादिगुणगृध्नवः, सम्पदः = श्रियः, विमृश्यकारिणं=सविचारं कार्यकारिणं जनम् । स्वयम् एव=आत्मना एव, वृणते=भजन्ते । तस्माद्विमृश्यैव कार्यं कर्तव्यमिति भावः । अत्र वैधर्म्येणाऽर्थान्तरन्यासः । सुन्दरी वृत्तम् ।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र=अस्मिन्नुदाहरणे, द्वितीयार्द्धम्=उत्तरार्द्धम्, उत्तरार्द्धार्थे इति भावः । व्यतिरेकेण = वैपरीत्येन, द्वितीयपादस्य एव "अविवेकः परमापदां पदम्" इत्यस्य एव । अर्थः = वाच्यः ।

यथाऽधर्मो दुःखसाधनमित्युक्ते धर्मस्य सुखसाधनत्वमवसीयते तथैवाऽत्राऽपि "अविवेकः परमापदां पदम्" इत्युक्ते विवेकस्य सम्पदां परमाऽऽस्पदत्वमवसीयते, अतः पुनरुक्तता ।

प्रसिद्धिविरुद्धाऽर्थप्रतिपादकत्वं प्रसिद्धिविरुद्धत्वम् । अयमप्यनित्यो दोषः, "कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातिविरुद्धता ७–२२" इति वक्ष्यमाणकारिकया प्रतिप्रसवात् ।

यहाँ प्रकरणका अभाव होनेसे शान्त वा शृङ्गारीमें वक्ता कौन है ? ऐसा निश्चय न होनेसे सन्दिग्धत्व दोष है ।

सहसेति । सहसा कार्य मत करे, क्योंकि अविवेक आपत्तियोंका मुख्य स्थान है । जिस कारणसे गुणोंमें लोलुप सम्पत्तियाँ विचारके साथ कार्य करनेवालोंको स्वयम् ही आश्रय करती हैं । यहाँ उत्तरार्द्धमें व्यतिरेक (वैपरीत्य) से दूसरे चरणका ही अर्थ है, इस कारणसे पुनरुक्तत्व दोष है । ख्याति (प्रसिद्धि) विरुद्धता जैसे—

'ततश्चचार समरे शितशूलधरो हरिः।'

अत्र हरेः शूलं लोकेऽप्रसिद्धम्।

यथा वा—

'पादाघातादशोकस्ते सञ्जाताङ्कुरकण्टकः।'

अत्र पादाघातादशोकेषु पुष्पमेव जायत इति प्रसिद्धं, न त्वङ्कुर इति कविसमयख्यातिविरुद्धता।

'अधरे करजक्षतं मृगाक्ष्याः।'

प्रसिद्धिविरुद्धतामुदाहरति—**तत इति**। ततः = अनन्तरं, शितशूलधरः = तीक्ष्णशूलधारकः, हरिः = विष्णुः, समरे = युद्धे, चचार = सञ्चरणं चकार।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्यार्द्धे, वर्णितं हरेः = विष्णोः, शूलं = शूलधारणं, लोके, अप्रसिद्धम् = अप्रख्यातम्। अतो लोक-प्रसिद्धिविरोधाद् प्रसिद्धिविरुद्धता।

कविप्रसिद्धिविरुद्धतामुदाहरति—**पादाघातादिति**। कस्यचिन्नायकस्य नायिकां प्रत्युक्तिरियम्। हे प्रिये!, ते=तव, पादाघातात्=चरणताडनात्, अशोकः = वञ्जुलः, संजाताऽङ्कुरकण्टकः = संजातः (उत्पन्नः) अङ्कुरकण्टकः (अङ्कुररूपो रोमाञ्चः) यस्य सः। अस्तीति शेषः।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, पादाघातात् = प्रमदायाश्चरणताडनात्, अशोकेषु पुष्पमेव जायत इति प्रसिद्धं न त्वङ्कुरः, "पादाघातादशोको विकसति ७-२४" इति वक्ष्यमाणपद्याऽनुसारात्; अतः कविसमयख्यातिविरुद्धता।

व्याकरणेतरशास्त्रप्रसिद्धिविरुद्धत्वं विद्याविरुद्धत्वम्।

विद्याविरुद्धतामुदाहरति—**अधर इति**। मृगाक्ष्याः = हरिणनयनायाः; अधरे = अधरोष्ठे, करजक्षतं = नखक्षतं, शोभत इति शेषः।

अनन्तर युद्धमें तीक्ष्ण शूलको धारण करनेवाले विष्णु विचरण करने लगे।

यहाँ विष्णुका शूल लोकमें प्रसिद्ध नहीं है, अतः ख्यातिविरुद्धता दोष है।

अथवा— **पादाघातादिति**। हे सुन्दरि! तुम्हारे चरणके आघातसे अशोकका अङ्कुररूप कण्टक उत्पन्न हुआ। यहा सुन्दरीके चरणके आघातसे अशोकमें फूल ही उत्पन्न होता है यह प्रसिद्ध है, न कि अङ्कुर, अतः कविसमयकी प्रसिद्धिका विरोध है।

अधर इति। मृगनयनाके अधरमें नखक्षत है।

अत्र शृङ्गार (काम) शास्त्रविरुद्धत्वाद्विद्याविरुद्धता ।
एवमन्यशास्त्रविरुद्धत्वमपि ।

'ऐशस्य धनुषो भङ्गं क्षत्त्रस्य च समुन्नतिम् ।
स्त्रीरत्नं च कथं नाम मृष्यते भार्गवोऽधुना ॥'

अत्र स्त्रीरत्नमुपेक्षितुमिति साकाङ्क्षता ।

'सज्जनो दुर्गतौ मग्नः, कामिनी गलितस्तनी ।
खलः पूज्यः समज्यायां, तापाय मम चेतसः ॥'

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, अधरे करजक्षतस्य शृङ्गार (काम) शास्त्रविरुद्धत्वाद्विद्याविरुद्धता ।

निगमयति—**एवमिति** । एवम् = इत्थम्, अन्यशास्त्रविरुद्धत्वं=शास्त्रान्तर-विरुद्धत्वम्, ऊहनीयमिति शेषः ।

आकाङ्क्षिताऽर्थविकलता साकाङ्क्षता । अयं नित्यो दोषः, प्रतिप्रसवाऽभावात् ।

साकाङ्क्षतामुदाहरति—**ऐशस्येति** । भार्गवः=परशुरामः, अधुना ऐशस्य= ईशसम्बन्धिनः, शङ्करस्येति भावः । धनुषः = कार्मुकस्य, भङ्गं = खण्डनं, रामकर्तृ-कमिति भावः, क्षत्रस्य = क्षत्रियजातेः, समुन्नतिं = समुत्कर्षं, स्त्रीरत्नं = रमणीश्रेष्ठं, सीतां च, कथं=केन प्रकारेण, मृष्यते=सहते, नामेति प्रसिद्धौ । न कथमपीतिभावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र=अस्मिन्नुदाहरणे । "स्त्रीरत्नम्" इत्यतोऽनन्तरम् "उपेक्षितुम्" इत्यस्य साकाङ्क्षता ।

शोभनाऽशोभनाऽर्थसमभिव्याहारः सहचरभिन्नता । अयमपि नित्यो दोषः । प्रतिप्रसवाऽभावात् ।

सहचरभिन्नतामुदाहरति—**सज्जन इति** । सज्जनः = साधुः, दुर्गतौ = दुरवस्थायां, मग्नः = पतितः, कामिनी = रमणी, गलितस्तनी = पतितकुचा, खलः = दुर्जनः, समज्यायां = सभायां, पूज्यः = प्रतीक्ष्यः, अतश्च मम = पश्यत इति शेषः, चेतसः = मनसः, तापाय = सन्तापाय, सन्तीति शेषः, अनुष्टुब् वृत्तम् ।

यहाँ अधरमें नखक्षत शृङ्गारशास्त्रसे विरुद्ध होनेसे विद्याविरुद्धता दोष है । इसी तरह अन्यशास्त्रविरोधका उदाहरण समझना चाहिए ।

ऐशस्येति । परशुराम इस समय शिवजीके धनुषका भङ्ग, क्षत्रियकी उन्नति और स्त्रीरत्न (सीताजी) को कैसे सहन करते हैं ? यहाँ "स्त्रीरत्नम्" इसके अनन्तर "उपेक्षितुम्" इस पदकी आकाङ्क्षा रहनेसें "साकाङ्क्षता" दोष है ।

सज्जन इति । सज्जन दुर्गतिमें मग्न, रमणी गलित कुचोंवाली और दुर्जन सभामें पूज्य ये सब मेरे चित्तके सन्तापके हेतु हैं ।

अत्र सज्जनः कामिनी च शोभनौ, तत्सहचरः खलोऽशोभन इति सहचरभिन्नत्वम् ।

'आज्ञा शक्रशिखामणिप्रणयिनी, शास्त्राणि चक्षुर्नवं,
भक्तिर्भूतपतौ पिनाकिनि, पदं लङ्केति दिव्या पुरी ।
उत्पत्तिर्द्रुहिणान्वये च तदहो ! नेदृग्वरो लभ्यते
स्याच्चेदेष न रावणः, क्व नु पुनः सर्वत्र सर्वे गुणाः ? ॥'

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, सज्जनः कामिनी च शोभनौ, स्वरूपेणैवेति शेषः, तत्सहचरः खलोऽशोभन इति तेषां समभिव्याहारात् (साहित्यात्) हेतोर्दोषः । अनुपयुक्तस्थाने समापितवाक्यार्थत्वमस्थानयुक्तता । अयं नित्यो दोषः प्रतिप्रसवाऽभावात् ।

अस्थानयुक्ततामुदाहरति—**आज्ञेति** । बालरामायणनाटकस्थं पद्यमिदम् । रावणेन सीतार्थं प्रार्थने कृते जनकपुरोहितस्य शतानन्दस्योक्तिरियम् । यस्य रावणस्य आज्ञा = आदेशः, शक्रशिखामणिप्रणयिनी = शक्रस्य (इन्द्रस्य) शिखामणिः (शिरोरत्नम्) तत्प्रणयिनी (तत्प्रणयवती), शक्रो रावणस्याज्ञां शिरसाऽभ्युपगच्छतीति भावः । एतेनाऽस्य वीरत्वं सूच्यते । शास्त्राणि = वेदादिशास्त्राणि एव, नवं = नूतनम्, असाधारणमिति भावः । चक्षुः = नयनम्, अयं शास्त्राऽनुसारेण कर्म विदधातीति भावः । भूतपतौ=भूतस्वामिनि, पिनाकिनि = पिनाकधनुर्धारिणि, श्रीशङ्करे, भक्तिः = सेवा, एतेन सम्पदादिमत्त्वं सूच्यते । लङ्का इति दिव्या = असामान्या, पुरी = नगरी, सुवर्णमयीति भावः । उत्पत्तिः = जननं, द्रुहिणाऽन्वये = ब्रह्मवंशे, एतेनाऽस्य कुलीनत्वं प्रख्याप्यते । तत् = तस्मात्, अहो = आश्चर्यम्, ईदृक् = एतादृशः, सकलगुणसंपन्न इति भावः । वरः = उपनेता, न लभ्यते = न प्राप्यते, एषः = प्रार्थयिता, रावणः = पीडनेन लोकान् रावयतीति तादृशो न स्याच्चेत् = नो भवेद्यदि, पुनः = परं, सर्वत्र = सर्वस्मिन्, सर्वे = समस्ताः, गुणाः क्व = कुत्र देशे, भवन्तीति शेषः, अपितु क्वाऽपि नेत्याशयः ।

यहाँ सज्जन और कामिनी शोभन हैं परन्तु उनके साथ पढ़ा गया खल (दुर्जन) अशोभन है इसलिए शोभन और अशोभनका समीपमें स्थिति रहनेसे "सहचरभिन्नता" दोष है ।

आज्ञेति । इस (रावण) की आज्ञा इन्द्रके शिरके रत्नोंमें प्रणय करनेवाली है, अर्थात् इन्द्र भी रावणकी आज्ञाको शिरसे स्वीकार करते हैं । शास्त्र ही इसके नये नेत्र हैं, प्रमथोंके स्वामी शिवजीमें इसकी भक्ति है, लङ्का नामवाली दिव्य पुरी इसके रहनेका स्थान है । ब्रह्माजीके वंशमें इसकी उत्पत्ति है, यदि यह रावण (लोकको पीडा देकर रुलानेवाला) नहीं होता तो, पर ऐसा वह नहीं पाया जाता है । परन्तु सर्वत्र सब गुण कहां रहते हैं ?

अत्र न रावण इत्येतावतैव समाप्यम् ।

हीरकाणां निधेरस्य सिन्धोः किं वर्णयामहे ।'

अत्र रत्नानां निधेरित्यविशेष एव वाच्यः ।

'आवर्त्त एव नाभिस्ते, नेत्रे नीलसरोरुहे ।

भङ्गाश्च वलयस्तेन त्वं लावण्याम्बुवापिका ॥'

"वर्णप्रकर्षे सति कर्णिकारं दुनोति निर्गन्धतया स्म चेतः ।

प्रायेण सामग्र्यविधौ गुणानां पराङ्मुखी विश्वसृजः प्रवृत्तिः ॥"

इति नयेनेति भावः । परिकराऽलङ्कारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र = उदाहरणे, "न रावण" इत्येतावतैव = एतद्भागेनैव, समाप्यं=समापनीयं, परं "क्व नु पुनः" इत्यादिनाऽनुपयुक्तस्थाने वाक्यार्थ-समापनादस्थानयुक्ततेति भावः । सामान्ये वक्तव्ये विशेषवचनं, सोऽविशेषे विशेषः, सामान्यपरिवृत्तित्वं वा । अयं नित्यो दोषः प्रतिप्रसवाऽभावात् ।

अविशेषे विशेषमुदाहरति—**हीरकाणामिति** । कस्य चित्समुद्रवर्णनमिदम् । हीरकाणां = हीराणां, रत्नविशेषाणां, निधेः = शेवधेः, आकरस्येति भावः । अस्य, सिन्धोः = समुद्रस्य, किं वर्णयामहे=किं वर्णयामः । स्तुतिपथाऽतीतत्वादिति भावः ।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, "रत्नानां निधेः" इति अविशेषः = सामान्यः, एव, वाच्यः = वक्तव्यः ।

अनियमस्थलेऽपि यत्र नियमप्रतिपादनं तत्राऽनियमे नियमः । प्रतिप्रसवाऽभावादयं नित्यो दोषः ।

अनियमे नियममुदाहरति—**आवर्त्त इति** । कश्चिन्नायकः स्वनायिकां प्रशंसति । हे प्रिये !, ते = तव, नाभिः = तुन्दिः, आवर्तः = जलभ्रमः, एव, नेत्रे= नयने, नीलसरोरुहे = नीलकमले । वलयः = त्वक्संकोचाः, उदररेखा इति भावः । भङ्गाः = तरङ्गाः, तेन = कारणेन, त्वं, लावण्याऽम्बुवापिका = लावण्यम् (सौन्दर्यम्) एव, अम्बु (जलम्) तस्य वापिका (दीर्घिका) असीति शेषः । रूपकाऽलङ्कारः, अनुष्टुब् वृत्तम् ।

यहाँ "न रावणः" रावण नहीं होता तो इतनेसे ही वाक्य समाप्त करना चाहिए सो नहीं होनेसे "अस्थानयुक्तता" दोष है ।

हीरकाणामिति । हीरोंकी निधि इस समुद्रका क्या वर्णन करें ? यहाँ "रत्नानां निधेः" ऐसा अविशेष (सामान्य) कहना चाहिए सो न होनेसे "अविशेषे विशेष" अथवा "सामान्यपरिवृत्ति" दोष है ।

आवर्त्त इति । हे सुन्दरि ! तुम्हारी नाभि ही आवर्त (भँवर) है, तुम्हारे नेत्र ही नीलकमल हैं, तुम्हारी उदररेखाएँ ही तरङ्ग हैं इस कारणसे तुम लावण्य-रूप जलकी वापी (बावली) हो ।

अत्रावर्त एवेति नियमो न वाच्यः ।

'यान्ति नीलनिचोलिन्यो रजनीष्वभिसारिकाः ।'

अत्र तमिस्रास्विति रजनीविशेषो वाच्यः ।

'आपातसुरसे भोगे निमग्नाः किं न कुर्वते ? ।'

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र, आवर्त एवेति, नियमः = नियमार्थ एवकारः, न वाच्यः = नो वक्तव्यः । अनावश्यकत्वादिति भावः । यत्र विशेषे वक्तव्ये अविशेषवचनं = सामान्यवचनं, स विशेषेऽविशेषः, विशेषपरिवृत्तित्वं वा । समाधानाऽभावादयं नित्यो दोषः ।

विशेषेऽविशेषमुदाहरति—**यान्तीति** । रजनीषु = रात्रिषु, नीलनिचोलिन्यः= नीलप्रच्छदपटावृताः, नीलप्रच्छदपटेनावरणं च दर्शनपरिहरणार्थं बोध्यम् । तादृश्यः, अभिसारिकाः = अभिसारकारिरामाः ।

"अभिसारयते कान्तं या मन्मथवशंवदा ।
स्वयं वाऽभिसरत्येषा धीरैरुक्ताऽभिसारिका ।। सा०द० ३–७६।(पृ.१५२)"

इत्युक्तलक्षणा नायिकाः । यान्ति = कान्तसमीपं प्राप्नुवन्ति ।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र, तमिस्रासु = तामसरात्रिषु इति रजनीविशेषः = रात्रिभेदः, वाच्यः = वक्तव्यः । ज्योत्स्नायुक्तरात्रिषु तु शुक्लपटावरणमेवोचितम् ।

नियमस्थले नियमाऽभावो नियमेऽनियमः । प्रतिप्रसवाऽभावादयमपि नित्यो दोषः ।

नियमेऽनियममुदाहरति—**आपातसुरस इति** । कश्चित्प्राज्ञो भोगसक्तान्निन्दति । आपातसुरसे = तदात्वे शोभनरसयुक्ते ।

"आपातः पुंसि पतने तदात्वे च प्रकीर्तितः" इति मेदिनी ।

भोगे = विषयोपभोगे, निमग्नाः = ब्रुडिताः एकान्तमासक्ता इति भावः । जनाः, किं न कुर्वते = किं न कुर्वन्ति ? अपि तु सर्वं कुर्वन्तीति भावः ।

यहां "आवर्त एव" अर्थात् तुम्हारी नाभि ही भँवर है ऐसा नियम नहीं करना चाहिए, ऐसा नियम करनेसे "अनियममें नियम" नामक दोष है ।

यान्तीति । नीले आवरण वस्त्रसे ढकी हुई अभिसारिकाएँ (सङ्केतस्थलमें जानेवाली नायिकाएँ) रात्रियोंमें गमन करती हैं । यहां "तमिस्रासु" अर्थात् अन्धकारपूर्णरात्रि ऐसा रजनी (रात्रि) का विशेष (भेद) कहना चाहिए, सो न होनेसे यहां "विशेषे अविशेष" वा "विशेषपरिवृत्ति" दोष है ।

आपातसुरस इति । आपात (तत्काल) के लिए मनोहर रसवाले भोगमें डूबे हुए जन क्या नहीं करते हैं ?

अत्र आपात एवेति नियमो वाच्यः ।

ननु वाच्यस्यानभिधाने 'व्यतिक्रमलवम्' इत्यादावपेरभावः, इह चैवकारस्येति कोऽनयोर्भेदः ? अत्राह—'नियमस्याऽवचनमेव पृथग्भूतं नियमपरिवृत्तेर्विषयः' इति, तन्न । तथा सत्यपि द्वयोः शब्दार्थदोषतायां नियामकाभावात् ।

तत्का गतिरिति चेत् ? 'व्यतिक्रमलवम्' इत्यादौ शब्दोच्चारणानन्तरमेव

दोषमुपपादयति—अत्रेति । अत्र = इह, आपात एव = तत्कालमेव न तु चिरकालपर्यन्तमित्यर्थद्योतनाय नियमो वाच्यः=वक्तव्यः, तदभावान्नियमेऽनियमः ।

वाच्यस्याऽनभिधाने नियमेऽनियमे च भेदं ज्ञातुमुपक्रमते—नन्विति । नन्विति प्रश्ने, "प्रश्नाऽवधारणाऽनुज्ञाऽनुनयाऽऽमन्त्रणे ननु ।" इत्यमरः । वाच्यस्याऽनभिधाने = वाक्यमात्रगे दोषविशेषे "व्यतिक्रमलवम् (पृ० २६)" इत्यादावपेरभावः, "नियमेऽनियम" इह च = अत्र च, एवकारस्य, अभाव इति शेषः । इति अनयोः=पूर्वोक्तयोर्दोषयोः, कः, भेदः = व्यावृत्तिः, इति ।

अत्र कस्यचित्समाधानम्, अत्राहेति । अत्र = अस्मिन्विषये, आह = ब्रूते, कश्चिदिति शेषः । नियमस्य, अवचनम् = अकथनम्, एव, नियमपरिवृत्तेः = नियमेऽनियमस्येति भावः, पृथग्भूतं = विशेषभूतं यथा स्यात्तथा, विषयः । नियमद्योतकपदाऽभावे —नियमेऽनियम एवं च नियमद्योतकभिन्नपदाऽभावे वाच्यस्याऽनभिधानम् इति द्वयोर्भेद इत्याशयः ।

पूर्वोक्तं मतं खण्डयति—तन्नेति । तत् = कथनं, न = नोपपद्यते ।

इति भावः । तद्दर्शयति—तथासतीति । तथा सत्यपि = एतादृग्विवेके कृतेऽपीति भावः । द्वयोः = उभयोः, वाच्याऽनभिधान–नियमाऽनियमदोषयोः, शब्दाऽर्थदोषतायां = वाच्यस्याऽनभिधानस्य शब्ददोषत्वे, नियमेऽनियमस्य अर्थदोषत्वे इति भावः । नियामकाऽभावात् = नियमकारकसिद्धाऽन्ताऽभावात् । तत् = तस्मात्कारणात्, का गतिः=अनयोर्दोषयोर्भेदनिरूपणे क उपायः, इति चेत्—वाच्यस्याऽन-

---

यहाँ "आपात एव" अर्थात् तत्कालके लिए ही ऐसा नियम कहना चाहिए, सो न होसे "नियमे अनियम" नामक दोष है ।

यहाँ शङ्का करते हैं—नन्विति । वाच्याऽनभिधान (दोष) के "व्यतिक्रमलवम्" इत्यादि उदाहरण में अपिका अभाव है और नियमे अनियमः में एवकारका अभाव है, इस कारणसे इन दोनोंमें क्या भेद है ?

इसमें कहते हैं (समाधान करते हैं)—"नियमका अवचन (नहीं कहना) ही नियमपरिवर्तन (नियममें अनियम) का वाच्याऽभिधान दोषसे पृथग्भूत विषय है । यह ठीक नहीं है, ऐसा माननेपर भी दोनों (वाच्याऽनभिधान और नियममें अनियम दोषोंका शब्ददोष अथवा अर्थदोषका नियामक (नियम करने वाला सिद्धान्त) नहीं है, इस कारणसे इन दोनोंके भेदनिरूपणमें क्या उपाय है ? इसका समाधान करते हैं—"व्यतिक्रमलवम्" इत्यादिमें शब्दके उच्चारणके अनन्तर

दोषप्रतिभासः, इह त्वर्थप्रत्ययानन्तरमिति भेदः। एवं च शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यां पूर्वैरादृतोऽपि शब्दार्थदोषविभाग एवं पर्यवस्यति—यो दोषः शब्दपरिवृत्त्यसहः स शब्ददोष एव। यश्च पदार्थान्वयप्रतीतिपूर्वबोध्यः सोऽपि शब्ददोषः। यश्चार्थप्रतीत्यनन्तरं बोध्यः सोऽर्थाश्रय इति। एवं चानियमपरिवृत्तित्वादेरप्यधिकपदत्वादेर्भेदो बोद्धव्यः। अमतपरार्थत्वे तु 'राममन्मथशरेण-'

भिधाने—शब्दोच्चारणाऽनन्तरम्, अतोऽस्य शब्ददोषता इह तु = अत्र तु, "नियमेऽनियम" इत्यत्र तु अर्थबोधाऽनन्तरम् दोषप्रतिभासः अतोऽस्याऽर्थदोषत्वम्, इति, भेदः = विशेषः।

प्राचीनमतं प्रदर्शयति—**एवं चेति**। शब्दपरिवृत्तिसहत्वे अर्थदोषत्वं, शब्दपरिवृत्यसहत्वे शब्ददोषत्वमिति भावः। पूर्वैः = प्राचीनाचार्यैः, आदृतोऽपि = सत्कृतोऽपि, शब्दाऽर्थदोषविभागः = शब्ददोषविभागः अर्थदोषविभागश्च, एवम्=अनेन प्रकारेण, पर्यवस्यति = पर्यवसितो भवति। तादृशं पर्यवसानमाह–य इति। यो दोषः = शब्दपरिवृत्यसहः = शब्दपरिवृत्तिं (पदपरिवर्तनम्) न सहते सः, शब्ददोष एव।

यश्चेति। यश्च पदाऽर्थाऽन्वयप्रतीतिपूर्वबोध्यः = पदानां (शब्दानाम्) यऽर्थाः (वाच्याः) तेषामन्वयप्रतीतेः (मिथःसंसर्गबोधात्) पूर्वं बोध्यः, तत्तत्पदश्रवणाऽनन्तरमेव बोध्यः सोऽपि शब्ददोष एव। एतद्वैपरीत्येन यश्च अर्थं प्रतीत्यनन्तरम् = अर्थज्ञानाऽनन्तरं बोध्यः सोऽर्थाश्रय इति।

एवमिति। एवम् = अनेन प्रकारेण, अनियमपरिवृत्तित्वादेः अपि=अनियमे नियमस्य अपि "आवर्त एवनाभिस्ते" इत्ययर्थदोषस्य अपि, अधिकपदत्वादेः "पल्लवाकृतिरक्तोष्ठी" इत्यादि शब्ददोषात्, भेदो, बोद्धव्यः = ज्ञेयः।

अधिकपदत्वे शब्दश्रवणानन्तरं दोषप्रतीतिः, अनियमे नियम इत्यादौ तु अर्थप्रतीत्यनन्तरं भेदो ज्ञातव्य इति भावः।

ही दोषकी प्रतीति होती है यहाँ—(नियममें अनियम इसमें) अर्थज्ञानके अनन्तर दोषका प्रतीति होती है। यह भेद है। इस प्रकार शब्दपरिवर्तनके सहन और असहनसे प्राचीन आचार्योंसे आदृत शब्द-दोष और अर्थ-दोषका विभाग इस प्रकार पर्यवसित होता है—जो दोष शब्द परिवर्तनका सहन नहीं करता है वह शब्ददोष ही है और जो पदार्थोंके अन्वयज्ञानपूर्वक बोध्य हो वह भी शब्ददोष है।

और जो अर्थज्ञानके अनन्तर बोद्धव्य हो, वह अर्थाश्रय (अर्थदोष) है।

इस प्रकार अनियमपरिवृत्तित्व आदि (अनियम में नियम, जैसे—"आवर्त एव नाभिस्ते" इत्यादि) का अधिकपदत्व ("पल्लवाकृतिरक्तोष्ठी" शब्ददोष) आदिसे भेद जानना चाहिए। अमतपराऽर्थत्वमें तो "राममन्मथशरेण०" इत्यादिमें

इत्यादौ (२०६ पृ०) नियमेन वाक्यव्यापित्वाभिप्रायाद्वाक्यदोषता। अश्लीलत्वादौ तु न नियमेन वाक्यव्यापित्वम्।

'आनन्दितस्वपक्षोऽसौ परपक्षान् हनिष्यति।'

अत्र परपक्षं हत्वा स्वपक्षमानन्दयिष्यतीति विधेयम्।

'चण्डीशचूडाभरण! चन्द्र! लोकतमोपह!।
विरहिप्राणहरण! कदर्थय न मां वृथा॥'

अत्रेति। नियमेन = नियतरूपेण, वाक्यव्यापित्वात् = समूहपदरूपवाक्यव्यापित्वाद् वाक्यदोषता।

अश्लीलत्वादाविति। नियमेन = नियतरूपेण, न वाक्यव्यापित्वं= वाक्यव्यापित्वसम्भवेऽपि अर्थान्वय-व्यतिरेकाऽनुविधानादर्थदोषत्वमिति भावः।

अस्थानप्रयुक्तविधेयत्वं विध्ययुक्तत्वम्। प्रतिप्रसवाऽभावादयं नित्यो दोषः। **विध्ययुक्ततामुदाहरति—आनन्दितेति**। आनन्दितस्वपक्षः = आनन्दितः (हर्षितः) स्वपक्षः (आत्मपक्षः) येन सः, परपक्षान् = शत्रुपक्षस्थिताञ्जनान्, हनिष्यति = व्यापादयिष्यति।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र=अस्मिन्नुदाहरणे, "परपक्षान् हनिष्यति" इति विधेयम् "आनन्दितस्वपक्षोऽसौ" इत्युद्देश्यं च परिवर्त्य "परपक्षान् निहत्याऽसौ स्वपक्षं नन्दयिष्यति" इति विधेयं=कार्यमिति भावः।

अनुवाद्यविशेषणस्य विधेयविरोधित्वमनुवादाऽयुक्तत्वम्। प्रतिप्रसवाऽभावादयमप्यनित्यो दोषः। अनुवादाऽयुक्ततामुदाहरति—**चण्डीशेति**। कश्चिद्विरही चन्द्रमसमनूद्य कथयति। चण्डीशचूडाभरण = चण्डीशस्य (शङ्करस्य) हे चूडाऽऽभरण (शिरोमणे!), हे लोकतमोऽपह = भुवनध्वान्तनाशक!' हे विरहिप्राणहरण = विरहिणां (वियोगिनाम्) प्राणहरण (प्राणनाशक)! हे चन्द्र=हिमांऽशो! मां = वियोगिनं, वृथा = व्यर्थं, मां कदर्थय = न पीडय, मदनोद्दीपनेनेति शेषः।

नियमसे वाक्यव्यापित्वका अभिप्राय होनेसे वाक्यदोषता है। अश्लीलत्व आदिमें तो नियमसे वाक्यव्यापित्व नहीं है, अतः वहाँ अर्थदोषत्व है यह भाव है।

आनन्दितस्वपक्ष इति। स्वपक्षको आनन्दित करके वह शत्रुपक्षका संहार करेगा। यहां "परपक्षान्निहत्याऽसौ स्वपक्षं नन्दयिष्यति।" अर्थात् "यह शत्रुपक्षोंका संहार करके स्वपक्षको आनन्दित करेगा" इसप्रकारसे विधि अपेक्षित है।

चण्डीशचूडाभरणेति। हे शिवजीके शिरके रत्न! हे लोकके अन्धकारका नाश करनेवाले! हे वियोगियोंके प्राणनाशक? हे चन्द्र! मुझे व्यर्थ पीडित मत करो।

अत्र विरहिण उक्तौ तृतीयपादस्यार्थो नानुवाद्यः ।

'लग्नं रागावृताङ्ग्या सुदृढमिह ययैवासियष्ट्यारिकण्ठे
मातङ्गानामपीहोपरि परपुरुषैर्या च दृष्टा पतन्ती ।
तत्सक्तोऽयं न किञ्चिद्गणयति विदितं तेऽस्तु तेनास्मि दत्ता
भृत्येभ्यः श्रीनियोगाद्गदितुमिति गतेवाम्बुधिं यस्य कीर्तिः ॥'

दोषमुपपादयति—अत्र = इह, विरहिणः = वियोगिनः, उक्तौ = कथने, तृतीयवादस्य अर्थो न अनुवाद्यः = न उद्देश्यः, "विरहिप्राणहरणे"ति सम्बुद्धेः "कदर्थय न मां वृथे"ति विधेयस्य विरुद्धत्वादिति भावः ।

समाप्तस्य वाक्यस्य कारकान्तरेण पुनरुपादानं निर्मुक्तपुनरुक्तत्वम् । समाप्त-पुनरात्तत्वे तु विशेषणस्य पुनरुपादानमिति तयोर्भेदः, नित्योऽयं दोषः । निर्मुक्त-पुनरुक्तत्वमुदाहरति–लग्नमिति । कस्य चिद्राज्ञः कीर्तिवर्णनमिदम् । रागावृताङ्ग्या = रागेण (शत्रुरुधिरेण, अनुरागेण च) आवृतानि (व्याप्तानि) अङ्गानि (शरीरावयवाः) यस्याः, तया । यया एव असियष्ट्या = खड्गलतया, तन्वङ्ग्या कयाचित्स्वैरिण्या च, इह = अस्मिन्काले, अरिकण्ठे = शत्रुगले छेदनार्थम्, कस्य-चित्परपुरुषस्य गले, आलिङ्गनार्थं, सुदृढं = गाढरूपं, लग्नं = संसक्तम् । या च = असियष्टिः, इह = अत्र समये मातङ्गानां = हस्तिनां, कामशास्त्रोक्तलक्षणविशिष्ट-पुरुषविशेषाणाम्, अपि, उपरि = ऊर्ध्वभागे, पतन्ती=हननाय, संगमाय, च संसृजन्ती सती, परपुरुषैः = शत्रुजनैः, पतिभिन्नजनैश्च, दृष्टा = अवलोकिता, तत्सक्तः = तस्याम् (असियष्ट्यां, स्वैरिण्यां च) सक्तः (आसक्तः), अयं = मत्पतिरूपो राजा, किञ्चित् = मदनुरागादिकं न गणयति = नो विचारयति, एवं च, तेन = पूर्ववर्णितेन राज्ञा, अहं =श्रीः, भृत्येभ्यः, सेवकेभ्यः, दत्ता = वितीर्णा, अस्मि=विद्ये, इति = एवं ते=तव, मत्पितुः=समुद्रस्य, विदितं=ज्ञातम् अस्तु=भवतु, श्रीनियोगात् = श्रियः (अम्बुधिपुत्र्याः लक्ष्म्याः) नियोगात् (आदेशात्) इति = एवं, पूर्वकथितं

यहां वियोगीके कथनमें तृतीयचरणके अर्थको उद्देश्य नहीं बनाना चाहिए । अतः "अनुवादायुक्तता" दोष है ।

लग्नमिति । राग (शत्रुके रुधिर वा अनुराग) से व्याप्त अङ्गोंवाली, जो असियष्टि वा स्वैरिणी स्त्री इस समय मातङ्गों (हाथियों वा पुरुषविशेषों) के भी ऊपर मारनेके लिए वा संगम करनेके लिए संसक्त होती हुई अन्यपुरुषों से देखी गई है । उसी (असियष्टि वा स्वैरिणी स्त्री) में आसक्त होता हुआ यह राजा कुछ भी विचार नहीं करता है, इस प्रकार उस राजाने मुझ (राजलक्ष्मी) को अपने सेवकोंको दे दिया है यह बात आप (मेरे पिता समुद्र) को विदित हो, लक्ष्मीकी

अत्र विदितं तेऽस्त्वित्यनेन समापितमपि वचनं तेनेत्यादिना पुनरुपात्तम् ।

अथ रसदोषानाह—

रसस्योक्तिः स्वशब्देन स्थायिसंचारिणोरपि ॥ १२ ॥
परिपन्थिरसाङ्गस्य विभावादेः परिग्रहः ।
आक्षेपः कल्पितः कृच्छ्रादनुभावविभावयोः ॥ १३ ॥
अकाण्डे प्रथनच्छेदौ, तथा दीप्तिः पुनः पुनः ।

गदितुम् इव = कथयितुम् इव यस्य = राज्ञः, कीर्तिः = समज्ञा श्रीसहचरी च, अम्बुधिं = समुद्रं, गता = प्राप्ता ।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, "विदितं तेऽस्तु" इत्यनेन, समापितमपि = जातसमाप्ति अपि, वचनं = वाक्यम् "तेने"ति कर्त्रा "दत्ता"ति कर्मणा "भृत्येभ्य" इति सम्प्रदानेन च, पुनः = भूयः, उपात्तं = गृहीत मतो निर्मुक्तपुनरुक्तत्वम् ।

अथ रसदोषान्निर्दिशति—**रसस्येति** । रसस्य = शृङ्गारादेः = स्वशब्देन रसशब्देन शृङ्गारादि शब्देन च, उक्तिः, स्थायिसञ्चारिणोः = स्थायिभावस्य सञ्चारिभावस्य च, स्वशब्देन उक्तिः ॥ १२ ॥

परिपन्थिरसाऽङ्गस्य = परिपन्थी (विरोधी) यो रसः, तस्य अङ्गस्य विभावादेः, परिग्रहः = उपादानम्, अत्रादिपदादनुभावव्यभिचारिणोरपि परामर्शः कृच्छ्रात् = कष्टात्, अनुभावविभावयोः, कल्पितः=रचितः, आक्षेपः=प्रतीतिः ॥१३॥

अकाण्डे = अनवसरे, प्रथनं (विस्तारः) छेदः (भङ्गः) च, रसस्येति शेषः । तथा, पुनः पुनः = भूयो भूयः, रसस्य दीप्तिः = उद्दीपनम् । अङ्गिनः =

प्राज्ञासे ऐसे सन्देशको मानों कहनेके लिए जिस राजाकी कीर्ति (वा लक्ष्मीकी सहचरी) समुद्रके पास गई है ।

यहांपर "विदितं तेऽस्तु" आपको विदित हो, इस वाक्यसे समाप्त किया गया वाक्य "तेन" इत्यादिसे फिर ग्रहण किया गया अतः निर्मुक्तपुनरुक्तत्व" दोषका यह उदाहरण है ।

अब रसदोष कहते हैं—

रसस्येति । स्वशब्दसे रस वा रसविशेषकी उक्ति, स्थायी भाव और सञ्चारीका स्वशब्दसे उक्ति ॥ १२ ॥ विरोधी रसके अङ्ग विभाव और अनुभाव आदिका ग्रहण अर्थात् कथन, अनुभाव और विभागका कष्टसे आक्षेप ॥ १३ ॥ रसका अनवसरमें प्रथन (फैलाव) अथवा विच्छेद, बार बार रसका उद्दीपन,

अङ्गिनोऽननुसंधानमनङ्गस्य च कीर्तनम् ॥ १४ ॥
अतिविस्तृतिरङ्गस्य, प्रकृतीनां विपर्ययः ।
अर्थानौचित्यमन्यच्च दोषा रसगता मताः ।

रसस्य स्वशब्दो रसशब्दः शृङ्गारादिशब्दश्च ।

क्रमेण यथा—

'तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो नः कोऽप्यजायत ।'
'चन्द्रमण्डलमालोक्य शृङ्गारे मग्नमन्तरम् ।'

प्रधानस्य, अननुसन्धानम् = अनुद्बोधनम् । अनङ्गस्य = अङ्गभावमप्राप्तस्य रसस्य, कीर्तनं = प्रतिपादनम् ॥ १४ ॥

अङ्गस्य = अङ्गभूतरसस्य, अतिविस्तृतिः = अतिविस्तारः । प्रकृतीनां = नायकादीनां, विपर्ययः = अन्यथा वर्णनम् । अन्यत् अर्थाऽनौचित्यम् इति चतुर्दश-संख्यका रसगता दोषाः, मताः = स्वीकृताः ॥ १५ ॥

रसस्येति । रसस्य = रसशब्दस्य, स्वशब्दः = रस-शब्दः शृङ्गारादि-शब्दश्च । अयं नित्यो दोषः, प्रतिप्रसवाऽभावात् ।

रसशब्दस्य उक्तिरूपं दोषमुदाहरति—**तामिति** । कस्य चिद्रसिकस्योक्ति-रियम्—तां, कुरङ्गाऽक्षीं = मृगनयनाम्, उद्वीक्ष्य = दृष्ट्वा, नः = अस्माकं, कोऽपि= अनिर्वचनीयः, रसः = अनुरागः, अजायत = जातः अत्र रसस्य स्व (रस) शब्दे-नोक्त्या दोषः ।

शृङ्गारशब्दोक्तिरूपं दोषमुदाहरति—**चन्द्रमण्डलमिति** । चन्द्रमण्डलम्= इन्दुमण्डलम्, आलोक्य = दृष्ट्वा, अन्तरम् = अन्तःकरणं, शृङ्गारे = आदिरसे, मग्नं = ब्रुडितम् ।

अङ्गी (प्रधान) का अनुसन्धान (उद्बोधन) न करना, अनङ्ग अर्थात् जो अङ्ग नहीं है उसका प्रतिपादन ॥ १४ ॥ (अप्रधान) अङ्ग का अत्यन्त विस्तार, प्रकृति- (नायक) आदियों का विपर्यय (अयथार्थ वर्णन) और भी अर्थका अनौचित्य, ये सब रसनिष्ठ माने गये हैं ॥ १५ ॥

रसस्येति । रसका स्वशब्द (रस शब्द और शृङ्गार आदि शब्द), उसकी उक्ति, क्रमसे जैसे—

तामिति । उस मृगनयनाको देखकर हमें अनिर्वचनीय रस (अनुराग) पैदा हो गया । यहां रस शब्दसे उक्ति होनेसे दोष है ।

चन्द्रमण्डलमिति । चन्द्रमण्डलको देखकर अन्तःकरण (मन) शृङ्गार- (रसविशेष) में मग्न हो गया । यहां रसविशेष शृङ्गारकी उक्तिसे दोष हुआ ।

स्थायिभावस्य स्वशब्दवाच्यत्वं यथा—

'अजायत रतिस्तस्यास्त्वयि लोचनगोचरे।'

व्यभिचारिणः स्वशब्दवाच्यत्वं यथा—

'जाता लज्जावती मुग्धा प्रियस्य परिचुम्बने।'

अत्र प्रथमे पादे 'आसीन्मुकुलिताक्षी सा' इति लज्जाया अनुभावमुखेन कथने युक्तः पाठः।

अत्र शृङ्गारशब्दस्योक्त्या दोषः।

स्थायिभावस्य स्वशब्दवाच्यत्वेन दोषमुदाहरति—**अजायतेति।** नायिका-सख्या नायकं प्रत्युक्तिरियम्। हे भद्र! त्वयि = भवति, लोचनगोचरे = नयनग्राह्ये सति, तस्याः = मत्सख्याः, रतिः = अनुरागः, अजायत = जाता। दोषमुपपादयति—अत्र शृङ्गाररसस्थायिभावस्य रतेः स्वशब्देनोक्तेर्दोषः।

व्यभिचारिणः स्वशब्द वाच्यत्वे दोषमुदाहरति—**जातेति।** प्रियस्य = वल्लभस्य, परिचुम्बने = वक्त्रसंयोगे, सति मुग्धा = "प्रथमाऽवतीर्ण यौवनमदनविकारे०—त्यादि (पृ० १३२) लक्षणलक्षिता नायिका, लज्जावती = लज्जिता, जाता = अजायत, दोषमुपपादयति—अत्र "लज्जावती"त्यत्र शृङ्गारव्यभिचारिभावरूपाया लज्जायाः स्वशब्देनोक्तेर्दोषः।

दोषपरिहारोपायं निर्दिशति—**अत्रेति।** अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, प्रथमे = आद्ये, पादे = चरणे, "आसीन्मुकुलिताक्षी सा" इति लज्जायाः, अनुभावमुखेन = नयनमुकुलिनीकरणरूपानुभावेन, कथने युक्तः पाठः, दोषाऽभाव इति भावः। एवं च रसव्यञ्जनाऽर्थं व्यभिचारिभावस्य स्वशब्देनोक्तावपि न दोषः' यथा—"लज्जानम्रमुखी (पृ०") इत्यादौ।

स्थायिभावका स्वशब्दवाच्यत्व जैसे—**अजायतेति।** हे महाशय! आपके नेत्रग्राह्य होनेपर उस (सुन्दरी) की रति (प्रीति) हो गई यहां शृङ्गार का स्थायिभाव 'रति' की उक्तिसे दोष हुआ।

व्यभिचारिभाव का स्वशब्दवाच्यत्व जैसे—**जातेति।** मुग्धा प्रियके चुम्बन करने से लज्जायुक्त हो गई। यहाँ शृङ्गारके व्यभिचारिभाव "लज्जा" पदकी उक्तिसे दोष हुआ।

अत्रेति। यहाँ प्रथम चरणमें "आसीन्मुकुलिताक्षी सा" अर्थात् वह (सुन्दरी) मुकुलित (मूंदे गये) नेत्रोंवाली हुई इसप्रकार लज्जाका अनुभाव रूपसे कहनेपर पाठ उचित (दोषरहित) हो जाता है।

'मानं मा कुरु तन्वङ्गि ! ज्ञात्वा यौवनमस्थिरम् ।'

अत्र यौवनास्थैर्यनिवेदनं शृङ्गाररसस्य परिपन्थिनः शान्तरसस्याङ्गं शान्तस्यैव च विभाव इति शृङ्गारे तत्परिग्रहो न युक्तः ।

'धवलयति शिशिररोचिषि भुवनतलं लोकलोचनानन्दे ।
ईषत्क्षिप्तकटाक्षा स्मेरमुखी सा निरीक्ष्यतां तन्वी ॥'

अत्र रसस्योद्दीपनालम्बनविभावावनुभावपर्यवसायिनौ स्थिताविति कष्टकल्पना ।

परिपन्थिरसाङ्गविभावोक्तौ दोषमुदाहरति—"**मान**"**मिति** । कुपितां दयितां प्रति नायकस्योक्तिरियम् । हे तन्वङ्गि = हे कृशाङ्गि, यौवनं = तारुण्यम्, अस्थिरं = चञ्चलं, ज्ञात्वा = विदित्वा, मानम् = अभिमानं, मा कुरु = नो विधेहि ।

दोषमुपपादयति—अत्र=अस्मिन्नुदाहरणे, यौवनस्य (तारुण्यस्य) अस्थैर्यनिवेदनं (चञ्चलताज्ञापनम्), शृङ्गाररसस्य, परिपन्थिनः = विरोधिनः, शान्तरसस्य "शान्तस्तु वीरशृङ्गाररौद्रहास्यभयानकैः ३–२५७ । (पृ० २७६) इत्युक्त्यनुसारं शान्तरसस्य अङ्गम् = उपकारकम् । शान्तस्यैव विभावः = उद्दीपनविभावः, शृङ्गारे, तत्परिग्रहः = यौवनास्थैर्यनिवेदनवर्णनम्, न युक्तः = नोचितः ।

यत्र कष्टेनाऽनुभावस्याक्षेपः कल्प्यते तत् कष्टाक्षिप्ताऽनुभावत्वम् अयं नित्यो-दोषः, उदाहरति—**धवलयतीति** । नायिकासख्या नायकं प्रत्युक्तिरियम् । लोकलोचनाऽऽनन्दे = लोकलोचनानाम् (जननयनानाम्) आनन्दे (हर्षोत्पादके), शिशिररोचिषि = चन्द्रमसि, भुवनतलं = लोकतलं, धवलयति = धवलं कुर्वति सति, ईषत्क्षिप्तकटाक्षा = ईषत् (अल्पं, यथा तथा) क्षिप्तः (प्रेरितः) कटाक्षः (अपाङ्गदर्शनम्, त्वां प्रतीति शेषः) यया सा । स्मेरमुखी = स्मेरं (सस्मितम्) मुखं (वदनम्) यस्याः सा । सा = पूर्वाऽनुभूता, तन्वी = कृशाङ्गी, निरीक्ष्यताम् = अवलोक्यताम् । आर्या वृत्तम् ।

दोषमुपपादयति—अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, रसस्य = शृङ्गाररसस्य, उद्दीपनालम्बनविभावौ = उद्दीपनं = चन्द्रकटाक्षमोक्षमन्दहास्यरूपोद्दीपनविभावः, आलम्बनविभावः = नायिका, एतौ द्वौ, अनुभावपर्यवसायिनौ = नायककर्तृक—

मानमिति । हे कृशाङ्गि ! जवानीको अस्थिर जानकर अभिमान मत करो यहाँ यौवनके अस्थैर्यका वर्णन शृङ्गार रसके विरोधी रस शान्त रसका अङ्ग है, शान्त रसका ही उद्दीयन विभाव है, अतः शृङ्गाररसमें उसका ग्रहण करना उचित नहीं ।

धवलयतीति । लोकके नेत्रोंको आनन्दित करनेवाले चन्द्रमाके लोकको सफेद करनेपर कुछ कटाक्ष करनेवाली, विकसित मुखवाली उस कोमलाङ्गीको देखो ।

इस पद्यमें शृङ्गाररसके उद्दीपनरूप—चन्द्र, कटाक्षमोक्ष, और मन्दहास्य,

'परिहरति रतिं, मतिं लुनीते, स्खलतितरां, परिवर्तते च भूयः।
इति बत विषमा दशाऽस्य देहं परिभवति प्रसभं किमत्र कुर्मः ॥'

अत्र रतिपरिहारादीनां करुणादावपि सम्भवात्कामिनीरूपो विभावः कृच्छ्रादाक्षेप्यः।

नायिकानिरीक्षणरूपाऽनुभावपर्यवसानशीलौ, स्थितौ, अतः कष्टकल्पना, नायिका-निरीक्षणरूपस्याऽनुभावस्येति शेषः।

यत्र कष्टेन विभावस्याक्षेपः कल्प्यते तत्कष्टाक्षिप्तविभावत्वम्। अयमपि नित्यो दोषः। कष्टाक्षिप्तविभावत्वमुदाहरति—**परिहरतीति**। नायकमित्रस्य नायिकाया अप्राप्तौ नायिकां प्रति नायकदशावर्णनमिदम्। रतिं = कस्मिंश्चिदपि स्पृहणीये पदार्थे स्पृहां, परिहरति = परित्यजति। मतिं = बुद्धिम्, अर्थनिश्चयमिति भावः। लुनीते = छिनत्ति, अर्थनिर्द्धारणसामर्थ्यरहितोऽयमिति भावः। स्खलतितरां = भृशं स्खलति, संभाषणमन्तरा वाक्स्खलनमाचरतीति भावः। भूयः = वारं वारं, परिवर्तते च = पार्श्वपरिवर्तनं करोति, शय्यायामिति शेषः। बतेति खेदे। इति = एवं, विषमा = दुष्प्रतीकारा, दशा = अवस्था, अस्य = वयस्यस्य, देहं = शरीरं, प्रसभं = हठात्, परिभवति = पीडयति, अत्र = अस्मिन्विषये, किं, कुर्मः = आचरामः। पुष्पिताग्रा वृत्तम्।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, रतिपरिहारादीनां = रतिपरित्यागादीनामादिपदेन मतिलवनादीनामपि परामर्शः। करुणादौ अपि = आदिपदेन व्याधेः शान्तरसस्याऽपि ग्रहणम्, तत्राऽपि, संभावनात्, कामिनीरूपः = प्रमदारूपः, विभावः = आलम्बनविभावः, कृच्छ्रात्=कष्टात्, आक्षेप्यः = आक्षेप्तुं योग्यः, कृच्छ्रं चाऽत्र प्रकरणादिप्रतिसन्धानमेव।

तथा आलम्बनरूपा—नायिका ये दो नायकसे किये गये नायिकाके दर्शनरूप अनुभावमें पर्यवसान हो कर रहते हैं अतः कष्टकल्पना है, यह रसदोष है।

परिहरतीति। किसी भी पदार्थमें रति (इच्छा) नहीं करता है, बुद्धिका छेद करता है, अर्थात् पदार्थका निश्चय नहीं करता है। वारं वार संचलित होता है, वारं वार करवट बदलता रहता है, खेद है। इसप्रकार विषय अवस्था इस (मित्र) के शरीरको हठात् पीडित करता है, इस विषयमें क्या करें।

इस पद्यमें रतिपरिहार आदि करुण आदि रसमें भी हो सकते हैं इसकारण से स्त्रीरूप विभावको कष्टसे कल्पना करना पड़ता है अतः यह रसदोष है।

अकाण्डे प्रथनं यथा—वेणीसंहारे द्वितीयेऽङ्के प्रवर्तमानानेकवीरसंक्षये काले दुर्योधनस्य भानुमत्या सह शृङ्गारप्रथनम्।

छेदो यथा-वीरचरिते राघवभार्गवयोर्धाराधिरूढेऽन्योन्यसंरम्भे 'कङ्कण-मोचनाय गच्छामी'ति राघवस्योक्तिः।

पुनः पुनर्दीप्तिर्यथा—कुमारसंभवे रतिविलापे।

अकाण्डे = अनवसरे, प्रथन = विस्तारणं, विरोधिरसस्य प्राधान्ये कस्यचिद्रसस्येति शेषः। अयं नित्यो दोषः।

अकाण्डे प्रथनमुदाहरति—**वेणीसंहार इति।** प्रवर्तमानेत्यादिः०=प्रवर्तमानः (विद्यमानः) अनेकवीराणां (प्रचुरशूराणाम्) संक्षयः (विनाशः) यस्मिंस्तस्मिन्। तादृशे काले। भानुमत्या = तन्नाम्न्या स्वपत्न्या। अत्राऽनवसरे वीरसंक्षयकाले शृङ्गारस्य प्रथनाद्दोषः।

अकाण्डे = अनवसरे, छेदः = भङ्गः, कस्यचिद्रसस्येति शेषः। अयमपि नित्यो दोषः। अकाण्डे छेदमुदाहरति—**वीरचरित इति।** वीरचरिते = महावीर-चरिते, राघवभार्गवयोः = रामपरशुरामयोः, अन्योन्यसंरम्भे = परस्परकोपे, धारा-ऽधिरूढे=उत्कर्षप्राप्ते, सति, कङ्कणमोचनाय=विवाहहस्तसूत्रमोचनाय, गच्छामीति राघवस्योक्तिः। एतादृश्योक्त्या नायकस्य रामस्य अधीरत्वं व्यज्यत इति भावः।

पुनः पुनः = भूयो भूयः, दीप्तिः = दीपनं, कस्यचिद्रसस्येति शेषः, अयमपि नित्यो दोषः। पुनः पुनर्दीप्तिमुदाहरति—**कुमारसंभवे रतिविलाप इति।** "अथ मोहपरायणा सती" (कु०सं०४-१) इत आरभ्य "क्व नु ते (४-२४) इत्यन्तं यावत् करुणरसे परिपुष्टेऽपि "इति चैनमुवाच" (कु. सं. ४-२७) इत्यादिना भूयोऽप्युद्दीपनम्। कण्ठपरिपूर्णभोज्यस्य जनस्य पुनर्भोज्यप्रदानेन यथा वैरस्यं भवति तथैवाऽत्राऽपीति भावः।

अकाण्ड (अनवसर, अर्थात् बेमोके) में प्रथन (फैलाव) जैसे बेणीसंहारमें द्वितीय अङ्कमें जब कि अनेक वीरोंका संहार हो रहा था वैसे समयमें दुर्योधनका अपनी पत्नी भानुमतीके साथ शृङ्गारका विस्तार। यह रसदोष है।

अकाण्ड (अनवसर) में विच्छेद जैसे—महावीरचरितमें जब कि रामचन्द्र और परशुराममें परस्पर कोप उत्कर्षको प्राप्त हो रहा था वैसे अवसरमें कङ्कण (विवाहका हस्तसूत्र) छोड़नेके लिए जाता हूँ ऐसा रामचन्द्रका कथन यह भी रसदोष है।

बार बार रसकी दीप्ति (उद्दीपन), जैसे—कुमारसंभवमें रतिविलापमें।

अङ्गिनोऽननुसंधानं यथा—रत्नावल्यां चतुर्थेऽङ्के बाभ्रव्यागमने सागरिकाया विस्मृतिः।

अनङ्गस्य कीर्तनं यथा—कर्पूरमञ्जर्यां राजनायिकयोः स्वयं कृतं वसन्तस्य वर्णनमनादृत्य बन्दिवर्णितस्य प्रशंसनम्।

अङ्गस्यातिविस्तृतिर्यथा—किराते सुराङ्गनाविलासादिः।

प्रकृतयो दिव्या अदिव्या दिव्यादिव्याश्चेति। तेषां धीरोदात्तादिता। तेषामप्युत्तमाधममध्यमत्वम्। तेषु च यो यथाभूतस्तस्यायथावर्णने प्रकृतिवि-

---

अङ्गिनः = प्रधानपात्रस्य, अननुसन्धानं = विस्मृतिः, अङ्गिनोऽनिर्देशेन प्रधानरसस्य अनुद्बोधनम् इति भावः। अयमपि नित्यो दोषः।

अङ्गिनोऽननुसन्धानमुदाहरति—**रत्नावल्यामिति**। बाभ्रव्यस्य = तदाख्यस्य कञ्चुकिनः, आगमने, सागरिकायाः=अङ्गिरूपाया नायिकायाः। अनङ्गस्य=प्रधानरसाऽनुपकारकस्य रसस्य, कीर्तनम् = उद्बोधनम्।

अयमपि नित्यो दोषः। अनङ्गस्य कीर्तनमुदाहरति—**कर्पूरमञ्जर्यामिति**। कर्पूरमञ्जर्यां = तन्नामके सट्टके, उपरूपकविशेषे। बन्दिवर्णितस्य = स्तुतिपाठककीर्तितस्य। प्रशंसनं=प्रशंसाकरणं तच्च प्रकृतरसाऽनुपयोगित्वादनुचितमिति भावः।

अङ्गस्येति। अङ्गस्य=अप्रधानस्य रसस्य, अतिविस्तृतिः=अतिशयबाहुल्यम्। अयमपि नित्यो दोषः। अङ्गस्याऽतिविस्तृतिमुदाहरति **किरात इति**। किराताऽर्जुनीये, नामैकदेशे नामग्रहणम्। सुराऽङ्गनाविलासादिः = सुराऽङ्गनानां—(देवाऽङ्गनानाम्, अर्जुनतपोभङ्गार्थमागतानामप्सरसामिति भावः) विलासादिः (जलक्रीडादिः), शृङ्गाररसस्य तस्य वर्णनविस्तृत्या वीररसस्य व्यवधानं भवत्यतो दोषत्वम्।

प्रकृतिविपर्ययदोषमुदाहर्तुं प्रक्रमते—**प्रकृतय इति**। प्रकृतयः= नायकादयः, त्रिविधाः, दिव्या अदिव्या दिव्याऽदिव्याश्च। तत्र दिवि (स्वर्गादौ) भवा

अङ्गी (प्रधान) का अनुसन्धान (उद्बोधन) न करना, जैसे—रत्नावलीमें बाभ्रव्य नामके कञ्चुकीके आगमनमें अङ्गीभूत सागरिकाको भूलना, यह भी रसदोष है।

जो अङ्ग नहीं है उसका कीर्तन, जैसे—कर्पूरमञ्जरी सट्टकमें राजा और नायिकाका अपने किये हुए वसन्तके वर्णनका आदर न कर बन्दी (स्तुतिपाठक) के वर्णनकी प्रशंसा करना।

अङ्ग (अप्रधान) का अत्यन्त विस्तार, जैसे—किरातार्जुनीयमें अप्सराओंका विलास आदि।

प्रकृतिके तीन भेद हैं— दिव्य, अदिव्य और दिव्याऽदिव्य।

उनके भी धीरोदात्त आदि भेद हैं। उनका भी उत्तमत्व, मध्यमत्व और

पर्ययो दोषः। यथा—धीरोदात्तस्य रामस्य धीरोद्धतवच्छद्मना वालिवधः। यथा वा—कुमारसंभवे उत्तमदेवतयोः पार्वतीपरमेश्वरयोः संभोगशृङ्गारवर्णनम्। 'इदं पित्रोः संभोगवर्णनमिवात्यन्तमनुचितम्' इत्याहुः।

अन्यदनौचित्यं देशकालादीनामन्यथा यद्वर्णनम्। तथा सति हि काव्यस्याऽसत्यताप्रतिभासेन विनेयानामुन्मुखीकाराऽसंभवः।

दिव्याः = देवाऽसुरययक्षगन्धर्वराक्षसादयः, अदिव्याः=तद्भिन्ना मनुष्या दुष्यन्तादयः। 'दिव्याऽदिव्याः = दिव्या अपि य आत्मनि नरत्वाऽभिमानिनो यथा श्रीरामचन्द्रादयः। तेषां = दिव्यादीनाम्। धीरोदात्तादिता, आदिपदेन धीरोद्धत-धीरललित-धीरप्रशान्ततानां परामर्शः। तेषामपि = धीरोदात्तादीनामपि। उत्तमाऽधममध्यमत्वं, प्रकृतिरित्यर्थः। "प्रकृतिर्गुणसाम्ये स्यादमात्यादिस्वभावयोः। योनौ लिङ्गे पौरवर्गे" इति मेदिनीकोषात्प्रकृतिपदेनाऽत्र स्वभावोऽपि गृह्यते। तेषु च=दिव्यादिषु च, यो यथाभूतः = यादृशः, तस्य अयथावर्णने = अयथार्थवर्णने, प्रकृतिविपर्ययो दोषः। प्रकृतेर्विपर्ययः = वैपरीत्यम्।

प्रकृतिविपर्ययमुदाहरति—**यथा धीरोदात्तस्येति**। छद्मना = छलेन, सुग्रीवेण सह युध्यमानस्य वालिनः प्रच्छन्नरूपेण वधः = व्यापादनम्। एतत्कर्म धीरोदात्तनायकस्याऽनुचितत्वात्प्रकृतिविपर्ययो नाम दोषः।

प्रकृतिविपर्ययस्योदाहरणान्तरं प्रदर्शयति—**कुमारसंभवे इति**। संभोगशृङ्गारवर्णनम्, अष्टमसर्गे इति शेषः। पित्रोः = मातापित्रोः। आहुः = काव्यप्रकाशकारा इति शेषः।

अन्यदनौचित्यं दर्शयति—**अन्यदिति**। देशकालादीनामिति। देशः= पर्वतवनराष्ट्रादिः, कालः=रात्रिदिनत्वादिरूपः, आदिशब्देन—नायिकायाश्चरणप्रहारादिः, नायकस्य कोपः, बालाया धाष्टर्यं, प्रौढाया वेश्यायाश्च लज्जाऽतिशयश्चेत्यादिविषयाणां यद्वर्णनं तदनौचित्यम्।

अनौचित्ये दोषं सूचयति—**तथा सति**। अन्यथावर्णनेनानौचित्ये सति, काव्यस्य = कविकृतेः, असत्यताप्रतिभासेन = अप्रामाण्यज्ञानेन, विनयानां =

अधमत्व। उनमें जिसकी जो प्रकृति है उसका यथार्थ वर्णन न होनेपर प्रकृतिविपर्यय नामका दोष होता है। जैसे—धीरोदात्त नायक रामका धीरोद्धत नायकके समान छलसे वालीको मारना। अथवा—कुमारसंभवमें उत्तम देवता पार्वती परमेश्वरके संभोगशृङ्गारका वर्णन। "यह माता और पिताके संभोगके वर्णनकी तरह अत्यन्त अनुचित है" ऐसा (मम्मट भट्ट आदि) कहते हैं। इनके अतिरिक्त अनौचित्य देश और काल आदिका अयथार्थ वर्णन, क्योंकि वैसा करनेसे काव्यकी असत्यताकी प्रतीति होनेसे शिक्षाके योग्य राजपुत्र आदिको अध्ययनमें प्रवृत्त करना असंभव हो जाता है।

एभ्यः पृथगलङ्कारदोषाणां नैव संभवः ॥ १५ ॥

एभ्य उक्तदोषेभ्यः। तथाहि—उपमायामसादृश्यासंभवयोरुपमानस्य जातिप्रमाणगतन्यूनत्वाधिकत्वयोरर्थान्तरन्यासे उत्प्रेक्षितार्थसमर्थने चानुचितार्थत्वम्। क्रमेण यथा—

'प्रथ्नामि काव्यशशिनं विततार्थरश्मिम्।'

शिक्षणीयानां, राजपुत्रादीनामिति भावः, उन्मुखीकारे (काव्याऽध्यापनप्रवृत्तौ), असंभवः, रसप्रतीत्यभावेनेति शेषः। तदुक्तं ध्वनिकृता—

"अनौचित्यादृते नाऽन्यद्रसभङ्गस्य कारणम्।
औचित्योपनिबन्धस्तु रसस्योपनिषत्परा ॥" इति।

भोजादिस्वीकृताऽलङ्कारदोषान्स्वसम्मतदोषेष्वन्तर्भावयितुमुपक्रमते — **एभ्य इति**। एभ्यः = उक्तदोषेभ्यः। पृथक् = भिन्नानाम्, अलङ्कारदोषाणां, संभवः = अस्तित्वं, नैव, पूर्वोक्तदोषपञ्चकेऽन्तर्भावादिति भावः।

अन्तर्भावं दर्शयति—**तथाहीति**। उपमायाम् = उपमाऽलङ्कारे, असादृश्याऽसंभवयोः = असादृश्ये (सामान्यधर्माऽभावात् सादृश्यराहित्ये) असंभवे (तादृशोपमानाऽप्रसिद्ध्येति शेषः), एवं च उपमानस्य जातिगतन्यूनत्वे जातिगताऽधिकत्वे च, एवं च प्रमाणगतन्यूनत्वे प्रमाणगताऽधिकत्वे च सति अनुचिताऽर्थत्वम्। प्रमाणं = परिमाणम्। एवं च अर्थान्तरन्यासेऽलङ्कारे उत्प्रेक्षिताऽर्थस्य समर्थने चाऽनुचिताऽर्थत्वम्।

तत्रोपमायामसादृश्येऽनुचितार्थमुदाहरति—**प्रथ्नामीति**। कस्य चित्कवेरुक्तिरियम्। विततार्थरश्मिं = वितताः (विस्तृताः) अर्थाः (पदार्थाः) रश्मयः (किरणाः) इव यस्य, तम्। तादृशं काव्यशशिनं = काव्यं शशीव, तम्, "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इति उपमितसमासः। प्रथ्नामि = गुम्फामि। वसन्ततिलका वृत्तम्। दोषमुपपादयति—अत्राऽर्थरश्म्योः काव्यशशिनोश्च साधारणधर्माऽभावात्सादृश्यराहित्येन उपमायामनुचिताऽर्थत्वम्।

एभ्य इति। पूर्वं कथित इन दोषोंसे भिन्न अलङ्कार दोष नहीं है अर्थात् इन्हीं दोषोंमें अलङ्कार दोषका अन्तर्भाव होता है।

तथा हीति। उपमामें असादृश्य और असंभव होनेसे उपमानमें जाति वा प्रमाणकी न्यूनता वा अधिकता होनेसे और अर्थान्तर न्यासमें उत्प्रेक्षित अर्थका समर्थन होनेसे अनुचितार्थत्व दोष होता है।

क्रमेणेति। क्रमसे—जैसे उपमामें असादृश्यसे अनुचिताऽर्थत्व दिखलाते हैं—

प्रथ्नामीति। विस्तृत किरणके समान अर्थवाले काव्यचन्द्रका गुम्फन करता हूँ। यहाँपर काव्य और चन्द्रका सादृश्य प्रसिद्ध न होनेसे अनुचिताऽर्थत्व दोष है।

'प्रज्वलज्जलधारावन्निपतन्ति शरास्तव।'
'चण्डाल इव राजाऽसौ संग्रामेऽधिकसाहसः।'
'कर्पूरखण्ड इव राजति चन्द्रबिम्बम्।'
'हरवन्नीलकण्ठोऽयं विराजति शिखावलः।'

उपमायां तादृशोपमानाऽसम्भवेऽनुचितार्थत्वमुदाहरति—**प्रज्वलदिति।** कश्चित्कविः कस्यचिद्वीरस्य शरनिपातं वर्णयति। हे वीर!, तव = भवतः, शराः = बाणाः, प्रज्वलज्जलधारावत्=प्रज्वलन्ती (देदीप्यमाना) या जलधारा (सलिलधारा), तद्वत्, निपतन्ति = निपतनं कुर्वन्ति।

दोषमुपपादयति—अत्र जलधाराणां प्रज्वलनमसम्भवि, अतः उपमानाऽसम्भवेनाऽनुचितार्थत्वम्।

उपमायामुपमानस्य जातिन्यूनत्वेऽनुचितार्थत्वमुदाहरति—**चण्डाल इति।** संग्रामे = युद्धे, अधिकसाहसः = प्रचुरदुष्करकर्मा, असौ, राजा = भूपतिः, चण्डालः= मातङ्गः, इव, अस्तीति शेषः।

दोषमुपपादयति—अत्रोपमेयभूतस्य सत्कुलप्रसूतस्य राज्ञः उपमानभूतस्य चण्डालस्य जातिगतन्यूनत्वेनाऽतिनीचत्वं व्यञ्जयतीत्यनुचितार्थत्वम्।

उपमायानुपमानस्य प्रमाणगतन्यूनत्वेऽनुचितार्थत्वमुदाहरति—**कर्पूरखण्ड इति।** चन्द्रबिम्बं = हिमांऽऽशुमण्डलम् (उपमेयम्), कर्पूरखण्डः=घनसारशकलम्, इव राजति = दीप्यते।

दोषमुपपादयति—अत्रोपमेयभूतचन्द्रबिम्बाऽपेक्षयोपमानभूतस्य कर्पूरखण्डस्य प्रमाणगतन्यूनत्वेन चन्द्रबिम्बस्याऽतिक्षुद्रत्वं व्यज्यत इत्यनुचितार्थत्वम्।

उपमायामुपमानस्य जात्यधिकत्वेऽनुचितार्थत्वमुदाहरति—**हरवदिति।** नीलकण्ठः = नीलः (कृष्णः) कण्ठः (गलः) यस्य सः, तादृशः अयं = सन्निकृष्टस्थः, शिखावलः मयूरः, हरवत् = शिववत्, विराजते = शोभते।

उपमामें असंभव होनेपर अनुचितार्थत्व दिखलाते हैं—"हे राजन्! जलती हुई जलधाराकी तरह आपके बाण गिरते हैं।

यहाँ जलती हुई जलधारारूप उपमानके असम्भव होनेसे अनुचिताऽर्थत्व दोष है।

उपमानकी जातिगतन्यूनतामे अनुचिताऽर्थत्व—चण्डाल इव०। संग्राममें अधिक साहसवाला यह राजा चण्डालके समान है। यहां उपमेय सत्कुलज राजाके उपमान चाण्डालमें जातिगतन्यूनता है। उपमानकी प्रमाणगतन्यूनतामें अनुचिताऽर्थत्व जैसे—चन्द्रमण्डल कपूरके टुकड़ेके समान शोभित हो रहा है।

यहाँ उपमेय चन्द्रमण्डलसे उपमान कर्पूरखण्डकी प्रमाणगतन्यूनता है, अतः अनुचिताऽर्थत्व दोष है।

उपमानकी जातिगत अधिकतामें अनुचिताऽर्थत्व जैसे—**हरवदिति।** नील-

'स्तनावद्रिसमानौ ते।'

'दिवाकराद्रक्षति यो गुहासु लीनं दिवाभीतमिवान्धकारम्।
क्षुद्रेऽपि नूनं शरणं प्रपन्ने ममत्वमुच्चैःशिरसां सतीव॥'

दोषमुपपादयति—अत्रोपमेयभूतपक्षिजातिशिखावलाऽपेक्षया उपमानभूतदेवजातिस्थहरस्य जात्याऽधिकत्वेन सादृश्यस्याऽनुचितत्वादनुचिताऽर्थत्वम्।

उपमायामुपमानस्य प्रमाणाऽधिकत्वेऽनुचितार्थत्वमुदाहरति—**स्तनाविति।** हे सुन्दरि!, ते=तव, स्तनौ=कुचौ, अद्रिसमानौ=पर्वतसदृशौ, उन्नतौ स्त इति शेषः।

दोषमुपपादयति—अत्रोपमेयभूतस्तनाऽपेक्षयोपमानभूताऽद्रेः प्रमाणाऽधिक्यादनुचिताऽर्थत्वम्।

अर्थान्तरन्यास उत्प्रेक्षिताऽर्थसमर्थनेऽनुचिताऽर्थत्वमुदाहरति—**दिवाकरादिति।** कुमारसंभवे हिमालयवर्णनपरं पद्यमेतत्। यः=हिमालयः, दिवा=दिवसात्, भीतम् इव = त्रस्तम् इव सन्तम्। दिवाभीतम् इव =उलूकम् इवेति ध्वनिः। "दिवाऽन्धः कौशिको घूको दिवाभीतो निशाटनः।" इति कोशः। अत एव—गुहासु=दरीषु, लीनं = तिरोहितरूपेण स्थितम्, अन्धकारं=ध्वान्तं, दिवाकरात्=सूर्यात्, दिवा करोतीति दिवाकरस्तस्मात्, "दिवाविभे"त्यादिना टप्रत्ययः। "भीत्रार्थानां भयहेतुः" इत्यपादानत्वात्पञ्चमी। रक्षति=त्रायते। ननु क्षुद्ररक्षणमयोग्यमित्याशङ्क्याह—**क्षुद्रेऽपीति।** उच्चैःशिरसाम्=उच्चैःशिखराणां हिमालयसदृशानामिति ध्वनिः उन्नतानाम्। शरणं प्रपन्ने=शरणागते, क्षुद्रेऽपि = नीचेऽपि, सति इव=सज्जन इव, "सत्ये साधौ विद्यमाने प्रशस्तेऽभ्यर्हिते च सत्।" इत्यमरः। ममत्वं=ममाऽयमित्यभिमानः, भवतीति शेषः। नूनं = निश्चयेन। अर्थान्तरन्यासः। उपजातिर्वृत्तम्॥

कण्ठवाला यह मयूर शिवजीके समान शोभित हो रहा है। यहां उपमेय पक्षिभूत मयूरसे उपमान शिवजीकी जातिगत अधिकता होनेसे अनुचिताऽर्थत्व है।

उपमानकी प्रमाणगत अधिकतामें अनुचितार्थत्व जैसे—**स्तनाविति।** हे सुन्दरि! तुम्हारे पयोधर पर्वतोंके समान है।

यहाँ उपमेयभूत स्तनोंसे उपमान पर्वतकी प्रमाणगत अधिकता होनेसे अनुचिताऽर्थत्व है।

अर्थान्तरन्यासमें उत्प्रेक्षित अर्थके समर्थनमें अनुचिताऽर्थत्व जैसे—**दिवाकरादिति।** जो (हिमालय) दिनसे डरे हुएके समान (उल्लूके समान) अत एव गुफाओंमें छिपे हुए अन्धकारकी रक्षा करता है। क्योंकि ऊंचे शिरवालों (उन्नतों)-को शरणमें आये हुए नीच व्यक्तिमें भी सज्जनमें जैसी ममता (यह मेरा ऐसा अभिमान) होती है।

एवमादिषूत्प्रेक्षितार्थस्यासंभूततयेव प्रतिभासनं स्वरूपमित्यनुचितमेव तत्समर्थनम्।

यमकस्य पादत्रयगतस्याप्रयुक्तत्वं दोषः। यथा—

'सह सालिजनैः स्निग्धैः सहसा कुञ्जमन्दिरम्।
उदिते रजनीनाथे सहसा याति सुन्दरी॥'

उत्प्रेक्षायां यथाशब्दस्योत्प्रेक्षाद्योतकत्वेऽवाचकत्वम्।

यथा—

'एष मूर्तो यथा धर्मः क्षितिपो रक्षति क्षितिम्।'

दोषमुपपादयति—**एवमादिष्विति**। एवमादिषु = एतादृशस्थलेषु, उत्प्रेक्षितार्थस्य = अचेतनाऽन्धकारत्रासस्य, असंभूततया एव = मिथ्यात्वेन एव, प्रतिभासनं = प्रकाशनं, संभावनाविषयत्वादिति भावः। स्वरूपं = स्वभावः। इति = अतः, तत्समर्थनम् = तस्य (उत्प्रेक्षितार्थस्य) समर्थनम् (सत्यत्वेन प्रतिपादनम्) अनुचितमेव।

यमकस्येति। पादत्रयगतस्य यमकस्याऽप्रयुक्तत्वं दोषः। तदुदाहरति—**सहसेति**। सा सुन्दरी = रामा, रजनीनाथे = निशापतौ, चन्द्रमसीत्यर्थः। **उदिते** = अभ्युद्गते सति, स्निग्धैः = स्नेहयुक्तैः, आलिजनैः सह = सखीजनैः समं, सहसा = हास्ययुक्ता सती, हसनं हसः, हसेन सहिता, तुल्ययोगबहुव्रीहिः। सहसा = अतर्कितरूपेण, कुञ्जमन्दिरं = लतादिपिहितसदनं, याति = प्राप्नोति।

दोषमुपपादयति—अत्र यमकस्य पादत्रयमात्रगतत्वेन, समस्तचरणगतत्वाऽभावेनेति भावः, अप्रयुक्तत्वं नाम दोषः।

उत्प्रेक्षायामवाचकत्वं प्रतिपादयति—**उत्प्रेक्षायामिति**। उत्प्रेक्षायाम् = उत्प्रेक्षालङ्कारे,

यथाशब्दस्य उत्प्रेक्षाद्योतकत्वेऽवाचकत्वमुदाहरति—**एष मूर्त इति**। एषः =

ऐसे स्थलोंमें उत्प्रेक्षित (संभावित) अर्थका मिथ्यात्वसे प्रकाशन स्वरूप होनेसे उसका समर्थन अनुचित ही है।

यमकस्येति। यमकके तीन चरणोंमे मात्र होनेसे अप्रयुक्त दोष होता है। जैसे—**सहसेति**। वह सुन्दरी चन्द्रमाके उदित होनेपर स्नेहयुक्त सखियोंके साथ हँसती हुई कुञ्जमन्दिरमे सहसा चली जाती है। यहाँ "सहसा" यह पद प्रथम, द्वितीय और चतुर्थ चरणमें है, इसप्रकार तीन चरणोंमे मात्र रहनेसे "अप्रयुक्त" दोष है।

उत्प्रेक्षायामिति। उत्प्रेक्षामें "यथा" शब्दसे उत्प्रेक्षाका द्योतन होनेसे अवाचकत्व दोष होता है।

जैसे **एष-इति**। ये राजा मानों मूर्तिमान् धर्म होकर पृथ्वीकी रक्षा करते

एवमनुप्रासे वृत्तिविरुद्धस्य प्रतिकूलवर्णत्वम् ।

यथा—

'ओवट्टइ उल्लट्टइ—' इत्यादौ ।

उपमायां च साधारणधर्मस्याधिकन्यूनत्वयोरधिकपदत्वं न्यूनपदत्वं च ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'नयनज्योतिषा भाति शंभुर्भूतिसितद्युतिः ।
विद्युतेव शरन्मेघो नीलवारिदखण्डधृक् ॥'

समीपतरवर्ती, क्षितिपः = राजा, मूर्तः = मूर्तिमान्, धर्मः = सुकृतं, यथा = इव, क्षितिं = पृथिवीं, रक्षति = पालयति ।

दोषमुपपादयति—"व वा यथा तथैवैवं साम्ये" इति कोशाद्यथाशब्दस्य साम्यद्योतकत्वेऽपि इवादिशब्दवन्नोत्प्रेक्षाया वाचकत्वमिति भावः ।

अनुप्रासे वृत्तिविरुद्धस्य प्रतिकूलवर्णत्वम् । अनुप्रासे = अनुप्रासाऽलङ्कारे, वृत्तिः = नियतवर्णगतो रसविषयो व्यापारः । वृत्तिविरुद्धस्य = प्रकृतरसविरोधिरसाऽनुगुणवर्णस्य, प्रतिकूलवर्णत्वम् । अनुप्रासे प्रतिकूलवर्णत्वमुदाहरति—"ओवट्टइ उल्लट्टइ—इत्यादौ (१७ पृष्ठे) ।

दोषमुपपादयति—अत्र टकारसमूहः प्रकृतश्रृङ्गारविरोधिवीररसाऽनुगुणः, अतो दोषत्वम् ।

उपमायां साधारणधर्मस्याऽधिकत्वे—अधिकपदत्वं, न्यूनत्वे न्यूनपदत्वम् । तत्रोपमायां साधारणधर्मस्याधिकत्वेऽधिकपदत्वमुदाहरति—**नयनेति** । कश्चिच्छैवो भगवन्तं शम्भुं वर्णयति—भूतिसितद्युतिः = भूत्या (भस्मना) सिता (शुक्ला) द्युतिः (कान्तिः) यस्य सः । तादृशः शम्भुः=शिवः, नयनेज्योतिषा=तृतीयनेत्रतेजसा, नीलवारिदखण्डधृक् = कृष्णमेघशकलधारी, शरन्मेघः =शरदम्बुदः, विद्युता इव = तडिता इव, भाति = शोभते, उपमाऽलङ्कारः, अनुष्टुब्वृत्तम् ।

हैं । यहाँ "यथा" शब्द "इव" के समान उत्प्रेक्षाका वाचक नहीं होता है, अतः अवाचकत्व दोष है ।

एवमिति । इसीप्रकार अनुप्रासमें प्रकृत रस विरुद्ध वर्णोंके होनेपर प्रतिकूलवर्णत्व दोष होता है । जैसे—"ओवट्टइ" इति । यहां टकारसमूह प्रकृतरस श्रृङ्गारके विरोधी वीररसका अनुकूल है, अतः प्रतिकूलवर्णत्व है ।

उपमायां चेति । उपमामें साधारणधर्मके अधिकत्वमें "अधिकपदत्व", और न्यूनत्वमें "न्यूनपदत्व" दोष होता है । क्रमसे उदाहरण देते हैं—**"नयनज्योतिषे"ति** । भस्मसे श्वेत कान्तिवाले शिवजी तृतीयनेत्रके तेजसे, नीले मेघके टुकड़ेवाला मेघ जैसे बिजलीसे शोभित होता है उसी तरह शोभित हो रहे हैं ।

अत्र भगवतो नीलकण्ठत्वस्याऽप्रतिपादनाच्चतुर्थपादोऽधिकः ।

'कमलालिङ्गितस्तारहारहारी मुरं द्विषन् ।
विद्युद्विभूषितो नीलजीमूत इव राजते ॥'

अत्रोपमानस्य सबलाकत्वं वाच्यम् ।

अस्यामेवोपमानोपमेययोर्लिङ्गवचनभेदस्य कालपुरुषविध्यादिभेदस्य च भग्नप्रक्रमत्वम् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्पद्ये, भगवतः = शम्भोः, नीलकण्ठत्वस्य, अप्रतिपादनात् = अप्रयोगात्, चतुर्थपादः = तुर्यचरणः "नीलवारिदखण्डधृक्" इत्याकारकः, अधिकः = अतिरिक्तः, अत उपमायामधिकपदत्वं दोषः ।

उपमायां साधारणधर्मस्य न्यूनत्वे न्यूनपदत्वमुदाहरति—**कमलेति** । कमलाऽऽलिङ्गितः = कमलया (लक्ष्म्या) आलिङ्गितः (आश्लिष्टः), तथा तारहारहारी = तारहारेण (दीर्घमुक्तामालया) हारी (मनोहरः), मुरं द्विषन् = मुराऽरिः, भगवान् श्रीकृष्णः, अत्र "मुरम्" इत्यत्र "द्विषः शतुर्वा" इति षष्ठ्या वैकल्पिकत्वेन द्वितीया । विद्युद्विभूषितः = विद्युता (तडिता) विभूषितः (समलङ्कृतः), नीलजीमूत इव = नीलमेघ इव, राजते = शोभते । उपमाऽलङ्कारः, अनुष्टुब्वृत्तम् ।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्पद्ये, उपमानस्य=नीलजीमूतस्य, सबलाकत्वं = बलाकासहितत्वं, वाच्यं = वक्तव्यम्, उपमेयस्य भगवतः श्रीकृष्णस्य तारहारत्वस्य वचनादिति भावः ।

उपमायां भग्नप्रक्रमत्वं दर्शयितुमुपक्रमते—**अस्यामिति** । अस्याम् एव = उपमायाम् एव, उपमानोपमेययोः लिङ्गभेदस्य, वचनभेदस्य, कालभेदस्य पुरुषभेदस्य विध्यादिभेदस्य च सत्तायामिति शेषः भग्नक्रमत्वम् ।

इस पद्यमें भगवान् शिवजीके नीलकण्ठत्वका वर्णन न होनेसे "नीलवारिदखण्डधृक्" यह चौथा चरण अधिक है ।

उपमामें साधारणधर्मका न्यूनत्व जैसे—**कमलेति** । लक्ष्मीसे आलिङ्गित, लम्बी मुक्तामालासे मनोहर, मुराऽरि (भगवान् श्रीकृष्ण), बिजलीसे समलङ्कृत नीले मेघके समान शोभित हो रहे हैं । यहां उपमान (नीले मेघ) में बलाकायुक्तत्व कहना चाहिए सो न होनेसे, न्यूनत्व दोष है ।

अस्यामेवेति । इसी उपमामें उपमान और उपमेयमें लिङ्ग, वचन, काल, पुरुष और विध्यादिमें भेद होनेसे भग्नप्रक्रमत्व दोष होता है । क्रमसे उदाहरण—

'सुधेव विमलश्चन्द्रः।'

'ज्योत्स्ना इव सिता कीर्तिः'

'काप्यभिख्या तयोरासीद् व्रजतोः शुद्धवेषयोः।
हिमनिर्मुक्तयोर्योगे चित्राचन्द्रमसोरिव ॥'

अत्र तथाभूतचित्राचन्द्रमसोः शोभा न खल्वासीत्। अपि तु सर्वदापि भवति।

उपमायामुपमानोपमेययोर्लिङ्गभेदे भग्नप्रक्रममुदाहरति—**सुधेति**। सुधा = अमृतम्, इव, चन्द्रः = इन्दुः, विमलः = निर्मलः, अस्तीति शेषः।

दोषमुपपादयति—अत्र "सुधे"त्युपमानपदं स्त्रीलिङ्गे, परं "चन्द्र" इति उपमेयपदं पुंलिङ्गे प्रयुक्तमत उपमानोपमेययोर्लिङ्गभेदाद्भग्नप्रक्रमत्वम्।

उपमायामुपमानोपमेययोर्वचनभेदे भग्नप्रक्रमत्वमुदाहरति—**ज्योत्स्ना इति**। ज्योत्स्नाः = चन्द्रिकाः, इव, कीर्तिः = समज्ञा, सिता = शुभ्रा।

दोषमुपपादयति—अत्र "ज्योत्स्ना" इति उपमानपदं बहुवचने उपक्रम्य "कीर्ति" रित्युपमेयपदमेकवचने प्रयुक्तमत उपमानोपमेययोर्वचनभेदाद् भग्नप्रक्रमत्वम्।

उपमायामुपमानोपमेययोः कालभेदे भग्नप्रक्रमत्वमुदाहरति—**काऽपीति**। रघुवंशस्य प्रथमसर्गस्थं पद्यमिदम्। वशिष्ठाश्रमं गच्छतोः सुदक्षिणादिलीपयोर्वर्णनम्। व्रजतोः = गच्छतोः, वशिष्ठाश्रममिति शेषः। शुद्धवेशयोः = निर्मलनेपथ्ययोः, तयोः= सुदक्षिणादिलीपयोः, यागे = गमनसमये, हिमनिर्मुक्तयोः = तुहिनपरित्यक्तयोः, चित्राचन्द्रमसोः = चित्रानक्षत्रचन्द्रयोः, योगे इव, काऽपि= अनिर्वचनीया, अभिख्या = शोभा, "अभिख्या नामशोभयोः" इत्यमरः। आसीत् = अभवत्। उपमाऽलङ्कारः, अनुष्टुब्वृत्तम्।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, तथाभूतचित्रा-

---

उपमान और उपमेयमें लिङ्गभेदसे भग्नप्रक्रम, जैसे—**सुधवेति**। चन्द्रमा सुधा (अमृत) के समान निर्मल है।

यहां उपमान सुधामें स्त्रीलिङ्ग है और उपमेय चन्द्रमें पुंलिङ्ग है अतः उपमान और उपमेयमे लिङ्गभेदसे भग्नप्रक्रमत्व है। उपमान और उपमेयमें वचन भेदसे भग्नप्रक्रमत्व, जैसे—**ज्योत्स्ना इवेति**। ज्योत्स्ना (चांदनियों) की तरह कीर्ति सफेद है। उपमान ज्योत्स्नामें बहुवचन और उपमेय कीर्तिमें एकवचन होनेसे भग्नप्रक्रमत्व है।

उपमान और उपमेयमें कालभेदसे भग्नप्रक्रमत्व, जैसे **काऽपीति**। वशिष्ठ ऋषिके आश्रमको जाते हुए शुद्ध वेषवाले सुदक्षिणा और दिलीपकी हिम (कुहरे)-से छूटे हुए चित्रा नक्षत्र और चन्द्रमाकी समान अनिर्वचनीय शोभा थी। यहां हिम-निर्मुक्त चित्रा और चन्द्रमाकी शोभा थी यह बात नहीं है, वह तो सर्वदा ही

'लतेव राजसे तन्वि !'

अत्र लता राजते, त्वं तु राजसे।

'चिरं जीवतु ते सूनुर्मार्कण्डेयमुनिर्यथा।'

अत्र मार्कण्डेयमुनिर्जीवत्येव, न खल्वेतदस्य 'जीवतु' इत्यनेन विधेयम्।
इह तु यत्र लिङ्गवचनभेदेऽपि न साधारणधर्मस्यान्यथाभावस्तत्र न दोषः।

चन्द्रमसोः = हिमनिर्मुक्तचित्राचन्द्रमसोः, शोभा = कान्तिः, न खलु आसीत् = न खलु अभवत्, अपितु सर्वदाऽपि = सदाऽपि, भवति, प्रतिवर्षं भवतीति भावः। अतीतकालस्य बाधादत्र भग्नप्रक्रमत्वम्।

उपमायामुपमानोपमेययोः पुरुषभेदे भग्नप्रक्रमत्वमुदाहरति—**लतेवेति**। हे तन्वि = हे कृशाङ्गि, त्वं, लता इव = वल्ली इव, राजसे = शोभसे।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, "लता राजते त्वं तु राजसे" इति उपमानभूतलतापदे प्रथमपुरुषः; उपमेयभूतयुष्मत्पदे मध्यमपुरुषः प्रयोक्तव्यः, अतः प्रक्रमभङ्गाद् भग्नप्रक्रमत्वम्।

उपमायामुपमानोपमेययोर्विधिभेदे भग्नप्रक्रमत्वमुदाहरति—**चिरमिति**। कस्य चिज्जनस्य कंचित्प्रत्याशीर्वचनमिदम्। हे भद्र !, ते = तव, सूनुः, मार्कण्डेयमुनिः = मार्कण्डेयर्षिः, यथा = इव, चिरं = बहुकालपर्यन्तं, जीवतु=प्राणान्धारयतु।

दोषमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, मार्कण्डेयमुनिर्जीवत्येव एतत् = चिरजीवनम्, अस्य = मार्कण्डेयस्य, "जीवतु" इत्यनेन, न खलु विधेयम्। अतो विधिभेदा भग्नप्रक्रमत्वम्।

उपमानिष्ठदोषप्रकरणे प्रतिप्रसवं प्रतिपादयति—**इह त्विति**। इह = अत्र, उपमानिष्ठदोषेषु, यत्र=यस्मिन् स्थले, लिङ्गवचनभेदेऽपि = उपमानोपमेयबोधकपदयोरिति शेषः। साधारणधर्मस्य = उपमानोपमेयनिष्ठसामान्यधर्मस्य, न अन्यथा-

---

होती ही रही है, अतः उपमान और उपमेयमें कालभेद हुआ। उपमान और उपमेयमें पुरुषभेदसे भग्नप्रक्रमत्व जैसे—**लतेवेति**। हे कृशाङ्गि ! तुम लताकी तरह शोभित होती हो। यहां लता राजते (शोभित होती है) और तुम राजसे (शोभित होती हो) उपमान लतामें प्रथम पुरुष, उपमेय "त्वम्" में मध्यम पुरुष है, अतः पुरुषभेद होनेसे भग्नप्रक्रमत्व हुआ है।

उपमान और उपमेयमें विधिभेदसे भग्नप्रक्रमत्व, जैसे—**चिरमिति**। हे महाशय ! तुम्हारा पुत्र मार्कण्डेय मुनिके समान बहुत समयतक जीये। यहां मार्कण्डेयमुनि जीये ही रहते हैं उनका जीवतु (जीये) यह विधेय नहीं करना चाहिए। अतः यहां विधिभेद होनेसे भग्नप्रक्रम हुआ। जहांपर लिङ्ग और वचनका भेद होनेपर भी साधारणधर्मका अन्यथाभाव अर्थात् उपमान और उपमेयके अन्वयमें कोई असंगति न हो तो उसमें दोष नहीं।

क्रमेणोदाहरणम्—

'मुखं चन्द्र इवाभाति।'

'तद्वेषोऽसदृशोऽन्याभिः स्त्रीभिर्मधुरताभृतः।
दधते स्म परां शोभां तदीया विभ्रमा इव॥'

भावः = न उपमानोपमेयाऽन्वयाऽनुपपत्तिः, तत्र = तस्मिन् स्थले, न दोषः = नो दूषणम्।

उपमानोपमेययोर्लिङ्गभेदे भग्नप्रक्रमदोषाभावमुदाहरति—**मुखमिति**। मुखं = वदनं, सुन्दर्या इति शेषः। चन्द्र इव = इन्दुरिव, भाति = शोभते। अत्र "मुखं चन्द्र इवाभाति" इत्यादाविव, उपमेयभूतं मुखं नपुंसकलिङ्गम्, उपमानभूतश्चन्द्रः पुंलिङ्गी, तथाऽपि भानरूपसाधारणधर्मस्य उपमानोपमेययोरन्यथाभावाऽभावान्न दोषः।

उपमानोपमेययोर्वचनभेदेऽपि भग्नप्रक्रमताया अभावं दर्शयति—**तद्वेश इति**। कस्याश्चिन्नायिकाया वेशं विभ्रमांश्च काचित्सखी वर्णयति। मधुरताभृतः = मधुरतया (मनोहरतया) भृत (पूर्णः), "डुभृञ्" धातोः क्तः प्रत्ययः। मधुरतां बिभ्रति इति, क्विप् प्रत्ययः, बहुवचनम्। अन्याभिः=अपराभिः, स्त्रीभिः=नारीभिः, असदृशः (असमानः, असमानाश्च), तद्वेषः = तस्याः (नायिकायाः) वेषः (नेपथ्यम्), तदीयाः = तन्नायिकासम्बन्धिनः, विभ्रमा इव = विलासा इव। पराम् = उत्कृष्टां, शोभां = कान्ति, दधते स्म = धारयति स्म, अत्र "भृञ्" धातोः, क्तप्रत्यये कृते "भृतः" इत्येकवचनम्, तस्मादेव क्विप् प्रत्यये कृते बहुवचनम्। एवं "दध धारणे" इति धातोर्लिटिः प्रथमपुरुषैकवचनम्। विभ्रमपक्षे—दधते स्म = धारयन्ति स्म, "डुधाञ् धारणपोषणयो"रिति धातोर्लटि प्रथमपुरुषबहुवचनम्।

अत्र वचनभेदेऽपि शोभाधारणरूपस्य साधारणधर्मस्याऽन्यथाभावाऽभावान्न दोष इति भावः।

क्रमसे उदाहरण—मुख चन्द्रमाके समान आभाति अर्थात् शोभित होता है। यहां उपमान चन्द्र और उपमेय मुखमें लिङ्गभेद होनेपर भी "आभाति" इस क्रियापदके भानरूप साधारणधर्ममें दोनोंका अन्वय करनेमें अनुपपत्ति न होनेसे भग्नप्रक्रम दोष नहीं है।

उपमान और उपमेयमें वचनभेदमें दोषाऽभाव जैसे—**तद्वेश इति**। मधुरतासे पूर्ण और अन्य स्त्रियोंसे असमान उस सुन्दरीका वेष उसके मधुरता धारण करने वाले विलासोंके समान उत्कृष्ट शोभाको धारण करते थे।

पूर्वोदाहरणेषु उपमानोपमेययोरेकस्यैव साधारणधर्मेणान्वयसिद्धेः प्रक्रान्तस्यार्थस्य स्फुटोऽनिर्वाहः।

एवमनुप्रासे वैफल्यस्यापुष्टार्थत्वम्।

यथा—'अनणुरणन्मणिमेखलमविरलशिञ्जानमञ्जुमञ्जीरम्।
परिसरणमरुणचरणे! रणरणकमकारणं कुरुते॥'

पूर्वोदाहरणेषु दोषसत्तां पुनर्द्रढयति— **पूर्वोदाहरणेष्विति।** पूर्वोदाहरणेषु "**सुधेव** विमलश्चन्द्र" इत्यादिषु, एकस्यैव = एकतरस्यैव। साधारणधर्मेण = सामान्यधर्मबोधकपदेन, अन्वयसिद्धेः, प्रक्रान्तस्य = प्रारब्धस्य = अर्थस्य सुधादिपदार्थस्य, स्फुटः = व्यक्तः, अनिर्वाहः = अनिर्वहणम्। उपमानेनाऽन्वयस्याऽनुपपत्तिः विमलादिपदानां पुलिङ्गादिमत्त्वेन केवलचन्द्रादिविशेषणत्वेनैवाऽन्वयात् सुधादिपदैरन्वयाभावात्स्फुटोऽनिर्वाहः अतो भग्नप्रक्रमदोषत्वमिति भावः।

अत्रोभयाऽन्वयाऽभिप्रायेण प्रयुक्तस्यैकतराऽन्वयाऽसंभवादभवन्मतसम्बन्धत्वमित्यपरे।

अनुप्रासेऽपुष्टाऽर्थत्वं प्रतिपादयितुमुपक्रमत—**एवमिति।** एवम्, अनुप्रासे = शब्दाऽलङ्कारविशेषे, वैफल्यस्य = निष्फलत्वस्य, सतः, अपुष्टाऽर्थत्वम्।

अनुप्रासेऽपुष्टाऽर्थत्वमुदाहरति— **अनण्विति।** पर्यटन्तीं कांचित्प्रमदां विलोक्य कस्य चिदुक्तिरियम्। हे अरुणचरणे = अरुणौ (रक्तवर्णौ, स्वभावाल्लाक्षारसरागेण वा) चरणौ (पादौ) यस्याः सा तत्सम्बुद्धौ। अनणु (अनल्पं दीर्घं यथा स्यात्तथा) रणन्ती (शब्दायमाना) मणिमेखला (रत्नखचितकाञ्ची) यस्मिंस्तत्। अविरलेत्यादिः = अविरलं (निरन्तरम्) शिञ्जानौ (अव्यक्तध्वनि

यहां "मधुरताभृतः" यहाँपर "भृञ्" धातुसे क्तप्रत्यय करनेपर "भृतः" एकवचन होता है उसी धातुसे क्विप् प्रत्यय करनेपर बहुवचन भी होता है। उसी तरह "दधते" यहांपर "दध धारणे" धातुसे एकवचन और 'डुधाञ धारणपोषणयोः' इस धातुसे बहुवचन भी होता है।

यहांपर वचनभेद होनेपर भी शोभाधारणरूप साधारणधर्मका अन्यथाभाव न होनेसे भग्नप्रक्रमत्व दोष नहीं है।

पहलेके "सुधेव" से आरम्भ कर "चिरं जीवतु" यहां तक उपमान और उपमेयमें एकके ही साधारणधर्मसे अन्वयसिद्धि होनेसे प्रारब्ध अर्थ सुधा आदिका स्पष्ट ही अनिर्वाह है अतः भग्नप्रक्रमत्व दोष है।

इसीतरह अनुप्रासमें विफलता होनेसे अपुष्टाऽर्थत्व दोष होता है। जैसे—**अनण्विति।** हे लाल चरणोंवाली! ऊँची आवाज करनेवाली रत्नखचित काञ्चीवाला, और लगातार ध्वनि करनेवाले मनोहर नूपुरसे युक्त तुम्हारा भ्रमण, कारणके न होनेपर भी कामचिन्ता उत्पन्न करता है।

एवं समासोक्तौ साधारणविशेषणवशात्परार्थस्य प्रतीतावपि पुनस्तस्य शब्देनोपादानस्याप्रस्तुतप्रशंसायां व्यञ्जनयेव प्रस्तुतार्थावगतेः शब्देन तदभिधानस्य च पुनरुक्तत्वम्।

क्रमेणोदाहरणम्—

'अनुरागवन्तमपि लोचनयोर्दधतं वपुः सुखमतापकरम्।
निरकासयद्रविमपेतवसुं वियदालयादपरदिग्गणिका॥'

कुर्वन्तौ) मञ्जू (मनोहरौ) मञ्जीरौ (नूपुरौ) यस्मिन्। एतादृशं परिचरणं = भ्रमणं, त्वदीयमिति शेषः। अकारणं = निर्हेतुकं, रणरणकं = कामचिन्तां, कुरुते = विदधाति। आर्या वृत्तम्।

दोषः प्रतिपाद्यते—अत्र रणरणककरणं मुख्याऽर्थं प्रत्यनुप्रासस्याऽनुपकारित्वेन वैफल्यादपुष्टाऽर्थत्वम्। एवं समासोक्तावप्रस्तुतप्रशंसायामलङ्कारे पुनरुक्तत्वं दर्शयितुमुपक्रमते—**एवमिति**। तत्र प्राक् समासोक्तौ = अलङ्कारे, साधारणविशेषणवशात् = अर्थद्वयेऽपि सामान्यविशेषवशात्, पराऽर्थस्य = द्वितीयाऽर्थस्य, प्रतीतौ अपि = ज्ञाने अपि, पुनः = भूयः, तस्य = द्वितीयाऽर्थस्य, शब्देन = वाचकपदेन, उपादाने = ग्रहणे, पुनरुक्तत्वं दोषः।

समासोक्तौ पुनरुक्तत्वमुदाहरति—**अनुरागवन्तमिति**। शिशुपालवधमहाकाव्यस्य नवमसर्गस्थं पद्यम्। अपरदिग्गणिका = पश्चिमदिशा एव गणिका (वेश्या), अनुरागवन्तम् अपि = अनुरागः (सायंकालिकलौहित्यं, पक्षान्तरे—प्रणयः) तद्वन्तम् अपि, लोचनयोः = नेत्रयोः, सुखम् (सुखकरं, शान्तत्वान्मनोहरत्वाच्च), अतापकरम् (असन्तापकारिणम्, सुखस्पर्शत्वादशठत्वाच्च) वपुः = शरीरं, दधतम् अपि = धारयन्तम् अपि, तथाऽपि—अपेतवसुं (गतकिरणं, निर्धनं च) रविं = सूर्यं, पक्षान्तरे विटं चेति गम्यते। वियदालयात् = आकाशगृहात्, निरकासयत् = निष्कासितवती। अर्थपरा वेश्या निर्गुणमपि धनिकमनुवर्तते, गुणवन्तमपि धनरहितं सद्य एव निर्वासयतीति भावः। गतोऽस्तमर्क इति पद्याऽर्थः। समासोक्तिरलङ्कारः। प्रमिताक्षरा वृत्तम्।

इस पद्यमें रणरणक (कामचिन्ता) उत्पन्न करना मुख्य अर्थ है उसमें अनुप्रास उपकारक न होनेसे विफल हुआ है अतः अपुष्टाऽर्थत्व दोष है।

एवमिति। इसी तरह समासोक्तिमें साधारण विशेषणसे भिन्न अर्थकी प्रतीति होनेपर भी फिर उसका वाचकशब्दसे कथन करनेपर और अप्रस्तुतप्रशंसामें व्यञ्जनासे ही प्रस्तुत अर्थका ज्ञान होनेपर भी वाचक शब्दसे उसका अभिधान करनेपर भी पुनरुक्तत्व दोष होता है। क्रमसे उदाहरण जैसे—**अनुरागवन्तमिति**। पश्चिमदिशारूप वेश्याने अनुराग (सायंकालकी लाली अथवा प्रणय) युक्त होकर भी, नेत्रोंमें सुखजनक और तापवाला न होनेपर भी वसु (किरण वा धन) से हीन सूर्यको आकाशरूप गृहसे निकाल दिया।

अत्रापरदिगित्येतावतैव तस्या गणिकात्वं प्रतीयते।

'आहूतेषु विहङ्गमेषु मशको नायान् पुरो वार्यते
मध्ये वा धुरि वा वसंस्तृणमणिर्धत्ते मणीनां धुरम्।
खद्योतोऽपि न कम्पते प्रचलितुं मध्येऽपि तेजस्विनां
धिक्सामान्यमचेतसं प्रभुमिवानामृष्टतत्त्वान्तरम्॥'

दोषमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, "अपरदिग्" इत्येतावता = इत्येतन्मात्रेण, तस्याः = अपरदिशः, गणिकात्वं = वेश्यात्वं, प्रतीयते = व्यज्यते, "अनुरागवन्तमपी"त्यादिसाधारणविशेषणवशाद्व्यञ्जनयेति शेषः। "रविम्" इत्येतावतैव बिटमितिवदिति भावः। अतोऽत्र गणिकापदेन पुनरुक्तत्वम्।

एवमप्रस्तुतप्रशंसायाम् = अलङ्कारे, व्यञ्जनया = व्यक्त्या, एव, प्रस्तुताऽर्थाऽवगतेः = प्रस्तुताऽर्थस्य (प्रकृताऽर्थस्य) अवगतेः (प्रतीतेः), शब्देन = वाचकपदेन, तदभिधाने = तत्कथने सति, पुनरुक्तत्वम्।

अप्रस्तुतप्रशंसायां पुनरुक्तत्वमुदाहरति—**आहूतेष्विति**। मल्लटशतकस्थं पद्यमिदम्। विहङ्गमेषु = विहायसा गच्छन्तीति विहङ्गमाः = पक्षिणः, तेषु। आहूतेषु = आकारितेषु सत्सु, पुरः = अग्रे, आयान् = आगच्छन्, मशकः = सपक्षः कीटविशेषः अपि, सपक्षत्वेन विहङ्गमम्मन्य इति शेषः। न वार्यते = नो निषिध्यते, केनाऽपीति शेषः। तृणमणिः = क्षुद्रमणिविशेषः, मणीनां = रत्नानां, मध्ये = अन्तरे, धुरि वा = अग्रे वा, वसन् = तिष्ठन्, मणीनां = रत्नानां, पद्मरागप्रभृतीनामिति भावः। धुरं = भारं, धत्ते = धारयति, सोऽपि न केनाऽपि वार्यत इति भावः। तथा तेजस्विनाम् अपि = तापसम्पन्नानाम् अपि, अग्निसूर्यादीनामपीति भावः, मध्ये = अन्तरे, खद्योतः अपि = ज्योतिरिङ्गणः अपि, प्रचलितुं = गन्तुं, न कम्पते=नो वेपते, तेजस्वित्वाऽभिमानेनेति भावः। अत एव अनामृष्टतत्त्वान्तरम्= अनामृष्टम् (अनालोचितम्) तत्त्वान्तरं (वस्तुभेदः) येन तं, तादृशं प्रभुं = स्वामिनम्, इव, अचेतसं = विवेकशून्यं, सामान्यं = साधारणं, मशकादिकं, जातिं वा धिक्, तस्य निन्दाऽस्तीति भावः। अप्रस्तुतप्रशंसाऽलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

अत्रेति। इसमें "अपरधिक् (पश्चिम दिशा)" इतनेसे ही उसका वेश्यात्व प्रतीत होता है, फिर भी "गणिका" पद देनेसे पुनरुक्त दोष हुआ।

आहूतेषु इति। पक्षियोंको बुलाये जानेपर सामने आता हुआ मच्छड़ नहीं हटाया जाता है। तृणमणि (पोत) रत्नोंके बीचमें रहता हुआ रत्नोंका भार धारण करता है। तेजस्वी (अग्नि सूर्य आदि) के बीचमें आनेमें जुगनू भी कम्पित नहीं होता है। अज्ञानी स्वामीके सदृश वस्तुभेदके विचारसे रहित सामान्य (साधारण वा जाति) को धिक्कार है।

अत्राचेतसः प्रभोरभिधानमनुचितम्।
एवमनुप्रासे प्रसिद्ध्यभावस्य ख्यातविरुद्धत्वम्।
यथा—'चक्राधिष्ठिततां चक्री, गोत्रं गोत्रभिदुच्छ्रितम्।
वृषं वृषभकेतुश्च प्रायच्छदस्य भूभुजः॥'
उक्तदोषाणां च क्वचिददोषत्वं कचिद् गुणत्वमित्याह—

दोषमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्राऽप्रस्तुतानामचेतसां (विवेकरहितानाम्) मशकादीनामभिधानादेव प्रस्तुतस्याऽचेतसः प्रभोः प्रतीतेः, पुनर्वाचकशब्देन तस्याऽभिधानम्, अनुचितम् = अयोग्यम्, अतः अप्रस्तुतप्रशंसायां पुनरुक्तत्वं दोषः।

अनुप्रासे ख्यातविरुद्धत्वं निर्दिशति—**एवमिति**। एवम् अनुप्रासे = शब्दाऽलङ्कारे, प्रसिद्ध्यभावस्य = ख्यात्यभावस्य ख्यातविरुद्धत्वम्।

अनुप्रासे ख्यातविरुद्धत्वमुदाहरति—**चक्राऽधिष्ठिततामिति**। कश्चित् कविः कञ्चिद्राजानं प्रशंसति। अस्य = सन्निकृष्टस्थस्य, भूभुजः = राज्ञ इति भावः। चक्री = चक्रपाणिः, विष्णुरिति भावः, चक्राऽधिष्ठिततां = राजमण्डलाऽधिकृततां, गोत्रभित् = इन्द्रः, गां त्रायन्त इति गोत्राः (पर्वताः) तान् भिनत्तीति, क्विप्प्रत्ययः। उच्छ्रितम् = उन्नतं, गोत्रं = कुलं, वृषभकेतुः = वृषध्वजः, शङ्कर इत्यर्थः। वृषं = धर्मं, "स्याद्धर्ममस्त्रियां पुण्यश्रेयसी सुकृतं वृषः।" इत्यमरः। प्रायच्छत् = अददात्। अनुप्रासोऽलङ्कारः, अनुष्टुब्वृत्तम्।

दोष उपपाद्यते—अत्र चक्र्यादिपदानि केवलमनुप्रासनिर्वहणार्थं प्रयुक्तानि, न पुनः विष्णुकर्तृकं चक्रवर्तित्वदानम्, इन्द्रकर्तृकम् उन्नतगोत्रप्रदानं, वृषभकेतुकर्तृकं वृषप्रदानं लोके शास्त्रे वा ख्यातिमतः ख्यातिविरुद्धता।

दोषाणां क्वचिद्दोषाऽभावं क्वचिच्च गुणत्वं प्रतिपादयितुमुपक्रमते—**उक्तदोषाणामिति**। उक्तदोषाणां=पदादिनिष्ठत्वेन पञ्चधा विभक्तानां केषांचिद्दोषाणां, क्वचित् = कुत्रचित्, अदोषत्वं = दोषाऽभावः, क्वचित्, गुणत्वं=गुणभावो भवति। चन्द्रालोककारेण दोषाणामन्यथात्वं त्रिविधं प्रदर्शितं, तद्यथा—

यहांपर अचेताः (विवेकरहित) प्रभुको वाचक शब्दसे अभिधान अनुचित है। इसी तरह अनुप्रासमें प्रसिद्धि न होनेपर ख्यातविरुद्धत्व दोष होता है। जैसे—**चक्रेति**। उस राजाको चक्री (सुदर्शन चक्रवाले विष्णु) ने चक्रवर्तित्व गोत्र (पर्वत) के भेदक इन्द्रने ऊँचा गोत्र (कुल) और वृषभकेतु (महादेव) ने वृष (धर्म) दे दिया।

यहांपर चक्री आदि पदोंका कविने केवल अनुप्रासके निर्वाहके लिए प्रयोग किया है, विष्णु आदि देवताओंके चक्रवर्तित्व आदि देनेका किसी पुराण आदिमें उल्लेख नहीं है अतः ख्यातविरुद्धत्व दोष है।

पूर्वोक्त दोषोंमें कहीं दोषका अभाव और कहीं गुणत्व बतलाते हैं—

वक्तरि क्रोधसंयुक्ते, तथा वाच्ये समुद्धते ।
रौद्रादौ तु रसेऽत्यन्तं दुःश्रवत्वं गुणो भवेत् ॥ १६ ॥

एषु चास्वादस्वरूपविशेषात्मकतया मुख्यगुणप्रकर्षोपकारित्वाद् गुण इति व्यपदेशो भाक्तः—

क्रमेण यथा—

'तद्विच्छेदकृशस्य कण्ठलुठितप्राणस्य मे निर्दयं
क्रूरः पञ्चशरः शरैरतिशितैर्भिन्दन्मनो निर्भरम् ।

"दोषमापतितं स्वान्ते प्रसरन्तं विशृङ्खलम् ।
निवारयति यस्त्रेधा दोषाऽङ्कुशमुशन्ति तम् ॥" २-४० ।

प्रकारत्रयमप्याह स एव—

दोषे गुणत्वं तनुते, दोषत्वं वा निरस्यति ।
भवन्तमथ वा दोषं नयत्यत्याज्यतामसौ ॥ २-४१ ।

कुत्रचिद् दुःश्रवत्वस्य गुणत्वं प्रतिपादयति—**वक्तरीति** । वक्तरि, क्रोधसंयुक्ते = क्रुद्धे सति, क्रोधोऽत्र रौद्ररसतामनाप्नुवन्विवक्षितः, तस्य पृथगुक्तत्वात्, वाच्ये = वक्तव्ये, समुद्धते = सम्यगौद्धत्यगुणयुक्ते सति, रौद्रादौ रसे तु, आदिपदेन बीभत्सोऽपि गृह्यते । अत्यन्तं दुःश्रवत्वमपि, गुणो भवेत् ॥ १६ ॥

ननु माधुर्यादय एव गुणा व्यपदिश्यन्ते कथंकारं दुःश्रवत्वस्य गुणत्वमित्याशङ्कां परिहरति—**एष्विति** । एषु = दुःश्रवत्वादिषु, आस्वादेत्यादिः = आस्वाद्यन्त इत्यास्वादाः (रसभावादयः) तेषां स्वरूपविशेषात्मकतया (धर्मविशेषरूपतया), मुख्यगुणानां (माधुर्यादीनाम्) प्रकर्षोपकारित्वात् (उत्कर्षोत्पत्त्यनुकूलत्वात्) "गुण" इति व्यपदेशः = व्यवहारः, भाक्तः = गौणः, न मुख्य इति भावः ।

वक्तरि क्रोधसंयुक्ते दुःश्रवत्वस्य गुणत्वमुदाहरति—**तद्विच्छेदकृशस्येति** । प्रियाविरहितस्य मदनपीडितस्य कस्यचित्पुरुषस्य मदनं प्रत्याक्रोशोक्तिरियम् । तद्विच्छेदकृशस्य = तस्याः (प्रियायाः) विच्छेदेन (विरहेण) कृशस्य (दुर्बलस्य), अतः कण्ठलुण्ठितप्राणस्य = कण्ठे (गले) लुठिताः (प्राप्ताः) प्राणाः (असवः) यस्य, तस्य । तादृशस्य मे = मम, मनः = चित्तम्, अतिशितैः = अतिशयतीक्ष्णैः, शरैः = बाणैः, निर्भरम् = अतिमात्रं, भिन्दन् = विदारयन्, अत एव क्रूरः =

वक्तरीति । वक्ताके कुपित होनेपर, वक्तव्यके औद्धत्य गुणयुक्त होनेपर, रौद्र आदि रसमें दुःश्रवत्व (श्रुतिकटुत्व) भी गुण होता है ॥ १६ ॥

एषु चेति । दुःश्रवत्व दोषके इन स्थलोंमें आस्वादों (रसभाव आदियों)-के धर्मविशेषरूप होनेसे मुख्यगुणोंके (माधुर्य आदिके) उत्कर्षमें उपकारी होनेसे "गुण" ऐसा व्यवहार लाक्षणिक है (मुख्य नहीं) । क्रमसे जैसे—**तद्विच्छेदकृशस्येति** । प्रियाके विरहसे दुर्बल अतः कण्ठमें प्राप्त प्राणोंवाले मेरे चित्तको

शम्भोर्भूतकृपाविधेयमनसः प्रोद्दामनेत्रानल-
ज्वालाजालकरालितः पुनरसावास्तां समस्तात्मना ॥'

अत्र शृङ्गारे कुपितो वक्ता ।

'मूर्धव्याधूयमानध्वनदमरधुनीलोलकल्लोलजालो-
द्धूताम्भःक्षोददम्भात्प्रसभमभिनभः क्षिप्तनक्षत्रलक्षम् ।
ऊर्ध्वन्यस्ताङ्घ्रिदण्डभ्रमिभररभसोद्यन्नभस्वत्प्रवेग-
भ्रान्तब्रह्माण्डखण्डं प्रवितरतु शिवं शाम्भवं ताण्डवं वः ॥'

नृशंसः, असौ = विप्रकृष्टस्थः, पञ्चशरः = मदनः, समस्तात्मना = समग्ररूपेण, भूतेषु (प्राणिषु) या कृपा (दया) तस्या विधेयम् (आश्रवम्) मनः (चित्तम्) यस्य तादृशस्य शम्भोः = शिवस्य, प्रोद्दामः (अत्युग्रः) यो नेत्राऽनलः (तृतीयनयनाऽग्निः) तस्य ज्वालानां (शिखानाम्) यत् जालं (समूहः) तेन करालितः (भयानकीकृतः, दाहेनेति शेषः) भवतु = अस्तु । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

गुणत्वमुपपादयति—अत्रेति । अत्र शृङ्गारे, वक्ता, कुपितः = क्रुद्धः, अतोऽत्यन्तं दुःश्रवत्वमप्यत्र गुणत्वं भवतीति भावः ।

वाच्ये समुद्धते दुःश्रवत्वस्य गुणत्वमुदाहरति—मूर्द्धेति । शम्भोस्ताण्डवं वर्ण्यते । मूर्ध्नि (शिरसि) व्याधूयमाना (उत्कम्पमाना, शरीरसंचलनेनेति शेषः) ध्वनन्ती (शब्दायमाना) या अमरधुनी (देवनदी, गङ्गेति भावः), तस्या लोलं (चञ्चलम्) यत् कल्लोलजालम् (महातरङ्गसमूहः) तस्मादुद्धूताः (उत्क्षिप्ताः) ये अम्भःक्षोदाः (जलबिन्दवः) तेषां दम्भात् (छलात्) । अभिनभः = नभसि, आकाशे विभक्त्यर्थेऽव्ययीभावः । क्षिप्तनक्षत्रलक्षं = क्षिप्तं (विकीर्णम्) नक्षत्रलक्षं (तारासमूहः) यस्मिंस्तत् । ऊर्ध्वम् (उपरि) न्यस्तः (स्थापितः) योऽङ्घ्रिदण्डः (चरणदण्डः) तस्य भ्रमिभरेण (भ्रमणाऽतिशयेन) उत्पन्नः यो रभसः (वेगः) तस्मात् उद्यन् (जायमानः) यो नभस्वान् (वायुः) तस्य प्रवेगेण (जवाऽतिशयेन) भ्रान्तं (घूर्णितम्) ब्रह्माण्डखण्डं (ब्रह्माण्डमण्डलम्)

अत्यन्त विदारण करता हुआ क्रूर वह कामदेव, प्राणियोंकी दयाके अधीन मनवाले शिवजीके अत्यन्त उग्र नेत्राऽग्निकी ज्वालाओंके समूहसे पूर्णरूपसे भस्म हो जाय ।

इस पद्यमें विप्रलम्भ शृङ्गारमें वक्ता कुपित है इस कारण उत्तरार्द्धमें श्रुतिकटुत्व दोष भी गुण हो गया है ।

समुद्धतवाच्यमें दुःश्रवत्वका उदाहरण जैसे—मूर्धेति । शिरपर घूमती हुई और ध्वनि करती हुई गङ्गाजीके चञ्चल बड़े तरङ्ग-समूहसे निकले हुए जलबिन्दुओंके छलसे आकाशमें (जिस ताण्डवसे) लाखों नक्षत्र फेंके जा रहे हैं, ऊपर उठाये गये

अत्रोद्धतताण्डवं वाच्यम्। इमे पद्ये मम।
रौद्रादिरसे त्वेतद्द्वितयापेक्षयापि दुःश्रवत्वमत्यन्तं गुणः।
यथा—

'उत्कृत्योत्कृत्य कृत्तिम्—' इत्यादि।

अत्र बीभत्सो रसः।

सुरतारम्भगोष्ठ्यादावश्लीलत्वं तथा पुनः।

तथा पुनरिति गुण एव।
यथा—

'करिहस्तेन संबाधे प्रविश्यान्तर्विलोडिते।
उपसर्पन्ध्वजः पुंसः साधनान्तर्विराजते॥'

यस्मिंस्तत् तादृशं शाम्भवं (शम्भुसम्बन्धि) ताण्डवम् (उद्धतनृत्यम्) वः = युष्मभ्यं, शिवं = कल्याणं, प्रवितरतु = प्रददातु। स्रग्धरा वृत्तम्।

गुणत्वं प्रतिपादयति—**अत्रेति**। अत्र=पद्ये, औद्धतताण्डवम्=उद्धतम्=(औद्धत्यपूर्णं), ताण्डवं = शिवकर्तृकं नृत्यं, वाच्यं=वक्तव्यमतो गुणत्वम्, **रौद्रादिरस इति।** रौद्रादिरसे तु, एतद्द्वितयाऽपेक्षयाऽपि = समीपतरवर्तिपद्यद्वयाऽपेक्षयाऽपि, दुःश्रवत्वमत्यन्तं गुणः। **यथा उत्कृत्येति**। स्थलविशेषेऽश्लीलत्वस्य गुणत्वं प्रतिपादयति— **सुरतेति**। सुरतारम्भगोष्ठी (निधुवनोपक्रमसंलापः) तदादौ (तत्प्रभृतौ), "गोष्ठी सभासंलापयोः स्त्रियाम्" इति मेदिनी। अश्लीलत्वं = दोषः, तथा पुनः = गुणो भवतीति भावः।

सुरतारम्भगोष्ठ्यामश्लीलत्वस्य गुणत्वमुदाहरति—**करिहस्तेनेति**। करिहस्तेन = स्वपक्षस्थहस्तिशुण्डादण्डेन, प्रविश्य = प्रवेशं कृत्वा, संबाधे = युद्धोपकरणसैन्यगजाश्वादिभिः संकटे, अन्तः = शत्रुसेनाऽभ्यन्तरे, विलोडिते = विस्फारिते, सति, पुंसः = वीरपुरुषस्य, ध्वजः = केतुः, साधनानां = शत्रुसैन्यानाम्, अन्तः =

चरणदण्डके अत्यन्त घूमनेसे उत्पन्न वेगसे उत्थित वायुके अत्यन्त वेगसे ब्रह्माण्डसमूह घूम रहा है शिवजीका ऐसा ताण्डवनृत्य तुम लोगोंको कल्याणका वितरण करे।

यहां शिवजीका उद्धत ताण्डव वाच्य है, अतः दुःश्रवत्व भी गुण है। ये दो पद्य मेरे हैं। रौद्र आदि रसमें तो पूर्वोक्त दो पद्योंसे भी अधिक दुःश्रवत्व गुण होता है। जैसे—**उत्कृत्येति**। इसमें बीभत्स रस है।

सुरतेति। सुरतके आरम्भकी बातचीत आदिमें अश्लीलत्व गुण होता है। जैसे—**करिहस्तेनेति**। करिहस्तेन=हाथोकी सूंडसे वा कामशास्त्रोक्त कृत्रिम लिङ्गसे, सम्बाधे = युद्धके उपकरण सेनाके हाथी और घोड़ोंसे सङ्कुल वा सङ्कुचित, अन्तः = भीतर वा योनिके बीचमें, विलोडन (प्रवेश) करनेपर वीर पुरुषका वा

अत्र हि सुरतारम्भगोष्ठ्याम्—

'ताम्बूलदानविधिना विसृजेद्वयस्यां
द्व्यर्थैः पदैः पिशुनयेच्च रहस्यवस्तु' इति कामशास्त्रस्थितिः।

आदिशब्दाच्छमकथाप्रभृतिषु बोद्धव्यम्।

स्यातामदोषौ श्लेषादौ निहतार्थाऽप्रयुक्तते ॥ १७ ॥

अभ्यन्तरे, उपसर्पन् = उपगच्छन्, विराजते = शोभते। अपराऽर्थस्तु—करिहस्तेन= कामशास्त्रोक्तकृत्रिमलिङ्गेन, करिहस्तश्च—

"तर्जन्यनामिके श्लिष्टे मध्यमा स्याद् बहिर्यदि।'

इति शृङ्गारशास्त्रप्रसिद्धरूपः स्त्रीयोनिविद्रावणः पुंध्वजस्याकारः करिहस्त इत्यनन्तदासाः, संबाधे = सङ्कुचिते, अन्तः = योनिमध्ये, प्रविश्य, विलोडिते = विस्तारिते सति, पुंसः = पुरुषस्य, ध्वजः = लिङ्गं, साधनाऽन्तः = योन्यभ्यन्तरे, उपसर्पन् = वारं वारमुपगच्छन्, विराजते, अनुष्टुब्वृत्तम्।

गुणत्वमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन् पद्ये, सुरतारम्भगोष्ठ्यां = निधुवनोपक्रमविषयके संलापे, द्व्यर्थैः = अर्थद्वययुक्तैः, पदैः = शब्दैः, रहस्यवस्तु = गोपनीयमितिवृत्तं, पिशुनयेत् = सूचयेत्, इति कामशास्त्रस्थितिः। "सुरतारम्भगोष्ठ्यादौ" इत्यत्रादिपदेन शमकथाप्रभृतिषु = शान्तिप्रबन्धादिषु च, अश्लीलत्वं गुण इति शेषः। शमकथायां यथा—

"उत्तानोच्छूनमण्डूकपाटितोदरसंनिभे।
क्लेदिनि स्त्रीव्रणे सक्तिरकृमेः कस्य जायते?"

"अत्र जुगुप्साश्लीलस्य गुणत्वं बोद्धव्यम्।

निहताऽर्थाऽप्रयुक्ततयोः श्लेषादौ दोषाभावं प्रतिपादयति—**स्यातामिति**। श्लेषादौ = अलङ्कारे, आदिपदेन समासोक्त्यादेः परिग्रहः। निहताऽर्थाऽप्रयुक्तते = निहताऽर्थत्वम् अप्रयुक्तत्वं च दोषौ, अदोषौ स्यातां = भवेताम्।

पुरुषका ध्वज (पताका वा लिङ्ग) साधनान्तः = शत्रु सेनाओंके भीतर वा योनिके भीतर वारं वार जाता हुआ शोभित होता है।

यहाँ सुरतके आरम्भकी गोष्ठी आदिमें दो अर्थों वाले पदोंसे गोप्य वस्तुको प्रकाशित करे ऐसी कामशास्त्रकी स्थिति है। आदि शब्दसे शान्ति आदिके कथनोंमें भी यही बात समझनी चाहिए।

स्यातामिति। श्लेष आदिमें निहताऽर्थत्व और अप्रयुक्तत्व दोष नहीं माने जाते हैं ॥ १७ ॥

यथा—

'पर्वतभेदि पवित्रं जैत्रं नरकस्य बहुमतं गहनम्।
हरिमिव हरिमिव हरिमिव सुरसरिदम्भः पतन्नमत ॥'

श्लेषे निहतार्थाऽप्रयुक्तत्वयोरदोषत्वमुदाहरति—पर्वतभेदीति। हे जनाः!, पर्वतभेदि = पर्वतं (हिमालयपर्वतम्) भिनत्तीति तच्छीलम्। पवित्रं = पूतं, नरकस्य = निरयस्य रौरवादेरिति भावः। जैत्रं = विनाशकं, जयतीति जेतृ, जेतृ एव जैत्रं, तत्, स्वार्थेऽण्। बहुमतं = बहूनां (प्रचुराणां, शास्त्राणामिति शेषः) मतं (पूजितम्), गहनं = दुरवगाहं, वेगाऽतिशयत्वादिति शेषः। तादृशं, पतत् = प्रवहत्, पृथिव्यामिति शेषः। सुरसरिदम्भः = सुराणां (देवानाम्) सरित् (नदी, गङ्गेति भावः) तस्याः अम्भः (जलम्), नमत = नमस्कुरुत। कीदृशं सुरसरिदम्भः? तत्र प्रथमो दृष्टान्तः—हरिं = विष्णुम्, इव। हरिरपि—पर्वतभेदिपवित्रं = गोवर्द्धनपर्वतोद्धारकः, सचाऽसौ पवित्रस्तम्। नरकस्य = नरकाऽसुरस्य, प्राग्ज्योतिषपुराऽधिपतेरिति भावः। जैत्रं = जेतारम्। बहुमतं = प्रचुरभक्तजनपूजितम्। गहनं = दुर्बोधतत्त्वम्।

द्वितीयो दृष्टान्तः—हरिम् इव = इन्द्रम् इव—

"यमाऽनिलेन्द्रचन्द्राऽर्कविष्णुसिंहांऽशुवाजिषु।
शुकाऽहिकपिभेकेषु हरिर्ना कपिले त्रिषु ॥" इत्यमरः।

तत्राऽपि—पर्वतभेदि = पर्वतान् भिनत्तीति तच्छीलः, तादृशेन पर्वतपक्षच्छेदकेन, पविना (वज्रेण) त्रायते (रक्षति) इति पर्वतभेदिपवित्रस्तम्। "ह्लादिनी वज्रमस्त्री स्यात्कुलिशं भिदुरं पविः।" इत्यमरः। जैत्रं = जयशीलम्। नरकस्य = मनुष्यस्य, बहुमतम् = अतिशयपूजितम्। गहनं = दुर्जयम्।

तृतीयो दृष्टान्तः—हरिं = सिंहम्, इव। तत्राऽपि—पर्वतभेदी = शैलभेदी, गिरिगह्वराश्रयत्वेनेति भावः। स चाऽसौ पवित्रः=प्रयतस्तम्, "मृगाणां च मृगेन्द्रोऽहम्" इति वचनेन भगवद्विभूतित्वात्, दुर्गावाहनत्वाद्वा। नरकस्य=मनुष्यस्य, जैत्रं = जयशीलम्, बहुमतङ्गहनं = बहुमतङ्गान् (प्रचुरहस्तिनः) हन्ति हनिष्यति वेति बहुमतङ्गहा, तं, क्विप्प्रत्ययः। श्लेषाऽलङ्कारः, आर्या वृत्तम्।

१. पर्वत (हिमालय) को भेदन करनेवाले, पवित्र, नरकका विनाशक, शास्त्रोंसे पूजित, गहन (दुर्ज्ञेय) हरि (विष्णु) के समान गङ्गाजलको नमस्कार करो।

२. पर्वतको भेदन करनेवाले और पवि (वज्र) से रक्षा करनेवाले, जयशील, मनुष्यसे अत्यन्त पूजित और दुर्जय, हरिम् इव = इन्द्रके समान, गङ्गाजलको नमस्कार करो।

३. पर्वतको विदारण करनेवाले, पवित्र, मनुष्यको जीतनेवाले, बहुतसे हाथियोंको मारनेवाले, हरिम् इव = सिंहके समान गङ्गाजलको नमस्कार करो।

अत्रेन्द्रपक्षे पवित्रशब्दो निहतार्थः। सिंहपक्षे मतङ्गशब्दो मातङ्गार्थेऽप्रयुक्तः।

गुणः स्यादप्रतीतत्वं ज्ञत्वं चेद्वक्तृवाच्ययोः।

यथा —

'त्वामामनन्ति प्रकृतिं पुरुषार्थप्रवर्तिनीम्।
तद्दर्शिनमुदासीनं त्वामेव पुरुषं विदुः॥'

दोषद्वयमुपपादयति—अत्र = अस्मिन्पद्ये, इन्द्रपक्षे पवित्रशब्दो निहतार्थः; तस्य प्रयतरूपं प्रसिद्धमर्थं विहाय पविना (वज्रेण) त्रायते (रक्षति) इत्यप्रसिद्धाऽर्थसमाश्रयणादिति भावः। एवं च "बहुमतङ्गहनम्" इत्यत्रैकपदस्वीकारेण मतङ्गपदस्य मातङ्गरूपेऽर्थेऽप्रयुक्तत्वम्। परं श्लेषविषयत्वेऽनयोर्निहताऽर्थाप्रयुक्तत्वयोरदोषत्वमिति भावः॥ १७॥

अप्रतीतत्वस्य गुणत्वं प्रतिपादयति—**गुण इति।** वक्तृवाच्ययोः = भाषितृबोद्धव्ययोः, ज्ञत्वं = वेत्तृत्वं, चेत् = यदि, तर्हि अप्रतीतत्वं गुणः।

अप्रतीतत्वस्य गुणत्वमुदाहरति—**त्वामिति।** कुमारसंभवस्य द्वितीयसर्गस्थं पद्यमिदम्। तारकासुरपीडितानां देवानां ब्रह्माणं प्रति स्तुतिरियम्। हे भगवन्! त्वां = भवन्तं, पुरुषार्थप्रवर्तिनीं = पुरुषाऽर्थौ, (भोगाऽपवर्गौ) तौ यथायथं प्रवर्तयति (उत्पादयति) इति पुरुषाऽर्थप्रवर्तिनी, ताम्। तादृशीं प्रकृतिं = प्रधानं, मूलकारणमिति भावः। "प्रधानं प्रकृतिः स्त्रियाम्" इत्यमरः। आमनन्ति=कथयति, विद्वांस इति शेषः। "म्ना अभ्यासे" इति धातोर्लट्, "पाघ्राध्मास्थाम्ने"त्यादिना मनादेशः। त्वाम् एव = भवन्तम् एव, तद्दर्शिनं = तां (प्रकृतिम्) साक्षित्वेन पश्यति (विलोकयति) इति तद्दर्शी, तम्। तादृशं, पुरुषं = कूटस्थमुदासीनं, विदुः = जानन्ति, कपिलादयस्तत्त्वदर्शिन इति शेषः। "विदो लटो वा" इति झेर्डुसादेशः। अनुष्टुब्वृत्तम्। (कुमार० २-१६)।

अत्रेति। यहाँ इन्द्रके पक्षमें पवित्र शब्द निहताऽर्थ है, सिंहके पक्षमें मतङ्ग शब्द मातङ्ग (हाथी) के अर्थमें अप्रयुक्त है।

गुण इति। वक्ता और श्रोता दोनों अभिज्ञ (जानकार) हों तो अप्रतीतत्व गुण होता है। जैसे—

त्वामिति। देवगण ब्रह्माजीकी स्तुति करते हैं—हे भगवन्! आपको विद्वान् लोग पुरुषके अर्थ (भोग और अपवर्ग = मुक्ति) को प्रकट करनेवाली "प्रकृति" कहते हैं। आपको ही प्रकृतिका साक्षात्कार करनेवाला "पुरुष" भी कहते हैं। यहां वक्ता देवगण और श्रोता भगवान् ब्रह्माजी, ये दोनों ही अभिज्ञ हैं, अतः "प्रकृति" और "पुरुष" सांख्यशास्त्रमें मात्र प्रयुक्त शब्द हैं तथाऽपि अप्रतीतत्व गुण हो जाता है।

स्वयं वापि परामर्शे—

अप्रतीतत्वं गुण इत्यनुषज्यते ।

यथा—

'युक्तः कलाभिस्तमसां विवृद्ध्यै, क्षीणश्च ताभिः क्षतये य एषाम् ।
शुद्धं निरालम्बपदावलम्बं तमात्मचन्द्रं परिशीलयामि ॥'

उपपाद्यते—अत्र "सत्त्वरजस्तमसां साम्याऽवस्था प्रकृतिः" "कूटस्थ-श्चित्स्वरूपः पुरुष" इति सांख्यशास्त्रीयतत्त्वयाथार्थ्यवक्तृणां देवानां, वाच्यस्य ब्रह्मदेवस्य च ज्ञत्वात् एकदेशमात्रप्रसिद्धयोः प्रकृतिपुरुषयोः प्रयोगेऽपि अप्रतीतत्वं गुणः ।

अप्रतीतत्वस्य पुनरपि गुणत्वं प्रदर्शयति—**स्वयं वाऽपीति ।** स्वयम् = आत्मना वा, परामर्शे = पर्यालोचने, "अप्रतीतत्वं गुण" इति **अनुषज्यते** = अनुसं-बध्यते । यः = आत्मा, तमसाम् = अज्ञानानां, चन्द्रपक्षे—अन्धकाराणां, **विवृद्ध्यै** विशेषवृद्धये, यः = आत्मा, तमसाम् = तमोगुणजनितानामज्ञानानां, **विवृद्ध्यै** = **विशेषवृद्धये**, कलाभिः = षोडशभिः, ताश्च—वाक्पाणिपादोपस्थपायुरूपाणि पञ्च कर्मेन्द्रियाणि, श्रोत्रत्वक्चक्षूरसनघ्राणरूपाणि पञ्च ज्ञानेन्द्रियाणि, इत्थमेकादशेन्द्रि-याणि, पञ्च तन्मात्राणि = शब्दस्पर्शरूपरसगन्धाख्यानि, संहृत्य षोडशविधाः कलाः, ताभिः युक्तः, उक्तं च—"षोडशकलः पुरुष" इति । तथा यः = आत्मा, एषां = तमसाम्, अज्ञानानामिति भावः । क्षतये = नाशाय, ताभिः = पूर्वोक्ताभिः षोडश-कलाभिः, क्षीणाः = विहीनः, भवति, स्वस्वरूपेणाऽवतिष्ठत इति भावः । चन्द्रपक्षे तु—यः = चन्द्रः, तमसाम् = अन्धकाराणां, **विवृद्ध्यै** = विशेषवृद्धये, ताभिः = कलाभिः, षोडशभागैरिति भावः, क्षीणः = विहीनो भवति, पुनः एषां = तमसां, क्षतये = नाशाय, ताभिः = कलाभिः, युक्तो भवतीत्यर्थः, निरालम्बपदावलम्बं = आत्मपक्षे—निरालम्बं (निराधारम्) पदम् (स्थानम्) अवलम्बः (आश्रयः) यस्य तम्, आत्मनस्त्रिविधपरिच्छेदशून्यत्वादिति भावः । चन्द्रपक्षे—निरालम्बपदम् (आकाशम्) अवलम्बः अस्य, तम् । तं = श्रुतिस्मृतिपुराणप्रसिद्धं, **शुद्धं** = निरुपाधिकम्, आत्मचन्द्रम् = आत्मा चन्द्र इव तं, परमात्मानमितिभावः,

---

स्वयमिति । अपने आप, शास्त्रके एकदेशमात्रमे प्रयुक्त शब्दका प्रयोग करनेपर भी अप्रतीतत्व गुण होता है । जैसे—**युक्त इति** । जो आत्मा तमोगुणसे उत्पन्न अज्ञानोंकी विशेष वृद्धिके लिए सोलह कलाओंसे मुक्त है, और वह आत्मा इन अज्ञानोंके नाशके लिए उन सोलह कलाओंसे विहीन हो जाता है । चन्द्रपक्षमें जो चन्द्रमा अन्धकारोंकी विशेष वृद्धिके लिए उन कलाओंसे क्षीण होता है, फिर उन अन्धकारोके नाशके लिए उन कलाओंसे युक्त हो जाता है । निराधरपदको आश्रम करनेवाले उस आत्मरूप चन्द्रका परिशीलन करता हूँ, चन्द्रपक्षमें निराधारपद

—कथितं च पदं पुनः ॥ १८ ॥

विहितस्यानुवाद्यत्वे विषादे विस्मये क्रुधि ।
दैन्येऽथ लाटानुप्रासेऽनुकम्पायां प्रसादने ॥ १९ ॥
अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये हर्षेऽवधारणे ।

गुण इत्येव ।

यथा—

'उदेति सविता ताम्रः—' इत्यादि ।

अत्र विहितानुवादः ।

परिशीलयामि = सततं चिन्तयामिति भावः । उपमाऽलङ्कारः, उपजातिर्वृत्तम् । अत्र कलापदस्यैकशास्त्रमात्रप्रसिद्धत्वेऽपि वक्तुः स्वयं परामर्शे गुणत्वम् ।

कथितपदत्वस्य गुणत्वस्थानानि निर्दिशति—**कथितमिति** ॥ १८ ॥

विहितस्य = पूर्ववाक्ये विहितस्य, अनुवाद्यत्वे = उद्देश्यत्वे, विषादे = खेदे, विस्मये = आश्चर्ये, क्रुधि = कोपे । दैन्ये = दीनतायाम्, अथ लाटाऽनुप्रासे = अनुप्रासविशेषे । अनुकम्पायां = दयायां, प्रसादने = प्रसादकरणे ॥ १९ ॥

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्ये = ध्वनिविशेषे, हर्षे = आनन्दे, अवधारणे=निश्चये । एतेषु स्थलेषु कथितपदत्वं गुणः ।

विहितस्याऽनुवाद्यत्वे कथितपदत्वस्य गुणत्वं यथा—**उदेतीति** ।

उपपादयति— "उदेति सविता ताम्रः" (२९ पृ०) इत्यत्र "सविता ताम्र उदेति" इत्यन्वये विहितस्य "ताम्र" पदस्य "ताम्र एवाऽस्तमेति" इति उत्तरवाक्ये अनुवाद्यत्वे = उद्देश्यत्वे, कथितपदत्वं न दोषः, प्रत्युत गुणत्वमेवेति भावः ।

(आकाश) का आश्रय करनेवाले उस आत्माके समान चन्द्रमाका परिशीलन करता हूँ ।

कथितं चेति । पूर्ववाक्यमें विहितके उद्देश्यत्वमें, खेदमें, आश्चर्यमें, क्रोधमें, दीनतामे, लाटाऽनुप्रासमें, कृपामें, किसीको प्रसन्न करनेमें ॥ १९ ॥

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनिमें, हर्षमें और निश्चयमें इतने स्थलोंमें कथितपद गुण होता है ।

यथेति । "उदेति सविता ताम्रः" सूर्य लाल होकर उगते हैं, यहाँपर विहित "ताम्र" पद उत्तर वाक्यमें उद्देश्यत्वमें फिरभी कहा गया है ।

'हन्त ! हन्त ! गतः कान्तो वसन्ते सखि ! नागतः ।'

अत्र विषादः ।

'चित्रं चित्रमनाकाशे कथं सुमुखि ! चन्द्रमाः ।'

अत्र विस्मयः ।

'सुनयने ! नयने निधेहि' इति ।

अत्र लाटानुप्रासः ।

'नयने तस्यैव नयने च ।'

विषादे कथितपदत्वस्य गुणत्वमुदाहरति—"**हन्त ! हन्त !!**" इति । नायिका नायकगमने खेदपूर्वकं सखीं कथयति—हे सखि = हे वयस्ये, वसन्ते=ऋतौ, गतः = यातः, कान्तः=वल्लभः, न आगतः=न आयातः, हन्त हन्त इति विषादे । अत्र "हन्त" पदस्य द्विः प्रयुक्तत्वेऽपि विषादद्योतने न कथितपदत्वं, प्रत्युत गुणत्वमेव ।

विस्मये कथितपदत्वस्य गुणत्वमुदाहरति— **चित्रं चित्रमिति** । नायको नायिकामनुनयति — हे सुमुखि = हे वरानने, चन्द्रमाः = चन्द्रः, त्वन्मुखचन्द्र इति भावः, अनाकाशे = आकाशेतरस्थले, भुवि इति भावः, कथं = केन प्रकारेण, चन्द्रमाः अस्तीति शेषः, अतः चित्रं चित्रम् = आश्चर्यम्, अत्र चित्रपदस्य द्विरुक्त्या कथितपदत्वेऽपि, विस्मयार्थे प्रयुक्तत्वेन न दोषत्वम् ।

लाटाऽनुप्रासे कथितपदत्वस्य गुणत्वमुदाहरति—"**सुनयने**" **इति** । नायको नायिकामनुनयति—"हे सुनयने = हे सुन्दरलोचने ! नयने = नेत्रे, निधेहि = स्थापय, मयीति शेषः ।

अत्र "सुनयने नयने" इति द्वाभ्यां नयनाभ्यां कथितपदत्वेऽपि लाटाऽनुप्रासप्रयोजनकत्वेन गुणत्वं बोध्यम् ।

अर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनौ कथितपदत्वस्य गुणत्वमुदाहरति—**नयने इति** । कश्चित्कस्यचिन्नयने प्रशंसति— तस्य एव = सुकृतिन एव, नयने = नेत्रे, नयने = भाग्यवत्तादिगुणविशिष्टे, स्त इति शेषः ।

हन्त हन्तेति । हाय ! हाय ! हे सखि ! वसन्त ऋतुमें गये हुए प्रिय नहीं आये हुए हैं । यहां विषादमें हन्त पद दुहरानेपर भी कथितपदत्व दोष नहीं है ।

चित्रं चित्रमिति । हे सुन्दरि ! आकाशसे भिन्न स्थलमें कैसे चन्द्रमा दीखे जाते हैं । आश्चर्य है आश्चर्य है । यहां आश्चर्यमें चित्र पद दुहराया गया है अतः कथितपदत्व गुण है ।

सुनयने नयने निधेहि इति । हे सुनयने (सुन्दर नेत्रोंवाली) ! आंखोंको मंद लो । यहां "सुनयने ! नयने" लाटानुप्रास होनेसे कथितपदत्व गुण है ।

नयने इति । नयन उसीके नयन (भाग्यवत्त्व आदि गुणसे विशिष्ट) हैं ।

इत्यादावर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः ।
एवमन्यत्रापि ।

सन्दिग्धत्वं तथा व्याजस्तुतिपर्यवसायि चेत् ॥ २० ॥

गुण इत्येव, यथा—

'पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव !
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥'

अत्राऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनित्वेन कथितपदत्वस्य गुणत्वम्, एवमन्यत्राऽपि । अन्यत्रपदेन कोपदैन्यप्रसादनहर्षाऽवधारणेष्वपि कथितपदस्य गुणत्वं बोध्यम् । यथा—"गच्छ गच्छ न तिष्ठाऽत्र" अत्र कोपे कथितपदत्वस्य गुणत्वं, तथान्यत्राऽपि ऊह्यम् ।

सन्दिग्धत्वस्य गुणत्वं प्रदर्शयति—**सन्दिग्धत्वमिति** । सन्दिग्धत्वं=तदाख्यो दोषः, व्याजस्तुतिपर्यवसायि = व्याजस्तुतौ (व्याजस्तुत्यलङ्कारे) पर्यवस्यति (परिणमति) इति व्याजस्तुतिपर्यवसायि, वचनमिति शेषः । चेत् = यदि, तर्हि, तथा = गुण इत्येव । व्याजस्तुतिश्चाऽत्र निन्दया स्तुतिरिति भावः ॥ २० ॥

सन्दिग्धत्वस्य गुणत्वमुदाहरति—**पृथुकेति** । कस्यचिद्दरिद्रपण्डितस्य कंचिद्राजानं प्रत्युक्तिरियम् । हे देव = हे राजन् ! सम्प्रति = अधुना, आवयोः = भवतो मम च, सदन=गृहं, समं=समानम् । उभयोः सदनं कथं सममिति प्रथमं राजभवनपरकोऽर्थः प्रस्तूयते । भवतः सदनं पृथुकार्तस्वरपात्रं = पृथूनि (प्रचुराणि) कार्तस्वरपात्राणि (सुवर्णभाजनानि) यस्मिंस्तत् । भूषितनिःशेषपरिजनम् = भूषिताः (अलङ्कृताः) निःशेषाः (समस्ताः) परिजनाः (अनुचराः) यस्मिंस्तत् । विलसत्करेणुगहनं = विलसन्त्यः (शोभमानाः) याः करेणवः (हस्तिन्यः) ताभिः गहनं (दुष्प्रवेशम्), "करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे" इत्यमरः । तथा मम सदनं च—पृथुकाऽऽर्तस्वरपात्रं = पृथुकानां (बालकानाम्) य आर्तस्वरः (पीडितशब्दः) क्षुधयेति शेषः । तस्य पात्रम् (भाजनम्) "पृथुकौ चिपिटाऽर्भकौ" इत्यमरः ।

यहाँ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि होनेसे कथितपदत्व गुण हो गया है । इसी तरह अन्यत्र भी जानना चाहिए ।

सन्दिग्धत्वमिति । इसी तरह व्याजस्तुति (अलङ्कार) में पर्यवसान हो तो सन्दिग्धत्व गुण होता है ॥ २० ॥

पृथ्विति । कोई दरिद्र पण्डित किसी राजाको कहता है । हे राजन् ! इस समय आपका और मेरा घर समान है । आपका भवन—पृथुकार्तस्वरपात्र अर्थात् पृथु (प्रचुर) कार्तस्वर (सोनेके) पात्रोंसे युक्त है । मेरा भवन भी पृथुकार्तस्वरपात्र अर्थात् पृथुकों (बालकों) के आर्तस्वरों (भूखसे पीड़ित स्वरों) का

वैयाकरणमुख्ये तु प्रतिपाद्येऽथ वक्तरि ।
कष्टत्वं दुःश्रवत्वं वा—

गुण इत्येव ।

यथा—

'दीधीवेवीट्समः कश्चिद् गुणवृद्ध्योरभाजनम् ।
क्विप्प्रत्ययनिभः कश्चिद्यत्र सन्निहिते न ते ॥'

भूषितनिःशेषपरिजनं = भुवि (पृथिव्याम्, आसनाऽभावादिति भावः) उषिताः (उपविष्टाः) निःशेषाः (समस्ताः) परिजनाः (परिवाराः) यस्मिंस्तत् । विलसत्करेणुगहनं = बिले (विवरे) सीदन्ति (अवतिष्ठन्ते) इति बिलसन्तः (मूषिकाः), कुत्सिता बिलसन्तः बिलसत्काः (कुत्सितमूषिकाः) तेषां रेणवः (धूलयः) तैः गहनम् (दुर्गमम्) । श्लेषाऽलङ्कारः । आर्या वृत्तम् ।

अत्र विशेषणपदानां सन्दिग्धत्वेऽपि व्याजस्तुतौ पर्यवसानेन गुणत्वम् ।

कष्टत्वस्य दुःश्रवत्वस्य च गुणत्वं प्रतिपादयति—**वैयाकरणमुख्य इति ।** वैयाकरणमुख्ये = व्याकरणज्ञातृप्रधाने, प्रतिपाद्ये = बोद्धव्ये, अथ = वा, वक्तरि = भाषितरि च सति, कष्टत्वं दुःश्रवत्वं वा, गुण इत्येव ।

वैयाकरणमुख्ये वक्तरि सति कष्टत्वस्य गुणत्वमुदाहरति—**दीधीति ।** कश्चिद्वैयाकरणः कंचिद्राजानं पृच्छति । हे राजन् !, कश्चित्=कोऽपि, तव रिपुरिति शेषः । दीधीवेवीट्समः="दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः" "वेवीङ् वेतिना तुल्ये" इति धातुपाठतः वेवीङ्धातु र्वीधातुवत् "गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसन खादनेऽर्थे इत्यतः दीधी धातु र्वेवीङ्धातुरिडागमश्च तैः समः (तुल्यः) "दीधीवेवीटाम्" इति सूत्रात् गुणवृद्धयोः, अभाजनं = अपात्रम्. निषेधादिति शेषः । तव शत्रोर्दयादाक्षिण्यादयो गुणाः, जनधन-

पात्र है । आपका भवन भूषितनिःशेषपरिजन = अर्थात् भूषित (अलङ्कृत) निःशेष (समस्त) परिजनों (अनुचरों) से युक्त है । मेरा भवन भी भूषित-निःशेषपरिजन = अर्थात् भू (भूमि) में उषित (अवस्थित) निःशेषपरिजनों (समस्त परिवारों) से युक्त है । आपका भवन—विलासत्करेणुगहन = अर्थात् विलसत्क-रेणुभिः = सुहाती हुई हथिनियोंसे) गहनम् = दुष्प्रवेश्य, है, मेरा भवन भी विलस-त्करेणुगहनं = बिलमें रहनेवाले चूहोंकी धूलसे दुर्गम है ।

इस पद्यमें विशेषण पदोंके सन्दिग्ध होनेपर भी व्याजस्तुतिमें पर्यवसान होनेसे गुण है ।

वैयाकरणमुख्य इति । जहाँ वैयाकरण श्रोता अथवा वक्ता हों तो वहाँ कष्टत्व और दुःश्रवत्व गुण होता है । कोई वैयाकरण किसी राजासे पूछता है— हे राजन् ! कोई (आपका शत्रु) दीधी-वेवीट्सम (दीधीङ् और वेवीङ् धातु

इत्यादावर्थान्तरसंक्रमितवाच्यो ध्वनिः।
एवमन्यत्रापि।

सन्दिग्धत्वं तथा व्याजस्तुतिपर्यवसायि चेत् ॥ २० ॥

गुण इत्येव, यथा—

'पृथुकार्तस्वरपात्रं भूषितनिःशेषपरिजनं देव !
विलसत्करेणुगहनं सम्प्रति सममावयोः सदनम् ॥'

अत्राऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनित्वेन कथितपदत्वस्य गुणत्वम्, एवमन्यत्राऽपि। अन्यत्रपदेन कोपदैन्यप्रसादनहर्षाऽवधारणेष्वपि कथितपदस्य गुणत्वं बोध्यम्। यथा—"गच्छ गच्छ न तिष्ठाऽत्र" अत्र कोपे कथितपदत्वस्य गुणत्वं, तथान्यत्राऽपि ऊह्यम्।

सन्दिग्धत्वस्य गुणत्वं प्रदर्शयति—**सन्दिग्धत्वमिति**। सन्दिग्धत्वं=तदाख्यो दोषः, व्याजस्तुतिपर्यवसायि = व्याजस्तुतौ (व्याजस्तुत्यलङ्कारे) पर्यवस्यति (परिणमति) इति व्याजस्तुतिपर्यवसायि, वचनमिति शेषः। चेत् = यदि, तर्हि, तथा = गुण इत्येव। व्याजस्तुतिश्चाऽत्र निन्दया स्तुतिरिति भावः॥ २० ॥

सन्दिग्धत्वस्य गुणत्वमुदाहरति—**पृथुकेति**। कस्यचिद्दरिद्रपण्डितस्य कंचिद्राजानं प्रत्युक्तिरियम्। हे देव = हे राजन्! सम्प्रति = अधुना, आवयोः = भवतो मम च, सदनं=गृहं, समं=समानम्। उभयोः सदनं कथं सममिति प्रथमं राजभवनपरकोऽर्थः प्रस्तूयते। भवतः सदनं पृथुकार्तस्वरपात्रं = पृथूनि (प्रचुराणि) कार्तस्वरपात्राणि (सुवर्णभाजनानि) यस्मिंस्तत्। भूषितनिःशेषपरिजनम् = भूषिताः (अलङ्कृताः) निःशेषाः (समस्ताः) परिजनाः (अनुचराः) यस्मिंस्तत्। विलसत्करेणुगहनं = विलसन्त्यः (शोभमानाः) याः करेणवः (हस्तिन्यः) ताभिः गहनं (दुष्प्रवेशम्), "करेणुरिभ्यां स्त्री नेभे" इत्यमरः। तथा मम सदनं च—पृथुकाऽऽर्तस्वरपात्रं = पृथुकानां (बालकानाम्) य आर्तस्वरः (पीडितशब्दः) क्षुधयेति शेषः। तस्य पात्रम् (भाजनम्) "पृथुकौ चिपिटाऽर्भकौ" इत्यमरः।

यहाँ अर्थान्तरसंक्रमितवाच्य ध्वनि होनेसे कथितपदत्व गुण हो गया है। इसी तरह अन्यत्र भी जानना चाहिए।

सन्दिग्धत्वमिति। इसी तरह व्याजस्तुति (अलङ्कार) में पर्यवसान हो तो सन्दिग्धत्व गुण होता है॥ २० ॥

पृथ्विति। कोई दरिद्र पण्डित किसी राजाको कहता है। हे राजन्! इस समय आपका और मेरा घर समान है। आपका भवन—पृथुकार्तस्वरपात्र अर्थात् पृथु (प्रचुर) कार्तस्वर (सोनेके) पात्रोंसे युक्त है। मेरा भवन भी पृथुकार्तस्वरपात्र अर्थात् पृथुकों (बालकों) के आर्तस्वरों (भूखसे पीड़ित स्वरों) का

वैयाकरणमुख्ये तु प्रतिपाद्येऽथ वक्तरि ।
कष्टत्वं दुःश्रवत्वं वा—

गुण इत्येव ।

यथा—

'दीधीवेवीट्समः कश्चिद् गुणवृद्ध्योरभाजनम् ।
क्विप्प्रत्ययनिभः कश्चिद्यत्र सन्निहिते न ते ॥'

भूषितनिःशेषपरिजनं = भुवि (पृथिव्याम्, आसनाऽभावादिति भावः) उषिताः (उपविष्टाः) निःशेषाः (समस्ताः) परिजनाः (परिवाराः) यस्मिंस्तत् । विलसत्करेणुगहनं = बिले (विवरे) सीदन्ति (अवतिष्ठन्ते) इति बिलसन्तः (मूषिकाः), कुत्सिता बिलसन्तः बिलसत्काः (कुत्सितमूषिकाः) तेषां रेणवः (धूलयः) तैः गहनम् (दुर्गमम्) । श्लेषाऽलङ्कारः । आर्या वृत्तम् ।

अत्र विशेषणपदानां सन्दिग्धत्वेऽपि व्याजस्तुतौ पर्यवसानेन गुणत्वम् ।

कष्टत्वस्य दुःश्रवत्वस्य च गुणत्वं प्रतिपादयति—**वैयाकरणमुख्य इति** । वैयाकरणमुख्ये = व्याकरणज्ञातृप्रधाने, प्रतिपाद्ये = बोद्धव्ये, अथ = वा, वक्तरि = भाषितरि च सति, कष्टत्वं दुःश्रवत्वं वा, गुण इत्येव ।

वैयाकरणमुख्ये वक्तरि सति कष्टत्वस्य गुणत्वमुदाहरति—**दीधीति** । कश्चिद्वैयाकरणः कंचिद्राजानं पृच्छति । हे राजन् !, कश्चित्=कोऽपि, तव रिपुरिति शेषः । दीधीवेवीटसमः="दीधीङ् दीप्तिदेवनयोः" "वेवीङ् वेतिना तुल्ये" इति धातुपाठतः वेवीङ्धातु वींधातुवत् "गतिव्याप्तिप्रजनकान्त्यसन खादनेऽर्थे इत्यतः दीधी धातु र्वेवीङ्धातुरिडागमश्च तैः समः (तुल्यः) "दीधीवेवीटाम्" इति सूत्रात् गुणवृद्ध्योः, अभाजनं = अपात्रम्, निषेधादिति शेषः । तव शत्रोर्दयादाक्षिण्यादयो गुणाः, जनधन-

---

पात्र है । आपका भवन भूषितनिःशेषपरिजन = अर्थात् भूषित (अलङ्कृत) निःशेष (समस्त) परिजनों (अनुचरों) से युक्त है । मेरा भवन भी भूषित-निःशेषपरिजन = अर्थात् भू (भूमि) में उषित (अवस्थित) निःशेषपरिजनों (समस्त परिवारों) से युक्त है । आपका भवन—विलासत्करेणुगहन = अर्थात् विलसत्क-रेणुभिः = सुहाती हुई हथिनियोंसे) गहनम् = दुष्प्रवेश्य, है, मेरा भवन भी बिलस-त्करेणुगहनं = बिलमें रहनेवाले चूहोंकी धूलसे दुर्गम है ।

इस पद्यमें विशेषण पदोंके सन्दिग्ध होनेपर भी व्याजस्तुतिमें पर्यवसान होनेसे गुण है ।

वैयाकरणमुख्य इति । जहाँ वैयाकरण श्रोता अथवा वक्ता हों तो वहाँ कष्टत्व और दुःश्रवत्व गुण होता है । कोई वैयाकरण किसी राजासे पूछता है—हे राजन् ! कोई (आपका शत्रु) दीधी-वेवीट्सम (दीधीङ् और वेवीङ् धातु

अत्रार्थः कष्टः। वैयाकरणश्च वक्ता। एवमस्य प्रतिपाद्यत्वेऽपि।

'अत्रास्मार्षमुपाध्यायं त्वामहं न कदाचन।'

अत्र दुःश्रवत्वम्। वैयाकरणो वाच्यः। एवमस्य वक्तृत्वेऽपि।

—ग्राम्यत्वमधमोक्तिषु ॥ २१ ॥

गुण इत्येव। यथा मम—

क्षेत्रादीनां वृद्धिश्च न सन्तीति भावः। कश्चित्=कोऽपि, जन इति शेषः, क्विप्प्रत्ययनिभः=क्विप्प्रत्ययेन सदृशः, क्विप्प्रत्ययस्य अनुबन्धलोपेनाऽवशिष्टस्य वेरपि 'वेरपृक्तस्य' इत्यनेन सर्वाऽपहारी लोपो भवति। ततश्च लुप्तः=जातलोप एव, अस्तीति किम्। यत्र=जने, सन्निहित इति शेषः। ते=गुणवृद्धी, न सन्निहिते=नो विद्यमाने। कस्याऽपीति शेषः।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, अर्थः कष्टः, अतः कष्टत्वं दुःश्रवत्वं च। अत्र वैयाकरणः = व्याकरणज्ञाता, वक्ता = भाषिता। एवम् = इत्थम्, अस्य = वैयाकरणमुख्यस्य, प्रतिपाद्यत्वेऽपि = बोद्धव्येऽपि, कष्टत्वं दुःश्रवत्वं च गुण इति शेषः।

वैयाकरणमुख्यस्य प्रतिपाद्यत्वे दुःश्रवत्वस्य गुणत्वमुदाहरति—**अत्रेति**। अहम्, अस्मिन् = इह नगरे, उपाध्यायं = वेदैकदेशस्य वेदाङ्गानां वा अध्यापयितारं, त्वां = भवन्तं, कदाचन = जात्वपि, न अस्मार्षं = न स्मृतवान्।

उपपादयति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, दुःश्रवत्वं = दोषः। वैयाकरणः = व्याकरणाऽभिज्ञः, वाच्यः = बोद्धव्यः। अतः तस्य गुणत्वमिति भावः। एवम्, अस्य=वैयाकरणस्य, वक्तृत्वेऽपि=भाषितृत्वेऽपि, दुःश्रवत्वस्य गुणत्वमिति भावः।

अधमोक्तिषु ग्राम्यत्वस्य गुणत्वं प्रतिपादयति—**ग्राम्यत्वमिति**। अधमोक्तिषु=अविदग्धोक्तिषु, ग्राम्यत्व=तन्नामकदोषत्वमपि, गुण इत्येव इति शेषः ॥२१॥

तथा इट् प्रत्ययके समान गुण और वृद्धिका अपात्र, पूर्वोक्त धातुद्वय और इट् आगम इनका "दीधीवेवीटाम्" इस सूत्रसे गुण और वृद्धिका निषेध होता है) और कोई (शत्रु) क्विप् प्रत्यय समानके सर्वलुप्त ही है क्या, जिसके समीप होने पर किसी के भी गुण और वृद्धि दोनों ही नहीं रहते हैं।

इसमें अर्थबोधमें कष्ट होनेपर भी वक्ता वैयाकरण होनेसे कष्टत्व दोष नहीं होता है। इसी तरह बोद्धव्य वैयाकरण होनेपर भी जानना चाहिए, जैसे—**अत्रेति**। हे उपाध्यायजी! यहां मैंने आपका कभी भी स्मरण (याद) नहीं किया।

यहांपर बोद्धव्य (श्रोता) वैयाकरण होनेसे दुःश्रवत्व दोषनहीं होता है। इसी तरह वैयाकरण वक्ता होनेपर दुःश्रवत्व दोष नहीं होता है।

ग्राम्यत्वमिति। अधम पात्रोंकी उक्तियोंमें ग्राम्यत्व गण होता है, जैसे—

'एसो ससहरबिम्बो दीसइ हेअङ्गवीणपिण्डो व्व ।
एदे अस्ससमोहा पडन्ति आसासु दुद्धधार व्व ॥'

इयं विदूषकोक्तिः ।

निर्हेतुता तु ख्यातेऽर्थे दोषतां नैव गच्छति ।

यथा—'संप्रति संध्यासमयश्चक्रद्वन्द्वानि विघटयति ।'

कवीनां समये ख्याते गुणः ख्यातविरुद्धता ॥ २२ ॥

अधमोक्तिषु ग्राम्यत्वस्य गुणत्वमुदाहरति—**एसो इति** ।

"एष शशधरबिम्बो दृश्यते हैयङ्गवीनपिण्ड इव इति ।
एते अस्रसमूहाः पतन्त्याशासु दुग्धधारा इव ॥" (इति संस्कृतच्छाया)

एषः = समीपतरवर्ती, शशधरबिम्बः = चन्द्रमण्डलं, हैयङ्गवीनपिण्ड इव = ह्योगोदोहोद्भवनवनीतपिण्ड इव, ह्योगोदोहस्य विकारो हैयङ्गवीनं नवनीतं, "हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्" इति निपातः । दृश्यते = अवलोक्यते । एते, अस्रसमूहाः= चन्द्रकिरणविसराः, "किरणोस्रमयूखांऽशुगभस्तिघृणिरश्मयः ।" इत्यमरः । आशासु = दिशासु, दुग्धधारा इव = पयःसन्ततय इव, पतन्ति = गलन्ति । उपमाऽलङ्कारः । गाथा वृत्तम् ।

विश्वनाथकविराजस्य पद्यमिदम् । एषाविदूषकोक्तिः । अत्र दुग्धधारापदं ग्राम्यमपि अविदग्धस्य विदूषकस्योक्तिर्बालभाषितवद् गुणत्वं प्राप्नोति ।

ख्यातेऽर्थे निर्हेतुत्वस्य दोषाऽभावं प्रतिपादयति— **निर्हेतुतेति** । ख्याते=लोकप्रसिद्धे, अर्थे = विषये, निर्हेतुता=तदाख्यो दोषः, दोषतां=दोषभावं, नैव गच्छति ।

ख्यातेऽर्थे निर्हेतुतया दोषाऽभावमुदाहरति— **सम्प्रतीति** । सम्प्रति = इदानीं, सन्ध्यासमयः = सायंकालः, चक्रद्वन्द्वानि = चक्रवाकयुगलानि, विघटयति = वियोजयति, परस्परमिति शेषः ।

दोषाऽभावमुपपादयति—सायङ्काले चक्रवाकमिथुनस्य वियोजनं लोकप्रसिद्धमतस्तत्र न हेतोरपेक्षेति न दोषः ।

ख्यातविरुद्धताया गुणत्वं प्रतिपादयति—**कवीनामिति** । कवीनां = काव्यकर्तॄणां, ख्याते = प्रसिद्धे, समये = सिद्धान्ते, "समयाः शपथाचारकालसिद्धान्तसंविदः ।" इत्यमरः । ख्यातविरुद्धतः = तदाख्यो दोषोऽपि, गुणः ॥ २२ ॥

यह चन्द्रमण्डल मक्खनका गोलासा दिखाई पड़ता है । ये किरणसमूह दिशाओंमें दूधकी धाराओंके समान गिर रहे हैं । यह विदूषककी उक्ति है ।

निर्हेतुतेति । प्रसिद्ध अर्थमें निर्हेतुताको दोष नहीं मानते जैसे—**सम्प्रतीति** । अभी सन्ध्याकाल चकवोंके जोडोंको विघटित कर रहा है ।

कवीनामिति । कवियोंके प्रसिद्ध सिद्धान्तमें ख्यातविरुद्धताको गुण मानते हैं।

कविसमयख्यातानि च—

मालिन्यं व्योम्नि पापे, यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्यो
रक्तौ च क्रोधरागौ, सरिदुदधिगतं पङ्कजेन्दीवरादि ।
तोयाधारेऽखिलेऽपि प्रसरति च मरालादिकः पक्षिसङ्घो
ज्योत्स्ना पेया चकोरैर्जलधरसमये मानसं यान्ति हंसाः ॥२३॥

कविसमयख्यातानि = कविसिद्धान्तप्रसिद्धानि वस्तूनि । निर्दिशति—**मालिन्यमिति ।** व्योम्नि = आकाशे, पापे = कल्मषे च, मालिन्यं = मलिनता, कृष्णवर्णतेति भावः । यशसि = जीवतो जनस्य समज्ञायां, "यशः कीर्तिः समज्ञा च"-त्यमरः । तथा हासकीर्त्योः = हासस्य (हास्यस्य) कीर्तेः (मृतस्य जनस्य समज्ञायाश्च) धवलता = शुक्लता, वर्ण्यते = वर्णनं क्रियते । केचित्—सत्कर्मणा कीर्तिर्दानेन च यश इति, अन्ये च—"खड्गादिप्रभवा कीर्तिर्विद्याऽऽदिप्रभवं यश" इति । अत्र प्रमाणं मृग्यम् । क्रोधरागौ = क्रोधः (कोपः) राग (अनुरागः), रक्तौ लोहितवर्णौ, वर्ण्येते इति शेषः । पङ्कजेन्दीवरादि=पङ्कजम् (कमलम्) इन्दीवरम् (नीलकमलम्) आदिपदेन शैवालादिपरामर्शः । तच्च सरिदुदधिगतं = नदीसमुद्रगतं, पङ्कजेन्दीवरादिपदार्थाः = सरिति उदधौ च सामान्यरूपेण वर्ण्यन्त इति भावः ।

अखिलेऽपि=समस्तेऽपि, तोयाधारे=जलाशये मरालादिकः=हंसप्रभृतिः, जलचरपक्षीति भावः । प्रसरति=प्रचलति । चकोरैः=पक्षिविशेषैः, ज्योत्स्ना=चन्द्रिका, पेया=पातव्या । एवं च जलधरसमये=मेघकाले, वर्षर्ताविति भावः । हंसाः=चक्राङ्गाः, पक्षिविशेषाः, मानसं=मानससरोवरं यान्ति=गच्छन्ति रुजाभयादिति केचित् ॥२३॥

कवियोंके सिद्धान्तके अनुसार प्रसिद्ध पदार्थ—रूपरहित आकाश और पापमें मलिनता (कृष्णवर्णता), यश, हास्य और कीर्त्तिमें धवलता (शुक्लवर्णता) वर्णित होती है । क्रोध और राग (अनुराग) लाल वर्णवाले, नदी और समुद्र आदि जलाशयमें भी कमल और नीलकमल आदि वर्णित होते हैं । समस्त जलाशयमें हंस आदि पक्षिसमूह चलते हैं, चकोरोंसे चन्द्रिका (चांदनी) पी जाती है । मेघकाल-(वर्षासमय) में हंस मानससरोवरको जाते हैं ॥ २३ ॥

पादाघातादशोकं विकसति, बकुलं योषितामास्यमद्यै-
यूनामङ्गेषु हाराः, स्फुटति च हृदयं विप्रयोगस्य तापैः ।
मौर्वी रोलम्बमाला धनुरथ विशिखाः कौसुमाः पुष्पकेतो-
र्भिन्नं स्यादस्य बाणैर्युवजनहृदयं स्त्रीकटाक्षेण तद्वत् ।। २४ ।।

अह्न्यम्भोजं, निशायां विकसति कुमुदं, चन्द्रिका शुक्लपक्षे,
मेघध्वानेषु नृत्यं भवति च शिखिनां, नाप्यशोके फलं स्यात् ।

पादाघातादिति—योषितां = स्त्रीणां, पादाघातात् = चरणताडनात्, अशोकं = वञ्जुलवृक्षः पुष्पम्, विकसति = प्रफुल्लं भवति । तथैव योषितम् आस्यमद्यैः = मुखमद्यगण्डूषैः, बकुलं = बकुलवृक्षपुष्पं विकसति । यूनां = तरुणानाम्, अङ्गेषु = शरीरेषु, हाराः = मुक्तामालाः, वर्ण्यन्ते । यूनां हृदयं च = वक्षःस्थलं च, विप्रयोगस्य = विरहस्य, तापैः = सन्तापैः, स्फुटति = विदीर्णं भवति । पुष्पकेतोः = कामदेवस्य, मौर्वी = ज्या, रोलम्बमाला = भ्रमरपङ्क्तिः, वर्ण्यते । पुष्पकेतोः धनुः = चापः, अथ = अथ च, विशिखाः = बाणाः अपि, कौसुमाः = कुसुममया वर्ण्यन्ते । अस्य = पुष्पकेतोः, बाणैः = शरैः, युवजनहृदयं = तरुणजनचित्तं, भिन्नं = विदीर्णं, तथा स्त्रीकटाक्षेण = ललनाऽपाङ्गदर्शनेन, तद्वत् = विदीर्णं, स्यात्, यूनं इति भावः ।। २४ ।।

अह्न्यम्भोजमिति अह्नि = दिवसे, अम्भोजं = कमलं, विकसति = प्रफुल्लति, निशायां = रात्रौ, कुमुदं = कैरवं, विकसति । चन्द्रिका = ज्योत्स्ना, शुक्लपक्षे = पूर्वपक्ष एव, वर्ण्यते । मेघध्वानेषु = जलधरगर्जितेषु, शिखिनां = मयूराणां, नृत्यं = नर्तनं, भवति, अशोके = वञ्जुलवृक्षे, फलं = सस्यं, न स्यात् =

स्त्रियोंके चरणके आघातमें अशोक और उनके मुखकी मदिरासे बकुल- (मौलसिरी) पुष्प खिलता है युवा और युवतियों अङ्गोंमें हार (मोतियोंकी मालाएँ), वर्णित होते हैं, वियोगके सन्तापोंसे हृदय फट जाता है, कामदेवके धनुकी प्रत्यञ्चा भ्रमरोंकी पङ्क्ति और उनके धनु और बाण पुष्परूप माने गये हैं। कामदेवके बाणोंसे युवकजनोंका हृदय जैसे विद्ध होता है वैसे ही स्त्रीकटाक्षसे भी विद्ध होता है ।। २४ ।।

दिनमें कमल और रातमें कुमुद खिलते हैं, शुक्लपक्षमें चाँदनी होती है। मेघोंका गर्जन होनेपर मयूरोंका नृत्य होता है। अशोकमें फल नहीं होता है।

न स्याज्जाती वसन्ते, न च कुसुमफले गन्धसारद्रुमाणा-
मित्याद्युन्नेयमन्यत्कविसमयगतं सत्कवीनां प्रबन्धे ॥ २५ ॥

एषामुदाहरणान्याकरेषु स्पष्टानि ।

धनुर्ज्यादिषु शब्देषु शब्दास्तु धनुरादयः ।
आरूढत्वादिबोधाय—

यथा—'पूरिते रोदसी ध्वानैर्धनुर्ज्यास्फालनोद्भवैः ।'

नो भवेत् । वसन्ते = ऋतौ, = जाती = मालतीपुष्पं, भाषायां "चमेली" नाम्ना प्रसिद्धं, न स्यात् । गन्धसारद्रुमाणां = चन्दनवृक्षाणां, "गन्धसारो मलयजो भद्रश्रीश्चन्दनोऽस्त्रियाम् ।" इत्यमरः, कुसुमफले = पुष्पसस्ये, न स्यातामिति शेषः । इत्यादि = पूर्वकथितम्, अन्यच्च = अपरं च, कविसमयगतं = कविसिद्धान्तगतं, वर्णनीयवस्तुजातमिति शेषः । सत्कवीनां = कालिदासादीनां, प्रबन्धे = सन्दर्भे, उन्नेयं = द्रष्टव्यमिति भावः ॥ २५ ॥

एषामिति । एषां = पूर्वोक्तानां विषयाणाम्, उदाहरणानि = दृष्टान्ताः, आकरेषु = सत्कवीनां प्रबन्धेषु । स्पष्टानि = व्यक्तानि ।

क्वचित्पुनरुक्तताया अदोषत्वं प्रतिपादयति—**धनुर्ज्यादिष्विति** । धनुर्ज्यादिषु = धनुर्ज्याप्रभृतिषु, शब्देषु = पदेषु, धनुरादयः = प्रयुक्ता धनुरादयः, शब्दास्तु = पदानि तु । आरूढत्वादि बोधाय = योजितत्वादिज्ञानाय बोद्धव्या इति शेषः । अयं भावः, ज्या शब्देनैव "मौर्वी ज्या शिञ्जिनी गुण" इति कोषाद्धनुर्गुण इति बोधेन पुनर्धनुष्पदेन न पुनरुक्तता, प्रत्युत धनुषि आरूढत्वबोधो भवति ।

उदाहरति—**पूरिते इति** । धनुर्ज्याऽऽस्फालनोद्भवैः = धनुर्ज्यायाः (कार्मुकगुणस्य) आस्फालनोद्भवैः = ताडनोत्पन्नैः, ध्वानैः = शब्दैः, रोदसी = द्यावापृथिव्यौ, "भूद्यावौ रोदस्यौ रोदसी च ते ।" इत्यमरः । पूरिते = पूर्णे, स्त इति शेषः ।

वसन्त ऋतुमें जाति (चमेली) नहीं होती है । चन्दनके पेड़ोंपर फूल और फल नहीं होते हैं । इत्यादि कविसिद्धान्तगत विषय और अन्य विषयोंको भी उत्तम कवियोंके प्रबन्धमें जानना ॥ २५ ॥

इनके उदाहरण आकर (मूल) ग्रन्थोंमें स्पष्ट हैं ।

धनुर्ज्यादिष्विति । "धनुर्ज्या" आदि शब्दोंमें धनु आदि शब्द आरूढत्व आदि ज्ञानके लिए अर्थात् धनुपर चढी हुई प्रत्यञ्चाका ज्ञान करनेके लिए प्रयुक्त हैं ।

जैसे—**पूरिते इति** । धनुकी प्रत्यञ्चाके ताडनसे उत्पन्न ध्वनियोंसे आकाश और पृथिवी पूर्ण किये गये ।

अत्र ज्याशब्देनापि गतार्थत्वे धनुःशब्देन ज्याया धनुष्यायत्तीकरणं बोध्यते।

आदिशब्दात्—"भाति कर्णावतंसस्ते"।

अत्र कर्णस्थितत्वबोधनाय कर्णशब्दः। एवं श्रवणकुण्डलशिरःशेखर-प्रभृतिः। एवं निरुपपदो मालाशब्दः पुष्पस्रजमेवाभिधत्त इति स्थितावपि 'पुष्प-माला विभाति ते।' अत्र पुष्पशब्द उत्कृष्टपुष्पबुद्ध्यर्थं।

एवं 'मुक्ताहार' इत्यत्र मुक्ताशब्देनान्यरत्नामिश्रितत्वम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, ज्याशब्देनाऽपि, गतार्थत्वे = प्राप्ताऽर्थत्वे, धनुः शब्देन, ज्यायाः = गुणस्य, धनुषि = कार्मुके। आयत्तीकरणम् = अधीनीकरणं, क्वचित् "आततीकरणम्" इति पाठस्तत्र विस्तृतीकरणमित्यर्थः, बोध्यते।

"आरूढत्वादिबोधाय" इत्यत्र आदिशब्दादुदाहरणान्तरं दर्शयति—**भातीति**। हे सुन्दरि!, ते = तव, कर्णाऽवतंसः = श्रोत्राभरणं, भाति = शोभते। अत्र, "अवतंस" पदेनैव "पुंस्युत्तंसाऽवतंसौ द्वौ कर्णपूरे च शेखरे।" इति कोषात् कर्णाऽवतंसबोधेऽपि पुनः, कर्णशब्दः, कर्णस्थितत्वबोधाय।

उदाहरणान्तरे प्रदर्शयति—**एवमिति**। एवं श्रवणकुण्डलशिरःशेखर-प्रभृतिः = "कुण्डलं कर्णवेष्टनम्" इति कोषाऽनुशासनात् कुण्डलपदेनैव श्रवणकुण्डल-रूपाऽर्थबोधेऽपि पुनः श्रवणपदं श्रवणस्थितत्वबोधाय। एवं च "शिरःशेखर" इत्यत्र "शिखास्वापीडशेखरौ" इति कोशाऽनुशासनात् शेखरपदेनैव शिरःशेखर-रूपाऽर्थबोधेऽपि पुनः शिरःपदं शिरःस्थितत्वबोधाय बोध्यम्।

एतादृशे उदाहरणान्तरे प्रदर्शयति—**एवमिति**। एवं, निरुपपदः = उपपद-रहितः, मालाशब्दः, पुष्पस्रजम् एव, अभिधत्ते = प्रतिपादयति, इति स्थितावपि "पुष्पमाला विभाति ते"। अत्र पुष्पशब्द उत्कृष्टपुष्पबुद्ध्यर्थं। एवं "मुक्ताहार"

अत्रेति। यहाँपर 'ज्या' शब्दसे भी "धनुकी प्रत्यञ्चा" ऐसे अर्थके गताऽर्थ होनेपर भी धनुःशब्दसे प्रत्यञ्चाको धनुपर चढ़ाना ऐसा अर्थ समझा जाता है। आदि शब्दसे "भाति कर्णाऽवतंसस्ते" अर्थात् हे सुन्दरि! तुम्हारा कानका भूषण शोभित हो रहा है। यहाँपर "अवतंस" पदसे ही कानका भूषण ऐसा अर्थ होनेपर भी फिर कर्ण शब्दके प्रयोगसे कानमें स्थित भूषण ऐसे अर्थका बोध होता है। इसी तरह "श्रवणकुण्डल" और "शिरःशेखर" आदि शब्द भी जानें।

एवमिति। इसी तरह उपपदरहित (केवल) माला शब्द फूलोंकी मालाका ही बोध करता है ऐसा नियम होनेपर भी "पुष्पमाला विभाति ते" अर्थात् हे सुन्दरि! तुम्हारी फूलोंकी माला शोभित हो रही है। यहाँपर पुष्पशब्द उत्कृष्ट फूलोंके ज्ञानके लिए है। इसी तरह "मुक्ताहार" यहां भी 'हार' पदसे भी मुक्ताओं-

—प्रयोक्तव्याः स्थिता अमी ॥ २६ ॥

धनुर्ज्यादयः सत्काव्यस्थिता एव निबद्धव्याः, न त्वस्थिता 'जघनकाञ्ची-करकङ्कणादयः ।

उक्तावानन्दमग्नादेः स्यान्न्यूनपदता गुणः ।

यथा—

'गाढालिङ्गनवामनीकृतकुचप्रोद्भिन्नरोमोद्गमा
सान्द्रस्नेहरसातिरेकविगलच्छ्रीमन्नितम्बाम्बरा ।

इत्यत्र "हारो मुक्तावली"तिकोषानुशासनात् हारपदेनैव "मुक्ताहार" रूपार्थ-बोधेऽपि पुनर्मुक्ताशब्देनाऽन्यरत्नाऽमिश्रितहारो बोध्यते ।

एतादृशप्रयोगाणामतिप्रसक्तिं वारयति-**प्रयोक्तव्या इति** । अमी=धनुर्ज्यादयः शब्दाः, स्थिताः = सत्काव्यस्थिता एव, प्रयोक्तव्याः = निबद्धव्याः, न तु अस्थिताः= सत्काव्ये अप्रयुक्ताः, जघनकाञ्चीकरकङ्कणादयः । "स्त्रीकट्यां मेखला काञ्ची सप्तकी रशना तथा" इति कोशाऽनुशासनात् काञ्चीपदेनैव "जघनकाञ्ची" रूपार्थबोधेऽपि पुनर्जघनकाञ्चीपदं, तथैव-"कङ्कणं करभूषणम्" इति कोषाऽनुशासनादेव कङ्कणपदेनैव "करकङ्कणरूपार्थबोधेऽपि पुनः करकङ्कणपदं नैव प्रयोक्तव्यमिति भावः ॥२६॥

न्यूनपदताया गुणत्वं प्रदर्शयति—**उक्ताविति** । आनन्दमग्नादेः=हर्षमग्नादेः, आदिपदेन दुःखमग्नस्याऽपि, उक्तौ = कथने, न्यूनपदता = तदाख्यो दोषः । गुणः = गुणो भवति ।

उदाहरति—**गाढालिङ्गनेति** । अमरुशतकस्थं पद्यमिदम् । सख्यौ सख्युरुक्तिरियम् । गाढालिङ्गनेन (दृढाश्लेषेण) वामनीकृतौ (खर्वीकृतौ) कुचौ (स्तनौ) यस्याः, सा चाऽसौ प्रोद्भिन्नः (समुत्पन्नः) रोमोद्गमः (रोमाञ्चः) यस्याः सा । सान्द्रः (निबिडः) यः स्नेहरसः (प्रेमरसः) तस्य अतिरेकेण (आधिक्येन) विगलत् (अपसरत्) श्रीमतः (शोभासम्पन्नात्) नितम्बात्

(मोतियों) की मालाका बोध होनेपर भी फिर "मुक्ता" पदका प्रयोग करनेसे अन्यरत्नोंसे अमिश्रित ऐसे अर्थका बोध होता है ।

प्रयोक्तव्या इति । ऐसे प्रयोग सत्काव्यमें स्थित होनेपर ही प्रयोग करने योग्य हैं ॥ २६ ॥

धनुर्ज्या आदि शब्द सत्काव्यमें स्थित ही प्रयोग योग्य हैं, सत्काव्यमें नहीं रहे हुए जघनकाञ्ची और करकङ्कण आदि शब्द प्रयोग करनेके लिए योग्य नहीं ।

उक्ताविति । आनन्दमें मग्न मनुष्य आदिकी उक्तिमें न्यूनपदत्व गुण होता है । जैसे—**गाढालिङ्गनेत्यादि** । गाढ आलिङ्गनसे छोटे किये गये कुचोंवाली और रोमाञ्चसे युक्त, गाढ प्रेम रसके आधिक्यसे शोभायुक्त जिसके नितम्बसे वस्त्र हट

"मा मा मानद ! माति मामल"मिति क्षामाक्षरोल्लापिनी
सुप्ता किं नु, मृता नु किं, मनसि मे लीना, विलीना नु किम् ॥'
अत्र पीडयेति न्यूनम् ।

क्वचिन्न दोषो न गुणः—

न्यूनपदत्वमित्येव । यथा—

'तिष्ठेत्कोपवशात्प्रभावपिहिता, दीर्घं न सा कुप्यति,
स्वर्गायोत्पतिता भवेन्मयि पुनर्भावार्द्रमस्या मनः ।

(कटिपश्चाद्भागात्) अम्बरं (वस्त्रम्) यस्याः सा । तादृशी सती प्रिया—"हे मानद = हे सम्मानद !, मा = मां, मा = न आयासय, मां, मा अति=न अति-पीडयेति शेषः । अलम् = गाढाऽऽलिङ्गनेन पर्याप्तम् 'अतः परमधुना नालिङ्गयेति, भावः । इति = एवं, क्षामाऽक्षरोल्लापिनी = अल्पवर्णभाषिणी, पीडयेतिपदाऽनुच्चारणादिति शेषः । सा प्रिया, सुप्ता किं नु = निद्रिता किं, स्थिरतया वर्तमानत्वात्, ततः परं कथनाऽभावादिति शेषः । सुप्ताऽपि पुनरुत्थाय यातीत्याशङ्क्याह—मृता नु किं = उपरता किं, चेष्टाराहित्यादिति शेषः । साऽपि परैर्बहिष्कर्तुं शक्या इत्यत आह—मे = मम, प्रियतमस्य, मनसि = चित्ते, लीना किं = ऐक्यं गता किम् । जतुकाष्ठादिवदिति शेषः, विलीना नु किं = बहुसमयपर्यन्तं बहिर्भावाऽभावात् अत्यन्तं लीना किम् ? शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

अत्र न्यूनपदत्वं दर्शयति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे । "पीडय" इति क्रियापदं न्यूनं, तथाऽप्यत्र वक्त्र्या नायिकायाः सान्द्रानन्दजडीभूततया स्तोकपदोच्चारणेऽप्यसामर्थ्यं व्यनक्तीति न्यूनपदत्वं गुणः ।

न्यूनपदत्वे क्वचिद्दोषस्य गुणस्य चाऽभावं प्रदर्शयति—**तिष्ठेदिति** । विक्रमोर्वश्यामुर्वश्यां निलीनायां राज्ञः पुरूरवस उक्तिरियम्—सा=उर्वशी । कोपवशात्= प्रणयक्रोधात्, प्रभावपिहिता = प्रभावेण (सिद्धिविशेषेण) पिहिता (अन्तर्हिता) सती, तिष्ठेत् = अवस्थानं कुर्यात्, संभावनायां लिङ् । पुनः संभावनां खण्डयति—नैतत्, यतः सा, दीर्घं = बहुकालं यावत्, न कुप्यति = न क्रुध्यति । तर्हि—

रहा है. और "हे सम्मान देने वाले ! मुझे पीडित नहीं कीजिए मुझे अतिशय पीडासे बस करें" इस तरह थोड़े अक्षरोंका उच्चारण करनेवाली वह (प्रिया), सो गई क्या, वा मर गई वा मेरे मनमें लीन हो गई क्या अथवा विलीन हो गई क्या ?

यहांपर "मा मा" इसके अनन्तर "पीडय" यह पद न्यून है ।

क्वचिदिति । न्यूनपदत्व भी कहींपर न दोष और न गुण होता है । जैसे—

तिष्ठेदिति । उर्वशीको न देखनेसे राजा पुरुरवाकी उक्ति है । कोपवश प्रभावसे अदृश्य होकर रही है क्या ?, वह बहुत समय तक क्रोध नहीं करती है ।

तां हर्तुं विबुधद्विषोऽपि न च मे शक्ताः पुरोवर्तिनीं
सा चात्यन्तमगोचरं नयनयोर्यातेति कोऽयं विधिः ? ॥'

अत्र प्रभावपिहितेति भवेदिति चेत्यनन्तरं 'नैतद्यतः' इति पदानि न्यूनानि। एषां पदानां न्यूनतायामप्येतद्वाक्यव्यङ्ग्यस्य वितर्काख्यव्यभिचारिभावस्योत्कर्षाऽकरणान्न गुणः। 'दीर्घं न से' त्यादिवाक्यजन्यया च प्रतिपत्त्या तिष्ठेदित्यादिवाक्यप्रतिपत्तेर्बाधः स्फुटमेवावभासत इति न दोषः।

स्वर्गाय = सुरलोकाय, "क्रियार्थोपपदस्य च कर्मणि स्थानिन" इति चतुर्थी। उत्पतिता = उद्गता, भवेत् = स्यात्, नैतत्—अस्याः = उर्वश्याः, मनः = चित्तं, पुनः, मयि = मद्विषये, भावार्द्रं = भावेन (अनुरागेण), आर्द्रम् (स्निग्धम्) अस्तीति शेषः, असुरकर्तृकाऽपहरणशङ्कां निरस्यति—मे = मम, पुरोवर्तिनीम् = अग्रभागस्थितां, ताम् = उर्वशीं, हर्तुं = स्थानान्तरं नेतुं, विबुधद्विषोऽपि = देववैरिणः, असुरा अपि इति भावः, न शक्ताः = न समर्थाः, किमुताऽन्ये। परिशेषयति—सा च = उर्वशी च, नयनयोः = नेत्रयोः, अत्यन्तम् = अतिमात्रम्, अगोचरम् = अविषयं, याता = प्राप्ता, इति = इत्थं, अयं, कः = कीदृशः, विधिः = दैवं, प्रकारो वा, अस्तीति शेषः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

गुणस्य दोषस्य चाऽभावमुपपादयति—अत्रेति। अत्र = पद्ये, प्रथमचरणे—"प्रभावपिहिता" इति पदाऽनन्तरं, द्वितीयचरणे—"भवेत्" इति च, इत्यनन्तरं "नैतद्यतः" इति त्रीणि, पदानि = शब्दाः, न्यूनानि = ऊनानि, एषां = पूर्वोक्तानां, पदानां, न्यूनतायाम् अपि = ऊनतायाम् अपि, एतद्वाक्यव्यङ्ग्यस्य = एतद्वाक्येन, व्यङ्ग्यस्य (व्यञ्जनावृत्त्या प्रतिपाद्यस्य), वितर्काख्यव्यभिचारिभावस्य=वितर्काख्यः (वितर्कनामकः) यो व्यभिचारिभावः ("निर्वेदावेगे"त्यादिकारिकोद्दिष्टः संचारिभावः), तस्य, उत्कर्षाऽकरणात् = उत्कर्षस्य (पुष्टेः) अकरणात् (अविधानात्)

स्वर्गके लिए उड़ी हुई होगी, नहीं, मुझमें उसका मन प्रणय भावसे आर्द्र है। मेरे सामने रही हुई उसका हरण करनेके लिए दैत्य भी समर्थ नहीं हैं। वह नेत्रोंमें अत्यन्त ही अग्राह्य (अदृश्य) हो गई है, यह मेरा कैसा भाग्य है ?

यहां "प्रभावविहिता" (प्रभावसे अदृश्य होती हुई) और "भवेत्" (होगी) इनके अनन्तर—"न एतत् यतः" (यह नहीं है, जिससे कि) ये पद न्यून (कम) हैं। इन पदोंकी न्यूनता होनेपर भी इस वाक्यसे व्यङ्ग्य होनेवाले वितर्क नामक व्यभिचारी भावका उत्कर्ष न करनेसे यह गुण नहीं है। दीर्घं न सा अर्थात् दीर्घकालतक वह कुपित नहीं होती है इत्यादि वाक्यसे उत्पन्न ज्ञानसे "तिष्ठेत्" इत्यादि वाक्यजन्य ज्ञानका बाध स्पष्ट रूपसे प्रकाशित होता है इस कारणसे दोष भी नहीं है।

—गुणः क्वाऽप्यधिकं पदम् ॥ २७ ॥

यथा—

'आचरति दुर्जनो यत्सहसा मनसोऽप्यगोचरानर्थान् ।
तन्न न जाने 'जाने' स्पृशति मनः किं तु नैव निष्ठुरताम् ॥'

अत्र 'न न जाने' इत्ययोगव्यवच्छेदः ।

द्वितीये 'जाने' इत्यनेन "अहमेव जाने" इत्यन्ययोगव्यवच्छेदाद्विच्छित्तिविशेषः ।

न गुणः । एवं "दीर्घं न सा" इत्यादिवाक्यजन्या, या प्रतिपत्तिः = बोधः, तया । बाधः = निरासः, अवभासते = अवदीप्यते ।

कुत्र चिदधिकपदस्य गुणत्वं प्रदर्शयति—**गुण इति** । क्वाऽपि = कुत्राऽपि स्थले, अधिकं पदं, गुणो भवति ॥ २७ ॥

अधिकपदत्वमुदाहरति—**आचरतीति** । दुर्जनः = दुष्टो जनः, मनसोऽपि = चित्तस्याऽपि, अगोचरान् = अग्राह्यान्, अचिन्तनीयानिति भावः. अर्थान् = कार्याणि, यत्, सहसा = अतर्कितरूपेण, आचरति = करोति, तत्, न जाने (इति) न = नो जानामि (इति) न, अपि तु जान एव इति भावः । किन्तु = परन्तु, मनः = चित्तं, निष्ठुरतां = कठोरतां, नैव, स्पृशति = आमृशति, प्राप्नोतीति भावः । आर्या वृत्तम् ।

अधिकपदस्यत्वस्य गुणत्वमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन् उदाहरणे, "व जाने (इति) न" इत्यनेन अयोगव्यवच्छेदः = अयोगस्य (स्वस्मिन्दुर्जनकार्यज्ञानाऽसम्बन्धस्य) व्यवच्छेदः (व्यावृत्तिः) । अयं भावः, अत्र अवधारणाऽर्थकमेवपदं कण्ठतो नोक्तं तथाऽपि नञ्द्वयस्य प्रकृताऽर्थदाढर्य सूचकत्वम्" इति नयेन "अयोगमन्ययोगं च अत्यन्ताऽयोगमेव च । व्यवच्छिनत्ति धर्मस्य एवकारस्त्रिधा मतः ॥"

इति कारिकाऽनुसारं विशेषणसंगत एवकारो विशेष्ये विशेषणस्य अयोगम् असम्बन्धं = व्यवच्छिनत्ति = निवारयति, यथा—"राम एवाऽयम्" अत्र इदमर्थे विशेष्ये रामत्वाऽयोगं व्यवच्छिनत्ति । एवं च प्रकृते "न जाने (इति) न" इत्यनेन

गुण इति । कहीं अधिक पद गुण होता है ॥ २७ ॥ **आचरतीति** । दुर्जन जो मनसे भी अतर्कित कार्योंको कर देता है, उस विषयको नहीं जानता हूँ यह नहीं, किन्तु मन निष्ठुरता नहीं करता है ।

यहाँपर "न न जाने" (नहीं जानता हूँ यह नहीं) इससे अयोग (ज्ञानके असम्बन्ध) का व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) होता है, दूसरे "जाने" इससे मैं ही जानता हूँ इसप्रकार अन्ययोग (दूसरेके ज्ञानके सम्बन्ध) का व्यवच्छेद (व्यावृत्ति) होनेसे चमत्कारविशेष होता है ।

समाप्तपुनरात्तत्वं न दोषो न गुणः क्वचित् ।

यथा—'अन्यास्ता गुणरत्न०—' इत्यादि ।

अत्र प्रथमार्धेन वाक्यसमाप्तावपि द्वितीयार्धवाक्यं पुनरुपात्तम् ।

एवं च विशेषणमात्रस्य पुनरुपादाने समाप्तपुनरात्तत्वं, न वाक्यान्तरस्येति विज्ञेयम् ।

गर्भितत्वं गुणः क्वापि—

आत्मनि दुर्जनकार्यज्ञानाऽसम्बन्धं व्यवच्छिनत्ति । तथा चाऽत्र "अहं जाने" इति कथनेनैव आत्मनि ज्ञानसम्बन्धे प्रतिपादितेऽपि अयोगव्यवच्छेदेन विच्छित्तिविशेषः= चमत्कारातिशयः । अत एवाऽधिकपदत्वेऽपि विच्छित्तिविशेषेण गुणत्वम् ।

यत्र च विशेष्यसंगत एवकारो भवति, यथाऽयमेव राम इत्यत्र विशेष्य इदमर्थे एतद्भिन्ने रामत्वसम्बन्धं व्यवच्छिनत्ति, तथा चाऽत्राऽपि द्वितीय "जाने" इत्यनेन अहमेव जाने (दुर्जनकार्यं जानामि) इति अन्ययोगव्यवच्छेदात् पूर्वाऽपेक्षयाऽपि विच्छितिविशेषः, अतोऽत्र कथितपदत्वेऽपि गुणत्वमेव । यत्र च क्रियासंगत एवकारस्तत्र तस्याऽत्यन्ताऽयोगव्यवच्छेदः, यथा—"शङ्खः पाण्डुरो भवत्येव" इति ।

कुत्र चित्समाप्तपुनरात्तत्वस्य दोषगुणत्वाऽभावं प्रदर्शयति—**समाप्तपुनरात्त्वमिमि ।**

उदाहरति—"अन्यास्ता" इत्यादि । (पृ० २१) । अत्र = उदाहरणे, प्रथमार्द्धेन = पूर्वार्द्धेन, द्वितीयाऽर्द्धवाक्यम् = उत्तरार्द्धवाक्यं श्रीमत्कान्तीत्यादि, पुनरुपात्तं = पुनर्गृहीतम्, विशेषणमात्रस्य, पुनरुपादाने = पुनर्ग्रहणे, विशेषणमात्रस्येत्युपलक्षणं, तेन कर्तृकर्मादीनामन्येषां पदानामपि वाक्यसमाप्तावुक्तौ समाप्तपुनरात्तत्वं, न वाक्यान्तरस्य पुनरुपादाने समाप्तपुनरात्तत्वमिति भावः ।

क्वचिद् गर्भितत्वस्य गुणत्वं प्रतिपादयति—**गर्भितत्वमिति** । क्वाऽपि = कुत्रचित्स्थले, गर्भितत्वं गुणो भवतीति शेषः ।

समाप्तपुनरात्तत्वमिति । कहींपर समाप्तपुनरात्तत्व न दोष होता है न गुण । जैसे—'अन्यास्ता गुणरत्न०" इत्यादि । यहाँ पूर्वार्द्धसे वाक्यकी समाप्ति होनेपर भी उत्तरार्ध वाक्यमें का फिर ग्रहण किया है । इसप्रकार वाक्य समाप्त होनेपर विशेषणमात्रका फिर ग्रहण करनेपर समाप्तपुनरात्तत्व होता है, दूसरे वाक्यके ग्रहण किये जानेपर नहीं, यह जानना चाहिए ।

गर्भितत्वमिति । कहीं गर्भितत्व गुण होता है ।

यथा—

'दिङ्मातङ्गघटाविभक्तचतुराघाटा मही साध्यते
सिद्धा सापि वदन्त एव हि वयं रोमाञ्चिताः पश्यत।
विप्राय प्रतिपाद्यते किमपरं रामाय तस्मै नमो
यस्मात्प्रादुरभूत्कथाद्भुतमिदं यत्रैव चास्तं गतम् ॥'

अत्र वदन्त एवेत्यादि वाक्यं वाक्यान्तरप्रवेशात् चमत्कारातिशयं पुष्णाति।

—पतत्प्रकर्षता तथा ॥ २८ ॥

गर्भितत्वस्य गुणत्वमुदाहरति—**दिङ्मातङ्गेति**। भट्टप्रभाकरस्य पद्यमिदम्। परशुरामस्य प्रशंसापरोक्तिरियम्। दिङ्मातङ्गानां (दिग्गजानाम्) घटया (समूहेन) "करिणां घटना घटे"त्यमरः। विभक्ताः (परिच्छिन्नाः) चत्वारः (चतुःसंख्यकाः) आघाटाः (सीमानः) यस्याः सा, तादृशी मही = पृथिवी, साध्यते = वशीक्रियते। सिद्धा = वशीभूता, अपि, सा = मही, वदन्तः = कथयन्तः, एव, हि, वयं, रोमाञ्चिताः = सञ्जातरोमाञ्चाः, जाता इति शेषः। पश्यत = विलोकयत, यूयमिति शेषः। विप्राय = ब्राह्मणाय, वेदाऽभ्यासिने कश्यपायेति भावः। प्रतिपाद्यते = दीयते, अपरम् = अन्यत्, वृत्तमिति शेषः, किं, वयं ब्रूम इति शेषः। यस्मात् = परशुरामात्, इदम्, कथाद्भुतम् = अद्भुतचरित्रं, प्रादुरभूत् = प्रादुर्भूतं, यत्र = परशुरामे, एव, अस्तं गतं = विलीनमित्यर्थः। यस्मादधिकतरो दानवीरो न भूतो नो भावी वेति भावः। तस्मै = तादृशाय रामाय = जामदग्न्याय, नमः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

अत्र गुणत्वमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन् पद्ये, "वदन्त एव" इत्यादिवाक्यं, वाक्याऽन्तरप्रवेशात् = "सिद्धा, साऽपि विप्राय प्रतिपाद्यते" इति अन्यस्मिन्वाक्ये प्रवेशात्, गर्भितत्वदोषसत्त्वेऽपीति शेषः, चमत्काराऽतिशयं पुष्णाति, वक्तुरतिशयविस्मयरसाविष्टत्वेनेति शेषः। अतो गुणत्वमिति भावः।

क्वचित्पतत्प्रकर्षतायाः गुणत्वं प्रतिपादयति—**पतत्प्रकर्षतेति**। पतत्प्रकर्षता = तदाख्यो दोषः अपि, तथा = क्वचिद्गुणः ॥ २८ ॥

जैसे—**दिङ्मातङ्गेति**। दिग्गजोंके समूहसे जिसकी चार सीमाएं परिच्छिन्न हैं, वैसी पृथिवी वशमें की जाती है, वह भी वशमें जाती हुई—ऐसा कहते हुए हम रोमाञ्चयुक्त हो गये, देख लो—वह ब्राह्मण (कश्यप) को दी जाती है, और क्या कहें? जिन परशुरामसे यह अद्भुत चरित्र प्रादुर्भूत हो गया और उन्हींमें विलीन भी हो गया, वैसे राम (परशुराम) को नमस्कार है। यहाँ वदन्त एव" (कहते हुए ही) इत्यादि वाक्य दूसरे वाक्यके प्रविष्ट होनेसे अतिशय चमत्कारको पुष्ट करता है।

पतदिति। उसी तरह पतत्कर्षता कहीं गुण होता है ॥ २८ ॥

तयेति क्वचित् गुणः। यथा—'चञ्चद्भुज०—' इत्यादि।

अत्र चतुर्थपादे सुकुमारार्थतया शब्दाडम्बरत्यागो गुणः।

क्वचिदुक्तौ स्वशब्देन न दोषो व्यभिचारिणः।

अनुभावविभावाभ्यां रचना यत्र नोचिता ॥ २९ ॥

यत्रानुभावविभावमुखेन प्रतिपादने विशदप्रतीतिर्नास्ति, यत्र च विभावानुभावकृतपुष्टिराहित्यमेवानुगुणं तत्र व्यभिचारिणः स्वशब्देनोक्तौ न दोषः।

यथा—"चञ्चद्भुज" इत्यादि (पृ० ४३६) अत्र=अस्मिन्पद्ये, चतुर्थपादे=उत्तंसयिष्यत्याकारे तुर्यचरणे, सुकुमारार्थतया = कोमलाऽर्थत्वेन, समासाऽभावेनेति भावः, शब्दाडम्बरत्यागः = पदाऽऽटोपहानं, गुणः।

क्वचिद्व्यभिचारिभावस्य स्वशब्देनोक्तावपि दोषाऽभावं प्रतिपादयति—**क्वचिदिति**। यत्र = यस्मिन्स्थले, अनुभावविभावाभ्यां = केवलाऽनुभावविभावाभ्यां, रचना = गुम्फनं, न उचिता = नो योग्या, अभीष्टाऽर्थप्रकाशनाऽसंभवादिति शेषः। तत्र = तादृशे स्थले, व्यभिचारिणः = संचारिभावस्य, स्वशब्देन उक्तौ = कथनेऽपि, न दोषः ॥ २९ ॥

स्वयमेव कारिकां विवृणोति—**यत्रेति**। अनुभावविभावमुखेन = अनुभावविभावबोधकपदमात्रतः, प्रतिपादने = अभीष्टाऽर्थबोधने, विशदप्रतीतिः = स्फुटज्ञानं, नाऽस्ति, यत्र च, विभावाऽनुभावकृतं (विभावाऽनुभावजनितम्) पुष्टिराहित्यम् (पोषणाऽभावः), एव, अनुगुणम् = उचितं, तत्र व्यभिचारिणः = संचारिभावस्य, स्वशब्देन उक्तौ न दोषः।

जैसे—चञ्चद्भुज" इत्यादि। इस पद्यमें चतुर्थ चरणमें सुकुमार अर्थ होनेसे शब्दके आडम्बरका त्याग गुण होता है।

क्वचिदुक्ताविति। जिस स्थलमें अनुभाव और विभावसे रचना उचित नहीं होती हैं। वहाँ व्यभिचारी भाव स्वशब्दसे उक्त होनेपर दोष नहीं होता है ॥ २९ ॥

यत्रेति। जहाँपर अनुभाव और विभावके बोधक पदमात्रसे अभीष्ट अर्थके बोधनमें स्पष्ट ज्ञान नहीं होता है और जहांपर विभाव और अनुभावसे पुष्टि न होना ही उचित है, वहां व्यभिचारी भावको स्वशब्दसे कहनेमें दोष नहीं है।

यथा—

'औत्सुक्येन कृतत्वरा, सहभुवा व्यावर्तमाना ह्रिया,
तैस्तैर्बन्धुवधूजनस्य वचनैर्नीताभिमुख्यं पुनः।
दृष्ट्वाग्रे वरमात्तसाध्वसरसा गौरी नवे सङ्गमे
संरोहत्पुलका हरेण हसता श्लिष्टा शिवायास्तु वः॥'

अत्रौत्सुक्यस्य त्वरारूपानुभावमुखेन प्रतिपादने सङ्गमे न झटिति प्रतीतिः, त्वराया भयादिनापि सम्भवात्। ह्रियोऽनुभावस्य च व्यावर्तनस्य कोपादिनाऽपि सम्भवात्। साध्वसहासयोस्तु विभावादिपरिपोषस्य प्रकृतरसप्रतिकूलप्रायत्वादित्येषां स्वशब्दाभिधानमेव न्याय्यम्।

उदाहरति—**औत्सुक्येनेति**। रत्नावल्यां नान्दीश्लोकोऽयम्। नवे = नूतने, संगमे = समागमे, औत्सुक्येन = उत्कण्ठया हेतुना, कृतत्वरा = विहितसंभ्रमा, पुनश्च—सहभुवा = स्वाभाविक्या, ह्रिया = लज्जया हेतुना, व्यावर्तमाना = निवर्तमाना, ततश्च—बन्धुवधूजनस्य = बान्धवपत्नीसमूहस्य, तैस्तैः = लज्जाऽपहारकैरनेकप्रकारैः, वचनैः = वाक्यैः, पुनः = भूयः, आभिमुख्यं = वासगृहस्य साम्मुख्यं, नीता = प्रापिता। ततश्च—अग्रे = पुरः, वरम् = उपनेतारं, शङ्करमिति भावः, दृष्ट्वा = विलोक्य, आत्तसाध्वसरसा = आत्तः (गृहीतः) साध्वसरसः (भयम्) यया सा। हसता = हास्यं कुर्वता, हरेण = शङ्करेण वरेण, श्लिष्टा = आलिङ्गिता, ततश्च—संरोहत्पुलका = संरोहन्तः (उत्पद्यमानाः) पुलकाः (रोमाञ्चाः) यस्याः, सा, कामावेशेनेति शेषः। तादृशी गौरी = पार्वती। वः = युष्माकं, शिवाय = कल्याणाय, अस्तु = भवतु। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

दोषाऽभावमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, औत्सुक्यस्य = व्यभिचारिभावस्य, त्वरारूपाऽनुभावमुखेन = त्वरारूपः योऽनुभावः, तन्मुखेन (तद्द्वारा), प्रतिपादने = विधाने, संगमे = हरेण गौर्याः समागमे, न झटिति प्रतीतिः = न औत्सुक्यस्य शीघ्रं ज्ञानम्, कुतः—त्वरायाः = संभ्रमस्य, भयादिनाऽपि, संभवात् = उत्पत्तेः, ह्रियः = लज्जारूपव्यभिचारिभावस्य, अनुभावस्य=कार्यरूपस्य,

---

जैसे—**औत्सुक्येनेति**। नये समागममे उत्कण्ठासे शीघ्रता करती हुई, तथा स्वाभाविक लज्जासे पीछे हटती हुई, बान्धवस्त्रियोंके अनेक प्रकारके वचनोंसे सम्मुख लाई गई और आगे वर (शिव) को देखकर डरती हुई तथा हँसते हुए शिवजीसे आलिङ्गित और रोमाञ्चयुक्त पार्वती तुम लोगोंके कल्याणके लिए हों।

अत्रेति। इस पद्यमे पार्वतीकी उत्कण्ठाका त्वरारूप अनुभावसे प्रतिपादन करनेमें संगमकी शीघ्र प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि त्वरा (शीघ्रता) तो भय आदिसे भी हो सकती है। इसी तरह लज्जारूप व्यभिचारी भावका अनुभाव व्यावर्तन (पीछे

सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य बाध्यत्वेन वचो गुणः ।

यथा—

'क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्–' इत्यादि ।

अत्र प्रशमाङ्गानां वितर्कमतिशङ्काधृतीनामभिलाषाङ्गौत्सुक्यस्मृतिदैन्यचिन्ताभिस्तिरस्कारः पर्यन्ते चिन्ताप्रधानमास्वादप्रकर्षमाविर्भावयति ।

व्यावर्तनस्य = निवर्तनस्य, कोपादिनाऽपि, संभवात् = उत्पत्तेः । साध्वसहासयोस्तु= भयहास्ययोस्तु, व्यभिचारिभावविशेषयोस्तु, विभावादिपरिपोषस्य=विभावादिभिः (विभावाद्यभिधानैः) परिपोषस्य, प्रकृतरसस्य (शृङ्गाररसस्य) प्रतिकूलप्रायत्वात् (विरोधिप्रायत्वात्), इति = पूर्वोक्तहेतुतः, एषाम् = औत्सुक्यह्रीसाध्वसहास्यरूपव्यभिचारिभावानां, स्वशब्दाऽभिधानं = स्वशब्दैः (तत्तदात्मपदैः) अभिधानम् (कथनम्) एव, न्याय्यं = न्यायादनपेतं, नो दोषावहमिति भावः ।

सञ्चार्यादेर्विरुद्धस्य गुणत्वं प्रतिपादयति—**सञ्चार्यादेरिति ।**

विरुद्धस्य = प्रकृतरसादिप्रतिकूलस्य, सञ्चार्यादेः = व्यभिचारिभावादेः, आदिपदेन विभावाऽनुभावयोश्च बाध्यत्वेन=अभिभूयमानत्वेन, वचः=कथनं, गुणः ।

उदाहरति—**क्वाकार्यं शशलक्ष्मणः क्व च कुलम्**'' इत्यादि ।

उपपादयति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन् पद्ये, प्रशमाऽङ्गानां = प्रशमस्य (शान्तरसस्थायिभावशमस्य) अङ्गानां (सहायकानाम्), वितर्कादीनाम्, अभिलाषाऽङ्गानि = औत्सुक्यस्मृतिदैन्यचिन्ताः (शृङ्गाररसनिर्वाहिकाः) ताभिः, तिरस्कारः = न्यक्करणं, पर्यन्ते = अन्तभागे, ''कःखलु युवा धन्योऽधरं धास्यति इत्यनेन । चिन्ताप्रधानं = चिन्ता एव प्रधानं (प्रमुखम्) यस्मिंस्तं, तादृशम् आस्वादप्रकर्षं =रसप्रकर्षं, विप्रलम्भशृङ्गारपरिपोषम्, आविर्भावयति=प्रादुर्भावयति, करोतीति भावः । अतो गुणत्वं बोध्यम् ।

हटना) कोप आदिसे भी हो सकता है । भय और हास्यरूप व्यभिचारी भावोंका विभाव आदिसे परिपोष प्रकृत (शृङ्गार) रसका प्रतिकूल (विरोधी) होनेसे इन (औत्सुक्य, ह्री, साध्वस,—व्यभिचारी) भावोंका स्वशब्दरेसे कहना ही उचित है । **संचार्यादेरिति** । विरुद्ध रसके संचारी आदि भावोंका बाध्यरूपसे कथन गुण होता है (दोष नहीं) ।

जैसे—**क्वाऽकार्यमिति** । इस पद्यमें (शान्त रसका स्थायी भाव) प्रशमके अङ्ग—वितर्क, मति, शङ्का और धृतिका, अभिलाषके अङ्ग—औत्सुक्य, स्मृति, दैन्य और चिन्ता इनसे तिरस्कार पर्यन्तमें चिन्ताप्रधानविप्रलम्भशृङ्गारके परिपोषको प्रकट करता है ।

विरोधिनोऽपि स्मरणे साम्येन वचनेऽपि वा ॥ ३० ॥
भवेद्विरोधो नान्योन्यमङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तयोः ।

क्रमेण यथा—

'अयं स रशनोत्कर्षी-' इत्यादि ।

अत्रालम्बनविच्छेदे रतेररसात्मतया स्मर्यमाणानां तदङ्गानां शोकोद्दीपकतया करुणानुकूलता ।

क्वचिद्विरोधिरसयोरपि दोषाऽभावं प्रतिपादयति—**विरोधिनोऽपीति ।** १—विरोधिनः = विरोधिरसस्य अपि, अङ्गभूतस्येति भावः । स्मरणे = स्मृतौ, २—अथवा विरोधिनः अपि, साम्येन = सादृश्येन, वचने = प्रतिपादने ॥ ३० ॥

३—तथा अङ्गिनि = प्रधानत्वेन स्थिते, कस्मिश्चिद्रसे भावादौ वा इति शेषः । अङ्गत्वम् = अप्रधानभावम्, आप्तयोः = प्राप्तयोः, कयोश्चिद्विरोधिनो रसयोरिति भावः । अन्योन्यं = मिथः, विरोधः = प्रतिकूलत्वमित्यर्थः । न भवेत्, प्रत्युत गुण एव । आप्तयोरित्यत्र द्विवचनं बहूनामुपलक्षणम् ।

१—विरोधिनो रसस्य स्मरणे विरोधाऽभावमुदाहरति—**अयं स इति ।** पद्यमिदं चतुर्थपरिच्छेदे व्याख्यातपूर्वम् । (३४३ पृ०) ।

दोषाऽभावमुपपादयति—**अत्रेति ।** अत्र = अस्मिन् पद्ये, आलम्बनविच्छेदे = आलम्बनस्य (नायकस्य भूरिश्रवसः) विच्छेदे (मरणे) सति, रतेः = शृङ्गारस्थायिभावस्याऽनुरागस्य, अरसात्मतया = शृङ्गाररसत्वेन अनास्वाद्यरूपत्वेन, स्मर्यमाणानां = क्रियमाणस्मरणाना, तदङ्गानां=शृङ्गाराऽनुभावानां, रसनोत्कर्षणादीनामिति शेषः । शोकोद्दीपकतया = शोकस्य (प्रधानरसकरुणस्थायिभावस्य) उद्दीपकतया (परिपोषकत्वेन), करुणस्य (प्रधानरसकरुणस्य) अनुकूलता (अनुगुणता) ॥

विरोधिनोऽपि । १ विरोधीरसके भी स्मरणमे, २ विरोधी रसके सादृश्यसे प्रतिपादनमें ॥ ३० ॥ तथा ३ अङ्गी (प्रधान) किसी रस और भाव आदिमें अङ्गत्व (अप्रधानत्व) को प्राप्त किन्हीं दो विरोधियोंका परस्पर विरोध नहीं होता है.। क्रमसे जैसे—"अयं स रसनोत्कर्षी" इत्यादि इस पद्यमें आलम्बन- (नायक, भूरिश्रवा) के मरण होनेपर शृङ्गार रसका स्थायिभाव रतिका अनास्वाद्य होनेसे स्मरण किये जानेवाले शृङ्गारके अनुभावोंका शोकके उद्दीपक होनेसे करुण रसकी अनुकूलता होती है ।

'सरागया स्रुतघनघर्मतोयया कराहतिध्वनितपृथूरुपीठया।
मुहुर्मुहुर्दशनविलङ्घितोष्ठया रुषा नृपाः प्रियतमयेव भेजिरे ॥'

अत्र सम्भोगशृङ्गारो वर्णनीयवीरव्यभिचारिणः क्रोधस्यानुभावसाम्येन विवक्षितः।

२—विरोधिनो रसस्य साम्येन वचने विरोधाऽभावमुदाहरति—**सरागयेति।** शिशुपालवधस्य सप्तदशसर्गस्थं पद्यमिदम्। नृपाः = राजानः, शिशुपालपक्षस्याः, सरागया = लौहित्ययुक्तया क्रोधद्योतिकयेति शेषः। पक्षाऽन्तरे—अनुरागसहितया च; "रागस्तु मात्सर्ये लोहितादिषु। क्लेशादावनुरागे च गान्धारादौ नृपेऽपि चे"ति मेदिनी। स्रुतघनघर्मतोयया = स्रुतं (गलितम्, आवेगात्, सत्त्वोद्रेकाच्चेति शेषः) घनं (निबिडम्) घर्मतोयं (स्वेदोदकम्) यस्यां सा, तया। कराहतीत्यादिः०= करस्य (हस्तस्य) आहत्या (आघातेन) ध्वनितं (शब्दितम्) पृथु (महत्) ऊरुपीठं (सक्थिप्रदेशः) यस्यां, तया। वीराः कोपे सति सक्थिप्रदेशं, कामुकाश्च मदनोद्दीपनाय कामिन्या ऊरुदेशं ताडयन्तीत्यनुसृत्योक्तिरियम्), तथा—मुहुर्मुहुः=वारं वारं, दशनेत्यादिः०=दशनैः (दन्तैः) विलङ्घितः (अतिक्रान्तः, दष्ट इतिभावः "विखण्डित" इति पाठेऽपि दष्ट इत्यर्थः) ओष्ठः (अधरः) यस्यां, तया तादृश्या, रुषा = क्रोधेन, प्रियतमया = दयिततमया, इव, भेजिरे=सेविताः। प्रकृतवीररसस्य व्यभिचारिभावः क्रोध आविर्भूत इति भावः। उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः। रुचिरा वृत्तम्।

विरोधाभावमुपपादयति—**अत्रेति।** अत्र=अस्मिन्पद्ये, संभोगशृङ्गारः वर्णनीयस्य (प्रकृतस्य) वीरे (वीररसे) व्यभिचारिणः (सञ्चारिभावस्य), क्रोधस्य = कोपस्य, अनुभावसाम्येन = सरागत्वादिस्थितिसादृश्येन, विवक्षितः = वक्तुमिष्टः कविनेति शेषः। अतोऽत्र वीररस-विरोधिनोऽपि क्रोधस्य साम्येन वचनान्न विरोधः।

विरोधी रसके साम्यसे प्रतिपादनमें अविरोध दिखलाते हैं **सरागयेति।** राजालोग राग (लौहित्य वा अनुराग) से युक्त, चूते हुए पसीनेसे युक्त, जिसने हाथके आघातसे विशाल ऊरुस्थलको ध्वनित किया है, वारं वार दांतोंसे ओष्ठको दष्ट करनेवाली ऐसी प्रियतमाकी समान रुष् (क्रोध)से सेवित हुए।

इस पद्यमें संभोग शृङ्गार, वर्णनीय वीर रसके व्यभिचारी भाव क्रोधके अनुभावके साम्यसे विवक्षित है।

अङ्गी (प्रधान) भावमें अङ्गभूत रसोंका अविरोध दिखलाते हैं।

'एकं ध्याननिमीलनान्मुकुलितप्रायं, द्वितीयं पुनः
पार्वत्या वदनाम्बुजस्तनभरे सम्भोगभावालसम्।
अन्यद् दूरविकृष्टचापमदनक्रोधानलोद्दीपितं
शम्भोर्भिन्नरसं समाधिसमये नेत्रत्रयं पातु वः ॥'

अत्र शान्तशृङ्गाररौद्ररसपरिपुष्टा भगवद्विषया रतिः।

३—अङ्गिति (भावे) अङ्गत्वं प्राप्तानां (रसानाम्) विरोधाऽभावमुदाहरति—**एकमिति**। एकं, शम्भोर्नेत्रमिति शेषः। ध्याननिमीलनात् = ध्यानेन (ब्रह्मचिन्तनेन हेतुना) निमीलनात् (मुद्रणात्) मुकुलितप्रायं = मुद्रितपद्माकारमिति भावः, पुनः, द्वितीयं (नेत्रम्) पार्वत्याः = गौर्याः, वदनाऽम्बुजस्तनभरे = वदनाऽम्बुजे (मुखकमले) स्तनभरे (कुचभारे) च, "सर्वो द्वन्द्वो विभाषयैकवद्भवतीति" परिभाषया समाहारद्वन्द्वः। संभोगभावाऽलसं=संभोगः (वदनाऽम्बुजे चुम्बनं, स्तनभरे च—आलिङ्गनम्) तस्य भावः (अभिप्रायः), तेन अलसम् (निश्चलम्), अन्यत्= अपरं, तृतीयनेत्रमितिभावः। दूरेत्यादिः• = दूरात् (विप्रकृष्टप्रदेशात्) विकृष्टः (आकृष्टः) चापः (धनुः) येन सः, तादृशो यो मदनः (कामदेवः) तस्मिन् यः क्रोधाऽनलः (कोपाऽग्निः), तेन हेतुना उद्दीपितम् (उज्ज्वलितम्), अत एव— समाधिसमये = योगाऽभ्यासकाले, भिन्नरसम् = अनेकरसं, विरुद्धबहुरसव्यञ्जकमिति भावः। एतादृशं, शम्भोः = शङ्करस्य, नेत्रत्रयं = नयनत्रितयं, वः = युष्मान्, पातु = रक्षतु। अत्र भगवच्छम्भुविषयकरतित्वेन भावकाव्यत्वम्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

अङ्गिन्यङ्गत्वमाप्तानां रसानां विरोधाऽभावमुपपादयति—**अत्रेति**। अत्र= अस्मिन्पद्ये, शान्तेत्यादिः० = शान्तेन (प्रथमचरणे) शृङ्गारेण (द्वितीयचरणे) रौद्ररसेन (तृतीयचरणे) परिपुष्टा (परिपोषं प्राप्ता) भगवद्विषया = श्रीशम्भुविषया, रतिः = रतिभावः, प्रधानम्। तथा चाऽत्र राजाऽनुगतविवाहप्रवृत्तभृत्यवदङ्गिनो भगवद्विषयरतिभावस्याऽङ्गभावेन प्रवृत्तानामपि शान्तशृङ्गाररौद्ररसानां नाऽन्योन्यविरोध इति भावः। तथा चाऽत्र शान्तादिपदं च तत्तत्स्थायिभावपरं बोद्धव्यम्।

एकमिति। शिवजीका एक नेत्र, ध्यानसे मूदनेसे कुड्मलके सदृश, दूसरा नेत्र, पार्वतीके मुखकमल और स्तनभारमें संभोग भावसे निश्चल, तीसरा नेत्र; दूरसे धनु खींचनेवाले कामदेवमें क्रोधाऽग्निसे उद्दीप्त इस तरह समाधिके समय शम्भुके भिन्न (शान्त, शृङ्गार और रौद्र) रसोंसे युक्त तीनों नेत्र तुमलोगोंकी रक्षा करें।

यहां शान्त शृङ्गार और रौद्र रससे भगवद्विषयक रति परिपुष्ट है।

अङ्गी (प्रधान) में अङ्गत्व प्राप्त रसोंका अविरोध दिखलाते हैं—

यथा वा—

'क्षिप्तो हस्तावलग्नः, प्रसभमभिहतोऽप्याददानोंऽशुकान्तं,
गृह्णन् केशेष्वपास्तश्चरणनिपतितो नेक्षितः संभ्रमेण।
आलिङ्गन् योऽवधूतस्त्रिपुरयुवतिभिः साश्रुनेत्रोत्पलाभिः
कामीवार्द्रोऽपराधः स दहतु दुरितं शाम्भवो वः शराग्निः॥'

अत्र कविगता भगवद्विषया रतिः प्रधानम्। तस्याः परिपोषकतया भगवतस्त्रिपुरध्वंसं प्रत्युत्साहस्यापरिपुष्टतया रसपदवीमप्राप्ततया भावमात्रस्य करुणोऽङ्गम्। तस्य च कामीवेति साम्यबलादायातः शृङ्गारः।

परम्परयाऽङ्गत्वं प्राप्तयोरपि रसयोर्विरोधाऽभावमुदाहरति—**क्षिप्त इति।** अमरुशतकस्थं पद्यमिदम्। त्रिपुरदाहे शाम्भवं शराऽग्निं वर्णयति। साऽश्रुनेत्रोत्पलाभिः = साऽश्रूणि (अश्रुसहितानि, एकत्र शोकादन्यत्र ईर्ष्यामानादिति शेषः) नेत्रोत्पलानि (नयनकुवलयानि) यासां, ताभिः त्रिपुरयुवतिभिः = त्रिपुरस्थिततरुणीभिः। यः शाम्भवः = शम्भुसम्बन्धी, शराऽग्निः = बाणाऽनलः, सद्यः=तत्क्षणे, कृताऽपराधः = कृतः (विहितः) अपराधः (मन्तुः) येन सः, तादृशः कामी = कामुकः पतिः, इव, हस्ताऽवलग्नः = हस्तेषु (करेषु) अवलग्नः (संसक्तः), एकत्र—दाहार्थम्, अपरत्र—प्रणयकोपभञ्जनाऽर्थमिति शेषः। क्षिप्तः = दूरमपसारितः, तदनन्तरं—प्रसभं = बलात्कारसहितं यथा तथा, अभिहतोऽपि = ताडितोऽपि, अंशुकाऽन्तम् = वस्त्रप्रान्तम्, आददानः = गृह्णन्, तदनन्तरं, केशेषु = कुन्तलेषु, गृह्णन् = आददानः, एकत्र—दाहाऽर्थम्, अपरत्र चुम्बनाऽर्थमितिशेषः। अपास्तः = निराकृतः। ततश्च—चरणनिपतितः = पादपतितः, सन्नपीति शेषः। संभ्रमेण = त्वरया, न ईक्षितः = न अवलोकितः, तदनु—आलिङ्गन् = आश्लिष्यन्, अवधूतः = परित्यक्तः, सः = तादृशः, शाम्भवः = शम्भुसम्बन्धी, शराऽग्निः = बाणाऽनलः, वः = युष्माकं, दुरितं = पापं, दहतु = भस्मीकरोतु, नाशयत्विति भावः। स्रग्धरा वृत्तम्।

अत्र रसयोर्विरोधाऽभावमुपपादयति—**अत्रेति।** अत्र = अस्मिन् पद्ये। कविगता = कविस्थिता, भगवद्विषया = शम्भुगोचरा, रतिः = अनुरागः, प्रधानं =

क्षिप्त इति। जिनके नेत्रकमल आँसुओंसे पूर्ण है, ऐसी त्रिपुरकी युवतियोंसे नूतन अपराध करनेवाले कामुक पुरुषके तुल्य, हाथको स्पर्श करते समय हटादिया गया, जोरसे ताडन करनेपर भी वस्त्रके छोरको पकड़ता हुआ, केशोको पकड़नेपर हटा दिया गया और पैरोंपर पड़ा हुआ भी शीघ्रताके कारण नहीं देखा गया ऐसा शिवजीका बाणाऽग्नि तुम्हारे पापका दाह करे।

इस पद्यमें कविमें स्थित शिवविषयक रति (भक्ति) प्रधान है। उसका परिपोषक है भगवान्का त्रिपुरध्वंसके लिए उत्साह। वह परिपुष्ट न होनेसे वीर

एवं चाविश्रान्तिधामतया करुणस्याप्यङ्गतेवेति द्वयोरपि करुणशृङ्गारयोर्भगवदुत्साहपरिपुष्टतद्विषयरतिभावास्वादप्रकर्षकतया यौगपद्यसद्भावादङ्गत्वेन न विरोधः।

ननु समूहालम्बनात्मकपूर्णघनानन्दरूपस्य रसस्य तादृशेनेतररसेन कथं विरोधः सम्भावनीयः ? एकवाक्ये निवेशप्रादुर्भावयौगपद्यविरहेण परस्परोपमर्द-

---

मुख्यम्। तस्याः=रतेः, परिपोषकतया, स्थित इति शेषः। उत्साहः, तस्य अपरिपुष्टतया = विभावादिभिरिति शेषः। भावमात्रस्य = भावरूपेणाऽवस्थितस्योत्साहस्य। साम्यबलात्=सदृशविशेषणमहिम्नः, तस्य च=शृङ्गारस्य च, अविश्रान्तिधामतया = विश्रामधामाऽभावत्वेन, अङ्गता = अप्रधानता। भगवदुत्साहेत्यादिः०= भगवतः (शम्भोः), उत्साहेन (त्रिपुरध्वंसं प्रति अध्यवसायभावेन) परिपुष्टः (परिपोषं प्राप्तः) यः तद्विषयः (शम्भुविषयः) रतिभावः (अनुरागभावः) तस्य य आस्वादः (रसप्रायता) तस्य प्रकर्षकतया (उत्कर्षकत्वेन, परिपोषकत्वेनेति भावः) यौगपद्यसद्भावात् = एककालाऽवच्छेदेन स्थितेः, न विरोधः।

रसविरोधमाशङ्कते—**नन्विति**। समूहालम्बनेत्यादिः० = नानाप्रकारतानिरूपितनानाविशेष्यताशालिज्ञानं समूहालम्बनम्, विभावादिनिष्ठा या नानाप्रकारता, तन्निरूपिता शृङ्गारादिनिष्ठा या नानाविशेष्यता, तच्छालिज्ञानं समूहालम्बनमिति भावः। तत् आत्मा (स्वरूपम्) यस्य सः तादृशः पूर्णः (अखण्डः) घनः (निबिडः) आनन्दः, रूपं (स्वरूपम्) यस्य, तस्य, तादृशस्य रसस्य = शृङ्गारादेः, तादृशेन = तत्सदृशेन, इतररसेन = अन्यरसेन, करुणादिनेति भावः। कथं = केन प्रकारेण, विरोधः, संभावनीयः = संभाव्यः।

रसानां मिथो विरोधेऽसंभावनामुपपदयति—**एकवाक्य इति**। निवेशप्रादुर्भावेत्यादिः० = निवेशप्रादुर्भावयोः (स्थित्युत्पत्त्योः) यौगपद्यस्य (समकालत्वस्य) विरहेण (अभावेन), परस्परोपमर्दकत्वाऽनुपपत्तेः = परस्परं (मिथः) यत् उपमर्दकत्वम् (बाधकत्वम्) तस्य अनुपपत्तेः (असङ्गतेः)। परस्परोप-

---

रसकी पदवीको प्राप्त नहीं है, अतः भावमात्र उस (उत्साह) का करुणरस अङ्ग है। उस करुण रसका "कामी इव" ऐसे साम्यबलसे आया हुआ शृङ्गार अङ्ग है। इस प्रकार विश्रामका स्थान न होनेसे करुण रस भी अङ्ग ही है, अतः करुण और शृङ्गार इन दोनोंका ही भगवान् शिवजीका त्रिपुरध्वंसमें उत्साहसे परिपुष्ट शम्भुविषयक रतिभावके आस्वादका परिपोषक होनेसे इनका यौगपद्य अर्थात् एक कालमें अवस्थिति होनेपर भी विरोध नहीं है।

रसविरोधकी आशङ्का करते हैं—**नन्विति**। विभावादि-समूहविषयक पूर्ण और घन आनन्दरूप रसका वैसे ही अन्य रससे कैसे विरोधकी संभावना है ?

कत्वानुपपत्तेः। नाप्यङ्गाङ्गिभावः, द्वयोरपि पूर्णतया स्वातन्त्र्येण विश्रान्तेः।

सत्यमुक्तम्। अत एवात्र प्रधानेतरेषु रसेषु स्वातन्त्र्यविश्रमराहित्यात्पूर्णरसभावमात्राच्च विलक्षणतया संचारिरसनाम्ना व्यपदेशः प्राच्यानाम्।

अस्मत्पितामहानुजकविपण्डितमुख्यश्रीचण्डीदासपादानां तु खण्डरसनाम्ना।

मर्दकत्वमेव विरोधः, स च विरोध एकस्मिन्काले एकस्मिन्नेव स्थाने स्थितानां प्रादुर्भूतानां वा संजायते, परं रसानां ज्ञानानन्दरूपत्वेन क्षणिकत्वात् "अयौगपद्या-ज्ज्ञानानां तस्याऽणुत्वमिहेष्यत" इति सिद्धान्तेन चाऽसंभव इति भावः।

रसानामङ्गाङ्गिभावं च निरसितुमुपक्रमते—**नाऽपीति**। नाऽप्यङ्गाङ्गिभावः = गुणप्रधानभावः।

तत्र हेतुं प्रदर्शयति—**द्वयोरपीति**। द्वयोरपि = रसयोः, द्विशब्दोऽनेकोपलक्षणम्, पूर्णतया = अखण्डतया, स्वातन्त्र्येण = प्रधानत्वेन, विश्रान्तेः = विश्रामात्, अवस्थानादिति भावः।

समाधत्ते सिद्धान्तं च प्रदर्शयति—**सत्यमिति**। सत्यमुक्तम्। अत एव = विरोधस्याऽङ्गाङ्गिभावस्य चाऽसंभवात्। अत्र = एतादृशे स्थले, अनेकरसानामेकत्राऽवस्थानस्थल इति भावः। प्रधानेतरेषु = प्रधानभिन्नेषु, अप्रधानरसेष्विति भावः। स्वातन्त्र्यविश्रमराहित्यात् = स्वातन्त्र्येण (प्राधान्येन) यो विश्रमः (अवस्थानम्) तस्य राहित्यात् (अभावात्), च, विलक्षणतया = विसदृशत्वेन, विभिन्नरूपत्वेनेति भावः। प्राच्यानां = प्राचीनाचार्याणां, सञ्चारिरसनाम्ना, व्यपदेशः=व्यवहारः।

चण्डीदासमतानुसारेण सञ्चारिरसस्य नामान्तरं निर्देष्टुमुपक्रमते—**अस्मादिति**। अस्मत्पितामहस्य (विश्वनाथपितृपितुः) अनुजाः (अवरजाः) ये कविपण्डितमुख्याः (कवयितृविद्वद्वर्याः) श्रीचण्डीदासपादाः, तेषां, मतेन तु, खण्डरसनाम्ना, व्यपदेश इति शेषः।

एकवाक्यमें इनका एक ही समयमें स्थिति और उत्पत्ति न होनेसे इन दोनोंमें एक दूसरेका उपमर्दक नहीं हो सकता है। इन दोनोंका अङ्गाङ्गिभाव भी नहीं हो सकता है, अर्थात् ये दोनों एक अङ्ग (अप्रधान) और दूसरा अङ्गी (प्रधान) भी नहीं हो सकते हैं। क्योंकि दोनों ही रसोंकी पूर्णतासे स्वतन्त्रतासे विश्राम होता है। समाधान करते हैं—आपने सत्य कहा। इसी कारणसे यहां प्रधानसे भिन्न (अप्रधान) रसोंमें स्वतन्त्रतासे विश्राम न होनेसे और पूर्ण रस और पूर्ण भावोंसे विलक्षण (असमान) होनेसे प्राचीन आचार्यलोग इसका सञ्चारिरसके नामसे व्यवहार करते हैं। हमारे (विश्वनाथकविराजके) पितामहके भाई कविपण्डित चण्डीदासजी इनका "खण्डरस" नामसे व्यवहार करते हैं।

यदाहुः—

'अङ्गं बाध्योऽथ संसर्गी यद्यङ्गी स्याद्रसान्तरे ।
नास्वाद्यते समग्रं तत्ततः खण्डरसः स्मृतः ॥' इति ।

ननु 'आद्यः करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः' इत्युक्तनयेन विरोधिनोर्वीर-शृङ्गारयोः कथमेकत्र—

यदाहुरिति । अङ्गमिति । अङ्गी = मुख्योऽपि रसः, रसान्तरे = अन्यस्मिन् रसे, अङ्गम्=अप्रधानम्, अप्रधानत्वादुपकारी एव न उपकार्य इति भावः । बाध्यः = विरोध्यः, अथ = अथवा, संसर्गी = अविरोधी, प्रधानाऽनुपकारितया स्वातन्त्र्येण-मिलितः, स्यात् = भवेत्, ततश्च = कारणात्, समग्रं = संपूर्णं, न आस्वाद्यते = न अनुभूयते, तत् = तर्हि, सः खण्डरसः, स्मृतः = स्मृतिविषयीभूतः, भवतीति शेषः । तत्राऽङ्गं यथा—"एकं ध्याननिमीलनात्" इत्यादौ शान्तशृङ्गाररौद्ररसाः भगव-द्विषयरतेरङ्गभूताः ।

बाध्यो यथा—"अयं स रसनोत्कर्षी" इत्यादौ शृङ्गारः, करुणस्य बाध्यः = विरोध्यः ।

संसर्गी—"कपोले जानक्या" इत्यादौ शृङ्गारो वीरस्य, संसर्गी=अविरोधी । अङ्गादय एते त्रयोऽपि समग्रत्वेन आस्वादनाऽभावाच्चण्डीदासमतेन खण्डरसा इति भावः ।

विरोधिनोर्वीरशृङ्गारयोः कथमेकत्र समावेश इत्याशङ्कितुमुपक्रमते—नन्विति । आद्यः = प्रथमः, शृङ्गार इति भावः, करुणबीभत्सरौद्रवीरभयानकैः = रसैः, विरोधभाक् = विरोधीत्यर्थः । इत्युक्तनयेन, विरोधिनोः, वीरशृङ्गारयोः, कथमेकत्र = एकस्मिन्पद्ये वक्ष्यमाणे, समावेश इति शेषः ।

जैसे कि वे कहते हैं—अङ्गमिति । अङ्गी (प्रधान) रस भी दूसरे रसमें यदि अङ्ग (अप्रधान) वा बाध्य (विरोध्य) अथवा संसर्गी (अविरोधी) प्रधान रसका उपकारी न होकर स्वतन्त्रतासे मिलित हो पूर्णरूपसे आस्वादन नहीं किया जाता है तो वह "खण्डरस" माना जाता है ।

आशङ्का करते हैं—नन्विति । आद्यः इति० पहला रस (शृङ्गार) करुण, बीभत्स, रौद्र, वीर और भयानकसे विरुद्ध है । ऐसे कहे गये सिद्धान्तसे विरोधी वीर और शृङ्गार रसका कैसे एक ही स्थानमे—"भगवान् श्रीराम हाथीके

'कपोले जानक्याः करिकलभदन्तद्युतिमुषि
स्मरस्मेरस्फारोड्डमरपुलकं वक्त्रकमलम् ।
मुहुः पश्यञ्शृण्वन् रजनिचरसेनाकलकलं
जटाजूटग्रन्थिं द्रढयति रघूणां परिवृढः ॥'

इत्यादौ समावेशः ? अत्रोच्यते—इह खलु रसानां विरोधिताया अविरोधितायाश्च त्रिधा व्यवस्था । कयोश्चिदालम्बनैक्येन, कयोश्चिदाश्रयैक्येन, कयोश्चि-

---

तत्पद्यमुदाहरति—**कपोल इति** । दण्डकारण्ये खरादिभिः समं योद्धुं प्रसितं भगवन्तं श्रीरामचन्द्रं कश्चित्कविर्वर्णयति । रघूणां = रघुवंशोत्पन्नानां राज्ञां, लक्षणयाऽयमर्थः । परिवृढः = स्वामी, "प्रभुः परिवृढोऽधिपः" इत्यमरः । एकत्र, करिकलभेत्यादिः० = करिकलभस्य (हस्तिशिशोः) दन्तद्युतिं (दशनकान्तिम्) मुष्णाति (अपहरति) इति, तस्मिन्, अतिशयस्वच्छ इति भावः । तादृशे, कपोले = गण्डफलके । स्मरेत्यादिः० = स्मरेण (कामावेशेन) स्मेराः (विकसनशीलाः) स्फाराः (प्रचुराः) उड्डमराः (अत्युत्कटाः) पुलकाः (रोमाञ्चाः) यस्मिंस्तत्, तादृशं, जानक्याः = जनकनन्दिन्याः, सीताया इत्यर्थः । वक्त्रकमलं = मुखपद्मं, मुहुः = वारं वारं, पश्यन्, अपरत्र च—रजनिचरसेनाकलकलं = रजनिचराणां (रात्रिचराणां, राक्षसानामित्यर्थः) या सेना (अनीकिनी), तस्याः कलकलं (कोलाहलम्), शृण्वन् = आकर्णयन्, सन् । जटाजूटग्रन्थिं = जटानां (सटानाम्, "व्रतिनस्तु जटा सटे"त्यमरः), जूटः (समूहः) तस्य ग्रन्थिं (बन्धम्) द्रढयति = दृढीकरोति । शिखरिणी वृत्तम् । अत्र शृङ्गारे जानकी आलम्बनं, तस्याः कपोल उद्दीपनविभावः, तस्या वक्त्रकमलदर्शनमनुभाव इति भावः । वीरे तु—रजनिचरसेना आलम्बनं, तस्याः कलकल उद्दीपनविभावः, जटाजूटग्रन्थिदृढीकरणम् अनुभावः । उत्साहः स्थायिभावः । इत्यादौ = एतादृशे पद्यादौ, समावेशः = स्थितिः ।

समाधत्ते—**अत्रोच्यत इति** । अत्र = अस्मिन् विषये, उच्यते = अभिधीयते । इह = अलङ्कारशास्त्रे, त्रिधा = त्रिभिः प्रकारैः । व्यवस्था = नियमः । कयोश्चित् = रसयोः, आलम्बनैक्येन, आश्रयैक्येन=नायकैक्येन, कयोश्चित् = रसयोः,

बच्चेके दांतके सदृश सीताजीके कपोलमें कामावेशसे विकसित प्रचुर अत्युत्कट रोमाञ्चवाले मुख कमलको वार वार देखते हुए और राक्षसोंकी सेनाका कोलाहल सुनते हुए जटाजूटकी ग्रन्थि दृढ कर रहे हैं ।

इस पद्यमें कैसे एक ही श्रीरामचन्द्रमें सीताको आलम्बन कर शृङ्गार रस, और राक्षस सेनाको आलम्बन कर वीर रसका समावेश किया है ? उत्तर देते हैं—अत्रेति । इसमें कहा जाता है—यहां रसोंका विरोध और अविरोधकी तीन प्रकारसे व्यवस्था होती है । कहींपर दो रसोंका आलम्बनकी एकतासे, कहींपर

नैरन्तर्येणेति। तत्र वीरशृङ्गारयोरालम्बनैक्येन विरोधः। तथा हास्यरौद्रबीभत्सैः सम्भोगस्य। वीरकरुणरौद्रादिभिर्विप्रलम्भस्य। (आलम्बनैक्येन) आश्रयैक्येन च वीरभयानकयोः। नैरन्तर्यविभावैक्याभ्यां शान्तशृङ्गारयोः। त्रिधाप्यविरोधो वीरस्याद्भुतरौद्राभ्याम्। शृङ्गारस्याद्भुतेन, भयानकस्य बीभत्सेनेति।

तेनात्र वीरशृङ्गारयोर्भिन्नालम्बनत्वान्न विरोधः। एवं च वीरस्य नायक-

नैरन्तर्येण = अव्यवधानेन, विरोध इति शेषः। तत्र वीरशृङ्गारयोः = रसयोः, आलम्बनैक्येन = आलम्बनस्यैकत्वेन, विरोधः, एकस्मिन्नालम्बने यौगपद्येनोत्साहरत्योरसंभवादिति।

तथा हास्यरौद्रबीभत्सैः = रसैः, संभोगस्य = संभोगशृङ्गारस्य। वीरकरुणरौद्रादिभिः = रसैः, विप्रलम्भस्य=विप्रलम्भशृङ्गारस्य, विरोध इति शेषः। आदिपदाद्भयानकबीभत्सयोर्ग्रहणम्, आलम्बनैक्येन = आलम्बनैकत्वेन, आश्रयैक्येन च, वीरभयानकयोः = रसयोः, विरोधः, एकस्मिन्नेव काले एकं प्रति उत्साहभययोरनुदयादिति भावः। नैरन्तर्यविभावैक्याभ्याम् = अव्यवधानेन आलम्बनैक्येन च, शान्तशृङ्गारयोः = रसयोः, विरोध इति शेषः। शमरत्योरव्यवधानेनैकस्मिन्नेवालम्बने उत्पत्त्योरसंभवादिति भावः।

त्रिधाऽपीति। त्रिधाऽपीति = आलम्बनैक्येन, आश्रयैक्येन नैरन्तर्येण, चेत्यर्थः, वीरस्याऽद्भुतरौद्राभ्यां, शृङ्गारस्य अद्भुतेन, भयानकस्य बीभत्सेन।

तेनाऽत्रेति। तेन = पूर्ववर्णनाऽनुसारेण, अत्र=अस्मिन्पद्ये "कपोले जानक्या इत्यादौ=वीररसे उत्साहस्यालम्बनं रजनिचरसेना, शृङ्गाररसे रतेरालम्बनं जानकी, इत्थं भिन्नालम्बनत्वान्न वीरशृङ्गारयोः = रसयोः, विरोधः।

वीरभयानकयोर्भिन्नाश्रयत्वेन विरोधाऽभावं प्रदर्शयति—**एवं चेति।**

आश्रयकी एकतासे और कहींपर नैरन्तर्यमे विरोध होता है। उनमे वीर और शृङ्गारका आलम्बनकी एकतासे, उसी तरह हास्य, रौद्र और बीभत्ससे संभोग शृङ्गारका, वीर, करुण, और रौद्र आदिसे विप्रलम्भ शृङ्गारका आलम्बनकी एकतासे विरोध है। आलम्बन और आश्रयकी एकतासे वीर और भयानक रसका विरोध है। अव्यवधान और विभावकी एकतासे शान्त और शृङ्गारका विरोध है। वीर रसका अद्भुत और रौद्ररससे, शृङ्गारका अद्भुत रससे, भयानकका बीभत्स रससे, तीनों प्रकारोंसे अर्थात् आलम्बनकी एकतासे, आश्रयकी एकतासे और नैरन्तर्य-(अव्यवधान)से विरोध नहीं है। इस प्रकार "कपोले जानक्याः" इस पद्यमें वीर-रसमें उत्साहका आलम्बन—राक्षसोंकी सेना और शृङ्गार रसमें रतिका आलम्बन सीताजी, इस प्रकार यहांपर वीर और शृङ्गारका आलम्बन भिन्न होनेसे विरोध नहीं है।

निष्ठत्वेन भयानकस्य प्रतिनायकनिष्ठात्वेन निबन्धे भिन्नाश्रयत्वेन न विरोधः। यच्च नागानन्दे प्रशमाश्रयस्यापि जीमूतवाहनस्य मलयवत्यनुरागो दर्शितः, तत्र 'अहो गीतमहो वादित्रम्' इत्यद्भुतस्यान्तरा निवेशनान्नैरन्तर्याभावाच्च शान्त-श्रृङ्गारयोर्विरोधः। एवमन्यदपि ज्ञेयम्। 'पाण्डु क्षामं वदनम्–' इत्यादौ च पाण्डुतादीनामङ्गभावः करुणविप्रलम्भेऽपीति न विरोधः।

अनुकारे च सर्वेषां दोषाणां नैव दोषता ॥ ३१ ॥

सर्वेषां दुःश्रवत्वप्रभृतीनाम्।

नागानन्दे विरोधाऽभावं प्रदर्शयति—**यश्चेति**। अन्तरा = शान्तश्रृङ्गारयोर्मध्ये। नैरन्तर्याऽभावात् = व्यवधानादिति भावः। न विरोधः।

"पाण्डु क्षामं वदनम्" इत्यादौ श्रृङ्गारकरुणविप्रलम्भयोर्दोषाऽभावं प्रदर्शयति—"**पाण्डुवति** पाण्डुतादीनां = करुणरसाऽनुभावरूपाणामिति भावः, अङ्गभावः = अङ्गत्वम्, करुणविप्रलम्भेऽपीति, न विरोधः, परिपन्थिरसमात्रसत्त्व एव दोषः उभयाश्रयत्वत्वे तु प्रकृतरसबोधान्न दोष इति भावः।

अत्र सर्वत्र रसपदेन तत्तद्रसस्थायिभावाग्राह्याः, यतो रसो न नायकनिष्ठः प्रत्युत सामाजिकनिष्ठः, एवं चाऽखण्डचिदानन्दरूपरसे विरोधो न संभावनीयः।

अनुकरणे दोषाणां दोषाऽभावं प्रदर्शयति—**अनुकारे चेति**। सर्वेषां = सकलानां, दोषाणां = दुःश्रवत्वप्रभृतीनाम्, अनुकारे = अनुकरणे, नैव दोषता, नैव गुणता चेति भावः ॥ ३१ ॥

इसी प्रकार वीर रसको नायकमें स्थित कर भयानक रसको प्रतिनायकमें स्थित कर रचना करनेपर भिन्न आश्रय होनेसे उनमें विरोध नहीं होता है।

जो कि नागानन्द नाटकमें प्रशमके अवलम्बन जीमूतवाहनका मलयवतीमे अनुराग दिखाया है, वहाँ "अहो गीतम्! अहो वादित्रम्" ऐसा कहकर बीचमें अद्भुत रसको रखनेसे व्यवधान होनेसे शान्त और श्रृङ्गारका विरोध नहीं है। इसी प्रकार और भी जानना चाहिए।

"पाण्डु क्षामं वदनम्" इस पद्यमें पाण्डुता आदिका अङ्गभाव करुणविप्रलम्भमें भी होता है, अतः विरोध नहीं।

अनुकार इति। दुःश्रवत्व आदि संपूर्ण दोषोंका अनुकरण करनेपर दोषभाव नहीं होता है ॥ ३१ ॥

यथा—

'एष दुश्च्यवनं नौमीत्यादि जल्पति कश्चन ।'

अत्र दुश्च्यवनशब्दोऽप्रयुक्तः ।

अन्येषामपि दोषाणामित्यौचित्यान्मनीषिभिः ।
अदोषता च गुणता ज्ञेया चानुभयात्मता ॥ ३२ ॥

अनुभयात्मता = अदोषगुणता ।

इति साहित्यदर्पणे दोषनिरूपणो नाम सप्तमः परिच्छेदः ।

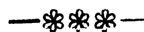


उदाहरति—**एष इति** एषः = अयम्, अहमिति शेषः। दुश्च्यवनं= वेन्द्रं, "संक्रन्दनो दुश्च्यवनस्तुराषाण्मेघवाहनः ।" इत्यमरः। नौमि = स्तौमि, त्यादि, कश्चन = अनिर्दिष्टनामधेयो जनः, जल्पति = गदति ।

दोषाऽभावमुपपादयति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, दुश्च्यवनशब्दः, ोषे प्रयुक्तोऽपि कविभिरनादृतत्वाद् अप्रयुक्तः ।

दोषनिरूपणमुपसंहरति—**अन्येषामपीति** । इति = एवं, पूर्वोक्तप्रकारैरिति ावः। औचित्यात् = औचित्यमनुसृत्य, मनीषिभिः = विद्वद्भिः, अन्येषामपि = परदोषाणामपि, अदोषता = दोषराहित्यम्, "औत्सुक्येन कृतत्वरा" (पृ. ७२) त्यादाविव । गुणता = गुणभावः "क्वाऽकार्यम्" (पृ० २९३) इत्यादाविव । नुभयात्मता च "अदोषगुणात्मना च" "निष्ठेव कोपवशात्" (पृ० ६९) त्यादाविव, ज्ञेया = ज्ञातव्या ।

इति श्रीशेषराजप्रणीतायां चन्द्रकलाऽभिख्यायां साहित्यदर्पणव्याख्यायां दोषनिरूपणो नाम सप्तमः परिच्छेदः ।



जैसे—**एष इति** । "यह मैं दुश्च्यवन (इन्द्र) को नमस्कार करता हूँ" ा कोई कहता है । यहाँपर इन्द्रके लिए जो 'दुश्च्यवन' शब्दका प्रयोग किया ा है, उसमें अप्रयुक्त दोष होनेपर भी कोई कहता है कहकर अनुकरण करनेसे समें दोष नहीं होता है ।

अन्येषामिति । और दोषोंका भी पूर्वोक्त औचित्यका अवलम्बन कर द्वानोंको कहींपर अदोषता, कहींपर गुणता और कहींपर न दोषता और न गुणता ई जानना चाहिए।

साहित्यदर्पणमें दोषनिरूपणनामक सप्तमपरिच्छेद समाप्त हुआ ।



अष्टमः परिच्छेदः

गुणानाह—

रसस्याङ्गित्वमाप्तस्य धर्माः शौर्यादयो यथा ।

गुणाः—

यथा खल्वङ्गित्वमाप्तस्यात्मन उत्कर्षहेतुत्वाच्छौर्यादयो गुणशब्दवाच्याः, तथा काव्येऽङ्गित्वमाप्तस्य रसस्य धर्माः स्वरूपविशेषा माधुर्यादयोऽपि स्वसमर्पकपदसन्दर्भस्य काव्यव्यपदेशस्यौपयिकानुगुण्यभाज इत्यर्थः। यथा चैषां रसमात्रस्य धर्मत्वं तथा दर्शितमेव।

यो निर्गुणोऽपि निजभक्तजनाऽनुरागात्स्वेच्छागृहीतवपुषा सगुणो विभाति ।
भोगाऽपवर्गफलदानपरं यथार्हमानन्दकन्दलमुकुन्दमहं नमामि ॥ १ ॥

काव्ये परित्याज्यान्दोषान्निरूप्योद्देशक्रमप्राप्तान्गुणान्निरूपयितुं तावत्सामान्यगुणलक्षणमाह—**रसस्येति**। यथाऽङ्गित्वं = शरीरित्वम्, आप्तस्य = प्राप्तस्य, आत्मन इति भावः, शौर्यादयः = शूरत्वादयः, आदिपदेन दयादाक्षिण्यादीनां परिग्रहः। धर्माः = गुणा उच्यन्ते, तथैव, अङ्गित्वं=प्रधानत्वम्, आप्तस्य = प्राप्तस्य, रसस्य = शृङ्गारादेः, धर्माः, गुणा उच्यन्ते। अत्राऽपि रस्यते = आस्वाद्यत इति व्युत्पत्त्या भावादिरपि गृह्यते, तथा च स्थिरत्वे सति रसोत्कर्षजनकधर्मत्वं गुणत्वमिति गुणसामान्यलक्षणं पर्यवस्यति।

विवृणोति—**यथेति**। धर्माः=स्वरूपविशेषाः, माधुर्यादयोऽपि। **स्वेत्यादिः**०= स्वस्य (रसस्य) समर्पकः (व्यञ्जकः) यः पदसन्दर्भः (वाक्यम्), तस्य, तादृशस्य काव्यव्यपदेशस्य = काव्यव्यवहारस्य, औपयिकानुगुण्यभाजः = उपाय एव औपयिकः "विनयादिभ्यष्ठक्" इति स्वार्थे ठक्, आदिवृद्धिः "उपायो ह्रस्वत्वं चे"ति ह्रस्वत्वं च। औपयिकम् (उपायभूतम्, उपयोगीति भावः) यत् आनुगुण्यम् (आनुकूल्यम्)

गुणोंका निरूपण करते हैं—**रसस्येति**। अङ्गित्व (शरीरित्व वा प्रधानत्व)-को प्राप्त आत्माके जैसे शौर्य आदि धर्म होते हैं वैसे ही अङ्गित्व (प्रधानत्व) को प्राप्त रसके धर्मोंको गुण कहते हैं।

यथेति। जैसे शरीरमें अङ्गित्व (प्रधानत्व) को प्राप्त आत्माके उत्कर्षके कारण होनेसे शौर्य आदि गुण शब्दसे कहे जाते हैं, उसी तरह काव्यमें अङ्गित्व-(प्रधानत्व) प्राप्त रसके धर्म अर्थात् स्वरूपविशेष माधुर्य आदि भी अपने समर्पक (व्यञ्जक) "काव्य" व्यवहार वाले पदसन्दर्भ (वाक्य) के उपायभूत अनुकूलता-

माधुर्यमोजोऽथ प्रसाद इति ते त्रिधा ॥ १ ॥

ते गुणाः ।

तत्र—

चित्तद्रवीभावमयो ह्लादो माधुर्यमुच्यते ।

यत्तु—केनचिदुक्तम्—'माधुर्यं द्रुतिकारणम्' इति तन्न, द्रवीभावस्यास्वादस्वरूपाह्लादाभिन्नत्वेन कार्यत्वाभावात् । द्रवीभावश्च स्वाभाविकानाविष्टत्वात्म-

---

भजन्ति (आश्रयन्ति) इति, ते गुणा इत्यर्थः । एषां = गुणानां, दर्शितमेव = प्रथमपरिच्छेद इति भावः ।

नामतो गुणान्परिगणयति—**माधुर्यमिति** ॥ १ ॥

नामत एव गुणानां त्रित्वे सति पुनस्त्रिधा इति कथनं प्राचीनाचार्यसम्मतदशगुणानां व्यवच्छेदार्थम् । यथोक्तं वामनाचार्यैः —

"श्लेषः प्रसादः समता माधुर्यं सुकुमारता ।
अर्थव्यक्तिरुदारत्वमोजः कान्तिसमाधयः ॥" इति ।

तत्र माधुर्यं लक्षयति—**चित्तेति** । चित्तस्य = मनसः, द्रवीभावमयः = आर्द्रतारूपः, ह्लादः = सुखविशेषः, माधुर्यम् उच्यते । मधुरस्य (रसस्य) भावो माधुर्यमिति हि व्युत्पत्तिः, भावे ष्यञ् ।

काव्यप्रकाशमतं खण्डयितुमुपक्रमते—**यत्त्विति** । केन चित् = काव्यप्रकाशकारेण । तस्य संपूर्णलक्षणम् "आह्लादकत्वं माधुर्यं शृङ्गारे द्रुतिकारणम् ।" इति । शृङ्गारे = संभोगशृङ्गारे, द्रुतिकारणं = द्रुतिः (गलितत्वम्) इव कारणम्, आह्लादकत्वम् = आनन्दहेतुत्व, माधुर्यम् इत्यर्थः । एतन्मतं खण्डयति—

तन्नेति । हेतु प्रदर्शयति—**द्रवीभावस्येति** । द्रवीभावस्य (द्रुतेः), आस्वादेत्यादिः० = आस्वादस्वरूपः (रसादिरूपः) य आह्लादः, तस्य अभिन्नत्वेन (भेदरहितत्वेन, एकत्वेनेति भावः) कार्यत्वाऽभावात् = माधुर्यजन्यत्वाऽभावात्, आह्लादाऽतिरिक्तस्य द्रवीभावस्य निर्वक्तुमशक्यतया आह्लाद एव पर्यवसानम् ।

स्वमतं विवृणोति—**द्रवीभावश्चेति** । द्रवीभावश्च स्वाभाविकेत्यादिः०= स्वाभाविकं (सहजम्) यत् अनाविष्टत्वम् (अनावेशः अर्थात् चित्तस्य एव)

के आश्रय करने वालोंको "गुण" कहते हैं । जैसे वे रसमात्रके धर्म होते हैं वह (प्रथमपरिच्छेदमें) दिखाही चुके हैं ।

माधुर्यमिति । माधुर्य, ओज और प्रसाद इस प्रकार वे गुण तीन प्रकारके होते हैं ॥ १ ॥

चित्तके आर्द्रतास्वरूप सुखविशेषको "माधुर्य" कहते हैं । जो कि किसीने कहा है—"द्रुतिका कारण माधुर्य है" वह ठीक नहीं । क्योंकि द्रवीभाव या द्रुति आस्वादस्वरूप आह्लादसे अभिन्न है, अतः वह कार्य नहीं हो सकता है ।

ककाठिन्यमन्युक्रोधादिकृतदीप्तत्वविस्मयहासाद्युपहितविक्षेपपरित्यागेन रत्याद्याकारानुविद्धानन्दोद्बोधेन सहृदयचित्तार्द्रप्रायत्वम्। तच्च—

संभोगे करुणे विप्रलम्भे शान्तेऽधिकं क्रमात् ॥ २ ॥

सम्भोगादिशब्दा उपलक्षणानि। तेन सम्भोगाभासादिष्वप्येतस्य स्थितिर्ज्ञेया।

मूर्ध्नि वर्गान्त्यवर्णेन युक्ताष्टठडढान्विना।
रणौ लघू च तद्व्यक्तौ वर्णाः कारणतां गताः ॥ ३ ॥

तदात्मकं (तत्स्वरूपम्) यत् काठिन्यं, तथा मन्युक्रोधादिजन्यं, मन्युः (शोकः) क्रोधः (कोपः) तदादिजन्यं, यत् दीप्तत्वम् (दग्धप्रायत्वम्) एवं च विस्मयेन (आश्चर्येण) हासादिना च उपहितः (उपस्थापितः) यो विक्षेपः (विषयाऽन्तराऽग्राहकत्वम्) तस्य परित्यागेन रत्याद्याकारैः (रतिहासादिविषयैः) अनुविद्धः (संवलितः) य आनन्दः, तस्य उद्बोधन (आविर्भावेन), सहृदयचित्तार्द्रप्रायत्वं= सहृदयानां (सचेतसाम्) चित्तस्य (चेतसः) आर्द्रप्रायत्वम् (प्रायेण द्रुतरूपत्वम्)। एतादृशद्रवीभावमयो यो ह्लादः = सुखविशेषः, तन्माधुर्यमित्यर्थः।

संभोग इति। तत् = माधुर्यम्, संभोगे=संभोगशृङ्गारे, करुणे, विप्रलम्भे = विप्रलम्भशृङ्गारे, शान्ते = रसे, क्रमात्, उत्तरोत्तरमिति भावः, अधिकं = प्रचुरं, भवतीति शेषः ॥ २ ॥

विवृणोति—**संभोगादिशब्दा इति।** एतस्य = माधुर्यस्य।

माधुर्यव्यञ्जकानाह—**मूर्ध्नीति।** मूर्ध्नि = मस्तके, ऊर्ध्वभाग इति भावः। वर्गाऽन्त्यवर्णेन = वर्गाणाम् (कादिपञ्चवर्गाणाम्) अन्त्यवर्णेन (ङञणनमसंज्ञकेन पञ्चमवर्णेन) युक्ताः = संयुक्ताः, ट ठ ड ढान् = वर्णान्, विना = अन्तरेण, तथा लघू = ह्रस्वौ, रणौ च = रेफणकारौ च, एतेन पञ्चमवर्णत्वेऽपि लघुणकारोऽनुमत इत्यवधेयम्, तथा चैते वर्णाः, तद्व्यक्तौ = तस्य (माधुर्यगुणस्य) व्यक्तौ (व्यञ्जने) कारणतां = हेतुतां, गताः = प्राप्ताः ॥ ३ ॥

स्वाभाविक जो अनावेश तत्स्वरूप जो काठिन्य तथा शोक और क्रोध आदिसे उत्पन्न जो दीप्तत्व, एवम् आश्चर्य और हास्य आदिसे उपस्थापित जो विक्षेप, उन सबका परित्याग कर रति हास आदि विषयोंसे संवलित आनन्दके आविर्भावसे सहृदयके चित्तका जो आर्द्रप्रायत्व है वही द्रवीभाव (द्रुति) है। वह—

संभोग इति। संभोग, करुण, विप्रलम्भ शृङ्गार और शान्तरस इनमें क्रमसे माधुर्य अधिक होता है ॥ २ ॥

संभोग आदि शब्द उपलक्षण हैं, इस कारणसे संभोगाभास आदिमें भी इस-(माधुर्य) की स्थितिको जानना चाहिए।

मूर्ध्नीति। ऊर्ध्व भागमें वर्गोंके अन्त्यवर्ण (ङ, ञ, ण, न, म) से युक्त, ट, ठ, ड, ढ, इनको छोड़कर लघु र, ण ये वर्ण माधुर्यके व्यञ्जक माने गये हैं ॥ ३ ॥

अवृत्तिरल्पवृत्तिर्वा मधुरा रचना तथा।

यथा— 'अनङ्गमङ्गलभुवस्तदपाङ्गस्य भङ्गयः।
जनयन्ति मुहुर्यूनामन्तः सन्तापसन्ततिम्॥'

यथा वा मम—

'लताकुञ्जं गुञ्जन्मदवदलिपुञ्जं चपलयन्
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन्।

तथा च अवृत्तिः = समासरहिता, वा = अथवा, अल्पवृत्तिः = अल्पसमास-सहिता, एतादृशी मधुरा = पदान्तरयोगे माधुर्यवती, रचना = पदविन्यासः, तद्व्यक्तौ = माधुर्यव्यञ्जने, कारणता गता इति पूर्वपदैः सम्बन्धः। माधुर्यव्यञ्जिका रचनेति भावः। अत्र वृत्तिपदेन समासो गृह्यते।

माधुर्यगुणमुदाहरति—**अनङ्गेति**। अनङ्गमङ्गलभुवः = अनङ्गस्य (काम-देवस्य) मङ्गलभुवः (माङ्गलिकनिवासभूताः) तदपाङ्गस्य=तस्याः (नायिकायाः) अपाङ्गस्य (नयनप्रान्तस्य), भङ्गयः = व्यापाराः, यूना = तरुणानाम्, अन्तः = अन्तःकरणे, मुहुः = वारं वारम्, सन्तापसन्ततिं = मदनदाहपरम्परां, जनयन्ति = उत्पादयन्ति। अनुष्टुब्वृत्तम्।

अत्र पूर्वार्द्धे कवर्गाऽन्त्यवर्णैर्ङकारैः कवर्गस्थगकाराः संयुक्ताः, उत्तरार्द्धे तवर्गान्त्यवर्णैर्नकारैस्तवर्गप्रथमवर्णास्तकाराः संयुक्ताः सन्तो माधुर्यं व्यञ्जयन्ति। अत्र समासश्चाऽल्पः।

माधुर्यस्य स्वीयमुदाहरणं प्रदर्शयति—**लताकुञ्जमिति**। ग्रन्थकारः वसन्ततौ यरुतं वर्णयति। गुञ्जन्मदवदलिपुञ्जं = गुञ्जन् (गुञ्जनं कुर्वन्) मदवान् (मत्तः) अलिपुञ्जः (भ्रमरसमूहः) यस्मिंस्तम्। तादृशं लताकुञ्जं = वल्लीनिकुञ्जं, चपलयन् = चपलं कुर्वन्, आन्दोलयन्निति भावः। अङ्गं=देहाऽवयवं, समालिङ्गन् = संस्पृशन्, अनङ्गं = कामदेवं, द्रुततरम् = अतिशयशीघ्रं, यथा

इसी तरह अवृत्ति (समासवृत्तिरहित) अथवा अल्पवृत्ति (छोटे समाससे युक्त) मधुर रचना माधुर्यका व्यञ्जक होती है।

माधुर्यका उदाहरण—**अनङ्गेति**। कामदेवकी मङ्गलभूमि उस (नायिका)-के कटाक्षके क्रियाकलाप, तरुण पुरुषोंके अन्तःकरणमें वारंवार सन्तापपरम्पराको उत्पन्न करते हैं।

इस पद्यमें पूर्वार्द्धमें कवर्गके अन्त्यवर्ण ङ कारोंसे कवर्गस्थ गकार संयुक्त हैं, उत्तरार्धमें तवर्गके अन्त्यवर्ण नकारोंसे तवर्गके प्रथमवर्ण संयुक्त होकर माधुर्यका व्यञ्जन करते हैं।

अथवा मेरा (ग्रन्थकारका)—**लताकुञ्जमिति**। गुञ्जन करते हुए मद-वाले भ्रमरसमूहसे युक्त लताकुञ्जको चञ्चल करता हुआ, अङ्गको आलिङ्गन

मरुन्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि ॥'

ओजश्चित्तस्य विस्ताररूपं दीप्तत्वमुच्यते ॥ ४ ॥

वीरबीभत्सरौद्रेषु क्रमेणाधिक्यमस्य तु ।

अस्यौजसः । अत्रापि वीरादिशब्दा उपलक्षणानि, तेन वीराभासादावप्यस्यावस्थितिः ।

तथा, प्रबलन् = प्रबलं कुर्वन्, वर्द्धयन्निति भावः । दलितं = विकसितम्, अरविन्दं = कमलं, मन्दं मन्दं = शनैः शनैः, तरलयन् = तरलं (चञ्चलम्) कुर्वन् । तथा रजोवृन्दं = परागसमूहं, पुष्पाणामिति शेषः । विन्दन् = लभमानः । एतादृशो मरुत् = वातः, दिशि दिशि = प्रतिदिशं, मकरन्दं = पुष्परसं, किरति = विक्षिपति "कृ विक्षेप" इति धातोर्लट् । वृत्यनुप्रासः । शिखरिणी वृत्तम् ॥

अत्र प्रथमचरणे चवर्गाऽन्त्यवर्णैञकारैः चवर्गस्थजकाराः, द्वितीयचरणे कवर्गान्त्यवर्णैङकारैः कवर्गस्थगकाराः, तृतीये चतुर्थे च चरणे तवर्गाऽन्त्यवर्णैनकारैस्तवर्गस्थदकाराः संयुक्ताः सन्तः माधुर्यगुणं व्यञ्जयन्ति, एवं च प्रथमे चतुर्थे च चरणे अल्पा वृत्तिः = अल्पः समासः, द्वितीयतृतीययोश्चरणयोस्तु अवृत्तिः=असमास एव ।

ओजोगुणं लक्षयति—**ओज इति** । चित्तस्य = मानसस्य, विस्ताररूपत्वं = विकासस्वरूपत्वं, दीप्तत्वम् = उज्ज्वलत्वं, तत् ओजः ॥ ४ ॥

अस्य=ओजसः, वीरबीभत्सरौद्रेषु=रसेषु, क्रमेण आधिक्यम्=उत्तरोत्तरं प्राचुर्यमिति भावः । वीराऽपेक्षया बीभत्से, तदपेक्षया रौद्रे ओजस आधिक्यमिति यावत् ।

विवृणोति—**अस्येति** । अत्राऽपि = अस्मिन्नपि, अवस्थितिः = अवस्थानम् ।

करता हुआ, कामदेवको शीघ्रतापूर्वक प्रबल करता हुआ, विकसित कमलको धीरे धीरे चञ्चल करता हुआ, फूलोंके परागसमूहको प्राप्त करता हुआ मारुत (वायु) प्रत्येक दिशामें पुष्परसका विकिरण करता है ।

इस पद्यमें प्रथम चरणमें चवर्गके अन्त्यवर्ण ञकारोंसे चवर्गस्थ जकार, द्वितीय चरणमें कवर्गके अन्त्यवर्ण ङकारोंसे कवर्गस्थ गकार, तृतीय और चतुर्थ चरणमें तवर्गके अन्त्यवर्ण नकारोंसे तवर्गस्थ दकार संयुक्त होते हुए माधुर्यगुणका व्यञ्जन कर रहे हैं । इसी तरह यहां प्रथम और चतुर्थ चरणमें समास हैं । द्वितीय और तृतीय चरणमें समास नहीं है ।

ओजगुणका लक्षण करते हैं—**ओज इति** । चित्तके विस्ताररूप दीप्तत्वको "ओज" कहते हैं ॥४॥ वीर, बीभत्स और रौद्ररसमें इसका क्रमसे आधिक्य होता है ।

यहां भी वीर आदि शब्द उपलक्षण हैं, इस कारणसे वीराभास आदिमें भी इसकी अवस्थिति होती है ।

वर्गस्याद्यतृतीयाभ्यां युक्तौ वर्णौ तदन्तिमौ ॥ ५ ॥
उपर्यधो द्वयोर्वा सरेफष्टठडढैः सह ।
शकारश्च षकारश्च तस्य व्यञ्जकतां गताः ॥ ६ ॥
तथा समासो बहुलो घटनौद्धत्यशालिनी ।

यथा—'चञ्चद्भुज०' इत्यादि ।

चित्तं व्याप्नोति यः क्षिप्रं शुष्केन्धनमिवानलः ॥ ७ ॥

ओजोव्यञ्जकान्वर्णानाह—**वर्गस्येति** । वर्गस्य = कचादिवर्गस्य । आद्य-तृतीयाभ्यां = प्रथमतृतीयाभ्यां, कगादिभ्यामिति भावः । युक्तौ = योगयुक्तौ, तदन्तियौ = द्वितीयचतुर्थौ, वर्णौ = अक्षरौ । आद्यैः = कचटतपैः तदन्तिमा वर्णाः = ख छ ठ थ फाः, एवं च तृतीयैं = गजडदबैः, तदन्तिमा वर्णाः = घ झ ढ ध भाः, युक्ता इति भावः ॥ ५ ॥

उपरि = ऊर्ध्वे, सरेफः = रेफसहितो वर्णः, यथा वर्ष इति । अधः = निम्ने, सरेफो वर्णः, यथा—दीप्र इति । द्वयोः = उपरि अधश्च सरेफो वर्णः, यथा—आर्द्र इति । तथा, ट ठ ड ढैः सह शकारः षकारश्च, तस्य = ओजोगुणस्य, व्यञ्जकतां, गताः = प्राप्ताः ॥ ६ ॥

तथा बहुलः = प्रचुरः, समासः = समस्तं पदम् । औद्धत्यशालिनी = उद्भटा-क्षरशोभिता, उद्भटाऽर्थप्रतिपादिका च, घटना = पदसन्दर्भः ।

उदाहरति—चञ्चद्भुजेत्यादिः (४३६ पृ०) । अत्र "द्भु" इति "द्ध" इति तृतीयवर्णयुक्तश्चतुर्थो वर्णः । "भ्रमित" इति अधः सरेफो वर्णः "ण्ड" इति संयोग-युक्तो डकारः, "शो" "शो" इति शकारौ अन्ये च संयुक्ता वर्णाः, समासबाहुल्यं, तथौद्धत्यशालिनी घटना च ओजोव्यञ्जका इति भावः ।

प्रसादं लक्षयति—**चित्तमिति** । अनलः = अग्निः, शुष्केन्धनम् इव = अनार्द्रकाष्ठम् इव, यः = गुणः, चित्तं = मानसं, क्षिप्रं =शीघ्रं, व्याप्नोति = आविष्टं करोति, आवेशः = स्वस्मिन्नभिनिवेशः ।

वर्गस्येति । वर्गके पहले और तीसरे वर्णसे युक्त उसी वर्गके अन्तिम अर्थात् दूसरा और चौथा वर्ण ॥ ५ ॥

तथा ऊपर वा नीचे दोनों तरफ रेफसे युक्त वर्ण एवम् ट, ठ, ड, ढ, श और ष ये सब ओज गुणके व्यञ्जक होते हैं । तथा अधिक समास, और उद्धत रचना ये सब ओजगुणका व्यञ्जन करते हैं । जैसे—"चञ्चद्भुज" इत्यादि ।

प्रसाद गुणका लक्षण करते हैं—**चित्तमिति** । जैसे सूखी लकड़ीको अग्नि व्याप्त करता है उसी तरह जो शीघ्र चित्तको व्याप्त करता है ।

स प्रसादः समस्तेषु रसेषु रचनासु च ।

व्याप्नोति = आविष्करोति ।

शब्दास्तद्व्यञ्जका अर्थबोधकाः श्रुतिमात्रतः ॥ ८ ॥

यथा— 'सूचीमुखेन सकृदेव कृतव्रणस्त्वं
मुक्ताकलाप ! लुठसि स्तनयोः प्रियायाः ।
बाणैः स्मरस्य शतशो विनिकृत्तमर्मा
स्वप्नेऽपि तां कथमहं न विलोकयामि ॥'

एषां शब्दगुणत्वं च गुणवृत्त्योच्यते बुधैः ।

सः प्रसादः = प्रसादो नाम गुणः । स च = प्रसादगुणः, समस्तेषु = **समग्रेषु**, रसेषु = शृङ्गारादिषु, रचनासु च = पदसन्दर्भेषु च, संभवतीति भावः ।

प्रसादव्यञ्जकाञ्शब्दान्निरूपयति—**शब्दा इति** । श्रुतिमात्रतः=श्रवणमात्रतः, अर्थबोधकाः = वाच्यप्रतिपादकाः, शब्दाः = पदानि, तद्व्यञ्जकाः=प्रसादगुणव्यक्तिकारका भवन्तीति शेषः ॥ ८ ॥

प्रसादगुणमुदाहरति—**सूचीमुखेनेति** । कृष्णानन्दस्य सहृदयानन्दस्थं पद्यमेतत् । कान्तावियुक्तस्य कस्यचित्पुरुषस्य मुक्ताकलापं संबोध्योक्तिरियम् । हे मुक्ताकलाप = हे मौक्तिकहार !, सूचीमुखेन = सूच्यग्रभागेन, सकृत् = एकवारम्, एव, कृतव्रणः = विहितच्छिद्रः सन्, त्वं, प्रियायाः = वल्लभायाः, स्तनयोः = कुचयोः, लुठसि = इतस्ततः संचलसि, परं स्मरस्य = मदनस्य, बाणैः = शरैः, शतशः = बहुशः, विनिकृत्तमर्मा = विनिकृत्तानि (विच्छिन्नानि) मर्माणि (हृदयादिमर्मस्थलानि) यस्य सः, तादृशः अहं=प्रियावियुक्तः, स्वप्नेऽपि = स्वापावस्थायामपि, तां = प्रियां, कथं = केनापि प्रकारेण, न विलोकयामि = न पश्यामि । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

अत्र श्रुतिमात्रतोऽर्थबोधात्प्रसादाख्यो गुणः ।

गुणानां शब्दगुणत्वे हेतुमाह—**एषामिति** । ननु "रसस्याङ्गित्वमाप्तस्ये"ति (पृ० ७६) प्राक् गुणानां रसधर्मत्वं प्रतिपादितं तर्हि कथमेषां शब्दगुणत्वमित्याशङ्कायामाह—एषां=गुणानां, शब्दगुणत्वं च, अत्र शब्दपदमर्थोपलक्षणम् । शब्दाऽर्थ-

---

वह "प्रसाद" गुण है, वह समस्त रसोंमें और रचनाओंमे होता है । प्रसाद गुणके व्यञ्जक शब्द श्रवणमात्रसे अर्थका बोधन करते हैं ॥ ८ ॥

जैसे—**सूचीमुखेनेति** । हे मुक्तकलाप ! तुम एक ही वार सूईकी नोकसे विद्ध होकर प्रियाके पयोधरोंमें लोटपोट करते रहते हो, परन्तु मैं कामदेवके बाणोंसे सैकड़ों वार छेदे जानेपर भी स्वप्नमें भी उस (प्रिया) को क्यों नहीं देख पाता हूँ ।

एषामिति । इन माधुर्य आदियोंको शब्दगुण और अर्थगुण विद्वान्लोग उपचारसे कहते हैं ।

शरीरस्य शौर्यादिगुणयोग इव इति शेषः।

श्लेषः समाधिरौदार्यं प्रसाद इति ये पुनः ॥ ९ ॥

गुणाश्चिरन्तनैरुक्ता ओजस्यन्तर्भवन्ति ते।

ओजसि = भक्त्या ओजः पदवाच्ये शब्द (अर्थ) धर्मविशेषे।

तत्र श्लेषो बहूनामपि पदानामेकपदवद्भासनात्मा।

धर्मत्वं, बुधैः = आलङ्कारिकविद्वद्भिः, गुणवृत्या = पूर्वोक्तरीत्या उपचारेण, आश्रयभूतरसव्यञ्जकत्वरूपपरम्परासम्बन्धेनेति भावः, उच्यते = अभिधीयते।

विवृणोति—**शरीरस्येति**। शरीरस्य = देहस्य, शौर्यादिगुणयोग इव = आदिशब्देन तेजःप्रभृतीना ग्रहणम्। यथा शौर्यादयो गुणाः साक्षादात्मन्येव वर्तन्ते तथाऽपि स्वाश्रयाश्रयत्वरूपपरम्परासम्बन्धेन शरीरेऽपि वर्तन्ते तथैव माधुर्यादयो गुणा अपि साक्षाद्रसादावेव विद्यमाना अपि आश्रयभूतरसव्यञ्जकत्वरूपपरम्परासम्बन्धेन शब्दार्थयोरपि वर्तन्त इति भावः।

वामनादिप्रतिपादितश्लेषादीनामोजस्यन्तर्भावयितुमाह—**श्लेष इति**। श्लेषः समाधिः, औदार्यं प्रसादश्च ॥ ९ ॥ ये गुणाः, चिरन्तनैः=प्राचीनैर्वामनादिभिराचार्यैरुक्ताः, ते ओजसि = गुणे, अन्तर्भवन्ति = अन्तर्गता भवन्ति।

विवृणोति—**ओजसीति**। ओजसि=भक्त्या (लक्षणया, उपादानलक्षणयेति भावः) ओजःपदवाच्ये = ओजःशब्दप्रतिपाद्ये, तत्संमते शब्दार्थधर्मविशेषे, न तु चित्तविस्ताररूपदीप्तत्व इति भावः।

तन्मताऽनुसारेण श्लेष लक्षयति—**तत्रेति**। बहूनाम् = प्रचुराणाम्, अपि पदानां=शब्दानाम्, एकपदवत्=एकस्य पदस्येव, सन्धिवशादिति शेषः। भासनात्मा= प्रकाशनस्वरूपः, श्लेषः। यथाऽऽह वामनः—

"यत्रैकपदवद्भावः पदानां भूयसामपि।
अनालक्षितसन्धीनां स श्लेषः परमो गुणः ॥" (अधि० ३ प्र०अ०)।

शौर्य आदि आत्माके गुण हैं। तो भी लोग उन्हे जैसे शरीरके गुण कहते हैं उसी तरह माधुर्य आद रसके गुण है विद्वान्लोग उन्हे उपचारसे शब्द और अर्थके गुण कहते हैं, यह भाव है।

श्लेष इति। श्लेष, समाधि, औदार्य और प्रसाद ॥ ९ ॥ ये शब्द गुण हैं कहकर जो प्राचीन आचार्य मानते हैं, वे सब ओजमे अन्तर्भूत होते हैं।

ओजसीति। "ओजसि" कहनेसे लक्षणासे ओजःशब्दसे कहे जानेवाले शब्दार्थधर्मविशेषमे यह तात्पर्य है। उनमे बहुत-से पदोंका एकपदके समान प्रतीत होने वालेको "श्लेष" कहते हैं।

यथा—

'उन्मज्जज्जलकुञ्जरेन्द्ररभसास्फालानुबन्धोद्धताः
सर्वाः पर्वतकन्दरोदरभुवः कुर्वन् प्रतिध्वानिनीः।
उच्चैरुच्चरति ध्वनिः श्रुतिपथोन्माथी यथायं तथा
प्रायप्रेङ्खदसंख्यशङ्खधवला वेलेयमुद्गच्छति ॥'

अयं बन्धवैकट्यात्मकत्वादोज एव।

श्लेषमुदाहरति—**उन्मज्जज्जलेति**। श्रीहर्षकृतनागानन्दनाटकस्थं पद्यमिदम्। समुद्रवेलाया वर्णनमिदम्। उन्मज्जदित्यादिः० = उन्मज्जन्तः (समुद्रजलादुत्तिष्ठन्तः) ये जलकुञ्जराः (हस्त्याकारमुखाः समुद्रजलजन्तुविशेषाः, तेषाम् इन्द्राः = श्रेष्ठाः), तेषां रभसेन (वेगेन) य आस्फालः (जलाऽभिघातः) तस्य अनुबन्धेन (परम्परया) उद्धताः (उत्थिताः)। ततश्च सर्वाः = सकलाः, पर्वतकन्दरोदरभुवः = पर्वतानां (शैलानाम्) कन्दरोदरभुवः=(गुहान्तर्भूमीः), प्रतिध्वानिनीः=प्रचुरप्रतिध्वनियुक्ताः, कुर्वन् = विदधत्, श्रुतिपथोन्माथी = श्रुतिपथम् (कर्णमार्गं, कर्णविवरमिति भावः) उन्मथ्नाति (विदारयति) इति तादृशः, उच्चैः = तारः, अयं = निकटभवः, ध्वनिः = रवः, यथा = येन प्रकारेण, उच्चरति = प्रादुर्भवति, तथा = तेन प्रकारेण, प्रायेत्यादिः०=प्रायेण (बाहुल्येन) प्रेङ्खन्तः (उद्गच्छन्तः) असंख्याः (संख्याऽतीताः, प्रचुरा इति भावः) ये शङ्खाः (कम्बवः) तैः धवला (शुभ्रवर्णा), इयं = निकटवर्तिनी, वेला = समुद्रवीची। उद्गच्छति = उत्तिष्ठति, तीरं प्लावयतीति भावः। वृत्यनुप्रासः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

अत्र "उन्मज्जज्जले"त्यादि—"प्रेङ्खदसख्ये"त्यादीनां बहूनां पदानां समासवशादेकपदवद्भासनात्तन्मताऽनुसारेण श्लेषः शब्दगुणः।

अस्यौजस्यन्तर्भावं प्रतिपादयति--**अयमिति**। अयं = वामनाद्यभिमतः श्लेषगुणः, बन्धवैकट्यात्मकत्वात् = बन्धस्य (रचनायाः) वैकट्यं (प्रचुरसंयुक्तवर्णयुक्तत्वम्) आत्मा (स्वरूपम्) यस्य, तत्त्वात्, ओज एव। एतेन विश्वनाथकविराजमताऽनुसारं वामनाद्यभिमतश्लेषः। विकटशब्दरचनात्मकत्वादोज एव न गुणान्तरत्वमिति भावः।

जैसे—**उन्मज्जदिति**। यह समुद्रकी तीरभूमिका वर्णन है। समुद्रके जलसे उठते हुए जलहस्तियोंके वेगसे जलमें अभिघात होते रहनेसे उठा हुआ, और सम्पूर्ण पहाड़ोंके कन्दर भागोंमें प्रतिध्वनियुक्त, कानके परदोंको फाड़ने वाला जैसे जोरदार शब्द हो रहा है उससे प्रचुरतासे चलते हुए प्रचुर शङ्खोंसे सफेद यह समुद्रकी तीरभूमि उठ रही है ऐसा प्रतीत होता है।

यह वामन आदिसे सम्मत श्लेष, रचनाके वैकट्य स्वरूपवाला ओज ही है।

समाधिरारोहावरोहक्रमः। आरोह उत्कर्षः, अवरोहोऽपकर्षः, तयोः क्रमो वैरस्यानावहो विन्यासः। यथा—'चञ्चद्भुज०' इत्यादि।' अत्र पादत्रये क्रमेण बन्धस्य गाढता। चतुर्थपादे त्वपकर्षः। तस्यापि च तीव्रप्रयत्नोच्चार्यतया ओजस्विता।

उदारता = विकटत्वलक्षणा। विकटत्वं पदानां नृत्यत्प्रायत्वम्।

यथा—

'सुचरणविनिविष्टैर्नूपुरैर्नर्तकीनां झणिति रणितमासीत्तत्र चित्रं कलं च।'

वामनादिमताऽनुसारं समाधिं लक्षयति—**समाधिरिति**। समाधिरारोहाऽवरोहक्रमः, आरोहः = उत्कर्षः, गाढबन्धत्वमिति भावः। अवरोहः = अपकर्षः, बन्धशैथिल्यमिति भावः। तयोः क्रमः = वैरस्याऽनावहः = विरसतायाः अजनकः, विन्यासः = रचना, समाधिः। तथा च प्रथमं गाढबन्धत्वं, पश्चाद् बन्धशैथिल्यं, तत्र विरसता न भवतीति भावः।

तन्मतेन समाधिमुदाहरति—"चञ्चद्भुजे"त्यादि। (७३४ पृ०)। अत्र = पद्ये, पादत्रये = प्राथमिके चरणत्रितये, बन्धस्य गाढता, चतुर्थपादे तु = तुरीयचरणे तु, अपकर्षः = बन्धशैथिल्यं, तस्याऽपि = चतुर्थपादस्याऽपि, तीव्रप्रयत्नोच्चार्यतया = कठोरप्रयासोच्चारणीयत्वेन "उत्तंसयिष्यतीति" पदस्येति शेषः। ओजस्विता = ओजोगुणयुक्तता। इत्थं च समाधेरपि ओजस्येवाऽन्तर्भावः।

वामनादिमताऽनुसारमौदार्यं लक्षयति—**उदारतेति**। विकटत्वलक्षणा = विकटत्वं लक्षण (स्वरूपम्) यस्याः, सा, उदारता = औदार्यनामको गुणः।

विकटत्वं विवृणोति—पदाना = शब्दानां, नृत्यत्प्रायत्वं = यत्र पदानि नर्तकीकृत्य दर्शितानीव अनुभूयन्ते, तदेव नृत्यत्प्रायत्वम्।

वामनादिमताऽनुसारेणौदार्यमुदाहरति—**सुचरणेति**। तत्र = तस्यां, नृत्यशालायामित्यर्थः। सुचरणविनिविष्टैः = सुचरणयो (सुन्दरपादयोः) विनिविष्टैः

दूसरा शब्द गुण 'समाधि' माना गया है। वह है आरोह (चढ़ाव) और अवरोह (उतराव) उनका क्रम। अर्थात् आरोह = उत्कर्ष, और अवरोह अपकर्ष उनका क्रम अर्थात् वैरस्य पैदा न करनेवाली रचना। उसका उदाहरण हैं—"चञ्चद्भुज०" इत्यादि। इसके तीन चरणोंमें क्रमसे रचनाकी गाढता है, चतुर्थ चरणमे रचनाकी शिथिलता है, वह भी तीव्र प्रयत्नसे उच्चारण किये जानेसे ओज है। इसप्रकार समाधि भी ओजमें ही अन्तर्भूत होता है। उदारता अर्थात् औदार्य विकटत्व स्वरूप है।

जैसे पद नृत्य कर रहें हो, ऐसे भावको "विकटत्व" कहते हैं।

जैसे—**सुचरणेति**। वहांपर नर्तकियों (नाचनेवाली स्त्रियों) के चरणोंमें

अत्र च तन्मतानुसारेण रसानुसन्धानमन्तरेणैव शब्दप्रौढोक्तिमात्रेणौजः।

प्रसाद ओजोमिश्रितशैथिल्यात्मा।

यथा—

'यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीनां चमूनाम्' इति।

माधुर्यव्यञ्जकत्वं यदसमासस्य दर्शितम् ॥ १० ॥

(स्थितैः), नर्तकीनां = नृत्यकारिणीनां रमणीनां, नूपुरैः = पादाऽङ्गदैः, झणु इति, अव्यक्तशब्दाऽनुकरणं, चित्रम् = आश्चर्यरूप, कलं च = मधुरमस्फुटं च, रणितं = ध्वनिः, आसीत् = अभवत्। मालिनी वृत्तम्।

नन्वत्र पादद्वयात्मके सन्दर्भे वीरादिरसाऽभावादोज एव नाऽस्ति, अतः कथमौदार्यस्य तत्राऽन्तर्भाव इत्याशङ्क्य समाधत्ते—**अत्र चेति।** अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, तन्मताऽनुसारेण = वामनाऽऽदिसिद्धान्ताऽनुसारेण, रसाऽनुसन्धानं = शृङ्गारादिरसाऽनुसन्धानम्, अन्तरेण = विना, एव, शब्दप्रौढोक्तिमात्रेण = पदगाढत्वेनैव, ओजः। अतो विश्वनाथमते बन्धेन्धवैकट्यात्मक एव ओजोगुणः।

वामनादिमनाऽनुसारं प्रसादं लक्षयति—**प्रसाद इति।** ओजोमिश्रितशैथिल्यात्मा = प्रसादः। ओजसा मिश्रितं शैथिल्यम् एव आत्मा (स्वरूपम्) यस्य, सः, प्रसादः। कठिनकोमलवर्णमिश्रणमिति भावः।

यो य इति। "यो यः शस्त्रं बिभर्ति स्वभुजगुरुमदः पाण्डवीना चमूनाम्०।" (६-४५३) इति। पद्यमिदं षष्ठपरिच्छेदे व्याख्यातम्। अस्मिन्पद्ये "भुजगुरुमदात्" इत्यत्र बन्धवैकट्यादोजः "पाण्डवीनां चमूनाम्" इत्यत्र पुनः शैथिल्यम्। इत्थमन्यत्राऽपि ओजः शैथिल्यं च बोद्धव्यम्। अतोऽत्र वामनाद्यभिमतः प्रसादः। इत्थं च कारिकास्थमोजःपदं प्रसादस्याऽप्युपलक्षणं बोद्धव्यम्।

वामनाद्यभिमतं माधुर्यगुणं स्वसंमतमवृत्तिरूपमाधुर्येऽन्तर्भवयति—**माधुर्येति।** असमासस्य = पृथक्पदत्वरूपस्य, यत् माधुर्यव्यञ्जकत्वं दर्शितं,

पहने हुए नूपुरोंसे विचित्र झणु ऐसा मधुर और अस्फुट शब्द हुआ। इस पद्यमे वामन आदिके सिद्धान्तके अनुसार रसके अनुसन्धानके विना ही शब्दोंकी प्रौढ उक्तिमात्र से ओज प्रतीत होता है।

ओजसे मिश्रित शैथिल्यको "प्रसाद" मानते हैं।

यो य इति। पाण्डवोंकी सेनाओंके बीचमें अपने बाहुओंका पूर्ण घमण्डवाला जो जो शस्त्रको धारण करता है। ये दोनो ही ओजके ही अन्तर्गत है।

माधुर्येति। पृथक्पदत्वरूप समासके अभावको जो प्राचीन आचार्यने माधुर्यका व्यञ्जक दिखलाया है॥ १० ॥

पृथक्पदत्वं माधुर्यं तेनैवाङ्गीकृतं पुनः ।

यथा—'श्वासान्मुञ्चति' इत्यादि ।

अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः ॥ ११ ॥

अर्थव्यक्तिः पदानां हि झटित्यर्थसमर्पणम् ।

स्पष्टमुदाहरणम् ।

ग्राम्यदुःश्रवतात्यागात्कान्तिश्च सुकुमारता ॥ १२ ॥

ततस्तेनैव = वामनादिनैव पृथक्पदत्वम् = असमस्तपदत्वस्वरूपं माधुर्यमस्मदभिमतमवृत्तिरूपम्, अङ्गीकृतं = स्वीकृतम्, पद्यरूपेणाऽपि यदाह वामनः—

"बन्धे पृथक्पदत्वं च माधुर्यमुदितं बुधैः" । इति (तृ०अ०प्र०अ०)

माधुर्यमुदाहरति—**श्वासान् मुञ्चति** । इत्यादि (पृ० १७७) ।

अत्र "स्वन्मार्ग" "भुजावल्लरी" "प्राणसमान" इति स्थलत्रये समाससत्त्वेऽपि बहुषु स्थलेषु समासाऽभावेन पृथक्पदत्वादुदाहरणत्वं सगच्छते । अथवा "बाले ! नाथ" (पृ० १४२) पद्यमिदमुदाहरणीयम् ।

वामनाद्यभिमतमर्थव्यक्तिगुणं स्वसम्मते प्रसादेऽन्तर्भावयति—**अर्थव्यक्तेरिति** । अर्थव्यक्तेः प्रसादाख्यगुणेनैव परिग्रहः=स्वीकारः, अन्तर्भाव इति भावः ॥ ११ ॥

अर्थव्यक्तिं लक्षयति—**अर्थव्यक्तिरिति** । हि = यस्मात्कारणात्, पदानां = शब्दानां, झटिति = शीघ्रम्, अर्थसमर्पणं = वाच्यप्रकाशनम्, अर्थव्यक्तिः । अर्थस्य (वाच्यस्य) व्यक्तिः (स्फुटता) अर्थव्यक्तिरिति व्युत्पत्तिः । यदाह वामनः—

"पश्चादिव गतिर्वाचः पुरस्तादिव वस्तुनः ।
यत्राऽर्थव्यक्तिहेतुत्वात्सोऽर्थव्यक्तिः स्मृतो गुणः ॥" (३ अ०प्र०अ०)

स्पष्टमुदाहरणमिति । "सूत्रीमुखेन"० (पृ० ८२) । वामनाचार्येण "अस्त्युत्तरस्यां०" इति कुमारसंभवस्थं पद्यमर्थव्यक्तेरुदाहरणरूपे प्रदर्शितम् ।

वामनादिसंमतयोः कान्ति–सुकुमारतयोः स्वमतेन गुणाऽभावत्वं प्रदर्शयति—**ग्राम्येति** । ग्राम्यदुःश्रवतात्यागात् = ग्राम्यताया दुःश्रवतायाश्चैतयोर्दोषयोस्त्यागात् (हानात्) कान्तिः सुकुमारता च, अङ्गीकृते इति सम्बन्धः । अयं भावः

उन्होंने ही पृथक्पदत्वको "माधुर्य" कहकर स्वीकार किया है । जैसे—**श्वासान्मुञ्चति** । इत्यादि ।

अर्थव्यक्तेरीति । वामनसे सम्मत जो "अर्थव्यक्ति" नामक गुण है उसका "प्रसाद" नामके गुणमें ही अन्तर्भाव है ॥ ११ ॥ क्योंकि पदोंका झटपट अर्थका समर्पण करना ही अर्थव्यक्ति है । उदाहरण स्पष्ट है ।

ग्राम्येति । वामनादि आचार्यसे सम्मत "कान्ति" नामक गुणको ग्राम्यता दोषके त्यागसे स्वीकार किया । और उसी तरह "सुकुमारता" नामक गुणको

अङ्गीकृतेति सम्बधः। कान्तिरौज्ज्वल्यं तच्च हालिकादिपदविन्यासवैपरीत्येनालौकिकशोभाशालित्वम्। सुकुमारता=अपारुष्यम्। अनयोरुदाहरणे स्पष्टे।

क्वचिद्दोषस्तु समता मार्गाभेदस्वरूपिणी।
अन्यथोक्तगुणेष्वस्या अन्तःपातो यथायथम्॥ १३॥

ग्राम्यता–नामकस्य दोषस्य त्यागात् रचनायां कान्तिर्भवति, इत्थमेव दुःश्रवता–नामकस्य दोषस्य त्यागात् सुकुमारता भवति। अतश्च कान्तिसुकुमारतयोर्दोषाऽभावरूपत्वमेव नाऽतिरिक्तगुणरूपत्वमिति भावः।

कान्तिरिति। कान्तिः=औज्ज्वल्यं, तच्च, हालिकादीत्यादि० = हालिकादीनां (हलवाहकप्रभृतीनामशिक्षितादीनामितिभावः) पदन्यासस्य (शब्दस्थापनस्य) वैपरीत्येन (विपरीतत्वेन, अभावेनेति भावः) अलौकिकशोभाशालित्वम्= अलौकिकी (लोकोत्तरा) या शोभा (कान्तिः) तच्छालित्वम् (तच्छोभित्वम्)। एवं च सुकुमारता = अपारुष्यम् अदुःश्रवत्वमिति भावः।

अनयोरिति। अनयोः = कान्तिसुकुमारतयोः, उदाहरणे स्पष्टे। यथा— "कटिस्ते हरते मनः" इत्यस्य स्थाने "मध्यस्ते हरते मनः" इति प्रयोगाद् ग्राम्यतात्यागात्कान्तिर्भवति। इत्थं "कार्तार्थ्यं यातु तन्वङ्गी" इत्यस्य स्थाने "प्रमोदं यातु तन्वङ्गी" इति प्रयोगाद् दुःश्रवतात्यागात् सुकुमारता भवति।

वामनाद्यभिमतं समतागुणं प्रदर्श्य तत्र व्यवस्थामाह—**क्वचिदिति।** मार्गाऽभेदस्वरूपिणी = आरम्भाऽवसानयोरेकविधरचनारूपा समता नाम गुणः, सा च समता क्वचिद्दोषः, यथा सुकुमारबन्धमध्य उद्धताऽर्थोपस्थितौ, प्रौढबन्धमध्ये सुकुमाराऽर्थोपस्थिताविति भावः, प्रतिकूलवर्णत्वं नाम दोषः। अन्यथा=दोषाऽभावस्थले, अस्याः = समतायाः, उक्तगुणेषु = ओजःप्रभृतिषु, यथायथं = यथायोग्यम्, अन्तःपातः = भवेदिति शेषः॥ १३॥

दुःश्रवता दोषके त्यागसे मान लिया, अर्थात् कान्ति और सुकुमारता स्वतन्त्र गुण नहीं हैं॥ १२॥

अङ्गीकृतेति। "कान्ति" कहते हैं उज्ज्वलताको, हालिक (हलवाहक)-आदिसे प्रयुक्त पदविन्यासके परित्यागसे अलौकिक शोभासे युक्त होना ही उज्ज्वलता है। पारुष्य (कठोरता) न होना "सुकुमारता" है। इन दोनोंके उदाहरण स्पष्ट हैं।

क्वचिदिति। मार्गाऽभेद-रूप समता कहीं दोष होती है, जहाँ दोष नहीं होती है वहाँ पूर्वोक्त गुणों (प्रसाद, माधुर्य और ओज) में उसका यथायोग्य अन्तर्भाव हो जाता है॥ १३॥

मसृणेन विकटेन वा मार्गेणोपक्रान्तस्य सन्दर्भस्य तेनैव परिनिष्ठानं मार्गाभेदः। स च क्वचिद्दोषः।

तथाहि—

'अव्यूढाङ्गमरूढपाणिजठराभोगं च बिभ्रद्वपुः
पारीन्द्रः शिशुरेष पाणिपुटके सम्मातु किं तावता ?
उद्यद्दुर्धरगन्धसिन्धुरशतप्रोद्दामदानार्णव-
स्रोतःशोषणरोषणात्पुनरितः कल्पाग्निरल्पायते ॥'

मार्गाऽभेदं विवृणोति—**मसृणेनेति**। मसृणेन = सुकुमारेण, वा = अथवा, विकटेन = कठोरेण, मार्गेण = रचनाभेदेन। उपक्रान्तस्य = आरब्धस्य, सन्दर्भस्य = प्रबन्धस्य, तेन=मार्गेण, एव, परिनिष्ठान=समाप्तिः, मार्गाऽभेदः, यथाऽऽह वामनः—

"प्रतिपादं प्रतिश्लोकमेकमार्गपरिग्रहः।
दुर्बन्धो दुर्विभावश्च समतेति मतो गुणः॥" इति (अ० ३, अ० १)

स च = मार्गाऽभेदस्वरूपः समतागुणः।

मार्गाऽभेदं समतागुणमुदाहरति—**अव्यूढाऽङ्गमिति**। अव्यूढाङ्गम् = बालत्वात् अव्यूढानि (अप्रौढानि) अङ्गानि (चरणाद्योऽवयवाः) यस्य, तत्, अतएव—अरूढेत्यादिः० = अरूढः (अनुत्पन्नः) पाणिजठरस्य (करोदरस्य, पाणयश्च जठरं च पाणिजठरं, तस्य, "द्वन्द्वश्च प्राणितूर्यसेनाऽङ्गानाम्" इति समाहारद्वन्द्वः) आभोग (परिपूर्णता) यस्य तत्, तादृशं वपुः = शरीरं, बिभ्रत् = धारयन्, एषः = समीपतरवर्ती, शिशुः = शावकः, पारीन्द्रः = सिंहः, "कण्ठीरवस्तु पारीन्द्रः केसरी गजमोहनः।" इति हारावली। पाणिपुटके = करयुग्मके, मनुष्यस्येति शेषः। संमातु = इयत्ता प्राप्नोतु, सम्भावनायां लोट्। तावता = तत्परिमाणेन, अव्यूढाऽङ्गत्वादिना, किं, नो काऽपि त्रुटिरिति भावः। त्रुट्यभावं प्रदर्शयति—उद्यदित्यादिः० = उद्यत् (उत्थितम्) दुर्द्धराणां (दुर्द्धषाणाम्) गन्धसिन्धुराणां (गन्धगजानाम्) यत् शत (प्रचुरसंख्या) तेन हेतुना प्रोद्दाम (प्रचुरम्) यद् दानार्णवस्रोतः (मदजलसिन्धुप्रवाहः) तस्य शोषणं (शोषकारणम्) रोषणं (क्रोधः, यस्य, तस्मात्। इतः = अस्मात्, शिशुपारीन्द्रादिति भावः। कल्पाऽग्निः = प्रलयकालाऽनलः, अपि। अल्पायते = अल्प इवाऽऽचरति। बाल्ये सा शिशुरप्ययं प्रचुरबलसंपन्न इति भावः। गन्धगजलक्षणं यथा—

मसृणेति। सुकुमार अथवा कठोर रचनासे आरम्भ किये गये प्रबन्धका उसी रचनासे समाप्त करनेको "मार्गाऽभेद" कहते हैं। वह कहीं दोष होता है।

जैसे—अव्यूढाऽङ्गमिति। अपुष्ट पैर आदि अङ्गोंवाले अतः हाथ और पैरोंकी परिपूर्णतासे रहित शरीरको धारण करता हुआ यह शेरका बच्चा भले ही

अत्रोद्धतेऽर्थे वाच्ये सुकुमारबन्धत्यागो गुण एव। अनेवंविधस्थाने माधुर्यादावेवान्तःपातः।

यथा—

'लताकुञ्जं गुञ्जत्–' इत्यादि।

ओजः प्रसादो माधुर्यं सौकुमार्यमुदारता।
तदभावस्य दोषत्वात्स्वीकृता अर्थगा गुणाः॥ १४॥

"यस्योग्रमदगन्धेन हस्तिनो भयविह्वलाः।
दूरादेव पलायन्ते गन्धहस्ती स उच्यते॥" इति।

शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। अत्र पूर्वार्द्धे पारीन्द्रशिशोर्वर्णनीयत्वेन सुकुमारार्थ आवश्यकः परं कवेर्विकटमार्गाऽवलम्बनात्प्रतिकूलवर्णत्वं दोष इति भावः। उत्तरार्द्धे तु उत्कटाऽर्थत्वाद्विकटाऽर्थावलम्बनात्समता गुण एव।

अत्रेति। अत्र = अस्मिन्पद्ये, उद्धतेऽर्थे = उद्धरार्द्धगते इति शेषः, तीव्रक्रोधस्य वर्णनीयत्वादिति भावः। वाच्ये = वक्तव्ये। सुकुमारबन्धत्यागः = कोमलरचना-हानम्। गुण एव = प्रसङ्गाऽनुकूलत्वादिति भावः। अनेवंविधस्थाने=अनेतादृशस्थले, कोमलाऽर्थे वाच्य इति भावः। माधुर्यादावेव = माधुर्ये, आदिपदेन ओजसि च। अन्तःपातः = अन्तर्भावः। माधुर्यव्यञ्जके ललितबन्धे, ओजोव्यञ्जके उद्धतबन्धे चेत्यर्थः। यथा "लताकुञ्जं गुञ्जत्०"—इत्यादि (पृ० ८१)।

इदानीं मोजादिसम्मतानामोजःप्रभृतीनां दशविधानामर्थगुणानामपि दोषाऽभावादिभिरङ्गीकारमगुणत्वं च यथायथमुपपादयति—**ओज इति।** ओजः, प्रसादो माधुर्यं, सौकुमार्यम्, उदारता च एते पञ्च प्राचीनसम्मता अर्थगा गुणाः = अर्थगता गुणाः, तदभावस्य=ओजआद्यभावस्य, दोषत्वात् = दोषरूपत्वात्, स्वीकृताः अङ्गीकृताः, अस्माभिरिति शेषः॥ १४॥

मनुष्यके दो हाथोंमें समाजाय, उतनेसे क्या ? उठे हुए दुर्धर्ष सैकड़ों गन्धहस्तियोंके मदजलके समुद्रप्रवाहको सुखानेवाले क्रुद्ध इससे प्रलय कालका अग्नि भी थोड़ा ही-सा प्रतीत होता है।

अत्रेति। इस पद्यमें उत्तरार्द्धमें उद्धत अर्थ वाच्य होनेसे सुकुमार रचनाका त्याग गुण ही है, ऐसा स्थल न होनेपर माधुर्य आदिमें ही उसका अन्तर्भाव होता है। जैसे "लताकुञ्जं गुञ्जत्०" इत्यादि।

ओज इति। ओज, प्रसाद, माधुर्य, सौकुमार्य और उदारता इनका अभाव दोषरूप होनेसे ये अर्थगत गुण स्वीकृत हैं॥ १४॥

ओजः=साभिप्रायत्वरूपम्। प्रसादोऽर्थवैमल्यम्। माधुर्यमुक्तिवैचित्र्यम्। सौकुमार्यमपारुष्यम्। उदारता = अग्राम्यत्वम्। एषां पञ्चानामर्थगुणानां यथाक्रममपुष्टार्थाधिकपदानवीकृतामङ्गलरूपाश्लीलग्राम्याणां निराकरणेनैवाङ्गीकारः। स्पष्टान्युदाहरणानि।

अर्थव्यक्तिः स्वभावोक्त्यालङ्कारेण तथा पुनः।
रसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्यानां कान्तिनामकः॥ १५॥

विवृणोति—**ओज इति**। ओजः = साऽभिप्रायत्वरूप, पुष्टयभिप्रायविशेषणकत्वमित्यर्थः। तच्चाऽपुष्टार्थत्वदोषाऽभावत्वेन स्वीकृतम्। अर्थप्रौढिरोजः, इति प्राचीनाऽभिमतलक्षणं, सा च पञ्चविधा—

"पदाऽर्थे वाक्यरचना, वाक्याऽर्थे च पदाऽभिधा।
प्रौढिर्व्याससमासौ च साऽभिप्रायत्वमस्य च॥"

तत्र भेदचतुष्टयस्य वैचित्र्यमात्रप्रयोजकत्वाद् गुणाऽभावत्वमग्रे दर्शयिष्यते। अन्तिमभेदस्तु दोषाऽभावत्वेन स्वीकृतः। प्रसादः = अर्थवैमल्यम्, अर्थस्य (वाच्यस्य) वैमल्यं (स्फुटत्वमित्यर्थः) अधिकपदत्वनिराकरणेन अस्याङ्गीकारः, माधुर्यम्= उक्तिवैचित्र्यं, विचित्रोक्त्या तस्यैवाऽर्थस्य पुनः समर्पणमिति भावः। अनवीकृतत्वदोषपरिहारेणाऽस्य स्वीकारः। सौकुमार्यम् = अपारुष्यम्, अकठोरत्वमिति भावः। अमङ्गलरूपाऽश्लीलत्वनिराकरणेन अस्याऽभ्युपगमः, यथा "स मृतः" इत्यस्य स्थाने—

"स कथाशेषतां यातः समालिङ्ग्य मरुत्सखम्"।

एतादृशप्रयोगेणाऽभिप्रायसूचनम्। उदरता = अग्राम्यत्वम् "स्वपिहि त्वं समीपे मे स्वपिम्यवाऽधुनाऽप्रिये!" एतादृशप्रयोगाऽभावः।

एषामिति। अपुष्टाऽर्थत्वदोषनिराकरणेन ओजसः, अधिकपदत्वदोषनिराकरणेन प्रसादस्य, अनवीकृतत्वदोषनिराकरणेन, माधुर्यस्य, अमङ्गलरूपाऽश्लीलत्वदोषनिराकरणेन सौकुमार्यस्य, ग्राम्याऽर्थदोषनिराकरणेन उदारताया अङ्गीकार इति भावः। स्पष्टान्युदाहरणानि।

प्राचीनाऽभिमतावर्थव्यक्ति-कान्तिनामकावर्थगुणावन्तर्भावयति—**अर्थव्यक्तिरिति**। स्वभावोक्त्या = तन्नामकेन, अलङ्कारेण, अर्थव्यक्तिः = तदाख्यः अर्थगुणः

पदोंका साऽभिप्राय होना "ओज" है, वह "अपुष्टाऽर्थत्व" दोषका अभावरूप है। अर्थकी स्फुटता "प्रसाद" है, अधिकपदता दोषके निराकरणसे इसका स्वीकार किया गया है उक्तिकी विचित्रता "माधुर्य" है, "अनवीकृतत्व" दोषके परिहारसे इसका अङ्गीकार किया गया है। कठोरता न होना "सौकुमार्य" है, अमङ्गलतारूप अश्लीलताके निराकरणसे इसका स्वीकार किया गया है। ग्राम्यत्व दोष न होना "उदारता" है, इनके उदाहरण स्पष्ट हैं (पहले दे चुके हैं।)

अर्थव्यक्तिरिति। प्राचीन आचार्योंसे अर्थगुणके रूपमें अभिमत अर्थव्यक्ति,

समता च प्रक्रान्तप्रकृतिप्रत्ययाविपर्यासेनार्थस्य विसंवादिताविच्छेदः। स च प्रक्रमभङ्गरूपविरह एव।

स्पष्टमुदाहरणम्।

न गुणत्वं समाधेश्च—

समाधिश्चायोन्यन्यच्छायायोनिरूपद्विविधार्थदृष्टिरूपः। तत्रायोनिरर्थो यथा-
'सद्योमुण्डितमत्तहूणचिबुकप्रस्पर्धि नारङ्गकम्।

प्राचीनाऽभिमतं समाधिं निरुच्य तस्य दोषाभावस्वरूपं प्रतिपादयति—**समतेति**। प्रक्रान्तेत्यादिः० = प्रक्रान्तयोः (प्रारब्धयोः) प्रकृतिप्रत्यययोः अविपर्यासेन (अवैषम्येण) अर्थस्य = प्रतिपाद्यविषयस्य, विसंवादितायाः (विसंवादस्य, असंगतेरिति भावः) विच्छेदः (अभावः), प्रारब्धप्रकृतिप्रत्यययोरवैषम्येण समापनमिति भावः। स च विसंवादिताऽविच्छेदः प्रक्रमभङ्गरूपदोषस्य विरहः (अभावः) एव। अतः समताया दोषाऽभावत्वरूपमेव न गुणत्वमिति भावः।

प्राचीनाऽभिमतसमाधेरर्थगुणत्वं प्रतिषेधति—**न गुणत्वमिति**। समाधेः = अर्थगुणविशेषरूपेण प्राचीनाऽभिमतस्य समाधेः, न गुणत्वम् = अस्मन्मते न गुणत्वम्

समाधिं लक्षयति—**समाधिश्चेति**। अयोनीत्यादिः० = अर्थदृष्टित्वं=समाधित्वम्। अर्थस्य दृष्टिः (ज्ञानविशेषः) स चाऽर्थो द्विविधः—अयोनिरन्यच्छायायोनिश्च अयोनिः = पूर्वकविभिरदृष्टोऽर्थः। अन्यच्छायायोनिः = अन्यवर्णिताऽर्थाऽनुसारी।

तत्राऽयोनिमुदाहरति—**सद्योमुण्डित इति**। सद्यः (सपदि) मुण्डितः (कृतमुण्डनः) मत्तः (मदिरामदयुक्तः) यो हूणः (हूणदेशोत्पन्नो म्लेच्छः) तस्य यत् चिबुकम् (ओष्ठाऽधोभागः) तं प्रस्पर्द्धते (सङ्घर्षं करोति) तच्छीलं, हूणस्य ताम्रवर्णत्वेन मत्तत्वेन च चिबुकमति ताम्रमिति भावः, तादृशं नारङ्गकं = नारङ्गफलम्, अत्र मत्तहूणचिबुकनारङ्गयोः सादृश्यं केनाऽपि पूर्वकविना नो निबद्धम् अतोऽयोनिरूपः समाधिः।

आरम्भ किये गये प्रकृति और प्रत्ययका वैषम्य न कर अर्थकी असंगतिका अभाव "समता" है, वह भग्नप्रक्रम दोषका अभावस्वरूप ही है। उदाहरण स्पष्ट है।

न गुणत्वमिति। "समाधि" भी गुण नहीं है।

"अयोनि" और "अन्यच्छायायोनि" इस प्रकार दो प्रकारके अर्थोंका ज्ञानविशेष "समाधि" है।

उनमें अयोनि अर्थ, जैसे—**सद्य इति**।

तत्क्षण मुण्डन किये हुए हूण (अनार्यविशेष) की ठुड्डीके समान (लाल) नारङ्गी है।

अन्यच्छायायोनिर्यथा—

'निजनयनप्रतिबिम्बैरम्बुनि बहुशः प्रतारिता काऽपि।
नीलोत्पलेऽपि विमृशति करमर्पयितुं कुसुमलावी॥'

अत्र नीलोत्पलनयनयोरतिप्रसिद्धं सादृश्यं विच्छित्तिविशेषेण निबद्धम्। अस्य चासाधारणशोभानाधायकत्वान्न गुणत्वम्, किन्तु काव्यशरीरमात्रनिर्वर्तकत्वम्।

क्वचिच्च 'चन्द्रम्' इत्येकस्मिन् पदार्थे वक्तव्ये 'अत्रेर्नयनसमुत्थं ज्योतिः' इति वाक्यवचनम्। क्वचित् 'निदाघशीतलहिमकालोष्णसुकुमारशरीरावयवा

अन्यच्छायायोनिमुदाहरति—**निजेति**। अम्बुनि = जले, निजनयनप्रतिबिम्बैः = निजनयनयोः (स्वनेत्रयोः) प्रतिबिम्बैः (प्रतिकृतिभिः), प्रतारिता = वञ्चिता, जले पतितेषु स्वप्रतिबिम्बेषु सादृश्यात् नीलोत्पलज्ञानाच्चेतुं प्रवृत्ता प्रतारितेति भावः। तादृशी कुसुमलावी=पुष्पच्छेदनशीला, कुसुमानि लुनातीति तच्छीला, "कर्मण्यण्" इत्यण्। "ठिड्ढाणञ्०" इत्यादिना ङीप्। नीलोत्पले = नीलकुवलये, अपि, करं = हस्तम्, अर्पयितुं = निधातुं, विमृशति = विचिन्तयति, इदं नीलोत्पलं नो वेति विचारयतीति भावः।

अन्यच्छायायोनित्वमुपपादयति—**अत्रेति**। अतिप्रसिद्धं = बहुषु काव्येषूपनिबद्धमिति भावः। सादृश्यं = तुल्यत्वम्। विच्छित्तिविशेषेण = चमत्काराऽतिशयाधायकत्वेन, निबद्धं = प्रतिपादितम्। अस्य = समाधेः, असाधारणशोभाऽनाधायकत्वात् = असाधारणशोभायाः (रसादीनामसामान्यसौन्दर्यस्य) अनाधायकत्वात्= (अनुत्पादकत्वात्) न गुणत्वं, किन्तु काव्यशरीरमात्रनिर्वर्तकत्वं = काव्यशरीरमात्रस्य (केवलशब्दाऽर्थयुगलस्य) निर्वर्तकत्वम् (निष्पादकत्वम्)।

भेदपञ्चकोपेतस्यौजसोऽन्तिमभेदस्य साऽभिप्रायरूपत्वस्य अपुष्टाऽर्थत्वदोषाऽभावत्वेन गुणत्वं निराकृतम्। साम्प्रतं भेदचतुष्टयस्य गुणत्वं निराकर्तुमुपक्रमते—**क्वचिदिति**। १. क्वचित्=कुत्रचित्, रघुवंशादाविति भावः। "चन्द्रम्" इत्येकस्मिन्पदार्थे वक्तव्ये = वचनीये—"अत्रेर्नयनसमुत्थं ज्योतिः" इति वाक्यवचनम् (पदसमूहाऽभिधानम्) तद्यथा रघुवंशे—"अथ नयनसमुत्थं ज्योतिरत्रेरिव द्यौः" (२-७५)। इति।

अन्यच्छायायोनि अर्थ जैसे—**निजेति**। कोई फूल तोड़नेवाली स्त्री पानीमें अपने नेत्रोंके प्रतिबिम्बोंसे बारंबार धोखा खाती हुई नीलकमलमें भी (अपने नेत्रकी छाया समझ कर) हाथ लगानेमें विचार (गौर) करती है। इस पद्यमें नीलकमल और नेत्रमें अत्यन्त प्रसिद्ध सादृश्य (तुल्यत्व) चमत्कारविशेषसे प्रतिपादित है। असाधारण शोभाका आधान न करनेसे यह गुण नहीं है, किन्तु काव्यके शरीर (शब्द और अर्थरूप) मात्र का निष्पादक है। कहीं "चन्द्र" इस एक पदार्थको कहनेके लिए "अत्रिके नेत्रसे उत्पन्न ज्योति" ऐसा वाक्य कहा

योषित्' इति वाक्यार्थे वक्तव्ये 'वरवर्णिनी' इति पदाभिधानम्। क्वचिदेकस्य वाक्यार्थस्य किञ्चिद्विशेषनिवेशादनेकैर्वाक्यैरभिधानमित्येवंरूपो व्यासः। क्वचिद् बहुवाक्यप्रतिपाद्यस्यैकवाक्येनाभिधानमित्येवंरूपः समासश्च, इत्येवमादीनामन्यैरुक्तानां न गुणत्वमुचितम्, अपि तु वैचित्र्यमात्रावहत्यम्।

ब्रह्मणा सृष्टे प्रजापतिदशकेऽन्यतमः प्रजापतिरत्रिर्यथाऽऽह मनुः—

"मरीचिमत्र्यङ्गिरसौ पुलस्त्यं पुलहं क्रतुम्।

प्रचेतसं वसिष्ठं च भृगुं नारदमेव च ॥" १–३५। इति।

एवं सप्तर्षिष्वप्ययमन्यतमः, स च ब्रह्मणश्चक्षुषो जातस्तस्य पत्न्यनसूया। तस्य त्रयः पुत्राः दत्तात्रेयो दुर्वासाश्चन्द्रश्चेति श्रीमद्भागवतम्। चन्द्रस्तस्य नयनाज्जात इति पुराणान्तरम्।

२. क्वचित् निदाघेत्यादि:० = निदाघे (ग्रीष्मर्तौ) शीतलाः (शीताः) हिमकाले (हेमन्तर्तौ) उष्णाः (तापसहिताः) सुकुमाराः (कोमलाः) शरीराऽवयवाः (देहभागाः) यस्यास्तादृशी योषित् (स्त्री) इति वाक्याऽर्थे वक्तव्ये "वरवर्णिनी"ति पदाऽभिधानम्। तस्या इदमपरलक्षणम्—

शीतकाले भवेदुष्णा, उष्णकाले च शीतला।

सुकुमारशरीरा च सा ज्ञेया वरवर्णिनी ॥"इति। सेयं वाक्यार्थे च पदाऽभिधा।

३. क्वचित् **एकस्येति**। एकस्य वाक्यार्थस्य किंचिद्विशेषनिवेशात् = किंचिद्विशेषनिवेशमभिप्रेत्य, व्यासः=विस्तरः। यथा "नाऽयं पण्डित" इत्येकवाक्येन वक्तव्ये "नाऽयं व्याकरणं, न वा न्यायं वेत्तीत्यादिखण्डखण्डवाक्येन समस्तशास्त्राऽज्ञानकथनम्।

४. क्वचिद्बहुवाक्यप्रतिपाद्यस्यैकवाक्येनाऽभिधानम् (कथनम्) इत्येवं रूपो समासः।

स यथा—"ते हिमालयमामन्त्र्य पुनः प्रेक्ष्य च शूलिनम्।

सिद्धं चाऽस्मै निवेद्याऽर्थं तद्विसृष्टाः समुद्ययुः" ॥ इति।

(कुमारसंभवम् ७)

इत्येवमिति। अन्यैः वामनादिभिः, न गुणत्वमुचितम्। रसादीनामुपकाराऽजननादिति भावः।

जाता है, और कहीं ग्रीष्म ऋतुमें शीतल और हेमन्त ऋतुमें उष्ण (गरम) सुकुमार शरीरके अवयवोंवाली स्त्री" ऐसा वाक्यार्थ वक्तव्य होनेपर "वरवर्णिनी" ऐसे एक पदकी उक्ति होती है। कहीं एक वाक्याऽर्थको कुछ दिखानेका अभिप्राय कर अनेक वाक्योंसे कहना इस प्रकार व्यास (फैलाव) होता है। कहीं बहुतसे वाक्योंसे कहनेके लिए योग्य अर्थको एक वाक्यसे कहना इस प्रकारका समास (संक्षेप) होता है। इत्यादि औरोंसे कहे गये अर्थगुण नहीं हैं; वैचित्र्यमात्रको उत्पन्न करते हैं।

—तेन नार्थगुणाः पृथक् ॥ १६ ॥

तेनोक्तप्रकारेण। अर्थगुणा ओजःप्रभृतयः प्रोक्ताः।

इति साहित्यदर्पणे गुणविवेचनो नामाष्टमः परिच्छेदः।

गुणनिरूपणमुपसंहृति—तेनेति। तेन = पूर्वोक्तप्रकारेण अर्थगुणाः = ओजःप्रभृतयो वामनोक्ताः, भोजराजोक्ता दण्डिकव्युक्ता वा अर्थवृत्तयो गुणाः, न पृथक् = नाऽतिरिक्ताः, अपितमस्मदुक्त–गुणादोषाऽभावरसध्वनिगुणीभूतव्यङ्ग्याऽलङ्कारेष्वन्तर्भूता इति भावः।

इति साहित्यदर्पणे गुणविवेचनो नामाऽष्टमः परिच्छेदः।

इति श्रीशेषराजशर्मप्रणीतायां चन्द्रकलाऽभिख्यायां साहित्यदर्पणव्याख्यायामष्टमः परिच्छेदः।

—❀❀❀—

तेनेति। पूर्व प्रदर्शित उक्तिसे ओज आदि पृथक् रूपसे अर्थगुण नहीं हैं।

साहित्यदर्पणमें गुणविवेचन नामक अष्टम परिच्छेद समाप्त हुआ।

—❀❀❀—

अत्र दशगुणास्तन्मतोक्ताः श्लेषादयः।

ओजःप्रकाशकैर्वर्णैर्बन्ध आडम्बरः पुनः ॥ ३ ॥

समासबहुला गौडी—

यथा—

'चञ्चद्भुज०—' इत्यादि।

पुरुषोत्तमस्त्वाह—

'बहुतरसमासयुक्ता सुमहाप्राणाक्षरा च गौडीया।
रीतिरनुप्राससमहिमपरतन्त्रा स्तोकवाक्या च ॥'

(खछठथफाः) तैः बहुला (प्रचुरा), स्वल्पप्राणाऽक्षरा = स्वल्पः (लघुः) प्राणः (उच्चारणप्रयत्नः) येषां, ते, तादृशा अक्षराः (वर्णाः) यस्यां सा, तादृशी वैदर्भं रीतिः, सुविधेया = सुन्दरविधया विधातव्या।

विवृणोति—**अत्रेति।**

गौडीं लक्षयति—**ओजःप्रकाशकैरिति।** ओजःप्रकाशकैः = ओजोगुणव्यञ्जकैः, वर्णैः, पुनः आडम्बरः = उद्धतवर्णघटितः, बन्धः = रचना ॥ ३ ॥

समासबहुला = समासप्रचुरा, तादृशी रीतिर्गौडी।

गौडीमुदाहरति—"चञ्चद्भुजे"त्यादि (४३६ पृ०)।

पुरुषोत्तमकृतलक्षणमाह—**बहुतरेति।** बहुतरैः (प्रचुरतराः) ये समासाः, तैर्युक्ता (सहिता)। सुमहाप्राणाऽक्षरा = सुमहान् (अतिगुरुः) प्राणः (उच्चारणप्रयत्नः) येषां, ते तादृशा अक्षरा यस्यां सा। अनुप्राससमहिमपरतन्त्रा = अनुप्रासः (वक्ष्यमाणः शब्दाऽलङ्कारविशेषः) तस्य महिमा (प्राचुर्यम्) तत्परतन्त्रा = तदधीना, स्तोकवाक्या = स्तोकम् (अल्पम्) वाक्यं (पदसमूहः) यस्य सः सा एतादृशो रीतिर्गौडीया।

समासोंसे युक्त; श्लेष आदि दश गुणोंसे युक्त वर्गोंके द्वितीय वर्णोंसे प्रचुर, अल्पप्राण अक्षरोंवाली रीतिको "वैदर्भी" कहते हैं।

यहां दश गुण कहनेसे उनके मतमे कहे गये श्लेष आदिको **जानना चाहिए।** ओज गुणको प्रकाशित करनेवाले अक्षरोंसे उद्धत वर्णघटित रचना और ॥ ४ ॥ प्रचुर समासोंसे युक्त रीतिको "गौडी" कहते हैं।

जैसे—"चञ्चद्भुज" इत्यादि। पुरुषोत्तम इसका लक्षण कहते है—

बहुतरेति। प्रचुर समासोंसे युक्त, महाप्राण प्रयत्न वाले वर्णों वाली, अनुप्रासकी प्रचुरताकी अधीन और थोड़े वाक्योंवाली रीतिको "गौडी" कहते हैं।

—वर्णैः शेषैः पुनर्द्वयोः ।
समस्तपञ्चषपदो बन्धः पाञ्चालिका मता ॥ ४ ॥

द्वयोर्वैदर्भीगौडयोः । यथा—

'मधुरया मधुबोधितमाधवीमधुसमृद्धिसमेधितमेधया ।
मधुकराङ्गनया मुहुरुन्मदध्वनिभृता निभृताक्षरमुज्जगे ॥'

भोजस्त्वाह— 'समस्तपञ्चषपदामोजःकान्तिसमन्विताम् ।
मधुरां सुकुमारां च पाञ्चालीं कवयो विदुः ॥'

पाञ्चालिकां लक्षयति—**वर्णैरिति** । पुनः, द्वयोः = वैदर्भीगौडयोः, शेषैः = अवशिष्टैः, वर्णैः = अक्षरैः, उपलक्षिता, समस्तपञ्चषपदः = समस्तानि (समासयुक्तानि) पञ्चषाणि (पञ्च वा षड् वा) पदानि (शब्दाः) यस्मिन् सः । तादृशो बन्धः = रचना, पाञ्चालिका मता ॥ ४ ॥

पाञ्चालिकामुदाहरति—**मधुरयेति** । शिशुपालवधमहाकाव्ये षष्ठसर्गे वसन्तवर्णनपरकं पद्यमिदम् । मधुरया = मनोहरया, मधुबोधितेत्यादिः = मधुना (वसन्तर्तुना) बोधिता (प्रकाशिता) या माधवी (वासन्तीलता) तस्या मधुसमृद्धया (मकरन्दसम्पदा) समेधिता (संवर्द्धिता) मेधा (बुद्धिः) यस्याः सा तया । उन्मदध्वनिभृता = उत्कटः मदः (मादकत्वम्) यस्मिन्, तादृशो यो ध्वनिः (झङ्कारः) तं बिभर्ति (धारयति) इति, तया, मधुकराऽङ्गनया = मधुकरस्य (भ्रमरस्य) अङ्गना (भार्या, मधुकरीति भावः), तया भ्रमर्येत्यर्थः मुहुः = वारं वार, निभृताऽक्षरं = निभृताः (अस्फुटाः) अक्षराः (वर्णाः) यस्मिन् कर्मणि, तद्यथा तथा । उज्जगे = उच्चैर्गीतम् । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् । पूर्वार्द्धे गौडीव्यञ्जकसमासबाहुल्येन उत्तरार्द्धे वैदर्भीव्यञ्जकाल्पवृत्तिसद्भावाद् द्वयोर्वैदर्भीगौडयोर्वर्ण-सद्भावात्पाञ्चालिका वृत्तिः । पाञ्चालिकेत्यत्र पाञ्चाली एव पाञ्चालिकेति स्वार्थे कः । पञ्चालेषु भवेतिठक्प्रत्यये कृते पाञ्चालिकी स्यादित्यवधेयम् ।

भोजमतमाह—**समस्तेति** । कवयः, समस्तपञ्चषपदां = समस्तानि (समासयुक्तानि) पञ्चषाणि (पञ्चसंख्यकानि षट् संख्यकानि वा) पदानि (शब्दाः)

पाञ्चालिकाका लक्षण कहते हैं—**वर्णैरिति** । वैदर्भी और गौडी रीतियोंके अवशिष्ट वर्णोंसे उपलक्षित, पांच वा छः पदोंके समाससे युक्त रीति "पाञ्चाली" मानी गई है ॥ ४ ॥

पाञ्चालिकाका उदाहरण—**मधुरयेति** । मनोहर, वसन्त ऋतुसे विकसित मकरन्दकी समृद्धिसे बढ़ी हुई बुद्धिवाली, उत्कट मदवाली ध्वनिको धारण करनेवाली ऐसी भ्रमरीने वारंवार अस्पष्ट ध्वनिसे गाना (गुञ्जन) किया ।

भोजकृत पाञ्चालीका लक्षण—पांच वा छः पदोंके समाससे युक्त, ओज और कान्ति नामक गुणोंसे समन्वित मधुर और सुकुमार रीतिको कविलोग पाञ्चाली

लाटी तु रीतिर्वैदर्भीपाञ्चाल्योरन्तरे स्थिता ।

यथा—

'अयमुदयति मुद्राभञ्जनः पद्मिनीनामुदयगिरिवनालीबालमन्दारपुष्पम् ।
विरहविधुरकोकद्वन्द्वबन्धुर्विभिन्दन् कुपितकपिकपोलक्रोडताम्रस्तमांसि ॥'

यस्यां, ताम् । ओजःकान्तिसमन्विताम् = ओजःकान्तिभ्यां (स्वसंमताभ्यामोजःकान्तिभ्यां गुणाभ्याम्) समन्विताम् (सहिताम्) मधुरां = श्रवणीयाम्, सुकुमारां च = मृदुलाम् च, रीतिं, पाञ्चालीं, विदुः = जानन्ति ।

लाटीं लक्षयति—**लाटी त्विति** । वैदर्भीपाञ्चाल्योः (तदाख्ययो रीत्योः) अन्तरा (मध्ये) स्थिता = विद्यमाना, नाऽत्यल्पसमासा न बहुलसमासा, तादृशी रीतिस्तु' लाटी । रीतिरियं वामनाचार्येण नोल्लिखितेत्यवधेयम् ।

लाटीमुदाहरति—**अयमिति** । कश्चित्कविः सूर्योदयं वर्णयति । पद्मिनीनां = कमलिनीनां, मुद्राभञ्जनः = निमीलननाशकः, विकासकारक इति भावः । उदयगिरीत्यादिः० = उदयगिरेः (पूर्वपर्वतस्य) या वनाऽऽली (अरण्यपङ्क्तिः) तस्या बालमन्दारपुष्पं = बालम् (अचिरविकसितम्) मन्दारपुष्पम् (पारिभद्रकुसुमम्) इव, रक्तवर्ण इति भावः । विरहेत्यादिः० = विरहेण (मिथोवियोगेन) विधुरं (पीडितम्) यत् कोकद्वन्द्वं (चक्रवाकमिथुनं, जातावेकवचनम्) । तस्य बन्धुः (बान्धवः, मिथःसंयोजनेनेति शेषः) । एवं च कुपितेत्यादिः० = कुपितः (क्रुद्धः) यः कपिः (वानरः) तस्य कपोलक्रोडम् (गण्डफलकमध्यभागः) तद् इव ताम्रः (रक्तवर्णः), अयं = सूर्यः, तमांसि = अन्धकारान्, बिभिन्दन् = निवारयन्, उदयति = उदेति, मालिनी वृत्तम् । अत्र मञ्जन-मन्दार-द्वन्द्वबन्धु-भिन्दन्नितिपदेषु माधुर्यव्यञ्जकवर्णानां सद्भावाद्वैदर्भीघटकत्वमपरवर्णानां पाञ्चालीघटकत्वमत उभयमिश्रणाल्लाटी रीतिरियम् ।

कहते हैं । लाटीका लक्षण—वैदर्भी और पाञ्चालीके बीचमें रहनेवाली दोनोंके कुछ लक्षणोंसे युक्त रीतिको "लाटी" कहते हैं ।

लाटीका उदाहरण—कमलिनियोंकी मुद्रा (निमीलन) का भङ्ग करनेवाला अर्थात् उनको विकसित करनेवाला, उदय पर्वतकी वनपङ्क्तिमें विद्यमान मन्दार (पारिभद्र) का नया फूल, अर्थात् लालवर्णवाला और वियोगसे पीड़ित चकवोंके जोड़ोंका बन्धु अर्थात् उनका संयोग करानेवाला क्रुद्ध बन्दरके कपोलके मध्यभागके समान लाल यह सूर्य, अन्धकारोंका भेदन करता हुआ उदित होता है ।

कश्चिदाह—

'मृदुपदसमाससुभगा युक्तैर्वर्णैर्न चातिभूयिष्ठा।
उचितविशेषणपूरितवस्तुन्यासा भवेल्लाटी ॥'

अन्ये त्वाहुः—

'गौडी डम्बरबद्धा स्याद्वैदर्भी ललितक्रमा।
पाञ्चली मिश्रभावेन, लाटी तु मृदुभिः पदैः ॥'

क्वचित्तु वक्त्राद्यौचित्यादन्यथा रचनादयः ॥ ५ ॥

वक्त्रादीत्यादिशब्दाद्वाच्यप्रबन्धौ। रचनादीत्यादिशब्दाद् वृत्तिवर्णौ।

कस्यचिन्मते लाटीलक्षण—**मृदुपदेति**। मृदुपदाना (कोमलशब्दानाम्) समासेन (समसनेन) सुभगा (मनोहरा), युक्तैः = संयुक्तैः, वर्णैः = अक्षरैः, न अतिभूयिष्ठा = न अतिप्रचुरा। उचितेत्यादि० = उचितानि (योग्यानि) यानि विशेषणानि (भेदकपदानि) तैः पूरितः (पूर्णीकृतः) वस्तुन्यासः (पदार्थस्थापनम्) यस्यां सा, तादृशी रीतिर्लाटी भवेत्।

अन्येषां मतेन रीतीनां लक्षणमाह—**गौडीति**। डम्बरबद्धा = डम्बरेण (आडम्बरेण, ओजःप्रकाशकवर्णनिचयेन समासबाहुल्येन चेति भावः) बद्धा (निर्मिता) रीतिर्गौडी। ललितक्रमा = ललितः (माधुर्यपूर्णः) क्रमः (शब्दविन्यासः) यस्यां सा। तादृशी रीतिर्वैदर्भी। मिश्रभावेन = गौडीवैदर्भ्योरीत्योः मिश्रभावेन=मिश्रणेन, पाञ्चाली। मृदुभिः=कोमलैः, पदैस्तु युक्ता लाटी स्यात्=भवेत्।

क्वचित्पूर्वोक्तलक्षणाना व्यतिक्रमस्थलमाह—**क्वचित्त्विति**। क्वचित्तु = कुत्रचित्तु, वक्त्राद्यौचित्यात् = वक्त्रादीनाम् (वक्तृप्रभृतीनाम्) आदिपदेन वाच्यप्रबन्धयोः परामर्शः) औचित्यात् (स्वभावात्) अन्यथा = अन्येन प्रकारेण, लक्षणभिन्नत्वेनाऽपि, रचनादयः = रीत्यादयः, भवन्तीति शेषः।

विवृणोति—**वक्त्रादीति**। वाच्यः = वक्तव्योऽर्थः, रचनादयः = अत्रादिशब्दात् वृत्तिवर्णौ परिगृह्येते। वृत्तिश्छन्दः, वर्णोऽक्षरम्।

किसीने लाटीका ऐसा लक्षण किया है—कोमल पदोंके समाससे सुन्दर, जहाँ संयुक्त वर्ण प्रचुर नहीं हैं, उचित विशेषणोंसे पूर्ण पदार्थोंकी स्थितिवाली रीतिको "लाटी" कहते हैं।

अन्य लोगोंने कहा है—ओजःप्रकाशक वर्णोंसे और समासकी प्रचुरतासे निर्मित रीति "गौडी" है। माधुर्यपूर्ण पदविन्यासले युक्त 'वैदर्भी" है। गौडी और वैदर्भीके मिश्रभावसे "पाञ्चाली" है एवम् कोमल पदोंसे निर्मित रीति "लाटी" मानी गई है।

क्वचित्त्विति। कहींपर वक्ता आदि (वाच्य और प्रबन्ध) के औचित्यसे लक्षणसे विरुद्ध भी रचना आदि (वृत्ति और वर्ण) ये सब दृष्ट होते हैं।

तत्र वक्त्रौचित्याद्यथा—

'मन्थायस्तार्णवाम्भःप्लुतकुहरचलन्मन्दरध्वानधीरः
कोणाघातेषु गर्जत्प्रलयघनघटान्योन्यसङ्घट्टचण्डः।
कृष्णाक्रोधाग्रदूतः कुरुकुलनिधनोत्पातनिर्घातवातः
केनास्मत्सिंहनादप्रतिरसितसखो दुन्दुभिस्ताडितोऽयम्॥

वक्त्रौचित्याद्वचनादीनामन्यथात्वमुदाहरति—**मन्थेति**। वेणीसंहारस्थं पद्यमिति। युद्धघोषणामाकर्ण्य भीमसेनस्योक्तिरियम्। मन्थेत्यादि:० = मन्थेन (मथनेन) आयस्तं (क्षुब्धम्) यत् अर्णवाऽम्भः (सागरसलिलम्) तेन प्लुतं (व्याप्तम्) कुहरं (रन्ध्रम्) यस्य सः, तादृशः चलन् (घूर्णन्) यो मन्दरः (मन्दरपर्वतः) तस्य ध्वानः (शब्दः) स इव धीरः (गम्भीरः)। गर्जदित्यादिः०= गर्जन्ती (गर्जनं कुर्वती) या प्रलयघनघटा (क्षयकालिकमेघपरम्परा) तस्या योऽन्योन्यसंघट्टः (मिथः संघर्षः) स इव चण्डः (भीषणः)। कृष्णाक्रोधाऽग्रदूतः = कृष्णायाः (द्रौपद्याः) क्रोधस्य (कोपस्य) अग्रदूतः (सूचकः, प्रधानसन्देशहरः)। कुरुकुलेत्यादिः० = कुरुकुलनिधनस्य (कुरुवंशमरणस्य) उत्पातनिर्घातवातः (उत्पातसूचकनिर्घातवायुस्वरूपः)। निर्घातलक्षणं यथा—

"यदाऽन्तरीक्षे बलवान्मारुतो मारुताहतः।
पतत्यधः स निर्घातो जायते वायुसंभवः॥" इति।

एवं च—कोणाघातेषु = कोणस्य (वीणाऽऽदिवादनदण्डस्य) आघातेषु (ताडनेषु) सत्सु। अस्मदित्यादिः० = अस्माकं (पाण्डवादीनाम्) यः सिंहनादः (सिंहगर्जनसदृशः शब्दः) तस्य यत् प्रतिरसितं (प्रतिध्वनिः) तस्य सखा (मित्रं, सदृश इति भावः। अयं = अस्मिन्नेव क्षणे दृष्टिगोचरः, दुन्दुभिः = भेरी, "भेरी स्त्री दुन्दुभिः पुमान्" इत्यमरः। केन = जनेन, ताडितः = आहतः, यतो ध्वनिः समजायतेति भावः। स्रग्धरा वृत्तम्।

उनमें वक्ताके औचित्यसे जैसे—**मन्थायस्तेति**। मथनसे क्षुब्ध समुद्र जलसे व्याप्त रन्ध्रवाले चलते हुए मन्दर पर्वतके शब्दके समान गम्भीर, गर्जन करती हुई प्रलयकाल की मेघपङ्क्तिके परस्पर संघर्षके समान भीषण, द्रौपदीके क्रोधका अग्रदूत, कौरवोंके वंशका उत्पातसूचक, निर्घात वायुस्वरूप और वीणा आदि वाद्योंके वादन दण्डके ताडनोंके होनेपर हमलोगोंके सिंहनादकी प्रतिध्वनिके समान इस दुन्दुभि (भेरी)को किसने बजाया?

अत्र वाच्यस्यक्रोधाद्यनभिव्यञ्जकत्वेऽपि भीमसेनवक्तृत्वेनोद्धता रचनादयः। वाच्यौचित्याद्यथोदाहृते 'मूर्धव्याधूयमान०—' इत्यादौ। प्रबन्धौचित्याद्यथा नाटकादौ रौद्रेऽप्यभिनयप्रतिकूलत्वेन न दीर्घसमासादयः। एवमाख्यायिकायां शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः। कथायां रौद्रेऽपि नात्यन्तमुद्धताः। एवमन्यदपि ज्ञेयम्।

इति साहित्यदर्पणे रीतिविवेचनो नाम नवमः परिच्छेदः।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्, उदाहृतपद्ये। वाच्यस्य = दुन्दुभिताडनरूपार्थस्य, क्रोधादीनाम् (कोपादीनाम्, आदिपदेन उत्साहादेः परिग्रहः) अनभिव्यञ्जकत्वेऽपि = अभिव्यञ्जनाऽकर्तृत्वेऽपि। भीमसेनवक्तृत्वेन = भीमसेनस्य (द्वितीयपाण्डवस्य) वक्तृत्वेन (अभिधातृत्वेन) रचनादयः = रीत्यादयः, उद्धताः।

वाच्यौचित्याद्रचनादीनामन्यथात्वमुदाहरति—"मूर्द्धव्याधूयमाने"त्यादिः (५८ पृ०)। अत्र मृदुप्रकृतिसूत्रधारस्यवक्तृत्वेऽपि शिवताण्डवरूपस्य वाच्यस्यौचित्यादुद्धता रचनादयः। प्रबन्धौचित्यात् = प्रबन्धे (नाटकादौ) औचित्यात्, रौद्रेऽपि = रसे, अभिनयप्रतिकूलत्वेन = अभिनयस्य (अवस्थाऽनुकरणस्य) प्रतिकूलत्वेन (अननुगुणत्वेन) न दीर्घसमासादयः। एवम् आख्यायिकायां = गद्यकाव्यविशेषे, शृङ्गारेऽपि न मसृणवर्णादयः=कोमलाक्षरादयः। कथायां=गद्यकाव्यविशेषे, रौद्रेऽपि न अत्यन्तम् उद्धताः = वर्णाः।

प्रकरणमुपसंहरति—**एवमिति**।

इति साहित्यदर्पणे रीतिविवेचनो नाम नवमः परिच्छेदः।

यहां दुन्दुभिताडनरूप वाच्य यद्यपि क्रोध आदिका व्यञ्जक नहीं है तो भी इसमें भीमसेन वक्ता होनेसे रचना आदि उद्धत हैं। वाच्यके औचित्यसे जैसे पूर्व उदाहृत "मूर्धव्याधूयमान" इत्यादि पद्यमें है। प्रबन्धके औचित्यसे जैसे नाटक आदिमें रौद्ररस होनेपर भी उसका अभिनयमें प्रतिकूल होनेसे दीर्घ समास आदि नहीं होते हैं। इसी तरह आख्यायिकामें शृङ्गार रसमें भी कोमल अक्षर आदि नहीं होते हैं। कथामें रौद्ररसमें भी रचना आदि अत्यन्त उद्धत नहीं होते हैं। इसी तरहसे और विषय भी जानना चाहिए।

साहित्यदर्पणमें रीतिविवेचन नामक नवम परिच्छेद समाप्त हुआ।

दशमः परिच्छेदः

अथावसरप्राप्तानलङ्कारानाह—

शब्दार्थयोरस्थिरा ये धर्माः शोभातिशायिनः ।
रसादीनुपकुर्वन्तोऽलङ्कारास्तेऽङ्गदादिवत् ॥ १ ॥

यथा अङ्गदादयः शरीरशोभातिशायिनः शरीरिणमुपकुर्वन्ति, तथानुप्रासे

अथेति । अथ = रीतिनिरूपणाऽनन्तरम्, अवसरप्राप्तान् = प्रसङ्गलब्ध सूचीकटाहन्यायेन क्रमलङ्घनेनपूर्वकम् । अलङ्कारान् = उपमाद्येलङ्कारान्, आ अलङ्क्रियन्ते शब्दाऽर्थौ एभिरिति करणव्युत्पत्याऽलङ्कारशब्द उपमाद्यलङ्क बोधकः । अलङ्कृतिरलङ्कार इति भावव्युत्पत्या तु अलङ्कारशास्त्रबोधक इत्यवधेयम् ।

अलङ्कारं लक्षयति—**शब्दाऽर्थयोरिति ।** रसादीनुपकुर्वन्तः शब्दाऽर्थ शोभाऽतिशायिनः अस्थिरा ये धर्माः, ते अङ्गदादिवत् अलङ्काराः इति कारिका मलङ्कारलक्षणम् । रसादीन् = शृङ्गारादीन्, आदिपदेन रसाभासभावादी परिग्रहः । उपकुर्वन्तः = उत्कर्षयन्तः, शब्दाऽर्थयोः, शोभाऽतिशायिनः = सौन्दय तिशयजनकाः, अस्थिराः = काव्येष्वनियतवृत्तयः, काव्यत्वाऽव्यापकाः, ये धम ते अङ्गदादिवत् = केयूरादिवत्, अलङ्काराः । यथा अङ्गदादयः देहिनां देहमल कुर्वन्ति तथैव उपमाद्यलङ्कारा अपि रसादीनुत्कर्षयन्तः शब्दाऽर्थयोः सौन्दर्योत्पाद काव्यमलङ्कुर्वन्तीत्यतस्तेऽलङ्कारा इति भावः ।

निष्कृष्टमलङ्कारलक्षणं तु कुवलयानन्द "चन्द्रिको"क्त ज्ञेयं, तद्यथा रसादि यद्व्यङ्ग्यं तद्भिन्नत्वे सति शब्दाऽर्थाऽन्यतरनिष्ठा या विषयतासम्बन्धाऽवच्छि चमत्कृतिजनकताऽवच्छेदकता तदवच्छेदकत्वमलङ्कारत्वम् ।" इति ॥ १ ॥

विवृणोति—**यथेति ।** यथा अङ्गदादयः = केयूरादयः, शरीरशोभाऽ शायिनः = देहसौन्दर्याऽतिशयजनकाः सन्तः शरीरिणं = देहिनम्, उपकुर्वन्ति उत्कृष्टं विदधति, तथा अनुप्रासोपमादयः = अनुप्रासादयः (शब्दालङ्कारा

अब प्रसङ्गसे प्राप्त अलङ्कारोंका लक्षण करते हैं—

रस आदियोंका उपकार करते हुए शब्द और अर्थकी शोभाको बढानेव अस्थिर जो धर्म हैं वे शरीरमें अङ्गद (बाजूबन्द)के समान अलङ्कार कहल हैं ॥ १ ॥

यथेति । जैसे अङ्गद (बाजूबन्द) आदि शरीरकी शोभाको बढ़ाते

मादयः शब्दार्थशोभातिशायिनो रसादेरुपकारकाः। अलङ्कारा अस्थिरा इति नैषां गुणवदावश्यकी स्थितिः।

शब्दार्थयोः प्रथमं शब्दस्य बुद्धिविषयत्वाच्छब्दालङ्कारेषु वक्तव्येषु शब्दार्थालङ्कारस्यापि पुनरुक्तवदाभासस्य चिरन्तनैः शब्दालङ्कारमध्ये लक्षितत्वात्प्रथमं तमेवाह—

उपमादयः (अर्थाऽलङ्काराश्च), शब्दाऽर्थशोभाऽतिशायिनः = शब्दाऽर्थसौन्दर्यातिशयजनकाः सन्तः, रसादेः = शृङ्गारादेः, काव्यात्मभूतस्येति भावः, उपकारकाः = उत्कर्षजनकाः।

अस्थिरा इति। अस्थिराः = अस्थिरा धर्माः इति कथनेन, एषाम् = अलङ्काराणां, गुणवत् = माधुर्यादिगुणवत्, आवश्यकी = नियता, स्थितिः = अवस्थानं, न। किन्तु कादाचित्कीति भावः। अयं भावः, काव्ये माधुर्यादिगुणानां स्थितिः स्थिरा = नियता, परमलङ्काराणां स्थितिः न आवश्यकी = नियता, अतोऽस्थिरा धर्मा इति कथनम्। गुणाऽलङ्कारयोरुभयोः काव्यधर्मत्वेऽपि माधुर्यं शृङ्गारादिनियतमोजो वीरादिनियतं प्रसादः सर्वरसनियतोऽतः काव्यगुणानां स्थितिर्न व्यभिचरति परमलङ्काराणां स्थितेरनियतत्वात् कुत्रचित् स्थले अलङ्काराणामसत्त्वेऽपि न क्षतिरिति तात्पर्यम्।

सम्प्रति शब्दालङ्कारान्प्रतिपादयितुमुपक्रमते— **शब्दाऽर्थयोरिति।** शब्दाऽर्थयोः = काव्यशरीरत्वेनाऽभिमतयोः शब्दाऽर्थयोर्मध्ये, प्रथमम् = अर्थात्प्राक्, शब्दस्य = पदस्य, बुद्धिविषयत्वात् = ज्ञानविषयत्वात्, शब्दाऽलङ्कारेषु = अनुप्रासादिषु, वक्तव्येषु = वाच्येषु, शब्दाऽर्थाऽलङ्कारस्य = कुत्रचिच्छब्दपरिवृत्त्यसहत्वाच्छब्दालङ्कारस्य, कुत्रचिच्छब्दपरिवृत्तिसहत्वादर्थाऽलङ्कारस्येति भावः। तादृशस्य पुनरुक्तवदाभासस्य, चिरन्तनैः=प्राचीनैरालङ्कारिकैः, शब्दालङ्कारमध्ये, लक्षितत्वात्= कृतलक्षणत्वात्प्रथमं = प्राक्, तमेवाह।

शरीरधारीके उपकारक होते हैं उसी तरह अनुप्रास और उपमा आदि शब्द और अर्थकी शोभाको बढ़ाते हुए रस आदिके उपकारक होते हैं।

"अलङ्काराः अस्थिराः" कहनेसे इनकी गुणकी समान स्थिति नियत नहीं है। शब्द और अर्थ इनमें पहले शब्द बुद्धिका विषय होता है, अतः शब्दाऽलङ्कारोंको पहले कहना चाहिए, पुनरुक्तवदाभास यद्यपि शब्दार्थाऽलङ्कार है, परन्तु प्राचीन आलङ्कारिकोंने उसका शब्दाऽलङ्कारके मध्यमें लक्षण किया है, इसलिए पहले उसे ही कहते हैं—

आपाततो यदर्थस्य पौनरुक्त्येन भासनम् ।
पुनरुक्तवदाभासः, स भिन्नाकारशब्दगः ॥ २ ॥

उदाहरणम्—

'भुजङ्गकुण्डली व्यक्तशशिशुभ्रांशुशीतगुः ।
जगन्त्यपि सदापायादव्याच्चेतोहरः शिवः ॥'

पुनरुक्तवदाभास लक्षयति—**आपातत इति ।** आपाततः = शब्दश्रवणमात्रादेव, न त्वर्थालोचनादिति भावः । अर्थस्य = अभिधेयस्य, यत्, पौनरुक्त्येन = पुनरुक्तत्वेन, भासनं = प्रतीतिः, भिन्नाकारशब्दगः = अन्याकृतिपदगामी, "भिन्नाकारशब्दग" इति पदं यमकव्यावृत्त्यर्थम् । "नवपलाशपलाशवनं पुरः" इत्यादौ यमकेऽपि पौनरुक्तेन भासनं, परं तदेकरूपशब्दगतम् । स, पुनरुक्तवदाभासः = अलङ्कारः, पुनरुक्तस्य इव इति पुनरुक्तवत्, "तत्र तस्येव" इति वतिप्रत्ययः । पुनरुक्तवत् आभासः (ज्ञानम्) इति पुनरुक्तवदाभास इति व्युत्पत्तिः ॥ २ ॥

पुनरुक्तवदाभासमुदाहरति—**भुजङ्गकुण्डलीति ।** भुजङ्गावेव (सर्पाविव) कुण्डले (कर्णवेष्टने), "मयूरव्यंसकादयश्चे"ति समासः) भुजङ्गकुण्डले (सर्परूपकर्णालङ्कारौ) स्तो यस्य सः, "अत इतिठनौ" इतीनिप्रत्ययः । व्यक्तेत्यादिः० = व्यक्तः (स्फुटः) शशी (कर्पूरः) इव शुभ्रांशुः (श्वेतकिरणः) शीतगुः (चन्द्रः, शेखरस्वरूपः) यस्य सः । अत्र शशिपदं "कर्पूरमस्त्रियाम् । घनसारश्चन्द्रसंज्ञ" इत्यमरकोशात्कर्पूरवाचकम् । शुभ्रांशुः = शुभ्राः (शुक्लाः) अंशवः (किरणाः) यस्य सः । शीतगुः = शीताः (शीतलाः) गावः (किरणाः) यस्य सः, चन्द्र इति भावः । अत्र गोपदं "स्वर्गेषुपशुवाग्वज्रदिङ्नेत्रघृणिभूजले । लक्ष्यदृष्ट्या स्त्रियां पुंसि गौः" इति नामलिङ्गानुशासनात् किरणवाचकम् । चेतोहरः = मनोहरः, चेतो हरतीति, "हरतेरनुद्यमनेच्" इत्यच्प्रत्ययः । एतादृशः, शिवः = शङ्करः, जगन्ति अपि = लोकान् अपि, न केवलं मामिति भावः । अपायात् = विनाशात्, सदा = सर्वदा, अव्यात् = रक्ष्यात्, "आशिषि लिङ्लोटौ" इत्याशिषि लिङ् । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

आपातत इति । आपाततः (शब्दश्रवणमात्रसे) अर्थात् सरसरी निगाहसे देखनेपर जहाँ अर्थ पुनरुक्त-सा (दुहराया गया-सा) प्रतीत होता है भिन्न आकारवाले पदमें रहनेवाला वह "पुनरुक्तवदाभास" अलङ्कार है ॥ २ ॥

उदाहरण—भुजङ्गों (सर्पों)के कुण्डल धारण करनेवाले, शशी (कपूर)के समान शुभ्र (सफेद) अंशु (किरण)से युक्त, और शीतगु (शीत = शीतल, गौः = किरणवाले) चन्द्रको शिरमें धारण करनेवाले, चेतोहर (चित्तको हरण करनेवाले) शिवजी लोकोंको सदा अपाय (विनाश)से अव्यात् = रक्षा करें ॥

अत्र भुजङ्गकुण्डल्यादिशब्दानामापातमात्रेण सर्पाद्यर्थतया पौनरुक्त्यप्रतिभासनम्। पर्यवसाने तु भुजङ्गरूपं कुण्डलं विद्यते यस्येत्याद्यन्यार्थत्वम्। 'पायादव्यात्' इत्यत्र क्रियागतोऽयमलङ्कारः, 'पायात्' इत्यस्य 'अपायात्' इत्यत्र पर्यवसानात्।

'भुजङ्गकुण्डली'ति शब्दयोः प्रथमस्यैव परिवृत्तिसहत्वम्। 'हरः शिवः' इति द्वितीयस्यैव। 'शशिशुभ्रांशु' इति द्वयोरपि।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिञ्श्लोके, भुजङ्गेत्यादिः० = "भुजङ्ग–" "कुण्डली"त्यत्र द्वयोरपि शब्दयोः, आपातमात्रेण सर्पाऽर्थतया पौनरुक्त्येन (पुनरुक्तिरूपेण) प्रतिभासनम् (प्रतीतिः)। पर्यवसाने = तात्पर्यनिर्णयाऽवसरे, तु, भुजङ्गावेव कुण्डले यस्य सः, इत्यन्यार्थत्वम्। एवं च—शशि-शुभ्रांऽशु-शीतगु-शब्दास्त्रय एव चन्द्राऽर्थाः। पर्यवसाने तु—व्यक्तः शशी (कर्पूरः) इव शुभ्रांशुः (श्वेतकिरणः) शीतगुः (चन्द्रः, शेखररूपः) यस्य स इत्यन्यार्थत्वम्, "पायाद् अव्यात्" इत्यत्र एकत्र "पा रक्षणे" अपरत्र "अव रक्षणे" इति धातोराशीर्लिङि आपाततः क्रियागतोऽयमलङ्कारः। तथाहि "पायात्" इत्यत्र "सदाऽपायात्" इत्यत्र सन्धिविश्लेषेण "अपायात्" इत्यत्र पर्यवसानात्। तथैव—"चेतोहरः" "शिव" इत्यत्र "हरः शिव" इति द्वयोरपि शङ्करवाचकत्वेन पुनरुक्तिप्रतीतिः। पर्यवसाने तु चेतोहर इत्यत्र मनोहरत्वेन प्रतीतिः।

शब्दार्थाऽलङ्कारत्वं विशदयति—**भुजङ्गेति**। भुजङ्गकुण्डलीति शब्दयोः, प्रथमस्य = भुजङ्गशब्दस्य, एव परिवृत्तिसहत्वं = परिवर्तनक्षमत्वं, भुजङ्गशब्दस्य स्थाने सर्पादिपदप्रयोगेऽपि पुनरुक्तवदाभासगमकत्वम्। अतस्तत्रांशेऽर्थाऽलङ्कारत्वं, परं "कुण्डली"ति पदं न परिवृत्तिसहम् अतस्तत्रांऽशे शब्दाऽलङ्कारत्वम्। "हरः शिव" इति द्वितीयस्यैव = "शिव" इत्यस्यैव परिवृत्तिसहत्वं, न पूर्वपदस्य "हर" इत्यस्येति भावः। "शशि-शुभ्रांशु०" इति द्वयोरपि = उभयोरपि, परिवृत्तिसहत्वमिति शेषः। "शीतगु"रित्यस्य तु न परिवृत्तिसहत्वमिति भावः।

यहां भुजङ्ग और कुण्डली आदि शब्दोंका सरसरी निगाहसे ही सर्प आदि अर्थ होनेसे पुनरुक्तताकी प्रतीति होती है, पर्यवसान अर्थात् तात्पर्यनिर्णयके अवसरमें तो भुजङ्गरूप कुण्डलवाला ऐसा भिन्न अर्थ हो जाता है। "पायादव्यात्" यहांपर यह अलङ्कार क्रियागत है, "पायात्" इसका "सदा" पदके सम्बन्धसे "अपायात्" इसमे पर्यवसान होता है। "भुजङ्ग-कुण्डली" इन दो शब्दोंमें प्रथम "भुजङ्ग" पद परिवर्तन सहता है, अर्थात् भुजङ्ग पदका पर्याय देनेपर भी अलङ्कारमें क्षति नहीं है। "हरः शिवः" यहां दूसरा "शिव" पद ही परिवर्तनका सहिष्णु है। "शशि–शुभ्रांऽशु" यहां दोनों पद परिवर्तनके सहिष्णु हैं, अर्थात् इन दोनों पदोंका पर्यायमें

'भाति सदानत्यागः' इति न द्वयोरपि। इति शब्दपरिवृत्तिसहत्वासहत्वाभ्यामस्योभयालङ्कारत्वम्।

अनुप्रासः शब्दसाम्यं वैषम्येऽपि स्वरस्य यत्।

स्वरमात्रसादृश्यं तु वैचित्र्याभावान्न गणितम्। रसाद्यनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यासोऽनुप्रासः।

भातीति। "भाति सदानत्याग" इत्यत्र दानत्यागयोरेकार्थत्वात् पौनरुक्त्यम्। वस्तुतस्तु—सदा = सर्वदा, अनत्या = अनमनेन, अगः = पर्वत इव, इत्थं पुनरुक्तवदाभासः। उभयोरपि = उभयोर्दानत्यागपदयोरपि, न = परिवृत्तिसहत्वं नाऽस्तीति भावः। काव्यप्रकाशस्थमिदं पूर्णं पद्यं तु—

"अरिवधदेहशरीरः सहसा रविसूततुरगपादातः।
भाति मदानत्यागः स्थिरतायामवनितलतिलकः॥" इति।

इत्थं च पुनरुक्तवदाभासस्य क्वचित्परिवृत्तिसहत्वादर्थाऽलङ्कारत्वं, क्वचिच्च परिवृत्त्यसहत्वाच्छब्दाऽलङ्कारत्वम्। दोषगुणाऽलङ्काराणां शब्दाऽर्थगतत्वेन व्यवस्थितेरन्वयव्यतिरेकाभ्यां नियमनादिति भावः।

अनुप्रासं लक्षयति—**अनुप्रास इति।** स्वरस्य = अचः, वैषम्येऽपि = असाम्येऽपि, यत् शब्दसाम्य = शब्दस्य (व्यञ्जनस्य) साम्यम् (सारूप्यम्), सः अनुप्रास इत्यर्थः।

विवृणोति—**स्वरेति।** स्वरमात्रसादृश्यं तु = केवलमज्वर्णसादृश्यं तु, वैचित्र्याऽभावात् = चमत्काराऽभावात्, न गणितम्।

अनुप्रासपदस्य व्युत्पत्तिं प्रदर्शयति—**रसादीति।** रसादीनाम्=रसरसाभासादीनाम्) अनुगतत्वेन (अनुसृतत्वेन) प्रकर्षेण (उत्कर्षेण) न्यासः (व्यञ्जनवर्णानां स्थापनम्) अनुप्रासः।

तस्य चाऽनुप्रासस्य पञ्च भेदास्ते यथा—छेकाऽनुप्रासः, वृत्त्यनुप्रासः, श्रुत्यनुप्रासः, अन्त्याऽनुप्रासः लाटाऽनुप्रासश्चेति।

परिवर्तन करनेपर भी अलङ्कारमें क्षति नहीं। "भाति सदानत्यागः" यहां दोनों पद परिवर्तनके सहिष्णु नहीं हैं, इस प्रकार शब्दपरिवर्तनकी सहिष्णुता और असहिष्णुता होनेसे पुनरुक्तवदाभास उभयाऽलङ्कार अर्थात् शब्दाऽर्थाऽलङ्कार है।

अनुप्रास इति। स्वरकी विषमता अर्थात् असमता होनेपर भी व्यञ्जनकी सरूपता होनेको "अनुप्रास" कहते हैं।

स्वरेति। स्वरमात्रका सादृश्य विचित्रता न होनेसे परिगणित नहीं है।

शृङ्गार आदि रसोंका अनुगत रूपसे व्यञ्जन वर्णोंके उत्कर्ष पूर्वक स्थापनको "अनुप्रास" कहते हैं।

छेको व्यञ्जनसङ्घस्य सकृत्साम्यमनेकधा ॥ ३ ॥

छेकश्छेकानुप्रासः। अनेकधेति स्वरूपतः क्रमतश्च। रसः सर इत्यादेः क्रमभेदेन सादृश्यं नास्यालङ्कारस्य विषयः।

उदाहरणं मम तातपादानाम्—

'आदाय बकुलगन्धानन्धीकुर्वन् पदे पदे भ्रमरान्।
अयमेति मन्दमन्दं कावेरीवारिपावनः पवनः॥'

तत्र छेकाऽनुप्रासं लक्षयति—**छेक इति**। व्यञ्जनसङ्घस्य = हल्वर्णसमूहस्य, सकृत् = एकवारमात्रम्, अनेकधा = अनेकप्रकारेण, साम्यं = सादृश्यं, छेकः = छेकाऽनुप्रासः॥ ३॥

विवृणोति—**छेक इति**। अनेकधेति कथनेन स्वरूपतः = एकविधाकारवत्त्वात्, क्रमतश्च = एकप्रकारपौर्वापर्याच्च। क्रमभेदेन = पौर्वापर्यभङ्गेन, सादृश्यम् = एकप्रकाराकारवत्त्वेन साम्यम्, अस्याऽलङ्कारस्य = छेकाऽनुप्रासस्य, न विषयः = न स्थानं, यथा—रसः सर इति। अत्र रसयोः स्वरूपत एव साम्यं-न तु क्रमतोऽपि।

छेकाऽनुप्रासमुदाहरति—**आदायेति**। बकुलगन्धान् = केसरपुष्पगन्धान्, आदाय = गृहीत्वा, भ्रमरान् = अलीन्, पदे पदे = प्रतिपदम्, अन्धीकुर्वन्=सौरभलोभेनाऽन्धवद्भ्रान्तान् विदधत्, कावेरीवारिपावनः = कावेर्याः (कावेरीनद्याः) वारिणा (जलेन), पावनः (पवित्रताविधायकः) अयं = निकटवर्ती, पवनः = वायुः, मन्दमन्दं = शनैः शनैः, एति = आगच्छति। आर्या जातिः॥

छेक इति। व्यञ्जन समूहका एक वार अनेक प्रकारसे समानता होनेको "छेकाऽनुप्रास" कहते हैं॥ ३॥

"अनेकधा" "अनेक प्रकारसे" ऐसा कहनेसे स्वरूपसे और क्रमसे समानता होनी चाहिए। "रसः सरः" इत्यादिमें क्रमभेदसे सादृश्य है, अतः यहां छेकाऽनुप्रास नहीं है।

ग्रन्थकारके पितासे निर्मित उदाहरण देते हैं—

आदायेति। मौलसिरीके सुगन्धको लेकर पग पग पर भौरोंको मदसे अन्धा करता हुआ, कावेरी नदीके जलसे युक्त होनेसे पवित्र करनेवाला, यह पवन (वायु) धीरे धीरे बह रहा है।

अत्र गन्धानन्धीति संयुक्तयोः, कावेरीवारीत्यसंयुक्तयोः, पावनः पवन इति व्यञ्जनानां बहूनां सकृदावृत्तिः। छेको विदग्धस्तत्प्रयोज्यत्वादेष च्छेकानुप्रासः।

अनेकस्यैकधा साम्यमसकृद्वाप्यनेकधा।
एकस्य सकृदप्येष वृत्त्यनुप्रास उच्यते ॥ ४ ॥

एकधा = स्वरूपत एव, न तु क्रमतोऽपि। अनेकधा = स्वरूपतः क्रमतश्च। सकृदपीत्यपिशब्दादसकृदपि।

उदाहरणे लक्षणं संगमयति—**अत्रेति**। संयुक्तयोः = संयोगयुक्तयोः, न वर्णसंयुक्तधवर्णयोरिति भावः। कावेरीवारीति, असंयुक्तयोः = संयोगरहितयोः वेरीवारिशब्दांश—शब्दयोः। सकृत् = एकवारम्, आवृत्तिः = आवर्तनम्।

छेकाऽनुप्रासनिरुक्तिं प्रदर्शयति—**छेक इति**। छेकः = विदग्धः, नागर इति भावः, तत्प्रयोज्यत्वाच्छेकाऽनुप्रासः। अथ वा छेकाः=गृहासक्ताः पक्षिणस्तद्ध्वनिसादृश्यकारकः (व्यञ्जनपुनरुक्तिकारकः) अनुप्रासः।

वृत्त्यनुप्रासं लक्षयति—**अनेकस्येति**। अनेकस्य = व्यञ्जनसमूहस्य, एकधा= एकप्रकारेण, स्वरूपत एव न तु क्रमतोऽपीति भावः, यत् साम्यं = सादृश्यम्, अयमेको भेदः, अनेकस्य = व्यञ्जनसमूहस्य, असकृत् = अनेकवारम्, अनेकधा वा = स्वरूपतः क्रमाच्च वा साम्यम् अयं द्वितीयो भेदः। एकस्य = व्यञ्जनस्य, सकृत् = एकवारं, साम्यम् अयं तृतीयो भेदः। तथा एकस्य = व्यञ्जनस्य, अपिशब्दात् असकृत् = अनेकवारं साम्यम्, अयं चतुर्थो भेदः ॥ ४ ॥

अत्रेति। "गन्धानन्धी" यहाँ पर संयुक्त "न" और "ध" की, "कावेरीवारि" यहां पर असंयुक्त "व" और "र" की "पावनः पवनः" यहांपर बहुत-से व्यञ्जनोंकी एक वार आवृत्ति है। "छेक" कहते है विदग्ध (रसिक) पुरुषको, उससे प्रयोग किये जानेसे यह छेकाऽनुप्रास है।

अनेकस्येति। अनेक व्यञ्जनसमूहकी एक प्रकारसे (केवल स्वरूपसे क्रमसे नहीं), समता अर्थात् आवृत्ति (यह पहला भेद है), अथवा अनेक व्यञ्जन समूहका अनेक प्रकारसे (स्वरूप और क्रमसे) समता (आवृत्ति) (यह दूसरा भेद है। अथवा एक व्यञ्जनका एक वार समता (आवृत्ति) (यह तीसरा भेद है) तथा एक व्यञ्जनकी "अपि" शब्दसे वारं वार समता (आवृत्ति)से अन्त्योऽनुप्रास होता है, यह चौथा भेद है ॥ ४ ॥

एकधेति। एकधा = एक वार स्वरूपसे ही न कि क्रमसे। अनेकधा = अनेक वार स्वरूप और क्रमसे। सकृत् अपि यहांपर "अपि" शब्दसे वारं वार भी समता होनेसे वृत्त्यनुप्रास होता है।

उदाहरणम्—

'उन्मीलन्मधुगन्धलुब्धमधुपव्याधूतचूताङ्कुर-
क्रीडत्कोकिलकाकलीकलकलैरुद्गीर्णकर्णज्वराः।
नीयन्ते पथिकैः कथं कथमपि ध्यानावधानक्षण-
प्राप्तप्राणसमासमागमरसोल्लासैरमी वासराः॥'

अत्र 'रसोल्लासैरमी' इति रसयोरेकधैव साम्यम्, न तु तेनैव क्रमेणापि। द्वितीये पादे, कलयोरसकृत्तेनैव क्रमेण। प्रथमे, एकस्य मकारस्य सकृत्,

वृत्त्यनुप्रासमुदाहरति—उन्मीलदिति। जयदेवकविराजकृते गीतगोविन्दे वसन्तवर्णनपरकं पद्यमिदम्। ध्यानाऽवधानेत्यादिः० = ध्यानं (प्रियतमाचिन्तनम्) तस्मिन् अवधानं (मनोयोगविशेषः) तस्य क्षणे (काले) प्राप्तः (आसादितः) प्राणसमायाः (प्राणसदृश्याः, प्रियतमाया इति भावः) यः समागमरसः (सम्भोगास्वादः) तस्य उल्लासः (आनन्दः) यैः, तैः। एतादृशैः पथिकैः = पान्थैः। उन्मीलदित्यादिः० = उन्मीलत् (प्राचुर्येणोत्पद्यमानम्) यत् मधु (मकरन्दः) तस्य यो गन्धः (सौरभम्) तेन लुब्धाः (लोलुपाः) ये मधुपाः (भ्रमराः), तैः व्याधूताः (प्रकम्पिताः) ये चूताऽङ्कुराः (रसालाऽभिनवोद्भिदः) तेषु क्रीडन्तः (क्रीडां कुर्वन्तः) ये कोकिलाः (पिकाः) तेषां काकलीभिः (सूक्ष्मध्वनिभिः) कलकलैः (कोलाहलैश्च)। उद्गीर्णकर्णज्वराः=उद्गीर्णः, (उत्पादितः) कर्णज्वरः (श्रोत्रसन्तापः) येषु ते। तादृशा अमी = एते, वासराः = वसन्तर्तुदिवसाः। कथंकथमपि = महता कष्टेन, नीयन्ते = याप्यन्ते। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्। विप्रलम्भशृङ्गारः॥

लक्ष्ये लक्षणं संगमयति—अत्रेति। इति = इत्यत्र, रसयोः = रेफसकारयोः, एकधा एव = स्वरूपत एव, साम्यं = सादृश्यम्, सकृदिति शेषः।

उदाहरण—उन्मीलदिति। प्रियतमाके चिन्तनमें एकाग्रताके अवसरपर प्राणकी समान प्रियतमाके समागमरसके आनन्दको पाने वाले पथिकोंसे, प्रचुरतासे उत्पन्न होनेवाले मकरन्दके सुगन्धसे लुब्ध भौरोंसे प्रकम्पित आमोंकी मञ्जरियोंमें क्रीडा करनेवाले कोयलोंकी सूक्ष्मध्वनियोंसे और कोलाहलोंसे कानोंमें ज्वर उत्पन्न करनेवाले वसन्त ऋतुके वे दिन बड़े ही कष्ट से बिताये जा रहे हैं॥

अत्रेति। यहाँ "रसोल्लासैरमी" इनमें रेफ और सकारका एक ही प्रकारसे स्वरूपसे साम्य है, उसी क्रमसे नहीं। दूसरे चरणमें "क" और "ल"की बार बार उसी क्रमसे आवृत्ति हुई है। पहले चरणमें एक "म" कारका एक ही बार और

धकारस्य चासकृत्। रसविषयव्यापारवती वर्णरचना वृत्तिः, तदनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यसनाद् वृत्त्यनुप्रासः।

उच्चार्यत्वाद्यदेकत्र स्थाने तालुरदादिके।
सादृश्यं व्यञ्जनस्यैव श्रुत्यनुप्रास उच्यते ॥ ५ ॥

उदाहरणम्—

'दृशा दग्धं मनसिजं जीवयन्ति दृशैव याः।
विरूपाक्षस्य जयिनीस्ताः स्तुमो वामलोचनाः ॥'

वृत्यनुप्रासपदस्य व्युत्पत्तिमाह—**रसेति**। रसविषया व्यापारवती = स्वादानुप्राणकक्रियासम्पन्ना, वर्णरचना = व्यञ्जनवर्णनिर्माणं, वृत्तिः, तदनुगतत्वेन = तदनुगुणत्वेन, प्रकर्षेण = उत्कर्षेण, न्यसनात् = स्थापनात् वृत्यनुप्रासः।

श्रुत्यनुप्रासं लक्षयति—**उच्चार्यत्वादिति**। तालुरदादिके = तालुदन्तादिके, एकत्र = एकस्मिन्, स्थाने = उच्चारणस्थाने, यत्, व्यञ्जनस्यैव = हल्वर्णस्यैव, वैचित्र्याभावान्न स्वरस्येति तात्पर्यम्। सादृश्यं = साम्यं, तत् श्रुत्यनुप्रास उच्यते = अभिधीयते। इमं च श्रुत्यनुप्रास "निवेशयति वाग्देवी कस्य चित्प्रतिभावतः।" इत्यादिना प्राचीना विद्वांसः प्रशंसन्ति ॥ ५ ॥

श्रुत्यनुप्रासमुदाहरति—**दृशेति**। याः = वामनलोचनाः, दृशा = नेत्रेण, हरस्य वह्निरूपतृतीयनेत्रेणेति भावः। दग्धं = भस्मीकृतं, मनसिज = कामं, दृशा एव = स्वनेत्रेण एव, जीवयन्ति = जीवितं कुर्वन्ति, अतो विरूपाक्षस्य = हरस्य, विविधानि रूपाणि (स्वरूपाणि) येषां तानि तादृशानि अक्षीणि (नेत्राणि) त्रिसंख्यकानि इति भावः यस्य स विरूपाक्षः, तस्य। "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्" इति समासान्तः षच्। जयिनीः = जयशीलाः, जिधातोः "जिदृक्षी"-त्यादिना इनिः, तदन्तात्स्त्रीत्वविवक्षायांङीप्। वामलोचनाः=सुन्दरीः, वामे (सुन्दरे) लोचने (नयने) यासां, ताः। स्तुमः = स्तुमः। "वामौ वल्गुप्रतीचौ द्वौ" इत्यमरः। पद्यमिदं राजशेखरस्य विद्धशालभञ्जिकायां वर्तते।

"ध" कारकी अनेक वार आवृत्ति हुई है। रसविषयक व्यापारसे युक्त वर्णरचनाको "वृत्ति" कहते हैं उसका अनुगत होकर उत्कर्षसे न्यास करनेसे "वृत्यनुप्रास" होता है।

उच्चार्यत्वादिति। तालु और दन्त आदि एक उच्चारण स्थानमें उच्चारण किये जानेसे व्यञ्जनका ही जो सादृश्य है उसे "श्रुत्यनुप्रास" हैं ॥ ५ ॥

उदाहरण—**दृशेति**। दृष्टिसे जले हुए कामदेवको जो दृष्टिसे ही जीवित कर देती हैं, विरूपाक्ष (विरूप नेत्रोंवाले) महादेवको जीतने वाली उन सुलोचनाओंको हम स्तुति करते हैं।

अत्र जीवयन्ति' इति, 'याः' इति 'जयिनीः' इति। अत्र जकारयकारयोरेकत्र स्थाने तालावुच्चार्यत्वात्सादृश्यम्। एवं दन्त्यकण्ठ्यानामप्युदाहार्यम्। एष च सहृदयानामतीव श्रुतिसुखावहत्वाच्छ्रुत्यनुप्रासः।

व्यञ्जनं चेद्यथावस्थं सहाद्येन स्वरेण तु।
आवर्त्यतेऽन्त्ययोज्यत्वादन्त्यानुप्रास एव तत्॥ ६॥

यथावस्थमिति यथासम्भवमनुस्वारविसर्गस्वरयुक्ताक्षरविशिष्टम्।

एष च प्रायेण पादस्य पदस्य चान्ते प्रयोज्यः।

पादान्तगो यथा मम—

'केशः काशस्तबकविकासः, कायः प्रकटितकरभविलासः।
चक्षुर्दग्धवराटककल्पं, त्यजति न चेतः काममनल्पम्॥'

लक्ष्ये लक्षणं सगमयति—अत्रेति।

श्रुत्यनुप्रासस्याऽन्वयवाऽर्थमाह—एष चेति।

अन्त्याऽनुप्रासं लक्षयति—व्यञ्जनमिति। आद्येन = प्रथमेन, स्वरेण = अच्वर्णेन, सह। यथाऽवस्थं = यथास्थिति, यथासम्भवमनुस्वारस्वराद्यनुरूपमिति भावः। तादृशं, व्यञ्जनं = हल्वर्णः, अन्त्ययोज्यत्वात् = चरमप्रयोज्यत्वात्, आवर्त्यते चेत् = पुनरुच्चार्यते यदि, तत् = तर्हि, अन्त्याऽनुप्रास एव = तन्नामकः शब्दाऽलङ्कार एव॥ ६॥

विवृणोति—यथावस्थमिति। एषः = अन्त्याऽनुप्रासः। प्रायेण = बहुशः, प्रयोज्यः=प्रयोक्तुं योग्यः।

पादाऽन्तगमन्त्याऽनुप्रासमुदाहरति—केश इति। कश्चिज्जनो जरायामपि कामविकारपरिहरणस्य दुःशकत्वं प्रतिपादयति। केशः = शिरोरुहः, कायेत्यादिः=

अत्रेति। इस पद्यमें "जीवयन्ति" "याः" "जयिनीः" इन तीन पदोंमें जकार और यकारका एक (तालु) स्थानमें उच्चारण किये जानेसे सादृश्य है, अतः यह श्रुत्यनुप्रासका उदाहरण है। इसी तरह दन्तस्थानीय और कण्ठस्थानीय वर्णोंका भी उदाहरण देना चाहिए। यह सहृदयजनोंको अत्यन्त श्रुतिसुख (कानोंमें सुख) देने वाला होनेसे "श्रुत्यनुप्रास" कहा जाता है।

व्यञ्जनमिति। प्रथम स्वरके साथ यथाऽऽवस्थ अर्थात् यथासंभव अनुस्वार, विसर्ग, और स्वरसे युक्त व्यञ्जन अन्तमें योजनीय होनेसे दुहराया जाय तो उसे "अन्त्याऽनुप्रास" कहते हैं॥ ६॥

यथाऽऽवस्थमिति। इस अनुप्रासको प्रायः चरणके अथवा पदके अन्तमें प्रयोग करना चाहिए।

पादाऽन्तगामी अन्त्याऽनुप्रासका उदाहण जैसे मेरा (ग्रन्थकार) का केश इति। केश काशपुष्पके गुच्छके समान सफेद है। शरीर ऊँटके बच्चेके समान चेष्टा

पदाऽन्तगो यथा—'मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्तः' इत्यादि।

शब्दार्थयोः पौनरुक्त्यं भेदे तात्पर्यमात्रतः।

लाटानुप्रास इत्युक्तः—

काशस्तबकस्य (काशपुष्पगुच्छस्य) इव विकासः (शौक्ल्यमिति भावः) यस्य सः, तादृशोऽस्ति। कायः = शरीरं, प्रकटितेत्यादिः० = प्रकटितः (प्रकाशितः) करभस्य (उष्ट्रशावकस्य) इव विलासः (चेष्टा) यस्य सः, कुब्जीभूत इति भावः। एवं च—चक्षुः = नेत्रं, दग्धेत्यादिः० = दग्ध (ज्वलितः) यो वराटकः (कपर्दकः) तत्कल्पं = तत्सदृशम्, ईषदसमाप्तो दग्धवराटको दग्धवराटककल्पम्, "ईषदसमाप्ती कल्पब्देश्यदेशीयरः" इति कल्पप्प्रत्ययः। तथाऽपि चेतः = चित्तम्, अनल्पं = प्रचुरं कामं = कामवासनां, न त्यजति = नो मुञ्चति। उक्तं चाऽत्र भर्तृहरिणाऽपि—"तृष्णा न जीर्णा, वयमेव जीर्णाः" इति। पज्झटिका छन्दः। अत्र प्रथमपादान्ते "विकास" इत्यत्र द्वितीयपादाऽन्ते "विलास" इत्यत्राऽपि "आस" इत्यस्यावृत्तिः। एवं च तृतीयपादाऽन्ते "कल्पम्" इत्यत्र चतुर्थपादाऽन्ते "नल्पम्" इत्यत्राऽपि "अल्पम्" इत्यस्यावृत्तिः, अतः पादान्तगस्याऽन्त्याऽनुप्रासस्येदमुदाहरणंबोद्धव्यम्।

पदाऽन्तममन्त्याऽनुप्रासमुदाहरति—'मन्दं हसन्तः पुलकं वहन्त" इत्यादि। अत्र "हसन्तः" "वहन्त" इत्यत्र च "अन्त" इत्यस्यावृत्तिः, अतः पदाऽन्तगतस्याऽन्त्यानुप्रासस्येदमुदाहरणं बोद्धव्यम्।

लाटाऽनुप्रासं लक्षयति—**शब्दाऽर्थयोरिति।** तात्पर्यमात्रतः = अभिप्रायकात्रतः, भेदे = भिन्नतायां, शब्दाऽर्थयोः पौनरुक्त्यं = पुनरुक्तिः, "लाटाऽनुप्रास" इत्युक्तः।

करने वाला है। अर्थात् कुबड़ा हो गया है। आंख जली हुई कौड़ीकी समान है तो भी चित्त प्रचुर कामके आवेशको नहीं छोड़ता है॥

यहां पहले और दूसरे चरणके अन्तमें "विकास" और "विलास" यहांपर "आस" इसकी आवृत्ति हुई है, इसी तरह तीसरे और चौथे चरणमें अन्तमें "कल्पम्" और "नल्पम्" यहां पर 'अल्पम्' इसकी आवृत्ति हुई है।

पदान्तगामी अन्त्याऽनुप्रासका उदाहरण जैसे—**मन्दमिति।** मन्दहास्य करते हुए और रोमाञ्चको धारण करते हुए। "हसन्तः" और "वहन्तः" यहांपर इन दोनों पदोंके अन्तमें "अन्तः" इसकी आवृत्ति है।

शब्दाऽर्थयोरिति। केवल तात्पर्यमें भेद होकर शब्द और अर्थकी पुनरुक्ति होनेपर "लाटाऽनुप्रास" होता है।

उदाहरणम्—

स्मेरराजीवनयने नयने किं निमीलिते ।
पश्य निर्जितकन्दर्पं कन्दर्पवशगं प्रियम् ॥

अत्र विभक्त्यर्थस्या पौनरुक्त्येऽपि मुख्यतरस्य प्रातिपदिकांशद्योत्यधर्मिरूपस्याऽभिन्नार्थत्वाल्लाटानुप्रासत्वमेव ।

'नयने तस्यैव नयने च ।'

लाटाऽनुप्रासमुदाहरति—**स्मेरेति** । नायकदर्शनोत्तरं कोपनिमीलितनयनां नायिकां प्रति प्रति सख्या उक्तिरियम् । हे स्मरेराजीवनयने = हे विकसितकमललोचने ! स्मेरे (विकसिते) राजीवे (कमले) इव नयने (नेत्रे) यस्याः सा, तत्सम्बुद्धौ । नयने = स्वकीये लोचने, किं = किमर्थं, निमीलिते = मुद्रिते । निर्जितकन्दर्पं = पराजितमदनं, निर्जितः (पराजितः) कन्दर्पः (मदनः) येन, तम् । तादृशं जितेन्द्रियमपि, पतिं = स्वामिनं, कन्दर्पवशगं = कामाऽधीनं, पश्य=विलोकय । मानं मा कार्षीरिति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

लक्ष्ये लक्षणसमन्वयं करोति **अत्रेति** । "नयने नयने" इति "कन्दर्पं कन्दर्प" इत्यत्र पूर्वार्द्धेत्र सम्बोधनविषयस्य कर्मत्वविषयस्य च भेदात्परार्द्धे "····कन्दर्पं कन्दर्पं····" इत्यंशद्वये, विभक्त्यर्थस्य = एकत्र सम्बुद्धिरूपत्वेन परत्र कर्मत्वरूपेण, तथा द्वितीये एकत्र कर्मसम्बन्धित्वरूपेण अपरत्र सम्बन्धरूपेण, अपौनरुक्त्येऽपि = पुनरुक्त्यभावेऽपि, मुख्यतरस्य = प्रधानतरस्य, विभक्त्यर्थात्प्रागुत्पत्तेरिति शेषः । प्रातिपदिकेत्यादिः०=प्रातिपदिकांशद्योत्यो यो धर्मी = पूर्वार्द्धे नयनरूपः, उत्तरार्द्धे च कन्दर्परूपः, तद्रूपस्य = तत्स्वरूपस्य अभिन्नाऽर्थत्वात् = भेदरहितत्वात्, लाटाऽनुप्रासत्वमेव ॥

असन्दिग्धमुदाहरणं प्रदर्श्य सन्दिग्धमुदाहरर्मुपस्थापयति—**नयने इति** । (३२१ पृ०) पदगतस्याऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनेरप्युदाहरणमिदम् । तस्य=तरुणस्य, एव नयने = नेत्रे, नयने = नेत्रे, भाग्यवत्त्वादिगुणविशिष्टे इति भावः ।

उदाहरण—**स्मेरेति** । हे विकसित कमलोंके समान नयनोंवाली तुमने क्यों नयनोंको मूंद लिया ? कन्दर्प (कामदेव)को जीतनेवाले प्रियको कन्दर्पके वशमें पड़े हुए देख लो ।

अत्रेति । इस पद्यमें पूर्वार्द्धमें पहले "नयने" और दूसरे "नयने" यहांपर और उत्तरार्द्धमें "कन्दर्पम्" और "कन्दर्प" यहांपर विभक्त्यर्थकी पुनरुक्ति न होनेपर भी मुख्य प्रातिपदिकांशसे द्योत्य पूर्वार्द्धमें नयनरूप धर्मी और उत्तरार्द्धमें कन्दर्परूप धर्मीका भिन्न अर्थ न होनेसे यह लाटाऽनुप्रास ही हैं ।

नयने इति । उसके ही नयन नयन हैं ।

अत्र द्वितीयनयनशब्दो भाग्यवत्त्वादिगुणविशिष्टत्वरूपतात्पर्यमात्रेण भिन्नार्थः।

यथा वा—

'यस्य न सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य।
यस्य च सविधे दयिता दवदहनस्तुहिनदीधितिस्तस्य॥'

अत्रानेकपदानां पौनरुक्त्यम्। एष च प्रायेण लाटजनप्रियत्वाल्लाटानुप्रासः।

—अनुप्रासः पञ्चधा ततः॥ ७॥

स्पष्टम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = उदाहरणे, ‥ तात्पर्यमात्रेण, न तु स्वरूपेण। पूर्वनयनशब्द उद्देश्यार्थकः, अपरश्च विधेयार्थकः। केषांचिन्मते अयं पदगतोऽर्थान्तरसंक्रमितवाच्यध्वनिर्न लाटाऽनुप्रास इति।

अनेकपदपौनरुक्त्ये लाटाऽनुप्रासमुदाहरति—**यस्येति**। यस्य = जनस्य, सविधे = समीपे, दयिता = प्रिया, न, तस्य = जनस्य, तुहिनदीधितिः = शीतकिरणः, चन्द्र इति भावः दवदहनः=दवाऽग्निः, सन्तापकरत्वादिति भावः। यस्य च=जनस्य तु, सविधे = समीपे, दयिता = प्रिया, तस्य = जनस्य, दवदहनः = दवाऽग्निः, तुहिनदीधितिः = चन्द्रः। वियोगसन्तापाऽभावादिति भावः, आर्या वृत्तम्।

अत्र पूर्वार्द्धे तुहिनदीधितिपदमुद्देश्यं दवदहनपदं च विधेयम्, उत्तरार्द्धे तु दवदहनपदमुद्देश्यं तुहिनदीधितिपदं च विधेयमतस्तात्पर्यविषयस्योद्देश्यविधेयभावेन भेदः। पदार्थानां त्वभेद एव। अत्रेति। अत्र =अस्मिन्पद्ये, पौनरुक्त्यं=पुनरुक्तता।

लाटाऽनुप्रासस्य व्युत्पत्तिमाह—एष चेति। एषः = लाटाऽनुप्रासः। लाटजनप्रियत्वात् = लाटदेशीयलोकवल्लभत्वाद्विदग्धपुरुषवल्लभत्वाद्वा लाटाऽनुप्रासः।

अनुप्रासभेदमुपसंहरति—**अनुप्रास इति**। अनुप्रासः, पञ्चधा = पञ्चभिः प्रकारैर्भवतीति शेषः। यथा—१. छेकानुप्रासः, २. वृत्त्यनुप्रासः, ३. श्रुत्यनुप्रासः, ४. अन्त्याऽनुप्रासो, ५. लाटाऽनुप्रासश्चेति।

यहां दूसरा नयनशब्द भाग्यवत्त्व (भाग्ययुक्तत्व) आदि गुणसे विशिष्टत्वरूप तात्पर्यमात्रसे भिन्न अर्थवाला है। अर्थात् उसके ही नयन नयन अर्थात् भाग्यवत्त्व आदि गुणसे विशिष्ट हैं इसप्रकार भिन्न अर्थ होनेसे लाटाऽनुप्रास है।

यस्येति। जिसके समीप प्रिया नहीं उसके लिए चन्द्रमा भी दावाऽग्नि है और जिसके समीप प्रिया है उसके लिए दावाऽग्नि भी चन्द्रमा है॥

यहां अनेक पदोंकी पुनरुक्ति है। यह प्रायः लाट देशके जनोंको प्रिय होनेसे लाटाऽनुप्रास कहा जाता है।

अनुप्रास इति। इस कारणसे पांच प्रकारका अनुप्रास होता है॥ ७॥

सत्यर्थे पृथगर्थायाः स्वरव्यञ्जनसंहतेः ।
क्रमेण तेनैवावृत्तिर्यमकं विनिगद्यते ॥ ८ ॥

अत्र द्वयोरपि पदयोः क्वचित्सार्थकत्वं क्वचिन्निरर्थकत्वम् । क्वचिदेकस्य सार्थकत्वमपरस्य निरर्थकत्वम् । अत उक्तम्—'सत्यर्थे' इति । तेनैव क्रमेण' इति "दमो मोद" इत्यादेर्विविक्तविषयत्वं सूचितम् । एतच्च पादपदार्द्धश्लोकावृत्तित्वेन पादाद्यावृत्तेश्चानेकविधतया प्रभूततमभेदम् ।

दिङ्मात्रमुदाह्रियते—

'नवपलाश-पलाशवनं पुरः स्फुटपराग-परागत-पङ्कजम् ।
मृदुल-तान्त-लतान्तमलोकयत् स सुरभिं सुरभिं सुमनोभरैः ॥'

यमकं लक्षयति—**अर्थे सति**, पृथगर्थायाः = पृथक् (भिन्नः) अर्थः (वाच्यः प्रकृतिप्रतिपाद्य इति भावः) यस्यास्तस्याः, स्वरव्यञ्जनसंहतेः = अज्हल्समुदायस्य, तेनैव क्रमेण = येन क्रमेण पूर्वं स्वरव्यञ्जनसंहतिरुक्ता, तेनैव क्रमेण, आवृत्तिः= पुनरुच्चारणं, तत् यमक=यमकनामकोऽलङ्कारः । यमौ=द्वौ, तुल्यजातीयौ, तत्प्रतिकृति यमकं, स्वार्थे कन् । "पृथगर्थाया', इत्यभिधानाल्लाटाऽनुप्रासे नाऽतिव्याप्तिः । एवं च प्रकृत्यर्थभेदेन यमकं, तद्वैपरीत्येन तात्पर्यमात्रतो भेदेन लाटाऽनुप्रास इति मिथो भेदः ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = यमके । सार्थकत्वे पृथगर्थत्वमपेक्षितम् । द्वयोरित्यनुषज्यते । अन्ततः संहतेः सार्थकत्वमेव । "तेनैव क्रमेण" इति कथनात् "दमो मोद" इत्यादौ विविक्तविषयत्वं =पृथग्विषयत्वम्, अतस्तत्र यमकं नेति भावः । अनेकविधतया = अनेकभेदत्वेन, प्रभूततमभेदं = प्रचुरतमभेदं, यमकमिति भावः ।

दिङ्मात्रमुदाहरति—**नवपलाशेति** । शिशुपालवधमहाकाव्ये षष्ठसर्गे वसन्तवर्णनपरकं पद्यमिदम् । सः = श्रीकृष्णः, पुरः = अग्रे, नवेत्यादिः० = नवानि (नूतनानि) पलाशानि (पत्त्राणि) यस्मिंस्तत्, तादृशं पलाशवनं (किंशुकवनम्)

सत्यर्थ इति । अर्थके होनेपर भिन्न अर्थवाले स्वरों और व्यञ्जनोंके समुदायकी उसी क्रमसे आवृत्तिको "यमक" कहते हैं ॥ ८ ॥

अत्रेति । यहां दोनों पदोंमें कहीं सार्थकता होती है और कहीं निरर्थकता होती है और कहीं एक पदकी सार्थकता और दूसरे पदकी निरर्थकता होती है, इसलिए कहा है "सत्यर्थं इति । अर्थात् अर्थके होनेपर । "तेनैव क्रमेण" अर्थात् उसी क्रमसे कहनेसे "दमो मोदः" इत्यादि स्थल यमकके उदाहरणसे पृथक् होते हैं यह सूचित होना है । यमक अलङ्कार पादावृत्ति, पदावृत्ति, अर्द्धावृत्ति और श्लोकावृत्ति और पादादिकी आवृत्ति होनेसे अनेक प्रकारोंसे प्रचुर भेदोंवाला है ।

दिङ्मात्रमिति । थोड़ा-सा उदाहरण देते हैं—

नवेति । भगवान् श्रीकृष्णने आगे नये पत्तोंवाले पलाशवृक्षके वन जिसमें

अत्र पदावृत्तिः। 'पलाश-पलाश' इति 'सुरभिं सुरभिम्' इत्यत्र च द्वयोः सार्थकत्वम्। 'लतान्त-लतान्त' इत्यत्र प्रथमस्य निरर्थकत्वम्। 'पराग-पराग' इत्यत्र द्वितीयस्य। एवमन्यदप्युदाहार्यम्।

यस्मिंस्तम्, "सुरभिम्" इत्यस्य विशेषणम्, एवं परत्राऽपि। "पत्त्रं पलाशं छदनम्" इति "पलाशे किंशुकः पर्णो वानपोथ" इत्यप्यमरः। एवं च—स्फुटेत्यादिः० = स्फुटानि (विकसितानि) परागैः (रजोभिः) परागतानि (व्याप्तानि) पङ्कजानि (कमलानि) यस्मिंस्तम्। मृदुलेत्यादिः० = मृदुलाः (कोमलाः) तान्ताः (आतपेन क्लान्ताः) लतान्ताः (व्रततिप्रान्तभागाः) यस्मिंस्तम्। तथा च सुमनोभरैः = पुष्पाऽतिशयैः। "स्त्रियः सुमनसः पुष्पं प्रसूनं कुसुमं सुमम्।" इत्यमरः। सुरभिं = सुगन्धसंपन्नं, सुरभिं = वसन्तसमयम्, अलोकयत् = अपश्यत्। "सुरभिर्घ्राणतर्पणः। इष्टगन्धिः सुगन्धिः स्यात्" इति "वसन्ते पुष्पसमयः सुरभिः" इति चाऽमरः। द्रुतविलम्बितं वृत्तम्।

उदाहरणं विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, पदावृत्तिः = शब्दावृत्तिः। "पलाश पलाश०" इति—"पराग-पराग०" इति "....लतान्त—लतान्त०" "सुरभि सुरभिम्" इति अथवा "रभिसु रभि" इति च एकैकपदानामेव द्विर्द्विरुच्चारणादिदं पदयमकस्योदाहरणम्। अत्र "पलाश-पलाश०" इत्यत्र एकस्य पलाशपदस्य पत्त्रवाचकत्वाद्द्वितीयस्य च किंशुकवृक्षवाचकत्वाद्द्वयोः सार्थकत्वमेवमेव "सुरभि सुरभिम्" इत्यत्र एकस्य सुरभिपदस्य वसन्तवाचकत्वाद्द्वितीयस्य च सुगन्धिवाचकत्वाद्द्वयोरेव सार्थकत्वं बोध्यम्। तथा "लतान्त-लतान्त" इत्यत्र पूर्वस्य लतान्तस्य "मृदु" पदेन सम्बद्धत्वान्निरर्थकत्वं, द्वितीयस्य सार्थकत्वम्, एवं च—"पराग-पराग०" इत्यत्र प्रथमपरागपदस्य सार्थकत्वं, द्वितीयपरागस्य "त" इति वर्णेन सम्बन्धान्निरर्थकत्वम्। "रभि सुरभि सु" इत्यत्र द्वयोरपि पदांशयोर्निरर्थकत्वं बोध्यम्।

एवमिति। एवम् = इत्थम्, अन्यत् = अपरं, पादवृत्यादिरूपं यमकम्। उदाहार्यम् = उदाहरणीयम्। कानिचिद्यमकानि नामतो निर्दिश्यन्ते। तानि यथा—पादावृत्ति, अर्द्धावृत्ति, श्लोकावृत्ति, पादाद्यावृत्ति, पादमध्यावृत्ति, पादान्त्यावृत्ति इत्यादि। अपरे भेदाः सरस्वतीकण्ठाभरणादितो बोद्धव्याः।

उत्पन्न होते हैं, पुष्पचूर्णोंसे व्याप्त विकसित कमलोंसे युक्त, कोमल और धूपसे क्लान्त लताओंके प्रान्तभागसे संयुक्त और पुष्पोंके समूहसे सुगन्धपूर्ण वसन्त ऋतुको देखा।

इस पद्यमें पदावृत्ति है, "पलशापलाश" और "सुरभि सुरभिम्" यहां दोनों पद सार्थक हैं। "लतान्तलतान्त" यहाँ पहला "लतान्त" निरर्थक है, दूसरा लतान्त सार्थक है)। "परागपराग" यहाँ दूसरा "पराग" निरर्थक है (पहला "पराग" सार्थक है)। इस प्रकार और भी उदाहरण जानना चाहिए।

'यमकादौ भवेदैक्यं डलोर्बवोर्लरोस्तथा ।'

इत्युक्तनयात् 'भुजलतां जडतामबलाजनः' इत्यत्र न यमकत्वहानिः ।

अन्यस्यान्यार्थकं वाक्यमन्यथा योजयेद्यदि ।
अन्यः श्लेषेण काक्वा वा सा वक्रोक्तिस्ततो द्विधा ॥ ९ ॥

द्विधेति श्लेषवक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्च । क्रमेणोदाहरणम्—

यमकादाविति । अत्रादिपदेन श्लेषाऽनुप्रासादीनामपि परिग्रहः । **डलोः** = डकारलकारयोः, बवोः = ओष्ठ—दन्त्योष्ठस्थानीययोर्बकारवकारयोः, तथा लरोश्च = लकाररेफयोश्च, ऐक्यम् = एकता, स्थानस्वरूपादिभेदेऽप्यभेदो भवतीति भावः । इत्युक्तनयात् = इतिपरिभाषितरीतेः, जलतां जडतामित्यत्र न यमकत्वहानिः ।

वक्रोक्तिं लक्षयति—**अन्यस्येति** । अन्यः = अपरः, श्रोतेति भावः, अन्यस्य= तद्भिन्नस्य, वक्तुरिति भावः, अन्याऽर्थकं = भिन्नतात्पर्यं, वाक्यं = पदसमूहम्, श्लेषेण = अर्थद्वयप्रतिपादकेन श्लेषाऽलङ्कारेण, काक्वा = स्वरविशेषेण वा, "भिन्न-कण्ठध्वनिर्धीरैः, काकुरित्यभिधीयते" इत्युक्तलक्षणेनेति भावः । अन्यथा = प्रकाराऽ-न्तरेण, वक्तृतात्पर्यभिन्नरूपेणेति भावः । योजयेत् यदि = परिवर्तयेत् चेत्, ततः = तर्हि, वक्रोक्तिः अलङ्कारः, द्विधा = द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां, भवतीति शेषः । श्लेष-वक्रोक्तिः काकुवक्रोक्तिश्चेति वक्रोक्तिर्द्विप्रकारा प्रभवतीति भावः ।

यमकादाविति । यमक, श्लेष और अनुप्रास आदिमें डकार और लकारका, वकार और बकारका तथा लकार और रेफकी परस्पर एकता होती है, अर्थात् अभेद होता है ऐसी नीतिसे "भुजलतां जडतामबलाजनः" यहाँपर लकार और डकारकी एकता होनेसे यमकत्वकी हानि नहीं होती है ।

अन्यस्येति । जहाँ अन्य (दूसरा पुरुष अर्थात् श्रोता) अन्य (उससे भिन्न)-का अर्थात् वक्ताका भिन्न तात्पर्यवाले वाक्यको श्लेषसे वा काकुसे अन्यथा=दूसरे प्रकारसे अर्थात् दूसरे ही अर्थमें परिवर्तन करे उसे वक्रोक्ति कहते हैं । इसप्रकार इसके दो भेद होते हैं—अर्थात् श्लेषवक्रोक्ति और काकुवक्रोक्ति ॥ ९ ॥

क्रमसे उदाहरण जैसे (श्लेषवक्रोक्ति)—

'के यूयं ? स्थल एव सम्प्रति वयं, प्रश्नो विशेषाश्रयः,
किं ब्रूते विहगः स वा फणिपतिर्यत्रास्ति सुप्तो हरिः ? ।
वामा यूयमहो ! विडम्बरसिकः कीदृक् स्मरो वर्तते ?
येनास्मासु विवेकशून्यमनसः पुंस्वेव योषिद्भ्रमः ॥'

श्लेषवक्रोक्तिमुदाहरति—**के यूयमिति**। कश्चिज्जनः कंचिज्जनं विशेषेण ज्ञातुं पृच्छति—यूयं = भवन्तः, के = किंनामकाः, इति। प्रश्नं श्रुत्वा श्रोता वक्तुर्वाक्यं श्लेषेण अन्यथा करोति, तद् यथा—वयं, सम्प्रति = अधुना, स्थले = निर्जलप्रदेश एव, न तु के = जले, "मारुते, वेधसि, ब्रध्ने, पुंसि कः, कं शिरोऽम्बुनो"रित्यमरः।

वक्ता पुनर्वदति—**प्रश्न इति**। प्रश्नः = ममाऽनुयोगः, विशेषाश्रयः = नामजात्यादिरूपविशेषविषय इति। श्रोता पुनः श्लेषेण "विशेषयाश्रय" इति पदम् अन्यथा करोति—**"किं ब्रूते" इत्यादि**। भवान्, किं, ब्रूते = वदति, विशेषाश्रयः= विः = पक्षी, गरुड इति भावः। शेषः = फणिपतिः, यत्र = यस्मिन्, हरिः = विष्णु, सुप्तः = स्वापं प्राप्त इति भावः। "नगौकोनाजि-विकिर-विविष्किरपतत्रयः।" इति, "शेषोऽनन्त" इति चाऽमरः।

एवं वक्ता निर्विद्य श्रोतारमाक्षिपति—**वामा यूयमिति**। यूयं, वामाः = प्रतीपाः, वाक्छलकारकत्वेन प्रतिकूला इति भावः। "वामौ वल्गुप्रतीपौद्वौ" इत्यमरः। श्रोता पुनः श्लेषाश्रयेण "वामा" इति पदं स्त्रीपरकत्वे योजयति—**अहो इत्यादिः०**। अहो = आश्चर्यं, भवान् विडम्बरसिकः = विडम्बे (अनुकरणे) रसिकः (सकौतुकः), यत्, कीदृक = कीदृशश्च, स्मरः = कामावेश इति भावः,

---

के यूयमिति। "यूयं के" तुम कौन हो ? इसमें वक्ताने "के" शब्दको किम् शब्दकी प्रथमाके बहुवचनमें प्रयोग किया है। श्रोता उसे जलवाचक "क" शब्दमें सप्तमी विभक्तिके एकवचनमें योजना कर कहता है—स्थल एव०। हम स्थलमें ही हैं "के" अर्थात् जलमें नहीं है। वक्ता फिर कहता है—प्रश्न इति। मेरा प्रश्न विशेषाश्रय है अर्थात् नाम, जाति आदि विशेष (भेद) का आश्रयवाला है, मैं आपका नाम और जाति आदि जानना चाहता हूँ। श्रोता फिर "विशेषाश्रयः" इस पदका भिन्न अर्थमें योजना करता है। आप क्या कहते हैं "वि" अर्थात् विहग (पक्षी) अथवा शेष = सर्पाऽधिपति शेष जहाँ हरि (विष्णु) सोते हैं। तब वक्ता खिन्न होकर कहता है—"यूयं वामाः" अर्थात् तुम कुटिल हो। तब श्रोता "वामा"पदका अर्थ स्त्री मानकर कहता है—अहो इति—आश्चर्य है। अनुकरणमें रसिक कैसा कामावेश है, जिससे कि विवेकसे शून्य चित्तवाले तुम्हारा हमारे सदृश पुरुषोंमें भी स्त्रीका भ्रम हो गया है।

अत्र विशेषपदस्य 'विः पक्षी', 'शेषो नागः' इत्यर्थद्वययोगात् सभङ्ग-श्लेषः। अन्यत्र त्वभङ्गः।

'काले कोकिलवाचाले सहकारमनोहरे।
कृतागसः परित्यागात्तस्याश्चेतो न दूयते॥'

अथ कयाचित्सख्या निषेधार्थे नियुक्तो नञ् अन्यया काक्वा दूयत एवेति विध्यर्थे घटितः।

वर्तते = विद्यते, त्वयीति शेषः। येन = कारणेन, विवेकशून्यमनसः = विवेचनशक्ति-रहितचित्तस्य, भवत इति शेषः। पुंसु = पुरुषेषु, मादृशेष्विति शेषः। योषिद्भ्रमः= स्त्रीभ्रान्तिः। "प्रतीपदर्शिनी वामा वनिता महिला तथा।" इत्यमरः।

स्थलविशेषं विवृणोति—अत्रेति। विशेषपदस्य="विशेषाश्रय" पदनिष्ठस्येति शेषः। विशेषाश्रय इत्यत्र विशेषः (भेदः) आश्रयः (आधारः) यस्य स इति वक्तुराशयः। श्रोता च—विः (पक्षी, गरुड इति भावः) शेषः (अनन्तः) आश्रयो यस्य सः इति पदभङ्गं कृत्वाऽर्थान्तरं प्रतिपादयति, अतोऽस्मिन्पद्ये सभङ्गश्लेषः। अन्यत्र = अस्मिन्न् स्थले, अभङ्गः, पदभङ्गाभावात्।

काकुवक्रोक्तिमुदाहरति—काल इति। नायिकया कोपात्परित्यक्तं नायक-माश्वासयितुं तत्सख्या उक्तिरियम्। कोकिलवाचाले = कोकिलाः (पिकाः) वाचालाः (शब्दायमानाः) यस्मिंस्तस्मिन्, एवं सहकारमनोहरे = सहकारैः (अतिसौरभैराम्रैः) मनोहरे (चित्ताकर्षके), काले = समये, वसन्तर्ताविति भावः। कृतागसः = विहिताऽपराधस्य, पत्युरिति शेषः। परित्यागात् = परिहाणात्, तस्याः, चेतः = चित्त, न दूयते = न सन्तप्यते, अत्र काकुवशात्, दूयते एव = सन्तप्यत एव, अतः सा भूयस्त्वामनुग्रहीष्यत्येवेति शेषः। अत्र निषेधार्थोऽपि काक्वा विध्यर्थे परिणमितः, अतः काकुवक्रोक्तेरुदाहरणमिदम्। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—अत्रेति। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे निषेधार्थे = प्रतिषेधार्थे। नियुक्तः = प्रयुक्तो नञ् काक्वा—"तस्याश्चेतो न दूयते" इति विकृतध्वनिना,

---

अत्रेति। यहां 'विशेष" पदका वि = पक्षी अर्थात् गरुड और "शेष" अनन्त नागरूप दो पदोंके योगसे सभङ्गश्लेष है अन्यत्र अभङ्ग है।

काल इति। कोयलसे वाचाल (शब्दायमान) और कलमी आमसे मनोहर समय (वसन्त ऋतु) में अपराध करनेवाले (पति)के परित्यागसे उसका चित्त परितप्त नहीं होता है॥

यहां किसी सखीसे निषेध अर्थमें नियुक्त नञ्को किसी सखीने रूपान्तरसे अर्थात् काकुसे पीडित होता ही है इस प्रकारसे विधि अर्थमें परिणत कर दिया है। यह काकुवक्रोक्तिका उदाहरण है।

शब्दैरेकविधैरेव भाषासु विविधास्वपि ।
वाक्यं यत्र भवेत्सोऽयं भाषासम इतीष्यते ॥ १० ॥

यथा मम—

'मञ्जुलमणिमञ्जीरे कलगम्भीरे विहारसरसीतीरे ।
विरसासि केलिकीरे किमालि! धीरे च गन्धसारसमीरे ? ॥'

एष श्लोकः संस्कृत-प्राकृत-शौरसेनी-प्राच्यावन्ती-नागरापभ्रंशेष्वेकविध एव ।

विध्यर्थे=भावाऽर्थे, घटितः = परिणमितः पार्यन्तिकरूपेण तु काक्वाक्षिप्तव्यङ्ग्यगुणीभूतव्यङ्ग्यस्योदाहरणं बोध्यम् । काकुवैशिष्ट्ये ऽर्थव्यञ्जनाया अप्युदाहरणं संभवति ।

भाषासमं लक्षयति—**शब्दैरिति** । यत्र = यस्मिन् स्थले, एकविधैः = एकप्रकारैः, एव, शब्दैः = पदैः, विविधासु = अनेकप्रकारासु अपि, भाषासु, संस्कृतप्राकृतप्रभृतिषु इति भावः, वाक्यं = पदसमूहो भवेत्, सोऽयं भाषासमः = तन्नामाऽलङ्कारः, इष्यते = अभिलष्यते ॥ १० ॥

भाषासममुदाहरति—**मञ्जुलेति** । विश्वनाथकविराजस्य पद्यमिदम् । मानिनीं नायिकां प्रति तत्सख्या उक्तिरियम् । हे आलि = हे सखि । अत्र "आलिः सखी वयस्या च" त्यमरपठितस्यालिशब्दस्य "कृदिकारादक्तिन" इति ङीषि, सम्बुद्धे रूपमिदम् । कलगम्भीरे = अव्यक्तमधुरशब्दगभीरे, मञ्जुलेत्यादिः० = मञ्जुलाः (मनोरमाः) मणिमञ्जीराः (रत्नखचितानि पादाङ्गदानि) यस्मिंस्तस्मिन्, तादृशे विहारसरसीतीरे = विहाराऽर्था (क्रीडार्था) या सरसी (कासारः) तस्यास्तीरे (तटे), तथा च केलिकीरे = क्रीडातत्परशुके यस्मिन्, धीरे = मन्दसञ्चारिणि, गन्धसारसमीरे = सुगन्धप्रधानवायौ, वाति सतीति शेषः । इत्थमनेकोद्दीपकपदार्थसत्त्वेऽपि, किं = किमर्थं, विरसा = अनुरागशून्या, असि = विद्यसे, विगतः, रसः (अनुरागः) यस्याः सा ।

अस्य भाषासमत्वं समर्थयते—**एष इति** । श्लोकः = पद्यात्मकं वाक्यम् । संस्कृतादिषु = षड्भाषासु, एकविधः = एकप्रकारः, एव ।

शब्दैरिति । जहां एक ही प्रकारके शब्दोंसे अनेक भाषाओंमें वाक्य होता है उसे "भाषासम" अलङ्कार कहते हैं ॥ १० ॥

जैसे मेरा (ग्रन्थकारका)—हे सखि ! अव्यक्त मधुर शब्दसे गम्भीर, मनोरम मणिखचित पादाङ्गदों (छागलों) वाले क्रीडासरोवरके तटमें, क्रीडाशुक और मन्द-सञ्चारवाली सुगन्धित हवाके बहनेपर भी तुम क्यों अनुराग-रहित हो रही हो ?

यह पद्य संस्कृत, प्राकृत, शौरसेनी, प्राच्याऽवन्ती, नागर और अपभ्रंश इन भाषाओंमें एक ही प्रकारका है ।

'सरसं कइण कव्वम् ।'

इत्यादौ तु 'सरसम्' इत्यत्र संस्कृतप्राकृतयोः साम्येऽपि वाक्यगतत्वाभावे वैचित्र्याभावान्नायमलङ्कारः ।

श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष इष्यते ।
वर्णप्रत्ययलिङ्गानां प्रकृत्योः पदयोरपि ॥ ११ ॥

एतत्प्रातिकूल्येन "सरसं कइण कव्वं" (सरसं कवीनां काव्यम्) इत्यत्र "सरसम्" इत्यत्र संस्कृतप्राकृतयोः = भाषयोः, साम्येऽपि = तुल्यत्वेपि, वाक्यगतत्वाऽभावे = पदसमूहगतत्वाऽभावे, वैचित्र्याऽभावान्नायमलङ्कार । लक्षणे "वाक्यम्" इति पदसत्त्वादत्र तदभावेन वैचित्र्याऽभावादिति शेषः ।

शब्दश्लेषं लक्षयति—**श्लिष्टैरिति** । श्लिष्टैः = अनेकाऽर्थयुक्तैः, पदैः = शब्दैः, सुप्तिङन्तरूपैरिति भावः । अनेकाऽर्थाभिधाने = अनेकाऽर्थानाम् (बहूर्थानाम्) अभिधाने (अभिधावृत्या प्रतिपादने) सति, श्लेषः = श्लेषनामकः शब्दाऽलङ्कारः, इष्यते = अभिलष्यते । पदैरिति बहुवचनमविवक्षितं, ततः पदेन, पदाभ्यामपि अनेकाऽर्थाभिधाने श्लेषो भवति । अनेकाऽर्थाऽभिधान इत्यत्राऽनेकपदेन द्वयोर्बहूनां वाऽर्थानामभिधाने प्रकरणादिनियमाऽभावादभिधया प्रतिपादन इत्यर्थः । एतेन ध्वनिव्यवच्छेदः । श्लिष्टैरित्यत्र "अर्थभेदेन शब्दभेद" इति दर्शनात् "काव्यमार्गे स्वरो न गण्यते" इति च नयाद्वाच्यभेदेन भिन्नैरपि युगपदुच्चारणेनाऽपगतभेदैरित्यर्थः संभवति । शब्दाऽभिव्यक्तिस्त्रिधा–रूपतोऽर्थतः स्वरतश्च । एवं च भिन्नार्थैरपि समानश्रुत्योः शब्दयोस्तत्तन्यायेनोच्चरितयोः क्रमेण स्वस्याऽर्थबोधनं यत्र, तत्र शब्दस्वरूपश्लेषेण शब्दश्लेषः । शब्दपरिवृत्तिसहत्वे त्वर्थश्लेष इति नियममङ्गीकुर्वतां काव्यप्रकाशकारादीनां मतमनुसृत्य व्याख्यानम् ।

शब्दश्लेषस्य भेदाऽष्टकं निर्दिशति—**वर्णप्रत्ययलिङ्गानामिति** । वर्णयोः (द्वयोरक्षयोः) र प्रत्यययोः (क्विबादिप्रत्यययोः), लिङ्गयोः=स्त्रीपुंसादिलिङ्गयोः, प्रकृत्योः = प्रत्ययोत्पत्तेराधारभूतयोः, धातु-प्रातिपदिकाद्योरिति भावः, पदयोः = सुबन्तयोस्तिङन्तयोस्तदुभयोर्वा ॥ ११ ॥

सरसमिति । "सरसं कइण कव्वम्" इत्यादिमें तो "सरसम्" इस पदका संस्कृत और प्राकृत भाषामें समता होनेपर भी वाक्यगत समता न होनेसे विचित्रताके न होनेसे यह भाषासम अलङ्कार नहीं है ।

श्लिष्टैरिति । श्लिष्ट (अनेकार्थयुक्त) पदोंसे अनेक अर्थोंका अभिधान होनेपर "श्लेष" अलङ्कार होता है ।

वर्णों, प्रत्ययों, लिङ्गों, प्रकृतियों, पदों और ॥ ११ ॥

श्लेषाद्विभक्तिवचनभाषाणामष्टधा च सः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ विफलत्वमेति बहुसाधनता ।
अवलम्बनाय दिनभर्तुरभून्न पतिष्यतः करसहस्रमपि ॥'

अत्र 'विधौ' इति विधुविधिशब्दयोरुकारेकारयोरौकाररूपत्वाच्छ्लेषः ।

विभक्तिवचनभाषाणां = विभक्त्योः (सुबन्तयोस्तिङन्तयोस्तदुभयोर्वा,) वचनयोः (एकद्विबहुवचनानां मध्ये कयोश्चिद्द्वयोः) भाषयोः (संस्कृतादयोर्भाषयोर्भाषाणां वा, श्लेषात् = अनेकार्थसम्बन्धात्, सः = शब्दश्लेषः, अष्टधा = अष्टभिः प्रकारैः संभवति ।

वर्णश्लेषमुदाहरति—**प्रतिकूलतामिति** । शिशुपालवधे महाकाव्ये नवमसर्गे सूर्यास्तवर्णनपरकं पद्यमिदम् । विधौ = भाग्ये चन्द्रे च "दैवं दिष्टं भागधेयं भाग्यं स्त्री नियतिर्विधिः ।" इति "विधुः सुधांशुः शुभ्रांशुरोषधीशः कलानिधिः ।" इति चाऽपरः । प्रतिकूलतां = विरोधितां, गते=प्राप्ते सति । बहुसाधनता = बहूनि (प्रचुराणि) साधनानि (फलनिष्पत्तौ उपकरणानि) यस्य सः, तस्य भावस्तत्ता । प्रचुरसाधनमित्यर्थः । विफलत्वं = वैफल्यं, निरर्थकत्वमिति भावः । एति = प्राप्नोति । हि = यतः, पतिष्यतः = अस्ताऽचलपतनं करिष्यतः, दिनभर्तुः = सूर्यस्य, करसहस्रम् = कराणां (किरणानां, हस्तानां च) सहस्रं = दशशत्यपि, अवलम्बनाय = आश्रयणाय, आकाश इति शेषः । नाऽभूत् = नाऽभवत् । प्रमिताक्षरा वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, "विधौ" इति विधुविधिशब्दयोरुकारेकारयोः सप्तम्येकवचने "अच्च घेः" रित्यनेनौकाररूपत्वाद्वर्णश्लेषः ।

विभक्तियों, वचनों और भाषाओंके श्लेष (अनेक अर्थका सम्बन्ध) होनेसे वह श्लेष अलङ्कार आठ प्रकारका होता है ।

क्रमसे उदाहरण—**प्रतिकूलतामिति** । विधि (भाग्य वा चन्द्रमा) के प्रतिकूल होनेपर बहुत साधन भी निष्फल हो जाते हैं, गिरते हुए अर्थात् अस्त पर्वतपर जाते हुए सूर्यके हजारों किरणों वा हाथ भी अवलम्बनके लिए नहीं (समर्थ) हुए ।

इस पद्यमें "विधौ" इस सप्तम्यन्तपदमें चन्द्रवाचक उकारान्त विधुशब्द और भाग्यवाचक इकारान्त विधि शब्दके उकार और इकारका औकार रूप होनेसे यह पदश्लेषका उदाहरण है ।

'किरणा हरिणाङ्कस्य दक्षिणश्च समीरणः।
कान्तोत्सङ्गजुषां नूनं सर्व एव सुधाकिरः॥'

अत्र 'सुधाकिरः' इति क्विप्-क-प्रत्यययोः। किं चात्र बहुवचनैकवचनयोरैकरूप्याद्वचनश्लेषोऽपि।

'विकसन्नेत्रनीलाब्जे तथा तन्व्याः स्तनद्वयी।
तव दत्तां सदामोदं लसत्तरलहारिणी॥'

प्रत्ययश्लेषमुदाहरति—**किरणा इति**। हरिणाऽङ्कस्य = मृगाङ्कस्य, चन्द्रमस इत्यर्थः। किरणाः = मयूखाः, दक्षिणः समीरणश्च = दाक्षिणात्यो वायुश्च। सर्व एव=समस्तः पदार्थ एव, सर्वे एव वा कान्तोत्सङ्गजुषां=कान्तायाः (प्रियायाः) उत्सङ्गम् (अङ्कम्) जुषन्ते (सेवन्ते) इति, तेषां, प्रियासनाथानामितिभावः। सुधाकिरः = अमृतवर्षकाः, अमृतवर्षकश्च।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र=अस्मिन्नुदाहरणे, सर्व एव इत्यत्र सर्वशब्द "सर्वे" इति बहुवचनान्तः "सर्व" इति एकवचनान्तश्च। "सुधाकिर" इति क्विप्कप्रत्यययोः, श्लेषः इति शेषः। तथा च—हरिणाऽङ्ककिरणपक्षे सुधाम् (अमृतम्) किरन्ति (विक्षिपन्ति) इति, सुधाकिरः, सुधोपपदात् "कॄ विक्षेपे" इति धातोः "अन्येभ्योऽपि दृश्यत" इत्यनेन क्विपि, "किरणा" इत्यनेनाऽन्वयः। तत्र बहुवचनम्।

एवं च सुधां किरतीति सुधाकिरः, "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इत्यनेन कप्रत्यये, "समीरण" इत्यनेनाऽन्वयः। तत्रैकवचनम्।

किञ्चेति। किञ्च = अपि च। अत्र = "सर्व एव" "सुधाकिर" इत्यत्र च वचनश्लेषोऽपि। लिङ्गश्लेषमुदाहरति—**विकसदिति**। तन्व्याः = कृशाङ्ग्याः; लसत्तरलहारिणी = लसती (दीप्यमाने) तरले (चञ्चले) हारिणी (मनोहरे),

---

किरण इति। चन्द्रमाकी किरणें और दक्षिण वायु, प्रियाके उत्सङ्गकी सेवा करने वालोंके ये सब अमृतका विकिरण करनेवाले हैं, अर्थात् अमृतबिन्दुका सेचन करनेवाले होते हैं।

अत्रेति। यहां "सुधाकिरः" इस पदमें सुधां किरन्तीति ऐसा विग्रह करके क्विप् प्रत्यय करनेसे बहुवचनान्त होकर "किरणाः" इस पदका विधेय होता है, और सुधां किरतीति ऐसा विग्रह करके कप्रत्यय करनेसे एकवचनान्त होकर "समीरणः" इस पदका विधेय होता है। इस प्रकार "सुधाकिर" इस पदमें "क्विप् और कप्रत्ययका श्लेष होनेसे यह प्रत्ययश्लेषका उदाहरण है। इसी प्रकार "सर्व एव" और "सुधाकिरः" इस पदमें बहुवचन और एकवचनमें एकरूपता होनेसे यह पद्य वचनश्लेषका भी उदाहरण है।

विकसदिति। कृशाङ्गीके दीप्यमान चञ्चल और मनोहर प्रफुल्ल नेत्ररूप

अत्र नपुंसकस्त्रीलिङ्गयोः श्लेषो वचनश्लेषोऽपि ।

'अयं सर्वाणि शास्त्राणि हृदि ज्ञेषु च वक्ष्यति ।
सामर्थ्यकृदमित्राणां मित्राणां च नृपात्मजः ॥'

तादृशे विकसन्नेत्रनीलाऽब्जे = विकसन्ती (प्रफुल्ले) नेत्रे (नयने) एव नीलाऽब्जे (नीलकमले), सदा=सर्वदा तव, आमोदं=हर्षं, दत्ताम्=वितरताम् । "डुदाञ् दाने" इति धातोः परस्मैपदेलोंटि प्रथमपुरुषस्य द्विवचने रूपम् । अत्र नपुंसकलिङ्गम् ।

स्त्रीलिङ्गपक्षे—तन्व्याः, लसत्तरलहारिणी = लसन् (शोभमानः) तरलः (मध्यमणिः, "तरलो हारमध्यग" इत्यमरः) यस्य सः तादृशः हारः (मुक्तामाला) सोऽस्ति यस्याः सा इनिप्रत्ययान्तान्ङीप् । तादृशी स्तनद्वयी=कुचद्वयी, तव = भवतः, सदा = सर्वदा, आमोदं = हर्षं, दत्तां = वितरतु । अत्र "डुदाञ् दाने" इति धातोरात्मनेपदे लोटः प्रथमपुरुषस्यैकवचने रूपम् । नन्वत्र "न कर्मधारयान्मत्वर्थीयो बहुव्रीहिश्चेत्तदर्थप्रतिपतिकर" इति नयात् कथं मत्वर्थीय इन्प्रत्ययोऽत्र समाधीयते तन्व्यास्तनद्वय्यां हारस्य नित्ययोगद्योतनार्थमयं प्रयोगः, तत्र नाऽयं निषेधो बहुव्रीहितस्तदर्थाऽप्रतिपत्तेः ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, "लसत्तरलहारिणी" इत्यत्र नपुंसकस्त्रीलिङ्गयोः श्लेषः, "दत्तां" "लसत्तरलहारिणी" इत्युभयत्र वचनश्लेषोऽपि । अपिपदात् "हारिणी" इत्यत्र इनिप्रत्ययस्य सिनिप्रत्ययस्य च श्लेषात्प्रत्ययश्लेषोऽप्यूह्यः, परं चाऽत्र लिङ्गश्लेषस्यैव वैचित्र्याऽतिशयात्तस्यैव व्यपदेशः ।

प्रकृतिश्लेषमुदाहरति—**अयमिति** । कस्मिंश्चिद्राजकुमारे जाते दैवज्ञानामुक्तिरियम् । अमित्राणां = शत्रूणां, सामर्थ्यकृत् = सामर्थ्यं (शक्तिम्) कृन्तति (छिनत्ति) इति, सामर्थ्यच्छेदकः । "कृती छेदने" इति धातोः क्विप् । तथा मित्राणां = सुहृदां, सामर्थ्यकृत् = सामर्थ्यं करोति (विदधाति) इति, सामर्थ्य-

नीलकमल तथा शोभमान मध्यमणिसे युक्त हार (मुक्तामाला) वाली कुचद्वयी तुम्हें सदा हर्षका वितरण करें ॥

इस पद्यमें "लसत्तरलहारिणी" इस पदमें नपुंसकलिङ्ग और स्त्रीलिङ्ग दो लिङ्गोंका श्लेष होनेसे यह लिङ्गश्लेषका उदाहरण है । उसी प्रकार "दत्ताम्" और "लसत्तरलहारिणी" दोनों पदोंमें एक वचन और द्विवचनका श्लेष होनेसे यह वचनश्लेषका भी उदाहरण है ।

अपि शब्दसे हारिणी इस पदांशमें "इनि" और "णिनि" प्रत्ययका श्लेष होनेसे यह प्रत्ययश्लेषका भी उदाहरण हो सकता है. ।

अयमिति । प्रकृतिश्लेषका उदाहरण देते हैं । शत्रुओंका सामर्थ्यकृत् अर्थात् सामर्थ्यका कृन्तन (छेदन) करनेवाला तथा मित्रोंका सामर्थ्यकृत् अर्थात् सामर्थ्य-

अत्र 'वक्ष्यति' इति वहि-वच्योः, 'सामर्थ्यकृत्' इति कृन्तति-करोत्योः प्रकृत्योः।

'पृथुकार्तस्वरपात्रम्-' इत्यादि। अत्र पदभङ्गे विभक्तिसमासयोरपि वैलक्षण्यात्पदश्लेषः, न तु प्रकृतिश्लेषः।

कारकः, "डुकृञ् करण" इति धातोः क्विप् प्रत्ययः। अयं = समीपस्थः, नृपात्मजः= राजकुमारः। हृदि = हृदये, सर्वाणि = सकलानि, शास्त्राणि = वेदादिशास्त्राणि, वक्ष्यति = धारयिष्यति, "वह प्रापण" इति धातोर्लृट्। ज्ञेषु = पण्डितेषु, "धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान्पण्डितः कविः।" इत्यमरः। जानन्तीति ज्ञाः, तेषु, "इगुपधज्ञाप्रीकिरः कः" इति कप्रत्ययः : "धीरो मनीषी ज्ञः प्राज्ञः संख्यावान्पण्डितः कविः।" इत्यमरः। सर्वाणि, शास्त्राणि, वक्ष्यति = कथयिष्यति, "वच परिभाषण" इति धातोर्लृट्। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—अत्र = अस्मिन्पद्ये। "वक्ष्यति" इति "वहि-वच्योः" = "वह प्रापणे, वच परिभाषण" इति धात्वोः=प्रकृत्योः श्लेषः। 'वह वच्' इत्यत्र "इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे" इत्यनेन धातुनिर्देशे इक् प्रत्ययः।

"सामर्थ्यकृत्" इत्यत्र "कृन्तति—करोत्योः" = कृती छेदने". "डुकृञ् करण" इति धात्वोः = प्रकृत्योः श्लेषः। "कृन्ततिकरोत्यो"रित्यत्र "इक्श्तिपौ धातुनिर्देशे "इत्यनेन श्तिप् प्रत्ययः।

पदश्लेषमुदाहरति—"पृथुकार्तस्वरपात्रम्" इत्यादि। (६३ पृ०)। पद्यमिदं व्याख्यातपूर्वम्।

विवृणोति-अत्रेति। अत्र=अस्मिन्पद्ये। पदभङ्गे=अर्थबोधनाय, पदानां=पार्थक्ये भङ्गे यथा पृथ्वित्यादौ राजपक्षे-पृथूनि (प्रचुराणि) कार्तस्वरपात्राणि (सुवर्ण-

को उत्पन्न करनेवाला यह राजकुमार सब शास्त्रोंको हृदयमें वक्ष्यति अर्थात् धारण करेगा और विद्वानोंके मध्यमें सब शास्त्रोंको वक्ष्यति अर्थात् कहेगा।

अत्रेति। इस पद्यमें "वक्ष्यति" इस क्रियापदमें "वह प्रापणे" और "वच परिभाषणे" इसप्रकार वह और वच धातुका तथा "सामर्थ्यकृत्" इस पदमें "सामर्थ्यं कृन्ततीति" ऐसा विग्रह करनेसे "कृती छेदने" इस धातुसे और सामर्थ्यं करोतीति ऐसा विग्रह करनेसे "कृञ् करणे" इस धातुसे इस प्रकार कृत् और कृ दो प्रकृतियों (धातुओं)का श्लेष होनेसे यह प्रकृति श्लेषका उदाहरण है।

पृथुकार्तस्वरपात्र इत्यादि। पृष्ठ ६३ में इस पद्यका व्याख्यान हो चुका है। इस पद्यमें राजसदनके पक्षमें पूर्वार्धमें—पृथु-कार्तस्वरपात्रम् भूषित-निःशेष-परिजनम् उत्तरार्धमें—विराजत्-करेणु-गहनम्। इसप्रकार पदभङ्ग करनेसे

उसी पद्यमें दरिद्रभवनके पक्षमें—पृथुक-आर्तस्वर-पात्रम्, भू-उषित-निःशेष-

एवञ्च—

'नीतानामाकुलीभावं लुब्धैर्भूरिशिलीमुखैः।
सदृशे वनवृद्धानां कमलानां तदीक्षणे ॥'

अत्र लुब्धशिलीमुखादिशब्दानां श्लिष्टत्वेऽपि विभक्तेरभेदात्प्रकृतिश्लेषः, अन्यथा सर्वत्र पदश्लेषप्रसङ्गः।

भाजनानि यस्मिंस्तत्। वक्तृपक्षे—पृथुकानाम् (बालकानाम्) आर्तस्वरपात्रे (पीडितस्वरभाजने) इत्यादौ, विभक्तिसमासयोरपि वैलक्षण्यात् = वैषम्यात्, पदश्लेषो न तु प्रकृतिश्लेषः।

एवं चेति। प्रकृतिमात्रवैलक्षण्ये प्रकृतिश्लेषमाह—**नीतानामिति।** कस्याश्चिन्नायिकाया नयनवर्णनमिदम्—तदीक्षणे = तस्याः (सुन्दर्याः) ईक्षणे (नेत्रे) भूरिशिलीमुखैः = भूरयः (प्रचुराः) शिलीमुखाः (बाणाः) येषां, तैः, लुब्धैः = व्याधैः, आकुलीभावम् = आकुलत्वं, नीतानां = प्रापितानां, भयेनेति शेषः। वनवृद्धानां = वने (विपिने) वृद्धानां (वृद्धिं प्राप्तानाम्) कमलानां (मृगाणाम्), "स्यात्कुरङ्गेऽपि कमलः" इत्यमरः, सदृशे = तुल्ये। मृगनयना सुन्दरीति भावः। पक्षान्तरे—लुब्धैः = अभिलाषुकैः, "लुब्ध आकाङ्क्षिणि व्याधे, इति मेदिनी। भूरिशिलीमुखैः = भूरयः (प्रचुराः) ये शिलीमुखाः (भ्रमराः) तैः, "अलिबाणौ शिलीमुखौ" इत्यमरः। आकुलीभावं नीतानां, वनवृद्धानां = वने (जले) वृद्धानां (वृद्धिं प्राप्तानाम्), "वनं नपुंसकं नीरे निवासालयकानने।" इति मेदिनी। कमलानां = पद्मानां, सदृशे = तुल्ये, स्त इति शेषः। कमलनयना सुन्दरीति भावः। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति।** अन्यथा = विभक्त्यभेदेऽपि पदश्लेषस्वीकारे, सर्वत्र = वर्णादिश्लेषेऽपि, पदश्लेषस्य प्रसङ्गः (अवसरः) भवेदिति भावः।

परिजनम् उत्तरार्द्धमे—विल-सत्क-रेणुगहनम्" इसप्रकार पदभङ्ग करनेमे विभक्ति और समासमें भी विषमता होनेसे यह पदश्लेषका उदाहरण है प्रकृतिश्लेषका उदाहरण नहीं। इसी तरह—

नीतानामिति। बहुतसे शिलीमुखों (बाणों) से युक्त लुब्धों-(व्याधों) से आकुलीभावको प्राप्त अर्थात त्रस्त वनमें बढ़े हुए कमलों (मृगों) के सदृश, और लुब्ध (लोभयुक्त) और प्रचुर शिलीमुखों (भौरों) से आकुलताको प्राप्त अर्थात् चञ्चल वन (जल) में बढ़े हुए कमलोंके समान उस सुन्दरीके नेत्र हैं।

अत्रेति। इस पद्यमें "लुब्ध" और "शिलीमुख" आदि शब्दोंके श्लिष्ट (द्व्यर्थक) होनेपर भी विभक्तिका भेद न होनेसे यह प्रकृतिश्लेष है पदश्लेष नहीं। ऐसा नहीं मानेंगे तो सर्वत्र पदश्लेषका प्रसङ्ग होगा।

'सर्वस्वं हर सर्वस्य त्वं भवच्छेदतत्परः।
नयोपकारसांमुख्यमायासि तनुवर्तनम् ॥'

अत्र 'हर' इति पक्षे शिवसम्बोधनमिति सुप्। पक्षे हृधातोस्तिङिति विभक्तेः। एवं 'भव' इत्यादौ।

अस्य च भेदस्य प्रत्ययश्लेषेणापि गतार्थत्वे प्रत्ययान्तरासाध्यसुबन्ततिङन्तगतत्वेन विच्छित्तिविशेषाश्रयणात्पृथगुक्तिः।

विभक्तिश्लेषमुदाहरति—**सर्वस्वमिति**। शैवस्य शिवं प्रति दस्योश्च पुत्रादिकं प्रत्युक्तिरियम्। हे हर = हे शिव! त्वं, सर्वस्य = सकलस्य जनस्य, सर्वस्वं = संपूर्णधनरूपः, प्रीत्यतिशयरूपत्वादिति भावः। "स्वो ज्ञातावात्मनि, स्वं त्रिष्वात्मीये, स्वोऽस्त्रियां धने।" इत्यमरः। त्वं, सर्वस्य = जनस्य, छेदतत्परः = छेदे (संसारनाशे) तत्परः (प्रसितः), मोक्षदानेन संसारच्छेदक इति भावः। आयासि = आयासयुक्तं, तनुवर्तनं = शङ्कराचार्यादिरूपेण, शरीरवृत्तिम्, उपकारसांमुख्यम् = उपकारात् (उपकृतेः) सांमुख्यं (सम्मुखत्वम्), नय = प्रापय।

दस्युपक्षे—हे पुत्र! त्वं, सर्वस्य = सकलस्य जनस्य, सर्वस्वं = समग्रधनं, हर = अपहर। छेदतत्परः = छेदे (जनविनाशे) तत्परः (प्रसितः), भव, उपकारसांमुख्यम् = उपकारे (जनस्योपकृतौ) सांमुख्यं (सम्मुखत्वम्), नय = अपनय, आयासि = आयासकारि परपीडाकारीति भावः। वर्तनं = जीवनोपायं, तनु = विस्तारय।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, सुप् = सुब्विभक्तिः। पक्षे = हर इत्यत्र "हृञ् हरणे" इति धातोस्तिङ्विभक्तेः श्लेष इति शेषः। एवं भव इत्यादौ = "भव" इति शिवपक्षे सम्बुद्धिपदमिति सुप् = सुब्विभक्तिः। दस्युपक्षे तु भूधातोस्तिङ्विभक्तिः।

अस्य चेति। प्रत्ययश्लेषेण गतार्थत्वेऽपि, प्रत्ययान्तरेण (सुप्तिङ्भिन्नप्रत्ययेन क्त्वादिनेति भावः, असाध्यौ (अबोध्यौ) यौ सुप्तिङौ (सुप्तिङ्विभक्ती)

सर्वस्वमिति। शिवजीका किसी शैवकी और अपने पुत्रको किसी चोरकी यह उक्ति है। शैव—हे हर (शिवजी)! आप सब भक्तके सर्वस्व हैं और छेद (संसारके नाश)में तत्पर है। आयासि (आयासयुक्त) शरीरवृत्तिको उपकारसे सम्मुख कराइए। चोर—हे पुत्र! तुम सबके सर्वस्वका हरण करो, सबके विनाशमें तत्पर बनो। लोकके उपकारमें सम्मुखताको दूर करो; दूसरेको पीडा करनेवाले जीवन धारणके उपायको फैलाओ॥

अत्रेति। इस पद्यमें "हर" यह पद एक पक्षमें शिवजीका सम्बोधन है, अतः सुबन्त है। दूसरे पक्षमें "हृञ् हरणे" धातुका सिप् विभक्ति है, अतः तिङन्त है॥

इसी तरह "भव" यह पद भी एकपक्षमें सम्बोधन होनेसे सुबन्त है और

'महदे सुरसन्धं मे तमव समासङ्गमागमाहरणे ।
हर बहुसरणं तं चित्तमोहमवसर उमे ! सहसा ॥'

तदन्तगतत्वेन (तदन्तर्गतत्वेन), विच्छित्तिविशेषस्य (वैचित्र्यविशेषस्य) आश्रयणात् (अवलम्बनात्) पृथगुक्तिः = पृथगभिधानम् । कृत्तद्धितान्तस्य स्वादिव्यतिरेकेण प्रयोगाऽभावात्प्रत्ययान्तरसाध्यत्वं, सुप्तिङन्तस्य तु न तथात्वमिति भावः ।

भाषाश्लेषमुदाहरति—महदे इति । संस्कृतपक्षे—हे महदे=हे उत्सवदात्रि !, महं ददातीति महदा, तत्सम्बुद्धौ । "आतोऽनुपसर्गे क" इति कप्रत्ययः, "क्षणमुद्धर्षो मह उद्धव उत्सवः ।" इत्यमरः । हे उमे = हे पार्वति !, मे = मम, आगमाहरणे = आगमानाम् (वेदादिविद्यानाम्) आहरणे (ग्रहणे), तं = प्रसिद्धं, सुरसन्धं = देवस्थितियुक्तं, देवा अपि पुण्यक्षयकाले मोक्षहेतुकविद्याग्रहणे सम्यगासक्तिं काङ्क्षन्तीति भावः । सुराणां (देवानाम्) सन्धा (स्थितिः) यस्मिंस्तम् । "सन्धा स्थिति प्रतिज्ञयोः" इति मेदिनी । तादृशं समासङ्गं = सम्यगासक्तिम्, अव = रक्ष । तथा अवसरे = तत्तत्प्रसङ्गे, बहुसरणं = बहु (अधिकम्) सरणं (प्रसारः) यस्य, तं, बहुविषयगामिनमिति भावः । तादृशं, तं = बहुशोऽनुभूतं, चित्तमोहं = मानसाऽज्ञानं, हर = अपनय । आर्या वृत्तम् । भक्तस्य पार्वतीं प्रति प्रार्थनेयम् । महाराष्ट्री (प्राकृतविशेष) पक्षे—

मह देसु रसं धम्मे, तमवसमासं गमागमा हर णे ।
हरवहु ! सरणं तं चित्तमोहमवसरमे सहसा ॥

दूसरे पक्षमे तिङन्त है; इस प्रकारसे यह विभक्तिश्लेषका उदाहरण है । यद्यपि यह भेद प्रत्ययश्लेषसे भी गतार्थ हो सकता है तथाऽपि दूसरे प्रत्ययोंसे असाध्य सुबन्त-तिङन्तगत होनेसे वैचित्र्यविशेषका आश्रय करनेसे इसकी पृथक् उक्ति की गई है ।

महद इति । महदे अर्थात् मह (उत्सव) देनेवाली हे उमे (पार्वति !) मेरी आगमाहरणे = आगम अर्थात् शास्त्रके आहरण (ग्रहण) में, तं = प्रसिद्ध, सुरसन्धं = देवताओंकी स्थितिसे युक्त समासङ्गम् = उत्तम आसक्तिको, अव = रक्षा कीजिए । अवसरमें बहुसरणम् = अधिक प्रसारवाले उस, चित्तमोहम् = चित्तके मोह को, हर = दूर कीजिए । यह संस्कृतभाषाके पक्षमें अर्थ है ।

इसी पद्यका महाराष्ट्र (प्राकृत) भाषाके पक्षमें अर्थ इस प्रकारसे है हे हरबहु = हे शिवपत्नि !, मह = मुझे, धम्मे = धर्ममें, रसम् = अनुरागको, देसु = दीजिए, गमागमा = संसारसे, णे = हमारी तमवसम् = तमोगुणकी अधीन, आसम् = आशाको, । हटाइए, हे उमे = हे पार्वति !, सरणम् = रक्षा करने वाली

अत्र संस्कृतमहाराष्ट्र्योः।

पुनस्त्रिधा सभङ्गोऽथाभङ्गस्तदुभयात्मकः॥ १२॥

एतद्भेदत्रयं चोक्तभेदाष्टके यथासम्भवं ज्ञेयम्।

संस्कृतच्छाया—

मम देहि रसं धर्मे, तमोवशाशां गमागमाद्धर नः।
हरवधु ! शरणं तं चित्तमोहमपसर उभे सहसा॥

हे हरवधु = हे शिवपत्नि ! मम = त्वद्भक्तस्य, धर्मे = सुकृताचरणे, रसम् = अनुरागं, देहि = वितर, गमागमात् = संसारात्, नः = अस्माकं, तमोवशां = तमोगुणाऽधीनाम्, अबोधोत्पन्नामिति भावः, तादृशीम् आशाम् = अभिलाषं, हर=अपनय हे उमे ! हे पार्वति, = शरण रक्षित्री, भवती। तं = बहुधाऽनुभूतं, मे = मम चित्तमोहं = मानसमज्ञानं, सहसा = अतर्कितरूपेण, अपसर = अपसारय। अत्राऽन्तर्भावितण्यर्थः आर्या वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, संस्कृतमहाराष्ट्र्योः = देवभाषा-प्राकृतविशेषयोः, श्लेष इति शेषः। "संस्कृतं नाम दैवीवागन्वाख्याता महर्षिभिः" इति "महाराष्ट्राश्रयां भाषां विशुद्धं प्राकृतं विदुः।" इति च **काव्यादर्शे** दण्डी। भाषासमे तु भाषाणामैकरूप्यमेव, नत्वर्थभेदः। इह त्वर्थभेदोऽपीति।

शब्दश्लेषं पुनस्त्रैविध्येन विभजति—**पुनस्त्रिधेति**। शब्दश्लेषः, **सभङ्गः**= शब्दविश्लेषणजन्यः, अभङ्गः = शब्दविश्लेषणं विनाऽनेकार्थात्मकः, तदुभयात्मकः = सभङ्गाऽभङ्गात्मकश्चेति, पुनः = भूयः, त्रिधा भवति॥ १२॥

विवृणोति—**एतदिति**। एतत् = अधुनैव प्रतिपादितं, भेदत्रयं = सभङ्गाऽभङ्गतदुभयात्मकम्, उक्तभेदाऽष्टके = अभिहितभेदाऽष्टके, यथासंभवं, ज्ञेयं = बोध्यम्। यथा—"पृथुकार्तस्वरपात्रम्" इत्यादौ सभङ्गः। "नीतानाम्" इत्यादावभङ्गः। "सर्वस्वं हर" इत्यादौ सभङ्गाऽभङ्गः।

आप, तं = प्रसिद्ध, चित्तमोहम् = मेरे चित्तस्थित अज्ञानको, सहसा = अतर्कित रूपसे, अवसर = हटाइए॥

यहाँ संस्कृत और महाराष्ट्री भाषाका श्लेष है, अतः यह भाषाश्लेषका उदाहरण है।

पुनस्त्रिधेति। शब्दश्लेष फिर सभङ्गश्लेष, अभङ्गश्लेष और उभयात्मक अर्थात् सभङ्गाऽभङ्गश्लेष इस प्रकार तीन प्रकार का होता है॥ १२॥

इन तीन भेदोंको पहले कहे गये आठ भेदोंमें अन्तर्भूत जानना चाहिए।

यथा वा—

'येन ध्वस्तमनोभवेन बलिजित्कायः पुरा स्त्रीकृतो
यश्चोद्वृत्तभुजङ्गहारवलयो गङ्गां च योऽधारयत्।
यस्याहुः शशिमच्छिरोहर इति स्तुत्यं च नामामराः
पायात्स स्वयमन्धकक्षयकरस्त्वां सर्वदोमाधवः ॥'

एकत्रैव सभङ्गाऽभङ्गतद्द्वितयान्युदाहरति—येनेति। कस्यचित् हरिहर-परकं पद्यमिदम्। हरिपक्षे—अभवेन = जन्मरहितेन, येन = भगवता हरिणा, अनः = शकटं, "क्लीबेऽनः शकटोऽस्त्री स्यात्" इत्यमरः। शकटरूपधारी सुर-विरोधीति भावः। ध्वस्तं = पादेन परावर्तितं, ध्वस्तमिति भावः। बलिजित्कायः= बलिजितः (बलिजेतुः, उपेन्द्रस्येति भावः) कायः (शरीरम्), पुरा = पूर्वकाले, अमृतपरिवेषणसमय इति भावः। स्त्रीकृतः = मोहिनीरूपे परिणमितः। यश्च = हरिः, उद्वृत्तभुजङ्गहा = उद्वृत्तः (दुर्वृत्तः) यो भुजङ्गः (सर्पः, कालियः इति भावः) तं हन्ति (दण्डयति) इति। आरबलयः = आरम् (अरिसम्बन्धि, अरीणाम् इदमिति, "तस्येदम्" इत्यण्) बलं (सैन्यम्), तद् नाशयितुं याति (गच्छति) इति। यः अगं = पर्वतं, गोवर्द्धनमिति भावः। गां च = पृथिवीं च, "गौरिला कुम्भिनी क्षमे"ति कोशः, अधारयत् = धृतवान्, कृष्णरूपेण कूर्मरूपेणेति भावः। अमराः = देवाः, यस्य =हरेः, शशिमच्छिरोहरः=शशिमथः (चन्द्रपीडकस्य, शशिनं मथ्नातीति शशिमत्, राहुः, तस्य) शिरः (मस्तकम्) हरतीति (छिनत्तीति) शशिमच्छिरोहरः, इति, स्तुत्यं = स्तोतुं योग्यं, नाम = अभिधानम्, आहुः = कथयन्ति। पुरा समुद्रमथनानन्तरममृतप्राप्तौ, विवदमानानां सुराऽसुराणां पुरो मोहिनीरूपेण हरिणा सुराऽसुराः पङ्क्तिद्वये विभक्तास्तत्र च च्छलेन सुरपङ्क्तावुपविष्टस्य राहोः शिरः सुदर्शनचक्रेण छिन्नमिति पौराणिका कथाऽनुसन्धेया। स्वयम् = आत्मनैव, अन्धकक्षयकरः = अन्धकानां (यदुवंशोत्पन्नानां

अथ वा—येनेति। यह पद्य हरि और हर दोनोंमे श्लिष्ट है। हरिपक्षमे जैसे— अभवेन = जन्मसे रहित, येन = जिसने, अर्थात् भगवान् श्रीकृष्णने, अनः = शकट, अर्थात् शकटासुरको, ध्वस्त किया। जिन्होने बलिजित्कायः=बलिको जीतनेवाले वामनका शरीर, पहले, स्त्रीकृतः = मोहिनीरूपसे स्त्री बना डाला। जो, उद्वृत्तभुजङ्गहा = दुश्चरित्र भुजङ्ग (कालिय) को दण्ड देने वाले, आरवलयः = आर (शत्रुसम्बन्धी) बल (सैन्य) के पास यः (जानेवाले), जिसने अगं = पर्वत (गोवर्धन) को और गां च = पृथिवी को भी अधारयत् = धारण किया। देवताओंने जिसका "शशिमच्छिरोहरः" शशिमथ् (चन्द्रमाको मथन करनेवाले) राहुके शिरको हरण करने वाला ऐसा स्तुत्य नाम कहा है। अन्धकक्षयकरः =

अत्र 'येन–' इत्यादौ सभङ्गश्लेषः। 'अन्धक–' इत्यादावभङ्गः। अनयोश्चैकत्र सम्भवात्सभङ्गाभङ्गात्मको ग्रन्थगौरवभयात्पृथङ्‌ नोदाहृतः।

क्षत्रियाणाम्) क्षयं (नाशम्) करोतीति। तादृशः सर्वदः = सकलाऽभीष्टदायकः, सर्वं ददातीति, "आतोऽनुपसर्गे क" इति कप्रत्ययः। स माधवः = हरिः, मायाः (लक्ष्म्याः) धवः (पतिः), "इन्दिरा लोकमाता मा" "धवः प्रियः पतिर्भर्त्ता" "केशवो माधवः स्वभूः" इति त्रिष्वप्यमरः। त्वां, पायात् = रक्ष्यात्।

हरपक्षे—ध्वस्तमनोभवेन = विनाशितकामेन, ध्वस्तो मनोभवः (कामः) येन, तेन। पुरा = पूर्वकाले, त्रिपुराऽसुरसंहारसमये, बलिजित्कायः = हरिशरीरम्, अस्त्रीकृतः = आयुधीकृतः, शरीकृत इति भावः। यश्च = हरः, उद्वृत्तेत्यादिः = उद्वृत्ताः (उद्वर्तुलाकाराः) भुजङ्गाः (सर्पाः) एव हाराः (मुक्तामालाः) वलयाः (कङ्कणाः) यस्य सः। यः = हरः, गङ्गां च = भागीरथीं च, अधारयत्=धृतवान्, शिरसीति शेषः। अमराः = देवाः, यस्य = हरस्य, शशीत्यादिः० = शशिमच्छिराः (चन्द्रशेखरः) स चाऽसौ हरः, इति, स्तुत्यं=स्तुतियोग्यं, नाम=अभिधानम्, आहुः = कथयन्ति। अन्धकक्षयकरः=अन्धकस्य (असुरविशेषस्य) क्षयं (नाशम्) करोतीति, तादृशः सः = श्रुतिस्मृतिपुराणप्रसिद्धः, उमाधवः = पार्वतीपतिः, शङ्करः, त्वां, सर्वदा = सदा, पायात् = रक्ष्यात्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

विवृणोति—अत्रेति। अत्र=अस्मिन् पद्ये। सम्प्रति सभङ्ग एव शब्दश्लेषविषयः,

अन्धक अर्थात् यादवोंका क्षय करनेवाले, सर्वदः = सकल अभीष्ट देनेवाले, माधवः मा (लक्ष्मी) के धव (पति) केशव तुम्हारी रक्षा करें।

हरपक्षमें जैसे–ध्वस्तमनोभवेन = मनोभव (कामदेव)को ध्वस्त करनेवाले जिसने, पहले बलिडित्कायः = बलिको जीतनेवाले वामनका शरीर, अस्त्रीकृतः=अस्त्र बना डाला, त्रिपुराऽसुरके संहारके लिए महादेवने विष्णुके शरीरको बाणरूप अस्त्र बना डाला यह अभिप्राय है। जिसने उद्धृत्तभुजङ्गहारवलयः=उद्धृत्त (लपेटे गये) सर्पको हार और वलय (कङ्कण) बनाया है। जिसने गङ्गां = गङ्गाजीको धारण किया है। जिसके शिरको देवता शशिमत् = शशी अर्थात् चन्द्रमासे युक्त और "हर" ऐसा स्तुत्य नाम कहते हैं, अन्धकक्षयकरः = अन्धकाऽसुरका क्षय करनेवाले, उमाधवः = उमा (पार्वती)के धव (पति) अर्थात् महादेव आपको सर्वदा = सदा रक्षा करें।

अत्रेति। इस पद्यमें "ध्वस्तमनोभवेन" इत्यादिमें सभङ्ग श्लेष, और "अन्धकक्षयकरः" इत्यादिमें अभङ्ग श्लेष है, इन दोनोंका एक ही पद्यमें स्थिति होनेसे "सभङ्गाऽभङ्ग" श्लेषका उदाहरण ग्रन्थगौरवके भयसे पृथक् रूपसे नहीं दिया है।

ः—'सभङ्गश्लेष एव शब्दश्लेषविषयः। यत्रोदात्तादिस्वरभेदाद्भिन्नप्रयत्नोच्चार्यत्वेन भिन्नयोः शब्दयोर्जतुकाष्ठन्यायेन श्लेषः। अभङ्गस्त्वर्थश्लेष एव। यत्र स्वराभेदादभिन्नप्रयत्नोच्चार्यतया शब्दाभेदादर्थयोरेकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन श्लेषः। यो हि यदाश्रितः स तदलङ्कार एव। अलङ्कार्यालङ्करणभावस्य लोकवदाश्रयाश्रयिभावेनोपपत्तिः' इति।

अभङ्गस्त्वर्थश्लेषविषय इति स्वीकुर्वतां पक्षमनूद्य दूषयितुमुपक्रमते—**इहेति**। इह = अत्र, श्लेषविषये, केचित् = वामनादय आचार्याः, आहुः=कथयन्ति। "येन" इत्यादौ, अत्रादिपदेन "उद्वृत्ते"त्यादीनां परिग्रहः "अन्धक" इत्यादौ, अत्रादिपदेन "शशिमच्छिरोहर" इत्यस्य परिग्रहः। अनयोः = सभङ्गाऽभङ्गयोः। सभङ्गश्लेषः=सभङ्गः (वर्णसमूहेषु भङ्गेन युतः) श्लेषः, एव शब्दश्लेषविषयः। यत्र = यस्मिन् सभङ्गश्लेषे, उदात्तादिस्वरभेदात् = आदिपदेनाऽनुदात्तसमाहारयोः काकुभेदस्य च ग्रहणम्। "उच्चैरुदात्तः" "नीचैरनुदात्तः" "समाहारः स्वरितः"। भिन्नप्रयत्नोच्चार्यत्वेन = भिन्नप्रयत्नेन (भिन्नप्रयासेन) उच्चार्यत्वेन (उच्चारणीयत्वेन) भिन्नयोः (भेदयुक्तयोः) शब्दयोः (पदयोः), जतुकाष्ठन्यायेन=लाक्षातत्संयुक्तदारुसादृश्येन, श्लेषः। यथा जतु काष्ठं च भिन्नौ पदार्थौ, संयोगवशात्तयोरैक्यं प्रतीयते। तथा भिन्नयोः शब्दयोरेकत्र वर्णसमूहे सन्निवेशः। अयं शब्दश्लेषः। अभङ्गस्तु=अभङ्गश्लेषस्तु, अर्थश्लेष एव। यत्र=अभङ्गश्लेषे, स्वराऽभेदात्=समासाऽभेदेनोदात्तादिस्वरभेदाऽभावादिति भावः। अभिन्नप्रयत्नोच्चार्यत्वेन = अभिन्नप्रयत्नोच्चारणीयत्वेन, शब्दाऽभेदात्, अर्थयोः = वाच्ययोः, एकवृन्तगतफलद्वयन्यायेन = एकस्मिन् वृन्ते (प्रसवबन्धने) फलद्वयन्यायेन श्लेषः। यथैकस्मिन्नेव वृन्ते फलद्वयं तथैकस्मिन्नेव शब्दे अर्थद्वयसंसर्गोऽर्थश्लेषः। सिद्धान्तमेनमुपपादयति—**यो हीति**। यथा हस्ताश्रितो वलयो हस्ताऽलङ्कारः, पादाश्रितो नूपुरः

अत्र केचिदिति। यहां कोई विद्वान् कहते हैं—सभङ्गश्लेष ही शब्दश्लेषका विषय है, जहां उदात्त आदि स्वरोंके भेदसे भिन्न प्रयत्नसे उच्चारण किये जानेसे भिन्न दो शब्दोंका जतुकाष्ठन्यायसे अर्थात् लाक्षा (लाख) और उससे संयुक्त काष्ठके न्यायसे श्लेष होता है। अर्थात् जैसे लाख और काष्ठ भिन्न पदार्थ हैं, परन्तु संयोग होकर उनकी एकता प्रतीत होती है। इसके विपरीत अभङ्गश्लेष तो अर्थश्लेष ही है। जिस अभङ्गश्लेषमें दोनों पक्षोंमें स्वरके अभेदसे अभिन्न प्रयत्नसे उच्चारणीय होनेसे शब्दभेद न होनेसे दो अर्थोंका एक वृन्तगतफलद्वयन्यायेन=अर्थात् एक ही वृन्त (प्रसवबन्धन) पर जैसे दो फल होते हैं उसी तरहसे एक ही शब्दमें दो अर्थोंका संसर्ग होनेसे अर्थश्लेष हो जाता है। जो जिसमें आश्रित है वह उसका ही अलङ्कार होता है जैसे कि हाथमें रहा हुआ कङ्कण आदि हस्ताऽलङ्कार, चरणोंमें रहा हुआ अलङ्कार चरणालङ्कार कहा जाता है। इसी तरह अलङ्कार्य अर्थात्

तदन्ये न क्षमन्ते। तथाहि—अत्र ध्वनि-गुणीभूत व्यङ्ग्य-दोष-गुणालङ्काराणां शब्दार्थगतत्वेन व्यवस्थितेरन्वयव्यतिरेकानुविधायित्वेन नियम इति।

न च 'अन्धकक्षय-' इत्यादौ शब्दाभेदः, 'अर्थभेदेन शब्दभेदः' इति दर्शनात्। किं चात्र शब्दस्यैव मुख्यतया वैचित्र्यबोधोपायत्वेन कविप्रतिभयोट्टङ्कना-

पादाऽलङ्कारस्तथैव—शब्दाश्रितोऽलङ्कारः शब्दाऽलङ्कारः, अर्थाश्रितोऽलङ्कारोऽर्थाऽलङ्कार इति भावः। निगमयति—अलङ्कार्याऽलङ्करणभावस्य = भूष्यभूषणभावस्य, लोकवत्=लोकाऽलङ्कारवत्, आश्रयाश्रयिभावेन=आधाराधेयत्वेन, उपपत्तिः=युक्तिः।

पूर्वोक्तमलङ्कारसर्वस्वकारमतं दूषयितुं काव्यप्रकाशकारादिमतमुपस्थापयति—**तदन्य इति।** तत् = समङ्गश्लेषः शब्दाऽलङ्कारः, अभङ्गश्लेषस्त्वर्थाऽलङ्कार इति मतमिति भावः। तदन्ये = तेभ्योऽन्ये=काव्यप्रकाशकारादयः, न क्षमन्ते=न मृष्यन्ति।

काव्यप्रकाशकारादिमतमुपपादयति—**तथा हीति।** अत्र = अलङ्कारशास्त्रे, ध्वनीत्यादिः० = ध्वनि-गुणीभूतव्यङ्ग्ययोर्दोष-गुणाऽलङ्काराणां च, शब्दार्थगतत्वेन= शब्दगतत्वेनाऽर्थगतत्वेन च। व्यवस्थितेः = व्यवस्थायाः, अन्वयव्यतिरेकाऽनुविधायित्वेन = तत्सत्त्वे तत्सत्त्वमन्वयः, तदभावे तदभाव इति व्यतिरेकः, तयोरनुविधायित्वेन = अनुसारित्वेन, नियमः = नियमनम्।

तन्मतेनाऽभङ्गश्लेषस्याऽर्थालङ्कारत्वं निरस्यति—**न चेति।** "अन्धकक्षय" इत्यादौ न शब्दाऽभेदः, यतः—"अर्थभेदेन शब्दभेद" इति दर्शनात्, एकपक्षे—अन्धकस्य = यादवस्य, अपरपक्षे—दैत्यविशेषस्य इत्यर्थभेदेन शब्दभेदः, अतोऽत्र न शब्दाऽभेदो येन तत्राऽर्थाऽलङ्कारत्वं प्रसज्येत।

अभङ्गश्लेषस्य अन्वयव्याप्त्या शब्दाऽलङ्कारत्वमुपपादयति—**किं चेति।** किं च = एवं च, अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, शब्दस्य = पदस्य, एव, मुख्यतया = प्रधानत्वेन, वैचित्र्यबोधोपायत्वेन = वैचित्र्यं (विचित्रता, लोकोत्तरविच्छित्तिरलङ्काररूपा) तद्बोधोपायत्वेन (तज्ज्ञानसाधनत्वेन), कविप्रतिभया = कवेः

अलङ्कारका विषय (स्थान) और अलङ्कारके भावकी लोकके समान आधार और आधेयके भावसे उपपत्ति होती है।

इस सिद्धान्तको अर्थात् समङ्गश्लेष शब्दाऽलङ्कार है और अभङ्गश्लेष अर्थाऽलङ्कार है, और विद्वान् (काव्यप्रकाशकार आदि) सहन नहीं करते हैं।

तथा हीति। इस अलङ्कारशास्त्रमें "ध्वनि, गुणीभूत-व्यङ्ग्य, दोष, गुण" और अलङ्कार इनका शब्दगत और अर्थगत इस व्यवस्थाका अन्वय और व्यतिरेकव्याप्तिके अनुसार नियम होता है। अर्थभेदसे शब्दभेद होता है इस नियमको देखनेसे "अन्धकक्षय" इत्यादिमें शब्दका अभेद नहीं है। क्योंकि एक पक्षमें अन्धक-

च्छब्दालङ्कारत्वमेव। विसदृशशब्दद्वयस्य बन्धे चैवंविधस्य वैचित्र्याभावाद्, वैचित्र्यस्यैव चालङ्कारत्वात्। अर्थमुखप्रेक्षितया चार्थालङ्कारत्वेऽनुप्रासादीनामपि रसादिपरत्वेनार्थमुखप्रेक्षितयाऽर्थालङ्कारत्वप्रसङ्गः। शब्दस्याभिन्नप्रयत्नोच्चार्यत्वेनार्थालङ्कारत्वे 'प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ' इत्यादौ शब्दभेदेऽप्यर्थालङ्कारत्वं

(काव्यकर्तुः) प्रतिभया (नवनवोन्मेषशालिन्या प्रज्ञया) उट्टङ्कनात् = उल्लेखनात्, शब्दाऽलङ्कारत्वमेव। अन्धकेत्यादिशब्दसत्त्वेऽलङ्कारत्वादन्वयव्याप्त्या शब्दाऽलङ्कारत्वमिति भावः।

व्यतिरेकव्याप्त्याऽस्य शब्दाऽलङ्कारत्वमुपपादयति—**विसदृशेति**। विसदृशशब्दद्वयस्य = असमानपदद्वितयस्य, भिन्नरूपपदद्वयस्येति भावः। बन्धे = गुम्फे, यथा "अन्धकक्षयकर" इत्यत्र "यादवक्षयकर" इति भिन्नरूपपदस्य च गुम्फे इति भावः। एवंविधस्य = एतादृशस्य, "अन्धकक्षय" इत्यादिसमानशब्दद्वयगुम्फस्येति भावः, वैचित्र्याऽभावात् = विचित्रतायाः (लोकोत्तरविच्छित्तेः) अभावात्, वैचित्र्यस्यैव= लोकोत्तरविच्छित्तेरेव, अलङ्कारत्वात् = अलङ्कारत्वनियामकत्वात्।

ननु सभङ्गश्लेषस्थलेऽर्थनिरपेक्षतया शब्दसंयोजनादेव शब्दाऽलङ्कारत्वं भवतु अभङ्गश्लेषस्थले तु अर्थमुखप्रेक्षितयाऽर्थालङ्कारत्वमास्तामित्यत्राह—**अर्थमुखप्रेक्षितयेति**। अर्थमुखप्रेक्षितया = अर्थाऽनुसन्धानाऽपेक्षितयेति भावः। अभङ्गश्लेषस्याऽर्थालङ्कारत्वे, स्वीकृते सतीति शेषः। अनुप्रासादीनामपि = त्वन्मतेऽपि शब्दाऽलङ्काररूपेण स्वीकृतानामनुप्रासादीनां "रसाद्यनुगतत्वेन प्रकर्षेण न्यासः" इति व्युत्पत्तेः, रसादिपरत्वेन = रसाद्युत्कर्षाऽभिप्रायप्रयोज्यत्वेन, अर्थाऽलङ्कारत्वप्रसङ्गः, परं भवन्मतेऽप्यनुप्रासादीनां शब्दाऽलङ्कारत्वमेवाऽत इयमुक्तिर्न विचारसहेति भावः।

शब्दस्याऽभिन्नप्रयत्नोच्चार्यत्वेनाऽर्थाऽलङ्कारत्वाऽभ्युपगमे दोषं प्रदर्शयति—**शब्दस्येति**। "प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ" इत्यादौ विधावित्यत्र समासाभावेन शब्दभेदेऽपि = विधिविधुशब्दयोर्भिन्नत्वादभिन्नप्रयत्नोच्चार्यतया तव मतेऽपि उभयत्र= "अन्धकक्षय" इत्यादौ च "विधौ" इत्यादौ च अर्थाऽलङ्कारत्वमेव।

का अर्थ यादव है और दूसरे पक्षमें दैत्यविशेष हैं, इस कारणसे यहां शब्दका अभेद नहीं है, जिससे कि उसे अर्थाऽलङ्कार माना जाय।

और भी—यहां शब्दका ही मुख्य रूपसे विचित्रताके ज्ञानका उपाय होकर कविप्रतिभासे उल्लेख करनेसे यह अभङ्गश्लेष शब्दाऽलङ्कार ही है। भिन्नरूपवाले दो पदोंकी रचनामें ऐसा वैचित्र्य नहीं होता है, वैचित्र्य ही अलंकार है। अर्थाऽनुसन्धानकी अपेक्षा करनेसे अर्थाऽलङ्कार मानेंगे तो अनुप्रास आदि भी रसादिके उत्कर्षमें तत्पर होकर अर्थाऽनुसन्धानकी अपेक्षा करते हैं तो वे भी अर्थाऽलङ्कार हो जायंगे। शब्दका अभिन्न प्रयत्नसे उच्चारण होने से अर्थाऽलङ्कार माने तो "प्रतिकूलतामुपगते हि विधौ" इत्यादिमें विधि और विधुका शब्दभेद होनेपर भी अभिन्न प्रयत्नसे

तवापि प्रसज्ज्यत इत्युभयत्रापि शब्दालङ्कारत्वमेव। यत्र तु शब्दपरिवर्त्तनेऽपि न श्लेषत्वखण्डना, तत्र—

'स्तोकेनोन्नतिमायाति स्तोकेनायात्यधोगतिम्।
अहो! सुसदृशी वृत्तिस्तुलाकोटेः खलस्य च॥'

इत्यादावर्थश्लेषः। अस्य चालङ्कारान्तरविविक्तविषयताया असम्भवाद्विद्यमानेष्वलंकारान्तरेष्वपवादत्वेन तद्बाधकतया तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वमिति केचित्।

यद्येवं तर्हि क्व पुनरर्थश्लेष इत्याह—**यत्र त्विति**। यत्र तु = यस्मिन् स्थले तु। शब्दपरिवर्तनेऽपि = पदपरिवर्तनेऽपि, न श्लेषत्वखण्डना = न श्लेषत्वभङ्गः, तत्र = तादृशे स्थले, यथा—**स्तोकेनेति**। तुलाकोटिः = तुलायाः (सुवर्णादिमानतुलायाः) कोटिः (अग्रभागः), खलश्च = दुर्जनश्च, स्तोकेन = अल्पेन, तुलाकोटिपक्षे भारेणेति शेषः। खलपक्षे—संमानेनेति शेषः। उन्नतिम् = तुलाकोटिपक्षे—उन्नमनं, खलपक्षे—अभ्युदयम्, आयाति = आगच्छति। तथा—स्तोकेन = अल्पभाराऽभावेन, अधोगतिम् = तुलाकोटिपक्षे—अवनमनम्, खलपक्षे—स्तोकेन असंमानेनेति शेषः, अधोगतिम् = अवनमनं, आयाति = आगच्छति तुलाकोटेः खलस्य च। सुसदृशी=अतिशयतुल्या, वृत्तिः=वर्तनम्, अवस्थेति, भावः। अनुष्टुब् वृत्तम्। इत्यादावर्थश्लेषः। अयमत्र विवेकः—शब्दपरिवृत्त्यसहत्वं शब्दश्लेषत्वं, शब्दपरिवृत्तिसहत्वमर्थश्लेषत्वम्, अयं सिद्धान्तिपक्षः।

पूर्वपक्षस्तु—सभङ्गश्लेषः शब्दश्लेषः, अभङ्गश्लेषः अर्थश्लेष इति। साम्प्रतं श्लेषस्याऽलङ्कारान्तरविविक्तविषयत्वमुपपादयितुं परमतं निराकर्तुमुपक्रमते—**अस्य चेति**। अस्य = श्लेषस्य, अलङ्कारान्तरेत्यादिः० = अलङ्काराऽन्तरात् (अन्यस्मादलङ्कारात्) विविक्तविषयतायाः (पृथग्विषयतायाः), असंभवात् = असत्त्वात्, अन्याऽलङ्कारस्थल एवाऽस्य संभवात्, यत्र यत्र श्लेषस्तत्र तत्राऽन्यस्याऽपि कस्यचिदलङ्कारस्य सत्त्वादिति भावः। विद्यमानेषु = वर्तमानेषु, अलङ्कारान्तरेषु= अन्येष्वलङ्कारेषु, अपवादत्वेन = विशेषरूपत्वेन, तद्बाधकतया = तेषाम् (अलङ्-

---

उच्चारण होनेसे आपके मतमें भी अर्थाऽलङ्कार मानना पड़ेगा इस कारणसे "अन्धक" इत्यादि स्थल और "विधौ" इन दोनों स्थलोंमें शब्दालङ्कारत्व ही है।

जहां शब्दपरिवर्तन करनेपर भी श्लेषत्वका भङ्ग नहीं होता है वहां **स्तोकेनेति**। "थोड़े से ही ऊंचा होता है और थोड़े से ही नीचे चला जाता है, आश्चर्य है तराजूकी डाण्डीकी और खल (दुर्जन)की समान वृत्ति है।" इत्यादिमें अर्थश्लेष है।

अस्य चेति। यह श्लेष अलङ्कार, दूसरे अलङ्कारसे अलग होकर नहीं रह सकता है, अन्य अलङ्कारोंके रहनेपर भी अपवादरूपसे उनका बाधक होकर उस

इत्थमत्र विचार्यते—समासोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसादौ द्वितीयार्थस्यानभिधेयतया नास्य गन्धोऽपि। 'विद्वन्मानसहंस–' इत्यादौ श्लेषगर्भे रूपकेऽपि मानसशब्दस्य चित्तसरोरूपोभयार्थत्वेऽपि रूपकेण श्लेषो बाध्यते। सरोरूपस्यैवार्थस्य विश्रान्तिधामतया प्राधान्यात्, श्लेषे ह्यर्थद्वयस्यापि समकक्षत्वम्।'

कारान्तराणाम्) बाधकतया (बाधकतृत्वेन हेतुना), तत्प्रतिभोत्पत्तिहेतुत्वं = तस्य (अलङ्कारान्तरस्य) या प्रतिभा (प्रतीतिः) तदुत्पत्तिहेतुत्वम् (तज्जननकारणत्वम्) इति केचित् = वामनादयः। वामनमतं खण्डयितुं समासोक्त्यादेः श्लेषाबाध्यत्वमुपपादयति—**इत्थमिति**। अत्र = वामनमते, अलङ्कारान्तराणां श्लेषबाध्यत्वरूप इति भावः। इत्थम् = वक्ष्यमाणप्रकारं, विचार्यते। समासोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसादौ=समासोक्तौ अप्रस्तुतप्रशंसादौ च, प्रस्तुतेऽप्रस्तुतव्यञ्जनं समासोक्तिः; अप्रस्तुतात् प्रस्तुताऽर्थव्यञ्जनमप्रस्तुतप्रशंसा, तदादावलङ्कारे, द्वितीयाऽर्थस्य=व्यङ्ग्यरूपस्य, अनभिधेयतया = अभिधावृत्याऽप्रतिपाद्यतया, अवाच्यत्वेनेति भावः। अस्य = श्लेषस्य, गन्धोऽपि न = लेशोऽपि न, श्लेषस्याऽर्थद्वयस्यैव वाच्यत्वनियमादिति भावः।

"गन्धो गन्धक आमोदे लेशे सम्बन्धगर्वयोः" इति विश्वः। इत्थं च समासोक्त्यप्रस्तुतप्रशंसादौ व्यञ्जनाप्रतिपाद्याऽलङ्कारे, श्लेषस्य न प्रसक्तिरिति भावः।

श्लिष्टपरम्परितरूपकेऽपि न श्लेषाऽलङ्कारसंभव इति प्रतिपादयति—**विद्वन्मानसहंसेति**[1]। कश्चित्कविः कंचिद्राजानमाशीर्वाक्येन सभाजयति, हे विद्वन्मानसहंस = विदुषां (पण्डितानाम्) मानसम् (चित्तम्) एव मानसं (मानस-सरोवरः) तस्मिन् हंस (मरालस्वरूप), इत्यादौ श्लेषगर्भे = श्लेषाऽभ्यन्तरे, रूपकेऽपि, मानसशब्दस्य, चित्तसरोरूपोभयाऽर्थत्वेऽपि = "मानसं स्वान्तसरसो" रिति कोषाऽनुशासनादिति भावः। रूपकेण श्लेषो बाध्यते = श्लेषव्यपदेशं निरस्यात्मना व्यपदेशः कार्यत इति भावः। तत्र हेतुं प्रदर्शयति—**सरोरूपस्येति**। सरोरूपस्यै-

अलङ्कारकी प्रतीति कराता है ऐसा कतिपय आलङ्कारिक (वामन आदि) कहते हैं।

यहां यह विचार किया जाता है—समासोक्ति और अप्रस्तुतप्रशंसा आदिमें दूसरा अर्थ वाच्य न होनेसे, अर्थात् व्यङ्ग्य होने से, श्लेषका गन्ध भी नहीं है। "विद्वन्मानसगर्भ०" इत्यादि श्लेषगर्भ रूपकमें भी "मानस" शब्दमें "चित्त" और "सरोवर" ये दो अर्थ हैं तो भी वहां रूपकसे श्लेष बाधित होता है, क्योंकि

१. "विद्वन्मानसहंस! वैरिकमलासङ्कोचदीप्तद्युते!
दुर्गामार्गणनीललोहितसमित्स्वीकारवैश्वानर!
सत्यप्रीतिविधानदक्ष! विजयप्राग्भावभीम! प्रभो!
साम्राज्यं वरवीर! वत्सरशतं वैरिञ्चमुच्चैः क्रियाः॥" (काव्यप्रकाशः)।

'सन्निहितबालान्धकारा भास्वन्मूर्तिश्च' इत्यादौ विरोधाभासेऽपि विरुद्धार्थस्य प्रतिभातमात्रस्य प्ररोहाभावान्न श्लेषः। एवं पुनरुक्तवदाभासेऽपि।

तेन 'येन ध्वस्ते-'त्यादौ प्राकरणिकयोः, 'नीतानाम्-' इत्यादावप्राकरणिकयोरेकधर्माभिसंबन्धात्तुल्ययोगितायाम्,

---

वाऽर्थस्य, विश्रान्तिधामतया = विश्रामस्थानत्वेन, रूपकप्रतीतिपर्यवसानस्थानत्वेनेति भावः। प्राधान्यात् = प्रधानत्वात्। हि = यतः, श्लेषे, अर्थद्वयस्य = वाच्यद्वितयस्य, चित्तस्य सरोवरस्य. चेत्यर्थः समकक्षत्वं = तुल्यबलत्वं, परमत्र रूपकजन्यसरोरूपस्यैवाऽर्थस्य प्रधानत्वमतो रूपकेण श्लेषो बाध्यत इति भावः।

एवं विरोधाभासेऽपि न श्लेषस्य प्रसक्तिरिति प्रतिपादयति—**सन्निहितेति**। सन्निहितबालाऽन्धकारा = सन्निहितः (समीपस्थितः) बालः (क्षुद्रः, केशश्च) अन्धकारः (तिमिरम्) इव यस्याः सा। तथाऽपि भास्वन्मूर्तिश्च=भास्वतः (सूर्यस्य, कान्तिमतश्च) मूर्तिः (शरीरम्) यस्याः सा। इत्यादौ विरोधाभासेऽपि = सूर्यमूर्तावन्धकारसंनिधाने विरोधः, सन्निहितकेशाऽन्धकारा देदीप्यमानशरीरा चेति विरोधाऽभासः। तस्मिन्नपि, विरुद्धाऽर्थस्य = सूर्यसमीपे अन्धकारसन्निधानरूपस्य, प्रतिभातमात्रस्य = बुद्धावुपस्थितमात्रस्य, प्ररोहाऽभावात् = अङ्कुराऽभावात्, अयोग्यत्वेन शब्दाऽनुभवाऽभावात्, न श्लेषः = विरुद्धाऽर्थस्याऽसंभवात् प्ररोहाऽभावेनाऽनेकार्थस्याऽसद्भावादिति भावः।

पुनरुक्तवदाभासेऽपि श्लेषस्याऽप्रसक्तिं प्रतिपादयति—**एवमिति**। भुजङ्गकुण्डलीत्यादौ कुण्डलीत्यत्र सर्परूपाऽर्थस्य प्रतीतमात्रस्य, पुनरुक्तताज्ञानेन प्ररोहाऽभावात् पूर्ववन्न श्लेष इतिभावः।

यद्येवं तर्हि के श्लेषबाध्या इत्यपेक्षायामाह—**तेनेति**। तेन = कारणेन "येन ध्वस्तम्" इत्यादौ प्राकरणिकयोः = माधवोमाधवयोः, "एकधर्माऽभिसम्बन्धात् तुल्ययोगितायाम्" इत्यत्र सम्बन्धः। एकधर्माऽभिसम्बन्धात् = कर्तृत्वेन रक्षणरूप-

---

वहांपर सरोवररूप अर्थ ही विश्रामस्थान होनेसे प्रधान है चित्तरूप अर्थ प्रधान नहीं। श्लेषमें दोनों अर्थ समान रूपसे रहते हैं। "संनिहित०" इत्यादि विरोधाभासमें भी विरुद्धार्थ (सूर्यके समीपमें अन्धकारका संनिधानरूप) बुद्धिमें उपस्थितमात्र है उसका प्ररोह नहीं है अर्थात् उसका शब्दसे अनुभव नहीं होता, अतः वहां भी श्लेष नहीं है।

इसी तरह पुनरुक्तवदाभासमें भी जानना चाहिए।

इस कारणसे "येन ध्वस०" इत्यादिमें प्राकरणिक माधव (विष्णु) और उमाधव (महादेव) इन दोनोंका, और "नीतानाम्" इत्यादिमें अप्राकरणिक (कमल और मृग) इन दोनोंका,

'स्वेच्छोपजातविषयोऽपि न याति वक्तुं
देहीति मार्गणशतैश्च ददाति दुःखम्।
मोहात्समुत्क्षिपति जीवनमप्यकाण्डे
कष्टं प्रसूनविशिखः प्रभुरल्पबुद्धिः ॥'

क्रियाऽभिसम्बन्धात्, तथा "नीतानाम्"० इत्यादौ अप्राकरणिकयोः=पद्मभृगविशेषयोः, उपमानत्वेनाऽप्राकरणिकयोरिति भावः। एकधर्माऽभिसम्बन्धात् = सादृश्यरूपैकगुण-सम्बन्धात् तुल्ययोगितायां, "विद्यमानायाम्" इति परेण सम्बन्धः।

स्वेच्छोपजातेति। दुर्मते राज्ञः सेवकस्योक्तिरियम्। कामदेवे दुर्मतौ राज्ञि च पद्यमिदं संगच्छते-स्वेच्छेत्यादिः०=स्वेच्छया (निजेच्छया) उपजातः (सञ्जातः) विषयः (कामपक्षे—लक्ष्यम्) यस्य सः। तथापि—देही = शरीरी, इति, वक्तुं = कथयितुं योग्यतां, न याति = न प्राप्नोति। अनङ्गत्वादिति भावः। मार्गणशतैः = बाणसमूहैः मोहात् = मोहं विधाय, दुःखं = कष्टं, ददाति = वितरति, अकाण्डे = अनवसरे, जीवनं = जीवितम्, अपि, समुत्क्षिपति = विनाशयति, राजपक्षे— स्वेच्छोपजातः, विषयः (शब्दस्पर्शादिः) यस्य सः, परं देहि= वितर, इति, वक्तुं = प्रार्थनां कर्तुं न याति = न प्राप्नोति, मार्गणशतैश्च = याचनशतैश्च, दुःखं ददाति, मोहात् = अज्ञानात्, अकाण्डे = अनवसरे, जीवनमपि, समुत्क्षिपति, अतः प्रसूनविशिखः = कामः, अल्पबुद्धिः, प्रभुश्च, कष्टं = दुःखदायकः, वसन्ततिलका वृत्तम्।

एक धर्म ("येन ध्वस्त०" इत्यादि में—अन्धकक्षयकरत्व, और "नीतानाम्" इत्यादिमें (वनवृद्धत्व आदि) से युक्त होनेसे तुल्ययोगिता अलङ्कार होनेपर—

स्वेच्छोपजातेति। यह पद्य कामदेव और अल्पबुद्धि प्रभु (राजा) दोनोंमें लगता है। "कामपक्षमें—कामदेव अपनी इच्छासे विषय (लक्ष्य)को प्राप्त करता है परन्तु अनङ्ग होनेसे "यह देही (शरीरधारी) है ऐसा कहने का विषय नहीं होता है। सैकड़ो मार्गणों (बाणों) से प्रहार कर दुःख देता है। मोहको उत्पन्न कर अनवसरमें ही जीवन भी नष्ट कर देता है। कष्ट है।

अल्पबुद्धि प्रभु (राजा)के पक्षमें—"अल्पबुद्धि प्रभु (राजा) अपनी इच्छासे विषयों (शब्द स्पर्श आदियों)को प्राप्त करता है परन्तु देहि (दीजिए) इस प्रकारके प्रार्थना वचनको प्राप्त नहीं करता है। सैकड़ों याचनावचनोंसे दुःख देता है। इसी प्रकार मोह (अज्ञान अर्थात् अपराधविषयक भ्रम) से अनवसरमें ही जीवनको भी नष्ट कर देता है। कष्ट है।"

इत्यादौ च प्राकरणिकाप्राकरणिकयोरेकधर्माभिसन्बन्धाद् दीपके।
'सकलकलं पुरमेतज्जातं संप्रति सुधांशुबिम्बमिव'।

इत्यादौ चोपमायां विद्यमानायामपि श्लेषस्यैतद्विषयपरिहारेणासंभवाद्, एषां च श्लेषविषयपरिहारेणापि स्थितेरेतद्विषये श्लेषस्य प्राधान्येन चमत्कारित्वप्रतीतेश्च श्लेषेणैव व्यपदेशो भवितुं युक्तः, अन्यथा तद्व्यपदेशस्य सर्वथाभावप्रसङ्गाच्चेति।

इत्यादाविति। अत्र प्राकरणिकाऽप्राकरणिकयोः=प्राकरणिकस्य = प्रस्तुतस्य राज्ञः, अप्राकरणिकस्य = अप्रस्तुतस्य कामदेवस्य च, एकधर्माऽभिसम्बन्धात् = कष्टत्वरूपैकगुणाऽभिसम्बन्धात्, दीपके = तदाख्ये अलङ्कारे, "अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते (१०—४८) इति लक्षणाऽनुसारादिति भावः।

कश्चित्कविः कस्य चिद्राज्ञः पुरं वर्णयति—**सकलकलमिति।** हे राजन्!, तव, एतत् = इदं, पुरं = नगरं, सम्प्रति = इदानीं, सुधांऽशुबिम्बं = चन्द्रमण्डलम्, इव, सकलकलं = कलकलेन (कोलाहलेन) सहितं, सुधांऽशुबिम्बपक्षे—सकलाः (समस्ताः, षोडशसंख्यायुक्ताः) कलाः (षोडशभागाः) यस्य तत्, तादृशं जातं = सम्पन्नम्। आर्या वृत्तम्।

इत्यादाविति। श्लेषस्य, एतद्विषयपरिहारेण = तुल्ययोगितादिविषयपरित्यागेन, असंभवात् = स्थितेरसंभवात्, एषां च = तुल्ययोगितादीनां च, श्लेषविषयपरिहारेण अपि = श्लेषस्थलपरित्यागेन अपि, स्थितेः = समावेशात्, अतः एतद्विषये = तुल्ययोगितादीनां स्थले, श्लेषस्य, प्राधान्येन = प्रधानत्वेन, बहुविषयव्यापकत्वादिति भावः। चमत्कारित्वप्रतीतेश्च = चमत्कारजनकत्वेन ज्ञानाच्च। व्यपदेशः=श्लेषोऽलङ्कार इति व्यवहारः, भवितुं, युक्तः=उचितः। अन्यथा=एतद्विषये श्लेषाऽनङ्गीकारे, तद्व्यपदेशस्य = श्लेषव्यवहारस्य, सर्वथा = सर्वैः प्रकारैः, अभावप्रसङ्गाच्च = असत्त्वाऽवसराच्च। श्लेषस्य वैयर्थ्यापत्तेरिति भावः। इति पूर्वपक्षः।

इत्यादिमें प्राकरणिक (प्रस्तुत) राजा और अप्राकरणिक (अप्रस्तुत) कामदेवका कष्टत्वरूप एक धर्मसे युक्त होनेसे दीपक अलङ्कारमें,

सकलकलमिति। सकलकल (कोलाहलसे युक्त) यह शहर इस समय सकल-कल (संपूर्ण कलाओंसे युक्त) चन्द्रमण्डलके समान हो गया है। इत्यादिमें उपमाके रहनेपर भी श्लेप अलङ्कारका पूर्वोक्त तुल्ययोगिता आदि विषयके विना रहनेमें असंभव होनेसे परन्तु पूर्वोक्त तुल्ययोगिता आदिका श्लेष विषयको छोड़कर भी रहनेसे तुल्ययोगिता आदिके स्थलमें श्लेषकी प्रधानतासे चमत्कारिताकी प्रतीति होनेसे श्लेषसे ही व्यवहार होना उचित है। अन्यथा श्लेषके व्यवहारके सर्वथा अभावका अवसर होगा।"

अत्रोच्यते—न तावत्परमार्थतः श्लेषस्यालङ्कारान्तराविविक्तविषयता 'येन ध्वस्ते-' त्यादिना विविक्तविषयत्वात्। न चात्र तुल्ययोगिता, तस्याश्च द्वयोरप्यर्थयोर्वाच्यत्वनियमाभावात्। अत्र च माधवोमाधवयोरेकस्य वाच्यत्वनियमे परस्य व्यङ्ग्यत्वं स्यात्। किञ्च—तुल्ययोगितायामप्येकस्यैव धर्मस्यानेकधर्मि-

सिद्धान्तिमतमाह—**अत्रोच्यत इति**। अत्र = अस्मिन् विषये, उच्यते = अभिधीयते।

न तावदिति। तावत्, परमाऽर्थतः = वस्तुतः, श्लेषस्य, अलङ्कारान्तराऽविविक्तविषयता = अन्याऽलङ्काराऽभिन्नविषयता, न, अन्याऽलङ्काराणां यो विषयः श्लेषस्याऽपि स एव विषयो नेति भावः। "येन ध्वस्तम्" इत्यादिना विविक्तविषयत्वात् = भिन्नविषयत्वात्। **न चाऽत्रेति**। तस्याः=तुल्ययोगितायाः, द्वयोरपि= उभयोरपि, अर्थयोः=वाक्याऽर्थयोः, वाच्यत्वनियमाऽभावात्=एकस्य वाच्यत्वनियमात्, अन्यस्य चाऽवाच्यत्वनियमादिति भावः। ततश्च "येन ध्वस्तम्" इत्यादौ द्वयोरप्यर्थयोर्वाच्यत्वादेव श्लेष एवेति तात्पर्यम्।

अत्रेति। अत्र = "येन ध्वस्तम्" इत्यादौ। परस्य = अन्यस्य। व्यङ्ग्यत्वं = व्यञ्जनाप्रतिपाद्यत्वं, स्यात्, परमत्रोभयोरपि पदार्थयोर्वाच्यत्वमेव। अतश्च "येन ध्वस्तम्" इत्यादौ नैव तुल्ययोगिता, केवलः श्लेष एवेति भावः।

अनुपपत्त्यन्तरमाह—**किं चेति**। धर्मस्य = गुणक्रियाऽन्यतररूपस्य, अनेकधर्मिसम्बद्धतया = अनेकाश्रयसम्बन्धयुक्तत्वेन, प्रतीतिः = ज्ञानम्।
यथा'—'संचारपूतानि दिगन्तराणि कृत्वा दिनाऽन्ते निलयाय गन्तुम्।
प्रचक्रमे पल्लवरागताम्रा प्रभा पतङ्गस्य मुनेश्च धेनुः ॥" (रघु० २-१५)

इत्यत्र तुल्ययोगितायामेकस्यैव निलयगमनोपक्रमक्रियारूपधर्मस्य नन्दिनीप्रभयोर्धर्मिणोः सम्बद्धतया प्रतीतिः। इह तु="येन ध्वस्तम्" इत्यादौ तु। शिवरूपधर्मिणो ध्वस्तमनोभवत्वरूपधर्मेण, बालककृष्णरूपधर्मिणो ध्वस्तशकटत्वरूपधर्मेण, योद्धृहररूपधर्मिणोऽस्त्रीकरणरूपधर्मेण, नारायणरूपधर्मिणः स्त्रीकरणरूपधर्मेण,

इसका खण्डन करते हैं। इसमें कहा जाता है—वास्तवमें श्लेष अन्य अलङ्कारसे अलग होकर नहीं रहता है यह ठीक नहीं है, क्योंकि "येन ध्वस्त०" इत्यादि पद्यमें यह अन्य अलङ्कारसे अलग होकर रहा है। यहाँ तुल्ययोगिता भी नहीं है, तुल्ययोगितामें दोनों वाक्यार्थोंमें वाच्यत्वनियम नहीं है। यहाँ (येन ध्वस्त-इत्यादिमें) माधव और उमाधव (महादेव) इनमें एकका वाच्यत्वनियम होनेपर दूसरेका व्यङ्ग्यत्व होगा। अतः यहाँपर श्लेष अलङ्कार ही है।

किं चेति। इसी तरह तुल्ययोगितामें भी एक ही धर्म अनेक धर्मियोंसे सम्बद्ध

संबन्धितया प्रतीतिः। इह त्वनेकेषां धर्मिणां पृथक्पृथग्धर्मसंबन्धतया। 'सकलकलम्-' इत्यादौ च नोपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः श्लेषः। पूर्णोपमाया निर्विषयत्वापत्तेः। 'कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्' इत्याद्यस्ति पूर्णोपमाया विषय इति चेत्? न, यदि 'सकले'त्यादौ शब्दश्लेषतया नोपमा, तत्किमपराद्धं 'मनोज्ञम्' इत्यादावर्थश्लेषेण।

'स्फुटमर्थालङ्कारावेतावुपमासमुच्चयौ, किन्तु।
आश्रित्य शब्दमात्रं सामान्यमिहापि संभवतः॥'

इत्यादिरूपेण अनेकेषां धर्मिणां, पृथक्पृथग्धर्मसम्बन्धतया = भिन्नभिन्नधर्मसम्बद्धतया प्रतीतिरिति शेषः। अतश्च "येन ध्वस्तम्" इत्यादौ नैव तुल्ययोगिता, किन्तु केवलः श्लेष एव इति भावः।

"स्वेच्छोपजातविषयोऽपि" इत्यादावपि इत्थमेवाऽनेकेषां धर्मिणाम् अनेकधर्मसम्बद्धत्वेन प्रतीतेर्न दीपकं किन्तु केवल श्लेष एव इति सूचितं भवति।

श्लेषेण पूर्णोपमाया बाध्यत्वं निरस्यति—**सकलकलमिति**। "सकलकलम्" इत्यादौ उपमाप्रतिभोत्पत्तिहेतुः = उपमायाः प्रतिभायाः (प्रतीतेः) उत्पत्तिहेतुः (उत्पत्तिकारणम्), श्लेषो न, अत्र हेतुमाह—पूर्णोपमायाः निर्विषयत्वापत्तेः, श्लेषं विना पूर्णोपमाया असंभवात्, श्लेषेण पूर्णोपमाया बाध्यत्वे स्वीकृते पूर्णोपमाया निर्विषयत्वं स्यादिति भावः।

कमलमिवेति। "कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्" इत्याद्यस्ति पूर्णोपमाया विषय इति चेन्न। **अपराद्धमिति**। शब्दश्लेषेणोपमा बाध्यते, अर्थश्लेषेण नेत्यत्र विनिगमनाऽभावात् "कमलमिवे"त्यादावपि अर्थश्लेषेण पूर्णोपमाया बाध्यत्वादुपमाया निर्विषयत्वं स्यादिति भावः।

स्वमते रुद्रटाचार्यस्यानुकूल्यं प्रदर्शयति—**स्फुटमिति**। एतौ उपमासमुच्चयौ= उभावलङ्कारौ, स्फुटं = स्पष्टम्, अर्थाऽलङ्कारौ, किन्तु = परन्तु, सामान्यम् = उभयगतसाधारणधर्मबोधकं, शब्दमात्रं = केवलं शब्दम्, आश्रित्य, इह = शब्दाऽलङ्कारमध्येऽपि सम्भवतः = प्रसजतः।

होकर प्रतीत होता है, यहां तो अनेक धर्मी पृथक् पृथक् धर्मसे सम्बद्ध होकर प्रतीत होते हैं। "सकलकलम्" इत्यादिमें उपमाकी प्रतीतिका उत्पत्तिकारण श्लेष नहीं है, ऐसा मानेंगे तो पूर्णोपमाका विषय ही नहीं रहेगा ऐसी आपत्ति है। यदि कहें "कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्" इत्यादि पूर्णोपमाका विषय है, यह भी ठीक नहीं। क्योंकि यदि "सकल०" इत्यादिमें शब्दश्लेष होनेसे उपमा नहीं है तो "मनोज्ञम्" इत्यादिमें अर्थश्लेषने क्या अपराध किया?

स्फुटमिति। ये उपमा और समुच्चय स्पष्टरूपसे अर्थाऽलङ्कार हैं, परन्तु उभयगत साधारण धर्मबोधक शब्दमात्रका आश्रय करके शब्दाऽलङ्कार भी हो सकते हैं।

इति रुद्रटोक्तदिशा गुणक्रियासाम्यवच्छब्दसाम्यस्याप्युपमाप्रयोजकत्वात्।

ननु गुणक्रियासाम्यस्यैवोपमाप्रयोजकता युक्ता, तत्र साधर्म्यस्य वास्तवत्वात्। शब्दसाम्यस्य तु न तथा, तत्र साधर्म्यस्यावास्तवत्वात्। ततश्च पूर्णोपमाया अन्यथानुपपत्त्या गुणक्रियासाम्यस्यैवार्थश्लेषविषयतया परित्यागे पूर्णोपमाविषयता युक्ता, न तु 'सकले'त्यादौ शब्दसाम्यस्यैवेति चेत्? न-'साधर्म्यमुपमा' इत्येवाविशिष्टस्योपमालक्षणस्य शब्दसाम्याद्व्यावृत्तेरभावात्।

इतीति। इति रुद्रटोक्तदिशा = काव्याऽलङ्कारस्थपद्यप्रकारेण। गुणक्रियासाम्यवत् = गुणसाम्यं "कमलमिव मुखं मनोज्ञमेतत्" इत्यादौ, क्रियासाम्यं = 'चन्द्र इव मुखं शोभते' इत्यादौ तद्वत्, शब्दसाम्यस्य = केवलशब्दरूपसाधारणधर्मस्य, अपि, उपमाप्रयोजकत्वात् = उपमाऽलङ्कारसाधकत्वात्, "कमलमिव" इत्यादिवत् '"सकलकलम्" इत्यादावपि पूर्णोपमैवेति शेषः।

शब्दसाम्यस्योपमाप्रयोजकतायामाशङ्कते—**नन्विति।** युक्ता = उचिता। तत्र = गुणक्रियासाम्यप्रयुक्तोपमायां, वास्तवत्वात् = यथार्थत्वात्। न तथा = नोपमाप्रयोजकता, साधर्म्यस्य = शब्दरूपसामान्यधर्मस्य, अवास्तवत्वात् = अयथार्थत्वात्, मिथ्याभूतत्वादिति भावः। ततश्च = पूर्वोक्तयुक्तेश्च। पूर्णोपमायाः अन्यथाऽनुपपत्तेः = प्रकारान्तरेणोपपत्त्यभावात् गुणक्रियासाम्यस्यैवेति = अर्थश्लेषविषयतया परित्यागे सति पूर्णोपमाविषयता युक्तेत्यन्वयः। ननु "सकलकलम्" इत्यादौ शब्दसाम्यस्य पूर्णोपमाविषयता युक्ता इति चेत्।

उक्तमतं निरस्यति—**नेति।** "साधर्म्यमुपमा" इत्येव अविशिष्टस्य=गुणक्रियासाम्य एवेति विशेषाऽनिर्दिष्टस्य। व्यावृत्तेः = व्यावर्तनस्य,

रुद्रटकी ऐसी उक्तिके अनुसार गुण और क्रियाके साम्यके समान शब्दका साम्य भी उपमाका प्रयोजक होता है।

आशङ्का करते है—गुण और क्रियाका साम्य ही उपमाका प्रयोजक होना उचित है, गुण और क्रियाके साम्यसे प्रयुक्त उपमामें साधर्म्य वास्तविक होता है। शब्दका साम्य उस प्रकारसे उपमाका प्रयोजक नहीं होता है, क्योंकि उसमे साधर्म्य अवास्तविक होता है।

ततश्चेति। शब्दसाम्यमात्र उपमाका प्रयोजक न होनेसे शब्दश्लेष और अर्थश्लेष दोनोंमें उपमाको न मानेंगे तो पूर्णोपमाकी उपपत्ति ही नहीं होगी अतः गुण और क्रियाके साम्यका ही अर्थश्लेषकी विषयतासे परित्याग करनेपर पूर्णोपमाकी विषयता उचित है, परन्तु "सकल०" इत्यादिमें शब्दसाम्यमें उपमा मानना ठीक नहीं है।

यदि च शब्दसाम्ये साधर्म्यमवास्तवत्वान्नोपमाप्रयोजकं, तदा कथं 'विद्वन्मानसे-' त्यादावाधारभूते चित्तादौ सरोवराद्यारोपो राजादेर्हंसाद्यारोपप्रयोजकः ?

किञ्च—यदि वास्तवसाम्य एवोपमाङ्गीकार्या, तदा कथं त्वयापि 'सकलकलम्—' इत्यादौ बाध्यभूतोपमाङ्गीक्रियते ? किञ्च अत्र श्लेषस्यैव साम्यनिर्वाहकता, न तु साम्यस्य श्लेषनिर्वाहकता, श्लेषबन्धतः प्रथमं साम्यस्यासंभवात्' इत्युपमाया एवाङ्गित्वेन व्यपदेशो ज्यायान् 'प्रधानेन हि व्यपदेशा भवन्ति' इति न्यायात्।

ननु शब्दालंकारविषयेऽङ्गाङ्गिभावसंकरो नाङ्गीक्रियते तत्कथमत्र श्लेषोपमयोरङ्गाङ्गिभावः संकर इति चेत् ?

यदि चेति। आधारभूते विषयरूपे।

पुनर्दूषणान्तरमाह—**किं चेति**। बाध्यभूता = शब्दश्लेषेण बाधनीयभूता। अङ्गीक्रियते = अभ्युपगम्यते।

युक्त्यन्तरेण स्वमतं द्रढयति—**किं चेति**। श्लेषस्यैव साम्यनिर्वाहकता, यच्च निर्वाहकं, तद् तदङ्गम्। अङ्गं चाऽप्रधानमेव। अतः श्लेषोऽत्र उपमाया अङ्गम् (अप्रधानम्), उपमा तु अङ्गिरूपा (प्रधानभूता)। अङ्गित्वेन=प्रधानत्वेन, व्यपदेशः = व्यवहारः, ज्यायान् = श्रेयान्, योग्य इति भावः।

उपमाया अङ्गित्वे पुनराशङ्कते—**नन्विति**। न अङ्गीक्रियते = न अभ्युपगम्यते। अङ्गाङ्गिभावो निर्वाह्यनिर्वाहकभावः, परमनुप्रासादिशब्दाऽलङ्काराः अन्यं शब्दाऽलङ्कारं न निर्वाहयन्ति अत इति भावः। तद् = तस्मात्कारणात्, अत्र= "सकलकलम्" इत्यादौ कथं श्लेषोपमयोरङ्गाङ्गिभावसङ्कर इति चेत्।

इसका खण्डन करते हैं—"साधर्म्यमुपमा" यही अविशिष्ट (सामान्य) लक्षण है, इसकी शब्दसाम्यसे व्यावृत्ति नहीं है, अर्थात् गुण और क्रिया मात्रका नहीं शब्दका भी साम्य सामान्यतः उपमाका प्रयोजक माना गया है।

यदि चेति। यदि शब्दसाम्यमें साधर्म्य वास्तविक न होनेसे उपमाका प्रयोजक नहीं है, तो "विद्वन्मानसहंस०" इत्यादिमें आधारभूत चित्त आदिमें सरोवर आदिका आरोप, राजा आदिमें हंस आदिके आरोपका प्रयोजक कैसे होता है ?

किं चेति। वास्तवमें साम्यमें ही उपमा स्वीकार करते हो तो कैसे तुम भी "सकलकलम्" इत्यादिमें बाध्यभूत उपमाको मान लेते हो ? यहांपर श्लेष ही साम्यका निर्वाहक है, साम्य श्लेषका निर्वाहक नहीं है। क्योंकि श्लेषबन्धके पहले पुर और चन्द्रमण्डलका साम्य असंभव है इस कारणसे उपमाको ही अङ्गीके रूपमें व्यवहार करना श्रेयस्कर है, क्योंकि प्रधानसे ही व्यवहार होते हैं, ऐसा नियम है।

न, अर्थानुसंधानविरहिण्यनुप्रासादावेव तथानङ्गीकारात्। एवं दीपकादावपि ज्ञेयम्।

'सत्पक्षा मधुरगिरः प्रसाधिताशा मदोद्धतारम्भाः।
निपतन्ति धार्तराष्ट्राः कालवशान्मेदिनीपृष्ठे॥'

समाधत्ते—नेति। अर्थाऽनुसन्धानविरहिणि = अर्थाऽनुसन्धानाऽभावयुक्ते, अनुप्रासादौ, आदिपदेन यमकादीनां परिग्रहः। तथा अङ्गीकारात् = अङ्गाङ्गिभावसङ्कराऽस्वीकारात्। श्लेषस्य शब्दाऽलङ्कारत्वेऽप्यर्थाऽनुसन्धानसापेक्षत्वादुपमाऽङ्गत्वमक्षतमिति भावः। एवं दीपकादावपि = आदिपदात्तुल्ययोगिताऽऽदिपरिग्रहः।

मतद्वयं निरसितुमुदाहरति–सत्पक्षा इति। वेणीसंहारनाटके प्रस्तावनायां नटस्योक्तिरियम्। शरदृतुवर्णनपक्षे—सत्पक्षाः = सन्तः (मनोहराः) पक्षाः (पतत्राणि) येषां ते। मधुरगिरः = मधुराः (सुश्रव्याः) गिरः (ध्वनयः) येषां ते। प्रसाधिताऽऽशाः = प्रसाधिताः (उत्पतनेन अलङ्कृताः) आशाः (दिशः) यैस्ते। मदोद्धताऽऽरम्भाः = मदेन (हर्षेण हेतुना) उद्धतः (उत्कटः) आरम्भः (उत्पतनादिव्यापारः) येषां ते। तादृशा धार्तराष्ट्राः = हंसविशेषाः, कृष्णचञ्चुचरणयुक्ता हंसा इति भावः। "धार्तराष्ट्राः सितेतरैः" इत्यमरः। कालवशात् = शरदृतुप्रभावात्, मेदिनीपृष्ठे = भूमिपृष्ठे, निपतन्ति = पर्यटन्ति। आर्या वृत्तम्।

कौरववर्णनपक्षे—सत्पक्षाः = सन्तः (उत्तमाः) पक्षाः (सहायाः) येषां ते। मधुरगिरः = प्रियवचनाः, प्रसाधिताशाः = वशीकृतदिशः, मदोद्धतारम्भाः = मदेन (अहङ्कारेण) उद्धतः (विकटः) आरम्भः (युद्धादिव्यापारः) येषां ते। तादृशा धार्तराष्ट्राः = धृतराष्ट्रपुत्राः, दुर्योधनादय इति भावः, धृतराष्ट्रस्याऽपत्यानि पुमांसो धार्तराष्ट्राः, "तस्याऽपत्यम्" इत्यण्। कालवशात् = मृत्युसमयवशात्, मेदिनी-

---

नन्विति। फिर आशङ्का करते हैं—शब्दाऽलङ्कारके विषयमें अङ्गाङ्गिभाव सङ्करका अङ्गीकार नहीं किया जाता है, तब कैसे यहाँ श्लेष और उपमाका अङ्गाङ्गिभावसङ्कर है?

इसका खण्डन करते हैं—अर्थाऽनुसन्धानसे रहित अनुप्रास आदिमें ही यह नियम अङ्गीकृत है आदि पदसे यमक आदिका भी स्वीकार किया जाता है। इसी प्रकारसे दीपक आदि अलङ्कारमें भी जानना चाहिए, यहांपर भी आदि पदसे तुल्ययोगिता आदिका स्वीकार किया जाता है।

सत्पक्षा इति। उत्तम पक्ष (पङ्ख वा सहाय) वाले, मधुर वाणीवाले दिशाओंको प्रसाधित (अलङ्कृत वा वशवर्ती) करनेवाले, मदसे उद्धत आरम्भ (उत्पतन वा युद्ध आदि कर्म) करनेवाले ऐसे धार्तराष्ट्र (काले चोंच और पङ्ख-

अत्र शरद्वर्णनया प्रकरणेन धार्तराष्ट्रादिशब्दानां हंसाद्यर्थाभिधाने नियमनाद् दुर्योधनादिरूपोऽर्थः शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिः। इह च प्रकृतप्रबन्धाभिधयस्य द्वितीयार्थस्य सूच्यतयैव विवक्षितत्वादुपमानोपमेयभावो न विवक्षित इति नोपमाध्वनिर्न वा श्लेष इति सर्वमवदातम्।

पद्माद्याकारहेतुत्वे वर्णानां चित्रमुच्यते।

पृष्ठे = भूतले, निपतन्ति = निपतिष्यन्ति, "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इति भविष्यदर्थे लट्।

स्वसिद्धान्तानुसारं विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन् पद्ये। शरद्वर्णनया= शरद्दतुवर्णनेन, प्रकरणेन = प्रस्तावेन। धार्तराष्ट्रादिशब्दानां = प्रथमादिपदेन पक्षादिशब्दानां, द्वितीयादिपदेन पतत्राद्यर्थानां परिग्रहः। नियमनात्=नियन्त्रणात्, "संयोगो विप्रयोगश्चे"त्याद्युक्तन्यायेनेति भावः। वस्तुध्वनिः = व्यङ्ग्य इति शेषः। इह = "सत्पक्षे"त्यादिपद्ये। प्रकृतप्रबन्धाऽभिधेयस्य = प्रकृतः (प्रस्तुतः) यः प्रबन्धः (वेणीसंहारनाटकरूपः) तेन अभिधेयस्य="सूचयेद्वस्तुबीजं वा मुख्यपात्रमथाऽपि वा" इत्युक्त्यनुसारेण वाच्यस्य, द्वितीयार्थस्य = दुर्योधनपतनरूपस्य, सूच्यतया=व्यङ्ग्यतया, एव, विवक्षितत्वात् = वक्तुमिष्टत्वात्, उपमानोपमेयभावः=हंसादीनां दुर्योधनादिभिः सहेति भावः। न उपमाध्वनिः, न वा श्लेषः=शरद्वर्णनाया एव प्रकृतत्वादिति भावः। अतः शब्दशक्तिमूलो वस्तुध्वनिः, इति, सर्वं = सकलम्, अवदातं = निर्मलम्।

चित्रकाव्यं लक्षयति—**पद्मेति**। वर्णानाम् = अक्षराणाम्, अकारादीनामिति भावः। पद्माद्याकारहेतुत्वे = पद्मादीनाम् (कमलादीनाम्) आकारहेतुत्वे (आकृतिकारणत्वे) सति, चित्रं = चित्रकाव्यम्, उच्यते = अभिधीयते।

वाले हंसविशेष वा धृतराष्ट्रके पुत्र) काल (शरद् ऋतु वा मृत्यु) के वश होकर धरतीपर गिरते हैं।

वेणीसंहार नाटकमें स्थित इस पद्यमें शरद् ऋतु-वर्णनके प्रकरणसे धार्तराष्ट्र आदि शब्दोंके हंस आदि अर्थोंके अभिधासे प्रतिपादनमें नियन्त्रण करनेसे दुर्योधन आदिरूप अर्थ शब्दशक्तिमूल वस्तुध्वनि है। यहां प्रस्तुत प्रबन्धका वाच्याऽर्थरूप द्वितीय अर्थके सूचनीयतासे ही विवक्षित होनेसे उपमानोपमेयभाव विवक्षित नहीं है इस कारणसे न उपमाध्वनि है वा न श्लेष ही है यह सब निर्दोष है।

पद्मेति। जिसमें वर्ण, कमल आदिके रूपके कारण हों उसे "चित्रकाव्य" कहते हैं।

आदिशब्दात्खड्ग-मुरज-चक्र-गोमूत्रिकादयः । अस्य च तथाविधलिपिसन्निवेशविशेषवशेन चमत्कारविधायिनामपि वर्णानां तथाविधश्रोत्राकाशसमवायविशेषवशेन चमत्कारविधायिभिर्वर्णैरभेदेनोपचाराच्छब्दालङ्कारत्वम् । तत्र पद्मबन्धो यथा मम—

'मारमा सुषमा चारु-रुचा मारवधूत्तमा ।
मात्तधूर्ततमावासा सा वामा मेऽस्तु मा रमा ॥'

विवृणोति—**आदिशब्दादिति** । पद्मबन्धः, खड्गबन्धो मुरजबन्धः, चक्रबन्धो गोमूत्रिकाबन्धादयो ग्राह्याः । आदिपदेन काकपदीबन्धादयो ग्राह्याः । अस्य = चित्राऽलङ्कारस्य, तथाविधेत्यादिः० = तथाविधः (तादृशः, पद्मादिसदृश इत्यर्थः) लिपीनां (लिबीनां, वर्णसंस्थानानाम्) सन्निवेशविशेषः (रचनाविशेषः) तद्वशेन । चमत्कारविधायिनां = चमत्कृतिकारकाणाम्, अपि, भूम्यादिस्थितानां वर्णानाम् = अक्षराणाम्, तथाविधेत्यादिः०=तथाविधः (तादृशः) श्रोत्राकाशसमवायविशेषः (कर्णरन्ध्रसम्बन्धविशेषः), तद्वशेन, चमत्कारविधायिभिः = श्रोतृविस्मयकारकैः, वर्णैः = अक्षरैः, अभेदेन, उपचारात् = तादात्म्यात्, शब्दाऽलङ्कारत्वम्, अनुप्रासादिवच्छब्दाऽलङ्कारत्वम् । एवं च पद्माद्याकारलिपिसंनिवेशविशेषमालोक्य वक्त्रा ये वर्णा उच्चार्यन्ते तैरेव श्रोतॄणां श्रोत्रे पद्माद्याकारवर्णसमूहो जन्यत इति भावः ।

पद्मबन्धस्य स्वनिर्मितमुदाहरणं प्रदर्शयति—**मारमेति** । कविः स्वं प्रति जगज्जनन्या लक्ष्म्या अप्रतिकूलत्वमाशास्ते । चारुरुचा=सुन्दरकान्त्या । मारवधूत्तमा= मारस्य (कामस्य) या वधूः (रतिः) तस्या उत्तमा (श्रेष्ठा) मातधूर्ततमावासा= मात्तः (न गृहीतः) धर्ततमस्य (अतिशयदुष्टस्य) आवासः यया सा । सुषमा=सुन्दरी तादृशी सा = श्रुत्यादिप्रसिद्धा, मारमा = मारस्य (कामदेवस्य) मा (जननी), "मा च मातरि माने च" इत्येकाक्षरकोषः । रमा = महालक्ष्मीः, मे = मम, गृह इति शेषः, वामा = प्रतिकूला, मा अस्तु = नो भवतु । अनुष्टुप् ।

आदि शब्दसे खड्ग, मुरज, चक्र और गोमूत्रिका आदि लिये जाते हैं ।

दूसरे आदि पदसे काकपदीबन्ध आदि ग्राह्य होते हैं ।

अस्य चेति । यद्यपि कमल आदिके सदृश लिपियोंके रचनाविशेषसे चमत्कार करनेवाले भूम्यादि स्थित अक्षर हैं तो भी श्रोत्रेन्द्रियके रन्ध्ररूप आकाशमें समवाय सम्बन्धसे रहनेसे चमत्कार करनेवाले वर्णोंसे उनका अभेद उपचारसे यह चित्रकाव्य शब्दाऽलङ्कार है । उनमें पद्मबन्ध जैसे मेरा (ग्रन्थकारका) ।

मारमेति । सुन्दर कान्तिसे मार (कामदेव) की वधू (पत्नी अर्थात् रति)से भी श्रेष्ठ, सुन्दरी वह और परम धूर्तके गृहमें स्थान न लेनेवाली ऐसी सुन्दरी मारमा = मार (कामदेव)की माता (महालक्ष्मी) मेरे घरमें प्रतिकूल न हो ॥

एषोऽष्टदलपद्मबन्धो दिग्दलेषु निर्गमप्रवेशाभ्यां श्लिष्टवर्णः, किन्तु विदिग्दलेष्वन्यथा, कर्णिकाक्षरं तु श्लिष्टमेव। एवं खड्गबन्धादिकमप्यूह्यम्।

काव्यान्तर्गडुभूततया तु नेह प्रपञ्च्यते।

रसस्य परिपन्थित्वान्नालङ्कारः प्रहेलिका ॥ १३ ॥

उक्तिवैचित्र्यमात्रं सा च्युतदत्ताक्षरादिका।

च्युताक्षरा दत्ताक्षरा च्युतदत्ताक्षरा च।

विवृणोति—**एष इति**। एषः=अयम्, अष्टदलपद्मबन्धः=अष्टभिः (अष्टसंख्यकैः) दलैः (पत्त्रैः) पद्मबन्धः (पद्माकारसम्पादकोऽक्षरविन्यासः) दिग्दलेषु=पूर्वदक्षिणपश्चिमोत्तरदिशास्थपत्त्रेषु, निर्गमप्रवेशाभ्यां = बहिर्गमनाऽन्तःप्रवेशाभ्यां, श्लिष्टवर्णः= अनुलोमप्रतिलोमपाठेनैकरूपाऽक्षरः। विदिग्दलेषु = आग्नेयनैर्ऋत्यवायव्यैशानकोणपत्त्रेषु, अन्यथा = क्वचित्प्रवेश एव, क्वचिच्च निर्गम एव, तथाऽश्लिष्टवर्णश्च। कर्णिकाक्षरं = मध्यवर्ती वर्णः, तु, "मा" इति भावः। श्लिष्टम् एव = बहुवारःपाठ्यत्वादिति भावः।

एवमिति। एवम् = इत्थम् एव, खड्गबन्धादिकं = खड्गबन्धप्रभृतिकम्, अपि, ऊह्यं = कल्पनीयं, काव्यप्रकाशसरस्वतीकण्ठाभरणादिष्विति शेषः।

काव्यान्तरिति। काव्यस्य अन्तः (मध्ये) गडुभूततया (ग्रन्थिभूततया) रसप्रतिबन्धकत्वेनाऽसारतयेति भावः। इह = अस्मिन् ग्रन्थे, न प्रपञ्च्यते = नो विस्तरतया विरच्यते, चित्राऽलङ्कार इति शेषः।

प्रहेलिकाया अलङ्कारत्वं प्रतिषिध्य तत्स्वरूपं निदर्शयति—**रसस्येति**। रसस्य = शृङ्गारादिरसस्य, परिपन्थित्वात् = विरोधित्वात्, रसास्वादे प्रतिबन्धकत्वादिति भावः। प्रहेलिका = प्रवह्लिका, अलङ्कारो न, तर्हि सा केत्यत आह— उक्तिवैचित्र्यमात्रं = भणितिविचित्रतास्वरूपम् एव ॥ १३ ॥

प्रहेलिकायाः स्वरूपं निदर्शयति—**च्युतेति**। सा च प्रहेलिका क्वचित् च्युताऽक्षरा, कुत्रचित् दत्ताऽक्षरा, कुत्रचिच्च च्युतदत्ताऽक्षरा, इत्यादिरूपा भवतीति भावः।

यह आठ दलोंवाला पद्मबन्ध अर्थात् पद्मके आकारका सम्पादक अक्षरविन्यास, दिशाओंके दलोंमें निर्गम (निकलने) और प्रवेश (घुसने)से श्लिष्टवर्ण हैं अर्थात् तत्तद्वर्ण दो बार पढ़े जाते हैं परन्तु विदिशाओं (कोणों)के दलोंमें रहे हुए वर्ण एक ही बार पढ़े जाते हैं, कर्णिकाक्षर (मध्यवर्ती वर्ण) तो बहुत बार पढ़े जानेसे श्लिष्ट ही है। इसी तरह खड्गबन्ध आदिको भी समझना चाहिए। काव्यके भीतर ग्रन्थिभूत होनेसे यहां इनका विस्तर नहीं किया जाता है।

रसस्येति। रसका विरोधी होनेसे प्रहेलिका (पहेली) अलङ्कार नहीं है ॥ १३ ॥ च्यु वह केवल उक्तिकी विचित्रता है, च्युताऽक्षरा, दत्ताऽक्षरा और च्युतदत्ताऽक्षरा आदि उसके भेद होते हैं।

उदाहरणम्—

'कूजन्ति कोकिलाः साले यौवने फुल्लमम्बुजम् ।
किं करोतु कुरङ्गाक्षी वदनेन निपीडिता ॥'

अत्र 'रसाले' इति वक्तव्ये 'साले' इति 'र' च्युतः । 'वने' इत्यत्र 'यौवने' इति 'यौ' दत्तः । 'वदनेन' इत्यत्र 'मदनेन' इति 'म' च्युतः 'व' दत्तः । आदिशब्दात्क्रियाकारकगुप्त्यादयः ।

तत्र क्रियागुप्तिर्यथा—

'पाण्डवानां सभामध्ये दुर्योधन उपागतः ।
तस्मै गां च सुवर्णं च सर्वाण्याभरणानि च ॥'

अत्र 'दुर्योधनः' इत्यत्र 'अदुर्योऽधनः' इति । 'अदुः' इति क्रियागुप्तिः । एवमन्यत्रापि ।

एकस्मिन्नेव पद्ये उक्तं भेदत्रयमुदाहरति—**कूजन्तीति** । कोकिला = पिका, साले = अत्र रसाले इति वक्तव्यत्वे "र" इति वर्णश्च्युतः, रसाले = आम्रवृक्षे, कूजन्ति = अव्यक्तशब्दं कुर्वन्ति । यौवने = अत्र "वने" इत्यत्र "यौ" इति वर्णो दत्तः । वने = अरण्ये, अम्बुजं = कमलं, फुल्लं = विकसितम् । वदनेन = अत्र "म" इति च्युतः, "व" इति दत्तः । मदनेन = कामावेशेन, पीडिता=व्यथिता, कुरङ्गाक्षी= हरिणनयना, किं, करोतु = विदधातु । अनुष्टुब् वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति । आदिशब्दादिति ।**

क्रियागुप्तिमुदाहरति—**पाण्डवानामिति** । पाण्डवानां=पाण्डुपुत्राणां, युधिष्ठिरादीनां, सभामध्ये = परिषदन्तरे, दुर्योधनः = सुयोधनः, उपागतः = अभिप्राप्तः । तस्मै = दुर्योधनाय, गां = धेनुं, सुवर्णं = कनकं, सर्वाणि = समस्तानि, आभरणानि च = भूषणानि च । अत्र क्रियागुप्तिः = क्रियापदगोपनमस्ति । वस्तुतः—पाण्डवानां

उदाहरण—**कूजन्तीति** । पेड़पर कोयल शोर कर रहे हैं, यौवनमें कमल खिला है । वदनसे निपीडित मृगनयना क्या करे ?

अत्रेति । यहां "रसाले" (अर्थात् आमके पेड़में) ऐसा कहना चाहिए था, उसमें "साले" कहा है अतः "र" च्युत हुआ अतः यह च्युताऽक्षराका उदाहरण है । "वने" कहनेकी जगह "यौ" यह वर्ण दिया है, अतः यह दत्ताऽक्षराका उदाहरण है । इसी तरह "वदनेन" यहांपर "मदनेन" इसमे "म" को निकालकर उसके स्थानमें "व" को रख दिया है, अतः यह "च्युतदत्ताऽक्षरा" का उदाहरण है । आदि शब्दसे क्रियागुप्ति और कारकगुप्ति आदिका ग्रहण किया जाता है ।

उनमें क्रियागुप्तिका उदाहरण—**पाण्डवानामिति** । पाण्डवोंकी सभाके बीचमें दुर्योधन आ गया उसे गाय, सुवर्ण और संपूर्ण भूषण आदि ''' यहां क्रियापदकी गुप्ति है अतः उसका उद्घाटन करनेके लिए "अदुः, यः, अधनः" ऐसा पदच्छेद

अथावसरप्राप्तेष्वर्थालङ्कारेषु सादृश्यमूलेषु लक्षितव्येषु तेषामप्युपजीव्यत्वेन प्राधान्यात् प्रथममुपमामाह—

साम्यं वाच्यमवैधर्म्यं वाक्यैक्य उपमा द्वयोः ॥ १४ ॥

रूपकादिषु साम्यस्य व्यङ्ग्यत्वम्, व्यतिरेके च वैधर्म्यस्याप्युक्तिः, उपमेयोपमायां वाक्यद्वयम्, अनन्वये त्वेकस्यैव साम्योक्तिरित्यस्या भेदः।

सभामध्ये, यः, अधनः = धनरहितः, **दरिद्र** इति भावः, उपागतः, तस्मै रत्नं सुवर्णं सर्वाणि आभरणानि च, अदुः = दत्तवन्तः। "डुदाञ् दाने" इति धातोर्लुङि प्रथमपुरुषे बहुवचनम्। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**।

अर्थालङ्कारेषु वक्तव्येषु प्रथममुपमां प्रतिपादयितुमुपक्रमते—**अथेति**। अथ= शब्दाऽलङ्कारनिरूपणाऽनन्तरम्, अवसरप्राप्तेषु = प्रसङ्गप्राप्तेषु, सादृश्यमूलेषु = सादृश्यप्रतिमोत्थापितेषु, अर्थाऽलङ्कारेषु, लक्षितव्येषु = लक्षणीयेषु, तेषामपि = सादृश्यमूलानामलङ्काराणाम्। उपजीव्यत्वेन = आश्रयत्वेन, प्राधान्यात् = प्रधानत्वात्, उपमामाह।

उपमां लक्षयति—**साम्यमिति**। वाक्यैक्ये = वाक्यस्य (पदसमूहस्य) ऐक्ये (एकत्वे) सति, द्वयोः = उपमानोपमेययोः, उपमीयतेऽनेनेति उपमानम्, अप्रस्तुतं, चन्द्रादि। उपमातुं योग्यमुपमेयं, प्रस्तुतं मुखादि, तयोः। अवैधर्म्यं = वैधर्म्यरहितं, वाच्यम् = इवादिभिर्निपातैः, क्यङादिभिः प्रत्ययैः उपमितादिभिः समासैर्वा प्रतिपाद्यं, साम्यं = सादृश्यम्, उपमा = उपमाऽलङ्कारः ॥ १४ ॥

विवृणोति—रूपकादिषु = अलङ्कारेषु, आदिना परिणामादिपरिग्रहणं, साम्यस्य = सादृश्यस्य, व्यङ्ग्यत्वं = व्यञ्जनाप्रतिपाद्यत्वं, "मुख चन्द्र" इत्यभेदज्ञानाऽनन्तरं "मुखं चन्द्रसादृश्यवत्" इति व्यञ्जनया सादृश्यप्रतीतिरिति भावः।

करना चाहिए यहां, "अदुः" इस क्रियाकी गुप्ति है तब इसका अर्थ हुआ पाण्डवोंकी सभाके मध्यमें जो अधन (निर्धन) गया। शेष पूर्ववत् जानना चाहिए। इसी तरह अन्य प्रहेलिकाको समझना चाहिए।

अब प्रसङ्गसे प्राप्त अर्थाऽलङ्कारोंमें प्रधानताके कारण लक्षण करने योग्य जो सादृश्यमूल अलङ्कार हैं, उनका भी उपजीव्य (आश्रय) होनेसे पहले उपमा अलङ्कारको कहते हैं—

साम्यमिति। एक वाक्यमें उपमान और उपमेय दो पदार्थोंका वैधर्म्यसे रहित वाच्य सादृश्यको "उपमा" कहते हैं ॥ १४ ॥

रूपकादिष्विति। रूपक और परिणाम आदिमें सादृश्य व्यङ्ग्य होता है, व्यतिरेक अलङ्कारमें वैधर्म्य (विरुद्धधर्म) की भी उक्ति होती है, उपमेयोपमामें

सा पूर्णा, यदि सामान्यधर्म औपम्यवाचि च ।
उपमेयं चोपमानं भवेद्वाच्यम्—

सा=उपमा । साधारणधर्मो द्वयोः सादृश्यहेतू गुणक्रिये मनोज्ञत्वादि । औपम्यवाचकमिवादि । उपमेयं मुखादि । उपमानं चन्द्रादि ।

—इयं पुनः ॥ १५ ॥

श्रौती यथेववाशब्दा इवार्थो वा वतिर्यदि ।

व्यतिरेके = अलङ्कारे, च, वैधर्म्यस्य = विरुद्धधर्मत्वस्य, अपि उक्तिः "अकलङ्कं मुखं तस्या न कलङ्की विधुर्यथा ।" अत्राऽकलङ्कित्वमुपमानस्य कलङ्कितत्वमुपमेयस्य वैधर्म्यम् । उपमेयोपमायाम् = अलङ्कारे, वाक्यद्वयम्, "मतिरिव कमला, कमलेव मतिः ।" इत्यादाविति भावः । अनन्वये = अलङ्कारे च, एकस्यैव = चन्द्रादेः, पदार्थस्य साम्योक्तिः = सादृश्यकथनम्, "चन्द्रश्चन्द्र इवाऽतन्त्रः, इत्यादाविति भावः । इति, अस्याः=उपमायाः, भेदः=विभिन्नता, अलङ्कारान्तरेभ्य इति शेषः ।

पूर्णोपमां लक्ष्यति— **सेति** । उपमा द्विविधा— पूर्णा लुप्ता च । तत्र प्रथमं पूर्णां प्रतिपादयति । सामान्यधर्मः=उपमानोपमेमनिष्ठः साधारणधर्मो गुणक्रियारूपः मनोज्ञत्वादिः । औपम्यवाचि = उपमावाचकमिवादि । उपमेयं = साम्यस्याऽनुयोगि, मुखादि । उपमानं = साम्यस्य प्रतियोगि उपमानं, चन्द्रादिकम् । एतत्सर्वं, वाच्यम् = अभिधावृत्या प्रतिपाद्यं, चेत् = यदि, न व्यङ्ग्यमिति भावः । सा = उपमा, पूर्णा = पूर्णोपमा भवतीत्यर्थः ।

इयं पूर्णोपमाऽपि श्रौत्यार्थी च द्विभेदा भवति ।

श्रौतो लक्ष्यति—**इयमिति** । इयं = श्रौती, पुनः = भूयः ॥ १५ ॥

श्रौतीति । यथेव-वाशब्दाः = यथा, इव, वा शब्दः, "उपमायां विकल्पे वा" इत्यमरः । इवार्थः, वतिः = प्रत्ययः, "तत्र तस्येव" इत्यनेन विधीयमानो

दो वाक्य होते हैं और अनन्वय अलङ्कारमें एक ही पदार्थके सादृश्यकी उक्ति होती है इसप्रकार उपमाका अन्य अलङ्कारोंसे भेद है ।

सेति । साधारणधर्म, उपमावाचक, उपमेय और उपमान ये सब वाच्य हों अर्थात् व्यङ्ग्य वा लक्ष्य नहीं हो तो वह उपमा पूर्णोपमा कहलाती है ॥ १५ ॥

सेति । उपमान और उपमेयकी तुल्यताके कारणरूप गुण और क्रिया मनोहरत्व आदिको "सामान्य (साधारण) धर्म" कहते हैं । इव, यथा, तुल्य, सम आदिको उपमावाचक कहते हैं । साम्यका अनुयोगी अर्थात् उपमाके योग्य पदार्थ मुख आदिको "उपमेय" और साम्यके प्रतियोगीको "उपमान" कहते हैं ।

इयमिति । यह पूर्णोपमा ॥ १५ ॥ दो प्रकारकी होती है—श्रौती और आर्थी । जहां उपमावाचक शब्द यथा, इव और वा शब्द और 'इव'के अर्थमे यदि

तुल्यसमानाद्यास्तुल्यार्थो यत्र वा वतिः ॥ १६ ॥

यथेववादयः शब्दा उपमानानन्तरप्रयुक्ततुल्यादिपदसाधारणा अपि श्रुतिमात्रेणोपमानोपमेयगतसादृश्यलक्षणसम्बन्धं बोधयन्तीति तत्सद्भावे श्रौत्युपमा। एवं 'तत्र तस्येव' इत्यनेनेवार्थे विहितस्य वतेरुपादाने। तुल्यादयस्तु-'कमलेन तुल्यं मुखम्' इत्यादावुपमेय एव। 'कमलं मुखस्य तुल्यम्' इत्यादावुपमान एव। 'कमलं मुखं च तुल्यम्' इत्यादावुभयत्रापि विश्रायन्तीत्यर्थानुसन्धानादेव साम्यं प्रतिपादयन्तीति तत्सद्भावे आर्थी। एवं 'तेन तुल्यम्—' इत्यादिना तुल्यार्थे विहितस्य वतेरुपादाने।

वतिप्रत्ययः, यदि = चेत्, तदा श्रौती नाम पूर्णोपमा। श्रुतिमात्रेणोपमानोपमेयगतसादृश्यबोधकानां यथेव—वाशब्दानां तया इवार्थवतिप्रत्ययस्य सद्भावे श्रौती नाम पूर्णोपमाया भेद इति भावः।

यत्र तुल्य—समानाद्याः शब्दाः, तथा तुल्यार्थो वतिः प्रत्ययः, "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" इत्यनेन विधीयमानो वतिप्रत्ययस्तत्र आर्थी नाम पूर्णोपमाभेदः। यत्र तुल्यादिशब्दानां तुल्यार्थवतिप्रत्ययस्य च सद्भावेऽर्थाऽनुसन्धानादेवोपमानोपमेययोः साम्यं ज्ञायते तत्र आर्थीति भावः ॥ १६ ॥

विवृणोति— यथेव-वाऽऽदय इति। तत्सद्भावे=तत्सत्तायाम्। उपादाने = ग्रहणे,

तुल्यादयस्त्विति। शब्दा इति शेषः। उपमेये=मुखे, एव, "विश्राम्यन्ति" इति अनन्तरस्थपदेन सम्बन्धः, उपमाने = कमले, एव "तुल्यादयः शब्दा विश्राम्यन्ती"-त्यन्वयः, उभयत्राऽपि = उपमान उपमेयेऽपि। साम्यं = सादृश्यम्।

"तत्र तस्येव" इस सूत्रसे सप्तम्यन्त वा षष्ठ्यन्तसे यदि वतिप्रत्यय हो तो "श्रौती" उपमा होती है।

जहां तुल्य, समान आदि शब्द और "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" इस सूत्रसे तुल्यार्थक वति प्रत्यय होता है, वहां "आर्थी" उपमा होती है॥ १६ ॥

यथेवेति। यथा, इव और वा आदि शब्द उपमानवाचक शब्दके बाद प्रयुक्त तुल्य आदि पदके समान होते हुए भी श्रुति (श्रवण) मात्रसे उपमान और उपमेयमें स्थित सादृश्यसम्बन्धका बोधन करते हैं इस कारणसे इनके होनेपर श्रौती उपमा होती है, इसी प्रकार "तत्र तस्येव" इस सूत्रसे इवके अर्थमें विहित वतिके ग्रहणमें भी श्रौती उपमा होती है।

तुल्य आदि शब्द तो "कमलेन तुल्यं मुखम्" इत्यादिमें उपमेय (मुख)में ही, "कमलं मुखस्य तुल्यम्" इत्यादिमें उपमान (कमल)में ही, "कमलं मुखं च तुल्यम्" इत्यादिमें दोनों (उपमान कमल और उपमेय मुख)में रहते हैं इसप्रकार

द्वे तद्धिते समासेऽथ वाक्ये—
द्वे श्रौती आर्थी च। उदाहरणम्—
'सौरभमम्भोरुहवन्मुखस्य कुम्भाविव स्तनौ पीनौ।
हृदयं मदयति वदनं तव शरदिन्दुर्यथा बाले!॥'

श्रौत्यार्थीभेदेन द्विविधायाः पूर्णोपमायाः पुनस्त्रैविध्यमाह—द्वे इति। द्वे = श्रौती आर्थी च, तद्धिते = वतिकल्पबादियोगे, समासे वाक्ये च भवत इति शेषः।

श्रौत्याः पूर्णोपमाया भेदत्रयमुदाहरति—**सौरभमिति**। हे बाले = हे युवति!, ते = तव, मुखस्य = वदनस्य, सौरभं = सौगन्ध्यम्, अम्भोरुहवत्=अम्भोरुहस्य इव, अस्तीति शेषः। अत्र सौरभं सामान्यधर्मः, उपमानम् अम्भोरुहम्, उपमेयं = मुखं, तथाऽम्भोरुहवत् इत्यत्र अम्भोरुहस्य इवेति विग्रहे "तत्र तस्येव" इति सूत्रेण विधीयमानो वतिप्रत्ययश्चौपम्यवाची, अतस्तद्धितगतायाः श्रौती-पूर्णोपमाया उदाहरणम्, हे बाले! ते स्तनौ = कुचौ, कुम्भाविव = कुम्भौ इव, कलशौ इव, पीनौ = स्थूलौ, इत्युपमेयम्। पीनत्वं = सामान्यधर्मः। तथा "कुम्भाविवे"त्यत्र "इवेन समासो विभक्त्यलोपश्चे"ति वार्तिकेन समासस्तथा चेदं समासगताया श्रौत्याः पूर्णोपमाया उदाहरणमिदम्।

हे बाले! शरदिन्दुः = शारदचन्द्रः, यथा = इव, तव वदनं = मुखं, हृदयं = चित्तं, मदयति=प्रसादयति, आर्या वृत्तम्। अत्र शरदिन्दुरुपमानं, वदनमुपमेयं, मादन सामान्यधर्मः यथापदमौपम्यप्रतिपादकम्। अत्र वाक्यगता श्रौती पूर्णोपमा।

अर्थका अनुसन्धानके अनन्तर ही सादृश्यका प्रतिपादन करते हैं अतः तुल्य आदिकी उपस्थितिमें आर्थी उपमा होती है। इसी तरह "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" इस सूत्रसे तुल्य अर्थमें विहित वतिप्रत्ययके ग्रहणमें भी आर्थी उपमा होती है।

द्वे तद्धित इति। पूर्वोक्त श्रौती और आर्थी दोनों उपमाएँ तद्धित, समास और वाक्य इन तीनोंमें होती हैं।

श्रौती उपमाका उदाहरण—**सौरभमिति**। हे बाले! तुम्हारे मुखका सौरभ (सुगन्ध) अम्भोरुहवत् = कमलके समान है, यहां अम्भोरुह इव का अम्भोरुहस्य इव ऐसा विग्रह कर "तत्र तस्येव" इस सूत्रसे वतिप्रत्यय हुआ है, अतः यह तद्धितगता श्रौती उपमा है। यहां मुख उपमेय, अम्भोरुह (कमल) उपमान, सौरभ साधारण धर्म और अम्भोरुहवत् इसमें वतिप्रत्यय–उपमावाचक है, इस प्रकार इन चारोंकी जुटावसे यह पूर्णोपमा है।

कुम्भाविवेति। हे बाले! तुम्हारे स्तन कुम्भाविव = कुम्भोंके समान पीन (स्थूल) हैं। यहां कुम्भाविव इसमें = कुम्भौ इव ऐसा विग्रह करके "इवेन समासो विभक्त्यलोपश्च" इस वार्तिकसे समास और विभक्तिका अलुक् हुआ है।

अत्र क्रमेण त्रिविधा श्रौती।

'मधुरः सुधावदधरः, पल्लवतुल्योऽतिपेलवः पाणिः।
चकितमृगलोचनाभ्यां सदृशी चपले च लोचने तस्याः॥'

विवृणोति—**अत्रेति**।

आर्थ्याः पूर्णोपमाया भेदत्रितयमुदाहरति—**मधुर इति**।

कश्चित् स्वमित्रसमीपे स्वकान्तायाः सौन्दर्यं वर्णयति—**मधुर इति**। (हे मित्र!) तस्याः = मत्कान्तायाः, अधरः = अधरोष्ठः, सुधावत् = सुधया तुल्यम् यथा तथा, अस्तीति शेषः। "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" इति सूत्रेण तुल्यार्थो वतिप्रत्ययः। अत्र सुधा=उपमानम्, अधर उपमेयं, माधुर्यं सामान्य धर्मः, "सुधावत्" इत्यत्र सुधया तुल्यम् इति विग्रहे "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" इति सूत्रेण तुल्यार्थे वतिः। इति तद्धितगता आर्थी पूर्णोपमा।

यहां स्तन—उपमेय, कुम्भ—उपमान, पीनत्व—साधारण धर्म और कुम्भाविव इसमें स्थित इव समासगत उपमावाचक शब्द है। इस प्रकार यह समासगत श्रौती पूर्णोपमाका उदाहरण है।

हृदयमिति। हे बाले! तुम्हारा मुख, शरदिन्दुः यथा=शरद् ऋतुके चन्द्रमा जैसा हृदयको प्रसन्न करता है।

यहां वदन—उपमेय, शरदिन्दु—उपमान, यथा—उपमावाचक शब्द और मदयति—मत्त करना साधारण धर्म है, इस प्रकार यह वाक्यगत श्रौती पूर्णोपमाका उदाहरण है।

यहां क्रमसे तीन प्रकारकी श्रौती उपमा दी गई है।

आर्थी उपमाका उदाहरण—**मधुर इति**।

उस सुन्दरीका अधर सुधावत् = सुधा (अमृत) के तुल्य मधुर है। यहां सुधया तुल्यम् ऐसा विग्रह कर "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" इस सूत्रसे तृतीयान्त सुधा शब्दसे तुल्य अर्थमें "वति" प्रत्यय हुआ है। यहां अधर—उपमेय, सुधा—उपमान, सुधावत् इसका वतिप्रत्यय—उपमावाचक और मधुरत्व साधारण धर्म है। इसप्रकार यह तद्धितगत आर्थी पूर्णोपमा है।

पल्लवेति। उस सुन्दरीका हाथ पल्लवके समान अत्यन्त कोमल है। "पल्लवतुल्यः" यहांपर पल्लवेन पल्लवस्य वा तुल्यः "तुल्यपदके अर्थमें" "तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयाऽन्यतरस्याम्" इस सूत्रसे तृतीया वा षष्ठी विभक्ति होकर समास हुआ है। यहां पाणि—उपमेय, पल्लव—उपमान, समासस्थित तुल्य उपमावाचक, अतिपेलवत्व साधारण धर्म है, इसप्रकार यह समासगत आर्थी पूर्णोपमाका उदाहरण है।

अत्र क्रमेण त्रिविधा आर्थी ।

—पूर्णा षडेव तत् ।

स्पष्टम् ।

लुप्ता सामान्यधर्मादेरेकस्य यदि वा द्वयोः ॥ १७ ॥
त्रयाणां वानुपादाने श्रौत्यार्थी सापि पूर्ववत् ।

तस्याः पाणिः = करः, पल्लवतुल्यः = किसलयसदृशः, अतिपेलवः = अतिशयकोमलः । अत्र पल्लवम् उपमानं, पाणिः उपमेयम्, अतिपेलवत्वं सामान्यधर्मः । पल्लवतुल्यः इत्यत्र पल्लवेन तुल्य इति समासगता आर्थी पूर्णोपमा ।

तस्याः = कान्तायाः, लोचने = नयने, चकितमृगलोचनाभ्यां = चकितमृगस्य (भीतहरिणस्य) लोचनाभ्यां (नयनाभ्याम्), सदृशी = तुल्ये, चपले = चञ्चले । अत्र चकितमृगलोचने = उपमानं, लोचने = उपमेयं, चपलत्वं = सामान्यधर्मः । सदृशी = औपम्यप्रतिपादकम् । अत्र वाक्यगता आर्थी पूर्णोपमा ।

विवृणोति—**अत्रेति ।**

सङ्कलयति—**पूर्णेति ।** तत् = तस्मात्, पूर्णोपमा, षडेव ।

लुप्तोपमां लक्ष्यति—**लुप्तेति ।** सामान्यधर्मादेः = निर्धारणे षष्ठी । सामान्यधर्मस्य, आदिपदेन उपमानस्य उपमेयस्य औपम्यवाचकशब्दस्य च मध्ये, एकस्य = कस्यचिदेकस्य; यदि वा=अथ वा, द्वयोः=कयोश्चिदुभयोः, वा=अथ वा, ॥ १७ ॥

त्रयाणां = केषांचित्त्रयाणाम्, अनुपादाने = अग्रहणे, लुप्ता—लुप्तोपमा, साऽपि = लुप्तोपमाऽपि, पूर्ववत् = पूर्वप्रतिपादितपूर्णोपमावत्, श्रौती आर्थी च द्विविधा भवतीति भावः ।

चकितेति । उस सुन्दरीके नेत्र चकित (डरे हुए) मृगके नेत्रोंके सदृश चञ्चल हैं । यहांपर लोचन—उपमेय, चकितमृगलोचन उपमान, सदृश—उपमावाचक और चपलत्व साधारण धर्म हैं । इस प्रकार यह वाक्यगत आर्थी—उपमाका उदाहरण है ।

पूर्णेति । इस प्रकारे पूर्णोपमाके छः भेद होते हैं ।

लुप्तेति । साधारण धर्म आदिके मध्यमें अर्थात्, उपमान, उपमेय, उपमावाचकशब्द और साधारणधर्म इनमें से एकके, दोनोंके ॥ १७ ॥

वा तीनोंके न रहनेपर लुप्तोपमा होती है, वह भी पहलेकी तरह, श्रौती और आर्थी होती है ।

सा लुप्ता।

तद्भेदमाह—

पूर्णावद्धर्मलोपे सा विना श्रौतीं तु तद्धिते ॥ १८ ॥

सा=लुप्तोपमा, धर्मस्य=साधारणगुणक्रियारूपस्य लोपे पूर्णावदिति पूर्वोक्तरीत्या षट्प्रकारा, किं त्वत्र तद्धिते श्रौत्या असम्भवात् पञ्चप्रकारा।

उदाहरणम्—

'मुखमिन्दुर्यथा, पाणिः पल्लवेन समः प्रिये !
वाचः सुधा इवोष्ठस्ते बिम्बतुल्यो मनोऽश्मवत् ॥'

लुप्तोपमाया भेदान्निर्दिशति—**पूर्णावदिति**। सा = लुप्तोपमा, **धर्मलोपे**, धर्मस्य (सामान्यगुणक्रियारूपधर्मस्य) लोपे (अदर्शने), तद्धिते, श्रौतीं, विना = ऋते। पूर्णावत् = पूर्णोपमावत्, भवतीति शेषः ॥ १८ ॥

विवृणोति—**सेति**। धर्मस्य = उपमानोपमेयनिष्ठसामान्यगुणक्रियारूपस्य। षट्प्रकारा = षड्विधा। किन्त्विति। तद्धिते श्रौत्याः = पूर्णोपमाया असंभवात् = "तत्र तस्येवे"ति सूत्रेण सप्तम्यन्तात् षष्ठ्यन्ताच्च वतिप्रत्ययः सामान्यधर्ममपेक्ष्यैव भवति, तदभावात् श्रौती पूर्णोपमा पञ्चप्रकारा भवति, नत्वार्थीवत् षट्प्रकारा इति भावः।

श्रौतीमार्थीं च लुप्तोपमामुदाहरति—**मुखमिति**। नायको नायिकामुद्दिश्य तस्याः सौन्दर्यं वर्णयति। हे प्रिये = हे वल्लभे !, ते=तव, मुखं=वदनम्, इन्दुर्यथा = चन्द्र इव, अत्र मुखम्, उपमेयम्, इन्दुः, उपमानम्, यथा, औपम्यवाचकः शब्दः; परमत्रोपमानोपमेयनिष्ठ आह्लादकत्वादिः सामान्यधर्मो नोपात्तः, अत इयं वाक्यगता धर्मलुप्ता श्रौती १।

लुप्तोपमाके भेद कहते हैं—**पूर्णावदिति**। गुणरूप वा क्रियारूप धर्मके अभावमें लुप्तोपमा पूर्णोपमाके सदृश तद्धित, समास और वाक्यमें छः प्रकारकी होती है, परन्तु तद्धितमे श्रौती उपमा नही होती है ॥ १८ ॥

सेति। "तत्र तस्येव" इस सूत्रसे होनेवाले तद्धित वतिप्रत्ययमें साधारण धर्मके वाचक पदके न होनेसे तद्धितमें श्रौती उपमा नहीं हो सकती है अतः लुप्तोपमाके पाँच ही भेद होते हैं।

उदाहरण—**मुखमिति**। हे प्रिये ! तुम्हारा मुख इन्दु—सरीखा, यहां मुख—उपमेय, इन्दु—उपमान, यथा—उपमावाचक शब्द है, परन्तु साधारण धर्मका वाचक शब्द नहीं है, अतः यह वाक्यगत श्रौती धर्मलुप्ता है।

आधारकर्मविहिते द्विविधे च क्यचि, क्यङि ।
कर्मकर्त्रोर्णमुलि च, स्यादेवं पञ्चधा पुनः ॥ १९ ॥

हे प्रिये !, ते पाणिः = करः, पल्लवेन = किसलयेन, समः = तुल्यः । अत्र पाणिरुपमेयं, पल्लवमुपमानं, समशब्द औपम्यवाचकः, परमत्रोपमेयोपमाननिष्ठ-कोमलत्वादिसामान्यधर्मो नोपात्तः, अत इयं वाक्यगता धर्मलुप्ता आर्थी २ ।

हे प्रिये ! ते वाचः = गिरः, सुधा इव = अमृतानि इव । अत्र वाचः उपमेयं, सुधा उपमानम्, इव शब्द औपम्यवाचकः, परमत्र माधुर्यरूपसामान्यधर्मो नोपात्तः, अत इयं समासगता धर्मलुप्ता श्रौती ३ ।

हे प्रिये ! ते, ओष्ठः = अधरः, बिम्बतुल्यः = बिम्बेन (बिम्बफलेन) तुल्यः (सदृशः) । अत्रौष्ठ उपमेयम्, बिम्बम् उपमानम्, तुल्यशब्द औपम्यवाचकः, परमत्र रक्तत्वादिसाधारणधर्मो नोपात्तः, अत इयं समासगा धर्मलुप्ताऽऽर्थी ४ ।

हे प्रिये ! ते, मनः = चित्तम्, अश्मवत् = अश्मना (प्रस्तरेण) तुल्यम्, अस्तीति शेषः, "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः इति वतिप्रत्ययः । परमत्र कठिनत्वरूपः सामान्यधर्मो नोपात्तः, अत इयं तद्धितगता धर्मलुप्ताऽऽर्थी ५ ।

धर्मलोपे लुप्तोपमां पुनः पञ्चधा विभजते—**आधारेति** । आधारविहिते कर्मविहिते च, द्विविधे = द्विप्रकारे, क्यचि = क्यच्प्रत्यये । क्यङि = क्यङ्प्रत्यये, एकप्रकारे, कर्मकर्त्रोः = कर्मणि कर्तरि च विहिते णमुलि = णमुल्प्रत्यये, एवं, पुनः = भूयः, पञ्चधा = पञ्चभिः प्रकारैः, स्यात् = भवेत् ॥ १९ ॥

पाणिरिति । हे प्रिये ! तुम्हारा पाणि (हाथ) पल्लवके समान है । यहां तुल्यार्थक "सम" शब्दका प्रयोग है, अतः यह वाक्यगत आर्थी धर्मलुप्ता है ।

वाच इति । हे प्रिये ! तुम्हारी बातें सुधाओं (अमृतों) सी हैं, यहां "सुधा इव" यह पद "इवेन०" इत्यादि वार्तिकसे समस्त है, और विभक्तिका लोप नहीं हुआ है । यह समासगत श्रौती धर्मलुप्ता उपमाका उदाहरण है ।

ओष्ठ इति । तुम्हारा ओष्ठ बिम्बफलके समान है । यह समासगत आर्थी धर्मलुप्ता उपमा है ।

मन इति । हे प्रिये ! तुम्हारा मन पत्थरके समान है । यह तद्धितगत आर्थी धर्मलुप्ता उपमा है । "अश्मवत्" यहां अश्मना तुल्यम् ऐसा विग्रह करके "तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः" इस सूत्रसे तद्धित वतिप्रत्यय हुआ है । इन सब उदाहरणोंमें साधारण धर्मका लोप हुआ है ।

आधार इति । आधारमें और कर्ममें विहित इस प्रकार दो प्रकारके क्यच् प्रत्ययमें, क्यङ् प्रत्ययमें, कर्ममें और कर्तामें विहित इस प्रकार दो प्रकारके णमुल् प्रत्ययमें इसप्रकार धर्मलोपमें लुप्तोपमा फिर पांच प्रकारकी होती है ॥ १९ ॥

'धर्मलोपे लुप्ता' इत्यनुषज्यते। क्यच्-क्यङ्-णमुलः कलापमते इन्नायिणमः।

क्रमेणोदाहरणम्—

'अन्तःपुरीयसि रणेषु, सुतीयसि त्वं
पौरं जनं, तव सदा रमणीयते श्रीः।

धर्मलोप इति। कलापमते=कातन्त्राऽपरनामव्याकरणमते। यिन्नायिणमः= यिन्, आयि, णमः प्रत्ययाः।

एकेनैव पद्येन पञ्चविधां लुप्तोपमामुदाहरति—अन्तःपुरीयसीति। कश्चित्कविः कंचिद्राजानं वर्णयति। हे क्षितीश = हे राजन्!, त्वं, रणेषु = युद्धेषु, अन्तःपुरीयसि = अन्तःपुरेषु (शुद्धान्तेषु) इव आचरसि, अन्तःपुरेषु इव सुखं विचरसीति भावः। अत्र "अन्तःपुरीयसी"त्यत्रोपमानवाचकादन्तःपुरेषु इत्यधिकरणपदात्, 'उपमानादाचारे" इत्यत्र "अधिकरणाच्चेति वक्तव्य"मिति वार्तिकेन क्यच् प्रत्ययः।

हे क्षितीश ! त्वं, पौरं = नागरिकं, जनं = लोकं, सुतीयसि = सुतमिव स्नेहनिर्भरमाचरसीति भावः। "सुतीयसी०"त्यत्रोपमानवाचकात् "सुतमि"ति कर्मपदात् "उपमानादाचारे" इति आचाराऽर्थे क्यच्प्रत्ययः। हे क्षितीश !, श्रीः =

क्यजिति। क्यच्, क्यङ् और णमुल् प्रत्यय कलापव्याकरणके मतमें यिन्, आयि और णम् प्रत्यय माने गये हैं। क्रमसे उदाहरण—

अन्तःपुरीयसीति। अन्तःपुरीयसि रणेषु = हे राजन्! आप युद्धभूमिमें अन्तःपुरीयसि = अन्तःपुरके समान आचरण करते हैं। यहाँ सुखपूर्वक विहाररूप आचरणका स्थान होना अन्तःपुर और रणका साधारणधर्म है, उसका लोप (अदर्शन) हुआ है। अन्तःपुरीयसि = अन्तःपुरेष्विव आचरसि, ऐसा विग्रह कर उपमानवाचक सप्तम्यन्त अन्तःपुर शब्दसे "अधिकरणाच्चेति वक्तव्यम्" इस वार्तिकसे क्यच् प्रत्यय हुआ है।

सुतीयसीति। त्वं पौरं जनं सुतीयसि = हे राजन्! आप पौर (नागरिक) जनको सुत (पुत्र) के समान आचरण करते हैं। यहां "सुतमिव आचरसि" ऐसा विग्रह कर उपमान वाचक द्वितीयान्त (कर्म) सुत शब्दसे "उपमानादाचारे" इस सूत्रसे क्यच् प्रत्यय हुआ है। यहाँ स्नेहाश्रयत्व पुत्र और प्रजाका साधारण धर्म है उसका लोप हुआ है।

तवेति। "श्रीः तव सदा रमणीयते" हे राजन्! लक्ष्मी आपकी सदा "रमणीयते" = रमणी इव आचरति अर्थात् स्त्रीकी तरह आचरण करती हैं। यहां "रमणी" इस कर्तृवाचक पदसे "कर्तुः क्यङ् सलोपश्च" इस सूत्रसे क्यङ्

दृष्टः प्रियाभिरमृतद्युतिदर्शमिन्द्र-
सञ्चारमत्र भुवि सञ्चरसि क्षितीश ! ॥'

अत्र 'अन्तःपुरीयसि' इत्यत्र सुखविहारास्पदत्वस्य, 'सुतीयसि' इत्यत्र स्नेहनिर्भरत्वस्य च साधारणधर्मस्य लोपः।

लक्ष्मीः, सदा = सर्वदा, तव=भवतः, रमणीयते=रमणी (वनिता) इव आचरति= सुखभोगं सम्पादयतीति भावः। "रमणीयते" इत्यत्र "रमणी"ति कर्तृपदात् "कर्तुः क्यङ् सलोपश्चे"ति क्यङ्। हे क्षितीश !, त्वं, प्रियाभिः = वल्लभाभिः, अमृतद्युतिदर्शं दृष्टः = अमृतद्युतिः (चन्द्रः) इव नयनाह्लादकरत्वेन दृष्टः, "अमृतद्युति"रिति कर्मपदात्, "उपमाने कर्मणि चे"ति णमुल्, "कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः" इत्यनेन दृश्धातोरनुप्रयोगः।

हे क्षितीश ! त्वम्, अत्र = अस्यां, भुवि = भूमौ, इन्द्रसंचारं संचरसि = इन्द्र इव संचरसि। अत्रेन्द्र इति कर्तर्युपपदे पूर्वसूत्रेण "उपमाने कर्मणि चे"ति णमुल्। "कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोग" इत्यनेन संपूर्वकचरधातोरनुप्रयोगः।

उक्तपद्ये साधारणधर्मलोपं दिग्दर्शनविधया प्रदर्शयति—अत्रेति। अत्र = अस्मिन्पद्ये, "अन्तःपुरीयसि रणेषु" सुखविहारास्पदत्वस्य = सानन्दक्रीडास्थानत्वस्य, "सुतीयसि" इत्यत्र स्नेहनिर्भरत्वस्य = वात्सल्यगाढत्वस्य च, साधारणधर्मस्य = सामान्यधर्मस्य, लोपः।

प्रत्यय हुआ है। यहां सुखभोगका साधन होना लक्ष्मी और रमणीका साधारण धर्म है, उसक लोप हुआ है।

दृष्ट इति। "प्रियाभिः (त्वम्) अमृतद्युतिदर्शं दृष्टः। हे राजन् ! आप प्रियाओंसे चन्द्रमाके समान देखे गये हैं। "अमृतद्युतिदर्शम्" यहांपर "अमृतद्युतिरिव दृष्टः इति, अमृतद्युतिदर्शम्" अमृतद्युतिरूप कर्मपद से दृशधातुसे "उपमाने कर्मणि च" इस सूत्रसे णमुल् प्रत्यय हुआ है और "कषादिषु यथाविध्यनुप्रयोगः" इस सूत्रसे दृश धातुका अनुप्रयोग हुआ है। यहां चन्द्रमाका और राजाका आह्लादकरत्व साधारण धर्म है उसका लोप हुआ है।

इन्द्रसंचारमिति। हे क्षितीश ! अर्थात् हे राजन् ! इस भूमिमें आप "इन्द्र संचारं संचरसि" अर्थात् इन्द्रसमान संचरण करते हैं। "इन्द्रसंचारम्" यहांपर "इन्द्र" यह कर्तृवाचक उपपद होनेपर "उपमाने कर्मणि च" इस सूत्रसे "सम्" उपसर्गपूर्वक चर धातुसे णमुल् प्रत्यय होकर पहलेकी तरह सम् पूर्वक चर धातुका अनुप्रयोग हुआ है। यहाँ हस्त्यश्वोपकरणातिशयरूप अर्थात् हाथी, घोड़े आदि उपकरणोंके आधिक्यरूप सामान्य धर्मका लोप है।

एवमन्यत्र।

इह च यथादितुल्यादिविरहाच्छ्रौत्यादिविशेषचिन्ता नास्ति। इदं च केचिदौपम्यप्रतिपादकस्येवादेर्लोप उदाहरन्ति, तदयुक्तम्—क्यङादेरपि तदर्थविहितत्वेनौपम्यप्रतिपादकत्वात्।

ननु क्यङादिषु सम्यगौपम्यप्रतीतिर्नास्ति प्रत्ययत्वेनास्वतन्त्रत्वाद्, इवादिप्रयोगाभावाच्चेति न वाच्यम्, कल्पवादावपि तथाप्रसङ्गात्। न च कल्पवादी-

---

एवमन्यत्रेति। इत्थमेव "रमणीयते श्री"रित्यत्र अधीनत्वस्य, "अमृतद्युतिदर्शम्" इत्यत्र मनोहरत्वस्य, "इन्द्रसञ्चारमि"त्यत्र हस्त्यश्वोपकरणाद्यतिशयस्य सामान्यधर्मस्य लोपः।

इह चेति। एषु उदाहरणेषु। **श्रौत्यादीति**। आदिपदेन आर्थीत्यस्य परिग्रहः।

काव्यप्रकाशकारमतं दूषयति—**इदं चेति**। इदं = पद्यं, केचित् = काव्यप्रकाशकारादयः। औपम्यप्रतिपादकस्य = उपमावाचकस्य, तथा च—"वादेर्लोपे समासे सा कर्माधारक्यच्क्यङि। कर्मकर्त्रोर्णमुलि" इति काव्यप्रकाशे।

तदयुक्तमिति। तदर्थेत्यादिः०—तदर्थः = तत्यर्थः।

दूषणान्तरमाशङ्कते—**नन्विति**। अस्वतन्त्रत्वात् = प्रकृतिसहचारं विना स्वार्थबोधने असमर्थत्वादिति भावः। कल्पबादाविति। तथाप्रसङ्गात् = उपमाप्रतीत्यभावावसरात्।

पुनराशङ्कते—**न चेति**। इवादितुल्यतया="ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः"

इह चेति। यहां (पूर्वोक्त उदाहरणोंमें) श्रौतीके यथा आदि और आर्थीके तुल्य आदि पदोंके न होनेसे उपमामें श्रौती और आर्थीकी विशेष चिन्ता नहीं है।

इदं चेति। इस पद्यको कोई विद्वान् (काव्यप्रकाशकाशकार आदि) उपमाके प्रतिपादक इव आदिके लोपमें (वाचकलुप्ताके तौरपर) उदाहरण देते हैं।

इसका खण्डन करते हैं—**तदयुक्तमिति**। यह अनुचित है, क्योंकि क्यङ् आदि प्रत्यय भी उसी अर्थ (उपमा)में विहित होकर उपमाके प्रतिपादक हैं। इस कारणसे वे साधर्म्यके प्रतिपादक हैं।

नन्विति। फिर आशङ्का करते हैं—क्यङ् आदि प्रत्ययोंमें अच्छी तरहसे उपमाकी प्रतीति नहीं होती है, क्योंकि वे प्रत्यय होनेसे स्वतन्त्र नहीं हैं और वहां इव आदिका प्रयोग भी नहीं है, अतः यह वाचकलुप्ता है।

खण्डन करते हैं—**इति न वाच्यम्**। ऐसा नहीं कहना चाहिए। ऐसा मानें तो कल्पप् आदि प्रत्ययमें भी वैसा ही प्रसङ्ग होगा। अर्थात् वहां भी वाचकलुप्ता होगी।

फिर आशङ्का करते हैं—**न चेति**। कल्पप् आदि प्रत्यय "इव" आदिके

नामिवादितुल्यतयौपम्यस्य वाचकत्वम्, क्यङादीनां तु द्योतकत्वम्; इवादीनामपि वाचकत्वे निश्चयाभावात्। वाचकत्वे वा 'समुदितं पदं वाचकम्' 'प्रकृतिप्रत्ययौ स्वस्वार्थबोधकौ' इति च मतद्वयेऽपि वत्यादिक्यङाद्योः साम्यमेवेति। यच्च केचिदाहुः—'वत्यादय इवाद्यर्थेऽनुशिष्यन्ते, क्यङादयस्त्वाचाराद्यर्थे' इति, तदपि न; न खलु क्यङादय आचारमात्रार्थाः, अपि तु सादृश्याचारार्था इति। तदेवं धर्मलोपे दशप्रकारा लुप्ता।

इति सूत्राऽनुसारेण कल्पबूदेश्यदेशीयरः प्रत्यया इवार्थद्योतका इति भावः। द्योतकत्वं = वाच्यमिति शेषः। न वाचकत्वमिति भावः।

इवादीनामपीति। व्याकरण औपम्यप्रतिपादकानामिवादीनां वाचकत्वाऽनङ्गीकारः। तेषामनुमानम्—इवादयः सादृश्यद्योतकाः, निपातत्वात्, उपसर्गवदिति। अतस्तेषां वाचकत्वे—निश्चयाऽभावात्—निर्णयाऽभावात्।

वाचकत्व इति। इवादीनां वाचकत्वे वा, आलङ्कारिकमताऽनुसारेणेति भावः। समुदितं = प्रकृतिप्रत्ययाभ्यां मिलितं, पदं वाचकम्। नतु प्रकृतिमात्रं न वा प्रत्ययमात्रमिति भावः। अतः "न केवला प्रकृतिः प्रयोक्तव्या, न वा केवलः प्रत्ययः, उभौ समुदितावर्थं ब्रूत" इति महाभाष्यकाराः।

प्रकृतिप्रत्ययाविति। स्वस्वाऽर्थबोधकौ = क्रमेण स्वस्वार्थबोधकाविति भावः। इति मतद्वयेऽपि = सिद्धान्तद्वितयेऽपि।

मतान्तरं दूषयितुमुपक्रमते—**यच्चेति।** वत्यादयः = प्रत्ययाः, इवाद्यर्थे, अनुशिष्यन्ते="तत्र तस्येवे"ति शास्त्रेण विधीयन्ते, क्यङादयः=प्रत्ययाः, आचाराद्यर्थे="कर्तुः क्यङ् सलोपश्चे"त्यतः "उपमानादाचारे" इत्यतश्च इति भावः।

पूर्वोक्तमतं दूषयति—**तदपि नेति।**

निगमयति—**तदेवमिति।** धर्मलोपे = सामान्यधर्मलोपे।

त्य होनेसे उपमाके वाचक हैं परन्तु क्यङ् आदि तो सादृश्यके द्योतक हैं, वाचक नहीं यह भी नहीं कहना चाहिए।

इवादीनामपि। इव आदि पदोंके वाचकत्वमें भी निश्चय नहीं हैं। इव आदि पदोंको वाचक माननेमें भी समुदित (प्रकृति और प्रत्ययसे मिलित) पद वाचक होता है वा प्रकृति और प्रत्यय दोनों अपने-अपने अर्थके बोधक होते हैं इस प्रकार दोनों मतोंमें वति आदि और क्यङ् आदि प्रत्ययोंका समता ही है, सर्वथा भेद नहीं है।

यच्चेति। जो कोई विद्वान् कहते हैं—वति आदि प्रत्ययोंका इव आदिके अर्थमें अनुशासन होता है और क्यङ् आदि प्रत्यय आचार आदि अर्थमें ही होते हैं, यह भी उचित नहीं है क्योंकि क्यङ् आदि प्रत्यय आचारमात्रके अर्थमें नहीं होते हैं, सादृश्यविशिष्ट आचार अर्थमें भी होते हैं।

इसप्रकार साधारण धर्मके लोपमें लुप्तोपमाके दश भेद होते हैं।

उपमानानुपादाने द्विधा वाक्यसमासयोः ।

उदाहरणम्—

'तस्या मुखेन सदृशं रम्यं नास्ते न वा नयनतुल्यम्' ।

अत्र मुखनयनप्रतिनिधिवस्त्वन्तरयोर्गम्यमानत्वादुपमानलोपः । अत्रैव च 'मुखेन सदृशम्' इत्यत्र "मुखं यथेदं' 'नयनतुल्यम्' इत्यत्र 'दृगिव' इति पाठे श्रौत्यपि संभवतीति । अनयोर्भेदयोः प्रत्येकं श्रौत्यार्थीत्वभेदेन चतुर्विधत्वसंभवेऽपि प्राचीनानां रीत्या द्विप्रकारत्वमेवोक्तम् ।

उपमानाऽभावे लुप्तोपमामाह—**उपमानानुऽपादान इति** । उपमानस्य, अनुपादाने (अग्रहणे), वाक्यसमासयोः, द्विधा = द्विप्रकारा ।

आर्याद्धेन द्विविधामपि लुप्तोपमामुदाहरति—**तस्या इति** । वाक्यगतां लुप्तोपमानां लुप्तोपमामुदाहरति—तस्याः = सुन्दर्याः, मुखेन = वदनेन, सदृशं = तुल्यं, रम्यं = रमणीम, वस्तु । न आस्ते = न विद्यते । अत्र मुखसदृशवस्त्वन्तररूपस्योपमानस्याऽभावात् वाक्यगता लुप्तोपमाना लुप्तोपमा ।

समासगतां लुप्तोपमानां लुप्तोपमामुदाहरति—वा = अथ वा, तस्या नयनतुल्यं = नेत्रसदृशं, रम्यं = मनोहरं वस्तु, न अस्ति । अत्र नयनसदृशवस्त्वन्तररूपस्योपमानस्याऽभावात् समासगता लुप्तोपमाना लुप्तोपमा ।

विवृणोति—**अत्रेति** । मुखेत्यादिः० = मुखनयनप्रतिनिध्योः । (वदनलोचनसदृशयोः) वस्त्वन्तरयोः (पदार्थान्तरयोः) गम्यमानत्वात् = व्यञ्जनावृत्या प्रतिपाद्यत्वात्, अवाच्यत्वादिति भावः, उपमानलोपः ।

अत्र श्रौत्याः आर्थ्याश्च सम्भावनामाह—**अत्रैव** = अस्मिन्नुदाहरण एव । "मुखेन सदृशम्" इत्यत्र "मुखं यथेदम्" अत्र वाक्यगता श्रौती, तथैव "नयन-

---

उपमानाऽनुपादान इति । उपमान के अनुपादान अर्थात् ग्रहण न होनेपर लुप्तोपमाके दो भेद होते हैं, वाक्यगत और समासगत ।

उदाहरण—**तस्या इति** । उस (सुन्दरी) के मुखके सदृश और नेत्रतुल्य रम्य (सुन्दर) वस्तु नहीं है । "मुखेन सदृशं रम्यं नाऽऽस्ते" यह वाक्यगत और "नयनतुल्यम्" यह समासगत लुप्तोपमा है ।

अत्रेति । यहां मुख और नयनके प्रतिनिधि (सदृश) अन्य वस्तु गम्यमान (व्यञ्जनासे व्यज्यमान) होनेसे उपमानका लोप हुआ है । इसी पद्यार्द्धमें "मुखेन सदृशम्" यहां "मुखं यथेदम्" और "नयनतुल्यम्" यहां "दृगिव" ऐसा पाठ करें तो श्रौती लुप्तोपमा भी हो सकती है । इसप्रकार वाक्यगत और समासगत भेदोंके प्रत्येकके श्रौती और आर्थीके भेदसे चार भेदोंके होने पर भी प्राचीन आलङ्कारिकोंकी रीतिसे दो ही भेद कहे गये हैं ।

औपम्यवाचिनो लोपे समासे क्विपि च द्विधा ॥ २०

क्रमणादाहरणम्—

'वदनं मृगशावाक्ष्याः सुधाकरमनोहरम् ।'

'गर्दभति श्रुतिपरुषं व्यक्तं निनदन् महात्मनां पुरतः ।'

तुल्यम्" इत्यत्र "इगिव" इति पाठे समासगता श्रौत्यपि संभवति । अनयोर्भेदयोः = वाक्यसमासगतयोः । प्राचीनानां = प्राचीनाऽलङ्कारशास्त्रिणाम् ।

उपमावाचकस्य लोपे विद्विधां लुप्तोपमां प्रतिपादयति—**औपम्यवाचिन इति** । औपम्यवाचिनः = उपमावाचकस्य, लोपे = अदर्शने, समासे, क्विपि च = क्विप् प्रत्यये च, लुप्तोपमा, द्विधा = द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां, भवतीति शेषः ॥ २० ॥

समासे उपमावाचकस्य लोपे लुप्तोपमामुदाहरति—**वदनमिति** । मृगशावाक्ष्याः= मृगशावस्य (हरिणशिशोः) इव अक्षिणी (नेत्रे) यस्यास्तस्य, हरिणशावकलोचनायाः, चपलनयनाया इति भावः । वदनं = मुखं, सुधाकरमनोहरं = सुधाकरः (चन्द्रः) इव, मनोहरम् (सुन्दरम्) अस्तीति शेषः । "उपमानानि सामान्यवचनैः" इति समासः । अत्रोपमावाचिन इवपदस्य लोपे समासगा लुप्तोपमा ।

क्विपि उपमावाचकस्य लोपे लुप्तोपमामुदाहरति—**गर्दभतीति** । महात्मनां= महानुभावानां, पुरतः = अग्रतः, व्यक्तं = स्पष्टं, श्रुतिपरुषं = कर्णकठोरं यथा तथा निनदन् = शब्दं कुर्वन् पुरुषः, गर्दभति = गर्दभः (खरः) इव आचरति, अत्र "सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब् वा वक्तव्य" इति वार्तिकेनोपमानवाचकाद् गर्दभपदादाचाराऽर्थे क्विप्प्रत्ययः, तस्य सर्वाऽपहारिलोपः । अत्र गर्दभ उपमानं, पुरुषः उपमेयः, परुषनादः सामान्यधर्मः, तथा चाऽत्रोपमावाच्चकस्य क्विप्प्रत्ययस्य लोपः ।

औपम्यवाचिन इति । उपमावाचक पदके लोपमें समास और क्विप् प्रत्ययमें लुप्तोपमाके दो भेद होते हैं ॥ २० ॥

क्रमसे उदाहरण—**वदनमिति** । मृगशावाक्ष्याः = मृगशाव (मृगशिशु)के समान नेत्रोंवाली सुन्दरीका मुख चन्द्रमाके समान मनोहर है । "सुधाकरमनोहरम्" इस पदमे "सुधाकर इव मनोहरम्" ऐसा विग्रह कर "उपमानानि सामान्यवचनैः" इस सूत्रसे समास हुआ है । यहांपर उपमावाचक पदका लोप (अभाव) होनेसे समासगत लुप्तोपमा है ।

गर्दभतीति । वह महात्माओंके सामने स्पष्ट कर्णकठोर शब्द करता हुआ गधेके समान आचरण करता है । यहाँ "गर्दभति" गर्दभ इव आचरति ऐसा विग्रह कर गर्दभ शब्दसे "सर्वप्रातिप्रदिकेभ्यः क्विब् वा वक्तव्यः" इस वार्तिकसे क्विप् प्रत्यय होकर उसका सर्वाऽपहारी लोप हुआ है । यहाँ गर्दभ-उपमान, पुरुष—उपमेय, और परुषनाद (कठोर ध्वनि)—सामान्य धर्म है । यहांपर उपमावाचक क्विप् प्रत्ययका लोप हुआ है, अतः यह क्विप्प्रत्ययगत लुप्तोपमाका उदाहरण है ।

अत्र 'गर्दभति' इत्यत्रौपम्यवाचिनः क्विपो लोपः। न चेहोपमेयस्यापि लोपः, 'निनदन्' इत्यनेनैव निर्देशात्।

द्विधा समासे वाक्ये च लोपे धर्मोपमानयोः।

'तस्या मुखेन' इत्यादौ 'रम्यम्' इति स्थाने 'लोके' इति पाठेऽनयोरुदाहरणम्।

क्विप्समासगता द्वेधा धर्मेवादिविलोपने ॥ २१ ॥

विवृणोति—**अत्रेति**। न चाऽत्रोपमेयस्य लोपः, "निनदन्" इत्यनेनैव निर्देशात्।

सामान्यधर्मोपमानलोपे द्विविधां लुप्तोपमां प्रतिपादयति—**द्विधेति**। **धर्मोपमानयोः** = सामान्यधर्मस्य उपमानस्य च लोपे, समासे वाक्ये च लुप्तोपमा, **द्विधा** = द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां संभवतीति शेषः।

विवृतौ द्विविधां लुप्तोपमामुदाहरति—**तस्या इति**। "तस्या मुखेन सदृशं रम्यम्" इत्यत्र "रम्यम्" इति स्थाने "लोके" इति पाठे "रम्यम्" इति सामान्यधर्मस्य लोपस्तथा नयनसदृशवस्त्वन्तररूपस्योपमानस्य च लोपः।

सामान्यधर्मस्येवाद्युपमावाचकस्य पदस्य लोपे द्विविधां लुप्तोपमामाह—**क्विबिति**। धर्मेवादिविलोपने = धर्मस्य (सामान्यधर्मस्य) इवादेः (सादृश्यवाचकस्य पदस्य) विलोपने (अदर्शने), क्विप्समासगता = क्विप्प्रत्ययगता समासगता च, लुप्तोपमा, द्वेधा = द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां भवतीति शेषः ॥ २१ ॥

न चेति। यहां उपमेयका लोप नहीं है, "निनदन्" इसी पदसे उसका निर्देश हुआ है।

द्विधेति। साधारण धर्म और उपमान दोनोंके लोपमें समासगत और वाक्यगत होकर लुप्तोपमा के दो भेद होते हैं।

उदाहरण—**तस्या० इति**। "तस्या मुखेन" इत्यादिमें "रम्यम्" इसके स्थानमें "लोके" ऐसा पाठ करें तो "रम्यम्" इस साधारण धर्मका लोप और "नयनतुल्यं नास्ते" कहनेसे नयनके सदृश दूसरे वस्तुरूप उपमानका भी लोप होनेसे दोनों उदाहरण हो जाते है।

क्विप्समासगतेति। साधारण धर्म और इव आदि उपमावाचक पदोंके लोपमें क्विब्गता और समासगता दो लुप्तोपमाएं होती हैं ॥ २१ ॥

उदाहरणम्—

'विधवति मुखाब्जमस्याः'

अत्र 'विधवति' इति मनोहरत्व-क्विप्प्रत्यययोर्लोपः। केचित्त्वत्राऽपि प्रत्ययलोपमाहुः। "मुखाब्जम्" इति च समासगा।

उपमेयस्य लोपे तु स्यादेका प्रत्यये क्यचि।

अनन्तरोक्तां द्विविधामपि लुप्तोपमामुदाहरति—**विधवतीति।** अस्याः = सुन्दर्याः, मुखाऽब्जं = मुखम् (वदनम्) अब्जम् (कमलम्) इव, "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इति समासः। विधवति = विधुः (चन्द्रः) इव आचरति, "सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब् वा वक्तव्य" इति वार्तिकेन विहितस्य साधारणधर्मवाचकस्य मनोहरत्वस्य क्विप्प्रत्ययस्य च लोपः अत इयं क्विप्प्रत्यय-गता लुप्तोपमा।

केचित्त्विति। केचित् = आलङ्कारिकाः, तु, अत्राऽपि = "विधवती" त्यत्राऽपि, प्रत्ययलोपं = "गर्दभती"त्यत्रेव, प्रत्ययलोपः = क्विप्प्रत्ययलोपः आहुः कथयन्ति। न पुनः सादृश्यलोपमिति भावः। "केचित्" इति लेखनेन ग्रन्थकृतोऽसम्मतिः प्रतीयते। "मुखाऽब्जम्" इत्यत्र सादृश्यवाचकस्य = इवादेश्च लोपात् समासगता लुप्तोपमा।

क्यच्प्रत्यये उपमेयलोपे लुप्तोपमामाह—**उपमेयस्येति।** लोपे = अग्रहणे एका = एकविधा, लुप्तोपमेति भावः।

उदाहरण—**विधवति।** इस (सुन्दरी) का कमलके समान मुख वि[धु] (चन्द्रमा) के समान आचरण करता है। "मुखाऽब्जम्" इस पदमें "मुखम् अब्ज इव" ऐसा विग्रह करके "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इस सूत्रसे उप[मित] समास हुआ है। यहां सादृश्यका समाससे बोध होता है, यह समासगत लुप्तोपमा है। "विधवति" इस पदमें "विधुः (चन्द्रः) इव आचरति" ऐसा विग्र[ह] करके विधु पदसे "सर्वप्रातिपदिकेभ्यः क्विब् वा वक्तव्यः" इस वार्तिकसे क्वि[प्] प्रत्यय होकर सर्वाऽपहारी लोप हुआ है। इस प्रकार यहां मनोहरत्वरूप साधार[ण] धर्मका और क्विप् प्रत्ययका लोप है। यह क्विप्प्रत्ययगता लुप्तोपमा है।

अत्रेति। "विधवति" इस पदमें मनोहरत्व और क्विप्प्रत्ययका लो[प] हुआ है। कोई विद्वान् यहां प्रत्ययलोपमात्र कहते हैं, सादृश्यलोप नहीं "केचित्" ऐसा लिखनेसे इस मतमें ग्रन्थकारकी अरुचि प्रदर्शित होती है। "मुख[ा]ब्जम्" यहां पर समासगता लुप्तोपमा है।

उपमेयस्येति। उपमेयके लोप (अग्रहण) में क्यच् प्रत्ययमें एक लु[प्तो]पमा होती है।

यथा—

'अरातिविक्रमालोकविकस्वरविलोचनः ।
कृपाणोदग्रदोर्दण्डः स सहस्रायुधीयति ॥'

अत्र 'सहस्रायुधमिवात्मानमाचरति' इति वाक्ये उपमेयस्यात्मनो लोपः। न चेहौपम्यवाचकलोपः, उक्तादेव न्यायात्। अत्र केचिदाहुः—'सहस्रायुधेन

क्यच्प्रत्यय उपमेयलोपे लुप्तोपमामुदाहरति—**अरातीति**। अरातिविक्रमस्य (शत्रुपराक्रमस्य) आलोकेन (दर्शनेन) विकस्वरे (विस्फारिते, उत्साहेनेति शेषः) विलोचने (नेत्रे) यस्य सः। तथा कृपाणेन (खड्गेन) उदग्रः (उन्नतः) दोर्दण्डः (बाहुदण्डः) यस्य सः। तादृशः सः = कश्चित् राजा, सहस्रायुधीयति = सहस्रम् (दशशतीसंख्यकानि) आयुधानि (शस्त्राणि) यस्य स सहस्रायुधः, सहस्रायुधम् इव आत्मानम् आचरतीति सहस्रायुधीयति। अत्र "उपमानादाचारे" इति सूत्रेणोपमानवाचकात् द्वितीयान्तात् सहस्रायुध-शब्दात् आचारार्थे क्यच्। आचारश्चाऽत्र दुर्जयत्वादिः।

विवृणोति—**अत्रेति**। सहस्रायुधीयतीत्यत्र। उपमेयस्य = आत्मनो लोपः।

न चेति। इह = अत्र, न औपम्यवाचकलोपः = उपमावाचकलोपः।

अत्र हेतुमाह—**उक्तादेवेति**। पूर्वोक्तादेव न्यायात् = क्यजादिप्रत्ययानामुपवाचकत्वमिति प्रागेवाऽभिधानात्।

अत्र मतान्तरं प्रदर्श्य खण्डयति—**अत्र केचिदाहुरिति**। सहस्रायुधेन सह वर्तत इति ससहस्रायुधः, "तेन सहेति तुल्ययोगे" इति बहुव्रीहिः। "वोपसर्जनस्य

उदाहरण—**अरातीति**। शत्रुओंका पराक्रम देखनेसे विकसित नेत्रोंवाले और खड्गका ग्रहण करनेसे ऊँचे बाहुदण्डसे युक्त वे राजा सहस्र (हजारों) आयुधवालेके समान अपनेको दिखलाते हैं।

अत्रेति। इस पद्यमें "सहस्रायुधमिवात्मानमाचरति" ऐसे विग्रह वाक्यमें उपमानवाचक द्वितीयान्त सहस्रायुध शब्दसे "उपमानादाचारे" इस सूत्रसे आचार अर्थमें क्यच् प्रत्यय हुआ है। आचार यहां दुर्जयत्व आदि है। इसमें उपमान—सहस्रायुध, उपमेय—आत्मा और उसका लोप हुआ है। साधारण धर्म—विकस्वरविलोचनत्व और उदग्रदोर्दण्डत्व, उपमावाचक—क्यच् प्रत्यय है। यहां उपमावाचकका लोप नहीं है, क्योंकि क्यच् आदि प्रत्यय उपमावाचक होते हैं, यह पहले ही कह चुके हैं।

अत्र केचिदिति। यहां कोई विद्वान् कहते हैं—सहस्रायुधेन सह वर्तते इति ससहस्रायुधः, "तेन सहेति तुल्ययोगे" इस सूत्रसे बहुव्रीहि समास हुआ है। ससहस्रा-

सह वर्तत इति ससहस्रायुधः, स इवाचरतीति वाक्यात्ससहस्रायुधीयतीति पद-सिद्धौ विशेष्यस्य शब्दानुपात्तत्वादिहोपमेयलोपः' इति, तन्न विचारसहम्; कर्तरि क्यचोऽनुशासनविरुद्धत्वात्।

धर्मोपमेयलोपेऽन्या—

यथा—

'यशसि प्रसरति भवतः क्षीरोदीयन्ति सागराः सर्वे।'

इति सूत्रेण सहस्थाने स आदेशः। पदसिद्धौ = शब्दसिद्धौ सत्याम्। विशेष्यस्य = ससहस्रायुधीयतीति क्रियायाः कर्तुः, शब्दाऽनुपातत्वात् = शब्देन (पदेन) अनुपात्तत्वात् (अगृहीतत्वात्)।

तन्न, विचारसहं = विमर्शसमर्थम्। कर्तरीति = कर्तरि क्यचः, अनुशासन-विरुद्धत्वात् = "उपमानादाचारे" इत्यनुशासनविरुद्धत्वात्, कर्मण्येव क्यचोऽनुशासना-दिति भावः।

धर्मोपमेयलोपे लुप्तोपमां प्रदर्शयति—धर्मोपमेयलोपे इति। धर्मस्य (साधारणधर्मस्य) उपमेयस्य च लोपे, अन्या = अपरा, लुप्तोपमा। धर्मोपमेयलोपे लुप्तोपमामुदाहरति—यशसीति। कश्चित्कविः कंचिद्राजानं वर्णयति—हे राजन्! भवतः = तव, यशसि = कीर्तौ, प्रसरति = विस्तरति सति, सर्वे = समस्ताः, सागराः = समुद्राः, क्षीरोदीयन्ति = क्षीरोदम् (क्षीरसमुद्रम्) इव आत्मानम् (स्वम्) आचरन्ति, पूर्वसूत्रेण क्यच्प्रत्ययः। अतिशुक्लेन भवद्यशसा सर्वे समुद्राः क्षीरसमुद्रसमानाः संजाता इति भावः।

विवृणोति। आचरन्तीति = अत्रोपमेय आत्मा, साधारणधर्मश्च शुक्लतेति द्वावपि लुप्तौ, अतो लुप्तोपमा।

युध इव आचरति ऐसे विग्रहवाक्यसे "ससहस्रायुधीयति" ऐसे पदकी सिद्धि होनेपर विशेष्य (उपमेय) के शब्दसे ग्रहण न होनेसे यहां उपमेयका लोप है।

इस मतका खण्डन करते हैं—तन्नेति। यह विचार करनेपर नहीं जँचता है। कर्ता में क्यच् प्रत्यय होना व्याकरणसे विरुद्ध है।

धर्मोपमेय लोपेऽन्येति। साधारण धर्म और उपमेयके लोपमें अन्य लुप्तोपमा होती है।

उदाहरण—यशसीति। हे राजन्! आपके यशके फैलनेपर सम्पूर्ण समुद्र क्षीरसमुद्रके समान होते हैं।

अत्र क्षीरोदमिवात्मानमाचरन्तीत्युपमेय आत्मा, साधारणधर्मः शुक्लता च लुप्तौ ।

—त्रिलोपे च समासगा ॥ २२ ॥

यथा—

'राजते मृगलोचना ।'

अत्र मृगस्य लोचने इव चञ्चले लोचने यस्या इति समासे उपमाप्रतिपादक-साधारणधर्मोपमानानां लोपः ।

तेनोपमाया भेदाः स्युः सप्तविंशतिसंख्यकाः ।

धर्मोपमानेवादिलोपे लुप्तोपमां प्रदर्शयति—**त्रिलोपे चेति** । त्रिलोपे = साधारणधर्मस्य, उपमानवाचकपदस्य, इवादिपदस्य = उपमावाचकस्य पदस्य च, त्रिलोपे = त्रयाणां लोपे समासगता लुप्तोपमा ॥ २२ ॥

त्रिलोपे लुप्तोपमामुदाहरति—"राजत" इति । मृगलोचना = हरिणनयना, सुन्दरी, राजते = शोभते ॥

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, मृगलोचना = मृगस्य (हरिणस्य) लोचने (नयने) इव चञ्चले (चपले) लोचने यस्याः, सा । इति समासे उपमेत्यादि०=उपमाप्रतिपादकस्य (इवशब्दस्य) साधारणधर्मस्य (चञ्चलत्वस्य) उपमानस्य (लोचनपदस्य) च लोपः, अतः समासगा लुप्तोपमा ।

उपमाभेदान् सङ्कलयति—**तेनेति** । तेन = पूर्वोक्तप्रकारेण ॥

अत्रेति । यहां "क्षीरोदम् इव आत्मानम् आचरन्ति" ऐसा विग्रह कर पूर्वसूत्रसे क्यच् प्रत्यय हुआ है । यहां उपमेय—आत्मा और साधारण धर्म-शुक्लताका लोप (अग्रहण) है, अतः यह लुप्तोपमाका उदाहरण है ।

त्रिलोपे चेति । साधारण धर्म, उपमानवाचकपद और उपमावाचक इव आदि पदके लोपमें समासगता एक ही लुप्तोपमा होती है ॥ २२ ॥

उदाहरण देते हैं—**राजत इति** । मृगलोचना अर्थात् मृगके लोचनोंके समान लोचनोंवाली सुन्दरी शोभित होती है ।

अत्रेति । यहां "मृगस्य लोचने इव चञ्चले लोचने यस्याः "सा" ऐसा विग्रह कर बहुव्रीहि समासमें उपमावाचक शब्द, चञ्चलत्वरूप साधारण धर्म और उपमान लोचन पदका भी लोप हुआ है ।

तेनेति । इस प्रकारसे उपमाके सत्ताइस भेद होंगे ।

पूर्णा षड्विधा, लुप्ता चैकविंशतिविधेति मिलित्वा सप्तविंशतिप्रकारोपमा। एषु चोपमाभेदेषु मध्येऽलुप्तसाधारणधर्मेषु भेदेषु विशेषः प्रतिपाद्यते—

एकरूपः क्वचित्क्वापि भिन्नः साधारणो गुणः ॥ २३ ॥

भिन्ने बिम्बानुबिम्बत्वं शब्दमात्रेण वा भिदा ।

तत्र एकरूपे यथा उदाहृतम्—'मधुरः सुधावदधरः—' इत्यादि।

विवृणोति—**पूर्णेति**। पूर्णा, षड्विधा = षोढा, श्रौत्यस्त्रिविधा आर्थ्यश्च त्रिविधा इति समष्ट्येतिभावः। लुप्तोपमा चैकविंशतिधा इति मिलित्वा सप्तविंशतिप्रकारोपमा।

उपमां भेदद्वयेन प्रदर्शयितुमुपक्रमते—**एष्विति**। भेदेषु = प्रकारेषु, विशेषः = भेदः।

एकरूप इति। साधारणो गुणः = सामान्यो धर्मः, क्वचित् = कुत्रचित्, एकरूपः = एकप्रकारः, क्वाऽपि = कुत्राऽपि स्थले, भिन्नः = भेदयुक्तः ॥ २३ ॥

भिन्नस्याऽपि साधारणधर्मस्य द्वैविध्यमाह—**भिन्ने इति**। भिन्ने = भेदयुक्ते साधारणधर्मे, कुत्रचित् बिम्बाऽनुबिम्बत्वं = बिम्बप्रतिबिम्बभावत्वं, प्रणिधानगम्यसाम्यत्वमिति भावः। वा = अथवा, शब्दमात्रेण = केवलपदेन, भिदा = भेदः, न पुनर्वस्तुतो भेद इति भावः ॥ २४ ॥

साधारणधर्मस्यैकरूपत्व उपमामुदाहरति—"मधुरः सुधावदधरः (पृ० १२८)"। अत्र मधुरत्वस्य, अतिपेलवत्वस्य चपलत्वस्य च साधारणगुणस्यैकरूपत्वमेव।

क्रियारूपस्य साधारणधर्मस्यैकत्व उपमोदाहरणम्—"स्त्रीव गच्छति षण्ढोऽयं वक्त्येषा स्त्री पुमानिव।" इति। अत्र गमनस्य वचनस्य च क्रियारूपसाधारणधर्मस्यैकरूपत्वमेव।

पूर्णेति। पूर्णाके छः भेद और लुप्तोपमाके इक्कीस भेद इस प्रकार सङ्कलन कर उपमाके कुल सत्ताईस भेद होते हैं।

एषु चेति। उपमाके इन भेदोंमें, जिनमें साधारण धर्मका लोप नहीं होता है उन भेदोंमें विशेषः (भेद) दिखलाते हैं—

एकरूप इति। उपमामें साधारण धर्म कहीं एक प्रकारका और कहीं भिन्न (भेदयुक्त) होता है ॥ २३ ॥

उपमामें साधारण धर्म भिन्न होनेपर बिम्बाऽनुबिम्बत्व (बिम्बप्रतिबिम्बभाव) वा शब्दमात्रसे भेद होता है।

एकरूपमें उदाहरण—"मधुरः सुधावदधरः" इत्यादि।

यहां मधुरत्व, अतिपेलवत्व और चपलत्व इन साधारण धर्मोंका एकरूपत्व ही है।

बिम्बप्रतिबिम्बत्वे यथा—

'भल्लापवर्जितैस्तेषां शिरोभिः श्मश्रुलैर्महीम्।
तस्तार सरघाव्याप्तैः स क्षौद्रपटलैरिव ॥'

अत्र 'श्मश्रुलैः' इत्यस्य 'सरघाव्याप्तैः' इति दृष्टान्तवत्प्रतिबिम्बनम्।

शब्दमात्रेण भिन्नत्वे यथा—

'स्मेरं विधाय नयनं विकसितमिव नीलमुत्पलं मयि सा।
कथयामास कृशाङ्गी मनोगतं निखिलमाकूतम् ॥'

साधारणधर्मस्य भिन्नत्वे बिम्बानुबिम्बत्वमुदाहरति—**भल्लाऽपवर्जितै-रिति**। रघुवंशस्य चतुर्थसर्गे रघोर्दिग्विजयप्रसङ्गस्थं पद्यमिदम्। सः=रघुः, भल्लाऽपवर्जितैः = भल्लेन (बाणविशेषेण) अपवर्जितैः (कृत्तैः), "स्नुहीदलफलो भल्ल" इति यादवः। तेषां = पाश्चात्यानां, श्मश्रुलैः = प्रवृद्धमुखरोमवद्भिः, शिरोभिः=मस्तकैः, सरघाव्याप्तैः=सरघाभिः (मधुमक्षिकाभिः, "सरघा मधुमक्षिका" इत्यमरः। व्याप्तैः (पूर्णैः,) क्षौद्रपटलैः = क्षौद्राणां (मधूनाम्) पटलैः (सञ्चयैः). इव। क्षुद्राभिः = सरघाभिः कृतानि क्षौद्राणि, "क्षुद्राभ्रमरवटरपादपादञ्" इति संज्ञायामञ् प्रत्ययः। महीं = भूमिं, तस्तार = आच्छादयामास। अनुष्टुब् वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन् पद्ये, "श्मश्रुलैः" इत्यस्य "सरघा-व्याप्तैः" इति बिम्बभूतस्य, दृष्टान्तवत् = दृष्टान्तः (सादृश्यम्), तच्चाऽत्र पिङ्गलस्वरूपं, तद्वत् (तद्विशिष्टम्) प्रतिबिम्बनं = मनसाऽभेदारोपः, श्मश्रुलत्व—सरघाव्याप्तत्व-योर्धर्मयोर्भिन्नत्वेऽपि प्रातिस्विकपिङ्गलत्वादिधर्मसाजात्येन सादृश्यात्समानता शिरः-क्षौद्रपटलयोर्धर्मिणोः साम्यबीजम्।

शब्दमात्रेण भिन्नत्वे उपमोदाहरणं यथा—**स्मेरमिति**। कश्चिन्नायको मित्रसमीपे स्वनायिकां वर्णयति। कृशाङ्गी=तन्वङ्गी, मत्प्रियेति भावः। विकसितं=

बिम्बप्रतिबिम्बभावमें उदाहरण जैसे—**भल्लाऽपवर्जितैरिति**। रघुने मधुमक्खियोंसे व्याप्त शहदके छत्तोंके समान—भल्ल नामक बाणविशेषोंसे काटे गये उन पाश्चात्यों (यवनों)के मूछ और डाढ़ियोंसे युक्त मस्तकोंसे जमीनको आच्छादित कर दिया।

अत्रेति। यहाँ "श्मश्रुलैः" इस बिम्बभूत पदार्थका "सरघाव्याप्तत्व" इस पदार्थसे दृष्टान्त (सादृश्य) पिङ्गलत्व है उससे युक्त प्रतिबिम्बन है।

श्मश्रुलत्व और सरघाव्याप्तत्व दो धर्मोंके भेद होने पर भी स्वगतपिङ्गल-त्वादि धर्मकी सजातीयताके सादृश्यसे समानता है यह भाव है।

शब्दमात्रसे भिन्नत्वमें उदाहरण देते हैं—

स्मेरमिति। उस कृशाङ्गी (पतले शरीरवाली)ने विकसित नील कमलके सदृश नेत्रोंको मेरे ऊपर करके मनमें रहे हुए संपूर्ण अभिप्रायको प्रकाशित कर दिया।

अत्रैके एव स्मेरत्वविकसितत्वे प्रतिवस्तूपमावच्छब्दभेदेन निर्दिष्टे।

एकदेशविवर्तिन्युपमा वाच्यत्वगम्यते ॥ २४ ॥

भवेतां यत्र साम्यस्य—

यथा—

'नेत्रैरिवोत्पलैः, पद्मैर्मुखैरिव सरःश्रियः।
पदे पदे विभान्ति स्म चक्रवाकैः स्तनैरिव ॥'

अत्रोत्पलादीनां नेत्रादीनां सादृश्यं वाच्यं, सरःश्रीणां चाङ्गनासाम्यं गम्यम्।

प्रफुल्लं, नीलं = कृष्णवर्णम्, उत्पलं = कुवलयम्, इव मयि = विषये, स्मेरं = विस्फारितं, नयनं = नेत्रं, विधाय = कृत्वा, मनोगतं = हृदयस्थितं, निखिलं = समस्तम्, आकूतम् = अभिप्रायं, कथयामास=ज्ञापयामासेति भावः। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, एके एव = अभिन्ने एव, स्मेरत्वस्य विकसितत्वस्य चाऽविशेषादिति भावः। प्रतिवस्तूपमावत् = प्रतिवस्तूपमालङ्कारवत्। शब्दभेदेन = पदभेदेन, निर्दिष्टे = प्रदिष्टे। अत्र संख्यावाचकस्यैकशब्दस्य द्विवचने प्रयोगो व्याकरणविरुद्धः।

एकदेशविवर्तिनीमुपमां लक्षयति—**एकेति**। यत्र=यस्मिन् स्थाने, साम्यस्य= सादृश्यस्य, वाच्यत्व-गम्यते = वाच्यत्वम् (अभिधावृत्तिप्रतिपाद्यत्वम्) गम्यता (व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्यता) च, भवेतां = स्याताम्, तत्र एकदेशविवर्तिनी उपमा।

एकदेशविवर्तिनीमुपमामुदाहरति—**नेत्रैरिति**। शरदृतोर्वर्णनमिदम्। सरःश्रियः = कासारशोभाः, नेत्रैः = नयनैः, इव, उत्पलैः = कुवलयैः, मुखैः = वदनैः, इव, पद्मैः = कमलैः, स्तनैः = पयोधरैः, इव, चक्रवाकैः = कोकपक्षिभिश्च, पदे पदे= प्रतिस्थानं, विभान्ति स्म = शोभन्ते स्म। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अस्मिन् उदाहरणे, उत्पलादीनां नेत्रादीनां, सादृश्यं= साम्यम्। सरःश्रिय इत्यत्र इवशब्दाऽभावात्, सरःश्रीणां=कासारशोभानाम्, अङ्गनानां= सुन्दरीणां च सादृश्यं, गम्यम् = व्यञ्जनावृत्तिप्रतिपाद्यमत एकदेशविवर्तिनी उपमा।

अत्रैके इति। यहां स्मेरत्व और विकसितत्वके एक ही हैं अर्थात् अभिन्न हैं, प्रतिवस्तूपमा अलङ्कारके समान भिन्न शब्दसे निर्दिष्ट हैं।

एकदेशविवर्तिनीति। जहां सादृश्य कहीं वाच्य और कहीं गम्य होता है ॥ २४ ॥ वहाँ [एकदेशविवर्तिनी उपमा होती है।

उदाहरण—सरोवरोंकी शोभाएँ नेत्रोंके समान नील कमलोंसे, मुखोंके समान कमलोंसे और स्तनोंके समान चक्रवाकोंसे पग-पग पर शोभित हो रही हैं।

अत्रेति। यहां उत्पल आदिकोंका नेत्र आदिकोंका सादृश्य वाच्य है·सरःश्रियोंका सुन्दरियोंके साथ सादृश्य गम्य है, अतः एकदेशवर्तिनी उपमा हुई है।

—कथिता रसनोपमा ।
यथोर्ध्वमुपमेयस्य यदि स्यादुपमानता ॥ २५ ॥

यथा—

'चन्द्रायते शुक्लरुचापि हंसो हंसायते चारुगतेन कान्ता ।
कान्तायते स्पर्शसुखेन वारि, वारीयते स्वच्छतया विहायः ॥'

मालोपमा यदेकस्योपमानं बहु दृश्यते ।

रसनोपमां लक्षयति—**कथितेति** । यथोर्ध्वम् = ऊर्ध्वक्रमेण, उपमेयस्य, उपमानता, स्यात् = भवेत्, यदि=चेत्, तर्हि रसनोपमा कथिता=अभिहिता ॥२५॥

रसनोपमामुदाहरति—**चन्द्रायत इति** । शरदि हंसः = मरालः, शुक्लरुचा अपि = शुभ्रकान्त्या अपि, न केवल शरीरेणेति शेषः । चन्द्रायते = चन्द्र इव आचरति, "कर्तुः क्यङ् सलोपश्चे"ति क्यङ्, एवं परत्राऽपि । तथा कान्ता = सुन्दरी, चारुगतेन = मनोहरगत्या, हंसायते = हंस इवाचरति । एवं वारि = जलं, स्पर्शसुखेन = आमर्शनजनितानन्देन, कान्तायते = कान्तावदाचरति । एवं च—विहायः = आकाशं, स्वच्छतया = निर्मलत्वेन, वारीयते = वारिवत् (जलवत्) आचरति । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

विवृणोति । अत्र "चन्द्रायत" इत्यत्र हंस उपमेयं, चन्द्र उपमानं, परं "हंसायत" इत्यत्र पूर्ववाक्य उपमेयभूतो हंस उपमानं कान्ता च उपमेयम् । "कान्तायत" इत्यत्र पूर्ववाक्य उपमेयभूता कान्ता उपमानं "वारि" उपमेयम् ।

एवं च "वारीयत" इत्यत्र पूर्ववाक्ये उपमेयभूतं वारि उपमानं, विहायश्च उपमेयमतोऽस्मिन् पद्ये यथोर्ध्वमुपमेयस्यापमानत्वाद्रसनोपमा ।

मालोपमां लक्षयति—**मालोपमेति** । एकस्य = एकसंख्यस्य उपमेयस्य, यत्, बहु = अनेकम्, उपमानं, दृश्यते, सा मालोपमा ।

कथितेति । उपमेय उत्तर वाक्यमे यदि उपमान हो तो रसनोपमा कहते हैं ॥ २५ ॥

उदाहरण—(शरत् ऋतुमें) हंस सफेद कान्तिसे भी चन्द्रमाके समान होता है । सुन्दरी मनोहर गमनसे हंसके समान होती है । जल स्पर्शजन्य सुखसे सुन्दरीके समान होता है और आकाश निर्मल होनेसे जलके समान होता है ।

प्रथम चरणमें उपमेय हंस दूसरे चरणमें उपमान हो गया है, इसी तरह तृतीय चरणमें उपमेय वारि (जल) चतुर्थ चरणमें उपमान हो गया है अतः उत्तरोत्तर उपमेयके उपमान होनेसे रसनोपमा अलङ्कार है ।

मालोपमेति । जहां एक उपमेयका अनेक उपमान होता है वहां मालोपमा अलङ्कार होता है ।

'वारिजेनेव सरसी, शशिनेव निशीथिनी ।
यौवनेनेव वनिता, नयेन श्रीर्मनोहरा ॥'

क्वचिदुपमानोपमेययोरपि प्रकृतत्वं यथा—

हंसश्चन्द्र इवाभाति, जलं व्योमतलं यथा ।
विमलाः कुमुदानीव, तारकाः शरदागमे ॥'

मालोपमामुदाहरति—**वारिजेनेति** । नयेन=नीत्या, नीतिप्रयोगेणेतिभावः । श्रीः = सम्पत्तिः, वारिजेन = कमलेन, सरसी = कासारः, इव । "कासारः सरसी सर" इत्यमरः । शशिना = शशधरेण, चन्द्रमसेत्यर्थः । निशीथिनी = रात्रिः, इव । तथा यौवनेन = तारुण्येन, वनिता = महिला, इव । मनोहरा = चित्तहारिणी, जायत इति शेषः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—अत्रोपमेयभूतायाः श्रियः उपमानभूतानां सरसी–निशीथिनी–वनितानां बहुत्वान्मालोपमा !

उपमेयस्य प्रकृतत्वमुपमानस्याऽप्रकृतत्वं प्रायिकम् (क्वाचित्कम्) इत्यभिप्रायेणाह—**क्वचिदिति** । क्वचित्=कुत्रचित्, उपमानोपमेययोः द्वयोरपि=उभयोरपि, प्रकृतत्वं = प्रकरणोपात्तत्वं, दृश्यते = अवलोक्यते ।

उपमानोपमेययोः प्रकृतत्वरूपेण मालोपमामुदाहरति—**हंस इति** । शरदागमे= शरदृत्वागमने, हंसः = मरालः, चन्द्र इव = इन्दुरिव, आभाति = विशदवर्णत्वेन शोभते, जलं=सलिलं, व्योमतलं यथा=आकाशतलमिव, निर्मलत्वेन आभाति । एवं च तारकाः=ताराः, कुमुदानि=कैरवाणि, इव, विमलाः=निर्मलाः, जायन्त इति शेषः ।

विवृणोति—अत्र = शरदृतुवर्णनप्रसङ्गे हंसादीनां चन्द्रादीनां चोपमेयोपमानभूतानां प्रकृतत्वं तथा चाऽत्र पूर्ववन्मालोपमाऽलङ्कारः ।

उदाहरण—**वारिजेनेति** । जैसे कमलसे तालाब, चन्द्रमासे रात, और यौवनसे स्त्री मनोहर होती है वैसे ही नीतिसे श्री मनोहर होती है ।

यहां एक उपमेय श्रीके सरसी (तालाब), निशीथिनी (रात) और वनिता इसप्रकार अनेक उपमान हैं, अतः मालोपमा हुई है ।

क्वचिदिति । कहीं उपमान और उपमेय दोनों ही प्रस्तुत देखे जाते हैं । उदाहरण— **हंस इति** ।

शरद् ऋतुके आगमनमें हंस चन्द्रमाके समान, जल आकाशतलके समान और निर्मल ताराएँ कुमुदोंके सदृश शोभित होती हैं ॥

इस पद्यमें शरत्के वर्णनके प्रसङ्गमें उपमेय और उपमान सभी प्रस्तुत है । यह भी मालोपमा है ।

'अस्य राज्ञो गृहे भान्ति भूपानां ता विभूतयः।
पुरन्दरस्य भवने कल्पवृक्षभवा इव ॥'

अत्रोपमेयभूतविभूतिभिः 'कल्पवृक्षभवा इव' इत्युपमानभूता विभूतय आक्षिप्यन्त इत्याक्षेपोपमा। अत्रैव 'गृहे' इत्यस्य 'भवने' इत्यनेन प्रतिनिर्देशात्प्रतिनिर्देश्योपमा इत्यादयश्च न लक्षिताः, एवंविधवैचित्र्यस्य सहस्रधा दर्शनात्।

उपमानोपमेयत्वमेकस्यैव त्वनन्वयः ॥ २६ ॥

प्राचीनालङ्कारिकसम्मतामाक्षेपोपमामुदाहरति—**अस्येति**। अस्य=कस्यचित्, राज्ञः = भूपस्य, गृहे = प्रासादे, भूपानाम् = अन्येषां राज्ञां, ताः = अनेकप्रकाराः। "भूपानीता" इति लोचनसम्मतः पाठस्तत्र, अन्यैर्भूपैः (राजभिः) आनीताः (आहृताः), उपायनीकृता इति भावः। विभूतयः = सम्पत्तयः, पुरन्दरस्य=इन्द्रस्य, भवने = प्रासादे, वैजयन्त इति भावः। कल्पवृक्षभवाः=कल्पतरूत्पन्नाः, विभूतय इव, भान्ति = शोभन्ते। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, आक्षिप्यन्ते=आक्षेपविषयीक्रियन्ते, व्यञ्जनया प्रतिपाद्यन्ते, इति = हेतोः, आक्षेपोपमाऽलङ्कारः।

प्रतिनिर्देश्योपमां लक्ष्यति—**अत्रैवेति**। अत्रैव = अस्मिन्नेव "अस्ये"ति पद्ये "गृहे" इत्यस्य "भवने" इत्यनेन प्रतिनिर्देशात् प्रतिनिर्देश्योपमा। इत्यादयः = नाममात्रोपाधिका अलङ्कारा न लक्षिताः। एवंविधवैचित्र्यस्य = एतादृशविचित्रत्वस्य, सहस्रधा = बहुप्रकारैः, संदर्शनात्। मालोपमां रसनोपमां च संदर्श्य मम्मटाचार्येणापि पूर्वोक्तवाक्यं प्रतिपादितम्।

अनन्वयं लक्षयति—**उपमानोपमेयत्वमिति**। एकवाक्ये एकस्यैव=पदार्थस्य, उपमानोपमेयत्वम्, अनन्वयोऽलङ्कारः। अविद्यमानः अन्वयः (उपमानान्तरसम्बन्धः) यस्मिन् सोऽनन्वयः, नञ्बहुव्रीहिः ॥ २६ ॥

अस्येति। इस राजाके प्रासादमें अन्य राजाओंकी (उपायनके तौरपर लाई गई) प्रसिद्ध सम्पत्तियां इन्द्रके प्रासादमें कल्पवृक्षोंसे उत्पन्न सम्पत्तियोंके समान शोभित होती हैं।

अत्रेति। इस पद्यमें उपमेय विभूतियोंसे "कल्पवृक्षभवा इव" अर्थात् कल्पवृक्षसे उत्पन्न विभूतियोंका आक्षेप होता है इस कारणसे यहाँ "आक्षेपोपमा" है ऐसा कोई विद्वान् मानते हैं।

इसी तरह इसी पद्यमें "गृहे" इसके स्थानमें "भवने" इस पदसे प्रतिनिर्देश करनेसे यह "प्रतिनिर्देशोपमा" है ऐसा भी कोई विद्वान् मानते हैं, परन्तु ऐसा वैचित्र्य हजारों प्रकारसे देखनेसे वे यहां लक्षित नहीं हैं।

उपमानोपमेयत्वमिति। एक वाक्यमें एक ही पदार्थ उपमान और उपमेय हो तो अनन्वय अलङ्कार होता है ॥ २६ ॥

अर्थादेकवाक्ये । यथा—

'राजीवमिव राजीवं, जलं जलमिवाजनि ।
चन्द्रश्चन्द्र इवातन्द्रः, शरत्समुदयोद्यमे ॥'

अत्र राजीवादीनामनयसदृशत्वप्रतिपादनार्थमुपमानोपमेयभावो वैवक्षिकः । 'राजीवमिव पाथोजम्' इति चास्य लाटानुप्रासाद्विविक्तो विषयः । किन्त्वत्रोचितत्वादेकशब्दप्रयोग एव श्रेयान् ।

विवृणोति—अर्थादेकवाक्ये ।

अनन्वयमुदाहरति—**राजीवमिति** । शरत्समुदयोद्यमे = शरदः (ऋतोः) समुदयस्य (प्रादुर्भावस्य) उद्यमे (प्रवृत्तौ), राजीवं = कमलम्, इव, राजीवं = कमलम् । जलं = सलिलम् । इव, जलम्, तथा चन्द्रः = इन्दुः, चन्द्रः इव, अतन्द्रः = निर्मलः, अजनि = जातः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, राजीवादीनां = राजीवजलचन्द्राणाम्, अनसदृशत्वप्रतिपादनर्थं = राजीवाद्यभिन्नतुल्यत्वप्रतिपादनार्थम्, उपमानोपमेयत्वं, वैवक्षिकः = आरोप्य विवक्षित इति भावः ।

लाटाऽनुप्रासाऽनन्वयोः साङ्कर्यं परिहरति—**राजीवमिवेति** । राजीवं = कमलम्, इव, पाथोजं = जलजं, कमलमित्यर्थः, अत्र शब्दभिन्नत्वादर्थस्यैक्याच्च न लाटाऽनुप्रासः प्रत्युताऽनन्वयाऽलङ्कारः । इति च अस्य = अनन्वयस्य, लाटाऽनुप्रासात् = अलङ्कारात्, विविक्तः = पृथग्भूतः विषयः, किन्तु, अत्र = अनन्वये, उचितत्वात् = औचित्यात्, एकशब्दप्रयोगः एव, श्रेयान् = ज्यायान् ।

उदाहरण—**राजीवमिति** । शरत् ऋतुके प्रादुर्भावकी प्रवृत्तिमें कमल कमलके समान, जल जलके समान और चन्द्रमा चन्द्रमाके समान अतन्द्र (तन्द्रारहित), अर्थात् निर्मल हुआ ।

अत्रेति । इस उदाहरणमें राजीव आदि पदार्थोका अनन्यसदृशत्व अर्थात् राजीव आदि पदार्थ राजीव आदि से भिन्न पदार्थके सदृश नहीं है ऐसा प्रतिपादन करनेके लिए उपमान और उपमेयका भाव विवक्षासे किया गया है अर्थात् आरोप करके विवक्षित है यह भाव है ।

"राजीवमिव पाथोजम्" अर्थात् राजीवके समान पाथोज (कमल) है । यहां शब्दमात्र "राजीव" और "पाथोज" भिन्न हैं, अर्थ दोनोंका एक ही है इस लिए यहां लाटाऽनुप्राससे "अनन्वय" पृथग्भूत है, अर्थात् यहां अनन्वय ही है लाटाऽनुप्रास नहीं हैं, किन्तु यहाँ उचित होनेसे एक ही शब्दका प्रयोग बेहतर है ।

तदुक्तम्—

'अनन्वये च शब्दैक्यमौचित्यादानुषङ्गिकम् ।
अस्मिंस्तु लाटानुप्रासे साक्षादेव प्रयोजकम् ॥' इति ।

पर्यायेण द्वयोरेतदुपमेयोपमा मता ।

एतदुपमानोपमेयत्वम् । अर्थाद्वाक्यद्वये ।

यथा—

'कमलेव मतिर्मतिरिव कमला, तनुरिव विभा, विभेव तनुः ।
धरणीव धृतिर्धृतिरिव धरणी, सततं विभाति बत यस्य ॥'

अत्राऽर्थे शिष्टसम्मतिमाह—**तदुक्तमिति । अनन्वये चेति ।** अनन्वये=अलङ्कारे, औचित्यात्=प्राशस्त्यात्, शब्दैक्य=पदैक्यम् आनुषङ्गिकम् =अनियतम्, परम्, अस्मिन् लाटाऽनुप्रासे तु, साक्षादेव = प्रत्यक्षत एव, शब्दैक्यं = पदैक्यं, प्रयोजकं = नियतम् । अन्यथा लाटाऽनुप्रासाऽसंभवादिति भावः ।

उपमेयोपमां लक्षयति—**पर्यायेणेति ।** पर्यायेणेति = क्रमेण, द्वयोः = पदाऽर्थयोः, एतत् = उपमानोपमेयत्वम्, "उपमेयोपमा" मता = संमता ।

विवृणोति—**एतदिति ।** अर्थाद्वाक्यद्वय इति भावः ।

उपमेयोपमामुदाहरति—**कमलेवेति ।** कश्चित्कविः कंचिद्राजानं वर्णयति : यस्य = राज्ञः, सततं = निरन्तरं, कमला = लक्ष्मीः, इव, मतिः = बुद्धिः, मतिः= बुद्धिः, इव, कमला, यथा लक्ष्मीस्तथैवाऽसामान्या बुद्धिरितिभावः । तथा, यस्य = राज्ञः, तनुः = शरीरम्, इव, विभा = कान्तिः, विभा इव, तनुः । तस्य धरणी = स्वाऽधीना भूमिः, इव, धृतिः = धैर्यम्, धृतिः, इव, धरणी, विभाति = विशेषेण शोभते, बतेति हर्षे । गीतिश्छन्दः । अत्र पूर्ववाक्ये कमलाया उपमानत्वं मतेरुपमेयत्व-

---

जैसे कि कहा गया है—"अनन्वयमे शब्दकी एकता औचित्यसे आनुषङ्गिक अर्थात् अनियत है, परन्तु इस लाटाऽनुप्रासमें तो साक्षात् ही प्रयोजक (नियत) है । शब्दकी एकताके विना लाटानुप्रास नहीं हो सकता है ।

पर्यायेणेति । जहां दो वाक्योंमे दो पदार्थ पारी पारीसे उपमेय और उपमान हो जाते हैं वहां उपमेयोपमा अलङ्कार होता है, जैसे—जिस राजाकी बुद्धि कमला (सम्पत्ति)के समान, कमला (सम्पत्ति) बुद्धिके समान, कान्ति तनु (शरीर)के समान और तनु (शरीर) कान्तिके समान, धृति (धैर्य) पृथ्वीके समान और पृथ्वी धृति (धैर्य)के समान निरन्तर शोभित होती है, हर्ष है । इस पद्यके पूर्ववाक्यमें कमल उपमान और मति उपमेय, उत्तरवाक्यमे मति उपमान और कमला उपमेय हैं, उसी तरह तनु और विभा दो वाक्योंमे क्रमसे उपमान और उपमेय हुए हैं इसी तरह धरणी और धृति दो वाक्योंमे क्रमसे उपमान और

अत्रास्य राज्ञः श्रीबुद्ध्यादिसदृशं नान्यदस्तीत्यभिप्रायः।

सदृशानुभवाद्वस्तुस्मृतिः स्मरणमुच्यते ॥ २७ ॥

यथा—'अरविन्दमिदं वीक्ष्य खेलत्खञ्जनमञ्जुलम्।
स्मरामि वदनं तस्याश्चारु चञ्चललोचनम् ॥'

मुत्तरवाक्ये मतेरुपमानत्वं कमलाया उपमेयत्वं तथैव तनुविभयोर्वाक्यद्वये, एवं च धरणीधृत्योर्वाक्यद्वये, पर्यायेणोपमानोपमेयत्वमतः उपमेयोपमा।

विवृणोति—**अत्रे**ति। आदिपदेन तनुविभादीनां परिग्रहः।

अलङ्कारसर्वस्वे उपमेयोपमाया उदाहरणं—

"खमिव जलं, जलमिव खं, हंसश्चन्द्र इव, हंस इव चन्द्रः।

कुमुदाकारास्तारास्ताराकाराणि कुमुदानि॥" इति।

स्मरणाऽलङ्कारं लक्षयति—**सदृशाऽनुभवादिति**। सदृशानुभवात् = सदृशस्य (समानस्य वस्तुनः) अनुभवात् (संस्कारमात्रजन्यज्ञानभिन्नात्), प्रत्यक्षप्रमाणादिति भावः। वस्तुस्मृतिः = वस्तुनः (पदाऽर्थस्य) स्मृतिः (संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानम्) स्मरणं = स्मरणाऽलङ्कार इति। उच्यते = अभिधीयते॥ २७॥

स्मरणाऽलङ्कारमुदाहरति—**अरविन्दमिति**। कश्चिन्नायकः स्वमित्रमनूद्य-कान्तामुखस्मृतिं वर्णयति। खेलत्खञ्जनमञ्जुलं = खेलद्भ्यां (क्रीडद्भ्याम्) खञ्जनाभ्याम् (खञ्जरीटाभ्यां पक्षिविशेषाभ्याम्) मञ्जुलं = सुन्दरम्, इदं = निकटवर्ति: अरविन्दं = पद्मं वीक्ष्य = दृष्ट्वा। तस्याः = कान्तायाः, चञ्चल-लोचनं = चञ्चले (चपले) लोचने (नेत्रे) यस्मिंस्तत्, तादृशं, चारु = सुन्दरं, तस्याः = सुन्दर्या, वदनं = मुखं, स्मरामि = स्मरणं करोमि। अनुष्टुब्वृत्तम्।

अत्राऽरविन्दसादृश्यान्मुखस्य, खञ्जनसादृश्याल्लोचनस्य, खेलासादृश्या-च्चाञ्चल्यस्य स्मरणात्स्मरणाऽलङ्कारः।

उपमेय हुए हैं इसी तरह धरणी और धृति दो वाक्योंमे क्रमसे उपमान और उपमेय हुए हैं अतः यह उपमेयोपमाका उदाहरण है।

अत्रेति। इस पद्यमें इस राजा की कमला (श्री) और मति (बुद्धि) आदिके सदृश और कुछ भी पदार्थ नहीं है यह अभिप्राय है।

सदृशाऽनुभवादिति। तुल्य पदार्थके अनुभवसे किसी पदार्थका स्मरण होनेसे "स्मरण" अलङ्कार होता है॥ २७॥

अरविन्दमिति। क्रीडा करते हुए खञ्जन पक्षियोंसे मनोहर इस कमलको देखकर चञ्चल नेत्रोंसे युक्त उस सुन्दरीके मुखका स्मरण करता हूं। यहां कमलके सादृश्यसे मुखका, खञ्जनके सादृश्यसे नेत्रका और क्रीडाके सादृश्यसे चाञ्चल्यका स्मरण (याद) होनेसे स्मरण अलङ्कार है।

'मयि सकपटम्—' इत्यादौ च स्मृतेः सादृश्यानुभवं विनोत्थापितत्वान्नायमलङ्कारः। राघवानन्दमहापात्रास्तु—वैसादृश्यात्स्मृतिमपि स्मरणालङ्कारमिच्छन्ति। तत्रोदाहरणं तेषामेव।

यथा—'शिरीषमृद्वी गिरिषु प्रपेदे यदा यदा दुःखशतानि सीता।
तदा तदास्याः सदनेषु सौख्यलक्षाणि दध्यौ गलदश्रु रामः॥'

रूपकं रूपितोपाद्वि (पो वि) षये निरपह्नवे।

साहश्याऽनुभवं विना न स्मरणालङ्कारत्वमित्युदाहरति—**मयीति**। "मयि सकपटम् (पृ० २१३) इत्यादौ तु स्मृतेः = स्मरणस्य, साहश्याऽनुभवं = सदृशत्वज्ञानं, विना उत्थापितत्वात् = चिन्ताजन्यसंस्कारेण प्रादुर्भूतत्वात्, नाऽयमलङ्कारः = स्मरणम्। राघवानन्दमहापात्रास्तु, वैसादृश्यात् =विरुद्धवस्त्वनुभवात्, स्मृतिमपि = संस्कारमात्रजन्यं ज्ञानमपि, स्मरणाऽलङ्कारं, वाञ्छन्ति = इच्छन्ति।

तत्र तदीयमुदाहरण यथा—**शिरीषमृद्वीति**। शिरीषमृद्वी = शिरीषम् (शिरीषपुष्पम्) इव, मृद्वी = कोमला, कोमलाङ्गीत्यर्थः। सीता = जानकी, गिरिषु=पर्वतेषु, यदा यदा=यस्मिन् यस्मिन् समये, दुःखशतानि = प्रचुराणि दुःखानि, प्रपेदे = प्राप्तवती। तदा तदा = तस्मिंस्तस्मिन् समये, रामः = रामचन्द्रः, सदनेषु= नगरस्थभवनेषु, अस्याः = सीतायाः, सौख्यलक्षाणि = प्रचुरसुखानि, सुखमेव सौख्य, भावे ष्यञ्। गलदश्रु-गलन्ति (प्रस्रवन्ति) अश्रुणि (नयनजलानि) यस्मिन्कर्मणि, तद्यथा तथा, दध्यौ = चिन्तयामास। अत्र सुखदुःखयोर्वैसादृश्यम्। उपजातिवृत्तम्।

अत्र सादृश्यरहितानां दुःखशतानामनुभवात् तादृशानामेव सौख्यलक्षाणां स्मृतेरपि तन्मतेनाऽलङ्कारत्वम्।

रूपकं लक्षयति—एवं साधर्म्येऽभेदप्राधान्येऽलङ्काराभिर्णी यभेदप्राधान्यं लक्षयति—**रूपकमिति**। निरपह्नवे = निषेधरहिते, विषये = उपमेये, रूपिताऽऽ-

---

मयीति। "मयि सकपठम्" इत्यादिमे स्मरणका साहश्यके अनुभवके विना ही उठाये जानेसे यह (स्मरण) अलङ्कार नहीं है। राघवानन्द महापात्र तो विरुद्ध वस्तुके अनुभवसे उत्पन्न स्मरणको भी स्मरणाऽलङ्कार मानते हैं। उन्हींका स्मरण अलङ्कारका उदाहरण जैसे—शिरीष पुष्पके समान कोमल अङ्गोंवाली सीताने पहाड़ोंमें जब जब सैकड़ों दुःखोंको पाया, तब तब रामचन्द्रने भवनोंमें सीताके लाखों सुखोंको आंसू बहाकर स्मरण किया।

यहां साहश्यसे रहित सैकड़ों दुःखोंके अनुभवसे वैसे ही सैकड़ों सुखोंका स्मरण भी उनके मतमें स्मरण अलङ्कार है।

रूपकमिति। निरपह्नव (निषेव रहित) विषय (उपमेय)से रूपित (उपमान)के आरोप (तादात्म्यके अध्यास)से रूपक अलङ्कार होता है।

'रूपित-' इति परिणामाद् व्यवच्छेदः । एतच्च तत्प्रस्तावे विवेचयिष्यामः । 'निरपह्नवे' इत्यपह्नुतिव्यवच्छेदार्थम् ।

तत्परम्परितं साङ्गं निरङ्गमिति च त्रिधा ॥ २८ ॥

तद्रूपकम् ।

तत्र—

यत्र कस्यचिदारोपः परारोपणकारणम् ।

तत्परम्परितं श्लिष्टाश्लिष्टशब्दनिबन्धनम् ॥ २९ ॥

रोपात् = रूपितस्य (उपमानस्य), आरोपात् (तादात्म्याऽध्यासात्) रूपकं = रूपकाऽलङ्कारः ।

विवृणोति—**रूपित इतीति** । रूपित० इति कथनात्, परिणामात् = परिणामाऽलङ्कारात्, व्यवच्छेदः = व्यावृत्तिः, रूपकस्येति शेषः । एतच्च = व्यावर्तनं च, परिणामप्रस्तावे = परिणामाऽलङ्कारनिरूपणाऽवसरे, विवेचयिष्यामः = विवेचनं करिष्यामः । निरपह्नवे इति = "निपह्नवे" इति कथनम्, अपह्नुतिव्यवच्छेदाऽर्थम्= अपह्नुत्यलङ्कारव्यावृत्यर्थम् ।

रूपकं त्रैविध्येन विभजते—**तदिति** । तत् = रूपकमलङ्कारः, परम्परितं, साऽङ्गं, निरङ्गम्, इति च, त्रिधा = त्रिभिः प्रकारैः, भवतीति शेषः ॥ २८ ॥

परम्परितं लक्षयति—**यत्रेति** । यत्र = यस्मिन् रूपके, कस्य चित्, आरोपः= तादात्म्याऽध्यासः । परारोपणकारणं = परस्य (अन्यस्य) आरोपणे (आरोपे) कारणं (हेतुः) भवति, तत् परम्परितं = तदाख्यं रूपकं, भवतीति शेषः । परम्परा (कार्यकारणभावरूपा श्रेणी) सञ्जाता अस्येति परम्परितं,

"तदस्य संजातं तारकादिभ्य इतच्" इति इतच्प्रत्ययः ।

परम्परितरूपकं चातुर्विध्येन विभजते—**श्लिष्टाऽश्लिष्टेति** । श्लिष्टाऽश्लिष्टशब्दौ (श्लिष्टाऽश्लिष्टपदे) निबन्धने (कारणे) यस्य तत् । एवं च श्लिष्टशब्दनिबन्धनम् अश्लिष्टशब्दनिबन्धनं चेति प्रथमं द्विविधम् ॥ २९ ॥

रूपित इति । "रूपित" कहनेसे "परिणाम"से व्यावृत्ति (भेद) होता है । इस विषयको परिणामके व्याख्यानके अवसरमें विवेचन करेंगे । "निरपह्नवे" यह पद अपह्नुतिकी व्यावृत्तिके लिए है ।

तदिति । वह (रूपक) परम्परित, साङ्ग और निरङ्ग इसप्रकारसे तीन भेदोंसे युक्त होता है ॥ २८ ॥

यत्रेति । जहां किसीका आरोप दूसरेके आरोपका कारण होता है, उसे "परम्परित रूपक" कहते हैं, उसके दो भेद होते हैं श्लिष्टशब्दनिबन्धन और अश्लिष्टशब्दनिबन्धन ॥ २९ ॥

प्रत्येकं केवलं मालारूपं चेति चतुर्विधम् ।

तत्र श्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलपरम्परितं यथा—

'आहवे जगदुद्दण्ड ! राजमण्डलराहवे ।
श्रीनृसिंहमहीपाल ! स्वस्त्यस्तु तव बाहवे ॥'

अत्र राजमण्डलं नृपसमूह एव चन्द्रबिम्बमित्यारोपो राजबाहौ राहुत्वारोपे निमित्तम् ।

मालारूपं यथा—

'पद्मोदयदिनाधीशः सदागतिसमीरणः ।
भूभृदावलिदम्भोलिरेक एव भवान् भुवि ॥'

तयोश्च प्रत्येकम् = एकैक, मालारूपम् (अनेकरूपम्) च इति चतुर्विधं = चतुष्प्रकारं, परम्परितं भवतीति शेषः ।

तत्र श्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलपरम्परितमुदाहरति—**आहव इति** । कश्चित्कविः कंचिन्नृसिंहनामकं राजानं स्तौति । हे नृसिंहमहीपाल=हे नृसिंहभूपाल !, आहवे = युद्धे, जगदित्यादि० = जगति (लोके) उद्दण्डम् (अत्युत्कटं) राजमण्डलम् (विपक्षराजसमूहः) एव राजमण्डलं (चन्द्रबिम्बम्), तस्य राहवे = उपमर्दने राहुरूपाय, तव = भवतः, बाहवे = भुजाय, स्वस्ति = कल्याणम्, अस्तु = भवतात् "दण्डो यमो मानभेदे लगुडे दमसैन्ययोः ।" इति विश्वः । "राजा प्रभौ च नृपतौ क्षत्रिये रजनीपतौ । यक्षे शक्ते च पुंसि स्यात्" इति मेदिनी । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र राजमण्डले चन्द्रमण्डलत्वारोपं विना राजबाहौ राहुत्वारोपो न संभवतीति पूर्वारोपः परारोपं प्रति कारणं, ततश्च राजमण्डलमिति श्लिष्टशब्दप्रयोगश्च, अतोऽत्र श्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलपरम्परितमिति भावः ।

श्लिष्टपरम्परितं मालारूपमुदाहरति—**पद्मोदयेति** कश्चित्कविः कंचिद्राजानं प्रशंसति । हे राजन् !, भुवि = भूमौ, भवान् एक एव, पद्मोदयदिनाधीशः =

दोनों प्रकारके परम्परित रूपक प्रत्येक—केवल और मालारूप इसप्रकार चार प्रकारके होते हैं । उनमें—श्लिष्टशब्दनिबन्धन केवलपरम्परित जैसे—

आहव इति । हे नृसिंह भूपाल ! युद्धमें लोकमें अत्युत्कट राजमण्डल (चन्द्रमण्डलरूप राजमण्डल)के राहुस्वरूप आपके बाहुका कल्याण हो ।

अत्रेति । यहाँ राजमण्डल (नृपसमूह) ही चन्द्रमण्डल अर्थात् राजमण्डलमें चन्द्रत्वका आरोप राजबाहुमें राहुत्वके आरोपमे निमित्त है ।

मालारूप जैसे—**पद्मोदयेति** । हे राजन् ! पृथ्वीमें आप ही पद्मा (लक्ष्मी)

अत्र पद्मायाः उदय एव पद्मानामुदयः, सतामागतिरेव सदागमनम्, भूभृतो राजान एव पर्वता इत्याद्यारोपो राज्ञः सूर्यत्वाद्यारोपनिमित्तम्।

अश्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलं यथा—

पद्मायाः (लक्ष्म्याः) उदयः (प्रादुर्भावः) एव पद्मानाम् (कमलानाम्) उदयः (विकासः) तस्मिन् दिनाऽधीशः = अहर्पतिः, सूर्य इत्यर्थः। एको दिनाऽधीशः एव पद्मोदयं (पद्मविकासम्) करोति, एको भवानेव भुवि पद्मोदयं (लक्ष्मीप्रादुर्भावम्) करोति। सदागतिसमीरणः = सताम् (सज्जनानाम्) आगतिः (आगमनम्) एव सदा (सर्वदा) गतिः (गमनम्) तत्र समीरणः (वायुः)। यथावायुः सर्वदा गमनं करोति तथैव भवानपि सम्पत्तिवितरणेन सम्माने च सतामागतिं समाजयतीति भावः। तथा भूभृदावलिदम्भोलिः=भूभृतः (विपक्षा राजानः) एव भूभृतः (पर्वताः) तेषामावली (पङ्क्तौ) दम्भोलिः (वज्रः), इन्द्रवज्रं यथा पर्वतपक्ष छिनत्ति तथा भवद्बाहुर्विपक्षराजपक्ष छिनत्तीति भावः। "लक्ष्मीः पद्मालया पद्मा" इति "वा पुंसि पद्मम्" इति "भूभृद् भूमिधरे नृपे" इति। "दम्भोलिरशनिर्द्वयोः।" इति चाऽमरः। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—अत्रेति। पद्मायाः=लक्ष्म्याः। पद्मानां=कमलानाम्। भूभृतः = भुवं बिभ्रतीति, क्विप्प्रत्ययः। अत्र सदागति-भूभृत्पदानि श्लिष्टानीति श्लिष्टपद-निबन्धनत्वम्।

का उदय ही पद्मों (कमलों)का उदय उसमे सूर्यस्वरूप, सत् (सज्जनों)की आगति (आगमन) ही सदा-गति (वायुस्वरूप) और भूभृतों (राजाओं) की पङ्क्ति ही भूभृतों (पर्वतों)की पङ्क्ति उसमें वज्रस्वरूप हैं।

यहां पद्मोदय यह श्लिष्ट शब्द है, इसमें पद्मा = लक्ष्मी और पद्म = कमल इसप्रकार दो अर्थ होते हैं, इसी तरह उदय शब्द भी श्लिष्ट है, पद्माके पक्षमें इसका अर्थ है आविर्भाव और पद्मोंके पक्षमे विकास। इसी तरह सदागति यह शब्द भी श्लिष्ट है सतामागतिः अर्थात् सज्जनोंका आगमन और सदा गति इस तरह दो अर्थ होते हैं। अतः प्रथम अर्थपर द्वितीय अर्थका आरोप होता है, उससे राजा पर वायुत्वका आरोप होता है। उसी तरह भूभृत् शब्द भी राजा और पर्वत दो अर्थोंमें है, इससे राजाओं पर पर्वतत्वका आरोप कर वर्णनीय राजापर वज्रत्वका आरोप होता है। अतः यह श्लिष्ट शब्दनिबन्धन मालारूपक है अश्लिष्ट शब्दनिबन्धन केवल रूपक जैसे—

'पान्तु वो जलदश्यामाः शार्ङ्गज्याघातकर्कशाः।
त्रैलोक्यमण्डपस्तम्भाश्चत्वारो हरिबाहवः॥'

अत्र त्रैलोक्यस्य मण्डपत्वारोपो हरिबाहूनां स्तम्भत्वारोपे निमित्तम्।

मालारूपं तथा—

'मनोजराजस्य सितातपत्रं श्रीखण्डचित्रं हरिदङ्गनायाः।
विराजते व्योमसरः-सरोजं कर्पूरपूरप्रभमिन्दुबिम्बम्॥'

अश्लिष्टशब्दनिबन्धनं केवलं रूपकमुदाहरति—**पान्त्विति**। जलदश्यामाः = जलदाः (मेघाः) इव श्यामाः (कृष्णवर्णाः), "उपमानानि सामान्यवचनैः" इति समासः। शार्ङ्गज्याऽऽघातकर्कशाः = शृङ्गस्य विकारः शार्ङ्गं, विष्णुचापः, अण् प्रत्ययः। शार्ङ्गस्य ज्या (मौर्वी) तस्या आघातेन (आहननेन) कर्कशाः (कठोराः)। तथा त्रैलोक्यमण्डपस्तम्भाः = त्रैलोक्यम् (त्रिभुवनम्) एव मण्डपः (गृहविशेषः) तस्य स्तम्भाः (स्थूणारूपाः), चत्वारः = चतुःसंख्यकाः, हरिबाहवः=विष्णुभुजाः, वः = युष्मान्, पान्तु = रक्षन्तु। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन् पद्ये, निमित्तं = कारणम्। अतोऽत्र रूपकस्य परम्परितत्वम्। अत्र श्लिष्टशब्दाऽभावादश्लिष्टशब्दनिबन्धनत्वं, कार्यकारणभावमात्रत्वात्केवलत्वं च।

मालारूपमश्लिष्टशब्दनिबन्धनं परम्परितरूपकमुदाहरति—**मनोजराजस्येति**। मनोजराजस्य = मनोजः (मनसिजः, कामदेव इत्यर्थः) एव राजा (भूपतिः), तस्य, "राजाऽहःसखिभ्यष्टच्" इति समासाऽन्तष्टच्। सितातपत्रं = श्वेतच्छत्रस्वरूपं, हरिदङ्गनायाः = हरित् (दिक्) एव अङ्गना (स्त्री), तस्याः। श्रीखण्डचित्रं = चन्दनचित्रं, चन्दनतिलकस्वरूपमितिभावः। तथा व्योमसरःसरोज = व्योम (आकाशम्) एव सरः (कासारः) तस्य सरोजं (कमलस्वरूपम्, आह्लादकत्वाद्वर्तुलत्वाच्चेतिभावः)। कर्पूरपूरप्रभं = घनसारसमूहतुल्यम्, इन्दुबिम्बं=चन्द्रमण्डलं, विराजते = शोभते। उपजातिवृत्तम्।

पान्तु व इति। मेघोंके समान श्याम, शार्ङ्ग धनुकी प्रत्यञ्चाके आघातसे कठोर, त्रैलोक्यरूप मण्डपके स्तम्भस्वरूप भगवान् विष्णुके चारों बाहुदण्ड तुम्हारी रक्षा करें।

अत्रेति। यहां त्रैलोक्यमें मण्डपत्वका आरोप हरिबाहुओंमें स्तम्भत्वके आरोपका कारण है।

अश्लिष्टशब्दनिबन्धन मालारूपक, जैसे—**मनोजराजस्येति**। कामदेवरूप राजाका श्वेतच्छत्ररूप, पूर्वदिशारूप सुन्दरीका चन्दनतिलकस्वरूप, आकाशरूप तालाबका कमलस्वरूप, कपूरके समूहके समान चन्द्रमण्डल अत्यन्त शोभित हो रहा है।

अत्र मनोजादे राजत्वाद्यारोपश्चन्द्रबिम्बस्य सितातपत्रत्वाद्यारोपे निमित्तम्। 'तत्र च राजभुजादीनां राहुत्वाद्यारोपो राजमण्डलादीनां चन्द्रमण्डलत्वाद्यारोपे निमित्तम्' इति केचित्।

अङ्गिनो यदि साङ्गस्य रूपणं साङ्गमेव तत् ॥ ३० ॥

समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति च ।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, निमित्तं = कारणम्। अतोऽत्र रूपकस्य परम्परितत्वं, सर्वे शब्दा अश्लिष्टाः इत्यश्लिष्टशब्दनिबन्धनत्वं, त्रयश्च कार्यकारणभावा इति मालारूपत्वं च।

तत्र चेति। तत्र = तस्मिन्, पूर्वोक्ते "आहवे जगदुद्दण्ड" इत्यादिपद्येषु। निमित्तं = कारणम्। केचित् = अत्र "केचित्" पदेन ग्रन्थकारस्याऽरुचिः सूच्यते, सादृश्याऽभावाद्राजभुजादौ राहुत्वाद्यारोपस्य दुर्घटत्वादित्यवधेयम्।

एवं परम्परितरूपकं निरूप्य साऽङ्गरूपकं लक्षयति—**अङ्गिन इति**। साऽङ्गस्य = अङ्गसहितस्य, अङ्गिनः = प्रधानस्य उपमानस्य, रूपणं यदि = उपमेयेऽभेदारोपश्चेत्, तर्हि, तत् साऽङ्ग = साङ्गरूपकम्॥ ३० ॥

साऽङ्गरूपकस्य भेदद्वयं प्रदर्शयति—**समस्तवस्तुविषयमिति**। समस्तवस्तुविषयमेकदेशविवर्ति चेति साङ्गरूपकं द्विविधम्। तत्र च—समस्तानि वस्तूनि आरोप्यमाणानि विषयाः (शब्दोपात्तानि) यस्मिस्तत् समस्तवस्तुविषयमेकम्। एकदेशे (एकभागे-शाब्दत्वांऽशे) एव विशेषेण वर्तते (अवतिष्ठते) इति एकदेशविवर्तिरूपकं द्वितीयम्।

अत्रेति। यहां कामदेव आदिमें राजत्व आदिका आरोप चन्द्रमण्डलमें श्वेतच्छत्रत्व आदि आरोपका कारण है।

तत्र चेति। पूर्वोक्त "आहवे" इत्यादि (पृ० ८४) पद्यमें राजभुज आदिमें राहुत्व आदिका आरोप राजमण्डल आदिके चन्द्रमण्डलत्व आदिमें निमित्त है, यह कुछ विद्वानोंका मत है।

राजबाहु आदिमें राहुत्व आदिका आरोप सादृश्य न होनेसे दुर्घट है इसलिए इस मतमें ग्रन्थकारकी अरुचि देखी जाती है।

अङ्गिन इति। अङ्गोंके साथ अङ्गी (उपमान)का रूपण हो तो उसे "साऽङ्गरूपक" कहते हैं॥ ३० ॥

उसके दो भेद होते हैं समस्तवस्तुविषय और एकदेशविवर्ति।

तत्र

आरोप्याणामशेषाणां शाब्दत्वे प्रथमं मतम् ॥ ३१ ॥

प्रथमं समस्तवस्तुविषयम् ।

यथा—

'रावणावग्रहक्लान्तमिति वागमृतेन सः ।
अभिवृष्य मरुत्सस्यं कृष्णमेघस्तिरोदधे ॥'

अत्र कृष्णस्य मेघत्वारोपे वागादीनाममृतत्वादिकमारोपितम् ।

समस्तवस्तुविषयं रूपकं लक्षयति—**आरोप्याणामिति ।** अशेषाणां = समस्तानाम् एव, आरोप्याणाम् = आरोपविषयीभूतानाम्, उपमेयानामुपमानानां च । अत्र बहुवचनमविवक्षितं "सूत्रे लिङ्गं संख्या कालश्चाऽतन्त्राणी"ति न्यायात् । शाब्दत्वे = शब्देनाऽभिधेयत्वे, प्रथमम् = आद्यं, समस्तवस्तुविषयं रूपकं, मतं = सम्मतम् ॥ ३१ ॥

समस्तवस्तुविषयं रूपकमुदाहरति—**रावणाऽवग्रहक्लान्तमिति ।** रघुवंशस्य दशमसर्गस्थं पद्यमिदं रावणपीडितानां देवानां स्तुत्यनन्तरं भगवत्कृताश्वासनाऽनन्तरवृत्तं द्योतयति । सः = श्रुतिस्मृतिप्रसिद्धः, कृष्णमेघः = कृष्णः (विष्णुः) एव मेघः (श्यामवर्णत्वाद् बलाहकः) "मयूरव्यंसकादयश्च" इति रूपकसमासः । इति = पूर्वोक्तप्रकारेण, वागमृतेन = वाक् (वाक्यम्) एव अमृतम् (पीयूषं, सन्तापाऽपहारकत्वादिति भावः), तेन । रावणाऽवग्रहक्लान्तं = विश्रवसः अपत्यं पुमान् रावणः, विश्रवःशब्दस्य "शिवादिभ्यश्चे"ति सूत्रेण विश्रवणरवणावादेशौ निपातितौ, अण् च । रावणः एव अवग्रहः (अवग्रहः, वृष्टिविघात इत्यर्थः), तेन क्लान्तं (म्लानम्), मरुत्सस्यं = मरुतः (देवाः) एव सस्यम् (धान्यम्), "मरुतौ पवनाऽमरौ" इत्यमरः । अभिवृष्य=अभिषिच्य, तिरोदधे=अन्तर्दधे ॥ अनुष्टुब्वृत्तम् ॥

विवृणोति— **अत्रेति ।** वागादीनां = कृष्णोपकरणानाम्, अमृतत्वादीनि मेघोपकरणम् । मेघत्वारोपस्य शाब्दत्ववदमृतत्वाद्यारोपितत्वस्याऽपि शाब्दत्वम् ।

आरोप्याणामिति । सम्पूर्ण आरोप्य शब्दसे बोध्य हों तो प्रथम "समस्तवस्तु विषय" रूपक होता है ॥ ३१ ॥

अर्थात् जैसे—वे कृष्ण (विष्णु) रूप मेघ ऐसे वाक्यरूप अमृतसे रावणरूप अवग्रह (अवृष्टि)से म्लान, देवतारूप सस्य (धान्य) को सेचनकर तिरोहित हो गये ।

अत्रेति । यहां कृष्णमें मेघत्वके आरोपमें वाक्य आदिकोंमें अमृतत्व आदि आरोपित है । आरोप्य संपूर्ण उपमेय और उपमा यहाँ शब्दबोध्य हैं, इसलिए यह समस्तवस्तुविषय साङ्गरूपकका उदाहरण है ।

यत्र कस्यचिदार्थत्वमेकदेशविवर्ति तत् ।

कस्यचिदारोप्यमाणस्य ।

यथा—

'लावण्यमधुभिः पूर्णमास्यमस्या विकस्वरम् ।
लोकलोचनरोलम्बकदम्बैः कैर्न पीयते ? ॥'

अत्र लावण्यादौ मधुत्वाद्यारोपः शाब्दः, मुखस्य पद्मत्वारोप आर्थः ।

न चेयमेकदेशविवर्तिन्युपमा विकस्वरत्वधर्मस्यारोप्यमाणे पद्मे मुख्यतया वर्तमानात् मुखे चोपचरितत्वात् ।

एकदेशविवर्तिरूपकं लक्षयति—**यत्रेति** । यत्र=यस्मिन् रूपके । कस्यचित्= आरोप्यमाणस्य, आर्थत्वम् = अर्थवशलभ्यत्वम्, अन्येषां शाब्दत्वमिति शेषः । तत् = रूपकम्, एकदेशविवर्ति ।

एकदेशविवर्तिरूपकमुदाहरति—**लावण्यमधुभिरिति** । सुन्दरीमुखस्य प्रशंसा-परकं पद्यमेतत् । लावण्यमधुभिः = लावण्यानि (सौन्दर्याणि) एव मधूनि (पुष्परसाः), "मयूरव्यंसकादयश्चे"ति रूपकसमासः । तैः, पूर्णं = पूरितम्, अस्याः = सुन्दर्याः, विकस्वरं = विकासशीलम्, आस्यं = मुखं, कैः, लोकेत्यादिः०= लोकलोचनानि (जननयनानि) एव रोलम्बाः (भ्रमराः), तेषां कदम्बैः (समूहैः), "इन्दिन्दिरस्तु रोलम्बश्चञ्चरीको मधुव्रतः ।" इति हारावली । न पीयते = न पानविषयीक्रियते, सनिर्बन्ध नाऽवलोक्यते, अपि तु सर्वैरेव साऽभि-निवेशं दृश्यत इति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्पद्ये, शाब्दः = शब्दोपात्तः । आर्थः= अर्थवशाल्लभ्यः, अत एवाऽत्रैकदेशविवर्तिरूपकत्वम् ।

अत्रैकदेशविवर्त्युपमात्वं प्रतिषेधति—**न चेति** । मुख्यतया = अभिधा-

---

यत्रेति । जिस रूपकमें कोई आरोप्यमाण आर्थ अर्थात् अर्थवश ज्ञानका विषय हो उसे "एकदेशविवर्ति रूपक" कहते हैं ।

जैसे—लावण्यमधुभिरिति । लावण्यरूप मधुओं (पुष्परसों)से पूर्ण इस (सुन्दरी)का विकासशील मुख किन लोगोंके नेत्ररूप भ्रमरोंसे नहीं पीया जाता ?

अत्रेति । यहां लावण्य आदिमें मधुत्वका आरोप शाब्द अर्थात् शब्दसे लभ्य है, किन्तु मुखमे कमलत्वका आरोप आर्थ अर्थात् अर्थसे लभ्य है, अतः यह एक-देशविवर्ति रूपक है ।

न चेति । यह एकदेशविवर्तिनी उपमा नहीं है, क्योंकि विकासशीलत्व धर्म आरोप्यमाण पद्ममे मुख्यरूपसे वर्तमान है, मुखमें लक्षणासे आरोपित है । अतः यह एकदेशविवर्तिरूपक ही है ।

निरङ्गं केवलस्यैव रूपणं तदपि द्विधा ॥ ३२ ॥

मालाकेवलरूपत्वात्—

तत्र मालारूपं निरङ्गं यथा—

'निर्माणकौशलं धातुश्चन्द्रिका लोकचक्षुषाम् ।
क्रीडागृहमनङ्गस्य सेयमिन्दीवरेक्षणा ॥'

केवलं यथा—

'दासे कृतागसि भवेदुचितः प्रभूणां
पादप्रहार इति सुन्दरि ! नात्र दूये ।

वृत्त्या प्रतिपाद्यतया, वर्तनात् = स्थितेः, उपचरितत्वात् = लक्षणया आरोपितत्वात् । अतोऽत्रैकदेशविवर्तिरूपकत्वमेवेति भावः ।

निरङ्गं रूपकं लक्षयति—**निरङ्गमिति** । केवलस्य एव = अङ्गरहितस्य एव, उपमानस्य रूपणं = निरङ्गोपमेये अभेदारोपणं, निरङ्गं रूपकम् ।

निरङ्गरूपकस्य द्वैविध्यं प्रतिपादयति—**तदपीति** । तत् = निरङ्गं रूपकमपि ॥ ३२ ॥

माला—केवलरूपत्वात् = मालारूपत्वात्केवलरूपत्वाच्च द्विधा = द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां, भवतीति शेषः ।

मालारूपं निरङ्गं रूपकमुदाहरति—**निर्माणकौशलमिति** । कस्माश्चित्सुन्दर्याः प्रशंसापरकं पद्यमिदम् । सा = पूर्वदृष्टा, इयं = पुरः सन्निहिता, इन्दीवरेक्षणा = नीलकमललोचना, धातुः = ब्रह्मणः, निर्माणकौशलं=वराऽङ्गना-रचनायाः उत्कृष्टशिल्परूपा, लोकचक्षुषां = जननेत्राणां, चन्द्रिका = कौमुदीरूपा, अनङ्गस्य = कामदेवस्य, क्रीडागृहं = केलिभवनरूपा, अस्तीति शेषः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

अत्रेन्दीवरेक्षणारूपे निरङ्गे उपमेये निर्माणकौशलादीनां निरङ्गाणामेवोपमानानामभेदारोपान्मालारूपं निरङ्गं रूपकम् ।

केवलं (मालारहितम्) रूपकमुदाहरति—**दास इति** । मानिन्या नायिकाया मानभङ्गाय तत्पादे पतिते नायके, नायिकया पादप्रहृते सति तस्य नायकस्योक्ति-

निरङ्गमिति । केवल अर्थात् अङ्गरहित उपमानका ही जहां रूपण होता है उसे "निरङ्गरूपक" कहते हैं । वह भी दो प्रकारका होता है ॥ ३२ ॥ मालारूपक और केवल रूपक ।

निरङ्गमालारूपक जैसे—**निर्माणकौशलमिति** । यह वह नील कमलके समान नेत्रोंसे युक्त सुन्दरी ब्रह्माजीकी सृष्टिकी कौशलस्वरूप, लोगोंके नेत्रोंकी चन्द्रिकास्वरूप और कामदेवकी । क्रीडाभवनस्वरूप है ।

इस इन्दीवरेक्षणा-रूप निरङ्ग उपमेयमें निर्माणकौशल आदि निरङ्ग

उद्यत्कठोरपुलकाङ्कुरकण्टकाग्रै-
र्यद्भिद्यते मृदु पदं ननु सा व्यथा मे ॥'

—तेनाष्टौ रूपके भिदाः ।

'चिरन्तनैरुक्ता' इति शेषः ।

क्वचित्परम्परितमप्येकदेशविवर्ति यथा—

'खड्गः क्ष्मासौविदल्लः समिति विजयते मालवाखण्डलस्य ॥'

रियम् । हे सुन्दरि ! = हे रूपवति !, कृतागसि = विहिताऽपराधे, दासे = सेवके, प्रभूणां=सेव्यानां, पादप्रहारः = चरणताडनम्, उचितः = योग्यः, भवेत्, इति = अस्मात्करणात्, अत्र = पादप्रहारविषये, न दूये = परितप्तो नो भवामि । परन्तु, मे = मम, त्वत्पादप्रहृतस्येति भावः । उद्यदित्यादिः० = उद्यन्तः (त्वत्पादताडनादुत्पद्यमानाः) कठोराः (कठिनाः) ये पुलकाऽङ्कुराः (रोमाञ्चाऽङ्कुराः) एव कण्टकाग्राणि (निशिताऽग्रभागाः), तैः, ते = तव, मृदु = कोमलं, पदं = पादतलं, यत्, भिद्यते = विध्यते, सा = भिदा एव, मे = मम, व्यथा = पीडा, अस्तीति शेषः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

अत्र पुलकाऽङ्कुररूपे निरङ्ग एव एकस्मिन्नुपमेये, कण्टकरूपस्य निरङ्गस्यैवैकस्य उपमानस्याऽभेदारोपात् केवलं रूपकम् ।

रूपकभेदान्सङ्कलयति—तेनेति । तेन = पूर्वोक्तप्रकारेण, रूपके = अलङ्कारे, अष्टौ = अष्टसंख्यकाः, भिदाः = भेदाः । चिरन्तनैरुक्ता इति शेषः । ते भेदा यथा—रूपकं तावत्त्रिविधं—साङ्गं, निरङ्गं परम्परितं चेति । तत्र साऽङ्गमपि द्विविधं—समस्तवस्तुविषयम् एकदेशविवर्ति चेति । निरङ्गमपि द्विविधं–केवलं मालारूपं च । परम्परितं तु श्लिष्टशाब्दनिबन्धनम् अश्लिष्टशाब्दनिबन्धनं चेति द्विविधं सत्प्रत्येकं—केवलं मालारूपं चेति चतुर्विधमित्यतो रूपकस्याऽष्टौ भेदाः ।

क्वचित् परम्परितमपि एकदेशविवर्तिरूपकमुदाहरति—**खड्ग इति** । मालवाखण्डलस्य = मालवानाम् (अवन्तिदेशानाम्) आखण्डलस्य (इन्द्रस्य)

उपमानोंका अभेद आरोप होनेसे निरङ्ग रूपक है । केवल रूपक जैसे—हे सुन्दरि ! अपराधी दासमें स्वामियोंका चरण प्रहार उचित है इस कारणसे मैं परितप्त नहीं हूँ, परन्तु तुम्हारे चरणप्रहारमें मेरे शरीरमें उत्पन्न कठोर रोमाञ्चके अङ्कुररूप काँटेके अग्रभागोंसे जो तुम्हारा चरण खिन्न हो रहा है इससे मुझे दुःख है । यहां पुलकाङ्कुरमें कण्टकाग्रत्वका आरोप है ।

तेनाष्टाविति । इसप्रकार प्राचीन आचार्योंने रूपकके आठ भेदोंका निरूपण किया है ।

कहीं परम्परित रूपक भी एकदेशविवर्ति होता है । जैसे—**खड्ग इति** ।

अत्रार्थः क्ष्मायां महिषीत्वारोपः, खड्गे सौविदल्लत्वारोपे निमित्तम्।
अस्य भेदस्य पूर्ववन्मालारोपत्वेप्युदाहरणं मृग्यम्।

दृश्यन्ते क्वचिदारोप्याः श्लिष्टाः साङ्गेऽपि रूपके ॥ ३३ ॥

तत्रैकदेशविवर्ति श्लिष्टं यथा मम—

'करमुदयमहीधरस्तनाग्रे गलिततमःपटलांशुके निवेश्य।
विकसितकुमुदेक्षणं विचुम्बत्ययममरेशदिशो मुखं सुधांशुः ॥'

"आखण्डलः सहस्राक्ष ऋभुक्षाः" इत्यमरः। क्ष्मासौविदल्लः = क्ष्मायाः (महिषीरूपायाः पृथिव्याः) सौविदल्लः (कञ्चुकिस्वरूपः, अन्तःपुररक्षकः) "सौविदल्लाः कञ्चुकिन" इत्यमरः। खड्गः = करवालः, समिति = समराङ्गणे, विजयते = सर्वोत्कर्षेण वर्तते। स्रग्धरा वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, आर्थः = अर्थवशलभ्यः, क्ष्मायां = पृथिव्यां, महिषीत्वारोपः, राजभोग्यात्वरूपसाम्यमूलकः, शाब्दे=शब्दवशलभ्ये), खड्गे = करवाले, सौविदल्लत्वारोपे=कञ्चुकित्वारोपे, निमित्तं=कारणम्। इह क्ष्मायां महिषीत्वरूपणं विना खड्गस्य सौविदल्लत्वरूपणं नोपपद्यते, अत इदं परम्परितमेकदेशविवर्तिरूपकमिति भावः। न केवलं साङ्गं रूपकमेकदेशविवर्तीतिशेषः। अस्य भेदस्य = एकदेशविवर्ति-परम्परितरूपकभेदस्य, मृग्यम्=अन्वेषणीयम्।

दृश्यन्त इति। क्वचित् = कुत्रचित्, साङ्गे = अङ्गसहिते, रूपकेऽपि, आरोप्याः = आरोपणीया उपमानवाचकाः शब्दाः, श्लिष्टाः = अनेकार्थाः, दृश्यन्ते ॥ ३३ ॥

एकदेशविवर्ति श्लिष्टं स्वनिर्मितमुदाहरणं प्रदर्शयति—**करमिति**। अयं, सुधांशुः = चन्द्रः, गलितेत्यादिः० = गलितं (चन्द्रोदयादपगतम्) तमःपटलम् (अन्धकारसमूहः) एव अंशुकं (वस्त्रम्) यस्मात्तस्मिन्, तादृशे उदयमहीधरस्त-

मालव देशके राजाका पृथिवीके अन्तःपुररक्षक कञ्चुकिस्वरूप खड्ग युद्धमें विजयलाभ करता है।

अत्रेति। इसमें क्ष्मा (पृथिवी)में महिषीत्वका आरोप खड्गमें सौविदल्ल-(अन्तःपुररक्षककञ्चुकि)त्वके आरोपमें निमित्त है।

अस्येति। एकदेशविवर्ति-परम्परितरूपकभेदकी तरह मालारूपमें भी उदाहरण ढूंढना चाहिए।

दृश्यन्त इति। कहीं साङ्गरूपकमें भी आरोप्य (उपमान) श्लिष्ट देखे जाते हैं ॥ ३३ ॥

एकदेशविवर्ति—श्लिष्ट-साङ्ग रूपकका उदाहरण ग्रन्थकारका, जैसे—

करमिति। यह चन्द्रमा जिससे अन्धकारसमूहरूप वस्त्र गिर गया है ऐसे उदयपर्वत-

समस्तवस्तुविषयं यथा—अत्रैव 'विचुम्बति-' इत्यादौ 'चुचुम्बे हरिदबलामुखमिन्दुनायकेन' इति पाठे। न चात्र श्लिष्टपरम्परितम्, तत्र हि 'भूभृदावलिदम्भोलिः-' इत्यादौ राजादौ पर्वतत्वाद्यारोपं विना वर्णनीयस्य राजादे-

नाऽग्रे=उदयमहीधरे (उदयपर्वते) एव स्तनाग्रे (कुचाऽग्रे, उन्नतत्वात्पुष्टत्वाच्चेति भावः), करम् (मयूखम्) एव करं = हस्तं, निवेश्य=निधाय, विकसितकुमुदेक्षणं= विकसितं (प्रकाशितं, चन्द्रोदयेनेति भावः) कुमुदम् (कैरवम्) एव ईक्षणं (नेत्रम्) यस्मिंस्तत्, तादृशं अमरेशदिशः = अमरेशस्य (इन्द्रस्य) दिशः (प्राच्याः) मुखम् आद्यभागम् एव, मुखं = वदनं, विचुम्बति = स्पृशति, निजमुखेन संयोजयति च।

अत्र करशब्दः किरणहस्तवाचकत्वाच्छ्लिष्टः, तत्र किरणे हस्तत्वमारोप्यम्। उदयमहीधरस्य स्तनत्वं, तमसोऽंशुकत्वं, विकसितकुमुदस्येक्षणत्वं शब्दोपात्तं, प्राच्याः नायिकात्वं, सुधांऽशोर्नायकत्वं चाऽऽर्थं (प्रतीयमानम्) अत इदमेकदेशविवर्ति, साऽङ्गोपाङ्गवर्णनात् साऽङ्गरूपकं चेत्यवधेयम्।

समस्तवस्तुविषयं श्लिष्टं रूपकमुदाहरति—**यथेति**। अत्रैव = अस्मिन्नेव पूर्वोक्ते पद्ये, "विचुम्बति" इत्यादौ "चुचुम्बे। हरिदबलामुखमिन्दुनायकेन।" इति पाठे। इन्दुनायकेन = इन्दुः (चन्द्रः) एव नायकः (नेता), तेन। हरिदबलामुखं= हरित् (दिक्) एव अबला (नायिका), तस्या मुखं (वदनम्) चुचुम्बे=चुम्बितम्।

एतादृशपाठे तु सर्वेषामेवारोप्याणां शाब्दत्वाच्छ्लिष्टशब्दनिबन्धनं समस्तवस्तुविषयं साङ्गं रूपकमिति भावः।

अत्र श्लिष्टपरम्परितत्वशङ्कां निराकरोति—**न चेति**। अत्र = करमित्यादिपद्ये, किरणादौ करत्वाद्यारोपस्य महीधरादौ स्तनत्वाद्यारोपं प्रति कथमपि कारणत्वात्, श्लिष्टपरम्परितं रूपकं न वाच्यम्। हि = यतः, तत्र = श्लिष्टपरम्परितविषये, "भूभृदावलिदम्भोलिः (८४१ पृ०)" इत्यादौ राजादौ (विपक्षनृपादौ),

रूप स्तनके अग्रभागमें कर (किरणरूप अपने हाथ)को रखकर विकसित कुमुदरूप नेत्रोंसे युक्त इन्द्रकी दिशा (प्राची)के मुखको चूम रहा है। यहां "कर" शब्द किरण और हाथ दोनोंका वाचक होनेसे श्लिष्ट है, किरणमें हस्तत्व आरोप्य है, उदय पर्वतका स्तनत्व, अन्धकारका वस्त्रत्व, विकसित कुमुदोंका नेत्रत्व शब्दसे गृहीत हैं, पूर्व दिशाका नायिकात्व और चन्द्रमाका नायकत्व आर्थ (अर्थ)से गृहीत है, अतः यह एकदेशविवर्ति रूपक है, साङ्गोपाङ्ग वर्णनसे यह साङ्ग है।

समस्तेति। इसीमें "विचुम्बति" इत्यादिमें "चुचुम्बे। हरिदबलामुखमिन्दुनायकेन" अर्थात् इन्दुरूप नायकसे हरित् (दिशा) रूप अबला (स्त्री) का मुख चूमा गया, ऐसा पाठ करें तो यह "समस्तवस्तुविषयक श्लिष्टरूपक हो जायगा। यहां श्लिष्ट परम्परित रूपक नहीं है, वहां "भूभृदावलिदम्भोलिः" (पृ० १४०)

दम्भोलितादिरूपणं सर्वथैव सादृश्याभावादसङ्गतम्। तर्हि कथं 'पद्मोदयदिनाधीशः'-इत्यादौ परम्परितम्, राजादेः सूर्यादिना सादृश्यस्य तेजस्वितादिहेतुकस्य संभवादिति न वाच्यम्। तथा हि—राजादेस्तेजस्वितादिहेतुकं सुव्यक्तं सादृश्यम्, न तु प्रकृते विवक्षितम्, पद्मोदयादेरेव द्वयोः साधारणधर्मतया विवक्षितत्वात्। इह तु महीधरादेः स्तनादिना सादृश्यं पीनोत्तुङ्गत्वादिना सुव्यक्तमेवेति न श्लिष्टपरम्परितम्।

क्वचित्समासाभावेऽपि रूपकं दृश्यते—

दम्भोलितादिरूपणं = वज्रत्वाद्यारोपः, सादृश्याऽसंभवात् = वज्रादिना सह वर्णनीयस्य राजादिरिति भावः। असंगतम् = असम्बुद्धम्। अत्र तु महीधरस्य स्तनेन सादृश्यं पीनत्वेनोन्नतत्वेन च संगतत्वादित्यभिप्रायः।

पुनराशङ्कते—तर्हीति। अप्रसिद्धसादृश्य एव परम्परितरूपकं यदि तर्हि "पद्मोदयदिनाऽधीशः" अत्र कथं श्लिष्टपरम्परितरूपकत्वं? यतः राजादेरिति। इति न वाच्यमिति। प्रकृते = "पद्मोदयदिनाऽधीशे", इत्यत्र, तत् = सादृश्यं, विवक्षितं = वक्तुमिष्टम्। न तु तेजस्वितादेरिति भावः। पद्मोदयादेरेव = पद्मोदयादिश्लिष्टपदस्यैव। द्वयोः = राजसूर्ययोः, साधारणधर्मतया = सामान्यधर्मत्वेन, पद्मोदय एव द्वयोः राजसूर्ययोः साधारणधर्मः। इह तु = "पद्मोदयदिनाऽधीश" इत्यत्र तु, न श्लिष्टपरम्परितम्। इति सर्वं निरवद्यम्। क्वचिद्व्यस्तरूपकं प्रदर्शयति—क्वचिदिति। कुत्रचित् समासाऽभावेऽपि = व्यस्तपदयोरपि, रूपकं दृश्यते। दण्डिनाऽप्युक्तं, रूपकं त्रिविधं—व्यस्तं, समस्तं, व्यस्त-समस्तं चेति त्रिविधम्।

इत्यादिमें राजा आदिमें पर्वतत्व आदिके आरोपके विना वर्णनीय राजा आदिकी दम्भोलिता आदिका रूपण सर्वथा ही सादृश्यके अभावसे असंगत है। तर्हीति। तब कैसे "पद्मोदयदिनाऽधीशः" इत्यादिमें परम्परित रूपक माना है? तेजस्वी होनेसे सूर्य आदिके साथ राजाका सादृश्य संभव है, यह नहीं कहना चाहिए। तथा हि। राजा आदिका तेजस्वी होनेसे सूर्यका सादृश्य अत्यन्त स्पष्ट है, परन्तु प्रकृतमें "पद्मोदयदिनाऽधीशः" यहांपर यह विवक्षित नहीं है, पद्मोदय आदि श्लिष्ट पदका ही दोनोंका (राजा और सूर्यका) साधारणधर्म बताना विवक्षित है। यहां "पद्मोदयदिनाऽधीशः" इत्यादिमें तो महीधर आदिका स्तन आदिसे सादृश्य पीनत्व और उत्तुङ्गत्व आदिसे सुस्पष्ट है। इसकारण यहां श्लिष्ट परम्परित नहीं।

क्वचिदिति। कहीं समासके न होनेपर भी रूपक देखा जाता है।

'मुखं तव कुरङ्गाक्षि ! सरोजमिति नान्यथा ।'

क्वचिद्वैयधिकरण्येऽपि यथा—

'विदधे मधुपश्रेणीमिह भ्रूलतया विधिः ।'

क्वचिद्वैधर्म्येऽपि यथा—

'सौजन्याम्बुमरुस्थली सुचरितालेख्यद्युभित्तिर्गुण-
ज्योत्स्नाकृष्णचतुर्दशी सरलतायोगश्वपुच्छच्छटा ।

व्यस्तरूपकमुदाहरति—**मुखमिति** । कश्चिन्नायको नायिकामुखं वर्णयति-हे कुरङ्गाक्षि = हे मृगनयने !, तव = भवत्याः, मुखं = वदनं, सरोजं = कमलम्, अन्यथा = प्रकारान्तरेण, त्वमुखं, न = नो वर्तते । व्यस्ते मुखरूपे उपमेये व्यस्तस्य उपमानरूपस्य सरोजस्य आरोपाद्व्यस्तरूपकस्येदमुदाहरणम् ।

क्वचिद् वैयधिकरण्ये=भिन्नविभक्तिकत्वेऽपि रूपकमुदाहरति—**विदध इति** । कश्चित्सुन्दर्या भ्रूलतां वर्णयति । विधिः = ब्रह्मा, इह = अस्यां सुन्दर्यां, भ्रूलतया= अक्षिलोमवल्ल्या, मधुपश्रेणीं = भ्रमरपङ्क्तिं, विदधे=विहितवान् । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

"भ्रूलतया" इत्यत्राऽभेदे तृतीया, अन्यथा तादात्म्यारोपो न स्यात् । अत्र भ्रूलतायां, मधुपश्रेणीत्वारोपान्निरङ्गं केवलं रूपकम् ।

क्वचिद्वैधर्म्येऽपि=निर्दिष्टसाधर्म्याऽभावेऽपि, रूपकं यथा—**सौजन्याऽम्बुमरु-स्थलीति** । सौजन्यम् (सुजनता) एव अम्बु (जलम्), तस्मिन् मरुस्थली (धन्वभूमिः), "राजावली"तिपदस्य विशेषणम्, एवं परत्राऽपि । मरुभूमिर्यथा जलशून्या, तथैव राजावल्यपि सौजन्यशून्येति भावः । सुचरितेत्यादिः० = सुचरितम् (सच्चरित्रम्) एव आलेख्यं (चित्रम्) तस्मिन् द्युभित्तिः (आकाशकुड्यम्), यथाऽऽकाशे चित्रं विधातुं न शक्यते तथैव राजावल्यामपि सुचरितमुदाहर्तुं न शक्यत इति भावः । गुणेत्यादिः० = गुणः (दयादाक्षिण्यादिः) एव ज्योत्स्ना (चन्द्रिका) तस्यां चतुर्दशी = कृष्णपक्षचतुर्दशी, चन्द्रक्षययुक्ताऽमावास्या । कृष्णपक्षचतुर्दश्यां

मुखमिति । हे मृगनयने ! तुम्हारा मुख (ही) कमल है, अन्यथा नहीं । यहां व्यस्त मुखरूप उपमेयमें व्यस्त उपमानरूप सरोजका आरोप होनेसे यह व्यस्त रूपक है ।

क्वचिदिति । कहीं वैयधिकरण्यमे (उपमेय और उपमानकी विभक्ति भिन्न होनेपर) भी रूपक होता है ।

जैसे—**विदध इति** । इस (सुन्दरी)में ब्रह्माजीने भ्रूलतासे भ्रमरपङ्क्तिकी रचना की है । यहां भ्रूलतामें मधुपश्रेणीत्वके आरोपसे निरङ्ग केवलरूपक है ।

क्वचिदिति । कहीं वैधर्म्य (साधर्म्यके अभाव)में भी रूपक होता है ।

जैसे—**सौजन्येति** । सज्जनता रूप जलमें मरुस्थली, सच्चरित्ररूप चित्रमें आकाशभित्ति, गुणरूप चन्द्रिकामें कृष्णपक्षकी चतुर्दशी, सरलताके योगमें कुत्तेके

येरेषापि दुराशया कलियुगे राजावली सेविता
तेषां शूलिनि भक्तिमात्रसुलभे सेवा कियत्कौशलम् ॥'

इदं मम।

अत्र च केषाञ्चिद्रूपकाणां शब्दश्लेषमूलत्वेऽपि रूपकविशेषत्वादर्थालङ्कारमध्ये गणनम्। एवं वक्ष्यमाणालङ्कारेषु बोध्यम्।

अधिकारूढवैशिष्ट्यं रूपकं यत्तदेव तत्।

यथा चन्द्रोदयाऽभावस्तथैव राजावल्यामपि दयादाक्षिण्याद्यभावः इति भावः। सरलतेत्यादि:० = सरलतायोगे (आर्जवसम्बन्धे) श्वपुच्छच्छटा (श्वानलाङ्गूलस्वरूपा), श्वानपुच्छे यथा सरलताऽभावस्तथैव राजावल्यामपि सरलताया अभाव इति भावः। कलियुगे = चतुर्थयुगे, एषा = एतादृशी, राजावली = भूपपङ्क्तिः, दुराशया = दुष्टधनतृष्णया, सेविता = परिचरिता, तेषां = तादृशानां जनानां, कठिनश्रमेण सेवनपरायणानां, भक्तिमात्रसुलभे = भक्तिमात्रेण (केवलया भक्त्या, न तु श्रमाधिक्येनेति भावः) सुलभे (सुप्राप्ये), शूलिनि = शङ्करे, सेवा = परिचरणं, कियत् = किंपरिमाणं, कौशलं = कुशलता; शङ्करपरिचरणमनायाससाध्यमिति भावः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

अत्र मरुस्थल्यामम्बुनः, द्युमित्तावालेख्यस्य, कृष्णचतुर्दश्यां ज्योत्स्नायाः, श्वपुच्छे सरलतायोगस्याऽसम्भवादम्बवादीनां वैधर्म्यं कल्पनीयम्। एवं प्रथमविशेषणत्रयेऽश्लिष्टशब्दनिन्धनं मालारूपं परम्परितरूपकम्। चतुर्थविशेषणे च निरङ्गं केवलं रूपकम्।

अत्र केषांचिदिति। साधनस्य = श्लेषस्य, शब्दाऽलङ्कारत्वेऽपि साध्यत्वेन प्रधानस्य रूपकस्याऽर्थाऽलङ्कारमध्ये गणनम्। वक्ष्यमाणाऽलङ्कारेषु = श्लेषाऽपह्नवाऽलङ्कारेषु, बोध्यं = बोद्धव्यम्।

अधिकारूढवैशिष्ट्यरूपकं लक्षयति—**अधिकारूढवैशिष्ट्यमिति**। यत्, रूपकम्, अधिकारूढवैशिष्ट्यम् = अधिकम् (अत्यर्थम्) आरूढम् (अधिरूढम्) वैशिष्ट्यं (विशेषः) यस्मिंस्तत्, तत् = रूपक, तदेव = अधिकारूढवैशिष्ट्यरूपकम् एव।

पुच्छस्वरूप, ऐसी राजश्रेणीकी भी कलियुगमें जिन्होंने सेवा की, उन्हें भक्तिमात्रसे सुप्राप्य महादेवकी सेवा करनेमें कितनी कुशलता है।

यहां मरुस्थलीत्व आदि विरुद्ध धर्म आरोप्य हैं।

अत्रेति। यहां कुछ रूपकोंका शब्दश्लेषमूल होनेपर भी रूपक विशेष होनेसे उनका अर्थाऽलङ्कारोंके बीचमें परिगणन किया गया है। इसी तरह पीछे कहे जाने वाले अलङ्कारोंमें भी जानना चाहिए।

अधिकेति। जिस रूपकमें अधिक वैशिष्ट्य आरूढ हो उसे "अधिकारूढवैशिष्ट्य" कहते हैं।

तदेवाधिकारूढवैशिष्ट्यसंज्ञकम् ।

यथा मम—

'इदं वक्त्रं साक्षाद्विरहितकलङ्कः शशधरः, सुधाधाराधारश्चिरपरिणतं बिम्बमधरः ।
इमे नेत्रे रात्रिन्दिवमधिकशोभे कुवलये, तनुर्लावण्यानां जलधिरवगाहे सुखतरः ॥'

अत्र कलङ्कराहित्यादिनाधिकं वैशिष्ट्यम् ।

विषयात्मतयारोप्ये प्रकृतार्थोपयोगिनि ॥ ३४ ॥

अधिकारूढवैशिष्ट्यरूपकस्य स्वीयमुदाहरणं प्रदर्शयति—**इदमिति** । कश्चिन्नायकः स्वनायिकाया अङ्गानि वर्णयति । इदं = समीपस्थं, दृश्यमानमिति भावः । वक्त्रं = नायिकाया मुखं, विरहितकलङ्कः = कलङ्करहितः, साक्षात् = प्रत्यक्षरूपः, शशधरः = चन्द्रः, सुधाधाराऽऽधारः = अमृतपरम्पराऽऽश्रयः, अधरः = ओष्ठः, चिरपरिणतं = चिरात् (बहुकालात्) परिणतं (पक्वम्), बिम्बं = विम्बफलम् । इमे = समीपस्थिते, दृश्यमाने इति भावः । रात्रिन्दिवम्=अहोरात्रं, रात्रौ च दिवा चेति समाहारद्वन्द्वः, रात्रेर्मान्तत्वस्य अच्प्रत्ययान्तत्वस्य च "अचतुरे"त्यादिना निपातः । अधिकशोभे = प्रचुरकान्तियुक्ते, कुवलये = नीलकमले । एवं चाऽस्याः तनुः = शरीरम्, अवगाहे = अवगाहने, सुखतरः = अत्यर्थसुखोत्पादकः, लावण्यानां = सौन्दर्याणां, जलधिः = समुद्रः । शिखरिणी वृत्तम् । अत्र वक्त्रे विरहितकलङ्क-शशधरत्वस्य, अधरे सुधाधाराऽऽधार-परिणतबिम्बत्वस्य नेत्रयो-रात्रिन्दिवमधिकशोभकुवलयत्वस्य तथा तनौ अवगाहे सुखतरलावण्यसमुद्रत्वस्य अधिकारूढवैशिष्ट्यस्य सद्भावादधिकारूढवैशिष्ट्यनामकं रूपकमिति भावः ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = पद्ये, कलङ्कराहित्यादिना, आदिपदेन सुधाधाराऽऽधारत्वादेः परिग्रहस्ततश्च कलङ्कराहित्यादिनाऽधिकं = प्रचुरं, वैशिष्ट्यं = विशेषः । अतोऽधिकारूढवैशिष्ट्यरूपकमिति भावः ।

परिणामाऽलङ्कारं लक्षयति—**विषयात्मतयेति** । आरोप्ये = आरोप्यमाणे वस्तुनि, उपमान इति भावः । विषयात्मतया = आरोपविषयतादात्म्येन, उपमेयाऽ-

---

जैसे ग्रन्थकारका—**इदमिति** । यह मुख साक्षात् कलङ्करहित चन्द्र है, अमृतधाराका आधार यह अधर, बहुत समयसे परिपक्व बिम्बफल है । ये नेत्र रात दिन अधिक शोभासे विशिष्ट नीलकमल हैं और यह शरीर अवगाहनमें सुखसे तरने योग्य लावण्योंका समुद्र है ।

यहां कलङ्करहितत्व आदिसे अधिक वैशिष्ट्य है, अतः यह अधिकारूढ-वैशिष्ट्य रूपकका उदाहरण है ।

विषयात्मतयेति । आरोप्यमाण वस्तु (उपमान), आरोपविषय (उपमेय)के तादात्म्यसे प्रस्तुत विषयके उपयोगी होनेपर ॥ ३४ ॥ —

परिणामो भवेत्तुल्यातुल्याधिकरणो द्विधा ।

आरोप्यमाणस्यारोपविषयात्मतया परिणमनात्परिणामः ।

यथा—'स्मितेनोपायनं दूरादागतस्य कृतं मम ।
स्तनोपपीडमाश्लेषः कृतो द्यूते पणस्तया ॥'

भेदस्वरूपेणेति भावः । प्रकृताऽर्थोपयोगिनि = प्रकृताऽर्थस्य (प्रस्तुतविषयस्य) उपयोगिनि (साधनोपयोगिनि) सति, परिणामः = परिणामाऽलङ्कारः ।

परिणामस्य द्वैविध्यं प्रदर्शयति—"तुल्याऽतुल्याऽधिकरणो द्विधा" इति । स च परिणामः तुल्याऽधिकरणोऽतुल्याऽधिकरणश्च, द्विधा = द्वाभ्यां प्रकाराभ्यां भवेत् । तत्र च तुल्याऽधिकरणः=समानाऽधिकरणः । स च समानविभक्तिकपदद्वये प्रयोज्यः । अतुल्याऽधिकरणः = व्यधिकरणः, स च भिन्नविभक्तिकपदद्वयप्रयोज्यः ।

परिणामपदं व्युत्पादयति—**आरोप्यमाणस्येति** । आरोप्यमाणस्य = उपमानस्य, आरोपविषयात्मतया=उपमेयरूपत्वेन, परिणमनात्=पर्यवसानात् परिणामः ।

परिणाममुदाहरति—**स्मितेनेति** । कश्चिन्नायकः स्वमित्रसमीपे स्वनायिकाया व्यवहारं वर्णयति । तया = मद्वल्लभया, स्मितेन = मन्दहास्येन, दूरात् = विप्रकृष्टप्रदेशात्, आगतस्य = आयातस्य, मम = नायकस्य, उपायनम् उपहारः, "उपायनमुपग्राह्यमुपहारस्तथोपदा ।" इत्यमरः । कृतं = विहितम् । तथा द्यूते = अक्षवत्यां, "द्यूतोऽस्त्रियामक्षवती कैतवं पण इत्यपि ।" इत्यमरः । स्तनोपपीडं = स्तनयोः (कुचयोः) उपपीड्य (पीडयित्वा) इति भावः । "सप्तम्यां चोपपीडरुधकर्षः" इति णमुल् । आश्लेषः = आलिङ्गनम्, पणः = शुल्कं, कृतः = विहितः । अनुष्टुब् वृत्तम् । दूरादागताय बान्धवे यथा उपायनं दीयते, तथैव मत्प्रिययाऽपि मह्यं स्मितरूपमुपायनं दत्तम् । एवं च, द्यूते च तथा द्यूतक्रीडायां मम पराजये सति स्तनपीडनपूर्वकमालिङ्गनं पणरूपेणाऽङ्गीकृतमिति भावः ।

परिणाम अलङ्कार होता है । वह दो प्रकारका होता है तुल्याऽधिकरण (समानविभक्तिवाला) और अतुल्याऽधिकरण (असमानविभक्ति वाला) ।

आरोप्यमाणस्येति । आरोप्यमाण (उपमान), आरोपविषय (उपमेय)के तादात्म्य (अभेद)से परिणत होनेसे "परिणाम" होता है ।

जैसे—स्मितेनेति । उस (मेरी प्रिया)ने स्मित (मुसकान)से दूरसे आये हुए मुझे उपायन (उपहार) दिया और द्यूतमें स्तनोंमें पीडापूर्वक आलिङ्गन पण (बाजी) किया ।

अन्यत्रोपायनपणौ वसनाभरणादिभावेनोपयुज्येते । अत्र तु नायकसंभावनद्यूतयोः स्मिताश्लेषरूपतया । प्रथमार्द्धे वैयधिकरण्येन प्रयोगः, द्वितीये सामानाधिकरण्येन ।

रूपके 'मुखचन्द्रं पश्यामि' इत्यादावारोप्यमाणचन्द्रादेरुपरञ्जकतामात्रम्, न तु प्रकृते दर्शनादावुपयोगः । इह तूपायनादेर्विषयेण तादात्म्यं प्रकृते च नायकसंभावनादावुपयोगः । अत एव रूपके आरोप्यस्यावच्छेदकत्वमात्रेणान्वयः, अत्र तु तादात्म्येन ।

विवृणोति—**अन्यत्रेति** । अन्यत्र = अन्यस्मिन् स्थाने, उपायनपणौ, वसनाभरणादिभावेन = वस्त्रभूषणादिस्वरूपेण, उपयुज्येते = प्रयुज्येते । अत्र तु = अस्मिन् स्थाने तु । नायकसंभावनद्यूतयोः=नायकसत्काराक्षवतीक्रीडयोः, स्मिताश्लेषरूपतया= मन्दहास्यालिङ्गनस्वरूपत्वेन, उपयुज्येते । प्रथमार्द्धे = पूर्वार्द्धे "स्मितेनोपायनम्" इत्यादौ, वैयधिकरण्येन = भिन्नविभक्तित्वेन, "स्मितेनोपायनम्" इत्युपमेयोपमानयोर्भिन्नविभक्तित्वेनेति भावः । द्वितीये=उत्तरार्द्धे, सामानाधिकरण्येन=समानविभक्तित्वेन, "आश्लेषः पण" इत्युपमेयोपमानयोस्तुल्यविभक्तित्वेनेति भावः ।

रूपकपरिणामयोर्भेदं प्रदर्शयति-**रूपकेत्विति** । रूपके "मुखचन्द्रं पश्यामि" इत्यत्र मुखम् एव चन्द्रम्, इत्यादौ, आरोप्यमाणचन्द्रादौ=आरोप्यमाणस्य मुखस्योपमानीक्रियमाणस्य चन्द्रादेः, उपरञ्जकतामात्रं = चारुत्वाऽतिशयप्रकटनमात्रम्, न तु प्रकृते = प्रस्तुते । इह तु = अस्मिन् परिणामाऽलङ्कारे तु, विषयेण = आरोपविषयेण उपमेयभूतेन स्मितेनाश्लेषेण च, तादात्म्यम् = अभेदः, प्रकृते च = प्रस्तुते च नायकसंभावनादौ = नायकसत्कारादौ, द्यूतपणयोरुपयोगः । अत एव रूपके, आरोप्यस्य = आरोप्यमाणस्य चन्द्रादेरुपमानपदार्थस्य, अवच्छेदकत्वमात्रेण= इतरव्यावर्तकत्वमात्रेण,

---

अन्यत्रेति । और जगह उपायन और पण (बाजी) वस्त्र तथा आभूषण आदिके भावसे प्रयुक्त होते हैं, यहाँ तो नायकके सत्कार और द्यूतमें स्मित और आलिङ्गनके रूपसे प्रयुक्त होते हैं । पूर्वार्द्धमे स्मित और उपायनमें वैयधिकरण्य अर्थात् भिन्न विभक्तियोंसे प्रयोग है । उत्तरार्द्धमे आश्लेष और पणमे सामानाधिकरण्य अर्थात् समान विभक्तिसे प्रयोग है । रूपकमें "मुखचन्द्रं पश्यामि" इत्यादिमें आरोप्यमाण (उपमान) चन्द्र आदिका उपरञ्जकतामात्र अर्थात् सौन्दर्याऽतिशयमात्र है प्रस्तुत दर्शन आदिमे उपयोग नहीं है । यहाँ (परिणाम अलङ्कारमे) तो आरोपविषय स्मित और आश्लेषसे तादात्म्य (अभेद) और प्रकृतमे नायकके सत्कार आदिमें उसका उपयोग है । इसी कारण रूपकमें आरोप्य अर्थात् चन्द्र आदि उपमान का अवच्छेदकत्व अर्थात् इतर-व्यावर्तकत्वमात्रसे अन्वय है, यहां (परिणाममें) तो तादात्म्यसम्बन्धसे अन्वय है ।

'दासे कृतागसि—' इत्यादौ रूपकमेव, न तु परिणामः। आरोप्यमाणकण्टकस्य पादभेदनकार्यस्याप्रस्तुतत्वात्। न खलु तत्कस्यचिदपि प्रस्तुतकार्यस्य घटनार्थमनुसन्धीयते।

अयमपि रूपकवदधिकारूढवैशिष्ट्यो दृश्यते।

यथा—

'वनेचराणां वनितासखानां दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः।
भवन्ति यत्रौषधयो रजन्यामतैलपूराः सुरतप्रदीपाः॥'

अन्वयः = उपमेयस्वरूपमुखादावभेदसम्बन्धः, अत्र तु = अस्मिन्परिणामाऽलङ्कारे तु, तादात्म्येन = प्रकृतविषयसाधनोपयोगित्वेनाऽभेदेन। अन्वय इति विवेकः।

"दासे कृतागसी"त्यादौ परिणामत्वं निरस्यति—"**दास इति**" "दासे कृतागसि" इत्यादौ रूपकमेव, न परिणामः।

तत्र हेतुं प्रदर्शयति—आरोप्यमाणकण्टकस्य पादभेदनकार्यस्य, अप्रस्तुतत्वात् = अप्रकृतत्वात्। तत् = पादभेदनकार्यम्। घटनाऽर्थं = सम्पादनाऽर्थम्। अनुसन्धीयते = प्रतीयते।

अधिकारूढवैशिष्ट्यपरिणाममुदाहरति—**वनेचराणामिति**। कुमारसंभवस्य प्रथमसर्गे हिमालयपर्वतवर्णनपरकं पद्यमिदम्। यत्र = यस्मिन् हिमालये, रजन्यां= निशायां, दरीगृहोत्सङ्गनिषक्तभासः = दर्यः (कन्दराः) एव गृहाः (भवनानि) तेषामुत्सङ्गेषु (अभ्यन्तरेषु), निषक्ताः (संक्रान्ताः) भासः (कान्तयः) यासां ताः। तादृश्य ओषधयः (तृणज्योतिप्रभृत्योषधानि), वनितासखानां = भार्यासहचराणां, वनेचराणां = किरातानाम्, अतैलपूराः = तैलपूरणरहिताः, अनपेक्षिततैलसेका इति भावः। सुरतप्रदीपाः = निधुवनदीपाः, भवन्ति = विद्यन्ते। उपेन्द्रवज्रा वृत्तम्।

"दासेकृतागसि" इत्यादिमें रूपक ही है, परिणाम नहीं, क्योंकि आरोप्यमाण कण्टकका जो पादभेदन कार्य है वह प्रस्तुत नहीं, वह किसी भी प्रस्तुत कार्यकी घटनाके लिए प्रतीत नहीं है।

यह भी रूपकके समान अधिकारूढवैशिष्ट्यमें देखा जाता है, जैसे—

वनेचराणामिति। जिस (हिमालय) में रातको गुफारूप गृह के भीतर जिनकी किरणें फैली हैं, ऐसी ओषधियां स्त्रीके साथ रहनेवाले किरातोंके तैलके सेचनकी अपेक्षा न करनेवाले सुरतक्रीडाके दीपक होते हैं।

अत्र प्रदीपानामोषध्यात्मतया प्रकृते सुरतोपयोगिन्यन्धकारनाशे उपयोगोऽतैलपूरत्वेनाधिकारूढवैशिष्ट्यम्।

सन्देहः प्रकृतेऽन्यस्य संशयः प्रतिभोत्थितः ॥ ३५ ॥

शुद्धो निश्चयगर्भोऽसौ निश्चयान्त इति त्रिधा ।

यत्र संशय एव पर्यवसानं स शुद्धः ।

यथा—

'किं तारुण्यतरोरियं रसभरोद्भिन्ना नवा वल्लरी
वेलाप्रोच्छलितस्य किं लहरिका लावण्यवारां निधेः ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र अस्मिन्पद्ये, प्रदीपानाम्, ओषध्यात्मतया = औषधस्वरूपत्वेन. सुरतोपयोगिनि = निधुवनावश्यके, उपयोगः = तत्साधनत्वेन प्रयोगः, अतैलपूरत्वेन = नपेक्षिततैलसेकत्वेन, अधिकारूढवैशिष्ट्यम् ।

सन्देहाऽलङ्कारं लक्षयति— **सन्देह इति** । प्रकृते = उपमेये, प्रतिभोत्थितः= प्रतिभया (कविप्रौढोक्त्या) उत्थितः (निष्पन्नः), न तु पदार्थस्वभावसिद्ध इति भावः । अन्यस्य=उपमानस्य, संशयः=सन्देहः, स सन्देहः=सन्देहाऽलङ्कारः ॥३५॥

सन्देहं त्रैविध्येन विभजते—**शुद्ध इति** । असौ = सन्देहः । शुद्धो, निश्चयगर्भो निश्चयाऽन्तश्चेति, त्रिधा = त्रिभिः प्रकारैः, भवतीति शेषः ।

शुद्धसन्देहं लक्षयति—**यत्रेति** । यत्र = यस्मिन् स्थले, संशय एव = सन्देह एव, पर्यवसानं = वाक्यपरिसमाप्तिः, स शुद्धः ।

शुद्ध सन्देहमुदाहरति—**किमिति** । बन्धुकवेः पद्यमिदम् ।

कांचित्प्रमदां दृष्ट्वा कस्य चित्पुरुषस्योक्तिरियम् । इयं=सन्निकृष्टस्था प्रमदा, तारुण्यतरोः = तारुण्यम् (यौवनम्) एव तरुः (वृक्षः), तस्य । रसभरोद्भिन्ना = रसभरेण (द्रवातिशयेन, पक्षान्तरे—भोगाऽभिलाषेण) उद्भिन्ना (उद्गता), नवा = नूतना, वल्लरी = मञ्जरी, किम् ? । वेलाप्रोच्छलितस्य = वेलायां (तटे, पक्षान्तरे—सामान्यमर्यादायाम्) प्रोच्छलितस्य (उद्गतस्य), लावण्यवारां निधेः=

अत्रेति । इसमें प्रदीप औषधोंके रूपमें रहकर प्रकृतमें सुरतक्रीडाके उपयोगी अन्धकार नाशमें उपयुक्त हैं, उनको तैलसेवनकी अपेक्षा न होनेसे यहाँ अधिकारूढवैशिष्ट्य परिणाम अलङ्कार है ।

सन्देह इति । प्रकृत (उपमेय)में अन्य (उपमान) का प्रतिभासे उत्थित संशयको "सन्देह अलङ्कार" कहते हैं ।

उसके तीन भेद होते हैं—शुद्ध, निश्चयगर्भ और निश्चयाऽन्त । जहाँ संशयमें ही पर्यवसान (समाप्ति) होता है उसे "शुद्ध सन्देह" कहते हैं । जैसे—**किमिति** । यह (सुन्दरी) यौवनरूप वृक्षकी रसके भारसे उत्पन्न नयी मञ्जरी है क्या ?

उद्गाढोत्कलिकावतां स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः
किं साक्षादुपदेशयष्टिरथवा देवस्य शृङ्गारिणः ॥'

यत्रादावन्ते च संशय एव, मध्ये निश्चयः स निश्चयमध्यः।

यथा—

'अयं मार्तण्डः किं, स खलु तुरगैः सप्तभिरितः,
कृशानुः किं, सर्वाः प्रसरति दिशो नैष नियतम्।

सौन्दर्यसमुद्रस्य, लहरिका=तरङ्गः, किम्? अत्यर्थलावण्यशालिनीयं ललनेति भावः अथवा उद्गाढोत्कलिकावताम्=उद्गाढा (प्रचुरा) या उत्कलिका (उत्कण्ठा, प्रियतमासमागम इति शेषः) तद्वतां (तद्युक्तानां जनानाम्), स्वसमयोपन्यासविश्रम्भिणः=स्वसमयस्य (निजाचारस्य) उपन्यासे (स्थापने) विस्रम्भिणः (प्रणयिनः), 'विस्रम्भः केलिकलहे विश्वासे प्रणयेऽपि च।' इति मेदिनी। शृङ्गारिणो देवस्य = कामदेवस्य। साक्षात् = प्रत्यक्षरूपा, उपदेशयष्टिः = शिक्षणदण्डः, किम्? अनवहितशिष्यताडनायेति शेषः। अत्रोपमेयस्वरूपायां प्रमदायामुपमानस्वरूपाणां वल्लरी—लहरिकोपदेशयष्टीनां संशयादेवं संशय एव वाक्यपरिसमाप्तेः शुद्धसन्देहाऽलङ्कारः। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

निश्चयमध्यसन्देहाऽलङ्कारं लक्षयति—यत्रेति। यत्र = यस्मिन् सन्दर्भे, आदौ = प्रारम्भे, अन्ते च = अवसाने च, संशय एव, मध्ये = अन्तरे, निश्चयः = निर्णयः, स निश्चयमध्यः सन्देहः।

निश्चयमध्यं सन्देहमुदाहरति—अयमिति। कश्चित्कविः कंचिच्छूरं राजानं प्रशंसति। अयं = सन्निकृष्टस्थः पदार्थः, मार्तण्डः किं = सूर्यः किम्? इति संशयः। सः = मार्तण्डः, खलु = निश्चयेन, सप्तभिः = सप्तसंख्यकैः, तुरगैः=अश्वैः, साधनभूतैः, इतः = गतः, भवति, अयं त्वेकेनैव तुरगेण गतः, अतो नाऽयं मार्तण्डः, इति मध्ये निश्चयः। एषः = समीपतरवर्ती पदार्थः, कृशानुः किम्? अग्निः किम्, इति संशयः कृशानुः, नियतं = निश्चितमेव, सर्वाः = सकलाः, दिशः = आशाः, न प्रसरति = नो गच्छति, ऊर्ध्वमेव ज्वलतीति प्रसिद्धम्, अयं तु = दृश्यमानः पदार्थस्तु, सर्वा दिशः प्रसरति। अतो नाऽयं कृशानुरिति मध्ये कृशानुत्वाऽभावनिश्चयः।

अथवा किनारेमें प्रभूत सौन्दर्य समुद्रकी तरङ्ग है? वा प्रचुर उत्कण्ठावाले पुरुषोंको अपने आचारके स्थापनमें प्रेम करनेवाले शृङ्गारी देवता (कामदेव)की प्रत्यक्ष उपदेशयष्टि है? यहां सुन्दरीका वर्णन संशयमें ही समाप्त होनेसे यह शुद्ध सन्देहका उदाहरण है।

यत्रेति। जहां आदि और अन्तमें संशय ही है और मध्यमें निश्चय होता है उसे निश्चयगर्भ (निश्चयमध्य) कहते हैं।

जैसे—अयमिति। यह सूर्य हैं क्या? वे तो सात घोड़ोंसे चलने वाले हैं? तब क्या यह अग्नि है? वह तो सब दिशाओंमें नहीं चलता है, (ऊपर ही जलता

कृतान्तः किं, साक्षान्महिषवहनोऽसाविति पुनः
समालोक्याजौ त्वां विदधति विकल्पान् प्रतिभटाः ॥'

अत्र मध्ये मार्तण्डाद्यभावनिश्चयो राजनिश्चये द्वितीयसंशयोत्थानासंभवात्। यत्रादौ संशयोऽन्ते च निश्चयः स निश्चयान्तः।

यथा—

'किं तावत्सरसि सरोजमेतदारादाहोस्विन्मुखमवभासते तरुण्याः।
संशय्य क्षणमिति निश्चिकाय कश्चिद्बिव्वोकैर्बकसहवासिनां परोक्षैः ॥'

असौ, साक्षात् = प्रत्यक्षरूपः, कृतान्तः किम् = यमराजः किम् इति संशयः। असौ = कृतान्तः, महिषवाहनः = महिषः (लुलायः) वहनं (वाहनम्) यस्य सः। अयं तु हयवाहनः, अतो नाऽयं कृतान्त इति मध्ये निश्चयः। तर्हि कोऽयमिति संशयः। आजौ = युद्धे, त्वां = भवन्तं, समालोक्य = दृष्ट्वा, प्रतिभटाः = विपक्षयोधाः, विकल्पान् = बहून् संशयान्, विदधति = कुर्वन्ति। शिखरिणी वृत्तम्।

अत्रोपमेयभूते राजन्युपमानभूतानां मार्तण्ड–कृशानु–कृतान्तानां संशयादादावन्ते च तस्य सत्त्वान्मध्ये च मार्तण्डाद्यभावनिश्चयात् निश्चयमध्य-सन्देहाऽलङ्कारः।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, मार्तण्डाद्यभावनिश्चयः=मार्तण्डादीनाम् (आदिपदेन कृशानु-कृतान्तयोः परिग्रहः), अभावस्य (भेदस्य) निश्चयः (तर्केण निर्णयः), राजनिश्चये = अयं राजेति निर्णये, द्वितीयसंशयोत्थानाऽसंभवात्= कृशान्वादिसन्देहोत्पत्त्यसंभवात्।

निश्चयान्त-सन्देहाऽलङ्कारं लक्षयति—**यत्रेति**। यत्र = यस्मिन् सन्दर्भे, आदौ, संशयः = सन्देहः, अन्ते च = अवसाने च, निश्चयः = निर्णयः, स निश्चयाऽन्तः सन्देहाऽलङ्कारः।

निश्चयाऽन्तसन्देहाऽलङ्कारमुदाहरति—**किं तावदिति**। शिशुपालवधमहाकाव्यस्याऽष्टमसर्गस्थं पद्यम्। कश्चित्पुरुषः सरसि तरुणीवदनं विलोक्य संशेते— सरसि = कासारे, आरात् = दूरे, "आराद्दूरसमीपयो"रित्यमरः। एतत्=दृश्यमानं वस्तु, सरोजं किं = कमलं किम्? आहोस्वित् = अथ वा, तरुण्याः = युवत्याः,

रहता है)। तो क्या यह साक्षात् यमराज हैं? वे तो भैंसेपर सवारी करते हैं। हे राजन्! संग्राममें आपको देखकर शत्रु पक्षके योद्धा अनेक विकल्पोंको करते हैं।

अत्रेति। इस पद्यमें मध्यमें सूर्य आदि न होने का निश्चय होता है, यह राजा है ऐसा निश्चय हो तो दूसरे संशयों का उत्थान ही न होता।

यत्रेति। जहां आदिमें संशय और अन्तमे निश्चय हो तो "निश्चयाऽन्त सन्देह" अलङ्कार होता है। जैसे—**किं तावदिति**। "तालाबमें यह कमल है वा तरुणी का मुख शोभित हो रहा है" कुछ समय तक संशय कर किसीने बगलेके

अप्रतिभोत्थापिते तु 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादिसंशये नायमलङ्कारः ।

'मध्यं तव सरोजाक्षि ! पयोधरभरार्दितम् ।
अस्ति नास्तीति संदेहः कस्य चित्ते न भासते ? ॥'

अत्रातिशयोक्तिरेव, उपमेये उपमानसंशयस्यैवैतदलङ्कारविषयत्वात् ।

मुखं, = वदनम्, अवभासते = विराजते, इति = एवं, क्षणं = कचित्कालं, संशय्य = संशयं कृत्वा, कश्चित् = अनिर्दिष्टनामधेयो जनः, बकसहवासिनां = कह्वपक्षिसहाऽवस्थायिनां, "बकः कह्व" इत्यमरः । कमलानामिति भावः । परोक्षैः = अगोचरैः, विव्वोकैः = स्त्रीणां शृङ्गारभावजाभिः क्रियाभिः, निश्चिकाय = "इदं तरुण्या मुखमेवे"ति निश्चयं चकार । प्रहर्षिणी वृत्तम् ।

अत्रोपमेयस्वरूपे तरुणीमुख आदौ सरोजस्य संशयादन्ते च तरुणीमुखत्वेन निश्चयान्निश्चयाऽन्तः सन्देहाऽलङ्कारः ।

सन्देहाऽलङ्कारस्याऽसद्भावस्थलं प्रदर्शयति—**अप्रतिभोत्थापिते त्विति**— कविप्रतिभयाऽनुत्पादिते, स्वभावसिद्धे "स्थाणुर्वा पुरुषो वा" । इत्यादि संशये नाऽयमलङ्कारः, एवमेव—**मध्यं तवेति** । कश्चित्पुरुषः कस्याश्चित्सुन्दर्याः मध्यं प्रशंसति । हे सरोजाक्षि = हे कमललोचने !, पयोधरभरार्दितं = पयोधरभरेण (स्तनभारेण) अर्दितं (पीडितम्), तव = भवत्याः, मध्यम् = अवलग्नम्, अस्ति= विद्यते, नाऽस्तीति = न विद्यत इति, सन्देहः = संशयः, कस्य = जनस्य, चित्ते = मानसे, न भासते = न प्रकाशते, प्रत्युत सर्वस्यैव चित्ते भासत इत्यर्थः । अतिशय-सूक्ष्मत्वादिति तात्पर्यम् । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । चित्ते तथाविधसन्देहभासनाऽसम्बन्धेऽपि तत्सम्बन्धोक्तेरसम्बन्धे सम्बन्धरूपोऽतिशयोक्त्यलङ्कारः एव । एतदलङ्कारविषयत्वात् = सन्देहाऽलङ्कारविषयत्वात् ।

सहवासियों (कमलों) में नहीं होने वाले विव्वोकों (स्त्रियोंकी शृङ्गार-चेष्टाओं) से "यह तरुणी का मुख है" ऐसा निश्चय कर लिया ।

अप्रतिभोत्थापित इति । कविकी प्रतिभासे नहीं उठाये गये "स्थाणु है वा पुरुष" इत्यादि संशयमें यह सन्देह अलङ्कार नहीं होता है ।

मध्यमिति । हे कमलनयने ! स्तनभारसे पीडित तुम्हारी कमर है वा नहीं ? ऐसा सन्देह किसके चित्तमें प्रकाशित नहीं होता है ?

अत्रेति । यहां अतिशयोक्ति ही है क्योंकि उपमेयमें उपमानका संशय होने पर ही यह (सन्देह) अलङ्कार होता है ।

साम्यादतस्मिंस्तद्बुद्धिर्भ्रान्तिमान् प्रतिभोत्थितः ॥ ३६ ॥

यथा—

'मुग्धा दुग्धधिया गवां विदधते कुम्भानधो वल्लवाः,
कर्णे कैरवशङ्कया कुवलयं कुर्वन्ति कान्ता अपि ।
कर्कन्धूफलमुच्चिनोति शबरी मुक्ताफलाकाङ्क्षया
सान्द्रा चन्द्रमसो न कस्य कुरुते चित्तभ्रमं चन्द्रिका? ॥'

भ्रान्तिमदलङ्कारं लक्षयति—**साम्यादिति** । मिथ्याज्ञानसाहश्येन सन्देहानन्तरमस्याऽवसरः । साम्यात् = साहश्याद्धेतोः, अतस्मिन् = तदभाववति वस्तुनि, प्रतिभोत्थिता = कविप्रौढोक्तिसिद्धा, तद्बुद्धिः=तद्वस्तुत्वप्रकारकं ज्ञानं, भ्रान्तिमान्= भ्रान्तिमानलङ्कारः भ्रान्तिः, (चित्तधर्मविशेषः) अस्मिन् (भ्रमप्रकारे) अस्तीति भ्रान्तिमानित्यन्वर्थसंज्ञा ।। ३६ ।।

भ्रान्तिमदलङ्कारमुदाहरति—**मुग्धा इति** । नलचम्पूस्थं चन्द्रिकावर्णनपरं पद्यमिदम् । मुग्धाः = मूढाः, वस्तुतत्त्वपरिच्छेदाऽसमर्थाः बल्लवाः = गोपाः, दुग्धधिया = पयोबुद्ध्या, कुम्भपतितायां चन्द्रिकायामिति शेषः, गवां = धेनूनाम्, अधः= निम्नभागे, कुम्भान् = दोहनकलशान्, विदधते = स्थापयन्ति । कान्ता अपि=प्रमदा अपि, कैरवशङ्कया = कुमुदसंशयेन, कर्णे = श्रोत्रे, कुवलयं = नीलकमलं, कुर्वन्ति= विन्यस्यन्ति । एवं च—शबरी = किरातस्त्री, मुक्ताफलाकाङ्क्षया = मौक्तिकप्राप्त्याशया, कर्कन्धूफलं = बदरीफलम्, उच्चिनोति = संगृह्णाति । अतः सान्द्रा = निबिडा, चन्द्रमसः = चन्द्रस्य, चन्द्रिका = ज्योत्स्ना, कस्य = जनस्य, चित्तभ्रमं = मनोभ्रान्तिं, न कुरुते = नो विदधाति, अपि तु सर्वस्यैव चित्तभ्रमं कुरुत इति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

अत्र चन्द्रिकायां दुग्धस्य, कुवलये कैरवस्य, कर्कन्धूफले च मुक्ताफलस्य, बुद्धेः= अतद्वति तत्प्रकारकज्ञानाद्भ्रान्तिमानलङ्कारः । अत्र कविप्रौढोक्तिसिद्धा भ्रान्तिः साम्याऽतिशयव्यञ्जिका : अत्र ध्वनिसत्त्वेऽपि कवेः वाच्यचित्र्यप्रदर्शन एव तात्पर्यादलङ्कारत्वपरिग्रहः ।

साम्यादिति । साहश्यके कारण प्रतिभासे उत्थित अन्य पदार्थमें अन्य पदार्थके ज्ञानको "भ्रान्तिमान्" अलङ्कार कहते हैं ।। ३६ ।। जैसे—**मुग्धा इति** । मूढ गोपाल (अहीर) यह दूध है ऐसा समझकर गायों के नीचे घड़ोंको रखते हैं । सुन्दरियां कमलकी शङ्कासे कानमें नीलकमलको पहिनती हैं । भिल्लस्त्रियां मोतीकी शङ्कासे बदरीफलोंको बटोर रही हैं । चन्द्रमाकी गाढ़ी चांदनी किसके चित्तमें भ्रमको उत्पन्न नहीं करती है ?

अस्वरसोत्थापिता भ्रान्तिर्नायमलङ्कारः। यथा—'शुक्तिकायां रजतम्' इति। न चासादृश्यमूला।

'संगमविरहविकल्पे वरमिह विरहो न संगमस्तस्याः।
सङ्गे सैव तथैका, त्रिभुवनमपि तन्मयं विरहे॥'

क्वचिद् भेदाद् ग्रहीतॄणां विषयाणां तथा क्वचित्।
एकस्यानेकधोल्लेखो यः स उल्लेख उच्यते॥ ३७॥

अस्वरसोत्थापिता = अस्वरसेन (अस्वेच्छया), कवेरनिच्छया अप्रतिभयेति भावः, उत्थापिता (जनिता) भ्रान्तिः, वस्तुस्वभावजनितो भ्रम इति भावः। नाऽयमलङ्कारः = नो भ्रान्तिमानलङ्कारः। यथा—शुक्तिमायां रजत = मुक्तास्फोटे रूप्यमिति ज्ञानम्। शुक्तिकारजतयोः चाकचक्यवशात् साम्यसत्त्वेऽपि अस्वरसोत्थापितत्वान्नाऽलङ्कारत्वमिति भावः।

एवमेवाऽसादृश्यमूला भ्रान्तिः स्वरसोत्थापिताऽपि, न भ्रान्तिमानलङ्कारः।

उदाहरति—**संगमविरहविकल्प इति**। कस्य चिद्रसिकस्य जनस्य मित्रं प्रत्युक्तिरियम्। तस्याः = वल्लभायाः। सङ्गमविरहविकल्पे = सङ्गमविरहयोः (समागमवियोगयोः) विकल्पे (अन्यतरग्रहणे), इह = अस्मिन्विषये, तस्याः = वल्लभायाः विरहः = वियोगः, वरं = किञ्चित्प्रियम्। संगमः = तस्याः समागमः, न = न वरम्। अत्र हेतुं प्रदर्शयति—**सङ्ग इति**। सङ्गे = समागमे, सा = वल्लभा, तथा = तेन प्रकारेण स्थिता, प्रत्यक्षगोचरीभूता, एका = एकाकिनी, एव। परं विरहे = वियोगे, त्रिभुवनम् अपि = लोकत्रयम् अपि, तन्मयं = वल्लभामयं, भवतीति शेषः। आर्यावृत्तम्॥ अस्य पद्यस्य कवेः स्वरसोत्थापितत्वेऽपि सादृश्यमूलत्वाऽभावान्न भ्रान्तिमदलङ्कारत्वम्।

उल्लेखाऽलङ्कारं लक्षयति—**क्वचिदिति**। क्वचित्=कुत्रचित् स्थले, ग्रहीतॄणां ज्ञातॄणां भेदात्=प्रकारात्, तथा क्वचित्, विषयाणां=धर्माणां, हेत्ववच्छेदकानामिति

अस्वरसोत्थापितेति। कविकी प्रतिभासे नही उठाई गई भ्रान्ति सन्देह अलङ्कार नहीं है। जैसे—सीपमें यह चांदी है ऐसी भ्रान्ति भी सन्देह अलङ्कार नहीं। सादृश्यमूलक भ्रान्तिके न होनेपर भी अलङ्कार (भ्रान्तिमान्) नहीं होता है।

जैसे—**संगमविरहविकल्प इति**। समागम और वियोगके विकल्पमें उस (सुन्दरी) का वियोग ही अच्छा, समागम नहीं, क्योंकि समागममें वही (सुन्दरी ही) एक रहेगी और वियोगमें तीनों लोक तन्मय प्रतीत होंगे।

यहां कविके स्वरससे उत्थापित होनेपर भी सादृश्यमूलक न होनेसे भ्रान्तिमान् अलङ्कार नहीं है।

क्वचिदिति। कहीं ग्रहीता (ज्ञाता) ओंके भेदसे और कहीं विषयों-

क्रमेणोदाहरणम्—

'प्रिय इति गोपवधूभिः, शिशुरिति वृद्धैरधीश इति देवैः ।
नारायण इति भक्तैर्ब्रह्मेत्यग्राहि योगिभिर्देवः ॥'

अत्रैकस्यापि भगवतस्तत्तद्गुणयोगादनेकधोल्लेखे गोपवधूप्रभृतीनां रुच्यादयो यथायोगं प्रयोजकाः ।

यदाहुः—

'यथारुचि यथार्थित्वं यथाव्युत्पत्ति भिद्यते ।
आभासोऽप्यर्थ एकस्मिन्ननुसन्धानसाधितः ॥'

भावः, **भेदात्**, एकस्य = पदार्थस्य, अनेकधा = अनकप्रकारेण, य उल्लेखः=अवधारणं, स उल्लेखः = उल्लेखाऽलङ्कारः, उच्यते = अभिधीयते ॥ ३७ ॥

ग्रहीतृभेदादुल्लेखाऽलङ्कारमुदाहरति—**प्रिय इति ।** भगवान् कृष्णो यदा कंसस्य रङ्गशालां गतस्तदा तत्तज्जनमनोभावान्वर्णयति कश्चित्कविः । देवः = भगवान् कृष्णो गोपवधूभिः = गोपीभिः, प्रियः = वल्लभ इति, वृद्धैः = नन्दादिभिः, शिशुः = बालः, इति । देवैः=सुरैः, इन्द्रादिभिरिति शेषः । अधीशः=स्वामी, इति । भक्तैः = अक्रूरादिभिः, नारायणः = भगवान्विष्णुः, इति, योगिभिः =योगाऽभ्यासपरायणैः, ब्रह्म=परमात्मा, इति, अग्राहि=गृहीतः, ज्ञात इति भावः । आर्या वृत्तम् । अत्रैकस्यैव भगवतः श्रीकृष्णस्य गोप्यादिग्रहीतृभेदादनेकधोल्लेखादुल्लेखाऽलङ्कारः ।

विवृणोति—**अत्रेति ।** अत्र = अस्मिन् पद्ये, भगवतः = श्रीकृष्णस्य, तत्तद्गुणयोगात्=प्रियत्व–शिशुत्वाऽधीशत्व–नारायणत्व–ब्रह्मत्वगुणसम्बन्धात्, रुच्यादयः= इच्छादयः, यथायोगं = यथासंभवं, प्रयोजकाः = कारणानि ।

अत्राऽर्थे वृद्धसंमतिं प्रदर्शयति—**यथारुचीति ।** यथारुचि = यथाऽभिलाषं, यथाऽर्थित्वं = यथाप्रयोजनं, यथाव्युत्पत्ति = यथासंस्कारम्, एकस्मिन्, अर्थे = विषये, अनुसन्धानसाधितः = अनेकविशेषणज्ञानजनितः, आभासः = ज्ञानं, भिद्यते = भिन्नत्वेन प्रतीयते ।

(धर्मों) के भेदसे एक पदार्थका जहाँ अनेक प्रकारसे उल्लेख (निश्चय) होता है उसे " उल्लेख अलङ्कार" कहते हैं ॥ ३७ ॥

क्रमसे उदाहरण—**प्रिय इति ।** भगवान् कृष्णको गोपियोंने प्रिय नन्द, आदि वृद्धोंने बालक, इन्द्र आदि देवताओंने स्वामी, भक्तोंने नारायण और योगियोंने ये ब्रह्म (परमात्म) हैं ऐसा जान लिया ।

अत्रेति । यहां भगवान् श्रीकृष्णके एक होनेपर भी प्रियत्व, शिशुत्व, अधीशत्व, नारायणत्व और ब्रह्मत्व गुणके योगसे अनेक प्रकारोंसे उल्लेख होनेमें गोप-आदिकोंके रुचि आदि यथासंभव कारण हैं । जैसे कि कहते हैं—

यथारुचीति । रुचि, प्रयोजन, और संस्कारके अनुसार एक ही पदार्थमें अनेक विशेषणोंके ज्ञानसे उत्पन्न ज्ञान भिन्न रूपसे प्रतीत होता है ।

अत्र भगवतः प्रियत्वादीनां वास्तवत्वाद् ग्रहीतृभेदाच्च न मालारूपकम्, न च भ्रान्तिमान्, न चायमभेदे भेद इत्येवंरूपातिशयोक्तिः। तथा हि—'अन्य-देवाङ्गलावण्यम्-' इत्यादौ लावण्यादेर्विषयस्य पृथक्त्वेनाध्यवसानम्। न चेह भगवति गोपवधूप्रभृतिभिः प्रियत्वाद्यध्यवसीयते; प्रियत्वादेर्भगवति तत्काले तात्त्विकत्वात्। केचिदाहुः—'अयमलङ्कारो नियमेनालङ्कारान्तरविच्छित्तिमूलः। उक्तोदाहरणे च शिशुत्वादीनां नियमाभिप्रायात्प्रियत्वादीनां भिन्नत्वाध्यवसाय

अस्मिन्पद्येऽलङ्कारान्तरप्रसक्तिं निरस्यति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, भगवतः = श्रीकृष्णस्य, प्रियत्वादीनाम्, आदिपदेन शिशुत्वादीनां परामर्शः। वास्त-वत्वात् = अनारोपितत्वात्। ग्रहीतृभेदाच्च = ज्ञातृपार्थक्या न मालारूपकं, न च भ्रान्तिमान्, सादृश्यजनितभ्रान्तेश्चाभावादिति भावः।

उल्लेखेऽतिशयोक्तेरतिप्रसक्तिं निरस्यति—**न चाऽयमिति**। एवं च, न च अयम् = उल्लेखः "अभेदे भेद" इत्येवं रूपाऽतिशयोक्तिः,

उपपादयति—**तथाहीति**। "अन्यदेवाऽङ्गलावण्यम्" इत्यादौ लावण्यादेः निश्चयः विषयस्य = उपमेयस्य, पृथक्त्वेन = पार्थक्येन, अध्यवसानम्। न च इह = प्रिय इति पद्ये, गोपवधूप्रभृतिभिः = प्रभृतिपदेन वृद्धादीनां परामर्शः। भगवति = श्रीकृष्णे, तत्काले = तत्समये, 'तात्त्विकत्वात् = वास्तविकत्वात्।

उल्लेखेऽलङ्कारान्तरविच्छितिः संभवतीति केषांचिन्मतमुपन्यस्यति—**केचि-दिति**। केचित् = आचार्याः। अयम्, अलङ्कारः = उल्लेखः, नियमेन=निश्चितरूपेण, अलङ्कारान्तरविच्छित्तिमूलः = अलङ्कारान्तरविच्छित्तिः (अन्याऽलङ्कारवैचित्र्यम्) मूलं (कारणम्) यस्य सः।

उक्तिमिमामुपपादयति—**उक्तोदाहरण इति**। उक्तोदाहरणे="प्रिय इत्याद्याकारके, शिशुत्वादीनाम् = आदिपदेन प्रियत्वादेः परिग्रहः। नियमाऽ-भिप्रायात् = कृष्णस्य गोपवधूनां प्रियत्वे, वृद्धानां शिशुत्वे, देवानामधीशत्वे, भक्तानां

अत्रेति। इस पद्यमें भगवान् श्रीकृष्णके प्रियत्व आदि वास्तव होनेसे, आरोपित न होनेसे मालारूपक नहीं है न भ्रान्तिमान् है और न यह अभेदमें भेद-रूप अतिशयोक्ति अलङ्कार है। जैसे कि—"अन्यदेवाऽङ्गलावण्यम्" इत्यादिमें लावण्य आदि विषय (उपमेय) का अन्य रूपसे अध्यवसान किया है। यहां भग-वान् श्रीकृष्णमें गोपवधू आदिकों ने प्रियत्व आदिका अध्यवसान नहीं किया है। भगवान्मे प्रियत्व आदि उस समयमे तात्त्विक (यथार्थ) है।

केचिदिति। कोई आचार्य कहते हैं—इस (अलङ्कार) में नियमसे अन्य अलङ्कारका वैचित्र्य मूलमें रहता है। कहे गये उदाहरणमें शिशुत्व आदिका नियमसे आशय होनेसे प्रियत्व आदिकोंका भिन्नत्वसे अध्यवसाय है इस कारण

इत्यतिशयोक्तिरस्ति, तत्सद्भावेऽपि प्रत्येतृभेदेन नानात्वप्रतीतिरूपो विच्छित्ति-विशेष उल्लेखभिन्नालङ्कारप्रयोजकः। श्रीकण्ठजनपदवर्णने—'वज्रपञ्जरमिति शरणागतैः, अम्बरविवरमिति वातिकैः' इत्यादिश्चातिशयोक्तेर्विविक्तो विषयः। इह च रूपकालङ्कारयोगः।

नारायणत्वे योगिनां च ब्रह्मत्वे, इति नियमेन अभिप्रायात् (आशयात्), प्रियत्वादीनां, भिन्नत्वाऽध्यवसायः = शिशुत्वादिभेदप्रत्ययः। तस्मादनेकरूपस्याऽपि भगवतः प्रतिग्रहीत्रैकैकभेदरूपत्वेन नियमनमिति चाऽभेदे भेदाऽध्यवसायादतिशयोक्तिः।

यद्येवं तर्ह्यतिशयोक्तिरेवाऽस्तु किमुल्लेखत्वाऽङ्गीकार इत्यत्राह—**तत्सद्भावेऽपीति**। तत्सद्भावेऽपि = अतिशयोक्तिसत्त्वेऽपि। प्रत्येतृभेदेन = एकस्मिन्भगवति गोपवध्वादीनां रुच्यादिभेदेन, नानात्वप्रतीतिरूपः = प्रियत्वादिबहुविधज्ञानरूपः, विच्छित्तिविशेषः = वैचित्र्यविशेषः, उल्लेखाख्येत्यादिः० = उल्लेखाख्यः (उल्लेखः-नामकः) यो भिन्नाऽलङ्कारः (अतिशयोक्तिभिन्नाऽलङ्कारः) तत्प्रयोजकः (तद्धेतुभूतः)।

अतिशयोक्तिरहितानप्युल्लेखस्य विषयान्दर्शयति—**श्रीकण्ठेत्यादि०**। श्रीकण्ठ-जनपदवर्णने = श्रीकण्ठनामको यो जनपदः (देशः), तद्वर्णने (बाणभट्टकृतहर्ष-चरितस्थिते)—शरणागतैः = रक्षास्थानमिति मत्वाऽऽयातैर्जनैः, वज्रपञ्जरं = लोहनिर्मितो गृहविशेषः। वातिकैः = वातरोगिभिः, अम्बरविवरम्=आकाशावकाशः, उन्नतत्वाद्यत्र वातसञ्चारो नाऽस्तीति भावः। "असुरविवरमिति वातिकैः" इति हर्षचरितस्थः पाठः। तत्र शङ्करकविना वातिकैः = विवरव्यसनिभिराचार्यैः, इति व्याख्यानम्। असुरविवरं = पातालम् इत्यर्थः। इत्यादिः = प्रयोगश्च, अतिशयोक्तेः= अतिशयोक्त्यलङ्कारात्। विविक्तः = पृथग्भूतः, विषयः = स्थानम्, अत्र कस्याऽप्य-ध्यवसायाऽभावादिति भावः।

यद्येवं तर्ह्यत्र कस्याऽलङ्कारस्य विच्छित्तिरित्यत आह—**इहेति**। इह = रूपकाऽलङ्कारयोगः।

अतिशयोक्ति अलङ्कार है। अतिशयोक्ति अलङ्कारके होने पर भी ज्ञाताओंके भेदसे एक पदार्थमें अनेकत्वका प्रतीतिरूप वैचित्र्यविशेष उल्लेखनामक भिन्न अलङ्कारका प्रयोजक (हेतुभूत) है। हर्षचरितस्थ श्रीकण्ठ नामक देशके वर्णनमें—शरणमे आये हुए लोगोंसे वज्रपञ्जर, वातरोगियोंसे आकाशका अवकाश, इत्यादि प्रयोगमें अति-शयोक्तिसे यह अलङ्कार (उल्लेख) विविक्त (पृथग्भूत) है। यहां रूपक अलङ्कार-के वैचित्र्यका सम्बन्ध है।

वस्तुतस्तु—'अम्बरविवरम्-' इत्यादौ भ्रान्तिमन्तमेवेच्छन्ति न रूपकम्, भेदप्रतीतिपुरःसरस्यैवारोपस्य गौणीमूलरूपकादिप्रयोजकत्वात्।

यदाहुः शारीरकमीमांसाभाष्यव्याख्याने श्रीवाचस्पतिमिश्राः—'अपि च परशब्दः परत्र लक्ष्यमाणगुणयोगेन वर्तते इति। यत्र प्रयोक्तृप्रतिपत्त्रोः संप्रतिपत्तिः स गौणः, स च भेदप्रत्ययपुरःसरः' इति। इह तु वार्तिकानां श्रीकण्ठजनपदवर्णने भ्रान्तिकृत एवाम्बरविवराद्यारोप इति।

अत्र रूपकसद्भाव निरस्यति—**वस्तुतस्त्विति**। **इत्यादौ चेति**। अत्रादिशब्देन "वज्रपञ्जरम्" इत्यस्य परिग्रहः। भ्रान्तिमन्तं = भ्रान्तिमदलङ्कारम्, एव, इच्छन्ति = वाञ्छन्ति, तत्त्वज्ञा इति शेषः। न रूपकम्।

अत्र हेतुं प्रदर्शयति—**भेदेत्यादि०**। भेदप्रतीतिपुरःसरस्य = भेदप्रतीतिः (भेदज्ञानम्) पुरःसरी (अग्रसरी) यस्मिंस्तस्य, तादृशस्य आरोपस्य (तादात्म्याऽध्यासस्य), एव, अत्रैवकारेण भ्रान्त्यादेर्व्यवच्छेदः। तादृशस्यारोपस्य, गौणीत्यादिः = गौणी (सादृश्यघटिता सारोपा लक्षणा) एव मूल (हेतुः) यस्य, तस्य (रूपकादेः रूपकालङ्कारादेः), आदिपदेन परिणामाऽलङ्कारपरिग्रहः।, प्रयोजकत्वात् (हेतुत्वात्)।

अत्राऽऽचार्यसंमतिं प्रदर्शयति—**यदाहुरिति**। शारीरिकमीमांसाभाष्यस्य (ब्रह्मसूत्रशाङ्करभाष्यस्य) व्याख्याने, श्रीमद्वाचस्पतिमिश्राः = भामतीकाराः। परशब्दः = अन्यवाचकः शब्दः, सिंहादिरिति भावः, परत्र = अन्यस्मिन्नर्थे, माणवकादौ, लक्ष्यमाणगुणयोगेन = लक्षणया वृत्त्या ज्ञायमानो, यो गुणः (धर्मः) तद्योगेन (तत्सम्बन्धेन), वर्तते। यत्र = यस्मिञ्छब्दव्यापारे, प्रयोक्तृप्रतिपत्त्रोः = वक्तृश्रोत्रोः, संप्रतिपत्तिः = सम्यग्ज्ञानं, सः = शब्दव्यापारः। गौणः = गौणनामकः शब्दव्यापारः। स च = शब्दव्यापारः। भेदप्रत्ययपुरःसरः = भेदज्ञानपूर्वकः।

प्रकृते योजयति – इह तु = अस्मिन्स्थले तु, "अम्बरविवरे" इत्यादिस्थले तु, भ्रान्तिकृतः = भ्रमजन्यः, एव, भ्रान्तिमदलङ्कार एव, न रूपकमिति भावः।

वस्तुतस्त्विति। वास्तवमें तो "अम्बरविवरम्" यहां विद्वान् भ्रान्तिमान् अलङ्कार मानते हैं, रूपक अलङ्कार नहीं, क्योंकि भेदज्ञानपूर्वक आरोप ही गौणीमूल रूपक आदिका प्रयोजक होता है। जो कि शारीरिक भाष्यके व्याख्यानमें श्रीवाचस्पतिमिश्र कहते हैं–अन्य सिंहादिका वाचक शब्द अन्य माणवक आदिमें लक्षणासे ज्ञायमान धर्मके सम्बन्धसे रहता है, जिस शब्दव्यापारमें वक्ता और श्रोताको अच्छी तरहसे ज्ञान होता है, वह भेदज्ञानपूर्वक होता है। यहां श्रीकण्ठजनपद वर्णनमें तो वार्तिकोंका आकाशविवर आदिका आरोप भ्रान्तिसे ही उत्पन्न है।

अत्रैव च 'तपोवनमिति मुनिभिः, कामायतनमिति वेश्याभिः' इत्यादौ परिणामालङ्कारयोगः।

'गाम्भीर्येण समुद्रोऽसि, गौरवेणासि पर्वतः।'

इत्यादौ चानेकधोल्लेखे गाम्भीर्यादिविषयभेदः प्रयोजकः। अत्र च रूपकयोगः। 'गुरुर्वचसि, पृथुरुरसि, अर्जुनो यशसि–' इत्यादिषु चास्य रूपकाद्विविक्तो विषय इति। अत्र हि श्लेषमूलातिशयोक्तियोगः।

अत्रैव=श्रीकण्ठजनपदवर्णन एव। परिणामाऽलङ्कारयोगः=आरोप्यमाणयोस्तपोवनकामायतनयोस्तपश्चरण-कामोपभोगरूपप्रकृताऽर्थोपयोगित्वादिति भावः।

विषयभेदादुल्लेखमुदाहरति—**गाम्भीर्येणेति**। कश्चित्कविः कंचिद्राजानं प्रशंसति—हे राजन्!, त्वं, गाम्भीर्येण = गम्भीरत्वेन हेतुना, समुद्रोऽसि = रत्नाकरोऽसि, गौरवेण = गुरुत्वेन हेतुना, पर्वतः = शैलः, असि। अनुष्टुब्वृत्तम्। इत्यादौ, अनेकधा = अनेकप्रकारेण, उल्लेखे = एकस्यैव राज्ञः समुद्रपर्वताद्यनेकप्रकारेण, ग्रहणे, गाम्भीर्यादिविषयभेदः = गाम्भीर्यगौरवविषययोः समुद्रत्व–पर्वतत्वाऽरोपप्रयोजकधर्मयोः, भेदः, प्रयोजकः = हेतुभूतः, उल्लेखाऽलङ्कारस्येति शेषः।

अत्र च = अस्मिन्नुदाहरणे च। रूपकयोगः = रूपकसम्बन्धः।

पुनः प्रकारान्तरेण विषयभेदादुल्लेखमुदाहरति—**गुरुर्वचसीति**। वचसि = वाक्ये, गुरुः = महान्, बृहस्पतिश्च, "गुरुर्महत्याङ्गिरसे पित्रादौ धर्मदेशके। अलघौ दुर्जरे चाऽपि" इति हैमः। उरसि = वक्षःस्थले, पृथुः = विशालः, पृतुनामको राजा च, "पृथुर्विशाले भूपाले बाष्पिकाकृष्णजीरयोः"। इति हेमचन्द्रः। यशसि = कीर्तौ, अर्जुनः = धवलः, कार्तवीर्यो मध्यमपाण्डवो वा। "अर्जुनः ककुभे पार्थे कार्तवीर्यमयूरयोः। मातुरेकसुतेऽपि स्याद्धवले पुनरन्यवत्॥,' इति मेदिनी। इत्यादिषु = स्थलेषु, एकस्य पुंसो वचआद्यवच्छेदेन गुरुत्वाद्यनेकविषयभेदेनोल्लेखः। अस्य = उल्लेखस्य, रूपकात् = रूपकाऽलङ्कारात्, विविक्तः = पृथग्भूतः, विषयः = धर्मः, न चाऽत्र शब्दशक्तिमूलो ध्वनिः, न च रूपकं, कुतः? उपदेष्टृत्वादीनां बृहस्पतित्वादित्वेनाऽध्यवसानात्, अत्र श्लेषमूलाऽतिशयोक्तियोगः।

यहां ही "तपोवनके रूपमें मुनियोंसे, कामस्थानके रूपमें वेश्याओंसे" इत्यादि स्थलमें परिणाम अलङ्कारका योग है।

गाम्भीर्येणेति। "आप गम्भीरतासे समुद्र हैं और गौरव (गुरुत्व)के हेतुसे पर्वत हैं" इत्यादिमें अनेक प्रकारसे उल्लेखमें गाम्भीर्य आदि विषयोंका भेद प्रयोजक (हेतुभूत) है। "गुरुर्वचसि" वचनमें गुरु (महान् और बृहस्पति), "पृथुरुरसि" वक्षःस्थलमें पृथु (विशाल, पृथुनामक राजा), अर्जुनो यशसि" यशमें अर्जुन (शुक्ल, पाण्डवविशेष, कार्तवीर्य वा) इत्यादि स्थलोंमें इस (उल्लेख)का रूपकसे पृथग्भूत विषय है। यहाँ श्लेषमूल अतिशयोक्तिका योग है।

प्रकृतं प्रतिषिध्यान्यस्थापनं स्यादपह्नुतिः ।

इयं द्विधा । क्वचिदपह्नवपूर्वक आरोपः, क्वचिदारोपपूर्वकोऽपह्नव इति । क्रमेणोदाहरणम्—

'नेदं नभोमण्डलमम्बुराशिर्नैताश्च तारा नवफेनभङ्गाः ।
नायं शशी कुण्डलितः फणीन्द्रो नासौ कलङ्कः शयितो मुरारिः ॥'

अपह्नुतिं लक्षयति—**प्रकृतमिति** । प्रकृतं = प्रस्तुतम्, आरोपविषयम् उपमेयमिति भावः, प्रतिषिध्य = निषिध्य, अन्यस्थापनम् = अन्यस्य (प्रकृतभिन्नस्य, आरोप्यविषयस्य उपमानस्येति भावः) स्थापनम् (आरोपणम्), अपह्नुतिः ।

विवृणोति—**इयमिति** । इयम् = अपह्नुतिः, द्विधा = द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम्, भवतीति शेषः । क्वचित्=कुत्रचित्, अपह्नवपूर्वकः = उपमेयनिषेधपूर्वकः, आरोपः = उपमानस्थापनम् । क्वचिच्च, आरोपपूर्वकः = उपमानस्थापनपूर्वकः, अपह्नवः = उपमेयनिषेधः ।

अपह्नवपूर्वकारोपे मालारूपामपह्नुतिमुदाहरति—**नेदमिति** । इदं=दृश्यमानं वस्तु, नभोमण्डलम् = आकाशमण्डलं, न, किन्तु अम्बुराशिः = जलनिधिः, समुद्र इत्यर्थः । विशालत्वान्नीलवर्णत्वाच्चेति भावः । एताः=दृश्यमानाः, ताराः=नक्षत्राणि, न, किन्तु नवफेनभङ्गाः = नूतनडिण्डीरखण्डाः, शुभ्रत्वात्क्षुद्रत्वाच्चेति भावः । अयं = दृश्यमानः पदार्थः, शशी = चन्द्रमाः, न, किन्तु कुण्डलितः = कुण्डलीभूतः, फणीन्द्रः = भुजगेश्वरः, नारायणशय्यारूपः शेषनाग इति भावः । शुक्लत्वाद्वर्तुलाकारत्वाच्चेति भावः । असौ = दृश्यमानो, नीलवर्णः पदार्थः, कलङ्कः = शशचिह्नं, न, किन्तु शयितः = सुप्तः, मुराऽरिः = भगवान्विष्णुः । इन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

अत्र प्रथम नभोमण्डलादिप्रकृतप्रतिषेधेन पश्चादप्रकृतस्याऽम्बुराश्यादेः स्थापनात्तस्य चाऽनेकत्वान्मालारूपाऽपह्नुतिः । अयं प्रथमभेदः ।

प्रकृतमिति । प्रकृत (उपमेय)का निषेध करके अन्य (उपमान)का आरोप करनेको "अपह्नुति" कहते हैं ।

इयमिति । इसके दो भेद होते हैं, एकमें उपमेयका निषेध पूर्वक आरोप होता है और दूसरेमें आरोपपूर्वक निषेध होता है । क्रमसे उदाहरण—

नेदमिति । यह आकाशमण्डल नहीं है, समुद्र है । ये ताराएँ नहीं हैं, नये फेनोंके टुकड़े हैं । यह चन्द्रमा नहीं है, कुण्डलित शेषनाग है । यह कलङ्क नहीं है, सोये हुए भगवान् विष्णु हैं ।

इसमें पहले आकाशमण्डल आदि प्रकृत (उपमेय)का निषेध कर पीछे अप्रकृत (उपमान) अम्बुराशि (समुद्र) आदिका स्थापन होनेसे यह मालारूप अपह्नुति है । यह प्रथम भेद है ।

एतद्विभाति चरमाचलचूडचुम्बि
हिण्डीर-पिण्ड-रुचि शीतमरीचिबिम्बम् ।
उज्ज्वालितस्य रजनीं मदनानलस्य
धूमं दधत्प्रकटलाञ्छनकैतवेन ॥'

इदं मम ।

एवम्—

'विराजति व्योमवपुः पयोधिस्तारामयास्तत्र च फेनभङ्गाः' इत्याद्याकारेण व प्रकृतनिषेधो बोध्यः ।

आरोपपूर्वकापह्नवे केवलरूपामपह्नुतिमुदाहरति—एतदिति चरमाऽचलचूडचुम्बि = चरमाऽचलस्य (अस्तपर्वतस्य) चूडां (शिखरम्) चुम्बतीति तच्छीलम् । अस्तपर्वतचूडावलम्बीति भावः । अत्र चूडापदस्य पुंलिङ्गे प्रयोगश्चिन्त्यः । हिण्डीरपिण्डरुचि = हिण्डीरपिण्डस्य (फेनसमूहस्य) इव रुचिः (कान्तिः) यस्य तत् । एतद् = दृश्यमानं, शीतमरीचिबिम्बं = चन्द्रमण्डलं, प्रकटलाञ्छनकैतवेन = स्फुटकलङ्कच्छलेन, रजनीं = रात्रिं, "कालाऽध्वनोरत्यन्तसंयोगे" इति द्वितीया । व्याप्येति शेषः । उज्ज्वालितस्य = प्रज्वालितस्य, मदनाऽनलस्य = कामाऽग्नेः । धूमं, दधत् = धारयत् सत्, विभाति = शोभते । वसन्ततिलकावृत्तम् । अत्र कपटार्थेन कैतवपदेन न प्रकटलाञ्छनमिति प्रतीतेरार्थोऽपह्नवः । अत्र धूमरूपमुपमानमारोप्य पश्चात्कैतवशब्देन कलङ्करूपस्योपमेयस्याऽपह्नवादपह्नुतिः, । सा चारोपस्यैकमात्रत्वात्केवलरूपा ॥

प्रकारान्तरेणाऽपह्नुतिमुदाहरति—एवमिति । व्योमवपुः=व्योम (आकाशम्) एव वपुः (शरीरम्) यस्य सः, तादृशः पयोधिः = समुद्रः, विराजति = शोभते । तत्र = तस्मिन् पयोधौ, तारामयाः = नक्षत्ररूपाः, फेनभङ्गाः = डिण्डीरखण्डाः, विभान्ति । इत्याकारेण = एतादृशप्रकारेण, वपुःपदप्रयोगेण मयट्प्रत्ययविधानेन च व्योमताराणामार्थोऽपह्नवः । तथा चेयमपह्नुतिः ।

एतदिति । अस्त पर्वतकी चोटीको चूमनेवाला फेनपिण्डके समान कान्तिसे युक्त यह चन्द्रमण्डल, स्पष्ट कलङ्कके बहानेसे रातभर जलाये गये कामाऽग्निके धूएंको धारण करता हुआ शोभित हो रहा है ।

यहां पहले धूमरूप उपमानका आरोप करके पीछे कैतव शब्दसे कलङ्करूप उपमेयका अपह्नव होनेसे यह अपह्नुति अलङ्कार है । यह दूसरा भेद है ।

इदमिति । यह ग्रन्थकारका उदाहरणपद्य है । इसी तरह—व्योमवपुरित्यादि । आकाशरूप शरीरसे युक्त समुद्र शोभित हो रहा है, उस (समुद्र)में तारास्वरूप नये फेनके टुकड़े शोभित हो रहे हैं ।

यहां "वपुः" पदके प्रयोगसे और मयट् प्रत्ययके विधानसे प्रकृत व्योम और ताराओंका अर्थगत अपह्नव है, शब्दगत नहीं, यह जानना चाहिए ।

गोपनीयं कमप्यर्थं द्योतयित्वा कथञ्चन ॥ ३८ ॥
यदि श्लेषेणान्यथा वान्यथयेत् साप्यपह्नुतिः ।

श्लेषेण यथा—

'काले वारिधराणामपतितया नैव शक्यते स्थातुम् ।
उत्कण्ठितासि तरले ! नहि नहि सखि ! पिच्छिलः पन्थाः ॥'

अत्र 'अपतितया' इत्यत्र पतिं विनेत्युक्त्वा पश्चात्पतनाभावेनान्यथा कृतम् ।

प्रकारान्तरेणाऽपह्नुतिं लक्षयति—**गोपनीयमिति** । गोपनीयम् = अप्रकाशनीयं, कमपि, अर्थं = विषयं, कथंचन = केनाऽपि प्रकारेण, शब्देन साहश्यादिना वा । द्योतयित्वा = सूचयित्वा ॥ ३८ ॥ श्लेषेण = अलङ्कारेण, अन्यथा = अन्येन प्रकारेण, अश्लेषेणेत्यर्थः, वा, अन्यथयेत् = अन्यथा कुर्यात् = अन्याऽर्थे योजयेत्, कञ्चिदिति शेषः । तदा साऽपि—अपह्नुतिः ॥

श्लेषेणाऽन्यथाकृतामपह्नुतिमुदाहरति—**काल इति** । वर्षाकाले सखीं प्रति कस्याश्चित्सख्या उक्तिरियम् । हे सखि ! वारिधराणां = जलधराणां, मेघानाम् । काले = समये, वर्षर्तावित्यर्थः । अपतितया = पतिरहितत्वेन, स्थातुम् = अवस्थानं कर्तुं, नैव शक्यते, मयेति शेषः । अत्र वक्त्र्या 'अपतितया' इत्यनेन, अविद्यमानः पतिः = यस्याः सा अपतिः, "नञोस्त्यर्थानां वाच्यो वा चोत्तरपदलोप" इति नञ्बहुव्रीहिः, तस्या भावोऽपतिता, तया इति "पतिराहित्येन" गोपनीयोऽर्थः सूचितः । तमेवाऽर्थं बुद्ध्वा यदा तत्सखी पृच्छति—हे तरले ! = हे चञ्चले, उत्कण्ठिता= उत्कण्ठा असि किम् ? तदा सा—न पतिता अपतिता, तया इति श्लेषेण पूर्वोक्तिमन्यथा कृत्वा, उत्तरयति—हे सखि !, नहि नहि = संभ्रमे द्विरुक्तिः, नाऽहं पतिराहित्येनोत्कण्ठिताऽस्मि, पन्थाः = मार्गः, पिच्छिलः = पङ्कयुक्तः, वृष्टिवशादिति शेषः । अस्ति, ततश्च अस्खलिततया नैव स्थातुं शक्यत इति भावः । आर्यावृत्तम् ।

गोपनीयमिति । गोपनीय किसी विषयको किसी प्रकारसे सूचित कर श्लेषसे वा अन्य किसी प्रकारसे छिपाये तो वह भी अपह्नुति है । श्लेषसे जैसे—

काल इति । कोई सखी अपनी सखीसे कहती है—मेघोंके समय (वर्षाऋतु)में अपतितया अर्थात् पतिके विना वा न पतितया = गिरे विना नहीं रहा जा सकता है । इस उक्तिपर पहले अर्थ अर्थात् पतिके विना इसकी संभावना कर दूसरी सखी पूछती है—"हे चञ्चले ! उत्कण्ठित हो क्या" ? तब पहलेकी वक्त्री श्लेषसे पहला विषय बदलती है—नहीं नहीं रास्ता कीचड़वाला है, अतः गिरे विना नहीं रहा जाता है ।

अश्लेषेण यथा—

'इह पुरोऽनिलकम्पितविग्रहा
मिलति का न वनस्पतिना लता ?
स्मरसि किं सखि ! कान्तरतोत्सवं ?
नहि घनागमरीतिरुदाहृता ॥'

वक्रोक्तौ परोक्तेरन्यथाकारः, इह तु स्वोक्तेरेवेति भेदः। गोपनकृता गोपनीयस्यापि प्रथममभिहितत्वाच्च व्याजोक्तेः।

विवृणोति—अत्रेति ।

अश्लेषेणाऽन्यथाकृतामपह्नुतिमुदाहरति—इहेति । वर्षर्तौ सखीं प्रति कस्याश्चित्सख्या उक्तिरियम् । इह = अस्मिन्वर्षर्तौ, पुरः = अग्रे, कम्पितविग्रहा=कम्पितः (संजातकम्पः) विग्रहः (शरीरम्) यस्याः सा । तादृशी, का, लता = वल्ली, वनस्पतिना = वृक्षेण सह, न मिलति = न संगच्छते ।

एतच्छ्रुत्वा तत्सखी तां पृच्छति—स्मरसीति । हे सखि ! = हे वयस्ये !, कान्तरतोत्सवं=कान्तेन (प्रियेण) सह रतोत्सवं (निधुवनक्षणम्) स्मरसि किं ?= स्मरणं करोषि किम् ? एकसम्बन्धि ज्ञानमपरसम्बन्धिस्मारकमिति नयेनेति भावः ।

सख्या एवमनुयुक्ता वक्त्री स्वोक्तिमश्लेषेणाऽन्यथयति—नहीति । न हि = कान्तरतोत्सवं न स्मरामि, किन्तु घनागमरीतिः = वर्षर्तुपरिपाटी, उदाहृता = कथिता । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् ।

वक्रोक्तेर्व्याजोक्तेश्चाऽस्या भेदमाह—वक्रोक्ताविति । वक्रोक्तौ = तदाख्याऽलङ्कारे, परोक्तौ = अन्योक्तौ, न स्वोक्ताविति भावः, अन्यथाकारः=अन्यथाकरणम् । इह=द्वितीयाऽपह्नुतौ, स्वोक्तेरेव, भेदः = अन्यथाकारः । एवं च—अत्र= अपह्नुतौ, गोपनकृता = गोपनकारेण, गोपनीयस्याऽपि = अप्रकाशनीयस्याऽप्यर्थस्य, अभिहितत्वात् = कथितत्वात्, व्याजोक्तेः = तदाख्याऽलङ्कारात्, भेद इति सम्बन्धः ।

अपह्नुतिका श्लेषहीन दूसरा उदाहरण—इहेति । कोई सखी अपनी सखीको कहती है—इस वर्षा ऋतुमें सम्मुख हवासे हिले हुए शरीर वाली कौनसी लता वनस्पति (वृक्ष)के साथ नहीं मिलती है ? तब उसकी सखी उससे पूछती है—"सखि ! तुम प्रियके साथ क्रीडाके उत्सवकी याद करती हो क्या ?" । तब नायिका उत्तर देती है —"नहीं, वर्षाके आगमनकी परिपाटी कर रही हूँ ।" यहां गोपनीय अर्थको सूचित हुआ देखकर विना श्लेषके सादृश्यमें अपनी उक्तिका निराकरण करनेसे यह दूसरी अपह्नुति है ।

वक्रोक्ताविति । वक्रोक्ति अलङ्कारमें दूसरेकी उक्ति भिन्न अर्थमें बदली जाती है इसमें अपनी ही उक्ति भिन्न अर्थमे बदली जाती है यह भेद है । व्याजोक्तिमें किसी विषयको छिपानेवाला पुरुष गोप्यको भी पहले कह देता है, इस कारण व्याजोक्तिसे इसका भेद है ।

अन्यन्निषिध्य प्रकृतस्थापनं निश्चयः पुनः ॥ ३९ ॥

निश्चयाख्योऽयमलङ्कारः । अन्यदित्यारोप्यमाणम् ।

यथा मम—

'वदनमिदं न सरोजं, नयने नेन्दीवरे एते ।
इह सविधे मुग्धदृशो भ्रमर ! मुधा किं परिभ्रमसि ? ॥'

यथा वा—

'हृदि बिसलताहारो नायं भुजङ्गमनायकः,
कुवलयदलश्रेणी कण्ठे, न सा गरलद्युतिः ।

निश्चयाऽलङ्कारं लक्षयति—**अन्यदिति** । अन्यत् = अप्रकृतम्, उपमानमित्यर्थः, निषिध्य = प्रतिषिध्य, पुनः = अपह्नुतिवैधर्म्यद्योतनार्थं पुनःशब्दः । प्रकृतस्थापनं = प्रकृतस्य (उपमेयस्य) स्थापनम् (उपन्यासः), निश्चयः = तदाख्योऽलङ्कारः ।

विवृणोति—**निश्चयाख्य इति** ।

निश्चयमुदाहरति—**वदनमिति** । सुन्दर्या वदनसमीपे परिभ्रान्तं मधुकरं दृष्ट्वा कस्यचित्पुरुषस्योक्तिरियम् । हे मधुकर = हे भ्रमर !, इदं = दृश्यमानं वस्तु, वदनं = सुन्दर्या मुखं, सरोजं = कमलं, न । एते = समीपतरवर्तिनी, नयने = सुन्दर्या लोचने, इन्दीवरे = नीलकमले, न । इह = अत्र, मुग्धदृशः = सुन्दरनयनायाः, रमण्याः, सविधे = समीपे, मुधा = व्यर्थं, किं = किमर्थं, परिभ्रमसि = परिभ्रमणं करोषि । आर्यावृत्तम् । अत्रोपमेयभूत–वदन–नयनस्थापनपूर्वकमुपमानभूत-सरोजेन्दीवरनिषेधान्निश्चयाऽलङ्कारः ।

निश्चयाऽलङ्कारस्य प्राचीनमुदाहरणं प्रदर्शयति—**हृदीति** । महाकविजयदेवस्य गीतगोविन्दकाव्यस्थं पद्यमिदम् । राधाविप्रयुक्तस्य श्रीकृष्णस्य मदनं प्रत्युक्तिरियम् । हे अनङ्ग = हे मदन !, हृदि = मम वक्षःस्थले, अयं = सन्निकृष्टस्थः, बिसलताहारः = मृणालनिर्मितो हारः, किन्तु हरस्य भुजङ्गकनायकः = सर्पराजा, वासुकिः, न । कण्ठे = मम गलभागे, कुवलयदलश्रेणी = उत्पलपत्रपङ्क्तिः, किन्तु

अन्यदिति । उपमानका निषेध करके उपमेयका स्थापन जहां होता है उसे "निश्चय अलङ्कार" कहते हैं ॥ ३९ ॥

जैसे ग्रन्थकारका— **वदनमिति** । हे भ्रमर ! यह मुख है, कमल नहीं ! ये नेत्र हैं नील कमल नहीं । तुम इस सुन्दरनयना (स्त्री)के समीप क्यों व्यर्थ मँड़राते हो ? इसमें कमल आदिका निषेध कर वदन आदि उपमेयका स्थापन किया है, अतः यह निश्चय अलङ्कार है । दूसरा उदाहरण—हे कामदेव ! मेरे हृदयमें यह मृणालनालका हार है, सर्पनायक वासुकि नहीं । मेरे गलेमें नीलकमल की पत्र

मलयजरजो नेदं भस्म प्रियारहिते मयि
प्रहर न हरभ्रान्त्यानङ्ग ! क्रुधा किमु धावसि ॥'

न ह्ययं निश्चयान्तः संदेहः, तत्र संशयनिश्चययोरेकाश्रयत्वेनावस्थानात् । अत्र तु भ्रमरादेः संशयो नायकादेर्निश्चयः । किञ्च न भ्रमरादेरपि । संशयः एककोट्यनधिके ज्ञाने, तथा समीपगमनासंभवात् । तर्हि भ्रान्तिमानस्तु, अस्तु नाम भ्रमरादेर्भ्रान्तिः । न चेह तस्याश्चमत्कारविधायित्वम्, अपि तु तथोविधनायकाद्युक्तेरेवेति सहृदयसंवेद्यम् । किञ्चाविवक्षितेऽपि भ्रमरादेः पतनादौ भ्रान्तौ वा नायिकाचाटूवादिरूपेणैव संभवति तथाविधोक्तिः । न च रूपकध्वनिरयम्,

सा = प्रसिद्धा, हरस्य गरलद्युतिः = कालकूटकान्तिः, न । तथा प्रियारहिते = कान्ताविप्रयुक्ते, राधाविरहिणीति भावः । इदं=दृश्यमानं, मलयजरजः=चन्दनरागः, किन्तु हरशरीरस्थं, भस्म = भसितं । हरभ्रान्त्या = पुण्डरिभ्रमेण, न प्रहर = शरैर्न ताडय । तथा किमु = किमर्थं, धावसि = धावनं करोषि । हरिणी वृत्तम् ।

अत्र भुजङ्गमनायक-गरलद्युति-भस्मरूपाणामुपमानानां निषेधपूर्वकं बिसलता-हारकुवलयदलश्रेणी-मलयजरजोरूपाणामुपमेयानां स्थापनान्निश्चयाऽलङ्कारः ।

अथ नानाविधैस्तर्कैरलङ्कारान्तरसंभावनां निरस्य निश्चयाऽलङ्कारं निश्चिनोति—न हीति । अयम् = एतत्पद्यवर्णितो निश्चयालङ्कारो निश्चयाऽन्तः सन्देहो, न । तत्र = निश्चयाऽन्तसन्देहे, संशयनिश्चययोः, एकाश्रयत्वेन = एकाऽधिकरणत्वेन, अवस्थानात् = स्थितेः । अत्र तु = निश्चयाऽलङ्कारे तु, "वदनमिदम्" इत्यादिपद्यादे । भ्रमरादेरपि संशयो नेति प्रतिपादयितुमुपक्रते—किंचेति । एककोट्यनधिके

पङ्क्ति है, विषकी कान्ति नहीं । मेरे शरीरमें यह चन्दनका चूर्ण है भस्म नहीं । प्रियाके वियोगी मुझमें प्रहार मत करो । महादेवकी भ्रान्तिसे क्यों क्रोधसे दौड़ रहे हो ॥

यह निश्चयाऽन्त सन्देह नहीं है, उसमें संशय और निश्चय एक ही आधारमें रहते हैं । यहाँ तो भ्रमर आदिका संशय और नायक आदिका निश्चय है । वस्तुतः भ्रमर आदिका भी संशय नहीं है, एक कोटिमात्रमें अवगाहन करनेवाले ज्ञानमें उस तरह समीपमें जाना असंभव है । तब भ्रान्तिमान् अलङ्कार होने पर भी यहां वह चमत्कार करनेवाला नहीं है, बल्कि उसप्रकारकी नायक आदिकी उक्ति ही चमत्कार करने वाली है, यह सहृदयजनोंके ज्ञानका विषय है । फिर भ्रमर आदिका पतन आदि वा भ्रान्तिके विवक्षित न होनेपर भी नायिकाकी खुशामद आदि करनेके रूपसे ही ऐसी उक्ति संभव है । यह रूपकध्वनि भी नहीं है, क्योंकि यहां मुखका कमलके रूपसे निर्धारण नहीं किया गया है । इसी तरह यह अपह्नुति भी नहीं है, क्योंकि यहां प्रकृत (उपमेय)का निषेध नहीं किया गया है । इस प्रकारसे यह

मुखस्य कमलत्वेनानिर्धारणात्। न चापह्नुतिः, प्रस्तुतस्यानिषेधादिति पृथगेवायमलङ्कारश्चिरन्तनोक्तालङ्कारेभ्यः। शुक्तिकायां रजतधिया पतति पुरुषे शुक्तिकेयं न रजतमिति कस्यचिदुक्तिर्नायमलङ्कारो वैचित्र्याभावात्।

भवेत् संभावनोत्प्रेक्षा प्रकृतस्य परात्मना।
वाच्या प्रतीयमाना सा, प्रथमं द्विविधा मता ॥ ४० ॥
वाच्येवादिप्रयोगे स्यादप्रयोगे परा पुनः।
जातिर्गुणः क्रिया द्रव्यं यदुत्प्रेक्ष्यं द्वयोरपि ॥ ४१ ॥

ज्ञाने = एककोटिमात्राऽवगाहिनि बोधे, तथा समीपगमनाऽसंभवात् = सन्देहप्रसङ्गाऽयोगात्। सहृदयसवेद्यं = हृदयालुज्ञेयम्। अनिर्धारणात् = अनिश्चयात्। शुक्तिकायां = मुक्तास्फोटे।

उत्प्रेक्षां लक्षयति—**भवेदिति**। प्रकृतस्य = वर्णनीयस्य उपमेयस्य, परात्मना = उपमानरूपेण, सम्भावना = उत्कटकोटिकसंशयरूपो ज्ञानभेदः वितर्क इति भावः। उत्प्रेक्षा भवेत्। सा = उत्प्रेक्षा, प्रथमं = प्राक्, वाच्या प्रतीयमाना चेति द्विविधा = द्विप्रकारा, मता = सम्मता, आलङ्कारिकैरिति शेषः ॥ ४० ॥

वाच्योत्प्रेक्षां लक्षयति—**वाच्येति**। इवादिशब्दप्रयोगे वाच्या = वाच्योत्प्रेक्षा स्यात्, वाच्या शाब्दी, प्रतीयमाना आर्थी। उत्प्रेक्षाद्योतकाः शब्दा यथा—"मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः।"

प्रतीयमानोत्प्रेक्षां लक्षयति—**अप्रयोग इति**। पुनः, अप्रयोगे = इवादिशब्दाऽप्रयोगे, परा = अन्या, प्रतीयमानोत्प्रेक्षेति भावः।

उत्प्रेक्ष्यविषयान्निर्दिशति—**जातिरिति**। यत् = यस्माद्धेतोः, द्वयोरपि = वाच्यप्रतीयमानयोरपि, उत्प्रेक्ष्यम् = उत्प्रेक्षणीयं, संभावनीयं वस्तु—जातिः, गुणः, क्रिया, द्रव्यं चेति चतुर्विधम्। तत्र जातिः = सामान्यं तच्च नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्। गुणः = विशेषाधानहेतुत्वे सति सिद्धो वस्तुधर्मः, क्रिया = साध्यरूपो वस्तुधर्मः, द्रव्यम् = एकव्यक्तिवाचकं हरि-हर-डवित्थादिकम्। द्वयोरपि जात्यादिभेदेनोत्प्रेक्ष्यमष्टविधम् ॥ ४१ ॥

(निश्चयाऽलङ्कार) प्राचीन आचार्योंसे बताये गये अलङ्कारोंसे भिन्न ही है। सीपमें चांदीकी बुद्धिसे जानेवाले पुरुषमें "यह सीप है चांदी नहीं" ऐसी किसीकी उक्ति भी निश्चय अलङ्कार रूप नहीं है, क्योंकि उसमें वैचित्र्य नहीं है।

भवेदिति। प्रकृत (उपमेय)का अप्रकृत (उपमान) स्वरूपसे संभावना करनेको "उत्प्रेक्षा" कहते हैं। पहले उसके दो भेद होते हैं— वाच्या और प्रतीयमाना ॥४०॥

इव आदिके प्रयोगमें वाच्या (शाब्दी) और उनके अप्रयोगमें प्रतीयमाना (आर्थी) उत्प्रेक्षा होती है। दोनों उत्प्रेक्षाओंमें उत्प्रेक्षणीय (संभावनीय) वस्तु—जाति, गुण, क्रिया वा द्रव्य होता है ॥ ४१ ॥

तदष्टधापि प्रत्येकं भावाभावाभिमानतः ।
गुणक्रियास्वरूपत्वान्निमित्तस्य पुनश्च ताः ॥ ४२ ॥
द्वात्रिंशद्विधतां यान्ति—

तत्र वाच्योत्प्रेक्षायामुदाहरणं दिङ्मात्रं यथा—

'ऊरुः कुरङ्गकदृशश्चञ्चलचेलाञ्चलो भाति ।
सपताकः कनकमयो विजयस्तम्भः स्मरस्येव ॥'

अत्र विजयस्तम्भस्य बहुवाचकत्वाज्जात्युत्प्रेक्षा ।

तत् = उत्प्रेक्षणीयं वस्तु अष्टधाऽपि भावाऽभावाऽभिमानतः = भावरूपाणामभावरूपाणां च संभावनातः षोडशप्रकारम् । पुनश्च निमित्तस्य = उत्प्रेक्षणीयहेतोः, गुणक्रियास्वरूपत्वात् = गुणस्वरूपत्वात् क्रियास्वरूपत्वाच्च । ताः = पूर्वोक्ताः शोडषप्रकारा उत्प्रेक्षाः ॥ ४२ ॥

द्वाविंशद्विधतां, यान्ति = प्राप्नुवन्ति ।

वाच्योत्प्रेक्षां दिङ्मात्रेणोदाहरति—**ऊरुरिति** । कश्चित्कविः कस्याश्चित् सुन्दर्या ऊरुं वर्णयति । चञ्चलचेलाऽञ्चलः = चञ्चलं (चपलं, पवनवशादिति शेषः) चेलाऽञ्चलं (वस्त्रप्रान्तः) यस्य सः । तादृशाःकुरङ्गकदृशः=मृगनयनायाः सुन्दर्याः, ऊरुः= सक्थि, सपताकः = पताकया (वैजयन्त्या) सहितः, कनकमयः = सुवर्णनिर्मितः, स्मरस्य = कामदेवस्य, विजयस्तम्भः=जयस्थूणा, इव, भाति=शोभते । आर्या वृत्तम् ।

अत्र कुरङ्गकदृश ऊरुरूप उपमेये स्मरस्य विजयस्तम्भरूपस्य उपमानस्य संभावनातः उत्प्रेक्षाऽलङ्कारः ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्पद्ये, विजयस्तम्भस्य, बहुवाचकत्वाज्जातित्वेन जात्युत्प्रेक्षा । विजयस्तम्भरूपभावपदार्थस्योत्प्रेक्ष्यत्वाद्भावाऽभिमानिता, नायिकाया ऊरुदेशस्य रूपस्वरूपो गुणश्च निमित्तमिति । इत्थमेवाऽन्यत्राऽप्यूह्यम् ।

इस प्रकार इन आठों उत्प्रेक्षाओंमें कहीं भाव उत्प्रेक्षणीय है तो कहीं अभाव इसप्रकार इनके सोलह भेद होते है । इन सोलहोंमें भी निमित्त (कारण) कहीं गुणस्वरूप होता है तो कहीं क्रियास्वरूप होता है ॥ ४२ ॥

इस प्रकार उत्प्रेक्षाके बत्तीस भेद होते हैं ।

उनमें वाच्योत्प्रेक्षामें दिङ्मात्र उदाहरण—

मृगनयनाका चञ्चल वस्त्राञ्चलवाला ऊरु मानो कामदेवका पताकायुक्त सुवर्णमय विजयस्तम्भके समान शोभित हो रहा है ॥

यहाँ सुन्दरीके ऊरुरूप उपमेयमें कामदेवके विजयस्तम्भरूप उपमानकी संभावना होनेसे उत्प्रेक्षा अलङ्कार है ।

अत्रेति । इस पद्यमें विजयस्तम्भ बहुवाचक होनेसे जाति है, अतः जाति उत्प्रेक्षणीय होनेसे यह जात्युत्प्रेक्षा है ।

'ज्ञाने मौनं, क्षमा शक्तौ, त्यागे श्लाघाविपर्ययः ।
गुणा गुणानुबन्धित्वात्तस्य सप्रसवा इव ॥'

अत्र सप्रसवत्वं गुणः ।

'गङ्गाम्भसि सुरत्राण ! तव निःशाननिस्वनः ।
स्नातीवारिवधूवर्गगर्भपातनपातकी ॥'

गुणोत्प्रेक्षामुदाहरति—**ज्ञाने मौनमिति**। रघुवंशस्य प्रथमसर्गे दिलीपवर्णनपरकं पद्यमिदम्। ज्ञाने = परवृत्तान्तबोधेऽपि, मौनं = वाक्संयमः, शक्तौ = प्रतिकारसामर्थ्ये सत्यपि, क्षमा = सहिष्णुता, त्यागे = वितरणे सति, श्लाघाविपर्ययः = आत्मप्रशंसाऽभावः, इत्थ, तस्य = दिलीपस्य, गुणाः = ज्ञानादयः, गुणाऽनुबन्धित्वात् = गुणान्तरसहचारित्वात्, सप्रसवाः = समानः (तुल्यः, एकस्मादेवोत्पन्नत्वेनेति शेषः) प्रसवः (उत्पत्तिः) येषां ते सोदराः, इव, आसन्निति शेषः। अत्र "समानस्य च्छन्दस्यमूर्धप्रभृत्युदर्केषु" इत्यत्र समानस्येति योगविभागात्, समानस्य सादेशः। प्रसवस्य एकस्मादेव राज्ञ उत्पत्तिरूपविभागत्वाद् गुणत्वम्। सर्वे गुणा दिलीपे समवेता व्यराजन्त इति भावः। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, सप्रसवत्वं गुणः, अतोऽत्र गुणोत्प्रेक्षा।

क्रियोत्प्रेक्षामुदाहरति—**गङ्गाऽम्भसीति**। कश्चित्कविः कंचिद् राजानं प्रशंसति। हे सुरत्राण=हे देवरक्षक, नृपविशेष !, देव्याः संपदः संरक्षणेनैषा सम्बुद्धिः। अरिवधूवर्गेत्यादिः०=अरिवधूवर्गस्य (शत्रुभूपस्त्रीसमूहस्य) गर्भपातेन (भ्रूणपतनेन) हेतुना, पातकी (पातकयुक्तः सन्), तव = भवतः, निर्याणनिःस्वनः = त्वत्प्रयाणकालिकवाद्यध्वनिः, गङ्गाऽम्भसि = भागीरथीसलिले, स्नाति इव = निमज्जति इव। अनुष्टुब्वृत्तम्।

ज्ञान इति। महाराज दिलीपके ज्ञानमें मौन, सामर्थ्य होनेपर भी क्षमा (सहिष्णुता), त्यागमें भी आत्मप्रशंसाका अभाव इसप्रकार एक गुण दूसरे गुणका सहचारी है अतः वे सब गुण सहोदरके समान थे।

अत्रेति। इस पद्यमें सप्रसवत्व (सोदरत्व) गुण है, वह उत्प्रेक्षणीय है, अतः यह गुणोत्प्रेक्षा है।

गङ्गाऽम्भसीति। हे सुरत्राण (हे देवरक्षक !) शत्रुपत्नीसमूहके गर्भ गिरानेसे पातकी होनेसे आपकी विजययात्राकी वाद्यध्वनि मानों गङ्गाजलमें स्नान कर रही है।

अत्र स्नातीति क्रिया।

'मुखमेणीदृशो भाति पूर्णचन्द्र इवापरः।'

अत्र चन्द्र इत्येकव्यक्तिवाचकत्वाद् द्रव्यशब्दः। एते भावाभिमाने। अभावाभिमाने यथा—

'कपोलफलकावस्याः कष्टं भूत्वा तथाविधौ।
अपश्यन्ताविवान्योन्यमीदृक्षां क्षामतां गतौ॥'

विवृणोति—अत्र = अस्मिन्पद्ये, निर्याणनिःस्वनस्य वधूवर्गगर्भपातनजन्यपातकित्वेन गङ्गासमीपगतिक्रियायाः स्नानक्रियारूपत्वेनोत्प्रेक्षितत्वात्क्रियोत्प्रेक्षा।

द्रव्योत्प्रेक्षामुदाहरति—**मुखमिति**। एणीदृशः = मृगनयनायाः, मुख = वदनम्, अपरः = अन्यः, पूर्णचन्द्रः = पूर्णेन्दुः, इव, कलङ्करहितत्वादिति भावः। भाति = शोभते। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन् पद्ये, उत्प्रेक्षणीयः "चन्द्र" इति शब्दः, एकव्यक्तिवाचकत्वात् = एकमात्रपदार्थवाचित्वात् द्रव्यशब्दः। अतोऽत्र द्रव्योत्प्रेक्षा।

एते = पूर्वोदहृता विजयस्तम्भादयः पदार्था भावपदार्थत्वात् भावाऽभिमाने ज्ञातव्याः।

अभावाऽभिमाने क्रियोत्प्रेक्षामुदाहरति—**कपोलेति**। कस्याश्चिद्वियोगिन्या वियोगाऽवस्थाया वर्णनमिदम्। अस्याः = वर्णनीयायाः सुन्दर्याः, कपोलफलकौ = गण्डफलकौ, तथाविधौ=प्राक्तादृशौ मनोहरौ भूत्वाऽपि, अन्योन्यं=मिथः, अपश्यन्तौ=उन्नतनासया व्यवधानादनवलोकयन्तौ, इव, ईदृक्षाम् = ईदृशीम्, क्षामतां = कृशतां, गतौ=प्राप्तौ। अन्योरदर्शनात् क्षीणौ जाताविति भावः। अतः कष्टं=दुःखम्, अनुष्टुब्वृत्तम्।

अत्रेति। यहाँ "स्नाति" कहनेसे स्नान क्रिया उत्प्रेक्षणीय है अतः क्रियोत्प्रेक्षा है।

मुखमिति। मृगीनयना (सुन्दरी) का मुख मानो दूसरा पूर्णचन्द्रके समान शोभित हो रहा है।

अत्रेति। यहां एक व्यक्तिका वाचक होनेसे चन्द्र द्रव्यवाचक शब्द है, अतः द्रव्योत्प्रेक्षा है। पूर्वोक्त ये चारों पद्य भावाऽभिमानके उदाहरण हैं। अभावाऽभिमानमें जैसे **कपोलफलकाविति**। इस (सुन्दरी) के वैसे सुन्दर कपोल परस्पर एक दूसरेको न देखते हुए मानो ऐसी कृशताको प्राप्त हुए हैं, कष्ट है।

अत्रापश्यन्ताविति क्रियाया अभावः। एवमन्यत्। निमित्तस्य गुणक्रिया-रूपत्वे यथा—'गङ्गाम्भसि' इत्यादौ स्नातीवेत्युत्प्रेक्षानिमित्तं पातकित्वं गुणः। 'अपश्यन्तौ-' इत्यादौ क्षामतागमनरूपं निमित्तं क्रिया। एवमन्यत्।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा यथा—

'तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन मुखं न प्रकटीकृतम्।
हाराय गुणिने स्थानं न दत्तमिति लज्जया॥'

अत्र लज्जयेवेतीवाद्यभावात् प्रतीयमानोत्प्रेक्षा। एवमन्यत्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, अपश्यन्तौ इति, क्रियायाः = दर्शनक्रियायाः, अभावः, उत्प्रेक्षित इति शेषः। अत एवाऽत्राऽभावाऽभिमानिनी क्रियोत्प्रेक्षेति भावः। **एवमिति**। एवम्=इत्थमेव, अन्यत्=जाति-गुण-द्रव्याणामेकैकशः उदाहरणं, ज्ञेयमिति शेषः।

अभावाऽभिमाने निमित्तस्य गुणरूपत्वे उत्प्रेक्षामुदाहरति—**गङ्गाऽम्भसीति**। अत्र "स्नाति इव" इत्यत्र उत्प्रेक्षानिमित्तं पातकित्वं गुणः।

अभावाऽभिमाने निमित्तस्य क्रियारूपत्वे, उत्प्रेक्षामुदाहरति—"**अपश्यन्ताविवेति**। अत्र क्षामतागमनरूपं निमित्तं क्रिया, मिथोऽदर्शनरूपेति शेषः।

एवमिति। एवम्, अन्यत् = वाच्योत्प्रेक्षाया गुणनिमित्तकं क्रियानिमित्तकं च अपरमुदाहरणम्, ऊह्यमिति शेषः।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षाम् (हेतुभूतगुणोत्प्रेक्षां भावाऽभिमानिनीम्) उदाहरति—**तन्वङ्ग्या इति**। तन्वङ्ग्याः = कृशाङ्ग्याः, स्तनयुग्मेन = कुचयुगलेन, गुणिने= सूत्रयुक्ताय, विद्याविनयादिगुणशालिने जनाय च, हाराय=मौक्तिकमाल्याय, स्थानम्= अवकाशः, न दत्तः = नो वितीर्णः, इति लज्जया = व्रीडया, इव, मुखं = वदनं, चूचुकं च, न प्रकटीकृतं = न प्रकाशितम्, एकत्र गुणिने स्थानं न दत्तमिति लज्जया, अपरत्र वस्त्रावृतत्वेनेति भावः। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, इवाद्युत्प्रेक्षाद्योतकशब्दाऽभावात् लज्जाया गुणत्वात्प्रतीयमाना गुणोत्प्रेक्षा, भावाऽभिमानिनी। एवमन्यत्।

अत्रेति। यहां "अपश्यन्तौ इव" इस शब्दसे दर्शनक्रियाका अभाव उत्प्रेक्षित है वह कृशताप्राप्तिरूप निमित्त क्रिया परस्पर अदर्शनरूप है। इसी तरह वाच्योत्प्रेक्षाके गुणनिमित्तक और क्रियानिमित्तक उदाहरणोंको जानना चाहिए। प्रतीयमानोत्प्रेक्षा जैसे—**तन्वङ्ग्या इति**। कृशाङ्गीके दो स्तनोंने गुण (सूत्र वा विद्या-विनय आदि गुण) से युक्त गुणी हारको स्थान नहीं दिया इस लज्जासे (मानों) मुखको प्रकट नहीं किया।

अत्रेति। यहां "लज्जया" इस पद के अनन्तर "इव" आदि उत्प्रेक्षावाचक शब्दके अभावसे प्रतीयमानोत्प्रेक्षा है। इसी तरह और उदाहरणोंको भी जानें।

ननु ध्वनिनिरूपणप्रस्तावेऽलङ्काराणां सर्वेषामपि व्यङ्ग्यत्वं भवतीत्युक्तम्। सम्प्रति पुनर्विशिष्य कथमुत्प्रेक्षायाः प्रतीयमानत्वम्? उच्यते- व्यङ्ग्योत्प्रेक्षायां- 'महिलासहस्स-' इत्यादावुत्प्रेक्षणं विनापि वाक्यविश्रान्तिः। इह तु स्तनयोर्लज्जाया असम्भवाल्लज्जयेवेत्युत्प्रेक्षयैवेति व्यङ्ग्यप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोर्भेदः।

अत्र वाच्योत्प्रेक्षायाः षोडशसु भेदेषु मध्ये विशेषमाह—

—तत्र वाच्याभिदाः पुनः।
विना द्रव्यं त्रिधा सर्वाः स्वरूपफलहेतुगाः॥ ४३॥

व्यङ्ग्य-प्रतीयमानोत्प्रेक्षयोर्भेदं निरूपयति—**नन्विति**। ध्वनिनिरूपण-प्रस्तावे = चतुर्थपरिच्छेदे।

उच्यत इति। "महिलासहस्स" (३१७ पृ०)। उत्प्रेक्षणम् = "अमान्ती इवे"ति संभावनां, विनाऽपि। वाक्यविश्रान्तिः=वाक्यसमाप्तिः। इह तु="तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन" इत्यादौ तु। व्यङ्ग्यप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोः = उत्प्रेक्षाध्वनि—प्रतीयमानोत्प्रेक्षयोः' भेदः। अयं भावः। यत्र उत्प्रेक्षणं विना वाक्यविश्रान्तिस्तत्र व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा, यत्र तु उत्प्रेक्षणं विना न वाक्यविश्रान्तिस्तत्र प्रतीयमानोत्प्रेक्षेति विवेकः।

वाच्योत्प्रेक्षाः पुनर्विभजते—**तत्रेति**। तत्र = उक्तेषु वाच्यप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोर्भेदेषु मध्ये, या वाच्याभिदाः = वाच्योत्प्रेक्षायाः षोडश भेदाः, तेषु द्रव्यं विना = द्रव्योत्प्रेक्षां विना, सर्वाः = सकलाः, त्रिधा = त्रिप्रकाराः जात्युत्प्रेक्षा, गुणोत्प्रेक्षा क्रियोत्प्रेक्षा च संकलनेन द्वादशभेदाः ते—स्वरूप-फल हेतुगाः=स्वरूप-फल-हेतुगम्यत्वेन षट्त्रिंशद्भेदाः॥ ४३॥

नन्विति। आशङ्का करते हैं—ध्वनिनिरूपणके अवसरमें सब अलङ्कार व्यङ्ग्य होते हैं, ऐसा कहा गया है। इस समय फिर विशेषरूपसे कैसे आप उत्प्रेक्षाका प्रतीयमान भेद भी कहते हैं।

समाधान करते हैं—व्यङ्ग्य उत्प्रेक्षामें "महिलासहस्स०" इत्यादिमें उत्प्रेक्षा न करनेपर भी वाक्यका विश्राम होता है। यहां तो स्तनोंमें लज्जा असंभव होनेसे "लज्जया इव" इस प्रकार प्रतीयमानोत्प्रेक्षा हुई है। इस तरह व्यङ्ग्योत्प्रेक्षा और प्रतीयमानोत्प्रेक्षाका भेद समझना चाहिए।

अत्रेति। उत्प्रेक्षामें वाच्योत्प्रेक्षाके सोलह भेदोंमें द्रव्योत्प्रेक्षाको छोड़कर समस्त तीन प्रकारके भेदोंमें—जात्युत्प्रेक्षा, गुणोत्प्रेक्षा और क्रियोत्प्रेक्षा इनमें—स्वरूपोत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षा और हेतूत्प्रेक्षा होनेसे बारह भेदोंके कुल छत्तीस भेद हो जाते हैं॥ ४३॥

तत्रोक्तेषु वाच्यप्रतीयमानोत्प्रेक्षयोर्भेदेषु मध्ये ये वाच्योत्प्रेक्षायाः षोडश भेदास्तेषु च जात्यादीनां त्रयाणां ये द्वादश भेदास्तेषां प्रत्येकं स्वरूपफलहेतु-गतत्वेन द्वादशभेदतया षट्त्रिंशद्भेदाः। द्रव्यस्य स्वरूपोत्प्रेक्षणमेव सम्भवतीति चत्वार इति मिलित्वा चत्वारिंशद्भेदाः।

अत्र स्वरूपोत्प्रेक्षया यथा पूर्वोदाहरणेषु 'स्मरस्य विजयस्यम्भः' इति। 'सप्रसवा इव' इत्यादयो जातिगुणस्वरूपगाः। फलोत्प्रेक्षा यथा—

'रावणस्यापि रामास्तो भित्त्वा हृदयमाशुगः।
विवेश भुवमाख्यातुमुरगेभ्य इव प्रियम्॥'

अत्राख्यातुमिति भूप्रवेशस्य फलं क्रियारूपमुत्प्रेक्षितम्।

द्रव्यस्य स्वरूपोत्प्रेक्षणमेव, न फलत्वेन हेतुत्वेन वोत्प्रेक्षणमिति चत्वारो भेदाः, सङ्कलनेन चत्वारिंशद्भेदाः।

जातिस्वरूपोत्प्रेक्षामुदाहरति—**अत्रेति**। पूर्वोदाहृतेषु, "ऊरुः कुरङ्गकदृशः" इत्यादिषु "स्मरस्य विजयस्तम्भ" इदं जात्युत्प्रेक्षाया उदाहरणम्। गुणस्वरूपो-त्प्रेक्षामुदाहरति—"सप्रसवा इव" इदं गुणोत्प्रेक्षायाः। फलोत्प्रेक्षामुदाहरति—"रावणस्याऽपीति"। रामरावणयुद्धप्रसङ्गे रघुवंशस्य द्वादशसर्गस्थं पद्यमिदम्। रामाऽस्तः = रामेण (रामचन्द्रेण) अस्तः (क्षिप्तः) आशुगः = बाणः, रावणस्य= दशाननस्य, हृदयं = वक्षःस्थलं, भित्त्वा = विदार्य, अपि, उरगेभ्यः=सर्पेभ्यः, पाताल-वासिभ्य इति भावः। प्रियम् = अभीष्टं, रावणवधरूपं वृत्तमिति भावः। आख्यातुं = प्रकथयितुम्, इव, भुवं = भूमितलं, विवेश = प्रविष्टः। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। तादर्थ्यचतुर्थ्यन्तेन तुमुनन्तेन वा पदेन यत्रोत्प्रेक्षा सा फलोत्प्रेक्षा। आख्यानक्रियारूपं भूप्रवेशस्य फलमुत्प्रेक्षितम्।

तत्रोक्तेष्विति। उत्प्रेक्षामें पूर्वोक्त वाच्योत्प्रेक्षा और प्रतीयमानोत्प्रेक्षाके भेदोंमें वाच्योत्प्रेक्षाके जो सोलह भेद हैं, उनमें जाति, गुण, और क्रिया इनकी उत्प्रेक्षाओंमें जो बारह भेद हैं, उनके प्रत्येकके स्वरूपग, फलग, और हेतुग होनेसे, कुल छत्तीस भेद हो जाते हैं। द्रव्यके केवल स्वरूपकी ही उत्प्रेक्षा संभव है। इसलिए उसके चार भेद होते हैं, इस प्रकार सङ्कलन करनेपर चालीस भेद होते हैं। इनमें स्वरूपोत्प्रेक्षा जैसे पहलेके उदाहरणोंमें—"स्मरस्य विजयस्तम्भः" यह जाति-स्वरूपोत्प्रेक्षा है, "सप्रसवा इव" यह गुणस्वरूपोत्प्रेक्षा है।

फलोत्प्रेक्षा जैसे—**रावणस्येति**। रामसे प्रेरित बाणने रावणके हृदयको भेदन कर मानों पातालवासी सर्पोंको प्रिय कथन कहनेके लिए पृथ्वीमें प्रवेश किया।

अत्रेति। यहांपर "आख्यातुम्" यह पद भू-प्रवेशका आख्यान क्रियारूप फल उत्प्रेक्षित है।

हेतूत्प्रेक्षा यथा—

'सैषा स्थली यत्र विचिन्वता त्वां भ्रष्टं मया नूपुरमेकमुर्व्याम् ।
अदृश्यत त्वच्चरणारविन्दविश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम् ॥'

अत्र दुःखरूपो गुणो हेतुत्वेनोत्प्रेक्षितः । एवमन्यत् ।

उक्त्यनुक्त्योर्निमित्तस्य द्विधा तत्र स्वरूपगाः ।

हेतूत्प्रेक्षामुदाहरति—सैषेति । रघुवंशस्य त्रयोदशसर्गस्थं पद्यमिदम् । रावणवधाऽनन्तरं सपरिजनं पुष्पकविमानेनाऽयोध्यां प्रस्थितस्य रामस्य सीतां प्रति पूर्ववृत्तस्योक्तिः । हे सीते । सा = पूर्वोऽनुभूता, स्थली = अकृत्रिमा भूमि एषा दृश्यत इत्यर्थः । यत्र = स्थल्यां, त्वां = भवतीं, विचिन्वता=अन्विष्यता, मया=त्वद्वल्लभेन, त्वच्चरणाऽरविन्देत्यादिः०=तव (भवत्याः) चरणाऽरविन्दात् (पादकमलात्) यो विश्लेषः (वियोगः) तस्य दुःखात् (पीडायाः), इव, बद्धमौनं=निःशब्दम्, उर्व्यां= भूतले, भ्रष्टं = स्रस्तम्, एकम् = एककम्, नूपुरं = मञ्जीरः, अदृश्यत = दृष्टम् । उपजातिवृत्तम् ।

विवृणोति—अत्रेति । अत्र = अस्मिन्पद्ये । हेतुविभक्त्यन्तेन पदेनोत्प्रेक्षा हेतूत्प्रेक्षा । हेतुत्वेन = बद्धमौनत्वस्य हेतुत्वेनेति भावः । उत्प्रेक्षितः = सीताचरण-विश्लेष एव तज्जन्यदुःखत्वेन संभावितः ।

स्वरूपोत्प्रेक्षाः पुनर्विभजते—उक्त्यनुक्त्योरिति । तत्र = प्रागुक्तप्रकारेषु, स्वरूपगाः = उत्प्रेक्षाभेदाः, निमित्तस्य = कारणस्य, उक्त्यनुक्त्योः = उक्तौ (वाचक-पदप्रयोगे) अनुक्तौ (वाचकपदप्रयोगाऽभावेऽप्यर्थलभ्यतायाम्) च, द्विधा = पुनर्द्विप्रकाराः ।

हेतूत्प्रेक्षा जैसे—सैषेति । रामचन्द्रजी कहते हैं—हे सीते ! यह वही स्थल है, जहां तुम्हें ढूंढते हुए मैंने जमीनपर गिरे हुए तुम्हारे एक नूपुरको मानों तुम्हारे चरण कमलके वियोगके दुःखसे मौन धारण किया हुआ हो, वैसा देखा था ।

अत्रेति । यहां दुःखरूप गुण मौन धारणके हेतुके रूपमें उत्प्रेक्षित है ।

इसी तरह और भी जानें ।

उक्त्यनुक्त्योरिति । स्वरूपगा उत्प्रेक्षाके सोलह भेदोंमें उत्प्रेक्षाके निमित्त गुण और क्रियाकी उक्ति और अनुक्तिसे फिर दो भेद हो जाते हैं ।

इसप्रकार बत्तीस भेद होते हैं ।

तेषु चत्वारिंशत्संख्याकेषु भेदेषु मध्ये ये स्वरूपगायाः षोडश भेदास्ते उत्प्रेक्षानिमित्तस्योपादानानुपादानाभ्यां द्वात्रिंशद् भेदा इति मिलित्वा षट्पञ्चाशद्भेदा वाच्योत्प्रेक्षायाः। तत्र निमित्तस्योपादानं यथा पूर्वोदाहृते 'स्नातीव' इत्युत्प्रेक्षायां निमित्त पातकित्वमुपात्तम्। अनुपादाने यथा—'चन्द्र इवापरः' इत्यत्र तथाविधसौन्दर्याद्यतिशयो नोपात्तः।

हेतुफलयोस्तु नियमेन निमित्तस्योपादानमेव, तथा हि—'विश्लेषदुःखादिव' इत्यत्र यन्निमित्तं बद्धमौनत्वम् 'आख्यातुमिव' इत्यत्र च भूप्रवेशस्तयोरनुपादानेऽसङ्गतमेव वाक्यं स्यात्

प्रतीयमानायाः षोडशसु भेदेषु विशेषमाह—

विवृणोति—**तेष्विति**। तत्र = तेषु, चत्वारिंशत्संख्यकेषु भेदेषु, स्वरूपगायाः षोडश भेदाः = जातेर्भावाऽभिमान एकः, अभावाऽभिमाने चैकः, तयोश्च प्रत्येकं गुणनिमित्तकत्वात्क्रियानिमित्तकत्वाच्च द्वैविध्येन चत्वारः। एवं गुणस्य, क्रियायाः, द्रव्यस्य च चत्वारः संहत्य स्वरूपोत्प्रेक्षाः षोडशभेदाः। ते चोत्प्रेक्षानिमित्तस्योपादानाऽनुपादानाभ्यां द्वात्रिंशद्भेदाः तत्र स्वरूपोत्प्रेक्षायाः अनुक्तनिमित्तकषोडशभेदानां संकलनेन पञ्चाशद्भेदाः वाच्योत्प्रेक्षायाः।

तत्रेति। तथाविधः=मुखचन्द्रोभयगतः। आदिपदेनाह्लादकत्वादेः परिग्रहः। नियमेन = अवश्यंभावेन।

तेष्विति। पूर्वोक्त चालीस भेदोंके बीचमें स्वरूपगा उत्प्रेक्षाके जो सोलह भेद हैं, वे उत्प्रेक्षाके निमित्त (गुण और क्रिया) के ग्रहण और अग्रहणसे अर्थात्, शब्दलभ्य और आक्षेपलभ्य होनेसे बत्तीस भेद होते हैं, इसप्रकार पहलेके चालीस भेदोंमें स्वरूपोत्प्रेक्षाके अनुक्त निमित्तक सोलह भेदोंको मिलानेसे वाच्योत्प्रेक्षाके छप्पन भेद हो जाते हैं।

तत्रेति। उनमें निमित्तके ग्रहणका उदाहरण "स्नाति इव" इसमें उत्प्रेक्षाका निमित्त पातकित्व गृहीत है। निमित्तके अग्रहणमें उदाहरण—"चन्द्र इवाऽपरः" यहांपर वैसा सौन्दर्य आदिका अतिशय शब्दसे गृहीत नहीं है। हेतूत्प्रेक्षा और फलोत्प्रेक्षामें निमित्तका ग्रहण करना ही पड़ता है। जैसे कि—"विश्लेषदुःखादिव" यहां नूपुरमें निमित्त उत्प्रेक्षामें कारणभूत बद्धमौनत्व है, "आख्यातुम् इव" यहां फलोत्प्रेक्षामें भूप्रवेश निमित्त है उनका ग्रहण न होनेपर वाक्य असंगत ही हो जायगा। प्रतीयमानाके सोलह भेदोंमें विशेष दिखलाते हैं—

प्रतीयमानाभेदाश्च प्रत्येकं फलहेतुगाः ॥ ४४ ॥

यथोदाहृते 'तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन' इत्यत्र लज्जयेवेति हेतुरुत्प्रेक्षितः। अस्यामपि निमित्तस्यानुपादानं न सम्भवति। इवाद्यनुपादाने निमित्तस्य चाकीर्तने उत्प्रेक्षणस्य प्रमातुर्निश्चेतुमशक्यत्वात्। स्वरूपोत्प्रेक्षाऽप्यत्र न भवति, धर्म्यन्तरतादात्म्यनिबन्धनायामस्यामिवाद्यप्रयोगे विशेषणयोगे सत्यतिशयोक्तेरभ्युपगमात्।

यथा—'अयं राजापरः पाकशासनः' इति। विशेषणाभावे च रूपकस्य, यथा—'राजा पाकशासनः' इति।) तदेवं द्वात्रिंशप्रकारा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा—भेदान्निर्दिशति—**प्रतीयमानाभेदाश्चेति**। जाति-गुण-क्रिया-द्रव्याणां चतुर्णां भावाऽभिमाने चत्वारः, अभावाऽभिमाने चत्वार इत्यष्टौ भेदास्तेषां च पुनर्गुण-क्रियानिमित्ताभ्यां द्वैविध्येन प्रतीयमानोत्प्रेक्षाया अपि षोडश-भेदा भवन्ति। प्रतीयमानोत्प्रेक्षा पुनः फलगता हेतुगता च भवति।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा फलगता यथा—"रावणस्या"पीति। इवाद्यभावादियं प्रतीयमानोत्प्रेक्षा, फलोत्प्रेक्षणाच्च फलगतेति भावः।

प्रतीयमानोत्प्रेक्षा हेतुगता—"तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेने"त्यत्र "लज्जयेवे"ति हेतुरुत्प्रेक्षितः। इत्थं च प्रतीयमानोत्प्रेक्षायाः फलहेतु-गतत्वेन द्वैविध्याद् द्वात्रिंशद्भेदाः प्रतीयमानोत्प्रेक्षाः।

अस्यामपि = प्रतीयमानोत्प्रेक्षायामपि। उत्प्रेक्षणस्य = सम्भावनायाः। प्रमातुः = बोद्धुः श्रोतुश्च।

स्वरूपोत्प्रेक्षाऽपीति। धर्म्यन्तरेति। धर्म्यन्तरेण (उपमानभूतस्याऽन्यस्य विशेष्य-पदार्थस्य) यत् तादात्म्यं (उपमेयभूतेनाऽन्येन विशेष्यपदार्थेन अभेदः) तदेव निबन्धनं (प्रयोजकम्) यस्यास्तस्याम्, अस्याम् = उत्प्रेक्षायाम्, इवाद्यप्रयोगे = इवाद्युत्प्रेक्षा-वाचकशब्दाऽप्रयोगे सति। अभ्युपगमात् = अङ्गीकारात्। तदेवं द्वात्रिंशत्प्रकारा प्रतीयमानोत्प्रेक्षा।

प्रतीयमानेति। प्रतीयमाना उत्प्रेक्षाके भेदोंमें उत्प्रेक्ष्य कहीं फल होता है तो कहीं हेतु ॥ ४४ ॥

जैसे उदाहृत "तन्वङ्ग्याः स्तनयुग्मेन" इस पद्यमें "लज्जया इव" कहनेसे मानों लज्जासे इस प्रकार लज्जारूप हेतु उत्प्रेक्षित है। इसमें भी निमित्तका अग्रहण नहीं होता है, क्योंकि इव आदि उत्प्रेक्षावाचक पदके अग्रहणमें और निमित्तका भी कीर्तन न होने पर बोद्धा और श्रोताको उत्प्रेक्षाका निश्चय करना ही अशक्य हो जायगा। यहां स्वरूपोत्प्रेक्षा भी नहीं है। दूसरे धर्मी (उपमान)के साथ तादात्म्य (अभेद)के आरोप वाली उत्प्रेक्षामें इव आदिका प्रयोग न होकर विशेषणका योग होनेपर अतिशयोक्ति अलङ्कार माना जायगा। जैसे—"ये राजा दूसरे पाकशासन (इन्द्र) हैं"। इस प्रकार प्रतीयमानोत्प्रेक्षाके बत्तीस भेद होते हैं।

उक्त्यनुक्त्योः प्रस्तुतस्य प्रत्येकं ता अपि द्विधा।

ता उत्प्रेक्षाः। उक्तौ यथा—'ऊरुः कुरङ्गकदृशः-' इति।

अनुक्तौ यथा मम प्रभावत्याम् 'प्रद्युम्नः—इह हि सम्प्रति प्रतिदिगन्तमाच्छादयता मिमिरपटलेन—

घटितमिवाञ्जनपुञ्जैः, पूरितमिव मृगमदक्षोदैः।
ततमिव तमालतरुभिर्वृतमिव नीलांशुकैर्भुवनम्॥'

उत्प्रेक्षा पुनर्द्वैविध्येन विभजते—**उक्त्यनुक्त्योरिति**। ताः = वाच्याः प्रतीयमानाश्चोत्प्रेक्षा अपि प्रत्येकमेव, प्रस्तुतस्य = प्रकृतस्य, उपमेयस्येति भावः। उक्त्यनुक्त्योः = उक्तौ (अभिधाने), अनुक्तौ (अनभिधाने) च, द्विधा=पुनर्द्विविधा भवन्तीति भावः। तत्र षट्पञ्चाशत्प्रकारा वाच्योत्प्रेक्षाः, द्वात्रिंशत्प्रकाराः प्रतीयमानोत्प्रेक्षाः, सम्भूयाऽष्टाऽशीतिप्रकारा उत्प्रेक्षाः, प्रस्तुतस्य = उपमेयस्योक्त्यनुक्तिभ्यामेकशतषट्सप्ततिप्रकारा भवन्ति। प्रस्तुतस्योक्तौ यथा—"ऊरुः कुरङ्गकदृश" इति। अत्र प्रस्तुतः = नायिकाया ऊरुः (उपमेयः) उक्तः।

प्रस्तुतस्याऽनुक्तौ, यथा—प्रतिदिगन्तं = सकला दिशः, आच्छादयता = आवृण्वता, तिमिरपटलेन = अन्धकारसमूहेन।

घटितमिति। भुवनं = जगन्मण्डलम्, अञ्जनपुञ्जैः = कज्जलसमूहैः, घटितं = निर्मितम् इव, मृगमदक्षोदैः = मृगमदस्य (कस्तूर्याः) क्षोदैः (चूर्णैः), पूरितं = संभृतम्, इव। नीलांऽशुकैः = नीलवस्त्रैः, वृतम् = आच्छादितम्, इव। अस्तीति शेषः। आर्या वृत्तम्।

उक्त्यनुक्त्योरिति। उन वाच्या और प्रतीयमाना उत्प्रेक्षाके प्रत्येकमे प्रस्तुत (उपमेय)की उक्ति और अनुक्तिमे दो-दो भेद हो जाते हैं। उनमें वाच्योत्प्रेक्षाके भेद छप्पन और प्रतीयमानोत्प्रेक्षाके भेद बत्तीस, इसप्रकार उत्प्रेक्षाके कुल एक सौ छहत्तर (१७६) भेद होते हैं।

प्रस्तुत (उपमेय)की उक्तिमें जैसे—"ऊरुः कुरङ्गकदृशः"। प्रस्तुत (उपमेय) की अनुक्तिमें जैसे ग्रन्थकारकी प्रभावती नाटिकामें प्रद्युम्नः—"इहेति"। इस समय यहां दिगन्तको आच्छादित करने वाले अन्धकार समूहसे—**घटितमिव**—जगन्मण्डल मानों कज्जलसमूहसे निर्मित कर दिया गया है, कस्तूरीके चूर्णोंसे मानो पूर्ण कर दिया गया है, तमालके पेड़ोंसे मानों व्याप्त कर दिया गया है और नीले वस्त्रोंसे मानो आच्छादित कर दिया गया है।

अत्राञ्जनेन घटितत्वादेरुत्प्रेक्षणीयस्य विषयव्याप्तत्वं नोपात्तम् ।

यथा वा—

'लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाऽञ्जनं नभः ॥'

अत्र तमसो लेपनस्य व्यापनरूपो विषयो नोपात्तः । अञ्जनवर्षणस्य तमःसम्पातः । अनयोरुत्प्रेक्षानिमित्तं च तमसोऽतिबहुलत्वं धारारूपेणाधःसंयोगश्च यथासंख्यम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्पद्ये, उत्प्रेक्षणीयस्य = अञ्जनघटितत्वादेः उपमानभूतस्येति भावः । विषयव्याप्तत्वं = विषयः (प्रकृतम् उपमेयमिति भावः) यद् व्याप्तत्वं, तद्, न उपात्तं = नो गृहीतं = न उक्तमिति भावः । पूर्वपद्ये तिमिरपटलेन भुवनव्यापनरूपमुपमेयं नोक्तमिति तात्पर्यम् ।

विषये प्राचीनं पद्यमुपस्थापयति—**लिम्पतीति** । मृच्छकटिकप्रकरणस्थं पद्यमिदम् । अस्योत्तरार्द्धं तु—"असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता ।" इति । तमः = अन्धकारः, अङ्गानि = देहाऽवयवान् । लिम्पति = लेपनं करोति इव । नभः = आकाशम्, अञ्जन = कज्जलं, वर्षति = वर्षणं करोति, इव ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्पद्याऽर्द्धे, तमसो लेपनस्य = उपमानस्य व्यापनरूपः=सर्वाऽङ्गेषु निबिडसम्बन्धरूप उपमेयविषयः, अञ्जनवर्षणस्य=उपमानस्य च, तमःसम्पातः = अन्धकारपतनरूप उपमेयविषयः, नोपात्तः = नो गृहीतः, नाऽभिहित इति भावः ।

अनयोरुत्प्रेक्षानिमित्तं प्रतिपादयति—**अनयोरिति** । अनयोः = "लिम्पतीव" इत्यस्य "वर्षतीव" इत्यस्य चेति भावः । उत्प्रेक्षानिमित्तं "लिम्पतीव" "तमोऽङ्गानी"त्यत्र तमसोऽतिबहुलत्वं ततश्च घनभावेन देहाऽवयवसंयोगः, "वर्षतीवाञ्जनं नभ" इत्यत्र च तमसो धारारूपेण = तैरन्तर्येणाऽधःसंयोगः, यथासंख्यं बोध्यौ ।

अत्रेति । इस पद्यमें उत्प्रेक्षणीय अञ्जनसे घटितत्व (निर्मितत्व) आदि (उपमानभूत)का विषय (उपमेय) व्याप्तत्व गृहीत नहीं है ।

अथवा—लिम्पतीवेति । अन्धकार अङ्गोंको मानो लेपन कर रहा है, आकाश मानों काजल बरसा रहा है ।

अत्रेति । इस पद्यमें अन्धकारके लेपन (उपमान)का व्यापनरूप विषय (उपमेय) और इसी तरह अञ्जनके वर्षण (उपमान)का तमःसम्पात (अन्धकारपतन)रूप (उपमेय) शब्दसे गृहीत नहीं है । इन दोनों उदाहरणोंमें पहलेमे उत्प्रेक्षानिमित्त है अन्धकारका अतिशय आधिक्य, और दूसरेमें वर्षणका निमित्त है अन्धकारका धारारूपसे अधःसंयोग (नीचे गिरना) ।

केचित्तु—'अलेपनकर्तृभूतमपि तमो लेपनकर्तृत्वेनोत्प्रेक्षितं व्यापनं च निमित्तम्, एवं नभोऽपि वर्षणक्रियाकर्तृत्वेन' इत्याहुः।

अलङ्कारान्तरोत्था सा वैचित्र्यमधिकं भजेत् ॥ ४५ ॥

तत्र सापह्नवोत्प्रेक्षा यथा मम—

'अश्रुच्छलेन सुदृशो हुतपावकधूमकलुषाक्ष्याः।
अप्राप्य मानमङ्गे विगलति लावण्यवारिपूर इव ॥'

मतान्तरमाह—**केचित्त्विति**। केचित् = अलङ्कारसर्वस्वकाराद्यः इति भावः। केचिदित्यनेनाऽरुचिः सूच्यते। व्यापनं = तमसः सर्वदेहावयवलम्बनः। नभोऽपि = निष्क्रियमाकाशम् अपि, वर्षणक्रियाकर्तृत्वेनोत्प्रेक्षितमिति सम्बन्धः।

अलङ्कारान्तरनिष्पन्नामुत्प्रेक्षां प्रतिपादयितुमुपक्रमते—**अलङ्कारान्तरोत्थेति**। सा = उत्प्रेक्षा अलङ्कारान्तरोत्था = अलङ्कारान्तरनिष्पन्ना, सती, अधिकं = केवलोत्प्रेक्षाया अतिरिक्तं, वैचित्र्यं = चमत्कारं, वहेत् = धारयेत्।

साऽपह्नवोत्प्रेक्षामुदाहरति—**अश्रुच्छलेनेति**। यज्ञशालायां स्थितायाः कस्याश्चिद्यजमानपत्न्या अश्रुपातमुद्दिश्योक्तिरियम्। हुतेत्यादिः० हुतः (दत्तहविः) यः पावकः (अग्निः) तस्मान्निर्गतो यो धूमः (अग्निध्वजः) तेन कलुषे (आविले) अक्षिणी (नेत्रे) यस्मास्तस्याः, "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात्षच्" इति समासाऽन्तः षच्। षित्वात् "षिद्गौरादिभ्यश्चे"ति ङीष्। सुदृशः = सुनयनायाः, अश्रुच्छलेन = लोचनसलिलकैतवेन, लावण्यवारिपूरः = लावण्यवारिणः (सौन्दर्यजलस्य) पूरः (प्रवाहः), अङ्गे = देहाऽवयवे, मानम्=अवस्थानस्थानम्, अप्राप्य = अनासाद्य, इव, विगलति = प्रस्रवति। आर्या वृत्तम्।

केचित्त्विति। कोई विद्वान् (अलङ्कारसर्वस्वकार आदि) पहले उदाहरणमें लेपनका कर्ता न होनेपर भी अन्धकार लेपनके कर्ताके रूपमें उत्प्रेक्षित है और अन्धकारका व्यापन निमित्त है। दूसरे उदाहरणमें वर्षण क्रियाका कर्ता न होनेपर भी आकाश वर्षणक्रियाके कर्ताके रूपमें उत्प्रेक्षित है ऐसा कहते हैं।

अलङ्कारान्तरोत्थेति। दूसरे अलङ्कारसे निष्पन्ना वह (उत्प्रेक्षा) अधिक चमत्कारको धारण करती है ॥ ४५ ॥

उसमें अपह्नुति-मूलक उत्प्रेक्षा, जैसे ग्रन्थकारका—**अश्रुच्छलेनेति**। हवन किये गये अग्निके धूमसे आविल नेत्रोंवाली सुन्दरीके आँसूके बहानेसे लावण्यरूप जलका प्रवाह अङ्गमें न समाकर गिर रहा है। यहां छल शब्दसे प्रकृत (उपमेय) अश्रुका अपह्नव (निषेध) कर उसमें अन्य (उपमान) लावण्यरूप जलका प्रवाह स्थापित किया गया है। अतः यह सापह्नवोत्प्रेक्षा अलङ्कार है।

श्लेषहेतुगा यथा—

'मुक्तोत्करः सङ्कटशुक्तिमध्याद्विनिर्गतः सारसलोचनायाः।
जानीमहेऽस्याः कमनीयकम्बुग्रीवाधिवासाद् गुणवत्त्वमाप ॥'

अत्र गुणवत्त्वे श्लेषः, कम्बुग्रीवाधिवासादिवेति हेतूत्प्रेक्षाया हेतुः। अत्र 'जानीमहे' इत्युत्प्रेक्षावाचकम्।

एवम्—

मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः।

अत्र प्रकृतम् = उपमेयम्, अश्रु, प्रतिषिध्य, अन्यस्य = उपमानस्य लावण्यवारिपूरस्य, स्थापनादयह्नुतिः, तन्मूलेयं क्रियोत्प्रेक्षाऽधिकं वैचित्र्यं भजति। श्लेषहेतुगामुत्प्रेक्षामुदाहरति—**मुक्तोत्कर** इति। सङ्कटशुक्तिमध्यात् = सङ्कटं (स्ववर्गप्राचुर्यात् यदवकाशशून्यम्) तादृशं यत् शुक्तिमध्यं (मुक्तास्फोटाऽभ्यन्तरभागः) तस्मात्। विनिर्गतः=विनिःसृतः। मुक्तोत्करः=मुक्तानाम् (मौक्तिकानाम्) उत्करः (राशिः), "पुञ्जराशी तूत्करः कूटमस्त्रियाम्।" इत्यमरः। सारसलोचनायाः = सारसे सरोजाते कमले) इव लोचने (नयने) यस्मास्तस्याः। अस्याः = दृश्यमानायाः, रमण्याः। कमनीयेत्यादिः० = कमनीया (मनोहरा) कम्बुग्रीवा (शङ्खसदृशी कन्धरा), तस्याम् अधिवासात् (अवस्थितेः), गुणवत्त्वं = सूत्रवत्त्वम्, उत्कर्ष प्रचुरत्वं च, आप = प्राप्तवान्, इति, जानीमहे = उत्प्रेक्षामहे। उपजातिर्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रे**ति। अत्र=अस्मिन्पद्ये, गुणवत्त्वे=गुणवत्त्वपदे श्लेषः। गुणः=सूत्र महार्घतादिश्च। अत्र श्लेषहेतुकत्वं श्लिष्टशब्दाऽन्वयव्यतिरेकाऽनुविधानादेव।

"मन्ये शङ्के ध्रुवं प्रायो नूनमित्येवमादयः"।

महाकविदण्डिना स्वकीये काव्यादर्शाख्येऽलङ्कारग्रन्थे तु—"नूनमित्येवमादिभिः। उत्प्रेक्षा व्यज्यते शब्दैरिवशब्दोऽपि तादृशः।" इति लिखितम्। उपमा उपक्रमे (प्रारम्भे) यस्याः सा उपमोपक्रमा।

श्लेष हेतुगा उत्प्रेक्षा जैसे—सङ्कट (अवकाशशून्य) सीपोंके भीतरसे निकला हुआ मोतियोंका समूह इस कमलनयनाके मनोहर शङ्खसदृश ग्रीवामें अधिवाससे मानों गुण (सूत्र वा उत्कर्ष) की प्रचुरताको प्राप्त हुआ है हम ऐसी उत्प्रेक्षा कर रहें हैं।

अत्रेति। यहां गुणवत्त्वमें श्लेष है, कम्बुग्रीवाधिवासात् मानों शङ्खसदृश ग्रीवामें अधिवाससे यह हेतूत्प्रेक्षाका हेतु है। यहां "जानीमहे" यह पद उत्प्रेक्षाका वाचक है, इसी तरह—**मन्य इति**। मन्ये, शङ्के, ध्रुवं, प्रायः, नूनम्, इव इत्यादि शब्दा उत्प्रेक्षाके वाचक हैं।

क्वचिदुपमोपक्रमोत्प्रेक्षा यथा—

'पारेजलं नीरनिधेरपश्यन्मुरारिरानीलपलाशराशीः।
वनावलीरुत्कलिकासहस्रप्रतिक्षणोत्कूलितशैवलाभाः ॥'

इत्यत्राभाशब्दस्योपमावाचकत्वादुपक्रमे उपमा। पर्यवसाने तु जलधितीरे शैवालस्थितेः सम्भावनानुपपत्तेः सम्भावनोत्थानमित्युत्प्रेक्षा।

उपमोपक्रमामुत्प्रेक्षामुदाहरति—**पारेजलमिति**। शिशुपालवधमहाकाव्यस्य तृतीयसर्गे समुद्रवर्णनप्रसङ्गस्थं पद्यम्। मुराऽरिः = श्रीकृष्णः, नीरनिधेः = समुद्रस्य, पारेजलम् = जलस्य पारे परतीरे, "पारे मध्ये षष्ठ्या वा" इत्यव्ययीभावः, पारशब्दस्यैकाराऽन्तत्वं च। "पाराऽवारे पराऽर्वाची तीरे" इत्यमरः। आनीलपलाशराशीः= आ (समन्तात्) नीलाः (नीलवर्णाः) पलाशराशयः (पत्रसमूहाः) यासां ताः, अत एव—उत्कलिकेत्यादिः० = उत्कलिकासहस्रैः (ऊर्मिसहस्रैः) प्रतिक्षणं (क्षणे क्षणे) उत्कूलिताः (कूलमुद्गताः, कूलं प्रापिताः इत्यर्थः, "तत्करोति तदाचष्टे" इति ण्यन्तात्कर्मणि क्तः) ते च ते शैवलाः (शैवालानि) तेषाम् आभा इव आभा (कान्तिः) यासां, ताः, तत्सदृशीरित्यर्थः। वनावलीः = अरण्यश्रेणीः, अपश्यत् = दृष्टवान्, उपजातिर्वृत्तम्।

विवृणोति—**इत्यत्रेति**। इत्यत्र = अस्मिन्पद्ये, उपक्रमे = आरम्भे, प्रथमम्मुपमाप्रतीतिरिति भावः। पर्यवसाने=वाक्यप्रतीत्यनन्तरमिति भावः। जलधितीरे = समुद्रतटे, संभावनाऽनुपपत्तेः = संभावनायाः (वितर्कस्य) अनुपपत्तेः (असंभवात्), संभावनोत्थानं = संभावनायाः (वितर्कस्य) उत्थानम् (उद्गमनम्, प्रतीतिरिति-भावः) इति = अस्माद्धेतोरुत्प्रेक्षा।

कहीं उपमोक्रमा (आरम्भमें उपमावाली) उत्प्रेक्षा, जैसे—**पारेजलम्**। भगवान् श्रीकृष्णने समुद्रके जलके पारमें नील वर्णवाले पत्रसमूहोंसे युक्त मानो तटमें पहुँचाये गये हजारों शैवलोंकी–सी कान्तिवाली वनपङ्क्तियोंको देखा ॥

इत्यत्रेति। इस पद्यमें "आभा" शब्द उपमावाचक है अतः प्रारम्भमें उपमा अलङ्कार है, वाक्यार्थज्ञानके अनन्तर समुद्रके किनारेमें सेवारकी स्थितिकी सम्भावनाके असंभव होनेसे उत्प्रेक्षा है।

एवं विरहवर्णने—'केयूरायितमङ्गदैः—' इत्यत्र 'विकासिनीलोत्पलति स्म कर्णे मृगायताक्ष्याः कुटिलः कटाक्षः' इत्यादौ च ज्ञेयम् ।

भ्रान्तिमदलङ्कारे 'मुग्धा दुग्धधिया—' इत्यादौ भ्रान्तानां बल्लवादीनां विषयस्य चन्द्रिकादेर्ज्ञानमेव नास्ति, तदुपनिबन्धनस्य कविनैव कृतत्वात् । इह तु संभावनाकर्तुर्विषयस्यापि ज्ञानमिति द्वयोर्भेदः ।

एवमिति । विरहवर्णने—अङ्गदैः केयूरायितम्, अत्र अङ्गदपदं केयूरपदं चेति पदद्वयमपि समानार्थकं, बाहुभूषणवाचकं चेति पौनरुक्त्यं प्रतीयते । "केयूरमङ्गदं तुल्ये" इत्यमरः । अतोऽत्र व्याख्यान्तरं विधेयं तथा च—अङ्गदैः=वलयैः, केयूरायितं= केयूरवदाचरितं, केयूरं नाम बाहुभूषणं, तद्वदाचरितम् । वियोगवशात्प्रमदाऽतीव कृशा संजाता ततश्च करभूषणमपि केयूराख्यबाहुभूषणतुल्यं जातमिति भावः ।

अत्र क्यङ्प्रत्ययस्योपमावाचकत्वादुपक्रमे उपमाप्रतीतिः पर्यवसाने तु संभावनोत्थानादुत्प्रेक्षा । तथा चाऽत्राङ्गदपदस्य केयूरवाचकत्वेऽपि अङ्गं दायन्ति (शोभयन्ति) इत्यङ्गदानि इति योगशक्त्यैव करभूषणानितैः केयूरायितम् = केयूराख्यबाहुभूषणवदाचरितमित्थं पौनरुक्त्यं परिहार्य्यम् ।

विकासीति । मृगायताक्ष्याः = मृगस्य (हरिणस्य) इव आयते (दीर्घे अक्षिणी (नेत्रे) यस्यास्तस्याः सुन्दर्याः, कुटिलः = वक्रः, कटाक्षः = दृष्टिपातः कर्णे = श्रोत्रे, विकासिनीलोत्पलति स्म = विकासि (प्रफुल्लम्) यद् नीलोत्पः (नीलकमलम्) तद्वदाचरति स्म, इत्यत्र क्विप्प्रत्ययस्योपमावाचकत्वेनोपक्र उपमाप्रतीतिः, पर्यवसाने तु कर्णे कटाक्षाऽसम्भवेन संभावनोत्थानादुत्प्रेक्षा । ज्ञेयं बोध्यम् । भ्रान्तिमदलङ्कारादुत्प्रेक्षाया भेदमुपपादयति—**भ्रान्तिमदलङ्कारे इति** भ्रान्तानां = भ्रमयुक्तानाम् । विषयस्य = उपमेयस्य । तदुपनिबन्धनस्य = चन्द्रिकाऽ दिवर्णनस्य । इह तु = उत्प्रेक्षायां तु । द्वयोः = भ्रान्तिमदुत्प्रेक्षाऽलङ्कारयोः ।

इसी तरह विरहके वर्णनमें "केयूरायितमङ्गदैः" यहाँ क्यङ्प्रत्ययका उपम वाचक होनेसे उपक्रममें उपमाकी प्रतीति है, पर्यवसानमें संभावनाके उत्थान उत्प्रेक्षा है । और "विकासि"इत्यादि पद्यांशमें मृगीके समान दीर्घनेत्रों वा (सुन्दरी)का कुटिल कटाक्ष कानमें विकसित नील कमलके समान आचरण कर था, यहाँ भी क्विप् प्रत्ययके उपमावाचक होनेसे उपक्रममें उपमाकी प्रतीति पर्यवसानमें तो कानमें कटाक्ष असंभव होनेसे संभावनाके उत्थानसे उत्प्रेक्षा है इस प्रकार इनमें उपमोपक्रमा उत्प्रेक्षा जानना चाहिए ।

भ्रान्तिमदलङ्कार इति । भ्रान्तिमान् अलङ्कारमें "मुग्धा दुग्धधिय इत्यादिमें भ्रान्त गोप आदियोंको विषय (उपमेय) चन्द्रिका आदिका ज्ञान नहीं है । चन्द्रिका आदिका वर्णन कविने ही किया है । उत्प्रेक्षामें तो संभाव करनेवालेको विषयका भी ज्ञान है इस तरह भ्रान्तिमान् और उत्प्रेक्षाका भेद है

सन्देहे तु समकक्षतया कोटिद्वयस्य प्रतीतिः, इह तूत्कटा संभाव्यभूतैका कोटिः। अतिशयोक्तौ विषयिणः प्रतीतस्य पर्यवसानेऽसत्यता प्रतीयते, इह तु प्रतीतिकाल एवेति भेदः।

'रञ्जिता नु विविधास्तरुशैला नामितं नु गगनं स्थगितं नु।
पूरिता नु विषमेषु धरित्री संहृता नु ककुभस्तिमिरेण ॥'

इत्यत्र यत्तर्वादौ तिमिराक्रान्तता रञ्जनादिरूपेण संदिह्यत इति संदेहा-

---

सन्देहादुत्प्रेक्षाया भेदमुपपादयति—**सन्देह इति**। सन्देहे तु=सन्देहालङ्कारे तु। समकक्षतया = तुल्यस्वरूपत्वेन। कोटिद्वयस्य = विषयद्वितयस्य। उत्कटा = निश्चितप्राया। संभाव्यभूता=संभवनीयत्वेन ज्ञायमाना। एका कोटिः=एको विषयः।

अतिशयोक्तेरुत्प्रेक्षाया भेदमुपपादयति—**अतिशयोक्ताविति**। अतिशयोक्तौ= अतिशयोक्त्यलङ्कारे। प्रतीतस्य = सत्यतया ज्ञातस्य, विषयिणः = उपमानस्य। पर्यवसाने = शाब्दबोधाऽनन्तरं, प्रतीयते = ज्ञायते। इह तु = उत्प्रेक्षायां तु। प्रतीतिकाल एव = ज्ञानकाल एव, विषयिणोऽसत्यता प्रतीयत इति पूर्वेण सम्बन्धः। भेदः = प्रकारः।

रूपकमतं निरसितुमुदाहरति—**रञ्जिता न्विति**। किराताऽर्जुनीये नवमसर्गस्थमन्धकारवर्णनपरकं पद्यमिदम्। तिमिरेण = अन्धकारेण, विविधाः = अनेकप्रकाराः, तरुशैलाः = वृक्षपर्वताः, रञ्जिता नु = स्वतुल्यवर्णतामापादिताः किं, नो चेत्कथमेषां नीलतेति भावः। गगनम् = आकाशं, नामितं नु=भूतले प्रह्वीकृतं किम्? स्थगितं नु = संवृतं किम्? तथा धरित्री = पृथिवी, विषमेषु = निम्नोन्नतेषु, पूरिता नु = समीकृता किम्?। ककुभः = दिशः, संहृताः नु = लुप्ताः किम्? अन्यथा कथं न दृश्यन्त इति भावः। स्वागता वृत्तम्।

विवृणोति—**इत्यत्रेति**। इत्यत्र = अस्मिन्पद्ये। तर्वादौ = आदिपदेन गगनधरित्रीककुभां परामर्शः। रञ्जनादिरूपेण = आदिपदेन नामन-स्थगन-पूरण-

---

सन्देह इति। सन्देह अलङ्कारमें दोनों कोटियोंकी तुल्यकक्षतासे प्रतीति होती है, उत्प्रेक्षामें संभाव्यभूत कोटि उत्कटा (निश्चितप्राया) होती है। अतिशयोक्तिमें ज्ञात विषयी (उपमान)की पर्यवसानमें असत्यता प्रतीत होती है, उत्प्रेक्षामें तो ज्ञानकालमें ही विषयीकी असत्यता प्रतीत होती है, यह पूर्वोक्त अलङ्कारोंका परस्परमें भेद है।

रञ्जिता इति। अन्धकारने अनेक प्रकारके पेड़ और पर्वतोंको रंग दिया है क्या? आकाशको झुकादिया है क्या? वा स्थगित कर दिया है क्या? पृथिवी ऊँच नीच भागोंमें भरदी गई है क्या? और दिशाओंको लुप्त कर दिया है क्या?

इस पद्यमें वृक्ष आदिमें जो अन्धकारपूर्णता रञ्जन आदि रूपसे सन्दिग्ध है

लङ्कार इति केचिदाहुः, तन्न–एकविषये समानबलतयाऽनेककोटिस्फुरणस्यैव संदेहत्वात्। इह तु तर्वादिव्याप्तेः प्रतिसंबन्धिभेदो व्यापनादेर्निगरणेन रञ्जनादेः स्फुरणं च।

अन्येतु–अनेकत्वनिर्धारणरूपविच्छित्त्याश्रयत्वेनैककोटयधिकेऽपि भिन्नोऽयं संदेहप्रकारः' इति वदन्ति स्म। तदप्ययुक्तम्–निगीर्णस्वरूपस्यान्यतादात्म्यप्रतीतिर्हि संभावना, तस्याश्चात्र स्फुटतया सद्भावान्नुशब्देन चेवशब्दवत्तस्या द्योतनादुत्प्रेक्षैवेयं भवितुं युक्ता, अलमदृष्टसंदेहप्रकारकल्पनया।

संहरणानां परामर्शः। केचित् = अलङ्कारसर्वस्वकारादयः। एकविषये = एकस्थले, अनेककोटिस्फुरणस्यैव = अनेकपक्षकज्ञानस्यैव। तर्वादिव्याप्तेः = तिमिरकर्तृकतरुप्रभृतिव्यापनस्य, प्रतिसम्बन्धिभेदः = प्रत्येकतर्वादिसम्बन्धिपदार्थभिन्नत्वम्। व्यापनादेः; निगरणेन = अधःकरणेन, अकथनेनेति भावः। स्फुरणम् = ज्ञानमित्यर्थः। अतश्चाऽत्र न सन्देहाऽलङ्कारः, उत्प्रेक्षाऽलङ्कार एव।

अन्येत्विति। अन्ये = एकदेशिनः, अनेकत्वादीति = अनेकत्वेन (रञ्जन-नामन-स्थगन-पूरण-संहरणप्रकारेण) निर्द्धारणरूपा (ज्ञानरूपा) या विच्छित्तिः (चमत्कारिता) तस्या आश्रयत्वेन (आधारत्वेन) कारणेन, एककोट्यधिके = एकस्यां कोटौ (रञ्जनादिपक्षे) अधिकोऽपि (प्रबलोऽपि) भिन्नः = सामान्यसन्देहाद्विजातीयः, अयं सन्देहः = सन्देहाऽलङ्कारः।

उक्तं मतं खण्डयति—**तदप्ययुक्तमिति**। निगीर्णस्वरूपस्य = अधःकृतस्वरूपस्योपमेयस्य, अन्यतादात्म्यप्रतीतिः = अन्येन (उपमानेन) सह तादात्म्यप्रतीतिः (अभेदज्ञानम्) संभावना, तस्याः = तादृश्याः संभावनायाः, अत्र = अस्मिन्पद्ये, स्फुटतया=स्पष्टरूपेण, सद्भावात्=विद्यमानत्वात्। द्योतनात्=प्रकाशनात्। अदृष्टसन्देहप्रकार-कल्पनया = अदृष्टः (कुत्राऽप्यनवलोकितः) यः सन्देहप्रकारः

अतः यह सन्देहाऽलङ्कार है यह कोई विद्वान् (अलङ्कारसर्वस्वकार आदि) कहते हैं। यह उचित नहीं है। एक स्थलमें तुल्यबल होनेसे जो अनेक कोटिका ज्ञान है उसीको सन्देह कहते हैं। इस पद्यमे तो अन्धकारसे वृक्ष आदिकी व्याप्तिका प्रत्येक वृक्ष आदि सम्बन्धीका भेद और व्यापन आदिके निगरणसे रञ्जन आदिका स्फुरण है।

अन्य विद्वान् लोग कहते है—रञ्जन आदि अनेकत्वसे ज्ञानरूप चमत्कारिताका आश्रय होनेसे एक कोटि (रञ्जनआदिपक्ष) मे प्रबल होकर भी यह सन्देहका ही भेद है। यह भी अनुचित है। निगीर्ण स्वरूप (उपमेय) का अन्य (उपमान) के साथ अभेद ज्ञानको संभावना कहते हैं। उसका यहाँपर स्फुटरूपसे विद्यमान होनेसे और 'इव' शब्दके समान "नु" शब्दसे उसका द्योतन होनेसे उसका

'यदेतच्चन्द्रान्तर्जलदलवलीलां वितनुते
तदाचष्टे लोकः शशक इति नो मां प्रति तथा ।
अहं त्विन्दुं मन्ये त्वदरिविरहाक्रान्ततरुणी-
कटाक्षोल्कापातव्रणकिणकलङ्काङ्किततनुम् ॥'

इत्यत्र 'मन्ये' शब्दप्रयोगेऽप्युक्तरूपायाः सम्भावनाया अप्रतीतेर्वितर्कमात्रं नासावपह्नवोत्प्रेक्षा ।

(सन्देहाऽलङ्कारभेदः) तस्य कल्पनया (कल्पनेन), अलं = पर्याप्तम्, सन्देहप्रकार-कल्पनाऽनावश्यकीति भावः ।

भोजराजमतं दूषयितुमुपक्रमते—**यदेतदिति** । चन्द्रस्थितकलङ्कस्यालोकनेन कस्य चिल्लोकस्य कंचिद्राजानं प्रत्युक्तिरियम् । यत्, एतत्=दृश्यमानं वस्तु, चन्द्रस्य (इन्दोः) अन्तः (अभ्यन्तरे) जलदलवलीलां = मेघखण्डविलासं । वितनुते = विस्तारयति । लोकः = जनसमूहः, तत् = वस्तु, शशकः = पशुविशेषः, इति, आचष्टे = ब्रूते, मां प्रति, तथा न = तादृशं ज्ञानं न । अहं = पुरःस्थो वक्ता तु । इन्दुं = चन्द्रमसं, त्वदरीत्यादिः०=तव (भवतः) अरीणां (शत्रूणाम्) विरहेण (पतिवियोगेन) आक्रान्ताः (आहताः) यास्तरुण्यः (युवतयः) तासां कटाक्षाः (अपाङ्गदर्शनानि) एव या उल्काः (ज्वालाऽऽकाराः वस्तुविशेषाः) तासां पातेन (पतनेन) यो व्रणः (क्षतम्) तस्य यः किणः (चिह्नम्) स एव कलङ्कः (लाञ्छनम्), तेन अङ्किता (चिह्निता) तनुः (शरीरम्) यस्य तं, तादृशं, मन्ये = जाने । शिखरिणी वृत्तम् ।

विवृणोति—**इत्यत्रेति** । इत्यत्र = अस्मिन् पद्ये, उक्तरूपायाः = "निगीर्ण-स्वरूपस्याऽन्यतादात्म्यप्रतीतिः संभावना" इति प्रागुक्तायाः संभावनायाः, अप्रतीतेः = ज्ञानाऽभावात्, वितर्कमात्रम् = ऊहनमात्रं, नाऽसावपह्नवोत्प्रेक्षा = शशक-तादृश-किणकलङ्कयोरुपमेयोपमानभावाऽभावाच्छशकप्रतिषेधेन तादृशकलङ्कस्थापनेऽपि नाऽपह्नुतेः प्रसङ्गः, संभावनाया अभावाच्च नोत्प्रेक्षायाः प्रसङ्ग इति भावः । किन्तु वितर्काख्यव्यभिचारिभावः कविनिष्ठराजविषयकरतिभावस्याऽङ्गमिति रसवदलङ्कारः ।

उत्प्रेक्षा ही होना उचित है । अतः प्राचीन ग्रन्थोंमें अदृष्ट सन्देह भेदकी कल्पना करनेकी आवश्यकता नहीं है ।

यदेतदिति । चन्द्रमाके भीतर जो यह मेघखण्ड लीला कर रहा है इसे लोग खरगोश कहते हैं, मुझे यह नहीं जँचता है । हे राजन् ! मैं तो चन्द्रमाको आपके शत्रुके वियोगसे पीडित तरुणियोंके कटाक्षरूप उल्काओंके पतनसे जो व्रण हुआ है उसके चिह्नरूप कलङ्कसे चिह्नित शरीरवाला मानता हूँ ।

इत्यत्रेति । इस पद्यमे "मन्ये" शब्दका प्रयोग होनेपर भी उक्तरूप संभा-वना (निगीर्णस्वरूपकी अन्यतादात्म्यप्रतीति) की प्रतीति न होनेसे यह वितर्क-मात्र है अपह्नुतिमूला उत्प्रेक्षा नहीं है ।

सिद्धत्वेऽध्यवसायस्यातिशयोक्तिर्निगद्यते ।

विषयनिगरणेनाभेदप्रतिपत्तिर्विषयिणोऽध्यवसायः ।

अस्य चोत्प्रेक्षायां विषयिणोऽनिश्चितत्वेन निर्देशात्साध्यत्वम् , इह तु निश्चितत्वेनैव प्रतीतिरितिसिद्धत्वम् । विषयनिगरणं चोत्प्रेक्षायां विषयस्याऽधः-करणमात्रेण, इहापि मुखं द्वितीयश्चन्द्र इत्यादौ ।

यदाहुः—

'विषयस्यानुपादानेऽप्युपादानेऽपि सूरयः ।
अधःकरणमात्रेण निगीर्णत्वं प्रचक्षते ॥' इति ।

अतिशयोक्ति लक्षयति—**सिद्धत्व इति ।** अध्यवसायस्य = आरोपस्य, सिद्धत्वे = निश्चयरूपत्वे सति, अतिशयोक्तिः = तन्नामाऽलङ्कारः, निगद्यते=कथ्यते ।

विवृणोति—**विषयेति ।** विषयनिगरणेन=विषयस्य (उपमेयस्य) निगरणेन (अधःकरणेन, स्वरूपगोपनेनेति भावः) विषयिणः=उपमानस्य, अभेदप्रतिपत्तिः = अभेदज्ञानम्, अध्यवसायः । अस्य = अध्यवसायस्य, उत्प्रेक्षायाम् = उत्प्रेक्षाऽलङ्कारे, विषयिणः = उपमेयस्य, अनिश्चितत्वेन = संशयित्वेन, निर्देशात् = व्यवस्थापनात्, साध्यत्वम् = युक्त्यादिना निष्पाद्यत्वम्, इह तु=अतिशयोक्त्यलङ्कारे तु, निश्चितत्वेनैव प्रतीतिः, इति सिद्धत्वं = स्वयमेव निष्पन्नत्वम् । उत्प्रेक्षायां, तथा, इहाऽपि = अतिशयोक्त्यलङ्कारेऽपि—"मुखं द्वितीयश्चन्द्र" इत्यादौ, विषयनिगरणं च, विषयस्य अधःकरणमात्रेण, भवतीतिभावः ।

अत्राऽर्थे प्राचीनमतं प्रदर्शयति–**विषयस्येति ।** सूरयः=आलङ्कारिकपण्डिताः, विषयस्य = यथार्थपदार्थस्य, अनुपादाने = अकथने, उपादाने = कथनेऽपि, अधःकरण-मात्रेण=स्वरूपगोपनमात्रेण, निगीर्णत्वं=विषयस्य निगरणम्, इति प्रचक्षते=कथयन्ति ।

सिद्धत्व इति । अध्यवसायके सिद्ध होनेपर अतिशयोक्ति अलङ्कार होता है ॥ ४६ ॥

विषयेति । विषय (उपमेय) के निगरण (स्वरूपगोपन)से उसका विषयी (उपमान)से अभेद ज्ञानको "अध्यवसाय" कहते हैं । उत्प्रेक्षामें विषयी (उपमेय)का अनिश्चित रूपसे निर्देश होनेसे अध्यवसाय साध्य होता है । परन्तु अतिशयोक्तिमें विषय (उपमेय) का निश्चित रूपसे प्रतीति होती है, अतः यहां अध्यवसाय सिद्ध होता है । उत्प्रेक्षामें और "मुखं द्वितीयश्चन्द्रः" इत्यादि अति-शयोक्तिमें विषय निगरण विषयके अधःकरणमात्रसे अर्थात् उसके स्वरूपगोपनसे ही हो जाता है । जैसे कि कहते हैं—**विषयस्येति ।** विद्वान् लोग विषय (यथार्थ-पदार्थ)का कथन न होनेपर और कथन होनेपर भी उसका केवल स्वरूप गोपनसे "निगरण" कहते हैं ।

भेदेऽप्यभेदः सम्बन्धेऽसम्बन्धस्तद्विपर्ययौ ॥४६॥
पौर्वापर्यात्ययः कार्यहेत्वोः सा पञ्चधा ततः ।

तद्विपर्ययौ=अभेदे भेदः, असम्बन्धे सम्बन्धः। सा=अतिशयोक्तिः। अत्र भेदेऽभेदो यथा मम—

'कथमुपरि कलापिनः कलापो विलसति ? तस्य तलेऽष्टमीन्दुखण्डम् ।
कुवलययुगलं ततो विलोलं तिलकुसुमं तदधः प्रवालमस्मात् ॥'

अतिशयोक्तेः पञ्चविधत्वं प्रतिपादयति—**भेदेऽपीति**। भेदेऽपि=भेदे सत्यपि, अभेदः = भेदस्य अभावः १, सम्बन्धेऽपि = सम्बन्धे सत्यपि, असम्बन्धः = सम्बन्धस्य अभावः २, तद्विपर्ययौ=तयोः (पूर्वोक्तयोः) विपर्ययौ (प्रतिकूलौ) यथा—अभेदेऽपि भेदः ३, असम्बन्धेऽपि सम्बन्धः४ ॥ ४६ ॥

कार्यहेत्वोः = कार्यकारणयोः, पौर्वापर्याऽत्ययः = पूर्वाऽपरभावस्य व्यत्ययः, प्राक् कारणं, पश्चात् कार्यं भवतीत्यस्य नियमस्य विपरीतत्वम्, 'प्राक् कार्यस्य पश्चात्कारणस्य कथनम् ५ इति भावः। ततश्च = कारणेभ्यः, सा = अतिशयोक्तिः, पञ्चधा = पञ्चभिः प्रकारैर्भवतीति भावः।

विवृणोति—**तद्विपर्ययाविति**। तद्विपर्ययौ = तयोः (पूर्वोक्तयोः) विपर्ययौ (प्रतिकूलौ), अभेदे भेदः, असम्बन्धे सम्बन्ध इति भावः।

भेदेऽभेदाऽध्यवसायरूपामतिशयोक्तिमुदाहरति—**कथमिति**। कस्याश्चित्सुन्दर्याः केशकलापादिवर्णनरूपं पद्यम्। उपरि = ऊर्ध्वभागे, शिरसीति भावः। कलापिनः = मयूरस्य, कलापः = बर्हम्, कथं, सुन्दर्याः केशपाशं मयूरबर्हमेव सम्भावयामीति भावः। कथमिति संभावनाऽर्थकमव्ययम्। तस्य = कलापस्य, तले=अधोभागे, "अधःस्वरूपयोरस्त्री तलम्" इत्यमरः। अष्टमीन्दुखण्डम् = अष्टम्याः (तिथेः) इन्दुखण्डं (चन्द्रशकलम्), विलसति = शोभते, कथम्? सुन्दर्या भालतलमष्टमीचन्द्रमेव संभावयामीति भावः। ततः = तस्मादधोभागे, विलोलं = चञ्चलं, कुवलययुगलं = नीलकमलयुग्मं, कथं? सुन्दर्या लोचनयुगलं नीलकमलयुग्मं

भेद इति। भेदके होनेपर भी अभेद १ सम्बन्ध होने पर भी असम्बन्ध २ उन दोनोंके प्रतिकूल अर्थात् अभेदके होने पर भी भेद ३ तथा असम्बन्धके होनेपर भी सम्बन्ध ४, इसी तरह कार्य और कारणका पूर्वाऽपर भावका अतिक्रमण अर्थात् पहले कार्यका पीछे कारणका कथन ५, इसप्रकार अतिशयोक्ति अलङ्कारके पाँच भेद होते हैं ॥ ४७ ॥

भेदमें अभेदका उदाहरण जैसे—**कथमिति**। ऊपर मोरका पंख शोभित हो रहा है उसके नीचे अष्टमीका चन्द्रखण्ड, उसके नीचे चञ्चल दो नीलकमल हैं, उनके नीचे तिलका फूल है और उसके नीचे मूँगा किस तरह शोभित हो रहा है ? ॥

अत्र कान्ताकेशपाशादेर्मयूरकलापादिभिरभेदेनाध्यवसायः । यथा वा—'विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्' । अत्र चेतनगतमौनित्वमन्यत्, अचेतनगतं चान्यदिति द्वयोर्भेदेऽप्यभेदः ।

एवम्—

'सहाधरदलेनास्या यौवने रागभाक्प्रियः ।'

अत्राधरस्य रागो लौहित्यम्, प्रियस्य रागः प्रेम, द्वयोरभेदः ।

संभावयामीति भावः । ततः=तस्य (कुवलययुगलस्य) अधः=(निम्नभागे) तिलकुसुमं= तिलपुष्पं, कथं ? सुन्दर्या नासिकां तिलकुसुमं संभावयामीति भावः । अस्मात् = तिलकुसुमात्, अधश्च = निम्नभागे च, प्रवालं = विद्रुमः, कथं ? सुन्दर्या ओष्ठं च प्रवालमेव संभावयामीति भावः । पुष्पिताग्रा वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्पद्ये, कान्ताकेशपाशादेः = कान्तायाः (सुन्दर्याः) केशपाशादेः = कचकलापादेः, आदिपदेन माललोचननासिकौष्ठस्य परामर्शः, मयूरकलापादिभिः = बर्हिणबर्हप्रभृतिभिः, अभेदेन परामर्शः । आदि पदेनाऽष्टमीन्दुखण्ड–कुवलययुगल–तिलकुसुम–प्रवालानां परामर्शः ।

प्राचीनमुदाहरणं प्रदर्शयति—**यथा वेति** । **विश्लेषदुःखादिवेति** । (पृ० १९३) । अन्यत् = अपरम् । द्वयोः = चेतनगतमौनित्वस्य अचेतनगतमौनित्वस्य च, भेदेऽप्यभेदः ।

अन्यदुदाहरणं दर्शयति—**सहेति** । प्रियः = वल्लभः, यौवने = तारुण्ये, अस्याः = नायिकायाः, अधरदलेन = ओष्ठपल्लवेन, सह = समं, रागं = लौहित्यम्, अनुरागं च भजतीति रागभाक्, "भजो ण्विः" इति ण्विः । अस्या अधरबिम्बं यथा रक्तं तथैव प्रियोऽपि रक्तः (अनुरक्तः) इति भावः । "रागस्तु मात्सर्ये लोहितादिषु । क्लेशादावनुरागे च गान्धारादौ नृपेऽपि च ।" इति मेदिनी ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र लौहित्याऽनुरागयोर्भेदेऽपि रागशब्दश्लेषेण प्रिये यथार्थस्याऽनुरागरूपरागस्य, प्रियेऽयथार्थेन लौहित्यलक्षणरागरूपेण संभावनया अभेदाऽध्यवसायादतिशयोक्तिः ।

अत्रेति । इस पद्यमें सुन्दरीके केशपाश आदिका मोरके पंख आदिकोंसे अभेदसे अध्यवसाय है । अथवा—"विश्लेषदुःखादिव बद्धमौनम्" मानो तुम्हारे चरण कमलके वियोगके दुःखसे मौन धारण किया हुआ है । यहां चेतनका और अचेतनका मौन भिन्न-भिन्न होता है, अर्थात् समान नहीं होता है अतः दोनोंके भेदमें भी अभेद है । इसी तरह—**सहेति** । इस (सुन्दरी)के यौवन कालमें प्रिय अधरपल्लव के साथ रागयुक्त है । यहाँ अधरका राग लाल है, प्रियका राग (अनुराग) है, इसप्रकार अर्थगत भेद होनेपर भी शब्दतः अभेद है ।

अभेदे भेदो यथा—

'अन्यदेवाङ्गलावण्यमन्याः सौरभसम्पदः ।
तस्याः पद्मपलाशाक्ष्याः सरसत्वमलौकिकम् ॥'

सम्बन्धेऽसम्बन्धो यथा—

'अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः,
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो न पुष्पाकरः ।

अभेदे भेदाऽध्यवसायरूपामतिशयोक्तिमुदाहरति—**अन्यदेवेति** । कस्याश्चित् सुन्दर्या अङ्गलावण्यादिवर्णनपरकं पद्यमिदम्, तस्याः = पूर्वाऽनुभूतायाः, पद्मपलाशाक्ष्याः = पद्मपलाशे (कमलपत्त्रे) इव अक्षिणी (नेत्रे) यस्यास्तस्याः सुन्दर्याः । अङ्गलावण्यम् = अङ्गानां (देहाऽवयवानाम्) लावण्यम् (सौन्दर्यम्), अन्यत् एव = इतरनायिकालावण्याद्भिन्न एव । सौरभसम्पदः = निःश्वाससौगन्ध्यसमृद्धयः, अन्याः = इतरनायिकासौरभसम्पत्तिविलक्षणाः, सरसत्वं च=रसिकत्वं च, अलौकिकं= लोकविलक्षणम् । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

अत्र वर्ण्यमानायाः सुन्दर्या अङ्गलावण्यादीनामितरनायिकाया अङ्गलावण्यसजातीयत्वेनाऽभेदेऽपि अनितरसाधारणलावण्यादिरूपेण संभावनया भेदाऽध्यवसायादतिशयोक्तिः ।

सम्बन्धेऽसम्बन्धाऽध्यवसायरूपामतिशयोक्तिमुदाहरति—**अस्या इति** । विक्रमोर्वशीत्रोटक उर्वशीदर्शनोत्तरं पुरूरवस उक्तिरियम् । अस्याः = उर्वश्याः, सर्गविधौ = सृष्टिविधाने, कान्तिप्रदः = सौन्दर्यविधायकः, चन्द्रः=इन्दुः, प्रजापतिः = सृष्टिकर्ता, अभूत् नु = अभवत् किम् ? अथ वा शृङ्गारैकरसः = शृङ्गारः (आदिरसः) एव एकः (प्रधानम्) रसः यस्य सः तादृशः, स्वयं, मदनः = कामदेवः, प्रजापतिः = सृष्टिकर्ता, अभूत् किं ? अथ वा = यद्वा, पुष्पाकरः = कुसुमाकरः, मासः, चैत्र इति भावः, प्रजापतिः, अभूत् किम् ? चन्द्रस्य, मदनस्य पुष्पाकरस्य (चैत्रस्य) वा

अभेदमें भेद जैसे—**अन्यदिति** । पद्मपत्रोंके समान नेत्रोंवाली उस (सुन्दरी)के अङ्गका लावण्य अन्य ही है और उसकी निःश्वाससौगन्ध्य–सम्पत्तियाँ अन्य ही है तथा सरसत्व भी अलौकिक (असाधारण) है ।

यहाँ वर्णनविषय सुन्दरीके अङ्गलावण्य आदिकोंके अन्य नायिकाके अङ्गलावण्य आदिकोंके सजातीय होनेसे अभेद होनेपर भी असाधारण अङ्गलावण्यादि रूपसे संभावनासे भेदमें अध्यवसाय होनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

सम्बन्धमें असम्बन्ध जैसे—**अस्या इति** । उर्वशीको देखनेपर राजा पुरूरवाकी उक्ति है । इस (उर्वशी)के सृष्टिविधानमें सौन्दर्यके विधायक चन्द्रमा ब्रह्माजी हुए थे क्या ? अथवा शृङ्गाररूप मुख्य रसवाले कामदेव ब्रह्माजी हो गये थे क्या ?

वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन्मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः ? ॥'

अत्र पुराणप्रजापतिनिर्माणसम्बन्धेऽप्यसम्बन्धः ।

असम्बन्धे सम्बन्धो यथा—

'यदि स्यान्मण्डले सक्तमिन्दोरिन्दीवरद्वयम् ।
तदोपमीयते तस्या वदनं चारुलोचनम् ॥'

प्रजापतित्वाऽभावे, वेदाभ्यासजडः = वेदाऽभ्यासेन (सततं श्रुतिपरिशीलनेन) जडः (शृङ्गारादिविषये बालिशः), विषयव्यावृत्तकौतूहलः = विषयेभ्यः (शब्दस्पर्शादि-भोग्यपदार्थेभ्यः) व्यावृत्तं (निवृत्तम्) कौतूहलं (कौतुकम्) यस्य सः, पुराणः = प्राचीनः, मुनिः = प्रजापतिः, इदं = मत्सन्निकृष्टस्थं, मनोहरं = चित्ताकर्षकं, रूपं = सौन्दर्यं, निर्मातुं = रचयितुं, कथं = केन प्रकारेण, प्रभवेत् = शक्नुयात् ? सौन्दर्याऽनभिज्ञो जनः कथं सुन्दरपदार्थं रचयितुं प्रभवतीति भावः । शार्दूल-विक्रीडितं वृत्तम् ।

विवृणोति—अत्र = अस्मिन् पद्ये, पुराणेत्यादिः० = पुराणस्य (प्राचीनस्य) प्रजापतेः (सृष्टिकर्तुः, ब्रह्मदेवस्येति भावः) । निर्माणसंभवेऽपि (उर्वशीरूपरचना-संभवेऽपि), असम्बन्धः = असम्बन्धाऽध्यवसायः, अतोऽतिशयोक्तिरलङ्कारः ।

असम्बन्धे सम्बन्धाऽध्यवसायरूपामतिशयोक्तिमुदाहरति—यदीति । कस्याश्चि-न्नायिकाया वदनप्रशंसापरकं पद्यमिदम् । इन्दोः = चन्द्रमसः, मण्डले = चक्रवाले, इन्दीवरद्वयं = नीलकमलद्वितयं, सक्तं = कुतोऽपि हेतोः संलग्नं, स्याद्यदि=भवेच्चेत्, तदा = तर्हि, चारुलोचनं = चारुणी (सुन्दरे) लोचने (नयने) यस्मिंस्तत् । तादृशं, तस्याः = नायिकायाः, वदनं = मुखम्, उपमीयते = उपमाविषयीक्रियते ।

अथवा कुसुमाकर (वसन्त) मास ही ब्रह्माजी हुए थे क्या ? वेदके अभ्यासमें जड़ तथा शब्द स्पर्श आदि भोग्य पदार्थोंके प्रति कौतूहलसे रहित प्राचीन मुनि ब्रह्माजी इस रूपके निर्माणमें कैसे समर्थ होंगे ?

यहाँ, उर्वशीकी रचनामें प्राचीन प्रजापति ब्रह्माजीका सम्बन्ध रहनेपर भी असम्बन्धका वर्णन करनेसे अतिशयोक्ति अलङ्कार है ।

असम्बन्धमें सम्बन्ध जैसे—यदीति । चन्द्रमण्डलमें दो नील कमल संलग्न हों तो उस (सुन्दरी)का सुन्दर नेत्रोंवाला मुख उपमित होगा ।

अत्र यद्यर्थबलादाहृतेन सम्बन्धेन सम्भावनया सम्बन्धः। कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययश्च द्विधा भवति। कारणात्प्रथमं कार्यस्य भावे, द्वयोः समकालत्वे च।

क्रमेण यथा—

'प्रागेव हरिणाक्षीणां चित्तमुत्कलिकाकुलम्।
पश्चादुद्भिन्नबकुलरसालमुकुलश्रियः ॥'

विवृणोति—अत्रेति। अत्र = अस्मिन्पद्ये, यद्यर्थबलात् = यद्यर्थसामर्थ्यात् आहृतेन = आनीतेन, सम्बन्धेन = संयोगसम्बन्धेन, सम्भावनया = अध्यवसायेन सम्बन्धः। गृह्यत इति शेषः। चन्द्रालोककारस्य पीयूषवर्षस्य मते तु संभावनाऽलङ्कारः। यथोक्तं चन्द्रालोके लक्षणमुदाहरणं च—

"संभावनं यदीत्थं स्यादित्यूहोऽन्यप्रसिद्धये।
सिक्तं स्फटिककुड्याऽन्तःस्थितश्चेन्नीकृतैर्जलैः॥
मौक्तिकं चेल्लतां सूते, तत्पुष्पैस्ते समं यशः। (चन्द्रा० ५–४८।)

अतिशयोक्तौ कार्यहेत्वोः पौर्वापर्याऽत्ययस्य द्वैविध्यमाह—कार्येति। कार्यकारणयोः = कार्यहेत्वोः, पौर्वापर्यविपर्ययश्च=पूर्वाऽपरभावविपर्यासश्च, द्विधा भवति= प्रकारद्वयेन विद्यते—कारणात् = हेतोः, प्रथमं = प्राक्, कार्यस्य भावे = सत्त्वे, अयमेकः प्रकारः। द्वयोः = उभयोः, कार्यकारणयोरिति भावः, समकालत्वेन = तुल्यसमयत्वेन, अयं द्वितीयः प्रकारः।

कारणात्पूर्वं कार्योत्पत्तिरूपामतिशयोक्तिमुदाहरति—प्रागेवेति। हरिणाक्षीणां = हरिणस्य (मृगस्य) इव अक्षिणी (नेत्रे) यासां तासां सुन्दरीणां, चित्तं= मानसं, प्रागेव = प्रथममेव, उत्कलिकाकुलम् = उत्कलिकया (सुरतस्योत्कण्ठया) आकुलं (विह्वलम्), पश्चात् = अनन्तरम्, उद्भिन्नेत्यादिः० = उद्भिन्नानाम् (उत्फुल्लानाम्) बकुलरसालानां (केसराम्राणाम्) ये मुकुलाः (कुड्मलाः) तेषां श्रियः (शोभाः) प्रादुर्भवन्तीति शेषः। अनुष्टुब्वृत्तम्।

यत्रेति। यहाँ "यदि" शब्दके अर्थबलसे लाये गये संयोग सम्बन्धसे सम्भावनासे सम्बन्ध वर्णित है।

कार्यकारणयोरिति। कार्य और कारणका पूर्वाऽपरभावका विपर्यास दो प्रकारोंसे हो सकता है। कारणसे पहले कार्य होनेमें और कार्य तथा कारण दोनोंका एक ही समयमें होनेमे। क्रमसे जैसे—

प्रागेवेति। मृगनयनाओंका चित्त पहले ही उत्कण्ठासे आकुल हो गया। पीछे खिले हुए मौलसिरी और आमोंके मुकुलोंकी शोभाएँ उत्पन्न हो गईं।

मौलसिरी और आमोंके विकसित मुकुल स्त्रियोंके चित्तमें सुरतकी उत्कण्ठामें हेतु हैं, परन्तु यहाँ उनसे पहले ही स्त्रियोंकी रमणकी उत्कण्ठाके उत्पन्न होनेसे

'सममेव समाक्रान्तं द्वयं द्विरदगामिना ।
तेन सिंहासनं पित्र्यं मण्डलं च महीक्षिताम् ॥'

इह केचिदाहुः—'केशपाशादिगतो लौकिकोऽतिशयोऽलौकिकत्वेनाध्यवसीयते। केशपाशादीनां कलापादिभिरध्यवसाये 'अन्यदेवाङ्गलावण्यम्' इत्यादिप्रकारेष्वव्याप्तिर्लक्षणस्य' इति ।

बकुलाश्रयोः प्रफुल्लमुकुलाः स्त्रीणां चित्ते सुरतोत्पत्तौ हेतवः परमत्र तेभ्यः प्रागेव सुरतोत्कण्ठारूपकार्यस्योत्पत्तेः कारणात्पूर्वं कार्योत्पत्तिरूपाऽतिशयोक्तिः ।

कार्यकारणयोः समकालोत्पत्तिरूपामतिशयोक्तिमुदाहरति— **सममेवेति ।** रघुवंशस्य चतुर्थसर्गस्थं रघुवर्णनपरकं पद्यमिदम् । द्विरदगामिना= द्विरद इव गच्छतीति तेन, "कर्तर्युपमाने" इति णिनिः, गजवन्मन्दगमनशीलेन इत्यर्थः । अथवा—द्विरदेन गच्छतीति तच्छीलस्तेन । हस्त्यारोहिणा, तेन=रघुणा, पित्र्यं=पितुरागतं, "पितुर्यत्" इति यत्प्रत्ययः, सिंहासनं = सौवर्णासनम्, अखिलं = समस्तं, महीक्षितां = राज्ञां, मण्डलं च = राष्ट्रं च, एतद्द्वयं, सममेव = युगपदेव, समाक्रान्तम् = अधिष्ठितं, गृहीतं वशीकृतं चेति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

अत्र पित्र्यसिंहासनारोहणस्य कारणत्वेन पूर्वभावित्वं, महीक्षिन्मण्डलारोहणस्य कार्यत्वेन पश्चाद्भावित्वं, परं कवेः प्रौढोक्तेः कारणकार्ययोः समकालभावित्वेनाऽध्यवसायात् कार्यहेत्वोः पौर्वापर्यविपर्ययरूपाऽतिशयोक्तिः ।

मतान्तरमुपस्थाप्य तन्निरस्यति—**इहेति ।** इह = अस्याम्, अतिशयोक्तौ । केचित् = आलङ्कारिकाः रुय्यकादयः इति भावः आहुः = कथयन्ति । "कथमुपरि कलापिनः कलाप" इत्यत्र, लौकिकः = लोककेशसाधारणः, अतिशयः = सौन्दर्यम् । अलौकिकत्वेन = लोकविलक्षणकलापनिष्ठसौन्दर्याऽतिशयत्वेन, अध्यवसीयते = अध्यवसायविषयीक्रियते । केशपाशादीनां कलापादिभिः सह, अध्यवसाये = अभेदाऽ-

---

कारणसे पहले कार्यकी उत्पत्ति हुई है । अतः यह कार्यकारणोंका पौर्वापर्यव्यतिक्रमका पहला उदाहरण है ।

सममेवेति । हाथीके समान वा हाथीपर सवारी करनेवाले महाराज रघुने पिताका सिंहासन और राजमण्डल दोनोंको एक ही बार अधिकारमें कर लिया ।

यहाँ रघुका पिताके सिंहासनमें आरोहण कारण है और राजमण्डलको अधिकारमें ले लेना कार्य है अतः कार्य और कारण दोनोंका एक ही कालमे होनेका अध्यवसान करनेसे यह दूसरा उदाहरण है ।

इह केचिदिति । यहाँ कोई विद्वान् (अलङ्कारसर्वस्वकार आदि) कहते हैं—केशपाश आदिकों का लौकिक अतिशय अलौकिक भावसे अध्यवसित होता है । केशपाश आदिकोंका कलाप आदिकोंसे अध्यवसायमें "अन्यदेवाऽङ्गलावण्यम्" इत्यादि भेदोंमें लक्षणकी अव्याप्ति (अप्रसक्ति) होगी" यह ठीक नही ।

तन्न, तत्रापि ह्यन्यदङ्गलावण्यमन्यत्वेनाध्यवसीयते। तथाहि 'अन्यदेव' इति स्थाने 'अन्यदिव' इति पाठेऽध्यवसायस्यासाध्यत्वमेवेत्युत्प्रेक्षाङ्गीक्रियते। 'प्रागेव हरिणाक्षीणाम्—' इत्यत्र बकुलादिश्रीणां प्रथमभावितापि पश्चाद्भावित्वेनाध्यवसिता, अत एवात्रापीवशब्दप्रयोगे उत्प्रेक्षा। एवमन्यत्र।

पदार्थानां प्रस्तुतानामन्येषां वा यदा भवेत् ॥ ४७ ॥
एकधर्माभिसम्बन्धः स्यात्तदा तुल्ययोगिता।

अन्येषामप्रस्तुतानाम्। धर्मो गुणक्रियारूपः।

ध्यवसायेऽभिमतेऽपीति भावः। "अन्यदेवाऽङ्गलावण्यम्" इत्यादिप्रकारेषु=अव्याप्तिलक्षणस्य = आरोप्यमाणारोपविषयलावण्ययोर्भेदाऽभावादिति भावः।

अयं भावः। उपमेयपदार्थस्योपमानपदार्थतादात्म्ये एवाऽध्यवसायरूपोत्थापनम्। इह चाऽन्यादिशब्दाख्यं लावण्यादेः किमपि प्रतिनिधिवस्त्वन्तर नाऽस्ति। तदेवमादिषूदाहरणेषु लक्षणस्याऽव्याप्तिरित्याशङ्कायां सिद्धान्तमाह—**तन्नेति।** तत्रापि = "अन्यदेवाऽङ्गलावण्यम्" इत्यत्राऽप्यध्यवसायस्य सिद्धत्वमेव। **तथाहीति।** "अन्यदेवे"तिस्थान "अन्यदिवे"ति पाठेऽध्यवसायस्य साध्यत्वमेवेत्युत्प्रेक्षाऽङ्गीक्रियते। "प्रागेव हरिणाक्षीणाम्" इत्यत्राऽपि बकुलादिक्षीणां प्रथमभाविताऽपि पश्चाद्भावित्वेन अध्यवसिता। अत एवेत्यादि। एवम् = उक्तदिशा।

तुल्ययोगिताऽलङ्कारं लक्षयति—**पदाऽर्थानामिति।** प्रस्तुतानां=प्राकरणिकानां, पदार्थाना=वस्तूनाम्, बहुवचनमतन्त्रम्, वा=अथवा, अन्येषाम्=अप्रस्तुतानां पदार्थानां, यदा = यत्, एकधर्माऽभिसम्बन्धः = एकस्मिन्धर्मे (गुणक्रियारूपे) अभिसम्बन्धः, स्यात् यदि= भवेच्चेत्, तदा=तर्हि, तुल्ययोगिता = तन्नामकोऽलङ्कारः, भवेदिति भावः॥ ४७॥

विवृणोति—**अन्येषामिति।**

तत्राऽपीति। वहाँ भी अन्य अङ्गलावण्यका अन्यत्वसे अध्यवसाय होता है। जैसे कि—"अन्यदेव" इसके स्थानमे "अन्यादिव" ऐसे पाठमे अध्यवसाय साध्य होता है, अतः वहाँ उत्प्रेक्षामानी जाती है। "प्रागेव हरिणाक्षीणाम्" यहाँपर बकुल आदिकी शोभाका पहले होनेपर भी पीछे होनेके भावसे अध्यवसित है। अत एव यहाँ भी इव शब्दके प्रयोगमें उत्प्रेक्षा होती है। इसी तरह अन्यत्र भी जानना चाहिए।

पदाऽर्थानामिति। प्रस्तुत (प्राकरणिक) वा अप्रस्तुत (अप्राकरणिक) पदार्थोंका जब एक धर्म (गुण वा क्रिया)से अभिसम्बन्ध हो तो "तुल्ययोगिता" अलङ्कार होता है॥ ४८॥

उदाहरणम्—

'अनुलेपनानि कुसुमान्यबलाः
कृतमन्यवः पतिषु दीपदशाः ।
समयेन तेन सुचिरं शयित-
प्रतिबोधितस्मरमबोधिषत ॥

अत्र सन्ध्यावर्णनस्य प्रस्तुतत्वात्प्रस्तुतानामनुलेपनादीनामेकबोधनक्रियाभिसम्बन्धः।

प्रस्तुतैः प्रस्तुतानामेकक्रियासम्बन्धे तुल्ययोगितामुदाहरति—**अनुलेपनानीति** । शिशुपालवधमहाकाव्यस्य नवमसर्गस्थं सन्ध्यावर्णनमिदम् ।

तेन = पूर्वोक्तेन, समयेन = कालेन, कर्तृरूपेण प्रदोषकालनेति भावः । अनुलेपनानि = कुङ्कुमचन्दनादीनि, कुसुमानि = पुष्पाणि, तथा पतिषु = वल्लभेषु, कृतमन्यवः = विहितकृत्रिमकोपाः, अबलाः = प्रमदाः, तथा दीपदशाः = प्रदीपवर्तिकाश्च, "दीपशिखा" इति निर्णयसागरमुद्रितशिशुपालवधपाठस्तत्र प्रदीपज्वालाश्चेत्यर्थः । एतानि सर्वाणि सुचिरं=बहुकालपर्यन्तं, शयितप्रतिबोधितस्मरं = शयितः (पूर्वं सुप्तः निवृत्तव्यापार इति भावः) पश्चात्प्रतिबोधितः (जागरितः प्रवृत्तव्यापार इति भावः) स्मरः (कामः) यस्मिन्कर्मणि तद्यथा तथेति क्रियाविशेषणम् । अबोधिषत= बोधितानि । "समयेन तेन चिरसुप्तमनोभवबोधनं सममबोधिषते"ति निर्णयसागरमुद्रितपाठस्तत्र चिरं सुप्तस्य (पूर्वं स्तब्धस्य) मनोभवस्य (कामस्य) बोधनम् (उद्दीपनम्) यस्मिन्कर्मणि, तद्यथा तथा, तत्पूर्वकमित्यर्थः । समं=सहैव, अबोधित= बोधितानि, "बुध अवगमने" इति धातोर्ण्यन्तात्कर्मणि लुङ् । प्रमिताक्षरा वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । प्रस्तुतानां = प्रकरणोपात्तानाम्, रसिकानाम् अनुलेपनादीनां, प्रदोषकालोपकरणत्वादिति भावः । एकबोधनक्रियाऽभिसम्बन्धः=एकस्यां बोधनक्रियायाम्, अभिसम्बन्धः = कर्मतासम्बन्धेन सम्बन्ध इति भावः ।

अनुलेपनानीति । उस (सन्ध्या) कालने कुङ्कुम चन्दन आदि अनुलेपन, फूल और पतिमें प्रणयकोप करनेवाली महिलाएँ और दीपोंकी बत्तियोंको बहुत कालतक जैसे कामदेव पहले सोकर पीछे प्रबुद्ध हो उस तरह प्रतिबोधित किया ।

अत्रेति । इस पद्यमें सायंकालका वर्णन प्रस्तुत होनेसे प्रस्तुत अनुलेपन आदिकोका बोधन-क्रियारूप एकधर्मसे अभिसम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अलङ्कार है ।

'तदङ्गमार्दवं द्रष्टुः कस्य चित्ते न भासते ।
मालतीशशभृल्लेखाकदलीनां कठोरता ॥'

इत्यत्र मालत्यादीनामप्रस्तुतानां कठोरतारूपैकगुणसम्बन्धः ।

एवम्—

'दानं वित्तादृतं वाचः, कीर्त्तिधर्मौ तथायुषः ।
परोपकरणं कायादसारात्सारमाहरेत् ॥'

प्रस्तुतानामेकगुणाऽभिसम्बन्धे तुल्ययोगितामुदाहरति—**तदङ्गमार्दवमिति** । कश्चिद्युवा कस्याश्चित्सुन्दर्या अङ्गमार्दवं वर्णयति—तदङ्गमार्दवं=तस्याः (सुन्दर्याः) अङ्गानां (देहाऽवयवानाम्) मार्दवं (मृदुत्वम्), द्रष्टुः = दर्शकस्य, कस्य=जनस्य, चित्ते = मानसे, मालती-शशभृल्लेखाकदलीनां = मालत्याः (जातीपुष्पस्य) शशभृल्लेखायाः (चन्द्ररेखायाः) कदल्याश्च (रम्भायाश्च), कठोरता = कठिनता, न न भासते = न प्रकाशते । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—इत्यत्र = "त्वदङ्गमार्दवम्" इति पद्ये, अन्येषाम्=अप्रस्तुतानां=मालत्यादीनां, नायिकाऽङ्गवर्णनस्यैव प्रस्तुतत्वादिति भावः । कठोरतारूपैकगुणसम्बन्धः = कठोरतारूपे एकस्मिन्गुणे सम्बन्धः ।

गुणक्रियोभयाऽभिसम्बन्धे तुल्ययोगितामुदाहरति—**दानमिति** । असारात् = अल्पसारात्, अत्राऽनुदरा कन्येतिवत् अल्पार्थे नञ् । वित्तात् = धनात्, सारं = स्थिरांऽशरूपं, दानं = वितरणम्, आहरेत् = उद्धरेत्, असारायाः = अल्पसारायाः, वाचः = वचनात्, सारम्, ऋतं = सत्यम्, आहरेत् । तथा असारात् = अल्पसारात्, आयुषः = जीवितकालात्, सारौ = कीर्तिधर्मौ = यशःसुकृते, आहरेत् । असारात्, कायात् = सारात्, सारं, परोपकरणं = परोपकारम्, आहरेत् = उद्धरेत्, अनुष्टुब्वृत्तम् ।

त्वदङ्गमार्दवमिति । उस (सुन्दरी)के अङ्गकी कोमलताको देखनेवाले किस पुरुषके चित्तमें चमेलीका फूल, चन्द्ररेखा और कदली (केला)की कठोरता प्रतीत नहीं होती है ?

इत्यत्रेति । यहाँपर मालती (चमेली) आदि अप्रस्तुत पदार्थोंका कठोरता रूप एक गुणका सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता है ।

इसी तरह—**दानमिति** । असार धनसे साररूप दानको, असार वाणीसे साररूप सत्यको, असार आयुसे साररूप कीर्ति और धर्मको और असार शरीरसे साररूप परोपकारको ग्रहण करे ।

अत्र दानादीनां कर्मभूतानां सारतारूपैकगुणसम्बन्ध एकाहरणक्रियासम्बन्धः।

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकं तु निगद्यते ॥ ४८ ॥

अथ कारकमेकं स्यादनेकासु क्रियासु चेत् ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'बलावलेपादधुनापि पूर्ववत्
प्रबाध्यते तेन जगज्जिगीषुणा ।
सतीव योषित्प्रकृतिश्च निश्चला
पुमांसमभ्येति भवान्तरेष्वपि ॥'

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्पद्ये, दानादीनां = कर्मभूतानां, सारतारूपैकगुणसम्बन्धः=सारतारूपे, एकस्मिन्गुणे सम्बन्धः । एकाहरणक्रियासम्बन्धः = एकस्याम् आहरणक्रियायां सम्बन्धः ।

दीपकाऽलङ्कारं लक्षयति—**अप्रस्तुतप्रस्तुतयोरिति** । अप्रस्तुतप्रस्तुतयोः पदार्थयोः, एकधर्माऽभिसम्बन्ध इति पदं पूर्वकारिकाया अनुवर्तते । एकस्मिन्धर्मे (गुणक्रियारूपे) अभिसम्बन्धो दीपकं निगद्यते = अभिधीयते ॥ ४८ ॥

अयमेको दीपकालङ्कारस्य भेदः । दीपकस्य द्वितीयं भेदमाह—**अथेति** । अथवा अनेकासु क्रियासु एकं कारकं, चेत्=यदि, तर्हि दीपकं, दीपकाऽलङ्कारः । अयं द्वितीयो दीपकाऽलङ्कारस्य भेदः ।

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोरेकधर्माऽभिसम्बन्धे दीपकमुदाहरति—**बलावलेपादिति** । शिशुपालवधस्य प्रथमसर्गस्थं पद्यमिदम् । भगवन्तं श्रीकृष्णं प्रति देवर्षेर्नारदस्य शिशुपालविषयोक्तिरियम् । हे भगवन् ! जिगीषुणा = जेतुमिच्छुना, तेन=शिशुपालेन, बलाऽवलेपात् = बलस्य (शक्तेः) अवलेपात् (दर्पात्) । पूर्ववत् = पूर्वजन्मनि इव, "तत्र तस्येवे"ति वतिप्रत्ययः । जगत् = लोकः, प्रबाध्यते = अत्यर्थं पीड्यते ।

कथमित्यत्राह—**सतीति** । सती = पतिव्रता, योषित् = स्त्री, निश्चला = सुस्थिरा, प्रकृतिश्च = स्वभावश्च, भवान्तरेष्वपि = जन्मान्तरेष्वपि, पुमांसं = पुरुषम्, अभ्येति = प्राप्नोति । वंशस्थं वृत्तम् ।

अत्रेति । यहाँ कर्मभूत दान आदिकोंका सारतारूप एक गुणसे तथा आहरणरूप एक क्रियासे सम्बन्ध होनेसे तुल्ययोगिता अलङ्कार है ।

अप्रस्तुतप्रस्तुतयोरिति । अप्रस्तुत और प्रस्तुतका पदार्थ एक धर्मसे सम्बन्ध हो अथवा अनेक क्रियाओंमें एक कारक हो तो दीपक अलङ्कार होता है ॥ ४९ ॥

क्रमसे उदाहरण—**बलाऽवलेपादिति** । नारदजी श्रीकृष्णसे कहते हैं । जीतनेकी इच्छा करनेवाला वह (शिशुपाल) बलके घमण्डसे पहलेकी तरह जगत्को पीडित कर रहा है, पतिव्रता स्त्री और स्थिर प्रकृति अन्य जन्मोंमें भी पुरुषके पास जाती है ।

अत्र प्रस्तुतायाः निश्चलायाः प्रकृतेरप्रस्तुतायाश्च सत्या योषित एकानुगमनक्रियासम्बन्धः ।

'दूरं समागतवति त्वयि जीवनाथे
भिन्ना मनोभवशरेण तपस्विनी सा ।
उत्तिष्ठति स्वपिति वासगृहं त्वदीय-
मायाति याति हसति श्वसिति क्षणेन ॥'

इदं मम । अत्रैकस्या नायिकाया उत्थानाद्यनेकक्रियासम्बन्धः । अत्र च गुणक्रिययोरादिमध्यावसानसद्भावेन त्रैविध्यं न लक्षितम्, तथाविधवैचित्र्यस्य सर्वत्रापि सहस्रधासम्भवात् ।

विवृणोति—अत्रेति । अत्र = अस्मिन्पद्ये, प्रस्तुतायाः = प्राकरणिक्याः, निश्चलायाः = सुस्थिरायाः, प्रकृतेः, अप्रस्तुतायाश्च = अप्राकरणिक्याश्च, सत्याः = पतिव्रतायाः, योषितश्च = स्त्रियाश्च, एकाऽनुगमनक्रियासम्बन्धः=एकस्याम् अनुगमनक्रियायां सम्बन्धः ।

अनेकक्रियास्वेककारकरूपं दीपकमुदाहरति—दूरमिति । नायकं प्रति नायिकासख्या नायिकादशावर्णनरूपोक्तिरियम् । पद्यमिदं विश्वनाथकविराजस्य । हे महोदय ! जीवनाथे = प्राणनाथे, त्वयि = भवति, दूरं = विप्रकृष्टदेशं, समागतवति=संप्राप्तवति सति । मनोभवशरेण = कामबाणेन, भिन्ना = विदीर्णा, अत एव, तपस्विनी = शोचनीया, सा = भवत्प्रिया, क्षणेन = अल्पकालेनैव, उत्तिष्ठति = उत्थानं करोति । स्वपिति = शेते, त्वदीयं = भवदीयं, वासगृहं = गर्भागारम्, आयाति = आगच्छति, याति = गच्छति, हसति = हासं करोति, श्वसिति च = श्वासान्मुञ्चति च । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

विवृणोति—इदं ममेति । अत्र = अस्मिन्पद्ये, एकस्या नायिकायाः कर्तृत्वेनोत्थानाद्यनेकक्रियाऽभिसम्बन्धः । अत्र चेति । सर्वत्राऽपि = सर्वेष्वलङ्कारेष्वपि ।

अत्रेति । इस पद्यमे प्रस्तुत निश्चल प्रकृतिकी और अप्रस्तुत सती स्त्रीका एक ही अनुगमन क्रियाके साथ सम्बन्ध है ।

दूरमिति । नायकको दूती कहती है—हे महाशय ! प्राणनाथ आपके दूर जानेपर कामबाणसे विदीर्ण वह वेचारी थोड़े ही समयमे कभी उठती है, कभी लेटती है और आपके कमरेमे आती है, जाती है हँसती है और लम्बी साँसें लेती है ।

इदंममेति । यह ग्रन्थकारका पद्य है ! इसमें एक नायिकाका कर्तृकारकरूपसे उत्थान आदि अनेक क्रियाओंके साथ सम्बन्ध है । दीपक अलङ्कारका यह दूसरा उदाहरण है ।

प्रतिवस्तूपमा सा स्याद्वाक्ययोर्गम्यसाम्ययोः ॥ ४९ ॥
एकोऽपि धर्मः सामान्यो यत्र निर्दिश्यते पृथक् ।

यथा—

'धन्यासि वैदर्भि ! गुणैरुदारैर्यया समाकृष्यत नैषधोऽपि ।
इतः स्तुतिः का खलु चन्द्रिकाया यदब्धिमप्युत्तरलीकरोति ॥'

अत्र समाकर्षणमुत्तरलीकरणं च क्रियैकैव पौनरुक्त्यनिरासाय भिन्नवाचकतया निर्दिष्टा ।

प्रतिवस्तूपमां लक्षयति—**प्रतिवस्तूपमेति** । गम्य-साम्ययोः = गम्यं (प्रतीयमानम्) साम्यं (सादृश्यम्) ययोस्तयोः, तादृशयोः वाक्ययोः ॥ ४९ ॥ एकोऽपि = अभिन्नोऽपि, सामान्यः = साधारणः, धर्मः = गुणक्रिययोरन्यतरः, यत्र = यद्, पृथक् = भिन्नशब्दाभ्यां, निर्दिश्यते = निर्देशविषयीक्रियते, सा, प्रतिवस्तूपमा = अलङ्कारः, स्यात् = भवेत् ।

प्रतिवस्तूपमामुदाहरति—**धन्याऽसीति** । नैषधीयचरितस्य तृतीयसर्गस्थं पद्यम् । दमयन्तीं प्रति हंसस्योक्तिरियम् । हे वैदर्भि = हे विदर्भराजकुमारि ! दमयन्ति ! त्वं, धन्या = धनं लब्ध्री, कृतार्थेति भावः । "धनगणं लब्धे"ति यत् । असि, कुतः ? यया=त्वया, उदारैः=उत्कृष्टैः, गुणैः=सौन्दर्यशीलादिभिः, नलोऽपि = नैषधोऽपि, समाकृष्यत=सम्यगाकृष्टः, वशीकृत इति भावः । तथा च—चन्द्रिकायाः= कौमुद्याः, इतः = अस्याः, का खलु स्तुतिः = का खलु वर्णना, यद्, अब्धिम् अपि = समुद्रम् अपि, उत्तरलीकरोति=क्षोभयति, चञ्चलं करोतीति भावः । उपजातिर्वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन् पद्ये, नैषधस्य समाकर्षणं कामावेशेनाऽस्थिरीकरणं, समुद्रस्योत्तरलीकरणं च पूरसंवर्द्धनेन तदस्थिरीकरणम् क्रिया एकैव, पौनरुक्त्यनिरासाय = कथितपदता दोषनिरसनाय, भिन्नवाचकतया = भिन्नप्रातिपदिकतया । निर्दिष्टा ।

इसमें गुण और क्रियारूप धर्मोंका आदि, मध्य और अन्तमें स्थिति होनेसे तीन भेदोंको नहीं दिखलाया है, क्योंकि ऐसा वैचित्र्य सर्वत्र ही हजारों तरहसे हो सकता है ।

प्रतिवस्तूपमेति । जिन दो वाक्योंमें साम्य प्रतीयमान है उनमें एक ही साधारण धर्मका पृथक् निर्देश होता है उसे "प्रतिवस्तूपमा" अलङ्कार कहते हैं ।५०।

जैसे—**धन्याऽसीति** । हंस दमयन्तीसे कहता है—हे दमयन्ति ! आप धन्य हैं, जिन आपने नलको भी आकृष्ट कर लिया है । जो चन्द्रिका समुद्रको भी क्षुब्ध कर देती है, इससे अधिक उसका क्या वर्णन किया जाता है ? ।

अत्रेति । यहां समाकर्षण और उत्तरलीकरण क्रिया एक ही है पुनरुक्ति हटानेके लिए भिन्न भिन्न वाचक शब्दोंसे उसका निर्देश किया है ।

इयञ्च मालयाऽपि दृश्यते यथा—

'विमल एव रविर्विशदः शशी, प्रकृतिशोभन एव हि दर्पणः।
शिवगिरिः शिवहाससहोदरः, सहजसुन्दर एव हि सज्जनः॥'

अत्र विमलविशदादिरर्थत एक एव।

वैधर्म्येण यथा—

'चकोर्य एव चतुराश्चन्द्रिकाचामकर्मणि।
विनावन्तीर्न निपुणाः सुदृशो रतनर्मणि॥'

इयं चेति। इयं = प्रतिवस्तूपमा, मालयाऽपि=पङ्क्तिरूपेणाऽपि, सामूहिकरूपेणाऽपीति भावः। दृश्यते, यथाः—

मालारूपां प्रतिवस्तूपमामुदाहरति—**विमल एवेति।** रविः = सूर्यः, विमल एव = निर्मल एव, शशी = चन्द्रः, विशद एव, दर्पणः = आदर्शोऽपि, प्रकृतिशोभनः = प्रकृत्या (स्वभावेन) शोभनः (उज्ज्वलत्वेन सुन्दरः,) एव हि। शिवगिरिः = शम्भुपर्वतः, कैलास इति भावः। शिवहाससहोदरः = शिवस्य (शम्भोः) यो हासः (अट्टहास्यः) तस्य सहोदरः (तुल्यः)। सज्जनः = शिष्टजनः, सहजसुन्दरः = स्वभावमनोहरः, एव हि। द्रुतविलम्बितं वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति।** अत्र = अस्मिन्पद्ये। विमलविशदादिः = विमलविशदादिपदसमूहः, अर्थतः = तात्पर्यात्, एक एव = अभिन्न एव। विमल एवेत्यादौ चतुर्थपादः प्रकृतः। अत्र सज्जन एव वाक्ये उपमेयस्वरूपः, वाक्यान्तरेषूपमानरूपाणि। विमलत्वम् एको धर्मः शब्दभेदेन प्रतिपादितः।

वैधर्म्येण = विभिन्नधर्मत्वेन प्रतिवस्तूपमामुदाहरति— **चकोर्य इति।**

चन्द्रिकाऽऽचामकर्मणि = चन्द्रिकायाः (ज्योत्स्नायाः) आचामकर्मणि (आचमनकृत्ये, पानकर्मणीति भावः) चकोर्य एव=चकोरपक्षिभार्या एव, चतुराः = निपुणाः, तथा आवन्तीर्विना = अवन्तिदेशोद्भवाः स्त्रियो विना, अन्याः, सुदृशः =

यह (प्रतिवस्तूपमा अलङ्कार) मालारूपसे भी देखी जाती है, जैसे—

विमल इति। सूर्य निर्मल ही हैं, चन्द्रमा, विशद हैं, दर्पण स्वभावसे ही सुन्दर है, कैलाश पर्वत शिवजीके अट्टहास्यके समान सफेद है और सज्जन भी स्वभावसे ही मनोहर है।

अत्रेति। यहां विमल और विशद आदि शब्द अर्थसे एकरूप हैं, पुनरुक्ति हटानेके लिए भिन्न रूपसे दिये गये हैं।

वैधर्म्य (विभिन्न धर्मत्व)से प्रतिवस्तूपमा जैसे—**चकोर्य इति।** चाँदनीके पीनेके काममे चकोरियां ही चतुर होती हैं, अवन्ति देश (उज्जयिनी)की स्त्रियोंके विना अन्य सुन्दरियां रतिक्रीडामें निपुण नही होती हैं।

दृष्टान्तस्तु सधर्मस्य वस्तुनः प्रतिबिम्बनम् ॥ ५० ॥

सधर्मस्येति प्रतिवस्तूपमाव्यवच्छेदः। अयमपि साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां द्विधा।

क्रमेणोदाहरणम्—

'अविदितगुणापि सत्कविभणितिः कर्णेषु वमति मधुधाराम्।
अनधिगतपरिमलापि हि हरति दृशं मालतीमाला ॥'

नार्यः, रतनर्मणि = सुरतक्रीडायां, न निपुणाः = न चतुराः, अत्र चातुर्यं नैपुण्यं च धर्म एक एव पौनरुक्त्यपरिहाराय शब्दभेदेन निर्दिष्टः। तत्र च "न निपुणाः" इति आवन्तीतरसुदृशाम् अनैपुण्यं वैधर्म्यम्।

दृष्टान्ताऽलङ्कारं लक्षयति—**दृष्टान्तस्त्विति**। सधर्मस्य = धर्मेण (गुणक्रियारूपेण) सहितस्य सामान्यगुणक्रियासहितस्येति भावः, सदृशस्येत्यर्थं, तादृशस्य वस्तुनः = वाक्यार्थस्य। प्रतिबिम्बनं = बिम्बप्रतिबिम्बभावेन स्थापनं तु, दृष्टान्तः = तदाख्योऽलङ्कारः, अत्राऽपि "वाक्ययोः" इत्यनुवर्तते ॥ ५० ॥

विवृणोति—**सधर्मस्येति**। सधर्मस्येति कथनात्, प्रतिवस्तूपमाव्यवच्छेदः = प्रतिवस्तूपमायाः (प्रतिवस्तूपमाऽलङ्कारस्य) व्यवच्छेदः (व्यावृत्तिः) यतस्तत्राऽभिन्न एव धर्मः, अत्र तु सादृश्याद्भिन्न एव धर्मः। अयमपि = दृष्टान्तोऽपि। साधर्म्यवैधर्म्याभ्यां = तुल्यधर्मत्व-भिन्नधर्मत्वाभ्यां, द्विधा = प्रकारद्वयेन, भवतीति शेषः।

साधर्म्ये दृष्टान्ताऽलङ्कारमुदाहरति—**अविदितगुणाऽपीति**। वासवदत्तास्थं पद्यमिदम्। सत्कविभणितिः = सतां (श्रेष्ठानाम्) कवीनां (कवयितॄणाम्) भणितिः (उक्तिः), अविदितगुणा = अज्ञातरसादिधर्मा, अपि = श्रवणमात्रेणापीति भावः। कर्णेषु = श्रोत्रेन्द्रियेषु, मधुधारां = पुष्परसपरम्परां, वमति = उद्गिरति। तथा हि—मालतीमाला = जातिपुष्पस्रक्, अनधिगतपरिमलाऽपि = अप्राप्तसौरभाऽपि,

---

यहाँ चातुर्य और नैपुण्य एक ही धर्म है पुनरुक्ति हटानेके लिए भिन्न वाचकपदोंसे निर्दिष्ट है। इसमें "न निपुणाः" कहनेसे अनैपुण्य वैधर्म्य है।

दृष्टान्त इति। साधारण गुण और क्रियासे युक्त वाक्यार्थका जहाँ बिम्ब-प्रतिबिम्ब भावसे स्थापन होता है उसे "दृष्टान्त" अलङ्कार कहते हैं।

सधर्मस्येति। इसमें दो वाक्य रहते हैं। "सधर्मस्य" कहनेसे प्रतिवस्तूपमाकी व्यावृत्ति होती है, क्योंकि प्रतिवस्तूपमामें उपमेय और उपमानमें एक ही धर्म होता है दृष्टान्तमें सादृश्यसे भिन्न धर्म होता है। यह दृष्टान्त अलङ्कार भी साधर्म्य और वैधर्म्यसे दो प्रकारका होता है। क्रमसे उदाहरण—**अविदितगुणाऽपीति**। गुणके विदित न होनेपर भी उत्तम कविकी उक्ति सुनने वालोंके कानोंमें मधुधारा बरसाती है, सुगन्धकी प्राप्ति न करनेपर भी चमेली की माला चित्तको आकृष्ट करती है। यहाँ कानोंमें मधुधारा बरसना और नेत्रका आकर्षण ये दो भिन्न धर्म

'त्वयि दृष्टे कुरङ्गाक्ष्याः स्रंसते मदनव्यथा ।
दृष्टानुदयभाजीन्दौ ग्लानिः कुमुदसंहतेः ॥'
'वसन्तलेखैकनिबद्धभावं परासु कान्तासु मनः कुतो नः ? ।
प्रफुल्लमल्लीमधुलम्पटः किं मधुव्रतः काङ्क्षति वल्लिमन्याम् ? ॥'

दृशं = नेत्र, हरति = आकर्षति । आर्यावृत्तम् । अत्र कर्णाऽधिकरणकमधुधारावमनं नयनकर्मकहरणं चोभौ धर्मौ भिन्नौ प्रीतिजनकत्वेन द्वयोर्वाक्ययोः साम्यं बोधयत इति भावः ।

वैधर्म्ये दृष्टान्ताऽलङ्कारमुदाहरति—**त्वयि दृष्ट इति** । नायकं प्रति नायिका-सख्या उक्तिरियम् । हे महाशय ! त्वयि=भवति, दृष्टे=अवलोकिते सति, कुरङ्गाक्ष्याः= मृगलोचनायाः, भवद्वल्लभाया इति भावः । मदनव्यथा=कामपीडा, स्रंसते=नश्यति । अनुदयभाजि = उदयमलभमाने, इन्दौ = चन्द्रमसि, कुमुदसंहतेः = कुमुदिन्याः, ग्लानिः = म्लानिः विकासहानिरिति भावः । दृष्टा = अवलोकिता । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

अत्र पूर्वार्द्धे मदनव्यथाया उत्तरार्द्धे ग्लानेश्च द्वयोरपि सन्तोषविरोधित्वा-त्साम्यं मदनव्यथानाशाद्ग्लानेश्च सत्ताया वैधर्म्यं चाऽस्ति, अत इदं वैधर्म्ये दृष्टान्त-स्योदाहरणम् ।

वसन्तेति । प्रतिवस्तूपमाया उदाहरणानन्तरं प्रदर्शयति—**इदमिति** । वसन्त-लेखायाम् (तदाख्यनायिकायाम्) एव एकं (केवलम्) यथा तथा निबद्धः (सम्बद्धः) भावः (अनुरागः) येन, तत्, तादृशं, नः = अस्माकं, मनः = चित्तं, परासु वसन्तलेखाभिन्नासु, कान्तासु = सुन्दरीषु, कुतः = कथ, गच्छतीति शेषः । नो गच्छतीति भावः । तथाहि—प्रफुल्लमल्लीमधुलम्पटः = प्रफुल्ला (विकसिता) या मल्ली (मल्लिकापुष्पम्) तस्या मधु (पुष्परसः) तस्मिन् लम्पटः (लालसः), मधुव्रतः = भ्रमरः, किम्. अन्याम् =अपरां, मल्लीवल्लिभिन्नामिति भावः । वल्लि= लतां, काङ्क्षति वाञ्छति ?, नो वाञ्छतीति भावः । उपेन्द्रवज्रा वृत्तम् ।

प्रीतिजनक होनेसे दो वाक्योंके सादृश्यका बोध कराते है यह साधर्म्यमे दृष्टान्त अलङ्कारका उदाहरण है ।

त्वयीति । तुम्हारे देखे जानेपर मृगनयना (सुन्दरी)की कामव्यथा नष्ट हो जाती है । चन्द्रोदयके न होनेसे कुमुदिनीकी ग्लानि देखी जाती है ।

यहाँ मदनव्यथा और ग्लानि दोनोंका सन्तोषका विरोधी होनेसे साम्य है, मदनव्यथाका नाश और ग्लानिकी सत्ता होनेसे वैधर्म्य भी है, अतः यह वैधर्म्यमें दृष्टान्त अलङ्कारका उदाहरण है ।

वसन्तेत्यादिः० । वसन्तलेखा नामकी नायिकामें एक मात्र प्रणयभाव वाला हमारा मन अन्य सुन्दरियोंमे कैसे जा सकता है ? खिले हुए मल्लिका पुष्पके रसमें लम्पट भौंरा क्या दूसरी लताकी इच्छा करता है ?

इदं पद्यं मम। अत्र 'मनः कुतो नः' इत्यस्य 'काङ्क्षति वल्लिमन्याम्' इत्यस्य चैकरूपतयैव पर्यवसानात्प्रतिवस्तूपमैव।

इह तु कर्णे मधुधारावमनस्य नेत्रहरणस्य च साम्यमेव, न त्वैकरूप्यम्। अत्र समर्थ्यसमर्थकवाक्ययोः सामान्यविशेषभावोऽर्थान्तरन्यासः, प्रतिवस्तूपमा-दृष्टान्तयोस्तु न तथेति भेदः।

सम्भवन् वस्तुसम्बन्धोऽसम्भवन् वाऽपि कुत्रचित्।
यत्र बिम्बानुबिम्बत्वं बोधयेत्सा निदर्शना॥ ५१॥

विवृणोति—**इदमिति**। अस्मिन्पद्ये दृष्टान्तप्रतिवस्तूपमयोः कतरस्य सद्भाव इत्याशङ्कां निवारयति—अत्र "मनः कुतो न" इत्यस्य "काङ्क्षति वल्लिमन्याम्" इत्यस्य चैकरूपतयैव पर्यवसानात्=परिसमाप्तेः, प्रतिवस्तूपमैव, न दृष्टान्त इति भावः।

इह तु = अस्मिन् "अविदितगुणाऽपी"त्युदाहरणे तु कर्णे मधुधारावमनस्य नेत्रहरणस्य च साम्यम् एव = तुल्यत्वम् एव, न तु, ऐकरूप्यम् = अभेदः।

अत्र = इह, युक्तिप्रदर्शनतः, समर्थ्यसमर्थकवाक्ययोः = एकेन वाक्येन, यद् वाक्यान्तरं दृढीक्रियते, तत् समर्थ्यं वाक्यम्। यच्च वाक्यं युक्तिप्रदर्शनतो वाक्यान्तरं दृढीकरोति, तत् समर्थकं वाक्यम्। तादृशवाक्ययोः सामान्यविशेषभावः= व्यापकव्याप्यभावः अर्थान्तरन्यासः। प्रतिवस्तूपमादृष्टान्तयोस्तु, न तथा = न सामान्य-विशेषभावः, इति विवेकः।

निदर्शनाऽलङ्कारं लक्षयति—**संभवन्निति**। यत्र = यस्मिन् स्थाने, वस्तु-सम्बन्धः = पदार्थानामन्वयः, कुत्रचित् = कस्मिंश्चित्स्थाने, संभवन् = बाधाऽभावात्, उपपद्यमानः सन्, कुत्रचिद्वापि, असंभवन्=बाधप्रतिभासात् अनुपपद्यमानः सन्, बिम्बाऽनुबिम्बत्वं=बिम्बप्रतिबिम्बभावम्, उपमानोपमेयभावमिति भावः। बोधयेत्= व्यञ्जनया प्रतिपादयेत्, सा, निदर्शना = निदर्शनाऽलङ्कारः।

यह पद्य ग्रन्थकारका है। यहाँ "हमारा मन कैसे जा सकता है" इसकी और "भौंरा" क्या दूसरी लताकी इच्छा करता है? इसका भी एकरूपतासे पर्यवसान होनेसे प्रतिवस्तूपमा ही है। यहाँ ("अविदितगुणा" इस पद्यमें) तो कानमें मधुधारा बरसाना और नेत्रका आकर्षण करना, इन दोनों क्रियारूप धर्मोंका साम्य ही है, एकरूपता नहीं। यहाँ समर्थ्य और समर्थक वाक्यमे एकका सामान्यभाव और दूसरेका विशेषभाव हो तो अर्थान्तरन्यास होता है। प्रति वस्तूपमा और दृष्टान्तमें वैसा (सामान्यविशेषभाव) नहीं होता है, इनका यह भेद है।

संभवन्निति। जहाँ पदार्थ सम्बन्ध कहीं संभव होता हुआ और कहीं असंभव होता हुआ बिम्बप्रतिबिम्बभाव (उपमानोपमेयभाव)का बोधन करे, वहाँ निदर्शना अलङ्कार होता है॥ ५१॥

तत्र सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना यथा—

'कोऽत्र भूमिवलये जनान् मुधा तापयन् सुचिरमेति सम्पदम्? ।
वेदयन्निति दिनेन भानुमानाससाद चरमाचलं ततः ॥'

अत्र रवेरीदृशार्थवेदनक्रियायां वक्तृत्वेनान्वयः सम्भवत्येव । ईदृशार्थज्ञापनसमर्थचरमाचलप्राप्तिरूपधर्मवत्त्वात् । स च रवेरस्ताचलगमनस्य परितापिनां विपत्प्राप्तेश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावं बोधयति । असम्भवद्वस्तुनिदर्शना त्वेकवाक्याऽनेकवाक्यगतत्वेन द्विविधा ।

यत्र सादृश्यकल्पनया वाक्यार्थस्य पर्यवसानं सा निदर्शनेति सारः । एतेन सामान्यतो निदर्शना द्विविधा—सम्भवद्वस्तुसम्बन्धा असंभवद्वस्तुसम्बन्धा चेति ।

सम्भवद्वस्तुसम्बन्धां निदर्शनामुदाहरति—**कोऽत्रेति** । अत्र=अस्मिन्, भूमिवलये=भूमण्डले, कः, जनः=लोकः, मुधा=व्यर्थं, निष्कारणमिति भावः । जनान् = लोकान्, तापयन् = पीडयन्, सुचिरं = बहुकालं यावत्, सम्पदं = समृद्धिम्, एति = प्राप्नोति, समृद्धिं न प्राप्नोतीति भावः । भानुमान् = भानवः (किरणाः, सहस्रसंख्यका इति भावः) सन्ति यस्य सः सूर्य इति भावः । मतुप्प्रत्ययः । "भानुः करो मरीचिः स्त्रीपुंसयोर्दीधितिः स्त्रियाम् ।" इत्यमरः । दिनेन = दिवसेन, "अपवर्गे तृतीये"ति तृतीया । परितापिनां विपत्प्राप्तिरूपस्तृतीयार्थः । वेदयन् = बोधयन् सन्, ततः = अनन्तरं, दिनाऽवसान इति भावः । चरमाऽचलम् = अस्तपर्वतम्, आससाद = प्राप । रथोद्धता वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्पद्ये, रवेः = सूर्यस्य, ईदृशाऽर्थवेदनक्रियायाम् = "लोकपीडकः सुचिरं सम्पदं नाप्नोती"त्याकारकाऽर्थज्ञापनकर्मणि, कर्तृत्वेन=मुख्यकारकत्वेन, अन्वयः=पदार्थसम्बन्धः, संभवति एव = उपपद्यत एव । ईदृशार्थेत्यादिः० = ईदृशाऽर्थस्य (पूर्वार्द्धस्थिताऽभिधेयस्य) ज्ञापनसमर्थः (बोधनशक्तः) यश्चरमाऽचलप्राप्तिरूपः (अस्तपर्वतासादनस्वरूपः) धर्मः (क्रियाविशेषः) तद्वत्त्वात् (तद्युक्तत्वात्, रवेरिति शेषः) । स च = वेदनक्रियायां कर्तृत्वेनाऽन्वयः, रवेः = सूर्यस्य, अस्ताऽचलगमनस्य = अस्तपर्वतव्रजनस्य, परतापिनाम् = अन्य-

---

उनमें सम्भवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना जैसे—**कोऽत्रेति** । इस भूमण्डलमें जनोंको व्यर्थ सन्ताप करता हुआ कौन अधिक समय तक संपत्तिको प्राप्त करता है इस विषयको दिनसे बोधन कराता हुआ सूर्य तब अस्त पर्वतको प्राप्त हुआ ।

अत्रेति । यहाँ सूर्यका ऐसे विषयकी बोधन क्रियामें अन्वय होता है । ऐसे विषयके ज्ञापनमें समर्थ अस्ताचलप्राप्तिरूप कर्म उसमें है ! वह (ज्ञापनक्रियामें कर्तृत्वसे अन्वय) सूर्यके अस्तपर्वतगमन और सन्तापकोंकी विपत्ति प्राप्तिके बिम्बप्रतिबिम्बभावका ज्ञापन करता है ।

तत्रैकवाक्यगा यथा—

'कलयति कुवलयमालाललितं कुटिलः कटाक्षविक्षेपः।
अधरः किसलयलीलामाननमस्याः कलानिधेर्विलासम् ॥'

अत्रान्यस्य धर्मं कथमन्यो वहत्विति कटाक्षविक्षेपादीनां कुवलयमालादिगतललितादीनां कलनमसम्भवात्तल्ललितादिसदृशं ललितादिकमवगमयत्कटाक्षविक्षेपादेः कुवलयमालादेश्च बिम्बप्रतिबिम्बभावं बोधयति।

पीडकानां. विपत्प्राप्तेश्च = आपत्यासादनस्य च, द्वयोर्वाक्ययोः, बिम्बप्रतिबिम्बभावम् = उपमानोपमेयभावं, बोधयति = ज्ञापयति। तथा च—रविर्यथाऽनर्थकं परांस्तापयन्नस्तं प्राप्नोति तथैवाऽन्योऽपि परानन्र्थकं पीडयन्विपदं प्राप्नोति" इत्युपमानोपमेयभावं पूर्वोक्तोऽन्वयः सूचयतीति भावः।

असंभवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना द्विविधा एकवाक्यगाऽनेकवाक्यगा चेति, एकवाक्यगामसंभवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शनामुदाहरति—**कलयतीति**। कश्चिद्रसिकः कस्याश्चित् सुन्दर्याः कटाक्षविक्षेपादीन्वर्णयति। अस्याः = सुन्दर्याः, कुटिलः = वक्रः, कटाक्षविक्षेपः = नयनप्रान्तसञ्चालनं, कुवलयमालाललितं = कुवलयमालायाः (नीलकमलस्रजः) ललितम् (विलासम्) अधरः = ओष्ठः, किसलयलीलां = पल्लवविलासम्, आननं = मुखं, कलानिधेः = चन्द्रमसः, विलासं = शोभां, कलयति = धारयति। गीतिश्छन्दः।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये। "अन्यस्य धर्मं कथमन्यो वहतु" इत्याशङ्कया, कटाक्षविक्षेपादीनां = कर्तॄणां, कुवलयमालाऽऽदिगतललितादीनां = कर्मणां, कलनं = धारणम्, असंभवन् = अनुपपद्यमानं सत्, अवगमयत् = बोधयत् सत्, बिम्बप्रतिबिम्बभावं = सादृश्यं, बोधयति।

असंभवद्वस्तुसम्बन्ध निदर्शना एक वाक्यमें और अनेक वाक्यमें होनेसे दो प्रकारकी होती है। उनमें एक वाक्यमें असंभवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शना जैसे—**कलयति इति**। इस (सुन्दरी) का कुटिल कटाक्षका विक्षेप नील कमलोंकी मालाके विलासको धारण करता है। इसका अधरोष्ठ पल्लवोंके विलासको तथा इसका मुख चन्द्रमाकी शोभाको धारण करता है।

अत्रेति। इस पद्यमें अन्यके धर्मको कैसे अन्य धारण करेगा ऐसी आशङ्कासे कटाक्षविक्षेप आदिकोंका कुवलयमाला आदिकोंके विलास आदिका धारण अनुपपन्न होता हुआ उनके विलास आदिके सदृश विलास आदिका ज्ञापन करता हुआ कटाक्षविक्षेप आदिका और कुवलयमाला आदिका बिम्बप्रतिबिम्बभाव (सादृश्य) ज्ञापित करता है।

यथा वा—

'प्रयाणे तव राजेन्द्र ! मुक्ता वैरिमृगीदृशाम् ।
राजहंसगतिः पद्भ्यामाननेन शशिद्युतिः ॥'

अत्र पादाभ्यामसम्बद्धराजहंसगतेस्त्यागोऽनुपपन्न इति तयोस्तत्सम्बन्धः कल्प्यते, स चासम्भवन् राजहंसगतिमिव गतिं बोधयति ।

अनेकवाक्यगा यथा—

'इदं किलाव्याजमनोहरं वपुस्तपःक्लमं साधयितुं य इच्छति ।
ध्रुवं स नीलोत्पलपत्त्रधारया समिल्लतां छेत्तमृषिर्व्यवस्यति ॥'

असंभवेऽसंभवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शनामुदाहरति—**प्रयाण इति** । कश्चित्कविः कस्यचिद्राज्ञः प्रतापं वर्णयति । हे राजेन्द्र = हे नृपपुरन्दर !, तव = भवतः, प्रयाणे= जययात्रायां सत्यां, वैरिमृगीदृशां = शत्रुसुन्दरीणां, पद्भ्यां=पादाभ्यां, "पद्न्नोमासि" त्यादि सूत्रेण पादस्य पद्भावः । राजहंसगतिः = मरालगमनं, तथा आननेन=वदनेन, शशिद्युतिः = चन्द्रकान्तिः, मुक्ता=त्यक्ता । भवद्भीत्या शत्रुसुन्दरीणां विलासगतिस्तथा वदनसौन्दर्यं च विनष्टे इति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्पद्ये, असम्बद्धराजहंसगतेः = असम्बद्धा (पादसम्बन्धरहिता) या राजहंसगतिस्तस्याः त्यागः अनुपपन्नः = असम्बद्धः, एवं च आनने या असम्बद्धा शशिद्युतिः तस्याश्च त्यागोऽनुपपन्नः इति तेषां तत्सम्बन्धः, कल्प्यते = कल्पनाविषयीक्रियते, स च असंभवन् = अनुपपद्यमानो राजहंसगतिमिव गतिं तथा च शशिनो द्युतिमिव द्युतिं बोधयति ।

अनेकवाक्यगामसंभवद्वस्तुसम्बन्धनिदर्शनामुदाहरति—**इदमिति** । अभिज्ञान-शाकुन्तलनाटकस्य पद्यमिदम् । साहित्यदर्पणस्य षष्ठाङ्के (५०७ पृष्ठे) व्याख्यातम् । शकुन्तलां दृष्ट्वा राज्ञो दुष्यन्तस्योक्तिरियम् ।

अथवा—**प्रमाण इति** । हे राजश्रेष्ठ ! आपकी विजययात्राके समयमें आपके शत्रुसुन्दरियोंके चरणोंने राजहंसोंकी गति छोड़ दी और उनके मुखने चन्द्रमाकी कान्ति छोड़ दी ॥

अत्रेति । इसमें शत्रुनारियोंके चरणोंसे सम्बन्धरहित राजहंसोंकी गतिका त्याग अनुपपन्न है अतः उनका उसके साथ सम्बन्ध कल्पित होता है, वह (सम्बन्ध) अनुपपन्न होता हुआ राजहंसकी गतिकी सदृश गतिका ज्ञान कराता है ।

अनेकवाक्यगत निदर्शना जैसे—**इदमिति** । शकुन्तलाको देखकर राजा दुष्यन्त कहते हैं—जो (ऋषि) स्वभावसे सुन्दर इस शरीरसे तपस्याका क्लेश कराना चाहते हैं, वे निश्चय ही नील कमलके पत्तेकी धारसे समिधाको काटना चाहते हैं ॥

अत्र यत्तच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यार्थयोरभेदेनान्वयोऽनुपपद्यमानस्तादृशवपुषस्तपःक्लमत्वसाधनेच्छा नीलोत्पलपत्रधारया समिल्लताच्छेदनेच्छेवेति बिम्बप्रतिबिम्बभावे पर्यवस्यति।

यथा—

'जन्मेदं वन्ध्यतां नीतं भवभोगोपलिप्सया।
काचमूल्येन विक्रीतो हन्त! चिन्तामणिर्मया॥'

अत्र भवभोगलोभेन जन्मनो व्यर्थतानयनं काचमूल्येन चिन्तामणिविक्रय इवेति पर्यवसानम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। यत्तच्छब्दनिर्दिष्टवाक्यार्थयोः=पूर्वार्द्धोत्तरार्द्धवाक्यार्थयोः यः स इत्यनयोः, अभेदेन = ऐक्येन, अन्वयः = सम्बन्धः, अनुपपद्यमानः = असंभवन्, तादृशवपुषः=शकुन्तलामनोहरशरीरस्य तपःक्लमत्वसाधनेच्छा नीलोत्पलपत्रधारया समिल्लताच्छेदनेच्छा इवेति बिम्बप्रतिबिम्बभावे = उपमानोपमेयत्वे, कल्प्यते।

प्रकारान्तरेण वस्तुसम्बन्धस्याऽसंभवतां दर्शयति—**जन्मेदमिति**। कस्यचिद्विरक्तस्योक्तिरियम्। शान्तिशतकस्थं पद्यमिदम्। मया, भवभोगोपलिप्सया = भवस्य (संसारस्य) ये भोगाः (शब्दस्पर्शादिविषयोपभोगाः) तेषाम् उपलिप्सया (उपलब्धुमिच्छया)। इदं = दुर्लभं, जन्म = जननं, वन्ध्यतां = निष्फलतां, नीतं = प्रापितम्। हन्तेति खेदे। मया, चिन्तामणिः=चिन्तितेच्छापूरकं रत्नं, काचमूल्येन = तुच्छकाचवस्तुमूल्येन, विक्रीतः = विनिमयविषयीकृतः। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन् पद्ये, जन्मनः=जननस्य, व्यर्थताऽऽनयनं = निष्फलताप्रापणं, काचमूल्येन चिन्तामणिविक्रय इवेति पर्यवसानादसंभवद्वस्तुसम्बन्धरूपा निदर्शना।

अत्रेति। इसमें यद् शब्द और तद् शब्द दो वाक्यार्थोंका अभेदसे अन्वय अनुपपन्न होता हुआ वैसे शरीरको तपस्याका साधन बनानेकी इच्छा नीलकमलके पत्तेकी धारसे समिधाको काटनेकी इच्छाके समान इस प्रकारसे बिम्बप्रतिबिम्बभाव- (सादृश्य) में पर्यवसित होता है।

अथवा—**जन्मेदमिति**। यह किसी विरक्तकी उक्ति है। मैंने संसारके भोगकी पानेकी इच्छासे इस जन्मको निष्फल बना दिया। हाय! मैंने चिन्तामणिको काचके मूल्यसे बेच दिया॥

अत्रेति। यहाँ संसारके भोगके लोभसे जन्मको व्यर्थ बनाना काचके मूल्यसे चिन्तामणिको बेचना जैसा है ऐसा पर्यवसान होता है।

एवम्—

'क सूर्यप्रभवो वंशः ? क चाल्पविषया मतिः ? ।
तितीर्षुर्दुस्तरं मोहादुडुपेनास्मि सागरम् ॥'

अत्र मन्मत्या सूर्यवंशवर्णनमुडुपेन सागरतरणमिवेति पर्यवसानम् ।

इयं च क्वचिदुपमेयवृत्तस्योपमानेऽसम्भवेऽपि भवति ।

यथा—

'योऽनुभूतः कुरङ्गाक्ष्यास्तस्या मधुरिमाधरे ।
समास्वादि स मृद्वीकारसे रसविशारदैः ॥'

असम्भवद्वस्तुसम्बन्धाया निदर्शनायाः प्रसिद्धमुदाहरणान्तरं प्रदर्शयति—**क्व सूर्यप्रभव इति** । रघुवंशस्य प्रथमसर्गस्थं पद्यमिदम् । रघुवंशस्यारम्भे महाकविः कालिदासः स्वाऽहङ्कारं परिहरति । सूर्यप्रभवः = सूर्यः (भास्करः) प्रभवः (उत्पत्तिहेतुः) यस्य सः । प्रभवति अस्मादिति प्रभवः = कारणम् । "ऋदोरप्" इत्यप् । सूर्योत्पन्नः, वंशः = कुलं, क्व = कुत्र, अल्पविषया = अल्पः (स्तोकः) विषयः (ज्ञेयोऽर्थः) यस्याः सा, तादृशी, मे = मम, मतिः = प्रज्ञा, च क्व = कुत्र, द्वौ क्वशब्दौ महदन्तरं सूचयतः । सूर्यवंशं साकल्येन वर्णयितुं न प्रभवामीति भावः । तथाहि—दुस्तरं = दुःखेन तरीतुं शक्यम्, "ईषद्दुःसुषु कृच्छ्राऽकृच्छ्रार्थेषु खल्" इति खल् । तादृशं सागरं = समुद्रं, मोहात् = अज्ञानात्, उडुपेन = प्लवेन, "उडुपं तु प्लवः कोलः" इत्यमरः । तितीर्षुः = तरीतुम् इच्छुः, "तॄ प्लवनसन्तरणयोः" इति धातोः सन्नन्तादुः । अस्मि = भवामि । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्पद्ये, मन्मत्या = मत्प्रज्ञया, सूर्यवंशवर्णनमुडुपेन = प्लवेन, सागरतरणमिवेति बिम्बप्रतिबिम्बभावेन असंभवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना ।

इयं च = असंभवद्वस्तुसम्बन्धा निदर्शना च । क्वचित् = कुत्रचित्, उपमेयवृत्तस्य = उपमेयधर्मस्य, उपमानेऽसम्भवेऽपि भवति । यथा—**य इति** । तस्याः = असकृत्पूर्वमुपभुक्तायाः, कुरङ्गाक्ष्याः = हरिणनयनायाः, अधरे=ओष्ठे, यो मधुरिमा=

इसी तरह—**क्वेति** । सूर्यसे उत्पन्न कुल कहाँ ? अल्प विषयवाली मेरी बुद्धि कहाँ ? मैं मोहसे छोटीसी डोंगीसे दुस्तर समुद्रको पार करना चाहता हूँ ॥

अत्रेति । यहाँ मेरी बुद्धिसे सूर्यवंशका वर्णन छोटी डोंगीसे समुद्र पार करनेके समान है ऐसा पर्यवसान होता है । यह बिम्बप्रतिबिम्बभावसे असंभवद्वस्तु-सम्बन्ध निदर्शनाका उदाहरण है ।

इयं चेति । यह कहीं उपमेयधर्मका उपमानमें असंभव होनेपर भी होता है । जैसे—**योऽनुभूत इति** । उस मृगनयना (सुन्दरी)के अधरोष्ठमें जिस मधुरिमा—(मिठास)का अनुभव किया, रसज्ञोंने उसका अङ्गूरके रसमें आस्वादन किया ॥

अत्र प्रकृतस्याधरस्य मधुरिमधर्मस्य द्राक्षारसेऽसम्भवात्पूर्ववत्साम्ये पर्यवसानम् ।

मालारूपाऽपि यथा मम—

'क्षिपसि शुकं वृषदंशकवदने, मृगमर्पयसि मृगादनरदने ।
वितरसि तुरगं महिषविषाणे, निदधच्चेतो भोगवितानेे ।।'

माधुर्य, मधुरस्य भावः ' पृथ्वादिभ्य इमनिज्वे'' तीमनिचप्रत्ययः । अनुभूतः = अनुभवविषयीकृतः । रसविशारदैः = आस्वादपण्डितैः, सः=पूर्वोक्तो मधुरिमा, मृद्वीकारसे= द्राक्षारसे, समास्वादि = सम्यगास्वादितः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—अत्रेति । अत्र = अस्मिन्पद्ये, प्रकृतस्य = उपमेयस्येति भावः । अधरस्य = ओष्ठस्य, मधुरिमधर्मस्य = मधुरत्वधर्मस्य, द्राक्षारसे = मृद्वीकारसे । असंभवात् = असत्त्वात्, साम्ये = सादृश्ये, पर्यवसानम् ।

मालारूपामसंभवद्वस्तुसम्बन्धां निदर्शनामुदाहरन्ति—क्षिपसीति । कस्यचित्प्रबुद्धस्य जनस्य विषयासक्तं पुरुषं प्रत्युक्तिरियम् । भोगविताने = विषयसुखसमूहे, चेतः = चित्तं, निदधत् = स्थापयन्, सन्, त्वमिति शेषः । वृषदंशकवदने = वृषदंशकस्य (मार्जारस्य) वदने (मुखे) ''ओतुर्बिडाला मार्जारो वृषदंशक आखुभुक् ।'' इत्यमरः । शुकं = कीरं पक्षिणं, क्षिपसि = निक्षिपसि । मृगाऽदनरदने = मृगादनस्य (तरक्षोः, व्याघ्रविशेषस्य) रदने (दन्ते), ''तरक्षुस्तु मृगादन'' इत्यमरः । मृगं = हरिणम्, अर्पयसि = ददासि । एवं च—महिषविषाणे = लुलायशृङ्गे, तुरगम् = अश्वं, वितरसि = ददासि । पज्झटिकाछन्दः ।

विषयसुखोपभोगेषु चेतोनिधानं वृषदंशकवदने शुकस्य क्षेपणमिव मृगादनवदने मृगस्याऽर्पणमिव तथा च महिषस्य विषाणे तुरगवितरणमिवाऽनर्थावहमिति बिम्बप्रतिबिम्बत्वं बोधयतीत्यसंभवद्वस्तुसम्बन्धरूपा निदर्शना । बिम्बप्रतिबिम्बभावबोधनानां बहुत्वान्मालारूपा निदर्शना ।

अत्रेति । यहाँ प्रकृत अधरके मधुरत्व धर्मका द्राक्षा (अङ्गूर)के रसमें असंभव होनेसे पहलेके समान सादृश्यमे पर्यवसान होता है ।

निदर्शना मालारूपा भी होती है, जैसे ग्रन्थकारके पद्यमें है—क्षिपसीति । चित्तको विषयसुख-समूहमें लगाते हुए तुम बिल्लीके मुखमें तोतेको फेंक रहे हो, चीतेके मुखमें मृगको सौंप देते हो और भैंसेके सींगके लिए घोड़ेका वितरण कर रहे हो ।

इह बिम्बप्रतिबिम्बताक्षेपं विना वाक्यार्थापर्यवसानम्। दृष्टान्ते तु पर्यवसितेन वाक्यार्थेन सामर्थ्याद्बिम्बप्रतिबिम्बताप्रत्यायनम्। नापीयमर्थापत्तिः, तत्र 'हारोऽयं हरिणाक्षीणाम्—' इत्यादौ सादृश्यपर्यवसानाभावात्।

आधिक्यमुपमेयस्योपमानान्न्यूनताऽथवा।

व्यतिरेकः—

सच—

—एक उक्तेऽनुक्ते हेतौ पुनस्त्रिधा॥ ५२॥

निदर्शना-दृष्टान्ताऽर्थापत्त्यलङ्कारान्विविनक्ति—**इहेति**। इह = निदर्शनायां, बिम्बप्रतिबिम्बताऽऽक्षेपं विना = उपमानोपमेयभावकल्पनां विना, वाक्याऽर्थाऽपर्यवसानं = वाक्याऽर्थस्य, अपर्यवसानम् = अनुपपत्त्या अपरिसमाप्तिः। दृष्टान्ते तु—पर्यवसितेन = अनुपपत्त्यभावात् स्वतः पर्यवसितेन = परिसमाप्तेन, वाक्याऽर्थेन, सामर्थ्यात् = योग्यत्वात्, बिम्बप्रतिबिम्बताप्रत्यायनम्=उपमानोपमेयभावबोधनम्। नाऽपि इयं = निदर्शना, अर्थापत्तिः, तत्र = अर्थापत्तौ। "हारोऽयं हरिणाक्षीणाम्" इत्यादौ, सादृश्यपर्यवसानाऽभावात् = सादृश्ये पर्यवसानस्य अभावात्, वाक्याऽर्थस्येति शेषः।

व्यतिरेकाऽलङ्कारं लक्षयति—**आधिक्यमिति**। उपमानात् उपमेयस्य आधिक्यम् = उत्कर्षः, अथवा न्यूनता = अपकर्षः, वर्ण्यते चेद्व्यतिरेकः।

स च हेतौ = कारणे, उक्ते = अभिहिते एकः, हेतौ अनुक्ते = अनभिहिते पुनस्त्रिधा = प्रकारत्रयेण भवति, समष्ट्या चतुर्विधः॥ ५२॥

इहेति। इस (निदर्शना)में बिम्बप्रतिबिम्बताके आक्षेपके विना वाक्याऽर्थकी परिसमाप्ति नहीं होती है। दृष्टान्तमे तो परिसमाप्त वाक्याऽर्थसे सामर्थ्यतः बिम्बप्रतिबिम्ब भाव (सादृश्य)का ज्ञापन होता है। यह (निदर्शना) अर्थापत्ति भी नहीं है, उस (अर्थापत्ति)मे "हारोऽयं हरिणाक्षीणाम्" इत्यादिमें सादृश्यमे पर्यवसान नहीं होता है।

आधिक्यमिति। उपमानसे उपमेयका आधिक्य अथवा न्यूनता होनेपर व्यतिरेक अलङ्कार होता है॥ ५२॥

वह (व्यतिरेक) उपमेयके आधिक्य (उत्कर्ष)का और उपमानकी न्यूनता (अपकर्ष)का हेतु शब्दसे उक्त हो तो एक भेद होता है और हेतु अनुक्त होनेपर तीन भेद।

चतुर्विधोऽपि साम्यस्य बोधनाच्छब्दतोऽर्थतः ।
आक्षेपाच्च द्वादशधा श्लेषेऽपीति त्रिरष्टधा ॥ ५३ ॥
प्रत्येकं स्यान्मिलित्वाऽष्टचत्वारिंशद्विधः पुनः ।

उपमेयस्योपमानादाधिक्ये हेतुरुपमेयगतमुत्कर्षकारणमुपमानगतं निकर्षकारणं च । तयोर्द्वयोरप्युक्तावेकः, प्रत्येकं समुदायेन वाऽनुक्तौ त्रिविध इति चतुर्विधेऽप्यस्मिन्नुपमानोपमेयस्य निवेदनं शब्देन अर्थेन आक्षेपेण चेति द्वादशप्रकारोऽपि श्लेषे, 'अपि' शब्दादश्लेषेऽपीति चतुर्विंशतिप्रकारः । उपमानान्न्यूनतायामप्यनयैव भङ्ग्या चतुर्विंशतिप्रकारतेति मिलित्वा अष्टचत्वारिंशत्प्रकारो व्यतिरेकः ।

चतुर्विधोऽपीति । चतुर्विधोऽपि = चतुष्प्रकारोऽपि व्यतिरेकः, साम्यस्य = उपमानोपमेयभावस्य, शब्दतः, अर्थतः आक्षेपाच्च=व्यञ्जनायाश्च कथनात् द्वादशधा= द्वादशप्रकारं भवति । श्लेषे, अपिशब्दादश्लेषेऽपीति त्रिरष्टधा = चतुर्विंशतिप्रकारो व्यतिरेकः ॥ ५३ ॥

प्रत्येकमिति । इत्थम् उपमेयस्योपमानादाधिक्ये चतुर्विंशतिप्रकारः, उपमेयस्योपमानान्न्यूनतायां च प्रत्येकं चतुर्विंशतिप्रकारः, मिलित्वा पुनरष्टचत्वारिंशद्विधो व्यतिरेकः ।

विवृणोति—**उपमेयस्येति** । निकर्षकारण = निकर्षः (अपकर्षः), तत्कारणम् प्रत्येकम् = उपमेयगतोत्कर्षकारणस्य, उपमानगतनिकर्षकारणस्य उक्तौ ।

इस प्रकार चारभेद होते हैं, साम्यका शब्दसे, अर्थसे और आक्षेप (व्यञ्जना)से कथन होनेसे व्यतिरेकके बारह भेद होते है, श्लेष और अश्लेषमे होनेसे उनके चौबीस भेद होते हैं, ॥ ५३ ॥ इसप्रकार उपमेयके उपमानसे आधिक्यमे चौबीस और उपमेयके उपमानसे न्यूनता होनेपर चौबीस, कुल मिलकर व्यतिरेकके अड़तालीस भेद हो जाते है ॥ ५४ ॥

उपमेयस्येति । उपमेयके उपमानसे आधिक्य (उत्कर्ष)का हेतु है उपमेयगत उत्कर्षकारण और उपमानगत निकर्षकारण । उन दोनोंकी शब्दसे उक्तिमे एक भेद, और प्रत्येक अर्थात् उपमेयगत उत्कर्ष कारणकी उक्तिमें एक, और उपमानगत निकर्ष कारणकी उक्तिमे एक, समुदायसे अर्थात् उपमेयगत उत्कर्षकारणकी और उपमानगत निकर्षकारणकी अनुक्तिमे एक, इसप्रकार चार भेद हो जाते हैं । उनमें भी उपमानोपमेयभावका कथन कहीं शब्दसे, कहीं अर्थसे और कहीं आक्षेप(व्यञ्जना)से होनेसे व्यतिरेकके बारह भेद होते हैं । ये सब श्लेषमे और अपिशब्दसे अश्लेषमे भी होते है इसप्रकार इसके चौबीस भेद होते है । इसी तरह

उदाहरणम्—

'अकलङ्कं मुखं तस्या न कलङ्की विधुर्यथा।'

अत्रोपमेयगतमकलङ्कत्वमुपमानगतं च कलङ्कित्वं हेतुद्वयमप्युक्तम्, यथाशब्दप्रतिपादनाच्च शाब्दमौपम्यम्।

अत्रैव 'न कलङ्कि विधूपमम्' इति पाठ आर्थम्। 'जयतीन्दुं कलङ्किनम्' इति पाठे त्विववत्तुल्यादिपदविरहादाक्षिप्तम्। अत्रैवाकलङ्कपदत्यागे उपमेयगतो-

---

समुदायेन = तयोर्द्वयोरेव वेति भावः। अस्मिन् = व्यतिरेके। उपमानात् = उपमेयस्येति शेषः, भङ्ग्या = रीत्या।

उपमेयस्योत्कर्षे उपमानस्य निकर्षे च सहेतुकं व्यतिरेकोदाहरणमाह—**अकलङ्कमिति**। कलङ्की = कलङ्कयुक्तः, विधुः = चन्द्रः, यथा, तथा तस्याः = सुन्दर्याः, मुखं = वदनं न, किन्तु—अकलङ्कं = कलङ्करहितम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, हेतुद्वयं = मुखोत्कर्षस्य, विधुनिकर्षस्यस्य च। यथासंख्यं कारणद्वयम्। यथाशब्दप्रतिपादनात् = यथाशब्देन प्रतिपादनात् (कथनात्), शाब्दं = शब्दप्रतिपाद्यम्।

अत्रैवेति। अस्मिन्नेव पद्ये। आर्थम् = अर्थवशाल्लभ्यम्।

जयतीन्दुमिति। इववत् = शाब्दौपम्यप्रतिपादकस्य इवप्रभृतिशब्दस्येव तुल्यादिपदविरहात् = आर्थौपम्यप्रतिपादकतुल्यादिपदस्य विरहात् (अभावात्), आक्षिप्तम् = व्यञ्जनालभ्यम्। अत्र जयः = शत्रुपराभवः तस्य च मुखेऽसंभवात्साहश्ये पर्यवसानमित्याक्षेप इति भावः।

हेतावनुक्त उदाहरति—**अत्रैवेति**। अकलङ्कपदत्यागे = अकलङ्कपदस्य त्यागे, उपमेयेत्यादि० = उपमेयगतस्य उत्कर्षकारणस्य अनुक्तिः (अनभिधानम्)।

उपमानसे उपमेयकी न्यूनतामें भी इसी रीतिसे चौबीस ही भेद होते हैं, सबका संकलन करनेपर व्यतिरेकके कुल अड़तालीस भेद हो जाते हैं।

उदाहरण जैसे—**अकलङ्कमिति**। उस (सुन्दरी)का मुख निष्कलङ्क है, कलङ्की चन्द्रमा जैसा नहीं है।

अत्रेति। यहाँ उपमेय (मुख)की निष्कलङ्कता (उत्कर्ष) और उपमान (चन्द्रमा)की कलङ्कता ये दोनों हेतु भी शब्दसे उक्त हैं, और यथा शब्द के प्रतिपादनसे उपमानोपमेय भाव शाब्द है। इसी श्लोकार्द्धमें "न कलङ्किविधूपमम्" ऐसा पाठ करनेसे औपम्य आर्थ होगा। "जयतीन्दुं कलङ्किनम्" ऐसा पाठ करें तो इव आदि शब्दके समान तुल्य आदि पदोंके न रहनेसे औपम्य आक्षिप्त अर्थात् व्यञ्जनासे लभ्य हो जाता है। इसी उदाहरण—में "अकलङ्क" पदका त्याग करें तो उपमेयके उत्कर्ष हेतुकी अनुक्ति होगी। "कलङ्कि" पदके त्यागमें भी उपमानगत

त्कर्षकारणानुक्तिः। कलङ्किपदत्यागे चोपमानगतनिकर्षकारणानुक्तिः। द्वयोर-नुक्तौ द्वयोरनुक्तिः।

श्लेषे यथा—

'अतिगाढगुणायाश्च नाब्जवद्भङ्गुरा गुणाः।'

अत्रेवार्थे वतिरिति शाब्दमौपम्यम्। उत्कर्षनिकर्षकारणयोर्द्वयोरप्युक्तिः। गुणशब्दः श्लिष्टः। अन्ये भेदाः पूर्ववदूह्याः। एतानि चोपमेयस्योपमानादाधिक्य उदाहरणानि। न्यूनत्वे दिङ्मात्रं यथा—

'क्षीणः क्षीणोऽपि शशी भूयो भूयोऽभिवर्धते सत्यम्।
विरम प्रसीद सुन्दरि! यौवनमनिवर्ति यातं तु॥'

द्वयोः = अकलङ्कपद-कलङ्किपदयोः, अनुक्तौ = अनभिधाने, द्वयोः = उपमेयोत्कर्ष-कारणस्य उपमानगतनिकर्षकारणस्य च अनुक्तिः।

श्लेषे व्यतिरेकोदाहरणमाह—**अतीति**। अतिगाढगुणायाः = अतिगाढाः (अत्यर्थदृढाः) गुणाः (सौन्दर्यशीलादयः सूत्राणि च) यस्यास्तस्याः, नायिकायाः। गुणाः=सौन्दर्यादयः सूत्राणि च, अब्जवत्=अब्जस्य (पद्मस्य) इव, "तत्र तस्येवे"ति वतिप्रत्ययः। न भङ्गुराः = नो भङ्गशीलाः। उत्कर्षनिकर्षकारणयोः = उपमेय-भूतनायिकागतोत्कर्षकारणस्याऽतिगाढगुणत्वस्य, उपमानभूताऽब्जगतनिकर्षकारणस्य भङ्गुरत्वस्य चेत्यर्थः। ऊह्याः = कल्पनीयाः।

न्यूनत्व इति। उपमेयस्योपमानादपकर्षे, दिङ्मात्रं यथा—**क्षीणः क्षीण इति**। रुद्रटीयकाव्यालङ्कार उद्धृतं पद्यमिदम्। मानिनीं नायिकां प्रति नायक-स्योक्तिरियम्। शशी = चन्द्रः, क्षीणः क्षीणोऽपि = कृष्णपक्षे प्रत्यहं प्राप्तक्षयोऽपि, भूयो भूयः = वारं वारं, शुक्लपक्ष इति शेषः। अभिवर्द्धते = अभिवृद्धिं प्राप्नोति, इति सत्यं = तथ्यम्। तु = किन्तु, यातं = व्यतीतं, यौवनं = तारुण्यम्, अनिवर्ति =

निकर्षकारणकी अनुक्ति होगी। दोनों पदोंकी अनुक्तिमे दोनों हेतुओंकी अनुक्ति हो जायगी।

श्लेषमें व्यतिरेकका उदाहरण—**अतिगाढगुणाया इति**। अत्यन्त गाढ गुण (सौन्दर्य और शील आदि)वाली उस सुन्दरीके गुण कमलके गुण, (तन्तु) जैसे भङ्गशील (टूटनेवाले) नहीं हैं।

अत्रेति। यहाँ इवके अर्थमें वति प्रत्यय है। अतः शाब्द औपम्य है, उत्कर्ष और निकर्ष (अपकर्ष) दोनोंके कारण उक्त हैं। गुण शब्द श्लिष्ट है। नायिकापक्षमें गुण शब्दका अर्थ सौन्दर्यशील आदि है और कमलपक्षमें तन्तु है। और भेदोंको पहलेके समान जानना चाहिए। उपमेयके उपमानसे आधिक्यमें ये उदाहरण हैं। उपमेयके उपमानसे न्यूनत्वमें दिग्दर्शन जैसे—**क्षीण इति**। चन्द्रमा वारंवार क्षीण होकर भी बारंबार बढ़ता है, यह सत्य है। परन्तु गया हुआ

अत्रोपमेयभूतयौवनास्थैर्यस्याधिक्यम् । तेनात्र 'उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः' इति केषांचिल्लक्षणे "विपर्यये वेतिपदमनर्थकम्" इति यत्केचिदाहुः । तन्न विचारसहम् । तथाहि—अत्राधिक्यन्यूनत्वे सत्त्वासत्त्वे एव विवक्षिते । अत्र च चन्द्रापेक्षया यौवनस्यासत्त्वं स्फुटमेव । अस्तु वात्रोदाहरणे यथाकथंचिद्गतिः ।

नो निवर्तते तच्छीलम् । हे सुन्दरि ! अतो विरम = मानादिति **शेषः, मानस्य विरामं** कुर्विति भावः । व्युपसर्गपूर्वकात् "रमु क्रीडायाम्" इति धातोः "**व्याङ्परिभ्यो रम**" इति परस्मैपदम् । प्रसीद = प्रसन्ना भव । आर्यावृत्तम् ।

काव्यप्रकाशकारमतमुपन्यस्य दूषयति—**अत्रेति** । अत्र = **अस्मिन्पद्ये** । उपमेयभूतं यत् यौवनं तारुण्यम्, तस्य आधिक्यम् = उत्कर्षः, **उपमानभूत-**चन्द्राऽस्थैर्याद् यौवनाऽस्थैर्यस्याऽधिकसमयवर्तित्वादिति भावः । **तेन=कारणेन, अत्र=**अस्मिन्पद्ये, "उपमानादुपमेयस्याधिक्ये विपर्यये वा व्यतिरेकः" । **विपर्यये = न्यूनत्वे,** इति केषांचित् = अलङ्कारसर्वस्वकृताम् । केचित् = अलङ्कारकौस्तुभकाराः ।

अलङ्कारकौस्तुभकारमतं परिहरति—**तन्नेति** । विचारसहं = **युक्तिस्थापन-**समर्थमिति भावः । अत्र = व्यतिरेकलक्षणे, **अधिकन्यूनत्वे=आधिक्यन्यूनत्वे, सत्त्वाऽसत्त्वे** = उत्कृष्टत्वाऽपकृष्टत्वे, एव, विवक्षिते = **वक्तुमिष्टे । असत्त्वम् = अपकृष्टत्वम्,** स्फुटमेवेति = अनिर्वर्तित्वादिति भावः । गतिः = **लक्षणसङ्गत्युपायः ।**

यौवन (जवानी) नहीं लौटता है । हे सुन्दरि ! **इस कारणसे मान मत करो । प्रसन्न बनो ।**

यहाँ उपमानभूत चन्द्रमाकी अपेक्षा उपमेयभूत यौवनकी **अस्थिरताका वर्णन** है; अतः उपमानसे उपमेयकी न्यूनता है । दोनों हेतु उक्त है औपम्य प्रतीयमान है ।

खण्डन करनेके लिए काव्यप्रकाशकारका मत **दिखलाते हैं—अत्रेति ।** यहां उपमेयभूत **यौवनके अस्थैर्यका** उपमानभूत **चन्द्रमाके अस्थैर्यकी अपेक्षासे** आधिक्य है, इस कारणसे "उपमानसे उपमेयके आधिक्य वा विपर्यय (**न्यूनत्व**), होनेपर व्यतिरेक अलङ्कार होता है—ऐसा किन्हीं विद्वानों (**अलङ्कारसर्वस्वकार-**आदिकों)के लक्षणमें "विपर्यये वा" यह पद **अनर्थक है** ऐसा जो **कुछ विद्वान्** (अलङ्कारकौस्तुभकार) कहते हैं । **तन्नेति** । वह मत विचार करनेपर **टिकता** नहीं । क्योंकि यहाँ आधिक्य कहनेसे उत्कृष्टता और न्यूनत्व **कहनेसे अपकृष्टता** विवक्षित है । यहां चन्द्रमाकी अपेक्षासे यौवनका असत्त्व **अर्थात् अपकृष्टत्व स्पष्ट ही** है । इस उदाहरणमें किसी भी प्रकारसे लक्षणसंगति हो ।

'हनूमदाद्यैर्यशसा मया पुनर्द्विषां हसैर्दूतपथः सितीकृतः ।'

इत्यादिषु का गतिरिति सुष्ठूक्तं 'न्यूनताऽथवा' इति ।

सहार्थस्य बलादेकं यत्र स्याद्वाचकं द्वयोः ॥ ५४ ॥

सा सहोक्तिर्मूलभूतातिशयोक्तिर्यदा भवेत् ।

अतिशयोक्तिरप्यत्राभेदाध्यवसायमूला कार्यकारणपौर्वापर्यविपर्ययरूपा च। अभेदाध्यवसायमूलापि श्लेषभित्तिकान् यथा च ।

हनूमदाद्यैरिति । नैषधीयचरितस्य नवमसर्गे दमयन्तीसमीपे स्वं प्रकाशयतो नलस्योक्तिरियम् । अस्य पूर्वार्द्धं तु—

"स्वनाम यन्नाम मुधाऽभ्यधामहं, महेन्द्रकार्यं महदेतदुज्झितम् ।" इति ।

हनूमदाद्यैः = अञ्जनानन्दनादिभिः, दूतपथः = सन्देशहरमार्गः, यशसा = कीर्त्या, सितीकृतः = शुक्लीकृतः । मया = नलेन दूतेन पुनः, द्विषां = शत्रूणां, हसैः हासैः, दूतपथः, सितीकृतः । "यशसि धवलता वर्ण्यते हासकीर्त्योः" इति कविसमयाऽनुसारादिति भावः । दूतत्वं परित्यज्य स्वयं नायकत्वपरिग्रहादिति भावः ।

इत्यादिष्विति । का गतिः ? = व्यतिरेकस्थितेः कोऽभ्युपायः । अत्र दूतयोर्हनूमन्नलयोरुपमानोपमेयभावविवक्षणेऽपि उपमानस्य हनूमत एवाधिक्यं उपमेयस्य नलस्याऽपकृष्टत्वमेव इत्थं व्यतिरेको वक्तव्यः स च "विपर्ययो वा" इत्युक्तिं विना न संभवतीति भावः । इति सुष्टूक्तं "न्यूनताथवे"ति ।

सहोक्तिं लक्षयति—**सहाऽर्थस्येति** । यत्र = यस्मिन् वाक्ये, अतिशयोक्तिः (भेदे अभेदाऽध्यवसायमूला, कार्यकारणयोः पौर्वापर्यविपर्ययरूपा) मूलभूता (प्रयोजिका) भवेत्, तदा=तर्हि, सहाऽर्थस्य=सहपर्यायशब्दस्य, बलात्=सामर्थ्यात्, एकं = वस्तु (पदाऽर्थः), द्वयोः = पदार्थयोः, वाचकम् = अन्वयि, भवेत् ॥ ५४ ॥ सा सहोक्तिः = तन्नामकाऽलङ्कारः ।

विवृणोति—**अतिशयोक्तिरिति** । **अभेदाऽध्यवसायमूलाऽपि** । श्लेषभित्तिका = श्लेषप्रयुक्तभेदमूला, अन्यथा = अश्लेषप्रयुक्तभेदमूला च ।

परन्तु—**हनूमदाद्यैरिति** । हनूमान् आदिने दूतमार्गको यशसे सफेद कर दिया था, परन्तु मैंने शत्रुओंके उपहासोंसे सफेद कर दिया । इत्यादि स्थलोंमें क्या लक्षण संगति है ? अतः "न्यूनताऽथवा" यह ठीक ही कहा गया है यहां उपमेयभूत नलकी न्यूनता स्पष्ट ही है ।

सहाऽर्थस्येति । "सह" शब्दके वाचक पदके बलसे जहां एक पद दो पदार्थोंका वाचक हो, तथा जिस वाक्यके मूलमें अतिशयोक्ति रहे तो उसे 'सहोक्ति' अलङ्कार कहते हैं ॥ ५४ ॥

अतिशयोक्तिरिति । अतिशयोक्ति भी यहां अभेदाऽध्यवसायमूलक वा कार्य और कारणके पूर्वाऽपरभावके विपर्ययसे युक्त अतिशयोक्ति मानी गई है । अभेदाऽध्यवसायमूलक अतिशयोक्ति भी कहीं श्लेषमूलक और कहीं अश्लेषमूलक होती है ।

ादाहरणम्—२

'सहाधरदलेनास्या यौवने रागभाक् प्रियः।'

अत्र रागपदे श्लेषः।

'सह कुमुदकदम्बैः काममुल्लासयन्तः
सह घनतिमिरौघैर्धैर्यमुत्सारयन्तः।
सह सरसिजषण्डैः स्वान्तमामीलयन्तः
प्रतिदिशममृतांशोरंशवः सञ्चरन्ति॥'

इदं मम। अत्रोल्लासादीनां संबन्धिभेदादेव भेदः, न तु श्लिष्टतया।

श्लेषभित्तिकाभेदाऽध्यवसायरूपाऽतिशयोक्तिमूलां सहोक्तिमुदाहरति—**सहेति**। अस्य व्याख्यानम् (१७० पृष्ठे०) पूर्वं कृतम्। अत्राऽधरदलस्य रागो लौहित्यं, प्रियस्य रागः = प्रेमेति रागपदे श्लेषः, लौहित्यप्रेम्णोर्भेदेऽप्यभेदाऽध्यवसायादतिशयोक्तिस्तद्वशात्सहशब्दाऽर्थवशाच्च सहोक्तिः। इत्थं च श्लेषभित्तिकाऽभेदाऽध्यवसायरूपाऽतिशयोक्तिमूला सहोक्तिः।

अश्लेषभित्तिकाभेदाऽध्यवसायरूपाऽतिशयोक्तिमूलां सहोक्तिमुदाहरति—**सहेति**। कुमुदकदम्बैः = कैरववृन्दैः, सह = समं, कामं = मदनम्, उल्लासयन्तः= विकासयन्तः, घनतिमिरौघैः = घनाः (निबिडाः) ये तिमिरौघाः (अन्धकारसमूहाः), तैः, सह = सम, धैर्यं=धीरतां, चित्तस्थैर्यम्, उत्सारयन्तः = निवारयन्तः, सरसिजषण्डैः = कमलसमूहैः, सह = समम्, स्वान्तं = चित्तम्, आमीलयन्तः = कामवेगेन संकोचयन्ती, अमृतांऽशोः = चन्द्रमसः, अंशवः = किरणाः, प्रतिदिशं = सर्वासु दिक्षु, संचरन्ति = प्रसरन्ति। मालिनीवृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। उत्सारणादीनाम्=अत्रादिपदेन उल्लासनाऽमीलनयोः संग्रहः। सम्बन्धिभेदात्=सम्बन्धिनां (कुमुदकदम्ब-कामादीनाम्), भेदात् भेदः। न श्लिष्टतया = रागपदवच्छ्लेषेण न। तथा च—कुमुदकदम्बानामुल्लासः = प्रकाशः।

क्रमसे उदाहरण जैसे—**सहेति**। इस (सुन्दरी)के यौवनसमयमें प्रिय (कान्त) अधरपल्लवके साथ रागयुक्त हैं। यहाँ अधरका राग लौहित्य है और प्रियका राग अनुराग है अतः राग पदमें श्लेष है। इस तरह लौहित्य और अनुरागका भेद होनेपर भी उनका अभेदाऽध्यवसाय होनेसे अतिशयोक्तिमूल श्लेषभित्तिक सहोक्ति अलङ्कार है।

सहेति। कुमुदसमूहोंके साथ मदनको विकसित करती हुई, गाढ अन्धकारसमूहोंसे धैर्यको हटाती हुई, कमलसमूहोंके साथ चित्तको निमीलित करती हुई चन्द्रमाकी किरणें प्रत्येक दिशामें फैल रही हैं। यह ग्रन्थकारका पद्य है। इस पद्यमें उल्लास आदि पदोंका उनके सम्बन्धियोंके भेदसे ही भेद है—श्लिष्टरूपसे नहीं।

'सममेव नराधिपेन सा गुरुसंमोहविलुप्तचेतना।
अगमत् सह तैलबिन्दुना ननु दीपार्चिरिव क्षितेस्तलम् ॥'

इयं च मालयापि संभवति। यथोदाहृते 'सह कुमुदकदम्बैः–' इत्यादौ।

'लक्ष्मणेन समं रामः काननं गहनं ययौ।'

इत्यादौ चातिशयोक्तिमूलाभावान्नायमलङ्कारः।

कामस्योल्लासः = प्रादुर्भावः, इत्थमुल्लासयोर्भेदेऽपि साहृश्यादभेदाऽध्यवसायादतिशयोक्तिः। तेजःसंसर्गाऽभावरूपस्य तिमिरस्योत्सारणं तद्द्वयेः सम्बन्धाऽभावः, धैर्यस्योत्सारणं विनाशस्तयोः साहृश्येनैवाऽभेदारोपः। सरसिजषण्डानामामीलनं सङ्कोचः, स्वान्तस्यामीलनं विषयान्तरादाकर्षणं तयोरपि साहृश्येनैवाऽभेदारोपः।

कार्यकारणपौर्वापर्यरूपाऽतिशयोक्तिमूलां सहोक्तिमुदाहरति—**सममेवेति**। रघुवंशस्याऽष्टमसर्गस्थं पद्यमिदम्। सा = इन्दुमती, गुरुसंमोहेत्यादिः० = गुरुः (दुर्वहः) यः संमोहः (मूर्च्छा), तेन विलुप्ता (अपगता) चेतना (संज्ञा) यस्याः सा तादृशी सती। तैलबिन्दुना = तिलविकारपृषतेन, सह = समं, दीपार्चिः= दीपज्वाला, इव, नराऽधिपेन = राज्ञा, अजेन सह, क्षितेः = भूमेः, तलम् = अधोभागम्, अगमत् = गता, पतितेति भावः। वियोगिनीवृत्तम्।

अत्रेन्दुमतीपतनरूपकारणजन्यत्वस्याऽपि राजपतनस्य शीघ्रताद्योतनाऽर्थं सममेवेति प्रतिपादितम्। ततश्च कार्यकारणपौर्वापर्यरूपाऽतिशयोक्तिमूलायाः सहोक्तेरिदमुदाहरणम्।

इयं चेति। इयं = सहोक्तिः, मालयाऽपि संभवति।

मूलभूतेत्यादिकथनस्य फलमाह—**लक्ष्मणेनेति**।

सममेवेति। वे (इन्दुमती) वक्षःस्थलपर देवपुष्पोंकी माला गिरनेसे दुर्वह मूर्च्छासे, चैतन्यहीन होती हुई तैलबिन्दुके साथ दीपकी ज्वालाकी तरह राजा अजके साथ ही भूतलपर गिर पड़ीं।

यहाँ इन्दुमतीका पतन कारण है और अजका पतन कार्य है तथाऽपि शीघ्रताको प्रकाशित करनेके लिए उनका पूर्वाऽपरभावका विपर्यय हो गया है। सह शब्दका पर्याय "समम्" पदका प्रयोग होनेसे यह सहोक्ति अलङ्कार है।

इयं चेति। यह सहोक्ति मालारूपसे भी होती है। जैसे कि उदाहरण दिया है—"सहकुमुदकदम्बैः" इत्यादि।

लक्ष्मणेनेति। "लक्ष्मणके साथ रामचन्द्रजी गहन वनमें चले गये" इत्यादिमें अतिशयोक्ति मूल न होनेसे "सह" शब्द होनेपर भी सहोक्ति अलङ्कार नहीं है।

विनोक्तिर्यद्विनान्येन नासाध्वन्यदसाधु वा ॥ ५५ ॥

नासाधु अशोभनं न भवति। एवं च यद्यपि शोभनत्व एव पर्यवसानं, तथाप्यशोभनत्वाभावमुखेन शोभनवचनस्यायमभिप्रायो यत्कस्यचिद्वर्णनीयस्याशोभनत्वं तत्परसन्निधेरेव दोषः। तस्य पुनः स्वभावतः शोभनत्वमेवेति।

यथा—

विना जलदकालेन चन्द्रो निस्तन्द्रतां गतः।
विना ग्रीष्मोष्मणा मञ्जुर्वनराजिरजायत॥'

विनोक्तिं लक्षयति—**विनोक्तिरिति।** अन्यत् = अपरं, वस्तु = पदार्थः, अन्येन विना = अपरेण पदार्थेन विना, यत्, असाधु = अशोभनं, न भवति, शोभनं भवतीति भावः। तथैव अन्यत् वस्तु, अन्येन विना, असाधु = अशोभनं, भवति, वा, सा विनोक्तिः ॥ ५५ ॥

विवृणोति—**नाऽसाध्विति।** न असाधु = अशोभनं न भवति। शोभनत्व एव पर्यवसानं = वाक्यसमाप्तिः। "अभावस्य तु यो भावो भाव एवाऽवशिष्यते।" इति न्यायादिति भावः। अशोभनत्वाऽभावमुखेन = असुन्दरत्वाऽभावबोधनेन, शोभनवचनस्य = सुन्दरत्वोक्तेः, परसन्निधेः = परस्य (वर्णनीयभिन्नवस्तुनः) सन्निधेः (सम्बन्धात्) एव दोषः।

अशोभनत्वाऽभावे विनोक्तिमुदाहरति—**विनेति।** जलदकालेन=वर्षासमयेन विना, चन्द्रः = निस्तन्द्रतां = निर्मलतां शोभनतां, गतः = प्राप्तः। ग्रीष्मोष्मणा = ग्रीष्मर्तुसन्तापेन, विना, वनराजिः = आरामश्रेणी, मञ्जुः = शोभना, अजायत = जाता। अनुष्टुब्वृत्तम्।

स्वभावसुन्दरयोश्चन्द्र-वनराज्योर्जलदकाल-ग्रीष्मोष्मसंनिधानरूपदोषविगमनेन शोभनत्वं प्रतिभातीत्यर्थः।

विनोक्तिरिति। जहां भिन्न वस्तु भिन्न वस्तुके विना (अशोभन अर्थात् असुन्दर) नहीं होता है अर्थात् सुन्दर होता है अथवा असुन्दर होता है उसे "विनोक्ति" कहते।

एवं चेति। "अशोभन नहीं होता है" कहनेसे यद्यपि शोभनत्वमें ही पर्यवसान होता है, तथाऽपि "अशोभन नहीं होता है" इसप्रकारसे कहनेसे "शोभन होता है" ऐसे कथनका आशय यह है कि वर्णनीय पदार्थका जो अशोभनत्व है वह दूसरे (अवर्णनीय) के सम्बन्धसे ही दोष है। उसकी शोभनता स्वभावसे ही है।

जैसे—**विनेति।** वर्षासमयके विना चन्द्रमा निर्मल हो गये। ग्रीष्म ऋतुके सन्तापके विना वनपङ्क्ति मनोहर हो गई।

स्वभावसे ही सुन्दर चन्द्रमा और वनपङ्क्ति इन दोनोंकी ही वर्षासमय और ग्रीष्मसन्निधान रूप दोषके चले जानेसे शोभनता प्रतीत हो रही है, यह अभिप्राय है।

'असाध्वशोभनं यथा—

'अनुयान्त्या जनातीतं कान्तं साधु त्वया कृतम्।
का दिनश्रीर्विनार्केण ? का निशाशशिना विना ? ॥'

'निरर्थकं जन्म गतं नलिन्या यया न दृष्टं तुहिनांशुबिम्बम्।
उत्पत्तिरिन्दोरपि निष्फलैव दृष्टा विनिद्रा नलिनी न येन ॥'

विवृणोति—असाध्विति। कारिकास्थमसाधु = अशोभनमित्यर्थः। शोभनत्वाऽभावे विनोक्तिमुदाहरति—**अनुयान्त्येति**। पतिमनुयान्तीं कांचिन्नायिकां प्रति तत्सख्या उक्तिरियम्। जनाऽतीतं = गुणगणाऽतिशयेनाऽतिक्रान्तलोकं, तादृशं कान्तं = पतिम्, अनुयान्त्या = अनुसरन्त्या, त्वया = भवत्या, साधु = समीचीन, कृतं = विहितम्। तथा च अर्केण विना = सूर्यमन्तरेण, दिनश्रीः = दिवसशोभा, का = कीदृशी, अशोभनेति भावः। तथैव शशिना विना = चन्द्रमन्तरेण, निशा = रात्रिः, का = कीदृशी, अशोभनेति भावः। **अनुष्टुब्वृत्तम्।**

अत्राऽर्केण विना दिनश्रियस्तथा शशिना विना निशायाश्च शोभनत्वाऽभावाद्विनोक्तिः। तथैव दिनश्रिया निशया च नायिकाया उपमानोपमेयभावो व्यङ्ग्यः।

विनार्थकनञ्प्रयोगे शोभनत्वाऽभावे विनोक्तिमुदाहरति—**निरर्थकमिति।** अस्य पूर्वार्द्धं विह्वलणोक्तिरूपमुत्तरार्द्धं च राजकन्योक्तिरूपम्। नलिन्याः=कमलिन्याः, जन्म = जननं, निरर्थकं = व्यर्थं, गतं = यातम्। यया = नलिन्या, तुहिनांऽशुबिम्बं= तुहिनांऽशोः (चन्द्रमसः) बिम्बं (मण्डलम्), न दृष्टं = नाऽवलोकितम्। इतीयं विह्वलणोक्तिः। तथैव, इन्दोरपि = चन्द्रमसोऽपि, उत्पत्तिः = जनिः, निष्फला = निष्प्रयोजना एव, येन = इन्दुना, विनिद्रा = विकसिता, नलिनी = कमलिनी, न दृष्टा = नाऽवलोकिता। इतीयं राजकन्योक्तिः। उपजातिवृत्तम्।

असाधु अर्थात् अशोभनका उदाहरण जैसे—**अनुयान्त्येति।** जनाऽतीत अर्थात् गुणसमूहसे सबको मात करनेवाले पतिका अनुगमन करने वाली तुमने अच्छा किया। सूर्यके विना दिनकी और चन्द्रमाके विना रात्रि की शोभा क्या है ? यहां सूर्यके विना दिनश्रीका और चन्द्रमाके विना रात्रिका भी शोभनत्वका अभाव वर्णित होनेसे विनोक्ति अलङ्कार है। दिनश्री और रात्रिके साथ वर्ण्यमान नायिकाका उपमानोपमेयभाव व्यङ्ग्य है।

निरर्थकमिति। कमलिनीका जन्म व्यर्थ हो गया, जिसने चन्द्रमण्डलको नहीं देखा। चन्द्रमाकी उत्पत्ति भी निष्फल ही है जिसने खिली हुई कमलिनीको नहीं देखा।

अत्र परस्परविनोक्तिभङ्ग्या चमत्कारातिशयः। विनाशब्दप्रयोगाभावेऽपि विनार्थविवक्षायां विनोक्तिरेवेयम्। एवं सहोक्तिरपि सहशब्दप्रयोगाभावेऽपि सहार्थविवक्षायां भवतीति बोध्यम्।

समासोक्तिः समैर्यत्र कार्यलिङ्गविशेषणैः।
व्यवहारसमारोपः प्रस्तुतेऽन्यस्य वस्तुनः ॥ ५६ ॥

अत्र समेन कार्येण प्रस्तुतेऽप्रस्तुतव्यवहारसमारोपः।

अत्र चन्द्रमण्डलदर्शनं विना नलिन्याः शोभनत्वाऽभावात्तथा विकसितनलिनीदर्शनाऽभवाच्चन्द्रस्याऽपि शोभनत्वाऽभावाद्विनोक्तिः। विवृणोति—**अत्रेति**। अस्मिन् उदाहरणे नलिनीचन्द्रमसोः परस्परविनोक्तिभङ्ग्या = विनाशब्दप्रयोगाऽभावेऽपि नञ्पदगम्यविनोक्तिविच्छित्या चमत्काराऽतिशयः। विनाशब्दस्य प्रयोगाऽभावेऽपि, तदर्थविवक्षया विनोक्तिरेवेयम्। एष एव न्यायः सहोक्त्यलङ्कारेऽपि योजनीयः।

समासोक्तिं लक्षयति—**समासोक्तिरिति**। यत्र, समैः = प्रकृताऽप्रकृतयोः साधारणैः, कार्य-लिङ्ग-विशेषणैः = कार्यं (कर्म), लिङ्गं (स्त्रीत्वादि), विशेषणं (भेदको धर्मः), तैः, प्रस्तुते = प्रकृते वस्तुनि, अन्यस्य = अप्रस्तुतस्य, वस्तुनः = पदार्थस्य, व्यवहारसमारोपः = आचरणारोपः, सा समासोक्तिः। समासेन (संक्षेपेण, एकेन शब्देन) उक्तिः (अर्थद्वयस्य कथनम्) यत्र सा समासोक्तिरिति व्युत्पत्तिः ॥ ५६ ॥

विवृणोति—**अत्रेति**।

अत्रेति। इस उदाहरणमे नलिनी और चन्द्रमाका विनाशब्दका प्रयोग न होनेपर भी उसके अर्थकी विवक्षामें नञ् पदसे गम्य विना पदकी उक्तिसे विचित्रतासे अतिशय चमत्कार है। अतः यह विनोक्ति अलङ्कार ही है।

इसी तरह सहोक्ति अलङ्कार भी, सह शब्दका प्रयोग न होनेपर भी उसके अर्थकी विवक्षासे होता है, यह जानना चाहिए।

समासोक्तिरिति। जहाँ प्रकृत और अप्रकृतमें साधारण कार्य, लिङ्ग और विशेषणसे प्रस्तुतमें अप्रस्तुत पदार्थके व्यवहारका समारोप होता है उसे समासोक्ति अलङ्कार कहते हैं।

यथा—

'व्याधूय यद्वसनमम्बुजलोचनाया
वक्षोजयोः कनककुम्भविलासभाजोः।
आलिङ्गसि प्रसभमङ्गमशेषमस्या
धन्यस्त्वमेव मलयाचलगन्धवाह ! ॥'

अत्र गन्धवाहे हठकामुकव्यवहारसमारोपः।

लिङ्गसाम्येन यथा—

'असमाप्तजिगीषस्य स्त्रीचिन्ता का मनस्विनः ?।
अनाक्रम्य जगत्कृत्स्नं नो सन्ध्यां भजते रविः॥

समासोक्तिमुदाहरति—**व्याधूयेति**। अकृतललनोपभोगस्य कस्यचित्पुरुषस्य मलयाऽचलगन्धवाहं प्रत्युक्तिरियम्। हे मलयाऽचलगन्धवाह = हे मलयपर्वतवात !, दक्षिणवातेति भावः। अस्याः = दृश्यमानायाः, अम्बुजलोचनायाः = कमलनयनायाः सुन्दर्याः, कनकेत्यादिः०=कनककुम्भयोः (सुवर्णकलशयोः) विलासभाजोः (विलासं= शोभां, भजतः = सेवेते इति तयोः) वक्षोजयोः (उरोजयोः) स्तनयोरिति भावः। वसनं = वस्त्रं, प्रसभं = हठात्, व्याधूय = दूरीकृत्य, यत्, अशेषं = समस्तम्, अङ्गं= देहाऽवयवम्, आलिङ्गसि = आश्लिष्यसि, अतः, त्वम् एव, धन्यः = पुण्यवान्, धनं लब्धा धन्यः, "धनगणं लब्धे"ति यत्। "सुकृती पुण्यवान्धन्य" इत्यमरः। "पुण्यैर्विना नहि भवन्ति समीहिताऽर्था" इति नयादिति भावः। वसन्ततिलकावृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, गन्धवाहे = प्रस्तुते वायौ, हठकामुकेत्यादिः० = अप्रस्तुतस्य हठकामुकस्य (बलात्कारपूर्वकं कृतकामिन्युपभोगस्य जनस्य) व्यवहारः (आचरणम्) तस्य समारोपः (आरोपः)। अतोऽत्र प्रस्तुतेऽप्रस्तुतव्यवहारसमारोपात्समासोक्तिः।

लिङ्गसाम्येन समासोक्तिमुदाहरति—**असमाप्तजिगीषस्येति**। कल्हणकृतराजतरङ्गिणीस्थं पद्यमिदम्। असमाप्तजिगीषस्य = असमाप्ता (अनवसिता)

यहां समान कार्यसे प्रस्तुतमें अप्रस्तुतके व्यवहारका आरोप, जैसे हे मलयपर्वतके वायु ! इस कमलनयना (सुन्दरी)के सुवर्णकलशोंके समान शोभावाले स्तनोंके वस्त्रको जबर्दस्तीसे हटाकर जो समस्त अङ्गका आलिङ्गन करते हो, तुम ही धन्य हो।

अत्रेति। इस पद्यमें वायुमें अप्रस्तुत हठकामुकके व्यवहारका आरोप है। अतः यह समासोक्तिका प्रथम उदाहरण है।

लिङ्गसाम्यसे समासोक्ति अलङ्कार जैसे—**असमाप्तजिगीषस्येति**। जिसको जीतनेकी इच्छा पूर्ण नहीं हुई है उस मनस्वी पुरुषको स्त्रीकी चिन्ता क्या

अत्र पुंस्त्रीलिङ्गमात्रेण रविसन्ध्ययोर्नायकनायिकाव्यवहारः।

विशेषणसाम्यं तु श्लिष्टतया, साधारण्येन, औपम्यगर्भत्वेन च त्रिधा। तत्र श्लिष्टतया यथा मम—

'विकसितमुखीं रागासङ्गाद् गलत्तिमिरावृतिं
दिनकरकरस्पृष्टामैन्द्रीं निरीक्ष्य दिशं पुरः।

जिगीषा (जेतुमिच्छा) यस्य, तस्य। मनस्विनः = प्रशस्तचित्तस्य, नीतिवेदिन इति भावः। का स्त्रीचिन्ता = किं नाम नारीचिन्तनम्, नैव स्त्रीचिन्तेति भावः। तथा हि—रविः = सूर्यः, कृत्स्नं = समस्तं, जगत् = लोकम्, अनाक्रम्य = आक्रान्तमकृत्वा, सन्ध्यां = सन्धिवेलां स्त्रीरूपाम्, नो भजते = न आश्रयते। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, पुंस्त्रीलिङ्गमात्रेण = केवलेन पुंलिङ्गेन स्त्रीलिङ्गेन, न पुनर्वस्तुतः स्त्रिया पुंसा। रविसन्ध्ययोः = प्रस्तुतसूर्यसन्धिवेलयोः, नायकनायिकाव्यवहारः = नायकनायिकयोः (अप्रस्तुतपुरुष-स्त्रियोः) व्यवहारः (आचरणारोप इति भावः)।

समासोक्तौ विशेषणसाम्यं विभजते—**विशेषणसाम्यं त्विति**। विशेषणसाम्यं तु—श्लिष्टतया = श्लिष्टत्वेन, साधारण्येन = अर्थद्वयेऽपि विशेषणस्य साधारणत्वेन, औपम्यगर्भत्वेन च = उपमागर्भत्वेन च त्रिधा = प्रकारत्रयेण भवति।

श्लिष्टविशेषणसाम्येन समासोक्तिमुदाहरति—**विकसितमुखीमिति**। प्रभातवर्णनपरं विश्वनाथरचितं पद्यमिदम्। तुहिनद्युतिः = चन्द्रः, रागासङ्गात् = रागस्य (लौहित्यस्य अनुरागस्य च) आसङ्गात् (उपस्थितेः, हेतोः), विकसितमुखीं = विकसितं (प्रकाशितं, प्रफुल्लञ्च) मुखं (प्रथमभागः वदनं च) यस्यास्ताम्। तथा गलतिमिरावृत्तिं = गलन्ती (नश्यन्ती) तिमिरावृत्तिः (अन्धकाराऽवरणं, तिमिरम् इव कृष्णा आवृतिः = वस्त्रं यस्यास्ताम्। ऐन्द्रीम् = इन्द्रदैवत्यां, पूर्वामित्यर्थः, तादृशीं दिशं = ककुभं, दिनकरकरस्पृष्टां=दिनकरस्य (सूर्यस्य, कस्यचित्पुरुषस्य च) करेण (सूर्यस्य-किरणेन, कस्य चित्पुरुषस्य च—हस्तेन) स्पृष्टाम् (आमृष्टां, धृतां च)

होगी ? जैसे सूर्य समस्त लोकको आक्रान्त किये विना सन्ध्याका आश्रय नहीं करते हैं। यहां रवि (सूर्य)का पुंलिङ्ग और सन्ध्याका स्त्रीलिङ्ग होनेसे उन दोनोंमें नायक और नायिकाके व्यवहारका आरोप हुआ है।

विशेषणसाम्य—श्लिष्ट होनेसे, दोनों अर्थोंमें विशेषणकी साधारणतासे और उपमागर्भत्वसे तीन प्रकारका होता है। उनमें श्लिष्ट होनेसे जैसे-- ग्रन्थकारका **विकसितमुखीमिति**। यह प्रातःकालका वर्णन है। चन्द्रमा, सामने राग (लाली वा अनुराग)के होनेसे विकसित (प्रकाशित वा प्रफुल्ल) मुख प्रथम (भाग वा मुँह)से युक्त, अन्धकाररूप आवरणके अथवा अन्धकारके समान काला वस्त्र जिसका हट

जरठलवलीपाण्डुच्छायो भृशं कलुषान्तरः
श्रयति हरितं हन्त ! प्राचेतसीं तुहिनद्युतिः ॥'

अत्र मुखरागादिशब्दानां श्लिष्टता। अत्रैव हि 'तिमिरावृतिम्' इत्यत्र 'तिमिरांशुकाम्' इति पाठे एकदेशस्य रूपणेऽपि समासोक्तिरेव, न त्वेकदेशविवर्तिरूपकम्, तत्र हि तिमिरांशुकयो रूप्यरूपकभावो द्वयोरावरकत्वेन

निरीक्ष्य = दृष्ट्वा, भृशम् = अत्यर्थं, कलुषाऽन्तरः=शशलक्ष्मणा मलीमसमध्यभागः, ईर्ष्ययाऽप्रसन्नचित्तश्च, जरठलवलीपाण्डुच्छायः = जरठा (जीर्णा पक्वेति भावः) या लवली (फलविशेषः) तस्या इव पाण्डुः (पाण्डुरवर्णा) छाया (कान्तिः) यस्य सः, एकत्र प्रातःकालादपरत्र वियोगादिति भावः। प्राचेतसीं=वारुणीं, पश्चिमामिति भावः। हरितं = दिशं, "दिशस्तु हरितः काष्ठा" इत्यमरः। श्रयति = आश्रयति। हरिणीवृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, मुखरागादिशब्दानां, श्लिष्टता श्लेषयुक्तता। अत्र प्रभातवर्णनं प्रस्तुतं, ततश्च तदङ्गत्वेन प्रस्तुतायां प्राच्यां दिशि मुखरागादिश्लिष्टविशेषणसाम्यादप्रस्तुताया बन्धक्या व्यवहारसमारोपस्तथैव प्रस्तुतयोर्दिनकरचन्द्रयोः श्लिष्टविशेषणसाम्यादप्रस्तुतयोर्द्वयोरुपपत्योर्व्यवहारसमारोपश्चेति समासोक्तिरलङ्कार इति भावः।

समासोक्त्येकदेशविवर्तिरूपकयोर्विवेकं प्रस्तौतीत्यत्रैव **हि**।

अत्रैव = "विकसितमुखीम्" इत्यादिपद्य एव। "तिमिरावृतिम्" इत्यत्र "तिमिरांऽशुकम्" इति पाठे एकदेशस्य, रूपणेऽपि=आरोपणेपि, तिमिररूपे उपमेयेऽशुंकरूपस्योपमानस्यारोपेऽपीति भावः। समासोक्तिरेव नत्वेकदेशविवर्तिरूपकम्।

अत्र हेतुमुपपादयति—**तत्र हीति**। हि = यस्मात्, तत्र = तस्मिन् पाठे, "तिमिरांऽशुकाम्" इति स्थान इति भावः। रूप्यरूपकभावः=आरोपस्थल उपमेयोपमानभावः, द्वयोः=तिमिरांऽशुकयोः, आवरकत्वेन = आच्छादकत्वेन, सामान्यधर्मेण।

गया है ऐसी, इन्द्रकी दिशा (प्राची)को दिनकर (सूर्य अथवा किसी पुरुष)के कर (किरण वा हाथ)से स्पृष्ट देखकर अत्यन्त कलुष (मलिन वा अप्रसन्न) आन्तर शशरूप (अभ्यन्तर भाग वा चित्त) वाला होकर पकी हुई लवली (हरफावड़ी फल)के समान पीली कान्तिवाला होकर पश्चिम दिशाका आश्रय लेता है।

अत्रेति। इस पद्यमें मुख, राग आदि शब्द श्लिष्ट हैं। **अत्रैव हीति**। इसी पद्यमें "तिमिरावृतिम्" इसके स्थानपर "तिमिरांशुकाम्" ऐसा पाठ होनेपर एक देशका आरोपण करनेपर भी समासोक्ति ही होती है। एकदेशविवर्ति रूपक नहीं होता है। क्योंकि ऐसे पाठमें अन्धकार और वस्त्रका उपमेयोपमानभाव दोनोंका आच्छादकत्व धर्म होनेसे स्पष्ट सादृश्य होनेसे दूसरेकी सहकारिताकी अपेक्षा न

स्फुटसादृश्यतया परसाचिव्यमनपेक्ष्यापि स्वमात्रविश्रान्त इति न समासोक्तिबुद्धिं व्याहन्तुमीशः ।

यत्र तु रूप्यरूपकयोः सादृश्यमस्फुटं तत्रैकदेशान्तररूपणं विना तदसङ्गतं स्यादित्यशाब्दमप्येकदेशान्तररूपणमार्थमपेक्षत एवेति, तत्रैकदेशविवर्तिरूपकमेव । यथा—

'जस्स रणन्तेउरए करे कुणन्तस्स मण्डलग्गलअम् ।
रससंमुही वि सहसा परम्मुही होइ रिउसेणा ॥'

स्फुटसादृश्यतया = मुखचन्द्रयोरिवेत्यर्थः । परसाचिव्यं = परस्य (नायिकारूपणस्य) साचिव्यं (प्राच्यां नायिकात्वारोपाऽनुसन्धानसाहाय्यम्) अनपेक्ष्याऽपि, स्वमात्रविश्रान्तः = स्वस्मिन्नेवाऽवस्थितः, इति = हेतोः । समासोक्तिबुद्धिं = समासोक्त्यलङ्कारज्ञानं, व्याहन्तुं = बाधितुं, न ईशः = न समर्थः ।

एकदेशविवर्तिरूपकस्थलं निर्दिशति— **यत्र त्विति** । रूप्यरूपकयोः=उपमेयोपमानयोः, एकदेशान्तररूपणं = कुत्रचिदेकदेशे आरोपम् । तत् = वाक्यम्, असङ्गतम्= अनुपपन्नम् । अशाब्दमपि = शब्देनाऽप्रतिपादितमपि ।

एकदेशविवर्तिरूपकमुदाहरति—**जस्स इति** ।

"यस्य रणाऽन्तःपुरके करे कुर्वाणस्य मण्डलाऽग्रलताम् ।
रससंमुख्यपि सहसा पराङ्मुखी भवति रिपुसेना ॥ इति संस्कृतच्छाया ।"

कस्य चिद्राज्ञो विक्रमवर्णनमिदम् । रणाऽन्तःपुरे = रणः (युद्धप्रदेशः) एव अन्तःपुरकं, तस्मिन्, "अनुकम्पायाम्" इति कन् । मण्डलाऽग्रलतां = खड्गवल्लीं कांचित्प्रमदां, च करे = हस्ते, कुर्वाणस्य = विदधतः, धारयत इत्यर्थः । यस्य = राज्ञः, रससंमुखी = रसेन (युद्धाऽनुरागेण सुरताऽनुरागेण च) संमुखी (अभिमुखी) अपि, रिपुसेना = शत्रुपृतना, अपरा प्रमदा च, सहसा = अतर्कितरूपेण, पराङ्मुखी= विमुखी, भवति, भीतेरीर्ष्यातिश्चेति भावः । गाथाछन्दः ।

करके भी अपनेमें ही विश्रान्त होता है । अतः समासोक्तिके ज्ञानको हटानेमें समर्थ नहीं है । परन्तु जहां रूप्य और रूपकका सादृश्य अस्पष्ट है वहां किसी एक देशमें आरोपके विना वह (सादृश्य) असंगत होगा अतः अशब्द (शब्दसे अप्रतिपादित) होनेसे एक देशमें आरोप आर्थ (अर्थगत) अपेक्षित होता है, अतः वहां एकदेशविवर्तिरूपक ही हो जाता है । जैसे कि—**जस्सेति** ।

रणरूप अन्तःपुरमें हाथमें कृपाणलताको लिये हुए जिस राजाको देखकर शत्रुओंकी सेना रस (युद्धाऽनुराग और सुरताऽनुराग)से सम्मुख होकर भी सहसा पराङ्मुख हो जाती है अर्थात् मुंह फेर लेती है ।

अत्र रणान्तःपुरयोः सादृश्यमस्फुटमेव। क्वचिच्च यत्र स्फुटसादृश्यानामपि बहूनां रूपणं शाब्दमेकदेशस्य चार्थं तत्रैकदेशविवर्तिरूपकमेव। रूपकप्रतीतेर्व्याप्तितया समासोक्तिप्रतीतितिरोधायकत्वात्। नन्वस्ति रणान्तःपुरयोरपि सुखसंचारतया स्फुटं सादृश्यमिति चेत्? सत्यमुक्तम्। अस्त्येव, किन्तु वाक्यार्थ-

---

विवृणोति—**अत्रेति**। अस्मिन्नुदाहरणे लिङ्गसाम्येन मण्डलाऽग्रलतायां नायिकाव्यवहारः, पराङ्मुखत्वरूपकार्यसाम्येन रिपुसेनायां प्रतिनायिकाव्यवहारः प्रतीयते, तथाऽपि अत्र = अस्मिन्पद्ये, रणाऽन्तःपुरयोः = सादृश्यम्, अस्फुटम् = अव्यक्तम्, रणस्य भीतिजनकत्वेनाऽन्तःपुरस्य च सुखविहारास्पदत्वेनेतिद्वयोः = सादृश्यमस्फुटमिति भावः :

क्वचिच्चेति। रूपणम् = आरोपः। शाब्दं = शब्दोपात्तम्। एकदेशस्य = एकभागस्य च, आर्थम् = अर्थवशाल्लभ्यम्। यथोक्तं पूर्वं "लावण्यमधुभिः पूर्णम्" इत्यादौ (१४२ पृ०)। रूपकप्रतीतेर्व्यापितया=व्यापकत्वेन अधिकस्थानस्थितयेति भावः। ''''तिरोधायकत्वात् = लोपकारकत्वात्।

अत्राऽपि स्फुटसादृश्यं प्रदर्श्य समासोक्तिमाशङ्कते—**नन्वस्ति**। सुखसञ्चारतया = वीरप्रमुखत्वेन अनायासविहारास्पदत्वेन स्वतो मण्डलाऽग्रलतादीनां नायिकात्वाद्यारोपमनपेक्ष्य।

परिहरति—**सत्यमुक्तम्**। अस्त्येव = स्फुटसादृश्यमिति शेषः। वाक्याऽर्थपर्यालोचनसाऽपेक्षं="जस्स पूरणन्तेउरए" इत्यादिपूर्णवाक्यार्थस्य पर्यालोचनमपेक्ष्यैव,

---

अत्रेति। इस उदाहरणमें लिङ्गसाम्यसे मण्डलाऽग्रलता (कृपाणलता)में नायिकाका व्यवहार है, और पराङ्मुखत्वरूप कार्यके साम्यसे रिपुसेनामें प्रतिनायिकाका व्यवहार प्रतीत होता है। तो भी इस पद्यमें रण और अन्तःपुरका सादृश्य अस्पष्ट ही है।

क्वचिच्चेति। जहाँ कहीं स्पष्ट सादृश्यवाले बहुतसे पदार्थोंका आरोप शाब्द (शब्दगत) हो और एकदेशमें अर्थगत हो वहाँ एकदेशविवर्ति रूपक ही होता है, क्योंकि रूपककी प्रतीति व्यापक होनेसे समासोक्तिके प्रतीतिको तिरोहित (आच्छादित) कर देती है।

नन्विति। आशङ्का करते हैं—रण और अन्तःपुरका भी सुखसे संचारका स्थान होनेसे सादृश्य स्पष्ट ही है ऐसा कहें तो, सत्य ही कहा है, सादृश्य है ही, किन्तु वह वाक्यार्थकी पर्यालोचनकी अपेक्षा रखता है, निरपेक्ष नहीं। क्योंकि

पर्यालोचनसापेक्षं, न खलु निरपेक्षम्। मुखचन्द्रादेर्मनोहरत्वादिवद्रणान्तः- पुरयोः स्वतः सुखसञ्चारत्वाभावात्।

साधारण्येन यथा—

'निसर्गसौरभोद्भ्रान्तभृङ्गसंगीतशालिनी।
उदिते वासराधीशे स्मेराजनि सरोजिनी॥'

अत्र निसर्गेत्यादिविशेषणसाम्यात् सरोजिन्यां नायिकाव्यवहारप्रतीतौ स्त्रीमात्रगामिनः स्मेरत्वधर्मस्य समारोपः कारणम्। तेन विना विशेषणसाम्यमात्रेण नायिकाव्यवहारप्रतीतेरसम्भवात्।

न खलु निरपेक्षं=वाक्यार्थपर्यालोचनापेक्षाराहित्येनेतिभावः, अत्र हेतुं दर्शयति—**मुखचन्द्रादेरिति**। स्वतः = स्वभावतः।

एतेनोपमेयोपमानयोः सादृश्यस्याऽस्फुटत्वे, तथः बहूनां रूपणं शाब्दकैकदेशस्य चार्थे तत्रैकदेशविवर्तिरूपकम्। एतद्विपरीत्येन यत्र सादृश्यं स्फुटं यत्र वा बहूनां च रूपणं तत्र समासोक्तिरिति द्वयोर्भेदः।

साधारण्येन विशेषणसाम्ये समासोक्तिमुदाहरति—**निसर्गेति**। प्रभातवर्णनपरकं पद्यमिदम्। निसर्गेत्यादिः०—निसर्गसौरभेण (स्वाभाविकसौगन्ध्येन) उद्भ्रान्ताः (कृतभ्रमणाः) ये भृङ्गाः (भ्रमराः) तेषां सङ्गीतशालिनी (सङ्गीतेन शोभिनी), तादृशी सरोजिनी = पद्मिनी, पद्मिनीलक्षणोपेता काचिन्नायिका च, वासराऽधीशे= सूर्ये, कस्मिंश्चिन्नायके च, उदिते = उद्गते, उदयपर्वतं प्राप्ते उपस्थिते च, स्मेरा = विकसिता, ईषद्धासवती च, अजनि = जाता। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, पूर्वार्द्धस्थनिसर्गेत्यादिविशेषणस्य साम्यात् प्रस्तुतायां सरोजिन्याम् अप्रस्तुतनायिकाव्यवहारप्रतीतौ स्त्रीमात्रगामिनः स्मेरत्वधर्मस्य समारोपः कारणम्। तेन विनाऽस्मेरत्वसमारोपेण विना।

मुख और चन्द्र आदिके मनोहरत्व आदिके समान रण और अन्तःपुरका स्वभावतः सुखसे सञ्चारस्थानत्व नहीं है।

साधारणतः अर्थात् साधारणतासे—विशेषणसाम्यसे समासोक्ति जैसे—निसर्गेत्यादिः०—स्वाभाविक सुगन्धतासे मँडरानेवाले भौंरोंके संगीतसे युक्त कमलिनी दिनके अधीश्वर (सूर्य)के उदित होनेपर मन्दहास्यसे युक्त (विकसित) होने लगी।

अत्रेति। इस पद्यमें पूर्वार्द्धस्थित निसर्ग इत्यादि विशेषणके साम्यसे कमलिनीके नायिकाव्यवहारकी प्रतीतिमें स्त्रीमात्रमें रहनेवाले स्मेरत्व धर्मका आरोप कारण है, क्योंकि इसके बिना केवल विशेषणसाम्यसे नायिकाके व्यवहारकी प्रतीति असंभव है।

औपम्यगर्भत्वं पुनस्त्रिधा सम्भवति, उपमारूपकसङ्करगर्भत्वात्। तत्रोपमागर्भत्वे यथा—

'दन्तप्रभापुष्पचिता पाणिपल्लवशोभिनी।
केशपाशालिवृन्देन सुवेषा हरिणेक्षणा॥'

अत्र सुवेषत्ववशात्प्रथमं दन्तप्रभाः पुष्पाणीवेत्युपमागर्भत्वेन समासः। अनन्तरं च दन्तप्रभासदृशैः पुष्पैश्चितेत्यादिसमासान्तराश्रयेण समानविशेषण-

---

औपम्यगर्भत्वं त्रैविध्येन विभजते—**औपम्यगर्भत्वमिति**। उपमागर्भत्वं, रूपकगर्भत्वं सङ्करगर्भत्वं चेति।

औपम्यगर्भत्वेन विशेषणसाम्ये समासोक्तिमुदाहरति—**दन्तप्रभेति**। दन्तप्रभापुष्पचिता = नायिकापक्षे—दन्तप्रभाः (दशनकान्तयः) पुष्पाणि (कुसुमानि) इव "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इति समासः। (लतापक्षे) दन्तप्रभा इव पुष्पाणि, "उपमानानि सामान्यवचनैः" इति समासः। तैः चिता (व्याप्ता)। पाणिपल्लवशोभिनी = (नायिकापक्षे) पाणिः (करतलम्) पल्लवम् (किसलयम्) इव "उपमितम्", इत्यादिना समासः। (लतापक्षे) पाणिः इव पल्लवम्, "उपमानानि०" इत्यादिना समासः। तेन शोभते तच्छीला, ताच्छील्ये णिनिः। एवं—केशपाशाऽलिवृन्देन = (नायिकापक्षे) केशपाशः (केशकलापः) अलिवृन्दम् (भ्रमरसमूहः) इव, "उपमितम्" इत्यादिना समासः। (लतापक्षे) केशपाश इव अलिवृन्दम्, "उपमानानी"त्यादिना समासः। तेन सुवेषा=शोभनः वेषः (नेपथ्यम्) यस्याः सा। तादृशी हरिणेक्षणा = मृगनयना, अस्तीति शेषः। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अस्मिन्पद्ये, सुवेषत्ववशात् = सुवेषेतिपदसामर्थ्यात्। तथा च हरिणेक्षणायाः पुष्पेण पल्लवेन च सुवेषत्वेऽपि अलिवृन्देन सुवेषत्वाऽसंभवात्, "केशपाशाऽलिवृन्देन" इत्यत्रोपमितसमासः कर्तव्य एव। इत्यादिसमासान्तराश्रयेण=

औपम्यगर्भत्वके तीन भेद होते है—उपमागर्भ, रूपकगर्भ और उनका संकरगर्भ।

उपमागर्भत्वसे विशेषणसाम्यमें समासोक्ति जैसे—**दन्तप्रभापुष्पचितेति**। नायिकापक्षमें—दन्तप्रभापुष्पचिता = फूलोंकी समान दन्तकान्तियोंसे व्याप्त। लतापक्षमें—दन्त० = दन्तकान्तियोंके समान फूलोंसे व्याप्त। नायिकापक्षमें—पाणिपल्लवशोभिनी = पल्लवके समान पाणिसे शोभित होनेवाली। लतापक्षमें—पाणि० = पाणिके समान पल्लवसे शोभित होनेवाली, नायिकापक्षमें—केशपाशाऽलिवृन्देन = भ्रमरसमूहके समान केशपाशसे, लतापक्षमें—केश० = केशपाशके समान भ्रमरसमूहसे, सुन्दर वेषवाली मृगनयना (सुन्दरी) है।

अत्रेति। इस पद्यमें "सुवेष" इस पदके सामर्थ्यसे पहले—"दन्तप्रभाः पुष्पाणि इव" इसप्रकार उपमित समास होता है, पीछे "दन्तप्रभासदृशैः

माहात्म्याद्धरिणेक्षणायां लताव्यवहारप्रतीतिः। रूपकगर्भत्वे यथा—'लावण्यमधुभिः पूर्णम्–' इत्यादि। सङ्करगर्भत्वे यथा–'दन्तप्रभापुष्पे–'त्यादि। 'सुवेषा' इत्यत्र 'परीता' इति पाठे ह्युपमारूपकसाधकाभावात्सङ्करसमाश्रयणम्। समा-

---

दन्तप्रभासदृशानि पुष्पाणि, तैः इति "शाकपार्थिवादीनां सिद्धय उत्तरपदलोपस्योपसंख्यानम्" इति मध्यमपदलोपिसमासाश्रयणेन, अस्माभिस्तु लाघवात् "दन्तप्रभा इव पुष्पाणि, अनेन विग्रहेण "उपमानानि सामान्यवचनैः" इति सूत्रेण समासो विहितः।

रूपकगर्भत्वेन विशेषणसाम्ये समासोक्तिमुदाहरति—"लावण्यमधुभिः पूर्णमित्यादि (पृ० १४२)। पद्यमिदमेकदेशविवर्तिरूपकोदाहरणरूपेण व्याख्यातपूर्वम्। यथा हि—लावण्यमधुभिः = लावण्यानि (सौन्दर्याणि) एव मधूनि (पुष्परसाः "मयूरव्यंसकादयश्चे"ति रूपकसमासः)। तैः पूर्णम् (पूरितम्) अस्याः = सुन्दर्याः, विकासशीलम्, मुखं = वदनं, लोकलोचन–रोलम्बकदम्बैः = लोकलोचनानि (जननयनानि) एव रोलम्बाः (भ्रमराः), तेषां कदम्बैः (समूहैः) न पीयते = न पानविषयीक्रियते। अत्र "लावण्यमधुभिः" इत्यत्र "लोकलोचनरोलम्बकदम्बैः" इत्यत्र च विशेषणसाम्यात्समासोक्तिरिति केषांचिन्मतम्। ग्रन्थकारमते तु मुखे पद्मस्वरूपस्यैवारोपेण व्यवहारसमारोपाऽभावान्नाऽत्र समासोक्तिः। प्रत्युत "लावण्यमधुभिः" इत्यादौ मुखे पद्मस्य स्वरूपारोपात्-लावण्यमधुनोस्तरलत्वादिना लोचनरोलम्बयोश्च कृष्णवर्णत्वादिना सादृश्यस्य स्फुटत्वेऽपि अनेकयोः शाब्दत्वेन रूपणात् मुखे पद्मत्वाधारोपस्यार्थत्वादत्रैकदेशविवर्तिरूपकमेवेति ग्रन्थकारसिद्धान्तः।

सङ्करगर्भत्वेन विशेषणसाम्ये समासोक्तिमुदाहरति—"**दन्तप्रभापुष्पचिता**" इत्यादौ "सुवेषा" इत्यत्र "परीता" इति पाठे, (परीता = व्याप्तेत्यर्थः), उपमारूपकसाधकाऽभावात् = परीतत्वस्य हरिणेक्षणायां लतायां च साधारण्येनैव प्रवृत्तेः,

---

पुष्पैश्चिता" इस प्रकार मध्यमपदलोपी समासके आश्रयसे समान विशेषणके माहात्म्यसे हरिणोक्षणा (सुन्दरी) मे लताके व्यवहारकी प्रतीति होती है।

रूपकगर्भत्वमें विशेषण साम्यसे समासोक्ति जैसे—"लावण्यमधुभिः पूर्णम्" यहाँ "लावण्यान्येव मधूनि, तैः यहाँ "मयूरव्यंसकादयश्च" इससे रूपक समास हुआ है।

सङ्करगर्भत्वमें विशेषणसाम्यसे समासोक्ति जैसे—"दन्तप्रभापुष्प०" इत्यादि "सुवेषा"के स्थानपर "परीता" ऐसा पाठ करेंगे तो उपमा और रूपकका साधक न होनेसे अर्थात् परीतत्वका हरिणेक्षणा और लतामें साधारणतया प्रवृत्ति होनेसे

सान्तरं पूर्ववत् । समासान्तरमहिम्ना लताप्रतीतिः । एषु च येषां मते उपमासङ्करयोरेकदेशविवर्तिता नास्ति तन्मते आद्यतृतीययोः समासोक्तिः ।

द्वितीयस्तु प्रकार एकदेशविवर्तिरूपकविषय एव । पर्यालोचने त्वाद्ये प्रकारे एकदेशविवर्तिन्युपमेवाङ्गीकर्तुमुचिता ।

सङ्करसमाश्रयणं = सङ्करोऽत्र उपमारूपकसन्देहसङ्करः । समासाऽन्तरं पूर्ववत् = दन्तप्रभा इव पुष्पाणि, "उपमानानि सामान्यवचनैः" इति समासः । समासान्तरमहिम्ना लताप्रतीतिः, तथा च प्रथमचरणत्रये उपमितसमासेन साम्यस्य वाच्यत्वात्, हरिणेक्षणायां लतासाम्यस्य गम्यत्वात्किमेकदेशविवर्तिन्युपमा ? अथवा दन्तप्रभादौ पुष्पाद्यारोपस्य शाब्दत्वाद्धरिणेक्षणायां लतात्वाद्यारोपस्य च आर्थत्वादेकदेशविवर्तिरूपकम् ? इत्येवमुपमारूपकयोः सन्देहसङ्करः । तद्गर्भकदन्तप्रभापुष्पचितेत्यादिविशेषणसाम्यात्समासोक्तिरित्यपि केषांचिन्मतम् ।

एतन्मतस्याऽनौचित्यं प्रतिपादयति—**एषु चेति** । "दन्तप्रभा" इत्यादिषु त्रिषूदाहरणेष्वित्यर्थः । आद्ये "दन्तप्रभे" इत्यादिपद्ये, द्वितीये "लावण्यमधुभिः पूर्णम्, इत्यादि पद्ये, तृतीये "दन्तप्रभे"त्यादि पद्ये "सुवेषा" इत्यत्र "परीते"त्यादि पाठयुक्ते इति भावः । येषां मते उपमासङ्करयोरेकदेशविवर्तिता नाऽस्ति तन्मते आद्यतृतीययोः समासोक्तिः । द्वितीयस्तु प्रकार एकदेशविवर्तिरूपकविषय एव । "लावण्यमधुभिः पूर्णम्" = इत्यत्र एकदेशविवर्तिरूपकमेव इति एवकारेण ग्रन्थकारसिद्धान्तः प्रतीयते ।

सिद्धान्तनिष्कर्षं प्रतिपादयति—**पर्यालोचने त्विति** । पर्यालोचने तु=तत्त्वतो विवेचने तु । आद्ये = प्रथमे, प्रकारे = भेदे, "दन्तप्रभा" इत्यादौ एकदेशविवर्तिन्युपमैवाऽङ्गीकर्तुमुचिता । अन्यथा एतन्मताऽस्वीकारे—

सङ्करका आश्रय किया गया है । अन्य समास पहलेके समान है । उससे लताकी प्रतीति होती है ।

एषु चेति । "दन्तप्रभा" आदि तीनों उदाहरणोंमें जिनके मतमें उपमा और सङ्कर अलङ्कारको एकदेशविवर्ती नहीं माना गया है, उनके मतमें प्रथम ("दन्तप्रभा" इत्यादि) और तृतीय ("सुवेषा"के स्थानमें "परीता" पढ़े जाने पर)में समासोक्ति है, दूसरा भेद ("लावण्यमधुभिः" इत्यादि) एकदेशविवर्ति रूपक ही है । आलोचना करनेपर पहला भेद ("दन्तप्रभा" इत्यादि में) एकदेशविवर्तिनी उपमा अलङ्कार ही मानना उचित है ।

अन्यथा—

'ऐन्द्रं धनुः पाण्डुपयोधरेण शरद्दधानार्द्रनखक्षताभम्।
प्रमोदयन्ती सकलङ्कमिन्दुं तापं रवेरभ्यधिकं चकार ॥'

इत्यत्र कथं शरदि नायिकाव्यवहारप्रतीतिः, नायिकापयोधरेणार्द्रनखक्षताभशक्रचापधारणासम्भवात्।

ननु 'आर्द्रनखक्षताभम्' इत्यत्र स्थितमप्युपमानत्वं वस्तुपर्यालोचनया ऐन्द्रे धनुषि सञ्चारणीयम्।

ऐन्द्रमिति। शरदृतुवर्णनमिदम्। पाण्डुपयोधरेण = शुक्लमेघेन, जलवर्षणादिति शेषः, शुभ्रस्तनेन च। आर्द्रनखक्षताभम् = नवीनकरजक्षतसदृशम्, ऐन्द्रम् = इन्द्रदैवतं, धनुः = कार्मुकं, दधाना = धारयन्ती, शरद् = शरदृतुः काचित्स्वैरिणी च, सकलङ्कं = शशचिह्नयुक्तं, परस्त्रीसंसर्गाल्लोकापवादसहितं च। इन्दुं = चन्द्रमसम्, उपपतिं च। प्रमोदयन्ती = निजसमागमेनानन्दयती च, रवेः = सूर्यस्य पत्युश्च, अधिकं = प्रचुरं, तापं = सन्तापं, मानसज्वरं च, चकार= कृतवती। उपजातिवृत्तम्।

परमतं दूषयितुमुपक्रमते—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये। शरदि, कथं नायिकाव्यवहारप्रतीतिः? नायिकापयोधरेण = नायिकायाः (भूतलस्थितायाः इति भावः) पयोधरेण (कुचेन), आर्द्रेत्यादि॰ = आर्द्रनखक्षताभस्य (नूतननखरक्षतसदृशस्य) शक्रचापस्य (इन्द्रधनुषः) धारणाऽसंभवात् (वहनाऽसंभवात्)।

विरोधिनामाशयमाशङ्कते—**नन्विति**। वस्तुपर्यालोचनया = वस्तुनः (पदार्थस्य) पर्यालोचनया (सूक्ष्मसमालोचनया)। सञ्चारणीयं = संचारयितुं योग्यम्।

ऐसा नहीं मानें तो—**ऐन्द्रं धनुरित्यादि**। यह शरद् ऋतुका वर्णन है। पाण्डुपयोधर (सफेद मेघ वा सफेद स्तन)से नये नखक्षतके समान इन्द्रधनुको धारण करती हुई शरद् ऋतुने अथवा किसी व्यभिचारिणी स्त्रीने सकलङ्क (कलङ्कसे युक्त अथवा परस्त्रीके संसर्गमें लोकाऽपवादसे युक्त) चन्द्रमाको आनन्दित करती हुई सूर्य अथवा अपने पतिके ताप (सन्ताप वा मानसज्वर)को अधिक कर दिया।

अत्रेति। इस पद्यमें कैसे नायिकाके व्यवहारकी प्रतीति होगी, क्योंकि नायिकाके पयोधरसे ताजे नखक्षतके समान इन्द्रधनुका धारण असंभव है।

आशङ्का दिखलाते हैं—"आर्द्रनखक्षताभम् (अर्थात् ताजे नखक्षतके समान) यहाँपर स्थित उपमानत्व पदार्थकी सूक्ष्म आलोचनासे इन्द्रके धनुमें सञ्चारण करना चाहिए।

यथा—'दध्ना जुहोति' इत्यादौ हवनस्यान्यथासिद्धेर्दध्नि सञ्चार्यते विधिः। एवमत्रेन्द्रचापाभमार्द्रनखक्षतं दधानेति प्रतीतिर्भविष्यतीति चेत्? न, एवंविधनिर्वाहे कष्टसृष्टिकल्पनादेकदेशविवर्त्युपमाङ्गीकारस्यैव ज्यायस्त्वात्।

अस्तु वात्र यथाकथञ्चित्समासोक्तिः। 'नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैः—'इत्यादौ चान्यगत्यसम्भवात्। किं चोपमायां व्यवहारप्रतीतेरभावात्कथं तदुपजीविकायाः समासोक्तेः प्रवेशः।

अत्रार्थे मीमांसकानां दृष्टान्तमुपपादयति—**दध्ना जुहोतीति**। हवनस्य = होमस्य, अन्यथासिद्धेः = प्रकारान्तरेण सिद्धेः "अग्निहोत्रं जुहुयात्" इत्यनेन प्राप्तेः "अप्राप्ते हि शास्त्रमर्थवत्" इति नयेन पिष्टपेषणवदुपदेशवैयर्थ्यात्, होमोद्देशेन दधिमात्रविधानं दध्ना होमं भावयेदिति दध्नि संचार्यते विधिः। प्रकृते च—इन्द्रचापाभमार्द्रनखक्षतं दधानेति समासोक्त्यलङ्कारेण शरदि नायिकाव्यवहारप्रतीतिर्भविष्यतीति चेत्।

मतमेतत्खण्डयति— **नेति**। एवंविधनिर्वाहे = एतादृशाक्यनिर्वाहे, "दध्ना जुहोती"ति वेदवाक्याधारेणेति शेषः। कष्टसृष्टिकल्पनात् = दुःखोत्पत्तिकल्पनात्, एकदेशविवर्त्युपमाऽङ्गीकारस्यैव, ज्यायस्त्वात् = श्रेयस्त्वात्।

अस्तु वेति। अत्र = 'ऐन्द्रं धनु"रित्यादौ, यथाकथञ्चित् = येन केनाऽपि प्रकारेण, समासोक्तिः, अस्तु वा, "नेत्रैरिवोत्पलैः, पद्मैः" (१३५ पृ०)। इत्यादौ चाऽन्यगत्यसंभवात् = समासोक्तिप्रकाराऽसंभवात्। तदुपजीविकायाः = व्यवहारोपजीविकायाः।

इसमे मीमांसकोंका प्रमाण दिखलाते हैं—**यथेति**। दध्ना जुहोति (दहींसे हवन करता है) इसमे "अग्निहोत्रं जुहुयात्" अर्थात् अग्निहोत्रका हवन करे, इसी उत्पत्तिविधिसे हवनकी प्राप्ति होनेसे होमके उद्देश्यसे दधिमात्रका विधान होता है। इसी तरह इन्द्रधनुके सदृश ताजे नखक्षतको धारण करती हुई ऐसी प्रतीति होगी अर्थात् समासोक्ति अलङ्कारसे शरत् ऋतुमें नायिकाकी प्रतीति होगी, इस मतका खण्डन करते हैं—**इति चेन्नेति**। ऐसा कहोगे तो यह मत ठीक नहीं। **एवंविधाऽनिर्वाह इति**।

ऐसे निर्वाह नहीं होनेवाले स्थलमे कष्टकल्पना करनेसे एकदेशविवर्तिनी उपमा अलङ्कार ही उचिततर (वेहतर) है।

अस्तु वेति। "ऐन्द्रं धनु" इत्यादिमें किसी भी प्रकारसे समासोक्ति हो भी जाय, परन्तु "नेत्रैरिवोत्पलैः पद्मैः (१३५ पृ०) इत्यादिमें समासोक्ति अलङ्कार असंभव है, अर्थात् यह एकदेशविवर्तिनी उपमा है।

किं चेति। फिर और—उपमामें व्यवहारकी प्रतीति नहीं होती है तो व्यवहार प्रतीतिका आश्रय लेनेवाली समासोक्तिका उपमामें कैसे प्रवेश होगा ?

यदाहुः—

'व्यवहारोऽथवा तत्त्वमौपम्ये यत्प्रतीयते।
तन्नौपम्यं समासोक्तिरेकदेशोपमा स्फुटा॥'

एवञ्चोपमारूपकयोरेकदेशविवर्तिताङ्गीकारे तन्मूलसङ्करेऽपि समासोक्तेर-प्रवेशो न्यायसिद्ध एव।

तेनौपम्यगर्भविशेषणोत्थापितत्वं नास्या विषय इति विशेषणसाम्ये श्लिष्ट-विशेषणोत्थापिता साधारणविशेषणोत्थापिता चेति द्विधा कार्यलिङ्गयोस्तुल्यत्वे च द्विविधेति चतुःप्रकारा समासोक्तिः।

सर्वत्रैवात्र व्यवहारसमारोपः कारणम्। स च क्वचिल्लौकिके वस्तुनि लौकिकवस्तुव्यवहारसमारोपः। शास्त्रीये वस्तुनि शास्त्रीयवस्तुव्यवहारसमारोपः।

अत्रार्थे प्राचीनमतसंवादं प्रदर्शयति—**व्यवहार इति।**

औपम्ये = औपम्यगर्भविशेषणस्थले, व्यवहारः = समासोक्तिवद्व्यवहारः अथवा तत्त्व = स्वरूपं, प्रतीयते, तत् औपम्यं, न समासोक्तिः, सा स्फुटा = व्यक्ता, एकदेशोपमा = एकदेशविवर्तिन्युपमा इति भावः। तन्मूलसङ्करे = उपमारूपकसन्देह-सङ्करेपि, एकदेशविवर्तिरूपे इति शेषः। अप्रवेशः=प्रवेशाऽभावः। न्यायसिद्ध एव = उपमायां, रूपके, तदुभयसङ्करे च व्यवहारप्रतीतिर्नास्तीत्येषोऽर्थो युक्तिसिद्ध एव।

स्वमतमुपसंहरति—**तेनेति।** तेन = पूर्वोक्तकारणेन। अस्याः = समा-सोक्तेः। इति=हेतोः। "औपम्यगर्भत्वेन" इति पूर्वोक्तिः "औपम्यगर्भत्वं पुनस्त्रिधा" इति विभागः "दन्तप्रभे" त्याद्युदाहरणत्रयं च परमत एवेति सूचितम्!

सर्वत्रेति। अत्र = समासोक्तौ, व्यवहारसमारोप एव कारणं न तु स्वरूप-समारोपः सादृश्यप्रतीतिर्वा कारणमिति भावः। स च = व्यवहारसमारोपश्च।

जैसे कि कहते हैं—व्यवहार इति। उपमागर्भविशेषण स्थलमें जो व्यवहार वा स्वरूपकी प्रतीति होती है वह औपम्य समासोक्ति नहीं है वह स्पष्ट ही एकदेशोपमा अर्थात् एकदेशविवर्तिनी उपमा है।

एवं चेति। इस प्रकार उपमा और रूपकमें एकदेशविवर्तिताका स्वीकार होनेपर उपमारूपक सन्देह सङ्करमें भी समासोक्तिका अप्रवेश न्यायसिद्ध ही है। इस कारणसे औपम्यगर्भ विशेषणोंसे समासोक्तिका उत्थान नहीं होता है। विशेषण-साम्यमें श्लिष्ट विशेषणसे और साधारण विशेषणसे समासोक्तिके दो भेद होते हैं। इसी तरह कार्य और लिङ्गकी तुल्यतामें समासोक्तिके फिर दो भेद होते हैं। इस-प्रकार समासोक्तिके चार भेद हो जाते हैं। समासोक्तिमें सर्वत्र ही व्यवहारका आरोप कारण होता है। किसी लौकिक वस्तुमें लौकिक वस्तुके व्यवहारका आरोप, शास्त्रीय वस्तुमें शास्त्रीय वस्तुके व्यवहारका आरोप, अथवा लौकिक

लौकिके वा शास्त्रीयवस्तुव्यवहारसमारोपः। शास्त्रीये वा लौकिकवस्तुव्यवहार-समारोप इति चतुर्धा।

अत्र लौकिकवस्त्वपि रसादिभेदादनेकविधम्। शास्त्रीयमपि तर्कायुर्वेदज्योतिः-शास्त्रप्रसिद्धतयेति बहुप्रकारा समासोक्तिः। दिङ्मात्रं यथा-'व्याधूय यद्वसनम्-' इत्यादौ लौकिके वस्तुनि लौकिकस्य हठकामुकव्यवहारादेः समारोपः।

'यैरेकरूपमखिलास्वपि वृत्तिषु त्वां
पश्यद्भिरव्ययमसंख्यतया प्रवृत्तम्।

लौकिके = एतल्लोकभवे, प्रत्यक्षादियोग्ये। शास्त्रीये = शास्त्रमात्रग्राह्ये, न तु लौकिक इति भावः। एवं परत्राऽपि। चतुर्द्धा = प्रकारचातुर्विध्येन।

तत्रेति। लौकिकवस्त्वपि रसादिभेदात् = रसाः (शृङ्गारादयः) तेषां भेदात्। अनेकविधं = बहुप्रकारम्।

शास्त्रीयमपि। तर्कः=न्यायशास्त्रम्, आयुर्वेदः=वैद्यविद्या, ज्योतिःशास्त्रं = ग्रहगणितम्, इत्यादिशास्त्रप्रसिद्धतया इति बहुप्रकारा = अधिकभेदा समासोक्तिः।

लौकिके वस्तुनि लौकिकवस्तुव्यवहारसमारोपे समासोक्तिमुदाहरति—**व्याधूयेति।** विवृणोति—अत्र लौकिके वस्तुनि मलयाचलगन्धवाहे हठकामुक-व्यवहारसमारोपः।

शास्त्रीये वस्तुनि शास्त्रीयवस्तुव्यवहारसमारोपे समासोक्तिमुदाहरति—**यैरिति।** भगवन्तं प्रति भक्तस्य सविनयोक्तिरियम्। हे भगवन्! अखिलासु = समस्तासु, अपि, वृत्तिषु वर्तन्ते=प्रवर्तन्ते आविर्भवन्तीति व्युत्पत्त्या वस्तुषु, स्त्रीत्वादि-लिङ्गेषु वा = सृष्टिस्थितिप्रलयरूपासु, अवस्थासु। सन्मात्रत्वेनाऽविकारित्वात्प्रत्य-यादिविशेषाऽभावाद्वा-अव्ययं = क्षयरहितम्, अन्यत्र अव्ययसंज्ञकम्। असंख्यतया= संख्यातुमशक्यतया, प्रवृत्तं = विद्यमानं, तादृशं त्वां = भवन्तं, पश्यद्भिः = जानद्भिः,

---

वस्तुमें शास्त्रीय वस्तुके व्यवहारका आरोप अथवा शास्त्रीय वस्तुमें लौकिक वस्तुके व्यवहारका आरोप इसप्रकार चार भेद होते हैं। उनमें लौकिक वस्तु भी रस (शृङ्गार) आदिके भेदसे अनेक प्रकारका होता है। शास्त्रीय वस्तु भी तर्क आयुर्वेद और ज्योतिःशास्त्र इनके भेदसे अनेक प्रकारकी समासोक्ति होती है।

दिग्दर्शन जैसे—"व्याधूय यद्वसनम्" (पृ० १८७)। इसमें लौकिक वस्तु मलयाचल वायुमें हठकामुकके व्यवहारका आरोप है।

शास्त्रीय वस्तुमें शास्त्रीय वस्तुके व्यवहारके आरोपमें उदाहरण—**यैरिति।** हे भगवान्! समस्त वृत्तियों (सृष्टि, स्थिति और प्रलयरूप अवस्थाओं वा स्त्रीत्व आदि लिङ्गो) में अव्यय (क्षयरहित वा स्वरादि अव्ययसंज्ञक) असंख्यतया (संख्या करनेमें अशक्य होनेसे) प्रवृत्त (विद्यमान) आपको जाननेवाले जिन्होंने परस्वजुषः

लोपः कृतः किल परत्वजुषो विभक्ते-
स्तैर्लक्षणं तव कृतं ध्रुवमेव मन्ये ॥'

अत्रागमशास्त्रप्रसिद्धे वस्तुनि व्याकरणप्रसिद्धवस्तुव्यवहारसमारोपः । एवमन्यत्र ।

रूपकेऽप्रकृतमात्मस्वरूपसन्निवेशेन प्रकृतस्य रूपमवच्छादयति । इह तु स्वावस्थासमारोपेणावच्छादितस्वरूपमेव तं पूर्वावस्थातो विशेषयति । अत एवात्र व्यवहारसमारोपो न तु स्वरूपसमारोप इत्याहुः ।

यैः = जनैः, परत्वजुषः = भिन्नत्वविषयायाः, त्वदतिरिक्ताः पदार्थाः सन्तीति मतिप्रयुक्तायाः, विभक्तेः = विभागस्य, अन्यत्र तु प्रत्ययरूपायाः स्वादिविभक्तेः, लोपः = उच्छेदः, कृतः = विहितः, तैः = जनैः, ध्रुवं = निश्चितं, तव = भवतः, लक्षणं=स्वरूपाऽवधारणं, कृतं=विहितम्, इति, मन्ये=जाने । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्पद्ये, आगमशास्त्रप्रसिद्धे = वेदशास्त्रप्रख्याते, वस्तुनि = पदार्थे, व्याकरणप्रसिद्धवस्तुव्यवहारसमारोपः ।

एवमन्यत्रेति । एवम्=इत्थम्, अन्यत्र अन्यस्मिन्नपि विषये, ऊह्यमिति शेषः ।

अलङ्कारान्तरेभ्यः समासोक्तेर्भेदं प्रदर्शयति—**रूपक इति** । अप्रकृतम् = अप्रस्तुतं वस्तु, उपमानरूपमिति भावः । आत्मस्वरूपसंनिवेशेन=उपमेये स्वरूपारोपेण; प्रकृतस्य = प्रस्तुतस्योपमेयस्येति भावः । रूपं = स्वभावम्, अवच्छादयति = तिरोदधाति, इह = समासोक्तौ, तु, तत् = अप्रकृतं वस्तु, स्वाऽवस्थासमारोपेण = निजव्यवहारारोपेण, अवच्छादितस्वरूपम् = अवच्छादितं (रूपकवदेव तिरोहितम्) स्वरूपं यस्य तत् । तं = प्रकृतं पदार्थम् । पूर्वाऽवस्थातः = पूर्वदशातः, विशेषयति= विशिष्टं करोति, उत्कर्षयतीति भावः ।

(आपसे अतिरिक्त पदार्थ हैं इस बुद्धिसे प्रयुक्त अथवा प्रत्ययरूप) विभक्ति (वस्तु, सुआदि विभक्ति)का लोप (अभाव) किया है, उन्होंने निश्चित रूपसे आपका लक्षण (स्वरूपका निश्चय) कर लिया है, मैं ऐसा मानता हूँ ।

अत्रेति । इस पद्यमें वेदशास्त्र प्रसिद्ध वस्तुमे व्याकरण प्रसिद्ध वस्तुके व्यवहारका आरोप है । इसी तरह अन्य विषयमें भी कल्पना करनी चाहिए ।

रूपक इति । रूपकमे अप्रकृत अर्थात् उपमानरूप वस्तु उपमेयमें अपने स्वरूपसे प्रकृत अर्थात् उपमेयके रूपको तिरोहित कर देता है, इस (समासोक्ति)में तो वह (अप्रकृत वस्तु) अपने व्यवहारके आरोपसे तिरोहित स्वरूपवाले ही उस (उपमेय)को पहली अवस्थासे विशिष्ट कर देती है । अत एव इस (समासोक्ति)में व्यवहारका समारोप है, न कि स्वरूपका समारोप होता है ऐसा कहते हैं ।

उपमाध्वनौ श्लेषे च विशेष्यस्यापि साम्यम्, इह तु विशेषणमात्रस्य। अप्रस्तुतप्रशंसायां प्रस्तुतस्य गम्यत्वम्, इह त्वप्रस्तुतस्येति भेदः।

उक्तैर्विशेषणैः साभिप्रायैः परिकरो मतः।

यथा—

'अङ्गराज! सेनापते! द्रोणोपहासिन्! कर्ण! रक्षैनं भीमाद् दुःशासनम्!'

अत्र=समासोक्तौ। **उपमेति**। उपमाध्वनौ "हिममुक्तचन्द्ररुचिर" इत्यादौ, श्लेषे च = "प्रवर्तयन् क्रियाः साध्वीः" इत्यादौ वक्ष्यमाणे च।

अप्रस्तुतप्रशसायां, प्रस्तुतस्य = प्रकृतस्य, गम्यत्वं=व्यञ्जनया बोध्यत्वम्।

परिकरं लक्षयति—**उक्तैरिति**। उक्तैः = कथितैः, साऽभिप्रायैः=विशेषाऽभिप्राययुक्तैः, विशेषणैः = भेदकपदैः, परिकरः = तदाख्योऽलङ्कारः, मतः। यद्यप्यपुष्टाऽर्थस्य दोषत्वाऽभिधानात्तन्निराकरणेन पुष्टार्थस्य स्वीकारः कृतस्तथाऽप्येकनिष्ठत्वेन बहूना विशेषणानामेवोपन्यासे वैचित्र्यमित्यलङ्कारमध्येऽयं गणित इति काव्यप्रकाशः।

परिकरमुदाहरति—**अङ्गराजेति**। भीमसेनेन व्यापाद्यमानं दुःशासनमवलोक्य कर्णं प्रति अश्वत्थाम्नः सरोषोपहासवचनमिदम्। अङ्गराज = अङ्गो नाम देशविशेषः, अत्राऽङ्गराजत्वेन पररक्षाऽर्थमधिनायकत्वं प्रतीयते। सेनापते! = सेनापतित्वेनराजभ्रातुर्दुःशासनस्वरक्षणस्याऽऽवश्यकत्वं, द्रोणोपहासिन्=द्रोणोपहासशील! अनयासम्बुद्धयाऽर्जुनेन हन्यमानं जयद्रथं रक्षितुमसमर्थं मत्पितरं कथमुपहसितवानसीत्यभिप्रायः प्रतीयते। अतो विशेषणानां साऽभिप्रायत्वात्परिकराऽलङ्कारः।

उपमाध्वनि और श्लेषमे विशेष्यका भी साम्य होता है, यहाँ (समासोक्ति)-में विशेषणमात्रका साम्य है। अप्रस्तुतप्रशंसामें प्रस्तुत गम्य (व्यङ्ग्य) होता है, यहाँ (समासोक्ति)में अप्रस्तुत गम्य होता है यह भेद है।

उक्तैरिति। कहे गये विशेष अभिप्रायसे युक्त विशेषणोंसे परिकर अलङ्कार होता है॥ ५७॥

अङ्गराजेति। हे अङ्गराज! सेनापते! द्रोणका उपहास करनेवाले! कर्ण! भीमसेनसे दुःशासनकी रक्षा करो। भीमसेनसे मारे जानेवाले दुःशासनको देखकर कर्णके प्रति अश्वत्थामाकी उक्ति है। अङ्ग देशविशेष है "अङ्गराज" कहनेसे है दूसरेकी रक्षाके लिए उसके अधिनायकत्वकी प्रतीति होती है। "सेनापते" कहनेसे राजाके भाई दुःशासनकी रक्षा आवश्यक प्रतीत होती है। "द्रोणोपहासिन्" कहनेसे कर्णके शौर्यका मद प्रतीत होता है।

शब्दैः स्वभावादेकार्थैः श्लेषोऽनेकार्थवाचनम् ॥ ५७ ॥

'स्वभावादेकार्थैः' इति शब्दश्लेषाद् व्यवच्छेदः। 'वाचनम्' इति च ध्वनेः। उदाहरणम्—

'प्रवर्तयन् क्रियाः साध्वीर्मालिन्यं हरितां हरन्।
महसा भूयसा दीप्तो विराजति विभाकरः॥'

अर्थश्लेष लक्षयति—**शब्दैरिति**। स्वभावात् = स्वभावतः, एकार्थैः = एकार्थमात्रवाचकैः, शब्दैः = पदैः, अनेकार्थवाचनम् = अनेकार्थस्य वाचनम् (अभिधया प्रतिपादनम्) श्लेषः ॥ ५७ ॥

विवृणोति—**स्वभावादिति**। "स्वभावात् एकार्थैः"रिति, शब्दश्लेषाद् अलङ्कारात्, व्यवच्छेदः = व्यावृत्तिः, वाचनम् इति च ध्वनेः = व्यवच्छेद इति पूर्वेणाऽन्वयः।

अर्थश्लेषमुदाहरति—**प्रवर्तयन्निति**। कस्यचिद्विभाकरनाम्नो राज्ञः सूर्यसादृश्येन वर्णनपरं पद्यम्। साध्वीः = सर्वसाधारणहितकरीः, क्रियाः = कर्माणि, वापीकूपतडागादिनिर्माणरूपाणीति भावः। प्रवर्तयन् = सम्पादयन्, हरितां = दिशां, सर्वदिग्वर्तिनीनां प्रजानामिति भावः, मालिन्यं = दैन्यं, हरन् = निवारयन्, नानाविधैरुपायैरिति भावः। भूयसा = प्रचुरेण, महसा = उत्सवेन, दीप्तः=प्रकाशितः, विभाकरः = तन्नामकः कश्चिद्राजा, विराजति = शोभते।

सूर्यपक्षे—विभाकरः = सूर्यः, साध्वीः हितावहाः, सन्ध्यावन्दनादिरूपाः, क्रियाः = कर्माणि, प्रवर्तयन् = सञ्चालयन्, स्वोदयेनेति शेषः। हरितां = दिशां, मालिन्यम् = अन्धकाररूपं मलीमसत्वं, हरन् = अपसारयन्, तथा भूयसाः = प्रचुरेण, महसा = तेजसा, दीप्तः = प्रकाशितः सन्, विराजति = शोभते। अनुष्टुब्वृत्तम्।

शब्दैरिति। स्वभावसे एकार्थक शब्दोंसे अनेक अर्थोंका वाचन अर्थात् अभिधा वृत्तिसे प्रतिपादन करनेको "श्लेष" कहते हैं। "स्वभावात् एकार्थैः" कहनेसे शब्दश्लेषकी व्यावृत्ति होती है। "वाचन" कहनेसे श्लेषध्वनिकी व्यावृत्ति होती है। उदाहरण—**प्रवर्तयन्निति**। उत्तम क्रियाओं (वापी, कूप और तडाग आदिके निर्माणों)को प्रवृत्त कराते हुए अनेक उपायोंसे सब दिशाओंमें रहने वाली प्रजाओंके दैन्यको हटाते हुए उत्सवसे प्रकाशित विभाकर नामके कोई राजा शोभित हो रहे हैं।

सूर्यपक्षमें—हितकारक सन्ध्यावन्दन आदि कर्मोंको प्रवृत्त करते हुए दिशाओंकी अन्धकाररूप मलिनताको हटाते हुए सूर्य प्रचुर तेजसे शोभित हो रहे हैं।

अत्र प्रकरणादिनियमाभावाद् द्वावपि राजसूर्यौ वाच्यौ।

क्वचिद्विशेषः सामान्यात्, सामान्यं वा विशेषतः।
कार्यान्निमित्तं, कार्यं च हेतोरथ समात् समम् ॥ ५८ ॥
अप्रस्तुतात् प्रस्तुतं चेद् गम्यते पञ्चधा ततः।
अप्रस्तुतप्रशंसा स्याद्—

क्रमेणोदाहरणम्—

'पादाहतं यदुत्थाय मूर्धानमधिरोहति।
स्वस्थादेवापमानेऽपि देहिनस्तद्वरं रजः ॥'

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, प्रकरणादिनियमाऽभावात्—"संयोगो विप्रयोगश्च"त्यादिपूर्वप्रतिपादिताऽभिधानियामकाऽभावात्, वाच्यौ = अभिधावृत्त्या प्रतिपाद्यौ।

अप्रस्तुतप्रशंसां लक्षयति—**क्वचिदिति**। क्वचित् = कुत्रचित्, अप्रस्तुतात् = अप्रकृतात्, सामान्यात्, प्रस्तुतः = प्रकृतः, विशेषः, गम्यते, चेत् १, क्वचित् अप्रस्तुतात्, विशेषतः = विशेषात्, प्रस्तुतं निमित्तं गम्यते चेत् २, क्वचित् अप्रस्तुतात् कार्यात्, प्रस्तुतं निमित्तं = कारणं, गम्यते चेत् ३, क्वचित् अप्रस्तुतात् हेतोः = कारणात्, प्रस्तुतं, कार्यं, गम्यते चेत् ४, तथा अप्रस्तुतात् ॥ ५८ ॥

समात् = तुल्यरूपाद्वस्तुनः, प्रस्तुतं समं = तुल्यरूपं वस्तु, गम्यते=प्रतीयते, चेत् = यदि, ततः = तदा, पञ्चधा = पञ्चप्रकारा, अप्रस्तुतप्रशंसा = अलङ्कारः, स्यात् = भवेत्।

तथा च—अप्रस्तुतात्प्रस्तुतप्रतीतिरप्रस्तुतप्रशंसेति सामान्यलक्षणम्। सा चाऽप्रस्तुतप्रशंसा, पूर्ववर्णितदिशा पञ्चप्रकारेति भावः।

अप्रस्तुतसामान्यात्प्रस्तुतविशेषप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसामुदाहरति— **पादाहतमिति**। शिशुपालवधद्वितीयसर्गे बलरामस्योक्तिरियम्। यत्, रजः = धूलिः,

---

अत्रेति। यहां प्रकरण आदि नियमके न होनेसे राजा और सूर्य दोनों ही वाच्य हैं।

क्वचिदिति। १ कहीं अप्रस्तुत सामान्यसे प्रस्तुत विशेष, २ कहीं अप्रस्तुत विशेषसे प्रस्तुत सामान्य, ३ कहीं अप्रस्तुत कार्यसे प्रस्तुत निमित्त (कारण), ४ कहीं अप्रस्तुत कारणसे प्रस्तुत कार्य, और ५ कही अप्रस्तुत सम (तुल्यरूप वस्तु)से प्रस्तुत सम (तुल्यरूप वस्तु) व्यञ्जना वृत्तिसे जाने जाते हैं इस प्रकार पाँच प्रकारकी अप्रस्तुतप्रशंसा होती है ॥ ५८ ॥

क्रमसे उदाहरण—**पादेति**। उद्धव, बलराम और श्रीकृष्णकी सभामें बलरामकी उक्ति है।

अत्रास्मदपेक्षया रजोऽपि वरमिति विशेषे प्रस्तुते सामान्यमभिहितम्।

'स्रगियं यदि जीवितापहा हृदये किं निहिता न हन्ति माम्।
विषमप्यमृतं क्वचिद्भवेदमृतं वा विषमीश्वरेच्छया॥'

अत्रेश्वरेच्छया क्वचिदहितकारिणोऽपि हितकारित्वं, हितकारिणोऽप्यहितकारित्वमिति सामान्ये प्रस्तुते विशेषोऽभिहितः। एवञ्चात्राप्रस्तुतप्रशंसामूलोऽर्थान्तरन्यासः।

पादाहतं = पादेन (चरणेन) आहतं (ताडितम्) सत्, उत्थाय = उत्पत्य, मूर्धनम् = आहन्तुः शिरः, अधिरोहति = आक्रामति। अवमानेऽपि = अपमानेऽपि, स्वस्थात् = सन्तुष्टात्, देहिनः = चेतनपदार्थात्, तत् = पूर्वोक्तम्, अचेतनमपि, रजः= धूलिः, वरं = श्रेष्ठम्। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, अस्मदपेक्षया = शिशुपालेनाऽवमानितानाम् अस्माकम् (यादवानाम्) अपेक्षया, अचेतनं सत्, रजः = धूलिः, अपि वरं = श्रेष्ठम् इति विशेषे प्रस्तुते सामान्यं देहिरूपमभिहितम्।

अप्रस्तुतविशेषात् प्रस्तुतसामान्यप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसामुदाहरति—**स्रगियमिति**। रघुवंशस्याऽष्टमसर्गस्थं पद्यमिदम्। इन्दुमतीनिधनाऽनन्तरमजस्य परिदेवनमिदम्। इयं = सन्निकृष्टस्था, स्रक् = पुष्पमाला, जीविताऽपहा यदि = जीवनघातिका चेत्, इन्दुमत्या इति शेषः। हृदये = मम वक्षःस्थले, निहिता = स्थापिता सती, माम् = अजं, किं न हन्ति = कथं न हिनस्ति। ईश्वरेच्छया = भगवद्वाञ्छया, विषं = गरलम्, अपि, क्वचित् = कुत्रचित्, अमृतं = पीयूषं, भवेत् = स्यात्, क्वचित्, अमृतं = पीयूषम्, अपि, विषं = गरलं, भवेत् = स्यात्। ईश्वर एवाऽत्र हेतुरिति भावः। वियोगिनी वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अहितकारिणः = पदार्थस्य, अपि, हितकारित्वं,

---

पैरसे ताडित होनेपर जो धूल शिरपर चढ़ जाती है, अपमान होनेपर सन्तुष्ट मनुष्यसे वह धूल अच्छी है।

अत्रेति। इस पद्यमें शिशुपालसे अपमानित होकर भी सहनेवाले हम लोगोंसे धूल भी अच्छी है। यहाँ प्रस्तुत विशेषमें देहिरूप सामान्य कहा गया है।

स्रगिति। इन्दुमतीकी मृत्यु होनेपर अजकी उक्ति है। यह माला जीवनको नष्ट करनेवाली है तो मेरे हृदयपर रक्खी जाती हुई मुझे क्यों नहीं मार देती है। ईश्वरकी इच्छासे कहीं विष भी अमृत हो जाता है अथवा अमृत भी विष हो जाता है।

अत्रेति। यहाँ ईश्वरकी इच्छासे कहीं अहित करनेवाला भी हितकारी हो जाता है और कहीं हित करनेवाला भी अहितकारी हो जाता है ऐसे प्रस्तुत

दृष्टान्ते प्रख्यातमेव वस्तु प्रतिबिम्बत्वेनोपादीयते। इह तु विषामृतयोरमृतविषीभावस्याप्रसिद्धेर्न तस्य सद्भावः।

'इन्दुर्लिप्त इवाञ्जनेन, जडिता दृष्टिर्मृगीणामिव,
प्रम्लानारुणिमेव विद्रुमदलं, श्यामेव हेमप्रभा।
कार्कश्यं कलया च कोकिलवधूकण्ठेष्विव प्रस्तुतं
सीतायाः पुरतश्च हन्त! शिखिनां बर्हाः सगर्हा इव॥'

भवतीति शेषः। एवं हितकारिणोऽप्यहितकारित्वमिति सामान्ये प्रस्तुते विशेषः = विषाऽमृतयोरमृतविषीभवनरूपः अभिहितः।

एवं चाऽत्रेति। अप्रस्तुतप्रशंसामूलः अर्थान्तरन्यासः = सामान्येन विशेषसमर्थनरूप इति भावः।

दृष्टान्ताऽर्थान्तरन्यासौ विविनक्ति—**दृष्टान्त इति।** प्रख्यातं = प्रसिद्धम्। प्रतिबिम्बत्वेन = उपमानत्वेन, इह तु = "स्रगियम्" इत्यादिपद्ये तु। तस्य = दृष्टान्तस्य, सद्भावः = अस्तित्वम्।

अप्रस्तुतात्कार्यात्प्रस्तुतकारणप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसामुदाहरति—**इन्दुरिति।** सीतायाः सौन्दर्याऽतिशयस्योक्तिरियम्। सीतायाः = जनकनन्दिन्याः, पुरतः = अग्रतः, इन्दुः = चन्द्रः, अञ्जनेन = कज्जलेन, लिप्त इव = उपदिग्ध इव, प्रतीयत इति शेषः। सीतामुखसौन्दर्याऽतिशयवर्णनमिदम्। इत्थं मृगीणां = हरिणीनां, दृष्टिः = नयनम्। जडिता इव=स्तब्धा इव, चाञ्चल्यरहिता इव, सीतानयनाऽतिशयसौन्दर्यवर्णनमिदम्। विद्रुमदलं = प्रवालखण्डः प्रम्लानाऽरुणिमा प्रकर्षेण म्लानः (ग्लानः) अरुणिमा (लौहित्यम्), यस्य तत्। एतेन सीताया अधरोष्ठस्य विद्रुमदलशोभातिशायित्वं प्रतीयते। हेमप्रभा = सुवर्णकान्तिः, श्यामा इव = कृष्णवर्णा इव। सीताया देहकान्तिवर्णनमिदम्, कोकिलवधूकण्ठेषु = कोकिलवधूनां (कोकिलानां) कण्ठेषु (गलस्वरेषु), कलया = लेशेन, कार्कश्यं = कठोरता, प्रस्तुतं = दैवेन प्रणीतम्। सीताकण्ठस्वरोऽतीव कोमल इति भावः। इयं सीतायाः कण्ठस्वरप्रशंसा। तथा

सामान्यमे विषका अमृत होना और अमृतका विष होना ऐसा अप्रस्तुत विशेष कहा गया है।

एवं चेति। अप्रस्तुतप्रशंसामूलक अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है। दृष्टान्त अलङ्कारमे प्रख्यात वस्तु ही प्रतिबिम्बरूपसे लिया जाता है यहाँ (अप्रस्तुतप्रशंसामें) विषका अमृत होना और अमृतका विष होना इस विषयकी प्रसिद्धि न होनेसे दृष्टान्त अलङ्कारका अस्तित्व नहीं है।

इन्दुरिति। सीताके आगे चन्द्रमा कज्जलसे लिप्तके समान प्रतीत होता है। और मृगियोंके नेत्र स्तब्धसे लगते हैं, विद्रुमदल (मूँगेके खण्ड) की लालिमा

अत्र सम्भाव्यमानेभ्य इन्द्वादिगताञ्जनलिप्तत्वादिभ्यः कार्येभ्यो वदनादिगतसौन्दर्यविशेषरूपं प्रस्तुतं कारणं प्रतीयते ।

'गच्छामीति मयोक्तया मृगदृशा निःश्वासमुद्रेकिणं
त्यक्त्वा तिर्यगवेक्ष्य बाष्पकलुषेणैकेन मां चक्षुषा ।
अद्य प्रेम मदर्पितं प्रियसखीवृन्दे त्वया वध्यता-
मित्थं स्नेहविवर्धितो मृगशिशुः सोत्प्रासमाभाषितः ॥'

च सीतायाः पुरतः, शिखिनां = मयूराणां बर्हाः = पिच्छानि, सगर्हा इव = निन्दिता इव । हन्तेति सीतायाः सौन्दर्योत्कर्षे हर्षद्योतकं वा इन्द्वादीनामपकर्षे खेदद्योतकमव्ययम् । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्पद्ये, संभाव्यमानेभ्यः = उत्प्रेक्षाविषयीक्रियमाणेभ्यः, इन्द्वादीत्यादिः०=इन्द्वादिगतेभ्यः (इन्द्वादिप्राप्तेभ्यः) अञ्जनलिप्तत्वादिभ्यः (कज्जललिप्तत्वादिभ्यः, अप्रस्तुतकार्येभ्य इति भावः) । वदनादिगतेत्यादिः०=वदनादिगतं (सीताया मुखादिस्थितम्) सौन्दर्यविशेषरूपं (लावण्यविशेषरूपम्) प्रस्तुतं (प्रकृतम्) कारणं (हेतुः) प्रतीयते । इत्थं चोत्प्रेक्षामूलाऽप्रस्तुतप्रशंसा ।

अप्रस्तुतकारणात् प्रस्तुतकार्यप्रतीतावप्रस्तुतप्रशंसामुदाहरति—**गच्छामीति** । त्वं किं प्रस्थाननिवृत्तोऽसीति पृच्छन्तं सखायं प्रति कस्य चिदुक्तिरियम् "अहं गच्छामि" इति मया उक्तया = अभिहितया, मृगदृशा = हरिणनयनया, मत्प्रिययेति भावः । उद्रेकिणम् = आधिक्ययुक्तं, विरहजनितखेदस्येति शेषः, निःश्वासं = मुखनासाभ्यां निर्गतं वायुं, त्यक्त्वा = मुक्त्वा, बाष्पकलुषेण = नयनसलिलाविलेन: एकेन, चक्षुषा = नयनेन, तिर्यक् = वक्रम्, अवेक्ष्य = दृष्ट्वा, त्वया = भवता, मयि (विषये), अर्पितं (समर्पितम्), प्रेम=स्नेहः, अद्य = अस्मिन्दिने, अद्यतः प्रभृति वा, प्रियसखीवृन्दे = अभीष्टवयस्यासमूहे, वध्यतां = निबध्यताम्, इत्थम् = अनेन प्रकारेण, स्नेहविवर्धितः = वात्सल्यपरिपोषितः, मृगशिशुः = हरिणशावकः;

मलिन-सी प्रतीत होती है । सुवर्णकी कान्ति काली-सी लगती है । मादा कोयलोंके कण्ठोंमे कठोरताका लेश प्रतीत होता है और मोरोके पंख भी निन्दितसे लगते हैं ।

अत्रेति । यहाँ संभावनाके विषयीभूत चन्द्र आदिमे प्राप्त कज्जललिप्तत्व आदि अप्रस्तुत कार्योंसे सीताजीके मुख आदिमें स्थित सौन्दर्य विशेषरूप प्रस्तुत कारण प्रतीत होता है ।

गच्छामीति । "मैं जाता हूँ" ऐसा मेरे कहनेपर मृगनयना (मेरी प्रिया)ने लम्बा निःश्वास छोड़कर अश्रुपूर्ण नेत्रसे मुझे तिरछा देखकर स्नेहसे बढ़ाये गये मृगशावकको "मुझमें स्थित प्रेम तुम आजसे मेरी प्रियसखियोंमे रख लो" ऐसा मन्दहास्यपूर्वक कहा ।

अत्र कस्यचिदगमनरूपे कार्ये कारणमभिहितम् ।

तुल्ये प्रस्तुते तुल्याभिधाने च द्विधा श्लेषमूला सादृश्यमात्रमूला च । श्लेषमूलाऽपि समासोक्तिवद्विशेषणमात्रस्य श्लेषे श्लेषवद्विशेष्यस्यापि श्लेषे भवतीति द्विधा ।

क्रमेण यथा—

'सहकारः सदामोदो वसन्तश्रीसमन्वितः ।
समुज्ज्वलरुचिः श्रीमान् प्रभूतोत्कलिकाकुलः ॥'

सोत्प्रासं = मन्दहास्यपूर्वकम्, आभाषितः = उक्तः । कान्तवियोगं सोढुमसमर्थाऽहं मरिष्यामीतित्यभिप्रायः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

विवृणोति—अत्रेति । अत्र = अस्मिन्पद्ये, कस्यचित् = पुरुषस्य, अगमनरूपे = देशान्तरप्रस्थानाऽभावरूपे, कार्ये, प्रस्तुते सति, कारणम् = अप्रस्तुतो हेतुः "अद्य प्रेम०" इत्यादिरूपं मरणसूचकं वाक्यमिति भावः । अभिहितम् = उक्तम् ।

तुल्य इति । तुल्ये = वस्तुनि, प्रस्तुते । तुल्याऽभिधाने = तुल्यस्य (अप्रस्तुतस्य वस्तुनः) अभिधाने । विशेष्यस्याऽपि = अपि शब्दाद्विशेषणस्याऽपि ।

अप्रस्तुतात्समात् प्रस्तुतसमे केवलविशेषणश्लेषेऽप्रस्तुतप्रशंसामुदाहरति—सहकार इति । भविष्यतो वरस्याऽवस्थां पृच्छन्तीं नायिकां प्रति सहकारवर्णनव्याजेन तत्सख्या उक्तिरियम् । सदाऽऽमोदः=सदा (सर्वदा) आमोदः (अतिनिर्हारि सौरभं, हर्षश्च) यस्य सः । वसन्तश्रीसमन्वितः = वसन्ते (वसन्ततौं) श्रिया (शोभया) समन्वितः (संयुक्तः), अन्यत्र—वसन्तः (वसन्तर्तुः) इव श्रीसमन्वितो (स्वाभाविकशोभासंयुक्तः) । समुज्ज्वलरुचिः = सम्यक् उज्ज्वला (अवदाता) रुचिः (कान्तिः) यस्य सः । अन्यत्र—समुज्ज्वले (उत्तमशृङ्गारे) रुचिः (इच्छा) यस्य सः । "शृङ्गारः शुचिरुज्ज्वल" इत्यमरः । श्रीमान् =

अत्रेति । इस पद्यमें किसी पुरुषने अपने मित्रके "तुम क्यों प्रस्थानसे निवृत्त हुए हो" ऐसा पूछनेपर अपने अगमनरूप प्रस्तुत कार्यमें "अद्य प्रेम०" इत्यादिमें कहे गये प्रियाके मरणसूचक वाक्यरूप अप्रस्तुत कारण बताया गया है ।

तुल्य इति । तुल्य वस्तु प्रस्तुत होनेपर अप्रस्तुत तुल्य वस्तुके अभिधानमें दो भेद होते हैं—श्लेषमूलक और सादृश्यमात्रमूलक । श्लेषमूलक भी समासोक्तिकी समान विशेषणमात्रके श्लेषमे और श्लेषके समान विशेषण और विशेष्यके भी श्लेषमे होती है, इसप्रकार इसके भी दो भेद होते हैं । क्रमसे जैसे—

सहकार इति । सदामोद सदा आमोद (अतिशय सुगन्ध)से वा सदा आमोद (हर्ष)से युक्त, वसन्तश्रीसमन्वित = वसन्त ऋतुमें शोभासे युक्त अथवा वसन्तके समान शोभासे युक्त, समुज्ज्वलरुचि = अत्यन्त उज्ज्वल रुचि (कान्ति)से युक्त, अथवा समुज्ज्वल (उत्तम शृङ्गार)में रुचि (इच्छा)से युक्त, श्रीमान् =

अत्र विशेषणमात्रश्लेषवशादप्रस्तुतात्सहकारात्कस्यचित्प्रस्तुतस्य नायकस्य प्रतीतिः।

'पुंस्त्वादपि प्रविचलेद्यदि यद्यधोऽपि
यायाद्यदि प्रणयने न महानपि स्यात्।
अभ्युद्धरेत्तदपि विश्वमितीदृशीयं
केनापि दिक्प्रकटिता पुरुषोत्तमेन ॥'

कुसुमसमृद्धः, सम्पत्तिमांश्च। प्रभूतोत्कलिकाकुलः=प्रभूताः (प्रचुरा) या उत्कलिकाः (उत्पन्नकोरकाः) ताभिः आकुलः (व्याप्तः), अन्यत्र प्रभूताः (प्रचुराः) या उत्कलिकाः (उत्कण्ठाः) ताभिः आकुलः (अधीरः)। तादृशः सहकारः = अतिसौरभ आम्रः। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, विशेषणमात्रश्लेषवशात् = अत्र मात्रपदेन विशेष्यस्य "सहकार" पदस्य न श्लेष इति सूचितम्

अप्रस्तुतात् समात् प्रस्तुतसमे केवलविशेष्यश्लेषेऽप्रस्तुतप्रशंसामाह—**पुंस्त्वादिति**। मल्लटशतके गजवर्णन प्रसङ्गस्थ पद्यमिदम्। पुंस्त्वात् = पुरुषभावात्, अपि, प्रविचलेत्=विचलितो भवेत्, महिलाऽपि स्यादिति भावः। अन्यत्र तु—पुरुषत्वरहितोऽपि भवेत्। अधः = अधोलोकं, पातालमिति भावः। अन्यत्र—नरकम् अपि, यायात् = गच्छेत्। प्रणयने = याच्ञायाम्, "प्रणयः प्रश्रये प्रेम्णि याच्ञाविश्रम्भयोरपि।" इति मेदिनी। महान् = उत्तमः, अपि, न स्यात् यदि = नो भवेत् चेत्, तदपि = तथाऽपि, विश्वं = लोकं, निजराष्ट्रं च, अभ्युद्धरेत् = अभ्युद्धृतं कुर्यात् दैत्याऽधिकारादरिसकाशाच्च। अत एव इतीदृशी = एतादृशी, इयं दिक् = ईदृशः प्रकारः, केनाऽपि = निर्वक्तुमशक्येन, पुरुषोत्तमेन = विष्णुना, पुरुषश्रेष्ठेन वा, प्रकटिता = प्रकाशिता। वसन्ततिलका वृत्तम्।

फूलोंकी शोभासे युक्त, अथवा सम्पत्तिसे युक्त, प्रभूतोत्कलिकाऽऽकुलः = प्रचुर कलियोंसे युक्त, अथवा—प्रचुर उत्कलिका (उत्कण्ठा)ओंसे युक्त, ऐसा सहकार (कलमी आमका पेड़) है।

अत्रेति। यहाँ केवल विशेषणोंके श्लेषसे अप्रस्तुत सहकारसे किसी प्रस्तुत नायककी प्रतीति होती है।

पुंस्त्वादिति। पुंस्त्व (पुरुषभाव वा पुरुषार्थ)से विचलित हो, अधः (नीचे वा अधोलोक अर्थात् पाताल)में जाय, प्रणयन (मांगने)ने उत्तम भी न हो तो भी विश्व (लोक अथवा अपने राष्ट्र)का उद्धार करे ऐसा प्रकार किसी पुरुषोत्तम (मोहिनी रूपधारी, वामनाऽवतारधारी भगवान् विष्णु अथवा पुरुषोत्तम नामवाले किसी राजा)ने प्रकाशित किया है।

अत्र पुरुषोत्तमपदेन विशेष्येणापि श्लिष्टेन प्रचुरप्रसिद्धया प्रथमं विष्णुरेव बोध्यते। तेन वर्णनीयः कश्चित्पुरुषः प्रतीयते।

सादृश्यमात्रमूला यथा—

'एकः कपोतपोतः, शतशः श्येनाः क्षुधाभिधावन्ति।
अम्बरमावृतिशून्यं हरहर शरणं विधेः करुणा॥'

अत्र कपोतादप्रस्तुतात्कश्चित्प्रस्तुतः प्रतीयते। इयं च क्वचिद्वैधर्म्येणाऽपि भवति।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये, विशेष्येणाऽपि = भेद्येनाऽपि, न केवलं पुंस्त्वादिविशेषणेनेति अपिपदस्यार्थः। श्लिष्टेन = श्लेषयुक्तेन, पुरुषोत्तमपदेन प्रचुरप्रसिद्धया = प्रभूतप्रथित्या, प्रथमम् अप्रस्तुतो विष्णुरेव बोध्यते। तच्च यथा—पुंस्त्वात् प्रविचलनं सुरकार्यसिद्धयर्थं मोहिनीरूपधारणम्। अधोयानं = भक्तप्रह्लादस्य, प्रसादनार्थं पाताललोकगमनम्। सुरकार्यसिद्धयर्थं वामनरूपेण बलेः पदत्रयपरिमितभूमियाच्ञायां वामनत्वम् इत्थं च वर्णनीयः = वर्णनाऽर्हः, कश्चित्पुरुषः प्रतीयते।

अप्रस्तुतात्तुल्यात्प्रस्तुततुल्ये सादृश्यमात्रमूलामप्रस्तुतप्रशंसामुदाहरति—**एक इति**। बहुभिः शत्रुभिराक्रान्तं कंचिद्राजकुमारं दृष्ट्वा कस्यचित्सहृदयस्योक्तिरियम्। एकः = एकाकी, असहाय इति भावः। कपोतपोतः = पारावतशावकः। इतश्च, शतशः = बहुसंख्यकाः, श्येनाः = पत्त्रिणः पक्षिणः, "पत्त्री श्येन" इत्यमरः। क्षुधा = बुभुक्षया, अभिधावन्ति = शीघ्रमभिगच्छन्ति। त भक्षयितुमिति शेषः। अम्बरम् = आकाशम्, आवृतिशून्यम्, आश्रयस्थानरहितमिति भावः। हरहर = शिव शिव। विधेः = विधातुः, करुणा = दया, शरणं = रक्षित्री। आर्या वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। कश्चित् = असहायः पुरुषः।

इयं चेति। इयम् = अप्रस्तुतप्रशंसा।

अत्रेति। यहाँ विशेष्य श्लिष्ट पुरुषोत्तम पदसे अधिक प्रसिद्धिसे पहले भगवान् विष्णुका बोध होता है। उसी पदसे वर्णनीय किसी पुरुषकी प्रतीति होती है।

सादृश्यमात्रमूलक अप्रस्तुतप्रशंसा जैसे—**एक इति**। अकेला कबूतरका बच्चा है, सैकड़ों बाज भूखसे उसके सामने आ रहे हैं। आकाश आवरण (आश्रय)से शून्य है। शिव! शिव! विधाताकी दया ही शरण है।

अत्रेति। यहाँ अप्रस्तुत कपोतसे प्रस्तुत शत्रुओंसे आक्रान्त किसी असहाय पुरुषकी प्रतीति होती है।

इयं चेति। यह (अप्रस्तुत प्रशंसा) कहीं वैधर्म्यसे भी होती है।

'धन्याः खलु वने वाताः कह्लारस्पर्शशीतलाः ।
राममिन्दीवरश्यामं ये स्पृशन्त्यनिवारिताः ॥'

अत्र वाता धन्या अहमधन्य इति वैधर्म्येण प्रस्तुतः प्रतीयते । वाच्यस्य सम्भवासम्भवोभयरूपतया त्रिप्रकारेयम् । तत्र सम्भवे उक्तोदाहरणान्येव ।

असम्भवे यथा—

'कोकिलोऽहं भवान् काकः समानः कालिमावयोः ।
अन्तरं कथयिष्यन्ति काकलीकोविदाः पुनः ॥'

अप्रस्तुतात्तुल्यात् प्रस्तुततुल्ये वैधर्म्यमूलामप्रस्तुतप्रशंसामुदाहरति—**धन्या इति** । रामस्य स्मरतो दशरथस्योक्तिरियम् । कह्लारस्पर्शशीतलाः = कह्लाराणां (शीतलानां रक्तोत्पलानाम्) स्पर्शेन (आमर्शनेन) शीतलाः (शीताः) वने = विपिने, वाताः = पवनाः, धन्याः = पुण्यवन्तः । धन्यत्वं सूचयति—**राममिति** । ये = वाताः, अनिवारिताः = केनाऽप्यनिरुद्धाः सन्तः, इन्दीवरश्यामम् = इन्दीवरम् (नीलकमलम्) इव श्यामं (कृष्णवर्णम्) रामं=रामचन्द्रं, स्पृशन्ति=आमृशन्ति । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन्नुदाहरणे, वाता धन्याः, इति वैधर्म्येण = विभिन्नधर्मत्वेन अहमधन्य इति प्रस्तुतः प्रतीयते ।

अप्रस्तुतप्रशंसां पुनस्त्रैविध्येन विभजते—**वाच्यस्येति** । वाच्यस्य=वाच्याऽर्थस्य, संभवाऽसंभवेत्यादिः०=संभवरूपतया, असंभवरूपतया, उभयरूपतया (संभवाऽसंभवरूपतया) च इयम् = अप्रस्तुतप्रशंसा, त्रिप्रकारा = त्रिभेदा । तत्र भेदत्रये, संभवे = वाक्यार्थस्येति भावः । मनुष्यवक्तृकत्वादुक्तिसंभवस्थाने इति भावः । उक्तोदाहरणानि = "पादाहतम्" इत्यादीनि ।

अप्रस्तुतात्समद्वयात्प्रस्तुतसमद्वयतुल्येऽसंभवेऽप्रस्तुतप्रशंसामुदाहरति—**कोकिलोऽहमिति** । स्वसमानत्वेन स्पर्धमानं कंचिदुद्दिश्य कस्यचिदुक्तिरियम् । अहं, कोकिलः = पिकः, भवान्, काकः = ध्वाङ्क्षः, आवयोः = कोकिलकाकरूपयोः, कालिमा = कृष्णवर्णत्वं, समानः = तुल्यः, पुनः = परन्तु, काकलीकोविदाः =

धन्या इति । शीतल रक्त कमलोंके स्पर्शसे शीतल वनमें वायु धन्य हैं, जो कि रोक-टोकके विना नीलकमलके समान साँवले श्रीरामका स्पर्श कर पाते हैं ।

अत्रेति । यहाँ वायु धन्य है, पर मैं अधन्य हूँ, वैधर्म्यसे ऐसे प्रस्तुतकी प्रतीति होती है ।

वाच्यस्येति । वाच्य अर्थके संभव, असंभव और उभयरूप होनेसे अप्रस्तुत प्रशंसा तीन प्रकारकी होती है ।

उनमें संभवमें कहे गये उदाहरण ही हैं । असंभवमें जैसे—**कोकिल इति** ।

अत्र काककोकिलयोर्वाकोवाक्यं प्रस्तुतस्याध्यारोपणं विनाऽसम्भवि ।

उभयरूपत्वे यथा—

'अन्तश्छिद्राणि भूयांसि कण्टका बहवो बहिः ।
कथं कमलनालस्य मा भूवन् भङ्गुरा गुणाः ॥'

सूक्ष्मकलशब्दज्ञातारो जनाः, अन्तरं = कर्णकठोरशब्दकारकेण त्वया समं मम भेदं वैधर्म्यमिति भावः । कथयिष्यन्ति = प्रतिपादयिष्यन्ति । कलालापिनो मम कठोराक्रोशिनस्तव च महान् भेदः, इति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—अत्रेति । वाकोवाक्यम्=उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यम् । वाकोवाक्यस्य लक्षणं यथा सरस्वतीकण्ठाभरणे—

"उक्तिप्रत्युक्तिमद्वाक्यं वाकोवाक्यं विदुर्बुधाः ।
द्वयोर्वक्त्रोस्तद्विच्छन्ति बहूनामपि सङ्क्रमे ॥"

"वाक्योपवाक्य"मिति पुस्तकान्तरपाठस्तत्र वादप्रतिवाद इत्यर्थः । प्रस्तुताऽध्यारोपणं विना = प्रस्तुतस्य (एतदुक्तिसमर्थस्य जनस्य) अध्यारोपणम् = अप्रस्तुते वक्तरि कोकिले आरोपं, विना, असंभवि = संभवरहितम् । पक्षिरूपस्य कोकिलस्येदृग्वचनसामर्थ्याभावादिति भावः ।

अप्रस्तुतात्समन्वयात्प्रस्तुतसमन्वयतुल्ये उभयरूपे (सम्भवाऽसम्भवरूपे, अंशतः सम्भवे, अंशतः असंभवे चेति भावः) अप्रस्तुतप्रशंसां लक्षयति—अन्तश्छिद्राणीति । स्वमतिमान्द्येन शत्रुतः प्राप्तपराजयं विनष्टयशसं कंचिदुद्दिश्य कस्यचिदुक्तिरियम् । अन्तः = अभ्यन्तरे, भूयांसि = प्रचुराणि, छिद्राणि = रन्ध्राणि, कुटुम्बदुश्चरितानि च । बहिः = बाह्यभागे, बहवः = प्रचुराः, कण्टकाः = तीक्ष्णाऽग्राः, क्षुद्रशत्रवश्च, सन्तीति शेषः । अत एव कमलनालस्य = पद्मनालदण्डस्य, गुणाः = अन्तःस्थसूत्राणि, परोपकारादिगुणजनितयशांसि च, कथं = केन प्रकारेण, भङ्गुराः = छिदुराः विनश्वराश्च, मा भूवन् = नो भवेयुः, भवेयुरेवेति भावः । "माङि लुङ्" इति लुङ्, "न माङ्योगे" इत्यडभावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

मैं कोकिल हूँ और आप कौआ हैं, हम दोनोंमें कालापन समान है, परन्तु जो सूक्ष्म मधुर स्वरके जानकार हैं वे हम दोनोंका भेद कहेंगे ।

अत्रेति । इस पद्यमें कौआ और कोयलकी उक्ति और प्रत्युक्तिसे युक्त वाक्य प्रस्तुत (ऐसा कहनेमें समर्थ) मनुष्यका अप्रस्तुत कोकिलरूप वक्तामें आरोपके विना सम्भव नहीं ।

उभयरूपका उदाहरण—अन्तरिति । जहाँ भीतर बहुतसे छिद्र और कुटुम्बोंके दुश्चरित, बाहर बहुतेरे कण्टक (काँटे और क्षुद्र शत्रु) ऐसे कमलनालके गुण भङ्गुर (भङ्गशील) क्यों नहीं हों ?

अत्र प्रस्तुतस्य कस्यचिदध्यारोपणं विना कमलनालान्तश्छिद्राणां गुणभङ्गुरीकरणे हेतुत्वमसम्भवि। अन्येषां तु सम्भवीत्युभयरूपत्वम्। अस्याश्च समासोक्तिवद् व्यवहारसमारोपप्राणत्वाच्छब्दशक्तिमूलाद्वस्तुध्वनेर्भेदः।

उपमाध्वनावप्रस्तुतस्य व्यङ्ग्यत्वम्। एवं समासोक्तावपि। श्लेषे तु द्वयोरपि वाच्यत्वम्।

विवृणोति—अत्रेति। अत्र = अस्मिन्पद्ये। प्रस्तुतस्य = प्रकृतस्य, कस्यचित् = कामक्रोधादिदोषयुक्तस्य जनस्य, अध्यारोपणं विना = कमलनाल आरोप विना। गुणभङ्गुरीकरणे = अभ्यन्तरस्थतन्तुच्छेदने, हेतुत्वं = कारणत्वम्, असंभवि= असंभवयुक्तम्। अन्येषां तु = कण्टकानां तु, संभवि = संभवयुक्तं, गुणभङ्गुरीकरणे हेतुत्वं संभवम्। प्रस्तुताऽध्यारोपणं विनाऽपीति शेषः। इति = अस्माद्धेतोः, उभयरूपत्वं = संभवाऽसंभवरूपत्वम्।

अप्रस्तुतप्रशंसाया ध्वनेरलङ्कारान्तराच्च भेदं दर्शयति—अस्याश्चेति। अस्याः = अप्रस्तुतप्रशंसायाः, श्लेषेण समादप्रस्तुतात् प्रस्तुतस्य समस्य प्रतीतिरूपाया अप्रस्तुतप्रशंसाया इति भावः। समासोक्तिवत् = समासोक्ताविव, व्यवहारसमारोप प्राणत्वात् = व्यवहारसमारोप एव प्राणः (जीवनम्) यस्यास्तस्याऽभावस्तस्मात्, तथा च "पन्थिअ ण एत्थ सत्थरमस्ति" इत्यादिगतशब्दशक्तिमूलवस्तुध्वनौ व्यवहारसमारोपप्रतीतिर्नास्ति "सहकारः सदामोद" इत्यादौ सा = व्यवहारसमारोपप्रतीतिरस्ति इत्युभयोर्भेद इति भावः।

उपमेति। उपमाध्वनौ "हिममुक्तचन्द्ररुचिरः" इत्यादौ अप्रस्तुतस्य वसन्तादेर्व्यङ्ग्यत्वम्, इह = अप्रस्तुतप्रशंसायां, तु "सहकारः सदाऽऽमोद" इत्यादौ तु प्रस्तुतस्यैव नायकादेर्व्यङ्ग्यत्वम्।

एवमिति। समासोक्तौ = अलङ्कारे, अपि एवम् = उपमाध्वनिवदेव अप्रस्तुतस्य व्यङ्ग्यत्वम्। इह तु प्रस्तुतस्य व्यङ्ग्यत्वमित्युभयोर्भेदः।

अत्रेति। इस पद्यमे प्रस्तुत किसी काम क्रोध आदि दोषोंसे युक्त पुरुषके आरोपके विना कमलनालके भीतरके छिद्रोंका उसके गुणों (तन्तुओं)को तोड़नेमे हेतु होना असंभव है।

अन्येषामिति। तन्तुओंको तोडनेमे कांटोंका हेतु होना तो सभव है, इसलिए यह उभयरूप अर्थात् संभवरूप और असंभवरूप है।

अस्याश्चेति। अप्रस्तुत प्रशंसाका समासोक्तिके समान व्यवहारका आरोप प्राण होनेसे शब्दशक्ति मूल वस्तु ध्वनिसे इसका भेद है।

उपमाध्वनाविति। उपमाध्वनिमे अप्रस्तुत व्यङ्ग्य होता है।

एवमिति। इसी तरह समासोक्तिमे भी उपमाध्वनिके समान अप्रस्तुत व्यङ्ग्य होता है। श्लेषमें प्रस्तुत और अप्रस्तुत दोनों वाच्य होते हैं।

—उक्ता व्याजस्तुतिः पुनः ॥ ५९ ॥

निन्दास्तुतिभ्यां वाच्याभ्यां गम्यत्वे स्तुतिनिन्दयोः ।

निन्दया स्तुतेर्गम्यत्वे व्याजेन स्तुतिरिति व्युत्पत्त्या व्याजस्तुतिः । स्तुत्या निन्दाया गम्यत्वे व्याजरूपा स्तुतिः ।

क्रमेण यथा—

'स्तनयुगमुक्ताभरणाः कण्टककलिताङ्गयष्टयो देव ! ।
त्वयि कुपितेऽपि प्रागिव विश्वस्ता द्विट्स्त्रियो जाताः ॥'

श्लेषेऽपीति । श्लेषेऽपि । द्वयोरपि = पक्षयोः प्रस्तुताऽप्रस्तुतयोर्वाच्यत्वम् । "श्लिष्टैः पदैरनेकार्थाभिधाने श्लेष" इत्युक्तेः "श्लेषोऽनेकार्थवाचनम्" इत्युक्तेश्च अभिधावृत्त्यैव बोध्यत्वं नियतमिति शेषः ।

व्याजस्तुतिं लक्षयति—उक्तेति । वाच्याभ्याम् = आपाततो ज्ञायमानाभ्यां, निन्दास्तुतिभ्यां = गर्हाप्रशंसाभ्यां, स्तुतिनिन्दयोः = यथासंख्येन प्रशंसागर्हयोः, गम्यत्वे = प्रतीयमानत्वे, पुनः व्याजस्तुतिः, उक्ता = अभिहिता ॥ ५६ ॥

विवृणोति—निन्दयेति । निन्दया = वाच्यरूपया गर्हया, स्तुतेः=प्रशंसायाः, गम्यत्वे = प्रतीयमानत्वे, व्याजेन = छलेन, स्तुतिरिति व्युत्पत्या व्याजस्तुतिः १ । स्तुत्या = वाच्यरूपया प्रशंसया, निन्दायाः = गर्हायाः, गम्यत्वे = प्रतीयमानत्वे, व्याजरूपा = छलरूपा, स्तुतिः २ । इत्थं च व्याजस्तुतेर्द्वैविध्यं प्रतिपाद्यते ।

निन्दया स्तुतेर्गम्यत्वे व्याजस्तुतिमुदाहरति—स्तनयुगयुक्ताभरणा इति । व्याजेन राज्ञः स्तुतिरियम् । हे देव = हे राजन् !, त्वयि = भवति, कुपितेऽपि = क्रुद्धेऽपि, द्विट्स्त्रियः = भवतः शत्रुभार्याः, प्राक् = प्रथमं, स्तनेत्यादिः० = स्तनयुगे (कुचयुग्मे) मुक्ताऽऽभरणाः (मुक्तामयम्, आभरणम्=आभूषणम्) यासां

उक्तेति । वाच्य निन्दा और स्तुतिसे स्तुति और निन्दाके व्यङ्ग्य होनेपर व्याजस्तुति अलङ्कार होता है ॥ ६० ॥

निन्दयेति । १ वाच्यनिन्दासे स्तुतिके व्यङ्ग्य होनेपर "व्याजेन स्तुतिः" अर्थात् छलसे स्तुति ऐसी व्युत्पत्तिसे व्याजस्तुति पद बनता है । २ वाच्य स्तुतिसे निन्दाके व्यङ्ग्य होनेपर "व्याजरूपा स्तुतिः, इस व्युत्पतिसे भी "व्याजस्तुति" पद, बनता है । क्रमसे उदाहरण जैसे—स्तनेत्यादि ।

हे राजन् ! आपके कुपित होनेपर भी आपके शत्रुओंकी स्त्रियाँ पहलेके समान विश्वस्ता हैं, पहले स्तनयुगमें मुक्ताभरणाः अर्थात् मोतियोंके आभरणोंसे युक्त थीं, और अब भी स्तनयुगसे मुक्ताभरणाः अर्थात् आभरणोंको

इदं मम ।

'व्याजस्तुतिस्तव पयोद ! मयोदितेयं
यज्जीवनाय जगतस्तव जीवनानि ।
स्तोत्रं तु ते महदिदं घन ! धर्मराज-
साहाय्यमर्जयसि यत्पथिकान्निहत्य ।

ताः) साम्प्रतमपि, स्तनयुगात् मुक्ताऽऽभरणाः (मुक्तं=त्यक्तम्, आभरणं, याभिस्ताः) । प्राक् = प्रथमं, ताः, कण्टकेत्यादिः० = कण्टकैः (रतिक्रीडायां रोमाञ्चैः) कलिता (युक्ता) अङ्गयष्टिः (शरीरयष्टिः) यासां ताः । साम्प्रतं ताः कण्टकेत्यादिः० = कण्टकैः (लतारोमभिः, पलायनकाले वन इति शेषः) कलिताऽङ्गयष्टयः (युक्त-शरीरयष्टयः), प्राक् ताः विश्वस्ताः = विश्वासयुक्ताः, चिन्तारहिता इति भावः आसन्, साम्प्रतं—प्रागिव = प्रथममिव, विश्वस्ताः = विधवाः, सन्तीति शेषः । "विश्वस्ताविधवे समे" इत्यमरः । आर्यावृत्तम् ।

अत्र निरीहरिपुस्त्रीणां दुःखोत्पादनाद्राज्ञो निन्दा प्रतीयते, तथैव तस्य संग्रामविजयित्वसूचनेन स्तुतिर्गम्यते इति व्याजेन स्तुतेर्व्याजस्तुतिः ।

स्तुत्या निन्दाया गम्यते व्याजस्तुतिमुदाहरति—**व्याजस्तुतिरिति** । कस्य-चित्प्रियाविप्रयुक्तस्य प्रवासिनः पयोदमुद्दिश्योक्तिरियम् । हे पयोद = हे मेघ !, जगतः = लोकस्य, संजीवनाय = संजीवनं कर्तुं, तव = भवतः, जीवनानि = जलानि, प्राणाश्च । "पयः कीलालममृतं जीवनं भुवनं वनम् ।" इत्यमरः । इयम्=एषा, मया, तव = भवतः, व्याजस्तुतिः=व्याजरूपा स्तुतिः, छलप्रशंसा, उदिता = उक्ता । यत्, पथिकान् = वियोगिनः पान्थान्, निहत्य = व्यापाद्य, धर्मराजसाहाय्यं = धर्मराजस्य (यमराजस्य) साहाय्यं (सहायताम्,) अर्जयसि=विदधासि । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

अत्र धर्मराजसाहाय्याचरणेन प्रतीयमानया स्तुत्यैव निरपराधपान्थहनन-जनितनिन्दाया गम्यत्वेन व्याजरूपस्तुतेर्व्याजस्तुतिः ।

छोड़ी हुई हैं, पहले रतिक्रीडामें उनकी अङ्गयष्टि रोमाञ्चयुक्त थी, और अब वनमें भागते समय कांटोंसे युक्त हैं, पहले वे विश्वस्ता अर्थात् विश्वासयुक्त (निश्चिन्त) थीं अब विश्वस्ता अर्थात् विधवा है ।

यहाँ निरीह शत्रु स्त्रियोंको दुःख उत्पन्न करनेसे राजाकी निन्दा प्रतीत होती है, उसी तरह राजाके संग्रामविजयकी सूचनासे स्तुति व्यङ्ग्य होती है इसप्रकार व्याज (छल)से राजाकी स्तुति होनेसे यह व्याजस्तुतिका पहला उदाहरण है ।

व्याजस्तुतिरिति । हे मेघ ! जगत्के जीवनके लिए तुम्हारा जल है, यह मैंने तुम्हारी व्याजस्तुति कही है, जो कि पथिकोंको मारकर यमराजकी सहायता करते हो, यह तुम्हारी बड़ी स्तुति है । यहाँ स्तुतिसे निन्दा व्यङ्ग्य होती है ।

पर्यायोक्तं यदा भङ्ग्या गम्यमेवाभिधीयते ॥ ६० ॥

उदाहरणम्—

'स्पृष्टास्ता नन्दने शच्याः केशसम्भोगलालिताः ।
सावज्ञं पारिजातस्य मञ्जर्यो यस्य सैनिकैः ॥'

अत्र हयग्रीवेण स्वर्गो विजित इति प्रस्तुतमेव गम्यं कारणं वैचित्र्यविशेष-प्रतिपत्तये सैन्यस्य पारिजातमञ्जरीसावज्ञस्पर्शनरूपकार्यद्वारेणाभिहितम् । न चेदं कार्यात्कारणप्रतीतिरूपाप्रस्तुतप्रशंसा । तत्र कार्यस्याप्रस्तुतत्वात्; इह तु वर्णनीयस्य प्रभावातिशयबोधकत्वेन कार्यमपि कारणवत्प्रस्तुतम् ।

पर्यायोक्तं लक्षयति—**पर्यायोक्तमिति** । यदा भङ्ग्या = प्रकारान्तरेण, गम्यं = प्रतीयमानं वस्तु, एव, अभिधीयते = बोध्यते, कार्यादिद्वारेणेत्यर्थः, तदा तत् पर्यायोक्तं = तन्नामाऽलङ्कारः ॥ ६० ॥

पर्यायोक्तमुदाहरति—**स्पृष्टा इति** । मेण्ठकृतहयग्रीववधस्य पद्यमिदम् । यस्य = हयग्रीवस्य, सैनिकैः = सैन्यैः, शच्याः = इन्द्राण्याः, केशसंभोगलालिताः= केशसंभोगाय (कचसंस्काराय) लालिताः (पोषिताः) उद्यानपालकैरिति शेषः । पारिजातस्य = देववृक्षविशेषस्य, ताः = प्रसिद्धाः, मञ्जर्यः = वल्लर्यः, नन्दने = इन्द्रोपवने, साऽवज्ञम् = अवज्ञापूर्वकं, स्पृष्टाः = आमृष्टाः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अत्र = अस्मिन् पद्ये । प्रस्तुतं = प्रकृतम् एव, गम्यं= प्रतीयमानं, कारणं=हेतुः, स च स्वर्गजयरूपः, वैचित्र्यविशेषस्य (चमत्कारविशेषस्य) प्रतिपत्तये (ज्ञानाय) । पारिजातेत्यादिः० पारिजातमञ्जर्याः (देवतरुविशेष-वल्लर्याः), सावज्ञम् (अवज्ञासहितम्) यत् स्पर्शनम् (आमर्शनम्) तद्रूप यत् कार्यं, तद्द्वारेण, अभिहितम् = अभिधावृत्त्या सूचितम् ।

अप्रस्तुतप्रशंसा-पर्यायोक्तयोर्भेदं प्रदर्शयति—**न चेदमिति** । इदं = पर्यायोक्तं "स्पृष्टास्ता" इत्याद्युदाहरणरूपा कार्यात्कारणप्रतीतिरूपा अप्रस्तुतप्रशंसा, न, तत्र = कार्यात्कारणप्रतीतिरूपायामप्रस्तुतप्रशंसायां, कार्यस्याऽप्रस्तुतत्वात् । इह तु=स्पृष्टास्ता

पर्यायोक्तमिति । यदि दूसरे ही ढङ्गसे व्यङ्ग्य वस्तुका अभिधा वृत्तिसे प्रतिपादन होता है, तो पर्यायोक्त अलङ्कार होता है ।

उदाहरण—**स्पृष्टा इति** । जिस (हयग्रीव)के सैनिकोंने इन्द्राणीके केश-संस्कारके लिए बढ़ाई गई पारिजातकी मञ्जरियोंको अनादरपूर्वक मर्दन किया ।

अत्रेति । यह हयग्रीवने स्वर्गको जीत लिया यह प्रस्तुत कारण व्यङ्ग्य है उसके विचित्रता-विशेषके बोधके लिए पारिजातमञ्जरीका अनादर पूर्वक सैन्यके स्पर्शरूप कार्यके द्वारा कथन किया है । यह (पर्यायोक्त) अलङ्कार कार्यसे कारणकी प्रतीतिरूप अप्रस्तुतप्रशंसा नहीं है, क्योंकि उसमें कार्य अप्रस्तुत होता है, यहां तो

एवञ्च—

'अनेन पर्यासयताऽश्रुबिन्दून् मुक्ताफलस्थूलतमान् स्तनेषु।
प्रत्यर्पिताः शत्रुविलासिनीनामाक्षेपसूत्रेण विनैव हाराः ॥'

अत्र वर्णनीयस्य राज्ञो गम्यभूतशत्रुमारणरूपकारणवत्कार्यभूतं तथाविध-शत्रुस्त्रीक्रन्दनजलमपि प्रभावातिशयबोधकत्वेन वर्णनार्हमिति पर्यायोक्तमेव।

'राजन्! राजसुता न पाठयति मां, देव्योऽपि तूष्णीं स्थिताः
कुब्जे! भोजय मां कुमारसचिवैर्नाद्यापि किं भुज्यते?।
इत्थं राजशुकस्तवारिभवने मुक्तोऽध्वगैः पञ्जरा-
च्चित्रस्थानवलोक्य शून्यवलभावेकैकमाभाषते ॥'

इत्याद्युदाहरणरूपे पर्यायोक्ते तु, वर्णनीयस्य = हयग्रीवस्य, कार्यमपि = साऽवज्ञ-पारिजातमञ्जरीस्पर्शनमपि, कारणवत् = स्वर्गविजयवत्, प्रस्तुतम्।

एवं चेति। उदाहरणान्तर प्रदर्शयति—**अनेनेति**। रघुवंशस्यषष्ठसर्गस्थं पद्यम्। विदर्भराजकुमार्या इन्दुमत्याः स्वयंवरे प्रतिहाररक्ष्याः सुनन्दाया इन्दुमतीं प्रत्यङ्ग-नाथस्य प्रशंसोक्तिरियम्। अनेन = अङ्गदेशाऽधीश्वरेण, शत्रुविलासिनीनां = वैरि-सुन्दरीणां, स्तनेषु = पयोधरेषु, मुक्ताफलस्थूलतमान् = मौक्तिकपीवरान्, अश्रुबिन्दून् = नयनसलिलपृषतान्, पर्यासयता = प्रस्तारयता, भर्तृवधादिति शेषः। आक्षेपसूत्रेण = ग्रथनगुणेन, विनैव, हाराः = मुक्तामालाः, प्रत्यर्पिताः=समर्पिताः, दत्ता इति भावः। अश्रुबिन्दव एव हाराः कृता इति भावः। उपजातिवृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अस्मिन्पद्ये। राज्ञः=अङ्गनाथस्य। गम्यभूतेत्यादिः०= गम्यभूतं (व्यञ्जनया बोध्यरूपं) यत् शत्रुमारणरूपं कारणं, तद्वत् कार्यभूतं वर्णनाऽर्हं = वर्णनार्हत्वेन प्रस्तुतम्। अतः पर्यायोक्तमेव।

काव्यप्रकाशे अप्रस्तुतप्रशंसायां प्रदर्शितं पद्यं पर्यायोक्तत्वेन संभावयति—**राजन्निति**। शत्रुमाक्रान्तुमुद्यतं राजानं प्रति तच्चरस्योक्तिरियम्। हे राजन्! = हे देव! तव = भवतः, अरिभवने = शत्रुप्रासादे, अध्वगैः = पान्थैः, पञ्जरात् =

वर्णनीय (हयग्रीव) का प्रभावाऽतिशयका बोधक होनेसे कार्य भी कारणके समान प्रस्तुत है। इसी तरह—**अनेनेति**।

इन्होंने (अङ्गदेशके राजाने) शत्रुसुन्दरियोंके स्तनोंमें मोतियोंके सदृश बड़े बड़े अश्रुबिन्दुओंको फैलाकर गूंथनेवाले सूत्रके विना ही हारोंका अर्पण कर दिया है।

अत्रेति। यहां वर्णनीय राजाका व्यञ्जनासे बोध्य शत्रुमारणरूप कारणके समान उसका कार्यस्वरूप शत्रुस्त्रियोंका आंसू भी प्रभावाऽतिशयका बोधक होनेसे वर्णनके योग्य है। इस कारणसे यह पर्यायोक्त ही है।

राजन्निति। हे राजन्! आपके शत्रुके प्रासादमे पथिकोंसे पिंजड़ेसे छोड़ा गया राजाका पालतू तोता निर्जन अट्टालिकामें रहकर चित्रोंमें स्थित राजा

अत्र प्रस्थानोद्यतं भवन्तं श्रुत्वा सहसैवारयः पलायिता इति कारणं प्रस्तुतम्। 'कार्यमपि वर्णनार्हत्वेन प्रस्तुतम्' इति केचित्।

अन्ये तु—'राजशुकवृत्तान्तेन कोऽपि प्रस्तुतप्रभावो बोध्यत इत्यप्रस्तुतप्रशंसैव' इत्याहुः।

पिञ्जरात्, मुक्तः = मोक्षविषयीकृतः, राजशुकः = भूपपालितः कीरः, शून्यवलभौ = जनरहितचन्द्रशालायां, विद्यमान इति शेषः। चित्रस्थान् = आलेख्यस्थानचित्रितान्, राजादीनिति शेषः। अवलोक्य = दृष्ट्वा, इत्थम् = अनेन प्रकारेण, एकैकं = प्रत्येकं जनं, "हे राजन् ! = हे देव !, राजसुता = राजकुमारी, मां = शुकं, न पाठयति= नाऽध्यापयति, रामचरित्रादिकमिति शेषः। देव्यः = कृताऽभिषेका राज्यः, अपि, तूष्णीं स्थिताः = तूष्णीकत्वेनाऽवस्थिताः, मां न पाठयन्तीति भावः। हे कुब्जे = हे गडुले = मन्निरीक्षणकारिणि, "कुब्जो गडुल" इत्यमरः। मां भोजय=मह्यं भोजनं देहीति भावः। अद्याऽपि = इदानीमपि, कुमारसचिवैः=कुमाराणां (राजपुत्राणाम्) बालमित्रभूतैः सचिवैः, (सहचरैः) किं न भुज्यते = किं नो भक्ष्यते। = शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। कारणं = शत्रुपलायनरूपम्। कार्यमपि = तथाविधशुकाभाषणरूपमपि। केचित् = नव्या आलङ्कारिकाः। इत्थं चैषां मते प्रस्तुतादेव तथाविधशुकाभाषणकार्यात्प्रस्तुतस्यैवाऽरिपलायनरूपकारणस्य प्रतीतेः पर्यायोक्तमेव।

काव्यप्रकाशकारमतमाह—**अन्ये त्विति**। राजशुकवृत्तान्तेन, अप्रस्तुतेनेति शेषः। प्रस्तुतप्रभावः = राजेति शेषः। इति अप्रस्तुतप्रशंसैव इत्याहुः।

आदिकोंको देखकर इसप्रकारसे प्रत्येक जनको—"हे राजन्! राजकुमारी मुझे नहीं पढ़ाती हैं, महारानियां भी चुपचाप रहती हैं। अरी कुबड़ी! मुझे खिलाओ। इस समय तक राजकुमारके सहचर क्यों भोजन नहीं करते हैं।

अत्रेति। यहां "विजययात्राके लिए उद्योगरत आपको सुनकर अचानक ही शत्रु लोग भाग गये" यह कारण प्रस्तुत है। कार्य (वैसा शुकका आभाषणरूप) भी वर्णन योग्य होनेसे प्रस्तुत है ऐसा कोई कहते हैं।

अन्येत्विति। और लोग (काव्यप्रकाशकार आदि) तो अप्रस्तुत राजशुकके वृत्तान्तसे कोई प्रस्तुत प्रभाव वाला राजा बोधित होता है इस कारणसे यह, अप्रस्तुतप्रशंसा ही है ऐसा कहते हैं।

सामान्यं वा विशेषेण, विशेषस्तेन वा यदि ।
कार्यं च कारणेनेदं कार्येण च समर्थ्यते ॥ ६१ ॥
साधर्म्येणेतरेणार्थान्तरन्यासोऽष्टधा ततः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'बृहत्सहायः कार्यान्तं क्षोदीयानपि गच्छति ।
सम्भूयाम्भोधिमभ्येति महानद्या नगापगा ॥'

अत्र द्वितीयार्धगतेन विशेषरूपेणार्थेन प्रथमार्धगतः सामान्योऽर्थः सोपपत्तिकः क्रियते ।

भेदाऽष्टकगर्भमर्थान्तरन्यासं लक्षयति—**सामान्यं वेति** ।

साधर्म्येण=साधर्म्यप्रकारकज्ञानेन, इतरेण=तद्भिन्नेन, वैधर्म्येण (वैधर्म्यज्ञानेन) वा यदि विशेषेण सामान्यं समर्थ्यते १ तेन=सामान्येन वा विशेषः समर्थ्यते २ कारणेन कार्यं समर्थ्यते ३, कार्येण, इदं=कारणं समर्थ्यते ४ ततः=तस्मात् साधर्म्येण वैधर्म्येण चाऽर्थान्तरन्यासोऽष्टधा = अष्टप्रकारो भवति ॥ ६१ ॥

साधर्म्येण विशेषेण सामान्यसमर्थनेऽर्थान्तरन्यासमुदाहरति—**बृहदिति** । शिशुपालवधस्यद्वितीयसर्गस्थं पद्यमिदम् । भगवन्तं श्रीकृष्णं प्रति उद्धवस्योक्तिरियम् । बृहत्सहायः = महासहायवान्, क्षोदीयान् = क्षुद्रतरः, अपि, ईयसुन्प्रत्ययः, "स्थूलदूरे" त्यादिना यणादिपरलोपः पूर्वगुणश्च । कार्यान्तं = कार्यस्य (कृत्यस्य) अन्त (पारम्), गच्छति तथा हि—नगाऽऽवगा = गिरिनदी, अपां समूह आपम् "तस्य समूहः" इत्यण् । आपेन गच्छतीत्यापगा, नगस्यावपगा, महानद्या = समुद्रगामिन्या गङ्गादिकया, सम्भूय = मिलित्वा, अम्भोधिं = समुद्रम्, अभ्येति = गच्छति । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । विशेषरूपेण = नगापगादिरूपेण, प्रथमार्द्धगतः सामान्यार्थः सोपपत्तिकः = उपपत्त्या (युक्त्या) सहितः । क्रियते ।

सामान्यमिति । जहाँ १ विशेषसे सामान्य वा २ सामान्यसे विशेष ॥६१॥ ३ कारणसे कार्य वा ४ कार्यसे कारण साधर्म्य वा वैधर्म्यसे समर्थित होता है इस प्रकार आठ प्रकारका अर्थान्तरन्यास अलङ्कार होता है ॥ ६२ ॥

क्रमसे उदाहरण—**बृहत्सहाय इति** । बड़ेकी सहायता पाकर क्षुद्रतरभी काम समाप्त कर लेता है । बड़ी नदीके साथ मिलकर पहाड़की छोटी नदी समुद्रके पास पहुँच जाती है ।

अत्रेति । इसमे उत्तरार्द्धगत विशेषरूप अर्थसे पूर्वार्द्धगत सामान्य अर्थ युक्तियुक्त किया गया है ।

'यावदर्थपदां वाचमेवमादाय माधवः।
विरराम, महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः ॥'
'पृथ्वि ! स्थिरा भव, भुजङ्गम ! धारयैनां,
त्वं कूर्मराज ! तदिदं द्वितयं दधीथाः।
दिक्कुञ्जराः ! कुरुत तत्त्रितये दिधीर्षां-
देवः करोति हरकार्मुकमाततज्यम् ॥'

साधर्म्येण सामान्येन विशेषसमर्थनेऽर्थान्तरन्यासमुदाहरति—**यावदिति**। शिशुपालवधस्य द्वितीयसर्गस्थं पद्यम्। माधवः = श्रीकृष्णः, एवम् = इत्थम्, उक्तप्रकारेणेति भावः। यावदर्थपदां = यावान् (यत्परिमाणः) अर्थः (वाच्यः) इति यावदर्थम्, "यावदवधारणे" इत्यव्ययीभावः। यावदर्थं पदानि (शब्दाः) यस्यां सा यावदर्थपदा ताम्। अर्थसम्मितपदामिति भावः। तादृशीं वाचं = वाणीम्, आदाय = गृहीत्वा, कथयित्वेति भावः। विरराम = विरतो बभूव, तथा हि— महीयांसः = अतिशयेन महान्तो जनाः, प्रकृत्या = स्वभावेनैव, मितभाषिणः = परिमितवादिनः, भवन्तीति शेषः। अनुष्टुब्वृत्तम्।

अत्र "महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिण" इति सामान्येन पूर्वस्थविशेषार्थस्य साधर्म्येण समर्थनं क्रियते।

साधर्म्येण कारणेन कार्यसमर्थनेऽर्थान्तरन्तरन्यासमुदाहरति—**पृथ्वीति**। बालरामायणनाटके लक्ष्मणस्योक्तिरियम्। हे पृथ्वि=हे पृथिवि ! स्थिरा = निश्चला, भव, त्वमिति शेषः। हे भुजङ्गम = हे शेषनाग ! एनां=पृथ्वीं, धारय=अवलम्बस्व। हे कूर्मराज ! = हे कमठराज ! त्वं, तत् = पूर्वोक्तम्, इदं, द्वितयं = द्वयं, पृथ्वीं भुजङ्गमं चेति भावः, दधीथाः = धारयेथाः। हे दिक्कुञ्जराः = हे दिग्गजाः ! तत्त्रितये = तेषां (पूर्वोक्तानां पृथ्वी-भुजङ्गम-कूर्मराजानाम्) त्रितये (त्रये) दिधीर्षां = धारणेच्छां, कुरुत = विदधत, यतो देवः = श्रीरामः, हरकार्मुकं = शिवधनुः, आततज्यम् = आरूढगुणं, करोति = विदधाति। वसन्ततिलका वृत्तम्।

यावदित्यादि। श्रीकृष्णजी अर्थोंके अनुसार शब्दोंसे युक्त ऐसी वाणी कहकर विरत (चुप) हुए, क्योंकि बड़े लोग स्वभावसे ही कम बोलने वाले होते हैं।

यहाँ चतुर्थ पादस्थ "महीयांसः प्रकृत्या मितभाषिणः" अर्थात् बड़े लोग स्वभावसे ही मितभाषी होते है, इस सामान्य अर्थसे पूर्वस्थित विशेष अर्थका साधर्म्यसे समर्थन करनेसे अर्थान्तरन्यास अलङ्कार है।

पृथ्वीति। हे पृथिवि ! तुम स्थिर बनो। हे शेषनाग ! तुम पृथिवीको सँभालो ! हे कच्छपराज ! तुम इन दोनों सँभालते रहना। हे दिग्गजो ! इन तीनोंको सँभालनेकी इच्छा करो, क्योंकि भगवान् राम शिवजीके धनुमें प्रत्यञ्चा चढ़ा रहे हैं।

अत्र कारणभूतं हरकार्मुकाततज्यीकरणं पृथिवीस्थैर्यादेः कार्यस्य समर्थकम्। 'सहसा विदधीत न क्रियाम्' इत्यादौ सम्पद्वरणं कार्यं सहसा विधानाभावस्य विमृश्यकारित्वरूपस्य कारणस्य समर्थकम्।

एतानि साधर्म्ये उदाहरणानि।

वैधर्म्ये यथा—

'इत्थमाराध्यमानोऽपि क्लिश्नाति भुवनत्रयम्।
शाम्येत्प्रत्यपकारेण नोपकारेण दुर्जनः ॥'

अत्र सामान्यं विशेषस्य समर्थकम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अस्मिन्पद्ये।

साधर्म्येण कार्येण कारणसमर्थनेऽर्थान्तरन्यासमुदाहरति—**सहसेति**। पद्यमिदं सप्तमपरिच्छेदे पुनरुक्ततादोषोदाहरणे व्याख्यातपूर्वम् (पृ० ३६)। सम्पद्वरणं = सम्पत्तिप्राप्तिरूपं कार्यं, विमृश्यकारित्वरूपस्य = सविचारकार्यकारित्वरूपस्य कारणस्य समर्थकम् = समर्थनकारकम्, उपपादकमित्यर्थः। एतानि साधर्म्ये उदाहरणानि।

वैधर्म्येण सामान्येन विशेषसमर्थनेऽर्थान्तरन्यासमुदाहरति—**इत्थमिति**। कुमारसंभवस्य द्वितीयसर्गस्थं पद्यम्। बृहस्पतेर्ब्रह्मदेवं प्रति तारकाऽसुरस्य पीडकत्वसूचिकेयमुक्तिः। हे ब्रह्मदेव! इत्थम् = अनेन पूर्वोक्तप्रकारेण, आराध्यमानोऽपि = तत्तद्देवैः सेव्यमानोऽपि, तारकाऽसुरः, भुवनत्रयं = लोकत्रितयं, क्लिश्नाति = पीडयति। यतः दुर्जनः = दुष्टो जनः, प्रत्यपकारेण = अपकारप्रतिकारेण एव, शाम्येत् = शान्तो भवेत्, परपीडनाद्विरतो भवेदिति भावः। न पुनः उपकारेण = उपकृत्या, शाम्येत् प्रत्युत प्रकुप्येदिति भावः। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अस्मिन्नुदाहरणे वैधर्म्येण सामान्यमुत्तरार्द्धवाक्याऽर्थरूपम्। पूर्वार्द्धस्थितविशेषस्य समर्थकम्:

अत्रेति। यहाँ कारणभूत शिवधनुपर प्रत्यञ्चा फैलाना, पृथिवी आदिके स्थिरता आदि कार्यका समर्थक है।

"सहसा विदधीत न क्रियाम्" (पृ० ३६) इत्यादिमें सम्पत्तिका वरणरूप कार्य, सहसा काम न करना, अर्थात् विचार पूर्वक कार्यका अनुष्ठानरूप कारणका समर्थक है। ये साधर्म्यके उदाहरण है। वैधर्म्यमे जैसे— **इत्थमिति**।

हे ब्रह्मदेव! इस तरह सेवित होता हुआ भी तारकाऽसुर तीन लोकोंको क्लेश दे रहा है। दुर्जन प्रत्यपकार (बुराईके बदले)से शान्त होगा, उपकारसे नहीं।

अत्रेति। यहाँ उत्तरार्धका वाक्याऽर्थरूप सामान्य, पूर्वार्द्धका वाक्याऽर्थरूप विशेषका समर्थक है।

'सहसा विदधीत-' इत्यत्र सहसाविधानाभावस्यापत्प्रदत्वं विरुद्धं कार्यं समर्थकम्। एवमन्यत्।

हेतोर्वाक्यपदार्थत्वे काव्यलिङ्गं निगद्यते ॥ ६२ ॥

तत्र वाक्यार्थता यथा—

'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरं,
मेघैरन्तरितः प्रिये ! तव मुखच्छायानुकारी शशी।
येऽपि त्वद्गमनानुकारिगतयस्ते राजहंसा गता-
स्त्वत्सादृश्यविनोदमात्रमपि मे दैवेन न क्षम्यते ॥'

वैधर्म्येण कार्येण कारणसमर्थनेऽर्थान्तरन्यासमुदाहरति—**सहसेति**। अत्र सहसाविधानाऽभावस्य = विमृश्यकारित्वरूपस्य, कारणस्येति भावः, आपत्प्रदत्वं= विपज्जनकत्वं, विरुद्धं = विमृश्यकारित्वरूपकारणादुत्पत्त्ययोग्यं कार्यं समर्थकम्। एवमन्यत्।

काव्यलिङ्गं लक्षयति—**हेतोरिति**। हेतोः = कारणस्य, वाक्यपदाऽर्थत्वे = वाक्याऽर्थत्वे पदार्थत्वे च, काव्यलिङ्गं=तन्नामाऽलङ्कारः, निगद्यते = अभिधीयते।

क्रियाऽन्वयसमाप्तौ वाक्याऽर्थत्वम्। अन्यथा पदार्थत्वम्। यत्र वाक्याऽर्थः पदाऽर्थो वा हेतुर्भवति तद् काव्यलिङ्गमलङ्कारः। काव्यलिङ्गमेव हेत्वलङ्कारोऽपि उच्यते ॥ ६२ ॥

हेतोर्वाक्याऽर्थतायां काव्यलिङ्गमुदाहरति—**यदिति**। कान्यकुब्जाऽधीश्वरस्य यशोवर्मणः पद्यमिदम्। वर्षर्तौ कान्ताविप्रयुक्तस्य कस्यचित्प्रवासिन उक्तिरियम्। हे प्रिये ! = वल्लभे !, त्वन्नेत्रसमानकान्ति = त्वन्नेत्रेण (त्वन्नयनेन) समाना (तुल्या) कान्तिः (शोभा) यस्य तत्। तादृशं यत् इन्दीवरं = नीलकमलं, तत्। सलिले = जले, मग्नं = ब्रुडितम्। एवं, तव = भवत्याः, मुखच्छायाऽनुकारी = मुखस्य (वदनस्य) छायाम् (कान्तिम्) अनुकरोति (विडम्बयति) तच्छीलः तादृशः शशी = चन्द्रमाः, मेघैः = बलाहकैः, अन्तरितः = व्यवहितः। तथा येऽपि, त्वद्गमनाऽनुसारिगतयः = तव (भवत्याः) गमनं (गतिः) तद् अनुसरति

"सहसा विदधति" इत्यादि पद्यमें कारणरूप सहसा कार्य न करनेका विपत्तिप्रदत्व विरुद्ध कार्य समर्थक है। इसी तरह और उदाहरण भी जानें।

हेतोरिति। वाक्याऽर्थ वा पदार्थ किसीका हेतु हो तो काव्यलिङ्ग अलङ्कार कहते हैं।

वाक्याऽर्थहेतुक काव्यलिङ्ग जैसे—**यदिति**। हे प्रिये ! तुम्हारे नेत्रके समान कान्तिवाला नीलकमल जलमें डूब गया। तुम्हारे मुखकी कान्तिका अनुकरण करनेवाला चन्द्रमा मेघोंसे व्यवहित हो गया। तुम्हारी गतिके समान गतिवाले

अत्र चतुर्थपादे पादत्रयवाक्यानि हेतवः।

पदार्थता यथा मम—

'त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलीपटलपङ्किलाम् ।
न धत्ते शिरसा गङ्गां भूरिभारभिया हरः ॥'

अत्र द्वितीयार्धे प्रथमार्धमेकपदं हेतुः।

अनेकपदं यथा मम—

'पश्यन्त्यसंख्यपथगां त्वद्दानजलवाहिनीम्।
देव ! त्रिपथगात्मानं गोपयत्युग्रमूर्धनि ॥'

(अनुसरणं करोति) तच्छीला गतिः येषां ते, तादृशाः, राजहंसाः = मरालाः, गताः = वर्षाकालाद्धेतोर्मानससरोवरं प्राप्ताः। अतो दैवेन = विधिना, मे = मम, त्वत्सादृश्यविनोदमात्रम् अपि = त्वत्सादृश्येन (भवदङ्गसाम्येन) यो विनोदः (त्वद्विरहजन्यदुःखनिवृत्तिः) अपि, न क्षम्यते=नो मृष्यते। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

विवृणोति—अत्रेति। अस्मिन् पद्ये, चतुर्थपादे = तुर्यचरणे, तुर्यपाद-प्रतिपाद्ये सादृश्यमात्रविनोदाऽभावे, पादत्रयवाक्यानि = चरणत्रितयवाक्यानि, पादत्रयरूपवाक्यत्रयार्थाः, हेतवः = कारणानि।

हेतोः पदार्थतायां काव्यलिङ्गमुदाहरति—त्वदिति। कस्यचिद्राज्ञोऽश्व-प्राचुर्यवर्णनमिदम्। विश्वनाथकविराजपद्यमिदम्। हे राजन् ! हरः = शङ्करः, शिरसा = मस्तकेन, त्वद्वाजीत्यादिः० = तव (भवतः) वाजिराजिभिः (अश्व-श्रेणीभिः) निर्धूतम् (उद्धतम्) यत् धूलीपटलम् (रजःसमूहः) तेन पङ्किलां (पङ्कमयीम्) गङ्गा = भागीरथीं, न धत्ते = नो धारयति। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—अत्रेति। अस्मिन्पद्ये, द्वितीयार्द्धे = उत्तरार्द्धगतभूरिभारं प्रति, प्रथमार्द्धम् एकपदं = प्रथमार्द्धरूपैकपदस्याऽर्थः, हेतुः = कारणम्। अत्र वाजिधूलिभिः पङ्किलत्वमेव धारणाऽभावे हेतुरिति भावः।

हेतोरनेकपदतायां काव्यलिङ्गमुदाहरति—पश्यन्तीति। कस्य चिद्दान-शौण्डस्य राज्ञो वर्णनमिदम्। हे देव=हे राजन् !, त्रिपथगा=स्वर्गमर्त्यपातालमार्गत्रय-

---

राजहंस भी (मानससरोवरमें) चले गये। तुम्हारे सादृश्यसे मेरे विनोद-(दिलबहलाव)मात्रका भी भाग्य सहन नहीं करता है।

अत्रेति। यहाँ चौथे चरणमें तीन चरणोंके वाक्य हेतु हैं।

पदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग जैसे ग्रन्थकारका—त्वद्वाजीत्यादि हे राजन् ! आपके घोड़ोंकी कतारसे उत्पन्न धूलके समूहसे कीचड़वाली गङ्गाको शिवजी बहुत बोझके भयसे शिरसे धारण नहीं करते हैं।

इस पद्यमें उत्तरार्द्धमे पूर्वार्द्धरूप एक पद हेतु है। अनेकपदगतहेतुतामें काव्य-लिङ्ग—ग्रन्थकारका—पश्यन्तीति। हे राजन् त्रिपथगा (तीन मार्गोंसे चलने वाली)

इह केचिद् वाक्यार्थगतेन काव्यलिङ्गेनैव गतार्थतया कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासं नाद्रियन्ते। तदयुक्तम्। तथा ह्यत्र हेतुस्त्रिधा भवति—ज्ञापको निष्पादकः समर्थकश्चेति। तत्र ज्ञापकोऽनुमानस्य विषयः, निष्पादकः काव्यलिङ्गस्य, समर्थकोऽर्थान्तरन्यासस्य, इति पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः काव्यलिङ्गात्। तथा हि—'यत्त्वन्नेत्र-' इत्यादौ चतुर्थपादवाक्यम्। अन्यथा साकाङ्क्ष-

---

मात्रगामिनी, गङ्गा = भागीरथी, त्वद्दानजलवाहिनीं = तव (भवतः) दानजलस्य (उत्सर्गकालभवसलिलस्य) वाहिनीम् (नदीम्), असंख्यपथगाम् = असंख्यपथान् (अगणितमार्गान्) गच्छतीति, ताम्। पश्यन्ती = विलोकयन्ती सती, उग्रमूर्द्धनि= शङ्करमस्तके, आत्मान = स्वां, गोपयति = गुप्तां करोति, निलीनां विदधाति, लज्जावशादिति भावः। अनुष्टुब्वृत्तम्।

अत्र गङ्गाया आत्मगोपन प्रति दानजलस्य असंख्यपथगत्वं स्वस्य च त्रिपथगात्वं हेतुरिति पादद्वयरूपाऽनेकपदस्य हेतुत्वादनेकपदाऽर्थहेतुकं काव्यलिङ्गम्।

काव्यप्रकाशकारादीनां मतं खण्डयति—**इहेति**। इह=अर्थाऽलङ्कारप्रकरणे, केचित् = काव्यप्रकाशकारादयः। वाक्याऽर्थगतेन = केवलवाक्याऽर्थहेतुकेन, काव्यलिङ्गेन, गताऽर्थतया = अन्तर्भूताऽर्थत्वेन। कार्यकारणभावे—"पृथ्वि ! स्थिरा भव" इत्यादौ "सहसा विदधीत न क्रियाम्" इत्यादौ चेति भावः, अर्थान्तरन्यासं, नाद्रियन्ते = न स्वीकुर्वन्तीति भावः। तदयुक्तं = तदनुचितम्।

अनुमान—काव्यलिङ्गाऽर्थान्तरन्यासान्विविनक्ति—**तथाहीति**। अत्र = अनुमानाद्यलङ्कारेषु, हेतुः = कारणं, त्रिधा भवति। तत्र ज्ञापको हेतुरनुमानस्य विषयः, अनुमितिज्ञानजनकत्वात्। निष्पादको हेतुः काव्यलिङ्गस्य विषयः। समर्थकः = पूर्वाऽर्थस्य परार्थस्य वा समर्थनकारको हेतुरर्थान्तरन्यासस्य

गङ्गाजी आपके दानजलसे उत्पन्न नदीको असङ्ख्य मार्गोंसे चलती हुई देखकर अपनेको शिवजीके शिरमे छिपाती है।

यहाँ दानजलका असंख्यपथगामित्व और गङ्गाका त्रिपथगामित्व गङ्गाजीके आत्मगोपनमें हेतु होनेसे पदद्वयरूप अनेकपदार्थहेतुक काव्यलिङ्ग है।

इहेति। इस अर्थालङ्कारके प्रकरणमें कुछ विद्वान् (काव्यप्रकाशकार आदि) कार्यकारणभावमें अर्थान्तरन्यासको वाक्याऽर्थगत काव्यलिङ्गसे ही गताऽर्थ होनेसे नही मानते हैं। वह अनुचित है। **तथा हीति**। हेतुके तीन भेद होते हैं—ज्ञापक, निष्पादक और समर्थक। उनमें अनुमिति ज्ञानका जनक होनेसे ज्ञापक हेतु अनुमान अलङ्कारका विषय है, निष्पादक हेतु काव्यलिङ्गका और समर्थक हेतु अर्थान्तरन्यासका विषय है, इस कारणसे कार्यकारणभावमें अर्थान्तरन्यास काव्यलिङ्गसे भिन्न ही है। जैसे कि "यत्त्वन्नेत्र" इत्यादिमे चतुर्थ चरणका वाक्य निष्पादक हेतुकी

तथासमञ्जसमेव स्यात् इति पादत्रयगतवाक्यं निष्पादकत्वेनापेक्षते। 'सहसा विदधीत–' इत्यादौ तु—

'परापकारनिरतैर्दुर्जनैः सह सङ्गतिः।
वदामि भवतस्तत्त्वं न विधेया कदाचन॥'

इत्यादिवदुपदेशमात्रेणापि निराकाङ्क्षतया स्वतोऽपि गतार्थं सहसा विधानाभावं सम्पद्वरणं सोपपत्तिकमेव करोतीति पृथगेव कार्यकारणभावेऽर्थान्तरन्यासः काव्यलिङ्गात्।

विषयः। असमञ्जसम्=असङ्गतम्। पादत्रयवाक्यं=पूर्वचरणत्रितयवाक्यार्थं, निष्पादकत्वेन = स्वसम्पादकत्वेन।

"सहसा विदधीत" इत्यादौ तु—

परापकारेति। परापकारनिरतैः = पराऽपकारे (अन्याऽपकृतौ) निरतैः (तत्परैः), दुर्जनैः = दुष्टैः, सह = सम, सङ्गतिः = समागमः, कदाचन=कदाऽपि न विधेया = न कर्तव्या, इति, भवतः = तव, समीपे = सविधे। तत्त्वं=यथार्थवस्तु. वदामि = कथयामि। अनुष्टुब्वृत्तम्।

इत्यादिवदिति। स्वतोऽपि = हेतूक्तिं विनाऽपि, गताऽर्थं = चरिताऽर्थं, सत् सहसाविधानाऽभावं = "सहसाविदधीत न क्रियाम्" इति वाक्याऽर्थभूतं, सम्पद्वरणं "वृणते हि" इत्यादिवाक्याऽर्थभूता सम्पत्प्राप्तिः, सोपपत्तिकमेव = युक्तिसहितमेव, करोति, इति = अतः, पृथगेव=भिन्न एव, हेतुभेदादिति शेषः। एतादृशं भेदमनङ्गीकृत्य समर्थकहेतोरपि काव्यलिङ्गविषयत्वस्वीकारेऽर्थान्तरन्यासोच्छेदप्रसङ्गः स्यादिति भावः।

व्यावृत्तिप्रदर्शनाऽर्थं प्रदर्शितमेव पद्यं किंचिदन्यथाकृत्य भूयः प्रदर्शयति—

आकाङ्क्षा करता है। अतः उसके अभावमें यह असंगत ही होगा। इस कारण पहलेके तीन चरणोंमें रहे हुए वाक्यको निष्पादक हेतुके तौरपर अपेक्षा करता है। "सहसा विदधीत" इत्यादिमें तो—पराऽपकारेत्यादि—दूसरेके अपकारमें तत्पर दुर्जनोंके साथ कभी भी संगति नहीं करनी चाहिए मैं तुम्हें तत्त्व कहता हूँ। इत्यादिके समान उपदेशमात्रसे ही आकाङ्क्षासे रहित होनेसे हेतुकी उक्तिके विना भी गतार्थ है इस कारणसे कर्मभूत सहसा विधानाऽभाव (सहसा कर्म न करने) को कर्तृभूत सम्पद्वरण युक्तियुक्त बना देता है, अतः कार्यकारणभावमें अर्थान्तरन्यास काव्यलिङ्गसे भिन्न ही है।

'न धत्ते शिरसा गङ्गां भूरिभारभिया हरः।
त्वद्वाजिराजिनिर्धूतधूलिभिः पङ्किला हि सा॥'

इत्यत्र हिशब्दोपादानेन पङ्किलत्वादितिवद्धेतुत्वस्य स्फुटतया नायमलङ्कारः, वैचित्र्यस्यैवालङ्कारत्वात्।

अनुमानं तु विच्छित्त्या ज्ञानं साध्यस्य साधनात्।

यथा—

'जानीमहेऽस्या हृदि सारसाक्ष्या विराजतेऽन्तः प्रियवक्त्रचन्द्रः।
तत्कान्तिजालैः प्रसृतैस्तदङ्गेष्वापाण्डुता कुड्मलताक्षिपद्मे॥'

न धत्त इति। हरः = शङ्करः, भूरिभारभिया = अधिकभरभीत्या, शिरसा, गङ्गां, न धत्ते। गङ्गाया भूरिभारः कुत इत्याह—हि = यस्मात् कारणात्, सा = गङ्गा, त्वद्वाजीत्यादिः०=त्वद्वाजिराजिभिः (भवदश्वश्रेणीभिः) निर्धूताः (उद्धूताः) या धूलयः (रजांसि) ताभिः, पङ्किला = पङ्कवती। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**इत्यत्रेति**। स्फुटतया = व्यक्ततया। नाऽयमलङ्कारः।

अनुमानं लक्षयति—**अनुमानमिति**। विच्छित्त्या = कविप्रतिभोत्थापितेन वैचित्र्येण, साधनात् = पक्षसत्त्व-सपक्षसत्त्व-विपक्षव्यावृत्तत्वविशिष्टाद्धेतोः, साध्यस्य= व्यापकस्य, ज्ञानं, तु अनुमानम्। "विच्छित्त्या" इति कथनात् "**पर्वतो वह्निमान्** धूमात्" इत्यादौ विच्छित्त्यभावस्थले नाऽतिव्याप्तिः।

अनुमानमुदाहरति—**जानीमहे इति**। काचिद्विरहिणीं दृष्ट्वा मित्रं प्रति कस्यचिदुक्तिरियम्। अस्याः = दृश्यमानायाः, सारसाक्ष्याः = कमलनयनायाः, सरसि भवे सारसे, ते इव अक्षिणी यस्यास्तस्याः। "बहुव्रीहौ सक्थ्यक्ष्णोः स्वाङ्गात् षच्" इति समासाऽन्तः षच्। षित्त्वात् "षिद्गौरादिभ्यश्च" इति ङीष्। हृदि = अन्तःकरणे, प्रियवक्त्रचन्द्रः = प्रियस्य (वल्लभस्य) वक्त्रचन्द्रः (वक्त्रं = मुखम् एव चन्द्रः = इन्दुः), विराजते = प्रकाशते, इति जानीमहे = अनुमिनुमः। तत् = तस्मात् विराजनात्, हृदि प्रियस्य विराजनादिति भावः। तत्कान्तिजालैः = तस्य

न धत्त इति। शिवजी भारी बोझके भयसे गङ्गाजीको शिरसे धारण नहीं करते है, क्योंकि वे (गङ्गाजी) आपके घोड़ोंकी कतारसे उत्पन्न धूलोंसे कीचड़से युक्त हैं।

इस पद्यमें 'हि' शब्दका ग्रहण करनेसे "पङ्किलत्वात्" अर्थात् कीचड़से युक्त होनेसे इस पदके समान हेतुता स्पष्ट है अतः यह अलङ्कार नहीं होता है, क्योंकि वैचित्र्य ही अलङ्कार है, यहाँ वैचित्र्य नहीं।

अनुमानमिति। वैचित्र्यसे साधन (हेतु)से साध्यके ज्ञानको "अनुमान" अलङ्कार कहते हैं॥ ६३॥

जैसे—**जानीमहे इति**। इस कमल नयना (सुन्दरी)के हृदयमें प्रियका मुखचन्द्र

अत्र रूपकवशाद्विच्छित्तिः।

यथा वा—

'यत्र पतत्यबलानां दृष्टिर्निशिताः पतन्ति तत्र शराः।
तच्चापरोपितशरो धावत्यासां पुरः स्मरो मन्ये॥'

(प्रियवक्त्रचन्द्रस्य) कान्तिजालैः (द्युतिसमूहैः), अङ्गेषु = तस्याः सारसाक्ष्याः देहाऽवयवेषु, आपाण्डुता = अत्यर्थश्वेतता, तथा अक्षिपद्मे = नेत्रकमले, कुड्मलता = मुकुलितता, जातेति शेषः, इत्यपि जानीमहे = अनुमिनुमः। चन्द्रप्रकाशे पद्मस्य मुकुलितता भवत्येव। एवं च—सारसाक्ष्या अन्तःकरणं प्रियवक्त्रचन्द्रवत्, अङ्गेषु तत्कृतपाण्डुत्वात्, अक्षिपद्मे चन्द्रकृतमुकुलिततायाश्च" इति विच्छित्या साधनात्साध्यस्य ज्ञानादनुमानाऽलङ्कारः।

विवृणोति—अत्रेति। अस्मिन्पद्ये "प्रियवक्त्रम् एव चन्द्र" इत्यत्र "अक्षिपद्मे" इत्यत्र च रूपकवशात् विच्छित्तिः।

अनुमानस्योदाहरणान्तरमाह—यथा वा। यत्रेति। यत्र = यस्मिन्स्थाने, अबलानां = प्रमदानां, दृष्टिः = नयनं, पतति = गच्छति, तत्र = तस्मिन्स्थाने, निशिताः = तीक्ष्णाः, शराः = बाणाः, कामस्येति शेषः। तत् = तस्मात्। स्मरः = कामदेवः, चापरोपितशरः = चापे (धनुषि) रोपितः (आरोपितः) शरः (बाणः) येन सः, तादृशः सन्, आसाम् = अबलानां, पुरः = अग्रे, धावति = शीघ्रं गच्छति, इति, मन्ये = जाने। आर्यावृत्तम्।

शोभित हो रहा है। इसके अङ्गोंमें फैले हुए उस (चन्द्रमा)के कान्तिसमूहोंसे बहुत ही श्वेतता (सफेदी) है और नेत्रकमलमें मुकुलता है, हम ऐसा जानते हैं।

यहां सुन्दरीके हृदयमे प्रियका मुखचन्द्र होना साध्य है उसका, प्रियके मुखचन्द्रके कान्तिसमूहसे उसके अङ्गोंमें ज्यादा शुक्लता होना और सुन्दरीके नेत्रपद्ममें मुकुलता होना साधन है अतः वैचित्र्यसे साधनके द्वारा साध्यका ज्ञान होनेसे अनुमान अलङ्कार है।

अत्रेति। यहां "प्रियवक्त्रचन्द्रः" और "अक्षिपद्मे' इन दोनों पदोंमें रूपकसे चमत्कार हुआ है।

जैसे कि—यत्रेति। जहाँ सुन्दरियोंकी दृष्टि जाती है वहां कामदेवके तीखे बाण बरसते हैं, इस कारणसे धनुपर बाणको चढ़ाता हुआ कामदेव उनके आगे दौड़ता रहता है ऐसा मैं जानता हूं।

यहाँ धनुमें बाण चढ़ाये हुए कामदेवको आगे करती हुई सुन्दरियां साध्य हैं और सुन्दरियोंके दृष्टिपातदेशमें कामदेवका बाणपतन साधन है इसप्रकार यहां अनुमान अलङ्कार हो गया है।

अत्र कविप्रौढोक्तिवशाद्विच्छित्तिः। उत्प्रेक्षायामनिश्चिततया प्रतीतिः, इह तु निश्चिततयेत्युभयोर्भेदः।

अभेदेनाभिधा हेतुर्हेतोर्हेतुमता सह ॥ ६३ ॥

यथा मम—'तारुण्यस्य विलासः–' इत्यत्र वशीकरणहेतुर्नायिका वशीकरणत्वेनोक्ता। विलासहासयोस्त्वध्यवसायमूलोऽयमलङ्कारः।

अनुकूलं प्रातिकूल्यमनुकूलानुबन्धि चेत्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = उदाहरणे। कविप्रौढोक्तिवशात् = कवेः (कवयितुः) प्रौढोक्तिवशात् (स्मरस्य तच्छरस्य न स्वतः संभवित्वमिति भावः) विच्छित्तिः = वैचित्र्यम्। तथा चाऽत्राऽनुमानस्वरूपम्—"अबलाश्वापरोपितशर-धावित-स्मरपुरः सराः, तद्दृष्टिपतनदेशे तच्छरपतनात्" इति।

उत्प्रेक्षाऽनुमानयोर्भेदं विविनक्ति—**उत्प्रेक्षायामिति**। उत्प्रेक्षायाम् अनिश्चितया = संभावितत्वेन प्रतीतिरिह तु निश्चिततयेति भेदः।

हेत्वलङ्कारं लक्षयति—**अभेदेनेति**। हेतुमता = कार्येण, सह=समं, हेतोः = कारणस्य, अभेदेन = अभिन्नत्वरूपेण, अभिधानम् = उक्तिः, समानाऽधिकरणनिर्देशादिति भावः। हेतुः = हेत्वलङ्कारः ॥ ६३ ॥

हेत्वलङ्कारमुदाहरति—**तारुण्यस्येति**। "तारुण्यस्य विलासः" (१६६ पृ०)। पद्यमिद तृतीयपरिच्छेदे व्याख्यातपूर्वम्। वशीकरणस्य हेतुः = हेतुभूता, नायिका विलासः=आविर्भावः, हासः=प्रकाशः। तयोः अध्यवसायमूलः=अभेदाध्यवसायमूलकः अत्र च शुद्धसारोपैव लक्षणा, न ह्ययमलङ्कार इति मम्मटभट्टः।

अनुकूलाऽलङ्कारं लक्षयति—**अनुकूलमिति**। अनुकूलाऽनुबन्धि=अनुकूलताकरं, प्रातिकूल्यं = प्रतिकूलताऽऽचरणं, चेत्=यदि, तदा अनुकूलं=तन्नामाऽलङ्कारः।

अत्रेति। यहाँ कविकी प्रौढोक्तिसे चमत्कार है। उत्प्रेक्षामें संभावित रूपसे प्रतीति होती है अनुमानमें तो निश्चितरूपसे प्रतीति होती है, यही इन दोनोंका भेद है।

अभेदेनेति। कार्यके साथ कारणका अभेद रूपसे कथन करनेको हेतु अलङ्कार कहते हैं।

उदाहरण जैसे ग्रन्थकारका—**तारुण्यस्येति**। इस पद्यमे वशीकरणकी हेतुभूत नायिकाको वशीकरण कहा है। विलास और हासमें तो अभेदाऽध्यवसायमूलक हेतु अलङ्कार है।

अनुकूलमिति। अनुकूलता करनेवाला प्रतिकूलताका आचरण हो तो अनुकूल अलङ्कार कहते हैं ॥ ६४ ॥

यथा—

'कुपितासि यदा तन्वि ! निधाय करजक्षतम् ।
बधान भुजपाशाभ्यां कण्ठमस्य दृढं तदा ॥'

अस्य च विच्छित्तिविशेषस्य सर्वालङ्कारविलक्षणत्वेन स्फुरणात्पृथगलङ्कारत्वमेव न्याय्यम् ।

वस्तुनो वक्तुमिष्टस्य विशेषप्रतिपत्तये ॥ ६४ ॥
निषेधाभास आक्षेपो वक्ष्यमाणोक्तगो द्विधा ।

अनुकूलमुदाहरति—**कुपिताऽसीति** । मानिनीं प्रति तत्सख्या उक्तिरियम् । हे तन्वि = हे कृशाङ्गि !, त्वं, कुपिता = क्रुद्धा, असि, यदा = यदि, तदा = तर्हि; करजक्षतं = नखक्षतं, तदङ्गे, निधाय = निक्षिप्य, भुजपाशाभ्यां = बाहुपाशाभ्याम्, अस्य = प्रियस्य, कण्ठं = गलं, दृढं = गाढं यथा तथा, बधान = बद्धं कुरु । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

अत्र करजक्षतस्य भुजपाशाभ्यां कण्ठबन्धनस्य प्रातिकूल्येऽपि नायकस्य कृते कामोद्दीपनेन अनुकूलानुबन्धित्वादनुकूलालङ्कारः ।

अनुकूलस्याऽलङ्कारत्वं समर्थयते—**अस्य चेति** । अस्य = अनुकूलस्य, विच्छित्तिविशेषस्य = वैचित्र्यविशेषस्य । न्याय्यं = न्यायादनपेतम् ।

आक्षेपाऽलङ्कारं सविभागं लक्षयति—**वस्तुन इति** । वक्तुम् = अभिधातुम्, इष्टस्य = ईप्सितस्य, वस्तुनः=विषयस्य, विशेषप्रतिपत्तये=विशिष्टज्ञानायाय ॥ ६४ ॥ निषेधाभासः = न वास्तविको निषेधः, अपितु निषेधसदृशः प्रकाशः, भवतीति शेषः । स आक्षेपः = अलङ्कारः । स च—वक्ष्यमाणोक्तगः = वक्ष्यमाणगः (वक्ष्यमाणविषयः) उक्तगः (उक्तविषयः) इति द्विधा = प्रकारद्वयरूपो भवति ॥

जैसे—कुपितेति । हे कृशाङ्गि ! तुम कुपित हो तो अङ्गमें नखक्षत करके इस (नायक)के कण्ठको बाहुपाशोंसे दृढतापूर्वक बाँध दो ।

यहाँ नखक्षत और बाहुपाशोंसे कण्ठबन्धन प्रतिकूल है तो भी नायकके लिए कामके उद्दीपनसे अनुकूलताके आचरणसे अनुकूल अलङ्कार है ।

अस्येति । इसके चमत्कारविशेषका सब अलङ्कारोंसे विलक्षण (निराला) रूपसे स्फुरित होनेसे इसे पूर्वोक्त अलङ्कारोंसे भिन्न अलङ्कार मानना उचित है ।

वस्तुन इति । कहनेके लिए अभीष्ट विषयका विशेष ज्ञानके लिए निषेधके आभास (सदृश)को "आक्षेप" कहते हैं । वह भी वक्ष्यमाणग (कहे जानेवाले विषयगत) और उक्तग (पहले कहे गये विषयगत) होनेसे दो प्रकारका होता है ॥ ६५ ॥

तत्र वक्ष्यमाणविषये क्वचित्सर्वस्यापि सामान्यतः सूचितस्य निषेधः, क्वचिदंशोक्तावंशान्तरे निषेध इति द्वौ भेदौ। उक्तविषये च क्वचिद्वस्तुस्वरूपस्य निषेधः, क्वचिद्वस्तुकथनस्येति द्वौ, इत्याक्षेपस्य चत्वारो भेदाः।

क्रमेण यथा—

'स्मरशरशतविधुराया भणामि सख्याः कृते किमपि।
क्षणमिह विश्रम्य सखे! निर्दयहृदयस्य किं वदाम्यथवा॥'

अत्र सख्या विरहस्य सामान्यतः सूचितस्य वक्ष्यमाणविषये निषेधः।

विवृणोति—**तत्रेति**। अस्य चातुर्विध्यं दर्शयति— **वक्ष्यमाणविषय इति**। सर्वस्य = समस्तांऽशस्य। सामान्यतः = साधारणभावतः। अंशान्तरे=अन्यस्मिन्नंशे, वक्ष्यमाणनिषेध इति द्वौ भेदौ। उक्तविषये च द्वौ भेदौ इति चत्वारो भेदाः।

वक्ष्यमाणविषये सर्वस्य निषेध आक्षेपमुदाहरति—**स्मरेति**। नायिकासख्या नायकं प्रति नायिकाविरहावस्थासूचिकोक्तिरियम्। हे सखे = हे मित्र!, इह = अस्मिन्स्थाने, क्षणं = कंचित्कालं, विश्रम्य = विश्रामं कृत्वा, स्मरशरशतविधुरायाः= स्मरस्य (मदनस्य) शरशतेन (बाणशतप्रहारेण) विधुरायाः (पीडितायाः), सख्याः = वयस्यायाः, कृते = निमित्ते, किमपि = वचनं, भणामि = कथयामि। अथवा=यद्वा, निर्दयहृदयस्य=निष्करुणचित्तस्य, तव, समीप इति शेषः, किं, वदामि= कथयामि, किमपि नो वदामीति भावः। आर्यावृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। इह "स्मरशरशतविधुरायाः" इति इति विशेषणमात्रेण सामान्यतः सूचितस्य विरहस्य = विरहाऽवस्थायाः, वक्ष्यमाणविशेषे = कथयिष्यमाणपाण्डुत्वकृशत्वादिविशेषे बोधाय "किं वदामी"ति वचनेन निषेधादाक्षेपः।

तत्रेति। उनमें वक्ष्यमाणके विषयमें कहीं सामान्यरूपसे सूचित संपूर्ण विषयका निषेध होता है, और कहीं एक अंशकी उक्तिमें दूसरे अंशमें निषेध होता है, इस तरह दो भेद होते हैं। उक्तविषयमें भी कहीं वस्तुस्वरूपका निषेध है और कहीं वस्तुकथनका निषेध है, इसतरह दो भेद होते हैं। इसप्रकार आक्षेप अलङ्कारके कुल चार भेद होते हैं।

क्रमसे जैसे—**स्मरेत्यादिः०**। हे मित्र! यहां कुछ समय तक विश्राम करके कामदेवके सैकड़ों बाणोंसे पीड़ित सखीके लिए कुछ कहती हूँ। अथवा निर्दय चित्तवाले आपके सामने क्या कहूँ।

अत्रेति। यहां सामान्य रूपसे सूचित सखीके विरहका वक्ष्यमाण पाण्डुत्व कृशत्व आदि विशेषमें बोधके लिए "किं वदामि" ऐसे वचनसे निषेध होनेसे आक्षेप अलङ्कार है।

'तव विरहे हरिणाक्षी निरीक्ष्य नवमालिकां दलिताम् ।
हन्त ! नितान्तमिदानीमाः किं हतजल्पितैरथवा ? ॥'

अत्र मरिष्यतीत्यंशो नोक्तः।

'बालअ ! णाहं दूती, तुअ प्पिओसि त्ति ण मह वावारो ।
सा मरइ तुज्झ अअसो एअं धम्मक्खरं भणिमो ॥'

वक्ष्यमाणविषयेऽशोंक्तावंशान्तरे निषेध आक्षेपमुदाहरति—**तवेति** । ायिकासख्या नायकं प्रति नायिकाशोचनीयाऽवस्थासूचिकोक्तिरियम् । हे महोदय ! रिणाक्षी = मृगनयना, तव प्रियेति भावः । तव = भवतः, विरहे = वियोगे, वमालिकां = सप्तलां, पुष्पविशेषं, दलितां = विकसितां, निरीक्ष्य = संदृश्य, हन्त = दे, इदानीम् = अधुना, नितान्तम् = एकान्तमेव, शोच्याऽवस्थां गमिष्यतीति शेषः । ः = इति पीडाद्योतकमव्ययम् । अथवा = यद्वा, हतजल्पितैः = अनर्थगदितैः, = न कोऽपि लाभ इति भावः । आर्यावृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । "विरहे" इत्यंश उक्तः । "मरिष्यती"ति अंशान्तरं क्तमिति भावः । एवं च "हतजल्पितैः" इति निषेधाभासादाक्षेपः ।

उक्तविषये वस्तुस्वरूपनिषेध आक्षेपमुदाहरति—**बालअ इति** । दूती-रूपेणागत्य नायिकासख्या नायकं प्रति नायिकावस्थोक्तिरियम् । "बालक ! ऽहं दूती, तस्याः प्रियोऽसीति न मम व्यापारः । सा म्रियते, तवाऽयश एवं र्माऽक्षरं भणामः" "इति संस्कृतच्छाया । हे बालक = हे बालकसदृश ! । प्रणय-साऽनभिज्ञत्वादियमुक्तिः । अहं, दूती = सन्देशहरा, न = नाऽस्मि । अत्रात्मनि तीत्वनिषेधाद्विश्वसनीयत्वं द्योत्यते । तस्याः = नायिकायाः, प्रियोऽसि=वल्लभोऽसि, ति = अनेन कारणेन, मम, व्यापारः = त्वत्समीपागमनरूपा क्रिया, न = नो र्तते । सा = त्वत्प्रिया, म्रियते = प्राणांस्त्यजति, मदनकदनेनेति शेषः । तव = वतः, अयशः = तन्मरणेनाऽकीर्तिः, भवेदिति शेषः । एवम् = इत्थं, धर्माऽक्षरं = थार्थवचनं, भणामः = वदामः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

तवेति । हे महाशय ! मृगनयना आपके वियोगमें नवमालिकाको खिली ई देखकर हाय ! इस समय निश्चय ही—ओः ! अथवा अनर्थ कथनोंसे क्या ?

अत्रेति । यहाँ "विरहे" यह अंश कहा है, "मरिष्यति" यह अंश नहीं हा है ।

बालअ इति । हे बालक ! मैं दूती नहीं हूँ । तुम उसके प्यारे हो इसलिए ी मेरा तुम्हारे पास आनेका कार्य नहीं । वह मरेगी और तुम्हारा अयश होगा ह धर्माऽक्षर कहती हूँ ।

अत्र दूतीत्वस्य वस्तुनो निषेधः ।

'विरहे तव तन्वङ्गी कथं क्षपयतु क्षपाम् ? ।
दारुणव्यवसायस्य पुरस्ते भणितेन किम् ? ॥'

अत्र कथनस्योक्तस्यैव निषेधः ।

प्रथमोदाहरणे सख्या अवश्यम्भाविमरणमिति विशेषः प्रतीयते । द्वितीयेऽशक्यवक्तव्यत्वादि । तृतीये दूतीत्वे यथार्थवादित्वम् । चतुर्थे दुःखस्यातिशयः ।

न चायं विहितनिषेधः, अत्र निषेधस्याभासत्वात् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अस्मिन्नुदाहरणे सख्या आत्मनो धर्मोऽक्षरवादित्वरूपविशेषज्ञानाय, दूतीत्वस्य = वस्तुनः । निषेध इति भावः । तेनाक्षेपाऽलङ्कारः ।

उक्तविषये वस्तुकथननिषेधे आक्षेपमुदाहरति—**विरह इति** । विरहिणीसख्या नायकं प्रति विरहिणीदशोक्तिरियम् ।

हे महाशय ! तन्वङ्गी = कृशाङ्गी, त्वत्प्रियेति शेषः । तव=भवतः, विरहे=वियोगे, क्षपां = रात्रिं, कथं = केन प्रकारेण, क्षपयतु=यापयतु । दारुणव्यवसायस्य=प्रवासात्मकभयङ्करोद्यमस्य, ते = तव, पुरः = अग्रतः, भणितेन = कथनेन, तदवस्थाया इति शेषः । किं = किं फलम्, न किमपीति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अस्मिन्नुदाहरणे, कथनस्योक्तस्यैव=पूर्वार्द्धस्यैवेत्यर्थः ।

उक्तोदाहरणचतुष्टये स्वस्वविशेषप्रतिपत्तिं प्रदर्शयति—**प्रथमोदाहरणे इति** । प्रथमोदाहृणे = "स्मरशरशतविधुराया" इत्यादौ । द्वितीये = "तव विरहे" इत्यादौ । तृतीये "बालअ णाहं दूती"त्यादौ दूतीत्वे यथार्थवादित्वम् । चतुर्थे "विरहे तव तन्वङ्गी" इत्यादौ ।

न चाऽयमिति । अयम् । आक्षेपाऽलङ्कारघटकनिषेधः ।

अत्रेति । इसमें दूतीत्व वस्तुका निषेध है ।

विरह इति । हे महाशय ! वह कृशाङ्गी आपके वियोगमे रात्रिको कैसे व्यतीत करे ! कठोर उद्यम करनेवाले आपके आगे कहनेसे क्या लाभ !

अत्रेति । यहां कहे हुए कथनका ही निषेध है ।

प्रथम उदाहरण (स्मरशतशतविधुरायाः इत्यादि)में सखीका मरण अवश्य होनेवाला है, यह विशेष प्रतीत होता है । द्वितीय उदाहरण ("तव विरहे" इत्यादि)में विषय कहनेमें अशक्यताकी प्रतीति होती है । तृतीय उदाहरण (बालअ णाऽहं दूती" इत्यादि)में दूतीका यथार्थवादित्व और चतुर्थ उदाहरण ("विरहे तव तन्वङ्गी"-इत्यादि)में दुःखका आधिक्य प्रतीत होता है । यह विहितका निषेध नहीं है, क्योंकि आक्षेपमें निषेधका आभास होता है ।

अनिष्टस्य तथार्थस्य विध्याभासः परो मतः ॥ ६५ ॥

तथेति पूर्ववद्विशेषप्रतिपत्तये ।

यथा—

'गच्छ गच्छसि चेत् कान्त ! पन्थानः सन्तु ते शिवाः ।
ममापि जन्म तत्रैव भूयाद्यत्र गतो भवान् ॥'

अत्रानिष्टत्वाद्गमनस्य विधिः प्रस्खलद्रूपो निषेधे पर्यवस्यति । विशेषश्च गमनस्यात्यन्तपरिहार्यत्वरूपः प्रतीयते ।

प्रकारान्तरेणाक्षेपाऽलङ्कारं प्रदर्शयति—**अनिष्टस्येति** । अनिष्टस्य = अनभीष्टस्य, अर्थस्य = विषयस्य, तथा = पूर्ववत्, विशेषप्रतिपत्तये, विध्याभासः = न वास्तवो विधिः, परन्तु विधिरिव प्रतीयमान इति भावः । परः = पूर्वप्रतिपादितान्द्भिन्नः आक्षेपाऽलङ्कारः, मतः = सम्मतः ॥ ६५ ॥

प्रकारान्तरेणाक्षेपमुदाहरति—**गच्छेति** । देशान्तरप्रस्थानोद्यतं कान्तं दृष्ट्वा वियोगव्यथां सोढुमसमर्थायाः कान्ताया उक्तिरियम् । हे कान्त = हे प्रिय ! गच्छसि चेत् = विदेशं गमिष्यसि यदि, गच्छ = व्रज, ते = तव, पन्थानः = मार्गाः, शिवाः = कल्याणस्वरूपाः, सन्तु=भवन्तु, यत्र = यस्मिन्देशे, भवान्, गतः=प्राप्तः, भविष्यतीति शेषः, मम, अपि, तत्र एव = तस्मिन् एव देशे, जन्म = जननं, भूयात् = भवतात् । तथा च भवद्विरहवेदनाया मम मृत्योरनिवार्यत्वेन तदनन्तरं भवद्गतदेश एव मम जनिर्भूयादिति भावः ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अस्मिन्नुदाहरणे अनिष्टत्वात् = स्वमरणस्य, अनभीष्टत्वात्, विधिः = गच्छेति गमनविधिः, प्रस्खलद्रूपः = अत्यन्तमसंभवन् । निषेधे= गमननिषेधे, पर्यववस्यति = गच्छेति गमनरूपो विधिर्निषेधरूपे पर्यवसितो भवतीति भावः ।

अत्र कीदृशी विशेषप्रतिपत्तिरिति सूचयति—**विशेषश्चेति** । गमनस्य = कान्तस्य विदेशयात्रायाः, विशेषश्च, अत्यन्तपरिहार्यत्वरूपः = अत्यर्थपरित्याज्यस्वरूपः, "ममापी"त्यादिना द्वितीयार्द्धेन व्यञ्जितः ।

अनिष्टस्येति । अनिष्ट विषयका पहलेके समान (विशेष ज्ञानके लिए) जहाँ विधिका आभास होता है वहाँ दूसरा आक्षेप अलङ्कार होता है ।

जैसे—**गच्छेति** । हे प्रिय ! विदेशमें जाते हो तो जाओ, तुम्हारे मार्ग कल्याणकारक हों । जहाँ आप प्राप्त हों मेरा भी वहीं जन्म ईश्वर करें ।

अत्रेति । यहां नायिकाके लिए प्रियका गमन अनिष्ट होनेसे विधि विचलितरूप अर्थात् अविधिस्वरूप होकर निषेधके रूपमें पर्यवसित हो जाती है । गमनका अत्यन्त परिहार करनेके रूपमें विशेषकी प्रतीति होती है ।

विभावना विना हेतुं कार्योत्पत्तिर्यदुच्यते ।
उक्तानुक्तनिमित्तत्वाद् द्विधा सा परिकीर्तिता ॥ ६६ ॥

विना कारणमुपनिबध्यमानोऽपि कार्योदयः किञ्चिदन्यत्कारणमपेक्ष्यैव भवितुं युक्तः । तच्च कारणान्तरं क्वचिदुक्तं क्वचिदनुक्तमिति द्विधा ।

यथा—

'अनायासकृशं मध्यमशङ्कतरले दृशौ ।
अभूषणमनोहारि वपुर्वयसि सुभ्रुवः ॥'

विभावनां लक्षयति—**विभावनेति** । हेतुं = प्रसिद्धकारणं, विना, यत् = कार्योत्पत्तिः=कार्यस्य, उत्पत्तिः (जनिः), सा विभावना=तन्नामाऽलङ्कारः । विभाव्यते (विचार्यते) हेतुरस्यामिति विभावना । वि-पूर्वकात् णिजन्तभूधातोर्बाहुलकादधिकरणे युच् । सा च विभावना उक्ताऽनुक्तनिमित्तत्वात् = उक्तनिमित्तत्वात् (उक्तप्रसिद्धकारणत्वात्) अनुक्तनिमित्तत्वात् (अनुक्तप्रसिद्धकारणत्वात्) च, द्विधा = द्विप्रकारा, प्रकीर्तिता = प्रोक्ता । उक्तनिमित्ता अनुक्तनिमित्ता च विभावना द्विप्रकारा इति भावः ॥ ६६ ॥

विवृणोति—**विनेति** । उपनिबध्यमानः = उपन्यस्यमानः, अपि, कार्योदयः कार्यस्य उदयः (उत्पत्तिः) । अन्यत्=अपरम्, अप्रसिद्धमिति भावः । कारणान्तरम्= अप्रसिद्धकारणम् ।

उक्तनिमित्तां विभावनामुदाहरति—**अनायासकृशमिति** ।

कस्याश्चित्तरुण्या वर्णनमिदम् । वयसि = अवस्थायां, यौवनस्येति शेषः । "खग-बाल्यादिनोर्वयः" इत्यमरः । सुभ्रुवः = सुन्दर्याः, शोभने भ्रुवौ यस्यास्तस्याः । मध्यं = मध्यमम्, अवलग्नम् । अनायासकृशम् = अनायासम् (आयासरहितमपि, अयत्नसिद्धमिति भावः) कृशम् (क्षीणम्) । तथा दृशौ = नयने, अशङ्कतरले =

विभावनेति । कारणके विना कार्यकी उत्पत्ति कही जाती है तो "विभावना" अलङ्कार होता है ॥ ६६ ॥

जहाँ कारण उक्त हो वहां उक्तनिमित्ता और जहां कारण अनुक्त हो वहाँ अनुक्तनिमित्ता इसप्रकार विभावना दो प्रकारकी कही जाती है ।

विनेति । कारणके विना वर्णनकी जानेवाली कार्यकी उत्पत्ति भी किसी अन्य कारणकी अपेक्षा करके ही होनी चाहिए । वह कारण भी कहीं उक्त और कहीं अनुक्त होता है, इसप्रकार दो प्रकारका होता है ।

जैसे—अनायासकृशमिति । सुन्दर भौंहें वाली कामिनीके यौवनसमयमें कमर विना परिश्रमके ही कृश (दुबली) हैं, नेत्र विना शङ्काके ही चञ्चल हैं और शरीर विना अलङ्कारोंके ही सुन्दर है ।

अत्र वयोरूपनिमित्तमुक्तम् ।
अत्रैव 'वपुर्भाति मृगीदृशः' इति पाठेऽनुक्तम् ।

सति हेतौ फलाभावे विशेषोक्तिस्तथा द्विधा ।

तथेत्युक्तानुक्तनिमित्तत्वात् । तत्रोक्तनिमित्ता यथा—

'धनिनोऽपि निरुन्मादा युवानोऽपि न चञ्चलाः ।
प्रभवोऽप्यप्रमत्तास्ते महामहिमशालिनः ॥'

अशङ्के (शङ्कारहिते) तथाऽपि तरले (चञ्चले, स्वभावचञ्चले इति भावः) तथा वपुः = देहः, अभूषणमनोहारि = अभूषणम् (भूषणरहितम्) अपि, मनोहारि (मनोहरणशीलम्) अस्तीति शेषः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—अत्रेति । अस्मिन्नुदाहरणे मध्यस्य कृशत्वं प्रति दृशोस्तरलत्व प्रति शङ्का, तथा वपुषो मनोहारित्व प्रति भूषणं प्रसिद्ध कारणम् । तेषामभावेऽपि कृशत्वादीनां कार्याणामुत्पत्तेर्विभावनाऽलङ्कारः । एवं चाऽत्र "वयसी"ति वयस उपनिबद्धयमानत्वाद्वयोरूपं निमित्तमुक्तम् । तथा चेयमुक्तनिमित्ता विभावना ।

अनुक्तनिमित्तां विभावनामुदाहरति— अत्रैवेति । अत्रैव = अस्मिन्नुदाहरण एव, "अनायासकृशम्", इत्यादि पद्य एव चतुर्थचरणे "वपुर्भाति मृगीदृशः" इति पाठे—मृगीदृशः=हरिणीनयनायाः । वपुः, भाति=शोभते, इति कृशत्वादीनां निमित्तरूपस्य वयस अभावात् "अनुक्तनिमित्ते"यं विभावना ।

विभागगर्भां विशेषोक्ति लक्षयति—सति हेताविति । हेतौ = प्रसिद्धकारणे, सति = विद्यमाने, फलाऽभावः = फलस्य (कार्यस्य) अभावे (अनुत्पत्तौ) विशेषोक्तिः = तन्नामाऽलङ्कारः । तथा = पूर्ववत् विभावनेव उक्तनिमित्ता, अनुक्त निमित्ता च विशेषोक्तिरपि द्विधा = द्विप्रकारा भवति ।

विवृणोति—तथेति ।

उक्तनिमित्तां विशेषोक्तिमुदाहरति—धनिनोऽपीति । महामहिमशालिनः= महामहिम्ना (उत्कृष्टमहत्त्वेन) शालन्ते (शोभन्ते) तच्छीलाः, जनाः धनिनः =

अत्रेति । यहाँ इन सबका निमित्त यौवन कहा गया है, अतः यह उक्तनिमित्ता विभावना है । इसी श्लोकमें "वपुर्भाति मृगीदृशः" अर्थात् मृगनयनाका शरीर शोभित हो रहा है । ऐसा पाठ रखें तो अनुक्तनिमित्ता विभावना हो जायगी ।

सतीति । कारणके होते हुए भी फल (कार्य)के न होनेपर विशेषोक्ति अलङ्कार होता है । यह भी कारणके उक्त और अनुक्त होनेसे दो प्रकारका होता है ।

उसमें उक्तनिमित्ता विशेषोक्ति जैसे—धनिन इति । वे बड़े महत्त्वसे शोभित होनेवाले पुरुष, धनी होकर भी उन्मादसे रहित हैं, जवान होकर भी चञ्चल नहीं हैं प्रभु होकर भी प्रमादसे रहित हैं ।

अत्र महामहिमशालित्वं निमित्तमुक्तम् । अत्रैव चतुर्थपादे 'कियन्तः सन्ति भूतले' इति पाठे त्वनुक्तम् । अचिन्त्यनिमित्तत्वं चानुक्तनिमित्तस्यैव भेद इति पृथक् नोक्तम् ।

यथा—

'स एकस्त्रीणि जयति जगन्ति कुसुमायुधः ।
हरताऽपि तनुं यस्य शम्भुना न हृतं बलम् ॥'

धनसम्पन्ना अपि, निरुन्मादाः = अहङ्काररहिताः, युवानः = तरुणाः सन्तोऽपि, न चञ्चलाः = न तरलस्वभावाः, प्रभवः अपि=ऐश्वर्यसम्पन्ना अपि, अप्रमत्ताः = प्रमादरहिताः, अनवधानतारहिता भवन्तीति शेषः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अस्मिन्नुदाहरणे, उन्मादं, चाञ्चल्यं प्रमादं च प्रति क्रमतो धनं, यौवनं प्रभुत्वं च कारणम् । तथा च धनादिषु हेतुषु सत्स्वपि उन्मादादीनां कार्याणामनुत्पत्तेर्विशेषोक्तिः । अत्र "महामहिमशालिन" इति कथनात् "महामहिमशालित्वं" निमित्तमुक्तम् । अत एवेयमुक्तनिमित्ता विशेषोक्तिः ।

अनुक्तनिमित्तां विशेषोक्तिमुदाहरति—**अत्रैवेति** । अत्रैव = "धनिनोऽपि" इत्यादावेव । चतुर्थपादे "कियन्तः सन्ति भूतले" इति पाठे अनुक्तनिमित्ता विशेषोक्तिः ।

अचिन्त्यनिमित्तत्वं चेति । अचिन्त्यनिमित्तत्वं चाऽनुक्तनिमित्ताया एवैव भेद इति काव्यप्रकाशेऽलङ्कारकौस्तुभे च निर्दिष्टाऽप्यचिन्त्यनिमित्ता विशेषोक्तिः पृथङ् नोक्ता ।

अचिन्त्यनिमित्तां विशेषोक्तिमुदाहरति—**स एक इति** ।

सः = प्रसिद्धः, एक एव = एकाकी एव, कुसुमायुधः = कुसुमेषुः, कामदेवः, त्रीणि = त्रिसंख्यकानि, जगन्ति = लोकान्, स्वर्ग—मर्त्य—पातालरूपानिति भावः । जयति = स्वायत्तीकरोति । यस्य = कुसुमायुधस्य, तनुं = देहं, हरताऽपि = नाशयताऽपि, शम्भुना = हरेण, बलं = सामर्थ्यं, न हृतं = नो नाशितम् ॥ अनुष्टुब्वृत्तम् ।

अत्रेति । यहाँ "महामहिमशालित्व" अर्थात् बड़े महत्त्वसे शोभित होना निमित्त कहा गया है । इस श्लोकमे चतुर्थ चरणमे "कियन्तः सन्ति भूतले" अर्थात् ऐसे पुरुष भूतलमें कितने हैं, ऐसा पाठ रखें तो "अनुक्तनिमित्ता" विशेषोक्ति हो जायगी । विशेषोक्तिकी "अचिन्त्यनिमित्ता" तीसरा भेद होता है ऐसा कोई (अलङ्कारकौस्तुभकार) मानते हैं, परन्तु वह अनुक्तनिमित्ता ही है इसलिए भिन्नरूपसे नहीं कही गई है ।

जैसे—**स इति** । वह अकेला ही कामदेव तीनों लोकोंकी विजय करता है, जिसके शरीरका हरण करते हुए भी महादेवने बलका हरण नहीं किया है ।

अत्र तनुहरणेनापि बलाहरणे निमित्तमचिन्त्यम्। इह च कार्याभावः कार्यविरुद्धसद्भावमुखेनापि निबद्ध्यते। विभावनायामपि कारणाऽभावः कारण-विरुद्धसद्भावमुखेन।

एवञ्च 'यः कौमारहरः' इत्यादेरुत्कण्ठाकारणविरुद्धस्य निबन्धनाद्वि-भावना। 'यः कौमार-' इत्यादेः कारणस्य च कार्यविरुद्धाया उत्कण्ठाया निबन्धनाद्विशेषोक्तिः, एवञ्चात्र विभावनाविशेषोक्त्योः सङ्करः। शुद्धोदाहरणं तु मृग्यम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। तनुहरणेऽपि=शरीरनाशेऽपि, बलाऽहरणे=सामर्थ्याऽ-नाशे, निमित्तं=कारणम्, अचिन्त्यम् = अचिन्तनीयम्। वस्तुतः एषाऽचिन्त्यनिमित्ताऽ-नुक्तनिमित्तायां विशेषोक्तावेवाऽन्तर्भवतीति विश्वनाथकविराजाशयः।

विशेषोक्तौ विभावनायां च किञ्चित्तथ्यं प्रदर्शयितुमुपक्रमते—**इह चेति**। इह = विशेषोक्तौ, कार्याऽभावः = फलाऽभावः। कार्यविरुद्धसद्भावमुखेन = कार्यस्य विरुद्धं (विरोधि) यत् (वस्तु) तस्य सद्भावमुखेन (सत्ताद्वारेण) अपि, निबद्ध्यते = निबद्धं क्रियते। न केवलं निषेधमुखेन निबद्ध्यत इति भावः। एवं च विभावनायामपि, कारणाऽभावः = हेत्वभावः, कारणविरुद्धसद्भावमुखेन = कारणस्य (हेतोः) विरुद्धं (विरोधि वस्तु) तस्य सद्भावमुखेन (सत्ताद्वारेण) अपि, निबद्ध्यते = निबद्धं क्रियते, न केवलं निषेधमुखेन निबद्ध्यते इति भावः।

एवं चेति। "यः कौमाहरः" इत्यादेः=इत्याद्युक्तस्य, उत्कण्ठाकारणविरुद्धस्य= उत्कण्ठायाः (उत्कलिकायाः) कारणं (हेतुः, वरादीनामभावः) तद्विरुद्धस्य (वरादीनां सद्भावस्य) निबन्धनात् (संघटनात्) विभावना भवितुमर्हतीति भावः।

एवं च—"यः कौमारहर" इत्यादेः = इत्याद्युक्तस्य। उत्कण्ठायाः कारणं (तत्तद्वरादीनामभावः) तद्विरुद्धस्य (तत्तद्वरादीनां सद्भावस्य) "चेतः समुत्कण्ठते" इति निबन्धाद्विभावना। "यः कौमारहर" इत्यादेः कारणस्य = (तत्तद्वरादिसद्भावस्य) कार्यविरुद्धायाः = कार्यम् (उत्कण्ठाऽ-भावरूपम्) तद्विरुद्धायाः उत्कण्ठाया निबन्धनाद्विशेषोतिः एवम् = इत्थम्,

---

अत्रेति। यहाँ शरीरका हरण करनेपर भी बलका हरण न करनेमे निमित्त (कारण) अचिन्त्य है।

इह चेति। यहां (विशेषोक्तिमें) कार्य (फल) का अभाव कार्यके विरोधी वस्तुकी सत्ताके द्वारा भी वर्णन किया जाता है। इसी तरह विभावनामें भी कारणके अभाव कारणके विरोधी वस्तुकी सत्ताके द्वारा भी वर्णन किया जाता है। इसप्रकार "यः कौमारहरः" इत्यादिमें उत्कण्ठाके कारणके विरोधीका वर्णन करनेसे "विभावना" है। "यः कौमारहरः" इत्यादिमें कारणकी कार्यविरुद्ध उत्कण्ठाके

जातिश्चतुर्भिर्जात्याद्यैर्गुणो गुणादिभिस्त्रिभिः ॥ ६७ ॥
क्रिया क्रियाद्रव्याभ्यां यद् द्रव्यं द्रव्येण वा मिथः ।
विरुद्धमेव भासेत विरोधोऽसौ दशाकृतिः ॥ ६८ ॥

क्रमेण यथा—

'तव विरहे मलयमरुद्दवानलः, शशिरुचोऽपि सोष्माणः ।
हृदयमलिरुतमपि भिन्ते नलिनीदलमपि निदाघरविरस्याः ॥'

अत्र=अस्मिन् "यः कौमारहर" इत्यादिपद्ये । विभावनाविशेषोक्त्योः=अलङ्कारयोः । सङ्करः = सन्देहसङ्करः ।

शुद्धोदाहरणं तु, मृग्यम् = अन्वेषणीयम् ।

विरोधाऽलङ्कारं लक्षयति—**जातिरिति** । यत्र जातिः, चतुर्भिः = चतुःसंख्यकैः, जात्याद्यैः = जातिगुणक्रियाद्रव्यैः, विरुद्धम् एव = सविरोधम् एव, वस्तुतो नो विरुद्धमिति भावः । भासेत = प्रतीयेत, गुणः = त्रिभिः = त्रिसंख्यकैः, गुणादिभिः = गुणक्रियाद्रव्यैः, विरुद्धमिव भासेत ॥ ६७ ॥

क्रिया, क्रियाद्रव्याभ्यां, विरुद्धमिव भासेत । द्रव्यं द्रव्येण वा, मिथः = परस्परं, विरुद्धमेव भासेत, असौ = अयं, दशाकृतिः = दशाकारः, दशप्रकार इति भावः । विरोधः =, विरोधाऽभावाद्विरोधाभास इत्यप्युच्यते ॥ ६८ ॥

जाते र्जात्यादिभिश्चतुर्भिर्विरोधे विरोधमुदाहरति—**तव विरह इति** । नायकं प्रति नायिकादूत्या उक्तिरियम् । हे महाशय !, तव = भवतः, विरहे = वियोगे, अस्याः = नायिकायाः, मलयमरुत् = मलयपर्वतवातोऽपि, अतिशयशीतलोऽपि, दवाऽनलः = वनहुताऽशनः, दवाऽनल इव दाहजनकः इति भावः । शशिरुचः = चन्द्रकिरणा अपि, अत्यर्थशीता अपि, सोष्माणः = उष्णाः, तापकरा इति भावः । अलिरुतं = भ्रमरझङ्कारः, अपि, माधुर्यपूर्णोऽपि, हृदयं = हृत्, भिन्ते =

वर्णन करनेसे "विशेषोक्ति" है । इसप्रकार यहाँ "यः कौमारहरः" इत्यादि पद्यमें विभावना और विशेषोक्तिका सन्देह सङ्कर है । इसका शुद्ध उदाहरण ढूंढना चाहिए ।

जातिरिति । जहाँ जाति, जात्यादि अर्थात् जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यके साथ, गुण, गुणादि अर्थात् गुण, क्रिया और द्रव्यके साथ, क्रिया, क्रिया और द्रव्यके साथ और द्रव्य द्रव्यके साथ परस्पर ॥ ६८ ॥ विरुद्धकी तरह भासित हो वहाँ "विरोध अलङ्कार होता है, इसके दश भेद होते हैं ।

क्रमसे जैसे—**तवेति** । तुम्हारे वियोगमें उस (नायिका)को मलयवायु दावाग्नि हो रहा है । चन्द्रमाकी किरणें भी उष्ण हो रही हैं । भ्रमर-झङ्कार भी हृदयका भेदन कर रहा है और कमलका पत्ता भी ग्रीष्म ऋतुका सूर्य हो रहा है । यहां मलय मरुत् और दावाऽनल जातिवाचक हैं, इन दोनों जातियोंका विरोध-सा दिखलाया

'सन्ततमुसलासङ्गाद् बहुतरगृहकर्मघटनया नृपते ! ।
द्विजपत्नीनां कठिनाः सति भवति कराः सरोजसुकुमाराः ॥'
'अजस्य गृह्णतो जन्म निरीहस्य हतद्विषः ।
स्वपतो जागरूकस्य याथार्थ्यं वेद कस्तव ॥'

विदारयति । एवं च नलिनीदलं=पद्मिनीपत्रम्, अत्यर्थशीतलम्, अपि, निदाघरविः= ग्रीष्मकालसूर्यः, भृशसन्तापकर इति भावः । अत्र मलयमरुत्त्व-दवाऽनलत्व-जात्योर्विरोधः १ । शशिरुक्त्वजातेः सोष्मत्वगुणेन विरोधः २ । अलिरुतत्वजाते-र्भेदनक्रियया विरोधः ३ । एवमेव—नलिनीदलत्वजातेर्निदाघरविणा द्रव्येण विरोधः ४ । इत्थं च सर्वत्रैव विरहाद्विरोधप्रतीतिः ।

गुणस्य गुणेन विरोधे विरोधमुदाहरति—**सन्ततेति** ।

कश्चित्कविः कस्यचिद्राज्ञो दानशीलतां वर्णयति—हे **नृपते** = हे राजन् ! सन्ततमुसलासङ्गात् = सततं (निरन्तरम्) मुसलासङ्गात् (तण्डुलपरिष्कारार्थं मयोग्रसम्पर्कात्), "अयोऽग्रो मुसलोऽस्त्री स्या"दित्यमरः । तथा—**बहुतरेत्यादि**०= बहुतराणि (अधिकतराणि) यानि गृहकर्माणि (गेहकृत्यानि) तेषां घटना (सम्पादनम्) तया हेतुना । कठिनाः = कठोराः पुरेति शेषः । तादृशा द्विज-पत्नीनां = ब्राह्मणभार्याणां, कराः = हस्ताः, भवति सति = त्वयि राज्ञि विद्यमाने सति, सरोजसुकुमाराः = सरोजानि (कमलानि) इव सुकुमाराः (कोमलाः), जाता इति शेषः । भवद्वितीर्णधनेन कर्मशीलदासदास्यादिसंग्रहादिति भावः । अत्र कठिनत्व-सुकुमारत्वयोर्गुणयोर्मिथो विरोधः । आर्या वृत्तम् ।

गुणस्य क्रियया विरोधे विरोधमुदाहरति—**अजस्येति** । रघुवंशस्य दशम-सर्गस्थं पद्यम् । रावणपीडितानां देवाना भगवन्तं नारायणं प्रति स्तुतिरियम् । हे भगवन् !, अजस्य = जन्मरहितस्य, नित्यत्वादिति शेषः । न जायत इत्यजस्तस्य

है । विरहसे मलयवायु भी दावानलके सदृश हो रहा है, इसी तरह अन्यत्र भी समझें । चन्द्रकिरण जातिवाचक है उसका उष्णत्व गुणसे विरोध है । भ्रमरझङ्कार जातिसे भेदन क्रियाका विरोध है । इसी तरह नलिनीदल जातिसे निदाघरवि द्रव्यका विरोध है । इसप्रकार यहां जातिका जाति, गुण, क्रिया और द्रव्यसे विरोधका उदाहरण दिया गया है ।

सन्ततेत्यादिः० । हे राजन् ! निरन्तर मूसलके सम्पर्कसे बहुत गृहकृत्योंके करनेसे ब्राह्मण पत्नियोंके कठोर हाथ आपके होनेसे कमलके समान सुकुमार (मुलायम) हो रहे हैं ।

यहां कठिनत्व और सुकुमारत्व गुणका परस्परमें विरोध है ।

अजस्येति । हे भगवन् ! आप अज (अजन्मा) हैं पर जन्मका ग्रहण करते हैं । आप चेष्टा रहित होकर भी शत्रुओंका संहार करते हैं । आप जागरूक

'वल्लभोत्सङ्गसङ्गेन विना हरिणचक्षुषः ।
राकाविभावरीजानिर्विषज्वालाकुलोऽभवत् ॥'
'नयनयुगासेचनकं मानसवृत्त्यापि दुष्प्रापम् ।
रूपमिदं मदिराक्ष्या मदयति हृदयं दुनोति च मे ॥'

"अन्येष्वपि दृश्यते" इति डप्रत्ययः । जन्म = जननं, गृह्णतः = आददतः, मत्स्य-कच्छपादिरूपेण जायमानस्येति भावः । निरीहस्य = निश्चेष्टस्य, क्रियाराहित्येनेति भावः । तथाऽपि हतद्विषः = शत्रुघातिनः, शङ्खाऽसुरादिरिपुघातकस्येति भावः । जागरूकस्य = नित्यप्रबुद्धस्य, सर्वसाक्षित्वेनेति भावः । तथाऽपि स्वपतः = स्वापं कुर्वतः, योगनिद्रामनुभवत इति भावः । इत्थं विरुद्धचेष्टस्य तव = भवतः, याथार्थ्यं= यथार्थस्वरूपं, कः = जनः, वेद = जानाति, न कोऽपीति भावः, "विदो लटो वा" इति णलादेशः । अनुष्टुब्वृत्तम् । अत्राऽजत्वगुणस्य जन्मग्रहणक्रियया निरीहत्वगुणस्य शत्रुहननरूपक्रियया स्वप्नगुणस्य च जागरणरूपक्रियया विरोधः ।

गुणस्य द्रव्येण विरोधे विरोधमुदाहरति—**वल्लभेति** । वल्लभोत्सङ्गसङ्गेन= वल्लभस्य (प्रियस्य) उत्सङ्गसङ्गेन विना (अङ्कसम्पर्कण विना, कान्ताङ्कोपवेशनेन विनेति भावः), हरिणचक्षुषः = मृगनयनायाः, राकाविभावरीजानिः = राकाविभावरी (पूर्णिमारात्रिः) जाया (पत्नी) यस्य सः, पूर्णचन्द्र इति भावः । "जायाया निङ्" इति निङादेशः । विषज्वालाकुलः = विषज्वालया (गरल-शिखया) आकुलः (पूर्णः), दाहजनक इति भावः अभवत् । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

अत्र विषज्वालाकुलत्वस्य गुणस्य द्रव्येण चन्द्रेण विरोधः ।

क्रियायाः क्रियया सह विरोधे विरोधमुदाहरति—**नयनेति** । पद्यमिदं तृतीय-परिच्छेदे व्याख्यातपूर्वम् । कांचित्प्रमदामवलोक्य कस्यचित्पुरुषस्योक्तिरियम् । नयनयुगासेचनकं = नयनयुगस्य (नेत्रद्वयस्य) आसेचनकम् (अत्यर्थतृप्तिजनकम्),

---

(नित्यप्रबुद्ध) होकर भी सोते हैं अर्थात् योगनिद्राका अनुभव करते हैं; ऐसे आपका यथार्थस्वरूप कौन जानता है ?

यहां अजत्व गुणका जन्मग्रहण क्रियासे विरोध है, निरीहत्व गुणका शत्रुहनन रूप क्रियासे विरोध है और स्वप्न गुणका जागरणरूप क्रियासे विरोध है ।

वल्लभेत्यादिः० = प्रियके उत्सङ्गके सम्पर्कके विना मृगनयनाको पूर्णिमाका चन्द्रमा भी विषकी ज्वालासे पूर्ण हो गया ।

यहां विषज्वालाकुलत्व गुणका चन्द्ररूप द्रव्यसे विरोध है ।

नयनेत्यादिः० = यह पद्य पहले आ चुका है । यहां मादनक्रियाकी दवन-क्रियासे विरोध है ।

'त्वद्वाजी' इत्यादि। 'वल्लभोत्सङ्ग'त्यादिश्लोके चतुर्थपादे 'मध्यन्दिनदिनाधिप' इति पाठे द्रव्ययोर्विरोधः।

अत्र 'तव विरह-' इत्यादौ पवनादीनां बहुव्यक्तिवाचकत्वाज्जातिशब्दानां दवानलोष्महृदयभेदनसूर्यैर्जातिगुणक्रियाद्रव्यरूपैरन्योन्यं विरोधो मुखत

"तदासेचनकं तृप्तेर्नास्त्यन्तो यस्य दर्शनात्" इत्यमरः। एवं च मानसवृत्त्या अपि = मनोव्यापारेण अपि, दुष्प्राप = दुर्लभम्। मदिराक्ष्याः = खञ्जननयनायाः सुन्दर्याः, मदिरस्य (खञ्जनस्य) इव अक्षिणी (नेत्रे) यस्यास्तस्याः। समासाऽन्तः षच्। इदम् = एतत्, रूपं = सौन्दर्यं, कर्तृ। मे=मम, हृदयं=चित्त, मदयति=आह्लादयति, दुनोति च = उपतापयति च। "टुदु उपतापे" इति धातोः "स्वादिभ्यः श्नुः" इति श्नुः। आर्यावृत्तम्।

अत्र मादनक्रियाया दवनक्रियया सह विरोधः। दर्शनेन मदजननं उपभोगाऽभावेनोपतापजननमिति विरोधपरिहारः, अतो विरोधाभासः। क्रियाया द्रव्येण सह विरोधे विरोधमुदाहरति—त्वद्वाजीति। पद्यमिदं (२०४ पृष्ठे) व्याख्यातपूर्वम्। अत्र गङ्गाधारणाऽभावक्रियायाः हरेण द्रव्येण सह विरोधः।

द्रव्यस्य द्रव्येण सह विरोधे विरोधमुदाहरति—वल्लभोत्सङ्गसङ्गेनेति। पद्यमिदं गुणस्य द्रव्येण विरोधे व्याख्यातपूर्वम्। अस्मिन्पद्ये "विषज्वालाकुलोऽभवत्" इत्यस्य स्थाने "मध्यन्दिनदिनाऽधिप" इति पाठे राकाविभावरीजानेः=पूर्णचन्द्रस्य द्रव्यस्य मध्यन्दिनदिनाऽधिपेन = माध्याह्निकसूर्येण द्रव्येण सह विरोधात् द्रव्ययोर्मिथो विरोधात् विरोधाऽलङ्कारः।

विवृणोति—अत्रेति। इदानीमुदाहृतेषु समस्तपद्येषु विरोधं तत्समाधानं च दर्शयितुमुपक्रमते—अत्र = एषु उदाहरणेषु। "तव विरह" इत्यादौ पवनादीनां = पवनादिशब्दानां, बहुव्यक्तिवाचकत्वात्, जातेः "नित्यत्वे सत्यनेकसमवेतत्वम्" इति लक्षणेनेति भावः। दवाऽनलेत्यादिः० = दवाऽनलत्वम् (जातिः), ऊष्मत्वं (गुणः), हृदयभेदनं (क्रिया) सूर्यः (द्रव्यम्) तद्रूपैः, मुखतः =

त्वद्वाजीत्यादिः० = यहां गङ्गा धारण न करना इस क्रियाका हररूप द्रव्यसे विरोध है।

"वल्लभोत्सङ्ग" इत्यादि श्लोकमे चतुर्थ चरणमें "मध्यन्दिनदिनाऽधिपः" ऐसा पाठ रखें तो पूर्णचन्द्रद्रव्यका मध्याह्न सूर्य द्रव्यसे विरोध है।

अत्रेति। इन उदाहरणोंमें—"तव विरह" इत्यादिमें पवन आदि शब्द बहुव्यक्तिवाचक होनेसे जातिशब्द हैं, उनका दवाऽनलत्व जातिसे ऊष्मत्व गुणसे

आभासते, विरहहेतुकत्वात् समाधानम्। अत्र 'अजस्य–' इत्यादावजत्वादिगुणस्य जन्मग्रहणादिक्रियया विरोधः, भगवतः प्रभावस्यातिशायित्वात्तु समाधानम्।

'त्वद्वाजी'त्यादौ 'हरोऽपि शिरसा गङ्गां न धत्ते' इति विरोधः, 'त्वद्वाजी'त्यादिकविप्रौढोक्त्या तु समाधानम्। स्पष्टमन्यत्।

विभावनायां कारणाभावेनोपनिबध्यमानत्वात्कार्यमेव बाध्यत्वेन प्रतीयते, विशेषोक्तौ च कार्याभावेन कारणमेव। इह त्वन्योन्यं द्वयोरपि बाध्यत्वमिति भेदः।

कार्यकारणयोर्भिन्नदेशतायामसङ्गतिः।

आपाततः, विरोध आभासते = प्रकाशते। विरहहेतुकत्वात् = विरहो हेतुर्येषां तेषां भावस्तत्त्वं, तस्मात्। समाधानं = समाधिः, विरोधपरिहार इति भावः।

अजस्येति। प्रभावस्य = सामर्थ्यस्य।

त्वद्वाजीति। कविप्रौढोक्त्या = कवेः प्रौढोक्त्या न तु स्वतः संभवितयेति भावः।

विभावनायामिति। कार्यमेव = न तु कारणमिति भावः।

विशेषोक्ताविति। कारणमेव = न तु कार्यमिति भावः। इह तु=विरोधाभासे तु, द्वयोरपि = कार्यकारणयोरपि। बाध्यत्व = विरोधादसंभवत्वम्।

असङ्गत्यलङ्कारस्य लक्षणं लक्षयति—**कार्यकारणयोरिति**। कार्यकारणयोः भिन्नदेशतायां = भिन्नाधारतायाम्, वैयधिकरण्य इति भावः।

हृदयभेदन क्रियासे, सूर्य द्रव्यसे आपाततः विरोधका आभास होता है उसका विरह-हेतुक होनेसे समाधान होता है यहां "अजस्य" इत्यादिमें अजत्व आदि गुणका जन्मग्रहण आदि क्रियासे विरोध है, भगवान्‌का सामर्थ्य अत्यधिक होनेसे समाधान होता है।

"त्वद्वाजि०" इत्यादिमें हर भी शिरसे गङ्गाका धारण नहीं करते हैं यह द्रव्यका क्रियासे विरोध है, यह वास्तविक न होकर कविकी प्रौढ उक्तिसे समाहित होता है।

विभावनामे कारणके अभावका वर्णन होनेसे कार्य ही बाध्यत्वसे प्रतीत होता है। विशेषोक्तिमें कार्यके अभावसे कारण ही बाध्यत्वसे प्रतीत होता है, परन्तु यहां (विरोधमें) कार्य और कारण दोनोंकी बाध्यरूपसे प्रतीति होती है। यह भेद है।

कार्यकारणयोरिति। कार्य और कारण भिन्न देशमे हों तो असंगति अलङ्कार होता है॥ ६९॥

यथा—

'सा बाला, वयमप्रगल्भमनसः, सा स्त्री, वयं कातराः,
सा पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं धत्ते, सखेदा वयम्।
साक्रान्ता जघनस्थलेन गुरुणा, गन्तुं न शक्ता वयं,
दोषैरन्यजनाश्रयैरपटवो जाताः स्म इत्यद्भुतम् ॥'

अस्याश्चापवादकत्वादेकदेशस्थयोर्विरोधे विरोधालङ्कारः।

असङ्गतिमुदाहरति—**सा बालेति**। अमरुशतकस्थं पद्यमिदम्। कांचित्सुन्दरीं दृष्ट्वा कस्यचित्कामुकस्य स्वमित्रं प्रत्युक्तिरियम्। सा = दृष्टपूर्वा सुन्दरी बाला = बालिका, परं वयम् = अहमिति भावः। "अस्मदो द्वयोश्चे"ति एकत्वे विवक्षिते बहुवचनम्। अप्रगल्भमनसः = अप्रौढचित्ताः, सा = सुन्दरी, स्त्री = नारी, वयं, कातराः = भीतियुक्ताः, सा = सुन्दरी, पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगं = पीनम् (पुष्टम्) उन्नतिमत् (उन्नतम्) पयोधरयुगं (कुचयुग्मम्), धत्ते = धारयति, परं, वयं सखेदाः = आयासयुक्ताः। सा = सुन्दरी, गुरुणा = दुर्ग्रहेण, जघनस्थलेन= कटिभागद्वयेन, आक्रान्ता = पीडिता, परं, वयं गन्तुं = यातुं, न शक्ताः = न समर्थाः। अन्यजनाश्रितैः = भिन्नजनस्थितैः, पूर्वोक्तसुन्दर्यां विद्यमानैरिति भावः दोषैः = दूषणैः वयम्, अपटवः = अकुशलाः, असमर्था इति भावः। जाताः स्म = संजाता, इति = एतत्, अद्भुतम् = आश्चर्यम्, अत्र हेतुभूतानां बालात्व-स्त्रीत्व-पीनोन्नतिमत्पयोधरयुगधारकत्व-जघनस्थलाक्रान्तत्वादीनां सुन्दरीनिष्ठत्वात् तत्कार्यभूतानामप्रगल्भमनस्त्व-कातरत्व-सखेदत्वगमनाऽशक्तत्वानां वक्तृनिष्ठत्वाद्धेतुकार्ययोर्भिन्नदेशत्वादसङ्गतिरलङ्कारः। इयं मालारूपा। केवलरूपाया असङ्गतेरुदाहरणं नैषधे यथा—

"अजस्रमारोहसि दूरदीर्घां सङ्कल्पसोपानतति तदीयाम्।
श्वासान्स वर्षत्यधिकं पुनर्यद्ध्यानात्तव त्वन्मयतामवाप्य ॥ ३–१० ॥

विरोधाऽसङ्गत्योर्विवेकमाह—**अस्या इति**। अस्याः = असंगतेः, अपवाद-

---

जैसे—सेति। वह (सुन्दरी) बाला (थोड़ी उम्रवाली) है, परन्तु हम कातर हैं। वह पुष्ट और ऊँचे स्तनोंका धारण करती है परन्तु हम खिन्न (परिश्रान्त) हैं। वह ज्यादा बोझवाले जघनस्थलसे पीडित है परन्तु हम चलनेमें असमर्थ हैं। अन्य जनमें स्थित दोषोंसे हम असमर्थ हो रहे हैं, यह आश्चर्य है।

यहां कार्यभूत अप्रगल्भमनस्त्व आदि वक्तामें है परन्तु कारणभूत बालात्व आदि स्त्रीमें है अतः कार्य और कारणके भिन्न देशमें होनेसे असंगति अलङ्कार है।

अस्या इति। असंगतिका बाधक होनेसे एक आश्रयमें स्थित कार्य और कारणका विरोध होनेपर विरोध अलङ्कार होता है।

गुणौ क्रिये वा चेत्स्यातां विरुद्धं हेतुकार्ययोः ॥ ६९ ॥
यद्वारब्धस्य वैफल्यमनर्थस्य च सम्भवः ।
विरूपयोः संघटना या च तद्विषमं मतम् ॥ ७० ॥

गुण यथा-
'सद्यः करस्पर्शमवाप्य चित्रं रणे रणे यस्य कृपाणलेखा ।
तमालनीला शरदिन्दुपाण्डु यशस्त्रिलोकाभरणं प्रसूते ॥'

कत्वात् = बाधकत्वात्, एकदेशस्थयोः = तुल्याऽधिकरणयोः कार्यकारणयोरिति भावः । विरोधे विरोधाऽलङ्कारः ।

विषमाऽलङ्कारं लक्षयति—**गुणाविति** । हेतुकार्ययोः = कारणकार्ययोः, गुणौ, यदि विरुद्धौ = परस्परविपरीतौ स्याताम्, क्रिये वा यद्विरुद्धे स्यातां = भवेतां, चेत् = यदि तथा च हेतुगुणः यत् कार्यगुणविरुद्धः = स्यात् । अयमेको भेदः कारणगतक्रिया कार्यगतक्रियातो विरुद्धा स्यात् । अयं द्वितीयभेदः ॥ ६९ ॥

अथवा यत् आरब्धस्य = प्रारब्धस्य कर्मणः, वैफल्यं = विफलता, अभिमतफलस्याऽप्राप्तिरिति भावः अयं तृतीयो भेदः । अनर्थस्य=अनिष्टस्य, संभवः=उत्पत्तिः, स्यात्, अयं चतुर्थो भेदः । या च विरूपयोः = विपरीतयोः पदार्थयोः, संघटना = संयोजनम्, अयं पञ्चमो भेदः । इत्थं च तद्विषमं मतम् ॥ ७० ॥

कार्यकारणयोर्गुणविरोधे विषममुदाहरति—**सद्य इति** । कस्यचिद्विक्रमशालिनो राज्ञो वर्णनमिदम् । रणे रणे = प्रतिरणं, सर्वेषु युद्धेष्विति भावः । तमालनीला = तमालं (तापिच्छकिसलयम्) इव नीला (कृष्णवर्णा) कृपाणलेखा = खड्गलता, यस्य = राज्ञः, करस्पर्शं = हस्तामर्शम्, अवाप्य = प्राप्य, शरदिन्दुपाण्डु = शरदिन्दुः (शरच्चन्द्रः) इव पाण्डु (शुभ्रवर्णम्) त्रिलोकाभरणं=त्रयाणां (त्रिसंख्यकानाम्) लोकानाम् (भुवनानां स्वर्गमर्त्यपातालाख्यानामिति भावः) आभरणम् (अलङ्कारस्वरूपम्), यशः = कीर्ति, सद्यः = तत्क्षणे, प्रसूते = उत्पादयति, एतत्, चित्रम् = आश्चर्यम् । उपजातिवृत्तम् ।

गुणाविति । कारण और कार्यके गुण अथवा क्रियाएं परस्पर विरुद्ध हों २ अथवा—आरम्भ किये गये कार्यकी विफलता अर्थात् अपूर्णता हो ३, अथवा अनिष्टकी उत्पत्ति हो ४ ॥ ७० ॥ अथवा विरूप (विपरीत) पदार्थोंका संयोजन हो तो ५ विषम अलङ्कार होता है । क्रमसे जैसे—प्रत्येक युद्धमें जिस राजाके हाथका स्पर्श पाकर तापिच्छके पल्लवके समान काली खडगलता शरत् ऋतुके चन्द्रके समान सफेद तीन लोकोंके आभूषण स्वरूप यशको उत्पन्न करती है ।

अत्र कारणरूपासिलतायाः 'कारणगुणा हि कार्यगुणमारभन्ते' इति स्थितेर्विरुद्धा शुक्लयशस उत्पत्तिः ।

'आनन्दममन्दमिमं कुवलयदललोचने ! ददासि त्वम् ।
विरहस्त्वयैव जनितस्तापयतितरां शरीरं मे ॥'

अत्रानन्दजनकस्त्रीरूपकारणात्तापजनकविरहोत्पत्तिः ।

'अयं रत्नाकरोऽम्भोधिरित्यसेवि धनाशया ।
धनं दूरेऽस्तु वदनमपूरि क्षारवारिभिः ॥'

विवृणोति—**अत्रेति** । अस्मिन्नुदाहरणे । आरभन्ते = उत्पादयन्ति । इति= एतादृश्याः, स्थितेः = नियमात् । नीलाऽसिलतायाः शुक्लयशस उत्पत्तेः, कारण-विरुद्धगुणोत्पत्त्या विषमाऽलङ्कारः ।

कारणकार्ययोः क्रियाविरोधे विषममुदाहरति—**आनन्दमिति** । नायकस्य नायिकां प्रत्युक्तिरियम् । हे कुवलयदललोचने = हे नीलकमलपत्त्रनयने !, त्वम्, इमम् = एतम्, अमन्दं = प्रचुरम्, आनन्दं = प्रमोदम्, आश्लेषादिसमुद्भूतमिति भावः, ददासि = वितरसि, "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इति भूताऽर्थे लट् । परं त्वयैव = भवत्यैव, जनितः = उत्पादितः, पितृगृहगमनादिनेति शेषः । विरहः= वियोगः, मे = मम, शरीरं = देहं, तापयतितराम् = भृश तापयति । आर्या वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अस्मिन्नुदाहरणे "विरहस्त्वयैव जनितः" इत्युक्त्या स्त्रीरूपकारणात्तापजनकविरहक्रियोत्पत्तेर्विषमाऽलङ्कारः ।

आरब्धवैकल्येऽनिष्टोत्पत्तौ विषममुदाहरति—**अयमिति** । सेवायां नैष्फल्येन निर्विण्णस्य कस्यचिदुक्तिरियम् । अयम् = एषः, अम्भोधिः = समुद्रः, रत्नाकरः = रत्नानाम् (मणीनाम्) आकरः (खनिः), इति = कारणेन, धनाशया = अर्थ-प्राप्त्योच्छया, असेवि = सेवितः, परं, धनम् = अर्थलाभः, दूरे = विप्रकृष्टे, अस्तु= तिष्ठतु, प्रत्युत क्षारवारिभिः = लवणजलैः, वदनं = मुखम्, अपूरि = पूरितम्, धनलाभाशया धनिनं सेवमानस्य, जनस्य धनलाभस्य का कथा ? लोकाऽपवादेन निर्वेदाद्विच्छित्यन्तरेणोक्तिः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

अत्रेति । यहां कारणस्वरूप खड्गलतासे "कारणके गुण कार्यके गुणका आरम्भ करते हैं" इस नियमके विरुद्ध शुक्ल यशकी उत्पत्ति हुई है ।

आनन्दमिति । हे नीलकमललोचने ! तुम यह प्रचुर आनन्द देती हो तुम्हींसे उत्पन्न यह विरह मेरे शरीरको अत्यन्त सन्तप्त कर रहा है ।

अत्रेति । यहां आनन्दजनक स्त्रीरूप कारणसे तापजनक विरहकी उत्पत्ति हुई है ।

अयमिति । यह समुद्र ? रत्नोंका आकर (खान) है, ऐसा समझकर हमने इसकी सेवा की, धन तो दूर रहे खारे जलसे मुख भर गया ।

अत्र केवलं काङ्क्षितधनलाभो नाभूत्, प्रत्युत क्षारवारिभिर्वदनपूरणम् ।

'क्व वनं तरुवल्कभूषणं ? नृपलक्ष्मीः क्व महेन्द्रवन्दिता ?
नियतं प्रतिकूलवर्तिनो बत ! धातुश्चरितं सुदुःसहम् ॥'

अत्र वनराज्यश्रियोर्विरूपयोः संघटना । इदं मम ।

यथा वा—

'विपुलेन सागरशयस्य कुक्षिणा भुवनानि यस्य पपिरे युगक्षये ।
मदविभ्रमासकलया पपे पुनः स पुरस्त्रियैकतमयैकया दृशा ॥'

विवृणोति—प्रत्युत = वैपरीत्ये । अत्रारब्धात् सेवना वदने क्षारवारिभिः पूरिते सति अनिष्टोत्पत्त्या विषमाऽलङ्कारः ।

विरूपयोः संघटनायां विषममुदाहरति—**क्व वनमिति** । विश्वनाथकविराजस्य पद्यमिदम् । श्रीरामस्य वनगमनाऽनन्तरं दशरथस्योक्तिरियम् । तरुवल्कभूषणं = तरुवल्कानि (वृक्षवल्कलानि) एव भूषणानि (अलङ्काराः) यस्मिंस्तत्, तादृशं वनं = विपिनं, क्व = कुत्र ?, महेन्द्रवन्दिता = महेन्द्रेण (देवराजेन) वन्दिता (अभिवादिता सत्कृतेति भावः), नृपलक्ष्मीः = राजश्रीः, क्व = कुत्र ?, अनयोर्महद्वैषम्यमिति भावः । तथा च प्रतिकूलवर्तिनः = विपरीतवर्तिनः, धातुः = ब्रह्मदेवस्य, चरितं = चरित्रं, नियतं = निश्चितं, सुदुःसहम् = अत्यन्तदुःखेन सोढुं योग्यम् । बत = इति खेदे । वियोगिनी वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अस्मिन्नुदाहरणे, विरूपयोः = परस्परविरुद्धयोः पदार्थयोः, सङ्घटना = संयोजनम् । अतो विषमाऽलङ्कारः ।

विरूपयोः संघटनायां विषमस्योदाहरणान्तरं दर्शयति—**विपुलेनेति** । शिशुपालवधस्य त्रयोदशसर्गस्थं पद्यमिदम् । भगवतः श्रीकृष्णस्य वर्णनमिदम् । युगक्षये=प्रलयसमये, सागरशयस्य=समुद्रशायिनः, सागरे शेत इति सागरशयस्तस्य "अधिकरणे शेतेः" इत्यच्प्रत्ययः । यस्य=श्रीकृष्णस्य, विपुलेन=विशालेन, कुक्षिणा= उदरेण, भुवनानि = लोकाः, त्रय इति शेषः । पपिरे = पीतानि, "पा पाने" इति

अत्रेति । यहां अभीष्ट धनकी प्राप्ति नहीं हुई इतना ही नही उलटा खारे जलसे मुखके भर जानेसे अनिष्टकी उत्पत्ति होनेसे "विषम" अलङ्कार हुआ है ।

क्वेति । जिसमें वृक्षोंके वल्कल ही अलङ्कार होते हैं वैसा वन कहाँ ? और महेन्द्रसे भी वन्दित राजलक्ष्मी कहां ? विपरीत रहनेवाले ब्रह्मदेवका चरित्र निश्चित रूपसे अत्यन्त दुःसह होता है ।

अत्रेति । इस उदाहरणमें परस्पर विरुद्ध वन और राज्यश्रीकी संघटना (संयोजन) हुई है । यह ग्रन्थकारका पद्य है । अथवा—**विपुलेनेति** । समुद्रमें सोने वाले जिन भगवान् विष्णुके विशाल उदरने प्रलयसमयमें लोकोंको पीलिया था,

समं स्यादानुरूप्येण श्लाघा योग्यस्य वस्तुनः।

यथा—

'शशिनमुपगतेयं कौमुदी मेघमुक्तं,
जलनिधिमनुरूपं जह्नुकन्यावतीर्णा।
इति समगुणयोगप्रीतयस्तत्र पौराः
श्रवणकटु नृपाणामेकवाक्यं विवव्रुः॥'

धातोः कर्मणि लिट्। तादृशः, सः = कृष्णः, एकतमया = बह्वीनां मध्ये एकया, पुरस्त्रिया = पौराऽङ्गनया, मदविभ्रमेण = यौवनमदविकारेण, असकलया = असमग्रपातिन्या, एकया, दृशा = नेत्रेण, पपे = पीतः, सतृष्णं दृष्ट इति भावः। प्रमिताक्षरा वृत्तम्॥ १३–४०।

अत्राऽतिशयविशालो भगवान् असमग्रा दृक् चाऽनयोर्विरूपयोः सङ्घटनया विषमाऽलङ्कारः। मल्लिनाथमते त्वत्राऽधिकाऽलङ्कारः। सममलङ्कारं लक्षयति—**समं स्यादिति।** आनुरूप्येण = मिथः सादृश्येन हेतुना, योग्यस्य = अर्हस्य, वस्तुनः = पदार्थस्य, श्लाघा = प्रशंसा, समं = तन्नामाऽलङ्कारः, स्यात् = भवेत्।

समाऽलङ्कारमुदाहरति—**शशिनमिति।** रघुवंशस्य षष्ठसर्गस्थं पद्यमिदम्। स्वयंवरे इन्दुमत्याऽजे वृते पौराणामुक्तिरियम्। तत्र = स्वयंवरे, समगुणयोगप्रीतयः= समगुणयोः (तुल्यसौन्दर्यादिगुणयोः, इन्दुमत्यजयोः) योगेन (सम्बन्धेन) प्रीतिः (परितोषः) येषां ते, तादृशाः पौराः = नागरिका जनाः, इयम् = अजसंगता इन्दुमती, मेघमुक्तं=वारिवाहाऽनावृतं, शशिनं=शरच्चन्द्रम्, उपगता = संप्राप्ता, कौमुदी = चन्द्रिका, तद्रूपेति भावः। तथा अनुरूपम् = आत्मसदृशं, जलनिधिं = समुद्रम्, अवतीर्णा=प्रविष्टा, जह्नुकन्या=जाह्नवी, गङ्गेति भावः, जह्नुकन्यास्वरूपेत्यर्थः, इति = एवं, नृपाणाम् = इन्दुमतीप्रेप्सूनां राज्ञां, श्रवणकटु=कर्णपरुषम्, एकवाक्यं = तुल्यरूपं वचनं, विवव्रुः = कथयामासुः। मालिनी वृत्तम्।

उन्हीं भगवान्‌को नगरमे रहनेवाली एक स्त्रीने मदके विलाससे असंपूर्ण एक ही दृष्टिसे पी लिया।

यहां भगवान् अत्यन्त विशाल, और स्त्रीकी असंपूर्ण दृष्टि इसप्रकार परस्पर विरुद्ध इन दोनोंकी संघटनासे विषम अलङ्कार है।

समिति। आनुरूप्य (परस्पर सादृश्य)से योग्य पदार्थकी प्रशंसाको "सम" अलङ्कार कहते हैं॥ ७१॥

जैसे—शशिनमिति। उस स्वयंवरमें समानगुणोंसे युक्त इन्दुमती और अजके सम्बन्धसे प्रसन्न पुरवासी लोग "यह (इन्दुमती) मेघसे अनाच्छादित शरद् ऋतुके चन्द्रको प्राप्त चन्द्रिकास्वरूप है, और अपने योग्य समुद्रमें प्रविष्ट गङ्गास्वरूप है" इसप्रकार अन्य राजाओंके कानोंमें कडुवा लगने वाले एक वाक्य कहने लगे॥

विचित्रं तद्विरुद्धस्य कृतिरिष्टफलाय चेत् ।। ७१ ।।

यथा—

'प्रणमत्युन्नतिहेतोर्जीवितहेतोर्विमुञ्चति प्राणान् ।
दुःखीयति सुखहेतोः, को मूढः सेवकादन्यः ? ।।'

आश्रयाश्रयिणोरेकस्याधिक्येऽधिकमुच्यते ।

अत्राऽनुरूपवरेणाजेन सहाऽनुरूपाया इन्दुमत्या योगाच्छ्लाघया समाऽलङ्कारः।

विचित्रमलङ्कारं लक्षयति—**विचित्रमिति** । विरुद्धस्य = इष्टविपरीतस्य, कृतिः = करणम्, इष्टफलाय = अभीष्टफलसिद्धये, चेत्=यदि, तदा, तत् विचित्रं = तदाख्योऽलङ्कारः, स्यात् ।। ७१ ।।

विचित्रमुदाहरति—**प्रणमतीति** । उन्नतिहेतोः=अभ्युदयनिमित्तं, प्रणमति = प्रकर्षेण नतो भवति, जीवितहेतोः = प्राणरक्षानिमित्तं, प्राणान्=असून्, विमुञ्चति = परित्यजति, सेवाऽधिक्ये युद्धादौ चेति शेषः । सुखहेतोः=आनन्दप्राप्त्यर्थं, दुःखीयति = दुःखमिच्छति, श्रमाधिक्यादिति शेषः । निगमयति—सेवकात् = परिचारकात्, अन्यः = भिन्नः, कः = जनः, मूढः=मूर्खः । न कोऽपीति भावः । आर्यावृत्तम् ।

अत्रोन्नत्यादीष्टफलार्थं तद्विरुद्धप्रणत्यादीनां करणाद्विचित्रालङ्कारः इयं मालारूपा ।

अधिकाऽलङ्कारं लक्षयति—**आश्रयाश्रयिणोरिति** ।

आश्रयाश्रयिणोः = आधाराधेययोः, एकस्य = एकतरस्य, आधिक्ये = उत्कर्षे, अधिकं = तन्नामाऽलङ्कारः, उच्यते = अभिधीयते ।

यहां योग्यवर अजसे योग्यवधू इन्दुमतीके संयोगसे श्लाघा (प्रशंसा) होनेसे "सम" अलङ्कार है ।

विचित्रमिति । अभीष्ट फलकी सिद्धिके लिए अभीष्टके विरुद्ध कर्म हो तो "विचित्र अलङ्कार" होता है ।

जैसे—**प्रणमतीति** । उन्नतिके लिए प्रणाम करता है (झुकता है), जीनेके लिए प्राणोंको छोड़ता है—सुखके लिए दुःखकी इच्छा करता है । सेवकसे अधिक कौन मूर्ख है ?

इसमें उन्नति आदि अभीष्ट फलके लिए उसके विरुद्ध प्रणति आदि कर्म करनेसे विचित्र अलङ्कार है ।

आश्रयाश्रयिणोरिति । आधार और आधेयमें—से एककी अधिकता होनेसे "अधिक" अलङ्कार होता है ।। ७२ ।।

आश्रयाधिक्ये यथा—

'किमधिकमस्य ब्रूमो महिमानं वारिधेर्हरिर्यत्र ।
अज्ञात एव शेते कुक्षौ निक्षिप्य भुवनानि ॥'

आश्रिताधिक्ये यथा—

'युगान्तकालप्रतिसंहृतात्मनो जगन्ति यस्यां सविकासमासत ।
तनौ ममुस्तत्र न कैटभद्विषस्तपोधनाभ्यागमसम्भवा मुदः ॥'

आश्रयाधिक्येऽधिकमुदाहरति—**किमधिकमिति**। समुद्रस्योत्कर्षं लक्ष्यीकृत्य कस्यचिदुक्तिरियम् । अस्य = दृश्यमानस्य, वारिधेः = समुद्रस्य, किम्, अधिकम् = उत्कृष्टं, महिमानं = महत्त्वं, ब्रूमः = वदामः । यत्र = यस्मिन् वारिधौ, हरिः = नारायणः, कुक्षौ = उदरे, भुवनानि=स्वर्ग-मर्त्य-पातालाख्यांस्त्रींल्लोकान्, निक्षिप्य= निधाय, अज्ञात एव = केनाऽपि अविदित एव । शेते = स्वपिति, प्रलयसमय इति शेषः । आर्या वृत्तम ।

अत्राश्रयिणो हरेराश्रयरूपिणो वारिधेराधिक्यादधिकाऽलङ्कारः ।

आश्रिताधिक्येऽधिकाऽलङ्कारमुदाहरति—**युगाऽन्तकाल इति**। शिशुपालवधस्य प्रथमसर्गस्थं पद्यमिदम् । देवेन्द्रसन्देशं निवेदयितुमागते नारदे श्रीकृष्णस्य हर्षोत्कर्षवर्णनम् । युगाऽन्तकाले (प्रलयसमये) प्रतिसंहृताः (स्वकुक्षौ प्रवेशिताः) आत्मानः (जीवाः) येन, तस्य । तादृशस्य कैटभद्विषः = कैटभाऽरातेः, श्रीकृष्णस्येत्यर्थः । यस्यां, तनौ = शरीरे, जगन्ति = त्रयो लोकाः, सविकासं=सविस्तारम्, आसत = अतिष्ठन्, "आस उपवेशन" इति धातोर्लङ् । तत्र = तस्यां तनौ, तपोधनाऽभ्यागमसंभवाः = तपोधनस्य (नारदस्य) अभ्यागमसंभवाः, अभ्यागमेन = संमुखागमनेन, संभवन्ति = उत्पद्यन्त इति, पचाद्यच्), मुदः = हर्षाः, न ममुः = नो मान्ति स्म, स्थातुमवकाशं नो लेभिर इति भावः । वंशस्थं वृत्तम् । १-१३

अत्राश्रयभूताद्धरिशरीरादाश्रितभूतानां मुदाम् (हर्षाणाम्) आधिक्यवर्णनादधिकाऽलङ्कारः ।

आधारकी अधिकतामे जैसे— **किमिति** । हम इस समुद्रकी क्या अधिक महिमा कहें ? भगवान् नारायण इसके उदरमें समस्त लोकोको रखकर अज्ञातभावसे सोते हैं । इसमें आधेय भगवान्के शयनके आधार समुद्रका आधिक्य वर्णन होनेसे "अधिक" अलङ्कार है ।

आधेयकी अधिकतामे जैसे—**युगान्तेत्यादिः०**। प्रलयकालमें अपने उदरमें समस्त जीवोंको प्रविष्ट करानेवाले भगवान् नारायणके जिस शरीरमें सम्पूर्ण जगत् विस्तारके साथ रहते हैं, उसी शरीरमे देवर्षि नारदके आगमनसे उत्पन्न हर्ष न समा सके ॥

यहां आधारभूत भगवान्के शरीरसे भी आधेय हर्षकी अधिकताका वर्णन होनेसे "अधिक" अलङ्कार है ।

अन्योन्यमुभयोरेकक्रियायाः करणं मिथः ॥७२ ॥

'त्वया सा शोभते तन्वी, तया त्वमपि शोभसे ।
रजन्या शोभते चन्द्रश्चन्द्रेणापि निशीथिनी ॥'

यदाधेयमनाधारमेकं चानेकगोचरम् ।
किञ्चित्प्रकुर्वतः कार्यमशक्यस्येतरस्य वा ॥ ७३ ॥
कार्यस्य करणं दैवाद्विशेषस्त्रिविधस्ततः ।

अन्योन्याऽलङ्कारं लक्षयति—**अन्योन्यमिति** । उभयोः = द्वयोः पदार्थयोः, एकक्रियायाः = एकस्याः क्रियायाः, मिथः = परस्परं, करणं=विधानम्, अन्योन्याऽलङ्कारः ॥ ७२ ॥

अन्योन्याऽलङ्कारमुदाहरति—**त्वयेति** । काचित्सखी नायकं प्रति नायिकानायकयोः सदृष्टान्तं शोभां वर्णयति—हे महाशय ! सा = प्रसिद्धा, तन्वी=कृशाऽङ्गी, त्वया=भवता, शोभते=शोभां प्राप्नोति, त्वम् अपि, तया=तन्व्या, नायिकया, शोभसे= शोभां प्राप्नोषि । तथा च—चन्द्रः = इन्दुः, रजन्या = रात्र्या, शोभते, निशीथिनी अपि = रात्रिः अपि, चन्द्रेण = इन्दुना, शोभते । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

अत्र नायिकानायकयो रजनीचन्द्रयोश्च एकस्याः शोभनक्रियायाः मिथः करणादन्योन्याऽलङ्कारः ।

विशेषं लक्षयति—**यदाधेयमिति** । अनाधारम् = आधाररहितम्, आधेयम्= आश्रितम्, यत् अवतिष्ठत इति शेषः । अयमेको भेदः । एकं, वस्तु = पदार्थः, अनेकगोचरम् = अनेकस्थानस्थितम् । अयं द्वितीयो भेदः । तथा किञ्चित् = किमपि, कार्यं, प्रकुर्वतः=विदधतो जनस्य, अशक्यस्य=कर्तुम् अशक्यस्य, इतरस्य=अन्यस्य, कर्तुं शक्यस्य वा, कार्यस्य दैवात्, करणं = सम्पादनम् । अयं तृतीयो भेदः । ततः=तस्मात् कारणात्, विशेषः = तदाख्योऽलङ्कारः । त्रिविधः=त्रिप्रकारः, अस्तीति शेषः ॥ ७३ ॥

अन्योन्यमिति । दोनों पदार्थ एक ही क्रिया परस्पर करें तो "अन्योन्य" अलङ्कार होता है ।

जैसे—तुमसे वह सुन्दरी शोभित होती है और उससे तुम शोभित होते हो; रात्रिसे चन्द्रमा शोभित होता है और चन्द्रमासे रात्रि शोभित होती है ।

इस पद्यमें नायिका और नायक दोनोंके तथा रात्रि और चन्द्रमा दोनोंके शोभन क्रिया परस्पर करनेसे "अन्योन्य" अलङ्कार है ।

यदाधेयमिति । आधाररहित आधेय जो रहता है १ जो एक वस्तु अनेक स्थानोंमें रहता है ॥ ७३ ॥ २ कुछ कार्य करते हुए मनुष्यका अशक्य वा शक्य कार्य दैववश करना ३ इस प्रकार "विशेष" अलङ्कारके तीन भेद होते हैं ॥ ७४ ॥

क्रमेण यथा—

'दिवमप्युपयातानामाकल्पमनल्पगुणगणा येषाम्।
रमयन्ति जगन्ति गिरः, कथमिव कवयो न ते वन्द्याः ॥'

'कानने सरिदुद्देशे गिरीणामपि कन्दरे।
पश्यन्त्यन्तकसङ्काशं त्वामेकं रिपवः पुरः ॥'

'गृहिणी, सचिवः, सखी मिथः, प्रियशिष्या ललिते कलाविधौ।
करुणाविमुखेन मृत्युना हरता त्वां वद किं न मे हृतम्? ॥'

अनाधाराधेये विशेषमुदाहरति—**दिवमिति**। काव्याऽलङ्कारस्थं पद्यमिदम्, दिवं = स्वर्गम्, उपयातानाम् अपि = संप्राप्तानाम् अपि, येषां = कवीनाम्, अनल्पगुणगणाः = अनल्पाः (प्रचुराः) गुणगणाः (माधुर्यादिगुणसमूहाः) यासु, ताः, तादृश्यो गिरः = वाण्यः, जगन्ति = लोकान्, आकल्पं=प्रलयसमयपर्यन्तं, रमयन्ति= प्रीणयन्ति, ते = तादृशाः, कवयः = कवयितारः, कथमिव = किमिव, न वन्द्याः = नो वन्दनीयाः, न सत्कार्या इति भावः। आर्या वृत्तम्।

अत्र निर्मातृत्वेनाधारभूतानां कवीनामभावेऽपि आधेयभूतानां तद्गिरां स्थितेर्विशेषाऽलङ्कारः।

एकस्याऽनेकगोचरत्वे विशेषमुदाहरति—**कानन इति**। कस्यचित्कवेः कस्यचिद्राज्ञो विक्रमवर्णनपरं पद्यमिदम्। हे राजन्!, रिपवः = भवद्वैरिणः, कानने = वने, सरिदुद्देशे = नदीप्रदेशे, गिरीणां = पर्वतानां, कन्दरेऽपि = गुहायां च, पुरः = अग्रतः, अन्तकसङ्काशं = यमसदृशम्, एकं, त्वां=भवन्तं, पश्यन्ति = विलोकयन्ति। अनुष्टुब्वृत्तम्।

अत्रैकस्यैव राज्ञः काननाद्यनेकस्थानगोचरत्वाद्विशेषाऽलङ्कारः।

विशेषस्य तृतीयं भेदमुदाहरति—**गृहिणीति**। रघुवंशस्याऽष्टमसर्गस्थं पद्यमिदम्। इन्दुमत्या आकस्मिकनिधनाऽनन्तरं विलपतोऽजस्योक्तिरियम्। हे प्रिये! त्वमेव, गृहिणी = मम गेहिनी, सचिवः = बुद्धिसहायो मन्त्री, मिथः = रहसि, सखी = क्रीडासचिवः। ललिते = सुकुमारे, कलाविधौ = नृत्यगीतादिकलाविधाने, प्रियशिष्या = अभीष्टच्छात्री, अतः, त्वां = भवतीं, हरता = अपहरता, अत एव

क्रमसे जैसे—**दिवमिति**। स्वर्गमें गये हुए भी जिन (कवियों)की वाणियाँ प्रलयकालतक लोगोंको आनन्द देती है, वैसे कविलोग क्यों वन्दन करनेके लिए योग्य नहीं हैं?

कानन इति। हे राजन्! आपके शत्रुलोग वनमें, नदीप्रदेशमें और पर्वतोंकी कन्दराओंमें भी यमराजके समान आपको देखते हैं। यहां एक राजाका वन आदि अनेक स्थानोंमें रहनेका वर्णन होनेसे "विशेष" अलङ्कार हुआ है।

गृहिणीति। हे इन्दुमति! तुम ही मेरी गृहिणी, बुद्धि सहायक सचिव

व्याघातः स तु केनापि वस्तु येन यथाकृतम् ।। ७४ ।।
तेनैव चेदुपायेन कुरुतेऽन्यस्तदन्यथा ।

यथा—

'दृशा दग्धं मनसिजम्-' इत्यादि ।

सौकर्येण च कार्यस्य विरुद्धं क्रियते यदि ।। ७५ ।।

करुणाविमुखेन = दयापराङ्मुखेन, मृत्युना = यमराजेन, मे = मम, किं न हृतं = किं नाऽपहृतं, अपि तु सर्वमेवाऽपहृतं, वद = ब्रूहि । ८-६७। वियोगिनीवृत्तम् । अत्रेन्दुमतीहरणरूपमेकं कार्यं कुर्वतो मृत्योरशक्यरूपस्य गृहिण्यादिहरणरूपस्य कार्यस्य दैवात् करणाद्विशेषाऽलङ्कारः ।

व्याघातं लक्षयति—**व्याघात इति ।** केनाऽपि = केनचिदपि जनेन, येन = उपायेन, यत्, वस्तु = पदार्थः, यथा = येन प्रकारेण कृतं = विहितम् ।। ७४ ।। अन्यः = तस्माद्भिन्नो जनः, तेनैव उपायेन, तद् = वस्तु, अन्यथा = प्रकारान्तरं यथा, तथा, कुरुते चेत् = विदधाति यदि, स तु व्याघातः = तन्नामाऽलङ्कारः ।

व्याघातमुदाहरति–"दृशा दग्ध मनसिजम्" इत्यादि (१०३ पृ०) । व्याख्यातम् ।

अत्र विरूपाक्षेण (हरेण) दृशा दग्धः, मनसिजः (कामः) वामलोचनाभिः दृशैव पुनरुज्जीवित इति व्याघाताऽलङ्कारः ।

प्रकारान्तरेण पुनर्व्याघातं लक्षयति—**सौकर्येणेति ।** कार्यस्य=वक्त्राभिमत-विषयस्य, सौकर्येण = वक्त्रभिमतविषयाऽपेक्षया सुकरत्वेन, विरुद्धं = वक्त्रभिमत-प्रतिकूलं, क्रियते यदि = विधीयते चेत्, सोऽपि व्याघात इति शेषः ।। ७५ ।।

(मन्त्रिणी), सुकुमार नृत्य आदि कलाविधिमे एकान्तमे प्रिय शिष्यार्थी, वैसी तुम्हारा हरण करनेवाली निर्दय मृत्युने मेरा क्या नही हरण किया ? कहो ।

यहां इन्दुमतीका हरणरूप एक कार्य करनेवाले मृत्युके अशक्यरूप गृहिणी आदिके हरणरूप कार्यको दैववश करनेका वर्णन होनेसे "विशेष" अलङ्कार हो गया है ।

व्याघात इति । किसी भी जन जिस उपायसे जो वस्तु जिस प्रकारसे करे, दूसरा जन भी उसी उपायसे वह वस्तु दूसरे ही ढङ्गसे करे तो वह भी "व्याघात" अलङ्कार होता है ।। ७५ ।।

जैसे—"दृशा दग्ध मनसिजम्" इत्यादि ।

यहाँ महादेवसे दृष्टिसे जलाये गये कामदेवको सुन्दरियोंने अपनी दृष्टिसे ही फिर जिलाया, कहनेसे "व्याघात" अलङ्कार है ।

सौन्दर्येणेति । वक्तासे स्वीकृत कार्यको सुन्दरतासे वक्ताके मतके प्रतिकूल करे तो वह भी "व्याघात" होता है ।

व्याघात इत्येव।

'इहैव त्वं तिष्ठ, द्रुतमहोमहोभिः कतिपयैः
समागन्ता कान्ते ! मृदुरसि न चायाससहना।
मृदुत्वं मे हेतुः सुभग ! भवता गन्तुमधिकं
न मृद्वी सोढा यद्विरहकृतमायासमसमम् ॥'

अत्र नायकेन नायिकाया मृदुत्वं सहगमनाभावहेतुत्वेनोक्तम्। नायिकया च प्रत्युत सहगमने ततोऽपि सौकर्येण हेतुतयोपन्यस्तम्।

व्याघातमुदाहरति—**इहैवेति**। विदेशगमनोद्यतो नायको नायिकाया विदेशगमनं निवारयितुं तां प्रबोधयति।

हे कान्ते ! = हे प्रिये !, त्वम्, इह एव = अस्मिन् गृह एव, तिष्ठ = वस, अहं, कतिपयैः एव = अल्पसंख्यकैः एव, अहोभिः = दिनैः, "अपवर्गे तृतीया" इति तृतीया। समागन्ता = समागमिष्यामि, भविष्यदर्थे तृन्। त्वं, मृदुः = कोमलाङ्गी असि, अत एव आयाससहना = परिश्रमसहिष्णुः, न = नो वर्तसे, अतोऽत्रैव तिष्ठ, मया सह विदेशयात्रायां निर्बन्धं मा कार्षीरिति भावः।

नायिका प्रत्युत्तरयति—हे सुभग = हे सौभाग्यशालिन् !, मे = मम, मृदुत्वं = कोमलत्वम् एव, भवता = त्वया, सह = समं, गन्तुं = यातुम्, अधिकं = बलवत्तरं यथा तथा, हेतुः = कारणं, भवतीति शेषः।

उक्तार्थं स्फुटं समर्थयते—यत् = यस्मात् कारणात्, मृद्वी = सुकुमाराङ्गी, अहमिति शेषः। विरहकृतं = भवता सह वियोगजनितम्, असमम् = अतुल्यम्, असाधारणम्, आयासं = कष्टं, सोढा = सहिष्णुः, न, न सोढुं शक्ष्यामीति भावः। शिखरिणी वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। प्रत्युत = वैपरीत्येन। ततोऽपि=गृहाऽवस्थानादपि। सौकर्येण = सुकरत्वेन विरहायाससहनाऽपेक्षया सहगमनायाससहनस्य सुकरत्वेनेत्यर्थः। अयं द्वितीयभेदो व्याघातस्य।

इहैवेति। हे प्रिये ! तुम यहीं ठहरो, मैं कुछ ही दिनोंमें लौटूंगा; तुम सुकुमारी हो, अतः मार्गमें चलनेके परिश्रम सहनेके योग्य नहीं हो। प्रिया कहती है—हे सुभग ! आपके साथ जानेमे मेरी सुकुमारता ही मुख्य हेतु है, क्योंकि सुकुमार शरीरवाली मैं विरहसे उत्पन्न असाधारण कष्ट सहनेमें समर्थ नहीं हूँ।

अत्रेति। यहाँ नायकने नायिकाके जिस सुकुमारताको सहगमनका अभाव-हेतु बताया था, नायिकाने उल्टा उसीको सौकर्यसे सहगमनका हेतु बना दिया है, अतः व्याघात अलङ्कार हुआ है।

परं परं प्रति यदा पूर्वपूर्वस्य हेतुता।
तदा कारणमाला स्यात्—

यथा—

श्रुतं कृतधियां सङ्गाज्जायते विनयः श्रुतात्।
लोकानुरागो विनयान्न किं लोकानुरागतः॥

—तन्मालादीपकं पुनः॥ ७६॥
धर्मिणामेकधर्मेण सम्बन्धो यद्यथोत्तरम्।

कारणमालां लक्षयति—**परं परमिति**। यदा, परं परं = पदार्थं, प्रति, पूर्वपूर्वस्य = पदार्थस्य, हेतुता = कारणता, वर्तते। तदा कारणमाला = तन्नामाऽलङ्कारः, स्यात्।

कारणमालामुदाहरति—**श्रुतमिति**। कृतधियां = विदुषां, सङ्गात्=संसर्गात्, श्रुतम् = शास्त्रश्रवणम्, अध्ययनमित्यर्थः। जायते = उत्पद्यते। श्रुतात्=अध्ययनात्, विनयः = नम्रता, जायते। विनयात् = नम्रतायाः, लोकाऽनुरागः = जनाऽनुरक्तिः, जायते। लोकाऽनुरागतः = जनाऽनुरक्तेः, किं, न जायते = न उत्पद्यते। सर्वं जायत इति भावः। अनुष्टुब्वृत्तम्। अत्र विनयादिकं परं परं प्रति पूर्वपूर्वस्य श्रुतादेः हेतुतया कारणमाला।

मालादीपकं लक्षयति—**तन्मालादीपकमिति**। धर्मिणां=बहूनां धर्मिणाम्, एकधर्मेण = गुणरूपेण क्रियारूपेण वा सह, यत् यथोत्तरम् = उत्तरमनतिक्रम्य, उत्तरोत्तरं गुणावहत्वेनेत्यर्थः। तत् पुनर्मालादीपकं = तन्नामाऽलङ्कारः। अत्र "अप्रस्तुतप्रस्तुतयोर्दीपकन्तु निगद्यते" (१०—४८) इति कारिकातः अप्रस्तुतप्रस्तुतयोरेकधर्माऽभिसम्बन्धेन दीपकं भवति; तस्य च मालारूपत्वान्मालादीपकमित्यन्वर्थसंज्ञा॥ ७७॥

परं परमिति। पिछले पिछले पदार्थके प्रति पूर्व पूर्व पदार्थ हेतु हो तो ७६ कारणमाला अलङ्कार होता है। जैसे—**श्रुतमिति**। विद्वानोंके संसर्गसे शास्त्रज्ञान होता है। शास्त्रज्ञानसे विनय (शिष्टाचार) प्राप्त होता है। विनय (शिष्टाचार)से लोग अनुराग करते हैं, लोगोंके अनुरागसे क्या नहीं होता है?

यहां विनय आदि पिछले पदार्थके प्रति श्रुत (शास्त्रज्ञान) आदि पूर्व पदार्थ कारण हैं, अतः यह कारणमाला अलङ्कार है।

तदिति। बहुत धर्मियोंका एक धर्म (गुण वा क्रिया)से उत्तरोत्तर सम्बन्ध होनेसे 'मालादीपक' अलङ्कार होता है॥ ७७॥

यथा—

'त्वयि सङ्गरसम्प्राप्ते धनुषासादिताः शराः।
शरैररिशिरस्तेन भूस्तया त्वं त्वया यशः॥'

अत्रासादनक्रिया धर्मः।

पूर्वं पूर्वं प्रति विशेषणत्वेन परं परम्॥७७॥
स्थाप्यतेऽपोह्यते वा चेत् स्यात्तदैकावली द्विधा।

मालादीपकमुदाहरति—**त्वयीति**। कस्यचिद्विक्रमशालिनो राज्ञो वर्णनमिदम्। हे राजन्! = हे भूप!, त्वयि = भवति, सङ्गरसम्प्राप्ते = रणाङ्गणं प्राप्ते सति, धनुषा = तव कार्मुकेण, शराः = बाणाः, आसादिताः = प्राप्ताः। शरैः = तव बाणैः, अरिशिरः=शत्रुशीर्षम्, "आसादिताः" इति पदस्य लिङ्गवचनयोर्विपरिणामेन आसादितं = प्राप्तम्। तेन = पूर्वोक्तेनाऽरिशिरसा, भूः = भूमिः, आसादिता=प्राप्ता। तथा भुवा = भूम्या, त्वं = भवान्, आसादितः = प्राप्तः। त्वया च = भवता च, यशः = कीर्तिः, आसादितं = प्राप्तम्। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—अस्मिन्नुदाहरणे आसादनक्रिया = प्राप्तिक्रिया, धर्मः, तस्य चाऽत्र शरादिभिरुत्तरोत्तरमासादनकर्मतया सम्बन्धान्मालादीपकमलङ्कारः।

एकावलीं लक्षयति—**पूर्वं पूर्वं प्रतीति**। पूर्वं पूर्वं = विशेष्यं, प्रति, विशेषणत्वेन = विशेषणभावेन, परं परम् = उत्तरम् उत्तरं, वस्तु इति भावः॥७७॥ स्थाप्यते = निधीयते, अपोह्यते = निषिध्यते, वा चेत् = यदि तदा, द्विधा = द्वाभ्यां प्रकाराभ्याम्, एकावली = तन्नामाऽलङ्कारः, स्यात्। एकावली हारविशेषस्तत्सदृशत्वादेकावल्यलङ्कार इत्याशाधारभट्टः।

जैसे-- **त्वयीति**। हे राजन्! आपके युद्धक्षेत्रमें प्राप्त होनेपर आपके धनुने शरोंको प्राप्त किया, शरोंने शत्रुके शिरको प्राप्त किया, शत्रुशिरने भूमिको, भूमिने आपको और आपने यशको प्राप्त किया।

इस उदाहरणमें आसादन क्रिया धर्म है, उसका शर आदिकोंके उत्तरोत्तर आसादन क्रियाका कर्म होकर सम्बन्ध होनेसे मालादीपक अलङ्कार है।

पूर्वं पूर्वमिति। पूर्वं पूर्वं विशेष्यके प्रति विशेषणके भावसे पिछले पिछले पदार्थोंको स्थापित करें वा हटा दें तो 'एकावली' अलङ्कार होता है इस प्रकार उसके दो भेद होते हैं॥७८॥

क्रमेणोदाहरणम्—

'सरो विकसिताम्भोजमम्भोजं भृङ्गसङ्गतम्।
भृङ्गा यत्र ससङ्गीताः, सङ्गीतं सस्मरोदयम्॥'

'न तज्जलं यन्न सुचारुपङ्कजं, न पङ्कजं तद्यदलीनषट्पदम्।
न षट्पदोऽसौ न जुगुञ्ज यः कलं, न गुञ्जितं तन्न जहार यन्मनः॥

स्थापन एकावलीमुदाहरति—**सर इति।** शरद्वर्णनपरं पद्यमिदम्। यत्र = यस्मिन् शरत्समये, सरः = कासारः, विकसिताऽम्भोजं = विकसितानि (प्रफुल्लानि) अम्भोजानि (कमलानि) यस्मिंस्तत्। अम्भोजं च = कमलं च, भृङ्गसंगतं = भ्रमरसंयुतम्, भृङ्गा = भ्रमराः, ससगीताः,=मनोहरगीतसहिताः, संगीतं च=मनोहरगीत च, सस्मरोदयं = स्मरोदयेन (मदनाविर्भावेन) सहितं (युक्तम्) वर्तत इति शेषः॥ अनुष्टुब्वृत्तम।

अत्र सरआदिकं पूर्वं पूर्वं विशेष्यं प्रति अम्भोजाद्युत्तरविशेषणस्य स्थापनादेकावल्यलङ्कारः।

अपोहन एकावल्यलङ्कारमाह—**न तज्जलमिति।**

भट्टिकाव्यस्य द्वितीयसर्गस्थं पद्यमिदम्। शरदृतुवर्णनम्। तत् = तादृशं, जलम् = अम्बु, जलाधारः कासारादिरिति भावः। न = न आसीत्, यत्, सुचारुपङ्कजं = सुचारूणि (अत्यन्तसुन्दराणि) पङ्कजानि (कमलानि) यस्मिंस्तत्, तादृशं, न = न आसीत्। तत् = तथाभूतं, पङ्कजं = कमलं, न = न आसीत्, यत्= पङ्कजम्, अलीनषट्पदम्=अलीनाः (अस्थिताः) षट्पदाः (भ्रमराः) यस्मिंस्तत्। असौ = तादृशः, षट्पदः = भ्रमरः, न = न आसीत्, यः, कलम् = अव्यक्तमधुरं यथा तथा। न जुगुञ्ज = नो गुञ्जितवान्। तत् = तादृशं, गुञ्जितं = गुञ्जनं, न = न आसीत्। यत् = गुञ्जितं, मनः = चित्तं, न जहार = न आचकर्ष। २–१९ वंशस्थं वृत्तम्।

क्रमसे उदाहरण जैसे—

सर इति। जिस (शरत् ऋतुमें) तालाब खिले हुए कमलोंसे युक्त, कमल भ्रमरोसे युक्त, भ्रमर संगीतसे युक्त और संगीत कामदेवके आविर्भाव से युक्त है।

यहां सर (तालाब) आदि पूर्व पूर्व विशेष्यके प्रति अम्भोज आदि पर पर विशेषणके स्थापनसे 'एकावली' अलङ्कार है।

नेति। शरत् ऋतुमें वैसा जल (तालाब आदि का) नहीं था जिसमें सुन्दर कमल नहीं था। वैसा कमल नहीं था जिसमें भौंरे न बैठे हों। वैसा भौंरा नहीं था जो मधुर गुञ्जन नहीं कर रहा था और वैसा गुञ्जन नहीं था जो चित्त-को आकृष्ट नहीं करता था।

क्वचिद्विशेष्यमपि यथोत्तरं विशेषणतया स्थापितमपोहितं च दृश्यते। यथा—

'वाप्यो भवन्ति विमलाः, स्फुटन्ति कमलानि वापीषु।
कमलेषु पतन्त्यलयः, करोति सङ्गीतमलिषु पदम्॥'

एवमपोहनेऽपि।

उत्तरोत्तरमुत्कर्षो वस्तुनः सार उच्यते॥ ७८॥

अत्र जलादिकं पूर्वं पूर्वं विशेष्य प्रति पङ्कजादिपरपरविशेषणस्य अपोहनेन (निषेधेन) एकावल्यलङ्कारः।

क्वचिदिति। क्वचित् = कुत्रचित्, विशेष्यमपि = पूर्वंपूर्वंस्थितमिति शेषः, यथोत्तरम् = उत्तरोत्तरं, स्थापितम्, अपोहित = निषिद्ध च, दृश्यते।

विशेष्ये यथोत्तरं विशेषणतया स्थापिते एकावलीमुदाहरति—**वाप्यो भवन्तीति**। इदमपि शरद्वर्णनम्। वाप्यः = दीर्घिकाः, विमलाः = निर्मलाः, भवन्ति, घनव्यपायादिति भावः। वापीषु = दीर्घिकासु, कमलानि = पद्मानि, स्फुटन्ति = विकसन्ति, कमलेषु = पद्मेषु, अलयः = भ्रमराः, पतन्ति = आपतन्ति, अलिषु = भ्रमरेषु, संगीत = सम्यग्गान, पदं = स्थानम्, करोति = विदधाति। अलयो गायन्तीति भावः। आर्या वृत्तम्।

अत्र विशेष्यभूतं पूर्वं पूर्वं वाप्यादिकं कमलादि परपरविशेष्यं प्रति विशेषणत्वेन स्थापितमिति एकावल्यलङ्कारः।

एवमिति। एवम् अपोहने = निषेधे, अपि। अपोहनेऽपि रामचरणतर्कवागीशेन एकावली उदाहृता यथा—

"पुण्यक्षेत्रं न सर्वत्र, पुण्यक्षेत्रे न नास्तिकाः।
नास्तिकेषु न धर्मोऽस्ति, न धर्मे दुःखहेतुता॥" इति।

अत्र पूर्वपूर्वे विशेष्यभूताः पुण्यक्षेत्र-नास्तिक-धर्माः परपरेषु नास्तिक-धर्म-दुःखहेतुतासु विशेषणत्वेन अपोहिताः = निषिद्धाः, अत एकावल्यलङ्कारः।

सारमलङ्कारं लक्षयति—**उत्तरोत्तरमिति**। उत्तरोत्तरं = क्रमतः, वस्तुनः= पदार्थस्य, उत्कर्षः = प्रकर्षः, सारः=तन्नामाऽलङ्कारः, उच्यते=अभिधीयते॥ ७८॥

यहां जल आदि पूर्व पूर्व विशेष्यके प्रति पङ्कज आदि पर पर विशेषणके अपोहन (हटाने)से 'एकावली' अलङ्कार है।

क्वचिदिति। कहीं पूर्वपूर्वस्थित विशेष्य भी उत्तरोत्तर विशेषणके रूपसे स्थापित और अपोहित (निषिद्ध) होता है अर्थात् हटाया जाता है।

जैसे—**वाप्य इति**। बावलियां निर्मल होती हैं, बावलियों में कमल खिलते हैं, कमलों पर भौरे मंड़राते रहते हैं और भौंरोंमें संगीत स्थान बनाता है।

उत्तरोत्तरमिति। उत्तरोत्तर वस्तुके उत्कर्ष को "सार" कहते हैं।

यथा—

'राज्ये सारं वसुधा, वसुधायामपि पुरं, पुरे सौधम् ।
सौधे तल्पं, तल्पे वराङ्गनानङ्गसर्वस्वम् ॥'

यथासंख्यमनूद्देश उद्दिष्टानां क्रमेण यत् ।

'उन्मीलन्ति, नखैर्लुनीहि; वहति, क्षौमाञ्चलेनावृणु,
क्रीडाकाननमाविशन्ति, वलयक्वाणैः समुत्त्रासय ।
इत्थं वञ्जुलदक्षिणानिलकुहूकण्ठेषु साङ्केतिक-
व्याहाराः सुभग ! त्वदीयविरहे तस्याः सखीनां मिथः ॥'

सारमुदाहरति—**राज्ये सारमिति** । राज्ये=राष्ट्रे, सारम् = उत्कृष्टं वस्तु, "सारो बले स्थिरांऽशे च न्याय्ये क्लीबं, वरे त्रिषु" । इत्यमरः । वसुधा = भूमिः, वसुधायाम् अपि = भूमौ अपि, सारं, पुरं = नगरं, पुरे अपि, सारम् = उत्कृष्टं वस्तु, सौध = राजसदनं, "सौधोऽस्त्री राजसदनम्" इत्यमरः । सौधे अपि सारं, तल्पं = पर्यङ्कः, तल्पे अपि, सारम्, अनङ्गसर्वस्वं = कामदेवस्य समस्तसम्पत्तिरूपा, वराऽङ्गना = श्रेष्ठसुन्दरी, भोग्यवस्तुषु पराकाष्ठेति भावः । आर्या वृत्तम् ।

अत्र वसुधादीनां वस्तूनामुत्तरोत्तरमुत्कर्षात् साराऽलङ्कारः ।

यथासंख्यमलङ्कारमुदाहरति—**यथासंख्यमिति** । उद्दिष्टानां = कीर्तितानां वस्तूनां क्रमेण = पौर्वापर्येण, यत् अनूद्देशः = पश्चात्कीर्तनं, तत् यथासंख्यं = तन्नामाऽलङ्कारः ।

यथासंख्यमुदाहरति—**उन्मीलन्तीति** । प्रोषितं नायकं प्रति नायिकासख्या उक्तिरियम् । हे सुभग = हे सौभाग्यशालिन् !, त्वदीयविरहे = भवद्वियोगे, तस्याः = भवद्वल्लभायाः, सखीनां = वयस्यानाम्, इत्थम् = अनेन (वक्ष्यमाणेन) प्रकारेण । वञ्जुलेत्यादिः० = वञ्जुलानि (अशोकपुष्पाणि) दक्षिणाऽनिलः (मलयपवनः) कुहूकण्ठाः (कोकिलाः, कुहूरिति शब्दः कण्ठे (गले) येषां ते) । तेषु, कोकिलेष्विति भावः । साङ्केतिकव्याहाराः = सङ्केतनिमित्तकोक्तयः, भवन्तीति शेषः । तथा

जैसे-राज्य इति । राज्यमें सार पृथिवी है, पृथिवीमें भी सार नगर (शहर) है, पुरमें सार राजमन्दिर है, राजमन्दिरमें सार पलग है और पलंगपर भी सार कामदेवका सर्वस्वस्वरूप सुन्दरी है, यहां वसुधा (पृथिवी) आदि वस्तुओंका उत्तरोत्तर उत्कर्षका वर्णन होनेसे "सार" अलङ्कार है ।

यथासंख्यमिति । कहे गये पदार्थोंके क्रमसे जो पीछे कथन हो, उसे "यथासंख्य" अलङ्कार कहते हैं ॥ ७९ ॥

जैसे—उन्मीलन्तीति । हे सुभग ! आपके वियोगमें उस (आपकी प्रिया)-की सखियोंके परस्परमें इस प्रकारसे सङ्केतकी उक्तियां होती हैं ।

क्वचिदेकमनेकस्मिन्ननेकं चैकगं क्रमात् । ७९ ।
भवति क्रियते वा चेत्तदा पर्याय इष्यते ।

च—उन्मीलन्ति = विकसन्ति, वञ्जुलानि = अशोकपुष्पाणीति यथासंख्येन बोध्यानि इत्थमेकस्या वचनं निशम्याऽपरा ब्रूते—नखैर्लुनीहीति ।

उन्मीलितान्यशोकपुष्पाणि, नखैः = नखरैः, लुनीहि = छिन्धि । यथेयं मा द्राक्षीदिति भावः । वहति = वाति, दक्षिणाऽनिल इति सङ्केतो बोध्यः । इत्थ श्रुत्वा अन्या आह—क्षौमाऽञ्चलेन = पट्टवस्त्रैकदेशेन, आवृणु = आवृतं कुरु, दक्षिणाऽनिलमिति भावः । यथा मैनां स्प्राक्षीदिति भावः । क्रीडाकानन = केलिवनम्, आविशन्ति = प्रविशन्ति, "कोकिला" इति संकेतबोध्याः, इत्थमेकया कथिते अपरा प्राह—वलयक्वाणैः = वलयानां (कटकानाम्) क्वाणैः (ध्वनिभिः) समुत्रासय= संत्रस्तान् कुरु, तानिति शेषः, निवारणाऽर्थमिति भावः, इत्थ वञ्जुलादीनां नामग्रहणेऽपि नायिकाया वियोगवेदनाऽतिशयाशङ्कया तत्सखीनामयं साङ्केतिको व्यवहारः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

अत्रोन्मीलन्तीत्यादीनामुद्दिष्टानां क्रमेण "लुनीही"त्यादीनामनूद्देशाद्यथासंख्यमलङ्कारः ।

पर्यायाऽलङ्कारं लक्षयति—क्वचिदिति । क्वचित् = कुत्रचित्, एकं=वस्तु, अनेकस्मिन् = स्थाने, क्रमात् भवति= तिष्ठति चेत् = यदि १, वा = अथवा अनेकं = वस्तु, एकगम् = एकस्थानस्थितं, क्रमात् भवति चेत् २, वा एकं = वस्तु अनेकस्मिन् क्रमात् क्रियते = विधीयते चेत् ३, वा अनेकं = वस्तु, एकगम् = एकस्थानस्थितं, क्रमात् क्रियते चेत् ४, तदा पर्यायः = तन्नामाऽलङ्कारः, इष्यते = अभिलष्यते । इत्थं चाऽयं पर्यायश्चतुर्विधो भवतीति भावः । पर्यायशब्दः क्रमपर्यायस्तथा चाऽत्र

जैसे एक कहती है—खिलते हैं, दूसरी कहती है—नाखूनोंसे काटो, एक कहती है—बह रही है, तब दूसरी कहती है—रेशमी वस्त्रके आंचलसे ढाँक लो । एक कहती है—क्रीडाके उपवनमें प्रवेश कर रहे हैं, तब दूसरी कहती है—कङ्कणोंकी ध्वनियोंसे उन्हें डर दिखाओ । इस प्रकार अशोकपुष्प, दक्षिणकी हवा, और कोयलों-में उनकी क्रमसे उक्तियां होती हैं ।

इस पद्यमें "उन्मीलन्ति" (खिलते है) इत्यादि कहे गये पदार्थोंका क्रमसे लुनीहि (काटो) इत्यादि पीछे कहे गये पदार्थोंसे सम्बन्ध होनेसे "यथासंख्य" अलङ्कार हो गया है ।

क्वचिदिति । कहीं एक वस्तु अनेक स्थानमें क्रमसे होती है १ अथवा अनेक वस्तु एक स्थानमें क्रमसे होती है २ अथवा एक वस्तु अनेक स्थानमें क्रमसे की

क्रमेण यथा—

'स्थिताः क्षणं पक्ष्मसु ताडिताधराः पयोधरोत्सेधनिपातचूर्णिताः।
वलीषु तस्याः स्खलिताः प्रपेदिरे क्रमेण नाभिं प्रथमोदबिन्दवः॥'
'विचरन्ति विलासिन्यो यत्र श्रोणिभरालसाः।
वृककाकशिवास्तत्र धावन्त्यरिपुरे तव॥'

वर्णनस्य क्रमसापेक्षत्वादलङ्कारस्याऽभिधानमपि पर्याय इत्यवधेयम्। "आनुपूर्वी स्त्रियां वावृत्परिपाटी अनुक्रमः पर्यायश्चे"त्यमरः।

एकस्याऽनेकत्र भवने पर्यायमुदाहरति—**स्थिता इति**। कुमारसंभवस्थं पद्यमिदम्। वर्षतौं पार्वत्यास्तपश्चर्याया वर्णनमिदम्। प्रथमोदबिन्दवः = प्रथमाः (आद्याः) उदबिन्दवः (वृष्टिजलपृषताः)। तस्याः = पार्वत्याः, पक्ष्मसु= लोचनलोमसु, क्षणं = कंचित्कालं, स्थिताः=स्थितिं प्राप्ताः, एतेन पक्ष्मणां सान्द्रत्वं व्यज्यते। अनन्तरं ताडिताऽधराः = ताडितः (पीडितः, पतनेनेति शेषः) अधरः (ओष्ठः) यैस्ते, एतेनाऽधरस्य कोमलत्वं व्यज्यते। ततः पयोधरोत्सेधेत्यादिः० ८० पयोधरयोः (स्तनयोः) उत्सेधे (ऊर्ध्वभागे) निपातेन (पतनेन) चूर्णिताः (जर्जरिताः), पयोधरकाठिन्यादिति भावः। तदनु वलीषु=उदररेखासु, स्खलिताः= प्रच्युता निम्नोन्नतत्वादिति भावः। इत्थं चिरेण नाभिं, प्रपेदिरे = प्रविष्टाः, न तु निर्जग्मुः। एतेन नाभेर्गाम्भीर्यं व्यज्यते। ५-२४ वंशस्थं वृत्तम्। अत्र प्रथमोद-बिन्दुरूपस्यैकवस्तुनः पक्ष्मादावनेकत्र स्थाने क्रमेण स्वयं भवनात्पर्यायाऽलङ्कारः। मल्लिनाथस्त्वत्र परिकराऽलङ्कारं प्रतिपादितवान्॥ ७६॥

अनेकस्य वस्तुनः स्वयमेकत्र भवने पर्यायमुदाहरति—**विचरन्तीति**। कस्य-चिद्राज्ञः प्रतापवर्णनमिदम्। हे राजन्! यत्र = यस्मिन्, तव = भवतः, अरिपुरे = शत्रुनगरे, श्रोणिभराऽलसाः=श्रोणिभरेण (नितम्बभारेण) अलसाः (आलस्ययुक्ताः)

जाती है ३ अथवा अनेक वस्तु एक स्थानमें क्रमसे की जाती है ४ तो "पर्याय" अलङ्कार होता है॥ ८०॥

क्रमसे जैसे— **स्थिता इति**। पहली वृष्टिके जलकी बूंदें पार्वतीकी पलकोंपर पड़ीं, तब उन्होंने अधरोष्ठको ताडित किया, तब वे स्तनोंके ऊपरी भागमें पड़कर चूर चूर हुई, अनन्तर उदररेखाओंमें फिसलीं और बहुत समय बीतनेपर नाभिस्थलमें घुस गई।

इसमें प्रथम जलबिन्दुरूप एक वस्तु पक्ष्मका (पलक) आदि अनेक स्थानोंमें स्थित होनेका वर्णन होनेसे 'पर्याय' अलङ्कार है।

विचरन्तीति। हे राजन्! आपके जिस शत्रुनगरमें पहले नितम्बभारसे आलस्य पूर्ण विलासवती स्त्रियां विचरण करती थीं वहीं अब भेड़िये, कौए और शृगाल (स्यार) दौड़ रहे हैं।

'विसृष्टरागादधरान्निवर्तितः स्तनाङ्गरागादरुणाच्च कन्दुकात् ।
कुशाङ्कुरादानपरिक्षताङ्गुलिः कृतोऽक्षसूत्रप्रणयी तया करः ॥'
'ययोरारोपितस्तारो हारस्तेऽरिवधूजनैः ।
निधीयन्ते तयोः स्थूलाः स्तनयोरश्रुबिन्दवः ॥'

मन्थरगमना इति भावः । विलासिन्यः=विलसनशीलाः, शत्रुनगरकामिन्यः, विचरन्ति= व्यचरन्, "वर्तमानसामीप्ये वर्तमानवद्वा" इति भूतार्थे लट् । तत्र=तस्मिन्नेवाऽरिपुरे, वृककाकशिवाः = वृकाः (ईहामृगाः) काकाः (ध्वाङ्क्षाः) शिवाः (शृगालाः), धावन्ति = वेगपूर्वकं गच्छन्ति । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

अत्राऽनेकरिपुविलासिनीनां वृककाकशिवानां चैकस्मिन्नरिपुरे क्रमेण-भवनात्पर्यायाऽलङ्कारः ।

एकस्यानेकत्र करणे पर्यायमुदाहरति—**विसृष्टरागादिति** । कुमारसंभवस्थं पद्यमिदम् । पार्वत्यास्तपश्चरणप्रकारं वर्णयति । तया = पार्वत्या, विसृष्टरागात् = विसृष्टः (परित्यक्तः) रागः (लाक्षारसरञ्जनम्) यस्मात्, तस्मात्, तपश्चरण-व्यापृतत्वादिति भावः ।

तादृशात् अधरात् = अधरोष्ठात्, निवर्तितः = विवर्जितः, संपर्करहितः, तथा स्तनाऽङ्गरागाऽरुणितात् = स्तनयोः (पयोधरयोः) अङ्गरागः (कुङ्कुमादि-द्रव्यरागः) तस्मात् अरुणितात्=(अरुणीकृतात्) कन्दुकाच्च=गेन्दुकाच्च, निवर्तितः= विवर्जितः संपर्करहितः, तादृशः करः = हस्तः, सम्प्रति—कुशाऽङ्कुरादानेत्यादिः०= कुशाऽङ्कुराणाम् (दर्भाङ्कुराणाम्) आदानेन (ग्रहणेन) परिक्षताः (व्रणिताः) अङ्गुलयः (करशाखाः) यस्य, तादृशः सन्, अक्षसूत्रप्रणयी=अक्षमालासहचर इति भावः । कृतः=विहितः । वंशस्थं वृत्तम् । ५-११

अत्रैकस्यैव करस्याऽधरे, स्तनयोः, कन्दुके, कुशाऽङ्कुरे, अक्षसूत्रे च क्रमात् स्थितेः = करणात्पर्यायाऽलङ्कारः ।

अनेकस्यैकत्र करणे पर्यायमुदाहरति—**ययोरिति** ।

कस्यचिद्राज्ञः प्रतापवर्णनमिदम् । हे राजन् !, ते = तव, अरिवधूजनैः =

यहाँ अनेक शत्रुविलासिनियों और वृक आदि जन्तुओंका एक ही शत्रुनगरमें होनेके वर्णनसे "पर्याय" अलङ्कार है ।

विसृष्टरागादिति । पार्वतीने जिसपर लाक्षाका लेप करना छोड़ दिया है वैसे अधरसे, स्तनोंके अङ्गरागसे लाल गेंदसे हटाये गये इस समय कुशके अङ्कुरोंके लेनेसे जिसकी उँगलियां क्षत हो गई हैं ऐसे हाथको अभी रुद्राक्षमालाका सहचर बना दिया ।

इस पद्यमें एक ही हाथको अधर आदि अनेक वस्तुओंमें स्थित करनेसे पर्याय अलङ्कार हुआ है ।

ययोरिति । हे राजन् ! आपकी शत्रुवधूएँ जिनमे मोतियोंकी माला (हार) पहनती थीं उन्हीं स्तनोंमें बड़े बड़े अश्रुबिन्दुओंको डाल रही हैं ।

एषु च क्वचिदाधारः संहतरूपोऽसंहतरूपश्च। क्वचिदाधेयमपि। यथा—'स्थिताः क्षणम्–' इत्यत्रोदबिन्दवः पक्ष्मादावसंहतरूप आधारे क्रमेणाभवन्। 'विचरन्ति–' इत्यत्राधेयभूता वृकादयः संहतरूपारिपुरे क्रमेणाभवन्। एवमन्यत्।

अत्र चैकस्यानेकत्र क्रमेणैव वृत्तेर्विशेषालङ्काराद् भेदः। विनिमयाभावात्परिवृत्तेः।

शत्रुवनितालोकैः, ययोः, स्तनयोः = पयोधरयोः, तारः शुद्धमुक्ताघटितः "मुक्ताशुद्धौ तु तारः स्या"दित्यमरः। हारः=मुक्तामाला, आरोपितः, सम्प्रति तयोरेव स्तनयोः, स्थूलाः = विपुलाः, अश्रुबिन्दवः = लोचनसलिलपृषताः, निधीयन्ते = स्थाप्यन्ते। अनुष्टुब्वृत्तम्।

अत्राऽनेकमुक्ताघटितस्य हारस्याऽश्रुबिन्दूनां च क्रमेणैकस्मिन् स्तनयुग्मरूपे वस्तुनि करणात्पर्यायाऽलङ्कारः।

विवृणोति—**एष्विति**। पूर्वोक्तोदाहरणेषु, आधारः = आश्रयः, क्वचित् संहतरूपः = मिलिताऽनेकरूपः, असंहतरूपः = अमिलितप्रत्येकरूपः। क्वचित्, आधेयम् = आश्रितम्, अपि, संहतरूपम् असंहतरूपञ्चेत्यर्थः।

आधारस्याऽसंहतत्वं दर्शयति—**यथा**। "स्थिताः क्षणम्" इत्यत्र आधेयाः उदबिन्दवः संहतरूपाः, पक्ष्मादावसंहतरूप आधारे क्रमेणाऽभवन्।

पर्यायस्य विशेषाद्भेदं दर्शयति—**अत्र चेति**। एकस्य = वस्तुनः, अनेकत्र क्रमेणैव वृत्तेः, विशेषाद्भेदः। विशेषे तु एकस्मिन्नेव समये वृत्तिरिति विवेकः।

पर्यायस्य परिवृत्तेर्भेदं दर्शयति—पर्याये विनिमयाऽभावात्, परिवृत्तेर्भेदः।

इस पद्यमें अनेक मोतियोंसे बनी माला और अश्रुबिन्दुओंको स्तनयुग्मरूप एक वस्तुमें निहित करनेसे "पर्याय" अलङ्कार है।

एषु चेति। पूर्वोक्त उदाहरणोंमें कहीं आधार संहतरूप (मिलितस्वरूप) होता है तो कहीं असंहतरूप (एकाकीभूत) होता है। कहीं आधेय भी वैसा ही होता है संहतरूप और असंहतरूप। जैसे—"स्थिताः क्षणम्" यहाँ आधेय जलबिन्दु क्रमसे पलक आदि असंहत आधारमें क्रमसे रहे हैं।

"विचरन्ति" इस पद्यमें आधेयभूत वृक (भेड़िये) आदि संहतरूप शत्रु-नगरमें क्रमसे हुए हैं। इसी तरह और भी जानना चाहिए।

अत्रेति। पर्यायमें एक वस्तु अनेकमें क्रमसे रहनेसे विशेष अलङ्कारसे भेद है। क्योंकि विशेष अलङ्कारमें एक वस्तु अनेकमें एक ही बार रहती है। विनिमय (बदला) के न होनेसे पर्यायका परिवृत्तिसे भेद है।

परिवृत्तिर्विनिमयः समन्यूनाधिकैर्भवेत् ॥ ८० ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

'दत्त्वा कटाक्षमेणाक्षी जग्राह हृदयं मम ।
मया तु हृदयं दत्त्वा गृहीतो मदनज्वरः ॥'

अत्र प्रथमेऽर्धे समेन, द्वितीयेऽर्धे न्यूनेन ।

'तस्य च प्रवयसो जटायुषः स्वर्गिणः किमिव शोच्यतेऽधुना ।
येन जर्जरकलेवरव्ययात् क्रीतमिन्दुकिरणोज्ज्वलं यशः ॥

परिवृत्तिं लक्षयति—**परिवृत्तिरिति** । समन्यूनाधिकैः समं = तुल्यम्, न्यूनं = हीनम्, अधिकम् = उत्तमम्, तैः, विनिमयः = किंचिद्दत्वा कस्यचिद्ग्रहणं, "परिवृत्तिः" = परिवृत्त्यलङ्कारो, भवेत् = स्यात् ॥ ८० ॥

समेन न्यूनेन च विनिमये परिवृत्तिमुदाहरति—**दत्त्वेति** । काञ्चित्सुन्दरीं दृष्ट्वा कस्यचित्कामिनः सखाय प्रत्युक्तिरियम् । एणाक्षी=मृगनयना, कटाक्षं = कुटिलदृष्टिं, दत्त्वा = वितीर्य, मम हृदयं = चित्तं, जग्राह = गृहीतवती । अत्र सुन्दरीकटाक्षेण चित्तविक्षेपात्पारोक्ष्येण लिटः प्रयोगः । मया तु, हृदयं = चित्तं, दत्त्वा = वितीर्य, मदनज्वरः = कामसन्तापः गृहीतः = आत्तः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अस्मिन्नुदाहरणे, प्रथमेऽर्द्धे = पूर्वार्द्धे । समेन = तुल्यवस्तुग्रहणेन, कटाक्षहृदययोः समानत्वादिति भावः ।

द्वितीयेऽर्द्धे = उत्तरार्द्धे, न्यूनेन = न्यूनवस्तुग्रहणेन' विनिमयः, मदनज्वरस्य व्यथावहत्वान्न्यूनत्वम् ।

न्यूनं दत्त्वाऽधिकग्रहणे परिवृत्तिमुदाहरति—**तस्य चेति** ।

जटायुषो निधने भगवतः श्रीरामस्योक्तिरियम् । प्रवयसः=प्रकृष्टम् (अधिकम्) वयः (अवस्था) यस्य तस्य, जीर्णतरस्येति भावः । स्वर्गिणः = सीतासंरक्षणप्रयासे देहत्यागेन स्वर्गप्राप्तस्य । जटायुषः = संपात्यनुजस्य गृध्रविशेषस्य, किमिव = किमर्थम्, अधुना = इदानीं, शोच्यते = शोकः क्रियते । येन=जटायुषा, जर्जरकलेवरव्ययात् = जर्जरकलेवरस्य (जीर्णदेहस्य) व्ययात् (परित्यागात्) । इन्दुकिरणो-

परिवृत्तिरिति । तुल्य, न्यून वा अधिकसे विनिमय (कुछ देकर कुछ लेने)-से "परिवृत्ति" अलङ्कार होता है ।

क्रमसे उदाहरण—**दत्त्वेति** । मृगनयनाने कटाक्ष देकर मेरे हृदयको ले लिया । मैने तो हृदय देकर कामज्वर ले लिया ।

अत्रेति । यहां पूर्वार्द्धमें तुल्यके साथ और उत्तरार्द्धमें न्यूनके साथ विनिमय होनेसे "परिवृत्ति" अलङ्कार है ।

तस्येति । वृद्ध, स्वर्गवासी उन जटायुका इस समय क्या शोक करते हो ?

अत्राधिक्येन ।

प्रश्नादप्रश्नतो वापि कथिताद्वस्तुनो भवेत् ।
तादृगन्यव्यपोहश्चेच्छाब्द आर्थोऽथवा तदा ॥ ८१ ॥
परिसंख्या—

क्रमेणोदाहरणम्—

'किं भूषणं ? सुदृढमत्र यशो न रत्नं,
किं कार्यमार्यचरितं सुकृतं, न दोषः ।

उज्ज्वलम् = इन्दुकिरणः (चन्द्रमयूखः) इव उज्ज्वलं (धवलम्), यशः = कीर्तिः । क्रीतं = विनिमयेन गृहीतम् । रथोद्धता वृत्तम् ।

विवृणोति—अत्रेति । अस्मिन्नुदाहरणे, आधिक्येन = अधिकवस्तुग्रहणेन, विनिमय इति शेषः । जर्जरकलेवररूपं न्यून वस्तु दत्त्वोत्तमं वस्तु यशो गृहीतमिति भावः ।

परिसंख्याऽलङ्कारं लक्षयति—प्रश्नादिति । प्रश्नात् = कस्यचित्पृच्छामवलम्ब्य, "ल्यब्लोपे कर्मण्यधिकरणे चे"ति ल्यब्लोपे पञ्चमी । अप्रश्नतो वाऽपि= कस्य चित्पृच्छामनवलम्ब्याऽपि, कथितात् = अभिहितात्, वस्तुनः = पदार्थस्य, शाब्दः = शब्दबोध्यः, अथ वा = यद्वा, आर्थः = अर्थपर्यालोचनागम्यः, तादृगन्यव्यपोहः = तादृशः (कथितसदृशस्य) अन्यस्य (अपरस्य वस्तुनः) व्यपोहः (निषेधः), चेत् = यदि, तदा = तर्हि ॥ ८१ ॥ परिसंख्या = तन्नामाऽलङ्कारः ।

प्रश्नपूर्विकां शाब्दीं परिसंख्यामुदाहरति—किं भूषणमिति ।

कश्चित्पृच्छति—अत्र = अस्मिन्संसारे, सुदृढं=स्थिरतरं, भूषणम्=अलङ्कारः, किम् ? कश्चिदुत्तरयति—यशः = कीर्तिः, व्यपोहति = निषेधति च—रत्नं = मणिः, न, सुदृढं भूषणं नेति भावः । कश्चित्पृच्छति—आर्यचरितम् = आर्यैः (श्रेष्ठैः,

---

जिन्होंने जीर्ण शरीरका त्याग करके चन्द्रकिरणके समान उज्ज्वल यश (कीर्ति)-को खरीद लिया ।

अत्रेति । यहाँ आधिक्य (अधिक वस्तुके ग्रहण) से विनिमय होनेसे परिवृत्ति अलङ्कार हुआ है ।

प्रश्नादिति । यदि प्रश्नसे वा प्रश्नके बिना भी कहे गये पदार्थका शब्दसे वा अर्थसे वैसे दूसरे पदार्थका व्यपोह (निषेध) हो ॥ ८१ ॥ तो "परिसंख्या" अलङ्कार होता है ।

क्रमसे उदाहरण—किमिति ।

यहाँ (संसारमें) सुदृढ़ भूषण क्या है ? यश है, रत्न नहीं । श्रेष्ठ पुरुषोंसे किया गया कार्य क्या है ? पुण्य है, दोष नहीं । अप्रतिहत (प्रतिबन्धरहित) चक्षु

किं चक्षुरप्रतिहतं ? धिषणा, न नेत्रं,
जानाति कस्त्वदपरः सदसद्विवेकम् ? ॥'

अत्र व्यवच्छेद्यं रत्नादि शाब्दम् ।

'किमाराध्यं सदा ? पुण्यं, कश्च सेव्यः ? सदागमः ।
को ध्येयो भगवान् विष्णुः, किं काम्यं ? परमं पदम् ॥'

मन्वादिभिरिति भावः) चरितम् (आचरितम्) कार्यं, किम् ? अन्य उत्तरयति—सुकृतं = पुण्यं, व्यपोहति च—दोषः = दूषण, पापं न ।

कश्चित्पृच्छति—अप्रतिहतं = प्रतिबन्धरहितं, सर्वत्रगमिति भावः, तादृशं चक्षुः=दर्शकं, किम् ? अपर उत्तरयति—तादृशं दर्शनसाधन धिषणा=बुद्धिः, पदार्थान्तर व्यपोहति च—नेत्रं = नयनं, न = नेत्रमप्रतिहतं चक्षुर्न । एतादृगुत्तरश्रवणेन प्राश्निक उत्तरयितारं प्रशंसति—जानातीति । त्वत् = भवतः, अपरः = अन्यतरः, कः = जनः, सदसद्विवेकं = सदसतोः (उत्तमाऽधमयोः) विवेकं (पार्थक्यम्), जानाति = वेत्ति, न कोपि जानातीति भावः । वसन्ततिलका वृत्तम् ।

विवृणोति—अत्रेति । अस्मिन् उदाहरणे, व्यवच्छेद्यं = व्यपोह्यं, निषेध्य-मिति भावः । रत्नादि, आदिपदेन दोषनेत्रयोः परिग्रहः । शाब्दं=नञादिशब्दप्रति-पाद्यम् । ततश्चाऽत्र प्रश्नपूर्विका शाब्दी परिसंख्येति भावः ।

प्रश्नपूर्विकामार्थीं परिसंख्यामुदाहरति—किमाराध्यमिति ।

कश्चित्पृच्छति—सदा = सर्वदा, आराध्यम् = आचरणीयं, किम् ? अन्य उत्तरयति—पुण्यं = सुकृतं, तथा चाऽत्र पापं नेति व्यवच्छेद्यमार्थम् । कश्चित्पृच्छति—कः सेव्यः=सेवनीयः, अन्य उत्तरयति–सदागमः=संश्चाऽसौ आगमः, वेदादिशास्त्रमिति भावः । अत्र न पुनः शाक्यभिक्षुनिर्ग्रन्थ्यादीनामसदागम इति व्यवच्छेद्य आर्थः ।

कश्चित्पृच्छति–कः, ध्येयः=चिन्तनीयः ?, अपर उत्तरयति–भगवान्=षड्विधै-श्वर्यसम्पन्नः, विष्णुः=नारायणः । न तु धनमिति व्यवच्छेद्यमार्थम् । कश्चित्पृच्छति—किं, काम्यं = कमनीयम्, अभिलषणीयमिति भावः । अपर उत्तरयति—परमम् = उत्कृष्टं, पदं = स्थानं, मोक्षपदमिति भावः, न तु राज्यादिकमिति व्यवच्छेद्यमार्थम् । अत्राऽनुष्टुब्वृत्तम् ।

क्या है ? बुद्धि है, नेत्र नहीं । तुम्हारे सिवाय सत् और असत्का विवेक करना कौन जानता है ?

अत्रेति । यहाँ व्यवच्छेद्य = निषेध का विषय रत्न आदि शाब्द अर्थात् नञ् आदि शब्दसे प्रतिपाद्य है, अतः यह प्रश्नपूर्विका शाब्दी परिसंख्या है ।

किमिति । सदा आचरणके योग्य क्या है ? पुण्य । सेवनीय क्या है ? वेद आदि उत्तम शास्त्र । चिन्तनीय कौन है ? भगवान् विष्णु । कामना करनेके लिए योग्य क्या है ? परम पद अर्थात् मोक्ष ।

अत्र व्यवच्छेद्य पापाद्यार्थम्। अनयोः प्रश्नपूर्वकत्वम्।

अप्रश्नपूर्वकत्वे यथा—

'भक्तिर्भवे, न विभवे, व्यसनं शास्त्रे, न युवतिकामास्त्रे।
चिन्ता यशसि, न वपुषि, प्रायः परिदृश्यते महताम्॥'

'बलमार्तभयोपशान्तये, विदुषां संमतये बहु श्रुतम्।
वसु तस्य न केवलं विभोर्गुणवत्तापि परप्रयोजना॥'

विवृणोति—अत्रेति। अस्मिन् उदाहरणे, व्यवच्छेद्य=निषेध्यम्। आर्थम् = अर्थवशाल्लभ्यम्, अत एव प्रश्नपूर्विकार्थी परिसंख्येति भावः।

अप्रश्नपूर्विकां शाब्दी परिसंख्यामुदाहरति—भक्तिरिति। प्रायः=बाहुल्येन, महतां = महापुरुषाणां, भक्तिः = अनुरागः, भवे = महादेवे, परिदृश्यते = अवलोक्यते, विभवे = सम्पत्तौ, भक्तिः न परिदृश्यते। व्यसनम् = आसक्तिः, शास्त्रे = वेदादिशास्त्रे, परिदृश्यते, युवतिकामाऽस्त्रे = युवतिः (तरुणी) एव कामाऽस्त्रे (मदनायुधे), व्यसन, न परिदृश्यते। तथा चिन्ता = चिन्तन, यशसि = कीर्तौ विषये, परिदृश्यते, वपुषि = शरीरे विषये, न परिदृश्यते। आर्यावृत्तम्।

अत्र प्रश्नं विना त्रयाणां नञामुपादानात् विभवाद्यन्यपदार्थव्यपोहाच्च शाब्दी परिसंख्याऽलङ्कारः।

अप्रश्नपूर्विकामार्थीं परिसंख्यामुदाहरति—बलमिति। रघुवंशस्याऽष्टमसर्गस्थं पद्यम्। कालिदासो रघोः शक्त्यादिकं वर्णयति। विभोः = प्रभोः, तस्य = रघोः, बलं = शक्तिः, आर्तभयोपशान्तये = आर्तानाम् (आपत्प्राप्तानाम्) भयस्य (भीतेः) उपशान्तये (निवारणाय), 'न परपीडनाये'ति व्यवच्छेद्यः आर्थः। बहु= प्रचुरं, श्रुतं = शास्त्रश्रवणं, शास्त्राऽध्ययनमित्यर्थः। विदुषां = पण्डितानां, सत्कृतये= सत्काराय, "न विवादाये"ति व्यवच्छेद्य आर्थः। एव च विभोः तस्य = रघोः, वसु

अत्रेति। यहा व्यवच्छेद्य निषेध्य पाप आदि आर्थ है अर्थात् अर्थकी आलोचनासे लभ्य है, अतः प्रश्नपूर्विका आर्थी परिसंख्या है।

भक्तिरिति। महापुरुषोंकी भक्ति प्रायः भव (शिवजी) में होती है, विभव (सम्पत्ति) मे नहीं। व्यसन (आसक्ति) शास्त्रमें है न कि युवतिरूप कामदेवके अस्त्रमे। चिन्तन यशके विषयमें देखा जाता है न कि शरीरमे।

यहाँ प्रश्नके बिना ही तीन नञ्के ग्रहणसे विभव आदि अन्य पदार्थोंका निषेध होनेसे अप्रश्नपूर्विका शाब्दी परिसंख्या अलङ्कार है।

बलमिति। प्रभु रघुका बल पीडितजनोंके भय हटानेके लिए, अधिक शास्त्र-श्रवण विद्वानोंके सत्कारके लिए था, उनका धनमात्र ही नहीं, गुण भी दूसरोंके उपकारके लिए था।

श्लेषमूलत्वे चास्य वैचित्र्यविशेषो यथा—

'यस्मिंश्च राजनि जितजगति पालयति महीं चित्रकर्मसु वर्णसङ्कराश्चापेषु गुणच्छेदाः–' इत्यादि।

—उत्तरं प्रश्नस्योत्तरादुन्नयो यदि।
यच्चासकृदसंभाव्यं सत्यपि प्रश्न उत्तरम् ॥ ८२ ॥

केवलं=धनम् एव, न परप्रयोजनं=न परोपकारकम्, अपि तु गुणवत्ताऽपि=**गुणविशिष्ट-**ताऽपि, परप्रयोजना=अन्यार्थ्या, न तु स्वार्थेति भावः। वियोगिनी **वृत्तम्।** ८–३१।

अत्राऽप्रश्नपूर्विकाऽऽर्थी परिसंख्याऽलङ्कारः।

श्लेषपूर्विकां परिसंख्यामुदाहर्तुमुपक्रमते—**श्लेषमूलत्वे इति। अस्य =** परिसंख्याऽलङ्कारस्य। **"यस्मिंश्च राजनी"त्यादिः।** कादम्बरीपूर्वार्द्धे **शूद्रक-नृपतिवर्णनम्।** जितजगति = आयत्तीकृतलोके, यस्मिन्, राजनि = **नृपतौ, शूद्रके, महीं = भूमिं,** पालयति = रक्षति, सति। चित्रकर्मसु = **आलेख्यनिर्माणक्रियासु,** वर्णसङ्कराः = वर्णानां (शुक्लनीलादिवर्णानाम्) सङ्कराः (**संमिश्रणानि**), न पुनः प्रजानां वर्णसङ्कराः=वर्णाना (ब्राह्मणादीनाम्) सङ्कराः (**समिश्रणानि**), आसन्निति परपदेनाऽन्वयः। एवं च चापेषु = **धनुःषु, गुणच्छेदाः = गुणानां** (**मौर्वीणाम्**) **छे**दाः (दृढीभवनानि) न पुनः प्रजानां गुणच्छेदाः = **गुणानां** (दयादाक्षिण्यादीनाम्) **छे**दाः (नाशाः) इत्यार्थो व्यवच्छेदः।

इयं श्लेषमूलाऽऽर्थी परिसंख्योदाहृता।

उत्तराऽलङ्कारं लक्षयति—**उत्तरमिति।** उत्तरार्द्धे **"प्रश्ने सत्यपि"** इति **कथनात्पूर्वार्द्धे** "प्रश्ने असत्यपि" ईदृशी योजना कर्तव्या। उत्तरार्द्धे च **एकत्र प्रश्ने** तादृशवैचित्र्याऽभावाद् बहुतरप्रश्ने सति एवमूहनीयम्। प्रश्नेऽसत्यपि, **उत्तरात्=प्रति-वाक्यात्,** प्रश्नस्य = **पृच्छायाः,** उन्नयः = कल्पनं, यदि = **चेत्,** तदा **उत्तरम् =** तदाख्योऽलङ्कारः। इदमेकमुत्तरम्। तथा प्रश्ने बहुतरप्रश्ने सत्यपि, **यत् असंभाव्यम्=**

यहाँ प्रश्न नहीं है, व्यावृत्ति (निषेध) आर्थ अर्थात् **अर्थबलसे लभ्य है** अतः यह अप्रश्नपूर्विका आर्थी परिसंख्या है।

श्लेषमूलक परिसंख्यामें वैचित्र्य अधिक होता है, जैसे—**यस्मिश्चेति। जगत्**को जीतनेवाले जिन शूद्रक राजाके जगत्का पालन करनेपर **चित्रकर्ममें वर्णों-** (**शुक्ल** आदियों)का साङ्कर्य (मिश्रण) था (ब्राह्मण आदि **वर्णोंमें मिश्रण नहीं था**)। चापोंमें गुणों (प्रत्यञ्चाओं)का **छेद** था (दया **दाक्षिण्य आदि गुणोंका छेद** = नाश नहीं था)। इत्यादि।

यहाँ **वर्ण**, साङ्कर्य, गुण आदि शब्दोंमें श्लेष है, अतः यह **अप्रश्नपूर्विका श्लेषमूला आर्थी परिसंख्या है।**

उत्तरमिति। प्रश्नके न होनेपर भी उत्तरसे प्रश्नकी **कल्पना हो तो उत्तर अलङ्कार** होता है ॥ ८२ ॥

यथा मम—

तुं न क्षमा श्वश्रूः, स्वामी दूरतरं गतः ।
अहमेकाकिनी बाला तवेह वसतिः कुतः ? ॥'

अनेन पथिकस्य वसतियाचनं प्रतीयते ।

'का विसमा ? देव्वगई, किं लद्धव्वं ? जणो गुणग्गाही ।
किं सोक्खं ? सुकलत्तं, किं दुग्गेज्झं ? खलो लोओ ॥'

संभावयितुमशक्यं, लोकविलक्षणमितं भावः । यच्च असकृत् = वारं वारम्, उत्तरं = प्रतिवाक्यं तदपि उत्तरम् = तदाख्योऽलङ्कारः । एतेनोत्तराऽलङ्कारस्य द्वौ भेदौ भवतः । उत्तरयुक्तत्वादुत्तरमित्यन्वर्थसंज्ञा ॥ ८२ ॥

उत्तराऽप्रश्नोन्नयन उत्तरमुदाहरति—**वीक्षितुमिति** । रात्रौ गृहे वासं याचमानं पान्थं प्रति कस्याश्चित्स्वैरिण्या उक्तिरियम् । श्वश्रूः = भर्तृजननी, वीक्षितुं = द्रष्टुं, क्षमा = समर्था, न = न आस्ते । स्वामी = मम भर्ता, दूरतरम्=अधिकविप्रकृष्टदेशं, गतः = प्राप्तः । अतः, अहम् = एकाकिनी = एका, एव, बाला = युवतिः, अस्मि, अतः, तव = भवतः, कुतः = कथं, वसतिः = वासः, भवेदिति शेषः । अतोऽत्र स्थित्वा निर्भरं यौवनसुखमनुभवेति व्यङ्ग्यम् । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—**अनेनेति** । वीक्षितुं न क्षमेत्यादि प्रतिवाक्येन पथिकस्य=पान्थस्य, वसतियाचनं = निवासप्रार्थना, अद्य मे निवासं देहीत्यादिरूपेति भावः प्रतीयते ।

उत्तरस्य द्वितीयं भेदमुदाहरति—**केति** ।

"का विषमा ? दैवगतिः, किं लब्धव्यं ? जनो गुणग्राही ।
किं सौख्यं ? सुकलत्रं, किं दुर्ग्राह्यं ? खलो लोकः ॥" इति संस्कृतच्छाया ।

प्रश्नपूर्वकाऽसंभाव्योत्तररूपमुत्तरमुदाहरति । कश्चित्पृच्छति—विषमा = दारुणा, का ? अन्य उत्तरयति—दैवगतिः = विधिगतिः, अतर्कितरूपेणापतनादिति भावः । लब्धव्यं = प्राप्तव्यं वस्तु, किं ? गुणग्राही = सद्गुणग्राहकः, जनः = लोकः,

---

अथवा प्रश्नके होनेपर भी जो असंभाव्य वारं वार उत्तर हो वह भी उत्तर अलङ्कार है ।

जैसे ग्रन्थकारका—**वीक्षितुमिति** । सास देखनेमें असमर्थ हैं । स्वामी बहुत दूर (प्रवासको) गये हैं । मैं अकेली युवति हूँ, अतः आपका यहाँ कैसे रहना होगा ?

अनेनेति । इस पद्यसे "वीक्षितुं न क्षमा०" इत्यादि उत्तरसे निवासके लिए पथिककी याचना जानी जाती है ।

केति । विषम वस्तु क्या है ? भाग्यकी गति है । प्राप्त करनेके लिए योग्य क्या है ? गुणग्राहक जन । सौख्य क्या है ? उत्तम पत्नी । दुःखसे वशमें होनेके लिए योग्य क्या है ? दुर्जन पुरुष ।

यहाँ बहुतेरे प्रश्नोंमें असंभाव्य उत्तरोंके होनेसे उत्तर अलङ्कार है ।

अत्रान्यव्यपोहे तात्पर्याभावात् परिसंख्यातो भेदः। न चेदमनुमानम्, साध्यसाधनयोर्द्वयोर्निर्देश एव तस्याङ्गीकारात्। न च काव्यलिङ्गम्, उत्तरस्य प्रश्नं प्रत्यजनकत्वात्।

दण्डापूपिकयान्यार्थागमोऽर्थापत्तिरिष्यते।

केचिज्जना गुणमर्यादाऽनभिज्ञाः, केचिच्च परोत्कर्षाऽसहिष्णवः, अतो गुणग्राही जनो लब्धुं योग्य इति भावः। कश्चित्पृच्छति—सौख्यं=सुखसाधनं, लक्षणयाऽयमर्थः; किम्? अन्य उत्तरयति—सुकलत्रम्=उत्कृष्टपत्नी, सत् पत्नीसमं सुखसाधनं न किमपीति भावः। कश्चित्पृच्छति—दुर्ग्राह्यं = दुःखेन वशीकर्तुं योग्यं किं—खलः = दुर्जनः, लोकः = जनः, खलानां वशीकरणस्य दुःशक्यत्वादिति भावः। अत्र बहुषु प्रश्नेष्वसंभाव्यस्वरूपाणामुत्तराणां सद्भावादुत्तराऽलङ्कारः।

उत्तरस्याऽलङ्कारान्तरेभ्यो भेदं दर्शयति—अत्रेति। अस्मिन्नुत्तराऽलङ्कारे, अन्यव्यपोहे = इतरनिषेधे, तात्पर्याभावात्, परिसंख्यातो भेदः, परिसंख्यायां त्वन्यव्यपोहे तात्पर्यादिति भावः। इदम् = उत्तरम्, अनुमानं न, साध्यसाधनयोः = साध्यहेत्वोः, निर्देशः = प्रदर्शनं एव, तस्य = अनुमानस्य, अङ्गीकारात् = अभ्युपगमात्। उत्तराऽलङ्कारे साध्यसाधनयोः निर्देशो न भवतीति भावः।

न चेति। न च काव्यलिङ्गम्, उत्तरस्य = प्रतिवाक्यस्य, प्रश्नं = प्रश्नवाक्यं प्रति, अजनकत्वात्—अहेतुत्वादित्यर्थः। अतः पृथगेवेदमुत्तरमलंकारान्तरेभ्यः।

अर्थापत्तिं लक्षयति—दण्डाऽपूपिकयेति। दण्डाऽपूपिकया=तदाख्यनीत्या, अन्याऽर्थागमः = भिन्नाऽर्थप्रतीतिः, अर्थापत्तिः = तदाख्योऽलङ्कारः, इष्यते = अभिलष्यते।

दण्डाऽपूपौ स्तो यस्यां सा दण्डाऽपूपिका, "अत इनिठनौ" इति ठन्। "ठस्येकः" इतीकस्ततष्टाप्।

अत्रेति। उत्तर अलङ्कारमें दूसरेके निषेधमें तात्पर्यके न होनेसे परिसंख्यासे भेद है, परिसंख्यामें दूसरेके निषेधमें तात्पर्य होता है। यह (उत्तर अलङ्कार) अनुमान भी नहीं है क्योंकि साध्य और साधन दोनोंके प्रदर्शनमें ही अनुमानका अङ्गीकार किया गया है। यह काव्यलिङ्ग भी नहीं है क्योंकि यहाँ उत्तर प्रश्नवाक्यका हेतु नहीं है।

दण्डाऽपूपिकयेति। दण्डाऽपूपिका नीतिसे दूसरे अर्थका ज्ञान होनेपर "अर्थापत्ति" अलङ्कार इष्ट होता है।। ८३ ।।

'मूषिकेण दण्डो भक्षित' इत्यनेन तत्सहचरितमपूपभक्षणमर्थादायातं भवतीति नियतसमानन्यायादर्थान्तरमापततीत्येष न्यायो दण्डापूपिका।

अत्र च क्वचित्प्राकरणिकादर्थादप्राकरणिकस्यार्थस्यापतनं क्वचिदप्राकरणिकार्थात् प्राकरणिकार्थस्येति द्वौ भेदौ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'हारोऽयं हरिणाक्षीणां लुठति स्तनमण्डले।
मुक्तानामप्यवस्थेयं के वयं स्मरकिङ्कराः ? ॥'

विवृणोति—**मूषिकेणेति**। मूषिकेण = आखुना, दण्डः = लगुडः, भक्षितः= जग्धः, इत्यनेन = नयेन, तत्सहचरितं = दण्डभक्षणसहाऽनुष्ठितम्, अपूपभक्षणं = पूपप्रत्यवसानम्, अर्थात् = औचित्यात्, आयातम् = अवगतं, भवतीति, नियतसमानन्यायात् = निश्चिततुल्यनयात्, अर्थान्तरम् = उक्तात्पदार्थाद्भिन्नः पदार्थः, आपतति= प्रतीतिविषयो भवति। एष न्यायः = नयः, दण्डापूपिका।

मूषिकेण दण्डस्य भक्षणं दुष्करं तेन दण्डो भक्षित इत्यनेन दण्डनिहितस्य अपूपस्य भक्षणं निश्चितरूपेण यथाऽवगम्यते तथैव सहचरितस्यैकस्याऽर्थस्याऽवगमात् सहचरितस्याऽपरस्याऽप्यर्थस्याऽवगमो भवतीत्येषन्यायोऽर्थापत्तिरिति भावः।

अत्रेति। अस्मिन्नर्थापत्यलङ्कारे, प्राकरणिकात् = प्रस्तुतात्, अर्थात् = विषयात्।

प्राकरणिकादर्थादप्राकरणिकार्थापतनेऽर्थापत्तिमुदाहरति— **हारोऽयमिति**। कस्यचित्कामिन उक्तिरियम्। अयं = दृश्यमानः, हारः = मुक्तामाला, हरिणाक्षीणां= मृगनयनानां, स्तनमण्डले=कुचमण्डले, लुठति=मुहुर्मुहुः प्रतिघातं करोति। मुक्तानां = हारस्थितमौक्तिकानां प्राप्तमुक्तीनां जनानामपि, इयम् = एतादृशी, अवस्था = दशा, स्मरकिङ्कराः = कामसेवकाः, वयं के ? न केऽपीति भावः। अनुष्टुब्वृत्तम्।

अत्र मुक्तानां वर्णनीयत्वेन प्राकरणिकत्वं, ततश्चाऽप्राकरणिकानाम् अस्मत्पदवाच्यानाममुक्तानां हरिणाक्षीकुचमण्डले लुठनप्रतीतेरर्थापत्तिः।

मूषकेणेति। चूहेने दण्ड खाया ऐसा कहनेपर दण्डपर रहा हुआ अपूप- (मालपूआ)का खाना भी अर्थसे आ जाता है ऐसा निश्चित तुल्यन्यायसे उक्त अर्थसे भिन्न अर्थ ज्ञानका विषय होता है यह न्याय (कहावत) है दण्डापूपिका।

अत्र चेति। यहाँ कहीं प्रस्तुत अर्थसे अप्रस्तुत अर्थ और कहीं अप्रस्तुत अर्थसे प्रस्तुत अर्थ आ जाता है इस प्रकार इसके दो भेद होते हैं।

क्रमसे उदाहरण--**हार इति**। यह हार (मोतियोंकी माला) मृगनयनाओंके कुचमण्डलमे लोट पोट करना है। मुक्तों (मुक्त जनोंका अथवा मुक्ताओं) की भी यह अवस्था है तो कामसेवक हम लोग कौन होते हैं ?

'विललाप स बाष्पगद्गदं सहजामप्यपहाय धीरताम्।
अतितप्तमयोऽपि मार्दवं भजते कैव कथा शरीरिणाम्॥'

अत्र च समानन्यायस्य श्लेषमूलत्वे वैचित्र्यविशेषो यथोदाहृते-'हारोऽयम्-' इत्यादौ। न चेदमनुमानम्, समानन्यायस्य सम्बन्धरूपत्वाभावात्।

अप्राकरणिकाऽर्थात्प्राकरणिकाऽर्थापत्तनेऽर्थापत्तिमुदाहरति—**विललापेति**। रघुवंशस्याऽष्टमसर्गस्थ पद्यमिदम्। इन्दुमत्या निधनाऽनन्तरमजविलापारम्भसूचिका कवेरुक्तिः। सः = अजः, सहजां = स्वाभाविकीम्, अपि, धीरतां = धैर्यम्, अपहाय= परित्यज्य, बाष्पगद्गदं = बाष्पेण (अश्रुपतनेन) गद्गदम् (अस्फुटाक्षरं यथा स्यात्तथा) विललाप=परिदेवितवान्, "विलापः परिदेवनम्" इत्यमरः। अभितप्तम्= अग्निना संतप्तम्। अयः = लोहम्, अपि, मार्दवं = कोमलत्वं, भजते = आश्रयति। शरीरिषु = कोमलप्रकृतिषु देहिषु, अभिसन्तप्तेष्विति शेषः। कैव कथा = कैव वार्ता, काऽपि वार्ता वक्तव्या नाऽस्तीति भावः। ८१४३ वियोगिनी वृत्तम्। अत्र अत्राऽयसो मार्दवभजनमवर्णनीयत्वेनाऽप्राकरणिकोऽर्थस्तस्मात् शरीरिषु मार्दवभजनं वर्णनीयत्वेन प्राकरणिकोऽर्थस्तस्मापतनादर्थापत्तिरलङ्कारः।

विवृणोति—**अत्रेति**। अत्र = अर्थापत्त्यलङ्कारे, समानन्यायस्य = दण्डापूपिकानयस्य, श्लेषमूलत्वे = मुक्तापदेनेति शेषः, वैचित्र्यविशेषः। **न चेदमिति**। अर्थापत्तिरनुमानं न, समानन्यायस्य, सम्बन्धरूपत्वाऽभावात् = सम्बन्धरूपत्वस्य (अविनाभावरूपत्वस्य) अभावात्, व्याप्तिरूपत्वाऽभावादिति भावः। न चेयं शास्त्रीयाऽर्थापत्तिः उपपाद्यज्ञानेनोपपादककल्पनं हि अर्थापत्तिः। तत्रोपपाद्यज्ञानं करणम्। उपपादकज्ञानं फलम्, तत्र हि पीनो देवदत्तो दिवा न भुङ्क्ते पीनत्व-

यहाँ मुक्ताओं (मोतियों) के वर्णनीय होनेसे प्रस्तुतत्व है अनन्तर अप्रस्तुत अस्मद् पदसे कहे जानेवाले अमुक्तों (मोक्ष न पानेवालों) के मृगाक्षीके कुचमण्डलमे लुठनकी प्रतीतिसे अर्थापत्ति है।

विललापेति। वे (अज) स्वाभाविक धैर्य भी छोड़कर आँसूसे अस्पष्ट अक्षर करके विलाप करने लगे। अत्यन्त सन्तप्त लोहा भी कोमल (मुलायम) हो जाता है तो शरीर धारण करनेवालोंका क्या कहना है?

यहाँ लोहेका कोमल होना अवर्णनीय होनेसे अप्रस्तुत है उससे शरीरधारियोंका कोमल होना वर्णनीय होनेसे प्रस्तुत अर्थ है उसकी प्रतीति होनेसे अर्थापत्ति अलङ्कार है।

अत्रेति। इस अर्थापत्ति अलङ्कारमे दण्डापूपिका श्लेषमूलक होनेपर विशेष वैचित्र्य होता है, जैसे कि उदाहृत—"हारोऽयं हरिणाक्षीणाम्" इत्यादिमें। यह अनुमान अलङ्कार नहीं है; क्योंकि समानन्याय व्याप्तिसम्बन्धरूप नहीं होता है।

विकल्पस्तुल्यबलयोर्विरोधश्चातुरीयु(य)तः ॥ ८३ ॥

यथा—

'नमयन्तु शिरांसि धनूंषि वा कर्णपूरीक्रियन्तामाज्ञा मौर्व्यो वा ।'

अत्र शिरसां धनुषां च नमनयोः सन्धिविग्रहोपलक्षणत्वात् सन्धिविग्रहयोश्चैकदा कर्तुमशक्यत्वाद्विरोधः, स चैकपक्षाश्रयणपर्यवसानः ।

तुल्यबलत्वं चात्र धनुःशिरोनमनयोर्द्वयोरपि स्पर्धया सम्भाव्यमानत्वात् । चातुर्यं चात्रौपम्यगर्भत्वेन । एवं 'कर्णपूरीक्रियन्ताम्' इत्यत्रापि ।

भोजनादिकयोरविनाभाव इति भावः । सा च वैचित्र्याऽभावान्नार्थापत्तिरलङ्कार इति तात्पर्यम् ।

विकल्पाऽलङ्कारं लक्षयति—**विकल्प इति** । तुल्यबलयोः = समानबलयोः एकस्मिन्कार्ये नियोजितुम् अर्हतोरिति भावः । चातुरीयुतः = कवेश्चातुर्यपूर्णः, विरोधः = विप्रतिपत्तिः, युगपन्निर्वाहयितुमशक्यत्वादिति भावः । विकल्पः = तदाख्योऽलङ्कारः । स च विरोधः एकपक्षाश्रयणपर्यवसानात्समाधेयः एव ॥ ८३ ॥

विकल्पमुदाहरति—**नम्यन्तामिति** । सन्धिविग्रहयोरेकतरपक्षाश्रयणे कस्यचिद्दर्पशालिन उक्तिरियम् । शिरांसि = मस्तकानि, नमयन्तु = नतानि कुर्वन्तु सन्धिप्रस्तावेनेति शेषः । वा = अथवा, धनूंषि = कार्मुकाणि, नम्मयन्तु = अवनतानि कुर्वन्तु, आकर्षणेनेति शेषः, युद्धार्थमिति भावः ।

आज्ञाः = आदेशाः, पालनाऽर्थमिति शेषः । वा = अथवा, मौर्व्यः = ज्याः, कर्णपूरीक्रियन्तां = श्रोत्रभूषणसदृश्यः क्रियन्ताम् , युद्धार्थमिति भावः ।

अत्रेति । अस्मिन्नुदाहरणे, स च = विरोधश्च । एकपक्षाश्रयणपर्यवसानः = एकपक्षस्य (एकतरपक्षस्य) यत् आश्रयणम् (अवलम्बनम्) तेन पर्यवसानं (समाप्तिः) यस्य सः । स्पर्धया = संघर्षेण । औपम्यगर्भत्वेन, चातुर्यं = कविकृतिरूपवैचित्र्यम्, तथा च शिरोधनुषोर्नमनसादृश्यादाज्ञामौर्व्योश्च कर्णपूरीकरणसादृश्यादुपमा ।

विकल्प इति । तुल्य बलवाले दो पदार्थोंका कविकी चतुरतासे युक्त विरोध को "विकल्प" कहते हैं ।

यथेति । मस्तकोंको वा चापोंको झुकाएँ वा आज्ञाओंको वा प्रत्यञ्चाओंको कर्णभूषणोंके सदृश करें ।

अत्रेति । यहाँ मस्तकोंका और चापोंका नमन सन्धि और विग्रहके उपलक्षण हैं, सन्धि और विग्रह एक ही बार करनेमें अशक्य हैं; अतः विरोध है । उसका एक पक्षमे आश्रय करनेसे पर्यवसान (समाप्ति) होता है । यहाँ चापों और मस्तकों दोनोंको झुकाना स्पर्धासे संभावनाका विषय होनेसे उनका तुल्य बल है । यहाँ उपमागर्भक होनेसे चातुर्य है । इसी तरह "कर्णपूरीक्रियन्ताम्" यहाँ भी समझना चाहिए ऐसे

एवं—

'युष्माकं कुरुतां भवार्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः।'

अत्र श्लेषावष्टम्भेन चारुत्वम्।

'दीयतामर्जितं वित्तं देवाय ब्राह्मणाय वा।'

इत्यत्र चातुर्याभावान्नायमलङ्कारः।

श्लेषघटितवैचित्र्ये विकल्पमुदाहरति—**युष्माकमिति**। हरेः=श्रीविष्णोः, नेत्रे=द्वे नयने, तनुः वा = शरीरं वा, युष्माकं = भक्तिभाजां, भवार्तिशमनं = भवार्तेः (संसारपीडायाः) शमनं (निवारणम्) कुरुतां = विधत्ताम्। अस्य पूर्वं पादत्रयं यथा—

"भक्तिप्रह्वविलोकनप्रणयिनी नीलोत्पलस्पर्द्धिनी
ध्यानालम्बनतां समाधिनिरतैर्नीतेहितप्राप्तये।
लावण्यस्य महानिधी रसिकतां लक्ष्मीदृशोस्तन्वती" इति।

भागवताऽमृतदत्तस्य पद्यमिदम्।

विवृणोति—**अत्रे**ति। अस्मिन्पद्ये, श्लेषाऽवष्टम्भेन = श्लेषाऽवलम्बनेन, चारुत्वं = सौन्दर्यं, वैचित्र्यमिति भावः। श्लेषश्च कुरुतामित्यत्र द्विवचनैकवचनयोरेकरूपत्वात्। यथा—"कुरुताम्" इति "डुकृञ् करणे" इति धातोर्लोटः प्रथमपुरुषस्य द्विवचनम्। "कुरुताम्" इति पूर्वधातोरेवाऽऽत्मनेपदे लोटः प्रथमपुरुषस्यैकवचनम्। तथा चाऽत्र हरेर्नेत्रतन्वोर्द्वयोरपि भवार्तिशमने समर्थत्वं बोध्यम्।

"चातुरीयुत" इत्यस्य व्यावृत्तिमाह—**दीयतामिति**। अर्जितम् = उपार्जितं, वित्तं = धनं, देवाय = सुराय, वा = अथ वा, ब्राह्मणाय = विप्राय, दीयतां = वितीर्यताम्, इत्यत्र = एककालाऽवच्छेदेन देवाय ब्राह्मणाय दानस्याऽशक्यत्वाद्विरोधः। स च एकतरपक्षाश्रयणेन पर्यवसानं (समाप्तिः) यस्य सः, तादृशः। देवब्राह्मणयोरुभयोरपि उत्तमपात्रत्वेन तुल्यबलत्वम्। परन्त्वत्र चातुर्याऽभावान्नाऽयमलङ्कारः।

ही—"युष्माकं कुरुतां भवाऽर्तिशमनं नेत्रे तनुर्वा हरेः।" अर्थात् भगवान् विष्णुके दो नेत्र वा शरीर तुम लोगोंकी संसार-पीडाका शमन करे। यहाँ "कुरुताम्" यह "नेत्रे"के साथ अन्वित होकर द्विवचनाऽन्त और "तनु"के साथ अन्वित होकर एकवचनाऽन्त क्रियापद है, अतः वचनश्लेष है। इसी तरह "नेत्रे" यह नपुंसकलिङ्ग है "तनु" यह स्त्रीलिङ्ग है, अतः लिङ्गश्लेष भी है। इस प्रकार यहां विकल्प अलङ्कार है, इसमें श्लेषका आश्रय करनेसे सौन्दर्य है। "दीयतामर्जितं वित्तं देवाय ब्राह्मणाय वा"। अर्थात् उपार्जित धन देवताको वा ब्राह्मणको दे दो, वैचित्र्यके अभावसे यहाँ पर विकल्प अलङ्कार नहीं है।

समुच्चयोऽयमेकस्मिन् सति कार्यस्य साधके।
खलेकपोतिकान्यायात्तत्करः स्यात्परोऽपि चेत् ॥ ८४ ॥
गुणौ क्रिये वा युगपत्स्यातां यद्वा गुणक्रिये।

यथा मम—

'हंहो धीरसमीर! हन्त! जननं ते चन्दनक्ष्माभृतो
दाक्षिण्यं जगदुत्तरं, परिचयो गोदावरीवारिभिः।

समुच्चयाऽलङ्कारं लक्षयति—**समुच्चय इति**। कार्यस्य, एकस्मिन् साधके=निष्पादके सति, खलेकपोतिकान्यायात् = खले (धान्यमर्दनस्थाने) पतन्तः (आपतन्तः) कपोताः (पारावताः) शाकपार्थिवादिः, अलुक्। खलेकपोताः यस्यां (नीतौ) सा खलेकपोतिका, "अत इनिठनौ, इति ठन्, "ठस्येकः" स्त्रीत्वविवक्षायां टाप्प्रत्ययश्च।

खलेकपोतिका चाऽसौ न्यायः (नीतिः), ततः। खलेकपोतिकान्यायो यथा—"वृद्धा युवानः शिशवः कपोताः खले यथामी युगपत्पतन्ति, तथैव सर्वे युगपत्पदार्थाः परस्परेणाऽन्वयिनो भवन्ति।"

यथा खले वृद्धा युवानः शिशवः कपोता युगपत्पतन्ति तथैव कार्यस्यैकस्मिन्-साधके सति परोऽपि = अन्योऽपि पदार्थः, तत्करः = तस्य (कार्यस्य) करः (साधकः) चेत् = यदि, तर्हि अयम् = एषः, समुच्चयः = एकः समुच्चयाऽलङ्कारः ॥ ८४ ॥ यद्वा = अथ वा, युगपत् = एकदा, गुणौ = द्वौ गुणौ, अयं द्वितीयः, क्रिये = द्वे क्रिये, अयं तृतीयः, वा = अथ वा, गुणक्रिये = एको गुणः एका क्रिया चेति गुणक्रिये, स्यातां = भवेतां, चेत् = यदि, सोऽपि समुच्चयः। अयं चतुर्थः समुच्चयः। इत्थं च समुच्चयाऽलङ्कारस्य चत्वारो भेदाः संभवन्तीति भावः।

कार्यस्यैकस्मिन्साधकेऽन्यस्य साधकत्वे समुच्चयमुदाहरति—**हंहो इति**। विश्वनाथकविराजस्य पद्यमिदम्। कस्यचित्प्रियाविप्रयुक्तस्योक्तिरियम्। हं हो इति सम्बोधनाऽर्थकमव्ययम्। हन्तेति खेदे। धीरसमीर = धीरः (मन्दगतिः, मनीषी च)

समुच्चय इति। कार्यको सिद्ध करनेवाले एकके होनेपर भी खले कपोतिकान्यायसे दूसरा भी उस कार्यको करनेवाला हो तो ॥ ८४ ॥

"समुच्चय" अलङ्कार होता है। खल (खलिहान) में जैसे अनेक कपोत (कबूतर) दाना चुगनेके लिए एक ही बार जुटते हैं, इसे "खलेकपोतिका" न्याय कहते हैं।

दो गुण अथवा दो क्रियाएँ अथवा गुण और क्रिया एक साथ हों तो "समुच्चय" अलङ्कार होता है ॥ ८५ ॥

जैसे ग्रन्थकारका—हं हो इति। अरे गम्भीर समीर! चन्दन-पर्वत

प्रत्यङ्गं दहसीति मे त्वमपि चेदुद्दामदावाग्निव-
न्मत्तोऽयं मलिनात्मको वनचरः किं वक्ष्यते कोकिलः ? ॥

अत्र दाहे एकस्मिंश्चन्दनक्ष्माभृज्जन्मरूपे कारणे सत्यपि दाक्षिण्यादीनां हेत्वन्तराणामुपादानम् ।

अत्र सर्वेषामपि हेतूनां शोभनत्वात्सद्योगः । अत्रैव चतुर्थपादे मत्तादीना-मशोभनानां योगादसद्योगः ।

स चाऽसौ समीरः (वातः), तत्सम्बुद्धौ हे धीरसमीर ! ते = तव, चन्दनक्ष्माभृतः= श्रीखण्डगिरेः, मलयपर्वतादिति भावः । जननं = जन्म । ते, दाक्षिण्यं = दक्षिणदिग्भ-वत्वम् औदार्यं च, "दक्षिणो दक्षिणोद्भूत-सरल-च्छन्दवर्तिषु । अवामे त्रिषु यज्ञादिविधिदाने दिशि स्त्रियाम् ।" इति मेदिनी । जगदुत्तरं = जगति (लोके) उत्तरम् (उत्कृष्टम्) । गोदावरीवारिभिः = गोदावर्याः (गोदानद्याः) वारिभिः (जलैः) सह, परिचयः = संस्तवः । तथाऽपि त्वम्, उद्दामदावाऽग्निवत् = उद्दामा (अत्युग्रः) यो दावाऽग्निः (दावानलः) तेन तुल्यम् । मे = मम, प्रत्यङ्गं=समस्ता-न्यङ्गानि, दहसि चेत् = सन्तापयसि यदि, तदा मत्तः = मदयुक्तः, मलिनात्मकः = श्यामः, कुटिलाशयश्च । वनचरः = अरण्यचारी, असभ्यश्च । अयम्=एषः, कोकिलः= पिकः, किं वक्ष्यते=किं भाषिष्यते, पञ्चमस्वरप्रसारेण सुतरां पीडयिष्यतीति भावः । उत्तमः पीडयति चेदधमः पीडयिष्यतीत्यत्र किं वक्तव्यमित्यर्थापत्तिगर्भः समुच्चयः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

विवृणोति—अत्रेति । अस्मिन्नुदाहरणे । दाहे=मलयसमीराद्दाहाऽसंभवेऽपि विरहित्वाद्दाहरूपे कार्ये, चन्दनक्ष्माभृज्जन्मरूपे = मलयपर्वतोत्पत्तिरूपे । हेत्वन्त-राणाम् = अन्येषां दाहकारणानाम् । उपादानं = ग्रहणम् । अत्र = इह, पूर्वार्द्धे इति भावः । सर्वेषां=धीरत्वादीनाम् । सद्योगः=सतां (शोभनानाम्) योगः (सम्बन्धः) । अशोभनानां = हेतूनामिति पूर्वेण सम्बन्धः ।

(मलय)से तुम्हारी उत्पत्ति है, तुम्हारा दाक्षिण्य (दक्षिण दिशामें होना अथवा उदारता) जगत्में उत्कृष्ट है । तुम्हारा परिचय गोदावरी जलके साथ है । हाय ! ऐसे तुम भी अत्यन्त उग्र दावाग्निके समान प्रत्येक अङ्गको जलाते हो तो यह मत्त और मलिनात्मक (श्यामवर्ण और कुटिल आशयवाला) जङ्गली कोकिल क्या बोलेगा ?

अत्रेति । यहाँ वियोगीकी उक्तिमें दाहमें चन्दनपर्वत (मलय)से उत्पत्ति-रूप एक कारणके रहनेपर भी दाक्षिण्य आदि अन्य कारणोंका ग्रहण किया है । यहाँ दो चरणोंमें सब हेतुओंके शोभन (सुन्दर) होनेसे सद्-योग है । परन्तु इसी पद्यमें चतुर्थ चरणमें मत्त आदि अशोभन पदार्थोंका योग होनेसे असद्योग है ।

सदसद्योगो यथा—

'शशी दिवसधूसरो गलितयौवना कामिनी,
सरो विगतवारिजं, मुखमनक्षरं स्वाकृतेः।
प्रभुर्धनपरायणः, सततदुर्गतः सज्जनो
नृपाङ्गनगतः खलो मनसि सप्त शल्यानि मे ॥'

इह केचिदाहुः—'शशिप्रभृतीनां शोभनत्वं खलस्याशोभनत्वमपि सदसद्योगः' इति। अन्ये तु—'शशिप्रभृतीनां स्वतः शोभनत्वं धूसरत्वादीनां

एकत्र सदसद्योगे समुच्चयमुदाहरति—शशीति। भर्तृहरेर्नीतिशतकस्थं पद्यमिदम्। दिवसधूसरः = दिवसेन (वासरेण हेतुना) धूसरः = (धूम्रवर्णः) शशी = चन्द्रः। गलितयौवना = गलितम् (अपगतम्) यौवनं (तारुण्यम्) यस्याः सा, तादृशी, कामिनी = स्त्री, विगतवारिजं = विगतानि (अपगतानि) वारिजानि (कमलानि) यस्मात्तत्। तादृशं सरः = कासारः स्वाकृतेः = शोभना (मनोहरा) आकृतिः (आकारः) यस्य, तस्य, सुन्दरजनस्य, अनक्षरम् = अक्षरोच्चारणरहितं, मुखं = वदनम्। धनपरायणः = अर्थासक्तः, प्रभुः = स्वामी, राजाऽऽदिरिति भावः। सज्जनः = साधुजनः, सततदुर्गतः = निरन्तरदरिद्रः। एवं च खलः = पिशुनः, नृपाऽङ्गनगतः = राजचत्वरप्राप्तः। एतानि = पूर्वकथितानि इमानि, सप्त = सप्तसंख्यकानि, मे = मम, मनसि = मानसे, स्थितानि, शल्यानि = अनौचित्यदर्शनानि शल्यवद्दुःखदायकानीति भावः। पृथ्वी वृत्तम्।

अत्र मनोदुःखोत्पादनकार्यं प्रति दिवसधूसरशशिरूपे कारणे सत्यपि गलितयौवनकामिनीत्वादीनामन्येषां कारणानां समावेशात्समुच्चयाऽलङ्कारः।

विवृणोति—इहेति। अस्मिन्नुदाहरणे, केचित् = केऽपि आचार्याः। शशिप्रभृतीनां = शशि-कामिनी-सरः-स्वाकृति-प्रभु-सज्जनानाम्। सदसद्योगः = सदसतोः (उत्कृष्टाऽपकृष्टयोः) योगः (सम्बन्धः)।

मतान्तरं दर्शयति—अन्ये त्विति। अन्ये तु = अपरे आचार्यास्तु। अलङ्कारसर्वस्वकारा रुय्यका इति भावः। स्वतः = स्वभावतः। शोभनत्वं, धूसरत्वादीनां

सदसद्योग अर्थात् सत् और असत् पदार्थोंके योगमें जैसे—शशीति। दिनके कारण धूसर चन्द्रमा, जिसका तारुण्य बीत गया है ऐसी कामिनी, कमलोंसे रहित तालाब, सुन्दर आकृतिवाले पुरुषका अक्षरशून्य अर्थात् विद्यासे रहित मुँह, अर्थ-(धन)में आसक्त स्वामी, निरन्तर दरिद्र सज्जन, राजाके प्राङ्गणमें दुर्जन पुरुष ये सात मेरे हृदयमें शल्य (कीलें) हैं।

इहेति। यहाँ कोई विद्वान् कहते हैं कि शशी आदि शोभन हैं और खल अशोभन है इस कारणसे यहाँ सदसद्योग है।

अन्ये त्विति। अन्य विद्वान् कहते हैं कि शशी आदि स्वयम् शोभन हैं धूसरत्व आदि अशोभन हैं इस कारणसे सदसद्योग हुआ।

त्वशोभनत्वमिति सदसद्योगः।' अत्र हि शशिप्रभृतिषु धूसरत्वादेरत्यन्तमनुचितत्वमिति विच्छित्तिविशेषस्यैव चमत्कारविधायित्वम्। 'मनसि सप्त शल्यानि मे' इति सप्तानामपि शल्यत्वेनोपसंहारश्च। 'नृपाङ्गनगतः खल' इति तु क्रमभेदाद् दुष्टत्वमावहति, सर्वत्र विशेष्यस्यैव शोभनत्वेन प्रक्रमादिति।

इह च खले कपोतवत्सर्वेषां कारणानां साहित्येनावतारः। समाध्यलङ्कारे त्वेककार्यं प्रति साधके समग्रेऽप्यन्यस्य काकतालीयन्यायेनापतनमिति भेदः।

'अरुणे च तरुणि! नयने, तव मलिनं च प्रियस्य मुखम्।
मुखमानतं च सखि! ते, ज्वलितश्चास्यान्तरे स्मरज्वलनः॥'

इति भावः। धूसरत्वादीनाम्=आदिपदेन गलितयौवनत्व—विगतवारिजत्वाऽनक्षरत्व—धनपरायणत्व—सततदुर्गतत्वानामपि परामर्शः। एतेषां त्वशोभनत्वमिति सदसद्योगः।

अलङ्कारसर्वस्वकारमतेन स्वमतं समर्थयते—अत्र हीति। हि = यस्मात् कारणात्। धूसरत्वादेः = अत्रादिपदेन गलितयौवनत्वादिविशेषणधर्माणां ग्रहणम्, अनुचितत्वम् = अयोग्यत्वम्। अतिशोभने शशिकामिन्यादौ धूसरत्वगलितयौवनत्वादेर्विशेषणस्याऽत्यन्तमनुचितत्वमिति भावः। इति = एवं, विच्छित्तिविशेषस्यैव = वैचित्र्यविशेषस्यैव। उपसंहारः = परिसमाप्तिः। "नृपाऽङ्गनगतः खलः" इति तु क्रमभेदात् = विशेष्यरूपखलस्याऽसत्त्वात् क्रमभेदाद्भग्नप्रक्रमत्वमिति भावः।

इह चेति। इह च = कारणसमुच्चये च। साहित्येन=यौगपद्येन; साधके = कारणे। काकतालीयन्यायेन = काक उड्डीनः, तालफलं च पतितं, तत्र लोका वदन्ति काकेन तालफलं पातितमिति। न्यायोऽयं काकतालीयः, तथा च कारणानां दैवाद्यौगपद्ये तु समाधिरित्यनयोर्विवेकः।

गुणयोः क्रिययोर्यौगपद्ये समुच्चयमुदाहरति—अरुणे चेति। मानिनीं नायिकां प्रति सख्या उक्तिरियम्। हे तरुणि = हे युवति! तव = भवत्याः, नयने = नेत्रे, अरुणे = रक्तवर्णे, संवृत्ते इति शेषः, तव प्रियस्य च, मुखं = वदनं, मलिनं = मलीमसं, वर्तते इति शेषः। तथा च हे सखि = हे वयस्ये! ते = तव, मुखं=वदनम्,

---

अत्र हीति। यहां शशी आदिकोंमें धूसरत्व आदि अत्यन्त अनुचित हैं यही वैचित्र्य विशेष चमत्कार करने वाला है। मनमे सात शल्य (कीलें) हैं इस प्रकारसे सातोंको शल्यके रूपमें उपसंहार किया है। "नृपाङ्गनगतः खल" इसमें विशेष्यरूप खलके असत् होनेसे क्रमभङ्ग होनेसे भग्न प्रक्रम दोष है। यहां खलिहानमे कबूतरोंके समान सब कारणोंका एक ही वार अवतार है। समाधि अलङ्कारमें एक कार्यमें कारणके समग्र होनेपर भी काकतालीयन्यायसे दूसरा (कारण) आ पड़ता है यह भेद है।

अरुण इति। हे तरुणि! तुम्हारे नेत्र लाल हैं, तुम्हारे प्रियका मुख मलिन है। तुम्हारा मुखअवनत है और तुम्हारे प्रियके अन्तःकरणमे कामाऽग्नि प्रदीप्त हुआ है।

अत्राद्येऽर्धे गुणयोर्यौगपद्यम्, द्वितीये क्रिययोः।

उभयोर्यौगपद्ये यथा—

'कलुषं च तवाहितेष्वकस्मात्सितपङ्केरुहसोदरश्रि चक्षुः।
पतितं च महीपतीन्द्र ! तेषां वपुषि प्रस्फुटमापदां कटाक्षैः॥
'धुनोति चासिं तनुते च कीर्तिम्।'

आनतम्=अवनतम्, अस्य = त्वत्प्रियस्य, अन्तरे = अन्तःकरणे, चित्त इति भावः। स्मरज्वलनः = कामाग्निः, ज्वलितश्च = प्रदीतश्च। अत्र चकारचतुष्कं यौगपद्यद्योतकम्। उपगीतिवृत्तम्।

विवृणोति—अत्रेति। अस्मिन्नुदाहरणे, आद्येऽर्द्धे=पूर्वार्द्धे, गुणयोः=अरुणत्व-मलिनत्वरूपयोः, यौगपद्यम्=एककालत्वं, द्वितीये=उत्तरार्द्धे च, क्रिययोः=आनमनज्व-लनरूपयोः, यौगपद्यमिति पूर्वाऽनुवृत्तिः अत्र समुच्चयद्वयमपि वैयधिकरण्ये।

गुणक्रिययोर्यौगपद्ये समुच्चयमुदाहरति—कलुषमिति। कश्चित्कविः कंचिद्राजानं प्रशंसति। हे महीपतीन्द्र = हे राजेन्द्र !, सितपङ्केरुहसोदरश्रि = सित-पङ्केरुहस्य (श्वेतकमलस्य) सोदरा (सदृशी) श्रीः (शोभा) यस्य तत्, तादृशं, तव = भवतः, चक्षुः = नेत्रम्, अहितेषु = शत्रुषु, अकस्मात् = सहसा, कलुषम् = आविलं, कोपेनेति शेषः। जातम्। तेषाम् = अहितानां, वपुषि = शरीरे, आपदां = विपत्तीनां, कटाक्षैः = कुटिलदृष्टिभिः, प्रस्फुटं = सुव्यक्तं, पतितं च = आपतितं च। मालभारिणी वृत्तम्।

अत्र कलुषत्वं गुणः, पतनं च क्रिया, चकारेण तयोर्यौगपद्यात्समुच्चयः स चाऽत्राऽपि वैयधिकरण्य एव।

क्रियायौगपद्ये एकाऽधिकरणे समुच्चयमुदाहरति—धुनोतीति। असौ = राजा, असिं च = खड्गं च, धुनोति = कम्पयति, कीर्तिं च = यशश्च, तनुते = विस्तारयति। उपेन्द्रवज्रा वृत्तम्।

अत्राऽसिधवन-कीर्तितननरूपयोः क्रियोर्यौगपद्यात्समुच्चयः।

अत्रेति। यहाँ पूर्वार्द्धमें अरुणत्व और मलिनत्व गुण एक ही समयमें हुए हैं, उत्तरार्द्धमें आनमन और ज्वलन ये दो क्रियाएं एक ही वार हुई हैं।

गुण और क्रिया दोनोंका एक ही वार होनेका उदाहरण जैसे—कलुषमिति। हे राजेन्द्र ! सफेद कमलके समान आपका नेत्र शत्रुओंमें अकस्मात् कलुष होकर पड़ गया उसी समय उन (शत्रुओं)के शरीरमें आपत्तियोंके कटाक्ष पड़ने लगे। यहाँ कलुषत्व गुण है और कटाक्षपतन क्रिया है उनका एक ही वार होनेसे समुच्चय अलङ्कार है, वह यहाँ भिन्न भिन्न आश्रय में है।

धुनोतीति। यह राजा खड्गको कम्पित करता है, और यशका विस्तार करता है।

इत्यादावेकाधिकरणेऽप्येष दृश्यते ।

न चात्र दीपकम्, एते हि गुणक्रियायौगपद्ये समुच्चयप्रकारा नियमेन कार्यकारणकालनियमविपर्ययरूपातिशयोक्तिमूलाः। दीपकस्य चातिशयोक्तिमूलत्वाभावः।

समाधिः सुकरे कार्ये दैवाद्वस्त्वन्तरागमात् ॥ ८५ ॥

यथा—'मानमस्या निराकर्तुं पादयोर्मे पतिष्यतः ।
उपकाराय दिष्ट्येदमुदीर्णं घनगर्जितम् ॥'

विवृणोति—इत्यादौ, एकाऽधिकरणेऽपि = रणस्थलरूप एकस्मिन्नाश्रयेऽपि, एषः = समुच्चयः, दृश्यते = अवलोक्यते ।

समुच्चये दीपकस्य प्रसक्तिं निरस्यति—न चाऽत्रेति । अत्र = धुनोति चाऽसिमित्यादौ, दीपकं न = दीपकाऽलङ्कारो नाऽस्ति ।

अत्र हेतुमुपन्यस्यति—एते हीति । हि=यस्मात्कारणात्, एते=पूर्वोक्ताः, समुच्चयप्रकाराः = समुच्चयभेदाः । नियमेन = अवश्यम्भावेन, कार्यकारणेत्यादिः० = कार्यकारणयोः यः कालनियमः (समयक्रमः), कारणस्य नियतपूर्ववृत्तित्वं कार्यस्य च नियतपरवृत्तित्वं प्रागभावप्रतियोगित्वं वा, तस्य विपर्ययरूपा (वैपरीत्यस्वरूपा) या अतिशयोक्तिः सा मूलं येषां ते, तादृशाः । दर्शितोदाहरणेषु सर्वत्रैव गुणयोः क्रिययोर्वा कार्यकारणभावसत्वेऽपि यौगपद्योक्तिः—एतद्वैपरीत्येन दीपकस्य = तन्नाम्नोऽलङ्कारस्य अतिशयोक्तिमूलत्वाऽभावः, इति विवेकः ।

समाधिमलङ्कारं लक्षयति—समाधिरिति । दैवात्=भाग्ययोगात्, वस्त्वन्तरागमात् = वस्त्वन्तरस्य (कारणान्तरस्य) आगमात् (उपस्थितेः), कार्ये, सुकरे = अनायाससंपाद्ये सति, समाधिः = तन्नामाऽलङ्कारः ॥ ८५ ॥

समाधिमुदाहरति—मानमिति । सखायं प्रति कस्य चिद्विलासिन उक्तिरियम् । अस्याः = मत्प्रियायाः, मानं = प्रणयकोपं, निराकर्तुं = दूरीकर्तुं, पादयोः= प्रियायाश्चरणयोः, पतिष्यतः=निपतिष्यतः, मे=मम, उपकाराय=उपकृत्यै, दिष्ट्या = भाग्येन, इदम् = एतत्, घनगर्जितं=मेघगर्जनम्, उदीर्णम्=उत्पन्नम् । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

इत्यादि स्थलमें रणस्थलरूप एक आश्रयमें भी समुच्चय देखा जाता है । यहाँ दीपक नहीं है । गुण और क्रियाके योगपद्य (सहभाव)में होनेवाले समुच्चयके भेदोंमें अवश्य ही कार्य और कारणके कालनियमकी विपरीतभूत अतिशयोक्ति रहती है । इसके विपरीत दीपकमें अतिशयोक्ति मूलभूत नहीं होती ।

समाधिरिति । भाग्ययोगसे दूसरे कारणकी उपस्थितिसे कार्य सुकर होनेसे "समाधि" अलङ्कार होता है । जैसे—मानमिति । इस (प्रिया)के मान (प्रणयकोप)को हटानेके लिए पैरोंमें पड़नेके लिये मैं उद्यत था, इतनेमें मेरे उपकारके लिए भाग्यसे मेघका गर्जन प्रकट हुआ ।

प्रत्यनीकमशक्तेन प्रतीकारे रिपोर्यदि ।
तदीयस्य तिरस्कारस्तस्यैवोत्कर्षसाधकः ॥ ८६ ॥

तस्यैवेति रिपोरेव । यथा मम—

'मध्येन तनुमध्या मे मध्यं जितवतीत्ययम् ।
इभकुम्भौ भिनत्त्यस्याः कुचकुम्भनिभौ हरिः ॥'

अत्र प्रादपतनेन दुष्करस्य प्रियाया मानभङ्गरूपकार्यस्य दैवयोगाद् घनगर्जितेन सुकरत्वात्समाधिरलङ्कारः ।

प्रत्यनीकमलङ्कारं लक्षयति—**प्रत्यनीकमिति** । रिपोः = शत्रोः, प्रतिकारे= प्रत्यपकारे, अशक्तेन = असमर्थेन, तदीयस्य=रिपुसम्बन्धिनः पदार्थस्य, तिरस्कारः= परिभवः, तस्य एव = रिपोः एव, उत्कर्षसाधकः = प्रकर्षसंपादकः, यदि = चेत्, तर्हि प्रत्यनीकं = तन्नामाऽलङ्कारः ॥ ८६ ॥

प्रत्यनीकं स्वकीयपद्येनैवोदाहरति—**मध्येनेति** । तनुमध्या = कृशाऽवलग्ना, नायिका, मध्येन = अवलग्नेन, मे = मम, हरेः, मध्यम् = अवलग्नं, जितवती = पराजितवती, कृशताधिक्यादिति भावः । इति = अस्मात्कारणात्, अयं हरिः = सिंहः, "सिंहो मृगेन्द्रः पञ्चास्यो हर्यक्षः केसरी हरिः ।" इत्यमरः । अस्याः = नायिकायाः, कुचकुम्भनिभौ = स्तनकलशसदृशौ, इभकुम्भौ = हस्तिमस्तकमांसपिण्डौ, भिनत्ति = विदारयति, नखरप्रहारेणेति शेषः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

अत्र स्वाऽवलग्नेन सिंहस्य मध्यविजयित्वान्नायिका सिंहस्य रिपुः । तस्याः प्रतीकारेऽसमर्थेन सिंहेन नायिकामध्यसादृश्याद् गजकुम्भौ नायिकापक्षस्थमत्या भिन्नौ, तच्च भेदनं नायिकाकुचकुम्भोत्कर्षसाधनमिति प्रत्यनीकाऽलङ्कारः ।

यहाँ पैरमें पड़नेसे दुष्कर प्रियाके मानभङ्गरूप कार्यके दैवयोगसे मेघके गर्जनसे सुकर होनेसे "समाधि" अलङ्कार हुआ है ।

प्रत्यनीकमिति । शत्रुके प्रत्यपकार (बदला) में असमर्थ जनसे शत्रु सम्बन्धी किसी पदार्थका तिरस्कार शत्रुके ही उत्कर्षका साधक हो तो "प्रत्यनीक" अलङ्कार होता है । जैसे ग्रन्थकारका—**मध्येनेति** । पतली कमरवाली (सुन्दरी) ने अपनी कमरसे मेरी कमर जीत ली है, ऐसा विचार कर यह सिंह (शेर) सुन्दरीके स्तनकलशोंके समान हाथीके मस्तकस्थित मांसपिण्डोंको विदीर्ण करता है । यहाँ अपनी कमरसे सिंहकी कमरको जीतनेसे सुन्दरी सिंहकी शत्रु है । उसके प्रत्यपकार (बदला लेने) में असमर्थ सिंहने सुन्दरीकी कमरके सादृश्यसे हाथीके मस्तकपिण्डोंको सुन्दरीके पक्षमें स्थित समझकर जो विदीर्ण किया, वह विदारण सुन्दरीके स्तनकलशोंका ही उत्कर्षका साधक है अतः "प्रत्यनीक" अलङ्कार है ।

प्रसिद्धस्योपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पनम् ।
निष्फलत्वाभिधानं वा प्रतीपमिति कथ्यते ॥ ८७ ॥

क्रमेण यथा—

'यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरम् ।' इत्यादि ।

'तद्वक्त्रं यदि, मुद्रिता शशिकथा, हा ! हेम ! सा चेद्द्युतिः,
तच्चक्षुर्यदि, हारितं कुवलयैस्तच्चेत्स्मितं, का सुधा ? ।

प्रतीपमलङ्कारं लक्षयति—**प्रसिद्धस्येति** । प्रसिद्धस्य = प्रख्यातस्य, उपमानस्य = सादृश्यप्रतियोगिनः, उपमेयत्वप्रकल्पनम्=उपमेयत्वस्य (सादृश्यानुयोगित्वस्य) प्रकल्पनम्, वा = अथवा, निष्फलत्वाभिधानं = निष्फलत्वस्य (वैफल्यस्य) अभिधानं (कथनम्), "प्रतीपम्"=प्रतीपालङ्कारः, इति कथ्यते = उच्यते, एतेन प्रतीपस्य प्रकारद्वयं प्रतिपाद्यते ॥ ८७ ॥

उपमानस्योपमेयत्वप्रकल्पने प्रतीपमुदाहरति—**यत्त्वदिति** । "यत्त्वन्नेत्रसमानकान्ति सलिले मग्नं तदिन्दीवरम्" इत्यादि (२०४ पृ०) । पद्यमिदं व्याख्यातपूर्वम् । अत्र यथाक्रमं नेत्र-मुख-गमनोपमानत्वेन प्रसिद्धानामिन्दीवर-शशि-राजहंसगतीनामुपमेयत्वप्रकल्पनात्प्रतीपाऽलङ्कारः । स च मालारूपः । पूर्वं वाक्यार्थहेतुककाव्यलिङ्गालङ्कारेऽप्युदाहृतं पद्यमिदम् ।

उपमानस्य निष्फलत्वाऽभिधाने प्रतीपमुदाहरति—**तद्वक्त्रमिति** । विद्धशालभञ्जिकास्थं पद्यमिदम् । कश्चिन्नायकः स्वप्रियाया अङ्गप्रत्यङ्गं वर्णयति । तद्वक्त्रं = तस्याः (कुवलयमालाऽभिधानाया नायिकायाः) वक्त्रं (मुखम्) यदि = चेत् । शशिकथा = चन्द्रसौन्दर्यप्रशंसा, मुद्रिता = सङ्कुचिता । सा = कुवलयमालासम्बन्धिनी, द्युतिः = शरीरकान्तिः, अस्ति, चेत् = यदि । तर्हि, हेम = सुवर्णं, हा = हेम्नः शोच्यत इति भावः । तच्चक्षुः=तस्याः (कुवलयमालायाः) चक्षुः (नयनम्),

---

प्रसिद्धस्येति । प्रख्यात उपमानको उपमेय बनानेको अथवा उसकी निष्फलता कहनेको "प्रतीप" अलङ्कार कहते हैं ।

क्रमसे जैसे—"यत्त्वन्नेत्र०" इत्यादि । इस पद्यमें उपमान माने गये नेत्र, मुख और गमनको क्रमसे इन्दीवर, शशी और राजहंसगमनके उपमेय बनानेसे "प्रतीप" अलङ्कार हुआ है । वह भी मालारूप है । पहले वाक्यार्थहेतुक काव्यलिङ्ग अलङ्कारका भी इसे उदाहरण बतलाया गया है । **तद्वक्त्रमिति ।**

उस (कुवलयमाला)का मुख हो तो चन्द्रमाके सौन्दर्यकी प्रशंसा सङ्कुचित हो गई । वह (उसकी) कान्ति हो तो सुवर्ण शोचनीय है । वह नेत्र हों तो नील कमल पराजित हो गये । वह स्मित (मुसकान) हो तो अमृत क्या है ? वे भौंहें

धिक्कन्दर्पधनुर्भ्रुवौ यदि च ते, किं वा बहु ब्रूमहे
यत्सत्यं पुनरुक्तवस्तुविमुखः सर्गक्रमो वेधसः ॥'

अत्र वक्त्रादिभिरेव चन्द्रादीनां शोभातिवहनात्तेषां निष्फलत्वम् ।

उक्त्वा चात्यन्तमुत्कर्षमत्युत्कृष्टस्य वस्तुनः ।
कल्पितेऽप्युपमानत्वे प्रतीपं केचिदूचिरे ॥ ८८ ॥

यदि=चेत् । तदा कुवलयैः=नीलकमलैः, हारितं = पराजितम् । तत् = कुवलयमाला-सम्बन्धि, स्मितं = मन्दहास्यं, "ईषद्विकासिनयनं स्मितं स्यात्स्पन्दिताऽधरम्" इत्युक्त-लक्षणलक्षितमिति भावः । तर्हि सुधा = अमृतं, का = निकृष्टेति भावः । ते = असकृद्दृष्टपूर्वे, कुवलयमालासम्बन्धिन्यौ, भ्रुवौ = नयनलोमनी, स्तः, यदि, कन्दर्प-धनुः = कामकार्मुकं, धिक् = कन्दर्पधनुषो निन्देति भावः । वा = अथ वा, बहु = अधिकं, किं, ब्रूमहे = वदामः । यत् वेधसः = ब्रह्मदेवस्य, सर्गक्रमः = सृष्टिक्रमः, पुनरुक्तवस्तुविमुखः=पुनरुक्तवस्तुनः (सदृशपदार्थरचनायाः) विमुखः (पराङ्मुखः) अस्ति, तत्, सत्यं = तथ्यम् । ब्रह्मदेवः समानस्वरूपं पदार्थद्वयं न रचयतीति, लोकोक्तिः सत्यैवेति भावः । अत्र शशयादिभ्यः कुवलयमाला वक्त्रादीनां प्रकृष्ट-तरत्वेनैकप्रकारत्वाऽभावादिति भावः । शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम् ।

विवृणोति—अत्रेति । अस्मिन्नुदाहरणे । शोभाऽतिवहनात् = शोभायाः (सौन्दर्यस्य), अतिवहनात् (अतिक्रम्य धारणात्), तेषां = चन्द्रादीनां, निष्फलत्वं, सूचितमिति शेषः ।

मतान्तरेण प्रतीपं लक्षयति—उक्त्वेति । अत्युत्कृष्टस्य = अधिकोत्तमस्य, वस्तुनः = पदार्थस्य, अत्यन्तं = साऽतिशयम्, उत्कर्षं = प्रकर्षम्, उक्त्वा=अभिधाय, उपमानत्वे, कल्पिते = स्थापितेऽपि, केचित् = कतिपय आलङ्कारिकाः, प्रतीपं = प्रतीपाऽलङ्कारम्, ऊचिरे = जगदुः । अपिपदेन पूर्वोक्तप्रकारयोः समुच्चयः ॥ ८८ ॥

हों तो कामदेवके धनुको धिक्कार है । बहुत क्या कहें ? ब्रह्माजीका सृष्टिक्रम सदृश पदार्थकी रचनासे पराङ्मुख है, यह सत्य है ।

अत्रेति । यहाँ मुख आदि पदार्थोंके ही चन्द्र आदि पदार्थोंकी शोभाको धारण करनेसे उन (चन्द्र आदि) पदार्थोंकी निष्फलता कही है ।

उक्त्वेति । अत्यन्त उत्कृष्ट वस्तुके अत्यन्त उत्कर्षक वर्णन कर उपमान बनानेको भी कोई विद्वान "प्रतीप" अलङ्कार कहते हैं ।

यथा—

'अहमेव गुरुः सुदारुणानामिति हालाहल ! तात ! मा स्म दृप्यः।
ननु सन्ति भवादृशानि भूयो भुवनेऽस्मिन् वचनानि दुर्जनानाम् ॥'

अत्र प्रथमपादेनोत्कर्षातिशय उक्तः। तदनुक्तौ तु नायमलङ्कारः।

यथा—

'ब्रह्मेव ब्राह्मणो वदति' इत्यादि।

मीलितं वस्तुनो गुप्तिः केनचित्तुल्यलक्ष्मणा।

प्रतीपान्तरमुदाहरति—**अहमेवेति**। दुर्जनपीडितस्य कस्यचिदुक्तिरियम्। हे हालाहल=हे हालाहलविष ! तात = वत्स, अहम् एव, सुदारुणानाम् = अतिशयभयङ्कराणां पदार्थानां, गुरुः = प्रधानम्, इति = एवम्, मा स्म दृप्यः = नो दर्पयुक्तो भव। अत्र हेतुं प्रदर्शयति—ननु = हे हालाहल !, अस्मिन् = एतस्मिन्, भुवने = लोके, भवादृशानि = भवत्सदृशानि, सुदारुणानीति भावः। दुर्जनानां = दुष्टजनानां, वचनानि = वचांसि, भूयः = प्रचुरं यथा तथा, सन्ति = वर्तन्ते। अतस्तव "अहमेव सुदारुणानां गुरु"रिति तव कथनं न संगच्छत इति भावः। मालभारिणी वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अस्मिन्पद्ये हालाहलस्योत्कर्षाऽतिशय उक्तः। तथा च "सुदारुणानां गुरु"रिति कथनेनाऽत्यन्तमुत्कर्षमुक्त्वा "भवादृशानि दुर्जनानां वचनानि" इत्यनेनोपमानत्वस्य कल्पनात्प्रतीपाऽलङ्कारत्वम्। तदनुक्तौ तु=उत्कर्षाऽतिशयाऽनुक्तौ तु, न अयमलङ्कारः = प्रतीपाऽलङ्कारः। अलङ्काराऽभावस्थलं निर्दिशति—**ब्रह्मेवेति**। अत्रोपमानस्य ब्रह्मण उत्कर्षाऽतिशयस्याऽनुक्तेर्न प्रतीपालङ्कारत्वम्।

मीलितं लक्षयति—**मीलितमिति**। तुल्यलक्ष्मणा=समानलक्षणेन, सदृशेनेति भावः। केनचित् = वस्तुना, वस्तुनः = पदार्थस्य, गुप्तिः = आच्छादनं, "मीलितं"= मीलितं नामाऽलङ्कारः।

जैसे—**अहमेवेति**। हे वत्स ! हलाहल ! "भयङ्कर पदार्थोंमें मैं ही प्रधान हूँ" कहकर दर्प (घमण्ड) मत करो। इस संसारमें तुम्हारे सदृश भयङ्कर वस्तु बहुतसे दुर्जनोंके वचन हैं।

अत्रेति। यहाँ प्रथमचरणसे अतिशय उत्कर्ष कहा गया है। उत्कर्ष न कहनेपर यह अलङ्कार नहीं होता है, जैसे कि—"ब्रह्मेव ब्राह्मणो वदति" अर्थात् ब्राह्मण ब्रह्माके समान बोलता है, यहाँ अलङ्कार नहीं है।

मीलितमिति। समान लक्षणवाले किसी वस्तुसे किसी वस्तुके छिपनेको "मीलित" अलङ्कार कहते हैं।

अत्र समानलक्षणं वस्तु क्वचित्सहजं क्वचिदागन्तुकम्।
क्रमेण यथा—

'लक्ष्मीवक्षोजकस्तूरीलक्ष्म वक्षःस्थले हरेः।
ग्रस्तं नालक्षि भारत्या भासा नीलोत्पलाभया॥'

अत्र भगवतः श्यामा कान्तिः सहजा।

'सदैव शोणोपलकुण्डलस्य यस्यां मयूखैररुणीकृतानि।
कोपोपरक्तान्यपि कामिनीनां मुखानि शङ्कां विदधुर्न यूनाम्॥'

विवृणोति—**अत्रेति**। अस्मिन्नलङ्कारे, समानलक्षणं = तुल्यलक्ष्म, वस्तु = पदार्थः, क्वचित् = कुत्रचित्, सहजं = स्वाभाविकं, क्वचित्, आगन्तुकम् = अतदीयं, कुतश्चिदागतमिति भावः। एतेन मीलितस्य द्वौ भेदौ प्रतिपाद्येते।

आद्यं मीलितमुदाहरति—**लक्ष्मीति**। हरेः = नारायणस्य, वक्षःस्थले, उरःस्थले, लक्ष्मीत्यादि॰ = लक्ष्म्याः (इन्दिरायाः) वक्षोजयोः (पयोधरयोः) यत् कस्तूरीलक्ष्म (मृगमदलाञ्छनम्), तत् नीलोत्पलाभया = नीलकमलसमवर्णया, भासा = देहकान्त्या, हरेरिति शेषः। ग्रस्तं = तिरोहितम्, आच्छादितम्, अतो भारत्या = लक्ष्मीसपत्न्या सरस्वत्या, न अलक्षि = नो दृष्टम्। तत्कस्तूरीलक्ष्म न लक्षितमिति भावः। अतो भारत्या मानो न कृत इति शेषः।

विवृणोति—**अत्रेति**। भगवतः = हरेः, अत्र हरेः सहजया देहप्रभया ग्रस्तत्वात् कस्तूरीलक्ष्म भारत्या न लक्षितमिति मीलितालङ्कारः। अत्र भगवतः श्यामा कान्तिः सहजा।

द्वितीयं मीलितमुदाहरति—**सदैवेति**। यस्यां = पुरि, शोणोपलकुण्डलस्य = अरुणमणिरचितकर्णभूषणस्य, मयूखैः = किरणैः, सदैव = सर्वदैव, अरुणीकृतानि = रक्तवर्णीकृतानि, कामिनीनां = रमणीनां, मुखानि = वदनानि, कोपोपरक्तानि = कोपेन (प्रणयक्रोधेन) उपरक्तानि (रक्तवर्णानि), अपि यूनां=तरुणानां, शङ्कां= कोपसन्देहं, न विदधुः = न चक्रुः।

अत्रेति। समान लक्षण वस्तु कहीं स्वाभाविक होती है और कहीं आगन्तुक अर्थात् बाहरसे आई हुई। क्रमसे जैसे—**लक्ष्मीत्यादि**। नारायणके वक्षःस्थलमें स्थित लक्ष्मीके पयोधरोंके कस्तूरीका चिह्न, नीलकमलके समान नारायणकी शरीरकान्तिसे तिरोहित हुआ अतः सरस्वतीने नहीं जाना।

अत्रेति। यहां भगवान्‌की श्याम कान्ति स्वाभाविक है, उससे तुल्यवर्ण कस्तूरीका चिह्न छिप गया है।

सदैवेति। जिस पुरीमें माणिक्य रत्नसे निर्मित कुण्डलकी किरणोंसे सदैव लाल होनेवाले सुन्दरियोंके मुख क्रोधसे लाल होनेपर भी वे युवापुरुषोंकी शङ्का उत्पन्न नहीं करते थे।

अत्र माणिक्यकुण्डलस्यारुणिमा मुखे आगन्तुकः।

सामान्यं प्रकृतस्यान्यतादात्म्यं सदृशैर्गुणैः ॥ ८९ ॥

यथा—'मल्लिकाचितधम्मिल्लाश्चारुचन्दनचर्चिताः।
अविभाव्याः सुखं यान्ति चन्द्रिकास्वभिसारिकाः ॥'

मीलिते उत्कृष्टगुणेन निकृष्टगुणस्य तिरोधानम्, इह तूभयोस्तुल्यगुणतया भेदाग्रहः।

विवृणोति—**अत्रेति**। अस्मिन्पद्ये माणिक्यकुण्डलस्य = शोणोपलकर्णाभूषणस्य, अरुणिमा = लौहित्यम्। मुखे आगन्तुकः।

सामान्यमलङ्कारं लक्षयति—**सामान्यमिति**। सदृशैः = समानैः गुणैः, प्रकृतस्य = प्रस्तुतस्य, अन्यतादात्म्यम् = इतरभेदाऽग्रहः, सामान्य = तन्नामाऽलङ्कारः ॥ ८९ ॥

सामान्यमुदाहरति—**मल्लिकाऽऽचितधम्मिल्ला इति**। मल्लिकेत्यादिः = मल्लिकाभिः (भूपदीपुष्पैः) आचिताः (व्याप्ताः) धम्मिल्लाः (संयतकचाः) यासां ताः। "तृणशून्यं तु मल्लिका। भूपदी शीतभीरुश्च" इति "धम्मिल्लः संयताः कचा" इत्यप्यमरः। पुनः चारुचन्दनचर्चिताः = चारुचन्दनैः (मनोहरमलयजपङ्कैः) चर्चिताः (विहिताऽङ्गलेपाः) अत एव अविभाव्याः = विभावयितुमशक्याः, चन्द्रिकासदृशवर्णत्वादिति भावः। तादृश्यः अभिसारिकाः = कान्तसमागमाऽर्थं सङ्केतस्थानं गच्छन्त्यो नायिकाः, चन्द्रिकासु = ज्योत्स्नासु, सुखं = सानन्दं, निःशङ्कमिति भावः। यान्ति = प्राप्नुवन्ति, संङ्केतस्थानमिति शेषः। अनुष्टुब्वृत्तम्। अत्र प्रकृतायाः नायिकायाः सदृशैः शुक्लगुणैः, अप्रकृतायाः = चन्द्रिकयास्तादात्म्यात् = भेदाग्रहात् सामान्यमलङ्कारः।

मीलिताद्भेदं प्रतिपादयति—**मीलित इति**। तिरोधानम् = आच्छादनम्। इह तु = अस्मिन्सामान्याऽलङ्कारे तु। भेदाऽग्रहः = भिन्नताया अग्रहणम्।

अत्रेति। यहाँ माणिक्यकुण्डलोंकी लालिमा मुखमें आगन्तुक है।

सामान्यमिति। समान गुणोंसे प्रस्तुत पदार्थका अन्य वस्तुसे भेदका ज्ञान न होनेसे "सामान्य" अलङ्कार होता है ॥८९॥ जैसे—**मल्लिकेत्यादि**। मल्लिकापुष्पोंसे व्याप्त जूड़ोंसे युक्त, सुन्दर चन्दनके लेपसे अलङ्कृत अभिसारिकाएँ (सङ्केत स्थलमें जानेवाली नायिकाएँ) चाँदनीमें नहीं पहिचानी जाती हुई सुखपूर्वक चलती हैं।

यहाँ प्रकृत अभिसारिकाका सदृश शुक्ल गुणोंसे अप्रकृत चन्द्रिकाके तादात्म्य होनेसे सामान्य अलङ्कार है।

मीलित इति। मीलित अलङ्कारमें उत्कृष्ट गुणवाली वस्तुसे निकृष्ट गुणवाली वस्तुका आच्छादन होता है, यहाँ (सामान्यमें) दोनों वस्तुओंका समान गुण होनेसे भेदका अग्रहण अर्थात् तादात्म्य होता है'

तद्गुणः स्वगुणत्यागादत्युत्कृष्टगुणग्रहः ।

यथा—

'जगाद वदनच्छद्मपद्मपर्यन्तपातिनः ।
नयन् मधुलिहः श्वैत्यमुदग्रदशनांशुभिः ॥'

मीलिते प्रकृतस्य वस्तुनो वस्त्वन्तरेणाच्छादनम्, इह तु वस्त्वन्तरगुणेनाक्रान्तता प्रतीयत इति भेदः ।

तद्रूपाननुहारस्तु हेतौ सत्यप्यतद्गुणः ॥ ९० ॥

तद्गुणमलङ्कारं लक्षयति—**तद्गुण इति** । स्वगुणत्यागात्=आत्मगुणहानात्, अत्युत्कृष्टगुणग्रहः = अत्युत्कर्षयुक्तस्य गुणस्य ग्रहणं, "तद्गुणः"=तन्नामाऽलङ्कारः ।

तद्गुणमुदाहरति—**जगादेति** । शिशुपालवधस्य द्वितीयसर्गस्थं पद्यम् । उदग्रदशनांऽशुभिः = उदग्राः (उन्नताः) ये दशनाः (दन्ताः) तेषाम् अंशुभिः (शुक्लकिरणैः), वदनेत्यादिः०=वदनम् (मुखम्) एव छद्म (कपटम्) तस्य तत् तादृशं यत् पद्मं (कमलम्) तस्य पर्यन्तपातिनः (प्रान्तसञ्चारिणः), तान्, तादृशान्, मधुलिहः = भ्रमरान् । श्वैत्यं = धावल्यं, नयन् = प्रापयन् सन्, "राम" इति पदं चतुर्दशश्लोकादनुवर्तनीयं, रामः = बलदेवः, जगाद = उवाच । अनुष्टुब्वृत्तम् २–२१

अत्र मधुलिड्भिः=भ्रमरैः = स्वगुणं, = कृष्णगुणं, परित्यज्य अत्युत्कृष्टश्वैत्यगुणग्रहणात्तद्गुणाऽलङ्कारः ।

मीलिताद् भेदं प्रदर्शयति—**मीलित इति** । मीलिते=अलङ्कारे, प्रकृतस्य = प्रस्तुतस्य, वस्तुनः = पदार्थस्य, वस्त्वन्तरेण = पदार्थान्तरेण । आच्छादनं = तिरोधानम्, इह तु = तद्गुणे तु, वस्त्वन्तरगुणेन = पदार्थान्तरगुणेन, विजातीयेनेति भावः । आक्रान्तता = अभिभूतता ।

अतद्गुणं लक्षयति—**तद्रूपाऽननुहार इति** । हेतौ = ग्रहणकारणे, सति अपि = विद्यमाने अपि, तद्रूपाऽननुहारः = तद्रूपस्य (परगुणस्य) अननुहारः = (अग्रहणम्), तु, अतद्गुणः, तन्नामाऽलङ्कारः ॥ ९० ॥

तद्गुण इति । अपने गुणोंका त्यागकर अत्यन्त उत्कृष्ट गुणोंके ग्रहण करनेसे "तद्गुण" अलङ्कार होता है ।

जगादेति । जैसे—मुखकमलके समीप उड़नेवाले भौंरोंको अपने उन्नत दन्तोंकी किरणोंसे सफेद करते हुए बलरामजी बोले । यहाँ भौंरोंके अपने कृष्ण गुणको छोड़कर अत्युत्कृष्ट श्वेत गुणोंका ग्रहण करनेसे तद्गुण अलङ्कार है ।

मीलित इति । मीलितमें प्रकृत वस्तुका दूसरी वस्तुसे आच्छादन होता है यहाँ दूसरी वस्तुके गुणसे प्रकृत वस्तु अभिभूत हो जाती है—यह भेद है ।

तद्रूपाननुहार इति । कारण के होनेपर भी दूसरी वस्तुके गुणका ग्रहण न करनेसे "अतद्गुण" अलङ्कार होता है ।

यथा—

'हन्त ! सान्द्रेण रागेण भृतेऽपि हृदये मम।
गुणगौर ! निषण्णोऽपि कथं नाम न रज्यसि ? ।।'

यथा वा—

'गाङ्गमम्बु सितमम्बु यामुनं कज्जलाभमुभयत्र मज्जतः ।
राजहंस ! तव सैव शुभ्रता चीयते न च न चापचीयते ।।'

अतद्गुणमुदाहरति—**हन्तेति** । अननुरक्त नायकं प्रति अनुरक्तायाः कस्याश्चिन्नायिकाया उक्तिरियम् । हन्त इति खेदद्योतकमव्ययम् । हे गुणगौर = गुणैः (दयादाक्षिण्यादिभिः) गौर (हे शुभ्रवर्ण) !, सान्द्रेण = गाढेन, रागेण = अनुरागरूपलौहित्येन, भृतेऽपि = परिपूर्णेऽपि, मम, हृदये = चित्ते, निषण्णोऽपि = स्थितोऽपि, कथं नाम = किमर्थं, न अनुरज्यसे = न अनुरक्तो भवसि, नो लोहितवर्णो भवसि ? अनुष्टुब्वृत्तम् ।

अत्र रागपूर्णहृदये स्थितिरूपे हेतौ सत्यपि तद्रागाऽग्रहणादतद्गुणाऽलङ्कारः ।

प्राकरणिकेनाऽप्राकरणिकगुणाऽग्रहणेऽतद्गुणमुदाहरति—**गाङ्गमिति** । तापसकुट्यां विलासिभवने च भिक्षाटनं कुर्वन्तं कंचिद्भिक्षुं प्रति कस्यचिदुक्तिरियम् । हे राजहंस = हे मराल । गाङ्गं = गङ्गासम्बन्धि, अम्बु = जलं, सितं = शुक्लवर्णम्, यामुनं = यमुनासम्बन्धि, अम्बु, कज्जलाभं = कज्जलकान्ति, कृष्णवर्णमिति भावः । उभयत्र = शुभ्रवर्णे गङ्गाजले, कृष्णवर्णे यमुनाजले च उभयोरपि जलयोः मज्जतः=अवगाहनं कुर्वतः, तव सैव = पूर्वस्थितैव शुभ्रता = शुक्लता, न चीयते = गङ्गाजलमज्जनान्न वर्द्धते, न च अपचीयते = यमुनाजलमज्जनान्न च ह्रासमेति । चित्रमिदमिति भावः । अत्र मज्जनरूपे हेतौ सत्यपि, गङ्गाजलशुक्लताया यमुनाजलकृष्णतायाश्चाऽग्रहणादतद्गुणोऽलङ्कारः ।

जैसे—**हन्तेति** । हाय ! हे गुणोंसे शुक्लवर्णवाले ! गाढ प्रणयसे परिपूर्ण मेरे हृदयमें स्थित होकर भी क्यों अनुरक्त नहीं होते हो ?

यहाँ रागपूर्ण हृदयमें स्थितिरूप हेतु होनेपर भी उसके रागका ग्रहण न होनेसे अतद्गुण अलङ्कार है । दूसरा उदाहरण जैसे—**गाङ्गमिति** । गङ्गाजीका जल सफेद है और यमुनाजीका जल काला है । हे राजहंस ! इन दोनोंमें डूबनेपर भी तुम्हारी वही शुक्लता है जो न बढ़ती है न तो घटती है ।

इसमें मज्जनरूप कारणके होनेपर भी गङ्गाकी शुक्लता और यमुनाकी कृष्णताका ग्रहण न होनेसे अतद्गुण अलङ्कार है ।

पूर्वत्रातिरक्तहृदयसंपर्कात् प्राप्तवदपि गुणगौरशब्दवाच्यस्य नायकस्य रक्तत्वं न निष्पन्नम्, उत्तरत्राप्रस्तुतप्रशंसायां विद्यमानायामपि गङ्गायमुनापेक्षया प्रकृतस्य हंसस्य गङ्गायमुनयोः संपर्केऽपि न तद्रूपता। अत्र च गुणाग्रहणरूपविच्छित्तिविशेषाश्रयाद्विशेषोक्तेर्भेदः, वर्णान्तरोत्पत्त्यभावाच्च विषमात्।

संलक्षितस्तु सूक्ष्मोऽर्थ आकारेणेङ्गितेन वा।
कयापि सूच्यते भङ्ग्या यत्र सूक्ष्मं तदुच्यते॥ ९१॥

सूक्ष्मः स्थूलमतिभिरसंलक्ष्यः।

उदाहरणद्वये क्रमात्तत्तल्लक्षणं संगमयति—**पूर्वत्रेति**। पूर्वस्मिन्नुदाहरणे "हन्त सान्द्रेण"त्यादौ। न निष्पन्नम्=न सम्पन्नम्, उत्तरत्र=परवर्तिनि "गाङ्गमम्बु" इत्यादौ। प्रकृतस्य=प्राकरणिकस्य। न तद्रूपता=न श्वेतरूपता न कृष्णरूपता वा।

विशेषोक्तिं व्यावर्तयति—**अत्रेति**। अस्मिन्नतद्गुणे, गुणाऽग्रहणेत्यादि० = गुणाऽग्रहणरूपो यो विच्छित्तिविशेषः (वैचित्र्यविशेषः) तस्याश्रयात् (अवलम्बनात्), विषमं व्यावर्तयति—वर्णान्तरेत्यादि:० = वर्णान्तरस्य (रक्तविपरीतगुणान्तरस्य) उत्पत्त्यभावाच्च, विषमात् = तदाख्यालङ्कारात्, भेदः = विषमाऽलङ्कारे कारणविरोधिगुणान्तरोत्पत्तिरिति भेद इति भावः।

सूक्ष्ममलङ्कारं लक्षयति—**संलक्षित इति**। यत्र, आकारेण = चित्राद्याकृत्या, इङ्गितेन = अङ्गक्रियया, संलक्षितः = सम्यगवगतः, सूक्ष्मः = तीक्ष्णबुद्धिवेद्यः, अर्थः = विषयः, कयाऽपि, भङ्ग्या = विदग्धचेष्टया, सूच्यते = ज्ञाप्यते, तत् सूक्ष्म= तन्नामकोऽलङ्कारः, उच्यते॥ ९१॥

विवृणोति—**सूक्ष्म इति**। असंलक्ष्यः = असंवेद्यः।

पूर्वत्रेति। पहले "हन्त" इत्यादि पद्यमें अत्यन्त अनुरक्त हृदयके सम्पर्कसे गुणगौर शब्दसे वाच्य नायकका रक्तत्व नहीं हुआ। दूसरे "गाङ्गमम्बु" इत्यादि पद्यमें अप्रस्तुतप्रशंसाके होनेपर भी गङ्गा और यमुनाकी अपेक्षासे प्रकृत हंसका दोनों नदियोंसे सम्पर्क होनेपर भी उनका-सा वर्ण नहीं हुआ है। अतद्गुणमें गुणका अग्रहणरूप वैचित्र्य विशेषका आश्रय होनेसे विशेषोक्ति से भेद है। दूसरे वर्णकी उत्पत्ति न होनेसे विषमसे भेद है।

संलक्षित इति। जहाँ चित्र आदिके आकारसे वा इङ्गित (अङ्गक्रिया)-से सूचित विषय किसी भङ्गि (विदग्ध चेष्टा)से सूचित किया जाता है उसे "सूक्ष्म" अलङ्कार कहते हैं।

स्थूल बुद्धिवाले जनोंसे अज्ञेय विषय "सूक्ष्म" कहा जाता है।

अत्राकारेण यथा—

'वक्त्रस्यन्दिस्वेदबिन्दुप्रबन्धैर्दृष्ट्वा भिन्नं कुङ्कुमं कापि कण्ठे ।
पुंस्त्वं तन्व्या व्यञ्जयन्ती वयस्या स्मित्वा पाणौ खड्गलेखां लिलेख ॥'

अत्र कयाचित्कुङ्कुमभेदेन संलक्षितं कस्याश्चित्पुरुषायितं पाणौ पुरुषचिह्न-खड्गलेखालिखनेन

इङ्गितेन यथा—

'सङ्केतकालमनसं विटं ज्ञात्वा विदग्धया ।
हसन्नेत्रार्पिताकूतं लीलापद्मं निमीलितम् ॥

आकारमूलं सूक्ष्ममुदाहरति—**वक्त्रेति** । काऽपि=अज्ञातनामधेया, वयस्या= सखी, तन्व्याः = कृशाङ्ग्याः, वक्त्रेत्यादिः० = वक्त्रात् (मुखात्) स्यन्दिनः (प्रस्रविणः) ये स्वेदबिन्दुप्रबन्धाः (घर्मजलपृषतसन्तानाः) तैः, कण्ठे = गले, कुङ्कुमं = केशरलेपं, भिन्नं = विभक्तं, दृष्ट्वा = अवलोक्य, विपरीतरतिमनु-मायेति भावः । स्मित्वा=मन्दहास्यं कृत्वा, तन्व्याः पुंस्त्वं = पुंभावं, व्यञ्जयन्ती= ज्ञापयन्ती सती, पाणौ = तस्या स्तन्व्याः हस्ते, खड्गलेखा = कृपाणस्य रेखाचित्रं, लिलेख = चित्रितवती । शालिनी वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अस्मिन्पद्ये, कयाचित् = वयस्यया, कुङ्कुमभेदेन = कुङ्कुमरूपाकारेण, पुरुषायितं = पुरुषवदाचरितं, विपरीतरत्येति शेषः । पुरुषे-त्यादिः० = पुरुषचिह्नरूपा या खड्गलेखा (कृपाणचित्रम्) तस्या लेखनेन (लाक्षा-रसादिमिश्रित्रणेन) सूचितम् ।

इङ्गितमूलं सूक्ष्ममुदाहरति—**सङ्केतकालमनसमिति** । (७८ पृष्ठे) व्याख्यातपूर्वं पद्यमिदम् ।

आकारसे उदाहरण जैसे—"**वक्त्रेत्यादिः**" । मुखसे चूनेवाले पसीनेकी बूंदोंसे गलेमे केशरलेपको विभक्त देखकर किसी सखीने मुसकुराकर अपनी सखीके पुरुषभावको प्रकाशित कर उसके हाथमें तलवारके रेखाचित्रको लिख दिया ।

अत्रेति । यहाँ किसी स्त्रीने कुङ्कुमके विभागसे जाने गये सखीके पुरुषके समान आचरण (विपरीतरति)को हाथमे पुरुषका चिह्न खड्गकी रेखा लिखकर सूचित किया । इङ्गितसे जैसे—

सङ्केत्यादिः० । चतुर नायिकाने बिटको संकेत जाननेमें इच्छुक समझ-कर विकसित नेत्रोंसे अभिप्राय सूचित कर लीलाकमलको सङ्कुचित कर दिया । यह पद्य पहले आ चुका है ।

अत्र विटस्य भ्रूविक्षेपादिना लक्षितः सङ्केतकालाभिप्रायो रजनीकाल-भाविना पद्मनिमीलनेन प्रकाशितः ।

व्याजोक्तिर्गोपनं व्याजादुद्भिन्नस्यापि वस्तुनः ।

यथा—

'शैलेन्द्रप्रतिपाद्यमानगिरिजाहस्तोपगूढोल्लस-
द्रोमाञ्चादिविसंष्ठुलाखिलविधिव्यासङ्गभङ्गाकुलः ।
आः शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोरित्यूचिवान् सस्मितं
शैलान्तःपुरमातृमण्डलगणैर्दृष्टोऽवताद्वः शिवः ॥'

विवृणोति—अत्रेति । अस्मिन्पद्ये । विटस्य = उपपतेः, भ्रूक्षेपादिना = अक्षिलोमप्रेरणादिना, इङ्गितेनेति भावः । सङ्केतकालाऽभिप्रायः = सङ्केतसमय-जिज्ञासा । पद्मनिमीलनेन = कमलमुद्रणेन । प्रकाशितः = विटाय द्योतितः ।

व्याजोक्तिमलङ्कारं लक्षयति—व्याजोक्तिरिति । उद्भिन्नस्य=कार्याद्यक्तीभूतस्य, अपि, वस्तुनः = पदार्थस्य, व्याजात् = छलात्, गोपनम् = अप्रकाशनं, व्याजोक्तिः = तन्नामाऽलङ्कारः ।

व्याजोक्तिमुदाहरति—शैलेन्द्रेति । शैलेन्द्रेत्यादिः० = शैलेन्द्रेण (पर्वत-राजेन) प्रतिपाद्यमाना (दीयमाना) या गिरिजा (पार्वती), तस्या हस्तस्य (पाणेः) उपगूहेन (सम्पर्केण) उल्लसन्तः (प्रकाशमानाः) ये रोमाञ्चादयः (पुलककम्पप्रभृतयः, कामावेशादिति शेषः) तैः विसंष्ठुलः (विक्षुब्धः) यः अखिलः (सकलः) विधिव्यासङ्गः (विवाहविधानसम्बन्धः) तस्य भङ्गेन (भङ्गभीत्या) आकुलः (व्याकुलः), सन् आः = पीडाद्योतकमव्ययम् । तुहिनाऽ-चलस्य = हिमालयस्य, करयोः = हस्तयोः, शैत्यं = शीतलत्वम्, इति, ऊचिवान् = उक्तवान्, तथा शैलाऽन्तःपुरेत्यादिः० = शैलस्य (हिमालयपर्वतस्य) अन्तःपुरे (शुद्धान्ते) ये मातृमण्डलगणाः = ब्राह्म्यादिमातृमण्डलसमूहाः), तैः सस्मितं =

अत्रेति । यहाँ विटके भ्रूविक्षेप आदिसे जाना गया सङ्केतकालका अभिप्राय रातमें होनेवाले कमलके निमीलनसे प्रकाशित है ।

व्याजोक्तिरिति । कार्यसे जानी गई वस्तुको भी किसी बहानेसे छिपानेको "व्याजोक्ति" अलङ्कार कहते हैं ॥ ९२ ॥

जैसे—शैलेन्द्रेत्यादिः० । हिमालय पर्वतसे दी जानेवाली पार्वतीके हाथके सम्पर्कसे प्रकाशित होनेवाले रोमाञ्च आदिसे विक्षुब्ध समस्त विवाहविधिके सम्बन्धके भङ्गसे आकुल होकर "ओः ! हिमालय पर्वतके हाथोंकी शीतलता !" ऐसा कहते हुए हिमालय पर्वतके अन्तःपुरमें मातृमण्डल समूहोंसे मन्दहास्यपूर्वक देखे गये महादेव तुम लोगोंकी रक्षा करें ।

नेयं प्रथमापह्नुतिः, अपह्नवकारिणो विषयस्यानभिधानात्। द्वितीयापह्नुतेर्भेदश्च तत्प्रस्तावे दर्शितः।

स्वभावोक्तिदुरूहार्थस्वक्रियारूपवर्णनम् ॥ ९२ ॥

दुरूहयोः = कविमात्रवेद्ययोः, अर्थस्य = डिम्भादेः स्वयोस्तदेकाश्रययोश्चेष्टास्वरूपयोः।

मन्दहास्यपूर्वकं, दृष्टः = अवलोकितः, शिवः = शङ्करः, वः = युष्मान्, अवतात् = रक्षतात्। शार्दूलविक्रीडितं वृत्तम्।

अत्र रोमाञ्चादेरुद्भिन्नस्य कामावेशस्य "आः शैत्यं तुहिनाऽचलस्य करयोः" इत्युक्तेर्गोपनाद्व्याजोक्तिरलङ्कारः।

विवृणोति—नेयमिति। अस्मिन्नुदाहरणे, न प्रथमाऽपह्नुतिः = "प्रकृतं प्रतिषिध्याऽन्यस्यापनं स्यादपह्नुतिः" इति निरुक्तलक्षणाऽपह्नुतिर्नेति भावः। यतः—अपह्नुवकारिणः = प्रकृतकामावेशगोपनकारकस्य, शिवस्य कर्तुः, विषयस्य= प्रकृतकारणस्य, अनभिधानात्=अकथनात्। यद्येवं तर्हि द्वितीयाऽपह्नुतिः स्यादित्याशङ्कायामाह—द्वितीयाऽपह्नुतेः="गोपनीयं कमप्यर्थम्" इत्युक्तलक्षणाया अपह्नुतेः, भेदश्च = प्रकारश्च, तत्प्रस्तावे = द्वितीयापह्नुतिप्रकरणे, दर्शितः। तत्र गोपनकृता गोपनीयं प्रथममभिधीयते, अत्र तु शिवेन प्रथममनभिधानादिति भावः।

स्वभावोक्तिं लक्षयति—स्वभावोक्तिरिति। दुरूहार्थेत्यादिः० = दुरूहयोः (दुर्ज्ञेययोः, कविमात्रवेद्ययोरिति भावः) अर्थस्य (पदार्थस्य, डिम्भादेरिति भावः) स्वयोः (आत्मीययोः) क्रियारूपयोः (चेष्टास्वरूपयोः) वर्णनम् (प्रतिपादनम्) स्वभावोक्तिः = तन्नामाऽलङ्कारः॥ ९२॥

विवृणोति—दुरूहयोरिति। डिम्भादेः = शिश्वादेः, आदिपदेन पशुपक्ष्यादिपरिग्रहः। "पोतः पाकोऽर्भको डिम्भः पृथुकः शावकः शिशुः।" इत्यमरः।

यहाँ रोमाञ्च आदिसे प्रकट हुए कामावेशको "आः शैत्यं तुहिनाचलस्य करयोः" अर्थात् ओः हिमालय पर्वतके हाथोंकी शीतलता! ऐसा कहकर छिपानेसे "व्याजोक्ति" अलङ्कार हुआ है।

नेयमिति। यह पहली अपह्नुति नहीं है प्रस्तुत कामावेशको छिपानेवाले शिवजीने विषय (उपमेय)का कथन नहीं किया है। दूसरी अपह्नुतिका भेद उसके वर्णनके अवसरमें दिखा चुके हैं।

स्वभावोक्तिरिति। बालक आदि वस्तुके दुर्ज्ञेय उनके चेष्टा और स्वरूपके वर्णनको "स्वभावोक्ति" कहते हैं।

यथा मम—

'लाङ्गूलेनाभिहत्य क्षितितलमसकृद्दारयन्नग्रपद्भ्या-
मात्मन्येवावलीय द्रुतमथ गगनं प्रोत्पतन् विक्रमेण ।
स्फूर्जद्धुङ्कारघोषः प्रतिदिशमखिलान् द्रावयन्नेव जन्तून्
कोपाविष्टः प्रविष्टः प्रतिवनमरुणोच्छूनचक्षुस्तरक्षुः ॥'

अद्भुतस्य पदार्थस्य भूतस्याथ भविष्यतः ।
यत्प्रत्यक्षायमाणत्वं तद्भाविकमुदाहृतम् ॥ ९३ ॥

स्वभावोक्तिमुदाहरति—**लाङ्गूलेनेति**। विश्वनाथकविराजस्य कोपाविष्टव्याघ्रक्रियारूपवर्णनपरं पद्यमिदम्। कोपाविष्टः = क्रोधावेशयुक्तः, अत एव—अरुणोच्छूनचक्षुः = अरुणे (रक्तवर्णे) उच्छूने (स्फीते) चक्षुषी (नेत्रे) यस्य सः। तादृशः तरक्षुः = व्याघ्रविशेषः, "तरक्षुस्तु मृगादन" इत्यमरः। लाङ्गूलेन = पुच्छेन, क्षितितलं = भूतलम्, असकृत् = वारं वारम्। दारयन्=विलिखन्, आत्मनि एव = स्वदेह एव, अवलीय = अवलीनो भूत्वा, सङ्कुचिताङ्गो भूत्वेति भावः। अथ = अनन्तरं, विक्रमेण = पादविक्षेपेण, द्रुतं = शीघ्रं, गगनम् = ऊर्ध्वप्रदेशं, प्रोत्पतन् = उद्गच्छन्, स्फूर्जद्धुङ्कारघोषः = स्फूर्जन् (वर्धमानः) हुङ्कारघोषः (हुङ्करणध्वनिः) यस्य सः। तादृशः सन्, प्रतिदिशं = समस्तासु दिक्षु, जन्तून् = सारमेयादिप्राणिनः, द्रावयन् = पलायनाय प्रेरयन्, प्रतिवनं = वनं प्रति, प्रविष्टः = प्राविशत्। स्रग्धरा वृत्तम्।

अत्र कुपितस्य तरक्षोः क्रियारूपयोर्वर्णनात्स्वभावोक्तिरलङ्कारः।

भाविकमलङ्कारं लक्षयति—**अद्भुतस्येति**। अद्भुतस्य = आश्चर्यमयस्य, भूतस्य = अतीतस्य, अथ = अथ वा, भविष्यतः = भाविनः, पदार्थस्य = वस्तुनः, यत्, प्रत्यक्षायमाणत्वं = वर्णनवशात्प्रत्यक्षवद्भासमानत्वं, तत् भाविकं = तन्नामाऽलङ्कारः, उदाहृतम् = उक्तम् ॥ ९३ ॥

जैसे ग्रन्थकारका—**लाङ्गूलेनेति**। क्रोधसे पूर्ण, लाल लाल उभरे नेत्रोंवाला चीता पूछसे भूतलको वारं वार विदारण करता हुआ सङ्कुचित अङ्गोंवाला होकर पीछे पादविक्षेपसे शीघ्र ऊँची जमीनमें जाकर बढ़े हुए हुङ्कारघोषसे युक्त होकर सब दिशाओंमें जन्तुओंको खदेड़ता हुआ जङ्गलमें घुस गया।

यहाँ कुपित चीतेके क्रिया और रूपका वर्णन करनेसे "स्वभावोक्ति" अलङ्कार हुआ है।

अद्भुतस्येति। बीते वा होनेवाले अद्भुत पदार्थका प्रत्यक्षके समान वर्णन करनेको "भाविक" अलङ्कार कहते हैं।

यथा—

'मुनिर्जयति योगीन्द्रो महात्मा कुम्भसम्भवः।
येनैकचुलुके दृष्टौ दिव्यौ तौ मत्स्यकच्छपौ ॥'

यथा वा—

'आसीदञ्जनमत्रेति पश्यामि तव लोचने।
भाविभूषणसम्भारां साक्षात्कुर्वे तवाकृतिम् ॥'

भूतस्याद्भुतपदार्थस्य प्रत्यक्षमाणत्वे भाविकमुदाहरति—**मुनिरिति**। ध्वनिकारेण निर्दिष्टं पद्यमिदम्। योगीन्द्रः = योगिनाम् (योगाऽभ्यासिनां, यमनियमाद्यभ्यासशालिनामिति भावः) इन्द्रः (श्रेष्ठः), महात्मा = महानुभावः, कुम्भसंभवः= कलशोद्भवः, मुनिः = ऋषिः, अगस्त्य इति भावः। जयति = सर्वोत्कर्षेण वर्तते।

तत्र हेतुमाह—**येनेति**। येन = मुनिना, एकचुलुके = एकप्रसृतौ, दिव्यौ = अलौकिकौ, स्वर्ग्याविति भावः। तौ=श्रुतिस्मृतिपुराणप्रसिद्धौ, मत्स्यकच्छपौ = मत्स्यकच्छपाऽवतारधारिणौ नारायणौ, दृष्टौ = अवलोकितौ, सागरपानसमय इति शेषः। अनुष्टुब्वृत्तम्।

अत्र चुलुकीकृतसागरे दृश्यमानदिव्यमत्स्यकच्छपरूपयोरद्भुतपदार्थयोर्वर्णनविशेषात्प्रत्यक्षवद्भासमानत्वाद्भाविकाऽलङ्कारः।

भूतभाविनोः प्रत्यक्षायमाणत्वे भाविकमुदाहरति—**आसीदिति**। काञ्चित्कन्यां दृष्ट्वा कस्यचिद्रसिकस्योक्तिरियम्। हे कन्ये !, अत्र = अनयोः, अञ्जनं=कज्जलम्, आसीत् = अभवत्, इति = एवं विमृश्य, तव = भवत्याः, लोचने=नयने, पश्यामि= विलोकयामि। तथा भाविभूषणसंभारां = भावी (भविष्यन्) भूषणसंभारः (अञ्जनाद्यलङ्कारसमूहः) यस्यां, तां, तादृशीं, तव = भवत्याः, आकृतिम् = आकारं, साक्षात्कुर्वे = प्रत्यक्षीकरोमि। अनुष्टुब्वृत्तम्।

अत्र पूर्वार्द्धे भूतस्याऽप्यञ्जनस्य "पश्यामी"ति, उत्तरार्द्धे च भाविनोऽपि

जैसे—**मुनिरिति**। योगीन्द्र महात्मा अगस्त्य मुनि उत्कर्षके साथ रहते हैं। जिन्होंने एक अञ्जलिमें दिव्य प्रसिद्ध मत्स्य (मत्स्यावतार) और कच्छप (कच्छपाऽवतार)का साक्षात्कार कर लिया।

यहाँ चुल्लू किये गये समुद्रमें देखे गये दिव्य मत्स्य और कच्छप इन दो अद्भुत पदार्थोंके वर्णनविशेषसे प्रत्यक्षके समान प्रतीत होनेसे भाविक अलङ्कार है।

अथ वा—**आसीदिति**। हे कन्ये ! तुम्हारे इन नेत्रोंमें कज्जल था ऐसा विचार कर तुम्हारे नेत्रोंको देखता हूँ, पीछे होनेवाले अलङ्कारसमूहसे युक्त वैसी तुम्हारी आकृतिका प्रत्यक्ष कर रहा हूँ।

यहां पूर्वार्द्धमें लगाये गये कज्जलका "पश्यामि" कहकर और उत्तरार्द्धमें

न चायं प्रसादाख्यो गुणः, भूतभाविनोः प्रत्यक्षायमाणत्वे तस्याहेतुत्वात्। न चाद्भुतो रसः, विस्मयं प्रत्यस्य हेतुत्वात्। न चातिशयोक्तिरलङ्कारः, अध्यवसायाभावात्। न च भ्रान्तिमान्, भूतभाविनोर्भूतभावितयैव प्रकाशनात्।

न च स्वभावोक्तिः, तस्य लौकिकवस्तुगतसूक्ष्मधर्मस्वभावस्यैव यथावद्वर्णनं स्वरूपम्; अस्य तु वस्तुनः प्रत्यक्षायमाणत्वरूपो विच्छित्तिविशेषोऽस्तीति।

भूषणसम्भारस्य "साक्षात्कुर्वे" इति वर्तमानकालनिर्देशेन प्रत्यक्षायमाणत्वाद्भाविकम्।

अस्य प्रसादात्मकत्वं निषेधति—**न चाऽयमिति**। प्रसन्नार्थपदप्रयोगात् अयं, प्रसादाख्यः = प्रसादनामकः, गुणः = रसधर्मः, न।

अत्र हेतुं प्रदर्शयति—**भूतभाविनोरिति**। भूतभाविनोः = अतीतभविष्यतोः, प्रत्यक्षायमाणत्वे = प्रत्यक्षवद्भासमानत्वे, तस्य = प्रसादगुणस्य, अहेतुत्वात् = अकारणत्वात्।

अस्याऽद्भुतात्मकत्वं प्रतिषेधति—अद्भुतो रसो नेति, अत्र हेतुमाह—**विस्मयं प्रतीति**। अस्य = अद्भुतरसस्य, विस्मयं प्रति = आश्चर्यं प्रति, हेतुत्वात्= कारणत्वात्, श्रोतॄणां विस्मयजननादिति भावः। भाविके तु विस्मयजनकत्वाऽभावः।

अस्याऽतिशयोक्त्यात्मकत्वं निवारयति—**न चेति**। अतिशयोक्तिरलङ्कारः, न, अध्यवसायाऽभावात्=अध्यवसायस्य (अभेदज्ञानस्य) अभावात् (असत्त्वात्)।

अस्य भ्रान्तिमदात्मकत्वं प्रतिषेधति—**न चेति**। भ्रान्तिमान्, न। भूतभाविनोः = पदार्थयोः, भूतभावितयैव = अतीतभविष्यत्त्वेनैव प्रकाशनात्। भ्रान्तिमदलङ्कारे अतस्मिंस्तद्बुद्धिरत्र तु न तथेति भावः।

अस्य स्वभावोक्त्यात्मकत्वं निषेधति—**न चेति**। स्वभावोक्तिश्च न।

अत्र हेतुं प्रस्तौति—**तस्येति**। तस्य = स्वभावोक्त्यलङ्कारस्य, लौकिकेत्यादिः०=लौकिकवस्तुगतः (लोकभवपदार्थप्राप्तः) यः सूक्ष्मः (तीक्ष्णबुद्धिमात्रवेद्यः) धर्मरूपः स्वभावः, (स्वरूपम्) तस्यैव। यथावद्वर्णनं = यथार्थप्रतिपादनं, स्वरूपम्= अवस्था। अस्य = भाविकालङ्कारस्य, त्विति इतरव्यावर्तकम्। वस्तुनः=अद्भुतस्य

पीछे होने वाले भूषणसमूहका "साक्षात्कुर्वे" प्रत्यक्ष कर रहा हूं, कहकर वर्तमान कालके निर्देशसे प्रत्यक्षके समान आचरण करनेसे भाविक अलङ्कार हुआ है।

न चेति। यह प्रसाद गुण नहीं है, क्योंकि भूत और भावी पदार्थका प्रत्यक्षके समान भासमान होनेमें वह हेतु नहीं है। यह अद्भुत रस भी नहीं है, क्योंकि विस्मय (आश्चर्य) के प्रति यह हेतु नहीं है। यह अतिशयोक्ति अलङ्कार भी नहीं है, क्योंकि इसमें अध्यवसाय नहीं है। यह भ्रान्तिमान् अलङ्कार भी नहीं है, क्योंकि भूत और भविष्यत्कालके पदार्थोंका उसी कालके अनुसार वहां प्रका-

यदि पुनर्वस्तुनः क्वचित्स्वभावोक्तावप्यस्या विच्छित्तेः सम्भवस्तदोभयोः सङ्करः।

'अनातपत्त्रोऽप्ययमत्र लक्ष्यते सितातपत्त्रैरिव सर्वतो वृतः।
अचामरोऽप्येष सदैव वीज्यते विलासबालव्यजनेन कोऽप्ययम्॥'

अत्र प्रत्यक्षायमाणस्यैव वर्णनान्नायमलङ्कारः, वर्णनावशेन प्रत्यक्षायमाणत्वस्याऽस्य स्वरूपत्वात्।

भूतस्य भविष्येतो वा पदार्थस्य, प्रत्यक्षायमाणत्वरूपः = प्रत्यक्षवद्भासमानत्वस्वरूपः, विच्छित्तिविशेषः = वैचित्र्यविशेषः।

क्वचिद्भाविके स्वभावोक्तिमाशङ्क्य विविनक्ति-**यदि पुनरिति**। यदि पुनः; क्वचित् = कुत्रचित्, स्वभावोक्तौ = अलङ्कारे, अपि, अस्याः=एतस्याः, विच्छित्तेः= वैचित्र्यस्य, सम्भवः=सद्भावः, तदा=तर्हि, उभयोः=स्वभावोक्ति–भाविकाऽलङ्कारयोः, सङ्करः = अङ्गाऽङ्गिभावेन सङ्कराऽलङ्कार इति भावः।

भाविकालङ्कारस्य सद्भावं प्रतिषेधति—**अनातपत्रोऽपीति**। कस्यचिद्राज्ञो वर्णनमिदम्। अत्र अयं=कोऽपि नरेशः, अनातपत्रोऽपि=राजच्छत्ररहितोऽपि, सर्वतः = समन्तात्, सितातपत्रैः = श्वेतच्छत्रैः, वृतः = वेष्टितः, इव, लक्ष्यते = दृश्यते। एषः = अयं नरेशः। अचामरोऽपि = प्रकीर्णकरहितोऽपि, सदैव = सर्वदैव, विलासबालव्यजनेन = = लीलासितचामरेण, वीज्यत इव=वीज्यमान इव लक्ष्यते। वंशस्थं वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अस्मिन्पद्ये, प्रत्यक्षायमाणस्यैव = प्रत्यक्षवद्भासमानस्यैव, सितातपत्रवृतत्वस्य, विलासबालव्यजनेन व्यज्यमानत्वस्य चोत्प्रेक्षया प्रत्यक्षवदाचरत एव, वर्णनान्नाऽयं = भाविकनामा अलङ्कारः।

शन होता है। यह स्वभावोक्ति भी नहीं है, क्योंकि उसमें लौकिक पदार्थमें स्थित सूक्ष्म धर्मके स्वभावका ही यथार्थ वर्णन स्वरूप होता है। भाविक अलङ्कारमें तो वस्तुके प्रत्यक्षके समान भासमानत्व स्वरूप वैचित्र्यविशेष है। कहीं स्वभावोक्तिमें भाविककी वस्तुके वैचित्र्य (चमत्कार) का सद्भाव हो तो दोनों स्वभावोक्ति और भाविकका सङ्कर होता है।

अनातपत्र इति। यहाँ छत्रधारण न करनेपर भी यह चारों ओर सफेद छत्रोंसे घिरा-सा मालूम होता है। चामरके बिना भी यह कोई पुरुष विलासचामरोंसे सदा ही झला जाता-सा प्रतीत होता है।

अत्रेति। इस पद्यमें प्रत्यक्षके समान भासमान सफेद छत्रसे आवरण और विलास चामरसे बीजनके उत्प्रेक्षासे होनेसे यह अलङ्कार (भाविक) नहीं है। वर्णनवश पदार्थका प्रत्यक्षवत् भासमान होनेपर भाविक अलङ्कार होता है।

यत्पुनरप्रत्यक्षायमाणस्यापि वर्णने प्रत्यक्षायमाणत्वं तत्रायमलङ्कारो भवितुं युक्तः, यथोदाहृते 'आसीदञ्जनम्'—इत्यादौ ।

लोकातिशयसम्पत्तिवर्णनोदात्तमुच्यते ।
यद्वापि प्रस्तुतस्याङ्गं महतां चरितं भवेत् ॥

क्रमेणोदाहरणम्—

'अधःकृताम्भोधरमण्डलानां यस्यां शशाङ्कोपलकुट्टिमानाम् ।
ज्योत्स्नानिपातात्क्षरतां पयोभिः केलीवनं वृद्धिमुरीकरोति ॥'

उदात्ताऽलङ्कारं लक्षयति—**लोकाऽतिशयेति**। लोकान् (भुवनानि) अतिशेते (अतिक्रामति) इति लोकाऽतिशया (लोकाऽतिक्रान्ता) या सम्पत्तिः (धनादिसमृद्धिः), तस्याः वर्णना (वर्णनं, प्रतिपादनमिति भावः), उदात्तम् = उदात्तनामाऽलङ्कारः, उच्यते। यद्वा, अथ वा, महतां = महत्त्वशालिनां, बहुवचनमविवक्षितम्, चरितं = चरित्रवर्णनं, प्रस्तुतस्य = प्रकृतस्य वर्णनीयस्य, अङ्गम् = उपकारकं, भवेत् = स्यात्, तदपि उदात्तं = तन्नामाऽलङ्कारः, एतेन उदात्ताऽलङ्कारस्य भेदद्वयं प्रतिपाद्यते ॥ ९४ ॥

तत्र प्रथममुदात्ताऽलङ्कारमुदाहरति—**अधःकृतेति**। कस्याश्चित्पुर्या वर्णनमिदम्। यस्यां, पुरि, केलीवनं = क्रीडाकाननम्, अधःकृताऽम्भोधरमण्डलानाम् = अधःकृतम् (नीचैर्विहितम्) अम्भोधरमण्डलं (मेघसमूहः) यैस्तेषां, ज्योत्स्नानिपातात् = चन्द्रिकातिपतनात्, क्षरतां = स्रवतां, शशाङ्कोपलकुट्टिमानां=शशाङ्कोपलानां, (चन्द्रकान्तमणीनाम्) कुट्टिमानां (निबद्धभुवाम्), पयोभिः = जलैः, वृद्धिं = समृद्धिम, उरीकरोति = अङ्गीकरोति। चन्द्रकिरणसंपर्केण चन्द्रकान्तमणिर्जलं स्रवतीति लोकप्रसिद्धिमनुसृत्योक्तिरियम्। उपजातिवृत्तम्।

अत्र चन्द्रकान्तमणिकुट्टिमवत्या नगर्याः लोकाऽतिशायिसम्पत्तिवर्णनादुदात्ताऽलङ्कारः।

जो प्रत्यक्षके समान अप्रतीत पदार्थ भी वर्णनमें प्रत्यक्षवत् भासमान होता है वहीं यह अलङ्कार (भाविक) होना उचित है। जैसे—आसीदञ्जनम्" इत्यादि

लोकेत्यादि० = लोकोत्तर धन आदिकी समृद्धिके वर्णनको उदात्त कहते हैं अथवा जहां महापुरुषोंका चरित्र प्रस्तुतका अङ्ग होता है वहां भी उदात्त अलङ्कार होता है ॥ ९४ ॥ क्रमसे उदाहरण—**अध इति**। जिस पुरीमें जिनके नीचे मेघ मण्डल हैं, चन्द्रमाकी किरणोंके पड़नेसे पिघलती हुई चन्द्रकान्त मणियोंसे निर्मित कुट्टिमों (फर्शों) के जलसे क्रीडावन बढ़ता रहता है।

यहां चन्द्रकान्त मणिसे निर्मित कुट्टियोंसे युक्त पुरीकी लोकोत्तर सम्पत्तिके वर्णनसे उदात्त अलङ्कार हुआ है।

'नाभिप्रभिन्नाम्बुरुहासनेन संस्तूयमानः प्रथमेन धात्रा ।
अमुं युगान्तोचितयोगनिद्रः संहृत्य लोकान् पुरुषोऽधिशेते॥'

रसभावौ, तदाभासौ, भावस्य प्रशमस्तथा ।
गुणीभूतत्वमायान्ति यदाऽलङ्कृतयस्तदा ॥ ९५ ॥
रसवत्प्रेय ऊर्जस्वि समाहितमिति क्रमात् ।

द्वितीयमुदात्ताऽलङ्कारमुदाहरति—**नाभीति** । रघुवंशस्य त्रयोदशसर्गस्थं द्यमिदम् । रावणं निहत्य सपरिवारं पुष्पकविमानतोऽयोध्यां प्रति प्रस्थितः ीरामः सीतां प्रति पथि प्राप्तं समुद्रं वर्णयति । युगान्तोचितयोगनिद्रः = युगान्ते प्रलयसमये) उचिता (अभ्यस्ता) योगनिद्रा (समाधिस्वापः) येन सः । दृशः पुरुषः = नारायणः, लोकान् = समस्तभुवनानि, संहृत्य=स्वस्मिन् संनिवेश्य, ामीत्यादिः० = नाभेः (नाभिभागात्) प्रभिन्नम् (उत्पन्नम्) यत् अम्बुरुहं कमलम्) तत् आसनम् (उपवेशनस्थानम्) यस्य, तेन । प्रथमेन = आद्येन, ात्रा = प्रजापतिना, दक्षादीनामपि स्रष्ट्रा, ब्रह्मदेवेनेति भावः । संस्तूयमानः = ुतिविषयीक्रियमाणः सन्, लोकान् = भुवनानि, संहृत्य = संहारं कृत्वा, अमुं = मुद्रम्, "अधिशेते" इत्यत्र अधिपूर्वकशीङ्धातोर्योगे "अधिशीङ्स्थाऽऽसां कर्म" ति र्मसंज्ञया द्वितीया । अधिशेते = अमुष्मिन् अधिस्वपितीति भावः । समुद्रोऽयं प्रलय- मयेऽप्यस्तीति भावः । उपजातिवृत्तम् ॥ १३–६ ॥

अत्र प्रस्तुतस्य समुद्रवर्णनस्य अङ्गं महापुरुषस्य श्रीविष्णोश्चरित- तः द्वितीयोऽयमुदात्ताऽलङ्कारः ।

रसवदाद्यलङ्कारचतुष्टयं लक्षयति—**रसभावाविति** । रसभावौ = रसो ावश्च, तदाभासौ = तयोः (रसभावयोः) आभासौ (रसाभासभावाभासौ), था भावस्य प्रशमः=शान्तिः, पूर्वोक्ता एते, यदा=यस्मिन्काले, गुणीभूतत्वं=गौणत्वम्, ङ्गत्वमिति भावः । आयान्ति = प्राप्नुवन्ति, तदा=तस्मिन्काले, ॥ ९५ ॥ क्रमात् सवत्, प्रेयः, ऊर्जस्वि, समाहितं चैते चत्वारोऽलङ्कारा भवन्ति । अत्र तदाभासा-

---

नाभीत्यादिः०—नाभिसे उत्पन्न कमलपर बैठे हुए प्रथम प्रजापति= ब्रह्माजी) से स्तुति किये जाते हुए भगवान् विष्णु सब लोकोंका संहार कर सी समुद्रमें सोते हैं ।

यहाँ महापुरुष भगवान् विष्णुका चरित्र, प्रस्तुत समुद्रवर्णनका अङ्ग है, तः यह दूसरे उदात्त अलङ्कारका उदाहरण है ।

रसभावाविति । रस और भाव, रसाभास और भावाभास, उसी तरह ावका प्रशम जब किसी रसके अङ्गभावको प्राप्त करते हैं ॥ ९५ ॥ तब क्रमसे सवत्, प्रेयः, ऊर्जस्वि और समाहित अलङ्कार होते हैं ।

तदाभासौ=रसाभासो भावाभासश्च। तत्र रसयोगाद्रसवदलङ्कारो यथा—'अयं स रसनोत्कर्षी—'इत्यादि।

अत्र शृङ्गारः करुणस्याङ्गम्। एवमन्यत्रापि। प्रकृष्टप्रियत्वात्प्रेयः। यथा मम—

'आमीलितालसविवर्तिततारकाक्षीं
मत्कण्ठबन्धनदरश्लथबाहुवल्लीम्।
प्रस्वेदवारिकणिकाचितगण्डबिम्बां
संस्मृत्य तामनिशमेति न शान्तिमन्तः॥'

त्रित्यत्र रसाभासभावाऽभासाविति द्वित्वप्रसक्तौ सत्यामपि आभासत्वेन रूपेणैकत्वमतो न पञ्चविधत्वापत्तिः। एवं च रसस्येतराऽङ्गत्वे = इतररसस्य, भावस्य वाऽङ्गत्वे रसवत्, भावस्येतराऽङ्गत्वे प्रेयः, रसाभासभावाभासयोरितराङ्गत्वे ऊर्जस्वि, भावप्रशमस्येतराङ्गत्वे समाहितमलङ्कार इति भावः।

विवृणोति—तदाभासाविति।

रसवदलङ्कारमुदाहरति—तत्रेति। अलङ्कारचतुष्टयमध्ये रसयोगाद्रसवदलङ्कारः, यथा "अयं स रसनोत्कर्षी" (३४३ पृ०)। व्याख्यातपूर्वं पद्यम्। अत्र शृङ्गारः करुणस्याऽङ्गम्।

एवमिति—अन्यत्राऽपि = एकस्य रसस्य रसान्तराङ्गत्वे, भावाङ्गत्वेऽपि ऊहनीयम्। एवमेव—"एकं ध्याननिमीलनात्" (स० ७४ पृ०), इत्यादौ शान्तशृङ्गाररौद्ररसाः शिवविषयकरतिभावस्याऽङ्गानि।

भावस्येतराऽङ्गत्वे प्रेयोऽलङ्कारमुदाहर्तुं प्रक्रमते।

प्रेयःपदं निर्वक्ति—प्रकृष्टप्रियत्वात्प्रेयः। अतिशयेन प्रियं प्रेयः, प्रियशब्दादीयसुन्प्रत्ययः।

प्रेयोऽलङ्कारमुदाहरति—आमीलितेति। नायिकाया रत्युत्तराऽवस्थां स्मृत्वा नायकस्य सखायं प्रति उक्तिरियम्। आमीलितेत्यादिः० = आमीलिते (ईषत्सङ्कुचिते) अलसे (आलस्यपूर्णे, श्रमाऽनुभवादिति भावः) विवर्तिते (सञ्चालिते) तारके (कनीनिके) ययोस्ते तादृशे अक्षिणी (नेत्रे) यस्यास्ताम्। मत्कण्ठेत्यादिः० = मम (नायकस्य) कण्ठबन्धने (गलालिङ्गने) दरम् (ईषत्)

तत्रेति। एक रस किसी दूसरे रसका अङ्ग हो तो रसके योगसे रसवत् अलङ्कार होता है। जैसे—अयमिति। यह पद्य पहले आ चुका है। इस पद्यमें शृङ्गार करुणका अङ्ग है। इसी तरह अन्यत्र भी जानें।

एक भाव दूसरेका अङ्ग हो तो प्रेयः अलङ्कार होता है। अतिशय प्रिय होनेसे "प्रेयः" कहते हैं। जैसे—आमीलितेत्यादिः०—कुछ सङ्कुचित, आलस्यपूर्ण और सञ्चालित नेत्रोंकी पुतलियोंवाली, मेरे गलेमें आलिङ्गन करनेसे कुछ

अत्र संभोगशृङ्गारः स्मरणाख्यभावस्याङ्गम् , स च विप्रलम्भस्य। ऊर्जो बलम् , अनौचित्यप्रवृत्तौ तदत्रास्तीत्यूर्जस्वि।

यथा—

'वनेऽखिलकलासक्ताः परिहृत्य निजस्त्रियः।
त्वद्वैरिवनितावृन्दे पुलिन्दाः कुर्वते रतिम् ॥'

यथा स्यात्तथा श्लथा (शिथिला) बाहुवल्ली (भुजलता) यस्यास्ताम्। प्रस्वेदेत्यादि॰ = प्रस्वेदे (स्वेदोद्गमे) या वारिकणिकाः (जलबिन्दवः, रत्यायामवशादिति भावः) ताभिः आचिते (व्याप्ते) गण्डबिम्बे (कपोलफलके) यस्यास्ताम्। तादृशीं, तां = मदुपभुक्तां प्रियाम्, अनिशं = निरन्तरं, संस्मृत्य = संचित्य, अन्तः = ममाऽन्तःकरण, शान्ति = शमं, न एति = न प्राप्नोति। वसन्ततिलका वृत्तम्।

विवृणोति—अत्रेति। स च = स्मरणनामको भावश्च। विप्रलम्भस्य = प्रवासात्मकविप्रलम्भशृङ्गारस्य, अङ्गम्।

रसभावयोराभासे इतराङ्गत्वे ऊर्जस्व्यलङ्कारमुदाहर्तुमुपक्रमते। ऊर्जस्विपदं निर्वक्ति—ऊर्जः = बलम्। रसभावयोरनौचित्यप्रवृत्तौ, तत् (ऊर्जः) अत्राऽस्तीति ऊर्जस्वि, "स्यादूर्जः कार्त्तिके बले" इति हैमः। ऊर्जश्शब्दात् "अस्मायामेधास्रजो विनिः" इति विनिप्रत्ययः।

ऊर्जस्व्यलङ्कारमुदाहरति-वन इति। कस्यचित्कवेः कस्यचिद् राज्ञः प्रशंसोक्तिरियम्। हे राजन् !, पुलिन्दाः=म्लेच्छजातिविशेषाः, "भेदाः किरातशबरपुलिन्दा म्लेच्छजातयः।" इत्यमरः। वने=अरण्ये, अखिलकलाऽऽसक्ताः=अखिलाः (समस्ताः) याः कलाः (नृत्यगीतादिकाः) तासु आसक्ताः (प्रसक्ताः), निजस्त्रियः = स्वभार्याः, परिहृत्य = वर्जयित्वा, त्वद्वैरिवनितावृन्दे=त्वद्वैरिणां (भवच्छत्रूणाम्) वनितावृन्दे (स्त्रीसमूहे), रतिं=रमणक्रियाम्। कुर्वते=विदधति। अनुष्टुब्वृत्तम्।

शिथिल बाहुलताओंसे युक्त, पसीनेकी बूँदोंसे व्याप्त कपोलोंवाली ऐसी उस (मेरी प्रिया)का वार वार स्मरण कर मेरा चित्त शान्ति प्राप्त नहीं करता है।

अत्रेति। यहां संभोगशृङ्गार स्मृति नामक भावका अङ्ग है और वह स्मृति भाव, विप्रलम्भ शृङ्गारका अङ्ग है।

रस और भावके आभासमें (दूसरेका अङ्ग होनेपर) "ऊर्जस्वि" होता है। ऊर्ज इति। "ऊर्जः" बलको कहते हैं। रस और भावके अनौचित्यसे प्रवृत्ति होनेपर "ऊर्जः" बल (बलात्कार) रहनेसे "ऊर्जस्वि" कहते हैं। जैसे-वन इति।

हे राजन् ! पुलिन्द (म्लेच्छजातिविशेष) जङ्गलमें समस्त कलाओंमें आसक्त अपनी स्त्रियोंको छोड़कर आपके शत्रुओंके स्त्रीसमूहमें रमण करते हैं।

अत्र शृङ्गाराभासो राजविषयकरतिभावस्याङ्गम् । एवं भावाभासोऽपि ।
समाहितं परिहारः ।

यथा—

'अविरलकरवालकम्पनैर्भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैर्मुहुः ।
ददृशे तव वैरिणां मदः, स गतः क्वापि तवेक्षणे क्षणात् ॥'

अत्र मदाख्यभावस्य प्रशमो राजविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । परस्त्रीविषयकरतेरनौचित्याच्छृङ्गाराभासः, स च राजविषयकरतिभावस्याऽङ्गम् । तथा चाऽत्र ऊर्जस्यलङ्कारः ।

एवमिति । वेश्याऽऽदिविषये लज्जादिके भावाभासः । यथोक्तं—"भावाभासो लज्जादिके तु वेश्याऽऽदिविषये स्यात्" (२६६ पृ०) ।

समाहितमिति । भावप्रशमः=समाहितम् । समाहितं = परिहारः, भावस्य समाप्तिरिति भावः ।

भावप्रशमस्य इतराङ्गत्वे समाहितमुदाहरति—**अविरलेति** । कस्यचित्कवे राजस्तुतिरियम् । हे राजन् !, तव = भवतः, वैरिणां = शत्रूणाम्, अविरलकरवालकम्पनैः = अविरलं (निरन्तरं, यथा तथा) करवालकम्पनैः (खड्गकम्पैः), भ्रुकुटीतर्जनगर्जनैः = भ्रुकुटीभिः (भ्रूकुटिभिः) तर्जनैः (भर्त्सनैः) गर्जनैः (गर्वध्वनिभिः), मदः = मत्तता, मुहुः = वारं, वारं, ददृशे = दृष्टः, जनैरिति शेषः । किन्तु, तव = भवतः, ईक्षणे = दर्शने, सति । सः = मदः, क्वाऽपि=कुत्राऽपि, क्षणात् = अल्पकालादिव, क्वाऽपि = कुत्राऽपि, गतः = शान्त इति भावः । वैतालीयं छन्दः ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अस्मिन्नुदाहरणे, मदाख्यभावस्य = "सम्मोहानन्दसभेदो मदो मद्योपयोगजः" (१४६ पृ०) इत्युक्तलक्षणस्य मदनामकभावस्य, प्रशमः= प्रशान्तिः, स च कविनिष्ठराजविषयकरतिभावस्य अङ्गम्, अतः समाहितमलङ्कारः ।

अत्रेति । यहां परस्त्रीमें रतिके अनौचित्यके कारण शृङ्गाराभास है, वह राजविषयक रतिका अङ्ग है । अतः ऊर्जस्वि अलङ्कार है । इसी प्रकार भावाभासको भी जानना चाहिए ।

समाहित कहते हैं भावके परिहारको (छोड़नेको) । समाहित जैसे—**अविरलेत्यादिः**०--हे राजन् ! आपके शत्रुओंके निरन्तर तलवारको घुमानेसे वार वार भ्रूकुटियोंसे घुड़कनेसे और गर्जनसे मद (गर्व) देखा गया था, वह आपको देखनेपर क्षणभरमें कहीं चला गया ।

अत्रेति । यहां मदनामक भावका प्रशम, राजविषयक रतिभावका अङ्ग है, अतः समाहित अलङ्कार हुआ है ।

भावस्य चोदये, संधौ, मिश्रत्वे च तदाख्यकाः ॥ ९६ ॥

तदाख्यका भावोदयभावसंधिभावशबलनामानोऽलङ्काराः ।

क्रमेणोदाहरणम्—

'मधुपानप्रवृत्तास्ते सुहृद्भिः सह वैरिणः ।
श्रुत्वा कुतोऽपि त्वन्नाम लेभिरे विषमां दशाम् ॥'

अत्र त्रासोदयो राजविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

'जन्मान्तरीणरमणस्याङ्गसङ्गसमुत्सुका ।
सलज्जा चान्तिके सख्याः पातु नः पार्वती सदा ॥'

भावोदयादिकमलङ्कारत्रयं निर्दिशति—**भावस्येति** । भावस्योदये गुणीभूते भावोदयः, भावयोः सन्धौ=संयोगे गुणीभूते भावसन्धिः, भावानांमिश्रत्वे च=संमिलित्वे च गुणीभूते भावशबलः, एते त्रयोऽलङ्काराः ॥ ९६ ॥

भावोदयमलङ्कारमुदाहरति—**मधुपानप्रवृत्ता इति** । कस्यचित्कवेः राजस्तुतिरियम् । हे राजन् !, सुहृद्भिः = मित्रैः, सह=समं, मधुपानप्रवृत्ताः = मधुपाने (मदिरापाने) प्रवृत्ताः (तत्पराः), ते = तव, वैरिणः = शत्रवः, कुतोऽपि = कस्माच्चिज्जनादपि, त्वन्नाम = भवदाख्यां, श्रुत्वा = आकर्ण्य, विषमां = सङ्कटमयीं दशाम् = अवस्थां, लेभिरे = प्रापुः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अस्मिन्नुदाहरणे, त्रासोदयः=त्रासस्य (त्रासनामकस्य व्यभिचारिभावस्य) उदयः (आविर्भावः) कविनिष्ठराजविषयकरतिभावस्य, अङ्गम्, अतो भावोदयोऽलङ्कारः ।

भावसन्धिमलङ्कारमुदाहरति—**जन्मान्तरीणेति** । कस्यचिद्भक्तस्य पार्वतीस्तुतिरियम् । जन्मान्तरीणेत्यादिः० = जन्मान्तरीणः (पूर्वजन्मभवः) यो रमणः (पतिः, शङ्कर इति भावः), तस्य अङ्गसङ्गे (शरीरसम्पर्के) समुत्सुका

भावस्येति । किसी भावके उदय (उत्पत्ति)के गुणभूत होनेसे भावोदय, भावोंकी सन्धिके गुणीभूत होनेसे भावसन्धि और बहुतसे भावोंके मिश्रणके गुणीभूत होनेसे भावशबल अलङ्कार होता है ।

क्रमसे उदाहरण—**मधुपानेत्यादिः०**—हे राजन् ! मित्रोंके साथ मदिरापानमें प्रवृत्त आपके शत्रुलोग किसी पुरुषसे आपका नाम सुनकर विषम अवस्थाको प्राप्त हुए ।

अत्रेति । यहाँ त्रासका उदय राजविषयक रतिभावका अङ्ग है । अतः भावोदय अलङ्कार हुआ ।

जन्मेत्यादिः—पूर्व जन्मके पति (शिवजी)के शरीरसम्पर्कमें समुत्कण्ठित परन्तु सखीके समीपमें लज्जित पार्वती हमलोगोंकी सदा रक्षा करें ।

अत्रौत्सुक्यलज्जयोश्च सन्धिर्देवताविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

'पश्येत्कश्चिच्चल चपल ! रे, का त्वराहं कुमारी,
हस्तालम्बं वितर, हहहा ! व्युत्क्रमः, क्वासि यासि ।
इत्थं पृथ्वीपरिवृढ ! भवद्विद्विषोऽरण्यवृत्तेः
कन्या कञ्चित्फलकिसलयान्याददानाभिधत्ते ॥

(अतिशयोत्कण्ठिता), एवं—सख्याः = वयस्यायाः, अन्तिके = समीपे, सलज्जा च = व्रीडायुक्ता च, तादृशी पार्वती = भगवती गौरी, नः = अस्मान्, सदा = सर्वदा पातु = रक्षतु । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—अत्रेति । अस्मिन्नुदाहरणे, औत्सुक्यलज्जयोः = तदाख्यव्यभिचारिभावयोः, सन्धिः = संमिश्रणं, पार्वत्यामिति शेषः, भावसन्धिः, स च पार्वतीविषयकरतिभावस्य अङ्गम् । अतः भावसन्धिरलङ्कारः ।

भावमिश्रत्वे भावशबलमलङ्कारमुदाहरति—पश्येदिति । कस्यचित्कवेराजप्रतापवर्णनोक्तिरियम् । पराजयेन वनवासिनः कस्यचिद्राज्ञः फलकिसलयान्याददानायाः कुमार्याः कस्यचिद्वनेचरस्य च उक्तिप्रत्युक्तिनिदर्शनात्मकं पद्यमिदम् । कश्चित् = जनः, पश्येत् = अवलोकयेत्, एतस्मिन्निर्जनस्थानेऽस्माकं सहाऽवस्थानमिति शेषः । संभावनायां लिङ् । अत्र शङ्का रे, चपल=हे चञ्चल ! चल = अपसर । अत्राऽसूया । का, त्वरा = शीघ्रता, इयं वनेचरस्योक्तिः ।

अस्मिन्निर्जने वने कोऽप्यावां न पश्येदिति भावः । अत्र धृतिः । "अहं कुमारी" इति राजकुमार्या उक्तिः । अत्र स्मृतिः । हस्तालम्बं वितर" इयं वनेचरस्योक्तिः । हस्तालम्बं = करावलम्बनं, वितर = देहि । अत्र राजकुमार्याः श्रमः प्रदर्श्यते । "हहहा" इति कुमार्या उक्तिरत्र दैन्यम् । व्युत्क्रमः = वैपरीत्यम् । राजकुमार्या मम त्वद्धस्ताऽवलम्बनमनुचितमिति भावः, इयं राजकुमार्या उक्तिः । अत्र विबोधः । ततो वनेचरे प्रच्छन्ने सति "क्व असि, यासि = यास्यसि, इयं राजकुमार्या उक्तिः । क्व = कुत्र । असि=विद्यसे, यासि = किं गच्छसि ? अत्रौत्सुक्यम् । हे पृथ्वीपरिवृढ = हे भूपते !, "प्रभुः परिवृढोऽधिप" इत्यमरः । फलकिसलयानि =

अत्रेति । यहाँ उत्कण्ठा और लज्जाकी सन्धि देवताविषयक रतिभावका अङ्ग है, अतः भावसन्धि अलङ्कार है ।

पश्येदिति । राजकुमारी—कोई देख लेगा । अरे चञ्चल ! हटो । वनेचर—जल्दी क्या है ? राजकुमारी—मैं कुमारी हूँ । वनेचर—हाथका सहारा लो । राजकुमारी—हाय ! वैपरीत्य है (अनुचित है), वनेचरके अदृष्ट होनेपर राजकुमारी—कहाँ हो ? साथ ही जाओगे । हे राजन् ! फलों और पल्लवोंको लेती हुई जङ्गलमें रहनेवाले आपके शत्रु राजाकी कुमारी कहती है ।

अत्र शङ्कासूयाधृतिस्मृतिश्रमदैन्यविबोधौत्सुक्यानां शबलता राजविषयरतिभावस्याङ्गम् ।

इह केचिदाहुः-'वाच्यवाचकरूपालङ्करणमुखेन रसाद्युपकारका एवालङ्काराः, रसादयस्तु वाच्यवाचकाभ्यामुपकार्या एवेति न तेषामलङ्कारता भवितुं युक्ता' इति ।

अन्ये तु-'रसाद्युपकारमात्रेणेहालङ्कृतिव्यपदेशो भाक्तश्चिरन्तनप्रसिद्ध्याङ्गीकार्य एव' इति ।

फलपल्लवानि, आददाना = गृह्णन्ती, अरण्यवृत्तेः=भवद्भयाद्वनवासिनः, भवद्द्विषः = भवच्छत्रोः, कन्या = कुमारी, अभिधत्ते = कथयति ।

विवृणोति—**अत्रेति** । अस्मिन्पद्ये शङ्कादीनां शबलता=संमिश्रणं कविनिष्ठराजविषयकरतिभावस्याऽङ्गम् । अतोऽत्र भावशबलनामाऽलङ्कारः ।

इदानीं रसवदादीनामलङ्कारत्वमनङ्गीकुर्वतां केषांचिन्मतमाह—**इहेति** । इह = अस्मिन्, रसवदादीनामलङ्कारत्वे, केचित् = आचार्याः, आहुः । वाच्यवाचकेत्यादिः०=वाच्यवाचकरूपयोः (अर्थशब्दस्वरूपयोः) अलङ्करणमुखेन (शोभाजननद्वारेण) हेतुना, रसाद्युपकारकाः=रसादीनाम् (शृङ्गारादीनाम्) उपकारकाः (पुष्टिकारकाः) एव अलङ्काराः = उपमाऽनुप्रासादयः, शब्दाऽर्थशोभाजनकधर्मा इति भावः ।

रसादयस्तु=रसभावादयस्तु, वाच्यवाचकाभ्याम्=अर्थशब्दाभ्याम्, उपकार्या एव = उपकारविषया एव, इति = हेतुना, तेषां=रसादीनां, न अलङ्कारता भवितुं युक्ता इति । रसवदाद्यलङ्काराननङ्गीकुर्वतामाचार्याणां मतमेतत् ।

अन्ये त्विति । अन्ये आचार्यास्तु—इह=रसवदादिषु, रसाद्युपकारमात्रेण = रसादीनाम् (अङ्गिभूतानामिति भावः) उपकारमात्रेण (पोषणमात्रेण) अलङ्कृतिव्यपदेशः = अलङ्कारव्यवहारः । भाक्तः = गौणः, भक्तिः = लक्षणा,

अत्रेति । यहाँ शङ्का, असूया, धृति, स्मृति, श्रम, दैन्य, विबोध और औत्सुक्य इन व्यभिचारी भावोंकी शबलता (संमिश्रण) राजविषयक रतिभावका अङ्ग है, अतः यह भावशबल नामक अलङ्कार है ।

अत्रेति । यहाँ कोई विद्वान् कहते हैं—अर्थ और शब्दको अलङ्कृत कर रस आदिके उपकारक ही अलङ्कार होते हैं । रस आदि तो अर्थ और शब्दसे उपकार्य (उपकार किये जानेवाले) ही होते हैं अतः उनकी अलङ्कार मानना उचित नहीं । रसवदादिको अलङ्कार मानना उचित नहीं है, यह इनका तात्पर्य है ।

अन्य विद्वान् तो—रसवदादिमें रस आदिके उपकारमात्रसे अलङ्कार शब्दका व्यवहार भाक्त (गौण) है, अतः प्राचीन अलङ्कारशास्त्रियोंकी प्रसिद्धिसे उन्हें भी अलङ्कार मानना चाहिए ।

अपरे च—'रसाद्युपकारमात्रेणालङ्कारत्वं मुख्यतो रूपकादौ तु वाच्याद्युपधानम्, अजागलस्तनन्यायेन' इति।

अभियुक्तास्तु—'स्वव्यञ्जकवाच्यवाचकाद्युपकृतेरङ्गभूतै रसादिभिरङ्गिनो रसादेर्वाच्यवाचकोपस्कारद्वारेणोपकुर्वद्भिरलङ्कृतिव्यपदेशो लभ्यते।

तत आगतो भाक्तः। चिरन्तनप्रसिद्धया = प्राचीनख्यात्या, अङ्गीकार्य एव = अभ्युपगमनीय एव, इति।

एतन्मते रसादीनामुपकारके शब्दाऽर्थशोमाऽऽधायक एव वाक्ये मुख्यमलङ्कारत्वं तथाऽपि प्राचीनपरम्परया रसवदादिष्वपि अलङ्कारव्यपदेशो गौणः। एषां न पुनर्मुख्याऽलङ्कारत्वमिति भावः।

मतान्तरमाह—**अपरे चेति**। अपरे = आचार्याश्च। रसवदादीनां मुख्यतोऽलङ्कारत्वं मन्यमाना इति भावः। रसाद्युपकारमात्रेण = रसादीनाम् (रसभावादीनाम्) उपकारमात्रेण (पोषणमात्रेण), अलङ्कारत्वम्=अलङ्कृतित्वं, मुख्यतः= प्राधान्यात्। रूपकादौ = रूपकसन्देहादौ, तु, वाच्याद्युपधानं = वाच्यवाचकशोभाजननम्, अजागलस्तनन्यायेन = अजा (छागी) तस्या गलस्तनन्यायेन (कण्ठमांसपिण्डन्यायेन), यथा अजागलस्थो मांसपिण्डो दुग्धरहितत्वादुपयोगरहितस्तथैव रूपकादीनामपि रसादिपरिपोषकत्वाऽभावेन शब्दाऽर्थशोभाजननाद् गौणमलङ्कारत्वमिति भावः।

प्रामाणिकमतं प्रदर्शयति—**अभियुक्तास्त्विति**। प्रामाणिकास्तु, "मन्यन्त" इत्यागामिनि क्रियापदे सम्बन्धः। स्वव्यञ्जकेत्यादिः० = स्वस्य (अङ्गभूतरसादेः) व्यञ्जकाः (प्रत्यायकाः) वाच्यवाचकादयः, (वाच्यवाचकलक्ष्यलक्षकादयः), तैरुपकृतैः (पुष्टीकृतैः), वाच्यवाचकोपस्कारद्वारेण=वाच्यवाचकयोः (अर्थशब्दयोः)

और विद्वान्—केवल रस आदिके उपकारसे रसवदादिक मुख्य अलङ्कार हैं, रूपक आदि तो केवल अर्थ और शब्दकी शोभा उत्पन्न करनेसे एवम् रस आदिका परिपोषण न करनेसे अजागलस्तनन्यायसे अलङ्कार कहे जाते हैं। जैसे बकरीके गलेमें स्थित मांसका लोथड़ा दुग्धरहित होनेसे उपयोगरहित है। आकारसाम्यसे उसमें गौणरूपसे स्तनशब्दसे व्यवहार होता है, उसी तरह रूपक आदिमें भी अलङ्कार शब्दका व्यवहार गौण है।

प्रामाणिक आचार्य मानते हैं—अङ्गभूत रस आदि अपने व्यञ्जक वाच्यवाचक आदियोंसे पुष्ट होकर और शब्द और अर्थके परिष्कारके द्वारा अङ्गी (प्रधान) रसका उपकार करते हैं अतः उनमें अलङ्कार शब्दका प्रयोग होता है अतः शब्द और अर्थको ही नहीं रसवदादिकोंको भी अलङ्कार मानना चाहिए यह मत स्पष्ट किया जाता है।

समासोक्तौ तु नायिकादिव्यवहारमात्रस्यैवालङ्कृतिता, न त्वास्वादस्य, तस्योक्तरीतिविरहात्, इति मन्यन्ते।

अत एव ध्वनिकारेणोक्तम्—

'प्रधानेऽन्यत्र वाक्यार्थे यत्राङ्गं तु रसादयः।
काव्ये तस्मिन्नलङ्कारो रसादिरिति मे मतिः॥'

यदि च रसाद्युपकारमात्रेणालङ्कृतित्वं तदा वाचकादिष्वपि तथा प्रसज्येत। एवं च यच्च कैश्चिदुक्तं—'रसादीनामङ्गित्वे रसवदाद्यलङ्कारः, अङ्गत्वे तु द्वितीयोदात्तालङ्कारः' इति तदपि परास्तम्।

उपस्कारद्वारेण (परिष्कारद्वारेण) अङ्गिनम् (रसादिकम्) उपकुर्वद्भिः = उपकृतं विदधद्भिः, अङ्गभूतैः (सहायभूतैः) रसादिभिः = अप्रधानरसादिभिः, अङ्गिनः = प्रधानभूतस्य रसादेः, अलङ्कृतिव्यपदेशः = अलङ्कारव्यवहारः, लभ्यते=प्राप्यते।

एतेन रसाद्युपकारकाणां शब्दार्थानामेव न, रसवदादीनामप्यलङ्कारत्वमिष्यत मतमिदं स्फुटीक्रियते।

समासोक्तौ = तन्नामाऽलङ्कारे, तु, नायिकादिव्यहारमात्रस्य एव=प्रस्तुते वस्तुनि अप्रस्तुतसाधर्म्यारोपमात्रस्य, अलङ्कृतिता, न त्वास्वादस्य=रसस्य, तस्य = आस्वादस्य, उक्तरीतिविरहात् = शब्दार्थद्वारा रसाद्युपकारकत्वाऽभावात्। इति मन्यन्ते, अभियुक्ता इति पूर्वपदेन सम्बन्धः।

अभियुक्तमतं द्रढयितुं ध्वनिकारमतमाह—**प्रधान इति**। यत्र=यस्मिन्काव्ये, अन्यत्र = अन्यस्मिन् रसादौ, वाक्यार्थे वा, प्रधाने = अङ्गिनि सति, रसादयस्तु, अङ्गं = तयोरुपकारकरूपाः तस्मिन् = तादृशे, काव्ये, रसादिः = अङ्गभूतः इति भावः, अलङ्कारः, भवतीति शेषः। इति मे = मम, मतिः = अभिमतम्।

इत्थं च ध्वनिकारमतेऽपि रसवदादीनामलङ्कारत्वमक्षतमिति सिद्धम् केचिदित्यादिमतत्रयं दूषयति—**यदि चेति**।

रसाद्युपकारमात्रेण = रसादीनाम्, उपकारमात्रेण एव, अलङ्कृतित्वं यदि= अलङ्कारत्वं चेत्, न पुनः शब्दार्थयोः शोभातिशायित्वेनेति भावः, तदा = तर्हि; वाचकादिषु अपि=अभिधालक्षणाभ्यां रसादिबोधकेष्वपि शब्देषु, तथा=अलङ्कृतित्वं,

---

समासोक्ति अलङ्कारमें तो नायिका आदिके व्यवहारका आरोप ही अलङ्कार है, आस्वाद (रस)का अलङ्कार नहीं है क्योंकि उसमें शब्द और अर्थके द्वारा रस आदिका उपकारकत्व नहीं है इसी कारणसे ध्वनिकारने कहा है—**प्रधान इति**। जिस काव्यमें अन्य रस आदि वा वाक्यार्थ प्रधान हो और रस आदि उनके अङ्ग (उपकारक) हों तो उस काव्यमें रस आदि (अङ्गभूत) अलङ्कार होते हैं ऐसी मेरी सम्मति है।

यदि चेति। यदि रस आदिका उपकार करनेसे ही अलङ्कार माने तो शब्द

यद्येत एवालङ्काराः परस्परविमिश्रिताः ।
तदा पृथगलङ्कारौ संसृष्टिः सङ्करस्तथा ॥ ९७ ॥

यथा लौकिकालङ्काराणामपि परस्परमिश्रणे पृथक्चारुत्वेन पृथगलङ्कारत्वं, तथोक्तरूपाणां काव्यालङ्काराणामपि परस्परमिश्रत्वे संसृष्टिसङ्कराख्यौ पृथगलङ्कारौ।

प्रसज्येत, अतिव्याप्तिर्भवेदिति भावः । "तामुद्वीक्ष्य कुरङ्गाक्षीं रसो नः कोऽप्यजायत ।" इत्यादिस्थलेष्विति भावः ।

मतान्तरमनूद्य दूषयति—एवं चेति । एवं च = इत्थमेव, कैश्चित् = ध्वन्यभाववादिभिः, उक्तम् = अभिहितं, रसादीनाम्, अङ्गित्वे = प्रधानत्वे, रसवदाद्यलङ्कारः, अङ्गत्वे=अप्रधानत्वे, उपकारकत्व इति भावः । द्वितीयोदात्ताऽलङ्कारः, "यद्वाऽपि प्रस्तुतस्याऽङ्गं महतां चरितं भवेत्" इत्युक्तलक्षण उदात्ताऽलङ्कार इति भावः । तदपि = तत्कथनम् अपि, पराऽस्तं = निरस्तम्, रसादीनां प्राधान्ये रसादिध्वनिः अप्राधान्ये रसवदादीनां सिद्धिः, अत एतत्कथनं खण्डितं भवतीति भावः ।

अलङ्काराणां संमिश्रणे संसृष्टिसङ्करावुपपादयति—यद्येत एवेति । एते एव = पूर्वोक्ता एव, अलङ्काराः = अलङ्कृतयः, अनुप्रासोपमारसवदादय इति भावः । परस्परविमिश्रिताः = अन्योन्यसंमिलिताः, यदि = चेत् । तदा = तर्हि, संसृष्टिः, तथा, सङ्करश्च, पृथक् = भिन्नौ, अलङ्कारौ = अलङ्कृती, भवत इति शेषः ॥ ९७ ॥

विवृणोति—यथेति । यथा = येन प्रकारेण, लौकिकाऽलङ्काराणाम् अपि= कटककुण्डलादिभूषणानाम् अपि, परस्परमिश्रणे=अन्योन्यसम्मेलने, पृथक् चारुत्वेन = विभिन्नसौन्दर्येण, पृथगलङ्कारत्वं = भिन्नभूषणत्वं, तथा = तेनैव प्रकारेण, उक्तरूपाणाम् = अभिहितलक्षणानां, काव्यालङ्काराणाम् अपि = साहित्याऽलङ्कृतीनाम् अपि, परस्परमिश्रत्वे = अन्योन्यसंमिलितत्वे, संसृष्टिसङ्कराख्यौ = संसृष्टिसङ्करनामकौ, पृथक् = भिन्नौ, अलङ्कारौ, भवत इति शेषः ।

और अर्थ आदि भी अलङ्कार हो जायंगे । एवं चेति । इसी प्रकार जो किसीने कहा कि रस आदियोंके अङ्गी (प्रधान) होनेपर वे रसवदादि अलङ्कार होते हैं, अङ्ग (अप्रधान) होनेपर दूसरा उदात्त अलङ्कार ("यद्वाऽपि प्रस्तुतस्याऽङ्गं महतां चरित भवेत्" इस उक्तिके अनुसार) होता है, यह मत भी खण्डित हुआ ।

यद्येत इति । पूर्वोक्त शब्दाऽलङ्कार और अर्थाऽलङ्कार परस्पर सम्मिलित हों तो संसृष्टि और संकर नामके पृथक् अलङ्कार होते हैं ॥ ९७ ॥

यथेति । जैसे लौकिक अलङ्कार भी परस्पर मिश्रण होनेपर सौन्दर्यके कारण पृथक् अलङ्कार होते हैं; उसी तरह पूर्वोक्त काव्यके अलङ्कार भी परस्पर मिश्रण होनेपर संसृष्टि और सङ्कर नामसे पृथक् अलङ्कार हो जाते हैं ।

तत्र—

'मिथोऽनपेक्षयैतेषां स्थितिः संसृष्टिरुच्यते ।

एतेषां = शब्दार्थालङ्काराणाम् ।

यथा—

'देवः पायादपायान्नः स्मेरेन्दीवरलोचनः ।
संसारध्वान्तविध्वंसहंसः कंसनिषूदनः ॥'

अत्र पायादपायादिति यमकम् , संसारेत्यादौ चानुप्रास इति शब्दालङ्कारयोः संसृष्टिः। द्वितीये पादे उपमा, द्वितीयार्धे च रूपकमित्यर्थालङ्कारयोः संसृष्टिः। एवमुभयोः स्थितत्वाच्छब्दार्थालङ्कारसंसृष्टिः।

तत्र संसृष्टयलङ्कारं लक्षयति—**मिथ इति।** तत्र = संसृष्टिसङ्करयोर्मध्ये, एतेषां = पूर्वोक्तानां शब्दाऽर्थाऽलङ्काराणाम्। बहुवचनमविवक्षितम्, मिथोऽनपेक्षया = परस्परनिरपेक्षया, स्थितिः = एकस्मिन्पद्ये गद्ये वा अवस्थानं, तदा संसृष्टिः = तदाख्योऽलङ्कारः। उच्यते = अभिधीयते।

संसृष्टिमुदाहरति—**देव इति।** केन चिद्भक्तेन कृता कृष्णस्तुतिरियम्। स्मेरेन्दीवरलोचनः = स्मेरे (विकसिते) इन्दीवरे (नीलकमले) इव, लोचने (नयने) यस्य सः। संसारेत्यादिः०=संसारः (जगत्) एव ध्वान्तम् (अन्धकारः) तस्य विध्वंसे (विनाशे) हंसः (सूर्यः), "भानुर्हंसः सहस्रांऽशुस्तपनः सविता रविः।" इत्यमरः। तथा कंसनिषूदनः = कंसस्य, निषूदनः (विनाशकः), देवः = भगवान् श्रीकृष्णः, अपायात् = नाशात्, पायात् = रक्षेत्। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति।** पायादपाययादिति यमकं="सत्यर्थे पृथगर्थायाः" इत्युक्तलक्षणो यमकाऽलङ्कारः, "संसार" इत्यादौ चाऽनुप्रासः="अनुप्रासः शब्दसाम्यम्" इत्यादिमक्षणलक्षितोऽनुप्रासाऽलङ्कारः इति शब्दाऽलङ्कारयोः संसृष्टिः। द्वितीये पादे = "स्मेरेन्दीवरलोचन" इत्यत्रेति भावः, उपमा = समासगता लुप्तोपमेति

उनमें—**मिथ इति।** पूर्वोक्त शब्दाऽलङ्कार और अर्थाऽलङ्कार परस्पर निरपेक्ष होकर रहें तो संसृष्टि अलङ्कार होता है ॥ ९८ ॥

देव इति। विकसित नीलकमलों-से नेत्रोंवाले संसाररूप अन्धकारके विध्वंसमें सूर्य, कंसके संहारक देव भगवान् श्रीकृष्ण हम लोगोंको 'अपायात् पायात्' अर्थात् नाशसे रक्षा करें।

अत्रेति। यहाँ "पायादपायात्" इसमें यमक है। संसारध्वान्त०" इत्यादिमें अनुप्रास (वृत्यनुप्रास) अलङ्कार है। इसप्रकार यमक और वृत्यनुप्रास दो शब्दाऽलङ्कारोंकी संसृष्टि है। दूसरे चरणमें "स्मेरेन्दीवरलोचनः" यह उपमा है। उत्तरार्द्धमें "संसारध्वान्त" इत्यादिमें रूपक है, इसप्रकार उपमा और रूपक अर्थाऽ-

अङ्गाङ्गित्वेऽलङ्कृतीनां तद्वदेकाश्रयस्थितौ ।
सन्दिग्धत्वे च भवति सङ्करस्त्रिविधः पुनः ॥ ९८ ॥

अङ्गाङ्गिभावो यथा—

'आकृष्टिवेगविगलद्भुजगेन्द्रभोग-
निर्मोकपट्टपरिवेष्टनयाम्बुराशेः ।
मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिवाशु यस्य
मन्दाकिनी चिरमवेष्टत पादमूले ॥'

भावः । द्वितीयार्द्धे च = "संसारध्वान्तविध्वंसहंस" इत्यत्रेति भावः, रूपकं = संसारे ध्वान्तत्वारोपः श्रीकृष्णे सूर्यत्वारोपस्य निमित्तमिति अश्लिष्टशब्दनिबन्धनो रूपकाऽलङ्कारः, इति अर्थाऽलङ्कारयोः उपमारूपकयोः, संसृष्टिः ।

एवमुभयोरिति । यमकाऽनुप्रासरूपयोः = शब्दाऽलङ्कारयोरुपमारूपकरूपयोरर्थाऽलङ्कारयोश्च, स्थितत्वात् = मिथोऽनपेक्षयाऽवस्थितत्वाच्छब्दाऽर्थाऽलङ्कारसंसृष्टिः ।

सङ्करालङ्कारं लक्षयति—**अङ्गाऽङ्गित्व इति ।**

अलङ्कृतीनाम् = अलङ्काराणाम्, बहुवचनमविवक्षितम् । अङ्गाङ्गित्वे = गुणप्रधानभावे, तद्वत् = तथैव, एकाश्रयस्थितौ = एकस्मिन्, आश्रये (आधारे एकवाक्ये) स्थितौ (अवस्थाने), सन्दिग्धत्वे च = निर्णये सन्देहे सति, पुनः, सङ्करः, त्रिविधः = त्रिप्रकारः, भवति ॥ ९८ ॥

अङ्गाङ्गिभावसङ्करमुदाहरति—**आकृष्टिवेगेति ।** समुद्रवर्णनमिदम् । मन्दाकिनी = गङ्गा, पतिव्रता, नारी चेति व्यज्यते । आकृष्टीत्यादिः० = आकृष्टिवेगेन (देवदैत्यानामाकर्षणजवेन) गलन् (प्रस्रवन्) यो भुजगेन्द्रभोगस्य (वासुकिशरीरस्य) निर्मोकपट्टः (कञ्चुकरूपं वस्त्रम्) तस्य परिवेष्टनया (परिवेष्टनच्छलेन),

---

लङ्कारोंकी संसृष्टि है । इसप्रकार दो शब्दालङ्कारोंकी और दो अर्थालङ्कारोंकी परस्पर निरपेक्ष होकर स्थिति रहनेसे शब्दालङ्कारों और अर्थालङ्कारोंकी संसृष्टि है ।

अङ्गाङ्गित्व इति । जहाँ कई अलङ्कार अङ्ग (गौण) और अङ्गी (प्रधान) के रूपमें रहें १, एक ही आश्रय (शब्द वा अर्थ) में रहे २, अथवा सन्दिग्ध रूपमें रहें ३, इस प्रकार सङ्कर अलङ्कारके तीन भेद होते हैं ॥ ९९ ॥

अङ्गाङ्गिभावमें जैसे—**आकृष्टीत्यादिः०** । मन्दाकिनी (गङ्गाजी अथवा पतिव्रता स्त्री) ने देवों और दैत्योंके खींचनेके वेगसे गिरते हुए वासुकिके केंचुलीरूप पट्टवस्त्रके परिवेष्टनके छलसे समुद्रके मन्थनखेदको हटानेके लिए जिसके एक पाद (वा चरण)के समीप सेवाके लिए वेष्टन किया ।

अत्र निर्मोकपट्टापह्नवेन मन्दाकिन्या आरोप इत्यपह्नुतिः। सा च मन्दाकिन्या वस्तुवृत्तेन यत्पादमूलवेष्टनं तच्चरणमूलवेष्टनमिति श्लेषमुत्थापयतीति तस्याङ्गम्। श्लेषश्च पादमूलवेष्टनमेव चरणमूलवेष्टनमित्यतिशयोक्तेरङ्गम्। अतिशयोक्तिश्च 'मन्थव्यथाव्युपशमार्थमिव' इत्युत्प्रेक्षाया अङ्गम्। उत्प्रेक्षा चाम्बुराशिमन्दाकिन्योर्नायकनायिकाव्यवहारं गमयतीति समासोक्तेरङ्गम्।

यथा वा—

'अनुरागवती संध्या दिवसस्तत्पुरःसरः।
अहो! दैवगतिश्चित्रा तथापि न समागमः॥'

अम्बुराशेः = समुद्रस्य, पत्युरिति च व्यज्यते। मन्थव्यथाव्युपशमाऽर्थं = मथनखेदपरिशमनार्थम्, इव, आशु = शीघ्रम्। यस्य = समुद्रस्य, पत्युश्चेति व्यज्यते। पादमूले = एकदेशे, चरणसमीपे च, चिरं = बहुसमयपर्यन्तम्। अवेष्टत = प्रावहत्, सेवाऽर्थं पादमूलं वेष्टितवती च। वसन्ततिलकावृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अस्मिन्पद्ये। निर्मोकपट्टाऽपह्नवेन = निर्मोकपट्टस्य, अपह्नवेन (गोपनेन), मन्दाकिन्याः = गङ्गायाः, आरोपः इति अपह्नुतिः = अपह्नुतिध्वनिः, तद्वाचकाऽभावादिति भावः। सा च = अपह्नुतिश्च। मन्दाकिन्याः, वस्तुवृत्तेन = गङ्गावस्तुस्वभावेन। श्लेषं = प्रकृतिश्लेषं, विभक्तेरभेदात् "नीतानामाकुलीभावम्" इत्यादिवदिति भावः। अतिशयोक्तेः = भेदेऽभेदाऽध्यवसायरूपायाः, उत्प्रेक्षायाः = फलोत्प्रेक्षायाः। समासोक्तेः = लिङ्गसाम्यघटितायाः समासोक्तेः।

द्वयोरङ्गाङ्गिभावेन सङ्करमुदाहरति—**यथा वेति। अनुरागवतीति**। ध्वन्यालोक उदाहृतं पद्यमिदम्। सन्ध्या = सायंवेला, काचिन्नायिका च, अनुरागवती = लौहित्यसंपन्ना, सुरताऽभिलाषवती च।

दिवसः = वासरः, कश्चिन्नायकश्च। तत्पुरःसरः = तस्याः (सन्ध्यायाः, कस्याश्चिन्नायिकायाश्च) पुरःसरः (अग्रसरः, अवसानाय रमणाय च सम्मुखस्थ इति भावः)। अहो = आश्चर्यम्। तथाऽपि, सन्ध्यायाः सानुरागत्वे दिवसस्य च

अत्रेति। यहाँ निर्मोकपट्टके गोपनसे मन्दाकिनीका आरोप होनेसे अपह्नुति है, वह (अपह्नुति) मन्दाकिनीके वस्तुस्वभावसे जो पादमूलवेष्टन निकट रहना है वही चरणमूलवेष्टन पैरोंका दबाना है इस प्रकार श्लेषका उत्थापन करती है, अतः उसका अङ्ग है। पादमूलवेष्टन ही श्लेष है। "चरणमूलवेष्टन" यह अतिशयोक्तिका अङ्ग है। अतिशयोक्ति भी "मानों मन्थनकी पीडाको हटानेके लिए" इस उत्प्रेक्षाका अङ्ग है। उत्प्रेक्षा भी, समुद्र और गङ्गामें नायक और नायिकाके व्यवहारको जतानेवाली समासोक्तिका अङ्ग है। अथवा—**अनुरागवतीति**। सन्ध्या अनुरागसे युक्त है और दिन उसके आगे उपस्थित है। आश्चर्य है! भाग्यकी गति विचित्र है तो भी उनका समागम नहीं होता है।

अत्र समासोक्तिर्विशेषोक्तेरङ्गम् ।

सन्देहसङ्करो यथा—

'इदमाभाति गगने भिन्दानं सन्ततं तमः ।
अमन्दनयनानन्दकरं मण्डलमैन्दवम् ॥'

अत्र किं मुखस्य चन्द्रतयाध्यवसानादतिशयोक्तिः, उत इदमिति मुखं निर्दिश्य चन्द्रत्वारोपाद्रूपकम्, अथवा इदमिति मुखस्य चन्द्रमण्डलस्य च द्वयोरपि प्रकृतयोरेकधर्माभिसम्बन्धात्तुल्ययोगिता, आहोस्विच्चन्द्रस्याप्रकृतत्वाद्दीपकम्, किं वा विशेषणसाम्यादप्रस्तुतस्य मुखस्य गम्यत्वात्समासोक्तिः, यद्वाऽ-

---

तत्पुरःसरत्वेऽपि । समागमः = तयोर्द्वयोः सम्मेलनं, न=नो वर्तते, अहो दैवगतिः = धातृव्यवहारः, चित्रा = आश्चर्यरूपा । दैवगतेरेव तयोर्न समागम इति भावः । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—अत्रेति । अस्मिन्पद्ये, समासोक्तिः, सन्ध्यादिवसयोर्लिङ्गसाम्य-घटितेति भावः । सा च विशेषोक्तेः अङ्गम्, सन्ध्यायाः सानुरागत्वे, दिवसस्य तत्पुरःसरत्वे हेतौ सत्यपि समागमरूपफलाऽभावादिति भावः ।

सन्देहसङ्करमुदाहरति—इदमिति । सन्ततं = व्याप्तं, तमः = अन्धकारं, भिन्दानं = नाशयत्, तथा अमन्दनयनानन्दकरम्=अमन्दः (प्रचुरः) यो नयनानन्दः (नेत्रसौख्यम्), तं करोति (विदधाति) तच्छीलम्, इदम्=एतत्, ऐन्दवं मण्डलं= चान्द्रमण्डलम्, आभाति = द्योतते । अनुष्टुब्वृत्तम् ।

विवृणोति—अत्रेति । अस्मिन्पद्ये, मुखस्य चन्द्रतया अध्यवसानात् = आहार्याऽभेदनिश्चयात्, अतिशयोक्तिः = भेदेऽभेदाऽध्यवसायरूपा । उत = अथ वा । रूपकम्=उपमेये उपमानारोपस्वरूपं निरङ्गं केवलरूपकम्, अथवा=यद्वा । प्रकृतयोः, एकधर्माऽभिसम्बन्धात् = आभातीत्याभानरूपैकक्रियया तदुभयाऽभिसम्बन्धात्तुल्य-योगिता । आहोस्वित् = अथवा । चन्द्रस्य अप्रकृतत्वात् = अप्रस्तुतत्वात्, दीपकं, मुखस्य प्रकृतत्वादिति गम्यते । किं वा = अथ वा । विशेषणसाम्यात् = मुखपक्षे— गगने = वातायनाकाशे, तमः=तमोगुणोत्पन्नं वियोगजन्यं मोहं, भिन्दानं=विनाशकम्

यहाँ समासोक्ति विशेषोक्तिका अङ्ग है ।

सन्देहसङ्कर जैसे—इदमिति । व्याप्त अन्धकारको नष्ट करता हुआ नेत्रोंमें प्रचुर आनन्द देनेवाला यह इन्दुमण्डल आकाशमें शोभित हो रहा है ।

अत्रेति । यहाँ मुखको चन्द्ररूपसे अध्यवसान करनेसे क्या अतिशयोक्ति है ? अथवा "इदम्" पदसे मुखका निर्देश करके चन्द्रत्वके आरोपसे रूपक है, अथवा "इदम्" पदसे मुख और चण्द्रमण्डल ये दोनों प्रस्तुत पदार्थोंका 'आभाति' इस क्रियापदके अनुसार आभान रूप एक क्रियाके अभिसम्बन्धसे तुल्ययोगिता है ।

ास्तुतचन्द्रवर्णनया प्रस्तुतस्य मुखस्यावगतिरित्यप्रस्तुतप्रशंसा, यद्वा मन्म-
ोद्दीपनः कालः स्वकार्यभूतचन्द्रवर्णनामुखेन वर्णित इति पर्यायोक्तिरिति
ाहूनामलङ्काराणां सन्देहात्सन्देहसङ्करः।

यथा वा—'मुखचन्द्रं पश्यामि' इत्यत्र किं मुखं चन्द्र इव इत्युपमा? उत
चन्द्र एवेति रूपकमिति सन्देहः, साधकबाधकयोर्द्वयोरेकतरस्य सद्भावे न पुनः
ान्देहः।

ाथा—

'मुखचन्द्रं चुम्बति' इत्यत्र चुम्बनं मुखस्यानुकूलमित्युपमायाः साधकम्।
चन्द्रस्य तु प्रतिकूलमिति रूपकस्य बाधकम्।

इत्यतः उभयत्राऽपि विशेषणसाम्यमिति भावः। मुखस्य, गम्यत्वात् = व्यङ्ग्यत्वात्,
ास्तुते चन्द्रमण्डले गम्यस्य मुखस्य व्यवहारसमारोपादिति भावः समासोक्तिः
स्वकार्येति=स्वस्य (मन्मथोद्दीपनसमयस्य रात्रिरूपस्येति) भावः, कार्यभूतः यश्चन्द्र-
ाकाशः, तद्वर्णनद्वारा, पर्यायोक्तिः।

वाक्येऽलङ्कारद्वयस्य सन्देहसङ्करमुदाहरति—**मुखचन्द्रं पश्यामीति**। मुखं चन्द्र
इव, तम् "उपमित व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इत्यनेन समासः, इत्यत्रोपमा।

उत = अथ वा, मुखम् एव चन्द्रः, तम्, "मयूरव्यंसकादयश्चे"ति समासः,
अत्र रूपकं = निरङ्गकेवलरूपकम्। इत्थं चाऽत्र द्वयोरलङ्कारयोः सन्देहः।

क्रियापदेन सन्देहाऽभावस्थलमुदाहरति—**मुखचन्द्रं चुम्बतीति**। अत्र
प्राग् मुखं चन्द्र इव, तम्, इत्युपमा, आहोस्वित् मुखम् एव चन्द्र इति रूपकं, द्वयोः
सन्देहे "चुम्बती"ति क्रियापदेन चुम्बनं मुखस्य, अनुकूलम् = अनुगुणम्, इत्युपमायाः
ाधकं=समर्थकम्, मुखम् एव चन्द्र इति रूपके, चुम्बनं चन्द्रस्य प्रतिकूलमिति रूपकस्य
बाधकमतोऽत्र उपमालङ्कार एव न तु उपमारूपकयोः सन्देहसङ्कर इति भावः।

अथवा चन्द्रमाके अप्रस्तुत होनेसे दीपक है, किं वा विशेषणकी समतासे प्रस्तुत
चन्द्रके वर्णनसे अप्रस्तुत मुखका व्यञ्जन होता है इस कारणसे अप्रस्तुतप्रशंसा है।
अथवा कामदेवका उद्दीपन काल अपने कार्यभूत चन्द्रके वर्णनके मुखसे वर्णित है।
इस कारण पर्यायोक्ति अलङ्कार है इसप्रकार बहुतेरे अलङ्कारोंका सन्देह होनेसे
सन्देहसङ्कर है।

अथवा—"मुखचन्द्रं पश्यामि" यहां क्या "मुखं चन्द्र इव" मुख चन्द्रमा
ासा है इस प्रकारसे उपमा है अथवा "मुखं चन्द्र एव" मुख चन्द्रमा ही है, क्या?
इस प्रकारसे रूपक है क्या? इस प्रकार यहाँ सन्देह है। किसी पक्षके साधक
ा बाधक एककी सत्ताके रहनेसे फिर सन्देह नहीं होता है, जैसे—"मुखचन्द्रं
चुम्बति" मुखचन्द्रका चुम्बन करता है, यहाँ चुम्बन मुखका अनुकूल है अतः
उपमाका साधक है, चन्द्रका तो प्रतिकूल है इस कारण रूपकका बाधक है।

'मुखचन्द्रः प्रकाशते, इत्यत्र प्रकाशाख्यो धर्मो रूपकस्य साधको मुखे उपचरितत्वेन संभवतीति नोपमाबाधकः।

'राजनारायणं लक्ष्मीस्त्वामालिङ्गति निर्भरम्।'

अत्र योषित आलिङ्गनं नायकस्य सदृशेनोचितमिति लक्ष्म्यालिङ्गनस्य राजन्यसंभवादुपमाबाधकम्, नारायणे संभवाद्रूपकम्।

साधकबाधकयोरेकतरस्य सद्भाव उदाहरति—"मुखचन्द्रः प्रकाशते", अत्र "मुखम् चन्द्र इव" इत्युपमायाः, "मुखम् एव चन्द्र" इति रूपकस्य च सन्देहे "प्रकाशते" इत्यनेन प्रकाशाख्यो धर्मो रूपकस्य साधको मुखे तु उपचरितत्वेन = चन्द्रधर्मप्रकाशनारोपेण, संभवतीति नोपमाबाधकः।

रूपकसाधकं प्रदर्शयति—**राजनारायणमिति**। कश्चित्कविः कञ्चिद्राजानं प्रशंसति। हे राजन्! लक्ष्मीः = कमला, राजनारायणं = राजा (भूपः) एव नारायणः (विष्णुः), तम्। मयूरव्यंसकादयश्चे"ति रूपकसमासः। त्वां = भवन्तं, निर्भरं = दृढम्, आलिङ्गति = आश्लिष्यति। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—**अत्रेति**। अस्मिन्पद्ये, योषितः = स्त्रियाः, नायिकायाः इति भावः। नायकस्य = स्ववल्लभस्य, सदृशेन=समानेन, जनेनेति भावः। आलिङ्गनम्= आश्लेषः, उचितं = योग्यम्, इति = अस्माद्धेतोः, लक्ष्म्याः = (कमलायाः) आलिङ्गनस्य, राजनि = भूपाले, नरे असम्भवात् = हेतोः, उपमाबाधकम्, "राजा नारायण इव" इति विग्रहेण उपमितसमासस्यानुपपन्नत्वादिति भावः। अतः "राजा एव नारायण" इति विग्रहेण रूपकसमासस्य नारायणे संभवात्, लक्ष्मीकर्तृकालिङ्गनस्येति शेषः।

"मुखचन्द्रः प्रकाशते" यहाँ प्रकाशनरूप धर्म रूपकका साधक है, मुखमें तो चन्द्रमाका धर्म प्रकाशनके आरोपसे संभव है अतः उपमाका बाधक नहीं।

राजनारायणमिति। हे राजन्! लक्ष्मी राजनारायण आपको दृढतापूर्वक आलिङ्गन करती है।

अत्रेति। यहाँ नायकके समान जनमें स्त्रीका आलिङ्गन उचित है इस कारणसे लक्ष्मीका आलिङ्गन राजामें असंभव होनेसे उपमाका बाध है अर्थात् "राजा नारायण इव" ऐसे विग्रहसे उपमित समास उचित नहीं है, अतः "राजा एव नारायणः" ऐसा विग्रह कर (राजा ही नारायण ऐसा अर्थ होनेसे) रूपक समास करनेसे नारायणमें आलिङ्गन संभव है।

एवम्—

'वदनाम्बुजमेणाक्ष्या भाति चञ्चललोचनम्।

अत्र वदने लोचनस्य सम्भवादुपमायाः साधकता, अम्बुजे चासंभवाद्रूपकस्य बाधकता। एवं 'सुन्दरं वदनाम्बुजम्' इत्यादौ साधारणधर्मप्रयोगे 'उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याप्रयोगे' इति वचनादुपमासमासो न संभवतीत्युपमाया बाधकः। एवं चात्र मयूरव्यंसकादित्वाद्रूपकसमास एव। एकाश्रयानुप्रवेशो यथा मम—

विशेषणेनोपमायाः साधकं रूपकस्य बाधकमुदाहरति—वदनाऽम्बुजमिति। चञ्चललोचनं=चञ्चले (चपले) लोचने (नयने) यस्मिंस्तत्। तादृशम्, एणाक्ष्याः= हरिणलोचनायाः, वदनाऽम्बुजं=वदनम् (मुखम्) अम्बुजम् (कमलम्), इव भाति= शोभते। अनुष्टुब्वृत्तम्।

विवृणोति—अत्रेति। अस्मिन्नुदाहरणे वदने = मुखे, लोचनस्य= नयनस्य, सम्भवात् = हेतोः, उपमायाः साधकता, अम्बुजे = कमले, असंभवाद् = लोचनस्येति भावः। रूपकस्य=वदनम् एव अम्बुजम्, इति रूपकाऽलङ्कारस्य, बाधकता।

एवम् उपमाया बाधकं रूपकस्य साधकमुदाहरति—सुन्दरमिति। वदनाऽम्बुजं = वदनम् (मुखम्) एव अम्बुजं (कमलम्), सुन्दरं = मनोहरम्। इत्यादौ, साधारणधर्मप्रयोगे = "सुन्दरम्" इति सामान्यधर्मप्रयोगे "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इति वचनात् = पाणिनिसूत्रात् उपमासमासः, न संभवतीति उपमाया बाधकः। मयूरव्यंसकादित्वात् = मयूरव्यंसकादेराकृतिगणत्वात् पूर्वोक्तप्रकारेण रूपकसमास एव = रूपकसमासस्य साधकत्वमेवेति भावः।

इसी तरह—वदनाऽम्बुजमिति। मृगनयना (सुन्दरी)का चञ्चल नेत्रोंवाला मुखकमल शोभित हो रहा है।

अत्रेति। यहाँ मुखमें लोचनोंका होना संभव है, अतः वदनम् अम्बुजम् इव ऐसा विग्रह करके उपमाका साधकत्व है, परन्तु "वदनम् एव अम्बुजम् ऐसा विग्रह करके रूपक समास करें तो कमलमें लोचनोंका होना असंभव है अतः रूपकका बाधकत्व है। इसी तरह—

"सुन्दरं वदनाऽम्बुजम्" मुखकमल सुन्दर है, इत्यादिमें "वदनम् अम्बुजम् इव" ऐसा विग्रह करके "उपमितं व्याघ्रादिभिः सामान्याऽप्रयोगे" इस सूत्रसे समास करें तो "सुन्दरम्" यह पद उपमाका बाधक है, अतः यहाँ "वदनम् एव अम्बुजम्" ऐसा विग्रह करके "मयूरव्यंसकादयश्च" इस सूत्रसे रूपक समास करनेसे यहाँ रूपक अलङ्कार ही है।

'कटाक्षेणापीषत्क्षणमपि निरीक्षेत यदि सा
तदानन्दः सान्द्रः स्फुरति पिहिताशेषविषयः ।
सरोमाञ्चोदञ्चत्कुचकलशनिर्भिन्नवसनः
परीरम्भारम्भः क इव भविताम्भोरुहदृशः ॥'

अत्र कटाक्षेणापीषत्क्षणमपीत्यत्रच्छेकानुप्रासस्य, निरीक्षेतेत्यत्र क्षकारमादाय वृत्त्यनुप्रासस्य चैकाश्रयेऽनुप्रवेशः । एवं चात्रैवानुप्रासार्थापत्त्यलङ्कारयोः ।

एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूपं सङ्करमुदाहरति—**कटाक्षेणाऽपीति ।** विश्वनाथ-कविराजस्य पद्यमिदम् । काञ्चिद्युवतीमवेक्ष्य कस्यचिद्विलासिन उक्तिरियम् । सा = युवती, कटाक्षेण = नेत्रान्तेन, क्षणमपि = कञ्चित्कालमपि, ईषदपि = स्तोकमपि, निरीक्षेत यदि = पश्येच्चेत्, मामिति शेषः । तदा सान्द्रः = निबिडः, तथा पिहिताऽशेषविषयः = पिहिताः (अपिहिताः, आवृता इति भावः) अशेषाः (समस्ताः) विषयाः (शब्दादयः) येन सः, तादृशः आनन्दः (सुखम्) स्फुरति = आविर्भवति, अत्र सान्द्रादिविशेषणद्वितयेनानन्दस्य ब्रह्मानन्दसहोदरत्वं व्यज्यते । इत्थमेव—अम्भोरुहदृशः = अम्भोरुहे (कमले) इव दृशौ (नयने) यस्यास्तस्याः सुन्दर्याः, सरोमाञ्चेत्यादिः० = सरोमाञ्चौ (पुलकसहितौ, मदनावेशादिति शेषः) अत एव उदञ्चन्तौ (ऊर्ध्वीभवन्तौ) यौ कुचकलशौ (पयोधरघटौ) ताभ्यां निर्भिन्नं (विगलितम्) वसनं (वस्त्रम्) यस्मिन्सः । तथाविधः परीरम्भारम्भः=आलिङ्गनोपक्रमः, क इव भविता = कीदृशो भविता, अनिर्वचनीयानन्दजनको भविष्यतीति भावः । परीरम्भ इत्यत्र "उपसर्गस्य घञ्यमनुष्ये बहुलम्" इति दीर्घत्वम् । शिखरिणी वृत्तम् ।

विवृणोति—**अत्रेति ।** अस्मिन्पद्ये "कटाक्षेणापीषत्क्षणमपि" इत्यत्र कष-संयोगजनितस्य क्षकारस्य क्रमस्वरूपाभ्यां सकृत्साम्यादिति भावः, छेकाऽनुप्रासस्य, एवमेव—"निरीक्षेते"त्यत्र क्षकारमादाय, क्षकाराणां बाहुल्येन स्वरूपक्रमाभ्यामसकृत्साम्येन वृत्त्यनुप्रासस्य चैकाश्रयेऽनुप्रवेशः ।

एकाश्रयाऽनुप्रवेशसङ्करका उदाहरण जैसे ग्रन्थकारका—**कटाक्षेणेति ।** वह (युवती) कटाक्षसे कुछ क्षण भी मुझे देखेगी तो सम्पूर्ण शब्द आदि विषयको लुप्त करनेवाला गाढ आनन्द प्रकाशित हो जाता है । उस कमलनयनाके रोमाञ्चवाले तथा उभरे हुए स्तनकलशोंसे विगलित वस्त्रवाला आलिङ्गनका आरम्भ कैसा होगा ?

अत्रेति । यहां "कटाक्षेणाऽपीषत्क्षणमपि" यहाँ पर छेकानुप्रासका और "निरीक्षेत" यहाँपर क्षकारको लेकर वृत्त्यनुप्रासका भी एक पद्यरूप आश्रयमें अनुप्रवेश है । इसी प्रकार "कटाक्षेणाऽपि" यहाँपर अनुप्रास और अर्थापत्ति अलङ्कारका एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूप संकर अलङ्कार है ।

यथा वा—

'संसारध्वान्तविध्वंस-' इत्यत्र रूपकानुप्रासयोः ।

यथा वा—

'कुरवका रवकारणतां ययुः' इत्यत्र रवका रवका इत्येकं बकार वकार इत्येकमिति यमकयोः ।

यथा वा—

'अहिणअपओअरसिएसु पहिअसामाइएसु दिअहेसु ।
रहसपसारिअगीआणं णच्चिजं मोरविन्दाणम् ॥'

एवं चेति । अपि च, अत्रैव = "कटाक्षेणाऽपी"त्यत्रैव । अनुप्रासार्थापत्त्यलङ्कारयोः = अनुप्रासः (पूर्वोक्तच्छेकाऽनुप्रासवृत्त्यनुप्रासरूपः) अर्थापत्तिः (कटाक्षेणाऽपि सान्द्रानन्दस्फुरणाद्दण्डापूपिकया सिद्धे स्तनपरिरम्भेऽनिर्वचनीयानन्दः) इति द्वयोरलङ्कारयोः, "एकाश्रयेऽनुप्रवेशः" इत्यत्र सम्बन्धः ।

एकपदे एकाश्रयाऽनुप्रवेशसङ्करमुदाहरति—**"संसारध्वान्तविध्वंसहंस"** इत्यत्र रूपकाऽनुप्रासयोरेकाश्रयाऽनुप्रवेशसङ्करः । रूपकं = निरङ्गकेवलरूपकम्, अनुप्रासश्छेको बोद्धव्यः ।

एकपादरूपैकाश्रये एकाश्रयाऽनुप्रवेशसङ्करमुदाहरति—**कुरबका इति** । पद्यमिदं रघुवंशनवमसर्गस्थम् । पूर्णं पद्यमिदम्—"विरचिता मधुनोपवनश्रियामभिनवा इव पत्त्रविशेषकाः । मधुलिहां मधुदानविशारदाः, "कुरबका रवकारणतां ययुः" ९–२९ ।

कुरबकाः = पुष्पविशेषवृक्षाः, मधुलिहां = भ्रमराणां, रवकारणतां=गुञ्जनहेतुतां, ययुः = प्रापुः । द्रुतविलम्बितं वृत्तम् । अत्र "रबका रवका" इत्येकं, "बकार वकार" इत्येकमिति यमकयोः, एकाश्रयेऽनुप्रवेश इति पूर्वेण सम्बन्धः ।

उपमारूपकयोरेकपदरूपैकाश्रयेऽनुप्रवेशसङ्करमुदाहरति—**अहिणअ इति** । "अभिनवपयोदरसितेषु" पथिक–श्यामायितेषु (सामाजिकेषु) दिवसेषु । रभसप्रसारितग्रीवाणां नृत्यं मयूरवृन्दानाम् ॥" इति संस्कृतच्छाया । गाथासप्तशतीस्थं

और भी—"संसारध्वान्तविध्वंस०" यहाँ रूपक और अनुप्रासका एकाश्रयाऽनुप्रवेश संकर है । और "कुरबका रवकारणतां ययुः" (अर्थात् कुरवक वृक्ष रवके कारण हुए) इस पदमें "रबका रवका" यह एक, और "बकार वकार" यह एक, इस प्रकार दो यमकोंका एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूप संकर है ।

अथवा जैसे—**अहिणअ इति** । मेघोंके नये गर्जनवाले, पथिकोंको कृष्णवर्णका आचरण करनेवाले, अर्थात् प्रियाके वियोगसे कृष्ण वर्णके रूपमें प्रतीत होनेवाले, अथवा पथिकरूप सामाजिकसे युक्त, ऐसे दिनोंमें हर्षसे ग्रीवाको फैलाने वाले मयूरसमूहोंका नृत्य होता है ।

अत्र 'पहिअसामाइएसु' इत्येकाश्रये पथिकश्यामायितेत्युपमा, पथिकसामाजिकेष्विति रूपकं प्रविष्टमिति ।

श्रीचन्द्रशेखरमहाकविचन्द्रसूनु-
श्रीविश्वनाथकविराजकृतं प्रबन्धम् ।
साहित्यदर्पणममुं सुधियो विलोक्य
साहित्यतत्त्वमखिलं सुखमेव वित्त ॥ ९९ ॥

पद्यमिदम् । वर्षर्तोर्वर्णनम् । अभिनवेत्यादिः० = अभिनवं (नूतनम्) पयोदानां (मेघानाम्) रसितं (गर्जितम्) येषु, तेषु- पथिकश्यामायितेषु = पथिकाः (पान्थाः, प्रियावियुक्ता इति भावः) श्यामायिताः (श्यामवदाचरिताः, प्रियाविरहशोकेन कृष्णवर्णाः) येषु तेषु । "पथिकसामाजिकेषु" इति पक्षान्तरे—पथिकाः एव सामाजिकाः (सभ्याः, नृत्यदर्शका इति भावः) येषु तेषु । तादृशेषु दिवसेषु = वार्षिकवासरेषु, रभसेत्यादिः० = रभसेन (हर्षेण) "रभसो वेगहर्षयो"रिति विश्वः, प्रसारिता (विस्तारिता) ग्रीवा (कन्धरा) यैस्तेषाम् । तादृशानां मयूरवृन्दानां = केकिसमूहानाम् । नृत्यं = नटनं, भवतीति शेषः । अत्र "रहस" स्थाने "महइ" इति पाठान्तरे महति = महवत् (उत्सववत्) आचरति । "महं उद्धव उत्सव" इत्यमरः । गाथा वृत्तम् ।

विवृणोति—अत्रेति । अस्मिन्पद्ये "पहिअसामाइएसु" इत्येकाश्रये "पथिकश्यामायित" इत्युपमा, क्यङन्तेति भावः । "पथिकसामाजिकेषु" इति पाठे रूपकं = निरङ्गकेवलरूपम्, अनयोरेकाश्रयाऽनुप्रवेशसङ्करः ।

कोविदान्प्रति ग्रन्थकर्तुरुक्तिः—श्रीचन्द्रशेखरेति । हे सुधियः = हे विद्वांसः ! श्रीयुक्तश्चन्द्रशेखरो महाकविः, स चन्द्र इव, तस्य सूनुना (आत्मजेन) श्रीविश्वनाथकविराजेन, कृतं (विहितम्) अमुम् = एतं, साहित्यदर्पणं प्रबन्धं = लक्षणग्रन्थं, विलोक्य = दृष्ट्वा, अखिलं = समस्तं, साहित्यतत्त्वं = काव्यस्वरूपं, सुखमेव = सुखपूर्वकमेव, अनायासेनेति भावः । वित्त = जानीत । वसन्ततिलका वृत्तम् ॥

अत्रेति । "पहिअसामाइएसु" इसका "पथिकश्यामायितेषु" ऐसा अर्थ करें तो क्यङ् प्रत्ययगता उपमाका बोध होता है । "पथिकसामाजिकेषु" ऐसा अर्थ करें तो "पथिका एव सामाजिकाः" ऐसे विग्रहसे रूपक प्रविष्ट होता है इस प्रकार यहाँ उपमा और रूपकका एकाश्रयाऽनुप्रवेशरूप संकर अलंकार है ।

श्रीचन्द्रशेखरेत्यादिः० = हे विद्वज्जनो ! चन्द्रके समान आह्लादक श्रीचन्द्रशेखरके पुत्र श्रीविश्वनाथ कविराजसे किये गये साहित्यदर्पण नामक इस प्रबन्धको देखकर सम्पूर्ण साहित्यतत्त्वको सुखपूर्वक जान लें ॥ १०० ॥

यावत्प्रसन्नेन्दुनिभानना श्रीर्नारायणस्यांगमलंकरोति ।
तावन्मनः संमदयन् कवीनामेष प्रबन्धः प्रथितोऽस्तु लोके॥१००॥

इत्यालंकारिकचक्रवर्तिसान्धिविग्रहिक महापात्रश्रीविश्वनाथकविराजकृते
साहित्यदर्पणे दशमः परिच्छेदः ।

स्वकीयप्रबन्धस्य चिरस्थायितामाशास्ते—यावदिति। प्रसन्नेन्दुनिभानना—प्रसन्नः (निर्मलः) य इन्दुः (चन्द्रः) तन्निभम् (तत्सदृशम्) आननं (मुखम्) यस्याः सा। तादृशी श्रीः—लक्ष्मीः, यावत्—यत्कालपर्यन्तं, नारायणस्य—भगवतः श्रीविष्णोः, अङ्गं—वक्षःस्थलरूपं देहाऽवयवम्, अलंकरोति—भूषयति, स्वनिवासेनेति शेषः। तावत्—तत्कालपर्यन्तम्। एषः—समीपतरवर्ती। प्रबन्धः—साहित्यलक्षणग्रन्थः। कवीनां—विदुषां, मनः—चित्तं, सम्मदयन्—हर्षयुक्तं कुर्वन्, लोके—भुवने, प्रथितः—प्रख्यातः, अस्तु—भवतु। इन्द्रवज्रा वृत्तम् ॥१००॥

इत्यालंकारिकेत्यादिः०—आलंकारिकाणाम् (अलंकारशास्त्रवेत्तृणाम्) चक्रवर्ती (प्रधानम्) सान्धिविग्रहिकः (सन्धिविग्रहकार्यनियुक्तः) महापात्रः (राजकीयमुख्यसचिवः) यः श्रीविश्वनाथकविराजः (श्रीविश्वनाथकविप्रमुखः) तेन कृते (विहिते) साहित्यदर्पणे—तन्नामकेऽलंकारशास्त्रे दशमः परिच्छेदः।

क्व विश्वनाथस्य कृतिः प्रगूढा ? क्व मामकीना धिषणाऽतिमूढा ?
तथाऽप्यलंकारनिगूढतत्त्वं स्तोकं स्फुटीकर्तुमयं प्रयासः ॥ १ ॥
मुनिरामवियन्नेत्रमिते वैक्रमवत्सरे ।
दर्पणस्था चन्द्रकला विवृतिः पूर्णतामगात् ॥ २ ॥

इति श्रीशेषराजशर्मकृतायां साहित्यदर्पणस्य चन्द्रकलाऽभिख्यायां
व्याख्यायां दशमः परिच्छेदः समाप्तः।

श्रीदेवचन्द्रबुधहेमकुमारिजेन श्रीकृष्णचन्द्रकृतितल्लजकाऽनुजेन।
श्रीपूर्णचन्द्रगुणिशेखरकाग्रजेन श्रीशेषराजसुधिया स्वधिया कृतेयम् ॥

निर्मल चन्द्रमा के समान मुखवाली लक्ष्मी जब तक नारायण के अङ्ग (वक्षःस्थल) को अलंकृत करती हैं तब तक कवियोंको हर्षयुक्त करता हुआ यह प्रबन्ध (साहित्यदर्पण) लोकमें प्रख्यात हो ॥ १०१ ॥

आलंकारिकचक्रवर्ती सान्धिविग्रहिक महापात्र श्रीविश्वनाथ कृत
साहित्यदर्पणमें यह दशम परिच्छेद समाप्त हुआ।